Index

॥ श्रीहरिः ॥ 416

जीवनका सत्य

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

जीवनका सत्य
परम शान्तिका उपाय

मनुष्य केवल अपने अनुभवका आदर करे तो उसका काम बन जाय। अनुभव क्या है ? अपने पास जो चीज मिली है वह सब अपनी नहीं है। यह खास बात है। जो मिली हुई होती है वह अपनी नहीं होती है। शरीर, धन, जमीन, वैभव, सम्पत्ति जो कुछ मिला है, वह अपना नहीं है। इस बातपर विचार करें। ऐसा माननेसे ममता मिट जाती है। ममता ही नहीं; अहंता भी मिट जाती है। इस शरीरको भगवान्‌ने—

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्'

(गीता १३। १)

इदम् (यह) कहा है। जो 'यह' होता है वह 'मैं' नहीं होता और जो 'मैं' होता है, वह 'यह' नहीं होता। 'इदं शरीरम्' कहकर आगे शरीरका विवेचन करते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

(गीता १३। ५)

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा मन-प्रकृति-सहित सब **'इदं शरीरम्'** के अन्तर्गत हैं। अतः यह शरीर 'मैं' नहीं हूँ—इस बातको दृढ़तासे समझ लें।

फिर प्रश्न उठता है कि यह शरीर मेरा है ? आप इस शरीरको जितना और जैसे चाहें रख सकते हैं क्या ? इसमें जो परिवर्तन चाहें कर सकते हैं क्या ? वृद्धावस्थाको रोक सकते हैं

क्या ? इसे मौतसे बचा सकते हैं क्या ? यदि ये आपके हाथकी बात नहीं, तो फिर यह शरीर आपका कैसे ? अतः ममता और अहंकारको जीवित रहते हुए छोड़ दो।

'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।

(गीता २।७१)

इससे शान्तिको प्राप्त हो जाओगे। अहंता-ममताको नहीं छोड़ोगे, तो भी ये तो छूटेंगे ही। ये 'मैं' पन और 'मेरा' पन रहेंगे नहीं। परन्तु आप इन्हें नहीं छोड़ोगे तो अशान्ति, दुःख, संताप और जलन होते रहेंगे। इस शरीरसे किये गये पाप तथा पुण्यके फल भोगनेके लिये अनेक जन्म लेने पड़ेंगे। इसलिये यदि आप यह स्वीकार कर लें कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहम् मेरे नहीं हैं तो इनके द्वारा की गयी क्रिया भी आपकी नहीं होगी। इस बातको गीताने कहा है—

'गुणा गुणेषु वर्तन्त' (३।२८)

अर्थात् गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(गीता ३।२७)

वास्तवमें सब कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं। परंतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला पुरुष (अज्ञानी) मैं कर्ता हूँ, ऐसा मान लेता है। तो क्या करना है ?

करना है 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत' ऐसा मान लेना कि कुछ नहीं करता हूँ, क्योंकि मैं जाननेवाला हूँ और ये सब जाननेमें आनेवाले हैं। इनसे होनेवाली क्रियाएँ मेरी कैसे हुईं ?

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

(गीता १३ । २९)

जो यह जानता है कि क्रिया केवल प्रकृतिके द्वारा होती है, वह अपनेको अकर्ता देखता है। और जब अपनेको अकर्ता देखता है तो—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

(गीता १८ । १७)

वह सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है, न पापसे बँधता है। मनुष्य अहंकृत भावसे ही फँसा है और वह अहंकृत भाव वास्तवमें है नहीं, केवल माना हुआ है। और माना हुआ न माननेसे छूट जाता है। यह आपके, हमारे सबके अनुभवकी बात है। अतः इस बातको मान लें कि शरीर मैं नहीं हूँ और मेरा नहीं है। शरीर अलग है और मैं अलग हूँ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

(गीता २ । २२)

जैसे मनुष्य फटे कपड़ोंको छोड़कर, नये कपड़े धारण करता है। तो कपड़ा मैं नहीं होता, इसी प्रकार शरीर भी मैं नहीं हूँ और मेरा नहीं है। यदि मैं और मेरापन बढ़ाते रहेंगे कि मैं पढ़ जाऊँगा, पण्डित बन जाऊँगा, व्याख्यानदाता बन जाऊँगा, ऊँचा बन जाऊँगा, धनवान् बन जाऊँगा और मेरे धन हो जायेगा, सम्पत्ति हो जायेगी, परिवार हो जायेगा। इस प्रकार मैं और मेरापन बढ़ाते रहोगे तो शान्ति और सुखकी प्राप्ति नहीं होगी। और जहाँ अहंता-ममता छोड़ी कि उसी क्षण **'स शान्तिमधिगच्छति'** शान्तिको प्राप्त हो जाओगे। तो प्रश्न था कि—

शान्ति कैसे मिले ?

अहंता-ममता बढ़ाकर अशान्ति आपकी स्वयं पैदा की हुई है। जितनी अहंता-ममता अधिक होगी, उतनी अशान्ति अधिक होगी। और अहंता-ममताका जहाँ त्याग किया कि तत्काल शान्ति मिली।

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'

(गीता १२। १२)

सीधी सरल बात है, व्यवहारमें कह दो कि जमीन, मकान, स्त्री, पुत्र, परिवार हमारे हैं; परन्तु अन्दरसे इनमें ममता और आसक्ति न रखो।

एक प्रसंग आता है कि एक बार एक साधु बाबा नगरमें भिक्षा करके एक बगीचेमें बैठ गये, तो सायं-कालमें राजा वहाँ आये और साधु बाबासे पूछे कि यहाँ कैसे बैठे हो ? किसी धर्मशाला या सरायमें जाना चाहिये। साधु बाबाने कहा कि यह सराय ही तो है। राजाने कहा कि यह तो मेरी कोठी है। साधु बाबा बोले कि अच्छा आपकी कोठी है। आपसे पहले कौन रहते थे ? राजाने कहा—'मेरे पिताजी रहते थे।' उससे पहले कौन रहते थे ? बोले कि मेरे दादाजी रहते थे। हम यहाँ पीढ़ियोंसे रहते आये हैं। बाबाने पूछा कि क्या आप इसमें सदा रहोगे ? राजा बोले कि जबतक हम जीवित हैं, तबतक हम रहेंगे, फिर हमारे लड़के रहेंगे। साधु बोले,तो फिर धर्मशाला या सराय किसे कहते

हैं ? एक आया, एक गया, यही धर्मशालामें होता है। व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ हमें जो भी मिलते हैं, उनका सदुपयोग करना है, उनपर अधिकार नहीं जमाना है। कबीरदासजीने शरीरको चादर मानकर कहा है—

कबीरा चादर है झीनीं, सदा राम रस भीनी।

फिर अन्तमें कहा है:—

नौ दस मास बुनता लाग्या, मूरख मैली कीनी,
दास कबीर जुगति से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी।

इसका अर्थ हुआ कि शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन नहीं करना है। इसका सदुपयोग अपने कल्याणके लिये करना है। इस बातका पक्का विचार कर लें कि यह शरीर, संसारकी वस्तुएँ, सामग्री सब संसारकी हैं और संसारकी सेवाके लिये मिली हैं। इन्हें अपनी न मानकर संसारकी मानें और संसारकी सेवाके लिये मानें। इससे वस्तुओंका सदुपयोग होगा। परन्तु अपनी और अपने लिये मानेंगे, तो वस्तुओंका दुरुपयोग होगा। और दुरुपयोगसे हमें दण्ड भोगना पड़ेगा। इन्हें अपना माननेसे लाभ तो कोई होगा नहीं और हानि किसी तरहकी भी बाकी रहेगी नहीं। इनपर अपना अधिकार जमाना, कब्जा करना बेईमानी है और यही बन्धन है। ये भगवान्‌की हैं, या संसारकी हैं, या प्रकृतिकी हैं, जिसकी हैं, उसकी मानें, तो यह मुक्ति है। भक्तियोगमें भगवान्‌की हैं, कर्मयोगमें संसारकी हैं और ज्ञानयोगमें प्रकृतिकी हैं। अतः इन्हें अपनी तथा अपने लिये न मानें।

एक दूसरी बात है कि हम इस शरीर तथा वस्तुओंसे सुख लेना चाहते हैं। परंतु यह मानव-शरीर तथा इसकी सामग्री सुख तथा भोगके लिये नहीं मिली है।

'एहि तन कर फल बिषय न भाई'

यह तो दूसरोंको सुख देनेके लिये तथा दूसरोंकी सेवाके लिये मिली है। यदि सुख भोगना चाहो तो स्वर्गमें जाओ, दुःख भोगना हो तो नरकमें जाओ। सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठना हो तो मनुष्य-शरीरमें आओ। सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचे उठनेपर ही महान् आनन्द, महान् शान्तिकी प्राप्ति होगी। परन्तु यदि सुख चाहोगे तो दुःख भोगना पड़ेगा ही। और यदि सुखकी कामना छोड़ दोगे तो महान् आनन्द और महान् शान्तिकी प्राप्ति होगी। अतः शान्तिका उपाय यह है कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर, संसार मेरे नहीं हैं और मेरे लिये भी नहीं हैं। मुझे दूसरोंसे सुख लेना नहीं है अपितु दूसरोंको सुख देना है।

——::o::——

प्रभुकी प्राप्ति साधनासे नहीं, केवल मान्यतासे

हम सबका अनुभव है कि मैं तो वही हूँ जो बचपनमें था, परन्तु यह शरीर और संसार प्रतिक्षण बदल रहे हैं। इसी प्रकार शास्त्र बताते हैं कि परमात्मा हैं। 'मैं' और 'परमात्मा' न बदलनेवाले हुए और शरीर और संसार बदलनेवाले हुए। 'मैं' की 'परमात्मा' से एकता हुई और शरीरकी संसारके साथ एकता हुई। इस शरीरमें जो गाढ़ापन दीखता है, वह पृथ्वीका अंश है। इसमें जो गर्मी है, वह सूर्य तथा अग्निका अंश है। इसकी वायु वायुका अंश है और इसमें पोलाहट अर्थात् जो अंगुली गड़ती है वह आकाशका अंश है।

मैं हूँ, यह आत्म-ज्ञान है और परमात्मा है, यह परमात्म-ज्ञान है। मैं और परमात्माकी एकता है और शरीर और हमारी कहलानेवाली सामग्रीकी संसारके साथ एकता है। अतः इन अपनी कही जानेवाली वस्तुओंके द्वारा संसारकी सेवा कर देना है और अपने-आपको परमात्माको देना है। बस इतनी ही बात है।

अब प्रश्न उठता है कि जब बात इतनी सुगम है तो फिर यह ठहरती क्यों नहीं? इसका उत्तर है कि आप इस बातको महत्त्व नहीं देते, आदर नहीं देते। यह अभ्यासजन्य नहीं है। इसे या तो मान लो या जान लो। जैसे यह नेपाल है तो आपने इसका अभ्यास नहीं किया, केवल मान लिया कि यह नेपाल है। आप माननेमें स्वतन्त्र हैं। मानना चाहो तो अभी मान सकते हो और

न मानना चाहो तो जन्म-जन्मान्तरतक भी नहीं मान सकोगे। आप ऐसे ही मान लो कि परमात्मा है तो काम बन जाय। या आप जान लें कि मेरा (अविनाशीका) नाशवान् संसारके साथ सम्बन्ध नहीं है तो भी काम बन जाय। मैं नहीं बदलता हूँ, परन्तु शरीर और संसार बदलते हैं, यह बिलकुल जानी हुई बात है। इस जानने और माननेमें अभ्यासकी आवश्यकता नहीं। यह सच्ची और शास्त्रोंकी बात है। यदि आप इस बातको आदरपूर्वक स्वीकार कर लें तो आपको करोड़ों रुपये प्राप्त करनेसे भी उतनी शान्ति नहीं मिलेगी जितनी कि इस बातको माननेसे मिलेगी।

एक बात और है कि आप उस बातको महत्त्व नहीं देते जो बात मुफ्तमें मिल जाती है। यदि एक-एक बातपर सौ-सौ रुपयोंका टैक्स लगा दें, तो शायद उस बातको आदर दोगे। और खूब भटकनेके बाद, बद्रीनारायण-जैसे पहाड़ोंमें घूमनेके बाद यही बात प्राप्त होती तो इसे महत्त्व देते और मान लेते। अभी घर बैठे बिना कीमतके बात मिल रही है अतः महत्त्व नहीं देते। जिस किसी भाईने इस बातको महत्त्व दिया है, इसका मूल्य चुकाया है, उसे लाभ हुआ है। जिस किसी भाईने इस बातके लिये अपमान सहा है, निन्दा सही है, कष्ट सहा है, विपरीत परिस्थिति सही है, उसे लाभ अवश्य हुआ है; क्योंकि उसने मूल्य चुकाया है। अगर जोरदार लगन और तड़पन हो जाय तो तत्त्वज्ञान तत्काल हो जाय। अतः आप इस बातको महत्त्व दें कि अब तो बात हमें मिल गयी, अब यह निकल नहीं सकती।

उदयपुरके राणाके बारेमें सुना है कि वे सत्संगकी बात सुनते और उसमें जो बात अच्छी लगती, उसे सुनते ही तुरन्त चल देते कि यह बात कहीं निकल न जाय। अतः आज ही यह

बात दृढ़तासे पकड़ लो कि आप स्वयं रहनेवाले हो और ये शरीर-संसार बदलनेवाले हैं। आप न बदलनेवाले, बदलनेवालोंके साथ मिल जाते हो, अपनी उनसे एकता मान लेते हो, यही गलती होती है। यदि आप इस बदलनेवाले शरीर-संसारके साथ न मिलो तो समतामें स्वतः स्थिति है। आप इनसे भिन्न हो। इसी कारण आप अनुकूलता-प्रतिकूलताका अनुभव करते हो। दोनों परिस्थितियोंका अनुभव वही कर सकता है जो दोनों समय रहता है। आप परिस्थितिके प्रभावको स्वीकार करते हो, तभी सुखी-दुःखी रहते हो। यदि परिस्थितिके प्रभावको स्वीकार न करो तो न सुख होगा, न दुःख। समतामें स्वतः स्थिति हो जायगी।

आपने सुना होगा कि नारदजीने व्यासजीको अपने पूर्व-जन्मकी बात कही। नारदजी माँके साथ सन्तोंके पास जाते थे तो उनकी भगवान्‌में भक्ति हो गयी। फिर उनकी माँ मर गयी। बालकको माँके मरनेपर बहुत बड़ा दुःख होता है, क्योंकि माँ बालकका आधार है। परन्तु नारदजी खुश हुए। अतः सुखी-दुःखी होना अपने हाथकी बात है। इस वास्ते भगवान् कहते हैं—

'न त्वं शोचितुमर्हसि॥'

(गीता २। २७)

तू शोक करनेके योग्य नहीं है। और अन्तमें कहते हैं 'मा शुचः' शोक मत कर। शोक करना, न करना अपने हाथकी बात है। शोक-चिन्ता करना; सुखी-दुःखी होना प्रारब्धका फल नहीं है। अनुकूलता-प्रतिकूलताका आना-जाना प्रारब्ध (कर्मों) का फल है। परन्तु उसमें सुखी-दुःखी होना या न होना आपकी मर्जी है, ये सुख-दुःख आने-जानेवाले हैं। इनमें क्या तो सुखी होवें

और क्या दुःखी होवें ? बड़े आश्चर्यकी बात है। जैसे अभी यदि हम दरवाजेपर खड़े हो जायें और मोटरें खूब आयें तो हम राजी हो जायँ कि आज तो बहुत मोटरें आयीं। दूसरे दिन मानो मोटर आयी नहीं तो दुःखी हो जायँ और लगें रोने कि आज तो कोई मोटर नहीं आयी। अरे ! हर्ज क्या हुआ ? मोटरें नहीं आयीं तो धूल नहीं उड़ी। ऐसे ही अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती-जाती रहती हैं, कभी अनुकूल आ गयी, कभी नहीं आयी। कभी प्रतिकूल आ गयी, कभी नहीं आयी। ये धन-सम्पत्ति और परिवार आदि सभी आने-जानेवाले हैं और आप रहनेवाले हो। इनमें राजी या नाराज क्या हों ? 'समदुःखसुखः स्वस्थः' सुख-दुःखमें सम रहनेसे अपने 'स्व'में स्थित हो जायेंगे अर्थात् परम आनन्द तथा परम शान्ति प्राप्त कर लेंगे, लोग भी प्रशंसा करेंगे और महात्मा कहेंगे। भगवान् कहेंगे कि मेरा प्यारा है। परन्तु यदि हम सुख-दुःखमें सुखी-दुःखी होते रहेंगे तो हम तो दुःख पायेंगे ही, लोग भी निन्दा करेंगे और भगवान् भी राजी नहीं होंगे। तो बताओ क्या फायदा हुआ ?

धनवान् हो जाना, स्वस्थ हो जाना, मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना—यह अपने हाथकी बात नहीं है। तो फिर इनमें सुख-दुःख क्यों हो ? अब इस बातको आदर दो, महत्त्व दो, कीमत दो कि अब सुखी-दुःखी नहीं होंगे। इस बातको सीखना नहीं है। इसका अभ्यास नहीं करना है। इसे तो मानना है। फिर बार-बार याद करनेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे आपने अपने-आपको ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य मान लिया। अब काम-धंधा करते हुए, खाना-पीना करते हुए यह याद नहीं करना पड़ता। स्वतः याद रहता है। यदि न याद रहे तो भी कोई भूल नहीं होती। भूल कब

मानी जायगी कि आप ब्राह्मण हो, पर अपने-आपको ब्राह्मण स्वीकार न करके शूद्र मान लें।

इसी प्रकार मैं परमात्माका हूँ—यह मान लो फिर भले ही काम आदि करते समय आप भूल जायँ, परन्तु यह भूल नहीं मानी जायगी। भूल कब मानी जायगी ? भूल उस समय मानी जायगी, जिस समय आप मान लेंगे कि मैं परमात्माका नहीं हूँ। यदि आप ऐसा नहीं मानते तो अखण्ड मान्यता भीतर रहेगी। जैसे अपने नाम, जाति, स्थान, देशके साथ अखण्ड मान्यता हो जाती है, इसी प्रकार परमात्माके साथ अखण्ड मान्यता हो जायगी। ये नाम, जाति, स्थान, देश, शरीर आदि तो अपने हैं नहीं, केवल माने हुए हैं। परन्तु परमात्मा अपने हैं स्वयं भगवान्, सद्ग्रन्थ तथा सन्त ऐसा कहते हैं। अतः आज ही अभी-अभी यह बात मान लो कि मैं परमात्माका हूँ और परमात्मा मेरे हैं।

नारायण नारायण नारायण नारायण

——::o::——

अभिमान और अहंकारका त्याग सम्भव है

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ७१)

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

(गीता १२ । १३)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता १८ । ५३)

इन श्लोकोंमें भगवान्‌ने अहंता-ममता अर्थात् मैं और मेरेपनसे रहित होनेकी बात कही है। इससे सिद्ध होता है कि अहंता-ममताका त्याग हो सकता है। अगर यह बात सम्भव न होती तो भगवान् यह बात न कहते। भगवान्‌ने कहा है तो इसका अर्थ है कि इनका त्याग अवश्य हो सकता है। त्याग उसीका हो सकता है जो वास्तवमें नहीं होता। वास्तविकका त्याग नहीं होता। जैसे यदि अग्निसे उष्णता या प्रकाशका त्याग करावें, तो कैसे त्याग करे? सूर्य अपने प्रकाश या गर्मीका त्याग कैसे करें? अहंता-ममता हमने बनायी है। इसको सन्तोंने माया कहा है। भगवान् रामने भी पञ्चवटीमें यही कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ॥

****

मैं और मेरा, तू और तेरा यह माया है। इस मायामें ही संसार फँसा हुआ है। मायाका त्याग किया जा सकता है। अब विचार करना है कि मैं और मेरे-पनका त्याग कैसे हो ? पहले यह बात जँच जानी चाहिये कि इसका त्याग हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यह 'मैं-पन' माना हुआ है, स्वयंका बनाया हुआ है। इस शरीरसे पहले 'मैं-पन' नहीं था, जन्मके बाद 'मैं-पन' आया और शरीरके नाश होनेपर 'मैं-पन' नहीं रहेगा। बीचमें ही 'मैं-पन' पैदा हुआ। इसी प्रकार बोरेमें पड़े आटेको और कनस्तरमें पड़े घीको कोई 'मैं' नहीं कहता। पर जब वह पेटमें चला गया तो वह भी 'मैं' हो गया। इसी प्रकार जब वह मैला-टट्टी बन गया तो 'मैं-पन' मैलामें चला गया। वह मैला भी तो मैं ही था। परन्तु अब उसे 'मैं' कहते हैं क्या ? ऐसे ही मानो हाथ या पैर सड़ जाय, डाक्टर उसे काट दे तो उस 'मैं' को आप फेंक देते हैं। ऐसे ही मर जानेके बाद शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और जला देते हैं। जरा भी दया नहीं आती। अगर शरीर 'मैं' होता तो या तो शरीरको भी अपने साथमें ले जाते अथवा शरीरके साथ हम भी रहते। परन्तु ऐसा नहीं होता। शरीरी चला जाता है और शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। यह इसलिये है कि इस शरीरमें 'मैं-पन' माना हुआ है और संसारमें मेरापन माना हुआ है।

आप इस 'मैं-पन' को बदल देते हैं। गृहस्थ आश्रममें रहते हैं तो कहते हैं कि मैं गृहस्थी हूँ। परन्तु साधु बन जाते हैं तो कहते हैं, मैं साधु हूँ। माता-पिताके सामने कहते हो कि मैं पुत्र हूँ और पुत्रके सामने कहते हो कि मैं पिता हूँ। इसी प्रकार भाईके सामने कहते हो कि मैं भाई हूँ, पत्नीके सामने कहते हो कि मैं पति हूँ। आपसे कोई पूछे कि तुम सच बताओ कि तुम पुत्र हो या पिता

हो या पति हो ? तो इसका उत्तर है कि आप स्वयं पुत्र, पिता, भाई, पति कुछ नहीं हो। पुत्र, पिता, भाई, पति आदि दूसरोंके सामने हो। दूसरोंकी अपेक्षासे बने हुए हो। इस 'मैं-पन' को नष्ट करनेके लिये एक बड़ी सुगम बात है कि 'मैं-पन' को शुद्ध कर लिया जाय। शुद्ध कब होता है, शुद्ध उस समय होता है कि जब माता-पिताके सामने जायँ तो वह कार्य करें जो सुपुत्र-से-सुपुत्र करता है। ऐसे ही पत्नीके सामने जायँ तो पतिका पूरा कर्तव्य पालन करें। दूसरे कर्तव्य पालन करें या न करें। इसकी तरफ विशेष ख्याल नहीं करना है। थोड़ा ख्याल इसलिये करना है कि पुत्र आदिको शिक्षा देना हमारा कर्तव्य है। उनको कह देना, समझा देना अपना कर्तव्य है। परन्तु यदि वे कहना न मानें तो दुःख न करें। और हमने तो अपना कर्तव्य-पालन कर दिया इस बातका अभिमान भी न करें। सत्पति अपनी पत्नीके साथ न्याययुक्त, धर्मयुक्त बर्ताव कर दें, फिर चाहे पत्नी आपसे लड़ाई करे, आपको दुःख दे, कर्कश व्यवहार करे। आप अपने कर्तव्यसे मत चूको। ठीक प्रकारसे अपना कर्तव्य पालन करो तो क्या होगा ? आपका 'मैं-पन' शुद्ध हो जायगा। 'मैं-पन' शुद्ध होनेपर इसे छोड़नेकी ताकत आपमें आ जायगी। परन्तु जबतक अन्यायपूर्वक कार्य करते रहोगे, तबतक 'मैं-पन' और 'मेरे-पन'-की माया छूटेगी नहीं। परन्तु शुद्ध होनेपर यह छूट जायगी, बाँधेगी नहीं। केवल व्यवहारमात्रके लिये मैं और मेरा रहेगा।

जैसे आप किसी मिलमें काम करते हैं तो कहते हैं कि मैं अमुक मिलका आदमी हूँ। ऐसे ही रेलवेमें कार्य करते हैं तो कहते हैं कि मैं रेलवे कर्मचारी हूँ। परन्तु सदा अपनेको मिलका या रेलवेका कर्मचारी नहीं मानते। इसी प्रकार आप अपनेको

पिता, पुत्र, पति, भाई मानें। ऐसे ही यदि आप धनी हैं तो निर्धनोंकी अपेक्षा धनी हैं; निर्धनोंने ही आपको धनी बनाया है। उदाहरणके लिये यदि नगरमें आप लखपति हैं और बाकी सब करोड़पति हैं तो आप धनी नहीं कहलाते हो। उनके बीच क्या कभी आपके मनमें लखपति होनेका अभिमान आता है? परन्तु आपके अतिरिक्त यदि सभी निर्धन हैं तो आप धनी तथा लखपति कहलाओगे। अतः इन निर्धनोंके कारण आप धनी हैं। इन्होंने आपको लखपति बनाया। इसलिये आपको निर्धनोंकी सेवा करनी चाहिये। जो उपकार लेता है, परन्तु उपकार करता नहीं, वह कृतघ्न होता है। अतः धनका अभिमान, विद्या-बुद्धिका अभिमान, बलका अभिमान करना गलती है। भगवान् सोलहवें अध्यायमें कहते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥

(गीता १६।४)

ये अभिमान और अहंकार आदि आसुरी सम्पदाको प्राप्त पुरुषके लक्षण हैं। फिर कहते हैं—

'दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

दैवी सम्पदा मुक्ति देनेवाली है और आसुरी सम्पदा बाँधनेवाली है। अतः धन, विद्या, बुद्धि, बल और पदका अभिमान न करके दूसरोंकी सेवा करो। और पिता, पुत्र, पति आदि जो भी आप हैं, अपना कर्त्तव्यपालन नाटककी तरह बढ़िया-से-बढ़िया करो। स्वाँगको बिगाड़ना नहीं है और न उसका अभिमान करना है, अपितु जिन्होंने आपको बुद्धिमान्, विद्वान्, धनवान्, बलवान् बनाया अर्थात् जिन मूर्खों, निर्धनों,

निर्बलोंके कारण आप विद्वान्, धनवान्, और बलवान् बने हो उनकी सेवा करनी है। ब्राह्मण और साधु ब्राह्मणपने तथा साधुपनेके अभिमानके कारण बड़े नहीं बने, अपितु त्यागके कारण बड़े बने। आज उनमें अभिमान आ गया है इस कारण उनका तिरस्कार होने लगा। जब वे अपने-आपको बड़ा मानने लगे तो उन्हें दुनियाने बड़ा मानना छोड़ दिया।

श्राद्धकी ऐसी विधि आती है कि पहले ब्राह्मणको निमन्त्रण देना चाहिये। ब्राह्मण संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यसे रहे। यजमानके यहाँ भोजन करे, उनके पितरोंका उद्धार करे। फिर अपने घर आकर गायत्री-जप करे और प्रायश्चित्त करे। यह क्या था? यह ब्राह्मणोंका त्याग था। लोगोंको दीखता था कि ब्राह्मण दक्षिणा लेते हैं, अन्न खाते हैं। परन्तु था उलटा। वे लेते थे थोड़ा और देते थे ज्यादा। लेते थे भौतिक चीज और देते थे आध्यात्मिक। इसलिये उनकी महिमा हुई। ऐसे ही साधु निर्वाहमात्रकी भिक्षा लेकर आध्यात्मिक ज्ञान तथा ईश्वर-तत्त्व देते थे। दूसरोंका उद्धार करते थे। इसलिये बड़े हुए। दाता हुए। केवल ब्राह्मणके घर जन्म लेनेसे या साधु बाबाका वेश लेनेसे बड़े नहीं बनते। इनमें अभिमान न आ जाय। इसलिये इनकी जीविका गृहस्थोंके आधीन रखी। साधुको भिक्षाके लिये गृहस्थीके सामने हाथ पसारना ही पड़ेगा। उसमें गृहस्थी भाईका हाथ ऊपर और साधुका नीचे रहेगा। यह भगवान्‌ने सबका सम्बन्ध जोड़ रखा है। अपनी-अपनी जगहपर रहते हुए अपने कर्त्तव्यका पालन करोगे तो संसिद्धिको प्राप्त हो जाओगे।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८।४५)

ब्राह्मण प्रतिग्रह (दान) लेनेसे दोषी होता है यह कायदा नहीं है। यदि ब्राह्मण यजमानके हितके लिये, उसके उद्धारके लिये लेता है तो वह ऋणी तथा दोषी नहीं होता। परंतु यदि वह अपने स्वादके लिये, अपने सुखके लिये और धनी बननेके लिये लेता है तो वह दोषी होता है। यदि ब्राह्मण उनके उद्धारके लिये लेता है तो वह वास्तवमें यजमानसे लेता नहीं उसे देता है। इसी प्रकार यदि आप नाम-कीर्तिके लिये दान-पुण्य करते हो तो वह देना भी लेना है। जबतक इस प्रकारकी आपकी नीयत है तबतक आप दाता नहीं हो सकते।

दूसरी बात है कि यदि आपके पास धन, विद्या आदि है और उसे आप दूसरोंको देते हैं तो यह कोई ऊँचे दर्जेकी चीज नहीं है। यह तो इन्कमटैक्स चुकाना है। उसमें यदि आप बड़प्पन या अहंकार करते हैं तो यह आपकी गलती है। अहंकार करना तो जैसे अभी कुछ समय पहले कहा था आसुरी सम्पदाका लक्षण है और आसुरी सम्पदा बाँधनेवाली है। अतः हमें इस आसुरी सम्पदासे ऊपर उठना है। अभिमान वस्तुओं तथा पदार्थों आदिको लेकर होता है और अहंकार शरीरको लेकर स्वयंमें होता है। अतः हमें अहंकार तथा अभिमानका त्याग करना है।

नारायण नारायण नारायण नारायण

शान्तिका मूल-मन्त्र

''करनेमें सावधानी-
होनेमें प्रसन्नता''

पराधीनता और स्वाधीनता

हमलोग सोचते हैं कि हमारे पास पैसा न होनेसे हम पराधीन हैं। यदि रुपये हो जायँ तो हम स्वाधीन हो जायँ। क्योंकि बिना रुपयोंके जिस चीजको हम खरीदना चाहते हैं, खरीद नहीं सकते। यदि रुपया हो जाय तो हम जो कोई भी चीज खरीदना चाहें तो खरीद लें। परन्तु इसे ठीक प्रकारसे समझना है। यदि आप रुपयोंसे चीज खरीद लेते हैं तो आप स्वाधीन कहाँ हुए? आप रुपयोंके आधीन हुए। रुपये 'पर' हैं 'स्व' नहीं, अतः पराधीन हुए। रुपयोंके आधीन रहकर आपको स्वाधीनताका अनुभव होता है, यह गलती है। जैसे रुपयोंके अभावमें पराधीनता है, ऐसे ही रुपयोंके रहते हुए भी पराधीनता है। पहले रुपये नहीं थे वह दुःख था। अब रुपये खर्च हो जायँगे; यह दुःख है। फर्क इतना ही है कि रुपयोंके न रहनेपर पराधीनताका अनुभव होता है, परन्तु रुपयोंके आनेपर ऐसी अंधेरी आती है कि पराधीनताका अनुभव नहीं होता। जिसको पराधीनताका अनुभव होता है, वह पराधीनतासे रहित अर्थात् स्वाधीन हो सकता है। पर जो पराधीन हो और पराधीनताका अनुभव न करता हो, वह स्वाधीन नहीं हो सकता। जबतक आपको प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले प्राकृत पदार्थोंकी चाहना है तबतक आप बिलकुल पराधीन हैं। क्योंकि ये प्राकृत पदार्थ रुपया, धन, शरीर आदि आने-जानेवाले उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। परन्तु आप रहनेवाले हैं। आप शरीरके

उत्पन्न होनेसे पहले भी थे, अब भी हैं और शरीर नष्ट होनेपर भी रहेंगे। अतः यदि आप शरीर, इन्द्रियों, अन्तःकरण आदिके आधीन नहीं होंगे तभी आप स्वाधीन होंगे। इनके आधीन होना तो पराधीन होना है। परमात्मा 'स्व' है। आप और परमात्मा दोनों रहनेवाले हैं। यदि आप परमात्माके आधीन हो जायँ, उनकी शरण हो जायँ तो स्वाधीन हो जायँगे। क्योंकि परमात्मा 'स्व' हैं अपने हैं। यदि हम प्रभुकी शरण हो जायँ,उनके परायण हो जायँ तो वे कहते हैं—

'मैं भगतन को दास भगत मेरे मुकुट मणि'

भगवान् आपको मालिक बना लेते हैं। अर्जुन भगवान्‌को कहते हैं कि मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

(गीता १।२१)

भगवान् उसकी आज्ञाका पालन करते हैं। आप भगवान्‌के आधीन हो जाते हैं। परन्तु ये रुपये-पैसे जिनके लिये आप झूठ, कपट, बेईमानी, जालसाजी सब कुछ करते हैं, वे जाते समय आपसे पूछेंगे नहीं कि हम जा रहे हैं। चुपकेसे खिसक जायँगे। कोई लिहाज नहीं करेंगे। इसी प्रकार यह शरीर जिसे आप 'मेरा' और कभी 'मैं' भी कह देते हैं, वर्षोंतक अन्न, जल, वस्त्र आदि दिया, परन्तु एक या दो दिन भी अन्न-जल न दें तो पोल निकाल देगा। काम करना बन्द कर देगा। यह लिहाज नहीं करेगा कि वर्षोंतक अन्न, जल दिया, अब दो दिन नहीं दिया तो कोई बात नहीं। यह इतना कृतघ्न है। आप इसकी गुलामी करते हो; परन्तु यह आपकी गुलामी नहीं करता। यह अपना नहीं है। इसे आप अपना मान लेते हैं यह धोखा है। इसपर आपका आधिपत्य नहीं

है। अगर आपका आधिपत्य हो तो इसे कमजोरीसे बचा लो। बूढ़ा मत होने दो, बीमार मत होने दो और कम-से-कम मरने मत दो। आप ये कर सकते हो क्या ? यदि नहीं तो इसे अपना मानना गलती है।

यह शरीर अपना इस बातमें है कि इससे आपको जो लाभ लेना हो ले लो। इससे अपना उद्धार, अपना कल्याण कर सकते हो। उद्धार होगा शरीरकी अहंता-ममताके त्यागसे। संसारकी सभी वस्तुएँ केवल त्यागके लिये, दूसरोंकी सेवाके लिये मिली हैं अपने लिये नहीं। अगर इस बातको मान लें तो महान् शान्ति मिलेगी। ऐसा माननेसे मरनेका भय मिट जायगा और तृष्णा तथा कामना मिट जायगी। कामनाके मिटनेपर दरिद्रता सर्वथा मिट जायगी। परन्तु इन चीजोंको लेते रहोगे तो दरिद्रता बढ़ेगी।

'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'

ज्यों-ज्यों वस्तु अधिक होगी, त्यों-त्यों अभाव अधिक होगा। यह बात बड़ी पक्की, सच्ची तथा शास्त्रीय सिद्धान्तकी है। स्थूलरीतिसे भी मनुष्योंको मैंने देखा है कि जब धन कम था सत्संगमें आते थे। भजन साधन करते थे और कहते थे कि ये धनी आदमी सत्संगमें क्यों नहीं आते। हमारे तो पैसेकी कमी है, खानेको पूरी रोटी नहीं है, फिर भी सत्संगमें आनेका मन रहता है। परन्तु जब उन लोगोंके धन हो गया तो वे भी अब सत्संगमें नहीं आते। यदि उनसे कोई कहे कि सत्संगमें चलो तो कहते हैं कि इतना काम-धंधा है कि जा नहीं सकते। दूसरे धनवानोंको जो कहते थे वही दशा उनकी हो गयी। ऐसा हमने देखा है। दूसरी बात है कि पैसा होनेपर आसुरी सम्पदाका लक्षण अभिमान आ जाता है। अभिमानीके प्रति किसीको दया नहीं आती। गरीबके

प्रति दूसरोंको दया आ जाती है। धनी व्यक्तिके नौकर भी आपसमें बात करते हैं कि सेठके पास पैसे बहुत हो गये पर अकल नहीं है। उसका मुँह न देखें, पर क्या करें, पैदा (आमदनी) नहीं है, इस कारण इसके यहाँ नौकरी करनी पड़ती है। नौकर उससे घृणा करते हैं। आप स्वतन्त्र तब हो सकते हैं, जब रुपयोंकी गुलामी न रहे। लाखों, करोड़ों रुपये आपके पास हैं, पर रुपयोंकी गर्मी आपके भीतर न हो, रुपयोंके कारण आपमें अभिमान न हो, तब आप स्वतन्त्र हैं, स्वाधीन हैं। परंतु रुपयोंके रहनेसे स्वाधीन मानना बिलकुल गलती है। परंतु क्या बतावें ? किसको कहें ? कैसे समझावें ?

आदि अविद्या अटपटी घट-घट बीच अड़ी।
कहो कैसे समझाइये, कुएँ भाँग पड़ी ॥

उसी कुएँका पानी पी-पीकर सब पागल हो रहे हैं। साधु, गृहस्थ, पण्डित, मूर्ख, ब्राह्मण, वैश्य सबके एक ही धुन सवार है—हाय पैसा-हाय पैसा ! जिस दिन पदार्थोंकी गुलामी भीतरसे निकल जायगी और यह बहम मिट जायगा कि आदमी रुपयोंसे बड़े बनते हैं, उस दिन लाखों, करोड़ों रुपये रहनेपर भी आप स्वतन्त्र हैं और एक कौड़ी न रहनेपर भी आप स्वतन्त्र हैं। परंतु जबतक तृष्णा है तबतक आपके पास रुपये हों तो भी आप दरिद्र हैं। और रुपये न हों तो भी आप दरिद्र हैं। ये सब 'पर' हैं। इसी प्रकार सैन्यबल, राज्यबलके रहते हुए भी आप निर्बल हैं। क्योंकि यह पराया बल है, पराये बलसे आप पराधीन होते हैं, स्वाधीन नहीं। अतः जड़ताके आश्रयका त्याग करो और चिन्मय परमात्माका आश्रय लो जो 'पर' नहीं 'स्व' हैं, अपने हैं, परमात्माके सिवाय कोई अपना नहीं है। उनके आधीन होते ही

आप स्वाधीन हो जाते हैं, स्वतन्त्र हो जाते हैं। उनके आश्रित होते ही दुनिया तथा दुनियाके नाशवान् पदार्थ ही नहीं, अपितु परमात्मा आपके वशमें हो जायँगे। अतः पदार्थोंके आश्रित न रहें, उनकी गुलामी न करें। रुपये-पैसे न्याययुक्त कमाओ और उनका सदुपयोग करो। आप करोड़पति या लखपति कब हों? जब कि करोड़ या लाख रुपयोंको ठोकर मारकर चल दें और मनपर कोई असर न पड़े। परन्तु यदि लाख रुपयोंमेंसे चार-पाँच हजार रुपये भी खर्च हो जायँ और भीतर खनखनाहट हो, तो आप लखपति नहीं, लखदास हो और पराधीन हो। परन्तु यदि वस्तुएँ आपके आधीन हैं, तो आप स्वाधीन हो, चाहे रुपये आपके पास हों या न हों। रुपये हो जायँ, न हो जायँ इसकी परवाह नहीं।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

(गीता ४।२२)।

यदि सिद्धिके गुलाम हो जायँगे तो असिद्धिमें दुःख पाना पड़ेगा। पराधीनता नहीं छूटेगी।

यदि अपने कमाए हुए रुपयोंसे आप बड़े हो जाते हैं तो सोचो कि आप बड़े हुए कि रुपये बड़े हुए? रुपयोंको आपने पैदा किया है या आपको रुपयोंने पैदा किया है। रुपयोंसे अपनेको बड़ा मानना, यह बहम पड़ गया है। बड़प्पन रुपयोंके होनेमें नहीं, रुपयोंके सदुपयोगमें है। रुपयोंके द्वारा बढ़िया-से-बढ़िया काम करो। कभी-कभी रुपये तो खर्च कर देते हैं; परन्तु कंजूसी कायम रखते हैं। रुपये नरकोंमें ले जानेवाले नहीं हैं, अपितु कृपणता नरकोंमें ले जानेवाली है। अतः सज्जनो! आप अवसर पड़नेपर

खूब खर्च करो। लुटाओ भी मत, परन्तु कंजूसी मत करो। भीतरसे रुपयोंकी गुलामी निकाल दो। रुपये आप पासमें रखो, न रखो, ज्यादा रखो, थोड़े रखो, कोई आग्रह नहीं। परंतु उनकी जो दासता है, गुलामी है, यह गलत है। आप परमात्माके चेतन अंश हो और चेतन अंशको रुपये दास बना लें, यह बड़े दुःख एवं आश्चर्यकी बात है। इस वास्ते उनके दास न बनें और प्रभुके चरणोंका आश्रय लें, तो सदा स्वतन्त्र हो जाओगे।

अतः इस पराधीनतासे छूटनेका उपाय है कि हम स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। संसार हमारा नहीं है और हम संसारके नहीं हैं।परंतु जो भी सांसारिक चीजें—शरीर, धन, विद्या, बुद्धि, बल हमारे पास हैं सब संसारकी सेवाके लिये हैं अपने लिये नहीं। लेना किसीसे कुछ नहीं, देना-ही-देना है। अतः भगवान्‌के चरणोंकी शरण होकर अपनी कहलानेवाली सामग्री, शक्ति तथा सामर्थ्यसे सबकी सेवा करें जिससे हम स्वाधीन हो जायँ।

राम राम राम राम राम

—— ——::०::—— ——

आवश्यकता और इच्छा

बिलकुल अनजानपनेका नाम अज्ञान नहीं है और पूरी जानकारीका नाम भी ज्ञान नहीं है। कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते, उसका नाम अज्ञान है अर्थात् अधूरे ज्ञानको अज्ञान कहते हैं। सर्वथा ज्ञानके अभावको अज्ञान नहीं कहते। जैसे पत्थरको कोई अज्ञानी नहीं कहता; क्योंकि ज्ञान है ही नहीं उसमें। दूसरा अज्ञानी वह है जो जानता है, पर मानता नहीं है। यदि वह जैसे जानता है, वैसे ही मान ले और वैसे ही कर ले तो उसका अज्ञान बिलकुल दूर हो जायगा। इसमें न किसीके पास जानेकी आवश्यकता है न सीखनेकी।

मनुष्य क्या जानता है। यह जानता है कि शरीर, कुटुम्ब, संसार सब-के-सब पहले नहीं थे और फिर नहीं रहेंगे। परंतु मैं पहले भी था और शरीरके बाद भी रहूँगा। परन्तु इस बातको हम मानते कहाँ हैं ? हम शरीर और संसारको रखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि शरीर नीरोग रहे, धन-सम्पत्ति आ जाय, आदर-सत्कार हो। परन्तु कौन नहीं जानता कि जिस शरीर और नामको लेकर हम यह सब चाहते हैं, वह शरीर और नाम पहले भी था, पर वह आज याद ही नहीं है, ऐसे ही यह शरीर और नाम भी याद नहीं रहेगा जिसके लिये रात-दिन परिश्रम कर रहे हैं। इसका नाम अज्ञान है। जो कुछ करो दूसरोंके लिये करो,संसारके लिये करो। संसारसे मेरेको कुछ नहीं मिलेगा, यह पक्का

सिद्धान्त मान लें। क्योंकि मैं नित्य हूँ और संसार अनित्य है। संसारसे मेरेको कुछ मिल सकता है, यह सोचना ही अज्ञान है। फिर भी संसारको प्राप्त करनेके लिये उद्योग करते हैं रात-दिन। परन्तु जो अपना है और मिल सकता है, उसके लिये उद्योग नहीं करते। यह एकदम पक्की, सच्ची, सिद्धान्तकी बात है।

अब एक बात और बतावें। आप ध्यान देकर सुनें, समझें और उसमें शंका हो तो पूछें। मनुष्यके भीतर इच्छा होती है। उस इच्छाके दो भाग होते हैं। एक होती है कामना (इच्छा) और एक होती है आवश्यकता। उदाहरणके लिये, जैसे भूख लगी तो भूखमें खाद्य पदार्थ (भोजन) की आवश्यकता है जिससे प्राण रह सकते हैं। ऐसे ही प्यासमें जलकी आवश्यकता है। परंतु कामना या इच्छा क्या है? इच्छा है कि भोजन बढ़िया हो, मीठा हो, स्वादिष्ट हो, जल ठण्डा हो, मीठा हो। भूख बातोंसे नहीं मिटेगी। वह तो खानेसे मिटेगी; परन्तु इच्छा विचारसे मिट जायगी। जैसे अमुक वस्तु स्वादिष्ट है, पर कुपथ्य है। अतः नहीं खायेंगे; क्योंकि इससे रोग बढ़ सकता है। यह तो एक दृष्टान्त हुआ।

मूलमें बात यह है कि जैसे शरीरमें भोजनकी आवश्यकता है, ऐसे ही स्वयंको परमात्माकी आवश्यकता है। संसारकी तो मात्र इच्छा है, आवश्यकता है ही नहीं। स्वयंको न तो धनकी आवश्यकता है, न अन्नकी आवश्यकता है, न शरीरकी आवश्यकता है, न कुटुम्बकी आवश्यकता है, न संग्रहकी आवश्यकता है, न भोगोंकी आवश्यकता है। इस स्वयंको परमात्माकी आवश्यकता है। क्योंकि यह परमात्माका अंश है।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।'

(गीता १५।७)

इसे परमात्माके अतिरिक्त और कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु इच्छाओंमें इतना फँसा हुआ है कि इच्छा कभी पूरी होती नहीं, और आवश्यकता जो पूरी होनेवाली है, उसे जागृत करता नहीं, अतः हरदम दुःख पाता है। वास्तवमें आवश्यकता एक होती है। भगवान्‌ने कहा है:—'**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका** ।' (गीता २।४१)। अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

(गीता २।४१)

परन्तु अव्यवसायियोंकी बुद्धियाँ अनन्त होती हैं अर्थात् उनकी अनन्त इच्छाएँ होती हैं। आवश्यकता क्या है? संसारकी इच्छाका त्याग करना और परमात्माकी प्राप्ति करना। परंतु इच्छाएँ अनेक होती हैं। जैसे हलुवा मिल जाय, पूड़ी मिल जाय, चटनी मिल जाय, धन हो जाय, परिवार हो जाय, मान-सत्कार मिल जाय आदि। परन्तु आवश्यकता होगी कि पेट भरना है फिर साग-पत्ती ही क्यों न हो। ऐसे ही मनुष्यको आवश्यकता परमात्मतत्त्वकी है, उसके बिना आवश्यकता मिटेगी नहीं। परन्तु इच्छा कभी मिटेगी नहीं। ज्यों-ज्यों इच्छाकी पूर्ति करेगा त्यों-त्यों इच्छाएँ बढ़ेंगी। इनका कभी अन्त नहीं होगा। इनकी पूर्ति असम्भव है।

इच्छाओंका त्याग और आवश्यकताकी पूर्ति करनी होगी। चाहे तो आवश्यकताकी पूर्ति कर दो, तो इच्छाएँ मिट जायँगी। चाहे इच्छाओंको मिटा दो तो आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। दोनोंमेंसे एक कर लो तो दोनों पूरी हो जायँगी। संसारकी इच्छाओंका त्याग कर दें तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। सर्वव्यापक परिपूर्ण परमात्मा कैसे दूर हो

सकते हैं ? सर्वसमर्थ परमात्मामें हमसे दूर होनेकी सामर्थ्य नहीं है। केवल संसारकी इच्छा होनेके कारण उस सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो रही है। यदि इच्छाएँ सर्वथा मिट जायँ तो उसकी प्राप्ति तत्काल हो जाय।

उसकी प्राप्ति वह परम लाभ है कि जिसके बाद और कोई लाभ हो सकता है यह माननेमें भी नहीं आता। और जिसमें स्थित होकर मनुष्य गुरुतर दुःखसे भी चलायमान नहीं होता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

उसकी प्राप्ति होनेपर परम शान्ति तथा परम आनन्द ही रहता है। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। मनुष्य इन इच्छाओंके कारण ही दुःख पाता है। ये इच्छाएँ महान् अनर्थका कारण हैं। जबतक यह पृथ्वी रहेगी, आप कितने ही विद्वान् बन जाओ, कितने ही धनवान् बन जाओ, कितने ही बलवान् हो जाओ, कितना ही आदर, मान-सम्मान मिल जाय, आपको इन्द्र और ब्रह्माका पद मिल जाय तो भी आपको शान्ति मिलेगी नहीं। यह एकदम सच्ची बात है सबके लिये। साधु हो चाहे गृहस्थ, भाई हो या बहिन। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक शान्ति मिलेगी नहीं, तृप्ति होगी नहीं; क्योंकि अविनाशीकी तृप्ति विनाशी संसारसे कैसे हो जायगी ? यह असम्भव बात है। यदि आवश्यकता और इच्छाको ठीक-ठीक समझकर आवश्यकताकी पूर्ति की जाय तो सब काम ठीक हो जाय। आवश्यकताकी पूर्ति अवश्य होनेवाली है और इच्छा निश्चय ही मिटनेवाली है। जैसे बचपनमें खिलौनोंकी इच्छा थी; परन्तु अब होती है क्या ? इसी

प्रकार ठीक वैराग्य होनेपर रुपयोंकी आवश्यकता रहती है क्या ? संग्रह, भोगकी इच्छा रहती है क्या ? तो पुरानी इच्छाएँ मिटती रहती हैं, परन्तु नयी जागृत होती रहती हैं। इच्छा होती है कि मोटर हो जाय। फिर मोटर रखनेको गैरेज होना चाहिये, तेल चाहिये, ट्यूब-टायर, पुर्जे चाहिये आदि। इच्छाएँ बढ़ती ही रहेंगी। **'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'** 'इनका अन्त तभी होगा, जब आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी अर्थात् परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

सबसे पहले जितने भाई, बहिन यहाँ हैं अपनेसे पूछें कि मैं क्या चाहता हूँ। हममेंसे बहुतोंको तो इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि हम क्या चाहते हैं। कोई धन चाहता है, कोई पुत्र चाहता है, कोई मान, आदर चाहता है, परन्तु जिसे कभी चाहते हैं, कभी नहीं चाहते, वह हमारी असली चाहना नहीं। हमारी चाहना तो सदा रहेगी, चाहे रात हो चाहे दिन हो, सुख हो अथवा दुःख। सम्पत्ति मिले चाहे विपत्ति मिले। वही हमारी चाह या आवश्यकता है। कामना हमारी चाह नहीं। वह तो शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, प्राणकी चाह है, हमारी नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि यह **'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥'** होकर बँध कैसे गया ? तो इसका उत्तर है कि यह इसलिये बँधा कि इसने संसारकी इच्छाको मुख्यता दे दी और परमात्माकी आवश्यकताको भूल गया। यह बात एकदम पक्की और सच्ची है। हमें बहुत-सी बातें पुस्तकोंसे मिली हैं और इसके सिवाय कभी-कभी बातें स्वयं पैदा हो जाती हैं। एक बारकी बात है कि गीताभवन ऋषिकेशमें प्रवचन दे रहा था कि मनमें आया कि **'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'** यह क्या बात है ? जैसे दस रुपयेवालेको सौ रुपयेकी इच्छा होती है, सौ रुपये-

वालेको हजारकी इच्छा होती है और हजार मिलनेपर दस हजारकी होती है। तो उत्तर आया कि रुपया स्वीकार करनेसे रुपयेकी इच्छा पैदा हुई। रुपयेका महत्त्व अन्तःकरणमें आया, तब रुपयेकी इच्छा पैदा हुई। यदि रुपयेकी इच्छा न करें, तो इच्छा बढ़ेगी नहीं। ऐसे ही पढ़ाईकी इच्छा उसे होती है जो कुछ पढ़ा-लिखा होगा और पढ़ना चाहता है। जो पढ़ा-लिखा नहीं और पढ़ना नहीं चाहता, उसको पढ़ाईकी चाहना कभी नहीं होती। उसके पढ़ाईकी कमी नहीं है। पढ़े-लिखे आदमीके ही पढ़ाईकी कमी है। इसी प्रकार रुपये-पैसेवालोंके ही रुपयेकी कमी है। जिसके पास रुपया है नहीं और रुपये-पैसोंकी इच्छा नहीं है उसे रुपयोंकी कमी नहीं खटकती। अतः संसारकी इच्छाके कारण ही अभाव और कमी है।

अब प्रश्न है कि इस जड़तासे, इन इच्छाओंसे कैसे छूटें ? तो उत्तर है कि मनुष्यका जड़तासे सम्बन्ध है नहीं, इसने सम्बन्ध मान लिया है। और यह चेतनका जड़के साथ सम्बन्ध ही अनर्थका हेतु है। यह मूल बात है। भगवान्‌ने मनुष्यको स्वतन्त्रता दी है।

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

मनुष्य नरक, स्वर्ग और चौरासी लाख योनियोंमें जा सकता है, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति प्राप्त कर सकता है। मनुष्यने उस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया, इस कारण फँस गया। और यदि अब यह स्वतन्त्रताका सदुपयोग करे, आवश्यकताकी पूर्ति करे और इच्छाओंका त्याग करे, तो बिलकुल ठीक काम हो जाय, इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं।

राम राम राम राम राम

——::o::——

बुद्धिके निश्चयकी महत्ता

दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

(गीता २। ३९)

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी, अब इसको कर्मयोगके विषयमें सुन। ज्ञानयोगके विषयमें अपने स्वरूपके अनुभवकी बात कही। कर्मयोगके विषयमें निश्चयकी बात कही। निश्चय क्या ? कि हमें तो परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है। ऐसा पक्का निश्चय होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया बिलकुल। कैसे ? जैसे आपकी कन्या है। उसका आपके प्रति अपनापन है। उसका आपके प्रति आदरका भाव रहता है। परन्तु वाग्दान-सगाई होनेके बाद जितना अपनापन पहले माँ-बापके साथ था, उतना नहीं रहता। परंतु वह लड़का जिसे उसने देखा भी नहीं, उसका नाम सुनती है तो उसमें अपनेपनका अनुभव करती है। उसके घरको अपना घर मानने लगती है। यह भाव बदलनेसे ऐसी बात हो जाती है। परंतु यह संसारी सम्बन्ध तो अस्थिर है। परंतु हमारा भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्थिर है।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

(गीता १५। ७)

'इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है।' अतः जब पक्का निश्चय हो जाय कि हमें तो परमात्माकी ओर ही जाना है तो जो नित्य सम्बन्ध है वह जाग्रत् हो जाता है। हम परमात्माके

हैं और परमात्मा हमारे हैं, यह सम्बन्ध होते ही भजन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय स्वतः होगा। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला, रहस्य सब अपने मालूम होंगे। संसारकी चीजें अपनी नहीं हैं। जैसे शरीरका काम करते हैं ऐसे ही संसारका काम कर देना है। जिस प्रकार विवाहित चतुर लड़की माता, पिता, भाई आदिके घर आती है तो वहाँकी ऐसी ठीक प्रकारसे सँभाल करती है कि पिता, भाई यह समझने लगते हैं कि लड़की यहाँपर है, सब सँभाल लेगी। वह घरकी चीज-वस्तुओंकी, गाय-भैंस आदिकी ठीक प्रकारसे सँभाल रखती है। परंतु उन्हें अपना नहीं मानती। ऐसे ही परमात्माके साथ सम्बन्ध जुड़नेपर, अपनापन माननेपर, मनुष्य संसारकी वस्तुओंकी ठीक प्रकारसे सार-सँभाल करेगा, परन्तु हृदयसे यही मानेगा कि ये मेरी नहीं हैं। भगवान्‌के साथ अपनापन माननेमें जितना बल है, उतना अन्य साधनमें नहीं है।

एक कहानी कहा करते हैं कि मथुराके कई चौबेलोगोंने मथुरासे प्रयागराज कुम्भ जानेका विचार किया। रेल, मोटर, साइकिल, पैदल ऐसे विचार करके अन्तमें नौकापर जानेका विचार हुआ। यमुनाजी उधर बहती हैं ऐसा विचार करके शामको भाँग घोटकर मस्तीमें रातको रवाना हुए। विश्रामघाटसे चले, कई आदमी थे। सारी रात नाव चलायी। प्रातःकाल हो गया। शहर दिखायी दिया। पूछा—कौन-सा शहर है? उत्तर मिला—मथुरा। फिर व्याकुल होकर पूछा—कौन-सा घाट है? उत्तर मिला—विश्राम-घाट। सोचने लगे कि विश्राम-घाटसे तो चढ़े थे, क्या बात हुई? खोज करनेपर ध्यान आया कि नौकाका रस्सा खोलना भूल गये। रस्सा खोले बिना नाव कितनी ही चलावें, वहींके वहीं होंगे। ऐसे ही अपनापन संसारसे रखोगे तो

कितनी ही नौका चलाओ, भगवान्‌की ओर नहीं पहुँचोगे। परन्तु यदि रस्सा खोल दिया अर्थात् यह स्वीकार कर लिया कि हमारे तो परमात्मा हैं और हम परमात्माके हैं तो यमुनाजी स्वतः ही आपको अपने लक्ष्यकी ओर ले जायँगी, अर्थात् स्वतः ही भजन-ध्यान होगा।

मुझे व्याख्यान देते कई वर्ष बीत गये, तब एक बात मनमें आयी कि ऐसे ऊँचे-ऊँचे महापुरुष हो गये हैं, उन्होंने शिष्य क्यों बनाये ? उन्हें संसारसे जब कुछ चाहना नहीं, लेना नहीं, फिर वे शिष्य क्यों बनाते हैं। तो स्वतः उत्तर आया कि वे अपने लिये शिष्य नहीं बनाते हैं। वे शिष्य इसलिये बनाते हैं कि शिष्यको बता दें कि तुम संसारके नहीं हो, तुम भगवान्‌के हो। शिष्य जान लेता है कि गुरु महाराजने बता दिया कि भगवान् हमारे हैं, संसार हमारा नहीं है। इस अपनेपनमें इतनी शक्ति है कि इसकी जितनी महिमा गायी जाय, उतनी थोड़ी है।

आप थोड़ा ध्यान देकर सुनें तो बात आपकी समझमें आ जाय। घरमें छोटा-सा बालक होता है। यदि वह रात्रिमें रोने लग जाय तो घरमें माता, पिता, दादी, दादा, ताऊ, चाचा आदि सभीको जगा देता है। सभी कहते हैं कि बच्चा क्यों रोता है ? औषध दो, वैद्यको बुलाओ, डाक्टरको दिखाओ। उसके रोनेमें इतनी ताकत है कि वह सब घरवालोंको नचा देता है। किसके बल पर ? अपनेपनके बलपर। घरवाले समझते हैं कि अपना बच्चा है। वे उसकी योग्यता, विद्या, बुद्धि, बल, त्याग आदि कुछ नहीं देखते। इसी प्रकार भगवान् जितना अपनेपनको महत्त्व देते हैं, उतना भजन, साधन, जप, कीर्तन, तप, योग्यता, अधिकार आदि किसीको नहीं देते। भीतरसे यह अटूट सम्बन्ध

हो कि हम तो भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। इसमें बड़ी भारी ताकत है। एक करोड़पतिका लड़का है जो बहुत योग्य नहीं है। और मुनीम है जो बहुत योग्य है, वह दस हजार मासिक वेतन पाता है। लड़का यदि और कहीं जाकर नौकरी करे तो उसे सौ रुपये महीना भी शायद ही कोई दे। सौ रुपये मिलना भी मुश्किल है; क्योंकि योग्यता नहीं है। परन्तु सेठके मरनेपर मालिक योग्य मुनीम नहीं, अयोग्य लड़का ही बनता है। क्यों ? क्योंकि वह मालिकका अपना है। योग्यतासे नौकरी मिलेगी। जितनी योग्यता होगी उतनी ही नौकरी मिलेगी। परन्तु मैं भगवान्‌का ही हूँ, भगवान् ही मेरे हैं, संसार मेरा नहीं, मैं संसारका नहीं हूँ—इस मान्यताके समान कोई योग्यता नहीं, कोई बल नहीं है।

आप यहाँ सत्सङ्गमें बैठे हैं। पर भीतरसे सम्बन्ध जुड़ा हुआ है कि घर मेरा है, कुटुम्ब मेरा है, धन मेरा है। यह जो मेरेपनका भाव है यही बन्धन है। यही सम्बन्ध अगर भगवान्‌से कर लें तो बन्धनसे मुक्त हो जायँ और निहाल हो जायँ।

यह जो बात है, इसमें बड़ी ताकत है। आपका घर, कुटुम्ब, धन जिसे आप अपना मानते हैं ये अबसे सौ वर्ष पहले आपके थे क्या ? और सौ वर्ष बाद आपके रहेंगे क्या ? '**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**' जो आदि-अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता। ये वास्तवमें हैं नहीं, केवल दीखते हैं। तो क्या करना है ? इनका सदुपयोग करो। ये सदुपयोगके लिये हैं। अधिकार जमानेके लिये, कब्जा करनेके लिये नहीं। जैसे हम यहाँ इस बगीचेमें रहते हैं, काम करते हैं, भोजन करते हैं, जल पीते हैं। हमें यह बगीचा रहनेके लिये दिया है, कब्जा करनेके लिये नहीं। यदि कब्जा जमाने लगें तो कान

पकड़कर बाहर कर दिये जायँगे। इसी प्रकार यह संसार (अर्थात् धन, सम्पत्ति, परिवार, पद आदि) अधिकार जमानेके लिये नहीं मिला है। अपितु अपना उद्धार करनेके लिये, अपना कल्याण करनेके लिये मिला है। ये सब संसारकी सामग्री आप सदा रखना चाहो, रख सकोगे नहीं। फिर क्यों इज्जत खोते हो? मारवाड़ी शब्दोंमें—''क्यों माजनो गमावे'' केवल बेइज्जती होगी और क्या मिलेगा?

एक बात और है। उसकी ओर विशेष ध्यान देना है। भगवान्‌के साथ नया सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। हम सोचते हैं कि संसारके साथ तो हमारा सम्बन्ध है; परंतु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ेंगे। लेकिन भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध स्वतः है, केवल भूल गये हैं। अतः भूलको छोड़ना है और हमारा जोड़ा हुआ सम्बन्ध तो संसारसे है। अतः उस जोड़े हुए सम्बन्धको छोड़ना है। असली सम्बन्धको याद करना है कि हम भगवान्‌के हैं। पूरी गीताका उपदेश सुनानेपर भगवान्‌ने अर्जुनसे पूछा कि क्या तूने एकाग्रतासे गीता सुनी और क्या तेरा मोह नष्ट हुआ? तो अर्जुनने उत्तर दिया **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** अर्थात् मोह नष्ट हो गया और पुरानी बात याद आ गयी, कोई नयी चीज नहीं हुई। क्योंकि भगवान्‌के साथ पहलेसे स्वतः सम्बन्ध है, मैं भगवान्‌का हूँ यह बात भूल गया था, अब याद आ गयी।

नारायण नारायण नारायण नारायण

——::०::——

स्वभाव-शुद्धि

मनुष्य-शरीर स्वभावको सुधारनेके लिये मिला है। हम पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदिको समझा नहीं सकते कि तुम ऐसा करो और ऐसा मत करो। विधि-निषेध केवल मनुष्यके लिये हैं। अब प्रश्न है कि स्वभावमें बिगाड़ क्या हुआ है ? क्या अशुद्धि है ? तो इसका उत्तर है कि जैसे विजातीय वस्तु लगनेसे कपड़ा मैला होता है, ऐसे ही इस मनुष्यके विजातीय द्रव्य लगा है। अब प्रश्न उठता है कि विजातीय द्रव्य क्या है ? तो इसका उत्तर है कि यह जीवात्मा स्वयं तो है परमात्माका अंश। यह है नित्य एवं अविनाशी। परन्तु इसने विनाशी एवं अनित्य वस्तुओंके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया, उनको महत्त्व दिया, उनका आश्रय लिया, वही इसके मैल लगा। इसके कारण अशुद्धि आयी। अब इस अशुद्धिको कैसे दूर करें, तो इसका सरल उपाय है कि यदि यह नया मैल न लगावें तो पुराना मैल छूट जायगा। क्योंकि यह स्वयं तो है नित्य और मैल है अनित्य। अनित्य नष्ट होता ही है और नित्य सदा रहता ही है।

अब इस नये मलमें दो बात मुख्य रूपसे आती हैं—एक तो वस्तुओंको ले लूँ अर्थात् उनका संग्रह कर लूँ और दूसरी उन वस्तुओंके द्वारा सुख भोग लूँ। यह रुपयोंका तथा वस्तुओंका संग्रह करना चाहता है और उनसे सुख लेना चाहता है। यह उत्पन्न होनेवाले धन तथा नष्ट होनेवाले धन तथा पद आदिसे अपनेको बड़ा मानता है। परंतु स्वयं तो है नित्य और धन-पद आदि हैं अनित्य। उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली वस्तुओंको महत्त्व

देना ही अपना पतन करना है।

अतः आजसे ही विचार कर लें कि उत्पन्न होनेवाली तथा नष्ट होनेवाली वस्तुओंके द्वारा सेवा करनी है, परंतु उनसे अपनेमें बड़प्पनका अनुभव नहीं करना है। धन आ जाय तो बड़ी अच्छी बात और धन चला जाय तो बड़ी अच्छी बात। धन आ जाय तो धनका उपयोग करें और धन चला जाय तो अपनी सेवा करनेकी जिम्मेदारी नहीं। इसमें एक विशेष बात है कि हम मैल लगानेमें स्वाधीन नहीं अपितु पराधीन हैं।परंतु निर्मल होनेमें एकदम स्वाधीन हैं, कोई पराधीन नहीं हैं। आज यदि मैं चाहूँ कि लखपति बन जाऊँ, तो उम्रभर संग्रह करके भी लखपति बन जाऊँगा क्या ? हम मैल लगानेमें स्वतन्त्र नहीं हैं। आप करोड़पति हैं और करोड़ रुपयोंको ठोकर मारकर आज ही चल दें तो कौन मना करे ! अतः शुद्ध होनेमें सब स्वतन्त्र हैं, कोई पराधीन नहीं।

उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, दूब सभी सुख लेते हैं। वर्षा होनेपर वृक्षोंके पत्ते खिल जाते हैं। लता-दूब हरे हो जाते हैं। प्रसन्न हो जाते हैं। परंतु मनुष्यमें और पशु, पक्षी, वृक्ष, आदिमें एक अन्तर है। मनुष्यकी विशेषता है कि वह उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली वस्तुओंको पहचान सकता है। मनुष्यको भगवान्‌ने बुद्धि और विवेक दिया है। अतः इसे चाहिये कि इस विवेकसे उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली वस्तुओंको आदर न दे। महत्त्व न दे। वस्तुको काममें लाये। जैसे जूतीको पहननेके काममें लाते हैं। उसको सिरपर उठा लेना, उसको महत्त्व देना, उसका आश्रय लेना गलती है। यह सोचना कि मैं बड़ा धनी हूँ, बलवान् हूँ, कीर्तिवान् हूँ, बिलकुल गलती है। यह मैल है। अपनेको शुद्ध करनेके

लिये इस मैलको छोड़ना पड़ेगा।

परमात्मा और हम स्वयं तो अनुत्पन्न हैं और यह संसार तथा इसकी सामग्री उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली है। नष्ट होनेवालीका साथ करोगे, तो रोना पड़ेगा ही। इस वास्ते चेत करो।

अब प्रश्न उठ सकता है कि धन आदिकी कामना नहीं करेंगे तो धन कैसे आयेगा ? इसका उत्तर है कि क्या धनकी कामना या इच्छासे धन मिलता है? क्या इच्छा करनेमात्रसे भोग मिलते हैं ? संग्रह तथा भोगकी इच्छाका त्याग कर दोगे तो भी जो चीज आनी होगी—वह तो आयेगी ही; और जो नहीं आनी होगी, वह नहीं आयेगी। यह एकदम पक्की और सिद्धान्तकी बात है। आप यह भी कह सकते हैं कि संग्रह किये बिना काम कैसे चलेगा ? इसका उत्तर है कि संग्रहको महत्त्व मत दो। संग्रह की हुई वस्तुओंका सदुपयोग करो। सदुपयोगके लिये मना नहीं है। और दूसरी बात है कि इस संग्रहसे काम कितने दिन चलाओगे ! एक दिन मरना पड़ेगा ही। ''राम-नाम सत् है'' बोला जायगा। फिर सब काम स्वतः बन्द हो जायँगे।

अब एक शंका और हो सकती है कि विधि-निषेध अर्थात् क्या करें और क्या न करें इसका निर्णय कैसे करें ? तो इसका उत्तर भगवान् गीताजीके सोलहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें देते हैं—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'

कर्त्तव्य, अकर्त्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण हैं अर्थात् जो शास्त्रोंमें करनेके लिये कहा गया है, वह तो करेंगे और जो शास्त्रोंमें नहीं करनेके लिये कहा गया है, वह नहीं करेंगे। अपनी इच्छाके अनुसार चलना तो पशु-पक्षियोंमें होता है। मनुष्यको तो

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार कर्त्तव्यका पालन करना है। मनुष्य-शरीर उत्तम-से-उत्तम है। अतः इससे उत्तम-से-उत्तम काम करना है तथा समयका उत्तम-से-उत्तम उपयोग करना है। अगर संग्रह करनेकी इच्छा रखोगे और भोग भोगनेकी इच्छा रखोगे, तो अशुद्धि तथा अपवित्रता आयेगी। अतः शास्त्रों तथा भगवान्की आज्ञाके अनुसार करो जिससे अशुद्धि तथा अपवित्रता नहीं आये।

राम राम राम राम राम

—:oo:—

प्रत्येक परिस्थिति सदुपयोगके लिये

हमारे और आपके—सबके अनुभवकी और बिलकुल सच्ची बात है कि संसारकी सभी चीजें प्रतिक्षण बदल रही हैं और नष्ट हो रही हैं। आज आपका बचपनका शरीर जैसा था, वैसा है क्या ? बचपनके भाव हैं क्या ? बचपनकी परिस्थितियाँ और मान्यताएँ आज हैं क्या ? जिन खेल-खिलौनोंको बचपनमें सुखकी सामग्री मानते थे आज उन्हें मानते हैं क्या ? तो बचपनकी सारी चीजें बदल गयी, पर आप वही हैं जो बचपनमें थे। इससे सिद्ध हुआ कि आप तो रहनेवाले हैं, अविनाशी हैं और ये संसारकी वस्तुएँ बदलनेवाली हैं; विनाशी हैं। अतः अविनाशी होकर विनाशीके साथ रहना गलतीकी बात है। मैं आपसे यह नहीं कहता कि घर छोड़ दो, परिवार छोड़ दो, धन छोड़ दो, वस्तु छोड़ दो। परंतु यह कहता हूँ कि इनका आश्रय मत लो। इनका भरोसा मत करो। क्योंकि आप तो रहनेवाले हैं और ये रहनेवाली हैं नहीं ! इन जानेवाली चीजोंसे काम कैसे चलाओगे ! यह शरीर, यह कुटुम्ब, यह धन, यह मान-आदर सब नष्ट होनेवाले हैं। रहनेवाले तो परमात्मा हैं। अतः उन्हींका आश्रय लो, उन्हींकी शरण लो।

बहुत बड़े आश्चर्य तथा दुःखकी बात है कि जिस जीवनसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ली जाय, जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाय, प्रभु-प्रेम प्राप्त हो जाय, भगवान् मनुष्यके सामने खेलने लगें और

मनुष्यके दास बन जायँ, इतना अधिकार दिया है, वही जीवन हम नाशवान् चीजोंके संग्रहमें और सुख-भोगमें नष्ट कर रहे हैं। ये धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार आदि नाशवान् हैं, रहनेवाले नहीं हैं। इन चीजोंमें समय बरबाद करके हम प्रभु-प्राप्तिरूपी महान् लाभसे वञ्चित रह रहे हैं, जिसके लिये प्रभुने कृपा करके मानव-शरीर दिया है। हर एक भाईको सोचना-समझना चाहिये कि हमें मनुष्य-शरीर मिल गया, 'सबसे दुर्लभ मनुष्य देही', वह भी भारतवर्षमें जन्म मिल गया। फिर कलियुगमें, जिसमें प्रभु-प्राप्ति अति सरल है। उसमें भी गीता-जैसा ग्रन्थ, भगवान्‌का नाम, सच्चर्चा तथा सत्संग करनेका सुन्दर मौका मिल गया। क्या राज्य, वैभव, सम्पत्तिसे ऐसा मौका मिल सकता है ? फिर किस दिनकी प्रतीक्षामें बैठे हो ? किसके भरोसे निश्चिन्त बैठे हो ? वह कौन-सी ऋतु, कौन-सा वर्ष, कौन-सी परिस्थिति आयेगी जिससे अपना कल्याण करोगे ? हम सोचते हैं कि बेटे, पोते बड़े हो जायँ, वे कारोबार सँभाल लें तो फिर करेंगे। परन्तु शरीरका पता नहीं कि कब 'राम नाम सत्' हो जायेगा। अतः असली काम (प्रभु-प्राप्ति) अपना कल्याण कर लेना चाहिये। ये संसारके काम लेना-देना, कारोबार आदि तो बेटा-पोता भी कर लेंगे। कोई वंशमें नहीं होगा तो और कोई राज्य सँभाल लेगा। और यह काम नहीं चलेगा तो भी आपका कोई हर्ज नहीं है। परन्तु पीछे आपका उद्धार कौन करेगा ?

मानव-शरीर पाकर यदि भगवान्‌का भजन न करें तो उसके समान हानि नहीं है और उस हानिको हम सह रहे हैं। अतः सच्चे हृदयसे लगन लग जानी चाहिये कि हमें तो अपना कल्याण करना ही है। जबतक न हो जाय तबतक चैन न पड़े; क्योंकि

मानव-शरीर मिला ही कल्याणके लिये और इसका कोई आशय नहीं है। यह संसार जो अपना दीखता है यह अपने साथ रहेगा नहीं। इस बातको आप सोच लें—

वे बड़े-बड़े महाराजे
जिनके बजे रात-दिन बाजे
वे भी बने काल के खाजे
मिले नहीं बारम्बार शरीर,
क्यों गफलतमें खोते हो ?

अतः मानव-शरीरमें प्रभु-प्राप्तिका, अपने कल्याणका मौका मिला है, इसे मत चूकने दो, अन्यथा धोखा होगा, धोखा। बेचारे मनुष्यको खाने-कमानेसे फुसरत ही नहीं मिलती। परन्तु चिन्ता नहीं है कि मानव-शरीर क्यों मिला। मैंने कलकत्तेमें एक भाईसे पूछा एकान्तमें कि आपके पास लाखों, करोड़ों रुपये हैं, आप उम्रभर बैठे-बैठे खाओ तो भी खर्च होगा नहीं। फिर आप उत्तर दो कि और कमाकर क्या करोगे ? सज्जन आदमी थे। बोले—'स्वामीजी ! इसका उत्तर हमारे पास नहीं है।'

यह हालत है। तो करना क्या है ? धनका सदुपयोग करना है। बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करो। रोगियोंकी सेवा करो। गायोंकी सेवा करो। महत्त्व वस्तुका नहीं है, वस्तुके उपयोगका है। मानव-शरीरके भी उपयोगकी महिमा है—

'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।'

इस मानव-शरीरसे नरक, स्वर्ग या मोक्ष कुछ भी प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार धनवत्ताका, निर्धनताका, रोगका, नीरोगताका, मानका, अपमानका, निन्दाका, स्तुतिका, सम्पत्तिका, विपत्तिका, शान्ति और कलहका, प्रतिकूलता-अनुकूलता—

सबका सदुपयोग और दुरुपयोग किया जा सकता है। सदुपयोगसे होता है कल्याण और दुरुपयोगसे होता है पतन। अतः जो समय, समझ, सामग्री, सामर्थ्य, शक्ति अपने पास है, उसका सदुपयोग करो। उससे अधिककी आवश्यकता नहीं है। जो हमारे पास है ही नहीं, उसकी भगवान् हमसे कैसे आशा करेंगे ? एक छोटा बालक है। आप उससे ढाई मनका बोरा उठानेकी आशा करते हैं क्या ? जब आप ही इतने ईमानदार हैं कि बालकसे वही आशा करते हैं कि जितना वह कर सके, तो फिर क्या भगवान् हमसे वह आशा रखेंगे जो हम नहीं कर सकते ? क्या भगवान् आप-जितने भी दयालु नहीं हैं या आप-जितने भी जानकार नहीं हैं ?

इसमें एक बातकी ओर विशेष ध्यान दें। वह यह है कि आप अनुकूल परिस्थिति तो चाहते हैं और प्रतिकूल परिस्थिति नहीं चाहते हैं। परन्तु यदि विचार करें तो पता चलेगा कि प्रतिकूल परिस्थिति जितनी लाभदायक है, उतनी अनुकूल परिस्थिति लाभदायक नहीं हो सकती। अनुकूल परिस्थितिमें आदमी फँसता है। प्रतिकूल परिस्थितिमें ऊँचा उठता है, उसे वैराग्य होता है, त्याग करनेकी मनमें आती है। अतः प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो हमें खुशी मनानी चाहिये। भागवतमें श्लोक आया है कि जिसपर मैं कृपा करता हूँ **'हरिष्ये तद् धनम्'** उसका धन हर लेता हूँ, **'करोमि बन्धुविच्छेदम्'** और कुटुम्बसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देता हूँ। **'स दुःखेन जीवति'** वह दुःखपूर्वक जीता है तो वह संसारसे उपराम हो जाता है और प्रभुकी शरण हो जाता है। दूसरी बात यह कि अनुकूल परिस्थितिमें पुण्य नष्ट होते हैं और प्रतिकूल परिस्थितिमें पाप नष्ट होते हैं, अतः प्रतिकूल परिस्थितिमें आनन्द मनाना चाहिये कि बड़ी भारी कृपा हो गयी। यह बात बिलकुल सच्ची और सिद्धान्तकी है। आप स्वयं विचार करें।

कोई भी व्यक्ति और कोई भी परिस्थिति आपके बाधक नहीं हो सकती। आप स्वयं ही अपने बन्धु तथा स्वयं ही अपने शत्रु हैं।

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥'

(गीता ६।५)

मनुष्य आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है और कोई न तो शत्रु है, न मित्र है। परिस्थितिका यदि सदुपयोग करें, तो वही परिस्थिति उद्धार करनेवाली हो जाती है। उदाहरणके लिये ध्रुवजीका दृष्टान्त है। ध्रुवजीसे द्रोह रखनेवाली माँ सुरुचि, प्यार करनेवाली माँ सुनीति और उदासीन नारद बाबा तीनों ही कल्याणमें सहायक बने। अतः जो परिस्थिति प्राप्त हो, उसका पूर्ण सदुपयोग करो। यह मत सोचो कि अनुकूल परिस्थिति आयेगी, तब भजन करेंगे; पैसा कुछ हो जाय, तब भजन करेंगे, छोरा काम सँभाल ले, फिर भजन करेंगे। फिर नहीं होगा। किसीका हुआ नहीं।

एक कथा आती है कि जब रावण मर रहा था, तब भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणजीसे कहा—'आज एक बड़ा विद्वान्, एक बड़ा नीतिज्ञ, जिसने वेदोंपर भाष्य आदि लिखे हैं, वह जा रहा है। अतः उससे कोई लाभ लेना चाहो तो ले लो।' लक्ष्मणजी जाकर रावणके सिरकी तरफ खड़े हो गये और पूछा कि तुम्हारे जीवनका क्या सार है—यह बताओ। लक्ष्मणजी सिरकी तरफ खड़े थे, इस कारण रावण बोला नहीं। फिर भगवान् श्रीरामके कहनेसे लक्ष्मणजी रावणके पैरोंकी तरफ जाकर खड़े हो गये। तब रावण बोला—'तपस्वी, एक बात है कि जो काम करना है, उसे जल्दी ही कर लेना चाहिये। मेरा विचार था कि चन्द्रमाको निष्कलंक कर दूँ और चन्द्रमा रोजाना पृथ्वीपर उदय हो। अमृत लाकर

समुद्रका जल मीठा कर दूँ। स्वर्गतक सीढ़ी लगा दूँ जिससे वहाँ कभी भी आ-जा सकें। अग्निका धुआँ मिटा दूँ। ऐसा विचार था, परंतु कर नहीं सका। इस वास्ते जो काम करना हो, शीघ्र कर लेना चाहिये।'

अतः प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति, जो भी आपको प्राप्त है, उसका सदुपयोग करोगे तो वह आपके कल्याणमें सहायक हो जायगी।

राम राम राम राम राम

——::o::——

श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमा

उन्नति क्या है? भगवद्गीताके छठे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें आया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

जिस परमात्माकी प्राप्तिरूप लाभको प्राप्त करके उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और जिस परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्थामें स्थित होकर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता। यह श्लोक मनुष्यकी उन्नतिकी पहचानका थर्मामीटर है। इसका अर्थ हुआ कि अब मेरेको कुछ मिल जाय, यह मनुष्यकी इच्छा नहीं होती। और दूसरी बात है कि दुःख उसे स्पर्श ही नहीं करता। इसका तात्पर्य हुआ कि मरनेका भय, जीनेकी इच्छा, पानेकी लालसा—सब मिट जाते हैं और करनेको कोई काम बाकी नहीं रहता। तब समझना चाहिये कि मनुष्य-जीवनमें आकर हमने उन्नति की और जीवन सफल हो गया। परन्तु जबतक मरनेका भय रहता है तबतक समझना चाहिये कि जो काम करना चाहिये था, वह नहीं किया है। जानने लायकको नहीं जाना है, पाने लायकको नहीं पाया है और हमारा मनुष्य-जीवन सफल नहीं हुआ है।

स्कूलमें पढ़ते समय अनुभव किया होगा कि यदि पाठ याद होता है तो निरीक्षणके लिये या परीक्षाके लिये कोई आता है और

आपसे पूछता है तो इसमें आपको आनन्द आता है। परन्तु किसी छोरेको पाठ याद नहीं होता, तो वह छोरा पीछेको हो लेता है कि कहीं मेरेसे न पूछ लें। ऐसा भय लगता है। भय क्यों होता है ? भय इसलिये होता है कि जो पढ़ाई की है वह ठीक नहीं की। ऐसे ही यह मानव-शरीर ब्रह्म-विद्याका अध्ययन करनेके लिये मिला है। यदि मनुष्यको मरनेका भय, जीनेकी इच्छा होती है तो इसका अर्थ है कि उसने ठीक प्रकारसे ब्रह्म-विद्याका पूरा अध्ययन नहीं किया। जब यह अध्ययन पूरा हो जायगा तो मरनेका भय और जीनेकी इच्छा नहीं रहेगी। फिर जीते रहें तो आनन्द, मर जायँ तो आनन्द, कोई चिन्ता नहीं, कोई इच्छा नहीं, कोई भय नहीं। फिर न जानना बाकी रहता है, न प्राप्त करना बाकी रहता है और न करना बाकी रहता है। इन चीजोंका तो खाता ही उठ जाता है। यह बात मैं आपसे सच्ची कहता हूँ। यह मेरी व्यक्तिगत बात नहीं है। मेरे घरकी बात नहीं है। यह सन्तोंकी, शास्त्रोंकी, भगवद्गीताकी बात है।

मनुष्यमें एक करनेकी, एक जाननेकी और एक पानेकी—तीन शक्तियाँ स्वाभाविक हैं। मनुष्य जबतक अपने लिये करता है तबतक वह कृतकृत्य नहीं होता। परन्तु जब करने लायक काम कर लेता है तब मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उसे कुछ भी करना बाकी नहीं रहता। ऐसे ही चाहे मनुष्यको कितनी ही भाषाओंकी जानकारी हो जाय, वह कितना ही विद्वान् हो जाय, जबतक वह स्वयं अपने-आपको नहीं जानता, तबतक जानना बाकी रहेगा। परंतु जब अपने-आपको ठीक-ठीक जान लेगा, फिर जानना बाकी नहीं रहेगा। इसी प्रकार पाना कबतक बाकी रहता है ? जबतक कि प्रभु-दर्शन, प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति न

हो जाय। जिस समय सर्वोपरि परमात्मा मिल जायँ, उनके दर्शन हो जायँ, उनका प्रेम प्राप्त हो जाय, तत्त्वका बोध हो जाय, फिर पाना बाकी नहीं रहेगा। और ये तीनों बातें मनुष्य-जन्ममें हो सकती हैं। भगवद्गीतासे, सन्तोंकी वाणीसे और सत्संगसे मुझे इस बातका पता चला है कि इसके लिये मनुष्यमात्र अधिकारी है चाहे, वह हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, पारसी, ईसाई कोई भी हो। किसी भी सम्प्रदायका हो, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, सिख आदि कोई क्यों न हो। मेरे सत्संगमें मुसलमान भी आते हैं, आर्य-समाजी भी आते हैं। आर्य-समाजियोंने मुझे बुलाया है, मैं गया हूँ। बहुतसे सम्प्रदायोंमें मेरा जानेका काम पड़ता है। मेरी बात किसी सम्प्रदायके, किसी मजहबके विरुद्ध नहीं होती। जैसे माँ सब बच्चोंको प्यारसे दुलारती है, रखती है, उदारतासे दूध पिलाती है—ऐसे ही हम सब परमात्माके बच्चे हैं। अतः उस परमात्मारूपी माँका मस्तीसे, आनन्दसे दूध पीयें। **'दुग्धं गीतामृतं महत्'**। यह बड़ा विलक्षण दूध है जितना पीओगे, उतनी ही आपकी पुष्टि होती चली जायगी। जब गीतारूपी दूध पीनेमें रस आने लगेगा, तो निहाल हो जायँगे।

गीता एक विलक्षण ग्रन्थ है। इसमें केवल सात सौ श्लोक हैं। परन्तु इसमें अलौकिक तत्त्व भरा है। इसकी संस्कृत सरल है। हम सब इसे पढ़ सकते हैं, याद कर सकते हैं और काममें ला सकते हैं। इनमें नयी-नयी बातें मिलती हैं। पहले भले ही आरम्भमें यह सोच लें कि मैंने तो अब गीता पूरी पढ़ ली और मैं जानकार हो गया। परन्तु जैसे-जैसे इसमें गहरे उतरोगे वैसे-वैसे पता लगेगा कि मैं तो बहुत कम जानता हूँ। इसमें नित्य नये-नये विचित्र भाव मिलते हैं। मुझे पाठ करते-करते गीता याद हो गयी। मैंने सीधा

पाठ किया। फिर उलटा पाठ **'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः'** से **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे.........'** तक बिना गीताजी देखे एकान्तमें बैठकर किया, बड़ा विलक्षण आनन्द आया केवल पाठमात्र करनेसे। आप करके देखें। उलटा पाठ करनेसे श्लोकोंपर विशेष ध्यान जाता है और श्लोकोंके अर्थका विशेष ज्ञान होता है तथा बहुत शान्ति मिलती है। धन, विद्या, परिवार, मान, आदर आदि प्राप्त करके आप भले ही अपनेको बड़ा मान लें, परन्तु बड़े नहीं बनते। आप अविनाशी, इन विनाशी चीजोंसे क्या बड़े बनेंगे। परंतु गीताका अध्ययन करके आप सर्वोपरि हो जायँगे। आपको परम शान्ति मिलेगी। इनमें संदेह नहीं।

एक वैश्य भाईने मेरेको बताया कि हम तो मानते थे कि गीता अच्छी है, परंतु याद करनेपर मालूम पड़ा कि बड़ी विलक्षण है। आप स्वयं अध्ययन करके, इसके भीतर प्रवेश करके देखें कि इस छोटे-से ग्रन्थमें कितने विचित्र तथा विलक्षण भाव हैं। इसके भीतर प्रवेश करके आप अविनाशी परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लोगे।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'

फिर उस लाभको प्राप्त करके न कुछ करना बाकी रहेगा, न कुछ जानना बाकी रहेगा। ऐसा होनेपर फिर जीनेकी और कुछ करनेकी इच्छा नहीं रहती तथा मरनेका भय नहीं रहता। मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है। ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। पूर्णता हो जाती है और मनुष्य-जन्म सफल हो जाता है।

नारायण नारायण नारायण नारायण

संत-महापुरुषोंके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची सेवा है!

वास्तविक सम्बन्ध प्रभुसे

भगवद्‌गीताके पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें आया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

यह श्लोक विशेषरूपसे अपने कामका है। भगवान् कहते हैं **'मम एव अंशः'**—यह जीवात्मा मेरा ही अंश है। और **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** मनसहित इन्द्रियाँ प्रकृतिमें स्थित हैं। इन दो बातोंसे यह अर्थ निकला कि मेरा अंश जीवात्मा मेरेमें स्थित है और प्रकृतिका अंश **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'** शरीर प्रकृतिमें स्थित है। परन्तु परमात्माका अंश होनेपर भी जीवात्मा परमात्माको **प्राप्त क्यों नहीं करता? इसका उत्तर है कि यह है तो परमात्माका** अंश; पर इसने पकड़ा है विजातीय प्रकृतिकी वस्तुओंको, यही बन्धन है। यदि यह विजातीय वस्तुओंका त्याग कर दे तो आज ही मुक्त है। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य हमारी वस्तु नहीं है। इनको हमने अपना मान लिया है। अतः हम बँधे हैं। यदि आज ही इनको अपना न मानें, तो मुक्त हो गये। मुक्त उसीसे हो सकते हैं जो हमारी चीज नहीं है। सूर्य प्रकाश और उष्णतासे कैसे मुक्त हो सकता है? वह तो उसका स्वरूप है। ऐसे ही हम अपने स्वरूपसे कैसे मुक्त हो सकते हैं? हमें, प्रकृति और

प्रकृतिके कार्य जो हमारे नहीं हैं; पर जिन्हें हमने अपना माना है, उनसे मुक्त होना है और प्रभु जो हमारे हैं, उनके भक्त होना है। जो हमारी चीज है नहीं, उसे छोड़नेमें क्या बाधा है ! संसारसे विमुख हो जायँ तो हो गये मुक्त। और भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ अर्थात् भगवान् हमारे और हम भगवान्‌के—यह मान लिया तो हो गये भक्त। जबतक संसारको पकड़े रहोगे तबतक प्रभुको नहीं पकड़ सकते।

इसमें एक बात समझनेकी है कि चाहे आप संसारको कितना ही पकड़ो, आप संसारके साथ एक नहीं हो सकते। **इसका कारण है कि संसार अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिका कार्य** जड़ है और आप परमात्माके चेतन अंश हैं। अतः आप (चेतन-) की एकता जड़ संसारसे न होकर चेतन परमात्मासे होगी। इस बातको आप हृदयसे स्वीकार कर लें। एक दूसरी बात और समझनेकी यह है कि जड़के साथ सम्बन्ध-विच्छेद होना सुगम है; क्योंकि जड़से सम्बन्ध-विच्छेद प्रतिक्षण हो रहा है। शरीर, धन, कुटुम्ब सभी विनाशकी ओर जा रहे हैं। पहले आप अपनेको बालक समझते थे, अब नहीं समझते। उस समय जो परिस्थिति-विचार थे, घटनाएँ थीं सब बदल गयीं और प्रतिक्षण बदल रही हैं। अतः संसारके सम्बन्धका त्याग कर दें। त्याग करना क्या ? कि इनको अपना न मानें। परंतु परमात्माको अपना मानें, क्योंकि हम चेतन हैं और चेतन परमात्माके अंश हैं। परमात्माको हम छोड़ नहीं सकते और परमात्मा हमें नहीं छोड़ सकते। उनकी विस्मृति हो सकती है। उनसे विमुखता हो सकती है। अतः मान लें कि **'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'** इसमें क्या कठिनता है ? बस, मान लें। आज और अभी कि भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ और संसार मेरा नहीं है और मैं संसारका

नहीं हूँ। परन्तु जो सामग्री, शक्ति, सामर्थ्य हमें संसारसे मिली है, वह संसारकी सेवामें लगानी है। प्रह्लादजीका दृष्टान्त हमारे सामने है। उनका शरीर पिताके अंशसे उत्पन्न था। अतः शरीर उन्होंने पिताजीको दे दिया। वे शरीरको कष्ट दें, जहर पिलायें, साँपसे डँसवायें, पर्वतसे गिरायें, समुद्रमें डुबायें, कुछ भी करें तो प्रह्लादजीने चूँ नहीं की। शरीर मर जाय तो क्या ? क्योंकि यह माता-पिता और संसारका है। स्वयं परमात्माका अंश है। अतः अपने-आपको परमात्माको दे दें।

मैं आपको एक विशेष बात और बताता हूँ। यह शास्त्रोंमें है, पर छिपी हुई है। यह मुझे सन्त-महात्माओंकी कृपासे मिली है। यह विचित्र बात है कि प्रायः सत्संगियोंकी तथा साधकोंकी यह मान्यता रहती है और मेरी भी पहले यही आदत थी कि साधारण संसारकी वस्तुएँ भी बड़े परिश्रमसे, प्रयाससे मिलती हैं फिर भगवान्‌की प्राप्ति कैसे सुगमतापूर्वक हो सकती है! भगवान्‌की प्राप्तिके लिये बड़ा त्याग, बड़ी तपस्या, बड़ा संयम करना पड़ेगा। बड़े-बड़े योगियोंको जन्म-जन्मभर यत्न करते हुए भी प्राप्ति नहीं होती, फिर हमें कैसे होगी। कलियुग है, फिर इसमें प्रभु-प्राप्ति कैसे होगी। इस प्रकारकी मान्यताओंसे हम प्रभु-प्राप्तिमें स्वयं बाधा लगा लेते हैं। ये मान्यताएँ बिलकुल गलत हैं। हम परमात्माके हैं, परमात्मा हमारे हैं। संसार हमारा नहीं है, हम संसारके नहीं हैं। इस बातको आप हृदयसे मान लें, तो साधन बहुत सुगम हो जाता है। आप यह बात मान लो कि परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध अखण्ड है, अटूट है, नित्य है, निर्विकार है, आपको प्रभु-प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि प्राप्ति तो है, केवल विस्मृति हुई है।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

(गीता ११ । ४८)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

(गीता ११ । ५३)

मैं वेद, यज्ञ, दान, तप, आदि साधनोंसे प्राप्त नहीं हो सकता। जड़ शरीररूपी साधनके द्वारा चेतनकी प्राप्ति कैसे होगी ? परन्तु साधारणतया व्याख्यानोंमें, उपदेशोंमें यही सुननेको मिलता है कि प्रभु-प्राप्ति अति कठिन है। अतः इसके विपरीत सुनना नहीं चाहते। हम तीर्थयात्रामें नाथद्वारा गये। वहाँ मैंने व्याख्यान दिया। उसमें यह कह दिया कि भगवान्‌के शरण होना यह है कि भगवान्‌के शरण होना ही नहीं। क्योंकि भगवान्‌की शरण तो हम सदा ही हैं, केवल पता नहीं था इस बातका। भगवान्‌ने तो शरण ले रखा है। ऐसा कह दिया। तो वहाँके लोगोंने समझा कि मैं शरणागतिका विरोध कर रहा हूँ। मेरी वैसी भावना नहीं थी। मैंने तो वास्तविक बात कही। जब हम मन्त्र लेते हैं तो गुरुजी हमें यह बता देते हैं कि हमारा भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है। वास्तवमें भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नित्य है, अटूट है और संसार तथा शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध है नहीं, केवल हमने मान लिया है। भगवान्‌से हम विमुख हुए हैं और संसारके सम्मुख हुए हैं। भगवान् हमारे हैं तथा हम भगवान्‌के हैं यह विस्मृति हुई है। परन्तु संसार तथा शरीरका सहारा लिया है, उनकी शरण हुए हैं। यह सहारा रहनेवाला नहीं है। शरीर और संसारके सहारेको कबतक पकड़े रह सकोगे ? यह छूटेगा आप कितना ही पकड़नेकी कोशिश करो, पकड़ सकोगे नहीं।

परमात्माको आप छोड़ सकते नहीं, आप परमात्माके साथ हरदम हैं और आपके साथ परमात्मा हरदम हैं। केवल विस्मृति हुई है, भूल हुई है। गीताजीका उपदेश सुनाकर भगवान्‌ने अर्जुनसे पूछा कि क्या इस गीताशास्त्रको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया और क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया? तो अर्जुन बोले—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'—मोह नष्ट हो गया और स्मृति हो गयी। याद आ गयी कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, इसमें कोई नया ज्ञान नहीं हुआ। हम भगवान्‌के हैं, संसारके नहीं। हमारा कहा जानेवाला हमारे पास जो कुछ है, शरीर, धन, बल, बुद्धि, योग्यता आदि यह सब कुछ संसारसे लिया है, इसे संसारकी सेवामें लगा दो। उससे अपनापन उठा लो और उनसे आशा मत करो, तो आप मुक्त हो गए। भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं तो यह भक्ति हो गयी। इसमें देरीका काम नहीं है। बस सरल बात है।

नारायण नारायण नारायण नारायण

——::o::——

अधिकार संसारपर नहीं,
परमात्मापर

हम सबका परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें अधिकार है। संसारकी वस्तुओंपर हमारा अधिकार नहीं है। परिवार, कुटुम्ब, जमीन, जायदाद, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण—इनपर हमारा अधिकार नहीं है।

गीताजीमें भगवान् कहते हैं:—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (१५।७)

और गोस्वामीजी महाराजकी वाणीमें भी आता है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

इस प्रकार भगवान् और भक्त दोनों जीवको ईश्वरका अंश मानते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो ये दो ही अर्थात् भगवान् और उनके भक्त ही बिना स्वार्थके प्रीति करनेवाले हैं। अन्य तो सब स्वार्थवश प्रीति करते हैं।

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं।
सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करैं सब प्रीती॥

जीवात्मा भगवान्‌का अंश होनेके कारण हमारा अधिकार भगवान्‌पर चल सकता है। परन्तु प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंपर अधिकार नहीं चल सकता। इन्हें प्राप्त करनेके लिये योग्यता, समय, परिश्रम, बल, बुद्धि, विद्या आदि चाहिये। जैसी-जैसी योग्यता होगी, वैसे-वैसे अधिकार प्राप्त होंगे। परंतु भगवान्‌की प्राप्तिमें किसी योग्यता, बल, बुद्धि, विद्या आदिकी आवश्यकता नहीं है। बच्चा दूसरी किसी वस्तुपर अधिकार जमा ले तो उसके हाथमें नहीं है। परंतु वह अपनी माँपर तो अधिकार जमा ही सकता है। बालक स्वाभाविक ही माँकी गोद चढ़ जाता है और बड़ा भाई गोदमें हाथ भी रख देता है तो उस हाथको हटा देता है कि मेरी माँ है तू मेरे हुक्म बिना हाथ कैसे रख सकता है। ऐसे ही भक्त कहता है—**'ना मैं देखूँ और को, ना तोय देखन देऊँ'**—भगवन्! मैं औरकी तरफ देखूँगा नहीं और आपको भी और तरफ देखने नहीं दूँगा।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

भगवान् कहते हैं कि जो मुझे जैसे भजता है, मैं भी उसे वैसे ही भजता हूँ। अतः भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं। हम भगवान्‌से कभी वियुक्त हो नहीं सकते, बिछुड़ नहीं सकते। परंतु संसार हमसे प्रतिक्षण वियुक्त हो रहा है। यदि संसार, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, धन-सम्पत्ति आदि अपने हैं तो शरीर, इन्द्रियोंको दुर्बल मत होने दो, भोगोंमें मत फँसने दो, मनको इधर-उधर मत जाने दो, करोड़पति, अरबपति बन जाओ। तो कहते हैं यह हाथकी बात नहीं है।

भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं। चाहे कपूत

(कुपुत्र) हों या सपूत (सुपुत्र)। कपूतपना क्या है? संसारको अपना मानना कपूतपना है। सपूतपना क्या है? भगवान्‌को अपना मानना और संसारको अपना न मानना सपूतपना है। इस वास्ते भगवान्‌ने अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भजनेकी बात कही—

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।'

(गीता १४। २६)

अव्यभिचारिणी भक्ति क्या? संसार अपना नहीं है, मैं संसारके साथ नहीं हूँ। और संसारको अपना मानना व्यभिचार है। अपना संसार नहीं, अपने तो भगवान् हैं। भगवान्‌की प्राप्तिको असम्भव या कठिन मानना गलती है। इसमें बाधा है धन तथा पदार्थोंके संग्रहकी तथा सुख-भोगकी चाहना—यह माया है। इस मायामें यह तोते और बन्दरकी तरह बँधा हुआ है:—

सो माया बस भयउ गोसाईं।
बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

एक तोता पकड़नेवाला जंगलमें तोता पकड़ता था। उसने एक पानीकी गहरी कुण्डी बनायी थी। उसपर आड़ी लकड़ी रखी हुई थी। उसपर ज्यों ही तोता बैठे कि उलटा हो जाय। अब नीचे देखे तो पानी और चारों ओर दीवाल। उसे लगता है कि फँस गया। उस लकड़ीको वह तोता छोड़ता नहीं। इतनेमें आकर तोता पकड़नेवाला उसे पकड़ लेता है। यह दृश्य देखकर एक सन्तको दया आ गयी तो उन्होंने एक तोता लिया और उसे पढ़ाया—देखो तोता, जहाँ जलकी ऐसी कुण्डी हो, वहाँ नहीं जाना। तो तोतेने भी ऐसा ही याद करके कह दिया। फिर सन्तने कहा कि बीच

डंडेपर मत बैठना। तोतेने यह भी याद कर लिया। फिर सन्तने कहा कि बैठ जाओ तो उड़ जाना। तोतेने भी वैसा कह दिया। लटक जाओ तो भी उड़ जाना, बन्धन नहीं होगा। तोतेने वह भी वैसा ही कह दिया। सन्तने ऐसा सिखाकर तोतेको छोड़ दिया। उस तोतेने और कई दूसरे तोतोंको भी यह पढ़ा दिया। सन्तने देखा कि अब तोते नहीं फँसेंगे। फिर एक दिन तोता पकड़नेवाले-ने जलकी कुण्डी रखी तो तोता वहाँ डण्डापर बैठ गया। 'जलकी कुण्डीपर नहीं बैठना है' ऐसा मुँहसे सारी बात कहते-कहते तोता पकड़ लिया गया।

इसी प्रकार हम लोग भी सन्तकी बतायी हुई बात सुनकर मुखसे कहते रहते हैं; परन्तु आचरण नहीं करते।

ऐसे ही बन्दरको पकड़नेवाले छोटे मुँहके घड़ेमें चने रख देते हैं। बन्दर आता है और दोनों हाथ घड़ेमें डालकर चनोंसे मुट्ठी भर लेता है। बँधी हुई मुट्ठी वह घड़ेके छोटे मुँहसे बाहर नहीं निकाल सकता और चने छोड़ना भी नहीं चाहता। इस प्रकार बन्दर और तोता दोनों खाने-पीनेमें बँधते हैं। ऐसे ही हम लोगोंकी, पढ़े-लिखोंकी दशा है कि हम भी यह बोलते रहते हैं कि—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं।
बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

बातें बना लेंगे। बातें सुनाना सीख लेंगे। परन्तु स्वयं आचरण नहीं करेंगे।

परोपदेशबेलायां सर्वे शिष्टा भवन्ति हि।

दूसरोंको उपदेश देना होता है तो सब विद्वान् बन जाते हैं।

विस्मरन्ति तत्सर्वं स्वकार्ये समुपस्थिते ॥

अपना काम सामने आता है तो याद नहीं रहती, भूल जाते हैं।

जब कोई दूसरा मर जाता है तो वह धीरज बँधाते हैं कि संसार अनित्य है। यहाँ सब नाशवान् हैं। प्रभुकी ऐसी ही मर्जी थी। अतः रोओ मत। परन्तु अपना कोई मर जाता है तो रोते हैं।

पर उपदेस कुसल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

अतः हमारे भगवान् हैं और हम भगवान्के हैं, यह उपदेश हमें देना नहीं है। अपितु लेना है। भगवान्से अपनेपनमें हताश होनेकी किंचिन्मात्र, कहीं भी आवश्यकता नहीं है। सांसारिक आशाएँ किसीकी भी आज दिनतक पूरी हुई नहीं और परमात्मप्राप्तिकी आशा आज दिनतक किसीकी बाकी रही नहीं। परन्तु संसारसे तो रखी आशा और भगवान्से रहे निराश, यह गलती की। अतः आज अबहीसे स्वीकार कर लें कि भगवान् हमारे हैं। उनपर हमारा पूरा अधिकार है। और संसार हमारा नहीं है। हमारा संसारपर अधिकार नहीं है। यह बहुत बढ़िया सार बात है।

नारायण नारायण नारायण नारायण

—::o::—

अचिन्त्यका ध्यान

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

(गीता ६। २३)

दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित जो योग है उसको जानना चाहिये और न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक उसको करना चाहिये। फिर प्रश्न उठता है कि उस योगका अनुष्ठान कैसे करें ? तो उसके लिये उपाय बताया—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

(गीता ६। २४)

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका अशेषतः पूर्णतयासे त्याग कर दें। और—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

(गीता ६। २४)

इन्द्रिय-समुदायको मनसे संयमित करें। अर्थात् केवल बाहरसे इन्द्रियोंका संयम न हो, अपितु मनसे भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंका चिन्तन न हो। ऐसे एकान्तमें बैठकर—

'शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।'

(गीता ६। २५)

धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे संसारसे उपराम हो जायँ। धीरे-धीरेका अर्थ है कि जल्दीबाजी न करें। उपरति न हो तो

उकतावे नहीं, धैर्य रखें। और बुद्धिका एक ही ध्येय हो कि हमें तो परमात्माको प्राप्त करना है और कुछ प्राप्त नहीं करना है। ऐसे होकर—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

(गीता ६।२५)

मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।

वह परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। ऐसा परिपूर्ण है कि—

जासु सत्यता ते जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया ॥

इस परमात्माके सत्-स्वरूपके व्यापक रहनेके कारण यह असत् जड़ संसार सच्चा दिखायी देता है। जिस प्रकार स्फटिक पत्थरको लाल रंगके कपड़ेपर रखनेसे वह लाल और काले रंगके कपड़ेपर रखनेसे वह काला दिखायी देता है। यद्यपि उसमें स्वयंमें वह रंग नहीं होता। उसी प्रकार यह अनित्य, क्षणभङ्गुर संसार सत्य (परमात्मा)की सत्यतासे दीखता है। संसार वास्तवमें है नहीं। प्रतिक्षण जा रहा है, बदल रहा है, नष्ट हो रहा है। परन्तु परमात्मतत्त्व सब समय, सब जगह परिपूर्ण है। और इस परमात्मतत्त्वमें इतनी ताकत है कि यह 'नहीं' को भी 'है' दिखाता है। उदाहरणके लिये बूँदीके लड्डूको हम मीठा कहते हैं। परन्तु बूँदी खुद मीठी नहीं होती। बूँदी बेसनकी होती है बिलकुल फीकी। परन्तु चीनीकी चासनीके कारण मीठी दीखती है। तो उसमें मिठास बेसनका नहीं, चीनीका है। परमात्मा बाहर, भीतर, ऊपर, नीचे—दसों दिशाओंमें परिपूर्ण है। जैसे समुद्रके भीतर गोता लगानेवालेके गोता लगाते समय ऊपर, नीचे, बराबरमें चारों

***

ओर जल-ही-जल रहता है परिपूर्ण, इसी प्रकार हमारे सब ओर परमात्मा परिपूर्ण हैं। अतः मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवाय अन्य कुछ भी चिन्तन न करें। अब प्रश्न उठता है कि चिन्तन करें तो नहीं, परन्तु यदि चिन्तन आ जाय, तो क्या करें ? तो इसका उत्तर है कि जैसे समुद्रमें लहर उठती है और उठकर स्वयं ही लीन हो जाती है, ऐसे ही चिन्तन या संकल्प उठकर स्वयं ही लीन हो जायगा। उसके साथ तादात्म्य न करें। उसका न तो अनुमोदन करें और न विरोध करें। **'न किंचिदपि चिन्तयेत्'** किञ्चिन्मात्र भी चिन्तन न करें। संसारकी कोई बात याद आ गयी तो उसे न तो अच्छा मानें न बुरा मानें और न ऐसा मानें कि मेरेमें संकल्प आ गया। संकल्पका अनुमोदन कर दोगे तो भी सम्बन्ध जुड़ जायगा और उससे द्वेष करोगे कि हमारेमें संकल्प हो गया, तो भी सम्बन्ध जुड़ जायगा। अतः रागद्वेषके कारण संकल्पसे सम्बन्ध नहीं जोड़ें। एकदम तटस्थ रहें, उदासीन रहें। और जो परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं, केवल उसको देखें, उसका ही चिन्तन करें। यह है अचिन्त्यका ध्यान।

राम राम राम राम राम

सुख 'लेने'से अन्तःकरण अशुद्ध होता है और
सुख 'देने'से अन्तःकरण शुद्ध होता है।
संग्रहकी अपेक्षा त्यागका मूल्य अधिक है।

करनेमें सावधानी, होनेमें प्रसन्नता

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८।६१)

इसका अर्थ हुआ कि ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी मायासे भ्रमण कराते हुए सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं। तो प्रश्न उठता है कि सब कुछ ईश्वर ही कराते हैं क्या?

तो अब इसका उत्तर सुनिये। एक होता है 'करना' और एक होता है 'होना'। तो करनेमें तो हम सबका अधिकार है; परंतु होनेमें अधिकार नहीं। भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मके फलका हेतु मत बन और तेरी अकर्मण्यता में भी आसक्ति न हो।

एक तो हम करते हैं और एक होता है। तो कर्म तो हम करते हैं और फल होता है। करनेमें जो कर्तृत्व अभिमान रहता है, वही अगाड़ी फलभोगमें परिणत होता है। परंतु कर्तृत्वरहित जो क्रिया होती है, वह कर्म नहीं बनती और न फलभोगमें परिणत होती है। हम

जो काम करते हैं वह कामना तथा आसक्ति लेकर करते हैं और जो होता है वह भगवान्‌द्वारा बनाये हुए विधानसे होता है।

करनेमें मनुष्यको सावधान रहना चाहिये और होनेमें प्रसन्न रहना चाहिये। करनेमें सावधानीका तात्पर्य है कि कर्तृत्व-अभिमान तथा फलकी इच्छाका त्याग करके अपनी पूरी शक्ति तथा सामर्थ्यसे कार्य करें, क्योंकि कर्तृत्व-अभिमान और फलेच्छाको रखकर जो कर्म किया जाता है, वह बाँधनेवाला होता है। परन्तु—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८।१७)

जिसके अहंकृत भाव नहीं है और बुद्धिका लेप, आसक्ति, कामना आदि नहीं है वह सब लोकोंको मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है; क्योंकि उसमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व नहीं है। अतः करनेमें सावधान रहनेका अर्थ हुआ कि कर्तापनके अभिमानका और भोग-इच्छा दोनोंका त्याग करे। वह कर्त्तापन और भोक्तापन भगवान्‌का बनाया हुआ नहीं है, यह जीवने स्वयं बनाया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

(गीता ५।१४)

परमात्मा न तो कर्तृत्वको पैदा करते हैं, न कर्मोंको करवाते हैं कि अमुक-अमुक काम तुम करो और न कर्मके फलके साथ सम्बन्ध करवाते हैं कि यह कर्म करनेसे तुम्हें यह फल मिलेगा। यह भगवान्‌की रचना की हुई नहीं है। कर्तृत्व इसने स्वयं बनाया

है, कर्म यह स्वयं करता है और फलका भागी स्वयं बनता है। मनुष्यका अनादि कालसे जो स्वभाव बना है, उसके वशीभूत होकर कर्म करता है, परंतु वह मान लेता है कि वह जो कुछ करता है, प्रभु-प्रेरणासे करता है। वास्तविकता यह है कि जबतक मनुष्यमें कर्तृत्व-अभिमान है; फलेच्छा है, आसक्ति है, कामना है तबतक वह प्रभु-प्रेरणासे कार्य नहीं करता। वह कामनाकी प्रेरणासे कार्य करता है और उसका फल बन्धन होता है। परन्तु जब स्वार्थ, कामना, राग, विषमता आदि नहीं रहते और अन्तःकरण निर्मल होता है; तो उसकी क्रिया फलजनक नहीं होती, बन्धनकारक नहीं होती।

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्।'

(गीता ४। १८)

अर्थात् वह मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है। और—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

'समारम्भाः' अर्थात् सम्यक् आरम्भ, आरम्भमें कम नहीं अर्थात् क्रियाओंमें किंचिन्मात्र भी त्रुटि नहीं होती। और **'कामसंकल्पवर्जिताः'** अर्थात् कामनाका संकल्प किंचिन्मात्र भी नहीं, ऐसे पुरुष 'ज्ञानाग्निदग्धकर्मा' होते हैं अर्थात् उनके सब-के-सब कर्म ज्ञानरूपी अग्निमें दग्ध हो जाते हैं। ज्ञान क्या ? कि प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ठीक ज्ञान होनेपर प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। उस समय क्रियाएँ सब प्रकृतिमें रहतीं हैं, अपनेमें नहीं रहतीं तो कर्म नहीं बनते। कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे दग्ध हो जाते हैं और ज्ञान कब

होता है? कि जब **'सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः'** सम्पूर्ण कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं। और जबतक काम और संकल्प रहते हैं तबतक क्रियाएँ मनुष्यकी स्वयंकी होती हैं।

अब विचार करना है कि जब क्रियाएँ स्वयंकी होती हैं तो यह क्रियाओंके करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र? तो कहते हैं कि करनेमें यह स्वतन्त्र है और फल भोगनेमें परतन्त्र है। परन्तु करनेमें भी अधिकारके अनुसार स्वतन्त्र है, सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। जैसे आप अपने देशमें रहनेके लिये स्वतन्त्र हैं, परंतु दूसरे देशमें जानेके लिये वहाँसे आज्ञा लेनी पड़ेगी। इसी प्रकार मनुष्य करनेमें अपने-अपने क्षेत्र एवं अधिकारके अनुसार स्वतन्त्र है। हम मनुष्य लोकमें काम करनेमें स्वतन्त्र हैं परन्तु लोकोत्तर जानेमें हम स्वतन्त्र नहीं हैं।

दूसरी बात है कि हम जो कर्म करते हैं उसमें पाँच हेतु होते हैं:—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

(गीता १८। १४)

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता १८। १५)

ये पाँच हेतु होते हैं। इसमें विहित कर्मके जो संस्कार हैं वे भी हेतु हैं और जो चेतन सत्ता है, वह भी हेतु है।

तो आपका प्रश्न था—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८। ६१)

****

सबके हृदयमें ईश्वर विराजमान है और गाड़ीके ड्राइवरकी तरह सम्पूर्ण प्राणियोंको वही घुमा रहा है। अर्थात् मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता, सम्पूर्ण प्राणियोंके द्वारा क्रिया करानेमें भगवान्‌का हाथ है।

तो भगवान्‌का हाथ कितना है।

कि **'यन्त्रारूढानि मायया'**—अर्थात् भगवान् अपनी मायासे मनुष्योंके कर्मोंके अनुसार उनके यन्त्रको प्रेरित करते हैं। स्फुरणा देते है। भगवान् मनुष्यके संचित व प्रारब्धके कर्मोंके अनुसार क्रिया करनेकी प्रेरणा करते हैं। ईश्वर केवल स्फुरणा देते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

(गीता ५। १४)

भगवान् "यह काम तुम करो", "इस काममें लग जाओ" ऐसी प्रेरणा नहीं करते। और यह फल तुम्हें भोगना पड़ेगा, न ही ऐसी प्रेरणा करते हैं। और तुम कर्ता बन जाओ, यह प्रेरणा भी भगवान् नहीं करते।

भगवान् क्या करते हैं? भगवान् केवल स्फुरणा करते हैं, जिससे सब क्रियाएँ होती हैं। जैसे बिजलीका दृष्टान्त है कि बिजलीका माइकके साथ सम्बन्ध कर दिया तो आवाज फैलने लगी। हीटरके साथ सम्बन्ध कर दिया तो गर्मी हो गयी, और बर्फकी मशीनके साथ सम्बन्ध कर दिया तो बर्फ जम गयी। बिजली यन्त्रोंको प्रेरणा देती है; परन्तु अमुक यन्त्रसे अमुक काम करा लूँ, बिजलीका आग्रह नहीं। बिजली निरपेक्ष रहती है, उसकी सत्ता-स्फुरणासे सब क्रियाएँ होती हैं।

ऐसे ही भगवान्‌की सत्ता-स्फूर्तिसे मनुष्यकी अपने अन्तःकरणके संस्कारोंके अनुसार, स्वभावके अनुसार क्रियाएँ होती हैं। उसके स्वभावमें कर्तृत्व-अभिमान तथा फलासक्ति मुख्य हैं। यह कर्तृत्व-अभिमान और फलासक्ति मनुष्य रखे, न रखे, इसमें वह स्वतन्त्र है। कामना रखने, न रखनेमें, राग-द्वेष रखने और न रखने [अर्थात् मिटाने] में मनुष्य स्वतन्त्र है। परन्तु जब यह कर्तृत्व-अभिमान, फलासक्ति, कामना, राग-द्वेष आदि रखता है तो यह उनमें यन्त्रारूढ़ हो जाता है तो करनेमें परतन्त्र हो जाता है।

इस वास्ते अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। 'अनिच्छन्नपि…' न चाहता हुआ भी पुरुष पापका आचरण क्यों करता है? तो भगवान्‌ने उत्तर दिया—

'काम एष'—यह जो कामना है कि यह मिलना चाहिये, यह नहीं मिलना चाहिये। यह होना चाहिये, यह नहीं होना चाहिये—यह सम्पूर्ण पापोंकी, अनर्थोंकी जड़ है। यह भी कामना है कि कामिनी, काञ्चन, कीर्ति मिले। परन्तु कामनाका मूल है कि मेरे मनके अनुकूल बात हो जाय और मेरे मनके प्रतिकूल न हो।

जबतक कामना रहेगी, तबतक मनुष्य परतन्त्र रहेगा, परवश रहेगा। और इस कामनाके रखने-मिटानेमें हम बिलकुल स्वतन्त्र हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

इन्द्रियोंमें राग-द्वेष छिपे हैं, उन दोनोंके वशमें न होवे। यदि राग-द्वेषके कहनेमें चलेगा तो रागद्वेषको पुष्टि मिलेगी

परन्तु राग-द्वेषके वशीभूत न होनेसे राग-द्वेष मिट जायँगे। अतः राग-द्वेषके वशीभूत न होनेकी बात बतायी। तो राग-द्वेषको मिटाकर यन्त्रको शुद्ध कर लो।

और एक दूसरा उपाय बताया—

'तमेव शरणं गच्छ'—कि जो ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंको घुमाता है, उसकी शरण जा। शरण जानेपर क्या होगा ? भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

ऐसे भगवान्की शरण होनेपर सब कुछ ठीक हो जायगा और भगवान्को ही प्राप्त होगा। अतः उपाय हुआ कि चाहे तो राग-द्वेषको मिटाकर यन्त्रको शुद्ध कर लो या भगवान्की शरण हो जाओ।

अतः जीव जबतक कर्तृत्व-अभिमानपूर्वक अपने मनके अनुसार कार्य करेगा तो उसका फल उसे भोगना पड़ेगा और दुःख पाना पड़ेगा।

इस वास्ते यह सोचना है कि हम जो करते हैं ईश्वर-प्रेरणासे करते हैं, गलत है। हम जैसा कर्म करते हैं, हमें उसके अनुसार फल भोगना पड़ेगा। यह भगवान्का विधान है कि ऐसा करोगे तो ऐसा फल होगा। अतः करनेमें सदा सावधान रहें और जो होता है, उसमें प्रसन्न रहें कि सब हमारे प्रभुके विधानके अनुसार होता है।

राम राम राम राम राम

——::०::——

गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य

[परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके विचार]

मनुष्योंके लिये गाय सब दृष्टियोंसे पालनीय है। गायसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। आजके अर्थप्रधान युगमें तो गाय अत्यन्त ही उपयोगी है। गोपालनसे, गायके दूध, घी, गोबर आदिसे धनकी वृद्धि होती है। हमारा देश कृषिप्रधान है। अतः यहाँ खेतीमें जितनी प्रधानता बैलोंकी है, उतनी प्रधानता अन्य किसीकी भी नहीं है। भैंसोंके द्वारा भी खेती की जाती है, पर खेतीमें जितना काम बैल कर सकता है, उतना भैंसा नहीं कर सकता। भैंसा बलवान् तो होता है, पर वह धूप सहन नहीं कर सकता। धूपमें चलनेसे वह जीभ निकाल देता है, जबकि बैल धूपमें भी चलता रहता है। कारण है कि भैंसेमें सात्त्विक बल नहीं होता, जबकि बैलमें सात्त्विक बल होता है। बैलोंकी अपेक्षा भैंसे कम भी होते हैं। ऐसे ही ऊँटसे भी खेती की जाती है, पर ऊँट भैंसोंसे भी कम होते हैं और बहुत महँगे होते हैं। खेती करनेवाला हरेक आदमी ऊँट नहीं खरीद सकता। आजकल अच्छे-अच्छे जवान बैल मारे जानेके कारण बैल भी महँगे हो गये हैं, तो भी वे ऊँट-जितने महँगे नहीं हैं। यदि घरोंमें गायें रखी जायँ तो बैल घरोंमें ही पैदा हो जाते हैं, खरीदने नहीं पड़ते। विदेशी गायोंके जो बैल होते हैं। वे खेतीमें

काम नहीं आ सकते; क्योंकि उनके कन्धे न होनेसे उनपर जुआ नहीं रखा जा सकता।

गाय पवित्र होती है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी पवित्र होती है। गायके गोबर-मूत्र भी पवित्र होते हैं। गोबरसे लिपे हुए घरोंमें प्लेग, हैजा आदि भयंकर बीमारियाँ नहीं होतीं। इसके सिवाय युद्धके समय गोबरसे लिपे हुए मकानोंपर बमका उतना असर नहीं होता, जितना सीमेंट आदिसे बने हुए मकानोंपर होता है। गोबरमें जहर खींचनेकी विशेष शक्ति होती है। काशीमें कोई व्यक्ति साँप काटनेसे मर गया। लोग उसकी दाह-क्रिया करनेके लिये उसको गङ्गाके किनारे ले गये। वहाँपर एक साधु रहते थे। उन्होंने पूछा कि इस व्यक्तिको क्या हुआ? लोगोंने कहा यह साँप काटनेसे मरा है। साधुने कहा कि यह मरा नहीं है, तुमलोग गायका गोबर ले आओ। गोबर लाया गया। साधुने उस व्यक्तिकी नासिका छोड़कर उसके पूरे शरीरमें (नीचे-ऊपर) गोबरका लेप कर दिया। आधे घण्टेके बाद गोबरका फिर दूसरा लेप किया। इससे उस व्यक्तिके श्वास चलने लगे और वह जी उठा। हृदयके रोगोंको दूर करनेके लिये गोमूत्र बहुत उपयोगी है। छोटी बछड़ीका गोमूत्र रोज तोला-दो-तोला पीनेसे पेटके रोग दूर होते हैं। एक सन्तको दमाकी शिकायत थी, उनको गोमूत्र-सेवनसे बहुत फायदा हुआ है। आजकल तो गोबर और गोमूत्रसे अनेक रोगोंकी दवाइयाँ बनायी जा रही हैं। गोबरसे गैस भी बनने लगी है। जो गैस चूल्हे जलानेमें काम आती है।

खेतोंमें गोबर-गोमूत्रकी खादसे जो अन्न पैदा होता है, वह भी पवित्र होता है। खेतोंमें गायोंके गोबर और मूत्रसे जमीनकी जैसी पुष्टि होती है, वैसी पुष्टि विदेशी रासायनिक खादसे नहीं

होती। जैसे, एक बार अंगूरकी खेती करनेवालेने प्रयोग करके बताया कि गोबरकी खाद डालनेसे अंगूरके गुच्छे जितने बड़े-बड़े होते हैं, उतने विदेशी खाद डालनेसे नहीं होते। विदेशी खाद डालनेसे कुछ ही वर्षोंमें जमीन खराब हो जाती है अर्थात् उसकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है। परंतु गोबर-गोमूत्रसे जमीनकी उपजाऊ शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। विदेशोंमें रासायनिक खादसे बहुत-से खेत खराब हो गये हैं, जिन्हें उपजाऊ बनानेके लिये वे लोग भारतसे गोबर मँगवा रहे हैं और भारतसे गोबरके जहाज भर-भरकर विदेशोंमें जा रहे हैं।

हमारे देशकी गायें सौम्य और सात्त्विक होती हैं। अतः उनका दूध भी सात्त्विक होता है, जिसको पीनेसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है और स्वभाव शान्त, सौम्य होता है। विदेशी गायोंका दूध तो ज्यादा होता है, पर उन गायोंमें गुस्सा बहुत होता है, अतः उनका दूध पीनेसे मनुष्यका स्वभाव भी क्रूर होता है। भैंसका दूध भी ज्यादा होता है,पर दूध सात्त्विक नहीं होता। उससे सात्त्विक बल नहीं आता। सैनिकोंके घोड़ोंको गायका दूध पिलाया जाता है, जिससे वे घोड़े बहुत तेज होते हैं। एक बार सैनिकोंने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध पिलाया, जिससे घोड़े खूब मोटे हो गये। परन्तु जब नदी पार करनेका काम पड़ा तो वे घोड़े पानीमें बैठ गये। भैंस पानीमें बैठा करती है; अतः वही स्वभाव घोड़ोंमें भी आ गया। ऊँटनीका दूध भी निकलता है, पर उस दूधका दही, मक्खन होता ही नहीं। उसका दूध तामसी होनेसे दुर्गति देनेवाला होता है। स्मृतियोंमें ऊँट, कुत्ता, गधा आदिको अस्पृश्य बताया गया है।

सम्पूर्ण धार्मिक कार्योंमें गायकी मुख्यता है। जातकर्म,

चूड़ाकर्म, उपनयन आदि सोलह संस्कारोंमें गायका, उसके दूध, घी, गोबर आदिका विशेष सम्बन्ध रहता है। गायके घीसे ही यज्ञ किया जाता है। स्थान-शुद्धिके लिये गोबरका ही चौका लगाया जाता है। श्राद्ध-कर्ममें गायके दूधकी खीर बनायी जाती है। नरकोंसे बचनेके लिये गोदान किया जाता है। धार्मिक कृत्योंमें 'पञ्चगव्य' काममें लाया जाता है, जो गायके दूध, दही, घी, गोबर और मूत्र—इन पाँचोंसे बनता है।

कामनापूर्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञोंमें गायका घी आदि काममें आता है। रघुवंशके चलनेमें गायकी ही प्रधानता थी। पौष्टिक, वीर्यवर्धक चीजोंमें भी गायके दूध और घीका मुख्य स्थान है।

निष्कामभावसे गायकी सेवा करनेसे मुक्ति होती है। गायकी सेवा करनेसे अन्तःकरण निर्मल होता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी बिना जूतीके गोचारणकी लीला की थी, इसलिये उनका नाम 'गोपाल' पड़ा। प्राचीनकालमें ऋषिलोग वनमें रहते हुए अपने पास गायें रखा करते थे। गायके दूध, घीसे उनकी बुद्धि प्रखर, विलक्षण होती थी, जिससे वे बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी रचना किया करते थे। आजकल तो उन ग्रन्थोंको ठीक-ठीक समझनेवाले भी कम हैं। गायके दूध-घीसे वे दीर्घायु होते थे। इसलिये गायके घीका एक नाम 'आयु' भी है। बड़े-बड़े राजालोग भी उन ऋषियोंके पास आते थे और उनकी सलाहसे राज्य चलाते थे।

गोरक्षाके लिये बलिदान करनेवालोंकी कथाओंसे इतिहास-पुराण भरे पड़े हैं। बड़े भारी दुःखकी बात है कि आज हमारे देशमें पैसेके लोभसे रोजाना हजारोंकी संख्यामें गायोंकी हत्या की

जा रही है ! अगर इसी तरह गो-हत्या चलती रही तो एक समय गोवंश समाप्त हो जायगा। जब गायें नहीं रहेंगी, तब क्या दशा होगी, कितनी आफतें आयेंगी—इसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। जब गायें खत्म हो जायँगी, तब गोबर नहीं रहेगा और गोबरकी खाद न रहनेसे जमीन भी उपजाऊ नहीं रहेगी। जमीनके उपजाऊ न रहनेसे खेती कैसे होगी ? खेती न होनेसे अन्न तथा वस्त्र (कपास) कैसे मिलेगा ? लोगोंको शरीर-निर्वाहके लिये अन्न, जल और वस्त्र भी मिलना मुश्किल हो जायगा। गाय और उसके दूध, घी, गोबर आदिके न रहनेसे प्रजा बहुत दुःखी हो जायगी। गोधनके अभावमें देश पराधीन और दुर्बल हो जायगा। वर्तमानमें भी अकाल, अनावृष्टि, भूकम्प, आपसी कलह आदिके होनेमें गायोंकी हत्या मुख्य कारण है। अतः अपनी पूरी शक्ति लगाकर हर हालतमें गायोंकी रक्षा करना, उनको कत्लखानोंमें जानेसे रोकना हमारा परम कर्तव्य है।

गायोंकी रक्षाके लिये भाई-बहनोंको चाहिये कि वे गायोंका पालन करें; उनको अपने घरोंमें रखें। गायका ही दूध-घी खायें, भैंस आदिका नहीं। घरोंमें गोबर-गैसका प्रयोग किया जाय। गायोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही गोशालाएँ बनायी जायँ, दूधके उद्देश्यसे नहीं। जितनी गोचर-भूमियाँ हैं, उनकी रक्षा की जाय तथा सरकारसे और गोचर-भूमियाँ छुड़ायी जायँ। सरकारकी गो-हत्या-नीतिका विरोध किया जाय और सरकारसे अनुरोध किया जाय कि वह देशकी रक्षाके लिये पूरे देशमें तत्काल पूर्णरूपसे गो-हत्या बन्द करे।

नारायण नारायण नारायण नारायण

——::०::——

मनकी खटपट कैसे मिटे ?

प्रश्न आया है कि मनकी खटपट (हलचल, अशान्ति) कैसे मिटे ?

बहुत सीधी सरल बात है कि मनमें जो खटपट है, वह अपने जाननेमें आती है। तो जाननेमें जो चीज आती है, देखनेमें जो चीज आती है, वह अपना स्वरूप नहीं होती है। मेरेको मकान दिखा, तो क्या मैं मकान हो गया ? मेरेको एक पत्थर दीख गया, तो क्या मैं पत्थर हो गया ? दीखनेवाली चीज अलग होती है और देखनेवाला अलग होता है। इसमें सन्देह नहीं है। खटपट होती है—इसका जिसको ज्ञान है, वह आप हो। आप खटपटको देखनेवाले हुए। इसमें सन्देह है क्या ? खटपटको हम देखते हैं और खटपट दीखनेवाली हुई तो हमारे क्या बाधा लगी ? हमारेको पत्थर दीखा, वह तप गया तो हमें क्या, और वह ठण्डा हो गया तो हमें क्या ?

यह जो मनका एक संकल्प है कि यह खटपट न रहे यही खटपटका कारण है; क्योंकि इस संकल्पसे ही खटपटसे सम्बन्ध बना रहता है। मेरे मनमें खटपट न रहे, तो बस, अब खटपट मचेगी। इसलिये मनसे ही अपना सम्बन्ध तोड़ देना है। वास्तवमें मनसे सम्बन्ध है नहीं। केवल माना हुआ सम्बन्ध है। मनको आपने अपना माना है, खटपटको आपने अपनेमें माना है। खटपट पैदा होती है और मिटती है, संकल्प उत्पन्न होते हैं और मिटते हैं, पर आप वही रहते हो। इसमें कोई सन्देह है क्या ? तो ये मिटें या

न मिटें, इनको आप छोड़ दो। आप इनके साथ मिलो मत, इनसे राजी और नाराज मत होओ। खटपटसे राजी होना भी उससे मिलना है और नाराज होना भी उससे मिलना है। साधकके लिये यह बहुत बढ़िया चीज है। बस, आप राजी और नाराज मत होओ। जैसे धूप आयी और धूपसे स्वाभाविक मन हटता है, तो छायामें बैठ जाओ। पर न धूपके साथ विरोध करो, न छायाकी प्रशंसा करो। न किसीसे विरोध करना है, न प्रशंसा करनी है, यह साधकका खास काम है।

ज्ञानयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी किसी भी साधनामें चलनेवाला योगी हो, जो परिस्थिति आये, उसमें राजी और नाराज न होना सबका काम है, योगिमात्रका काम है। जो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहता है, उसके लिये यह बहुत आवश्यक है। कितनी ही सुन्दर चीज मिले, कितनी ही असुन्दर चीज मिले, कितनी ही अनुकूलता आये, कितनी ही प्रतिकूलता आये, उन दोनोंमें जो सुखी और दुःखी नहीं होता है, वह परमात्माको प्राप्त करता है और जो सुखी और दुःखी होता है, वह संसारमें आता-जाता है, अर्थात् जन्मता-मरता है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता तो सबके आयेगी। जिसके घोड़े हाँकते हैं, उस अर्जुनको भगवान् कहते हैं कि— भैया ! ये तो '**शीतोष्णसुखदुःखदाः**' हैं। इनको तुम सहन कर लो—'**तांस्तितिक्षस्व**' (गीता २।१४)। इसको मैं मिटा दूँगा, ऐसा नहीं कहा। सहन करनेके लिये कहा।

राग-द्वेषके वशीभूत न होवे। ठीक और बेठीक मानकर सुखी-दुःखी न होवे। इनकी चिन्ता न करे। फिर सब ठीक हो जायगा। कितनी ही खटपट आवे, आप सुखी-दुःखी मत होओ।

यह तो आने-जानेवाली है। इसका मन्त्र है— **'आगमापायिनोऽनित्याः'** यह मन-ही-मन जपो। इस भावसे जपो कि यह तो आने-जानेवाली है, अनित्य है। अच्छी या मन्दी कैसी क्यों न हो, खटपट आते ही यह सूत्र (मन्त्र) लगा दो कि **'आगमापायिनोऽनित्याः'** ये आने-जानेवाली और अनित्य हैं। अनुकूल-से-अनुकूल आये, तो आने-जानेवाली है। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल आये, तो आने-जानेवाली है। बिलकुल सच्ची बात है। न अनुकूलता ठहरती है, न प्रतिकूलता ठहरती है। बस, इसको इतनी जान लो कि यह ठहरनेवाली नहीं है। इसमें कोई नया काम नहीं करना है। अब इनको लेकर क्या राजी हों और क्या नाराज हों ?

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

(गीता ५।२०)

प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सुखी और दुःखी क्या हों ? बढ़िया-से-बढ़िया परिस्थिति आये, तो वह भी ठहरेगी नहीं, पर आप ठहरते हो ! क्योंकि आपके सामने अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों आती हैं और जाती हैं और आप रहते हो। आप वही हो, बस अपनी तरफ ही दृष्टि रखो। ये जो आने-जानेवाली है, इनके साथ मिलो मत—यही मुक्ति है। इनके साथ मिल जाते हो—यही बन्धन है। आने-जानेवाली खटपटके साथ, परिस्थितिके साथ मिल जाना है—बन्धन, और न मिलना है—मुक्ति। कितनी सरल, सीधी-सादी बात है !

आप कहते हो कि न चाहते हुए भी हम मिल जाते हैं, अनुकूलता-प्रतिकूलताके साथ एकदम मिलना हो जाता है, तो इसका भी उपाय है। इनसे मिल जानेपर भी यह तो ज्ञान है ही

कि इनके साथ हम मिल जाते हैं, पर हम अलग हैं और ये अलग हैं। यह बात सच्ची है कि नहीं ? खटपट पैदा होती है, मिटती है; आती है, जाती है और आप रहते हो। तो खटपट और आप अलग-अलग दो हुए कि एक ?

अब कहते हैं कि 'हम अभी तो जानते हैं, पर जिस समय अनुकूलता-प्रतिकूलता आती है, उस समय पता नहीं लगता। हम तो मिल जाते हैं। मिल जानेपर पीछे पता लगता है कि मिल गये।' तो पीछे पता लगते ही यह विचार करो कि हम उस समय भी मिले नहीं थे, केवल मिला हुआ मान लिया था। वह हमारे साथ नहीं है, हम उससे अलग हैं, ऐसा सोचकर चुप हो जाओ। बस, वह मिट जायगी। मिलनेका जो सुख-दुःख है, उसको आदर देनेसे ही आपके खटपट मिटती नहीं है। उसको आदर मत दो। कह दो कि हम तो मिले ही नहीं। फिर मिट जायगी। जब ख्याल आये, तब अपने आपसे कहे कि नहीं-नहीं, हम नहीं मिले।

जब खटपट होती है, अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है, तब तो उसमें बह जाते हो और सुखी-दुःखी हो जाते हो। और फिर जब पता लगता है कि मैं मिल गया, तब चिन्ता करते हो कि हाय-हाय मैं उससे मिल गया ! तो जिस समय उससे मिलते हो, उस समय भी उससे मिलना कभी छोड़ते नहीं, और जिस समय उससे मिले नहीं, उस समय भी उसकी चिन्ता करते हो। यही बीमारी है, दोनों समय आप उसको पकड़ लेते हो। वास्तवमें आप उससे मुक्त तो आप-से-आप होते हैं। परिस्थिति, पदार्थ बेचारे तो आपको मुक्त कर रहे हैं, पर आप उनको पकड़ लेते हो कि हमारे खटपट रहती है, खटपट मिटती नहीं। इस तरह जिस समय खटपट नहीं होती, उस समय भी आप खटपटको पकड़े रहते हो। जब खटपट आती

है, तब राग-द्वेष करके फँस जाते हो और जब नहीं आती, तब उसकी चिन्ता करके उसमें फँस जाते हो। तो ऐसा मत करो। ऐसा करके क्यों उसमें फँसो ?

भगवान् अर्जुनके रथ हाँकते हैं, उसका हुक्म मानते हैं। फिर भी भगवान्‌ने अर्जुनको फटकारा—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(गीता २।३)

'हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

अर्जुन चिन्ता करता है कि ये सब मर जायँगे, तो कुलमें पाप फैल जायगा। पाप फैलनेसे वर्णसंकर पैदा हो जायँगे, फिर पितरोंको पिण्ड नहीं मिलेगा। इनको मारनेसे बड़ा भारी पाप हो जायगा। भगवान् कहते हैं कि अरे, पहले ही हल्ला क्यों करता है ? अभी हुआ कुछ नहीं, चिन्ता ऐसे ही करता है ! जो हो गया, उसकी चिन्ता करता है अथवा जो नहीं हुआ, उसकी चिन्ता करता है, तो मुफ्तमें उड़ता हुआ तीर अपनेपर लेता है ! जो अभी है ही नहीं, उसकी आफत पहले ही मुफ्तमें खड़ी कर दी। तो खटपट आये तो उसमें फँस गये और चली जाय तो उसमें फँसे रहे। खटपट तो मिट जाती है, रहती नहीं, पर उसे पकड़-पकड़कर रोते हैं। उसे क्यों पकड़ो ? वह चली गयी तो मौज करो,आनन्द करो कि अब तो मिट गयी।

खटपटमें शक्ति नहीं है रहनेकी। किसीका जवान ब्याहा हुआ बेटा मर जाय, तो मोह-आसक्तिके कारण हृदयमें एक चोट

लगती है। परन्तु वह मरता है, तब जैसी चोट लगती है, वैसी चोट दूसरे-तीसरे दिन नहीं रहती। पर रो-रोकर, याद कर-करके उसे रखते हैं। याद करते हैं फिर रोते हैं; इस तरह उसको पालते हैं। फिर भी वह हृदयकी चोट एक दिन मर ही जाती है। चिन्ता-शोक मर ही जाते हैं। आप उन्हें रख सकते ही नहीं। है किसीमें ताकत कि उन्हें रख ले? कुछ वर्षोंके बाद तो चिन्ता-शोक बिलकुल मर जाते हैं। आपने तो रखनेकी खूब चेष्टा की, खूब रोये, खूब दूसरोंको सुनाया कि यों था, ऐसा था, वह चला गया। इतना शोकको पाला, फिर भी वह मर ही जाता है। मेहनत करनेपर भी नहीं रहता। इसलिये उसकी उपेक्षा कर दो। मर गया तो खत्म हो गया काम। अब क्या चिन्ता करें और क्या रोवें ? तो उसी समय शान्ति हो जाय। पर उसे पालेंगे, तो भी वह तो रहेगा नहीं। मेरी बात झूठी हो तो बोलो। तो जो मिटनेवाली थी, मिट गयी। बस खत्म हुआ काम। मिटनेवालेके साथ मिलो मत। कितनी सीधी बात है। मेरी धारणामें आप जितने बैठे हो, इसमें कोई निर्बल नहीं है, जो कि इस बातको न मान सके। आप अपनेको निर्बल मान लो, तो मैं क्या करूँ ? इतना तो आप जानते हो कि मैं धोखा नहीं देता, आपके साथ विश्वासघात नहीं करता। तो मेरी बातपर अविश्वास क्यों करो ? कोई धोखा होता हो तो बता दो कि तुम्हारी बात माननेसे यह धोखा होता है। कोई हानि हो तो बता दो। पर माननेसे लाभ होता है, इसे आप भी मानते हो और मैं भी मानता हूँ।

या तो स्वयं इसे समझनेके लिये विचार कर लो अथवा दूसरेकी बात मान लो—इनमेंसे एक कर लो। बुद्धिकी तीक्ष्णताकी जरूरत नहीं है। तीक्ष्णता सहायता कर सकती है, पर बुद्धिकी

शुद्धि (एक निश्चय) जितनी सहायता करती है, उतनी तीक्ष्णता नहीं करती। बुद्धिमें जड़ता हो या विक्षेप हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इस विषयको मैं समझूँ इसी तरफ लक्ष्य हो।

वास्तवमें खटपट अपनेमें है ही नहीं—यही सार बात है।

राम राम राम राम राम

——::o::——

संसार 'नहीं' है और परमात्मा 'है'

[परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी
महाराजके प्रातःकालीन प्रवचन]

अपना कल्याण चाहनेवाला साधक यदि दृढ़तासे यह मान ले कि 'परमात्मा है' और 'संसार नहीं है'। तो संसारका आकर्षण मिटकर परमात्मासे स्वतः प्रेम हो जायगा।

'संसार है' ऐसा माननेसे ही विषय-भोग भोगते हैं और सुख-सामग्री मानकर पदार्थोंका संग्रह करते हैं—इतनी ही बात नहीं है बल्कि अपना निर्णय भी कर लेते हैं—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ गीता१६।११)

जो मनुष्य कामनाके अनुसार उपभोग परायण हैं उनका यह निश्चय होता है कि सुख भोगना और संग्रह करना—इसके सिवा और कुछ नहीं है।

शास्त्र, सत्सङ्ग, अपने विचार और अनुभवसे प्रायः हम सभी यह जानते हैं कि संसारका कोई भी पदार्थ अथवा सुख सदा रहनेवाला नहीं है। हमारे पूर्वज (बाप-दादा आदि) भी नहीं रहे—कालके गालमें समा गये, तो हमारे शरीर (जो उन्हीं धातु-पदार्थोंसे बने हैं) सदा कैसे रहेंगे ? इसी प्रकार सुखके रहने और मिलनेका केवल बहम है। भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
गीता५।२२)

'जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब

भोग हैं, वे विषयी पुरुषोंको सुखरूप दीखते हैं, पर दुःखके कारण हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमा करता।'

अगर संसार अपना होता तो हमें याद रहता, किन्तु पिछले जन्मके धन, शरीर, कुटुम्ब आदि कितने थे, कौन थे, कहाँ थे, यह आपको यादतक नहीं है। जैसी दशा पिछले जन्मके व्यक्ति, पदार्थोंकि सम्बन्धकी हुई, वही दशा वर्तमानके धनादिकी होगी। अतः इन नाशवान् पदार्थों आदिके लिये समझ, समय और सामर्थ्यको नष्ट नहीं करना चाहिये। इन धन, शरीरादिके द्वारा निष्कामभावसे अर्थात् बदलेमें कुछ न चाहकर सबकी सेवा कर देनी चाहिये। निःस्वार्थभावसे जिनकी सेवा करते हैं, उनके ही पदार्थ समझकर सेवामें लगा देंगे तो उनको प्रसन्नता होगी और आप असङ्ग हो जायँगे। संसारमें अपनापनका सम्बन्ध केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये है। ऐसा करनेसे आपको परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

यह नियम है कि हम जिसे सर्वोपरि और अपना मानते हैं उस तरफ स्वतः आकर्षण होता है, उसका भजन भी अपने-आप होने लगता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।' जो पुरुष परमात्माको सर्वोत्तम जान लेता है, वही सर्वज्ञ है अर्थात् उसकी दृष्टिमें

परमात्माके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

प्रायः लोग 'परमात्मा है' ऐसा मानते हुए भी नहीं मानते अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध, लोकमर्यादा-विरुद्ध आचरण करते हुए डरते नहीं। जो सर्वत्र परमात्माकी सत्ता मानता है, उससे दोष-पाप हो ही कैसे सकते हैं? और परमात्माको परम सुहृद्, परम कृपालु माननेपर चिन्ता, भय, दीनता आदि आ ही नहीं सकते। काकभुसुंडिजीको शाप मिलनेपर भी 'नहिं कछु भय न दीनता आई'।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी 'रामदास' गोविन्द॥

ऐसे अवसरपर साधकको सावधान रहना चाहिये अर्थात् ऐसी विपरीत धारणा कभी नहीं करनी चाहिये कि भय, चिन्ता, शोक आ गये तो मैंने परमात्माको माना ही नहीं, बल्कि यह कसौटी करनी चाहिये कि परमात्माके रहते हुए भय, चिन्ता, शोक मेरेमें कैसे आ सकते हैं?

परमात्मा है—इस तत्त्वका ठीक अनुभव न होनेपर तथा संसार है—इस मान्यताके न मिटनेपर ऐसी एक तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये, जिससे परमात्मा और संसार दोनोंका तत्त्वबोध हो जाय। संसार दिखायी देते हुए भी 'नहीं है' और हमारा नहीं है। परमात्मा दिखायी नहीं देते हुए भी 'है' और 'हमारे हैं'। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सांसारिक वस्तुओंसे ही संसार दीखता है, क्योंकि जिस धातुका संसार है, उसी धातुके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ हैं— **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** (गीता १५।७) मनसहित पाँचों इन्द्रियाँ प्रकृति (संसार) में स्थित हैं। हमारा स्वरूप (आत्मा) और परमात्मा (है) दोनों एक ही तत्त्व हैं—**'ममैवांशो**

****

जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' (गीता १५।७) 'इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है।' अतएव यदि हम अपनी सत्ता (स्वरूप) में स्थित हो जायँ तो अभी परमात्मा दीखने लगेंगे। संसारके अंशसे संसार दीखता है और परमात्माके अंशसे परमात्मा दीखते हैं। जबतक हमारी स्थिति 'नहीं' (संसार) में रहेगी, तबतक परमात्मा (सर्वत्र होते हुए भी) नहीं दिखायी देंगे, परन्तु स्थिति जब 'है' (परमात्मा) में हो जायगी तब परमात्मा ही दिखायी देंगे। अतएव हमें आज—अभीसे ही दृढ़तापूर्वक यह मान लेना चाहिये कि 'परमात्मा हैं' सर्वत्र परिपूर्ण हैं और हमारे अपने हैं।

नारायण ! नारायण ! नारायण ! नारायण !

——::०::——

माँ !

एक सूरदास भगवान्‌के मन्दिरमें गये तो लोगोंने उनसे कहा—'आप कैसे आये ?' वे बोले—'भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये।' लोगोंने पूछा—'तुम्हारे आँखें तो हैं नहीं, दर्शन किससे करोगे ?' वे बोले—'दर्शनके लिये मेरे नेत्र नहीं हैं तो क्या ठाकुरजीके भी नेत्र नहीं हैं ? वे तो मेरेको देख लेंगे न ! वे मेरेको देखकर प्रसन्न हो जायँगे तो बस, हमारा काम हो गया।'

अब भाइयो ! बहिनो ! ध्यान दो। जैसे हमारे नेत्र न हों तो भी भगवान्‌के तो नेत्र हैं ही, उनसे वे हमारेको देखते हैं। ऐसे ही सज्जनो ! हमारेको भगवान्‌का ज्ञान न हो, तो क्या भगवान्‌को भी हमारा ज्ञान नहीं है ? हमारी जानकारीमें भगवान् नहीं आये तो हम सूरदास हुए, तो क्या भगवान्‌की जानकारीमें हम नहीं हैं ? जब हम उनकी जानकारीमें हैं तो हमें कभी किसी बातकी चिन्ता करनी ही नहीं चाहिये। जैसे, बालक जबतक अपनी माँकी दृष्टिमें है, तबतक उसका अनिष्ट कोई कर नहीं सकता और उसके लिये जो कुछ भी चाहिये, उसका सब प्रबन्ध माँ करती है, ऐसे ही जब हम भगवान्‌की दृष्टिमें हैं, उनकी दृष्टिसे कभी ओझल होते ही नहीं तो हमारे लिये रक्षा, पालन, पोषण आदि जो कुछ आवश्यक है, वह सब कुछ वे करेंगे।

भगवान्‌ने गीतामें कहा—अप्राप्तिकी प्राप्ति करा देना और प्राप्तकी रक्षा करना—ये दोनों काम मैं करता हूँ—

॥श्रीहरिः॥

436

कल्याणकारी प्रवचन

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तकमें परमपूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा दिये गये कुछ कल्याणकारी प्रवचनोंका संग्रह किया गया है। ये प्रवचन भगवत्प्राप्तिके अभिलाषी साधकोंके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मार्गदर्शक हैं। इनमें गूढ़ तात्त्विक बातोंको सरल भाषा और सरल रीतिसे समझाया गया है। कल्याणकांक्षी पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकका अध्ययन-मनन करके इससे अधिकाधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करें।

विनीत—

प्रकाशक

१. संसारका आश्रय कैसे छूटे ?

हम भगवान्‌के आश्रित हो जायँ अथवा संसारका आश्रय छोड़ दें दोनोंका एक ही अर्थ होता है। संसारका आश्रय सर्वथा छूट जानेसे भगवान्‌का आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाता है और भगवान्‌के सर्वथा आश्रित हो जानेसे संसारका आश्रय स्वतः छूट जाता है। इन दोनोंमेंसे किसी एककी मुख्यता रखकर चलें अथवा दोनोंको साथ रखते हुए चलें, एक ही अवस्था हो जाती है अर्थात् कल्याण हो जाता है।

भगवान्‌के आश्रित होनेमें संसारका आश्रय ही खास बाधक है। संसारका आश्रय न छूटनेमें खास कारण है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। संयोगजन्य सुखमें मनका जो खिंचाव है, प्रियता है, यही संसारके आश्रयकी, संसारके सम्बन्धकी खास जड़ है। यह जड़ कट जाय तो संसारका आश्रय छूट जायगा। परन्तु भीतरमें संयोगजन्य सुखकी लोलुपता रहते हुए बाहरसे चाहे सम्बन्ध छोड़ दो, साधु भी बन जाओ, पैसा भी छोड़ दो, पदार्थ भी छोड़ दो, गाँव छोड़कर जंगलोंमें भी चले जाओ, तो भी संसारका आश्रय छूटेगा नहीं।

संयोगजन्य सुख आठ प्रकारका है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान (शरीरका आदर-सत्कार), बड़ाई (नामकी प्रशंसा) और आराम। ये आठ प्रकारके संयोगजन्य सुख ही मूल बाधाएँ हैं। जबतक इन सुखोंमें आकर्षण है, प्रियता है, ये अच्छे लगते हैं, तबतक संसारका आश्रय छूटता नहीं और संसारका आश्रय छूटे बिना सर्वथा भगवान्‌का आश्रय होता नहीं। अगर केवल भगवान्‌का ही आश्रय ले लिया जाय तो संसारका आश्रय छूट जायगा। संयोगजन्य सुखका बड़ा भारी आकर्षण है। पर वह कब छूटेगा ? जब मनुष्य केवल भगवान्‌का आश्रय लेकर भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लीन

****

होगा। भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लीन होनेसे जब पारमार्थिक सुख मिलने लगेगा, तब संयोगजन्य सुख सुगमतासे, सरलतासे छूट जायगा। उस पारमार्थिक सुखमें इतनी विलक्षणता, अलौकिकता है कि उसके सामने संसारके सब सुख नगण्य हैं, तुच्छ हैं, कुछ नहीं हैं। जब वह पारमार्थिक सुख मिलने लगेगा, तब संसारके सब सुख फीके पड़ जायँगे, स्वतः स्वाभाविक तुच्छ लगने लगेंगे। अतः उस पारमार्थिक सुखको, आनन्दको ही लेना चाहिये। उसको लेनेके दो तरीके हैं चाहे भावना-(भक्ति-) से ले लो और चाहे विवेक-(ज्ञान-) से ले लो। भावनासे ऐसे लो कि भगवान् हैं, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे।

भगवान्‌को अपना माननेके साथ-साथ 'दूसरो न कोई'—यह मानना जरूरी है। परंतु होता यह है कि संसारमें अपनापन रखते हुए भगवान्‌में अपनापन करते हैं। वास्तवमें संसारके साथ अपनापन रहता नहीं—यह निश्चित बात है। जन्मसे पहले जिस कुटुम्बके साथ अपनापन था, आज उस कुटुम्बकी याद ही नहीं है। इसी प्रकार आज जिस कुटुम्बके साथ, जिन रुपयोंके साथ, जिन भोगोंके साथ हमारा अपनापन है, वे भविष्यमें यादतक नहीं रहेंगे, सम्बन्ध तो क्या रहेगा? अतः जो रहेगा ही नहीं, उसको छोड़नेमें क्या जोर आता है? जो रहनेवाला हो, उसको यदि छोड़नेके लिये कहा जाय, तब तो कुछ कठिनता भी मालूम देगी कि रहनेवाली चीजको कैसे छोड़ दें! पर संसार तो छूटेगा ही और छूटता ही चला जा रहा है; अतः उसको छोड़नेमें कठिनता कैसी? केवल मूर्खताके कारण ही हमने उसको पकड़ रखा है।

थोड़ा-सा विचार करें तो बात स्पष्ट समझमें आती है कि बाल्यावस्थामें हमारा जिन मित्रोंके साथ, जिन खिलौनोंके साथ, जिन व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध आज केवल याद-मात्र है। आज वह सम्बन्ध नहीं है। न उस अवस्थाके साथ सम्बन्ध है, न उन

घटनाओंके साथ सम्बन्ध है। न उन खिलौनोंके साथ सम्बन्ध है, न उस समयके साथ सम्बन्ध है। अब आप कहते हो कि हमारी बाल्यावस्था ऐसी थी और हम अड़ जायँ कि ऐसी नहीं थी, तो आपके पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि आप उसको हमें बता सकें। आप और हम जिद भले ही कर लें, पर 'हमारी बाल्यावस्था ऐसी थी'—इसको आप और हम नहीं बता सकते। बतायें भी तो क्या बतायें और कैसे बतायें ? किसकी ताकत है, जो उसको बता दे ? आपको अपनी बाल्यावस्था वर्तमान अवस्थाकी तरह सच्ची दीखती थी, पर आज उसको आप सिद्ध नहीं कर सकते, तो फिर आज आपकी जो अवस्था है, उसको आगे सिद्ध करना चाहेंगे तो कैसे करेंगे ? जिस तरहसे उस बाल्यावस्थाका समय बीता उसी तरहसे यह आजका समय बीत रहा है। भविष्यमें क्या होगा, अभी घण्टेभर बादमें क्या होगा, कुछ पता नहीं ! आजसे युगों पहले क्या हुआ, पता नहीं और आजसे युगों बाद क्या होगा, पता नहीं। वर्तमान भी बड़ी तेजीसे बीत रहा है। वर्तमान, 'है' का नाम नहीं है, प्रत्युत जो बरत रहा है अर्थात् तेजीसे जा रहा है, उसका नाम वर्तमान है। वर्तमान इतनी तेजीसे जा रहा है कि इसका एक क्षण भी स्थिर नहीं है। वर्तमान कोई काल है ही नहीं, केवल भूत और भविष्यकी सन्धिको वर्तमान कहा गया है। वर्तमान शब्दका अर्थ ही है—चलता हुआ। जो भविष्य है, वह सामने आ करके भूतमें जा रहा है। जो भविष्य भूतमें जा रहा है, उसको वर्तमान कहते हैं। इस प्रकार जो कभी स्थिर रहता ही नहीं, जिसका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उससे विमुख होनेमें क्या जोर आता है, बताओ ? यह तो जबरदस्ती छूटेगा, रहेगा नहीं। इसको रखना चाहोगे तो बेइज्जती, दुःख, सन्ताप, जलन, आफतके सिवाय और कुछ मिलनेका है नहीं। परन्तु इसको छोड़ दोगे तो निहाल हो जाओगे ! अतः चाहे संसारके सम्बन्धका त्याग कर दो चाहे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध मान लो कि 'हे भगवन् ! आप ही हमारे हो'। भगवान्‌का

ही नाम लो, उनका ही चिन्तन करो, उनके आगे रोओ और कहो कि 'महाराज ! संसारका त्याग करनेमें मैं तो हार गया, मुझे अपनी मनोवृत्तियाँ बड़ी प्रबल प्रतीत होती हैं।' ऐसा करके भगवान्‌के शरण हो जाओ। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनयपत्रिका ८९)

हमारेसे तो ये शत्रु सीधे होते नहीं। वे प्रभु कृपा करेंगे, तभी ये सीधे होंगे। परंतु अपनी शक्तिका पूरा उपयोग किये बिना मनुष्य अपनी शक्तिसे हताश नहीं हो पाता—अपनेमें असमर्थताका अनुभव नहीं कर पाता। अपनी शक्तिसे हताश हुए बिना अभिमान नहीं मिटता कि मैं ऐसा कर सकता हूँ। पूरी शक्ति लगाकर भी काम न बने तो कह दे कि 'हे नाथ ! अब मैं कुछ नहीं कर सकता !' तो फिर उसी क्षण काम बन जायगा। परन्तु पूरी शक्ति लगाये बिना ऐसी अनन्यता नहीं आती। इसलिये जो आप कर सकते हैं, उसे पूरा करके मनकी निकाल दें। जब भीतर यह विश्वास हो जायगा कि मेरी शक्तिसे काम नहीं होगा, तब स्वतः पुकार निकलेगी कि 'हे नाथ ! मेरी शक्तिसे नहीं होता' और उसी क्षण भगवान्‌की शक्तिसे काम पूरा हो जायगा। अपनी शक्ति बाकी रखते हुए भगवान्‌के अनन्य शरण नहीं हो सकते। अगर अपनी शक्तिका कुछ आश्रय है कि हम कुछ कर सकते हैं, तो करके पूरा कर लो। जितना जोर लगाना हो, पूरा-का-पूरा लगा लो। पूरा जोर लगानेपर जब जोर बाकी नहीं रहेगा, तब कार्य सिद्ध हो जायगा। अगर जोर लगाये बिना ही संसारका आश्रय छूट जाय तो भी कार्य सिद्ध हो जायगा। कारण कि संसारका जो आश्रय है, वह परमात्माका आश्रय नहीं लेने देता, इतना ही उसका काम है और खुद वह रहता नहीं !

संसारका आश्रय व्याकरणके 'क्विप्' प्रत्ययकी तरह है। 'क्विप्' प्रत्यय खुद तो रहता नहीं, पर धातुके गुण और वृद्धि नहीं होने देता।

ऐसे ही संसारका आश्रय खुद तो रहता नहीं, पर मनुष्यमें न तो सद्गुण-सदाचार आने देता है और न उसको परमात्माकी तरफ बढ़ने देता है। अतः संसारका आश्रय रखनेसे कोरा, निखालिस धोखा ही होगा। इसमें कोई लाभ होता हो तो बताओ ?

श्रोता—अनन्त जन्मोंसे संसारका आश्रय लेनेके संस्कार पड़े हुए हैं !

स्वामीजी—यह सब कुछ नहीं, केवल बहानेबाजी है। आपका विचार ही नहीं है, इसलिये बहाना बनाते हो। बहानेबाजियाँ मैंने बहुत सुनी हैं। 'क्या करें, हमारे कर्म ठीक नहीं हैं। क्या करें, कोई अच्छा महात्मा नहीं मिलता। क्या करें, ईश्वरने ऐसी कृपा नहीं की। क्या करें, वायुमण्डल ऐसा ही है। क्या करें, समय ऐसा ही आ गया है। समय बहुत खराब आ गया है, समाजमें कुसंग बहुत है। क्या करें, हमारा प्रारब्ध ऐसा ही है। क्या करें, हमारे संस्कार ऐसे ही हैं। कहाँ जायँ ? क्या करें ? किस तरहसे करें ? किससे पूछें ? ईश्वरने हमारेको ऐसा ही बना दिया। भगवान्‌की माया ही ऐसी है, हम क्या करें !'—ये सब बिलकुल फालतू बातें हैं, इनमें कुछ तत्त्व नहीं है। मैंने इनका अध्ययन किया है। ये जितनी भी बहानेबाजियाँ हैं, ये सब केवल असली लाभसे वञ्चित होनेके तरीके हैं। कहीं असली लाभ न हो जाय—इसके लिये ढूँढ़-ढूँढ़कर तरीके निकाले हैं और कुछ नहीं ! ऐसी बढ़िया रीतिसे कमर कसी है कि किसी तरहसे आध्यात्मिक उन्नति न हो जाय। कुछ-न-कुछ आड़ लगा ही देंगे कि स्वामीजीको इन बातोंका क्या पता ? इनके गृहस्थ तो है नहीं। दुकान इनके है नहीं। इनको तो मुफ्तमें रोटी मिलती है और बातें बनानी आती हैं। इस प्रकार किसी तरहसे इनकी बातोंको टाल देना है—यह आपने सोच रखा है। इसके लिये तरीके आपको बहुत आते हैं। एक-दो, चार-पाँच तरीके थोड़े ही हैं। यदि कर्म बाधक हैं, तो कर्म तुम्हारे किये हुए हैं या और किसीके ? तुम्हारे बनाये हुए संस्कार यदि बाधक हैं,

तो क्या उनको तुम मिटा नहीं सकते ? आपने किया है, देखा है, सुना है, समझा है, पढ़ा है— इस प्रकार आपने स्वयं अपने भीतर जो संस्कार डाले हैं, वे ही उपजते हैं। अतः आपके किये हुए संस्कार ही उपजते हैं, आपके किये बिना एक भी संस्कार नहीं उपज सकता।

एक संतसे किसीने पूछा कि 'महाराज! भगवान्‌में मन कैसे लगे ?' संतने उत्तर दिया कि तुम स्वयं भगवान्‌में लग जाओ तो मन भी आप-से-आप भगवान्‌में लग जायगा। मन कहाँ जाता है ? तुमने जहाँ-जहाँ अपना सम्बन्ध जोड़ा है, वहाँ-वहाँ मन जाता है। उसने कहा कि 'महाराज ! मन तो हरेक जगह चला जाता है !' तो संतने कहा कि 'मनमें कभी वाइसरायकी चाय पीनेका संकल्प होता है क्या ?' 'नहीं होता।' 'क्यों नहीं होता ?' क्योंकि वहाँ हमने सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं। अतः जहाँ आपने सम्बन्ध नहीं जोड़ा, वहाँ मन नहीं जाता। जहाँ आपने सम्बन्ध जोड़ा है, वहीं मन जाता है। आप सम्बन्ध छोड़ दो तो मन वहाँ जाना छोड़ देगा। सब काम खुदका ही किया हुआ है—

आप कमाया कामड़ा, किणने दीजै दोष।
खोजेजी री पालड़ी, काँदे लीनी खोस॥*

अगर खुदका पक्का विचार होगा तो उसको खुद ही मिटा दोगे। अगर उसको पूरा मिटाना चाहते हो, पर अपनी शक्तिसे वह मिटता नहीं तो ऐसी अवस्थामें आप रो दोगे। यह विद्या हम सबने

---

* अपने ही द्वारा किये गये काममें किसको दोष दें ! 'खोजेजी' नामक एक ठाकुरके गाँव पालड़ीको लोग 'खोजेजीकी पालड़ी' कहकर पुकारा करते थे। एक बार खोजेजीके गाँवमें एक बहुत बड़ा काँदा (प्याज) पैदा हुआ। उसको वे राजाके पास दिखानेके लिये ले गये। राजाके पास ले जानेसे उस गाँवकी 'काँदेकी पालड़ी' नामसे प्रसिद्धि हो गयी और लोग उस गाँवको 'खोजेजीकी पालड़ी' न कहकर 'काँदेकी पालड़ी' कहकर पुकारने लग गये।

बालकपनमें काममें ली है। बालकपनमें कौन-सा काम रोनेसे नहीं हुआ ! रोनेसे सब काम हुए। छोटा बच्चा रो करके अपने मनकी बात पूरी करा लेता है। यह रोना आपके, हमारे सबके काममें लिया हुआ उपाय है। अतः भगवान्‌के आगे रो पड़ो, तो भगवान्‌को झख मारकर आना पड़ेगा। हम भगवान्‌के प्यारे-से-प्यारे बच्चे हैं। अगर हम बेचैन होकर रो पड़ें तो भगवान्‌की ताकत नहीं है कि हमारी उपेक्षा कर दें; कर ही नहीं सकते !

हम संसारके भोगोंको चाहते हैं, उनके संग्रहको चाहते हैं, तो ये चीजें रोनेपर भी नहीं मिलेंगी। प्रारब्धके अनुसार ये चीजें मिलनी होंगी तो मिलेंगी, नहीं मिलनी होंगी तो नहीं मिलेंगी। परंतु भगवान्‌के लिये रोना होगा तो उसको भगवान् सह नहीं सकेंगे। भगवान् संसारके दुःखकी परवाह नहीं करते। जो मनुष्य संसारका सुख चाहता है, वह तो एक प्रकारसे दुःख ही चाहता है। भगवान् मानो कहते हैं कि पहले मिला हुआ दुःख काफी है, और दुःख लेकर तू क्या करेगा ! इसलिये सांसारिक सुख माँगनेपर और उसके लिये रोनेपर भी भगवान् सांसारिक सुख दे ही दें—यह नियम नहीं है।

एक सज्जन थे। उनकी स्त्री बीमार हो गयी तो उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की। परंतु उनकी स्त्री मर गयी, तो उन्होंने भगवान्‌की आस्था छोड़ दी। उनकी परीक्षामें भगवान् फेल हो गये; क्योंकि प्रार्थना करनेपर भी भगवान्‌ने हमारा दुःख नहीं मिटाया, स्त्रीकी रक्षा नहीं की। परंतु मनुष्य यह विचार नहीं करता कि पहले दुःख ज्यादा था, उसे कम किया तो हर्ज क्या हुआ ? परंतु यह बात अक्लमें नहीं आती। मनुष्य अपनी मनचाही वस्तु ही माँगता रहता है। अगर आपमें आध्यात्मिक लगन हो और उसके लिये आप रो पड़ो, तो भगवान् उसी समय उसकी पूर्ति कर देंगे। कारण कि वे जानते हैं कि यह सच्ची बातके लिये रोता है। जो झूठी बातके लिये रोता है, उसकी कौन परवाह करे ? वह तो पागल है, बेअक्ल है, मूर्ख है !

संसारसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखे, तो भी मनमें 'यह अपना है'—ऐसा भाव है तो यह भोग है। कारण कि संसारसे अपनापन छूटता है तो दुःख होता है। संसारसे अपनापन टिकनेवाला नहीं है। हम शरीरको अपना मानते हैं तो क्या उसके साथ हमारा सम्बन्ध सदा बना रहेगा ? शरीर बना रहे—यह इच्छा ही मनुष्यको तंग कर रही है। शरीर सदा रहनेवाला तो है नहीं, पर 'वह मेरा है'—इस भावसे एक सुख मिलता है, यह सुख ही आफतमें डालनेवाला है। यह साधकके कामकी बहुत मार्मिक बात है।

यह संसार सब-का-सब छूटनेवाला ही है; परंतु ऐसा जानते हुए भी इसको छोड़नेमें असमर्थता मालूम देती है। पर इस असमर्थता, कठिनताके आगे हार स्वीकार मत करो। घबरा जाओ तो भगवान्‌से प्रार्थना करो। चलते-फिरते कहो कि 'हे नाथ ! क्या करूँ ! मेरेसे तो कुछ बनता नहीं !' जितना संयोगजन्य सुख लिया है, उससे सवा गुणा अधिक दुःख हो जाय तो संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जायगा। इसलिये संसारमें दुःखके समान उपकारी कोई है ही नहीं। पर वह दुःख भीतरसे होना चाहिये। परिस्थितिजन्य दुःख बाहरसे आता है। पुत्र नहीं है, धन नहीं है, मान नहीं है, यह नहीं है, वह नहीं है—ये सब बाहरके दुःख हैं। ये नकली दुःख हैं, असली दुःख नहीं हैं। असली दुःख भीतरसे होता है। अपनी वास्तविक स्थिति नहीं हो रही है, भगवान्‌से प्रेम नहीं हो रहा है, भगवान्‌के दर्शन नहीं हो रहे हैं, संसारका आश्रय नहीं छूट रहा है—इस प्रकार भीतरसे जो दुःख होता है, जलन होती है, उसको भगवान् सह नहीं सकते।

भगवान्‌का स्वभाव है—'**वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि**' अर्थात् भगवान् भक्तके हितके लिये कठोरतामें तो वज्रसे भी कठोर हैं (वज्र पड़े तो पर्वतके भी टुकड़े-टुकड़े कर दे, ऐसे वज्रसे भी कठोर हैं), पर कोमलतामें वे पुष्पसे भी कोमल हैं ! संतोंके लिये आया है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(मानस ७। १२५। ४)

मक्खन तो अपने ही तापसे पिघल जाता है, पर सन्त दूसरेका दुःख देखकर पिघल जाते हैं। जब सन्त दूसरेका दुःख सह नहीं सकते, तब सन्तोंके इष्ट भगवान् दूसरेका दुःख कैसे सह सकते हैं ? भगवान्का ही तो स्वभाव सन्तोंमें आता है। भगवान् बड़े भारी शूरवीर हैं, परंतु दूसरेके असली दुःखको सहनेमें बड़े कायर हैं। इसमें उनकी शूरवीरता रद्दी हो जाती है। लोग क्या कहेंगे, क्या नहीं कहेंगे, प्रशंसा होगी या निन्दा होगी—इस बातको वे कुछ नहीं गिनते। गोपियाँ कहती हैं कि 'लाला, तुम नाचो तो हम तुम्हें छाछ देंगी' तो भगवान् नाचने लग जाते हैं। जिनकी स्फुरणामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लीन होते हैं, वे भगवान् छाछके लिये गोपियोंके आगे नाचने लग जाते हैं! ऐसा नहीं कि मेरी कितनी बेइज्जती होगी। वे भगवान् क्या आज बदल गये ? यदि हम संसारका आश्रय न छूटनेसे दुःखी हो जायँ, तो क्या वे हमारा दुःख सह सकते हैं ? नहीं सह सकते। उनकी कृपासे हमारा संसारका आश्रय छूट जायगा।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——★——

२. प्राप्त और प्रतीति

दो वस्तुएँ हैं—प्राप्त और प्रतीति। इन दोनोंमें फरक है। प्राप्त 'परामात्मा' और प्रतीति 'संसार' है। जो प्राप्त है, वह तो दीखता नहीं और जो प्रतीत हो रहा है, वह रहता नहीं।

'मैं हूँ'—यह जो अपनी सत्ता है, अपना होनापन है, यह प्राप्त है। कारण कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा—इन अवस्थाओंमें अपने सत्ताका कभी भी अभाव नहीं होता। परंतु यह सत्ता दीखती नहीं। जो शरीर और संसार दिखायी दे रहे हैं, उनकी केवल प्रतीति हो रही है, वास्तवमें उनकी सत्ता नहीं है।

जो प्राप्त है, उसका कभी नाश नहीं होता। वह सबको सदा ही प्राप्त है। परंतु उसकी प्रतीति नहीं होती अर्थात् उसका ज्ञान 'इदंता' से नहीं होता। जैसे आँखसे संसार दीखता है, पर आँखको किससे देखें ? ऐसे ही जो सबको जाननेवाला है, सबका आधार है, सबका प्रकाशक है, उसको किससे देखें ? **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदारण्यक० २।४।१४)।

परन्तु जैसे जिससे यह संसार दिखायी देता है, वही आँख है, ऐसे ही जिसकी सत्तासे यह संसार प्रतीत हो रहा है, जिसके आधारपर संसार टिका हुआ है, जिसके प्रकाशसे संसार प्रकाशित हो रहा है, वही प्राप्त (परमात्मतत्त्व) है।

जो प्रतीत होता है, वह संसार कभी एकरस रहता ही नहीं।

वह प्रतिक्षण बदल रहा है। यह कोई अपरिचित बात नहीं है, सीधी-सादी सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। यदि संसार रहनेवाला होता तो फिर वह बदलता कैसे ? परन्तु इस बातको जानते हुए भी हम इसे मानते नहीं, प्रत्युत संसारको 'है' मान लेते हैं। जिस 'है' से यह संसार प्रकाशित हो रहा है, जिस 'है' के आधारपर यह दीख रहा है, उसको प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनता मान ली। बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो नित्यप्राप्त है, उसको अप्राप्त मान लिया और जो प्रतिक्षण बदल रहा है, उसको प्राप्त मान लिया।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १।११७।४)—परमात्माकी सत्तासे ही यह जड़ माया (संसार) मूढ़ताके कारण सत्यकी तरह दीखती है। मूढ़ताके कारण यह सत्य भले ही दीखे, पर वास्तवमें सत्य है नहीं। इस संसारको देखनेवाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और दीखनेवाला संसार—ये दोनों एक ही जातिके हैं। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका प्रकाशक जीवात्मा और संसारमात्रका प्रकाशक परमात्मा—ये दोनों भी एक ही जातिके हैं। जीवात्मा और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं; क्योंकि ये नित्य रहते हैं तथा शरीर और संसार नित्य ही अप्राप्त हैं; क्योंकि ये प्रतिक्षण बदलते हैं। जो प्रतिक्षण बदल रहा है, बह रहा है, वह टिकेगा कैसे ? टिक सकता ही नहीं, प्रत्यक्ष बात है। आपका जो बचपन था, वह कहाँ गया ? पहले जो परिस्थिति थी, वह कहाँ गयी ? यह सब-का-सब 'नहीं' में ही भरती हो रहा है। परंतु जो 'नहीं'में भरती होनेवालेको जानता है, वह 'नहीं'में भरती कैसे होगा ? वह तो है ही। यदि वह नहीं हो तो फिर 'नहीं'को जानेगा कौन ? जो 'नहीं'को जाननेवाला है, उसकी प्राप्तिके लिये क्या करें ? कुछ नहीं करें। कुछ नहीं करनेका अर्थ आलस्य, अकर्मण्यता, प्रमाद नहीं है। कुछ नहीं करनेका अर्थ है—जो 'है' है, उसमें स्थित हो जाय। गीताने कहा है—'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।**' (६।२५)। तात्पर्य है कि जो

आत्मा सर्वत्र गया हुआ है (**'अतति सर्वत्र गच्छति इति आत्मा'**) अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण है, उसमें स्थित हो करके कुछ भी चिन्तन न करे। कारण कि परमात्माका चिन्तन करोगे तो अपनी स्थितिसे नीचे आ जाओगे। परमात्माको अपनेसे अलग माननेपर ही चिन्तन होगा, क्योंकि चिन्तनमें जिसका चिन्तन किया जाय, वह और चिन्तन करनेवाला—दोनों अलग-अलग होते हैं। इसलिये 'है' में स्थित होकर चुप हो जायँ—यह युक्ति बहुत बढ़िया है। चुप होनेसे 'है' में अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा। इस स्वतःसिद्ध स्थितिको गीताने **'स्वस्थः'** (१४। २४) पदसे कहा है। वास्तवमें सभी मनुष्य **'स्व'** में ही स्थित रहते हैं, पर भूलसे अपनी स्थिति 'पर'-(शरीर-) में मान लेते हैं।

गीताने कहा है—**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते** (१३। २०) अर्थात् पुरुष सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु बनता है। कौन-सा पुरुष सुख-दुःखोंका भोक्ता बनता है? **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'** (१३। २१) अर्थात् प्रकृतिस्थ पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंका, सुख-दुखोंका भोक्ता बनता है। वह सुख-दुःखमें सम कब होता है? **'स्व'** में स्थित होनेपर। 'स्व' में स्थित होनेमें भी क्या कोई मेहनत करनी पड़ती है? 'स्व'में स्थित तो हैं ही। इसलिये कोई भी चिन्तन न करें। इस अवस्थामें जितना ठहर सको, उतना ठहर जाओ। कोई स्फुरणा पैदा हो तो उसको सत्ता न दो; वह अपने-आप नष्ट हो जायगी। पैदा होनेवाली चीज नष्ट होनेवाली होती है। पैदा होनेके बाद खास काम नष्ट होना ही है। अतः नष्ट होनेवाली चीजका क्या ख्याल करें? आ गयी तो आ गयी, चली गयी तो चली गयी। लहर उठ गयी, फिर शान्त हो गयी। इसमें राजी और नाराज क्या हों? आयी हुई चीज जाती हुई दीख जाय तो क्या अपराध हो गया? उसको अच्छी और मन्दी समझना ही फँसना है। वह आयी है तो उसको जाने दो। उसकी उपेक्षा करो, उससे उदासीन रहो।

लोग मनको रोकनेके लिये बहुत मेहनत करते हैं, पर मन रुकता नहीं। मनको रोकना नहीं है। मनको न तो रोकना है और न चलाना है। मन जैसा है, वैसा ही छोड़ दो; उसकी उपेक्षा कर दो, उदासीन हो जाओ। फिर संकल्प-विकल्प आप-से-आप मिट जायँगे। वे तो आप-से-आप ही मिट रहे हैं। जान-बूझकर उनको मिटानेकी आफत क्यों मोल लेते हो? उनको मिटानेकी चेष्टा करना ही उनको सत्ता देना है।

भगवान्‌ने अपनी तरफसे कहीं ऐसा नहीं कहा कि मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास करना चाहिये, प्रत्युत '**शनैः शनैरुपरमेत्**' (६। २५) पदोंसे उपराम होनेके लिये कहा है। मनको पकड़नेके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर ही भगवान्‌ने उनको बताया कि अभ्यास और वैराग्यसे यह मन पकड़ा जाता है (६। ३३—३५)। अर्जुनने दो श्लोकोंमें प्रश्न किया और भगवान्‌ने दो श्लोकोंमें ही उत्तर दे दिया। इतना थोड़ा भगवान् किसी प्रश्नके उत्तरमें बोले ही नहीं। दो श्लोकोंमें भी भगवान्‌ने केवल आधे श्लोकमें ही उत्तर दिया और आधे श्लोकमें अर्जुनकी बातका समर्थन किया। फिर भगवान्‌ने बताया कि मनको पकड़नेमात्रसे मुक्ति नहीं होती, मनको वशमें करना चाहिये—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(६। ३६)

'जिसका मन वशमें नहीं है, उच्छृङ्खल है अर्थात् सांसारिक भोगोंमें जिसकी रुचि है, उसके द्वारा योग प्राप्त करना कठिन है। परंतु जिसका मन वशमें है, ऐसे यत्न करनेवाले साधकको योग प्राप्त हो सकता है।' मनको वशमें करनेका अर्थ यह नहीं है कि मनको मैं पकड़ लूँ, एकाग्र कर लूँ। मनके वशमें न होना ही मनको वशमें करना है। इसी तरह भगवान्‌ने इन्द्रियोंके तथा राग-द्वेषके वशमें न होनेकी बात कही है—'**रागद्वेषवियुक्तैस्तु....प्रसादमधिगच्छति॥**' (२। ६४);

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे....परिपन्थिनौ ॥' (३ । ३४)। वशमें न होनेका अर्थ है कि उसके कहनेके अनुसार काम न करे और उसकी दशा देखकर चिन्तित न हो। वह ज्यों बहता है, त्यों बहता रहे। स्वयं उससे अलग रहे, तटस्थ रहे। वास्तवमें आप उससे तटस्थ ही हो। आप उसके साथ रहते नहीं हो। वह तो बदलता है, पर आप नहीं बदलते हो। आप बिलकुल उससे अलग हो। इस तरह उसको अपनेसे अलग जानना है।

मनके चंचल होनेसे आपका क्या बिगड़ गया ? आप तो ज्यों-के-त्यों हो और वह बह रहा है। यह भी एक तमाशा है। मनको ठीक करनेमें कई वर्ष लग जाते हैं, पर ठीक होता नहीं। ठीक कैसे हो ? वह ठीक होनेवाला है ही नहीं। आप तो उलटे उसको बल देते हो, उसको चंचल बनाते हो और कहते हो कि मनको रोकते हैं। संसारको याद करते हो और कहते हो कि भगवान्‌का पूरा भजन-ध्यान करते हैं। एकान्तमें घण्टाभर बैठे, तो उसमें कितनी देर भगवान् याद आये ? भगवान्‌को तो याद करना पड़ता है, पर संसार आप-से-आप याद आता है। इस विषयमें एक बात बड़ी शान्तिसे समझनेकी है कि जो आप-से-आप याद आता है, उसकी आपपर जिम्मेवारी नहीं होती। अतः जो आप-से-आप याद आता है, उसमें मुफ्तमें ही क्यों उलझते हो ? स्फुरणा आप-से-आप उत्पन्न होती है और आप-से-आप शान्त हो जाती है, आप क्यों आफतमें पड़ते हो ? मनुष्यकी जिम्मेवारी करनेपर होती है। जिसको आप करते ही नहीं, प्रत्युत जो आप-से-आप होता है, उसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है। आप जवानसे बूढ़े हो गये, तो क्या आपपर इसकी जिम्मेवारी है कि आप बूढ़े क्यों हो गये ? आपने गलती क्यों की ? ऐसे ही आप संसारको याद नहीं करते, पर संसार आप-से-आप याद आता है तो इसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है। इसलिये आप अपनी तरफसे कुछ भी चिन्तन न करें—**'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।'** चिन्तन आ जाय, तो वह जैसे आया

है, वैसे ही चला जायगा। आप उसमें कुछ दखल न करें। यह बहुत ही बढ़िया युक्ति है। आपके विश्वासके लिये कहता हूँ कि हमारेको तो यह युक्ति बहुत वर्षोंके बाद मिली है। आप तो इस युक्तिको अभी ही काममें ले लो। मनकी उपेक्षा कर दो। बस, आप ठीक ठिकाने आ गये। मनके साथ मिलकर उसको एकाग्र करनेकी चेष्टा करना इतना बढ़िया उपाय नहीं है। कारण कि ऐसा करनेसे उसको सत्ता मिलेगी, उसको महत्त्व मिलेगा। जो है ही नहीं, उसको मिटानेकी चेष्टा करनेका अर्थ है—उसको 'है' मानना।

चिन्तन या तो भूतकालका होता है या भविष्यकालका। वर्तमानका चिन्तन नहीं होता। अतः जो वर्तमानमें है ही नहीं उसको 'है' मान लिया—यही तो गलती की है। उसको 'है' मानकर फिर उसको मिटाते हो तो यह मिटाना नहीं हुआ, प्रत्युत उसको दृढ़ करना हुआ। जो घटना बीत गयी, वह अब है ही नहीं और जो घटना भविष्यमें हो सकती है, वह भी अब नहीं है। जो अभी है ही नहीं, उसको तो पकड़ते हो, उससे युद्ध करते हो, पर जो परमात्मा अभी है, उसकी तरफ देखते ही नहीं! वर्तमानमें जो केवल परमात्मा ही है, उसको तो मानते ही नहीं और जो वास्तवमें है ही नहीं, उसको मान लिया। वास्तवमें वर्तमानकालकी सत्ता ही नहीं। भूत और भविष्यकी संधिको ही वर्तमान कह देते हैं। वर्तमान तो एकमात्र परमात्मा ही है। भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(गीता ७। २६)

'जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं, जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे उन सबको मैं जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता।'

यहाँ '**अहं वेद**' पदोंमें केवल वर्तमानकालका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि परमात्माके लिये सब कुछ वर्तमान ही है। अतः

****

वर्तमानमें सत्तारूपसे एक परमात्मा ही है। अब उसका चिन्तन क्या करें ? उसमें ही पूरे डूबे रहें। वह हमारा है, हम उसके हैं। वह हमारेमें है—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** (गीता १३ । २)। अब उसकी प्राप्तिमें कठिनता किस बातकी ? उसकी प्राप्तिके समान सुगम काम कोई है ही नहीं। पर सुगम भी तब कहा जाय, जब कुछ करना पड़े। जब कुछ करना ही न पड़े, तब उसको सुगम भी कैसे कहें ? उसको कठिन माना है इसलिये कठिनताका भाव दूर करनेके लिये कहते हैं कि यह तो बड़ा सुगम है !

परमात्मा है और सदा ही प्राप्त है—इसपर दृढ़ रहना है। चाहे कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। संसार तो निरन्तर बहता है, पर वह परमात्मा 'है' रूपसे वही रहता है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

३. मैं-मेरापन कैसे मिटे ?

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है—यह मान्यता ही खास भूल है। यही मूल भूल है। आप विचार करो कि शरीर मिला है और मिली हुई चीज अपनी नहीं होती। अपनी चीज सदा ही अपनी रही है, कभी बिछुड़ती नहीं; शुरूसे अन्ततक अपनी रहती है। परंतु मिली हुई चीज सदा साथ नहीं रहती, बिछुड़ जाती है; अतः वह अपनी कैसे हो सकती है ? स्वयं पहले भी था और पीछे भी रहेगा, बीचमें शरीर मिला तो स्वयं कैसे हुआ ?

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(गीता १३।१)

अर्थात् 'यह' रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र' कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानीजन 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दो चीजें हैं। जैसे 'मैं' खम्भेको जानता हूँ तो खम्भा जाननेमें आनेवाली चीज हुई और मैं खम्भेको जाननेवाला हुआ। जो जाननेवाला होता है, वह जाननेमें आनेवाली वस्तुसे अलग होता है—यह नियम है। हम शरीरको जानते हैं; अतः शरीरसे अलग हुए। हम कहते हैं—यह मेरा पेट है, यह मेरा पैर है, यह मेरी गर्दन है, यह मेरा मस्तक है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है आदि-आदि। जो 'यह' है, वह मैं (स्वरूप) कैसे हो सकता है ? 'अहम्' अर्थात् मैं-पन भी 'यह' है। जिस प्रकाशमें शरीर-

****

इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि दीखते हैं, उसी प्रकाशमें 'अहम्' भी दीखता है। जो दीखनेवाला है, वह अपना स्वरूप कैसे हो सकता है?

मैं यह शरीर नहीं हूँ—इस बातको दृढ़तासे मान लो। मैं न कभी शरीर था, न कभी शरीर हो सकता हूँ, न शरीर रहूँगा और न अभी वर्तमानमें मैं शरीर हूँ। मैं शरीरसे बिलकुल अलग हूँ। इसकी पहचान क्या है? अगर मैं शरीरसे अलग न होता, शरीरसे मेरी एकता होती तो मरनेपर शरीर भी मेरे साथ चला जाता अथवा शरीरके साथ मैं भी रह जाता। परन्तु न तो मेरे साथ शरीर जाता है और न मैं शरीरके साथ रहता हूँ, फिर शरीर मैं कैसे हुआ? जैसे, मकानसे मैं चला जाता हूँ तो मकान मेरे साथ नहीं जाता। मकान यहीं रहता है और मैं चला जाता हूँ। अतः मकान और मैं दो हैं, एक नहीं। इसी तरह शरीर और मैं दो हैं, एक नहीं—ऐसा ठीक बोध होनेपर अहंता मिट जाती है।

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—ये तीन खास भूलें हैं। वास्तवमें न तो मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा है और न शरीर मेरे लिये ही है। शरीर मेरे लिये कैसे नहीं? मैं नित्य-निरन्तर रहनेवाला हूँ और शरीर नित्य-निरन्तर बदलनेवाला है। यह शरीर नित्य-निरन्तर मेरेसे वियुक्त हो रहा है। कोई ऐसा क्षण नहीं है, जिस क्षणमें यह मेरेसे वियुक्त न होता हो। मनुष्य मानता है कि जब शरीर मर जाता है, तब शरीरका वियोग होता है; अतः जन्मसे मृत्युतक शरीर हमारा रहा। यह बहुत स्थूल दृष्टिसे मानना है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर प्रतिक्षण ही मर रहा है। मान लो कि किसीकी आयु सौ वर्षकी है और वह एक वर्षका हो गया, तो क्या अब सौ वर्ष बाकी रहे? अब तो निन्यानबे वर्ष ही बाकी रहे। दृष्टि इस तरफ होती है कि बालक बढ़ रहा है—बिलकुल गलत बात है, बालक तो घट रहा है। हम भी यही सोचते हैं कि हम बढ़ रहे हैं, हम जी रहे हैं—बिलकुल झूठी बात है; सच्ची बात तो यह है कि हम मर रहे हैं। जैसे मरनेके बाद शरीरसे वियोग हो जाता है—ऐसा हम मानते हैं ऐसे

ही हमारा शरीरसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। अतः जो हरदम वियुक्त होता है, वह 'मेरे लिये' कैसे हो सकता है ? विचार करें कि शरीरपर मेरा आधिपत्य चलता है क्या ? अगर चलता है तो शरीरको बीमार मत होने दो, कमजोर मत होने दो, कम-से-कम मरने तो दो ही मत। जब इसपर हमारा आधिपत्य चलता ही नहीं, तो फिर यह 'मेरा' कैसे हुआ ? बालकपनमें जो मैं था वही मैं अब भी हूँ। अपना होनापन तो निरन्तर वैसा-का-वैसा दीखता है, पर शरीर निरन्तर बदलता है; अतः शरीर 'मैं' कैसे हुआ ?

शरीरकी मात्र संसारके साथ एकता है। जिन पाँच तत्त्वोंसे यह संसार बना है। उन्हीं पाँच तत्त्वोंसे यह शरीर बना है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस ४। ११। २)। शरीर हमें संसारकी सेवाके लिये मिला है, अपने लिये नहीं। हमारेको शरीर क्या निहाल करेगा ? शरीर हमारे क्या काम आयेगा ? शरीरको अपना और अपने लिये न मानकर प्रत्युत संसारका और संसारके लिये ही मानकर उसको संसारकी सेवामें लगा दें—यही हमारे काम आयेगा।

आपको शंका हो सकती है कि इस शरीरसे हम जप करते हैं, ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं, सेवा करते हैं, तो यह शरीर हमारे ही तो काम आया ? वास्तवमें शरीर आपके काम नहीं आया। कारण कि आपके स्वरूपतक कोई क्रिया और पदार्थ पहुँचता ही नहीं। जप, ध्यान आदि करनेसे विवेक विकसित होता है और अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व मिटता है। विवेककी पूर्ण जागृति होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। कारण कि नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव जड शरीर-संसारके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होता है। शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद विवेकसे होता है, क्रियासे नहीं। अतः शरीर हमारे

काम नहीं आया, शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद ही हमारे काम आया !

शरीरको अपने लिये मानेंगे तो शरीरसे सम्बन्ध जुड़ेगा। हम परमात्माका चिन्तन करते हैं तो उसमें मन-बुद्धि लगाते हैं। मन-बुद्धि प्रकृतिके हैं कि आपके हैं ? ये तो प्रकृतिके हैं। प्रकृति 'पर' है और आप स्वयं 'स्व' हैं। अतः परमात्माका चिन्तन करनेमें आपको पराधीन होना पड़ेगा, जडका सहारा लेना पड़ेगा। ध्यान लगाओ तो जडका सहारा लेना पड़ेगा। समाधि लगाओ तो जडका सहारा लेना पड़ेगा, परन्तु चिन्मयतामें स्थिति जडताके त्यागसे होगी। जडताकी सहायता लेनेसे, जडताकी आवश्यकता समझनेसे उसका त्याग कैसे करेंगे ? जब शरीर आदि जड चीजोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे ही कल्याण होगा तो फिर ये शरीर आदि हमारे क्या काम आये ?

इस बातको ठीक तरहसे समझें कि शरीर हमारे लिये कैसे हुआ ? आप भजन-ध्यान करो, दान-पुण्य करो, सेवा करो, पर ये सब कल्याण करनेवाले तब होंगे, जब आपका यह भाव होगा कि ये सब मेरे नहीं हैं और मेरे लिये नहीं हैं। जब ये मेरे और मेरे लिये नहीं हैं, तो फिर इनको करें ही क्यों ? इनको इसलिये करना है कि हमने दूसरोंसे लिया है। शरीर भी दूसरोंसे मिला है। अन्न-जल भी दूसरोंसे लिया है। हवा भी दूसरोंसे मिलती है। हम रास्तेपर चलते हैं तो सड़क भी दूसरोंसे मिली है। छाया भी दूसरोंसे मिली है। मकान भी दूसरोंसे मिला है। दूसरोंसे मिली हुई चीज दूसरोंकी सेवामें लगा देनी है, जिससे कर्जा उतर जाय। पुराना कर्जा उतार देना है और नया कर्जा लेना नहीं है। यह हमारे काम आ जाय, यह हमारी बात माने, हमारा कहना माने—यह इच्छा रहेगी तो नया कर्जा चढ़ता रहेगा। जड आपके काम कैसे आयेगा ? आप तो चेतन हो। तो हम क्या करें ? जड़तासे पिण्ड छुड़ानेके लिये चाहे संसारकी सेवा करें, चाहे भगवान्‌की सेवा करें, अपने लिये कुछ न करें। गीतामें आया है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

(१७ । २०)

'दान देना कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अनुपकारीको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

—इस श्लोकमें व्याकरणकी एक आश्चर्यकी बात आयी है। भगवान्‌ने '**अनुपकारिणे**' पदमें चतुर्थी विभक्ति दी है और '**देशे काले च पात्रे च**' पदोंमें सप्तमी विभक्ति दी है। कम-से-कम '**पात्रे च**' में तो सप्तमी नहीं कहनी चाहिये थी, '**पात्राय**' कहना चाहिये था। वहाँ सप्तमी कैसे हो गयी ? इसका तात्पर्य क्या है, पूरा तो भगवान् जानें और व्यासजी महाराज जानें, अपनेको तो पता नहीं। हम कोई विद्वान् तो हैं नहीं, परंतु हमारी धारणामें '**देशे काले च पात्रे च**' का अर्थ है—'देश, काल और पात्रकी प्राप्ति होनेपर (**प्राप्ते सति**)'। '**अनुपकारिणे**' का अर्थ यह नहीं है कि उपकार करनेवालेको दान मत दो, प्रत्युत जिसने हमारा उपकार किया है, उसको देनेमें दान मत मानो। 'अनुपकारी' का अर्थ है—जिसने पहले कभी हमारा उपकार नहीं किया, अभी भी उपकार नहीं करता है और भविष्यमें भी उससे किञ्चिन्मात्र भी उपकारकी आशा नहीं है, ऐसे अनुपकारीको निष्कामभावसे दान देना 'सात्त्विक दान' है। तात्पर्य यह हुआ कि देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अपना सम्बन्ध न रखते हुए दान दिया जाय। अगर उपकारीको दान दिया जायगा, तो दानके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे वह 'राजस दान' हो जायगा—'**यत्तु प्रत्युपकारार्थं**·····**तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥**' (१७ । २१)। कारण कि राग अर्थात् सम्बन्ध जोड़ना रजोगुणका स्वरूप है—'**रजो रागात्मकं विद्धि**' (१४ । ७)। दानके साथ सम्बन्ध न रहनेसे 'सात्त्विक दान' वास्तवमें दान नहीं है, यह तो त्याग है।

जैसे दानका हमारे साथ सम्बन्ध न रहे ऐसे ही जप-ध्यानका भी हमारे साथ सम्बन्ध न रहे, सेवाका भी हमारे साथ सम्बन्ध न रहे। किसीकी सेवा करके हम समझें कि हमने बड़ा काम किया, तो यह गलती है। कारण कि हमारे पास जो कुछ है, उसपर उसीका हक लगता है। हमारे पास जो शक्ति है वह शक्ति समष्टिकी है। समष्टिसे अलग कोई शक्ति हमारे पास है क्या ? विद्या, बुद्धि, योग्यता, अवस्था आदि जो कुछ भी हमें प्राप्त है, वह हमें समष्टिसे मिली है। समष्टिकी चीज समष्टिकी सेवामें लगा दी तो क्या अहसान किया ? उसीकी चीज उसीकी सेवामें लगा देना ईमानदारी है। उस चीजके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेंगे तो मैंपन आयेगा। मैंपन आनेसे मेरापन भी आयेगा और 'मेरे लिये' भी आयेगा।

न तो यह मैं हूँ और न यह मेरा है, जो 'यह' होता है, वह 'मैं' नहीं होता और जो 'मैं' होता है वह 'यह' नहीं होता। शरीर 'यह' है, मन 'यह' है, बुद्धि 'यह' है, प्राण 'यह' है, मैंपन भी 'यह' है; अतः ये सब हमारा स्वरूप कैसे हुए ? शरीर-संसारके साथ माना हुआ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण है, अतः इस सम्बन्धको जल्दी-से-जल्दी मिटा देना चाहिये।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

४. संसारमें रहनेकी विद्या

अगर हमें संसारमें रहना आ जाय तो हमारी मुक्ति हो जाय ! संसारमें रहना एक विद्या है। उस विद्याको हम ठीक समझ लें और काममें लायें तो बेड़ा पार है ! किसी भी काममें लगो, उस कामको करनेकी विद्या आनी चाहिये। जैसे, कोई रसोई बनाता है, पर उसे रसोई बनानी नहीं आती, तो रसोई नहीं बनती। अगर उसे रसोई बनानी आती है, पर वह रसोई बनाता ही नहीं, तो रसोई नहीं बनती। इसलिये किसी भी कार्यमें ज्ञान और कर्म—दोनोंकी आवश्यकता है।

संसारमें रहनेकी विद्या क्या है—इसको समझना है। जैसे, एक मनुष्य है और उसके माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदि हैं, तो वह उनके साथ केवल उनके हितके लिये ही व्यवहार करे। केवल उनकी सेवा करे, उनको सुख पहुँचाये और अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे। अगर वह अपने सुखकी इच्छा करता है, तो उसको संसारमें रहना आया नहीं। आप अपने कुटुम्बमें रहते हैं तो कुटम्बकी सेवा करते हैं, पर जब बाहर चले जाते हैं, तब वहाँ सेवा नहीं करते, प्रत्युत सेवा लेते हैं। कोई हमें मार्ग बता दे, हमारी सहायता कर दे, हमारेको रहनेकी जगह दे दे, हमें जल पिला दे, हमारेको ऐसा कुछ दे दे, जिससे हम अपनी यात्रा ठीक तरहसे कर सकें—इस प्रकार सेवा चाहते रहनेसे हमारा कल्याण नहीं होता। हम किसीसे कुछ भी चाहते हैं तो हम पराधीन हो जाते हैं—यह पक्का सिद्धान्त है। परन्तु जहाँ हम किसीसे कुछ भी नहीं चाहते, वहाँ हम बिलकुल पराधीन

नहीं होते, प्रत्युत स्वाधीन होते हैं। संसारसे कुछ भी चाहना अपने-आपको पराधीन बनाना है। अतः अपनी चाहना तो रखें नहीं और दूसरोंकी न्याययुक्त चाहना अपनी शक्तिके अनुसार पूरी कर दें, तो हम स्वाधीन हो जायँगे।

अब प्रश्न होता है कि जब हम दूसरोंसे कुछ भी नहीं चाहते, तो फिर उनकी चाहना पूरी क्यों करें ? इसका उत्तर यह है कि उनकी चाहना पूरी करनेसे अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य आ जायगी। अगर हम अपनी चाहना पूरी करनेमें ही लगे रहेंगे, तो अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य नष्ट हो जायगी और हम सर्वथा पराधीन हो जायँगे, पतित हो जायँगे। अगर हम उनकी सेवा करते रहेंगे, तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे, संसारमें रहकर संसारसे ऊँचे उठ जायँगे। इसीको मुक्ति कहते हैं। भगवान् कहते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

(गीता ५।१९)

अर्थात् जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया है, उन पुरुषोंने जीवित अवस्थामें ही संसारको जीत लिया है। साम्यावस्था क्या है ? जो भी अनुकूल परिस्थिति मिले, उसमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक न हो। संसारकी मात्र परिस्थिति हमें कभी डिगा न सके, तो हमने विजय प्राप्त कर ली। यदि संसारकी अनुकूलता और प्रतिकूलता हमारेपर असर कर दिया, तो हम हार गये। अनुकूलता-प्रतिकूलता हमारेपर असर कब नहीं करेगी ? जब हम संसारमें अपने लिये नहीं रहेंगे, प्रत्युत संसारके लिये ही संसारमें रहेंगे। इस प्रकार रहनेसे हम संसारसे ऊँचे उठ जायँगे।

हमारे माता-पिता हैं, तो हम माता-पिताकी सेवा करें और उनसे कोई चाहना न रखें। उनसे चाहना क्यों नहीं रखें ? उनका दिया हुआ ही शरीर है, सामर्थ्य है। हमें जो कुछ मिला है, उन लोगोंसे ही मिला है। अतः उनसे मिले हुए शरीर, सामर्थ्य, समझ, सामग्री आदिके द्वारा उनकी ही सेवा करनी है। उनसे मिली हुई वस्तु उनको ही दे देनी है। देनेके लिये

ही हमें रहना है, लेनेके लिये नहीं। उनके लिये ही रहना है, अपने लिये नहीं। अगर हम अपने लिये नहीं रहेंगे, तो वे हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें अथवा बुरा व्यवहार करें, उसका हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। उनकी सेवा कैसे हो जाय, उनको सुख कैसे पहुँचे, उनको आराम कैसे पहुँचे, उनका भला कैसे हो, उनका उद्धार कैसे हो, उनका कल्याण कैसे हो—केवल यही भाव रखना है।

श्रोता—ऐसा करनेसे हम तो दुःखी हो जायँगे ?

स्वामीजी—हम दुःखी तभी होंगे, जब उनसे कुछ चाहेंगे और वे नहीं करेंगे। हम उनसे कुछ चाहते ही नहीं, तो हम दुःखी कैसे होंगे ? हम तो केवल उनके सुखके लिये, उनके आरामके लिये ही रहते हैं। अतः उनको सुख पहुँचाना ही हमारा काम है।

श्रोता—अगर वे हमें दुःख पहुँचायें तो ?

स्वामीजी—वे हमें दुःख पहुँचायें तो हमारा बहुत जल्दी कल्याण होगा। हम उनकी सेवा करते हैं और वे हमें दुःख देते हैं तो इससे हमें दुगुना लाभ होगा। एक तो निष्कामभावसे उनकी सेवा करनेसे त्याग होगा और दूसरा, वे हमें दुःख देंगे तो हमारे पाप नष्ट होंगे, जिससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। तात्पर्य है कि वे हमें दुःख देंगे तो अन्तःकरणकी पुरानी अशुद्धि मिट जायगी और हम निष्काम-भावसे उनकी सेवा करेंगे तो अन्तःकरणमें नयी अशुद्धि नहीं आयेगी। इसलिये उनको सुख कैसे पहुँचे—इसके लिये संसारमें रहना है। अपने लिये कुछ चाहना हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारा कर्तव्य तो उनकी चाहना पूरी करना है। उनकी चाहना पूरी करनेमें दो बातोंका ख्याल रखना है—उनकी चाहना न्याययुक्त हो और हमारी सामर्थ्यके अनुरूप हो। अगर उनकी चाहना न्याययुक्त हो, पर उसको पूरी करना हमारे सामर्थ्यके बाहरकी बात हो तो हाथ जोड़कर उनसे माफी माँग लें कि 'हम तो समर्थ नहीं हैं, हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है, इसलिये आप माफ करो।' अगर सामर्थ्य हो तो उनकी चाहना पूरी कर दें।

इस प्रकार संसारमें रहें।

कमलका पत्ता जलमें रहता है, पर वह जलसे भीगता नहीं। जैसे कपड़ा भीग जाता है, वैसे वह भीगता नहीं। जल उसके ऊपर मोतीकी तरह लुढ़कता रहता है। ऐसे ही अगर हम संसारमें अपने लिये न रहकर केवल दूसरोंके लिये ही रहेंगे, तो हम भी कमलके पत्तेकी तरह निर्लिप्त रहेंगे, संसारमें फँसेंगे नहीं। इसलिये संसारमें केवल दूसरोंकी सेवाके लिये ही रहें। उनसे मिली हुई चीज उनको ही देते रहें और बदलेमें कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखें। उनकी सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जायगा और उनसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न करनेसे नया ऋण पैदा नहीं होगा। अगर हम उनकी सेवा नहीं करेंगे तो उनका हमारेपर ऋण रहेगा और उनसे चाहते रहेंगे तो नया ऋण हमारेपर चढ़ता रहेगा।

कोई आदमी मर जाता है तो दुःख होता है। उस दुःखमें दो कारण होते हैं—एक तो उससे सुख लिया है, पर सुख दिया नहीं है और दूसरा, उससे फिर सुख लेनेकी आशा रही है। अगर हमने उससे सुख न लिया होता तो उसके मरनेसे दुःख न होता। जो हमारा अपरिचित है, जिसका हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके मरनेसे हमें दुःख नहीं होता। जैसे, नब्बे या सौ वर्षोंका बहुत बूढ़ा आदमी मर जाय तो उससे दुःख नहीं होता। लोग तो यहाँतक कहते हैं कि उसका मरना विवाह-जैसी बात है, बड़े आनन्दकी बात है। कारण क्या है? कि अब उससे सुखकी कोई आशा नहीं रही। वह किसी तरहकी सेवा करेगा, हित करेगा—यह आशा नहीं रही। इसलिये उसके मरनेका दुःख नहीं होता। परन्तु बीस-पचीस वर्षका जवान आदमी मर जाता है तो दुःख होता है; क्योंकि उससे और सुख मिलनेकी आशा है। आशा ही दुःखोंका खास कारण है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।

(श्रीमद्भा० ११।८।४४)

उससे आशा न रखकर उसकी आशा पूर्ण करनेकी चेष्टा करें। उससे आशा न रखनेसे उसके मरनेका दुःख नहीं होगा। जैसे, वह पन्द्रह वर्षकी अवस्थासे बीमार हुआ और पचीस वर्षका हो गया। वैद्योंने, डाक्टरोंने—सबने जवाब दे दिया कि यह अब जी नहीं सकता, यह तो अब मरेगा। हमने दस वर्ष उसकी सेवा कर दी, उससे लिया कुछ नहीं और कुछ लेनेकी आशा भी नहीं, तो उसके मरनेपर दुःख नहीं होगा। कारण कि दुःख उसके मरनेका नहीं है। हम उससे जो सुख चाहते हैं, उसीका फल दुःख है।

संसारमें हम रहें, पर संसारसे सुख न चाहें, प्रत्युत सुख देते रहें। सेवा करते रहें, पर सेवा लेनेकी चाहना भीतरसे बिलकुल उठा दें तो हमें संसारमें रहना आ गया, हम मुक्त हो गये! लेनेकी इच्छाका नाम ही बन्धन है। कोई हमारी सेवा करेगा तो हम सुखी हो जायँगे—यह उलटी बुद्धि है। सेवा लेनेसे तो हम ऋणी हो जायँगे, सुखी कैसे हो जायँगे? पापी आदमीकी तो मुक्ति हो सकती है, पर ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं हो सकती। पापी आदमी अपने पापका प्रायश्चित्त कर लेगा अथवा उसका फल भोग लेगा तो वह पापसे मुक्त हो जायगा। परन्तु दूसरेसे ऋण लेनेवाले अथवा दूसरेका अपराध करनेवालेकी मुक्ति तभी होगी जब दूसरा उसे माफ कर दे। इसलिये जबतक हम संसारके ऋणी रहेंगे, तबतक हमारी मुक्ति नहीं होगी। जिनसे हमने सेवा ली है और जो हमारेसे सेवा चाहते हैं, उनकी निष्कामभावसे सेवा कर दें तो हम उऋण हो जायँगे।

श्रोता—हम जिनकी सेवा करेंगे, वे ऋणी हो जायँगे।

स्वामीजी—वे ऋणी नहीं होंगे। हम उनकी सेवा निष्कामभावसे करते हैं, बदलेमें उनसे कुछ लेनेकी इच्छा ही नहीं करते, तो वे ऋणी कैसे होंगे? दूसरी बात, प्राप्त वस्तुको हम अपनी नहीं मानते, प्रत्युत उन्हींकी मानकर उनकी सेवामें लगाते हैं, तो वे ऋणी कैसे बनेंगे? अतः सेवा करनेसे वे तो ऋणी बनेंगे नहीं और हम उऋण हो जायँगे,

मुक्त हो जायँगे।

कोई दूकानदार अपनी दूकान उठाना चाहता है, तो वह क्या करे ? दूसरोंसे जितना लिया है, वह सब दे दे और उसने जिसको दिया है वह अगर वापस दे दे तो ठीक है, नहीं तो छोड़ दे। ऐसा करनेसे दूकान उठ जायगी। अगर वह दिया हुआ पूरा-का-पूरा वापस लेना चाहेगा तो दूकान उठेगी नहीं; क्योंकि उसको लेनेके लिये कुछ नया माल देना पड़ेगा। इस तरह हमारा उससे लेना बाकी रहता ही रहेगा। अतः जबतक हम लेना नहीं छोड़ेंगे, तबतक दूकान नहीं उठ सकती। ऐसे ही जबतक हम संसारसे लेना नहीं छोड़ेंगे, तबतक हम उऋण नहीं हो सकते, मुक्त नहीं हो सकते। इसलिये लेनेका खाता ही उठा दें और सबको देना-ही-देना शुरू कर दें। माता-पिताको भी देना है, स्त्री-पुत्रको भी देना है, भाई-भौजाईको भी देना है, पतिको भी देना है, सास-ससुरको भी देना है, देवर-जेठको भी देना है, देवरानी-जेठानीको भी देना है। सबको देना है, सबकी सेवा करनी है और लेना कुछ नहीं है। जहाँ लेनेकी इच्छा हुई कि फँसे ! एक ग्रामीण कहावत है—**'गरज गधाने बाप करे'** अर्थात् गरज गधेको बाप बनाती है। गरज करनेसे, लेनेकी इच्छा करनेसे आदमीको इतना नीचा उतरना पड़ता है; गधेकी भी गुलामी करनी पड़ती है ! अगर लेनेकी इच्छा ही नहीं हो, तो हम भगवान्‌के भी गुलाम नहीं होते।

एक विचित्र बात है, ध्यान दें ! हम भगवान्‌के भक्त तो होते हैं, पर गुलाम नहीं होते। परन्तु कब ? जब हम भगवान्‌से कुछ भी लेना नहीं चाहते। जो भगवान्‌से कुछ भी लेना नहीं चाहते उन भक्तोंके लिये भगवान् कहते हैं—**'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणी'** गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)—इन चारों प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है। उस ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरेको अत्यन्त प्रिय है। चारों प्रकारके भक्त बड़े उदार हैं; परंतु ज्ञानी भक्त तो मेरा स्वरूप

ही है (७। १७-१८)। कारण यह है कि ज्ञानी भक्त भगवान्‌से कुछ नहीं चाहता। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु तो भगवान्‌से कुछ-न-कुछ चाहते हैं। वे चाहते हैं तो भगवान्‌के यहाँ कोई घाटा थोड़े ही है! वे धन भी दे सकते हैं, दुःख भी दूर कर सकते हैं, तत्त्वज्ञान भी दे सकते हैं। उनमें देनेकी सामर्थ्य तो पूरी है; परन्तु उन चाहनेवाले भक्तोंका दर्जा कम हो गया!

भगवान् कहते हैं कि मैं तो देता रहूँगा, अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा मैं करूँगा—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९। २२); परंतु तू चाहना मत कर—**'निर्योगक्षेम आत्मवान् भव'** (गीता २। ४५)। कितनी बढ़िया बात कही! न चाहनेसे प्रेम होता है; परन्तु चाहनेसे प्रेम नहीं होता, प्रत्युत बन्धन होता है। वह इससे चाहता है और यह उससे चाहता है, तो आपसमें प्रेम नहीं होता। दोनों एक-दूसरेसे चाहते हैं तो दोनों ही ठग हैं। दो ठगोंमें ठगाई नहीं होती। संसारसे चाहना मानो ठगाईमें जाना है। इसलिये चाहनाका त्याग करके सेवा करनी है। यही संसारमें रहनेका तरीका है।

आप सब भाई-बहन अपने घरोंमें ऐसे रहो, जैसे कोई मुसाफिर रहता है। जैसे कोई सज्जन मुसाफिर आ जाता है और रात्रिभर रहता है, तो वह कहता है कि भाई! तुम सब भोजन कर लो, जो बचे, वह मैं पा लूँगा। तुम सब अपनी-अपनी जगहमें रह जाओ, फालतू जगहमें मैं रह जाऊँगा। जो कपड़ा-लत्ता आपके कामका हो वह आप ले लो और जो फालतू हो, वह मुझे दे दो, उससे मैं निर्वाह कर लूँगा। परन्तु रात्रिमें यदि आग लग जाय, चोर-डाकू आ जायँ, कोई आफत आ जाय, बीमारी आ जाय, तो वह सबसे आगे होकर सहायता करता है। उसका भाव यह रहता है कि मैंने इनका अन्न-जल लिया है, इनके यहाँ विश्राम किया है, इसलिये इनकी सेवा करना, इनकी सहायता करना मेरा काम है। अगर वह मुसाफिर काम तो पूरा करे, पर ले कुछ नहीं, तो वह बँधेगा नहीं। सुबह होते ही चल देगा। अगर वह लेनेकी

इच्छा रखे, तो वह बँध जायगा। इसलिये सज्जनो ! सेवा करें। जो थोड़ा अन्न-जल लेना है, वह भी सेवा करनेके लिये लेना है; क्योंकि अन्न-जल नहीं लेंगे तो सेवा कैसे करेंगे ?

हमारे एक वृद्ध संत कहते थे कि संसारमें रबड़की गेंदकी तरह रहना चाहिये, मिट्टीकी लौंदेकी तरह नहीं। गेंद फुदकती रहती है, कहीं भी चिपकती नहीं। परन्तु मिट्टीका लौंदा जहाँ जाय, वहीं चिपक जाता है। अगर मनुष्य संसारमें सेवा करनेके लिये ही रहे, अपने लिये नहीं रहे तो वह संसारमें चिपकेगा नहीं, मुक्त हो जायगा। यही संसारमें रहनेकी विद्या है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

—— ★ ——

५. परमात्मा तत्काल कैसे मिलें ?

श्रोता—जल्दी-से-जल्दी उद्धार कैसे हो ?

स्वामीजी—हमारा उद्धार हो जाय—यह एक ही लालसा हो जाय तो तत्काल उद्धार हो जायगा। एक बात आप ध्यान दे करके सुनें। संसारका काम जैसे उद्योग करनेसे होता है, ऐसे ही हम समझते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति भी उद्योग करनेसे होगी। वास्तवमें यह बात नहीं है, नहीं है, नहीं है ! परमात्मा सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सम्पूर्ण वस्तुओंमें हैं, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें हैं, सम्पूर्ण घटनाओंमें हैं, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें हैं; अतः उनकी प्राप्तिके लिये केवल भीतरकी लालसा होनी चाहिये। कारण कि परमात्माका निर्माण करना नहीं है, उनको बदलना नहीं है, उनको कहींसे लाना नहीं है। वे तो सब जगह और सबमें ज्यों-के-त्यों परिपूर्ण हैं। जहाँ आप कहते हैं कि 'मैं हूँ' वहाँ भी परमात्मा पूरे-के-पूरे विद्यमान हैं। अतः केवल लालसा होनेसे उनकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारकी कोई वस्तु केवल लालसासे नहीं मिलती। लालसा होगी, उद्योग करेंगे और भाग्यमें होगा, तभी वस्तु मिलेगी। जैसे, रुपये चाहिये तो रुपयोंकी लालसा हो, रुपयोंके लिये प्रयत्न किया जाय और प्रारब्धमें हो तो रुपये मिलेंगे, अगर प्रारब्धमें न हो तो इच्छा करनेपर और खूब चेष्टा करनेपर भी रुपये नहीं मिलेंगे। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति केवल इच्छासे ही हो जायगी। परमात्मप्राप्तिकी इच्छा होनेपर उद्योग अपने-आप होगा, परन्तु परमात्मप्राप्ति उद्योगके अधीन नहीं है। जो वस्तु उद्योगके अधीन होती है, क्रियाजन्य होती है, वह नाशवान् होती है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होता ही है। जो साधनासे

मिलेगा, वह उत्पत्तिवाला होगा; और जो उत्पत्तिवाला होगा, वह मिट जायगा, रहेगा नहीं। परन्तु परमात्मा अनुत्पन्न तत्त्व है और सदा ज्यों-का-त्यों रहता है; अतः उसकी प्राप्ति केवल लालसासे हो जाती है।

केवल परमात्मप्राप्तिकी ही लालसा हो, दूसरी कोई भी लालसा न हो—'**एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥**' (मानस ३। १०। ४) दूसरी लालसा होनेसे, दूसरी तरफ वृत्ति होनेसे ही परमात्मप्राप्तिमें बाधा लगती है। अगर दूसरी लालसा न हो तो परमात्मप्राप्तिमें बाधा है ही नहीं, देरी है ही नहीं, दूरी है ही नहीं! दूसरी मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिकी लालसा होनेसे ही संसारका सम्बन्ध है। दूसरी लालसा मिटते ही संसारका सम्बन्ध छूट जाता है और संसारका सम्बन्ध छूटते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्मा तो पहलेसे ही मिला हुआ है। अन्यकी जो इच्छा है, चाहना है, वासना है, उसीसे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। संसारसे सम्बन्ध जुड़नेके कारण परमात्माका अनुभव नहीं हो रहा है।

संसारकी इच्छा करके, उद्योग करके कुछ नहीं पा सकोगे। केवल धोखा मिलेगा। परमात्मप्राप्तिसे वञ्चित रह जाओगे—इसके सिवाय और कुछ लाभ नहीं होगा। समय खाली चला जायगा, मनुष्य-शरीर व्यर्थ चला जायगा और मिलेगा कुछ नहीं; क्योंकि संसारका अभाव है। मनुष्यने अपने भीतर एक सिद्धान्त बैठा लिया है कि जो स्थिति अभी नहीं है, वह स्थिति हो जायगी तो हमने बड़ी उन्नति कर ली। यह महान् दोषकी बात है। पहले धन नहीं था, अब धन हो गया तो वह समझता है कि बड़ा भारी काम कर लिया! लोग भी कहते हैं कि पहले साधारण आदमी था, अब लखपति-करोड़पति बन गया, तो बड़ा भारी काम कर लिया! यह मूर्ख था, अब पण्डित बन गया, तो बड़ा भारी काम कर लिया! इसको पहले कोई जानता नहीं था, अब संसारमें इसकी बड़ी प्रसिद्धि हो गयी, तो बड़ा भारी काम कर लिया! इसका आदर कोई नहीं करता था, सब ठुकराते थे,

अब इसका आदर हो गया, तो बड़ा काम कर लिया ! वास्तवमें कुछ नहीं किया है। धूलके दो दाने जितना भी काम नहीं किया है ! जो स्थिति पहले नहीं थी, वह स्थिति अब हो भी जाय तो अन्तमें वह नहीं रहेगी। जो पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; उसको प्राप्त करना कोई बहादुरी नहीं है। जो सब देश, काल आदिमें मौजूद है, उस परमात्माको प्राप्त करना ही बहादुरी है। वह परमात्मा सदा 'है' ही रहेगा। वह 'नहीं' कभी हो ही नहीं सकता।

आपकी स्थिति परमात्मामें है। संसारमें आपकी स्थिति है ही नहीं। आपकी स्थिति तो अटल है और संसार आपके सामने बदलता है। संसारमें आपकी स्थिति है ही कहाँ ? बालकपन बदला, जवानी बदली, वृद्धावस्था बदली, रोग-अवस्था बदली, नीरोग-अवस्था बदली, धनवत्ता बदली, निर्धनता बदली—ये सब बदलते रहे, पर आप वे-के-वे ही रहे। संसार आपके साथ कभी रह ही नहीं सकता और आप संसारके साथ कभी रह ही नहीं सकते। ब्रह्माजीकी भी ताकत नहीं है कि संसार आपके साथ और आप संसारके साथ रह जायँ। आपकी स्थिति सदा परमात्मामें रहती है। परमात्मा सदा आपके साथ रहते हैं और आप सदा परमात्माके साथ रहते हैं। अतः परमात्माकी प्राप्ति कठिन है ही नहीं। कठिन तो तब हो, जब परमात्माकी प्राप्तिके लिये कुछ करना पड़े। जब करना कुछ है ही नहीं, तब उसकी प्राप्ति कठिन कैसे ! कठिनता और सुगमताका सवाल ही नहीं है।

श्रोता—बात तो यह ठीक जँचती है पर .....।

स्वामीजी—ठीक जँचती है तो मना कौन करता है ? आड़ तो आपने खुद ही लगा रखी है। वास्तवमें आपको परमात्मप्राप्तिकी परवाह ही नहीं है, चाहे प्राप्ति हो अथवा न हो !

संतदास संसार में, कई गुग्गु कई डोड।
डूबन को साँसो नहीं, नहीं तिरन को कोड॥

—गुग्गु-(उल्लू-) को तो दिनमें नहीं दीखता और डोड- (एक

प्रकारका बड़ा कौआ-) को रातमें नहीं दीखता। परन्तु संसारमें कई ऐसे लोग हैं, जिनको न दिनमें दीखता है और न रातमें दीखता है अर्थात् अपने उद्धारकी तरफ उनकी दृष्टि कभी जाती ही नहीं। उनमें न तो अपने डूबने-(पतन होने-)की चिन्ता होती है और न तैरने-(अपने उद्धार करने-) का उत्साह होता है।

केवल यह लालसा हो जाय कि परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो? क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे पूछूँ? यह लालसा जोरदार लगी कि परमात्माकी प्राप्ति हुई! क्योंकि यह लालसा लगते ही दूसरी लालसाएँ छूट जाती हैं। जबतक दूसरी सांसारिक लालसाएँ रहती हैं तबतक एक अनन्य लालसा नहीं होती। परमात्मा अनन्य हैं; क्योंकि उनके समान दूसरा कोई है ही नहीं, इसलिये उनकी प्राप्तिकी लालसा भी अनन्य होनी चाहिये।

श्रोता—परमात्माकी लालसा बनानी पड़ती है कि स्वतःसिद्ध है?

स्वामीजी—परमात्माकी लालसा स्वतःसिद्ध है, दूसरी लालसाएँ आपने बनायी हैं। अतः उन लालसाओंको छोड़ना है। अभी आप जिन लालसाओंको जानते हो, आजसे पचास वर्ष पहले उनको जानते थे क्या? जानते ही नहीं थे। इसलिये वे लालसाएँ बनावटी हैं। एक क्षण भी कोई लालसा टिकती नहीं, प्रत्युत बदलती रहती है, मिटती रहती है और आप नयी-नयी लालसा पकड़ते रहते हो।

श्रोता—परमात्मप्राप्तिकी अनन्य लालसाके बिना भी परमात्मप्राप्ति हो सकती है क्या?

स्वामीजी—परमात्मप्राप्तिकी अनन्य लालसाके बिना, दूसरी लालसा रहते हुए भी उद्योग किया जा सकता है, भजन-स्मरण किया जा सकता है। परंतु यह लम्बा रास्ता है, इससे तत्काल परमात्मप्राप्ति नहीं होगी। एक-दो जन्म, दस जन्म, पता नहीं कितने जन्ममें हो जाय तो हो जाय! दूसरी लालसा रहनेसे ही तो हम अटके पड़े हैं, नहीं तो अटकते क्या? जो सत्संगमें लगे हुए हैं, उनमें कुछ-न-कुछ-

पारमार्थिक लालसा है ही; परन्तु अनन्य लालसा न होनेसे ही परमात्मप्राप्तिमें देरी हो रही है।

वास्तवमें देखा जाय तो पारमार्थिक लालसाके बिना कोई प्राणी है ही नहीं। परन्तु इस बातका पता पशु-पक्षियोंको नहीं है। जो मनुष्य पशु-पक्षियोंकी तरह ही जीवन बिता रहे हैं, उनको भी इस बातका पता नहीं है। सभी उस तत्त्वको चाहते हैं। जैसे, कोई भी प्राणी मरना चाहता है क्या ? सभी प्राणी निरन्तर रहना चाहते हैं—यह 'सत्' की चाहना है ! कोई अज्ञानी रहना चाहता है क्या ? सभी जानना चाहते हैं—यह 'चित्'की चाहना है। कोई दुःखी रहना चाहता है क्या ? सभी सुखी रहना चाहते हैं—यह 'आनन्द' की चाहना है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परमात्माकी चाहना सभीमें स्वाभाविक है। इसको कोई मिटा नहीं सकता, दूसरी चाहनाएँ जितनी ज्यादा पकड़ रखी हैं, उतनी ही परमात्मप्राप्तिमें देरी लगेगी। दूसरी चाहनाएँ जितनी मिटेंगी, उतनी ही जल्दी परमात्मप्राप्ति होगी। सर्वथा चाहना मिटा दो तो तत्काल परमात्मप्राप्ति हो जायगी।

राज्यकी चाहना होनेसे ही ध्रुवजीको परमात्मप्राप्तिमें देरी लगी। इस चाहनाके कारण अन्तमें उनको पश्चात्ताप हुआ कि मैंने गलती कर दी ! आप जिन चाहनाओंको पूरी करना चाहते हैं, उन चाहनाओंका आपको पश्चात्ताप होगा और रोना पड़ेगा। अतः परमात्माकी प्राप्तिमें दूसरी लालसा बाधक है—इस बातपर विचार करनेसे दूसरी लालसा मिट जायगी। दूसरी लालसा परमात्म-प्राप्तिमें बाधा देनेमें ही सहायता करती है। इससे लोक-परलोकमें किसी तरहका किञ्चिन्मात्र भी फायदा नहीं है। केवल नुकसानके सिवाय और कुछ नहीं है। दूसरी लालसा केवल आध्यात्मिक मार्गमें बाधा डालती है। अगर इससे कुछ भी फायदा हो तो कोई बताओ कि अमुक लालसासे इतना फायदा हो जायगा। इसमें कोरा नुकसान है। केवल नुकसानकी बात भी आप नहीं छोड़ सकते, तो क्या छोड़ सकते हैं।

श्रोता—दूसरी लालसा किसपर टिकी हुई है?

स्वामीजी—दूसरी सभी लालसाएँ संयोगजन्य सुख-भोगकी लालसापर टिकी हुई हैं। संयोगजन्य सुखभोगकी जो लालसा है, मनमें जो रुचि है, यही बाधक है; सुख इतना बाधक नहीं है। असली बीमारी कहाँ है—इस बातका हमें तो कई वर्षोंतक पता नहीं लगा था। व्याख्यान देते-देते कई वर्ष बीत गये तब पता लगा कि मनमें संयोगजन्य सुखकी जो लोलुपता है। यहाँ है वह बीमारी! हमें सुख मिल जाय—बस, इस इच्छामें ही सब बाधाएँ हैं। यही अनर्थका मूल है, यही जहर है।

श्रोता—संयोगजन्य सुखकी लालसा कैसे छूटे?

स्वामीजी—इसके छूटनेका बड़ा सरल उपाय है। परंतु इसको छोड़ना है—इतनी इच्छा आपके घरकी, स्वयंकी होनी चाहिये; क्योंकि इसके बिना कोई उपाय काम नहीं देगा। इसको हम छोड़ना चाहते हैं—इतने आप तैयार हो जाओ तो ऐसा उपाय मेरे पास है, जिससे बहुत जल्दी काम बन जाय! मैंने जो पुस्तकोंमें पढ़ा है, सन्तोंसे सुना है, वह बात कहता हूँ। भाई-बहनोंके लिये, पढ़े-लिखे और अनपढ़ आदमियोंके लिये, छोटे-बड़ोंके लिये, सबके लिये सीधा सरल उपाय है कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे? दूसरोंको आराम कैसे मिले? दूसरोंका भला कैसे हो?—यह लालसा लग जाय तो अपने सुखकी लालसा छूट जायगी। करके देख लो, नहीं तो फिर मेरेसे पूछो कि यह तो हुआ नहीं! युक्ति-संगत न दीखे तो कह दो कि यह युक्ति-संगत नहीं दीखता!

श्रोता—इसमें प्रारब्धकी बाधा है कि नहीं?

स्वामीजी—इसमें प्रारब्धकी कोई बाधा नहीं है। इसमें प्रारब्ध मानना तो केवल बहानेबाजी है। प्रारब्ध ऐसा ही है, समय ऐसा ही आ गया, ईश्वरने कृपा नहीं की, अच्छे गुरु नहीं मिले, अच्छे महात्मा नहीं मिले, कोई बतानेवाला नहीं मिला, हमारा भाग्य ऐसा ही है—यह सब बहानेबाजी है, केवल परमात्मतत्त्वसे वञ्चित रहनेका उपाय है।

ऐसा भी कभी हो सकता है कि ईश्वर अपनी प्राप्तिमें बाधा दे दे ? अथवा हमारा किया हुआ कर्म हमें बाधा दे दे ? या हमारी बनायी हुई वासना हमें बाधा दे दे ? कर्म हमने स्वयं किये हैं, वासनाएँ हमने स्वयं बनायी हैं। जो चीज हमने पैदा की है, उसको हम मिटा सकते हैं। गुरु कोई नहीं मिला तो गुरुकी जरूरत ही नहीं है। कोई महात्मा नहीं मिला तो महात्माकी जरूरत ही नहीं है। भगवान्‌ने जब अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी सामग्री कम दी है क्या ? अगर गुरुकी जरूरत होगी तो भगवान्‌को स्वयं गुरु बनकर आना पड़ेगा ! वे जगद्‌गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्'**। अच्छे महात्मा संसारमें क्यों रहते हैं ? तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त, परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुष संसारमें जीते हैं, तो क्यों जीते हैं ? संसारमें आकर उन्हें जो काम करना था, वह काम तो उन्होंने पूरा कर लिया; अतः उनको उसी वक्त मर जाना चाहिये था ! परन्तु वे अब जीते हैं तो केवल हमारे लिये जीते हैं। उनपर हमारा पूरा हक लगता है। जैसे बालक दुःख पा रहा है तो माँ जीती क्यों है ? माँ तो बालकके लिये ही है, नहीं तो मर जाना चाहिये माँको ! जरूरत नहीं है उसकी ! ऐसे ही वे महात्मा पुरुष संसारमें जीते हैं, तो केवल जीवोंके कल्याणके लिये जीते हैं। इसीलिये महात्मा हमें नहीं मिलेंगे तो वे कहाँ जायँगे ? उनको मिलना पड़ेगा, झख मारकर आना पड़ेगा; अगर हम सच्चे हृदयसे परमात्माको चाहते हैं, तो गुरुकी जरूरत होनेपर गुरु अपने-आप आ जायगा। भगवान् गुरुको भेज देंगे। ऐसी कई घटनाएँ हुई हैं। यह एकदम सच्ची बात है। इसलिये प्रारब्ध और कर्म कुछ भी बाधक नहीं हैं। परमात्मप्राप्तिकी एक प्रबल इच्छा हो जाय तो अनन्त जन्मोंके पाप भस्म हो जायँगे।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

═══ ★ ═══

६. भगवान्‌से नित्ययोग

श्रोता—भगवान् तो प्रत्यक्ष नहीं दीखते, पर धन प्रत्यक्ष दीखता है; तो फिर धनका आश्रय कैसे छोड़ें?

स्वामीजी—वास्तवमें धन है ही नहीं, दीखे कहाँसे? अभी आपको धन कहाँ दीखता है? धनका आश्रय हरदम दीखता है, धन हरदम नहीं दीखता। इस बातपर खूब विचार करो। धन आता हुआ दीखता है अथवा जाता हुआ दीखता है, रहता हुआ नहीं दीखता। धन पहले था नहीं और बादमें रहेगा नहीं, पर भगवान् पहले भी थे अब भी हैं और बादमें भी रहेंगे। भगवान् आते-जाते हैं ही नहीं। अतः यह कैसे कहा जाय कि भगवान् नहीं दीखते और धन दीखता है? हाँ, भगवान् नेत्रोंसे नहीं दीखते। वे तो बुद्धिरूपी नेत्रोंसे दीखते हैं, आस्तिक-भावसे दीखते हैं।

धनका आश्रय पहले नहीं था, पहले (छोटी अवस्थामें) माँका आश्रय था। धनका आश्रय बादमें पकड़ा है। परन्तु भगवान्‌का आश्रय पहलेसे है। उनके आश्रयसे अनन्त ब्रह्माण्ड चल रहे हैं। उनका आश्रय पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। उनके आश्रयका कभी अभाव नहीं होता। परन्तु धनका आश्रय सदा रहेगा—यह बात है ही नहीं।

धन सदा साथमें नहीं रहेगा। हम धनके साथ नहीं रहेंगे और धन हमारे साथ नहीं रहेगा। परन्तु भगवान् सदा हमारे साथ रहेंगे। हम भगवान्‌के बिना नहीं रह सकते और भगवान् हमारे बिना नहीं

रह सकते। हमारी ताकत नहीं है कि हम भगवान्‌से अलग हो सकें। इतना ही नहीं, भगवान्‌की भी ताकत नहीं है कि वे हमारेको छोड़कर अलग रह सकें। जिस दिन भगवान् हमारेको छोड़कर अलग रहेंगे, उस दिन हम एक अलग भगवान् हो जायँगे। इस प्रकार दो भगवान् हो जायँगे, जो कि सम्भव नहीं है। अतः भगवान् हमारा साथ छोड़ ही नहीं सकते, इसलिये भगवान्‌का ही आश्रय लेना चाहिये।

आश्रय उसीका लेना चाहिये, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो। जिसकी परतन्त्र सत्ता हो, उसका आश्रय हमें लेना ही नहीं है। भगवान्‌की स्वतन्त्र सत्ता है; अतः हमें भगवान्‌का ही आश्रय लेना चाहिये। वे भगवान् कभी हमारेसे अलग नहीं होते। हमारेसे अलग होनेकी उनमें सामर्थ्य ही नहीं है। भगवान् सर्वव्यापक हैं, सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण हैं, अतः वे हमें कैसे छोड़ देंगे ? अगर छोड़ देंगे तो वे सर्वव्यापक कैसे हुए ? भगवान्‌को छोड़कर हम रह ही नहीं सकते। हम रहेंगे तो उसीमें रहेंगे, नहीं रहेंगे तो उसीमें रहेंगे, जन्मेंगे तो उसीमें रहेंगे, मरेंगे तो उसीमें रहेंगे और जन्म-मरणसे रहित (मुक्त) हो जायँगे तो उसीमें रहेंगे। हम भगवान्‌को छोड़कर नहीं रह सकते और भगवान् हमें छोड़कर नहीं रह सकते। हम दूसरेका आश्रय लेते हैं, यही बाधा है।

एक विशेष बात है, आपलोग ध्यान देकर सुनें। बात गहरी है, पर बड़ी सरलतासे बताता हूँ। 'मैं हूँ'—इसका अनुभव सबको है। मैं हूँ कि नहीं हूँ—इसमें कभी सन्देह होता है क्या ? इसमें क्या किसीकी गवाही लेनी पड़ती है ? किसीको पूछना पड़ता है कि बताओ मैं हूँ कि नहीं हूँ ? 'मैं हूँ'—यह अनुभव स्वाभाविक तथा स्वतन्त्रतासे है। मैं कैसा हूँ, क्या हूँ—यह चाहे हम न जानें, पर 'मैं हूँ'—इस अपने होनेपनमें कभी हमें संदेह नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि मैं अनेक जन्मोंमें था, इस जन्ममें भी हूँ और आगे भी रहूँगा। अभी जागनेमें, सोनेमें, स्वप्नमें भी मैं निरन्तर हूँ। बचपनसे लेकर अभीतक

बीचमें कभी मैं नहीं रहा, किसी समय मैं नहीं था—ऐसी बात हुई है क्या ? अपनी सत्ता नित्य-निरन्तर अनुभवमें आती है कि 'मैं हूँ'। यह एकदम सबके अनुभवकी बात है। इस नित्य-निरन्तर रहनेवाली हमारी सत्तामें कभी कमी नहीं आती। कमी आये बिना हमारे भीतर कामना कैसे हो सकती है ? हमारे भीतर कामना तभी होती है, जब हम उत्पत्ति-विनाशवाले शरीरको अपने साथ मान लेते हैं। जब शरीर, पदार्थ, परिवार आदिको अपने साथ मान लेते हैं; तब उनमें कमी आनेसे हमारे भीतर कामना होती है। अतः शरीर, परिवार, धन-सम्पत्ति, वैभव आदिको अपने साथ न मानें; क्योंकि ये सब तो बदलनेवाले हैं और मैं निरन्तर रहनेवाला हूँ ! बालकपन, जवानी, बुढ़ापा, रोग-अवस्था, नीरोग-अवस्था—ये सब अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, पर मैं सदा ज्यों-का-त्यों रहता हूँ।

शरीर बदलनेके साथ आप अपना बदलना भी मान लेते है, पर वास्तवमें आप बदलते नहीं हैं। आपके बचपनका अभाव हो गया; तो आपका अभाव भी हो गया क्या ? जैसे 'मैं हूँ'— इसका कभी अभाव नहीं होता, ऐसे ही भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। वे सदासे हैं और सदा रहेंगे। सन्तोंके, शास्त्रोंके कहनेसे पता लगता है कि 'सदा' तो मिट जायगा, पर भगवान् रहेंगे। कारण कि 'सदा' नाम कालका है और भगवान् कालको भी खा जाते हैं—

ब्रह्म-अगनि तन बीचमें, मथकर काढ़े कोय।
उलट कालको खात है, हरिया गुरुगन होय ॥
नवग्रह चौंसठ जोगनी, बावन वीर पर्जन्त।
काल भक्ष सबको करे, हरि शरणे डरपन्त ॥

तात्पर्य है कि काल भी नष्ट हो जाता और परमात्मा रहते।

'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ'-पना शरीरको लेकर है। यदि शरीरसे सम्बन्ध न रहे तो 'है'-पना ही रहेगा 'तू है', 'यह है', 'वह है' और 'मैं हूँ'—इन चारोंके सिवाय कुछ है ही नहीं। इनके सिवाय

पाँचवाँ कोई हो तो बताओ ? इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ', आया है, बाकी तीनोंके साथ 'है' आया है। 'मैं' लगानेसे ही 'हूँ' हुआ है—**'अस्मद्युत्तमः'**। यदि 'मैं' को साथमें नहीं लगायें तो 'है' ही रहेगा। इस 'है' में कभी कमी नहीं आती। कारण कि सत्‌में कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६) वह नित्य-निरन्तर रहता है। उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वमें ही मैं हूँ—केवल इतनी बात आप मान लो। इसके सिवाय और आपको कुछ नहीं करना है।

यह एक बड़ा भारी वहम है कि करनेसे ही परमात्मप्राप्ति होगी। अतः भजन करो, जप करो, सत्संग करो, स्वाध्याय करो, ध्यान करो, समाधि लगाओ। इस प्रकार करनेपर ही बड़ा भारी जोर है। बातोंसे कुछ नहीं होगा, करनेसे होगा—यह धारणा रोम-रोममें बैठी हुई है। परंतु मैं इससे विलक्षण बात कहता हूँ कि 'है' रूपसे जो सर्वत्र परिपूर्ण सत्ता है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उसीमें ही मैं हूँ। 'मैं' और वह 'है' एक ही है। जब ऐसा ठीक तरहसे जान लिया तो फिर क्या करना रहा ? क्या जानना रहा ? क्या पाना रहा ? मैं नित्य-निरन्तर परमात्मामें हूँ—यह असली शरण है। उस सर्वत्र परिपूर्ण 'है'-(परमात्मतत्त्व-) से अलग कोई हो ही नहीं सकता। उस 'है' की ही प्राप्ति करनी है, 'नहीं' की प्राप्ति नहीं करनी है। 'नहीं' की प्राप्ति होगी, तो अन्तमें 'नहीं' ही रहेगा। जो नहीं है वह प्राप्त होनेपर भी रहेगा कैसे ? इसलिये 'है' की ही प्राप्ति करनी है, और उस 'है'की प्राप्ति नित्य-निरन्तर है। हम उसमें हैं और वह हमारेमें है।

यह सबका अनुभव है कि 'मैं हूँ' और मैं वही हूँ, जो बचपनमें था। अवस्था बदल गयी, समय बदल गया, संयोग बदल गया, साथी बदल गये, भाव बदल गये; परंतु आप बदले हो क्या ? आप नहीं बदले। ऐसे ही सब संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। हम उस परमात्माके अंश हैं, संसारके अंश नहीं हैं। संसारके अंश

शरीरको तो हमने ('मैं' और 'मेरा' मानकर) पकड़ा है। वास्तवमें वह हमारा नहीं है, प्रत्युत संसारका है।

'हूँ' तो 'है' से कमजोर ही है। कारण कि 'हूँ' शरीरको लेकर (एकदेशीय) है और शरीर कमजोर है ही। शरीर तो नहीं रहेगा, पर 'है' तो रहेगा ही। 'है' (परमात्मा) समुद्र है और 'हूँ' उसकी तरंग है। तरंग शान्त होनेपर भी समुद्र तो रहता ही है। अतः हमारा स्वरूप 'है' से अभिन्न है—इस बातको आप मान लो। समझमें न आये, तो भी मान लो। इतनी बात मान लो कि मैं उसका हूँ। ऐसा मानकर जप करो, कीर्तन करो, स्वाध्याय करो, सत्संग करो। 'हूँ' का 'है' ही है।

'हूँ' बदलता है और 'है' नहीं बदलता—यही बात मैं कहना चाहता हूँ। यह सार बात है। सनकादि ऋषियोंका भी यही ज्ञान है। ब्रह्मा आदिका भी यही ज्ञान है। व्यासजी महाराजका भी यही ज्ञान है। शुकदेवजीका भी यही ज्ञान है। जितने सन्त-महात्मा हुए हैं, उनका भी यही ज्ञान है। इस ज्ञानसे आगे कुछ है नहीं। कैवल्य ज्ञान भी इसके सिवाय और कुछ नहीं है। किसी मत-मतान्तरमें इससे बढ़कर कोई चीज है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इतनी सरल और इतनी ऊँची बात है। इसको हरेक भाई-बहन, साधारण पढ़ा-लिखा, बिलकुल पढ़ा-लिखा और बिना पढ़ा-लिखा भी समझ सकता है, इतनी सीधी बात है! इससे बड़ी बात आपको कहीं भी नहीं मिलेगी। ऐसा इसलिये कहता हूँ कि आप इसका आदर करें, इसको महत्त्व दें कि ऐसी ऊँची बात आज मिल गयी! उपनिषदोंमें आता है कि बहुत-से आदमियोंकी तो ऐसी बात सुननेको भी नहीं मिलती—**'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः'** (कठ० १। २७)। उम्र बीत जाती है और सुननेको नहीं मिलती।

अब आपको एक और बात बताऊँ कि अभी आपकी जैसी मान्यता है, ऐसी मान्यता आगे न रहे तो कोई बात नहीं आप घबराना नहीं कि हमें यह बात हरदम याद नहीं रहती। आपको अपना नाम

हरदम याद रहता है क्या ? हरदम याद न रहनेपर भी जब देखो, तब दीखता है कि मैं अमुक नामवाला हूँ। इसी तरह यह बात हरदम भले ही याद न रहे, पर विचार करते ही यह चट याद आ जायगी कि बात तो ऐसी ही है। इससे सिद्ध होता है कि यह बात मिटी नहीं है, इसकी भूली नहीं हुई है। इसकी भूली तब मानी जाय, जब आप इस बातको रद्दी कर दो, यह कहो कि मैं इस नामवाला नहीं हूँ। अतः बीचमें यह बात याद न आनेपर भी इसकी भूली नहीं हुई है, नहीं हुई है, नहीं हुई है। इस बातको रद्दी करो तो बात दूसरी है, नहीं तो आठ पहरमें एक बार भी याद नहीं आये, तो भी बात ज्यों-की-त्यों ही रहेगी। 'है' कैसे मिट जायगा ? इतनी ऊँची, इतनी बढ़िया, इतनी पक्की बात है ! मान लो तो बेड़ा पार है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

७. अपने अनुभवका आदर

एक बहुत सीधी-सरल और सबके अनुभवकी बात है। केवल उसका आदर करना है, उसको महत्त्व देना है, उसको कीमती समझना है। जिस तरह आपने रुपया, सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना आदिको कीमती समझ रखा है, इस तरह इस बातको कीमती समझो, इसको महत्त्व दो तो अभी इसी क्षण उद्धार हो जाय। इसको महत्त्व नहीं देते, इसी कारणसे बन्धन हो रहा है; और कोई कारण नहीं है। रुपये तो किसीके पास हैं और किसीके पास नहीं, पर यह बात सबके पास है। कोई भी इससे रहित नहीं है। परंतु इस बातको महत्त्व न देनेसे इसका अनुभव नहीं हो रहा है—

लाली लाली सब कहे, सबके पल्ले लाल।
गाँठ खोल देखे नहीं, ताते फिरे कंगाल॥

वह गाँठ खुलनेकी बात बताता हूँ। जो सन्त-महात्माओंसे सुनी है, पुस्तकोंमें पढ़ी है, वही बात कहता हूँ। एकदम सच्ची बात है। श्रुति, युक्ति और अनुभूति—ये तीन प्रमाण मुख्य माने गये हैं। अभी मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, वह श्रुति-(शास्त्र-) सम्मत, युक्तिसंगत और अनुभवसिद्ध है।

आप अपनेको मानते हैं कि 'मैं वही हूँ, जो बचपनमें था अर्थात् बालकपनमें जो था वही आज हूँ और मरनेतक मैं वही रहूँगा।' शास्त्र, सन्त अपनी संस्कृतिके अनुसार आप ऐसा भी मानते हैं कि पहले जन्मोंमें भी मैं था और इसके बाद भी अगर मेरे जन्म होंगे तो मैं रहूँगा। बालकपन भी अभी नहीं है और मृत्युका समय भी अभी नहीं है; पहलेके जन्म भी अभी नहीं हैं और आगेके जन्म भी नहीं हैं;

परन्तु 'मैं अभी हूँ।' तात्पर्य यह हुआ कि मैं नित्य-निरन्तर हूँ और शरीर बदलते हैं। शरीरोंके बदलनेपर भी मैं किंचिन्मात्र भी नहीं बदलता। शरीर तो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। एक क्षण भी ऐसा नहीं, जिसमें ये न बदलते हों। परन्तु इनमें रहनेवाला मैं (स्वरूप) अनन्त युग, अनन्त ब्रह्मा बीतनेपर भी कभी बदलता नहीं। अतः बदलनेवाले शरीर और न बदलनेवाले अपने-आपको मिलायें नहीं, प्रत्युत अलग-अलग कर लें। बस, इतना ही काम है। जब इन दोनोंको मिलाकर देखते हैं, तब अज्ञान हो जाता है; और जब इनको अलग-अलग देखते हैं तब ज्ञान हो जाता है।

आप जानते हैं कि बचपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। इस ज्ञानको शास्त्रीय भाषामें 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इसी ज्ञानको **'तत्त्वमसि'**—'वही (परपात्मा) तू है' कहते हैं। ऊँचा-से-ऊँचा महावाक्य भी यही है और साधारण-से-साधारणका अनुभव भी यही है। केवल इसपर दृढ़ रहना है कि जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वृत्तियाँ बदलती हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, वस्तुएँ बदलती हैं, पर मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। मैं बदलनेवालेको देखनेवाला हूँ। बदलनेवाला वही देखता है, जो स्वयं न बदलनेवाला होता है। इसलिये मैं सदा रहता हूँ। मेरा स्वरूप कभी बदलता नहीं और शरीर कभी स्थिर रहता नहीं। मैं वही हूँ, पर शरीर वही नहीं है। ऐसे ही परमात्मा वही हैं, पर संसार वही नहीं है। जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि अनन्त युगोंसे पहले थे, वे ही परमात्मा आज हैं। अनन्त युग बदल जायँगे, तो भी परमात्मा वे ही रहेंगे। अतः मैं और परमात्मा एक हैं तथा शरीर और संसार एक हैं।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस ४। ११। २)

भूल यह हुई है कि शरीरको तो संसारसे अलग मान लिया कि

'यह तो मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ' और अपनेको परमात्मासे अलग मान लिया कि मैं तो यहाँ हूँ और 'परमात्मा न जाने कहाँ हैं !' शरीर संसारसे कभी अलग हो ही नहीं सकता। ब्रह्माजीकी भी ताकत नहीं कि शरीरको संसारसे अलग कर दें। जिस धातुका संसार है, उसी धातुका शरीर है। स्थूल-शरीरकी स्थूल-संसारके साथ एकता है, सूक्ष्म-शरीरकी सूक्ष्म-संसारके साथ एकता है, कारण-शरीरकी कारण-संसारके साथ एकता है। परंतु हमारी परमात्माके साथ एकता है। हम परमात्माके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। परमात्मा और परमात्माका अंश दो नहीं हैं।

शरीरके साथ हमारी एकता नहीं है, पर उसके साथ एकता मान ली और परमात्माके साथ हमारी एकता है, पर उसके साथ एकता नहीं मानी—यह केवल मान्यताका फर्क है और कुछ फर्क नहीं। हमने मान्यता गलत कर रखी है। शरीर बदलता है, पर आप नहीं बदलते। संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। अतः न बदलनेवाले हम परमात्माके साथ एक हैं और बदलनेवाला शरीर संसारके साथ एक है—यह विवेक मनुष्यमात्रमें स्वतःसिद्ध है। यह कभी मिट नहीं सकता।

संसार और परमात्माका, हमारे शरीरका और हमारे स्वरूपका जो दो-पना (अलगाव) है, यह कभी मिटेगा नहीं। यह नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। परंतु मनुष्य इस बातका आदर नहीं करता, इसको महत्त्व नहीं देता । 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—इस बातको उसने रद्दी कर रखा है और 'यह शरीर मैं हूँ'—'इस बातको पकड़ रखा है। परंतु शरीरके साथ एकताको अभीतक कोई पकड़कर रख सका नहीं और रख सकेगा नहीं। अतः शरीर और संसार एक हैं तथा मैं और परमात्मा एक हैं। मैं और परमात्मा एक हैं—इस विषयमें मतभेद है। द्वैत-मतवाले परमात्माके साथ जातिसे एकता मानते हैं और अद्वैत-मतवाले स्वरूपसे एकता मानते हैं। परन्तु मैं और शरीर एक

नहीं हैं—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। श्रीशंकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि जितने महापुरुष हुए हैं, उन्होंने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि नामोंसे अपने-अपने दर्शनोंमें परमात्माके साथ जीवका घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। परंतु शरीरके साथ अपना सम्बन्ध किसीने भी नहीं माना है। शरीर-संसारके साथ हमारी एकता नहीं है—इस विषयमें सभी आचार्य, दार्शनिक, विद्वान् एकमत हैं। जिस विषयमें सभी एकमत हैं, उस बातको आप मान लो। हम शरीर-संसारके साथ एक नहीं हैं, हम तो परमात्माके साथ एक हैं—यही ज्ञान है। इस ज्ञानको दृढ़तासे पकड़ लें; इसमें बाधा क्या है?

शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण हम शरीरके सुखसे अपनेको सुखी मानते हैं। शरीरका मान होनेसे हम अपना मान मानते हैं। शरीरकी बड़ाई होनेसे हम अपनी बड़ाई मानते हैं। शरीरके निरादरसे हम अपना निरादर मानते हैं। शरीरके अपमानसे हम अपना अपमान मानते हैं। वास्तवमें शरीरको कोई पीस डाले, तो भी हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। एक दिन इस शरीरको लोग जला ही देंगे, पर हमारा बाल भी बाँका नहीं होगा। हमारे स्वरूपका किञ्चिन्मात्र भी हिस्सा नहीं जलेगा, नष्ट नहीं होगा। अतः संसार हमारा निरादर कर दे, अपमान कर दे, निन्दा कर दे, दुःख दे दे, शरीरका टुकड़ा-टुकड़ा कर दे तो क्या हो जायगा? गीताने कहा है—'**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते**' (६।२२) अर्थात् परमात्मस्वरूप आत्यन्तिक सुखमें स्थित मनुष्य बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। किसी कारणसे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, तो भी वह अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता, महान् आनन्दसे इधर-उधर नहीं होता। हाँ, शरीरको पीड़ा हो सकती है, मूर्छा आ सकती है, पर दुःख नहीं हो सकता। इतना आनन्द सांसारिक वस्तुओंसे कभी नहीं

हो सकता। परंतु आपने मैं और शरीर दो हैं—इस बातका अनादर कर दिया और शरीरके साथ एक होकर उसके दुःखमें दुःख और सुखमें सुख मान लिया; इसको कृपा करके न मानें।

श्रोता—शरीर तो प्रत्यक्ष दीखता है; इसको कैसे नहीं मानें ?

स्वामीजी—दीखता है तो दीखता रहे, इसको मानो मत। दर्पणमें अपना मुख दीखता है तो उस मुखको आप दर्पणमें मानते हो क्या ? नहीं मानते। दर्पणमें दीखनेवाले मुखको आप पकड़ सकते हो क्या ? नहीं पकड़ सकते। अतः जो दीखता है, उसको आप मत मानो। मैं शरीर हूँ—यह दर्पणमें दीखनेवाले मुखकी तरह दीखता है, वास्तवमें है नहीं। अगर आप और शरीर एक होते तो शरीर आपसे छूट नहीं सकता और आप शरीरको छोड़ नहीं सकते। परन्तु मरनेपर शरीर छूट जाता है और आप शरीरको छोड़ देते हो; आप और शरीर एक नहीं हुए। जैसे, मैं मकानमें बैठा हूँ तो मेरे बिना भी यह मकान रहता है और इस मकानके बिना भी मैं रहता हूँ; अतः मैं मकान नहीं हूँ। हम मरे हुए मनुष्योंको, पशुओंको देखते हैं कि उनके शरीर तो यहीं पड़े हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा चला गया है। वे दोनों अभी अलग हुए हों, ऐसी बात नहीं है। वे तो पहलेसे ही अलग थे। अगर जीवात्मा और शरीर एक होते तो जीवात्माके साथ शरीर भी चला जाता अथवा शरीरके साथ जीवात्मा भी यहीं रहता। परंतु न तो जीवात्माके साथ शरीर रहता है और न शरीरके साथ जीवात्मा रहता है। अतः शरीर और जीवात्मा दो हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। इन दोनोंको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें किया है (२। ११-३०)। अपने उपदेशके आरम्भमें ही भगवान्‌ने बताया कि शरीर और शरीरी, देह और देही—ये दोनों अलग-अलग हैं। शरीर सदा बदलनेवाला है, पर शरीरी कभी बदलनेवाला, नष्ट होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जान लेनेपर शोक हो ही नहीं सकता; क्योंकि नाश होनेवालेका नाश होगा ही, इसमें शोककी

क्या बात ? और अविनाशी सदा अविनाशी ही रहेगा, इसमें शोक किस बातका ?

जैसे आप अपनेको शरीरमें मानते हैं, ऐसे ही परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण संसारमें है। सम्पूर्ण संसारमें होते हुए भी परमात्माका संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सब-का-सब संसार उथल-पुथल हो जाय, तो भी परमात्माका कुछ नहीं बिगड़ता। ऐसे ही आपका शरीर उथल-पुथल हो जाय, तो भी आपका कुछ नहीं बिगड़ता। आप जैसे हो, वैसे ही रहते हो। आपने गुणोंका संग माना है, शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये जन्म-मरण होते हैं—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। गुणोंका संग छोड़नेपर जन्म-मरण हैं ही नहीं। गुणोंका संग आपने माना है; अतः उसको न माननेपर वह सम्बन्ध मिट जायगा।

यह एक सीधी, सच्ची बात है कि आप नित्य-निरन्तर रहते हैं और शरीर एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, नित्य-निरन्तर बदलता है। यह बात सुननेपर अच्छी लगती है, ठीक (सही) लगती है, फिर भी यह बात रहती नहीं—ऐसा आप मत मानो। यह बात कभी जा नहीं सकती। अनन्त युगोंसे यह बात वही रही, तो अब कैसे चली जायगी ? पहले इस बातकी तरफ लक्ष्य नहीं था, अब लक्ष्य हो गया—इतना फर्क पड़ गया बस। यह बात न तो पहले गयी थी, न अब जायगी। यह तो सदा ऐसी ही रहेगी। याद न रहे तो भी यह ऐसी ही रहेगी। इसका अनुभव न हो तो भी यह बात ऐसी ही रहेगी। जैसे, अभी यह खम्भा दीखता है। बाहर चले जाओ तो यह खम्भा नहीं दीखेगा, तो यह खम्भा मिट गया क्या ? जो बात सही है, वह तो ज्यों-की-त्यों ही रहेगी।

श्रोता—फिर बाधा क्या लग रही है ?

स्वामीजी—दूसरोंसे सुख लेते हैं—यही खास बाधा है। अब दूसरोंको सुख देना शुरू कर दो। इतने दिन तो सुख लिया है, अब

सुख देना शुरू कर दो, बस। निहाल हो जाओगे !

रुपया-पैसा मेरेको मिल जाय, आराम मेरेको मिल जाय, सुख मेरेको मिल जाय, मान मेरा हो जाय, बड़ाई मेरी हो जाय—यही महान् बाधा है और इससे मिलेगा कुछ भी नहीं। रुपया-पैसा, मान-बड़ाई आदि मिल भी जायँ तो टिकेंगे नहीं और टिक भी जायँ तो आपका शरीर नहीं टिकेगा। शुद्ध हानिके सिवाय केश-जितना भी लाभ नहीं होगा। इतने नुकसानकी बातको भी नहीं छोड़ोगे तो क्या छोड़ोगे ?

संसारसे सुख लेनेकी जो कामना है, यही बाधा है। धन, मान, भोग, जमीन, मकान आदिकी कई तरहकी कामनाएँ हैं, पर मूलमें कामना यही है कि मेरे मनकी बात पूरी हो जाय, मैं जैसा चाहूँ वैसा हो जाय। अगर इसकी जगह यह भाव हो जाय कि मेरे मनकी न होकर भगवान्‌के मनकी हो जाय अथवा संसारके मनकी हो जाय तो निहाल हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं। भगवान्‌के मनकी बात पूरी हो जाय—यह भक्तियोग हो गया। संसारके मनकी बात पूरी हो जाय—यह कर्मयोग हो गया। मेरे मनकी बात है ही नहीं, मन मेरा है ही नहीं, यह तो प्रकृतिका है—यह ज्ञानयोग हो गया।

नारायण !　　　नारायण !　　　नारायण !

८. भगवत्प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि जिसको मुक्ति, कल्याण अथवा भगवत्प्राप्ति कहते हैं, वह स्वतःसिद्ध है, क्रियाके द्वारा सिद्ध होनेवाली चीज नहीं है। यह बहुत विलक्षण बात है! आप कृपा करके इस बातकी तरफ ध्यान दें। संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब प्रकृतिका कार्य होनेसे उनमें हरदम परिवर्तन होता रहता है। क्रियाशील होनेसे उन वस्तुओंकी प्राप्ति भी कर्मोंके द्वारा ही होती है। अतः संसारकी वस्तुएँ क्रियासाध्य हैं। परंतु परमात्मतत्त्व सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः परमात्मतत्त्व क्रियासाध्य नहीं है। सिद्धान्तकी एक बहुत बढ़िया और सूक्ष्म बात यह है कि परमात्म-तत्त्व स्वतःसिद्ध है। वह क्रियाओंके द्वारा प्रापणीय नहीं है। यह बात विशेष ध्यान देनेकी है। आपका ध्यान आकृष्ट करनेके लिये कहता हूँ कि यह बात मेरेको बहुत वर्षोंके बाद सन्तोंसे मिली है। यह बात सर्वशास्त्रसम्मत भी है। अतः केवल इस बातकी तरफ ही आप ध्यान दें तो बहुत ही लाभकी बात है। अब इसका खुलासा कहता हूँ, आप ध्यान दें।

हम यह मानते हैं कि परमात्मा सब समयमें हैं, सब जगह हैं, सभीमें हैं और सबके हैं। अब इन चारों बातोंपर विचार करें। (१) परमात्मा सब समयमें हैं, तो इस समय हैं कि नहीं? अगर इस समय नहीं हैं, तो परमात्मा सब समयमें हैं—यह कहना नहीं बनेगा।

(२) परमात्मा सब जगह हैं तो यहाँ हैं कि नहीं ? अगर यहाँ नहीं हैं, तो परमात्मा सब जगह हैं—यह कहना नहीं बनेगा। (३) परमात्मा सभीमें हैं। वे जड-चेतन, स्थावर-जंगम आदि सभीमें हैं। सजीवके दो भेद हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष आदि स्थावर हैं और मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जंगम हैं। जड-चेतनमें, स्थावर-जंगममें परमात्मा हैं। नीचे-से-नीचे समझे जानेवाले प्राणीमें तथा दुष्ट-से-दुष्ट आचरणवाले मनुष्यमें भी परमात्मा हैं। सन्त-महात्माओंमें भी परमात्मा हैं। शुद्ध-से-शुद्ध वस्तुमें तथा अपवित्र-से-अपवित्र वस्तुमें भी परमात्मा हैं। नरकोंमें भी परमात्मा परिपूर्ण हैं। जब वे सबमें हैं तो हमारेमें हैं कि नहीं ? अगर वे हमारेमें नहीं हैं, तो परमात्मा सबमें हैं—यह कहना नहीं बनेगा। (४) परमात्मा सबके हैं। यह नहीं कि वे साधुओंके हैं, गृहस्थोंके नहीं; भाइयोंके हैं, बहनोंके नहीं; ब्राह्मणोंके हैं, अन्त्यजोंके नहीं। ऐसा आप नहीं कह सकते कि परमात्मा किसी व्यक्ति-विशेषके हैं। परमात्मा दुष्ट-से-दुष्ट पुरुषके भी वैसे ही हैं, जैसे महात्मा-से-महात्मा पुरुषके हैं। परमात्मापर महात्मा-से-महात्माका जैसा हक लगता है, वैसा ही हक दुष्ट-से-दुष्टका भी लगता है। उनमें कभी किंचिन्मात्र भी पक्षपात नहीं है। उनमें पक्षपात हो ही नहीं सकता, असम्भव बात है। अतः परमात्मा सबके हैं, तो हमारे भी हैं। अगर वे हमारे नहीं हैं, तो परमात्मा सबके हैं—यह कहना नहीं बनेगा। अब सिद्ध क्या हुआ ? कि परमात्मा सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सभीमें हैं तो मेरेमें भी हैं और सबके हैं तो मेरे भी हैं।

उपर्युक्त चार बातोंकी तरफ ध्यान देनेसे एक बात सिद्ध होती है कि परमात्मा हमें नित्यप्राप्त हैं। हम भगवान्‌का भजन करते हैं, नाम-जप करते हैं, कीर्तन करते हैं, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ते हैं, सन्तोंकी वाणी पढ़ते हैं, तो यह भाव रहता है कि परमात्मा फिर मिलेंगे। अभी हम परमात्माकी प्राप्तिके योग्य नहीं हुए हैं, इसलिये

परमात्मा अभी नहीं मिलेंगे, भविष्यमें मिलेंगे। यह धारणा साधकोंके लिये महान् बाधक है। मनमें तो वे समझते हैं कि हम भगवान्‌की तरफ चल रहे हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌से अलग होनेका उद्योग कर रहे हैं। यह चिन्तन कर रहे हैं अभी भगवान् नहीं मिलेंगे। जब मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तब भगवान् मिलेंगे। अभी कैसे मिल जायँगे ? मैं योग्य नहीं हूँ,मैं पात्र भी नहीं हूँ। साधकके लिये यह धारणा महान् पतन करनेवाली है। विचार करना चाहिये कि क्या हमारी अपात्रतासे भगवान् अटक सकते हैं ? क्या भगवान् इतने कमजोर हैं कि हम अयोग्य हैं, इसलिये वे हमें नहीं मिल सकते ? अगर ऐसी बात है तो फिर उनको दयालु कहना ही निरर्थक है। जब वे योग्यको मिलते हैं, अयोग्यको नहीं मिलते, तो फिर दयाका क्या लेना-देना ?

भगवान्‌ने अपनेको प्राणिमात्रका सुहृद् कहा है—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९), तो क्या दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यके भी भगवान् सुहृद् नहीं हैं ? मैं कैसा ही क्यों न हूँ, क्या भगवान् मेरे सुहृद् नहीं हैं ? अगर उनमें पक्षपात है तो वे भगवान् कैसे ? मैं दुष्ट हूँ, ज्यादा अयोग्य हूँ तो भगवान्‌की कृपा मेरेपर अधिक होगी—

पापी हुलस विशेषी अबकी बेर उबारियो। (करुणासागर)

पापीके मनमें अधिक आनन्द होता है; क्योंकि भगवान् पतित-पावन हैं। इसलिये उनपर पतितोंका ज्यादा हक लगता है। माँ भी अपने अयोग्य लड़केका ज्यादा ख्याल रखती है, तो क्या भगवान् मेरा ख्याल नहीं रखेंगे ? वे मेरेपर कृपा न करें—यह हो ही नहीं सकता। इसलिये भजन-ध्यान करते हुए, नाम-जप करते हुए इस बातपर विशेष ध्यान दें कि जिह्वामें, नाममें, श्वासमें, मनमें, बुद्धिमें, अन्तःकरणमें, शरीरमें सब जगह परमात्मा परिपूर्ण हैं, पूरे-के-पूरे विद्यमान हैं। वे सबमें लबालब भरे हुए हैं। अब यह शंका होती है कि जब वे परमात्मा सबमें हैं, सब जगह मौजूद हैं तो फिर नाम-जप

क्यों करते हैं ? नाम-जपके बिना हमारेको संतोष नहीं होता; इसलिये करते हैं। सनकादि ऋषियोंकी बात आपने सुनी होगी। वे चारों भाई एक समान ही ब्रह्मज्ञानी हैं। उनमें एक तो भगवान्‌की कथा सुनाता है और बाकी तीन कथा सुनते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी वे भगवान्‌की कथा कहते रहते हैं; क्योंकि भगवान्‌की कथा ही ऐसी है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चित्-जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।)'

भगवान् हैं ही ऐसे कि उनके भजनके बिना साधक रह नहीं सकता। उतना रस, उतना आनन्द कहीं है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसलिये हम उनका भजन करते हैं। भजनके द्वारा हम भगवान्‌को खरीद लेंगे—ऐसा भाव मत रखना। भगवान् तो अपनी कृपासे ही पधारते हैं। भजन-ध्यान, नाम-जप, कीर्तन आदिमें हमारा अनन्य प्रेम होना चाहिये। कारण कि हमने संसारमें आसक्ति, प्रियता करके बड़ी भारी गलती की है। अब इस गलतीके संशोधनके लिये हमें भजन-ध्यान, नाम-जप आदि करना है। परमात्मा भजन-ध्यान आदिके अधीन हैं—ऐसी बात नहीं है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। (गीता ११।५३)

अर्थात् मैं वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदिके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। उपनिषदोंमें आता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

(कठ० १।२।२३)

अर्थात् प्रवचनसे, पण्डिताईसे, बहुत शास्त्रोंका बोध होनेसे परमात्मा नहीं मिलते। इसका आप उलटा अर्थ मत लेना कि सत्सङ्ग सुनना, पढ़ना, शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना खराब है। इनको तो करते ही रहना है। कहनेका भाव यह है कि इनके द्वारा भगवान्‌के ऊपर कब्जा नहीं कर सकते, अधिकार नहीं जमा सकते। जैसे, किसी वस्तुकी जो कीमत होती है, वह कीमत पूरी देनेपर उस वस्तुपर हमारा अधिकार हो जाता है। परन्तु भगवत्प्राप्तिके विषयमें ऐसी बात नहीं है। साधन करके भगवान्‌पर अधिकार नहीं किया जा सकता। उनपर अधिकार करनेका भी एक तरीका है। वह तरीका यह है कि सर्वथा भगवान्‌का ही हो जाय। तन, मन, वचन, विद्या, बुद्धि, अधिकार आदि किसीका भी किंचिन्मात्र भी सहारा न लेकर केवल भगवान्‌का ही हो जाय, तो भगवान् उसके वशमें हो जायँगे। परंतु हमने साधना की है, हमने जप किया है, हमने कीर्तन किया है, हमने अभ्यास किया है, हम गीताको जानते हैं, हम अनेक शास्त्रोंको जानते हैं—ऐसी हेकड़ीसे भगवान् वशमें हो जायँ, यह असम्भव बात है। भगवान् वशमें होते हैं तो कृपा-परवश ही होते हैं। उनकी कृपा उसीपर होती है, जो सर्वथा उनका हो जाता है। वे सस्ते हैं तो इतने सस्ते हैं कि 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ'—इतना सुनते ही भगवान् कहते हैं कि 'हाँ बेटा ! मैं तेरा हूँ।' आप कितनी ही विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि लगा लो, उससे आपका ज्ञान बढ़ सकता है, आपमें पवित्रता आ सकती है, पर उससे भगवान् वशमें हो जायँ—यह बात नहीं होगी।

भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं—यह सच्ची बात है। इसलिये भजन-ध्यान करते हुए इस बातको विशेषतासे याद रखें कि भगवान् अभी हैं, यहाँ हैं, मेरेमें हैं और मेरे हैं। अब निराशाकी जगह ही कहाँ है ? जैसे बालक मानता है कि माँ मेरी है, तो वह माँपर अपना हक लगाता है, पूरा अधिकार जमाता है। माँ इधर-उधर देखती है तो उसकी ठोड़ी पकड़कर कहता है कि तू मेरी तरफ ही देख, बस।

अतः माँको उसकी तरफ देखना पड़ता है। ऐसे ही हम भगवान्‌से कह दें कि हम तुम्हारे हैं, तुम हमारे हो, इसलिये मेरी तरफ ही देखो। सन्तोंने कहा है—**'न मैं देखूँ और को, न तोहि देखन देउँ।'** मैं औरको देखूँगा नहीं और तेरेको भी दूसरी तरफ देखने दूँगा नहीं। ऐसा होनेपर भगवान् वशमें हो जायँगे। हम जो दूसरी तरफ देखते हैं, यही बाधा है।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस ३। १०। ४)

इसलिये कोई कैसा ही हो, उसको भगवान्‌की तरफसे निराश नहीं होना चाहिये। आपका विश्वास न बैठे तो जप करो, कीर्तन करो, सब कुछ करो और विश्वास बैठे तो भी सब कुछ करो; क्योंकि यह तो करनेकी चीज है! परन्तु जप-ध्यान आदिके द्वारा भगवान्‌पर कोई कब्जा कर ले—यह बात नहीं है। हम अपने-आपको देकर ही उनपर कब्जा कर सकते हैं। हमने अपने-आपको संसारको दे रखा है, इसीलिये दुःख पा रहे हैं। अगर अपने-आपको भगवान्‌को दे दें, तो निहाल हो जायँ।

बिलकुल शास्त्र-सम्मत बात है कि क्रियाओंके द्वारा भगवान्‌पर कब्जा नहीं कर सकते। कितनी ही योग्यता प्राप्त कर लें, उनपर अधिकार नहीं जमा सकते। कारण कि इनके द्वारा अधिकार उसीपर होता है, जो इनसे कमजोर होता है। सौ रुपयोंके द्वारा हम उसी चीजपर कब्जा कर सकते हैं, जो सौ रुपयोंसे कम कीमतकी है। कोई चीज सौ रुपयोंकी है तो हम एक सौ पचीस रुपये देकर उस चीजपर कब्जा कर सकते हैं। ऐसे ही भगवान्‌को किसी योग्यतासे खरीदेंगे, तो उस योग्यतासे कमजोर भगवान् ही मिलेंगे। अतः ये विरक्त हैं, ये त्यागी हैं, ये विद्वान् हैं, ये बड़े हैं, इनको भगवान् मिलेंगे हमारेको नहीं—यह धारणा बिलकुल गलत है। अगर आप भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जाओ, उनके बिना रह न सको, तो बड़े-बड़े पण्डित

और बड़े-बड़े विरक्त तो रोते रहेंगे, पहले आपको भगवान् मिलेंगे। आप भगवान्‌के बिना रह नहीं सकोगे तो भगवान् भी आपके बिना रह नहीं सकेंगे। इसलिये परमात्माकी तरफसे किसीको कभी किञ्चिन्मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये और संसारकी आशा नहीं रखनी चाहिये। कारण कि संसार आशामात्रसे नहीं मिलेगा। अगर मिल भी जायगा तो टिकेगा नहीं। अगर यह टिक भी जायगा तो आपका शरीर नहीं टिकेगा। संसार अभावस्वरूप है, इसलिये उसका सदा अभाव ही रहेगा। परमात्मा भाव-स्वरूप हैं, इसलिये उनका सदा भाव ही रहेगा, अभाव कभी होगा ही नहीं—यह सिद्धान्त है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

═══ ★ ═══

९. परमात्मप्राप्तिकी सुगमता

मैं जो बात कहता हूँ, उसको आप कृपा करके मान लें। मैं ऐसी बात कहता हूँ, जो आपकी जानी हुई है। कोई नयी बात नहीं बताता हूँ। कोई भाई-बहन क्या ऐसा जानता है कि मैं पहले नहीं था और पीछे नहीं रहूँगा ? यह प्रश्न स्वयंके विषयमें है, शरीरके विषयमें नहीं। शरीर तो पैदा होनेसे पहले नहीं था और मरनेके बाद नहीं रहेगा। परन्तु मैं पहले नहीं था और पीछे नहीं रहूँगा तथा अब भी मैं नहीं हूँ—ऐसे अपने अभावका अनुभव भी किसीको होता है क्या ? अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। मैं क्या था, क्या रहूँगा, क्या हूँ—ऐसा विचार तो हो सकता है, पर 'मैं हूँ कि नहीं हूँ ?'—ऐसा विचार, सन्देह कभी नहीं होता।

'मैं हूँ'—यह जो अपनी सत्ता, अपना होनापन है, उसका कभी किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६) जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसमें कभी कमी नहीं आती। जिसमें कोई कमी नहीं आती, उसके लिये क्या चाहिये ? कुछ नहीं चाहिये। कारण कि चाहना तो कमीमें ही होती है। जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसमें कभी कमी नहीं आती, जो नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, उसके लिये करना क्या बाकी रहा ? जानना क्या बाकी रहा ? पाना क्या बाकी रहा ? परन्तु उस 'है' में स्थित न होकर, जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उस शरीरमें आप स्थित हो जाते हैं, तब करना भी बाकी रहता है, जानना भी बाकी रहता है और पाना भी बाकी रहता है।

इस बातको भी आप जानते हैं कि शरीर प्रतिक्षण बदलता है, कभी भी एक रूप नहीं रहता। अगर शरीर एक रूप रहता, तो बचपनका शरीर अभी भी रहना चाहिये था। परन्तु बचपनका शरीर अभी नहीं है—यह सबका अनुभव है। बचपनका शरीर किसी एक दिनमें, एक महीनेमें, अथवा एक वर्षमें नहीं बदला है, प्रत्युत प्रत्येक वर्षमें, प्रत्येक महीनेंमें, प्रत्येक दिनमें, प्रत्येक घण्टेमें, प्रत्येक मिनटमें और प्रत्येक सेकेण्डमें बदलता है। अतः केवल बदलनेके पुञ्जका नाम शरीर है। शरीरादि पदार्थ स्थूल बुद्धिसे दीखते हैं। सूक्ष्म बुद्धिसे देखें तो केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन दीखेगा, वस्तु नहीं दीखेगी। जैसे पंखा चलता है तो गोल चक्कर दीखता है, पर वास्तवमें गोल चक्कर नहीं है। पंखेकी ताड़ी अलग-अलग है, पर तेजीसे घूमनेके कारण गोल चक्कर दीखता है। ऐसे ही तेजीसे बदलनेके कारण पदार्थ, शरीर दीखता है। यह शरीर है—ऐसा कहनेमें तो देरी लगती है, पर इसके बदलनेमें देरी नहीं लगती। यह तो हरदम बदलता रहता है। परन्तु स्वयं (स्वरूप) नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। नित्य- निरन्तर रहनेवाले स्वयंको जब प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरके साथ मिला लेते हैं, तब कामना, इच्छा, वासना, तृष्णा आदि पैदा होती हैं। इसीसे सब अनर्थ होते हैं।

अगर हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले नहीं होते, तो पहले किये हुए कर्मोंका फल अभी और अब किये हुए कर्मोंका फल आगे किसको भोगना पड़ेगा ? हम पहले थे, तभी तो पहले किये हुए कर्मोंका फल अब भोग रहे हैं; और हम आगे रहेंगे, तभी तो अभी किये हुए कर्मोंका फल आगे भोगना पड़ेगा। पहले हमने जो कर्म किये थे, वे परिवर्तनशील शरीरके साथ मिलकर ही किये थे और अब उनका फल भी परिवर्तनशील शरीरके साथ मिलकर ही भोगते हैं। अभी शरीरके साथ मिलकर जो कर्म करते हैं, उनका फल भी शरीरके साथ मिलकर ही भोगेंगे। अगर हम शरीरके साथ न मिलें तो न पहलेका कर्म स्पर्श करेगा, न अभीका कर्म स्पर्श करेगा और न भविष्यका कर्म

स्पर्श करेगा। कारण कि 'है' में कभी अभाव नहीं होता और अभाव हुए बिना उसमें दूसरी वस्तुका स्पर्श नहीं होता, प्रवेश नहीं होता। वह 'है' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, इसलिये उसका अनुभव करनेवाले महापुरुषोंने कहा है—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

'है' तो सबका द्रष्टा है, वह दीखे कैसे? आँखसे सबको देखते हैं, पर आँख नहीं दीखती, परन्तु जिससे देखते हैं, वही आँख है। इसी प्रकार हम 'है' को अर्थात् अपने होनेपनको देख नहीं सकते; परन्तु जिससे यह सब दीख रहा है, वही 'है' है। इस बातको आप मान लें। आप कह सकते हैं कि हमें उसका अनुभव नहीं हो रहा है। अतः उसके अनुभवके लिये आप जिज्ञासा करें, व्याकुल हो जायँ।

आप कृपा करके ऐसा मत मानें कि वह 'है' दूर है, वह आयेगा अथवा हम उसके पास जायँगे, तब उससे मिलन होगा। नहीं तो भजन करते हुए आप तो समझते हैं कि हम भगवान्‌के पास जा रहे हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌से अपनेको दूर कर रहे हैं, भगवान्‌से अपने सम्बन्धके अभावको दृढ़ कर रहे हैं। भगवान् तो फिर मिलेंगे, अभी तो नहीं मिलेंगे—ऐसी धारणा रखते हुए राम-राम जपते हैं, कृपा करके इस धारणाको छोड़ दो। हमें अनुभव नहीं हो रहा है—यह बात मानो तो कोई हर्ज नहीं, पर यह बात दृढ़तासे मान लो कि भगवान् सब जगह मौजूद हैं। 'मैं हूँ'—इसमें भी भगवान् हैं, मनमें भी हैं, बुद्धिमें भी हैं, वाणीमें भी हैं। राम-राम-राम—इस आवाजमें भी भगवान् हैं। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो कुछ भी आ रहा है, वह सब भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये।

अतः 'भगवान् हैं'—इतना आप मान लो, भले ही उनका अनुभव अभी न हो। सन्त-महात्मा कहते हैं, वेद-पुराण कहते हैं, बड़े-बड़े जानकार कहते हैं कि 'वह है'। बस 'वह है'—ऐसा मानते हुए लगनपूर्वक राम-राम जप करो तो बहुत जल्दी अनुभव हो जायगा। उसका अनुभव कैसे हो ? क्या करूँ ? कैसे करूँ ? किससे पूछूँ ?—यह जिज्ञासा जोरदार हो जाय। राम-नामको छोड़ो मत; क्योंकि इसके सिवाय संसारमें और कोई सहारा नहीं है। मरनेपर भी कहते हैं—'राम-नाम सत्य है'। शरीर-संसार असत् है। अतः राम-राम करते रहो। 'र' में 'आ' में, 'म' में, जीभमें, मनमें, स्फुरणामें, चिन्तनमें, बुद्धिमें, मैंपनमें—सब जगह वह परमात्मा परिपूर्ण है। जो सबमें रमता करता है और जिसमें सभी रहते हैं, उसका नाम 'राम' है।

राम-नामका जप बहुत ही महान् और सुगम साधन है। कल लकवेकी बीमारीवाले एक भाई मिले थे, वे और कुछ नहीं बोल सकते थे, केवल राम-राम बोल सकते थे। उनसे भी पहले एक भाई कलकत्तामें मिले थे, वे भी कुछ नहीं बोल सकते थे, केवल 'राम'—इतना कह सकते थे। राम-नाम लोकमें, परलोकमें सब जगह शान्ति देनेवाला, सबको सुख देनेवाला है।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

(मानस १। २०। १)

आप यह बात चाहे श्रद्धासे मान लो, चाहे विश्वाससे मान लो, चाहे युक्तिसे मान लो, चाहे अनुभवसे मान लो, चाहे सोच-समझकर मान लो कि परमात्मा सब जगह हैं; जहाँ आप हो, वहीं परमात्मा हैं। आपकी एकता परमात्माके साथ है, बदलनेवाले शरीरके साथ नहीं। शास्त्र भी डंकेकी चोटसे कहता है कि परमात्मा सब जगह हैं, सबमें

हैं, सबके अपने हैं, सबके सुहृद् हैं। आप इसको दृढ़तासे मान लो। साधकसे बड़ी भूल यही होती है कि वह 'भजन' करेंगे, फिर परमात्मा मिलेंगे—ऐसा मान लेता है। यह भविष्यकी आशा ही महान् बाधक है। शास्त्रोंसे, सन्तोंके कहनेसे, किसीके कहनेसे यह मान लो कि परमात्मा तो मिले हुए ही हैं, केवल हमें दीखते नहीं। वर्तमानमें परमात्माका अभाव स्वीकार मत करो। अपनेको उनका अनुभव नहीं हो रहा है; अतः अनुभव कैसे हो—इसके लिये रात-दिन राम-राम रटना शुरू कर दो। फिर देखो तमाशा! कितनी जल्दी अनुभव होता है।

जो जिव चाहे मुक्ति को, तो सुमिरीजै राम।
हरिया गैले चालतां, जैसे आवै गाम॥

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——— ★ ———

१०. अनुभव और विश्वास

बहुत सरल और सुगम दो बातें हैं—एक बात तो अनुभवकी है और एक बात विश्वासकी है। अनुभवकी बात यह है कि संसार प्रतिक्षण बदल रहा है, कभी एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। विश्वासकी बात यह है कि परमात्मा सब जगह हैं। वे सदा ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं, कभी बदलते नहीं। कई युग बदल जाते हैं, कई ब्रह्मा बदल जाते हैं, पर वह परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों ही रहता है। ऐसे ही उसके अंश जीवात्माका भी कभी अभाव नहीं होता।

जो अपरिवर्तनशील है, वह परमात्मतत्त्व सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण प्राणियोंमें परिपूर्ण है। वह सबको प्राप्त है। उसकी तरफ दृष्टि न हो—यह अलग बात है, पर वह तत्त्व अप्राप्त नहीं है; क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण है और सबको मिला हुआ है। उसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह भावरूप है। केवल उधर दृष्टि नहीं है, वह तो है ही। दृष्टि करो तो वही है; दृष्टि न करो तो वही है। आप उसको मानें तो भी वही है, न मानें तो भी वही है। आप जानें तो वही है, न जानें तो वही है। अब इसमें आप यह विश्वास कर लें कि वह परमात्म-तत्त्व प्राप्त है। फिर उसका अनुभव हो जायगा।

आपको अनुभवकी यह बात बतायी कि सब संसार बदलनेवाला है और विश्वासकी यह बात बतायी कि परमात्मतत्त्व नहीं बदलनेवाला है और सबको प्राप्त है। जो बदलनेवाला और अनित्य है, वह 'प्रतीत' हो रहा है। जो नहीं बदलनेवाला और नित्य है, वह 'प्राप्त' है। इस प्रकार दो भेद हुए—एक प्रतीत है और एक प्राप्त है।

हम कहते हैं कि धन मिल गया, मान मिल गया, आदर मिल

गया आदि-आदि, पर वास्तवमें मिला कुछ नहीं। यह तो प्रतीति है। यदि वास्तवमें मिल जाता, तो फिर और मिलनेकी इच्छा नहीं रहती। जबतक मिलनेकी, पानेकी इच्छा है, तबतक वास्तविक चीज मिली नहीं। गीता साफ कहती है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**(६। २२) जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ है—ऐसा वह मान ही नहीं सकता। जबतक भीतर यह इच्छा रहेगी कि और लाभ मिले, चाहे धन मिले, चाहे मान मिले, चाहे स्वास्थ्य मिले, तबतक वास्तवमें आपकी वस्तु आपको मिली नहीं—यह पक्की बात है। अपनी वास्तविक वस्तु मिल जानेपर 'और मिले'— यह इच्छा सदाके लिये शान्त हो जाती है। फिर कोई इच्छा बाकी नहीं रहती।

जो दीखता तो है, पर मिलता नहीं—इसका नाम 'प्रतीति' है। मनुष्यके भीतर 'प्रतीति' का जितना आदर है, उतना 'प्राप्त'का आदर नहीं है—यह है समस्या ! अतः जो 'प्राप्त' है, उसपर दृढ़तासे विश्वास करना है कि बालकपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। शरीर बदला, मन बदला, भाव बदले, इन्द्रियाँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, घटनाएँ बदलीं, क्रियाएँ बदलीं—यह सब कुछ बदला, पर मैं नहीं बदला; मैं तो वही हूँ। वेदान्तमें आत्माकी नित्यताके लिये यह प्रबल युक्ति है कि 'मैं वही हूँ।'

कोई दो आदमी आठ-दस वर्षोंके बाद मिले। उनमें एक बड़ी अवस्थामें था और एक छोटी अवस्थामें था। छोटी अवस्थावालेने पूछा—'बाबाजी, आप मेरेको जानते हो ?' बड़ी अवस्थावालेने उत्तर दिया—'भैया, मैं तो नहीं जानता, तुम मेरेको जानते हो क्या ?' छोटी अवस्थावालेने कहा—'हाँ, मैं तो आपको जानता हूँ। देखो, अमुक समयमें मैं आपसे मिला था और हम दोनोंमें अमुक-अमुक बातें हुई थीं। मुझमें ज्यादा परिवर्तन होनेसे आप पहचान नहीं सके।' बड़ी अवस्थावाला बोला—'अच्छा वही हो तुम।' छोटी अवस्थावालेने

पूछा—'आजकल कैसा चल रहा है!' बड़ी अवस्थावालेने उत्तर दिया—'आजकल तो बड़ी तकलीफमें हूँ। पैदा है नहीं और आफत आ रही है। तुम कैसे हो?' छोटी अवस्थावालेने कहा—'हमारा काम तो बहुत अच्छा चल रहा है।' अब इसमें विचार यह करना है कि मैं भी वही हूँ और तू भी वही है—इसमें सन्देह नहीं, पर परिस्थितिमें बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंकी अवस्था बदल गयी, परिस्थिति बदल गयी, पर वे दोनों वही हैं। अतः आपके साथ न अवस्था रहती है, न परिस्थिति रहती है, आप स्वयं इनसे अलग हैं। ये सब बदलनेवाले हैं, प्रतीतिमात्र हैं। इनको सच्चा माननेसे ही अनर्थ होते हैं। जितने भी अनर्थ होते हैं, इनको स्थायी माननेसे ही होते हैं।

अब प्रश्न होता है कि प्रतीति तो दीखती है, पर प्राप्त नहीं दीखता; अतः हम प्राप्तको कैसे मानें? उपनिषदोंमें एक वाक्य आता है—'**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**' (बृहदारण्यक २।४।१४) 'जो सबको जाननेवाला है, उसको किससे जानें?' जैसे आँखसे सब कुछ दीखता है, पर आँख नहीं दीखती। दर्पणमें आँखकी आकृतिको भले ही देख लो, पर आँख (नेत्रेन्द्रिय) नहीं दीखती अर्थात् जो देखनेकी शक्ति है, वह नहीं दीखती। उस देखनेकी शक्तिसे ही सब कुछ दीखता है। ऐसे ही यह प्रतीति जिससे प्रतीत होती है, जो इस प्रतीतिको जाननेवाला है, वह प्राप्त है। अगर वह न होता तो प्रतीति किसको होती? जो इस परिवर्तनशील प्रतीतिको देखनेवाला है उसको ईश्वर कह दो, जीवात्मा कह दो, सत् कह दो, ब्रह्म कह दो—ये उसको कहनेके कई नाम हैं, वास्तवमें वह एक ही तत्त्व है।

अब एक शंका होती है कि परमात्मतत्त्व तो प्राप्त है ही, चाहे उसको प्राप्त बताओ अथवा न बताओ, फिर उसपर विश्वास करनेकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि जबतक परमात्मापर हमारा विश्वास नहीं होगा, तबतक परमात्मा प्राप्त होते हुए भी हमारे काम नहीं आयेंगे। विश्वास करो तो लाभ होगा, नहीं तो कुछ नहीं

मिलेगा, केश भी नहीं मिलेगा। इसलिये परमात्मापर श्रद्धा-विश्वास तो करने ही पड़ेंगे। अभी मैंने उस परमात्मतत्त्वकी 'है' की प्रबल-युक्ति बतायी कि जिससे प्रतीति होती है, वह 'है' है। पर लाभ उस 'है' को माननेसे, उसपर विश्वास करनेसे ही होगा।

एक आदमीकी गाय बीमार हो गयी। वह वैद्यके पास गया। वैद्यने कहा कि आप गायको आध पाव काली मिर्च पीसकर दे देना और उसके ऊपर पावभर घी दे देना। उसने बाजारसे आध पाव काली मिर्च खरीदी और पीसकर गायको खिला दी। दूसरे दिन वह वैद्यके पास आकर बोला—'साहब, गाय तो और ज्यादा बीमार हो गयी!' वैद्यने कहा—'कैसे हो गयी? उसको काली मिर्च दी थी क्या?' वह बोला—'हाँ, दी थी'। वैद्यने पूछा— 'घी दिया था क्या?' वह बोला—'घी तो नहीं दिया साहब! क्योंकि घी तो गायमें था ही, देनेकी क्या जरूरत?' 'मेरी गायके रोजाना पावभर घी निकलता ही है। कल मैंने गायको दुहा ही नहीं, तो वह पावभर घी उसके भीतर ही रहा; और काली मिर्च उसको दे ही दी।' गायको न दुहनेसे, काली मिर्च देनेसे और घी न देनेसे गरमी ज्यादा बढ़ गयी, जिससे गाय ज्यादा बीमार हो गयी। गायमें घी होते हुए वह काममें नहीं आया। अगर घीको निकालकर उसे देते तो वह काम आ जाता। इसी तरह वह परमात्मतत्त्व प्राप्त होते हुए भी श्रद्धा-विश्वासके बिना हमारे कुछ काम नहीं आयेगा। प्राप्त होते हुए भी वह हमारे लिये अप्राप्तकी तरह ही रहेगा। उस प्राप्त-तत्त्वकी प्राप्ति-(अनुभूति-) के लिये ही तो हम सब यहाँ इकट्ठे हुए हैं। वह प्राप्त है तो फिर दीखता क्यों नहीं—ऐसी चटपटी लगेगी, तब उसका अनुभव होगा। केवल बातें बनाते रहोगे तो कुछ हाथ नहीं लगेगा। मेरी तरह आप भी व्याख्यान दे दोगे, पर मिलेगा कुछ नहीं। इसलिये कहता हूँ कि आप उस तत्त्वसे वञ्चित क्यों रहते हो? बच्चेको मालूम हो जाय कि माँ यहाँ है तो वह रोने लग जायगा कि माँ है तो मुझे गोदमें क्यों नहीं लेती! 'परमात्मतत्त्व प्राप्त

है'—ऐसा इसलिये कहा है कि उसको जाननेके लिये आपमें चटपटी लग जाय। 'वह तो प्राप्त ही है, अब उसको जाननेकी, उसपर विश्वास करनेकी क्या जरूरत'—यह तो महान् मूर्खता है। प्राप्तकी ही प्राप्ति (अनुभूति) करनी है। उसकी प्राप्ति प्रतीतिको सच्चा न माननेसे ही होगी—यह है चाभी। प्रतीतिको सच्चा माननेसे उसकी प्राप्ति कभी नहीं होगी, भले ही कितना पढ़ जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, छहों शास्त्र पढ़ जाओ। प्रतीतिको सच्चा मानते रहोगे कि धन भी है, सम्पत्ति भी है, उससे हम ऐसे हो जायँगे, नीरोग हो जायँगे, इतने मकान बना लेंगे आदि-आदि, तो सीधे नरकोंमें जाओगे, कोई रोकनेवाला नहीं। नरकोंमें जानेसे न धन रोकेगा, न मकान रोकेगा, न कुटुम्बी रोकेंगे।

श्रोता—महाराजजी! यह तो पता चलता है कि प्रतीति रहनेवाली नहीं है, फिर भी वह हमें आकृष्ट करती है।

स्वामीजी—आप प्रतीतिको प्रतीति न मानकर नित्य मानते हैं, तभी वह खींचती है। सिनेमामें बढ़िया भोजन दीखनेपर उसको खानेकी प्रवृत्ति होती है क्या? नहीं होती; क्योंकि जानते हैं कि मिलेगा कुछ नहीं। ऐसे ही संसारसे भी कुछ मिलनेवाला नहीं है। आज दिनतक संसारसे किसीको कुछ नहीं मिला। आप चाहे मिला हुआ मान लो, पर है यह कोरा वहम! संसार कहते ही उसको हैं, जो जा रहा है—'**सम्यक् प्रकारेण सरतीति संसारः**'। जो प्रतिक्षण जा रहा है, वह मिला कहाँ? इस संसारसे विमुख होनेपर ही उस परमात्मतत्त्वका अनुभव होगा।

नारायण! नारायण! नारायण!

═══ ★ ═══

११. मनुष्यका वास्तविक सम्बन्ध

संसारसे हमारा सम्बन्ध निरन्तर नहीं रहता—इस वास्तविकताको हम सब जानते हैं। परंतु इस जानकारीपर हम कायम नहीं रहते—इतनी गलती है। अगर इस जानकारीपर हम कायम रह जायँ अर्थात् संसारसे अपना सम्बन्ध न मानें तो आज, अभी बेड़ा पार है ! हम संसारसे जो अपना सम्बन्ध मानते हैं, उसको छोड़े बिना हम रह ही नहीं सकते। संसारके सम्बन्धके बिना तो हम रह सकते हैं, पर वियोगके बिना हम रह ही नहीं सकते, जी ही नहीं सकते। इस बातपर आप खूब ध्यान देकर विचार करें। संसारकी जिन वस्तुओं, व्यक्तियों, पदार्थोंके साथ हम अपना सम्बन्ध मानते हैं, उनके सम्बन्धसे हमें उतना सुख नहीं मिलता, जितना उनके वियोगसे सुख मिलता है। जैसे हमारेको गाढ़ नींद आती है तो उस समय हमारा किसी व्यक्ति या वस्तुसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। गाढ़ नींदमें हम सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंको भूल जाते हैं। उनको भूलनेसे जितना सुख मिलता है, उतना सुख उनको याद रखनेसे, उनके साथ रहनेसे नहीं मिलता—यह हम सबका अनुभव है।

अब ध्यान देकर इस बातको आप ठीक तरहसे समझें। नींद लेनेकी प्रवृत्ति हमारी जन्मसे ही है। आप याद करें तो बचपनसे लेकर आज-दिनतक हम नींद लेते ही रहे हैं अर्थात् संसारको भूलते ही रहे हैं। नींद लिये बिना अर्थात् संसारसे विमुख हुए बिना हम आठ पहर भी जी नहीं सकते। अगर कई दिनतक नींद न आये तो मनुष्य पागल

हो जाय। जितनी खुराक नींदसे हमें मिलती है, उतनी खुराक पदार्थों, व्यक्तियोंके सम्बन्धसे नहीं मिलती। पदार्थों, व्यक्तियोंका सम्बन्ध रखनेसे तो थकावट होती है। नींदसे वह थकावट मिटती है और शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणमें नयी शक्ति, स्फूर्ति, ताजगी आती है। पदार्थों और व्यक्तियोंके सम्बन्धसे ताजगी नष्ट होती है।

बचपनमें खिलौने जितने अच्छे लगते थे, उतने पदार्थ और व्यक्ति अच्छे नहीं लगते थे। खेल जितना अच्छा लगता था, उतना घर अच्छा नहीं लगता था। अब युवावस्थामें रुपये अच्छे लगने लग गये। अब खिलौने अच्छे नहीं लगते, पर नींद अब भी वैसी-की-वैसी प्रिय लगती है। जब खिलौने प्रिय लगते थे, तब भी नींद अच्छी लगती थी और नींदसे सुख मिलता था। अब रुपये अच्छे लगने लगे तो भी नींद अच्छी लगती है। परन्तु रुपयोंको भुला करके जो नींद आती है, वह नींद रुपयोंसे भी ज्यादा अच्छी लगती है। जब विवाह हुआ तब स्त्री, पुत्र, परिवार बड़ा अच्छा लगने लगा, जिनके लिये रुपये भी खर्च कर देते हैं। परन्तु जब गहरी नींद आने लगती है, तब स्त्रीको, पुत्रको, मित्रोंको, कुटुम्बियोंको भी छोड़ देते हैं। जिनके मोहमें फँसकर झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी, ठगी, धोखेबाजी आदि कर लेते हैं, उन सबका भी गाढ़ नींदमें त्याग कर देते हैं। जब वृद्धावस्था आती है, तब परिवारमें, पोता-पोती, दोहता-दोहतीमें मोह बढ़ जाता है; परन्तु गाढ़ नींद आनेपर इनको भी छोड़ देते हैं। अगर वैराग्य हो जाता है तो धन, मकान, स्त्री, पुत्र, परिवार आदिको छोड़कर साधु हो जाते हैं, विरक्त-त्यागी बन जाते हैं, तब भी नींद लेते हैं। नींदमें साधुपनेका भी वियोग होता है, विरक्तत्यागीपनेका भी वियोग होता है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नींद अच्छी लगती है। नींद नहीं आये तो अच्छा है—ऐसा भाव कभी नहीं होता, प्रत्युत नींद आ जाय तो अच्छा है—यह भाव रहता है। नींद लेनेकी पूरी तैयारी करते हैं। अच्छा बिछौना बिछाते हैं। खूब बढ़िया तकिया लगाते हैं, गद्दा लगाते हैं,

पंखा लगाते हैं, जिससे आरामसे नींद आ जाय। हल्ला-गुल्ला न हो, ऐसी व्यवस्था करते हैं। जब नींद आने लगती है, तब तरह-तरहके भोग, मनोहर दृश्य, सिनेमा आदि नहीं सुहाते। तब यही कहते हैं कि भाई, अब तो हमें नींद लेने दो; अब हम सोयेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि नींद सब वस्तु-व्यक्तियोंसे बढ़कर प्यारी है। नींदके लिये सबका त्याग किया जा सकता है, पर नींदका त्याग नहीं किया जा सकता। परंतु कहीं भगवान्‌के भजनमें प्रेम हो जाय, भजनमें रस आने लग जाय, तो फिर नींद भी अच्छी नहीं लगती। संतोंका पद आता है—**'बैरिन हो गई निंदरिया'** अर्थात् यह नींद तो हमारी वैरिन हो गयी; नींद नहीं आये तो अच्छा है। इससे सिद्ध होता है कि जिसके लिये प्यारी-सी-प्यारी नींदका भी त्याग हो जाता है, उस परमात्माके साथ ही हमारा वास्तविक सम्बन्ध है। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध बनावटी है, भूलसे माना हुआ है। इसलिये संसारके संयोगके बिना तो हम रह सकते हैं, पर वियोगके बिना हम रह ही नहीं सकते। संसारके वियोगसे सुख होता है—यह हम सबका अनुभव है।

कितनी विलक्षण बात है कि संसारके वियोगका अनुभव जीवमात्रको है ! मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब नींद लेते हैं। तात्पर्य है कि संसारसे वियोग हरेक प्राणी चाहता है। संसारके संयोगमें तो कमीसे भी काम चल सकता है; जैसे—किसीको भोजन अच्छा मिलता है, किसीको भोजन अच्छा नहीं मिलता; किसीको मकान मिलता है, किसीको मकान नहीं मिलता, इसमें सबकी विषमता है। दो मनुष्योंकी भी आराम-सामग्री एक समान नहीं होती। परन्तु नींद सबकी एक समान होती है। यहाँ एक बात सोचनेकी है कि नींदकी तरफ हमारी जो प्रवृत्ति होती है, उसमें हमें न कुछ उद्योग करना पड़ता है, न कुछ चिन्तन करना पड़ता है, न कुछ काम करना पड़ता है, न कुछ याद करना पड़ता है। तात्पर्य है कि कुछ न करनेसे नींद आ जाती है। नींदके लिये ऐसा नहीं है कि इतना उद्योग करो, तब नींद आयेगी !

नींदमें सबसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। परन्तु संसारके साथ माने हुए सम्बन्धको पकड़े हुए ही नींद लेते हैं, इसलिये जगनेपर फिर उसीमें (संसारमें) लग जाते हैं। फिर भी संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध स्थिर नहीं रहता। अवस्था बदल जाती है, परिस्थिति बदल जाती है, घटना बदल जाती है, व्यक्ति बदल जाते हैं, देश बदल जाता है, काल बदल जाता है—ये सब तो बदल जाते हैं, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कभी नहीं बदलता। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध तो हमारा माना हुआ है, अवास्तविक है, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद माना हुआ नहीं है, प्रत्युत वास्तविक है। इसलिये संसारसे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। बालकपनसे सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, जवानीसे हुआ, वृद्धावस्थासे हुआ, नीरोगतासे हुआ, रोगीपनसे हुआ, धनवत्तासे हुआ, निर्धनतासे हुआ और कई व्यक्तियोंसे संयोग होकर वियोग हुआ। इस प्रकार संसारका सम्बन्ध तो छिन्न-भिन्न होता ही रहता है; क्योंकि यह सम्बन्ध नकली है, माना हुआ है। हमने बड़ी भारी भूल यह की कि माने हुए सम्बन्धको तो सच्चा मान लिया, पर संसारसे जो सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, उसकी तरफ ख्याल ही नहीं किया कि यह भी तो हमारा अनुभव है। संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे जितना सुख मिलता है, उतना पदार्थोंसे नहीं मिलता। अगर पदार्थोंसे सुख मिलता, तो नींद छूट जाती।

जब भगवान्‌के भजनमें रस आने लगता है, तब नींद, भूख और प्यास भी छूट जाती है, इनकी भी परवाह नहीं रहती। नींद, भूख और प्यास शरीर-निर्वाहकी खास चीजें हैं, पर भजनमें इनको भी भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा असली सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। असली सम्बन्ध जाग्रत् हो जाय तो फिर नकली सम्बन्धको कौन रखना चाहेगा ? शरीर-संसारके साथ माने हुए नकली सम्बन्धोंको हम छोड़ दें तो आज ही निहाल हो जायँ ! सम्बन्धको छोड़कर जाना कहीं नहीं है, न जंगलमें जाना है, न साधु बनना है। केवल यह मान लेना

है कि यह संसार वास्तवमें हमारा नहीं है। हमारे तो केवल भगवान् ही हैं। व्यक्तियोंसे हमारा जो सम्बन्ध दीखता है, वह उनकी सेवा करनेके लिये है। वस्तुओंसे हमारा जो सम्बन्ध दीखता है, वह उनको दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये है। न तो हमारे लिये कोई व्यक्ति है और न हमारे लिये कोई वस्तु है। जो हमारे कहलाते हैं, उन माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, भौजाई आदिकी सेवा कर दो, बस। वस्तुएँ तो उनकी सेवाके लिये हैं और वे सेवनीय हैं। शरीर उनका ही है, इसलिये शरीरको उनकी सेवामें लगा दो। हमें उनसे कुछ लेना ही नहीं है। उनकी वस्तुओंको उन्हींकी सेवामें लगा देना है। इसीको कर्मयोग कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो।'

खूब तत्परतासे, अच्छी तरहसे कर्म करना है; क्योंकि मनुष्य-शरीर सेवा करनेके लिये ही मिला है, भोग भोगनेके लिये नहीं। हमें जो विवेक मिला है, वह शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये मिला है, शरीरके साथ चिपकनेके लिये नहीं।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध केवल सेवा करनेके लिये ही है। सेवाके सिवाय संसारसे और कोई मतलब नहीं। माता-पिताकी सेवा करनी है, स्त्री-पुत्रका पालन-पोषण करना है। सेवा करनी है। उनके साथ सम्बन्ध माननेसे वास्तविक शान्ति नहीं मिलती। शान्ति तो उनकी सेवा करके सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे मिलती है। संसारके साथ माना हुआ ऐसा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, जिसके लिये मनुष्य नींद, भूख और प्यास भी छोड़ दे। परंतु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़नेपर नींद

अच्छी नहीं लगती, खाना-पीना अच्छा नहीं लगता, यहाँतक कि शरीरका मोह भी नहीं रहता; क्योंकि भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है।

नारदजीके पूर्वजन्मके वर्णनमें आता है कि जब उनकी माताकी मृत्यु हो गयी, तब वे जंगलकी ओर चल दिये। उनको यह ख्याल ही नहीं आया कि जंगलमें क्या खायेंगे-पीयेंगे? कहाँ रहेंगे? वहाँ एक वृक्षके नीचे बैठे। उनका मन भगवान्‌में लग गया, समाधि लग गयी। उनको अपने हृदयमें भगवान्‌का रूप दीखने लगा। कुछ देर बाद सहसा समाधि खुल गयी तो वे बड़े व्याकुल हुए। तब आकाशवाणी हुई कि इस शरीरके छूटनेके बाद जब ब्रह्माजीके पुत्ररूपसे तुम्हारा जन्म होगा, तब मेरे दर्शन होंगे। ऐसी आकाशवाणी सुनकर नारदजी प्रतीक्षा करने लगे कि कब यह शरीर छूटेगा, कब मैं मरूँगा! दुनिया चाहती है कि हम सदा जीते ही रहें और वे चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ!

संसारमें अपने शरीरके जीनेकी जितनी इच्छा होती है, उतनी कुटुम्बके जीनेकी इच्छा नहीं होती। गाय अपने बछड़ेपर बहुत स्नेह रखती है। वह बछड़ेको छोड़कर जंगलमें चरनेको भी नहीं जाती। परन्तु जब उसको लाठी मारने लगते हैं, तब वह जंगलमें चली जाती है। जंगलमें घास चरते-चरते जब उसको बछड़ा याद आ जाता है, तब वह 'हुम्'—ऐसे हुंकार करती है और उसके मुँहसे घास गिर जाता है। शामके समय जब वह वापिस लौटती है, तब वह सब गायोंसे आगे भागती है और हुंकार करती हुई बछड़ेके पास जाती है, उसको प्यार करती है, दूध पिलाती है। इस प्रकार उसका बछड़ेपर भी प्रेम है और घासपर भी प्रेम है, पर अपने शरीरपर सबसे ज्यादा प्रेम है। जब शरीरपर लाठी पड़ती है, तब वह बछड़ेको, घासको, सबको छोड़ देती है। जब शरीरपर आफत आती है, तब किसीकी परवाह नहीं करती। तात्पर्य है कि शरीरमें उसका एक नम्बरका प्रेम

है, बछड़ेमें दो नम्बरका प्रेम है और घासमें तीन नम्बरका प्रेम है। अतः शरीरसे मोह तो पशुका भी होता है। परंतु मनुष्य शरीरसे मोह छोड़कर भगवान्‌से प्रेम कर सकता है।

शरीर तो हरदम बदलता है; अतः यह तो हरदम रहता नहीं, पर भगवान् हरदम रहते हैं। हम तो भगवान्‌के ही हैं—यह जब पहचान हो जाती है, तब मनुष्य शरीरकी आसक्ति-कामना छोड़कर भगवान्‌में ही लग जाता है। अतः भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है और शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नकली है—इस वास्तविकताको जानकर सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लग जाना चाहिये।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

१२. शरीरसे अलगावका अनुभव

भगवान्‌ने मनुष्यको कल्याणकी सामग्री कम नहीं दी है, प्रत्युत बहुत ज्यादा दी है। उम्र भी बहुत ज्यादा दी है। कल्याण मिनटोंमें हो सकता है, पर उसके लिये वर्षोंकी उम्र दी है। थोड़े-से विचारसे कल्याण हो सकता है, पर विचार करनेकी शक्ति बहुत दी है। सब सामग्री इतनी ज्यादा दी है कि मनुष्य अपना कल्याण कई बार कर ले ! जब कि वास्तवमें एक बार कल्याण करनेके बाद दूसरी बार कल्याण करनेकी जरूरत ही नहीं रहती। बहुत विचित्र सामग्री भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। जैसे, एक बातपर आप विचार करें—आपको इस बातका बिलकुल पक्का ज्ञान है कि बचपनसे लेकर आजतक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना सब बदल गये, पर मैं वही हूँ। बदलनेवालेको छोड़ दे और जो नहीं बदला है, उसको पकड़ ले तो अभी इसी क्षण बेड़ा पार है ! जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है और जो नहीं बदलता वह मेरा स्वरूप है। बस इतना ही काम है।

अनेक परिस्थितियोंमें, अनेक घटनाओंमें आप एक रहते हैं। अनेक देशोंमें घूम-फिरकर भी आप एक रहते हैं। बहुत समय बीतनेपर भी आप वही रहते हैं। सब कुछ बदलनेपर भी आप वही रहते हैं। जो वही रहता है, कभी बदलता नहीं, उसको आप बदलनेवालोंसे अलग करके देखें तो बस, तत्त्वज्ञान हो गया; और उन दोनोंको मिलाकर देखें तो अज्ञान हो गया।

साधन करनेवाले भाई-बहनोंके मनमें एक बात जँची हुई है कि मन निर्विकार हो जाय, किसी घटनाका असर न पड़े तो तत्त्वज्ञान हो गया; और असर पड़ता है तो तत्त्वज्ञान नहीं हुआ। इस बातको आप ठीक तरहसे समझें कि असर किसपर पड़ता है ? असर मनपर पड़ता

है, बुद्धिपर पड़ता है, शरीरपर पड़ता है, इन्द्रियोंपर पड़ता है; पर आप तो वही रहते हैं अर्थात् आपपर असर नहीं पड़ता। रुपये आये, नफा हुआ तो आपका मन प्रसन्न हो गया; और रुपये चले गये, घाटा लग गया तो आपका मन दुःखी हो गया। नफा-नुकसान होनेसे मनपर दो तरहका असर हुआ, पर आप तो वही रहे। नफा हुआ तो आप दूसरे थे और नुकसान हुआ तो आप दूसरे थे—ऐसा होता है क्या ? अगर आप एक नहीं रहते तो नफा और नुकसान— दोनोंका ज्ञान किसको होता ? आप तो सम ही रहते हैं, एक ही रहते हैं। आपपर असर पड़ता ही नहीं है। असर पड़ता है मन-बुद्धिपर।

तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष भी बचपनसे जवान और बूढ़ा हो जाय तो उसको दिखना कम हो जायगा, सुनना कम हो जायगा, चलना-फिरना कम हो जायगा, पर उसके ज्ञानमें क्या फर्क पड़ा ? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—ये सब तो बदलनेवाले ही हैं। इनमेंसे कोई बदल गया, किसीपर असर पड़ गया तो क्या हो गया ? आप उसके साथ मिलकर अपनेको (स्वरूपको) सुखी-दुःखी मान लेते हो—यह गलती होती है। आप इस बातपर दृढ़ रहो कि मैं तो वही हूँ। सुखके समयमें जो था, वही दुःखके समयमें हूँ और दुःखके समयमें जो था, वही सुखके समयमें हूँ। इस प्रकार आने-जानेवालेके साथ न मिलकर अपने-आपमें स्थित रहना ही 'स्वस्थ' होना है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। आने-जानेवालेके साथ मिलकर सुखी-दुःखी होना 'प्रकृतिस्थ' होना है—**'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते'** (गीता१३। २१)। प्रकृतिमें स्थित आप हो नहीं पर जान-बूझकर उसमें स्थित हो जाते हो। आप न सुखमें हो, न दुःखमें; न लाभमें हो, न हानिमें; न किसीके जन्ममें हो, न किसीके मरणमें; आप इन सबसे अलग हो। आप जान-बूझकर इनको खींच करके ले लेते हो और सुखी-दुःखी हो जाते हो; फिर कहते हो कि बोध नहीं होता ! आप इसी बातमें स्थित रहो कि मैं तो वही हूँ। नफा हुआ तो

मैं वही हूँ, नुकसान हुआ तो मैं वही हूँ। आप 'स्व'में (अपने-आपमें) स्थित हो जाओ, बस। 'स्व' सदा ही निर्विकार है। 'स्व' में कभी विकार होता ही नहीं। विकार अन्तःकरणमें होता है और उसके साथ मिलकर आप भी अपनेमें विकार मान लेते हो और सुखी-दुःखी होते हो।

आपके मनमें अच्छी आ जाय, मंदी आ जाय, शोक हो जाय, चिन्ता हो जाय, हर्ष हो जाय, राग हो जाय, द्वेष हो जाय—ये सब होनेपर भी आप अपनेमें स्थित रहो, उनसे मिलो मत। उनके साथ मिलते हो—यह प्रकृतिस्थ होना है। प्रकृतिस्थ होनेसे फिर पाप भी लगेगा, दुःख भी होगा, चौरासी लाख योनियाँ भी होंगी, नरक भी होंगे, जन्म-मरण भी होगा—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। अतः जो बनते हैं, बिगड़ते हैं; आते हैं, जाते हैं, उनको देखकर भी आप अपनेमें स्थित रहो; क्योंकि आप उनको देखनेवाले (उनसे अलग) हो। सुखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो और दुःखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो। संयोगको भी आप देखते हो और वियोगको भी आप देखते हो। देखनेवाला दीखनेवाली वस्तुओंसे अलग होता है—यह नियम है। अतः देखनेवाले आपमें क्या फर्क पड़ा ? देखनेवाले आप तो वही रहे।

हम गङ्गाजीके किनारे खड़े हैं। बहुत-से सिलपट (लकड़ीके टुकड़े) बहते हुए आ गये और हमारे पाससे होकर निकले तो हम खिलखिलाकर हँस पड़े कि आज तो आनन्द हो गया ! दूसरे दिन हम वहीं खड़े रहे, पर एक भी सिलपट हमारे पाससे होकर नहीं निकला, सब उधरसे बहते हुए निकल गये तो हम जोर-जोरसे रोने लगे। कोई पूछे कि भाई, रोते क्यों हो ? तो हम बोले कि आज एक भी सिलपट हमारे पाससे नहीं निकला। आप विचार करें, सिलपट हमारे पाससे निकले अथवा दूरसे बह जाय, उससे हमारेपर क्या फर्क पड़ा ? हम सिलपटको छूते ही नहीं। सिलपट हमारे पास रहता ही नहीं, वह तो

बहता है और हम एक जगह खड़े हैं। परंतु वह पाससे होकर बह गया तो राजी हो गये और दूरसे होकर बह गया तो रोने लगे—यह मूर्खता ही तो हुई ! ऐसे ही आपके यहाँ बेटा हुआ तो आप राजी हो गये और बेटा मर गया तो रोने लग गये। किसी दूसरे आदमीके यहाँ भी लड़का हुआ और मर गया, पर तब आप रोते नहीं। उसके यहाँ धन आया और चला गया, पर आप नहीं रोते। आपके यहाँ धन आकर चला जाय तो आप रोते हो। आपके पास पहले था नहीं, बीचमें हो गया, फिर चला गया तो आप जैसे पहले थे, वैसे ही रहे, फिर रोना किस बातका ? आप अपनेमें स्थित रहोगे तो रोओगे नहीं। परंतु आने-जानेवाली वस्तुओंके साथ चिपकोगे तो रोओगे मुफ्तमें।

संसारका दुःख आपने मुफ्तमें पकड़कर लिया हुआ है। वास्तवमें दुःख है नहीं। भगवान्‌ने दुःख पैदा किया ही नहीं। आप ही दुःख पैदा कर लेते हो। आपको क्या शौक लगा है, पता नहीं ! आप बदलनेवालेके साथ मिलो मत। मिलोगे तो दुःखी होना पड़ेगा। मैं बदलनेवालेसे अलग हूँ—ऐसा देखते रहो। उनसे अलगावका साफ अनुभव होते ही सब दुःख, विकार मिट जायँगे।

श्रोता—हम तो उनसे मिले हुए ही हैं, अलग कैसे हों ?

स्वामीजी—मिले हुए आप हो ही नहीं, अगर मिले हुए होते तो आप अभीतक बच्चे ही रहते, बूढ़े होते ही नहीं। परन्तु आप कहते हो कि मैं जो बालकपनमें था, वही मैं आज हूँ, जब कि बालकपन आपके साथ नहीं रहा और आप बालकपनके साथ नहीं रहे। फिर आप मिले हुए कहाँ हो ? शरीर आदि बदलनेवाले हैं और आप न बदलनेवाले हैं। आपने भूलसे अपनेको उनसे मिला हुआ मान लिया। बस, इसको आप मत मानो। हम उनसे मिले हुए हैं—ऐसा दीखनेपर भी इसको आदर मत दो, प्रत्युत अपने अनुभवको आदर दो कि मैं उनसे अलग हूँ। कैसे अलग हूँ कि बचपनसे लेकर अबतक शरीर बदल गया, पर मैं वही हूँ। यह बिलकुल प्रत्यक्ष अनुभवकी

बात है। आप शरीर आदिसे अलग हैं तभी तो बचपन बीत गया और आप रह गये। ऐसे ही यह जवानी और वृद्धावस्था भी बीत जायगी, पर आप रहोगे। जैसे बचपनके समय आप उससे अलग थे, ऐसे ही आज जवानीमें और वृद्धावस्थामें भी आप अलग हो। अगर फिर भी इसका ठीक अनुभव न हो, तो व्याकुल होकर भगवान्‌से कहो कि 'महाराज ! हमारेको इसका अनुभव नहीं हो रहा है। इतनी बात पक्की जान लो कि हम हैं तो अलग ही, चाहे अनुभव हो या न हो। अगर अलग न होते तो मरनेपर शरीर यहाँ नहीं रहता, साथमें जाता अथवा शरीरके साथ आप भी यहाँ रहते। परन्तु न आप शरीरके साथ रहते हो और न आपके साथ शरीर जाता है, फिर दोनों एक कैसे हुए ? मकानमें मैं रहता हूँ तो मकान मैं कैसे हो गया ? मैं मकानमें आता हूँ और मकानसे चला जाता हूँ, तो मकान और मैं अलग-अलग हुए। ऐसे ही शरीर भी एक मकान है और आप उसमें रहनेवाले हो। आप उसमें रहते हो और निकल भी जाते हो। उसके साथ आप एक नहीं हो।

मैं शरीरसे अलग हूँ—ऐसा अनुभव न हो तो भी इसको जबर्दस्ती मान लो। जैसे बीमारीसे छूटनेके लिये आप कड़वी-से-कड़वी दवा, चिरायते आदिका काढ़ा भी आँखें मीचकर पी लेते हो, ऐसे ही स्वस्थ होनेके लिये आप 'मैं अलग हूँ'—ऐसा मान लो। फिर भी ठीक अलग न दीखे तो व्याकुल हो जाओ कि अलग अनुभव जल्दी कैसे हो ! व्याकुलता जोरदार हो जायगी तो चट अनुभव हो जायगा। परन्तु भोगोंमें रस लेते रहोगे, सुख लेते रहोगे तो चाहे कितना ही पढ़ जाओ, पण्डित बन जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, पर शरीरसे अलगावका अनुभव कभी नहीं होगा।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

१३. सुख-लोलुपताको मिटानेका उपाय

अगर आप संयोगजन्य (सांसारिक) सुखकी आसक्ति मिटा दें तो अभी परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जायगा। संयोगजन्य सुखमें जो आकर्षण है—यही खास बीमारी है। विचार करनेसे यह बात ठीक समझमें आती है कि यह संयोगजन्य सुखकी लालसा ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधा है। संयोगजन्य अर्थात् पदार्थों, व्यक्तियों, परिस्थितियोंके सम्बन्धसे पैदा होनेवाला सुख नित्य-निरन्तर कैसे रह सकता है ? कारण कि जो चीज पैदा होती है, वह नष्ट भी होती है। अगर संयोगसे मिलनेवाला सुख असह्य हो जाय, इस कृत्रिम सुखका त्याग कर दिया जाय, तो 'सहज सुख' है, वह प्रकट हो जायगा; क्योंकि यह स्वयं सहज सुख-स्वरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

(मानस ७। ११७। १)

जबतक संयोगजन्य सुखका त्याग नहीं करोगे। तबतक 'हमारा सम्बन्ध संसारसे नहीं है, हमारा सम्बन्ध परमात्मासे है'— यह बात सुननेपर भी काममें नहीं आयेगी। ऐसे ही 'संसार नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है'—ऐसी बातें भले ही सुन लो, याद कर लो, पर अनुभव नहीं होगा। संसार असत्य है—ऐसा कहनेसे, सीख लेनेसे, याद करनेसे संसार छूटता नहीं। तात्पर्य है कि जबतक सांसारिक संयोगजन्य सुखकी आसक्ति रहेगी तबतक संसारकी असत्यताका अनुभव नहीं होगा। कारण कि आप संयोगजन्य सुखको सत्य मानकर

ही उसको लेनेकी इच्छा करते हो, फिर संसारकी असत्यताका अनुभव कैसे कर सकते हो ?

इस बातका प्रत्यक्ष पता है कि संयोगजन्य सुख लेनेसे दुःख भोगना ही पड़ता है। ऐसा कोई प्राणी हो ही नहीं सकता, जो संयोगजन्य सुख तो भोगता रहे, पर उसको दुःख न भोगना पड़े। वह दुःखसे बच जाय—यह असम्भव है। फिर भी मनुष्य संयोगजन्य सुख क्यों नहीं छोड़ता ? वर्तमानमें संयोगसे जो सुख होता है, उसका जितना आकर्षण है, प्रियता है, विश्वास है, भरोसा है, उतना उसके परिणामपर विचार नहीं है। सुखभोगके परिणाममें क्या होगा—इसका वह विचार ही नहीं करता। उसके विचारमें आता भी है तो वह आँख मीच लेता है, उसको जानना नहीं चाहता। इसलिये भगवान्‌ने राजस सुखका वर्णन करते हुए बताया कि संयोगजन्य सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है—'**विषयेन्द्रिय-संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव....**' (गीता १८। ३८)। इसके परिणामका विचार मनुष्य ही कर सकता है, पशु-पक्षी आदिमें इसका विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है। देवतालोग तो सुख भोगनेके उद्देश्यसे ही स्वर्गमें रहते हैं, वे इसके परिणामको क्या जानेंगे ? मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः इसमें परिणामका विचार करनेकी योग्यता है। इसलिये मनुष्यको हरदम संयोगजन्य सुखके परिणामकी तरफ दृष्टि रखनी चाहिये। हरदम सोचना चाहिये कि इसका परिणाम क्या होगा ? सांसारिक सुखका परिमाण दुःख होगा ही। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते** (गीता ५। २२) अर्थात् जितने भी सम्बन्धजन्य सुख हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके कारण हैं। संसारमें जितने भी दुःख होते हैं—नरक होते हैं, कैद होती है, अपयश होता है, अपमान होता है, रोग होते हैं, शोक होता है, चिन्ता होती है, व्याकुलता होती है, घबराहट होती है, बेचैनी होती है—ये सब-के-

सब संयोगजन्य सुखकी लोलुपताका ही नतीजा है।

सुख इतना बाधक नहीं है, जितनी सुखकी लोलुपता बाधक है। सुख मिल जाय, सुख ले लूँ—यह इच्छा जितनी बाधक है, उतना सुख बाधक नहीं है। कारण कि सुख बेचारा आता है और चला जाता है, पर उसकी लोलुपता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। सुख नहीं है तो भी लोलुपता रहती है। सुख भोगते समय भी लोलुपता रहती है और सुख चला जाय तो भी लोलुपता रहती है। सुखमें जो खिंचाव रहता है, प्रियता रहती है, यही वास्तवमें बीमारी है। इसको मिटानेका सरल और श्रेष्ठ उपाय यह है कि दूसरोंको सुख कैसे हो—इसकी लगन लग जाय। आप कृपा करके आज ही इस बातको धारण कर लें कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे, दूसरोंका भला कैसे हो, दूसरोंका हित कैसे हो, दूसरोंको आराम कैसे मिले। हरेक काममें यह विचार करें कि दूसरोंको सुख कैसे हो। अगर भीतरसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे हो तो अपने सुखकी इच्छा छूट जायगी।

अपनी सुख-लोलुपताको मिटानेके लिये दूसरोंको सुख पहुँचाना है, गायोंको सुख पहुँचाना है, गरीबोंको सुख पहुँचाना है, सबको सुख पहुँचाना है। अपनी सुख-लोलुपताको मिटानेके उद्देश्यसे अगर सेवा की जाय तो मेरा विश्वास है कि जरूर लाभ होगा, करके देख लो। आजकल सेवा करनेवालोंमें भी सच्ची लगनसे सेवा करनेवाले मनुष्य बहुत कम देखनेमें आते हैं। वे सेवा तो करते हैं, पर उसमें दिखावटीपन रहता है। भीतरसे यह लगन नहीं होती कि दूसरेको सुख कैसे पहुँचे, दूसरेका हित कैसे हो। गीता कहती है कि जो प्राणिमात्रके हितमें रत रहते हैं, वे भगवान्‌को प्राप्त होते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (१२।४)।

अब दूसरेकी सेवा किस रीतिसे करें, यह बताता हूँ। दूसरेकी सेवा करते समय अपने मनकी प्रधानता बिलकुल न रखें, अपना आग्रह बिलकुल न रखें। केवल दूसरेके मनकी तरफ देखें कि वे कैसे

राजी हों। किस तरहसे उनको सुख पहुँचे। हमें तो कई वर्षोंके बाद यह बात पकड़में आयी कि 'मेरे मनकी बात पूरी हो'—यही कामना है। इसलिये अपनी मनमानी छोड़कर दूसरेकी मनमानी करें। जो न्याययुक्त हो, शास्त्र-सम्मत हो, अपनी सामर्थ्यके अनुरूप हो—ऐसी दूसरेकी मनकी बात पूरी करें, तो आपमें अपनी कामनाको मिटानेकी सामर्थ्य आ जायगी।

जहाँ रहो, जिस क्षेत्रमें रहो केवल यह लगन रखो कि दूसरेको सुख कैसे मिले, दूसरेका हित कैसे हो। इस बातका ख्याल रखो कि किसीको भी मेरे द्वारा कष्ट न पहुँचे, सुख पहुँचे। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—**'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'** (मानस ७। १३० ख); कामीको जैसे स्त्री प्यारी लगती है और लोभीको जैसे पैसा प्यारा लगता है, ऐसे ही आपको दूसरोंका हित प्यारा लगने लगे। फिर देखो तमाशा, चट काम होगा। वर्षोंतक विचार और चिन्तन करनेपर जो बात मिली है, वह बात बतायी है आपको!

नारायण ! नारायण ! नारायण !

१४. इच्छाके त्याग और कर्तव्य-पालनसे लाभ

श्रोता—आपको आध्यात्मिक लाभ कैसे हुआ?

स्वामीजी—मुझे तो सत्संगसे लाभ हुआ है। मैं साधनको इतना महत्त्व नहीं देता, जितना सत्संगको देता हूँ। दूसरोंके लिये भी मैं समझता हूँ कि अगर वे मन लगाकर, गहरे उतरकर सत्संगकी बातें समझें तो उनको लाभ बहुत हो सकता है। एक विशेष बात कह देता हूँ कि अगर आप सत्संगको महत्त्व दें और उसको गहरे उतरकर समझें तो मेरेको जितने वर्ष लगे, उतने वर्ष आपको नहीं लगेंगे! बहुत जल्दी आपकी उन्नति होगी—ऐसा मेरेको स्पष्ट दीखता है, मेरेको सन्देह नहीं है इस बातपर। इस विषयमें मैं आपको अयोग्य, अनधिकारी नहीं मानता हूँ। आपमें जो कमी है, उस कमीको दूर करनेकी सामर्थ्य आपमें पूरी है। मेरी धारणासे आपमें केवल इस विषयकी उत्कण्ठाकी कमी है। वह उत्कण्ठा जाग्रत् हो जाय तो आप पापी-से-पापी हों, मूर्ख-से-मूर्ख हों और आपके पास थोड़ा-से-थोड़ा समय हो तो भी आपका उद्धार हो सकता है। उत्कण्ठा जाग्रत् होगी संसारकी लगनका त्याग करनेसे।

कबीर मनुआँ एक है, भावे जहाँ लगाय।
भावे हरि की भगति कर, भावे विषय कमाय॥

सांसारिक संग्रह और भोगोंमें जो लगन लगी है, उसको मिटा दो तो परमात्मप्राप्तिकी सच्ची लगन लग जायगी। इतना रुपया हो गया; इतना और हो जाय; इतना सुख भोग लें, ऐश-आराम कर लें; मान मिल जाय, बड़ाई मिल जाय, नीरोगता मिल जाय, समाजमें मेरा ऊँचा स्थान हो जाय, हम ऐसे बन जायँ—ये जितनी इच्छाएँ हैं, इनका त्याग कर दो तो आपको सच्ची लगन लग जायगी। जितनी लगन लगनी चाहिये, उतनी नहीं लग रही है तो इसका कारण यह है कि जितना त्याग होना चाहिये, उतना नहीं हो रहा है। त्याग क्या है ? गीताने इच्छाके त्यागको ही 'त्याग' कहा है। इच्छा क्या है ? ऐसा तो होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह इच्छा है।

श्रोता—इच्छा किये बिना शरीरका, कुटुम्बका पालन-पोषण कैसे होगा ?

स्वामीजी—पालन-पोषण इच्छासे नहीं होता है। इस बातको समझनेकी कृपा करो। कृपानाथ ! पैसोंका पैदा होना, पदार्थोंका प्राप्त होना इच्छापर बिलकुल निर्भर नहीं है। पदार्थोंकी प्राप्ति होती है पूर्वके कर्मोंसे और अभीके कर्मों-(उद्योगों-)से। कारण कि कर्मोंका और पदार्थोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इच्छाका और पदार्थोंका बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं है। आपमेंसे कोई भी कह सकता है कि मैंने धनकी इच्छा नहीं की, इसलिये मैं निर्धन रहा। अगर इच्छा कर लेता तो धनवान् हो जाता। वास्तवमें यह बात है ही नहीं। इस बातको आप समझनेकी कृपा करो। इच्छाके साथ पदार्थोंका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। पदार्थोंका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है; क्योंकि क्रिया और पदार्थ—ये दोनों ही प्राकृत चीजें हैं, दोनों एक ही तत्त्व हैं। अतः पदार्थोंका सम्बन्ध पूर्वके अथवा वर्तमानके कर्मोंके साथ है। पूर्वके कर्मोंको प्रारब्ध कहते हैं और वर्तमानके कर्मोंको पुरुषार्थ कहते हैं।

इच्छाके साथ पदार्थोंका सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। अगर मैं इच्छा करूँ कि मेरा पालन-पोषण हो जाय, तो क्या इस प्रकार इच्छा

करनेसे मेरा पालन-पोषण हो जायगा। आपलोगोंसे कहें कि घण्टाभर आप सब मिल करके यह इच्छा करो कि इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जाय और इसको एक कौड़ी भी मत दो, तो क्या इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जायगा ? कदापि नहीं। इच्छाके साथ केवल परमात्माका सम्बन्ध है। अगर परमात्माकी प्राप्तिकी तीव्र इच्छा, उत्कट अभिलाषा हो जाय तो उसकी प्राप्ति हो जायगी ! इसका कारण क्या है ? पदार्थोंका हमारेसे अलगाव है। पदार्थ हमारेसे दूर हैं; देशसे दूर हैं, कालसे दूर हैं, व्यक्तिसे दूर हैं; इसलिये उनकी प्राप्ति कर्मोंसे होगी। परन्तु परमात्मा देशसे दूर नहीं हैं, कालसे दूर नहीं हैं, वस्तुसे दूर नहीं हैं, व्यक्तिसे दूर नहीं हैं। जहाँ हम 'मैं' कहते है, वहाँ भी परमात्मा परिपूर्ण हैं; इसलिये उनकी प्राप्ति इच्छामात्रसे हो जायगी। परमात्माकी तरह रुपये सब जगह मौजूद नहीं हैं। उनको तो पैदा करना पड़ता है। परंतु परमात्माको पैदा नहीं करना पड़ता, उनको कहींसे लाना नहीं पड़ता।

आप कह सकते हो कि बड़ा परिवार है, रोटी-कपड़ेकी भी तंगी है, काम चलता नहीं फिर इच्छा किये बिना कैसे रहें ? तो इच्छा करनेसे वस्तुएँ थोड़े ही मिलेंगी। वस्तुएँ तो काम करनेसे मिलेंगी। इसलिये वस्तुओंकी इच्छा न करके काम करनेकी इच्छा करो। निकम्मे, निरर्थक मत रहो। न्याययुक्त काम करो। झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी मत करो। अन्तःकरणमें रुपयोंको महत्त्व मत दो। यह जो लोभ है, संग्रह करनेकी इच्छा है, इसका त्याग कर दो, तो आपका नया प्रारब्ध बन जायगा अर्थात् जो आपके भाग्यमें लिखा नहीं है, वह आपके पास आ जायगा ! परन्तु आपके लोभका त्याग हो जाना चाहिये और इतना दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि चाहे मर जायँ पर पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे, झूठ-कपट-जालसाजी नहीं करेंगे। अगर मर भी जायँ तो क्या फर्क पड़ेगा ? मरना तो एक बार है ही; फिर पापकी पोटली साथमें लेकर क्यों मरो ?

पापकी पोटली साथमें लिये बिना मर जाओ तो हर्ज क्या है? अगर पाप किये बिना पैसा न मिलता हो तो भूखे भले ही मर जाओगे, पर नरकोंमें नहीं जाओगे। अगर पाप करके जीओगे तो नरकोंमें जाओगे ही। नरकोंसे बच नहीं सकोगे, ब्रह्माजी भी बचा नहीं सकेंगे। अतः इच्छा कर्तव्यकी करो, निकम्मे मत रहो। इस विषयमें मैं चार बातें कहा करता हूँ—

(१) अपना सब समय अच्छे-से-अच्छे, ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाओ। निकम्मे मत रहो, निरर्थक समय बरबाद मत करो। ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, बीड़ी-सिगरेट पीना, सिनेमा-नाटक देखना—ये सब फालतू काम हैं, तमोगुणी काम हैं, जिनसे अधोगतिमें (नीच योनियोंमें और नरकोंमें) जाना पड़ेगा— '**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८) ऐसे व्यर्थ कामोंमें समय मत लगाओ। जिससे शरीरका निर्वाह हो, स्वास्थ्य ठीक रहे, दुनियाका हित हो, परमात्माकी प्राप्ति हो, ऐसे काममें लगे रहो।

(२) जिस किसी कामको करो, उसको सुचारुरूपसे करो, जिससे आपके मनमें सन्तोष हो और दूसरे भी कहें कि बहुत अच्छा काम करता है। लिखना हो, पढ़ना हो, मुनीमी करना हो, बिक्री करना हो, खरीदारी करना हो आदि-आदि संसारका जो कुछ काम करना हो, उसको बड़े सुचारुरूपसे, साङ्गोपाङ्गरूपसे करो। माता-बहनें रसोई बनायें तो अच्छी तरहसे बनायें। सामग्री भले ही कैसी हो, पर चीज बढ़िया बनायें। भोजन ठीक तरहसे परोसें। सबको कैसे संतोष हो, सबको किस तरहसे सुख पहुँचे—ऐसा भाव रखकर सब काम करें।

(३) इस बातका ध्यान रखो कि आपके पास दूसरेका हक न आ जाय। आपका हक दूसरेके पास भले ही चला जाय, पर दूसरेका हक आपके पास बिलकुल न आये।

(४) अपने व्यक्तिगत जीवनके लिये कम-से-कम खर्चा करो। शरीर-निर्वाहके लिये, खाने-पीनेके लिये, ओढ़ने-पहननेके लिये कम

खर्चा करो, साधारणरीतिसे काम चलाओ। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी मत करो। अगर ऐसे काम करोगे तो आपको घाटा नहीं रहेगा, करके देख लो।

आजकल लोग कहते हैं कि क्या करें, निठल्ले बैठे हैं, काम नहीं है। यह बिलकुल फालतू बात है। निठल्ले क्यों बैठे हो ? नाम-जप करो, कीर्तन करो, गीता-रामायण आदिका पाठ करो। घरका काम करो—घरमें झाड़ू लगाओ, बरतन धोओ, जूते साफ करो, नालियाँ साफ करो, शौचालय साफ करो। इस तरह कुछ-न-कुछ करते रहो। करना चाहो तो बहुत काम निकल सकता है। काम करनेसे अन्तःकरण निर्मल होगा। ताश-चौपड़ खेलने आदि फालतू कामोंके लिये समय ही नहीं मिलना चाहिये। छुट्टीका दिन हो तो यों ही निकम्मे फिरेंगे, फालतू घूमने चले जायँगे, सिनेमा देखेंगे, खेल करेंगे, पानी उछालेंगे, धक्का देंगे—इस तरह फालतू समय बरबाद करेंगे। यह मानव-शरीरका समय ऐसे बरबाद करनेके लिये नहीं है। तेलीके घरमें तेल होता है तो वह लोटा भरके पैर धोनेके लिये थोड़े ही है !

भगवान्‌ने सबसे श्रेष्ठ मानव-शरीर दिया है। ऐसे मानव-शरीरका समय श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कामोंमें लगानेके लिये है। उस समयको बरबाद करना बड़ा भारी नुकसान है। रुपया फिर पैदा किया जा सकता है। जवान बेटा मर जाय तो जो छोटे बालक हैं, वे जवान हो सकते हैं। गृहस्थोंके नये पैदा हो सकते हैं। परन्तु उम्र (समय) किसी भी रीतिसे पैदा नहीं होती, वह तो नष्ट-ही-नष्ट होती है। पैसोंका तो आप बहुत ख्याल रखते हो, एक-एक पैसा सोच-सोचकर समझ-समझकर खर्च करते हो; और हवाई जहाजको देखनेमें चार-पाँच मिनट खर्च कर देते हो ! क्या फायदा निकला ? बताओ ? स्वास्थ्य सुधरा कि समाज सुधरा ? रुपये मिले कि भगवान् मिले ? क्या मिला ? आपको समयरूपी जो असली धन मिला हुआ है, उसको बरबाद क्यों करते हो ? अगर आप सावधान रहो, समयको बरबाद

न करके उसे अच्छे-से-अच्छे, उत्तम-से-उत्तम काममें लगाओ तो लोकमें और परलोकमें—दोनों जगह आपकी उन्नति होगी, इसमें सन्देह नहीं है। आप किसी भी क्षेत्रमें जाओ, आपकी उन्नति होगी। नास्तिक-से-नास्तिक मनुष्य भी अगर सोच-समझकर समयका सदुपयोग करे, तो उसकी धारणाके अनुसार, क्रियाके अनुसार उसकी जरूर उन्नति होगी, उसको जरूर सफलता मिलेगी, फिर समयका सदुपयोग करनेसे आस्तिक मनुष्यको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है?

दूसरेका हक मत आने दो। स्त्रीका जो हक है, वह स्त्रीको दे दो। उसका जितना अधिकार है, उसे छीनो मत। उसके प्रति अपना जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो। बेटेका जितना हक है, वह उसको दे दो। बेटेके प्रति बापका जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो। माता-पिताने आपको पैदा किया है, आपका पालन-पोषण किया है, आपको शिक्षित बनाया है; अतः उनके प्रति अपने कर्तव्यका पूरा पालन करो। आपपर उनका जो अधिकार है, उसकी रक्षा करो। उनका हक उनको दे दो। कपूत मत कहलाओ। ऐसे ही पड़ोसी है, व्यापारी है, जिनसे व्यवहार, व्यापार आदि करते हैं, उनका हक मत आने दो। उनके साथ स्नेहका, ईमानदारीका व्यवहार करो। इस तरह हर जगह सावधान रहो। इतना करनेपर भी पूरा ऋण अदा नहीं होगा; परन्तु नया ऋण नहीं चढ़ेगा।

सावधानी रखनेपर ही आपको पता लगेगा कि हम कहाँ-कहाँ दूसरेका हक मार रहे हैं। अभी तो दूसरेके हकका पता ही नहीं लगता। अभी आपसे पूछा जाय तो आप कहेंगे कि हम तो किसीका हक लेते ही नहीं। हम तो ठीक करते हैं। हम पाप करते ही नहीं। मेरेको ऐसे व्यक्ति भी मिले हैं, जो कहते हैं कि 'भजन करनेकी क्या जरूरत है, हम पाप तो करते ही नहीं। भगवान्‌का भजन वह करे, जो पाप करता है।' उनको होश ही नहीं है, पता ही नहीं है कि पाप क्या

होता है, अन्याय क्या होता है। इसलिये हर समय सावधानी रखें कि अभी जो बातें सुनी हैं, इनका अब हम उम्रभर पालन करेंगे। अब कभी गफलत, भूल नहीं करेंगे।

अभी मैंने आपको बताया कि पैसोंका, पदार्थोंका सम्बन्ध इच्छा अथवा चिन्तनके साथ नहीं है, उनका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है—इस बातको समझनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। आप कहें कि ऐसे काम कैसे चलेगा ? हम गृहस्थी हैं, कई काम-धन्धे हैं, इसलिये चिन्तन करना ही पड़ता है, तो 'काम कैसे करें, सेवा कैसे करें'—इस तरहका चिन्तन (विचार) करना दोष नहीं है। मुझे रुपये मिल जायँ, वस्तुएँ मिल जायँ—इस तरहका चिन्तन करना दोष है।

श्रोता—चिन्ता भी हो जाती है महाराजजी !

स्वामीजी—चिन्ता हो जाती है तो चिन्ता छोड़ो और काम करो। चिन्ता करनेसे बुद्धि नष्ट होगी—'**बुद्धिः शोकेन नश्यति**'। शान्तिपूर्वक विचार करो तो बुद्धि विकसित होगी। चिन्ता करना और चीज है, विचार करना और चीज है। 'काम किस रीतिसे करें, किस रीतिसे कुटुम्बका पालन करें, किस तरहसे व्यापार करें; किस तरहसे सबके साथ व्यवहार करें'—ऐसा शान्त-चित्तसे विचार करो। विचार करनेसे बुद्धि विकसित होगी। परन्तु चिन्ता करोगे कि 'हाय, क्या करें ! इतने कुटुम्बका पालन कैसे करें। पैदा है नहीं, क्या करें !' तो बुद्धि और नष्ट हो जायगी, काम करनेमें भी बाधा लगेगी, फायदा कोई नहीं होगा। इसलिये चिन्ता न करके विचार करो, उद्योग करो, पुरुषार्थ करो, निकम्मे मत रहो। सत्संग करो, पुस्तकें पढ़ो और स्वयं विचार करो अथवा आपसमें विचार-विनिमय करो।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

१५. सेवाकी महत्ता

एक परमात्मतत्त्व ही ऐसा है, जिसको जो चाहे, उसको वह मिल जाय। धन, सम्पत्ति, वैभव, मान, आदर, नीरोगता आदिको जो चाहे, उसको ये मिल जायँ—यह नियम नहीं है। ये धन, सम्पत्ति आदि सबको नहीं मिल सकते, मिलेंगे तो थोड़े-बहुत मिलेंगे, एक समान नहीं मिलेंगे। परन्तु परमात्मतत्त्व सबको मिलेगा, एक समान मिलेगा और जो चाहे, उसको मिलेगा; क्योंकि उसका सबके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव परमात्माका साक्षात् अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७) इसलिये उसका परमात्मापर पूरा हक लगता है। जैसे, माँपर सब बालकोंका हक लगता है, सब बालक अपनी माँकी गोदीमें जा सकते हैं। ऐसे ही परमात्मा सबके माता-पिता हैं—'**त्वमेव माता च पिता त्वमेव।**' वे सदासे ही सबके माता-पिता हैं और सदा ही रहेंगे, इसलिये उनकी प्राप्तिमें कोई भी मनुष्य अयोग्य नहीं है, अनधिकारी नहीं है, निर्बल नहीं है। अतः किसीको भी परमात्मतत्त्वसे हताश होनेकी किंचिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं है। कितनी विलक्षण बात है!

मैंने जो पुस्तकोंमें पढ़ा है, सुना है, विचार किया है, उससे मेरे भीतर यह बात दृढ़तासे बैठी हुई है कि किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति, घटना, क्रिया आदिकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनके सदुपयोगकी महिमा है। हमारी कैसी ही बुद्धि हो, कैसी ही परिस्थिति

हो, कैसी ही अवस्था हो, कैसा ही संयोग हो, उसीका ठीक तरहसे सदुपयोग किया जाय तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। कारण कि मनुष्यजन्म मिला ही इसके लिये है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस ७। ४४। ३)

बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभुने कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है; तो क्या भगवान्‌की कृपा निष्फल होगी? भगवान्‌की कृपा कभी निष्फल नहीं होती। हाँ, इतनी बात है कि भगवान्‌ने मनुष्यको स्वतन्त्रता दी है। इस स्वतन्त्रताका वह चाहे जो उपयोग कर सकता है, चाहे इसका सदुपयोग करके परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ले, अपना कल्याण कर ले और चाहे इसका दुरुपयोग करके चौरासी लाख योनियोंमें अथवा नरकोंमें चला जाय। वास्तवमें यह स्वतन्त्रता भगवान्‌ने मनुष्यको अपना कल्याण करनेके लिये दी है। अतः मनुष्य क्या करे? उसके भीतर इस बातकी लगन लग जाय कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो? रामायणमें आया है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस ३। १०। ४)

भगवान्‌का एक स्वभाव है, एक बान है कि जिसका एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई सहारा नहीं है, वह भगवान्‌को बहुत प्यारा लगता है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको पूरी गीता सुनाकर कहा—'**मामेकं शरणं व्रज**' (१८। ६६), तेरेसे और कुछ न हो तो एक मेरी शरणमें आ जा।'**माम् एकम्**'का अर्थ यह नहीं है कि भगवान् पाँच-सात हैं और उनमेंसे एककी शरण आ जा, प्रत्युत यहाँ इसका अर्थ है—अनन्य शरण। अर्जुनने कहा था कि मैं धर्मका निर्णय नहीं कर सकता—'**धर्मसम्मूढचेताः**' (२। ७), तो भगवान् कहते हैं कि तेरेको धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत नहीं है, तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं**

शरणं व्रज' (१८ । ६६)। अतः 'हे नाथ! मैं आपका हूँ और आप मेरे हो।' संसारकी कोई वस्तु, कोई प्राणी मेरा नहीं है और मैं किसीका नहीं हूँ—इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जायँ।

यहाँ एक बात समझनेकी है कि संसारके लोग (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) आपसे न्याययुक्त आशा रखते हैं और आप उसको पूरी कर सकते हो, तो उनकी वह आशा आप पूरी कर दो अर्थात् उनकी सेवा कर दो। केवल सेवा करनेके लिये ही मात्र संसारके साथ सम्बन्ध रखो। संसारसे लेनेके लिये सम्बन्ध मत रखो; क्योंकि संसारकी कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है और आप स्थायी हैं। अतः संसारकी कोई भी वस्तु आपके साथ रहनेवाली नहीं है। इसलिये जितने आपके सम्बन्धी या कुटुम्बी कहलाते हैं, वे चाहे शरीरके नाते हों, चाहे देशके नाते हों, चाहे और किसी नाते हों, उनकी सेवा कर दो। कारण कि आपके पास जो वस्तुएँ हैं, वे उनकी हैं, उनके हककी हैं। उनका हक उनको दे दो। उनसे लेनेकी इच्छा रखोगे तो आपपर उनका ऋण हो जायगा। ऋण होनेसे मुक्ति नहीं होगी, कल्याण नहीं होगा। उनकी सेवा करनेसे कल्याण होगा। अतः संसारके साथ सम्बन्ध केवल उसकी सेवाके लिये ही रखना है, अपने लिये नहीं। सेवाके लिये सम्बन्ध रखोगे तो सब राजी हो जायँगे। कुटुम्बी नाराज तभी होते हैं, जब उनसे हम कुछ लेना चाहते हैं। अगर उनपर अपना हक न मानकर केवल उनकी सेवा ही करना चाहेंगे, तो कोई नाराज नहीं होगा। अतः संसारमें रहनेका बढ़िया तरीका भी यही है और मुक्त होनेका तरीका भी यही है। दोनों हाथोंमें लड्डू हैं—'**दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें**' अर्थात् संसार भी राजी हो जाय और परमात्मा भी प्रसन्न हो जायँ, जिससे आपका कल्याण हो जाय!

आपका उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति करना है तो बस, परमात्माके शरण हो जाओ। संसारका आश्रय छोड़ दो। अपनी शक्तिके अनुसार संसारकी सेवा कर दो। सेवा करनेसे संसार राजी हो

जायगा और प्रभुके चरणोंकी शरण होनेसे प्रभु प्रसन्न हो जायँगे तथा हमारा कल्याण स्वतः ही हो जायगा। अपने कल्याणके लिये नया उद्योग नहीं करना पड़ेगा। कितनी सरल और सीधी बात है।

लेनेकी इच्छासे मनुष्यका संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और देनेकी इच्छासे सम्बन्ध टूटता है—यह बड़ी मार्मिक बात है। लेनेकी इच्छासे जोड़ा गया सम्बन्ध बाँधनेवाला होता है और देनेकी इच्छासे जोड़ा गया सम्बन्ध मुक्त करनेवाला होता है। इसलिये सेवा करनेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ो, सेवा लेनेके लिये नहीं। जैसे सेवा-समितिवाले मेला-महोत्सवमें सबका प्रबन्ध करते हैं, सबकी सेवा करते हैं। कोई बीमार हो जाय तो उसे कैम्पमें ले जाते हैं और उसका इलाज करते हैं, मर जाय तो दाह-संस्कार कर देते हैं, पर रोता कोई नहीं। जहाँ 'सेवा करनेमात्रका सम्बन्ध है, वहाँ रोना नहीं होता। जहाँ कुछ-न-कुछ लेनेकी आशासे सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वहीं रोना होता है।' लेनेकी इच्छा ही गुणोंका संग है, जिससे जन्म-मरण होता है—

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (गीता १३। २१)

सेवा करनेका भाव असंगता लानेवाला है। अपने धर्मका, कर्तव्यका पालन करोगे, दूसरोंकी सेवा करोगे तो वैराग्य पैदा होगा—'**धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना**' (मानस ३। १६। १)। जैसे स्वायम्भुव मनुने अपना कोई स्वार्थ न रखकर धर्मसहित प्रजाका पालन किया, उसका हित किया तो उनको वैराग्य हो गया—

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥

(मानस १। १४२)

वैराग्य होनेपर वे स्त्रीसहित वनको चले गये। उन्होंने प्रजाके हितके लिये राज्य किया, इसीलिये उन्हें वैराग्य हुआ। अगर वे अपने लिये राज्य करते तो उन्हें वैराग्य नहीं होता। जहाँ लेनेकी इच्छा होती है, वहाँ राग पैदा होता है। राग अज्ञानका चिह्न है, अज्ञानकी खास

पहचान है—'**रागो लिंगमबोधस्य**'। जो रागी होता है, वह अज्ञानी होता है।

सेवा करनेसे सम्बन्ध उसका जुड़ता है, जो कुछ लेना चाहता है और लेना वही चाहता है, जो शरीर और पदार्थोंके साथ 'मैं' और 'मेरा'का सम्बन्ध रखता है। जिसको सेवक कहलानेकी भी इच्छा नहीं है, प्रत्युत केवल दूसरोंको सुख पहुँचे, आराम पहुँचे, उनका भला हो, उनका कल्याण हो—इसके लिये ही तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे सबको सुख-ही-सुख पहुँचाता है, मनमें सबका हित-ही-हित करनेका भाव रखता है, वह मुक्त हो जाता है। जैसे, पानीमें रहकर पानीको अपनी ओर लोगे तो डूब जाओगे; और हाथोंसे लातोंसे मारते रहोगे तो तर जाओगे। इसी तरह इस संसार-समुद्रमें जो लेना चाहता है, वह डूब जाता है जो देना-ही-देना चाहता है, वह कभी नहीं डूबता।

भगवान् और उनके भक्त (सन्त-महात्मा) बिना कारण सबकी सेवा करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस ७। ४७। ३)

इसलिये वे बँधते नहीं। वे बँधे क्यों; उनके तो दर्शनसे ही मुक्ति हो जाती है! कारण कि उनमें स्वार्थ है ही नहीं, किसीसे कुछ लेना है ही नहीं, प्रत्युपकारकी इच्छा है ही नहीं। इसलिये सेवा करनेसे बन्धन नहीं होता।

श्रोता—भरत मुनिने दया करके हरिणके बच्चेका पालन किया, पर अगले जन्ममें वे हरिण बन गये, ऐसा क्यों?

स्वामीजी—पहले भरत मुनिका उद्देश्य तो सेवा करनेका ही था, पर बादमें उनका हरिणके बच्चेपर मोह हो गया। हरिणके बच्चेपर उनका इतना अधिक मोह हो गया कि कभी वह दिखायी नहीं देता तो वे उसके वियोगमें ऐसे व्याकुल हो जाते, जैसे कोई पुत्रके वियोगसे

व्याकुल होता है। वह ऐसे खेलता था, ऐसे गोदीमें आता था, ऐसे बोलता था, ऐसे शरीर खुजलाता था, ऐसे फुदकता था—इस तरह वे उसका चिन्तन करने लगते थे। इसी मोहके कारण उनको अगले जन्ममें हरिण बनना पड़ा, दयाके कारण नहीं। उनको मोह दयासे नहीं हुआ, प्रत्युत भूलसे हुआ। वास्तवमें मोह तो पहलेसे ही था, वही मोह दयाका रूप धारण करके आ गया। मोहके कारण ही बन्धन होता है। दया-परवश होकर सेवा करनेसे बन्धन नहीं होता।

अस्सी-नब्बे, सौ वर्षका कोई आदमी मर जाय तो उसके लिये दुःख नहीं होता; परंतु पचीस वर्षका कोई जवान आदमी मर जाय तो दुःख होता है। जरा सोचो कारण क्या है। बड़े-बूढ़े तो विशेष बुद्धिमान् और अनुभवी होते हैं, उनका अध्ययन बहुत होता है, इसलिये उनसे ज्यादा लाभ लिया जा सकता है; फिर भी उनके मरनेका दुःख इसलिये नहीं होता कि अब उनसे कुछ लेनेकी इच्छा नहीं रही। भीतर यह भाव रहता है कि अब उनसे मिलेगा कुछ नहीं, इसलिये वह मर जाय तो कोई हर्ज नहीं। मैंने खुद लोगोंके मुखसे यह सुना है कि बूढ़ेका मरना तो ब्याहकी तरह है। ऐसे ही कोई बीस वर्षका आदमी है और पाँच वर्षतक वह बीमार-ही-बीमार रहा; सब वैद्योंने, डाक्टरोंने जवाब दे दिया कि अब यह जीनेवाला नहीं है और पचीस वर्षकी उम्रमें वह मर गया, तो उसके मरनेका भी दुःख नहीं होता। कारण कि दुःख तभी होता है, जब उससे कुछ-न-कुछ मतलब रहता है, सेवाकी आशा रहती है। यह आशा ही बाँधनेवाली है। जो आशा नहीं रखता, वह बँधता नहीं, उसको कोई बाँध सकता ही नहीं।

कोई सम्बन्धी मर जाय तो उसके पीछे श्राद्ध करते हैं, दान, पुण्य करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो उससे लिये था, वह कर्जा उतर जाय। उससे जितना सुख लिया है, उतनी ही उसकी याद आती है, उतना ही हमें उसके वियोगका दुःख होता है। छोटे बच्चेको गोदीमें खिला करके जो सुख लिया है, उसका भी नतीजा दुःख ही होगा।

सांसारिक सुखका नतीजा दुःख ही है। सांसारिक सुख दुःखोंकी जड़ है। उस सुखको लोगे तो बन्धन होगा ही। अगर वह सुख नहीं लोगे, प्रत्युत सुख दोगे तो किसीकी ताकत नहीं कि आपको बाँध दे। जहाँ कुछ-न-कुछ स्वार्थ है, मनमें सुख, आराम, मान, बड़ाई आदि लेनेकी इच्छा है, वहींपर बन्धन है। मेरेको व्याख्यान देते हुए वर्ष बीत गये, पर बन्धनकी जड़ कहाँ है—इसका पता जल्दी नहीं लगा। पीछे इसका पता लगा कि मनमें कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छा ही बन्धनकी जड़ है। ऐसी दुर्लभ बात है यह ! अगर संसारकी किसी चीजको देखकर राजी होते हैं तो यह भी सुखका भोग है, जो बाँधनेवाला है। अनुकूलताकी इच्छा करेंगे तो दुःख आयेगा ही। इसलिये हरदम सावधान रहो कि किसीसे सुख नहीं लेना है, आराम नहीं लेना है, मान नहीं लेना है, बड़ाई नहीं लेनी है। हमें किसीसे कुछ लेना है ही नहीं। जहाँ लेना हुआ कि फँसे ! केवल देना-ही-देना है। सेवा-ही-सेवा करनी है। सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जायगा और लेनेकी इच्छा न रखनेसे नया ऋण नहीं चढ़ेगा, तो हम मुक्त हो जायँगे।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

१६. विकारोंसे कैसे छूटें ?

साधन करनेवालोंके मनमें एक बात गहरी बैठी हुई है कि हम सत्संगकी बातें सुनते तो हैं, पर वे काममें नहीं आतीं। इसपर आप खूब विचार करें। जिसको आप काममें आना मानते हैं, वह वास्तवमें आपकी भूल है। भूल यह है कि आप उस ज्ञानको असत्‌में लाना चाहते हैं, जब कि वास्तवमें आपको असत्‌से ऊँचा उठना है। सुननेमें तो आप असत्‌से ऊँचा उठते हैं, पर परीक्षा करते हैं असत्‌के साथ मिलकर। असत्- (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-) में तो विकार होते ही रहते हैं और आप उन विकारोंको अपने सत्-स्वरूपमें मानते रहते हैं और कहते हैं कि बातें आचरणमें नहीं आतीं।

आप साक्षात् परमात्माके अंश हैं। आपमें कोई विकार नहीं है। परंतु आपने भूलसे असत्‌के साथ 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध मान लिया अर्थात् नाशवान् शरीरको तो 'मैं' मान लिया और नाशवान् पदार्थोंको 'मेरा' मान लिया। इस प्रकार असत्‌को 'मैं' और 'मेरा' माननेसे आपका असत्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया। असत् कभी निर्विकार रह ही नहीं सकता। असत्‌के साथ सम्बन्ध जुड़नेसे आप असत्‌में होनेवाले विकारोंको अपनेमें मानते रहते हैं और कहते हैं कि सत्संगकी बातें काममें नहीं आतीं।

विकार तो आते हैं और चले जाते हैं, पर आप वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। अतः आप अपने स्वरूपमें ही स्थित रहें, माने हुए

मैं-मेरेपनमें स्थित न रहें। अपने स्वरूपमें स्थित रहनेसे आप सुख-दुःखमें सम अर्थात् निर्विकार हो जायँगे—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। इस प्रकार सत्संगमें सुनी बात आपके काममें आ जायेगी।

जो स्वरूपमें स्थित न होकर प्रकृतिमें स्थित होता है, वही प्रकृतिजन्य गुणोंका, सुख-दुःखोंका भोक्ता बनता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। (गीता १३। २१)

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ (गीता १३। २०)

'मैं' और 'मेरा'—यही प्रकृति है, माया है—**'मैं अरु मोर तोर तैं माया'** (मानस ३। १५। १)। इस मायाको पकड़कर कहते हैं कि बात काममें नहीं आती! मायाको पकड़नेसे तो विकार पैदा होंगे। इसलिये आप सावधान रहें। विकारोंको अपनेमें मत मानें।

जो कुछ दीखता है, वह सब प्रकृतिका है। अतः अपना कुछ नहीं है। अपने तो केवल प्रभु हैं, जो सदा हमारे साथ हैं। हमारा स्वरूप सत् है। सत्का कभी अभाव नहीं होता, उसमें कभी कोई कमी नहीं आती और कमी आये बिना हमारेमें कोई चाहना नहीं होती। अतः अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। अपने लिये कुछ करना भी नहीं है। आपकी स्वाभाविक स्थिति सत्में है और असत्में स्वाभाविक क्रिया हो रही है। उन क्रियाओंके साथ हम मिल जाते हैं और उन क्रियाओंको अपनेमें मिला लेते हैं—यह गलती होती है। इसलिये हमारा यह विवेक साफ-साफ रहे कि हमारा कुछ नहीं है, हमारेको कुछ नहीं चाहिये और हमारेको कुछ नहीं करना है। पुराने अभ्याससे अगर असत्के साथ अपना सम्बन्ध दीख भी जाय तो थोड़ा ठहरकर विचार करें कि यह तो जाननेमें आनेवाला है और मैं इसको जाननेवाला हूँ। 'जाननेमें आनेवाले' से 'जाननेवाला' सर्वथा अलग होता है। हम खम्भेको देखते हैं तो खम्भा हमारेमें थोड़े ही आ जायगा! खम्भा तो जाननेमें आनेवाली चीज है। जाननेमें आनेवाली चीज जाननेवालेमें नहीं होती।

जिसको यह कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हो सकता—यह नियम है। 'यह' तो 'यह' ही रहेगा। भगवान्‌ने शरीरको 'यह' कहा है—'**इदं शरीरम्**' (गीता १३ । १)। अतः यह शरीर 'मैं' कैसे हो सकता है? शरीर 'मेरा' भी नहीं हो सकता; क्योंकि हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं। '**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५ । ७) और शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके अंश हैं—'**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५ । ७)। अतः शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना भूल है। जितने भी विकार आते हैं, वे सब मनमें, बुद्धिमें, इन्द्रियोंमें ही आते हैं। स्वयंमें विकार कभी आता ही नहीं। विकार आता है और चला जाता है—इसको आप जानते हो। आने-जानेवाला विकार आपमें कैसे आ सकता है? इस बातको पक्का कर लो कि मैं रहनेवाला हूँ और ये विकार आने-जानेवाले हैं। विकारोंको आने-जानेवाले और अनित्य समझकर उनको सह लो अर्थात् निर्विकार रहो—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व**' (गीता २ । १४)।

यह नियम है कि संसारके साथ मिलनेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और परमात्मासे अलग रहनेपर परमात्माका ज्ञान नहीं होता। संसारसे अलग होनेपर ही संसारका ज्ञान होगा और परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही परमात्माका ज्ञान होगा। इसलिये यदि असत्‌के साथ मिल जाओगे तो न सत्‌का ज्ञान होगा और न असत्‌का ज्ञान होगा। कारण यह है कि वास्तवमें संसारसे हमारी भिन्नता है और परमात्मासे हमारी अभिन्नता है।

श्रोता—अन्तःकरण शुद्ध होनेसे तो ज्ञान हो जायगा?

स्वामीजी—तो अन्तःकरण शुद्ध कर लो, मना कौन करता है? परन्तु भाई, शुद्ध करनेसे अन्तःकरण इतना जल्दी शुद्ध नहीं होगा, जितना जल्दी सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे शुद्ध होगा। कारण कि असत् (अन्तःकरण) की सत्ता मान करके आप उसको शुद्ध करना चाहोगे तो उसमें बहुत देरी लगेगी और वह होगा भी नहीं। यदि असत्‌की

सत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लो तो बहुत जल्दी काम बनेगा।

भगवान्‌ने कहा है—'**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**' (गीता १३। १) अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों ही शरीर 'इदम्' होनेसे अपनेसे अलग हैं और 'क्षेत्र' नामसे कहे जाते हैं। जो इनको जानता है, वह 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहा जाता है—'**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः**' (गीता १३। १)। उस क्षेत्रज्ञकी दृष्टि क्षेत्रकी तरफ न होकर भगवान्‌की तरफ हो जाय—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' (१३। ३)। भगवान्‌की तरफ दृष्टि होनेसे जितनी शुद्धि होगी, उतनी अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी चेष्टासे शुद्धि नहीं होगी। आप परमात्माके साथ जितने अभिन्न रहोगे, उतनी ही आपमें स्वाभाविक शुद्धि आयेगी। मनमें, इन्द्रियोंमें, शरीरमें, व्यवहारमें, सबमें स्वतः ही शुद्धि आयेगी। कारण कि आपने सत्‌के साथ अभिन्नता कर ली, मूल चीज पकड़ ली। अब इसमें कठिनता क्या है? बहुत सीधी-सरल बात है।

आप आने-जानेवाले असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न जोड़कर अपने सत् स्वरूपमें स्थित रहो। जब आप असत् पदार्थोंसे सुख लेने लग जाते हो, तब असत्‌का संग हो जाता है। असत्‌का संग करनेके बाद आप अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये जोर लगाते हैं और समझते हैं कि हम ठीक कर रहे हैं—यही उलझन है, यही असमर्थता है। जोर लगानेपर भी जब काम नहीं बनता, तब हताश हो जाते हैं कि भाई, हमारेसे तो यह काम नहीं बनता। क्यों नहीं बनता कि आपने असत्‌को पकड़ लिया। असत्‌को न पकड़ें तो अपना स्वरूप बना-बनाया, ज्यों-का-त्यों ही है।

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिमें स्थित हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५। ७)। इनमें आप उस सत्‌को लाना चाहते हैं और जब वह आता नहीं, तब कहते हैं कि सत्संगकी

****

बात हमारे व्यवहारमें नहीं आती, हमारे आचरणमें नहीं आती ! असत् (अन्तःकरण) को अपना मानकर उसे शुद्ध करना चाहोगे तो कैसे शुद्ध होगा ? उसको अपना मानना ही अशुद्धि है। ममता ही मल है—**'ममता मल जरि जाइ'** (मानस ७। ११७क)। मलको लगाकर शुद्ध करना चाहते हो तो कैसे शुद्ध होगा ?

ये बातें सुनकर आपमें हिम्मत आनी चाहिये कि अब हम यह भूल नहीं करेंगे; क्योंकि अब हमने इसको ठीक समझ लिया। असत्को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया—मूलमें यहाँसे भूल हुई। यही मूल भूल है। इस भूलको मिटाकर अपने निर्विकार स्वरूपमें स्थित हो जाओ। जबतक भूल न मिटे, तबतक चैन नहीं आना चाहिये। छोटा बालक हर समय अपनी माँकी गोदीमें रहना चाहता है। गोदीसे नीचे उतरते ही वह रोने लग जाता है। आप भी हर समय सत् (भगवान्) की गोदीमें रहो। असत्में जाते ही रोने लग जाओ कि अरे ! कहाँ आ पड़े ! हम तो गोदीमें ही रहेंगे। फिर असत्का सम्बन्ध सुगमतासे छूट जायगा।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

═══ ★ ═══

१७. परमात्मप्राप्तिमें भोग और संग्रहकी इच्छा ही महान् बाधक

भोग और संग्रह—इन दो चीजोंमें जबतक मनुष्यकी आसक्ति रहती है, तबतक 'मुझे परमात्माकी प्राप्ति करनी है'—ऐसा निश्चय भी नहीं होता, फिर परमात्माको प्राप्त करना तो दूर रहा—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २।४४)

जबतक भोग और संग्रहमें आसक्ति है अर्थात् सांसारिक पदार्थोंसे सुख लेते रहे और रुपयोंका संग्रह बना रहे—यह भावना भीतर बनी हुई है तबतक यत्न करते हुए भी परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकते—**'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः'** (गीता १५।११)। कारण कि हृदयमें परमात्माकी जगह भोग और रुपये आकर बैठ गये।

संसारका सुख भोगना है और सुख-भोगके लिये संग्रहकी आवश्यकता है—यह भोग और संग्रहकी रुचि बहुत घातक है। धनका उपयोग तो खर्च करनेमें है, चाहे अपने लिये खर्च करें, चाहे दूसरोंके लिये। परन्तु धनका संग्रह किसी कामका नहीं है। पदार्थों और रुपयोंके संग्रहकी बात तो दूर रही, 'बहुत पढ़ाई कर लूँ, बहुत शास्त्र पढ़ लूँ'—यह (अनेक विद्याओंके संग्रहकी) भावना भी जबतक रहेगी, तबतक परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकते, जाननेके

लिये निश्चय भी नहीं कर सकते। जो अपना कल्याण चाहता है, उसकी बुद्धि एक ही होती है— **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका'** (गीता २।४१)। मुझे केवल परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है—यह निश्चय होना ही बुद्धिका एक होना है। परन्तु जो भोग और संग्रहमें आसक्त हैं, उनकी बुद्धियाँ अनन्त होती हैं और एक-एक बुद्धिकी शाखाएँ भी अनन्त होती हैं—**'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** (गीता २।४१)। जैसे, पुत्र मिले—यह एक बुद्धि हुई और पुत्र कैसे मिले, किसी दवाईका सेवन करें या किसी मन्त्रका अनुष्ठान करें अथवा किसी संतका आशीर्वाद लें आदि-आदि उस बुद्धिकी कई शाखाएँ हुईं। इसी तरह धन मिल जाय—यह एक बुद्धि हुई और धन कैसे मिले, व्यापार करें या नौकरी करें, चोरी करें या डाका डालें, ठगाई करें या किसीको धोखा दें आदि-आदि उस बुद्धिकी कई शाखाएँ हुईं। ऐसे ही आदरकी इच्छा होगी तो आदर कैसे हो सकता है, व्याख्यान देनेसे होगा या सांसारिक सेवा करनेसे होगा आदि तरह-तरहकी शाखाएँ पैदा होंगी। यह आपको थोड़ा-सा नमूना बताया है। इस तरह भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्मप्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकते। कभी सत्संग करनेसे उनके मनमें परमात्मप्राप्तिकी इच्छा हो भी जाय, तो भी वे उसपर टिक नहीं सकेंगे।

गीतामें भगवान्‌ने परमात्मप्राप्तिके एक निश्चयकी बड़ी विलक्षण महिमा गायी है। **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'** (गीता ९।३०)—जो साङ्गोपाङ्ग दुराचारी है, जिसके दुराचरणमें कोई कमी नहीं है, झूठ, कपट, बेईमानी, अभक्ष्य-भक्षण, वेश्या-गमन, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि जितने पाप-दुराचर कहे जाते हैं, उन सबको करनेवाला है, ऐसा मनुष्य भी यदि केवल भगवान्‌का ही भजन करनेका एक निश्चय कर ले, तो भगवान् कहते हैं कि उसको साधु ही मानना चाहिये—**'साधुरेव स मन्तव्यः'**। उसको साधु ही माननेकी भगवान् आज्ञा देते हैं! कारण क्या है कि उसने परमात्मप्राप्तिका एक

निश्चय कर लिया है—'**सम्यग्व्यवसितो हि सः**'। उसका एक लक्ष्य बन गया है कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, एक भगवान्‌की तरफ ही चलना है।

यहाँ एक शंका पैदा होती है कि जो भोग और संग्रहमें आसक्त हैं, उनका तो परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं हो सकता; और पापी-से-पापी भी ऐसा निश्चय कर सकता है—इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। वास्तवमें विरोध नहीं है; क्योंकि पापीके लिये भगवान्‌ने '**अपि चेत्**' पद दिये हैं। तात्पर्य है कि यद्यपि पापी मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करते—'**पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥**(मानस ५। ४४। २), '**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः**' (गीता ७। १५), तथापि अगर वे भगवान्‌के भजनमें लगना चाहें तो लग सकते हैं। भगवान्‌की तरफसे किसीको कोई मना नहीं है। इसलिये अगर पापी मनुष्य भी भगवान्‌के भजनमें लगनेका पक्का निश्चय कर ले तो उसको साधु मान लेना चाहिये। कारण कि वास्तवमें भगवान्‌का अंश होनेसे जीव शुद्ध, निर्दोष ही है। संसारकी आसक्तिके कारण उसमें दोष आ जाते हैं। अगर वह संसारकी आसक्तिको मिटा दे तो उसका शुद्ध स्वरूप रह जायगा। आजकल पारमार्थिक बातें कहने-सुननेपर भी भगवान्‌की तरफ चलनेका निश्चय नहीं होता—इसका कारण यह है कि हृदयमें रुपयोंका महत्त्व बैठा हुआ है। वास्तवमें रुपये उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। भोग उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। जबतक हृदयमें पदार्थोंका, मान-बड़ाईका, आदर-सत्कारका, नीरोगताका, शरीरके आरामका महत्त्व बैठा हुआ है, तबतक मनुष्य परमात्मप्राप्तिका निश्चय नहीं कर सकता। चाहे वह कितनी ही बातें बना ले, कितना ही बड़ा पण्डित बन जाय, बाहरसे कैसा ही विरक्त और त्यागी बन जाय, पर मनमें जबतक मान-बड़ाईकी, सुख-आरामकी, कीर्तिकी इच्छा है, तबतक

वह पारमार्थिक मार्गमें आगे नहीं बढ़ सकता। कारण कि जहाँ परमात्माकी रुचि होनी चाहिये वहाँ भोग और संग्रहकी रुचि हो गयी। भोग और संग्रहके द्वारा उनका चित्त अपहृत हो गया—'**अपहृतचेतसाम्**' (गीता २।४४)। उनके चित्तका हरण हो गया! बड़ी भारी चोरी हो गयी उन बेचारोंकी! उनके पासमें जो शक्ति थी, वह भोग और संग्रहमें लग गयी। परन्तु उनको मिलेगा कुछ नहीं। एक कौड़ी भी नहीं मिलेगी। केवल धोखा होगा, धोखा! परमात्माकी प्राप्तिसे रीते रह जायँगे! मान-बड़ाई कितने दिन होगी और होकर भी क्या निहाल करेगी? भोग कितने दिन भोगेंगे? संग्रह कितने दिन रहेगा? यहाँ इकट्ठा किया हुआ धन यहीं रह जायगा और उम्र खत्म हो जायगी!

अगर परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो भोग और संग्रहको महत्त्व मत दो। आजकल तो रुपयोंकी अपेक्षा उनकी संख्याको अधिक महत्त्व दे रहे हैं कि हम लखपति हो जायँ, करोड़पति हो जायँ, हमारे पास इतना संग्रह हो जाय। पासमें जो रुपये हैं, उनको खर्च नहीं कर सकते कि संख्या कम न हो जाय। अपने लड़कोंको यह शिक्षा देते हैं कि जितना कमाओ, उसीमेंसे खर्च करो, मूलधनको मत छेड़ो। मूलधनको ज्यों-का-त्यों रहने दो, उसको खर्च मत करो। कोई पूँजीमेंसे खर्च करे तो कहेंगे कि 'तुम्हारेमें अक्ल नहीं है, मूल पूँजी खर्च करते हो!' मूलधन आपके क्या काम आयेगा? उसमें क्या तूली (आग) लगाओगे? पर उसको खर्च नहीं करेंगे। जो नरकोंमें ले जानेवाली चीज है, वह खर्च कैसे की जाय! उसको खर्च कर देंगे तो दुर्गति कौन करेगा! अब ऐसे आदमी परमात्माकी प्राप्ति कैसे कर सकते हैं?

साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, पढ़ा-लिखा हो; चाहे मूर्ख हो; भाई हो, चाहे बहन हो, जबतक संग्रह करनेकी और 'संग्रह बना रहे' इसकी रुचि रहेगी, तबतक वह पारमार्थिक मार्गपर नहीं चल सकता।

अगर आपके भीतर संग्रहकी रुचि नहीं है, तो आपके पास चाहे लाखों-करोड़ों रुपये हों, पर वे आपको अटका नहीं सकते। बैंकोंमें बहुत रुपये पड़े हैं, पर वे हमारेको अटकाते नहीं। मकान बहुत हैं, पर वे हमारेको अटकाते नहीं। क्यों नहीं अटकाते कि उनमें हमारी ममता नहीं है, उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है। अगर हमारी इच्छा हो जायगी तो हम फँस जायँगे।

जिन थोड़े-से आदमियोंको हमने अपना मान रखा है, जिस मकानको हमने अपना मान रखा है, उसीसे हम बँधे हुए हैं। जिन मनुष्योंको हमने अपना नहीं माना है, वे मर भी जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। जिन रुपयोंको हमने अपना नहीं माना है, वे चाहे कहीं चले जायँ, नष्ट भी हो जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। जिन मकानोंको हमने अपना नहीं माना है, वे सब धराशायी भी हो जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। अतः ज्यादा संसारसे तो हम मुक्त ही हैं, थोड़े-से आदमियों, थोड़े-से रुपयों, थोड़े-से मकानोंमें हम फँसे हुए हैं। अगर इन थोड़े-से आदमियों आदिकी ममताका त्याग कर दें तो निहाल हो जायँ ! हमारी ज्यादा मुक्ति तो हो चुकी है, थोड़ी-सी मुक्ति बाकी है। बन्धन ज्यादा नहीं है। ज्यादा बन्धन तो छूटा हुआ है। जिनमें आपकी ममता नहीं है, उनसे आप बन्धन-रहित हो और जिनमें आप ममता कर लेते हो, उनमें आप बँध जाते हो। परन्तु आपकी चाल यही है कि ज्यादा व्यक्तियोंमें, पदार्थोंमें ममता हो जाय। वक्ता चाहता है कि और कुछ नहीं तो श्रोता ही ज्यादा आ जायँ। ऐसी इच्छा नहीं रखेंगे तो फँसेंगे कैसे ! इसलिये अधिक भोग मिल जाय, अधिक संग्रह हो जाय—इस तरह इच्छा करते रहते हैं। इच्छा करनेसे पदार्थ मिलेगा नहीं। अगर मिल भी जाय तो टिकेगा नहीं और टिक भी जाय तो आप नहीं टिकोगे। परन्तु बन्धन तो हो ही जायगा। मरनेके बाद भी छूट सकोगे नहीं। अब नफा-नुकसान आप सोच लो।

मैं-मैं बुरी बलाय है, सको तो निकसो भाग।
कबतक निबहे रामजी, रुई लपेटी आग॥

रुईमें लपेटी आग कितनी देर ठहरेगी? जिन पदार्थोंमें आप मैं-मेरापन करते हो वे कितने दिन ठहरेंगे? वे तो ठहरेंगे नहीं, पर आपका पतन कर देंगे—इसमें संदेह नहीं। इसलिये हरेक भाई-बहनके लिये बहुत आवश्यक है कि वह संसारके भोग और संग्रहकी इच्छाको भीतरसे त्याग दें।

भीतरसे पदार्थोंकी इच्छाका त्याग करनेपर पदार्थ प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आते हैं। इच्छा रखनेपर रुपये-पैसे, भोग-आराम मेहनतसे, बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं। इच्छा करनेसे उनकी प्राप्तिमें बाधा लगती है और परमार्थमें बाधा तो लगती ही है। इच्छा रहनेपर तो रुपयोंके मिलनेसे हम अपनी सफलता मानते हैं, पर यदि इच्छा न रहे तो रुपये हमारे पास आकर सफल होंगे, हमारेमें रुपयोंकी गुलामी नहीं रहेगी।

आप परमात्मतत्त्वमें अपनी नित्य-निरन्तर स्थितिका अनुभव करना चाहते हो तो उत्पत्ति-विनाशवाले वस्तुओंका आकर्षण मिटाओ। नाशवान् वस्तुओंका आकर्षण मिटते ही अविनाशीकी तरफ स्वतः आकर्षण हो जायगा और उसकी प्राप्ति हो जायगी। अगर उत्पन्न और नष्ट होनेवालोंमें फँसे रहोगे तो सदा साथमें रहता हुआ भी अनुत्पन्न तत्त्व नहीं मिलेगा। उससे वञ्चित रह जाओगे और कुछ नहीं होगा। न धन मिलेगा, न धन रहेगा; न भोग मिलेंगे, न भोग रहेंगे और न आप रहोगे। केवल बन्धन-ही-बन्धन रहेगा।

मैं रुपयोंका विरोध नहीं करता, उनकी गुलामीका विरोध करता हूँ। न्याययुक्त कमाते हुए लाखों-करोड़ों रुपये आ जायँ तो प्रसन्नता रहे, और लाखों-करोड़ों रुपये चले जायँ तो भी वही प्रसन्नता रहे। तब तो आप 'धनपति' (धनके मालिक) हैं। परन्तु रुपये आ जायँ तो प्रसन्न हो जाओ और रुपये चले जायँ तो रोने लग जाओ, तब आप

'धनदास' (धनके गुलाम) हो; धनपति नहीं हो, नहीं हो, नहीं हो। रुपयोंके जानेसे रोने लग जाते हो कि हमारा मालिक (रुपया) चला गया, अब उसके बिना कैसे रहा जाय ! अरे, रुपये चले गये तो क्या हुआ, जिसने रुपये कमाये थे वह तो मौजूद ही है। परन्तु यह बात अक्लमें नहीं आती; क्योंकि धनको आपने अपना इष्टदेव मान रखा है। जिसने धनको अपना इष्टदेव बनाया हुआ है, उसको धनकी प्राप्तिके लिये झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी आदिको अपना इष्ट बनाना पड़ता है; क्योंकि उसका यह भाव रहता है कि इनके बिना पैसा पैदा नहीं होता। अतः हे झूठ देवता ! हे कपट देवता ! हे ब्लैक देवता ! आप निहाल करें—ऐसी उसकी भक्ति होती है। जैसे भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को याद करता है, उनका आश्रय लेता है, ऐसे ही धनका भक्त झूठ, कपट, ठगी आदिका आश्रय लेता है, उसको कोई समझाये तो वह कहेगा कि आजके जमानेमें झूठ, कपटके बिना काम नहीं चलता। अब ऐसे आदमीको ब्रह्माजी भी समझा नहीं सकेंगे ! इसलिये अगर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहते हो तो भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करना ही पड़ेगा, नहीं तो परमात्मप्राप्ति दूर रही, परमात्मप्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकोगे।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——★——

१८. असत् पदार्थोंके आश्रयका त्याग करें

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंके बिना मेरा काम नहीं चलेगा—ऐसा मानना स्वयंकी खास भूल है। स्वयं परमात्माका साक्षात् अंश होनेसे सत् और अपरिवर्तनशील है। संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं, वे असत् और परिवर्तनशील हैं।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

(गीता २।१६)

'असत्‌की तो सत्ता नहीं होती और सत्‌का अभाव नहीं होता।' बचपनसे लेकर आजतक देखें तो शरीर, शक्ति, योग्यता, खेल आदिका विषय, साथी, देश, काल, परिस्थिति आदि सबका परिवर्तन हो गया, पर मैं वही हूँ। सबका परिवर्तन हो गया—यह (बदलनेवाला) तो हुआ 'असत्' और मैं वही हूँ—यह (न बदलनेवाला) हुआ 'सत्'। स्वयं सत् होकर भी अपनेको असत्‌के अधीन मानना कि इसके बिना मेरा काम नहीं चलेगा, बड़ी भारी भूल है!

शरीरके बिना मेरा काम नहीं चलेगा, रुपयोंके बिना काम नहीं चलेगा, कुटुम्बके बिना काम नहीं चलेगा, मकानके बिना काम नहीं चलेगा, कपड़ेके बिना काम नहीं चलेगा, अन्न-जलके बिना काम नहीं चलेगा—यह सब असत्‌का आश्रय है। असत्‌का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अगर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसको असत् क्यों कहते? असत् नाम ही उसका है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं

होता, जो किसीके आश्रित रहता है; जो निरन्तर मिटता रहता है, जो निरन्तर अदृश्य होता रहता है, जो निरन्तर अभावमें जाता रहता है। स्वयं सत् होते हुए भी असत्का आश्रय ले लेना, असत्के पराधीन हो जाना और उस पराधीनतामें भी स्वाधीन-बुद्धि कर लेना—यह खास गलती है।

पराधीनतामें भी स्वाधीन-बुद्धि कैसे होती है—इसको आप इस तरह समझें। मान लें कि आपको एक चश्मेकी जरूरत हुई। अब विचार होता है कि 'एक चश्मा चाहिये, क्या करें ? किससे कहें ? कौन लाकर दे ?' हमारे पास रुपये नहीं हैं, इसलिये हम पराधीन हो गये। अगर हमारे पास रुपये होते तो हम पराधीन नहीं होते और चट रुपये देकर ले लेते। इस प्रकार पासमें रुपये न होनेसे आप अपनेको पराधीन मानने लगते हैं। अब विचार करें कि आप स्वयं रुपये हो क्या ? रुपये भी तो 'पर' ही हैं। आप रुपयोंके अधीन होनेपर भी अपनेको स्वाधीन मान लेते हो—यही पराधीनतामें स्वाधीनता-बुद्धि होना है।

पराधीनतामें स्वाधीनताकी बुद्धि होनेके समान दूसरा अनर्थ कोई है ही नहीं। सम्पूर्ण पाप इसके बेटे हैं। पाप, अन्याय, झूठ, कपट, नरक आदि सब इस बुद्धिके होनेसे ही होते हैं। आप विचार करें कि रुपये 'स्व' हैं या 'पर' हैं ? रुपयोंके अधीन होना स्वाधीनता है या पराधीनता है ? परन्तु आप पराधीनतामें ही स्वाधीनताकी बुद्धि कर लेते हैं कि हमारे पास रुपये होते तो हम चट रेलपर, हवाई जहाजपर चढ़कर चले जाते; यह ले लेते, वह ले लेते। यह रुपयोंकी पराधीनता है। रुपयेके बिना वस्तु नहीं मिलती, यह प्रत्यक्ष बात है, फिर हम स्वाधीन कब होंगे ? हम स्वाधीन तब होंगे जब हमें किसी चीजकी जरूरत ही नहीं रहे; न चश्मेकी जरूरत रहे, न अन्न-जलकी जरूरत रहे, न कपड़ेकी जरूरत रहे। यह कब होगा ? यह तब होगा, जब

आप स्वयंको शरीरसे अलग अनुभव करोगे।

आप शरीरके साथ मिलकर एक हो जाते हो तो शरीरकी जरूरत आपकी जरूरत हो जाती है। जैसे, कोई पुरुष विवाह कर लेता है तो जब वह स्त्रीके लिये लँहगा, नथ आदि खरीदने जाता है तो दुकानदारसे कहता है कि मेरेको लहँगा चाहिये, नथ चाहिये। दुकानदार उससे पूछे कि क्या तुम लहँगा, नथ पहनते हो तो वह कहेगा मेरेको नहीं, घरमें चाहिये। उसने स्त्रीके साथ सम्बन्ध कर लिया, तो अब स्त्रीकी आवश्यकता उसकी अपनी आवश्यकता हो गयी। ऐसे ही शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' कर लेनेसे शरीरकी आवश्यकता अपनी आवश्यकता दीखने लग जाती है। वास्तवमें यह आपकी आवश्यकता नहीं है, यह शरीरकी आवश्यकता है। आपको किसी वस्तुकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

श्रोता—शरीरसे मैं अलग हूँ, यह अनुभव नहीं होता, क्या करें ?

स्वामीजी—शरीर ही मैं हूँ और शरीर ही मेरा है—यह असत्‌का संग है। आप सत् हो, शरीर असत् है। आप अविनाशी हो, शरीर विनाशी है। अतः आप और शरीर एक कैसे हुए ?

श्रोता—इस बातको जानते हैं, पर यह जानना टिकाऊ नहीं रहता।

स्वामीजी—टिकाऊ नहीं रहता तो इसका दुःख होता है क्या ? टिकाऊ रहनेसे कोई फायदा और टिकाऊ न रहनेसे कोई नुकसान दीखता है क्या ? अगर आप 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—इस जानकारीको वास्तवमें टिकाऊ रखना चाहते हैं तो कोई बाधा है ही नहीं। परन्तु आप इसको टिकाऊ रखना चाहते ही नहीं। इसके टिकाऊ न रहनेका आपको दुःख ही नहीं है। इस समय तो आप ऐसा कहते हो कि यह टिकाऊ नहीं रहता, पर क्या दूसरे समय भी आपको इसकी

याद आती है ?

आप शरीरकी आवश्यकताएँ पूरी कर ही लेते हो—ऐसा नियम नहीं है। वास्तवमें शरीरकी आवश्यकता स्वतः पूरी होती है।

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुवीर ॥

शरीर-निर्वाहका आपके ऊपर ठेका नहीं है। आप शरीर-निर्वाहकी चिन्ता करके जान-बूझकर आफत मोल लेते हो। वास्तवमें शरीरका निर्वाह जैसा होना होगा, वैसा ही होगा, चेष्टा करनेपर भी वैसा ही निर्वाह होगा और चेष्टा नहीं करनेपर भी वैसा ही निर्वाह होगा। प्रारब्धमें अगर बिना अन्नके मरना लिखा है तो बिना अन्नके मरना पड़ेगा, चाहे कितनी ही चेष्टा कर लो। अगर मरना नहीं है तो चाहे कुछ भी चेष्टा मत करो, शरीरका निर्वाह होगा।

इस बातपर आप ध्यान देना कि आपके शरीर-निर्वाहके लिये तो परमात्माकी तरफसे प्रबन्ध है, पर आपकी तृष्णाकी पूर्तिके लिये प्रबन्ध नहीं है, नहीं है, नहीं है। आप जो चाहते हो कि इतना मिल जाय, इतना मिल जाय—इसकी पूर्तिके लिये कोई प्रबन्ध नहीं है; परन्तु आपके शरीर-निर्वाहके लिये पूरा प्रबन्ध है। जिसने जन्म दिया है, उसने जीवन-निर्वाहका भी पूरा प्रबन्ध किया है। अपनी माँके स्तनोंमें दूध आपने-हमने पैदा किया था क्या ? माँका दूध पैदा करनेके लिये आपने-हमने कोई उद्योग किया था क्या ? माँके दूधका प्रबन्ध जिसने किया था, क्या वह बदल गया ? क्या वह मर गया ? क्या अब कोई नयी बात हो गयी ? इसलिये शरीर-निर्वाहके लिये चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये। चेष्टा करनेके लिये मैं मना नहीं करता। निर्वाहमात्रके लिये चेष्टा करो। कारण कि पदार्थोंका कर्मोंके साथ सम्बन्ध है। अतः कर्म तो करो, पर चिन्ता मत करो।

मोटरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—१. मोटर गैरजमें खड़ी है।

उस समय न तो इंजन चलता है और न पहिये चलते हैं, दोनों बन्द हैं। २. जब मोटर चालू करते हैं, तब इंजन तो चलने लगता है, पर पहिये नहीं चलते। ३. जब मोटरको वहाँसे रवाना कर देते हैं, तब पहिये भी चलते हैं और इंजन भी चलता है। ४. चलते-चलते आगे साफ मैदान आ गया, बहुत दूरतक रास्ता साफ दीखता है, वृक्ष आदिकी कोई आड़ नहीं है और रास्ता ढलवाँ है अर्थात् थोड़ा नीचेकी तरफ जा रहा है, उस समय इंजन बन्द कर दें तो पहिये चलते रहेंगे—मोटर चलती रहेगी और तेल भी खर्च नहीं होगा। इस प्रकार मोटरकी चार अवस्थाएँ हुई। इन चारों अवस्थाओंमें सबसे बढ़िया अवस्था वह हुई, जिसमें पहिये तो चलें पर इंजन न चले अर्थात् तेल भी खर्च न हो और रास्ता भी तय हो जाय। सबसे घटिया अवस्था वह हुई जिसमें इंजन तो चले, पर पहिया न चलें अर्थात् तेल तो जले, पर रास्ता तय न हो। ऐसे ही आप भीतरसे चिन्ता करते हैं—यह आपकी घटिया अवस्था है। परंतु आप चिन्ता न करके कर्तव्य करते हैं—यह आपकी बढ़िया अवस्था है। इसको गीताने 'कर्मयोग' कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'तेरा कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो।'

अकर्मण्य कभी मत होओ। कर्तव्य-कर्म करते रहो, पर फलकी इच्छा मत करो। चिन्ता मत करो कि क्या मिलेगा, कैसे होगा! इच्छा करनेसे, चिन्ता करनेसे पदार्थ नहीं मिलते। पदार्थ कर्मोंसे मिलते हैं, चाहे वे कर्म पूर्वके (प्रारब्ध) हों अथवा वर्तमानके।

इसलिये कर्म करो। भीतरके इंजनको क्यों चलाते हो अर्थात् चिन्ता क्यों करते हो ?

चिन्ताके विषयमें एक बात और समझनेकी है। अन्तःकरणकी दो वृत्तियाँ हैं—एक विचार है और एक चिन्ता है। विचारसे बुद्धि विकसित होती है और चिन्तासे बुद्धि नष्ट होती है—'**बुद्धिः शोकेन नश्यति**'। विचारपूर्वक कोई काम किया जायगा तो वह काम बढ़िया होगा। अगर चिन्ता हो जायगी तो वह काम घटिया होगा, उसमें भूलें होंगी। जिसके भीतर चिन्ता-शोक होते हैं, उस आदमीको होश नहीं रहता, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसलिये चिन्ता न करके सभी काम विचारपूर्वक करो। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा जो भी काम करो, विचारपूर्वक ठीक तरहसे करो।

अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ हम पूरी कर लेंगे—यह अपने हाथकी बात बिलकुल नहीं है। आवश्यकता वास्तवमें है ही नहीं; क्योंकि शरीर भी वास्तविक नहीं है, फिर इसकी आवश्यकता कैसे वास्तविक होगी ? आप स्वयं वास्तविक हो, इसलिये आपकी आवश्यकता ही वास्तविक आवश्यकता है। आपकी आवश्यकता है—आत्मतत्त्वको प्राप्त करना। शरीर-निर्वाहकी आवश्यकता पूरी होनेवाली होगी तो पूरी हो जायगी और पूरी नहीं होनेवाली होगी तो पूरी नहीं होगी; परन्तु परमात्मतत्त्वकी आवश्यकता आप चाहोगे तो जरूर पूरी होगी; क्योंकि इसके लिये ही यह मनुष्य-शरीर मिला है। यह मनुष्य-शरीर खाने-पीनेके लिये नहीं मिला है। हमने शास्त्रमें ? कहीं ऐसी बात नहीं पढ़ी कि यह मनुष्य-शरीर रुपया कमानेके लिये मिला है अथवा भोग भोगनेके लिये मिला है। सदाके लिये कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय—इसके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। इस विषयमें भी एक बड़े रहस्यकी, छिपी हुई बात है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति शरीरसे नहीं होता ! परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति विवेकशक्तिसे होती है,

****

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं। सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सार-असार आदिको ठीक-ठीक जाननेके लिये मनुष्यको जो विवेकशक्ति मिली हुई है, उसीसे उद्धार होगा। उस विवेक-शक्तिका सदुपयोग करनेसे सांसारिक काम भी बढ़िया होगा और पारमार्थिक काम भी बढ़िया होगा। इसलिये उस विवेकशक्तिका सदुपयोग करें, इसीके लिये मानव-शरीर मिला है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

═══★═══

१९. स्वार्थरहित सेवाका महत्त्व

जैसे हाथ, पैर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, मस्तिष्क आदि एक ही शरीरके अनेक अवयव हैं और ये सब मिलकर शरीर-निर्वाहके लिये काम करते हैं। इन सबके काम तो अलग-अलग हैं, पर अलग-अलग काम करते हुए भी ये सभी परस्पर एक-दूसरेके हितमें लगे रहते हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जो अनेक प्राणी हैं, उन सबको भी मिलकर समष्टि संसारके हितके लिये काम करना चाहिये। गलती वहाँ होती है, जब वे केवल अपने लिये ही काम करते हैं। जैसे, हाथ केवल अपने लिये ही काम करें, पैर, आँख, कान आदि किसीके लिये नहीं, तो शरीरका निर्वाह नहीं होगा। पैर कहें कि हम तो अपने लिये ही काम करेंगे, शरीरको हम क्यों उठायें ? हाथोंको हम क्यों उठायें ? तो शरीरका काम नहीं चलेगा। इसी तरह स्वार्थमें आकर हर प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो संसारका काम नहीं चलेगा। अपने स्वार्थके लिये काम करनेसे ही काम बिगड़ता है।

सम्पूर्ण प्राणी एक ही संसारके अनेक अवयव हैं। किसी भी रीतिसे शरीर संसारसे अलग सिद्ध नहीं हो सकता। बनावटकी दृष्टिसे, धातुकी दृष्टिसे, संरक्षककी दृष्टिसे देख लो, शरीरको संसारसे अलग सिद्ध नहीं कर सकते। जैसे शरीरके अवयव अलग-अलग होते हुए भी एक ही शरीरके अंग हैं, ऐसे ही संसारमें छोटे-बड़े जितने भी प्राणी हैं, वे सब एक विराट्-(समष्टि-संसार-) के ही अंग हैं। एक विराट्के अंग होकर भी वे अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करते हैं—यह गलती है।

****

अपना स्वार्थ सिद्ध करें या नहीं करें—इसका ज्ञान पशु-पक्षियोंमें नहीं है; परन्तु मनुष्यमें इसका ज्ञान (विवेक) है। मनुष्य विवेकपूर्वक यह विचार कर सकता है कि यह सम्पूर्ण संसार अपना कुटुम्ब है, फिर एक अपने स्वार्थके लिये काम कैसे करें? नीतिमें भी आया है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(पञ्चतन्त्र, अपरीक्षित ३७)

'यह तो हमारा है और यह दूसरोंका (पराया) है—ऐसा विचार तो तुच्छ हृदयवाले लोगोंका हुआ करता है। जिनका हृदय उदार है, उनके लिये तो सारा संसार ही कुटुम्ब है।'

संसारका कोई भी प्राणी हो, चाहे वह स्थावर हो या जंगम, अपने ही कुटुम्बका है। शास्त्रोंमें आया है कि जैसे अपने घरमें रहनेवाले लोग अपने कुटुम्बी हैं, ऐसे ही अपने घरमें रहनेवाली चीटियाँ, मक्खियाँ, चूहे आदि भी अपने कुटुम्बी ही हैं। वे भी उस घरको अपना घर मानते हैं। चिड़ियाँ उस घरमें जहाँ अपना घोंसला बनाती हैं, वहाँ दूसरी चिड़ियोंको नहीं रहने देतीं। विचार करें, एक घरमें भी कितने घर हैं! सबका अपना-अपना घर है। अतः घरको केवल अपना ही मानना और केवल अपने घरके लिये ही सब काम करना पशुता है। मनुष्यता नहीं। भागवतमें आया है कि इस पशुबुद्धिका त्याग कर दो—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**' (श्रीमद्भागवत १२।५।२)। सबके हितमें अपना हित मानना ही मनुष्यबुद्धि है।

आज जो आध्यात्मिक उन्नतिमें देरी हो रही है, उसका खास कारण यही है कि आप अपना व्यक्तिगत हित ही चाहते हैं अर्थात् अपने व्यक्तित्वको, परिच्छिन्नताको कायम रखते हैं। मेरी मुक्ति हो, मेरेको सुख मिले, मेरा हित हो, मेरा मतलब सिद्ध हो—इस व्यक्तित्त्वको, एकदेशीयताको आप छोड़ते नहीं। पशुका जो स्वभाव

है, उसी स्वभावको लेकर आप काम करते हैं।

गीतामें आया है—

> **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
> **अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥**
> **देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।**
> **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥**
>
> (३। १०-११)

'प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्य-कर्मोंके विधानसहित प्रजाकी रचना करके उनसे (प्रधानतया मनुष्योंसे) कहा कि तुमलोग अपने कर्तव्यके द्वारा अपनी वृद्धि करो और वह कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो! अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

तात्पर्य है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके देवता तथा चन्द्र, सूर्य आदि देवता मात्र जीवोंकी वृद्धि करें, उनका पालन करें, उनकी सेवा करें। मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करें, उनकी वृद्धि करें, उनकी सेवा करें। यहाँ 'देव' शब्द उपलक्षणरूपसे है; अतः 'देव' शब्दके अन्तर्गत मात्र प्राणियोंको लेना चाहिये। मनुष्यका कर्तव्य मात्र प्राणियोंका हित चाहना है, उनकी सेवा करना है। इसलिये मनुष्यको अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित कर्मसे सबकी सेवा करे, क्षत्रिय अपने क्षत्रियोचित कर्मसे सबकी सेवा करे, वैश्य अपने वैश्योचित कर्मसे सबकी सेवा करे और शूद्र अपने शूद्रोचित कर्मसे सबकी सेवा करे। इस प्रकार एक-दूसरेकी सेवा करनेसे परमश्रेयकी प्राप्ति हो जायगी।

परमश्रेयकी प्राप्तिमें केवल अपनी स्वार्थ-भावना ही बाधक है। आपके पास जितनी वस्तुएँ हैं, वे समष्टिकी हैं और सबकी सेवाके लिये हैं। उन वस्तुओंसे अपना निर्वाह भी दूसरोंकी सेवाके लिये करो, अपने सुखभोगके लिये नहीं—'**एहि तन कर फल बिषय न भाई**' (मानस ७। ४४। १)। मनुष्य-शरीरका उद्देश्य विषय-भोग करना, संसारका सुख लेना नहीं है, प्रत्युत सबकी सेवा करना है। इसीलिये सबको सुख कैसे पहुँचे, सबको आराम कैसे पहुँचे, सबका भला कैसे हो—यही चिन्तन करो, यही विचार करो। ब्रह्माजी कहते हैं—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(गीता ३। १२)

'यज्ञसे भावित (पुष्ट) हुए देवता भी तुमलोगोंको कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंसे प्राप्त हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह चोर ही है।'

मनुष्यको जो सामग्री मिली है, वह सबकी सेवा करनेके लिये मिली है केवल अपने उपभोगके लिये नहीं, जो अकेला उसका उपभोग करता है, उसको चोर कहा गया है—'**स्तेन एव सः**'। अगर मिली हुई सामग्री अपने उपभोगके लिये ही होती, तो उसको चोर नहीं कहते! इसलिये मनुष्यको जो भी सामग्री मिली है, उसको अकेले भोगनेका वह अधिकारी नहीं है। जैसे परिवारमें जो आदमी पैसे कमाता है, उसके द्वारा कमाये हुए पैसोंपर अकेले उसका ही हक नहीं लगता, प्रत्युत उसके पूरे परिवारका हक लगता है। अगर वह अपनी स्त्रीसे कह दे कि 'मैं अकेला ही खाऊँगा; तू तो घरपर बैठी रहती है, तेरेको क्यों दिया जाय? माँ-बापसे कहे कि आप तो ऐसे ही घरपर बैठे रहते हैं, आपको क्यों दिया जाय? मैंने मेहनत की है, मैंने

कमाया है; अतः मैं अकेला ही भोग करूँगा' तो ऐसी परिस्थितिमें क्या परिवारमें सुख-शान्ति रहेगी ? परिवारका काम ठीक तरहसे चलेगा ? कभी नहीं। इसी तरहसे अगर लोग केवल अपने स्वार्थकी पूर्तिमें ही लगे रहेंगे तो सृष्टिका काम ठीक तरहसे नहीं चलेगा।

हमारे पास जो कुछ है, वह सब हमें संसारसे ही मिला है। शरीर और उसके लिये अन्न, जल, वस्त्र, हवा, रहनेका स्थान आदि हमें समष्टि संसारसे मिले हैं। धनी-से-धनी व्यक्ति, राजा-महाराजा भी ऐसा नहीं कह सकता कि मैं दूसरेसे सेवा लिये बिना अपना निर्वाह कर लूँगा। कैसे कर लेगा ? वह सड़कपर चलेगा, तो क्या सड़क अपनी बनायी हुई है ? किसी वृक्षके नीचे ठहरेगा, तो क्या वह वृक्ष अपना लगाया हुआ है ? कहीं जल पीयेगा, तो क्या कुआँ अपना खुदवाया हुआ है ? उसे संसारसे लेना ही पड़ेगा, परवश होकर लेना पड़ेगा। लेना तो पशुओंको भी पड़ेगा, फिर मनुष्यकी बुद्धिकी क्या विशेषता हुई ? लिया है तो देना भी चाहिये; परवशतासे जो लिया है, उससे भी ज्यादा देना है— यह मनुष्यबुद्धिकी विशेषता है। भगवान्‌ने कहा है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४) 'जो मनुष्य प्राणिमात्रके हितमें रत होते हैं, वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।' प्राणिमात्रके हितमें रति होनी चाहिये। उनका हित कर दें—यह हाथकी बात नहीं है। सारा संसार मिलकर एक आदमीकी इच्छा भी पूरी नहीं कर सकता, तो फिर एक आदमी सारे संसारकी इच्छा पूरी कैसे कर देगा ? मनुष्यका कर्तव्य यह है कि उसके पास जो सामग्री है, उसको वह उदारतापूर्वक दूसरोंके हितके लिये समर्पित कर दे। ऐसा करनेसे उसको कल्याणकी प्राप्ति हो जायगी।

मनुष्य जितना-जितना व्यक्तिगत स्वार्थभाव रखेगा, उतना ही वह संसारमें नीचा माना जायगा। कमानेवाला केवल अपना ही पेट भरेगा, अकेला ही सामग्रीका उपभोग करेगा तो वह न घरमें आदर पायेगा, न बाहर। वह जितना-जितना व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग करके

कुटुम्बकी सेवा करेगा, उतना ही वह अच्छा माना जायगा। अगर वह केवल कुटुम्बका ही नहीं, पड़ोसियोंका भी हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल पड़ोसियोंका ही नहीं, सम्पूर्ण गाँवका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल गाँवका ही नहीं, प्रान्तका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल प्रान्तका ही नहीं, सारे देशका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। अगर वह देश-विदेशका, सम्पूर्ण पृथ्वीका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा ! अगर वह देवता, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि मात्र जीवोंका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। अगर वह भगवान्‌की सेवा करेगा, भगवान्‌का भजन-कीर्तन-ध्यान करेगा तो वह सर्वश्रेष्ठ हो जायगा। जैसे वृक्षके मूलमें जल डालनेसे सम्पूर्ण वृक्ष स्वतः हरा हो जाता है, ऐसे ही संसाररूपी वृक्षके मूल भगवान्‌का चिन्तन करनेसे, भजन करनेसे संसारमात्रकी सेवा स्वतः हो जाती है।

सिद्धान्त यह हुआ कि मनुष्यके द्वारा जितनी व्यापक सेवा होगी, उतना ही वह श्रेष्ठ हो जायगा। हमें जो कुछ मिला है, वह सृष्टिसे मिला है। इसलिये उसको बड़ी ईमानदारीसे सृष्टिकी सेवामें लगा देना चाहिये। यह गीताका कर्मयोग है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

—— ——::०::—— ——

॥ श्रीहरिः ॥

410▲

जीवनोपयोगी प्रवचन

अमीत

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज गीताके मर्मज्ञ व्याख्याता तो हैं ही, इनके अन्य धार्मिक विषयोंपर दिये गये प्रवचन भी अत्यन्त समयोपयोगी एवं कल्याणकारी होते हैं। स्वामीजी महाराजकी भाषा अति सहज, सुलभ और मर्म-स्पर्शी है तथा विचार अनुभव-जन्य, सार-गर्भित और प्रेरणादायक होते हैं। सामान्य मनुष्योंके जीवनमें जो निराशा, संताप और निरर्थकता व्याप्त हो गयी है उसको दूर करके प्राणोंमें नयी चेतना, सार्थकता और सम्भावनाओंका संचार करनेके लिये स्वामीजी महाराजके प्रवचन अत्यन्त उपयोगी हैं।

प्रस्तुत पुस्तिकामें संगृहीत स्वामीजी महाराजके प्रवचन आध्यात्म, भक्ति एवं सेवा-मार्गके साधकोंके लिये दिशा-निर्देशन और पाथेयका काम करेंगे।—आवश्यकता है केवल इन विचारोंको जाननेकी, समझनेकी तथा तदनुसार आचरण करनेकी। आशा है पाठक-गण इन जीवनोपयोगी विचारोंसे स्वयं लाभ उठायेंगे तथा इनका अधिक-से-अधिक प्रसार करेंगे।

प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

मानव-जीवनका लक्ष्य

हम विचार करके देखते हैं तो स्पष्ट मालूम होता है कि मनुष्य ही परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। जैसे चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्याश्रम केवल पढ़ाईके लिये है। इसी तरह चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य-शरीर ब्रह्मविद्याके लिये है। ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर है और जगह ऐसा मौका नहीं है, न योग्यता है, न कोई अवसर है; क्योंकि अन्य योनियोंमें ऐसा विवेक नहीं होता। देवताओंमें समझनेकी ताकत है, पर वहाँ भोग बहुत है। भोगी आदमी परमात्मामें नहीं लग सकता। यहाँ भी देखो, ज्यादा धनी आदमी सत्संगमें नहीं लगते और जो बहुत गरीब हैं, जिनके पास खाने-पीनेको नहीं है, वे भी सत्संगमें नहीं लगते हैं। उन्हें रोटी-कपड़ेकी चिन्ता रहती है। इसी तरह नरकोंके जीव बहुत दुःखी हैं। बेचारे उनको तो अवसर ही नहीं मिलता है। देवता लोग भोगी हैं, उनके पास बहुत सम्पत्ति है, वैभव है, पर वे परमात्मामें नहीं लगते, क्योंकि सुख-भोगमें लगे हुए हैं, वहीं उलझे हुए हैं। अतः एक मनुष्य ही ऐसा है जो परमात्माकी प्राप्तिमें लग सकता है। उसमें योग्यता है। भगवान्‌ने अधिकार दिया है इसलिये मनुष्य-शरीरकी महिमा बहुत ज्यादा है, देवताओंसे भी अधिक है।

शरीर तो देवताओंका हमारी अपेक्षा बहुत शुद्ध होता है। हमलोगोंका शरीर बड़ा गन्दा है। जैसे कोई सूअर मैलेसे भरा हुआ यदि हमारे पास आ जाता है तो उसको छूनेका मन नहीं

करता, दुर्गन्ध आती है। ऐसे ही हमलोगोंके शरीरसे देवताओंको दुर्गन्ध आती है। ऐसा दिव्य शरीर है उनका। हमारे शरीरमें पृथ्वी-तत्त्वकी प्रधानता है। देवताओंके शरीरमें तेजस्-तत्त्वकी प्रधानता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिका अधिकार जितना मनुष्य-शरीर-वालोंको मिलता है, इतना उनको नहीं मिलता। इसलिये मनुष्य-शरीरकी बहुत महिमा है।

उत्तरकाण्डमें श्रीकाकभुशुण्डिजीसे गरुड़जी प्रश्न करते हैं कि सबसे उत्तम देह कौन-सी है ? तो कहते हैं—मनुष्य-शरीर सबसे उत्तम है, क्योंकि **'नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥'** चर-अचर सब जीव इस मनुष्य-शरीरकी याचना करते हैं, माँग रखते हैं। ऐसा कहकर आगे कहा—

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

(मानस ७।१२०।५)

मनुष्य-देह नरक, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष)—ये तीन देनेवाली है। इसके सिवाय परमात्माका ज्ञान इस शरीरमें हो सकता है। संसारसे वैराग्य हो सकता है और भगवान्‌की श्रेष्ठ भक्ति इसमें हो सकती है। इस शरीरमें ये छः बातें बतायीं। मनुष्य-शरीर एक बड़ा जंक्शन है। यहाँसे चाहे जिस तरफ जा सकता है। ऐसी मनुष्य-शरीरकी महिमा है। इस महिमाको कहते हुए पहले ही नाम लिया—**'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी'** नरकोंमें जा सकते हैं—यह महिमा है कि निन्दा! मनुष्य-शरीर ऐसा है, जिसमें नरक मिल सकते हैं—तो यह निन्दा हुई। इसमें तात्पर्य क्या निकला ? ऊँची-से-ऊँची और नीची-से-नीची चीज मिल सकती है इस मानव-शरीरसे। यह इसकी महिमा है।

वास्तवमें महिमा है शरीरके सदुपयोगकी। इसका उपयोग ठीक तरहसे किया जाय तो भगवान्‌की श्रेष्ठ भक्ति मिल जाय, मुक्ति मिल जाय, वैराग्य मिल जाय, सब कुछ मिल जाय। ऐसी कोई चीज नहीं जो मनुष्य-शरीरसे न मिल सके। गीतामें आया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

(६।२२)

जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद कोई लाभ शेष न रहे। माननेमें भी नहीं आ सकता कि इससे बढ़कर कोई लाभ होता है और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। किसी कारण शरीरके टुकड़े-टुकड़े किये जायँ तो टुकड़े करनेपर भी आनन्द रहे, शान्ति रहे, मस्ती रहे। दुःखसे वह विचलित नहीं हो सकता। उसके आनन्दमें कमी नहीं आ सकती।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(गीता ६।२३)

इतना आनन्द होता है कि दुःख वहाँ रहता ही नहीं। ऐसी चीज प्राप्त हो सकती है मानव-शरीरसे। मनुष्य-शरीरकी ऐसी महिमा तत्त्व-प्राप्तिकी योग्यता होनेके कारणसे है। मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके ऐसे ही तत्त्वकी प्राप्ति करनी चाहिये। उसे प्राप्त न करके झूठ, कपट, बेईमानी, विश्वासघात, पाप करके नरकोंकी तैयारी कर लें तो कितना महान् दुःख है।

यह खयाल करनेकी बात है कि मनुष्य-शरीर मिल गया। अब भाई अपनेको नरकोंमें नहीं जाना है। चौरासी लाख योनियोंमें नहीं जाना है। नीची योनिमें क्यों जायें? चोरी करनेसे, हत्या करनेसे, व्यभिचार करनेसे, हिंसा करनेसे, अभक्ष्य-भक्षण

करनेसे, निषिद्ध कार्य करनेसे मनुष्य नरकोंमें जा सकता है। कितना सुन्दर अवसर भगवान्‌ने दिया है कि जिसे देवता भी प्राप्त नहीं कर सकते, ऐसा ऊँचा स्थान प्राप्त किया जा सकता है—इसी जीवनमें। प्राणोंके रहते-रहते बड़ा भारी लाभ लिया जा सकता है। बहुत शान्ति, बड़ी प्रसन्नता, बहुत आनन्द—इसमें प्राप्त हो जाता है। ऐसी प्राप्तिका अवसर है मानव-शरीरमें। इसलिये इसकी महिमा है। इसको प्राप्त करके भी जो नीचा काम करते हैं, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं।

कोई बढ़िया चीज मिल जाय तो उसका लाभ लेना चाहिये। जैसे किसीको पारस मिल जाय तो उससे लोहेको छुआनेसे लोहा सोना बन जाय। अगर ऐसे पारससे कोई बैठा चटनी पीसता है तो वह पारस चटनी पीसनेके लिये थोड़े ही है। पारस पत्थरसे चटनी पीसना ही नहीं, कोई अपना सिर ही फोड़ ले तो पारस क्या करे ? इसी तरह मानव-शरीर मिला, इससे पाप, अन्याय, दुराचार करके नरकोंकी प्राप्ति कर लेना अपना सिर फोड़ना है। संसारके भोगोंमें लगना—यह चटनी पीसना है।

भोग कहाँ नहीं मिलेंगे ? सूअरके एक साथ दस-बारह बच्चे होते हैं। अब एक-दो बच्चे पैदा कर लिये तो क्या कर लिया ? कौन-सा बड़ा काम कर लिया ? धन कमा लिया तो कौन-सा बड़ा काम कर लिया ? साँपके पास बहुत धन होता है। धनके ऊपर साँप रहते हैं। धन तो उसके पास भी है। धन कमाया तो कौन-सी बड़ी बात हो गयी ? ऐश-आराममें सुख देखते हैं और कहते हैं कि इसमें सुख भोग लें। बम्बईमें मैंने कुत्ते देखे हैं, जिन्हें बड़े आरामसे रखा जाता है। बाहर जाते हैं तो मोटर और हवाई जहाजमें ले जाते हैं। मनुष्योंमें भी बहुत कमको ऐसा आराम

मिलता है, जो कुत्तेको मिलता है। भाग्यमें है तो कुत्तोंको भी मिल जायगा। कौन-सा काम बाकी रह जायगा, जिसके लिये मनुष्य-शरीर नष्ट किया जाय! भोगोंके भोगनेमें, संसारका सुख लेनेमें, धन कमानेमें, मनुष्य-शरीर बर्बाद कर देना कितनी बड़ी भूलकी बात है! झूठ, कपट, बेईमानी करके मनुष्य नरकोंकी तैयारी कर लेता है, यह महान् पतनकी बात है। कितना ऊँचा शरीर मिला है मनुष्यको! उस शरीरमें आकर ऐसा काम कर ले! अतः सावधान रहना चाहिये कि बड़े-से-बड़ा काम हमें करना है, बढ़िया-से-बढ़िया काम हमें करना है। यह काम दूसरी योनिमें नहीं हो सकता।

एक मनुष्य-शरीरमें किये हुए पापोंका चौरासी लाख योनियोंमें भोग होता है। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चारों युग बीत जाते हैं चौरासी लाख योनि और नरकोंके कुण्ड भोगते-भोगते, फिर भी मनुष्य-शरीरमें किया हुआ पाप बाकी पड़ा रहता है। बीचमें भगवान् कृपा करके मनुष्य-शरीर देते हैं। सञ्चित पाप और पड़े हुए हैं भोगनेपर भी सारे पाप समाप्त नहीं होते, इतने महान् पाप हैं, जो इस मनुष्य-शरीरमें बनते हैं। यह मनुष्य-शरीर है जिससे परमात्माकी प्राप्ति कर सकते हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड जिसके फुरणामात्रसे रचित होते हैं, पण्डित होते हैं, वे परमात्मा तुम्हारी आज्ञा माननेके लिये तैयार हो जाते हैं। **'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावें।'** उन गोपियोंके हृदयमें भगवान्‌के प्रति प्रेम होनेके कारण वे कहती हैं—'लाला छाछ दूँगी, थोड़ा नाचो।' तो भगवान् नाचने लग जाते हैं। 'लाला बंसी बजाओ, छाछ पिलाऊँगी।' अब बोलो छाछके बदले वे परमात्मा नाचने और बंसी बजानेको तैयार! इतना ऊँचा पद इस

मनुष्य-शरीरसे मिल सकता है। इस शरीरकी प्राप्ति करके हम फिर कर लें नरकोंकी तैयारी—महान् दुःखोंकी तैयारी, कितनी बड़ी भारी गलती है! ऐसा मनुष्य-शरीर मिल जाय तो बड़े-से-बड़ा लाभ ले लेना चाहिये।

जैसे वृन्दावनमें आ गये हो तो भगवान्‌के दर्शन करो, जमुनाजीमें स्नान करो। वहाँके रहनेवालोंसे पूछो कि ज्यादा लाभकी बात कौन-सी है। ज्यादा पुण्यदायक, उद्धार करनेवाली चीज कौन-सी है। वृन्दावनमें आये हो तो वृन्दावनका आनन्द लो। अब वृन्दावनमें आकर नाटक, सिनेमा देखते हो। अरे भाई! यहाँ क्यों आये? बम्बई, कलकत्तामें बहुत बढ़िया सिनेमा है। यह तो तीर्थ-स्थल है। भगवान्‌के दर्शन करो। जहाँ कीर्तन होता हो, कथा होती हो—ऐसी जगह जाओ और विशेष लाभ लो। वृन्दावनमें आये हो ना? इसी तरह मानव-शरीरमें आये हो तो विशेष लाभ ले लो। पर यहाँ भी वही काम करते हो जो पशु-पक्षी करते हैं, वही खाना-पीना, वही बाल-बच्चे पैदा करना। यह तो भैया कुत्ते बन जाओ तो तैयार, सूअर बन जाओ, गधे बन जाओ तो तैयार, कौआ बन जाओ तो तैयार। ये चीजें कौन-सी बाकी रहेंगी। इन चीजोंके लिये आये हो क्या मनुष्य-शरीरमें? मनुष्य-शरीर क्यों खराब करते हो? यह शरीर क्यों प्राप्त किया? भगवान्‌ने कृपाकर शरीर दिया है तो इस शरीरसे होनेवाले वे लाभ लो, जो दूसरे शरीरमें हो नहीं सकते।

बड़ें भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(मानस ७।४२।४)

मनुष्य-शरीर देवताओंको दुर्लभ है, ऐसा ग्रन्थोंमें कहा है।

ऐसा दुर्लभ शरीर, जिसको प्राप्त करके केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनी चाहिये। केवल परमात्मतत्त्वमें ही सच्चे हृदयसे एकदम लग जाना चाहिये। मौका है भाई! जैसे मनुष्य-शरीर दुर्लभ है, वैसे कलियुग भी दुर्लभ है। जैसा मौका कलियुगमें मिलता है, वैसा अन्य युगमें नहीं मिलता। ऐसे कलियुगमें मौका मिला। उस कलियुगको प्राप्त करके भोगोंमें लग गये अथवा पापोंमें लग गये, अन्यायमें लग गये। शास्त्रकी दृष्टिसे अन्याय, हम भी विचारसे देखें तो अन्याय, लौकिक दृष्टिसे अन्याय, लोग देख लें तो शर्म आये। ऐसे-ऐसे कामोंमें लग जाय मनुष्य-शरीर प्राप्त करके। कितनी हानिकी बात है! तो हम क्या करें।

आज दिनतक हुआ सो हुआ। गलती हुई तो हुई। आजसे दृढ़ निश्चय कर लो कि समय बरबाद नहीं करेंगे, पाप व अन्याय नहीं करेंगे। जल्दी-से-जल्दी तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो? कैसे उस तत्त्वका बोध हो? कैसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम हो जाय? ऐसी लालसा लगाओ।

प्रश्न—क्या हमारा भी प्रेम हो सकता है? क्या इस शरीरसे कल्याण हो सकता है?

उत्तर—ध्यान देकर सुनें। इस शरीरसे ही कल्याण हो सकता है। कल्याण भी आप कर सकते हो। लखपति बन जाओ आपके हाथकी बात नहीं, मकान-इमारत हो जाय, आपके हाथकी बात नहीं। संसारमें यश, प्रतिष्ठा, मान, आदर, सत्कार हो जाय, आपके हाथकी बात नहीं है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना हाथकी बात है। इसमें सब स्वतन्त्र हैं। मनुष्य मात्र इसमें स्वतन्त्र है, कोई परतन्त्र नहीं, क्योंकि बड़े भारी लाभके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही मानव-शरीर मिला है। उसको प्राप्त करना खास काम

****

है। मनुष्य ध्यान नहीं देता है। रामायणमें आया है—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (७।४३।३)

इस चौपाईपर आप थोड़ा ध्यान दें। भगवान् विशेष कृपा करके मानव-शरीर देते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ? भगवान्‌ने इस जीवपर विश्वास किया कि इसको मनुष्य-शरीर दिया जाय, जिससे इसका दुःख मिट जाय, मेरी प्राप्ति हो जाय, इसका कल्याण हो जाय। इस भावनासे मानव-शरीर दिया विशेष कृपा करके। जब भगवान्‌की यह भावना है कि मेरी प्राप्ति कर ले तो थोड़ा-सा हम भी इधर ध्यान दें तो भगवान्‌का संकल्प सच्चा होनेहीवाला है, पर ध्यान नहीं देता मनुष्य। भगवान् कृपा करके मानव-शरीर देते हैं—इसका अर्थ यही है कि परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌ने विश्वास किया। यदि यहाँ आकर जीव भगवान्‌की प्राप्ति नहीं करता है तो भगवान्‌के साथ विश्वासघात करता है। यहाँ आकर पाप, झूठ, कपट करता है तो बड़ा भारी नुकसान है।

निश्चय कर लो कि आजसे पाप नहीं करेंगे। अन्याय नहीं करेंगे और भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति करेंगे। जैसे व्यापारी व्यापार खोजता है, इस तरह परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये खोजमें लगना चाहिये। आपको कोई संत, महात्मा मिल जाय, कोई भगवत्प्राप्त पुरुष मिल जाय तो उनसे पूछो कि भगवान् कैसे मिलें? भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम कैसे हो? जीवन्मुक्ति कैसे हो? इस बातकी लालसा जगाओ तो—

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥ (मानस १।२५८।३)

नारायण! नारायण!! नारायण!!!

—★—

सत्संगकी महिमा

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।

(मानस ३।३४।४)

संत-महात्माओंका संग पहली भक्ति है।

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।
बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

(मानस ७।४४।३)

भक्ति स्वतन्त्र है, सम्पूर्ण सुखोंकी खान है। कहते हैं—

सतसंगत मुद मंगल मूला।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

(मानस १।२।४)

सम्पूर्ण मङ्गलकी मूल सत्संगति है। वृक्षमें पहिले मूल होता है और अन्तिम लक्ष्य फल होता है। सत्संगति मूल भी है और फल भी है। जितने अन्य साधन हैं सब फूल-पत्ती हैं जो मूल और फलके बीचमें रहनेवाली चीजें हैं। सत्संगतिमें ही सब साधन आ जाते हैं। इसलिये सत्संगकी बड़ी भारी महिमा है। सुन्दरदासजी महाराज कहते हैं:—

संत समागम करिये भाई।
यामें बैठो सब मिल आई॥

संत-समागम करना चाहिये। यह नौकाकी तरह है, इसमें बैठकर पार हो जायेंगे। सत्संग चन्दनकी तरह पवित्र बना दे और

पारसरूपी सत्संगसे कंचन-जैसा हो जाय। ऐसा सत्संग है। आगे सुन्दरदासजी महाराज फिर कहते हैं—

"और उपाय नहीं तिरने का सुन्दर काढहि राम दुहाई।"

रामजीकी सौगन्ध दे दी कि कल्याणका और कोई उपाय नहीं है। यह अचूक उपाय है। इसलिये सत्संगमें जाकर बैठ जायें तो निहाल हो जायें। सत्का संग करो। जहाँ भगवान्की चर्चा हो, सत्-चर्चा हो, सत्-चिन्तन हो, सत्कर्म हो और सत्संग हो तो सत्के साथ सम्बन्ध हो जाय। बस, इससे निहाल हो जाय जीव।

जीवको जितने दुःख आते हैं, सब असत्के संगसे आते हैं और अविनाशीका संग करते ही स्वतः निहाल हो जाता है, क्योंकि वह भगवान्का अंश है।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११६। १)

अतः सत्संगसे, सत्का प्रेम होनेसे सत् प्राप्त हो जाता है। सत्संग मिल जाय, परमात्माका संग मिल जाय तो निहाल हो जाय। सत्से जहाँ सम्बन्ध होता है, वह सत्संग है। भगवान्के साथ जो संग है, वह सत्संग है। असली संग होता है, असत्के त्यागसे। वैसे असत्के द्वारा भी सत्संगमें सहायता होती है, जैसे सत्-चर्चा करते हैं तो बिना वाणीसे कैसे करें ? सत्कर्म करते हैं तो बिना बाहरी क्रियासे सत्कर्म कैसे करें ? सत्-चिन्तन करते हैं तो मनके बिना कैसे करें ? पर सत्संगमें दूसरा नहीं हो, अपने-आपहीमें मिल जाय, तल्लीन हो जाय। सत्संग, सत्-चिन्तन, सत्कर्म, सत्-चर्चा और सद्ग्रन्थोंके अवलोकन—इन सबका उद्देश्य सत्संग है। सत्की प्राप्तिके लिये असत्को दूर कर दे तो

सत्संगका उद्देश्य पूरा हो जाता है।

"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।" असत्से विमुख होनेपर सत्का संग हो जाता है। राग, द्वेष, ईर्ष्या आदिका जो कूड़ा-करकट भीतरमें भरा है, यह सत्संग नहीं होने देता। ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य चाहे तो इनका त्याग कर सकता है; परन्तु फिर भी इसे कठिनता मालूम देती है; कबतक ? जबतक पक्का विचार न हो जाय। पक्का विचार करनेपर यह कठिनता नहीं रहती। चाहे जो हो, हमें तो इधर ही चलना है, पक्का विचार हो जाय। फिर सुगमता हो जाती है।

मनमें ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि दोष भरे हुए हैं। बहुत-से भाई-बहिन इस बातको जानते ही नहीं हैं और जो जानते हैं वे विशेष खयाल नहीं करते। कई खयाल करके छोड़ना भी चाहते हैं, लेकिन इसमें सुख लेते रहते हैं। इस कारण राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि छूटते नहीं, क्योंकि असत्का संग रहता है।

सत्का संग (सत्संग) मिल जाय तो आदमी निहाल हो जाय। जहाँ सत्का संग हुआ वह निहाल हुआ। कारण क्या है ? परमात्मा सत् हैं। बीचमें जितना-जितना असत्का सम्बन्ध मान रखा है, वही बाधा है।

जैसे कल्पवृक्षके नीचे जानेसे सब काम सिद्ध होते हैं, वैसे ही सत्संग करनेसे सब काम सिद्ध होते हैं। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। तो क्या सत्संगसे धन मिल जाता है ? कहते हैं कि सत्संगसे बड़ा विलक्षण धन मिलता है। रुपया मिलनेसे तृष्णा जागृत होती है, और सत्संग करनेसे तृष्णा मिट जाती है। रुपयोंकी जरूरत ही नहीं रहती।

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुर्हरेत्।
पापं तापं तथा दैन्यं सद्यः साधुसमागमः॥

गङ्गाजीमें स्नान करनेसे पाप दूर हो जाते हैं; पूर्णिमाके दिन चन्द्रमा पूरा उदय होता है, उस दिन तपत (गरमी) शान्त हो जाती है; कल्पवृक्षके नीचे बैठनेसे दरिद्रता दूर हो जाती है। पर सत्संगसे तीनों बातें होती हैं—पाप नष्ट होते हैं, भीतरी ताप मिट जाता है और संसारकी दरिद्रता दूर हो जाती है।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सो साहन पतिशाह॥

सत्संगसे हृदयकी चाहना भी मिट जाती है। यह बात एकदम सच्ची है, सत्संग करनेवाले भाई-बहिन तो इस बातको जानते हैं। बिलकुल ठीक बात है, सत्संगसे हृदयकी जलन दूर हो जाती है।

मनुष्य चाहता है कि ऐसे हो जाय, वैसे हो जाय तो ऐसी बात आती है कि—

मना मनोरथ छोड़ दे तेरा किया न होय।
पानी में घी नीपजे तो सूखी खाय न कोय॥
यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

जो नहीं होना है, वह नहीं होगा और जो होनेवाला है, वह टल नहीं सकता, होकर रहेगा फिर ऐसा क्यों आग्रह कि यह होना चाहिये, यह नहीं होना चाहिये। बस, हाँ-में-हाँ मिला दें। सत्संग भी एक कला है। सत्संगमें कला मिलती है, दुःखोंसे पार होनेकी। जैसे समुद्रमें डूबनेवालेको तैरनेकी कला हाथ लग जाय, ऐसे सत्संगमें युक्ति मिल जाय तो निहाल हो जाय।

सत्संगमें उत्तम विचार मिलते हैं। ज्ञानमार्गमें तो यहाँतक बताया है—

धन किस लिए है चाहता, तू आप मालामाल है।
सिक्के सभी जिससे बनें, तू वह महा टकसाल है॥

उस धनके आगे तू इस धनको क्यों चाहता है? धन-ही-धन है। परमात्मा-ही-परमात्मा है; लबालब भरा हुआ है। उस धनसे धन्य हो जाय। परमात्माका, सत्‌का दर्शन—यह सत्संग करा देता है।

सत्संगमें व्यापार एक ही चलता है, भगवान्‌की बात। उसीको कहना, सुनना, समझना, विचार करना, चिन्तन करना। भगवान् जिसपर कृपा करते हैं, उसको सत्संग देते हैं। सत्संग दे दिया तो समझो भगवान्‌के खजानेकी बढ़िया चीज मिल गयी। जो भगवान्‌के प्यारे होते हैं, वे भगवान्‌के भीतर रहते हैं। यह हृदयका धन है। माता-पिता जिस बालकपर ज्यादा स्नेह रखते हैं, उसको अपनी पूँजी बता देते हैं कि बेटा, देखो यह धन है। ऐसे ही भगवान् जब बहुत कृपा करते हैं तो अपने खजानेकी चीज (पूँजी) संत-महात्माओंको देते हैं—लो बेटा, यह धन हमारे पास है।

सत्संग मिल जाय तो समझना चाहिये कि हमारा उद्धार करनेकी भगवान्‌के मनमें विशेषतासे आ गयी; नहीं तो सत्संग क्यों दिया? हम तो ऐसे ही जन्मते-मरते रहते, यह अडंगा क्यों लगाया? तो यह कल्याण करनेके लिये लगाया है। जिसे सत्संग मिल गया तो उसे तो यह समझना चाहिये कि भगवान्‌ने उसे निमन्त्रण दे दिया कि आ जाओ। ठाकुरजी बुलाते हैं, अपने तो प्रेमसे सत्संग करो, भजन-स्मरण करो, जप करो। सत्संग करनेमें सब स्वतन्त्र हैं। सत् परमात्मा सब जगह मौजूद है। वह परमात्मा

****

मेरा है और मैं उसका हूँ—ऐसा मानकर सत्संग करे तो वह निहाल हो जाय।

सत्संग कल्पद्रुम है। सत्संग अनन्त जन्मोंके पापोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। जहाँ सत्‌की तरफ गया कि असत् नष्ट हुआ। असत् तो बेचारा नष्ट ही होता है। जीवित रहता ही नहीं। इसने पकड़ लिया असत्‌को। अगर यह सत्‌की तरफ जायगा तो असत् तो खत्म होगा ही। सत्संग अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर कर देता है। महान् परमानन्द-पदवीको दे देता है। यह परमानन्द-पदवी दान करता है। कितनी विलक्षण बात है ! सत्संग क्या नहीं करता ? सत्संग सब कुछ करता है। ***''प्रसूते सद्बुद्धिम्।''*** सत्संग श्रेष्ठ बुद्धि पैदा करता है। बुद्धि शुद्ध हो जाती है।

गोस्वामीजी महाराज लिखते हैं:—

मज्जन फल पेखिअ ततकाला।
काक होहिं पिक बकउ मराला॥

(मानस १।२।१)

साधु-समाजरूपी प्रयागमें डुबकी लगानेसे तत्काल फल मिलता है। कौआ कोयल बन जाता है, बगुला हंस बन जाता है अर्थात् सत्संग करनेसे रंग नहीं बदलता, ढंग बदल जाता है। जो वाणी कौआकी तरह है, वह कोयलकी तरह हो जाती है। जो बगुला होता है वह हंसकी तरह नीर-क्षीर-विवेक करने लगता है। सत्संगसे आचरण और विवेक तत्काल बदल जाते हैं। सत्संग मिल जाय तो ये बदल जाते हैं अगर नहीं बदले तो या तो सत्संग नहीं मिला या सत्संगमें आप नहीं गये। दोनोंके मिलनेसे ही काम बनता है। पारस लोहेको सोना बना दे, अगर मिले तब तो, पर बीचमें पत्ता रख दिया तो फिर कुछ नहीं बननेका।

भगवान्‌के प्रति व संत-महात्माओंके प्रति निष्काम भावसे प्रेम करो। भगवान् मीठे लगें, प्यारे लगें, अच्छे लगें। क्यों लगें ? क्योंकि वे मेरे हैं। बच्चोंको माँ अच्छी लगती है। क्यों लगती है ? क्योंकि मेरी माँ है। ऐसे ही भगवान्‌के साथ अपनापन रहे, तो यह सत्संग होता है। भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं। कैसी बढ़िया बात है।

एक सज्जन मिले। वे कहते थे कि तीर्थोंका माहात्म्य बहुत है। गङ्गाजी अच्छी हैं, यमुनाजी अच्छी हैं, प्रयागराज बड़ा अच्छा है—ऐसा लोग कहते तो हैं, परन्तु किराया तो देते नहीं। किराया दें तो वहाँ जायें। सत्संगमें बढ़िया-बढ़िया बात सुनते हैं और परमात्माके धाम जानेके लिये किराया भी मिलता है। सत्संगमें ज्ञान मिलता है, प्रेम मिलता है, भगवान्‌की भक्ति मिलती है। भगवान् शबरीसे कहते हैं, **''प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।''** दण्डक वन था, उसमें वृक्ष आदि सब सूखे हुए थे। उसमें शबरी रहती थी। यहाँ शबरीको संतसंग मिल गया, यह भगवान्‌की कृपा है। मतंग ऋषि थे, बड़े वृद्ध संत, कृपाकी मूर्ति। उन्होंने शबरीको आश्वासन दिया था कि बेटा, तू चिन्ता मत कर, यहाँ रह जा। ऋषि-मुनियोंने इसका बड़ा विरोध किया, पर संतकी कृपा बड़ी विचित्र होती है।

धनी आदमी राजी हो जाय तो धन दे दे, अपनी कुछ चीज दे दे, परन्तु संत कृपा करें तो भगवान्‌को दे दें। उनके पास भगवान्‌रूपी धन होता है। वे सामान्य धनके धनी नहीं होते हैं, असली धनके धनी होते हैं, मालामाल होते हैं और वह माल ऐसा विलक्षण है कि ***''दानेन वर्धते नित्यम्''***, ज्यों-ज्यों देते हैं, त्यों-त्यों बढ़ता है। ऐसा अपूर्व धन है। अतः खुला खर्च करते

****

हैं। खुला भंडार पड़ा हुआ है, अपार, असीम, अनन्त है, जिसका कोई अन्त ही नहीं है। भगवान्‌का ऐसा अनन्त अपार खजाना है। फिर भी मनुष्य मुफ्तमें दुःख पा रहे हैं। इसलिये सज्जनो, बड़े आश्चर्यकी बात है !

पानीमें मीन पियासी, मोहि देखत आवै हाँसी।
जल बिच मीन, मीन बिच जल है निश दिन रहत पियासी ॥

भगवान्‌में सब संसार है और सबके भीतर भगवान् हैं। उन भगवान्‌से विमुख होते हैं **''सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं''** तो संत-महात्मा जीवको परमात्माके सम्मुख कर देते हैं। अरे भाई ! परमात्मा तो सम्मुख है ही, हमारा प्यारा माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्बी, सम्बन्धी—वह सब तरहसे अपना है। वे प्रभु हमारे हैं। संत ऐसी बात बता दें और हम वह बात सुनकर पकड़ लें तो बड़ा भारी लाभ होता है। स्वयं हम पकड़ें और किसी संत-महात्माके कहनेसे हृदयसे पकड़ें तो उसमें बड़ा अन्तर होता है।

संत-महात्मा जो कहते हैं, उनके वचनोंका आदर करो। जमानत भी ली जाती है तो इज्जतदार आदमीकी। हर एककी जमानत नहीं होती है। ऐसे ही भगवान्‌के दरबारमें संत-महात्माओंकी और भक्तोंकी बड़ी इज्जत है, तभी तो गोस्वामीजीने कह दिया—

सत्य बचन आधीनता पर तिय मातु समान।
इतने पै हरि ना मिले तो तुलसीदास जमान ॥

तुलसीदासजीकी जमानत है। संत लोग जमानत दे देते हैं और वह भगवान्‌के यहाँ चलती है। संतोंके यहाँ परमात्माका बड़ा खजाना रहता है। मुफ्तमें धन मिलता है, मुफ्तमें कमाया हुआ, तैयार किया हुआ, सत्संगसे यह सब मिल सकता है।

****

प्रश्न—कुछ लोगोंको सत्संग करना सुहाता ही नहीं। इसका क्या कारण है?

उत्तर—पापीका यह स्वभाव है कि उसे सत्संग सुहाता नहीं।

पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

(मानस ५। ४३। २)

तुलसी पूरब पाप ते, हरि चर्चा न सुहाय।
जैसे ज्वर के जोर ते, भूख बिदा ह्वै जाय॥

मनुष्यको बुखार आ जाता है तो भूख नहीं लगती, अन्न अच्छा नहीं लगता। अन्न अच्छा नहीं लगता तो इसका अर्थ है उसको रोग है। जब पित्तका जोर होता है तो मिश्री भी कड़वी लगती है। मिश्री कड़वी नहीं है, उसकी जीभ कड़वी है। इसी तरह जिसे भगवान्‌की चर्चा सुहाती नहीं तो इसका कारण है कि उसे कोई बड़ा रोग हो गया। कथामें रुचि नहीं होती तो स्पष्ट है कि अन्तःकरण बहुत मैला है, मामूली मैला नहीं, ज्यादा मात्रामें मैला है।

ज्यादा मैला होनेपर क्या उसको सत्संग दूर नहीं कर सकता?

सत्संग सब मैलोंको दूर कर सकता है; पर मनुष्य पासमें ही नहीं आता। बुखारका जोर होनेसे अन्न अच्छा नहीं लगता और मिश्री कड़वी लगती है। कैसे करें? मिश्री कड़वी लगे तो भी खाते रहो। मिश्रीमें खुदमें ताकत है कि वह पित्तको शान्त कर देगी और मीठी लगने लगेगी। ऐसे ही भजनमें रुचि नहीं हो तो भी भजन करते रहो। भजन करते-करते ज्यों-ज्यों पाप नष्ट होते हैं, त्यों-त्यों उसमें मिठास आने लगता है। सत्संगमें ऐसे लोग

आये हैं जो रुचि नहीं रखते थे। पर किसीके कहनेसे आये तो फिर विशेषतासे आने लग गये।

प्रश्न—सत्संग प्रतिदिन क्यों किया जाय ?

उत्तर—सत्संगकी महिमा क्या कहें ? सत्संग तो रोजाना करनेका है, नित्यप्रति करनेका है। यह त्यागनेका है ही नहीं। सत्संगसे सांसारिक बाधाएँ मिट जाती हैं। कोई बीमार होता है, कोई लड़ाई करता है, किसीको कोई और बाधा लग जाती है—ये सब तरह-तरहके साँप हैं जो काटते हैं। उनसे जहर चढ़ जाता है तो वह घबरा जाता है। वह अगर सत्संगमें जाकर सत्संगरूपी बूटी सूँघ ले तो स्वस्थ हो जाय, प्रसन्न हो जाय। चित्तकी चिन्ता दूर हो जाय। फिर जाकर संसारका काम करे। काम करते-करते उसमें उलझ जाते हैं तो जहर चढ़ जाता है। वह जहर सत्संगमें जानेसे ठीक हो जाता है। इस तरह करते हुए हमारे जो शत्रु हैं—काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि वे सब-के-सब मर जाते हैं। जैसे अन्न, जल आवश्यक है, साँस लेना आवश्यक है, उसी तरह सत्संग भी प्रतिदिन करना जरूरी है। वह तो रोजकी खुराक है। सत्संगसे बहुत शान्ति मिलती है। बहुत-सी मानसिक बीमारियाँ दूर होती हैं। सत्संग सूर्यकी तरह होता है जो अन्तःकरणके अन्धकारको दूर कर देता है। उससे पाप दूर हो जाते हैं, बिना पूछे शंकाएँ दूर हो जाती हैं। तरह-तरहकी जो हृदयमें उलझनें हैं, वे सुलझ जाती हैं। सत्संग जहाँ हो जाय, मिल जाय तो समझना चाहिये कि भगवान्‌ने विशेष कृपा की। भगवान् शंकरने दो ही बात माँगी—'**पद सरोज अनपायनी भगति**', और '**सदा सत्संग।**'

प्रश्न—सत्संगसे मुफ्तमें लाभ मिलता है सो कैसे ?

****

उत्तर—सत्संगसे जो लाभ होता है वह साधनसे नहीं होता। साधन करके जो परमात्मतत्त्वको प्राप्त करता है, वह कमाकर धनी बनता है और सत्संगसे वह गोद चला जाता है, कमाया हुआ धन मिल जाता है। संतोंका कमाया हुआ धन मिलता है। गोद जानेवालेको क्या जोर आवे ? आज कंगाल और कल लखपति। वह तो जा बैठा गोदमें। कमाये हुए धनका मालिक हो जाता है। सत्संगके द्वारा ऐसी चीजें मिलती हैं, जो वर्षोंतक साधन करनेसे भी नहीं मिलतीं। अतः सत्संग मिल जाय तो अवश्य करना चाहिये। मुफ्तमें कल्याण होता है, मुफ्तमें।

प्रश्न—नाम-जपसे अधिक सत्संगकी महिमा कही—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—सत्संग करनेवाला नाम जपे बिना रह नहीं सकता। नाम-जप स्वाभाविक ही होगा।

प्रश्न—सत्संग न मिले तो क्या करें ?

उत्तर—भगवान्‌से प्रार्थना करें हे नाथ ! हे नाथ ! करके पुकारो। भगवान् सर्वसमर्थ हैं। उनको पुकारते जाओ वे सत्संगकी व्यवस्था बैठा देंगे। इसके अलावा सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करें।

प्रश्न—मनुष्यका सुधार करनेमें सबसे बढ़िया उपाय क्या है ? आप अपने अनुभवके आधारपर बतावें।

उत्तर—मेरेको जितना लाभ सत्संगसे हुआ है, उतना किसी साधनसे नहीं हुआ। अच्छे संगमें रहनेसे बड़ा भारी लाभ होता है, जिसकी कोई सीमा नहीं। सत्संग मत छोड़ो, जिस सत्संगसे अपने हृदयकी गाँठ खुलती है, आत्मसाक्षात्कार होता

है, प्रकाश मिलता है, ऐसा सत्संग छोड़ो मत। सब कुछ मिल जाता है पर "**संत समागम दुर्लभ भाई**"।

प्रश्न—सत्संगसे प्रकाश कैसे मिलता है?

उत्तर—सत्संगतिका अर्थ होता है प्रकाश। जैसे हम कहीं जाते हैं और रात्रिका समय हो तो मोटरका प्रकाश सामने ही रहता है। ऐसा नहीं होता कि प्रकाश पीछे रह जाय और मोटर आगे निकल जाय। प्रकाश आगे ही रहेगा और वह प्रकाश चलनेके लिये रास्ता बताता है। ऐसे ही सत्संगतिसे मनुष्यको प्रकाश मिलता है कि हम कैसे चलें? सत्संगकी बातें केवल याद कर लें, पुस्तकोंमें पढ़ लें, लोगोंसे कह दें और हम उसके अनुसार चलें नहीं तो प्रकाशको तेज करनेमात्रसे रास्ता नहीं कटता। लाइट कम भी है, परन्तु जहाँतक रास्ता दिखता है, वहाँतक हम चलते जायें तो उससे आगे दिखने ही लगेगा—यह नियम है। परन्तु एक जगह खड़े-खड़े कितनी ही तेज लाइट कर लें गन्तव्य स्थान नहीं दिखेगा। ऐसे ही सत्संगतिके द्वारा हमें जो प्रकाश मिल जाय उसके अनुसार अपना जीवन बनावें, उसके अनुसार चलें। तभी वह प्रकाश सार्थक होता है। जीवन न भी बनावें तो भी यह प्रकाश निरर्थक नहीं जाता; क्योंकि जो सत्य चीज है, वह प्रकट हो ही जाती है। सत्यकी विजय होती है, झूठकी विजय नहीं होती। परन्तु यदि सत्यका आदर करें तो बहुत जल्दी और विशेष लाभ ले सकते हैं। तो सत्संगकी बातें अपने आचरणमें लाना चाहिये।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

——★——

दुर्गुणोंका त्याग

आप खूब ध्यान दें, मनुष्यसे दोष उस समय होता है जब वह किसीसे कुछ चाहता है। अपना अभिमान होता है और सुख चाहता है, संयोगजन्य सुखकी अभिलाषा भीतर होती है। अर्जुनने पूछा कि मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, फिर पाप क्यों हो जाता है ? भगवान्‌ने यही उत्तर दिया है कि उसके मनमें सुख-भोगकी, और संग्रहकी कामना है, चाहना है। जबतक यह चाहना रहेगी, तबतक पाप होता ही रहेगा। सावधान होनेपर भी फिर गफलत हो जायगी।

इसके मिटनेका उपाय क्या है ? असली उपाय भीतरका प्रायश्चित्त है, पश्चात्ताप हो जाय, जलन पैदा हो जाय। जिस पाप-कर्मसे जितना सुख हुआ, उस सुखकी अपेक्षा पश्चात्ताप अधिक हो जाय और यह प्रतिज्ञा कर ले कि कभी किसीको धोखा नहीं दूँगा, ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा, ऐसा पक्का विचार कर ले और उसपर डटा रहे तो पहले किया हुआ पाप नष्ट हो जायगा। परन्तु यदि विचार भी करता रहता है फिर भी वैसा ही पाप करता रहता है तो वह नष्ट नहीं होता। नया-नया पाप होता रहता है, फिर पतन होता ही चला जायगा। पक्का पश्चात्ताप हो जाय कि अब ऐसा काम नहीं करेंगे, इसपर डटा रहेगा तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, निर्मल हो जायगा। जितना पश्चात्ताप अधिक होगा और जितना अपना विचार पक्का होगा, उतनी जल्दी अन्तःकरण शुद्ध होगा। ये दो चीजें बहुत दामी हैं, बड़ी श्रेष्ठ हैं, अन्तःकरणको

निर्मल करनेवाली और पापोंका नाश करनेवाली हैं।

एक बातका खयाल रखना है कि मनुष्य स्वयं परमात्माका अंश है, स्वयं दोषी नहीं है, यह संयोगजन्य सुख लेनेसे ही दोषी बनता है। अपना अभिमान और कामना—ये दो महान् पतन करनेवाले हैं और इनसे लाभ कोई होनेवाला नहीं है। तो खूब समझनेकी बात है। हमारे इस बातका विचार आता है मनमें कि भाई लोग ध्यान नहीं देते। संसारसे सुखकी कामना और लोभ रहता है कि मेरे लाभ हो जायगा, इतना ले लूँ, इतना रख लूँ, इतना मार लूँ इससे मेरे सुख हो जायगा—ऐसा भाव है, इसके समान धोखा देनेवाला कोई वैरी है ही नहीं। इतना इससे धोखा खाता है। सज्जनो! आपके जँचे-न-जँचे; पर यह बात मेरी विचारी हुई है कि लाभ कोई-सा ही नहीं है और नुकसान बहुत भारी है। परन्तु मनुष्यको उसमें लाभ दिखता है और नुकसान नहीं दिखता—यह अवस्था है।

करहिं मोह बस नर अघ नाना।
स्वारथ रत परलोक नसाना॥

(मानस ७।४०।२)

स्वार्थमें रत रहकर नाना प्रकारके पाप करता है। मूढ़ता भरी है भीतरसे, वहम रहता है कि मैं ठीक कर रहा हूँ, पर कर रहा है अपने-आप अपनी हत्या, अपना पतन और अपना नुकसान।

सज्जनो! कृपा करके आजसे अन्याय छोड़ दो, पाप मत करो। अगर शान्ति, सुख चाहते हो तो दूसरोंका हक लेनेका विचार मत रखो नहीं तो कोई बचा नहीं सकेगा, महान् कष्टमें जाना ही पड़ेगा; क्योंकि पापोंको पकड़ लिया आपने, पापके

****

बापको भी पकड़ लिया।

एक कहानी आती है। एक अच्छे पण्डितजी कथा कहते थे, लोगोंको सुनाते, पढ़ाते थे। एक दिन पण्डितजीकी स्त्रीने कह दिया कि महाराज! पापका बाप कौन है? तो पण्डितजी बता नहीं सके। बड़ा दुःख हुआ कि मैं इतना पढ़ा-लिखा पण्डित हूँ और यह तो कुछ नहीं जानती, पर मुझे इसके प्रश्नका भी उत्तर आया नहीं। तो पश्चात्ताप हुआ और उठकर चल दिये कि तेरे प्रश्नका उत्तर दिये बिना मैं तेरे हाथकी रोटी नहीं खाऊँगा। स्त्रीने बहुत अनुनय-विनय किया; पर पण्डितजीने कहा कि नहीं। स्त्रीको दुःख हुआ, पर विचार किया कि सुधार हो जाय तो अच्छी बात है, इस कारण चुपचाप रही।

वह जाने लगा, बीचमें एक वेश्याका घर था। वह पण्डितजीको जानती थी। उसे इस बातका आश्चर्य आया कि आज पण्डितजी उदास होकर कैसे जा रहे हैं। सामने जाकर उसने पूछा कि महाराज! आज आप कहाँ जा रहे हैं, क्या बात है? तो पण्डितजी बोले कि मुझे बड़ा दुःख है। "किस बातका"? वेश्याने पूछा। उत्तर दिया कि मेरी स्त्रीने प्रश्न किया और उत्तर मुझे आया नहीं। इसलिये काशी जाता हूँ वहाँ पढ़ाई करूँगा। पण्डितोंसे पूछूँगा। फिर आऊँगा घरपर। वेश्याने पूछा कि बात क्या है? पण्डितजीने उत्तर दिया कि मेरी स्त्रीने पूछा कि पापका बाप कौन है? मैं बता नहीं सका। वह बोली—यह बात तो मैं बता दूँगी। आप वहाँ क्यों जाते हैं? यह तो बड़ी सीधी बात है, मैं बता दूँगी। पण्डितजी बोले कि बहुत अच्छी बात है, हमें तो बात मिलनी चाहिये। पण्डितजी रुक गये।

अमावस्याके पहले दिन सौ रुपये भेंट कर दिये और वह बोली कि मेरी प्रार्थना है कि मेरे घरपर आप भोजन कर लें, भोजन चाहे आप स्वयं बना लें। पण्डितजीने विचार किया कि इसमें दोष क्या है ? स्वीकार कर लिया निमन्त्रण। दूसरे दिन पण्डितजी चले गये। उसने भोजनकी सारी सामग्री तैयार कर ली। चौका देकर, रसोई साफ करके सामग्री सामने रख दी और वेश्याने सौ रुपये और पण्डितजीके सामने रखे और कहा कि महाराज ! आप पक्की रसोई तो दूसरेके हाथकी पाते ही हैं, मैं बना दूँ अच्छी तरहसे। इतनी मुझपर कृपा हो जाय। पण्डितजीने सोचा कि पक्की रसोई पानेमें क्या है ? पक्की रसोई पाते तो हैं ही, चलो इसके हाथकी पा लेंगे। वेश्याने खीर, मालपुआ, पूरी, साग आदि सब ठीक तरहसे बना लिये।

रसोई बनकर तैयार हो गयी तो कहा—पण्डितजी महाराज ! अब पावो। उनके सामने रसोई परोस दी। सामने लाकर सौ रुपये रख दिये और बोली कि एक कृपा और हो जाय, मेरे हाथसे ग्रास ले लो। पण्डितजीने सोचा इसमें हर्ज क्या है, इसके हाथकी बनायी हुई रसोई अपने न लेकर, उसके हाथसे ले लें, इसमें फर्क क्या है ? पडिण्तजीने स्वीकार कर लिया। ग्रास बनाकर मुँहमें देने लगी तो जैसे ही पण्डितजीने मुँह खोला तो पण्डितजीके मुँहपर जोरका थप्पड़ मारा और बोली कि अभीतक होश नहीं आया, खबरदार मेरा एक भी दाना खाया तो। मैं आपका धर्म-भ्रष्ट नहीं करना चाहती। आपके शंका थी न कि पापका बाप कौन है ? शास्त्रोंमें वेश्याका अन्न कितना निषिद्ध लिखा है। आपने पढ़ा है ? ''पढ़ा तो है''—पण्डितजी बोले। तो आप कैसे तैयार हो

गये खानेके लिये ? और वह भी मेरा बनाया हुआ और मेरे ही हाथसे। कारण क्या है ? आपको पता नहीं लगा, यह जो लोभ है न, यही पापका बाप है।

गीताजीने (२।४४ में) दो आसक्तियाँ बतायीं—*''भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्''* सुखभोग और संग्रह। इनमें एक-एकसे आदमी अन्धा हो जाता है। अगर दोनों हो जाय, फिर तो उसका कहना ही क्या है। पूछा गया कि मनुष्य ऐसा क्यों करता है ? वह लोभमें आकर करता है। सुख-आराम मिले और धन मिल जाय, ऐसी चाहना होनेपर फिर चाहे जो पाप करवा लो। दवाईके नामसे चाहे जो चीज खिला दो और व्यापारके नामसे चाहे जो काम करवा लो। सुना है कि सनातन-धर्मके आदमियोंने मांस सप्लाई-तक किया मिलट्रीके लिये। अब व्यापार है, राम ! राम ! राम ! भीतर लोभ है कि रुपया आ जाय तो उसके लिये क्या-क्या अनर्थ करते हैं लोग ! रोंगटे खड़े हो जायँ अगर विचार करके देखें तो ऐसे अन्याय करते हैं। और है क्या ? यह धन कितने दिन ठहरेगा ? आप कितने दिन जीवेंगे ? परन्तु पापकी गठरी तो बाँध ही लेता है। सन्तलोग कहते हैं कि तू थोड़ा-सा डर तो सही।

पाप कर्मसे डर रे मेरा मनवा रे।

मन ! तू पाप-कर्मसे डर। तू व्यर्थमें अनर्थ करता है, लोगोंका माल मारता है और भोग भोगता है। निषिद्ध रीतिसे सुख भोगता है। थोड़ा-सा विचार कर, मनुष्य-शरीर मिला है तेरेको। अच्छी-अच्छी बातें सुनने, कहनेका मौका मिलता है, फिर भी तू ऐसा करता है। भाइयो, सज्जनो ! दुनियाका उद्धार हो सकता है, परन्तु ऐसे आदमीका उद्धार नहीं होगा जो महान् अपराध करता

है फिर पूछते हैं कि वैराग्य क्यों नहीं ठहरता ? वैराग्य कैसे ठहरे ? जब राग ऊपर चढ़ा हुआ है, भोग-इच्छा भीतर पड़ी हुई है। वैराग्य कैसे टिके ? वहाँ वैराग्य नहीं टिकेगा। विरुद्ध अवस्था है यह। रागके वशीभूत होकर निषिद्ध आचरणसे भी बचता नहीं। भाई ! अगर आप दुर्गतिसे बचना चाहते हैं, नरकोंसे बचना चाहते हैं, चौरासी लाख योनियोंसे बचना चाहते हैं, महान्-महान् कष्टोंसे बचना चाहते हैं, तो आजसे, अभीसे विचार कर लें कि दूसरोंका हक नहीं लेंगे। किसी रीतिसे ही लिया हो, वह ब्याज-सहित उसको पूरा-का-पूरा दे दें। दूसरेका हक मारनेका भाव भीतरसे सदाके लिये उठा दो। जीवन निर्मल बना लो सज्जनो ! तब तो ये पारमार्थिक बातें समझमें आने लग जायेंगी। आचरणमें आने लग जायेंगी। परन्तु जबतक नीयत खराब होगी, तबतक ये बातें समझमें नहीं आ सकतीं। याद कर लो, दूसरोंको सुना दो, परन्तु जबतक पाप विराजमान है भीतर, तबतक कुछ नहीं होगा। इसलिये कम-से-कम, सबसे पहले यह निश्चय कर लो कि अन्यायपूर्वक भोग नहीं भोगेंगे और अन्यायपूर्वक संग्रह नहीं करेंगे। निषिद्ध कर्मोंका त्याग सबसे पहला त्याग है।

'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' पूज्य श्रीसेठजीका लेख है उसमें सबसे पहला त्याग निषिद्ध कर्मोंका त्याग है—झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानी, अभक्ष्य-भक्षण आदि-आदि ये निषिद्ध आचरण शरीरसे, मनसे, कभी नहीं करना चाहिये। यह पारमार्थिक मार्गमें कलंक है। क्या पहले कलंकका भी त्याग नहीं कर सकते ? हृदयसे त्याग कर दो। भीतरसे त्यागका भाव मुख्य है इतना होनेपर भी किसी कारणसे कभी कोई पाप या दोष हो जाय तो

जलन पैदा हो जायगी यह इसकी पहिचान है। अशान्ति हो जायगी। उस जलनमें यह ताकत है कि आगे दुबारा पाप नहीं होगा। पक्का विचार कर लें कि अब नहीं करेंगे। हे नाथ ! ऐसा बल दो, ऐसी शक्ति दो कि आपकी आज्ञाके विरुद्ध कोई काम न करें। तो भगवान् मदद करते हैं, धर्म मदद करता है, शास्त्र मदद करते हैं, सन्त-महात्मा मदद करते हैं। सच्चे हृदयसे परमात्माकी तरफ चलनेवालेपर दुनियामात्र कृपा करती है और मदद करती है। सभी मदद करते हैं, उसकी सहायता करते हैं।

एक सन्त मिले थे, अन्धे थे। उन्होंने कहा कि मुझे वैराग्य हुआ और बाहर जंगलमें रहता था। ठंडक आ गयी तो एक भक्तने बढ़िया कम्बल दे दी। वह एक कम्बल ही मेरे पास बढ़िया थी और कोई चीज बढ़िया नहीं। रात्रिमें एकान्त था तो कुछ आदमी पासमें आये, शब्द सुनायी दिया, उनकी वाणी सुनी। मनमें विचार किया कि न जाने डाकू हैं कि चोर हैं, न जाने कौन हैं ? मेरे पास यह कम्बल है इसे देखकर ये ले जायेंगे तो पहले अपने ही इनसे बात कर लो। तो उनसे बोले कि भाई ! बोलो कौन हो, क्या बात है ? उन्होंने आकर देखा कि ये तो बाबाजी हैं। ऐसा देखकर बोले कि महाराज ! आप सन्त हैं, इसलिये हम आपसे सच्ची बात कह देते हैं कि हम चोरी करने जा रहे हैं, हमारा पेशा चोरी करनेका नहीं है, हम तो गृहस्थ हैं। अपना कमाकर खानेवाले हैं परन्तु राज्यका लगान बहुत बढ़ गया है, वह दे नहीं सकते, इसलिये हम चोरी करने जा रहे हैं। सन्तने कहा कि भैया, चोरी करना अच्छा नहीं है। उन्होंने कहा कि हम भी अच्छा नहीं समझते; परन्तु करें क्या ? इतना लगान कहाँसे दें ? हमारे पास

है नहीं। उनसे इतनी बात की, पर बाबाकी कम्बल नहीं ली। आदमी लोभमें ऐसा करता है, लोभमें चोरी करे, दूसरोंको दुःख दे, धन मार ले, कितने पापकी बात है, कितने अन्यायकी बात है। यह एक विलक्षण बात है कि निर्धन होनेपर भी, आफत आनेपर भी पाप न करे। दुःख पा ले, पर पाप न करे, अन्याय न करे।

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा।
सहे धरम हित कोटि कलेसा॥

(मानस २।९४।२)

धर्मके लिये करोड़ों कष्ट सह लिये, पर अपने धर्मसे विचलित नहीं हुए।

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपद काल परिखिअहिं चारी॥

(मानस ३।४।४)

इनकी परीक्षा आपत्तिके समय होती है। मनुष्यके लिये बहुत ही आवश्यक है कि धैर्य खोवे नहीं। जोरसे हवा आती है कभी-कभी, तो बड़े-बड़े वृक्ष टूट जाते हैं। पर उस हवामें भी जो ठीक रह जाय तो फिर वह मौजसे रहता है कोई खतरा नहीं। इसी तरह काम, क्रोध, लोभ आदिकी हवाका झोंका मिट जाता है तो फिर ठीक हो जाता है। थोड़ा-सा धैर्य रखें। कैसी भी आफत आ जाय, पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे, शास्त्र-निषिद्ध आचरण नहीं करेंगे, भूखे मरेंगे तो मर जायेंगे और क्या होगा, बताओ? पासमें कुछ नहीं है तो भूखे मर जायेंगे, इसके सिवा दण्ड होगा नहीं। पाप करोगे तो नरकोंमें जाना पड़ेगा और चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा यह बात स्वीकार कर ले तो उससे कोई

शक्ति कभी पाप करवा नहीं सकेगी।

शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनोंके अस्त्रोंका वर्णन आता है। ब्रह्माजीका ब्रह्मास्त्र है, भगवान् विष्णुका नारायणास्त्र है और शिवजीका पाशुपतास्त्र है। ये मन्त्रोंके प्रयोगसे चलते हैं। ब्रह्मास्त्र जिसपर छोड़ दिया जाता है तो उसे खत्म कर देता है। ब्रह्मास्त्रका उपाय है उसका उपसंहार करना। मन्त्रोंसे उसको उलटा लेनेसे वह आगे दखल नहीं देता। नारायण-अस्त्र छूट जाता है तो वह भी खातमा कर देता है। उसका उपाय है कि शरण हो जाय, लम्बे पड़ जाय। शरण ले लेनेसे वह नारायण-अस्त्र नहीं मारता है। परन्तु पाशुपतास्त्र छोड़नेपर चाहे कुछ भी करो, खत्म ही करेगा। भले ही शरण हो जाओ, भले ही कुछ भी करो। वह तो संहार करेगा ही। पाशुपतास्त्र बहुत कम आदमियोंके पास है। महाभारतका युद्ध हुआ, उसमें भगवान् शंकरका दिया हुआ पाशुपतास्त्र अर्जुनके पास था, भगवान् शङ्करने कह दिया कि तुम्हें चलाना नहीं पड़ेगा। यह तुम्हारे पास पड़ा-पड़ा विजय कर देगा, चलानेकी जरूरत नहीं, चला दोगे तो संसारमें प्रलय हो जायगा। इसलिये चलाना नहीं।

सज्जनो! ऐसे आपको पापसे बचनेके लिये पाशुपतास्त्र बताता हूँ, आप कृपा करके सुनें और उसे धारण कर लें, बड़ी भारी कृपा मानूँगा। वह क्या कि मर जायेंगे पर पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे! नहीं करेंगे! नहीं करेंगे! ऐसा आपका केवल विचार हो जाय। ऐसा करनेसे आप बिना अन्नके मर जाओगे यह बात होगी नहीं। अन्नके बिना मरना पड़े तो भी परवाह नहीं, पर पाप-अन्याय नहीं करेंगे। यह है अस्त्रका

चलाना। यह चलाना नहीं पड़ेगा। पक्का विचार पड़ा-पड़ा आपकी विजय कर देगा। हमें मौत स्वीकार है, आफत स्वीकार है, पर पाप स्वीकार नहीं है, ऐसा पक्का विचार होनेपर आपसे कोई पाप करवा नहीं सकता, अन्याय करवा नहीं सकता। किसीकी ताकत नहीं कि अन्याय करवा ले। साथमें रखिये भगवान्‌का भरोसा। याद करते रहो कि नाथ ! यह बात तो मेरी है, पर बल आपका है। इस बातके निभानेमें बल आपका होगा, तब होगा काम। अर्जुनको भगवान्‌ने कहा कि तू निमित्तमात्र बन जा।

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

(गीता ११। ३३)

निमित्तमात्र तो मैं बन जाता हूँ, परन्तु यह काम कर लेना ठीक तरहसे यह मेरी ताकतके बाहरकी बात है। हे नाथ ! आप निभाओ। "**उस सेवककी लाज, प्रतिज्ञा राखे साईं**", "**आछी करे सौ रामजी**" रामजी जो करते हैं अच्छा करते हैं, भगवान्‌के द्वारा अपना अच्छा-ही-अच्छा होता है, रक्षा होती है, सहायता होती है, फायदा होता है, नुकसान होता ही नहीं।

"**भूंडी बनै सौ आपकी**"—भूंडी (बुरी) तो आपकी है, खुदकी है, खराब खुद करता है। अगर खुद तैयार नहीं होता तो कोई नहीं करवा सकता। कानूनने ऐसा कर दिया, लोगोंने ऐसा कर दिया, कुसंगने ऐसा कर दिया, वायु-मण्डल ऐसा ही आ गया, हमारा भाग्य ऐसा ही था, संग अच्छा नहीं मिला, गुरु नहीं मिले आदि-आदि बातें सब बहानेबाजी हैं और कुछ नहीं। कोई भी किञ्चिन्मात्र भी आपका बिगाड़ कर नहीं सकता, जबतक आप बिगाड़के लिये तैयार न हो जायें और उसमें भी अपना विचार

****

पक्का रखें और सहारा भगवान्‌का हो। भीतरसे पुकारता रहे प्रभुको कि हे नाथ ! बिना आपकी कृपाके हमारेसे नहीं होगा यह। ऐसे कृपाका भरोसा हो तो उसका पतन कभी हो नहीं सकता।

भगवान्‌के चरणोंकी शरण लेनेसे भगवान् कहते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

(गीता १८।६६)

सब पापोंसे मैं मुक्त कर दूँगा। तू चिन्ता मत कर। ***''मामेकं शरणं व्रज''*** शर्त यह है। शरण यदि धनकी लेगा; झूठ, कपट, बेईमानीका आश्रय रखेगा, तो भाई, मेरे हाथकी बात नहीं। मनुष्य क्या करता है ? झूठ, कपट, बेईमानीका सहारा लेता है।

आज कहा जाय कि पाप मत करो। तो लोग कहते हैं कि महाराज ! आजकलके जमानेमें यह नहीं चल सकता। यह आपकी बात पुराने ढंगकी है, पुराने जमानेकी। इस जमानेमें ऐसा नहीं चल सकता। ऐसा करें, तो भूखों मर जायेंगे। जी नहीं सकते। आज सचाईके साथ कैसे करें ? लाख रुपया कमाते हैं तो लगभग आधा टैक्सका देना पड़ता है। हमें एक भाईने कहा है कि अब बताओ क्या कमावें, क्या खावें ? इस जमानेमें मनुष्य सचाईसे काम नहीं कर सकता। हम कहते हैं कि सरकार कृपा कर रही है कि लोभके वशीभूत होकर ज्यादा संग्रह मत करो। क्रियात्मक उपदेश दे रही है। साधारण खर्चा करो, साधारण कमाओ और खाओ। उससे पाप कोई नहीं करवा सकता। कुछ रुपये कमानेतक छूट है न टैक्सकी ? उतनेके भीतर-भीतर कमाओ। कहते हैं खर्चा कहाँसे लावें, छोरीका ब्याह कैसे करें ? मुश्किल हो जाती है, सभ्यता है। सभ्यताको तिलाञ्जलि दे दो,

पानी दे दो, पानीमें खड़े होकर। हमें वह सभ्यता नहीं रखनी। हमारी बेइज्जती हो जाय, उससे डरेंगे नहीं। पुण्य करते हुए, शुभ काम करते हुए, धर्मके ऊपर चलते हुए अगर लोग निन्दा करें, तो करें।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

(गीता १६। २१)

अपना पतन करनेवाले काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकोंके दरवाजे हैं। इनमें प्रविष्ट हो गया, वह तो नरकोंमें ही जायगा। यदि भगवान्‌को याद करे कि अब ऐसा नहीं करेंगे तो नहीं जायगा। जब कभी सुधर जाय उमरभरमें, जब कभी चेत हो जाय और विचार पक्का हो जाय कि पाप कभी नहीं करूँगा, तो पूरा प्रायश्चित्त हो जायगा। भगवान्‌की कृपासे उसको बल भी मिल जायगा, धर्म मिल जायगा और वह सन्त बन जायगा। ऊपरसे वह भाई हो चाहे बहिन हो, गृहस्थ हो या कुछ भी हो, भगवान् तो भीतरका भाव देखते हैं ''***भावग्राही जनार्दनः***'' वे भाव-भोक्ता हैं। भाव जिसका निर्मल हो गया, वह तो निर्मल हो ही गया। केवल बाहरसे निर्मल होनेसे, अच्छा बननेमें देरी लगती है, पर यह भाव हो जाय कि हम पाप नहीं करेंगे, इतनेमें बहुत जल्दी शुद्ध हो जाता है।

''***व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका***'' निश्चय कर लिया कि पारमार्थिक मार्गमें ही चलना है, कुछ भी हो जाय। ''***अपि चेत्सुदुराचारः***''—पापी-से-पापी हो तो उसे भी ''***साधुरेव स मन्तव्यः***''—साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि ''***सम्यग्व्यवसितो हि सः***''—उसने पक्का निश्चय कर लिया। उस भावके अनुसार

****

वह पवित्र हो जाता है।

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की।

(मानस १।२८।३)

पहले दोष बन गये, उन बातोंको भगवान् याद नहीं करते। जिसका भाव अच्छा है और इधर चलना चाहता है, भगवान् उसे सौ बार याद करते हैं कहीं उसे भूल न जाऊँ। ऐसे प्रभुके रहते हुए भय किस बातका ? सच्चे हृदयसे पापका त्याग कर दो। अभी तो लोभमें आकर पाप कर बैठते हैं; परन्तु आगे दशा क्या होगी ? इसका कुछ विचार किया है ? धन यहीं रहेगा, सम्पत्ति यहीं रहेगी, पर आप जावोगे। उम्रभरमें खर्च कर सकोगे नहीं। पापसे कमाया हुआ धन खर्च नहीं किया जायगा, बाकी बचेगा और पाप किया हुआ कर्म पीछे नहीं रहेगा, साथ चलेगा और महान् दण्ड भोगना पड़ेगा। समझदार आदमीको तो जल्दी चेत कर लेना चाहिये, इसलिये केवल विचार हो जाय कि अब पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

—— ★ ——

संसारमें रहनेकी विद्या

वास्तवमें अभिमान और ममताका त्याग कठिन है। परन्तु एक बात आपको बतायी जाती है, भाई-बहिन अपने-अपने घरोंमें उसका अनुष्ठान करें, उसके अनुसार जीवन बनायें, तो बहुत सुगमतासे अभिमान और ममताका त्याग हो सकता है। घरोंमें प्रायः दो बातोंको लेकर लड़ाई होती है। काम-धन्धा तो तुम करो और चीज-वस्तु मैं लूँ। आराम, आदर, सत्कार, सब कुछ मेरेको मिले। काम-धन्धा और खर्च तुम करो। इन बातोंको लेकर खटपट चलती है। अगर इनको उलट दिया जाय अर्थात् काम-धन्धा मैं करूँ, आराम आप करो। आदर-सत्कार, मान-प्रशंसा—ये लेनेकी नहीं देनेकी हैं, तो दूसरोंका आदर करें, मान दें, आराम दें, सत्कार करें, उनकी आज्ञा पालन करें, उनको सुख पहुँचायें, ऐसे आपसमें किया जाय तो प्रेम बढ़ता है।

मनुष्यका स्वभाव है कि वह अपने मनकी बात पूरी करना चाहता है और अपने मनकी होनेसे राजी होता है। धनकी, मानकी, बड़ाईकी, जीनेकी कामना होती है। परन्तु इन कामनाओंमें मूल कामना यह है कि मेरे मनकी बात हो जाय। यह बात बढ़िया नहीं है। अपने मनकी बातका आग्रह छोड़कर औरोंके मनकी बात करता चला जाय तो निहाल हो जाय। केवल दो बातोंका खयाल करना है कि उनकी बात न्याययुक्त हो और अपनी सामर्थ्यमें हो। इसका एक सरल उपाय है। यह निश्चय कर लें कि हमें संसारसे लेना नहीं है—संसारकी सेवा करनी है। क्यों

करनी है ? क्योंकि पहले लिया है इसलिये अब देना है। संसारको देना है, संसारसे लेना नहीं है।

एक मार्मिक बात बतायें आप ध्यान देकर सुनें। मानव-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। संसारमें रहनेकी एक रीति है। उस रीतिको हम धारण करें तो परमात्माकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो जाय। हरेक काम करनेकी एक विद्या होती है, यदि उसके अनुसार काम करते हैं तो वह काम पूरा हो जाता है। संसारमें रहनेकी भी एक विद्या है तो उस विद्याको भी जानना चाहिये। उस विद्याको काममें लें तो बड़ी सुगमतासे संसारमें रहेंगे और संसारको पार कर जायेंगे। वह विद्या क्या है ? जिसने जिसके साथ जो सम्बन्ध मान रखा है, उसके अनुसार बड़ी तत्परतासे अपने कर्त्तव्यका पालन करे और उससे अपनी कोई भी इच्छा न रखे, कामना न रखे, वासना न रखे। अपने लेना नहीं है, देना है। यह शरीर है, संसारसे सुख लेनेके लिये नहीं मिला है।

एहि तन कर फल बिषय न भाई।

शरीरका फल तो सेवा करना है। माताके लिये पुत्र बनो तो सपूत बनो। माँकी सेवा करनी है। माताके पास जो रुपये हैं, गहने-कपड़े हैं, तो यही कहो कि माँ, जो तुम्हारे पास है उसे हमारी बहिनको दे दो। छोटे भाई या बड़े भाईको दे दो। मेरे ऊपर तो एक ही कृपा करो कि सेवा मेरेसे ले लो। माँ-बापकी सेवासे आदमी उऋण नहीं हो सकता। उनका जितना भी ऋण हमारे ऊपर है, उसे हम चुका नहीं सकते। ऋणको अदा नहीं कर सकते। कोई उपाय नहीं है। तो क्या है ? सेवा करके उनकी प्रसन्नता ले लो। प्रसन्नता लेनेसे वह ऋण माफ हो जाता है। माँने

****

जितना कष्ट सहा है, बालक उतनी माँकी सेवा नहीं कर सकता। सब कुछ माँने दिया। कोई कहे कि मैं मेरे चमड़ेकी जूती बनाकर माँको पहना दूँ। कोई उनसे पूछे। यह चमड़ा भी बाजारसे लाये हो क्या ? यह तो माँका ही है। इसपर तू अधिकार क्या करता है ? माँसे मिला है। आज हम बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं। लोगोंमें विद्वान्, सज्जन कहलाते हैं, यह शरीर मिला किससे है ? माँसे मिला है। माँसे पालन हुआ है।

आप कितने भी विद्वान् हो जायँ। बचपनमें बैठना नहीं आता था, माँने बैठना सिखाया। चलना सिखाया, उँगली पकड़कर। भोजन करना नहीं आता था, माँने बिठाकर मुखमें ग्रास दिया। भोजन करना सिखाया। यह दशा थी बहिनोंकी और भाइयोंकी भी। उस अवस्थामें माँने पालन किया और बड़े-बड़े कष्ट सहे। खेलमें इधर-उधर जाते, तोड़-फोड़ करते, वृक्षोंमें उलझते, बिच्छूको भी पकड़नेको दौड़ते, आगमें हाथ डालना चाहते। माँने रक्षा की। टट्टी-पेशाब करते उसमें ही लकीरें खीचने लगते। अब ऐसा देखकर मन खराब होता है। उस समय होश नहीं था कुछ भी, यह सब माँने ज्ञान कराया। बड़ी विलक्षणतासे पालन किया।

कभी-कभी भाई लोग अभिमानमें आकर कह देते हैं कि क्या बड़ी बात है ! उनसे मैं कहता हूँ कि बच्चेको दो दिन गोदमें रखकर देखो। माँमें मातृत्व-शक्ति है तब हमारा पालन हुआ। इसलिये जितनी अपनी सामर्थ्य हो माँ-बापकी सेवा करो। जो नहीं जानते, कृपा कर उन्हें समझाओ कि बड़ोंका आदर करो। जो माँ-बापका आदर नहीं करते, उनका भगवान् भी आदर नहीं करते। कोई उनका विश्वास नहीं करते, क्योंकि जो माँ-बापका नहीं है, वह किसका होगा ? माँ-बापकी सेवा करनेसे भगवान् राजी

****

होते हैं। आज्ञा पालन करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस कारण भाई-बहिनोंको आज्ञा पालन करना चाहिये। आज्ञा पालनसे क्या होगा ? उनकी सेवा होगी और हम निरहंकार हो जायेंगे। चीज-वस्तुओंसे उनकी सेवा करनेसे निर्मम हो जायेंगे। जितनी-जितनी चीजोंको सेवामें लगा देंगे, उतनी ही उनसे ममता दूर हो जायगी और जितना परिश्रम करोगे उतना अपना अहंकार नष्ट हो जायगा। आराम-बुद्धि और अपनेमें बड़प्पनका अहंकार पतन करनेवाले हैं। संसारकी सेवा करते-करते अभिमानको सुगमतासे दूर कर सकते हो। ऐसे ही समान उम्रवालोंकी सेवा करो। छोटी अवस्थावाले हैं, उनकी भी सेवा करो। छोटोंका पालन-पोषण करना भी सेवा है। सदाचारकी शिक्षा देना भी सेवा है। वे उम्रभर सुख पायेंगे, इसलिये बालकोंको अच्छी शिक्षा दो। बेटा-बेटीको अच्छी शिक्षा दो, जिससे वे अच्छे बन जायँ।

ये माताएँ चाहें तो संसारका कल्याण कर सकती हैं, क्योंकि हम जितने भाई-बहिन हैं, ये सबसे पहले माँकी गोदमें आते हैं। माँकी गोदमें खेलते हैं। माँका दूध पीते हैं। माँके स्वभावका असर पड़ता है। महिलाएँ जैसी प्रकृति-(स्वभाव-) की होंगी, वैसे ही बालक-बालिकाएँ होंगे, बच्चे वैसे ही नागरिक बनेंगे बड़े होकर, वैसा ही वह देश बनेगा। माँ छोटी अवस्थामें जो शिक्षा देती है, वह बहुत काम करती है; क्योंकि बचपनमें पड़े हुए संस्कार बहुत काम करते हैं। अतः माताएँ चाहें तो देशका बड़ा सुधार कर सकती हैं। माताओंमें मातृत्व-शक्ति होती है, ये उसका उपयोग करें। भगवान्‌ने इन्हें शक्ति दी है। ये छोटी-छोटी बालिकाएँ हैं, ये भी अपने भाई-बहिनका जैसा पालन करती हैं बड़े लड़के

अपने भाई-बहिनका वैसा पालन नहीं करते। आप छोटे भाई-बहिनको बड़े भाईकी गोदमें देकर देख लो, बहिनें बड़े प्यारसे पालन करती हैं। बहिनें अपनी चीजें भी छोटे भाई-बहिनोंको खिला देंगी। भाई अपनी आप खा जायगा और उनकी भी खा जायगा। बालिकाओंके हृदयमें यह भाव नहीं आता कि यह चीज तो मेरी है। मैं क्यों दूँ? तो यह भाव क्यों नहीं आता? उसको पालन-पोषण करनेकी शक्ति भगवान्‌ने दी है, यह शक्ति माँ बननेके लिये दी है। यह जो शक्ति इन्हें दी है, यदि ये इस शक्तिका उपयोग करें तो बहुत सुगमतासे निर्मम हो सकती हैं।

इसका कारण यह है कि सबका पालन-पोषण करना, सबकी रक्षा करना और सबको सुख देना इनसे ममता दूर होती है। सेवा करनेसे अभिमान दूर होता है। यह बड़े ऊँचे दर्जेकी बात कही गयी है। अगर यह व्यवहारमें आ जाय तो काम बन जाय। काम-धन्धा ठीक करें। चीजोंको उदारतासे बरतें। औरोंको देवें। दोका आदर विशेषतासे होता है। एक तो जो उपकार करते हैं और दूसरे जो बड़े-बूढ़े पूजनीय होते हैं। बड़े-बूढ़े हैं, उनका आदर करें, आज्ञा मानें। जो दीन हैं, रोगी हैं, अभावग्रस्त हैं, उनकी सेवा करें। दीन-दुःखियोंमें भगवान् रहते हैं। यदि उनकी सेवा की जाय तो आपकी सेवा स्वीकार करनेके लिये भगवान् तैयार हैं। दीन-दुःखियोंसे घृणा मत करो। द्वेष मत करो। ईर्ष्या मत करो। अपनेमें अभिमान मत लाओ कि हम बड़े हैं। वास्तवमें आपमें जो बड़प्पन है, यह बड़प्पन उन छोटे आदमियोंका दिया हुआ है।

इसलिये उन गरीबोंको देनेसे धनका सदुपयोग होता है। धन होते हुए भी धनवत्ताका सुख देनेवाले गरीब हैं। जिनके दर्शन-

मात्रसे आपको प्रसन्नता होती है, उनकी सेवा करना आपका कर्त्तव्य है। बड़े-बूढ़ोंने आपका पालन किया है, रक्षा की है, विद्या दी है, बुद्धि दी है, सम्पत्ति दी है। उनकी सेवा करना भी आपका कर्त्तव्य है। अतः उनकी सेवा करो। उन्हें सुख पहुँचाओ, इससे हमारेपर जो पुराना ऋण है, वह उतर तो नहीं सकता, पर माफ हो जायगा। सेवासे अभिमान नहीं होगा और संसारमें रहनेकी विद्या आ जायगी। ऐसे प्रेम और सेवा होगी तो संसारके लोग चाहेंगे। जो सेवा करनेवाले हैं उनको सब लोग चाहते हैं।

मनुष्यको चाहिये जहाँ-कहीं रहे अपनी आवश्यकता पैदा कर दे। भाई हो या बहिन हो, साधु हो या गृहस्थ हो, कोई क्यों न हो। अपनी आवश्यकताको जरूर पैदा कर दे, तो वह संसारमें बड़े सुखसे रहेगा। आवश्यकता कैसे पैदा करें? एक तो हर समय अच्छे-से-अच्छे काममें लगे रहो। यह समय बड़ा कीमती है। इस समयके समान कोई चीज कीमती नहीं है। आप समय देकर विद्वान् बन सकते हैं, समय देकर धनी बन सकते हैं। समय देकर बड़े कीर्तिवाले हो सकते हैं, परिवारवाले हो सकते हैं। ध्यान दें, समय लगानेसे सब चीजें मिल सकती हैं। परन्तु सब चीजें देनेपर भी समय नहीं मिलता। कोई कहे कि उम्रभरमें जो भी प्राप्त किया एक मिनट समयके लिये वह सब कुछ देता हूँ, पर उसके बदलेमें एक मिनटका समय भी नहीं मिल सकता। समय देनेसे सब मिल सकता है; परन्तु सब देनेपर भी समय नहीं मिलता है। समयको कितना कीमती कहें? भागवतमें आया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३)

भगवान्‌के प्रेमी पुरुषोंका लवमात्रका संग अच्छा है, उससे न तो मुक्तिकी तुलना कर सकते हैं और न ही स्वर्गकी। गोस्वामीजीने भी कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(मानस ५।४)

संतके लवमात्र संग मिलनेके समान स्वर्ग और मुक्तिकी भी तुलना नहीं हो सकती। समय इतना कीमती है। समय मिले तो इसे बेकार मत जाने दो। इस समयको उत्तम-से-उत्तम, ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाओ। धनकी लोग बड़े आदरके साथ रक्षा करते हैं, तिजोरीमें बन्द कर देते हैं। धन तो तिजोरीमें बन्द हो सकता है, पर समय तिजोरीमें बन्द नहीं हो सकता। समय देनेसे धन मिलता है। धन देनेसे समय नहीं मिलता। समय तो हरदम सावधान होनेसे ही सार्थक होगा। नहीं तो निरर्थक बीत जायगा। जिन लोगोंने समयका आदर किया है, वे बड़े श्रेष्ठ पुरुष बन गये। वे अच्छे महात्मा बन गये, उन लोगोंने क्या किया है? जीवनका समय भगवत्-चरणोंमें लगाया है। संसारके भोगोंसे विमुख होकर परमात्म-तत्त्व जाननेके लिये समय लगाया है। वे संत और महात्मा बन गये। समयके बराबर कोई कीमती चीज नहीं है संसारमें। लवमात्रका सत्संग हो जाय। साधु-महात्माका संग हो जाय। भगवान्‌का संग हो जाय, प्रेम हो जाय। भगवान्‌में आकर्षित हो जाय। वह समय सबसे ऊँचा है।

अतः इस समयको उत्तम-से-उत्तम काममें खर्च करो। स्वाध्याय करो, जप करो, कीर्तन करो, सेवा करो। अच्छी पुस्तकोंका पठन-पाठन करो। विषय-भोगोंमें, ताश, हँसी-

दिल्लगी, नाच-तमाशा-सिनेमा, बीड़ी-सिगरेट आदिमें समय बरबाद मत करो। बीड़ी-सिगरेट पीते हैं। चिलम पीते हैं। आप जरा विचार करो, आपके पास जो समय है, उसमें भी आग लगाते हो, धुआँ करते हो। धुआँ हो गया, धुआँ ! आपका जो समय है उसमें भी आग लगती है। पाँच-सात मिनट आपने बीड़ी-सिगरेट पी तो उस समयमें भी धुआँ लग गया। पैसे गये, समय गया, स्वतन्त्रता गयी—राम ! राम ! राम ! राम ! अरे ! फायदा क्या हुआ ? किसी तरहका फायदा नहीं। जो नहीं पीते हैं, उन्हें आपने गन्दगी दे दी। उनकी नाकमें भी धुआँ चढ़ गया।

एक संतसे किसीने पूछा—महाराज ! आप बीड़ी पीते हो ? तो वे बोले पीते तो नहीं, पर लोग पिला देते हैं। गाड़ीमें बैठते हैं, लोग फूँक मारते हैं। अब क्या करें ? तो जो नहीं पीना चाहे, उन्हें लोग ऐसे पिला देते हैं। बताओ उन्हें तंग किया, दुःख दिया। कहा है—''**पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥**'' दूसरोंको पीड़ा दी, तो आपको क्या मिला ? दूसरोंकी स्वतन्त्रतामें भी बाधा डाल दी और आप सदाके लिये परतन्त्र हो गये, वह भी धुएँके। ऐसे निकम्मे काममें समय लगाया। राम ! राम ! राम ! राम !

यह समय भगवान्‌के लिये लगाओ तो भगवान् मिल जायँ। भक्त बन जाओ। जिनके लिये भगवान् कहते हैं—''**मैं हूँ संतन का दास भगत मेरे मुकुट मणि**''। मुकुटमणि बन जाते हैं। कौन ? जो भगवान्‌के चरणोंमें समय लगाते हैं। भगवान् भी आदर करते हैं। उन्होंने क्या किया कि अपने समयको भगवान्‌के चरणोंमें लगाया। ऐसा समय ऐसे नष्ट करनेके लिये है। ताश खेलनेमें, पत्ते पीटनेमें समय लगा दिया। राम ! राम ! राम ! राम ! विद्या-

अध्ययन करते, सेवा करते, दूसरोंका उपकार करते तो समयका उपयोग होता। कितना बढ़िया काम होता है। वह समय ऐसे बरबाद कर दिया। यह समय ऐसे नष्ट करनेके लिये नहीं मिला है।

हमारी बहिनोंकी दशा क्या है ? इधर-उधरकी बातोंमें समय लगा देती हैं। राम ! राम ! राम ! घरपर कोई बात करनेको नहीं मिला तो पड़ोसीके यहाँ बातें करने चली जाती हैं। समय लगा देती हैं। अगर नाम-जप करो, कीर्तन करो, रामायणका पाठ करो, दिनभर राम-राम करो तो निहाल हो जाओगी। मीराबाईकी मुक्ति हो गयी। इसमें कारण क्या था ? भगवान्‌का भजन किया। वह भगवान्‌के भजनमें लग गयी तो आज मीराबाईके पद गाये जाते हैं। भगवान्‌में प्रेम पैदा होता है। कितनी ऊँची हो गयी मीराबाई ! संसारमें प्रसिद्ध हो गयी। उनका कितना ऊँचा नाम ! परन्तु किसीसे यदि पूछो कि मीराकी सासका क्या नाम है ? तो उत्तर मिलता है कि पता नहीं। भजन करनेसे जीव बड़ा होता है। अतः अपने समयको सार्थक करो। ऊँचे-से-ऊँचे, अच्छे-से-अच्छे, श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ काममें लगाओ। समय बरबाद मत करो। यह पहली बात है।

दूसरी बात—जो काम करें वह सुचारुरूपसे करें। काम करनेका तरीका, काम करनेकी विद्या बढ़ाते ही चले जाओ। लिखना-पढ़ना, बोलना, रसोई बनाना, कपड़े धोना, सफाई करना, झाड़ू देना, बर्तन आदि साफ करना है। बड़े सफाईसे करो, बड़ी सुन्दर रीतिसे करो। सुचारुरूपसे करनेसे काम अच्छा होगा। नौकरी ही करना है, तो नौकरीका काम ऐसे बढ़िया ढंगसे करो कि जिससे मालिक राजी हो जाय। यदि मालिक कभी नाराज होकर निकाल भी दे तो निकलना तो पड़ेगा, पर आपने वहाँ

काम-धन्धा करके जो विद्या हासिल कर ली, क्या वह उस विद्याको छीन लेगा ? नीतिमें आता है कि ब्रह्माजी भी वापिस नहीं ले सकते। काम करनेकी योग्यता है, आपका स्वभाव है, उसे कोई छीन नहीं सकेगा। वह गुण तो आपके पास रहेगा। वह कितनी बढ़िया बात है।

थोड़े समयमें, थोड़े खर्चेमें बढ़िया काम हो जाय, ऐसा स्वभाव बनाओ जो सब लोग खुश हो जायँ, प्रसन्न हो जायँ। गृहस्थोंसे ऐसी बातें हमने सुनी हैं, जो माताएँ-बहिनें चीजें अच्छी बनाती हैं, उनका सब आदर करते हैं, पर इस बातका अभिमान नहीं करना चाहिये। अभिमान तो पतन करनेवाला होता है। ***''निर्ममो निरहंकारः''*** अहंकार तो छोड़ना है। अरे ! काम-धन्धा करके फिर उससे भी अहंकार कर लो ! इसलिये सुन्दर रीतिसे काम करो, सुचारुरूपसे काम करो। मान-बड़ाईके लिये नहीं, रुपये-पैसोंके लिये नहीं, वाह-वाहके लिये नहीं। अपना अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिये, निर्मल करनेके लिये, जिससे भगवान्‌में प्रेम बढ़े। प्रेम बढ़ानेके लिये काम-धन्धा करो, सेवा करो। काममें चातुर्य बढ़ानेसे आपकी माँग हो जायगी।

तीसरी बात—व्यक्तिगत खर्चा कम करो। दान-पुण्य करो। बड़े-बूढ़ोंकी रक्षा करो। दीनोंकी रक्षा करो। अभाव-ग्रस्तोंको दो। सेवा करो, पर अपने शरीरके निर्वाहके लिये साधारण वस्त्र, साधारण भोजन, साधारण मकान, उससे अपना निर्वाह करो। भाई-बहिन सबके लिये यह बड़े कामकी बात है। जो खर्चीला जीवन बना लेता है वह पराधीन हो जाता है। खर्चा कम करना तो हाथकी बात है और ज्यादा पैदा करना हाथकी बात नहीं। आजकल लोग खर्चा तो करते हैं ज्यादा और पैदाके लिये सहारा

****

लेते हैं झूठ-कपट, बेईमानी-धोखेबाजी, विश्वासघातका। इससे क्या अधिक कमा लेते हैं? अधिक कमा लें यह हाथकी बात नहीं, खर्चा कम करना हाथकी बात है। जो हाथकी बात है उसे करते नहीं और जो हाथकी नहीं, वह होती नहीं। दुःख पाते रहते हैं उम्रभर। इस बातको समझ लें कि भाई, अपने व्यक्तिगत कम खर्चेसे ही काम चला सकते हैं। बढ़िया-से-बढ़िया माल खा लो और चाहे साधारण दाल-रोटी खा लो निर्वाह हो जायगा। यदि शरीर बीमार है तो दवाई ले लो। निर्वाहकी दृष्टिसे तो कोई बात नहीं, परन्तु स्वाद और शौकीनीकी दृष्टि ठीक नहीं है। यह बहुत बड़ी गलती है। इससे बचनेके लिये, स्वतन्त्र जीवन बितानेके लिये खर्चा कम करो।

धन कमाना आजकल होशियारी कहलाती है। लोग कहते हैं कि बड़ा होशियार है, कितना धन कमा लिया इसने। अरे! धन क्या कमा लिया? उम्र गवाँ दी। आप मरेंगे तो कौड़ी एक साथ चलेगी नहीं। धन कमानेके कारण जो झूठ-ठगी, बेईमानी, धोखेबाजी, विश्वासघात आदि अपनाना पड़ा, वह जमा हुआ है अन्तःकरणमें और धन रह जायगा बैंकोंमें, आलमारियोंमें, बक्सोंमें। यह साथ जायगा नहीं। धन संग्रह करनेमें जो-जो पाप किये वे साथ चलेंगे। तो यह पापकी पोट सिरपर रहेगी, साथ चलेगी। काले बाजारसे धन कमा लिया। आय-करकी चोरी कर ली। बिक्री-करकी चोरी कर ली। बड़ी होशियारी की। किया क्या? महान् नाश कर लिया। महान् पतन कर लिया। साथ चलनेवाली पूँजी नष्ट कर दी और यहीं छूटनेवाली पूँजी संग्रह कर ली। मरनेपर कुछ साथ नहीं चलेगा। सब धन यहीं धरा रह जायगा। पीछे लोग खायेंगे और दुःख पाओगे आप। नरकोंमें

जाना पड़ेगा आपको, यह होशियारी है ? यह कोई समझदारी है ? कितनी बड़ी भारी बेसमझी है, मूर्खता है। तो अब क्या करें ? अब पाप छोड़ दो। अब बेईमानी, ठगी, झूठ-कपट, विश्वासघात, धोखेबाजी नहीं करेंगे। परिश्रम करेंगे जितना मिलेगा उसीसे काम चलायेंगे। पाप नहीं करेंगे। यह है चौथी बात।

कुछ लोग कहते हैं पहले जो पाप कर लिया, वह पाप तो हो ही गया। कलंक तो लग ही गया। अब धन क्यों छोड़ें ? यह बुद्धिमानी है क्या ? अरे भाई ! जैसे आप भोजन करने लगे। आपसे कहे कि यह क्या कर रहे हो ? इसमें जहर मिला है। आप यह नहीं कहोगे कि आपने पहले नहीं कहा, अब तो इसे खायेंगे ही। तुरन्त हाथका भोजन फेंक दोगे और उलटी करना शुरू करोगे। खाया हुआ भी निकल जाय तो बड़ा अच्छा है।

श्रोता—महाराज ! आपको पता नहीं। आजकल झूठ-कपटके बिना निर्वाह नहीं हो सकता। कानून ऐसा बन गया, संसार ऐसा ही हो गया। इसलिये इसके बिना काम नहीं चलता।

पू॰ श्री॰—अच्छा भाई ! काम चलाओ, कितने दिन चलाओगे ? बीस वर्ष, पचास वर्ष, सौ वर्ष कितने दिन चलाओगे ? इतना तो समय ही नहीं मिलता।

श्रोता—अगर नहीं कमायेंगे तो मर जायेंगे।

पू॰ श्री॰—क्या हर्ज है भाई ! आज बिना पापके मर जाओ। बादमें भी मरना तो है ही, साथमें पापकी गठरी बाँधकर क्या करोगे ? अरे भाई ! बिना पाप ही मर जाओ क्या हर्ज है ? पाप करनेके लिये मानव-शरीर मिला है क्या ? पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे, भगवान्‌की तरफ बढ़ें, इस प्रकार निश्चय करके बहुत-से लोगोंने मुक्ति पायी है। भाई ! समय अच्छे काममें

****

लगाओ, उत्तम काम करो। नीचा काम मत करो। हर भाई-बहिनको चाहिये कि पाप नहीं करें। अन्तःकरणको मैला न करें। सज्जनो ! अन्तःकरणको निर्मल रखो। यह जीवन पवित्र हो जाय। इसीलिये यह मानव-शरीर मिला है। अतः उत्तम-से-उत्तम काममें लगे रहना है। अन्यायपूर्वक काम नहीं करना है। ईमानदारीसे अपना जीवन-निर्वाह कर लेना है।

आजकल शादीमें लड़कोंकी नीलामी होती है नीलामी ! लड़कीका पिता बेचारा स्वयं तो शर्माता है, दूसरोंसे कहता है कि उनके लड़का है आप बात करो। हमारी कन्यासे सम्बन्ध कर लें। पूछते हैं, अमुककी लड़की है आप सम्बन्ध कर लो। जवाबमें, पन्द्रह हजार रुपये कीमत। राम ! राम ! राम ! राम ! आज ऐसी दशा है ! कन्याओंका ऐसा तिरस्कार ! ऐसे स्त्री-जातिका तिरस्कार करना ठीक नहीं। किस बातपर हुआ ? पैसोंके बदले। अरे ! पैसे तो आज हैं, कल नहीं। पैसे तो नष्ट होनेवाले हैं। कितनी बड़ी भारी दुःखकी बात है। पैसोंके बदले मनुष्यका तिरस्कार। बड़े पापकी बात है। अन्यायकी बात है। भाइयों और बहिनोंसे कहना है कि लड़का ब्याहना हो तो गरीब घरकी लड़की लो। वह काम-धन्धा करेगी, अच्छा व्यवहार करेगी। बड़े घरकी लड़की काम-धन्धा तो करेगी नहीं, मालकिन बन जायगी।

एक लड़कीकी बात हमने सुनी। उस लड़कीकी शादी हो गयी। लड़की थी गरीब घरकी, लड़केवालोंने पैसा माँगा ज्यादा। उसका जी ऊब गया। लड़कीकी बड़ी अवस्था हो गयी थी। उसने कहा, पिताजी ! आप उधार लेकर उनसे विवाह कर दीजिये, अभी कोई बात नहीं, फिर मैं ठीक कर लूँगी। परन्तु आप मेरे लिये दान रूपसे मत देना। कन्याको उधार देता हूँ, ऐसा देना।

कर दी शादी, शादी करनेके बाद धन खूब दिया। शादीके बाद वह गयी ससुरालमें तो खाटपर बैठ गयी और पतिसे कहा—'लाओ मेरी जूती लाओ।'

'तेरी जूती मैं उठाऊँ!' आश्चर्यसे पूछा।

'मेरे बापने पैसा दिया है, आपको खरीदा है। पता है कि नहीं?'

'कितने रुपये लगे?'

'हजारों रुपये लगे हैं।' कन्याने उत्तर दिया।

अब उस लड़केने भोजन नहीं किया। माँने पूछा क्या बात है? 'माँ! मेरी जो स्त्री आयी है वह यहाँतक कहती है कि मेरी जूती उठाकर लाओ।'

'बहू! ऐसा क्यों कहती हो?' माँने पूछा।

'हमारे बापने इतना खर्चा किया है, कर्जा लेकर खर्च किया है, इसलिये यह नौकर है हमारा, इसे लाना पड़ेगा।'

लड़केने कहा—'मैं तो जूती नहीं उठाऊँगा, अगर ऐसी बात है तो मैं रोटी नहीं खाऊँगा।'

'मेरे बापके नौकर हो, मेरे बापने रुपये दिये हैं। पता है कि नहीं। ऐसे मुफ्त आये हैं क्या आप! इतना इन्तजाम किया है। सोलह हजार रुपये उधार लिये थे।'

इस प्रकार कहने-सुननेसे लड़केवालोंने रुपया वापिस किया और लड़की बहूकी तरह रहने लगी। कन्याएँ लज्जाकी मूर्ति हैं। इनका इस प्रकार तिरस्कार करना, समाजमें बड़ा अपमान होता है।

बड़े दुःखकी बात है! खर्चा तो पूरा करते हो, फिर काम नहीं चलता तो बेईमानी करते हो। बड़े अन्यायकी बात है। इसका नतीजा खराब होगा। जो अन्याय करते हैं उनकी आत्माको शान्ति

नहीं मिलेगी। जो धन दुःख देकर लिया जायगा, वह धन आकर आग लगायेगा।

गायका दूध पीते हैं उसे छानते हैं कि कहीं रूआँ (बाल) न आ जाय। दूध तो प्रसन्नतासे दिया जाता है, बाल टूटनेसे खून आता है खून। बाल आ जाय तो क्या हर्ज है? अरे रूआँ एक भी टूटेगा तो गौ माताको दुःख होगा। अतः दुःख देकर ली हुई चीज बड़ी अनिष्टकारी होती है। लड़केवालोंको कहना चाहिये कि हम धन नहीं लेंगे हम तो केवल कन्या लेंगे। कन्या-दान लेते हैं, कन्या-दान लेना भी तो दान है, बड़ा भारी दान है! क्यों लेते हैं? अभी हम लेंगे तो आगे भगवान् हमें पुत्री देंगे तो हम भी कन्या-दान करेंगे। ऐसा रिवाज है कि दहेजकी चीजें भी घरमें नहीं रखते, उसे कुटुम्बमें, परिवारमें लगा देते हैं। बेटीको, ब्राह्मणोंको सबको बाँट देते हैं। घरमें कोई चीज न रह जाय ऐसे मिठाई आदि बाँटते हैं। अपनेपर तो कर्जा नहीं रहा और लोग सब राजी होते हैं।

शादीके बाद बहूके पीहरसे कोई चीज आती है तो सास आदि उसकी निन्दा करती हैं कि क्या चीज भेजी? बहूरानी सुन रही है, उसको लगे बुरा। भला माँकी निन्दा किसको अच्छी लगेगी? माँकी निन्दासे हृदयमें दुःख होता है। बादमें जब वह हो जायगी मालकिन तो जो वह चाहेगी वही होगा। इसलिये उसे प्यार करो, स्नेह करो, राजी रखो, बहूके घरसे जो आया उसमें अपने घरसे मिलाकर बाँटो। लोगोंसे कहो कि ऐसा बहुत आया है। तो बहूकी माँकी हो जायगी बड़ाई, इससे बहू खुश हो जायगी। आप कहेंगे कि रुपया लगता है। अरे रुपया तो लगता है, पर बीस-पचास रुपये और लगानेसे आदमी अपना हो जायगा। बहू आपकी हो जायगी। सदाके लिये खरीदी जायगी। सौ-पचास

रुपयेमें कोई आदमी खरीदा जाय तो कोई महँगा है ? सस्ता ही पड़ेगा। गहरा विचार करो। व्यवहार भी अच्छा रहेगा। प्रेम भी बढ़ेगा। बहू भी राजी होगी कि मेरी सासने मेरी माँकी महिमा की है। इतना खर्च किया ! उम्रभर असर पड़ेगा, इसलिये भाई ! थोड़ा-सा त्याग करो। खेती करनेवाले कितना बढ़िया-से-बढ़िया अनाज होता है, उसे मिट्टीमें मिला देते हैं। क्यों ? खेती होती है। इसी तरह आप भी त्याग करो। उसका फल बड़ा अच्छा होगा।

जो वस्तुएँ मिली हैं उनका सदुपयोग किया जाय। लड़के-लड़कीका ठीक तरहसे पालन किया जाय, अच्छी शिक्षा दी जाय। उनके अच्छे भाव बनाये जायँ, सद्‌गुणी और सदाचारी बनें। पैसे कमानेमें तो आपको समय रहता है, परन्तु बच्चे क्या कर रहे हैं, कैसे पल रहे हैं, क्या शिक्षा पा रहे हैं, इन बातोंकी तरफ आप खयाल ही नहीं करते। अरे भाई ! यह सम्पत्ति है असली। यह मनुष्य महान् हो जायगा। कितनी बढ़िया बात होगी ! जितने-जितने महापुरुष हुए हैं, उनकी माताएँ बड़ी श्रेष्ठ हुई हैं। ऐसी माताओंके बालक बढ़िया हुए हैं। संत-महात्मा हुए हैं। माँका स्वभाव आता है बालकोंमें। इस कारण माताओंको चाहिये कि बालकोंको अच्छी शिक्षा दें। परन्तु शिक्षा देती हैं उलटी, लड़कियोंको सिखाती हैं कि अपना धन तो रखना अपने पासमें। जब अलग होगी तो वह धन तेरे पासमें रह जायगा और ऐसे सिखाकर भेजती हैं कि ससुरालमें काम तू क्यों करे, तेरी जिठानी करे, ननद करे। तू काम मत किया कर। अब वहाँ कलह होगी, खटपट मचेगी। आपके बहू आयेगी, वह भी अगर ऐसी सीखी हुई आ जायगी तो वह भी ऐसा ही करेगी, काम नहीं करेगी। फिर आप कहेंगी कि हमारी बहू काम नहीं करती। आप अच्छा करो

****

तो आपके लिये अच्छा होगा। बुरा करो तो बुरा होगा भाई !

कलियुग है इस हाथ दे, उस हाथ ले, क्या खूब सौदा नगद है।

इसलिये आप अपने माता-पिताका, सास-ससुरका आदर करो, सेवा करो, सत्कार करो तो आपका असर पड़ेगा बालकोंपर। वृद्धावस्थामें भी आपकी सेवा करेंगे। परन्तु आप अगर ऐसा नहीं करोगे, अपने माइतोंकी सेवा नहीं करोगे तो बालकोंपर भी ऐसा ही असर पड़ेगा। उनका स्वभाव भी ऐसा ही बनेगा। आप सदा ही ऐसे नहीं रहोगे। जीते रहोगे तो बूढ़े भी होओगे। उस समय वे सेवा नहीं करेंगे, फिर आप कहेंगे कि ये सेवा नहीं करते, बात नहीं मानते। तो तुमने अपने माइतों-(बड़ों-) की सेवा कितनी की ? अब तुम क्यों आशा रखो ? इसलिये अपना आचरण अच्छा बनाओ।

आजकल तो माँ-बाप बच्चोंको व्यसन सिखाते हैं। खेल सिखाते हैं। चाय पिलाते हैं, छोटे-छोटे छोरोंको। आजकल छोरा दूध नहीं पी सकते। मलाई आ जाय तो घृणा करते हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है ! हमें तो बचपनकी बात याद है, दूध पीना होता तो कहते थे कि क्या है इसमें तारा (घीकी बूँदें) तो है ही नहीं ! आजकल घी तो कौन पी सके, हिम्मत ही नहीं है। वे मलाई ही नहीं पी सकते। चाय पीते हैं। राम ! राम ! राम ! राम ! चायसे माथा खराब हो जाय नींद आवे नहीं। स्वास्थ्य बिगड़ जाय। आँखें खराब हो जायँ दवाई लगे नहीं और पैसा लगे ज्यादा मुफ्तमें। यह दशा हो रही है। तो भाई ! ऐसा मत करो। गायोंका पालन करो, उनकी रक्षा करो। आपका जो गाँव है, कस्बा है। अकाल पड़ जाय तो गायोंके लिये आप खर्च करो तो बड़ा अच्छा है। मोटर आप रख लेते हो धुएँके लिये और गायें

****

नहीं रख सकते। कुत्ता-पालन तो कर लेंगे, गऊका पालन नहीं करेंगे। वाह ! वाह ! वाह ! रे कलियुग महाराज ! आपने लीला अजब दिखायी ! यह दशा हो रही है।

आप बाल-बच्चोंको व्यसन मत सिखाओ। कपड़े आदि बढ़िया (फैशनवाले) पहनाकर राजी होते हैं कि हमारे बच्चे ठीक हो रहे हैं। उनकी आदत बिगड़ रही है बेचारोंकी। इसलिये सादगी रखो, अपने भी सादगी, बाल-बच्चोंके भी सादगी। अच्छे ढंगसे काम कराओ, उत्साह रखो, काम-धन्धा ठीक कराओ। बाल-बच्चोंसे भी काम कराओ। आपके घर नौकर है (नौकर रखनेकी जरूरत है तो रखो)। नौकर रखकर नौकरोंके वशीभूत मत हो जाओ। नौकर बढ़िया काम नहीं करेगा, आपको भी सब काम करना आना चाहिये। नौकर जितना काम करते हैं, आपको आ जाय तो आपको चकमा नहीं दे सकते। रसोइया कहे—घी तो इतना लग गया। अरे ! हम जानते हैं। इतना घी कैसे लग गया ? आप करना जानोगे तो आप शासन कर सकोगे। नहीं तो इतना लग गया ? हाँ साहब लग गया। कैसे बतायें यह बात ? आजकल काम-धन्धा करनेमें बेइज्जती समझने लगे।

माता सीता काम करती थीं। रसोई बनाती थीं, लक्ष्मण आदि थे, उन्हें बड़े प्यारसे भोजन कराती थीं। स्वयं खटकर परिश्रम करके सासुओंकी सेवा करती थीं। क्या वह छोटे घरकी हो गयीं ? सैकड़ों ही नहीं हजारों दासियाँ थीं, उनके सामने अपने घरका काम करती थीं। लड़नेमें तो बेइज्जती नहीं समझतीं, घरके काम करनेमें बेइज्जती समझती हैं; बड़े पतनकी बात है। अतः अपना समय ठीकसे लगाओ। अच्छी आदत बननेपर आपकी ग्राहकता हो जायगी। सब आपको चाहेंगे, आपकी आवश्यकता

पैदा होगी। घरके, बाहरके सब लोग चाहेंगे और यदि ऐसा नहीं करोगे तो समय तो निकल जायगा हाथोंसे और आदत बिगड़ जायगी। बिगड़ी हुई आदत साथ चलेगी, स्वभाव बिगड़ जायगा। यह जन्म-जन्मान्तरोंतक साथ चलेगा। स्वभाव जिसने अपना निर्मल, शुद्ध बना लिया है, उसने असली काम बना लिया है। अपने साथमें चलनेकी असली पूँजी संग्रह कर ली। स्वभावको शुद्ध बनाओ, निर्मल बनाओ। तो क्या होगा ? ममता छूटेगी। सेवा करनेसे अहंकार छूटेगा। निर्मम-निरहंकार हो जाओगे। संसारका काम करते-करते ऊँची-से-ऊँची स्थितिको प्राप्त हो जाओगे। बस, लग जाओ तब काम होगा। इसलिये भाइयोंसे, बहिनोंसे कहना है कि सत्संग सुनो और सुननेके अनुसार अपना जीवन बनाओ। ऐसा जीवन बनेगा तो जीवन-निर्वाह होगा और मनमें भी शान्ति रहेगी। ***"निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति"।*** (गीता २।७१) महान् शान्तिकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार भगवद्गीता व्यवहारमें परमार्थ सिखाती है। युद्धके समयमें कह दिया—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

युद्धसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, कामको भगवान्‌का समझो, उत्साहसे करो। सेवा करनेवाला पवित्र हो जाता है। भगवान्‌का भजन हरदम करते रहो जिससे सद्बुद्धि कायम रहे। भगवान्‌की याद बनी रहे।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

—★—

पञ्चामृत

आप जहाँ रहते हैं, वहाँ अपने घरमें रहते हैं, अपने घरमें रहनेका माहात्म्य नहीं है, पर भगवान्‌के दरबारमें रहें तो बड़ा भारी माहात्म्य है। इस घरको तो आपने अपना माना है। पर यह घर पहलेसे भगवान्‌का ही था। अब भी है और पीछे भी भगवान्‌का ही रहेगा। मरोगे तो यह घर साथ थोड़े ही चलेगा। यह तो भगवान्‌का ही है। अतः आजसे आप मान लो कि भगवान्‌के घरमें रहते हैं। साक्षात् भगवान्‌के घरमें ही रहते हो। हरिद्वार आते हैं तो कहते हैं—ओहो ! हरकी पेड़ियाँ हैं ये तो। वृन्दावन आ गये तो कहते हैं—भगवान्‌की लीलाभूमिमें हैं। अयोध्यामें आ गये तो भगवान्‌के दरबारमें आ गये। भगवान्‌का दरबार मान लो, भगवान्‌का घर मान लो तो वही घर वृन्दावन हो गया। हरदम यही बात रहे कि हम तो भगवान्‌के घरमें ही रहते हैं और खास लाड़ले हैं हम तो भगवान्‌के। आजसे यह बात मान लो। अपने-अपने घरोंको अपना घर मत मानो। अरे ! भगवान्‌का ही घर है। अपना घर तो बीचमें माना है। पहले भगवान्‌का था और पीछे भी भगवान्‌का रहेगा। फिर बीचमें अपना कैसे हो गया ? छापा मारा है मुफ्तमें।

एक बातपर और ध्यान देना—जो भी काम करो, भगवान्‌का मानकर करो। खेती करो चाहे घरका काम-धन्धा करो, भोजन करो चाहे भजन करो, कपड़ा धोओ चाहे स्नान करो। शरीर भी

भगवान्‌का है, तो भगवान्‌की सेवाके लिये इसका काम करते हैं। खाना-पीना भी भगवान्‌का काम है, काम-धन्धा भी भगवान्‌का ही करते हैं, सब संसारके मालिक भगवान् हैं तो सब शरीरोंके मालिक भी भगवान् हैं। तो शरीरोंका और संसारका काम किसका हुआ ? भगवान्‌का ही हुआ। कैसी मौजकी बात है ! भगवान्‌के दरबारमें रहते हैं और काम-धन्धा भी भगवान्‌का ही करते हैं—दो बातें हुईं।

अब तीसरी बात—घरमें जितनी चीजें हैं ये भी भगवान्‌की ही हैं। घर भगवान्‌का और आप भगवान्‌के तो चीजें किसी दूसरेकी हो सकती हैं क्या ? माताओं और बहिनोंको चाहिये कि उन भगवान्‌की चीजोंको लेकर रसोई बनावें। मनमें समझें कि ओ हो ! मैं तो ठाकुरजीको भोग लगानेके लिये प्रसाद बना रही हूँ। ठाकुरजीके भोग लगावें। ठाकुरजीको भोग लगाकर घरके जितने लोग हैं, उनको ठाकुरजीके जन (पाहुने) समझकर प्रसाद जिमावें। उन्हें ऐसा मानें कि ये सब ठाकुरजीके प्यारे जन हैं। ठाकुरजीके प्यारे लाड़ले बालक हैं। इनको भोजन करा रही हूँ। ठाकुरजीकी सेवा कर रही हूँ। जैसे किसी बच्चेको प्यार करे तो उसकी माता राजी हो जावे कि नहीं ? ऐसे ही भगवान्‌के बालकोंकी सेवा करें तो भगवान् राजी हो जावें। कैसी मौजकी बात है ! भगवान्‌की रसोई बनायी, भगवान्‌के ही भोग लगाया और भगवान्‌के ही बालकोंको भोग, प्रसाद जिमा दिया। अपने भी भोजन करें तो ठाकुरजीका प्रसाद समझते हुए भोजन करें। ठाकुरजीका प्रसाद है। कैसी मौजकी बात !

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं।
प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।

(मानस २। १२८। १)

****

केवल भोजन ही नहीं गहना पहनें तो ठाकुरजीके अर्पण करके। ठाकुरजीका ही कपड़ा पहनें। सब चीजें प्रसादरूपमें ग्रहण करें तो सब चीजें पवित्र हो जाती हैं। आपने देखा है कि नहीं, ठाकुरजीके प्रसाद लगावें और वह बाँटें तो हरेक आदमी हाथ पसारेगा। छोटे-से-छोटा कणका दो तो वह राजी हो जायगा। लखपति हो चाहे करोड़पति हो, आपके सामने हाथ पसारेगा और प्रसादका आप छोटा-सा कणका दे दें, वह राजी हो जायगा। वह क्या मीठेका भूखा है ?

कोई लखपति, करोड़पति आपसे प्रसाद माँगे और अगर उसे कहें कि चलो बाजारमें मीठा दिलाऊँ आपको। तो वह नाराज हो जायगा। वह धनी आदमी कहेगा कि मिठाईका भूखा हूँ क्या मैं ? हमें प्रसाद चाहिये। प्रसादका कितना महत्त्व है बताओ ? ठाकुरजीका प्रसाद है। घरमें सब चीजें ठाकुरजीकी हैं।

आप करें तो एक बात बतावें बहुत बढ़िया ! कृपा करके कर लें तो बहुत बढ़िया और फायदेकी बात है। घरमें जितना धन पड़ा है सबपर तुलसीदल रख दो। जितने गहने, कपड़े हैं सबपर तुलसीदल रख दो। जितने रुपये-पैसे पड़े हैं तिजोरियोंमें सबपर तुलसीदल रख दो। घरपर भी धर दो। जितने भी गाय, भेड़, बकरी हैं, उनपर तुलसीदल रख दो। छोरा-छोरीपर भी धर दो। किनके बालक हैं ? ठाकुरजीके बालक हैं।

एक चमत्कार है। आप कर सको तो बतावें, पर हृदयसे करो, जब होवे। छोरा उद्दण्ड है और कहना मानता नहीं। सच्चे हृदयसे अपनी ममता उठा लो कि मेरा है ही नहीं। केवल ठाकुरजीका ही है। छोरा बिलकुल सुधर जायगा। जैसे ठाकुरजीके भोग लगानेसे चीजें पवित्र हो जाती हैं। बड़े-बड़े

पुरुष आदर करते हैं। ऐसे सच्चे हृदयसे अपनी ममता बिलकुल मिटाकर, केवल ठाकुरजीका ही मान लें तो वह शुद्ध हो जायगा। पवित्र हो जायगा। ऐसी बात करके देखो। शर्त यह है कि अपनी ममता बिलकुल उठा लें। जैसे मुसलमानोंका छोरा है, ऐसा ही यह छोरा है। मर जाय तो कोई असर नहीं हमारेपर। हमारा छोरा नहीं है अब मरा तो ठाकुरजीका। जब कि ठाकुरजीका मरता ही नहीं। यहाँ मर गया तो वहाँ जन्मा। ठाकुरजीसे बाहर होता ही नहीं। ऐसा करनेसे छोरा पवित्र हो जायगा। एकदम बात ठीक है। ममता ही मलिनता है। इसके कारण ही मलिन होता है। दान-पुण्य करते हैं तो इनके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानें। ***''दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे''।*** (गीता १७।२०) 'अनुपकारिणे' का अर्थ यह नहीं कि कोई उपकार न कर दे हमारा। मानो पहले उपकार किया नहीं और आगे भी आशा नहीं है। ऐसेको दिया जाय, जिनसे अपना स्वार्थका सम्बन्ध न हो उनको दो चाहे घरवालोंके साथ स्वार्थका सम्बन्ध न रखो। एक ही बात रहेगी। टोटल एक आयेगा। चाहे तो अपनापन न हो, वहाँ सेवा करो अथवा जहाँ सेवा करो वहाँ अपनापन मिटा दो—एक ही बात होगी।

भगवान्‌के हैं हम। भगवान्‌के दरबारमें रहते हैं। भगवान्‌का ही काम करते हैं। भगवान्‌के प्रसादसे भगवान्‌के जनोंकी सेवा करते हैं। मैं भी भगवान्‌का ही प्रसाद पाता हूँ—यह पञ्चामृत है असली। आजसे इस बातको पकड़ लो। ***''सर्वभावेन मां भजति''*** और सब भावोंसे भगवान्‌का ही भजन करें। सब काम करें, स्नान करें, शरीरको शुद्ध करें, तो भाव रखें कि ठाकुरजीका शरीर है। ठाकुरजीका काम करता हूँ मैं। तो ठाकुरजीपर एहसान

कर सकते हैं कि महाराज ! आपका काम करता हूँ।

एक ब्राह्मण कहा करते थे— मैं रोज एक ब्राह्मण जिमाता हूँ। स्वयं भोजन करते थे, भाव रखते कि रोज एक ब्राह्मण जिमाता हूँ। यह कितनी बढ़िया बात है ! ऐसे ही परिवार-का-परिवार ठाकुरजीका। ठाकुरजीके परिवारका पालन करता हूँ। ठाकुरजी भी कहें कि मेरे परिवारका पालन करता है भाई ! भगवान्‌पर असर पड़ेगा कि हाँ, ठीक बात है। यह अपनापन नहीं रखता है। अपनी ममता नहीं रखता। यह तो मेरे परिवारका पालन करता है।

सब भावसे भगवान्‌का ही काम हो जाय, यह अव्यभिचारी भक्ति हो जायगी। अपने कुछ लेना नहीं, अपनी ममता नहीं है। न स्वार्थ है न ममता, घरवाले मानें या न मानें, सेवा करें या न करें, अपनेको तो ठाकुरजीके परिवारका पालन करना है। उनकी सेवा करनी है भाई ! परिवारके लोग काम न करें तो राजी होना चाहिये कि बहुत अच्छी बात है। अगर काम कर दें, अनुकूल चलें तो समझना चाहिये कि हमारा किया हुआ बिक्री हो जायगा। सेवा की हुई बिक्री हो जायगी। इसलिये यदि वे कुछ भी नहीं करें और दुःख दें तो अच्छा है। सासु भी दुःख दे, बहू भी दुःख दे, देवरानी-जिठानी, ननद आदि सब दुःख देवें तो राजी होना चाहिये कि बहुत ही निहाल हो गये। अपने तो सेवा करनी है और ये दुःख देवें तो दुगुना फायदा होगा। एक तो सेवाका लाभ होगा और ये दुःख दें तो पाप कटेंगे। दुःख कब रहेगा बताओ ? दुःख मिलनेमें भी आनन्द होगा। दुःखकी जगह ही नहीं रही, सब गली बन्द हो गयी तो वही सर्ववित् है। ठीक तरह समझ गया। यदि संसारसे सुखी और दुःखी होता है तो समझा नहीं।

हम तो मस्तीमें बैठे रहें। अपनेको कोई किंचिन्मात्र भी दुःख

****

नहीं। भगवान् सबका भरण-पोषण करते हैं। सबका पालन करते हैं तो ऐसे भगवान्के भक्तोंको दुःख होता ही नहीं। वे हरदम मौजमें रहते हैं, इतने मस्त रहते हैं कि उनके संगसे मस्ती हो जाती है। ठाकुरजीकी याद करनेसे बन्धन टूट जाय। नाम लेनेसे, याद करनेसे, लीला सुननेसे पाप नष्ट हो जाय इतने महान् पवित्र।

पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।

मूलमें बात क्या है? एक छोटी-सी बात है। "मैं भगवान्का ही हूँ" बस औरका नहीं हूँ। सेवा करनेके लिये संसारका, परन्तु अपना मतलब निकालनेके लिये किसीका नहीं हूँ। केवल भगवान्का हूँ, अपनेको केवल भगवान्का मान लो तो घर भगवान्का, दरबार भगवान्का, परिवार भगवान्का, सम्पत्ति भगवान्की, काम भगवान्का, प्रसाद भगवान्का, सब भगवान्का हो जायगा। यह बात एकदम सच्ची है।

आपको बिलकुल अनुभवकी बात बतावें। जिस बालकको माँने अपना माना है, वह छोरा दौड़कर गोदमें चढ़ जाय तो माँ हँसेगी। पीछेसे पीठपर चढ़ जाय तो माँ हँसेगी और जानकर ऊँ-ऊँ-ऊँ करके रोता है तो माँ हँसती है कि देखो ठगाई करता है मेरेसे। छोरेकी वह कौन-सी क्रिया है, जिससे माँको प्रसन्नता नहीं होती है। वह बालक जो करता है माँ उससे राजी होती है। कारण क्या है? छोरा मेरा है। ऐसे ही हम भगवान्के बनकर जो भी करें, हमारी हर क्रिया भगवान्का भजन हो जायगी। भजन क्या? भगवान्की प्रसन्नता। कुछ भी काम करो भगवान् खुश होते रहते हैं। मेरा बच्चा है। यह मेरा बालक खेल रहा है। कैसी मस्ती है!

बात एक ही है। भगवान्का होना। सच्ची बात है। आपसे पूछा जाय कि आपने इस घरमें जानकर जन्म लिया है क्या? जीते

****

हो तो जानकर जीते हो क्या ? जानकर जीवें तो मरे कौन भाई ? मरे ही नहीं। स्वस्थ शरीरमें रहते हो तो जानकर रहते हो क्या ? अगर जानकर रहते हो तो बीमार मत पड़ो। शरीरमें जो बल-बुद्धि है वह जानकर प्राप्त की है क्या ? तो बूढ़े मत होवो। पराधीन मत हो। पर पराधीन हो जाते हैं। इसलिये केवल अभिमान घरका है और कुछ नहीं। कोरा अभिमान करते हो। इसलिये हम ठाकुरजीके हैं। ठाकुरजीके अधीन हैं। ठाकुरजी जो शक्ति दें, वही करते हैं।

हनुमान्‌जीने कितना काम किया ? रामजी लंकामें गये तो पुल बनवाया और पुल बनवाकर पार पहुँचे। परन्तु हनुमान्‌जी कूद गये। इनमें बल किसका है ? बल ठाकुरजीका है। **''बार बार रघुबीर सँभारी''**। **''प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदयँ राखि कोसलपुर राजा''**॥ वाल्मीकिरामायणमें आता है कि हनुमान्‌जीने ऐसी गर्जना की कि हजार रावण भी आ जायँ तो मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते, क्योंकि मैं ठाकुरजीका दास हूँ।

अपना अभिमान करके दुःख पा रही है दुनिया। इसलिये कृपा करके अभिमान छोड़ दो, भगवान्‌के अर्पण कर दो कि हम तो ठाकुरजीके हैं। अपनी शक्ति सब ठाकुरजीके काममें लगानी है। ***''त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये''***, ***''सर्वभावेन भजति माम्''*** सब भावसे भगवान्‌को भजते हैं। नाम-जप भजन है, कीर्तन भजन है, पाठ भी भजन है, सुनना, कहना, सब भजन है। और तो क्या ***''सर्वभावेन भजति''*** उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना, जागना, भगवान्‌का काम कर रहे हैं। कितने ऊँचे

****

अर्पण हो गये और भगवान्‌का ही काम करेंगे। काम हमारा है ही नहीं। यह हमारा घर नहीं तो इसका काम हमारा नहीं। सब भगवान्‌का काम है।

मैंने संतोंसे सुना है कि जिनके अपना करके कुछ नहीं है, न मन अपना है, न बुद्धि अपनी है, न शरीर अपना है, न प्राण अपने हैं, न इन्द्रियाँ अपनी हैं, न घर अपना है, न सम्पत्ति अपनी है। सब चीजें ठाकुरजीकी हैं, वे जहाँ रहते हैं मौज रहती है। सब भगवान्‌के अर्पण कर दी। इसलिये मस्तीमें रहते हैं हरदम।

एक संतकी एक बात सुनी है हमने। संत बड़े विचित्र होते हैं। वे बाजारमें जब जाते और देखते कि बहुत बढ़िया-बढ़िया मिठाइयाँ रखी हैं, फल पड़े हैं, दुकानें सजी हुई हैं। जहाँ देखते बढ़िया चीज वहीं खड़े हो जाते और मनसे कहते कि ठाकुरजी भोग लगाइये। बरफी है, इमरती है, जलेबी है, लड्डू है, इनका भोग लगाइये। बस खड़े होकर मस्तीसे भोग लगा देते। ऐसे आप भी ठाकुरजीके अर्पण कर दो कि भोग लगाइये तो ठाकुरजीके अर्पण हो जाता है। आप कहो कि क्या जोर आवे इसमें ? तो करो आप भी। कौन मना करता है ? जहाँ बढ़िया चीज देखो, ठाकुरजीके अर्पण कर दो।

सब कुछ ठाकुरजीका है। हम क्या करें ? हम तो मौज करेंगे। अब हमारा कोई काम तो रहा नहीं। केवल ठाकुरजीका काम है, ठाकुरजीका नाम है, ठाकुरजीका चिन्तन है, ठाकुरजीकी बात सुननी है। आपका काम क्या रहा ? ठाकुरजीका काम करते हैं। सब संसारके मालिक भगवान् हैं। मालिकके चरणोंमें मालिककी चीजें अर्पण करते हुए आपको क्या जोर आता है बताओ ? आप कहते हो मेरी है, पर कितने दिनोंसे, कितने वर्षोंसे

****

मेरी कहते हो ? कितने वर्षोंतक मेरी कहते रहोगे ? आखिर तो वह रहेगी ठाकुरजीकी ही। जीते-जी ही भगवान्‌को अर्पण कर दो अपने हृदयसे, तो मौज हो जायगी। कितनी सुगम और कितनी बड़ी भारी बात !

संतोंकी साखी आती है—

राम नाम की सम्पदा दो अन्तर तक थूण।
या तो गुपती बात है कहो बतावे कूंण ॥

कौन बताता है ऐसी बढ़िया बात ! और कितनी सुगम ! कितने ऊँचे दर्जेकी ! कितनी निश्चिन्तताकी, निर्भयताकी, आनन्दकी बात है ! न चिन्ता है, न भय है, न उद्वेग है, न जीनेकी इच्छा है, न मरनेकी इच्छा है। हमारी इच्छा कुछ नहीं। ठाकुरजीकी इच्छामें इच्छा मिला दी। अब ठाकुरजी जैसा करें, जैसा रखें।

जाही विधि राखे राम ताही विधि रहिये।
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥

अपनी कोई माँग नहीं, कोई इच्छा नहीं। इससे आफत तो हमारी मिट जाय और भगवान् राजी हो जायँ। मेरी माननेसे चिन्ता रहती है। मेरा कमरा है। अमुक चीज वहाँ पड़ी है। कपड़ा वहाँ सुखाया है। कोई ले जायगा तो चिन्ता रहती है। ठाकुरजीको अर्पण कर दिया तो कैसी मौज है ! गया तो ठाकुरजीका, रहा तो ठाकुरजीका !

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——★——

शरणागति

भगवान्ने भगवद्गीतामें सबसे श्रेष्ठ भक्तियोगको कहा है जो कि शरणागति है। उपदेश भी आरम्भ हुआ है अर्जुनके शरण होनेसे और अन्तिम उपदेश यही दिया है कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

इससे पहले भगवान्ने 'गुह्य' कहा, 'गुह्यतर' कहा, 'गुह्यतम' कहा और यहाँ 'सर्वगुह्यतम' (१८। ६४) कहा। तो सबसे अत्यन्त गोपनीय बात कहते हैं ***''मामेकं शरणं व्रज''*** एक मेरी शरण हो जा। अर्जुनने पूछा था कि ***''धर्मसम्मूढचेताः त्वां पृच्छामि''*** धर्मके निर्णय करनेमें मेरी बुद्धि काम नहीं करती, इसलिये आपसे पूछता हूँ।

भगवान् कहते हैं कि जिसका निर्णय तू नहीं कर सकता, वह मेरेपर छोड़ दे। अर्जुन धर्मका निर्णय नहीं कर सकता था कि युद्ध करूँ या न करूँ। तो भगवान् कहते हैं कि यदि तुझे पता नहीं है तो इस दुविधामें मत पड़। इन सबको छोड़कर एक मेरे शरण हो जा। मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू चिन्ता मत कर। तो इसमें सब तरहके आश्रयका त्याग कर देना है। किसीका आश्रय नहीं रखना है। मनमें किसी अन्यका भरोसा और आश्रय सब छोड़ दे। अनन्यभावसे भगवान्के शरण हो जाय। साधन

****

और साध्य इसीको माने। यह शरणागतिकी सबसे गोपनीय और सबसे बढ़िया बात भगवान्‌ने कही।

इसमें एक बहुत विशेष रहस्यकी बात है—"***अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः***" मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर। यह बहुत विलक्षण बात कही। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि तू शरण हो जायगा तो तेरा पाप मैं नष्ट करूँगा। अर्जुनको लोभ दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। तू अनन्यभावसे शरण हो जा, धर्मकी परवाह मत कर, धर्मके त्यागसे होनेवाले पापका ठेका मेरेपर आ गया। गीतामें कहा है "***नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते***" (२।४०) निष्कामभावसे जो कर्म करता है उसका उलटा फल नहीं होता। अधर्म होता ही नहीं। तू केवल मेरी शरण हो जा। इसके बाद कोई चिन्ता मत कर। शरण होनेके बाद मनमें कोई चिन्ता भी हो जाय, किसी तरहकी विपरीत भावना भी पैदा हो जाय, मन भी परमात्मामें न लगे, संसारके पदार्थोंमें राग-द्वेष भी हो जाय, तत्परता और निष्ठा न दिखायी दे—इस तरहकी कमियाँ मालूम देवें तो उन कमियोंके लिये तू चिन्ता मत कर। भगवान्‌की शरण होनेपर उसको किसी तरहकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। निश्चिन्त हो जाना चाहिये। निर्भय और निःशोक होना चाहिये। निःशंक होना चाहिये। लोकमें क्या दशा होगी, परलोकमें क्या होगा, यहाँ यश होगा कि अपयश होगा, निन्दा होगी कि स्तुति होगी, ठीक होगा कि बेठीक होगा, लाभ होगा कि हानि होगी, लोग आदर करेंगे या निरादर करेंगे—इन बातोंकी तरफ खयाल ही मत कर। केवल अनन्य शरण हो जा और सब आश्रय छोड़ दे। तू भय मत कर। शोक भी मत कर और शंका भी मत कर। जो वस्तु

चली गयी उसका शोक होता है और विचारमें बात आती है तो शंका होती है। शोकका भी त्याग कर दे। ***'मा शुचः'*** का तात्पर्य है कि तू किसी तरहका किंचिन्मात्र भी सोच मत कर।

मैं तो भगवान्‌के शरण हो गया। जैसे कन्यादान करनेपर लड़की समझ लेती है मेरा तो विवाह हो गया। बस एकसे सम्बन्ध हो गया। अब उम्रभर यह अटल अखण्ड सम्बन्ध है। इस सम्बन्धके बाद चाहे पति रहे, न रहे, वह आदर करे, अनादर करे, छोड़ दे, संन्यासी हो जाय। हमारी भारतकी नारी ऐसी है कि जिस एकको स्वीकार कर लिया, तो कर लिया। इसीका दृष्टान्त संतोंने दिया है कि "**पतिव्रता रहे पतिके पासा। यूं साहिबके ढिग रहे दासा।**" दास भगवान्‌के पास ऐसे रहे जैसे पतिव्रता रहती है। उसके एक ही मालिक; एक ही तरफ उसका विचार रहता है। उसकी राजीमें राजी। उसकी सेवा करना।

एकइ धर्म एक व्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

(मानस ३।४।६)

उसका एक ही धर्म है, एक ही व्रत है, एक ही नियम है—शरीर, मन, वाणीसे केवल पतिके चरणोंमें प्रेम। इसी तरह भगवान्‌की शरण होना। एक ही व्रत कि मैं भगवान्‌का हूँ। भगवान्‌का धर्म, भगवान्‌की आज्ञा, भगवान्‌की अनुकूलता—वही धर्म है। केवल भगवान्‌का ही मैं हूँ और किसीका नहीं। और किसीका नहीं हूँ—इसका तात्पर्य क्या है ? किसीसे किंचिन्मात्र कभी भी कुछ लेना नहीं। किसीसे किंचिन्मात्र भी कोई अभिलाषा नहीं रखनी है। जैसे पतिव्रता होती है वह घरमें सबकी सेवा करती है। सास, ससुर, देवर, जेठ, जेठानी, देवरानी, ननद आदिकी सेवा करती है। समयपर अतिथि-सत्कार भी करती है। साधुओंको

****

भी भिक्षा देती है; परन्तु अपना सम्बन्ध किसीके साथ नहीं। देवर, जेठ आदिसे सम्बन्ध है तो पतिके नातेसे ही है। स्वतन्त्र सम्बन्ध किसीसे कुछ भी नहीं। इसी तरहका व्रत ले लें कि केवल भगवान्‌से ही मेरा सम्बन्ध है और किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। नियम है तो भगवान्‌के भजनका और भगवान्‌के शरण होनेका। एक यही नियम है। ऐसे अनन्यभावसे भगवान्‌के शरण हो जाय, किसी अन्यका आश्रय न रहे।

दूसरोंकी सेवा करनेमें, काम कर देनेमें, शास्त्रके अनुसार सुख पहुँचानेमें दोष नहीं है। दोष है अपने कुछ चाहनेमें, भगवान्‌के शरण होनेपर किसीसे कभी भी किंचिन्मात्र भी चाहना न हो। **''मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥''** (मानस ७।४५।२) भगवान्‌का दास कहलवाकर किसीसे किंचिन्मात्र भी आशा रखता है तो भगवान्‌का दास कहाँ हुआ? जिस चीजकी आशा रखता है, उसीका दास है। भगवान्‌का दास नहीं है। वह धन, सम्पत्तिका दास है, भगवान्‌को तो एक साधन मानता है। वह भगवद्भक्त नहीं है। ऐसे किसीसे किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं चाहता। न आशा है, न भरोसा है, न बल है, न उसका किसीसे सम्बन्ध है। ऐसे केवल अनन्यभावसे मेरे शरण हो जाय और शरण होकर फिर निश्चिन्त हो जाय।

''मा शुचः'' का अर्थ है किसी विषयकी चिन्ता मत कर। किसी बातकी कोई चिन्ता आ जाय तो कह दे कि भाई! मैं चिन्ता नहीं करूँगा। तो चिन्ता मिट जायगी। दृढ़ता रहनेपर चिन्ता आ भी जायगी तो ठहरेगी नहीं। चिन्ता तभीतक आती है, जबतक आप अपनेमें कुछ बलका अभिमान रखते हैं। चिन्ता आती है तो

****

इसमें एक सूक्ष्म बात रहती है जैसे चिन्ता हुई कि धन नहीं है। तो इसका अर्थ होता है कि मैं धन कमा सकता हूँ, ले सकता हूँ और जब मैं धन कमा सकता हूँ तो यह अपने बलका भरोसा और अहंकार ही हुआ। शरणागतके धनके अभावका अनुभव तो हो जायगा, परन्तु चिन्ता नहीं होगी। ऐसे ही कोई रोग हो जाय तो क्या करूँ रोग दूर नहीं होता— ऐसी चिन्ता नहीं होगी। रोग होता है, वह अच्छा तो नहीं लगता, परन्तु रोग दूर नहीं होता, ऐसी चिन्ता नहीं होगी। चिन्ता तभी होती है, जब रोग दूर करनेमें अपनेपर विश्वास होता है, अपना कोई भरोसा होता है। अपनेपर भरोसा बिलकुल मत रखो। अपने बलका, विद्याका, बुद्धिका, योग्यताका, अधिकारका बल बिलकुल नहीं रखना है।

"सुने री मैंने निर्बल के बल राम।"

सर्वथा केवल भगवान्‌का ही बल है, हमारा बल कुछ नहीं है। बल रहनेसे चिन्ता होती है। यह बारीक बात है, भाई लोग ध्यान दें। जब कभी चिन्ता होती है तो इसका अर्थ यह होता है कि मैंने यह नहीं किया, वह नहीं किया, यह कर लूँगा। ऐसा कर लूँगा। उसे मैं कर लूँगा, तब चिन्ता होती है। शरण तो हो गया, पर भगवान्‌के दर्शन ही नहीं हुए। भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम ही नहीं हुआ। मेरी तो ऐसी अनन्य गाढ़ प्रीति भी नहीं हुई। इन बातोंके न होनेका अभाव तो खटकता है, पर चिन्ता नहीं होनी चाहिये; क्योंकि यह मेरे हाथकी बात नहीं। मैं तो भगवान्‌को ही पुकारूँ। भगवान्‌का ही हूँ। अब उनकी मर्जी होगी तो प्रेम करेंगे, मर्जी होगी तब दर्शन देंगे, मर्जी होगी तब अनन्य भक्त बनायेंगे। अब वे मर्जी आवे जैसा बनायें। अपने-आपको तो दे दिया। जैसे कुम्हार मिट्टीको गीली करके रौंदता है। अब वह रौंदता है तो मर्जी

****

है, कुछ बनाता है तो मर्जी है, पहिले सिरपर उठाकर लाया तो मर्जी है, चक्केपर चढ़ाकर घुमाता है तो उसकी मर्जी है। मिट्टी नहीं कहती कि क्या बनाते हो ? घड़ा बनाओ, सकोरा बनाओ, मटकी बनाओ, चाहे सो बनाओ। मिट्टी अपनी कोई मर्जी नहीं रखती। इसी तरह हमें प्रेमकी कमी मालूम पड़ती है। पर यह भी मालूम न होने देना अच्छी बात है कि मेरेको क्या मतलब प्रेमसे, दर्शनसे, भक्तिसे। मैं तो भगवान्‌का हूँ—ऐसे निश्चिन्त हो जायँ। कमी मालूम देना दोष नहीं है, पर कमीकी चिन्ता करना दोष है। अपना बल कुछ नहीं है। अपने तो उसके चरणोंमें आ गये। अब उसके हैं। अब वह चाहे जन्म-मरण दे। जैसी मर्जी हो, वैसे करे। सब तरहके संकल्प-विकल्प छोड़कर केवल मेरी शरण हो जाय। तू चिन्ता कुछ भी मत कर।

भक्तके जितनी निश्चिन्तता अधिक होती है, उतना ही प्रभाव भगवान्‌की कृपाका विशेष पड़ता है और जितनी वह खुद चिन्ता कर लेता है, उतना वह प्रभावमें बाधा दे देता है। तात्पर्य, भगवान्‌के शरण होनेपर भगवान्‌की तरफसे जो कृपा आती है, उस अटूट, अखण्ड, विलक्षण, विचित्र कृपामें बाधा लग जाती है। भगवान् देखते हैं कि वह तो खुद चिन्तित है तो खुद ठीक कर लेगा, तो कृपा अटक जाती है। जितना निश्चिन्त हो सके, निर्भय हो सके, निःशोक हो सके, निःशंक हो सके, संकल्प-विकल्पसे रहित हो सके उतनी ही श्रेष्ठ शरणागति है। इसलिये कह दो कि अपनेपर कोई भार ही नहीं है। अपनेपर कोई बोझा ही नहीं है, अपनेपर कोई जिम्मेदारी ही नहीं है। अब तो सर्वथा हम भगवान्‌के हो गये।

भगवान्‌से कुछ भी चाहता है कि मेरे ऐसा हो जाय तो वह भगवान्‌से अलग रहता है। जैसे एक अरबपतिका लड़का पितासे

कहे कि मेरेको दस हजार रुपये मिल जायँ। इसका अर्थ होता है कि वह पितासे अलग होना चाहता है। वास्तवमें करोड़ों, अरबों मेरे ही तो हैं। मेरेको कुछ नहीं लेना है। लेनेकी इच्छा होती है तो वह भगवान्‌से अलग कर देती है, भगवान्‌की आती हुई कृपामें आड़ लगा देती है। जैसे बिल्लीका बच्चा होता है, उसे अपना खयाल ही नहीं रहता कि कहाँ जाना है, क्या करना है। वह तो अपनी माँपर निर्भर रहता है। बिल्ली उसे पकड़ लेती है तो बच्चा अपने पंजे सिकोड़ लेता है। कुछ भी बल नहीं करता। अब जहाँ मर्जी हो वहाँ रख दे, चाहे जहाँ ले जाय, उस बिल्लीकी मर्जी। ऐसे ही भगवान्‌का भक्त उनकी तरफ देखता है। उनके विधानमें प्रसन्न रहता है। उसे सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, संयोग-वियोग, आदर-निरादर, प्रशंसा-निन्दासे कोई सरोकार ही नहीं। अपनी तरफसे कोई चिन्ता नहीं, विचार आ जाय तो भगवान्‌को पुकारे, "हे नाथ ! मैं क्या करूँ ?" इस तरह चिन्ता छोड़कर उनके शरण हो जाय।

प्रश्न—शरणागतका जीवन कैसा होता है ?

उत्तर—गीताके अनुसार कर्त्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, अपितु सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। जब सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌के समर्पण करके भगवान्‌के ही शरण होना है तो फिर अपने लिये धर्मके निर्णयकी जरूरत ही नहीं रही।

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस अपनेपनके समान योग्यता, पात्रता, अधिकार आदि कोई भी नहीं है, यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। इसलिये शरणागतको अपनी वृत्तियों आदिकी तरफ न देखकर भगवान्‌के अपनेपनकी तरफ ही देखते रहना चाहिये।

****

भगवान् कहते हैं—मेरे शरण होकर तू चिन्ता करता है, यह मेरे प्रति अपराध है, शरणागतिमें कलंक है और इसमें तेरा अभिमान है। मेरे शरण होकर मेरा विश्वास व भरोसा न रखना—यही मेरे प्रति अपराध है और अपने दोषोंकी चिन्ता करना तथा मिटानेमें अपना बल मानना—यह तेरा अभिमान है। इनको तू छोड़ दे। तेरे आचरण, वृत्तियाँ, भाव शुद्ध नहीं हुए हैं, दुर्भाव पैदा हो जाते हैं और समयपर दुष्कर्म भी हो जाते हैं तो भी तू इनकी चिन्ता मत कर। इन दोषोंकी चिन्ता मैं करूँगा।

भगवान् जो कुछ विधान करते हैं, वह संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करते हैं। बस, शरणागतकी इस तरफ दृष्टि हो जाय तो फिर उसके लिये कुछ करना बाकी नहीं रहता।

जो मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणागतिको स्वीकार कर लेता है तो उसका यह शरण-भाव स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है।

भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, उसके गुण-अवगुणोंको नहीं देखते अर्थात् भगवान्‌को भक्तके दोष दीखते ही नहीं।

शरणागत भक्त—"मैं भगवान्‌का हूँ और मेरे भगवान् हैं" इस भावको दृढ़तासे पकड़ लेता है तो उसकी चिन्ता, भय, शोक, शंका आदि दोषोंकी जड़ कट जाती है, अर्थात् दोषोंका आधार कट जाता है। क्योंकि सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके हुए रहते हैं।

भगवान्‌के शरण होकर ऐसी परीक्षा न करें कि जब मैं शरण हो गया हूँ, तो ऐसे लक्षण मेरेमें नहीं हैं तो मैं भगवान्‌के शरण

****

कहाँ हुआ ?

इस प्रकार सन्देह, परीक्षा और विपरीत भावना—इन तीनोंका न होना ही भगवान्‌के सम्बन्धको दृढ़तासे पकड़ना है। शरणागत भक्तमें तो ये तीनों ही बातें आरम्भमें ही मिट जाती हैं।

मनुष्य जब भगवान्‌के शरण हो जाता है, तो वह प्राणियोंसे, सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंसे निर्भय हो जाता है। उसको कोई भी भयभीत नहीं कर सकता। उसका कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है; परन्तु साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है। इस दृष्टिसे भगवान्‌के साथ किसी तरहका सम्बन्ध जोड़ लिया जाय, वह जीवका कल्याण करने-वाला है। जिन्होंने किसी प्रकार भी भगवान्‌से सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उदासीन ही रहे, वे तो भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित ही रह गये।

भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सौन्दर्य है, भगवान्‌की अनेक विभूतियाँ हैं, इन सबकी तरफ शरणागत भक्त देखता ही नहीं। वह तो केवल भगवान्‌के शरण हो जाता है और उसका केवल एक भाव रहता है कि मैं केवल भगवान्‌के शरण हूँ और केवल भगवान् मेरे हैं। शरणागतकी दृष्टि तो केवल भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये, भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिपर नहीं।

प्राणी ज्यों-ज्यों दूसरा आश्रय छोड़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌का आश्रय दृढ़ होता चला जाता है और ज्यों ही भगवान्‌का आश्रय दृढ़ होता है, त्यों ही भगवत्कृपाका अनुभव

होने लगता है। जब सर्वथा ही भगवान्‌का आश्रय ले लेता है तो भगवान्‌की पूर्ण कृपा उसको प्राप्त हो जाती है।

भगवान् गीता (१८। ५७) में अर्जुनसे कहते हैं कि चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके तू मेरे परायण हो जा और समताका आश्रय लेकर मेरेमें चित्तवाला हो जा। इस श्लोकमें भगवान्‌ने चार बातें बतायीं—(१) सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पित कर दे। (२) स्वयंको मेरे अर्पित कर दे। (३) समताका आश्रय लेकर संसारका सम्बन्ध विच्छेद कर ले और (४) तू मेरे साथ अटल सम्बन्ध कर ले। शरणागतके लिये ये बातें आवश्यक हैं।

साधनकालमें जीवन-निर्वाहकी समस्या, शरीरमें रोग आदि विघ्न-बाधाएँ आती हैं परन्तु उनके आनेपर भी भगवान्‌की कृपाका सहारा रहनेसे साधक विचलित नहीं होता। उन विघ्न-बाधाओंमें भी उसको भगवान्‌की विशेष कृपा ही दीखती है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

═══ ★ ═══

मनकी चञ्चलता कैसे दूर हो ?

मनुष्यने यह समझ रखा है कि मनको कब्जेमें करना बहुत आवश्यक है। मन नहीं लगा तो कुछ नहीं हुआ। राम-राम करनेसे क्या फायदा ? मन तो लगा ही नहीं। मन लग जाय तो ठीक हो जाय। परन्तु मनका लगना या न लगना खास बात नहीं है। मनमें संसारका जो राग है, आसक्ति है, प्रियता है, यही अनर्थका हेतु है। मन लग भी जायगा तो सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जायगी, विशेषता आ जायगी; परन्तु जबतक संसारमें आसक्ति है, कल्याण नहीं होगा। जब भीतरसे राग और आसक्ति निकल जायगी, तब जन्म-मरण छूट जायगा। दुःख होगा ही नहीं; क्योंकि राग और आसक्ति ही सब दुःखोंका कारण है।

पदार्थोंमें, भोगोंमें, व्यक्तियोंमें, वस्तुओंमें, घटनाओंमें जो राग है, मनका खिंचाव है, प्रियता है, वही दोषी है। मनकी चञ्चलता इतनी दोषी नहीं है। वह भी दोषी तो है, परन्तु लोगोंने केवल चञ्चलताको ही दोषी मान रखा है। वास्तवमें दोषी है राग, आसक्ति और प्रियता। साधकके लिये इस बातको जाननेकी बड़ी आवश्यकता है कि प्रियता ही वास्तवमें जन्म-मरण देनेवाली है।

ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका हेतु गुणोंका संग है। आसक्ति और प्रियताकी तरफ तो खयाल ही नहीं है, पर चञ्चलताकी तरफ खयाल होता है। विशेष लक्ष्य इस बातका

रखना है कि वास्तवमें प्रियता बाँधनेवाली चीज है। मनकी चञ्चलता उतनी बाँधनेवाली नहीं है। चञ्चलता तो नींद आनेपर मिट जाती है, परन्तु राग उसमें रहता है। राग-(प्रियता-) को लेकर वह सोता है।

मेरेको इस बातका बड़ा भारी आश्चर्य है कि मनुष्य रागको नहीं छोड़ता ! आपको रुपये बहुत अच्छे लगते हैं। आप मान-बड़ाई प्राप्त करनेके लिये दस-बीस लाख रुपये खर्च भी कर दोगे; परन्तु रुपयोंमें जो राग है, वह आप खर्च नहीं कर सकते। रुपयोंने क्या बिगाड़ा है ? रुपयोंमें जो राग है, प्रियता है, उसको निकालनेकी जरूरत है। इस तरफ लोगोंका ध्यान ही नहीं है, लक्ष्य भी नहीं है। इसलिये आप इसपर ध्यान दें। यह तो राग है, इसकी महत्ता भीतर जमी हुई है। वर्षोंसे सत्संग करते हैं, विचार भी करते हैं, परन्तु उन पुरुषोंका भी ध्यान नहीं जाता कि इतने अनर्थका कारण क्या है ? व्यवहारमें, परमार्थमें, खान-पान, लेन-देनमें सब जगह राग बहुत बड़ी बाधा है। यह हट जाय तो आपका व्यवहार भी बड़ा सुगम और सरल हो जाय। परमार्थ और व्यवहारमें भी उन्नति हो जाय।

विशेष बात यह है कि आसक्ति और राग खराब हैं। ऐसी सत्संगकी बातें सुन लोगे, याद कर लोगे, पर रागके त्यागके बिना उन्नति नहीं होगी। तो प्रश्न आपने किया कि मनकी चञ्चलता कैसे दूर हो ? पर मूल प्रश्न यह होना चाहिये कि राग और प्रियताका नाश कैसे हो ? भगवान्‌ने गीतामें इस रागको पाँच जगह बताया है।

****

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।"

(३।३४)

स्वयंमें, बुद्धिमें, मनमें, इन्द्रियोंमें और पदार्थोंमें—यह पाँच जगह राग बैठा है। पाँच जगहमें भी गहरी रीतिसे देखा जाय तो मालूम होगा कि "स्वयम्" में जो राग है, वही शेष चारमें स्थित है। अगर "स्वयम्" का राग मिट जाय तो आप निहाल हो जाओगे। चित्त चाहे चञ्चल है, परन्तु रागके स्थानपर भगवान्में प्रेम हो जाय तो रागका खाता ही उठ जायगा। भगवान्में आकर्षण होते ही राग खत्म हो जायगा।

भगवान्से प्रेम हो, इसकी बड़ी महिमा है, इसकी महिमा ज्ञान और मोक्षसे भी अधिक कहें तो अत्युक्ति नहीं। इस प्रेमकी बड़ी अलौकिक महिमा है। इससे बढ़कर कोई तत्त्व है ही नहीं। ज्ञानसे भी प्रेम बढ़कर है। उस प्रेमके समान दूसरा कुछ नहीं है। भगवान्में प्रेम हो जाय तो सब ठीक हो जाय।

वह प्रेम कैसे हो? संसारसे राग हटनेसे भगवान्में प्रेम हो जाय। राग कैसे हटे? भगवान्में प्रेम होनेसे दोनों ही बातें हैं—राग हटाते जाओ और भगवान्से प्रेम बढ़ाते जाओ। पहले क्या करें? भगवान्में प्रेम बढ़ाओ। जैसे रामायणका पाठ होता है। अगर मन लगाकर और अर्थको समझकर पाठ किया जाय तो मन बहुत शुद्ध होता है। राग मिटता है। भगवान्की कथा प्रेमसे सुननेसे भीतरका राग स्वतः ही मिटता है और प्रेम जागृत होता है। उसमें एक बड़ा विलक्षण रस भरा हुआ है। पाठका साधारण अभ्यास होनेसे तो आदमी उकता सकता है, परन्तु जहाँ

रस मिलने लगता है, वहाँ आदमी उकताता नहीं। इसमें एक विलक्षण रस भरा है— प्रेम। आप पाठ करके देखो। उसमें मन लगाओ। भक्तोंके चरित्र पढ़ो, उससे बड़ा लाभ होता है, क्योंकि वह हृदयमें प्रवेश करता है। जब प्रेम प्रवेश करेगा तो राग मिटेगा, कामना मिटेगी। उनके मिटनेसे निहाल हो जाओगे। यह विचारपूर्वक भी मिटता है, पर विचारसे भी विशेष काम देता है प्रेम। प्रेम कैसे हो ?

जो संत, ईश्वर भक्त जीवन मुक्त हो गये।
उनकी कथाएँ गा सदा मन को शुद्ध करनेके लिये ॥

मनकी शुद्धिकी आवश्यकता बहुत ज्यादा है। मनकी चञ्चलताकी अपेक्षा अशुद्धि मिटानेकी बहुत ज्यादा जरूरत है। मन शुद्ध हो जायगा तो चञ्चलता मिटना बहुत सुगम हो जायगा। निर्मल होनेपर मनको चाहे कहींपर लगा दो।

कपट, छल, छिद्र भगवान्‌को सुहाते नहीं। परन्तु इनसे आप डरते ही नहीं। झूठ बोलनेसे, कपट करनेसे, धोखा देनेसे—इनसे तो बाज आते ही नहीं। इनको तो जान-जानकर करते हो। तो मन कैसे लगे ? बीमारी तो आप अपनी तरफसे बढ़ा रहे हो। इसमें जितनी आसक्ति है, प्रियता है, वह बहुत खतरनाक है विचार करके देखो। आसक्ति बहुत गहरी बैठी हुई है। भीतर पदार्थोंका महत्त्व बहुत बैठा हुआ है। यह बड़ी भारी बाधक है। इसे दूर करनेके लिये सत्संग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, जिससे बहुत आश्चर्यजनक लाभ होता है।

मन कैसे स्थिर हो ? मनको स्थिर करनेके लिये बहुत सरल

****

युक्ति बताता हूँ। आप मनसे भगवान्‌का नाम लें और मनसे ही गणना रखें। राम-राम-राम—ऐसे रामका नाम लें। एक राम, दो राम, तीन राम, चार राम, पाँच राम। न तो एक-दो-तीन बोलें, न अँगुलियोंपर रखें, न मालापर रखें। मनसे ही तो नाम लें और मनसे ही गणना करें। करके देखो मन लगे बिना यह होगा नहीं और होगा तो मन लग ही जायगा।

एकदम सरल युक्ति है—मनसे ही तो नाम लो, मनसे ही गिनती करो और फिर तीसरी बार देखो तो उसको लिखा हुआ देखो। ''राम'' ऐसा सुनहरा चमकता हुआ नाम लिखा हुआ दीखे। ऐसा करनेसे मन कहीं जायगा नहीं और जायगा तो यह क्रिया होगी नहीं। इतनी पक्की बात है। कोई भाई करके देख लो। सुगमतासे मन लग जायगा। कठिनता पड़ेगी तो यह क्रम छूट जायगा। न नाम ले सकोगे, न गणना कर सकोगे, न देख सकोगे। इसलिये मनकी आँखोंसे देखो, मनके कानोंसे सुनो, मनकी जबानसे बोलो। इससे मन स्थिर हो जायगा।

दूसरा उपाय यह है कि जबानसे आप एक नाम लो और मनसे दूसरा। जैसे मुँहसे नाम जपो—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

ऐसा करते रहो। भीतर राम-राम-राम—कहकर मन लगाते रहो। देखो मन लगता है या नहीं। ऐसा सम्भव है तभी बताता हूँ। कठिन इसलिये है कि मन आपके काबूमें नहीं है। मन लगाओ, इससे मन लग जायगा।

****

तीसरा उपाय बतावें। अगर मन लगाना है तो मनसे कीर्तन करो। मनसे ही रागनीमें गाओ। मन लग जायगा। जबानसे मत बोलो। कण्ठसे कीर्तन मत करो। मनसे ही कीर्तन करो और मनकी रागनीसे भगवान्‌का नाम जपो।

पहले रागको मिटाना बहुत आवश्यक है और राग मिटता है सेवा करनेसे। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंके द्वारा किसी तरहसे सेवा हो जाय, यह भाव रखना चाहिये। पारमार्थिक मार्गमें, अविनाशीमें, भगवान्‌की कथामें अगर राग हो जाय तो प्रेम हो जायगा। भगवान्‌में, भगवान्‌के नाममें, गुणोंमें, लीलामें आसक्ति हो जाय तो बड़ा लाभ होता है। अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके सेवा करें तो भी राग मिट जाता है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

—— ★ ——

भगवान्‌में मन कैसे लगे ?

आप जो सम्बन्ध भगवान्‌के साथ मान लें, भगवान् भी वही सम्बन्ध माननेको तैयार हैं। आपको सरलतासे जैसा भाव आवे, वैसा ही भाव कर लो।

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहीं, आरतिहर तोसो॥

ऐसे ही तुलसीदासजी आगे कहते हैं—

तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै॥

ऐसे मान लो। भगवान्‌के प्रति भाव बदल लो। भगवान्‌को भगवान् ही मान लो चाहे अपना प्यारा मान लो, जो भाव प्यारा लगे उनके साथ वही भाव मान लो। यहाँ कई वर्षों पहले व्याख्यान करते हुए मेरेसे एक भाईने प्रश्न किया—मुझे तो माँका नाम प्यारा लगता है। प्रत्येकका ही ऐसा भाव होता है कि माँ अच्छी लगती है। पालन करनेवाली होती है माँ, बूढ़े हो जायँ तबतक माँ याद आती है। माँका स्नेह होता है। स्नेहका प्रभाव ज्यादा हो जाता है। तो, मेरेसे पूछा था एक सज्जनने कि भगवान्‌को हम माँ कहकर पुकार सकते हैं क्या ?

भगवान्‌में स्त्री-पुरुषका बिलकुल भेद है ही नहीं। माँ कहोगे तो माँ-रूपमें आ जायेंगे भगवान्। प्रबोध-सुधाकर पुस्तकमें श्रीशंकराचार्यजी महाराज-(वेदान्तके आचार्य-)ने, ***''मातः कृष्णाऽभिधाना''*** लिखा है। वे भी कृष्णभगवान्‌को माँ कहकर पुकारते हैं। माँ कहकर पुकारो। माँ-नामसे यदि स्नेह जागृत होता हो, मन लगता हो तो भगवान्‌को माँ कहो, पिता कहो, भाई कहो। जो नाम प्यारा लगे, जो सम्बन्ध प्यारा लगे। ऐसा नहीं मान सको तो राधाजीको माँ बना लो, नहीं तो कृष्ण माँ हैं मेरी। ऐसा मान लो।

पहले आरम्भ-आरम्भमें ही सम्बन्ध जोड़नेमें मन जगह-जगह जाता है। उद्देश्य एक बना लें। लक्ष्य एक बना लें। बस, फिर बादमें जगह-जगह मन नहीं जायगा, फिर एकमें ही मन रहेगा। जैसे लड़का हो या लड़की। आप उसका सम्बन्ध करते हो, लड़केका सम्बन्ध करते हो तो अनेक लड़कियोंकी बातें करो तो छोरा सुनेगा। लड़कीका सम्बन्ध आप करते हो, अपनी स्त्रीसे बातें करते हो कि देखो वहाँ ऐसा लड़का है, इतना पढ़ा-लिखा है। इस प्रकारकी बातें करोगे—तो लड़की सुनेगी। ऐसी बातें लड़की कबतक सुनती है ? जबतक उसका सम्बन्ध पक्का नहीं हो जाता। आप सम्बन्ध पक्का कर दें, अमुकके साथ बात पक्की हुई। उसके बाद (सम्बन्ध पक्का होनेके बाद) छोरी केवल उसकी बात सुनेगी। दूसरेकी बात इस प्रकारसे नहीं सुनेगी। सुनेगी तो परवाह नहीं करेगी। ऐसे ही लड़केका यदि किसीके साथ सम्बन्ध पक्का हो गया तो लड़का सम्बन्धवाली उस लड़कीकी ही बात

सुनेगा कि कैसी योग्यता है ? कैसी बात है ? लड़की भी छिप-छिपकर सुनती है। यह क्या है ? सम्बन्ध हो गया न अब। सम्बन्ध न होता, तो इस प्रकार नहीं सुनती। बहुत-सी बातें होती हैं, पर नहीं सुनते। तो हम भगवान्‌की बातें क्यों नहीं सुनते हैं, क्योंकि सम्बन्ध जोड़ा नहीं। जब सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़ लेंगे तो उनकी बातें ही सुनेंगे। बादमें तरह-तरहकी बातें कौन सुनेगा ? बताओ ! सुने तो असर नहीं होगा। उसी रीतिसे दूसरी बातें नहीं सुनते जिस रीतिसे लड़की दूसरे लड़कोंकी बातें नहीं सुनती। केवल सम्बन्धवाले लड़केकी बात सुनती है देखा नहीं, पहले सुना नहीं। बस माँ-बापने सम्बन्ध कर दिया कि हमने अमुकको लड़की दी। इसी प्रकार भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लेना है। हमें तो भगवत्प्राप्ति करना है फिर भगवान्‌की बात अच्छी लगेगी। स्वतः ही, स्वाभाविक ही। फिर मन और कहीं क्यों जायगा ? कहाँ जायगा ? हमें मतलब ही नहीं है दूसरेसे भाई !

हमें क्या काम दुनियासे हमें श्रीकृष्ण प्यारे हैं।
यशोदा नन्दके नन्दन मेरे आँखोंके तारे हैं॥

हमें क्या मतलब ? दुनियासे क्या लेना-देना ? न लेना है, न देना है। हमारे तो एक भगवान् हैं और वे ही हमारे हैं।

भगवान्‌के गुण सुनें, उनके चरित्र सुनें, उनकी महिमा सुनें। उनके परायण होवें। सुननेसे बड़ा लाभ होता है। भक्तोंके चरित्रोंसे बड़ा लाभ होता है। वह भी एक बढ़िया उपाय है। दिनमें घंटा, दो घंटा आप कहीं एकान्तमें बैठ जाओ, कमरेमें बैठ जाओ। दरवाजा कर लो बन्द। भक्तोंके चरित्र पढ़ो। जिनको पढ़ते-पढ़ते

****

गद्गद हो जाय और प्रियता आवे। उस समय पुस्तकको छोड़ दो। नाम-जप है, कीर्तन है, शुरू कर दो। भगवान्का चिन्तन-भजन शुरू कर दो। जब मन फिर इधर-उधर जावे और वैसी बात न रहे, तो फिर एक पन्ना पीछेसे पढ़ो। फिर पढ़ते-पढ़ते भाव आ जावे फिर छोड़ दो वहाँ। पुस्तक पढ़ना या पूरा करना है, यह मतलब नहीं। मन लगाना है। बस, वहाँ लगा दिया। उसके बाद फिर नाम-जप करते रहो। कीर्तन करते रहो। प्रार्थना करते रहो। भगवान्से बातें करते रहो मनमें। हमारा मन नहीं लगता महाराज! मैं क्या करूँ? आप कब दर्शन दोगे? आपके चरणोंमें कब प्रेम होगा? ऐसे एक पुस्तक निकली है गीताप्रेससे ''ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप''। उस पुस्तकके अनुसार करो, बड़ा लाभ होगा। चलते-फिरते भगवान्से बात करना शुरू कर दो। मनसे प्रश्न पूछो तो मनसे उत्तर मिले। जो स्फुरणा हो जाय फिर भगवान्से पूछो— सुगमतासे मन लग जायगा। इसी प्रकार विनयपत्रिका ले ली अथवा कोई स्तुति ले ली। स्तुति करते-करते मन लग जाय तब चिन्तन करना, नाम-जप करना शुरू कर दो। जब छूट जाय तो फिर पढ़ना शुरू कर दो। इन बातोंमेंसे कोई बात अपनाकर आप देखें। ऐसे तो यह युक्तिसंगत जँचती है। बात यह ठीक है। ऐसे हो सकता है कि नहीं? यदि सम्भव है तो करके देखो। करके देखनेसे पता लगता है कि कहाँ-कहाँ विघ्न आते हैं? कहाँ बाधा आती है? क्यों बाधा आती है? इन बातोंका पता लगेगा।

यदि मन अधिक चञ्चल हो तो जप करते रहे, थोड़ी-थोड़ी

देर बाद भगवान्‌से कहता रहे कि आपके चरणोंमें मन नहीं लगता। हे भगवन्! मन नहीं लगता है। नमस्कार करे और कहता रहे। यह बड़ी सरल बात है। नाम-जप करता रहे, आधा मिनट हुआ, एक मिनट हुआ फिर कह दिया महाराज ! मन नहीं लगता। कहना— प्रार्थना हो गयी। भगवान्‌की याद आ गयी। नाम-जप हो रहा है। पाँच-सात दफे मालामें कह देवे। महाराज, मन नहीं लगता। हे नाथ ! मैं भूल जाता हूँ। हे नाथ ! मन नहीं लगता। नमस्कार करते रहो, कहते रहो। षोडश-मन्त्र ब्रह्माजीका बताया हुआ है; यह जपता रहे और प्रार्थना करता रहे। हे नाथ ! मन नहीं लगता। हे भगवान् क्या करूँ ? महाराज ! आपके चरणोंमें मन नहीं लगता। कहते रहो। उनकी कृपासे मन लगने लगेगा।

राम ! राम ! राम !

——★——

निरन्तर भगवत्स्मृति कैसे हो ?

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(८।७)

इसलिये सब समय तू निरन्तर मेरा ही स्मरण कर और युद्ध (कर्त्तव्य-कर्म) भी कर। भगवान्का स्मरण सब समय हो सकता है, किन्तु युद्ध सब समय नहीं हो सकता, अर्जुनके सम्मुख युद्धरूपी कर्त्तव्य ही था। अन्य लोगोंके सामने अपने-अपने घरोंके काम हैं। युद्धकी तरह घरोंके काम-धन्धे भी सभी समय नहीं हो सकते। इस प्रकार भगवान्का स्मरण करते हुए काम करना, काम करते हुए भगवान्का स्मरण करना एवं भगवान्का ही काम करना। इन तीन विकल्पोंमें भगवत्स्मरण ही प्रमुख है, कार्य गौण है। दूसरे विकल्पमें कार्य ही प्रमुख है और भगवत्स्मरण गौण है और तीसरे विकल्पमें भगवान्के प्रति अनन्यभाव है।

प्रायः लोग काम करते हुए भगवान्को भूल जाते हैं। इसमें स्वयंकी असावधानी तो खास कारण है ही, परन्तु साथमें एक भारी भूल भी है। यह एक सिद्धान्त है कि जिसके प्रति ममता होती है, उसका स्वतः ही स्मरण होता है। लोग काम-धन्धोंको अपना मानते हैं, उनके प्रति ममता रखते हैं, अतः काम-धन्धे ही याद आते हैं, भगवान् नहीं। भगवान् याद आते भी हैं, तो कुछ समयके बाद उन्हें फिर भूल जाते हैं। अतः यह दृढ़ निश्चय कर

लेना चाहिये कि हमें घरका काम करना ही नहीं है। काम तो भगवान्‌का ही करना है। "**अंजन कहा आँख जेहिं फूटे**" जिस अंजनसे आँख फूट जाय, वह अंजन कैसा ? उससे हमें क्या मतलब ? घरका काम करते हुए भगवान्‌को भूल जाय तो ऐसे कामसे क्या लेना ? अतः साधकको यह मान लेना चाहिये कि घर हमारा नहीं, काम हमारा नहीं और हम भी हमारे नहीं। घर भी भगवान्‌का, काम भी भगवान्‌का और हम भी भगवान्‌के हैं। भगवान्‌की शक्तिसे ही भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये हम भगवान्‌का ही काम कर रहे हैं—इस प्रकार दृढ़ भावनासे भगवान्‌के प्रति ममत्व पैदा हो जायगा और फिर भगवान्‌का स्मरण स्वतः ही होने लगेगा। स्मरणके लिये प्रयासकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु जबतक घर आदिको अपना मानते रहेंगे, तबतक स्मरणमें भूल होगी ही। जैसे हम किसी धर्मशालमें ठहरते हैं तो यह बात जँच जाती है कि यह धर्मशाला हमारी नहीं है। इसी प्रकार घरमें रहते हुए यह बात जँच जानी चाहिये कि यह घर हमारा नहीं है, यहाँ तो थोड़े समयके लिये हम रहने आये हैं। इस बातको बहुत ही दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिये कि यह घर मेरा नहीं, धनादि पदार्थ मेरे नहीं, परिवार मेरा नहीं, शरीर मेरा नहीं। ये तो थोड़े समयके लिये मिले हुए हैं। समय पूरा होते ही इनसे वियोग हो जायगा। यदि ये मेरे होते तो सदा मेरे साथ रहते; किन्तु इनपर न तो कोई अधिकार ही चलता है, न इनमें हम इच्छानुसार परिवर्तन ही कर सकते हैं और न इनको मरने, नष्ट होनेसे बचा ही सकते हैं। तो ये पदार्थ आदि मेरे कैसे हो गये ? किसी भी युक्तिसे इनके साथ "मेरापन" सिद्ध नहीं होता। अतः ये मेरे नहीं हैं, नहीं हैं, नहीं हैं।

मेरे तो एकमात्र भगवान् ही हैं; क्योंकि भगवान् पहले भी मेरे थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। सांसारिक पदार्थ पहले भी मेरे नहीं थे, आगे रहेंगे नहीं और वर्तमानमें भी इनसे निरन्तर ही वियोग हो रहा है। संसारके साथ कभी संयोग है ही नहीं और भगवान्‌के साथ कभी वियोग है ही नहीं।

भगवत्प्राप्तिकी इच्छा कभी भी मिटती नहीं। मनुष्य चाहे इस बातको माने या न माने; किन्तु उसके हृदयमें यह कामना अवश्य रहती है कि मैं सदाके लिये पूर्ण सुखी हो जाऊँ। सभी बन्धनोंसे मुक्त हो जाऊँ, मेरे पास कभी दुःख न आये। यही भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है। यह इच्छा अवश्यमेव पूरी होती है, क्योंकि यह वास्तविक एवं सच्ची इच्छा है।

संसारकी इच्छा बिलकुल नकली है। यह इच्छा बनती और मिटती रहती है, किन्तु कभी पूरी नहीं होती। लोगोंने मिथ्या धारणा कर रखी है कि संसारकी इच्छा मिटती नहीं, परन्तु वास्तविक बात यह है कि यह इच्छा टिकती नहीं, बदलती रहती है। बचपनमें कोई और इच्छा थी, जवानीमें कोई और हो जाती है एवं वृद्धावस्थामें तो इच्छाका रूप ही बदल जाता है। संसार स्वयं परिवर्तनशील है। अतः संसारकी इच्छा भी परिवर्तनशील ही है। शरीर भी परिवर्तनशील ही है। अतः संसारकी इच्छा शरीरकी ही इच्छा है, व्यक्तिकी स्वयंकी इच्छा नहीं है। स्वयं (जीव) अपरिवर्तनशील है, परमात्मा भी अपरिवर्तनशील है एवं परमात्माकी इच्छा भी अपरिवर्तनशील है। इसलिये परमात्म-प्राप्तिकी इच्छा ही स्वयंकी इच्छा है। सांसारिक पदार्थ शरीरको ही प्राप्त हो सकते हैं स्वयंको नहीं। स्वयंको तो परमात्मा ही प्राप्त हो सकते हैं; क्योंकि संसार, सांसारिक पदार्थ एवं शरीरकी जातीय

****

एकता है। इसी प्रकार परमात्मा एवं स्वयं (जीव) की जातीय एकता है, सम्बन्ध सजातीयका ही होता है, विजातीयका नहीं। संसारके अंशको संसारकी इच्छा है एवं परमात्माके अंशको परमात्माकी इच्छा है।

संसारका काम, घर-परिवारका काम भी, शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदिका ही काम है, हमारा काम नहीं है। हमारा काम तो भगवान्‌का भजन करना एवं भगवान् और उनके तत्त्वको प्राप्त करनेका ही है। हमें एकमात्र भगवान्‌की ही आवश्यकता है एवं भगवत्प्राप्तिकी इच्छा ही हमारी वास्तविक इच्छा है। संसारका काम तो पराया काम है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जीवका परमात्माके साथ ही स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। परन्तु अज्ञानवश संसारको एवं संसारके कामको अपना मान लेनेके कारण ही जीव कार्य करते समय भगवान्‌को भूल जाता है। जीव यदि दृढ़तापूर्वक भगवान्‌के साथ अपने नित्य, सत्य, शाश्वत सम्बन्धको स्वीकार कर केवल उन्हें अपना मान ले एवं भगवत्प्राप्तिके अतिरिक्त किसी भी कार्यको अपना कार्य न माने तो वह भगवान्‌को कभी भूल ही नहीं सकता। संसारकी इच्छा करने एवं संसारके साथ सम्बन्ध माननेके कारण ही भगवत्प्राप्तिमें भूल होती है। अतः अपने वास्तविक सम्बन्ध एवं कार्यको पहिचानना चाहिये।

प्रश्न—निरन्तर भगवत्स्मरणके लिये नाम-जपकी आवश्यकता है क्या?

उत्तर—कलियुगमें नाम सर्वोपरि साधन है। नाम-जपसे सब काम स्वतः ही ठीक बन जाते हैं। **''नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु॥''** (मानस १। २६) रामजीका नाम-

रूपी कल्पतरु कलियुगमें बहुत कल्याण करता है। कल्पतरुसे जो चाहे सो ले लो। निरन्तर नाम-जप करनेसे इसमें रस आने लगता है। मिठाई खानेवाला ही रसको जानता है। ऐसे ही नामको लेनेवाला ही नामके रसको जान सकता है।

नाम-जपसे अत्यधिक लाभ होता है। नाम-जपसे विषय-वासना दूर होती है; पाप नष्ट होते हैं; विकार दूर होते हैं; शान्ति मिलती है और भक्ति बढ़ती है। नाम-जपसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। जब मनमें चिन्ता आवे तो आधा घंटा, एक घंटा नाम जपो, चिन्ता मिट जायगी। नाम-जप करनेवाले सज्जन नाममय हो जाते हैं।

नाम-जप तो असली धन है जो साथ जाता है। इसलिये कहा है—**''धनवन्ता सोई जानिये जाके राम नाम धन होय।''** नामकी कीमत कोई आँक नहीं सकता। यह अमूल्य रत्न है। **''पायो री मैंने राम रतन धन पायो।''** नामको सगुण और निर्गुणसे भी बड़ा बताया है।

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई।
रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(मानस १।२५।४)

नामके गुण तो स्वयं भगवान् भी गाना चाहें तो नहीं गा सकते। नामकी महिमा अपार है, असीम है और अनन्त है।

प्रश्न—नाम-जपकी खास विधि क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करते हुए, अर्थको समझते हुए, भगवान्‌के होकर नामका जप करें। नाम-जप गुप्तरूपसे और निष्काम भावसे करें। नाम-जप निरन्तर करते रहें। नामको भूल न जायें, इसके लिये एक उपाय है। मन-ही-मन

****

भगवान्‌को प्रणाम करके उनसे प्रार्थना करें कि हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं, हे प्रभो! आपको मैं भूलूँ नहीं। ऐसा थोड़ी-थोड़ी देरमें कहते रहें।

एक बात और है, उसपर ध्यान दें। जब कभी आपको भगवान् अचानक याद आ जायँ या भगवान्‌का नाम अचानक याद आ जाय उस समय समझो कि भगवान् मेरेको याद करते हैं। ऐसा समझकर प्रसन्न हो जाओ कि मैं निहाल हो गया; मेरेको भगवान्‌ने याद कर लिया। अब और काम पीछे करेंगे— उस समय नाम-जप व कीर्तनमें लग जाओ। ऐसा करनेसे भक्ति बहुत ज्यादा बढ़ती है।

मालासे जप करना लाभदायक है। भगवान्‌को याद करनेके लिये माला एक शस्त्र है। माला फेरनी चाहिये। जितना नियम है उतना जप मालासे पूरा हो जाता है। उसमें कमी न आ जाय इसलिये मालाकी आवश्यकता है। बिना मालाके अगर निरन्तर जप होता है तो मालाकी कोई जरूरत नहीं है।

नारायण! नारायण! नारायण!

═══ ★ ═══

जीवनकी चेतावनी

गीताजीमें दो बातें भगवान्‌ने अपनी ओरसे विशेषतासे कही हैं—

१. साधनके विषयमें। २. अन्तकालके विषयमें। मनुष्यका जीवन भगवन्मय होना चाहिये, भगवान्‌की साधनामें लगना चाहिये और अन्तमें भगवान्‌की स्मृति होनी चाहिये। इन दो विषयोंमें भगवान्‌ने जितने श्लोक कहे हैं और जितना विवेचन किया है उतना और किसी विषयमें नहीं किया। अन्तमें कहते हैं—**"*मामेकं शरणं व्रज*"** तू मेरी शरण हो जा, मैं सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।

अब सज्जनो ध्यान दें। यह संसार जो अपना दीखता है यह अपने साथ नहीं रहेगा, नहीं रहेगा।

> **थे बड़े-बड़े महाराजे,**
> **जिनके बजे रात दिन बाजे।**
> **वे भी बने कालके खाजे॥**
> **मिले नहीं बारम्बार शरीर,**
> **ऊमर क्यों गफलतमें खोते हो?**

संसारसे क्या ले लोगे आप? धन ले लोगे, सुख ले लोगे? ले कुछ सकोगे नहीं। धोखा होगा, धोखा! संसारसे किसी एकको भी पूर्ण सुख मिला है क्या? मिलेगा भी नहीं, क्योंकि ये तो नाशवान् हैं और भगवान् हैं अविनाशी। ये शरीर,

****

संसार सभी यहीं रहनेवाले हैं। शरीरको भी दूसरे लोग उठायेंगे। यह पहलेसे विचार करना होगा, सोचना होगा कि क्या करना चाहिये ? जैसे मनुष्य घरसे निकल जाता है और पता ही नहीं कि कहाँ जाना है तो क्या दशा होती है ? पूछे किसीसे कि मार्ग बता दो, तो बतानेवाला पूछे कि कहाँका ? तो कहे कि कहींका बता दो। तो वह पागल समझा जायगा। एक लक्ष्य तो होना चाहिये।

भाइयो ! ध्यान देना। हमारी जीवन-यात्रा तो हमारे जन्मके समयसे ही चल पड़ी। जीवन प्रतिक्षण खत्म हो रहा है और हमें इस जीवनमें क्या करना है, अभीतक यह पता ही नहीं है। हममेंसे बहुत-से बहिन-भाइयोंको तो पता ही नहीं कि हमें किधर जाना है, हमारे जीवनका क्या लक्ष्य है। मैंने पूछकर देखा है कि बताओ आप क्या चाहते हैं ? तो कोई निर्णय नहीं है। कभी कुछ चाहते हैं। यहाँकी सब चीजें तो छूटनेवाली हैं, इसलिये प्रभुको याद करो जो नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं।

सज्जनो ! चेतो। दूसरोंको धोखा देकर हम कुछ ले भी लेंगे तो महान् मुश्किल होगी, कुछ नहीं मिलेगा। सब कुछ यहीं रहेगा और यमराजके दूत आ जायेंगे। वह दिन कभी भी आ सकता है; पता नहीं कब आ जाय, उसके आनेमें कोई सन्देह नहीं है। आप, हम सब कहाँ बैठे हैं, पता है ? मृत्युलोकमें हैं, मरनेवालों-के लोकमें हैं, यहाँ रहनेवाला कोई नहीं, सब मरने-ही-मरनेवाले हैं। निश्चिन्त कैसे बैठे हो ? जो काम करना है सो कर लो। अब नहीं किया तो फिर कब करोगे ? छोटे-छोटे बालक होते हैं, वे भी यह सोचते हैं कि बड़े होकर यह करेंगे। इसी प्रकार हम सोचते हैं कि बड़े होकर यह करेंगे। बाल सफेद होने लगे तो कब करोगे ? अब तो मरोगे, बस। शरीर प्रतिक्षण जा रहा है, इसमें

सन्देह नहीं है किंचिन्मात्र भी। जन्म-दिनपर खुशी मनाते हैं, अरे! रोनेका दिन है एक वर्ष बीत गया, परन्तु इसमें किया क्या? जिसमें भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती थी, बारह महीनेकी उस उम्रको व्यर्थ गवाँ दिया। विचार करनेकी बात है। आगेके लिये सावधान होनेकी बात है कि अब जो समय बीत गया, वह तो बीत गया, अब नहीं बीतने देंगे।

''अंतहु तोहि तजेंगे पामर, तू न तजै अब ही ते।''

ये सब तो छूटनेवाले हैं, काम पड़नेपर परमात्मा ही साथ रहनेवाले हैं। प्रभु ही हमारे हैं सज्जनो! और कोई हमारा नहीं है। अतः हे नाथ, हे नाथ! पुकारो। वे प्रभु सब समयमें हैं, तो अभी भी हैं, सब जगहपर हैं तो यहाँ भी हैं और सबके हैं तो हमारे भी हैं, सबमें हैं तो हमारेमें भी हैं, वे स्वयं कहते हैं—***''सुहृदं सर्वभूतानाम्''*** प्राणिमात्रके सुहृद्—ऐसे परमात्माके रहते हुए हमारी दुर्दशा हो तो फिर क्या कहें? उनके रहते हुए हम दुःख पावें, कष्ट उठावें। तो इसमें कारण क्या है? उनसे विमुख हो गये और नाशवान् पदार्थोंके पीछे पड़े हैं कि वे मिल जायँ, भोग भोग लें, मान-सम्मान मिल जाय, मिलेगा कुछ नहीं, धोखा होगा धोखा। सब ज्यों-का-त्यों रह जायगा, साथ कुछ नहीं जावेगा। अतः उपकार करो। साथ क्या चलेगा? साथ चलेगा—स्वभाव। सेवा करनेवाला सब जगह सेवा करेगा और महान् आनन्द लूट लेगा। असली पूँजी आपकी है आपका स्वभाव।

एक दिनके लिये भी कहीं जाते हैं तो सोचते हैं कि अमुक जगह ठहरना होगा, अमुक सवारी मिलेगी। परन्तु इस संसारको एक दिन छोड़ना है, इसे छोड़कर जरूर जाना पड़ेगा, तो इसका प्रबन्ध किया है कि नहीं; यह प्रत्येक भाई-बहिनको स्वयंको

****

सोचना होगा। एक क्षणका भी पता नहीं, हार्टफेल हो जाता है, चलते-फिरते मर जाता है। फिर हम क्या फौलादके बने हुए हैं ? इसलिये स्वभावको शुद्ध बनाओ। हर एकका उपकार करो, हित करो। प्रभुको याद करो। जितने सन्त-महात्मा हुए हैं वे सब भगवान्‌को याद करनेसे ही संत-महात्मा बने हैं। भगवान्‌के नाम बिना सब खाली है, खाली। अतः उठते-बैठते, सोते-जागते, काम-धन्धा करते हुए भी और न करते हुए भी भगवान्‌को पुकारते रहो। उनसे काम पड़नेवाला है, उनको याद करते रहो। सब समय नाम-जप करते रहो और कहते रहो—राम ! राम ! राम !

नाम-जप करो। अन्तमें नाम काम आवेगा। धन, सम्पत्ति, परिवार, मकान कुछ काम नहीं आवेंगे। अभीतक जिन कामोंको करते हुए, आपको सत्संग, भजन, ध्यान, स्वाध्याय, पाठ, जप आदिके लिये समय नहीं मिलता है अन्तमें क्या होगा ? हाय ! हमने कुछ नहीं किया। यह सारा काम-धन्धा कुछ नहीं कियामें भर्ती होनेवाला है। मनुष्य कहता है कि सत्संगके लिये समय नहीं मिलता। राम ! राम ! कितनी भारी भूल ! बच्चा जन्मता है, तो बड़ा होगा कि नहीं होगा, इसमें सन्देह है। पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा, इसमें सन्देह है। विवाह होगा कि नहीं होगा, इसमें सन्देह है; परन्तु मरेगा कि नहीं मरेगा, इसमें सन्देह नहीं है। मरना तो पड़ेगा ही। परन्तु जिन कामोंमें सन्देह है उन्हें तो तत्परतासे कर रहा है, परन्तु जिस काममें सन्देह नहीं, जाना तो पड़ेगा जरूर, उसके लिये कोई तैयारी ही नहीं। बड़े आश्चर्यकी बात है। यह बड़ी भारी भूल है। अतः सावधान हो जाओ।

मैं एक सच्ची बात कहता हूँ। वह यह है कि सिवाय भगवान्‌के अपना कोई नहीं है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, श्वास आदि

****

कोई आपके नहीं। परन्तु प्रभुको आप अपना मान लें तो प्रभु छोड़ नहीं सकते आपको। ये सब चीजें, जिनके पीछे आप पड़े हैं, आपकी बात कोई माननेवाले नहीं हैं। जिस शरीरकी आप सदा रक्षा करते हो, एक दिन रात्रिमें भूलसे कपड़ा अलग रह जाय तो जाड़ा लग जाता है। यह खयाल नहीं करता कि कितने दिन इसने रक्षा की, एक दिन मैं भी क्षमा कर दूँ, इतने वर्षोंसे अन्न-जल दिया। दो दिन अन्न-जल बन्द कर दो तो इसकी क्या दशा होती है ? यह इतना कृतघ्न है कि दो दिनमें ही पोल निकाल देता है। तो ऐसे कृतघ्न शरीरके तो बन गये गुलाम और जो भगवान् याद करनेमात्रसे दौड़ते हैं उन भगवान्‌को याद ही नहीं करते। बिना याद किये भी उन भगवान्‌ने हमें विद्या, बुद्धि, ज्ञान, शरीर, जीवन आदि सभी दिये हैं और देते ही रहते हैं। इतने विलक्षण ढंगसे देते हैं कि उनका दिया हुआ अपना ही मालूम देता है। ऐसे परम सुहृद् परमात्माको भूल गये।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(गीता ५। २९)

परमात्मा पापी, दुराचारी, सज्जन आदि सभीके परम सुहृद् हैं। अतः उनको तो याद करो और संसारका काम करो। संसारके कामसे भी भगवान्‌को राजी करो। स्वार्थका त्याग करके सेवा करो। सब भाई-बन्धुओंकी, स्त्री-पुत्रकी, सबकी सेवा करो, सबको सुख पहुँचाओ, यह सोचकर कि ये सब भगवान्‌के हैं। इससे भगवान् बड़े राजी होंगे कि यह मेरे बच्चोंका पालन करनेवाला है। जैसे कोई एक बच्चा है जिसके माता-पिता नहीं, उसे एक माई अपने घर ले जाती है और उसका पालन-पोषण करती है, तो लोग कहते हैं कि बड़ी दयालु माई है। अपने

****

बच्चोंका पालन तो सभी करते हैं, कुतिया भी अपने बच्चोंका पालन करती है। अतः सबका हित करना है। चाहे तो जिनसे अपना कोई स्वार्थ न हो उनका हित कर दो या जिनकी आप सेवा करते हैं, उनसे अपना कोई सम्बन्ध न रखो। एक ही बात होगी। अतः स्वार्थ त्यागकर सबको सुख पहुँचाओ, सबका हित करो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

किसीको दुःख न मिले, सबको आराम मिले, सबको सुख मिले। सज्जनो! ऐसा भाव कर लो। यह मनुष्य-जन्मका खास मौका है। स्वार्थके लिये काम करना मनुष्यता नहीं है, कुत्ते आपसमें खूब खेलते हैं परन्तु रोटीका टुकड़ा देखते ही लड़ाई हो जाती है। ऐसे ही यदि स्वार्थके लिये हमलोग भी लड़ें तो उनमें और हममें क्या अन्तर हुआ? इसलिये यह भाव रखो कि सबका हित कैसे हो? ***''ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः''*** (गीता १२।४) सबके हितमें जो रत होते हैं वे परमात्माको प्राप्त होते हैं। अतः सज्जनो! संसारको अपना मानकर जो लाभ आपने उठाया है, वह तो उठा ही लिया, अब भगवान्‌को अपना मानकर देख लो। सबका हित हो, सबको आराम मिले, सबका कल्याण हो यह भाव रखो। सेवा जितनी कर सको, उतनी करो। परन्तु भावमें कमी न रखो। भीतरका भाव यह होना चाहिये कि सबके हितमें प्रीति हो, उस भावसे स्वतः त्याग होगा। भावना पहले होती है, क्रिया बादमें होती है। अतः सबके हितकी भावना हो। जो भी बड़े-बड़े महात्मा हो गये, उनमें दूसरोंके हितकी भावना थी।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई।
मंद करत जो करइ भलाई॥ (मानस ५।४०।४)

****

उनके साथ कोई मन्द करे तो भी वे उसकी भलाई ही करते रहते हैं। ऐसे ही सबका भला हो जाय, सबका कल्याण हो जाय, ऐसा चिन्तन आपके मनमें होने लग जाय, तो आपका उद्धार हो जायगा। महापुरुषोंके संगसे, दर्शनसे कल्याण हो जाता है। इसका कारण क्या है ? कारण है कि एकान्तमें रहते हुए भी उन महापुरुषोंको चिन्ता रहती है कि सबका कल्याण कैसे हो जाय। उस लगनके कारण उनके दर्शनमात्रसे संसारका हित होता है। उनकी हवामात्रसे सबका कल्याण होता है।

एक मार्मिक बात है कि जैसे परमात्मा सबका हित चाहते हैं उसी प्रकार जो व्यक्ति सबका हित चाहता है उसकी परमात्माकी शक्तिके साथ एकता हो जाती है और उसके द्वारा सबका हित होता है।

अतः सज्जनो ! भाइयो ! बहिनो ! सच्चे हृदयसे सबका हित कैसे हो, सबका कल्याण कैसे हो, यह लगन लग जाय। माता-बहनें घरोंमें स्वयं काम करें और सेवा करें, दूसरोंसे नहीं करायें। यह शरीर थोड़े दिनोंके लिये मिला है, फिर समाप्त होनेवाला है। अतः थोड़े दिन डटकर सेवा कर लो। लाभ उठा लो। फिर यदि शरीर बीमार हो जायगा तो इसे उठाने-बैठानेके लिये भी दूसरे आदमीकी जरूरत पड़ेगी। जी गये तो यह दशा हो सकती है और नहीं तो खत्म हो जाओगे। यह सेवा असली चीज है, यह भगवान्‌को भी खरीदनेवाली है। इसलिये सेवा करो, चीज-वस्तु तो दूसरोंको दो और काम-धन्धा अपने-आप करो। देखो आपसमें प्रेम होता है कि नहीं। परिवारमें झगड़ा क्यों होता है ? इसलिये कि हम कहते हैं कि काम-धन्धा तो तू कर और चीज मैं लूँ। इससे लड़ाई होगी।

आपसमें प्रेम बढ़ानेका दूसरा उपाय है कि बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करे। इससे आवागमन मिट जाता है। बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार करो। उनकी आज्ञाका पालन करो। उनकी सेवा करो। उनको कितनी प्रसन्नता होगी। जिससे आपसमें प्रेम बढ़ेगा, स्नेह बढ़ेगा, घरमें आनन्द रहेगा। धर्म, सन्त, महात्मा, परिवार, भगवान् सभी राजी हो जायेंगे। परन्तु यदि कोई गड़बड़ी करता है, खोटे रास्तेपर चलता है तो उससे माता-पिता भी नाराज हो जायेंगे। अतः सेवा, उपकार करो और भगवान्‌को याद रखो। यह संसार सदा रहनेका नहीं है, यहाँ सदा रहनेके लिये नहीं आये हैं, थोड़े दिन रहना है। जैसे कुछ दिनोंके लिये गीताभवनमें सत्संगमें आये हैं, फिर यहाँसे चल देंगे, इसी प्रकार इस संसारसे चल देना है अचानक और पता है नहीं कब चल देना है।

तुलसी सोइ नर चतुर है जो राम भजन लवलीन।
पर धन पर मन हरन को वेश्या भी परवीन॥

भगवान्‌के भजनमें जो लग गया है वही समझदार है। भगवान्‌के दरबारमें भी उसका आदर है कि उसने मनुष्य-जन्म सफल कर लिया। भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्य-जन्म दिया कि जिससे यह अपना कल्याण कर ले। परन्तु यदि मनुष्य अपना कल्याण नहीं करते तो वे भगवान्‌को एक प्रकारसे धोखा देते हैं। इसलिये ऐसा न हो जाय। हमें मनुष्य-शरीर मिला, उत्तम कुल मिला, भगवान्‌की ओर चलनेकी रुचि मिली, सत्संग मिला, गीता, रामायण-जैसे ग्रन्थ और भगवान्‌का नाम सुननेको मिला। अब क्या बाकी रहा? थोड़ा-सा उद्योग अपनी तरफसे करो। हाँ-में-हाँ मिलाओ। इतनेमें कल्याण होता है। भगवान्‌की कृपा मानकर नामका जाप करो, सेवा करो और रात-दिन मस्त रहो कि हम तो

****

अन्याय करते ही नहीं, किसीको दुःख देते ही नहीं, किसीको कष्ट पहुँचाते ही नहीं, तो फिर हमें दुःख किस बातका, चिन्ता किस बातकी !

तन कर मन कर बचन कर देत न काहू दुःख।
तुलसी पातक झड़त है देखत उसके मुख॥

आप ऐसी कृपा करो कि अबसे किसीको दुःख नहीं देंगे। मनसे किसीका बुरा चिन्तन नहीं करेंगे। जिह्वासे ऐसी वाणी नहीं बोलेंगे जिससे किसीको कष्ट पहुँचे। कोई क्रिया ऐसी न करें जिससे किसीको कष्ट पहुँचे। सबको आराम पहुँचायें, सेवा करें, ऐसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें आप लगे रहो, भगवान्‌की अनन्त शक्ति, अपार शक्ति आपके साथ है। ऐसा करते ही मनुष्य-जीवन सफल हो जायगा। कलियुगकी बड़ी महिमा गायी है, क्योंकि इसमें बहुत जल्दी कल्याण होता है।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(मानस ७। १०३)

बिना प्रयासके ही इस संसार-सागरसे तर जाता है। ऐसा सुन्दर मौका हमें मिला है। अतः हम भगवान्‌के चरणोंमें लग जायँ। अपने भगवान् हैं, भगवान्‌के अलावा कोई हमारा नहीं, हम किसीके नहीं हैं। संसारमें आये हैं तो केवल सेवा करनेके लिये आये हैं। संसारसे क्या मिलेगा ? सब सोचते हैं कि मैं अपना स्वार्थ सिद्ध कर लूँ, तो इससे स्वार्थ सिद्ध होगा नहीं। दूसरोंकी सेवा करो और जो प्रभु अपने हैं, उनको याद रखो। यह जीवन सेवा करनेके लिये मिला है। अतः न्याययुक्त, शास्त्रकी पद्धतिके अनुसार सबकी सेवा करो।

****

उद्योगपर्वमें एक कथा आती है। धृतराष्ट्र विदुरजीको बुलाते हैं और पूछते हैं कि मेरेको नींद नहीं आ रही है। तो विदुरजीने कहा कि जो सच्चे आदमियोंसे वैर करेगा और उनको कष्ट देना चाहेगा, उसे नींद नहीं आयेगी। उसे अशान्ति रहेगी ही। पाण्डवोंके साथ खराब व्यवहार करके शान्ति चाहते हो ? जिसका हृदय खराब होगा, उसे शान्ति नहीं मिलेगी। स्वार्थ सिद्ध करके जो यह सोचता है कि मैं अपना काम बना लूँ तो वह काम बना नहीं रहा है, बिगाड़ रहा है। इसमें यह जो स्वार्थ दीखता है, यह महान् पतनकी बात है। अतः इस थोड़ेसे जीवनमें जो सेवा अपनेसे बन सके, वह करें। चतुर वही है जो इस मनुष्य-शरीरको पाकर अपना काम बना ले। सेवामें लग जाय, नाम-जपमें लग जाय। सबमें रहते हुए, सबकी सेवा करते हुए, यदि यहाँसे चल दिये, तो अपने तो आनन्द हो गया, मौज हो गयी। परन्तु यदि यह ताकते रहेंगे कि मैं सुख ले लूँ तो सुख तो ले सकोगे नहीं, समय बरबाद कर दोगे। अतः अभीसे सच्चे हृदयसे भगवान्‌की तरफ लग जाओ। नाम-जप-कीर्तन करो, सेवा करो। कैसे आनन्दकी बात है ! यहाँ सदा रहना नहीं है। यहाँसे जाना पड़ेगा। राजा, महाराजा, सेठ, धनी, गरीब, भाई, बहिन, पण्डित, मूर्ख, कोई भी हो सबको यहाँसे जाना पड़ेगा।

निश्चिन्त होकर कैसे बैठे हो ? किसके भरोसे निर्भय बैठे हो ? भगवान्‌को याद करो। जो भगवान्‌के नामका जप मन लगाकर कर रहा है वह मर जाय तो आनन्द और जी जाय तो आनन्द। मरें तो भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरें और जियें तो भजनका संग्रह करें जिससे हम मालामाल हो जायेंगे। भजन साथमें जानेवाला धन है। चोर इसे नहीं ले जा सकते, राजा इसे

****

नहीं ले सकता। भाई-भाईके बँटवारेमें यह नहीं जा सकता। यह सदा साथ रहनेवाली सच्ची पूँजी है। ऐसी बढ़िया पूँजी है कि इससे भगवान्‌को खरीद लो।

एक कहानी है कि एक देशमें राजा बनाया जाता था। तीन वर्ष वह राजा रहता था, सब काम उसके हुक्मसे होता था। तीन वर्ष पूरा होनेपर उसको नौकामें बैठाते, विशेष-विशेष व्यक्ति नौकाको पहुँचाने जाते और उसको भयानक जंगलमें छोड़ देते। जहाँ उसको जंगली जानवर खा जाते। जबतक वह राजा रहता, तबतक तो प्रसन्न रहता। परन्तु जिस दिन उसको विदाई देते, उस दिन रोता जाता। एक बार एक चतुर व्यक्तिके हाथमें राज्य आ गया। तो उसने खूब कार्य किये, दूसरी ओर सड़कें बनवायी, कुएँ बनवाये, मकान बनवाये, सब सुख-सुविधाएँ कर दीं। तो तीन वर्ष बादमें लोगोंने कहा कि चलो। तो बोला—चलो। वह खूब मस्त हो रहा था। लोगोंने सोचा कि यह इतना मस्त क्यों हो रहा है। उससे पूछा कि तुम हँस क्यों रहे हो ? वह बोला कि मैं तो हँसूँगा, रोवोगे तुम। मैंने सब माल उस पार कर दिया है, वे लोग मूर्ख थे जिन्होंने हाथमें अधिकार आनेपर उसका उपयोग नहीं किया। आप भी सोच सकते हैं कि यदि हमें भी तीन वर्षोंके लिये ऐसा अवसर मिले तो हम भी इसका बढ़िया उपयोग करें। हमें यह शरीर तीन वर्षों (अर्थात् कुछ वर्षों) के लिये मिला है। अतः इसमें परमात्माका नाम लो, भजन-स्मरण करो, पुण्य करो या पाप करो। शुभ करो या अशुभ करो, स्वतन्त्रता मिली है। यदि अच्छे कार्य नहीं करते तो रोते हैं कि हाय, हाय ! मैंने अच्छे कार्य नहीं किये, भजन-स्मरण नहीं किया। परन्तु यदि व्यक्ति भजन-स्मरण करता है, दान-पुण्य करता है, सबका हित करता है, सेवा करता

****

है, तो मस्तीसे, आनन्दसे मरता है। अतः धोखा मत खाओ, चेत करो, सावधान हो जाओ। यहाँ धोखा खानेके लिये नहीं आये हो। अबतक जो समय बीत गया, सो बीत गया, अब समय व्यर्थ मत गँवावो। भजन, ध्यान करो, सेवा करो। यह शरीरको सजाना, इसका शृङ्गार करना, कितने दिनों चलेगा ? कहते हैं छूटता नहीं। तो छूटेगा नहीं क्या ? विचार करो, वह दिन आनेवाला है जब यह सब छूट जायगा। जिस दिनका स्मरण करके डर लगता है, भय लगता है, वह दिन आयेगा। कब आयेगा, इसका पता नहीं, क्योंकि मौतकी कभी छुट्टी नहीं होती। मौतके लिये सब घंटा, सब मिनट, सब सेकिण्ड खुले हैं। परन्तु बैठे हैं निश्चिन्त। तो क्या करें ? भगवान्‌का भजन करें। प्रत्येक समय राम ! राम ! राम ! करें और सेवा करें। बस फिर बेड़ा पार है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

══ ★ ══

व्यवहारमें परमार्थ

अपने स्वार्थ व अभिमानका त्याग करके 'सबका हित कैसे हो' इस भावनासे बर्ताव करें। परिवारमें रहनेकी यह विद्या है। प्रत्येक कामको करनेका एक तरीका होता है, एक विद्या होती है, एक रीति होती है और उसमें चतुराई होती है, उसमें एक कारीगरी होती है। इसी प्रकार परिवारमें रहनेकी भी एक विद्या है। आप बेटा हो तो माँ-बापके सामने सपूत-से-सपूत बेटा बन जाओ। जिसके भाई हो तो उसके लिये आप श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ भाई बन जाओ। जिसके आप पति हो, उसके लिये आप श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ पति बन जाओ। आप पिता हो तो पुत्र-पुत्रीके लिये श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ पिता बन जाओ। जैसा जिसके साथ सम्बन्ध है, उससे आपका श्रेष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। उनके साथ उत्तम-से-उत्तम बर्ताव करोगे तो वे लोग भी आपसे अच्छा बर्ताव करेंगे। तब परिवार ठीक रहेगा। आप कह सकते हैं कि परिवारके सब लोग इस तरह सोचेंगे, तब ठीक होगा, एक आदमी क्या करेगा ? बात ठीक है; परन्तु आप अच्छा बर्ताव करना शुरू कर दो। उस अच्छे बर्तावके करनेसे परिवारका बर्ताव भी अच्छा होगा और परिवारमें बड़ी शान्ति होगी।

आप अपनी तरफसे ठीक बर्ताव करते रहो। उसमें एक और शूरवीरता ले आओ। रामायणमें आया है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई।
मंद करत जो करइ भलाई॥ (५।४०।४)

****

परिवारवाले आपके साथ खराब बर्ताव करें, आपको दुःख पहुँचावें, आपका अपयश करें, तिरस्कार करें, अपमान करें तो भी आप उनका नुकसान मत करो। उनको दुःख मत दो। उनको सुख दो, उनका आदर करो, उनकी प्रशंसा करो। उनको कैसे आराम पहुँचे—इस भावसे आप बर्ताव करोगे तो आपका परिवार आपके लिये दुःखदायी नहीं होगा। परिवारके सभी आपसमें ठीक बर्ताव करेंगे। इस जमानेमें इस बातकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

(गीता २।४७)

अपनी ओरसे आप परिवारवालोंके प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन करो। दो चीजें हैं। एक होता है कर्त्तव्य और एक होता है अधिकार। मनुष्य अधिकार तो जमाता है, कर्त्तव्य नहीं करता। यह खास बीमारी है, जिसके कारण संसारमें और परिवारमें खटपट मचती है। वह अपना अधिकार रखना चाहता है और कर्त्तव्य-पालन करनेमें ढिलाई करता है, उपेक्षा करता है या कर्त्तव्य नहीं करता है। इसीसे गड़बड़ी होती है। इसलिये अधिकार तो जमाओ मत और कर्तव्यमें किंचिन्मात्र भी कमी लाओ मत। उनके अधिकारकी पूरी रक्षा करो। उनका जो हमारेपर हक लगता है उस हकको ठीक निभाओ। आप उसपर अधिकार मत जमाओ कि हमारा लड़का है, हमारा कहना क्यों नहीं मानता? हमारी स्त्री कहना क्यों नहीं मानती? भीतरमें यह अधिकार मत रखो। कहना हो तो कह दो—प्रेमसे, स्नेहसे, आदरसे, अपनेपनसे, पर भीतरसे आग्रह मत रखो कि स्त्री-पुत्र मेरे कहनेमें ही चलें।

परिवार जितना आपके कहनेमें चलेगा, उतना ही आपके

अधिक बन्धन होगा। जितना ही वह आपका कहना नहीं करेगा, उतना ही छुटकारा होगा, उतनी ही आपमें स्वतन्त्रता होगी, उतना ही आपको लाभ है। जितना वे कहना अधिक करेंगे, उतना ही आपको बन्धन होगा। मनुष्यको यह अच्छा लगता है कि दूसरे लोग मेरे अनुकूल चलें, मेरा कहना मानें। परन्तु यह बन्धन-कारक है। जहर चाहे मीठा ही हो, पर मारनेवाला होता है। इसी प्रकार अनुकूलता आपको भले ही अच्छी लगे, पर वह बाँधनेवाली है। वे उच्छृङ्खलता करें तो भी आप अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो। वे चाहे उम्रभर बुरा ही करें तो भी आप उकताओ मत। आपके लिये बहुत ही बढ़िया मौका है। उनके बुरा करनेपर भी आप अपना बर्ताव अच्छे-से-अच्छा करो।

एक सज्जन थे। उन्होंने कहा कि आप कुछ भी करो मेरेको गुस्सा नहीं आता। आप परीक्षा करके देख लो। दूसरेने कहा कि आपको गुस्सा नहीं आता बहुत अच्छी बात है। आपको क्रोध दिलानेके लिये मैं अपना स्वभाव क्यों बिगाड़ूँ ? तो सदैव यह भाव रहे कि हम अपना स्वभाव अच्छा रखें।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८।४५)

अपने कर्त्तव्यका ठीक तरह पालन करो। उसका नतीजा अपने लिये भी ठीक ही होगा। परिवारके साथ इस तरह बर्ताव करोगे तो लोक और परलोक दोनों सुधरेंगे। यहाँ भी आपका भला होगा और वहाँ भी। गीतामें कहा है ***'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः'*** (४।३१) जो यज्ञ नहीं करता उसका यह लोक भी ठीक नहीं होता, फिर परलोक कैसे ठीक होगा ? यहाँ ''यज्ञ'' का अर्थ कर्त्तव्य-पालन है। अपने कर्त्तव्यका पालन

****

नहीं करता तो इस लोकमें भी सुख नहीं पाता और परलोकमें भी। जो अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, अपना ही आराम चाहता है, उसका संसारमें भी आदर नहीं होता और पारमार्थिक उन्नति भी नहीं होती। जो अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये काम करता है, वह संसारमें भी अच्छा माना जाता है। परमार्थ भी उसका शुद्ध हो जाता है। वह लोक और परलोक दोनों जगह सुख पाता है।

कुछ लोगोंमें यह धारणा है कि हम आध्यात्मिक उन्नति करेंगे तो व्यवहार ठीक नहीं होगा और संसारका व्यवहार ठीक करेंगे तो परमार्थ सिद्ध नहीं होगा। यह धारणा सही नहीं है। गीतामें इन दोनोंका समन्वय है, अच्छा बर्ताव करो तो अपना लोक-परलोक दोनों सुधर जायेंगे। व्यवहार भी अच्छा होगा और परमार्थ भी अच्छा होगा। व्यवहारमें ही परमार्थकी कला सीख लो। जैसे—एक उदाहरण बतायें। कोई दयालु जज होता है तो वह न्याय नहीं कर सकता और न्याय पूरा-का-पूरा ठीक करता है तो दया नहीं कर सकता। दया करे तो रियायत करनी पड़े, तो न्याय नहीं कर सकता और न्याय ठीक-ठीक करे तो दया कैसे होगी? परन्तु भगवान्‌की ऐसी बात है कि भगवान् दयालु भी हैं और न्यायकारी भी हैं। इन दोनोंमें बाधा नहीं लगती, क्योंकि भगवान्‌के कानून ही ऐसे बनाये हुए हैं कि उन कानूनोंमें दया भरी हुई है। जैसे भगवान्‌ने कहा—'अन्तकालमें मनुष्य जिसका स्मरण करता है, उसीके अनुसार गति होती है।'

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

****

यह कानून है कि जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ मनुष्य जाता है, वह आगे उसी भावसे भावित होता हुआ उसी जन्मको प्राप्त होता है। अन्तकालके चिन्तनके अनुसार गति हो जाती है। "**अन्त मति सो गति।**" यह हुआ भगवान्‌का कानून। भगवान् कहते हैं कि अन्तकालमें मुझे याद करेगा तो मुझे प्राप्त हो जायगा। परमात्माकी प्राप्तिके लिये अन्तकालमें परमात्माका चिन्तन करे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। इसमें दया क्या भरी हुई है कि जितने दामोंमें कुत्तेकी योनि मिले उतने ही दामोंमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। क्या खर्च हुआ बताओ ? कुत्तेको याद करते हुए मरोगे तो कुत्ता बन जाओगे और परमात्माको याद करते हुए मरोगे तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी तो इसमें अपने लिये भगवान्‌ने कोई रियायत नहीं की। कानून है, इसका कोई भी पालन कर लो और इस कानूनमें कितनी दया भर दी। जिस चिन्तनसे चौरासी लाख योनि मिलती है, उसी चिन्तनसे भगवत्प्राप्ति हो जाय, सदाके लिये जन्म-मरण मिट जाय। यह कानून है। कानून भी है, दया भी है। इसी तरह व्यवहार ठीक करनेसे परमार्थ भी सुधरता है। व्यवहारका काम ठीक करनेसे परमार्थ नहीं बिगड़ता। झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी करते हो तो उससे परमार्थ बिगड़ता है। लोगोंको इससे लाभ दीखता है, पर लाभ नहीं है।

किसीके साथ कपट करोगे, द्वेष करोगे, चालाकी करोगे, ठगी करोगे तो जैसे कि कहा है—"**हाँडी काठकी चढ़े न दूजी बार।**" काठकी हाँडीको एक बार चूल्हेपर चढ़ा दो, तो दुबारा चढ़ेगी क्या ? ऐसे ही एक बार भले ही ठगी कर लो पर उसके साथ खटपट हो जायगी। व्यवहार भी ठीक नहीं होगा। अतः

****

अपने स्वार्थका त्याग और दूसरोंके हितकी भावनासे व्यवहार ठीक होगा और व्यवहार ठीक होगा तो परमार्थ भी ठीक होगा। स्वार्थ और अहंकारका त्याग करनेसे काम ठीक होता है। यह बहुत ही लाभकी बात है।

भगवद्गीता व्यवहारमें परमार्थ सिखाती है। गीता पढ़ो। गीताका अध्ययन करो। उसपर विचार करो और उसके अनुसार अपना जीवन बनाओ। देखो कितनी मौज होती है ! कितना आनन्द आता है स्वाभाविक ही। गीता बतलाती है कि व्यवहार ठीक तरह करो तो परमार्थ स्वतःसिद्ध हो जायगा। सिद्धान्त यह है कि परमार्थ तो स्वतःसिद्ध है। बिगड़ा तो व्यवहार ही है और कुछ बिगड़ा ही नहीं है। न जीवात्मा बिगड़ा, न परमात्मा बिगड़ा, न कल्याण बिगड़ा है। बिगड़ा है केवल व्यवहार। व्यवहार शुद्ध कर लो। सब काम सिद्ध हो जायगा।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

—— ★ ——

क्रोधपर विजय कैसे हो ?

जैसे आप हिसाब सीखते हो तो उस हिसाबका गुर सीख लेते हो तो वह हिसाब सुगमतासे हो जाता है। ऐसे ही हरेक प्रश्नका एक गुर होता है, उसको आपलोग सीख लो तो प्रश्नका उत्तर स्वतः आ जायगा।

प्रश्न आया है कि हम क्रोधपर विजय कैसे पावें ? तो क्रोध पैदा किससे होता है ? गीताने कहा—'कामसे ही क्रोध पैदा होता है'—*''कामात्क्रोधोऽभिजायते।''* (२। ६२) वह काम (कामना) क्या है ? मनुष्यने यह समझ रखा है कि 'धन, सम्पत्ति, वैभव आदिकी कामना होती है'—ये भी सब कामना ही है, पर मूल—असली कामना क्या है ? 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'—यह जो भीतरकी भावना है, इसका नाम कामना है।

आप पहले यह पकड़ लेते हो कि 'ऐसा होना चाहिये' और वह नहीं होगा तो क्रोध आ जायगा, कोई वैसा नहीं करेगा तो क्रोध आ जायगा। 'ऐसा नहीं होना चाहिये' और कोई वैसा करेगा या उससे विपरीत कहेगा तो क्रोध आ जायगा। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यही क्रोधका खास कारण है।

ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—इस कामनामें कोई फायदा नहीं है; क्योंकि दुनियामात्र हमसे पूछकर करेगी क्या ? हमारे मनके अनुसार ही करेगी क्या ? आप अपनी

स्त्री, अपने पुत्र, अपने नौकर आदिसे चाहते हैं कि ये हमारा कहना करें तो क्या उनके मन नहीं हैं? क्या उनकी कोई धारणा नहीं है? क्या उनकी कोई कामना, चाहना नहीं है? ऐसा करूँ और ऐसा न करूँ—ऐसा उनके मनमें नहीं है क्या? अगर उनका मन इससे रहित है, तब तो आप कहें, वैसा वे कर देंगे, पर उनके मनमें भी तो 'ऐसा करूँ और ऐसा न करूँ' ऐसी दो बातें पड़ी हैं तो वे आपकी ही कैसे मान लें? आपकी ही वे मान लें तो फिर आप भी उनकी मान लो। जब आप भी उनकी माननेके लिये तैयार नहीं हैं तो फिर अपनी बात मनवानेका आपको क्या अधिकार है? इसलिये 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'—यह भाव मनमें आ जाय तो 'ये ऐसा ही करें' अपना यह आग्रह छोड़ दो। इस आग्रहमें अपना अभिमान अर्थात् मैं बड़ा हूँ इनको मेरी बात माननी चाहिये—यह बड़प्पनका अभिमान ही खास कारण है और वैसा न करनेसे अभिमान ही क्रोधरूपसे हो जाता है।

अगर आप शान्ति चाहते हो तो अभिमानको मिटाओ; क्योंकि अभिमान सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिका मूल है। अभिमानरूप बहडियाकी छायामें आसुरी सम्पत्तिरूप कलियुग रहता है। आसुरी सम्पत्तिके क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, दम्भ, पाखण्ड आदि जितने अवगुण हैं, वे सब अभिमानके आश्रित रहते हैं, क्योंकि अभिमान उनका राजा है। उसको आप छोड़ते नहीं तो क्रोध कैसे छूट जायगा! इसलिये उस अभिमानको छोड़ दो।

छोड़नेका उपाय क्या है? जो लोग आपका कहना नहीं करते, वे तो आपके अभिमानको दूर करते हैं और जो आपका कहना करते हैं वे आपके अभिमानको पुष्ट करते हैं— यह बात

आपके जँचती है कि नहीं ? जो कहना नहीं करते, वे आपका जितना उपकार करते हैं, जितना हित करते हैं; कहना करनेवाले उतना उपकार, हित नहीं करते। अगर आप अपना हित चाहते हो तो आपके अभिमानमें जितनी टक्कर लगे, उतना ही बढ़िया है अर्थात् वे कहना न करें, उतना ही बढ़िया है। कहना न करनेमें आपके लाभ है, हानि नहीं है। अभिमान पुष्ट करनेके लिये वे बढ़िया हैं, जो कहना करते हैं; परन्तु आपका अभिमान दूर करनेके लिये वे बढ़िया हैं, जो कहना नहीं करते हैं। इसलिये आपको तो उनका उपकार मानना चाहिये कि वास्तवमें हमारा हित इस बातमें है।

यद्यपि वे जानकर हित नहीं करते हैं कि भाई, तुम्हारा अभिमान दूर हो जाय, इसलिये हम आपका कहना नहीं करेंगे फिर भी आपके तो फायदा ही हो रहा है, वे आपके अभिमानको दृढ़ नहीं कर रहे हैं अर्थात् आपका अभिमान दृढ़ नहीं हो रहा है। आप अपना हित चाहते हो कि अहित चाहते हो ? कल्याण चाहते हो कि पतन चाहते हो ? अगर आप कल्याण चाहते हो तो कल्याण आपका निरभिमान होनेसे है और निरभिमान आप तभी होंगे, जब आपका कहना कोई नहीं मानेगा। अगर कहना मानता रहेगा तो आपका कहना सब जगह डटा रहेगा और यही अभिमान है, यही आसुरी सम्पत्ति है—***''दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः''*** (१६।४) तो जो आपका कहना नहीं मानते, वे आपपर बड़ी भारी कृपा कर रहे हैं। आपकी आसुरी सम्पत्ति हटाकर आपमें दैवी सम्पत्ति ला रहे हैं।

अब प्रश्न आया है कि कहना नहीं माननेसे तो बालक उद्दण्ड हो जायेंगे ? आपका कहना माननेसे आप अभिमानी हो जायँगे

और आपका कहना नहीं मानते तो वे उद्दण्ड हो जायेंगे—इन दोनोंपर गहरा विचार करो। आप नहीं रहोगे तो मनमानी करके उद्दण्ड तो फिर भी हो जायेंगे, परन्तु आपका अभिमान दूर कैसे होगा? उद्दण्ड तो आपके बिना भी हो जायेंगे, पर आपका अभिमान तो दूर नहीं होगा। इसलिये आपको अभिमान तो पहले दूर कर ही लेना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि आप उनपर रोब नहीं जमाओगे तो आपकी सौम्यावस्था और निरभिमान-अवस्थाका असर उनपर पड़ेगा, जिससे वे उद्दण्ड नहीं होंगे, ठीक हो जायेंगे। आप कह दो कि भाई, ऐसा काम नहीं करना चाहिये फिर भी वे वैसा ही करें तो आप शान्तिसे चुप-चाप रहो। कारण कि वे उद्दण्डता करेंगे तो उनको वैसा फल मिलेगा। फल मिलनेसे उनको चेत होगा, जिससे उनकी उद्दण्डता स्वतः मिटेगी। उनको चेत होकर जो उद्दण्डता मिटेगी, वह आपके कहनेसे नहीं मिटेगी; क्योंकि उनके मनमें तो अपनी बात भरी रहेगी और आपकी बात ऊपरसे कलई-जैसे रहेगी, वह कलई उतर जायगी तो इससे उद्दण्डता कैसे मिटेगी? उसकी उद्दण्डता मिटानेका सही उपाय यही है कि आप अपने अभिमानको दूर करो।

मनुष्यको परिवारमें रहना है तो परिवारमें रहना सीख लेना चाहिये। परिवारमें रहनेकी यह विद्या है कि उनका कहना करो, उनके मनके अनुसार चलो। अपना जो कर्त्तव्य है, उसका तो पालन करो और उनकी प्रसन्नता लो।

परिवारमें रहना क्या है? आपके कर्त्तव्यका आपपर दायित्व है। आपका कर्त्तव्य क्या है? स्त्री मानें, न मानें; पुत्र माने, न माने, भाई माने, न माने; माँ-बाप माने, न माने; भौजाई और भतीजे

****

माने, न माने; आप अपने कर्त्तव्यका ठीक तरह पालन करें। वे अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं या नहीं करते, उधर आप देखो ही मत। क्योंकि जब आप उनके कर्त्तव्यको देखते हो कि 'ये उद्दण्ड न हो जायँ।' ऐसे समयमें आप अपने कर्त्तव्यसे च्युत ही हैं, आप अपने कर्त्तव्यसे गिरते हो; क्योंकि आपको दूसरोंका अवगुण देखनेके लिये कर्त्तव्य कहाँ बताया है ? शास्त्रोंमें कहीं भी यह नहीं बताया है कि तुम दूसरोंका अवगुण देखा करो; प्रत्युत यह बताया है कि यह संसार गुण-दोषमय है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस ७।४१)

दूसरोंमें गुण है, उनको तो भले ही देखो, पर अवगुण मत देखो। अवगुण देखोगे तो वे अवगुण आपमें आ जायेंगे और अवगुण देखकर उनको उद्दण्डतासे बचानेके लिये क्रोध करते हो तो क्रोधसे आप नहीं बच सकते। इसलिये आप अपना कर्त्तव्य पालन करो। दूसरोंका न कर्त्तव्य देखना है और न अवगुण देखना है। हाँ, लड़का है तो उसको अच्छी शिक्षा देना आपका कर्त्तव्य है, उसको अच्छी बात कहो, इतना तो आपका कर्त्तव्य है, पर वह वैसे ही करे—यह आपका कर्त्तव्य नहीं है। यह तो उसका कर्त्तव्य है। उसको कर्त्तव्य बताना—यह आपका कर्त्तव्य नहीं है। आपका तो सिर्फ इतना ही है कि भाई, ऐसा करना ठीक है, ऐसा करना ठीक नहीं है। अगर वह कहे—'नहीं-नहीं बाबूजी', ऐसे करेंगे, तो कह दो—'अच्छा ऐसे करो' ! 'यह बहुत ही बढ़िया दवाई है'। मैं नहीं कहने योग्य एक बात कह रहा हूँ कि 'इस दवाईका मैं भी सेवन कर रहा हूँ।' आपको

****

जो दवाई बतायी, यह बहुत बढ़िया दवाई है—आप कहो—'ऐसा करो' और अगर वह कहे नहीं, हम तो ऐसा करेंगे। अच्छा, ठीक है ऐसा करो।

रज्जब रोस न कीजिये कोई कहे क्यूँ ही।
हँसकर उत्तर दीजिये हाँ बाबाजी यूँ ही॥

अन्याय हो, पाप हो तो उसको अपने स्वीकार नहीं करेंगे। अपने तो शास्त्रके अनुसार बात कह दी और वे नहीं मानते तो शास्त्र क्या कहता है ? क्या उनके साथ लड़ाई करो ! या उनपर रोब जमाओ ! आपका तो केवल कहनेका अधिकार है—"***कर्मण्येवाधिकारस्ते***" (२।४७) और वे ऐसा ही मान लें—यह फल है, आपका अधिकार नहीं है— "***मा फलेषु कदाचन***" (२।४७) आपने अपनी बारी निकाल दी, बस। कर्त्तव्य तो आपका कहना ही था, उनसे वैसा करा लेना आपका कर्त्तव्य थोड़ा ही है ! वैसा करे, यह कर्त्तव्य उनका है। अपने तो कर्त्तव्य समझा देना है। उसने कर्त्तव्य-पालन कर लिया तो आपके कल्याणमें कोई बाधा नहीं और वह नहीं करेगा तो उसका नुकसान है, आपके तो नुकसान है नहीं, क्योंकि आपने तो हितकी बात कह दी। यह बहुत मूल्यवान् बात है !

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——★——

ममता-त्यागसे नित्य सुख

मूलमें ममता छोड़ना चाहते नहीं। यहाँ ही गलती होती है। ममता छूटती नहीं— यह बात नहीं है; आप छोड़ना चाहते नहीं। अब छोड़नेकी चाहना पैदा कैसे हो—यह खास प्रश्न है। इसमें आप ध्यान देकर सुनें और खूब ठण्डे हृदयसे विचार करें कि जिनके साथ आपकी ममता है। सबसे अधिक शरीरके साथ, इसके बाद कुटुम्बी, धन-सम्पत्ति आदिके साथ ममता है, ये ममतावाली चीजें सदा साथ रहेंगी क्या ? जैसे आप पहले किसी शरीरमें थे, तो उस समय वे शरीर, कुटुम्बी आदि अपने दीखते थे, पर आज उनकी याद भी नहीं है। तो आज जिनमें आप ममता कर रहे हो, ये चीजें मरनेके बाद यादतक नहीं रहेंगी, क्योंकि ये वस्तुएँ तो छूटेंगी ही। वस्तुएँ तो छूटेंगी, परन्तु उनमें आपका जो राग है, ममता है—यह मरनेके बाद भी आपके साथ रहेगा। इसलिये यह ममता सिवाय जन्म-मरण, दुःख देनेके कुछ लाभ देनेवाली नहीं है।

पदार्थ छूटेंगे, ममतावाली वस्तुएँ छूट जायेंगी, परन्तु ममता भीतर बनी रहेगी। आगे चलकर वही ममता, आसक्ति और कामना पैदा करके बन्धन-ही-बन्धनमें डालेगी इसके सिवाय कुछ नहीं। जब छूटनेवाली वस्तुओंसे ही ममता छोड़नी है तो इसमें जोर क्या आवे ? जरूर छूटनेवाली वस्तुओंकी ममता छोड़नेसे निहाल हो जाओगे, मुक्त हो जाओगे। ममता रहते हुए मौत आवेगी तो भी

****

वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद होगा और त्याग करनेसे भी वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद होगा। परन्तु मौतमें पराधीनता है और त्यागमें स्वाधीनता है। मौतमें अशान्ति है और त्यागमें शान्ति है। मौतमें बाहरसे सम्बन्ध छूट जाता है, पर भीतर ममता-आसक्ति रहनेसे महान् दुःख होता है और त्यागमें भीतरसे सम्बन्ध छूट जाता है तो बाहरसे सम्बन्ध छूटनेपर भी हानि नहीं होती, प्रत्युत महान् आनन्द होता है।

मेरी तो एक ही प्रार्थना है कि आप इन बातोंपर दलील दो, सुनो और विचार करो। ममता रखनेसे हानि-ही-हानि है और ममता छूटनेसे आपके किसी तरहकी हानि नहीं होगी, दुःख नहीं होगा और सुखमें कमी नहीं आयेगी। जैसे, इस मकानको आप सब भाई अपना नहीं मानते तो क्या इसमें बैठनेका सुख आपको नहीं मिलता है? क्या यहाँके प्रकाशका सुख हमारेको नहीं मिलता है? यहाँ पंखे चलते हैं, इनसे हमारेको सुख नहीं मिलता है क्या? यहाँ माइकपर बोलते हैं, सुनते हैं तो इससे हमारेको सुख नहीं मिलता है क्या? तात्पर्य यह हुआ कि अपनापन छूटने-पर भी सुख मिलना छूटेगा नहीं! अपनी ये चीजें नहीं हैं और सुख ले रहे हैं तो सुख लेनेपर भी हम निर्लेप रहेंगे अर्थात् यहाँसे चल दें, पंखा टूट जाय, बिजली जल जाय तो अपने कोई चिन्ता नहीं होगी, फर्क क्या है? ममता नहीं है। जिसके ममता होगी उसके चिन्ता लग जायगी, खलबली मच जायगी। खलबली मचानेके और आगे जन्म देनेके सिवाय ममतासे कोई-सा भी फायदा नहीं है और नुकसान कोई-सा भी बाकी नहीं है। यह बनिया (वैश्य) जाति बड़ी स्वार्थी होती है। यह नुकसानके तो नजदीक नहीं जाती और नफा इनको अच्छा लगता ही है। ममता

छोड़नेसे नुकसान कुछ नहीं है और रखनेसे सभी नुकसान है, फायदा कोई-सा नहीं। क्योंकि पहले ये चीजें थीं नहीं और आगे ये रहेंगी नहीं। इनमें झूठी ममता कर लेते हैं तो बार-बार दुःख पाना पड़ेगा। इस बातको आप समझो और शंका हो तो अभी पूछो !

आप जिसको अपना मानते हो; कुटुम्बको, धनको, घरको, शरीरको अपना मानते हो कि ये मेरे हैं। तो क्या ये पहले मेरे थे ? क्या फिर अपने रहेंगे ? अपने थे नहीं और रहेंगे नहीं। दूसरी बात, आप जिनमें ममता रखते हो, उनको बदल सकते हो क्या ? 'छोरा मेरा है' तो उसको भी अपनी आज्ञाके अनुसार चला सकते हो क्या ? अपने शरीरको भी चाहे जैसा स्वस्थ रख सकते हैं क्या ? कम-से-कम उसको मरने तो दोगे ही नहीं ? धन आपके पास है, उसको रख लोगे ? है हाथकी बात ? शरीर बीमार भी हो जायगा, मर भी जायगा, छोरा भी नहीं मानेगा। धन भी चला जायगा। ममतावाली वस्तुओंको रखनेकी ताकत किसीकी हो तो बोलो ! तात्पर्य यह हुआ कि यह पहले थी नहीं आगे रहेगी नहीं और अभी भी उसके ऊपर आपका आधिपत्य चलता नहीं। उसके परिवर्तन करनेमें आप समर्थ नहीं। अनुकूल बनानेमें समर्थ नहीं, रखनेमें समर्थ नहीं। पहले भी अपनी थी नहीं, और छूट जायगी जरूर—यह पक्की बात है।

हर एक बातमें सन्देह होता है। आप ऐसा करें। ऐसा हो भी जाय और न भी हो। अमुक जगह जाना है, अमुक आदमीसे मिलना है, तो क्या मिल लोगे ? मिल भी सकते हैं और नहीं भी। बेटेका ब्याह कर दिया तो पोता जन्मेगा इसका पता नहीं ! हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। इस प्रकार हर एक काममें

होगा और नहीं भी होगा—ऐसा होता है; पर एक दिन मरना होगा और नहीं भी होगा—ऐसा विकल्प है क्या ? हो भी सकता है और नहीं भी, मरे चाहे, न भी मरे—-ऐसा हो सकता है क्या ? जब मरना जरूरी है तो मरनेपर ममतावाली सब चीजें छूटेंगी तो अपनापन (ममता) पहले छोड़ दो, तो निहाल हो जाओगे। अन्तमें छूटेगी तो सही ! क्यों माजनो (इज्जत) गुमाओ अपनी। बेइज्जतीके सिवाय क्या मिलेगा ?

आप कहोगे कि ममताके बिना कुटुम्बका पालन कैसे होगा ? ममताके बिना पालन ज्यादा होता है और बढ़िया होता है। एक बात याद आ गयी। वह साधु हो चाहे, ब्राह्मण हो, आपका हित ममता रखनेवाला ज्यादा कर सकता है या ममता न रखने-वाला ज्यादा कर सकता है—ठण्डे हृदयसे आप सोचें। आपको चेला बना ले कि यह मेरा चेला है और एक चेला न बनाकर आपको बात कहे तो ममतावाला ज्यादा लाभ देगा कि बिना ममतावाला। यह आप सोच लो आपके अकलमें आती होगी।

स्वार्थवाला सच्ची बात कहेगा कि बिना स्वार्थवाला ? ओर सुधार किस बातसे होगा। आप भी समझते हो कि आपका हित सम्बन्ध जोड़नेमें है कि सम्बन्ध तोड़नेमें। ममता रखनेमें सिवाय हानिके कुछ नहीं है और छोड़नेमें सिवाय लाभके कुछ नहीं है। इन बातोंपर विचार करो।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

═══ ★ ═══

भय और आशाका त्याग

प्रश्न—साधन, भजन, सत्संग करते हैं फिर भी संसारके प्रवाहका असर क्यों पड़ जाता है ?

उत्तर—देखो भैया ! मैं एक बात कहता हूँ उसकी तरफ ध्यान दें। संसारका प्रभाव किसपर पड़ता है ? गहरा विचार करना। संसारका प्रभाव संसारपर ही पड़ता है। स्वरूपपर संसारका प्रभाव नहीं पड़ता। पहले प्रभाव पड़ा और अभी प्रभाव नहीं रहा। यह ज्ञान है कि नहीं ? इसका उत्तर दो।

प्रश्न—एक बात मनमें आती है कि ये सत्संगमें तो जँच जाता है पीछे नहीं रहता।

उत्तर—पीछे मत रहो। सत्संगमें जँच गयी है न। तो पीछे रहना तुम देखना चाहते हो, यही बहुत बड़ी गलती है। उसका सुधार कर लो अभी। सुधार यह है कि यह व्यवहारमें नहीं रहता अर्थात् अन्तःकरणमें नहीं रहता और अन्तःकरणमें वृत्तियाँ तो व्यवहारके अनुसार होंगी। अगर वैसे वृत्तियाँ न हों तो व्यवहार कैसे होगा ? भोजन ही कैसे होगा ? बोलना भी कैसे होगा ? चलना भी कैसे होगा ? कुछ भी बोलना न हो तो कैसे होगा ? जैसा व्यवहार होगा वैसी वृत्तियाँ होंगी, पर व्यवहार और एकान्त दोनोंका ज्ञान किसीको होता है कि नहीं होता है ? दोनोंका ज्ञान जिसको होता है उसके ज्ञानमें व्यवहार और एकान्त है। इस बातको समझ लो तो अभी निहाल हो जाओ।

मानो व्यवहार और व्यवहाररहित अक्रिय अवस्था। अक्रिय और सक्रिय—ये दोनों अवस्थाएँ हैं। दोनों ही प्रवृत्ति हैं। अक्रिय भी प्रवृत्ति है और सक्रिय भी प्रवृत्ति है। ये तो तुमने सुना ही होगा कि सक्रिय प्रवृत्ति और अक्रिय प्रवृत्ति नहीं है, परन्तु अक्रिय भी प्रवृत्ति है और सक्रिय भी प्रवृत्ति है। अक्रिय और सक्रिय जिस प्रकाशमें प्रकाशित होते हैं उस प्रकाशमें प्रवृत्ति नहीं है। वह प्रकाश एकान्तमें बैठे हुए साफ दीखता है, व्यवहार करते हुए नहीं दीखता है। तो न दीखनेपर भी व्यवहारमें प्रवृत्तिका ज्ञान किसको हो रहा है? प्रवृत्ति भी तो जाननेमें आती है। आती है न? तो जाननापन तो रहता है कि नहीं? केवल जानना है उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों नहीं हैं। बड़ी सीधी बात है, बहुत ही सरल बात है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जिससे प्रकाशित होते हैं, उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति कुछ नहीं हैं। न प्रवृत्ति है न निवृत्ति है। समझमें आ गया न? तो इसमें तुम डटे रहो। वृत्तियोंका एक रूप देखना छोड़ दो आजसे। वृत्तियाँ एक रूप बनी रहें। ये आज तुम छोड़ दो मेरे कहनेसे। ये जबतक पकड़े रहोगे, तबतक तुम्हें सन्तोष नहीं होगा और ये आज ही छोड़ दो। अभी-अभी। व्यवहारमें कैसे ही रहो। क्योंकि वास्तवमें नित्य रहनेवाली चीज तो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका प्रकाशक है। तो निवृत्तिको क्यों इतना महत्त्व देते हो। वास्तविक तो प्रकाश है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जिस प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं, वह प्रकाश वास्तविक है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों अवास्तविक हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे निवृत्ति है और निवृत्तिकी दृष्टिसे प्रवृत्ति है। वास्तवमें जो प्रकाश है उसमें न निवृत्ति है न प्रवृत्ति है। ठीक है न यह? तो इसमें तुम्हारी स्थिति है। मेरे कहनेसे मान लो और

यह जो वहम है कि प्रवृत्ति जबतक रहती है और बीचमें जो असर पड़ता है, तबतक हम तो ठीक नहीं हुए, यह वहम छोड़ दो।

ध्यान देना इस बातपर। किसके द्वारा छूटता है ? कि निवृत्ति आयी, प्रवृत्ति गयी। निवृत्ति गयी,प्रवृत्ति आयी। कहाँ गयी, कहाँ आयी बताओ। प्रवृत्ति-निवृत्तिका अभाव हुआ कि नहीं ? इनका अभाव हुआ तो 'द्वारा' की जरूरत क्या ? एक ऐसा आग्रह छोड़ दो। किसके द्वारा कि तुम्हारे खुदके द्वारा। 'ऐसी वृत्ति निरन्तर रहे' यह आग्रह छोड़ दो। इसमें हानि नहीं होगी। बहुत साफ है इसमें सन्देह नहीं है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकाशित होती हैं स्वतः और ये होती रहें। अपने कोई मतलब नहीं है। दुनियामात्रमें प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है कि नहीं ? जागृतमें काम करते हैं। नींदमें काम नहीं करते। दीखता है न। उससे तुम्हारे क्या फर्क पड़ता है ? दुनियामें जो प्रवृत्ति होती है उससे तुम्हारेमें फर्क पड़ता है क्या ? तुम्हारे प्रकाशमें जो स्वयं प्रकाशस्वरूप है उसमें फर्क नहीं पड़ता है न। तो इसकी चिन्ता क्यों करते हो ? ये जो संसारकी प्रवृत्ति-निवृत्ति हैं वही तुम्हारे शरीरकी प्रवृत्ति-निवृत्ति है। दोनों बिलकुल एक धातुकी हैं।

प्रश्न—संसारके प्रवाहमें बह जाते हैं, जिससे सन्तोष नहीं होता।

उत्तर—यह तो गलती करते हो। सन्तोष क्यों नहीं होता है ? इसका कारण है कि आप समझते हैं कि अन्तःकरण निर्विकार रहे—यह आपने पकड़ लिया। अन्तःकरण निर्विकार नहीं होता—यह पकड़ छोड़ दो। अन्तःकरण निर्विकार रहना चाहिये—यह छोड़ दो। निर्विकार कैसे रहेंगे, जब यह कार्य है प्रकृतिका ? यह निर्विकार कैसे रहेगा ? इसमें तो विकार होगा।

****

प्रश्न—महाराजजी ! एक बात कहूँ, आप कहते हैं न कि ये छोड़ दो। तो एक भय-सा लगता है। ऐसा विचार आता है कि छोड़नेसे कहीं मेरा पतन न हो जाय।

उत्तर—इसीलिये मैंने बार-बार कहा कि मेरे कहनेसे छोड़ दो। यह क्यों कहा ? क्योंकि भय है तुम्हें। तुम्हारे भयका असर है मेरेपर। तुम भयभीत हो रहे हो। इसलिये कहता हूँ तुम डरो मत। जबतक यह पकड़ है, तबतक वास्तविक स्थिति नहीं होगी। वास्तविक स्थितिमें यह पकड़ ही बाधक है और कोई बाधक नहीं है। प्रकाशमें पतन होता ही नहीं। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनोंमें प्रकाश समान रहता है। ये बताओ उसमें फर्क पड़ता है क्या ? 'उसमें फर्क नहीं पड़ता तो उसका पतन कैसे हो जायगा ? तुम मानते हो अन्तःकरणमें निर्विकारता आ जाय। अगर आ जाय तो—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

(गीता १४। २२)

ये कहना कैसे बनता ? प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह अगर होता, तो ***''न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति''*** कैसे कहते ?

प्रश्न—यह तो महाराजजी ! उन महापुरुषोंकी बात है जिनको साक्षात्कार हो गया।

उत्तर—वे महापुरुष हम ही हैं। वे महापुरुष अलग नहीं हैं। हम ही महापुरुष हैं। प्रकाशका नाम ही महापुरुष है। डरो मत इसमें। बिलकुल डर नहीं। ये जो सामान्य प्रकाश है, इस स्थितिवालेको ही महापुरुष कहते हैं। महापुरुष कहो चाहे ब्रह्म

कहो। उस सामान्य प्रकाशमें क्या फर्क पड़ता है ? तो सामान्य ब्रह्म है वह एक है। एक तो भय छोड़ दो और एक आगे कुछ विलक्षणता होगी, इस आशाको छोड़ दो। ये दो छोड़ दो। ये दो ही बाधक हैं असली।

निषिद्ध आचरणकी इच्छा हो जाती है। तो निषिद्ध आचरण छूट जायगा। यह सुनकर डर लगता है न। तो छोड़ते डर लगता है इससे सिद्ध होता है कि निषिद्ध आचरणको आपने महत्त्व दिया है। और महत्त्व देकर छोड़ते हैं तो कैसे छूटेगा, उसका आदर आपने कर दिया। उपेक्षा करो। एक करना, एक न करना दो चीज हुई और एक उपेक्षा तीसरी चीज हुई। क्रिया करनेमें तो विधि करना है, निषिद्ध नहीं करना है। परन्तु भीतरमें विधि और निषेध दोनोंसे उदासीन रहो। क्योंकि विधि और निषेध दोनों दीखते हैं किसी प्रकाशमें। उस प्रकाशका सम्बन्ध न विधिके साथ है और न निषेधके साथ है। विधिका सम्बन्ध निषेधके साथ है। निषेधकी निवृत्ति करनेके लिये विधि है। विधि रखनेके लिये विधि नहीं है। **इसलिये विधि-निषेध, भय और आशा—ये दोनों छोड़ दो।** बात खयालमें आयी कि नहीं ? मेरी बात समझमें आयी कि नहीं ? विधि और निषेधमें विधिका लोभ है और निषेधका भय है। ये भय और लोभ जबतक रहेंगे, तबतक आपकी स्वरूपमें स्थिति नहीं होगी। इसलिये भय और लोभकी बेपरवाही कर दो। ये छूट जायेंगे। बेपरवाही करो केवल बेपरवाही। आ गया भय तो आ गया। लोभ हो गया तो हो गया। आपकी अवस्थामें कहता हूँ। हर एकके लिये मैं नहीं कहता हूँ। हर एक बात तो समझेगा नहीं, उलटा असर हो जायगा और आपके उलटा असर नहीं होगा, नहीं होगा, नहीं होगा। क्योंकि ये जब समझमें आ गयी कि विधि

और निषेध—ये करना चाहिये और ये नहीं करना चाहिये, ये दोनों होते हैं और मिटते हैं, आते हैं और जाते हैं और आने-जानेवालोंकी रहनेवालेपर कोई जिम्मेवारी नहीं है, रहनेवालेपर कोई असर नहीं है, रहनेवालेमें कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है, न निषेधसे बनता है, न विधिसे बनता है और न निषेधसे बिगड़ता है, न विधिसे बिगड़ता है, उसका बनता बिगड़ता है ही नहीं, तो आपपर असर कैसे पड़ेगा ?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

(गीता १४।२३)

वह विचलित होता ही नहीं है। मानो ज्यों-का-त्यों रहता है यह अर्थ हुआ इसका। भय और आशा ये दोनों छोड़ो। भय और आशामें संसारमात्र बँधा है। किसी प्रकारका न तो भय हो और न किसी प्रकारकी आशा हो। जितना चुप रह सको, चुप रहो। और हे नाथ ! मेरेसे नहीं छूटती कहते रहो। कह सकते हो कि नहीं ? जितना मिनट चुप रह सको चुप रह जाओ। इस शरणागतिमें और चुप रहनेमें बड़ी भारी ताकत है। तो आप निर्बलोंको बल आ जायगा और वह कार्य हो जायगा। आपमें तो आ जायगा बल और काम हो जायगा सिद्ध। आपमें बल आयेगा निर्विकार रहनेसे और सिद्ध होगा शरण होनेसे। चुप होनेसे शक्ति आती है।

यह बात अनुभवसिद्ध है कि बोलते-बोलते बोलना बन्द हो जायगा। पड़े रहो बोलनेकी शक्ति आ जायगी। शक्ति स्वतः आती है निष्क्रिय होनेसे और सक्रिय होनेसे शक्ति नष्ट होती है। जितने भोग-संग्रहके लिये काम करते हैं उनमें थकावट होती है।

नींद लेनेसे थकावट दूर हो जाती है और शक्ति आती है। निष्क्रिय होनेसे करनेकी शक्ति आती है यह तो अनुभव है न ? इसलिये निष्क्रिय रहनेसे शक्ति आ जायेगी। और हे नाथ ! ऐसा कहनेसे काम सिद्ध हो जायेगा। यह रामबाण उपाय है। इसमें सन्देह हो तो बोलो। तो शरण होकर निःसन्देह हो जाओ। यह तुम्हारा असली इलाज है। इस अवस्थामें चुप होनेमें परिश्रम नहीं करना है। कोई क्रिया हो गयी तो हो गयी, नहीं हुई तो नहीं हुई। अपने मतलब नहीं। अपनी तरफसे कोई क्रिया न तो करो और न ही ना करो। दोनोंसे उदासीन रहो। क्रिया हो तो होती रहे। इस तरह तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष जिसको कहते हैं उसकी अभी-अभी सिद्धि हो गयी।

राम ! राम ! राम !

——★——

॥ श्रीहरिः ॥

535▲

सुन्दर समाजका निर्माण

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तकमें हमारे श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा वि० सं० २०३८ में बीकानेर चातुर्मास तथा वि० सं० २०३९ में जयपुर चातुर्मासके अवसरपर दिये गये कुछ सर्वोपयोगी प्रवचनोंका संग्रह किया गया है। इस साहित्यके प्रेमी पाठक-गण पूज्यवर स्वामीजीसे परिचित हैं ही। आपके सिद्धान्तों, उपदेशों तथा वचनोंसे असंख्य नर-नारी आध्यात्मिक लाभ उठा चुके हैं और उठा रहे हैं।

वर्तमान समयमें प्रस्तुत प्रवचनोंकी उपादेयता गृहस्थियों, भाइयों, बहिनों, साधकों, विद्यार्थियों अर्थात् समाजके सभी वर्गोंके लिये है। आवश्यकता केवल लाभ लेनेके निश्चयकी है। इन बातोंको पढ़ने-सुननेमात्रसे भी लाभ तो होता ही है, पर काममें लेनेसे बहुत विशेष लाभ होता है। अतः पाठकोंसे निवेदन है कि इन प्रवचनोंमें कही गयी बातोंके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करें व परम लाभ प्राप्त करें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—१

समाजकी जिम्मेवारी—बड़ोंपर

समाजकी जिम्मेवारी समाजमें बड़े कहलानेवालोंपर होती है। जैसे, घरमें कोई समस्या आती है, तो घरमें जो मुख्य होते हैं, उनपर ही उसकी जिम्मेवारी होती है। ऐसे समाजकी जिम्मेवारी जो समाजमें बड़े कहलानेवाले होते हैं, उनकी होती है। उस जिम्मेवारीका पालन कैसे किया जाय ? इसमें एक मार्मिक बात है कि अपने कर्तव्यको समझा जाय। आज बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं, उनमें बाह्य-हेतु बताये जाते हैं, वे भी ठीक हैं; परंतु मूलमें विचार कर हम देखते हैं, तो जो साधु और ब्राह्मण हैं, ये अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं कर रहे हैं। इससे बहुत अनर्थ हो रहे हैं और अगाड़ी भी कितने होंगे, इसका कोई पता नहीं। गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ (३ । २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं; दूसरे मनुष्य वैसा ही आचरण करते हैं। '**स यत्प्रमाणं कुरुते**' श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाणित कर देते हैं, '**लोकस्तदनुवर्तते**' लोग उसका अनुसरण करते हैं। तात्पर्य निकला कि जैसे श्रेष्ठ पुरुष करते हैं, वैसे ही अन्य पुरुष करते हैं और वे जैसा कहते हैं, वैसा ही अन्य लोग करते हैं।

'**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥**' (गीता ३ । २०)

श्रेष्ठ पुरुष लोक-संग्राहक होते हैं। यह लोकसंग्रह क्या होता है ? दो तरहसे लोकसंग्रह होता है। श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणसे और श्रेष्ठ पुरुषोंके वचनसे। उन दोनोंमें देखा जाय तो '**यत् यत् आचरति श्रेष्ठः**' यहाँपर '**यत्**', '**यत्**' दो पद दिये हैं और '**तत्**', '**तत्**', '**एव**' तीन

पद दिये हैं। **'स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते'** वहाँ **'यत्'** व **'तत्'** दो ही पद हैं। आचरणमें पाँच पद हैं। इसका आशय क्या निकला ? जहाँ मनुष्यके आचरणोंका असर पाँच गुना पड़ता है, वहाँ वचनोंका असर दो गुना पड़ता है।

मूलमें कमी हमारे भीतर है। कहाँसे शुरू हुई ? साधु-आश्रममें हम आ जायँ, कपड़े बदल लिये—मनमें फूँक भर गयी कि बस हम तो साधु बाबाजी हो गये। अब तुम गृहस्थ हो तो हमारी सेवा करो। तुम चेला हो, हम गुरुजी हैं। ऐसे केवल भेष बदलनेमात्रसे बड़े हो गये। बड़े हो नहीं गये, अपनेको बड़ा मान लिया। यह अपने-आपको बड़ा माननेका काम अपना है ही नहीं भारतीय संस्कृतिमें। दूसरोंको बड़ा माननेका हमारा सिद्धान्त है। अपनेको बड़ा माननेवाला अभिमानी होता है। आसुरी सम्पत्ति सब-की-सब अभिमानकी छायामें ही पुष्ट होती है और रहती है। जैसे, बहेड़ेकी छायामें कलियुग निवास करता है। ऐसे **'अहं'** अभिमान (अपनेको बड़ा मानना) की छायामें ही सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति निवास करती है। साधुमात्र बन जानेसे अपनेको बड़ा मान लिया। बाबाजी हो गये। ब्राह्मणके घर जन्म लेनेमात्रसे अपनेको बड़ा मानने लग गये कि हम बड़े हैं। अब ब्राह्मणके घर जन्म लेनेमात्रसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनको बड़ी हीन दृष्टिसे देखने लग गये। साधुमात्र होनेसे गृहस्थियोंको हीन दृष्टिसे देखने लग गये। तो ये जो रहे मुख्य, ये समाजमें हो गये अभिमानी होना तो चाहिये था नम्र ! कोई बड़ा होता है, वह अभिमानके कारण नहीं, नम्रताके कारण बड़ा होता है। साधु और ब्राह्मण बड़े हुए हैं, किस वास्ते हुए ? किस कारणसे हुए ?

त्यागो गुणो गुणशतादधिको मतो मे
विद्याविभूषयति तं यदि किं ब्रवीमि।
शौर्यं हि नाम यदि तत्र नमोऽस्तु तस्मै
तच्च त्रयं न च मदोऽस्ति विचित्रमेतत्॥

सबसे पहले त्याग है। मैंने एक दिन सुनाया भी था। लोग कहते हैं ब्राह्मणोंके हाथमें पुस्तकें रहीं तो लिख दिया कि ब्राह्मण सबसे ऊँचा। तो यह बात है नहीं। वास्तवमें ब्राह्मण ऊँचा है, यह ब्राह्मणोंने अपने हाथसे अपनेको ऊँचा बनाया हो ऐसी बात है नहीं। जो पुरुष अपनी बड़ाई करेगा, वह तो पतित हो जायगा, गिर जायगा वह। जो अपने मनमें भी अपनेको बड़ा मानता है, वह गिर जाता है। क्योंकि अपने मनसे बड़ा तो हो ही गया, अब तो गिरना ही बाकी रहा। अपनेको बड़ा न माने, यह बात थी उनमें त्याग मुख्य था, त्याग। ब्राह्मणोंके लिये नौ धर्म बताये, '**शमो दमस्तपः शौचं**……।' क्षत्रियोंके लिये सात बताये, वैश्यके लिये तीन बताये, शूद्रके लिये एक। ब्राह्मण नौके पालन करनेसे जिस पदको प्राप्त होता है, शूद्र एकके पालनसे उस कल्याण पदको प्राप्त हो जाता है। इनकी तो उदारता रही है, त्याग रहा है सदा ही। अभिमान नहीं रहा है। अभिमान नहीं करते थे।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (गीता १८।४६)

ब्राह्मण अपने कर्मोंके द्वारा चारों ही वर्णोंमें रहनेवाले परमात्माका पूजन करे। सबका '**अभ्यर्च्य**' में अन्वय है। पूजनकी दृष्टिसे बात कही। कथा सुनावे, व्याख्यान दे, शिक्षा दे, गुरु बने तो अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न रखे अपितु उनसे प्यार करे। छोटे जितने होते हैं, सब-के-सब प्यारके पात्र होते हैं। ये ठेठ (आरम्भ) से ब्राह्मण और साधु अपनेसे छोटोंको प्यार करना शुरू करेंगे तो क्षत्रिय और वैश्य भी अपनेसे छोटोंसे प्यार करेंगे तो हरिजन आदिका तिरस्कार—अपमान नहीं होगा। पर आप तो अभिमान करके दूसरोंका तिरस्कार करते हैं और कहते हैं कि उनका आदर करो।

व्याख्यान देनेके अधिकारी

आपलोगोंसे मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ। मैं जो बातें कहता हूँ वे शास्त्रोंकी, सन्त-महात्माओंकी, ऋषि-मुनियोंकी, भगवान्‌की बातें हैं। मैं मेरी बात नहीं कहता हूँ। मेरी बात कोई दीखे तो उसको आप मानना मत। शास्त्रोंकी दीखे तो आपको, मेरेको, सबको ही मानना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं कहने लग गया, तो बड़ा हो गया, आप सुननेवाले छोटे हो गये। ऐसी बात नहीं है। छोटा-बड़ा नहीं। सनकादिकोंमें एक वक्ता बन जाते हैं, तीन श्रोता बन जाते हैं। ऐसी कथा आती है। दशम स्कन्धमें ८७वें अध्यायमें जहाँ वेदोंका वर्णन आता है न, जहाँ वेद-स्तुति करते हैं, वेद-स्तुतिका संवाद सनकादिकोंका है। तो वे छोटे-बड़े थोड़े ही हो गये। भगवच्चर्चा करनी है अपने तो ठीक तरहसे।

अगर इनमें छोटा-बड़ा देखा जाय तो बड़े सुननेवाले होते हैं, बड़ा सुनानेवाला नहीं होता है। सुनानेवाला तो नौकर है। उसको समयपर हाजिर होना पड़ेगा। सुननेवाले मालिक हैं आवें न आवें, थोड़े आवें, देरीसे आवें, बीचमें उठ जायँ, पर सुनानेवाला ऐसा कर सकता है क्या ? आवे न आवे, देरीसे आवे और बीचमें उठ जाय। कैसे हो सकता है ? वह तो दास है सबका ! बहम पड़ता है कि मैं बड़ा हूँ। वास्तवमें बड़ा नहीं है। अगर भगवत्सम्बन्धी बातें विशेषतासे कहता है तो उसका लाभ जितना वक्ताको होता है, उतना श्रोताको नहीं होता है। वक्ता जितनी बात कहता है न, उतनी उसको सोचनी पड़ती है, कहनी पड़ती है। घंटाभर बोलता है तो उस विषयको समाधिकी तरह ठीक करना पड़ता है और उसमें मन लगाना पड़ता है। मन

जितना अधिक लगता है, बुद्धिमें बात उतनी ही पकड़में आती है। बुद्धिमें बात जितनी अधिक आती है उतनी उसके आचरणोंमें आती है और लोगोंके सामने अच्छी बात कहनी पड़ती है; क्योंकि इज्जत अपनी रखनी है। इज्जतके लिये भी कहता है तो अच्छी बातें कहेगा, तो अच्छी बातें फुरणा होगी उसका आचरण अच्छा होगा। सुननेवालोंपर थोड़े ही है जिम्मेवारी इतनी।

बहुत-सी बातें हैं, अब थोड़े समयमें मैं क्या कहूँ? वास्तवमें कहनेवालेको लाभ बहुत होता है। कहनेवालेके सिद्धान्त बुद्धिमें आते हैं, बुद्धिके द्वारा मनकी कल्पनामें आते हैं, मनकी कल्पनाके बाद शब्दोंमें आते हैं। जितना शब्दोंसे आता है विषय, उतना लोगोंके कानोंतक नहीं पहुँचता और जितना कानोंतक पहुँचता है, उतना उनका मन नहीं पकड़ता है। जितना मन पकड़ता है, उतनी बुद्धिमें उस विषयकी स्थिरता नहीं होती। बुद्धिमें जितना जँचता है, उतना उनके आचरणमें नहीं आता। तो सुननेवालोंके आचरण अच्छे होते हैं तो वक्तामें अच्छाई कितनी पहले आयी? और कहाँतक पहुँची वह? इतनेपर भी सुननेवालोंका सुधार होता है तो कहनेवालेका कितना सुधार होगा?

मेरे तो महापुरुषोंके सामने ऐसी बातें हुई हैं। मैंने ऐसा निवेदन किया कि मेरा बोलनेका मन नहीं करता। कहनेका, व्याख्यान देनेका मन नहीं करता। पर उन्होंने कहा, करो; उन्होंने प्रेरणा दी विशेषतासे। लोगोंको तो, 'व्याख्यान देना है—हमें मिले मौका', ऐसी बात होती है। मेरे भी बोलनेकी मनमें आयी है कि मैं सुनाऊँ; परंतु मैंने विचार किया है, तो विचारके द्वारा सुनानेकी बात बढ़िया नहीं लगी हमें। मैंने सन्तोंसे यह बात सुनी है कि संसारमें सबसे नीचा अगर काम है तो व्याख्यान देनेका है। ऐसा सन्त-महात्माओंसे मैंने सुना है अपने

कानोंसे। सबसे नीचा काम है यह। सबसे ऊँचा काम टट्टी-पेशाब फेंक देना, झाड़ू लगा देना, सफाई कर देना है। जो कहता है मैं सेवा करता हूँ तो सेवामें जितना नीचा काम होगा, उतना करनेवालेको लाभ ऊँचा होगा। जितना ऊँचा काम होगा, उतना लाभ नीचा होगा।

आप सोचो, विचार करो। कहनेका अधिकारी कौन होता है? कहनेका अधिकारी वह होता है, जिसने अपनेमें उन बातोंको ठीक अनुभव करके देखा है। अनुभवके बिना कहता है तो सन्तोंकी वाणीमें आता है ***'करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिनरात। कूकर ज्यों भुसता फिरै सुनी सुनाई बात॥'*** कुत्तेका दृष्टान्त क्यों दिया? एक जगह कोई कुत्ता भूसता है तो दूसरे मुहल्लेवाला कुत्ता भी भूसने लगता है, तीसरेमें भी भूसता है सब कुत्ते भूसने लग जाते हैं। उन कुत्तोंको पूछा जाय तुम किसको भूसते हो—यह तो पता नहीं। एक भूसता था सबने शुरू कर दिया। तो जैसे कुत्ता सुनकर भूसने लग जाता है ऐसे कहींसे सुन लिया, अपने भी कहना शुरू कर दिया। अरे भाई! बातोंको जानते नहीं, करके देखा नहीं, तबतक कहनेका क्या अधिकार है? तो हमारे बड़ा संकोच हो गया। मेरेको तो तैयार किया उन्होंने कि तुम बोलो। प्रेरणा की है। लोगोंके मनमें आती है कि हम भी बोलें। परंतु भाई! यह खतरनाक चीज है। बड़ा बनना खतरनाक है।

हमने देखा अमरकोषमें विद्वान्‌के नाममें वहाँ ***'दोषज्ञ'*** नाम आता है। अब ***'दोषज्ञ'*** कोई बढ़िया है क्या? बढ़िया तो गुणज्ञ होता है। दोषोंका ज्ञान हो उसे ***'पंडित'*** कहते हैं। तो दोषोंका ज्ञान होगा तो दोषोंके साथ सम्बन्ध होगा। सम्बन्ध होगा तो दोष अपनेमें आवेंगे ही, मेरे ऐसी शंका हुई है। एक जगह सत्संगकी बात है। मैं जिनको अच्छा समझता था, आदरणीय समझता था, मैंने उनके सामने उनकी बातें सुनकर कहा, किसीका दोष मत देखो, यह बात तो आप कहते

हो और व्याख्यान सुनानेवाला यदि दोष नहीं देखेगा तो दोष देखे बिना उसका निराकरण कैसे करेगा तथा लोगोंके आगे कैसे विवेचन करेगा ? कहेगा कैसे ? चेतायेगा कैसे—ऐसा करो और ऐसा मत करो। इस वास्ते दोष-दृष्टि तो करनी पड़ेगी। उन्होंने बड़ा सुन्दर समाधान किया कि यह दोष-दृष्टि नहीं है, यह एक निर्दोष दिदृक्षा (देखनेकी इच्छा) है। दोष-दृष्टि वह होती है कि दोष देखकर राजी होवे, उसकी निन्दा करके प्रसन्न होवे तब तो वह है दोष-दृष्टि। उनमें जो दोष है, उससे दुःख होता है, उन दोषोंको कैसे दूर किया जाय, ऐसे भावसे कहता है वह दोष-दृष्टि नहीं है; क्योंकि वह निर्दोष देखना चाहता है। नीयतके ऊपर बात है न।

****

बड़प्पनका अभिमान

आज हमारे जो आफत आ रही है तरह-तरहकी उससे बचनेका उपाय क्या है ? मूलसे साधु और ब्राह्मण किसीको नीचा न माने यहाँसे शुरू होगा। केवल कपड़ा रँगनेमात्रसे क्या हो गया ? हमारे सन्तोंद्वारा तो बड़ी तीक्ष्ण आलोचना की गयी है। कहनेमें संकोच होता है। हमारी निंदा हो जाती है।

भेष पहर भूलो मति भाई, आथर और गदेड़ी वाही।

गधेके ऊपर लादते हैं न भार, तो नीचे आथर होता है उसे 'आथरिया' कहते हैं। आथरिया बदलनेसे क्या गधेड़ी बदल गयी। ऐसे कपड़ा बदलनेसे क्या वह बदल गया ? यह बात दूसरी है कि गृहस्थाश्रमवालोंको चाहिये कि भेषधारी आ गया तो रोटी दे दो। यह तो उनका बड़प्पन है। पर साधुको अपनेमें बड़प्पनका आरोप कर लेना तो गलती है न। साधु अपने साधुओंकी महिमा कैसे कह सकता है ? वैसे ही ब्राह्मण ब्राह्मण-जातिकी महिमा कैसे कह सकता है ? ऐसे पुरुष पुरुष-जातिकी महिमा कैसे कह सकता है ? अगर कहता है तो उसकी नीयत ठीक नहीं है।

बड़प्पन तो औरोंको देनेका है, यह लेनेका नहीं है। सेवा करना, सुख पहुँचाना, खटना, परिश्रम करना—यह है अपने लेनेका और बड़ाई, मान-आदर, सत्कार ये देनेके हैं, लेनेके नहीं। सेवा करनेकी है, लेनेकी नहीं। भगवान् विष्णु सबसे बड़े माने जाते हैं इसमें कारण क्या है ? पालनशक्ति है। सबका पालन-पोषण करनेका काम हाथमें लिया है। **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** वे प्राणी-मात्रके सुहृद् हैं। उनके पापी-पुण्यात्माका भेद नहीं है। इस वास्ते बड़े हैं और भगवान्‌का निवास है चरणोंमें, इसी वास्ते बड़ोंके चरण छूकर प्रणाम करते हैं। विष्णुभगवान्‌का निवासस्थान कहाँ है ? चरणोंमें है। इस वास्ते वे बड़े हैं। गीतामें उपदेश दिया—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' ॥

(१८।४६)

अपने कर्मोंके द्वारा परमात्माका पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है। ब्राह्मणमें **'शमो दमस्तपः'** आदि जो गुण हैं, उनके द्वारा वह पूजन करे और **'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥'**, **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** शूद्रका कर्म भी पूजन है। पूजनके द्वारा पूजन करना तो डबल पूजन हुआ कि नहीं ? उसको नीचा कैसे माना जाय ? अपने मनमें दूसरेको नीचा मानना यह अभिमानका परिचायक है। माता-बहनोंके लिये लिखा कि तुम पतिको परमेश्वर मानो, तो यह माताओंके लिये कहा है, न कि पुरुषोंके लिये कहा है कि मैं परमेश्वर हूँ, नहीं तो ब्याह किये हुए तो सब परमेश्वर हो जायँगे। कुँवारा बेचारा रह जायेगा बाकी। वह परमेश्वर किसका बने। यह तात्पर्य नहीं है।

गोरखपुरके पास एक गाँवकी बात है—एक बेचारी बुढ़िया हरिजनोंके घरकी थी, वह पानी भरनेके लिये गयी। तो उन्होंने पानी उसका भरा नहीं। बहुत देर बैठी रही, उसने पानी माँगा, दिया नहीं।

तो उस समय एक यवन भाईने देखा तो उससे कहा 'तुम क्या करती हो ? तुम हमारे यहाँ आ जाओ सब अधिकार मिलेगा तुम्हें'। वह भोली-भाली ग्रामीण थी बेचारी। उस भाईने कई प्रलोभन दिये। तो उस माईने पूछा, 'वहाँ गङ्गाजी हैं क्या तुम्हारे ? यमुनाजी, प्रयागराज आदि हैं क्या' ? ये तो नहीं हैं। तो हम नहीं जायँगी। तो हम ऐसे यवन नहीं बनेंगे, जहाँ गङ्गाजी नहीं हैं। तो क्या है यह ? यह है गङ्गाजीके प्रति श्रद्धा भीतरसे। मरनेपर भी हड्डियाँ डाली जायँ तो कल्याण हो जाय। ऐसा हमारा धर्म है, धर्मशास्त्र है। धार्मिक जितनी चीजें हैं, इनके प्रति आजकल अश्रद्धा करायी जाती है और फिर कहते हैं उनका निरादर करते हो तुम। लोग निरादर क्यों करते हैं ? अपने खुद पहले शास्त्रोंका, सिद्धान्तोंका, धर्मका निरादर करते हैं, इससे यह दशा होती है अगाड़ी। अगर आप ठीक तरहसे सिद्धान्तको मानो तो कितनी विचित्र लाभकी बात है।

सज्जनो ! मैंने पुस्तकें देखी हैं, सन्तोंसे मिला हूँ, मैंने बहुत विचित्र-विचित्र बातें पढ़ी हैं और सन्तोंसे सुनी हैं। मेरी एक धारणा बनी है कि केवल पुस्तक पढ़नेसे इतना पूरा बोध नहीं होता, जो अच्छे जानकार सन्तोंसे बातें सुननेसे वास्तविक बोध होता है। उसमें मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि संसारमें कितना ही नीच प्राणी क्यों न हो, उसका भी उद्धार हो सकता है, भगवान् मिल सकते हैं, वह तत्त्वज्ञ हो सकता है; जीवन्मुक्त हो सकता है। और वह वही हो सकता है, जिसमें अपना अभिमान नहीं। तो जो आज हरिजन माने जाते हैं, नीच माने जाते हैं उनको ज्ञान जितनी जल्दी सुगमतासे हो सकता है, उतनी जल्दी सुगमतासे अपने-आपको श्रेष्ठ माननेवालोंको नहीं हो सकता। कारण क्या ? बड़प्पनका अभिमान पतन करनेवाला है, उस अभिमानको दूर करना ही पड़ता है।

'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च' अभिमान आसुरी सम्पत्ति है, उन नीच वर्णवालोंके अभिमान काफी दूर हुआ रहता है, इस वास्ते कहा है—

नीच नीच सब तर गये राम भजन लवलीन।
जाति के अभिमान से डूबे सभी कुलीन ।।

'अभिमान'का यह अर्थ नहीं कि मैं निंदा करता हूँ। मैं ऊँचे वर्णको ऊँचा ही मानता हूँ। परंतु वे ऊँचे तभी होंगे, जब ऊँचा कार्य करेंगे। कार्य नीचा करेंगे तो ऊँचापन कितना टिकेगा। वह ठहर नहीं सकता। जो कार्य अच्छा करेगा तो वह अपने-आपको भले ही नीचा माने, पर दुनिया उसे बड़ा मानने लग जायगी। जबर्दस्ती बड़ा मानेगी; क्यों, वास्तवमें वह बड़ा है। जैसे मैंने दृष्टान्त दिया था कि कृष्णभगवान् घोड़े हाँकनेवाले बने, सारथी बन गये। अठारह अक्षौहिणी सेना क्षत्रियोंकी, उन क्षत्रियोंके बीचमें अवतार लेनेवाले भगवान् घोड़े हाँकते हैं एक साधारण आदमीके। यह कोई बड़ा काम है क्या ? बहुत छोटा काम है, उसे स्वीकार किया। भगवान्को घोड़ोंका कोचवान होते लाज नहीं आयी और छोटे-से-छोटे बन गये तो क्या हुआ ? जिस समय उधर भीष्मजी महाराज शङ्ख बजाते हैं कौरव-सेनामें सबसे पहले।**'ततः शङ्खाश्चभेर्यश्च पणवानकगोमुखाः'** फिर दूसरे शङ्ख बजाते हैं। यहाँ पाण्डव-सेनामें **'पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः'** सबसे पहले कृष्णभगवान् शङ्ख बजाते हैं। तो जो बड़ा होता है उसको बहम नहीं होता है कि मेरा छोटा आसन हो जायगा। मैं छोटी जगह कैसे बैठूँगा। यह बहम उन्हींको होता है, जो छोटे होते हैं वास्तवमें और बड़ा बनना चाहते हैं। कोई छोटा न मान ले, यह डर लगता है। वे अगर वास्तवमें बड़े हैं तो भय किस बातका ? आप स्नेह करो, प्यार करो। हमारा जो समाज है वह धर्मकी प्रधानताको लेकर और मुक्तिका उद्देश्य लेकर है। दूसरोंका उद्देश्य

प्रायः अपनी टोली बढ़ानेका है; उनमें धर्म नहीं है, मुक्ति नहीं है— यह मैं नहीं मानता हूँ। मुक्ति सबमें होती है और सबमें अच्छे-अच्छे आचार्य, सन्त-महात्मा हुए हैं और अब भी सबमें अच्छे आदमी हो सकते हैं। परंतु आज जो यह चाल-चलन चल रहा है, यह क्या है ? यह केवल वोट ज्यादा आ जाय हमारे। इस वास्ते टोली बनानेकी बात चल रही है। यह तत्त्व नहीं है, तथ्यकी बात नहीं है; परंतु भोले-भालोंको तो लोभ ही दिया जाय और क्या किया जाय ?

उपयोगकी महिमा

तीसरे, ये धनी धन-संग्रहमें लगे हैं। मेरेको दुःख होता है पर अब किससे कहूँ ? कोई सुनता नहीं। धन केवल संग्रह करनेके लिये नहीं है। सज्जनो ! धन उपयोगके लिये है। महिमा वस्तुकी नहीं है, न वर्णकी है, न आश्रमकी है, न परिस्थितिकी है, न योग्यताकी है— महिमा उसके उपयोगकी है। सदुपयोग किया जाय तो कल्याण करनेवाली हो जाय धनवत्ता भी और दरिद्रता भी, बीमारी भी और स्वस्थता भी, पण्डिताई भी और मूर्खता भी। दुरुपयोग किया जाय तो पण्डिताई, बड़ाई, धनवत्ता ये सभी नरकोंका रास्ता हो जावेगा। तो धनका उपयोग बड़ा है। मानव-शरीरकी महिमा गायी गयी तो मानव-शरीरके उपयोगकी महिमा है। सज्जनो ! शरीरकी महिमा नहीं है।

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस ४। ११। ४)

उत्तरकाण्डमें आया है—

'नर तन सम नहिं कवनिउ देही।'

(मानस ७। १२१। ९)

एक ही ग्रंथमें गोस्वामीजी महाराजने एक ही लेखनीमें एक जगह

उत्तम बताया है और एक जगह अधम बताया है।

'जीव चराचर जाचत तेही', 'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी'॥ तो यह श्रेष्ठ क्यों है? उसका विवेचन करते हुए कहते हैं—ये छः चीजें मिलती हैं मनुष्य-शरीरसे। उन छः चीजोंमें एक नम्बर नरक, यह महिमा है। मनुष्य-शरीर सबसे बढ़िया है, क्योंकि साहब नरक मिल जाय इससे। तो यह महिमा हुई कि निंदा और बातें भी आयी हैं महिमाके प्रसंगमें।

सात प्रश्न किये हैं गरुड़जीने भुशुंडिजीसे। उनमें सबसे पहला प्रश्न है यह। सबसे उत्तम शरीर कौन-सा? मनुष्यका। उसकी महिमामें यह कहते हैं तो अर्थ क्या निकला? दुरुपयोग किया जाय तो नरक मिलेगा, चौरासी लाख योनियाँ मिलेंगी, महान् कष्ट पाना पड़ेगा। उपयोग अच्छा किया जाय तो महाराज! स्वर्ग मिल जाय, वैराग्य मिल जाय, ज्ञान मिल जाय, भगवान्‌की श्रेष्ठ भक्ति मिल जाय, इसी शरीरमें, इस वास्ते इस शरीरकी महिमा है। अगर यह श्रेष्ठ बातें नहीं की तो ऐसा शरीर मिलनेपर भी नरक ही मिलेगा। इस वास्ते ऐसे ही धनका आप उपयोग करो।

मेरे एक बातका दुःख है, आप कृपाकर दुःख दूर करो। आपने संग्रह करनेकी ही वृत्ति कर रखी है। केवल संग्रह करना बस, सहस्त्रपति, लखपति, करोड़पति बन जावें हम! खर्च कर नहीं सकते। अगर लाख रुपये रोकड़ी हो जायँ और उन रुपयोंसे वह व्यापार आदि करता है और लड़के काम करते हैं; करते-करते उस लाख रुपयेमेंसे कहीं दो-चार-दस हजार खर्च हो जाय तो बिगड़ता है मालिक कि तुम रोटी कमाकर खाओगे? अरे, मूलधन खर्च करते हो? कमाओ, खाओ और कुछ जमा करो। तो मूलधनके क्या तूली लगाओगे? क्या करोगे बताओ? कोरा अभिमान बढ़ाओगे। परंतु

अब धुन हो गयी, एक ही बस। धन इकट्ठा करना है। सज्जनो! इकट्ठा करना क्या था? **'यक्षवित्तः पतत्यधः'** यक्षवित्त होता है वह। यक्ष राक्षस हैं न, कुबेर आदि, ये धन इकट्ठा करते हैं। महाभारतमें कथाएँ आती हैं।

अगस्त्य ऋषि थे, महाराजासे मिलने गये तो महारानियोंके पासमें चली गयी ब्राह्मणी। उसके साधारण कपड़ा। रानियोंके बड़ा गहना रत्नोंका, बढ़िया साड़ियाँ पहननेके लिये। ब्राह्मणीसे रानियोंने कहा कि हमारे तो आप गुरु हो। आपकी ऐसी पोशाक! तो वह संग लग गया। घरपर आये तो ब्राह्मणीने कहा 'हमारे भी गहना होना चाहिये। आपके जो यजमान हैं, शिष्य हैं, उनके तो ऐसा बढ़िया-बढ़िया गहना है और उनके गुरुके ऐसी बात!' महाराजने समझा कुसंग लग गया। फिर राजाके पास गये तो राजाने सब बता दिया कि 'महाराज! यह बात है। इतना खर्चा है, कहाँसे लावें?' फिर दूसरेके पास गये, ऐसे बहुत-से राजाओंके पास घूम लिये। सबने आय-व्यय बता दिया। है नहीं पासमें तो कहाँसे दें? तो कहाँ मिलेगा! एक राक्षसके पास पहुँचे, उसके पास सोना मिला। उससे सोना लेकर आये। पाँच-दस दिन लग गये। उधर उतने दिनमें ब्राह्मणीने, जैसा भोजन मिलता था, वैसा अन्न खाया। जिससे मन शुद्ध हो गया। जब ऋषि सोना लेकर पहुँचे और बताया कि इस तरहसे राजाओंके यहाँ तो धन मिला नहीं। एक राक्षसके यहाँ धन मिला है। अब गहना कराना है, जितना करा लो। तो बोली कि मेरेको गहना नहीं चाहिये। मेरे तो गहना आप हो।

मेरे आपका जितना शृङ्गार है उतना राजा-महाराजाओंका शृङ्गार कहाँ है? राजा-महाराजा भी आपके चरणोंमें गिरते हैं। तो इतना सुन्दर गहना है कहाँ? गहना तो आप ही हो, हमें सोना नहीं चाहिये। पाछा दे आओ, हमें नहीं चाहिये। तो धन इकट्ठा करना यक्ष-राक्षसोंका

काम है। धन कमाओ और अच्छे-से-अच्छे काममें खर्च करो। सत्यताके सहित शुद्ध रीतिसे कमाओ और उदारता सहित खर्च करो। इसका सदुपयोग करो। अपना जितना धन है, वह उपयोगमें कैसे आवे ? वह भी हितमें कैसे लगे। **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** प्राणिमात्रके हितमें रत हो। अपने पास जो कुछ है, धन हो, तन हो, मन हो, विद्या-बुद्धि हो, योग्यता हो, पद हो, अधिकार हो, जो कुछ मिल जाय, उसके द्वारा सबका हित कैसे हो ? प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी चाहिये; संग्रहमें नहीं। जो कुछ मिला है, अपना सम्पूर्णके हितमें लगाओ, जिससे कल्याण होगा। तो ऐसा भाव ठेठसे, ऊपरसे शुरू करो। अब वहाँसे शुरू करते हैं कि उनकी सेवा करो, उनका आदर करो। मैं तो कहता हूँ छोटा आदरका ही पात्र होता है। अपमानका, तिरस्कारका पात्र होता ही नहीं कभी। वह अयोग्य है कि योग्य, यह देखा नहीं जाता। छोटे बालकको योग्य देखा जाता है क्या ? प्यार करते हैं, गोदीमें लेते हैं तो क्या योग्यता देखते हैं कि कितना पढ़ा-लिखा है, गुणवान् है कि बलवान् है, क्या विलक्षणता है ? वह छोटा है—यही विलक्षणता है उसमें।

छोटे स्नेहके पात्र

ऐसे जो-जो छोटे हैं उनका आदर करो, तो ठेठ आदर हो जायगा। पर आप तो अभिमान वैसा ही रखो और चाहो कि वे हमारा आदर करें ऐसा कैसे हो जायगा। इसके अतिरिक्त ऐसे भी करो कि दूसरोंको अपने देखो मत। आपलोगोंसे कहना है कि हमलोगोंसे, साधुओंसे, ब्राह्मणोंसे भूल हो जाय; तो हम भूल कर गये तो आपलोग भी भूल करोगे ? भूल कौन-सी बढ़िया बात है भाई ! इस वास्ते आप तो उदारता रखो। प्यार करो, स्नेह करो, अपनाओ। आज कहते हैं छूआछूतसे अनर्थ हूआ है, छूआछूतमात्रसे नहीं हुआ है।

इसमें स्वार्थ-वृत्ति ज्यादा है। हम तुम्हारे घर भोजन कर लेंगे, ऐसे नहीं कि अन्न, वस्त्र, रुपये, पैसे तुम्हें दे देंगे। उनके घर जाकर छाछ पी लेंगे तो घाटा और डाल दिया उनके। क्या फायदा हुआ ? सहायता करो। मेरे बचपनमें देखी हुई बात है। देहातोंकी है, ऐसी देखी है मैंने। एक मेहतरके जँवाई आया, वह अपने यजमानके घर जाकर कहता है, 'बापजी आपरो जँवाई आयो है।' तो म्हारो जँवाई मेहतर होसी ? महाराज! बढ़िया चीज, वस्तु, भोजन सब देते कि ले जाओ, जँवाईका सत्कार-पूजन करो। उनके जँवाई आते थे तो रुपया, नारियल देते थे। यह देखी हुई बात है मेरी। जँवाई देवता आया है तो हमारा जँवाई मेहतर होगा क्या ? हमारा जँवाई मेहतर नहीं होगा; मेहतर-जँवाई होगा; क्योंकि हमारे हैं न ये। इस वास्ते इनका जँवाई हमारा जँवाई। यह प्रेम था।

राजपूतोंके, अच्छे-अच्छे ठाकुरोंके, जमींदारोंके घरोंकी स्त्रियाँ बाहर नहीं निकलती थीं। मेरे ऐसे शब्द सुने हुए हैं—'कैसे जाऊँ ? भाभीजी बैठी हैं।' आदर करती थी ससुर-जैसा, इतना आदर करती और वे भी महाराज बड़ा प्यार, स्नेह रखते थे। बच्चा खेलता हुआ आता; मेहतरानी आयी है सफाई (अड़वाई) के वास्ते और बच्चा आता है तो 'देखो! कुँवरजीने ले जाओ म्हारे पासमें आवे।' मनमें बड़ा भारी आदर था। सुख-दुःखमें सहानुभूति रखते थे। दुःख कैसे मिटे ? सुख कैसे हो ? गीता कहती है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

उनके दुःख किस बातका है, वह दूर करो। सुखके प्रलोभनमें आप आ नहीं सकते। कब ? जब धर्मका ज्ञान होगा। धर्मका ज्ञान कब होगा ?

****

जब धर्म बताया जायगा। धर्म बताया कब जायगा ? जब आप स्वयं धर्मात्मा बनोगे तब। अपने आचरण और भाव पहले शुद्ध करो। उनको निर्मल बनाओ। उनके निर्मल करनेसे दुनियामात्रकी शुद्धि होगी। सबका भाव ठीक हो जायगा बिना कहे सुने आप-से-आप ही; एक नीयत शुद्ध होनेसे। इस वास्ते अपने भावोंको निर्मल बनाओ।

विद्यार्थियोंपर जिम्मेवारी

अभी जो विद्यार्थी अच्छे बनते हैं, वे ही आगे चलकर अच्छे पण्डित बनते हैं। बचपनमें श्रेष्ठ बनेंगे, वे ही अगाड़ी चलकर श्रेष्ठ बनेंगे। बच्चोंके लिये याद रखनेकी बात बताता हूँ। जितने-जितने महात्मा हुए हैं, जितने महापुरुष हुए हैं वे सब-के-सब पहले बालक थे, बालक। आपको सोचना चाहिये कि हम भी बालक हैं। हम भी वैसे ही बन सकते हैं। तो बड़प्पनका जो अभिमान अपनेमें है, वह तो नहीं होना चाहिये, पर महत्त्वाकाङ्क्षा जरूर होनी चाहिये। अपने जिस जगह हैं, उससे ऊँचे बढ़ें। ऊँचे तभी बढ़ेंगे, जब अपनेको छोटा मानेंगे। ***'जो कुछ थोड़ा सीखे हैं, किसीके होके सीखे हैं।'*** उनसे शिक्षा मिली है, उनसे शिक्षा लेनी चाहिये। आचरण अच्छा बनाओ, सेवा करो, खूब उमंगपूर्वक, उत्साहपूर्वक। बच्चियोंको भी चाहिये कि अपनी माँकी, भाभीकी सेवा करें। लड़कोंको भी चाहिये कि अपने माता-पिताकी, गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करें, उनकी सेवा करें, उनको सुख पहुँचावें।

'गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा'

अपने पास और क्या है ? सेवा ही कर सकते हैं। न तो ऐसा अलौकिक गुण है जिसके बदलेमें गुरुजी महाराज सिखा दें। न इतना धन है, जो उनको देकर राजी कर लें। सेवा करें, सेवा करना क्या है ? ध्यान देना। बालको ! असली सेवा क्या है ? पढ़ाई करो तो गुरुजीकी सेवा क्या है ? जो गुरुजीने पढ़ा दिया, वह ठीक याद हो, सब-का-सब,

गुरुजनोंकी सेवा हो जायगी। सभाके बीचमें पूछा जायगा और आप ठीक तड़ातड़ (तुरंत) उत्तर दोगे तो दूर बैठे-बैठे गुरुजी खुश हो जायँगे, प्रसन्न हो जायँगे, धनसे उतने राजी नहीं होंगे। कितनी बढ़िया बात है, विद्या तो आपको मिले और सेवा हो जाय गुरुजीकी, दोनों बातें बढ़िया।

नमस्कारकी महिमा (उदाहरण मार्कण्डेय)

रोजाना सुबह-शाम माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार करो।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

जो रोजाना बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार करता है और बड़ोंकी शिक्षा लेकर चलता है, उसके चार चीजें बढ़ती हैं, एक विद्या आती है, एक संसारमें यश-कीर्ति बढ़ती है और एक बल आता है। और एक बात है। उमर बढ़ती है, कितनी विलक्षण बात है।

मृकण्डु ऋषि थे, जिनके मार्कण्डेय हुए। वे नमस्कार करते थे। एक सिद्ध पुरुष वहाँ आ गये, पिताजीने कहा—'बेटा! नमस्कार करो।' तो महाराज देखने लग गये सामने! एक टकटकी लगाकर देखते रहे। पिताजीने पूछा—'महाराज! क्या देखते हो? बच्चा तो अच्छा है, पर इसकी उमर बहुत थोड़ी रह गयी।' तो ऋषिने पूछा—'महाराज क्या करें!' उन्होंने कहा—'सन्त-महापुरुष आवें, ऋषि-मुनि आवें उनके चरणोंमें नमस्कार करवाओ।' सप्तर्षि आ गये। पिताजीने कहा—'नमस्कार करो।' (महाभारतकी कथा है यह) तो उन्होंने नमस्कार किया। उन्होंने 'चिरंजीवी बन जाओ' ऐसा आशीर्वाद दे दिया। पिताजीने पूछा—'महाराज! आपने आशीर्वाद तो दे दिया है, पर देखा नहीं कि कितनी उमर है।' उधर ध्यान दिया तो कहा—'उमर तो कम रह गयी।' पूछा—'तो महाराज, आपके वचनोंका क्या होगा? और

हाल क्या होगा इसका' ? तो कहा—'भाई ! भगवान् शंकरकी सेवा करो।' अब शंकरकी सेवामें लगा दिया उसको। समयपर महाराज ! यमराज खुद भैंसेपर चढ़े हुए लाल वर्णवाले आये, वह डर गया, डरकर भगवान् शंकरको बाँहोंमें पकड़ लिया कि महाराज ! यह यमराज आ गया। शंकर प्रकट हो गये त्रिशूल लेकर। 'क्यों ? कहाँ ले जाता है तू इसको !' 'महाराज ! इसकी उमर खतम हो गयी।' 'देख तो सही चोपड़ीमें कहाँ खतम हो गयी ?' देखें तो बाकी है साहब। शंकर करे सो हो जाय। 'हटो यहाँसे'। मार्कण्डेय ऋषि चिरंजीवी हो गये। **'सप्तैते चिरजीविनः'**कितनी विलक्षण बात है। किस बातसे ? नमस्कार करनेमात्रसे।

नमस्कारसे रामदास, कर्म सभी कट जाय।
जाय मिले परब्रह्ममें आवागमन मिटाय॥

'एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महा० शान्ति० ४७। ९२)

शाठ्येनापि नमस्कारः क्रियते चक्रपाणये।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

भगवान्‌को शठतासे भी नमस्कार कर ले तो उसका कल्याण हो जाय। नम्रतासे सब चीज मिलती है भाई ! इस वास्ते रोजाना माता-पिता, गुरुजन सबको नमस्कार करो। बड़ा भाई, बड़ी बहन है उसको भी नमस्कार करो। जो बड़े हैं, पूजनीय हैं, आदरणीय हैं उन्हें भी नमस्कार करो। भाई-बहनोंसे कहना है कि यह नियम तो अपने-अपने घरोंमें डाल ही दो। आप बड़े जब नमस्कार करेंगे तो ये छोटे आप-से-आप नमस्कार

करेंगे। **'यद्यदाचरति श्रेष्ठः।'** आपसमें लड़ाई नहीं होगी। गृहस्थीमें साथमें रहना पड़ता है। हम तो साधुलोग हैं।

'मन मिले तो मेला कीजे, चित्त मिले तो चेला।
ज्ञान मिले तो सतगुरु कीजे, नहीं तो भला अकेला' ॥

जरा खटपट होते ही तुंबी लेकर चल देंगे, तुम कहाँ जाओगे ? इस वास्ते तुम्हारेको तो प्रेम रखना आवश्यक है, प्रेम रहता है नमस्कार करनेसे।

देवरानी रोजाना जेठानीके चरणोंमें नमस्कार करे तो कभी लड़ जाय तो, रांड कह सकती है क्या ? देवर चरणोंमें पड़ता है रोजाना आ करके भाभीजीके, तो क्या वह कड़वी जबान कह सकती है ? लड़ाई नहीं हो सकती। हो जाय तो टिक नहीं सकती। शामको उनको नमस्कार करो, मिट जायगी। रात्रिमें खटपट हो तो सुबह नमस्कार करो तो मिट जायगी। लड़ाई रखोगे तो नमस्कार नहीं होगा। नमस्कार करोगे तो लड़ाई नहीं रहेगी। यह है नियम। दोनों एक साथ खटेंगी नहीं। आपके घरोंकी लड़ाई मिट जाय। कितनी बढ़िया बात।

काम-धन्धा करे अगाड़ी हो करके; वह कहे मैं करूँ, मैं करूँ। ऐसे ही बालक-बालिकाओंको चाहिये कि काम तो हम करेंगे। बच्चियोंको चाहिये कि सब काम सीखें, सब बातें सीखें। कातना सीखें, गूँथना सीखें, पीसना सीखें, झाड़ू देना सीखें, रसोई बनाना सीखें। सीखोगी तो अगाड़ी जाओगी तथा आपकी और आपके माताकी, कुटुम्बकी प्रशंसा होगी। नहीं तो महाराज सास गाली देगी, गाली। 'माँ रांड सिखाई कोनी इनै' (माँनै इसको सिखाया नहीं) बताओ घर बैठे माँको गाली मिले। अगर तुम ऐसा सीख जाओ, घरमें ऐसी चतुराईसे काम-धन्धा करो तो 'वाह-वाह भयी, अच्छे माँ-बापकी बेटी है, बहुत ठीक है, अच्छे घरानेकी लड़की है' ऐसी प्रशंसा करेंगे। तो

सुधारका सुन्दर तरीका

हमने सुनी है (पुस्तकोंमें नहीं देखी है)। एक बार युधिष्ठिरजी महाराजने किसी ब्राह्मणको कह दिया कि हम आपको कल-परसों दान देंगे तो भीमसेनने जा करके नगाड़े बजाये। युधिष्ठिरने पूछा, 'नगाड़े किस बातके'? तो भीमसेन बोला 'बड़े आनन्दकी बात है कि परसोंतक आप-हम सब जीते रहेंगे, मौज हो गयी हमारे। आप सत्यवादी हो, आपने कह दिया कि कल-परसोंतक दान देंगे तो कोई मरेगा तो दान कैसे करेगा?' तो खुद भी नहीं रहोगे तो दान कैसे दोगे? इस वास्ते अब तीन दिनतक तो मरेंगे नहीं। बड़े आनन्दकी बात है। युधिष्ठिरने कहा—'भैया! भूल हो गयी'। 'अब हितकी बात कह दी तो भूल हो गयी' तो बड़ोंको शिक्षा कैसे दी जाय? यह थोड़े ही है कि ऐसा कहो, 'आप झूठ बोलते हैं, आपने कैसे कह दिया'? और खुशी मनाओ।

एक ब्याह करके लड़की आयी अपने घरपर ससुरालमें। लड़का एक ही था, तो एक लड़का, एक सास, एक दादी सास। तो वहाँ जाकर देखा तो दादी सासका अपमान हो रहा है, तिरस्कार हो रहा है। ठोकर मार दे, गाली दे दे, छोरीकी सास। यह देखा तो छोरीको बड़ा बुरा लगा, अब कहूँ कि माँ, ऐसा मत करो, तो कहेगी कि कलकी छोरी आकर उपदेश देती है, गुरु बनती है। अतः ऐसा नहीं कहा उसने। वह काम-धन्धा सब करके दोपहरमें जाकर

दादीजीका चरण चम्पी करे, उनके पास बैठे। अब वह ज्यादा बैठे तो सासको सुहावे नहीं। वह कहती है 'बीनणी ! वहाँ क्या करती हो ?' 'बोलो ! काम बताओ।' 'काम क्या बतावें ! वहाँ क्यों जा बैठी', तो बहूने कहा—मेरे पिताजीने कहा है—'देखो बाई। जवान छोकरोंके पास बैठना ही नहीं कभी; छोरियोंके साथ भी नहीं बैठना; बड़े-बूढ़े हों उनके पास बैठना; उनसे शिक्षा लेना।' हमारे घरमें सबसे बूढ़ी ये ही हैं तो और किसके पास बैठें ? मैं उनसे यह पूछती हूँ कि मेरी सास आपकी सेवा कैसी करती है ? क्योंकि मेरे पिताजीने कहा है बेटा ! हमारे घरकी रिवाज नहीं चलेगी वहाँ, वहाँ तो रिवाज तेरे ससुरालकी चलेगी। तो मेरेको यहाँकी रिवाज सीखना है, सीख लूँ।

सासने पूछा—बुढ़ियाने क्या उत्तर दिया ? 'वह बोली कि ठोकर नहीं मारे, गाली न दे तो मैं तो सेवा ही मान लूँ। क्या तू ऐसा करेगी' ? मैं नहीं कहती हूँ ऐसा। पिताजीने कहा है, 'बड़ोंसे सीखना'। सासजी डरने लग गयी कि जो आचरण करोगे अभी अपनी सासके साथ, वह तेरे साथ आचरण तैयार होने लग जायगा। डर गयी ! उसका आचरण सुधर गया। एक जगह कोनेमें ठीकरी इकट्ठी पड़ी थी, 'बीनणी, ये ठीकरी क्यों इकट्ठी की है' ? आज तो घड़ा मटकी आपण घणा ही है सासूजीको देवो हो न आप भोजन ठीकरीमें, तो मैं काहेमें दूँगी ? इस वास्ते पहले ही जमा कर लिया' ! 'तू मेरेको ठीकरीमें भोजन करायेगी। मेरे पिताजीने कहा है तेरे वहाँकी रिवाज चलेगी।' तो सास कहती है 'यह रीति थोड़े ही है' 'तो आप देते क्यों हो' ? थाली माँजे कौन, 'थाली माँज तो मैं दूँगी'। 'तो तू थालीमें दिया कर। उठा ठीकरा बाहर फेंक, अपने क्या करना है' ? अब थालीमें भोजन देवे। सबको भोजन देनेके बादमें जो बाकी बचे, वो खिचड़ी-खिचड़ाकी खुरचन और दाल बची हुई जिसमें नीचे काँकरा बचे, अब

****

वे देवे तो बहू देखे। 'वीनणी ! क्या देखें ? देखूँ कि बडेरोंको भोजन कैसे दिया जाय' ? देखै क्या है ? 'ऐसा भोजन बड़ोंको देना चाहिये न'। देनेकी कोई रीति थोड़े ही। तो, पहले 'कुण (कौन) देवे' ? तो आज्ञा दे दो 'मैं दे दूँगी'। 'तो तू पहले भोजन दे दिया कर'। 'अच्छी बात ?' रसोई बनते ही चट ताजी खिचड़ी, फुलका, साग ले आकर माँजीको दे दे।

माँजी तो मन-ही-मन आशीर्वाद देने लगी। जीवन सुधर गया माँजीका, बेचारीकी सेवा होने लग गयी। अब बाहर साली (बाहरका कमरा) में खटिया डाली हुई उसीपर पड़ी रहती बूढ़ी माँजी। वह टूटी हुई खटिया, बन्दनवार होवे ज्यों लटके उसमें मूँज। तो वह बहू देख रही थी। सास पूछे कि क्या देखे ? 'निगह करूँ कि माइतोंको खाट कैसी दी जाय' ? 'ऐसा दिया थोड़ा जाता है, टूट जानेसे ऐसा हो जाता है। तू बिछा दे दूसरी'। 'आप आज्ञा दो'। अब बढ़िया निवारका ढोलिया लाकर बिछा दिया। कपड़ा धोने दिया तो कपड़ा 'सांगरी-सांगरी होयोड़ा। क्या देखती है' ? देखती हूँ कि बुड्ढोंको कपड़ा कैसा दिया जाय'। सास बोली 'फिर वही बात ! ऐसा कोई दिया थोड़ा जाता है ? यह फट जाता है, तो हो जाता है ऐसा'। बहूने पूछा, फिर वही रहने दें क्या ? 'तू बदल दे'। अब महाराज ! पथरना, सोड़िया, (बिछौना, रजाई) बदल दिया, कपड़ा बदल दिया। अच्छी तरहसे माँजीकी सेवा करे। अच्छी तरहसे सफाई रखे खूब। अब देखो सासुको शिक्षा कैसे दी जाय ? कितनी चतुराईसे दी, अगर उसको वह उपदेश देने लगे तो मान लेगी क्या ?

****

माँ-बापकी सेवा

लड़कियोंको चाहिये कि ऐसी बुद्धिमानीसे अच्छा-अच्छा गुण अपनेमें लावें और स्वयं सेवा करें। सब सेवा करती, सब रसोई

बनाती, झाड़ू देती, बर्तन माँजती, सब काम करनेपर भी राजी करना सासको भी और दादी सासको भी। तो ऐसे काम आप करोगी तो उसका असर पड़ेगा। कोरी बातोंसे असर नहीं पड़ता। आचरणका असर पड़ता है। तो ऐसे बच्चोंको भी चाहिये अपने घरोंमें खूब काम करें, उत्साहपूर्वक काम करें। गाय आदि है तो उसका काम करें, घरका काम करें। आज-कलके लड़के बड़े हो जाते हैं तो स्वयं सेवक बन जाते हैं। लाठी लेकर जाते हैं कि समाजकी सेवा करेंगे। स्वयं सेवक हैं वे, अपने ही सेवक हैं वे। जहाँ महिमा होती है, वहाँ काम करेंगे। पिताजी चाहे बीमार पड़े रहें। माँ-बाप बूढ़े हों, बीमार हों तो दवाई भी लाकर नहीं देते। क्योंकि घरमें वाह-वाह करनेवाला कोई भी नहीं है। हम स्वयं सेवक हैं।

हमारे काम पड़ा है। हरिद्वार ऋषिकेशमें रहते हैं तो लड़के आते हैं जवान-जवान। 'कैसे आये? घरसे भागकर आये हैं'। 'अरे कागज तो लिखो कम-से-कम कि हम यहाँ आ गये हैं। वे लोग ढूँढ़ते होंगे, कितना रुपया लगेगा, कितनी चिंता होगी, क्यों आ गये'? 'सेवा करेंगे'। 'माँ-बापकी सेवा करते।' 'माँ-बाप तो स्वार्थी हैं, वे तो अपना काम कराते हैं।' तुम परमार्थी कहाँसे आ गये भाई? स्वार्थियोंके परमार्थी कैसे जनम गये? अरे! माँ-बापकी सेवा ली है, कर्जा तो उतारा ही नहीं, दान करनेको चले। पहले कर्जा तो उतारो। माँ-बापने किस तरहसे पालन किया है। बड़ा किया है, योग्य बनाया है, पढ़ाया है, खर्चा किया है उनकी सेवा छोड़ देते हो। दुनियाकी सेवा करेंगे। दुनियाकी सेवा पीछे; पहले माँ-बापकी सेवा। घरवालोंकी सेवा पहले करो। क्योंकि उनका कर्जा है सिरपर। कर्जा तो उतारो कम-से-कम तब सेवा होगी। तो ऐसा अभिमान भर गया कि माँ-बाप तो स्वार्थी हैं, हम तो सेवा करते हैं। वे स्वार्थी हैं तो क्या हुआ तुमने

तो उनसे लिया है। दुनियामें चाहे वे अपना स्वार्थ करते हों पर तुम्हारा तो परमार्थ किया है कि नहीं ? तुम्हारी तो सहायता की है कि नहीं ? ऐसे माँ-बापकी सेवा करो, आज्ञाका पालन करो।

'अग्या सम न सुसाहिब सेवा' मनुस्मृतिका दूसरा अध्याय आप पढ़ो, ये देवता हैं साक्षात्, माँ और बाप। माँ पृथ्वी है, अन्तरिक्ष देवता हैं पिता। इनकी सेवा करनेसे त्रिलोकीकी सेवा हो जाती है, त्रिलोकी तृप्त हो जाती है। इस वास्ते बड़ोंकी सेवा करनेसे भगवान् बड़े खुश होते हैं। आप भजन करोगे, माँ-बापका कहना नहीं मानोगे, गुरुजीका कहना नहीं मानोगे तो भगवान् स्वीकार नहीं करेंगे कि यह अपने माँ-बापका भी नहीं हुआ तो तुम्हारा कबतक होगा भाई यह ? क्या भरोसा है इसका ? गुरुजन भी महाराज, उसको पसन्द नहीं करते, जो माँ-बापकी सेवा नहीं करता। उनकी सेवा करो।

पढ़ाईका उद्देश्य

पढ़ाई करो तो वहाँ गुरुजनोंकी सेवा करो। आज लड़कोंमें उद्दण्डता आ गयी। पहले तो महाराज! गुरुजन जिसको रखते वह विद्यार्थी रहता और जिसको निकाल देते वह निकल जाता। आज विद्यार्थी बना लेते हैं यूनियन। निकालो हमारे पण्डितजीको निकालो, गुरुजीको निकालो। आज छोरा रखें जिसको, वह तो गुरुजी रहे और वे निकाल दें तो निकल जाय। उनको समझते हैं नौकर। नौकरसे काम होता है विद्या नहीं ली जाती, विद्या बड़ोंसे ली जाती है। इस वास्ते आज देख लो बड़ी-बड़ी विद्याओंमें, बड़ी-बड़ी परीक्षाओंमें पास हो जाते हैं, पर ज्ञान नहीं है। शास्त्री और आचार्य हो जायँ, मध्यमामें, शास्त्रीमें पास हो जायँ तो आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न बता नहीं सकते ठीक तरहसे।

ऐसे काम पड़ा है। एक पण्डितजी कहते थे, इतना भी ज्ञान नहीं

'संज्ञाप्रकरण' का। पढ़ गये ऊँचे और पास हो गये। तो क्या धुन रहती है ? बस पास हो जायँ। अरे भाई ! पास होनेके लिये पढ़ाई नहीं होती है। पढ़ाई करनेके लिये परीक्षा दी जाती है। पढ़ाई करना परीक्षाके लिये नहीं। परीक्षाके लिये पढ़ाई करता है तो याद नहीं रहती है, अभी परीक्षा है। इस वास्ते याद करके दे दी परीक्षा; फिर भूल गये। अरे ! पढ़ाईके लिये परीक्षा होती है, जिससे अपनेको संतोष हो जाय, गुरुजनोंको संतोष हो जाय। हमारे संरक्षक महानुभाव हैं, उनको संतोष हो जाय, इस वास्ते परीक्षा देते हैं। पढ़ाई तो बोधके लिये करना है। उस तत्त्वको किस तरहसे समझना है हमें ! जो पढ़ गये और दूसरोंको पढ़ा नहीं सकते तो क्या पढ़े ? ठीक तरहसे बुद्धिमान् लड़कोंको पढ़ा सको आप, तब तो आपने ठीक पढ़ाई की, इस वास्ते अध्ययन पूरा करो, अच्छी तरहसे। जिस काममें लगो, उस कामको साङ्गोपाङ्ग ठीक तरहसे पालन करो।

मैं तो कहता हूँ बुद्धिमान् मनुष्य अपना समय बर्बाद नहीं करता। विद्यार्थीको तो—

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम्॥

एक क्षण भी निरर्थक न जावे। न जाने दे। महाराज ! एक-एक क्षण बड़ा कीमती है। याद रखो, बड़ी अवस्था होनेपर आपको पूछेंगे कितना बरस पढ़े ? बीचमें चाहे पढ़ाई करें, चाहे प्रमाद करें, चाहे बीमार हो गये, चाहे घरपर चले गये, स्कूलमें नहीं गये। यह कोई गिनती नहीं करेंगे। अमुक वर्षसे अमुक वर्षतक इतनी पढ़ाई करी। इतनी पढ़ाई हुई तुम्हारी ? क्या उत्तर दोगे ? नहीं तो भाई, इतना वर्ष पढ़े, हमारेको पूछ लो इतना पढ़ा है इतने दिनोंमें। लोग भी कहेंगे कि इतने दिनोंमें इतनी पढ़ाई कर ली, बड़ी अच्छी बात। आज-कलका

कोर्स तो बहुत छोटा है। पढ़ाई बहुत कम होती है, छुट्टियोंमें बहुत समय बर्बाद होता है; विशेष बर्बाद होता है; पर आपलोग सजगतासे रहोगे कि समय एक क्षण भी खराब नहीं करना है। खर्चा अपने शरीरके लिये थोड़े-से-थोड़ा करना है।

कलकत्तामें एक छोरेकी माँग पूरी नहीं हुई, खर्चा ज्यादा किया, माँगा ज्यों नहीं मिला तो जलकर मर गया। बताओ, माँ-बापको कितना दुःख होता है। अपने खर्चा क्यों चाहिये ? माँ-बाप दें उतने खर्चेसे काम चलाओ अपना। खर्चीला जीवन होनेसे आदमी परतन्त्र होता है। बचपनमें खर्चीला होनेसे बहुत ही ज्यादा दुःख पायेगा उम्रभर। सादगीसे पढ़ा हुआ उम्रभर सुखी रहेगा। हमारे क्या चाहिये ? साधारण कपड़ा पहन लिया, रोटी खा ली बस। खर्चा है ही नहीं ऊलफेल (फालतू)। इस वास्ते हरेक भाई-बहनको यह बात चाहिये। बड़ोंकी सेवा करो। ये बड़ी अवस्थावाले हैं न उनमें भी जो माँ-बाप हैं, पूजनीय हैं, आदरणीय हैं, उनके सामने हम भी बालक ही हैं; इस वास्ते हमें अच्छा काम करना चाहिये, जिससे उनकी सेवा बन जाय और वे प्रसन्न रहें। प्रसन्नता लो उनकी, आशीर्वाद लो उनका, जिससे विद्या आदि आवेगी। माता-पिताकी सेवासे, गुरु-सेवासे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हो गये, सन्त हो गये, राजा-महाराजा हो गये, विद्वान् हो गये।

आज्ञा-पालनसे लाभ

हमने ऐसे दृष्टान्त सुने हैं और कुछ-कुछ देखे हैं। कलकत्तामें बहुत पुरानी बात है। दो हजार संवत्से पंद्रह-बीस वर्ष पहलेकी बात है। एक दादू-पंथी सन्त थे। मैंने उनसे कहा, 'महाराज, आप भी कुछ सुनाओ तो खड़ा होकर बोलने लगे।' अच्छे पण्डित थे। वाल्मीकिका एक श्लोक बोल दिया; अब अर्थ करने लगे तो श्लोक नहीं उठा।

दुःखी हो गये। बात क्या है ! तो कहा कि मैं पढ़-लिखकर अपने गुरुजीके स्थानपर गया। हमारे गुरुजी भजनानन्दी थे, पढ़े-लिखे नहीं थे, विद्वान् थे नहीं, मैं पुस्तक लिख रहा था। गुरु महाराजके घरमें काम था, 'ईंट-चूना पड़ा है, इतना पत्थर मँगाओ, आदमी बुला लाओ,' ऐसा कहते तो कई बार तो मैंने किया, एक बार कह दिया कि 'यह तो कोई मूर्ख ही काम कर देगा'। गुरुजीने कहा 'तू मूर्ख हो जा'। तबसे यह दशा हो गयी। फिर मैं घबराया चरणोंमें गिरा तो कहा 'इतने वर्षों बाद ठीक हो जायेगा'। अब एक-दो वर्ष बाकी है। गुरुजनोंकी राजी लेनेसे फायदा होता है, नुकसान नहीं होगा।

एक आत्मानन्दजी थे वे पढ़े-लिखे थे, पढ़ाते थे। उनके शिष्य नारायण मुनिजी महाराज, नाम सुना होगा, बड़े प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। रतलाम आदिके दरबार उनको मानते थे। बड़े सुन्दर-मूर्ति और भव्य थे। मेरे दर्शन किये हुए हैं। गुरुजीके खाँसी-दमेकी शिकायत थी, उन गुरुजीकी सेवा करते। वे प्रसन्न होकर कहते 'बेटा नारायण ! अब पढ़, तब पढ़ते, नहीं तो वे सेवामें ही रहते। दमेकी शिकायतमें तो बोलना कम होता ही है। ऐसी सेवा की महाराज ! जिसमें इतने नामी विद्वान् हो गये फारसी और संस्कृतके। हिन्दू और मुसलमानोंकी दोनोंकी सभामें वे सुनाते थे अच्छी तरहसे। गुरु-सेवासे लाभ होता है और गुरुका तिरस्कार करनेसे हानि होती है।

एक कनफटे कृष्णानन्द थे। वे पढ़े नवद्वीपमें, पढ़ करके अपने ही गुरुजीसे कहा—'शास्त्रार्थ कर लीजिये मेरेसे न्यायके विषयमें'। तो गुरुजीने कहा—'जा भूँकता फिरेगा कुत्तेकी तरह'। उन दिनों महामहोपाध्याय केशवानन्दजी महाराज कनखलमें थे। वहाँ वह आया कि आपसे शास्त्रार्थ करूँगा। आप भारत-भूषण हुए हैं और महामहोपाध्याय हैं तो मेरेसे बात कर लीजिये। लोगोंने कहा—'अरे

कुत्तेको निकालो, कहाँसे आ गया ? निकालो इसे'। तिरस्कार करके निकाला। अब नामी विद्वान् था। शास्त्रार्थमें झड़का दे हरेकको, पर अपमान ही हुआ; तिरस्कार ही हुआ। तो गुरुओंका तिरस्कार करनेसे तिरस्कार होता है।

आप कहते हो कि हमारी बीनणी काम नहीं करती तो तुमने दूसरोंके घरपर बीनणी कैसी भेजी है ? छोरीको सिखावे कि 'तू धन तेरा इकट्ठा कर लेना; वह तेरा तेरे पास रह जायगा। जब अलग होओगे तब तो तेरे पास आ जायेगा। काम तू अकेली क्यों करे ? सभी करो'। अब ऐसे काम-धन्धा तो नहीं करना और धन ले लेना, ये दो महान् पतनकी बातें है। वे सिखा-सिखाकर आप छोरियोंको भेजते हैं, घरोंमें शान्ति होगी कि अशान्ति ? उनको यह सिखाना चाहिये, 'ना बेटा ! अपने तो काम करो, जहाँ जाओ, उत्साहसे घरका काम-धन्धा करो, उनकी प्रसन्नता लो'।

ऐसे ही लड़कोंको चाहिये कि उदारता रखो भाई। काम-धन्धा करो, सेवा करो, चीज-वस्तुओंके द्वारा भी सेवा करो, तो कितना बढ़िया काम होगा। ऐसी बात जाननेकी कमी नहीं है करनेकी कमी है। जाननेकी कमी तो कोई जानकार है, वह दूर कर देगा। पर करनेकी कमीको तो आपको ही दूर करना होगा। उसे काममें लाओ। दूसरोंको समझाते समय तो विद्या आ जाती है महाराज !

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

(मानस ६। ७८। २)

परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वे भवन्ति हि।
विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते॥

अपना काम आ जाय, तब भूल जाते हैं—यही तो बड़ी गलतीकी बात है।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'

(गीता १८।४५)

ठीक तरहसे बालकों-बालिकाओंको अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। गुरुजनोंकी आज्ञा माननी चाहिये। माता-पिता, गुरुजन हैं—ये महाराज! तीन लोक हैं। ऐसा मनुजीने लिखा है। लड़कोंके लिये यहाँतक लिख दिया कि तीर्थपर जायँ तो उसका फल भी माँ-बापके ही अर्पण करें। अपने लिये धर्म, पुण्य आदि कुछ करना ही नहीं है, केवल माँ-बापकी सेवा करना है। लड़का समझता है कि हम तो परतन्त्र हैं, आप जितने छोटे हो, आप तबतक स्वतन्त्र हो। बड़े बन जाओगे, तब पराधीन हो जाओगे, समाजके, बहुत-से आदमियोंके। आपपर उलाहना आयेगा। अभी छोटे हो तो आपको कौन पूछे? गलती हो गयी तो हो गयी। इस वास्ते स्वतन्त्रता उसका नाम है, जिसमें पराधीनता न हो।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

(दिनाङ्क ९ अगस्त, १९८१)

═★═

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—२

प्रश्न—पुरुषोंके पुनर्विवाहका विधान क्यों है? स्त्रियोंके लिये क्यों नहीं? ऐसा प्रश्न है।

पुनर्विवाहके विषयमें पुरुषों और स्त्रियोंके लिये एक-सा विधान नहीं है। शास्त्रोंमें पुरुषोंके लिये तो पुनर्विवाहका विधान है, पर स्त्रियोंके लिये पुनर्विवाह करनेका विधान नहीं है। मनुजीने लिखा है कि राजा बेनने स्त्रियोंके लिये पुनर्विवाहकी जो छूट रखी थी, वह शूद्र वर्णमें मानी गयी और किसी वर्णमें नहीं, ऐसी बात मनुजीकी आती है।

विवाहका पवित्र उद्देश्य

वास्तवमें देखा जाय तो विवाह करना कोई खास बात नहीं है। हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि मनुष्य-जन्म मिला है परमात्माकी प्राप्तिके लिये। इस वास्ते ब्रह्मचारियोंके दो भेद बताये हैं—एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी और दूसरा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी। ये दो विभाग क्यों किये? जो जन्मसे ही परमात्माकी तरफ लग जायँ और उनके यह बात समझमें आ जाय और परमात्माकी ओर ही चलें वे 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' होते हैं। परंतु जो विचारके द्वारा मनको नहीं समझा सके; भोगोंकी इच्छाका त्याग नहीं कर सके, तो वे भोगेच्छाका त्याग करनेके लिये विवाह करें। विवाह सुख-भोगके लिये नहीं करे, त्यागके उद्देश्यसे

करे। बिना सुख भोगे अगर त्यागनेमें कठिनता पड़ती हो तो शास्त्रकी विधिसे विवाह करके गृहस्थाश्रममें रहे। जिस दिन वैराग्य हो जाय, उस दिन त्याग कर दे। तो त्याग ही तत्त्व है। यह हमारा सिद्धान्त है; भारतीय संस्कृतिकी रीति है।

मानव-शरीरमें ***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'।*** (मानस ७। ४४। १) मूलमें विचारपूर्वक त्याग न कर सके, उनके लिये यह बताया है कि उपकुर्वाण ब्रह्मचारी होकर फिर विधि-विधानसे स्नातक बनकर ठीक तरहसे विवाह करे। केवल उसका तत्त्व जाननेके लिये, सुख भोगनेके लिये नहीं। आजके युगमें सब लोगोंके लिये कहता हूँ कि आजके युगमें पुनर्विवाह न स्त्री करे, न पुरुष करे। पुनर्विवाह करे ही नहीं। एक बार कर लिया, देख लिया ***'माई बाई भाइली भाग पसाड़ली'*** बस, खतम हुआ काम। अब भजन-स्मरण करो। परमात्माकी प्राप्ति करो।

पुरुषोंके लिये फिर पुनर्विवाहका विधान क्यों रखा गया? **'लुप्तपिण्डोदकक्रियाः'।** पितरोंको पिण्ड और पानी देनेके लिये सन्तान हो जाय तो फिर पुनर्विवाह नहीं करना चाहिये। सन्तान न होवे तो बड़ोंको पिण्ड-पानी देनेके लिये, वंश-परम्पराकी रक्षाके लिये विवाह कर सकते हैं; इस वास्ते शास्त्रमें इसकी खुली रखी है, परंतु सिद्धान्त भोगका नहीं है, सुखका नहीं है, केवल कल्याण करनेका है। मानव-शरीर मिल गया तो, **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'**। (गीता ६। २२) वह सुख प्राप्त करना है जिसके बादमें सुख प्राप्त करना बाकी न रहे। यह खास बात है।

प्रश्न—स्त्रियाँ कुँवारी रह सकती हैं क्या?

ऐसा विधान तो नहीं है। विधान न होनेपर भी त्याग करनेमें कोई पाप नहीं है; परंतु आज-कलकी जो रीति है कि छोरियाँ

कहती हैं कि विवाह हम नहीं करेंगी, यह एक तरहसे अन्याय है, पाप है; क्योंकि भोगवृत्ति तो मिटती नहीं। अब विवाह करनेसे परतन्त्रता हो जायेगी, इस वास्ते कुँवारे खुले स्वतन्त्र फिरेंगे। तो कुत्तियाँ बहुत स्वतन्त्र फिरती हैं, उनमें और इनमें क्या फर्क है ? कुछ मूल्य नहीं उसका। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करें, उसकी बहादुरी है, वह कोई भाई हो, चाहे बहन हो। कोई भी क्यों न हो। यह है बात खास।

प्रश्न—'कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है और फलकी प्राप्तिमें स्वतन्त्र नहीं है।' धन चाहनेमात्रसे नहीं मिलता। इसका खुलासा कीजिये ?

मैंने यह कहा था कि चाहनेमात्रसे धन नहीं मिलता। 'धनकी चाहना नहीं होनेसे ये निर्धन हैं'। अर्थात् ये धन चाहते नहीं थे, इस वास्ते निर्धन रह गये—ऐसे कितने आदमी मिलेंगे आपको ? यह बात नहीं है। धनकी चाहना नहीं हो जिसके, वह निर्धन होता ही नहीं। जिसके वैराग्य है, त्याग है, धनकी चाहना नहीं है, वह निर्धन कभी नहीं होता, वह दरिद्री होता ही नहीं। वह बादशाहों-का-बादशाह होता है।

चाह गई चिन्ता मिटी मनवा बेपरवाह।
जिसको कछु नहिं चाहिए सो साहनपतिसाह॥

दरिद्रता तो मनकी है। लोग समझते हैं कि धनके अभावसे दरिद्री है; बिलकुल गलत बात है यह।

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः॥

जो धनवान् ज्यादा है आपकी दृष्टिमें; वह दरिद्री ज्यादा है कसौटीपर कसनेपर। जैसे, साधारण आदमीके तो सौ-पचास

रुपयोंकी भूख होती है, फिर हजार रुपये चाहता है तो नौ सौकी भूख है ! एक हजार हो जानेपर दस हजार चाहने लगता है तो अब नौ हजारकी भूख है और दस हजार होनेपर लखपति होना चाहता है तो अब नब्बे हजारकी भूख है। एक लाख रुपये रोकड़में हो जायेगा तो अब केवल दस लाखकी इच्छा नहीं होगी। अब करोड़पति होनेकी इच्छा जगेगी, अब निन्यानबें लाखका घाटा है तो उनमें दरिद्री बड़ा कौन हुआ ? जिनके धनकी ज्यादा भूख, वही दरिद्री ज्यादा। धनसे दरिद्रता नहीं मिटती।

'सुन्दर' एक संतोष बिना सठ तेरी तो भूख कभी न भगेगी।

प्रश्न—अशुभ कर्म कामनासे कैसे होते हैं ?

'काम एष क्रोध एष' जिसके कामना नहीं होती उसके द्वारा अशुभ कर्म नहीं होते। शुभ कर्म होते हैं—निष्काम-भावसे, जिससे अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल होता है। निर्मल अन्तःकरणमें जो विचार आदि पैदा होते हैं, उससे अपना कल्याण होता है। कामना रखनेसे शुद्धि नहीं होती। काम तो कर दिया, पर कामना रख ली भीतर, तो शुद्धि होगी कैसे ? पदार्थोंकी, भोगोंकी, परिस्थितिकी इच्छा है न मनमें ! तो सकाम-भाव रखनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। इतने अंशमें शुद्ध होगा कि जो शुद्ध काम किया है विधि-विधानसे, उसका जो फल मिलेगा, उस फलको भोग सकता है, इतनी शुद्धि होती है। जैसे इन्द्र बना तो 'शतक्रतु'—सौ यज्ञ करनेसे इन्द्र बनता है। तो जो इन्द्र बनता है, वह इन्द्रके भोग भोग सकता है। इन्द्रासनपर कुत्तेको बैठा दिया जाय या सुअरको बैठा दिया जाय तो वह इन्द्रका भोग क्या भोग सकेगा ? इतनी-सी शुद्धि होती है। और दूसरी बात है ही नहीं। वह इतना काम कर सकता है बस। कोई यदि अशुभ काम नहीं करे और अगाड़ी सावधान रहे। परंतु पहले

हम कर्म कर चुके हैं, उनका फल सामने आये तो भोग करके निकाल दो।

प्रश्न—अब हम मुक्तिके मार्गमें लग गये, केवल अपने कल्याणमें ही लग गये। पहले किये हुए बहुत कर्म तो पड़े हैं न? बहुत हैं वे तो। उनकी गिनती नहीं। उनकी क्या दशा होगी?

वह केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करता है, उसीको ही चाहता है तो वे सब-के-सब कर्म रोक दिये जायेंगे। वे जबरदस्ती फल नहीं देंगे। जब हमारी नीयत कल्याण करनेकी है तो कर्म सब खतम हो जायँगे। भक्तिसे, ज्ञानसे, कर्म-(सेवा-)से तीनोंसे ही वे नष्ट हो जाते हैं।

भक्तिमें साफ कहा—'**सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**'। सब पापोंसे मैं मुक्त कर दूँगा। '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥**' (४।३७) ज्ञानरूपी अग्निमें समग्र कर्म भस्म हो जाते हैं। ऐसे ही '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥**' (४।२३) केवल यज्ञके लिये कर्म करता है तो समग्र कर्म लीन हो जाते हैं। कर्म अगाड़ी खतम हो जायेंगे। जब वह साधनमें लगा है तो भजन करते-करते, पूर्ण होनेपर सब खतम हो जायेंगे। अधूरा साधन छोड़ेंगे तो वे कर्मफल देनेके लिये आयेंगे। साधनकी ठीक तरहसे वृत्ति नहीं रहेगी तो वह योगभ्रष्टकी स्थितिको प्राप्त होता है। ऐसे योगभ्रष्ट भी दो तरहकी गतिवाला होता है। एक तो स्वर्गादिमें जाकर पीछे लौटनेपर श्रीमानोंके घर जन्म लेता है और एक सीधा ही योगियोंके कुलमें जन्म लेता है उसका जन्म श्रेष्ठ बताया है। '**एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥**' (गीता ६।४२) ऐसा जन्म दुर्लभतर है। तो जिन योगियोंकी सूक्ष्म वासना रहती है, वे स्वर्गादिमें जाते हैं और यहाँ श्रीमानोंके घर जन्म लेते हैं। जिनकी वासना नहीं

****

रही है और साधन करते हैं साधनमें कुछ कमी रह जाती है, अन्तमें विचलित हो जाते हैं तो वे योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं वहाँ वे मुक्त हो जाते हैं।

मन न लगनेमें कारण

वास्तवमें कारण कुछ नहीं है; काम-धन्धा करते हो तो समय नहीं मिलता है चिन्तन करनेके लिये। भजन-ध्यान करने लगे तो उसमें तो मन लगता नहीं। मनको मिल जाता है वक्त, इस वास्ते सोचने लगता है, आपकी पोल खोलता है। यह क्यों होती है ? जो भीतर इकट्ठी पड़ी थी, वह निकलती है। नयी कुछ नहीं होती पुरानी बात है अथवा अगाड़ी करेंगे, यह बात याद आती है। अभी वर्तमानकी है ही नहीं। अब ध्यान देकर समझना है इस बातको। पहलेकी बात याद आती है, वह पुरानी बात है, अभी नहीं है।

भविष्यका चिन्तन होता है, वह भविष्यमें होगा, अभी नहीं है। अभी नहीं है, उसकी क्या चिन्ता करते हो? यह बात याद रखना कि अभी नहीं है। पहले थी, अभी नहीं है या अगाड़ी होगी, अभी नहीं है। जो अभी नहीं है, उसकी कोई चिन्ता नहीं। अभी है ही नहीं वह; उसका अभाव है। उसका क्या फल होगा?

दूसरी बात और ध्यान देनेकी है कि आप चिन्तन करते हो पुराना अथवा भविष्यका। जो चिन्तन होता है, उसमें परमात्मा जरूर हैं। 'है' उसको तो आप मानते नहीं। 'नहीं है', उससे आप परेशान हो रहे हैं। 'नहीं है' यह तो 'नहीं' है, ऐसा मान लो और इस चिन्तनमें परमात्मा हैं। भूतकालका चिन्तन है तो उसमें परमात्मा हैं। भविष्यका चिन्तन है तो उसमें परमात्मा हैं। वर्तमानमें भजन करते हो तो परमात्मा हैं। हरदम अखण्ड परमात्मा हैं। इस तरफ लक्ष्य रखो यह खास उपाय है।

भोगे हुए संस्कार कैसे नष्ट हों ?

फिर समझ लो। पुरानी कोई भी बात याद आ जाय, घटना याद आ जाय, मन विचलित हो जाय, तो मन रस लेने लगता है तब तो नया कर्म हो जाता है। याद आनेमात्रसे कर्म नहीं होता। इस वास्ते उसकी परवाह मत करो। यह भोगे हुए संस्कार हैं, वे समय मिलनेपर उद्‌भूत होते हैं, पर होते हैं, नष्ट होनेके लिये। आप उनमें सहमत हो जाते हैं तो ये नये कर्म हो जाते हैं। आप सहमत न हों तो मिट जायेंगे, मिटनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। इस वास्ते वह घटना अभी नहीं है। अगाड़ी करना है उसको भी आपने विचार करके पकड़ रखा है। पकड़नेके कारणसे भविष्यकी बातें याद आती हैं। वह भी अभी नहीं है।

उसको आप कह दो कि अभी यह काम कर रहे हैं। उसको

अभी छोड़ दो; फिर करेंगे विचार—ऐसा करके उसका त्याग कर दो। फिर याद आ जाय तो फिर छोड़ दो। भविष्यवाली बात भी आपकी पकड़ी हुई है। वह भी है नहीं। परमात्मा सबमें है, अभी भी है, भूतकालवाली घटनाओंमें भी है, भविष्यवाली घटनाओंमें भी है। दोनोंका चिन्तन अभी हो रहा है तो इस समयमें भी है। परमात्मा इन सबमें है, यह बात याद रखो। भजन करते हुए जो याद आ जाय उसमें परमात्मा है, एकदम सच्ची बात। परमात्माकी तरफ लक्ष्य होनेसे संकल्प-विकल्प नष्ट हो जायँगे। जो है, वह सच्ची बात हो जायेगी। जो नहीं है, वह तो सच्चा है ही नहीं; उसकी अभी केवल फुरणामात्र—यादमात्र है, वह मिट जायेगी। इस वास्ते परमात्मा इसमें है, यह ठोस बात है। इस बातको पकड़ लो; अब दूसरी बात आप-से-आप मिट जायेगी।

बुरे संस्कार क्यों पड़ते हैं ?

अगर मनसे भोगोंका चिन्तन करते हुए उसमें सुख लेने लगोगे तो नया संस्कार पड़ जायेगा। चाहे भोगोंको भोगते समय मन लगाकर भोगो और चाहे चिन्तन करते हुए मन लगाकर चिन्तन करो। दोनोंमें नये संस्कार पड़ेंगे। वे संस्कार अगाड़ी और तंग करेंगे; फिर याद आवेंगे। इस वास्ते उसमें सुख-दुःख लो मत। अच्छा आया, चाहे मन्दा आया, पकड़ो मत। चाहे अच्छा आवे, चाहे मन्दा आवे, उसमें अपने मनको राजी मत होने दो। मन राजी होता है, तब वे संस्कार पड़ जाते हैं।

मन तो लाखकी तरह, मोमकी तरह है। उसको ऐसा माना है मधुसूदनाचार्यने और कहा है कि लोहा साधारणतया कठोर है; परंतु साथमें तापक द्रव्य हो जाते हैं तो पिघल जायगा। ऐसे ही चित्त कठोर होता है; परंतु तापका संग होनेसे पिघल जाता है। अब वह तापक कौन है ? तो बताया है—

कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयाऽऽदयः ।
तापकाश्चित्तजतनुस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत् ॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि ये सात तापक हैं जिससे चित्त पिघलता है। कामना बहुत ज्यादा होती है और भोग मिलता है तो भोगते समय उसके बड़े संस्कार पड़ते हैं। वर्षोंतक तीस, चालीस, पचास वर्ष हो जायँ, तब भी मानो अभी ही हुई हो, ऐसी घटना दीखेगी; क्योंकि पिघले हुए चित्तमें संस्कार पड़ गये। अब वह कठोर बन जाय, तब भी संस्कार वैसे ही पड़े हुए हैं। जितना अधिक चित्त पिघलेगा, उतना ही जोरदार संस्कार पड़ेगा। ऐसे ही क्रोधके समय कोई घटना घटी है तो वह ज्यादा समयतक याद आयेगी। कारण कि उस समय चित्त पिघल गया, उसमें क्रोधके संस्कार पड़ गये। ऐसे कोई बड़ा भारी भय लगा तो भय लगते ही चित्त पिघलता है, उसमें भयके संस्कार पड़ जाते हैं तो बहुत वर्षोंतक भयकी याद आती है। ऐसे ही मित्रसे अधिक स्नेह होता है और जब आपसमें मिलते हैं तो उसके भी संस्कार पड़ते हैं। ऐसे ही हर्ष-शोक हो जाता है, उसके संस्कार पड़ते हैं। अधिक हर्ष होता है तो किसीके मिलनेका तो वह संस्कार पड़ता है। दया आती है बहुत विशेषतासे तो वे भी संस्कार चित्तपर पड़ जाते हैं।

बुरे संस्कार कैसे मिटें ?

इस वास्ते कहा है—

'काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे'

(भक्तिरसायन १।३२)

साधकको चाहिये कि विषयोंके सम्बन्धमें तो चित्तको कठोर बनाये रखे और भगवत्सम्बन्धी बातोंमें, तात्त्विक बातोंमें मनको द्रवित करे। द्रवित चित्तमें वे संस्कार पड़ जायँ। जब द्रवित

होता है अन्तःकरण, उस समयमें और सभीको छोड़ देता है, तब रसानुभूति होती है। साहित्य आदिकी रसानुभूति उसीमें होती है। हास्य, करुण, रौद्र, वीर, शृंगार, वात्सल्य, वीभत्स—ये सात रस होते हैं। रसकी अनुभूति उसीमें होती है, जब पिघला हुआ अन्तःकरण होता है। पिघला हुआ अन्तःकरण तदाकार हो जाता है और दूसरेकी याद नहीं आती। विषय और विषयीकी भी याद नहीं आती। इतना चित्त द्रवित होता है तो उस समय वह रस आता है। वे संस्कार पड़ते हैं साहित्य आदिके लौकिक रसोंसे। वह षड्रस, नवरस होते हैं तो हर्ष होता है भीतरमें, उसका संस्कार पड़ जाता है। ऐसे पुराने संस्कार तंग करते हैं, उनकी याद आती है बार-बार। उसको मूल्य न दें। पुराने संस्कार हैं, अभी नहीं है। 'यह अभी नहीं है', यह अभी नहीं है', 'यह अभी नहीं है'—यह इसका बड़ा भारी मन्त्र है। जब भी याद आवे तो 'ना, यह अभी नहीं है, अभी है ही नहीं'—ऐसे दूर करोगे तो दूर हो जायगा वह रहेगा नहीं। उनमें राग-द्वेष करोगे तो एक नया संस्कार और पड़ जायगा; क्योंकि आपने सुख ले लिया, आपने दुःख ले लिया। भोगते समयमें भी राग किया है, सुख लिया है, वे संस्कार नहीं मिटेंगे। इस वास्ते इसमें साधकको सावधान रहना चाहिये कि हमारा उद्देश्य यह नहीं है।

अगाड़ी भोग भोगनेकी इच्छा हो जाय किसी तरहसे तो उसे हटा दें कि ना, हमारा उद्देश्य यह नहीं है, हमारा लक्ष्य नहीं है। हमें इस मार्गमें जाना ही नहीं है। यह जितना जोरदार दृढ़ निश्चय होगा, चित्त आप-से-आप शुद्ध होने लगेगा। इधर-उधर जाना बन्द हो जायगा, आपका साधन चल पड़ेगा। हम इसके ग्राहक ही नहीं हैं; हमारेको यह करना ही नहीं है। हमें इस मार्गमें जाना ही

नहीं है। बहुत बड़ा भारी बल है इसमें। बड़ी ताकत है। साधन करनेवाले भाई-बहनोंको चाहिये, कुछ भी याद आ जाय—अच्छी-मन्दी याद आ जाय तो कह दो, 'अभी यह है ही नहीं, अगाड़ी ऐसा करना ही नहीं है, इस मार्गमें हमें जाना है ही नहीं', तो स्वाभाविक चित्त शान्त हो जायगा; स्वतः ही शान्त हो जायगा।

मनुष्य तो समझता है कि चित्त खराब है। चित्त खराब नहीं है। खराब स्वयं होता है। चित्त तो अन्तःकरण है। करण कर्ता नहीं होता। कर्ता करण नहीं होता। अन्तःकरण, बहिःकरण करणोंकी क्या शुद्धि, क्या अशुद्धि ? कर्ताकी अशुद्धि ही करणमें मालूम होती है। इस वास्ते गीताने कहा—'**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।**' और '**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ**'—विषय, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये इसके अधिष्ठान (वास-स्थान) हैं '**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।**'

इसका यह आशय नहीं है कि तत्त्वकी प्राप्ति बिना यह मिटता नहीं। मानो जहाँ परमात्माकी प्राप्ति होगी, वहाँ ही रस मिटेगा, यह व्याप्ति नहीं है; किन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर रस रहेगा नहीं, यह भाव है। रसकी निवृत्ति पहले भी हो सकती है। जोरदार वैराग्य होगा तो रसबुद्धि मिट जायगी। इस वास्ते वह रसबुद्धि भीतर है, वह कर्तामें रहती है, वही मनमें, बुद्धिमें, इन्द्रियोंमें, विषयोंमें प्रतीत होती है, है खुदमें। खुदके जब तेजीका वैराग्य होगा, पक्का विचार होगा कि हमें इस मार्गमें जाना ही नहीं है, यह जितना दृढ़तासे निश्चय हो जायगा, उतनी ही इसकी निवृत्ति हो जायगी। थोड़ा दीखे तो उसकी परवाह मत करो, वह चला जायगा। दर्पणमें मुख दीखता है तो ज्ञान रहता है कि वास्तवमें दर्पणमें मुख नहीं है। इसी तरहसे संकल्प-विकल्प आते-जाते हैं, वे दीखते हैं, पर हमारेमें नहीं हैं।

आपमें नहीं हैं तो ये कहाँ हैं? मन, बुद्धि, अहंकारमें हैं। आपका जो शुद्ध स्वरूप है, उसमें है ही नहीं—यह पक्की बात है। वह शुद्ध स्वरूप है। साधककी दशा कभी सात्त्विक, कभी राजस, कभी तामस होती है। ऐसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ऐसी अवस्थाएँ आती हैं, दशाएँ होती हैं। ऐसी परिस्थिति आती है तो परिस्थितियाँ बदलनेवाली होती हैं। ये घटनाएँ बदलनेवाली होती हैं। दृश्यका सम्बन्ध आने और जानेवाला होता है, इस वास्ते भगवान्‌ने कहा—

'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व' (२।१४)

ये आने-जानेवाले हैं, इनको तुम सह लो। मानो इसमें तुम खुद घबराओ मत। ये तो अन्तःकरणमें आते हैं। आपमें नहीं आते हैं। यह बात थोड़ी बारीक है; परन्तु इसको आप ध्यान देकर बड़ी सुगमतापूर्वक समझ सकते हो।

समता कैसे रहे ?

गीतामें समताकी बड़ी भारी महिमा गायी है। **'समत्वं योग उच्यते'** समताका नाम ही योग है। **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** बहुत वर्णन किया है। ज्ञानयोगमें, कर्मयोगमें, भक्तियोगमें भी समताका खूब वर्णन है। वह समता कैसे हो ? बहुत सीधी बात, बड़ी सरल बात; सब भाई समझ सकते हैं। ध्यान दें आपलोग। आपके सुखदायी घटना घटती है उस समय आप रहते हो कि नहीं ? आप अगर नहीं रहते तो सुख-दुःखका अनुभव कौन करेगा ? ऐसे दुःखदायी-से-दुःखदायी घटना घटती है तो उस समय भी आप रहते हो कि नहीं ? आप नहीं रहते तो दुःखदायी घटनाका अनुभव कौन करेगा ? सुख और दुःख तो बदलते हैं, पर आप बदलते हो क्या ? तो **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते'** (१३।२१) **'पुरुषः**

सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'; (१३। २०) सुख-दुःख भोगनेमें हेतु बनता है कौन? '**पुरुषः प्रकृतिस्थः।**' सुखके साथ, दुःखके साथ दोनोंमें आप वही रहे। सुख-दुःख दोनोंके विभागका ज्ञान आपको कैसे हुआ? आपको ज्ञान होता है, तो सुखके समय भी आप रहते हैं और दुःखके समय भी आप रहते हैं। आप सुख-दुःखके साथ मिल जाते हैं तो सुखी-दुःखी हो जाते हैं। नहीं तो '**समदुःखसुखः स्वस्थः**' अगर 'स्व'में स्थित रहे तो सुख-दुःख समान रहेंगे। आपपर असर नहीं डालेंगे। आपपर असर तभी डालते हैं, जब आप उनमें तल्लीन हो जाते हैं; एक हो जाते हैं। तो '**समदुःखसुखः स्वस्थः**' और '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते**' उसमें उसका साथ मत करो।

आपका स्वरूप सम है, हरदम आप रहते हो। सुखदायी, दुःखदायी घटना घट जाय तो उन दोनोंमें आप रहते हो। अपनी तरफ देखो; अवस्थाकी तरफ मत देखो। परिस्थितिकी तरफ मत देखो। क्रियाओंकी तरफ मत देखो। अपने-आपकी तरफ देखो, तो वे मिट जायँगे। यह देखनेकी विद्या थोड़ा-सा अभ्यास करनेसे हाथ लगती है और वह हाथ लग जाय, अभी। मैंने कह दिया इतनेमात्रसे। साधक है, बुद्धिमान् है, तो उसके हाथ लग जायगी। नहीं तो समय पाकर आ जायगी। सच्ची बात है यह।

अब इसमें थोड़ा-सा विस्तार करके और बात बतावें। ध्यान दें कि आप और आपकी अवस्था, आप और आपकी परिस्थिति, आप और आपकी दशा, आप और आपकी वस्तुएँ। ये दो हैं, एक नहीं हैं। यह खास जाननेकी बात है। आप एक रहते हैं; परिस्थिति बदलती है; घटना बदलती है; दशा बदलती है; व्यक्ति बदलते हैं; वस्तुएँ बदलती हैं। आप एक रहते हो। तो आपकी ये चीजें हैं

नहीं। न आपमें हैं, न आप इनमें हो, न आपका सम्बन्ध है। तीनों बातें नहीं हैं। इनमें आप नहीं, आपमें ये नहीं, आपके साथ इनका नित्य-सम्बन्ध नहीं। अगर नित्य-सम्बन्ध हो तो सुखी आदमीको दुःख कैसे होगा? सुखमें ही स्थित रहेगा। दुःखी होनेवाला सुखी कैसे हो जायगा? दुःखमें ही स्थित रहेगा। परंतु **'आगमापायिनोऽनित्याः'** भगवान् कहते हैं—'भैया, ये तो आने-जानेवाले हैं। आना हुआ, सम्बन्ध हुआ, सम्बन्ध विच्छेद हुआ। नित्य रहते ही नहीं।' **'तांस्तितिक्षस्व'**—अपनेमें विकार क्यों लाते हो? आप सुख-दुःखके जाननेवाले हो। सुखको भी जान लिया; दुःखको भी जान लिया। तो जाननेवाले तो आप एक ही रहे न।

बड़ी भयंकर घटना घटी। किसी आदमीका जवान बेटा मर गया, उसका समाचार आया कि अमुक जगह गया था, लड़का मर गया और एक समाचार आया कि जो आपका दूसरा लड़का रहता था, उसके लड़का जन्म गया। पोतेके जन्मका समाचार मिलनेपर खुशी हुई। बेटा मर गया तो दुःखी हुए। ये सुख-दुःख दो हुए न; परंतु आपका जानना जो है, बेटेकी मृत्युका ज्ञान और पोतेके जन्मका ज्ञान—इस ज्ञानमें क्या फर्क आया? जाननामात्र तो एक ही हुआ न। जाननेके विषय दो हुए। जानना एक हुआ। जब विषय दो होनेपर जाननेमें ही फर्क नहीं तो जाननेवालेमें फर्क कैसे आया? आपमें फर्क नहीं है। आप पोतेके साथ लगकर खुशी मनाते हैं, बेटेके साथ चिपककर 'बेटा मर गया'—इसका शोक मनाते हैं। ऊपरसे भले ही शोक मनाओ चाहे उत्सव मनाओ, मनमें समझो कि बेटा न तो पहले था, न अब है और न हमारे साथ अगाड़ी रहेगा। यह पोता पहले नहीं था, अब जन्मा है, साथ यह भी नहीं रहेगा। यह अपनी आयु लेकर आया है। हम भी अपनी आयु

लेकर आये हैं। हमारा-इसका सम्बन्ध नहीं है। सच्ची बात यह है। सच्ची बातको तो पकड़ते नहीं, झूठी बातको पकड़कर सुखी-दुःखी मुफ्तमें होते हैं।

****

अपने-आपमें स्थित होना

इस वास्ते आप जरा 'स्व'में स्थित हो जायँ। अपने-आपमें, जो आप वास्तवमें स्थित हैं। उसमें तो आप स्थित रहते हैं। अपने-आपमें स्थिति स्वतः है आपकी। इसको केवल सँभालना है। ये '**आगमापायिनः**' आने-जानेवाले हैं। आप और आपकी वस्तुएँ अलग हैं। आप और आपकी परिस्थिति अलग है। आप और आपकी अवस्था अलग है। आप और आपकी दशा अलग है।

इसमें यह परिवर्तन हो रहा है। संकल्प-विकल्प मनमें होते हैं, अन्तःकरणमें होते हैं। कारण आप नहीं हो। इनके संकल्प-विकल्प आपमें नहीं हैं। आने-जानेवाले हैं। आप इनको देखनेवाले हो, तभी तो तरह-तरहकी घटनाओंका अलग-अलग भोग होता है, अगर आप नहीं रहते तो अलग-अलग घटनाओंका भोग कौन करता ? पर आप इनके साथ मिल करके भोगी बन जाते हो। अगर इनके साथ न मिलो तो योगी हो और मिल गये तो भोगी।

भोगी ही सुख-दुःख भोगता है, योगी तो '**समदुःखसुखः स्वस्थः**' स्वस्थ रहता है। बिलकुल अलग रहते हो आप। आप तो अलग ही होते हो; हो ही अलग। बनावटीपनेमें साथ हुए हो। बनावटीपना छोड़ा और आपकी स्थिति हो जायेगी। बोलो क्या फर्क है इसमें ? यह तो ऐसा ही होता है। आता है और जाता है। यह तो संसारका स्वरूप है। '**सम्यक् प्रकारेण सरतीति संसारः।**' चलता रहे उसका नाम संसार है। '**गच्छतीति जगत्**' जो जाता रहे। वह जाता रहता है आप रहनेवाले हो।

मेरी एक प्रार्थना है। मेरा एक निवेदन है; आप ध्यान दें। मिल भी जाय, दुःख भी हो जाय तो भी यह बात याद रखो कि हम इनके साथी नहीं हैं। यह बात सच्ची है। मिलनेवाली बात कच्ची है, नहीं मिलनेवाली बात याद रखो तो मिलनेपर भी दुःख नहीं होगा। आज दुःखी हो भी जाओ तो घबराओ मत। मेरेपर सुख-दुःखका असर पड़ जाय तो कोई बात नहीं। यह असर पड़ गया, यह चला जायगा, रहेगा नहीं। इतनी-सी बात याद रखो। इसमें क्या कठिनता है, बताओ ? सुखदायी परिस्थिति आयी तो आ गयी, दुःखदायी परिस्थिति भी आयी तो आ गयी। आयी और गयी। इसमें हमारे क्या लगता है ? केवल इतना-सा खयाल रखो कि ये आने-जानेवाले हैं।

हम हैं रहनेवाले। हमारे क्या फर्क पड़ता है इसमें ? आ जाय तो अच्छी बात; चली जाय तो अच्छी बात। आपके फर्क नहीं पड़ता। फर्क पड़ भी जाय तो कोई परवाह नहीं। पर याद तो रखो कि मैं तो वही रहता हूँ।

सुखके समयमें भी, दुःखके समयमें भी आप जो एक रहते हो उसका नाम 'समता' है। समतामें स्थिति स्वतः आपकी है। मनुष्य समझता है कि समता बड़ी कठिन है। समता कठिन है तो क्या विषमता सुगम है ? विषमता तो आपकी बनायी हुई है। समता तो स्वतःसिद्ध है; मिटती नहीं। उसमें क्या कठिन है ? समता तो स्वतःसिद्ध है।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥' (५ । १९)। इस वास्ते **'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।'** (५ । २०)। प्रियको प्राप्त करके राजी मत होओ, अप्रियको प्राप्त करके दुःखी मत होओ। केवल इतनी बात है। आप सुखी-दुःखी होते हो, यह गलती होती है। पहले गलती हो जाय तो भी परवाह नहीं; मिट जायेगी; परंतु आप न सुखको पकड़ो, न दुःखको पकड़ो। आप इनसे अलग हो और ये आने-जानेवाले हैं। आने-जानेवालेको हम क्यों पकड़ें ? यह आ गयी तो बड़ी खुशीकी बात; नहीं आयी तो बड़ी खुशीकी बात। हम अपने दरवाजेपर खड़े हैं। बेटा, पोता बहुत हो गया तो बड़े आनन्दकी बात। मर गये तो बहुत अच्छी बात। जनम गये तो जन्मकी विधि है वो कर दो। इस प्रकार समतामें आपकी स्थिति स्वतः रहती है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——★——

(दिनाङ्क २७ जुलाई १९८१)

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—३

परमात्मतत्त्वकी नित्यता

भगवान्‌की ओर चलनेमें इन्द्रियोंकी, शरीरकी, मन-बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। परमात्माकी तरफ चलनेके लिये 'खुद'की आवश्यकता है। कोई मूक हो, बहरा हो, कैसा ही लूला-लँगड़ा क्यों न हो! भगवान्‌की तरफ खूब मस्तीसे चल सकता है। संसारमें योग्यताको लेकर अधिकार होता है। भगवान्‌के यहाँ केवल चाहनामात्रसे अधिकार होता है। यहाँ योग्यताकी कोई कीमत नहीं, कैसा है? कितना पढ़ा-लिखा है? कैसा शरीर है? किस वर्ण, देश, आश्रम, सम्प्रदायका है कोई जरूरत नहीं। आपका भाव चाहिये। **'भावग्राही जनार्दनः।'** खास बाधा क्या है? इसे आप सुनें, जो मैं बार-बार कहता हूँ। उत्पत्ति-विनाशका आदर करनेसे नित्य-तत्त्वका निरादर हो जाता है। बस, उत्पन्न और नष्ट होनेवाली चीजोंको हम बड़ी मान लेते हैं—यही बाधा है। इनका उपयोग बाधा नहीं। ये वस्तुएँ बाधा नहीं। रुपये हो जायँ, पदार्थ हो जायँ तो कोई बाधा नहीं। न हो तो कोई बाधा नहीं। हृदयमें इनका महत्त्व देकर इनको बहुत बड़ी मान लेते हैं। ऐसे भगवान्‌का मूल्य घटा देते हैं, यह बाधा है खास।

यह जो बात समझानेके लिये कही थी कि हम चीजोंको ही

देखते हैं तो चीजें दो नम्बरमें दीखती हैं, प्रकाश पहले नम्बरमें है। चीजोंके अधीन वह प्रकाश नहीं है। प्रकाशके अधीन वे चीजें दीखती हैं। सबसे पहले प्रकाश और पीछे चीजें दीखती हैं, यह दिया था दृष्टान्त। तात्पर्य यह है कि किसी चीजका हमें ज्ञान होता है, हमें याद आती है तो पहले एक प्रकाशमें, एक ज्ञानमें याद आती है। हम पढ़ाई करते हैं, समझते हैं, वह भी किसी ज्ञानमें समझते हैं। वह भी ज्ञान है। हर एक काम आप करेंगे तो पहले उसका ज्ञान होगा। ज्ञान होनेसे उस विषयमें प्रवृत्ति होती है। वह जो ज्ञान है, वह परमात्माका स्वरूप है, वह वास्तविक ज्ञान है। सूर्यका, चन्द्रमाका, अग्निका, तारोंका, बिजलीका, जुगनूका जो ज्ञान है, यह सब भौतिक ज्ञान भौतिक प्रकाश है। इससे ऊँचा इन्द्रियोंका प्रकाश है। इन्द्रियोंके द्वारा हम चीजोंको जानते हैं, नेत्रद्वारा देखते हैं, त्वचासे स्पर्श करते हैं कानोंसे शब्द सुनते हैं, रसनासे रस लेते हैं, नासिकासे गन्ध लेते हैं, तो यह जो ज्ञान होता है न—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका ज्ञान। इस ज्ञानको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियोंको प्रकाशित करनेवाला मन है। मन अगर दूसरी जगह रहता है तो वह ठीक नहीं होता। जैसे, अभी मैं बोला, आपने सुना नहीं, मन चला गया दूसरी जगह ही। तो क्या कहा? पता नहीं। मन नहीं लगनेसे जय रामजीकी। इस वास्ते इनको प्रकाशित करता है मन। मनको प्रकाशित करती है बुद्धि। बुद्धिको प्रकाशित करता है स्वयं और स्वयंको प्रकाश मिलता है परमात्मासे। वह ज्ञान हर समय रहता है।

आपको नींद आती है तो भी परमात्मा वैसे-के-वैसे जागते हैं। आप जागते हैं तो भी परमात्मा वैसे-के-वैसे जागते हैं। आपको स्वप्न आता है तो उसमें भी परमात्मा वैसे-के-वैसे ही जागते हैं।

आपके मनमें विचार आते हैं, उन विचारोंको भगवान् जानते हैं। मनमें कुछ भी खटपट होती है, उसको भगवान् जानते हैं। भगवान् सब बातोंको जानते हैं। वह ज्ञान है, केवल शुद्ध ज्ञान। उस ज्ञानके अन्तर्गत अनन्त सृष्टि फैल रही है। स्थिति हो रही है और लीन हो रही है। वह प्रकाश है, ज्यों-का-त्यों निरन्तर है। उसीको सच्चिदानन्द कहते हैं। वह सत्य होनेसे सत् है। ज्ञान होनेसे चित् है। आनन्द-ही-आनन्द है। दुःखका लेश भी नहीं है वहाँ।

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥

(मानस १। ११६। ५)

लवलेश भी दुःख नहीं, सन्ताप नहीं, जलन नहीं। ऐसा आनन्द-स्वरूप है। वह सबसे पहले है और सबके खत्म होनेपर भी रहता है, सब सृष्टिके रहते हुए भी वह है, ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उसमें कोई घट-बढ़ नहीं होती।

वह ज्योतियोंका ज्योति है सबसे प्रथम भासता।
अद्वैत सनातन सर्व विश्व प्रकाशता॥

वह ज्योतियोंका ज्योति सबका कारण भगवान् है। इस तरफ लक्ष्य रखो आप।

हरेक काम करते हो तो आपका भी ज्ञान पहले होता है, पीछे वस्तुओंका ज्ञान होता है, तो परमात्माका ज्ञान पहले है, सबके रहते हुए है और सबके लीन होनेपर भी रहता है। सबके मिट जानेपर भी रहता है, बन जानेपर भी, बिगड़जानेपर भी, परिवर्तनपर भी वह प्रकाश है, ज्यों-का-त्यों रहता है। उस प्रकाशको प्राप्त करना ही जीवका काम है। इसका खास कर्तव्य है। उस प्रकाशमें स्थित हो जाय तो बस, निहाल हो गये, मनुष्य-जन्म सफल हो गया। यह इतनी बात भी आपके-हमारे सामने आ गयी कि सबका प्रकाश

करनेवाला, सबका आधार, सबका आश्रय, सबको सत्ता, स्फूर्ति देनेवाला, सबको शक्ति देनेवाला, सबकी रक्षा करनेवाला, सबकी सहायता करनेवाला, सबका भरण-पोषण करनेवाला परमात्मतत्त्व सब जगह, सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें है, ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। उसमें स्थिति हो जाय तो फिर कुछ भी करना, जानना, पाना, बाकी नहीं रहेगा।

****

परमात्म-प्राप्तिमें खास बाधा

अब प्रश्न है कि उसमें स्थिति नहीं होती। उसमें कारण क्या है? सज्जनो! बार-बार सुनना भी अच्छा है, बार-बार कहना भी अच्छा है, पर वास्तवमें उसमें स्थित होना बढ़िया है। उसे ठीक हृदयंगम करें, उसका आदर करें। उसको महत्त्व दें। गलती क्या हो रही है? अब इस बातको आपलोग विशेष ध्यानसे समझें। हम जानते हैं कि लड़का पैदा हो जाता है और मर जाता है, धन आता है और चला जाता है, वस्तु मिलती है और अलग हो जाती है। ये जितनी चीजें हैं इनका भरोसा मनमें कर रखा है, बस यह बड़ी भारी गलती है। मोटी गलती, सबसे बड़ी गलती, खास गलती। इन चीजोंको आधार मान रखा है, इतने रुपये हों तो मैं ठीक हो जाऊँ। रुपये चले जायँ तो मेरी क्या दशा होगी? इतना कुटुम्ब नहीं रहेगा तो मेरी क्या दशा होगी? यह अवस्था नहीं रहेगी तो मेरी क्या दशा होगी? बीमार हो जाऊँगा तो मेरी क्या दशा होगी? अरे भाई! ये सब तो जानेवाले ही हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंके अधीन क्या हो गया? यह तो सामने देखते-देखते उत्पन्न और नष्ट होते हैं न। आते हैं और जाते हैं कि नहीं! ये तो बदलते हैं न। इनके आने-जानेमें आप सुखी-दुःखी क्यों होते हैं? आ जायँ

तो इनका उपयोग करो, चले जायँ तो भी उनका उपयोग करो। हमारे चाहिये ही नहीं। मिल गयी है तो अच्छी तरहसे काममें लाओ। सेवा करो, उपकार करो, हित करो। चली जाय तो अच्छी बात। भगवान्‌की मर्जी। ये तो आने-जानेवाले ही हैं।

भगवान् सबसे पहले यह बात बताते हैं गीताजीमें कि भाई ! आने-जानेवाले हैं। **'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे'** शरीर-धारीके इस देहमें **'कौमारं यौवनं जरा'** कौमारावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था आती है। अब बालकसे जवान हो गया तो घरमें लोग रोते नहीं। क्या करें ? छोरा जवान हो गया। जवानसे बूढ़ा हो जाय तो रोते नहीं सब मिलकर कि क्या करें यह तो बूढ़ा हो गया। बीमार हो जाता है तो बीमारी कैसे दूर हो ? उद्योग करते हैं। पर बीमार क्यों हो गया, क्या करें ? पाँच, सात, दस मिलकर रोवें। क्यों रोते हो कि बीमार हो गया। यह तो होता है। रोनेसे क्या हो ? अपना काम उद्योग करो। इसकी बीमारी दूर कैसे हो ? इसको आराम कैसे मिले ? इसका दुःख दूर कैसे हो ? ऐसा उद्योग करना आपका काम है । उद्योग करनेपर यह ठीक हो जाय तो अच्छी बात, न हो तो हम क्या करें इसमें रोनेकी जरूरत नहीं। रोओगे तो इलाज नहीं होगा। सेवा नहीं कर सकोगे। व्याकुल हो जाता है, वह ठीक काम नहीं कर सकता। तो नुकसान ही होगा। ये तो आने-जानेवाले हैं।

प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहें

सज्जनो, माताओ, बहनो ! जरा आप ध्यान दो, थोड़ी कृपा करो। यहाँ सत्संगमें कोई पैसे नहीं मिलते। यहाँ कोई धन नहीं मिलता। माल नहीं मिलता, पर इतना बढ़िया माल मिलता है कि सदाके लिये सब निहाल हो जाओ। आज अभी इस बातसे ऐसा समझ लो, इस बातको मान लो, हृदयमें धारण कर लो कि भाई

संसारकी वस्तु, परिस्थिति, घटना बदलनेवाली है। यह तो बदलेगी ही। एक समान किसीकी अवस्था नहीं रही। भगवान् राम अवतार धारण करते हैं। उनका शरीर कर्मजन्य नहीं होता है। हमारी तरह जन्मने-मरनेवाले नहीं हैं। स्वतन्त्रतासे प्रकट होते हैं। उनके भी आप जरा अवस्था देखो। वे कहते हैं—

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिप चक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥

हमने मनसे भी विचार नहीं किया कि हम जंगलमें रहेंगे। वनवास हो गया, बताओ कितनी विचित्र बात? और चिन्तन नहीं किया, वह तो आ गया। जो विचार किया था, वह दूर चला गया। सुबह ही राजा बन जाऊँगा, उसकी जगह चौदह वर्षका वनवास हो गया। तो विचार कुछ और ही करता है, होता कुछ और ही है। इसमें क्या चिन्ता करें? ***'तू नर और विचार करे, तेरो विचार धर्‍यो ही रहेगो।'*** यह तो विचार धरा ही रहेगा भाई! इस वास्ते विचार करो, पर उसकी चिन्ता मत करो। काम करना है, विचार कर लिया, हो गया तो बड़ी अच्छी बात न हो तो बहुत ही बढ़िया बात। अब मनचाहा न हुआ तो दुःखी हो जाते हैं, अमुकसे मिलना है, मिलना नहीं हुआ तो दुःखी हो जाते हैं। अपने कोई काम नहीं हुआ तो दुःखी हो गये। दुःखी क्यों होते हो भाई? उद्योग करो, पुरुषार्थ करो, यह भी सिद्ध हो जाय तो बड़ी अच्छी बात न हो जाय तो अच्छी बात। यह गीताकी शिक्षा है। यह महान् धन है। बड़ी भारी पूँजी है। **'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥'** (गीता २।४८)। प्राणायाम करो, श्वास रोको, मन लग

जाय, समाधि लग जाय इसको योग कहते हैं लोग। पर गीता कहती है सिद्धि-असिद्धिमें सम रहो, यह योग है। कितनी बढ़िया बात। चलते-फिरते, काम-धन्धा करते, गृहस्थमें रहते हुए हानि-लाभमें दुःखी-सुखी नहीं होना। यह योग है, योग। प्राणायाम करके नाक पकड़कर करना इतना ऊँचा योग नहीं है। समाधि लगाना इतना ऊँचा नहीं है।

लोग कहते हैं मन नहीं लगता। मन लगना न लगना इतनी ऊँची चीज नहीं है। यह ऊँची चीज है कि सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना। सिद्धि भी टिकनेवाली नहीं और असिद्धि भी टिकनेवाली नहीं।

रज्जब रोवे कौन को हँसे सो कौन विचार।
गये सो आवनके नहीं रहे सो जावनहार॥

जो मर गये, उनके लिये रोएँ क्या? वे तो आनेवाले हैं नहीं। अब इनको लेकर हँसें तो क्या हँसें? सब जानेवाले हैं। क्या रोएँ और क्या हँसें? करो तो सेवा करो उत्साहपूर्वक, सबको सुख पहुँचाओ। ऊँचे-से-ऊँचा अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो। यह तो है काम करनेका। पर यह क्या धन्धा शुरू कर दिया—रोना-हँसना, राजी होना, नाराज होना। मुफ्तमें यूँ ही। राजी-नाराज न होकर प्रसन्न रहो। भगवान् जो विधान करे।

'जाहि विधि राखे राम ताही विधि रहिये।
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥'

भगवान्‌का नाम लो, प्रसन्न रहो। यह तो आता है और जाता है, रहता नहीं। बनता है, बिगड़ता है, यह तो ऐसा होता है। एक कहानी आयी है। वह कोई खास सिद्धान्तकी नहीं है, पर बात बहुत बढ़िया है।

चिन्ता मिटानेके विषयमें एक कहानी

एक राजकुँवर था, उसके साथ पाँच-सात-दस घुड़सवार घोड़ोंपर घूम रहे थे। बहुत-सी गुजरियाँ कोई छाछ, कोई दूध, कोई दही ऐसे लेकर बिक्री करनेको जाती थीं। तो याद आ गयी कि भगवान्‌ने ऐसे ही दही-दूध लूटा था तो अपने भी चलो। फिर उनको दाम दे देंगे, एक तमाशा कर लें। राजकुमार गये और लूट लिया, उनके मटके फोड़ दिये। बेचारी रोने लगीं। एक उनमेंसे थी, जिसका छाछका मटका फोड़ दिया था, छाछ बिखर गयी। वह चिन्ता ही नहीं करती, वह वैसे ही प्रसन्न है। छाछका मटका लिये जाती थी, मटका फूट गया, छाछ बिखर गयी तो भी वैसे ही राजी है। तो राजकुँवरने कहा—'तू रोती नहीं क्या बात है? तेरे चिन्ता क्यों नहीं हो रही है?' तो कहा—महाराज! मेरी बात लम्बी है। मैं इस छाछका सोच क्या करूँ? ***'महाराज कुमार भई गुजरी! अब छाछको सोच कहा करिये।'*** अब छाछका सोच क्या करूँ? क्या बात हुई? तो उसने अपनी कथा सुनायी। राजकुँवरने सब साथियोंसे कह दिया सुनो भाई! बात सुनो।

वह कहने लगी—अमुक-अमुक शहरके एक सेठकी मैं पत्नी थी और मेरे गोदमें एक बालक था। वे सेठ बाहर देशान्तरमें चले गये कमानेके लिये। वहाँके राजाकी बुद्धि खराब थी। मेरी अवस्था छोटी और रूप सुन्दर था। उसने मेरेपर खराब दृष्टि कर ली और कहा—'अमुक दिन तेरेको मिलना पड़ेगा, आना ही होगा, तुम कब आती हो जवाब दो?' तो मैंने कहा—'अभी ठहरो!' अपने पतिको याद किया, पत्र दिया कि जल्दी आओ मेरे आफत आ गयी, आप जल्दी आओ। वह सेठ बेचारा आ गया तो बीती बात कही और पूछा कि 'मैं क्या करूँ?' तो आपसमें सलाह की कि

कोई बात नहीं। तुम उसको समय दे दो। और राजाको कह दिया कि अमुक जगह शहरके बाहर आप आ जाओ, 'पर शर्त यह रहे कि मीलभर नजदीकमें कोई अन्य व्यक्ति न रहे।' राजाने स्वीकार कर लिया। दोनों पति-पत्नी घरसे निकल गये, कारण कि यहाँ टिक नहीं सकेंगे। तो रात्रिमें वहाँ तलवार लेकर गयी। जब राजा आया तो उसका टुकड़ा कर दिया और भाग गयी। राजासे कह रखा था कि रातभर कोई नहीं आना चाहिये, तो कोई नहीं आयेगा। भागनेके पहलेसे पतिको कह दिया था कि आप अमुक जगह टूटे-फूटे मकानमें रहो, जो वहाँ था। वहाँ रहा तो पतिको जहरीला साँप काट गया, जिससे वह मर गया। जब पतिके पास आयी तो उसे मरा पाया, फिर तो अकेली भागी कोई रक्षा करनेवाला नहीं था। पकड़ी गयी तो लोग टुकड़े-टुकड़े कर ही देंगे। बढ़िया गहने पहने हुए वहाँसे भागी।

आगे डाकू मिल गये। उन लोगोंने पकड़ लिया, सब गहने छीन लिये और वेश्याके घर ले जाकर बिक्री कर दिया। वेश्याने छोटी अवस्था देखकर खरीद ली। छोरा पीछे ही रह गया। अब वहाँ रहने लगी। अब उधर दूसरा राजा बैठा तो उसने मेरे छोरेको पालकर बड़ा किया। वह मेरा लड़का वहीं राज्यमें नौकरी करने लगा। बड़ा हो गया। इधर मैं वेश्या हो गयी। अब एक बार वह छोरा भी मेरे यहाँ आया। रातभर रहा मेरे बहम हो गया, कौन है यह ? सुबह होते ही पूछा तो उसने नाम-ठाम बताया, तो पता लगा अरे ! यह तो मेरा ही लड़का है। बड़ा दुःख हुआ, क्या तेरी दशा थी ? बड़ी ग्लानि, बड़ा भारी दुःख हुआ। पण्डितोंसे पूछा—'ऐसा किसीसे पाप घट जाय, तो क्या करे ? तो कहा—'चिता बनाकर आगमें बैठ जाय।' विचार किया कि प्रायश्चित्त करना है। क्या मैं

थी और क्या दशा हो गयी ? ऐसा विचार आया कि चितामें बैठ जाऊँगी तो पीछे कौन गङ्गाजीमें डालेगा ? नदीके किनारे काठ मँगाकर इकट्ठा कर बैठ गयी और आग लगा दी। वह काठ खूब जलने लगा। इतनेमें पीछेसे आयी बाढ़ तो उसमें बह गयी। बहते-बहते काठपर बैठी तो नौका हो गयी और आग बुझ गयी। अगाड़ी किसी गाँवके किनारे काठ ठहरा तो नीचे उतरी। उधर गाँवमें गूजर बसते थे। अब वहाँ उनकी चीज बिक्री करके काम चलाती हूँ। अब वह छाछ लेकर आयी। आज ढुल गयी। अब क्या चिन्ता करूँ ?

नृप मार चली अपने पिव पे, पिव भुजंग डस्यो जो गयो मर है।
मग चोर मिले उन लूट लयी, पुनि बेच दयी गणिका घर है॥
सुत सेज रमी, चिता पे चढ़ी, जल खूब बह्यो सरिता तरि है।
महाराज कुमार अब भयी गुजरी, अब छाछको सोच कहा करि है?

अब छाछकी चिन्ता क्या करूँ ? क्या-क्या घटना घटी है, मटकी फूट गयी, छाछ ढुल गयी क्या हो गया इसमें ? इस वास्ते क्या चिन्ता करूँ ? तो ऐसी भाई कितने जन्मोंमें क्या दशा हुई है ? थोड़े-से नुकसानमें रोने लगा जाय। अब छाछको सोच कहा करिये ? क्या इसकी चिन्ता करें। ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं, यह तो बीतता रहता है।

हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजंगदष्टं
देशान्तरेऽपि विधिवशाद् गणिका च याता।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्॥

अवस्थाएँ हुई हैं, कितने जन्म बीत गये हैं। उसमें यह मर गया, बेटा मर गया, पति मर गया, पत्नी मर गयी। कई बार मरा है, क्या हो गया तेरे ? तूँ यहाँका है नहीं, ये तेरे हैं नहीं। तूँ बहता आया है, साथमें मिल गये हैं। नदीमें काठ बहते हैं, बहते-बहते पानीका फटकारा लगे तो काठ इकट्ठे हो जायँ। दूसरे फटकारेमें अलग-अलग हो जायँ तो अब तो मिलें ही नहीं। अब क्या रोएँ, क्या करें ? यह तो ऐसा आता है। हवा चलती है तो फूस कहीं-का-कहीं आकर इकट्ठा हो जाता है। दूसरे झोंकेमें अलग हो जाय, अब क्या नयी बात हो गयी ? यह बात आने-जानेवाली है। अगर इस बातको मनुष्य याद रखे कि इनके लिये क्या चिन्ता करें, क्या फिकर करें ? अपना काम है—सदा नित्य-निरन्तर रहनेवाला आनन्द है उसे प्राप्त करना। पर संसारमें तो क्या है ? धन हो गया तो क्या, धन चला गया तो क्या ? उसके लिये झूठ-कपट करें, बेईमानी करें, धोखेबाजी करें, विश्वासघात करें, महान् अन्याय करें। वह अन्याय तो पल्ले बँधेगा। धन यहीं रहेगा। धन साथमें रहेगा नहीं। साथमें रहना तो दूर रहा, उम्रभरमें जितना इकट्ठा किया है, खर्च कर सकोगे नहीं। छोड़कर मरोगे और पाप साथ ले जाओगे। यह जरा सोचो, होश आना चाहिये। कमाओ, रखो। कोई खावे अच्छी बात है। अपने तो बस—

खावो खरचो भल पण खाटो सुकृत हुवे तो हाथे।
दिया बिना न जातो दीठो सोनो रूपो साथे॥

इस वास्ते उपकार करो, हित करो, शरीरसे परिश्रम करो, सेवा कर दो। शास्त्रकी आज्ञा, धर्मकी मर्यादा, अपने कुलकी मर्यादामें रहते हुए सबकी सेवा कर दो। सुख पहुँचा दो। मौजसे रहो, आनन्दसे रहो, क्यों दुःख पाओ ? क्यों दुःखी होओ ? धन हो गया

राजी हो जाते हो, क्या हो गया तुम्हारे ? धन हो गया तो हो गया। धन चला गया तो चला गया। आदर हो गया, हो गया। निरादर हो गया, हो गया। यह तो होता रहता है **'आगमापायिनोऽनित्याः'** ये तो आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं। इसमें क्या सुखी होवें, क्या दुःखी होवें ? **'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्'**। (गीता ५। २०)। जो प्रिय लगे उसके प्राप्तमें हर्षित न होवे, अप्रिय हो गया तो अच्छी बात। वह भी चला जायेगा। न सुख स्थिर रहता है न दुःख। मनमें विचार करें पर हो जाय कुछ और ही, तो होना है भगवान्‌के अधीन। इस वास्ते होनेमें तो प्रसन्न रहें; क्योंकि यह हमारे हाथकी बात नहीं है।

करनेमें अच्छे-से-अच्छा, उत्तम-से-उत्तम काम करना है। नीचा काम नहीं करना है। करनेमें हरदम सावधान रहें और होनेमें प्रसन्न रहें। ये चीजें सत्संगसे मिलती हैं। अब इनको ले लो आप, तो निहाल हो जाओ। मस्त रहो संसारमें, सुख-दुःख तो आते रहेंगे भाई ! नफा और नुकसान तो होते रहेंगे। इनको कोई मिटा नहीं सकता, अपने मस्त रह सकते हैं। हो जाय तो बड़े आनन्दकी बात, न हो तो आनन्दकी बात। अपने आनन्दमें फर्क क्यों पड़े ? इन आने-जानेवाली चीजोंको लेकर हम सुखी-दुःखी क्यों होवें ? मुफ्तमें ही। कोई उड़ता तीर जा रहा हो, उसके सामने जावें और कहें लग गयी। तो क्यों गया सामने ? फिर कहें लग गयी। यह प्रारब्धका दुःख नहीं है। प्रारब्धका है घटना घट जाना, परिस्थिति बन जाना। यह तो है—प्रारब्धका फल और दुःखी हो जाना यह है—मूर्खताका फल।

सुख-दुःख प्रारब्धका फल नहीं है। सुखी-दुःखी होते हैं भीतर। यह प्रारब्धका फल नहीं है। सुखदायी परिस्थिति आ जाय,

दुःखदायी परिस्थिति आ जाय—यह प्रारब्धका फल है। वह निकल जायगी। फल भोगनेके बाद टिकेगी नहीं। सुखी-दुःखी होकर मुफ्तमें ही क्यों दुःख पावें ? होनेपर क्या होता है ? प्रारब्ध-अनुसार परिस्थिति तो आती है। क्या बूढ़ा नहीं होगा ? क्या ज्ञान होनेपर बीमार नहीं होगा ? वह गृहस्थ होता है तो उसके बाल-बच्चे नहीं मरेंगे क्या ? ज्ञान होनेपर धन आयेगा तो जायेगा नहीं क्या ? यह तो ऐसे ही होगा। ज्ञान होनेपर वह हर हालतमें मस्त रहेगा। ***'पूरे हैं मर्द वे ही, जो हर हालमें खुश हैं।'*** क्यों दुःख पावें मुफ्तमें ? परिस्थिति तो प्रारब्धजन्य है, आ गयी, आ गयी। निकल जायेगी, हम बीचमें ही क्यों दुःख खड़ा कर लें ? वह हमारे अधीन है। हम क्यों दुःख पावें ? हम तो मौजमें रहेंगे। धन रहे तो बड़ी अच्छी बात, उपकार करेंगे। नहीं तो मौजकी बात, अपने कुछ करना ही नहीं पड़ेगा। ज्यादा धन हो तो ज्यादा जिम्मेवारी, ज्यादा विद्या हो तो ज्यादा जिम्मेवारी, ऊँचा वर्ण, ऊँचा आश्रम हो तो ज्यादा जिम्मेवारी और आश्रम, वर्ण नीचा हो तो जिम्मेवारी कम। मौज हो गयी। हर्ज क्या हुआ ? सीधी-सादी बात है।

करनेमें सावधान होनेमें प्रसन्न

छाछ ढुल गयी, बड़ा गजब हो गया। क्या हो गया ? अपने घरका इसमें क्या गया ? मैं किस घरकी थी, क्या थी क्या-से-क्या हो गयी ? अब छाछ ढुल गयी तो ढुल गयी। यह तो होता है ऐसा। अब इसपर कौन विचार करे ? इस वास्ते वह परमात्मा रहता है, यह सब-का-सब ज्ञानके अन्तर्गत है कि नहीं। सुख होता है, दुःख होता है, दोनों जाननेमें आते हैं। जाननेमें क्या फर्क पड़ा ? थोड़ा-सा ध्यान दें। समाचार मिला कि अमुक जगह बेटा मर गया, अमुक जगह पोता पैदा हो गया। बातें दोनों बड़ी विरुद्ध हैं, बेटेका मरना और पोतेका

जन्म होना। कितनी विरुद्ध ? एक दुःखकी बात और दूसरी आनन्दकी बात। पर दोनोंका जो ज्ञान हुआ। 'जानना' उसमें क्या फर्क पड़ा ? दोनों बातें जान लीं, ज्ञान हो गया। ज्ञानमें कोई फर्क नहीं। तो ज्ञान तो है ज्यों-का-त्यों रहता है। सुख हुआ और दुःख हुआ तो उसमें राजी और नाराज होना हमारा काम नहीं है। हमें तो भगवान्‌की लीला देखकर प्रसन्न रहना है, मस्त रहना है।

रामायणमें बालकाण्ड आता है, अयोध्याकी बात भी आती है। जनकपुरीकी बात भी आती है और लंकापुरी व वनवासकी बात भी आती है। एक ही रामायणमें है। क्या रामायण अलग है ? एक तो जनकपुरीमें पधारते हैं, एक लंकामें पधारते हैं। है कि नहीं फर्क ? पर रामायण तो एक ही है न। ऐसे ही एक ही कथा है, उसमें आता है। कभी जनकपुरी आ गयी, कभी लंकापुरी आ गयी यह आता है। रामजीने भी करके बता दिया कि 'बेटा ! तुम चिन्ता मत करो।' माता सीताने बता दिया 'बेटी ! तुम चिन्ता मत करो।' कैसे महाराज जनकके यहाँपर पली। प्यारी पुत्रीपर उनका कितना स्नेह ? लक्ष्मीनिधि उनके बड़े भाई थे, उनका कितना स्नेह था। माँ-बापका भी बहुत स्नेह था। सिद्धि महारानी थी भौजाई, उसका बड़ा ही स्नेह था। परिवारके सभी लोगोंका स्नेह था। जनकपुरी नगरीके लोग तो—महाराज ! 'हमारी राजकुँवरी है। हमारे महाराजकी प्यारी पुत्री है !' सबका बड़ा आदर था और वहाँसे अयोध्या चले गये। शुक (तोता) मैना भी रोते हैं—कहाँ है जानकी ? लोगोंके हृदयमें चोट लगे, आँसू आ जाय पक्षियोंकी बात सुन करके ! इतना स्नेह ! वहाँ अयोध्या गयी तो किस ढंगसे पाला कौशल्याजीने ? किस रीतिसे प्यार किया ? ***दीप बाति नहिं टारन कहऊँ ।।, सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ।।*** (मानस २। ५९)। कड़ी जगह सीताजीने पैर नहीं रखा। जहाँ सीताजीके

घूमनेका स्थल था, वहाँ मखमलके गद्दे बिछाये रहते थे। वहाँ घूमती थीं सीताजी।

आज जंगलमें जा रही है। गर्म लू चले जोरदार, कभी ठण्डी चले, कभी वर्षा हो जाय, खानेका ठिकाना नहीं, रहनेका ठिकाना नहीं। ऐसी अवस्थामें सब कहते हैं तुम यहीं घरपर रह जाओ। सासने, ससुरने, पतिने, सबने कहा—मन्त्रियोंने कहा—वनवास साथमें मन्त्री गया। उसने कहा—'बेटी ! तुम पीछे चलो।' राम ! महाराज दशरथने कहा है कि 'आप वापस पधारो, आप नहीं तो कम-से-कम इस जनकराजदुलारीको तो पीछे ले ही आओ। इसका सुकोमल शरीर है, कैसे वनवासका कष्ट सहेगी ? इसको ले आओ।' दशरथजीने कहा कि 'मैं जनकराज-पुत्रीको भी देखता रहूँगा तो मेरे प्राण बच जायँगे। हमारे रामललाका शरीर है यह। उसका ही आधा अंग है। मेरे प्राण बच सकते हैं।' कितना महाराज, श्वशुरका उपकार-सेवा हो सकती है। वनवास आपको तो है नहीं। परंतु नहीं, मैं तो महाराजकी सेवामें रहूँगी। कष्ट सह लूँगी, पर महाराजकी सेवामें रहूँगी। बताओ ! अपने कर्तव्यका पालन करना ठीक तरहसे दुःखी-सुखी क्या होना ? क्या राजी-नाराज होना है ? होनी रामजीमें भी हो गयी तो हमारे हो जाय, इसमें क्या बड़ी बात हो गयी ? बड़े-बड़े अवतारोंमें, महापुरुषोंमें, जीवन्मुक्त सन्तोंमें सुख भी आया और दुःख भी आया। न सुख ठहरे, न दुःख ठहरे। यह संयोग-वियोग होता रहता है, अब इसमें क्या सुखी-दुःखी होवे ?

'समत्वं योग उच्यते' गीता इसको योग कहती है। ऐसे संयोग-वियोगमें अपने तो एक ही बात है—एक रस रहे। सूर्य उदय होता है तो भी लाल। अस्त होता है तो भी लाल। यह नहीं कि उदय होनेमें खुशी ज्यादा आ जाय और दूसरा रंग हो जाय, अस्त होनेमें और दूसरा

रंग हो जाय। वह तो एक ही है। ऐसे कितनी ही उन्नति हो जाय, कितना ही आदर हो जाय, चाहे कितना ही निरादर हो जाय। यह तो आता-जाता है। '**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व।**', '**यं हि न व्यथयन्त्येते**' जिनको व्यथा नहीं पहुँचाते हैं। न सुख आकर हलचल करता है और न दुःख आकर हलचल करता है। हृदयमें जो हलचल है—यह व्यथा है व्यथा, यह पीड़ा है पीड़ा, यह आफत है आफत। सुख लेकर खुशी होते हैं—'यह भी आफत है और महाराज, विपरीत अवस्था लेकर दुःखी होते हैं, यह भी आफत है। इस वास्ते पाप मत करो, अन्याय मत करो, न्यायपूर्वक सब काम करो। अब सुख आ जाय, दुःख आ जाय।' अन्याय करनेपर सुखी हो ही जाओगे, यह बिलकुल गलत बात है।

****

धनके लिये अन्याय मत करो

'पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥' (मानस २ । २५१ । ५) । लज्जा निवारण करनेके लिये तो कपड़ा नहीं, पेट भरनेके लिये अन्न नहीं और पाप रात-दिन करते हैं। पाप करना-न-करना यह हाथकी बात है, पर सामग्री मिलना-न-मिलना हाथकी बात नहीं है। पाप नहीं करेंगे। अन्याय नहीं करेंगे। न्याययुक्त धर्मका आचरण करेंगे—इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है। ऐसा कभी मत समझो कि हमारे पाप लिखा है, इस वास्ते पाप करते हैं। बड़ी भारी गलती है। अगर यह लिखा है, वैसा ही होता है तो हमें जो शिक्षा दी जाती है कि ऐसा करो और ऐसा मत करो—इसका क्या अर्थ होगा ? क्योंकि जिसके प्रारब्धमें लिखा है पाप करना, वह तो पाप करेगा ही और जिसके प्रारब्धमें पुण्य लिखा है, वह पुण्य करेगा ही। तो पाप मत करो और पुण्य किया करो, इसका क्या मतलब हुआ ? शास्त्र निरर्थक, शिक्षा निरर्थक, विधि-निषेध निरर्थक। इस

वास्ते अपने करनेमें सब स्वतन्त्र हैं। होनेमें परतन्त्र हैं। अब क्या होगा, कब होगा, कैसा होगा ? इसका पता नहीं; परंतु जो करते हैं, इसमें पाप, अन्याय, झूठ, कपट, बेईमानी नहीं करेंगे। ईमानदारीको सुरक्षित रखो। आपकी रक्षा करेगी ईमानदारी।

नरकोंमें क्यों जाते हो भाई ? मुफ्तमें ही। झूठ-कपटसे थोड़ा धन बचा लिया तो क्या कर लोगे ? धन तो यहीं पड़ा रहेगा, मर जाओगे। फूँक निकल जायेगी। पर असत्य बोला हुआ आपके साथ जायेगा। धन एक कौड़ी जायेगी नहीं। केश-जितना भी पाप पीछे रहेगा नहीं। तो मनुष्यको अपना भला-बुरा सोचना चाहिये, मैं क्या कर रहा हूँ ? यह मनुष्य-शरीर नरकोंमें जानेके लिये मिला है क्या ? इसमें आप स्वतन्त्र हैं, इसमें आप पराधीन नहीं हैं। पर इसका होश नहीं है, मनुष्यको तो पता नहीं है। यह बिना पता लगे आदमी गलती करता है। एक सज्जन मिले थे, उनकी बात मैंने सुनी थी। बूढ़े हो गये थे, वे रोने लगे। बात क्या हुई ? उन्होंने कहा—मैंने माँकी सेवा जैसी की जाय, वैसी नहीं की। पीछे मेरेको पता लगा कि माँके समान संसारमें उपकार करनेवाला कोई नहीं है। **'मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणम्'** इस शरीरको पुष्ट करनेवाला माँके समान दूसरा कोई नहीं है। जन्म दिया है, पालन किया है। खाना-पीना-चलना भी सिखाया है जिसने। ऐसी माँकी सेवा करनी चाहिये। परंतु पहले पता नहीं था, पीछे पता लगा, माँका शरीर शान्त हो गया। मैंने माँकी सेवा नहीं की। तो जब पता लगेगा न, तब आपके पश्चात्ताप होगा। तो पहलेसे बताते हैं कि माता-पिता, बड़े पूज्य, आचार्य हैं, उनकी सेवा करो, उनको सुख पहुँचाओ। बूढ़े हैं, बड़े हैं, चले जायँगे फिर क्या करोगे। सास हैं, ससुर हैं, ये आपके घरोंमें तीर्थ हैं। साक्षात्—इन तीर्थोंका सेवन करो।

सती सुकलाकी कथा

एक कृकल नामके वैश्य थे, पद्मपुराणमें कथा आती है। उसके सुन्दर स्त्री थी, कृकल वैश्य भी धर्मात्मा पुरुष था। कृकलकी पत्नी सुकला भी बड़ी सुन्दर, सदाचारिणी, पतिव्रता स्त्रियोंमें शिरोमणि थी। गाँवके लोग तीर्थयात्रामें जा रहे थे तो यह मनमें विचार करने लगा कि हम भी तीर्थयात्रामें जायेंगे। अपनी सती-साध्वी स्त्री सुकला थी, उसके सामने विचार किया तो उसने कहा—'आप तीर्थोंमें जाओ तो मैं भी साथमें चलूँगी।' वह सुन्दर तो थी ही, शरीर भी बड़ा सुकुमार था और तीर्थयात्रा आजकलकी तरह नहीं थी, जो सैर-सपाटा हो गया है। पैदल जाना पड़ता, वर्षोंतक घूमना पड़ता था। ज्यादा कपड़ा नहीं रखना, ज्यादा सामान नहीं रखना। तीर्थोंके कष्टोंको सहना है। भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी सहना है। लोगोंमें कहावत है—'कैसे थक गया, तीर्थोंका भक्त होवे ज्यों।' तीर्थोंमें जाता है तो थक जाता है। ऐसी दशा थी तो कृकलने देखा, यह निभ नहीं सकेगी। अभी तो कहती है साथ चलूँगी, पर मार्गमें बड़ा कष्ट है। यह सह सकेगी नहीं। इसका शरीर बहुत कोमल है, बहुत अमीर है। इस वास्ते उसे सोती हुई छोड़कर रात्रिमें अकेले ही चल दिये। सुबह इधर-उधर पता लगा कि वे तो तीर्थयात्रामें गये। बड़ी दुःखी हुई, क्या करे, नहीं ले गये। वहीं रहने लगी।

सुकला बहुत ही सुन्दर थी। देवराज इन्द्रका उसपर मन चला, जिनके अनेक अप्सराएँ हैं। उसने रतिको अपनी दूती बनाकर भेजा जो कामदेवकी अत्यन्त सुन्दरी स्त्री है। वह उसके पास आकर बातें करने लगी। मित्रता कर ली, मित्रतामें ही इन्द्रकी कुवासनाकी बात छेड़ी तो वह तेज हो गयी। एक बार बगीचेमें घूमते हुए बता दिया कि इन्द्र सामने आया है और तेरेको चाहता है, तो जोरसे बोली—'भस्म कर

दूँगी ! एक जबान कहूँ जिसमें खतम हो जाओगे !' डर गया वह भी। वे सब चले गये। वह अपना ठीक धर्मका पालन करती हुई रही।

विधि आती है कि तीर्थोंमें श्राद्ध जरूर करना चाहिये, तिथि आवे, चाहे न आवे। अच्छा ब्राह्मण मिल जाय और अच्छा तीर्थ मिल जाय, वहाँ पिण्डदान करो और ठण्डी नदी '**नदीषु बहुतोयासु**।' नदी जिसमें बहुत जल भरा हुआ हो और '**शीतलाषु विशेषतः**' उसमें पूर्वजोंको पानी जरूर देना चाहिये। वहाँ जल दान करना चाहिये। तो कृकल तीर्थोंमें बडेरोंको खूब अच्छी तरहसे पिण्ड पानी दिया, श्राद्ध किया। दान-पुण्य करके ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट किया। वह जब लौटकर आने लगा तो सामने बहुत बड़े शरीरवाला एक पुरुष मिला। वह एक-एक हाथमें तीन-तीन, चार-चार आदमियोंको पकड़े हुए था। वे चीं-चीं कर रहे थे। उससे कृकलने पूछा—'तुम कौन हो ?' मोटे पुरुषने कहा—'मैं साक्षात् धर्म हूँ।' कृकलने पूछा—'ये तुम्हारे हाथमें कौन हैं ?' उसने कहा—'ये तेरे माँ-बाप और दादा-दादी हैं। बिना पत्नीके तुमने पिण्ड, पानी, श्राद्ध किया और ले लिया इन्होंने। इस वास्ते ये अपराधी हैं। इस वास्ते इनको दण्ड दूँगा।' कृकल बड़ा घबराया। घरपर आनेपर उसकी स्त्री सुकलाने बड़ा उत्सव मनाया। आज हमारे तो सूर्योदय हुआ है। जो रात थी, वह बीत गयी, खुशी मनायी।

कृकलने कहा—'अपने श्राद्ध तर्पण करो, पहले बडेरोंको राजी करो, बडेरे किस तरहसे सुखी हो जायँ ? तो पत्नीके सहित विधि-विधानसे ब्राह्मणोंको पूछकर अच्छी तरहसे श्राद्ध-तर्पण किया। श्राद्ध-तर्पणमें देवता प्रकट हो गये। उन्होंने कहा—'तू पहले अकेला तीर्थयात्रामें गया। वहाँ तूने उनको पिण्ड दिया। इस वास्ते दोष लगा। अब तेरे पितरोंको शान्ति मिलेगी; क्योंकि तेरी स्त्री पतिव्रता है। वह

बेचारी पीछे रोती रह गयी। उसे साथ नहीं ले गया। तूने बड़ा अपराध किया।' वहाँ वर्णन आया है—**'पत्नीतीर्थ'**—जो पतिव्रता स्त्री होती है, वह तीर्थ होती है। माता-पिता तीर्थ, भाई तीर्थ, भौजाई तीर्थ और पतिव्रता स्त्री भी तीर्थ होती है। विदेशोंमें जैसे ठेकेदारी होती है, कांट्रैक्ट होते हैं, ऐसे हमारे यहाँ विवाह नहीं है। यहाँ विवाह पुण्यकारी काम है। बड़ा निर्मल काम है। स्त्रीके लिये कहा गया है कि पतिको ईश्वर समझे। पतिके लिये ऐसा नहीं कहा है कि पत्नीका तिरस्कार करो, अपमान करो। बड़ा भारी पाप लगता है। जो अपनी स्त्रीका अपमान करता है, तिरस्कार करता है, त्याग करता है, दुःख देता है, हाथ उठाता है तो वह बड़ा खराब काम करता है। बड़ा पाप करता है। यह आपका आधा शरीर है, अर्धाङ्गिनी है। उससे सलाह पूछो, दोनोंकी सलाहसे काम करो। ऐसा विवाहके समय वचन देते हैं एक-एकको। इस तरहसे करो। पर तूने ऐसा नहीं किया। पत्नीकी कृपासे ही तुझे माफ हुआ है, नहीं तो माफ नहीं होता। ऐसे उसने श्राद्ध-तर्पण आदि किया, देवताओंको, बडेरोंको राजी किया।

संसारमें रहनेका तरीका

पत्नी भी तीर्थ है सज्जनो ! तीर्थ है तीर्थ। घरमें माता-पिता हैं, बड़े-बूढ़े हैं, वे तीर्थ हैं। उनका निरादर करते हो, तिरस्कार करते हो। उनका बड़ा भारी अपमान करते हो। तो ऐसा तिरस्कार करनेवालेका भगवान् भी विश्वास नहीं करते। जो माँ-बापका तिरस्कार करता है, जो स्त्री पतिका तिरस्कार करती है, जो पुरुष पत्नीका तिरस्कार करता है, जो कुटुम्बका तिरस्कार करता है; अपमान करता है, दुःख देता है। तो भगवान् उसकी भक्तिका विश्वास नहीं करते। सज्जनो ! भगवान्‌की भक्ति भी करो और यहाँ जो बड़े हैं, पूजनीय हैं, आदरणीय हैं उनका आदर-सत्कार करो। अच्छा बर्ताव करो। फिर कब करोगे ? बताओ।

यह मनुष्य-शरीर हाथसे निकल जायेगा तब क्या करोगे ? प्राणोंके रहते-रहते अच्छा आचरण करके सबकी सेवा करो। दुनियामें भलाई होगी महाराज ! परलोकमें कल्याण होगा। भगवान् राजी हो जायँगे। सन्त, शास्त्र, महात्मा खुश हो जायँगे, प्रसन्न हो जायँगे। जैसे, बालककी उन्नति देखकर माँ-बाप खुश होते हैं, ऐसे ऋषि, मुनि, महापुरुष भी आपका सदाचार, सद्गुण देखकर खुशी हो जायँगे। प्रसन्न होंगे, राजी हो जायँगे। ये बड़े अच्छे लड़के-लड़की हैं, जो धर्मका पालन करते हैं। ऋषि-मुनियोंकी, भगवान्‌की बड़ी भारी सेवा हो जायगी।

'आग्या सम न सुसाहिब सेवा' उनकी आज्ञा पालन करना बड़ी भारी सेवा है। इस वास्ते **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** (गीता १८।४५)। अपने-अपने कर्तव्य करते हुए मनुष्य संसिद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस वास्ते बड़े उत्साहके साथ, बड़ी लगनके साथ सेवा करो। और पहले कोई गलती हो गयी है उसके लिये उनके चरणोंमें गिरकर माफी माँग लो। बड़े पुरुष माफी देनेको तैयार हैं। माँ-बाप माफी दे देते हैं। पैरों पड़ जाओ तो माँ माफ कर देती है। माँको तो माफ करनेकी मनमें ही आती है। वह अपराध मानती ही नहीं। गोदीमें टट्टी फिर दे, पेशाब कर दे, उसको भी साफ कर देती है।

एक पण्डितजी महाराज कहते थे—विवाह करानेके लिये गये। तो वहाँ बहनें बड़ा सुन्दर-सुन्दर शृंगार करके आयीं। तो एक बहनकी गोदीमें छोटा बालक था। वह बढ़िया रेशमी जरीदार साड़ी पहने हुए थी। तो बच्चा टट्टी फिर गया तो पासमें बैठी स्त्री बोली—'छोरा टट्टी फिर गया है।' तो वह छोरेकी माँ बोल पड़ी—'चुप रह जा, हल्ला करेगी तो छोरेकी टट्टी रुक जायेगी, बीमार हो जायेगा।' पण्डितजी

मदनमोहनजीकी कही हुई बातसे, जो काशीमें अच्छे विद्वान् थे। बड़े त्यागी थे, उन्होंने यह बात सुनायी। तो देखा कि माँ कितना सहती है। दूसरी स्त्री चेता रही है कि ऐसी बढ़िया साड़ी खराब हो रही है। तो कहती है, हल्ला मत कर छोरेकी टट्टी न रुक जाय कहीं। अपने कपड़े खराब हो भले ही। इसके समान कौन है संसारमें सेवा करनेवाला ?

ये भाई-बहन बड़े-बड़े चतुर बने हैं। हम भी बातें बनाते हैं तो हम सबकी दशा क्या थी ? वही दशा थी। इस माँने पालन किया। माँकी कृपासे आप और हम बैठे-बैठे राजी हो रहे हैं। दशा क्या थी ? टट्टी-पेशाब कर दिया और उसीमें लकीरें निकालते थे बैठे-बैठे। माँ कहती क्या कर रहा है ? तो समझते ही नहीं थे। पता ही नहीं था। टट्टी-पेशाबका ज्ञान ही नहीं था कि यह अशुद्ध है, अपवित्र है कि क्या है ? ऐसा ज्ञान था क्या ? वही मैलेसे भरा हाथ यूँ सामने कर दिया। माँ कहती—'अरे क्या करता है ?' माँ कहती तो समझते कि क्या हो गया ? होश नहीं था। यही दशा थी कि नहीं। वह खिलाती तो मुँहसे गिरा देते थे। चाहे जहाँ लोट लेते, चाहे जहाँ टट्टी कर देते, चाहे जहाँ पेशाब कर देते थे। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान भी माँने दिया और नीचे-से-नीचा काम टट्टी-पेशाब भी माँने उठाया। धोबीका काम किया, दर्जीका काम किया, मेहतरका काम किया, गुरुका काम किया। कौन-सा ऐसा बड़े-से-बड़ा काम, छोटे-से-छोटा काम, जो माँने न किया हो। उस माँका तिरस्कार करते हो, अपमान करते हो। बड़े भारी पापकी बात है। इस वास्ते भाई ! माँकी सेवा करो, घरमें ही तीर्थ है।

जिसको संसारमें रहना आता है, वह मुक्ति कर लेगा। संसारमें रहना नहीं आता है तो बड़े त्यागी, महात्माजी बन जाओ तो भी कल्याण थोड़े ही हो जायेगा। क्योंकि संसारमें ही रहना नहीं आता तो मुक्ति कैसे हो जायगी ? जो तुम्हारे सामने परिस्थिति भेजी है, उसका

भी उपयोग तुम ठीक नहीं कर सकते, तो इससे कल्याण कैसे हो जायगा ? जो भगवान्‌ने अवसर दिया है, मौका दिया है, उसका अच्छी तरहसे उपयोग करो। ये बातें सत्संगके द्वारा सीखनी हैं और कोरी याद ही नहीं करनी हैं, काममें लाना है। आचरण अपना शुद्ध, निर्मल बनाना है। व्यवहार अपना सबके साथ अच्छे-से-अच्छा, ऊँचे-से-ऊँचा करना है फिर देखो। खुदको शान्ति मिलेगी, आनन्द मिलेगा, प्रसन्नता होगी। पहले माँ-बापका खुद तो आदर नहीं करता, फिर चाहे कि छोरा-छोरी हमारा आदर करे। तो क्यों भाई ? तुमने रीति क्या निकाली है ? अब पीछे दुःख पाते हैं। 'छोरे कहना नहीं मानते', तो 'तैने कैसा कहना माना है ?' 'म्हारे बीनणी कह्योको मानेनी।' तो थे कितोक मान्यो कह्यो। आप तो 'करत कुसंग चाहत कुसल।' आप अच्छा करो, वह करे न करे। कोई हर्ज नहीं। आप अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो, वो न करे तो समझावो प्यारसे। बुरा मानो मत। बर्ताव अपना अच्छे-से-अच्छा करो। लड़का-लड़की नहीं मानें, बहुएँ नहीं मानें तो कोई हर्ज नहीं। बड़ी अच्छी बात। लड़का-लड़की-बहुएँ कहना मानें, उसमें तो है खतरा। मोह हो जायगा, फँस जाओगे। वे कहना नहीं मानें, उसमें आपके बड़ा लाभ है। उसके बड़ा नुकसान है।

तेरे भावे जो करे भलो बुरो संसार।
नारायण तूँ बैठके अपनो भवन बुहार॥

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——★——

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—४

मनुष्यको ऐसा स्वभाव बनाना चाहिये, जिससे अपना कल्याण हो। जीवमात्रकी इच्छा होती है कि हमारी बात रहे, लोग हमारी बात मानें—ऐसी एक आदत रहती है, उसीसे ही जन्म-मरण होता है। हमारे कुछ स्वभाव ऐसे हैं कि हम सुनावें तो दूसरा कहे जैसा सुनावें और जो कहे, वो काम करें। अपनी बात नहीं रखना ऐसा स्वभाव कुछ बनाया है। इस वास्ते कोई पूछ ले तो ठीक लगता है। हमारे सहारा लगता है कि ठीक है भाई ! यों ही कहेंगे।

असली स्वतन्त्रता

यह जो गीतामें कहा है न, कामनाके त्यागकी बात, तो कामना क्या है ? इस विषयमें मैंने पढ़ा भी, सोचा भी और प्रश्नोत्तर भी किये हैं। इस बातको समझनेके लिये प्रयत्न किया है। तो एक जगह हमें बहुत विलक्षण बात मिली। कामना नाम किसका है ? 'मेरे मनकी बात हो जाय' बस, यही कामना है। मेरे कहनेके अनुसार चले, मेरे मनकी बात हो जाय। भगवान् कर दें तो वे ठीक, सन्त-महात्मा कर दें तो वे ठीक, लोग कर दें तो वे ठीक। हमारे मनकी बात करें—यही कामना है। इसका त्याग कर दें तो आदमीको शान्ति मिलती है, मुक्ति मिलती है, कल्याण होता है, बड़ा लाभ होता है। मनुष्य समझता है कि मेरा हुकुम चले तो मैं स्वतन्त्र हुआ और मैं दूसरोंकी बात करता हूँ, सुनता हूँ तो परतन्त्र हुआ। यह बिलकुल गलत बात है। स्वतन्त्रता-परतन्त्रता क्या है ?

परतन्त्रतामें स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रतामें परतन्त्रता, परतन्त्रतामें परतन्त्रता, स्वतन्त्रतामें स्वतन्त्रता—ऐसे चार भेद करके विवेचन करनेका काम पड़ा है। मनुष्य मानता है कि मैं स्वाधीन हूँ, चाहे सो करूँ, चाहे सो करवा लूँ, तो मैं स्वतन्त्र हो गया। यह स्वतन्त्रता नहीं है, महान् परतन्त्रता है। मामूली परतन्त्रता नहीं है; परंतु यह बात अकलमें नहीं आती। उलटी बात समझमें आती है। जैसे— कल्पना करो, हमारे मनमें घड़ी लेनेकी हो और घड़ीपर मन चले कि घड़ी अपनेको मिल जाय; परंतु रुपये पासमें नहीं हैं। इस वास्ते अनुभव होता है कि रुपये होते हैं तो हम स्वतन्त्र हैं और रुपये नहीं होते हैं तो हम परतन्त्र हैं। किसी चीजको लेनेकी मनमें होती है तो नहीं ले सकते, तो हम पराधीन हुए। रुपये हों तो घड़ी ले ली चट, तो स्वाधीन हो गये। इतनेतक ही अकलमें बात आती है; परंतु यह समझमें नहीं आती कि रुपये 'स्व' हैं क्या ? रुपये स्वयं हो क्या आप ? 'पर' ही तो हैं रुपये भी। स्वयं आप रुपये हो क्या ?

रुपयोंके जो अधीन हुआ, वह स्वाधीन कैसे हुआ ? वह तो रुपयोंका गुलाम हुआ। किसीके कहनेसे करता है तो उसका गुलाम हुआ। आपके कमाये हुए रुपयोंके आप वशमें हो गये, अधीन हो गये—यह स्वाधीनता कैसी ? यह महान् पराधीनता है, जडकी पराधीनता है। रुपये ज्यादा हो जायँ तो खर्च करना मुश्किल हो जाता है। थोड़े रुपये तो खर्च कर सकता है आदमी। ज्यादा रुपये खर्च करना बड़ा मुश्किल होगा। वह समझता है कि स्वाधीन हूँ, पर महान् पराधीन हो जाता है। परंतु भाई ! यह बात समझमें नहीं आती है, क्या करें ? रुपयोंके अधीन काम हुआ तो स्वतन्त्रता कैसी ?

स्वतन्त्रता किसका नाम है ? हमारे मनमें कोई बात नहीं, किसी बात की इच्छा नहीं। किसी बातकी चाहना नहीं।

यह जो इच्छा होती है मनमें कि यह हो जाय, यह हो जाय—इसका नाम है कामना। गीताने इसके त्यागपर बड़ा जोर दिया है। **'इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छा कामशब्दिता:'** यही कामना है। ऐसा हो जाय, ऐसा हो जाय। ***'पूरे हैं मर्द वे ही जो हर हालमें खुश हैं। जो हो जाय, उसमें ही खुश हैं।'*** बहुत आनन्द है, वे स्वतन्त्र हैं। कैसी परिस्थिति आ जाय, कैसी अवस्था आ जाय, कैसी घटना घट जाय, जो कुछ हो जाय, उसमें मस्त रहे अपने। तब वे संसारसे ऊँचे उठ गये।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ (५।१९)

परमात्म-स्वरूपमें कौन स्थित होते हैं? जो यहाँ जीवित अवस्थामें ही संसारमात्रपर विजयी हो जाते हैं। उसपर कोई संसारका प्राणी विजयी नहीं हो सकता। सबपर विजयी कौन है? **'येषां साम्ये स्थितं मनः'** जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया है। साम्यावस्था क्या? जो हो जाय उसीमें ही मस्त रहे। जैसे हो जाय ठीक है। करनेमें भगवान्‌के आधीन रहे। करनेमें शास्त्रके, भगवान्‌के अधीन रहना। इसमें परतन्त्रता दीखती है, पर इस परतन्त्रतामें महान् स्वतन्त्रता भरी है। जो बड़ा होकर माँ-बापका और गुरुजनोंका कहना नहीं करता, मर्यादाका पालन नहीं करता, वह समझता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ। वह वास्तवमें अपनी इन्द्रियोंका, अपने मनका गुलाम है। आज समझते हैं कि हम तो नयी रोशनीके आदमी हैं। स्वतन्त्र विचारोंके हैं। किसीका कहना नहीं करेंगे, मर्जी आये सोई करेंगे। हम तो कहते हैं कि तुम्हारी नयी रोशनी है तो मनुष्योंमें पहले गधापन, कुत्तापन नहीं था यह बिलकुल नयी रोशनी होगी, बन्दर भी करता है अपनी मर्जीसे और डरता है तो केवल डण्डेसे। कुत्ता भी मेहतरके घरमें जैसे चला

जाय, वैसे ही बिना पैर धोये ब्राह्मणके घरमें चला जायेगा, क्योंकि यह स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता कोई स्वतन्त्रता होती है? जहाँ चाहे टट्टी फिर जाय, जहाँ चाहे पेशाब कर जाय; क्योंकि स्वतन्त्र हैं हम तो। ऐसी स्वतन्त्रता मनुष्योंमें नहीं थी। माता, पिता, धर्म आदिकी बात मानते थे। अब कहते हैं कि हम नयी रोशनीके हैं, बिलकुल नयी रोशनी। तुम नयी रोशनी कहते हो, पर यह बिलकुल अँधेरा है। मनुष्यमें ही अँधेरा हो गया। अँधेरा पशुओंमें, पक्षियोंमें तो था। अब मनुष्योंमें भी आ गया। रोशनी कैसी हुई है? परंतु इसको ही रोशनी कहते हैं।

अपनी स्वतन्त्रता कब होगी? जब अपने साथियोंको, अपने साथ रहनेवालोंको स्वतन्त्रता दी जाय। उनकी न्याययुक्त बात हो तो उसका आदर किया जाय। उनकी न्याययुक्त बात हो वह हमें माननी चाहिये। यह बात खयाल रखनेकी है। कुटुम्बियोंके साथ आप बर्ताव करें तो कुटुम्बमें रहनेवाले भाई-भौजाई, भतीजे, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, काका-बाबा आदि जितने हैं उनकी बात अगर न्याययुक्त है तो उस बातको प्रधानता देनी चाहिये। अपनी मनमानीको प्रधानता नहीं देनी चाहिये। इससे आदमी स्वतन्त्र होता है। बड़ा श्रेष्ठ आदमी हो जायगा। समाजमें भी ऊँचा स्थान पा जायगा। भगवान्‌के यहाँ भी ऊँचा स्थान पा जायगा। सन्तोंके, महात्माओंके, शास्त्रोंके, धर्मोंके अनुसार वह श्रेष्ठ पुरुष बन जायगा। जो अपनी मनमानी करता है, अपनी हेकड़ी रखता है और अच्छा-मन्दा सब तरहका काम कर बैठता है तो उसके घरवाले भी उससे राजी नहीं होते। बाहरवाले एवं समाजवाले भी राजी नहीं होते। उसकी परतन्त्रता छूटती नहीं। पशु-पक्षी आदि योनिमें नरकोंमें जाओगे तो वहाँ तो परतन्त्रता है ही; परंतु मनुष्य-योनिमें यह स्वभाव डाल दिया। अब यह जहाँ जायेगा, वहाँ दुःख पायेगा, कष्ट उठायेगा।

स्वभाव सुधारनेका अवसर

यहाँ मनुष्य-शरीरमें आये हैं तो हमारेको खास बात क्या करनी है? आस्तिक हो, चाहे नास्तिक हो। अपने स्वभावको शुद्ध और निर्मल बनाना है। ऐसा निर्मल बने कि हमारे स्वभावसे किसीको तकलीफ न हो। अपनी नीयत तकलीफ देनेकी न हो, किसीको कष्ट देनेकी न हो। हमारी क्रिया भी न हो, हमारा भाव भी न हो; फिर भी किसीको दुःख हो जाता है तो उसका भी खयाल करना बड़ा अच्छा कि उसे दुःख न हो; परंतु यह हाथकी बात नहीं।

आपके स्वभावमें दूसरेको दुःख देनेकी बात नहीं है। पर आपको देखकर जल उठे। उसका क्या किया जाय? रात्रिमें बिजली चमकती है तो गधी दुलत्ती मारती है। क्या आफत आ गयी? अब वह बिजली क्या करे बेचारी। उसने गधीको कोई दुःख दिया है क्या? पर वह गधी दुःख यों ही पावे। अब उसका क्या किया जाय? इस तरहसे दूसरेको देखकर दुःख होता है, वह अपने स्वभावके कारण दुःखी होता है। हम अपना जीवन संयत रखें और ठीक तरहसे चलें। देख-देखकर ही किसीको जलन पैदा हो जाय तो अब उसमें भगवान्‌से प्रार्थना करें—'हे नाथ! हमारे द्वारा किसीको दुःख न हो। हमारेको देखकर भी दुःख न हो।' ऐसा अपना स्वभाव रखें कि हरेकको सुख हो जाय।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब-के-सब सुखी हो जायँ, कोई दुःखी न रहे, सब-के-सब निरोग हो जायँ, किसीके रोग, आफत न रहे, सबके मङ्गल-ही-मङ्गल हो, शुभ-ही-शुभ काम हो। कोई भी, कभी, किसी अवस्थामें दुःख न पावे। ऐसा अपना स्वभाव बना ले, ऐसा ध्येय बना ले, लक्ष्य बना

ले। तब मनुष्य-जन्म सफल होगा। अपनी मनमानी त्याग करनेमें वही सफल होता है जो दूसरेके मनकी बात करता है। औरोंकी न्याययुक्त इच्छा पूरी करनेसे अपनी इच्छाके त्यागनेका बल आ जाता है। अपने मनकी बात त्यागनेकी योग्यता आ जाती है। अपने मनमानी करते रहो तो अपने मनमानी करनेका ही बल बढ़ेगा। वह स्वभाव तो अगाड़ी नरकोंमें डालेगा भाई!

जितने संसारमें दुःखी हैं, जितने कैदमें पड़े हैं, जितने नरकोंमें जीव हैं, जितने रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, जहाँ कहीं दुःख पा रहे हैं तो कुछ-न-कुछ उनके भीतरकी चाहना है, इच्छा है कि यूँ नहीं होना चाहिये। ऐसी कामनावाले ही दुःख पाते हैं। भीतरसे जिनके ऐसी कामना नहीं है, उनको दुःख हो ही नहीं सकता। बुखार आ जाय, तकलीफ हो जाय, पर उनको दुःख नहीं होता। दुःख है मनका। अपने मनमानी नहीं होनेसे दुःख होता है। बुखारमें क्या होता है? बुखार आदि प्रतिकूल परिस्थितिसे दर्द होता है, दुःख नहीं।

दर्द और दुःख अलग-अलग चीज है। ***'खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥'*** (मानस ७। ३९। ३)। जिसका हृदय दुष्ट (दोषी) होता है, उसके ताप विशेष होता है। उसके जलन ज्यादा होती है; क्योंकि दूसरेकी सम्पत्ति देखकर जल उठते हैं। उसके इतना धन क्यों हो गया? उसके बेटा-पोता इतना क्यों हो गया? उसका कहना क्यों मानते हैं लोग? परिवारवाले भी उसके अनुकूल क्यों चलते हैं? ऐसे करके जलने लग जाय। उसका दुःख कैसे मिटे? बताओ, यह प्रारब्धका दुःख नहीं है। यह दुष्टताका दुःख है। स्वभावसे दुःख होता है, परिस्थितिसे दुःख होता है, अपने सुख चाहते हैं और सुख न मिलनेसे दुःख होता है। परिस्थिति अनुकूल न होनेसे जो दुःख होता है, वह तो मूर्खताका है;

परंतु दूसरेकी उन्नति देखकर दुःख होता है, यह दुष्टताके कारणसे होता है।

बात करनी चाहिये।' रावण मारने लगा तो विभीषणने कहा—तो यह बात उस समय तो मान ली। फिर जब काम पड़ा, फौज आ गयी है, जाना है तो उस समय विभीषणसे कहता है—'***मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।***' रहता तो है मेरे शहरमें और प्रीति करता है तपस्वीके साथ। तो उसके साथ जाओ। '***सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥***' (मानस ५।४१।५) उसे नीति सिखाना। एक बार हनुमान्‌जीके लिये तेरी नीति मानी तो घर जल गया, सारा गाँव जल गया। तेरी नीति उनको ही दे, जिससे उनका ही नाश हो जाय। हम नहीं मानेंगे तेरी बात। विभीषणको जोरसे लात मारी। '***अनुज गहे पद बारहिं बारा।***' (मानस ५।४१।६) विभीषण रावणके चरण पकड़ते हैं और कहते हैं—'आप बड़े भाई, पिताके समान हैं। बेशक आपने मुझे मारा—'***तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। रामु भजें हित नाथ तुम्हारा॥***'(मानस ५।४१।८)। तुम्हारा हित तो भगवान्‌के भजनसे है। ऐसा कहता ही रहा। रावणने धमकी दी। लातका प्रहार किया। बात अच्छी कहनेपर भी लातका प्रहार मिला तो वास्तवमें क्या नतीजा निकला ? विभीषणका कहना तो ठीक निकला ही। रावणने काम तो अहित होने लायक ही किया, परंतु भगवान्‌के हाथसे मरनेसे उसका उद्धार हो गया। विभीषणने अहित नहीं किया। उसके हृदयमें यह भाव है कि आपका हित भगवान्‌के भजन करनेसे है। सीताको आप दे दो तो बड़ा अच्छा है, राड़ नहीं होगी, लड़ाई नहीं होगी, आपका काम ठीक बैठ जायगा; परंतु जिनके विपरीत बुद्धि होती है न, उनके विपरीत बात जँचती है। '**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।**' ठीक बातको भी सही नहीं समझता; परन्तु संतोंका हृदय क्या होता है ? यह बता दिया। '***मंद करत जो करइ भलाई।***' मन्दा करनेपर भी वे भलाई ही करते हैं अपनी तरफसे। वे सबका

भला चाहते हैं। उनका भला स्वाभाविक होता है। वायुमण्डल बनता है। प्रकृतिमें शक्ति है, जिसका हृदय शुद्ध होगा और सबका भला चाहेगा तो प्रकृतिसे उसका भला होगा। यह प्रकृतिमें ताकत है, विलक्षणता है, स्वाभाविक ही हित होगा।

अपने द्वारा सबका हित हो, किसी तरह सबका कल्याण हो, दूसरोंको लाभ हो जाय, दूसरोंको सुख हो जाय, औरोंको आराम मिले—ऐसा भाव रहेगा तो सब-के-सब लोग सुखी हो जायँगे, ये हाथकी बात नहीं; क्योंकि परिस्थिति उनके कर्मोंके अनुसार आवेगी; परंतु आपने जो भावना की है, यह परिस्थिति नहीं है। यह आपका नया उद्योग है, नया कर्म है, नया भाव है। ऐसा आपका उद्देश्य है तो आपका कल्याण होगा। आपके लिये इसका भला-ही-भला नतीजा होगा; क्योंकि सम्पूर्णके हितमें आप रत हैं न। '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥**' (गीता १२।४) सबका हित कर देना, यह बात हाथकी नहीं है; परंतु बुरा किसीका भी नहीं चाहना चाहिये। सज्जनलोग कहते हैं भाई ! वैरीका भी अहित न हो। भगवान् राम लंकामें पहुँच गये, फिर विचार हुआ। सोचा तो कहा 'पहले अंगदको भेजना चाहिये। उनको खबर कर देनी चाहिये पीछे देखो क्या होता है ?' अंगदको भेजा उस समय रामजीने कहा—'***काजु हमार तासु हित होई।***' काम तो हमारा बने और हित रावणका हो। '***रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥***' (मानस ६।१७।८)। जरा सोचो, कितनी विलक्षण बात है।

वह तो बीमार है बेचारा; परंतु बीमारीके साथ स्नेह नहीं। बीमारीको तो मिटाना चाहते हैं। ऐसे मनुष्यमात्र परमात्माके अंश हैं। मनुष्योंमें जो खराब स्वभाव आ जाते हैं, ये आगन्तुक हैं। ऊपरसे आये हुए हैं, इस वास्ते इन दोषोंको मिटाना है। इन बीमारियोंको दूर करना है न कि बीमारको ही मार देना है। दोषी आदमीके दोषोंको दूर करना है अपने तो। कैसे दोष दूर हो ? इसका चिन्तन करो, इसका विचार करो, युक्ति सोचो, किस तरहसे इसका दोष दूर हो ? उसके दोषको देखना दोषदृष्टि नहीं है। वह तो निर्दोष देखना चाहते हैं कि उसमें दोष यह न रहे। अपना पुत्र है, अपना शिष्य है, अपना नौकर है, अपना प्यारा मित्र है, उसमें कोई अवगुण आ जाय तो अवगुण दूर हो। जैसे रोगीका रोग दूर हो—ऐसा विचार होता है। ऐसा नहीं कि रोगी मर जाय। ऐसे ही किस तरहसे उनका अवगुण दूर हो, तो यह अवगुण दूर कैसे होता है ? आपके हृदयमें सद्भावना हो और आदरसहित उनके साथ बर्ताव किया जाय तो अवगुण दूर होता है। उनका निरादर करोगे तो उनके मनमें भी निरादर पैदा हो जायगा। उसका असर अच्छा नहीं पड़ेगा। प्यारसे, स्नेहसे उनका हित करते हुए, सेवा करते हुए ऐसी शिक्षा दो, जिससे उनका दोष दूर हो जाय। दुष्टता ज्यादा होती है, तब वे मानते नहीं। सेवा करो, नम्रता करो तो भी वे समझते हैं कि गरज करता है। यह कायर आदमी है, ऐसा ही है यह तो। ऐसे दोषदृष्टि करेंगे। पहलेसे दोषदृष्टि करते हैं, फिर और दोषदृष्टि कर लेंगे और क्या होगा ? परंतु अपनेको अपना स्वभाव शुद्ध, निर्मल बनाना है।

दो सज्जन थे। एकने कहा—'आप मेरी परीक्षा कर लो, मेरेको क्रोध नहीं आता है। आप कुछ भी कर लो, मेरेको क्रोध नहीं आयेगा।' दूसरे सज्जनने कहा—'बड़ी अच्छी बात ! काम, क्रोध, लोभ

तुम्हारेपर आक्रमण न करे, क्रोध नहीं आवे तो बड़ी अच्छी बात है, पर तुम्हारी परीक्षाके लिये मैं मेरा स्वभाव क्यों बिगाड़ूँ बताओ ? तेरेको क्रोध नहीं आवे तो बड़ी अच्छी बात, बड़े आनन्दकी बात है, खुशीकी बात है। अपना स्वभाव क्यों बिगाड़े भाई ? स्वभाव चलेगा साथमें। ये चीजें, वस्तुएँ, घटनाएँ साथ नहीं रहेंगी। घटना घटती है और मिट जाती है; परंतु जैसा स्वभाव बना लिया वह तो साथमें चलेगा। चोरी करनेका जो स्वभाव बना है, यह जहाँ जाओगे, वहीं तंग करेगा। दूसरोंको दुःख देनेका स्वभाव है तो जहाँ जाओगे, वहाँ भी तंग करेगा।

जिसका स्वभाव शुद्ध हो गया। किसी कारण उसे नीच योनिमें जन्म भी लेना पड़ेगा तो वहाँ वह सुख पायेगा। अगर खाने-पीनेमें चटोरपना पैदा कर लिया कि यह चाहिये, यह ठीक नहीं है। चटनी बढ़िया नहीं हुई, नीबू नहीं दिया। दो पत्ती डाल देते पोदीनाकी तो रंग खिल जाता। बढ़िया नहीं बनी। अब पोदीना डाल दिया। थोड़ा-सा नीबू निचोड़ देते तो क्या एक सुन्दर चटनी हो जाती। ऐसे चटोरपनेका स्वभाव बिगाड़ लिया। अब वह पशु हो जायगा तो उसे बढ़िया चरने नहीं देते। मैंने गाँवोंमें देखा है। ऐसी उस गायको, बैलको बढ़िया चारा नहीं देते। कहते हैं—'आज बढ़िया चर लिया तो यह दो-तीन दिन चरेगा नहीं।' उसके डण्डा पड़ते हैं, बढ़िया चारा चरने नहीं देते; क्योंकि स्वभाव बिगाड़ा हुआ है मनुष्य-जन्मका। तो अच्छा चारा मिलता ही नहीं। कुछ ऐसा बैल होता है कि भूख लगे तो बढ़िया दे दो, चाहे घटिया दे दो, पेट भर लेता है तो वह बढ़िया चारा चर भी ले तो कोई बात नहीं, अब बाँध दो। चारा चर लिया तो चर लिया। यह भूखा नहीं मरेगा। जिसके चटोरपना ज्यादा है तो मालिकको उसकी निगाह रखनी पड़ती है कि उसको बढ़िया चारा नहीं मिल जाय कहीं। स्वभाव बिगड़नेसे आड़ ही लगी। फायदा क्या हुआ ?

****

शुद्ध स्वभाववालेका आदर

ऐसे स्वभाव खराब हैं तो महाराज सब घरवाले खराब मानते हैं। बहनों-माताओंमें जिनका स्वभाव खराब होता है, उनको पीहरमें बुलाते हैं तो भाई और भौजाई सब सतर्क हो जाते हैं। बाई सा आ गयी है। चीज-वस्तु सँभालकर रखो ठीक तरहसे, तालेमें रखो। यह देख लेगी, माँगेगी तो देंगे तो चीज खराब हो जायगी। नहीं देंगे तो मन खराब हो जायगा। तो यह देखे ही नहीं, बस! ***'न देखे न कुत्तो भूसे'*** इसे पता ही न लगे। बेचारे घरके आदमी ऐसे डरते हैं; क्योंकि स्वभाव बिगड़ा हुआ है। स्वभाव सुधरा हुआ है तो बाई आ गयी तो भाई कहता है कि बाई चाबी तूँ ही राख। घरमें सब काम तूँ ही देख। वे अपने निश्चिन्त हुए। बाई तो दोनों ही हैं फर्क नहीं है। एक माँ-बापके पैदा हुए बहन और भाई। पर एक होते हुए भी स्वभाव जिसका शुद्ध है, उसको सब चाहते हैं। विधवा हो जाय तो देवर-जेठ आदि चाहते रहते हैं और यहाँ भाईलोग चाहते हैं। देवर आदि लेनेके लिये आते हैं—'बहुत जरूरी है, बालक होनेवाला है, हम तो भौजाईको लेनेके लिये आ गये।' भाई कहते हैं—'नहीं सा, अब भेजेंगे नहीं।' क्यों? 'हमारे तो यह माँकी जगह है। जैसे माँसे सलाह लेते थे, ऐसे बाईसे सलाह लेते हैं—सब काम करनेमें। कैसे भेज दें? हमारे माँकी जगह है।' अब बताओ शुद्ध स्वभाव होनेसे भाइयोंके भीतर कितना आदर है? कितना भाव है? उधर ससुरालवाले भी चाहते हैं। वे भी चाहते रहते हैं। जिसका स्वभाव खराब होता है तो माँ कह देती है, 'बेटा? इन बाईने अपने घर पहुँचा दे। बड़ो टाबर आपरे घर ही आछो।' कारण क्या? लखण बोदा तो कुण चावे? (स्वभाव खराब है तो कौन चाहे?)

हम और काम करनेमें स्वतन्त्र नहीं हैं। धन कमानेमें स्वतन्त्र

नहीं हैं। मेहनत करके धन कमा ही लें, यह हाथकी बात नहीं; परंतु स्वभाव सुधारनेमें आप स्वतन्त्र हो। आप अगर चाहें तो स्वभावको शुद्ध बना सकते हैं। स्वभाव बिगड़ा हुआ होता है तो सब दुनियाको दुःख होता है। कष्ट होता है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस ७। ४१। १)

अपना स्वभाव शुद्ध होता है तो सबको सुख होता है। स्वभाव बिगड़ा हुआ होता है तो सबको दुःख होता है। देवकिशनजी भोजक थे, वे कहते थे कि मैं चूरूमें स्टेशन-मास्टर था तो वहाँ एक दिन 'मंगलदास डाकू' आ गया। वह पोइंटवानका मित्र था तो उससे मिलने आ गया। वह आकर भीतर बैठ गया कुर्सीपर। वे कह रहे थे कि मैं पासमें ही बैठा था। किसीने कह दिया 'यह मंगलदास है।' इतना कहते ही बैठे-बैठे मेरा कुर्ता भीग गया पसीनेसे। यहाँ कुछ चोरी कर लेगा, कुछ ले जायगा तो क्या दशा होगी मेरी ? ऐसे विचार करते-करते पसीना आ गया बैठे-बैठे। मौन ही था वह, पर स्वभाव बिगड़ा होनेके कारण परिचय होते ही भयसे पसीना आ गया और कोई सन्त आ जाय, महात्मा आ जाय तो गाँवमें एक आनन्द खिल जाय। महाराज पधार गये तो गाँवमें आनन्द-उत्सव होने लगता है। मनुष्य वे ही हैं, फिर फरक क्या है ? एकका स्वभाव सुधरा हुआ है एकका स्वभाव बिगड़ा हुआ है। बिगड़े हुए स्वभावसे लोगोंको दुःख होता है, भय होता है। दुःख देना पाप है। पहले स्वभाव आप बिगाड़ा, पाप किया, फिर पाप करते जाते हैं। स्वाभाविक ही पाप होते चले जाते हैं। औरोंको कष्ट होता ही चला जाता है। स्वभाव अपना शुद्ध निर्मल बना ले तो कहीं रह जाओ, लोग कहते हैं कि यह तो ऐसा अच्छा है ***'आँखमें घाल्यां ही खटके कोनी।'*** इतना निर्मल है। कैसी विचित्र बात है।

स्वभाव शुद्ध बनानेमें हरेक भाई-बहिन स्वतन्त्र हैं। धन कमानेमें परतन्त्र हैं, उसमें तो रात-दिन लगे हैं। स्वभाव शुद्ध बनानेके लिये परवाह ही नहीं करते। स्वभावको शुद्ध बना लिया तो जहाँ जाओ, वहाँ आनन्द-ही-आनन्द रहेगा। मौज-ही-मौज रहेगी। खुशी ही रहेगी। जिनका स्वभाव शुद्ध हो गया है, निर्मल हो गया है, उनको देखनेसे दुनिया सब-की-सब प्रसन्न होती है। दुनियाको बड़ा आनन्द मिलता है। जिन लोगोंने अपने स्वभावमें भगवान्‌को बसा लिया, भगवान्‌का भजन करते हैं, मात्र प्राणियोंके हितकी इच्छा करते हैं, उनकी तन, मन, वचनसे जो कुछ चेष्टा होती है, सबके हितके लिये होती है। उन पुरुषोंके दर्शन करनेसे शान्ति मिलती है। संकट मिट जाते हैं, दुःख मिट जाते हैं, विघ्न टल जाते हैं। कारण क्या है ? वह शुद्ध है, निर्मल है, पवित्र है। वह निर्मलता, श्रेष्ठता हरेक भाई प्राप्त कर सकते हैं।

पढ़े-लिखे हों, अपढ़ हों, गाँवके हों, शहरके हों, कैसी भी योग्यता क्यों न हो ? अपना स्वभाव शुद्ध बनानेमें सब स्वतन्त्र हैं। धन पैदा करनेमें सब परतन्त्र; क्योंकि धन तो पैदा तब होगा, जब किसीकी तिजोरी खुलेगी। ऐसा हुनर करेंगे, जिससे दूसरेकी तिजोरी खुल जाय, तब पैसा मिलेगा। स्वभाव किसीकी तिजोरीमें बन्द थोड़ा ही है। पैसा तो तिजोरीमें बन्द रहता है, ताला लगा रहता है। शुद्ध स्वभावके कोई ताला लगा है क्या ? यह तो हर एक कोई ले लो। सबके लिये खुली है एकदम ही। शुद्ध स्वभाव बना लेना, कितनी बढ़िया बात ? ऐसी स्वतन्त्रता हमलोगोंको भगवान्‌ने कृपा करके दी है। अब ऐसी कृपा करो, अपना स्वभाव शुद्ध बनाओ।

एक ही बताया न, अपना अभिमान छोड़ो। अभिमान चुभता है। वह दूसरोंको खटकता है बुरा लगता है। सच्ची बातका अभिमान भी खटकता है और बुरा लगता है। अभिमान तो खटकता है ही। इसमें कहना ही क्या है? आप सच्चे हृदयसे किसीको मानते हैं कि ये पढ़े-लिखे हैं, अच्छे विद्वान् हैं, ऐसा आप हृदयसे मानते हैं, पर वह कहे कि 'क्या देखते हो? तुमने इतनी पुस्तकें देखी नहीं, जितनी हमने पढ़ी हैं। क्या समझते हो तुम?' यह बात आपको बुरी लगेगी। सच्ची बात है तो भी बुरी लगती है; क्योंकि उसके भीतरमें अभिमान बस गया है न। हमने ऐसा-ऐसा पढ़ा है, हम इतने विद्वान् हैं। अभिमान खटकता है। क्यों खटकता है? परमात्माके अंश हैं। सभी भाई बराबर हैं, किसीने गुण उपार्जन अधिक कर लिया तो अधिक हो गया। किसीमें वो गुण नहीं है तो कम रह गया। पर कम रहनेसे क्या हुआ? क्या वह परमात्माका प्यारा नहीं है? क्या परमात्माका अंश नहीं है? वहाँ तो बराबर ही है।

समाजमें कोई धनी हो गया। कोई गरीब हो गया। धनी और गरीब तो अलग-अलग हो गये पर रोटी-बेटीका जहाँ बर्ताव होगा तो हम भाई हैं, इसमें बड़ा-छोटा क्या है? सब एक समान ही हैं। धन किसीके ज्यादा हो गया। किसीके कम हो गया। इसी तरहसे आपकी योग्यता कम-ज्यादा हो गयी, पर परमात्माके लिये तो बराबर हो। अभिमान आप करते हो तो दूसरेको बुरा लगता है; क्योंकि वह तुम्हारेसे कम थोड़ा ही है। अभी कम हो गया है, पर वास्तवमें तो कम है नहीं। उसको दुःख होगा बेचारेको! आप अभिमान रखते हो, उस अभिमानसे अपना पतन होता है और दूसरोंको दुःख होता है। अभिमान दूर करो तो यह स्वभाव सुधर जाय और स्वार्थकी भावना दूर करो तो स्वभाव सुधर जाय। ये दोनों स्वभाव बिगाड़नेवाले हैं।

एक तो हमारी बात रहे और एक हमारा मतलब सिद्ध कर लें। हरेक बातमें यह घात रहे, किसी तरहसे मतलब सिद्ध हो जाय। मेरेको धन मिल जाय, मान मिल जाय, मेरेको आदर मिल जाय। मेरेको आराम मिल जाय, यह भाव रहता है न, इससे स्वभाव बिगड़ता है। तो अभिमानसे, अहंकारसे, स्वार्थ-बुद्धिसे स्वभाव बिगड़ता है! दोनों जगह निरभिमान हो करके—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

(मानस ७। ४६। २)

कपट गाँठ मनमें नहीं सब सों सरल सुभाव।
नारायण वा भगत की लगी किनारे नाव॥

कोई कपट करे तो उसके साथ भी कपट नहीं। ***'मंद करत जो करइ भलाई'*** ऐसा स्वभाव है। उसको याद करनेसे शान्ति मिलती है। ऐसी सरलता धारण करनेमें क्या जोर आता है, बताओ? कुटिलता करनेमें आपको जोर आयेगा। कुछ-न-कुछ मनमें कपट-गाँठ गूँथनी पड़ेगी न। सीधे सरल स्वभावमें है, जैसी बात कह दी। झूठ-कपट करोगे तो महाराज कई बातें खयालमें रखनी पड़ेंगी, फिर कहीं-न-कहीं चूक जाओगे। कहीं-न-कहीं भूल जाओगे। सच्ची बात है। सरलता है तो सब जगह मौज-ही-मौज है। अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग कर दूसरेके हितकी सोचो। कैसे हित हो? क्या करूँ? कैसे करूँ? दूसरोंका हित कैसे हो? दूसरोंका कल्याण कैसे हो? दूसरोंको सुख कैसे मिले? ऐसे सोचते रहो। आपके पास धन न हो तो परवाह नहीं, विद्या नहीं हो तो परवाह नहीं, कोई योग्यता नहीं, कोई पद नहीं, कोई अधिकार नहीं हो तो कोई परवाह नहीं। ऐसा न होते हुए भी आपका भाव होगा दूसरोंके हित करनेका तो स्वभाव शुद्ध होता चला जायेगा। जहाँ झूठ, कपट, अभिमान, अपनी हेंकड़ी रखनेका

स्वभाव होगा, वहाँ स्वभाव बिगड़ता चला जायगा। वह बिगड़ा हुआ स्वभाव पशु-पक्षी आदि शरीरोंमें भी तंग करेगा। वहाँ भी आपको सुखसे नहीं रहने देगा। अच्छे स्वभाववाला पशु-योनिमें भी सुख पायेगा। मनुष्य भी श्रेष्ठ हो जायेगा।

स्वभाव सुधारनेका मौका यहाँ ही है। जैसे बाजार होता है तो रुपयोंसे चीज मिल जाती है। बाजार न हो तथा जंगलमें रुपये पासमें हों तो क्या चीज मिलेगी ? यह बाजार तो यहाँ ही है अभी लगा हुआ। इस बाजारमें आप अपना शुद्ध स्वभाव बना लो, निर्मल बना लो। यहाँ सब तरहकी सामग्री मिलती है। मनुष्यशरीरसे चल दिये तो फिर हो जैसे ही रहोगे। फिर बढ़िया तो नहीं होगा, घटिया तो हो सकता है, वहाँ भी स्वभाव खराब हो सकता है; परंतु वहाँ उसको बढ़िया बात मिलनी बड़ी कठिन है। कुछ बढ़िया मिलेगी भी तो सांसारिक बातें मिलेंगी, पारमार्थिक नहीं। वहाँ स्वभावका सुधार नहीं हो सकता है। बढ़िया शिक्षक मिल जायगा तो वह शिक्षित हो जायगा, मर्यादामें चलेगा और नहीं तो ऐब पड़ जायेगी तो उम्रभर दुःख पायेगा।

पशुके बचपनमें ही ऐब (आदत खराब) हो जाती है न। तो वह दुःख देनेवाला, मारनेवाला बन जाता है। छोरे उसे हाथ लगाते हैं, चिढ़ाते हैं, तब ऐसा करके वह मारना सीख जाता है। फिर बड़ा होनेपर मारता है सबको ही। अब सिखा दिया बच्चोंने पहले। बुरा स्वभाव बन जायेगा वहाँ भी। अतः बुराई तो वहाँ भी मिल जायेगी। कौन-सी बाकी रहेगी ? भलाईका मौका तो यहाँ ही है। यहाँ भी हर समय नहीं। अच्छा सत्संग मिलता है, विचार मिलता है, सत्-शास्त्र मिलता है, इन बातोंसे हमें अच्छाई सीखनी चाहिये। मौका खोना नहीं चाहिये। ***बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥***(मानस ७।४३।७)। देवताओंके लिये दुर्लभ है। ऐसा

मानव-शरीर मिला। जिसमें अपना स्वभाव शुद्ध बना लें; निर्मल बना लें। फिर महाराज ! मौज-ही-मौज। यह पूँजी सदा साथमें रहनेवाली है; क्योंकि जहाँ कहीं जाओगे तो स्वभाव तो साथमें रहेगा ही। बिगड़ा हुआ होगा तो बिगड़ा हुआ ही साथ रहेगा। जहाँ कहीं जाओ तो स्वभावको निर्मल बनाओ। अहंकार तथा अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित कैसे हो ? दूसरेका कल्याण कैसे हो ? दूसरेको सुख कैसे मिले ? अपने तनसे, मनसे, वचनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, अधिकारसे, पदसे किसी तरह ही दूसरोंको सुख कैसे हो ? दूसरोंका कल्याण कैसे हो ? ऐसा भाव रहेगा तो आप ऐसे निर्मल हो जायँगे कि आपके दर्शनोंमें भी दूसरे लोग निर्मल हो जायँगे।

तन कर मन कर वचन कर देत न काहू दुःख।
तुलसी पातक झड़त है देखत उसके मुख॥

उसका मुख देखनेसे पाप दूर होते हैं। आप भाई-बहिन सब बन सकते हो वैसे। अब मीराँबाईने हमारेको क्या दे दिया ? परंतु उनके पद सुनते हैं, याद करते हैं तो चित्तमें प्रसन्नता होती है। पद गावें तो भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम होता है। उनके भीतर प्रेम भरा था, सद्‌भाव भरा था, इस वास्ते मीराँबाई अच्छी लगती है। एक दिन भी उनकी भिक्षा नहीं की। फिर भी मीराँबाई अच्छी लगे, उनकी बात भी अच्छी लगे, उनके पद अच्छे लगें क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध था, निर्मल था। नहीं तो मीराँबाईकी सास थी, पूजनीया थी वह मीराँबाईके। पर उसका नाम ही नहीं जानता कोई। मीराँबाई विदेशोंतक सब जगह प्रसिद्ध हो गयी, भगवान्‌की भक्ति होनेसे, नाम चाहनेसे नहीं।

नाम नाम बिन ना रहे, सुनो सयाने लोय।
मीरा सुत जायो नहीं शिष्य न मुंडयो कोय॥

न मीराँबाईके बेटा हुआ। न मीराँबाईने चेला बनाया। पर नाम

उसका सब जगह आता है। साधुओंमें यह होती है कि हमारे चेला हो जाय तो हमारा नाम रह जाय। गृहस्थ कहते हैं, हमारे छोरा हो जाय तो हमारा नाम हो जाय। छोरा सबके हुआ, पर नाम हुआ ही नहीं। तीन-चार पीढ़ीके पहलेवालोंको आज घरवाले ही नहीं जानते, दूसरे क्या जानेंगे? भगवान्‌का भजन करो तो महाराज! कितनी विचित्र बात है? नाम रहे-न-रहे। आपका कल्याण हो जायगा। दुनियाका बड़ा भारी हित होगा। इस वास्ते अपने स्वभावको शुद्ध बना लें। शुद्ध कैसे बने? अपनी हेंकड़ी छोड़ें। अपना अभिमान छोड़ दें। दूसरोंका आदर करें, दूसरोंका हित करें। जहाँ न्याययुक्त बात हो तो दूसरोंकी बात मानें। दो बात सामने आ जाय तो हमारी नहीं उनकी सही। उनकी न्याययुक्त बात है, बढ़िया बात है तो अपनी बात छोड़कर उनकी बात मानें। दोनों बढ़िया होनेपर भी उनकी बातका आदर करनेसे अपने स्वभावका सुधार होता है।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

(दिनाङ्क ११ अगस्त, १९८१)

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—५

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता

मनुष्य-शरीरका समय बहुत मूल्यवान् है। भाइयों और बहनोंने रुपये-पैसोंको मूल्यवान् समझा है। चीज-वस्तु, आदर, प्रतिष्ठा, मान, सत्कार और आराम इनको महत्त्व देते हैं कि ये हमें मिल जायँ; परंतु इन सबसे विशेष मूल्यवान् है अपने जीवनका समय। समयके समान कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं है; क्योंकि समय देकर हम मूर्खसे विद्वान् बन सकते हैं। समय लगानेसे पढ़ाई करके विद्वान् बन जायँ, समय लगानेसे धनवान् बन जायँ, समय लगानेसे बड़े यशस्वी बन जायँ, संसारमें कीर्ति हो जाय, समय पाकर हम बहुत बड़े परिवारवाले हो जाते हैं। समय लगाकर बड़े भारी मकान बना लें, बहुत-से काम कर सकते हैं। समयके बदले बहुत चीजें ले सकते हैं। संसारकी अच्छी-अच्छी चीजें ले लें। संसारका ही नहीं, धर्मका अनुष्ठान कर लें। स्वर्ग प्राप्त कर लें, स्वर्ग ही नहीं, परमात्माकी प्राप्ति कर सकते हैं, तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जीवन्मुक्त हो सकते हैं। सदाके लिये महान् आनन्दकी प्राप्ति और दुःखोंका आत्यन्तिक नाश हो सकता है। इस मानव-जीवनके समयके सदुपयोगसे हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। सब तरहकी उन्नति हम समय लगाकर कर सकते हैं। समय लगाकर सम्पूर्ण चीजोंको इकट्ठी कर ली जाय तो भी इनके बदलेमें समय नहीं मिलता। ६०-७० वर्षका आदमी मरता है। वह लखपति,

करोड़पति बन गया, धन-सम्पत्ति, जमीन, परिवार, बहुत-से मकान उसके हैं। वह कहता है साठ वर्षोंमें की हुई सभी वस्तुएँ मैं देता हूँ, उसके बदलेमें साठ महीने मिल जायँ मेरेको और जीनेके लिये। तो साठ वर्षोंकी कमाई देनेपर भी साठ महीनेका जीवन मिल सकता है क्या ? साठ न सही साठ दिन मिल जायँ। नहीं मिलेंगे।

काम क्या आयगी कमाई ? तीन कौड़ी नहीं बँटेगी, जिस समय मौत आ जायगी कुछ कौड़ी नहीं बँटेगी। चिन्ता और अधिक लग जायगी। कहाँ-कहाँ पड़ा है ? कितना धन है ?

आना आना जोड़कर करोड़ तहखाना भरे,
खाना न खिलाना यह ताके मन माना है।
दाना लोग दान देन कहे तो दीवानो कहे,
प्रभुजी का बाना देख लेत खल काना है॥
जर जमीन जोरु अरु जायदाद जेती चीज,
एक दिन जाना जाको नहीं जाना है।
आखिर विराना ताकु सालग पिछाना नाहीं,
ऐसे जग वंचक का ठौर न ठिकाना है॥

धन कमा-कमाकर इकट्ठा कर लिया खजाना; परंतु साथमें क्या चलेगा ? यह सोचते नहीं हो। धन तो यहाँ इकट्ठा कर रहे हो। धनके लिये झूठ, कपट, बेईमानी, जालसाजी, विश्वासघात, धोखा आदि दे-देकर पाप इकट्ठे किये हैं, वे इकट्ठे होते हैं भीतर अन्तःकरणमें। वे पाप आपकी खराब नीयत बनानेमें, महान् नीच बनानेमें बड़े भारी सहायक हैं। ऐसे पाप करके धन कमाया यहाँ रहनेवाला। मरते समयमें यह धन तो कौड़ी एक साथ चलेगा नहीं, पाप कौड़ी एक पीछे रहेगा नहीं। यह हरेक आदमीको सोचना है कि हम कर क्या रहे हैं, इतना समय हमने लगाया है तो क्या लाभ किया ? पचास,

साठ, सत्तर वर्ष आ गये, इतने वर्ष तो गये, पर इतने वर्षोंमें हिसाब पूछनेवाला हो कि तुमने साथ चलनेकी पूँजी कितनी इकट्ठी की है। पूँजी साथ चलनेकी बढ़िया ली है कि घटिया। दूसरोंको सुख पहुँचानेकी नीयत रखी है कि स्वार्थ करनेकी । अपकार करके धन अपने इकट्ठा करना, स्वार्थ ही कर लेना, इसमें समय लगाकर नीयत अपनी खराब-ही-खराब बनायी है क्या ? वही बनायी है तो किसके काम आवेगी ? यह जरा सोचो।

वर्तमान पतनका कारण

ऐसा विचार करनेका मौका मनुष्य-शरीरमें ही है। गाय, भैंस, कुत्ता, गधा आदि नहीं सोच सकते। और दूसरी योनिमें सोचनेकी ताकत नहीं है, बुद्धि नहीं है, विवेक नहीं है, जो भगवान्‌ने इस मनुष्य-शरीरमें दिया है। अब भोग भोगना, संग्रह करना, रुपये इकट्ठे करना, इस प्रकार करते-करते फूँक निकल जायेगी, राम-नाम सत् बोल जायगी। खराब नीयत रह जायेगी, यह दुर्दशा होगी। सज्जनो ! हमें इस बातका दुःख होता है। हमारे भाई संग्रह करनेमें लगे हैं। केवल संख्या बढ़ानेमें ही लगे हैं, केवल संख्या ही। इतना धन हो गया, दस हजार हो गया कि लाख हो गया, करोड़ हो गया। संख्या बढ़ानेमें रात-दिन लगे हैं। वह संख्या अभिमान बढ़ायेगी, केवल अभिमान। अभिमानरूपी बहेड़ेके वृक्षकी छायामें आसुरी सम्पत्तिरूपी कलियुग विराजमान रहता है। अभिमान बढ़ेगा कि हम धनवान् हैं। वह अभिमान आपको न सत्संग करने देगा, न भजन करने देगा, न धर्म करने देगा, न आध्यात्मिक उन्नति करने देगा, पतनकी तरफ लगायेगा।

अभी कोई धनी आदमी करोड़पति है वह सुन ले कि सत्संग बड़ा अच्छा होता है। किसीने प्रशंसा कर दी तो मन चलेगा भी तो

पूछेगा कि वहाँ कौन-कौन आते हैं? अमुक-अमुक सेठ आते हैं क्या? वे तो नहीं आते, साधारण आदमी आते हैं— ऐसा सुनेगा, तो मन चलनेपर भी जा नहीं सकेगा। वहाँ बेइज्जती कैसे करवावे? साधारण आदमियोंमें बैठ करके। हमारी इज्जतका तो कोई आता ही नहीं आदमी। वहाँ जाकर हम बैठ जायँ। अपनी बेइज्जती करवावें। वहाँ न कोई बैठनेका ठिकाना है। हम कैसे जावें? अब दो-चार आदमियोंका भी अगर मन करे तो उनमेंसे पहले कौन जाय? कौन नाक कटावे पहले, इसके बाद दूसरा भी कोई हिम्मत करे तो ऐसी आफत हो गयी। धन होनेसे हुई न? मान हुआ, धन हुआ, पद मिल गया, अधिकार मिल गया, ऊँचे बन गये तो आफत और कर ली। ऊँचे बननेमें समय लगाया है, मेहनत की है, बुद्धि लगायी है। सिफारिश बहुतोंकी ली है तब जाकर ऊँचे बने और अब आफत हो गयी। भजन, ध्यान, सत्संग करना, अपनी आत्माका उद्धार करना, कठिन कर लिया। इस तरहके समझदार कहलाते हैं।

कितना काम कर लिया, साधारण आदमी था, इसके बाप तो मामूली थे, यह लखपति, करोड़पति बन गया, बड़ा भारी काम किया है। बड़ा भारी काम नरकोंमें जानेके लिये किया है। साङ्गोपाङ्ग दुःख पानेके लिये; जो दुःख कभी मिटे नहीं सदा दुःखकी परम्परा ही भोगते रहें। ऐसा काम किया तो क्या यही बुद्धिमानी है। मनुष्य-शरीर प्राप्त करके ऐसा ही करना बुद्धिमानी है क्या? एककी ही नहीं दूसरोंपर भी यही असर पड़े—हम भी धनी बनें। अरे भाई! करोगे क्या? किसके आगे रोएँ? कोई सुननेवाला नहीं। संस्थाएँ बनाते हैं, उनमें भी धन-संग्रह करते हैं। संस्थाओंके द्वारा उपकार कैसे किये जायँ, इसकी तरफ खयाल नहीं। बनाते तो हैं संस्था उपकारके लिये और लगी है भीतरमें धुन धन इकट्ठा करनेकी, अधिक धन संग्रह हो जाय,

अधिक धन इकट्ठा हो जाय। धन अधिक हो जाय जिसके पास वही बड़ा है। आज माप-तौल यह हो गया कि धन जिसके पास ज्यादा हुआ वही बड़ा हुआ। सज्जनो! धनसे बड़ा नहीं होता है। बड़ा वह है जिसके मरनेके बाद भी बड़प्पन रहे, ऊँचा बना रहे। जो नरकोंमें जावे, चौरासी लाख योनिमें सूकर-कूकर योनिमें जावे, वह बड़ा क्या हुआ? महान् पतन कर लिया न; परन्तु अब कहे कौन? सिखावे कौन? हमारे सन्तोंकी वाणीमें आता है—'**जगत भेष एकण मतो एकण दिश जावे।**' जगत् इधर जा रहा है, भेष (साधु) भी इधर जा रहे हैं, मकान बनाओ बड़ा-बड़ा और धन इकट्ठा कर लो। सब एक ही तरफ जा रहे हैं। सिखावे कौन? साधु-ब्राह्मण जिनको लोग अच्छी दृष्टिसे देखते हैं, अच्छे भी हैं, साधन-भजन करते भी हैं; परंतु उनके भी लगी है कि मान-बड़ाई कैसे हो जाय? धन कैसे हो जाय! बड़प्पन कैसे मिल जाय? ऊँचे हम कैसे बन जायँ। अरे, वास्तविक ऊँचे बनो, तत्त्वबोध प्राप्त कर लो, परमात्माकी भक्ति प्राप्त कर लो, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारकी बातें जो शास्त्रोंमें पढ़ीं है, उनका साक्षात् करके अनुभव करो। इसके लिये यह ऊँचा पद है। इसकी प्राप्ति नहीं की तो क्या किया?

बहुत गहरा है पर पानी नहीं है। ऐसे मानव-शरीर मिला मुक्ति नहीं की, भगवान्‌की प्राप्ति की नहीं। सगुणके दर्शन किये नहीं, निर्गुणका ज्ञान प्राप्त किया नहीं। तो क्या लाभ हुआ मानव-शरीर पाकर ?

आपने उस तत्त्वका अनुभव किया है कि नहीं, ये केवल बातें करनेके लिये नहीं हैं। भगवान्‌की बातमें भी बड़ा लाभ है; परंतु केवल बात ही नहीं करनी है उसे प्राप्त करना है। प्रह्लाद भक्त हुए, ध्रुवजी महाराज हुए तो अच्छी बात है। तुमने कितनी भक्ति की है। काम तो खुदकी भक्ति आवेगी। भक्तोंके नाम लेनेसे भी पवित्रता होती है; परंतु जबतक करके नहीं देखें तो क्या हुआ भाई ?

पर धन की बातां कियां, घर की भूख न जाय।
घर की भूख जब जाये, जो धन हाथ में आय॥

वह धनवान् है, वह करोड़पति है, राजा-महाराजा है, ऐसा है अच्छी बात। तुम्हारे तो उसका मुट्ठी चना भी काम आवेगा नहीं। उसके पास धन है तो पड़ा है, क्या फायदा ? कोरी बातें करनेसे हमारे क्या लाभ ? अपने कमाई करो। मिठाईकी बात करो कि ऐसा रसगुल्ला होता है, अमुक मिठाई ऐसी होती है, ऐसी होती है करते रहो क्या फायदा ? अरे भाई ! अपने भोजन बन जाय, भोजन पाकर तरान्तर हो जायँ तब ठीक है।

परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाय, कृतकृत्य हो जायँ, ज्ञात-ज्ञातव्य हो जायँ और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जायँ—तीन बात। मनुष्यमें तीन शक्ति है—जाननेकी, करनेकी और पानेकी। वह पानेके लिये कुछ करता है कि कुछ मिल जाय तो पानेकी शक्ति है; कुछ जाननेके लिये चेष्टा करता है तो जाननेकी शक्ति है और कुछ कर लें तो करनेकी शक्ति है। जानना कब समाप्त होता है जब जानने लायक बाकी न रहे **'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥'** (गीता ७। २)।

जिस तत्त्वके जाननेके बाद जानना कुछ बाकी न रहे। वह जान लिया तो ज्ञानशक्तिका उपयोग हुआ। संसारकी बहुत-सी विद्या जान ली, बहुत-सी लिपि जान ली, तरह-तरहकी कला जान ली। बड़े-बड़े कलाकार कारीगर हो गये, पर पूछे कि मुक्ति हुई कि नहीं ? अगर नहीं हुई तो जाननेसे क्या फायदा निकला ? वह जानना क्या काम आयेगा ? मुफ्तमें फँसावट होगी। फायदा क्या होगा ? ईर्ष्या पैदा होगी। बड़ी-बड़ी जानकारी करके विद्वत्ता अनेक प्राप्त कर लें, विद्वत्तासे यश भी कर लें तो समझता है कि वाह-वाह हो गयी सा। **'यशः शरीरे भव मे दयालो'** यश प्रापणीय वस्तु है; परन्तु यश प्राप्त करके किया क्या तुमने ? तुम्हारे हाथ क्या लगा ? थोड़ा आप सोचो, विचार करो। संस्कृत-साहित्यके कवियोंमें कालिदास प्रसिद्ध कवि हुए।

पुष्पेषु चम्पा नगरीषु लंका नदीषु गङ्गा च नृपेषु रामः।
योषित्सु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः काव्येषु माघः कविकालिदासः॥

कालिदासका नाम है तो वह कोई तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त था सो बात नहीं है, उसका अभी पीछा जन्म हो जाय और यहाँ अभ्यास करे, पूर्वके अभ्यासके कारण विद्वान् बन जाय और संस्कृतका विद्वान् बनकर संस्कृतमें कविता करने लगे। लोग भी कहें वाह ! वाह ! कविता बड़ी सुन्दर है। कोई कहता है— 'कविता तो कालिदासके समान है।' कोई कहे—'कालिदासके समान तो नहीं पर अच्छी है कविता।' कालिदासकी पहले प्रसिद्धि हो गयी। उसके खटकती है कि कालिदास दुष्ट कौन हुआ ? जो हमारे यशमें धब्बा लगा दिया। हमारी कविता कैसी बढ़िया ? पर लोग कहते हैं कालिदासके समान नहीं है। कालिदास कौन है ? याद तो है नहीं कि तूँ ही था पहले।

आप कमाया कामड़ा किणने दीजे दोष।
खोजेजी की पालड़ी कांढे लीनी खोस॥

आपका बनाया हुआ यश है अब आपके ही चुभता है, खटकता है। तो क्या निहाल करेगा ? बताओ। उस यश-प्रतिष्ठाके लिये लोग मेहनत करते हैं, समय लगाते हैं, बुद्धि लगाते हैं।

अरे मनुष्य-शरीर प्राप्त किया है भाई ! क्या मान-बड़ाईके लिये ? वह भी चाहो तो भजनसे मिल जायेगी सज्जनो ! भगवान्‌की तरफ चलोगे तो यश, प्रतिष्ठा, मान, आदर सब चरणोंमें लोटेंगे। ऋद्धि और सिद्धि जाके आकर खड़ी है आगे। सब आपके सामने आ जायेगी। गर्ज करेंगे वे। आज धनवान्‌की गर्ज धनवान् करते हैं, राजा-महाराजा करते हैं। वे नहीं करें तो क्या हुआ ? भगवान् करते हैं खुद। भगवान्‌के दरबारमें उनका ऊँचा दर्जा है—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥

'मैं तो हूँ भगतन को दास भगत मेरे मुकुटमणि।'

भगवान् जिसका आदर करे तो दुनियाका आदर क्या चीज है ? दुनियाकी प्रशंसा, दुनियाका आदर कोई मूल्य रखता है क्या ? आज गुण दीखे तो आज प्रशंसा कर दी, कल उसका कोई दोष हुआ तो निन्दा करना शुरू कर दिया। इनमें मान-बड़ाई करके भी क्या कर लिया ? भैया ! वह पद प्राप्त करो, जिसके पानेके बादमें करना बाकी न रहे। वह पद मिल जाय तो मिलना बाकी न रहे।

नाम, गाँव, जाति है; परंतु पहले तू कौन था असली ? अभी कौन है ? और मरनेके बाद कौन रहेगा ? तेरा स्वरूप-तत्त्व वास्तवमें क्या है ? इस बातको जाना ही नहीं और सब जान लिया। अरे, असली बात जाननेकी थी वह नहीं जाना तो क्या जाना ?

जो अपने-आपको जान लेता है ठीक तरहसे, अपरोक्ष रीतिसे किंचिन्मात्र भी सन्देह न रहे, तो वह जीवन्मुक्त हो जाय। तब इसका जानना समाप्त होता है। अपने-आपको जाननेसे जानना पूरा होता है। इतना किया , यह किया पर यह तो नहीं किया। तो करना भी समाप्त हो जाता है तब मनुष्यका जन्म सफल है। करना समाप्त कब होता है ? अपने लिये काम करेगा तो कभी करना समाप्त नहीं होगा। अनन्त जन्मोंतक करते जाओ कभी काम समाप्त नहीं होगा। बाकी-का-बाकी रहेगा। अपने स्वार्थका, अभिमानका त्याग करके दूसरेके हितके लिये किया जाय तो आप कृतकृत्य हो जायँगे। जब अपने लिये कुछ भी करना बाकी न रहे तो '**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७।२)। ऐसे '**बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत**' वह कृतकृत्य हो जाता है। करना बाकी नहीं रहता। करने लायक सब काम कर लेता है। यह करना तभीतक बाकी रहता है, जबतक अपने लिये करता है। अपने लिये नहीं करता है तब उसका करना पूरा हो जाता है।

अरब रुपया देंगे-सा पर अभी गला काट देंगे तो लेकर क्या करेंगे ? जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा रहेगा। उधर-से-इधर पड़ा रहा और क्या हुआ ? तुम्हारे साथ क्या चला ? कुछ नहीं। ऐसे क्या किया तुमने ? बहुत काम किया। ये ऐसे बड़े जज हैं, बैरिस्टर हैं, वकील हैं। इतने रुपये लेते हैं रोजाना। रोजाना हजार रुपये कमाते हैं तो हजार कागज है, कागज। एक तुलीका काम। पहले जमानेके सिक्के हजार रुपयोंके साढ़े बारह सेर होते थे। एक दिनमें १२॥ सेर रुपये लाये तो महीनामें कितना लाये ? बारह महीनेमें कितना लाये ? इतना ढोकर इकट्ठा कर लिया। रात्रिमें हार्ट फेल हो जाय, मर जाय तो क्या किया ? १२॥ सेर बोझा लाये रोजाना, इस कमरेसे उस कमरेमें लाकर रख दिया। एक गधा कितना ढोता है पत्थर एक दिनमें ? उसका हिसाब करो। अरे, वह पत्थर जैसे ही ढोना है क्या ? कैसी बात करते हो ? वह तो पत्थर ढोता है, हम रुपये लाये हैं। इसके मरनेके बाद पत्थरमें, रुपयोंमें क्या फर्क है साहब ? बताओ। पत्थर ढोया तो रुपया ढोया तो क्या फर्क पड़ा ? आपके साथ सम्बन्ध है क्या ? अब।

अच्छे-अच्छे धनी आदमी हुए हैं, आचरण अच्छे नहीं थे तो भूत-प्रेत-पिशाच बन गये, घरमें नहीं आ सकते। घरमें आने देते नहीं उसको। मन्त्रोंसे कीला कर अलग ही रखते हैं कि यहाँ न आ जाय कहीं। वह धनी आ करके आडा (दरवाजा) खटखटावे कि मैं आ गया हूँ पीछा। '**थांरे थान मकान, थांरे थान मकान अठे नहीं अठे नहीं।**' आप अपने स्थानपर रहो यहाँ नहीं, यह दशा है। वह कहता है मैंने घर बनाया है, मेरा रुपया है। यह दशा होगी। इसमें समझता है कि हमने इतना काम कर लिया। क्या काम आया, बताओ ? धन आदिके लिये जो पाप किये हैं वे पाप ऐसा नहीं कहेंगे कि थांरे थान मकान। वह तो कहेंगे अठि आओ, चौरासी लाख योनिमें पधारो।

यहाँ किये हैं कर्म निशंक मानी, वहाँ जाब कछु नहीं आयेगा जी।
जब पूछेंगे हिसाब हजूर वांही तब लेखा दिया नहीं जायेगा जी ॥

पता लगेगा कब उसका फल निकलेगा तब और यह भोगना पड़ेगा भाई। उससे बच नहीं सकते आप। आज चाहे दुनियाको धोखा दे दें, परंतु वहाँ धोखा नहीं होगा।

एक घटना हमने श्रीजयदयालजीके मुखसे सुनी। सेठजी श्रीजयदयालजी गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक और संरक्षक थे, सब तरहसे उसको जन्म देनेवाले। वे चुरूके रहनेवाले थे। चुरूकी बात बताते थे कि जब हम आठ-दस वर्षके थे विश्वेश्वरलालजी खेमका जो अब नहीं हैं, मेरेसे मिले हुए हैं, मेरे बातें हुई हैं तो वे वृद्ध थे। एक लड़का महेश्वरियोंका बीमार हो गया ज्यादा। अधिक बीमार हो गया तो रात्रिमें कई लोग इकट्ठे हो गये। रात शायद ही निकाले मर जायेगा, इस वास्ते बहुत-से लोग जग रहे थे। रात्रिमें बहुत ज्यादा बीमार हुआ, मरणासन्न हुआ तब उसका बाप रोने लग गया। यह बात बिलकुल बीती हुई है। बापको रोता देखकर बीमार पड़ा हुआ छोरा कहता है—अब रोनेसे क्या हो? काम करते समय सोचते तो आज यह दिन क्यों देखनेको मिलता? परन्तु उस समय तो सोचा नहीं अब रोनेसे क्या हो? वहाँ पासमें कई बैठे थे, बात क्या थी। उसने कहा कि यह इसी जन्मकी बात है, पुराने जन्मकी नहीं है। क्या बात है? तो कहने लगा कि देखो! पिताजीकी तरफ इशारा करके कहता है—अमुक संवत्में ये यहाँसे बम्बई गये थे; बीचमें एक स्टेशनपर मैं भी उतरा। दस हजार रुपये मेरे पासमें थे। बंगाली अपना नाम बताया, वहाँका मैं था ही तो हम साथ हो गये दोनों ही। हम उतरे तो भड़भुंजारीके यहाँपर हम दोनों रात्रिको ठहरे। रात्रिको रुपये मेरे पास थे। भुंजारीने और इसने मिलकर मार

दिया और रुपये ले आये तो मेरेको मारकर यह आया है।

वे लोग पासमें बैठे इधर-उधर देखने लगे कि बात तो ठीक दीखती है। यह उस समय गया था बम्बई (कर्जा था)। पीछे जल्दी लाकर उतार दिया तो आश्चर्य आया कि इतनी जल्दी कर्जा कैसे उतारा ? तो बहम लोगोंके था ही। बात मिल गयी। वह बोला—इस वास्ते मैं आया हूँ बदला लेनेके लिये। इतना रुपया इसका खर्च हो गया है मेरे जन्ममें, इतना विवाहमें और इतना कुछ बाकी रहा है। एक बार और आऊँगा। अब ये रोवे, अब रोनेसे क्या हो ? ऐसा बदला लेनेवाला लड़का था वह। पासमें बैठे लोगोंने पूछा—इसने तो इतना अन्याय, अत्याचार किया पर इस बणियेकी बेटीने क्या खराब काम किया जो यह विधवा हो गयी ? गुस्सेमें आकर बोला, यह वही राँड भुंजारी है। दोनोंने मिलकर मारा था मेरेको, अब रोती रहेगी उम्रभर। उसका बाप बोला कि यह सन्निपातमें आ गया। सन्निपातमें आनेपर बादीमें बकता है। यह ऐसे ही बकता है, प्रलाप करता है। वायुका जोर है। उसने कहा कि 'वायुका जोर नहीं है, मैं सन्निपातमें नहीं हूँ। अमुक-अमुक सेठकी हवेलीके दक्षिणकी तरफ चार चोर भीत फोड़कर भीतर घुस रहे हैं और वे चोरी करेंगे। जाकर देख लो, अगर यह बात सच्ची तो मेरी बात भी सच्ची। वह बात झूठी तो मेरी बात भी झूठी।' उस समय तो वहाँ कोई गया नहीं। बात सबके सामने हो गयी और वह मर गया। लोगोंने सुबह देखा कि बात सच्ची है। भीत तोड़ी हुई है, चोरी हो गयी तो यह बीती हुई घटना है भाई ! यहाँ जो काम करते हो राई-राईका लेखा होगा।

जब हक पूछे हिसाब मांही तब लेखा दिया नहीं जायगा रे।
सेवग साहब सो चोर······· जम के हाथ बिकायगा रे॥

पड़ते हैं। आपको इस जन्ममें कर्म बिगड़नेकी एक बात बतायी, सच्ची घटना है। ऐसी घटनाएँ मैंने सुनी हैं। ऐसा होता है और भोग भोगना पड़ता है। इस वास्ते मनुष्यको बड़ी सावधानी रखनी चाहिये।

डरते रहो यह जिन्दगी बेकार न हो जाय।
सुपने में किसी जीवका अपकार न हो जाय॥

पाप, अन्याय करके नरकोंके दुःखोंकी तैयारी कर लेना, कितनी बड़ी हानिकी बात है। मानव-शरीर मिला भगवान्‌की कृपासे। प्रभुकी प्राप्ति कर लो, तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर लो, जीवन्मुक्ति कर लो, मुक्त हो जाओ—ऐसा सुन्दर मौका मिला है। ऐसे मौकेको खो करके पाप-संग्रह कर लिया।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

जिस क्षणमें, मुहूर्तमें भगवान्‌का चिन्तन नहीं हुआ वह बड़ी हानि है। '**महत् छिद्रम्**' बड़ी गलती हुई, 'अन्धता' मूढ़ता—बड़ी भारी नीची-से-नीची बात है कि भगवान्‌का चिन्तन नहीं किया। भगवान्‌के चिन्तनके लिये, उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही मानव-शरीर मिला है। यह धन कमानेके लिये, भोग भोगनेके लिये शरीर नहीं है। जैसा बाल्यावस्थामें ब्रह्मचर्याश्रम है, वह केवल विद्याध्ययन करनेके लिये है। उम्रभरमें वह विद्याध्ययनका मौका है, ऐसे चौरासी लाख योनियोंमें एक ब्रह्म-विद्याका अध्ययन करो। उसके लिये यह मानव-शरीर है। उस मानव-शरीरको ऐसे ही खो देना, कितनी बड़ी हानिकी बात है और वह समय है आपके पास। अभी हम जी रहे हैं।

अभी धौंकनी चल रही है, आँखें टिमटिमा रही हैं। अभी चेत करें तो अभी काम कर सकते हैं। कितना कर सकते हैं कि पूरा-का-पूरा। भगवद्गीता कहती है मूर्ख-से-मूर्ख परमात्माकी प्राप्ति कर ले।

पापी-से-पापी हो तो परमात्माकी प्राप्ति कर ले। थोड़े-से-थोड़े समयमें प्राप्ति कर ले। ये तीनों बातें याद कर लो। आप योग्य नहीं हैं, पढ़े-लिखे नहीं हैं, महान् मूर्ख हैं तो परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌ने दसवें अध्यायमें कहा—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०। ९)

मेरेमें तो मन लगा दे और मेरे लिये ही जीवन धारण कर। प्राणोंका उपयोग मानो भगवान्‌के लिये ही हम जीते हैं और कोई काम नहीं करना है। न संग्रह करना है, न भोग भोगना है। यश, प्रतिष्ठा, मान कुछ भी प्राप्त नहीं करना है। भगवान्‌को प्राप्त करना है। ऐसे विचार करके '**मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।**' आपसमें मिले तो भगवत्सम्बन्धी बात चलावे, भगवत्सम्बन्धी बात ही सुने, वही बात छेड़े। '**कथयन्तश्च मां नित्यम्**' सुननेवाले हों तो मेरी बात ही कथन करे औरोंको सुनावे। '**तुष्यन्ति च रमन्ति च**' इसमें ही सन्तोष लाभ करते हैं। जितना समय भगवच्चरणोंमें बीत गया, भगवान्‌के चरणोंमें समय लगा वही सफल है। '***जो दिन जाय भजन के लेखे सो दिन आसी गिणती में।***' आपकी गिनतीमें वही समय आयेगा जो भगवान्‌के भजनमें बीता। कौशल्या माँने कहा राम ! तुम्हारे बिना जो हमारे दिन बीते, ब्रह्माजी उन दिनोंको हमारी उम्रमें न गिनें। यह मनुष्य-शरीरका समय नहीं है। हमारा तो समय जो रामलला सामने रहे वही मनुष्य-जन्मका समय है। भजनके बिना जो समय गया वो निरर्थक गया, उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। आज दिनतक जो निरर्थक समय गया है उसकी पूर्ति जन्म-भरमें नहीं हो सकती कभी। अगर

हम अब तत्त्वकी प्राप्ति कर लें, भगवान्‌के दर्शन कर लें तो भी जो समय खाली गया, वह तो हानि ही हो गयी। समय खाली नहीं जाता तो उसी समय प्राप्त कर लेते कि नहीं? तो उतना समय खाली गया उसकी हानि हो गयी, उसकी पूर्ति कैसे हो? '***गया वक्त आवे नहीं पीछा।***' आज दिनतकका समय चला गया, अवस्था चली गयी, वह दिन पीछा आ सकता है क्या? वह तो गयी। गयी नहीं रही हुई भी जा रही है। रहा हुआ समय भी जा रहा है।

तज के सन्तोष सठ दीनन को मोस
मोस सब आने भरी खोस है।
गयो परदादे दादे पितु मातु राह जाय,
रहये रात दिन देखे निशी डोल रहे।
तोऊ नहीं हीश कोउ कहे काहु करत
रोष बिन जाने देत दोष है।
ओस अम्बु को सो क्षण भंगुर शरीर यह,
अमर करनो चाहे यही अफसोस है॥

'ओस अम्बु को सो'—जैसे ओसका पानी कितनी देर ठहरता है। क्या कहें? बड़े दुःखकी बात है ऐसे शरीरको रखना चाहते हैं। सब शरीरधारी संसारसे मर गये पर हम तो रहेंगे ही—तो तुम कैसे रहोगे? तुम्हारा मसाला और तरहका है क्या? अमुकका हार्ट फेल हो गया तो तुम्हारा फौलादका है क्या? कितने दिन ठहरोगे भाई। उसी मिट्टीसे ये बने हुए शरीर हैं। जिस मसालेसे वे मरनेवाले बने थे उसी मसालेसे ये बने हुए हैं और यह मृत्युलोक है मरनेवालोंका लोक है। यहाँ सब मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। ऐसे शरीरमें निश्चिन्त कैसे बैठे हो? कहाँ हो? किस देशमें हो?

कोई आज गया कोई काल गया कोई जावनहार तैयार खड़ा,
नहीं कायम कोई मुकाम यहाँ चिरकाल से यही रिवाज रही,

जाग मुसाफर देख जरा तेरे कूच की नौबत बाज रही,
सिर कूच की नौबत बाज रही......।

थारे माथे नगारा बाजे मौत ना रे,
तू तो जाने छे माने मरणो नथी रे।
मरणो पड़सी के आज के काल,
थारे माथे नगारा बाजे मौत ना रे ॥

मृत्युके दिन नजदीक आ रहे हैं भाई ! आप-हम यहाँ आकर बैठे उस समय उमर जितनी बाकी थी उसमेंसे उतना समय हमारा बीत गया है। एक घण्टा कम हो गया है जीनेमें, मौत नजदीक आ गयी है। आ गयी नहीं है आ रही है, प्रतिक्षण नजदीक आ रही है और निश्चिन्त बैठे हैं ! कौन रहने देगा यहाँ ? समय आयेगा उसी क्षण चलना पड़ेगा।

हाकम आये हवालदार छोड़ नगरी,
छोड़ नगरी रे हंसा छोड़ नगरी।
हाकम आये हवालदार छोड़ नगरी। दोय घड़ी ठहरो यमराजा माया पड़ी है मेरी बिखरी, माया पड़ी है मेरी बिखरी।

तो इकट्ठी करके क्या निहाल हो जायेगा। थोड़ा काम बाकी रह गया। वहाँ तो एक नहीं सुनेंगे एक, उसी क्षण चलो फिर देरी नहीं होगी। वह दिन आ रहा है, उसका खयाल ही नहीं है। उस संसारमें है जहाँ मौत होती है, सबकी मृत्यु आती है और वह पता नहीं कब आ जाय ? जन्मसे लेकर सौ वर्षकी उम्रतक कोई वर्ष आपने सुना कि इस वर्ष मौतका कोई भय नहीं है। एक वर्ष, दो वर्ष, दसवाँ, पचासवाँ कोई ऐसा वर्ष है कि अब तो निश्चिन्त रहो कि इस उम्रमें तो कोई मरता नहीं है। ऐसा देखा कभी। सबके लिये सौ-के-सौ वर्ष मौतके लिये खुले हैं। वर्षभरमें कोई महीना आपने देखा कि यह तो मलमास लग

गया है तो अब इस महीनेमें मरेगा नहीं कोई। अमुक महीना आ गया है, ऐसा कोई महीना देखा जिसमें मरता नहीं। बारह महीना मौतके लिये खुला। महीनेमें ३०-३१ दिन होते हैं। कोई दिन देखा कि आज रविवार आ गया आज तो मरनेकी छुट्टी है। सब दिन खुले हैं। २४ घण्टे खुले हैं। यह नहीं कि इस एक घण्टामें कोई नहीं मरेगा। सब मिनट, सेकेण्ड मौतके लिये खुले हैं भाई ! जीनेका भरोसा नहीं है मौत हरदम तैयार है। ऐसे खतरेमें हैं—और निश्चिन्त बैठे हैं। मानो वो काम कर लिया। जिस कामके लिये आये हो, वह काम किया कि नहीं ? वह तो किया ही नहीं। फिर क्या किया तुमने ? इतना धन कमा लिया, इतना यह कर लिया तो क्या काम आवेगा-सा ? आज अगर मर जाओ तो क्या काम आवेगा ? जितना भजन-स्मरण किया है, जितना अन्तःकरण शुद्ध कर लिया है वह पूँजी साथ चलेगी। वह न करके और क्या किया तुमने ?

मार ही काल अचानक चपेट हि, होई घड़ीक में राख की ढेरी।
ये मेरे देश विलायत है ये मेरे गज ये मेरे हाथी।
ये मेरी कामिनी केलि करे नित ये मेरे सेवक हैं दिन राती।
ये मेरे मात पिता पुनि बाँधव ये मेरे पुत्र अरु नाती।
सुन्दर ऐसे ही छाड़ चलेगो तेल जल्यो बुझी जैसे बाती॥

अब खत्म हो गया बस। ऐसे ही उमर खत्म होनेपर उसी क्षण जाना पड़ेगा। ये मेरे-मेरे कहलानेवाले काम नहीं आयेंगे। कोई स्नेह करनेवाला है नहीं। थोड़ा-बहुत कोई स्नेह करनेवाला होगा तो रो देगा बस। और वो क्या करेगा ? बताओ कोई सहायता कर सकता है ? कोई बचा सकता है। हृदयसे सहायता करनेवाला कोई नहीं है। कोई हो तो करे क्या ? बस चलता नहीं किसीका। आज आप स्वतन्त्र हो अपनी करनी ऐसी कर लो—

कबिरा सब जग डरपे मरण से, मेरे मरण आनन्द।
कब मरिये कब भेटिये, पूरण परमानन्द॥

लोग तो मरनेसे डरते हैं, मेरे मरनेका आनन्द है, मौज हो गयी अपने तो बस मर जायँ तो ठीक है। लेना कुछ नहीं रहा, करना कुछ नहीं रहा। '***रज्जब धोखा को नहीं फल दे सूखा खेत।***' अब सूख जाय तो क्या हर्ज हुआ? ऐसे मनुष्य-शरीरको सफल बना लिया जाय तो बड़ी अच्छी बात है। अगर अभी करना और जानना बाकी है तो जानना स्वयंके जाननेसे पूरा होगा। करना—उपकार करनेसे, दूसरोंके लिये ही करनेसे करना बाकी नहीं रहेगा। अपने लिये करनेसे तो करना बाकी ही रहेगा; क्योंकि करनेसे जो मिलेगा वो नाशवान् मिलेगा। वह तो खत्म हो जायगा, फिर करना बाकी रह गया तो रहे रीते-के-रीते ही। करते-करते उमर बीत गयी पर करना बाकी तो कई जन्म बीत जायँगे फिर भी करना बाकी रहेगा। घांणीका बैल उमरभर चलता है पर वहाँ-का-वहाँ ही रहता है। एक कदम इधर-उधर नहीं जाता रहता है वहाँ ही। एक बार मर गये फिर जन्मों, फिर मरो। अब यह चक्करका अन्त आयेगा कभी। वह करना सही करना नहीं है भाई! दूसरोंके लिये करना है, हमारे लिये कुछ करना नहीं है। 'कृत्यकृत्य' हो जायेंगे। परमात्माको अगर प्राप्त नहीं करोगे तो प्राप्त करना बाकी रहेगा। परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद फिर '**नानवाप्तमवाप्तव्यम्**' फिर प्राप्तव्य बाकी नहीं रहेगा।

जायँगी। ऐसी विलक्षण बात है। ज्ञात-ज्ञातव्य हुए तो प्राप्त-प्राप्तव्य और कृतकृत्य भी हो जायँगे। कृतकृत्य होते ही ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जायँगे। ऐसे प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाओगे तो ज्ञात-ज्ञातव्य और कृतकृत्य हो जाओगे। एक करनेसे तीनों काम सिद्ध हो जाते हैं ऐसी बात है। उसको प्राप्त करनेका अधिकार सबको है। मनुष्यमात्र उसको प्राप्त कर सकता है, कारण कि **यह मनुष्य-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है।** इसमें अगर नहीं होगा तब कब होगा ? कई लोग कहते हैं— हम तो ऐसे-ऐसे हैं। तुम कैसे ही हो चाहे। परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हो, संसारका अधिकार बराबर दोको भी नहीं मिलता। मिल जाय तो सर्वोपरि नहीं हो सकता। एकको सर्वोपरि पद मिला—दूसरा भी सर्वोपरि हो गया तो वह पद सर्वोपरि नहीं रहा न ? धनियोंमें भी सबसे बड़ा धनी बने तो एक हो सकता है। संसारभरमें एक धनी हो सकता है। दो हो गये तो सर्वोपरि नहीं हुआ। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर सर्वोपरि हो जायगा। सभी सर्वोपरि, सब ही महापुरुष, जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्स्वरूप। सब-के-सब सर्वोपरि हो जायँ, ऐसा पद मिल सकता है। कोई मूर्ख-से-मूर्ख हो उसको बुद्धियोग मैं देता हूँ, जिससे मेरी प्राप्ति हो जाय। देदीप्यमान ज्ञान-दीपकके द्वारा उनके अज्ञानान्धकारका नाश मैं कर देता हूँ। (गीता १० । ११) । इससे बहुत जल्दी प्राप्ति हो जायगी मेरी। पहले तो मूर्ख-से-मूर्खका बताया। अब पापी-से-पापी, अन्यायी-से-अन्यायी, दुष्ट-से-दुष्टके लिये बताते हैं। **'भजते माम् अनन्यभाक्'** उसने अब दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं भगवान्‌का भजन ही करूँगा निरन्तर, भजनके सिवाय और कुछ नहीं करूँगा। संसारका काम करूँगा तो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करूँगा। गृहस्थका काम करूँगा तो गृहस्थ मेरा नहीं है ठाकुरजीका है। ठाकुरजीपर अहसान

करता है कि आपका काम करता हूँ। आपका पालन-पोषण करता हूँ, आपके बच्चोंका पालन-पोषण करता हूँ। सभी मर जायँ तो रोएँ ठाकुरजी मैं क्यों रोऊँ ? मैं तो काम करनेवाला हूँ। मेरा कोई है ही नहीं। काम करूँगा, सेवा करूँगा। ऐसे अनन्यभाक् मेरा भजन करता है। पापी-से-पापी जब अनन्यतासे लग जाता है अब पाप नहीं करूँगा तो '***रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की।*** (मानस १। २९। ५)। उसके हृदयका भाव है उसको भगवान् आदर करते हैं। पाप सब नष्ट हो जायँगे। पापी-से-पापी भी बहुत जल्दी '**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**' देरीका काम नहीं। कितनी विलक्षण बात है। '**शश्वच्छान्तिं निगच्छति**', '**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥**' (गीता ९। ३१)। मेरे भक्तका विनाश नहीं होता। पापी-से-पापी तथा मूर्ख-से-मूर्ख थोड़े-से समयमें उसको प्राप्त कर सकता है '**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ॥**' अन्तकालमें मर रहा है, अन्तिम श्वास जा रहा है। '**स्थित्वा स्याम् अन्तकालेऽपि**' अन्तकालमें भी भगवान्‌की याद कर ले तो '***अन्तमति सो गति***' उसे प्राप्ति हो जाय। थोड़े-से-थोड़े समयमें मूर्ख-से-मूर्खको, पापी-से-पापीको, परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय।

यह मनुष्य-जन्म सफल हो जाय उसके लिये इतना समय दिया, साठ वर्षतककी उम्र दी। अगर भगवत्प्राप्ति करते तो बहुत जल्दी हो जाती, पर उधर तो गये ही नहीं आप। यह तो किया ही नहीं। एक परिवार गया प्रयागराज कुम्भ-मेलेमें। भीड़ ज्यादा देखकर, जंगलमें बाहर ठहर गये। धनी आदमी थे पहरा लगा दिया। दूध लाना पड़ता गाय ही खरीद ली, रसोई बनती है, भोजन करते हैं, आरामसे रहते हैं। तम्बू लगा दिये। रहे महीना भर माघमें फिर आये पीछा। उनको

पूछा कहाँ गये थे ? प्रयागराज ! वहाँ त्रिवेणी नहाये कि नहीं ? नहीं, हम तो बाहर रहते थे, प्रबन्ध हमारे बहुत बढ़िया था। वहाँ नौकर-चाकर सब काम करते थे। वहीं रहते रात-दिन। बड़ा अच्छा प्रबन्ध था, सब चीज मँगा लेते, सब होता था। ऐसे रहे वहाँ तो तब प्रयागराज क्यों गये ? त्रिवेणीजी देखी ही नहीं, उसमें स्नान तो किया ही नहीं।

ऐसे मानव-शरीर प्राप्त किया, धन कमा लिया, बेटा-बेटीकी शादी कर दी, मकान बना लिये, बहुत-से मुकदमोंमें हम जीत गये। जीत करनेके लिये गये थे क्या मनुष्य-शरीरमें ? मनुष्य-शरीर इसके लिये मिला था क्या ? सब काम कर लिये। अरे, भजन किया कि नहीं। यह तो नहीं किया यह तो भूल गये और बताओ कोई कमी हो तो और सब कर लिया काम।

एक टोली आ रही थी पूछा क्या है ? बरात-है-बरात जान। अच्छा तुम्हारेमें दूल्हा नहीं दीखता है, दूल्हा कहाँ है ? नहीं लाये क्या ? नहीं लाये सा, आपसमें पूछने लगे वह तो वहीं भूल गये। बड़े कामोंमें कोई-न-कोई भूल रह जाती है। बड़ा काम है जिसमें कसर रह जाती है। ***'बींद (दूल्हा) बिहुणी जान कहो कुण काम की'*** सन्तोंने कहा है कि भजन नहीं किया तो क्या काम किया मनुष्य-शरीर ले करके ? एक ही भूल हो गयी। बरात जा रही है बिना दूल्हाके तो रोटी भी कौन खिलायेगा ? साथमें दूल्हा तो है ही नहीं। बींद (दूल्हा) तो है ही नहीं और बताओ। जेवर, गहना, रुपये, पैसे हमारे पास कितना है ? सब सामग्री हमारी तैयार है सा। एक भूल हो गयी। बींद (दूल्हा) भूल गये। ऐसे मानव-शरीर प्राप्त किया जिसमें भजन करना तो भूल गये और सब काम ठीक कर लिया। यह तो भूल हो गयी। यह काम तो और जगह हो जाता। एक सुअरनीके ग्यारह बच्चे देखे हैं।

यह कौन-सा काम बाकी रहता। और जगह ही हो जायेगा खाना, पीना, सोना आदि '**खादते मोदते नित्यं कूकरः सूकरः खरः। तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी॥**' यह तो वहाँ ही हो जायेगा भाई! भजन कहाँ होगा? परन्तु इधर तो ध्यान ही नहीं, खयाल ही नहीं है। यह होश कब होगा भाई! होश होनेपर क्या होगा? समय निरर्थक न जाय, अच्छे-से-अच्छे, ऊँचे-से-ऊँचे काममें समय लगाया जाय।

मानव-शरीरका समय है सज्जनो! यह उमर बड़ी भारी कीमती है। इसमें बड़ा भारी काम किया जा सकता है। वह समय खराब कर दिया केवल पापोंमें, खाने-पीनेमें, ताश-चौपड़में। खेल देखते हैं, तमाशा देखते हैं, वाइस्कोप देख लिया, थियेटर देखने गये थे। अरे! समय बरबाद कर दिया तुमने। क्या फायदा निकला बताओ? आपने बहुत सिनेमा देख लिया, हमने नहीं देखा, दोनोंका मिलान करो। क्या आपमें विलक्षणता आ गयी? क्या विचित्रता आ गयी? भोग भोगनेसे क्या विचित्रता आ गयी? धन कमा लिया, भोग भोग लिया तरह-तरह के। जिसने नहीं भोगा उसे मिलान करके देखो क्या फर्क आता है? मेरे तो ऐसी बात आयी है पहले। मूर्खताकी बात बतावें।

एक आदमीको देखा, उनके भोग-सामग्री बढ़िया थी। मनमें आया कि इसके तो भोग-सामग्री है हमारे नहीं है। फिर विचार किया कि भोग भोगनेवालेमें और हम न भोगनेवालेमें अन्तर क्या है? इसमें क्या विलक्षणता है? विलक्षणता हमें मिली नहीं। नहीं तो हम भी विचार करते कुछ। नशा पता करनेवालेमें देखा तो उनमें भी कुछ विचित्रता नहीं है। गोरखपुरमें मैंने व्याख्यानमें कह दिया था—ये नशा पता जितना करते हैं। अधिक-से-अधिक नशा करनेवाला आ जाओ मेरे सामने, मेरे-जितना बोल दो, मेरे-जितना चलो, मैंने उद्दण्डता कर दी कि कुश्ती आ जाओ मेरेसे भले ही। मैंने नशा पता नहीं किया,

आपने बहुत किया है। आपमें क्या विलक्षणता आयी ? समय बरबाद कर दिया, जीवनके बदलेमें आपने हासिल क्या किया ? मानव-शरीर मिला है न। मानव-शरीर प्राप्त करनेपर कुछ अलौकिकता प्राप्त हो जाय तब तो उसकी महिमा है।

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(मानस ७। ४३। ७)

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्-
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(भागवत ११। ९। २९)

एकादश स्कन्धमें कहते हैं ''**सुदुर्लभम्**'' महान् दुर्लभ।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

(विवेकचूड़ामणि ३)

भगवत्कृपा ही जिनकी प्राप्तिका कारण है वे मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व (मुक्त होनेकी इच्छा) और महान् पुरुषोंका संग— ये तीनों ही दुर्लभ हैं। ऐसा '***दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।***' ऐसी दुर्लभ चीज सुलभतासे मिल गयी। '***पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥***' ऐसा समय मिल गया है, ऐसा मौका मिल गया है। सज्जनो ! गीता-जैसा ग्रन्थ मिल गया, अच्छे-अच्छे सन्त महापुरुषोंकी वाणी मिल गयी। उन लोगोंने कहा—वह मार्ग हम कुछ जानने लग गये, हमारी थोड़ी-बहुत दृष्टि उधर चली गयी। सत्संग भी करते हो तो यह करनेका क्या असर हुआ ? क्या किया ? अगर इस काममें सच्चे हृदयसे नहीं लगे तो क्या किया ? समय मिला हुआ है वह जा रहा है। प्रतिक्षण जा रहा है।

भजन बिना दिन जावे, अरे मन तूँ गोविन्द क्यूँ नहीं गावे ?
भजन बिना दिन जावे, दिन जावे ॥

पल पल करते छिन छिन बीते, छिन से घड़ी हो जावे
फिर घड़ी घड़ी करते पहर बदीती आठ पहर घुल जावे ।
भजन बिना दिन जावे । मन तूँ गोविन्द क्यूँ नहीं गावे ?

अब सावधान होओ, ***अब गयी सो गयी राख रही को, मनवा अजहुँ मान सही रे।***

पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र, धरा धन धाम हैं बन्धन जीव को ।
बारहिं बार विषय फल खात, अघात न जात सुधा रस पी को ॥
आन अज्ञान तजो अभिमान, कहि सुन कान भजो सिय पी को ।
पाय परंतप हाथ सुं जात, गयी सो गयी अब राख रही को ॥

अब जितना समय बच गया है वह लगा दो।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

(मानस ७ । ४३)

इस वास्ते भाई ! अभी मौका मिल गया है। अपना समय सब लगा दो भगवान्‌के भजनमें।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

(दिनाङ्क १२ अगस्त, १९८१)

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—६

भाई-बहन उद्योग नहीं करते, इसमें तत्त्व क्या है ? सार चीज क्या है ? उस तरहसे मैं बात बताता हूँ, आप ध्यान देंगे। रुपयोंकी महत्ता बहुत बैठी हुई है। सब जगह ही है, पर यहाँ कुछ विशेष देखनेमें आती है। अब क्या करें ? फिर कहता हूँ आप ध्यान दें। ध्यान देनेकी बात यह है कि हमारे मनमें रुपयोंकी इच्छा जोरदार होगी तब रुपये सुख देंगे। संसार जो सुख देता है वह संसार कोई सुख देनेका सामर्थ्य नहीं रखता है। **हमारी इच्छा होनेसे संसार सुखदायी दीखता है।** जिस विषयमें हमारी इच्छा नहीं है। उस विषयमें संसार सुख नहीं दे सकता। यह एकदम पक्की बात है। कृपा करके मेरी बात सुन लें। रुपयोंका लोभ मनमें न हो। रुपया मेरेको मिले, ऐसी तृष्णा न हो, उसको रुपया सुख नहीं दे सकता।

रुपयोंमें सुख नहीं

सुख देनेकी ताकत रुपयोंमें नहीं है, आपके लोभमें है। मेरी बातका मनन करते चले जायँ। इसे समझनेके लिये जितनी शंका करें उतनी बढ़िया है। आप गहरी रीतिसे शंका करोगे तो मेरे प्रसन्नता बहुत होगी। मेरेको आप भेंट-पूजा दे दो, भोजन, कपड़ा दे दो और कुछ दे दो उससे उतना मैं राजी नहीं होऊँगा। पक्की बात है। जितना इस

विषयमें समझोगे तो मैं बड़ी भारी कृपा समझूँगा, मामूली कृपा नहीं, बड़ी भारी कृपा समझूँगा। इस बातको समझोगे तो। सीधी बात है बिना इच्छाके पदार्थ सुख दे सकता नहीं कभी भी। यह आपके जँचे या न जँचे, इसका तो पता नहीं, परंतु बात बिलकुल सोलह आना सच्ची है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी इधर-उधर है नहीं। पक्की बात है। रुपयोंमें लगे हो, हाय रुपैया ! हाय रुपैया ! उसमें लगे हो। वह रुपया सुख देता है कब ? जब आपके इच्छा होती है तब। इच्छा बिना सुख नहीं दे सकता रुपया। अगर सबको सुख दे तो कुत्तेको भी सुख देना चाहिये। रुपयोंकी थैली रख दो उसके सामने, वह पेशाब करके चला जायगा। रुपयेमें ताकत है तो कुत्तेको भी सुख मिलना चाहिये। अब आप कह सकते हो कि कुत्ता तो समझता नहीं, परंतु अब वह उदाहरण तो कैसे दूँ। सुनी हुई बात तो मैं कह दूँ, पर आपको समझानेकी मेरे पास ताकत नहीं है।

जिसके हृदयमें वैराग्य है, रुपयोंमें राग नहीं है, आसक्ति नहीं है, प्रियता नहीं है—ऐसे पुरुषोंको रुपया सुख नहीं दे सकता। अब कैसे समझाऊँ बताओ। आपको वैराग्य हो तब पता लगे। बिना वैराग्यकी बात भी मैं कह सकता हूँ। मेरे कहनेमें बहुत उत्साह है। आप थोड़ी कृपा करें। अधिक-से-अधिक लोभी आदमीको लो, जो रुपयोंके लिये कुएँमें पड़नेको तैयार। कहीं रुपये मिल जायँ, बस। ऐसा अधिक-से-अधिक लोभी, उसको लाकर हाजिर कर दो और उसके सामने कह दिया जाय और रुपयोंका ढेर लगा दो। एक-एक रुपया आप गिनते जाओ। जितने गिनोगे उतने आपके। गिनते ही जाओ। बन्द कर दिया तो फिर बन्द हो जायगा। वह कितनी देर गिन सकेगा ? आठ पहर भी नहीं गिन सकता।

आप कहो कि भूख लगती है, प्यास लगती है, टट्टी-पेशाब

लगती है। अच्छा छुट्टी दे देंगे। भोजन कर लो, पानी पी लो, फिर बैठ जाओ, टट्टी-पेशाब फिर आओ, फिर बैठ जाओ। तो क्या आठ पहर गिन सकोगे ? है किसीकी ताकत ? अभी मेरे पास रुपया नहीं है, नहीं तो अभी आपको करके बता दूँ। नहीं गिन सकोगे। नहीं रह सकोगे। टिक सकोगे नहीं। अब तो नींद आती है तो नहीं भाई, नींद नहीं लेना और तुम जो कुछ कर लो। नींद नहीं। नींद लोगे तो रुपया नहीं मिलेगा। रुपया छोड़ो मत। टट्टी-पेशाब भी जाओ तो हाथमें पकड़े जाओ। भोजन करो तो भी पकड़े रखो रुपयोंको। पानी पीओ तो रुपयोंको पकड़े ही पानी पी लो। नींदमें छूट जायगा। याद नहीं रहेगा। रुपये छूट जाते हैं तो इसका मतलब आप रुपयोंको नहीं चाहते हो ! नहीं चाहते हो ! नहीं चाहते हो ! अगर चाहते ही हो तो रुपयोंको छोड़ो मत।

सज्जनो ! रुपयोंकी चाहना आपके है नहीं। मूर्खतासे लोभ करके चाहना पैदा की गयी है। यह आपका काम नहीं है, नहीं है, नहीं है। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध आपका छूट सकता नहीं। रुपयोंके साथ सम्बन्ध आपका रह सकता नहीं। इतने रुपये दूर हैं आपसे। सब भोगोंसे दूर हो जाते हो। अब जरा एक बातपर खयाल करके देखो। रुपयोंके, भोगोंके साथ रहते-रहते आपका बल, बुद्धि, आपका स्वास्थ्य ठीक रहता है या रुपये आदि छोड़कर जब नींद गहरी ले लो तब आपका स्वास्थ्य ठीक रहता है। बताओ, विचार करके बोले तब पता लगे।

नींद आती है गहरी। उस समय पदार्थ, रुपये, भोग याद नहीं रहते। उससे शरीरको शक्ति मिलती है, स्वास्थ्य बढ़ता है। मनमें, बुद्धिमें, इन्द्रियोंमें स्फूर्ति आती है, स्वच्छता आती है, निर्मलता आती है, ताकत आती है। इनके संगसे ताकतका नाश होता है।

इस बातको खूब विचार करो आप। आपको खुराक रुपये, पैसे नहीं दे सकते, जितना इनका वियोग आपको शक्ति देगा। रुपयोंका, संसारके पदार्थोंका, व्यक्तियोंका वियोग आपको जो सुख देगा—वह सुख इनका संयोग नहीं दे सकता। मैं बड़े जोरसे कहता हूँ। मेरे-से बुद्धिमान् आदमी एकान्तमें मिलें और बात करें। हमारी बात कभी फेल हो नहीं सकती। इतनी पक्की और सच्ची बात है। ठोस बात है। हमारे पीछे भगवान्, शास्त्र, धर्म, ऋषि-मुनि सब हमारे साथ हैं। आपके साथ लोलुप हैं। नारकीय जीव हैं और कोई नहीं है आपके साथ।

अनुभवका आदर करो

गाढ़ी नींदमें क्या होता है ? रुपये छूटते हैं। रुपये याद नहीं रहते। परिवार याद नहीं रहता ? भोग याद नहीं रहता। गाढ़ी नींद आ जाती है। अन्तःकरण स्वच्छ होता है। इन्द्रियोंमें, मनमें, बुद्धिमें, सबमें शक्ति आती है। स्फूर्ति आती है, बल आता है। इधर इनके संयोगसे शक्ति नष्ट होती है। पतन होता है। रोग पैदा होते हैं और गाढ़ी नींदसे रोग दूर होते हैं। पदार्थोंके छूटनेसे जो सुख है, पदार्थोंके साथ मिलनेसे वह सुख नहीं है। यह आपका अनुभव है। इतनेपर भी आप छोड़ते नहीं, अब क्या बताएँ ? जहाँ इनका संग छूटा कि वहाँ परमात्माका संग है। परंतु वह नींदमें है, बेहोशीमें है। बेहोशीका संग भी शान्ति देनेवाला है। होशपूर्वक संग हो तो निहाल हो जाओगे आप। यह कहते हो कि अनुभव नहीं है। पर आपको अनुभव है इस बातका। पर आप अनुभवका आदर नहीं करते हो। इस तरफ ध्यान नहीं देते हैं। कृपा करो, ध्यान दो थोड़ा-सा। एक कल्पना करो।

मेरे मनमें लग गयी कि यह घड़ी हमारेको मिल जाय— ऐसा विचार हुआ। ऐसा विचार होनेसे क्या हुआ है कि यह घड़ी

मेरे मनमें बस गयी, अब मनसे छूटती नहीं। चलते-फिरते याद आती है कि घड़ी एक बढ़िया हमारे हाथ आ जाय। ऐसी मनमें बस गयी, अब घड़ी मिल गयी। किसी रीतिसे घड़ी मिल गयी। मिलते ही सुख होता है, घड़ी मिल गयी। मिलते ही सुख क्या हुआ कि भीतरके मनसे घड़ी छूटी है, घड़ीके मिलनेका वह सुख नहीं हुआ है सज्जनो ! मनसे घड़ी निकली है उसका सुख हुआ। इस बातको आप समझें। कृपा करें, इतनी मेहरबानी करें। ध्यान दें।

मनसे घड़ी निकल गयी, सुख हो गया। घड़ीमें अगर ताकत हो तो इसको पकड़े रहो, हरदम अगर सुख हो जाय। शर्त कर लो, होड़ लगा लो, कभी सुख नहीं हो सकता। घड़ी मिलनेसे ही अगर सुख होता हो तो घड़ीको पकड़े ही रहो, सुख होना चाहिये। कभी नहीं होगा। मनसे घड़ी निकलते ही सुख होगा। मेरे मनसे जो बात निकले वही बात है। मारवाड़ीमें ऐसी कहावत है—***तू भी थारे मन री काढ़ ले***— निकाल ले मनकी। मनकी निकालता है और कुछ नहीं है संसारका सुख।

जो आप कहते हो संसारसे सुख मिलता है। भगवान्‌से सुख मिलता नहीं। यह गलत है आपकी बात। संसारका सुख मिलता कहाँ है ? मनकी निकलती है। वह सुख दीखता है। वियोगमें सुख है, रुपयोंके वियोगमें सुख है, घड़ीके वियोगमें सुख है, पदार्थोंके वियोगमें सुख है। इनके मिलनेसे सुख नहीं होता। आप विचार नहीं करते। मूर्खताके कारण मान लेते हो कि घड़ी मिलनेसे सुख हुआ। घड़ी मिलनेसे सुख नहीं हुआ है। घड़ी भीतरसे निकल गयी, उसका सुख हुआ है।

आपको संसारके वियोगमें सुख है। संसारके संयोगमें सुख नहीं है। बिलकुल पक्की बात है। आप समझें चाहे न समझें। इस बातमें

फर्क नहीं है। हमने अच्छे-अच्छे पुरुषोंसे सुना है। अच्छी-अच्छी पुस्तकोंमें पढ़ा है और विचारमें आती है मेरे ये बात। इसमें संदेह नहीं है। जिस किसी चीजके मिलनेसे सुख मानते हो यह बिलकुल गलत है, बिलकुल गलत है। जिसका आपके मनमें ज्यादा आग्रह है, प्यार है, स्नेह है, राग है, वह चीज मिलनेसे मनसे निकलती है। उसका सुख होता है। वस्तुओंका सुख नहीं होता। अगर वस्तुका सुख हो तो वस्तु पासमें रहनेसे दुःख नहीं रहना चाहिये। उन चीजोंके रहते हुए ही दुःख होता है तो उस चीजमें सुख कहाँ है?

****

सत्संगसे शान्ति

परमात्माके मिलनेपर दुःख कभी भी आयेगा ही नहीं। आपको ही नहीं परमात्माके सुखमें सुखी रहनेवालोंके दर्शनोंसे शान्ति मिलेगी। रुपयोंके, भोगोंके याद करनेसे जलन पैदा होगी। जितना-जितना इनका चिन्तन होगा उतनी हृदयमें आग लगेगी। अशान्ति पैदा होगी। ह्रास होगा, पतन होगा, रोग होंगे, शोक होगा, चिन्ता होगी, भय होगा, उद्वेग होगा। मार आफत-ही-आफत होगी। भगवान्‌की याद करते ही शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता, मस्ती आवेगी भीतरसे।

कंचन खान खुली घट माँही। रामदास के टोटो नाँही।

भीतरसे आनन्दकी खान खुल जायगी। ऐसे पुरुषके कहीं दर्शन मिल जायँ तो आपको शान्ति मिलेगी, आपका पाप कटेगा। महान् शान्ति मिलेगी, वह किसी भोगसे नहीं मिल सकती। शास्त्रोंमें आता है—**येषां संस्मरणात् पूतः सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।**

उन महापुरुषोंके याद करनेसे घर-के-घर पवित्र हो जाते हैं। जिनके हृदयमें भोगोंका राग नहीं है, जो पदार्थोंके गुलाम नहीं हैं, भोगोंके, रुपयोंके दास नहीं हैं—ऐसे पुरुषोंके दर्शनसे शान्ति मिलती है, पाप दूर होता है। कोई भोग नहीं है, न शब्द है, न स्पर्श

है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न मान है, न बड़ाई है, न आराम है—ये आठ चीजें खींचनेवाली हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच विषय और मान, बड़ाई और आराम ये तीन—कुल आठ हैं। इन आठ चीजोंसे सुख होता है। खूब याद कर लो।

सत्संगमें शान्ति मिलती है कि नहीं। आपने अगर सत्संग किया है मन लगा करके, तो आप नट नहीं सकते। सच्चर्चा होती है, रामायणका पाठ हो रहा है, उस पाठमें क्या रुपये मिलते हैं ? क्या भोग मिलते हैं ? क्या मान मिलता है ? क्या बड़ाई मिलती है ? क्या शरीरमें आराम ज्यादा मिलता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमेंसे क्या है ? आठों बातें नहीं हैं और सुख मिलता है तो वह किस चीजका सुख है—बताओ ?

कहते हैं—भगवान्‌का सुख मिलता नहीं। आप उसका तिरस्कार करते हो, अपमान करते हो, मिले बिना कोई रह नहीं सकता। पारमार्थिक सुखके बिना कोई जी नहीं सकता। जीनेका केवल अगर कोई स्रोत है तो परमात्मा है। उसीसे ही आप जी रहे हो नहीं तो मर जाओगे। आपकी दृष्टि भ्रष्ट हो गयी, बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। अकलको बेच दिया रुपयोंमें, टकोंमें। अकलका टका हो गया कैसे बतावें ? अब बोलो, आपने रामायणका पाठ किया सामने, आपने देखा। उस रामायण-पाठमें रुपये मिले हैं क्या ? फिर भी लोग खिंचते हैं, पढ़ते हैं, क्या सुख है यह। परमात्मसुख मिला नहीं तो यह क्या मिला है ?

'राम, राम, राम' कितनी दुर्दशा हो रही है, उन चीजोंकी दासतामें। कष्ट भोगना पड़ता है, अपमान भोगना पड़ता है, निंदा भोगनी पड़ती है, दुःख भोगना पड़ता है। चौरासी लाख योनिका दुःख भोगना पड़ता है और यहाँ रहते हुए भी कितना अपमान,

कितनी निंदा, कितना नीचा देखना पड़ता है। भीतरसे गरज चली जाय तो महाराज— ***चाह गयी चिन्ता मिटी, मनवा बेपरवाह। जिनके कछू न चाहिये सो साहनपत साह॥*** बादशाहोंका बादशाह है वो, जिसके भीतर गुलामी नहीं है। ऐसी बातमें संदेह नहीं है केश-जितना भी—रतिमात्र सन्देह नहीं है। ऐसी सच्ची बात है।

आप चेतन होकर, परमात्माके साक्षात् अंश होकर नित्य-निरन्तर रहते हो। बालकपनसे आप वही हो, पदार्थोंका आपके साथ संयोग हुआ, वियोग हुआ, उत्पन्न हुआ और नष्ट हो गया। ऐसा है फिर भी उत्पन्न और नष्ट होनेवालोंकी गुलामीमें लग रहे हो। कुछ होश आना चाहिये न। आप वे ही रहते हो, ये पदार्थ बदलते हैं। जो बदलते हैं उनके पीछे पड़े हो। वे साथ रहते नहीं। मर जाओगे तो साथ रहेंगे नहीं?

जिन्दगी भी साथमें नहीं, बालकपनमें खिलौनोंसे बड़ा सुख मिलता था। अब खिलौना कितना सुख देते हैं? जरा बात याद करो। कागजके टुकड़े—काले, पीले, सफेद, कंकड़ उनको पकड़ लेते थे, उनसे सुख लेते थे। आज वह सुख दीखता है क्या? ऐसे ही आज इन पत्थरोंके टुकड़ों—हीरे, मानिक, पन्ना, आदि रत्नमें इन कागज (रुपयों) में बैठे हो। आप क्या जान सकते हो? ***माया सो मजूर बन्दो का जाने बन्दगी***— वह क्या जाने इस बातको। थोड़ा-सा विचार करो तो आपके लिये असंभव नहीं है। कारण कि आपने डेढ़ महीनेसे ऊपर सत्संग किया है। सत्संग करके देखा है, उन भाई-बहिनोंको समझाना कठिन नहीं है। जिसने कभी सत्संग किया ही नहीं, उसको समझाना कठिन है। इस वास्ते मारवाड़ीमें कहावत है— ***'मूर्ख ने मारणू सौरो समझावणू दोरो'*** वे नहीं समझ सकते इस बातको।

शंका—परमात्माका सुख मिले तो छोड़ दें।

समाधान—अभी व्याख्यानके बाद सौ-दो-सौ, पाँच सौ, तैयार हो जाना कि हम पारमार्थिक सुख जानते ही नहीं। सिद्ध करना इस बातको। सिवाय पारमार्थिक बातके यहाँ क्या मिलता है, बताओ ? जिसमें माताएँ-बहनें भागी-भागी आती हैं, भाई लोग भागे-भागे आते हैं, सुनते हैं, बैठते हैं। क्यों आते हो ? क्या संसारका सुख मिलता है ? अब मैं समझानेमें अपनेको इतना समझदार नहीं मानता हूँ। परंतु मेरे समझमें आती है कि संसारका जो सुख मिलता है सब-का-सब परमात्माका ही है। संसारका है ही नहीं। जैसे यह चीज मिल जाय तो सुख हो जाय। सुख क्यों हुआ कि चीज मिलते ही मनसे वह निकल गयी। अब वह निकल गयी तो परमात्मा रह गये। संसार छूटा और परमात्मा पहलेसे तैयार। परमात्मा छूटता नहीं है। परमात्मा हरदम रहते हैं। आप विमुख होते हो। परमात्मा विमुख नहीं होता है। आप पदार्थोंकी चाहना करते हो इससे परमात्मासे विमुख होते हो और इस वास्ते रोते हो।

जहाँ चीज मिली, मनसे छूटी तो चट परमात्मा तैयार। वह जो आनन्द मिलता है वह परमात्माका है, इसका नहीं है। आप कहते हो कि यही है। कुत्ता हड्डी चबाता है और हड्डी भींचनेसे दाँत टूट जाता है। मुखमेंसे खून निकलता है। वह समझता है हड्डीमेंसे आ रहा है। ऐसे आप पदार्थोंसे लेते हैं, हड्डी चूसते हो। आप सोचते हो कि यह सुख पदार्थोंसे आ रहा है ? यह नहीं आ रहा है। इसमें है ही नहीं रस। आवे कहाँसे ? अगर इनमें रस होता तो अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् विरक्त त्यागी हुए हैं। वे सफा मूर्ख थे क्या ? जो सफा छोड़ दिया परवाह नहीं की। बेसमझ थे सफा ?

नीतिज्ञ थे। उन्होंने कई तरहके काम किये हैं। राज्य किया है और भोग भी भोगे हैं। महारानीके साथ रहे तो भाई ही राज करता था। वे तो महलोंमें ही रहते हरदम। ऐसे भोग भोगकर भी देखे हैं। परंतु न रुपयोंके साथ टिके, न राज्यके साथ टिके, न भोगोंके साथ टिके। वैराग्य हुआ तो वहाँसे खसके ही नहीं। गये नहीं कहीं भी। यह सुख मिल जायगा, तब आपको पता लगेगा। स्वतन्त्र सुख है बिलकुल, किसीकी पराधीनता नहीं है। संसारका सुख कभी स्वतन्त्रतासे मिल ही नहीं सकता। मैं जोरसे कहता हूँ। कोई भाई-बहन इसको सिद्ध करना चाहे तो करे। किसी-न-किसीके संगसे सुख मिलेगा। अकेला स्वतन्त्रतासे सुख नहीं ले सकता। परमात्माके सुखमें परतन्त्रता है ही नहीं। ***पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** संसारका सुख बिना पराधीनताके मिलता ही नहीं। कोई सिद्ध करना हो तो करो। पराधीन होनेसे ही सुख मिलेगा। भोगोंसे मिलेगा तो भोगोंके पराधीन होगा। किसी व्यक्तिसे सुख मिलेगा तो व्यक्तिके पराधीन होगा। रुपयोंसे सुख मिलेगा तो रुपयोंके पराधीन। राज्यसे मिले तो राज्यके पराधीन। पदसे मिले तो पदके पराधीन। बिना पराधीनताके संसारका सुख नहीं मिल सकता। परमात्मामें आप चलोगे, इसमें आप लग जाओगे तो स्वतन्त्रतासे मिलने लगेगा।

पहले इसमें भी सत्संग, स्वाध्याय, सत्पुरुष, सत्-शास्त्र, आदिके संगसे पता लगेगा। कारण कि संग-ही-संगमें आप रात-दिन रहे हो। इस वास्ते आपको असंगताका पता नहीं है। इस वास्ते संगसे छूटनेके लिये संग करना होगा। सर्वथा असंगता हो जायगी तो किसीकी जरूरत नहीं है।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥

'सङ्गो हि बाध्यते लोके'— बँधता है वह जो संगी होता है। संग यदि छोड़ नहीं सकते तो सन्तोंका संग करो। **'सतां सङ्गो हि भेषजम्'** वह संग छुड़ानेमें औषध है, दवाई है। रोगीको दवाई लेनी पड़ती है। रोग मिट जायगा फिर किसीके संगकी जरूरत नहीं है। ***'कंचन खान खुली घट माँहीं'*** भीतरसे ही आनन्द आने लगेगा। जिसे शीतज्वर चढ़ता है तो भीतरसे आता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वह भीतरसे निकलता है। बाहरकी रजाइयोंसे बन्द नहीं होता। भीतरसे गर्म-गर्म पानी पिला दिया जाय तो शान्ति मिलेगी। ऐसे भीतरसे आनन्द आने लगता है, भीतरसे।

एक सन्तके पास कोई गया। बाबाजी अकेले ही बैठे हो ? अरे भाई, तेरे आनेसे ही अकेला हो गया। इतनी देर तो अकेला नहीं था। संसारकी बात याद आते ही भगवान् छूट जाते हैं। वह संसार मिलकर क्या निहाल करेगा बताओ ! संसारकी याद आते ही आफत आ जाती है। संसारका चिन्तन करते ही दुःख आयेगा। संताप आयेगा, जलन होगी, आफत होगी। अभावका अनुभव होगा। यह नहीं है, यह नहीं है, यह नहीं है। नहींका अनुभव होगा आपके। थोड़ा-सा विचार कर आप देखें। आपके पासमें जितनी सामग्री है, मेरे पासमें उसकी अपेक्षा कुछ सामग्री नहीं है। आपके भाई-बन्धु हैं, कुटुम्बी हैं, बेटा है, बेटी है। आपके इतने हैं। मेरे अभाव-ही-अभाव है। न छोरा है, न छोरी है, न रुपया है, न घर है, न कुछ और है, न हमारे पासमें कोई पद है।

अगर आपकी तरह मैं चाहना करूँ तो रात-दिन रोऊँ। मेरी अपेक्षा तो आप बड़े भारी ठीक हो। एक भाईने कहा था—स्वामीजी, पूँजीवादका नाश कैसे हो ? मैंने कहा— पूँजीवादका नाश चाहते हो तो पहले तुम मेरे समान बन जाओ। एक पैसा भी अगर तुम्हारे पास है

तो मेरेसे तो तुम पूँजीवाले हो कि नहीं। पूँजीपति हो कि नहीं। लाखों-करोड़ों रुपया पूँजी है तो एक पैसा पूँजी नहीं है क्या ? अगर पूँजीवादका नाश चाहते हो तो पूँजीका त्याग करो। नहीं तो पूँजीवादका नाश नहीं चाहते, पूँजीका परिवर्तन चाहते हो कि उनकी पूँजी मेरे पास आ जाय। मुँहमेंसे लार टपकती है धनी आदमियोंको देखकर। पूँजीवादका सिद्धान्त कहाँ सोचते हो ?

इनके पास धन है वह मेरे पास आ जाय। नीयत खोटी है तुम्हारी। अगर पूँजीवाद खराब है तो पैसा छोड़ दो। पूँजी हम नहीं लेंगे। हम तो पूँजीवाद खराब समझते हैं, ऐसा कहना नीयत खोटी दिखती है। पदार्थोंके मिलनेसे सुख होवे तो आपको बहुत बड़ा भारी सुख मिलना चाहिये और बड़ा भारी दुःख मेरेको होना चाहिये; क्योंकि पदार्थोंका अभाव है। बहुत-सी चीजें नहीं हैं मेरे पास।

राजा भर्तृहरिकी कथा

राजाकी अपनी रानीमें बहुत आसक्ति थी। बहुत ही ज्यादा पड़े रहते रनिवासमें। इतनी ज्यादा आसक्ति थी। वह मर गयी। उसके मरनेपर बड़ा भारी दुःख हुआ। उसको जलानेके लिये गये तो मैं तो आप साथ ही जलूँगा। सती होती है ऐसे मैं 'सता' होऊँगा। ऐसी स्त्री मर गयी, मैं साथमें मरूँगा। बड़े-बड़े एहलकार, मन्त्री आदि समझाते हैं। नहीं साहब ! ऐसी स्त्री चली गयी। मैं उसके बिना जी नहीं सकता। साथ ही होम कर दूँगा अपनेको। इतनेमें गोरखनाथजी आ गये। लोगोंने कहा सन्त आ रहे हैं। तो कहा—थोड़ा ठहरो बाबा, वो हाँडी हाथमें लिये आ रहे थे। थोड़े पासमें आये कि हाँडी हाथसे छूट गयी, हाँडी फूट गयी और अब लगे रोने जोर-जोरसे। हाय मेरी हाँडी, हाय मेरी हाँडी , रोएँ जोर-जोरसे। राजाने पूछा क्या बात है ? तो कहा—एक साधु दुःखी हो रहा है। तो भर्तृहरिने कहा—ठहरो भाई। अभी तो मैं जीता हूँ। मेरे राज्यमें साधु, गौ, ब्राह्मण दुःखी हों, यह मैं नहीं सह सकता। मैं जाऊँगा। जाकरके पूछा बाबाजी ! क्या हुआ ? वे लगे जोर-जोरसे रोने। हाय, हँडिया ! हाय, हँडिया !

बाबाजी क्या हो गया ? क्या-क्या हो गया ? दीखता नहीं, अन्धा है तूँ ? मेरी हाँडी फूट गयी। ऐसी क्या हाँडी थी। तुम क्या हाँडी समझते हो ? कैसी क्या थी ? तुम्हारेको होश नहीं। तुम समझते नहीं। हमारे तो सर्वस्व हाँडी ही थी। वह आज फूट गयी बस। अब क्या करूँ ? और रोएँ जोर-जोरसे।

क्या हुआ महाराज ? देखो। हमारे रसोईघर भी यही था, पहिडा पानीका भी यही था। इसमें ही रोटी खाता था। इसमें ही पानी भर लेता था। इसीसे शौच जाया करता। इसीसे स्नान कर लेता था। अब स्नानघर गया, हमारा रसोईघर गया, हमारा जलपात्र गया, हमारा भोजनपात्र गया। कितना नुकसान हो गया। बहुत बड़ा नुकसान हो गया। हाँडी फूट गयी। वर्षा आती तो कपड़ा इसमें रख देता, उलटी कर देता। सब सूखा-का-सूखा रह जाता। वर्षा बन्द होते ही पहन लेता। हमारा घर-का-घर नष्ट हो गया। अब बताओ, काहेमें रहूँगा मैं। कोई पुस्तक है, कपड़ा है भींग जायगा। इसीको सिरहाना देकर सो जाता खूब मौजसे। अब वह सिरहाना कहाँसे लाऊँ ? ऐसे कहने लगे। मेरा तो सब कुछ चला गया। घर-बार-मकान, ओढ़ना, बिछौना, सब-का-सब खत्म हो गया, सर्वस्व नष्ट हो गया।

राजाने कहा—आप रोते क्यों हैं ? हाँडी दूसरी मिल जायगी। दूसरी नहीं, मेरी बढ़िया हाँडी फूट गयी। उमरभरकी साथी बढ़िया हाँडी फूट गयी। महाराज ! दूजी हाँडी मिल जायगी, यों रोते क्यों हो ? तो तू रानीके लिये रोता है। क्या और सब रानियाँ बाँझ हो गयीं ? अब दूसरी मिलेगी नहीं क्या ? मैं तो रोनेसे काम चलाता हूँ। तूँ तो जलनेको तैयार है। मेरी हाँडी फूट गयी ऐसे ही तेरी एक हाँडी फूट गयी। तो फिर रोवे क्यों बता ? तेरे मकान तैयार, तेरे कपड़ा तैयार, तेरे रसोईघर तैयार, तेरे स्नानघर तैयार, तेरे सब चीज तैयार है।

मेरा तो सर्वस्व नष्ट हो गया। तेरे तो एक लुगाई मर गयी। मेरेको समझाता है। राजाको अकल आ गयी कि बात तो ठीक है।

अब राजाने कहा—'अब नहीं रोएँगे बस, अब न सता होवेंगे। तुमलोग जाओ, तुम्हारा राज्य करो ! अब महाराज। मैं तो आपके साथ रहूँगा। चलो, अपने यहाँ बड़ा दरबार है; क्योंकि माँगेंगे और खायेंगे। कौन-सा बड़ा खर्चा लगता है। बिलकुल आजादी है ठीक तरहसे। रोटी मिलती है, कपड़ा मिलता है, सब मिलता है। राजा फिर साधु हो गये और चल दिये।

भर्तृहरि कहते हैं—रात्रिको आग सुलगती है। घासपर रहनेवाले जन्तु स्वाहा हो जाते हैं, पता नहीं है उन्हें कि हम जल जायेंगे, मर जायेंगे। इस वास्ते वो आगमें पड़ जाते हैं। मछलीको पकड़ते हैं तो काँटेमें माँसका टुकड़ा डालकर पकड़ लेते हैं। वह काँटेको निगल जाती है। काँटा अड़ जाता है तो वह मर जाती है। मछलीको ज्ञान नहीं है कि इसको खानेसे मर जाऊँगी। ये कीट-पतंग, मछली, जानवर बेचारे अनजानेपनसे मर जाते हैं। आप जो जितने सुख भोगते हो, उसमें कितना दुःख होता है, कितना सन्ताप होता है, कितनी जलन होती है, कितनोंसे छिपाव करना पड़ता है, कितना झूठ, कपट, बेईमानी करनी पड़ती है और कितनी-कितनी आफत भोगनी पड़ती है ? जगह-जगह मामूली आदमी, जिनसे बात नहीं करनी पड़े, ऐसे आदमियोंकी गुलामी करनी पड़ती है आपको रुपयोंके लिये। जिनका मुंडा देखनेसे पाप लगे, ऐसे आदमियोंकी गुलामी करनी पड़ती है। बोलो, गुलामी करनी पड़ती है कि नहीं रुपया कमानेमें ?

ऐसे दुःखोंको देखते हुए भी हमलोग जानकार हैं अच्छी तरहसे। अहो ! मोहकी बड़ी भारी महिमा है जो मूढ़ताके बीच इतने फँसे हुए हैं कि कभी होश नहीं आता है। दुःखोंके महान् घर।

'दुःखालयमशाश्वतम्'—संसारको दुःखालय कहा है। औषधालय, पुस्तकालय, वस्त्रालय होता है ऐसे दुःखालय है। वह मोहके कारणसे छूटती नहीं। दुःख पा रहे हैं फिर जा रहे हैं। मिर्ची खाते हैं, आँखमें, नाकमें पानी पड़ता है, सिसकारे करते हैं फिर भी खा लेते हैं। अब क्या बहम रह गया बाकी ? अब छुड़ाओ कोई मिर्ची खानेवालेको। छोड़ नहीं सकता, पसीना आ जाता है शरीरका। अब बोलो कैसे समझावें ? **'विजानन्तोऽप्येते विपज्जालजटिलान्'** भोगमें महान् विपत्ति-ही-विपत्ति भरी हुई है। ऐसेको भी छोड़ते नहीं।

सुख केवल भगवान्‌की ओर

गधेकी दशा है भाई ! लगे दुलत्ती, फिर भी उधर ही चले। तिरस्कार, अपमान, दुःख-संताप तरह-तरहसे सहते हो। फिर भी थोड़ा लोभ, कुछ-कुछ मिल जायगा। मिल जायगा माजना। क्या मिल जायगा ? आनन्द-ही-आनन्द भगवान्‌की तरफ चलो तो। गृहस्थमें बैठे हुए भी आप भगवान्‌की सेवा करो, कुटुम्ब भगवान्‌का है, सब भगवान्‌के हैं। ऐसे सेवा करो तो निहाल हो जाओगे। वही कुटुम्ब वही आप। वही घर आपका। केवल भाव बदल दो कि भगवान्‌का घर है। वे भगवान्‌के जन हैं। भगवान्‌की आज्ञासे सेवा करनी है। कोई मर गया तो मर गया। सेवा करनी है उसकी। घरमें बैठे मौज हो जायगी। मौज कब होगी ? जब आपके हृदयकी गुलामी मिट जायगी, लालसा मिट जायगी। हृदयमें गुलामी रहे, भोगोंकी, पदार्थोंकी, रुपयोंकी तो कभी सुख नहीं मिलेगा। साधु बाबा बन जाओ भले ही। वहीं बैठे-बैठे रोओगे कि रुपया नहीं मिला, आदर नहीं मिला। यह जबतक गुलामी रहेगी तो साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, पढ़ा-लिखा हो, चाहे अपढ़ हो। कोई फर्क नहीं है। जब हृदयसे निकल जाय यह तृष्णा फिर मौज ही है। आनन्द-ही-आनन्द है।

इसके त्यागनेमें आप स्वतन्त्र हो, परतन्त्र नहीं हो। संग्रहमें तो परतन्त्र हो पर हृदयसे मोह छोड़नेमें आप पराधीन नहीं हो। आप अपात्र नहीं हो। आप अयोग्य नहीं हो। आप साक्षात् परमात्माके अंश हो। नित्य-निरन्तर रहनेवाले आपने नित्य-निरन्तर वियुक्त होनेवालेकी गुलामी स्वीकार की। बताओ, इसमें झूठ है क्या ? नित्य-निरन्तर वियोग हो रहा है आपके साथ शरीरका, पदार्थोंका, कुटुम्बियोंका, घरका आप नित्य-निरन्तर रहनेवाले हो। आप नष्ट नहीं होनेवाले। ऐसे नष्ट नहीं होनेवाले। उनके गुलाम बन गये। शर्म नहीं आती। अक्ल नहीं आती क्या ? कुछ सोचते नहीं।

नित्य आप रहनेवाले अनित्यके गुलाम हो गये। अनित्य वस्तुओंका उपयोग करो। धन कमाओ, अच्छे काममें लगाओ। उत्साहसे, प्रसन्नतासे पर मोह मत करो। रुपयोंको भी सँभाल कर रखो। हिसाब करो पैसे-पैसेका, पाई-पाईका। पर हृदयमें महत्त्व नहीं देंगे। सब-का-सब चला जाय तो मौज, सब रह जाय तो मौज। कुटुम्बी रहे तो मौज। सब-के-सब चले जायँ तो मौज। अपनी मौज उनके अधीन नहीं है। ऐसी मौज आपको मिल जायगी। थोड़ा-सा त्याग करो भीतरसे। बाहरसे भले ही गृहस्थ बने रहो, जहाँ हो वहीं बने रहो। भीतरसे बेपरवाह करो। देखो, आनन्द मिलता है कि नहीं। संसार आपकी गरज करेगा। आप गरज करोगे तो संसार ठुकरायेगा, तिरस्कार करेगा, अपमान करेगा। आपके हृदयसे वैराग्य हो फिर आपका कोई तिरस्कार नहीं कर सकता। अपमान कोई नहीं कर सकता। आप ही अपमान करवाते हो बुलावा देकर। क्यों अपनी बेइज्जती करवाओ भगवान्‌के अंश होकर। इस वास्ते सुख तो केवल परमात्मामें है।

ना सुख काजी पंडितां, ना सुख भूप भयां।
सुख सहजां ही आवसी, तृष्णा रोग गयां॥

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः ।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशालिनः ॥

देवराज इन्द्रको वह सुख नहीं। चक्रवर्तीको वह सुख नहीं। धनी आदमीको वह सुख नहीं है जो सुख राग मिट जाय, भीतरसे गुलामी मिट जाय। संग्रह और भोग ये दो मिट जायँ। भोग भोगनेकी और संख्या बढ़ानेकी धुनमें लगे हैं। धन बढ़ा लें। धन इकट्ठा कर लें। धनी हो जायँ। यह भावना मिट जाय। इकट्ठा रखो। धन आप लाखों रुपया रखो पर गुलामी मत रखो। भैया, गुलामी मत रखो। मालिक बनकर रहो धनके। मालिक बननेका अर्थ क्या है ? सब-का-सब धन चला जाय तो हमारे क्या चला गया। गुलामी होगी तो लाखों रुपये जमा हैं और एक लाख खर्च हो जाय तो मनमें खनखनाहट होती है कि मूलधन खर्च हो गया। मूलधनका क्या करोगे ? मूलधन खर्च नहीं होना चाहिये। अरे छोरा ! अक्ल नहीं है मूलधन खर्च करते हो। मूल किस वास्ते है साहब ! खर्च तो कर नहीं सकते। जैसे कोई कर्जा सिरपर आ जाय उसका दुःख होता है। ऐसे मूलधन खर्च होनेका दुःख होता है। मूलधन खर्च नहीं करना। कमाओ-खाओ, पर पूँजी बढ़ाओ कुछ तो। वर्षमें पाँच, दस, हजार पूँजी पैदा होनी ही चाहिये।

यह दशा रहेगी नहीं। इसमें शर्म आनी चाहिये। आ जाय तो लाखों, करोड़ों आ जाय और चला जाय तो चला जाय। कहते तो यह हैं कि '***रुपयों तो हाथ रो मेल है।***' पर मैल है कि कालजे री कोर है। अब आ गया तो क्या ? चला गया तो क्या ? नफा हो गया तो क्या ? नुकसान हो गया तो क्या ? अपने काम करो। नफा-नुकसानको समझो, व्यापारमें उद्योग करो, नौकरी करो, जो कुछ करो आप उत्साहपूर्वक करो। पर गुलामी क्यों रखो ? बहुत आनन्द होगा। बड़ी मस्ती होगी, बड़ा सुख होगा।

रुपयोंकी गुलामीके कारणसे मनुष्योंका तिरस्कार हो रहा है। मैंने कहा—भाई ! रुपये तो काम आते हैं वस्तुओंके द्वारा। स्वयं काम नहीं आते। अन्न, जल, वस्त्र, मकान स्वयं काम आते हैं ? रुपये स्वयं काम नहीं आते। रुपयोंसे बढ़कर वस्तुएँ हैं, वस्तुओंसे बढ़कर व्यक्ति। आज दहेजप्रथा इतनी बढ़ गयी कि रुपया दो तो कन्याका सम्बन्ध हो। कन्याका तो तिरस्कार और रुपयोंका सत्कार ? रुपयोंको तो बड़ा समझते हैं। कन्या बैठी है घरपर, उसको लेते नहीं हैं। रुपया लेंगे।

यहाँतक मैंने सुना है, अखबारमें भी आया है—दहेज कम आया इस कारण उस छोरीको मार दिया। यह मर जाय तो दूसरा ब्याह करेंगे जिससे दहेज अधिक आयेगा। कितनी रुपयोंकी गुलामी हो गयी। तिरस्कार करते हैं उस बहूका जिसके दहेज कम आया है। देवराणी, जेठानी, सास, ननद सब उसे तंग करते हैं। तुम्हारे बापने दिया क्या ? घर-का-घर बिक जाय तो भले ही बिक जाय, पर हमें तो रुपया दो। इतनी गुलामी तुम्हारे भीतर, इस प्रथाको शुद्ध करो भाई ! कन्या देखो, जिससे सदा उमरभर काम है। रुपया तो आते-जाते रहते हैं। रुपयाके लिये इतना तिरस्कार। इतना अपमान नारी-जातिका। बातोंमें कह दिया कि नारी-जातिका तिरस्कार नहीं होना चाहिये, आदर होना चाहिये। विधवा ब्याह करो साहब ! अब कुँवारीको तो वर मिला ही नहीं, विधवा वर रोक लेगी तो क्या दशा होगी।

अरे भाई ! अक्लसे काम लो। यों समाजका सुधार होता है क्या ? शूर-वीरतासे करना चाहिये कि कुंकुम कन्या हमें तो लेना है क्योंकि लड़का है हमारे। ब्याह करना है, इस वास्ते कन्यादान लेना है। दान भैया ! रुपया पैसाका दान भी खराब जिसमें कन्याका दान बड़ा पाप है परंतु करें क्या ? लड़का ब्याहना है इसलिये कन्यादान

लेना पड़ता है। हमारेको कन्या भगवान् देंगे तो हम भी कन्यादान करेंगे। ऐसे करो तो समाज कुछ ठीक हो, पर रुपयोंकी गुलामीसे ऐसा नहीं होगा।

मनुष्य हो, भगवान्‌के अंश हो। रुपया आने-जानेवाली चीज है। कृपा करो।

भगवन्नाम लेते जाओ। असली धन है।

कबिरा सब जग निरधना धनवन्ता नहीं कोय।
धनवन्ता सोई जाणिये जाके रामनाम धन होय॥

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

(दिनाङ्क १७ अगस्त, १९८२)

—★—

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—७

श्रेष्ठ साधन—शरणागति

सज्जनो ! जितने साधन हैं उन साधनोंमें सबसे सरल व श्रेष्ठ भगवान्‌के चरणोंकी शरणागति है। सुगम भी है व श्रेष्ठ भी है। परंतु अपने मनमें जब बलका, विद्याका, बुद्धिका, वर्णका, आश्रमका, चतुराईका, कुलका कुछ अभिमान भीतर होता है तो उस पुरुषके द्वारा शरणागति कठिन होती है। क्योंकि अपनेमें कुछ भी अभिमान है वो बाधक होता है, शरण होने नहीं देता। अधिक अभिमानके कारण बाधा लगती है। वह अभिमान अगर न रहे, साथ-साथ अपने कल्याणकी इच्छा पैदा हो जाय कि मेरा उद्धार कैसे हो ? मेरा कल्याण कैसे हो ? मेरा सदाके लिये दुःख कैसे मिट जाय ? महान् आनन्दकी प्राप्ति कैसे हो जाय ? ये एक जोरदार लालसा जाग्रत् हो जाय तो शरणागति बहुत सरल है।

जैसे मनुष्य सोता है तो नींद लेनेके लिये परिश्रम करना नहीं पड़ता। ऐसे नहीं कि इतनी तकलीफ देखनी पड़ेगी, ऐसा धन्धा किया जायेगा, ऐसे परिश्रम करने पड़ेंगे तब नींद आयेगी। नींद तो कुछ न करनेसे आप-से-आप आ जाती है। वह तो मूढ़ता है, मोह है। भगवान्‌के चरणोंके शरण होके कुछ अभिमान न रखे और कल्याण चाहता है उसके शरणागति स्वतः हो जाती है।

अपना कल्याण चाहता है और अपनेमें ऐसा बल नहीं दिखता, ऐसी योग्यता नहीं दिखती, ऐसा साधन नहीं दिखता कि जिससे मैं अपना उद्धार कर लूँ। ऐसी अवस्थामें हे नाथ ! हे प्रभु ! मैं आपके चरणोंके शरण हूँ। सज्जनो ! ऐसा होनेपर लोक और परलोक सब तरहका भार भगवान् स्वयं अपनेपर ले लेते हैं। भार तो भगवान्पर है ही। अपना अभिमान और पुरुषार्थ करते हुए भी होगा तो वही जो भगवान् करेंगे, पर बोझा हमारे सिरपर रहता है।

शरणागत हो जाते हैं तो हमारा भार उतर जाता है। भाइयो-बहिनो, ध्यान दो। हम जो अपनी चिन्ता करते हैं कि कैसे काम चलेगा। यह बिलकुल फालतू, निरर्थक, मूर्खताभरा विचार है। काम तो चलानेवाला वो ही है। करनेवाला कुछ और ही है वो विलक्षण है। उसके ऊपर भार है। अपनी चिन्ता छोड़ दे। अर्जुनके कुछ चिन्ता रही। **'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'** (गीता २।९)। ये सातवें श्लोकमें शरण होते हैं। नवें श्लोकमें कहते हैं—मैं युद्ध नहीं करूँगा। तब भगवान् हँसते हुए उपदेश आरम्भ करते हैं। भगवान्की अत्यधिक दयालुता है।

नहीं तो वहाँ अठारहवें अध्यायके ६३वें श्लोकमें कहते हैं—**'यथेच्छसि तथा कुरु'** वह बात यहीं कह सकते थे—युद्ध नहीं करेगा तो तेरी मर्जी। **'यथेच्छसि तथा कुरु'**—तेरे चाहे जैसे कर। परंतु भगवान्को एक विशेष दया आती है। जीवोंपर अत्यधिक दयालुता है। वे कहते हैं किसी तरहसे यह जीव अपना कल्याण कर ले, अपना उद्धार कर ले। सज्जनो ! आपलोगोंके सामने जो कई-कई तरहकी घटना आती है, उसका अर्थ यही होता है कि भगवान् अपनी तरफ खींचते हैं। आप बड़ा-बड़ा सहारा लेते हैं—धन-सम्पत्ति-वैभवका, पुत्र-परिवारका, बल-विद्या-योग्यताका, राज्य आदिका तो

भगवान् उसको हटा देते हैं। किसीका भी आज दिनतक लौकिक बल भगवान्‌ने रहने नहीं दिया और रहने देंगे नहीं। आप रुपयोंपर चाहे जितना भरोसा कर लें, विश्वास कर लें। कितना ही झूठ-कपट-बेईमानी कर लें ये रुपयोंका सहारा रहेगा नहीं।

भगवान्पर जिम्मेवारी

समझदार आदमी क्यों पापोंमें फँसे ? भगवान्के शरण होनेपर किसी बातकी कमी रहेगी नहीं। सज्जनो ! लक्ष्मी माता पतिव्रता हैं। प्रभुके चरणोंके दास बन जाओगे तो ये मैया बड़े प्यारसे, स्नेहसे अपने गोदमें लेकर, हृदय लगाकर दूध पिलावेगी। बहुत कृपा करेगी। आपके कमी नहीं रहने देगी। बालककी कमी माँके हृदयमें खटकती है। बालक जानता ही नहीं। शीतकाल आनेवाला है ऐसा समझके माँ पहलेसे गर्म कपड़ा बनाती है। वो खेलमें जाता है खड़ा करके नाप लेती है। वो समझता है क्यों तंग करती है। हम खेलें खूब। माँ देखती है अभी ठण्डी आ गयी। जैसे उसको खयाल रहता है उससे बहुत अधिक जीवमात्रका भगवान्को खयाल है। वो चाहे सदाचारी है, चाहे दुराचारी है, स्वर्गमें है—चाहे नरकमें, चौरासी लाख योनिमें है या कहीं भी है परंतु भगवान्का अंश है। जीव विमुख हुआ है, भूला है। भगवान् विमुख नहीं हुए हैं, भूले नहीं हैं। सज्जनो ! थोड़ी कृपा करो।

हे नाथ ! हे नाथ ! ऐसे पुकार करके प्रभुके चरणोंके शरण हो जाओ। भगवान्की आज्ञासे रात और दिन काम करो, परंतु चिन्ता मत करो। चिन्ता भगवान्पर धर दो। उसकी आज्ञा-पालन करना—तत्परतासे उसकी शरण रहना। उसकी हाँ-में-हाँ मिलाना। आज्ञा-पालनमें बड़े तत्पर रहना। सब प्रभुकी सम्पत्ति समझ करके सुचारुरूपसे सुरक्षित रखना। सज्जनो ! पाप नहीं करना, चिन्ता नहीं

करनी। क्यों करें पाप ? क्यों करें चिन्ता ? जब भगवान्-जैसे हमारे मालिक हैं।

मन तूँ क्यूँ पछतावै रे,

सिर पर श्री गोपाल बेड़ा पार लगावै रे।

भगवान् हमारे मालिक हैं तूँ क्यों चिन्ता करता है। क्यों घबराता है। क्यों पश्चात्ताप करता है। ***चिन्ता दीनदयाल को मो मन सदा आनन्द।*** चिन्ता-फिकर सब भगवान्के चरणोंमें रख दो सज्जनो ! आप निश्चिन्त हो जाओ। प्रभु-आज्ञा-पालनमें तत्परतासे लगे रहो। जिस वर्णमें, जिस आश्रममें जहाँ आप हैं—चाहे भाई हो, चाहे बहिन हो वहाँका काम बड़े उत्साहसे सुचारुरूपसे करे परंतु चिन्ता हम क्यों करें ? कैसी बढ़िया, बात है ?

काम-धन्धा बड़ा सुन्दर होगा। चिन्ता करते काम करता है वो काम बढ़िया नहीं होता है। **'बुद्धिः शोके नश्यति'** शोकसे बुद्धि नष्ट हो जाती है। प्रभुके चरणोंका आश्रय लेनेसे बुद्धि विकसित होती है। भगवान् कहते हैं स्वयं **'तेषां सततयुक्तानाम्'** वो नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए हैं। प्रेमपूर्वक लगे हुए हैं। **'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्'**। प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, निरन्तर मेरेमें लगे हैं। **'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'** (गीता १०।१०)। वह बुद्धियोग दूँगा जिससे वे मेरेको प्राप्त हो जायँ।

चिन्ता करके आप बुद्धि पैदा करोगे झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी, ऐसी बुद्धि करोगे जिससे नरक और चौरासी लाख योनि जाना पड़े। ये अपनी चिन्तासे होता है। भगवान्के शरण होनेसे भगवान् वो बुद्धियोग देंगे जिससे बेड़ा पार हो जाय। **'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥'** (गीता १०।११)। उनके ऊपर मैं कृपा करता हूँ।

उनके अन्तःकरणमें रहनेवाला अज्ञान संमोह है उस अन्धकारको मैं देदीप्यमान दीपकके ज्ञानद्वारा दूर कर देता हूँ।

भगवान् अन्धकार दूर करे और बुद्धियोग दे कितनी विलक्षण बुद्धि होगी। कितना विलक्षण प्रकाश मिलेगा। लोक और परलोक दोनोंमें करनेके लिये आपको बड़ा भारी प्रकाश मिलेगा। सब तरहका काम करनेके लिये आपको प्रकाश मिलेगा। मैंने कहा है—गीताका विचार करके ठीक तरहसे अनुभव करने लग जाय, उसके अनुसार चलने लग जाय तो जिन कामोंका गीतामें वर्णन नहीं है, ऐसे कामोंमें भी आपकी बुद्धि तेज हो जायेगी। आपको याद होगा मैंने कहा—ब्याह-शादी करोगे तो उसमें क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये ? आपकी बुद्धिमें विकास होगा। व्यापार आदि करोगे तो उसमें बुद्धिका विकास होगा। पापोंसे तो बच जाओगे और उन कामोंसे ही आपको पुण्य मिल जायेगा। जीविकाके कर्म हैं वे भगवद्भक्तिमें भर्ती हो जायँगे।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८।४६)

जिस परमात्मासे संसार व्याप्त है, जिससे संसार पैदा हुआ है। जिससे सुरक्षित है संसार। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' अपने कर्मोंसे उस परमात्माका पूजन करें। आज चिन्ता होती है कि लोगोंका निर्वाह कैसे होगा ? आश्रितोंका पालन कैसे होगा ? अर्जुनके भी चिन्ता थी कि युद्ध करेंगे और वे मर जायेंगे, पीछे स्त्री-बच्चोंकी क्या दशा होगी ? अधर्म आकर दबा लेगा तो फिर बहुत ही अनर्थ हो जायगा। अनर्थकी परम्परा लग जायगी। ये अर्जुनने बतायी है। अर्जुनकी चिन्ता होनेके कारण।

जब भगवान्‌ने कह दिया तू एक मेरी शरण आ जा, चिन्ता मत कर। फिर चिन्ता नहीं की। 'भार' हृदयपर भार होता है वो भार 'भार' है। काम करना 'भार' नहीं होता। व्यवहारका, परमार्थका काम उत्साहसे करता है। अर्जुनने भी शरण होनेपर युद्ध किया है बड़े सुचारुरूपसे, साङ्गोपाङ्ग ठीक रीतिसे। युद्धमें अगर चूक जाय तो गला कट जाय। भगवान्‌के आश्रित होकर युद्ध किया तो भगवान्‌ने बचाया।

कर्णकी कथा

कर्णके पास एक शक्ति थी वीरघातिनी। बात क्या थी ? कर्ण जब जन्मा है तो जन्मके समय ही उसके शरीरके ऊपर एक कवच था। चमड़ीकी तरह ही चमड़ी दिखे परंतु कोई शस्त्र-अस्त्र भेदन न कर सके। ऐसा स्वाभाविक कवच था। जन्मके समय कानोंमें कुण्डल थे। उनका बड़ा प्रभाव पड़ता था। माता कुन्तीने एक बक्सेमें बन्द करके खूब अच्छी तरह सुरक्षित करके नदींमें बहा दिया। हस्तिनापुरमें वो यमुनाजीकी धारा गयी। अधीरथ नामका एक सूत था, उसको वो बक्सा मिला, खोला तो उसमें छोटा-सा सुन्दर बालक। अपनी स्त्रीको लाकर दे दिया कि भगवान्‌ने तेरेको बेटा दे दिया। राधा नाम था उसका। उसने खूब पालन-पोषण किया। कर्ण सूर्यभगवान्‌की उपासनामें लग गया। सूर्यको वह इष्टदेव समझता था। सूर्य तो समझते थे मेरा पुत्र है, परंतु ये समझते थे इष्टदेव।

इसके पास विलक्षण शक्ति थी। इन्द्रको इसका डर था। इन्द्रका पुत्र अर्जुन है। सूर्यका पुत्र कर्ण है। एक दिन उ ने कर्णसे वो कवच माँग लिया, कुण्डल माँग लिये। कर्ण दानी था। उसके लिये लोगोंमें ये कहावत है। सुबहके समय कोई आता है तो कहते हैं भाई ! कर्णका वक्त है। दान देता भजन-स्मरण किया करता। उसका वक्त

दिया हुआ था, समय दिया हुआ था। जब दान दिया करता तो कोई कुछ भी माँग ले तो न नहीं कहता था। कर्णके मरनेपर भगवान्ने अर्जुनसे कहा। आज इस भू-मण्डलसे एक विशेष दानी चला गया। उसके जोड़ीका दान देनेवाला नहीं है। इन्द्रने जब माँग लिया उनसे कवच तो वो चमड़ी उतार कर दे दी।

श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये कोई अदेय वस्तु नहीं है। त्वचा उतार कर दे दी। कुण्डल दे दिये कर्णने। उससे उसकी रक्षामें बाधा पड़ी। मर गया, नहीं तो मरता नहीं उनसे। वैरीसे किसीसे ही नहीं मरता। ऐसे वो कर्ण बड़ा धर्मात्मा-पुण्यात्मा था। पाण्डवोंके साथ इसका विरोध हो गया था—द्वेष हो गया था, जिसमें भी अर्जुनके साथ। इन्द्रने प्रसन्न होकर कर्णको एक ऐसी शक्ति दी कि वो जिसपर भी छोड़ दे तो जिन्दा नहीं बच सकता। वह शक्ति कर्णने अर्जुनको मारनेके लिये सुरक्षित रख रखी थी।

एक दिन माता कुन्तीने कर्णसे एकान्तमें कहा। देख कर्ण! तू मेरा बेटा है। मैं तेरेसे माँगती हूँ। कर्ण बिगड़ा, तू माँ कैसी ? जो माँ अपने बच्चेको नदीमें बहा दे, वो माँ है ? ये कोई माँका काम होता है, परन्तु आप माँ हो तो माँगो क्या माँगती हो । क्या माँगना चाहती हो, बोलो ? बेटा ! तेरेसे पाँच बेटा चाहती हूँ। इन पाण्डवोंको मारना नहीं। कर्णने कह दिया कि माताजी ! आपने पाँच बेटा माँगे, तो मैंने पाँच बेटा दिये। युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेवको तो मारूँगा नहीं। अर्जुनके साथ मेरा है वैर। अर्जुन अगर मेरेको मार दे तो आपके पाँच बेटे। मैं अर्जुनको मार दूँ तो मैं बेटा तुम्हारा। तुम्हारे पाँच बेटे तैयार। मैं तुम्हारे पक्षमें आ जाऊँगा। एक बातकी याद रखना। ये बात युधिष्ठिर महाराजसे मत कहना। अगर कह दोगी तो ये पाण्डव सदा दुःखी रहेंगे। ध्यान देना भाइयो ! कर्णके मनमें कितना विलक्षण

विचार है ? मैं मर जाऊँ बेशक दूसरोंको दुःख न हो। पाण्डवोंको कष्ट न हो। ऐसे ही कृष्णभगवान्‌से कहा। कृष्णभगवान्‌ने कहा तूँ कुन्तीका बेटा है। इसने कहा आप युधिष्ठिरको मत कहना। युधिष्ठिरसे कह दोगे तो मेरे साथ युद्ध नहीं करेंगे। दुर्योधनके साथ करेंगे। दुर्योधन मेरेको नहीं छोड़ेगा, मैं दुर्योधनको नहीं छोड़ूँगा। मेरे साथ युद्ध युधिष्ठिर करेंगे नहीं। इसमें पाण्डव दुःख पावेंगे। इस वास्ते युधिष्ठिरको मत कहना। युधिष्ठिरसे छिपी हुई बात रही। सब युद्ध समाप्त हो जाता है जब युधिष्ठिर महाराज अपने बड़ोंको पानी देने लगे हैं। उस समय माँ कुन्तीने कहा बेटा ! कर्णको भी पानी दे। उनको भी जल दो वो तुम्हारे बड़े भाई हैं। युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ।

कहते हैं माँ ! आज दिनतक मैं इस बातको जान नहीं सका। मेरे मनमें आती थी। जब कर्णके चरणोंकी तरफ मेरी दृष्टि जाती तो माँ याद आ जाती। कुन्ती माँ याद आती। वो माँके चरणोंके रोजाना नमस्कार करते। चरणोंके दर्शन रोजाना करते थे। कर्णके चरणोंको देखते ही कुन्ती याद आ जाती थी। मैं इस बातको जान नहीं सका। क्या कारण है ? कर्णको देखता हूँ तो माँ याद आती है। आपके व कर्णके चरण मिलते-जुलते थे। इस वास्ते माँकी याद आ जाती थी। मैंने बड़ी गलती की, उस कर्णके साथ मैंने द्वेष रखा। मैंने कर्णको मरवा दिया, आपने ये बात प्रकट नहीं की। ऐसे पश्चात्ताप हुआ है। लोकोंमें एक कहावत है कि युधिष्ठिरने श्राप दे दिया कि स्त्रियोंके मनमें बात खटेगी नहीं। इतनी छिपा ली तैंने। कितना विलक्षण उन लोगोंका भाव। खास धर्मावतार युधिष्ठिरजी कितना भाव विचित्र रखते थे।

अगर हम गड़बड़ी कर लेंगे। तो गड़बड़ी करनेपर भी यहाँ धन हो जायेगा, ये कारण नहीं हैं। बिलकुल ये नहीं हैं। कोल-किरातोंने क्या कहा? दिन और रात पाप करते हैं। ***पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥*** (मानस २। २५१। ५) कटि-पटका तात्पर्य लज्जा-निवारणके लिये तो पूरा कपड़ा नहीं है। पेट भरनेके लिये अन्न नहीं है। रात-दिन पाप करते हैं। पाप करनेवाले सब-के-सब धनी बन जायँ, ये बिलकुल गलती बात है। है नहीं। आप खूब दृष्टि पसारकर देख लें। पाप करो तो धन आनेवाला आ जायेगा। पाप नहीं करो तो धन आनेवाला आ जायगा। पाप करते रहो तो धन जानेवाला चला जायेगा। पाप न करो तो भी जानेवाला चला जायगा। धनका सम्बन्ध प्रारब्धसे है। अभी की हुई क्रियासे नहीं है।

जिसमें भी पाप-क्रियाका फल धन नहीं है। पाप-क्रियाका फल तो दण्ड है। चाहे नरक भोगो, चाहे चौरासी लाख योनि भोगो। इस वास्ते थोड़ा-सा खयाल रखो। रोगी आदमी थोड़ी-सी जीभ वशमें रखता है तो नीरोग हो जाता है। जिह्वाके वशमें हो कुपथ्य कर लेता है तो रोग बढ़ जाता है। ऐसा थोड़ा-सा धैर्य रख करके संयम करके आप अगर पापोंसे बच जायँ तो बड़ा भारी लाभ होगा। लौकिक लाभ तो होगा वो होना है जितना ही होगा। ***लिख दिया विधाता लेख नहीं टलने का, कछु राई नहीं घटे ना तिल कही बढ़ने का।*** राई-तिलका फरक नहीं पड़ेगा, तो वो आयेगा। अपना काम कर्त्तव्य करना है। बड़े उत्साहसे, तत्परतासे, न्याययुक्त काम करना है। ये तो मनुष्यका कर्त्तव्य है। ऐसे कर्त्तव्यका पालन नहीं करता वो मनुष्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। आलस्य-प्रमादमें, खेल-तमाशोंमें, हँसी-दिल्लगीमें, बीड़ी-सिगरेटमें, ताश-चौपड़में, नाटक-सिनेमामें समय

बरबाद कर देता है, बहुत बड़ा भारी नुकसान करता है। असली धन पासमें उम्र है। उसका नाश कर देते हो। सज्जनो ! बड़ा टोटा लगता है, बड़ा घाटा लगता है। अभी आपको पता नहीं है।

अपनी चीज नष्ट नहीं होती है, विश्वास मनुष्यके नहीं होता है। सामने देख करके आदमी ललचा जाता है। ये रुपये ले लूँ परन्तु लोभ और पाप आपके साथमें रहते हैं। पैसे भी मरनेपर यहीं रहते हैं। कमाते हैं पैसे वे भी पूरे आप खर्च कर नहीं सकते। अपने कुटुम्बमें भी पूरे खर्च नहीं कर सकते, बचेंगे। आपलोग पैसेवाले हो। हमलोग बिलकुल ऐसे फकीर हैं उनके भी लँगोटी, तुम्बी, बचती है मरते हैं तब। ये नहीं पहले सब खत्म हो जाय पीछे मरें ऐसा नहीं। निर्वाहकी चीजें बचती हैं। उसके लिये पाप क्यों करें ? साथ ले जानेवाली पूँजीको खराब क्यों करें ? काम उत्साहसे करो। बड़ी मुस्तैदीसे करो अच्छी तरहसे। समयको खर्च मत होने दो। समयको बर्बाद मत होने दो। सावधानीसे भजन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय, अच्छी-अच्छी पुस्तकोंका पढ़ना, नाम-जप करना, कीर्तन करना, इसमें लगाओ समयको। ***'एक-एक श्वास जात लाख-लाख हीरा को'*** सन्तोंने कहा, बड़ा कीमती श्वास है। ये कीमती श्वास हमारे निरर्थक न चले जायँ। संसारका काम-धन्धा उपकारका, सेवाका, घरका करो और भगवान्‌को याद रखो। भरोसा परमात्माका रखो। झूठ-कपटका भरोसा रखते हो। क्या ये कल्याण कर देंगे ? ये उद्धार कर देंगे क्या ? सज्जनो ! कृपा करो ! मनमें आती है कि आपको अपने उद्धारकी बात कौन सुनायेगा ? ये सुननेको कब मिलेगी ?

सीख लो, बिना पैसा देकर सीख लो, लोगोंको देखकर सीख लो, बड़ी पाठशाला चल रही है। परन्तु पापोंसे बचाकर आपका उद्धार कौन करेगा ? भगवान् करेंगे। सिवाय भगवान्के और कोई है ही नहीं।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥

(मानस ४। १२। १)

भगवान्के सिवाय भाइयो ! बहनो ! हमारा सच्चा हितैषी कोई नहीं है। उनके चरणोंके शरण हो जाओ बस। मनमें हे नाथ ! मैं आपका हूँ। आप मेरे हैं। ऐसे चरणोंके शरण हो जाओ। **'जरामरण-मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये'**— (गीता ७। २९) प्रभुके चरणोंका आश्रय ले करके यत्न करो। शरण भगवान्की रखो भाई ! बल, बुद्धि, विद्या, धनका नहीं। ये कच्चा सहारा है। गोस्वामीजी कहते हैं— ***'और आस विश्वास भरोसो हरो जीव जड़ताई।'*** जीवमें अगर जड़ता है, मूर्खता है, भूल है, बड़ी भारी गलती है तो क्या है ? आपके सिवा अन्यका जो सहारा है, आश्रय है। ***'और आस विश्वास भरोसो।'*** भगवान्के सिवा आशा रखना, विश्वास रखना, भरोसा रखना, ***'ये हरेहु जीव जड़ताई।'*** ये जीव की जड़ता है।

एक आसरो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥

भगवान्का आश्रय लिया गोस्वामीजी महाराजने, उनकी रामायणसे कितनोंका उद्धार हो रहा है और होगा और हुआ है जिसकी कोई गिनती नहीं कर सकता। उनमें इतनी विलक्षणता कहाँसे आ गयी ? सज्जनो ! उन चरणोंसे आयी। प्रभुके चरणोंसे। ***'एक आसरो एक बल एक आस बिस्वास'*** उसीका ही बल, उसीकी ही आशा, उसीका ही विश्वास है। ***'एक राम घनस्याम हित'*** जैसे चातक होता है बादलकी तरफ देखता है, ऐसे घनश्यामकी तरफ। ऐसे **'चातक**

***तुलसीदास*।' घनश्याम हमारे रामजीके चरणोंके शरण हों। उसके लिये मैं चातक हूँ और हमें लेना नहीं है।

सज्जनो! प्रभुके चरणोंके शरण हो जाओ। भगवान्‌ने मात्र जीवोंको शरण ले रखा है। सज्जनो! याद करो। सब जीवोंको भगवान्‌ने शरण ले रखा है। केवल आपकी हाँ-में-हाँ मिलानेकी जरूरत है। भगवान्‌ने तो शरण ले रखा है। कहें क्या पता? इतने भाई-बहिन बैठे हैं? मैं पूछूँ आपसे इतने भाई-बहिन बैठे हैं। कोई एक भी भाई हिम्मत करके बतावे कि मैंने जान करके यहाँ जन्म लिया है। है याद आपको। जन्मकी बात याद नहीं। अभी जैसा आप विचार करते हैं कि सुख मिले व दुःख न मिले, ऐसा विचार भी करते हैं, उद्योग भी करते हैं, परिश्रम भी करते हैं, परंतु फिर भी मिल जाता है क्या? दुःख हम नहीं चाहते तो भी भेज देते हैं। दुःखके भेजते समय भगवान् हमें पूछते ही नहीं, बोलते ही नहीं और भेज देते हैं। क्यों भेज देते हैं? कि भगवान् समझते हैं, मानते हैं कि ये मेरे हैं। भगवान् कहते हैं कि ये मेरे हैं। सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिका वर्णन है। वहाँ भी कहते हैं, ''**तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्**' ऐसे द्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें क्रूर, अधर्म, उनको मैं आसुरीयोनिमें गिराता हूँ। भगवान्‌को पूछे क्यों गिराते हैं महाराज! तूँ पूछनेवाला कौन? दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापी उनको भी भगवान् अपना समझते हैं। अपनी तरफसे आसुरीयोनिमें गिराते हैं, त्रास देते हैं, शुद्ध बनाते हैं।

जैसे सुनार जब सोनेको अपनाना चाहता है तो वो अग्निमें देकर खूब तपाता है, जलाता है कि जिससे उसकी विजातीय धातु जल जाय। ऐसे भगवान् किये हुए पापोंको दूर करके जलाते हैं, नष्ट करते हैं। बालक खेलता है तो खेलते-खेलते कादा, कीचड़, मैला लगा

लेता है, माँ स्नान कराती है। स्नान करते समय रोता है। मौका लगे तो भाग जायगा। माँ हाथ पकड़कर लाती है। जाने नहीं देती। हाथसे रगड़कर मैल उतारती है। उसको साफ करती है। जल डाल देती है ऊपरसे। तो छोरेका श्वास ऊपर चढ़ जाता है। परन्तु इसको दया नहीं आती। अरे भाई ! दया ही तो है भरी हुई। वो बालक नहीं समझता है। बच्चा है। ऐसे रगड़ देती है तो बच्चा समझता है अरे ! माँ दुःख क्यों देती है ? तैंने मैल क्यों लगा लिया बता ? अब कौन-सा धन्धा करने गया था। कौन-सा आवश्यक काम था। जो लगा लिया मैल, ऐसे आप झूठ-कपट करके मैल लगा लेते हो। मैल भगवान्‌को सुहाता नहीं है, ये अपना प्यारा लाला है, बच्चा है, इस वास्ते ज्यों कष्ट देते हैं त्यों चिल्लाता है, टीं-टीं करता है कि भगवान्‌ने दुःख दे दिया। भगवान्‌के खजानेमें दुःख है ही नहीं, तूँ दुःख कहाँसे लाया। उधार लाया कहाँसे ? है ही नहीं। वो साफ करना चाहते हैं। मैला देखना चाहते नहीं।

काशीजीमें एक विद्यार्थी रहता था। वो पढ़ाई करता था। मामूली खर्चा मिलता था और अपने पढ़ाई चलती थी। माता उसका प्रबन्ध करती थी। माँ जब बीमार हुई, मरने लगी तब कहा बेटा ! तू घबरा मत। कुल देवी है, शक्ति है, अपनी माँ है। तुम्हारे कोई आफत हो तो ये माँका मन्त्र जपो और माँको याद कर लेना ! सदाकी माँ तो बेटा ! वो ही है। हम तो नकली हैं उसको याद कर लेना। माँ मर गयी अब वो पढ़ाई करने लगा।

एक जगह ट्यूशन होता था, जहाँ कुछ तनख्वाह मिल जाय। पढ़ानेके लिये जगह खाली थी। कइयोंने दरख्वास्त दी। उसने भी पत्र लिखा कि मेरेको मिल जाय, नहीं मिली। दूसरेकी नियुक्ति हो गयी तो उसके हुआ दुःख। रात्रिमें जपता था माँका मन्त्र। माला फेंक दी और

रूठ करके सो गया। मेरी ट्यूशन मिलती थी जिसमें आपने बन्द कर दिया। अब खर्चा कहाँसे लाऊँ और मेरी पढ़ाई कैसे हो। सो गया नींद आ गयी। नींदमें माँ उसको गोदमें लेती है। ऊपर हाथ फेरती है कि बेटा! मैं तेरेको छोटी जगहपर नहीं देखना चाहती। ऐसा कहा नींद खुल गयी। अब मनमें आवे। छोटी-बड़ी जगह तो ठीक, पर खर्चा नहीं। रोटी और पुस्तकोंका भी खर्चा नहीं। कैसे काम चलाऊँ? कैसे पढ़ूँ? अब कहती है छोटी जगह देखना नहीं चाहती। छोटी-मोटी जगह क्या होती है। थोड़े दिनों बाद परीक्षा हुई—परीक्षामें बड़े अच्छे नम्बर आये। जितना ट्यूशन मिलता था उतनी छात्रवृत्ति मिलने लग गयी कि भाई! लड़का बड़ा अच्छा है। इतने रुपये दे दिये जायँ छात्रवृत्तिके। अब पढ़ाई खोटी भी करनी नहीं पड़ी और नौकरी भी करनी नहीं पड़ी। इज्जत भी बढ़ गयी, पैसा भी आ गया।

अब किस तरहसे भगवान् करते हैं तो हम जानते नहीं। उसके कुछ समझमें नहीं आयी बात कि माँ कहती है मैं तेरेको छोटी जगह देखना नहीं चाहती। क्या करेगी अब? माँ तो सब काम करती है। वो जगन्माता है। भगवान्को **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'** ये तो हम अलग-अलग नाम कहते हैं। वो ही माता है, वो ही पिता है। **'माता धाता पितामह'**। धाय भी वो ही है। दादा भी वो ही है। दादी भी वही है। सब कुछ हमारे **'त्वमेव सर्वम्'** भगवान् हैं। ऐसे भगवान्के शरण रहो।

भगवान्ने शरण ले रखा है, अपना रखा है आपको। सुख-दुःख भेजते हैं तो कोई सम्पत्ति नहीं लेते। क्यों भेज देते हैं कि अपना मानते हैं। ये मेरे हैं। इतना जब अपनापन भगवान् रखते हैं अपने तो चिन्ता क्यों करें। हमें तो भगवान्की आज्ञा पालन करना है। उनकी आज्ञाके अनुसार सुचारुरूपसे काम-धन्धा करना है। चिन्ता नहीं करनी है।

अब कैसे करेंगे। वे जानें। बड़ी-बड़ी आफत आयी भक्तोंमें।

पाण्डवोंमें कोई कम आयी है क्या आफत। प्रह्लादजीके ऊपर त्रास कम आयी है क्या ? सुनते हैं बावन त्रास दी गयी। इतनेपर भी प्रह्लाद भगवान्‌को याद करता है। ऐसा नहीं कि आफत है तो छोड़ो। इसमें बहुत त्रास आती है छोड़ दो। ऐसा छोड़ा नहीं। वह तो एक भगवान्‌का ही भजन करता है। ऐसे प्रभुके चरणोंके आश्रित रहनेवालोंकी सदा विजय होती है। सदा, परंतु कब होगी ? कैसे होगी ? कुछ पता नहीं। लोक-परलोकमें भला जरूर है। इसमें सन्देह नहीं। अपने तो भगवान् और सन्तोंकी वाणी पढ़ो। अच्छे-अच्छे महापुरुष हो गये हैं, कह गये हैं उनके वचनोंपर विश्वास करके, उन चरणोंके शरण हो जाओ। फिर कष्ट आयेगा, बेईज्जती होगी तो हमारी क्या होगी—उसकी होगी। द्रौपदीने क्या कहा—'***जाएगी लाज तिहारी नाथ मेरो का बिगड़ेगो, कन्हैया मेरो का बिगड़ेगो,***' मेरा क्या बिगड़ेगा महाराज! '***मौ पति पाँच, पाँच के तुम पति, अब पत जाएगी तिहारी***' ये पत किसकी जायेगी। आप सबके पति—मालिक हो। '***सूरके स्वामी तुम लाज मरोगे देखोगे द्रुपदा उघाड़ी***' द्रौपदी उघाड़ी हो गयी, तुम्हारेको शर्म नहीं आयेगी। अरे, जो मालिक होता है उसको शर्म आती है। लौकिक कहावत है कि बहू उघाड़ी फिरे तो ससुरेकी फूट गयी क्या। बड़े हैं, माइत हैं, क्या उनको शर्म नहीं आयेगी। नहीं आवे तो वे निशर्मे हैं, नहीं तो हम निशर्मे ही सही। हमारी क्या शर्म है। हमारी कोई इज्जत अलग है क्या ? ऐसे भगवान्‌के चरणोंके शरण रहना बहुत बढ़िया उद्धारका उपाय है। गीताने तो कहा है कि '**मामेकं शरणं व्रज**'। अनन्यभावसे मेरे शरण हो जा, तू चिन्ता मत कर। धर्मका निर्णय न कर सके तो उस धर्मको मेरेपर छोड़ दे। '**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)।

महाभारत-युद्धकी घटना

तो कर्णके पास शक्ति थी। कुण्डल और कवचकी बात तो कह दी, युद्धके समय घटोत्कचने युद्ध किया। जो भीमसेनका हिडिम्बासे पैदा हुआ राक्षस था। पाण्डवोंके पक्षमें था। रात्रिमें इतना बड़ा भयंकर युद्ध किया कि कौरवोंको चकरा दिया एकदम। निराश हो गये जीनेसे, विजय तो दूर रही। दुर्योधनने कहा कर्ण ! इसको मारो किसी तरहसे। उसी शक्तिसे मारो तो कर्णने कहा वो शक्ति मैंने अर्जुनके लिये रख छोड़ी है। कहते हैं रात्रिमें ये घटोत्कच पीस डालेगा पहले ही। फिर पीछे क्या काम आवेगी। कर्णको कहा तो कर्णने शक्ति छोड़ी। वो चमचमाती हुई शक्ति-जैसी। घटोत्कचने अपना शरीर बढ़ाया, आकाशमें था वह। इतना बढ़ाया कि कौरव-सेना सब-की-सब दब जाय। कहते हैं भागो-भागो यहाँसे। वह शक्ति लगी और गिरा धड़ामसे। एक चौथाई सेना तो दब गयी, मर गयी। ऐसी शक्ति छोड़ी। घटोत्कचके मरनेसे दुःख हुआ पाण्डवोंको कि हमारा ऐसा वीर मर गया। भगवान् ऐसे पीताम्बर करके नाचने लगे और अर्जुनको उठाकर हृदय लगाते हैं। आज मेरा अर्जुन बच गया। मौज हो गयी। पाण्डवपक्षी कहते हैं आज हमारे पक्षका इतना बड़ा वीर मारा गया, आपको खुशी आती है। भगवान्‌ने कहा कि मैं पाण्डवोंका पक्षपाती नहीं हूँ। मैं धर्मका पक्षपाती हूँ। ये राक्षस बचता तो राक्षसपना करता—मेरेको मारना पड़ता। ये तो ठीक ही हुआ एक साथ दो काम हो गया। कर्णके पास जबतक शक्ति थी तबतक मेरेको रात्रिमें नींद नहीं आती थी। सोचता था और जब-जब कर्ण आता सामने तब उसको भुला देता कि कहीं शक्ति न छोड़ दे। शक्तिको याद नहीं रहने देता। ऐसी मैं सावधानी रखता था। अब मौज हो गयी, आनन्द हो गया। मेरा अर्जुन बच गया।

कर्णकी एक विलक्षण बात याद आ गयी। ये युद्ध करता था उस समय एक साँप आया। बड़ा जहरीला था, उसने कहा तूँ बाणमें मेरेको लगा दे। अर्जुनको मैं मार दूँगा। वो साँप था, खाण्डीव वन दाह किया। उस समय अर्जुनने शरपञ्जर बाँध दिया, जिससे कोई जन्तु भीतर जा न सके। बाहर सब-का-सब अग्निको जलाने दे दिया। अग्निको अजीर्ण हो गया था। वो जलाते समय एक सर्पिणी अपने मुखमें बच्चेको लेकर ऊपरको जा रही थी। उस जाती हुईको अर्जुनने काट दिया। सर्पिणी तो मर गयी। वो बाहर गिर गया। वो कहता है मेरी माँको मार दिया उसको मैं मारूँ। तू मुझे ले ले। कर्णने कहा, 'कर्ण दूसरेकी मदद नहीं लेता है। वो घुसकर बैठ गया तरकसमें। बाण लिया और कर्णने संधान किया। बाण अर्द्धचन्द्राकार भी होता है, जिससे गला कट जाता है। ऐसा बाण संधान किया। शल्य सारथी थे, कृष्णभगवान्‌के समान ही वे बड़े होशियार थे। वे कहते हैं कर्ण ! तेरा बाण है ठीक, निशाना बढ़िया नहीं है, कारण कि ज्यों ही बाण संधान किया। संधान करते ही भगवान्‌ने देखा कि अब तो मौत आयी तो जोरसे ऐसा खुर्गेका झटका दिया जिससे घुटनी टिक गयी। रथ नीचा हो गया। अर्जुनके वो बाण यहाँ लगा मुकुटमें। वो जलता हुआ खत्म हो गया। कहा शल्यने कि थोड़ा नीचे कर दो, तो कहा कि कर्ण संधान एक बार ही करता है। दो बार बदलता नहीं। बोले बाण चलानेमें थोड़ी-सी नोंक ऐसे करनी पड़ती थी। सत्यपर कितनी निष्ठा है। एक बार संधान कर लिया। निशाना बना लिया। अब इतना नीचा करना भी असत्य मानते हैं।

आज झूठ-कपट करती है उन्हीं भाइयोंकी ये सन्तान। अपने बड़कोंने क्या किया। मरना स्वीकार, पर असत्य स्वीकार नहीं।

****

'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ॥' (मानस २। २८। ५) ऐसे डटे रहे तो आज कर्णका भी नाम लेते हैं। आदरसे नाम लेते हैं। वो अर्जुनके विपक्षमें था। अरे पक्षमें हो, विपक्षमें हो क्या बात है। सच्चे पुरुष सच्चे ही होते हैं,अच्छे पुरुष अच्छे ही होते हैं। किसी जगह जाय ठीक होते हैं।

भाइयो, बहिनो ! भगवान्‌के चरणोंके शरण रहो और सच्चाईसे लोगोंमें व्यवहार करो।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

(दिनाङ्क १६ जुलाई, १९८२)

——★——

॥ श्रीहरिः ॥ 418▲

साधकोंके प्रति

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

हमारे परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज अत्यन्त सरल एवं सुबोध भाषा-शैलीमें प्रवचन दिया करते हैं। 'साधकोंके प्रति' नामसे 'कल्याण' मासिक पत्रिकामें आपके प्रवचन प्रकाशित होते हैं। प्रवचनोंकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रवचनोंकी उपादेयताके कारण यह महत्त्वपूर्ण प्रवचन-संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इसे मननपूर्वक पढ़नेसे जीवनमें व्यावहारिक एवं पारमार्थिक अभूतपूर्व सहायता ही नहीं सफलता भी प्राप्त हो सकेगी। अतः सर्वसाधारणसे निवेदन है कि प्रस्तुत विषयको भलीभाँति हृदयंगम करनेकी कृपा कर लाभ उठावें।

विनीत—

प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—१

साधकोंके प्रति—

साधकके लिये खास बात है—**पराधीनतासे रहित होना।** शरीर, रुपये, व्यक्ति, देश, काल आदिकी आवश्यकताका अनुभव करना ही पराधीनता है। जिसके पास अधिक रुपये, विद्या, बुद्धि, बल आदि हैं, वह संसारकी अधिक सेवा कर सकता है—यह वहम हृदयसे बिलकुल उठा देना चाहिये। साधकके पास जितने रुपये, विद्या, शक्ति आदि हैं, उतनेसे ही वह संसारकी बड़ी-से-बड़ी सेवा कर सकता है। जो अपने पास नहीं है, उसे देनेकी जिम्मेवारी नहीं है। परमात्माकी प्राप्ति वस्तुसे नहीं, त्यागसे होती है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी आवश्यकताका अनुभव करना और उनके आश्रयसे अपनी उन्नति मानना महान् भूल है। साधकको कभी स्वप्नमें भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय नहीं लेना चाहिये। पासमें जो धन, जमीन, मकान, परिवार आदि हैं, उनके रहते हुए ही अन्तःकरणसे उनकी आवश्यकताका मूलोच्छेदन कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे साधककी उन्नति स्वतःसिद्ध है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय लेना, उनकी अधीनता स्वीकार करना योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—तीनों ही मार्गोंमें महान् बाधक है। जीव स्वयं नित्य परिपूर्ण निर्विकार परमात्माका चेतन अंश होते हुए भी यदि उत्पत्ति-विनाशशील जड वस्तुओंकी आवश्यकताका अनुभव करता है तो वह परमात्माको जान ही कैसे सकता है? अतः धनादि जड वस्तुएँ हमारी हैं और हमारे लिये आवश्यक हैं—यह भाव साधकको मनसे ही उठा लेना चाहिये।

मनुष्यके भीतर यह भाव रहता है कि जो वस्तु, परिस्थिति, योग्यता आदि अभी नहीं है, वह मिल जाय तो मेरी उन्नति हो जायगी। वह उत्पत्ति-विनाशशील जड वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति

****

मानता है। जैसे, उसके पास धन नहीं है, तो धन कमाकर लखपति-करोड़पति बननेपर वह सोचता है कि मैंने बड़ी भारी उन्नति कर ली है, वह पढ़ा-लिखा नहीं है तो पढ़-लिखकर विद्वान् बन जानेपर सोचता है कि मैंने बड़ी भारी उन्नति कर ली, इत्यादि। वास्तवमें यह उन्नति नहीं है, अपितु महान् अवनति (पतन) है। जो वस्तु पहले नहीं थी, वह बादमें भी नहीं रहेगी। स्वयं नित्य-निरन्तर रहनेवाला होनेपर भी अनित्य वस्तुओंकी प्राप्तिमें अपनी उन्नति मानना अपने साथ महान् धोखा करना है। जो सदासे है और सदा रहेगा, उस अविनाशी परमात्माको प्राप्त करनेमें ही मनुष्यकी वास्तविक उन्नति है। जो वस्तु अभी नहीं है, उसे प्राप्त कर भी लेंगे तो वह कबतक हमारे साथ रहेगी। जो अभी नहीं है, वह अन्तमें भी 'नहीं' में ही परिणत होगी। **ऐसी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको प्राप्त करके अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करना ही उनके अधीन (पराधीन) होना है।**

दूसरी खास बात यह है कि अपनेमें सद्‌गुण-सदाचारोंकी कमी दीखनेपर भी साधक ऐसा कभी न माने कि मुझमें सद्गुण-सदाचारोंका अभाव है। सद्‌गुण-सदाचार 'सत्' हैं और दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं। 'असत्' की तो सत्ता नहीं होती और 'सत्' का कभी अभाव नहीं होता—***'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'*** (गीता २।१६)। उत्पत्ति-विनाशशील असत्‌का सङ्ग करनेके कारण ही सत् प्रकट नहीं होता। अस्वाभाविक असत् (दुर्गुण-दुराचार) का त्याग कर दें, तो सत् (सद्‌गुण-सदाचार) स्वतःसिद्ध हैं। सत्‌से विमुख हुए हैं, उसका अभाव नहीं हुआ है। असत् (दुर्गुण-दुराचारों) का त्याग करनेका उपाय यह है कि साधक इन्हें अपनेमें कभी न माने। वास्तवमें ये हमारेमें हैं ही नहीं, रह सकते ही नहीं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण भी पहले हमारे साथ नहीं थे और न ही आगे हमारे साथ रहेंगे। कारण कि ये सब उत्पन्न और

नष्ट होनेवाली वस्तुएँ हैं और हम स्वयं अविनाशी परमात्माके अंश हैं—*'ममैवांशो जीवलोके'* (गीता १५।७)**जड वस्तुएँ बदलती और आती-जाती हैं जबकि स्वयं (आत्मा) कभी नहीं बदलता और सदैव ज्यों-का-त्यों रहता है। केवल प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे यह सर्वथा स्वाधीन होते हुए भी पराधीन हो जाता है और जन्म-मरणके बन्धनसे बँध जाता है।** गीतामें आया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (गीता १३।२१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

तीसरी खास बात यह है कि **आध्यात्मिक उन्नतिमें सांसारिक वस्तु, योग्यता आदिकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।** धन, सम्पत्ति, वैभव, पद, अधिकार, विद्या आदिकी अधिकता होनेसे आध्यात्मिक उन्नति अधिक होगी और इनकी कमी होनेसे आध्यात्मिक उन्नति कम होगी—ऐसी बात बिलकुल नहीं है; क्योंकि सांसारिक वस्तु चाहे अधिक हो या कम, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है अर्थात् उसकी कामना और ममताका त्याग करना है। चाहे लाखों-करोड़ों रुपये हों, चाहे पाँच रुपये हों और चाहे कुछ भी न हो, भीतरसे उनकी कामनाका ही त्याग* करना है। त्याग करनेमें सभी समान हैं। अमुक व्यक्तिने बहुत त्याग किया और अमुक व्यक्तिने थोड़ा त्याग किया तो इससे त्यागमें क्या फर्क पड़ा? त्याग तो दोनोंका समान ही है। अधिकका त्याग करनेकी अपेक्षा कमका त्याग करनेमें सुगमता भी होगी। बोलने-बोलनेमें फर्क है? पर न बोलनेमें क्या फर्क? सोचने-सोचनेमें फर्क है पर न सोचनेमें क्या फर्क? देखने-देखनेमें फर्क है, पर न देखनेमें क्या फर्क? दो आदमी काम करें तो करनेमें फर्क होगा,

पर न करनेमें क्या फर्क ? तात्पर्य यह कि सांसारिक वस्तुओंके रहते हुए तो फर्क है पर उनका त्याग करनेमें कोई फर्क नहीं। किसीके पास धन, जमीन, मकान आदि अधिक हैं और किसीके पास ये कम हैं, पर इनसे रहित होनेमें सब बराबर हैं। जीनेमें कई फर्क हैं पर मरनेमें कोई फर्क नहीं, चाहे मनुष्य मरे या पशु-पक्षी। अतएव **हमारे पास धन-सम्पत्ति कम है, विद्या कम है, योग्यता कम है, इसलिये हम पारमार्थिक उन्नति नहीं कर सकते—यह धारणा बिलकुल गलत है।**

जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर ही चिन्मयताकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें चिन्मयता—(परमात्मतत्त्व-) की प्राप्ति सभीको स्वतःसिद्ध है पर जडता (उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं)-को महत्त्व देनेसे हम चिन्मयतासे विमुख हुए हैं। अतः जडतासे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख होना है। हृदयमें धनादि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व अङ्कित होनेके कारण ही ऐसा भाव होता है कि हमारे पास बहुत धन है, इसलिये हम बड़े आदमी हैं अथवा हमारे पास कुछ नहीं है, इसलिये हम छोटे हैं। वास्तवमें चाहे धनवान् हो या निर्धन, मनसे धनकी इच्छाका त्याग करनेपर दोनों समान हैं। अतएव जैसी भी परिस्थिति, योग्यता आदि हमें मिली हुई है, उसीमें साधक परमात्मतत्त्वका अनुभव कर सकता है।

मनुष्य-शरीर मिलनेके बाद मनुष्य सांसारिक पदार्थोंसे निराश हो सकता है, क्योंकि संसारकी कोई भी वस्तु किसीको बराबर मात्रामें और पूर्णरूपसे नहीं मिलती। परंतु **सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्व सभीको समानरूपसे और पूरे-के-पूरे मिलते हैं। इसलिये परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें निराश होनेका कोई स्थान नहीं है।** मनुष्य-शरीर मिल गया तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकार भी मिल गया।

दोषोंको मिटानेका अचूक उपाय है— **दोषोंको अपनेमें न माने, और दोषजनित गलतीको दुबारा न करे।** बारंबार गलती करनेसे ही दोष बने रहते हैं। गुण और दोष दोनों ही उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं और हम स्वयं निरन्तर रहनेवाले हैं। ऐसे ही संसार उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है एवं परमात्मा निरन्तर रहनेवाले हैं। अतएव हम स्वयं और परमात्मा तो एक हैं और दोष तथा संसार एक। तात्पर्य यह कि हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है संसार और दोषोंके साथ नहीं। परन्तु हमने परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध मान लिया, यही गलती हुई। संसार और शरीरसे सम्बन्ध हमने ही माना है, संसार और शरीरने हमसे सम्बन्ध नहीं माना है। हम ही परमात्मासे विमुख हुए हैं, परमात्मा हमसे विमुख नहीं हुए हैं। अतएव संसार और शरीर मेरे नहीं हैं तथा मैं उनका नहीं हूँ, अपितु परमात्मा मेरे हैं और मैं परमात्माका हूँ—ऐसा आज ही मान लें। शरीर संसारका अंश है और हम परमात्माके अंश हैं। **शरीरको संसारकी सेवामें अर्पण कर दे और स्वयंको परमात्माके अर्पण कर दे**—इतना ही काम साधकको करना है।

संसारको अपना मानते ही मनुष्य फँस जाता है और तरह-तरहके दुःख भोगता है। वह समझता तो यह है कि शरीर, धन, जमीन, मकान, परिवार आदि मेरे हैं और मैं उनका मालिक हूँ पर वास्तवमें वह उनका गुलाम हो जाता है। **वहम तो मालिक बननेका होता है पर बनता है गुलाम**—यह बिलकुल सच्ची बात है। मनुष्यको चाहिये कि उन वस्तुओंकी सेवा कर दे और उनसे कोई आशा न रखे, उनमें ममता न करे। शरीरकी भी सेवा कर दे। उसे अन्न, जल आदि दे दे पर उसे अपना न माने। शरीरको सदा रख नहीं सकते, उसे इच्छानुसार बना नहीं सकते, उसमें चाहे जैसा परिवर्तन नहीं कर सकते, फिर वह अपना कैसे? रुपये, जमीन, मकान आदिको भी इच्छानुसार नहीं रख सकते। अतः 'वे अपने हैं'—यह सरासर झूठी बात है। वे सेवाके लिये हमें मिले हैं, अतः उनकी निःस्वार्थभावसे सेवा कर दें। वे अपने दीखते हैं तो यह भगवान्‌की उदारता है। भगवान् किसीको कोई

वस्तु देते हैं तो इस ढंगसे देते हैं कि वह उसे अपनी ही प्रतीत होती है। यह देनेवालेकी विलक्षण उदारता है कि सब कुछ देकर भी उसने अपने-आपको छिपा रखा है। मिली हुई वस्तुको अपनी मानना भगवान्‌की उदारताका दुरुपयोग है। अतः जो अपना नहीं है, उसे अपना नहीं मानना है और जो वास्तवमें अपना है, उस (परमात्मा) के सम्मुख होना है।

शरीरादि पदार्थ प्रतिक्षण ही नाशकी ओर जा रहे हैं। आजतक ये पदार्थ किसीके पास सदा नहीं रहे तो अब कैसे रहेंगे ? इन आने-जानेवाले पदार्थोंको अपनी ओरसे छुट्टी दे दें। ये आ जायँ तो मौज, चले जायँ तो मौज। इसीका नाम त्याग है। त्यागसे तत्काल शान्ति प्राप्त होती है—***'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'*** (गीता १२।१२)। त्यागका अर्थ यह नहीं है कि धन, जमीन, परिवार आदिको छोड़कर भाग जायँ। इन्हें छोड़कर जहाँ भी जायँ, शरीर तो साथ ही रहेगा। शरीर भी तो उन्हीं (धन, जमीन आदि) का साथी है। एक शरीरसे सम्बन्ध है तो संसारमात्रसे सम्बन्ध है। शरीर संसारका बीज है। एक बीजसे जंगल पैदा हो सकता है। इसलिये **इन पदार्थोंको स्वरूपसे नहीं छोड़ना है, अपितु इन्हें अपना और अपने लिये नहीं मानना है**। इन्हें अपना न माननेपर सब चिन्ता-क्लेश मिट जाते हैं। कन्या बड़ी होनेपर उसकी बहुत चिन्ता रहती है। पर उसका अच्छे घरमें विवाह हो जाय तो चिन्ता मिट जाती है। कन्या भी वही और हम भी वही पर विवाहके बाद वह कन्या हमारे घरमें बैठी है तो भी उसकी चिन्ता नहीं होती; क्योंकि अब वह अपनी नहीं है—ऐसा मान लिया। इसी प्रकार यह शरीर भी कन्या है। इसका पालन-पोषण तो करना है पर इसे अपना नहीं मानना है। इस शरीररूपी कन्याको भगवान्‌के हाथ सौंपकर निश्चिन्त हो जायँ।

शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको आजतक कोई नहीं रख सका।

कई बड़े-बड़े तपस्वी हुए और उन्होंने उनके बड़े-बड़े वरदान प्राप्त किये पर शरीरादिको कोई रख नहीं सका। इन्हें कोई रख सकता ही नहीं। फिर इन्हें अपने पास रखनेका झूठा प्रयास करनेसे क्या लाभ ? शरीर, धन, जमीन, मकान, परिवार आदिको अपने पास बनाये रखनेका प्रयास करना अँधेरा ढोनेके समान ही है। अँधेरेको ढोकर, उसे उठाकर क्या बाहर फेंका जा सकता है ? और यदि कोई दीपक लेकर अँधेरेको देखना चाहे तो क्या देख सकता है ? इसी प्रकार संसारको देखने (जानने) का प्रयास करें तो मिलेगा कुछ नहीं; क्योंकि असत् संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। केवल सत् परमात्मतत्त्वकी सत्तासे ही वह सत्तावान् दीख रहा है।

साधक गुण और दोष दोनोंसे अपना सम्बन्ध न माने तो गुणोंका अभिमान नहीं रहेगा और दोष रहेंगे ही नहीं। स्वयंकी स्थिति गुणदोषसे रहित है। इसीलिये कहा गया है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥(मानस ७।४१)

'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥ (श्रीमद्भा० ११।१९।४५)

'गुणों और दोषोंपर दृष्टि जाना अर्थात् उनसे अपना सम्बन्ध मानना ही सबसे बड़ा दोष है और उनपर दृष्टि न जाकर अपने निर्विकार स्वरूपमें स्थित रहना ही सबसे बड़ा गुण है।'

अपनेमें गुणोंको देखनेसे उनके साथ अभिमान आदि दोष आयँगे ही। कारण कि गुणोंकी महिमा दोषोंके कारण ही होती है। जैसे धनवानोंकी महिमा निर्धनोंके कारण ही है, धनवानोंके कारण नहीं; विद्वानोंकी महिमा मूर्खोंके कारण ही है, विद्वानोंके कारण नहीं; वक्ताकी महिमा श्रोताओंके कारण ही है, वक्ताओंके कारण नहीं। छोटी वस्तु रहनेके कारण ही बड़ी वस्तुकी महिमा होती है। यदि छोटी वस्तु न रहे तो बड़ी वस्तु कैसे देखनेमें आयेगी ?

****

प्रवचन—३

मनुष्य काम करनेके लिये किसी कार्यालय-(आफिस-)में जाता है तो वह बड़ी तत्परता और उत्साहसे उस कार्यालयका ही काम करता है और उस कामके लिये उसे वेतन मिलता है। काम कार्यालयके लिये होता है और वेतन अपने लिये। इसी प्रकार संसारमें आकर मनुष्यको केवल संसारके लिये ही काम करना है, अपने लिये नहीं। सबका हित कैसे हो? सबका भला कैसे हो? सबको सुख कैसे मिले? सबको आराम कैसे मिले? इस भावसे केवल संसारके लिये ही काम करना है। जैसे कार्यालयमें रखी हुई वस्तु कार्यालयके कामके लिये ही होती है, अपने लिये नहीं, वैसे ही संसारकी सब वस्तुएँ संसारके लिये ही हैं, अपने लिये नहीं। शरीर, धन, जमीन, मकान, आदि सब वस्तुएँ संसारसे ही मिली हैं और अन्तमें इन्हें संसारको ही लौटाकर जाना है। अतः संसारसे मिली हुई वस्तुओंको संसारकी ही मानकर उसीकी सेवामें लगा देना है। वे वस्तुएँ न तो अपनी हैं और न अपने लिये ही हैं। इसलिये अपने लिये कुछ करना

****

ही नहीं है। **अपने लिये कुछ न करनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।** इसीका नाम 'योग' है। कर्म संसारके लिये होता है और योग अपने लिये। यह योग ही मानो वेतन है।

अपने लिये कुछ करना है ही नहीं और अपने लिये कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसा अनुभव होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। यही कर्मयोग है। इसके विषयमें भगवान्‌ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ (गीता २।४०)

'इस कर्मयोगमें उपक्रम अर्थात् आरम्भमात्रका भी नाश नहीं होता और इसका उलटा फल भी नहीं होता। इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

कार्यालयके समान इस संसारमें आकर अपनी ड्यूटी पूरी कर देनी है, अपने कर्तव्यका निष्कामभावपूर्वक साङ्गोपाङ्गरीतिसे पालन कर देना है। कर्मयोगका स्वरूप यह है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कदापि नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत बन तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

कामना—आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेपर संसारके सम्बन्धका त्याग हो जाता है और त्यागसे तत्काल शान्ति होती है—***'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'*** (गीता १२।१२)। **जितनी भी अशान्ति है, वह सब नश्वर संसारके सम्बन्धसे ही है।** नाशवान् वस्तुओंसे जितना अधिक सम्बन्ध अर्थात् अपनापन जोड़ेंगे, उतनी ही अधिक अशान्ति होगी। संसारसे सम्बन्ध न जोड़ें तो अशान्ति हो ही नहीं सकती। इस

****

प्रकार शान्ति तो स्वतःसिद्ध है और अशान्ति बनावटी अर्थात् खुद अपनी बनायी हुई है।

संसारकी किसी भी वस्तुसे मनुष्यका सम्बन्ध नहीं है। समय समाप्त होते ही चट यहाँसे चल देना है। एक दिन सब वस्तुओंको ज्यों-का-त्यों छोड़कर जाना पड़ेगा। सब-की-सब वस्तुएँ यहीं पड़ी रह जायँगी। यह शरीर भी यहीं रह जायगा। इसलिये जबतक संसारमें रहना है, तबतक निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी है। जब जायँगे, तब साथ कुछ ले नहीं जायँगे। बिलकुल कार्यालयके समान संसारमें काम (सेवा) करनेके लिये आये हैं।

शङ्का—ऊपर कही बातें तो बिलकुल ठीक हैं पर ये बातें सदा याद नहीं रहतीं।

समाधान—ये बातें याद करनेकी हैं ही नहीं। याद करनेकी बात तो भगवान्‌का नाम है, उनका स्वरूप है, उनकी लीला इत्यादि है। उपर्युक्त बातें तो बिलकुल समझनेकी हैं। जैसे, अभी हम अयोध्यामें हैं तो 'हम अयोध्यामें हैं; हम अयोध्यामें हैं'—ऐसा जप नहीं करना पड़ता; क्योंकि यह याद करनेकी बात ही नहीं है। ऐसे ही किसी व्यक्तिकी एक कार्यालयमें नियुक्ति हो जाय और वहाँ वह काम करना आरम्भ कर दे तो उसे 'यह कार्यालय मेरा नहीं है'—ऐसा याद नहीं करना पड़ता; कारण कि इसमें किञ्चित् भी याद करनेकी बात नहीं है। यह तो केवल स्वीकृति या अस्वीकृतिकी बात है।'हम अयोध्यामें हैं'—इसे स्वीकार कर लिया। 'कार्यालय मेरा है'—इसे स्वीकार नहीं किया। बस, इतनी ही बात है। 'कार्यालय मेरा नहीं है, वहाँकी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं'—यह बात आरम्भसे जँच गयी, भीतर बैठ गयी। ऐसे ही संसारकी कोई भी वस्तु मेरी और मेरे लिये नहीं है—इस वास्तविक बातको दृढ़तासे भीतर बैठा लें।

———★———

साधनमें खास बात है— अपने लक्ष्यका निर्णय करना कि वास्तवमें मैं क्या चाहता हूँ। साधक जप, ध्यान, भजन, कीर्तन आदि कुछ भी करता रहे, पर **जबतक वह अपने लक्ष्यका निर्णय नहीं कर लेता, तबतक उसकी वास्तविक साधना आरम्भ नहीं होती।** लक्ष्यका निर्णय हो जानेपर साधक लक्ष्यको प्राप्त किये बिना, लक्ष्यके सिवाय दूसरी जगह ठहर ही नहीं सकता। लक्ष्यका निर्णय जितना दृढ़ होगा, उतनी ही शीघ्रतासे उसकी प्राप्ति होगी। उसके निर्णयमें जितनी ढिलाई होगी, उसकी प्राप्ति भी उतनी ही देरीसे होगी। इसलिये साधकको सबसे पहले गम्भीरतापूर्वक यह विचार करना है कि भगवान्‌ने मुझे मनुष्य क्यों और किसलिये बनाया? गहरा विचार करनेपर पता लगेगा कि किसी बहुत बड़े प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही यह मनुष्य-शरीर मिला है। सांसारिक पदार्थोंके भोग और संग्रहके लिये मनुष्य-शरीर नहीं मिला है। सुखभोग तो पशु-पक्षी आदि मानवेतर योनियोंमें भी मिल सकता है। मनुष्य-शरीर तो उस सर्वोपरि तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये मिला है। इसे प्राप्त करनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इस विषयमें गीताका बहुत सुन्दर श्लोक है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (६।२२)

'जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता।'

—ऐसी स्थितिको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका खास उद्देश्य है। इस स्थितिको प्राप्त किये बिना जो सन्तोष करता है, वह गलती करता है। जबतक कुछ भी करने, जानने और पानेकी इच्छा रहती है, तबतक साधकको यही समझना चाहिये कि वास्तवमें मैं जो चाहता हूँ, वह (वास्तविक तत्त्व) प्राप्त नहीं हुआ।

जैसे बदरीनारायण जाते समय मनुष्य रास्तेमें किसी जगह ठहरता है तो वहाँ भोजन कर लेता है, सो लेता है और अन्य आवश्यक काम कर

लेता है, पर वहाँ अपना डेरा नहीं लगा लेता। जगह अच्छी है, जलवायु भी अच्छी है, सुविधा भी है—ऐसा विचार करके वह वहाँ रह नहीं जाता। यदि रह जाता है, तो वास्तवमें उसे बदरीनारायण जाना ही नहीं है। इसी प्रकार संसारकी जितनी भी अवस्थाएँ हैं, वे सब रास्तेकी हैं। साधक उनमेंसे कहीं भी ठहर नहीं सकता, अटक नहीं सकता। उसे तो अपने एकमात्र लक्ष्य परमात्माकी ओर जाना है। **जहाँ कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता, साधकको तो वहाँ पहुँचना है।**

सच्चा साधक लक्ष्यको प्राप्त किये बिना चैन-आरामसे नहीं बैठ सकता। संसारमें धन मिल गया, तो क्या हो गया? मान बड़ाई मिल गयी, तो क्या हो गया? सुख-आराम मिल गया, तो क्या हो गया? कारण कि ये सांसारिक धन, मान, बड़ाई, सुख-आराम आदि सबसे बढ़कर नहीं हैं। सबसे बढ़कर जो वस्तु है, वह नहीं मिली, तो क्या मिला? अर्थात् कुछ नहीं मिला। आरामसे खा लिया, पी लिया, सो लिया—यह सब पशुओंके ही योग्य है, विवेकी मनुष्यके योग्य नहीं। मनुष्य-शरीरकी महिमा इसी बातको लेकर है कि यह सबसे अधिक उन्नत हो सकता है। मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। देवताओंके पास भोगोंकी भरमार है पर वे भी मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति चाहते हैं।

सांसारिक भोग मनुष्यको सुखी नहीं कर सकते। मुख्य कारण यह है कि मनुष्य स्वयं तो नित्य-निरन्तर रहनेवाला है, पर भोग नित्य-निरन्तर रहनेवाले नहीं हैं। ऐसे भोगोंको हम कबतक अपने साथ रखेंगे? भोग कबतक टिके रहेंगे? उनसे कितना सुख-सन्तोष मिलेगा? इस ओर ध्यान न रहनेसे मनुष्य बेपरवाह रहता है। चाहे जितना धन कमा लें, धनकी इच्छा शेष रहेगी ही। लाखों-करोड़ों रुपये मिल जायँ, फिर भी तृप्ति नहीं होगी। ज्यों-ज्यों अधिक रुपये मिलेंगे, त्यों-ही-त्यों तृष्णा अधिक बढ़ेगी। तृष्णा अधिक बढ़नेपर झूठ, कपट,

चोरी, बेईमानी, ठगी, विश्वासघात आदि अनेक दोष आते जायँगे, जिससे और अधिक पतन होगा। बिलकुल सही बात है। नाशवान् पदार्थोंको सदा अपने साथ रख नहीं सकते और सदा उनके साथ रह नहीं सकते। एक दिन सबको छोड़ना ही पड़ेगा। अतः बिगड़ने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंको लेकर कौन-सा बड़ा काम किया। निर्वाहमात्रका प्रबन्ध तो भगवान्‌की ओरसे जीवमात्रके लिये ही है; अतः इसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता वास्तविक तत्त्वको प्राप्त करनेकी ही है। उसकी प्राप्तिमें सांसारिक भोग और संग्रहकी कामना ही महान् बाधक है। **वास्तविक तत्त्वको प्राप्त किये बिना चैनसे रहना बड़े ही दुःखकी बात है।** मनुष्य कभी धन चाहता है, कभी मान-बड़ाई चाहता है, कभी निरोगता चाहता है, कभी आराम चाहता है पर वास्तवमें यह उसकी चाह नहीं है। अतः वास्तवमें मुझे क्या चाहिये—इसका निर्णय करनेकी बहुत अधिक आवश्यकता है। लक्ष्यका निर्णय होनेपर फिर उसकी विस्मृति (भूल) नहीं होती। जिसकी विस्मृति होती है, वह लक्ष्य नहीं है।

जैसा कि पहले बताया गया, लक्ष्य वह है, जिसकी प्राप्तिके बाद कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहे। इसीको तत्त्वप्राप्ति, भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन, जीवन्मुक्ति, कैवल्य आदि-आदि कहते हैं। साधक तत्त्वज्ञान, भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि जो चाहता है, वही उसे मिल जाता है।

———★———

प्रवचन—५

उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक वस्तुके मूलमें उसका कोई कारण होता है। इस दृष्टिसे सम्पूर्ण सृष्टिका कोई एक मूल कारण है। परम्परासे विचार करें तो **उत्पत्तिमात्रका कारण कोई एक अनुत्पन्न तत्त्व है।** सम्पूर्ण संसारका जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान किसी प्रकाशमें होता है। जैसे नेत्रोंसे जो कुछ भी दीखता है, वह प्रकाशमें ही दीखता है, ऐसे ही सम्पूर्ण सृष्टिका कोई प्रकाशक है, जिसके प्रकाशमें सृष्टिका ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि जिससे संसार उत्पन्न होता है और जिसके प्रकाशसे संसार प्रकाशित होता है, वह एक अनुत्पन्न और सर्वप्रकाशक तत्त्व (परमात्मा) है। उस तत्त्वका अनुभव करना ही साधकका एकमात्र उद्देश्य है।

उत्पन्न होनेवाले और प्रकाशित होनेवाले जड पदार्थोंमें ममता-आसक्ति करनेसे, उनका आश्रय लेनेसे ही मनुष्य दुःख पाता है। यदि मनुष्य उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें ममता-आसक्ति न करे, उनका आश्रय न ले तो अनुत्पन्न परमात्मतत्त्वमें उसकी स्वतः-स्थिति हो जायगी।

वास्तवमें अनुत्पन्न तत्त्वमें मनुष्यमात्रकी स्वतःसिद्ध स्थिति है। कार्यमात्र कारणमें रहता है। कार्यके बिना कारण रह सकता है पर कारणके बिना कार्य नहीं रह सकता। अतएव परमात्मतत्त्व संसारके होनेपर भी रहता है और न होनेपर भी रहता है; क्योंकि उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। परंतु उत्पन्न और नष्ट होनेवाला संसार परमात्मतत्त्वकी सत्तापर ही टिका हुआ है अर्थात् उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस संसारसे यदि हम अपना कोई सम्बन्ध न मानें, इसमें तादात्म्य-ममता-कामना न करें तो हमें परमात्मतत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जायगा। अनुभव होनेपर फिर दुःख, चिन्ता, भय, शोक, सन्ताप आदि कुछ नहीं रहेंगे; क्योंकि ये (दुःख आदि) परमात्मतत्त्वमें नहीं हैं।

भगवान् कहते हैं—*'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'* (गीता १५।७) अर्थात् इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। वस्तुतः उत्पन्न और नष्ट होनेवाले संसारको पकड़नेके कारण ही यह 'अंश'

कहलाता है। वस्तुतः यह अंश नहीं है। जैसे पिताके पास अरबों-खरबों रुपये हैं और पुत्र उसमेंसे एक लाख रुपये लेकर उन्हें अपना मान ले तो वह अपनेको उन एक लाख रुपयोंका मालिक समझता है पर वास्तवमें वह उनका गुलाम बन जाता है। यदि वह एक लाख रुपयोंको अपना न माने तो वह स्वतः-स्वाभाविक अरबों-खरबों रुपयोंका मालिक है— पिताकी पूरी सम्पत्तिका अधिकारी है। ऐसे ही उत्पन्न होनेवाली वस्तुका छोटा-सा टुकड़ा लेकर जीव उसमें फँस जाता है और दुःख पाता है। यदि वह ऐसा न करे तो आनन्दके समुद्रमें नित्य मग्न रहे। परंतु परमात्मासे विमुख होकर वह मुफ्तमें प्यासा मरता है—

आनँद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥

(विनय-पत्रिका १३६। २)

संसारिक वस्तुएँ केवल सदुपयोग करनेके लिये हैं, आश्रय लेनेके लिये नहीं। आश्रय लेनेसे ही उनका दुरुपयोग होता है। रुपये खर्च करनेके लिये ही हैं। अपने या दूसरेके लिये खर्च करनेके अतिरिक्त रुपये और किस काम आयँगे? रुपयोंके संग्रहसे अभिमान,आसक्ति, प्रमाद आदि ही बढ़ते हैं पर उनका संग्रह करके मनुष्य फँस जाता है। इसी प्रकार संसारके सब पदार्थ सदुपयोग करनेके लिये ही हैं। उन्हें अपने लिये मानकर मनुष्य मुफ्तमें बँध जाता है। पदार्थ तो अपने पास सदा रहते नहीं, केवल बन्धन-बन्धन रह जाता है।

सम्बन्ध सदा दोमें ही होता है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदिमें दोनों ओरसे (दोतरफा) सम्बन्ध होता है अर्थात् पिता कहता है कि यह मेरा पुत्र है और पुत्र कहता है कि यह मेरा पिता है, इत्यादि। परंतु शरीर, धन-सम्पत्ति आदि जड वस्तुओंके साथ सम्बन्ध केवल हमारी ओरसे ही (एकतरफा) होता है अर्थात् हम ही कहते हैं कि शरीर मेरा है, धन-सम्पत्ति मेरी है पर शरीर, धन-सम्पत्ति आदि वस्तुएँ कभी हमें यह नहीं कहतीं कि तुम हमारे हो या हम तुम्हारे हैं। इन वस्तुओंसे

हम अपना जो सम्बन्ध मान लेते हैं, वह सम्बन्ध ही बन्धनका खास कारण है। **इससे भी अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि वस्तुके न रहनेपर भी उससे सम्बन्ध मानते रहते हैं ! सम्बन्धी तो नहीं रहता पर सम्बन्ध रह जाता है !** जैसे पतिका देहान्त हुए कई वर्ष बीत जानेपर भी विधवा स्त्री अपनेको उसीकी पत्नी मानती रहती है। वस्तुके रहते हुए भी हम उससे अपना सम्बन्ध तोड़ सकते हैं, फिर वस्तुके न रहनेपर तो उससे सम्बन्ध रहना ही नहीं चाहिये। वस्तुसे अपना जो सम्बन्ध दीखता है, वह केवल उस वस्तुके सदुपयोग-(सेवा-)के लिये ही है, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं।

यदि मनुष्य संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग कर दे तो वह निहाल हो जाय ! मनुष्यका वास्तविक सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो नित्यसिद्ध है। अतः साधकको दृढ़तापूर्वक यह मान लेना चाहिये कि ये उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुएँ मेरी नहीं हैं। मेरे तो केवल भगवान् ही हैं—**'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'**

उस नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वको उद्योगसाध्य (परिश्रमसाध्य या पुरुषार्थसाध्य) मान लेना भूल है। उद्योगसाध्य वस्तु बनावटी होती है। परमात्मतत्त्वमें हमारी स्थिति बनावटी नहीं है, अपितु वास्तविक है उसमें हमारी स्थिति स्वतः है। परमात्माके सिवा सब कुछ 'पर' है। 'पर'-(संसार-) के अधीन होना पराधीनता है। **उद्योग इतना ही है कि पराधीनताको त्याग दें अर्थात् संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लें। जो निरन्तर हमें छोड़ता चला जा रहा है, उसीको छोड़ना है।** यही साधन है। जो सदासे विमुख है, उस संसारसे ही विमुख होना है और जो सदासे सम्मुख है, उस परमात्मतत्त्वके ही सम्मुख होना है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५।४३।१)

मनुष्यने संसारमें 'यह अपना है और यह अपना नहीं है'—इस

प्रकार दो विभाग किये हुए है। वह जिसे अपना मानता है, उसीकी चिन्ता उसे होती है। जिस मकानको हमने अपना मान लिया है, उसीकी चिन्ता होती है। जिस मकानको अपना नहीं माना है, वह धराशायी हो जाय तो भी उसकी चिन्ता नहीं होती। वास्तवमें चिन्ता मकानकी नहीं, अपितु अपनेपनकी होती है। संसारमें प्रतिदिन कई मनुष्य मरते हैं, कई पशु-पक्षी मरते हैं, पर उनकी चिन्ता हमें नहीं होती, जबकि आरम्भको देखा जाय तो एक परमात्मासे ही सबकी उत्पत्ति होनेसे सब भाई-बन्धु ही हैं ! अतः जिन-जिनको अपना माना है, उन-उनकी ही चिन्ता होती है। जिन्हें अपना नहीं माना है, वे मर जायँ तो भी चिन्ता नहीं होती। जबतक लड़कीका विवाह नहीं होता, तभीतक आपको उसकी चिन्ता रहती है। विवाह होनेके बाद वह लड़की आपके पास बैठी हो, तब भी उसकी चिन्ता नहीं होती। लड़की भी वही है और आप भी वही हैं। लड़कीके प्रति आपका वात्सल्य भी वही है। पर अब चिन्ता इसलिये नहीं होती कि अब उसे आप अपनी नहीं मानते। संसार भी कन्याके समान है। इसे भगवान्‌के हाथ सौंप दें, तो सारी चिन्ताएँ मिट जायँ। भगवान् भी राजी हो जायँ, आप भी राजी हो जायँ और सृष्टि भी राजी हो जाय !

स्वयं नित्य-निरन्तर रहनेवाला है और संसार प्रतिक्षण बदलनेवाला है। अतः वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध न होनेपर भी उससे जो सम्बन्ध मान रखा है, उसमें खास कारण यह है कि उससे सुख लेते हैं और उससे सुखकी आशा करते हैं। यही खास बीमारी है। इस बीमारीको मिटानेका उपाय है— संसारसे सुख न लें, अपितु उसे सुख दें। बस, इतनी ही बात है। संसारके पदार्थोंका उपयोग भोगबुद्धिसे न करें, अपितु शरीर-निर्वाहमात्रके लिये करें। संसारसे जो सुख लेना चाहते हैं, वह (सुख) दुःखोंका कारण है—***'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'*** (गीता ५। २२)। दुःखोंके

****

प्रवचन—६

संसारमें हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तुका कोई उत्पादक होता है, कोई मालिक होता है। यह जो पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, आकाश आदि दीखते हैं और विभिन्न प्रकारके प्राणी, जीव-जन्तु, दीखते हैं, इस (सृष्टि) का भी एक मालिक है। वह सबका मालिक है पर उसका कोई मालिक नहीं है। वह सबका उत्पादक है पर उसका कोई उत्पादक नहीं है। उसीको परमात्मा कहते हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि उस परमात्माकी रची हुई वस्तुओंमें तो मनुष्य आकर्षित होते हैं, उन्हें अपना मानते हैं। उन्हें महत्त्व देते हैं, उनसे अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करते हैं पर उनका जो उत्पादक है, मालिक है, उसकी तरफ ध्यान ही नहीं देते !

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥

(गीता ११।७)

'हे गुडाकेश! अब इस मेरे शरीरमें तू एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह (भी) देख।'

****

तात्पर्य यह है कि चराचरसहित पूरा-का-पूरा जगत् तू मेरे शरीरमें केवल एक ही जगह देख, और अभी देख— ***'पश्याद्य'***और कहाँ देख ***'मम देहे'*** अर्थात् मेरे शरीरमें देख। अर्जुन भी कहते हैं कि 'मैं सम्पूर्ण देवोंको आपके शरीरमें देखता हूँ'— ***'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'*** (११।१५)। और संजय भी कहते हैं कि अर्जुनने 'सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित देखा— ***अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥'*** (११।१३)। 'गुडाका' नाम निद्राका है और उसके मालिक (निद्राको जीतनेवाले) को गुडाकेश कहते हैं। अर्जुनको ***'गुडाकेश'*** कहनेका तात्पर्य है कि आलस्यरहित होकर बड़ी सावधानीसे देख। और कुछ देखना चाहता है तो वह भी देख— ***'यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि'।*** भगवान् उसके मनकी बात जानते हैं कि वह और क्या देखना चाहता है। अर्जुन देखना (जानना) चाहते थे कि हमें युद्ध करना चाहिये या नहीं करना चाहिये और जीत हमारी होगी या उनकी होगी— ***'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।'*** (गीता २।६)।

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने कहा था कि अर्जुन! बहुत जाननेसे क्या होगा; मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को धारण करके स्थित हूँ। मैं तेरे सामने बैठा हूँ; अतः तुझे मेरी विभूतियोंको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है तू मेरी तरफ देख। तभी अर्जुनको वह रूप देखनेकी इच्छा हुई— ***'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्'*** (११।३) तो यह संसार भगवान्के एक अंशमें स्थित है। इस संसारको उत्पन्न करनेवाला भी वही है। इसका आधार और मालिक भी वही है। यह संसार उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है, जिसमें प्रवाहरूपसे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ऐसे संसारको महत्त्व देता है वह जीव, जो भगवान्का अंश है— ***'ममैवांशो जीवलोके'*** (गीता १५।७)। भगवान् नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं। ऐसे ही उनका अंश (जीव) भी नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। वह जीव नित्य-निरन्तर बदलनेवाले

संसारको आदर देता है—यह बड़े आश्चर्यकी बात है !

भगवान्‌ने जड संसारको अपनी 'अपरा प्रकृति' और जीवको अपनी 'परा प्रकृति' बतलाया है (गीता ७।४-५)। परन्तु जीवने जगत्‌को धारण कर लिया—***'ययेदं धार्यते जगत्'*** अर्थात् उसीमें उलझ गया। यदि यह जगत्‌को धारण न करे तो फिर जगत् नहीं रहेगा, अपितु एक भगवान् ही रह जायँगे—***'वासुदेवः सर्वम्'***(७।१९)। परन्तु जीव संसारको अपना मानकर उसीमें उलझ जाता है। इतना ही नहीं, संसारके अत्यन्त तुच्छ अंश रुपयोंको लेकर वह अपनेको बड़ा मानने लग जाता है। कितने आश्चर्यकी बात है ! थोड़ी विद्या, थोड़ी शक्ति लेकर वह घमण्ड करने लग जाता है। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीसे पूछा कि तुम्हारा कौन है ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि जिसके थोड़े-से अंशको लेकर आपने त्रिलोकीपर विजय प्राप्त कर ली, वही मेरा है। मनुष्य तुच्छ-तुच्छ वस्तुओंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है। **परन्तु वास्तवमें उसका बड़प्पन परमात्माको प्राप्त करनेमें ही है।** परमात्माकी तरफ चलनेकी रुचि भी हो जाय तो मनुष्य बड़ा हो जाता है। जिसकी भगवान्‌में रुचि हो गयी है, उसके सामने संसारमात्रका वैभव भी कुछ नहीं है। भगवान् कहते हैं—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।' (गीता ६।४४) अर्थात् परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (वेदों) को अतिक्रमण कर जाता है। वेदोंके अध्ययन, यज्ञ, तप, दान आदिके जो फल बतलाये गये हैं, उन सम्पूर्ण फलोंको वह अतिक्रमण कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त कर लेता है (गीता ८।२८) ऐसा करनेका अवसर मनुष्यशरीरमें ही है, जो हमें मिला हुआ है। परन्तु फिर भी तुच्छ वस्तुओंमें फँसे हुए हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है ! तुच्छ वस्तुओंसे कबतक काम चलेगा ? सदा हमारे साथ न धन रहेगा, न कुटुम्ब रहेगा, न मान-बड़ाई रहेगी, न यह अवस्था रहेगी, न शरीर

****

रहेगा; क्योंकि ये रहनेवाली वस्तुएँ हैं ही नहीं।

अजानन् दाहात्म्यं पतति शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥

(भर्तृहरिवैराग्यशतक)

'जलनेसे होनेवाले दुःखको न जाननेके कारण ही पतंगा दीपमें गिरता है। न जाननेके कारण ही मछली बंसीमें लगे मांसके टुकड़ेको खा लेती है और फँस जाती है। परन्तु हमलोग जानते हुए भी विपत्तिके जटिल जालमें फँसानेवाली कामनाओंको, भोगोंको नहीं छोड़ते। अहो! यह मोहकी बड़ी गहन, विचित्र महिमा है!'

विचार करना चाहिये कि अबतक जो धन कमाया है, मान-बड़ाई प्राप्त की है, यदि आज मर जायँ तो वह क्या काम आयेगी? केवल अपना अमूल्य समय ही नष्ट किया। इसलिये अब चेत होना चाहिये। संसारका जो अनन्त अपार ऐश्वर्यशाली मालिक (भगवान्) हैं, उनसे प्रेम करेंगे तो वे भी हमसे वैसे ही प्रेम करनेको तैयार हैं—***'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'*** (गीता ४।११)। रुपयोंके लिये हम कितना ही झूठ, कपट, बेईमानी आदि करें पर जाते समय रुपये हमसे सम्मति भी नहीं लेते और चुपचाप खिसक जाते हैं। उन्हें दया ही नहीं आती कि इसने मेरे लिये कितना झूठ, कपट, बेईमानी, अन्याय आदि पाप किये हैं तो कम-से-कम जाते समय इसकी सम्मति तो ले लें। जो हमारा कोई आदर नहीं करते, उनके हम पीछे पड़े हैं और जो हमारा आदर करता है, हमसे स्नेह, प्यार करता है, उधर जाते ही नहीं! भगवान् हमारा कितना ध्यान रखते हैं। हमारा पालन-पोषण करते हैं और जीवन-निर्वाहका सब प्रबन्ध करते हैं, चाहे हम उन्हें मानें या न मानें। वे तो प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं**

****

सर्वभूतानाम्' (गीता ५ । २९) । इसलिये आज ही निश्चय कर लें कि अब एक भगवान्‌की तरफ ही चलना है, उन्हींकी खोज करनी है। फिर कल्याणमें सन्देह नहीं। एकमात्र भगवान्‌की तरफ चलनेपर ये जितने बड़े-बड़े वैभव हैं, वे हमारी सेवा करनेके लिये तैयार हो जायँगे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा और देवता भी भगवद्भक्तके दास होते हैं और उसके दर्शनसे अहोभाग्य मानते हैं। वैसा हम सभी हो सकते हैं। संसारका वैभव इकट्ठा करनेमें तो कोई स्वतन्त्र नहीं है पर भगवान्‌को प्राप्त करनेमें हम सब स्वतन्त्र हैं। आश्चर्यकी बात है कि स्वतन्त्रतासे तो विमुख हो रहे हैं और परतन्त्रताको दौड़-दौड़कर ले रहे हैं ! इसलिये जो इस समस्त संसारका मालिक है, इसका उत्पादक, प्रकाशक और आधार है; जिसके एक अंशमें यह सारी सृष्टि स्थित है, उन अपने परमप्रियतम भगवान्‌से ही सम्बन्ध जोड़ लें। उन्हें चाहे माँ बना लें, चाहे पिता बना लें, चाहे पुत्र बना लें, चाहे भाई बना लें, चाहे मित्र बना लें और चाहे अर्जुनके समान सारथि बना लें, वे सब कुछ बननेको तैयार हैं। अर्जुन उनसे कहते हैं कि मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीच खड़ा करो तो वे वैसा ही कर देते हैं। कितनी विचित्र बात है ! इस प्रकार आज्ञाका पालन तो आजकल बेटा भी नहीं करता। ऐसे अपने प्यारे प्रभुको छोड़कर निष्ठुर संसारकी तरफ चलना कहाँकी बुद्धिमानी है ?

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

'अहो ! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये, उसके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ !'

———★———

साधकको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इन्द्रियोंके द्वारा हम जिन विषयोंका अनुभव करते हैं, क्या वे विषय अपने (स्वयं) तक पहुँचते हैं? वास्तवमें सब विषय शरीरतक ही पहुँचते हैं; परंतु अपनेको शरीररूप ही माननेके कारण उन्हें गलतीसे स्वयंतक पहुँचते हुए मान लेते हैं। 'मैं हूँ' के रूपमें अपनी नित्य सत्ता है और शरीरादि जड वस्तुओंकी सत्ता अनित्य है। इसलिये अपनेतक कोई भी वस्तु नहीं पहुँचती। इसमें भी एक विशेष बात ध्यान देनेकी है कि वस्तुएँ जहाँतक पहुँचती हैं, वहाँ भी वे सदा नहीं रहतीं। अतः साधकको विचार करना चाहिये कि देखने-सुननेमें आनेवाले जितने भी पदार्थ हैं, वे अपनेतक तो पहुँचते नहीं और जहाँतक पहुँचते हैं, वहाँ भी सदा साथ नहीं रहते; अतः उनके द्वारा कबतक सुख लेंगे? उनके साथ कबतक रहेंगे? शरीरादि जड पदार्थोंमें परिवर्तन होता है पर अपनेमें परिवर्तन नहीं होता। ऐसे परिवर्तनशील पदार्थोंसे हम कबतक काम चलायेंगे? उनके भरोसे कबतक रहेंगे? इस प्रकार यदि साधक विचार करे तो उसकी शीघ्र ही उन्नति हो जाय।

विषयभोग तो अपनेतक नहीं पहुँचता पर उसका सुख और दुःखरूप परिणाम मनुष्य अपनेतक स्वीकार करता है—***'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।'*** (गीता १३।२०) अर्थात् मनुष्य सुख-दुःखके भोगनेमें हेतु बनता है। जैसे मिली हुई वस्तुएँ सदा नहीं रहतीं, वैसे उनसे होनेवाला सुख-दुःख भी सदा नहीं रहता।

जब मनुष्यको पता लग जाता है कि यह साँप है, तब उसे वह छूता नहीं। भोग भी साँपके समान हैं। भोग भोगना साँपको पकड़नेके समान ही अनिष्टकारक है। धनादि पदार्थोंका संग्रह करना कूड़ा-करकट इकट्ठा करनेके समान है। संग्रहसे अपना कोई वास्तविक और सदा रहनेवाला हित सिद्ध नहीं होगा। भोग और संग्रह—दोनों ही अपनेतक नहीं पहुँचते। अतः इनसे अपना बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं है।

भोगोंसे सम्बन्धजन्य सुख होता है और संग्रहसे अभिमानजन्य सुख

होता है। इन दोनों सुखोंमें जो आसक्त है अर्थात् इनके पराधीन है, वह कभी पूर्ण सुखी नहीं हो सकता—**'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।'** (मानस १। १०१। ३)। वास्तविक सुख स्वाधीन होनेमें ही है। परंतु भोग और संग्रहमें आसक्त होनेके कारण मनुष्य पराधीनतामें भी सुखका अनुभव करता है। वह सोचता है कि मेरे पास रुपये हैं तो मैं स्वाधीन हूँ पर वास्तवमें वह पराधीन ही है।

एक स्त्रीने मुझसे कहा कि 'मैं पुरुष होती तो बड़ा अच्छा रहता। मुझे इस बातका दुःख है कि स्त्रीको पुरुषके पराधीन रहना पड़ता है। स्वाधीन रहनेके कारण पुरुष व्यापार आदिसे अच्छी तरह धन कमा सकता है पर स्त्री ऐसा नहीं कर सकती!'

मैंने उससे कहा कि 'तुम धनकी प्राप्तिमें स्वतन्त्रता मानती हो कि मेरे पास धन हो जाय तो मैं स्वतन्त्र हो जाऊँ पर यह बताओ कि धन 'स्व' है या 'पर'? उसने कहा कि 'धन' तो 'पर' है, 'स्व' तो है नहीं।'

मैंने पूछा कि 'धनकी परतन्त्रता और पुरुषकी परतन्त्रता—दोनोंमें सबसे अधिक परतन्त्रता किसकी है?' उस स्त्रीकी बुद्धि तेज थी। उसने तुरंत कहा कि 'सबसे अधिक परतन्त्रता धनकी ही है। इसलिये पुरुषके अधीन रहना ही अच्छा है।'

धन तो जड है। उसकी परतन्त्रतासे तो चेतन पुरुषकी परतन्त्रता ही अच्छी है। पुरुष तो माता, पिता या पति होगा पर धन माता, पिता या पति नहीं होता। **इसमें भी माता, पिता या पतिकी परतन्त्रता हमें वास्तवमें स्वतन्त्र बनानेवाली है। उनकी पराधीनतामें भी महान् स्वतन्त्रता भरी पड़ी है। एक उनके पराधीन नहीं होनेसे हमें अनेकोंके पराधीन होना पड़ेगा और एक उनके पराधीन रहें तो हम वास्तवमें स्वाधीन हो जायँगे।**

लोग सोचते हैं कि हमारे पास लाखों-करोड़ों रुपये हो गये तो हम स्वतन्त्र (बड़े) हो गये पर वास्तवमें वे महान् परतन्त्र (छोटे)

****

हो गये। यदि धनके कारण हम बड़े हो गये, तो वास्तवमें हम धनसे छोटे ही हुए। विचार करना चाहिये कि हम चेतन हैं और धन जड है तथा वह धन भी हमारा ही पैदा किया हुआ है। फिर उस धनके कारण अपनेको बड़ा मानना कहाँतक सही है ?

इस प्रकार साधकको अपने जीवनपर विचार करके पराधीनता (संसार और शरीरके आश्रय) का त्याग कर देना चाहिये।

——★——

****

प्रवचन—८

हम यह तो कहते हैं कि मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, प्राण मेरे हैं पर यह नहीं कहते कि मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ, मैं इन्द्रियाँ हूँ, मैं प्राण हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मैं'-पन 'मेरा'पनसे अलग है अर्थात् मेरे कहलानेवाले पदार्थोंसे मैं अलग हूँ। विचार करें तो मेरे कहलानेवाले पदार्थ भी वास्तवमें मेरे नहीं हैं, अपितु प्रकृतिके हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरके साथ तादात्म्य करनेके कारण ही ये मेरे प्रतीत होते हैं।

अपना स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीरोंसे अलग है। अतः स्वरूपमें इन शरीरोंकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थाएँ नहीं हैं। अवस्थाएँ बदलती हैं और स्वरूप नहीं बदलता। स्वरूप इन अवस्थाओंको जाननेवाला है; अतः इनसे अलग है। यदि इन अवस्थाओंको जाननेवाला अवस्थाओंसे अलग न होता तो इन तीनों अवस्थाओंकी गणना कौन करता ? और इनके बदलनेको कौन देखता ? अवस्थाएँ तीन हैं और ये बदलती हैं—इसमें किसीको भी संदेह नहीं। तात्पर्य यह निकला कि अपना स्वरूप अवस्थाओंसे अलग है।

हम सबका यह अनुभव है कि अवस्थाएँ हमारे बिना नहीं रह सकतीं पर हम अवस्थाओंके बिना रह सकते हैं और रहते भी हैं।

जब जाग्रत्‌से स्वप्न-अवस्थामें जाते हैं, तब उस (जाग्रत् और स्वप्नकी) सन्धिमें कोई अवस्था नहीं होती। इसी प्रकार स्वप्नसे सुषुप्ति-अवस्थामें जाते हैं, तब उस सन्धिमें कोई अवस्था नहीं होती। परंतु उनकी सन्धिमें कोई अवस्था न होनेपर भी हम रहते हैं। स्वप्न-अवस्था चली गयी और जाग्रत्-अवस्था आ गयी, सुषुप्ति-अवस्था चली गयी और जाग्रत्-अवस्था आ गयी—इस प्रकार अवस्थाओंके बदलनेको हम जानते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हम अवस्थाओंसे अतीत हैं।

'मैं' शब्दके दो अर्थ हैं—एक सत्तारूप वास्तविक 'मैं' और दूसरा माना हुआ 'मैं'। वास्तविक 'मैं' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है पर माना हुआ 'मैं' किसी भी समय एक नहीं रहता, अपितु बदलता रहता है; जैसे—मैं जागता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ इत्यादि। यह माना हुआ 'मैं' परस्पर विरुद्ध मान्यता भी करता है; जैसे—पिताके सामने 'मैं पुत्र हूँ' और पुत्रके सामने 'मैं पिता हूँ'। अतः यह माना हुआ 'मैं' हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। इस 'मैं' को पकड़नेसे ही हम परिच्छिन्न होते हैं; क्योंकि जिसके साथ हम 'मैं' मानते हैं, वह परिच्छिन्न (एकदेशीय) है। अपनी वास्तविक सत्तामें परिच्छिन्नता नहीं है।

मानी हुई परिच्छिन्नता मिटानेके लिये साधक ऐसा मान ले कि 'मैं भगवान्‌का हूँ' अथवा विवेकपूर्वक यह मान ले कि माना हुआ 'मैं' अर्थात् असत् मेरा स्वरूप नहीं है। स्वरूपके प्रकाशमें मन-बुद्धिके समान 'मैं' पन भी प्रकाशित होता है। गहरा विचार किया जाय तो ज्ञान (बोध) वस्तुतः असत्‌का ही होता है, सत्‌का नहीं। 'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान तो रहता ही है और इसमें किसीको सन्देह नहीं होता। परन्तु अपनी सत्तामें जो असत्‌को मिलाया हुआ है, उस असत्‌का ज्ञान हमें नहीं होता। यह सिद्धान्त है कि असत्‌का ज्ञान असत्‌से अलग होनेपर होता है और सत्‌का ज्ञान सत्‌से अभिन्न होनेपर

होता है; क्योंकि वास्तवमें हम असत्‌से भिन्न और सत्‌से अभिन्न हैं। अतएव जिस क्षण असत्‌का ज्ञान होता है, उसी क्षण असत्‌की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असत्‌से अपनी भिन्नताका बोध हो जाता है। असत्‌से भिन्नताका बोध होते ही सत्‌में हमारी स्थिति स्वतःसिद्ध है, करनी नहीं पड़ती। वह सत् ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंको, उनके परिवर्तनको और उनके अभावको जानता है। जाग्रत्‌में स्वप्न और सुषुप्तिका अभाव, स्वप्नमें जाग्रत् और सुषुप्तिका अभाव तथा सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्नका अभाव होता है। पर अपना अभाव कभी नहीं होता। सब अवस्थाओंमें अपना भाव अर्थात् अपनी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। यह सबका अनुभव है। साधकको चाहिये कि वह अपने अनुभवको महत्त्व दे अर्थात् अपने स्वरूपमें अटल भावसे स्थित रहे।

आवत हर्ष न ऊपजै जावत सोक न होय।
ऐसी रहनी जो रहै घर में जोगी होय॥
इस जग की कोई वस्तु न हमें सुहाती।
पल-पलमें श्यामल मूर्ति स्मरण है आती॥
उगा सो ही आथवें फूला सो कुम्हलाय।
चिण्या देवल ढह पड़े जाया सो मर जाय॥

★

****

प्रवचन—९

प्रायः साधकोंकी यह धारणा रहती है कि करनेसे ही सब कुछ होता है, इसलिये शुभ कर्म करने चाहिये। यह धारणा बड़ी अच्छी है पर कर्म कर्ताके अधीन होते हैं। अतः कर्ता जैसा होता है, उसके द्वारा कर्म भी वैसे ही होते हैं। कर्मयोग भी निष्काम कर्मसे नहीं होता, अपितु निष्काम कर्तासे होता है; अतः स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना बहुत उत्तम है और करना भी चाहिये। परन्तु

जप, ध्यानादि कर्म एक तो स्वतः होते हैं और एक करने पड़ते हैं। जबतक कर्तामें भाव नहीं है, तबतक उसे जप, ध्यानादि करने पड़ते हैं। पर भाव होनेसे उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक ही जप, ध्यानादि होते हैं और तेजीसे होते हैं। कर्तामें भाव कैसे आये ? इसपर विचार करें।

जहाँ हम 'मैं हूँ' इस प्रकार अपने-आपको मानते हैं, वहीं यह मान लें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। इस प्रकार जब 'मैं'-पनमें अटल भाव हो जायेगा, तब निरन्तर स्वतः भगवान्‌का भजन होगा। अभी तो घर (संसार) -का काम स्वतः होता है और रात-दिन हरदम होता है। जैसे नौकरी करते हैं तो समयपर जाते हैं और समयपर आते हैं, वैसे ही जप-ध्यानादि भी समयपर करते हैं। तात्पर्य यह है कि जप-ध्यानादि कर्म समयकी सीमामें बँधे रहते हैं। यदि हमारा भाव हो जाय कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' तो घरके कामकी तरह रात-दिन हरदम भगवान्‌का भजन होगा। भजनके बिना रह नहीं सकेंगे और घर (संसार) का काम नौकरीकी तरह होगा। अतः कर्तामें परिवर्तन होनेसे कर्मोंमें स्वतः स्वाभाविक और शीघ्रतासे परिवर्तन हो जाता है।

साधकसे भूल यह होती है कि वह 'मैं हूँ' के स्थानपर अपने नाम, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिको बैठा देता है, और मैं अमुक नामवाला हूँ, मैं अमुक वर्णवाला हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ आदि अनेक मान्यताएँ कर लेता है। ऐसी मान्यताओंके कारण साधनकी सिद्धिमें विलम्ब होता है। कारण कि ये मान्यताएँ 'मैं' में रहती हैं और भगवान्‌का भजन (उपासना) 'कर्म' में रहता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार 'मैं' में भगवान्‌को रखे और वर्णाश्रम आदिको 'कर्म'में रखे। तात्पर्य यह है कि **भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा मानते हुए बाहरसे नाटकमें स्वाँगकी तरह अपने वर्णाश्रम आदिके कर्तव्यका पालन करता रहे।**

जहाँ साधक 'मैं हूँ' मानता है, वहाँ भगवान् उससे भी अधिक

सूक्ष्मरूपसे विराजमान हैं। 'मैं हूँ' क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र (शरीर) को जाननेवाला (गीता १३।१) और भगवान् कहते हैं कि सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।**' (गीता १३।२)। तात्पर्य यह कि क्षेत्रज्ञ तो केवल एक शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाला है पर क्षेत्रज्ञमें जो परमात्मा हैं उनका किसी शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं है और सबमें परिपूर्ण होनेके कारण उनका सबसे सम्बन्ध है! वे ही वास्तवमें अपने हैं। हम जिस शरीरको अपना मानते हैं, वह कभी अपना था नहीं, है नहीं और रहेगा नहीं। पर परमात्मा अपने थे, अपने हैं और अपने रहेंगे। वे अपनेसे कभी विमुख नहीं हुए। हम ही उनसे विमुख हुए हैं। वे परमात्मा बड़े मधुर हैं, बड़े प्रिय हैं और वे अपनेमें हैं—ऐसा माननेपर वे याद किये बिना ही याद रहेंगे, भजन किये बिना ही उनका भजन होगा, चिन्तन किये बिना ही उनका चिन्तन होगा। उनमें स्वतः ऐसी प्रियता होगी, जैसी अपने शरीरमें और अपने जीते रहनेमें भी नहीं है।

'मैं हूँ' में जो 'हूँ' है, वह शरीरको लेकर है। उस 'हूँ' में 'है' रूपसे परमात्मा ही हैं। तू है, यह है, वह है—सब जगह परमात्मा ही 'है'-रूपसे विद्यमान हैं। जड और चेतनमें, स्थावर और जङ्गममें, उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें, भाव और अभावमें—सब जगह वे परमात्मा ज्यों-के-त्यों हैं। साधक यदि 'हूँ' का त्याग कर दे अर्थात् 'मैं' (अहंता) को मिटाकर सामान्य सत्तामें स्थित हो जाय (जो वास्तवमें है) और 'है' रूपसे विद्यमान परमात्माको अपना मान ले, तो फिर उनकी विस्मृति नहीं होगी। जप-ध्यानादि भी स्वतः होंगे, करने नहीं पड़ेंगे। अपनेमें प्रभु स्वतः हैं, बनावटी नहीं हैं। जो अपनेमें स्वतः है, उसकी ओर दृष्टि करनेमें देरी किस बातकी? अपनेमें प्रभुको देखनेवाला कौन है? जो क्षेत्रको देखता था, वही अपनेमें प्रभुको देखता है। जिसका अंश है, उसीको देखता है। अपने अंशीको देखते ही वह अंशीमें मिल जाता है।

अंशीमें मिलनेके दो तरीके हैं— अभेदपूर्वक और अभिन्नता-पूर्वक। पहले अभेद होता है, फिर अभिन्नता होती है। अभेदमें भेदकी कुछ गन्ध रहती है पर अभिन्नतामें यह नहीं रहती। अभिन्नता वास्तविक है। अभिन्नता भेद-उपासनामें भी होती है और अभेद-उपासनामें भी होती है। भेदमें अभिन्नता ऐसे होती है कि जैसे कहींका लड़का और कहींकी लड़की गृहस्थमें आकर एक हो जाते हैं तो भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें अभिन्नता हो जाती है। इसी प्रकार दो मित्रोंमें भी अभिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न हो जाना 'ज्ञान' है और अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न हो जाना 'भक्ति' है।

स्वयं (स्वरूप) परमात्मासे अभिन्न है, परंतु संसार और शरीरसे सम्बन्ध माननेके कारण परमात्मासे भिन्नता प्रतीत होती है। अतः संसार और शरीरसे विमुख हो जायँ कि यह 'मैं' नहीं और 'मेरा' नहीं; और 'मैं' प्रभुका हूँ और प्रभु 'मेरे' हैं—इस प्रकार परमात्माके सम्मुख हो जायँ। सम्मुख होते ही उनसे अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नताके बाद फिर बड़ा विचित्र आनन्द है। वह (द्वैत) अद्वैतसे भी सुन्दर है—'**भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्**'। वहाँ केवल आनन्द-ही-आनन्द है, मस्ती-ही-मस्ती है। उसे प्राप्त करना चाहें तो अभी कर सकते हैं। प्राप्त क्या करना है, वह तो प्राप्त ही है। केवल दृष्टि उधर करनी है। इतनी सीधी, सरल और श्रेष्ठ बात कोई नहीं है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥(१८। ५५)

'पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

'**विशते तदनन्तरम्**' पदोंका यह अभिप्राय है कि भगवान्को

तत्त्वसे जानने अर्थात् उनका अनुभव होनेके बाद फिर उनसे अभिन्न **होनेमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं पड़ता। शरीर-संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूटते ही ज्यों-के-त्यों विद्यमान परमात्माका अनुभव हो जाता है।** उनका अनुभव होते ही तत्काल भिन्नता मिट जाती है। वास्तवमें भिन्नता है ही नहीं, तभी वह मिटती है। यदि वास्तवमें भिन्नता होती, तो उस (सत्) का अभाव कैसे होता ?

असत् (संसार) में जो आकर्षण या प्रियता है, वह 'आसक्ति' कहलाती है। वही आकर्षण भगवान्‌में हो जाय, तो उसे 'भक्ति' या 'प्रेम' कहते हैं। धनमें, भोगोंमें, परिवार आदिमें जो हमारा खिंचाव है, वह खिंचाव भगवान्‌की तरफ होते ही भक्ति हो जाती है। वास्तवमें अपनेमें भक्तिका संस्कार—भगवान्‌का खिंचाव स्वतः है, पर असत्‌से सम्बन्ध जोड़नेसे असत्‌की ओर खिंचाव हो गया। लक्ष्य (परमात्मा) की प्राप्ति होनेपर असत्‌का खिंचाव सर्वथा मिट जाता है।

अब के सुलताँ फनियान समान हैं, बाँधत पाग अटब्बर की।
तजि एकहिं दूसरे को जो भजै, कटि जीभ गिरै वा लब्बर की ॥
सरनागति 'श्रीपति' श्रीपतिकी , नहिं त्रास है काहुहि जब्बर की।
जिनको हरि की परतीति नहीं, सो करौ मिलि आस अकब्बर की ॥

——★——

****

प्रवचन—१०

मनुष्यका कल्याण किसी परिस्थितिके अधीन नहीं है, अपितु उसके सदुपयोगमें है। कैसी ही प्रतिकूल परिस्थिति क्यों न हो, उसमें वह अपना कल्याण कर सकता है। मनुष्य परिस्थितिको बदलनेका प्रयास अधिक करता है कि निर्धनता चली जाय और धनवत्ता आ जाय, मूर्खता चली जाय और विद्वत्ता आ जाय, रोग चला जाय और नीरोगता आ जाय, इत्यादि। इसीमें उसका बहुत समय चला जाता है।

परंतु कल्याण करनेके लिये 'प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग कैसे किया जाय'?—इसपर विचार करें तो बहुत लाभ होगा।

संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है कि जिसमें जीवका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मा किसी भी परिस्थितिमें कम या अधिक, समीप या दूर नहीं हैं, अपितु प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें साधक हो सकती है, बाधक नहीं। मनुष्य-जन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है और किन्हीं दो मनुष्योंकी भी परिस्थिति समान नहीं रहती। इसलिये किसी एक परिस्थितिमें ही परमात्माकी प्राप्ति होती हो तो सब मनुष्योंका कल्याण हो सकता है—यह बात नहीं कही जाती, अपितु यह कहते कि किसी एकका ही कल्याण होगा। अतः साधकको प्रत्येक परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोगके लिये पहले परिस्थितिको देखे कि वह हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल? यदि प्रतिकूल है, तो उसमें अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करना है। प्रतिकूल परिस्थिति दुःखदायी तभी होती है, जब सुखदायी परिस्थितिकी इच्छा करते हैं। इसलिये यदि सुखदायी परिस्थिति-(अनुकूलता-)की इच्छाका त्याग करें तो दुःखदायी परिस्थिति (प्रतिकूलता) विकासका कारण हो जायगी। ऐसे ही सुखदायी परिस्थिति आये तो उसके सुख-भोगका और 'वह बनी रहे' ऐसी इच्छाका त्याग करना है; क्योंकि वह रहनेवाली है ही नहीं। उसका सुख स्वयं न भोगकर उसके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनी है; क्योंकि अनुकूल परिस्थिति दूसरोंकी सेवाके लिये ही है, अपने सुखभोगके लिये नहीं।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

(मानस ७। ४३। १)

'त्याग' अर्थात् सुखका भोग नहीं करना और 'सेवा' अर्थात् दूसरोंको सुख पहुँचाना—ये दोनों ही चीजें कल्याण करनेवाली हैं,

जिसे प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। त्यागमें सेवा होती है और सेवामें त्याग होता है।

मनुष्य दुःखदायी परिस्थितिमें भी दूसरोंकी सेवा कर सकता है, दूसरोंको सुख पहुँचा सकता है। कोई कहे कि मेरे पास पैसे नहीं हैं, तो दूसरेको सुख कैसे पहुँचाऊँ ! तो पैसोंसे ही दूसरोंको सुख पहुँच सकता हो—ऐसी बात नहीं है। हमारे हृदयमें दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव होना चाहिये। दूसरा दुःखी है तो उसके साथ हम भी हृदयसे दुःखी हो जायँ कि उसका दुःख कैसे मिटे ? उससे प्रेमपूर्वक बात करें और सुनें। उससे कहें कि दुःखदायी परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये; ऐसी परिस्थिति तो भगवान् राम एवं नल, हरिश्चन्द्र आदि अनेकों बड़े-बड़े पुरुषोंपर भी आयी है; आजकल तो अनेक लोग तुम्हारेसे भी अधिक दुःखी हैं; हमारे लायक कोई काम हो तो कहना, इत्यादि। ऐसी बातोंसे वह राजी हो जायगा। ऐसे ही सुखी व्यक्तिसे मिलकर हम भी हृदयसे सुखी हो जायँ कि बहुत अच्छा हुआ तो वह राजी हो जायेगा। इस प्रकार हम सुखी और दुःखी—दोनों व्यक्तियोंकी सेवा कर सकते हैं। दूसरेके सुख और दुःख—दोनोंमें सहमत होकर हम दूसरेको सुख पहुँचा सकते हैं। केवल दूसरोंके हितका भाव ***'सर्वभूतहिते रताः'*** निरन्तर रहनेकी आवश्यकता है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंके सुखसे सुखी होते हैं, वे संत होते हैं—**'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'** (मानस ७। ३७। १)।

एक शङ्का होती है कि हम पहले ही अपने दुःखसे दुःखी हैं, फिर दूसरेके दुःखसे भी दुःखी होने लगें तो हम तो हरदम रोनेमें ही रहे ! हमारा दुःख फिर कभी मिटेगा ही नहीं; क्योंकि संसारमें दुःखी तो मिलते ही रहेंगे ! इसका समाधान यह है कि जैसे हमारे ऊपर कोई दुःख आनेसे हम उसे दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही दूसरेको दुःखी देखकर अपनी शक्तिके अनुसार उसका दुःख दूर करनेकी चेष्टा

होनी चाहिये। उसका दुःख दूर करनेकी सच्ची भावना होनी चाहिये। अतः दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका तात्पर्य उसके दुःखको दूर करनेका भाव तथा चेष्टा करनेसे है, जिससे हमें प्रसन्नता ही होगी, दुःख नहीं। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर अपने पास शक्ति, योग्यता, पदार्थ आदि जो कुछ भी है, वह सब स्वतः दूसरेका दुःख दूर करनेमें लग जायगा। दुःखी व्यक्तिको सुखी बना देना तो हमारे हाथकी बात नहीं है पर उसका दुःख दूर करनेके लिये अपनी सुख-सामग्रीको उसके अर्पित कर देना हमारे हाथकी बात है। इस प्रकार सुख-सामग्रीके त्यागसे तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है—***'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'*** (गीता १२। १२)।

पातञ्जलयोगदर्शन में आया है—***मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।*** (१। ३३) अर्थात् सुखीके साथ मैत्री, दुःखीके साथ करुणा, पुण्यात्माके साथ प्रसन्नता और पापात्माके साथ उपेक्षाकी भावना रखनेसे चित्त निर्मल होता है।

परंतु गीताने इन चारों बातोंको दोमें बाँट दिया है—***'मैत्रः करुण एव च'*** (१२। १३)। तात्पर्य यह कि सुखी और पुण्यात्माको देखकर मैत्री हो एवं दुःखी और पापात्माको देखकर करुणा हो। पापात्माकी उपेक्षासे उतना लाभ नहीं होता, जितना करुणासे होता है। मैत्री और करुणाके भावसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। सुखीको देखकर ईर्ष्या करनेसे और दुःखीको देखकर अभिमान करनेसे अन्तःकरण मैला हो जाता है। पापात्मासे घृणा-द्वेष करनेपर भी अन्तःकरण मैला हो जाता है।

हमारे सामने चाहे जैसी परिस्थिति, अवस्था, देश, काल, व्यक्ति, वस्तु आदि आये, वह सब-की-सब परमात्माकी प्राप्तिमें साधन-सामग्री है। यदि मनुष्य उसका सदुपयोग करनेकी विद्या सीख जाय तो फिर उसका कल्याण निश्चित है।

कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, उसका सदुपयोग करना चाहिये।

यदि सदुपयोग करना न आये तो सत्-शास्त्रोंमें देखे, संत-महापुरुषोंसे पूछे, स्वयं विचार करे, भगवान्‌को याद करे और उनसे प्रार्थना करे तो सद्‌बुद्धि पैदा हो जायेगी। उसके अनुसार आचरण करनेसे उद्धार हो जायेगा। गीता हमें सिखाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥(२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

युद्धसे भी क्रूर कर्म और क्या होगा ? पर वह भी जय-पराजय आदिमें सम होकर किया जाय, तो कल्याण करनेवाला हो जाता है। परन्तु प्रत्येक कर्म शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार होना चाहिये। प्रत्येक परिस्थितिमें हमारे सामने दो ही चीजें आती हैं—कर्म और उसका फल। अतः प्रत्येक कर्तव्य कर्म शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये करें और फल (सुख-दुःखादि) में सम रहें। ऐसा करनेसे परमात्मामें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा।

दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है— सुखकी इच्छाका त्याग करना। सुखकी इच्छासे ही दुःख होता है। सुखकी इच्छाका त्याग कर दे तो दुःख होगा ही नहीं। जैसे, बीमार होनेपर, 'मैं स्वस्थ हो जाऊँ' ऐसी इच्छा रहनेसे ही दुःख होता है। यदि बीमारीको भगवान्‌की भेजी हुई तपस्या मानें तो दुःख नहीं होगा। एक व्यक्ति व्रत रखनेके कारण अन्न नहीं खाता और एक व्यक्तिको अन्न नहीं मिलता तो व्रत रखनेवालेको अन्न न मिलनेका दुःख नहीं होता; क्योंकि उसमें अन्न खानेकी इच्छा ही नहीं है। परन्तु अन्न खानेकी इच्छा रहनेपर अन्न न मिले तो दुःख होता है।

****

प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो उससे एक तो पापोंका नाश होता है और एक नया विकास होता है। परन्तु दुःखसे दुःखी होनेपर विकास रुक जाता है। सुख आनेपर तो साधनमें बाधा आ सकती है पर दुःख आनेपर बाधा आ ही नहीं सकती; क्योंकि दुःख अटकानेवाला नहीं है। इसलिये सुख आये या दुःख, नफा हो या घाटा, बीमारी आये या स्वस्थता, आदर हो या निरादर, प्रशंसा हो या निन्दा, **प्रत्येक परिस्थितिमें साधकको समान रहना चाहिये।** ऐसा सुख आ जाय, इतना नफा हो जाय, ऐसी प्रशंसा हो जाय आदिकी इच्छा रखनेसे वैसा तो होता नहीं, वह मुफ्तमें दुःख पाता रहता है। सुखदायी परिस्थितिमें सुखी होना भी भोग है और दुःखदायी परिस्थितिमें दुःखी होना भी भोग है। परन्तु दोनों परिस्थितियोंका सदुपयोग किया जाय तो भोग नहीं होगा, अपितु योग होगा अर्थात् उसके द्वारा परमात्मासे सम्बन्ध हो जायगा। **भोगी व्यक्ति योगी नहीं हो सकता।**

दुःखदायी परिस्थितिमें भगवान्‌की स्मृति आयेगी, दूसरेका दुःख कैसा होता है— इसका अनुभव होगा और दयाका भाव आयेगा। वास्तवमें दुःखदायी परिस्थिति पापोंका फल नहीं, सुखकी इच्छाका फल है। मूल बात तो यही है। दुःखदायी परिस्थितिको भले ही पापोंका फल मान लें पर दुःखदायी परिस्थितिमें जो सुखकी इच्छा होती है, वह पापोंका फल नहीं, पापोंका कारण है। सुखकी इच्छा ही 'काम' है, जिससे सम्पूर्ण पाप होते हैं (गीता ३। ३६-३७)। सुख भोगनेसे सुखेच्छा बढ़ती है और सुखेच्छा बढ़नेसे दुःख बढ़ता है।

सुखेच्छाका त्याग करनेका उपाय है— दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव। जैसे, हमारे पास अधिक धन है तो निर्धनोंको सुख कैसे हो? हमारे पास विद्या अधिक है तो विद्याहीनोंको सुख कैसे हो? **हमारे पास जो भी सुखदायी सामग्री है, वह अपने भोगनेके लिये नहीं है। वह दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही है; दूसरोंके सेवामें लगाना ही**

उस सामग्रीका सदुपयोग है। सुख और दुःख सदुपयोग करनेसे ही मिटेंगे, भोगनेसे नहीं। नहीं सदुपयोग करनेसे हम सुख और दुःख दोनोंसे ऊँचे उठ जायँगे अर्थात् हमारा कल्याण हो जायगा। इसलिये प्रत्येक परिस्थिति हमारे कल्याणका साधन है। कारण कि भगवान्‌ने मनुष्यजन्म जीवके उद्धारके लिये दिया है। अतः उसे जो सामग्री दी है, वह कल्याणके लिये ही दी है।

करी गोपाल की सब होई।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोई॥
साधन, मन्त्र, जन्त्र, उद्यम, बल, ये सब डारौ धोई।
जो कछु लिखि राखी नँदनंदन मेटि सकै नहिं कोई॥
दुख-सुख, लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौ रोई।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम-चरन मन पोई॥

——★——

****

प्रवचन—११

तत्त्वकी प्राप्ति हो जाय और होते ही वह दृढ़ हो जाय ऐसी बात बतायी जाती है। बिलकुल सबके अनुभवकी बात है। जड प्रकृति परिवर्तनशील है और चेतन परमात्मतत्त्वमें कभी परिवर्तन नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। न बदलनेवालेका और निरन्तर बदलनेवालेका—दोनोंका हमें अनुभव है। बचपनसे लेकर अभीतक मैं वही हूँ— इसमें 'मैं वही हूँ' यह अनुभव न बदलनेवालेका है। संसार, शरीर, मनोवृत्ति, भाव, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदि बदलनेवाले हैं। यह सबका अनुभव है। परन्तु उन बदलनेवालेको जाननेवाले हम नहीं बदलते। बदलनेवालेमें जब हम स्थित रहते हैं, तब हमें सुख और दुःख होता है—***'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।'*** (गीता १३। २०) अर्थात् पुरुष सुख-दुःखके भोगनेमें

हेतु होता है। कौन-सा पुरुष ? *'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि'* (गीता १३।२१) अर्थात् प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही भोक्ता बनता है। जो हमारी मनोवृत्ति बदलती है, हमारी अवस्था बदलती है, हमारी दशा बदलती है, हमारे भाव बदलते हैं, हमारी क्रियाएँ बदलती हैं, हमारी परिस्थितियाँ बदलती हैं—इन बदलनेवालोंमें जब हम स्थित होते हैं, तब हम प्रकृतिमें स्थित होते हैं। मनमें जो काम-क्रोध, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ पैदा होती हैं, उनमें जब हम स्थित होते हैं, तब हम पराधीन होते हैं और सुख-दुःखका भोग करते हैं।

वास्तवमें एक दुःखके ही दो नाम सुख और दुःख हैं। जैसे दादकी बीमारी एक है पर उसीके दो नाम खुजली और जलन हैं। खुजली अच्छी लगती है और जलन बुरी लगती है तो जो अच्छी लगती है वह भी बीमारी है, जो बुरी लगती है वह भी बीमारी है। ऐसे ही बदलनेवालेके साथ मिलकर जो हम सुखी और दुःखी होते हैं, यह भी एक बीमारी है। बीमारीका मतलब यह कि हम अपने स्वरूपमें स्थित (स्वस्थ) नहीं हैं, प्रकृतिमें स्थित हैं। जब हम बदलनेवाली वृत्तियोंमें, भावोंमें, क्रियाओंमें स्थित नहीं होते, इनसे अलग रहते हैं, तब हम स्वस्थ रहते हैं। तब हम सुख-दुःखमें समान रहते हैं—*'समदुःखसुखः स्वस्थः'* (गीता १४।२४)। **सम्पूर्ण अवस्थाओं, दशाओं, परिस्थितियों और घटनाओंमें हम रहते हैं, यह हमारा अनुभव है। अगर ऐसा नहीं हो तो सम्पूर्ण अवस्थाओं, दशाओं आदिका ज्ञान हमें कैसे होता ?** हमें इनका ज्ञान होता है, इससे सिद्ध होता है कि हम रहते हैं। हमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधिका ज्ञान होता है। सुख-दुःखका भी ज्ञान होता है। शोक, मोह, चिन्ता, राग, द्वेष आदिका भी हमें ज्ञान होता है तो हम शोक, मोह, चिन्ता, भय, उद्वेग आदिसे रहित हैं। अगर ऐसा नहीं है तो हमें सुखका अनुभव होगा, दुःखका अनुभव नहीं होगा, हम शोकमें ही

रात-दिन रहते हैं तो प्रसन्नताका हमें अनुभव नहीं होगा। परंतु ऐसा है नहीं। अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर ठीक और बेठीक—दोनोंका ज्ञान हमें होता है तो वास्तवमें हम ठीक-बेठीकसे ऊँचे हैं। इस निर्द्वन्द्वतामें हम स्थित हो जायँ तो सुगमतासे मुक्त हो जायँ— ***'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥'*** (गीता ५। ३)। वास्तवमें तो हम मुक्त ही हैं पर द्वन्द्वोंको अपना मान करके फँस जाते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ (गीता ७। २७)

इच्छा (राग) और द्वेष, हर्ष और शोक—इन द्वन्द्वमोहसे मोहित होकर इनसे परे उस परमात्माको नहीं जानते। ***'सर्गे यान्ति'*** का मतलब—आरम्भमें ही यह जीव मोहको प्राप्त हो जाता है और बार-बार जन्मता-मरता रहता है। बदलनेवालेमें न स्थित होकर अपने स्वरूपमें जो कि सम्पूर्णको जानता है, स्थित हो जायँ और जाननेमें आनेवाली तथा बदलनेवाली वस्तुके साथ न बदलें अर्थात् उसके साथ अपनी एकता न मानें तो हमारी स्थिति स्वतः स्वरूपमें है। **स्वतः स्वरूपमें स्थितिका नाम है—जीवन्मुक्ति। पर स्वतः रहनेवालेके साथ न रहकर बदलनेवालेके साथ मिल जाते हैं, इसका नाम है— बन्धन।** बन्धनको हम जब चाहें तब छोड़ दें और जब चाहें तब पकड़ लें। इसमें हम पराधीन नहीं हैं, स्वाधीन हैं। बन्धन पकड़कर बन्धनमें कभी स्थित रह नहीं सकते और स्वरूपसे विमुख होकर स्वरूपसे अलग कभी रह नहीं सकते; क्योंकि बन्धन तो मिटते रहते हैं, हम नये-नये पकड़ते रहते हैं और हमारा जो स्वरूप है, वह ज्यों-का-त्यों ही रहता है, कभी बदलता नहीं। स्वरूपमें हमारी स्थिति स्वतःसिद्ध है। स्वतःसिद्ध स्थितिका आदर न करके परतः स्थितिका, जो बदलती रहती है, आदर करते हैं—महत्त्व देते हैं; इसीसे जन्म-मरणमें भटकते हैं और दुःख पाते हैं।

जब हम बदलनेवालेके साथ न रहकर, जो सम्पूर्ण बदलनेवालेको

****

जानता है, उसमें स्थित हो जायँ तो हम अभी मुक्त हैं। मुक्तिके लिये भविष्य नहीं होगा। अमुक चीज नहीं है, अमुक अवस्था नहीं है, अमुक परिस्थिति नहीं है तो वह समय पाकर होगी। परन्तु यह समय पाकर नहीं होगा। यह समयसे अतीत है और सब समयमें है, किसी देशमें नहीं है और सम्पूर्ण देशोंमें है, किसी वस्तुमें नहीं है और सम्पूर्ण वस्तुओंमें है। देश काल, वस्तु, व्यक्तिसे सर्वथा अतीत होते हुए भी सबमें परिपूर्ण है। उसमें स्थित होना स्वरूपमें स्थित होना है।

ज्ञानीकी भी वृत्तियाँ बदलती हैं— ***'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।'*** (गीता १४। २२) अर्थात् तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषमें भी प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहकी वृत्तियाँ होती हैं। बदलना इनका स्वभाव है और न बदलना हमारा स्वभाव है। उस स्वरूपमें हम स्वतः-स्वाभाविक स्थित हैं। केवल प्रकृतिमें स्थित नहीं होना है।

अब कोई प्रश्न करे कि यह बात समझमें तो आती है पर टिकती नहीं। तो उसका उत्तर यह है कि वास्तवमें यह बात मिटती ही नहीं, प्रत्युत निरन्तर रहती है; क्योंकि यह बात टिकती नहीं—इसे तो हम जानते ही हैं। 'टिकती नहीं' यह प्रकृति है और 'जानते हैं' यह स्वरूप है। प्रकृतिके साथ मिलें नहीं, इतनी ही बात है। वह तो मिटती ही है और स्वरूप टिकता ही है।

यह टिकती नहीं—इसे जाननेवाला भी मिटता है क्या? यदि मिटता है तो जानता कौन है? मिटनेको जाननेवाला न रहे तो मिटनेको जानेगा कौन? प्रकृति परिवर्तनशील है। वह तो बदलेगी ही। जाग्रत् होगा, स्वप्न होगा, सुषुप्ति होगी, ठीक होगा, बेठीक होगा, अनुकूल होगा, प्रतिकूल होगा—यह तो सदा ही होगा। पर इसे जाननेवालेमें क्या फर्क पड़ा? हम बदलनेवालेमें स्थित न हों; बदलनेवालेकी परवाह न करें। हम अपने स्वरूपमें ही स्थित रहें। अपने स्वरूपकी परवाह करनी है, उससे च्युत नहीं होना है। यह निश्चय हम पक्का रखें। फिर इसमें गलती नहीं होगी। इसपर जितना टिक जायँ, उतना ही लाभ होगा।

——★——

प्रवचन—१२

हम सबके अनुभवकी बात है कि यह सब-का-सब दृश्य अदृश्य हो रहा है। यह जो संसार दीख रहा है, यह मिट रहा है। एक क्षण भी इसमें स्थिरता नहीं है। इसमें स्थिरता माननेसे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्व होते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ (गीता ७ । २७)

इच्छा (राग) और द्वेषसे ही सब द्वन्द्व पैदा होते हैं। इन द्वन्द्वोंसे मोहित होकर यह जितना भी प्राणी-समुदाय है, यह वास्तविकताको नहीं जानता। इस द्वन्द्वसे ही सम्मोह पैदा होता है। तो इस कारण वह तत्त्वको जान नहीं सकता। अतः राग-द्वेष, हर्ष-शोक पैदा होते हैं— नश्वर शरीर और संसारको स्थिर माननेसे,'है' ऐसा माननेसे। यह सबके अनुभवकी बात है कि ये स्थिर नहीं हैं। संतोंने कहा है—

काची काया मन अथिर, थिर-थिर काम करंत।
ज्यों-ज्यों नर निधड़क फिरै, त्यों-त्यों काल हसंत ॥

युधिष्ठिरजी महाराजने कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

(महा० वन० ३१३ । ११६)

इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा कि सब-के-सब अदर्शनमें जा रहे हैं, यमराजके घर जा रहे हैं और इच्छा करते हैं स्थिरताकी ! जो स्थिरता कभी रहती नहीं और अभी भी स्थिरता है नहीं और कभी भी स्थिरता रहेगी नहीं। यहाँ तो केवल सेवा करनेके लिये आना हुआ है। शरीरसे, मनसे, वाणीसे, पदार्थोंसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे औरोंकी सेवा बन जाय, औरोंको सुख हो जाय, औरोंका भला हो जाय, औरोंका हित हो जाय— यह काम हमें करना है। इसमें बाधा होती है—संग्रह कर लें और सुख भोगें अर्थात् संग्रह करनेकी और सुख भोगनेकी आसक्ति । भगवान् कहते हैं—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (गीता २ । ४४)

भोग और संग्रहकी इच्छा होती है कि सुख भोग लूँ, संग्रह कर लूँ। इसी कारण 'एक परमात्माकी तरफ ही चलना है' यह निश्चय नहीं होता। इस निश्चयमें जितनी शक्ति है, उतनी किसी साधनमें नहीं है। नाम-जप, कीर्तन, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, तप, तीर्थ, व्रत आदि साधन बड़े श्रेष्ठ हैं। वास्तवमें यह बात ठीक है। परन्तु भीतरकी जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वह यथार्थ ठीक होती है। उसका बहुत ज्यादा मूल्य होता है। भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (गीता ९।३०)

साधन करनेवाला सदाचारी होता है। पर सुदुराचारी—साङ्गोपाङ्ग दुराचारी भी अन्यका भजन न करके, अन्यका आश्रय न रखकर भजन करता है तो उसे साधु मान लेना चाहिये—***'साधुरेव स मन्तव्यः'***—यह भगवान्‌की आज्ञा है। जब भगवान् उसे सुदुराचारी स्वीकार करते हैं तो उसे साधु कैसे मानें? तो कहा—***'सम्यग्व्यवसितो हि सः'*** अर्थात् उसने निश्चय पक्का कर लिया कि केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है। यह सम्पूर्ण साधनोंकी मूलभूत साधना है। इससे अपने-आप सब ठीक होगा। जैसे किसीके मनमें निश्चय हो जाय कि मुझे बदरीनारायण जाना है तो कैसे जाना है? रास्ता कैसा है? कितना है? आदि बातें स्वतः पैदा होंगी। स्वतः जिज्ञासा पैदा होगी। खोज करनेपर बतानेवाले और सहायता करनेवाले भी मिल जायँगे। ज्यों-ज्यों चलेगा, त्यों-त्यों आगे चलनेका सामान भी मिलेगा और उपाय भी कर लेगा। सब कुछ हो जायगा। तो एक निश्चय हो जानेसे सब काम बन जाता है। ऐसा निश्चय कब होता है? जब यहाँकी अस्थिरता देखता है। परन्तु भूलसे स्थिरता देखकर यहाँ ही डेरा लगा देता है कि बस, यहाँ ही रहना है। पर अभीतक जितने आये, कोई यहाँ नहीं रहा। अच्छे-अच्छे महात्मा,

पीर, औलिया, संत हो गये; वे भी चले गये। भगवान्‌ने भी अवतार लिये पर हमारे इस मृत्युलोकके रिवाजको नहीं तोड़ा। वे भी चले गये। यहाँ रहनेकी रिवाज नहीं है, इसलिये यह जाने-ही-जानेवाला है। अगर यह ठीक जागृति रहे तो बहुत ही लाभ है।

जैसे कार्यालयमें काम करने जाते हैं तो भीतर यह बात बैठी रहती है कि कार्य समाप्त होते ही घर चल देंगे। इस बातको याद नहीं करते, इसका चिन्तन नहीं करते, इसका जप नहीं करते। परन्तु बात भीतर जमी रहती है। इस तरह जो संसारमें रहनेकी बात है, वह बिलकुल उलटी बात है और यहाँ न रहनेकी बात बिलकुल सही बात है। सही बातको मान लें। इसमें कुछ करना नहीं पड़ता। इसे निर्विकल्परूपसे मान लेनेपर फिर यह विचारका विषय नहीं रहता। इस बातको मान लें तो बड़े भारी लाभकी बात है। ये जितने साधन हैं, सब इसके ऊपर आधारित हैं। यह सबकी आधारशिला (नींव) है। आस्तिक हो या नास्तिक, कोई क्यों न हो, यह सबके लिये सही बात है और ठीक अनुभवकी बात है। ऐसा नहीं कि शास्त्रोंमें लिखा है, मान लो; तो जिसकी श्रद्धा होगी, वह मान लेगा और जिसकी श्रद्धा नहीं होगी, वह नहीं मानेगा। इसमें तो श्रद्धाकी भी जरूरत नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष और सीधी बात है कि हमारा बालकपना चला गया। उसे ढूँढ़ें तो वह मिलता नहीं। ऐसा ही प्रवाह अभी भी चल रहा है।

एक परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही हमारा आना हुआ है। उसीको प्राप्त करना है। पर यह तब होगा, जब इस संसारको अप्राप्त मानें। संसार प्राप्त नहीं हुआ है। हम अचल हैं।*'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'* ॥ (गीता २। २४) और यह सब चल है। चलके साथ मिलनेसे अपनेमें अस्थिरता मालूम देती है। स्थिर होते हुए भी अपनी स्थिरताका अनुभव नहीं होता। जैसे,हम गाड़ीमें जा रहे हैं और गाड़ी किसी छोटे स्टेशनपर ठहर गयी; क्योंकि सामनेसे

दूसरी गाड़ी आ रही है, वह गाड़ी आकर दूसरी लाइनमें ठहर जाती है हम उस गाड़ीकी तरफ देखते हैं, वह गाड़ी चल पड़ती है तो मालूम होता है कि हम चल रहे हैं, जबकि हमारी गाड़ी स्थिर है, ऐसे ही यह शरीर-संसाररूपी गाड़ी चल रही है और उधर दृष्टि रहनेसे हम देखते हैं कि हम जवान हो रहे हैं, हम बूढ़े हो रहे हैं आदि। ऐसा दीखता है कि हम जा रहे हैं पर जा रहा है शरीर। इस प्रकार शरीर संसारको तो स्थिर मान लिया और अपनेको जानेवाला मान लिया। शरीर-संसारको स्थिर माननेसे द्वन्द्व पैदा होते हैं और द्वन्द्वोंसे मोह पैदा होता है। इस वास्ते जो द्वन्द्वमोहसे रहित होते हैं वे दृढ़व्रती होकर भगवान्‌का भजन करते हैं—

'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥'

(गीता ७।२८)

राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥'

(गीता ५।३)

'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥'

(गीता १५।५)

इसलिये भगवान् आज्ञा देते हैं कि तुम निर्द्वन्द्व हो जाओ—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

(गीता २।४५)

हम निर्द्वन्द्व कब होंगे? जब शरीर-संसारको अस्थिर मानेंगे तब। अस्थिर माननेसे फिर राग-द्वेष नहीं होंगे।

अरब रात मिलिबे को निसिदिन, मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातैं, रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना ॥

——★——

अन्य न हो, उसको अनन्य कहते हैं। एक तरफ तो संसार है और एक तरफ भगवान् हैं। संसार और भगवान्‌के बीचमें जीवात्मा है। संसारमें रुचि न रहकर केवल भगवान्‌में रुचि होनेका नाम अनन्य भक्ति है। संसारमें भी रुचि हो और भगवान्‌में भी रुचि हो, यह अन्य भक्ति है, अनन्य भक्ति नहीं। संसारको भी चाहता है और भगवान्‌को भी चाहता है तो।*'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम'*; क्योंकि संसार तो टिकेगा नहीं अर्थात् स्थायीरूपसे रहेगा नहीं और भगवान्‌को लेते नहीं। जिसको लेते हैं, वह तो रहता नहीं और जो रहता है, उसको लेते नहीं—यह दशा है हमारी! इसलिये जो रहे उसीको ले और जो न रहे उसको न ले—यह अनन्य भक्ति है।

मनुष्य-जन्मका ध्येय महान् आनन्दको प्राप्त कर लेना और दुःखोंसे सर्वथा रहित हो जाना है। दुःख तो वहाँ कोई पहुँचे नहीं और आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता, खुशी आदि कोई बाकी रहे नहीं। इसके लिये गीताके छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक बहुत कामका है। इसमें दो बातें बतायी गयी हैं—*'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'* जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद उससे और कोई अधिक लाभ होगा, यह बात उसके माननेमें भी नहीं आती, और*'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।'* वह जिसमें स्थित है, उससे कभी विचलित नहीं होता। बड़े भारी दुःखसे, बड़े भारी सन्तापसे, बड़ी भारी प्रतिकूल परिस्थितिसे वह विचलित नहीं होता। इतना ही नहीं, उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तो भी वह विचलित नहीं होता, ज्यों-का-त्यों ही मौजूद रहता है। ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जन्मका ध्येय है और इसी तत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर मिला है।

संसारका सुख-दुःख तो सम्पूर्ण प्राणी भोगते ही हैं। कुत्ते-गधे भी भोगते हैं, वृक्ष भी भोगते हैं अर्थात् सभी प्राणी सुखी-दुःखी होते हैं। अगर मनुष्यने केवल सुखी-दुःखी होनेमें ही समय बिता दिया तो मनुष्य-जन्म सफल नहीं होगा। नफा हो गया, नुकसान हो गया; संयोग हो गया, वियोग हो गया; आज तो मौज हो गयी, आज तो बड़ा दुःख हो गया; आज तो लाभ हो गया,

आज तो हानि हो गयी—ऐसे थपेड़े तो सभी खाते हैं। देवताओंको देख लो, नरकोंके जीवोंको देख लो, चौरासी लाख योनिवाले जीवोंको देख लो, चाहे किसीको देख लो। अगर ऐसे थपेड़े मनुष्य भी खाता रहे तो यह मनुष्य-जन्मकी सफलता नहीं है; क्योंकि यह चीज (सुख-दुःख आदि) तो कहीं भी, किसी भी योनिमें मिल जायगी। कुत्ता हो जाय चाहे गधा हो जाय, सूअर हो जाय चाहे ऊँट हो जाय, वृक्ष हो जाय चाहे दूब हो जाय, यह चीज सबमें मिल जायगी अर्थात् यह चीज किसी भी योनिमें दुर्लभ नहीं है, सब जगह सुलभ है। दुर्लभ चीज तो यही है कि **ऐसा सुख, ऐसा आनन्द प्राप्त हो, जिसमें दुःखका लेश भी न हो और आनन्दमें कोई कमी भी न हो। ऐसे तत्त्वकी प्राप्ति करना ही मनुष्य-जन्मका ध्येय है।** इसलिये मनुष्यको सबसे पहले यह पक्का विचार कर लेना चाहिये कि उस तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये ही मैं आया हूँ और उसको प्राप्त करना ही मेरा काम है। जो अधूरा हो और नष्ट होनेवाला हो, वह मेरेको नहीं लेना है। धन कमाऊँ तो अधूरा रह जायगा और साथमें नहीं रहेगा। मान-बड़ाई प्राप्त कर लूँ तो वह भी अधूरी रह जायगी और साथमें नहीं रहेगी। विद्या, योग्यता, अधिकार, पद आदि जो कुछ भी मिलेगा, वह सब अधूरा मिलेगा और साथ रहेगा नहीं। ***ये अधूरी और साथमें न रहनेवाली चीजें मेरेको नहीं चाहिये।*** ऐसा पक्का विचार हो जाय और केवल उस तत्त्वकी प्राप्ति चाहे, इसको अनन्यता कहते हैं।

पहले अपनी अहंता-(मैं-पन-) में अनन्यता होनी चाहिये कि मैं तो केवल उस तत्त्वको ही चाहता हूँ। जब अहंतामें यह चीज हो जायेगी, तब अनन्य भक्ति होगी। मनुष्य यही सोचता है कि मैं काम करके कर्ता बनूँगा, भक्ति करके भक्त बनूँगा, ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी बनूँगा। यह बात भी ठीक है; पर ठीक होते हुए भी इसमें एक कमी है। वह कमी यह है कि 'मैं साधन करके साधक बनूँगा' फिर सिद्ध

****

बनूँगा तो इसमें देरी लगेगी अर्थात् क्रियाओंके बदलनेसे भी अहंता बदलती है पर इसमें देरी लगेगी। परन्तु मैं साधक हूँ, मेरेको तो केवल उस तत्त्वको ही प्राप्त करना है, दुनिया चाहे उथल-पुथल हो जाय, मेरेको किसीसे कुछ भी मतलब नहीं, मैं तो केवल उसी एक (तत्त्व-) का ही जिज्ञासु हूँ—यह चीज जब अहंतामें आ जायगी अर्थात् जब ऐसा पक्का विचार हो जायगा तो उसकी सब क्रियाएँ अपने-आप बदल जायँगी। फिर वह कभी भी अपने ध्येयसे, उद्देश्यसे विचलित नहीं हो सकेगा। उसको लाखों-करोड़ों रुपये मिल जायँ, बड़ा आदर-सत्कार हो जाय, बड़ी वाह-वाह हो जाय, बड़ा भारी पद मिल जाय, सम्राट् बन जाय तो भी वह विचलित नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह यही समझता है कि इनको प्राप्त करना मेरा ध्येय नहीं है। अमुक-अमुक कर्मके करनेसे स्वर्ग मिलेगा, ब्रह्मलोक मिलेगा, बड़ा भारी सुख मिलेगा— ऐसा लालच दिया जाय तो भी वह विचलित नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह उसको चाहता ही नहीं।

जैसे आजके जमानेमें जो शुद्ध खान-पानवाले आदमी हैं, उनसे कोई यह कहे कि 'यह मांस बहुत बढ़िया है' तो वे यही कहेंगे कि भाई, हमें लेना नहीं है। 'ये अण्डे बहुत बढ़िया हैं पर हमें लेना नहीं है।'

'इस जातिकी मछली बहुत बढ़िया है'। 'अरे! क्यों हल्ला करता है, हमें लेना ही नहीं है।'

ऐसे ही एक निश्चयवाले साधकसे कोई कहे कि 'भाई! संसारका यह सुख बहुत बढ़िया है, आरामवाली ये चीजें बहुत बढ़िया हैं' तो वह यही कहेगा कि 'भाई! हम इस सुख-आरामके ग्राहक नहीं हैं। हमें यह सुख-आराम भोगना ही नहीं है'।

'तुम ऐसा काम करोगे तो तुम्हें इतना लाभ हो जायगा, तुम्हारे पास इतना संग्रह हो जायगा, इतना रुपया इकट्ठा हो जायगा'।

'पर हमें संग्रह करना ही नहीं है'।

'हम तुम्हें इतना रुपया दे देंगे, इतना सोना-चाँदी दे देंगे, इतने हीरे दे देंगे, तुम्हें ऊँचा पद दे देंगे, मिनिस्टर बना देंगे'।

'कृपा करो बाबा ! हमें यह गन्दी चीज लेनी ही नहीं है।'

तात्पर्य है कि बढ़िया-घटिया जो कुछ हो, हमें लेना ही नहीं है। हमें तो एक अलौकिक परमात्मतत्त्वको लेना है। जिसको मुक्ति, कल्याण, प्रेम-प्राप्ति कहते हैं, हमें वह लेना है। जिस तत्त्वको प्राप्त करनेके बाद कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता और दुःख वहाँ पहुँचता नहीं, हमें तो वह तत्त्व लेना है। और कुछ हमें लेना है ही नहीं।

'सब ऐसे कैसे हो सकते हैं ?'

ऐसे सब हो सकते हैं; क्योंकि **मनुष्यमात्र उस तत्त्वका अधिकारी है**। वह किसी वर्णमें हो, किसी आश्रममें हो, किसी सम्प्रदायमें हो, किसी देशमें हो, किसी वेशमें हो, कैसा ही क्यों न हो, वह उस परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका पूरा अधिकारी है। परन्तु संसारके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं, धनके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं, मान-बड़ाईके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं। हाँ, इनका थोड़ा टुकड़ा-टुकड़ा मिल सकता है पर किसीको भी पूरा नहीं मिलेगा और वह तत्त्व सबको पूरा मिलेगा, उसका टुकड़ा नहीं होगा। अन्य योनियोंमें इस तत्त्वको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है। मानव-शरीरमें ही भगवान्‌ने वह योग्यता दी है, जिससे सभी उस तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। सांसारिक पद, अधिकार आदि दोको भी एक समान नहीं मिलेगा; परन्तु पहले जो शुकदेव मुनि हुए, सनकादि हुए, ब्रह्माजी हुए, भगवान् शंकर हुए, जीवन्मुक्त ऋषि हुए, बड़े-बड़े ज्ञानी महापुरुष हुए, उनको जो तत्त्व मिला है, वही तत्त्व आज हरेक मनुष्यको मिल सकता है, मनुष्यमात्रको मिल सकता है। पर शर्त इतनी ही है कि सांसारिक सुख और संग्रहको नापसन्द कर दे कि हमें सांसारिक सुख और संग्रह लेना

नहीं है। सांसारिक सुख आ जाय, संग्रह हो जाय तो क्या करे ? जैसे अनजानमें मैलेपर पग चला जाय, टिक जाय और पग मैलेसे भर भी जाय तो क्या करें ? तो स्नान करके साफ करो। ऐसे ही संसारका सुख-आराम मिले, रुपये, सोना, हीरे, रत्न मिलें तो समझे कि मैलेपर पग टिक गया। पर उसको हमें लेना नहीं है। हम तो केवल परमात्मतत्त्वको ही चाहते हैं। इसके सिवाय हमें कुछ भी लेना नहीं है—यह अनन्य भक्ति है।

मनुष्य-शरीर प्राप्त करके अगर धन प्राप्त कर लिया, भोग प्राप्त कर लिये, मान-बड़ाई प्राप्त कर ली, तो मनुष्य-शरीर निष्फल है। धन आदिमें ही अटक गये, यहाँकी चीजोंमें ही अटक गये तो क्या मनुष्य हुए ? मनुष्यपना क्या हुआ ? क्योंकि मनुष्य-शरीर बहुत दुर्लभ है—*'दुर्लभो मानुषो देहः'*। सद्ग्रन्थोंमें यह मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया है—**'बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥'** ऐसे मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके फिर केवल भोग भोग ले, रुपया इकट्ठा कर ले ! कितना कर लोगे ! अन्तमें सब किया हुआ उद्योग गुड़-गोबर हो जायगा, कुछ भी काम नहीं आयेगा। परन्तु मनुष्य उसीमें राजी हो रहे हैं कि हम यह ले लेंगे, वह ले लेंगे। क्या ले लोगे, यह कोई लेनेकी चीज है ? जिसके साथ आप नहीं रह सकते और आपके साथ वह नहीं रह सकती, इसको क्या तो लिया। धोखा हुआ है धोखा ! विश्वासघात हुआ और कुछ नहीं हुआ, वह भी जानकर आपने किया। आपने अपने ही पैरोंमें आप ही कुल्हाड़ी मारी। अतः *'सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु'* व्यर्थ छोड़कर उस सार चीजको, उस सत्य-तत्त्वको ग्रहण करना चाहिये, जिसका कभी अभाव नहीं होता। उसको प्राप्त होनेपर महासर्गमें भी पैदा नहीं होते तथा महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते; सदा मस्ती, सदा मौज-ही-मौज रहती है—*'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'*। (गीता १४। २)। उस तत्त्वकी प्राप्ति इस शरीरके रहते-रहते थोड़े-से-थोड़े

समयमें हो सकती है। उसकी प्राप्तिके लिये न किसी विद्याकी जरूरत है, न किसी योग्यताकी जरूरत है। केवल अपनी चाहनाकी जरूरत है। वह चाहना ऐसी होनी चाहिये कि मेरेको सांसारिक वस्तु आदि कुछ भी मिले, तत्त्वकी प्राप्ति किये बिना मैं उसमें ठहरूँगा नहीं। मेरेको तो वही चाहिये, दूसरा कुछ भी नहीं। अब ऐसी चाहना हो जायगी, ऐसी लगन लग जायगी तो आपको उसकी प्राप्तिकी सामग्री मिल जायगी, ग्रन्थ मिल जायगा, गुरु मिल जायगा, सब मिल जायगा। परमात्माके मौजूद रहते कौन-सी सामग्री बाकी रहेगी ? पर सब कुछ होते हुए भी मनुष्यको यह वहम रहता है कि थोड़ा यह काम कर लें, थोड़ा वह काम भी कर लें। यों थोड़ा करते-करते खत्म हो जाओगे भाई, मिलेगा कुछ नहीं।

हमने एक कहानी सुनी थी। एक परिवारमें ब्राह्मण, ब्राह्मणी, बेटा और बहू— ये चार प्राणी थे। लड़का जवान था पर अचानक मर गया। लड़का आँगनमें पड़ा था। लोग इकट्ठे हो गये। पर वह ब्राह्मण देवता उठकर चल दिये। लोगोंने पूछा— 'कहाँ जाते हो' ? उन्होंने कहा—'मैं साधु होऊँगा और भजन करूँगा।' लोगोंने कहा—'अरे ! तुम्हें दया नहीं आती इनपर। जवान लड़का मर गया है। घरमें दो स्त्रियाँ हैं बेचारी। उनका पालन-पोषण कौन करेगा'। उन्होंने कहा—'पीछे इनका पालन-पोषण कौन करेगा —यह चिन्ता इसने (जवान लड़केने) तो की ही नहीं और सबको छोड़कर चला गया। मैं बूढ़ा क्या चिन्ता करूँ ? लोगोंने फिर कहा—'महाराज ! इसको उठाओ तो सही !' वे बोले—'इस घरमें और श्मशानमें क्या फर्क है ? मेरे तो श्मशान ही घर है और घर ही श्मशान है। आप लोग इसको भले ही यहाँ रखो, वहाँ रखो, चाहे कहीं रखो। मैं तो जाता हूँ।' ऐसा कहकर वे चट चल दिये।

बहुत पुरानी बात है। विक्रम संवत् उन्नीस सौ पचहत्तरकी होगी, ठीक याद नहीं। उस समय 'वेदान्त-केसरी' पत्र निकलता था। उसमें एक बात आयी थी कि बम्बईमें समुद्रके किनारे घूमते-घूमते एक आदमी

किसी दीवारपर बैठ गया। इतनेमें एक जवान लड़का धोती-लोटा लेकर स्नानके लिये समुद्रके किनारे आया। उसने धोती-लोटा तो किनारेपर रख दिया और स्नानके लिये समुद्रमें उतर गया तो उतर ही गया। वह पीछे आया ही नहीं, डूब गया। लोगोंने ढूँढ़ा तो उसकी लाश मिली। अब जो आदमी दीवारपर बैठा था, उसने यह सब देख लिया। बस वह वहाँसे चल दिया, न घरवालोंसे कहा और न किसीसे कुछ कहा। उसने यही विचार कर लिया कि मरते इतनी देरी लगती है तो इस शरीरका क्या भरोसा ? मैं तो भजन करूँगा। उस तत्त्वको प्राप्त करना है मेरेको।

अभी पाँच-सात वर्ष पहले अखबारमें एक बात निकली थी। नागपुरमें चार युवक आपसमें बातचीत कर रहे थे कि 'कैसे साधु हो जायँ ?' तो उनमेंसे एकने कहा—'कैसे क्या ? ऐसे किया और हुआ।' तो उन तीनोंने कहा—'तुम बन जाओ साधु।' उसने कहा—'हाँ, हम भी साधु बन जायेंगे और भजन करेंगे।' उन तीनोंने फिर कहा—''गोपीचन्द जैसे अपनी स्त्रीको 'माँ' कहकर भिक्षा ले आये थे, ऐसे ही तुम भी अपनी स्त्रीको 'माँ' कहकर भिक्षा लाओगे' ? उसने कहा—'हाँ' हम भी भिक्षा ले आयेंगे।' उसने वैसा ही किया और घर जाकर अपनी स्त्रीसे कहा—'माई ! भिक्षा दो।' यह कैसे होता है ? ऐसे होता है। विचार हो गया, तो हो ही गया। अब इधर-उधर हो ही नहीं सकता। मरनेवाला क्या मुहूर्त पूछकर मरता है ? ऐसे ही एक विचार कर ले कि दुनिया भला कहे या बुरा, सुख पाये या दुःख, धन मिले या चला जाय; चाहे कुछ हो जाय, हमें तो उस तत्त्वको प्राप्त करना ही है। इसीको अनन्यता कहते है।

का माँगूं कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चल्या जग जाई॥
इक लख पूत सवा लख नाती, ता रावन घरि न दिया न बाती॥
लंका सी कोट समंद सी खाई, ता रावनि की खबरि न पाई॥
आवत संगि न जात संगाती, कहा भयौ दरि बाँधे हाथी॥
कहै कबीर अंतकी बारी, हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी॥

———★———

प्रवचन—१४

साधक अगर 'ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये'—इन दो बातोंको छोड़ दे और भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कार्य करता रहे तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय ! जिसको मुक्ति कहते हैं, कल्याण कहते हैं, वह हो जाय ! रामायणमें आता है—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (७।४३।३)

बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभु अपनी तरफसे कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर देते हैं। कृपाका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य अपना कल्याण कर ले। मनुष्यका कल्याण हो जाय—इस भावसे भगवान् मनुष्य-शरीर देते हैं। अतः भगवान्‌की तरफसे तो इसके उद्धारका संकल्प हो गया। परन्तु मनुष्य 'ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये'—इस बातको पकड़ लेता है और इसीसे बन्धनमें पड़ जाता है; और इसीको कामना कहते हैं।

गीताने जो कामना-त्यागकी बात कही है, उसका तात्पर्य है कि 'ऐसा हो जाय और ऐसा न हो जाय'—ये दोनों छोड़ दें। इस तरह कामनाका त्याग करनेसे मनुष्यका संसारके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा और भगवान्‌की कृपासे, भगवान्‌के संकल्पसे इसका उद्धार हो ही जायगा—यह निश्चित बात है।

प्रभु स्वाभाविक बिना कारण कृपा करते हैं, किसी कारणसे नहीं—**'बिनु हेतु सनेही'**। अतः भगवान्‌का यह संकल्प है कि मनुष्य अपना उद्धार कर ले। भगवान्‌का संकल्प सत्य होता है, नित्य होता है और स्वतःसिद्ध होता है। इसलिये मनुष्यको अपने कल्याणके लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता। बस, केवल एक बात है कि मनुष्य अपनी आड़ नहीं लगाये अर्थात् 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'— इसको मिटा दे। फिर इसका कल्याण स्वतः हो जायेगा।

ऐसा हो जाय और ऐसा न हो जाय— इससे होता कुछ नहीं। कारण कि 'ऐसा हो जाय'—ऐसा चाहनेसे क्या ऐसा हो जाता है ? और 'ऐसा न हो जाय'—ऐसा चाहनेसे क्या ऐसा नहीं होता ? एक-एक भाई-बहन इसपर

विचार करके देखें कि जैसा हम चाहें, वैसा हो जाय और जो नहीं चाहें वह नहीं हो—यह बात होती नहीं। अभीतक किसीके भी मनकी बात पूरी नहीं हुई तो अब कैसे हो जायगी ? आपलोग अपना-अपना जीवन देख लें कि हमने जैसा चाहा, वैसा हुआ है क्या ? जो नहीं चाहा, वह नहीं हुआ है क्या ? आपकी उम्रभरका है ऐसा अनुभव ? अतः हमारे चाहनेसे क्या होता है ? प्रभुकी प्राप्तिमें बाधा लगनेके सिवाय कुछ नहीं होता। जिसको तत्त्व-ज्ञान, जीवन्मुक्ति, भगवत्प्रेम, भगवत्प्राप्ति, कल्याण, उद्धार कहते हैं, केवल उसमें बाधा लगती है और कुछ नहीं होता।

कहते हैं 'बात तो ठीक है पर मनमें ऐसी कामना हो जाती है, क्या करें ?' इसमें एक बात बताते हैं। जो हो जाता है, वह दोषी नहीं होता, प्रत्युत जो करते हैं वह दोषी होता है। जैसे, वर्षा हो जाय, न हो जाय तो क्या हमें उलाहना मिलता है ? क्या इसमें हमारी कोई जिम्मेवारी होती है ? जो स्वतः होता है, उसकी हमारेपर कोई जिम्मेवारी नहीं होती, उसका हमें कोई पाप-पुण्य नहीं लगता। अतः मनमें 'ऐसा हो और ऐसा न हो'—ऐसा आ भी जाय तो उसकी उपेक्षा कर दें कि 'नहीं, हमें यह कामना नहीं करनी है, हमें यह बात बिलकुल ही नहीं रखनी है।' इसपर अगर आप दृढ़तासे टिक जायँ तो यह कामना मिट जायेगी।

हमारे मनमें तो यही बात रहनी चाहिये कि 'जैसा भगवान् चाहें वैसा होना चाहिये और जैसा भगवान् नहीं चाहें, वैसा नहीं होना चाहिये'—

मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अज्ञान।
तेरी चाही में प्रभो, है मेरा कल्यान॥

अगर चाह हो भी जाय तो प्रभुसे कह दें कि 'हे नाथ ! मेरी चाही मत करना'। नारदजीने चाहा कि मेरा विवाह हो जाय, तो क्या विवाह हो गया ? उन्होंने भगवान्‌से भी माँग लिया, तो भगवान्‌ने कहा कि 'जैसा तुम्हारा परम हित होगा, वैसा करूँगा।'

****

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥

(मानस १।१३२)

नारदजीने अपने-आपको भगवान्‌को दे रखा था; अतः उनके माँगनेपर भी भगवान्‌ने नहीं दिया। इसलिये माँगकर अपनी इज्जत क्यों खोयें; क्योंकि प्रभु तो अपनी मरजीसे करेंगे! जब वे अच्छे-से-अच्छे भक्तका कहना भी नहीं करते, तब वे हमारा कहना कैसे करेंगे? तो फिर कहना ही क्यों? कुछ भी नहीं चाहेंगे तो हमारी इज्जत रह जायेगी।

जब हनुमान्‌जी सीताजीका पता लगाकर उनका सन्देश लेकर आये, तब भगवान्‌ने उनसे कहा कि 'मैं तुम्हें क्या दूँ? देनेके लिये मेरे पास कुछ है ही नहीं; अतः मैं तुम्हारा ऋणी हूँ'। इसलिये जो भगवान्‌से कुछ नहीं चाहता, भगवान् उसके ऋणी हो जाते हैं। जैसे, आपको यह मालूम हो जाय कि ये महात्मा, ये पण्डितजी कुछ नहीं चाहते तो आपके मनमें भाव होगा कि इनको कुछ दे दूँ। ये हमसे कुछ ले लें—ऐसी आपकी स्वाभाविक एक रुचि होती है। ऐसे ही जो कुछ नहीं चाहता, उसका कल्याण हो जाय—ऐसी प्रभुके मनमें आती है।

एक सन्तने कहा था—यह हमारे काममें ली हुई, अनुभव की हुई बात है कि मनसे पूछे—तेरेको क्या चाहिये? मनसे उत्तर दे—कुछ नहीं। बोल, क्या चाहिये? कुछ नहीं—ऐसे बार-बार मनसे कहो तो चाहना मिट जायगी। हमें कुछ चाहिये ही नहीं; क्योंकि सबके अन्न-जलकी व्यवस्था अपने-आप होती है। हम जी रहे हैं तो जीनेकी सामग्री अपने-आप आयेगी। फिर चाहना क्यों करें? सुख मिले और दुःख न मिले—ऐसा सब चाहते हैं पर आजतक एक भी प्राणी ऐसा नहीं हुआ, जिसको दुःख न मिला हो और सुख-ही-सुख मिला हो। इसलिये प्रभुकी मरजीमें अपनी मरजी मिला दें। प्रभु जो कर रहे हैं, उसमें हमारा हित भरा है। **ऐसा होना चाहिये**

और ऐसा नहीं होना चाहिये—यही बंधन है। यह न रहे तो फिर प्रभुका भजन ही होगा।

प्रभुकी मरजीमें अपनी मरजी मिला देना, अपनी कोई अलग चाह न रखना ही पूजा है। अगर अपने मनमें 'यह हो और यह न हो' ऐसा रहेगा तो पूजामें बाधा होगी। एक सन्त मिले थे। उन्होंने कहा कि 'हमारी तो सदा मनचाही होती है'। दुनियामें ऐसा कोई नहीं है, जिसकी सदा मनचाही होती हो। उनसे पूछा कि 'महाराज ! आपकी सदा मनचाही कैसे होती है ?' वे बोले कि 'हम अपनी कोई चाहना रखते ही नहीं, हमने अपनी चाहना भगवान्‌की चाहनामें मिला दी है। अब वे जो कुछ करें, उसमें हमारी भी यही चाहना है अर्थात् ऐसा हो गया तो हम भी ऐसा ही चाहते हैं; अतः जो होता है, वह हमारी चाहनाके अनुसार ही होता है।'

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

(मानस १। १२८)

इसलिये साधक अपनी कोई चाहना न रखे।

ऊधौ ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल, विषकीरा विष खात॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥
कहा कहौं छबि आजुकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष-बान लेउ हाथ॥
मुरली मुकुट दुरायकै नाथ भये रघुनाथ।
लखि अनन्यता भक्तिकी जन को कियो सनाथ॥

——★——

प्रवचन—१५ (अ)

हमलोगोंने यह समझ रखा है कि जैसे हमलोगोंमें स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधामें सम्बन्ध है; पर ऐसी बात नहीं है। श्रीकृष्ण और श्रीराधाका जो प्रेम है, वह एक विलक्षण तत्त्व है। इसमें भी श्रीराधा प्रेम-तत्त्व है। जिस तरह लोभी मनुष्यके सामने एक तो होता है धन और एक होता है धनकी तरफ खिंचाव; धन प्रिय लगता है, धनमें खिंचाव होता है तो इसको लोभ कहते हैं; इसी तरह एक तो हैं भगवान् और एक है भगवान्‌की तरफ खिंचाव। भगवान्‌में जो खिंचाव है, वह श्रीराधा-तत्त्व है और जिसमें वह खिंचाव होता है, वह श्रीकृष्ण-तत्त्व है। लोभमें तो केवल मनुष्यका ही धनमें खिंचाव होता है, धनका मनुष्यमें खिंचाव नहीं होता। परन्तु प्रेममें भगवान् श्रीकृष्णका श्रीराधाजीमें और श्रीराधाजीका भगवान् श्रीकृष्णमें परस्पर खिंचाव होता है।

सामान्य स्त्री-पुरुषका जो खिंचाव होता है, उसमें और श्रीराधाकृष्णके खिंचावमें बड़ा भारी अन्तर है। स्त्री-पुरुषका खिंचाव तो अपने सुखके लिये होता है पर **श्रीराधाजी और भगवान् श्रीकृष्णका खिंचाव एक-दूसरेको सुख देनेके लिये होता है, निज सुखके लिये नहीं।** जहाँ निज सुखका भाव होता है, वहाँ राग होता है, कामना होती है, जो फँसानेवाली है।

थोड़े अंशमें यह बात ऐसे समझ सकते हैं कि जैसे माँका बालकमें खिंचाव होता है और बालकका भी माँमें खिंचाव होता है। बालक तो अपने लिये ही माँको चाहता है; क्योंकि वह समझता ही नहीं कि माँका हित किसमें है। परन्तु माँ केवल अपने लिये ही बालकको नहीं चाहती, वह बालकका हित भी चाहती है। परन्तु ऐसा होनेपर भी माँकी ऐसी इच्छा रहती है कि बालक बड़ा हो जायेगा तो उसका ब्याह करूँगी, बहू आयेगी, सेवा करेगी, पोता होगा आदि। ऐसी उसके भीतर भविष्यके सुखकी आशा रहती है, चाहे वह इस बातको अभी स्पष्ट जाने या न जाने। परन्तु भगवान् और श्रीजीमें ऐसा भाव नहीं रहता कि भविष्यमें सुख होगा। उनको तो एक-दूसरेको सुखी देखनेमात्रसे सुख होता है। अब इस सुखको कैसे बतायें ? संसारमें ऐसा कोई

सुख है ही नहीं। संसारमें हमारा जो आकर्षण होता है, वह आकर्षण शुद्ध नहीं है, पवित्र नहीं है; क्योंकि वह अपने सुखके लिये, अपने स्वार्थके लिये होता है।

किसी भूखे आदमीका अन्नमें खिंचाव होता है तो इसमें दो बातें होती हैं—एक तो वह भोजन करेगा तो भोजनके पदार्थोंका नाश करेगा और दूसरे, वह भोजनके अधीन होगा अर्थात् परतन्त्र होगा; कारण कि वह भोजनकी जरूरत मानेगा, और मनुष्य जिसकी जरूरत मानता है, उसकी परतन्त्रता हो ही जाती है। धन चाहते हैं तो धनकी परतन्त्रता, कुटुम्ब चाहते हैं तो कुटुम्बकी परतन्त्रता, शरीर रखना चाहते हैं तो शरीरकी परतन्त्रता हो जाती है। चाहनेवाला स्वयं तुच्छ हो जाता है और जिसको चाहता है, उसको बड़ा मान लेता है। संसारको बड़ा मानकर उसका तो नाश करता है और स्वयं उसका गुलाम बन जाता है और अपना पतन कर लेता है।

भगवान् और श्रीजीके सम्बन्धमें उपर्युक्त दोनों ही बातें नहीं हैं। श्रीजी भगवान्‌की तरफ खिंचती हैं, जिससे भगवान्‌को आनन्द हो और भगवान् श्रीजीकी तरफ खिंचते हैं जिससे श्रीजीको आनन्द हो। एक-दूसरेके प्रति ऐसा भाव होनेसे एक-एकका प्रेम बढ़ता है। जहाँ सुख लेनेकी इच्छा होती है, वहाँ वैसा प्रेम हो ही नहीं सकता। प्रेम उसे कहते हैं, जो बढ़ता ही रहे, जिसमें मिलनेकी उत्कण्ठा बढ़ती ही रहे। श्यामसुन्दर और श्रीजी सदा मिले ही रहते हैं पर ऐसा लगता है कि मानो कभी मिले ही नहीं, आज ही नया मिलन हुआ है—

'अरबरात मिलिबे को निसिदिन, मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिले ना।'

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही दो रूपसे हो गये—अपने आधे अङ्गसे श्रीजी बन गये और आधे अङ्गसे श्रीकृष्ण बन गये। इस प्रकार एक भगवान् ही दोनों स्वरूप बने हैं। वे पहले भी एक हैं और पीछे भी एक हैं; केवल **प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये और दूसरोंको**

प्रेमका आस्वादन करानेके लिये ही वे दो रूप बने हैं। दो रूप बनकर वे एक-दूसरेको सुख देनेके लिये एक-एककी तरफ खिंचते हैं। वह सुख कैसा है? ***'प्रतिक्षणवर्धमानम्'*** प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। सांसारिक सुखका भोग होता है, वह कभी एकरूप नहीं रहता, घटता ही रहता है और घटते-घटते सर्वथा मिट जाता है। संसारका कोई भी सुख हो, कहीं भी हो, जिस किसीमें हमारी रुचि होती है, हम सुख लेते हैं तो पहले सुखकी इच्छा प्रबल होती है, फिर कम हो जाती है। उसका सेवन करते-करते फिर सुखकी इच्छा नहीं रहती। इतना ही नहीं, उस सुखसे ग्लानि हो जाती है। अतः संसारका कोई सुख ऐसा नहीं है, जो निरन्तर सुख दे सके। पर भगवान्‌का सुख ऐसा विलक्षण है कि वह निरन्तर बढ़ता ही रहता है, उसकी कभी तृप्ति नहीं होती।

संसारका सुख प्रतिक्षण नष्ट होता है पर श्रीजी और भगवान् श्रीकृष्णका प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। वह किस रीतिसे बढ़ता है? इस रीतिसे बढ़ता है कि मिले रहते हुए भी मानो कभी मिले ही नहीं। जिसको अत्यन्त भूख होती है, उसको अन्न न मिलनेकी एक उत्कण्ठा रहती है कि अन्न मिल जाय। लोभी व्यक्तिको धन न मिले तो धन मिल जाये—ऐसा एक खिंचाव होता है और धन मिलनेपर खिंचाव कम हो जाता है। परन्तु जब श्रीजी और भगवान् श्रीकृष्णका मिलन होता है तो मिलन होनेपर भी खिंचाव बढ़ता रहता है।

सन्तोंकी वाणीमें आया है—**'लाल प्रियामें भई न चिन्हारी'** लाल और प्रियामें अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीजीमें अभीतक पहचान ही नहीं हुई कि तुम कौन हो! जबतक धन नहीं मिलता, तबतक धनकी पहचान नहीं होती। परन्तु प्रेममें मिलन होनेपर भी पहचान नहीं होती और फिर मिले, फिर मिले—यह उत्कण्ठा रहती है। इस कारण प्रेमका आनन्द ज्ञानके आनन्दसे भी विलक्षण है। सब जगह एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा परिपूर्ण है; ऐसे परमात्मतत्त्वमें

स्थित होनेपर एक अखण्ड आनन्द रहता है। वह आनन्द भी किञ्चिन्मात्र भी घटता नहीं। अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न हो-होकर समाप्त हो जायँ तो भी वह ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु प्रेमका आनन्द प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। सन्तोंने कहा है कि चन्द्रमाकी कला बढ़ती है और बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा आ जाती है पर प्रेमके आनन्दमें कभी पूर्णिमा आती ही नहीं—

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनो यामें नहीं, ताते कबहुँ न सेष॥

ऐसा जो प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम है, भगवान्‌के प्रति खिंचाव है, उसका नाम है—श्रीराधा।

यों तो पहले कृष्णजन्माष्टमी आती है और पीछे राधाष्टमी आती है पर पहले वर्षमें श्रीजी प्रकट होती हैं और दूसरे वर्षमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। इस कारण श्रीजी साढ़े ग्यारह महीने बड़ी हैं और पीछे अवतार लेनेसे भगवान् श्रीकृष्ण छोटे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पहले भगवान्‌का खिंचाव होता है और पीछे भगवान् प्रकट होते हैं। भक्तलोग भी पहले नाम-जप करते हैं, कीर्तन करते हैं और पीछे उनकी उत्कण्ठा होती है। ऐसे ही सत्सङ्ग करते-करते सत्सङ्गमें एक रस पैदा होता है, सत्सङ्गमें खिंचाव होता है, वह भी बढ़ता रहता है। सुबह इतनी जल्दी और वर्षामें भी लोग सत्सङ्गके लिये इकट्ठे हो जाते हैं, यह क्या है ? यह उनका सत्सङ्गमें खिंचाव है। सत्सङ्गकी बातें प्रिय लगती हैं और बार-बार खिंचाव होता है। इससे आगे चलकर प्रेमकी प्राप्ति होती है। इसीलिये पहले श्रीजी प्रकट होती हैं और फिर श्रीभगवान् प्रकट होते हैं। रामायणमें आया है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस १। १८४। ३)

देवताओंसहित ब्रह्माजी आपसमें विचार करते हैं कि भगवान् कहाँ मिलेंगे तो कोई कहते हैं कि भगवान् क्षीरसागरमें मिलेंगे, कोई

****

कहते हैं कि गोलोकमें मिलेंगे और कोई कहते हैं कि वैकुण्ठमें मिलेंगे। पार्वतीजीको रामायण सुनाते हुए भगवान् शंकर कहते हैं कि उस सभामें मैं भी था तो मैंने यह कहा कि भगवान् श्रीहरि किसी एक जगह ही रहते हों, यह बात नहीं है। वे तो सब जगह समानरूपसे मौजूद हैं पर प्रेम होनेपर ही प्रकट होते हैं। फिर कहा—

अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

(मानस १।१८४।४)

जैसे दियासलाई-घर्षण करते ही अग्नि प्रकट हो जाती है। दियासलाईमें अग्नि तो पहले भी थी। पहले नहीं होती तो प्रकट कैसे होती? अतः दियासलाईमें अग्नि है पर प्रकट नहीं है। ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं और परिपूर्ण हैं पर वे प्रकट नहीं हैं। वे प्रकट कब होते हैं? जैसे दियासलाईको रगड़ लगती है तो उससे अग्नि प्रकट हो जाती है, ऐसे ही जब प्रेमरूप रगड़ लगती है अर्थात् भगवान्‌का चिन्तन करते-करते प्रेम हो जाता है तो उससे भगवान् प्रकट हो जाते हैं।

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननीको, सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इतो न करौं सपथ मोहि हरिकी, छत्रिय गतिहिं न पाऊँ॥
पांडव-दल सनमुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिनु, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

———★———

प्रवचन—१५ (ब)

सत्सङ्ग करते-करते सत्सङ्गमें, भगवन्नाममें, भगवत्सम्बन्धी बातोंमें, भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें एक खिंचाव होता है, प्रियता होती है। तभी तो वर्षामें भी लोग इतनी जल्दी सत्सङ्ग करनेके लिये आ जाते हैं। बिना खिंचाव, प्रियताके कोई आ नहीं सकता। हठसे कोई क्रिया ज्यादा देर नहीं की जा सकती। यह जो इस प्रकार मनका खिंचाव है, यह श्रीजीका अवतार है। श्रीजी प्रकट हो जायँगी तो भगवान् श्रीकृष्ण भी प्रकट हो जायँगे। भगवान्में खिंचाव पहले होता है और पीछे भगवान् प्रकट होते हैं।

संसारमें खिंचाव पहले-पहले तो बढ़िया लगता है पर आगे जाकर उसकी पोल निकल जाती है। किसी भोगको भोगते समय पहले तो उसमें खिंचाव होता है पर बादमें कम होते-होते मिट जाता है। जैसे, भोजन करने बैठे तो जबतक भोजन नहीं मिलता, तबतक जैसी प्रियता होती है, भोजन मिलनेपर वैसी प्रियता नहीं रहती। एक-एक ग्रास लेते हैं तो पहले ग्रासमें जो रस आता है, वह रस दूसरे ग्रासमें नहीं आता। ऐसे एक-एक ग्रासमें रस कम होते-होते अन्तमें वह मिट जाता है। एक साधुकी ऐसी ही बात सुनी है। वे शहरके बाहर एकान्तमें रहते थे और भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते थे। भीतर रागके संस्कार बड़े विलक्षण होते हैं। सब कुछ छोड़कर भजनमें लगनेवालोंमें भी राग रह जाता है। पर ज्यों-ज्यों भगवान्में प्रेम बढ़ता है, ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है, त्यों-त्यों वह राग मिटता जाता है। उन साधुको राग बड़ा तंग करने लगा। उनके मनमें आती कि भिक्षामें रूखी-सूखी रोटी मिलती है, साग-दाल भी पूरी नहीं मिलती और खीर तो मिलती ही नहीं।

खीर खानेकी बार-बार मनमें आने लगी तो वे एक श्रद्धालु हलवाईके यहाँ गये। उसकी उनमें बड़ी श्रद्धा-भक्ति थी कि ये सन्त बड़े त्यागी महात्मा हैं। उससे कहा कि 'भैया! आज हम भिक्षामें केवल खीर लेंगे, आज तो खीर बनाओ। वह बड़ा ही खुश हुआ कि महाराज तो मिठाई देनेपर भी नहीं लेते हैं, दूध भी नहीं लेते हैं, रूखी-सूखी रोटी खाते हैं, आज तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ! उसने बड़ी खुशीसे बढ़िया खीर बनायी। नौजा, पिस्ता,

इलायची और मीठा डालकर खूब औटाकर सुगन्धित खीर बनायी और महाराजसे कहा कि पाओ। बाबाजीने कहा कि इसे ठण्डी कर दो। उसने ठण्डी करके बाबाजीको खप्परमें दे दी। खप्पर काफी बड़ा था, उसे भर दिया।

पहले जो उत्कण्ठा थी कि खीर मिलेगी, अब मिलनेपर उतना खिंचाव नहीं रहा। खीर खाने लगे तो जो उसमें प्रियता थी, वह खाते-खाते कम होने लगी। फिर भी वे खाते ही रहे। अपने मनमें कहने लगे कि आज खूब खीर पी लो, बहुत दिनोंसे खीर खानेकी मनमें आ रही है। ज्यादा खीर पीनेसे उलटी हो गयी तो उसे खप्परमें ही भर लिया। अब उसी उलटीवाली खीरको फिर पी गये तो ऐसी उलटी हुई कि सारी खीर निकल गयी ! अब तो उम्रभरके लिये खीरसे अरुचि हो गयी। खीरका नाम लेते ही रोंगटे खड़े हो जाते।

ऐसा कोई भोग है ही नहीं, जिससे अरुचि न होती हो पर भगवान्‌के प्रेममें कभी रुचि कम होती ही नहीं। जबतक भोगोंमें आसक्ति रहती है, तबतक भगवान्‌में रुचि नहीं होती। भगवान्‌में रुचि हो जाती है तो फिर हो ही जाती है। फिर अरुचि कभी हो ही नहीं सकती। लोग कहते हैं कि भगवान्‌में मन नहीं लगता। संसारकी आसक्ति होनेसे ही भगवान्‌में मन नहीं लगता। जब मन भगवान्‌में लग जायेगा तो फिर वहाँसे कभी अलग नहीं होगा। जैसे मक्खी हरेक चीजपर बैठ जाती है पर अंगारपर नहीं बैठती। अगर अंगारपर बैठ जाय तो फिर वह उठेगी नहीं। फिर तो धुआँ ही उठेगा ! इसी तरह यह मन भगवान्‌में लग जाय तो फिर वहाँसे हटेगा नहीं; क्योंकि ऐसा विलक्षण आनन्द और कहीं है ही नहीं। इससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ है ही नहीं— ***'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'*** (गीता ६। २२)।

मीराबाईने कहा है—

अब छोड़ूँ तो छूटे नाहिं, भई छूँ नागर नट की।
हिरदे में वह बस गयी राणा, लटक मुकुट की।
अब तो लागी गोविन्दासे प्रीत राणा पहले क्यों नहिं अटकी॥

****

अब श्यामसुन्दरको छोड़ना मेरे वशकी बात नहीं है। छोड़ना चाहूँ तो भी छूटता नहीं। क्यों नहीं छूटता ? कारण कि यह परमात्माका अंश है। परमात्माका सुख मिलनेपर कैसे छूट सकता है ! वह तो असली अपना है पर यह संसार अपना नहीं है। मैं बहुत बार कहा करता हूँ कि भाई ! यह शरीर आपका नहीं है; और संसार आपका नहीं है क्योंकि ये सदा नहीं रहते पर आप सदा रहते हैं। आप थोड़ी कृपा करें कि इनको अपना मत मानें और अपने लिये मत मानें। यह जो शरीर और संसारकी सामग्री है, यह केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये मिली है, दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये मिली है। यह अपनी नहीं है और अपने लिये नहीं है। आप चेतन हैं, यह जड आपके लिये कैसे होगा ? आप नित्य रहनेवाले हैं, यह अनित्य आपके साथ कैसे रहेगा ? न इनके साथ आप रह सकते हैं और न ये आपके साथ रह सकते हैं। भगवान् आपसे अलग नहीं हो सकते और आप भगवान्से अलग नहीं हो सकते। आप भूलसे संसारके सम्मुख और भगवान्से विमुख हो जाते हैं पर फिर भी आप भगवान्से अलग नहीं हो सकते।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५।४३।१)

भगवान्के सम्मुख होनेपर सब पाप-ताप मिट जाते हैं। अब हम भगवान्के सम्मुख होने लगे हैं—इसकी पहचान यह है कि सत्सङ्गमें कुछ रस आने लगा है। अगर भगवान्में तल्लीन हो जायँ तो भगवान्का अलौकिक प्रेम होगा। इस प्रेमका स्वरूप हैं श्रीराधाजी ! श्रीराधाजी प्रेमका अवतार हैं।

एक ऐसी कथा सुनी है कि गोपिकाओंसे एक बार श्रीजी कहती हैं कि 'अरी सखियो ! तुम मुझे कन्हैयाके दर्शन करा दो, नन्दनन्दनके दर्शन करा दो।' गोपिकाएँ समझती हैं कि यह बनावटी बात कह

रही हैं; क्योंकि यह तो सदा ही श्यामसुन्दरको देखा करती हैं। गोपिकाओंने विचार किया कि अब जब कभी यह श्यामसुन्दरको देखती हुई मिलेंगी तो जाकर पकड़ लेंगी। एक दिनकी बात है कि श्रीजी जल भरने गयीं तो वहाँ श्यामसुन्दरकी तरफ दृष्टि जाते ही जल भरना भूल गयीं और ज्यों-की-त्यों खड़ी रह गयीं। गोपिकाओंने देखा कि आज श्रीजी और श्यामसुन्दर दोनों ही खड़े हैं तो आपसमें कहने लगीं कि आज श्रीजीको पकड़ो। वे श्रीजीके पास जाकर बोलीं कि 'आप तो कहती हैं कि मुझे श्यामसुन्दरके दर्शन करा दो तो आज क्या कर रही हो ? किसके दर्शन कर रही हो ?' श्रीजी आश्चर्यसे कहने लगीं कि 'सखी ! क्या तुम्हारेको श्यामसुन्दरके दर्शन हुए हैं ?' अब वे सब गोपिकाएँ हँसने लगीं कि 'तुमने भी तो श्यामसुन्दरको सामने खड़ा देखा था'। श्रीजी बोलीं कि 'मेरी दृष्टि तो उनके कुण्डलकी झलकपर ही लग गयी, इस कारण प्यारेके दर्शन कर ही नहीं सकी ! तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो, बड़ी श्रेष्ठ हो, जो तुम्हारेको श्यामसुन्दरके दर्शन हुए हैं'।

प्रेममें प्रेमास्पदके जिस अङ्गमें दृष्टि लग जाती है, वहाँ लग ही जाती है। श्रीजीकी दृष्टि भगवान्‌के कुण्डलमें लग गयी तो उसे वहाँसे हटाकर मुखकी तरफ ले जाना मुश्किल हो गया ! अब कौन देखे उधर ! कुण्डलकी आभामात्र देखकर वे वहीं मुग्ध हो गयीं। इस कारण श्रीजी कहती हैं कि 'श्यामसुन्दरके दर्शन नहीं हो रहे हैं, उनके दर्शन कराओ !' ऐसी जो भगवद्दर्शनकी उत्कट अभिलाषा है, उसका नाम है श्रीजी। राधाष्टमीके दिन वे हमलोगोंके सामने प्रकट हुई हैं, जिससे हम भी प्रेमका वह विलक्षण सुख ले सकें।

भगवान्‌की कैसी विलक्षण लीला है कि प्रेम-तत्त्वको समझानेके लिये वे स्वयं श्रीकृष्ण और श्रीजीके रूपसे प्रकट हुए। अगर भगवान् चाहते तो दो मित्ररूपसे, पुरुषरूपसे प्रकट हो जाते अथवा दो स्त्रीरूपसे प्रकट हो जाते पर इससे लोग प्रेम-तत्त्वको समझ नहीं

प्रवचन—१६

मनुष्य-शरीर विवेक-प्रधान है। विवेकका अर्थ होता है—सार और असारको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक जानना। उस विवेकको काममें लें। मनुष्य विवेकको काममें नहीं लेता, विवेकका विशेष आदर नहीं करता, इससे मनुष्य दुःख पाता है। अगर विवेकको ठीक-ठीक मानकर उसके अनुसार चले, तो वह निहाल हो जाय। इस विवेकको जाग्रत् करनेके लिये सत्-शास्त्र हैं, सत्पुरुष हैं, गुरु हैं, माता-पिता आदि हैं। इनके ऊपर जिम्मेवारी है और ये विवेकको जाग्रत् करते हैं। उस विवेकसे जाननेकी एक खास बात है, उसपर आप ध्यान दें।

साधारण दृष्टिसे रुपये बहुत बड़ी चीज दीखते हैं और हैं भी; क्योंकि रुपयोंसे सब चीजें आती हैं। हम बहुत-सी चीजें रुपयोंसे खरीद लेते हैं और उनसे हमारा काम चलता है। इस वास्ते जीवनके लिये रुपये बड़ी चीज दीखते हैं।

हम जो जी रहे हैं, यह जीना हमें बहुत अच्छा लगता है। दुःखी-से-दुःखी प्राणी भी जल्दी मरना नहीं चाहता। अतः जीनेके

लिये अन्न, जल, वस्त्र आदि वस्तुएँ उपयोगी हैं। हमारा जीवन-निर्वाह हो जाय, हमारे प्राण बने रहें— इसके लिये वस्तुओंकी आवश्यकता है। उन वस्तुओंके लिये ही रुपयोंकी आवश्यकता है। रुपयोंके लिये वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, वस्तुओंसे रुपये पैदा हो सकते हैं; परन्तु रुपयोंसे वस्तुएँ बहुत ऊँची हैं, जिनसे हमारा जीवन रहता है। वस्तुओंका उपार्जन होता है। रुपये तो अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंके लेन-देनमें काम आते हैं। अतः रुपयोंसे वस्तुएँ बहुत मूल्यवान् हैं।

वस्तुओंसे भी बहुत मूल्यवान् हैं— प्राणी, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष। ये बहुत कामके हैं। इनके पालनसे ही हमें जीवनोपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं। अतः जिनसे जीवन चले, वे जीनेवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं। उन प्राणियोंके लिये ही वस्तुएँ हैं। प्राणियोंमें भी मनुष्य श्रेष्ठ है; क्योंकि दूसरे जितने प्राणी हैं, वे अपने पुराने कर्मोंके फल भोगते हैं और फल भोगकर शुद्ध होते हैं। परन्तु मनुष्यमें दो बातें हैं— एक तो पुराने पापों और पुण्योंके फल भोगना और एक आगे अपने उद्धारके लिये काम करना। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका उपभोग करना और उनसे सुखी-दुःखी होना पशुओंमें भी है। सुख पानेका और दुःख मिटानेका उद्योग पशु भी अपनी बुद्धिके अनुसार करते हैं। परन्तु आगे (भविष्यमें) क्या होगा—इसका ठीक तरहसे विचार करनेमें पशु-पक्षी समर्थ नहीं हैं पर मनुष्य समर्थ है। मनुष्य विवेक-प्रधान है, इस वास्ते हमारा हित किस बातमें है और अहित किस बातमें है? हमारा उत्थान किस बातमें है और पतन किस बातमें है? सार क्या है और असार क्या है? नित्य क्या है और अनित्य क्या है? सत्य क्या है और असत्य क्या है?—इन सब बातोंको जाननेकी योग्यता मनुष्यमें है, पशु-पक्षियोंमें नहीं है। अतः मनुष्योंमें भी विवेक मूल्यवान् है। जो विवेकके अनुसार चलते हैं, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं। विवेक श्रेष्ठ है, इसलिये विवेकका आधार लेकर चलनेवाले भी श्रेष्ठ हैं। विवेक

किसलिये है? विवेक इसलिये है कि हितकारक काम करे और अहितकारक काम न करे, सारको ग्रहण करे और असारका त्याग करे, इससे वर्तमानमें और भविष्यमें भी सुख हो, दुःख न हो—ऐसा काम करे।

जब मनुष्य वस्तुओंका और रुपयोंका आदर ज्यादा करने लग जाते हैं, तब यह विवेक दब जाता है। भगवान्‌ने गीतामें तीन तरहकी बुद्धि बतायी है। जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विकी होती है (गीता १८। ३०)। जो बुद्धि धर्म और अधर्मको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक नहीं जानती, वह राजसी होती है (गीता १८। ३१)। जो बुद्धि अधर्मको धर्म मान लेती है और इस प्रकार सब चीजोंको उलटा ही मान लेती है, वह तामसी होती है (गीता १८। ३२)। सात्त्विकी बुद्धि थोड़े मनुष्योंमें ही होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे मनुष्योंमें सात्त्विकी बुद्धि होती ही नहीं। सात्त्विकी बुद्धिको ठीक-ठीक काममें लानेवाले मनुष्य थोड़े हैं। राजसी बुद्धिवाले मनुष्य बहुत हैं। तामसी बुद्धिवाले मनुष्य तो इस कलियुगमें और भी अधिक हैं, जिन्हें उलटा ही दीखता है। उलटा दीखना क्या हुआ? वस्तुओं और प्राणियोंसे भी बढ़कर रुपयोंको मान लिया। वे रुपयोंका ही संग्रह करते हैं। रुपयोंके लिये झूठ, कपट करना पड़े, चोरी करनी पड़े, डाका डालना पड़े, मारपीट करनी पड़े, हत्या करनी पड़े तो वह भी करनेके लिये तैयार हो जाते हैं। रुपये इकट्ठे करनेके लिये गायोंको भी मारने लगते हैं। यह बिलकुल तामसी बुद्धि है। रुपये कमाना और उनकी रक्षा करना तामसी नहीं है, किन्तु सत्-असत्‌का, नित्य-अनित्यका, हित-अहितका विचार छोड़कर झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि करके किसी तरहसे रुपये इकट्ठा करना महान् तामसी बुद्धि है। इससे क्या होगा? रुपयोंका आदर ज्यादा होगा। इससे आगे चलकर रुपये वस्तुओंके लिये नहीं रहते, अपितु संख्या बढ़ानेके लिये हो जाते हैं। हजार हो जाय तो लाख, लाख हो जाय तो करोड़, इस तरह अरबों-खरबों रुपये

बढ़ते ही जायँ। वे यह नहीं सोचते और न सोच ही सकते हैं कि इतने रुपये बढ़ाकर क्या करेंगे ? न अच्छे आचरणोंकी तरफ विचार है, न व्यक्तियोंकी तरफ विचार है, न वस्तुओंकी तरफ विचार है; बस केवल रुपये कमाना और इकट्ठे करना।

रुपयोंको खर्च करना और रुपयोंकी संख्या बढ़ाना—ये दो भाग हैं। इसमें खर्चका भाग ही अपने और दूसरोंके काम आता है। जो संग्रहका भाग है, वह अपनेमें तो अभिमान बढ़ाता है और दूसरोंमें दरिद्रता फैलाता है। संग्रहसे प्रमाद होते हैं, लड़ाई-दंगे होते हैं। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब-के-सब रुपयोंकी संख्या बढ़ानेकी दृष्टिसे आते हैं। मनुष्य रुपयोंसे बड़ा माना जाता है; परन्तु लोगोंके हृदयमें उसका आदर नहीं होता। हृदयमें सब उसका निरादर और तिरस्कार करते हैं। रुपयोंके कारण दबकर दूसरे मुँहसे कुछ न बोलें, यह बात अलग है पर हृदयमें भाव अच्छा नहीं होता।

विवेकसे भी ऊँचा है—सत्य-तत्त्व। जो सत्य (परमात्मतत्त्व) की प्राप्तिमें लग जाते हैं, वे सबसे ऊँचे हो जाते हैं। सत्यकी तरफ चलनेवालेका सब आदर करते हैं। साधारण लोग भी आदर करते हैं, धनी लोग भी आदर करते हैं, ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा भी आदर करते हैं। और तो क्या, सत्यकी तरफ चलनेवालेका भगवान् भी आदर करते हैं। अतः सत्य सबसे बड़ा हुआ। उस सत्यकी प्राप्तिके लिये ही विवेक है, विवेकके लिये ही मनुष्य है, मनुष्योंके लिये ही वस्तुएँ हैं और वस्तुओंके लिये ही रुपये हैं। रुपये अधिक बढ़नेसे फायदा नहीं है, वस्तुओंके अधिक बढ़नेसे फायदा है।

मनुष्य विवेकप्रधान है। उसके लिये यह विशेषरूपसे उचित है कि वह विवेकका आदर करे और विवेकसे श्रेष्ठ जो सत्य-तत्त्व है, उसकी प्राप्तिमें अपना समय लगाये, बुद्धि लगाये और उसीको प्राप्त करे; तो फिर मरनेके बाद भी दुःख नहीं होगा। रुपये, वस्तु, व्यक्ति

आदि सब यहीं रह जायँगे, साथ नहीं चलेंगे पर सत्य पीछे नहीं रहेगा, उसकी प्राप्ति हो जायगी और सदाके लिये शान्ति हो जायगी।

जो सत्य-तत्त्व है, उसीको परमात्मा कहते हैं। जो सर्वथा सत्य है, जिसका कभी विनाश नहीं होता, ऐसे अविनाशी तत्त्वको प्राप्त करना ही मनुष्यका खास ध्येय है, लक्ष्य है। उसको प्राप्त कर लिया तो मनुष्यजन्म सफल हो गया। अगर उसको प्राप्त नहीं किया तो मनुष्यजन्म सफल नहीं हुआ।

खाना-पीना आदि तो कुत्ते, सूअर और गधे भी करते हैं। इसकी कोई विशेष महिमा नहीं है। विशेष महिमा तो परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेमें ही है, जिसमें हमारा और दुनियाका बड़ा भारी हित है। गोस्वामी तुलसीदासजी-जैसे जो अच्छे-अच्छे महात्मा हो गये हैं, उन्होंने अपना भी कल्याण किया और दुनियाका भी कल्याण किया। उनकी वाणीसे आज भी दुनियाका कल्याण होता है। ऐसे उपकार कोई धनी-से-धनी व्यक्ति भी नहीं कर सकता। अतः सत्यकी प्राप्तिका ही उद्देश्य मुख्य रहना चाहिये। रुपये भी सत्य की तरफ लगें, वस्तुएँ भी सत्यकी तरफ लगें, मनुष्य भी सत्यकी तरफ लगें और विवेक भी सत्यकी तरफ लगे, तब तो उन्नति है। परन्तु परमात्माकी परवाह न करके नाशवान् पदार्थोंकी परवाह की जाय और पदार्थोंसे भी अधिक रुपयोंको पैदा करने और संग्रह करनेको महत्त्व दिया जाय, तब तो पतन-ही-पतन है।

——★——

****

शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ?

प्रवचन—१७

साधकोंके सम्मुख दो बातें विशेषरूपसे आती हैं— एक संसारकी और दूसरी परमात्माकी। संसार नाशवान् है और परमात्मा अविनाशी हैं। संसारके सम्बन्धसे दुःख-ही-दुःख होता है और परमात्माके सम्बन्धसे आनन्द-ही-आनन्द होता है, दुःखका लेश भी नहीं होता। संसारका आश्रय कभी टिकता ही नहीं है और परमात्माका आश्रय कभी मिटता

नहीं है। इन बातोंको हम संत-महापुरुषोंसे सुनते हैं, वेद पुराणादि शास्त्रोंमें पढ़ते हैं और स्वयं मानते भी हैं, परन्तु ऐसा मानते हुए भी हमारा दुःख दूर क्यों नहीं हो रहा है ? हमें परम आनन्दकी प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है ? हमें भगवान् क्यों नहीं मिल रहे हैं ?

अभी जैसे ***'हरिः शरणम्, हरिः शरणम्'*** कीर्तन हुआ तो भगवान्‌के चरणोंकी शरण लेना बहुत ही बढ़िया बात है, क्योंकि संसारका आश्रय टिकेगा नहीं, भगवान्‌का आश्रय ही टिकेगा। ये बातें सुनते हैं, समझते हैं, मानते हैं, फिर भी वह गुत्थी कहाँ उलझी हुई है जो सुलझती नहीं है। इस समस्यापर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना है।

इस विषयमें अनेक बातें कही जा सकती हैं; परन्तु एक बातपर हमें विशेष ध्यान देना है। वह यह है कि बातें सुनने, पढ़नेसे केवल बौद्धिक या बातूनी ज्ञान होता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें अपनी उत्कट अभिलाषा ही काम आती है, बौद्धिक या बातूनी ज्ञान कुछ भी काम नहीं आता। जिस दिन हमें संसारका सम्बन्ध सुहायेगा नहीं और हम परमात्माके बिना रह सकेंगे नहीं, उसी दिन हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी।

संसार असत्य है—ऐसा मानते हुए भी यदि हम सांसारिक सुख-भोगोंको भोगते रहेंगे तो उससे हमें कोई लाभ नहीं होगा। परमात्मा सत्य हैं, उनका नाम सत्य है— ऐसा कहनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। उलझन ज्यों-की-त्यों ही बनी रहेगी। इस उलझनको तभी मिटाया जा सकता है, जब हमारी वर्तमान समस्या यही बन जाय कि संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे हो ? परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो ?

यह ठीक है कि हम परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं; तत्त्वज्ञान चाहते हैं; मुक्ति चाहते हैं; भगवान्‌के दर्शन चाहते हैं, भगवत्प्रेम चाहते हैं; परन्तु हमारी इस चाहकी सिद्धिमें एक बहुत बड़ी बाधा हमारी यह मान्यता है कि 'भविष्यमें काफी समयके बाद—भगवत्प्रेम होगा; समय लगेगा; तब कहीं भगवान् दर्शन देंगे; समय पाकर ही तत्त्वज्ञान

होगा, परमात्माकी प्राप्तिमें तो समय लगेगा' इत्यादि। यह जो भविष्यकी आशा है कि फिर होगा, वही परमात्मप्राप्तिमें सबसे बड़ी बाधा है ! सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये तो भविष्यकी आशा करना उचित है; क्योंकि सांसारिक पदार्थ सदा सब जगह विद्यमान नहीं हैं, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु और व्यक्तिमें विद्यमान हैं, उनकी प्राप्तिमें भविष्यका क्या काम ? इस तथ्यकी ओर प्रायः साधकोंका ध्यान ही नहीं जाता। वे यही मान बैठते हैं कि 'इतना साधन करेंगे; इतना नाम जप करेंगे; ऐसी-ऐसी वृत्तियाँ बनेंगी; इतना अन्तःकरण शुद्ध होगा, इतना वैराग्य होगा; भगवान्‌में इतना प्रेम होगा; ऐसी अवस्था होगी, ऐसी योग्यता होगी —तब कहीं परमात्माकी प्राप्ति होगी ! इस प्रकारकी अनेक आड़ें (रुकावटें) साधकोंने स्वयं ही लगा रखी हैं यही महान् बाधा है।

जिस दिन साधकके भीतर यह उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है कि परमात्मा अभी ही प्राप्त होने चाहिये अभी अभी...... अभी ! उसी दिन उसे परमात्मप्राप्ति हो सकती है ! साधककी योग्यता, अभ्यास आदिके बलपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—यह सर्वथा असम्भव है। परमात्माकी प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे ही हो सकती है।

आप सगुण या निर्गुण, साकार या निराकार—किसी भी तत्त्वको मानते हों, उसके बिना आपसे रहा नहीं जाय उसके बिना चैन न पड़े। भक्तिमती मीराबाईने कहा है—

हेली म्हाँस्यूँ हरि बिन रह्यो न जाय॥

'हे सखी ! मुझसे हरिके बिना रहा नहीं जाता।'

निर्गुण-उपासकोंने भी यही कहा है—

दिन नहिं भूख रैन नहिं निद्रा,

छिन-छिन व्याकुल होत हिया, चितवन मोरी तुमसे लागी पिया।

तत्त्वकी प्राप्तिके बिना दिनमें भूख नहीं लगती और रातमें नींद

नहीं आती ! आप कैसे मिलें ! क्या करूँ ? हृदयमें क्षण-क्षण व्याकुलता बढ़ रही है। उसे छोड़कर और कुछ सुहाता नहीं।

सन्तोंने भी कहा है—

'नारायण' हरि लगन में ये पाँचों न सुहात।
विषय भोग, निद्रा हँसी, जगत प्रीति, बहु बात ॥

ये विषयभोगादि पाँचों चीजें जिस दिन सुहायेंगी नहीं, अपितु कड़वी अर्थात् बुरी लगेंगी, भगवान्‌का वियोग सहा नहीं जायेगा। उसी दिन प्रभु मिल जायेंगे। इतने प्यारे भगवान् ! इतने प्रियतम परमात्मा ! जिनके समान कोई प्यारा हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं, ऐसे अपने प्यारे प्रभुके वियोगमें हम दिन बिता रहे हैं ! उनके मिले बिना ही हम सुखसे रह रहे हैं !

भगवान् कहते हैं इतनेसे ही काम चलाओ औरकी जरूरत नहीं है, इसलिये चाह पूरी नहीं करते। परन्तु जो भगवान्‌के लिये दुःखी हो जायेगा उसका दुःख भगवान्‌से नहीं सहा जायेगा। उनके मिले बिना ही हम नींद लेते हैं, आराम करते हैं ! बड़ा काला दिन है। इस प्रकार यदि उस प्रभुके बिना क्षण-क्षणमें महान् दुःख होने लगे, प्राण छटपटाने लगें तो भगवान् उसी समय मिल जायेंगे। उनके मिलनेमें देरी नहीं है। भक्तका भगवत्प्राप्ति-विषयक दुःख वे सह नहीं सकते। वे कृपाके समुद्र हैं !

फिर भी संसार दुःखी है न ! संसार तो दुःखके लिये ही दुःखी हो रहा है। इसे दुःख चाहिये, इसे आफत और चाहिये, धन और चाहिये, बेटा-पोता और चाहिये ! भगवान्‌के लिये अगर दुःखी हो जाय तो वे तुरन्त आ जायेंगे। इसके लिये भीतर एकमात्र यही लगन पैदा हो जाय कि भगवान्‌के दर्शन कैसे हों ? भगवान् कैसे मिलें ? क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? ऐसी छटपटाहट तो लगे !

भगवान् प्राणिमात्रका आकर्षण कर रहे हैं—उन्हें खींच रहे हैं, इसीलिये उन्हें कृष्ण कहते हैं। प्राणी जिस अवस्था या परिस्थितिमें

रहता है, उसमें भगवान् उसे टिकने नहीं देते—यही उनका खींचना है ! यह भगवान्‌का बुलावा है कि मेरे पास आओ ! गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥(८ । १६)

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ति अर्थात् जिनको प्राप्त होकर पीछे संसारमें आना पड़े, ऐसे हैं, परन्तु हे कौन्तेय ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्तिके बिना मनुष्य कहीं भी टिकता नहीं है और बारंबार संसारमें ही घूमता रहता है। भगवान्‌को प्राप्त होनेपर ही मनुष्य टिकता है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५ । ६)

'जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर नहीं आता, वह मेरा परमधाम है।'

आप चाहे कितनी भी शक्ति लगा लें, न तो शरीर सदा रहेगा और न कुटुम्बी ही सदा रहेंगे। संसारकी कोई भी वस्तु आपके पास सदा नहीं रहेगी। कारण यही है कि भगवान् निरन्तर आपको खींच रहे हैं। यह उनकी हमपर महान् कृपा है ! अतएव यदि आप संसारसे विमुख हो जाओगे तो भगवान्‌की प्राप्ति हो जायेगी और आप सदाके लिये सुखी हो जाओगे। यदि संसारमें ही रचे-पचे रहे तो दुःखका अन्त कभी आयेगा ही नहीं और नित्य नया-से-नया, तरह-तरहका दुःख मिलता ही रहेगा।

यह बड़े दुःखकी बात है कि लोग भगवान् और सन्त-महात्माओंसे भी सांसारिक सुख माँगते हैं ! दान-पुण्यादि करके भी बदलेमें सांसारिक भोग चाहते हैं। परमात्मतत्त्वको बेचकर बदलेमें महान् दुःखोंके जालरूप संसारको खरीद लेते हैं। यह महान् कलंककी

बात है ! गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

(मानस ७।४३।१)

मूर्ख लोग अमृतको देकर बदलेमें जहर ले लेते हैं। परमात्मप्राप्तिके लिये मिले हुए इस मनुष्य-शरीरमें नाशवान् सांसारिक पदार्थोंकी माँगका रहना बड़ी लज्जाकी बात है। यदि आप कहें कि इस माँगके बिना हमसे रहा नहीं जाता तो आप आर्त होकर भगवान्से प्रार्थना करें कि हे प्रभो ! यह भोग-पदार्थोंकी माँग हमसे मिटती नहीं है, अतएव आप ही इसे मिटा दें। यदि आपकी यह प्रार्थना सच्ची होगी तो भगवान् अवश्य मिटा देंगे। परन्तु आप तो भोग-पदार्थोंमें और उसकी माँगमें रस लेते हैं, उनमें प्रसन्न होते हैं आपकी मिटानेकी इच्छा ही नहीं है फिर माँग मिटे कैसे ?

भगवान्के समान कोई भी नहीं है। अर्जुन भगवान्से कहते हैं।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

(गीता ११।४३)

'हे अनुपम प्रभाववाले प्रभो ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है।'

ऐसे सर्वोपरि भगवान्को प्राप्त करनेके लिये हमारे भीतर उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये। वे कितने मधुर हैं। जब वे हाथोंमें वंशी लेकर त्रिभंगीरूपमें खड़े होते हैं तो कितने प्यारे लगते हैं। उनमें कितना आकर्षण है ! कितनी प्रियता है ! साधक यदि थोड़ा भी उनका ध्यान करे तो विह्वल हो जाय। उसकी वृत्ति संसारकी तरफ जा ही न सके।

'नारायन' बिना मोल बिकी हों याकी नैक हसन में।
मोहन बसि गयो मेरे मन में।

वे प्रभु यदि थोड़ा-सा भी मुस्करा दें तो आपका सब कुछ समाप्त

हो जायेगा; शेष कुछ भी नहीं बचेगा। आपको कुछ नहीं करना पड़ेगा। प्रेम, ज्ञान, मुक्ति आदिका उसके सम्मुख कोई मूल्य नहीं। संतोंने कहा है—

चाहै तू योग करि भृकुटी-मध्य ध्यान धरि,
चाहै नाम रूप मिथ्या जानिकै निहारि लै।
निर्गुन, निर्भय, निराकार ज्योति व्याप रही,
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मन में तू धारि लै॥
'नारायन' अपने कौ आप ही बखान करि,
मोतें, वह भिन्न नहीं, या विधि पुकारि लै।
जौलौं तोहि नंद कौ कुमार नाहिं दृष्टि पर्‌यो,
तौलौं तू भलै ही बैठि ब्रह्म को विचारि लै॥

उस नन्दकुमारमें इतना आकर्षण है कि एक बार उसके दृष्टिगोचर होनेपर फिर ब्रह्म-विचार करनेकी शक्ति ही नहीं रहती। ऐसे प्रभुके रहते हुए हम नाशवान् एवं दुःख देनेवाले सांसारिक पदार्थोंमें फँसे हुए हैं और फँस ही नहीं रहे हैं उनकी माँग कर रहे हैं। मान-बड़ाई, आराम, निरोगता, सुख-सुविधा, धन-सम्पत्ति आदि अनेक प्रकारके भोग्य पदार्थोंको चाहते हैं— यह बड़ी भारी बाधा है।

यदि भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न भी हो तो भी आप घबरायें नहीं। भगवान् कहते हैं— *'व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह'* (गीता २।४१) 'निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है'। अतएव आप यही दृढ़ निश्चय कर लें कि हम तो एक भगवान्‌की तरफ ही चलेंगे। यदि केवल भगवान्‌की तरफ चलनेकी इस अभिलाषाको ही विचार-पूर्वक जाग्रत् रखा जाय तो यह अभिलाषा अपने-आप उत्कट हो जायगी। इसका कारण यह है कि प्रभुकी अभिलाषा सही है और संसारकी अभिलाषा गलत है। हम भी (स्वरूपतः) अविनाशी हैं। परमात्मा भी अविनाशी है और परमात्मप्राप्तिकी अभिलाषा भी

****

अविनाशी है। परन्तु संसार और संसारकी अभिलाषा—दोनों ही नाशवान् हैं। परमात्मविषयक अभिलाषा यदि थोड़ी-सी भी जाग्रत् हो जाय तो वह बड़ा भारी काम करती है।

अपने-अपने इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करते हुए आप इसी समय हे नाथ ! हे नाथ ! ऐसे पुकारते हुए शान्त...... चुपचाप...... उनके चरणोंमें गिर जायँ। ऐसा मान लें कि हम उनके चरणोंमे ही पड़े हैं और सदा उनके चरणोंमें ही पड़े रहना है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि करनेके आधारपर भगवान्‌को खरीदा नहीं जा सकता। उनकी प्राप्तिमें अपनेको कभी अयोग्य न माने। जो सर्वथा अयोग्य या अनधिकारी होता है वही भगवच्चरणोंकी शरण होनेका अधिकारी होता है। जिसको संसारमें कोई पद या अधिकार नहीं मिलता, वह परमात्मप्राप्तिका अधिकारी होता है। भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना बहुत बड़ा भजन है। इसलिये ऐसा मानते हुए उनके चरणोंमें गिर जायँ कि यह हाड़-मांसका अपवित्र शरीर तथा मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ हमारे नहीं हैं और हम उनके नहीं हैं। हमारे केवल प्रभु हैं और हम केवल प्रभुके हैं।

पूरी गीता कहनेके बाद भगवान्‌ने सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अतिगोपनीय बात यह कही—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मों (कर्तव्यकर्मोंके आश्रय) को त्यागकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

इसलिये दूसरे सब आश्रय त्यागकर एक प्रभुका ही आश्रय ले लें, क्योंकि यही टिकेगा, दूसरे आश्रय तो कभी टिक ही नहीं सकते।

अंतहि तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजै अब ही ते।
मन पछितैहैं अवसर बीते॥

राम......राम.......राम

——★——

॥ श्रीहरिः ॥

406

भगवत्प्राप्ति सहज है

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज अत्यन्त सरल बोल-चालकी भाषा-शैलीमें प्रवचन दिया करते हैं। उनमेंसे कुछ प्रवचन लिपिबद्ध करके पुस्तकरूपमें प्रकाशित किये जा रहे हैं। भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखनेवाले साधकोंसे नम्र निवेदन है कि भगवत्-तत्त्वको भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये प्रस्तुत पुस्तकका गहराईसे अध्ययन करें। इससे उन्हें अपने साधन-पथमें अद्‌भुत लाभ हुए बिना नहीं रह सकता।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

मुक्ति सहज है

१६-४-८३ भीनासर धोरा

बीकानेर

देखो, वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—ये तीन चीजें दीखनेमें आती हैं। इनमें वस्तु और क्रिया—ये दोनों प्रकृति हैं और व्यक्तिरूपमें जो दीखता है, यह शरीर भी प्रकृति ही है; परन्तु इसके भीतरमें जो न बदलनेवाला है, यह परमात्माका अंश है। अब अगर 'यह' वस्तु, क्रिया और व्यक्तिमें नहीं उलझे, तो यह स्वाभाविक ही मुक्त है; क्योंकि 'यह' परमात्माका साक्षात् अंश है। इसके लिये कहा है—***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***—यह चेतन है, शुद्ध है, मलरहित है और सहज सुखराशि है, महान् आनन्दराशि है। यह महान् आनन्दराशि अपने स्वरूपकी तरफ ध्यान न दे करके संसारके सम्बन्धसे सुख चाहने लग गया। इससे यही भूल हुई है। यह संयोगजन्य सुखमें फँस गया। जैसे, धन मिले तो सुख हो, भोजन मिले तो सुख हो, भोग मिले तो सुख हो, कपड़ा, वस्तु, आदर, मान-सत्कार मिले तो सुख हो। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि स्वयं नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। ***'सहज सुख रासी'*** स्वाभाविक ही सुखराशि है; परन्तु इसमें यह वहम पड़ गया है कि संसारके पदार्थ मिलनेसे सुख होगा। यह बिछुड़ेगा जरूर ही **'संयोगा विप्रयोगान्ताः'** जितने संयोग होते हैं उनका अन्तमें वियोग होता है तो सम्बन्धसे होनेवाला सुख रहेगा कैसे ? मनुष्य यह विचार नहीं करता है कि आज दिनतक संयोगसे जितने सुख लिये थे वे आज

नहीं रहे। संयोगसे होनेवाले सुखका नमूना तो देख ही लिया; लेकिन अब भी चेत नहीं करते फिर और चाहते हैं कि संयोगसे सुख ले लें।

जबतक बाहरके संयोगसे संसारके सम्बन्धसे सुख लेगा, तबतक इसको वास्तविक सुख नहीं मिलेगा **'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'** बाह्य सुख (संयोगजन्य सुख) में आसक्त नहीं होगा तो **'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'** उस विलक्षण सुखको आप-से-आप प्राप्त हो जायगा। संसारके सम्बन्धसे सुख लेनेसे इसका वास्तविक सुख गुम हो गया। वह सुख मिटा नहीं है; परन्तु यह उस सुखसे वियुक्त हो गया। जिनको वह सुख मिल गया वे आनन्दित हो गये। उनके कभी सांसारिक सुखकी इच्छा ही नहीं रहती। क्योंकि उनको जो वास्तविक सुख मिला, आनन्द मिला उसके समान कोई दूसरा सुख है नहीं। यह स्वयं सुखराशि होकर संयोगजन्य सुख चाहता है, सांसारिक सुखमें राजी होता है—यह बड़े भारी आश्चर्यकी बात है। मिलनेवाले व बिछुड़नेवाले सुखमें राजी होता है। आप 'स्वयम्' रहनेवाले हैं और यह सुख आने-जानेवाला है तो इस सुखसे कैसे काम चलेगा ?

आप रहनेवाले और आपके भीतर परमात्मा रहनेवाले हैं। रहनेवाले परमात्माके साथ रह जाओ तो सदाके लिये सुख मिल जाय। वह सुख कभी मिटेगा नहीं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाले शरीरके साथ तथा संयोग और वियोग होनेवाले पदार्थोंसे सुख लेगा तो वह सुख कितना दिन रहेगा ? संतोंने कहा कि ***'ऐसी मूढ़ता या मनकी'*** ऐसी मूढ़ता है इस मनकी। ***'परिहरि राम-भगति सुर-सरिता'*** भगवान्‌की भक्ति गंगाजी है उसको छोड़ करके ***'आस करत ओस कनकी'*** रात्रिमें ओस पड़ती है, घासकी पत्तीपर जलकी बूँदें चमकती हैं उस ओस-कणसे तृप्ति करना चाहता है। तात्पर्य हुआ भगवान्‌की

भक्तिरूपी गंगाजी बह रही है उसको छोड़ करके ओस-कणके समान—धनसे सुख मिल जाय, स्त्रीसे सुख मिल जाय, पुत्रसे सुख मिल जाय, मानसे सुख मिल जाय, बड़ाईसे सुख मिल जाय, नीरोगतासे सुख मिल जाय आदि संयोगोंसे सुखको चाहता है। इन पदार्थोंमें सुख ढूँढ़ता है, इनके पीछे भटकता है—ये तो ओसकी बूँदें हैं भाई ! तरह-तरहकी चमकती हैं। थोड़ा-सा सूर्य चढ़ा कि खत्म हो जायँगी, सूख जायँगी तो इनसे तृप्ति कैसे हो जायगी ? ओसके कणोंसे प्यास कैसे बुझेगी ? ***'ऐसी मूढ़ता या मनकी'*** तो भाई ! सच्चा सुख चाहते हो तो उन परमात्माकी तरफ चलो, उनके साथ सम्बन्ध मानो।

जैसे कोयला काला होता है तो वह काला कब हुआ ? अग्निसे अलग हुआ तब काला हुआ। अग्निमें रहते हुए तो वह चमकता था परन्तु अलग हुआ तो काला हो गया। अब इसे कोई धोवे, साफ करे तो इसका कालापन साफ नहीं होता। इसके लिये आता है— ***'कोयला हो नहीं उजला सौ मन साबुन लगाय।'*** सौ मन साबुन लगानेपर भी उजला नहीं होता तो कैसे हो ! कि यह जिसका अंश है, जिससे यह अलग हुआ है, उसी आगमें रख दिया जाय तो चमक उठेगा। पर आगका अंगार लेकर लाईन खींची जाय तो वह भी काली खींची जायगी। क्योंकि वह भी आगसे अलग हो गया। ऐसे यह जीव परमात्मासे अलग हुआ तब काला हुआ। अब उस कालेपनको धोनेके लिये साबुन लगाता है कि धन हो जाय, मान हो जाय, बड़ाई हो जाय, आदर हो जाय तो हम सुखी हो जायेंगे। इससे सुख नहीं होगा तो किससे सुख होगा ? यह अपने अंशी परमात्माको अपना मान लेगा तो सुखी हो जायगा, चमक उठेगा।

आप थोड़ा-सा विचार करो तो पता चले कि लाखों-अरबों

मनुष्योंमेंसे दो-चार मनुष्य भी सुखी हो गये क्या ? धनसे, मानसे, बड़ाईसे, बड़े-बड़े मिनिस्टरी जिनके पास हैं, वे सुखी हो गये हैं क्या ? बड़े-बड़े धनियोंसे, बड़े-बड़े विद्वानोंसे आप एकान्तमें मिलो कि आप सुखी हो गये हैं क्या ? आपको कोई दुःख तो नहीं है। जो सच्चे हृदयसे परमात्मामें लगे हैं उनको भी पूछो। तब आपको वास्तविकताका पता लग जायगा। जो 'बाह्यस्पर्श' हैं वे तो दुःखोंके कारण हैं। असली सुखकी प्राप्तिके लिये क्या करें ? भगवान्‌को पुकारो 'हे नाथ ! हे नाथ ! हम तो भूल गये महाराज !' भगवान्‌को याद दिला दो तो भगवान् कृपा कर देंगे फिर मौज हो जायगी।

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥' (गीता ५।२९)

प्राणिमात्रके सुहृद् परमात्माके रहते हुए हम दुःख पावें बड़े आश्चर्यकी बात है। महान् आनन्दस्वरूप वे परमात्मा हमारे खुदके हैं कैसी मौजकी बात है। पर यह अपने परमात्माको छोड़कर परायोंसे प्रेम करता है। बच्चे आपसमें खेलते हुए जब कोई किसीको मार-पीट करता है, तब दौड़ करके माँके पास आता है तो माँकी गोदमें ही रहो ना ! मौजसे, आनन्दसे ! क्यों बाहर जावे ? ऐसे ही यह जीव भगवान्‌से विमुख होकर दुःख पाता है। इस वास्ते नाशवान्‌से विमुख हो जाय, क्योंकि भाई ! यह तो ठहरनेवाला है नहीं। सन्तोंने कहा है—

चाख चाख सब छाड़िया माया रस खारा हो।
नाम सुधा रस पीजिये छिन बारम्बारा हो॥

हमने तो यह सब चख लिया; पर मायाका रस खारा है। मीठा तो भगवान्‌का नाम है। नाम लेकर पुकारो। हृदयसे पुकारो, 'हे नाथ ! हे नाथ ! हे प्रभो !' ऐसे प्रभुको पुकारो तो निहाल हो जाओगे। ***'शरणे आय बहुत सुख पायो'*** इस प्रकार सन्तोंने कहा है।

****

प्रभुके चरणोंके शरण होनेमें बड़ा सुख है। असली सुख है। असली सुखसे वञ्चित क्यों रहते हो? सबके लिये खुला पड़ा है यह नामका खजाना। कैसा ही मनुष्य क्यों न हो? **'अपि चेत्सुदुराचारः'** पापी-से-पापी भी, दुष्ट-से-दुष्ट भी भगवान्‌के सन्मुख हो जाय।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँ, क्योंकि पाप सब आगन्तुक हैं और तुम परमात्माके हो। इस वास्ते परमात्माके हो जाओ। संसारकी सब चीजें मिट रही हैं अब उनको पकड़कर सुखी रहना चाहते हैं। तुम खुद रहनेवाले और यह सदा मिटनेवाला तो मिटनेवालेसे कबतक काम चलाओगे? सोचते नहीं, विचार नहीं करते कि ऐसा सुख ले-लेकर कबतक काम चलाओगे भाई! घरमें धान्य होता है तब तो रोजाना रोटी बनाओ मौजसे; परन्तु दूसरोंसे ले करके थोड़ा किसीसे लिया, थोड़ा किसीसे लिया, ऐसे काम कबतक चलेगा?

सुख लेते समय यह तो सोचो कि लेकर करोगे क्या? जिस शरीरके सुखके लिये तुम लेते हो वह शरीर तो प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है बेचारा! इसके लिये सुख पाना चाहते हो। बड़े आश्चर्यकी बात है! वहम यह हो रहा है कि हम जी रहे हैं। सची बात है कि हम मर रहे हैं, पर ऐसा कह दें किसीको तो नाराज हो जाय कि हमें मरनेकी बात कह दी। अरे भाई! असली बात है कि हम हरदम मर रहे हैं। कल इस समय जितनी उम्र थी अब उतनी नहीं है। २४ घंटे उम्र कम हो गयी। मृत्युका दिन २४ घंटे नजदीक आ गया और यूँ आते-आते चट आ जायगा वह दिन। वह दिन पता नहीं है कब आ जाय।

****

'मारहिं काल अचान चपेटकी होय घड़ीकमें राखकी ढेरी।' वह दिन अचानक आ जायगा। कहाँ बैठे हो ? आप और हम मृत्युलोकमें बैठे हैं। यहाँ सब मरनेवाले, मरनेवाले ही रहते हैं। मरनेवालोंकी जमात है। कोई रहनेवाला दीखता है क्या आपको ? फिर आप अकेले कैसे रह जाओगे भाई ! सन्तोंने कहा है—

कोई आज गया कोई काल गया कोई जावनहार तैयार खड़ा।
नहीं कायम कोई मुकाम यहाँ चिरकालसे ये ही रिवाज रही॥

यहाँकी रिवाज यही रही है। अब रिवाज कैसे मिटा दोगे ? अनादिकालसे ऐसी रीति चली आ रही है।

इस वास्ते सन्तोंने कहा—

घर घर लाग्यो लायणो घर घर दाह पुकार।
जन हरिया घर आपणों राखे सो हुशियार॥

क्या कृपा की है सन्तोंने ! आग लग जाती है न, घरोंमें ! उसे मारवाड़ी भाषामें 'लायणो लाग्यो' कहते हैं। आग लग गयी। घर-घर आग लगी हुई है। ये शरीर हैं, ये सब मौतरूपी 'आग' में जल रहे हैं। जैसे लकड़ी आगमें जलती है। ज्यों जलती है त्यों ही कम होती जाती है। ऐसे ही ये शरीर कालरूपी आगमें जल रहे हैं, उमर कम हो रही है। परन्तु दीखते हैं साबत। लकड़ी भी दीखती है साबत, पर जल रही है, कम हो रही है। ऐसे ही ये शरीर कालरूपी आगमें जल रहे हैं, भस्म हो रहे हैं तो ***'घर घर लाग्यो लायणो घर घर दाह पुकार'*** दाह हो रही है, पुकार हो रही है। ***'जन हरिया घर आपणों राखे सो हुशियार'*** कैसे रखे ? कि भगवान्‌के सन्मुख हो जाय, प्रभुको पुकारें फिर मौज हो जाय, आनन्द हो जाय।

जिन सन्तोंके जीनेसे बहुत लोगोंका उद्धार हो जाय, जिनका

****

नाम लेकर लोग सुखी हो जायँ, याद करके खुशी हो जायँ। ऐसे जितने सन्त हुए हैं उनकी वाणी याद करो। उसके अनुसार जीवन बनाओ तो निहाल हो जाओगे, कारण कि उन्होंने रास्ता सुलटा ले लिया। इस वास्ते वे ठेट पहुँच गये। आज दौड़ते तो सभी हैं, पर अन्धे होकर चलते हैं। नाशवान्‌की तरफ चलते हैं। अरे! अविनाशीकी तरफ चलो भाई! नाशवान्‌की तरफ चलनेसे अविनाशी तत्त्व कैसे मिलेगा? उत्पन्न-नष्ट होनेवाले पदार्थोंके पीछे पड़े हैं। इनसे निर्वाहमात्र कर लें। लेकिन भीतरसे यह ध्यान नहीं होना चाहिये कि पदार्थ ले लें, भोग ले लें, सुख ले लें। कुछ नहीं मिलेगा। उमर खत्म हो जायगी। समय बरबाद हो जायगा, पीछे पछताना होगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

भाई! संसारकी तरफ न जा करके भगवान्‌की तरफ चलो। आजतक बहुत उमर चली गयी, बहुत समय चला गया, अब भी जा रहा है। प्रभुको पुकारो, 'हे नाथ! हे नाथ!! हे नाथ!!!' भगवान्‌के नामका जप करो रात-दिन। संसारमें उपकार करो, सेवा करो। तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे जो शक्ति, सामर्थ्य एवं योग्यता है। ये संसारकी चीज संसारको दे दो। यही मुक्ति है। आनन्द हो गया, मौज हो गयी। शरीर मात्र संसारका और ये स्वयं मात्र परमात्माका। शरीर संसारको सौंप दें और अपने-आपको, स्वयंको परमात्माको सौंप दें तो सब ठीक हो जायगा। मुक्ति सहज ही हो जायगी।

नारायण! नारायण!! नारायण!!!

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान्‌से सम्बन्ध

११-१०-८१ गीताप्रेस, गोरखपुर

कामना करें तो भगवान्‌की करें। क्रोध करें तो भगवान्‌से करें। **'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।'** अगर भगवान् हमारेपर क्रोध भी करेंगे तो वह हमारे लिये **'वरेण तुल्यः'** वरके तुल्य होगा। नारदभक्तिसूत्रमें आया है—**'कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्'** (६५) मानो हमारे लिये कुछ भी करनेका विषय परमात्मा बन जाय। कामना करें, चाहे क्रोध करें, चाहे लोभ करें, कुछ भी करें तो भगवान्‌में ही करें। करनेसे क्या होगा— **'तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।'** किसी प्रकारसे भगवान्‌में मन लगा दें तो हमारा कल्याण ही है। जैसे बिना इच्छाके भी अग्निके साथ सम्बन्ध करेंगे, स्पर्श करेंगे, भूलसे पैर टिक जाय, हमें पता ही नहीं कि यहाँ अंगार है, तो भी वह तो जलायेगी ही—**'अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।'** ऐसे ही भगवान्‌का नाम किसी तरहसे लिया जाय, भगवान्‌के साथ किसी तरहसे सम्बन्ध किया जाय वैरसे भी, प्रेमसे भी, भयसे भी, द्वेषसे भी सम्बन्ध किया जाय, तो वह सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है—**'अशेषाघहरं विदुः'** यह बात भगवान्‌के नामके विषयमें बतायी, स्वरूपके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध करनेसे सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जुड़ जाता है। जैसे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे हमारा जन्म-मरण होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु।**' '**अस्य गुणसङ्गः सत् असत् योनिषु जन्मनः कारणम्।**' तो हमारे जन्म-मरणका कारण क्या होता है ? '**गुण-सङ्गः**' गुणोंका संग। ऐसे ही निर्गुणमें संग हो जायगा तो वह जन्म-मरणमें कारण कैसे होगा ? यही तो परीक्षित्‌ने प्रश्न किया है, वहाँ रास-पञ्चाध्यायीमें कि 'भगवन्! गोपियाँ तो भगवान् कृष्णको सुन्दर पुरुषके रूपमें ही जानती थीं, ब्रह्मरूपसे नहीं, तो गुणोंमें दृष्टि रखनेवाली गोपियोंका गुणोंका संग कैसे दूर हुआ ?' उसका शुकदेव मुनिने उत्तर क्या दिया ? वहाँ कहा है कि 'भगवान्‌से द्वेष करनेवाला चैद्य भी परमात्माको प्राप्त हो गया'—'**चैद्यः सिद्धिं यथा गतः**' तो '**किमुताधोक्षजप्रियाः**' जो भगवान्‌की प्यारी हैं, उनका कल्याण हो जाय, उसमें क्या कहना ! किसी तरहसे ही भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाय, किसी रीतिसे हो जाय। वैरसे, प्रेमसे, सम्बन्धसे, भक्तिसे, द्वेषसे, भयसे। '**भयात् कंसः, द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः, वृष्णयः सम्बन्धात्, भक्त्या वयम्**'। नारदजीने कहा है—'किसी तरहसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाय तो वह कल्याण करेगा ही। यह बात है। इस बातको भगवान् जानते हैं और भगवान्‌के प्यारे भक्त जानते हैं। तीसरा आदमी इस तत्त्वको नहीं जानता है।'

लोग शंका करते हैं कि भगवान्‌को अवतार लेनेकी क्या जरूरत है ? क्या वे साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना संकल्पमात्रसे नहीं कर सकते ? कर नहीं सकते, यह बात नहीं। वे तो करते ही रहते हैं फिर अवतार लेनेमें क्या कारण है ?

****

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(गीता ४ । ८)

दुष्टोंका विनाश, भक्तोंका परित्राण (रक्षा) और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना, इसके लिये भगवान् अवतार लेते हैं। दुष्टोंका विनाश करना, भक्तोंकी रक्षा करना। इसका अर्थ यह नहीं कि दुष्टोंको मार देना और भक्तोंको न मरने देना, पर भक्त भी तो मर जाते हैं। तो रक्षाका अर्थ उनके शरीरोंको 'है ज्यों कायम रखना'—यह नहीं है। इसका अर्थ है 'उनके भावोंकी रक्षा।' भक्तकी दृष्टिमें शरीरका कोई मूल्य नहीं है। वहाँ मूल्य है 'भगवद्भक्ति' का। भगवान्की तरफ चलनेवाले मनसुख आदिने फाँसी स्वीकार कर ली हँसते-हँसते। शरीरकी वहाँ कोई इज्जत नहीं है। इसको तो **'एकान्तविध्वंसिषु'** कहा है। यह नष्ट होनेवाला ही है, यह तो नष्ट होनेवाली चीज है—**'पिण्डेषु नास्था भवन्ति तेषु।'** भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं। उस लीलाको गा-गाकर भक्त मस्त होते रहते हैं। यह बिना अवतारके नहीं हो सकता। भगवान्की चर्चा चलती है, कथा चलती है, लीला चलती है। यह सब अवतार होनेसे ही हो सकता है। तो लोग गा-गाकर संसारसे तरते जाते हैं और तरते ही रहते हैं। भगवान् इस तत्त्वको जानते हैं। इस वास्ते अवतार लेकर लीला करते हैं और संत-महात्मा भी इस वास्ते भगवच्चर्चा करते हैं।

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

जो आपकी कथामृतको कहते हैं, सुनते हैं, विचार करते हैं, वे **'भूरिदाः'** बहुत देनेवाले हैं तो वे देनेवाले भी हैं और लेनेवाले भी हैं। मानो सुननेवालोंको देते हैं और सुनकर लेते हैं। सुनने-

****

वालोंको लाभ होता है तो कहनेवालोंको नहीं होता है क्या ? होता ही है। इस वास्ते भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं, तो भक्तोंकी रक्षा क्या है ?

भक्तोंका धन हैं भगवान्। उन भगवान्‌की लीला कहते, सुनते, विचार करते रहें— यही वास्तवमें भक्तोंकी रक्षा है और, इस वास्ते ही हनुमान्‌जीको ***'प्रभु चरित सुनिबेको रसिया'*** कहा है। भगवान्‌का चरित्र सुननेके लिये वे रसिया हैं रसिया। वाल्मीकिरामायणमें आता है कि जब भगवान् दिव्य साकेतलोक जाने लगे तो हनुमान्‌जीने कहा मैं साथ नहीं चलूँगा। जबतक आपकी कथा भूमण्डलपर रहेगी, मैं भूमण्डलपर रहूँगा। जहाँ-जहाँ आपकी कथा होगी, वहाँ-वहाँ सुनूँगा। भगवान्‌को छोड़कर कथाका लोभ लगा उनको। भगवान्‌को देखनेसे गरुड़जीको मोह हो गया। भगवान्‌को देखनेसे काकभुशुण्डिजीको मोह हो गया, भगवान्‌को देखनेसे नारदजीको मोह हो गया। भगवान्‌को देखनेसे सतीको मोह हो गया और वह रामायण सुननेसे मिट गया। भगवान्‌को देखनेसे गरुड़जीको मोह हो गया और चरित्र सुननेसे मोह दूर हो गया। यह तो जानते ही हैं आप ! तो भगवान्‌से बढ़कर भगवान्‌के चरित्र हैं। यही भक्तोंकी रक्षा है कि इस चर्चाको करते रहें। अपने भाई लोग जो कि पारमार्थिक मार्गमें चलना चाहते हैं, उनका विचार रहता है कि अच्छे महात्माओंका संग करें। ऊँचे दर्जेके संत-पुरुष हों तो उनका हम संग करें। यह भाव रहता है और यह ठीक ही है, उचित ही है ! परन्तु इसी अटकलको महात्मा पुरुष लगा लें अपने लिये तो वे अपनेसे ऊँचोंका संग करेंगे। वे उनसे ऊँचोंका, भगवान्‌का ही संग करेंगे। फिर हमारे साथ माथा-पची कौन करेगा !

****

भगवान् अवतार लेते हैं। अवतार नाम है 'उतरना'। अवतार तो नीचे उतरनेको कहते हैं। तो भगवान् नीचे उतरते हैं, हम जहाँ हैं वहाँ। जैसे बालकको आप पढ़ाओगे तो आप भी 'क' 'क' कहोगे और हाथसे 'क' लिखोगे तो यह क्या हुआ? आपका बालककी अवस्थामें अवतार हुआ। उस अवस्थामें न उतरें तो आप बालकको कैसे सिखायेंगे? कैसे समझायेंगे? अब उसको व्याकरणकी बात समझाने लगें तो बच्चा क्या समझेगा? वहाँ तो 'क' कहते रहो। हाथसे लिखाते रहो कि ऐसा 'क' होता है तो उसके समकक्ष होकर सिखाते हैं। ऐसे भगवान् अवतार लेकर कहते हैं—कैसे करो? कि हम करते हैं जैसे करो। **'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्'** ऐसे करना चाहिये, ऐसे नहीं करना चाहिये। जैसे मैं अवतार लेकर लीला करता हूँ। ऐसे तुम करो और न करो तो सुनो बैठे-बैठे; क्योंकि **'श्रवणमङ्गलम्'** भगवान्‌की कथा श्रवणमात्रसे भी मङ्गल देनेवाली है।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

जिनकी तृष्णा दूर हो गयी है, ऐसे जो निवृत्ततर्ष हैं, उनकी कोई इच्छा नहीं, कोई कामना नहीं किंचिन्मात्र भी। वे तो रात-दिन गाते ही रहते हैं, करते ही रहते हैं। सनकादिक निर्लिप्त ही प्रकट हुए और चारों ही समान अवस्थावाले हैं, छोटी अवस्था—पाँच वर्षकी आयुवाले हैं। तीन श्रोता हो जाते हैं, एक वक्ता हो जाते हैं और भगवान्‌की कथा करते हैं। अब उनके क्या जानना बाकी रह गया? ***'चरित सुनहिं तजि ध्यान'***, ध्यानको छोड़ करके भगवान्‌के चरित्र सुनते हैं। ऐसे क्यों करते हैं? कि भाई! **'इत्थं भूतगुणो हरिः'** भगवान् हैं ही ऐसे। भगवान् इतने

विलक्षण हैं कि **'आत्मारामगणाकर्षी'** नाम है भगवान्‌का। जो 'आत्मारामगण' हैं, जो परमात्मस्वरूपमें ही नित्य रमण करते हैं, वे भी आकृष्ट हो जाते हैं भगवान्‌के गुणोंमें, भगवान्‌की लीलामें। भगवान्‌के गुण सत्त्व, रज, तम नहीं हैं। **'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था:'** दोनों अर्थ हुए—एक तो चिज्जडग्रन्थी-भेदन हो गयी और **'निर्ग्रन्था-शास्त्रमस्मान्निवर्तन्ते'** जिससे ग्रन्थ भी निवृत्त हो जाते हैं फल दे करके। ग्रन्थ अब क्या देगा? ग्रन्थ तो मुक्ति देगा। वे मुक्त हो गये। निर्ग्रन्था हैं तो भी **'उरुक्रमे कुर्वन्ति अहैतुकीं भक्तिम्'**, बिना स्वार्थके, बिना मतलबके भक्ति करते हैं। क्यों करते हैं बिना मतलब? **'इत्थं भूतगुणो हरि:'** भगवान् ऐसे ही हैं। अब करें क्या? उस तरफ वे आकृष्ट हो जाते हैं। तो वे ऐसे गुण हैं, ऐसी उनकी लीला। जिनको 'निवृत्ततर्ष' कहते हैं वे भी गाते रहते हैं, वे भी लीला करते रहते हैं।

'हरिश्शरणमित्येव येषां मुखे नित्यं वच:' उनका वचन ही यह है **'हरि: शरणम्'** शरण, आश्रय हमारा भगवान्‌का। तो वे क्या आश्रय लेंगे? अब क्या लेना है उनको? क्या मुक्ति करनी है? क्या प्राप्त करना है? ऐसा न होते हुए भी भगवान्‌में लगे रहते हैं। तो ऐसे सन्त-महापुरुष वे भगवान्‌की कथा सुनते हैं और सुनाते हैं। आपसमें कहते हैं तो उनके संगसे मात्र प्राणियोंका उद्धार होता है। जहाँ सत्संग-कथा होती है, वहाँ सब तीर्थ आ जाते हैं। जितने ऋषि-मुनि हैं, वे सभी आ जाते हैं। गीताका पठन-पाठन होता है, वहाँ नारद, उद्धव आदि सब आ जाते हैं। तो उनके आनेसे वहाँका स्थल कितना पवित्र हो जाता है!

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायना: कथा:।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि •श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

श्रेष्ठ पुरुषोंके संगसे भगवान्‌के प्रभावको वर्णन करनेवाली, भगवान्‌के प्रभावका ज्ञान करानेवाली, भगवान्‌के प्रभावको स्पष्ट बतानेवाली '**हृत्कर्णरसायनाः कथाः**' हृदय और कानोंको रस देनेवाली कथा मिलती है। मानो कानोंमें ही श्रवणपुटसे पीते हैं, और हृदयमें प्रफुल्लित होते हैं, मस्त होते हैं। ऐसी आनन्द देनेवाली कथा होती है जहाँ, वहाँ श्रेष्ठ पुरुषोंके संगमें व्यापार ही वही है। उनके कथा-कीर्तन ही विषय हैं, उनका काम ही यह है। तो ऐसे वे कथा करते रहते हैं। '**सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः, 'भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः। तज्जोषणात्**' उनके सेवन करनेसे '**आशु अपवर्गवर्त्मनि**' परमात्माकी प्राप्तिका जो अपवर्ग रास्ता है, उसमें श्रद्धा, रति, भक्ति, '**अनुक्रमिष्यति**' सब हो जायगा। तो यह सबका सब हो जाता है। इस वास्ते भगवान् लीला करते हैं। वह लीला अवतार लिये बिना कैसे करे? जिसको गा करके संसारके प्राणी अपना उद्धार कर सकें।

वह लीला इसलिये करते हैं कि जिन सन्त-महात्माओंके लिये कुछ कहना-सुनना नहीं, वे भी कथा कहते हैं। '**यत्राच्युतोदारकथानि सर्वाणि तीर्थानि निवसन्ति तत्र।**' सब तीर्थ वहाँ निवास करते हैं। '**यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः**' जहाँ भगवान्‌की उदार कथा होती है, वहाँ सब तीर्थ आ जाते हैं तो पवित्रताकी महान् पवित्रता हो जाती है वहाँ। '**पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्**' भगवान्‌को कहते हैं—पवित्रोंका पवित्र, मङ्गलोंका मङ्गल। ऐसे भगवान्‌की कथा, उनके गुण, उनकी लीला, उनका स्वरूप, उनका तत्त्व इनका विवेचन जहाँ होता है, वहाँ वह प्रयागराज माना है। '**सर्वाणि तीर्थानि निवसन्ति तत्र।**'

****

गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—***'संत समाज प्रयाग'***, जहाँ संत-संग होता है वहाँ प्रयागराज है। और कहते हैं—

राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा।
बिधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदनि बरनी॥

जैसे त्रिवेणी है प्रयागराजमें तो भगवान्‌की भक्ति तो गंगाजीकी धारा है। और ***'बिधि निषेधमय कलिमल हरनी'*** यह यमुनाजी है। यमुनाजीका जल काला है और गंगाजीका जल स्वच्छ सफेद है तो भक्तिमें स्वच्छता दीखती है। विधि-निधेषमय; करनी काली दिखती है, यह यमुनाजी है। सरस्वती क्या है ? भीतर-ही-भीतर चलती है। ***'सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा।'*** जहाँ ब्रह्मका विचार-विवेचन होता है तो हर एक आदमी समझता ही नहीं। वह अन्तःसलिला सरस्वती है। जहाँ तीनों ही चलती हैं, वह त्रिवेणी है ज्ञान, भक्ति और कर्मकी। इस वास्ते कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग हैं। जहाँ समतामें स्थित हुए तो योग हो जाता है। और जहाँ योग (समता) नहीं, वहाँ केवल कर्म, भक्ति, ज्ञान रहते हैं; परन्तु यदि उनका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ ही होता है तो वह योग होता है। ऐसे कथा चलती है तो भगवान्‌की कथामें त्रिवेणी आ जाती है। प्रयागराज आ जाता है और जितने पार्षद हैं, वे आ जाते हैं। नारद आदि भक्त आ जाते हैं। **'पुष्करादि सरांसि च'** वे आ जाते हैं। सब भगवान्‌की कथामें आ जाते हैं। तो भगवान्‌की कथा, भगवान् अवतार लेकर आते हैं, तब न करते हैं सभी। भगवान्‌का भक्तोंकी रक्षा करनेका तात्पर्य है भक्तोंके धनकी रक्षा करना। भक्तोंका धन क्या है ? भक्तोंका धन भगवान् हैं। भगवान्‌की बात चले वही उनकी रक्षा है और यही उनको धनी रहने देना है। उनका धन बढ़ाना है। उनकी रक्षा करनी है सब तरहसे। और

दुष्टोंका विनाश क्या है ? दुष्टताका विनाश करना। शरीरके साथ वैर नहीं है भगवान्‌का। **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** भगवान् प्राणी-मात्रके सुहृद् हैं। क्या प्राणी-मात्रमें दुष्ट नहीं आते हैं ? उनके भी सुहृद् हैं। उनका विनाश करना ही उनका कल्याण करना है। धर्म-स्थापना भी कल्याण करना है। **'पवित्राणां पवित्रं यः'** हैं भगवान् सबके लिये। ऊपरसे भगवान्‌की क्रिया दो तरहकी दिखती है। जैसे **'लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथाऽर्भके'** माता प्यार करती है तो हितभरे हाथसे थप्पड़ भी मार देती है। तो बालकके ऊपर उसकी अकरुणा नहीं होती। **'लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यम्'**—अकृपा नहीं है। **'तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः'** ऐसे ही गुण और दोषोंका नियन्त्रण करनेके लिये विनाश करके कृपा करते हैं उनके ऊपर। कृपामें कोई फर्क नहीं। ऊपरकी क्रिया दो हैं। माँकी भी पालन करनेकी और ताडना करनेकी क्रिया दो हैं; परन्तु हृदय एक है माँका। लालनमें भी हृदय वही। ताड़नामें भी हृदय वही रहता है। जो पालन करनेमें और प्यार करनेमें हृदय रहता है, वही मारनेमें है।

परीक्षा करनी हो तो कोई माँ अपने बच्चेको मारती हो तो उस समय एक-दो चाँटा आप भी लगा दो। अरे ! क्या करता है ? तेरी मदद कर दूँ। अकेली मेहनत करती है, थोड़ी सहायता कर दूँ। तो क्या माँ समझेगी कि मेरी सहायता करता है ? लड़ेगी आपसे, कि क्यों मारता है मेरे छोरेको ? तो तू क्या कर रही है ? वह मारनेके लिये थोड़े ही मारती है, हृदयमें प्यार भरा है। वह मारती है दोष-नियन्त्रण करनेके लिये, निर्मल करनेके लिये। ऐसे **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'**—यह क्रिया दो तरहकी दीखती है; परन्तु इन सब क्रियाओंमें भगवान् वे ही हैं वैसे ही हैं।

गोस्वामीजी महाराज सुन्दरकाण्डमें लिखते हैं कि हनुमान्‌जी लंका गये तो वहाँ लोग कैसे हैं— ***'खर अज.... भच्छहीं'*** ऐसे राक्षस वहाँ रक्षा करते हैं। तो तुम इनका वर्णन क्यों करते हो ? वे सब भगवान्‌के हाथों मरेंगे, इस वास्ते हमने संक्षेपमें कथा कही है। और कही है इसलिये कि भगवान्‌के हाथों मरेंगे और भगवान्‌का सम्बन्ध हो जायगा। इनकी कथाके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध है। नहीं तो राक्षसोंकी कथा क्यों कहते ? क्या मतलब है आपको ? हमें इनसे मतलब नहीं, भगवान्‌से मतलब है। अब भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया इसलिये उनकी भी कथा कहनी है। उनकी कथामें भी भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌की दयालुता, भगवान्‌की विलक्षणता स्वतः ही प्रकट होती चली जायगी। तो अब वे उनके साथ क्रोध करें, काम करें, लोभ करें, ईर्ष्या करें, द्वेष करें, वैर करें, कुछ भी करें—सम्बन्ध भगवान्‌से जुड़ जाता है। वह सम्बन्ध ही वास्तवमें कल्याण करनेवाला है, क्योंकि गुणोंका संग जन्म-मरण देनेवाला है। तो **'निर्गुणस्य गुणात्मनः'** सगुणको भी निर्गुण कहा—गुणात्मा है वो, वह कल्याण करनेवाला है। इस वास्ते भगवान्‌से किसी तरहसे आप सम्बन्ध जोड़ लो और भगवान्‌के साथ कुछ भी कर लो, वह कल्याण करेगा। **'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।'** भगवान्‌में मन लगा दो तो भगवान्‌में मन लगानेसे कल्याण होता है। नारदजी महाराज कहते हैं—'प्रेम उसमें ही करो, उसको ही अपनी वृत्तियोंका विषय बनाओ, जो कुछ है, लक्ष्य उसीको बनाओ। उनके साथ चाहे जैसे आप कर लो।'

कितनी विचित्र बात है कि जो कुछ करो, भगवान्‌के लिये करो, सब ठीक हो जायगा। **'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥'**

उस परमात्माके लिये कर्म किया जायगा वह सब सत्कर्म हो जायगा। कर्म भी कभी सत् होता है ? कर्मका तो आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। फल भी आरम्भ होता है और समाप्त होता है। तो कर्म, वह सत् थोड़ा ही होता है, क्रिया निरन्तर होती नहीं। परिवर्तनशील है क्रिया तो वह सत् कैसे होगी ? पर वह 'तदर्थीय' हो जायगा, भगवान्‌के लिये हो जायगा, तो कर्म भी सत् हो जायगा। सत् क्यों हो जायगा ? आगमें लकड़ी डालो, पत्थर डालो, कोयला डाल दो, कंकड़ डाल दो, कुछ भी डाल दो, वह भी चमकने लगेगा। क्योंकि अग्निके साथमें हो गया न। ऐसे ही भगवान्‌के साथ जो कुछ आप कर लो, वह सब-का-सब चमक उठेगा। सत् हो जायगा।

पूतनाने जहर दिया मारनेके लिये। उसने तो मारनेके लिये दिया, पर भगवान्‌ने उसका उद्धार कर दिया। क्योंकि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** जो मुझे जैसे भजता है, मैं भी उसको वैसे ही भजता हूँ। पूतना मारनेके लिये गयी तो मार ही दिया उसको; परन्तु मारकर कल्याण किया। यह तो नयी बात है। वह पूतना कोई कन्हैयाको मारकर कल्याण करती क्या ! **'अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचिताम्'**—जो गति धाय माँको देनी चाहिये, वह गति **'लेभे।' 'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम।'** शुकदेव मुनिकी व्यासजी महाराज गरज करते रह गये, पुकारते रहे **'पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः'** वृक्ष, पहाड़ बोले, पर वे नहीं बोले। पुत्र ! पुत्र ! कहते हुए व्यासजी पीछे जाते हैं। शुकदेवजी तो बोले ही नहीं, आगे भागते हैं। वे ही शुकदेवजी अब आकर गरज करते हैं व्यासजीकी। व्यासजीने भागवत बनाकर ब्रह्मचारियोंको

****

सिखायी। ब्रह्मचारियोंको समिधाके लिये जंगलमें भेजा। वे समिधा लाने गये। वहाँपर वे **'अहो बकी यं स्तनकालकूटम्'** यह श्लोक गा रहे थे। शुकदेवजीके कानोंमें पड़ गया तो सोचा, कहाँका श्लोक है? कौन गा रहे हैं? कैसी बात है? वे भगवान्‌के गुणोंसे आकृष्ट हो गये। यह तो भागवतका है। तो किसने बनाया? व्यासजीने बनाया तो हम तो भागवत पढ़ेंगे। जो पिताजीकी आवाज नहीं सुनते थे, वे गरज करके पढ़ते हैं। गरज क्यों करते हैं? भगवान्‌के गुणोंसे आकृष्ट हो गये। ऐसे वो दयालु **'जिघांसयापाययत्'** मारनेकी इच्छासे स्तन पिलाया। और **'लेभे गतिं धात्र्युचिताम्'** तो जहर पिलाया मारनेके लिये, मार तो उसको दिया, **'यथा मां तथैव'** परन्तु अन्तमें भाव तो भगवान्‌का अपना रहेगा। वहाँ तथैव प्रकारमें है। व्याकरणमें **'प्रकार वचने थाल्'** होता है। उसी प्रकारसे, उसने स्तन दिया मुँहमें कि लाला दूध पी ले। अब दूध तो था नहीं, वैरसे दूध कहाँसे आवे उसमें? लाला खेंचने लगा जोरसे तो प्राण खिंच गये। **'मुञ्च-मुञ्च'**, छोड़, छोड़!' छोड़े कौन! छोड़ना भगवान्‌को आता ही नहीं है। पकड़ना आता है। अभी क्या छोड़ दे, मरनेके बाद भी नहीं छोड़ेंगे। छोड़ेंगे ही नहीं कभी। इनको बस पकड़ा दो, फिर मौज करो, किसी प्रकारसे इसमें लगा दो।

सम्बन्ध तो जोड़ दो तुम। फिर यदि उलटे-पुलटे हो भी जाओगे तो जन्म हो जायगा। भरतमुनिके हुआ, जैसे हो जायगा, नहीं तो ठीक हो जायगा। भगवान्‌का यह सम्बन्धमात्र है, यह बहुत विलक्षण है। इस बातके लोभसे सन्त-महात्मालोग एकान्तमें बैठकर ध्यान-भजन न करके सत्संग आदि करते हैं। वहाँ एकान्तमें बहुत ठीक मन लगता है। उनका कोई मन न लगता

हो, ऐसी बात नहीं है। परवश होकर भजन करना पड़ता हो, ऐसी बात नहीं। इतना होते हुए भी सत्संग क्यों करते हैं ? कि इसमें लाभ बहुत है। बहुत विलक्षण लाभ है। उनको लाभ क्या लेना है ? लेनेके लिये थोड़े ही होता है। लाभ तो लाभ ही है। यह किसी तरहसे ही हो। लाभकी बात ऊँची बात है। यह एक रिवाज छोड़ देते हैं। जिससे दुनियाका कल्याण होता ही रहे, होता ही रहे, सदाके लिये। कितनी विलक्षण बात है ! भगवान्में किसी रीतिसे आप मन लगाओ, किसी रीतिसे, आपमें जो शक्ति हो उसी रीतिसे और जो आपका सम्बन्ध हो, उसी सम्बन्धसे। भगवान्को बाप मान लो, बेटा मान लो, गुरु मान लो, चेला मान लो, कुछ भी मान लो। नौकर मान लो तो भगवान् नौकरी करेंगे। बेटा मान लो तो ठीक बेटेका भाव रखेंगे।

कलकत्तेके पास एक गाँव है, उसकी एक बात सुनी थी। वहाँ ठाकुरजीकी मूर्ति थी काठकी। कृष्णभगवान्की पूजा करते थे पुजारी। वहाँ पुजारी था, उनकी स्त्री थी, एक लड़का था, एक गाय थी और एक बछड़ा था। पूजा करते थे। पूजा करते-करते बछड़ा मर गया। गाय मर गयी। अब ठाकुरजीके रूखी-सूखी भोग लगावें। कहते कि तुम्हारेको दूध और घी पाना था तो गायको मारा क्यों ? अब ठाकुरजीने थोड़े ही मार दिया। हमारेको मिले जैसा भोग लगावेंगे हम तो। वैसे ही भोग लगाते। फिर स्त्री मर गयी। अब कहा, 'दोनों वक्त कौन रसोई बनावे ? एक वक्त बनायेंगे। एक वक्त आप भी खाओ और हम भी खायेंगे। दो वक्त कौन बनावे महाराज ? हम भजन-ध्यानमें निरन्तर रहते थे, उस समय स्त्री बना लेती थी तो पा लेते। अब बनाना पड़ता है, समय लगाना पड़ता है, इतना समय कौन निकाले ?' आठ पहरसे

बनाते। ठाकुरजीके भोग लगा देवें और दोनों पा लेवें। ऐसे करते-करते लड़का मर गया। अब अकेले रह गये। वे तो अपने भजन करें, वैसे ही। लोग बहुत प्रेमसे आते थे दर्शन करनेके लिये। ये दर्शन करने आते हैं न ? तो ठाकुरजीके दर्शन करते हैं; परन्तु ठाकुरजीमें तो ठाकुरपना भक्तसे होता है। भक्त जब सेवा करता है, भावसे पूजन करता है तो ठाकुरजीमें विलक्षणता आ जाती है। हरेक दर्शकका चित्त खिंच जाता है, दर्शन करनेको; क्योंकि श्रीविग्रहमें ठाकुरजी आ गये विलक्षणतासे, उसके भावके कारणसे। लोग बहुत दर्शनोंके लिये आया करते।

पुजारीजीको हो गया बुखार। बुखारमें पड़े रहे। कुछ दिन बुखार आया। रात्रिमें उनके प्राण चलने लगे। बाहरसे दरवाजा बन्द है। उस समय यह बात उनके मनमें आयी कि छोरा होता तो सिर दबाता कम-से-कम। मस्तकमें पीड़ा हो रही है बहुत। क्या करूँ मैं ? फिर मरने लगे तो सोचा, छोरा पिण्ड तो देता कम- से-कम। अब पिण्ड और पानी भी कौन देगा ? ऐसा सोचकर भजन करने लगे भगवान्‌का। भगवान् आ गये और गोदीमें ले लिया। घुटनोंपर सिर रख लिया उसका। छातीपर हाथ, जिसमें पिण्ड लिया हुआ है। माथेपर हाथ रखा हुआ। छोरा बिना सिर कौन दबायेगा ? तो मैं दबाऊँगा। पिण्ड कौन देगा ? मैं दूँगा। अब ठाकुरजी पिण्ड देते हैं। सब काम करते हैं ठाकुरजी। काम करके राजी बहुत होते हैं ठाकुरजी। माताएँ बच्चोंका पालन करती हैं। वही बच्चा एक दिन आप भाई लोगोंके हाथमें दे दिया जाय तो आठ पहर भी नहीं रख सकते और वह पालन करती है। पालन करनेवालेके उकताहट नहीं होती। अगर उकता जाय तो बच्चेका पालन कैसे हो ? पर वह उकताती नहीं है। पालन कर लेती है। ऐसे ठाकुरजी भी भक्तोंका काम करते हुए उकताते नहीं। जैसे

****

माँका उकताना तो दूर रहा, माँको आनन्द आता है। बच्चा मर जाय तो बड़ी रोवेगी। अरे! रोती क्यों है? तुम्हारी तो आफत मिटी। अब कुछ करना ही नहीं पड़ेगा। यह सुनाओ उसको तो वह नाराज हो जायगी कि कैसे कहते हो ऐसे? ऐसे ही ठाकुरजी आफतसे राजी बहुत हैं। ठाकुरजी भी हमारा पालन करनेमें राजी बहुत हैं। प्रसन्न होते हैं हमारा पालन करके, हमारी रक्षा करके। कितनी बड़ी आफत करी है, कितना बड़ा संसार रचा है। **'एकाकी न रमते।'** अकेलेका जी नहीं लगता। उनका मन नहीं लगता अकेलेका। इस वास्ते यह रोला मचाया है इतना। इतना इकट्ठा किया है। मैं एक ही बहुत हो जाऊँ।**'एकाकी न रमते।'**—मन ही न लगे अब क्या करें? इतना करके फिर सबका प्रबन्ध करते हैं, पालन करते हैं, सब झंझट करते हैं भगवान्। पर करते हैं भक्तोंके लिये।

प्रह्लादजीकी रक्षाके लिये प्रकट हुए। उस हिरण्यकश्यपको नखोंसे चीर दिया। भीतरमें पेटकी आतें थीं, वे गलेमें डाल लीं। फिर उसके पेटके भीतर खोजते हैं। महाराज क्या खोजते हो? कोई प्रह्लाद मिल जाय, इससे प्रह्लाद प्रकट हुआ है, पैदा हुआ है। संतान पहले पितामें फिर माँमें आता है, आता है न? इस वास्ते कोई मिल जाय भक्त। ठाकुरजीके बहुत लोभ है। किसी तरहसे कोई भक्त मिल जाय। एक बात बतावें, आप ध्यान देकर सुनें। आजकल भगवान्के घाटा बहुत ज्यादा है। सत्य, त्रेता, द्वापरमें भक्त होते थे, पर आजकल भगवान् निकम्मे बैठे हैं। कोई पूछता नहीं। किसी युनिवर्सिटी या संस्थामें विद्यार्थी अधिक परीक्षामें बैठते हैं तो (प्रथम श्रेणी) एक नम्बर पाना मुश्किल और परीक्षामें विद्यार्थी कम बैठे हों तो मामूली विद्यार्थीको फेल कर दें तो संस्था चलनी हो जाय मुश्किल। कोई नहीं निकले। तो इस वास्ते जैसा

भी हो उसे पास करो, क्योंकि अपनी संस्था मिट जायगी। अभी भगवान्‌के यहाँ बहुत जल्दी आदमी पास होते हैं, थोड़ी भक्तिमें ही। भगवान् सोचते हैं कि अभी कलियुगमें भक्त कम हैं। इस वास्ते जल्दी करो पास, इनको ठीक करो। अभी मौका बहुत बढ़िया आया है। ऐसा मौका हरदम नहीं मिलता। ऐसे मौकेमें हम लग जायँ तो अपना तो काम बन जायगा। इस वास्ते रात-दिन लग जायँ नाम-जपमें, कीर्तनमें, कथा सुननेमें, कहनेमें, पढ़नेमें। रात-दिन इसमें ही लग जायँ। अरे भाई ! पैसे बहुत कमाये हो, भोग बहुत भोगे हो, तो भी इनसे तृप्ति होनेवाली है नहीं क्योंकि आप हो परमात्माके अंश और ये हैं जड़ प्रकृतिके अंश। चेतनकी भूख जड़से कैसे मिटेगी ? कितना ही कमा लो, कितना ही भोग भोग लो, पर भूख नहीं मिटेगी और चिन्मय परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाय तो भूख रहेगी ही नहीं।

'कोयला हो नहीं उजला सौ मन साबुन लगाय।' कोयलेको कोई साफ, स्वच्छ करना चाहे तो सौ मन साबुन लगा दे तो क्या स्वच्छ हो जायगा ? कालापन मिट जायगा क्या उसका ? नहीं मिटेगा। तो फिर उपाय क्या है ? आगमें रखते ही चमक उठेगा। यह जीव कोयला बन गया भगवान्‌से विमुख होनेसे। अब उपाय करता है, साबुन लगाता है कि धन कमा लेंगे, भोग भोग लेंगे, यश हो जायगा। हमारा मान हो जायगा। हम यह करेंगे, पर कालापन तो मिटेगा नहीं बाबा ! कितना ही साबुन लगाओ ! कितना ही धोओ ! कितना ही करो ! क्या कर लोगे ? बताओ ! अब कोयला सफेद हो जायगा क्या ? ऐसे आप उपाय करते हैं जितना-जितना, उतना-उतना अलग हो जायगा और उलझ जायगा। सुलझानेके लिये ज्यों-ज्यों चेष्टा करता है, त्यों-त्यों अधिक उलझता है—

****

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति॥

एक दुःख गया तो दूजा तैयार। दूजा गया तो तीजा तैयार। इस प्रकार दुःख-पर-दुःख पनपता ही रहता है; क्योंकि दुःखालय है यह। दुःख-ही-दुःख होता है। वस्त्रालय होता है, औषधालय होता है। ऐसे **'दुःखालयमशाश्वतम्'** दुःखालयमें सुख ढूँढ़ते हैं। दुःखालयमें सुख कैसे मिलेगा भाई, दुःखालयमें तो दुःख-ही-दुःख है। **'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'** सुख इसमें है नहीं भैया! यह दुःखालय है। **'इमं प्राप्य भजस्व माम्'** तू मेरा भजन कर ले, पर भजन भगवान्‌का न करके भजन दुःखोंका ही करते हैं कि भगवान्‌ने हमारा दुःख नहीं मिटाया। हमारेको बेटा नहीं दिया, हमारेको धन नहीं दिया, हमारेको नीरोगता नहीं दी, हमारेको मान-सत्कार नहीं दिया, हमारी प्रशंसा नहीं की, भगवान्‌ने ऐसा नहीं किया—यह चाहना क्या है? अधिक दुःखकी चाहना है। भगवान् कहते हैं, 'तेरेको दिया उतना बहुत काफी है। अलग और क्यों पकड़ता है?' यह कहता है, 'इतना नहीं और दुःख होना चाहिये। धन और हो जाय तो सुखी हो जायँ।' और हो जाय तो सत्संग भी नहीं करेगा। फिर उसमें ऐसा लिप्त हो जायगा कि भजन-ध्यान ही छूट जायगा। क्या करें? काम-धन्धा ज्यादा आ गया, मील और खुल गयी, अब समय नहीं मिलता, भजन करनेके लिये। विमुख होनेके लिये यह चेष्टा कम नहीं करता है। ठाकुरजी विमुख होने नहीं देते। इसके मनकी नहीं होने देते। इसके मनकी होवे तो यह कितनी ही खुराफात (उद्दण्डता) करे। भगवान् करने नहीं देते। इसमें यह हो जाय नाराज। जैसे पतंगे आग सुलगनेपर उसके भीतर दौड़कर प्रविष्ट होते हैं। उनको अलग कर देता है कोई

तो पतंगे बहुत नाराज होते हैं। अगर उनका वश चले तो मुकद्दमा करें उसपर कि हमारेको आग नहीं लेने देते। आग बन्द करनेवाला उनपर करता है दया कि ये आगमें खतम हो जायेंगे; परन्तु आड लगना उनको अच्छा नहीं लगता। ऐसे संसारके भोगोंमें, ऐश्वर्यमें रात-दिन लगे हैं। आड लग जाय तो उसके साथ लड़ाई करेंगे कि मेरेको क्यों नहीं जलने दिया ? हम तो पड़ेंगे भीतर, कूदकर। 'रहने दे भैया, कुछ दिन जी तो जा।' 'ना।' ऐसी दशा हो रही है लोगोंकी। ऐसी दशासे बचानेके लिये भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ो, पर जोड़ते हैं नाशवान् पदार्थोंके साथ।

आप हैं अविनाशी। अविनाशीको नाशवान् कैसे संतुष्ट करेंगे ? परन्तु वहम इतना विलक्षण पड़ा है—'राम-राम-राम।' कई बार भोगोंको भोगकर देख लिया फिर भी उधर ही जाते हैं। अब क्या मनमें रह गयी ? क्या बाकी रह गया ? वहम है कि अब सुख हो जायगा। आप नये हो गये कि पदार्थ नये हो गये, कि रिवाज नया हो गया ? क्या बात है ? अभीतक चेत नहीं हुआ। समझदार आदमी चेत जाता है कि रास्ता ठीक नहीं है। जो गया, वह भी इस तरहसे ही मार खाता है। जो गया, वो ही दुःख पाया। अब उस मार्गको तो छोड़ो भाई ! अपने भी कर लिया। इतने दिन हो गये, इतने वर्ष हो गये। और कौन-सा भोग नहीं भोगा ? और फिर क्या मनमें रह गयी भगवान् ही जाने !

चेत होना चाहिये। छोटे-छोटे बच्चे होते हैं, तब उनके विचार होता है कि हम यह करेंगे वह करेंगे। बड़े होकर ऐसा धन कमायेंगे। तो आप लोग बड़े कब होंगे, जिस दिन भजन करेंगे ? कब भगवान्‌में लगेंगे ? कुछ बड़े हो जायँ तो फिर करेंगे। अब कब बड़े होंगे ? बताओ। मूर्खता रखते-रखते ही मर जायेंगे, वही

बचपन, वही मूर्खता। तो ठाकुरजीमें आप अपना मन लगा दो। सम्बन्ध जोड़ दो, किसी रीतिसे जोड़ दो। ठाकुरजीके साथ जोड़ लो। अब आप भगवान्‌को कुछ मान लो। कैसे ही मान लो। वैरी मान लो, चाहे भयभीत हो जाओ। सम्बन्ध तो जोड़ो प्रभुके साथ !

भगवान् इतनी निगरानी रखते हैं जीवमात्रकी। यह किसीके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो रहने नहीं देते। भगवान् तोड़ ही देंगे उसको। बालकपनके साथ रहे तो बालकपन तोड़ दिया। जवानीके साथ रहे तो जवानी तोड़ देंगे। वृद्धावस्थाका साथ किया तो वृद्धावस्था तोड़ देंगे। रोगी-नीरोगी अवस्थाके सम्बन्धको तोड़ देंगे। भगवान् कहते हैं कि मेरेको नहीं प्राप्त किया तो टिकने नहीं दूँगा तेरेको। तू चाहे कितना ही कुछ पकड़ ले, कितनी ही उछल-कूद करे तो क्या होगा ? यह सब परिस्थिति बदलती है तो यह भगवान्‌का आवाहन होता है कि इधर आओ, किधर जाते हो ? ये सुनते ही नहीं। थोड़ा धन और कमा लें, थोड़ी विद्या और पढ़कर विद्वान् बन जायँ। वक्ता बन जायँ बढ़िया, लोग हमको वाह-वाह कहें। तो फँस जाओगे बाबा ज्यादा। क्या निकालोगे इसमें ? पर वह भ्रम पड़ा हुआ है कि मौज हो जायेगी।

घरमें चूहे बहुत हो जाते हैं तो तारोंका बना हुआ पिंजरा होता है, उसमें रोटीके टुकड़े डालकर अँधेरेमें रख देते हैं। चूहोंको अन्नकी सुगन्धि आती है तो वे देखते हैं कि रोटी उसमें पड़ी है, पर किस तरहसे मिले ? इधर-उधर घूमते हैं। दरवाजा मिलते ही समझते हैं, आहा ! निहाल हो गया मैं तो वह भीतरमें भारसे नीचे उतरा और वह पत्ती स्प्रिंगसे वापस बन्द हो जाती है। तो अब मुश्किल हो गयी। अब निकलनेका दरवाजा ढूँढ़ता है, पर मिलता नहीं। बाहरवाले चूहे देखते हैं कि यह मौज कर रहा है

****

अकेला ही। हमारेको भी दरवाजा मिल जाय तो हम भी ऐसी मौज करें। अब दूसरा चला गया तो बाहरके बचे हुए देखते हैं कि इनको रस आ रहा है। आपसमें एक-से-एक लूट रहे हैं तभी तो लड़ते हैं। यों करके फँस जाते हैं। ऐसे ही संसारमें देखते हैं कि धन कैसे मिल जाय, हमारा विवाह कैसे हो जाय, हमारे बच्चे कैसे हो जायँ ? धन भी हो जाय, बच्चे भी हो जायँ। जब ब्याह होनेपर बच्चे होते हैं तो वह कहता है—अब तो हम फँस गये, भाई। पर जिसका नहीं हुआ वह कहता है, मेरे ब्याह ही नहीं हुआ। अब वह यों ही रोता है।

जिसका ब्याह हो गया, वह मकान खोजता है कलकत्ते जैसे शहरमें।अकेला तो कहीं गद्दीमें सो जाय,पर स्त्री-बच्चोंको अब कहाँ रखे ? मकानके लिये पगड़ी लाओ, मार आफत ! दूसरा देखता है मैं तो अकेला रह गया और यह मौज करता है। बाल-बच्चे हैं इसके तो। कोई ताऊ-चाचा कहते हैं और चीं-पीं करते हैं इसके सामने, तो बड़ा आनन्द आता है कि हमारे इतने बच्चे हैं। बच्चोंके बीचमें बैठा राजी होता है जब कि वह दुःख पा रहा है। अब मुश्किल हो गयी, पालें कैसे इनको ? अब ज्यों छोरा बड़ा हो गया ब्याह करो। छोरी बड़ी हो गयी, उसका ब्याह करो। अब एक नयी आफत और हो गयी।

एक देश था, उसमें रहनेवाले चौबेजी महाराजने सुना कि किसी देशमें चौबेको छब्बे कहते हैं। तो वहाँ चलो हमारा नाम बढ़ जायगा। तो वे अपने गाँवसे निकले, दूसरा गाँव आया, उसमें इनको दुब्बे कहने लगे। ***'चौबे होते छब्बे होने चले जब, होय दुब्बे दुय गांठके खोये।'*** वहाँ दुब्बे हो गये। ऐसे विचार किया कि यहाँ यह सुख लेंगे, तो जो पहले सुख था, वह भी गया। स्त्री-बच्चे नहीं थे तब बड़ी आजादी थी, स्वतन्त्र थे, अब

क्या करें ? फँस गये। अब निकलना मुश्किल हो गया मुश्किल, मुश्किल कुछ नहीं है, स्वयं छोड़े तो कुछ मुश्किल नहीं है। चूहेके लिये तो तारोंका पिंजरा दूजेका बनाया हुआ है, यह पिंजरा खुदका बनाया हुआ है। दूजेका बनाया हुआ तोड़ना मुश्किल है। यह तो अपना बनाया हुआ है, इस वास्ते चट तोड़ा, चट चल दिया। पर तोड़ नहीं सकते।

एक भौंरा था। वह घूमते-घूमते कमलमें जा बैठा। सुगन्ध आ रही थी खूब। इधर सूर्य अस्त हो गया तो कमल बन्द हो गया। उसमें भौंरा विचार करता है कि हम बन्द हो गये अब। इसमेंसे निकलें कैसे ? कमलको कैसे काटें ? भौंरा बाँसको काट देता है। बाँसमें छेद कर देता है। उसमें छेद बनाकर बच्चे देता है और भीतर रहता है। आप विचार करो, कमलकी पंखुड़ी काटनेमें उसे जोर आता है क्या ? परन्तु उससे सुगन्ध लेता है तो अब काटे कैसे ? वह भौंरा सोचता है—'**रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।**' रात चली जायगी, बड़ा सुन्दर प्रभात हो जायगा। '**भास्वानुदेष्यति**' सूर्य भगवान् उदय होंगे और '**हसिष्यति पंकजश्रीः**'—यह कमलकी शोभा खिल जायगी। फिर मर्जी आवे जहाँ बैठें, मर्जी आवे जहाँ जावें। फिर ठीक हो जायगा। '**इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे**'—वह बेचारा विचार कर रहा है कि यह हो जायगा, यह हो जायगा। इतनेमें ही हाथी आता है। पानी पीता है, फिर सूँड़से कमलोंको ऐसे लपेटता है। उतनेमें वह तो मर जाता है। '**हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार**'—ऐसे ही मनुष्य कहता है, ऐसे करेंगे, ऐसे करेंगे। क्या करेंगे ? राम नाम सत् है—यह तो आ ही जायगा।

सज्जनो ! हम मृत्युलोकमें बैठे हैं। यहाँ मरनेवाले रहते हैं,

****

सब। सबलोग मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। इसमें निश्चिन्त बैठे हैं। मरना सुनते हैं तो बुरा लगता है। मरनेकी बात बुरी लगती है। कोई कह दे तो, कहते हैं ना-ना मुँहसे थूक। ऐसा मत बोलो। अब बोलो, चाहे मत बोलो, मरोगे तो सही। न बोलनेसे क्या रक्षा हो जायगी ? खरगोश होता है न, तो जब शिकारी उसे मारने जाता है, तो वह छिपकर आँखें मीच लेता है। समझता है कि अब मेरेको कोई नहीं देखता; क्योंकि खुदको दीखता नहीं। आँखोंको तूने मीची है, दुनियाने थोड़े ही मीच ली है, पर वह तो यही समझता है कि अब थोड़े ही दीखूँगा मैं। ऐसे मनुष्य विचार करता है कि हमारा कौन कुछ करता है ? आँखें तूने मीची है भाई ! काल भगवान्‌ने मीची नहीं है आँखें। ये सूर्य भगवान् सबको देखते हैं। देखनेका काम ये करते हैं और ले जानेका काम इनके बेटा करते हैं। यमराज इनके बेटा हैं। सूर्य भगवान् देख लेते हैं कौन कैसे-कैसे तैयार हुआ है। हाँ बेटा, उसे ले आओ। तैयार है, बस। अपने निश्चिन्त बैठे हैं, ऐसे नहीं सोचते कि वे हमारेको देख रहे हैं। छिप आप सकते नहीं। समय होनेपर छोड़ेंगे नहीं।

'संतदास संसारमें बडो कसाई काल।
राजा गिणे न बादशाह बूढ़ो गिणे न बाल॥'

न वह बूढ़ेको गिनता है, न बालकको गिनता है। बादशाह, साधु सब एक समान, आ जाओ बस ! आप कितने ही अच्छे पण्डित हो गये। बड़े अच्छे पण्डित हो, चाहे मूर्ख हो, यहाँ तो एक ही भाव है। हाँ ! भगवान्‌के यहाँ सम्बन्ध हो जाता है तब तो—

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गंगाजललवकणिका पीता।
येनाकारि मुरारेरर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चा॥

उनकी चर्चा यमराज छोड़ देते हैं कि ये हमारे नहीं हैं।

उधरके भागके हैं, बाकी तो यमराज सबको ले जाय।

काल भक्ष सबको करे हरि शरणे डरपन्त।
नव ग्रह चौसठ जोगिनी बावन वीर बजन्त॥

'कालो यमो दण्डधरः' वह ले जायगा सबको। अब उसमें जाना तो पड़ेगा। कोई नहीं चाहता, पर वहाँ जा रहे हैं सब लोग। एक-एक श्वासमें कहाँ जा रहे हैं? मौतके पास जा रहे हैं। यह श्वास खर्च होता है। मौतके पास जा रहे हैं। प्रति श्वास वहाँ जा रहे हैं, जहाँ जाना नहीं चाहते। नहीं चाहते हो तो भाई! भगवान्‌को याद करो। बिना भगवान्‌के कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। सब मरनेवाले हैं, वे रक्षा कैसे करेंगे?

काठ की ओटसे काठ बचे नहीं आग लगे तब दोऊँ कू जारे।
स्याल की ओटसे स्याल बचे नहीं सिंह पड़े तब दोऊँ कू फारे।
आनकी ओटसे जीव बचे नहीं 'रज्जब' वेद पुराण पुकारे॥

सब कहते हैं भैया! दूसरोंकी सहायतासे बच नहीं सकोगे। क्योंकि बेचारे वे सब माया बस कालके कलेवा हैं। उनका सहारा लो तो वह भी जा रहा है। तुम्हारेको कैसे बचायेगा? बचता वही है।

काल डरे अण घड़ सूं भाई ता सूं संतां सुरत लगाई।
ता मूरत पर राम दास बार बार बलि जाय काल डरे अणघड़ सूं भाई॥

वह परमात्मा अनघड़ है। ***'अजातु न मातु न तातु निराकारं'*** वह पैदा किया हुआ नहीं है, जाति नहीं है उसके, न माँ है, न बाप है—ऐसा है। वह रहेगा एक और तो सब चले जायेंगे इस वास्ते उसका आश्रय लो। उसके आश्रयका सुगम-से-सुगम उपाय ठाकुरजी अवतार लेकर कर देते हैं।

अब तुम जो कुछ करो तो हमारे साथ करो। राग करो, चाहे

द्वेष करो। वैर करो, विरोध करो, लोभ करो, चाहे चिन्ता करो। मैया यशोदाके बड़ी चिन्ता लगी कि 'लालाके क्या हो गया ?' दाऊ भैयाको कहती है—'तू निगाह रखा कर।' 'यह खेलनेको जाता है तो चञ्चल बहुत है यह।' वह दाऊ आकर कहता है—'मैया ! क्या करूँ ?' यह यमुनामें चला जाता है। पानीमें कहीं डूब जायगा। खेलता-खेलता कहीं जाकर बिलमें हाथ दे देता है। साँप काट जाय तो !' दाऊ दादा निगाह बहुत रखते हैं फिर भी वह तो चञ्चल बहुत है। अब दाऊ दादा, रोहिणी और यशोदा मैया, सब मिलकर भी रक्षा नहीं कर पाते। इतना चञ्चल है। बालमुकुन्द है यह मन है आपके पास । यह चञ्चल हो तो देखो—ये बालमुकुन्द खेल कर रहे हैं। 'अरे ! लाला ! क्या करता है ?' 'खेल करता है, बालमुकुन्द है।' ऐसा मान लो तो फिर मनको जावे तो जाने दो। 'अरे लाला ! ऐसे मत करो।' वो तो कहे—'खेलेंगे।' 'अच्छी बात है, खेलो।' जहाँ भगवान्को समझा, कि मनकी सब उछल-कूद मिट जायगी असली तत्त्वको समझ गये न !

भगवान् ही तो हैं उसके भीतर भी। ऊपरसे कहते हैं मन है, इन्द्रियाँ हैं, पदार्थ हैं, भोग हैं, विषय हैं। अरे भैया ! भीतर वह एक ही है। वह है, उसे मान लो। चाहे तो भगवान्का मानकर भजन कर लो। चाहे संसारमें भगवान्को मानकर भजन कर लो। आपकी मर्जी आवे सो करो। दोनोंका टोटल एक ही निकलेगा। हमारे प्रभु ही तो हैं। **'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥'** इस वास्ते **'तस्मिन्नेव करणीयम्।'** केवल आनन्द ही आनन्द !

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

अविनाशी बीज

२६-१०-८२ बम्बई

उपनिषदोंमें आता है कि जैसे सोनेसे बने हुए सब गहनोंमें सोना ही होता है, मिट्टीसे बने हुए सब बर्तनोंमें मिट्टी ही होती है। लोहेसे बने हुए सब अस्त्र-शस्त्रोंमें लोहा ही होता है। गीतामें भी आया है कि सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय मैं ही हूँ। **'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥'** (गीता ७। ६)। गीतामें सोना, मिट्टी तथा लोहा, इनके उदाहरण तो नहीं दिये गये हैं, किन्तु बीजका दृष्टान्त दिया है कि सम्पूर्ण जगत्का बीज मैं हूँ। बीजके साथ **'सनातनः'** विशेषण दिया, मानो अनादि बीज मैं हूँ—**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।'** (गीता ७। १०)। गीता ९। १८ में कहा—अविनाशी बीज मैं हूँ **'बीजमव्ययम्।'** गीता १०। ३९ में कहा—संसारमें जड़-चेतन, स्थावर-जंगम यावन्मात्र वस्तु है, उन सबका बीज मैं हूँ— **'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।'**

बीजमात्र वृक्षसे पैदा होते हैं और वृक्षको पैदा करके स्वयं बीज नष्ट हो जाता है, मानो बीजसे अंकुर निकल आता है और वृक्षरूप हो जाता है और वह बीज स्वयं खतम हो जाता है; परंतु गीतामें भगवान् अपनेको संसारमात्रका बीज कहते हुए भी यह एक विलक्षण बात बताते हैं कि मैं बीज हूँ, पर अनादि बीज हूँ, पैदा हुआ बीज नहीं हूँ—**'बीजमव्ययम्।'** अव्यय बीज कहनेका

मतलब है कि संसार मेरेसे पैदा हो जाता है; परन्तु मैं जैसा-का-तैसा ही रहता हूँ, साधारण बीजकी तरह मैं मिटता नहीं हूँ। गीता १०।२० में जहाँ भगवान् विभूतियोंका वर्णन आरम्भ करते हैं वहाँ भगवान् कहते हैं कि मैं ही सबका आत्मा हूँ—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।**' और सबके हृदयमें मैं ही स्थित हूँ— '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**', (गीता १५।१५); '**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (गीता १३।१७); '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**'(गीता १८।६१); यह कहनेका अर्थ हुआ कि संसारका कारण मैं ही हूँ; सब संसार मिटनेपर मैं ही रहता हूँ, संसारके रहते हुए भी मैं सबमें परिपूर्ण हूँ और सबके हृदयमें विराजमान हूँ। इससे 'सब कुछ परमात्मा ही हैं' यह सिद्ध हुआ।

सोना, मिट्टी और लोहेका जहाँ उदाहरण दिया है, वहाँ गहनोंमें सोना दीखता है, बर्तनोंमें मिट्टी दीखती है और अस्त्र-शस्त्रोंमें लोहा दीखता है, पर इस तरहसे संसारमें परमात्मा नहीं दीखते हैं। वृक्षमें बीज दीखता नहीं, पर बीजके आनेपर ऐसा पता लगता है कि इस वृक्षमें ऐसा बीज है और ऐसे बीजसे यह वृक्ष पैदा हुआ है। सम्पूर्ण वृक्ष बीजसे ही निकलता है और बीजमें ही समाप्त हो जाता है। आरम्भ बीजसे होता है और अन्त बीजमें ही होता है, अर्थात् वह वृक्ष चाहे सौ वर्षतक रहे, पर उसकी अन्तिम परिणति बीजमें ही होगी। बीजके सिवाय और क्या होगा ? ऐसे ही भगवान् संसारके बीज हैं अर्थात् भगवान्से ही संसारकी उत्पत्ति होती है और भगवान्में ही लीन हो जाता है तो अन्तमें एक भगवान् ही बाकी रहते हैं—'**शिष्यते शेषसंज्ञः।**'

वृक्ष दीखते हुए भी बीज ही हैं—ऐसा जो जानते हैं, वे वृक्षको ठीक जानते हैं। जो बीजको न देखकर केवल वृक्षको देखते

हैं, वे वृक्षके तत्त्वको नहीं जानते, क्योंकि वे तो वृक्षकी टहनियाँ हैं, पत्ते हैं, फूल हैं, इनमें लुब्ध हो जाते हैं, ऐसे मनुष्योंको भगवान्‌ने **'यामिमां पुष्पितां वाचम्'** (गीता२ । ४२) और **'छन्दांसि यस्य पर्णानि'** (गीता १५ ।१) वचन कहे हैं। इसी तरहसे भगवान् यहाँ **'बीजं मां सर्वभूतानाम्'** कहकर सबको यह याद कराते हैं कि तुम्हारेको जितना यह संसार दीखता है, इसके पहले केवल मैं ही था **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेयम्'**—एक मैं ही प्रजारूपसे प्रकट हो गया हूँ और इसके समाप्त होनेपर मैं ही रह जाता हूँ अर्थात् पहले मैं ही था और पीछे मैं ही रहता हूँ, बीचमें भी मैं ही हूँ।

जैसे बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, बीज ही वृक्षरूपसे दीखता है, पर बीज नहीं दीखता। इसी तरहसे यह संसार पाञ्चभौतिक दीखता है। जो विचार करते हैं, उनको भी पाञ्चभौतिक दीखता है, नहीं तो पाञ्चभौतिक भी नहीं दीखता। जैसे कोई कह दे कि ये अपने शरीर सब-के-सब पार्थिव शरीर हैं—ये शरीर पृथ्वीसे पैदा होनेवाले हैं; क्योंकि इनमें मिट्टीकी प्रधानता है, दूसरा कोई कहेगा कि ये मिट्टी कैसे हैं ? मिट्टीसे तो हाथ धोते हैं, इस वास्ते ये शरीर मिट्टी नहीं हैं। शरीर मिट्टीका होते हुए भी जरा भी मिट्टीका नहीं दीखता; परन्तु यह जितना संसार दीखता है, इसको जलाकर राख कर दिया जाय तो अन्तमें एक चीज हो जाती है।

इन शरीरोंके मूलमें क्या है ? माँ-बापसे यह शरीर पैदा होता है। माँ-बापके रज-वीर्यसे शरीर बनता है। वह अन्न-अंशसे पैदा होता है, अन्न मिट्टीसे पैदा होता है, इस प्रकार यह शरीर मिट्टीसे पैदा होता है और अन्तमें मिट्टीमें ही लीन हो जाता है। इसको जलानेपर राख हो जायगा, गाड़ दे तो मिट्टी हो जायगा या पशु-पक्षी खा जायेंगे तो भी विष्ठा बनकर मिट्टी हो जायगा—ये तीन

गतियाँ ही होती हैं। इस तरहसे शरीर अन्तमें मिट्टी हो जाता है। पहले भी मिट्टी था, परन्तु यह शरीर-संसार देखनेसे मिट्टी नहीं दीखता। विचार करनेसे यह मिट्टी दीखता है, आँखोंसे नहीं दीखता। इसी तरहसे यह संसार परमात्माका स्वरूप नहीं दीखता। विचार करनेसे पता लगता है कि भगवान्‌ने यह संसार रचा तो कहीं और जगहसे कोई सामान नहीं मँगवाया। कहींसे कोई बिल्टी नहीं आयी, जिससे कि यह संसार बनाया हो। बनानेवाला भी दूसरा नहीं हुआ। आप स्वयं संसार बनानेवाले और आप ही स्वयं संसार बन गये। शरीरोंकी रचना करके आप स्वयं उनमें प्रवेश कर गये। इन शरीरोंमें जीवरूपसे वे परमात्मा ही हैं, यह संसार परमात्माका स्वरूप ही है **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'**

'यह सब संसार परमात्म-तत्त्व है'— पहले हम इस बातको शास्त्रोंसे समझकर मान लें, अगाड़ी परमात्मा दीखने लग जायेंगे। गीताने इसीको ज्ञान कहा है। ठीक तत्त्वसे जान लेनेपर अनुभव हो जाता है। संसार दीखता है, पर वास्तवमें यह है परमात्मा ही। ऐसा बोध होनेपर वह महात्मा कहलाता है। जिसकी दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव हैं, वह महात्मा दुर्लभ है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'** (गीता ७। १९)। अब कोई कहे कि हम पहले कैसे मान लें जबतक हमारेको बिलकुल शरीर मिट्टी, मकान आदि अलग-अलग चीजें दीखती हैं? इसको ऐसे मानें कि आदि-अन्तमें जो रहेगा, वही मध्यमें होगा और बीचमें भी वही चीज होगी। ऐसे ही संसारके आदिमें परमात्मा थे, अन्तमें परमात्मा रहेंगे, बीचमें संसार-रूपसे परमात्मा ही दीख रहे हैं। तत्त्वसे देखा जाय तो परमात्माके सिवाय और क्या है? इस संसारके स्वाँगमें आनेसे परमात्मा असली रूपमें नहीं दीखते, संसाररूप स्वाँग दीखता है।

****

ध्यान देनेकी एक विचित्र बात यह है कि परमात्मा नित्य-निरन्तर रहते हैं, कभी बदलते नहीं, कभी मिटते नहीं; परन्तु संसार कभी एक रूपसे नहीं रहता। जिस दिन शरीर जन्मे, उस दिन ऐसे नहीं थे। जन्मके पाँच-दस दिनके बाद शरीरको देखा हो, दो-चार वर्षके बाद देखा हो और आज देखे तो पहचान नहीं सकते, इतना बदल जाता है। वह प्रत्येक वर्षमें बदलता है, प्रत्येक महीनेमें बदलता है, प्रत्येक घण्टेमें, प्रत्येक मिनटमें, प्रत्येक सेकेंडमें बदलता है। बदलने-बदलनेका नाम ही शरीर है। संसार और कुछ नहीं है, यह बदले बिना रहता ही नहीं, परमात्मा कभी बदलते ही नहीं। यह प्रश्न है कि परमात्मा होते हुए दीखते क्यों नहीं? वास्तवमें जिस (संसार) को 'है' मानते हैं वह परमात्मा ही है, पर संसार 'है' रूपसे दीखता है।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

जिस (परमात्मा) की सत्यतासे संसार सत्यकी तरह दीखता है। मूढ़ताकी सहायतासे यह सच्चा दीखता है, मूढ़ता चली जाय तो यह सच्चा नहीं दीखेगा, प्रत्युत परमात्मा ही सच्चे दीखेंगे। इस संसारमें 'है' रूपसे परमात्मा सच्चे हैं, संसार सच्चा नहीं है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष बदलता है, जन्मता-मरता है। यह प्रत्यक्ष बात है। यह बदलता हुआ दीखनेपर भी है वही परमात्मा। ऐसा विश्वास करके भजन-स्मरण करनेसे, जप-ध्यान करनेसे, परमात्माकी तरफ सन्मुख हो जानेसे, अन्तमें वे परमात्मा ही रह जाते हैं। परमात्माको ठीक जाननेवाले ही तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हैं जो कि परमात्मतत्त्वको जान लेते हैं। इस वास्ते ऐसा मानकर भगवान्‌के भजनमें निरन्तर लग जाना चाहिये। यह सार बात है।

नारायण! नारायण!! नारायण!!!

॥ श्रीहरिः ॥

सबमें भगवद्दर्शन

११-६-८३

गीताभवन
स्वर्गाश्रम

परमात्मा सबमें परिपूर्ण हैं, थोड़ा इस तरफ आप ध्यान दें, जैसे छोटे बालक होते हैं, उनको रंग प्यारा लगता है, लाल, पीला, हरा, ऐसे रंग-रंगके कपड़े हों, काँच हों, विभिन्न रंगकी कोई भी वस्तु हों तो वे आकृष्ट हो जाते हैं, अच्छा लगता है, खिलौनोंकी आकृतियाँ हैं, ये उनको बहुत अच्छी लगती हैं। इसमें सार क्या है ? ग्राह्य क्या है ? त्याज्य क्या है ? यह बुद्धि नहीं होती। देखनेका आकर्षण होता है विशेषतासे। बड़ी अवस्था होनेपर वे उनका मूल्य समझते हैं कि कीमती क्या है ? कम मूल्यवाली क्या है ? ज्यादा मूल्यवाली चीज क्या है ? ऐसा समझते हैं।

इसका अर्थ क्या हुआ ? जो भोली अवस्था होती है, भोलापन होता है, वह ऊपर-ऊपरकी चीज देखता है और जितना समझता है, वह गहरी रीतिसे देखता है। संसारका लोभ लग जाता है तो वह रुपयोंको गहरी रीतिसे देखता है। बस रुपये ही सार हैं; क्योंकि इनसे ही सब चीज आती है तो वह रुपयोंकी तरफ आकृष्ट होता है। बालक खिलौनोंपर आकृष्ट होता है। जैसे संसारकी वस्तुएँ रुपयोंसे मिलती हैं तो वह रुपयोंको ही मुख्य मानता है ऐसे ही उस परमात्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा करके इधर चलनेवाला सबमें परमात्मतत्त्वकी ओर ही जाता है।

स्थूल-से-स्थूल जो चीज दीखती है, उस चीजके मूलमें भी परमात्मा है, सुन्दर-से-सुन्दर चीज दीखती है उसमें भी वह सुन्दरतापर नहीं अटकता है और सुन्दरतामें भी 'यह सुन्दरता आयी कहाँसे है।' ऐसे परमात्माको देखता है। सुन्दर खिले हुए फूल देखता है, सुन्दर बगीचा देखता है तो फूलोंपर न अटक करके वो अटकता है कि यह सुन्दरता इनमें कहाँसे भरी गयी। कहाँसे आयी यह सुन्दरता ! इनमें परमात्मा हैं। ऐसे कहीं महत्ता देखता है, बड़प्पन देखता है, राजा-महाराजा, संत-महात्मा या किसी मिनिस्टरको देखता है, यह बड़प्पन कहाँसे आया है तो वह बड़प्पन परमात्मतत्त्वका देखता है। वो जितना जहाँ विचार आता है, वहाँ उस परमात्मतत्त्वको देखता है।

अर्जुन जब विराट्‌रूपको देखने लगे हैं तो विराट्‌रूप है, वो बड़ा विलक्षण है। उसमें हमारे एक शंका हुई ? अर्जुनने विराट्‌रूपके लिये कहा कि महाराज ! **'दर्शयात्मानमव्ययम्'** आप अविनाशी रूपको दिखाइये। **'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्।'** आपका ईश्वर-सम्बन्धीरूप देखना चाहता हूँ। अविनाशीरूप देखना चाहता हूँ और विश्वरूप देखना चाहता हूँ। **'पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।'** आप विश्वरूप और विश्वेश्वर हो।

अब आप थोड़ा ध्यान दें कि अगर संसाररूप देखा जाय तो संसाररूप अव्यय नहीं है। मानो निर्विकार नहीं है, हरदम विकृति होती रहती है। हरदम ही बदलता रहता है। संसार हरदम बदलता है किसी क्षण भी बदले बिना नहीं रहता। विश्वरूप है तो अव्यय कैसे ? और अव्यय है तो फिर भगवान्‌का स्वरूप कैसे ? यह एक पंचायती पड़ गयी। तात्पर्य क्या है ? कि हमलोग देखते हैं विराट्‌को जो कि भगवत्स्वरूप है। जबतक अपनेमें व्यक्तित्व

****

है और जबतक राग है, तबतक इस संसारको भेदन करके परमात्मतत्त्वतक नहीं पहुँच सकते। जैसे बालक रंगपर, खिलौनोंपर, आकृतियोंपर, खेलपर ही राजी हो जाता है, वो इसका सार वस्तुओं तथा रुपयोंतक नहीं पहुँच सकता कि रुपया चीज सार है, वो पहुँचता ही नहीं। वो खिलौने-ही-खिलौने देखता है, उसे बढ़िया दीखते हैं।

इस तरह जबतक इन नश्वर पदार्थोंमें राग है, आकर्षण है, प्रियता है, इसका मूल्य जबतक समझते हैं, तबतक इस परमात्म-स्वरूपको देखते हुए भी परमात्माको नहीं जान सकते। खिलौनों-पर ही रखी है वृत्ति। विराट्रूपका वर्णन किया जाय, दिव्य विभूतियोंका वर्णन किया जाय, भगवान्के स्वरूपका वर्णन किया जाय तो परमात्मतत्त्वतक वृत्ति नहीं पहुँचेगी। कारण कि राग है न पदार्थोंपर आसक्ति है, प्रियता है भोगोंपर, तो यह एक चीज बैठी है, अपनेमें एक व्यक्तित्व है और अगाड़ी संसारमें राग है, तबतक यह देखते हुए भी उस अविनाशी रूपको नहीं देख सकता। अर्जुनको भगवान्ने अविनाशी रूप दिखाया। अब अविनाशी रूप दिखाया तो अर्जुनसे कहा '**पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।**' मेरे रूपोंको देख, सैंकड़ों-हजारों रूपोंको देख। ऐसे भगवान्ने कह दिया और अर्जुनको वहाँ देख, देख ऐसे पाँच बार '**पश्य**' कहा है पर अर्जुनको दीखता नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् प्रकट रूपसे हो गये हैं तू देख, तू देख; परन्तु दिखा नहीं, देख सका नहीं। तब भगवान्ने कहा '**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा**' अपनी इन आँखोंसे मुझे नहीं देख सकता' '**दिव्यं ददामि ते चक्षुः**' तुम्हारेको मैं दिव्य चक्षु देता हूँ। इन दिव्य चक्षुओंसे मुझे देख। तो भगवान्ने अर्जुनकी जो

****

देखनेकी शक्ति हमलोगों-जैसी है, इस शक्तिमें एक विलक्षण दिव्य शक्ति दे दी, जिससे दिव्य देवता दीख सके। दिव्य लोक दीख सके। दिव्य स्वरूप भगवान्‌का दीख सके। ऐसे दिव्य तत्त्व देखनेके लिये दिव्य दृष्टि भगवान्‌ने दी।

एक कथा याद आ गयी। रघुवंशमें आती है कथा। जब महाराज दिलीप अश्वमेध यज्ञ करने लगे हैं तो अश्वमेध यज्ञमें घोड़ा एक रखा जाता है, जो सब जगह घुमाते हैं और वे सब पराजित हो गये ऐसे माना जाता है। कोई लड़ाई करे तो घोड़ेको पकड़े। ऐसे घोड़ेको लेकर महाराज दिलीपने निन्यानबें यज्ञ कर दिये। अब सौवाँ यज्ञ होने लगा, उसमें वो घोड़ा घूमनेको गया तो इन्द्रने घोड़ेको चुरा लिया। इन्द्रने चुराया तो क्या किया कि जैसे इन्द्र नहीं दीखता है, वैसे घोड़ा भी नहीं दीखा अचानक ही अन्तर्धान हो गया, दीखता ही नहीं। देवता अपनी मर्जी आवे तो अपनेको दीख सकते हैं, नहीं तो यहाँ घूमते हुए भी दीखते नहीं। तो दीखा नहीं घोड़ा। अचानक ऐसा हो गया तो बड़े व्याकुल हो गये कि अब क्या करें ? घोड़ा कहाँ गया ? घोड़ा कहाँ गया। उस समयमें नन्दिनी गऊ प्रकट हुई। जिस गऊके वरदानसे रघुका जन्म हुआ है; वह गाय प्रकट हो गयी सामने। गाय प्रकट हुई और गऊ मूत्र करने लगी और गोबर करने लगी। गऊका गोमूत्र गंगाजी माना जाता है। बड़ा पवित्र माना जाता है। तो गऊमूत्रको देखकर रघुने चट उसको लिया और अपने नेत्रोंमें लगाया, सिरपर चढ़ाया। ज्यों ही नेत्रोंमें लगाया त्यों ही इन्द्र दीखने लग गया। इन्द्र घोड़ा लेकर जा रहा है, साफ-साफ दीखने लग गया तो क्या दृष्टि हुई ? कि वो जो नन्दिनी गऊ माता है, उसके गऊमूत्रसे उसकी दृष्टिमें दिव्य दृष्टि आ गयी, विलक्षणता आ गयी, जिससे

रघुको इन्द्र दीखने लगा। वो दीखने लगा तब रघु बोले, 'तुम बिना रघुके साथ युद्ध किये कृतकृत्य नहीं हो सकते' तुम कैसे घोड़ा ले जा रहे हो ? ऐसे बात कही, मैं शस्त्र तैयार करता हूँ। तुम्हारा ऐसा ही विचार है तो '**गृहाण शस्त्रम्**' इन्द्र ! तुम हाथमें शस्त्र ले लो। मैं निःशस्त्रपर शस्त्र नहीं उठाता। तुम शस्त्र उठा लो फिर मैं भी शस्त्र चलाता हूँ।' ऐसा कहकर उसने युद्ध किया। युद्ध ऐसा जोरदार किया कि इन्द्रको हरा दिया। तब वह इन्द्र कहता है कि देखो, संसारमें मेरेको शतक्रतु कहते हैं। शतक्रतुका अर्थ है कि सौ यज्ञ करनेवाला, तो सौ यज्ञ करनेवाला मैं एक ही हूँ। और तुम्हारा पिता मेरी ही मर्यादा भंग करके सौ यज्ञ कर रहा है। दो शतक्रतु हो जायेंगे। इस वास्ते मैं दूसरा शतक्रतु नहीं चाहता।

भगवान्‌का नाम ही पुरुषोत्तम है और कोई पुरुषोत्तम नहीं हो सकता। त्र्यम्बक एक भगवान् शंकर ही हैं और नहीं हो सकता। इसी तरह मुझे शतक्रतु कहते हैं। मेरेको छोड़कर दूसरा शतक्रतु नहीं हो सकता। इस वास्ते यह यज्ञ मैं पूरा नहीं होने दूँगा। घोड़ा मैं ले जाऊँगा। ऐसा कहकर उसने युद्ध किया तो युद्ध करनेमें इन्द्र हार गया, तब भी उसने जिद्द किया तब रघुने इन्द्रसे कहा कि कोई बात नहीं; परन्तु मेरे पिताके सौ यज्ञ पूरे होने चाहिये। सौ यज्ञमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होनी चाहिये। यज्ञ तुम नहीं करने देते तो नहीं करने दो; परन्तु सौ यज्ञका माहात्म्य पूरा होना चाहिये। उसमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं रहनी चाहिये। नहीं तो लड़ो मेरेसे। ऐसा कहा तो कहा ठीक है, वरदान दे दिया कि तुम्हारे पिताको सौ यज्ञका पूरा माहात्म्य हो जायगा। तब रघु बोला—मेरी एक और बात है, तुम्हारा आदमी यहाँसे जाकर मेरे पिताजी-को कह दे कि इन्द्रने ऐसा वरदान दिया है, सौ यज्ञ आपका हो

जायगा। ऐसा वो जाकर समाचार कहे, नहीं तो मैं नहीं जाऊँगा बिना घोड़ेको लिये। तब इन्द्रके आदमीने जाकर कहा।

अभी यह कथा यों याद आ गयी कि यह एक दिव्य दृष्टि होती है, दिव्य दृष्टिसे सब चीज दीखने लग जाती है। अर्जुनको ऐसी दिव्य दृष्टि दी है। उस दिव्य दृष्टिसे भगवान्‌का अविनाशी रूप दीखने लगा। तो भगवान्‌का यह विराट्‌रूप है। 'यह' संसार नहीं है, यह तो बदलता है प्रतिक्षण; परन्तु इसमें जो भगवान् है स्वयं, वो बदलते नहीं हैं। वो विराट्‌रूपमें परमात्मा 'है' साक्षात्। अब उस साक्षात् परमात्माको साक्षात् दृष्टिवाला ही देख सकता है। दूसरा देखेगा तो विराट्‌रूप सुन लेगा; परन्तु देखेगा संसाररूपसे ही। जब भीतर पदार्थोंका, भोगोंका राग पड़ा है, रुपये, पैसों, पदार्थों आदिका महत्त्व पड़ा है, मान-बड़ाई आदिका महत्त्व पड़ा है, यह जबतक पड़ा है, तबतक वो दृष्टि खुलती नहीं, जो इसको परमात्माका स्वरूप दिख सके। देख नहीं सकता। आड़ वहीं आ जाती है। जैसे बच्चा खिलौनोंमें अटक जाता है, रुपयोंतक देख नहीं सकता, रुपया भी कोई चीज है नहीं देख सकता। ऐसे परमात्मतत्त्व है, नहीं देख सकता है वह। ऐसे ही रुपयों आदिके महत्त्वमें फँसा हुआ, जो परमात्मतत्त्व है सब जगह परिपूर्ण इन विराट्‌रूपमें, उस परमात्मरूपको नहीं देख सकता। उसकी दृष्टि संसारमें ही उलझी रहती है। बड़ा आश्चर्य है कि दिव्य रूप भगवान्‌का बताया, अव्यय रूप बताया और विराट्‌रूप दिखाया, उसके विशेषण आये हैं ये।

विचार आया कि बात क्या है ये ! तो बात यह हुई कि उस रूपको देख नहीं सकते, जबतक संसारका रूप दीखेगा, जबतक इसका आकर्षण रहेगा, प्रियता रहेगी, तबतक उस तत्त्वको जान

****

नहीं सकता। इस वास्ते वैराग्यके बिना उसको समझ नहीं सकता। तो क्या करें **'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि'** तो जहाँ विलक्षणता दीखे, वहाँ भगवान्‌का चिन्तन करे।

अब आप ध्यान देकर सुनें। अब एक बात बताता हूँ अपने कामकी। आपको कोई भी सुन्दर रूप दीखे। बहुत सुन्दर दीखे तो उस रूपपर दृष्टि न रख करके कि भाई, यह सुन्दरता कहाँसे आयी ? यह आयी हुई सुन्दरता है। क्या पहचान है कि आयी हुई है ? अगर इसकी यह सुन्दरता होती तो हरदम रहनी चाहिये। जैसे नये खिले हुए फूलकी सुन्दरता रहती है दो-तीन दिनोंके बाद वह सुन्दरता रहती है क्या ? ऐसे स्वाद है, सुन्दरता है, शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, गन्ध है, जितने जो विषय हैं, जिनमें मनुष्यका आकर्षण होता है। क्या वे विषय पहले वहाँ इतने सुन्दर थे और क्या वैसे रहेंगे। तो वह सुन्दरता उसकी नहीं है, उसमें आयी हुई है। और जिससे आयी है, वो नित्य-सौन्दर्य है वहाँ, नित्य-ऐश्वर्य है, नित्य-माधुर्य है। परमात्माके गुण विलक्षण हैं और दिव्य हैं, अलौकिक और नित्य हैं। उनकी आभाकी ये झलक आती है संसारमें। हम इन्द्रियोंके आकर्षणसे उसमें उलझ जाते हैं। वो वास्तवमें तत्त्व नहीं है। उनके भीतर जो भरा हुआ है वही तत्त्व है। उसीकी आभा आती है। तो जहाँ कहीं भी महत्ता दीखे, श्रेष्ठता दीखे, बलवत्ता दीखे, विलक्षणता दीखे, विचित्रता दीखे, वहाँ उन चीजोंको कभी भी नहीं माननी चाहिये। वहाँ ऐसा माने कि आयी हुई है इनमें, है नहीं इनमें। जीवन दीखता है जीते हुए मनुष्य विलक्षण दीखते हैं तो भगवान् कहते हैं **'भूतानामस्मि चेतना'** (गीता १०।२२) वो चेतना मेरी है। इसीका नाम विभूतियाँ है। भगवान्‌ने विभूतियाँ बतायी हैं तो तुम इस संसारको

मत देखो। इनमें जो कुछ सार चीज है, असली चीज है। वह मेरा स्वरूप है।

अलौकिकता दीखते ही परमात्माकी ओर वृत्ति जानी चाहिये अचानक, कि यह विलक्षणता दूसरी आ नहीं सकती, इन हाड़-मांसमें हो नहीं सकती, इन चीजोंमें हो नहीं सकती। बहुत विचित्र व्याख्यान हुआ। बहुत विचित्र शास्त्रका ज्ञान हुआ, उस ज्ञानमें भी विभूति उस परमात्माकी ही है। उस विचित्र व्याख्यानमें भी उस परमात्माकी ही विभूति है। विचित्र-विवेचनमें भी परमात्माकी विभूति है। विचित्र प्रसन्नता होती है, आनन्द होता है, कीर्तन करते हैं उसमें विलक्षणता आती है, वो विलक्षणता उस परमात्माकी होती है। जहाँ कहीं आपको विलक्षणता दीखे, आकर्षण दीखे। वहाँ संसारमें न अटक करके उसके मूलमें परमात्मतत्त्वकी ओर हमारी वृत्ति जोरदार जानी चाहिये। तब उस परमात्माको पहिचान सकेंगे और इसमें उलझ गये, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमें, संसारमें तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। क्योंकि हम तो यहाँ नकलीमें ही उलझ गये, यहाँ ही फँस गये। तो इसमें न फँस करके, उस परमात्मतत्त्वकी ओर वृत्ति जावे। यही विभूतियोंका अर्थ है, यही विश्वरूपका अर्थ है, उस परमात्मतत्त्वको ठीक-ठीक तरहसे जानना चाहिये। सबमें वह परमात्मा परिपूर्ण है। सब देशमें है, सब कालमें है, सब वस्तुमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सम्पूर्ण घटनाओंमें है; परन्तु देखनेवाला इन घटनाओंमें, परिस्थितियोंमें, वस्तुओंमें, व्यक्तियोंमें, इन क्रियाओंमें उलझे नहीं और उसको देखे तो वह दीखेगा। और इनमें उलझ जावोगे तो वह नहीं दीखेगा। यहीं फँस जायगा।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

गृहस्थमें लोक-परलोक-सुधार

१७-२-८३ गोविन्द-भवन

कलकत्ता

प्रश्न—हम गृहस्थाश्रममें रहते हैं, उसमें बहुत उलझनें रहती है। उसमें रहते हुए हम लोक और परलोक कैसे सुधार लें ?

आप ध्यान दें मेरी बातोंपर। हमलोगोंकी यह धारणा है कि गृहस्थमें बाहरके बहुत काम रहनेसे, बहुत झंझट रहनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। बाहरके सब झंझट मिट जायँ तो हम परमात्माकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस विषयमें विचार करनेसे यह बात मालूम देती है कि बाहरके काम-धन्धोंसे बन्धन नहीं है। भीतर जो संसारको अपना मान लिया और अपनेको संसारका मान लिया, यही बन्धन है। जहाँसे बन्धन होता है, वहाँसे ही मुक्ति होती है। संसारके साथ तो हमारा सम्बन्ध है और परमात्मासे तो परमात्माका भजन करके सम्बन्ध जोड़ेंगे, यह धारणा गलत है। भगवान्‌से हमारा सम्बन्ध वास्तविक है और संसारसे हमारा सम्बन्ध जोड़ा हुआ है। इसको अपना न मानें और भगवान्‌को अपना मानें। भगवान् अपने हैं—ऐसा अगर हम मान लें और जान लें तब तो फिर कहना ही क्या है ? पर अभी मान भी लें तो फिर गृहस्थाश्रममें रहते हुए यह काम-धन्धा झंझट नहीं लगेगा। गृहस्थके कामको आप बन्धन मानते हैं, जब कि यह बन्धन नहीं है।

****

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

भगवान्‌ने युद्धके आरम्भमें अर्जुनको गीता सुनायी, उसमें बताया कि जय-पराजय, हानि-लाभ और सुख-दुःख इनको समान समझ करके फिर तुम युद्ध करो, तुमको पाप नहीं लगेगा। आपके गृहस्थका कर्म युद्ध-जैसा क्रूर नहीं है। युद्धमें तो दिनभर लोगोंका गला काटना पड़ता है। मनुष्योंको मारना पड़ता है। ऐसे कामसे भी तुम्हें पाप नहीं लगेगा। कब ? जब जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर युद्ध करोगे तब हम संसारकी उन्नति-को उन्नति और संसारकी अवनतिको अवनति मानेंगे, तब तो यह समता नहीं होगी। संसारके लाभको हम लाभ मानेंगे और संसारकी हानिको हम हानि मानेंगे, तबतक समता नहीं आयेगी। गृहस्थमें ही क्या ? अगर साधुमें भी ऐसी इच्छा हो कि अपने सम्प्रदायका प्रचार अच्छा हो जाय, लोग हमारेको आदर दें, लोग हमारेको अच्छा मानें, हम आरामसे रहें, तब तो वह साधु गृहस्थसे किसी दर्जेमें कम नहीं है।

गृहस्थाश्रममें रहते हुए भीतरसे यह भाव रहे कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं। भगवान्‌का ही यह कुटुम्ब है और इसके पालनकी जिम्मेवारी मेरेपर है, पर ये मेरे नहीं हैं और मैं इनका नहीं हूँ। इनके पालन-पोषणकी जिम्मेवारी मेरी है और यह काम मेरेको करना है, ऐसे समझकर जो गृहस्थमें काम करता है तो वह काम करता हुआ भी बँधता नहीं; क्योंकि बन्धन काम-धन्धेमें नहीं है, व्यक्तियोंमें नहीं है, वस्तुओंमें नहीं है। अपने-आपके भीतर बन्धन है, जो कि इनमें आपने अहंता और ममता की है। संसारमात्रका छोटा-सा अंग शरीरको मैं मान लिया

****

अर्थात् अपनेको शरीर मानने लग गया ***'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा।'*** पाँच भूतोंसे रचा हुआ यह संसार है। इसका छोटा-सा टुकड़ा यह शरीर, इसको आपने मैं मान लिया और इस संसारके कुछ व्यक्तियोंमें, वस्तुओंमें कर लिया मेरापन। यह मैं और मेरापन है बन्धन !

मैं मेरेकी जेवड़ी गल बन्ध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बन्धे जाके राम आधार॥

मेरा मानना ही है तो मात्र संसारको मेरा मान लो। फिर मात्र संसारकी सेवा करो तो मुक्ति हो जाय और इन सबमें मैं हूँ ऐसा मान लो तो मुक्ति हो जाय।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

अपनेको रख लिया संसारमें, मानो शरीरमें और शरीरको रख लिया अपनेमें। अपनेमें शरीरको रख लिया, यह हो गयी अहंता और अपनेको संसारमें रख लिया यह हो गयी ममता और '**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥**' (गीता २। ७१) यह अहंता और ममता छोड़नी पड़ेगी। कोई गृहस्थमें रहे, चाहे साधु आश्रममें रहे। काम-धन्धा थोड़ा रहे चाहे ज्यादा रहे। छोटे-से अंशको अपना मान लिया न अब चाहे साधु बनो, चाहे गृहस्थ बनो, बन्धन हो गया, इसमें गृहस्थ और साधुका भेद नहीं है। इस विभागसे विशेष लाभ हो जाय, यह बात नहीं। साधुको थोड़ा समय अधिक मिल सकता है, अगर वह चाहे तो और यदि साधु भी इसी काम-धन्धेमें लगा हुआ है तो उसको भी वक्त नहीं मिलता।

आप विचार कर देखो, आपके एक गाँवमें, एक घरमें, काम-

धन्धा रहता है तो उसका बन्धन रहता है। मेरे बहुत-से गाँव हैं। बहुत-से घर हैं और बहुत-से मनुष्य मेरे परिचित हैं तथा वे सब मेरेसे आशा रखते हैं, आपके गृहस्थमें इतना बन्धन नहीं है। अगर घर-गृहस्थमें बन्धन हो तो मेरे बहुत बड़ा बन्धन होना चाहिये और होगा ही हमारे बन्धन, अगर उनको अपने लिये मानें तब तो। हम अपने लिये न मानें और उनके लिये ही सम्बन्ध रखें तो हम नहीं बँधेंगे। हमारे लिये उनसे सम्बन्ध रखेंगे तो इतना बड़ा बन्धन होगा कि गृहस्थसे भी कभी नहीं होता।

हमारे लिये उनको मानेंगे तब वहाँ मान मिलेगा, बड़ाई मिलेगी, आराम मिलेगा, भोजन मिलेगा, कपड़ा मिलेगा, सवारी मिलेगी, पुस्तकें मिलेंगी, सुविधा मिलेगी, मान-बड़ाई, आराम आदि मिलेगा। अगर ऐसा सम्बन्ध रखते हैं तो गृहस्थकी अपेक्षा साधुके ज्यादा बन्धन होगा; क्योंकि उसका बहुतों-से सम्बन्ध है। अगर हम अपने लिये न करके केवल उनके लिये ही सम्बन्ध रखें कि उनका हित कैसे हो ? उनका उद्धार कैसे हो ? उनका भला कैसे हो ? मेरा शरीर है, मन है, वाणी है, इन्द्रियाँ हैं, भाव है, ये उनकी सेवामें ही लग जायँ। जितना लग गया, उतना हमारे लाभ हो गया। हमारा बड़ा भारी कल्याण होगा और हमने उनसे जितना ले लिया, उतना हमारा नुकसान हो गया, हानि हो गयी। ऐसा विचार रखकर लोगोंके साथ सम्बन्ध रखा जाय तो अपना बन्धन नहीं होगा। ऐसे मुक्ति आपके गृहस्थमें रहते हुए हो सकती है।

माँ मेरा कहना करे, पिताजी मेरा कहना करें, स्त्री मेरे हुकुममें चले, बाल-बच्चे भी मेरा कहना करें, भाई, भौजाई, भतीजा आदि भी मेरा कहना मानें, मेरा आदर करें, मेरे कहे अनुसार चलें जब-

तक यह भाव रहेगा तबतक कभी कल्याण नहीं होगा। इसकी जगह यह भाव हो जाय कि इनकी सेवा मेरेसे बन जाय, किसी तरहसे सुख पहुँच जाय, इनको आराम पहुँच जाय तो मुक्तिमें कोई बाधक नहीं होगा। मनुष्यकी एक बड़ी भारी कमी है कि वह अपना आधिपत्य चाहता है, मेरा आधिपत्य रहे, मेरी बात चले, मैं कहूँ ज्यों दूसरा करे—ऐसा जो अपना अधिकार चाहता है न, तो यह तो कुत्ता भी चाहता है। कोई दूजा कुत्ता आ जाता है तो यहाँका कुत्ता दौड़ता है काटनेके लिये, वह काटे तो दूजे काटते हैं, वह नीचे गिर जाता है और जीभसे 'उं उं' करने लग जाता है तो दूजा कुत्ता उसपर चढ़कर सवार हो जाता है, अब आधिपत्य हो गया उसपर, इस वास्ते वह काटेगा नहीं। उसने उसका मातित अपनेको मान लिया।

आपलोग मेरी बात मान लें। इस अधिकारका अभिमान रखेंगे तो बन्धन होगा ही। साधु हो जाओ, चाहे गृहस्थी हो जाओ। भाई हो, चाहे बहिन हो। कोई क्यों न हो? गृहस्थके झंझट बाँधनेवाले नहीं हैं, पदार्थ बाँधनेवाले नहीं हैं, 'ये मेरे हैं' इस वास्ते इनका पालन करूँ, इनका पोषण करूँ। ये मेरेको अपना मानें और मैं इनके साथ रहूँ—यह बन्धन है। केवल उनके पालनके लिये सम्बन्ध रखें। संसारमें अपने लिये नहीं रहना है, संसारके लिये रहना है। गृहस्थमें रहना है तो गृहस्थ अपने लिये नहीं है। अगर ऐसे भाव बदल दिया जाय तो बन्धन स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। अगर यह सावधानी रहेगी तो स्वप्नमें भी बन्धन नहीं होगा। जाग्रत्‌में भी बन्धन नहीं होगा, हो ही नहीं सकता बन्धन! मेरा कुछ मतलब सिद्ध हो जाय इस भावनामें बन्धन है। गृहस्थमें रहता हूँ, इनसे मैं सुख ले लूँ, इस वास्ते गृहस्थका पालन

****

करूँ—यह सम्बन्ध कुत्तेकी तरह ही है, कोई फर्क नहीं है।

मेरे द्वारा सबका हित हो जाय, उसमें सबसे पहले, अगर गृहस्थमें है तो अपने कुटुम्बका पालन करो, उसके बाद दूसरोंका भी भरण-पोषण करो। इनका काम करनेके लिये मैं रहता हूँ, अपने लिये नहीं। तो वह जीवेगा भी सुखसे और मरेगा भी सुखसे। अगर मेरे लिये ये हैं और मैं इनसे सुख ले लूँ—ऐसा भाव रखेगा तो वह जीवेगा भी दुःखसे और मरेगा भी बड़े भयंकर दुःखसे। बन्धन और मुक्ति कहाँ है ? मेरा आधिपत्य हो, समाजमें मेरी बात चले, मैं करूँ ज्यों हो जाय, मेरे हुकुमके अनुसार सब चलें—यह भाव बाँधनेवाला है और मैं इनका कहना करूँ, इनका हुकुम पालन करूँ, इनकी आज्ञा पालन करूँ, इनका भला हो जाय, मैं किस तरहसे इन सबके अनुकूल चल सकूँ—ऐसा भाव हो जाय तो यह भाव मुक्ति देनेवाला है। तो मुक्ति और बन्धन यहाँ हैं। गृहस्थमें रहते हुए झंझट ज्यादा रहता है, समय नहीं मिलता—यह बात ठीक है; परन्तु बन्धन यह नहीं है।

अभी बड़ा सुन्दर मौका है, मनुष्योंकी सेवा करनेके लिये अवसर मिला है, सेवा कर दो। घरमें कोई रहे तो उसकी सेवा करो, मर जाय तो जला दो। उसके पीछे विधिपूर्वक पिण्डदान आदि कर दो। जैसे, हम अध्याय पढ़ते हैं तो पढ़ते-पढ़ते अध्याय पूरा हो जाता है, अध्याय पूरा होनेपर रोते हैं क्या ? कि अब अध्याय पूरा हो गया। ऐसे ही एक व्यक्तिकी सेवा करते-करते वह मर गया, उसकी सेवा कर दी। मरनेके बाद जो करना है, वह कर दिया तो एक अध्याय पूरा हो गया; अब दूजा अध्याय शुरू करो। रोना क्यों होता है ? यह हमारे अनुकूल चलता था, खूब सेवा करता था, मेरा था, वह चला गया। मेरा था और सेवा

करता था इस बातका रोना है, मनुष्यका रोना नहीं है। यह अगर पहलेसे छोड़ दे तो आपका गृहस्थ बिलकुल बाधक नहीं होगा।

प्रश्न—श्रेष्ठ सेवा क्या है ?

उत्तर—सबका कल्याण चाहना, उनका कल्याण हो यह चाहना श्रेष्ठ सेवा है।

प्रश्न—घरमें या कार्यालयमें अनुशासनहीनता दिखायी पड़ती है तो उसमें क्या करें ? सोचते हैं कि यह छोड़ दें, इससे मुक्ति पा लें।

उत्तर—उनको रोकनेके लिये शासन करो। अर्जुनने तलवार बजायी है, उससे बढ़कर आपका शासन क्या क्रूर होगा ? मनुष्योंका गला काट देना, इससे बढ़कर कोई क्रूर होता है क्या आपका शासन ? इसमें यह भाव न हो कि यह मेरा कहना करे, मेरी बात माने; क्योंकि इसमें है बन्धन। यह सुचारुरूपसे करे, संचालन अच्छी तरहसे हो, संस्था ठीक चले। गृहस्थ ठीक चले, उनका हित हो, इसके लिये खूब ताड़ना करो, खूब करो शासन, आपके बाधा होगी ही नहीं। बाधा तो स्वार्थमें है, अभिमानमें है। मेरी बात रहे, यह अहंकार है—

अहंकार राक्षस महा दुःखदायी सब भांति।
जो छूटे इस दुष्टसे, सोई पावे शांति॥

शासन करो, पर करो उनके हितके लिये, अपने लिये नहीं। दूसरे कितना भी उलटा समझो, आप अगर ठीक करते हो तो आपके बन्धन नहीं होगा। किसी अधिकार, पदसे मुक्ति पानेका मैं कहता ही नहीं। ऐसी मुक्ति पाना गलती है इसमें तो आरामतलबी है, भोग-सुखसे रहूँ, मेरे झंझट मिट जाय, यह बात है। झंझटसे सब बचना चाहते हैं। आराम चाहता है, एकान्तमें रहेंगे, भजन-साधन करेंगे, कोई झंझट नहीं होगी। एकान्त रहनेसे

नींद खुली आयेगी अच्छी तरहसे। संसारके संकल्प होंगें, मौजसे सोयेंगे, आरामसे रहेंगे। वह भोगी है भोगी, वह योगी है ही नहीं ! इससे मुक्ति कैसे हो जायगी ! उसका कैसे कल्याण हो जायगा ! संसारसे वैराग्य होता है तो भोगोंसे होता है कि झंझटसे वैराग्य होता है ? भोगोंसे वैराग्य होना चाहिये। झंझट समझकर वैराग्य होता है तो वह वैराग्य थोड़े ही है। ऐसा वैराग्य तो कुत्तेको भी होता है। लाठी लेकर उसके पीछे दौड़ो तो वह भाग जायगा; क्योंकि उसको लाठीकी मार खानेसे वैराग्य है। यह भी कोई वैराग्य होता है क्या ? सुख-भोगसे, आरामसे, मान-बड़ाईसे, जब राग-रहित होता है तब वैराग्य होता है।

प्रश्न—दो-चार सज्जन मिलकर काम करते हैं, आपसके विचारोंमें मतभेद हो तो क्या करें ?

उत्तर—अपना मत उनके सामने रख दें। दोनोंमेंसे जो न्याययुक्त हो उसको मानें और अगला व्यक्ति कह दे कि नहीं, ऐसा ही करें तो उस समय अपना मत उसके मतमें मिला दें। विपरीत हो तो मत मिलाओ। देखो ! एक बात याद आ गयी। मैं आसाम गया था। देवर गाँवकी बात है। उस गाँवको चारानी भी कहते हैं। वहाँ मैंने कहा कि 'बड़ोंको नमस्कार करो।' तो वे लोग बोले कि अभी थोड़े दिन पहले यहाँ श्रीनेहरूजी आये थे। उनको किसीने नमस्कार कर लिया तो उन्होंने उसके थप्पड़ मारी और कहा कि इसी रिवाजने ही भारतको गुलाम बनाया है। आप कह रहे हो कि बड़ोंको नमस्कार करना चाहिये। तो अब हम किसका कहना करें ? मेरे सामने ऐसा प्रश्न आया कि तुम्हारा कहना मानें कि नेहरूजीका ? इसपर मैंने उत्तर दिया—'जहाँ मेरा और नेहरूजीका कहना हो और दोनोंमें मतभेद हो तो नेहरूजीका कहना करो, मेरा कहना मत करो और शास्त्रोंकी बात

आती है तो वहाँ न मेरा कहना करो, न नेहरूजीका कहना करो, शास्त्रोंका कहना करो।

शास्त्रोंमें आता है जब महाभारतका युद्ध हुआ, उस समय युधिष्ठिरजी महाराजने भीष्मजी, द्रोणाचार्यजी, कृपाचार्यजी, शल्यजीको जाकर नमस्कार किया और आज्ञा माँगी। फिर युद्ध किया, तो अन्तमें विजय उनकी हुई। दुर्योधनने नमस्कार नहीं किया, तो उसकी पराजय हुई। नमस्कार करना पराजय है क्या ? नमस्कार करना तो बड़प्पन है। उसकी तो उन्नति ही होगी। छोटा होता है, वह बड़ेसे लेता है। बड़ेको तो देना पड़ता है। हमारे सामने मतभेद हो तो उनकी बात मानो, हमारी मत मानो और शास्त्रोंकी बात है तो मेरी, उनकी दोनोंकी बात मत मानो, शास्त्रकी बात मानो। जो दुनियाके ज्यादा लाभदायक हो, वह बात चाहे किसीकी हो, उसकी मानो।

अपने स्वार्थका त्याग और दूसरोंका हित हो—ये दो बातें देखनी चाहिये। उनकी बात ऐसी है तो उनकी मान लो। हमारी बात ठीक है तो हमारी मान लो। यह कसौटी लगा लेना चाहिये। नियत और ठीक होगी और कभी भूल हो जायगी तो दोष नहीं लगेगा।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

मनुष्यकी मूर्खता

८—३—८३

गोविन्द-भवन

कलकत्ता

जैसे, हम अपने मकानके दरवाजेपर खड़े हैं और बाहर सड़कपर बहुत-सी मोटरें, बग्गियाँ, आदमी आदि निकलें तो हम खुशी मनावें कि बहुत अच्छा हुआ। दूसरे दिन कोई मोटर नहीं आयी, बग्गी नहीं आयी, एक आदमी भी नहीं आया, सड़क खाली पड़ी है तो हम रोने लग जायँ कि आज बड़ा भारी घाटा लग गया, हमारे बहुत नुकसान हो गया। बोलो, वह आदमी बुद्धिमान् है क्या ? इसी तरहसे आपकी अवस्था अच्छी आ गयी, आपके धन आ गया, बेटा-पोता हो गया, मकान हो गया, मोटर हो गयी तो आप राजी हो गये और ये चले गये तो आप नाराज हो गये—यह महान् नुकसान है, महान् मूर्खता है। आप परमात्माके साक्षात् अंश हो और उन तुच्छ चीजोंके अधीन हो गये। ये आने-जानेवाली हैं, इनको लेकर हम यह समझें कि हम विद्वान् हो गये, हम पण्डित हो गये, हम धनी हो गये। हमारे सुननेवाले आदमी बहुत ज्यादा आ जायँ तो राजी हो जायँ तो यह महान् मूर्खता है। सुननेवाले आ गये ज्यादा तो क्या फर्क पड़ा ? कोई नहीं आवे सुननेके लिये तो क्या हो गया ?

आपका मूल्य आगन्तुक वस्तुओंके आने और जानेसे बिलकुल नहीं है। जो नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मा हैं, उनकी

प्राप्तिसे ही आपका मूल्य है। आपका आगन्तुक चीजोंसे कोई मूल्य नहीं है। अगर आप चाहो तो आज इस बातको हटा दो। भगवान्‌ने गीताजीके आरम्भमें कहा है—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।**' (गीता २।१४) ये आने-जानेवाले हैं, इनकी क्या परवाह करते हो! कितना ही मान हो जाय, चाहे कितना ही अपमान हो जाय, कितनी ही निन्दा हो जाय, चाहे कितनी ही प्रशंसा हो जाय! कितना ही धन आ जाय, चाहे कितना चला जाय! आने-जानेवालोंसे क्या फर्क पड़ेगा? तो आदमी ज्यादा आ गये तो क्या हो गया? और कम आ गये क्या हो गया? आपके साथ इनका सम्बन्ध है ही नहीं। ऐसे शरीर रोगी हो गया तो क्या हो गया? नीरोग हो गया तो क्या हो गया? आपके क्या हो गया? क्या आप शरीर हो? क्या शरीर आपके साथ है? यह आपके साथ रहेगा? धनके रहने-न-रहनेसे आप अपनी इज्जत-बेइज्जत मानते हो, इसके सिवा मूर्खता और क्या होती है? महान् मूर्खता है यही। इन चीजोंके आनेसे आप अपनेमें बड़प्पन और चली जानेसे छोटापन मानते हो। कितनी बड़ी गलती है! बड़ी भारी गलती है। इसमें शंका हो तो खूब कसकर शंका करो।

आने-जानेवाली चीजोंसे अपनेमें फर्क पड़ जाय—यह महान् मूर्खता है। ये चीजें तो आने-जानेवाली हैं। कुटुम्ब भी आने-जानेवाला है, धन भी आने-जानेवाला है। अधिकार, पद आदि भी आने-जानेवाले हैं। मिनिस्टर बन गये तो फूँक भर गयी कि हम बड़े हो गये। क्या हो गये तुम? मूर्खता है सांगोपांग, एक केश-जितनी भी इसमें सत्यता नहीं है। आप बताओ, क्या हुआ? आज हम हिन्दुस्तानके बादशाह बन जायँ और कल तिरस्कार-

पूर्वक उतार दे तो क्या इज्जत है इसकी ? और मरना पड़ेगा ही, सब छूटेगा ही उस दिन क्या साथमें रहेगा ? इन नाशवान् चीजोंको लेकर आप अपनेमें बड़ापन और ऊँचापन देखते हैं, यह वास्तवमें कोई इज्जत है ? यह कोई मनुष्यता है ? परमात्माके आप साक्षात् अंश हो, उसकी प्राप्ति करो तब तो अपनी जगह आ गये, ठिकानेपर आ गये। नहीं तो ठिकानेसे चूक गये और आने-जानेवाली चीजोंमें बँध गये। ख्यालमें आता है कि नहीं ? शंका हो तो खूब खुलकर करो। हो नहीं सकती शंका ! ठहर नहीं सकती ! टिक नहीं सकती !

अविनाशीके सामने विनाशी चीज क्या मूल्य रखती है ? उन चीजोंसे राजी और नाराज होते हो। महान् दुष्टता है यह। यह बड़ी भारी दुष्टता है। इस वास्ते इन आने-जानेवाली चीजोंसे अपनी इज्जत-बेइज्जत मत मानो। निन्दासे, प्रशंसासे दुःखी और सुखी मत होवो। आपकी इज्जत है नहीं यह। निन्दासे नाराज होना भी बेइज्जती है और प्रशंसासे राजी होना भी बेइज्जती है। महान् फजीती है आपकी। इसके समान फजीती और कोई है ही नहीं। कौन हो आप ? परमात्माके साक्षात् अंश हो। दो-चार आदमियोंने ठीक कह दिया तो क्या हो गया और दुनियामात्र बुरा कह दे तो क्या हो गया ? क्या है यह ? यह कोई मूल्य है क्या ? यह कोई स्थायी चीज है ? आपके साथ रहनेवाली है ? ऐसे जानेवालीको लेकर राजी और नाराज होते हो, सुखी-दुःखी होते हो। यह महान् मूर्खता है। छोटी-मोटी मूर्खता नहीं है, बड़ी भारी मूर्खता है।

'समदुःखसुखः स्वस्थः'—जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें

समान भाववाला ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है। जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है। (गीता १४। २४-२५) वह गुणातीत आप हो! गुणातीत बनते नहीं हो! बनी हुई गुणातीत अवस्था टिकेगी नहीं। अगर अभ्यासके द्वारा गुणातीत बनोगे तो वह गुणातीत होना कोई कामका नहीं है। आप स्वयं गुणातीत हो! साक्षात् परमात्माके अंश हो! आप अपनेको भूल गये। कितनी अवस्थाएँ बदली हैं! बालक, जवान, वृद्ध-अवस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्था, मान-अपमानकी अवस्था, निन्दा-स्तुतिकी अवस्था, घाटे-नफेकी अवस्था सब बीती है, पर आप वे-के-वे ही रहे। फिर भी आने-जानेवाली चीजोंके साथ हाँ-में-हाँ मिलाकर हँसने और रोने लग जाते हो।

होश आया कि नहीं? आप जरा सोचो। क्या कर रहे हो? अगर ऐसा ही करोगे तो दुःख पाओगे! दुःख! दुःख! दुःख! याद कर लो। और आज अगर इससे ऊँचे उठ जाओगे तो महान् आनन्द होगा। जो किसी जन्ममें कभी नहीं हुआ, वह आनन्द होगा और सबको हो जायगा। जो ऊँचा उठ जायगा, उसको महान् आनन्द होगा। जिन लोगोंने ऐसा किया है, उनके आनन्द हुआ है, होता है और होगा। होनेकी रीति है। यह बिलकुल हमारे हाथकी बात है, कठिन बात नहीं है। इसमें किसीकी सहायताकी जरूरत नहीं है। सहायता करनेवाले भगवान्, सन्त, महात्मा, धर्म और शास्त्र सब हमारे साथमें हैं, पर सुखी-दुःखीके साथ कोई नहीं है। घरवाले भी नहीं हैं। खास माँ-बाप नहीं हैं। बेटा-बेटी

नहीं है, लुगाई (स्त्री) आपके साथमें नहीं है, कोई आपके साथ नहीं है। ऐसी बेइज्जती कराते हो, मनुष्य होकर ऐसी फजीती कराते हो अपनी ! राम ! राम ! राम !

भगवान्ने अपनी प्राप्तिका अधिकार दिया। उस अधिकारको लेकर इतना अनर्थ करते हो ? क्या दशा होगी। आज सुधर जाय अभी-अभी सुधर सकते हैं। हम इन आने-जानेवाली चीजोंमें सुखी-दुःखी नहीं होंगे, बस। केवल इतनी बात है, लम्बी-चौड़ी है ही नहीं। सुख-दुःख हो जाता है तो होने दो, कोई पुरानी आदतसे हुआ है, हम नहीं मानेंगे। उठाकर फेंक देंगे हम। आपमें वह ताकत है। आपमें वह सामर्थ्य है। भगवान् भी सहायता देनेके लिये तैयार हैं। साधु, सन्त, महात्मा जितने हैं, सब हमारे पक्षमें हैं। सुखी-दुःखी होते रहेंगे तो कोई हमारे पक्षमें नहीं होगा और तो कौन होगा ? आपका शरीर भी साथमें नहीं रहेगा। कोई आपके साथ नहीं। इसमें कोई सन्देह हो तो बोलो। काम, क्रोध, लोभ तभी आते हैं, जब आने-जानेवाली चीजसे आप अपनी उन्नति और अवनति मानते हो। आने-जानेवाली चीजसे अगर सुखी-दुःखी नहीं होते तो काम और क्रोध कैसे आते, बताओ ! होशमें आकर बोलो ! सिवा आने-जानेवाली चीजके और क्या है ये काम, क्रोध और लोभ !

सच्ची बातके सामने कच्ची बात कैसे टिकेगी ? और दुःख ही पाना है तो, अंगारोंमें हाथ दो। आने और जानेवाली चीजोंसे राजी और नाराज न हो तो कौन-सा दोष रहेगा ! है ही नहीं कोई दोष। होशमें आकर बोलो ! खास मूल एक ही बात है कि आने-जाने-वालोंसे राजी-नाराज न होना। कहते हैं, हमारे मिटता नहीं। बालकके भी मनकी बात नहीं होती तो बालक रो पड़ता है।

आपको रोना आता है कि नहीं ? आप जैसा चाहते हो, वैसा नहीं होता तो नींद आती है कि नहीं ? भूख लगती है कि नहीं ? बात सुहाती है कि नहीं ? मौजसे जीते हो, खाते-पीते हो, सो जाते हो, तब तो नहीं मिटेगा। और बेचैनी हो जाय तो अभी मिट जायगी। टिक नहीं सकती। बेचैनी वशकी बात नहीं तो रोना तो आपके वशकी बात है कि नहीं ! दुःखी होना वशकी बात है कि नहीं ? जहाँ वशकी बात नहीं होती तो वहाँ रोता है आदमी। सच्ची है कि झूठी ?

अपना वश नहीं चलता, वहाँ रोता है कि नहीं रोता है ? आप तो कहते हैं कि रोना वशकी बात नहीं है, पर वास्तवमें रोना बन्द होना वशकी बात नहीं है। बातें बनायी हैं बातें, गहरे उतरे नहीं हो ! हमारे वशकी बात न हो और करना चाहते हैं तो सुखी रह सकते हैं क्या ? कोई काट नहीं सकता इस बातको। किसीकी ताकत नहीं, जो काट दे ! इतनी पक्की बात है एकदम सिद्धान्तकी! आप विचार करो, शान्तिसे विचारो। आने-जानेवाली चीजोंसे सुखी-दुःखी मत होवो। आप रहते हो, चीजें आती-जाती हैं, परिस्थितियाँ आती-जाती हैं। आप अलग हो, आने-जानेवाली चीजें अलग हैं और वे एक रूप नहीं रह सकतीं तो राजी-नाराज कैसे रह सकते हो ?

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

बेईमानीका त्याग

९-३-८३ गोविन्द-भवन

कलकत्ता

एक परमात्मा है और एक संसार है—ये दो चीजें हैं। यह जीवात्मा परमात्माका तो अंश है और इसने संसारको पकड़ा है—खास बात यही है। संसारने इसको नहीं पकड़ा है, इसने संसारको पकड़ा है। जिसको पकड़ना आता है, उसको छोड़ना भी आता है। जैसे अपनी कन्याको आप अपनी पुत्री मानते हैं। उसको ब्याह देनेपर आपकी पुत्री होते हुए भी आप उसे बिलकुल भीतरसे अपनी नहीं मानते। बाई अपने घर चली गयी। अपना मानना और अपना न मानना आपको आता तो है ही। परमात्मा तो है अपना और संसार अपना नहीं है—यह सच्ची बात है, सार चीज है यह। इससे निहाल हो जाओगे, बस। यह सच्ची बात है, यह बनावटी बात नहीं है। इसमें कुछ उद्योग करना पड़ेगा या परिश्रम करना पड़ेगा ऐसा नहीं है। केवल इस बातको स्वीकार कर लें कि यह शरीर और संसार हमारा नहीं है और परमात्मा हमारे हैं।

इसीको गीतामें कहा—'**मामेकं शरणं व्रज।**' एक मेरी शरण हो जा, यह गीताका सार है। हम केवल भगवान्‌के हैं और केवल भगवान् ही हमारे हैं। संसारके हम नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है। **अब संसारके साथ सम्बन्ध क्या है?** कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ,

****

शरीर आदि ये सब संसारके हैं और संसारसे मिले हैं। इनको संसारकी सेवाके लिये लगाना है। कुटुम्ब, धन, सम्पत्ति आदि संसारसे मिले हैं, इनको अपने लिये मानना महान् धोखा है, महान् नरकोंका रास्ता है। रुपया-पैसा अपने लिये मानना महान् बेईमानी है। न्याययुक्त कमाओ; परन्तु जहाँ आवश्यकता देखो, वहाँ उदारतापूर्वक खर्च करो। उनका मानकर खर्च करो, अपना मानकर नहीं। अपने रोटी खा ली, अब बची रोटी किसकी है ? पता नहीं। अपने कपड़ा पहन लिया, अब बचा हुआ किसका है ? पता नहीं। जिसको रोटी न मिले, जिसको कपड़ा न मिले, उसकी है वह। उसकी उतनी ही है, जितनी वह रोटी खा सके, जितना कपड़ा पहन सके। उतनी देंगे भाई, उतनी हम लेंगे। जिसको जितनी जरूरत है, उसको उतनी दे दो और दे दो उसकी समझकर। वह उसके पाँती (हिस्से) की है, अगर यह भाव बना लोगे तो निहाल हो जाओगे।

मैं यह नहीं कहता कि सब छोड़ दो, साधु हो जाओ, त्यागी हो जाओ, किन्तु आप जहाँ हैं, वहीं रहते हुए जिसके अभाव हो, उसको उतनी दे दो चुपचाप। लोगोंमें ढिंढोरा मत पिटाओ। किसीके ओषधिकी जरूरत हुई तो ओषधिका प्रबन्ध कर दिया। जिनके बालकोंकी पढ़ाई नहीं हो रही है, ऐसी गरीब विधवा माताएँ हैं, उनके बच्चेकी पढ़ाईका प्रबन्ध कर दो। कितना ? आपके बच्चोंकी पढ़ाईका प्रबन्ध करनेपर रुपये बचे तो, नहीं तो कोई परवाह नहीं। इस प्रकार देनेपर भी इनमें कोई अभिमानकी बात नहीं है; क्योंकि आपके पास जो बचा हुआ था, वह उसीका ही था, उसको दे करके समझो कि ऋण चूक गया आज। नहीं तो हमारेपर ऋण था, यह कर्जा था, कर्जा चूक गया। जिसने ले

लिया, उसकी कृपा मानो कि मेरेको उऋण कर दिया, ऐसी कृपा मानो। यह बात बहुत सच्ची है।

देखो ! हमलोग सुनानेवाले हैं न चाहे अभिमान भले ही कर लें कि हम सुनाते हैं; परन्तु हम वही सुनाते हैं, जो आपकी चीज है। आप मान सकते हो कि स्वामीजीने हमारेको यह बताया, पर सच्ची बात तो यह है कि आपकी चीज ही आपको दी जाती है। गीताप्रेसके संस्थापक श्रीजयदयालजी गोयन्दका कई दफे पूछते थे बोलो क्या सुनावें ? तो मेरे कहनेका काम पड़ा है कि जो हमारी है, वो दे दो। सच्ची बात है, वह ज्ञान आपका है, बिलकुल आपका है, वही मैं दे देता हूँ। अगर मैं यह अभिमान करता हूँ कि 'मैं देता हूँ' तो यह बड़ी गलती है, इसका दण्ड होगा। आपकी बात आपको दे दूँ तो उऋण हो जाऊँ। जबतक नहीं दी, तबतक ऋणी था। आपने ले ली तो मेरा ऋण उतर गया। कर्जा उतर गया। आपने मेरेको निहाल कर दिया, कर्जेसे रहित कर दिया एकदम सच्ची बात है।

मैं, मेरी देखी हुई अनुभवकी बात बताता हूँ। ऐसी बातें बीती हैं, जहाँ मैंने कहा कि बहुत बढ़िया बात बताऊँगा तो वहाँ समय-पर बात उपजी नहीं है। मैंने खूब जोर लगाया, पर समय पूरा करना मुश्किल हो गया—यह मेरी बीती हुई बात है। जहाँ मैंने कहा कि भाई, हमारेको तो कुछ आता नहीं, हम जानते नहीं हैं—ऐसा भाव रहता है तो इतनी बातें कहनेमें आती हैं कि आश्चर्य आता है मेरेको ! यह हमारा अनुभव बताया है आपको। तात्पर्य यह हुआ कि आपकी बात ही आपको देनी है, यह सच्ची बात है। इसी तरह जो चीजें आपके पास हैं, उनको संसारकी समझकर संसारको देनी हैं। जो हमारे पास नहीं है, जैसे—धन हमारे पास है नहीं,

तो धन देनेकी हमारेपर जिम्मेवारी नहीं है। जो बातें हम जानते हैं, आप पूछते हो और हम नहीं बतावें तो हमारेपर कर्जा है। बता देते हैं तो कर्जा उतर गया। आपने ले लिया, हमारेको हल्का कर दिया, बड़ी कृपा कर दी। इस तरहका बर्ताव करो संसारके साथ, तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है, बन्धन तो किया हुआ है।

जो अपनी चीज नहीं है उसको अपनी मानी—यही बेईमानी है और यही बन्धन है; क्योंकि ये चीजें अपनी हैं नहीं, अपने तो परमात्मा हैं और हम परमात्माके हैं। यह बात सच्ची है। जितनी मिली हुई चीजें हैं, चाहे स्थूल शरीर हो, चाहे सूक्ष्म शरीर हो, चाहे कारण शरीर हो—ये सभी संसारके हैं, संसारसे मिले हैं तो इनको संसारकी सेवामें लगा दो। अगलोंकी (उनकी) चीज अगलोंको (उनको) बता दी, उनकी चीज उनको सौंप दी और उन्होंने स्वीकार कर ली, यह उनकी कृपा है। अपने-आपको भगवान्‌को दे दिया और अपनी चीज संसारको दे दी, तो सदाके लिये निहाल हो जाओ, जो सच्ची बात है। कल मैंने कहा था कि आनेवाली और जानेवाली चीजोंसे आप सुखी और दुःखी क्यों होते हो ? जो आयी है, वह चली जायेगी। सुखी हो जाओगे तो दुःखी होना ही पड़ेगा। आनेवाली चीजसे सुखी नहीं होओगे तो दुःखी नहीं होना पड़ेगा।

जैसे इस मकानमें आ गये और अब चले जाओगे तो दुःखी नहीं होना पड़ेगा कि यह गोविन्दभवन छूट गया; क्योंकि हमने पकड़ा ही नहीं। तो इनको पकड़ना जन्म-मरणका कारण है। ऐसे सब संसारकी चीज संसारको सौंप दो और अपनेको परमात्माको सौंप दो तो बिलकुल मुक्त हो गये। अगर सौंप नहीं सको तो भगवान्‌से मदद माँगो कि 'हे नाथ ! सच्चाईकी मदद चाहते हैं'

और सचाईकी मदद सत्यस्वरूप परमात्मा जरूर करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। झूठेकी मदद नहीं होती। सच्चेकी मदद हरेक करेगा, दुनिया करेगी, भगवान् करेंगे, धर्म करेगा, सन्त-महात्मा करेंगे, गुरुजन करेंगे, सभी करेंगे। सच्चे हृदयसे जो परमात्मामें लग जाय, उसकी दुनिया चिन्ता करती है। आजकलके गये-गुजरे जमानेमें भी उसके रोटीकी, कपड़ेकी, रहनेकी कमी नहीं रहेगी; क्योंकि वह सच्चे रास्तेपर है।

जो लूटना चाहते हैं, लेना चाहते हैं, ऐसी बहन-बेटी भी होगी तो उसको भी देना नहीं चाहेंगे। जबकि कन्याको देना चाहिये। बहनको देना चाहिये पर जो बहन-बेटी खाऊँ-खाऊँ करने लग जाती है तो उसको देना नहीं चाहते और जो कहे कि 'नहीं भैया ! मेरे बहुत है, जरूरत नहीं है' तो उसको और देनेकी मनमें आवेगी कि 'नहीं बहन ! और ले जा इतना।' आप देकर प्रसन्न होंगे और बहन भी प्रसन्न होगी तथा दूसरे लोग भी देखकर प्रसन्न होंगे। 'नहीं भैया ! हमारे बहुत है।' यह सच्ची बात है। आपके देनेसे ही उसका गृहस्थ थोड़े ही चलेगा। चलेगा तो उसके घरसे ही तो यहाँ क्यों नियत बिगाड़ो ? 'इनका ले लें इतना और ले लें'—ऐसा करके केवल अपनी नियत बिगाड़ना है और मिलेगा कुछ नहीं।

बहुत वर्षों पहले एक बात मेरे मनमें आयी थी कि ये बणिया लोग कमाते हैं तो खाते हैं, साधुओंको और ब्राह्मणोंको भी देते हैं और जहाँतक बने, ये लोग पुण्यका नहीं लेते। दान-पुण्यमें खर्च करते हैं पर ब्राह्मण कमानेमें व्यापार करते हैं, नौकरी करते हैं और मुफ्तमें दान-पुण्य भी लेते है, फिर भी ब्राह्मण इतने धनवान् नहीं होते हैं। तो क्या कारण है ? कमानेमें आपसे कम

काम नहीं करते, तो फिर धनी ज्यादा होना चाहिये न ? धन ज्यादा होना चाहिये कि नहीं, बताओ ? पर उनके पास बहुत अधिक धन है क्या ? जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा भाई। तो क्यों नियत बिगाड़ो ? 'इससे भी ले लूँ उससे भी ले लूँ' यह दरिद्रता आपके साथ चलेगी और कुछ नहीं चलेगा। मेरेको नहीं लेना है तो भी आनेवाली चीज आवेगी ही। सच्ची बात है। नियतको शुद्ध करना अपने हाथकी बात है। परायी चीजको लेना हाथकी बात नहीं है। हमें सेवा करना है, ऐसे नियत शुद्ध बना लो तो बेड़ा पार है।

मेरेको तो ऐसी बात मालूम होती है कि मुक्तिके समान सरल चीज कोई है ही नहीं। केवल बेईमानी छोड़नी है। बेईमानी भी छोड़ोगे नहीं तो क्या साधन करोगे ? एक जाटकी बात सुनी कि रेणके पास-बाहर गाँवमें रहनेवाला एक जाट था। वह रेण गाँवमें आता और दुकानपर कहता कि सेठ ! अमुक-अमुक चीज इतनी-इतनी दे दो, ये रुपये लो। वह सेठ वापस जितने पैसे लौटाता है, लेकर चल देता। न भाव पूछता, न तौल पूछता, न मोल करता। किसीने उसको कहा—'ऐसे कैसे करते हो।' तो उसने कहा—'जो मेरी चीज होगी तो उसे सेठ ले सकेगा नहीं और वह अपनी देगा नहीं।' अब एक जाट आदमीकी ऐसी बात है ! बीती हुई बात है। आप यह कर सकोगे नहीं और मैं ऐसा करनेका कहता भी नहीं; क्योंकि एकदम ऐसा कर सकोगे नहीं। और कहीं ठगी हो जायगी तो चित्तमें खनखनाहट होगी, इस वास्ते ऐसा नहीं करना है। भार उतना ही उठाओ, जितना उठा सको पर नीयत पूरी बना लो। चोर चोरी करने जाता है, वह भी अपनी चीज ही ले जाता है, आपकी नहीं ले जा सकता, ताकत नहीं है

उसमें ले जानेकी ! ऐसे उदाहरण आजकलके जमानेमें बीते हैं।

नीयत मत बिगाड़ो बाबा ! निर्वाह होनेवाला तो होगा ही, नीयत बिगाड़नेपर दुःख पाना ही पड़ेगा। लाखों रुपये रहनेपर भी रोटी नहीं खा सकोगे और जिनके पास कौड़ी नहीं है, ऐसे सन्तोंकी एक साखीमें आता है—

धान नहीं धीणों नहीं नहीं रुपैयो रोक।
जीमण बैठा रामदास आन मिले सब थोक॥

सची है कि झूठी ! धान आपका, धीणा (गाय-भैंस) आपके, रुपये आपके और भोजन हम करते हैं। जो आना है, वह आ जायगा। जो नहीं आना है तो साधु होनेमात्रसे माल मिले, यह बात नहीं है। अपनी है वह अपनेको मिलेगी। **'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्'** जो हमारी है वह औरोंकी हो नहीं सकती। आप हम जन्मे तो माँके दूध पैदा हो गया तो क्या अब हमारे लिये अन्न पैदा नहीं होगा ? प्रबन्ध करनेवाला वही है, इस वास्ते न्याययुक्त काम करो, परिश्रम करो, उद्योग करो, यह अपना काम है। चिन्ता मत करो। उत्साहपूर्वक तत्परतासे मशीनकी तरह काम करो।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

(गीता ३।१९)

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

मनुष्य-जन्म ही अन्तिम जन्म है

गोविन्द-भवन

१६-३-८३ कलकत्ता

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

इसका तात्पर्य है कि यह मनुष्य-जन्म अन्तिम जन्म है। यह खुद अगाड़ी जन्मको निमन्त्रण देगा तो जन्म होगा, नहीं तो भगवान्‌की तरफसे यह अन्तिम जन्म है। अगर यह अगाड़ी जन्मको निमन्त्रण नहीं देगा तो इसका जन्म नहीं होगा; क्योंकि यह जन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। भगवान् कृपा करके मानव-शरीर देते हैं—इसका तात्पर्य क्या है ? कि भाई, तुम अपना कल्याण कर लो। सदाके लिये मुक्त हो जाओ। भगवान्‌की कृपा कोई मामूली नहीं होती, यह सर्वोपरि है। इस प्राणीके लिये मुक्तिका अवसर दे दिया। अगर यह इस अन्तिम जन्ममें मुक्ति कर ले तो भगवान् इसको अगाड़ी जन्म नहीं देंगे। अब जन्म होता है तो केवल इसके खुदके स्वीकार करनेसे होता है।

****

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणोंका संग है। इस मनुष्य-जन्ममें भगवान्‌ने एक बहुत विलक्षण शक्ति दी है, उसका नाम है विवेक। विवेकका मतलब इसके सामने उत्पन्न और नष्ट होनेवाली सृष्टि रखी। यह इस बदलनेवाली सृष्टिको प्रत्यक्ष देखता है। सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, आते हैं और जाते हैं। दिन होता है और रात होती है, जाग्रत् होता है, स्वप्न होता है और सुषुप्ति होती है। इससे संसारकी अनित्यता साफ दीखती है। आप इतने बैठे हो, विचार करके देखो ! इस संसारकी अनित्यता दीखती है कि नहीं ! एकरूपसे नित्य रहता ही नहीं। न दिन रहता है, न रात रहती है। न शीतकाल रहता है, न ग्रीष्मकाल रहता है, न वर्षाकाल रहता है। न जाग्रत् रहता है, न स्वप्न रहता है और न सुषुप्ति रहती है। न भूतकाल रहता है, न वर्तमान रहता है और न भविष्य रहता है। मात्र सृष्टि बदल रही है। जो बदल रही है, वह नहीं है; किन्तु जिसके प्रकाशसे यह बदलना दीखता है, जिसके आश्रित, अधीन यह बदलना होता है, वह परमात्मा है। उसका होनापन है। इस सृष्टिका होनापन नहीं है। यह तो केवल परिवर्तनशील है।

जैसे, इस शरीरके बदलनेपर, अवस्थाओंके बदलनेपर 'मैं' रहता हूँ, यह अनुभव है। इसी तरहसे सम्पूर्ण संसारके बदलते रहनेपर परमात्मा रहते हैं, यह अनुभव है। 'रहनेवाले' परमात्मा और अपने स्वयं हुए। 'बदलनेवाला' संसार और शरीर हुआ। इस अनुभवके लिये नया ज्ञान सम्पादन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाहे जितना दूसरा ज्ञान कर लो, परन्तु यह बात प्रत्यक्ष है। भगवान्‌ने जीवमात्रको विवेक दिया है, पर मनुष्यको विशेषतासे

दिया है। मात्र जीवको खाने-पीने आदिका ही विवेक है, पर इस मनुष्यको उत्पत्ति-विनाशशीलका ज्ञान है। स्वयं अलग रहता हुआ इस उत्पत्ति-विनाशशीलमें फँस जाता है। यह इसकी बड़ी भारी भूल है। इसीसे जन्म-मरण होता है, नहीं तो यह अन्तिम जन्म है, अब अगाड़ी जन्म नहीं है। यह स्वयं ही अपना जन्म पैदा करता है, अगर यह भगवदाज्ञासे विरुद्ध न चले और ठीक मर्यादासे चले तो फिर जन्म नहीं होगा। इसमें यह मनुष्य समर्थ है, इसमें यह स्वतन्त्र है, इसमें यह बलवान् है, इसमें यह निर्बल नहीं है, अयोग्य नहीं है। ऐसे यह ठीक चले तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है, क्योंकि अनेक जन्मोंसे जो बना हुआ प्रारब्ध है, उसका फल तो स्वतः आकर मिलेगा और वह प्रारब्ध नष्ट हो जायगा। फल भोगमें आया और नष्ट हुआ। संचित बेचारे कुछ काम नहीं करते, वे चुपचाप हैं। फुरणाएँ आती हैं तो उनके वशमें न रहे।

'तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥'

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार करता रहे तो स्वतः स्वाभाविक ही मुक्ति है और संसारका नहींपना दीखता है। तात्पर्य है तो एक परमात्मा ही; दूजे हैं कहाँ ? ये सब तो नहींमें बदल रहे हैं, प्रत्यक्ष बात है—'**अदर्शनादापतिता पुनश्चादर्शनं गता।**' अदर्शनसे पैदा हुआ और फिर अदर्शनमें ही लीन हो रहा है। ये जितने शरीर हैं सौ वर्ष पहले नहीं थे और सौ वर्ष बाद नहीं रहेंगे। जितनी यह सृष्टि है, सर्गसे पहले नहीं थी, प्रलयके बाद नहीं रहेगी। पहले नहीं थी और पीछे नहीं रहती, बीचमें नहीं होती हुई भी दीखती है; क्योंकि नहींसे पैदा होकर 'नहीं' में लीन हो गयी तो इसमें 'नहीं'पना सत्य रहा। इसका 'है'पना सत्य कैसे रहा ? परमात्मा

****

पहले थे और अन्तमें परमात्मा रहेंगे, बीचमें परमात्मा कहाँ चले गये ? सत्य तत्त्व सम्पूर्ण अवस्थाओंमें 'है' ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। इसमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता। सृष्टि किञ्चिन्मात्र भी पैदा नहीं हुई थी, तब वह परमात्मा थे और सम्पूर्ण सृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाय तो भी परमात्मा रहेंगे। सृष्टिके रहते हुए भी परमात्मा वैसे-के-वैसे ही हैं।

केवल उत्पत्ति-विनाशकी तरफ दृष्टि रहनेसे परमात्माकी तरफ दृष्टि जाती नहीं। उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुओंमें ही उलझ जाते हैं। उत्पत्ति-विनाशका जो आधार है, इनका जो आश्रय है, इनका जो प्रकाशक है, जो उत्पत्ति और विनाशरहित है, उधर दृष्टि जाती नहीं—यह बात सच्ची है। इसमें भी एक मार्मिक बात है कि दृष्टि उधर जाती तो है, पर हम उसको आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते। साधारण-से-साधारण, ग्रामीण-से-ग्रामीण, अपढ़-से-अपढ़ आदमीके भी ऐसा होता है कि भाई, ये सदा रखनेवाला नहीं है, पैदा हुआ है तो नष्ट हो जायगा। यह ज्ञान उसको भी है, पर उस ज्ञानको महत्त्व नहीं देता है। उसका आदर नहीं करता है। इसीसे यह दुर्दशा हो रही है। केवल उसका आदर करें तो दूजी पढ़ाईकी जरूरत ही नहीं है। ग्रन्थोंकी जरूरत ही नहीं है। गुरुकी जरूरत ही नहीं है। शिक्षाकी जरूरत ही नहीं है।

ठीक तरहसे विचार करें कि ये तो विनाशी हैं भाई। हम इसमें कैसे उलझे हैं ! थोड़ा-सा विचार करें तो साफ दीखता है। आप कहते भी हो कि रुपया क्या है ! रुपयो तो हाथरो मैल है। मानो रुपयोंको आप पैदा करते हो, आपको रुपये पैदा नहीं करते। आपके सामने वस्तुएँ आती हैं और जाती हैं। वस्तुओंके सामने आप नहीं आते-जाते हो। आप तो रहते हो। शरीरोंके भी

आने-जानेसे आप आते-जाते नहीं हो, आप रहते हो। शरीरको कपड़ेका दृष्टान्त देकर बताया कि जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर मनुष्य नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही पुराने शरीरोंको छोड़कर यह जीव नये शरीर धारण कर लेता है। शरीरोंका आना-जाना है और आपका सदा रहना है, यह ज्ञान है। यह ज्ञान सबको है। अब इस ज्ञानको आदर नहीं देते, आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते। आप बताओ, सच्ची बात रहनेवाली है कि जानेवाली ?

आने-जानेवाली सच्ची कहाँ है ? वह तो कच्ची है। उसमें उलझ जाना गलतीकी बात है। आपने ध्यान दिया कि नहीं ? यह ज्ञान प्रत्यक्ष है। आपको-हमारेको साफ दीखता है कि यह जितना संसार है, उथल-पुथल हो रहा है, कोई भी नित्य नहीं है। हरदम रहनेवाला नहीं है, पर अनित्य भी नित्य दीखता है; क्योंकि इसमें रहनेवाला नित्य तत्त्व है। अगर वह न हो तो यह दीखे ही नहीं। ऐसे संसारका जो एक क्षण भी स्थिर नहीं, ऐसा क्षणभंगुर भाव है, वह भी 'है' रूपसे दीखता है, उसमें 'है' रूपी झलक उस 'है' (परमात्मा) की है, जो इसमें परिपूर्ण है और वास्तवमें 'वह' ही है। इस वास्ते कहा—**'वासुदेवः सर्वम्'** 'सब कुछ परमात्मा ही है।' ये सब कुछ परमात्मा ही है। इसमें 'यह' सब कुछ नहीं है; किन्तु उस जगह वही है, जो वासुदेव है। पहले वही था और अन्तमें वही रहेगा तो मध्यमें दूजा कहाँसे आवे ? विवेक-दृष्टिसे जो रहनेवाला है, उस तत्त्वपर दृष्टि डाल दें। मनुष्यमात्रका स्वतःसिद्ध यह धन है। इस वास्ते बहुत-से जन्मोंका यह अन्तिम जन्म हुआ।

मानो यह विवेक स्वतः है। इस विवेकको पैदा करना नहीं पड़ेगा। यह ज्ञान पैदा नहीं होता है। इस 'है' की तरफ केवल दृष्टि

****

डालना है। गलती यह होती है कि जो नहीं है, उस तरफ दृष्टि डालकर उसका 'है-पना' देखते हैं। नहींको सत्ता देते हैं, यह गलती होती है। 'नहीं' को सत्ता न दें। जो 'है' उस 'है' को सत्ता दें। जो एक क्षण भी स्थिर नहीं, वह 'सर्वम्' हुआ और नित्य रहनेवाला तत्त्व 'वासुदेव' हुआ। उसको जान लिया तो अब बस आगे जन्मका कोई कारण नहीं है, क्योंकि गुणोंका संग होनेपर जन्म होता है और गुणोंका संग नहीं करे तो मुक्ति तो स्वतःसिद्ध है ही। सबसे अतीत तत्त्व स्वतः है और सम्पूर्ण जिस ज्ञानमें प्रकाशित होता है, वह ज्ञान भी स्वतः है।

बहुत वर्ष पहलेकी बात है। हम नीमाज रामद्वारेमें बाहर बगीचेसे आये और रामद्वारे दरवाजेमें चढ़कर भीतर आ रहे थे तो उस समय यह बात याद आयी कि '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**' ब्रह्मलोकतकके लोग लौटकर आते हैं। इसमें ब्रह्माजी भी सान्त हो जाते हैं। ब्रह्माजीका कितना बड़ा दिन ! कितनी बड़ी रात ! और इन रात-दिनोंसे उनकी उम्र कितनी बड़ी है ! वे ब्रह्माजी भी ऐसे उत्पन्न और नष्ट होते हैं। यह ज्ञान हमारेको होता है। यह ज्ञान कितना बड़ा है ! अनन्त ब्रह्मा होकर चले गये तो भी वह ज्ञान ज्यों-का-त्यों है। उस ज्ञानमें स्थित रहनेसे जन्म-मरण कहाँ है ? ज्ञानमें जन्म-मरण नहीं है। उस ज्ञानको महत्त्व देना है। उसे महत्त्व देनेके लिये ही मानव-शरीर मिला है और मनुष्य-शरीरमें ही यह ज्ञान हो सकता है।

खाना-पीना, ऐश-आराम तो हरेक शरीरमें हो सकता है। लड़ाई-झगड़ा, आपसमें व्यवहार करना तो हरेक योनिमें हो जाता है; परन्तु यह सब परिवर्तनशील है, रहेगा नहीं, रहनेवाला वह एक तत्त्व है। यह ज्ञान तो मानव-शरीरमें ही है। भगवान्‌ने कृपा

****

करके यह मानव-शरीर दिया है। यह ज्ञान हो जाय तो अन्त हो जाय कि नहीं अगाड़ी जन्मोंका ? यह जन्म स्वतः अन्तिम जन्म है। अब यह जिसमें उलझ जायगा, राग कर लेगा। '**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्**' जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ अन्तमें शरीर छोड़ता है, उसी भावको वह प्राप्त हो जाता है। आपकी प्राप्ति कैसे हो ? तो कहते हैं कि मेरा स्मरण करता हुआ जावे तो मेरी प्राप्ति हो जाती है। जो 'है' (भगवान्) मौजूद, उन्हींका स्मरण करें। 'नहीं है' उसका क्या स्मरण करें ? 'है' का स्मरण करता हुआ जायगा तो उस 'है' की प्राप्ति हो जायगी। अब आपकी मर्जी। चाहो तो अगाड़ी जन्मकी तैयारी करो, स्वतन्त्रता है। अगाड़ी जन्म न लेनेके लिये तो यह मनुष्य-शरीर है ही। कैसी बढ़िया बात है।

आपके सामने भूत, भविष्य, वर्तमान बदलता है। ठीक-बे-ठीक, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती रहती है। अब उनमें उलझ जाओ तो आपकी मर्जी, जन्मो और मरो। ये तो ऐसे ही बदलते हैं, इनमें क्या उलझना ? इनमें क्या तो राग करें ? क्या द्वेष करें ? क्या हर्ष करें ? क्या शोक करें ? ये तो यों ही चलता रहता है। हर्ष-शोक, राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल बदलता है कि नहीं सभी ! मैं, तूँ, यह, वह, सब बदलता है। न बदलनेवालेसे ही बदलना दीखता है। बदलनेवालेसे बदलनेवाला थोड़े ही दीखता है ! आप जानकार हो ! उस जानकारीमें इन सबकी जानकारी होती है। किसीके साथ चिपके नहीं तो स्वतः मुक्ति है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। बाल्यावस्था मिटानेके लिये कुछ उद्योग किया था क्या ? ऐसे संसारमात्रको मिटानेके लिये कोई उद्योग करनेकी जरूरत नहीं है आपको। स्वतः मुक्ति हो रही है। स्वयं

****

नया-नया पकड़ता है छूटता तो आप-से-आप है। बन्धन आपका बनाया हुआ है। आपकी मर्जी हो तो रखो, चाहे छोड़ दो।

प्रश्न—आपने बताया अभी कि 'गुरुकी', 'ग्रन्थकी' किसीकी जरूरत नहीं है। गुरु बिना ज्ञानकी प्राप्ति……… ?

उत्तर—ज्ञानकी प्राप्ति होती है, पैदा नहीं होता। वह 'है', जरूरत उसीकी है। इस संसारको आपने 'है' मान लिया, इस वास्ते जरूरत हो गयी। गुरुकी, ग्रन्थोंकी, सन्तकी जरूरत नहीं है। भगवान्‌की कृपासे बढ़कर और कौन चाहिये ? गुरु और शास्त्रको तो आप मानेंगे, तब काम करेंगे, नहीं तो वे क्या काम करेंगे ? भगवान् सब जगह परिपूर्ण मौजूद हैं फिर भी लोग जन्मते-मरते हैं, सब जीव दुःख पा रहे हैं। भगवान् कण-कणमें हैं, पर होना क्या काम आया ? आप स्वीकार कर लो तो काम आ गया। इस वास्ते और किसीकी जरूरत नहीं है।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

'है' (परमात्म-तत्त्व) की ओर दृष्टि रखें

२०-३-८३ भीनासर धोरा

बीकानेर.

श्रीगीताजीमें आया है कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

सत्का अभाव नहीं होता और असत्की सत्ता नहीं होती। दोनोंका तत्त्व तत्त्वदर्शियोंने देखा है। सत्का अभाव नहीं होता। इधर थोड़ी दृष्टि डालें। सत् कहते हैं 'है' को, वह सब देशमें है, सब कालमें है, सम्पूर्ण वस्तुओंमें है, सम्पूर्ण शरीरोंमें है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, अवस्था और क्रिया—ये तो हुए अलग-अलग; परन्तु 'है' तत्त्व अलग नहीं हुआ है। वह 'है' ज्यों-का-त्यों ही है। वह किसी अवस्थामें तो हो और किसी अवस्थामें न हो, किसी घटनामें हो और किसी घटनामें न हो, किसी क्रियामें हो और किसी क्रियामें न हो, किसी वस्तुमें हो और किसी वस्तुमें न हो, किसी व्यक्तिमें हो और किसी व्यक्तिमें न हो—ऐसा हो सकता है क्या ? उस 'है' का कभी भी और कहीं भी अभाव नहीं हो सकता। अवस्था, घटना, क्रिया, वस्तु और व्यक्ति सब बदलते हैं, इन सबका अभाव होता है।

वह 'है' तत्त्व तो बदलनेवालोंकी सन्धिमें भी वैसे ही रहता है। जैसे—समय चार बज गये, अब पाँच बजना शुरू हो गया, मानो

चौथा घंटा समाप्त हो गया और पाँचवाँ घंटा शुरू हो गया, पर 'है' जैसा चौथे घंटेमें था, वैसा ही पाँचवें घण्टेमें रहेगा। एक घण्टा समाप्त होकर दूसरा घंटा शुरू होगा। दोनोंकी संन्धिमें 'है' वैसा-का-वैसा ही रहेगा। वस्तुओंका आपसमें भेद होगा। पर सत्‌में भेद नहीं होगा। एक शरीर है और दूजा शरीर है दोनों शरीरोंका अलगाव होगा। उन दोनोंकी सन्धि होगी; परन्तु सत् तो ऐसा ही रहेगा। क्रिया, घटना, देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिका परिवर्तन हुआ। मानो पहले जैसे थी, उसकी अपेक्षा अब और तरहकी ही होगी। उनकी सन्धि भी होगी। आरम्भ भी होगा और समाप्ति भी होगी, पर 'सत्' का न तो आरम्भ है, न अभाव है, न सन्धि है। वह तो ज्यों-का-त्यों रहेगा। इसकी तरफ दृष्टि डालनेमें क्या जोर आवे बताओ ?

केवल सत्‌की तरफ ध्यान देना है, सत्‌की तरफ लक्ष्य करना है। जैसे, हम यहाँ बैठे हैं तो यहाँका ही लक्ष्य है। अब इसको याद रखनेकी जरूरत नहीं पड़ती। ऐसे ही जो सत् सबमें परिपूर्ण है, उसको याद क्या रखें ? याद रखना तो एक क्रिया होगी। याद करनेपर फिर भूलना हो सकता है। याद और भूलके बीच सन्धि होगी; परन्तु 'सत्' में सन्धि नहीं होगी, क्योंकि 'सत्' याद करनेमें भी है और भूलमें भी है। अपनी जानकारीमें भी है और अनजान-पनेमें भी है। जाग्रत्‌में भी है, स्वप्नमें भी है, सुषुप्तिमें भी है। कोई बात याद आयी तो भी है, नहीं याद आयी तो भी है। वह तो 'है' ज्यों-का-त्यों रहेगा। केवल उधर ख्याल हो जाय कि ऐसे एक परमात्म-तत्त्व है। इतना ख्याल हो गया, अब इसकी विस्मृति कैसे होगी ? इसकी भूल कैसे होगी ? भूलको भी वह प्रकाशित करता है, प्रकाशको भी, ज्ञानको भी, यादगिरीको भी प्रकाशित करता है। 'वह' तो है ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसीको बोध कहते हैं।

****

इसको ही ज्ञान कहते हैं इसको ही जीवन्मुक्ति कहते हैं, इसका नाम ही तत्त्वज्ञान है। ऊँची-से-ऊँची बात यही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है और जाती है इनका आदर करनेसे सत्‌की तरफसे विमुखता हो जाती है, पर अभाव हो जायगा क्या ? अभाव नहीं होता। यह जो अपना निर्णय है न कि यह हरदम रहता है अखण्ड, अभाव नहीं होता। यह जो अपना निर्णय हरदम रहता है, अखण्डरूपसे। कितनी विचित्र बात है यह ! स्वतः-सिद्ध बात है यह। इसमें कोई नयी बात नहीं हुई। अभी मेरे कहनेसे कोई नयी बात सीख गये हो, ऐसी बात नहीं है। पहले लक्ष्य नहीं था, इधर लक्ष्य हो गया। जैसे, हमने देखा यह माइक दीखता है। पहले माइककी तरफ न देखना हुआ, पर माइकका कोई अभाव थोड़े ही था। उसे देखा और दीखने लग गया। इसी तरहसे यह 'है' तत्त्व है ज्यों-का- त्यों ही, था पहले भी, अब भी है और अगाड़ी भी रहेगा। पहले, अभी, अगाड़ी—यह काल-भेद हुआ। सत्‌में तो भेद नहीं हुआ।

घटना, परिस्थिति, दशा इनमें परिवर्तन हुआ, इनमें फर्क पड़ेगा; परन्तु 'है' में क्या फर्क पड़ेगा ? उसमें फर्क सम्भव ही नहीं है। कोई जन्मे, कोई मरे, नफेमें, नुकसानमें, आनेमें, जानेमें उसमें क्या फर्क पड़ता है ? उसमें बिना किये स्वतः स्थिति है। **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** अपने 'स्व' में स्थिति है तो सुख-दुःख आवे तो क्या ? इनमें समान रहें, मान-अपमानमें समान रहें, निन्दा-स्तुतिमें समान रहें। **'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'** पत्थरमें, मिट्टीके ढेलेमें, सोनामें क्या फर्क है ? इन सबमें 'है' में क्या फर्क हुआ ? जीनेमें और मरनेमें क्या फर्क हुआ ? शरीर बीमार हुआ और स्वस्थ हुआ तो क्या फर्क हुआ ? संयोग और वियोगमें क्या फर्क हुआ ? ठीक दीखता है न ! 'है' ज्यों-का-त्यों है बस।

****

इतनी-सी बात है, लम्बी-चौड़ी नहीं है। पूर्ण हो गये एकदम। 'है' की तरफ दृष्टि रहे।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।'

असत्‌की तो सत्ता ही नहीं है, असत्‌की सत्ता होवे तो हटे। अब सत्‌का अभाव नहीं तो कैसे हटे ? 'है' ज्यों-का-त्यों है परिपूर्ण, सम शान्त स्वतःसिद्ध है। इसका कोई ध्यान नहीं करना है, चिन्तन नहीं करना है। ध्यान-चिन्तनमें भी वैसा ही है। चिन्तन छूट गया तो भी वैसा ही है। ध्यान लगे, तो भी है, ध्यान नहीं लगे, तो भी है। वृत्ति लग गयी तो भी है, नहीं लगी तो भी है। इसमें क्या फर्क पड़ा ? ठीक है न ! बस, यही बात है। केवल उधर लक्ष्य करना है और कुछ करना नहीं है। कोई निर्माण नहीं करना है, न चिन्तन करना है, न समाधि लगाना है, न ध्यान लगाना है। 'है' ज्यों-का-त्यों है बस। क्या करना बाकी रहा ? कैसी मौजकी बात है !

है सो सुन्दर है सदा नहीं सो सुन्दर नांय।
नहीं सो परगट देखिये है सो दीखे नांय॥

अब दीखे कैसे ? वह तो देखनेवाला है उसके प्रकाशमें सब है। वह स्थिर है ज्यों-का-त्यों है। **'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते॥'** **'तस्मादेवं विदित्वैनम्'**—इसको ठीक तरहसे जान ले तो शोक नहीं हो सकता, चिन्ता नहीं हो सकती। चाहे प्रलय हो जाय, चाहे घरवाले एक साथ ही सब मर जायँ। क्या फर्क पड़े ? सब धन चला जाय तो क्या फर्क पड़े ? और धन आ जाय बहुत-सा तो क्या फर्क पड़े ? क्या समझे, बोलो महाराज ! अब इसमें कोई जोर आवेगा क्या ? यह जो कहा जाता है कि इस तत्त्वकी प्राप्तिमें कोई परिश्रम नहीं है, इसके समान

सुगम कोई है ही नहीं, यह सची है कि झूठी ? बताओ ! इससे सुगम काम है कोई ? आप बताओ ! आप कठिन कहते थे। हृदयसे बताओ कि इसमें कोई कठिनता है क्या ? **श्रोता**—लगती तो नहीं है। **पू॰ श्रीस्वामीजी**—जब लगती नहीं है तो फिर क्यों मेहनत पकड़ो ? लगती ही नहीं तो जबर्दस्ती क्यों पकड़ो ? **श्रोता**—लगनकी कमी है, महाराजजी ! **पू॰ श्रीस्वामीजी**—लगनकी कमी कैसे हुई ? अब क्या कमी रही लगनकी ? लगनकी जरूरत नहीं, यह तो है ही यों ही। **श्रोता**— स्वामीजी ! ये माननेपर भी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें एक शान्ति-अशान्ति होती है, यह तो महसूस होती रहती है। **पू॰ श्रीस्वामीजी**—अशान्ति और शान्ति दोनों दीखती है कि नहीं ? यह बताओ ! उस दीखनेमें शान्ति और अशान्ति कहाँ है ? शान्तिका भी ज्ञान होता है और अशान्तिका भी ज्ञान होता है। शान्ति और अशान्ति दो तरहकी है, पर ज्ञान भी दो तरहका है क्या ? भेद है तो उस ज्ञानमें, जो प्रकाशित होता है उसमें भेद है, पर प्रकाशमें क्या भेद है ? बोलो ! **श्रोता**—यह समझमें नहीं आती। **पू॰ श्रीस्वामीजी**—समझमें आना और नहीं आना—यह दीखता है कि नहीं ? यह बताओ आप ! ये दोनों एक ही जातिके हैं। जिस प्रकाशमें समझमें आना दीखता है और नहीं आना दीखता है, वह तो ज्यों-का-त्यों ही हुआ न, क्यों भाई ? जो समझमें आयी, वह भी दीख रहा है और नहीं आयी, वह भी दीख रहा है। देखनेवाला तो ज्यों-का-त्यों ही है। समझने-न-समझनेसे क्या फर्क पड़ता है ? क्योंकि समझने-न-समझनेसे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

'पायो री मैंने रामरतन धन पायो।'

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

—★—

॥ श्रीहरिः ॥

साधन विषयक दो दृष्टियाँ

१९-३-८३

भीनासर धोरा
बीकानेर

साधकको चाहिये कि वह अपनी अवस्थाकी तरफ देखे ही नहीं, केवल साधनमें तत्परतासे लगा रहे। एक तो यह दृष्टि है और दूसरी दृष्टि यह है कि हमारा कितना सुधार हुआ और कितना बाकी रहा? ऐसा विचार करके चलता रहे। इन दोनोंमें विरोध मालूम देता है, विरोध है भी। जब अपनेको सन्देह हो, तब कितना सुधार हुआ और कितना नहीं हुआ, यह देखना आवश्यक है। जहाँ सुधार नहीं हुआ है, उधर ही दृष्टि डालनी चाहिये। इतना हो गया, ऐसा करके सन्तोष नहीं करना चाहिये और जो बाकी रह गया है, उसके लिये घबराना नहीं चाहिये। उत्साहपूर्वक काम करना चाहिये। अपनेको तत्परतासे कर्तव्यकर्म-साधनमें लगाये रखे। जैसे गीताने कहा है— **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** कर्तव्यकर्म करनेमें ही अधिकार है फलमें कभी नहीं। इस वास्ते कर्मके फलका हेतु भी मत बन और अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो। यह बहुत श्रेष्ठ और ऊँची बात है।

मेरा साधन इतना ही बना, ऐसी ऊँची स्थिति मेरी नहीं हुई है। इस प्रकार देखनेसे एक बड़ी भारी गलती होती है। वह यह होती है कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणपर ममता हो जाती

****

है। अहंता और ममता जिनका त्याग करना है, उनका त्याग न होकर अहंता-ममता दृढ़ हो जाती है। नहीं तो अपने अन्तःकरण और शरीर, इन्द्रियोंमें ही क्यों खोज करता है ? खोज करनी है तो सब जगह करे। सब जगह नहीं करे तो एक जगह क्यों करता है ? एक जगह खोज करनेसे इनकी ममता बनी रहती है और ममता जबतक बनी रहती है, तबतक साधन बढ़िया नहीं होता। ममता और अहंता ही बाधक हैं। इस वास्ते साधन कितना हुआ और कितना नहीं हुआ ? यह ख्याल ही नहीं करे। अपने तो एक परमात्म-तत्त्वमें ही लगा रहे। अपनी स्थिति देखते रहनेसे अहंता, ममता, परिच्छिन्नता, एकदेशीयपना यह मिटेगा नहीं। जबतक यह नहीं मिटेगा, तबतक वास्तविक स्थिति होगी नहीं। इस वास्ते अपने तो बस देखे ही नहीं कि कितना बना, कितना नहीं बना ! अपने द्वारा कोई गलती तो नहीं हो रही है न ? शास्त्रसे, मर्यादासे विरुद्ध तो नहीं कर रहा हूँ। इतना ख्याल रखते हुए ठीक तरहसे करता रहे।

मनुष्य प्रायः करके अपनी वृत्तियोंकी तरफ देखता है कि हमारी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुईं। अभी तो फुरणा नहीं मिटी, हमारे तो राग-द्वेष नहीं मिटे, मनकी चञ्चलता नहीं मिटी। ऐसा देखनेसे एक बड़ी गलती होती है कि वह अन्तःकरणकी स्थितिको अपनी स्थिति मानता है। वास्तवमें अन्तःकरणकी स्थिति अपनी स्थिति नहीं है। अपनेको तो अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है। अन्तःकरणकी वृत्तियाँ ठीक हों, तब तो ठीक हुआ और वृत्तियाँ ठीक नहीं हैं तो बेठीक हुआ—यह मानना गलती है। कारण कि अन्तःकरणकी वृत्तियाँ तो बदलती रहती हैं। बहुत ऊँची अवस्था होनेपर भी बदलती हैं और ऊँची अवस्था होनेपर ही नहीं,

सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अर्थात् तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हो जानेपर भी पुरुषके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ तो बदलती रहेंगी। हाँ, उनकी वृत्तिमें निषिद्ध फुरणा नहीं होगी। शास्त्र-विपरीत कोई चेष्टा नहीं होगी; परन्तु अन्तःकरणकी वृत्तियाँ तो बदलेंगी ही। बदलना तो इनका स्वभाव है। बदलनेवालेसे अपनेको सम्बन्ध-विच्छेद करना है। इस तरफ ही ख्याल करें कि इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अच्छी हो, मन्दी हो, अपनेको वृत्तियोंसे कोई मतलब नहीं। हमें इससे कोई लेना-देना नहीं। वृत्तियाँ होती हैं तो अन्तःकरणमें होती हैं, ठीक-बे-ठीक होती हैं तो अन्तःकरणमें होती हैं, अन्तःकरण मैं नहीं हूँ।

'समदुःखसुखः स्वस्थः' 'स्व' में स्थित रहे। अपनेमें कोई विकार नहीं है। एक सच्चिदानन्दघन है ज्यों-का-त्यों है। आप तो वही रहते हो, ऊपरसे भाव बदलता है, क्रिया बदलती है, अवस्था बदलती है, दशा बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है; परन्तु इन सम्पूर्ण बदलनेको देखनेवाले आप तो नहीं बदलते हो। अपनेमें परिवर्तन कहाँ होता है? अपनेमें अगर परिवर्तन होता तो अवस्थाओंका भेद कैसे मालूम होता है? अवस्थाओंमें भेद तो उसको मालूम होगा, जो अवस्थाओंमें स्थित नहीं है, अवस्थाओंसे अलग है, उसीको भेद मालूम देगा। जो अलग है, उसमें कोई भेद नहीं मालूम होता। परिवर्तन प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें होता है, वह परिवर्तन हरदम होता ही रहता है। वह परिवर्तन मिटेगा नहीं। अपने साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा अनुभव करनेसे ही वास्तवमें अपना काम होगा।

इसीको गीतामें कहा है—'गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं

ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता' (गीता ३।२८) और 'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है वही यथार्थ देखता है' (गीता १३।२९)। 'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त किसीको कर्ता नहीं देखता' (गीता १४।१९)। 'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी निस्सन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' (गीता ५।८)। सम्पूर्ण क्रियाएँ होते हुए भी अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, इनके साथ। 'गुणोंका संग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्मका कारण है' (गीता १३।२१)। वह अपना किया हुआ है और अपने मिटानेसे ही मिटेगा, मिटानेका दायित्व अपनेपर ही है। जबतक इसके साथ सम्बन्ध मानता रहेगा, ठीक और बेठीक मानता रहेगा, तबतक सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा।

प्रश्न—अन्तःकरणकी निर्मलता लक्ष्य नहीं है क्या ?

उत्तर—अन्तःकरणकी निर्मलता वास्तवमें स्वयंकी कसौटी नहीं है। अन्तःकरणकी निर्मलता और अन्तःकरणकी मलिनता—ये दोनों दृश्य हैं। मलिनता भी दृश्य है और निर्मलता भी दृश्य है। स्वयं द्रष्टा है, इस वास्ते इन्हें दृश्य समझकर अपनेको अलग मानेगा तो इनकी बहुत जल्दी शुद्धि हो जायगी। इनकी शुद्धिपर ज्यादा ध्यान देगा तो जल्दी शुद्धि नहीं होगी। ममता मिटेगी नहीं। ममता ही मल है ***'ममता मल जरि जाय।'*** साधक इस बातको ठीक समझता है, यह सिद्धान्त भी अच्छा समझता है; परन्तु ऐसे ख्याल नहीं होता है कि ऐसे देखनेसे ममता दृढ़ होती है। इस कारण विशेष ध्यान देता है कि देखो, मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हुईं। वृत्तियाँ तो एक-सी रहती ही नहीं कभी। बदलनेका आपको ज्ञान होता है, बदलना आपसे अलग होता है, वह दृश्य है और आप

दृष्टि हो। बदलनेवाली चीज आपके जाननेमें आती है, फिर उसको अपना क्यों मानते हो ?

थोड़ी बारीक बात है, पर बढ़िया बात है कि जीवन्मुक्ति स्वतः ही है। जो स्वाभाविक मुक्त होता है, वही मुक्त हो सकता है, बद्ध मुक्त नहीं हो सकता। बद्ध होता है, वही मुक्त होगा, मुक्त है वह क्या मुक्त होगा ? समझ गये न ! अपनेको बद्ध मानता है, तब वह मुक्त होता है। इस वास्ते बद्ध ही मुक्त होता है और यदि वास्तवमें बद्ध ही है तो वह मुक्त कैसे होगा ? सत्‌का अभाव नहीं होता। सत्यका अभाव होगा ही नहीं। तो बात क्या है ? कि बद्धपनेकी मान्यता है, उसे मिटानी है। अब मिटानी चाहो तो अभी मिटा दो, चाहे वर्षोंके बाद मिटा दो और चाहे जन्मोंके बाद मिटा दो, ये सब दृश्य है। मनुष्य स्वाभाविक ही मुक्त है, यह मुक्तिका अधिकारी है पूरा, एकदम। जिस किसी हालतमें है, जिस किसी परिस्थितिमें है, जैसी कैसी दशामें है, उस दशाके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़ें, क्योंकि दशा बदलती रहती है और आप नहीं बदलते हैं। सम्बन्ध है तो नहीं, जोड़े नहीं बस, मुक्त स्वतः है ही ! सम्बन्ध जोड़ता है, तब बद्ध होता है। सम्बन्ध जोड़ने और न जोड़नेमें पराधीन नहीं है, अयोग्य नहीं है, निर्बल नहीं है, अनधिकारी नहीं है। मनुष्य अगर अनधिकारी है तो मुक्तिका अधिकारी कौन होगा ? इस वास्ते यह सम्बन्ध न जोड़े बस। अब इसमें शंका हो तो बोलो !

प्रश्न—स्वामीजी ! आचरण कैसा ही हो, द्रष्टा बना देखता रहे ?

उत्तर—देखो ! कैसे ही आचरण हो, यह नहीं कह सकते। उस अवस्थामें यह कहा जा सकता है कि आचरणोंको

****

लेकर आप राजी और नाराज क्यों होते हो ? यहाँ दृढ़ रहो आचरण कैसा ही हो, यह नहीं। अपने राजी और नाराज कैसे होते हो ?

प्रश्न—आचरण ठीक नहीं है, तब तो नाराजी होनी ही चाहिये न ?

उत्तर—होनी चाहिये, तब तो फँसे ही रहोगे। आप राजी और नाराज क्यों होवो ? दोनोंको ही छोड़ो, अच्छेको भी और मन्देको भी छोड़ो। वास्तवमें तो किसीके साथ आपका सम्बन्ध नहीं है। दोनोंको छोड़ दोगे तो मन्दा होगा ही नहीं। स्वतः अच्छा ही होगा। जो बुरा है, उसको अच्छा मानोगे तो अच्छा कभी नहीं होगा, क्योंकि ममता उसके साथ बनी रहेगी। यह ममता ही तो बुराई है। यह थोड़ी बारीक बात है, लेकिन साधकके लिये खास बात है। साधकको द्रष्टा नहीं रहना चाहिये, उपेक्षा करनी चाहिये। द्रष्टा बना रहेगा तो गलती है, बिलकुल उपेक्षा करे, उधरसे आँख मीच ले। अपने तो एक परमात्म-तत्त्व है, उसपर दृष्टि रखे। अच्छे और मन्देपर दृष्टि क्यों रखे ?

'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥'

(गीता ५। ३)

जो निर्द्वन्द्व हो जाता है, वह सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है और जो द्वन्द्वोंमें फँसा रहता है, वह मुक्त नहीं होता। द्रष्टा रहना मैं नहीं कहता हूँ। दोनोंकी उपेक्षा करना कहता हूँ। दोनोंसे अलायदे हो आप ! वह दृश्य रहेगा, आप द्रष्टा रहोगे और देखना-दर्शन होगा तो त्रिपुटी कैसे मिटेगी ? और त्रिपुटी मिटे बिना कल्याण कैसे होगा ? इस वास्ते देखना ही नहीं है। देखना है तो कुत्तेमें क्यों नहीं देखते हो ? दूसरे मनुष्यमें क्यों नहीं देखते ? उनमें नहीं देखते तो इसमें क्यों देखते हो ? इसमें देखते हो तो सिद्ध हुआ कि इसके

साथ घनिष्ठ सम्बन्ध आपने माना है, कुत्तेके साथ आपने माना नहीं। अगर आप चेतन-तत्त्व हैं तो तत्त्व जैसे कुत्तेमें है, वैसे ही इसमें है और जैसा इसमें है, वैसा ही कुत्तेमें है। निर्लिप्तता जब उसके साथ है तो इसके साथ भी होनी चाहिये। उसके साथ तो निर्लिप्तता है और इसके साथ नहीं है तो यही बन्धन है और क्या ? विचार करो और बोलो !

प्रश्न—इसका मतलब हुआ स्वामीजी! यह सब परिवर्तनशील है। इसको देखते रहें ?

उत्तर—परिवर्तनको देखो मत, परिवर्तनशीलकी उपेक्षा कर दो। '**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा**' एक सच्चिदानन्दघनमें मन लगाकर '**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' अच्छा-मन्दा कुछ चिन्तन मत करो। तब ठीक होगा और अच्छे-मन्देके साक्षी बने रहोगे, द्रष्टा बने रहो। तो अच्छे और मन्दे दोनोंके साथ सम्बन्ध रहेगा और दोनोंके साथ सम्बन्ध रहेगा तो द्वन्द्व रहेगा। द्वन्द्व ही बन्धन है। 'सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि 'तूँ हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योग और क्षेमको न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो' 'हे अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं; परन्तु निष्काम भावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।' इस वास्ते परिवर्तनशीलको देखना नहीं, पर उससे विमुख होना है। देखोगे तो उसके सम्मुख हो जाओगे। सम्मुख होनेसे चिपक जाओगे।

****

'सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअ देखिअ सो अबिबेक॥'

दोनोंको देखनेवाले द्रष्टाको अविवेकी बताया। यह बात साधकके कब्जेमें आ जाय, अधिकारमें आ जाय तो बहुत बढ़िया चीज है।

प्रश्न—कब्जेमें आ जानेका प्रभाव तो फिर इन वृत्तियोंके द्वारा ही देखा जायगा?

उत्तर—ना, वृत्तियोंके द्वारा नहीं देखना है, वृत्तियोंकी उपेक्षा करनी है। वृत्तियोंके द्वारा देखोगे, तबतक तो कब्जेमें नहीं आयी है। जबतक वृत्तियोंके द्वारा देखकर कसौटी लगाते हैं तबतक मैं कहता हूँ वह बात अधिकारमें नहीं आयी है। वह स्थिति नहीं हुई है। वृत्तियोंको लेकर कसौटी नहीं लगानी चाहिये। वृत्तियाँ सब-की-सब प्रकृतिमें हैं, पर आप प्रकृतिके अंश नहीं हो, आप परमात्माके अंश हो। इस वास्ते आपको परमात्माकी तरफ देखना है, वृत्तियोंकी तरफ नहीं देखना है। '**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' यह प्रकृति है। असली बात समझमें आ जाय तो वहाँ कोई कसौटी नहीं लगेगी। कसौटी यही है कि इनसे कोई मतलब नहीं है, न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है; न ठीक है, न बेठीक है; न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है। एक वही है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**'।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

दूसरोंके हितका भाव

२३-३-८३

भीनासर धोरा

बीकानेर

मेरे मनमें एक बात विशेषतासे आती है कि हम यह जानते हैं कि शरीर, कुटुम्ब, धन, जमीन, मकान आदि ये सब उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। सदा हमारे साथ रहते नहीं, रहेंगे नहीं और रहना सम्भव नहीं है फिर भी 'ये हमारे साथ रहेंगे' ऐसी धारणा बना रखी है, जो बिलकुल गलती है। ये सब एकदम नष्ट हो रहे हैं, प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। जितना दृश्य जगत् है , वह सब अदृश्य हो रहा है। दीखनेवाले सब न दीखनेमें जा रहे हैं। भावरूपसे दीखनेवाला संसार अभावमें जा रहा है। 'है' रूपसे दीखनेवाले सब 'नहीं' में जा रहे हैं, फिर भी इनको साथ रखना चाहते हैं। इनके साथ रहना चाहते हैं। ये हमारे साथ रहें। जो मिला हुआ है, वह बना रहे तथा नया और मिल जाय—ये दो प्रकारकी इच्छा है। यह कहाँतक उचित है बताओ ? जो रहनेवाली नहीं है, उसकी इच्छा करना, उसकी प्राप्तिके लिये समय लगाना, उसके लिये ही सोचना कि धन मिल जाय, कुटुम्ब मिल जाय, मान मिल जाय, बड़ाई हो जाय आदि-आदि पता नहीं, कितनी लाइन लगा रखी है ? यह ठीक है क्या ? यह सुधार कब करेंगे ? किस दिनके लिये बाकी छोड़ा है, कब करोगे यह विचार ?

आप जो काम करते हैं, वही काम करते रहें, पर उसे स्थायी न मानें और जो कुछ मिला हुआ है, यह स्थायी बना रहे—यह

****

इच्छा न करें। बस, इतना सुधार करना है। काम-धन्धा आप जो करते हैं, वही करें। शास्त्रोंके अनुसार उत्साहपूर्वक काम करें; परन्तु उसका भरोसा न करें, स्थायी न मानें। यह हमारे पास रह जाय और अमुक-अमुक परिस्थिति बन जाय, इस इच्छाका त्याग करें। जैसी परिस्थिति बननेवाली है, वैसी बन जायगी। प्रतिकूल बननेवाली है तो प्रतिकूल बन जायगी। अनुकूल बननेवाली होगी तो अनुकूल बन जायगी। जो नहीं है उसकी आशा और उसका भरोसा—ये दो चीज छोड़ दें, बस। इनको छोड़नेमें हम पराधीन नहीं हैं; क्योंकि यह बात समझमें आ गयी कि ये चीजें रहनेवाली नहीं हैं। प्रत्यक्ष बात है कि ये सब नष्ट हो रही हैं। इस वास्ते इनका मोह, आशा, भरोसा न रखें, इनका त्याग कर दें।

बड़ी विचित्र बात है ! हम यह सुनते हैं, समझते हैं, जानते हैं, मानते हैं कि ये रहनेवाले नहीं हैं फिर भी इनमें ही आकृष्ट होते हैं। तो केवल इनका जो आकर्षण है, उसको मिटाना है और कुछ नहीं करना है, फिर सब ठीक हो जायगा। आकर्षणमें फायदा कोई-सा भी नहीं है और नुकसान सब तरहका है। आकर्षण रखनेसे पराधीन हो जाते हैं। ***'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'*** आकर्षण कैसे मिटे ? इनको दूसरोंकी सेवामें लगावें, दूसरोंको सुख पहुँचावें। यह भाव बना लें कि सबको सुख कैसे हो ? सबको आराम कैसे मिले ? सबके लाभ कैसे हो ? सबका हित कैसे हो ? यह सोचते रहें—**'सर्वभूतहिते रताः'** हमारी रति, प्रीति सबके हितमें हो जाय। अगर प्रीति ऐसी है कि हमारे लाभ हो जाय, हमारे संग्रह हो जाय, हमारा मान हो जाय तो यहाँ ही घाटा है। यह भाव बदल दें यह खास चीज है।

हमारेसे जो वैर-विरोध रखें, उनका भी भला कैसे हो ? उनको शान्ति कैसे मिले ? उनको लाभ कैसे हो ? उनका हित

कैसे हो ? उनका कल्याण कैसे हो ? यह सोचो। हमारा भाव ऐसा होना चाहिये। बड़ा भारी लाभ है इसमें। अन्तःकरण बहुत जल्दी निर्मल होता है। किसीका भी अहित सोचनेसे अपना अन्तःकरण मैला होगा और कर कुछ नहीं सकोगे। हमारे करनेसे कुछ हो जाय यह बात है नहीं। आप किसीका अहित सोचकर अहित नहीं कर सकते और हित सोचकर हित नहीं कर सकते; क्योंकि उनका सांसारिक हित-अहित उनके भाग्यके अनुसार होगा। हमारा भाव अगर दूसरोंका हित करनेका होगा तो हमारा कल्याण जरूर हो जायगा। हमारा भाव यदि दूसरोंके अहितका होगा तो हमारा पतन जरूर हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। कुछ नहीं कर सकेंगे, सिवाय इसके कि हम अपना कल्याण कर सकते हैं और अपना पतन कर सकते हैं।

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम्।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत्॥

सर्पोंका, दुष्टोंका, चोरोंका, डाकुओंका अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। इसीसे यह संसार बरत रहा है। नहीं तो संसारको चौपट कर दें। चोर और डाकू किसीके पास धन रहने देंगे क्या ? पर उनका मनोरथ सिद्ध नहीं होता। आप कितना हित कर लोगे! कितना अहित कर लोगे! कुछ नहीं कर सकोगे। हित करके दुनियाको निहाल कर दो यह बात नहीं है। आपका भाव हित करनेका होगा तो आप निहाल हो जाओगे और आपका भाव अहित करनेका होगा तो आपका नुकसान हो जायगा। किसीके पास आपसे ज्यादा धन है तो आप उसे मिटा तो सकते नहीं तो क्यों जलन होने दो मनमें ? यह मुफ्तमें आग क्यों लगाओ ?

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

ऐसा भाव रखो तो आपके क्या नुकसान है ? अन्तःकरण निर्मल हो जाय मुफ्तमें, बड़ा भारी फायदा होगा। बड़े-बड़े यज्ञ, दान, तीर्थ, तप आदि करनेकी अपेक्षा ऐसे भावसे अन्तःकरण निर्मल जल्दी होगा। भीतरका मैलापन जल्दी दूर होगा। बड़े-बड़े शुभ कर्मोंसे इतनी जल्दी नहीं होगा, पर आपको तो क्या है कि जब किसी सुखीको दुःखी देखते हैं, तब आपको चैन पड़ता है। बोलो कितना नुकसान है ! यह कितनी खराब बात है ! आप मुफ्तमें पापके भागी होते हैं और मिलना कुछ नहीं है। कोरा अन्तःकरण मैला कर लो भले ही। भाव गिराकर अपना पतन करना है। बाजारमें भाव गिर जाते हैं तो घाटा लग जाता है और भाव तेज होनेसे मुनाफा हो जाता है।

हमने एक बात सुनी कि एक बार एसेम्बली (विधानसभा) में बात हुई कि ये जितने धनी हैं, ये सब निर्धन कैसे हों ? तो कहा गया कि इनपर टेक्स लगाओ। टेक्स-पर-टेक्स लगाओ, जिससे किसी तरह ये धनी लोग निर्धन हो जायँ। यह बात जब बीकानेर दरबारने सुनी तो वे बोले कि तुम भावना करते हो कि सब धनी निर्धन कैसे हो जायँ ? भावना ही करो तो अच्छी करो, 'सभी निर्धन धनी कैसे हो जायँ'—यह भावना करो। ऊन्धी (उलटी) भावना क्यों करते हो ! अरे, मनके लड्डू बनाये जायँ तो उनमें मीठा कम क्यों डालो ? इसमें कौन-सा खर्च लगता है ! भगवान्से भी यही कहो कि महाराज ! सब सुखी हो जायँ, कोई दुःखी न रहे। अब भगवान् करें या न करें, भार उनपर है। आपका काम तो हो ही गया। किसीका भी अहित न हो। अहित तो हमारे वैरीका भी न हो। वह चाहे हमारे साथ वैर रखे, पर उसका भी हम अहित नहीं चाहेंगे—'**सर्वभूतहिते रताः**' आप और हम ऐसा कर सकते हैं कि नहीं ? बोलो भाई ! भाव कर

सकते हैं। मैं भावका ही कहता हूँ। चीज वस्तु तो इतनी कहाँसे दोगे ? और दोगे भी तो कितनी दोगे ? लाखों, करोड़ों और अरबों रुपये हों तो भी सीमित ही होंगे, पर भाव असीम है। भावसे कल्याण होता है, वस्तुसे नहीं।

नफा वस्तुमें नहीं, नफा भावमें होय।
भाव बिहूणा परसराम बैठा पूँजी खोय॥

भावमें स्वतन्त्रता है तो अपने भावमें कमी क्यों रखो भाई ?

उमा संत की इहइ बड़ाई। मंद करत जो करहि भलाई॥

अपने तो भलाई करनेका भाव रखो। होना-करना हाथकी बात नहीं है। पर भाव गिराकर, किसीके अहितका भाव करके अपना अन्तःकरण क्यों मैला करें ? प्राणिमात्रके हितमें रति होनी चाहिये। अहित करनेवालोंको नरक और चौरासी लाख योनि होगी मुफ्तमें। वहाँ न तो हित कर सकोगे और न अहित कर सकोगे तो मुफ्तमें क्यों नरकोंमें जाओ। हमें जो कुछ शरीर, वस्तु, पदार्थ आदि मिले हैं, उनके द्वारा सबकी सेवा करो, सबको सुख पहुँचाओ, ऐसा भाव होगा तो ये स्वाभाविक दूसरोंकी सेवामें खर्च होंगे।

प्रश्न— महाराजजी ! जानते हैं कि भलाई करे, अच्छी है लेकिन पता नहीं, यह बुराई किस चोर दरवाजेसे आ जाती है ?

उत्तर—यह तो सुखकी इच्छा है, इससे मनुष्य बुरा काम कर बैठता है। उसीसे अशान्ति होती है। जो अशान्त होता है, वही अशान्ति पैदा करता है। दुःखी होता है, वही दुःख देता है। सुखी होता है, वह किसीको दुःख नहीं दे सकता। इनके कारण ही दुःख देनेकी भावना होती है। कोई भी मनुष्य दूसरेका अनर्थ कर ही नहीं सकता, जबतक अपना अनर्थ पूरा न कर ले। अपना अनर्थ करके ही दूसरेका अनर्थ करता है; परन्तु सुखकी इच्छाके कारण मनुष्यका

****

अपने अनर्थकी तरफ ख्याल ही नहीं जाता। वह समझता है कि मैं दूसरेका अनर्थ नहीं करता हूँ। आप स्वयंतक तो न सांसारिक हित पहुँचता है, न अहित पहुँचता है। आप दूसरेका हित करें तो भी वह उसके स्वयं वहाँतक हित पहुँचता ही नहीं। केवल आपको लाभ और हानि होती है।

प्रश्न—सुख-दुःख किसे कहते हैं और इनकी निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर—देखो, एक मार्मिक बात है कि वास्तवमें सुख-दुःख हैं नहीं। हमारे मनके अनुकूल हो जाय तो सुख हो गया और मनके विरुद्ध हो गया तो दुःख हो गया। बाकी कुछ है नहीं सुख-दुःख! ये हमारे बनाये हुए हैं। एक कुम्हार था, उसके दो लड़कियाँ थीं। उन दोनोंका पासके गाँवमें विवाह कर दिया था। एक लड़कीके खेतीका काम था और दूसरीके मिट्टीके बर्तनका काम था। एक दिन कुम्हार लड़कियोंसे मिलनेके लिये गया। पूछा, 'बेटी, क्या ढंग है?' पिताजी, खेती सूख रही है। अगर पाँच-दस दिनोंमें वर्षा नहीं हुई तो फिर कुछ नहीं होगा।' दूसरी लड़कीके यहाँ गया और पूछा तो वह कहने लगी' 'पिताजी! बर्तन बनाकर सूखनेके लिये रखे हैं, अगर दस-पन्द्रह दिनमें वर्षा हो गयी तो सब मिट्टी हो जायगी।' अब रामजी क्या करें बताओ? एकके वर्षा होनेसे सुख है और एकके वर्षा होनेसे दुःख है। जिसके वर्षा होनेसे सुख है उसके वर्षा न होनेसे दुःख है तो यह सुख-दुःख अपने बनाये हुए हैं। वर्षा हो जाय अथवा वर्षा न हो—यह हमारे हाथकी बात तो है नहीं। फिर क्यों सुखी-दुःखी होते हो? जो हो जाय, उसमें प्रसन्न रहो। जो होना होगा, वह होकर रहेगा।

नारायण! नारायण!! नारायण!!!

॥ श्रीहरिः ॥

छूटनेवालेको ही छोड़ना है

१९-२-८१ गोविन्द-भवन

कलकत्ता

ऐसी बढ़िया बात बताता हूँ, अगर मेरी बातपर ध्यान दें और थोड़ी-सी हिम्मत रखें तो बड़ा भारी लाभ होगा। इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं है। ऐसी बात है। आपलोगोंके सामने बहुत बार ऐसी बातें कही हैं कि भाई ! परमात्मतत्त्व हमारे साथ नित्य-निरन्तर है और संसारका सम्बन्ध निरन्तर ही छूट रहा है। जो आपको छोड़ रहा है और छूट रहा है, उस सम्बन्धको छोड़ना है और जिसका नित्य-निरन्तर सम्बन्ध बना ही रहता है, उसको पकड़ना है। इस बातको मैंने कई तरहसे कहा है। यह सार बात है एकदम। फिर सुन लें, जो चेतनतत्त्व परमात्मा परिपूर्ण है सामान्यरूपसे, वह सदा है ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटनामें है ज्यों-का-त्यों रहता है। उसका संग कोई छोड़ सकता नहीं। किसीमें ताकत नहीं कि उसका संग छोड़ दे। वह सदैव सबके साथमें नित्य-निरन्तर रहता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, प्रलय, सर्ग आदि सब अवस्थाओंमें वह सबके साथ है ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। उसकी प्राप्तिमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है और उसकी प्राप्तिमें समयका, कालका भी काम नहीं है। वह नित्य प्राप्त है और संसार जिसको आप अपना मानते हैं। शरीर, संसार, पदार्थ—ये कभी किसीके

साथमें एक क्षण रहे नहीं, रहेंगे नहीं और रह सकते भी नहीं। जो नहीं रह रहा है, जा रहा है, बड़ी तेजीसे वियुक्त हो रहा है, उस वियुक्त होते हुएको छोड़ देना क्या बड़ी बात है?

छोड़ना क्या है? अपना न मानना, अपना सम्बन्ध न मानना। 'केवल सम्बन्ध न मानना'—इस बातको करना है और कुछ नहीं करना है। इनका मेरे साथ सम्बन्ध नहीं है और परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध अटल है ही। केवल इतनी बातको मान लेना है तो अभी प्राप्त हो जाय, अभी सम्बन्ध छूट जाय, अभी दुःख मिट जाय, इसमें सन्देह नहीं है। परमात्मतत्त्व प्राप्त है और संसार सदा ही अप्राप्त है। एक क्षण भी आपके साथ नहीं है। निरन्तर बह रहा है। इसपर आप डटे रहें। आपका एक यही काम है। अब मैं जो बात बताना चाहता हूँ। वह अब बताता हूँ। वह बात यह है कि यह जो आपके आज निश्चयमें बात आ गयी, इसको छोड़ें नहीं, इसपर डटे रहें, लक्षण न देखें कि हमारेमें ये लक्षण नहीं घटे, हमारेमें यह नहीं आये। **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** आदि-आदि सिद्धोंके लक्षण हैं, वे हमारेमें नहीं आये। इस तरफ आप न देखें। अपने निर्णयपर डटे रहें। केवल यह बात ही आज आपको कहनी है। इसमें बेड़ा पार है। किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

अब इसमें थोड़ी-सी बात समझें। जैसे अग्निका ढेर हो, उसमें एकदम पानी डाल दिया जाय। तो पानी डालनेसे अग्नि तो बुझ जायगी; परन्तु उस समय उसके भीतर कोई हाथ रख दे तो हाथ जल जायगा, फफोले हो जायेंगे। अग्नि तो बिलकुल नहीं है उसमें; परन्तु हाथ रख दें तो हाथ जल जायगा। सिद्ध क्या हुआ? अग्नि तो बुझ गयी, पर अग्निका प्रभाव नष्ट नहीं हुआ।

उसके नष्ट होनेमें देरी लगेगी। अग्निके बुझनेमें देरी नहीं लगी, ऐसे ही वृक्ष काट दिया जाय, जड़से काटकर अलग कर दिया जाय। वह तो कट ही गया, अब पीछा हरा हो नहीं सकता; परन्तु उसकी जो पत्तियाँ हैं, वह कई दिनोंतक गीली रहेंगी, पतली टहनीकी पत्तियाँ जल्दी सूख जायँगी; परन्तु हरी टहनीकी पत्तियाँ जल्दी नहीं सूखेंगी। पेड़के पास अगर पाँच, दस पत्तियाँ हों, वह कई दिनों-तक नहीं सूखेंगी। तो इनके न सूखनेपर भी वृक्ष हरा नहीं होगा। एक बार कट गया तो कट ही गया। इसी तरहसे ही असत्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है उसको काट दो।

परमात्माके साथ हमारा नित्य-सम्बन्ध है उसको मान लो। न मानो तो एक ही कर लो। परमात्माके साथ सम्बन्धको अभी रहने दो। संसारके साथ सम्बन्ध हमारा है ही नहीं। इसको काट दो, बिलकुल नहीं है। कितना ही आपको दीखे। कितना ही आपपर असर हो जाय। कितनी ही वृत्तियाँ खराब हो जायँ तो भी इस निर्णयको मत छोड़ो। इसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। जैसे पेड़ कटनेपर भी पत्ती हरी रहती है, ऐसे पुराने प्रभावसे असर पड़ जाय, वृत्तियाँ भी खराब हो जायँ तो भी इनसे घबराओ नहीं। उसमें समय लगेगा। जैसे आग पानी डालते ही बुझ गयी बुझनेमें समय नहीं लगा; परन्तु ठण्डी होनेमें समय लगेगा। इसी तरहसे परमात्मतत्त्व है और संसार नहीं है। इसका सम्बन्ध नहीं है। संसार कैसा है ? कैसा नहीं है ? इसकी कोई जरूरत नहीं है, हमारे साथ इसका सम्बन्ध नहीं है।

जैसे बाल्यावस्थाके साथ आपका सम्बन्ध नहीं रहा। बूढ़े हो गये तो जवानीके साथ सम्बन्ध नहीं रहा तो अब वृद्धावस्थाके साथ सम्बन्ध कैसे रहेगा ? शरीरके साथमें सम्बन्ध-विच्छेद हो

रहा है। गर्भमें आये तबसे लेकर सौ वर्षकी उम्रतक निरन्तर वियोग हो रहा है आपका वियोग तो है ही। अब इस बातको आप मान लें तो वियोग आपका हो गया, हो गया, हो ही गया। अब उसका प्रभाव आपके देखनेमें न आवे तो उसकी आप चिन्ता मत करो। इतनी बात मेरी मान लो। चाहे बोध होनेमें कई वर्ष लग जायँ तो भी परवाह नहीं; परन्तु कट गया, इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं। जितनी यह दृढ़ता होगी आपकी, उतना जल्दी प्रभाव नष्ट हो जायगा। और इसमें ढिलाई करते रहोगे जहाँ प्रभाव नहीं दीखा, पीछा इस बातको ढीला करते रहोगे, तो भाई ! उम्रभर भी शान्ति नहीं होगी। आपको दीखेगा नहीं, अनुभव नहीं होगा, इस बातको ढीला करते रहे तो।

एक ही बातपर आप कृपा करके आज दृढ़ता कर लो। '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका**' भगवान् कहते हैं उसकी निश्चयवाली बुद्धि एक ही होती है। '**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥**' (गीता २। ४४) भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त है, उनकी बुद्धि निश्चय नहीं करती। तो बुद्धिके निश्चय न करनेमें एक तो रुपयोंके संग्रहका आग्रह है और एक सुख-भोगका आग्रह है। ये दो महान् आग्रह हैं। इसके सिवाय कोई बाधा नहीं है। 'मेरे रुपये रह जायँ', ज्यादा संग्रह कर लूँ और सुख भोग लूँ—ये दो महान् बाधाएँ हैं। इनकी परवाह मत करो। सच्ची बात यही है। कितना ही रुपया प्यारा लगे, कितना ही भोग प्यारा लगे; परन्तु ये छूटेगा जरूर। क्या पता ? ख्याल करके सुनना, बहुत दामी बात है।

भोग कितना ही प्यारा लगे, उससे ग्लानि होती है, उससे उपरति होती है, उससे आप स्वयं सम्बन्ध-विच्छेद करते हो, उसका

****

तो आप आदर करते नहीं और संयोगका आदर करते हो—यह बड़ी भारी गलती होती है। लाखों रुपये आपके पासमें पड़े हैं और अभी इन्क्वायरी आ जाय तो मनसे चाहते हैं कि अभी रुपये पासमें नहीं रहते तो अच्छा था। उस समयमें उनका नहीं होना चाहते हैं, पर उस बातको आप आदर नहीं देते हो। ऐसे ही परमात्माके सम्बन्धको और संसारके वियोगको आप आदर नहीं देते हो, महत्त्व नहीं देते हो। यही बड़ी भारी गलती है और कोई गलती नहीं है।

संसारके संयोगको आदर देते हो और परमात्माके वियोगको आदर देते हो—ये दो बहुत बड़ी गलतियाँ हैं। इन दोनों गलतियोंको आज मिटा दो अपने मनसे। फिर दीखे तो कोई परवाह नहीं। संयोगका प्रभाव दीखे, न दीखे। संसारके वियोगका प्रभाव दीखे, न दीखे। प्रभावकी तरफ आप मत देखो। प्रभाव न दीखे तो अपने निर्णयमें ढिलाई मत लाओ। बिलकुल सच्ची बात यही है। उसके सच्चेपनमें कोई सन्देह हो तो तर्क करो, विचार करो, पूछो, पुस्तकें पढ़ों, सन्देह आने मत दो। वह सन्देह जितना हो, तर्कसे दूर कर दो। परमात्माका नित्य-निरन्तर हमारा सम्बन्ध है और संसारका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर हमारेसे मिट रहा है। इसमें कोई सन्देह हो तो तर्कसे दूर कर दो। परमात्माका नित्य-निरन्तर हमारा सम्बन्ध है और संसारका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर हमारेसे मिट रहा है। इसमें कोई सन्देह हो तो तर्कसे चाहे जितनी करो। चाहे जितनी आप शंका करो; परन्तु उस निर्णयमें आप शंका मत करो। निर्णय कर लेनेके बाद अब सन्देह मत करो।

लड़का-लड़कीके सम्बन्धके लिये सगाई नहीं हुई, तबतक कई लड़के कई लड़कियाँ देखते हैं। सम्बन्ध होनेके बाद देखते

ही नहीं। अब तो हो गयी, हो गयी, हो ही गयी सगाई। इसमें सन्देह मत करो। इसी तरहसे हमारा भगवान्‌के साथ सम्बन्ध था और है और रहेगा। कभी दूर हो नहीं सकता, सच्ची बात है और संसारका सम्बन्ध हमारा नहीं था, नहीं है, नहीं होगा और नहीं रहेगा। ये चारों बातें याद कर लो। पहले संसारसे सम्बन्ध नहीं था और अगाड़ी संसारका सम्बन्ध नहीं रहेगा। अभी भी संसारका सम्बन्ध वियुक्त हो रहा है और संसारका सम्बन्ध रह सकता नहीं—ये चार बातें हैं। पहले था नहीं, पीछे रहेगा नहीं और अभी भी है नहीं। और इसका सम्बन्ध रह सकता नहीं, रहता ही नहीं, असम्भव बात है।

परमात्माका वियोग पहले हुआ नहीं, अभी है नहीं, अगाड़ी वियोग होगा नहीं और वियोग हो सकता नहीं। भगवान्‌की ताकत नहीं कि आपसे अलग हो जायँ। इतना अकाट्य सम्बन्ध है इसमें जितनी शंका करनी हो, करो। यह आपका पक्का निर्णय है तो इस निर्णयके ऊपर आप दृढ़ रहो। चाहे कितना ही वियोग हो जाय, चाहे कितनी ही वृत्तियाँ खराब हो जायँ, कितना ही पतन हो जाय, इस निर्णयके ऊपर पक्के दृढ़ रहो। वह जितना पक्का रहेगा, उतनी बहुत जल्दी सिद्धि हो जायगी इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं है। इस निर्णय-पर दृढ़ रहना है। नहीं तो भाई ! दिन लगेगा। आप लक्षण देख करके निर्णयमें ढिलाई लाते हो, यह गलती होती है। हमारे देखनेमें नहीं आता। आचरणमें नहीं आता। यह भाव हमारे बर्तावमें नहीं आता, यह बिलकुल गलत बात है और आ जाय तो कोई बात नहीं। यह बात तो सही है, इसमें आप कच्चे मत पड़ो। इतनी बात मेरी मान लो, बात सही तो सही ही है। दो और दो चार ही होते हैं, तीन और पाँच हो ही नहीं सकते। इसमें क्या सन्देह बताओ ?

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

स्वाभाविकता क्या है?

२८-३-८३

भीनासर धोरा

बीकानेर

बहुत बढ़िया बात है। उधर ख्याल किया जाय तो बहुत ही लाभकी बात है, बड़े भारी लाभकी बात है। एक होती है स्वाभाविक बात और एक होती है अस्वाभाविक। स्वाभाविक उसे कहते हैं, जो स्वतःसिद्ध है और अस्वाभाविक वह है, जो स्वतःसिद्ध नहीं है, किन्तु बनायी हुई है । परमात्मतत्त्व और संसार—इन दोमें देखा जाय, तो परमात्मतत्त्व (चेतनतत्त्व) का अंश यह जीव है और प्रकृतिका अंश यह शरीर है। परमात्माके साथ जीवका सम्बन्ध स्वाभाविक है, स्वतःसिद्ध है और इसने जो शरीर और संसारके साथ सम्बन्ध माना है यह सम्बन्ध अस्वाभाविक है। इसकी पहचान क्या है ? यह पहले नहीं और पीछे नहीं रहेगा, बीचमें यह माना हुआ सम्बन्ध है जो कि अस्वाभाविक है तथा परमात्मा और इसका खुदका सम्बन्ध स्वाभाविक है। वह अस्वाभाविक नहीं है, स्वतः है।

'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**' (गीता१५।७) परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक है और संसारके साथ हमारा सम्बन्ध कृत्रिम है अर्थात् बनावटी है। परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध असली है, बनाया हुआ नहीं है। वह तो स्वतःसिद्ध है, स्वाभाविक है। संसारका सम्बन्ध हमने बनाया है और

संसारको हम अपना मानते हैं—यह कृत्रिम है अर्थात् अस्वाभाविक है; परन्तु अस्वाभाविकमें स्वाभाविक भाव हो गया।

जैसे, यह शरीर 'मैं' हूँ और कुटुम्ब, धन, सम्पत्ति आदि मेरी है। मैं और मेरा—दोनों ही अस्वाभाविक हैं; परन्तु इन्हें स्वाभाविक मान लिया है कि यह तो बात ऐसी ही है। अब अभ्यासद्वारा इसको मिटाया कैसे जायगा? मैं-मेरेका भाव मिटानेके लिये हम अभ्यास करते हैं। जो अभ्यासजन्य बात होगी, वह अस्वाभाविक ही होगी। जो अस्वाभाविक है उसको मिटानेके लिये अस्वाभाविक उद्योग किया जाता है। इससे अस्वाभाविकता मिटती नहीं, क्योंकि अस्वाभाविकताका ही आदर किया जा रहा है। इस वास्ते अस्वाभाविकताको अस्वाभाविक मान लें कि संसारमें जो मैं और मेरापन कर रखा है, यह है नहीं; क्योंकि यह पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा तो बीचमें कहाँ है? बीचमें जो अपना मानते हैं, उस अपनेपनका भी प्रतिक्षण सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, मानो वियोग हो रहा है। जितने दिन आप और हम जी लिये, शरीर जी लिया, उतने दिन तो यह मर ही गया। उतने दिन तो शरीरका वियोग हो गया। अब जितने दिन साथमें रहना है, उतने दिन रहेगा, फिर वियोग हो ही जायगा।

शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं था और स्वाभाविक नहीं रहेगा और अस्वाभाविक माना हुआ सम्बन्ध भी अस्वाभाविकमें पड़ा मिट रहा है। स्वाभाविकपना स्वतः हो रहा है, मानो अलगपना हो रहा है। अगर इस बातको अभीसे मान लें, संयोगकालमें ही वियोगका अनुभव कर लें। अस्वाभाविकके समय ही स्वाभाविकको दृढ़तासे मान लें कि यह मैं और मेरा नहीं है, क्योंकि पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा, अभी भी मिट

रहा है। इसके साथ सम्बन्ध नहीं होनेसे हम '**निर्ममो निरहंकार**' हो जायेंगे। और '**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।**' सब शान्ति चाहते हैं। शान्ति कैसे मिले? स्वाभाविक शान्ति आपके साथमें है, वह आपकी है, बिलकुल अपनी खुदकी है, इस वास्ते वह अच्छी लगती है। अशान्ति अपनी नहीं है और अपनेको बुरी लगती है, अच्छी नहीं लगती। इससे सिद्ध हुआ कि अशान्ति आपकी नहीं है।

अशान्ति तो आपके अस्वाभाविकतामें स्वाभाविक भाव कर लेनेसे पैदा हुई थी। अस्वाभाविकताको छोड़कर अब अगर जो वास्तविकता है, मानो स्वाभाविकता है, उसको आप अपना लें तो शान्ति हो ही जायगी। अशान्ति है ही नहीं, स्वतः ही शान्ति है। अशान्ति तो पैदा होती है और मिटती है, शान्ति न ही पैदा होती है और न ही मिटती है। शान्ति तो रहती है, अशान्तिको पैदा करके शान्तिको उद्योग-साध्य मानते हैं। यह गलती करते हैं।

प्रकृति-पुरुषका अलगपना, जड़ और चेतनका अलगपना यह स्वाभाविक है और इसके साथ एकता मानना यह अस्वाभाविक है। अब अस्वाभाविकको स्वाभाविक मान लिया तो इसको दूर करनेके लिये ज्ञान करो, श्रवण करो, मनन करो, निदिध्यासन करो, शास्त्रका अभ्यास करो, सत्संग आदि करो, पर ऐसा करनेसे यह दूर होगा—यह बिलकुल गलती है। यह अलगपना तो स्वतःसिद्ध है। आप मूलमें अगर ठीक तरहसे स्वाभाविकताको स्वीकार कर लें तो इसके लिये उद्योगकी क्या जरूरत है? और उद्योग करनेसे अस्वाभाविकता होगी; क्योंकि जो अभ्यास-साध्य चीज होगी, वो अस्वाभाविक होगी। इस वास्ते वर्षोंतक उद्योग करते हैं, पर ठीक तरहसे स्थिति नहीं होती। क्यों

नहीं होती ? कि अस्वाभाविकताका आदर कर रहे हैं। अस्वाभाविकताको स्वाभाविकता मानकर उद्योगके द्वारा अस्वाभाविकताको मिटाना चाहते हैं। और उद्योगद्वारा करेंगे तो अस्वाभाविकको स्वाभाविक मानकर ही करेंगे। करते तो हैं सम्बन्ध-विच्छेद, पर हो रहा है दृढ़। ज्यों-ज्यों सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, त्यों-ही-त्यों दृढ़ हो रहा है। स्वाभाविकता आप स्वीकार कर लें कि वास्तवमें इनके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है भाई ! ये तो बनाया हुआ है।

आप अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र समझते हैं। यह तो शरीर-धारण करनेके बाद आप समझते हैं, इस शरीरमें नहीं आये तो क्या पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे आप ? बिलकुल नहीं थे। ये जो अपनेको वर्ण और आश्रमका मानना है, यह अस्वाभाविक है। स्वाभाविक नहीं है। बनावटी है, कृत्रिम है और इनकी क्या इज्जत है। जन्म हो गया तो हम ब्राह्मण हो गये साहब, हम क्षत्रिय हो गये, हम वैश्य हो गये, शूद्र हो गये। क्या हो गये ? आपने एक चोला पहन लिया। माँ-बापसे एक शरीर मिल गया। शरीर तो माँ-बापसे ही मिला हुआ है। आपका नहीं है फिर आप ब्राह्मण कैसे हुए ?

एक जरा कड़ी बात है, आपने पेशाबका इतना आदर कर दिया, पेशाबको इतना महत्त्व दे दिया। थोड़ा विचार करो आप ! अन्तमें यह है तो रज-वीर्य ही। यह अस्वाभाविकमें स्वाभाविक भाव है कि हम तो ब्राह्मण हैं। अरे भाई ! कबसे हो तुम ब्राह्मण ? हम तो बड़े हैं, छोटे हैं, हम तो मेहतर हैं। अरे, तुम मेहतर कबसे हो गये ! न कोई छोटा है, न बड़ा है, हम स्वाभाविक ही परमात्माके अंश हैं और शरीर स्वाभाविक ही संसारका अंश है।

****

अब इसमें दुरुपयोग करेंगे। अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकता कैसे लायेंगे ? कि सबके साथ खाओ-पीओ। अरे, इस प्रकार तो धर्म-भ्रष्ट होनेसे बुद्धि और भ्रष्ट हो जायगी ! स्वाभाविकतासे बहुत दूर चले जाओगे; परन्तु इसीको आज उन्नति मानते हैं। सबके साथ खाना-पीना कर लो, सबके साथ ब्याह कर लो; क्योंकि फर्क है ही नहीं। अब फर्क कैसे नहीं है ? पेशाबमें तो फर्क है ही। अलग-अलग पेशाब है। रोगीका अलग होता है, नीरोगका अलग होता है। ऐसे अलग-अलग होता है। उसे अलग-अलग मानना ही पड़ेगा। और अगर मिला दो तो सब रोगी बनेंगे कि सब नीरोग बन जायेंगे ? शुद्ध और अशुद्धको मिलानेसे अशुद्ध शुद्ध बनेगा कि शुद्ध अशुद्ध बनेगा ? आप थोड़ा विचार करो। अपवित्र और पवित्र दोनों चीजोंको मिलाया जाय तो पवित्र अपवित्र हो जायगा कि अपवित्र पवित्र हो जायगा। अब उलटा चलेंगे, क्योंकि कलियुग आ गया, इस वास्ते उलटी बात ठीक लगती है।

स्वाभाविकताको पहचान करके उसमें स्थित हो जाओ और व्यवहार ठीक तरहसे मर्यादामें करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कुलमें जन्म हुआ है तो जन्मके अनुसार ब्याह ठीक मर्यादामें करो। मर्यादाका पालन करो अच्छी तरहसे। जैसे खेलमें स्वाँग लेते हैं, मर्यादाका ठीक तरहसे पालन करते हैं। वैसे ही कोई ब्राह्मण बना है, कोई क्षत्रिय बना है, कोई वैश्य बना है, कोई शूद्र बना है। बाप मेहतर बन गया, बेटा राजा बन गया खेलमें। वहाँपर बेटा उसको बाप कहे तो गलती हो जायगी न ! खेल बिगड़ जायगा। इस वास्ते स्वाँगमें तो मेहतर ही कहो। 'ओ, वहाँ जाओ, वहाँ जाओ !' कि अन्नदाता ! ठीक है, जाता हूँ, स्वाँग तो

बिगाड़ना नहीं है, पर कृत्रिमतामें फँसना भी नहीं है।

यह रुपया मेरा है, यह कुटुम्ब मेरा है, यह शरीर मेरा है। कितने दिनोंसे ? यह ज्यादा हो गया तो हम बड़े आदमी हो गये, रुपये थोड़े हैं तो हम छोटे हो गये। यह बड़ी पार्टी है, यह छोटी पार्टी है। अभिमान अपनेमें करने लग गये। भाई ! व्यवहार करो। छोटी पार्टीका, बड़ी पार्टीका व्यवहार करो। बड़ी पार्टी वही है, जो दूजेको बड़ा बनावे। दूजेको जो छोटा बनावे, वह बड़ी पार्टी कैसे हुई ? वह तो छोटी पार्टी हुई न ! और छोटी पार्टी दूजोंको बड़ी पार्टी बनावे तो बड़ी पार्टी तो छोटी हुई और छोटी पार्टी बड़ी हुई; क्योंकि बड़ी पार्टीको बड़प्पन छोटीने दिया। छोटेके बिना ही वह बड़ा कैसे हो गया ? इस वास्ते छोटी पार्टी तो बड़ी पार्टीकी जनक है। छोटी पार्टी तो बाप है और बड़ी पार्टी बेटा है; क्योंकि वह छोटी पार्टीका बड़ा बनाया हुआ है।

धनवत्ता निर्धनोंके द्वारा होती है या कि धनियोंके द्वारा होती है ? एक गाँवमें सब साधारण आदमी और एक लखपती हो तो वह बहुत धनी माना जाता है और जिस शहरमें सब करोड़पति हों उसमें क्या इज्जत है उसकी ? लाख रुपया होनेसे इज्जत है अथवा दूसरे लखपति नहीं होनेसे इज्जत है ? बनावटी चीजको भाई ! बनावटी मानो। असलीको असली मानो। मूलमें असली परमात्माका अंश है, यह वास्तविकता है और यह संसार सब उत्पत्ति-विनाशशील है। यह कोई वास्तवमें स्थिर नहीं है। जो स्थिर नहीं है, उसको तो स्थिर मानते हैं कि वे स्थिर रहेंगे और वास्तवमें जो स्थिर है, उस तरफ ख्याल ही नहीं करते। स्वाभाविकता क्या है कि 'अपनापन परमात्माके साथ है' और संसारके साथ अपनापन मैं और मेरापन अस्वाभाविक है।

****

उसके साथ मैं और मेरेपनका व्यवहार कैसे करें ? नाटकमें करें ज्यों करो बड़ी शुद्धिसे। बड़े सतर्क होकर, सावधानीके साथ करो। इसको सच्चा मान लिया, यह बिलकुल गलतीकी बात है। यह तो स्वाँग पहना हुआ है खेलनेके लिये। इसे ही वास्तविक मान लिया। जैसे हरिश्चन्द्र बना, शैव्या बनी, रोहिताश्व बना और वह खेल समाप्त हुआ। जो शैव्या बना, उसको वह कहे कि तू तो मेरी रानी है, चल मेरे साथमें। 'अरे, मैं रानी तो क्या मैं तो स्त्री भी नहीं हूँ। मैं तो पुरुष हूँ।' 'गवाह हैं हजारों आदमी। तू तो मेरी रानी है।' हजारों देखते हैं तो खेलनेवाला क्या रानी हो गयी ? अब पुरुष भी स्त्री कैसे हो गयी ! 'मैं राजा हूँ, तू रानी है। मेरा बेटा है यह।' अरे भाई ! यह तो बना है, खेल है, अवास्तविकता है। अब इसको ही वास्तविकता मान लिया। 'मेरी रानी है, मेरा बेटा है' गलती कर दी न! यह तो खेल है वास्तवमें। इस तरहसे संसार भी खेल है। वो खेल भी बिगाड़ना नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, साधु, गृहस्थ, स्त्री, पुरुष सबको ठीक ढंगसे व्यवहार कर बराबर शास्त्रकी आज्ञामें चलना है। खेल होता है, उसकी पुस्तकें होती हैं कि इस तरहसे खेलो। ऐसे ही हमारी पुस्तकें हैं कि ऐसे व्यवहार करो। क्षत्रियका यह कर्तव्य है, वैश्यका यह कर्तव्य है, शूद्रका यह कर्तव्य है, स्त्रियोंका यह धर्म है, पुरुषोंका यह धर्म है, साधुओंका यह धर्म है, गृहस्थोंका यह धर्म है उन पुस्तकोंके अनुसार खेल खेलें बढ़िया रीतिसे। पर हैं क्या ?

हैं तो परमात्माके, परमात्मा हमारे हैं। संसारका यह शरीर है, शरीरका संसार है। कुटुम्ब, धन सब संसारका है संसारके काम आ जाय, तो अच्छी बात; क्योंकि यह आपका नहीं है तो आपके

****

पास रहेगा कैसे ? रहेगा नहीं। कोरी अपनी बेइज्जती हो जायगी। लोभ हो जायगा। लोभ, क्रोध और कामके कारण नरकोंमें जाना हो जायगा। क्योंकि अस्वाभाविकमें स्वाभाविक स्थिति कर ली। जो चीज स्वाभाविक होगी, वह ही रहेगी। अस्वाभाविक रहेगी कैसे ? अस्वाभाविकको स्वाभाविक मानकर जो गलती की है, उसका दण्ड जरूर भोगना पड़ेगा। वह टलेगा नहीं। इस वास्ते अस्वाभाविकको स्वाभाविक माने कि स्वाभाविकको स्वाभाविक माने ? बोलो। इसमें शंका हो तो बोलो ?

प्रश्न—संयोग-कालमें वियोगको स्वीकार करना भी तो अभ्यास है ? ना ! अभ्यास नहीं है, बिलकुल नहीं है। संयोग-कालमें वियोग-काल स्वीकार करना है, स्वीकार करना अभ्यास नहीं होता। अभ्याससे भूल नहीं मिटती, भूलको भूल समझा कि मिट जायगी। उसके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ेगा। किसी आदमीको नहीं पहचाना तो पूछते हैं कि 'भाई ! कौन है ? हम जानते नहीं।' कहता है 'अमुक हूँ, अमुक हूँ।' 'अच्छा, अब पहचान लिया।' इसमें अभ्यास करना पड़ा क्या ?

छोरी कन्याकी सगाई करते हो तो अभ्यास करते हो क्या कि मैंने छोरी दी या छोरी अभ्यास करती है ? एक माला भी जपती है कि 'हमारी सगाई हो गयी, हमारी सगाई हो गयी।' अच्छा, आप ब्याहे हुए इतने बैठे हो, ब्याहकी एक माला भी फेरी है क्या ? अभ्यास किया है क्या ? बोलो। अभ्यासकी साधना दूजी होती है। स्वीकृति अस्वीकृतिकी साधना दूजी होती है। स्वीकृति होती है, वह तत्काल होती है, सदा रहती है। अभ्यास किया हुआ बिगड़ जाता है। अब उसको अभ्यासजन्य मान लिया आपने। इस वास्ते कभी होता है और कभी नहीं होता है। मूलमें गलती

हो गयी। थोड़ा सोचो ! गहरा विचार करो, यह साधु हो गया तो उसने अभ्यास किया क्या साधु होनेका ? बताओ ! अब मानने लग गये कि हमारे गुरुजी हैं तो गुरुजी माननेके लिये अभ्यास किया क्या ? यह साधना और है अभ्यासकी साधना दूजी है। और बोधकी साधना, ज्ञानकी साधना दूजी है। दोनों साधना अलग-अलग हैं, पर यह मानते ही नहीं।

यह जो मेरी बातें आपको अच्छी लगती हैं, उनमें क्या बात है ? कि मैं वास्तविकताकी बात बताता हूँ जो स्वीकार करनेमात्रसे हो जाय। यह सुगमता आपको अच्छी तो लगती है, पर आपके मनमें यह जँची हुई है कि अभ्यास करनेसे ही होगा, ऐसे नहीं होगा। अब आपने यह पकड़ लिया, हम क्या करें ? अभ्यास होनेसे दूजी अवस्था बनती है। ध्यान देना एक मार्मिक बात है।

अभ्यास करो जो तो दूजी अवस्था बनेगी, अवस्था छोटी-बड़ी भले ही हो, पर बोध नहीं होगा। अभ्याससे बोध हुआ ही नहीं, कभी होगा ही नहीं। बोध हो सकता ही नहीं कभी। अभ्यास करते-करते अन्तमें वास्तविकताको स्वीकार करनेसे ही बोध होगा और स्वीकार करोगे तभी संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होगा, अभ्याससे नहीं होगा। अभ्यासमें तो संसारका सहारा लेना पड़ेगा शरीरका, इन्द्रियोंका, मनका, बुद्धिका, इनका सहारा लेना पड़ेगा और जड़ताके सहारेसे जड़ताका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा, दृढ़ होगा। अवस्था दूजी बन जायगी। नट रस्सेपर चलता है तो अभ्यास करते-करते रस्सेपर चलने लग गया अवस्था दूजी हो गयी। ऐसे अभ्याससे अवस्था दूजी होती है, बोध नहीं होता। बोध कभी होगा तो विवेकसे होगा। विवेक दोनोंको ठीक अलग-

अलग माननेसे होगा। और अलग-अलग ठीक माननेसे बोध हो जायगा, पर वह अभ्यासजन्य थोड़े ही होगा। जो बोध अभ्यासजन्य होगा वह मिट जायगा। जन्य होगा वह रहेगा कैसे ? जन्य तो उत्पत्तिवाला होता है तो नाश होगा ही उसका। मन-बुद्धि हमारे हैं नहीं, प्रकृतिके हैं।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

(गीता १३। ५)।

'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रम्' (गी॰१३। ६) यह क्षेत्र है और **'एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः'** क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध क्षेत्रसे है। मैं अलग हूँ आपसे, इसमें अभ्यास करना पड़ा क्या ? आपका कोई मत हुआ, उससे मेरा मत नहीं मिला, मैं अलग हूँ, यह अभ्यास करना पड़ता है क्या ? बताओ ? ये दोनों साधना है। कम-से-कम इतनी बात आप समझो कि एक अभ्यासकी साधना है और एक विवेककी सम्बन्ध-विच्छेदकी साधना है। और विवेक है वो तत्काल सिद्ध होता है और सदा रहता है। और अभ्यास किया हुआ कभी दृढ़ हो जाता है, कभी अदृढ़ हो जाता है—ऐसी बातें अभ्यासमें होती हैं। बड़ा गहरा विषय है। मनन करो। इन बातोंका, फिर शंका करो।

प्रश्न—महाराजजी ! यह संयोगमें वियोग मानना और संयोगमें वियोगकी अनुभूति करना—ये अलग हैं क्या ?

मानना और अनुभूति अलग-अलग हैं। मान करके अनुभव करो। मानना केवल याद करना नहीं है तोतेकी तरह। तोतेकी तरह याद कर लेना है न, वो मानना है। अनुभव है कि न मैं शरीर हूँ, न मेरा शरीर है। यह वास्तवमें ठीक बात है, इससे शरीरके विकारको

अपना नहीं मानोगे। नहीं तो शरीरके विकारोंको अपनेमें मानोगे तो शरीर रोगी हो गया तो मानो मैं रोगी हो गया। शरीर कमजोर हो गया तो मैं कमजोर हो गया। तू कैसे कमजोर हो गया ? शरीर मर जाय तो मैं मर गया तू कैसे मर गया ? तो क्या अभीतक हमने इस बातको स्वीकार नहीं किया ? नहीं किया है, इस वास्ते दुःख पा रहे हैं। नहीं तो दुःख हो ही नहीं सकता। यह आप जानते हो कि आपको संयोग-वियोगसे दुःख होता है कि नहीं होता, बताओ ? होता है तो स्वीकार करनेपर कैसे होगा, बताओ ? दूसरे शरीरमें और इस शरीरमें क्या फर्क है ?

'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा॥' संसारसे शरीरको अलग निकाल सकते हो ? दिखा सकते हो ? कह सकते हो कि संसारसे शरीर अलग है, यह बता सकते हो क्या ? बोलो ! शरीर संसारके साथ एक है कि आपके साथ एक है ? संसारके साथ है तो इसका विकार आपमें क्यों होता है ? स्वीकार कहाँ किया ? बातें सुनी हैं, सीख ली हैं, याद कर ली हैं। ये ठीक अनुभव हो जानेके बाद दुःख नहीं होगा, जलन नहीं होगी, संताप नहीं होगा। आप विचार करो, फिर होगा क्या ?

प्रश्न—इस स्वीकृतिका स्वरूप क्या है ?

स्वरूप यही है कि फिर सुख-दुःख नहीं होगा। संयोग-वियोगका असर नहीं पड़ेगा। ज्ञान होगा। ज्ञान होना और चीज है, असर पड़ना और चीज है। एक प्रभाव पड़ता है, वह असर है जो और है। ज्ञान कुछ और है। ज्ञान है, वह विकारोंको मिटाता है। ज्ञान नयी स्थिति पैदा नहीं करता।

प्रश्न—यह ज्ञान कैसे हो ?

ज्ञान कैसे हो, यह लगन लग जाय, बस हो जायगा। इसके

****

बिना न भोजन भावे, न प्यास लगे, न नींद आवे, न बात सुहावे। यह कैसे हो ? हो जायगा। है वो तो वास्तवमें, हो क्या जायगा ? उसकी जगह अज्ञानको लेकर उसके साथ रस ले रहे हो, इस वास्ते नहीं मिट रहा है। यहीं फेल हो जाते हैं। यह मत होने दो साहब। यह जँचती है कि नहीं मेरी बात ! युक्ति-संगत बात है, अनुभवसिद्ध बात है, शास्त्र-सम्मत बात है। शास्त्र-सम्मत, युक्ति-संगत, अनुभव-सिद्ध तीनों बातें हैं। फिर भी ख्याल ही नहीं होता कि स्वाभाविकता क्या है और अस्वाभाविकता क्या है ?

नारायण !   नारायण !!   नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

विनाशीका आकर्षण कैसे मिटे ?

६-४-८३ भींनासर धोरा

बीकानेर.

प्रश्न—महाराजजी ! सुनते हैं, समझते हैं, जानते हैं फिर भी उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों, व्यक्तियोंमें आकर्षण हो जाता है। यह आकर्षण कैसे मिटे ?

उत्तर—देखिये, आपको यह पता तो लगा है। नहीं तो आज मनुष्योंको यह बात जँचती ही नहीं है कि ये वस्तुएँ, पदार्थ, व्यक्ति उत्पत्ति-विनाशशील हैं और मैं 'स्वयम्' उत्पत्ति-विनाश-रहित हूँ। इतने अलगावका पता लगना कम बात नहीं है। लोग तो एक ही मानते हैं। उनको इस बातका पता ही नहीं है कि हम रहनेवाले हैं और ये उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। उनका तो **'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥'** (गीता १६। ११) कामना करना और भोग भोगना यही निश्चय होता है। आपने इतना देखा तो है कि भाई ! ये उत्पत्ति-विनाशशील हैं। ये हमारे साथ नहीं रह सकते, हम इनके साथ नहीं रह सकते, ऐसा जो खयाल हो गया, यह काम कम नहीं हुआ है। यह भी आप साधारण मनुष्योंमें देखो तो आपको पता लगे। पढ़े-लिखे लोगोंके साथ बैठो तो पता लगे आपको। आप अपनी अवस्थापर विचार करो।

जैसे, पहले जब मैं आनन्द-आश्रममें आया था, उस समय

****

सुबह सत्संगकी बातें होती थीं। उस समय भी आप आते थे। उस समय आपकी क्या धारणा थी और आज आपकी क्या धारणा है ?

श्रोता—महाराजजी ! अन्तर तो बहुत हुआ है। बहुत हुआ है न ! तो दो बातें हैं इसमें, पहली बात इतना अन्तर हुआ है तो आपको लाभ हो रहा है और लाभ जरूर होगा; परन्तु अब विचार पक्का कर लो कि हमें यही काम करना है। दूसरी बात यह है कि इतने लाभमें सन्तोष नहीं करना है; क्योंकि लाभ हुआ है हमारे; परन्तु जैसा लाभ होना चाहिये था, वैसा नहीं हुआ। तो हमारा उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंमें आकर्षण होता है और हम स्वयं उत्पत्ति-विनाशशील नहीं हैं। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जितनी प्राकृतिक सामग्री हैं, वे परिवर्तनशील हैं; परन्तु हम स्वयं परिवर्तनशील नहीं हैं। यह बात आती है न समझमें ! इस विषयको गहराईसे समझो, बहुत लाभकी बात है !

हमारा जो होनापन है न, 'मैं हूँ'। इस होनापनकी तरफ आप ध्यान दें। शास्त्रकी तथा संतोंकी दृष्टिके अनुसार पहले भी मैं था और अगाड़ी भी मैं रहूँगा; क्योंकि पहले जन्ममें किये हुए कर्मोंका फल-भोग अभी हो रहा है और इस जन्ममें जितने कर्म किये जाते हैं इन कर्मोंका फल-भोग अगाड़ी जन्ममें होगा। तो पीछेका जन्म, अगाड़ीका जन्म और यह जन्म—ये तीनों जन्म हमारे विचारसे सामने दीखते हैं और हम तीनों जन्मोंमें वही रहते हैं। तो वास्तवमें 'मैं' नित्य हूँ और ये जन्म अनित्य हैं इतनी बात तो समझमें आ ही जानी चाहिये। अब अपना जो होनापन है 'मैं हूँ', इसकी तरफ ख्याल करना है कि 'मैं' क्या हूँ ?, तो 'मैं हूँ' यह जो सत्ता है मेरा होनापन, यह मेरा स्वरूप है। अभी इसका स्पष्ट अनुभव न हो

तो भी आप समझ लो कि मेरा जो होनापन है, वह जाग्रत्‌में भी है, स्वप्नमें भी है और सुषुप्तिमें भी है। तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्-अवस्था, स्वप्न-अवस्था और सुषुप्ति-अवस्था। ये अवस्थाएँ बदलती रहती हैं और 'मैं' तीनों अवस्थाओंमें एक रहता हूँ, मेरेमें परिवर्तन नहीं होता।

यह बात विशेष ध्यान देनेकी है कि गाढ़ नींदमें 'मैं' हूँ—ऐसा ज्ञान नहीं होता है। मैं अभी सुषुप्तिमें हूँ, मुझे होश नहीं है यह ज्ञान होनेकी प्रक्रियामें छः सन्निकर्ष (सम्बन्ध) है, वह जो सन्निकर्षसे ज्ञान होता है जैसे—'**घटोऽयम्**' ज्ञान हुआ तो घटके साथ हमारा सम्बन्ध हुआ नेत्रोंके द्वारा तथा नेत्रोंके साथ सम्बन्ध हुआ हमारे मनका और मनका सम्बन्ध स्वयं आत्माके साथ हुआ तब हमें '**घटोऽयम्**' ज्ञान हुआ—यह है सन्निकर्ष, तो हमें घटाकार ज्ञान मनके सम्बन्धसे हुआ। नेत्रोंका सम्बन्ध घटके साथ हुआ, मनका सम्बन्ध नेत्रोंके साथ हुआ और 'स्वयम्' आत्माका सम्बन्ध मनके साथ हुआ तो मनके संयोगसे आत्मामें ज्ञान होता है। अगर मनका सम्बन्ध न हो तो आत्मामें ज्ञान नहीं होता। इस वास्ते ज्ञान गुणक आत्मा है न्यायकी दृष्टिसे। ज्ञान इसमें गुण है। आठ गुण हैं इसके, वे प्रकट होते हैं। आत्मा गुणोंवाला है न्याय-शास्त्रके अनुसार। वेदान्त और सांख्य कहते हैं कि इसमें गुण नहीं है, यह निर्गुण है, असंग है, ऐसी असंगता बताते हैं। तो अच्छे पढ़े-लिखोंसे मैंने पूछा है, मेरी बातें हुई हैं, मैंने कोई परीक्षा नहीं की है। उनसे यह बात समझमें आयी है कि बिना मनके संयोगके ज्ञान नहीं होता। अच्छे पढ़े-लिखे सब शास्त्रोंके जानकार कहते हैं कि बिना मनके संयोगके सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं होता तो हम कैसे समझें कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है? इस विषयमें मेरी जो धारणा

है, वह बताता हूँ। सुषुप्ति-अवस्थामें मैं हूँ—ऐसा ज्ञान नहीं होता; परन्तु सुषुप्तिमें मेरेको कुछ भी ज्ञान नहीं था। जगनेके बाद ऐसा अनुभव होता है कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था। यह ज्ञान तो उस समयमें हुआ है न ?

प्रश्न—महाराजजी ! यह ज्ञान तो जगनेके बाद हुआ है न ?

उत्तर—जगनेके बाद तो स्मृति होती है। स्मृतिका लक्षण न्यायमें आता है '**अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**' अनुभवजन्य हो और ज्ञान हो, उसका नाम स्मृति है तो मेरेको कुछ भी पता नहीं था, यह भूतकालकी बात कहते हो। यह वर्तमानकी बात नहीं है। थोड़ा ध्यान दें आप ! मेरेको कुछ भी ज्ञान नहीं, यह वर्तमानकी बात तो नहीं है न ? यह तो भूतकालकी बात है और वर्तमान अभी जाग्रत्-अवस्थामें है। तो मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था, यह सुषुप्तिका ज्ञान है। भूतकालकी स्मृति होती है तो भूतकालमें ऐसा ज्ञान था यह बात माननी पड़ेगी, नहीं तो मुझे कुछ भी पता नहीं था, यह कैसे कहते हो ? और इसमें कुछ सन्देह भी नहीं है। तो मुझे कुछ भी पता नहीं था और मैं सुखपूर्वक सोया था यह ज्ञान सुषुप्तिमें है। और कुछ नहीं था, सब ज्ञानके अभावका ज्ञान तो है ही। यह एक बात हुई।

दूसरी बात ख्याल करनेकी यह है कि जैसे मैं पहले जगता था, बीचमें नींद आ गयी। अब मैं जगा हूँ तो हमारा स्वरूप (होनापन) पहले जाग्रत्में बीचमें सुषुप्ति (गाढ़ नींद) में और अब जागनेके बाद एक ही रहता है। अथवा जागता था तब तो मैं था और अब जगता हूँ तब मैं हूँ, तथा बीचमें नींदमें 'मैं' नहीं था—ऐसा होता है क्या कभी ? नहीं होता तो अपने ज्ञानका भाव

****

भी है। सुषुप्ति-अवस्थामें और जगनेके बाद अभी 'मैं' वही हूँ, तो मेरा होनापन तीनों अवस्थाओंमें एक ही रहा। यह जो ज्ञान है सुषुप्तिका (सब ज्ञानके अभावका ज्ञान और सुखपूर्वक सोया था, यह ज्ञान) इसमें मन, बुद्धि नहीं है। तो मन, बुद्धिके संयोगके बिना, अपनी सत्ताका ज्ञान कैसे होता है ? तो स्वयंका ज्ञान स्वयंको है, यह मानना पड़ेगा। उस समयमें दूसरी सामग्रीका अभाव है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम्—ये सब नहीं दीखते, पर अपनी सत्ताका बोध तो है। इस सत्ताके बोधपर गहरा विचार करो।

जैसे 'मैं-पन' है, यह तो बदलता रहता है, मैं खाता हूँ, मैं सोता हूँ। मैं जाता हूँ; परन्तु मेरी सत्ता (होनापन) तो एक ही है। सुषुप्ति-अवस्थामें 'मैं-पन' तो अज्ञानमें लीन हो जाता है; परन्तु आप 'स्वयम्' तो रहते हैं। 'मैं-पन' के भावका-अभावका—दोनोंका ज्ञान आपको खुदको होता है। अभी 'मैं-पन'का भाव है, सुषप्ति-अवस्थामें 'मैं-पन'का अभाव होता है, तो 'मैं-पन'का अभाव होनेपर भी मेरी सत्ता रहती है। तो मैं 'मैं-पन' से अलग हमारी स्वतन्त्र सत्ता है 'मैं-पन' तो प्रकट और अप्रकट होता है, पर हमारी सत्ता अप्रकट नहीं होती, प्रकट ही रहती है। हमारी सत्ताके साथ जब 'मैं-पन' भी नहीं है, मन, बुद्धि भी नहीं है तो शरीरका साथ कहाँ हैं ? और जब शरीर भी साथ नहीं है तो स्त्री, पुरुष, कुटुम्बी, साथ कहाँ हैं ? ये भी साथ नहीं हैं तो मकान, रुपये, पैसे साथ कहाँ हैं ? तो मैं खुद (स्वयं) तो इनसे अलायदा हूँ, ये सब उत्पत्ति-विनाशशील हैं। इनको मैं जानता हूँ, ये सब मेरे जाननेमें आते हैं। ये सब उत्पत्ति-विनाशशील हैं इसका मेरेको ज्ञान है।

तीसरी बात, 'मैं' कल था, वही आज हूँ और रात्रिमें भी मैं था, तो 'मैं' नित्य-निरन्तर रहता हूँ। ये निरन्तर नहीं रहते, मेरे

सामने बनते-बिगड़ते हैं, मिटते हैं। इनको मैं महत्त्व देकर इनका आश्रय लेता हूँ, यह गलती करता हूँ। मैं जानता हूँ कि ये उत्पत्ति-विनाशशील हैं, ये मेरा आधार कैसे हो सकते हैं ? ये मेरा आश्रय कैसे हो सकते हैं ? ये मेरेको क्या सहारा दे सकते हैं ? जो कि मैं इनसे अलायदा हूँ। ये सब मेरे जाननेमें आते हैं, सुषुप्तिमें कुछ भी ज्ञान नहीं था, यह भी जाननेमें आता है और जाग्रत्, स्वप्नमें जो ज्ञान होता है, यह भी मेरे जाननेमें आता है। मैं (स्वयं) इन सबको जाननेवाला हूँ, मैं जाननेवाला, जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अलग हूँ। इसमें कोई सन्देह है क्या ? सन्देह नहीं है न ? तो 'मैं' इनसे अलग हूँ इसपर आप स्थिर हो जाओ। दिनमें, रातमें, सुबह-शाम जब आपको समय मिले तब कहो कि मैं वास्तवमें इनके साथ नहीं हूँ और ये मेरे साथ नहीं हैं। मैं इनके साथ सुषुप्तिमें भी नहीं रह सकता तो मरनेके बाद कैसे रहूँगा ? और ये मेरे साथ सुषुप्तिमें भी नहीं रह सकते तो सदा मेरे साथ कैसे रहेंगे ? अतः इनका हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला नहीं है। इसका ज्ञान तो प्रत्यक्ष होना चाहिये न ?

संसारका आकर्षण न छूटे तो कोई परवाह नहीं, परन्तु यह ज्ञान तो है न ? कि इनके साथ मेरा नित्य-सम्बन्ध नहीं है। इस ज्ञानमें तो सन्देह नहीं है न ? यह बात आप धारण कर लो। आकर्षण—छूटे-न-छूटे इसकी परवाह मत करो, पर मेरे साथ इनका सम्बन्ध नहीं है। पहले नहीं था और फिर नहीं रहेगा। यह बात तो हमारे अनुभवकी है। इस जन्ममें भी जिस कुटुम्बके साथ, जिस घरके साथ, जिन रुपये-पैसोंके साथ, वस्तुओंके साथ आज हमारा सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध पहले था क्या ? और अगाड़ी भी रहेगा क्या ? तो पहले हमारे साथ सम्बन्ध नहीं था, अगाड़ी इनका

सम्बन्ध हमारे साथ नहीं रहेगा और जो अभी है, वह भी वियुक्त हो रहा है। यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है, इस वास्ते मैं बार-बार कहता हूँ।

इतना तो ख्याल करो आप ! आप जन्मे जब, जितना जीना था, उस समय जितनी उमर थी, अभी उतनी उमर बाकी है क्या ? तो उमर तो घट रही है न ! जीना, मरनेमें जा रहा है न, संयोग मिट रहा है न ! पहले शरीर नहीं था, फिर शरीर नहीं रहेगा। वर्तमान अवस्थामें शरीर है, इस समय भी इससे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। यह बात तो समझमें आती है न, आकर्षण मत छूटे भले ही, पर इस बातको समझो आप, कि प्रतिक्षण शरीरके साथ वियोग हो रहा है। यह विवेक जितना दृढ़ होगा, उतना ही इसके छूटनेमें सहायता मिलेगी। जो सदा साथमें नहीं रहता, उसके साथ क्या मोह करें, ये हमारे साथ रह नहीं सकते, इसमें कोई सन्देह है क्या ? तो आप छूटता नहीं, इसकी चिन्ता मत करो, पर इस बातपर जोर दो कि वास्तवमें इनके साथ हम नहीं हैं और हमारे साथ ये नहीं हैं। जड़ कट गयी इस सम्बन्धकी, इतनी बात होते ही। इनका सम्बन्ध जो आज दृढ़ दीखता है और आज आप कहते हो कि यह छूटता नहीं है। इसकी जड़ कट गयी आज। इसपर दृढ़ रहो कि ये हमारे साथ हरदम रहनेवाले नहीं हैं। तो इनकी ममता छोड़नेमें क्या जोर आता है ?

प्रश्न—इसपर दृढ़ कैसे रहें ?

उत्तर—इसका चिन्तन करके, इसपर विचार करके इसपर दृढ़ रहो कि बात यही सच्ची है। इनके साथ हम हरदम नहीं रहते। १. पहले नहीं थे, २. पीछे नहीं रहेंगे और ३. वर्तमान अवस्थामें भी नहीं रह रहें हैं, यह तीन बात है। इसमें सन्देह नहीं

है, तो इस बातका आदर करो, इस बातको महत्त्व दो। जैसे आजकल अगर १० रुपये भी मिल जायँ तो उसका आदर होता है, १०० मिल जायँ तो उनका आदर होता है, पर यह बात लाखों और करोड़ों रुपये देनेपर भी नहीं मिल सकती। क्या रुपयोंके बलपर यह बात मिल सकती है ? हाँ, कोई पण्डित बता देगा, पढ़ा देगा; परन्तु ठीक तरहसे यह बात रुपयोंके बलपर नहीं मिलती। कितने ही रुपये मिल जायँ तो भी रुपयोंसे सन्तोष नहीं होता, शान्ति नहीं मिलती और इस बातको ठीक तरहसे समझनेसे शान्ति मिलती है। अगर कुछ नहीं मिलता तो इतनी जल्दी इतने आदमी यहाँ जंगलमें क्यों आते हैं ? इससे सिद्ध होता कि कुछ-न-कुछ मिलता है। यह बहुत विचित्र ढंगकी बात है। इस बातका आदर कम करते हैं, इस बातको महत्त्व नहीं देते हो, यहाँ गलती होती है। यह गलती कैसे मिटे ?

आजसे ही इस बातको महत्त्व दो कि यह बात वास्तविक है और वर्तमानमें लाभ होता दीखता है। क्या लाभ दीखता है कि पहले कोई चीज खो जाती थी तो कितनी चिन्ता होती थी ? और आज वैसी चीज खो जाय तो कितनी चिन्ता होती है ? इसमें नाप करोगे तो मेरी समझमें आपको फर्क मालूम देगा। फर्क पड़ा है तो इतना छूटा है न ! तो छूटेगा नहीं यह कैसे कहते हो ! पहले पकड़में जितनी दृढ़ता थी, उतनी दृढ़ता है क्या आज ? तो छूट रही है न ! सर्वथा नहीं छूटा, यह बात भी ठीक है। इसमें सन्तोष मत करो; परन्तु छूटता नहीं है, यह कैसे मानते हो ? आपसे छूटता नहीं है, यह बात मत मानो और सर्वथा छूट गया, यह बात भी मत मानो, क्योंकि सर्वथा छूटा नहीं है; परन्तु छूट तो रहा है। यह निश्चित समझो कि यह छूटनेवाला है; क्योंकि

****

इनके सम्बन्धमें कमजोरी आयी है। तो यह छूटनेवाली वस्तु है। अगर छूटनेवाली वस्तु नहीं होती तो पकड़ कम कैसे होती ? गीता कहती है—**'नाभावो विद्यते सतः'**— सत्का अभाव नहीं होता, पर इसका अभाव होता है। कम होती है, तो अभाव हुआ न ? तो इस बातसे यह बल आना चाहिये कि यह तो छूटनेवाली है। अगर छूटनेवाली नहीं होती तो कम कैसे होती ? और कम हुई है तो सर्वथा भी छूट जायगी, जरूर छूटेगी—इसमें कहना ही क्या है ! कम होती है, वो मिटती है यह अगर कम होती है तो इसका मिटना भी होगा। इसकी उमर कम हुई है तो यह मरेगी, जीयेगी कैसे ?

सम्बन्ध छोड़ना और पकड़ना हमें आता है। माँ-बापका सम्बन्ध हुआ, स्त्री-पुत्रका सम्बन्ध हुआ। तो सांसारिक-सम्बन्ध तो नये-नये होते रहते हैं तथा पुराने सम्बन्ध छूटते जाते हैं, पर भगवान्के साथमें हमारा सम्बन्ध वास्तविक है। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। शास्त्रोंसे, सन्तोंसे यह बात मालूम होती है। हम भी अनुभव करें तो भगवान्के साथ हमारा सम्बन्ध श्रद्धासे ही सही; न दीखे भले ही; परन्तु संसारका सम्बन्ध तो छूटता है, यह प्रत्यक्ष दीखता है न, तो यह छूटता नहीं, ऐसी हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। यह तो छूट रहा है। आप नहीं छोड़ोगे तो भी यह छूटेगा ही। लेकिन आप नहीं छोड़ोगे तो छूट जावेगा, तो वो फिर पकड़ा जायगा और आप छोड़ दोगे तो फिर पकड़ा नहीं जायगा। यह छूटता नहीं, यह बात मत मानो। यह छूट रहा है, इतना सुधार कर लो आजसे। यह नहीं छूटता, यह भावना बहुत खराब है। इस वास्ते यह मान ले कि यह छूट रहा है और हम छोड़ रहे हैं। हम जो सत्संग कर रहे हैं, यह छोड़ रहे हैं।

॥ श्रीहरिः ॥

कर्म अपने लिये नहीं

८-४-८३

भीनासर धोरा

बीकानेर.

राम राम राम ....

भगवान्‌ने कृपा करके मानव-शरीर दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी रचना की गयी है। इस मनुष्य-शरीरमें आकर अपने लिये कर्म ये न करे अपने लिये यह करती है तो उसका इसको पाप और पुण्य दोनों लगते हैं। ठीक काम करता है तो पुण्य लगता है और शास्त्र-निषिद्ध करता है तो पाप लगता है। इन दोनोंसे बचें कैसे ? अपने लिये न करें तथा औरोंके लिये करें; क्योंकि यह मनुष्य-शरीर सम्पूर्ण संसारकी सेवा करनेके लिये है। भगवान्‌ने इसको बड़ा अधिकार दिया है कि मात्र जीव-जन्तुकी यह सेवा करे, मनुष्योंकी यह सेवा करे, ऋषि-मुनियोंकी यह सेवा करे, पितरोंकी यह सेवा करे, देवताओंकी यह सेवा करे और तो क्या भगवान्‌की भी सेवा करे। भगवान् भी इससे चाहते हैं।

आप थोड़ा ध्यान दें। भगवान्‌के इतनी भूख है जो अर्जुनको चुपके-से कहते हैं **'सर्वगुह्यतमं भूयः'** बहुत गोपनीय बात कहता हूँ। जैसे, कोई कानमें बात कहे, ऐसे कहते हैं। मेरे ये परमवचन हैं। क्या हैं महाराज वो ? कि 'सर्वगुह्यतम' है। सुन, तू प्रेम रखता है इस वास्ते कहता हूँ।' **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'** (गीता १८। ६५) बस मेरे ही अर्पण कर, मेरी सेवा कर, सब धर्मोंको छोड़कर मेरे शरण आ जा। इस जीवकी गरज भगवान्‌को भी है कि ये सेवा करे, मेरी तरफ ही आ जाय। तो सबकी सेवा करनेलायक भगवान्‌ने इस मनुष्यको बनाया। अपनी खुदकी भी गरज पूरी करनेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको बनाया। तू मेरी ही सेवा कर, मेरी ही शरण आ जा। तू जो खुद चाहता है, गलती करता है, दरिद्रता करता है, महान् पतनकी तरफ जा रहा है। तू मेरी ही सेवा कर। तेरे जो चिन्ता-फिकर है, वह सब मैं दूर कर दूँगा। तेरी कमीकी चिन्ता तू क्यों करता है ? सब चिन्ता मैं दूर कर दूँगा। सब पापोंसे मैं मुक्त कर दूँगा। तू केवल मेरी शरण आ जा। मनुष्यमात्र जीवकी सेवा कर सकता है और साक्षात् भगवान्‌की सेवा, जो भगवान्‌की कमी भी पूरी कर दे। जिनमें कमी कोई नहीं है, किंचिन्मात्र भी कमी नहीं है— ऐसे भगवान्‌की भी पूर्ति यह कर सकता है। ऐसा मनुष्य-शरीर दिया है। अब ये केवल अपने स्वार्थका त्याग करके अपने लिये न करके सब दुनियाके हितके लिये ही काम करने लग जाय। केवल अपना स्वार्थ त्याग कर दे तो इसका कल्याण हो जाय। इसके लिये कुछ नहीं करना है। केवल दूसरोंकी सेवाके लिये काम करें बस। अपने लिये कुछ नहीं करना है। तो कल्याण इसका स्वतः हो जाय, स्वाभाविक हो जाय। ऐसी बात दीखती है, गीताके देखनेसे पता लगता है—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

(९।२४)

सम्पूर्ण यज्ञोंका व तपोंका भोक्ता मैं हूँ, और सबका मालिक मैं हूँ, पर मेरेको नहीं जानते इस वास्ते पतन होता है। सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता क्यों? कि खाना-पीना, बैठना-उठना, सोना-जगना, चलना-फिरना, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, होम, सत्संग, स्वाध्याय आदि जो करना, केवल दुनिया मात्रके हितके लिये करना है। पाप, अन्याय नहीं करना है, केवल सेवा करना है। जो काम करें, सेवाभावसे ही करें। भगवान्‌की आज्ञा मानकर करें। भगवान् सब जगह है सज्जनो! इतने मात्रसे सबका कल्याण हो जाय! इतनी बात बहुत विलक्षणतासे जँच रही है।

अभी गीता लिखानेका काम पड़ता है, उसमें मेरेको बहुत विचित्र अर्थ दीखता है। ये सीधी-सी बात, कुछ उद्योग नहीं करना है। भगवत्प्राप्तिके लिये उद्योगकी, कोई नये कामकी जरूरत नहीं है। निषिद्ध काम कोई न करें, विहित काम करें और मात्र दुनियाके हितके लिये करें। तो **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'**— (गीता १२।४) प्राणिमात्रके हितमें केवल रत हो तो मेरेको प्राप्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। किस रूपकी प्राप्ति होगी? तो कहते हैं **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** सगुण रूपकी प्राप्ति कहते हैं और कोई निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति चाहते हो, तो कहते हैं—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता ५।२५)

प्राणिमात्रके हितमें रति करनी है और कुछ नहीं करना है, केवल सेवा करनी है। केवल इतना ही कि जो काम करें, खाना-पीना, सोना-उठना, जप-तप-ध्यान, तीर्थ-समाधि आदि करना, केवल सबकी सेवा करनेके लिये। इस भावसे इतनी ही बात है।

ध्यान देकर आपलोग सुनें, बहुत मार्मिक बात है, आप ख्याल कम करते हैं; क्योंकि मैंने ख्याल कम किया है, इस वास्ते मैं जानता हूँ। ख्याल कम करता है आदमी। यह मेरेपर ही लगाता है।

केवल अपने स्वार्थका त्याग और दूसरोंके हितके लिये काम करना है। अपने लिये कुछ भी काम हम करते हैं तो उस कामका आरम्भ होता है और उस कामकी समाप्ति होती है। आदि और अन्त होता है तो उससे मिलनेवाला फल है, वो निरन्तर रहनेवाला कैसे मिलेगा ? आदि और अन्तवाला ही मिलेगा। हम अपने लिये कुछ करेंगे तो आदि और अन्तवाला ही फल मिलेगा। आदि-अन्तवाली क्रिया होगी और आदि-अन्तवाला ही फल मिलेगा।

और दूसरोंके हितके लिये ही काम करेंगे, तो ये आदि-अन्तवाला नहीं रहेगा, हमारे लिये आदि-अन्त है ही नहीं, क्योंकि हम तो निरन्तर करते हैं, दूसरोंके लिये ही करते हैं। उसमें भी करनेकी क्रियाका आदि और अन्त तो होगा। आदि और अन्त तो होगा ही, दूसरोंके लिये करनेमें भी; परन्तु **'सर्वभूतहिते रताः'** प्राणिमात्रके हितमें जो रति है उसका आदि और अन्त नहीं होता है। क्रिया कुछ भी करो, उसका आदि और अन्त होगा, पर केवल दूसरोंके हितकी भावना है उसका क्या आदि और अन्त होगा,

बताओ। अनन्त होगा इसका फल! कल्याण होगा। इतनी विलक्षण बात है!

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

(गीता १८।४८)

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।

(गीता १८।६०)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८।४६)

केवल अपने कर्मोंसे पूजन करना है भगवान्‌का। सबकी सेवा करनी है, हमारे लिये कुछ नहीं करना है। तो इसके लिये कुछ भी करनेकी जरूरत नहीं है। इससे इसका कल्याण हो जायगा। इसमें एक मार्मिक बात है, आप ध्यान दें, गहरी बात है—यह स्वयं भगवान्‌का अंश है और भगवान् हैं सच्चिदानन्द, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप। ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥'*** ध्यान देना उस चेतनका अंश है ये। यह चेतन है, शुद्ध है, सहज सुखराशि है। इसके लिये कुछ भी करनेकी जरूरत नहीं है। फिर सुनो—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥*** तो करना क्या रहा इसके बाकी! सहज सुखराशि है। करनेमें जितना ये प्राप्त करना चाहेगा कि मैं प्राप्त कर लूँगा तो वह आदि और अन्तवाला होगा और जन्म-मरण देनेवाला होगा। शुभ हो चाहे अशुभ हो, कोई काम हो। यह चेतन अमल सहज सुख राशि है और सत् स्वरूप है, उसमें कोई क्रिया नहीं है। स्वतःसिद्ध है, शान्तस्वरूप।

****

इसके लिये करना है ही नहीं। करनेकी उसपर जिम्मेवारी नहीं है। करनेकी जिम्मेवारी दोपर रहती है, एक तो वह जो कुछ कर सकता है तो करनेकी जिम्मवारी होती है। एक जिनके कुछ चाहिये तो जिम्मेवारी रहती है।

ध्यान देना मार्मिक बात है हमारी ! बहुत विलक्षण बात है ! मैं विशेष प्रशंसा करता हूँ। आप तमाशा-खेल नहीं समझें कि इसकी आदत है, यों ही कहता है ! ऐसे ही नहीं कहता हूँ। ऐसी बात कहता हूँ कि मेरेको बहुत वर्ष सुनाते हुए हो गये। कितने वर्ष हो गये हैं। १९७९ विक्रम सम्वत्‌से अभी २०४० तक ६०-६१ वर्षोंसे सुनाता हूँ। ६१ वर्ष सुनाते हुए हो गये हैं मेरेको। यह इस वास्ते आपको कहता हूँ कि आप विशेष ध्यान दें। करना होता है दो आदमियोंके लिये, एक जो कर सकता है, उसपर करनेकी जिम्मेवारी होती है। मालपर जगात लगती है। इन्कमपर टेक्स लगता है। मुनाफा किया ही नहीं तो टेक्स किस बातका ? तो ये जो स्वयं चेतन है, इसके लिये कहते हैं कि करना नहीं बनता है। यह ख्याल करनेकी बात है, स्वयं चेतन है। इसके द्वारा कुछ हो ही नहीं सकता, अकर्ता है यह। यह जब कुछ करेगा तो संसारके सम्बन्धसे करेगा। मन है, बुद्धि है, अहंता है, इन्द्रियाँ हैं, शरीर है, प्राण है, प्रकृतिका कोई-न-कोई कार्य यह साथ लेगा तब इसमें कर्तापन आयेगा। प्रकृतिके सम्बन्ध बिना इसमें स्वयंमें कर्तापन नहीं है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

(गीता १३ । २९)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(गीता ३ । २७)

मूढ मानता है कि मैं कर्ता हूँ, पर कर्तृत्व स्वयं चेतनमें नहीं है। जब कर्तृत्व नहीं है तो करनेकी जिम्मेवारी नहीं है इसपर, क्या समझे ? कर सकता है, तब करनेकी जिम्मेवारी होती है। जब स्वयं कुछ नहीं करता है तो खुदपर करनेकी जिम्मेवारी है ही नहीं। प्रकृतिको साथ लेता है तो कर्तापन साथ आता है और करनेकी जिम्मेवारी भी आती है तो वो किसको लेकर केवल प्रकृतिको लेकर करनेकी जिम्मेवारी हुई तो केवल प्रकृतिकी सिद्धिके लिये और प्राकृत संसारके लिये करना हुआ। अपने लिये करना हुआ ही नहीं। ख्याल किया कि नहीं ? भाई ! यह बहुत मार्मिक बात है।

सब धर्मोंको छोड़कर तू मेरी शरण आजा तेरेको कुछ नहीं करना होगा तो इसके करना कुछ नहीं है; क्योंकि स्वयंमें कर्तृत्व नहीं है। इस वास्ते करनेकी इसपर जिम्मेवारी है ही नहीं। जिम्मेवारी तब होती है, जब यह प्रकृतिकी वस्तुको स्वीकार करता है। शरीर है, प्राण है, मन है, बुद्धि है, इन्द्रियाँ हैं, मैं-मैंपन है—इनको स्वीकार करता है, तब करनेकी जिम्मेवारी आती है; क्योंकि करनेकी सामग्री इसने स्वीकार कर ली, इस वास्ते करना होता है। वो सामग्री प्रकृतिसे मिली तो प्रकृतिजन्य संसारके लिये ही करना है, अपने लिये करना है ही नहीं, क्योंकि अपने शुद्ध स्वरूपमें करना है नहीं। दो आदमियोंके लिये करना होता है किनके लिये ? जो कर सकता है, उसके लिये करनेकी जिम्मेवारी होती है और जो स्वयं चाहता है, उसके लिये करना पड़ता है। यह चाहता है तो करो भाई, काम करो। इसमें खुदमें चाहना नहीं है, क्योंकि यह पूर्ण है।

'नाभावो विद्यते सतः' सत् वस्तुका अभाव नहीं होता। ये

सत् स्वरूप है तो इसमें अभाव बिना कामना कैसे होगी ? कामना कुछ-न-कुछ कमी होनेसे ही होती है न ? उस कमीकी पूर्तिके लिये। पर यह चेतन है, शुद्ध है, सहज सुख-राशि है। चाहना तो उसमें सुखके लिये होती है न ? सहज सुख-राशि, उसके सुखकी चाहना है ही नहीं। इसे कुछ करना है ही नहीं। स्वरूपमें करना नहीं है और चाहना नहीं है करना इसमें बन नहीं सकता। इस वास्ते खुदके लिये कुछ नहीं करना है, केवल दुनियाके हितके लिये करना है; क्योंकि दुनियासे शरीर मिला है। यह शरीर अपना नहीं है। यह जो दुनिया दीखती है, इस दुनियाका यह अंश है छोटा-सा।

'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा ॥'— 'यह दुनियाका अंश है, दुनियासे पैदा हुआ है, दुनियासे ही पला है, दुनियामें ही रहता है, इस वास्ते इसको जो कुछ भी करना है, वह दुनियाके हितके लिये ही करना है और दुनियाके अहितके लिये करे तो बहुत बड़ी गलतीकी बात है। केवल सेवा रूपसे दुनियाके लिये करना है। अपने लिये करना है ही नहीं, सबके हितके लिये करना है—क्योंकि सबसे चीज मिली, है। सबसे मिली हुई चीजको, शरीरको अपना कह देते हो—यह गलती है। अगर शरीर मेरा है तो पाञ्चभौतिक मात्रसृष्टि मेरी है और पाञ्चभौतिक सृष्टि मेरी नहीं तो शरीर मेरा कैसे ? शरीरकी और सृष्टिकी एक जाति है। आप अलग सिद्ध कर सकते हो क्या कि यह शरीर संसारसे अलग है ? अलग है ही नहीं। स्थूल, सूक्ष्म, और कारण तीनों, शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण संसारके साथ एक है इनमेंसे एक शरीरको अपना मानना गलती है ! उनके लिये ही मानकर उनकी सेवा करनी है।

जैसे कोई ऑफिसमें जाता है, वहाँ बैठता है तो कुर्सी भी

****

वहीं है, टेबल भी वहीं है, दवात भी वहीं, कलम भी वहीं, रजिस्टर भी वहीं है। वहाँ ही बैठकर वहाँका काम कर देता है। खाली हाथ ही जाता है और खाली हाथ ही उठकर आ जाता है। ऐसे ही यहाँ आये हो, यहाँ सामग्री मिली है। केवल यहाँके लिये काम कर देना है, उठकर फिर चल देना है। अपने लिये करना है ही नहीं। मात्र दुनियाके लिये करना है। भजन करो, जप करो, कीर्तन करो, ध्यान करो, समाधि करो। सब-की-सब ही करनी केवल दुनियाके हितके लिये '**सर्वभूतहिते रताः**' प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी चाहिये भीतरसे। इसलिये सब काम करना है। तो ये कर्मोंका प्रवाह सब-का-सब संसारकी तरफ हो जायगा। आपका चेतन आनन्दस्वरूप स्वतःसिद्ध रह ज़ायगा; क्योंकि कर्मका सब प्रवाह संसारकी तरफ हुआ। अपनी तरफ कर्मोंका प्रवाह करता है तब बन्धन होता है।

मुक्ति स्वतःसिद्ध है। देखो ! एक सिद्धान्त बताता हूँ। दो बात है उसमें मुक्ति 'बद्ध'की होती है और मुक्ति 'मुक्त'की होती है। ध्यान देना ! जो स्वरूपसे बद्ध हो, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। समझे ! स्वरूपसे बद्धकी कैसे मुक्ति हो जायगी ? वह बन्धनसे अलग कैसे हो जायगा और जिसके बन्धन है ही नहीं तो मुक्ति कैसे होगी ? तो दूसरी चीजको अपनी मानी, यही बन्धन हुआ और दूसरी चीजको अपनी नहीं मानी तो मुक्ति हो गयी। तो मुक्ति मुक्त पुरुषकी होती है और मुक्ति 'बद्ध'की होती है। 'बद्ध' वही होता है, जो दूजी चीजको ले लेता है। दूजी चीजको दे दी तो मुक्ति हो गयी। तो मुक्ति 'मुक्त'की भी नहीं होती है और 'बद्ध' की भी नहीं होती। वास्तवमें 'बद्ध'की होती है और 'मुक्त'की होती है। ठीक है न ?

बन्धन क्या है ? कि उस चीजको अपनी मान ली और अपने लिये मान ली—यही है बन्धन ! और अपनी नहीं, अपने लिये नहीं—यही है मुक्ति ! भक्ति क्या है ? भगवान्‌के सम्मुख न होना अभक्त हुआ। भगवान्‌से विभक्त हुआ तो अभक्त हुआ और भगवान्‌के सम्मुख हुआ तो भक्ति हुई। तो भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌का भजन करना है ऐसा भाव होते ही वह भक्त हो गया। भक्ति और मुक्तिके लिये करना कुछ नहीं है। संसार—शरीर मैं नहीं, संसार मेरा नहीं। मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। बेड़ा पार। संसार मैं नहीं, संसार मेरा नहीं यह हुई मुक्ति और भगवान् मेरे, मैं भगवान्‌का हूँ—यह है भक्ति। **'कृतकृत्यश्च भारत'** कुछ करना बाकी नहीं रहा। सर्वथा पूर्ण-का-पूर्ण ! कितनी श्रेष्ठ बात है ! यह सार बात है।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥

कर्म, सेवा और पूजा

११-४-८३ भीनासर धोरा
बीकानेर

परतन्त्रता दीखती है तो अभिमानके कारण दीखती है। अभिमान नहीं रखना है। अपनेको कोई कहे, वैसा करनेमें बहुत आनन्द है। कहे जैसा करनेमें अपनेपर कुछ जिम्मेवारी नहीं रहती किञ्चिन्मात्र भी अपनेपर आफत नहीं रहती। कहे ज्यों कर दें. बोलो ! इसमें तनिक भी परतन्त्रता मालूम देती है ? परतन्त्रता है ही नहीं इसमें। अभिमानके कारण परतन्त्रता प्रतीत होती है। बड़ी स्वतन्त्रता, बड़ी आजादी है इसमें। कह दिया, वैसा कर दिया, बस। अपनेपर कोई जिम्मेवारी नहीं किञ्चिन्मात्र जिम्मेवारी नहीं। न पहले, न उस समय, न पीछे। 'तूने ऐसा कैसे कर दिया ?' कि 'कह दिया, इसलिये कर दिया।' अभिमानके कारण यह बात समझमें नहीं आती। मौज बहुत है इसमें बोलो ! इसमें शंका करो अरे भाई ! सीधी-सी बात है। कौन-सी गूढ़ पंक्ति है ?

करना पड़ता है अभिमानीको। अभिमान आया है न भीतर, वह चुभता है, वह करने नहीं देता, बुरा लगता है। साइकिलको घुमा लें गोल-गोल तो घूम जावे, सीधी चलावे, खड़ी कर दो तो खड़ी हो जाय, उतर जाओ तो उतर जाओ, चढ़ जाओ तो चढ़ जाओ। आगे चलाकर पीछे चलाई फिर आगे चलाई और फिर पीछे चलाई। साइकिल कहती है क्या कि बार-बार ऐसा क्यों चलाते हो ? कहती है क्या ? मर्जी है मालिककी चलाओ, मत

चलाओ, गोल चलाओ, खड़ी कर दो। जँचे जैसे चलाओ, हमें क्या मतलब है ? देखो, भारी तब लगता है, जब आज्ञा देनेवाला है, उसमें आदर-बुद्धि नहीं है, पूज्य-बुद्धि नहीं है और पूज्य-बुद्धि होती तो वह कुछ कह दे तो इतनी खुशी होती है कि कह नहीं सकते। कभी कहते नहीं, मेरेको कह दिया, कितने आनन्दकी बात है ! आप-से-आप यदि करते तो इतने फायदेकी नहीं होती। उन्होंने आज्ञा दे दी। मेरेको कह दिया ओ हो ! मैं तो बड़ा भागी हूँ ऐसे बहुत आनन्द आता है; परन्तु आज्ञा देनेवालेमें पूज्यबुद्धि आदरभाव होना चाहिये।

तीन तरहका काम है—एक काम करना है, एक सेवा करना है, एक पूजा करना है। काम तो नौकर भी कर देगा। जिसमें सेवकपनका भाव रहता है, वो सेवा करता है जबकि काम वह-का-वह ही है। उस समय वह सेवा हो जाती है और वह ही जब जिसकी आज्ञाका पालन करता है, उसपर बहुत पूज्य भाव रखता है, जैसे भगवद्‌बुद्धि है, भगवान् है साक्षात्, वे कहें कि तू ऐसा कर दे तो कितना आनन्द आवे इसमें ! वह पूजा होती है। वह ही काम पूजा हो जायगा। पिताकी सेवा करनेमें भीतरमें पूज्य भाव रहे कि मेरा अहोभाग्य है। जीवन सफल हो गया, समय सफल हो गया, वस्तु सफल हो गयी कि इनकी सेवामें लग गयी। तब वह पूजा हो जाती है। आदर ज्यादा होनेसे पूजा, कम आदर होनेसे सेवा और स्वार्थके लिये, तनख्वाहके लिये काम करता हो तो वह है काम—ये तीन भेद हो जाते हैं भावके कारणसे। जितना ही भाव त्यागका होता है, उतना ही श्रेष्ठ होता है। अपने द्वारा कामनाका त्याग और उसमें पूज्य-बुद्धि—ये दो चीजें हैं खास।

हमें तो गीतामें सातवें और नवें अध्यायमें दो बातें ही खास

****

दीखती है। सातवेंमें तो **'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः'** कामनाके कारण और नवेंमें **'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते'** (गीता ९ । २४) मेरेको जानते नहीं, इस वास्ते पतन होता है। तो भगवद्बुद्धि हो और इधर स्वार्थका त्याग हो तो उसकी मुक्ति हो गयी, बन्धन रहा ही नहीं। बन्धन दो ही हैं—एक है पदार्थ और एक है क्रिया। एक तो काम करना और एक धन चाहना। इन दोमें जिनकी आसक्ति होती है, जिनकी प्रियता होती है, वह पारमार्थिक रुचि नहीं कर सकता।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २ । ४४)

भोग और ऐश्वर्यमें जिसकी आसक्ति है। भोगना और पदार्थोंका संग्रह करना दो ही बात बतायी। **'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते'** तो क्रियाओंमें और पदार्थोंमें नहीं फँसना। भोग जितना होता है, वह क्रियाजन्य होता है। भोग होता है, क्रिया होती है उसमें क्रिया-जन्य सुख है और संग्रह है, वह पदार्थजन्य। पदार्थोंका संग्रह कर लूँ। इस वास्ते भगवान्‌ने कहा—**'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'** ये वस्तु अर्पण कर दो। और अगाड़ी **'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्'**। क्रिया अर्पण कर दो। तो **'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।'** दोनों बन्धनोंसे छूट जायगा। क्रिया और पदार्थ, ये दो रूप ही हैं प्रकृतिके। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायेगा। क्रिया और पदार्थके वशमें रहेगा, वो प्रकृतिके वशमें रहेगा, जन्मेगा और मरेगा। **'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु** (गीता १३ । २१) गुण सात्त्विक, राजस और तामस होते हैं। पदार्थ भी सात्त्विक, राजस और तामस होते हैं।

****

जो पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्त है, वो फँस जायगा। तो इसमें न फँसे—इसका उपाय है आज्ञा-पालन ॥ ***'आग्या सम न सुसाहिब सेवा'*** आज्ञा-पालनके समान कोई सेवा है ही नहीं। तो कहे ज्यों ही करें, अपने कुछ करना है ही नहीं। कृतकृत्य हैं अपने। कुछ करना नहीं, कुछ पाना नहीं, कुछ लेना नहीं, कुछ सम्बन्ध ही नहीं अपने। लाठी है उसे जँचे वैसे चला दो। मालाको घुमाओ, वैसे घुमा दो। माला, लाठी कुछ कहती नहीं कि यूँ घूमाओ, यूँ करो। तुम्हारी मर्जी है, जैसे करो। ऐसे बड़ा आनन्द है, शिष्यके लिये, पुत्रके लिये, स्त्रीके लिये, नौकरके लिये, प्रजाके लिये। बहुत आनन्द है! अपना कुछ है ही नहीं। मालिक कहे, जैसे कर दिया। हरदम मस्त रहे, दुःख और संताप कुछ है ही नहीं। न अपनी कोई चीज है, न कोई क्रिया है, न अपने कुछ लेना है, न कुछ करना है। शास्त्रोंने पतिव्रताकी बड़ी महिमा गायी है। पतिव्रताकी महिमा क्यों है?

पति कहे ज्यों करे, उसकी राजीमें राजी रहे। अपना कुछ नहीं। अपने-आप भी अपनी नहीं। वो तो पतिकी है बस उसके हाथका खिलौना है। खिलाओ, पिलाओ, मर्जी आवे ज्यों चलाओ। ऐसे ही पुत्र होता है। पुत्रका, शिष्यका, पत्नीका बहुत जल्दी होता है अपनी हेकड़ी छोड़ी कि हुआ कल्याण। अपनेपर काम आ जाय तो उसको तो यह विचार करना पड़ता है कि यह करें कि नहीं करें। यह ठीक है कि बेठीक है। पर उन्होंने कह दिया, अपने कर दिया क्यों कर दिया कि उन्होंने कह दिया इस वास्ते कर दिया। अपने क्या मतलब? बोलो, इसमें शंका क्या है? अरे! अभिमान भरा है भीतरमें भाई! अभिमान भरा है अभिमान! अभिमान, आलस्य, प्रमाद-ऐसे वृत्तियाँ भरी हैं।

तामसी वृत्तियाँ कम होते ही सुगमतासे कल्याण हो जाता है और ज्यादा होती है तो देरी लगती है शास्त्रविहित ही करना है, निषिद्ध थोड़े ही करना है।

प्रश्न—प्राणिसेवा ही प्रभु-पूजा है, सेवा और पूजामें अन्तर क्या है ?

उत्तर—हाँ जी। काम कर देना सेवा है। पूजन होता है चन्दनसे, अगरबत्तीसे, दीपक दिखानेसे, आरती करनेसे, फूल चढ़ानेसे। यह पूजा होती है। इसको भी सेवा कह देते हैं, पर पूजा है यह। तो पूजा करनेमें जिसका हम पूजन करते हैं, उसको ऐसा कोई लाभ नहीं होता। पुष्प चढ़ा दिया तो क्या हुआ, चन्दन चढ़ा दिया तो क्या हुआ ? धूप-दीप कर दिया तो क्या मिल गया उसको ? उसको सुख ज्यादा होता है सेवा करनेसे। पग-चंपी कर दी, स्नान करा दिया, कपड़े धो दिये। ऐसे यदि वह उनकी सेवा करे तो सुख ज्यादा होता है, पर सेवा-बुद्धिसे भी विशेष अगर पूजा-बुद्धिसे करता है तो स्वयं गद्‌गद हो जाता है। मस्त हो जाता है वह कहीं सेवाका काम मिले तो ! सेवामें पूजा-बुद्धि हो जाती है तो निहाल हो जाता है। चरण-चाँपी करता है एक तो और एक चरण छूता है। चरण छूनेमें, जिसके चरण छूता है, उसको कुछ नहीं मिलता। स्वयं अभिमान भले ही कर ले। और चरण-चाँपी करता है तो थकावट दूर होती है।

भाव जिसका चरण-छूनेका है और पूजा-बुद्धि है तो चरण छूनेमात्रसे जैसे बिजलीका करंट आता है, ऐसे ही उसके आनन्दका एक करंट आता है। ऐसे चरण-चाँपी करना सेवा है और चरण छूना पूजा है। यह पूजाका और सेवाका भेद है। जितना अपने अभिमानका त्याग होता है, उसको सुख कैसे

****

पहुँचे ? उसको आराम कैसे पहुँचे ? यह सेवाभाव होता है। वह पूजनीय, आदरणीय है, वह हमारा भोजन भी स्वीकार कर ले, चन्दन भी स्वीकार ले, हमारा नमस्कार भी स्वीकार कर ले तो मैं निहाल हो जाऊँ ! यह पूजाका भाव है।

जहाँ पूज्यभाव होता है, वहाँ भारी कैसे लगे ? वो तो त्याग करता रहता है, हरदम ही विचार करता रहता है। किस तरहसे मेरेको सेवा मिल जाय। सेवा मिल जाय तो अपना अहोभाग्य समझता है कि बस निहाल हो गया आज तो ! और ऐसा मालूम पड़ता है कि इनकी कृपासे ही यह हो रहा है। मेरेमें यह भाव है न, यह इनकी कृपा है। काम भी इनकी कृपासे होता है। वह तो जीवन्मुक्त हो गया महाराज ! इतना मस्त हो गया। उसकी तो सेवा-पूजा देखकर दूसरे आदमियोंका कल्याण हो जाय। अगर उसका भाव यह है तो ऐसी बात है और भारी लगता है तो आलस्य है, प्रमाद है, अभिमान आदि दोष है।

यह बात है भैया ! जितना ही दुःख होता है, आनन्द नहीं आता है, उसमें अपने दोष है भीतर। अपने दोष न रहनेसे बहुत ही मौज होती है। जितना निर्दोष जीवन है, उतना उसके आनन्द रहता है। इस बातको समझते नहीं, इस वास्ते लोग चोरी करते हैं, चालाकी कर लेते हैं, ठग लेते हैं, उससे खुदको दुःख होगा, शान्ति नहीं रह सकती, उसके प्रसन्नता नहीं रह सकती। परंतु पदार्थोंमें ज्यादा आसक्ति है, पदार्थोंको मूल्यवान समझता है। इस वास्ते झूठ-कपट कर, धोखा दे राजी होता है। यह महान् पतनका रास्ता है। बहुत नुकसान कर लिया अपना ! और जितना निर्दोष जीवन होता है, अपना शुद्ध जीवन होता है; आलस्य, प्रमाद, झूठ, धोखेबाजी, लोभ, क्रोध, कामना कुछ नहीं होती, उतना अन्तःकरण

निर्मल होता है, हल्का होता है, मस्ती रहती है, आनन्द हरदम रहता है—***'कञ्चन खान खुली घट माहीं। रामदास के टोटो नाहीं ॥'*** भीतरसे आनन्द उमड़ता है। जैसे शीत-ज्वर चढ़े तो भीतरसे ही ठंड लगती है। ऐसे भीतरसे आनन्द उठता है उसके, बाह्य-पदार्थोंसे सुख लेनेकी इच्छा नहीं होती। बाह्य-पदार्थोंका सुख तो पराधीनताका है। पराधीनता तो पराधीनता ही है—***'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'*** । और भीतरमें आवे जब—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान ॥

भीतरसे संतोष आवे। **'सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्त चेतसाम्'** बहुत आनन्द हो रहा है। कुछ चाहिये नहीं। हमारे कुछ नहीं चाहिये। जीयेंगे कैसे ? जीना भी क्यों चाहिये। भगवान्‌को जिलानेकी लाख गरज हो तो दे दो, तो जी जावेंगे। नहीं दे तो चलने दो, हमें जीनेसे मतलब नहीं, शरीरसे मतलब नहीं, प्राणोंसे मतलब नहीं, जीनेसे मतलब नहीं। भगवान्, संत, महात्मा, संसार, सब उसकी सब गरज करें, उसको किसीकी गरज नहीं। भगवान्‌की भी नहीं। भगवान्‌को गरज होती है ऐसे पुरुषोंकी। ***'मैं हूँ भगतन को दास भगत मेरे मुकुट मणि'*** भक्त-भक्तिमान् है भगवान्, भगतके भगत हैं भगवान्। भगवान्‌को आनन्द बहुत आता है इसमें। और माँको आनन्द आता है न बच्चेका पालन करनेमें, नहीं तो आप हम इतने बड़े हो जावें क्या ? वह प्रसन्नतासे पालती है। आनन्द आता है माँको, बच्चे टट्टी-पेशाब फिर देते है माँपर।

एक सज्जन कह रहे थे । काशीके मदन मोहनजी महाराज थे ब्याह करानेको गये कहीं। तो ब्याहमें बढ़िया-बढ़िया साड़ियाँ

पहनकर बहनें आयीं। एक बहनके गोदमें बालक था, दूसरी बहन पासमें बैठी थी। तो गोदीमें जो बालक था, वहीं टट्टी फिरने लगा। टट्टीकी आवाज आयी तो पासवाली बहनने कहा, 'देख यह टट्टी जाता है।' तो वह कहती है 'हल्ला मत कर, इसके हाथ लगा देंगे, इसको पता लग जायगा तो टट्टी रुक जायगी इसकी, चुप रह।'

इसमें कोई सेवा-पूजा हो रही है क्या इसकी ? उसने कहा— 'चुप रह।' रेशमी साड़ीमें टट्टी फिर रहा है और कहती है कि 'बोल मत, टट्टी रुक जायगी बालककी।' बोलो ! इसमें कोई सेवा-पूजा हो रही है क्या ? वो रोगी न हो जाय, यह चिन्ता है।

माँ यशोदा धमकाती है कन्हैयाको। 'क्यों लाला तूने माटी खायी बता ? यशोदा समझा रही है हाथमें लाठी लेकर। क्यों माटी खायी ? ***'दूध-दहीने कबहुँ न नाटी।'*** दूध-दहीकी तेरेको ना कही क्या कभी मैंने ? तो माटी क्यों खाता है ? धमकाती है। मतलब क्या है ? मिट्टी खा लेगा तो पेट खराब हो जायगा। भीतरसे रोग लग जायगा। ये दुःख पायेगा। माँकि चिन्ता हो रही है। कन्हैया तो परवाह नहीं करता। **'नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः'**। ये झूठ बोलते हैं सब। सच्चा तो मैं ही हूँ एक। कन्हैयाने कहा, 'मैया ! व्रजमें मेरे समान भला आदमी कोई नहीं है।' माँ हँसती है कि मैं जानती हूँ, तू है बड़ा ! ठाकुरजी सची कहते हैं, व्रजमें उनके समान भला कौन है ! माँको विश्वास ही नहीं होवे। माँ कहती है कि मैं जानती हूँ तेरेको ! माँका स्नेह बहुत है, अत्यधिक ज्यादा और लालाको इतनी मस्ती आती है महराज ! पूतनाने मारनेके लिये जहर पिलाया और उसको मुक्ति

****

दे दी। दूध पिलानेवाली माताको क्या देंगे ? जहर पिलानेवालीको मुक्ति दे दी। दूध पिलानेवाली माँको अपने-आपको दे देते हैं और क्या देवें ? वो चाहे रस्सीसे बाँध देवे, तो बँध जाते हैं। वहाँ दामोदर नाम हो जाता है। अब बाँध दे, छोड़ दे—मर्जी आवे जैसे करे मैया। माँ है, अपनी खुशी है जैसे वह करे। ऐसी बात है वो भी भीतरमें भाव होता है न ! भावसे भगवान् वशमें हो जाते हैं। **'भावग्राही जनार्दनः'** तो जहाँ वो पूज्यभाव होता है, वहाँ भारी लगता है क्या ? बोलो ! अपने भावकी कमी है।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

॥ श्रीहरिः ॥ 422

कर्म-रहस्य

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

वर्तमान समयमें 'कर्म' सम्बन्धी कई भ्रम लोगोंमें फैले हुए हैं। इसलिये इसको समझनेकी वर्तमानमें बड़ी आवश्यकता है। हमारे परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने श्रीमद्भगवद्गीताकी 'साधक-संजीवनी' हिन्दी-टीकामें इसका बड़े सुन्दर और सरल ढंगसे विवेचन किया है। उसीको इस पुस्तकके रूपमें अलगसे प्रकाशित किया जा रहा है। प्रत्येक भाई-बहनको यह पुस्तक स्वयं भी पढ़नी चाहिये तथा दूसरोंको भी पढ़नेके लिये प्रेरित करना चाहिये। इस पुस्तकके पढ़नेसे कर्मसे सम्बन्धित अनेक शंकाओंका समाधान हो सकता है।

—प्रकाशक

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कर्म-रहस्य

पुरुष और प्रकृति—ये दो हैं। इनमेंसे पुरुषमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तनरहित नहीं होती। जब यह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब प्रकृतिकी क्रिया पुरुषका 'कर्म' बन जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य होनेसे जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनमें ममता होती है और उस ममताके कारण अप्राप्त वस्तुओंकी कामना होती है। इस प्रकार जबतक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तबतक जो कुछ परिवर्तनरूप क्रिया होती है, उसका नाम 'कर्म' है।

तादात्म्यके टूटनेपर वही कर्म पुरुषके लिये 'अकर्म' हो जाता है अर्थात् वह कर्म क्रियामात्र रह जाता है, उसमें फलजनकता नहीं रहती—यह 'कर्ममें अकर्म' है। अकर्म-अवस्थामें अर्थात् स्वरूपका अनुभव होनेपर उस महापुरुषके शरीरसे जो क्रिया होती रहती है, वह 'अकर्ममें कर्म' है।* तात्पर्य यह हुआ कि अपने निर्लिप्त स्वरूपका अनुभव न होनेपर भी वास्तवमें सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्य शरीरमें होती हैं; परन्तु प्रकृति या शरीरसे अपनी पृथक्ताका अनुभव न होनेसे वे क्रियाएँ 'कर्म'

---

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गीता ४। १८)

बन जाती हैं।*

कर्म तीन तरहके होते हैं—क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध। अभी वर्तमानमें जो कर्म किये जाते हैं, वे 'क्रियमाण' कर्म कहलाते हैं।† वर्तमानसे पहले इस जन्ममें किये हुए अथवा पहलेके अनेक मनुष्यजन्मोंमें किये हुए जो कर्म संगृहीत हैं, वे 'सञ्चित' कर्म कहलाते हैं। सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये प्रस्तुत (उन्मुख) हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें परिणत होनेके लिये सामने आ गये हैं, वे 'प्रारब्ध' कर्म कहलाते हैं।

- क्रियमाण कर्म
  - फल-अंश
    - दृष्ट
      - तात्कालिक
      - कालान्तरिक
    - अदृष्ट
      - लौकिक
      - पारलौकिक
  - संस्कार-अंश
    - शुद्ध
    - अशुद्ध

क्रियमाण कर्म दो तरहके होते हैं—शुभ और अशुभ। जो कर्म शास्त्रानुसार विधि-विधानसे किये जाते हैं, वे शुभ कर्म

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (गीता १३। २९)

† जो भी नये कर्म और उनके संस्कार बनते हैं, वे सब केवल मनुष्यजन्ममें ही बनते हैं (गीता ४। १२; १५। २), पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नहीं; क्योंकि वे योनियाँ केवल कर्मफल-भोगके लिये ही मिलती हैं।

कहलाते हैं और काम, क्रोध, लोभ, आसक्ति आदिको लेकर जो शास्त्र-निषिद्ध कर्म किये जाते हैं, वे अशुभ कर्म कहलाते हैं।

शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक क्रियमाण कर्मका एक तो फल-अंश बनता है और एक संस्कार-अंश। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

क्रियमाण कर्मके फल-अंशके दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमेंसे दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक जैसे, भोजन करते हुए जो रस आता है, सुख होता है, प्रसन्नता होती है और तृप्ति होती है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और भोजनके परिणाममें आयु, बल, आरोग्य आदिका बढ़ना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है। ऐसे ही जिसका अधिक मिर्च खानेका स्वभाव है, वह जब अधिक मिर्चवाले पदार्थ खाता है, तब उसको प्रसन्नता होती है, सुख होता है और मिर्चकी तीक्ष्णताके कारण मुँहमें, जीभमें जलन होती है, आँखोंसे और नाकसे पानी निकलता है, सिरसे पसीना निकलता है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और कुपथ्यके कारण परिणाममें पेटमें जलन और रोग, दुःख आदिका होना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है।

इसी प्रकार अदृष्टके भी दो भेद होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। जीते-जी ही फल मिल जाय—इस भावसे यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, मन्त्र-जप आदि शुभ कर्मोंको विधि-विधानसे किया जाय और उसका कोई प्रबल प्रतिबन्ध न हो तो यहाँ ही पुत्र, धन, यश, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलकी प्राप्ति होना और रोग, निर्धनता आदि प्रतिकूलकी निवृत्ति होना—यह अदृष्टका

'लौकिक' फल है* और मरनेके बाद स्वर्ग आदिकी प्राप्ति हो जाय—इस भावसे यथार्थ विधि-विधान और श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक जो यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म किये जायँ तो मरनेके बाद स्वर्ग आदि लोकोंकी प्राप्ति होना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है। ऐसे ही डाका डालने, चोरी करने, मनुष्यकी हत्या करने आदि अशुभ कर्मोंका फल यहाँ ही कैद, जुर्माना, फाँसी आदि होना—यह अदृष्टका 'लौकिक' फल है और पापोंके कारण मरनेके बाद नरकोंमें जाना और पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि बनना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है।

पाप-पुण्यके इस लौकिक और पारलौकिक फलके विषयमें एक बात और समझनेकी है कि जिन पापकर्मोंका फल यहीं कैद, जुर्माना, अपमान, निन्दा आदिके रूपमें भोग लिया है, उन पापोंका फल मरनेके बाद भोगना नहीं पड़ेगा। परन्तु व्यक्तिके पाप कितनी मात्राके थे और उनका भोग कितनी मात्रामें हुआ अर्थात् उन पाप-कर्मोंका फल उसने पूरा भोगा या अधूरा भोगा—इसका पूरा पता मनुष्यको नहीं लगता; क्योंकि मनुष्यके पास इसका कोई माप-तौल नहीं है। परन्तु भगवान्‌को इसका पूरा पता है; अतः उनके कानूनके अनुसार उन पापोंका फल यहाँ जितने अंशमें कम भोगा गया है, उतना इस जन्ममें या मरनेके बाद भोगना ही पड़ेगा। इसलिये मनुष्यको ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि मेरा

---

* यहाँ दृष्टका 'कालान्तरिक' फल और अदृष्टका 'लौकिक' फल—दोनों फल एक समान ही दीखते हैं, फिर भी दोनोंमें अन्तर है। जो 'कालान्तरिक' फल है, वह सीधे मिलता है, प्रारब्ध बनकर नहीं; परन्तु जो 'लौकिक' फल है, वह प्रारब्ध बनकर ही मिलता है।

पाप तो कम था पर दण्ड अधिक भोगना पड़ा अथवा मैंने पाप तो किया नहीं पर दण्ड मुझे मिल गया! कारण कि यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है।*

---

* एक सुनी हुई घटना है। किसी गाँवमें एक सज्जन रहते थे। उनके घरके सामने एक सुनारका घर था। सुनारके पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रिमें पहरा लगानेवाले सिपाहीको इस बातका पता लग गया। उस पहरेदारने रात्रिमें उस सुनारको मार दिया और जिस बक्सेमें सोना था, उसे उठाकर चल दिया। इसी बीच सामने रहनेवाले सज्जन लघुशङ्काके लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदारको पकड़ लिया कि तू इस बक्सेको कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदारने कहा—'तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमेंसे कुछ तू ले ले और कुछ मैं ले लूँ।' सज्जन बोले—'मैं कैसे ले लूँ? मैं चोर थोड़े ही हूँ!' पहरेदारने कहा—'देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा।' पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदारने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जनको पकड़कर जोरसे सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि 'यह इस घरसे बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है।' तब सिपाहियोंने घरमें घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जनको पकड़ लिया और राजकीय आदमियोंके हवाले कर दिया। जजके सामने बहस हुई तो उस सज्जनने कहा कि 'मैंने नहीं मारा है, उस पहरेदार सिपाहीने मारा है।' सब सिपाही आपसमें मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि 'नहीं इसीने मारा है, हमने खुद रात्रिमें इसे पकड़ा है,' इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्तमें उस सज्जनके लिये फाँसीका हुक्म हुआ। फाँसीका हुक्म होते ही उस सज्जनके मुखसे निकला—'देखो, सरासर अन्याय हो रहा है! भगवान्‌के दरबारमें कोई न्याय नहीं! मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं; यह अन्याय है!' जजपर उसके वचनोंका असर पड़ा कि वास्तवमें यह सच्चा बोल रहा है, इसकी किसी तरहसे जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जजने एक षड्यन्त्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आया और बोला—'हमारे भाईकी हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये।' तब जजने उसी सिपाहीको और कैदी सज्जनको मरे व्यक्तिकी लाश उठाकर लानेके लिये भेजा। दोनों उस आदमीके साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाटपर लाशके ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनोंने उस खाटको उठाया और उठाकर ले चले। साथका दूसरा आदमी खबर देनेके बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाहीने कैदीसे कहा—'देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती, अब देख लिया सच्चाईका फल?' कैदीने कहा—'मैंने तो अपना काम सच्चाईका ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी! हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरेको! भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं!'

खाटपर झूठमूठ मरे हुएके समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनोंकी बातें सुन रहा था। जब जजके सामने खाट रखी गयी तो खूनभरे कपड़ेको हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जजको बता दी कि रास्तेमें सिपाही यह बोला और कैदी यह बोला। यह सुनकर जजको बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाहीको पकड़कर कैद कर लिया गया। परन्तु जजके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदीको एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'इस मामलेमें तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ पर सच-सच बताओ कि इस जन्ममें तुमने कोई हत्या की है क्या?' वह बोला—बहुत पहलेकी घटना है। एक दुष्ट था, जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्रीके पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्रीको तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया पर वह माना नहीं। एक रात वह घरपर था और अचानक मैं आ गया। मेरेको गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवारसे उसका गला काट दिया और घरके पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटनाका किसीको पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला—'तुम्हारेको इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसीसे घूस (रिश्वत) नहीं खायी, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथसे इसके लिये फाँसीका हुक्म लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पापका फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाहीको अलग फाँसी होगी।'

[उस सज्जनने चोर सिपाहीको पकड़कर अपने कर्तव्यका पालन किया था। फिर उसको जो दण्ड मिला है, वह उसके कर्तव्य-पालनका फल नहीं है, प्रत्युत उसने बहुत पहले जो हत्या की थी, उस हत्याका फल है। कारण कि मनुष्यको अपनी रक्षा करनेका अधिकार है, मारनेका अधिकार नहीं। मारनेका अधिकार रक्षक क्षत्रियका, राजाका है। अतः कर्तव्यका पालन करनेके कारण उस पाप-(हत्या-) का फल उसको यहीं मिल गया और परलोकके भयंकर दण्डसे उसका छुटकारा हो गया। कारण कि इस लोकमें जो दण्ड भोग लिया जाता है, उसका थोड़ेमें ही छुटकारा हो जाता है, थोड़ेमें ही शुद्धि हो जाती है, नहीं तो परलोकमें बड़ा भयंकर (ब्याजसहित) दण्ड भोगना पड़ता है।]

इस कहानीसे यह पता लगता है कि मनुष्यके कब किये हुए पापका फल कब मिलेगा—इसका कुछ पता नहीं। भगवान्‌का विधान विचित्र है। जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खत्म होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल (दण्ड) तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

इसी तरह धन-सम्पत्ति, मान, आदर, प्रशंसा, नीरोगता आदि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें पुण्य-कर्मोंका जितना फल यहाँ भोग

लिया है, उतना अंश तो यहाँ नष्ट हो ही गया और जितना बाकी रह गया है, वह परलोकमें फिर भोगा जा सकता है। यदि पुण्य-कर्मोंका पूरा फल यहीं भोग लिया गया है तो पुण्य यहींपर समाप्त हो जायँगे।

क्रियमाण-कर्मके संस्कार-अंशके भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं पवित्र संस्कार और अशुद्ध एवं अपवित्र संस्कार। शास्त्रविहित कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे शुद्ध एवं पवित्र होते हैं और शास्त्र, नीति, लोकमर्यादाके विरुद्ध कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे अशुद्ध एवं अपवित्र होते हैं।

इन दोनों शुद्ध और अशुद्ध संस्कारोंको लेकर स्वभाव (प्रकृति, आदत) बनता है। उन संस्कारोंमेंसे अशुद्ध अंशका सर्वथा नाश करनेपर स्वभाव शुद्ध, निर्मल, पवित्र हो जाता है; परन्तु जिन पूर्वकृत कर्मोंसे स्वभाव बना है, उन कर्मोंकी भिन्नताके

कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंके स्वभावोंमें भी भिन्नता रहती है। इन विभिन्न स्वभावोंके कारण ही उनके द्वारा विभिन्न कर्म होते हैं पर वे कर्म दोषी नहीं होते, प्रत्युत सर्वथा शुद्ध होते हैं और उन कर्मोंसे दुनियाका कल्याण होता है।

संस्कार-अंशसे जो स्वभाव बनता है, वह एक दृष्टिसे महान् प्रबल होता है—**'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'** अतः उसे मिटाया नहीं जा सकता।* इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, उसमें कर्म करनेकी मुख्यता रहती है। इसलिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि जिस कर्मको तू मोहवश नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा (गीता १८। ६०)।

अब इसमें विचार करनेकी एक बात है कि एक ओर तो स्वभावकी महान् प्रबलता है कि उसको कोई छोड़ ही नहीं सकता और दूसरी ओर मनुष्य-जन्मके उद्योगकी महान् प्रबलता है कि मनुष्य सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है। अतः इन दोनोंमें किसकी विजय होगी और किसकी पराजय होगी ? इसमें विजय-पराजयकी बात नहीं है। अपनी-अपनी जगह दोनों ही प्रबल हैं। परन्तु यहाँ

---

* व्याघ्रस्तुष्यति कानने सुगहनां सिंहो गुहां सेवते
हंसो वाञ्छति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः श्मशाने स्थले।
साधुः सत्कृतिसाधुमेव भजते नीचोऽपि नीचं जनं
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते॥

'व्याघ्र घने वनमें संतुष्ट रहता है, सिंह गहन गुफाका सेवन करता है, हंस खिली हुई कमलिनीको चाहता है, गीध श्मशान-भूमिमें रहना पसंद करता है, सज्जन पुरुष अच्छे आचरणोंवाले सज्जन पुरुषोंमें और नीच पुरुष नीच लोगोंमें ही रहना चाहते हैं। सच है, स्वभावसे पैदा हुई जिसकी जैसी प्रकृति है, उस प्रकृतिको कोई नहीं छोड़ता।'

स्वभाव न छोड़नेकी जो बात है, वह जाति-विशेषके स्वभावकी बात है। तात्पर्य है कि जीव जिस वर्णमें जन्मा है, जैसा रज-वीर्य था, उसके अनुसार बना हुआ जो स्वभाव है, उसको कोई बदल नहीं सकता; अतः वह स्वभाव दोषी नहीं है, निर्दोष है। जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, वह स्वभाव नहीं बदल सकता और उसको बदलनेकी आवश्यकता भी नहीं है तथा उसको बदलनेके लिये शास्त्र भी नहीं कहता। परन्तु उस स्वभावमें जो अशुद्ध-अंश (राग-द्वेष) है, उसको मिटानेकी सामर्थ्य भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। अतः जिन दोषोंसे मनुष्यका स्वभाव अशुद्ध बना है, उन दोषोंको मिटाकर मनुष्य स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने स्वभावको शुद्ध बना सकता है। मनुष्य चाहे तो कर्मयोगकी दृष्टिसे अपने प्रयत्नसे राग-द्वेषको मिटाकर स्वभाव शुद्ध बना ले*, चाहे भक्तियोगकी दृष्टिसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर अपना स्वभाव शुद्ध बना ले†। इस प्रकार प्रकृति-(स्वभाव-) की प्रबलता भी सिद्ध हो गयी और मनुष्यकी स्वतन्त्रता भी सिद्ध हो गयी। तात्पर्य यह हुआ कि शुद्ध स्वभावको रखनेमें प्रकृतिकी प्रबलता है और अशुद्ध स्वभावको मिटानेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है।

जैसे, लोहेकी तलवारको पारस छुआ दिया जाय तो तलवार सोना बन जाती है; परन्तु उसकी मार, धार और आकार—ये

---

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३। ३४)

† तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (गीता १८। ६२)

तीनों नहीं बदलते। इस प्रकार सोना बनानेमें पारसकी प्रधानता रही और 'मार-धार-आकार' में तलवारकी प्रधानता रही। ऐसे ही जिन लोगोंने अपने स्वभावको परम शुद्ध बना लिया है, उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध होते हैं। परन्तु स्वभावके शुद्ध होनेपर भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधन-पद्धति, मान्यता आदिके अनुसार आपसमें उनके कर्मोंकी भिन्नता रहती है। जैसे, किसी ब्राह्मणको तत्त्वबोध हो जानेपर भी वह खान-पान आदिमें पवित्रता रखेगा और अपने हाथसे बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करेगा; क्योंकि उसके स्वभावमें पवित्रता है। परन्तु किसी हरिजन आदि साधारण वर्णवालेको तत्त्वबोध हो जाय तो वह खान-पान आदिमें पवित्रता नहीं रखेगा और दूसरोंकी जूठन भी खा लेगा; क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा पड़ा हुआ है। पर ऐसा स्वभाव उसके लिये दोषी नहीं होगा।

जीवका असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेका स्वभाव अनादि-कालसे बना हुआ है, जिसके कारण वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ है और बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है। उस स्वभावको मनुष्य शुद्ध कर सकता है अर्थात् उसमें जो कामना, ममता और तादात्म्य हैं, उनको मिटा सकता है। कामना, ममता और तादात्म्यके मिटनेके बाद जो स्वभाव रहता है, वह स्वभाव दोषी नहीं रहता। इसलिये उस स्वभावको मिटाना नहीं है और मिटानेकी आवश्यकता भी नहीं है।

जब मनुष्य अहंकारका आश्रय छोड़कर सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब उसका स्वभाव शुद्ध हो जाता है; जैसे—लोहा पारसके स्पर्शसे शुद्ध सोना बन जाता है। स्वभाव शुद्ध होनेसे फिर वह स्वभावज कर्म करते हुए भी दोषी और पापी

नहीं बनता (गीता १८।४७)। सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेके बाद भक्तका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भक्तके जीवनमें भगवान्‌का स्वभाव काम करता है। भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९) तो भक्त भी समस्त प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३।२५।२१)।

इसी तरह कर्मयोगकी दृष्टिसे जब मनुष्य राग-द्वेषको मिटा देता है, तब उसके स्वभावकी शुद्धि हो जाती है, जिससे अपने स्वार्थका भाव मिटकर केवल दुनियाके हितका भाव स्वतः हो जाता है। जैसे भगवान्‌का स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका है, ऐसे ही उसका स्वभाव भी प्राणिमात्रका हित करनेका हो जाता है। जब उसकी सब चेष्टाएँ प्राणिमात्रके हितमें हो जाती हैं, तब उसकी भगवान्‌की सर्वभूतसुहृत्ता-शक्तिके साथ एकता हो जाती है। उसके उस स्वभावमें भगवान्‌की सुहृत्ता-शक्ति कार्य करने लगती है।

वास्तवमें भगवान्‌की वह सर्वभूतसुहृत्ता-शक्ति मनुष्यमात्रके लिये समान रीतिसे खुली हुई है; परन्तु अपने अहंकार और राग-द्वेषके कारण उस शक्तिमें बाधा लग जाती है अर्थात् वह शक्ति कार्य नहीं करती। महापुरुषोंमें अहंकार (व्यक्तित्व) और राग-द्वेष नहीं रहते, इसलिये उनमें यह शक्ति कार्य करने लग जाती है।

सञ्चित कर्म

फल-अंश — प्रारब्ध

संस्कार-अंश — स्फुरणा

अनेक मनुष्य-जन्मोंमें किये हुए जो कर्म (फल-अंश और संस्कार-अंश) अन्तःकरणमें संगृहीत रहते हैं, वे सञ्चित कर्म कहलाते हैं। उनमें फल-अंशसे तो 'प्रारब्ध' बनता है और संस्कार-अंशसे 'स्फुरणा' होती रहती है। उन स्फुरणाओंमें भी वर्तमानमें किये गये जो नये क्रियमाण कर्म सञ्चितमें भरती हुए हैं, प्रायः उनकी ही स्फुरणा होती है। कभी-कभी सञ्चितमें भरती हुए पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा भी हो जाती है।* जैसे—किसी बर्तनमें पहले प्याज डाल दें और उसके ऊपर क्रमशः गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, डाल दें तो निकालते समय जो सबसे पीछे डाला था, वही (बाजरा) सबसे पहले निकलेगा, पर बीचमें कभी-कभी प्याजका भी भभका आ जायेगा। परन्तु यह दृष्टान्त पूरा नहीं घटता; क्योंकि प्याज, गेहूँ आदि सावयव पदार्थ हैं और सञ्चित कर्म निरवयव हैं। यह दृष्टान्त केवल इतने ही अंशमें बतानेके लिये दिया है कि नये क्रियमाण कर्मोंकी स्फुरणा ज्यादा होती है और कभी-कभी पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा होती है।

इसी तरह जब नींद आती है तो उसमें भी स्फुरणा होती है।

---

* स्फुरणा सञ्चितके अनुसार भी होती है और प्रारब्धके अनुसार भी। सञ्चितके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं करती। परन्तु सञ्चितकी स्फुरणामें भी यदि राग-द्वेष हो जायँ तो वह 'संकल्प' बनकर मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य कर सकती है। प्रारब्धके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह (फल-भोग करानेके लिये) मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य करती है; परन्तु वह विहित कर्म करनेके लिये ही बाध्य करती है, निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं। कारण कि विवेकप्रधान मनुष्यशरीर निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं है। अतः अपनी विवेकशक्तिको प्रबल करके निषिद्धका त्याग करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर है और ऐसा करनेमें वह स्वतन्त्र है।

नींदमें जाग्रत्-अवस्थाके दब जानेके कारण सञ्चितकी वह स्फुरणा स्वप्नरूपसे दीखने लग जाती है, उसीको स्वप्नावस्था कहते हैं।* स्वप्नावस्थामें बुद्धिकी सावधानी न रहनेके कारण क्रम, व्यतिक्रम और अनुक्रम ये नहीं रहते। जैसे, शहर तो दिल्लीका दीखता है और बाजार बम्बईका तथा उस बाजारमें दूकानें कलकत्ताकी दीखती हैं, कोई जीवित आदमी दीख जाता है अथवा किसी मरे हुए आदमीसे मिलना हो जाता है, बातचीत हो जाती है, आदि आदि।

जाग्रत्-अवस्थामें हरेक मनुष्यके मनमें अनेक तरहकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं। जब जाग्रत्-अवस्थामें शरीर, इन्द्रियाँ

---

* जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं; जैसे मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें बड़ी सावधानीसे काम करता है तो यह जाग्रत्में जाग्रत्-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जिस कामको करता है, उस कामके अलावा अचानक जो दूसरी स्फुरणा होने लगती है, वह जाग्रत्में स्वप्न-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें कभी-कभी काम करते हुए भी उस कामकी तथा पूर्वकर्मोंकी कोई भी स्फुरणा नहीं होती, बिलकुल वृत्ति-रहित अवस्था हो जाती है, वह जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है।

कर्म करनेका वेग ज्यादा रहनेसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था तो ज्यादा होती है पर सुषुप्ति-अवस्था बहुत थोड़ी होती है। अगर कोई साधक जाग्रत्की स्वाभाविक सुषुप्तिको स्थायी बना ले तो उसका साधन बहुत तेज हो जायगा; क्योंकि जाग्रत्-सुषुप्तिमें साधकका परमात्माके साथ निरावरणरूपसे स्वतः सम्बन्ध होता है। ऐसे तो सुषुप्ति-अवस्थामें भी संसारका सम्बन्ध टूट जाता है; परंतु बुद्धि-वृत्ति अज्ञानमें लीन हो जानेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत्-सुषुप्तिमें बुद्धि जाग्रत् रहनेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव होता है।

यह जाग्रत्-सुषुप्ति समाधिसे भी विलक्षण है; क्योंकि यह स्वतः होती है और समाधिमें अभ्यासके द्वारा वृत्तियोंको एकाग्र तथा निरुद्ध करना पड़ता है। इसलिये समाधिमें पुरुषार्थ साथमें रहनेके कारण शरीरमें स्थिति होती है; परन्तु जाग्रत्-सुषुप्तिमें अभ्यास और अहंकारके बिना वृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध होनेके कारण स्वरूपमें स्थिति होती है अर्थात् स्वरूपका अनुभव होता है।

और मनपरसे बुद्धिका अधिकार हट जाता है, तब मनुष्य जैसा मनमें आता है, वैसा बोलने लगता है। इस तरह उचित-अनुचितका विचार करनेकी शक्ति काम न करनेसे वह 'सीधा-सरल पागल' कहलाता है। परन्तु जिसके शरीर, इन्द्रियाँ और मनपर बुद्धिका अधिकार रहता है, वह जो उचित समझता है, वही बोलता है और जो अनुचित समझता है, वह नहीं बोलता। बुद्धि सावधान रहनेसे वह सावचेत रहता है, इसलिये वह 'चतुर पागल' है!

इस प्रकार मनुष्य जबतक परमात्मप्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक वह अपनेको स्फुरणाओंसे बचा नहीं सकता। परमात्म-प्राप्ति होनेपर बुरी स्फुरणाएँ सर्वथा मिट जाती हैं। इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं। अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश (व्याधि आदि किसी कारणवश) कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और न शास्त्र-निषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता।

प्रारब्ध कर्म
- अनुकूल परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया (प्रवृत्ति)
  - अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
- मिश्रित (अनुकूल-प्रतिकूल) परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया (प्रवृत्ति)
  - अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
- प्रतिकूल परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया
  - (प्रवृत्ति) अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया

सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये सम्मुख होते हैं, उन कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं।* प्रारब्ध कर्मोंका फल तो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है; परन्तु उन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये प्राणियोंकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—(१) स्वेच्छापूर्वक, (२) अनिच्छा-(दैवेच्छा-)पूर्वक और (३) परेच्छापूर्वक। उदाहरणार्थ—

(१) किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें मुनाफा हो गया। ऐसे ही किसी दूसरे व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें घाटा लग गया। इन दोनोंमें मुनाफा होना और घाटा लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु माल खरीदनेमें उनकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है।

(२) कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो आगे आनेवाली नदीमें बाढ़के प्रवाहके कारण एक धनका टोकरा बहकर आया और उस सज्जनने उसे निकाल लिया। ऐसे ही कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो उसपर वृक्षकी एक टहनी गिर पड़ी और उसको चोट लग गयी। इन दोनोंमें धनका मिलना और चोट लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु धनका टोकरा मिलना और वृक्षकी टहनी गिरना—यह प्रवृत्ति अनिच्छा-(दैवेच्छा-)पूर्वक हुई है।

(३) किसी धनी व्यक्तिने किसी बच्चेको गोद ले लिया अर्थात् उसको पुत्र-रूपमें स्वीकार कर लिया, जिससे उसका सब

---

* 'प्रकर्षेण आरब्धः प्रारब्धः' अर्थात् अच्छी तरहसे फल देनेके लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, वह 'प्रारब्ध' है।

धन उस बच्चेको मिल गया। ऐसे ही चोरोंने किसीका सब धन लूट लिया। इन दोनोंमें बच्चेको धन मिलना और चोरीमें धनका चला जाना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु गोदमें जाना और चोरी होना—यह प्रवृत्ति परेच्छापूर्वक हुई है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये कि कर्मोंका फल 'कर्म' नहीं होता, प्रत्युत 'परिस्थिति' होती है अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंका फल परिस्थितिरूपसे सामने आता है। अगर नये (क्रियमाण) कर्मको प्रारब्धका फल मान लिया जाय तो फिर 'ऐसा करो, ऐसा मत करो'— यह शास्त्रोंका, गुरुजनोंका विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। दूसरी बात, पहले जैसे कर्म किये थे, उन्हींके अनुसार जन्म होगा और उन्हींके अनुसार कर्म होंगे तो वे कर्म फिर आगे नये कर्म पैदा कर देंगे, जिससे यह कर्म-परम्परा चलती ही रहेगी अर्थात् इसका कभी अन्त ही नहीं आयेगा।

प्रारब्ध कर्मसे मिलनेवाले फलके दो भेद हैं—प्राप्त फल और अप्राप्त फल। अभी प्राणियोंके सामने जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आ रही है, वह 'प्राप्त' फल है और इसी जन्ममें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें आनेवाली है वह 'अप्राप्त' फल है।

क्रियमाण कर्मोंका जो फल-अंश सञ्चितमें जमा रहता है, वही प्रारब्ध बनकर अनुकूल, प्रतिकूल और मिश्रित परिस्थितिके रूपमें मनुष्यके सामने आता है। अतः जबतक सञ्चित कर्म रहते हैं, तबतक प्रारब्ध बनता ही रहता है और प्रारब्ध परिस्थितिके रूपमें परिणत होता ही रहता है। यह परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी होनेके लिये बाध्य नहीं करती। सुखी-दुःखी होनेमें तो

परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मुख्य कारण है। परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेमें यह मनुष्य सर्वथा स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। जो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, वह अविवेकी पुरुष तो सुखी-दुःखी होता ही रहता है। परन्तु जो परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह विवेकी पुरुष कभी सुखी-दुःखी नहीं होता; अतः उसकी स्थिति स्वतः साम्यावस्थामें होती है, जो कि उसका स्वरूप है।

कर्मोंमें मनुष्यके प्रारब्धकी प्रधानता है या पुरुषार्थकी ? अथवा प्रारब्ध बलवान् है या पुरुषार्थ?—इस विषयमें बहुत-सी शङ्काएँ हुआ करती हैं। उनके समाधानके लिये पहले यह समझ लेना जरूरी है कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ क्या है?

मनुष्यमें चार तरहकी चाहना हुआ करती है—एक धनकी, दूसरी धर्मकी, तीसरी भोगकी और चौथी मुक्तिकी। प्रचलित भाषामें इन्हीं चारोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके नामसे कहा जाता है—

(१) **अर्थ**—धनको 'अर्थ' कहते हैं। वह धन दो तरहका होता है—स्थावर और जङ्गम। सोना, चाँदी, रुपये, जमीन, जायदाद, मकान आदि स्थावर हैं और गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, भेड़, बकरी आदि जङ्गम हैं।

(२) **धर्म**—सकाम अथवा निष्कामभावसे जो यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदि किये जाते हैं, उसको 'धर्म' कहते हैं।

(३) **काम**—सांसारिक सुख-भोगको 'काम' कहते हैं। वह सुखभोग आठ तरहका होता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

गन्ध, मान, बड़ाई और आराम।

(क) शब्द—शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। व्याकरण, कोश, साहित्य, उपन्यास, गल्प, कहानी आदि 'वर्णात्मक' शब्द हैं।* खाल, तार और फूँकके तीन बाजे और तालका आधा बाजा—ये साढ़े तीन प्रकारके बाजे 'ध्वन्यात्मक' शब्दको प्रकट करनेवाले हैं।† इन वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंको सुननेसे जो सुख मिलता है, वह शब्दका सुख है।

(ख) स्पर्श—स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके साथ मिलनेसे तथा ठण्डा, गरम, कोमल आदिसे अर्थात् उनका त्वचाके साथ संयोग होनेसे जो सुख होता है, वह स्पर्शका सुख है।

(ग) रूप—नेत्रोंसे खेल, तमाशा, सिनेमा, बाजीगरी, वन, पहाड़, सरोवर, मकान आदिकी सुन्दरताको देखकर जो सुख होता है, वह रूपका सुख है।

(घ) रस—मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), तिक्त (तीखा) और कषाय (कसैला)—इन छः रसोंको चखनेसे जो सुख होता है, वह

---

* वर्णात्मक शब्दमें भी दस रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य। ये दसों ही रस चित्त द्रवित होनेसे होते हैं। इन दसों रसोंका उपयोग भगवान्‌के लिये किया जाय तो ये सभी रस कल्याण करनेवाले हो जाते हैं और इनसे सुख भोगा जाय तो ये सभी रस पतन करनेवाले हो जाते हैं।

† ढोल, ढोलकी, तबला, पखावज, मृदङ्ग आदि 'खाल' के; सितार, सारङ्गी, मोरचंग आदि 'तार' के; मशक, पेटी (हारमोनियम), बाँसुरी, पूँगी आदि 'फूँक' के और झाँझ, मंजीरा, करताल आदि 'ताल' के बाजे हैं।

रसका सुख है।

(ङ) गन्ध—नाकसे अतर, तेल, फुलेल, लवेण्डर, पुष्प आदि सुगन्धवाले और लहसुन, प्याज आदि दुर्गन्धवाले पदार्थोंको सूँघनेसे जो सुख होता है, वह गन्धका सुख है।

(च) मान—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह मानका सुख है।

(छ) बड़ाई—नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह बड़ाईका सुख है।

(ज) आराम—शरीरसे परिश्रम न करनेसे अर्थात् निकम्मे पड़े रहनेसे जो सुख होता है, वह आरामका सुख है।

(४) मोक्ष—आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार, मुक्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदिका नाम 'मोक्ष' है।

इन चारों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) में देखा जाये तो अर्थ और धर्म—दोनों ही परस्पर एक-दूसरेकी वृद्धि करनेवाले हैं अर्थात् अर्थसे धर्मकी और धर्मसे अर्थकी वृद्धि होती है। परन्तु धर्मका पालन कामनापूर्तिके लिये किया जाय तो वह धर्म भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है और अर्थको कामनापूर्तिमें लगाया जाय तो वह अर्थ भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है कि कामना धर्म और अर्थ—दोनोंको खा जाती है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कामनाको 'महाशन' (बहुत खानेवाला) बताते हुए उसके त्यागकी बात विशेषतासे कही है (३। ३७—४३)। यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है। ऐसे ही धनको कामनाका त्याग करके दूसरोंके उपकारमें, हितमें,

सुखमें खर्च किया जाय तो वह भी अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंमें 'अर्थ' (धन) और 'काम' (भोग) की प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता और पुरुषार्थकी गौणता है, तथा 'धर्म' और 'मोक्ष'में पुरुषार्थकी मुख्यता और प्रारब्धकी गौणता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंका क्षेत्र अलग-अलग है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हैं। इस लिये कहा है—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः॥

अर्थात् अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार, भोजन और धनमें तो सन्तोष करना चाहिये और स्वाध्याय, पाठ-पूजा, नाम-जप, कीर्तन और दान करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि प्रारब्धके फल—धन और भोगमें तो सन्तोष करना चाहिये; क्योंकि वे प्रारब्धके अनुसार जितने मिलनेवाले हैं, उतने ही मिलेंगे, उससे अधिक नहीं। परन्तु धर्मका अनुष्ठान और अपना कल्याण करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह नया पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थके लिये मनुष्य-शरीर मिला है।

कर्मके दो भेद हैं—शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप)। शुभ कर्मका फल अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होना है और अशुभ कर्मका फल प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होना है। कर्म बाहरसे किये जाते हैं, इसलिये उन कर्मोंका फल भी बाहरकी परिस्थितिके रूपमें ही प्राप्त होता है। परन्तु उन परिस्थितियोंसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भीतर होते हैं। इसलिये उन परिस्थितियोंमें सुखी तथा

दुःखी होना शुभाशुभ-कर्मोंका अर्थात् प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत अपनी मूर्खताका फल है। अगर वह मूर्खता चली जाय, भगवान्पर* अथवा प्रारब्धपर† विश्वास हो जाय तो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी चित्तमें प्रसन्नता होगी, हर्ष होगा। कारण कि प्रतिकूल परिस्थितिमें पाप कटते हैं, आगे पाप न करनेमें सावधानी आती है और पापोंके नष्ट होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

साधकको अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो अनुकूल सामग्रीको दूसरोंके हितके लिये सेवाबुद्धिसे खर्च करना अनुकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उसका सुख-बुद्धिसे भोग करना दुरुपयोग है। ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करना और 'मेरे पूर्वकृत पापोंका नाश करनेके लिये, भविष्यमें पाप न करनेकी सावधानी रखनेके लिये और मेरी उन्नति करनेके लिये ही प्रभु-कृपासे ऐसी परिस्थिति

---

* लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना करने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

† यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(नारदपुराण, पूर्व ३७।४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा निश्चय जिनकी बुद्धिमें होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

आयी है'—ऐसा समझकर परम प्रसन्न रहना प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उससे दुःखी होना दुरुपयोग है।

मनुष्य-शरीर सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं है। सुख भोगनेके स्थान स्वर्गादिक हैं और दुःख भोगनेके स्थान नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ हैं। इसलिये वे भोगयोनियाँ हैं और मनुष्य कर्मयोनि है। परन्तु यह कर्मयोनि उनके लिये है जो मनुष्यशरीरमें सावधान नहीं होते, केवल जन्म-मरणके सामान्य प्रवाहमें ही पड़े हुए हैं। वास्तवमें मनुष्यशरीर सुख-दुःखसे ऊँचा उठनेके लिये अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये इसको कर्मयोनि न कहकर 'साधनयोनि' ही कहना चाहिये।

प्रारब्ध-कर्मोंके फलस्वरूप जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उन दोनोंमें अनुकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है पर प्रतिकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य परतन्त्र है अर्थात् उसका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि अनुकूल परिस्थिति दूसरोंका हित करने, उन्हें सुख देनेके फलस्वरूप बनी है और प्रतिकूल परिस्थिति दूसरोंको दुःख देनेके फलस्वरूप बनी है। इसको एक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

श्यामलालने रामलालको सौ रुपये उधार दिये। रामलालने वायदा किया कि अमुक महीने मैं ब्याजसहित रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत गया पर रामलालने रुपये नहीं लौटाये तो श्यामलाल रामलालके घर पहुँचा और बोला—'तुमने वायदेके अनुसार रुपये नहीं दिये! अब दो।' रामलालने कहा—'अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं, परसों दे दूँगा।' श्यामलाल तीसरे दिन पहुँचा और

बोला—'लाओ मेरे रुपये !' रामलालने कहा—'अभी मैं आपके पैसे नहीं जुटा सका, परसों आपके रुपये जरूर दूँगा।' तीसरे दिन फिर श्यामलाल पहुँचा और बोला—'रुपये दो !' तो रामलालने कहा—'कल जरूर दूँगा।' दूसरे दिन श्यामलाल फिर पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये !' रामलालने कहा—'रुपये जुटे नहीं, मेरे पास रुपये हैं नहीं तो मैं कहाँसे दूँ? परसों आना।' रामलालकी बातें सुनकर श्यामलालको गुस्सा आ गया और 'परसों-परसों करता है, रुपये देता नहीं'—ऐसा कहकर उसने रामलालको पाँच जूते मार दिये। रामलालने कोर्टमें नालिश (शिकायत) कर दी। श्यामलालको बुलाया गया और पूछा गया—'तुमने इसके घरपर जाकर जूता मारा है?' तो श्यामलालने कहा—'हाँ साहब, मैंने जूता मारा है।' मैजिस्ट्रेटने पूछा—'क्यों मारा?'

श्यामलालने कहा—'इसको मैंने रुपये दिये थे और इसने वायदा किया था कि मैं इस महीने रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत जानेपर मैंने इसके घरपर जाकर रुपये माँगे तो कल-परसों, कल-परसों कहकर इसने मुझे बहुत तंग किया। इसपर मैंने गुस्सेमें आकर इसे पाँच जूते मार दिये तो सरकार ! पाँच जूतोंके पाँच रुपये काटकर शेष रुपये मुझे दिला दीजिये।'

मैजिस्ट्रेटने हँसकर कहा—'यह फौजदारी कोर्ट है। यहाँ रुपये दिलानेका कायदा (नियम) नहीं है। यहाँ दण्ड देनेका कायदा है। इसलिये आपको जूता मारनेके बदलेमें कैद या जुर्माना भोगना ही पड़ेगा। आपको रुपये लेने हों तो दीवानी कोर्टमें जाकर नालिश करो, वहाँ रुपये दिलानेका कायदा है; क्योंकि वह विभाग अलग है।'

इस तरह अशुभ कर्मोंका फल जो प्रतिकूल परिस्थिति है, वह 'फौजदारी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकते और शुभ कर्मोंका फल जो अनुकूल परिस्थिति है, वह 'दीवानी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके शुभ-अशुभ कर्मोंका विभाग अलग-अलग है। इसलिये शुभ कर्मों (पुण्यों) और अशुभ कर्मों-(पापों-) का अलग-अलग संग्रह होता है। स्वाभाविकरूपसे ये दोनों एक-दूसरेसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। हाँ, अगर मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे (प्रायश्चित्तरूपसे) शुभ कर्म करता है तो उसके पाप कट सकते हैं।

संसारमें एक आदमी पुण्यात्मा है, सदाचारी है और दुःख पा रहा है तथा एक आदमी पापात्मा है, दुराचारी है और सुख भोग रहा है— इस बातको लेकर अच्छे-अच्छे पुरुषोंके भीतर भी यह शङ्का हो जाया करती है कि इसमें ईश्वरका न्याय कहाँ है? * इसका समाधान यह है कि अभी पुण्यात्मा जो दुःख पा रहा है, यह पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पापका फल है, अभी किये हुए

* महाभारत, वनपर्वमें एक कथा आती है। एक दिन द्रौपदीने युधिष्ठिरजी महाराजसे कहा कि आप धर्मको छोड़कर एक कदम भी आगे नहीं रखते पर आप वनवासमें दुःख पा रहे हैं और दुर्योधन धर्मकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह न करके केवल स्वार्थ-परायण हो रहा है पर वह राज्य कर रहा है, आरामसे रह रहा है और सुख भोग रहा है? ऐसी शङ्का करनेपर युधिष्ठिरजी महाराजने कहा कि जो सुख पानेकी इच्छासे धर्मका पालन करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको जानते ही नहीं! वे तो पशुओंकी तरह सुख-भोगके लिये लोलुप और दुःखसे भयभीत रहते हैं, फिर बेचारे धर्मके तत्त्वको कैसे जानें! इसलिये मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है कि वे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिकी परवाह न करके शास्त्रके आज्ञानुसार केवल अपने धर्म-(कर्तव्य-)का पालन करते रहें।

पुण्यका नहीं। ऐसे ही अभी पापात्मा जो सुख भोग रहा है, यह भी पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पुण्यका फल है, अभी किये हुए पापका नहीं।

इसमें एक तात्त्विक बात और है। कर्मोंके फलरूपमें जो अनुकूल परिस्थिति आती है, उससे सुख ही होता है और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उससे दुःख ही होता है—ऐसी बात है नहीं। जैसे, अनुकूल परिस्थिति आनेपर मनमें अभिमान होता है, छोटोंसे घृणा होती है, अपनेसे अधिक सम्पत्तिवालोंको देखकर उनसे ईर्ष्या होती है, असहिष्णुता होती है, अन्तःकरणमें जलन होती है और मनमें ऐसे दुर्भाव आते हैं कि उनकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हो तथा वक्तपर उनको नीचा दिखानेकी चेष्टा भी होती है। इस तरह सुख-सामग्री और धन-सम्पत्ति पासमें रहनेपर भी वह सुखी नहीं हो सकता। परन्तु बाहरी सामग्रीको देखकर अन्य लोगोंको यह भ्रम होता है कि वह बड़ा सुखी है। ऐसे ही किसी विरक्त और त्यागी मनुष्यको देखकर भोग-सामग्रीवाले मनुष्यको उसपर दया आती है कि बेचारेके पास धन-सम्पत्ति आदि सामग्री नहीं है, बेचारा बड़ा दुःखी है! परन्तु वास्तवमें विरक्तके मनमें बड़ी शान्ति और बड़ी प्रसन्नता रहती है। वह शान्ति और प्रसन्नता धनके कारण किसी धनीमें नहीं रह सकती। इसलिये धनका होनामात्र सुख नहीं है और धनका अभावमात्र दुःख नहीं है। सुख नाम हृदयकी शान्ति और प्रसन्नताका है और दुःख नाम हृदयकी जलन और सन्तापका है।

पुण्य और पापका फल भोगनेमें एक नियम नहीं है। पुण्य तो निष्कामभावसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त हो सकता है;

परन्तु पाप भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त नहीं होता। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध किये हुए कर्म भगवान्‌के अर्पण कैसे हो सकते हैं? और अर्पण करनेवाला भी भगवान्‌के विरुद्ध कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कैसे कर सकता है? प्रत्युत भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्‌के अर्पण होते हैं। इस विषयमें एक कहानी आती है।

एक राजा अपनी प्रजा-सहित हरिद्वार गया। उसके साथमें सब तरहके लोग थे। उनमें एक चमार भी था। उस चमारने सोचा कि ये बनिये लोग बड़े चतुर होते हैं। ये अपनी बुद्धिमानीसे धनी बन गये हैं। अगर हम भी उनकी बुद्धिमानीके अनुसार चलें तो हम भी धनी बन जायँ! ऐसा विचार करके वह एक चतुर बनियेकी क्रियाओंपर निगरानी रखकर चलने लगा। जब हरिद्वारके ब्रह्मकुण्डमें पण्डा दान-पुण्यका संकल्प कराने लगा, तब उस बनियेने कहा—'मैंने अमुक ब्राह्मणको सौ रुपये उधार दिये थे, आज मैं उनको दानरूपमें श्रीकृष्णार्पण करता हूँ!' पण्डेने संकल्प भरवा दिया। चमारने देखा कि इसने एक कौड़ी भी नहीं दी और लोगोंमें प्रसिद्ध हो गया कि इसने सौ रुपयोंका दान कर दिया, कितना बुद्धिमान् है! मैं भी इससे कम नहीं रहूँगा। जब पण्डेने चमारसे संकल्प भरवाना शुरू किया, तब चमारने कहा—'अमुक बनियेने मुझे सौ रुपये उधार दिये थे तो उन सौ रुपयोंको मैं श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' उसकी ग्रामीण बोलीको पण्डा पूरी तरह समझा नहीं और संकल्प भरवा दिया। इससे चमार बड़ा खुश हो गया कि मैंने भी बनियेके समान सौ रुपयोंका दान-पुण्य कर दिया!

सब घर पहुँचे। समयपर खेती हुई। ब्राह्मण और चमारके खेतोंमें खूब अनाज पैदा हुआ। ब्राह्मण-देवताने बनियेसे कहा—'सेठ! आप चाहें तो सौ रुपयोंका अनाज ले लो, इससे आपको नफा भी हो सकता है। मुझे तो आपका कर्जा चुकाना है।' बनियेने कहा—'ब्राह्मण देवता! जब मैं हरिद्वार गया था, तब मैंने आपको उधार दिये हुए सौ रुपये दान कर दिये।' ब्राह्मण बोला—'सेठ! मैंने आपसे सौ रुपये उधार लिये हैं, दान नहीं लिये। इसलिये इन रुपयोंको मैं रखना नहीं चाहता, ब्याजसहित पूरा चुकाना चाहता हूँ।' सेठने कहा—'आप देना ही चाहते हैं तो अपनी बहन अथवा कन्याको दे सकते हैं। मैंने सौ रुपये भगवान्‌के अर्पण कर दिये हैं, इसलिये मैं तो लूँगा नहीं।' अब ब्राह्मण और क्या करता? वह अपने घर लौट गया।

अब जिस बनियेसे चमारने सौ रुपये लिये थे, वह बनिया चमारके खेतमें पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये। तुम्हारा अनाज हुआ है, सौ रुपयोंका अनाज ही दे दो।' चमारने सुन रखा था कि ब्राह्मणके देनेपर भी बनियेने उससे रुपये नहीं लिये। अतः उसने सोचा कि मैंने भी संकल्प कर रखा है तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे? ऐसा सोचकर चमार बनियेसे बोला—'मैंने तो अमुक सेठकी तरह गङ्गाजीमें खड़े होकर सब रुपये श्रीकृष्णार्पण कर दिये तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे?' बनिया बोला—'तेरे अर्पण कर देनेसे कर्जा नहीं छूट सकता; क्योंकि तूने मेरेसे कर्जा लिया है तो तेरे छोड़नेसे कैसे छूट जायगा? मैं तो अपने सौ रुपये ब्याजसहित पूरे लूँगा; लाओ मेरे रुपये!' ऐसा कहकर उसने चमारसे अपने रुपयोंका अनाज ले लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि हमारेपर दूसरोंका जो कर्जा है, वह हमारे छोड़नेसे नहीं छूट सकता। ऐसे ही हम भगवदाज्ञानुसार शुभ कर्मोंको तो भगवान्‌के अर्पण करके उनके बन्धनसे छूट सकते हैं, पर अशुभ कर्मोंका फल तो हमारेको भोगना ही पड़ेगा। इसलिये शुभ और अशुभ कर्मोंमें एक कायदा, कानून नहीं है। अगर ऐसा नियम बन जाय कि भगवान्‌के अर्पण करनेसे ऋण और पाप-कर्म छूट जायँ तो फिर सभी प्राणी मुक्त हो जायँ; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ, इसमें एक मार्मिक बात है कि अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देनेपर अर्थात् सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जानेपर पाप-पुण्य सर्वथा नष्ट हो जाते हैं * (गीता १८। ६६)।

दूसरी शङ्का यह होती है कि धन और भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मके अनुसार होती है—ऐसी बात समझमें नहीं आती; क्योंकि हम देखते हैं कि इन्कम-टैक्स, सेल्स-टैक्स आदिकी चोरी करते हैं तो धन बच जाता है और टैक्स पूरा देते हैं तो धन चला जाता है तो धनका आना-जाना प्रारब्धके अधीन कहाँ हुआ? यह तो चोरीके ही अधीन हुआ!

इसका समाधान इस प्रकार है। वास्तवमें धन प्राप्त करना

---

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

राजन्! 'जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

और भोग भोगना—इन दोनोंमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। परन्तु इन दोनोंमें भी किसीका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध होता है, भोगका नहीं और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, धन-प्राप्तिका नहीं तथा किसीका धन और भोग दोनोंका ही प्रारब्ध होता है। जिसका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध तो है पर भोगका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास लाखों रुपये रहनेपर भी बीमारीके कारण वैद्य, डॉक्टरके मना करनेपर वह भोगोंको भोग नहीं सकता, उसको खानेमें रूखा-सूखा ही मिलता है। जिसका भोगका प्रारब्ध तो है पर धनका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास धनका अभाव होनेपर भी उसके सुख-आराममें किसी तरहकी कमी नहीं रहती।* उसको किसीकी दयासे, मित्रतासे, काम-धंधा मिल जानेसे प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाहकी सामग्री मिलती रहती है।

अगर धनका प्रारब्ध नहीं है तो चोरी करनेपर भी धन नहीं मिलेगा, प्रत्युत चोरी किसी प्रकारसे प्रकट हो जायगी तो बचा हुआ धन भी चला जायगा तथा दण्ड और मिलेगा। यहाँ दण्ड मिले या न मिले, पर परलोकमें तो दण्ड जरूर मिलेगा। उससे वह बच नहीं सकेगा। अगर प्रारब्धवश चोरी करनेसे धन मिल भी जाय तो भी उस धनका उपभोग नहीं हो सकेगा। वह धन

---

* सर्वथा त्यागीको भी अनुकूल वस्तुएँ बहुत मिलती हुई देखी जाती हैं (यह बात अलग है कि वह उन्हें स्वीकार न करे)। त्यागमें तो एक और विलक्षणता भी है कि जो मनुष्य धनका त्याग कर देता है, जिसके मनमें धनका महत्त्व नहीं है और अपनेको धनके अधीन नहीं मानता, उसके लिये धनका एक नया प्रारब्ध बन जाता है। कारण कि त्याग भी एक बड़ा भारी पुण्य है, जिससे तत्काल एक नया प्रारब्ध बनता है।

धान नहीं धीणों- नहीं, नहीं रुपैयो रोक।
जिमण बैठे रामदास, आन मिलै सब थोक॥

बीमारीमें, चोरीमें, डाकेमें, मुकदमेमें, ठगाईमें चला जायगा। तात्पर्य यह कि वह धन जितने दिन टिकनेवाला है, उतने ही दिन टिकेगा और फिर नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, इन्कम-टैक्स आदिकी चोरी करनेके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार जन्म-जन्मान्तरतक उसे चोरी करनेके लिये उकसाते रहेंगे और वह उनके कारण दण्ड पाता रहेगा।

अगर धनका प्रारब्ध है तो कोई गोद ले लेगा अथवा मरता हुआ कोई व्यक्ति उसके नामसे वसीयतनामा लिख देगा अथवा मकान बनाते समय नींव खोदते ही जमीनमें गड़ा हुआ धन मिल जायगा, आदि-आदि। इस प्रकार प्रारब्धके अनुसार जो धन मिलनेवाला है, वह किसी-न-किसी कारणसे मिलेगा ही।*

परन्तु मनुष्य प्रारब्धपर तो विश्वास करता नहीं, कम-से-कम अपने पुरुषार्थपर भी विश्वास नहीं करता कि हम मेहनतसे कमाकर खा लेंगे। इसी कारण उसकी चोरी आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे हृदयमें जलन रहती है, दूसरोंसे छिपाव करना पड़ता है, पकड़े जानेपर दण्ड पाना पड़ता है, आदि-आदि। अगर मनुष्य विश्वास और सन्तोष रखे तो हृदयमें महान् शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता रहती है तथा आनेवाला धन भी आ जाता है और जितना

---

* प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो दैवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥
(पञ्चतन्त्र मित्रसम्प्राप्ति ११२)

'प्राप्त होनेवाला धन मनुष्यको मिलता ही है, दैव भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे विस्मय ही होता है; क्योंकि जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।'

जीनेका प्रारब्ध है, उतनी जीवन-निर्वाहकी सामग्री भी किसी-न-किसी तरह मिलती ही रहती है।

जैसे व्यापारमें घाटा लगना, घरमें किसीकी मृत्यु होना, बिना कारण अपयश और अपमान होना आदि प्रतिकूल परिस्थितिको कोई भी नहीं चाहता पर फिर भी वह आती ही है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी आती ही है, उसको कोई रोक नहीं सकता। भागवतमें आया है—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥

(श्रीमद्भा० ११।८।१)

'राजन्! प्राणियोंको जैसे इच्छाके बिना प्रारब्धानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख स्वर्गमें और नरकमें भी प्राप्त होते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह उन सुखोंकी इच्छा न करे।'

जैसे धन और भोगका प्रारब्ध अलग-अलग होता है अर्थात् किसीका धनका प्रारब्ध होता है और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, ऐसे ही धर्म और मोक्षका पुरुषार्थ भी अलग-अलग होता है अर्थात् कोई धर्मके लिये पुरुषार्थ करता है और कोई मोक्षके लिये पुरुषार्थ करता है। धर्मके अनुष्ठानमें शरीर, धन आदि वस्तुओंकी मुख्यता रहती है और मोक्षकी प्राप्तिमें भाव तथा विचारकी मुख्यता रहती है।

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। दोनों विभाग अलग-अलग हैं। करनेकी चीज है—कर्तव्य और होनेकी चीज है—फल। मनुष्यका कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें नहीं—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (गीता २।४७)। तात्पर्य यह है कि होनेकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार अवश्य होती है, उसके लिये 'यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये'—ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिये और करनेमें शास्त्र तथा लोक-मर्यादाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इसलिये मनुष्य करनेमें स्वाधीन है और होनेमें पराधीन है। मनुष्यकी उन्नतिमें खास बात है—'करनेमें सावधान रहे और होनेमें प्रसन्न रहे।'

क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध—तीनों कर्मोंसे मुक्त होनेका क्या उपाय है?

प्रकृति और पुरुष—ये दो हैं। प्रकृति सदा क्रियाशील है, पर पुरुषमें कभी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध माननेवाला 'प्रकृतिस्थ' पुरुष ही कर्ता-भोक्ता बनता है। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसपर कोई भी कर्म लागू नहीं होता।

प्रारब्ध-सम्बन्धी अन्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) बोध हो जानेपर भी ज्ञानीका प्रारब्ध रहता है—यह कथन केवल अज्ञानियोंको समझानेमात्रके लिये है। कारण कि अनुकूल या प्रतिकूल घटनाका घट जाना ही प्रारब्ध है। प्राणीको सुखी या दुःखी करना प्रारब्धका काम नहीं है, प्रत्युत अज्ञानका काम है। अज्ञान मिटनेपर मनुष्य सुखी-दुःखी नहीं होता। उसे केवल अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत सुख-दुःखरूप विकार होना दोषी है। इसलिये वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता।

(२) जैसा प्रारब्ध होता है, वैसी बुद्धि बन जाती है। जैसे, एक ही बाजारमें एक व्यापारी मालकी बिक्री कर देता है और एक व्यापारी माल खरीद लेता है। बादमें जब बाजार-भाव तेज हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नफा होता है और जब बाजार-भाव मन्दा हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नफा होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है। अतः खरीदने और बेचनेकी बुद्धि प्रारब्धसे बनती है अर्थात् नफा या नुकसानका जैसा प्रारब्ध होता है, उसीके अनुसार पहले बुद्धि बन जाती है, जिससे प्रारब्धके अनुसार फल भुगताया जा सके। परन्तु खरीदने और बेचनेकी क्रिया न्याययुक्त की जाय अथवा अन्याययुक्त की जाय—इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि यह क्रियमाण (नया कर्म) है, प्रारब्ध नहीं।

(३) एक आदमीके हाथसे गिलास गिरकर टूट गया तो यह उसकी असावधानी है या प्रारब्ध ?

कर्म करते समय तो सावधान रहना चाहिये पर जो (अच्छा या बुरा) हो गया, उसे पूरी तरहसे प्रारब्ध—होनहार ही मानना चाहिये। उस समय जो यह कहते हैं कि यदि तू सावधानी रखता तो गिलास न टूटता—इससे यह समझना चाहिये कि अब आगेसे मुझे सावधानी रखनी है कि दुबारा ऐसी गलती न हो जाय। वास्तवमें जो हो गया, उसे असावधानी न मानकर होनहार मानना चाहिये। इसलिये करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहे।

(४) प्रारब्धसे होनेवाले और कुपथ्यसे होनेवाले रोगमें क्या फर्क है?

कुपथ्यजन्य रोग दवाईसे मिट सकता है; परन्तु प्रारब्धजन्य रोग दवाईसे नहीं मिटता। महामृत्युञ्जय आदिका जप और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करनेसे प्रारब्धजन्य रोग भी कट सकता है, अगर अनुष्ठान प्रबल हो तो।

रोगके दो प्रकार हैं—आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग)। आधिके भी दो भेद हैं—एक तो शोक, चिन्ता आदि और दूसरा पागलपन। चिन्ता, शोक आदि तो अज्ञानसे होते हैं और पागलपन प्रारब्धसे होता है। अतः ज्ञान होनेपर चिन्ता-शोकादि तो मिट जाते हैं पर प्रारब्धके अनुसार पागलपन हो सकता है। हाँ, पागलपन होनेपर भी ज्ञानीके द्वारा कोई अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध क्रिया नहीं होती।

(५) आकस्मिक मृत्यु और अकाल मृत्युमें क्या फरक है ?

कोई व्यक्ति साँप काटनेसे मर जाय, अचानक ऊपरसे गिरकर मर जाय, पानीमें डूबकर मर जाय, हार्टफेल होनेसे मर जाय, किसी दुर्घटना आदिसे मर जाय तो यह उसकी 'आकस्मिक मृत्यु' है। स्वाभाविक मृत्युकी तरह आकस्मिक मृत्यु भी प्रारब्धके अनुसार (आयु पूरी होनेपर) होती है।

कोई व्यक्ति जानकर आत्महत्या कर ले अर्थात् फाँसी लगाकर, कुएँमें कूदकर, गाड़ीके नीचे आकर, छतसे कूदकर, जहर खाकर, शरीरमें आग लगाकर मर जाय तो यह उसकी 'अकाल मृत्यु' है। यह मृत्यु आयुके रहते हुए ही होती है। आत्महत्या करनेवालेको मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है। अतः यह नया पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः उसको आत्महत्या करके नष्ट करना बड़ा भारी पाप है।

कई बार आत्महत्या करनेकी चेष्टा करनेपर भी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसका कारण यह है कि उसका दूसरे मनुष्यके प्रारब्धके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ रहता है; अतः उसके प्रारब्धके कारण वह बच जाता है। जैसे, भविष्यमें किसीका पुत्र होनेवाला है और वह आत्महत्या करनेका प्रयास करे तो उस (आगे होनेवाले) लड़केका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। अगर उस व्यक्तिके द्वारा भविष्यमें कोई विशेष अच्छा काम होनेवाला हो, लोगोंका उपकार होनेवाला हो अथवा इसी जन्ममें, इसी शरीरमें प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दुःख) आनेवाला हो तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी वह मरेगा नहीं।

(६) एक आदमीने दूसरे आदमीको मार दिया तो यह उसने पिछले जन्मके वैरका बदला लिया और मरनेवालेने पुराने कर्मोंका फल पाया, फिर मारनेवालेका क्या दोष ?

मारनेवालेका दोष है। दण्ड देना शासकका काम है, सर्वसाधारणका नहीं। एक आदमीको दस बजे फाँसी मिलनी है। एक-दूसरे आदमीने उस (फाँसीकी सजा पानेवाले) आदमीको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसे कत्ल कर दिया ! ऐसी हालतमें उस कत्ल करनेवाले आदमीको भी फाँसी होगी कि यह आज्ञा तो राज्यने जल्लादोंको दी थी पर तुम्हें किसने आज्ञा दी थी ?

मारनेवालेको यह याद नहीं है कि मैं पूर्वजन्मका बदला ले रहा हूँ, फिर भी मारता है तो यह उसका दोष है। दूसरेको मारनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। मरना कोई भी नहीं चाहता। दूसरेको मारना अपने विवेकका अनादर है। मनुष्यमात्रको

विवेकशक्ति प्राप्त है और उस विवेकके अनुसार अच्छे या बुरे कार्य करनेमें वह स्वतन्त्र है। अतः विवेकका अनादर करके दूसरेको मारना अथवा मारनेकी नीयत रखना दोष है।

यदि पूर्वजन्मका बदला एक-दूसरे ऐसे ही चुकाते रहें तो यह शृङ्खला कभी खत्म नहीं होगी और मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

पिछले जन्मका बदला अन्य (साँप आदि) योनियोंमें लिया जा सकता है। मनुष्ययोनि बदला लेनेके लिये नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि पिछले जन्मका हत्यारा व्यक्ति हमें स्वाभाविक ही अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। परन्तु बुरे लगनेवाले व्यक्तिसे द्वेष करना या उसे कष्ट देना दोष है; क्योंकि यह नया कर्म है।

जैसा प्रारब्ध है, उसीके अनुसार उसकी बुद्धि बन गयी, फिर दोष किस बातका ?

बुद्धिमें जो द्वेष है, उसके वशमें हो गया—यह दोष है। उसे चाहिये कि वह उसके वशमें न होकर विवेकका आदर करे। गीता भी कहती है कि बुद्धिमें जो राग-द्वेष रहते हैं (३।४०), उनके वशमें न हो—**'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (३।३४)।

(७) प्रारब्ध और भगवत्कृपामें क्या अन्तर है?

इस जीवको जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अनुसार मिलता है पर प्रारब्ध-विधानके विधाता स्वयं भगवान् हैं। कारण कि कर्म जड होनेसे स्वतन्त्र फल नहीं दे सकते, वे तो भगवान्के विधानसे ही फल देते है। जैसे, एक आदमी किसीके खेतमें दिनभर काम करता है तो उसको शामके समय कामके अनुसार पैसे मिलते हैं पर मिलते हैं खेतके मालिकसे।

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं, बिना काम किये पैसे मिलते हैं क्या ?

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं; परन्तु बिना मालिकके पैसा देगा कौन? यदि कोई जंगलमें जाकर दिनभर मेहनत करे तो क्या उसको पैसे मिल जायँगे? नहीं मिल सकते। उसमें यह देखा जायगा कि किसके कहनेसे काम किया और किसकी जिम्मेवारी रही।

अगर कोई नौकर कामको बड़ी तत्परता, चतुरता और उत्साहसे करता है पर करता है केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये तो मालिक उसको मजदूरीसे अधिक पैसे भी दे देता है और तत्परता आदि गुणोंको देखकर उसको अपने खेतका हिस्सेदार भी बना देता है। ऐसे ही भगवान् मनुष्यको उसके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अगर कोई मनुष्य भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सब कार्य करता है, उसे भगवान् दूसरोंकी अपेक्षा अधिक ही देते हैं; परन्तु जो भगवान्‌के सर्वथा समर्पित होकर सब कार्य करता है, उस भक्तके भगवान् भी भक्त बन जाते हैं ! * संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परन्तु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं। ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है। ऐसे प्रभुके चरणोंकी शरण न होकर जो मनुष्य प्राकृत—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके पराधीन रहते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा ही भ्रष्ट हो चुकी है। वे इस बातको समझ ही नहीं सकते कि हमारे सामने प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ हमें कहाँतक सहारा दे सकते हैं।

(गीता १८। १२ की व्याख्यासे)

—— ★ ——

* एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्। (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९)

वर्ण-व्यवस्थाका तात्पर्य

(१)

कर्म दो तरहके होते हैं—(१) जन्मारम्भक कर्म और (२) भोगदायक कर्म। जिन कर्मोंसे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है, वे 'जन्मारम्भक कर्म' कहलाते हैं और जिन कर्मोंसे सुख-दुःखका भोग होता है, वे 'भोगदायक कर्म' कहलाते हैं। भोगदायक कर्म अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको पैदा करते हैं, जिसको गीतामें अनिष्ट, इष्ट और मिश्र नामसे कहा गया है (१८। १२)।

गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो मात्र कर्म भोगदायक होते हैं अर्थात् जन्मारम्भक कर्मोंसे भी भोग होता है और भोगदायक कर्मोंसे भी भोग होता है। जैसे, जिसका उत्तम कुलमें जन्म होता है, उसका आदर होता है, सत्कार होता है और जिसका नीच कुलमें जन्म होता है, उसका निरादर होता है, तिरस्कार होता है। ऐसे ही अनुकूल परिस्थितिवालेका आदर होता है और प्रतिकूल परिस्थितिवालेका निरादर होता है। तात्पर्य है कि आदर और निरादररूपसे भोग तो जन्मारम्भक और भोगदायक—दोनों कर्मोंका होता है। परन्तु जन्मारम्भक कर्मोंसे जो जन्म होता है, उसमें आदर-निरादररूप भोग गौण होता है; क्योंकि आदर-निरादर कभी-कभी हुआ करते हैं, हरदम नहीं हुआ करते और भोगदायक कर्मोंसे जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें

परिस्थितिका भोग मुख्य होता है; क्योंकि परिस्थिति हरदम आती रहती है।

भोगदायक कर्मोंका सदुपयोग-दुरुपयोग करनेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है अर्थात् वह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी भी हो सकता है और उसको साधन-सामग्री भी बना सकता है। जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी होते हैं, वे मूर्ख होते हैं, और जो उसको साधन-सामग्री बनाते हैं, वे बुद्धिमान् साधक होते हैं। कारण कि मनुष्यजन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः इसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री ही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको साधन-सामग्री बनाना क्या है? अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो उसको दूसरोंकी सेवामें, दूसरोंके सुख-आराममें लगा दे और प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग कर दे। दूसरोंकी सेवा करना और सुखेच्छाका त्याग करना—ये दोनों साधन हैं।

(२)

शास्त्रोंमें आता है कि पुण्योंकी अधिकता होनेसे जीव स्वर्गमें जाता है और पापोंकी अधिकता होनेसे नरकोंमें जाता है तथा पुण्य-पाप समान होनेसे मनुष्य बनता है। इस दृष्टिसे किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिका कोई भी मनुष्य सर्वथा पुण्यात्मा या पापात्मा नहीं हो सकता।

पुण्य-पाप समान होनेपर जो मनुष्य बनता है, उसमें भी अगर देखा जाय तो पुण्य-पापोंका तारतम्य रहता है अर्थात् किसीके पुण्य अधिक होते हैं और किसीके पाप अधिक होते

हैं।* ऐसे ही गुणोंका विभाग भी है। कुल मिलाकर सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं। रजोगुणकी प्रधानतावाले मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोकमें आते हैं और तमोगुणकी प्रधानतावाले अधोगतिमें जाते हैं। इन तीनोंमें भी गुणोंके तारतम्यसे अनेक तरहके भेद होते हैं।

सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मण, रजोगुणकी प्रधानता और सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रिय, रजोगुणकी प्रधानता और तमोगुणकी गौणतासे वैश्य तथा तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्र होता है। यह तो सामान्य रीतिसे गुणोंकी बात बतायी। अब इनके अवान्तर तारतम्यका विचार करते हैं—रजोगुण-प्रधान मनुष्योंमें सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले ब्राह्मण हुए। इन ब्राह्मणोंमें भी जन्मके भेदसे ऊँच-नीच ब्राह्मण माने जाते हैं और परिस्थितिरूपसे कर्मोंका फल भी कई तरहका आता है अर्थात् सब ब्राह्मणोंकी एक समान अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति नहीं आती। इस दृष्टिसे ब्राह्मणयोनिमें भी तीनों गुण मानने पड़ेंगे। ऐसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी जन्मसे ऊँच-नीच माने जाते हैं और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भी कई तरहकी आती है। इसलिये गीतामें

* जैसे परीक्षामें अनेक विषय होते हैं और उन विषयोंमेंसे किसी विषयमें कम और किसी विषयमें अधिक नम्बर मिलते हैं। उन सभी विषयोंके नम्बरोंको मिलाकर कुल जितने नम्बर आते हैं, उनसे परीक्षाफल तैयार होता है। ऐसे ही प्रत्येक मनुष्यके किसी विषयमें पुण्य अधिक होते हैं और किसी विषयमें पाप अधिक होते हैं और कुल मिलाकर जितने पुण्य-पाप होते हैं, उसके अनुसार उसको जन्म मिलता है। अगर अलग-अलग विषयोंमें सबके पुण्य-पाप समान होते तो सभीको बराबर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति मिलती पर ऐसा होता नहीं। इसलिये सभीके पुण्य-पापोंमें अनेक प्रकारका तारतम्य रहता है। यही बात सत्त्वादि गुणोंके विषयमें भी समझनी चाहिये।

कहा गया है कि तीनों लोकोंमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तीनों गुणोंसे रहित हो (१८।४०)।

अब जो मनुष्येतर योनिवाले पशु-पक्षी आदि हैं, उनमें भी ऊँच-नीच माने जाते हैं; जैसे गाय आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कुत्ता, गधा, सूअर आदि नीच माने जाते हैं। कबूतर आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कौआ, चील आदि नीच माने जाते हैं। इन सबको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भी एक समान नहीं मिलती। तात्पर्य है कि ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगतिवालोंमें भी कई तरहके जाति-भेद और परिस्थिति-भेद होते हैं।

(गीता १८।४१ की व्याख्यासे)

——★——

जाति जन्मसे मानी जाय या कर्मसे ?

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं। * गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है; इसलिये मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है। अतः स्थूलशरीरकी दृष्टिसे विवाह, भोजन आदि कर्म जन्मकी प्रधानतासे ही करने चाहिये अर्थात् अपनी जाति या वर्णके अनुसार ही भोजन, विवाह आदि कर्म होने चाहिये।

दूसरी बात, जिस प्राणीका सांसारिक भोग, धन, मान, आराम, सुख आदिका उद्देश्य रहता है, उसके लिये वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना और वर्णकी मर्यादामें चलना आवश्यक हो जाता है। यदि वह वर्णकी मर्यादामें नहीं चलता तो

---

* कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(गीता १३। २१)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥
(गीता १४। १६)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४। १८)

उसका पतन हो जाता है।† परन्तु जिसका उद्देश्य केवल परमात्मा ही है, संसारके भोग आदि नहीं, उसके लिये सत्सङ्ग, स्वाध्याय, जप, ध्यान, कथा, कीर्तन, परस्पर विचार-विनिमय आदि भगवत् सम्बन्धी काम मुख्य होते हैं। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणीके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी नहीं।

तीसरी बात, जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिका है, वह भगवत्सम्बन्धी कार्योंको मुख्यतासे करते हुए भी वर्ण-आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मोंको पूजन-बुद्धिसे केवल भगवत् प्रीत्यर्थ ही करता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने बड़ी श्रेष्ठ बात बतायी है कि जिससे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका ही लक्ष्य रखकर, उसके प्रीत्यर्थ ही पूजन-रूपसे अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्म किये जायँ। इसमें मनुष्यमात्रका

---

* आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यदप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

(वसिष्ठस्मृति)

'शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छहों अङ्गोंसहित अध्ययन किये हुए वेद भी आचारहीन पुरुषको पवित्र नहीं करते। पंख पैदा होनेपर पक्षी जैसे अपने घोंसलेको छोड़ देता है, ऐसे ही मृत्युसमयमें आचारहीन पुरुषको वेद छोड़ देते हैं।'

अधिकार है। देवता, असुर, पशु, पक्षी आदिका स्वतः अधिकार नहीं है; परन्तु उनके लिये भी परमात्माकी तरफसे निषेध नहीं है। कारण कि सभी परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी प्राप्तिके सभी अधिकारी हैं। प्राणिमात्रका भगवान्पर पूरा अधिकार है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आपसके व्यवहारमें अर्थात् रोटी, बेटी और शरीर आदिके साथ बर्ताव करनेमें तो 'जन्म' की प्रधानता है और परमात्माकी प्राप्तिमें भाव, विवेक और 'कर्म' की प्रधानता है। इसी आशयको लेकर भागवतकारने कहा है कि जिस मनुष्यके वर्णको बतानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझ लेना चाहिये।* अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणके शम-दम आदि जितने लक्षण हैं, वे लक्षण या गुण स्वाभाविक ही किसीमें हों तो जन्ममात्रसे नीचा होनेपर भी उसको नीचा नहीं मानना चाहिये। ऐसे ही महाभारतमें युधिष्ठिर और नहुषके संवादमें आया है कि जो शूद्र आचरणोंमें श्रेष्ठ है, उस शूद्रको शूद्र नहीं मानना चाहिये और जो ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंसे रहित है, उस ब्राह्मणको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये† अर्थात् वहाँ कर्मोंकी ही प्रधानता ली गयी है, जन्मकी नहीं।

---

* यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥
(श्रीमद्भा॰ ७। ११। ३५)

† शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः॥
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥
(महाभारत, वनपर्व १८०। २५-२६)

शास्त्रोंमें जो ऐसे वचन आते हैं, उन सबका तात्पर्य है कि कोई भी नीच वर्णवाला साधारण-से-साधारण मनुष्य अपनी पारमार्थिक उन्नति कर सकता है, इसमें संदेहकी कोई बात नहीं है। इतना ही नहीं, वह उसी वर्णमें रहता हुआ शम, दम आदि जो सामान्य धर्म हैं, उनका साङ्गोपाङ्ग पालन करता हुआ अपनी श्रेष्ठताको प्रकट कर सकता है। जन्म तो पूर्वकर्मोंके अनुसार हुआ है।* इसमें वह बेचारा क्या कर सकता है ? परन्तु वहीं (नीच वर्णमें) रहकर भी वह अपनी नयी उन्नति कर सकता है। उस नयी उन्नतिमें प्रोत्साहित करनेके लिये ही शास्त्र-वचनोंका आशय मालूम देता है कि नीच वर्णवाला भी नयी उन्नति करनेमें हिम्मत न हारे। जो ऊँचे वर्णवाला होकर भी वर्णोचित काम नहीं करता, उसको भी अपने वर्णोचित काम करनेके लिये शास्त्रोंमें प्रोत्साहित किया है; जैसे—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।'

(श्रीमद्भा० ११। १७। ४२)

जिन ब्राह्मणोंका खान-पान, आचरण सर्वथा भ्रष्ट है, उन ब्राह्मणोंका वचनमात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिये—ऐसा स्मृतिमें आया है (मनु० ४। ३०, १९२)। परन्तु जिनके आचरण

---

* सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(योगदर्शन २-१३)

वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है।*

ब्राह्मणको विराट्रूप भगवान्का मुख, क्षत्रियको हाथ, वैश्यको ऊरु (मध्यभाग) और शूद्रको पैर बताया गया है। ब्राह्मणको मुख बतानेका तात्पर्य है कि उनके पास ज्ञानका संग्रह है, इसलिये चारों वर्णोंको पढ़ाना, अच्छी शिक्षा देना और उपदेश सुनाना—यह

---

* १. अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

'अहो! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आपका नाम विराजता है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया।'

२. विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७।९।१०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्के अर्पण कर दिया है; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है; परन्तु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला भगवद्विमुख ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।'

३. चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचोऽधमः॥ (पद्मपुराण)

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है और हरिभक्तिसे रहित ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधम है।'

४. अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र चाण्डालो वैष्णवो वरः।
सगणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्॥
(ब्रह्मवैवर्त०, ब्रह्म० ११।३९)

'अवैष्णव ब्राह्मणसे वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है; क्योंकि वह वैष्णव चाण्डाल अपने बन्धुगणोंसहित भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और वह अवैष्णव ब्राह्मण नरकमें पड़ता है।'

५. न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने॥ (महाभारत)

'यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्की भक्तिसे रहित है।'

मुखका ही काम है। इस दृष्टिसे ब्राह्मण ऊँचे माने गये।

क्षत्रियको हाथ बतानेका तात्पर्य है कि वे चारों वर्णोंकी शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। रक्षा करना मुख्यरूपसे हाथोंका ही काम है; जैसे— शरीरमें फोड़ा-फुंसी आदि हो जाय तो हाथोंसे ही रक्षा की जाती है; शरीरपर चोट आती हो तो रक्षाके लिये हाथ ही आड़ देते हैं, और अपनी रक्षाके लिये दूसरोंपर हाथोंसे ही चोट पहुँचायी जाती है; आदमी कहीं गिरता है तो पहले हाथ ही टिकते हैं। इसलिये क्षत्रिय हाथ हो गये। अराजकता फैल जानेपर तो जन, धन आदिकी रक्षा करना चारों वर्णोंका धर्म हो जाता है।

वैश्यको मध्यभाग कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पेटमें अन्न, जल, औषध आदि डाले जाते हैं तो उनसे शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंको खुराक मिलती है और सभी अवयव पुष्ट होते हैं, ऐसे ही वस्तुओंका संग्रह करना, उनका यातायात करना, जहाँ जिस चीजकी कमी हो वहाँ पहुँचाना, प्रजाको किसी चीजका अभाव न होने देना वैश्यका काम है। पेटमें अन्न-जलका संग्रह सब शरीरके

लिये होता है और साथमें पेटको भी पुष्टि मिल जाती है; क्योंकि मनुष्य केवल पेटके लिये पेट नहीं भरता। ऐसे ही वैश्य केवल दूसरोंके लिये ही संग्रह करे, केवल अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मण आदिको दान देता है, क्षत्रियोंको टैक्स देता है, अपना पालन करता है और शूद्रोंको मेहनताना देता है। इस प्रकार वह सबका पालन करता है। यदि वह संग्रह नहीं करेगा, कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य नहीं करेगा तो क्या देगा?

शूद्रको चरण बतानेका तात्पर्य है कि जैसे चरण सारे शरीरको उठाये फिरते हैं और पूरे शरीरकी सेवा चरणोंसे ही होती है, ऐसे ही सेवाके आधारपर ही चारों वर्ण चलते हैं। शूद्र अपने सेवा-कर्मके द्वारा सबके आवश्यक कार्योंकी पूर्ति करता है।

उपर्युक्त विवेचनमें एक ध्यान देनेकी बात है कि गीतामें चारों वर्णोंके उन स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन है, जो कर्म स्वतः होते हैं अर्थात् उनको करनेमें अधिक परिश्रम नहीं पड़ता। चारों वर्णोंके लिये और भी दूसरे कर्मोंका विधान है, उनको स्मृति-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये और उनके अनुसार अपने आचरण बनाने चाहिये। यही बात गीताजीने कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६।२४)

अतः तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य कर्म करनेयोग्य है।'

वर्तमानमें चारों वर्णोंमें गड़बड़ी आ जानेपर भी यदि चारों

वर्णोंकि समुदायोंको इकट्ठा करके अलग-अलग समुदायमें देखा जाय तो ब्राह्मण-समुदायमें शम, दम आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। क्षत्रिय-समुदायमें शौर्य, तेज आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। वैश्य-समुदायमें व्यापार करना, धनका उपार्जन करना, धनको पचाना (धनका भभका ऊपरसे न दीखने देना) आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। शूद्र-समुदायमें सेवा करनेकी प्रवृत्ति जितनी अधिक मिलेगी, उतनी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-समुदायमें नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह है कि आज सभी वर्ण मर्यादारहित और उच्छृङ्खल होनेपर भी उनके स्वभावज कर्म उनके समुदायोंमें विशेषतासे देखनेमें आते हैं अर्थात् यह चीज व्यक्तिगत न दीखकर समुदायगत देखनेमें आती है।

जो लोग शास्त्रके गहरे रहस्यको नहीं जानते, वे कह देते हैं कि ब्राह्मणोंके हाथमें कलम रही, इसलिये उन्होंने 'ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है' ऐसा लिखकर ब्राह्मणोंको सर्वोच्च कह दिया। जिनके पास राज्य था, उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमलोग कुछ नहीं हैं क्या? तो ब्राह्मणोंने कह दिया—नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं। आपलोग भी हैं, आपलोग दो नम्बरमें हैं। वैश्योंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमारे बिना कैसे जीविका चलेगी आपकी? ब्राह्मणोंने कहा—हाँ, हाँ, आपलोग तीसरे नम्बरमें हैं। जिनके पास न राज्य था, न धन था, वे ऊँचे उठने लगे तो ब्राह्मणोंने कह दिया—आपके भाग्यमें राज्य और धन

लिखा नहीं है। आपलोग तो इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंकी सेवा करो। इसलिये चौथे नम्बरमें आपलोग हैं। इस तरह सबको भुलावेमें डालकर विद्या, राज्य और धनके प्रभावसे अपनी एकता करके चौथे वर्णको पददलित कर दिया—यह लिखनेवालोंका अपना स्वार्थ और अभिमान ही है।

इसका समाधान यह है कि ब्राह्मणोंने कहीं भी अपने ब्राह्मण-धर्मके लिये ऐसा नहीं लिखा है कि ब्राह्मण सर्वोपरि हैं, इसलिये उनको बड़े आरामसे रहना चाहिये, धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर मौज करनी चाहिये इत्यादि, प्रत्युत ब्राह्मणोंके लिये ऐसा लिखा है कि उनको त्याग करना चाहिये, कष्ट सहना चाहिये; तपश्चर्या करनी चाहिये। गृहस्थमें रहते हुए भी उनको धन-संग्रह नहीं करना चाहिये, अन्नका संग्रह भी थोड़ा ही होना चाहिये—कुम्भीधान्य अर्थात् एक घड़ा भरा हुआ अनाज हो, लौकिक भोगोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, और जीवन-निर्वाहके लिये किसीसे दान भी लिया जाय तो उसका काम करके अर्थात् यज्ञ, होम, जप, पाठ आदि करके ही लेना चाहिये। गोदान आदि लिया जाय तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।

यदि कोई ब्राह्मणको श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहे तो वह श्राद्धके पहले दिन दे, जिससे ब्राह्मण उसके पितरोंका अपनेमें आवाहन करके रात्रिमें ब्रह्मचर्य और संयमपूर्वक रह सके। दूसरे दिन वह यजमानके पितरोंका पिण्डदान, तर्पण ठीक विधि-विधानसे करवाये। उसके बाद वहाँ भोजन करे। निमन्त्रण भी एक ही यजमानका स्वीकार करे और भोजन भी एक ही घरका करे। श्राद्धका अन्न खानेके बाद गायत्री-जप आदि करके शुद्ध

होना चाहिये। दान लेना, श्राद्धका भोजन करना ब्राह्मणके लिये ऊँचा दर्जा नहीं है। ब्राह्मणका ऊँचा दर्जा त्यागमें है। वे केवल यजमानके पितरोंका कल्याण करनेकी भावनासे ही श्राद्धका भोजन और दक्षिणा स्वीकार करते हैं, स्वार्थकी भावनासे नहीं; अतः यह भी उनका त्याग ही है।

ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये ऋत, अमृत, मृत, सत्यानृत और प्रमृत—ये पाँच वृत्तियाँ बतायी हैं *—

(१) ऋत-वृत्ति सर्वोच्च वृत्ति मानी गयी है। इसको शिलोञ्छ या कपोत-वृत्ति भी कहते है। खेती करनेवाले खेतमेंसे धान काटकर ले जायँ, उसके बाद वहाँ जो अन्न (ऊमी, सिट्टा आदि) पृथ्वीपर गिरा पड़ा हो, वह भूदेवों (ब्राह्मणों) का होता है; अतः उनको चुनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छवृत्ति' है अथवा धान्यमण्डीमें जहाँ धान्य तौला जाता है, वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए दाने भूदेवोंके होते हैं; अतः उनको चुनकर जीवन-निर्वाह करना 'कपोतवृत्ति' है।

(२) बिना याचना किये और बिना इशारा किये कोई यजमान आकर देता है तो निर्वाहमात्रकी वस्तु लेना 'अमृत-वृत्ति' है। इसको 'अयाचितवृत्ति' भी कहते हैं।

(३) सुबह भिक्षाके लिये गाँवमें जाना और लोगोंको वार, तिथि, मुहूर्त आदि बताकर (इस रूपमें काम करके)

---

* ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ (मनुस्मृति ४।४)

'ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे; परन्तु श्वानवृत्ति अर्थात् सेवावृत्तिसे कभी भी जीवन-निर्वाह न करे।'

भिक्षामें जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह करना 'मृत-वृत्ति' है।

(४) व्यापार करके जीवन-निर्वाह करना 'सत्यानृत-वृत्ति' है।

(५) उपर्युक्त चारों वृत्तियोंसे जीवन-निर्वाह न हो तो खेती करे पर वह भी कठोर विधि-विधानसे करे; जैसे—एक बैलसे हल न चलाये, धूपके समय हल न चलाये आदि, यह 'प्रमृतवृत्ति' है।

उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसी भी वृत्तिसे निर्वाह किया जाय, उसमें पञ्चमहायज्ञ, अतिथि-सेवा करके यज्ञशेष भोजन करना चाहिये।*

श्रीमद्भगवद्गीतापर विचार करते हैं तो ब्राह्मणके लिये पालनीय जो नौ स्वाभाविक धर्म बताये गये हैं, उनमें जीविका पैदा करनेवाला एक भी धर्म नहीं है। क्षत्रियके लिये सात स्वाभाविक धर्म बताये हैं। उनमें युद्ध करना और शासन करना—ये दो धर्म कुछ जीविका पैदा करनेवाले हैं। वैश्यके लिये तीन धर्म बताये हैं—खेती, गोरक्षा और व्यापार; ये तीनों ही जीविका पैदा

---

* ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये यह निषेध आया है कि वह श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति कभी न करे—'न श्ववृत्त्या कदाचन' (मनु० ४।४), 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' (मनु० ४।६)। वास्तवमें सेवावृत्तिका ही निषेध किया गया है, सेवाका नहीं। माता-पिताकी तरह वे नीच-से-नीच वर्णकी नीची-से-नीची सेवा कर सकते हैं। नीच वर्णोंकी सेवा करनेमें उनकी महत्ता ही है। इसलिये वृत्तिकी ही निन्दा की गयी है। मान, बड़ाई, उपार्जन आदि स्वार्थके लिये सेवा करनेकी निन्दा है, स्वार्थका त्याग करके सेवा करनेकी निन्दा नहीं है।

करनेवाले हैं। शूद्रके लिये एक सेवा ही धर्म बताया है, जिसमें पैदा-ही-पैदा होती है। शूद्रके लिये खान-पान, जीवन-निर्वाह आदिमें भी बहुत छूट दी गयी है।

भगवान्ने **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८।४५) पदोंसे कितनी विचित्र बात बतायी है कि शम, दम आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है, वही कल्याण शौर्य, तेज आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका होता है, वही कल्याण खेती, गोरक्षा और व्यापारके पालनसे वैश्यका होता है और वही कल्याण केवल सेवा करनेसे शूद्रका हो जाता है।

आगे भगवान्ने एक विलक्षण बात बतायी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने वर्णोचित कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके परम सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं— **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८।४६) वास्तवमें कल्याण वर्णोचित कर्मोंसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभावपूर्वक पूजनसे ही होता है। शूद्रका तो स्वाभाविक कर्म ही परिचर्यात्मक अर्थात् पूजनरूप है; अतः उसका पूजनके द्वारा पूजन होता है अर्थात् उसके द्वारा दुगुनी पूजा होती है ! इसलिये उसका कल्याण जितनी जल्दी होगा, उतनी जल्दी ब्राह्मण आदिका नहीं होगा।

शास्त्रकारोंने उद्धार करनेमें छोटेको ज्यादा प्यार दिया है; क्योंकि छोटा प्यारका पात्र होता है और बड़ा अधिकारका पात्र होता है। बड़ेपर चिन्ता-फिक्र ज्यादा रहती है, छोटेपर कुछ भी भार नहीं रहता। शूद्रको भाररहित करके उसकी जीविका बतायी

गयी है और प्यार भी दिया गया है।

वास्तवमें देखा जाय तो जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये शास्त्रोंके अनुसार उतने ही कठिन नियम होते हैं। उन नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेमें कठिनता अधिक मालूम देती है। परन्तु जो वर्ण-आश्रममें नीचा होता है, उसका कल्याण सुगमतासे हो जाता है। इस विषयमें विष्णुपुराणमें एक कथा आती है—एक बार बहुत-से ऋषि-मुनि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये भगवान् वेदव्यासजीके पास गये। व्यासजीने सबको आदरपूर्वक बिठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये। गङ्गामें स्नान करते हुए उन्होंने कहा—'कलियुग, तुम धन्य हो! स्त्रियो, तुम धन्य हो! शूद्रो, तुम धन्य हो! जब व्यासजी स्नान करके ऋषियोंके पास आये तो ऋषियोंने कहा—महाराज! आपने कलियुग, स्त्रियों और शूद्रोंको धन्यवाद कैसे दिया! तो उन्होंने कहा कि कलियुगमें अपने धर्मका पालन करनेसे स्त्रियों और शूद्रोंका कल्याण जल्दी और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

यहाँ एक और बात सोचनेकी है कि जो अपने स्वार्थका काम करता है, वह समाजमें और संसारमें आदरका पात्र नहीं होता। समाजमें ही नहीं, घरमें भी जो व्यक्ति पेटू और चट्टू होता है, उसकी दूसरे निन्दा करते हैं। ब्राह्मणोंने स्वार्थ-दृष्टिसे अपने ही मुँहसे अपनी (ब्राह्मणोंकी) प्रशंसा, श्रेष्ठताकी बात नहीं कही है। उन्होंने ब्राह्मणोंके लिये त्याग ही बताया है। सात्त्विक मनुष्य अपनी प्रशंसा नहीं करते, प्रत्युत दूसरोंकी प्रशंसा, दूसरोंका आदर करते हैं। तात्पर्य है कि ब्राह्मणोंने कभी अपने स्वार्थ और अभिमानकी बात नहीं कही। यदि वे स्वार्थ और अभिमानकी बात

कहते तो वे इतने आदरणीय नहीं होते, संसारमें और शास्त्रोंमें आदर न पाते। वे जो आदर पाते हैं, वह त्यागसे ही पाते हैं।

इस प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करके उपर्युक्त सभी बातोंको समझना चाहिये और ऋषि-मुनियोंपर, शास्त्रकारोंपर झूठा आक्षेप नहीं करना चाहिये।

ऊँच-नीच वर्णोंमें प्राणियोंका जन्म मुख्यरूपसे गुणों और कर्मोंके अनुसार होता है—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**' (गीता ४ । १३); परन्तु ऋणानुबन्ध, शाप, वरदान, सङ्ग आदि किसी कारणविशेषसे भी ऊँच-नीच वर्णोंमें जन्म हो जाता है। उन वर्णोंमें जन्म होनेपर भी वे अपने पूर्व स्वभावके अनुसार ही आचरण करते हैं। यही कारण है कि ऊँचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी उनके नीच आचरण देखे जाते हैं, जैसे धुन्धुकारी आदि; और नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी वे महापुरुष होते हैं, जैसे विदुर, कबीर, रैदास आदि।

आज जिस समुदायमें जातिगत, कुलपरम्परागत, समाजगत और व्यक्तिगत जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आये हैं, उनको अपने विवेक-विचार, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिके द्वारा दूर करके अपनेमें स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता लानी चाहिये, जिससे अपने मनुष्यजन्मका ध्येय सिद्ध हो सके।

(गीता १८ । ४४ की व्याख्यासे)

—★—

अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोंके लिये छः कर्म बताये गये हैं—स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोंसे यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना* (इनमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन कर्म जीविकाके हैं और पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना—ये तीन कर्तव्यकर्म हैं)। उपर्युक्त शास्त्रनियत छः कर्म और शम-दम आदि नौ स्वभावज कर्म तथा इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जितने भी कर्म हैं, उन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण चारों वर्णोंमें व्याप्त परमात्माका पूजन करें। तात्पर्य है कि परमात्माकी आज्ञासे, उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

ऐसे ही क्षत्रियोंके लिये पाँच कर्म बताये गये हैं—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना।† इन पाँच कर्मों तथा शौर्य, तेज आदि सात स्वभावज कर्मोंके द्वारा और खाना-पीना आदि सभी कर्मोंके द्वारा क्षत्रिय सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें।

---

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनु० १।८८)

† प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु० १।८९)

वैश्य यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना और ब्याज लेना तथा कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य*—इन शास्त्रनियत और स्वभावज कर्मोंके द्वारा और शूद्र शास्त्रविहित तथा स्वभावज कर्म सेवाके† द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें अर्थात् अपने शास्त्रविहित, स्वभावज और खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्की आज्ञासे, भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं, वे सब संसाररूप परमात्माकी पूजाके लिये ही हैं। अगर साधक अपने कर्मोंके द्वारा भावसे उस परमात्माका पूजन करता है तो उसकी मात्र क्रियाएँ परमात्माकी पूजा हो जाती हैं। जैसे, पितामह भीष्मने (अर्जुनके साथ युद्ध करते हुए) अर्जुनके सारथि बने हुए भगवान्की अपने युद्धरूप कर्मके द्वारा (बाणोंसे) पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्का कवच टूट गया, जिससे भगवान्के शरीरमें घाव हो गये और हाथकी अंगुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे अंगुलियोंसे लगाम पकड़ना कठिन हो गया। ऐसी पूजा करके अन्त समयमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्म अपने बाणोंद्वारा पूजित भगवान्का ध्यान करते हैं—'युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके

---

* पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनु० १।९०)

† एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनु० १।९१)

कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई रज जिनकी सुन्दर अलकावलिमें लगी हुई है, इस प्रकार बाणोंसे अलंकृत भगवान् कृष्णमें मेरे मन-बुद्धि लग जायँ।*'

लौकिक और पारमार्थिक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन तो करना चाहिये, पर उन कर्मोंमें और उनको करनेके करणों-उपकरणोंमें ममता नहीं रखनी चाहिये। कारण कि जिन वस्तुओं, क्रियाओं आदिमें ममता हो जाती है, वे सभी चीजें अपवित्र हो जानेसे† पूजा-सामग्री नहीं रहतीं (अपवित्र फल, फूल आदि भगवान्‌पर नहीं चढ़ते)। इसलिये 'मेरे पास जो कुछ है, वह सब उस सर्वव्यापक परमात्माका ही है, मुझे तो केवल निमित्त बनकर 'उनकी दी हुई शक्तिसे उनका पूजन करना है'— इस भावसे जो कुछ किया जाय, वह सब-का-सब परमात्माका पूजन हो जाता है। इसके विपरीत उन क्रियाओं, वस्तुओं आदिको मनुष्य जितनी अपनी मान लेता है, उतनी ही वे (अपनी मानी हुई) क्रियाएँ, वस्तुएँ (अपवित्र होनेसे) परमात्माके पूजनसे वञ्चित रह जाती हैं।

(गीता १८। ४६ की व्याख्यासे)

—★—

* युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
(श्रीमद्भा० १। ९। ३४)

† 'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७। ११७ क)

समता कैसे करें ?

आजकल समतापर विशेष चर्चा चल रही है। सबके साथ समताका बर्ताव करो—ऐसा प्रचार किया जा रहा है। परन्तु वास्तवमें समता किसे कहते हैं और वह कब आती है—इसे समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

समता कोई खेल-तमाशा नहीं है, प्रत्युत परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। जिनका मन समतामें स्थित हो जाता है, वे यहाँ जीते-जी ही संसारपर विजय प्राप्त कर लेते हैं और परब्रह्म परमात्माका अनुभव कर लेते हैं *। यह समता तब आती है, जब दूसरोंका दुःख अपना दुःख और दूसरोंका सुख अपना सुख हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'हे अर्जुन! जो पुरुष अपने शरीरकी तरह सब जगह सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सब जगह सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

जैसे शरीरके किसी भी अङ्गमें पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाती है, ऐसे ही किसी प्राणीको दुःख, सन्ताप आदि होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाय, तब समता आती है। सन्तोंके लक्षणोंमें भी आया है—

---

* इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ (गीता ५।१९)

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' ॥ (मानस ७ । ३८ । १)

जबतक अपने सुखकी लालसा है, तबतक चाहे जितना उद्योग कर लें, समता नहीं आयेगी। परन्तु जब हृदयसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे ? उनको आराम कैसे हो ? उनको लाभ कैसे हो? उनका कल्याण कैसे हो ? तब समता स्वतः आ जायगी। इसका आरम्भ सर्वप्रथम अपने घरसे करना चाहिये। हृदयमें ऐसा भाव हो कि किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख या कष्ट न पहुँचे, किसीका कभी अनिष्ट न हो। चाहे मैं कितना ही कष्ट पाऊँ पर मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदिको सुख होना चाहिये। घरवालोंको सुख पहुँचानेसे अपने हृदयमें शान्ति आयेगी ही। जहाँ अपने घरका भी सम्बन्ध नहीं है, वहाँ सुख पहुँचायेंगे तो विशेष आनन्दकी लहरें आने लग जायँगी। परन्तु ममतापूर्वक सुख पहुँचानेसे हमारी उन्नति नहीं होगी। जहाँ हमारी ममता न हो, वहाँ सुख पहुँचायें अथवा जहाँ हम ममतापूर्वक सुख पहुँचाते हैं, वहाँसे अपनी ममता हटा लें—दोनोंका परिणाम एक ही होगा।

चित्रकूटमें लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताकी सेवा कैसे करते हैं, यह बताते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ॥

(मानस २ । १४२ । १)

अर्थात् लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताजीकी वैसे ही सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरकी सेवा करता है। अपने शरीरकी सेवा करना, उसे सुख पहुँचाना समझदारी नहीं है। अपने शरीरकी सेवा तो पशु भी करते हैं। जैसे, बँदरीकी अपने

बच्चेपर इतनी ममता रहती है कि उसके मरनेके बाद भी वह उसके शरीरको पकड़े हुए चलती है, छोड़ती नहीं। परन्तु जब कोई वस्तु खानेके लिये मिल जाती है, तब वह स्वयं तो खा लेती है पर बच्चेको नहीं खाने देती। बच्चा खानेकी चेष्टा करता है तो उसे ऐसी घुड़की मारती है कि वह चीं-चीं करते भाग जाता है। अतः ममताके रहते हुए समताका आना असम्भव है।

जिससे हमें कुछ लेना नहीं है, जिससे हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, ऐसे व्यक्तिके साथ भी हम प्रेमपूर्वक अच्छा-से-अच्छा बर्ताव करें, जिससे उसका हित हो। कोई व्यक्ति मार्गमें भटक गया है, उसे मार्गका पता नहीं है और वह हमसे पूछता है। हम उसे बड़ी प्रसन्नतासे मार्ग बतायें अथवा कुछ दूरतक उसके साथ चलें तो हमें हृदयमें प्रत्यक्ष सुखका, शान्तिका अनुभव होगा। परन्तु यदि हम जानते हुए भी उसे मार्ग नहीं बतायेंगे तो हमारे हृदयमें सुख नहीं होगा। यह अनुभवकी बात है, कोई करके देख ले। किसीको प्यास लगी है तो उसे बता दे कि भाई, इधर आओ, इधर ठण्डा जल है। फिर हम अपना हृदय देखें। हमारे हृदयमें प्रसन्नता आयेगी, सुख आयेगा। यह सुख हमारा कल्याण करनेवाला है। दूसरा दुःख पाये पर मैं सुख ले लूँ—यह सुख पतन करनेवाला है। इससे न तो व्यवहारमें हमारी उन्नति होगी और न परमार्थमें। हम सत्सङ्गका आयोजन करते हैं। उसमें आनेवाले व्यक्तियोंके बैठनेकी व्यवस्था करते हैं तो उनसे प्रेमपूर्वक कहें कि आइये, यहाँ बैठिये। उन्हें वहाँ बैठायें, जहाँसे वे ठीक तरहसे सुन सकें। वे आरामसे कैसे बैठ सकें ? ठीक तरहसे कैसे सुन सकें—ऐसा भाव रखकर उनसे बर्ताव करें। ऐसा करनेसे हमारे हृदयमें प्रत्यक्ष

शान्ति आयेगी। पर वहीं हुक्म चलायें कि क्या करते हो ? इधर बैठो, इधर नहीं तो बात वही होनेपर भी हृदयमें शान्ति नहीं आयेगी। भीतरमें जो अभिमान है, वह दूसरोंको चुभेगा, बुरा लगेगा। ऐसा बर्ताव करें और चाहें कि समता आ जाय तो वह कभी आयेगी नहीं।

सबके हितमें जिसकी प्रीति हो गयी है, उन्हें भगवान् प्राप्त हो जाते हैं—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४)। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं (गीता ५।२९)। वे प्राणिमात्रका पालन-पोषण करनेवाले हैं। आस्तिक-से-आस्तिक हो अथवा नास्तिक-से-नास्तिक, दोनोंके लिये भगवान्‌का विधान बराबर है। एक व्यक्ति बड़ा आस्तिक है, भगवान्‌को बहुत मानता है और उन्हें पानेके लिये साधन-भजन करता है और एक व्यक्ति ऐसा नास्तिक है कि संसारसे भगवान्‌का खाता उठा देना चाहता है। भगवान्‌को माननेसे और भगवान्‌के कारण ही दुनिया दुःख पा रही है, भगवान् नामकी कोई चीज है ही नहीं—ऐसा उसके हृदयमें भाव है और ऐसा ही प्रचार करता है। ऐसे नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिकी भी प्यास जल मिटाता है और वही जल आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिकी भी प्यास मिटाता है। जलमें यह भेद नहीं है कि वह आस्तिककी प्यास ठीक तरहसे शान्त करे और नास्तिककी प्यास शान्त न करे। वह समान रीतिसे सबकी प्यास मिटाता है। ऐसे ही सूर्य समान रीतिसे सबको प्रकाश देता है, हवा समान रीतिसे सबको श्वास लेने देती है, पृथ्वी समान रीतिसे सबको रहनेका स्थान देती है। इस प्रकार भगवान्‌की रची हुई प्रत्येक वस्तु सबको समान रीतिसे मिलती है।

समताका अर्थ यह नहीं है कि समान रीतिसे सबके साथ रोटी-बेटी (भोजन और विवाह) का बर्ताव करें। व्यवहारमें समता तो महान् पतन करनेवाली चीज है। समान बर्ताव यमराजका, मौतका नाम है; क्योंकि उसके बर्तावमें विषमता नहीं होती। चाहे महात्मा हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, चाहे पशु हो, चाहे देवता हो, मौत सबकी बराबर होती है। इसलिये यमराजको 'समवर्ती' (समान बर्ताव करनेवाला) कहा गया है *। अतः जो समान बर्ताव करते हैं, वे भी यमराज हैं।

पशुओंमें भी समान बर्ताव पाया जाता है। कुत्ता ब्राह्मणकी रसोईमें जाता है तो पैर धोकर नहीं जाता। ब्राह्मणकी रसोई हो अथवा हरिजनकी, वह तो जैसा है, वैसा ही चला जाता है; क्योंकि यह उसकी समता है। पर मनुष्यके लिये यह समता नहीं है, प्रत्युत महान् है। समता तो यह है कि दूसरेका दुःख कैसे मिटे, दूसरेको सुख कैसे हो, आराम कैसे हो। ऐसी समता रखते हुए बर्तावमें पवित्रता, निर्मलता रखनी चाहिये। बर्तावमें पवित्रता रखनेसे अन्तःकरण पवित्र, निर्मल होता है। परंतु बर्तावमें अपवित्रता रखनेसे, खान-पान आदि एक करनेसे अन्तःकरणमें अपवित्रता आती है, जिससे अशान्ति बढ़ती है। केवल बाहरका बर्ताव समान रखना शास्त्र और समाजकी मर्यादाके विरुद्ध है। इससे समाजमें संघर्ष पैदा होता है।

वर्णोंमें ब्राह्मण ऊँचे हैं और शूद्र नीचे हैं—ऐसा शास्त्रोंका सिद्धान्त नहीं है। ब्राह्मण उपदेशके द्वारा, क्षत्रिय रक्षाके द्वारा,

---

* 'समवर्ती परेतराट्' (अमरकोष १।१।५८)

वैश्य धन-सम्पत्ति, आवश्यक वस्तुओंके द्वारा और शूद्र शरीरसे परिश्रम करके सभी वर्णोंकी सेवा करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे अपने कर्तव्य-पालनमें परिश्रम न करें, प्रत्युत अपने कर्तव्य-पालनमें समान रीतिसे सभी परिश्रम करें। जिसके पास जिस प्रकारकी शक्ति, विद्या, वस्तु, कला आदि है, उसके द्वारा चारों ही वर्ण चारों वर्णोंकी सेवा करें, उनके कार्योंमें सहायक बनें। परन्तु चारों वर्णोंकी सेवा करनेमें भेदभाव न रखें।

आजकल वर्णाश्रमको मिटाकर पार्टीबाजी हो रही है। आज वर्णाश्रममें इतनी लड़ाई नहीं है, जितनी लड़ाई पार्टीबाजीमें हो रही है—यह प्रत्यक्ष बात है। पहले लोग चारों वर्णों और आश्रमोंकी मर्यादामें चलते थे और सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे। आज वर्णाश्रमकी मर्यादाको मिटाकर अनेक पार्टियाँ बनायी जा रही हैं, जिससे संघर्षको बढ़ावा मिल रहा है। गाँवोंमें सब लोगोंको पानी मिलना कठिन हो रहा है। जिनके अधिकारमें कुआँ है, वे कहते हैं कि तुमने उस पार्टीको वोट दिया है, इसलिये तुम यहाँसे पानी नहीं भर सकते। माँ, बाप और बेटा—तीनों अलग-अलग पार्टियोंको वोट देते हैं और घरमें लड़ते हैं। भीतरमें वैर बाँध लिया कि तुम उस पार्टीके और हम इस पार्टीके। कितना महान् अनर्थ हो रहा है!

यदि समता लानी हो तो दूसरा व्यक्ति किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, मत आदिका क्यों न हो, उसे सुख देना है, उसका दुःख दूर करना है और उसका वास्तविक हित करना है। उनमें यह भेद हो सकता है कि आप राम-राम कहते हैं, हम कृष्ण-कृष्ण कहेंगे; आप वैष्णव हैं, हम शैव हैं; आप मुसलमान

हैं, हम हिन्दू हैं, इत्यादि। परन्तु इससे कोई बाधा नहीं आती है। बाधा तब आती है, जब यह भाव रहता है कि वे हमारी पार्टीके नहीं हैं, इसलिये उनको चाहे दुःख होता रहे पर हमें और हमारी पार्टीवालोंको सुख हो जाय। यह भाव महान् पतन करनेवाला है। इसलिये कभी किसी वर्ण आदिके मनुष्योंको कष्ट हो तो उनके हितकी चिन्ता समान रीतिसे होनी चाहिये और उन्हें सुख हो तो उससे प्रसन्नता समान रीतिसे होनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मणों और हरिजनोंमें संघर्ष हुआ। उसमें हरिजनोंकी हार और ब्राह्मणोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें प्रसन्नता हो अथवा ब्राह्मणोंकी हार और हरिजनोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें दुःख हो तो यह विषमता है, जो बहुत हानिकारक है। ब्राह्मणों और हरिजनों—दोनोंके प्रति ही हमारे मनमें हितकी समान भावना होनी चाहिये। किसीका भी अहित हमें सहन न हो। किसीका भी दुःख हमें समान रीतिसे खटकना चाहिये। यदि ब्राह्मण दुःखी है तो उसे सुख पहुँचायें और यदि हरिजन दुःखी है तो उसे सुख न पहुँचायें—ऐसा पक्षपात नहीं होना चाहिये, प्रत्युत हरिजनको सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा होनी चाहिये। हरिजनोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हुए भी ब्राह्मणोंके दुःखकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिको लेकर पक्षपात नहीं होना चाहिये। सभीके प्रति समान रीतिसे हितका बर्ताव होना चाहिये। यदि कोई निम्नवर्ग है और उसे हम ऊँचा उठाना चाहते हों तो उस वर्गके लोगोंके भावों और आचरणोंको शुद्ध और श्रेष्ठ बनाना चाहिये; उनके पास वस्तुओंकी कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये; उनकी सहायता करनी चाहिये; परन्तु उन्हें उकसाकर

उनके हृदयोंमें दूसरे वर्गके प्रति ईर्ष्या और द्वेषके भाव भर देना अत्यन्त ही अहितकर, घातक है तथा लोक-परलोकमें पतन करनेवाला है। कारण कि ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि मनुष्यका महान् पतन करनेवाले हैं। यदि ऐसे भाव ब्राह्मणोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा और हरिजनोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा। उत्थान तो सद्भावों, सद्गुणों, सदाचारोंसे ही होता है।

भोजन, वस्त्र, मकान आदि निर्वाहकी वस्तुओंकी जिनके पास कमी है, उन्हें ये वस्तुएँ विशेषतासे देनी चाहिये, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिके क्यों न हों। सबका जीवन-यापन सुखपूर्वक होना चाहिये। सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीका हित हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो *—ऐसा भाव रखते हुए यथायोग्य बर्ताव करना ही समता है, जो सम्पूर्ण मनुष्योंके लिये हितकर है।

गीतामें भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।'

ब्राह्मण और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें व्यवहारकी विषमता अनिवार्य है। इनमें समान बर्ताव शास्त्र भी

---

* सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

नहीं कहता, उचित भी नहीं और कर सकते भी नहीं। जैसे पूजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणका ही हो सकता है न कि चाण्डालका; दूध गायका ही पीया जाता है, न कि कुतियाका; सवारी हाथीकी ही हो सकती है न कि कुत्तेकी। इन पाँचों प्राणियोंका उदाहरण देकर भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि इनमें व्यवहारकी समता सम्भव न होनेपर भी तत्त्वतः सबमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। महापुरुषोंकी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वपर ही सदा-सर्वदा रहती है। इसलिये उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि दृष्टि विषम हुए बिना व्यवहारमें भिन्नता कैसे होगी ? इसका समाधान यह है कि अपने शरीरके सब अङ्गों-(मस्तक, पैर, हाथ, गुदा आदि) में हमारी दृष्टि अर्थात् अपनेपन और हितकी भावना समान रहती है, फिर भी हम उनके व्यवहारमें भेद रखते हैं; जैसे—किसीको पैर लग जाय तो क्षमा-याचना करते हैं पर किसीको हाथ लग जाय तो क्षमा-याचना नहीं करते। प्रणाम मस्तक और हाथोंसे करते हैं, पैरोंसे नहीं। गुदासे हाथ लगनेपर हाथ धोते हैं, हाथसे हाथ लगनेपर नहीं। इतना ही नहीं एक हाथकी अंगुलियोंमें भी व्यवहारमें भेद रहता है। किसीको तर्जनी अंगुली दिखाने और अँगूठा दिखानेका भेद तो सब जानते ही हैं। इस प्रकार शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंके व्यवहारमें तो भेद होता है पर आत्मीयतामें भेद नहीं होता। इसलिये शरीरके किसी भी पीड़ित अङ्गकी उपेक्षा नहीं होती। व्यवहारमें भेद होनेपर भी पीड़ा मिटानेमें हम समानताका व्यवहार करते हैं। शरीरके सभी अङ्गोंके सुख-दुःखमें हमारा एक ही भाव रहता है। इसी प्रकार प्राणियोंमें खान-पान, गुण, आचरण, जाति

आदिका भेद होनेसे उनके साथ ज्ञानी महापुरुषोंके व्यवहारमें भी भेद होता है और होना भी चाहिये। परंतु उन सब प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण होनेके कारण महापुरुषकी दृष्टिमें भेद नहीं होता। उन प्राणियोंके प्रति महापुरुषकी आत्मीयता, प्रेम, हित, दया आदिके भावमें कभी फरक नहीं पड़ता। उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, ममता, आसक्ति, अभिमान, पक्षपात, विषमता आदिका सर्वथा अभाव होता है। जैसे अपने शरीरके किसी अङ्गका दुःख दूर करनेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है, वैसे ही पता लगनेपर दूसरे प्राणीका दुःख दूर करनेकी और उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी उनके द्वारा स्वाभाविक होती है। यही कारण है कि भगवान्‌ने यहाँ महापुरुषोंको समदर्शी कहा है, न कि समवर्ती। गीतामें दूसरी जगह भी सम देखनेकी या समबुद्धिकी ही बात आयी है; जैसे—**'समबुद्धिर्विशिष्यते'** (६।९); **'सर्वत्र समदर्शनः'** (६।२९); **'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'** (६।३२); **'सर्वत्र समबुद्धयः'** (१२।४); **'समं सर्वेषु भूतेषु……… यः पश्यति स पश्यति'** (१३।२७); और **'समं पश्यन् हि सर्वत्र'** (१३।२८)।

श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज कहते हैं—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।

(तत्त्वोपदेश)

'भावमें ही सदा अद्वैत होना चाहिये, क्रिया—(व्यवहार)में कहीं नहीं'।

(गीता ५।१८ की व्याख्यासे)

—★—

आँख और पेटकी बीमारी

सभी मनुष्योंमें दो तरहकी बीमारी है—आँखकी बीमारी और पेटकी बीमारी। आँखकी बीमारी क्या है?

इस दुनियामें एक अँधेरा, सबकी आँखमें जो छाया।
जिसके कारण सूझ पड़े नहीं, कौन हूँ मैं कहाँसे आया॥
कौन दिशाको जाना मुझको, किसको देख मैं ललचाया।
कौन है मालिक इस दुनियाका, किसने रची है यह माया॥

और पेटकी बीमारी क्या है?

इस दुनियामें एक कूप है, जिसका पार कोई नहीं पावै।
जिसको भरने कारण प्राणी, देश दिगन्तरको जावै॥
दीन भये पर घरमें जाकर, सेवा कर कर मर जावै।
भजन ध्यान चिन्तन ईश्वरका, जिसके कारण बिसरावै॥

इस विषयमें एक कहानी है। एक वैद्य रहते थे। उनके पास एक रोगी पहुँचा। उसने वैद्यसे कहा कि मेरी आँखमें बड़ी पीड़ा हो रही है और पेटमें भी पीड़ा हो रही है। वैद्यने उसको लिटाकर उसका पेट देखा और आँख देखी। इतनेमें एक दूसरा रोगी आया। उसने भी कहा कि मेरी आँखमें और पेटमें बड़ी पीड़ा हो रही है। वैद्यने विचार किया कि यह कैसी हवा चली है, सबको एक ही बीमारी! वैद्यने दोनों रोगियोंके लिये अलग-अलग दवा लिख दी और कहा कि कम्पाउण्डरसे दवा ले लो। कम्पाउण्डरने दोनोंको

दवाकी दो-दो पुड़िया बनाकर दे दी, एक आँखके लिये और एक पेटके लिये। वैद्यने समझा दिया कि देखो, यह आँखमें डालनेकी पुड़िया है। इसको रातमें सोते समय आँखमें डालना और बार-बार पलक झपकाना, जिससे आँखमें गरम-गरम पानी निकल जायगा। फिर सो जाना। इससे आँख ठीक हो जायगी। यह दूसरी पुड़िया पेटके लिये है। इसको एक पाव जलमें डालकर आगपर रख देना। जब जल एक छटाक रह जाय, तब वह काढ़ा छानकर पी लेना। इससे पेट ठीक हो जायगा और दस्त लगनेसे आँखमें भी लाभ होगा।

दोनों रोगी दवा लेकर चले गये। घर जाकर एक रोगीने तो ठीक वैसा ही किया, जैसा वैद्यने कहा था। आँखकी दवा आँखमें डाल दी और पेटकी दवा पेटमें। परन्तु दूसरे रोगीने पुड़िया उलट दी ! उसने पेटकी दवा आँखमें डाल दी और आँखकी दवा पेटमें डाल दी। आँखमें थोड़ा-सा कचरा भी पड़ जाय तो पीड़ा होने लगती है, पर उसने पेटका चूर्ण आँखमें डाल दिया ! इससे आँखकी पीड़ा बढ़ गयी ! आँखकी दवा ठण्डी होती है, वह पेटमें चली गयी तो पेटकी पीड़ा भी बढ़ गयी ! अब वह वैद्यको गाली देने लगा कि तेरे बापको मैंने मारा था क्या ? वह तो अपनी मौत मरा था। फिर मेरेसे किस दिनका बदला लिया है ! दूसरे दिन वह दवाखाना खुलनेसे पहले ही वहाँ जा बैठा। वैद्यजी आये और दवाखाना खोलकर उससे पूछा—कहो, कैसे हो ?

वह बोला—कैसे क्या हूँ !

वैद्यने कहा—अरे, क्या हुआ ?

वह बोला—हुआ क्या, जो तुमने किया, वही हुआ !

वैद्यने कहा—हमने क्या किया ?

वह बोला—ऐसी दवा दे दी कि मेरी आँखकी पीड़ा भी बढ़ गयी और पेटकी पीड़ा भी बढ़ गयी ! साफ कह देते कि मैं दवा नहीं देता ! मेरे पास ज्यादा रुपया तो है नहीं, इसलिये उल्टी दवा दे दी।

वैद्यने कहा—भाई, पीड़ा कैसे बढ़ गयी ? किसी आदमीको दवा जल्दी असर करती है, किसीको नहीं करती, यह तो अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार होता है, पर पीड़ा बढ़नेका तो कोई कारण ही नहीं है !

वह बोला—मैं तो भुक्तभोगी हूँ, मेरी पीड़ा तो बढ़ गयी !

इतनेमें दूसरा रोगी आया। वैद्यने उससे पूछा—कहो, तुम कैसे हो ? वह बोला—महाराज, बहुत आराम है। एक-दो दस्त लगे, पेट भी ठीक है और आँखें भी ठीक हैं। यह सुनते ही पहला रोगी बोला—देखो, यह पैसेवाला आदमी है, इसको तो बढ़िया दवा दे दी, मेरेको घटिया दे दी ! वैद्यने कहा—घटिया कैसे दे दी ? जो दवा उसको दी, वही तुमको भी दी। तुम्हारी पुड़िया कैसी थी ? रोगीने जेबसे चूर्णकी पुड़िया निकालकर वैद्यके सामने पटक दी और बोला—यह है वह पुड़िया। वैद्यने कहा—दूसरी पुड़िया ? वह बोला—दूसरी तो मैं काढ़ा बनाकर पी गया ! यह पुड़िया आँखमें डाली थी, दवा ज्यादा थी, इसलिये बच गयी। वैद्यने कहा कि इसको निकालो यहाँसे ! उल्टी दवा तो यह खुद लेता है और कहता है कि तुमने मेरी पीड़ा बढ़ा दी !

इसी तरह हम सब लोग रोगी हैं। हमारी आँखकी बीमारी क्या है ? वास्तविक बात सूझती नहीं है। खुद तो जानते नहीं,

दूसरेकी मानते नहीं। जो अधूरा जानते हैं, उसीको पूरा मान लेते हैं कि बस, यही ठीक है। पेटकी बीमारी क्या है? पेट कभी भरता ही नहीं! दरिद्रका भी पेट नहीं भरता और लखपति-करोड़पतिका भी पेट नहीं भरता। कितना ही मिल जाय तो भी कहते हैं कि क्या करें, काम नहीं चलता। इन दोनों रोगियोंके लिये भगवान्‌ने हमें दो पुड़िया दी हैं—प्रारब्ध और पुरुषार्थ। आँखकी बीमारीके लिये 'पुरुषार्थ' है और पेटकी बीमारीके लिये 'प्रारब्ध' है। पुरुषार्थ करेंगे, सत्संग-स्वाध्याय, विवेक-विचार करेंगे तो आँखका रोग दूर होगा और अपने कर्तव्यका पालन करते हुए प्रारब्धपर विश्वास करेंगे कि जो हमारे भाग्यमें लिखा है, वही मिलेगा* तो पेटका रोग दूर होगा।

प्रारब्ध शोक-चिन्ता मिटानेके लिये है, आलसी-अकर्मण्य बनानेके लिये नहीं। जैसे, बेटा बीमार हो तो अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसका भलीभाँति इलाज करते-करते अगर वह मर जाय तो मनमें इस बातको लेकर चिन्ता, शोक, दुःख नहीं होगा कि हमने अपनी तरफसे उसके इलाजमें कमी रखी। बेटा तो प्रारब्धके

---

* यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

'जो नहीं होनेवाला है, वह होगा नहीं और जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। चिन्तारूपी विषका नाश करनेवाली इस औषधका पान क्यों न किया जाय?'

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे मन ले श्रीरघुवीर॥

होइहि सोइ सो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥
(मानस, बाल० ५२।४)

अनुसार ही मरेगा, पर अपने पुरुषार्थमें कमी होगी तो चिन्ता, शोक, दुःख होगा कि हमने अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं किया! इसलिये जो करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहते हैं, उनकी आँखका रोग भी ठीक हो जाता है और पेटका रोग भी। परन्तु जो पुड़िया उलट देते हैं अर्थात् आँखके रोगके लिये प्रारब्ध और पेटके रोगके लिये पुरुषार्थ लगा देते हैं, उनके ये दोनों ही रोग बढ़ जाते हैं। ऐसे लोगोंसे सत्संग-स्वाध्याय, भजन-ध्यान करनेके लिये कहा जाय तो वे कहते हैं कि कैसे करें महाराज! हमारे तो भाग्यमें ही नहीं है। प्रारब्धसे मिलनेवाले धनके लिये रात-दिन पुरुषार्थमें लगे रहते हैं। सारा पुरुषार्थ पेटके लिये लगा देते हैं और आँखके लिये कुछ करते ही नहीं! भगवान्‌का नाम लेनेके लिये कहो तो कहते हैं कि नाम कैसे लें, मुखमें सौ मनका ताला लगा है! नाम लेना हमारे भाग्यमें लिखा ही नहीं है! भगवान्‌की ऐसी ही मरजी है, हम क्या करें? हमारा क्या दोष है?

अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिका प्राप्त होना 'प्रारब्ध'के अधीन है और प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना 'पुरुषार्थ'के अधीन है। इसलिये कर्तव्य-पालन, सत्संग-स्वाध्याय, भजन-ध्यान आदि करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर धन कमानेमें स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य यह नियम तो ले सकता है कि मैं रोजाना इतनी माला जप करूँगा, इतना स्वाध्याय करूँगा, पर यह नियम नहीं ले सकता कि मैं रोजाना इतने रुपये कमाऊँगा। कारण कि भजन-ध्यान आदि करना पुरुषार्थके अधीन है और रुपये कमाना प्रारब्धके अधीन है। परन्तु जहाँ पुरुषार्थ लगाना

चाहिये, वहाँ प्रारब्ध लगा दिया और जहाँ प्रारब्ध लगाना चाहिये, वहाँ पुरुषार्थ लगा दिया। इससे दोनों बीमारियाँ बढ़ गयीं। पेटकी बीमारी बढ़नेसे जीवन-निर्वाहका खर्चा बहुत बढ़ गया। पढ़ाई-लिखाईमें, खान-पानमें, स्वाद-शौकीनीमें, रहन-सहनमें खर्चा बढ़ गया और कहते हैं कि स्टैण्डर्ड ऊँचा होना चाहिये! सारा पुरुषार्थ स्टैण्डर्ड ऊँचा करनेमें, पेट भरनेमें लगा दिया और आँखसे कुछ दीखता ही नहीं है कि भगवान् क्या हैं? संसार क्या है? मैं कौन हूँ? मेरेको क्या करना है? 'रात-दिन' हाय पैसा! हाय पैसा! करते हैं। अगर 'हाय भगवन्! हाय भगवन्!' करें तो निहाल हो जायँ! जिस लगनसे धन कमाते हैं, उस लगनसे साधन करें तो कल्याण हो जाय! परन्तु साधककी यह दशा है कि नित्य नियम पूरा हुआ तो सोचते हैं कि आजकी आफत तो मिटी! माला पूरी हुई तो मानो जेलसे छूट गये! दूकानमें रोज सौ रुपये कमाते हैं और वे सौ रुपये अगर सुबह ही पैदा हो जायँ तो भी दूकान दिनभर खोलकर बैठे रहेंगे। पर जप पूरा हो जाय तो माला लपेटकर रख देंगे! यह क्या है? यह उल्टी पुड़िया ले ली। इसलिये जो मिला है, उसमें सन्तोष करें, जो नहीं मिला है, उसकी कामना न करें; अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करें, दूसरोंकी सेवा करें और भगवान्का भजन-स्मरण, सत्संग-स्वाध्याय करें तो आँखकी पीड़ा भी ठीक हो जायगी और पेटकी पीड़ा भी।

★

॥ श्रीहरिः ॥

770

अमरताकी ओर

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तकमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके नौ लेखोंका संग्रह है। पारमार्थिक रुचिवाला प्रत्येक साधक इनका अध्ययन-मनन करके मृत्युसे ऊँचा उठकर अमरता प्राप्त कर सकता है। परन्तु साधकका उद्देश्य अनुभव करनेका होना चाहिये, कोरी बातें सीखनेका नहीं। सीखा हुआ ज्ञान अभिमान बढ़ानेके सिवाय और कुछ काम नहीं आता। अत: पाठकोंसे निवेदन है कि वे अनुभव करनेके उद्देश्यसे इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन करें और अपना मानव-जीवन सार्थक करें।

—**प्रकाशक**

॥ श्रीहरि: ॥

१. अमरताका अनुभव

मनुष्यमात्रके भीतर स्वाभाविक ही एक ज्ञान अर्थात् विवेक है। साधकका काम उस विवेकको महत्त्व देना है। वह विवेक पैदा नहीं होता। अगर वह पैदा होता तो नष्ट भी हो जाता; क्योंकि पैदा होनेवाली हरेक चीज नष्ट होनेवाली होती है—यह नियम है। अत: विवेककी उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत जागृति होती है। जब साधक अपने भीतर उस स्वत:सिद्ध विवेकको महत्त्व देता है, तब वह विवेक जाग्रत् हो जाता है। इसीको तत्त्वज्ञान अथवा बोध कहा जाता है।

मनुष्यमात्रके भीतर स्वत: यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। जैसे, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अत: अमरता स्वत:सिद्ध है। यहाँ शंका होती है कि जो अमर है, उसमें अमरताकी इच्छा क्यों होती है? इसका समाधान है कि अमर होते हुए भी जब उसने अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ अपनेको एक मान लिया अर्थात् 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा मान लिया, तब उसमें अमरताकी इच्छा और मृत्युका भय पैदा हो गया।

मनुष्यमात्रको इस बातका विवेक है कि यह शरीर (स्थूल,

सूक्ष्म तथा कारणशरीर) मेरा असली स्वरूप नहीं है। शरीर प्रत्यक्ष रूपसे बदलता है। बाल्यावस्थामें जैसा शरीर था, वैसा आज नहीं है और आज जैसा शरीर है, वैसा आगे नहीं रहेगा। परन्तु मैं वही हूँ अर्थात् बाल्यावस्थामें जो मैं था, वही मैं आज हूँ और आगे भी रहूँगा। अतः मैं शरीरसे अलग हूँ और शरीर मेरेसे अलग है अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ—यह सबके अनुभवकी बात है। फिर भी अपनेको शरीरसे अलग न मानकर शरीरके साथ एक मान लेना अपने विवेकका निरादर है, अपमान है, तिरस्कार है। साधकको अपने इस विवेकको महत्त्व देना है कि मैं तो निरन्तर रहनेवाला हूँ और शरीर मरनेवाला है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें शरीर मरता न हो। मरनेके प्रवाहको ही जीना कहते हैं। वह प्रवाह प्रकट हो जाय तो उसको जन्मना कह देते हैं और अदृश्य हो जाय तो उसको मरना कह देते हैं। तात्पर्य है कि जो हरदम बदलता है, उसीका नाम जन्म है, उसीका नाम स्थिति है और उसीका नाम मृत्यु है। बाल्यावस्था मर जाती है तो युवावस्था पैदा हो जाती है और युवावस्था मर जाती है तो वृद्धावस्था पैदा हो जाती है। इस तरह प्रतिक्षण पैदा होने और मरनेको ही जीना (स्थिति) कहते हैं। पैदा होने और मरनेका यह क्रम सूक्ष्म रीतिसे निरन्तर चलता रहता है। परन्तु हम स्वयं निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है, पर हमारे स्वरूपमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। अतः शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ—इस विवेकको महत्त्व देना है।

गीतामें आया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नये कपड़े धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीरको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते। तात्पर्य है कि शरीर मरता है, हम नहीं मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्ति किसकी होगी?

शरीर नाशवान् है, इसको कोई रख सकता ही नहीं और हमारा स्वरूप अविनाशी है, इसको कोई मार सकता ही नहीं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

(गीता २। १७)

अविनाशी सदा अविनाशी ही रहेगा और विनाशी सदा विनाशी ही रहेगा। जो विनाशी है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। हमने कुर्ता पहन लिया तो क्या कुर्ता हमारा स्वरूप हो गया? हमने चादर ओढ़ ली तो क्या चादर हमारा स्वरूप हो गयी? जैसे हम कपड़ोंसे अलग हैं, ऐसे ही हम इन शरीरोंसे भी अलग हैं। इसलिये हमारे मनमें निरन्तर स्वतः यह बात रहनी चाहिये कि मैं मरनेवाला नहीं हूँ, मैं तो अमर हूँ। *'अमर जीव*

मरे सो काया' जीव अमर है, काया मरती है। अगर इस विवेकको महत्त्व दें तो मरनेका भय मिट जायगा। जब हम मरते ही नहीं तो फिर मरनेका भय कैसा? और जो मरता ही है, उसको रखनेकी इच्छा कैसी? हमारा बालकपना नहीं रहा तो अब हम बालकपनेको लाकर नहीं दिखा सकते; क्योंकि वह मर गया, पर हम वही रहे। अतः शरीर सदा मरनेवाला है और मैं सदा अमर रहनेवाला हूँ—इसमें क्या सन्देह रहा? अब केवल इस बातका आदर करना है, इसको महत्त्व देना है, इसका स्वयं अनुभव करना है, कोरा सीखना नहीं है। जैसे धन मिल जाय तो भीतरसे खुशी आती है, ऐसे ही इस बातको सुनकर भीतरसे खुशी आनी चाहिये और जीनेकी इच्छा तथा मरनेका भय नहीं रहना चाहिये! कारण कि जिस बातसे हमारा दुःख, जलन, सन्ताप, रोना मिट जाय, उसके मिलनेसे बढ़कर और क्या खुशीकी बात होगी! ऐसा लाभ तो करोड़ों-अरबों रुपयोंके मिलनेसे भी नहीं होता। कारण कि अरबों-खरबों रुपये मिल जायँ और पृथ्वीका राज्य मिल जाय तो भी एक दिन वह सब छूट जायगा, हमारेसे बिछुड़ जायगा!

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवे किहि काज॥

हम शरीरमें अपनी स्थिति मान लेते हैं, अपनेको शरीर मान लेते हैं तो यह हमारी गलती है। गलत बातका आदर करना और सही बातका निरादर करना ही मुक्तिमें खास बाधा है। अपनेको शरीर मानकर ही हम कहते हैं कि मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ। वास्तवमें हम न बालक हुए, न हम जवान हुए, न हम बूढ़े हुए, प्रत्युत शरीर ही बालक हुआ, शरीर ही जवान हुआ, शरीर ही बूढ़ा हुआ। शरीर बीमार हो

गया तो मैं बीमार हो गया, शरीर कमजोर हो गया तो मैं कमजोर हो गया, धन पासमें आ गया तो मैं धनी हो गया, धन चला गया तो मैं निर्धन हो गया—यह शरीर और धनके साथ एकता माननेसे ही होता है। जब क्रोध आता है, तब हम कहते हैं कि मैं क्रोधी हूँ! विचार करें, क्या क्रोध सब समय रहता है? सबके लिये होता है? जो हरदम नहीं रहता और जो सबके लिये नहीं होता, वह मेरेमें कैसे हुआ? कुत्ता घरमें आ गया तो क्या वह घरका मालिक हो गया? ऐसे ही क्रोध आ गया तो क्या मैं क्रोधी हो गया? क्रोध तो आता है और चला जाता है, पर मैं निरन्तर रहता हूँ।

देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तुएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, क्रिया बदलती है, अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है, पर हम निरन्तर रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बदलती हैं, पर हम तो एक ही रहते हैं, तभी हमें अवस्थाओंका और उनके परिवर्तनका अर्थात् उनके आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है। स्थूल दृष्टिसे विचार करें तो जैसे हम हरिद्वारसे ऋषिकेश आये तो पहले हम हरिद्वारसे रायवाला आये, फिर रायवालासे ऋषिकेश आये। अगर हम हरिद्वारमें ही रहनेवाले होते तो रायवाला और ऋषिकेश कैसे आते? रायवालामें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और ऋषिकेश कैसे आते? ऋषिकेशमें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और रायवाला कैसे आते? अतः हम न तो हरिद्वारमें रहते हैं, न रायवालामें रहते हैं, न ऋषिकेशमें रहते हैं। हरिद्वार, रायवाला और ऋषिकेश—तीनों अलग-अलग हैं, पर हम एक ही हैं। हरिद्वारमें भी हम वही रहे, रायवालामें भी हम

वही रहे और ऋषिकेशमें भी हम वही रहे। ऐसे ही जाग्रत्‌में भी हम वही रहे, स्वप्नमें भी हम वही रहे और सुषुप्तिमें भी हम वही रहे। अत: बदलनेवालेको न देखकर रहनेवालेको देखना है अर्थात् अपनेमें निर्लिप्तताका अनुभव करना है—

'रहता रूप सही कर राखो बहता संग न बहीजे'

बदलनेवालेके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है—यही अमरता (मुक्ति) है। अमरता स्वत:सिद्ध और स्वाभाविक है, करनी नहीं पड़ती। मृत्युके साथ सम्बन्ध तो हमने माना है।

प्रश्न—अभी सिंह सामने आ जाय तो भय लगेगा ही?

उत्तर—भय इस कारण लगेगा कि 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—यह बात सुनकर सीख ली है, समझी नहीं है। सीखी हुई और समझी हुई बातमें यही फर्क है। तोता अन्य समय तो राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करता है, पर जब बिल्ली पकड़ती है, तब टें-टें करता है, जबकि समय तो अब राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करनेका है! परन्तु सीखा हुआ ज्ञान समयपर काम नहीं आता।

सिंह आ जाय तो उससे बचनेकी चेष्टा करनेमें कोई दोष नहीं है, पर भयभीत होना दोषी है। कारण कि मरनेवाला तो मर ही रहा है और जीनेवाला जी ही रहा है, फिर भय किस बातका? सिंह मारेगा तो मरनेवालेको ही मारेगा, जीनेवालेको कैसे मारेगा? सिंह खा लेगा तो उसकी भूख मिट जायगी, अपनेमें क्या फर्क पड़ेगा? मरनेवालेको कबतक बचाओगे? वह तो मरेगा ही। अत: न जीनेकी इच्छा करनी है, न मरनेका भय करना है।

एक मार्मिक बात है। सत्संग करनेसे पहले जितना भय लगता है, उतना भय सत्संगके बाद नहीं लगता। सत्संग

करनेसे वृत्तियोंमें बहुत फर्क पड़ता है और विकार अपने-आप नष्ट होते हैं। परन्तु ऐसा तब होगा, जब हम सत्संगकी बातोंको आदर देंगे, महत्त्व देंगे, उनका अनुभव करेंगे। सत्संगकी बातोंको महत्त्व देनेसे साधकके अनुभवमें ये तीन बातें अवश्य आती हैं—

(१) काम-क्रोधादि विकार पहले जितनी तेजीसे आते थे, उतनी तेजीसे अब नहीं आते।

(२) पहले जितनी देर ठहरते थे, उतनी देर अब नहीं ठहरते।

(३) पहले जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते।

—इन बातोंको देखकर साधकका उत्साह बढ़ना चाहिये कि जो विकार कम होता है, वह नष्ट भी अवश्य होता है। व्यापारमें तो लाभ और नुकसान दोनों होते हैं, पर सत्संगमें लाभ-ही-लाभ होता है, नुकसान होता ही नहीं। जैसे माँकी गोदीमें पड़ा हुआ बालक अपने-आप बड़ा होता है, बड़ा होनेके लिये उसको उद्योग नहीं करना पड़ता। ऐसे ही सत्संगमें पड़े रहनेसे मनुष्यका अपने-आप विकास होता है। अगर जिज्ञासा जोरदार हो और थोड़ा भी विकार असह्य हो तो तत्काल सिद्धि होती है।

सत्संगसे विवेक जाग्रत् होता है। साधक जितने अंशमें उस विवेकको महत्त्व देता है, उतने अंशमें उसके काम-क्रोधादि विकार कम हो जाते हैं। विवेकको सर्वथा महत्त्व देनेसे वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है, फिर दूसरी सत्ताका अभाव होनेसे विकार रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान होनेपर विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

किसी प्रियजनकी मृत्यु हो जाय, धन चला जाय तो मनुष्यको शोक होता है। ऐसे ही भविष्यको लेकर चिन्ता होती है कि अगर स्त्री मर गयी तो क्या होगा? पुत्र मर गया तो क्या होगा? ये शोक-चिन्ता भी विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही होते हैं। संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। यदि परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन जायगा! वास्तवमें मरनेवाला (परिवर्तनशील) ही मरता है, रहनेवाला कभी मरता ही नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि मृत्यु होनेपर शरीर तो हमारे सामने पड़ा रहता है, पर शरीरका मालिक (जीवात्मा) निकल जाता है। यदि इस अनुभवको महत्त्व दें तो फिर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते। बालिके मरनेपर भगवान् राम इसी अनुभवकी ओर ताराका लक्ष्य कराते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

प्रश्न—विवेकका आदर न होनेमें खास कारण क्या है?

उत्तर—खास कारण है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। हम संयोगजन्य सुखका भोग करना चाहते हैं, इसीलिये अपने विवेकका आदर नहीं होता अर्थात् ज्ञान भीतर ठहरता नहीं। तात्पर्य है कि भोगोंमें जितनी आसक्ति होती है, उतनी ही बुद्धिमें जडता आती है, जिससे सत्संगकी तात्त्विक बातें

पढ़-सुनकर भी समझमें नहीं आतीं। गीतामें आया है कि भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकते*। भोगोंकी आसक्तिसे उनका ज्ञान ढका जाता है†। इसलिये जबतक वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, चिन्तन, स्थिरता (समाधि) आदिमें किंचिन्मात्र भी राग है, तबतक ज्ञान सीखा हुआ ही है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य'**।

प्रश्न—शरीर मैं नहीं हूँ—यह तो ठीक है, पर शरीर मेरा और मेरे लिये तो है ही?

उत्तर—शरीरके साथ हम तीन तरहके सम्बन्ध मानते हैं—(१) शरीर मैं हूँ, (२) शरीर मेरा है और (३) शरीर मेरे लिये है। ये तीनों ही सम्बन्ध बनावटी हैं, वास्तविक नहीं हैं। वास्तवमें शरीर 'मैं' भी नहीं है, 'मेरा' भी नहीं है और 'मेरे लिये' भी नहीं है। कारण कि अगर शरीर 'मैं' होता तो शरीरके बदलनेपर मैं भी बदल जाता और शरीरके मरनेपर मेरा भी अभाव हो जाता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर पहले जैसा था, वैसा आज नहीं है, पर मैं वही हूँ। शरीर बदला है, पर मैं नहीं बदला। अगर शरीर 'मेरा' होता तो उसपर मेरा पूरा अधिकार चलता अर्थात् मैं जैसा चाहता, वैसा ही शरीरको रख सकता, उसको सुन्दर बना देता, उसका रंग बदल देता, उसको बदलने नहीं देता, बीमार नहीं होने देता, कमजोर नहीं होने देता, बूढ़ा नहीं

---

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २।४४)

† आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ (गीता ३।३९)

'हे कुन्तीनन्दन! इस अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले और विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढका हुआ है।'

होने देता और कम-से-कम मरने तो देता ही नहीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीरपर हमारा बिलकुल वश नहीं चलता और न चाहते हुए भी, लाख कोशिश करते हुए भी वह बीमार हो जाता है, कमजोर हो जाता है, वृद्ध हो जाता है और मर भी जाता है। अगर शरीर 'मेरे लिये' होता तो उसके मिलनेपर हमें सन्तोष हो जाता, हमारे भीतर और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती और शरीरसे कभी वियोग भी नहीं होता, वह सदा मेरे साथ ही रहता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर मिलनेपर भी हमें किंचिन्मात्र सन्तोष नहीं होता, हमारी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं, हमें पूर्णताका अनुभव नहीं होता और शरीर भी निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत हमारेसे बिछुड़ जाता है।

जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (समाधि)के साथ भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है। कोई भी चिन्तन निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत आता-जाता रहता है। स्थिरताके बाद चञ्चलता, समाधिके बाद व्युत्थान होता ही है। तात्पर्य है कि न तो क्रिया निरन्तर रहती है, न चिन्तन निरन्तर रहता है और न स्थिरता निरन्तर रहती है। इन तीनोंके आने-जानेका, परिवर्तनका अनुभव तो हम सबको होता है, पर अपने परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हमारा होनापन निरन्तर रहता है। हमारे साथ न तो पदार्थ एवं क्रिया रहती है, न चिन्तन रहता है और न स्थिरता ही रहती है। हम अकेले

ही रहते हैं। इसलिये हमें अकेले (पदार्थ, क्रिया, चिन्तन और स्थिरतासे रहित) रहनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

जब स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर तथा उनके कार्य क्रिया, चिन्तन और स्थिरताके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं तो फिर उनका संयोग हो अथवा वियोग हो, हमारेमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसा ही अनुभव गुणातीतको भी होता है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(गीता १४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।'

संयोग-वियोग तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। तत्त्वमें न संयोग है, न वियोग है, प्रत्युत नित्य-'योग' है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' (गीता ६। २३)

जबतक हमारा सम्बन्ध पदार्थ, क्रिया, चिन्तन, स्थिरताके साथ रहता है, तबतक परतन्त्रता रहती है; क्योंकि पदार्थ, क्रिया आदि 'पर' हैं, 'स्व' नहीं हैं। इनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर हम स्वतन्त्र (मुक्त) हो जाते हैं। वास्तवमें हमारा स्वरूप (होनापन) स्वतन्त्रता-परतन्त्रता दोनोंसे रहित है; क्योंकि स्वतन्त्रता-परतन्त्रता तो सापेक्ष हैं, पर स्वरूप निरपेक्ष है।

भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

शरीर, पदार्थ, क्रिया, अवस्था आदि असत् हैं; अतः उनका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है अर्थात् उनका निरन्तर अभाव है। स्वरूप सत् है; अतः उसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका निरन्तर भाव (सत्ता) है। असत्‌के साथ अपने सम्बन्धको न माननेसे अभावरूप असत्‌का अभाव हो जाता है और भावरूप सत् ज्यों-का-त्यों रह जाता है और उसका अनुभव हो जाता है।

ज्ञानमार्गमें असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र) में स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माकी ओर स्वतः आकर्षण होता है, जिसको प्रेम कहते हैं। अपना स्वरूप सभीको प्रिय लगता है, फिर वह जिसका अंश है, वे परमात्मा कितने प्रिय लगेंगे—इसका कोई पारावार नहीं है!

२. मैंपनसे रहित स्वरूपका अनुभव

प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है। कारण कि 'मैं' और 'मेरा' ही माया है, जिससे जीव बँधता है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

(मानस, अरण्य० १५। २)

मैं-मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें '**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति**' (२। ७१), ज्ञानयोगमें '**अहंकारं विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (१८। ५३) और भक्तियोगमें '**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (१२। १३)। इस विषयमें साधकोंके लिये एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता (मैंपन) से रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

'मैं' क्या है?

प्रत्येक मनुष्यका यह अनुभव है कि 'मैं हूँ'। यह 'मैं हूँ' ही चिज्जड़ग्रन्थि है। यद्यपि इसमें 'मैं' की मुख्यता प्रतीत

होती है और 'हूँ' उसका सहायक प्रतीत होता है, तथापि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो मुख्यता 'हूँ' (सत्ता) की ही है, 'मैं' की नहीं। कारण कि 'मैं' तो बदलता है, पर 'हूँ' नहीं बदलता। जैसे, 'मैं बालक हूँ; मैं जवान हूँ; मैं बूढ़ा हूँ; मैं रोगी हूँ; मैं नीरोग हूँ'—इनमें 'मैं' तो बदला है, पर 'हूँ' नहीं बदला। 'हूँ' निर्विकार रूपसे सदा रहता है। 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' प्रकृतिसे अतीत परमात्माका अंश है। यह 'हूँ' सत्ताका वाचक है। 'मैं' साथमें होनेसे ही यह 'हूँ' है। अगर 'मैं' साथमें न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। वह 'है' सर्वदेशीय है। 'मैं' के कारण ही एकदेशीय 'हूँ' का भान होता है।

मैं, तू, यह और वह—इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ' है, शेष तीनोंके साथ 'है' है; जैसे—तू है, यह है और वह है। अनादिकालसे चले आये अनन्त प्राणियोंको हम 'है' कह सकते हैं कि 'ये प्राणी हैं'। पृथ्वी, स्वर्ग, नरक, पाताल आदि सभी लोकोंको 'है' कह सकते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—चारों युगोंको 'है' कह सकते हैं। परन्तु 'मैं' कहनेवाला एक ही है। आजकलकी भाषामें सब-के-सब वोट 'है' के ही हैं, 'मैं' का केवल एक ही वोट है!

'मैं' जड़ है और 'हूँ' चिन्मय सत्ता है। 'मैं' और 'हूँ'—दोनोंका एक हो जाना, घुल-मिल जाना तादात्म्य (चिज्जडग्रन्थि) है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले आनन्दको भी चाहते हैं और नाशवान् भोग तथा संग्रहको भी चाहते हैं। ये दो विभाग 'मैं' और 'हूँ' के तादात्म्यके कारण ही हैं।

हम सदा रहना (जीना) चाहते हैं तो यह इच्छा न तो उसमें होती है, जो सदा नहीं रहता और न उसमें ही होती है, जो सदा रहता है। यह इच्छा उसमें होती है, जो सदा रहता है, पर उसमें मृत्युका भय आ गया। मृत्युका भय जडताके संगसे आता है; क्योंकि जड़ता नाशवान् है, चिन्मय सत्ता अविनाशी है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता ('है') में 'मैं' मिलानेसे ही जीनेकी इच्छा होती है। अत: जीनेकी इच्छा न 'मैं' में है और न 'हूँ' में है, प्रत्युत 'मैं हूँ'—इस तादात्म्यमें है। इस तादात्म्यके कारण ही मनुष्यमें भोगेच्छा और जिज्ञासा (मुमुक्षा) दोनों रहती हैं।

'मैं हूँ'—इन दोनोंमें हम 'मैं' को प्रधानता देंगे तो संसार (भोग एवं संग्रह) की इच्छा हो जायगी और 'हूँ' को प्रधानता देंगे तो परमात्मा (मोक्ष) की इच्छा हो जायगी। जब 'मैं' से माना हुआ सम्बन्ध अर्थात् तादात्म्य मिट जायगा, तब संसारकी इच्छा मिट जायगी और परमात्माकी इच्छा पूरी हो जायगी। कारण कि संसार अपूर्ण है, इसलिये उसकी इच्छा कभी पूरी नहीं होती और परमात्मा पूर्ण हैं, इसलिये उनकी इच्छा कभी अपूर्ण नहीं होती अर्थात् पूरी ही होती है। भोगेच्छा हो अथवा मुमुक्षा हो, इच्छामात्र जड़के सम्बन्ध (तादात्म्य) से ही होती है। तादात्म्य मिटते ही हम जीवन्मुक्त हो जाते हैं। वास्तवमें हम जीवन्मुक्त तो पहलेसे ही हैं, पर 'मैं' के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेसे जीवन्मुक्तिका अनुभव नहीं होता। इसलिये जो नित्यप्राप्त है, उसीकी प्राप्ति होती है और जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति होती है।

हमारा अनुभव

प्रश्न—'**मैं**' अलग है और '**हूँ**' अलग है—इसका अनुभव कैसे करें?

उत्तर—यह तो हम सबके अनुभवकी ही बात है। जाग्रत् और स्वप्नमें तो हमारा व्यवहार होता है, पर सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) में कोई व्यवहार नहीं होता। कारण कि सुषुप्ति-अवस्थामें मैंपन जाग्रत् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। परन्तु मैंपन लीन होनेपर भी हमारी सत्ता रहती है। इसीलिये सुषुप्तिसे जगनेपर हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था' तो 'कुछ भी पता नहीं था'—इसका पता तो था ही! नहीं तो कैसे कहते कि कुछ भी पता नहीं था? इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत् और स्वप्नमें मैंपन जाग्रत् रहनेपर भी हमारी सत्ता है तथा सुषुप्तिमें मैंपन जाग्रत् न रहनेपर भी हमारी सत्ता है। अतः हम मैंपनके भाव और अभाव दोनोंको जाननेवाले हैं। अगर हम मैंपनसे अलग न होते, अहंकाररूप ही होते तो सुषुप्तिमें मैंपनके लीन होनेपर हम भी नहीं रहते*। अतः मैंपनके बिना भी हमारा होनापना सिद्ध होता है।

हम अहम् ('मैं') के भाव और अभाव—दोनोंको जानते हैं, पर अपने अभावको कभी कोई नहीं जानता; क्योंकि हमारी सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। असत् वस्तु अहम्के भाव

---

* सुषुप्तिमें मैंपन मिटता नहीं है, प्रत्युत अविद्यामें लीन होता है और निद्राके मिटनेपर (जाग्रत्-अवस्थामें आनेपर) वह पुनः प्रकट हो जाता है। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर मैंपन मिट जाता है।

और अभावको प्रकाशित करनेवाली हमारी सत्ता निरन्तर रहती है। जैसे, कल हम जाग्रत्में थे, रात्रिमें स्वप्न अथवा गाढ़ निद्रा आ गयी और आज पुन: जाग्रत्में हैं तो जाग्रत् और स्वप्नमें अहम्के भावका अनुभव होता है, पर गाढ़ निद्रामें अहम्के अभावका अनुभव होता है। जाग्रत् आदि अवस्थाएँ निरन्तर नहीं रहतीं—यह भी हमारा अनुभव है। अत: हमारा स्वरूप अहम् तथा अवस्थाओंके भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाला अलुप्त प्रकाश है। इसीलिये हम कहते हैं कि कल जो मैं जागता था, वही आज जागता हूँ और वही स्वप्न तथा सुषुप्तिमें था। तात्पर्य है कि तीनों अवस्थाओंमें हमें अखण्ड रूपसे अपनी सत्ताका अनुभव होता है। इसी तरह हम किसी भी योनिमें जायँ, हमारी अहंता तो बदलती है, पर हम नहीं बदलते। जैसे पहले हम कहते थे कि 'मैं बालक हूँ', फिर हम कहने लगे कि 'मैं जवान हूँ' और अब हम कहते हैं कि 'मैं वृद्ध हूँ' तो बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था तो अलग-अलग हुए, पर उनमें हमारी सत्ता एक ही रही अर्थात् अवस्थाओंके बदलनेपर भी हमारी सत्ता नहीं बदली। ऐसे ही जीव मनुष्यशरीरमें आनेपर 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा मानता है, देवता बननेपर 'मैं देवता हूँ' ऐसा मानता है, पशु बननेपर 'मैं पशु हूँ' ऐसा मानता है, भूत-प्रेत बननेपर 'मैं भूत-प्रेत हूँ' ऐसा मानता है, आदि-आदि। इससे यह सिद्ध होता है कि देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर अहंता तो बदल जाती है, पर हमारी सत्ता नहीं बदलती।

इस प्रकार सुषुप्तिमें अहंकारके अभावका और अवस्थाओं तथा देहान्तरकी प्राप्तिमें अहंकारके परिवर्तनका अनुभव तो

सबको होता है, पर अपनी सत्ताके अभाव और परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको हुआ नहीं, हो सकता नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि अहंकार (मैंपन) हमारा स्वरूप नहीं है। हमारेसे गलती यह होती है कि हम अपने इस अनुभवका आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते। अगर हम इस अनुभवको महत्त्व दें तो अनादिकालसे अहंकारके साथ अपनेपनके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार अपने-आप कम होते-होते मिट जायँगे।

हमारा स्वरूप

हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें मैं-तू-यह-वहका भेद नहीं है। मैं, तू, यह और वह—ये चारों प्राकृत हैं और स्वरूप प्रकृतिसे अतीत है। ये चार हैं और सत्ता एक है। ये चारों अनित्य हैं और सत्ता नित्य है। ये चारों सापेक्ष हैं और सत्ता निरपेक्ष है। ये चारों प्रकाश्य हैं और सत्ता प्रकाशक है। ये चारों आधेय हैं और सत्ता आधार है। ये चारों जाननेमें आनेवाले हैं और सत्ता जाननेवाली है। इन चारोंका परिवर्तन तथा अभाव होता है और सत्ताका कभी परिवर्तन तथा अभाव नहीं होता। इसलिये इन चारोंके बदलनेका, आने-जानेका, भाव-अभावका, उत्पन्न-नष्ट होनेका तो अनुभव होता है, पर अपने बदलनेका, आने-जानेका, भाव-अभावका, उत्पन्न-नष्ट होनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

मैं, तू, यह और वह—ये चारों तो असत्, जड़ और दु:खरूप हैं, पर चिन्मय सत्ता सत्, चित् और आनन्दरूप है। इस चिन्मय सत्तामें सबकी स्वत: निरन्तर स्थिति है। सांसारिक स्थूल व्यवहार करते हुए भी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई विकार, हलचल, अशान्ति,

उद्वेग नहीं होता। कारण कि सत्तामें न अहंता (मैंपन) है, न ममता (मेरापन) है। वह सत्ता ज्ञप्तिमात्र, ज्ञानमात्र है। इस ज्ञानका ज्ञाता कोई नहीं है अर्थात् ज्ञान है, पर ज्ञानी नहीं है। जबतक ज्ञानी है, तबतक एकदेशीयता, व्यक्तित्व है। एकदेशीयता मिटनेपर एकमात्र निर्विकार, निरहंकार, सर्वदेशीय सत्ता शेष रहती है, जो सबको स्वतःप्राप्त है*।

स्वरूपमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—ये पाँचों ही अवस्थाएँ नहीं हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ अनित्य हैं और स्वरूप नित्य है। अवस्थाएँ प्रकाश्य हैं और स्वरूप प्रकाशक है। अवस्थाएँ अलग-अलग (पाँच) हैं, पर उनको जाननेवाले हम स्वयं एक ही हैं। इन पाँचों अवस्थाओंके परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव तो हमें होता है, पर अपने (स्वरूपके) परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव हमें नहीं होता; क्योंकि स्वरूपमें ये हैं ही नहीं। जैसे स्वप्नावस्थामें देखे गये पदार्थ मिथ्या (अभावरूप) हैं, ऐसे ही उन पदार्थोंका अनुभव करनेवाला (स्वप्नको देखनेवाला) अहंकार भी मिथ्या है। स्वप्नावस्थामें तो जाग्रत्-अवस्था दबती है, मिटती नहीं, पर जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्नावस्था मिट जाती है। अतः स्वप्नावस्थाके साथ-साथ उसका अहंकार भी

---

* वास्तवमें सत्ताका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्‌की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, अहंकारकी अपेक्षासे निरहंकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस सत्तामें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, जबकि सत्ता निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। इसलिये गीतामें आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२)।

मिट जाता है। इसी तरह जाग्रत्-अवस्थामें जो अहंकार दीखता है, वह भी शरीर छूटनेपर मिट जाता है; परन्तु तादात्म्यके कारण दूसरे देहकी प्राप्ति होनेपर पुनः अहंकार जाग्रत् हो जाता है। यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंका अहंकार भी अलग-अलग होता है, तथापि उनमें अपनी सत्ता एक रहनेके कारण अहंकार भी एक दीखता है।

एक तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) होती है, जिसको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके बादकी अवस्था कहते हैं। परन्तु वास्तवमें तुरीयावस्था कोई अवस्था नहीं है, प्रत्युत तीन अवस्थाओंकी अपेक्षासे उसको तुरीयावस्था अर्थात् चतुर्थ अवस्था कह देते हैं। इसको बद्धावस्थाकी अपेक्षासे मुक्तावस्था भी कह देते हैं। निर्वाण पद भी इसीका नाम है—

पद निरवाण लखे कोई विरला,
तीन लोकमें काल समाना, चौथे लोकमें नाम निसाण, लखे कोई विरला।

तुरीयावस्था, मुक्तावस्था अथवा निर्वाण पद कोई अवस्था या पद नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप है।

मैंपनको मिटानेका उपाय

'मैंपन कैसे मिटे?' यह प्रश्न यदि हरदम जाग्रत् रहे तो अहंकार मिट जायगा। वास्तवमें अहंकार मिटा हुआ ही है। परन्तु सच्ची और उत्कट लगन न होनेके कारण इसका अनुभव नहीं हो रहा है। एक सन्तके चरित्रमें आया है कि गरमीका समय था, जोरसे प्यास लग रही थी और कमण्डलुमें ठण्डा जल भी पासमें रखा था; परन्तु लगन लगी थी कि जबतक अनुभव नहीं होगा, तबतक पानी नहीं पीऊँगा! ऐसी लगन लगते ही चट अनुभव हो गया! ऐसा अनुभव एक बार हो जायगा तो फिर वह सदाके लिये, युग-

युगान्तरतकके लिये हो जायगा—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव**' (गीता ४। ३५)।

अहंकारको मिटानेके तीन उपाय बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करें, दूसरोंको सुख पहुँचाएँ तो अपने भोग और संग्रहकी इच्छा मिट जायगी। भोगेच्छा सर्वथा मिटनेपर अहंकार नष्ट हो जायगा; क्योंकि भोगेच्छापर ही अहंकार टिका हुआ है। ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा यह समझें कि असत्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत हमारा सम्बन्ध सर्वव्यापक सत्-स्वरूपके साथ है। ऐसा समझकर सत्-स्वरूपका अनुभव कर लें तो अहंकार नष्ट हो जायगा। भक्तियोगमें 'भगवान् ही मेरे हैं, संसार मेरा नहीं है'—ऐसा मानकर संसारसे विमुख और भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो अहंकार नष्ट हो जायगा। कर्मयोगमें अहंकार शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहंकार मिटता है और भक्तियोगमें अहंकार बदलता है। शुद्ध होना, मिटना और बदलना—तीनोंका परिणाम एक (अभाव) ही है।

अहंकार अनित्य और परिवर्तनशील है—यह सबका अनुभव है। एक दिनमें कई बार अहंकार बदलता है। बापके सामने हम कहते हैं कि मैं बेटा हूँ और बेटेके सामने कहते हैं कि मैं बाप हूँ। अगर कोई हमसे पूछे कि आप एक बात बताओ कि आप बाप हो या बेटा हो तो हम क्या बतायेंगे? एक बात सच्ची हो तो बतायें! इस बनावटीपनको छोड़कर जब हम वास्तविकताको देखेंगे तभी सच्ची बात मिलेगी। हम माँके सामने बेटे बन जाते हैं, बहनके सामने भाई बन जाते हैं, स्त्रीके सामने पति बन जाते हैं—यह जो हमारा बहुरूपियापना है अर्थात् बदलनेवालेको सत्य मानना है, यही

अहंकारके मिटनेमें बाधक है। वास्तवमें हम न बाप हैं, न बेटे हैं, न भाई हैं, न पति हैं, प्रत्युत इन सबमें रहनेवाली एक सत्ता हैं। वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। अगर अपना स्वरूप बाप होता तो वह कभी बेटा नहीं बनता और बेटा होता तो कभी बाप नहीं बनता। परन्तु बेटेके सामने वह कहता है कि मैं बाप हूँ और बापके सामने कहता है कि मैं बेटा हूँ तो यह सापेक्ष अहंवृत्ति है, जो केवल व्यवहारके लिये है। अहंवृत्ति कर्ता नहीं है, प्रत्युत करण है। कर्ता अहंकार है। खाता हूँ, पीता हूँ, बोलता हूँ आदि सामान्य क्रियाएँ 'अहंवृत्ति' से होती हैं, पर अहंकार सब क्रियाओंमें निरन्तर रहता है। उन क्रियाओंको लेकर जब हम अपनेमें कोई विशेषता देखते हैं, तब अभिमान हो जाता है; जैसे—मैं धनवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं व्याख्यानदाता हूँ आदि।

गीतामें आया है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (३। २७)

'अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अर्थात् अहंकारसे तादात्म्य करनेवाला मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है।' वास्तवमें स्वरूप (स्वयं) कर्ता नहीं है। अतः साधकको चाहिये कि वह 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' इसपर दृढ़ रहे—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। जब अपनेमें कर्तापन और लिप्तता नहीं रहती, तब साधकको पूर्णता प्राप्त हो जाती है, वह सिद्ध हो जाता है—'**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते**' (गीता १८। १७)।

पदार्थ, रुपये, कुटुम्ब, शरीर आदिमें जो प्रियता (राग) है, वह बुद्धिकी लिप्तता है। कर्तापन और लिप्तता—दोनों ही स्वरूपमें नहीं हैं, प्रत्युत मानी हुई हैं—'**शरीरस्थोऽपि**

कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता १३। ३१)। जैसे हम किसी प्रकाशमें बैठे हैं तो वह प्रकाश किसीसे भी लिप्त नहीं होता और उसमें 'मैं प्रकाश हूँ; मेरा प्रकाश है'—ऐसी अहंता-ममता भी नहीं होती, ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी स्वरूप (स्वयं) निर्लिप्त रहता है। वह क्रियाओंको प्रकाशित करता नहीं है, प्रत्युत क्रियाएँ उससे प्रकाशित होती हैं अर्थात् स्वरूपसे उन क्रियाओंको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है।

तादात्म्यसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय, उद्वेग-हलचल आदि विकार उत्पन्न होते हैं। अगर ये विकार न होते हों, प्रत्युत अपनेमें केवल एकदेशीयपना दीखता हो तो यह भी साधकको असह्य होना चाहिये। कारण कि अहंता तो एकदेशीय है, पर सत्ता एकदेशीय नहीं है। जब सत्ता ही अपना स्वरूप है तो फिर अपनेमें एकदेशीयपना क्यों दीखता है—ऐसा विचार करके साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये। इसलिये पूर्वसंस्कारसे अपनेमें एकदेशीयपना (अहंता) दीखे तो साधकको ऐसा मानना चाहिये कि वास्तवमें अहंता आ नहीं रही है, प्रत्युत जा रही है। दरवाजेपर आदमी आता हुआ भी दीखता है और जाता हुआ भी दीखता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अहंताके टुकड़े होते हैं। अहंताके टुकड़े नहीं होते, प्रत्युत अनादिकालसे अहंताके जो संस्कार पड़े हुए हैं, उनका अचानक भान हो जाता है। अतः उसको महत्त्व न देकर उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये और दृढ़तासे यह अनुभव करना चाहिये कि अपनेमें अहंता नहीं है। कारण कि अगर अपनेमें अहंता होती तो वह सुषुप्तिमें

भी रहती और अवस्थान्तर अथवा देहान्तरकी प्राप्तिमें भी रहती।

जब प्रकृतिका कोई भी कार्य स्थिर नहीं है तो फिर अहंता कैसे स्थिर रहेगी? अहंता हरदम बदलती है, कभी स्थिर और एकरूप नहीं रहती और न रह सकती है। परन्तु जो प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (अपनी सत्ता) है, वह कभी बदलता नहीं, सदा स्थिर और एकरूप रहता है। अत: बदलनेवाली वस्तुके साथ हमारा (न बदलनेवालेका) सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा दृढ़तासे अनुभव कर लेना चाहिये; क्योंकि यह वास्तविकता है।

मैंपनकी खोज

अब यह खोज करनी है कि मैंपन किसमें है? यदि सत्‌में मैंपन मानें तो फिर मैंपन कभी मिटेगा ही नहीं और मनुष्य कभी निर्मम-निरहंकार हो ही नहीं सकेगा। मैंपन प्रकृतिका कार्य है और सत्-तत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। मैंपन प्रकृतिमें भी नहीं है, फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कैसे होगा? सत्-तत्त्व इतना ठोस है कि उसमें मिटनेवाले मैंपनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि असत्‌में मैंपन मानें तो असत् निरन्तर परिवर्तनशील है, फिर उसमें मैंपन कैसे टिकेगा? जिसकी खुदकी ही सत्ता नहीं है, उसमें दूसरी वस्तुकी कल्पना कैसे बैठेगी? अत: मैंपन न तो सत्‌में है और न असत्‌में है। सत् और असत्‌के सम्बन्धमें भी मैंपन नहीं मान सकते। कारण कि जैसे प्रकाश और अंधकारका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही सत् और असत्‌का भी संयोग नहीं हो सकता। मैंपनको अन्त:करणमें भी नहीं मान सकते; क्योंकि अन्त:करण एक वृत्ति है, जो कर्ताके अधीन है। अत: जो कर्ता है, उसीमें मैंपन है।

अब प्रश्न होता है कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है; क्योंकि शरीर प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको 'अन्तः-करण' कहते हैं। यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रः कर्ता**' (पाणि० अ० १। ४। ५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १। ४। ४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन (करण) है, जो लेखक (कर्ता) के अधीन होता है। अतः करण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। यदि अन्तःकरण 'करण' है तो फिर वह कर्ता कैसे? दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर खुद सुखी-दुःखी क्यों होता है? यदि करण, सुखी-दुःखी होता है तो हमें क्या नुकसान है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये गीतामें आया है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८। १६)

'जो कर्मोंके विषयमें शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।'

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दु:खी) होता है, वही कर्ता होता है। अब प्रश्न होता है कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्का कभी अभाव नहीं होता—'**ना भावो विद्यते सत:**', जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—'**न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्की सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भाव:**'। अत: उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्में है और न असत्में ही है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मैंपनको सत्से भी हटा ले और असत्से भी हटा ले। इन दोनोंसे मैंपन हटाते ही मैंपन नहीं रहेगा, कर्ता-भोक्ता नहीं रहेगा, प्रत्युत चिन्मय सत्ता रह जायगी।

जब कोई कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, तब '**योग**' रहता है। योग होनेपर भोग नहीं रहता अर्थात् '**योग**' तो रहता है, पर योगी नहीं रहता, '**ज्ञान**' तो रहता है, पर ज्ञानी नहीं रहता, '**प्रेम**' तो रहता है, पर प्रेमी नहीं रहता। जबतक योगी रहता है, तबतक योगका भोग होता है। जबतक ज्ञानी रहता है, तबतक ज्ञानका भोग होता है। जबतक प्रेमी रहता है, तबतक प्रेमका भोग होता है। अत: जो योगी है, वह योगका भोगी है। जो ज्ञानी है, वह ज्ञानका भोगी है। जो प्रेमी है, वह

प्रेमका भोगी है। जो योगका भोगी है, वह कभी विषयोंका भोगी भी हो सकता है। जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भोगी भी हो सकता है। जो प्रेमका भोगी है, वह कभी काम (राग) का भोगी भी हो सकता है।

जब भोगी नहीं रहता, तब केवल योग रहता है। योग रहनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परन्तु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है। इसलिये रामायणमें आया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। प्रेममें अपने मतके संस्कारका भी सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और **'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसका अनुभव हो जाता है। वास्तवमें **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाला, इसको जाननेवाला, कहनेवाला भी नहीं रहता, प्रत्युत एक वासुदेव ही रहता है, जो अनादिकालसे ज्यों-का-त्यों है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—**'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं**

बिरोध' (मानस, उत्तर० ११२ ख)। इसलिये गीतामें **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ बताया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

३. सत्-असत्का विवेक

श्रीमद्भगवद्गीताका एक श्लोक है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत्का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त अर्थात् तत्त्व देखा है, अनुभव किया है।'

(१)

इस श्लोकके पूर्वार्धमें आये '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! चिन्मय सत्तामात्र 'सत्' है और सत्ताके सिवाय जो कुछ भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य (क्रिया और पदार्थ) है, वह सब 'असत्' अर्थात् जड़ और परिवर्तनशील है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है। असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है।

पूर्वोक्त श्लोकार्ध (सोलह अक्षरों) में तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

(१) '**भू सत्तायाम्**'—जैसे , 'अभावः' और 'भावः'।

(२) **'अस् भुवि'**— जैसे, 'असतः' और 'सतः'।

(३) **'विद् सत्तायाम्'**—जैसे, 'विद्यते' और 'न विद्यते'।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक 'सत्ता' ही है, तथापि सूक्ष्म रूपसे ये तीनों अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं; जैसे—'भू' धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, 'अस्' धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और 'विद्' धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानकी सत्ता) है।

(२)

'नासतो विद्यते भावः' पदोंका अर्थ है—**'असतः भावः न विद्यते'** अर्थात् असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है, प्रत्युत असत्का अभाव ही विद्यमान है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा-सर्वथा अभाव ही है। अतः संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितनी ही सत्ता दें, उसको कितना ही ऊँचा मानें, उसका कितना ही आदर करें, उसको कितना ही महत्त्व दें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं, कभी प्राप्त हुआ ही नहीं, कभी

प्राप्त होगा ही नहीं। असत्का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सतः**' पदोंका अर्थ है—'**सतः अभावः न विद्यते**' अर्थात् सत्का अभाव विद्यमान नहीं है, प्रत्युत सत्का भाव ही विद्यमान है। दूसरे शब्दोंमें, सत्की सत्ता निरन्तर विद्यमान है। सत् सदा वर्तमान है। सत् सदा उपस्थित है। सत् सदा प्राप्त है। सत् सदा मिला हुआ है। सत् सदा मौजूद है। सत् सदा कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था, क्रिया आदिमें सत्का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल, वस्तु आदि तो असत् (अभावरूप अर्थात् निरन्तर परिवर्तनशील) हैं, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २। १७)।

'**उभयोरपि दृष्टः**' पदोंका तात्पर्य है कि तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-तत्त्वको उत्पन्न नहीं किया है, प्रत्युत देखा है अर्थात् अनुभव किया है। तात्पर्य है कि असत्का अभाव और सत्का भाव—दोनोंके तत्त्वको (निष्कर्ष) को जाननेवाले

जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं। इसलिये असत्‌की सत्ता नहीं है—यह भी सत्य है और सत्‌का अभाव नहीं है—यह भी सत्य है। अतः दोनोंका तत्त्व सत् ही है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व ('है') के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है।

(३)

जो सहज निवृत्त है, वह 'असत्' है और जो स्वतः प्राप्त है, वह 'सत्' है। निवृत्तका नित्यवियोग है और प्राप्तका नित्ययोग है। असत्‌का केवल अभाव-ही-अभाव है और इस अभावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता। सत्‌का केवल भाव-ही-भाव है और इस भावका कभी अभाव नहीं होता। असत्‌की सत्ता माननेसे ही निवृत्त और प्राप्त ये दो विभाग कहे जाते हैं। असत्‌को सत्ता न दें तो न निवृत्त है, न प्राप्त है, प्रत्युत सत्तामात्र ज्यों-की-त्यों है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**'—इसमें '**उभयोरपि**'में विवेक है और '**अन्तः**' में तत्त्वज्ञान है अर्थात् विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो गया और सत्तामात्र ही शेष रह गयी।

जैसे दिन और रात—दोनों अलग-अलग हैं, ऐसे ही सत् और असत्—दोनों अलग-अलग हैं। जैसे दिन रात नहीं हो सकता और रात दिन नहीं हो सकती, ऐसे ही सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता; परन्तु तत्त्वसे दोनों एक ही हैं। जैसे दिन और रात—दोनों सापेक्ष हैं, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात वह निरपेक्ष प्रकाश है। ऐसे ही सत् और असत्—दोनों सापेक्ष हैं, पर परमात्मतत्त्व (सत्-तत्त्व) निरपेक्ष है। इसलिये तत्त्वदर्शी महापुरुष सत्-असत्—दोनोंके एक ही तत्त्व सत्-तत्त्व अर्थात् निरपेक्ष परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

(४)

जैसे हम कहते हैं कि यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है आदि, तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परन्तु 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार (असत्) है और 'है' परमात्मतत्त्व (सत्) है। इसलिये 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो अलग-अलग हुए, पर 'है' वही रहा। इसी तरह मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ आदिमें शरीर तो अलग-अलग हुए, पर 'हूँ' वही रहा।

संसारकी तो सत्ता नहीं है और परमात्मतत्त्वका अभाव नहीं है। अतः जो निरन्तर बदलता है, उसका भाव कभी नहीं हो सकता और जो कभी नहीं बदलता, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। 'नहीं' कभी 'है' नहीं हो सकता और

'है' कभी 'नहीं' नहीं हो सकता। असत् कभी विद्यमान नहीं है और 'सत्' सदा विद्यमान है। जिसका अभाव है, उसीका त्याग करना है और जिसका भाव है, उसीको प्राप्त करना है—इसके सिवाय और क्या बात हो सकती है! 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

(५)

असत्‌की नित्यनिवृत्ति है और सत्‌की नित्यप्राप्ति है। नित्य-निवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें क्या कठिनता और क्या सुगमता? क्या करना और क्या न करना? क्या पाना और क्या खोना ? क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है।

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

जब सत्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर इसमें क्या अभ्यास करें? क्या चिन्तन करें? इसमें न कुछ करना है, न कुछ सोचना है, न कुछ निश्चय करना है, न कुछ प्राप्त करना है और न कुछ निवृत्त करना है। असत्‌को मिटाना भी गलती है और उसको रखनेकी अथवा प्राप्त करनेकी चेष्टा करना भी गलती है। अतः उसको न मिटाना है, न रखना है, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करनी है। जो नहीं है, वही मिटता है और जो है, वही मिलता है। अतः असत्‌की निवृत्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि असत् नित्य-निवृत्त है और सत्‌की प्राप्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि सत् नित्य-निरन्तर प्राप्त है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। न संसारका चिन्तन करें; न परमात्माका चिन्तन करें। क्योंकि चिन्तन करनेसे हम संसार (अन्तःकरण) के साथ जुड़ते हैं

और परमात्मासे दूर होते हैं। अतः चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत चिन्तन करनेकी शक्ति जिससे प्रकाशित होती है, उसमें अपनी स्थितिका अनुभव करना है, जो कि स्वतःसिद्ध है। जिस ज्ञानके अन्तर्गत वृत्तियाँ दीखती हैं, उस ज्ञानमें अपनी स्थितिका अनुभव करना है, जो कि स्वतःसिद्ध है।

(६)

यद्यपि भाव परमात्माका ही है, संसारका नहीं, तथापि मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह पहले संसार (शरीर) को देखकर फिर उसमें परमात्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि परमात्मा पहले थे या संसार पहले था? स्वयं (स्वरूप) पहले था या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि परमात्मा पहले हैं, संसार पीछे है; स्वयं पहले है, शरीर पीछे है; भाव पहले है, आकृति पीछे है। इसलिये साधककी दृष्टि पहले भावरूप परमात्मा या चिन्मय सत्ताकी तरफ जानी चाहिये, संसार या शरीरकी तरफ नहीं। हम संसारमें हैं और परमात्माको प्राप्त करना है—ऐसा मानना ही गलती है; क्योंकि वास्तवमें हम परमात्मामें ही हैं। संसारकी तो सत्ता ही नहीं है— 'नासतो विद्यते भावः'। साधककी दृष्टि भावरूप परमात्माकी तरफ ही रहनी चाहिये, अभावरूप संसारकी तरफ नहीं, प्रत्युत संसारसे विमुखता होनी चाहिये।

(७)

असत्का भाव निरन्तर अभावमें बदल रहा है। परन्तु जो

असत्के अभावको जानता है, उस सत्-तत्त्वका भाव कभी अभावमें नहीं बदलता।

उस सत्-तत्त्वमें सबकी स्वतःसिद्ध स्थिति है, इसीलिये अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। वह सत्-तत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे सर्वथा अतीत है। असत्को सत्ता और महत्ता देनेके कारण मनुष्य सत्-तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव नहीं कर पाता। तात्पर्य है कि असत्की सत्तारूपसे मान्यता ही सत्की स्वीकृति नहीं होने देती। यहाँ शंका हो सकती है कि जब असत्की सत्ता है ही नहीं तो फिर वह दीखता क्यों है? इसका समाधान यह है कि जिन इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहम्के द्वारा असत् दीखता है, वे इन्द्रियाँ आदि भी उसी जातिके (असत्) ही हैं। तात्पर्य है कि असत् (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्) के साथ तादात्म्य करनेके कारण ही असत् दीखता है। अगर असत्से तादात्म्य न करें तो असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। इसलिये सत्-तत्त्व (आत्मा) ने आजतक कभी असत्को देखा ही नहीं! जैसे, सूर्यने आजतक कभी अन्धकारको देखा ही नहीं! यह ज्ञानकी दृष्टिसे कहा गया है। अगर भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो असत् संसार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति भगवान्की शक्ति है*। भगवान्की

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७।४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है।'

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर० ४।१०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।'

शक्ति होनेसे प्रकृति और उसका कार्य भगवत्स्वरूप ही है; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अलग नहीं हो सकती। जैसे शरीरके गोरे या काले रंगको शरीरसे अलग करके नहीं देख सकते, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंको शरीरसे अलग करके नहीं देख सकते, ऐसे ही प्रकृतिको भगवान्से अलग करके नहीं देख सकते। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (बल, ताकत, विद्वत्ता, योग्यता, चातुर्य, सामर्थ्य आदि) के बिना तो रह सकता है, पर शक्ति मनुष्यके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भगवान् तो शक्तिके बिना रह सकते हैं और रहते ही हैं*, पर शक्ति भगवान्के बिना नहीं रह सकती। तात्पर्य है कि शक्ति भगवान्के अधीन (आश्रित) है, भगवान् शक्तिके अधीन नहीं हैं। शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होता है, पर शक्तिके बिना शक्तिमान्का अभाव नहीं होता। अतः भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृतिकी भी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव है अर्थात् एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है। इसलिये भगवान्ने कहा है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९), '**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९)। यह गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है, जिसमें सम्पूर्ण मतभेद समाप्त हो जाते हैं। कारण कि सम्पूर्ण मतभेद सूक्ष्म अहम्से पैदा होते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' में अहम्की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं है।

---

* विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (गीता १०। ४२)
'मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ।'

(८)

जिसका अभाव है, उस असत् ('नहीं') के द्वारा अपना महत्त्व मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं। जिसका भाव है, उस सत् ('है') के द्वारा अपना महत्त्व मानना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण गुण उत्पन्न होते हैं। भूल यही है कि जो मौजूद नहीं है उसकी सत्ता मानते हैं, उसको अपना मानते हैं और जो मौजूद है, उसकी सत्ता नहीं मानते, उसको अपना नहीं मानते। मिला हुआ तो बिछुड़ जायगा, वह अपना कैसे हो सकता है? परन्तु जो मौजूद नहीं है, उस मिले हुएको अपना माननेसे जो मौजूद है, उसको अपना माननेकी शक्ति नहीं रहती। ज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा (स्व) अपना है और भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् (स्वकीय) अपने हैं। 'स्व' में प्रीति होना ज्ञान है और 'स्वकीय' में प्रीति होना भक्ति है।

(९)

एक सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें होता है, वह मध्य (वर्तमान) में भी होता है तथा जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह मध्यमें भी नहीं होता*। जैसे शरीर

*(१) यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्। (श्रीमद्भा० ११। २४। १७)
'जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।'
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ (श्रीमद्भा० ११। २८। १८)
'इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।'
(२) न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। (श्रीमद्भा० ११। २८। २१)
'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।'
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डूक्यकारिका २। ६, ४। ३१)
'जो आदि और अन्तमें नहीं है, वह वर्तमानमें भी नहीं है।'

और संसार पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे तथा बीचमें भी वे प्रतिक्षण बदलकर नाशकी ओर जा रहे हैं अर्थात् प्रतिक्षण मर रहे हैं, उनका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। परन्तु शरीरी (शरीरवाला) और परमात्मतत्त्व पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे तथा बीचमें भी ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं।

जो आदि और अन्तमें नहीं है, उसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है तथा जो आदि और अन्तमें है, उसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है। जिसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'असत्' है और जिसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'सत्' है। असत्‌के साथ हमारा नित्यवियोग है और सत्‌के साथ हमारा नित्ययोग है।

सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि आने-जानेवाले, बदलनेवाले हैं, पर सत्ता अर्थात् स्वरूप ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। साधकसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह बदलनेवाली दशाको देखता है, पर सत्ताको नहीं देखता; दशाको स्वीकार करता है, पर सत्ताको स्वीकार नहीं करता। दशा पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; अतः बीचमें दीखनेपर भी वह है नहीं। परन्तु सत्तामें आदि, अन्त और मध्य है ही नहीं। दशाको लेकर ही सत्ताका आदि, अन्त तथा मध्य कहा जाता है। दशा कभी एकरूप रहती ही नहीं और सत्ता कभी अनेकरूप होती ही नहीं। जो दीखता है, वह भी दशा है और जो देखनेवाली

है, वह भी दशा है। जाननेमें आनेवाली भी दशा है और जाननेवाली भी दशा है। सत्तामें न दीखनेवाला है, न देखनेवाला है; न जाननेमें आनेवाला है, न जाननेवाला है; न समझनेवाला है, न समझानेवाला है; न श्रोता है, न वक्ता है। ये दीखनेवाला-देखनेवाला आदि सब दशाके अन्तर्गत हैं। दीखनेवाला-देखनेवाला आदि तो नहीं रहेंगे, पर सत्ता रहेगी; क्योंकि दशा तो मिट जायगी, पर सत्ता रह जायगी।

आश्चर्यकी बात है कि हम कामना उसकी करते हैं, जो नहीं है। भयभीत उससे होते हैं, जिसकी सत्ता ही नहीं है। सुख नहीं रहता, पर उसकी कामनाको हम पकड़े रखते हैं। दुःख नहीं रहता, पर उसके भयको हम पकड़े रखते हैं। यह कितनी बेसमझीकी बात है! सुखकी इच्छासे ही दुःखका भय होता है। जीनेकी इच्छासे ही मरनेका भय होता है। यदि इच्छा न रहे तो न दुःख रहेगा, न दुःखका भय रहेगा और न मरनेका भय रहेगा। इच्छाकी निवृत्ति होते ही जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है अर्थात् कुछ करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

सुख पापोंका कारण नहीं है, प्रत्युत सुखकी इच्छा पापोंका कारण है*। सुखकी इच्छा ही नरकोंका दरवाजा है†। सुखदायी परिस्थितिको रखनेमें सब परतन्त्र हैं, पर सुखकी इच्छाको छोड़नेमें सब स्वतन्त्र हैं। सुखकी इच्छाको

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३।३७)

† त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (गीता १६।२१)

छोड़नेमें अभ्यास नहीं है, प्रत्युत विवेक है, जो वर्तमानकी वस्तु है। जिसको रखनेमें हम परतन्त्र हैं, उसको हम छोड़ना नहीं चाहते और जिसको छोड़नेमें हम स्वतन्त्र व समर्थ हैं, उसकी इच्छाको रखना चाहते हैं—इससे बड़ी भूल और क्या होगी? यह भूल ही बन्धनका, सब पाप, दुःख, संताप, नरक आदिका कारण है।

जो नहीं है, उसको 'है' मानकर उसको पानेकी अथवा मिटानेकी इच्छा करना और उससे भयभीत होना असत्का संग है। उसकी उपेक्षा करना है। दशाको न देखकर सत्ताको देखना सत्का संग है।

(१०)

दोषोंका भाव विद्यमान नहीं है और निर्दोषताका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् दोषोंकी सत्ता है ही नहीं और निर्दोषता स्वतःसिद्ध है। कोई भी दोष स्थायी नहीं रहता, आता-जाता है और उसके आने-जानेका ज्ञान जिसको होता है, वह (निर्दोष तत्त्व) स्थायी रहता है। तात्पर्य है कि दोषोंका ज्ञान दोषीको नहीं होता, प्रत्युत निर्दोषको होता है और निर्दोषतासे ही होता है। दोषोंके आने-जानेका ज्ञान तो सबको होता है, पर अपने आने-जानेका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता; क्योंकि दोष असत् हैं और हमारा निर्दोष स्वरूप सत् है। हमारेमें दोष हैं—ऐसा मानना ही दोषोंको निमन्त्रण देना है, उनको अपनेमें स्थापन करना है। अगर दोष हमारेमें होते तो फिर जैसे हम निरन्तर रहते हैं, ऐसे ही वे भी निरन्तर रहते और उनका कभी अभाव नहीं

होता। दूसरी बात, अगर दोष हमारेमें होते तो हम सर्वांशमें दोषी होते, सबके लिये दोषी होते और सदाके लिये दोषी होते। परन्तु कोई भी मनुष्य सर्वांशमें दोषी नहीं होता, सबके लिये दोषी नहीं होता और सदाके लिये दोषी नहीं होता।

दोषोंको सत्ता हमने ही दी है, इसलिये दोषोंका आना-जाना हमें दीखता है। अगर दोषोंकी सत्ता न मानें तो दोष हैं ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'**। जैसे सूर्यमें अमावस्याकी रात नहीं आ सकती, ऐसे ही नित्य स्वरूपमें अनित्य दोष नहीं आ सकते। जैसे परमात्मा निर्दोष हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५। १९), ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा भी निर्दोष है—**'अविकार्योऽयमुच्यते'** (गीता २। २५) **'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥'** (मानस, उत्तर० ११७। १)। अतः दोषोंको अपनेमें मानना और दूसरोंमें मानना—दोनों ही गलती है।

अपनेमें दोषोंकी स्थापना हमने ही की है। हमने ही उनको सत्ता देकर दृढ़ किया है। अतः दोषोंको सत्ता न देकर अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताकी स्थापना करना अर्थात् निर्दोषताका अनुभव करना हमारा कर्तव्य है। अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताका अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है।

(११)

हमारी सत्ता किसी वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है एवं प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु

इन तीनोंको जाननेवाली हमारी चिन्मय सत्ताका कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। वह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वतः ज्यों-की-त्यों रहती है। उस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**'। उस सत्तामें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही जीवन्मुक्ति है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते हैं; परन्तु हमारे बिना वस्तु, व्यक्ति और क्रिया नहीं रहती। जब जाग्रत्में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जायँगे। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धकी मान्यता ही हमें स्वाधीन नहीं होने देती और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देती है।

हमें विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे?

ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, ज़ो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वत:सिद्ध है।

विचार करें, वस्तु पासमें रहते हुए भी हम रहते हैं और वस्तु पासमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। व्यक्ति साथमें रहते हुए भी हम रहते हैं और व्यक्ति साथमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। क्रिया करते समय भी हम रहते हैं और क्रिया न करते समय भी हम वही रहते हैं। इन दोनों अवस्थाओंका अनुभव सबको है। इससे सिद्ध होता है कि हमारा अस्तित्व (होनापन) वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियाकी अपेक्षा, आवश्यकता भी नहीं है, प्रत्युत उनको ही हमारी आवश्यकता है। अत: हम स्वतन्त्र हैं। हम वस्तुकी उत्पत्तिको भी देखते हैं और विनाशको भी देखते हैं, व्यक्तिके संयोगको भी देखते हैं और वियोगको भी देखते हैं, क्रियाके आरम्भको भी देखते हैं और अन्तको भी देखते हैं। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके अभावका तो हमें अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अपने इस अनुभवमें नित्य-निरन्तर स्थित रहना साधकका काम है। यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत जागृति है। वस्तु, व्यक्ति और

क्रियाका संयोग अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सर्वत्र परिपूर्ण उस परमात्मसत्तामें स्वतः स्थिति हो जाती है, जिसके लिये गीताने कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। (गीता ९। ४)

'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।'

(१२)

असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है—इसका तात्पर्य है कि जो भी सत्ता दीखती है, वह असत्की न होकर सत्-तत्त्वकी ही है। इस सत्ताको अस्वीकार कोई कर ही नहीं सकता। कोई परमात्माकी सत्ता मानता है, कोई आत्माकी सत्ता मानता है और कोई जगत्की सत्ता मानता है। अगर कोई कहे कि मैं किसीकी भी सत्ता नहीं मानता तो वह अपनी सत्ता तो मानता ही है! तात्पर्य यह है कि किसी-न-किसी रूपमें सत्-तत्त्व ('है') की सत्ताको सभी स्वीकार करते हैं, भले ही वे उसका नाम कुछ भी रख दें। सत्ताका त्याग कोई कर सकता ही नहीं। कारण कि सत्ताका निषेध करनेसे अपना निषेध हो जायगा, जबकि अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

(१३)

जिसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् जो प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें विद्यमान है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे

नहीं होती। कारण कि जो विद्यमान है, उसकी अप्राप्ति होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है; अतः क्रिया करनेसे उसीकी प्राप्ति होगी, जो विद्यमान नहीं है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रत्येक प्राणीमें क्रियाका वेग रहता है, जो उसको क्रियारहित नहीं होने देता*। क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो करना चाहिये, उसको निर्मम तथा निष्काम होकर करें अर्थात् अपने लिये कुछ न करें, प्रत्युत केवल दूसरेके हितके लिये ही करें†। अपने लिये करनेसे क्रियाका वेग कभी समाप्त नहीं होगा; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य है और कर्म अनित्य हैं। अतः दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त होकर प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और सब देश, काल आदिमें विद्यमान सत्-तत्त्व प्रकट हो जायगा, उसका अनुभव हो जायगा।

---

* न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३।५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि (प्रकृतिके) परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म कराते हैं।'

† न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३।४)

'मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।'

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। (गीता ६।३)

'जो योग (समता) में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण है।'

(१४)

साधक भूत और भविष्यकी जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और क्रियाओंको महत्त्व देता है, उनका चिन्तन बिना किये और बिना चाहे स्वतः होता रहता है। उस स्वतः होनेवाले चिन्तनको मिटानेके लिये साधक परमात्माका चिन्तन करता है। परन्तु यह सिद्धान्त है कि होनेवाले चिन्तनको किये गये चिन्तनसे नहीं मिटाया जा सकता। चिन्तन करनेसे करनेके नये संस्कार पड़ते हैं, जिससे वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत और पुष्ट होता है। स्वतः होनेवाला चिन्तन स्वतः होनेवाले चिन्तनसे अथवा चुप होनेसे ही मिट सकता है। तात्पर्य है कि सत्-तत्त्वका अनुभव होनेपर, निष्काम होनेपर, बोध होनेपर, प्रेम होनेपर संसारका स्वतः होनेवाला चिन्तन मिट जाता है। चुप होनेका तात्पर्य है कि साधक स्वतः होनेवाले चिन्तनकी उपेक्षा कर दे, उससे उदासीन हो जाय अर्थात् उसको न ठीक समझे, न बेठीक समझे और न अपनेमें समझे तथा अपनी तरफसे कोई नया चिन्तन भी न करे। वह न चिन्तन करनेसे मतलब रखे, न चिन्तन नहीं करनेसे मतलब रखे। वह न तो किये जानेवालेका कर्ता बने और न होनेवालेका भोक्ता बने। ऐसा करनेसे साधक धीरे-धीरे अचिन्त्य हो जायगा। परन्तु अचिन्त्य होनेका, सुख लेनेका भी आग्रह नहीं रखना है। ऐसा होनेपर साधक चिन्तन करने और चिन्तन होने—दोनोंसे रहित हो जायगा—'**नैव तस्य**

कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'। (गीता ३। १८); क्योंकि करनेमें कर्मेन्द्रियोंका और होनेमें अन्तःकरणका सम्बन्ध होनेसे करना और होना—दोनों ही अनित्य हैं। करने और होनेसे रहित होनेपर 'है' (सत्-तत्त्व) में अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जायगा।

(१५)

असत्का भाव विद्यमान नहीं है अर्थात् असत्का भाव निरन्तर अभावमें बदल रहा है। परन्तु 'असत्का भाव विद्यमान नहीं है'—इस बातका ज्ञान अभावमें नहीं बदलता। इस ज्ञानमें हमारी स्थिति स्वतःसिद्ध है। देह तो निरन्तर अभावमें बदल रहा है; अतः देह नहीं है, प्रत्युत देही (स्वरूप) ही है। देहीकी सत्ता देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे सर्वथा अतीत है।

असत्का भाव निरन्तर अभावमें जा रहा है; अतः असत् नहीं है, प्रत्युत सत् ही है। असत्की केवल मान्यता है। असत्की यह मान्यता ही सत्की स्वीकृति नहीं होने देती। गलत मान्यता सही मान्यता करनेसे मिट जाती है। वास्तवमें न सही मान्यता है, न गलत मान्यता है, केवल सत्तामात्र है।

जैसे हाथ, पैर, नासिका आदि शरीरके अंग हैं, ऐसे असत् सत्का अंग भी नहीं है। जो बहनेवाला और विकारी होता है, वह अंग नहीं होता*; जैसे—कफ, मूत्र आदि

---

* अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥

बहनेवाले और फोड़ा आदि विकारी होनेसे शरीरके अंग नहीं होते। ऐसे ही असत् बहनेवाला और विकारी होनेके कारण सत्का अंग नहीं है।

(१६)

भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'**।

(१७)

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग' के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग' के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) है। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

(१८)

असत्‌का भाव नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है; अतः सत् स्वतः विद्यमान है। जो स्वतः विद्यमान है, वही परमात्मा हैं। जो पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और अभी नहींमें जा रहा है, उसे सत्ता देना, महत्ता देना और उससे सम्बन्ध जोड़ना ही खास बाधा है। अतः उसे सत्ता न दे, महत्ता न दे और उससे सम्बन्ध न जोड़े अर्थात् उसे अपना न माने। जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसको ही सत्ता दे, उसको ही महत्ता दे और उसीको अपना माने। जो नहीं है, उसका महत्त्व कैसा? महत्त्व तो उसीका है, जो है और वही अपना है।

जो नहीं है, उससे तटस्थ, बेपरवाह, निर्लेप, निरपेक्ष, उदासीन, विमुख होना है; उससे चिपकना नहीं है। वास्तवमें हम असत् (वस्तु, व्यक्ति और क्रिया) से निर्लेप हैं; क्योंकि हम उसके भाव-अभावको, उत्पत्ति-विनाशको, संयोग-वियोगको और आदि-अन्तको जानते हैं। इस प्रकार अपनेको निर्लेप अनुभव करके चुप हो जायँ अर्थात् चुप होकर स्थित रहें तो स्वतःसिद्ध सत्ता (सत्-तत्त्व) का स्पष्ट अनुभव हो जायगा। वास्तवमें सत्-तत्त्व स्वतःसिद्ध है, केवल असत्‌से विमुख होना है। अगर हम असत्‌को अस्वीकार कर दें तो वह रहेगा ही नहीं; क्योंकि वह है ही नहीं, उसमें रहनेकी ताकत ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**'।

श्रीमद्भागवतमें आया है—'**अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति**

सन्तः' (१०। १४। २८) 'सन्तलोग संसारका त्याग करते हुए परमात्मतत्त्वकी खोज करते हैं'। खोजनेसे वह चीज मिलती है, जो पहले ही मौजूद हो। उसको खोजनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते जाना। छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानना तथा उससे अपना सम्बन्ध न मानना, उसको अस्वीकार करना।

४. नित्यप्राप्तकी प्राप्ति

साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञान, मुक्ति आदि चाहता है तो उससे एक मूल भूल यह होती है कि वह संसारके सम्बन्धको, जन्म-मरणको तो स्वाभाविक मान लेता है और परमात्मप्राप्तिको अस्वाभाविक (कृतिसाध्य) मान लेता है। उसके भीतर ये बातें जँची हुई रहती हैं कि जन्म-मरण तो सदासे चले आ रहे हैं और मुक्ति हमारे करनेसे होगी; संसारकी प्राप्ति तो पहलेसे है, पर परमात्माकी प्राप्ति नया काम है; संसार तो नजदीक है, पर परमात्मा दूर हैं; संसार तो प्राप्त ही है, पर परमात्मा प्राप्त होते हैं कि नहीं होते—इसका पता नहीं, संसार तो है पर परमात्मा हैं कि नहीं, पता नहीं; संसार तो हमारे सामने है, पर परमात्मा सामने नहीं दीखते; आदि-आदि। परन्तु वास्तवमें संसारकी प्राप्ति अस्वाभाविक है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति स्वाभाविक है। दूसरे शब्दोंमें, संसारका सम्बन्ध कृत्रिम (बनावटी) है और परमात्माका सम्बन्ध वास्तविक है। बनावटी बात टिक नहीं सकती और वास्तविक बात मिट नहीं सकती।

यह सबके अनुभवकी बात है कि बालकपना चला गया, जवानी चली गयी, रोग चला गया, नीरोगता चली गयी, निर्धनता चली गयी, धनवत्ता चली गयी, पर हम चले गये क्या? ऐसे ही सब संसार बदल गया, पर परमात्मा बदल गये क्या? तात्पर्य है कि शरीर तथा संसार बदलनेवाले हैं और हम तथा परमात्मा नहीं बदलनेवाले हैं। इसलिये शरीर और संसार एक हैं, हम और परमात्मा एक हैं। शरीर और संसार एक होनेके कारण ही संसार शरीरको प्राप्त दीखता है। परन्तु शरीरमें अहंता-ममता करनेसे अर्थात् उसको मैं-मेरा माननेसे शरीर

हमें प्राप्त दीखता है। वास्तवमें शरीर-संसार कभी किसीको प्राप्त हुए ही नहीं, हो सकते ही नहीं। अप्राप्तको प्राप्त माननेके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीख रहे हैं।

हमारा स्वरूप नित्य ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। अगर यह नित्य ज्यों-का-त्यों न रहे तो स्वर्ग कौन भोगेगा? नरकोंमें कौन जायगा? जन्म-मरणमें कौन जायगा? मुक्त कौन होगा? परमात्मा भी नित्य ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। हमने संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ रखा है। अगर इस बनावटी सम्बन्धका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति और संसारकी अप्राप्ति स्वतःसिद्ध है। भूल यही होती है कि हम संसारकी सत्ताको नित्य मान लेते हैं और मुक्तिकी सत्ताको अनित्य मान लेते हैं। इसलिये हमारी ऐसी धारणा रहती है कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध स्वतः है और इस सम्बन्धको हम छोड़ेंगे तो मुक्ति हो जायगी अथवा संसारका सम्बन्ध छूटना बड़ा मुश्किल है, मोक्षकी प्राप्ति बड़ी कठिन है, परमात्माको प्राप्त करनेमें समय भी बहुत लगेगा और परिश्रम भी होगा, आदि।

वास्तवमें संसारका सम्बन्ध कभी टिकता नहीं, कभी टिका नहीं, कभी टिकेगा नहीं, टिक सकता ही नहीं। ऐसे ही परमात्माका सम्बन्ध कभी मिटता नहीं, कभी मिटा नहीं, कभी मिटेगा नहीं, मिट सकता ही नहीं। संसारसे संयोग और परमात्मासे वियोग केवल हमारा माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये जो साधनमें लगे हुए हैं, उनके मनमें कभी संसारकी आसक्ति आ जाय, सत्ता आ जाय तो समझना चाहिये कि भीतर जो कूड़ा-कचरा पड़ा हुआ है, वह निकल रहा है। मनुष्य दरवाजेसे आता हुआ भी दीखता

है और जाते हुए भी दीखता है। अतः भीतरका कूड़ा-कचरा जाते हुए दीख रहा है। उसको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो वह उलटे दृढ़ होगा। किसी भी विपरीत बातको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो मिटानेकी चेष्टा तो दो नम्बरकी होगी, पर उसको जमाने (दृढ़ करने) की चेष्टा एक नम्बरकी होगी। कारण कि हम उसीको मिटानेकी चेष्टा करते हैं, जिसकी हम सत्ता स्वीकार करते हैं। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको क्या मिटायें? इसलिये उसको मिटानेकी जरूरत नहीं है। उसकी उपेक्षा कर दें तो वह स्वतः मिट जायगी; क्योंकि वह निरन्तर मिट ही रही है। तात्पर्य है कि अज्ञान अपने-आप मिट रहा है, बन्धन अपने-आप छूट रहा है, साधक उसको मिटानेका उद्योग नहीं करे, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दे, उसकी बेपरवाह कर दे, उससे उदासीन हो जाय। जैसे एक छोटी-सी दियासलाईसे प्रकट हुई अग्निमें इतनी ताकत है कि वह घासके ढेरको जला देती है, ऐसे ही असत्‌की उपेक्षामें इतनी ताकत है कि वह असत्‌को मिटाकर सत्‌का साक्षात्कार करा देगी। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२। ४०)

'इस (समतारूपी) धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरणरूप) महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

—इसका कारण यह है कि निष्कामभाव थोड़ा होते हुए भी सत्य है और भय महान् होते हुए भी असत्य है। जैसे मनभर रूई हो तो उसको जलानेके लिये मनभर अग्निकी जरूरत नहीं है। रूई एक मन हो या सौ मन, उसको जलानेके लिये एक दियासलाई पर्याप्त है। एक दियासलाई

लगाते ही वह रूई खुद दियासलाई अर्थात् अग्नि बन जायगी। रूई खुद दियासलाईकी मदद करेगी। अग्नि रूईके साथ नहीं होगी, प्रत्युत रूई खुद ज्वलनशील होनेके कारण अग्निके साथ हो जायगी। इसी तरह असंगता आग है और संसार रूई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता न होनेसे उससे कभी संग हुआ ही नहीं।

थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और महान्-से-महान् क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं*, पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। एक अहम्के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्ने ही सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है।

जैसे, कितनी ही घास हो, क्या अग्निके सामने टिक सकती है? कितना ही अँधेरा हो, क्या प्रकाशके सामने टिक सकता है? अँधेरे और प्रकाशमें लड़ाई हो जाय तो क्या अँधेरा जीत जायगा? ऐसे ही अज्ञान और ज्ञानकी लड़ाई हो जाय तो क्या अज्ञान जीत जायगा? महान्-से-महान् भय क्या अभयके

---

* वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥
(गीता ८। २८)

'योगी इसको (शुक्ल और कृष्णमार्गके रहस्यको) जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

सामने टिक सकता है? पहलेके कितने ही संस्कार पड़े हुए हों, क्या सत्संगसे वे जीत जायँगे? समता थोड़ी हो तो भी पूरी है और भय महान् हो तो भी अधूरा है। स्वल्प भी महान् है; क्योंकि वह सच्चा है और महान् भी स्वल्प (सत्ताहीन) है; क्योंकि वह कच्चा है।

प्रश्न—समता, निष्कामभावको 'स्वल्प' (थोड़ा) कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—निष्कामभाव तो महान् है, पर हमारी समझमें, हमारे अनुभवमें थोड़ा आनेसे उसको स्वल्प कह दिया है। वास्तवमें समझ थोड़ी हुई, समता थोड़ी नहीं हुई। उधर हमारा खयाल कम गया है, दृष्टि कम गयी है तो हमारी दृष्टिमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसी तरह हमने असत्‌को ज्यादा आदर दे दिया तो असत् महान् नहीं हुआ, प्रत्युत हमारा आदर महान् हुआ। इसलिये अगर हम सत्‌का अधिक आदर करें तो सत् महान् हो जायगा अर्थात् उसकी महत्ताका अनुभव हो जायगा, और असत्‌का आदर न करें तो असत् स्वल्प हो जायगा। वास्तवमें असत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** और सत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता नित्य-निरन्तर है—**'नाभावो विद्यते सतः'**। इसलिये उपनिषद्‌ने परमात्मतत्त्वको अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् कहा है—**'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (कठ० १। २। २०; श्वेताश्वतर० ३। २०)।

जिसकी सत्ता ही नहीं है, उस असत्‌का आदर करना, उसको महत्त्व देना बहुत बड़ी भूल है। कभी साधकके मनमें उसकी सत्ता आ जाय तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये;

क्योंकि जो कभी है और कभी नहीं है, उसकी सत्ता कभी नहीं है। जो किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें है और किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है, वह वास्तवमें किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है अर्थात् उसका स्वतःसिद्ध नित्य अभाव है। परन्तु असत्‌को सत्य मान लिया और सम्पूर्ण देश-कालादिमें नित्य-निरन्तर विद्यमान परमात्माको उद्योगसाध्य मान लिया—यह भूल है। जैसे, हम कहते हैं कि सूर्य बादलसे ढक गया, तो जो सूर्य पृथ्वीमण्डलसे भी बड़ा है, वह छोटे-से बादलसे कैसे ढक जायगा? अतः वास्तवमें सूर्य नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी आँख ढक जाती है। ऐसे ही परमात्मतत्त्व नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी बुद्धि ढकी जाती है। बुद्धिमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, इसलिये परमात्मा दीखते नहीं। तात्पर्य है कि असत्‌की सत्तारूपसे जो धारणा है, यही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है।

अगर हम सच्चे हृदयसे साधनमें लगे हुए हैं, सत्संग कर रहे हैं, तो असत्‌की निवृत्ति करनी नहीं पड़ेगी, प्रत्युत उसकी निवृत्ति स्वतः हो जायगी। जैसे, छोटा बच्चा माँकी गोदमें प्रतिदिन वैसा-का-वैसा ही दीखता है; परन्तु एक महीनेके बाद देखें तो उसमें फर्क दीखेगा, एक वर्षके बाद देखें तो और अधिक फर्क दीखेगा। ऐसे ही सत्संग करते हुए हम वैसे-के-वैसे ही दीखते हैं, पर वास्तवमें वैसे नहीं रहते। पहलेवाली दशाको याद करें और अभीकी दशा देखें, दोनोंका मिलान करें, तब पता लगेगा। जो व्यक्ति सत्संग नहीं करते हैं, उनसे मिलें, तब पता लगेगा। हम तो सत्संगमें लग गये, पर हमारे जो मित्र सत्संगमें नहीं लगे,

उनसे मिलें, तब पता लगेगा। फिर भी तत्काल सिद्धि न होनेमें मूल कारण हमारी यह मान्यता है कि बन्धनमें तो हम हैं, मुक्ति हमें करनी है! व्याख्यान देनेवालोंसे, कथा करनेवालोंसे और पुस्तकोंसे भी यही बात मिलेगी कि अज्ञान सदासे है, हम सदासे जन्म-मरणमें पड़े हुए हैं, इसको मिटाना है और तत्त्वज्ञानको, मुक्तिको, परमात्माको प्राप्त करना है! परन्तु यह तत्त्वकी बात नहीं है। तत्त्वकी बात तो यह है कि जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति करनी है और जो नित्यप्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है। जो नित्यनिवृत्त है, नित्य अप्राप्त है, उसको हमने सत्ता और महत्ता दे दी, इसीलिये नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें समय लग रहा है।

गीता कहती है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) 'जो असत् है, उसका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका अभाव ही है और जो सत् है, उसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका भाव ही है।' जो 'नहीं' है, वह असत् है और जो 'है', वह सत् है। 'नहीं' में 'है'-बुद्धि और 'है' में 'नहीं'-बुद्धि—यह विपरीत धारणा ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक हो रही है। हमारे देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो भी संसार आ रहा है, वह सब-का-सब एक क्षण भी टिकता नहीं, प्रतिक्षण बह रहा है; परन्तु उसकी हमने सत्ता मान ली और जो सबमें ज्यों-का-त्यों पूर्ण है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उस परमात्माका अभाव मान लिया। इस विपरीत धारणाको हमने इतना दृढ़ कर लिया है कि विचारके द्वारा इसको हटानेपर भी यह धारणा पुनः सामने आ जाती है। इसका संस्कार हमारे

भीतर दृढ़तासे पड़ा हुआ है। परमात्मा पहले युगोंमें और थे, अब बदलकर और हो गये हैं—ऐसा किसी शास्त्र, कथा आदिमें पढ़ने-सुननेमें नहीं आता। परन्तु शरीर बालकपनमें जैसा था, वैसा आज नहीं है—यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। फिर भी हम शरीरको जितना महत्त्व देते हैं, उतना परमात्माको नहीं देते, इसीलिये परमात्मप्राप्ति कठिन हो रही है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने कहा था कि 'परमात्माकी प्राप्ति भी कठिन हो सकती है—यह बात मेरी समझमें नहीं आती थी; परन्तु जब लोगोंपर आजमाइश की, उनको समझानेका प्रयास किया, तब हमें कठिनता मालूम दी।' हमारे भीतर असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, इसीलिये परमात्मप्राप्तिमें कठिनता दीख रही है, अन्यथा इसमें कठिनताका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अभी कोई कहे कि रोटी बनाओ तो रोटी बनानेमें समय लगेगा। रोटी बनेगी, तब मिलेगी; क्योंकि वह मौजूद नहीं है। परन्तु जो चीज मौजूद है, उसकी प्राप्तिमें देरी क्यों? परमात्मा सबके लिये सदा ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं।

प्रश्न—यह तो हम जानते ही हैं कि परमात्माकी सत्ता है और संसारकी सत्ता नहीं है, फिर भी अनुभव क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—वास्तवमें इसको जाना नहीं है, प्रत्युत सीखकर मान लिया है। अगर यह जान लें कि साँप काटनेसे आदमी मर जाता है तो क्या साँपको हाथसे पकड़ेंगे? ऐसे ही अगर यह जान लें कि यह असत् है, नाशवान् है तो क्या रुपये इकट्ठे करनेकी मनमें आयेगी? सुख भोगनेकी मनमें आयेगी? झूठ, कपट, बेईमानी करनेकी मनमें आयेगी?

किसी आदमीसे पूछो तो वह यही कहेगा कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! पर वास्तवमें जो भी मरता है, अभी मरता है। मरनेवाला अभी नहीं मरेगा तो क्या कल मरेगा अथवा परसों मरेगा? मरनेवाला जब मरेगा, अभी मरेगा। परन्तु भीतर उलटी बात जँची हुई है कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! कारण यही है कि भीतरमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है।

हम धन कमा लेंगे, पढ़-लिखकर विद्वान् बन जायँगे, कई बातें सीख जायँगे, कला-कौशल सीख जायँगे आदि कृतिसाध्य बातोंकी तो हमें उम्मीद रहती है, पर जो स्वतः नित्य-निरन्तर विद्यमान है, उस परमात्मतत्त्वकी उम्मीद ही नहीं होती! उसकी तो तत्काल प्राप्तिकी उम्मीद होनी चाहिये। उसकी तत्काल प्राप्ति इसलिये होनी चाहिये कि वह भी मौजूद है और हम भी मौजूद हैं तथा वे भी हमसे मिलना चाहते हैं और हम भी उससे मिलना चाहते हैं। फिर देरीका कारण क्या है? हमारे मनमें असत्‌की सत्ता और महत्ता बैठी हुई है, इसीलिये देरी हो रही है।

५. सर्वत्र भगवद्दर्शनका साधन

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९। ४-५)

'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं; परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मेरेमें स्थित नहीं हैं—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग (सामर्थ्य) को देख! सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला और उनको धारण, भरण-पोषण करनेवाला मेरा स्वरूप उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है।'

भगवान्‌ने इस बातको समझनेके लिये आकाश और वायुका दृष्टान्त दिया है—'**यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।**' (गीता ९। ६)। भगवान्‌की दृष्टिसे यह सिद्धान्त बहुत ठीक है; क्योंकि जैसे आकाश और वायु निराकार हैं, ऐसे ही परमात्मा और सूक्ष्म तथा कारण संसार भी निराकार हैं। बादल आकाशमें सर्वत्रग (सब जगह विचरनेवाले) नहीं होते, पर वायु सर्वत्रग होती है। परन्तु हम यहाँ सुगमतापूर्वक समझनेकी दृष्टिसे आकाश और बादलका दृष्टान्त देते हैं; क्योंकि जैसे हमें आकाश नहीं दीखता, पर बादल दीखते हैं, ऐसे ही परमात्मा नहीं दीखते, पर संसार दीखता है। बादल आकाशमें ही रहते हैं; क्योंकि आकाश असीम है, बादल सीमित हैं। आकाश बादलोंमें

रहता है; क्योंकि उन बादलोंके कण-कणमें आकाश परिपूर्ण है। आकाशमें बादल और बादलोंमें आकाश होनेपर भी आकाश तो हरदम रहता है, पर बादल हरदम नहीं रहते, प्रत्युत बनते हैं और मिट जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परमात्मा तो सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं, पर संसार बनता है और मिट जाता है।

भगवान् कहते हैं कि मेरे निराकार स्वरूपसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है तो जगत्के अन्तर्गत हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और अहम् (मैंपन) भी आ जाते हैं। अतः हमारे शरीरमें भी परमात्मा हैं, इन्द्रियोंमें भी परमात्मा हैं, मनमें भी परमात्मा हैं, बुद्धिमें भी परमात्मा हैं, प्राणोंमें भी परमात्मा हैं और अहम्में भी परमात्मा हैं। तात्पर्य है कि हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और अहम्के सहित यह सम्पूर्ण संसार परमात्मामें ही है। यह परमात्मासे अलग नहीं हो सकता और परमात्मा इससे अलग नहीं हो सकते। ये दो विभाग हुए। एक विभाग (संसार) निरन्तर बदलता रहता है और एक विभाग (परमात्मा) कभी नहीं बदलता।

आगे भगवान् कहते हैं कि संसार मेरेमें नहीं है और मैं संसारमें नहीं हूँ। जैसे, आकाशमें बादल नहीं हैं और बादलोंमें आकाश नहीं है; क्योंकि आकाश नित्य है, बादल अनित्य (उत्पन्न और नष्ट होनेवाले) हैं। आकाश स्वतन्त्र है, बादल परतन्त्र हैं। आकाश सर्वदेशीय है, बादल एकदेशीय हैं। ऐसे ही परमात्मा नित्य हैं, संसार अनित्य है। परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं, संसार बदलनेवाला है। जैसे, जहाँ बादल हैं, वहाँ भी आकाश है और जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ भी आकाश है अर्थात् आकाश

बादलोंके बिना भी रहता है, पर बादल आकाशके बिना नहीं रहते। ऐसे ही जहाँ संसार है, वहाँ भी परमात्मा हैं और जहाँ संसार नहीं है, वहाँ भी परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा संसारके बिना भी रहते हैं, पर संसार परमात्माके बिना नहीं रहता।* तात्पर्य यह हुआ कि जैसे आकाशके बिना बादलोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, ऐसे ही परमात्माके बिना संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

विचार करें कि बादल कैसे बनता है? बादल भापसे बनता है। भाप ठण्डकसे भी बनती है और गरमीसे भी। भापमें जल और तेज (अग्नि)—दोनों रहते हैं। सूर्यकी गरमीसे समुद्रका जल भाप बनता है और वही भाप ऊपर उठकर बादल बन जाती है। उपनिषद्में आया है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीय० २। १)

'उस परमात्मासे पहले आकाश उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।'

वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही रहती है और आकाशमें ही लीन हो जाती है; अतः वायु आकाशरूप ही हुई। ऐसे ही अग्नि वायुसे ही पैदा होती है, वायुमें ही रहती है और वायुमें ही लीन हो जाती है; अतः

* परमात्माके एक अंशमें प्रकृति है और प्रकृतिके एक अंशमें सृष्टि (संसार) है। जैसे सम्पूर्ण पृथ्वीमें घड़ा बनानेकी शक्ति नहीं है, प्रत्युत उसके किसी एक अंश (चिकनी मिट्टी) में ही घट-निर्माण-शक्ति है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्रकृतिमें सृष्टि-निर्माणकी शक्ति नहीं है, प्रत्युत उसके किसी एक अंशमें ही सृष्टि-निर्माण-शक्ति है।

अग्नि वायुरूप ही हुई। जैसे, फूँक मारनेसे अग्नि तेज हो जाती है। एक घड़ेमें धधकते अंगार रखकर उसका मुख बन्द कर दें तो वायुका सम्बन्ध न रहनेसे अंगार बुझ जाते हैं। अग्निसे जल पैदा होता है। जैसे, परिश्रम करनेसे (शरीरमें गरमी बढ़नेपर) पसीना आ जाता है। जल अग्निसे ही पैदा होता है, अग्निमें ही रहता है और अग्निमें ही लीन हो जाता है; अतः जल अग्निरूप ही हुआ। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो आकाश-तत्त्व ही वायु, अग्नि, जल आदि रूप धारण करता है; क्योंकि अग्निके बिना जलकी सत्ता नहीं है, वायुके बिना अग्निकी सत्ता नहीं है और आकाशके बिना वायुकी सत्ता नहीं है*। अग्निसे भाप बनती है, भापसे बादल बनते हैं और बादलोंसे वर्षा होती है तो तत्त्वसे बादल आकाशरूप ही हुए। आकाशके सिवाय बादल कोई चीज नहीं है। जबतक बादल हैं, तबतक आकाशमें बादल हैं और बादलोंमें आकाश है। जब बादल बिखर जाते हैं, तब न आकाशमें बादल रहते हैं और न बादलोंमें आकाश रहता है, प्रत्युत केवल आकाश रहता है। इसी तरह जबतक सृष्टि है, तबतक परमात्मामें सृष्टि है और सृष्टिमें परमात्मा हैं। जब सृष्टि नहीं रहती, तब न परमात्मामें सृष्टि रहती है और न सृष्टिमें परमात्मा रहते हैं, प्रत्युत केवल परमात्मा रहते हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण संसार परमात्मासे ही पैदा होता है,

---

* कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है, पर स्वतन्त्र सत्ता कारणकी ही होती है अर्थात् कारणके बिना कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। घड़ेमें पानी भरा जा सकता है, पर यह विशेषता मिट्टीमें नहीं है। परन्तु मिट्टीके बिना घड़ेकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

परमात्मामें ही रहता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है। अतः सृष्टि है, तो भी परमात्मा हैं और सृष्टि नहीं है, तो भी परमात्मा हैं। परमात्माके सिवाय सृष्टिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यही सिद्धान्त गीताको मान्य है।

गीतामें भगवान् भक्तिकी दृष्टिसे कहते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है, और '**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९) 'सत् और असत् मैं ही हूँ'। जब भगवान्के सिवाय कुछ है ही नहीं तो फिर संसार कहाँ रहा? संसार न तो भगवान्की दृष्टिमें है, न महात्माओंकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मेरेको जाननेके बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्य-मवशिष्यते**' (गीता ७। २); क्योंकि मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय**' (गीता ७। ७)। इस तरह भक्तिके द्वारा परमात्माका 'ज्ञान' भी हो जाता है और संसारसे 'वैराग्य' भी हो जाता है; क्योंकि जब संसारकी सत्ता ही नहीं रहेगी तो फिर उसमें राग कैसे रहेगा?

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि जबतक साधकको संसार दीखता है, तबतक उसको यह मानना चाहिये कि संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है। यह शरीर भी संसारका ही एक अंश है; अतः इसमें भी परमात्मा हैं। प्राणोंमें भी परमात्मा हैं, मनमें भी परमात्मा हैं, बुद्धिमें भी परमात्मा हैं, अहम् (मैंपन) में भी परमात्मा हैं। मैं, तू, यह, वह—सबमें परमात्मा परिपूर्ण हैं। संसार बदल जाता है, पर परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। शरीर बदलता है, मन

बदलता है, बुद्धि बदलती है, अहम् बदलता है, पर परमात्मा सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३। १५)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।'

सब रूपोंमें परमात्मा ही हैं। अनन्त युगोंसे पहले भी परमात्मा थे और अनन्त युगोंके बाद भी परमात्मा रहेंगे तथा वर्तमानमें भी जड़-चेतन, स्थावर-जंगम आदि अनन्त रूपोंमें परमात्मा ही हैं। हम उनको नहीं जान सके तो यह हमारी कमी है! इसलिये भागवतमें आया है—

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है' ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों (बर्ताव) से मेरी उपासना करता रहे।'

तात्पर्य है कि जबतक सब रूपोंमें परमात्मा न दीखें, तबतक मन, वाणी और शरीरसे परमात्माकी उपासना करे अर्थात् मनसे किसीका बुरा मत चाहे, वाणीसे कड़ुआ मत बोले और शरीरसे किसीका बुरा मत करे। ऐसी सावधानी रखे

कि मेरे मन-वाणी-शरीरसे किसीको दुःख न पहुँचे, किसीका अहित न हो। कभी भूल हो जाय तो माफी माँग ले कि 'भैया! मैं कड़ुआ बोल गया, मुझे क्षमा कर देना।' इस प्रकार उपासना (बर्ताव) करते-करते '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरके द्वारा उपासना) करनेवाले भक्तको 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा अनुभव हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

जबतक हमें संसारकी सत्ता दीखती है, तबतक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसी मान्यता करनी है। फिर इस मान्यताको भी छोड़कर 'चुप' (चिन्तनरहित) हो जाना है। जैसे, मकानमें जबतक कूड़ा-कचरा रहता है, तबतक झाड़ू देते हैं। जब सब कूड़ा-कचरा निकल जाता है, तब झाड़ूको भी फेंक देते हैं। ऐसे ही यह संसार कूड़ा-कचरा है और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह मान्यता झाड़ू है। जब संसारकी सत्ता रही ही नहीं, तो फिर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा चिन्तन (मान्यता) करनेसे क्या लाभ? अतः 'भगवान् हैं'—यह चिन्तन भी छोड़कर 'चुप' हो जायँ तो

स्वाभाविक तत्त्व प्राप्त हो जायगा। यह सबसे ऊँची चीज है। इससे ऊँची कोई चीज थी नहीं, है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। अगर यहाँतक हम पहुँच जायँ तो हमारा मनुष्यजन्म सफल हो जायगा। हमारा मैं-मेरापन मिट जायगा, जड़-चेतनकी ग्रन्थि मिट जायगी। कारण कि जब जड़ चीज रही ही नहीं, केवल चेतन-ही-चेतन रह गया तो फिर ग्रन्थि कैसे रहेगी? ग्रन्थि (गाँठ) तो दो चीजोंमें होती है। उपनिषद्‌में आया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

'कार्य-कारणस्वरूप उस परात्पर परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवके हृदयकी (अविद्यारूप) गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

जब एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता रही ही नहीं, तो फिर चिज्जड़ग्रन्थि कैसे रहेगी? संशय कैसे रहेंगे? पाप-पुण्य कैसे रहेंगे? सब समाप्त हो जायगा! अनुकूल-प्रतिकूल, शुद्ध-अशुद्ध, ठीक-बेठीक कुछ नहीं रहेगा, एक परमात्मा-ही-परमात्मा रह जायँगे। इस आनन्दसे बढ़कर कोई आनन्द हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। इसलिये साधकको ठीक अनुभव करना चाहिये कि सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। यही गीताका सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यह मनुष्यजन्म बहुत जन्मोंका अन्तिम जन्म है। भगवान्ने अपनी तरफसे हमें यह अन्तिम जन्म दिया है। अब आगेका जन्म अथवा मुक्ति हमारे अधीन है। इसलिये भगवान्ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २। ७२)

'हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

जब हमने यह अनुभव कर लिया कि सब कुछ परमात्मा ही हैं; तो फिर दुबारा जन्म कहाँ होगा और क्यों होगा? परमात्माके सिवाय दूसरी चीज है ही नहीं तो जन्म कहाँ होगा? और हमें किसी वस्तुकी चाहना है ही नहीं तो जन्म

क्यों होगा? जब परमात्माके सिवाय कुछ है ही नहीं तो फिर मन भी परमात्माको छोड़कर कहाँ जायगा? अत: यह बात धारण कर लें कि 'एक परमात्मा-ही-परमात्मा हैं'—यह बात हमें पता लग गयी और हमारे मनमें कोई चाहना नहीं है, कोई बुराई नहीं है तो अब हमारा दुबारा जन्म कभी हो ही नहीं सकता!

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करनेका साधन क्या है? किस तरह इसकी सिद्धि होती है?

उत्तर—अगर आप '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना चाहते हैं तो बड़ी दृढ़तासे इस बातको मान लें कि जिस शरीरको हम अपना मानते हैं, वह हमें संसारसे मिला है और छूट जायगा; अत: वह मेरा नहीं है। प्रत्यक्ष बात है कि शरीर जन्मसे पहले मेरा नहीं था और मृत्युके बाद मेरा नहीं रहेगा और अभी भी प्रतिक्षण मेरेसे अलग हो रहा है। जितनी उम्र बीत गयी, उतना तो शरीर हमसे अलग हो गया है, अब बाकी कितना रहा है, इसका पता नहीं। कर्मयोगकी दृष्टिसे शरीर संसारका है, ज्ञानयोगकी दृष्टिसे प्रकृतिका है और भक्तियोगकी दृष्टिसे परमात्माका है। शरीरको किसीका भी मानें, पर यह मेरा नहीं है—यह सर्वसिद्धान्त है। जो वस्तु मिली हुई है और बिछुड़ जायगी, वह अपनी कैसे हुई? शरीर मिला हुआ है, बिछुड़ जायगा और निरन्तर बिछुड़ रहा है—ये तीनों बातें सन्देहरहित हैं।

इस प्रकार शरीरको संसारका मानकर संसारकी सेवामें लगा दें और शरीर, मन, वाणीसे किसीका भी बुरा न चाहें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा। हमें वही सेवा करनी है, जिसको करनेकी हमारेमें सामर्थ्य है और सेवा

लेनेवाला हमारेसे न्याययुक्त सेवा चाहता है। जो हमारेसे अन्याययुक्त, शास्त्रविरुद्ध सेवा चाहता है, उसको नहीं करना है। हम '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना चाहते हैं तो अन्याययुक्त काम हम नहीं करें और न्याययुक्त काम भी उतना करें, जितनी हमारी शक्ति है। एक मार्मिक बात है कि भला करनेकी अपेक्षा बुरा न करना (बुराईका त्याग) बहुत ऊँची साधना है। भलाई करनेमें जोर आता है, पर बुराई न करनेमें कोई जोर नहीं आता। बुराई न करनेसे दो बातें होंगी—केवल भलाई करेंगे अथवा कुछ भी नहीं करेंगे। कुछ भी नहीं करनेसे परमात्मामें स्वतः स्थिति होती है; क्योंकि कुछ करनेसे ही संसारमें स्थिति होती है। भलाई करनेसे अभिमान आ सकता है, पर बुराई न करनेसे अभिमान आता ही नहीं। इसलिये बुराईका त्याग करें अर्थात् न बुरा करें, न बुरा सोचें और न बुरा कहें।

भागवतमें '**वासुदेवः सर्वम्**' का साधन बताया है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १६)

'हँसी उड़ानेवाले अपने लोगोंको और अपने शरीरकी दृष्टिको भी लेकर जो लज्जा आती है, उसको छोड़कर अर्थात् उसकी परवाह न करके कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर भगवद्बुद्धिसे साष्टांग प्रणाम करे।'

जो भी प्राणी सामने आये, उसको साष्टांग प्रणाम करें। शरीरकी लज्जा आती हो तो उसको छोड़ दें और लोग हँसी

उड़ाते हों तो उसकी परवाह मत करें; क्योंकि हमें उससे क्या मतलब? हमें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' सिद्ध करना है। दृढ़ निश्चय हो जायगा तो ऐसा करनेमें कठिनता नहीं होगी। अगर कठिनता लगती हो तो मनसे ही दण्डवत् प्रणाम कर लें। ऐसा कोई प्राणी न छूटे, जिसको नमस्कार न किया हो। किसी भी वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म, सम्प्रदायका मनुष्य हो, वह भगवान् ही है। इसमें चार बातें हैं—१. इन प्राणियोंके भीतर भगवान् हैं, २. ये भगवान्के भीतर हैं, ३. ये भगवान्के हैं और ४. ये भगवान् ही हैं। चारोंमें जो सुगम लगे, वह मान लें। ये भगवान्के हैं—ऐसा मानना सबसे सुगम है। अतः ऐसा मान लें कि ये भगवान्के हैं, भगवान्को प्यारे हैं,* इसलिये हम इनको प्रणाम करते हैं। ऐसा करनेका परिणाम क्या होगा, यह भगवान् बताते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धाऽसूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकार-सहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।'

इसलिये मनुष्यमात्रमें भगवान्का भाव रखें। कहीं भाव न हो सके तो मनसे माफी माँग लें। किसीको कहनेकी, जनानेकी जरूरत नहीं। शरीर-मन-वाणीसे संसारकी सेवा

---

* 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस, उत्तर० ८६। २)

करनी है और संसार भगवान्‌का विराट्‌रूप है। अतः भगवान्‌के ही शरीर-मन-वाणीसे भगवान्‌की ही सेवा करनी है। फिर '**वासुदेवः सर्वम्**' सिद्ध हो जायगा; क्योंकि यह कोई नया निर्माण नहीं है, प्रत्युत पहलेसे ही है। इसके लिये विद्याध्ययन, धनसम्पत्ति, बल, अनुष्ठान आदिकी जरूरत नहीं है। इसको हरेक भाई-बहन कर सकता है।

सन्तोंने कहा है—

हाथ काम मुख राम है, हिरदै साची प्रीत।
दरिया गृहस्थी साध की, याही उत्तम रीत॥

हाथसे काम करते रहें और मुखसे राम-राम करते रहें। इसके साथ ही भगवान्‌से बार-बार कहते रहें कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'। किसीको बुरा मत मानें। किसीको बुरा मान लिया तो समझें कि हमारा व्रत भंग हो गया! अतः उसको प्रत्यक्ष अथवा मनसे नमस्कार करके क्षमा माँग लें। फिर भगवान्‌से प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! मैं भूलूँ नहीं; हे प्रभो! मेरा यह साधन सिद्ध हो जाय!' एक साधु थे। उनको सत्संगमें कोई बात अच्छी लगती तो भगवान्‌से कह देते कि 'महाराज! यह बात आप अपने खजानेमें जमा कर लो, अगर मैं भूल जाऊँ तो मेरेको याद दिला देना'। भगवान्‌के समान कोई मालिक नहीं, कोई नौकर नहीं, कोई मित्र नहीं! अचानक बैठे-बैठे भगवान्‌की याद आ जाय तो यह समझकर बड़े खुश हो जाना चाहिये कि भगवान् मेरेको याद कर रहे हैं! भगवान्‌ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा कर दी! मैं तो भूल गया था, पर भगवान्‌ने याद कर

लिया, जिससे मेरेको भगवान् याद आ गये। इस प्रकार भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेनेपर '**वासुदेवः सर्वम्**' का साधन सुगम हो जायगा; क्योंकि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह बात कृपासे ही समझमें आती है, अपनी बुद्धिमानीसे, अपने उद्योगसे नहीं। उद्योग करनेसे तो कर्तृत्व आता है, जो इसके अनुभवमें बाधक है। आजतक जितने भी महात्मा हुए हैं, वे भगवत्कृपासे ही जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ और भगवत्प्रेमी हुए हैं, अपने उद्योगसे नहीं। इसलिये साधकको उद्योगका आश्रय न लेकर भगवत्कृपाका ही आश्रय लेना चाहिये। शरीर-इन्द्रियोंकी सार्थकताके लिये उद्योग करना चाहिये, पर परमात्मतत्त्व उद्योगसाध्य नहीं है।

६. भक्तिकी विलक्षणता

गीतामें भगवान्‌ने अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया है—अपरा और परा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ भेदोंवाली 'अपरा' प्रकृति है; और जिसने जगत्‌को धारण कर रखा है, वह जीवात्मा 'परा' प्रकृति है (७। ४-५)। भगवान् इन दोनों प्रकृतियोंके मालिक हैं। अपरा प्रकृति भौतिक तत्त्व है और परा प्रकृति आध्यात्मिक तत्त्व है। इन दोनोंको लेकर साधना भी दो तरहकी है—भौतिक साधना अर्थात् कर्मयोग और आध्यात्मिक साधना अर्थात् ज्ञानयोग। परन्तु जो अपरा और परा प्रकृतिके मालिक हैं, उन भगवान्‌को लेकर जो साधना है, वह आस्तिक साधना अर्थात् भक्तियोग है।

अपरा प्रकृतिको 'क्षर', परा प्रकृतिको 'अक्षर' और दोनोंके मालिक भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' नामसे भी कहा गया है (गीता १५। १६—१८)। कर्मयोग क्षरकी साधना है, ज्ञानयोग अक्षरकी साधना है और भक्तियोग पुरुषोत्तमकी साधना है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मैं अपने समग्ररूपका वर्णन करूँगा, जिसको जाननेपर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। उसका वर्णन करनेमें मैं कुछ भी शेष नहीं रखूँगा—'**वक्ष्याम्यशेषतः**' (गीता ७। २) और उसको जाननेपर तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (७। २)। किस बातको जाननेसे कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा? इसको बताते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्‌का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

जब समग्रके सिवाय कोई वस्तु है ही नहीं तो फिर जानना बाकी क्या रहे? उस समग्र परमात्माके स्वरूपका ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। ज्ञानमार्गमें तो परमात्माके अंश (स्वरूप) का ज्ञान होता है, पर भक्तिमार्गमें समग्र परमात्माका ज्ञान होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, राजयोग आदि जितने योग हैं, वे सब-के-सब समग्रके ज्ञानके अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु सम्पूर्ण योगियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ योगी वे हैं, जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।'

इस प्रकार भक्तिको ही भगवान्‌ने श्रेष्ठ बताया है। भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग और ज्ञानयोगका भी वर्णन किया

है और उन दोनोंको समकक्ष बताया है—'**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्**' (५। ४) अर्थात् दोनोंमेंसे किसी एक भी साधनमें स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्मतत्त्वको पा लेता है। तात्पर्य है कि साधक किसी भी एक साधनमें तत्परतापूर्वक लग जाय तो उसकी साधना सिद्ध हो जायगी। वास्तवमें एक परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेपर कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं होता। परन्तु जिनका भोग भोगने और संग्रह करनेका उद्देश्य है, वे कोई भी साधन नहीं कर सकते; न कर्मयोग कर सकते हैं, न ज्ञानयोग कर सकते हैं, न ध्यानयोग कर सकते हैं, न भक्तियोग कर सकते हैं। नाशवान् पदार्थोंमें लगे होनेसे उनका भोग और संग्रह तो नष्ट हो जाता है, पर भोग और संग्रहमें उनका जो राग है, वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत उनको बार-बार जन्म-मरण देता रहता है। कारण कि पदार्थोंमें राग ही जीवको ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। इस रागके मिटनेपर ही मुक्ति होती है। इस रागको मिटानेके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधन हैं। साधकको अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताके अनुसार कोई एक साधन करके इस रागको मिटा देना चाहिये। शास्त्रमें इस रागको अज्ञानका चिह्न बताया गया है—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

तात्पर्य है कि क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिमें जो मनका खिंचाव, प्रियता है, यह अज्ञानका खास चिह्न है। जैसे किसी वृक्षके कोटरमें आग लग गयी हो तो वह वृक्ष हरा-भरा नहीं

रहता, सूख जाता है, ऐसे ही जिसके भीतर राग-रूपी आग लगी हुई हो, उसको शान्ति नहीं मिल सकती, उसका उत्थान नहीं हो सकता। सांसारिक पदार्थ, मान, बड़ाई, प्रशंसा, आराम, सत्कार आदिका प्रिय लगना पतनका कारण है। भोगोंकी प्रियता जन्म-मरण देनेवाली और परमात्माकी प्रियता कल्याण करनेवाली है।

अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ परमात्माकी हैं; अतः इनको परमात्माके ही भेंट कर दें, अपनी न मानें। न स्थूलशरीरको अपना मानें, न सूक्ष्मशरीरको अपना मानें और न कारणशरीरको अपना मानें। स्वयं भी परमात्माका अंश होनेसे अपना नहीं है। अतः स्वयंको भी परमात्माके भेंट (समर्पित) कर दें।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं*। परंतु भक्तियोग लौकिक निष्ठा अर्थात् प्राणीकी निष्ठा नहीं है। जो भगवान्‌में लग जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है, उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। उसके साध्य भी भगवान् होते हैं और साधन भी। इसलिये भक्तियोग साधन भी है और साध्य भी, तभी कहा है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१) अर्थात् भक्तिसे भक्ति पैदा होती है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी साधन भक्ति है और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति साध्य भक्ति है। वह प्रेमलक्षणा भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य है। यह साध्यभक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है और उसीको हमें प्राप्त करना है।

---

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

संसारकी वस्तु संसारकी सेवामें लगा दें तो कर्मयोग हो जायगा, स्वयं संसारसे अलग हो जायँ तो ज्ञानयोग हो जायेगा और भगवान्‌में लग जायँ तो भक्तियोग हो जायेगा। कर्मयोगमें अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे 'नित्य सम्बन्ध' होता है अर्थात् नित्य परमात्मतत्त्वके साथ सम्बन्धका अनुभव हो जाता है। ज्ञानयोगमें स्वरूपमें स्थिति होनेसे 'तात्त्विक सम्बन्ध' होता है अर्थात् ब्रह्मके साथ सधर्मता (अभेद) का अनुभव हो जाता है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २) भक्तियोगमें अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित करनेसे 'आत्मीय सम्बन्ध' होता है अर्थात् भगवान्‌के साथ आत्मीयता (अभिन्नता) का अनुभव हो जाता है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)।

संसारके सम्बन्धसे ही अशान्ति, हलचल होती है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्ति हो जाती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। स्वरूपमें स्थिति होनेपर तत्त्वबोध हो जाता है। भगवान्‌के शरणागत होनेपर प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम प्राप्त हो जाता है। साधक चाहे तो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके शान्त (नित्य) आनन्द ले ले, चाहे स्वरूपमें स्थित होकर अखण्ड आनन्द ले ले, चाहे भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़कर अनन्त आनन्द ले ले, यह उसकी मरजी है। साधक किसी भी योगका अवलम्बन ले ले, पर संसारका अवलम्बन कभी न ले। योगका अवलम्बन मुक्त करनेवाला है, पर संसारका अवलम्बन जन्म-मरण देनेवाला, पतन करनेवाला है।

लेनेका भाव जडता है और देनेका भाव चेतनता है। जो केवल लेता-ही-लेता है, वह 'जड़' (जगत्) है। अगर वह पशु, पक्षी, वृक्ष, पहाड़ आदि हो तो भी जड़

है और मनुष्य हो तो भी जड़ है। जो लेता भी है और देता भी है, वह 'जीव' (चिज्जड़ग्रन्थि) है। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर देता है, वह 'साधक' है। जो किसीसे कुछ नहीं लेता, न जगत्से लेता है, न भगवान्से, वह 'सिद्ध' है। जो केवल देता-ही-देता है, वह 'भगवान्' है। भगवान् और उनके भक्त—दोनों देते-ही-देते हैं, लेते हैं ही नहीं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

लेनेकी इच्छा उसीमें होती है, जिसमें अभाव है और अभाव जड़में ही होता है, चेतनमें नहीं। लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग करनेपर कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योग सिद्ध हो जाते हैं। वास्तवमें मुक्तितक कुछ भी लेनेकी इच्छा जड़ता है, इसलिये भक्त मुक्ति भी नहीं चाहते—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९। २)

अगर कोई ऐसा कहे कि ईश्वरकी भक्तिमें पराधीनता है, स्वाधीनता तो मुक्तिमें ही है तो उनका कहना ठीक है; परन्तु वास्तवमें भक्तिमें ही असली स्वाधीनता है। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। अपने स्वरूपका नाम भी 'स्व' है और जो अपना है, उसका नाम भी 'स्व' है। परमात्मा अपने होनेसे स्वकीय हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता और निश्चिन्तता है। जैसे, बालक माँके पराधीन नहीं होता; क्योंकि माँ 'पर' नहीं है, प्रत्युत अपनी होनेसे स्वकीय है। बालकके लिये अपनी अधीनताकी अपेक्षा माँकी अधीनता ज्यादा श्रेष्ठ है; क्योंकि माँकी अधीनतामें बालकका जितना हित

है, उतना अपनी अधीनता (स्वाधीनता) में नहीं है। माँकी अधीनतामें अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निश्चिन्त रहता है। माँ उसका जितना ख्याल रखती है, उतना वह अपना खयाल नहीं रख सकता। इसलिये रामायणमें भगवान् कहते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

(मानस, अरण्य० ४३। २)

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७); **'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'** (मानस, उत्तर० ११७। १)। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं; अतः उनकी अधीनता पराधीनता नहीं है। जो इस तत्त्वमें गहरा नहीं उतरा है, उसीको ऐसा दीखता है कि भक्तिमें पराधीनता है। वास्तवमें उसने ईश्वरको 'पर' मानकर अन्य सत्ताको स्वीकार कर लिया! 'पर' वही होता है, जो बदलता है और 'स्व' वही होता है, जो कभी बदलता नहीं। शरीर बदलता है, पर स्वयं नहीं बदलता। मात्र संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। उस परमात्माके अधीन होना असली स्वाधीनता है। हमारी एकता परमात्माके साथ है और शरीरकी एकता संसारके साथ है। अतः हम और परमात्मा एक हैं, शरीर और संसार एक हैं। हम और परमात्मा अविनाशी हैं, शरीर और संसार नाशवान् हैं। नाशवान्के सम्बन्धसे पराधीनता होती है और अविनाशीके सम्बन्धसे स्वाधीनता होती है।

मीराबाईने कहा है—**'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न**

कोई'। इसी तरह हमारे भी भगवान् ही हैं, दूसरा कोई हमारा नहीं है। यह अपना कहलानेवाला शरीर भी हमारा नहीं है, प्रत्युत पराया है। शरीर-संसारके साथ हमारा नित्य-निरन्तर वियोग है और परमात्माके साथ हमारा नित्य-निरन्तर योग है। इसलिये संसारके साथ हमारा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता और परमात्मासे हमारा सम्बन्ध कभी छूट ही नहीं सकता।

कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी अकेले होते हैं और भक्त भगवान्‌के साथ होता है। शरीर, पदार्थ, क्रिया आदि बदलनेवाली वस्तुओंके साथ अपना सम्बन्ध न मानना, उनसे असंग होना 'अकेला' होना है। कर्मयोगी त्यागसे (संसारकी वस्तु संसारमें लगाकर) असंग होता है और ज्ञानयोगी विवेकसे (संसारसे स्वयं अलग होकर) असंग होता है। मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के साथ रहना भक्तियोग है। कर्मयोगी एवं ज्ञानयोगी संसारसे असंग होते हैं, पर भक्त भगवान्‌से प्रेम करता है। असंगताकी अपेक्षा प्रेम विलक्षण है। प्रेममें जो आनन्द है, वह असंगता (मुक्ति) में नहीं है। कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी तो स्वयं अपना उद्धार करते हैं—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६। ५); **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२। ४); परन्तु भक्तका उद्धार भगवान् करते हैं—**'तेषामहं समुद्धर्ता'** (गीता १२। ७)। अतः सभी साधनोंमें भक्ति विलक्षण है!

'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी'

(मानस, उत्तर० ४५। ३)

७. प्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता

गीतामें आया है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) अर्थात् असत् (वस्तु, व्यक्ति, क्रिया) की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत् (परमात्मतत्त्व) का अभाव विद्यमान नहीं है। तात्पर्य है कि असत्का अभाव-ही-अभाव है, सिवाय अभावके कुछ नहीं और सत्का भाव-ही-भाव है, सिवाय भावके कुछ नहीं। इस विवेकको महत्त्व न देकर जब मनुष्य शरीर (असत्) को ही अपना स्वरूप मान लेता है अर्थात् शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' कर लेता है, तब उसमें अभावकी उत्पत्ति हो जाती है। कारण कि अभावरूप असत्के सम्बन्धसे अभाव ही पैदा होता है। अभाव उत्पन्न होनेपर मनुष्य अभावके दुःखसे दुःखी हो जाता है। अभावके दुःखसे दुःखी होनेपर उसमें उस दुःखकी निवृत्तिके लिये कामना पैदा होती है। कामना पैदा होनेपर फिर अभाव बढ़ता ही जाता है, जिससे वह स्वाधीन नहीं रहता, प्रत्युत पराधीन हो जाता है। कारण कि एक कामना पूरी होनेपर दूसरी कामना पैदा हो जाती है और यह क्रम चलता ही रहता है। सम्पूर्ण कामनाएँ कभी किसीकी भी पूरी नहीं होतीं।

परमात्मतत्त्व सत्-चित्-आनन्दमय है। परन्तु प्रेमके आदान-प्रदानके लिये मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग करके जब मनुष्य असत्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसमें सत्, चित् और आनन्दकी आवश्यकता (जिज्ञासा) उत्पन्न हो जाती है, जिसकी पूर्तिके लिये वह असत्की कामना करता है। मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं—यह 'सत्' की आवश्यकता है। मैं सब कुछ जान लूँ,

कभी अज्ञानी न रहूँ—यह 'चित्' की आवश्यकता है। मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दु:खी न रहूँ—यह 'आनन्द'की आवश्यकता है। परन्तु असत्के साथ सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह सत्-चित्-आनन्दकी आवश्यकताको असत्के द्वारा ही पूरी करना चाहता है; जैसे—वह शरीरके द्वारा जीना चाहता है, बुद्धिके द्वारा ज्ञानी बनना चाहता है और इन्द्रियाँ—अन्त:करणके द्वारा सुखी होना चाहता है। इस प्रकार उसमें आवश्यकता तो सत्-तत्त्वकी रहती है, पर उसकी पूर्तिके लिये कामना असत्की करता है—यही उसकी मूल भूल है। असत्की कामना करनेसे न तो आवश्यकताकी पूर्ति होती है और न कामनाका नाश होता है*। अत: मनुष्य सत्-तत्त्वसे विमुख हो जाता है और असत्को ही सत्य मानकर, उसको ही महत्ता देकर उसमें आसक्त हो जाता है। वह असत्को ही अपने जीवनका लक्ष्य मान लेता है। परिणाम यह होता है कि वह पराधीन, दु:खी, क्लान्त, पराजित, अभावग्रस्त और

* आवश्यकता और कामना—दोनोंमें भेद है। आवश्यकता उसकी होती है, जो अविनाशी, चेतन और अपनेसे अभिन्न हो एवं कामना उसकी होती है, जो नाशवान्, जड़ और अपनेसे भिन्न हो। तात्पर्य है कि आवश्यकता नित्य-तत्त्व (सत्) की होती है और कामना अनित्य-तत्त्व (असत्) की होती है। इसलिये भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम, स्वरूपबोध, मोक्ष आदिकी इच्छा कामना नहीं है, प्रत्युत आवश्यकता है। यह नियम है कि आवश्यकताकी तो पूर्ति ही होती है, पर कामनाकी निवृत्ति ही होती है। कामनाकी पूर्ति होना असम्भव है।

जब जीव अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर संसार (जड़ता) के साथ अपना सम्बन्ध (मैं-मेरापन) मान लेता है, तभी उसमें आवश्यकता और कामना—दोनोंकी उत्पत्ति होती है। चेतनकी मुख्यतासे आवश्यकता और जड़की मुख्यतासे कामना होती है। संसारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है।

अनाथ हो जाता है। इतना ही नहीं, असत्‌की आसक्ति दृढ़ होनेपर वह पराधीनतामें ही स्वाधीनता, दुःखमें ही सुख, क्लान्ति (थकावट) में ही विश्राम, पराजयमें ही विजय, अभावमें ही भाव और अनाथपनेमें ही सनाथपना मान बैठता है और मनुष्यतासे पशुताकी ओर चला जाता है!

मनुष्य कितना ही पतित क्यों न हो जाय, उसमें सत्-चित्-आनन्दकी जिज्ञासा दब तो सकती है, पर मिट नहीं सकती। उसकी वास्तविक आवश्यकता कभी नष्ट नहीं होती। जैसे मनुष्य थोड़ी भी दरिद्रताको नहीं चाहता, ऐसे ही वह अपने नाशको, अपने अनजानपनेको और अपने दुःखको थोड़ा भी नहीं चाहता। कभी सद्ग्रन्थ, सद्विचार, सत्संगके द्वारा अथवा कोई आफत आनेपर भगवत्कृपासे मनुष्यकी दृष्टि असत्‌से हटकर उसके प्रकाशक सत्‌की ओर चली जाती है, वह असत्‌से विमुख होकर उसके आधार सत्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसकी रुचि असत्‌से हटकर सत्-तत्त्वमें हो जाती है, असत्‌की कामना न रहकर सत्‌की जिज्ञासा हो जाती है अर्थात् आवश्यकता और कामनाका भेद स्पष्ट हो जाता है। भेद स्पष्ट होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असत्‌से माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता। असत्‌का सम्बन्ध मिटनेपर मनुष्यको शान्तरसका अनुभव हो जाता है। शान्तिको सत् मानकर उसका भोग न करनेसे उसको अखण्डरसका अनुभव होता है और अखण्डरसमें भी सन्तोष न करनेपर उसको अनन्तरसका अनुभव हो जाता है।

असत् (जड़ता) से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्तरसका अनुभव होता है और सत् (चिन्मयता) में स्थिति होनेपर अखण्डरसका अनुभव होता है। कर्मयोगमें शान्तरसका और ज्ञानयोगमें अखण्डरसका अनुभव होता है। कर्मयोग और

ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही है* अर्थात् दोनोंके परिणाममें अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति (मोक्ष) का अनुभव होता है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। इसलिये जब मुक्त पुरुषको अखण्डरसमें भी सन्तोष नहीं होता, तब उसको भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे अनन्तरस प्रदान करते हैं। अनन्तरसको ही 'प्रेम' कहते हैं। मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी तो पूर्ति होती है, पर इस प्रेमकी कभी पूर्ति नहीं होती। जैसे धनकी प्राप्ति होनेपर भी उसका लोभ बढ़ता रहता है; ऐसे ही प्रेमकी प्राप्ति अर्थात् जागृति होनेपर भी यह प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। इसलिये इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा गया है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारदभक्ति० ५४)।

मोक्ष (अखण्डरस) प्राप्त होनेपर 'मैं मुक्त हूँ अथवा मैं योगी हूँ या मैं ज्ञानी हूँ'—इस प्रकार अहम्‌की एक सूक्ष्म गन्ध रहती है। अहम्‌की यह सूक्ष्म गन्ध मुक्तिमें तो बाधक नहीं होती, पर प्रेम (अनन्तरस) की जागृतिमें बाधक होती है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें परस्पर मतभेद रहता है। प्रेम जाग्रत् होनेपर फिर मतभेद नहीं रहता। अतः प्रेमकी जागृतिमें ही पूर्णता है।

परमात्माका स्वरूप सत्-चित्-आनन्दमय है। 'सत्' में असीम, अनन्त, अपार सौन्दर्य है, 'चित्' में असीम, अनन्त, अपार ऐश्वर्य है और 'आनन्द' में असीम, अनन्त, अपार माधुर्य है। सत्‌में सौन्दर्य इसलिये है कि अपनी सत्ताकी

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५।४-५)

तरफ सबका आकर्षण होता है कि मैं सदा बना रहूँ। अपनी सत्तामें कभी अरुचि नहीं होती। चितमें ऐश्वर्य इसलिये है कि मैं इतनी बातोंका जानकार हूँ—इस तरह अपनेमें विशेष जानकारी (विद्वत्ता)का, एक संग्रहका, एक प्रभावका अनुभव होता है।* आनन्दमें माधुर्य इसलिये है कि आनन्द सबको मधुर, मीठा लगता है। सत्, चित् और आनन्द तीनों एक होते हुए भी केवल दृष्टिभेदसे अलग-अलग प्रतीत होते हैं। वास्तवमें जहाँ सत् है, वहाँ चित् और आनन्द भी हैं। जहाँ चित् है, वहाँ सत् और आनन्द भी हैं। जहाँ आनन्द है, वहाँ सत् और चित् भी हैं। परमात्मतत्त्व (अंशी) में तो सत्-चित्-आनन्द पूर्णरूपसे विद्यमान हैं, पर उनके अंश जीवमें ये आंशिक रूपसे विद्यमान हैं।

संसारमें जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य दीखता है, वह प्रतिक्षण मिटनेवाला है। परन्तु संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यकी दृष्टि संसारमें ही अटक जाती है, उससे आगे परमात्मतत्त्वकी तरफ जाती ही नहीं। रागके कारण वह संसारके क्षणिक सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्यको ही स्थायी तथा सत्य मान बैठता है। यद्यपि संसारमें दीखनेवाला सौन्दर्य-ऐश्वर्य-माधुर्य भी उस परमात्माके ही सौन्दर्य-ऐश्वर्य-माधुर्यकी एक आभा, झलक है†, तथापि

---

*राजा जनकजी कहते हैं—

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
(मानस, अयोध्या० २८८। २-३)

†जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
(मानस, बाल० ११७। ४)

मनुष्य उसको परमात्माका न मानकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेता है और उसको ही महत्ता दे देता है। सांसारिक सौन्दर्यको महत्ता देनेसे ममता, ऐश्वर्यको महत्ता देनेसे कामना और माधुर्यको महत्ता देनेसे आसक्ति पैदा हो जाती है। परिणामस्वरूप उसका जीवन विकारी, अशान्त और परतन्त्र हो जाता है। परन्तु जब संसारसे माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता, तब ममता, कामना और आसक्तिका नाश हो जाता है और मनुष्य निर्विकार, शान्त और स्वतन्त्र हो जाता है अर्थात् संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। जब भगवान्‌की अहैतुकी कृपा उस मुक्तिको भी फीका कर देती है, तब प्रेमकी जागृति होती है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर हजार वाटके लट्टूका प्रकाश मिट तो नहीं जाता, पर सूर्यके सामने उस प्रकाशका उतना महत्त्व नहीं रहता, ऐसे ही प्रेमका उदय होनेपर निर्विकारता, शान्ति और स्वतन्त्रता मिट तो नहीं जाती, पर उनका उतना महत्त्व नहीं रहता। महत्त्व न रहनेसे 'मैं निर्विकार हूँ; मैं शान्त हूँ; मैं स्वतन्त्र हूँ'—यह सूक्ष्म अहंभाव तथा इससे पैदा होनेवाले सभी दार्शनिक मतभेद सर्वथा मिट जाते हैं अर्थात् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि जितने भी मतभेद हैं, सब वासुदेवरूप हो जाते हैं, जो कि वास्तवमें है। इसलिये '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्तके हृदयमें किसी एक मतका आग्रह नहीं रहता, प्रत्युत सबका समान आदर रहता है। किसी एक मतका आग्रह न होनेसे उसके द्वारा किसीका भी कभी अनादर नहीं होता।

८. प्रतिकूलतामें विशेष भगवत्कृपा

मनुष्य अनुकूलताको तो चाहता है, पर प्रतिकूलताको नहीं चाहता—यह उसकी कायरता है। अनुकूलताको चाहना ही खास बन्धन है। इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है। इस चाहनाको मिटानेके लिये ही भगवान् बहुत प्यारसे उसके हितके लिये प्रतिकूलता भेजते हैं। प्रतिकूलतामें विजातीय वस्तु (संसार) से हमारा सम्बन्ध छूटता है। यदि जीवनमें प्रतिकूलता आये तो समझना चाहिये कि मेरे ऊपर भगवान्‌की बहुत अधिक, दुनियासे निराली कृपा हो गयी है। प्रतिकूलतामें कितना आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता है, क्या बताऊँ? प्रतिकूलताकी प्राप्ति मानो साक्षात् परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति है। भगवान्‌ने कहा है—'**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**' (गीता १३। ९)। प्रतिकूलता आनेपर प्रसन्न रहना—यह समताकी जननी है। गीतामें इस समताकी बहुत प्रशंसा की गयी है।

भगवान् विष्णु सर्वदेवोंमें श्रेष्ठ तभी हुए, जब भृगुजीके द्वारा छातीपर लात मारनेपर भी वे नाराज नहीं हुए। वे तो भृगुजीके चरण दबाने लगे और बोले कि 'भृगुजी! मेरी छाती तो बड़ी कठोर है और आपके चरण बहुत कोमल हैं; आपके चरणोंमें चोट आयी होगी!' उन्हीं भगवान्‌के हम अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। उनके अंश होकर भी हम इस प्रकार छातीपर लात मारनेवालेका हृदयसे आदर नहीं कर सकते तो हम क्या भगवान्‌के भक्त हैं? प्रतिकूलताकी प्राप्तिको स्वर्णिम अवसर मानना चाहिये और नृत्य करना चाहिये कि अहो! भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा हो गयी। ऐसा कहनेमें संकोच होता है कि इस स्वर्णिम अवसरको प्रत्येक आदमी पहचानता नहीं। यदि किसीको कहें कि 'तुम पहचानते

नहीं हो' तो उसका निरादर होता है। अगर ऐसा अवसर मिल जाय और उसकी पहचान हो जाय कि इसमें भगवान्‌की बहुत विशेष कृपा है तो यह बड़े भारी लाभकी बात है।

गीतामें आया है कि जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है और प्रसन्नता प्राप्त होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है तथा उसकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है (२। ६४-६५)। जो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें प्रसन्न रहे, उसकी बुद्धि परमात्मामें बहुत जल्दी स्थिर होगी। कारण कि प्रतिकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता समताकी माता (जननी) है। अगर यह प्रसन्नता मिल जाय तो समझना चाहिये कि समताकी तो माँ मिल गयी और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी दादी मिल गयी। दादी कह दो या नानी कह दो।

प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें भगवान्‌की बड़ी विचित्र कृपा है, मुख्य कृपा है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि आप प्रतिकूलताकी चाहना करें। चाहना तो अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनोंकी ही नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत भगवान् जो परिस्थिति भेजें, उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। हमारा सम्बन्ध तो भगवान्‌के साथ है, परिस्थितिके साथ नहीं। यदि भगवान् प्रतिकूलता भेजें तो समझना चाहिये कि उनकी बहुत कृपा है।

उन्होंने अनुकूलताका राग मिटानेके लिये प्रतिकूलता भेजी है। वाल्मीकिरामायणके अरण्यकाण्डमें आया है—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

(३७। २)

संसारमें प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो बहुत मिलेंगे, पर जो अप्रिय होनेपर भी हितकारी हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—'**सती देवे, संतोषी पावे। जाकी वासना तीन लोकमें जावे॥**' भिक्षा देनेवाली सती-साध्वी स्त्री हो और भिक्षा लेनेवाला संतोषी हो तो उसकी सुगन्ध तीनों लोकोंमें फैलती है। ऐसे ही देनेवाले भगवान् हों और लेनेवाला भक्त हो अर्थात् भगवान् विशेष कृपा करके प्रतिकूलता भेजें और भक्त उस प्रतिकूलताको स्वीकार करके मस्त हो जाय तो इसका असर संसारमात्रपर पड़ता है।

दु:खके समान उपकारी कोई नहीं है; किंतु मुश्किल यह है कि दु:खका प्रत्युपकार कोई कर नहीं सकता। उसके तो हम ऋणी ही बने रहेंगे; क्योंकि दु:ख बेचारेकी अमरता नहीं है। वह बेचारा सदा नहीं रहता, हमारा उपकार करके मर जाता है। उसका तर्पण नहीं कर सकते, श्राद्ध नहीं कर सकते। उसके तो ऋणी ही रहेंगे। इसलिये दु:ख आनेपर भगवान्‌की बड़ी कृपा माननी चाहिये। छोटा-बड़ा जो दु:ख आये, उस समय नृत्य करना चाहिये कि बहुत ठीक हुआ। इस तत्त्वको समझनेवाले मनुष्य इतिहासमें बहुत कम हुए हैं। माता कुन्ती इसे समझती थीं, इसलिये वे भगवान्‌से वरदान माँगती हैं—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

'हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।' माता कुन्ती विपत्तिको अपना प्यारा सम्बन्धी समझती हैं; क्योंकि इससे भगवान्‌के दर्शन

मिलते हैं। अतः विपत्ति भगवद्दर्शनकी माता हुई कि नहीं? इसलिये दुःख आना मनुष्यके लिये बहुत आनन्दकी बात है। दुःखमें प्रसन्न होना बहुत ऊँचा साधन है। इसके समान कोई साधन नहीं है।

यदि साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहे तो वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जाय—**'सुखदुःखे समे कृत्वा'** (गीता २। ३८)। सुखकी चाहना करते हैं, पर सुख मिलता नहीं और दुःखकी चाहना नहीं करते, पर दुःख मिल जाता है। अतः दुःखकी चाहना करनेसे दुःख नहीं मिलता, यह तो कृपासे ही मिलता है। सुखमें तो हमारी सम्मति रहती है, पर दुःखमें हमारी सम्मति नहीं रहती। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि रहती है, वह चीज अशुद्ध हो जाती है। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि नहीं है, वह चीज केवल भगवान्‌की शुद्ध कृपासे मिलती है। जो हमारे साथ द्वेष रखता है, हमें दुःख देता है, उसका उपकार हम कर नहीं सकते। हमारा उपकार वह स्वीकार नहीं करेगा। वह तो हमें दुःखी करके प्रसन्न हो जाता है। हमारे द्वारा बिना कोई चेष्टा किये दूसरा प्रसन्न हो जाय तो कितने आनन्दकी बात है। अतः आगेसे मनमें पक्का विचार कर लेना चाहिये कि हमें हर हालतमें प्रसन्न रहना है। चाहे अनुकूलता आये, चाहे प्रतिकूलता आये, उसमें हमें प्रसन्न रहना है; क्योंकि वह भगवान्‌का भेजा हुआ कृपापूर्ण प्रसाद है।

९. अन्त मति सो गति

मनुष्य यदि, प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करे तो उसको पीछे पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। इसलिये हम जो कुछ करें, उसके विषयमें पहले विचार करना चाहिये। सबका अलग-अलग कर्तव्य होता है। कोई कुछ करता है तो कोई कुछ करता है। परन्तु यहाँ हम उस खास कामकी चर्चा करते हैं, जिसे सबको करना ही पड़ेगा अर्थात् सबको एक-न-एक दिन शरीर छोड़कर यहाँसे जाना ही पड़ेगा। बालक जन्मता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं होगा, पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा, विवाह करेगा कि नहीं करेगा, व्यापार आदि करेगा कि नहीं करेगा, उसकी सन्तान होगी कि नहीं होगी, वह धनी बनेगा कि नहीं बनेगा आदि सब बातोंमें सन्देह रहता है, पर वह मरेगा कि नहीं मरेगा—इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता अर्थात् वह मरेगा ही। अतः मरनेके बाद हमारी क्या गति होगी—इस विषयमें विचार करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुनने सात प्रश्न किये थे। उनमें सातवाँ प्रश्न था कि 'अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं?' उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

यह नियम केवल आपके लिये ही है क्या? इसपर भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

जीवकी गतियाँ

जीवकी गतियोंमें एक मुक्ति है, जिसको कल्याण, तत्त्वप्राप्ति, तत्त्वज्ञान आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। इस मुक्तिके अनेक भेद माने गये हैं, उनमें दो मुख्य हैं—(१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति का अर्थ है—जीते हुए मुक्त हो जाना।* अभी वर्तमान अवस्थामें प्राणोंके रहते हुए मुक्त हो जायँ—इस स्थितिका नाम जीवन्मुक्ति है। विदेहमुक्ति वह कहलाती है, जो मरनेके बाद होती है†। ये दो भेद निर्गुण तत्त्वको माननेवालोंके लिये बताये गये हैं। सगुण-साकार भगवान्‌को माननेवालोंकी मुक्ति पाँच तरहकी बतायी गयी है—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भगवान्‌के लोक (परमधाम) में जाकर रहना

* मुक्ति वास्तवमें पहलेसे ही है, क्योंकि संसार विजातीय है और विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होता ही नहीं, केवल सम्बन्धकी मान्यता होती है। सम्बन्धकी मान्यता मिटते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है।

† मृत्युके बाद विदेहमुक्ति होना लोगोंकी दृष्टिसे कहा जाता है। वास्तवमें जीवन्मुक्त होते ही मनुष्य विदेह (शरीरसे असंग) हो जाता है।

'सालोक्य मुक्ति' है। भगवद्धाममें भगवान्‌के समान ऐश्वर्य प्राप्त करना 'सार्ष्टि मुक्ति' है। भगवान्‌के समीप जाकर रहना 'सामीप्य मुक्ति' है। भगवान्‌के समान ही शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि धारण करके वैसे ही रूपसे साथमें रहना 'सारूप्य मुक्ति' है। भगवान्‌में ही अपनेको मिला देना, उनसे अभिन्न हो जाना 'सायुज्य मुक्ति' है। इनमेंसे भक्त जिस मुक्तिको चाहता है, उसको वही मुक्ति मिलती है। यह सब प्रकारकी मुक्तियाँ जीवकी ऊर्ध्वगतिके अन्तर्गत हैं। जीवकी मुख्य तीन गतियाँ होती हैं—ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति। गीतामें आया है--

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(१४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं और निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं।'

ऊर्ध्वगतिमें जानेवालोंके दो भेद हैं—(१) ऊपरके लोकोंमें जाकर परमात्माको प्राप्त हो जाना, पीछे लौटकर नहीं आना*और (२) स्वर्गादि भोगभूमियोंमें जाकर अपने पुण्योंके अनुसार सुख भोगना और पुण्य क्षीण होनेपर पीछे लौटकर मृत्युलोकमें आना। मरकर पुनः मनुष्ययोनिमें जन्म लेना मध्यगति है। अधोगतिके दो भेद हैं—(१) चौरासी

* मनुष्य तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर ही परमात्माको प्राप्त होता है—'स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते' (गीता १४। २६)। परन्तु यहाँ ऊर्ध्वगतिको सत्त्वगुणके अन्तर्गत इसलिये कहा गया है कि गीताका सत्त्वगुण केवल सांसारिक सुख देनेवाला ही नहीं है, प्रत्युत अविनाशी सुख (मुक्ति) देनेवाला भी है। इसलिये गीतामें सत्त्वगुणको 'अनामय' (निर्विकार) कहा गया है जो कि मुक्तिका वाचक है। परन्तु जब इसके साथ रागरूप रजोगुण मिल जाता है, तब (इससे होनेवाले सुख और ज्ञानका संग करनेसे) यह बन्धकारक हो जाता है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ (गीता १४। ६)
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्। (गीता २। ५१)

लाख योनियों (साँप, बिच्छू, सूकर आदि योनियों) में जाना और (२) रौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें जाना। इस प्रकार पाँच गतियाँ हो गयीं—दो ऊर्ध्वगति, एक मध्यगति और दो अधोगति।*

अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति

अन्तकालीन चिन्तन और उसके अनुसार गतिको समझनेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक आदमी अपना चित्र खिंचवानेके लिये बैठा। फोटोग्राफरने उससे कहा कि ठीक तरहसे बैठना, फोटो खिंचते समय कोई अंग न हिले। ज्यों ही चित्र खिंचनेका समय आया, त्यों ही उस आदमीकी नाकपर एक मक्खी आकर बैठ गयी। अब यदि हिल जाऊँगा तो चित्र बिगड़ जायगा—ऐसा विचार करके उसने मक्खीको हटानेके लिये नाकको सिकोड़ा। उतनेमें ही उसका चित्र खिंच गया। जब चित्रको धुलाईके बाद उसने देखा तो चित्र बिगड़ा हुआ मिला। चित्र देखकर वह बहुत नाराज हुआ और बोला कि तुमने मेरा चित्र बिगाड़ दिया! फोटोग्राफरने कहा कि इसमें मेरी क्या गलती है, चित्र खिंचते समय तुमने जैसी आकृति बनायी थी, वैसी ही चित्रमें आ गयी। अब इस चित्रमें परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी तरह मृत्युके समय मनुष्यके

* द्रष्टव्य—गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' ग्रन्थका पच्चीसवाँ लेख—'गीतामें जीवकी गतियाँ।'

भीतर जैसा चिन्तन होगा, उसीके अनुसार उसको योनिकी प्राप्ति होगी। चित्र तो दूसरा भी खींचा जा सकता है, पर योनि दूसरी बदली नहीं जा सकती। इसलिये मनुष्यको हर समय सावधान रहनेकी आवश्यकता है; क्योंकि मृत्युके समयका कोई पता नहीं, न जाने कब आ जाय। अतः कोई खराब चिन्तन आ जाय तो सावधान हो जायँ कि यदि इस समय मृत्यु हो जाती तो क्या गति होती? भगवान् कहते हैं—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (गीता ८। ७) अर्थात् तुम सब समय मेरा स्मरण करो। फिर कोई जोखिम नहीं रहेगा। जैसे जीवनबीमा हो जाता है तो फिर मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। मोटरका बीमा हो जाय तो उसमें टूट-फूट होनेपर कोई चिन्ता नहीं होती कि पैसे वापस मिल जायँगे। इसी तरह 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस तरह भगवान्के साथ अपनेपनकी घनिष्ठता हो जाय, भगवत्सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् हो जाय, और इसके बाद हर समय भगवान्का चिन्तन स्वतः होता रहे, करना न पड़े, तो समझो कि इस मानव-जीवनका बीमा हो गया। हम भगवान्के हो गये तो समझो हमने बीमाके पैसे जमा कर दिये और हरदम भगवान्का चिन्तन कर रहे हैं तो समझो दैनिक देय (किश्त) दे रहे हैं!

अन्तकालमें जैसा चिन्तन होता है, वैसी ही गति होती है, पर अन्तकालका पता नहीं कि कब आ जाय! अगर सब समयमें प्रभुका स्मरण होता रहे तो मृत्यु कभी भी आ जाय, कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि अब कोई खतरा नहीं रहा। जैसे भगवान्की प्राप्तिमें अन्तकालका स्मरण कारण है, ऐसे ही पशु-पक्षी आदि योनियोंकी प्राप्तिमें भी अन्तकालका स्मरण

ही कारण है। जो अन्तसमयमें याद आ जायगा, उसीमें जाना पड़ेगा। बहुत-से लोग पशु-पक्षियोंको पालते हैं। जो कुत्ता पासमें रखता है, उसको मृत्युसमयमें कुत्ता याद आ जायगा तो मरकर कुत्ता बनना ही पड़ेगा। जैसे कैमरेकी फिल्ममें सामनेवाली आकृति पकड़ी जाती है, ऐसे ही अन्तकालमें कुत्तेकी तरफ वृत्ति जानेपर वही आकृति पकड़ी जाती है और प्राणोंके साथ बाहर निकलती है। जब उस आकृतिके समान दूसरी आकृति सामने आती है, तब वह उसके द्वारा पकड़ी जाती है। अत: वह आकृति कुत्तेके द्वारा पकड़ी जाती है और कुत्तेके श्वासोंके द्वारा अथवा खाद्य पदार्थके द्वारा अथवा जलके द्वारा जीवका कुत्तेमें प्रवेश होता है। फिर वह गर्भाधानके द्वारा कुतियामें जाता है और गर्भ बनकर परिपक्व होनेपर जन्म लेता है। यह पहले खींचे गये चित्रका तैयार होकर सामने आना है! अब प्रश्न उठता है कि वह कुत्तेमें ही क्यों पकड़ा गया? जैसे, आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा जो शब्द फेंका जाता है, वह रेडियोके द्वारा पकड़ा जाता है। रेडियोमें अंक लिखे रहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि अमुक स्टेशनसे जो शब्द फेंका गया, वह इतनी गतिसे फेंका गया। वह शब्द वहाँसे बड़ी तेजीसे चलता है और पूरे विश्वमें चक्कर लगाता है। जिस गतिसे वह शब्द फेंका गया, उस गतिके अंकोंपर काँटा होनेसे वह शब्द रेडियोके द्वारा पकड़ा जाता है और बोलने लगता है। परन्तु जहाँ उस गतिके अंकोंपर काँटा नहीं होता, वहाँ वह शब्द चक्कर लगाते हुए भी पकड़ा नहीं जाता। तात्पर्य है कि वह शब्द सजातीयता होनेपर पकड़ा जाता है। ऐसे ही अन्तकालमें जिसका स्मरण करता हुआ यह प्राणी शरीर छोड़ता है, उसकी सजातीयता जिस प्राणीमें है, उस प्राणीमें वह पकड़ा जाता है। विजातीयतामें वह नहीं पकड़ा जाता।

प्राणोंका निष्कासन

जिस क्षण पिण्ड-प्राणका वियोग होता है, उस समय सब अंगोंसे प्राण संकुचित होते हैं। प्राण पाँच माने गये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान*। इनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये बारह रहते हैं। इन सत्रह तत्त्वोंका सूक्ष्मशरीर माना जाता है। अभी हमारे सामने हाड़-मांसका जो शरीर दीखता है, यह स्थूलशरीर है। स्थूलशरीरके भीतर सूक्ष्मशरीर है और सूक्ष्मशरीरके भीतर कारणशरीर है। जाग्रत्-अवस्था स्थूलशरीरकी है। स्वप्नावस्था सूक्ष्मशरीरकी है। सुषुप्ति-अवस्था (गाढ़ नींद, जिसमें कुछ याद नहीं रहता) कारणशरीरकी है। हम चलते-फिरते हैं—यह स्थूलशरीरका काम है। हम सोचते हैं, मनन व चिन्तन करते हैं, विचार करते हैं, मनोराज्य कहते हैं—यह सूक्ष्मशरीरका काम है। हमारा जो स्वभाव है, आदत है, प्रकृति है—यह कारणशरीरमें है। स्थूलशरीरमें क्रिया मुख्य है, सूक्ष्मशरीरमें चिन्तन मुख्य है और कारण-शरीरमें स्थिरता मुख्य है। मृत्युके समय सूक्ष्मशरीर (जिसके भीतर कारणशरीर भी है) स्थूलशरीरसे विमुक्त होता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये प्राणोंके भीतर रहते हैं। पहले सब अंगोंसे प्राण संकुचित होते हैं। इसलिये चलने-फिरनेकी शक्ति, लेने-देनेकी शक्ति, बोलनेकी शक्ति, सुननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति आदि सब संकुचित होकर हृदयमें आती हैं। फिर वह सूक्ष्मशरीर प्राणवायुके द्वारा बाहर निकलता

* हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

'प्राण हृदयमें, अपान गुदामें, समान नाभिमें, उदान कण्ठमें और व्यान सम्पूर्ण शरीरमें रहता है।'

है। ऊर्ध्वगतिमें जानेवालोंके प्राण ऊपरके छिद्रों (कान, आँख, नाक, मुख) से निकलते हैं और अधोगतिमें जानेवालोंके प्राण नीचेके छिद्रोंसे निकलते हैं। योगाभ्यास, प्राणायाम करके जो प्राण छोड़ते हैं, उनके प्राण शब्दके साथ ब्रह्मरन्ध्र (दसवें द्वार)से निकलते हैं।

कर्मफलका भोक्ता

हम यहाँ पाप अथवा पुण्य करते हैं, शुभ अथवा अशुभ करते हैं, किसीका हित अथवा अहित करते हैं तो इस शरीरसे और यहाँके पदार्थोंसे करते हैं। मृत्युके समय शरीर भी छूट जाता है और पदार्थ भी छूट जाते हैं, फिर अगले जन्ममें पाप-पुण्यका फल किसको मिलता है? अगर हाथोंसे किसी मनुष्यकी हत्या की है तो उसका दण्ड भी इन्हीं हाथोंको मिलना चाहिये, पर ये तो मरकर खाक हो गये, अब दण्ड किसको मिलेगा? इसपर विचार करें। जैसे, कोई आदमी मोटर चला रहा है और गलतीसे कोई मनुष्य मोटरके नीचे आकर मर गया। उस मरनेवाले मनुष्यको ड्राईवरने छुआ ही नहीं, पर दण्ड ड्राईवरको ही होगा, मोटरको नहीं। यदि कहा जाय कि दण्ड ड्राईवरको ही होनेका नियम है तो उस दुर्घटनाके समय एक ड्राईवर फुटपाथपर खड़ा था, क्या उसको दण्ड होगा? उसको दण्ड नहीं होगा; क्योंकि वह मोटरमें नहीं था। यदि मोटरमें बैठे हुए ड्राईवरको दण्ड होता है, तो मोटरके ड्राईवरके पास दूसरा भी ड्राईवर बैठा था, क्या उसको दण्ड होगा? उसको भी दण्ड नहीं होगा; क्योंकि वह मोटरमें तो था, पर मोटर चला नहीं रहा था। अत: दण्ड मोटर चलानेवाले ड्राईवरको ही होगा। ऐसे ही इस शरीरके द्वारा किसीकी हत्या की, चोरी की, अण्डे-मांसादि महान् अपवित्र चीजोंका सेवन किया तो

इन पापोंका दण्ड उसको होगा, जो इस शरीरका संचालक बना हुआ है। जो इस शरीरको 'मैं' और 'मेरा' कहता है, इस शरीरका मालिक बना हुआ है, उसको दण्ड होगा।

यह शरीर मोटरकी तरह है, एक रहनेकी जगह है। यह शरीर 'मैं' नहीं है। हरेक मनुष्य शरीरको 'मेरा' कहता है; जैसे—हाथ मेरा, पाँव मेरा, कान-नाक-जीभ मेरी, सीना मेरा, पीठ मेरी, पेट मेरा, गर्दन मेरी, मस्तक मेरा, रक्त मेरा आदि-आदि। जो 'मेरा' कहनेवाला होता है, वह 'मैं' से अलग होता है। शरीर मैं नहीं हूँ, प्रत्युत शरीर मेरा है। पर भूलसे कह देते हैं कि शरीर मैं हूँ। विचार करें, जब एक-एक अंग मैं नहीं, फिर पूरा मिला हुआ मैं कैसे! सेरभर चावल हों तो उसका एक-एक दाना तो है चावल और जब मिलकर एक सेर हो जायँ तो हो जाय गेहूँ, क्या ऐसा हो सकता है? नहीं हो सकता। इसलिये शरीर मैं नहीं है, पर भूलसे इसको मैं मान लेते हैं। शरीर तो यहीं पड़ा रहता है और इसको 'मैं' और 'मेरा' कहनेवाला चल देता है और पाप-पुण्यका फल भोगता है।

तात्पर्य यह हुआ कि जो कर्म करता है, वही कर्मका भोक्ता बनता है। कर्ता और भोक्ता क्या चीज है? इसपर विचार करें। हम मोटरमें बैठकर कहीं गये। वहाँ किसीने हमसे पूछा कि कैसे आये? तो हमने कहा कि हम मोटरसे आये। मोटर हमें वहाँ ले गयी। यदि हम मोटरमें ड्राईवरको न बैठायें तो क्या मोटर हमें वहाँ ले जायगी? नहीं ले जा सकती। ड्राईवर हमें वहाँ ले जाता है। अगर हम कहीं बैठ जायँ और ड्राईवरको भी बैठा दें और कहें कि आप हमें अमुक जगह ले चलिये तो क्या वह हमें वहाँ ले जा सकता है? नहीं ले जा सकता। हमें वहाँ न तो केवल ड्राईवर ले जा सकता है, न केवल मोटर ले जा सकती है। वहाँ ले

जानेकी क्रिया न तो केवल ड्राईवरसे होती है, न केवल मोटरसे होती है, प्रत्युत जब दोनों मिलते हैं, तब क्रिया होती है। जब चालक होता है, तब यन्त्र चलता है। अगर चालक न हो तो यन्त्र नहीं चल सकता। ऐसे ही जब जीवात्मा स्थूलशरीरका संचालन करता है, तब इससे कार्य होते हैं। शरीरके बिना जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता और जीवात्माके बिना शरीर कुछ नहीं कर सकता। अतः दोनोंके संयोगसे क्रिया होती है। जो करता है, वही भोगता है।

क्रिया करनेमें शरीरकी प्रधानता होती है और फल भोगनेमें जीवत्माकी प्रधानता होती है। जैसे, मोटरके द्वारा किसी मनुष्यकी मृत्यु हुई तो उसको छूकर मारनेमें मोटरकी मुख्यता रहती है और दण्ड भोगनेमें ड्राईवरकी मुख्यता रहती है। ड्राईवरके संयोगसे मोटर मारती है और मोटरके संयोगसे ड्राईवर दण्ड भोगता है। अतः कर्तापन और भोक्तापन दोनोंमें शरीर और जीवात्मा दोनोंका संयोग रहता है। मनुष्य जो पाप करता है, अन्यायपूर्वक, धोखा देकर, झूठ-कपट करके, बेईमानी करके धन कमाता है, वह धन तो मरनेपर यहीं रह जाता है और भीतर जमा किया हुआ पाप, झूठ-कपट, बेईमानी, जालसाजी साथमें चलती है। धन एक कौड़ी भी साथ चलेगा नहीं और जो भाव बिगड़े हैं, वे एक कौड़ी भी पीछे रहेंगे नहीं। आगे (परलोकमें) उनका महान् भयंकर दण्ड भोगना ही पड़ेगा। यहीं रह जानेवाली चीजोंके लिये मनुष्य साथमें चलनेवाले भावोंको बिगाड़ लेता है और कहलाता है कि बड़ा बुद्धिमान् है! कितना काम कर लिया! थोड़े दिनोंमें लखपति बन गया! परन्तु साथ चलनेवाली पूँजीको महान् बिगाड़ लिया! अगर यही बुद्धिमानी है तो मूर्खता किसका नाम धरें? यहीं छूट

जानेवाली चीजोंके लिये साथमें चलनेवाली चीजें बिगाड़ लें—ऐसा अन्धेर हमारे भारतवर्षमें नहीं था!

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥

(मानस, अयोध्या० ९५। २)

राजा शिबिने शरणागतकी रक्षाके लिये पहले अपने शरीरसे मांस काटकर दिया और फिर पूरा शरीर ही दे दिया। दधीचि ऋषिने अपनी हड्डियाँ दे दीं। राजा हरिश्चन्द्रने अपना राज्य दे दिया। परन्तु उन्होंने अपने भीतरके भावोंका नाश नहीं होने दिया। जो चीजें साथमें नहीं रहतीं, उन नाशवान् चीजोंको दूसरोंके हितमें लगाकर उन्होंने साथमें चलनेवाली बढ़िया पूँजी संगृहीत कर ली। वे बड़े चतुर और समझदार रहे; क्योंकि उन्होंने छूटनेवाली चीजको छोड़ दिया और साथमें रहनेवाली चीजका नाश नहीं होने दिया।

भीतरी भावोंका सुधार

आजकल लोग भीतरकी चीजोंके बिगड़नेकी परवाह नहीं करते। भीतरसे चाहे कितने ही काले हों, पर बाहरकी इज्जत, आबरू, पोजीशन ठीक बनी रहे, समाजमें अच्छे कहलाते रहें! कोई उनके दोषोंकी तरफ दृष्टि करे, उनसे पूछे कि आप कैसे हैं, तो वे कहते हैं कि यह हमारा व्यक्तिगत जीवन है। यदि व्यक्तिगत जीवन बिगड़ेगा तो समाज कैसे अच्छा रहेगा? समाज भी पूरा-का-पूरा बिगड़ जायगा; क्योंकि व्यक्तियोंसे ही समाज बनता है। अतः व्यक्तिगत सुधारसे ही समाजका सुधार हो सकता है। भीतरके भाव न सुधारकर बाहरके सुधारकी बड़ी-बड़ी बातें बनायें, व्याख्यान दें और लोग भी प्रमाणपत्र दे दें कि बहुत अच्छा है, तो इससे क्या लाभ हुआ?

तुलसी सो नर चतुर है, राम भजन लवलीन।
परधन परमन हरणको, वेश्या भी परवीन॥

वास्तवमें चतुर वही है, जो भजन कर ले, अपने भावको शुद्ध बना ले, अपनी आदत अच्छी बना ले। यदि भीतरके भावको गन्दा कर लें, और बाहरसे वाहवाही ले लें, धनका संग्रह कर लें तो ऐसा करनेमें वेश्या भी प्रवीण होती है! हम तो किसीको कोई वस्तु दिये बिना उससे रुपया नहीं ले सकते, पर वेश्या मुफ्तमें रुपया ले लेती है। हम किसीका मन भी अपनी तरफ खींचेंगे तो कोई तमाशा दिखायेंगे, गाना-बजाना आदि करेंगे, तब लोगोंसे वाहवाही लेंगे, पर वेश्याको इतनी मेहनत भी नहीं करनी पड़ती। अतः हम ज्यादा-से-ज्यादा मेहनत करेंगे तो वेश्याके समान बन जायँगे, और क्या होगा? इसमें हमारी इज्जत नहीं है। हमारी वास्तविक इज्जत इसीमें है कि हम भीतरसे शुद्ध बन जायँ। समाजमें लोग चाहे हमें अच्छा न मानें अथवा अच्छा न जानें अथवा अच्छा न कहें, पर हमारे भाव अगर अच्छे हैं तो हमारे चित्तमें हर समय आनन्द रहेगा, प्रसन्नता रहेगी और मरनेपर सद्गति होगी। समाज हमें अच्छा ही कहे—यह हमारे हाथकी बात नहीं है। समाज हमें अच्छा भी कहेगा और बुरा भी कहेगा। पर हम अच्छे बन जायँ, बुरे न बनें—यह हमारे हाथकी बात है। वास्तवमें जो चीज सच्ची होती है, वह छिपती नहीं, प्रकट हो ही जाती है। सन्तोंने कहा है—

भजन करे पाताल में, प्रगट होय आकाश।
दाबी-दूबी ना रहे, कस्तूरी की बास॥

कस्तूरीकी सुगन्धको कोई सौगन्ध दिला दे कि बाहर मत आना, तो भी डिबिया खोलते ही वह बाहर फैल जाती है। ऐसे ही हम अपने भावोंको थोड़े दिन दबा सकते हैं, पर वे दुनियामें प्रकट हो ही जाते हैं। थोड़ी सूक्ष्म बुद्धिवाले उनको विशेष पहचान लेते हैं।

भावके अनुसार गति

यदि हमें आगे अच्छी गतिमें जाना है जो हमें अपने भावोंको शुद्ध बनाना होगा। हमारे भाव, आदत, स्वभाव अच्छे बन जायँ तो हम नीची गतिमें नहीं जा सकते। जिस व्यक्तिमें दया व क्षमा है, शान्ति व प्रसन्नता है, उसको यदि बिच्छू अथवा साँप बनाया जाय तो वह बिच्छू अथवा साँपका, क्रूरताका काम कर ही नहीं सकेगा। जो आदमी दूसरेको दुःख देता है, बिना कारण कष्ट देता है, अपने स्वार्थके लिये दूसरेका नुकसान कर देता है, ऐसे आदमी ही बिच्छू, साँप आदि योनियोंमें, अधोगतिमें जाते हैं। जो समाजमें अपनेको अच्छा दिखाता है, चुपचाप रहता है, पर मौका पड़नेपर आँख बचाकर दूसरेको लूट लेता है, ऐसे स्वभाववाला ही बिल्ली बनता है। जैसे, बिल्ली आँख मीचकर चुपचाप बैठी रहती है और जब देखती है कि मलाई पड़ी है और कोई नहीं है तो फट छापा मारती है; क्योंकि यह उसकी आदत (स्वभाव) है। यह आदत मनुष्यजन्ममें बनायी हुई है। जीव मनुष्यजन्ममें स्वभाव बदलता है और भगवान् उसका चोला (शरीर) बदलते हैं। नाटकमें भी स्वाँग उसीको दिया जाता है जो स्वाँग ठीक भर सके। भेड़-बकरी चरानेवालेको प्रधानाध्यापक नहीं बनाया जाता। जो सबको पढ़ा सकता है, ऐसी योग्यतावालेको प्रधानाध्यापक बनाया जाता है। अतः जो मनुष्य अपना स्वभाव सौम्य, शान्त, शुद्ध बना लेता है, उसकी अधोगति हो ही नहीं सकती। कारण कि उसका भाव हर समय शुद्ध है तो अन्तकालमें भी शुद्ध रहेगा। अन्तकालके भावके अनुसार उसकी गति होगी। वह किसी योनिमें भी जायगा तो वहाँ भी उसका भाव वैसा ही शुद्ध रहेगा।

श्रीमद्भागवतमें एक कथा आती है। महाराज भरत

भारतवर्षके बहुत बड़े राजा थे। अपने जीवनके अन्तिम भागमें वे सब कुछ छोड़कर पुलहाश्रममें चले गये और भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लग गये। एक दिन जब वे स्नान करनेके लिये गण्डकी नदीमें गये तो उन्होंने देखा कि एक गर्भवती हरिणी जल पीनेके लिये नदीके तटपर आयी। वह ज्यों ही जल पीने लगी, त्यों ही पीछेसे सिंहकी भयंकर गर्जना सुनायी पड़ी। इससे बेचारी हरिणी डर गयी और उसने नदी पार करनेके लिये छलाँग मारी। छलाँग मारते ही उसका गर्भ नदीमें गिर गया। वह हरिणी आगे जाकर मर गयी। भरतजीने देखा कि हरिणीका बच्चा बिना माताका हो गया, अब उसकी रक्षा कौन करे? उनको दया आ गयी और उन्होंने उस बच्चेको उठा लिया तथा अपने आश्रमपर ले आये। उस बच्चेको फलों आदिका रस देते हुए धीरे-धीरे घास खाना सिखा दिया और हरदम उसका पालन-पोषण करने लगे। जैसे माँ-बापका अपने बच्चेमें मोह होता है, ऐसे ही भरतजीका उस बच्चेमें मोह हो गया। हरिणीका वह बच्चा खेलता, फुदकता, सींग मारता, खुजली करता तो बाबाजीको बड़ा आनन्द आता! वे रात-दिन उसके पालन-पोषणकी चिन्तामें ही डूबे रहते। कभी वह दिखायी नहीं देता तो वे उसके लिये बड़े व्याकुल हो जाते। इस प्रकार दिन बीतते गये और एक दिन बाबाजीका अन्तसमय आ पहुँचा। अन्तकालमें भी उस हरिणका चिन्तन होनेसे वे मरकर हरिण बन गये।

जिसका स्वभाव शुद्ध बन जाता है, वह नीची गतिमें नहीं जा सकता। भरतजीका स्वभाव तो शुद्ध ही था, भोगोंका त्याग करके वनमें रहते थे और तपश्चर्या करते थे, फिर वे अधोगतिमें कैसे गये? इसका समाधान यह है कि हरिणका शरीर मिलना

अधोगति नहीं है। अधोगति है—भीतरके भावोंका गिरना। इसलिये हरिणके जन्ममें भी भरतजीको पूर्वजन्मकी याद रही। वहाँ वे हरी घास न खाकर सूखे पत्ते खाते रहे। वैराग्यके कारण वे अपनी माता हरिणीके भी साथ नहीं रहे कि कहीं मोह हो गया तो पुनः हरिणीके गर्भसे जन्म लेना पड़ेगा। हरिणके जन्ममें भी उनमें इतनी सावधानी रही, जो मनुष्योंमें भी बहुत कम रहती है। उनमें त्यागका शुद्ध भाव रहा। शुद्ध भाव रहनेसे हरिणका शरीर मिलनेपर भी उनकी अधोगति नहीं हुई। वहाँसे मरकर उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया। वहाँ उनका नाम 'जड़ भरत' हुआ। किसीका संग, मोह न हो जाय, कहीं फँस न जायँ—ऐसी सावधानी रखनेके कारण वे 'जड़' कहलाये।

तात्पर्य है कि किया हुआ भजन, स्मरण, तपश्चर्या व्यर्थ नहीं जाती और अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गतिका कानून भी व्यर्थ नहीं जाता। अतः हमें कर्म करते हुए भी सावधान रहना है और चिन्तन भी भगवान्‌का करते रहना है। यह मनुष्यके लिये बड़ी खास बात है। अन्य योनियोंमें हम कर्म और चिन्तनको नहीं बदल सकते। पशु-पक्षियोंके स्वभावको बदलकर उनको अध्यात्म-मार्गमें नहीं ला सकते। उनके स्वभावके अनुसार उनको शिक्षा दे सकते हैं, पर तुम ऐसे कर्म करो, ऐसा चिन्तन करो जिससे मुक्ति हो जाय—यह शिक्षा नहीं दे सकते। यह अधिकार इस मानवजन्ममें ही है।* अगर हमने अपना स्वभाव अशुद्ध बना

* पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भगवान्‌की ओर चलनेकी योग्यता नहीं है, फिर भी (अपवाद रूपसे) पूर्वजन्मके संस्कारसे अथवा अन्य किसी कारणसे वे भी भगवान्‌के सम्मुख हो सकते हैं। कारण कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रका भगवान्‌के साथ समान सम्बन्ध है; अतः भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) कोई मनाही नहीं है। इसलिये पशु-पक्षियोंमें भी गजेन्द्र, जटायु, काकभुशुण्डि आदि अनेक भगवद्भक्त हो चुके हैं।

लिया, अपनी आदत बिगाड़ ली, तो फिर अधोगति असम्भव नहीं है! इसलिये—

डरते रहो यह जिन्दगी बेकार न हो जाय,
सपनेमें किसी जीवका अपकार न हो जाय।

अधोगतिसे बचनेके लिये दो खास बातें हैं—(१) दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा करना और (२) भगवान्‌को याद करना। यह काम मनुष्य ही कर सकता है और इसीमें उसकी मनुष्यता सिद्ध होती है। जो दूसरोंका अनिष्ट करता है, वह वास्तवमें अपना ही महान् अनिष्ट करता है और जो दूसरोंको सुख पहुँचाता है, वह वास्तवमें अपनेको ही सुखी बनाता है। अपना बिगाड़ किये बिना कोई दूसरेका बिगाड़ कर ही नहीं सकता। जैसे, मनुष्य पहले चोर बनता है, पीछे चोरी करता है। चोरी करनेपर माल हाथ लगे अथवा न लगे, पर वह खुद चोर बन ही जाता है अर्थात् उसके भीतर चोरपनेका भाव (मैं चोर हूँ) आ ही जाता है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। थोड़ी भी असावधानी परलोकमें हमारी दुर्गतिका कारण बन सकती है। अभी मनुष्यशरीर हमें प्राप्त है। अतः शरीरके रहते-रहते ऐसा काम कर लेना चाहिये, जिससे कोई जोखिम न रहे अर्थात् कभी भी मृत्यु आ जाय तो कम-से-कम अधोगतिमें न जाना पड़े। हरदम सावधान रहनेवाला दुर्गतिमें कैसे जा सकता है? इसलिये हमें बड़ी सावधानीसे अपना जीवन बिताना चाहिये और दूसरोंके हितके लिये कर्तव्यकर्म करते हुए हर समय भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहना चाहिये।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अलौकिक प्रेम

शरत्पूर्णिमाकी चाँदनी रातमें जब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बाँसुरी बजानी आरम्भ की, तब उसकी मधुर एवं चित्ताकर्षक ध्वनिको सुनकर गोपियाँ जिस अवस्थामें थीं, उसी अवस्थामें श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये वेगपूर्वक चल पड़ीं। यह प्रेमकी ऐसी विलक्षण स्थिति थी कि स्वयं गोपियोंको ही पता नहीं था कि हम कौन हैं! कहाँ जा रही हैं! क्यों जा रही हैं! भगवान्‌का सब कुछ दिव्य है, अलौकिक है, चिन्मय है! अतः उनकी बाँसुरी भी दिव्य थी और

उसकी ध्वनि भी। उस दिव्य ध्वनिको सुननेपर गोपियोंमें भी जडता नहीं रही और वे चिन्मय होकर चिन्मयसे मिलनेके लिये चल पड़ीं!

'काम' (लौकिक शृङ्गार) में स्त्री और पुरुष दोनों ही एक-दूसरेसे सुख लेना चाहते हैं, एक-दूसरेको अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इसलिये उनमें विशेष सावधानी रहती है और वे अपने शरीरको सजाते हैं। परन्तु 'प्रेम' में सुख लेनेका, अपनी ओर खींचनेका किञ्चिन्मात्र भी भाव न होनेसे यह सावधानी नहीं रहती,प्रत्युत अपने शरीरकी भी विस्मृति हो जाती है, इसीलिये गोपियाँ अपनेको सजाना, शृङ्गार करना भूल गयीं और वंशीध्वनि सुनते ही वे जैसी थीं, वैसी ही अस्त-व्यस्त वस्त्रोंके

साथ चल पड़ीं—'**व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः**' (श्रीमद्भा० १०। २९। ७)।

उस समय कुछ गोपियोंको उनके पति, पुत्र आदिने अथवा पिता, भाई आदिने घरमें ही बन्द कर दिया, जिससे उनको घरसे निकलनेका मार्ग नहीं मिला। मार्ग न मिलनेपर उन गोपियोंकी क्या दशा हुई—इस विषयमें श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १०-११)

'उन गोपियोंके हृदयमें अपने परम

प्रियतम श्रीकृष्णके असह्य विरहका जो तीव्र ताप हुआ, उससे उनका अशुभ जल गया और ध्यानमें आये हुए श्रीकृष्णका आलिङ्गन करनेसे जो सुख हुआ, उससे उनका मङ्गल नष्ट हो गया।'

'यद्यपि उन गोपियोंकी श्रीकृष्णमें जारबुद्धि थी, फिर भी एकमात्र परमात्मा (श्रीकृष्ण) के साथ सम्बन्ध होनेसे उनके सम्पूर्ण बन्धन तत्काल एवं सर्वथा नष्ट हो गये और उन्होंने अपने गुणमय शरीरका त्याग कर दिया।'

अगर उपर्युक्त श्लोकोंपर विचार करते हुए ऐसा मानें कि भगवान्‌के विरहकी तीव्र जलनसे गोपियोंके पाप नष्ट हो गये—'**धुताशुभाः**' तथा ध्यानजनित सुखसे पुण्य नष्ट हो गये—'**क्षीणमङ्गलाः**' और

इस प्रकार पाप-पुण्यसे रहित (मुक्त) होकर वे भगवान्‌से जा मिलीं तो यह बात युक्तिसंगत नहीं दीखती। कारण कि विरह और मिलन पाप-पुण्यसे ऊँचा उठनेपर ही होते हैं। पाप-पुण्यसे होनेवाले सुख-दुःख तो प्राकृत हैं, पर भगवान्‌को लेकर होनेवाले सुख-दुःख (मिलन-विरह) प्राकृत नहीं हैं, प्रत्युत अलौकिक हैं। भगवान्‌का विरह और मिलन तो गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होता है, पर पाप और पुण्य गुणोंके सम्बन्धसे होते हैं। गुणोंसे सम्बन्ध न हो तो पाप-पुण्य हो सकते ही नहीं। भगवान्‌के प्रेममें होनेवाले सुख-दुःखको अर्थात् मिलन-विरहको पाप-पुण्यका फल कहना वास्तवमें उसकी निन्दा है। भगवान्‌के सम्बन्धसे योग होता है, भोग नहीं होता। भोग तो पापोंका

कारण है।*

एक विचारणीय बात है कि पाप और पुण्यका नाश सुखी-दुःखी होनेसे नहीं होता, प्रत्युत अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आनेसे होता है। सुखी-दुःखी होना पाप-पुण्यका फल नहीं है, प्रत्युत अज्ञता (मूर्खता) का फल है। परन्तु भगवान्‌का विरह प्रेमका फल है। भगवान्‌से सम्बन्ध होनेपर अज्ञता कैसे रह सकती है! अज्ञता न ज्ञानमें रहती है, न प्रेममें। मनुष्य तभीतक सुखी-दुःखी होता है, जबतक उसको अपने स्वरूपका बोध नहीं होता अथवा उसका भगवान्‌में प्रेम नहीं होता।

पाप-पुण्य नष्ट होना कोई बड़ी बात नहीं

---

*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

है। पाप-पुण्य तो हरेक आदमीके नष्ट होते रहते हैं; क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति हरेक प्राणीके सामने आती-जाती रहती है। स्वर्गमें निरन्तर पुण्योंका नाश होता है और नरकोंमें निरन्तर पापोंका नाश होता है। पाप-पुण्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अन्तर्गत हैं। अतः पाप-पुण्य दोनों एक ही जातिके (बन्धनकारक) हैं, अशुभ हैं, मलिन हैं, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌के सम्बन्धसे होनेवाले विरह तथा मिलन अत्यन्त दिव्य हैं, चिन्मय हैं, अलौकिक हैं, नित्य हैं और प्रेमकी वृद्धि करनेवाले हैं। भगवान्‌के सम्बन्धसे केवल पाप-पुण्य ही नष्ट नहीं होते, प्रत्युत पाप-पुण्यका कारण अज्ञान (गुणसंग) ही नष्ट हो जाता है। इसलिये पाप-पुण्यका और विरह-

मिलनका विभाग ही अलग है।

तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञानी पुरुष परिस्थितिसे रहित नहीं होता, प्रत्युत सुख-दुःखसे रहित होता है। ज्ञानीके सामने भी प्रारब्धके अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति आती-जाती रहती है, पर उसपर परिस्थितिका असर नहीं होता अर्थात् वह सुखी-दुःखी नहीं होता; क्योंकि वह गुणातीत है—'**समदुःख-सुखःस्वस्थः**' (गीता १४। २४)। अगर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति सुख-दुःख देनेवाली होती अर्थात् सुख-दुःख पाप-पुण्यका फल होता तो मनुष्य कभी सुख-दुःखसे रहित नहीं हो पाता, जबकि ज्ञानी पुरुष सुख-दुःखसे रहित हो जाता है—'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः**' (गीता १५। ५)। प्रह्लादजी, मीराबाई आदिके सामने कितनी ही प्रतिकूल

परिस्थितियाँ आयीं, फिर भी वे दुःखी नहीं हुए। इसलिये परिस्थितिसे रहित होनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, पर उसका भोग न करनेमें अर्थात् सुखी-दुःखी न होनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। कारण कि परमात्माका अंश होनेसे उसमें निर्विकारता स्वतःसिद्ध है।* अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकोंमें आये '**धुताशुभाः**' पदका अर्थ पाप नष्ट होना और '**क्षीणमङ्गलाः**' पदका अर्थ पुण्य नष्ट होना नहीं लिया जा सकता। तो फिर इन पदोंका क्या तात्पर्य है? अब इसपर

---

* ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
(मानस, उत्तर० ११७। १)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
(गीता १३। ३१)

विचार किया जाता है।

भगवान्‌के विरहसे गोपियोंको जो ताप (दुःख) हुआ, वह दुःसह और तीव्र था—'**दुःसहप्रेष्ठ विरहतीव्रताप**।' यह ताप संसारके तापसे अत्यन्त विलक्षण है। सांसारिक तापमें तो दुःख-ही-दुःख होता है, पर विरहके तापमें आनन्द-ही-आनन्द होता है। जैसे मिर्ची खानेसे मुखमें जलन होती है, आँखोंमें पानी आता है, फिर भी मनुष्य उसको खाना छोड़ता नहीं; क्योंकि उसको मिर्ची खानेमें एक रस मिलता है। ऐसे ही प्रेमी भक्तको विरहके तीव्र तापमें उससे भी अत्यन्त विलक्षण एक रस मिलता है। इसीलिये चैतन्य महाप्रभु-जैसे महापुरुषने भी विरहको ही सर्वश्रेष्ठ माना है। सांसारिक ताप तो पापोंके सम्बन्धसे होता है, पर विरहका ताप

भगवत्प्रेमके सम्बन्धसे होता है। इसलिये विरहके तापमें भगवान्‌के साथ मानसिक सम्बन्ध रहनेसे आनन्दका अनुभव होता है— 'ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या।'। जैसे प्यास वास्तवमें जलसे अलग नहीं है, ऐसे ही विरह भी वास्तवमें मिलनसे अलग नहीं है। जलका सम्बन्ध रहनेसे ही प्यास लगती है। प्यासमें जलकी स्मृति रहती है। अतः प्यास जलरूप ही हुई। इसी तरह विरह भी मिलनरूप ही है। विरह और मिलन—दोनों एक ही प्रेमकी दो अवस्थाएँ हैं। संसारके सम्बन्धमें सुख भी दुःखरूप है और दुःख भी दुःखरूप है, पर भगवान्‌के सम्बन्धमें दुःख (विरह) भी सुखरूप है और सुख (मिलन) भी सुखरूप (आनन्दरूप) है। कारण कि सांसारिक सुख-दुःख (अनुकूलता-

प्रतिकूलता) तो गुणोंके संगसे होते हैं, पर भगवान्‌का विरह और मिलन गुणोंसे अतीत हैं। इसलिये भगवान्‌के सम्बन्धसे होनेवाला दुःख (विरह) सांसारिक सुखसे भी बहुत अधिक आनन्द देनेवाला होता है! सांसारिक दुःखमें अभावरूप संसारका सम्बन्ध है, पर विरहके दुःखमें भावरूप भगवान्‌का सम्बन्ध है। सांसारिक दुःखमें कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं और कर्ताकी स्वतन्त्र सत्ता रह जाती है; परन्तु विरहके दुःखमें कर्मोंका कारण (गुणोंका संग) ही नष्ट हो जाता है और कर्ताकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल परमात्माकी सत्ता रहती है। सांसारिक दुःखसे जन्म-मरणरूप बन्धन नष्ट नहीं होता, पर विरहके दुःखसे यह बन्धन सर्वथा नष्ट हो जाता है—'**प्रक्षीणबन्धनाः।**' इसलिये श्रीकृष्णके

विरहके तीव्र तापसे गोपियोंका गुणमय शरीर छूट गया। इसके साथ मन-ही-मन श्रीकृष्णका मिलन होनेसे गोपियोंको ब्रह्मलोकके सुखसे भी विलक्षण सुखका अनुभव हुआ। कारण कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती होनेसे बन्धनकारक हैं—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८।१६)। अतः ब्रह्मलोकका सुख भी प्राकृत है, जबकि गोपियोंको मिलनेवाला ध्यानजनित सुख प्रकृतिसे अतीत है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के विरहके दुःखसे और ध्यानजनित मिलनके सुखसे गोपियोंके पाप-पुण्य ही नष्ट नहीं हुए, प्रत्युत जन्म-मरणका कारण जो गुणोंका संग है, वह भी नष्ट हो गया! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—तीनों गुणोंका संग मिटनेसे उनका गुणमय शरीर भी छूट

गया और वे भगवान्‌के पास जा पहुँचीं—'**जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।**' कारण कि सत्त्व, रज और तम—तीनों ही गुण जीवको शरीरमें बाँधनेवाले हैं।* इन गुणोंका संग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है '**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणसंग नष्ट होनेके कारण गोपियाँ किसी ऊँची या नीची योनिमें नहीं गयीं, प्रत्युत सीधे भगवान्‌को ही प्राप्त हो गयीं। तात्पर्य है कि जिनसे कर्मबन्धन होता है, ऐसे शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे गोपियाँ मुक्त हो गयीं—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' (गीता ९। २८)। जिस बन्धनके रहते हुए

---

* सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४। ५)

नरकोंका दु:ख भोगा जाता है और जिस बन्धनके रहते हुए स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिका सुख भोगा जाता है, गोपियोंका वह बन्धन (गुणोंका संग) सर्वथा नष्ट हो गया। कारण कि बन्धन पाप-पुण्यसे नहीं होता, प्रत्युत गुणोंके संगसे होता है। अत: भागवतके उपर्युक्त श्लोकोंमें आये '**धुताशुभा:**' पदका अर्थ हुआ कि रजोगुण तथा तमोगुण नष्ट हो गये और '**क्षीणमङ्गला:**' पदका अर्थ हुआ कि सत्त्वगुण नष्ट हो गया।* सत्त्वगुण

---

* आगे राजा परीक्षित् और श्रीशुकदेवजीके प्रश्नोत्तरसे भी यही बात सिद्ध होती है कि गोपियाँ तीनों गुणोंसे छूट गयी थीं। परीक्षित्ने पूछा—

कृष्णं विदु: परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। १२)

'मुने! उन गोपियोंकी श्रीकृष्णमें ब्रह्मबुद्धि नहीं थी, प्रत्युत

प्रकाशक और अनामय है, इसलिये उसको यहाँ 'मङ्गल' नामसे कहा गया है।* परन्तु

वे श्रीकृष्णको केवल अपना परमपति ही मानती थीं। फिर उन गुणोंमें आसक्त गोपियोंका गुणप्रवाहरूप (गुणमय) शरीर कैसे नष्ट हो गया?'

श्रीशुकदेवजीने उत्तर दिया—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १४)

'राजन्! भगवान् अव्यय (सर्वथा निर्विकार), अप्रमेय (ज्ञानका विषय नहीं), सत्त्वादि गुणोंसे रहित और सौन्दर्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त हैं। वे केवल मनुष्योंके परम कल्याणके लिये ही सबके सामने प्रकट होते हैं।'

* गीतामें सत्त्वगुणको भी अनामय कहा गया है—'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्' (१४। ६) और परमपदको भी अनामय कहा गया है—'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्' (२। ५१)। दोनोंमें फर्क यह है कि सत्त्वगुण सापेक्ष अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है।

प्रकाशक और अनामय होनेपर भी वह सुख और ज्ञानके संगसे बाँधनेवाला होता है— **'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ'** (गीता १४।६)। ध्यानमें आये हुए श्रीकृष्णका मन-ही-मन आलिङ्गन करनेसे गोपियोंको जो विलक्षण सुख हुआ, उस सुखसे सत्त्वगुणसे होनेवाले सुखसंग और ज्ञानसंगका भी सुख मिट गया अर्थात् सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञानकी भी आसक्ति मिट गयी! इस प्रकार जन्म-मरणका कारण जो तीनों गुणोंका संग है, वह सर्वथा नहीं रहा, जिसके न रहनेसे गोपियोंका गुणमय शरीर भी नहीं रहा।

तत्त्वज्ञान शरीरके सम्बन्ध (अहंता-ममता) का नाश तो करता है, पर शरीरका नाश नहीं करता। कारण कि जीवन्मुक्त होनेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो क्षीण

हो जाते हैं, पर प्रारब्ध क्षीण नहीं होता। इसलिये जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान होनेपर भी जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक शरीर भी रहता है। अगर शरीर तत्काल नष्ट हो जाय तो फिर ज्ञानका उपदेश कौन करेगा? ब्रह्मविद्याकी परम्परा कैसे चलेगी? परन्तु गोपियोंका विरहजन्य ताप इतना विलक्षण था कि उनका गुणसंग तो रहा ही नहीं, गुणमय शरीर भी नष्ट हो गया! उनके संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध—तीनों एक साथ तत्काल (सद्यः) और सर्वथा क्षीण (प्रक्षीण) हो गये—'**सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।**' इससे सिद्ध होता है कि 'वियोग' में बन्धन जल्दी छूटता है, पर 'योग' में देरी लगती है। वियोगमें योगसे भी विलक्षण आनन्द होता है।

विरहका तीव्र ताप जन्म-मरणके मूल कारण गुणसंग (मूल अज्ञान) को ही जला देता है। जो गोपियाँ वंशीवादन सुनकर भगवान्‌के पास चली गयी थीं, उनका वह अनादिकालका गुणसंग नष्ट नहीं हुआ; क्योंकि उनको वियोगजन्य तीव्र ताप नहीं हुआ। परन्तु जिनको वियोगजन्य तीव्र ताप हुआ, उनके लिये अनादिकालके गुणसंगसहित सम्पूर्ण जगत्‌की निवृत्ति हो गयी और वे सबसे पहले भगवान्‌से जा मिलीं। विरहके तीव्र तापसे उनका शरीर छूट गया और ध्यानजनित आनन्दसे वे भगवान्‌से अभिन्न हो गयीं। वे भगवान्‌से बाहर न मिलकर भीतरसे ही मिल गयीं, जो कि वास्तविक (सर्वथा) मिलन है।

यद्यपि श्रीकृष्णके प्रति उन गोपियोंकी

जारबुद्धि थी अर्थात् उनकी दृष्टि परमपति भगवान्‌के शरीरकी सुन्दरताकी तरफ थी तो भी वे भगवान्‌को प्राप्त हो गयीं—'**तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।**' जारबुद्धि होनेपर भी गोपियोंमें अपने सुखकी इच्छा (काम) लेशमात्र भी नहीं है। अगर उनमें अपने सुखकी इच्छा होती तो वे अपने शरीरको सजाकर भगवान्‌के पास जातीं। यहाँ 'जारबुद्धि' शब्द इसलिये दिया है कि गोपियोंका विवाह तो दूसरेके साथ हुआ था, पर उनका प्रेम श्रीकृष्णमें था। उनका गुणमय शरीर ही नहीं रहा, फिर भोगबुद्धि कैसे रहेगी? भोगबुद्धिके रहनेका स्थान ही नहीं रहा, केवल परमात्मा ही रहे। गोपियोंमें यह विलक्षणता भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य वस्तुशक्ति (स्वरूपशक्ति) से आयी है,

अपनी भावशक्तिसे नहीं। भगवान्‌की वस्तुशक्तिसे गोपियोंकी जारबुद्धि नष्ट हो गयी। जैसे अग्निसे सम्बन्ध होनेपर सभी वस्तुएँ (अग्निकी वस्तुशक्तिसे) अग्निरूप ही हो जाती हैं, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के साथ काम, द्वेष, भय, स्नेह आदि किसी भी भावसे सम्बन्ध जोड़े, वह (भगवान्‌की वस्तुशक्तिसे) भगवत्स्वरूप ही हो जाता है।* इसमें भक्तका भाव, उसका

---

* कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥

(श्रीमद्भा० ७।१।२९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे, गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके

प्रयास काम नहीं करता, प्रत्युत भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य स्वरूपशक्ति काम करती है। इसका कारण यह है कि भगवान् जीवके कल्याणके लिये ही प्रकट होते हैं—**'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप'** (श्रीमद्भा० १०। २९। १४)।

गीतामें भगवान्‌के चार प्रकारके भक्त बताये गये हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)*। यद्यपि अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुका गुणोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तथापि मुख्य सम्बन्ध भगवान्‌के साथ रहनेके कारण वे भी तीनों गुणोंसे रहित हो जाते

सम्बन्धसे, तुमलोगों (युधिष्ठिर आदि)-ने स्नेहसे और हमलोगों (नारद आदि)-ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

* चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता ७।१६)

हैं। इसलिये जिस-किसी उपायसे जीवका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ना चाहिये—'**तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्**' (श्रीमद्भा० ७। १। ३१); क्योंकि जीव भगवान्‌का ही अंश है। भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य रहनेसे भोगोंका सम्बन्ध मिट जाता है, पर भोगोंका सम्बन्ध मुख्य रहनेसे भगवान्‌का सम्बन्ध छिप जाता है, मिटता नहीं। कारण कि जीवका भगवान्‌के साथ नित्ययोग है।

भगवान् श्रीकृष्णका एक नाम आता है—'**चोरजारशिखामणि।**' इसका अर्थ है कि भगवान्‌के समान चोर और जार दूसरा कोई है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। दूसरे चोर और जार तो केवल अपना ही सुख चाहते हैं, पर भगवान् केवल दूसरेके सुखके

लिये चोर और जारकी लीला करते हैं। उनकी ये दोनों ही लीलाएँ दिव्य, विलक्षण, अलौकिक हैं—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**' (गीता ४। ९)।* संसारी चोर तो केवल वस्तुओंकी ही चोरी करते हैं, पर भगवान् वस्तुओंके साथ-साथ उन वस्तुओंके राग, आसक्ति, प्रियता आदिको भी चुरा लेते हैं। भगवान‍्ने गोपियोंके मक्खनके साथ-साथ उनके रागरूप बन्धनको भी खा लिया था। वे जार बनते हैं तो सुखके भोक्ताके साथ-साथ सुखासक्ति, सुखबुद्धिका भी हरण कर

---

* यद्यपि देवता भी दिव्य कहलाते हैं, तथापि उनकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे कही जाती है। परन्तु भगवान‍्की दिव्यता निरपेक्ष होनेसे देवताओंसे भी विलक्षण है। इसलिये देवता भी भगवान‍्के दिव्यातिदिव्य रूपके दर्शनकी नित्य इच्छा रखते हैं—'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः' (गीता ११।५२)।

लेते हैं, जिससे सम्बन्धजन्य आकर्षण (काम) न रहकर केवल भगवान्‌का आकर्षण (विशुद्ध प्रेम) रह जाता है, अन्यकी सत्ता न रहकर केवल भगवान्‌की सत्ता रह जाती है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने भक्तोंमें किसीको चोर और जार रहने ही नहीं देते, उनके चोर-जारपनेको ही हर लेते हैं। 'कनक' (धन) और 'कामिनी' (स्त्री) की आसक्तिसे ही मनुष्य 'चोर' और 'जार' होता है। अत: कनक-कामिनीकी आसक्तिका सर्वथा अभाव करनेवाले होनेसे भगवान् चोर और जारके भी शिखामणि हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि जिन गोपियोंका गुणमय शरीर नहीं रहा, उनकी भगवान्‌के साथ रासलीला कैसे हुई? इसका समाधान है कि वास्तवमें रासलीला गुणोंसे

अतीत (निर्गुण) होनेपर ही होती है। गुणोंके रहते हुए भगवान्‌के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसकी अपेक्षा गुणोंसे रहित होकर भगवान्‌के साथ होनेवाला सम्बन्ध अत्यन्त विलक्षण है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भाव भी वास्तवमें गुणातीत (मुक्त) होनेपर ही होते हैं।* एक श्लोक आता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्रागजाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'तत्त्वबोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत

---

* भक्तियोगकी यह विलक्षणता है कि उसमें साधक पहलेसे ही (गुणोंके रहते हुए भी) भगवान्‌में दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भाव कर सकता है।

द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भगवान्‌को विलक्षण आनन्द देनेवाला जो प्रेम है, वह गुणोंमें नहीं है, प्रत्युत निर्गुणमें है। कारण कि गुणातीत भगवान् भी जिस प्रेमके लोभी हैं, वह प्रेम गुणमय कैसे हो सकता है? जैसे भगवान्‌का शरीर दिव्य है, गुणमय नहीं है, ऐसे ही उन गोपियोंका शरीर भी दिव्य हो गया, गुणमय नहीं रहा। सगुण भगवान् भी सत्त्व-रज-तम-गुणोंसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण भगवान्‌की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—'**मन्निकेतं तु निर्गुणम्**' (श्रीमद्भा० ११। २५। २५), '**मत्सेवायां तु निर्गुणा**' (श्रीमद्भा० ११। २५। २७) आदि। भगवान्‌की भक्ति करनेसे मनुष्य

गुणातीत हो जाता है।* तात्पर्य यह है कि भगवान्‌से सम्बन्ध होनेपर सत्त्व, रज और तमोगुण रहते ही नहीं। अत: रासलीलामें जो शरीर थे, वे हमारे शरीर-जैसे गुणोंवाले नहीं थे, प्रत्युत भगवान्‌के शरीर-जैसे तीनों गुणोंसे रहित अर्थात् दिव्यातिदिव्य थे। उस रासलीलामें जितनी भी गोपियाँ गयी थीं, वे सब-की-सब भगवान्‌की इच्छासे दिव्य भावमय शरीर धारण करके ही गयी थीं। इसीलिये उन गोपियोंके गुणमय शरीरोंको उनके पतियोंने अपने पास (घरमें ही) सोते हुए देखा—'**मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान्**

---

* मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (गीता १४।२६)

'जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।

स्वान् दारान् व्रजौकसः' (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)।

तात्पर्य यह निकला कि जिन गोपियोंको विरहजन्य तीव्र ताप नहीं हुआ, उनके गुणमय शरीर तो पतिके पास रहे, पर (जीवन्मुक्तकी तरह) उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहा, केवल शरीरका भान रहा। परन्तु जिन गोपियोंको विरहजन्य तीव्र ताप हुआ, उनके गुणमय शरीर और उनका भान ही नहीं रहा, फिर उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता; क्योंकि उनका अनादिकालका गुणसंग ही नहीं रहा, जो कि जन्म-मरणका मूल कारण है।

रासलीला—प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम

भगवान् अनन्त हैं, इसलिये उनका सब कुछ अनन्त है—'**हरि अनंत हरि कथा अनंता**' (मानस, बाल० १४०। ३)। उनका प्रेम भी अनन्त है। इसलिये प्रेममें अनन्तरस है। अनन्तरसका तात्पर्य है कि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमान होनेके लिये प्रेममें विरह और मिलन—दोनोंका ही होना आवश्यक है। कारण कि विरहके बिना रसकी वृद्धि नहीं होती और मिलनके

बिना रसकी अनुभूति नहीं होती, उसका आस्वादन नहीं होता। संसारमें तो संयोगका रस भी नहीं रहता और वियोगका रस भी नहीं रहता; क्योंकि संसारका नित्यवियोग है। परन्तु मिलन (योग) का रस भी नित्य रहता है और विरह (वियोग) का रस भी नित्य रहता है; क्योंकि भगवान्‌का नित्ययोग है। संसारके नित्यवियोगके अन्तर्गत संयोग-वियोग होते हैं और भगवान्‌के नित्ययोगके अन्तर्गत मिलन-विरह होते हैं। जैसे, माता कौसल्या सुमित्रासे कहती हैं कि 'हे सुमित्रे! यदि रामजी वनमें चले गये हैं तो फिर मेरेको दीखते क्यों हैं? और यदि वनमें नहीं गये हैं तो सामने दीखनेपर

भी हृदयमें जलन क्यों होती है? अतः प्रेममें मिलन और विरह दोनों साथ-साथ रहते हैं—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

'**अरबरात मिलिबे को निसिदिन मिलेइ रहत**'—यह मिलन है और '**मनु कबहुँ मिलै ना**'—यह विरह है। राधाजी सखीसे कहती हैं कि तुम धन्य हो जो श्रीकृष्णको देखती हो! मैंने तो आजतक श्रीकृष्णको देखा ही नहीं! कारण कि जब श्रीकृष्ण सामने आये तो राधाजीकी दृष्टि उनके कर्णकुण्डलमें ही अटक

गयी, स्थिर हो गयी, उससे आगे बढ़ी ही नहीं! फिर वे श्रीकृष्णको कैसे देखें?

भगवान्‌का मिलन और विरह दोनों ही नित्य हैं, अनिर्वचनीय हैं, दिव्य हैं, जिनसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। मिलनमें प्रेमीको अपनेमें प्रेमकी कमी मालूम देती है कि जैसे भगवान् हैं, वैसा (भगवान्‌के लायक) मेरेमें प्रेम नहीं है; और विरहमें प्रेमीको कभी प्रेमास्पदकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत निरन्तर स्मृति (तल्लीनता) बनी रहती है। यह मिलन और विरह—दोनों भगवान् देते हैं और दोनों भगवत्स्वरूप ही होते हैं। वे 'विरह' इसलिये देते हैं कि भक्त अपनेमें प्रेमकी कमीका अनुभव करे और कमीका अनुभव होनेसे प्रेम बढ़े। वे 'मिलन' इसलिये देते हैं कि भक्त प्रेमका अनुभव

करे, आस्वादन करे।

भक्तका भगवान्‌में दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि कोई भी भाव हो, भक्तकी अपनी अलग सत्ता नहीं होती; क्योंकि प्रेममें भक्त और भगवान् एक होकर दो होते हैं और दो होकर भी एक ही रहते हैं। इसलिये प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनोंमें कभी सेवक स्वामी हो जाता है, कभी स्वामी सेवक हो जाता है। शङ्करजीके लिये कहा भी है—**'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'** (मानस, बाल० १५। २)। दक्षिण भारतमें एक मन्दिर है, जिसमें शङ्करजीने नन्दीको उठा रखा है! कभी नन्दीके ऊपर शङ्करजी हैं, कभी शङ्करजीके ऊपर नन्दी हैं! कभी भगवान् भक्तके इष्ट बन जाते हैं, कभी भक्त भगवान्‌का इष्ट बन जाता है—**'इष्टोऽसि मे**

दृढमिति' (गीता १८।६४)। कभी श्रीकृष्ण राधा बन जाते हैं, कभी राधा श्रीकृष्ण बन जाती है।

ज्ञानका अखण्डरस तो शान्त है, पर प्रेमका अनन्तरस प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमान कहनेका अर्थ यह नहीं है कि प्रेममें कुछ कमी रहती है और उस कमीकी पूर्तिके लिये वह बढ़ता है। वास्तवमें प्रेम कम या अधिक नहीं होता। जैसे, समुद्र भीतरसे शान्त रहता है, पर बाहरसे उसपर लहरें उठती हैं और चन्द्रमाको देखकर उसमें उछाल आता है। परन्तु लहरें उठनेपर, उछाल आनेपर भी समुद्रका जल कम-ज्यादा नहीं होता, उतना-का-उतना ही रहता है। ऐसे ही प्रेमके अनन्तरसमें लहरें उठती हैं, उछाल

आता है, पर वह कम-ज्यादा नहीं होता। जब प्रेम शान्त रहता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद एक अर्थात् अभिन्न होते हैं; और जब प्रेममें उछाल आता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद दो होते हैं। प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी दो होते हैं—यह विरह है और दो होकर भी एक ही रहते हैं—यह मिलन है।

इस प्रकार प्रतिक्षण वर्धमान रस (प्रेम) का ही नाम '**रास**' है। कल्पना करें कि किसीको ऐसी प्यास लगे, जो कभी बुझे नहीं और जल भी घटे नहीं तथा पेट भी भरे नहीं तो ऐसी स्थितिमें जलके प्रत्येक घूँटमें नित्य नया रस मिलेगा। इसी तरह प्रेममें भी श्रीकृष्णको देखकर श्रीजीको और श्रीजीको देखकर

श्रीकृष्णको नित्य नया रस मिलता है और उन दोनोंके रसका अनुभव गोपियाँ करती हैं! प्रेमकी इस वृद्धिका नाम ही 'रासलीला' है।

अनिर्वचनीय प्रेम

जो मनुष्य संसारसे दु:खी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मुझे अपनी शरणमें लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दु:ख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भगवान् अपनी भक्ति प्रदान करते हैं। परन्तु जो मनुष्य केवल संसारके दु:खोंसे मुक्त होना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसको भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। मुक्त होनेपर वह 'स्व' में स्थित हो जाता है—'**समदु:खसुख: स्वस्थ:**' (गीता

१४। २४)। 'स्व' में स्थित होनेपर 'स्व'-पना अर्थात् व्यक्तित्वका सूक्ष्म अहंकार रह जाता है, जिसके कारण उसको 'अखण्ड आनन्द' का अनुभव होता है। जीव परमात्माका अंश है। अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है। अतः 'स्व' में स्थित अर्थात् मुक्त होनेके बाद जब उसको मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं होता, तब 'स्व' का 'स्वकीय' (परमात्मा) की तरफ स्वतः आकर्षण होता है। कारण कि मुक्त होनेपर जीवके दुःखोंका अन्त और जिज्ञासाकी पूर्ति तो हो जाती है, पर प्रेम-पिपासा शान्त नहीं होती। तात्पर्य है कि प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता। स्वकीयकी तरफ आकर्षण होनेसे अर्थात् प्रेम जाग्रत् होनेसे अखण्ड आनन्द 'अनन्त

आनन्द' में बदल जाता है और व्यक्तित्वका सर्वथा नाश हो जाता है।

मुक्त होनेसे पहले जीव और भगवान्‌में जो भेद होता है, वह बन्धनमें डालनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद जीव (प्रेमी) और भगवान् (प्रेमास्पद) में जो प्रेमके लिये स्वीकृत भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

कारण कि बोधसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण होता है और बोधके बादका (प्रेमकी वृद्धिके लिये होनेवाला) भेद अहम्‌का नाश होनेपर होता है।

जैसे संसारमें 'किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर ज्ञान बढ़ता नहीं, प्रत्युत अज्ञान मिट जाता है, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें स्वरूपका ज्ञान होनेपर अज्ञानको मिटाकर ज्ञान खुद भी शान्त हो जाता है और स्व-स्वरूप स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जाता है। इसलिये ज्ञानमार्गमें अखण्ड, शान्त, एकरस आनन्द मिलता है। परन्तु जैसे संसारमें किसी वस्तुमें आसक्ति होनेपर फिर आसक्ति बढ़ती ही रहती है—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*, ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्‌में

प्रेम होनेपर फिर वह प्रेम बढ़ता ही रहता है। इसलिये भक्तिमार्गमें अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि आकर्षणमें जो आनन्द है, वह ज्ञानमें नहीं है। सांसारिक वस्तुका ज्ञान तो बाँधता है, पर स्वरूपका ज्ञान मुक्त करता है। इसी तरह सांसारिक वस्तुका आकर्षण तो अपार दुःख देता है, पर भगवान्‌का आकर्षण अनन्त आनन्द देता है।

अनन्तरसको प्रवाहित करनेवाली प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं—नित्यमिलन और नित्यविरह। नित्यमिलनसे प्रेममें चेतना आती है, विशेष विलक्षणता आती है, प्रेमका उछाल आता है और नित्यविरहसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान

होता है अर्थात् अपनेमें प्रेमकी कमी मालूम देनेपर 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह उत्कण्ठा होती है।

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।

जैसे धनी आदमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. धन २. धनका नशा अर्थात् अभिमान और ३. धन बढ़नेकी इच्छा। ऐसे ही प्रेमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. प्रेम २. प्रेमकी मादकता, मस्ती और ३. प्रेम बढ़नेकी इच्छा। धनी आदमीमें जो 'धन और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह लोभरूपी दोषके बढ़नेसे होती है। परन्तु प्रेमीमें जो 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेसे होती है।

अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेके बाद जहाँ अहंता (मैं-पन) थी, वहाँ 'नित्यमिलन' प्रकट होता है और जहाँ ममता (मेरा-पन) थी, वहाँ 'नित्यविरह' प्रकट होता है। वास्तवमें नित्यमिलन (नित्ययोग) और नित्यविरह—दोनों जीवमें सदासे विद्यमान हैं, पर भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख हो जानेसे 'नित्यमिलन' ने अहंताका रूप धारण कर लिया और 'नित्यविरह' ने ममताका रूप धारण कर लिया। अहंता और ममताके पैदा होनेसे प्रेम दब गया और संसारकी आसक्ति या मोह उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि दोषोंके रहनेसे संसारकी आसक्ति बढ़ती है और दोषोंके मिटनेसे शान्ति मिलती है एवं शान्तिमें सन्तोष न करनेसे प्रेम बढ़ता है। संसारमें

प्रियता काम-क्रोधादि दोषोंसे होती है, पर भगवान्‌में प्रियता निर्दोषतासे होती है। जबतक अपनेमें थोड़ा भी संसारका आकर्षण है, तबतक प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है; क्योंकि प्रेमकी जगह कामने ले ली! प्रेम प्राप्त होनेपर संसारमें किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं रहता।

प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान तभी होता है, जब उसमें पहली अवस्थाका क्षय और दूसरी अवस्थाका उदय होता है। पहली अवस्थाका त्याग 'नित्यविरह' और दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति 'नित्यमिलन' है। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेममें क्षय या उदय, त्याग या प्राप्ति है ही नहीं, प्रत्युत प्रेमके नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हुए ही प्रतिक्षण वर्धमान होनेसे उसमें क्षय या उदयकी प्रतीति होती है।

प्रेममें प्रेमीको अपनेमें एक कमीका भान होता है, जिससे उसमें 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह लालसा (भूख) होती है। अगर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो 'और बढ़े, और बढ़े' इस लालसामें प्रेमकी प्राप्ति भी है और कमी भी! कमी नहीं है, फिर भी कमी दीखती है। इसलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(नारद० ५१-५२)

आनन्द भी आये और कमी भी दीखे—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

जो पूर्णताको प्राप्त हो गये हैं, जिनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहा, ऐसे महापुरुषोंमें भी प्रेमकी भूख रहती है। उनका भगवान्‌की तरफ स्वतः

-स्वाभाविक खिंचाव होता है। इसलिये भगवान् '**आत्मारामगणाकर्षी**' कहलाते हैं। सनकादि मुनि '***ब्रह्मानंद सदा लयलीना***' होते हुए भी भगवल्लीला-कथा सुनते रहते हैं—

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं।
रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(मानस, उत्तर० ३२। ३)

जब वे वैकुण्ठधाममें गये, तब वहाँ भगवान्‌के चरणकमलोंकी दिव्य गन्धसे उनका स्थिर चित्त भी चंचल हो उठा—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्के चरण-कमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मंजरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

भगवान् श्रीरामको देखकर तत्त्वज्ञानी जनक भी कह उठे—

सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६। २-३)

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान् शंकरके मनमें भगवल्लीला सुनानेकी लालसा होती है और जगज्जननी पार्वतीके

मनमें सुननेकी लालसा होती है। भगवान् शंकर कैलासको छोड़कर यशोदाजीके पास आते हैं और प्रार्थना करते हैं कि मैया! एक बार अपने लालाका मुख तो दिखा दे! जब वे सतीजीके साथ कैलास जा रहे थे, तब भी मार्गमें भगवान् श्रीरामका दर्शन करके उनकी विचित्र दशा हो गयी—

सतीं सो दसा संभु कै देखी।
उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।
कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी।
अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥

इस प्रकार सनकादि, जनक, भगवान् शंकर आदि सभीका स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है। इस खिंचावका नाम ही प्रेम है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

कोई कमी भी न हो और प्रेमकी भूख भी हो—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है। सत्संगमें लगे हुए साधकोंका यह अनुभव

भी है कि प्रतिदिन सत्संग सुनते हुए, भगवान्‌की लीलाएँ सुनते हुए, भजन-कीर्तन करते और सुनते हुए भी न तो उनसे तृप्ति होती है और न उनको छोड़नेका मन ही करता है। उनमें प्रतिदिन नया-नया रस मिलता है, जिसमें भूतकालका रस फीका दीखता है और वर्तमानका रस विलक्षण दीखता है*। इस प्रकार प्रेममें पूर्णता भी है और अभाव भी है—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

ज्ञानमें तो स्वरूपमें स्थिति होती है, जिससे ज्ञानीको सन्तोष हो जाता है—'**आत्मन्येव च सन्तुष्टः**' (गीता ३। १७); परन्तु प्रेममें न

---

* राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
(मानस, उत्तर० ५३। १)

स्थिति होती है और न सन्तोष होता है, प्रत्युत नित्य-निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

वास्तवमें प्रेमका निर्वचन (वर्णन) किया ही नहीं जा सकता। अगर उसका निर्वचन कर दें तो फिर वह अनिर्वचनीय कैसे रहेगा?

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरो प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥

भगवान्‌के ही समग्ररूपका एक अंश अथवा ऐश्वर्य ब्रह्म है—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' (गीता ७। २९), '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७)। समग्ररूप (समग्रम्) विशेषण है और भगवान् (**माम्**) विशेष्य हैं—'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**' (गीता ७। १)। इसी तरह भगवान्‌ने अधियज्ञ (अन्तर्यामी) को भी अपना स्वरूप

बताया है—'**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे**' (गीता ८। ४)। अतः ब्रह्म विशेषण है और अन्तर्यामी भगवान् विशेष्य हैं। इसलिये ज्ञानीका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध विशेष्यके साथ होता है। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानीका सम्बन्ध ऐश्वर्यके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध ऐश्वर्यवान्के साथ होता है।

ज्ञानीकी तो ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' होती है, पर भक्तकी भगवान्के साथ 'आत्मीय एकता' होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८) 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है।' यहाँ 'ज्ञानी' शब्द तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत

'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् शरणागत भक्तके लिये आया है—'**वासुदेवः सर्वम् इति ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**' (गीता ७। १९)। ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) की 'तात्त्विक एकता' में तो जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है तथा एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी 'आत्मीय एकता' में जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं।

यद्यपि भगवान् सर्वथा पूर्ण हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं है, फिर भी वे प्रेमके भूखे हैं—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)। इसलिये

भगवान् प्रेम-लीलाके लिये श्रीजी और कृष्णरूपसे दो हो जाते हैं—

येयं राधा यश्च कृष्णो
रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
(राधातापनीयोपनिषद्)

वास्तवमें श्रीजी कृष्णसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत कृष्ण ही प्रेमकी वृद्धिके लिये श्रीजीको अलग करते हैं। तात्पर्य है कि प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त भगवान्‌से अलग नहीं होता, प्रत्युत भगवान् ही प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके लिये भक्तको अलग करते हैं। इसलिये प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त और भगवान्—दोनोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। दोनों ही एक-दूसरेके भक्त और दोनों ही एक-दूसरेके इष्ट होते हैं। तत्त्वज्ञानसे पहलेका भेद (द्वैत) तो अज्ञानसे

होता है, पर तत्त्वज्ञानके बादका (प्रेमका) भेद भगवान्‌की इच्छासे होता है।

अभिन्नता दो होते हुए भी हो सकती है; जैसे बालककी माँसे, सेवककी स्वामीसे, पत्नीकी पतिसे अथवा मित्रकी मित्रसे अभिन्नता होती है। इसलिये भक्तिमें आरम्भसे ही भक्तकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है—'**साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को**' (कवितावली, उत्तर० १०७)। कारण कि भक्त अपना अलग अस्तित्व नहीं मानता। उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् ही हैं, मैं हूँ ही नहीं।

प्रेममें माधुर्य है। अतः 'प्रभु मेरे हैं' ऐसे अपनापन होनेसे भक्त भगवान्‌का

ऐश्वर्य (प्रभाव) भूल जाता है। जैसे, महारानीका बालक उसको 'माँ मेरी है' ऐसे मानता है तो उसका प्रभाव भूल जाता है कि यह महारानी है। एक बाबाजीने गोपियोंसे कहा कि कृष्ण बड़े ऐश्वर्यशाली हैं, उनके पास ऐश्वर्यका बड़ा खजाना है, तो गोपियाँ बोलीं कि महाराज! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है! कन्हैयाके पास क्या है? उसके पास तो कुछ भी नहीं है! तात्पर्य है कि माधुर्यमें ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जाती है। संसारमें तो ऐश्वर्यका ही ज्यादा आदर है, पर भगवान्‌में माधुर्यका ज्यादा आदर है। जिस समय भगवान्‌में माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्य-शक्ति दूर भाग जाती है, पासमें

नहीं आती। वास्तवमें भक्त भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखता ही नहीं। कारण कि भगवान्‌को भगवान् समझकर प्रेम करना भगवान्‌के साथ प्रेम नहीं है, प्रत्युत भगवत्ता (ऐश्वर्य) के साथ प्रेम है। जैसे, धनको देखकर धनवान्‌के साथ स्नेह करना वास्तवमें धनवत्ताके साथ स्नेह करना है।

प्रेमकी जागृतिमें भगवान्‌की कृपा ही खास कारण है। प्रेमकी वृद्धिके लिये विरह और मिलन भी भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। आदरपूर्वक भगवल्लीलाका श्रवण, वर्णन, चिन्तन तथा भगवन्नामका कीर्तन आदि साधनोंके बलसे प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत समयका सदुपयोग होता है, जिसको

वैष्णवाचार्योंने 'कालक्षेप' कहा है। भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है उनकी शरण होनेपर। शरण होनेमें संसारके आश्रयका त्याग मुख्य है।

संसारसे अलग होनेपर संसारका ज्ञान होता है और भगवान्‌से अभिन्न होनेपर भगवान्‌का ज्ञान होता है। कारण कि जीव संसारसे अलग है और भगवान्‌से अभिन्न है—यह वास्तविक, यथार्थ बात है। परन्तु शरीर-संसारसे एकता माननेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और संसारका ज्ञान न होनेसे ही संसारकी तरफ खिंचाव होता है। इसी तरह भगवान्‌से भिन्नता माननेसे भगवान्‌का ज्ञान नहीं होता और भगवान्‌का ज्ञान न होनेसे ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव

नहीं होता। संसार अपना नहीं है—इस तरह संसारका ज्ञान होनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान् अपने हैं—इस तरह भगवान्का ज्ञान होनेसे भगवान्के साथ अभिन्नता होकर प्रेम हो जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥ 822▲

अमृत-बिन्दु

[शिक्षासाहस्त्री]

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

प्राक्कथन

सांसारिक दु:खोंसे व्यथित व्यक्तियोंके हृत्तापका प्रशमन करनेके लिये और शाश्वत सुखकी खोजमें निमग्न परमार्थ-पथ-पथिकोंका पथ-प्रदर्शन करनेके लिये यह 'अमृत-बिन्दु' नामक पुस्तक प्रस्तुत है। इस पुस्तकके अनमोल बिन्दुओंका चयन परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी अमृतमयी वाणीसे किया गया है। अनेक वर्षोंसे ये अमृत-बिन्दु 'कल्याण' मासिक पत्रमें भी प्रकाशित होते आ रहे हैं। पाठकोंके सुविधार्थ इनको विविध विषयोंमें विभक्त करके प्रस्तुत पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जा रहा है।

इस पुस्तकका एक-एक बिन्दु अपने भीतर एक अथाह सागर समेटे हुए है! छोटी-छोटी बातोंमें भी बहुत विशेष अर्थ भरा हुआ है! इन बातोंको पढ़नेमें समय भी अधिक नहीं लगता और इनको निगलने (हृदयमें उतारने)में कोई परिश्रम भी नहीं होता! विविध विषयोंसे सम्बन्धित ये सार बातें सबके लिये उपयोगी हैं और सब समयमें उपयोगी हैं। न जाने किस समय कौन-सी बात किसकी जीवन-धाराको पलट दे! किसकी हृदय-ग्रन्थिका भेदन कर दे! किसकी उलझनका छेदन कर दे! किसकी चिन्ता, शोक, अशान्तिका निवारण कर दे! इसलिये सभी वर्गोंके भाई-बहनोंको इस संकलनसे लाभ उठाना चाहिये और अमृत-बिन्दुओंकी फुहारसे अपने जीवनको सरस, सुखद एवं सफल बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। किमधिकम्!

विनीत—

राजेन्द्र कुमार धवन

॥ श्रीहरिः ॥

अमृत-बिन्दु

(शिक्षासाहस्त्री)

अविनाशी सुख

अपने लिये सुख चाहनेसे नाशवान् सुख मिलता है और दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अविनाशी सुख मिलता है॥ १॥

× × ×

सुख भोगनेके लिये स्वर्ग है तथा दुःख भोगनेके लिये नरक है और सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचे उठकर महान् आनन्द प्राप्त करनेके लिये यह मनुष्यलोक है॥ २॥

× × ×

संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे जो सुख मिलता है, वह संसारके सम्बन्धसे कभी मिल सकता ही नहीं॥ ३॥

× × ×

जबतक नाशवान्‌का सुख लेते रहेंगे, तबतक अविनाशी सुखकी प्राप्ति नहीं होगी॥ ४॥

× × ×

भोगोंका नाशवान् सुख तो नीरसतामें बदल जाता है और उसका अन्त हो जाता है, पर परमात्माका अविनाशी सुख सदा सरस रहता है और बढ़ता ही रहता है॥ ५॥

अभिमान

अच्छाईका अभिमान बुराईकी जड़ है॥ ६॥

× × ×

स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेसे साधुता आती है॥ ७॥

× × ×

अपनी बुद्धिका अभिमान ही शास्त्रोंकी, सन्तोंकी बातोंको अन्तः-करणमें टिकने नहीं देता॥ ८॥

× × ×

वर्ण, आश्रम आदिकी जो विशेषता है, वह दूसरोंकी सेवा करनेके लिये है, अभिमान करनेके लिये नहीं॥ ९॥

× × ×

आप अपनी अच्छाईका जितना अभिमान करोगे, उतनी ही बुराई पैदा होगी। इसलिये अच्छे बनो, पर अच्छाईका अभिमान मत करो॥ १०॥

× × ×

ज्ञान मुक्त करता है, पर ज्ञानका अभिमान नरकोंमें ले जाता है॥ ११॥

× × ×

सांसारिक वस्तुके मिलनेपर तो अभिमान आ सकता है, पर भगवान्‌के मिलनेपर अभिमान आ सकता ही नहीं, प्रत्युत अभिमानका सर्वथा नाश हो जाता है॥ १२॥

× × ×

स्वार्थ और अभिमानका त्याग किये बिना मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन सकता॥ १३॥

× × ×

जहाँ जातिका अभिमान होता है, वहाँ भक्ति होनी बड़ी कठिन है; क्योंकि भक्ति स्वयंसे होती है, शरीरसे नहीं। परन्तु जाति शरीरकी होती है, स्वयंकी नहीं॥ १४॥

× × ×

जबतक स्वार्थ और अभिमान हैं, तबतक किसीके भी साथ प्रेम नहीं हो सकता॥ १५॥

× × ×

अभिमानी आदमीसे सेवा तो कम होती है, पर उसको पता लगता है कि मैंने ज्यादा सेवा की। परन्तु निरभिमानी आदमीको पता तो कम लगता है, पर सेवा ज्यादा होती है॥ १६॥

× × ×

बुद्धिमानीका अभिमान मूर्खतासे पैदा होता है॥ १७॥

× × ×

जो चीज अपनी है, उसका अभिमान नहीं होता और जो चीज अपनी नहीं है, उसका भी अभिमान नहीं होता। अभिमान उस चीजका होता है, जो अपनी नहीं है, पर उसको अपनी मान लिया॥ १८॥

× × ×

जितना जानते हैं, उसीको पूरा मानकर जानकारीका अभिमान करनेसे मनुष्य 'नास्तिक' बन जाता है। जितना जानते हैं, उसमें सन्तोष न करनेसे तथा जानकारीका अभाव खटकनेसे मनुष्य 'जिज्ञासु' बन जाता है॥ १९॥

× × ×

जिन सम्प्रदाय, मत, सिद्धान्त, ग्रन्थ, व्यक्ति आदिमें अपने स्वार्थ और अभिमानके त्यागकी मुख्यता रहती है, वे महान् श्रेष्ठ होते हैं। परन्तु जिनमें अपने स्वार्थ और अभिमानकी मुख्यता रहती है, वे महान् निकृष्ट होते हैं॥ २०॥

~~~
~~~

अहंता (मैं-पन)

मैं-पन ही मात्र संसारका बीज है॥ २१॥

× × ×

शरीरको मैं-मेरा माननेसे तरह-तरहके और अनन्त दुःख आते हैं॥ २२॥

× × ×

एक अहम्‌के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्‌ने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है॥ २३॥

× × ×

'मैं बन्धनमें हूँ'—इसमें जो 'मैं' है, वही 'मैं मुक्त हूँ' अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ'—इसमें भी है! इस 'मैं' (अहम्) का मिटना ही वास्तवमें मुक्ति है॥ २४॥

× × ×

जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों एक ही हैं, पर अहंताके कारण ये तीन दीखते हैं॥ २५॥

× × ×

वास्तवमें असंगता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजसे असंगता होनेपर अहंता (व्यक्तित्व) मिटती नहीं, प्रत्युत दृढ़ होती है॥ २६॥

× × ×

हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और उसमें अहम् नहीं है—यह बात यदि समझमें आ जाय तो इसी क्षण जीवन्मुक्ति है॥ २७॥

× × ×

संघर्ष जाति या धर्मको लेकर नहीं होता, प्रत्युत अहंकारसे पैदा होनेवाले स्वार्थ और अभिमानको लेकर होता है॥ २८॥

× × ×

अपनेमें विशेषता देखना अहंताको, परिच्छिन्नताको, देहाभिमानको पुष्ट करता है॥ २९॥

× × ×

भगवान्‌से उत्पन्न हुई सृष्टि भगवद्रूप ही है, पर जीव अहंता, आसक्ति, रागके कारण उसको जगद्रूप बना लेता है॥ ३०॥

उद्देश्य

जिसके लिये मनुष्यजन्म मिला है, उस परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य हो जानेपर मनुष्यको सांसारिक सिद्धि-असिद्धि बाधा नहीं दे सकती ॥ ३१ ॥

× × ×

जैसे रोगीका उद्देश्य नीरोग होना है, ऐसे ही मनुष्यका उद्देश्य अपना कल्याण करना है। सांसारिक सिद्धि-असिद्धिको महत्त्व न देनेसे अर्थात् उनमें सम रहनेसे ही उद्देश्यकी सिद्धि होती है ॥ ३२ ॥

× × ×

जब साधकका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, तब उसके पास जो भी सामग्री (वस्तु, परिस्थिति आदि) होती है, वह सब साधनरूप (साधन-सामग्री) हो जाती है ॥ ३३ ॥

× × ×

एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होनेसे अन्त:करणकी जितनी शीघ्र और जैसी शुद्धि होती है, उतनी शीघ्र और वैसी शुद्धि अन्य किसी अनुष्ठानसे नहीं होती ॥ ३४ ॥

× × ×

इन्द्रियोंके द्वारा भोग तो पशु भी भोगते हैं, पर उन भोगोंको भोगना मनुष्य-जीवनका उद्देश्य नहीं है। मनुष्य-जीवनका उद्देश्य तो सुख-दु:खसे रहित तत्त्वको प्राप्त करना है ॥ ३५ ॥

× × ×

कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्यकी बड़ी आवश्यकता है। यदि अपने कल्याणका उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा तो साधनसे सिद्धि कैसे मिलेगी? ॥ ३६ ॥

× × ×

एक परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेपर कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं होता ॥ ३७ ॥

× × ×

वास्तवमें परमात्मप्राप्तिके सिवाय मनुष्य-जीवनका अन्य कोई प्रयोजन है ही नहीं। आवश्यकता केवल इस प्रयोजन या उद्देश्यको पहचानकर इसे पूरा करनेकी है ॥ ३८ ॥

× × ×

उद्देश्य मनुष्यकी प्रतिष्ठा है। जिसका कोई उद्देश्य नहीं है, वह वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है ॥ ३९ ॥

उन्नति

जो वस्तु, परिस्थिति आदि अभी नहीं है, उसको प्राप्त करनेमें अपनी उन्नति, सफलता या चतुराई मानना महान् भूल है। जो वस्तु अभी नहीं है, वह मिलनेके बाद भी सदा नहीं रहेगी—यह नियम है। जो सदासे है और सदा रहेगी, ऐसी वस्तु (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त करनेमें ही वास्तविक उन्नति, सफलता या चतुराई है॥ ४०॥

× × ×

पारमार्थिक उन्नति करनेवालेकी लौकिक उन्नति स्वतः होती है॥ ४१॥

× × ×

विचार करो—हम अपनी जानकारीका खुद ही निरादर करेंगे तो फिर हमारी उन्नति कैसे होगी?॥ ४२॥

× × ×

वास्तविक उन्नति है—स्वभाव शुद्ध होना॥ ४३॥

× × ×

सांसारिक उन्नति वर्तमानकी वस्तु नहीं है और पारमार्थिक उन्नति भविष्यकी वस्तु नहीं है॥ ४४॥

× × ×

जो आराम चाहता है, वह अपनी वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता॥ ४५॥

× × ×

जिस प्रकार आकाशमें वृक्ष कितना ही ऊँचा उठे, उसकी कोई सीमा नहीं है, इसी प्रकार मनुष्यकी उन्नतिकी भी कोई सीमा नहीं है॥ ४६॥

× × ×

पारमार्थिक उन्नतिमें संयोगजन्य सुखकी लोलुपता ही खास बाधक है॥ ४७॥

× × ×

मनुष्यका उत्थान और पतन भावसे होता है, वस्तु, परिस्थिति आदिसे नहीं॥ ४८॥

× × ×

बुद्धिके अनुसार मन और मनके अनुसार इन्द्रियाँ होनेसे उत्थान होता है। परन्तु इन्द्रियोंके अनुसार मन और मनके अनुसार बुद्धि बनानेसे पतन होता है॥ ४९॥

~~~
~~~

एकान्त

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे अपना सम्बन्ध न रखना ही सच्चा एकान्त है॥ ५०॥

× × ×

एकान्त मिले या समुदाय मिले, साधकको अपना साधन किसी परिस्थितिके अधीन नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपना साधन बनाना चाहिये॥ ५१॥

× × ×

एकान्तकी इच्छा करनेवाला परिस्थितिके अधीन होता है। जो परिस्थितिके अधीन होता है, वह भोगी होता है, योगी नहीं॥ ५२॥

× × ×

साधकका न तो जन-समुदायमें राग होना चाहिये, न एकान्तमें। कल्याण परिस्थितिसे नहीं होता, प्रत्युत रागरहित होनेसे होता है॥ ५३॥

× × ×

निर्जन-स्थानमें चले जानेको अथवा अकेले पड़े रहनेको एकान्त मान लेना भूल है; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका बीज यह शरीर तो साथमें है ही। जबतक शरीरके साथ सम्बन्ध है, तबतक सम्पूर्ण संसारके साथ सम्बन्ध बना हुआ है॥ ५४॥

× × ×

शरीर भी संसारका ही एक अंग है। अत: शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होना अर्थात् उसमें अहंता-ममता न रहना ही वास्तविक एकान्त है॥ ५५॥

× × ×

साधकमें एकान्त-सेवनकी रुचि होनी तो बढ़िया है, पर उसका आग्रह (राग) होना बढ़िया नहीं है। आग्रह होनेसे एकान्त न मिलनेपर अन्त:करणमें हलचल होगी, जिससे संसारकी महत्ता दृढ़ होगी॥ ५६॥

~~~
~~~

कर्तव्य

मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें अपने कर्तव्यका पालन कर सकता है। कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप है—सेवा अर्थात् संसारसे मिले हुए शरीरादि पदार्थोंको संसारके हितमें लगाना॥ ५७॥

× × ×

अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले मनुष्यके चित्तमें स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है। इसके विपरीत अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले मनुष्यके चित्तमें स्वाभाविक खिन्नता रहती है॥ ५८॥

× × ×

साधक आसक्तिरहित तभी हो सकता है, जब वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको 'मेरी' अथवा 'मेरे लिये' न मानकर, केवल संसारकी और संसारके लिये ही मानकर संसारके हितके लिये तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्मका आचरण करनेमें लग जाय॥ ५९॥

× × ×

वर्तमान समयमें घरोंमें, समाजमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है, उसमें मूल कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते॥ ६०॥

× × ×

कोई भी कर्तव्य-कर्म छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कर्म कर्तव्यमात्र समझकर (सेवाभावसे) करनेपर समान ही है॥ ६१॥

× × ×

जिससे दूसरोंका हित होता है, वही कर्तव्य होता है। जिससे किसीका भी अहित होता है, वह अकर्तव्य होता है॥ ६२॥

× × ×

राग-द्वेषके कारण ही मनुष्यको कर्तव्य-पालनमें परिश्रम या कठिनाई प्रतीत होती है॥ ६३॥

× × ×

जिसे करना चाहिये और जिसे कर सकते हैं, उसका नाम 'कर्तव्य' है। कर्तव्यका पालन न करना प्रमाद है, प्रमाद तमोगुण है और तमोगुण नरक है—'**नरकस्तमउन्नाह:**' (श्रीमद्भा० ११। १९। ४३)॥ ६४॥

× × ×

अपने सुखके लिये किये गये कर्म 'असत्' और दूसरेके हितके लिये किये गये कर्म 'सत्' होते हैं। असत्-कर्मका परिणाम जन्म-मरणकी प्राप्ति और सत्-कर्मका परिणाम परमात्माकी प्राप्ति है॥ ६५॥

× × ×

अच्छे-से-अच्छा कार्य करो, पर संसारको स्थायी मानकर मत करो॥ ६६॥

× × ×

जो निष्काम होता है, वही तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन कर सकता है॥ ६७॥

× × ×

दूसरोंकी तरफ देखनेवाला कभी कर्तव्यनिष्ठ हो ही नहीं सकता, क्योंकि दूसरोंका कर्तव्य देखना ही अकर्तव्य है॥ ६८॥

× × ×

गृहस्थ हो अथवा साधु हो, जो अपने कर्तव्यका ठीक पालन करता है, वही श्रेष्ठ है॥ ६९॥

× × ×

अपने लिये कर्म करनेसे अकर्तव्यकी उत्पत्ति होती है॥ ७०॥

× × ×

अपने कर्तव्य (धर्म)का ठीक पालन करनेसे वैराग्य हो जाता है—'**धर्म तें बिरति**' (मानस ३।१६।१)। यदि वैराग्य न हो तो समझना चाहिये कि हमने अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं किया॥ ७१॥

× × ×

अपने कर्तव्यका ज्ञान हमारेमें मौजूद है। परन्तु कामना और ममता होनेके कारण हम अपने कर्तव्यका निर्णय नहीं कर पाते॥ ७२॥

× × ×

चारों वर्णों और आश्रमोंमें श्रेष्ठ व्यक्ति वही है, जो अपने कर्तव्यका पालन करता है। जो कर्तव्यच्युत होता है, वह छोटा हो जाता है॥ ७३॥

× × ×

संसारके सभी सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, न कि अधिकार जमानेके लिये। सुख देनेके लिये हैं, न कि सुख लेनेके लिये॥ ७४॥

× × ×

एकमात्र अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो शास्त्र पढ़े बिना भी अपने कर्तव्यका ज्ञान हो जायगा। परन्तु अपने कल्याणका उद्देश्य न हो तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उल्टे अज्ञान बढ़ेगा कि हम जानते हैं!॥ ७५॥

कल्याण

मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है—ये तीन बातें शीघ्र उद्धार करनेवाली हैं॥ ७६॥

× × ×

भगवान्‌का संकल्प हमारे कल्याणके लिये है। अगर हम अपना कोई संकल्प न रखें तो भगवान्‌के संकल्पके अनुसार अपने-आप हमारा कल्याण हो जायगा॥ ७७॥

× × ×

संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है, जिसमें मनुष्यका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मा प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान हैं॥ ७८॥

× × ×

कल्याणकी प्राप्ति बहुत सुगम है, पर कल्याणकी इच्छा ही नहीं हो तो वह सुगमता किस कामकी?॥ ७९॥

× × ×

संसारका काम तो और कोई भी कर लेगा, पर अपने कल्याणका काम तो खुदको ही करना पड़ेगा; जैसे—भोजन और दवाई खुदको ही लेनी पड़ती है॥ ८०॥

× × ×

अपने कल्याणके लिये किसी नयी परिस्थितिकी जरूरत नहीं है। प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे ही कल्याण हो सकता है॥ ८१॥

× × ×

कल्याण क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत भाव और विवेकसे होता है॥ ८२॥

× × ×

घरमें रहनेवाले सभी लोग अपनेको सेवक और दूसरोंको सेव्य समझें तो सबकी सेवा हो जायगी और सबका कल्याण हो जायगा॥ ८३॥

× × ×

भोगोंकी प्रियता जन्म-मरण देनेवाली और भगवान्‌की प्रियता कल्याण करनेवाली है॥ ८४॥

× × ×

अपना कल्याण चाहनेवाला सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे तो भगवान्‌के दरबारमें उसकी सुनवायी जल्दी होती है॥ ८५॥

× × ×

किसीका भी कल्याण होता है तो उसके मूलमें किसी सन्तकी अथवा भगवान्‌की कृपा होती है॥ ८६॥

× × ×

संसारमें सन्त-महात्माओंकी, उपदेश देनेवालोंकी कमी नहीं है। परन्तु अपना कल्याण करनेमें खुदकी लगन, लालसा, मान्यता, श्रद्धा ही काम आती है॥ ८७॥

कामना

जबतक साधकमें अपने सुख, आराम, मान, बड़ाई आदिकी कामना है, तबतक उसका व्यक्तित्व नहीं मिटता और व्यक्तित्व मिटे बिना तत्त्वसे अभिन्नता नहीं होती॥ ८८॥

× × ×

जब हमारे अन्त:करणमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहेगी, तब हमें भगवत्प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करनी पड़ेगी, प्रत्युत भगवान् स्वत: प्राप्त हो जायँगे॥ ८९॥

× × ×

संसारकी कामनासे पशुताका और भगवान्‌की कामनासे मनुष्यताका आरम्भ होता है॥ ९०॥

× × ×

'मेरे मनकी हो जाय'—इसीको कामना कहते हैं। यह कामना ही दु:खका कारण है। इसका त्याग किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता॥ ९१॥

× × ×

मुझे सुख कैसे मिले—केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्तव्यच्युत और पतित हो जाता है॥ ९२॥

× × ×

कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे, अपने स्वरूपसे और अपने इष्ट (भगवान्)से विमुख हो जाता है और नाशवान् संसारके सम्मुख हो जाता है॥ ९३॥

× × ×

साधकको न तो लौकिक इच्छाओंकी पूर्तिकी आशा रखनी चाहिये और न पारमार्थिक इच्छाकी पूर्तिसे निराश ही होना चाहिये॥ ९४॥

× × ×

कामनाओंके त्यागमें सब स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ हैं। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिमें कोई भी स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ नहीं है॥ ९५॥

× × ×

ज्यों-ज्यों कामनाएँ नष्ट होती हैं, त्यों-त्यों साधुता आती है और ज्यों-ज्यों कामनाएँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों साधुता लुप्त होती है। कारण कि असाधुताका मूल हेतु कामना ही है॥ ९६॥

× × ×

कामनामात्रसे कोई भी पदार्थ नहीं मिलता, अगर मिलता भी है तो सदा साथ नहीं रहता—ऐसी बात प्रत्यक्ष होनेपर भी पदार्थोंकी कामना रखना प्रमाद ही है॥ ९७॥

× × ×

जीवन तभी कष्टमय होता है, जब संयोगजन्य सुखकी इच्छा करते हैं और मृत्यु तभी कष्टमयी होती है, जब जीनेकी इच्छा करते हैं॥ ९८॥

× × ×

यदि वस्तुकी इच्छा पूरी होती हो तो उसे पूरी करनेका प्रयत्न करते और यदि जीनेकी इच्छा पूरी होती हो तो मृत्युसे बचनेका प्रयत्न करते। परन्तु इच्छाके अनुसार न तो सब वस्तुएँ मिलती हैं और न मृत्युसे बचाव ही होता है॥ ९९॥

× × ×

इच्छाका त्याग करनेमें सब स्वतन्त्र हैं, कोई पराधीन नहीं है और इच्छाकी पूर्ति करनेमें सब पराधीन हैं, कोई स्वतन्त्र नहीं है॥ १००॥

× × ×

सुखकी इच्छा, आशा और भोग—ये तीनों सम्पूर्ण दु:खोंके कारण हैं॥ १०१॥

× × ×

नाशवान्‌की चाहना छोड़नेसे अविनाशी तत्त्वकी प्राप्ति होती है॥ १०२॥

× × ×

ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—इसीमें सब दु:ख भरे हुए हैं॥ १०३॥

× × ×

हमारा सम्मान हो—इस चाहनाने ही हमारा अपमान किया है॥ १०४॥

× × ×

मनमें किसी वस्तुकी चाह रखना ही दरिद्रता है। लेनेकी इच्छावाला सदा दरिद्र ही रहता है॥ १०५॥

× × ×

नाशवान्‌की इच्छा ही अन्त:करणकी अशुद्धि है॥ १०६॥

× × ×

****

मनुष्यको कर्मोंका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत कामनाका त्याग करना है॥ १०७॥

× × ×

मनुष्यको वस्तु गुलाम नहीं बनाती, उसकी इच्छा गुलाम बनाती है॥ १०८॥

× × ×

यदि शान्ति चाहते हो तो कामनाका त्याग करो॥ १०९॥

× × ×

कुछ भी लेनेकी इच्छा भयंकर दुःख देनेवाली है॥ ११०॥

× × ×

जिसके भीतर इच्छा है, उसको किसी-न-किसीके पराधीन होना ही पड़ेगा॥ १११॥

× × ×

अपने लिये सुख चाहना आसुरी, राक्षसी वृत्ति है॥ ११२॥

× × ×

जैसे बिना चाहे सांसारिक दुःख मिलता है, ऐसे ही बिना चाहे सुख भी मिलता है। अतः साधक सांसारिक सुखकी इच्छा कभी न करे॥ ११३॥

× × ×

भोग और संग्रहकी इच्छा सिवाय पाप करानेके और कुछ काम नहीं आती। अतः इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये॥ ११४॥

× × ×

अपने लिये भोग और संग्रहकी इच्छा करनेसे मनुष्य पशुओंसे भी नीचे गिर जाता है तथा इसकी इच्छाका त्याग करनेसे देवताओंसे भी ऊँचे उठ जाता है॥ ११५॥

× × ×

जो वस्तु हमारी है, वह हमें मिलेगी ही; उसको कोई दूसरा नहीं

ले सकता। अत: कामना न करके अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये॥ ११६॥

× × ×

जैसा मैं चाहूँ, वैसा हो जाय—यह इच्छा जबतक रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती॥ ११७॥

× × ×

मनुष्य समझदार होकर भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको चाहता है—यह आश्चर्यकी बात है!॥ ११८॥

× × ×

शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे ही नाशवान्‌की इच्छा होती है और इच्छा होनेसे ही शरीरमें अपनी स्थिति दृढ़ होती है॥ ११९॥

× × ×

कुछ चाहनेसे कुछ मिलता है और कुछ नहीं मिलता; परन्तु कुछ न चाहनेसे सब कुछ मिलता है॥ १२०॥

× × ×

निन्दा इसलिये बुरी लगती है कि हम प्रशंसा चाहते हैं। हम प्रशंसा चाहते हैं तो वास्तवमें हम प्रशंसाके योग्य नहीं हैं; क्योंकि जो प्रशंसाके योग्य होता है, उसमें प्रशंसाकी चाहना नहीं रहती॥ १२१॥

× × ×

दूसरोंसे अच्छा कहलानेकी इच्छा बहुत बड़ी निर्बलता है। इसलिये अच्छे बनो, अच्छे कहलाओ मत॥ १२२॥

× × ×

सांसारिक सुखकी इच्छाका त्याग कभी-न-कभी तो करना ही पड़ेगा तो फिर देरी क्यों?॥ १२३॥

× × ×

जहाँतक बने, दूसरोंकी आशापूर्तिका उद्योग करो, पर दूसरोंसे आशा मत रखो॥ १२४॥

× × ×

विचार करो, जिससे आप सुख चाहते हैं, क्या वह सर्वथा सुखी है? क्या वह दु:खी नहीं है? दु:खी व्यक्ति आपको सुखी कैसे बना देगा?॥ १२५॥

× × ×

कामना छूटनेसे जो सुख होता है, वह सुख कामनाकी पूर्तिसे कभी नहीं होता॥ १२६॥

× × ×

परमात्माकी उत्कट अभिलाषा चाहते हो तो संसारकी अभिलाषाको छोड़ो॥ १२७॥

× × ×

जो बदलनेवाले (संसार) की इच्छा करता है, उससे सुख लेता है, वह भी बदलता रहता है अर्थात् अनेक योनियोंमें जन्मता-मरता रहता है॥ १२८॥

× × ×

जिसको हम सदाके लिये अपने पास नहीं रख सकते, उसकी इच्छा करनेसे और उसको पानेसे भी क्या लाभ?॥ १२९॥

× × ×

कामनाके कारण ही कमी है। कामनासे रहित होनेपर कोई कमी बाकी नहीं रहेगी॥ १३०॥

× × ×

कामनाका सर्वथा त्याग कर दें तो आवश्यक वस्तुएँ स्वत: प्राप्त होंगी; क्योंकि वस्तुएँ निष्काम पुरुषके पास आनेके लिये लालायित रहती हैं॥ १३१॥

× × ×

जो अपने सुखके लिये वस्तुओंकी इच्छा करता है, उसको वस्तुओंके अभावका दु:ख भोगना ही पड़ेगा॥ १३२॥

× × ×

जिसके भीतर कोई भी इच्छा नहीं होती, उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति प्रकृति स्वतः करती है॥ १३३॥

× × ×

जो सदा हमारे साथ नहीं रहेगा और हम सदा जिसके साथ नहीं रहेंगे, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करना अथवा उससे सुख लेना मूर्खता है, पतनका कारण है॥ १३४॥

× × ×

सुखकी इच्छासे सुख नहीं मिलता—यह नियम है॥ १३५॥

× × ×

चाहे साधु बनो, चाहे गृहस्थ बनो, जबतक कामना (कुछ पानेकी इच्छा) रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती॥ १३६॥

× × ×

अगर शान्ति चाहते हो तो 'यों होना चाहिये, यों नहीं होना चाहिये'—इसको छोड़ दो और 'जो भगवान् चाहें, वही होना चाहिये'—इसको स्वीकार कर लो॥ १३७॥

× × ×

कामनापूर्वक किया गया सब कार्य असत् है, उसका फल नाशवान् होगा॥ १३८॥

× × ×

कुछ भी चाहना गुलामी है और कुछ नहीं चाहना आजादी है॥ १३९॥

× × ×

वस्तुके न मिलनेसे हम अभागे नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌के अंश होकर भी हम नाशवान् वस्तुकी इच्छा करते हैं—यही हमारा अभागापन है॥ १४०॥

× × ×

सुखकी इच्छासे ही द्वैत होता है। सुखकी इच्छा न हो तो द्वैत है ही नहीं॥ १४१॥

× × ×

जबतक शरीरको अपना मानते रहेंगे, तबतक हमारी कामना नहीं मिट सकती॥ १४२॥

× × ×

विचार करें, कामनाकी पूर्ति होनेपर भी हम वही रहते हैं और अपूर्ति होनेपर भी हम वही रहते हैं, फिर कामनाकी पूर्तिसे हमें क्या मिला और अपूर्तिसे हमारी क्या हानि हुई? हमारेमें क्या फर्क पड़ा?॥ १४३॥

गुरु और शिष्य

जो दुनियाका गुरु बनता है, वह दुनियाका गुलाम हो जाता है और जो अपने-आपका गुरु बनता है, वह दुनियाका गुरु हो जाता है॥ १४४॥

× × ×

कल्याण-प्राप्तिमें खुदकी लगन काम आती है। खुदकी लगन न हो तो गुरु क्या करेगा? शास्त्र क्या करेगा?॥ १४५॥

× × ×

जो हमसे कुछ भी चाहता है, वह हमारा गुरु कैसे हो सकता है?॥ १४६॥

× × ×

पुत्र और शिष्यको अपनेसे श्रेष्ठ बनानेका विधान तो है, पर अपना गुलाम बनानेका विधान नहीं है॥ १४७॥

× × ×

गुरुमें मनुष्यबुद्धि करना और मनुष्यमें गुरुबुद्धि करना अपराध है; क्योंकि गुरु तत्त्व है, शरीरका नाम गुरु नहीं है॥ १४८॥

× × ×

शिष्य दुर्लभ है, गुरु नहीं। सेवक दुर्लभ है, सेव्य नहीं। जिज्ञासु दुर्लभ है, ज्ञान नहीं। भक्त दुर्लभ है, भगवान् नहीं॥ १४९॥

× × ×

जो हमारेसे धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधा, मान-आदर, पूजा-सत्कार आदि कुछ भी चाहता है, वह हमारा कल्याण नहीं कर सकता॥ १५०॥

× × ×

जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंको न जानना अन्धकार है। जो इस अन्धकारको मिटा दे, वह गुरु है॥ १५१॥

× × ×

गुरु शिष्यके लिये होता है, शिष्य गुरुके लिये नहीं होता। राजा प्रजाके लिये होता है, प्रजा राजाके लिये नहीं होती॥ १५२॥

× × ×

भगवान् जगद्गुरु होते हुए भी मनुष्यको कभी चेला नहीं बनाते, प्रत्युत सखा ही बनाते हैं॥ १५३॥

× × ×

गुरु शिष्यको कोई नया ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत उसके भीतर पहलेसे विद्यमान जो ज्ञान है, उसको ही जाग्रत् करता है॥ १५४॥

× × ×

सच्चा गुरु दूसरेको गुरु ही बनाता है, चेला नहीं बनाता। जो चेला बनाना चाहता है, वह चेलादास होता है॥ १५५॥

× × ×

हमारा वास्तविक गुरु हमारे भीतर है, वह है—विवेक। यह विवेक भगवान्‌ने दिया है। भगवान्‌ने अपने कल्याणके लिये मनुष्यशरीर दे दिया, सब साधन-सामग्री दे दी तो क्या गुरुको बाकी छोड़ दिया!॥ १५६॥

चिन्ता

शरीर-निर्वाहके लिये तो चिन्ता (विचार) करनेकी जरूरत ही नहीं है, पर शरीर छूटनेके बाद क्या होगा—इसके लिये चिन्ता करनेकी बहुत जरूरत है॥ १५७॥

× × ×

जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होगा, फिर चिन्ता किस बातकी?॥ १५८॥

× × ×

हमें अपने लिये कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि स्वरूपमें अभाव नहीं है और शरीरको जो चाहिये, वह प्रारब्धके अनुसार पहलेसे ही निश्चित है, फिर चिन्ता किस बातकी?॥ १५९॥

× × ×

भगवान्‌की ओरसे हमारे निर्वाहका प्रबन्ध तो है, पर भोगका प्रबन्ध नहीं है। इसलिये निर्वाहकी चिन्ता और भोगकी इच्छा नहीं करनी चाहिये॥ १६०॥

× × ×

भगवान् जो कुछ करते हैं और करेंगे, उसीमें मेरा हित है—ऐसा विश्वास करके हर परिस्थितिकी प्राप्तिमें निश्चिन्त रहना चाहिये॥ १६१॥

× × ×

दु:ख-चिन्ताका कारण वस्तुओंका अभाव नहीं है, प्रत्युत मूर्खता है। यह मूर्खता सत्संगसे मिटती है॥ १६२॥

× × ×

मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने शरीरकी चिन्ता छोड़ता है, त्यों-त्यों उसके शरीरकी चिन्ता संसार करने लगता है॥ १६३॥

× × ×

भगवान्‌के भरोसे रहनेपर किसी प्रकारकी चिन्ता टिक ही नहीं सकती॥ १६४॥

× × ×

जिसे नहीं करना चाहिये, उसे करनेसे और जिसे करना चाहिये, उसे नहीं करनेसे ही चिन्ता और भय होते हैं॥ १६५॥

× × ×

भगवान् हमसे ज्यादा जानते हैं, हमसे ज्यादा समर्थ हैं और हमसे ज्यादा दयालु हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें?॥ १६६॥

चेतावनी

मृत्युकालकी सब सामग्री तैयार है। कफन भी तैयार है, नया नहीं बनाना पड़ेगा। उठानेवाले आदमी भी तैयार हैं, नये नहीं जन्मेंगे। जलानेकी जगह भी तैयार है, नयी नहीं लेनी पड़ेगी। जलानेके लिये लकड़ी भी तैयार है, नये वृक्ष नहीं लगाने पड़ेंगे। केवल श्वास बन्द होनेकी देर है। श्वास बन्द होते ही यह सब सामग्री जुट जायगी। फिर निश्चिन्त कैसे बैठे हो?॥ १६७॥

× × ×

चेत करो! यह संसार सदा रहनेके लिये नहीं है। यहाँ केवल मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। फिर पैर फैलाये कैसे बैठे हो?॥ १६८॥

× × ×

विचार करो, क्या ये दिन सदा ऐसे ही रहेंगे?॥ १६९॥

× × ×

मकान यहाँ बना रहे हो, सजावट यहाँ कर रहे हो, संग्रह यहाँ कर रहे हो, पर खुद मौतकी तरफ भागे चले जा रहे हो! जहाँ जाना है, पहले उसको ठीक करो!॥ १७०॥

× × ×

निश्चित समयपर चलनेवाली गाड़ीके लिये भी जब पहलेसे सावधानी रहती है, फिर जिस मौतरूपी गाड़ीका कोई समय निश्चित नहीं, उसके लिये तो हरदम सावधानी रहनी चाहिये॥ १७१॥

× × ×

'करेंगे'—यह निश्चित नहीं है, पर 'मरेंगे'—यह निश्चित है॥ १७२॥

× × ×

आप भगवान्‌को नहीं देखते, पर भगवान् आपको निरन्तर देख रहे हैं॥ १७३॥

× × ×

आनेवाला जानेवाला होता है—यह नियम है॥ १७४॥

× × ×

कालरूप अग्निमें सब कुछ निरन्तर जल रहा है, फिर किसका भरोसा करें? किसकी इच्छा करें?॥ १७५॥

× × ×

विचार करो कि अपना कौन है? अगर अभी मौत आ जाय तो कोई हमारी सहायता कर सकता है क्या?॥ १७६॥

× × ×

जन्मदिन आनेपर बड़ा आनन्द मनाते हैं कि हम इतने वर्षके हो गये! वास्तवमें इतने वर्षके हो नहीं गये, प्रत्युत इतने वर्ष मर गये अर्थात् हमारी उम्रमेंसे इतने वर्ष कम हो गये और मौत नजदीक आ गयी!॥ १७७॥

× × ×

बालक जन्मता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं, पढ़ेगा कि नहीं, उसका विवाह होगा कि नहीं, उसके बाल-बच्चे होंगे कि नहीं, उसके पास धन होगा कि नहीं आदि सब बातोंमें सन्देह है, पर वह मरेगा कि नहीं—इसमें कोई सन्देह नहीं है!॥ १७८॥

तत्त्वज्ञान

परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष है। इसलिये उसका अनुभव अपने-आपसे ही हो सकता है, इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि करणोंसे नहीं॥ १७९॥

× × ×

जबतक नाशवान् वस्तुओंमें सत्यता दीखेगी, तबतक बोध नहीं होगा॥ १८०॥

× × ×

बोध होनेपर अपनेमें दोष तो रहते नहीं और गुण (विशेषता) दीखते नहीं॥ १८१॥

× × ×

जो हमारा स्वरूप नहीं है, उसका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) कर दिया जाय तो जो हमारा स्वरूप है, उसका बोध हो जायगा॥ १८२॥

× × ×

साधकमें कोई भी आग्रह नहीं रहना चाहिये, न द्वैतका, न अद्वैतका। आग्रह रहनेसे बोध नहीं होता॥ १८३॥

× × ×

जबतक अहम् है, तबतक तत्त्वज्ञानका अभिमान तो हो सकता है, पर वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता॥ १८४॥

× × ×

जबतक अपनेमें राग-द्वेष हैं, तबतक तत्त्वबोध नहीं हुआ है, केवल बातें सीखी हैं॥ १८५॥

× × ×

तत्त्वज्ञान होनेमें कई जन्म नहीं लगते, उत्कट अभिलाषा हो तो मिनटोंमें हो सकता है; क्योंकि तत्त्व सदा-सर्वदा विद्यमान है॥ १८६॥

× × ×

तत्त्वज्ञान अभ्याससे नहीं होता, प्रत्युत अपने विवेकको महत्त्व देनेसे होता है। अभ्याससे एक नयी अवस्था बनती है, तत्त्व नहीं मिलता॥ १८७॥

× × ×

जबतक तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता, तबतक सब प्राणी कैदी हैं। कैदीका लक्षण है—पापकर्म करे अपनी मरजीसे और दुःख भोगे दूसरेकी मरजीसे॥ १८८॥

× × ×

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं है, प्रत्युत अहंग्रह-उपासना है। इसलिये तत्त्वज्ञान होनेपर 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं होता॥ १८९॥

× × ×

तत्त्वज्ञान होनेपर काम-क्रोधादि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है॥ १९०॥

× × ×

जबतक हमारी दृष्टिमें असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है॥ १९१॥

× × ×

अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताका अनुभव होना तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है॥ १९२॥

× × ×

तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञानी पुरुष परिस्थितिसे रहित नहीं होता, प्रत्युत सुख-दुःखसे रहित होता है॥ १९३॥

× × ×

तत्त्वज्ञान शरीरका नाश नहीं करता, प्रत्युत शरीरके सम्बन्धका अर्थात् अहंता-ममताका नाश करता है॥ १९४॥

× × ×

तत्त्वज्ञान अर्थात् अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है॥ १९५॥

× × ×

जैसा है, वैसा अनुभव कर लेनेका नाम ही 'ज्ञान' है। जैसा है नहीं, वैसा मान लेनेका नाम 'अज्ञान' है॥ १९६॥

~~~
~~~

त्याग

पूर्ण त्याग तभी होता है, जब त्यागका किञ्चित् भी अभिमान न आये। अभिमान तभी आता है, जब अन्त:करणमें त्याज्य वस्तुका महत्त्व अंकित हो। अत: वस्तुके त्यागकी अपेक्षा वस्तुके महत्त्वका त्याग श्रेष्ठ है॥ १९७॥

× × ×

जबतक किसीसे कोई भी प्रयोजन रहता है, तबतक वास्तविक त्याग नहीं होता॥ १९८॥

× × ×

काम-क्रोध, अहंता-ममता आदिको जब हम पकड़ना जानते हैं, तो उनको छोड़ना भी हम जानते ही हैं। परन्तु हम उनको छोड़ना चाहते नहीं, इसीलिये उनके त्यागमें असमर्थता प्रतीत हो रही है॥ १९९॥

× × ×

मुक्ति इच्छाके त्यागसे होती है, वस्तुके त्यागसे नहीं॥ २००॥

× × ×

शरीर कभी भी हमारे काम नहीं आता, प्रत्युत शरीरमें मैं-मेरेपनका त्याग ही हमारे काम आता है॥ २०१॥

× × ×

शरीर-संसार अपने-आप छूट रहे हैं, पर इससे कल्याण नहीं होगा। छूटनेवाली चीजको आप छोड़ दें, उससे मैं-मेरापन हटा लें, तब कल्याण होगा॥ २०२॥

× × ×

अन्त:करणमें रुपयोंका महत्त्व होनेसे ही रुपयोंके त्यागमें विशेषता दीखती है और उनके त्यागका अभिमान आता है। अत: त्यागके अभिमानमें रुपयोंका ही महत्त्व है॥ २०३॥

× × ×

त्याग करनेसे अपनी उन्नति होती है तथा वस्तु शुद्ध हो जाती है और भोग करनेसे अपना पतन होता है तथा वस्तुका नाश हो जाता है॥ २०४॥

× × ×

मनुष्य खुद तो भोगी बनता है, पर दूसरोंको त्यागी देखना चाहता है—यह अन्याय है। यदि उसे त्यागी अच्छा लगता है तो वह खुद त्यागी क्यों नहीं बनता?॥ २०५॥

× × ×

वास्तविक त्याग वह है, जिसमें त्याग-वृत्तिका भी त्याग हो जाय॥ २०६॥

दोष (विकार)

सर्वथा निर्दोष जीवन तो सबका हो सकता है, पर सर्वथा दोषी जीवन कभी किसीका हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌का अंश होनेसे जीव स्वयं निर्दोष है। दोष आगन्तुक हैं और नाशवान्‌के संगसे आते हैं॥ २०७॥

× × ×

साधक जब अपने दोषोंको दोषरूपसे देखकर उनके दु:खसे दु:खी हो जाता है, उनका रहना उसे असह्य हो जाता है, तो फिर उसके दोष ठहर नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा उन दोषोंका शीघ्र ही नाश कर देती है॥ २०८॥

× × ×

जितने भी विकार हैं, वे सब नाशवान् वस्तुको महत्त्व देनेसे ही पैदा होते हैं॥ २०९॥

× × ×

ठगनेमें दोष है, ठगे जानेमें दोष नहीं है॥ २१०॥

× × ×

सबमें भगवद्भाव करनेसे सम्पूर्ण विकारोंका नाश हो जाता है॥ २११॥

× × ×

सन्तोषसे काम, क्रोध और लोभ—तीनों नष्ट हो जाते हैं॥ २१२॥

× × ×

दोषोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। गुणोंकी कमीका नाम ही दोष है और वह कमी असत्‌को सत्ता और महत्ता देनेसे ही आती है॥ २१३॥

× × ×

सभी विकार विकारी (शरीर) में ही होते हैं, निर्विकार (स्वरूप)में कोई विकार नहीं होता॥ २१४॥

× × ×

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं, वह है—संसारका सम्बन्ध। इसी तरह मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं, वह है—भगवान्‌का सम्बन्ध॥ २१५॥

× × ×

लोभके कारण आवश्यक वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती और प्राप्त वस्तुका सदुपयोग नहीं होता॥ २१६॥

दोषदृष्टि

अपनेमें गुणोंका अभिमान होनेसे ही दूसरोंमें दोष दीखते हैं और दूसरोंमें दोष देखनेसे अपना अभिमान पुष्ट होता है॥ २१७॥

× × ×

जो साधक अपने दोषोंको मिटाना चाहता है, उसे दूसरेके दोषोंकी ओर नहीं देखना चाहिये। दूसरोंके दोष देखनेसे अपने दोष पुष्ट होते हैं और दोषोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे नये-नये दोष उत्पन्न होते हैं॥ २१८॥

× × ×

दूसरोंके दोष देखनेसे न हमारा भला होता है, न दूसरोंका॥ २१९॥

× × ×

मनुष्यका अन्तःकरण जितना दोषी (मलिन) होता है, उतना ही उसको दूसरोंमें दोष दीखता है। रेडियोकी तरह मलिन अन्तःकरण ही दोषको पकड़ता है॥ २२०॥

× × ×

यदि आप चाहते हैं कि कोई भी मुझे बुरा न समझे तो दूसरेको बुरा समझनेका आपको कोई अधिकार नहीं है॥ २२१॥

× × ×

किसीको भी बुरा न समझनेसे भलाई भीतरसे प्रकट होती है।

भीतरसे प्रकट हुई भलाई ठोस और व्यापक होती है॥ २२२॥

× × ×

यदि आप अपनी निर्दोषताको सुरक्षित रखना चाहते हैं तो किसीमें भी दोष न देखें; न अपनेमें, न दूसरेमें॥ २२३॥

× × ×

दूसरेको निर्दोष बनानेकी नीयतसे उसके दोष देखनेमें बुराई नहीं है। बुराई है—दूसरेके दोष दीखनेपर प्रसन्न होना॥ २२४॥

× × ×

सबका स्वरूप स्वतः निर्दोष है। अतः पुत्र, शिष्य आदिको स्वरूपसे निर्दोष मानकर और उनमें दीखनेवाले दोषको आगन्तुक मानकर ही उनको शिक्षा देनी चाहिये, उनके आगन्तुक दोषको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये॥ २२५॥

× × ×

अगर हम दूसरेमें दोष मानेंगे तो उसमें वे दोष आ जायँगे; क्योंकि उसमें दोष देखनेसे हमारा त्याग, तप, बल आदि भी उस दोषको पैदा करनेमें स्वाभाविक सहायक बन जायँगे, जिससे वह व्यक्ति दोषी हो जायगा और हमारा भी नुकसान होगा॥ २२६॥

~~~~
~~~~

नामजप

साधककी समझमें चाहे कुछ न आता हो, उसको भगवान्‌की शरण लेकर भगवन्नाम-जप तो आरम्भ कर ही देना चाहिये॥ २४२॥

× × ×

भगवन्नामका जप और कीर्तन—दोनों कलियुगसे रक्षा करके उद्धार करनेवाले हैं॥ २४३॥

× × ×

नामजपमें प्रगति होनेकी पहचान यह है कि नामजप छूटे नहीं॥ २४४॥

× × ×

नामजपमें रुचि नामजप करनेसे ही होती है॥ २४५॥

× × ×

नामजप अभ्यास नहीं है, प्रत्युत पुकार है। अभ्यासमें शरीर-इन्द्रियाँ-मनकी और पुकारमें स्वयंकी प्रधानता रहती है॥ २४६॥

× × ×

नामजप सभी साधनोंका पोषक है॥ २४७॥

× × ×

भगवन्नाम सबके लिये खुला है और जीभ अपने मुखमें है, फिर भी नरकोंमें जाते हैं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है!॥ २४८॥

× × ×

भगवान्‌का होकर नाम लेनेका जो माहात्म्य है, वह केवल नाम लेनेका नहीं है। कारण कि नामजपमें नामी (भगवान्)का प्रेम मुख्य है, उच्चारण (क्रिया) मुख्य नहीं है॥ २४९॥

× × ×

संख्या (क्रिया) की तरफ वृत्ति रहनेसे निर्जीव जप होता है और भगवान्‌की तरफ वृत्ति रहनेसे सजीव जप होता है। इसलिये जप और कीर्तनमें क्रियाकी मुख्यता न होकर प्रेमभावकी मुख्यता होनी चाहिये कि हम अपने प्यारेका नाम लेते हैं!॥ २५०॥

× × ×

भगवान्‌का कौन-सा नाम और रूप बढ़िया है—यह परीक्षा न करके साधकको अपनी परीक्षा करनी चाहिये कि मुझे कौन-सा नाम और रूप अधिक प्रिय है॥ २५१॥

पाप और पुण्य

कोई हमारा अपकार करता है तो उससे वस्तुतः हमारा उपकार ही होता है; क्योंकि उसके अपकारसे हमारे पाप कटते हैं॥ २५२॥

× × ×

दूसरोंकी बुराई करनेसे तो पाप लगता ही है, बुराई सुनने और कहनेसे भी पाप लगता है॥ २५३॥

× × ×

अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेपर साधकके पाप नष्ट हो जाते हैं॥ २५४॥

× × ×

भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख होनेके समान कोई पाप नहीं है॥ २५५॥

× × ×

अब मैं पुनः पाप नहीं करूँगा—यह पापका असली प्रायश्चित्त है॥ २५६॥

× × ×

मनुष्यजन्ममें किये हुए पाप नरकों एवं चौरासी लाख योनियोंमें भोगनेपर भी समाप्त नहीं होते, प्रत्युत शेष रह जाते हैं और जन्म-मरणका कारण बनते हैं॥ २५७॥

× × ×

जहाँ मनुष्य अनुकूलतासे सुखी और प्रतिकूलतासे दुःखी होता है, वहाँ ही वह पाप-पुण्यसे बँधता है॥ २५८॥

× × ×

नाशवान्‌को महत्त्व देना ही बन्धन है। इसीसे सब पाप पैदा होते हैं॥ २५९॥

× × ×

अगर सुखकी इच्छा है तो पाप करना न चाहते हुए भी पाप होगा। सुखकी इच्छा ही पाप करना सिखाती है। अतः पापोंसे छूटना हो तो सुखकी इच्छाका त्याग करो॥ २६०॥

× × ×

जहाँ दूसरोंको दुःख देनेकी और अपना मतलब सिद्ध करनेकी नीयत होती है, वहीं पाप लगता है और बन्धन होता है॥ २६१॥

× × ×

छिपानेसे पाप और पुण्य—दोनों विशेष फल देनेवाले हो जाते हैं। इसलिये अपने पाप तो प्रकट कर देने चाहिये, पर पुण्य प्रकट नहीं करने चाहिये—**छीजहिं निसिचर दिनु अरु राती। निज मुख कहें सुकृत जेहि भाँती॥** (मानस, लंका० ७२। २)॥ २६२॥

× × ×

किसी व्यक्तिको भगवान्‌की तरफ लगानेके समान कोई पुण्य नहीं है, कोई दान नहीं है॥ २६३॥

× × ×

मुझे सुख मिल जाय—यह सब पापोंकी जड़ है॥ २६४॥

× × ×

पहले पाप कर लें, पीछे प्रायश्चित्त कर लेंगे—इस प्रकार जान-बूझकर किये गये पाप प्रायश्चित्तसे नष्ट नहीं होते॥ २६५॥

पारमार्थिक मार्ग

प्रत्येक मनुष्यको भगवान्की तरफ चलना ही पड़ेगा, चाहे आज चले या अनेक जन्मोंके बाद तो फिर देरी क्यों?॥ २६६॥

× × ×

सच्चे हृदयसे भगवान्में लग जानेपर साधकको भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी सन्तोंकी प्रसन्नता, कृपा प्राप्त होती है॥ २६७॥

× × ×

जब साधक स्वयं भगवान्में लग जाता है, तब उसके मन-बुद्धि

भगवान्में स्वतः लग जाते हैं, उनको लगाना नहीं पड़ता॥ २६८॥

× × ×

पारमार्थिक मार्गमें साधकको सांसारिक अनुकूलता (धन, मान, बड़ाई, आराम आदि) तभीतक बाधक प्रतीत होती है, जबतक उसमें सांसारिक सुखकी कुछ इच्छा या रुचि विद्यमान है॥ २६९॥

× × ×

सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें राजी-नाराज होनेवाला मनुष्य पारमार्थिक मार्गमें तत्परतासे नहीं चल सकता॥ २७०॥

× × ×

पारमार्थिक मार्गमें राग-द्वेष ही साधककी साधन-सम्पत्तिको लूटनेवाले मुख्य शत्रु हैं॥ २७१॥

× × ×

किसी तरहसे भगवान्में लग जाओ, फिर भगवान् अपने-आप सँभालेंगे॥ २७२॥

× × ×

परमात्माकी तरफ चलनेसे संसारका कार्य (व्यवहार) भी ठीक चलता है, पर संसारकी तरफ चलनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती॥ २७३॥

× × ×

अपनेको परमात्मामें चाहे भेदभावसे लगाओ, चाहे अभेदभावसे लगाओ, परिणाम एक ही होगा॥ २७४॥

× × ×

संसारके काममें तो नफा और नुकसान दोनों होते हैं, पर भगवान्के काममें नफा-ही-नफा होता है, नुकसान होता ही नहीं॥ २७५॥

× × ×

संसारकी तरफ चलनेवालेका कोई भी साथी नहीं होता, पर भगवान्की तरफ चलनेवालेके सब साथी हो जाते हैं॥ २७६॥

× × ×

स्वार्थी आदमी पारमार्थिक मार्गमें भी अपना स्वार्थ ही सिद्ध करता है और पारमार्थिक साधक सांसारिक व्यवहारमें भी अपना परमार्थ ही सिद्ध करता है॥ २७७॥

× × ×

सांसारिक इच्छा उत्पन्न होते ही पारमार्थिक मार्गमें धुआँ हो जाता है। यदि इस अवस्थामें सावधानी नहीं हुई तो इच्छा और अधिक बढ़ जाती है। इच्छा बढ़नेपर तो पारमार्थिक मार्गमें अँधेरा ही हो जाता है!॥ २७८॥

× × ×

जिस दिन सांसारिक रुचि मिटेगी, उसी दिन पारमार्थिक रुचि पूरी हो जायगी॥ २७९॥

× × ×

सांसारिक विषयमें असन्तोष करनेसे पतन होता है और पारमार्थिक विषयमें असन्तोष करनेसे उत्थान होता है॥ २८०॥

× × ×

संसारमें तो 'करने' से उन्नति होती है, पर पारमार्थिक मार्गमें 'न करने' से उन्नति होती है॥ २८१॥

× × ×

संसारमें लगनेसे पतन भी बाकी रहता है, उत्थान भी बाकी रहता है। परन्तु भगवान्में लगनेसे पतन तो होता नहीं, उत्थान बाकी रहता नहीं॥ २८२॥

प्रारब्ध

प्रारब्ध चिन्ता मिटानेके लिये है, निकम्मा बनानेके लिये नहीं ॥ २८३ ॥

× × ×

मनुष्य प्रारब्धके अनुसार पाप-पुण्य नहीं करता; क्योंकि कर्मका फल कर्म नहीं होता, प्रत्युत भोग होता है ॥ २८४ ॥

× × ×

प्रारब्धका काम तो केवल सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिको उत्पन्न कर देना है, पर उसमें सुखी-दुःखी होने अथवा न होनेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है ॥ २८५ ॥

× × ×

यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ प्रभुका विधान है कि अपने पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह अपने किसी-न-किसी पापका ही फल होता है ॥ २८६ ॥

× × ×

जो होता है, वह ठीक ही होता है, बेठीक होता ही नहीं। इसलिये करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहना चाहिये ॥ २८७ ॥

× × ×

शास्त्रनिषिद्ध आचरण प्रारब्धसे नहीं होते, प्रत्युत कामनासे होते हैं ॥ २८८ ॥

× × ×

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है, दोनोंका विभाग अलग-अलग है। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इसलिये मनुष्य करने (कर्तव्य) में स्वाधीन है और होने (फलप्राप्ति)में पराधीन है ॥ २८९ ॥

प्रेम

संसारसे सर्वथा राग हटते ही भगवान्‌में अनुराग (प्रेम) हो जाता है॥ २९०॥

× × ×

जो चीज अपनी होती है, वह सदा अपनेको प्यारी लगती है। अतः एकमात्र भगवान्‌को अपना मान लेनेपर भगवान्‌में प्रेम प्रकट हो जाता है॥ २९१॥

× × ×

कितने आश्चर्यकी बात है कि जो नित्य-निरन्तर विद्यमान रहता है, वह (परमात्मा) तो प्रिय नहीं लगता, पर जो नित्य-निरन्तर बदल रहा है, वह (संसार) प्रिय लगता है॥ २९२॥

× × ×

जबतक संसारमें आसक्ति है, तबतक भगवान्‌में असली प्रेम नहीं है॥ २९३॥

× × ×

संसारकी सुखासक्ति ही भगवत्प्रेममें खास बाधक है। अगर सुखासक्तिका त्याग कर दिया जाय तो भगवान्‌में प्रेम स्वतः जाग्रत् हो जायगा॥ २९४॥

× × ×

जबतक नाशवान्‌की तरफ खिंचाव रहेगा, तबतक साधन करते हुए भी अविनाशीकी तरफ खिंचाव (प्रेम) और उसका अनुभव नहीं होगा॥ २९५॥

× × ×

भगवान्‌में अनन्यप्रेमका नाम राधातत्त्व है। जबतक संसारमें आकर्षण रहता है, तबतक राधातत्त्व अनुभवमें नहीं आता॥ २९६॥

× × ×

भगवान्‌में प्रेम होनेके समान कोई भजन नहीं है॥ २९७॥

× × ×

जबतक साधक अपने मनकी बात पूरी करना चाहेगा, तबतक उसका न सगुणमें प्रेम होगा, न निर्गुणमें॥ २९८॥

× × ×

भगवत्प्रेम यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदिसे नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत भगवान्‌में दृढ़ अपनेपनसे प्राप्त होता है॥ २९९॥

× × ×

तपस्यासे प्रेम नहीं मिलता, प्रत्युत शक्ति मिलती है। प्रेम भगवान्‌में अपनापन होनेसे मिलता है॥ ३००॥

× × ×

भगवत्प्रेममें जो विलक्षण रस है, वह ज्ञानमें नहीं है। ज्ञानमें तो अखण्ड आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त आनन्द है॥ ३०१॥

× × ×

भेद मतमें होता है, प्रेममें नहीं। प्रेम सम्पूर्ण मतवादोंको खा जाता है॥ ३०२॥

× × ×

भगवान्‌की तरफ खिंचाव होनेका नाम भक्ति है। भक्ति कभी पूर्ण नहीं होती, प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है॥ ३०३॥

× × ×

भगवान्‌के प्रेमके लिये उनमें दृढ़ अपनापनकी जरूरत है और उनके दर्शनके लिये उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है॥ ३०४॥

× × ×

संसारको जानोगे तो उससे वैराग्य हो जायगा और परमात्माको जानोगे तो उनमें प्रेम हो जायगा॥ ३०५॥

× × ×

जिसका मिलना अवश्यम्भावी है, उस परमात्मासे प्रेम करो और जिसका बिछुड़ना अवश्यम्भावी है, उस संसारकी सेवा करो॥ ३०६॥

× × ×

प्रेम वहीं होता है, जहाँ अपने सुख और स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होती॥ ३०७॥

× × ×

प्रेम मुक्तिसे भी आगेकी चीज है। मुक्तितक तो जीव रसका अनुभव करनेवाला होता है, पर प्रेममें वह रसका दाता बन जाता है॥ ३०८॥

× × ×

ज्ञानमार्गमें दुःख, बन्धन मिट जाता है, और स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, पर मिलता कुछ नहीं। परन्तु भक्तिमार्गमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम मिलता है॥ ३०९॥

× × ×

ज्ञानके बिना प्रेम मोहमें चला जाता है और प्रेमके बिना ज्ञान शून्यतामें चला जाता है॥ ३१०॥

× × ×

जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं और कृपाका आश्रय है, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। भगवान्‌की कृपा उसकी मुक्तिके रसको फीका करके प्रेमका अनन्तरस प्रदान कर देती है॥ ३११॥

× × ×

अपने मतका आग्रह और दूसरे मतकी उपेक्षा, खण्डन, अनादर न करनेसे मुक्तिके बाद भक्ति (प्रेम) की प्राप्ति स्वतः होती है॥ ३१२॥

× × ×

भोगेच्छाका अन्त होता है और मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न तो अन्त होता है और न पूर्ति ही होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है॥ ३१३॥

× × ×

संसारमें तो आकर्षण और विकर्षण (रुचि-अरुचि) दोनों होते हैं, पर परमात्मामें आकर्षण-ही-आकर्षण होता है, विकर्षण होता ही नहीं, यदि होता है तो वास्तवमें आकर्षण हुआ ही नहीं॥ ३१४॥

× × ×

जैसे सांसारिक दृष्टिसे लोभरूप आकर्षणके बिना धनका विशेष महत्त्व नहीं है, ऐसे ही प्रेमके बिना ज्ञानका विशेष महत्त्व नहीं है, उसमें शून्यवाद आ सकता है॥ ३१५॥

बड़प्पन

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको लेकर अपनेको बड़ा अथवा छोटा मानना बहुत बड़ी भूल है, तुच्छता है॥ ३१६॥

× × ×

अपनेको छोटा और दूसरेको बड़ा मानना असली बड़प्पन है। अपनेको बड़ा और दूसरेको छोटा मानना असली नीचपना है॥ ३१७॥

× × ×

बड़ा वास्तवमें वही है, जो दूसरोंको बड़ा बनाता है। जो दूसरोंको छोटा बनाता है, वह खुद छोटा है, गुलाम है॥ ३१८॥

× × ×

धन, जमीन, मकान आदि जड़ चीजोंके सम्बन्धसे अपनेको बड़ा मानना बुद्धि भ्रष्ट होनेका लक्षण है॥ ३१९॥

× × ×

सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेको बड़ा मानता है, उसको ये सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं॥ ३२०॥

× × ×

पहले हम बड़े थे, फिर हमने धन पैदा किया। अब उस धनके कारण अपनेको बड़ा मानने लग गये तो वास्तवमें धन बड़ा हो गया, हम छोटे हो गये! धनकी इज्जत हो गयी, हमारी फजीती हो गयी!॥ ३२१॥

~~~
~~~

बन्धन और मुक्ति

शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको अपना मानना ही बन्धन है और अपना न मानना ही मुक्ति है। अपना मानने अथवा न माननेमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं॥ ३२२॥

× × ×

संसारके सब सम्बन्ध मुक्त करनेवाले भी हैं और बाँधनेवाले भी। केवल परमार्थ (सेवा) करनेके लिये माना हुआ सम्बन्ध मुक्त करनेवाला और स्वार्थके लिये माना हुआ सम्बन्ध बाँधनेवाला होता है॥ ३२३॥

× × ×

मानवशरीरका दुरुपयोग करनेसे जीव बँध जाता है और सदुपयोग करनेसे मुक्त हो जाता है। अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका अहित करना मानव-शरीरका दुरुपयोग है और अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करना उसका सदुपयोग है॥ ३२४॥

× × ×

नाशवान्‌को महत्त्व देना ही बन्धन है॥ ३२५॥

× × ×

मिले हुएको अपना मत मानो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है॥ ३२६॥

× × ×

अनुकूलता-प्रतिकूलता ही संसार है। अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राजी-नाराज होनेसे मनुष्य बँध जाता है और राजी-नाराज न होनेसे मुक्त हो जाता है॥ ३२७॥

× × ×

शरीर संसारका अंश है और हम (स्वयं) परमात्माके अंश हैं। अतः शरीरको संसारके अर्पित कर दे अर्थात् संसारकी

सेवामें लगा दे और स्वयंको परमात्माके अर्पित कर दे। फिर आज ही मुक्ति है!॥ ३२८॥

× × ×

मुक्तिकी इच्छा रहनेसे शरीरके रहनेकी इच्छा नहीं होती, अगर होती है तो मुक्तिकी इच्छा है ही नहीं॥ ३२९॥

× × ×

निष्कामभावपूर्वक (दूसरोंके लिये) कर्म करनेसे मुक्ति होती है और सकामभावपूर्वक (अपने लिये) कर्म करनेसे बन्धन होता है। अतः मनुष्यको निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये॥ ३३०॥

× × ×

संसार-बन्धनसे मुक्त होना हो तो प्राप्त वस्तुओंमें ममताका और अप्राप्त वस्तुओंकी कामनाका त्याग कर दो॥ ३३१॥

× × ×

भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टि कभी बाँधती नहीं, दुःख नहीं देती। जीवकी बनायी हुई सृष्टि (अहंता-ममता) ही बाँधती और दुःख देती है॥ ३३२॥

× × ×

जिसको नहीं करना चाहिये, उसको करना और जिसको नहीं कर सकते, उसका चिन्तन करना—ये दो खास बन्धन हैं॥ ३३३॥

× × ×

वस्तुका मिलना अथवा न मिलना बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत वस्तुसे माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है॥ ३३४॥

× × ×

संसारको अपनी सेवाके लिये मानना बन्धनका हेतु है और अपनेको संसारकी सेवाके लिये मानना मुक्तिका हेतु है॥ ३३५॥

× × ×

बन्धन क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत कामनासे होता है॥ ३३६॥

× × ×

अप्राप्त वस्तुकी इच्छा और प्राप्त वस्तुकी ममता ही बन्धन है, परतन्त्रता है॥ ३३७॥

× × ×

भोगोंकी इच्छाका त्याग करनेके लिये मुक्तिकी इच्छा करना आवश्यक है। परन्तु मुक्ति पानेके लिये मुक्तिकी इच्छा करना बाधक है॥ ३३८॥

× × ×

मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, प्रत्युत कर्मोंमें वह जो आसक्ति और स्वार्थभाव रखता है, उनसे ही बँधता है॥ ३३९॥

× × ×

किसी भी कर्मके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाता है॥ ३४०॥

× × ×

यह सिद्धान्त है कि जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसके कर्मकी समाप्ति नहीं होती और वह कर्मोंसे बँधता ही जाता है॥ ३४१॥

× × ×

जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही बन्धनकारक 'कर्म' हैं॥ ३४२॥

× × ×

मुक्ति स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं। अतः मुक्त होनेपर शरीर संसारसे अलग नहीं होता, प्रत्युत स्वयं शरीर-संसारसे अलग होता है॥ ३४३॥

× × ×

मुक्ति बाहरके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत भीतरके वैराग्यसे होती है॥ ३४४॥

× × ×

मुझे कुछ लेना है ही नहीं—केवल इतनी बातसे मुक्ति हो जायगी॥ ३४५॥

× × ×

मुक्ति सहज-स्वाभाविक है, बन्धन कृतिसाध्य है॥ ३४६॥

× × ×

वास्तवमें मुक्त ही मुक्त होता है, बद्ध मुक्त नहीं होता॥ ३४७॥

बुराईका त्याग

साधकको चाहिये कि वह किसीको बुरा न समझे, किसीकी बुराई न करे, किसीकी बुराई न सोचे, किसीमें बुराई न देखे, किसीकी बुराई न सुने और किसीकी बुराई न कहे। इन छ: बातोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेसे साधक बुराई-रहित हो जायगा॥ ३४८॥

× × ×

कोई बुरा करे तो बदलेमें उसका बुरा न चाहकर यह समझो कि अपने ही दाँतोंसे अपनी जीभ कट गयी!॥ ३४९॥

× × ×

भलाई करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी बुराईका त्याग करनेकी आवश्यकता है। बुराईका त्याग करनेसे भलाई अपने-आप होगी, करनी नहीं पड़ेगी॥ ३५०॥

× × ×

जिसको हम अच्छा समझते हैं, उसका पूरा-का-पूरा पालन करनेकी जिम्मेवारी हमारेपर नहीं है। परन्तु जिसको हम बुरा समझते हैं, उसका पूरा-का-पूरा त्याग करनेकी जिम्मेवारी हमारेपर है और उसके त्यागका बल, योग्यता, ज्ञान, सामर्थ्य भी भगवान्‌ने हमें दिया है॥ ३५१॥

× × ×

वीरता भलाई करनेमें नहीं है, प्रत्युत किसीकी भी बुराई न करनेमें है॥ ३५२॥

× × ×

जो अपना कल्याण चाहता है, उसे किसीके भी प्रति बुरी भावना नहीं करनी चाहिये॥ ३५३॥

× × ×

दूसरोंके प्रति हमारी बुरी भावना होनेसे उनका बुरा होगा या नहीं होगा—यह तो निश्चित नहीं है, पर हमारा अन्त:करण तो मैला हो ही जायगा॥ ३५४॥

× × ×

याद रखो, किसीका भी बुरा करोगे तो उसका बुरा होनेवाला ही होगा, पर आपका नया पाप हो ही जायगा॥ ३५५॥

× × ×

भलाई करनेसे सीमित भलाई होती है, पर बुराई छोड़नेसे असीम भलाई होती है॥ ३५६॥

× × ×

भला बननेके लिये हमें कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। केवल बुराई सर्वथा छोड़ दें तो हम भले हो जायँगे॥ ३५७॥

भक्त

भगवद्भक्तके द्वारा कर्म नहीं होते, प्रत्युत उसके द्वारा प्रतिक्षण पूजा होती है; क्योंकि प्रत्येक कर्ममें उसका भाव पूजाका रहता है॥ ३५८॥

× × ×

जिसका मन भगवान्‌में लगा रहता है, उसे सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह भगवान्‌के दरबारका सदस्य है॥ ३५९॥

× × ×

जैसे लोभी आदमीकी दृष्टि धनपर ही रहती है, ऐसे ही भक्तकी दृष्टि भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये॥ ३६०॥

× × ×

देवतालोग अपने उपासकोंको (उनकी उपासना सांगोपांग होनेपर) उनके हित-अहितका विचार किये बिना उनकी इच्छित वस्तुएँ दे देते हैं। परन्तु परमपिता भगवान् अपने भक्तोंको अपनी इच्छासे वे ही वस्तुएँ देते हैं, जिसमें उनका परमहित हो॥ ३६१॥

× × ×

आप भगवान्‌के दास बन जाओ तो भगवान् आपको मालिक बना देंगे॥ ३६२॥

× × ×

भगवान्‌का भक्त कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है॥ ३६३॥

× × ×

भगवान्‌के हृदयमें भक्तका जितना आदर है, उतना आदर करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है॥ ३६४॥

× × ×

जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है॥ ३६५॥

× × ×

शरणागत भक्तको भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक भजन होता है॥ ३६६॥

× × ×

भक्त भगवान्‌को जिस रूपमें देखना चाहता है, भगवान् उसके भावके अनुसार वैसे ही बन जाते हैं॥ ३६७॥

× × ×

भगवद्भक्तको देवता कहना उसकी निन्दा है; क्योंकि उसका दर्जा देवताओंसे भी बहुत ऊँचा होता है॥ ३६८॥

× × ×

प्रेमी भक्त भगवान्‌के प्रभावसे आकृष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्‌के अपनेपनसे आकृष्ट होते हैं॥ ३६९॥

× × ×

प्रेमीकी बात प्रेमी ही समझ सकता है, ज्ञानी नहीं। फिर अज्ञानी तो समझ ही कैसे सकता है!॥ ३७०॥

× × ×

भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है और भगवान्‌को भक्तकी सेवामें आनन्द आता है॥ ३७१॥

भगवान्

एक भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। उसके सिवाय सब अतत्त्व हैं॥ ३७२॥

× × ×

जबतक अन्त:करणमें संसारका महत्त्व है, तबतक भगवान्‌का महत्त्व समझमें नहीं आ सकता॥ ३७३॥

× × ×

भगवान्‌को मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे नहीं, प्रत्युत स्वयंसे ही जाना जा सकता है॥ ३७४॥

× × ×

हम दूर-से-दूर जिस वस्तुको मानते हैं, शरीर उससे भी अधिक दूर है और नजदीक-से-नजदीक जिस वस्तुको मानते हैं, परमात्मा उससे भी अधिक नजदीक हैं॥ ३७५॥

× × ×

मिलनेवाली प्रत्येक वस्तु बिछुड़नेवाली होती है, पर जो नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्व है, वह कभी किसी अवस्थामें भी नहीं बिछुड़ता, चाहे हमें उसका अनुभव हो अथवा न हो॥ ३७६॥

× × ×

संसार अभावरूप ही है। भावरूपसे केवल एक अक्रिय-तत्त्व परमात्मा ही है, जिसकी सत्तासे अभावरूप संसार भी सत्तावान् प्रतीत हो रहा है॥ ३७७॥

× × ×

हम 'है'-पन (सत्ता)को परमात्माका न मानकर संसारका मान लेते हैं—यही गलती है॥ ३७८॥

× × ×

संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परन्तु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं! ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है॥ ३७९॥

× × ×

एक भगवान्‌के सिवाय ऐसी कोई चीज है ही नहीं, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें॥ ३८०॥

× × ×

प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारपर विश्वास ही भगवान्‌पर विश्वास नहीं होने देता॥ ३८१॥

× × ×

जैसे सूर्य प्रकट होता है, पैदा नहीं होता, ऐसे ही अवतारके समय भगवान् प्रकट होते हैं, हमारी तरह पैदा नहीं होते॥ ३८२॥

× × ×

परमात्मा हैं—इतना मान लेना पर्याप्त है। परमात्मा कैसे हैं—यह जाननेकी जरूरत नहीं है॥ ३८३॥

× × ×

भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी हमारेसे दूर होनेमें असमर्थ हैं॥ ३८४॥

× × ×

भगवान् कहाँ हैं? भगवान् वहाँ हैं, जहाँ 'कहाँ-यहाँ-वहाँ' नहीं हैं अर्थात् भगवान् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिसे सर्वथा अतीत हैं॥ ३८५॥

× × ×

भगवान् सब जगह मौजूद हैं, पर ग्राहक चाहिये। खम्भे कई हैं, पर प्रह्लाद चाहिये॥ ३८६॥

× × ×

भगवान्‌का कहीं भी अभाव नहीं है। केवल उनको देखनेवालेका अभाव है॥ ३८७॥

× × ×

जिसकी दृष्टि संसारपर रहती है, वह कहता है कि 'भगवान् कहाँ हैं?' और जिसकी दृष्टि भगवान्‌पर रहती है, वह कहता है कि 'भगवान् कहाँ नहीं हैं?'॥ ३८८॥

× × ×

जैसे सूर्य बादलोंसे नहीं ढकता, प्रत्युत हमारे नेत्र ही बादलोंसे ढके जाते हैं, ऐसे ही परमात्मा आवृत नहीं होते, हमारी बुद्धि ही आवृत होती है॥ ३८९॥

× × ×

भगवान् जीवको अपना दास (गुलाम) नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत सखा (अपने समान) बनाना चाहते हैं॥ ३९०॥

× × ×

सत् असत्का विरोधी नहीं है, प्रत्युत उसको सत्ता देनेवाला है। सत्की जिज्ञासा ही असत्की विरोधी है॥ ३९१॥

× × ×

सत्के बिना असत्को देख नहीं सकते और असत्के बिना सत्का वर्णन नहीं कर सकते॥ ३९२॥

× × ×

परमात्मतत्त्वका वर्णन नहीं होता, प्रत्युत अनुभव होता है॥ ३९३॥

× × ×

परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्यकी जितनी भी स्वीकृति है, उतना ही अज्ञान है॥ ३९४॥

× × ×

जगन्नाथ भगवान्के रहते हुए अपनेको अनाथ मानना भूल है॥ ३९५॥

× × ×

मनुष्यको ईश्वरमें केवल विश्वास ही करना चाहिये। अगर वह संसारमें विश्वास और ईश्वरमें विवेक लगायेगा तो नास्तिक हो जायगा॥ ३९६॥

× × ×

साधकको पहले भगवान् दूर दीखते हैं, फिर नजदीक दीखते हैं, फिर अपनेमें दीखते हैं, फिर केवल भगवान् ही दीखते हैं॥ ३९७॥

× × ×

परमात्मामें जीव है और जीवमें जगत् है। अतः परमात्माकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, पर जीव और जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है॥ ३९८॥

× × ×

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिका अभाव होनेपर भी जो शेष रहता है, वही परमात्मतत्त्व है॥ ३९९॥

भगवत्कृपा

जैसे गायका दूध गायके लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके लिये ही है, ऐसे ही भगवान्‌की कृपा भगवान्‌के लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरों (हम सभी) के लिये ही है॥ ४००॥

× × ×

अगर भगवान्‌की दया चाहते हो तो अपनेसे छोटोंपर दया करो, तब भगवान् दया करेंगे। दया चाहते हो, पर करते नहीं—यह अन्याय है, अपने ज्ञानका तिरस्कार है॥ ४०१॥

× × ×

जो गीता अर्जुनको भी दुबारा सुननेको नहीं मिली, वह हमें प्रतिदिन पढ़ने-सुननेको मिल रही है—यह भगवान्‌की कितनी विलक्षण कृपा है॥ ४०२॥

× × ×

आजतक जितने भी महात्मा हुए हैं, वे भगवत्कृपासे ही जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ तथा भगवत्प्रेमी हुए हैं, अपने उद्योगसे नहीं॥ ४०३॥

× × ×

स्वतःसिद्ध परमपदकी प्राप्ति अपने कर्मोंसे, अपने पुरुषार्थसे अथवा अपने साधनसे नहीं होती। यह तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है॥ ४०४॥

~~~~
~~~~

भगवत्प्राप्ति

सच्चे हृदयसे भगवान्‌को चाहनेवाला मनुष्य किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो और कितना ही पापी, दुराचारी क्यों न हो, वह भगवत्प्राप्तिका पूर्ण अधिकारी है॥ ४०५॥

× × ×

साधक संसारसे कभी आशा न रखे; क्योंकि वह सदा नहीं रहता और परमात्मासे कभी निराश न हो; क्योंकि उनका कभी अभाव नहीं होता॥ ४०६॥

× × ×

भगवान्‌के विषयमें सन्तोष करना और संसारके विषयमें असन्तोष करना महान् हानिकारक है॥ ४०७॥

× × ×

जैसे मछली जलके बिना व्याकुल हो जाती है, ऐसे ही हम यदि भगवान्‌के बिना व्याकुल हो जायँ तो भगवान्‌के मिलनेमें देर नहीं लगेगी॥ ४०८॥

× × ×

भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर फिर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इसीमें मनुष्यजीवनकी पूर्णता, सफलता है॥ ४०९॥

× × ×

साधकको विचार करना चाहिये कि भगवान् सब देशमें हैं, इसलिये यहाँ भी हैं; सब कालमें हैं, इसलिये अब भी हैं; सबमें हैं, इसलिये अपनेमें भी हैं; सबके हैं, इसलिये मेरे भी हैं॥ ४१०॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिमें व्याकुलतासे जितना जल्दी लाभ होता है, उतना जल्दी लाभ विचारपूर्वक किये गये साधनसे नहीं होता॥ ४११॥

× × ×

स्वयंमें तीव्र उत्कण्ठा न होनेके कारण ही भगवत्प्राप्तिमें देर हो रही है॥ ४१२॥

× × ×

खेलमें छिपे हुए बालकको दूसरा बालक देख ले तो वह सामने आ जाता है कि अब तो इसने मुझे देख लिया, अब क्या छिपना! ऐसे ही भगवान् सब जगह छिपे हुए हैं। अगर साधक सब जगह भगवान्‌को देखे तो फिर भगवान् उससे छिपे नहीं रहेंगे, सामने आ जायँगे॥ ४१३॥

× × ×

सब ओरसे विमुख होनेपर साधक अपनेमें ही अपने प्रियतम भगवान्‌को पा लेता है॥ ४१४॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय क्रिया नहीं है, प्रत्युत लगन है॥ ४१५॥

× × ×

अपनी प्राप्तिके लिये भगवान्‌ने यदि जीवको मनुष्यशरीर दिया है तो उसके लिये पूरी योग्यता और सामग्री भी साथ ही दी है। इतनी योग्यता और सामग्री दी है कि मनुष्य अपने जीवनमें कई बार भगवत्प्राप्ति कर ले!॥ ४१६॥

× × ×

उत्कट अभिलाषाकी कमीसे ही परमात्मप्राप्तिमें देरी लगती है, उद्योगकी कमीसे नहीं॥ ४१७॥

× × ×

परमात्माके साथ हरेक वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका समानरूपसे सम्बन्ध है। इसलिये जो जहाँ है, वहीं परमात्माको पा सकता है॥ ४१८॥

× × ×

असत्‌का आश्रय लेकर असत्‌के द्वारा सत्‌को प्राप्त करनेकी चेष्टा करना महान् भूल है॥ ४१९॥

× × ×

जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला है, उसकी प्राप्ति कठिन है तो सुगम क्या है?॥ ४२०॥

× × ×

भगवान्‌के दर्शनके लिये क्या करें? भगवान्‌के नामका जप करें और भगवान्‌से प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं' तो इससे भगवान्‌में प्रेम हो जायगा और प्रेम होनेसे भगवान् प्रकट हो जायँगे॥ ४२१॥

× × ×

जबतक अपने लिये कुछ भी 'करने' और 'पाने' की इच्छा रहती है, तबतक नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता॥ ४२२॥

× × ×

भगवत्प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे होती है। उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न होनेमें मुख्य कारण सांसारिक भोगोंकी कामना ही है॥ ४२३॥

× × ×

सत्ययुग आदिमें बड़े-बड़े ऋषियोंको जो भगवान् प्राप्त हुए थे, वे ही आज कलियुगमें भी सबको प्राप्त हो सकते हैं॥ ४२४॥

× × ×

भोगोंकी प्राप्ति सदाके लिये नहीं होती और सबके लिये नहीं होती। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति सदाके लिये होती है और सबके लिये होती है॥ ४२५॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता है, क्रियाकी नहीं॥ ४२६॥

× × ×

भगवान् हठसे नहीं मिलते, प्रत्युत सच्ची लगनसे मिलते हैं॥ ४२७॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी मुख्यता नहीं॥ ४२८॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिमें विवेक, भाव और वैराग्य (रागका त्याग) जितना मूल्यवान् है, उतनी क्रिया मूल्यवान् नहीं है॥ ४२९॥

× × ×

जब प्रत्येक क्रियाका आदि-अन्त होता है तो फिर उसका फल कैसे अनन्त होगा? अतः अनन्त तत्त्व (परमात्मा) क्रियासाध्य नहीं है॥ ४३०॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होनेसे एक विरहाग्नि उत्पन्न होती है, जो अनन्त जन्मोंके पापोंका नाश करके परमात्मप्राप्ति करा देती है॥ ४३१॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा न होनेमें खास कारण है—सांसारिक सुखकी इच्छा, आशा और भोग॥ ४३२॥

× × ×

कोई चीज समानरूपसे सबको मिल सकती है तो वह परमात्मा ही है। परमात्माके सिवाय कोई भी चीज समानरूपसे सबको नहीं मिल सकती॥ ४३३॥

× × ×

हम परमात्माके सिवाय और कुछ प्राप्त कर ही नहीं सकते, जो प्राप्त करेंगे, वह सब 'नहीं' में चला जायगा॥ ४३४॥

× × ×

परमात्मतत्त्वका अनुभव तभी होगा, जब '**विषयभोग निद्रा हँसी जगतप्रीत बहु बात**'—ये पाँचों सुहायेंगे नहीं॥ ४३५॥

× × ×

साधकको भगवत्प्राप्तिमें देरी होनेका कारण यही है कि वह भगवान्‌के वियोगको सहन कर रहा है। यदि उसको भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाय तो भगवान्‌के मिलनेमें देरी नहीं होगी॥ ४३६॥

× × ×

जबतक असत्‌की कामना, आश्रय, भरोसा है, तबतक सत्‌का अनुभव नहीं हो सकता॥ ४३७॥

× × ×

परमात्मप्राप्ति वास्तवमें सुगम है, पर लगन न होनेके कारण कठिन है॥ ४३८॥

× × ×

भगवान् क्रियाग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—'**भावग्राही जनार्दनः**'। अतः भगवान् भाव (अनन्यभक्ति) से ही दर्शन देते हैं, क्रियासे नहीं॥ ४३९॥

× × ×

****

अनित्य वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर नित्य-तत्त्व स्वतः अनुभवमें आ जाता है॥ ४४०॥

× × ×

मनुष्यमात्र भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है और वह प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है॥ ४४१॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें देरी नहीं लगती। देरी लगती है—सम्बन्धजन्य सुखकी इच्छाका त्याग करनेमें॥ ४४२॥

× × ×

केवल भगवान्‌की इच्छा हो तो भगवान् प्रकट हो जायँगे अथवा कोई भी इच्छा न हो तो भगवान् प्रकट हो जायँगे। अधूरापन नहीं होना चाहिये॥ ४४३॥

× × ×

सत्‌को जानो चाहे मत जानो, पर जिसको असत् जानते हो, उसका त्याग कर दो तो सत्‌की प्राप्ति हो जायगी॥ ४४४॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिमें मनुष्य जितना स्वतन्त्र है, उतना और किसी कार्यमें स्वतन्त्र नहीं है॥ ४४५॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिके लिये उपायोंकी उतनी जरूरत नहीं है, जितनी भीतरकी लगनकी जरूरत है॥ ४४६॥

× × ×

भगवान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदिको नहीं मिलते, प्रत्युत 'भक्त' को मिलते हैं॥ ४४७॥

× × ×

धनकी प्राप्तिमें तो क्रियाकी मुख्यता है, पर परमात्माकी प्राप्तिमें लालसाकी मुख्यता है॥ ४४८॥

× × ×

भगवत्प्राप्ति कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत कृपाका फल है। परन्तु चाहना खुदकी होनी चाहिये॥ ४४९॥

× × ×

संसार अधूरा है, इसलिये अधूरा ही मिलता है और परमात्मा पूरे हैं, इसलिये पूरे ही मिलते हैं॥ ४५०॥

× × ×

जिसने भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया, उसने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं किया, कुछ नहीं किया!॥ ४५१॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिमें सबसे बड़ी बाधा है—भोग और संग्रहकी रुचि। दूसरोंके सुखसे सुखी होनेपर 'भोग' की रुचि और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेपर 'संग्रह' की रुचि मिट जाती है॥ ४५२॥

× × ×

जो निरन्तर बदल रहा है, उस संसारपर विश्वास करना, उसको सच्चा मानना ही भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधा है॥ ४५३॥

× × ×

संयोगजन्य सुखकी लोलुपता ही नित्यप्राप्त भगवान्‌के अनुभवमें प्रधान बाधक है॥ ४५४॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिमें आड़ वस्तुओंने नहीं, प्रत्युत वस्तुओंके महत्त्वने लगायी है॥ ४५५॥

× × ×

अपने लिये कर्म करनेसे एवं जड़ता (शरीरादि) के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा (आड़) लग जाती है॥ ४५६॥

× × ×

****

परमात्मा सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण हैं। संसारकी सत्यता माननेसे ही मनुष्य परमात्मासे दूरीका अनुभव करता है॥ ४५७॥

× × ×

कोई भी परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिका कारण नहीं है और कोई भी परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है; क्योंकि परमात्मा सम्पूर्ण परिस्थितियोंसे अतीत हैं॥ ४५८॥

× × ×

परमात्मा दूर नहीं हैं, केवल उनको पानेकी लगनकी कमी है॥ ४५९॥

× × ×

संसार है, अभी है और अपना है—ऐसा माननेसे ही परमात्मा है, अभी है और अपना है—इसका अनुभव नहीं होता॥ ४६०॥

× × ×

साधक 'परमात्मा है' यह तो मान लेता है, पर 'संसार नहीं है' यह नहीं मानता, इसीसे परमात्मप्राप्तिमें बाधा लग रही है॥ ४६१॥

× × ×

किसी एक मार्गका आग्रह रखनेसे तथा दूसरे मार्गोंका विरोध करनेसे पूर्णताकी प्राप्तिमें बड़ी बाधा लगती है॥ ४६२॥

× × ×

हमारे हृदयमें परमात्माके सिवाय दूसरेकी महत्ता है—यही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है॥ ४६३॥

× × ×

भगवान्‌का विश्वास भगवान्‌से भी बड़ा है; क्योंकि जो भगवान्

भगवान्‌से विमुखता

भगवान्‌से विमुख होनेपर ही मनुष्यको करने, जानने और पानेकी कमीका अनुभव होता है॥ ४७०॥

× × ×

परमात्मतत्त्वसे विमुख हुए बिना कोई सांसारिक भोग भोगा ही

नहीं जा सकता और रागपूर्वक सांसारिक भोग भोगनेसे मनुष्य परमात्मासे विमुख हो ही जाता है॥ ४७१॥

× × ×

भगवान्‌से विमुख होते ही जीव अनाथ हो जाता है॥ ४७२॥

× × ×

जो जगत्‌को नहीं जानते, वही जगत्‌में फँसते हैं और जो परमात्माको नहीं जानते, वही परमात्मासे विमुख होते हैं॥ ४७३॥

× × ×

संसारसे कुछ लेनेकी इच्छा करते ही हम भगवान्‌से विमुख हो जाते हैं॥ ४७४॥

भगवान्‌से सम्बन्ध (अपनापन)

मनुष्य सांसारिक वस्तु-व्यक्ति आदिसे जितना अपना सम्बन्ध मानता है, उतना ही वह पराधीन हो जाता है। अगर वह केवल भगवान्‌से अपना सम्बन्ध माने तो सदाके लिये स्वाधीन हो जाय॥ ४७५॥

× × ×

साधक अपनेको भगवान्‌का समझकर संसारका काम करे तो संसारका भी काम ठीक होगा और भगवान्‌का भी। परन्तु अपनेको संसारका समझकर संसारका काम करे तो संसारका काम भी ठीक नहीं होगा और भगवान्‌का काम (भजन) तो होगा ही नहीं!॥ ४७६॥

× × ×

प्रभु अपने हैं, पर अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत हम प्रभुके लिये हैं। तात्पर्य है कि हमें प्रभुसे कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत अपने-आपको

उन्हें देना है और विपरीत-से-विपरीत परिस्थिति आनेपर भी उसको प्रभुका भेजा प्रसाद समझकर प्रसन्न रहना है॥ ४७७॥

× × ×

सदुपयोग करनेके लिये ही वस्तु अपनी है और अपने-आपको देनेके लिये ही भगवान् अपने हैं। इसलिये वस्तुको संसारमें लगा दे और अपने-आपको भगवान्‌में लगा दे॥ ४७८॥

× × ×

पति मर सकता है, स्त्रीको छोड़ भी सकता है, फिर भी नये घर जाते समय लड़कीको चिन्ता नहीं होती। परन्तु भगवान् न तो कभी मरते हैं और न कभी छोड़ते ही हैं, फिर भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेपर किस बातकी चिन्ता? भगवान्‌को पकड़ना तो आता है, पर छोड़ना आता ही नहीं!॥ ४७९॥

× × ×

'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस अपनेपनके समान कोई भी योग्यता, पात्रता, अधिकारिता आदि नहीं है॥ ४८०॥

× × ×

भक्तको अपनी योग्यता आदिकी तरफ न देखकर केवल भगवान्‌के अपनेपनकी तरफ ही देखते रहना चाहिये॥ ४८१॥

× × ×

भगवान्‌में अपनापन सबसे सुगम और श्रेष्ठ साधन है॥ ४८२॥

× × ×

भगवान्‌के सिवाय कोई मेरा नहीं है—यह असली भक्ति है॥ ४८३॥

× × ×

भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी हमारेसे दूर होनेमें असमर्थ हैं॥ ४८४॥

× × ×

भगवान् हमारे हैं, पर मिली हुई वस्तु हमारी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की है॥ ४८५॥

× × ×

मनुष्य पदार्थों और क्रियाओंको अपनी मानता है तो सर्वथा परतन्त्र हो जाता है और भगवान्‌को अपना मानता है तथा उनके अनन्य शरण होता है तो सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है॥ ४८६॥

× × ×

भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध स्वत:-स्वाभाविक है। इस सम्बन्धके लिये किसी बल, योग्यता, दूसरेकी सहायता आदिकी जरूरत नहीं है॥ ४८७॥

× × ×

अभी जैसे संसारका सम्बन्ध माना है कि वह प्राप्त है, नजदीक है, वैसे ही परमात्माका सम्बन्ध मान लें और जैसे परमात्माका सम्बन्ध माना है कि वह अप्राप्त है, दूर है, वैसे ही संसारका सम्बन्ध मान लें॥ ४८८॥

× × ×

ऐसा मान लो कि मैं भगवान्‌का हूँ। अगर 'मैं संसारका हूँ' ऐसा मानोगे तो संसारका काम दूर रहा, भगवान्‌का भजन करते हुए भी भगवान्‌को भूल जाओगे॥ ४८९॥

× × ×

आप कैसे ही हों, अभी इसी क्षण मान लें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ।'॥ ४९०॥

× × ×

भगवान्‌का ध्यान करनेकी अपेक्षा उनमें अपनापन करना श्रेष्ठ है। अपनापन होनेसे ध्यान अपने-आप होता है। अपने-आप होनेवाला साधन श्रेष्ठ होता है॥ ४९१॥

× × ×

मन

मनको भगवान्‌में लगाना उतना जरूरी नहीं है, जितना जरूरी भगवान्‌में खुद लगना है। खुद भगवान्‌में लग जायँ तो मन अपने-आप भगवान्‌में लग जायगा॥ ४९९॥

× × ×

मनकी एकाग्रता योग-मार्गमें जितनी आवश्यक है, उतनी भक्तिमें नहीं। भक्तिमें तो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनी चाहिये॥ ५००॥

× × ×

शान्ति त्यागसे मिलती है, मनकी एकाग्रतासे नहीं॥ ५०१॥

× × ×

मनको स्थिर करना मूल्यवान् नहीं है, प्रत्युत स्वरूपकी स्वतः सिद्ध निरपेक्ष स्थिरताका अनुभव करना मूल्यवान् है॥ ५०२॥

× × ×

मनमें संसारका जो राग है, उसे मिटानेकी जितनी जरूरत है, उतनी मनकी चञ्चलताको मिटानेकी जरूरत नहीं है॥ ५०३॥

× × ×

जबतक मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी वृत्ति रहेगी, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं हो सकेगा। मनका सर्वथा निरोध तब होगा, जब एक परमात्माके सिवाय अन्य सत्ताकी मान्यता नहीं रहेगी॥ ५०४॥

× × ×

निष्कामभावसे बुद्धि स्थिर होती है और अभ्याससे मन स्थिर होता है। कल्याण बुद्धिकी स्थिरतासे होता है, मनकी स्थिरतासे नहीं। मनकी स्थिरतासे सिद्धियाँ होती हैं॥ ५०५॥

× × ×

मनकी एकता परमात्माके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रकृतिके साथ है। इसलिये मन परमात्मामें लीन तो हो सकता है, पर लग नहीं सकता॥ ५०६॥

मनुष्य

सुख भोगनेके लिये स्वर्ग है, दुःख भोगनेके लिये नरक है और सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठकर अपना कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर है॥ ५०७॥

× × ×

वास्तवमें मनुष्यजन्म ही सब जन्मोंका आदि तथा अन्तिम जन्म

है। यदि मनुष्य परमात्मप्राप्ति कर ले तो अन्तिम जन्म भी यही है और परमात्मप्राप्ति न करे तो अनन्त जन्मोंका आदि जन्म भी यही है॥ ५०८॥

× × ×

अपना उद्धार करना अथवा परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना मनुष्यमात्रका स्वधर्म है; क्योंकि मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है॥ ५०९॥

× × ×

शरीरसे अपना सम्बन्ध मानकर भोग और संग्रहमें लगना मनुष्यमात्रका पर धर्म है॥ ५१०॥

× × ×

आकृतिमात्रसे कोई मनुष्य नहीं होता। मनुष्य वही है, जो अपने विवेकको महत्त्व देता है॥ ५११॥

× × ×

मनुष्यमें अगर मनुष्यता नहीं है तो मनुष्य पशुसे भी नीचा है। कारण कि पशु तो अपने पूर्वकृत पापकर्मोंका फल भोगकर मनुष्यताकी तैयारी कर रहा है, पर मनुष्य नये पाप-कर्म करके नरकोंकी, पशुताकी तैयारी कर रहा है॥ ५१२॥

× × ×

ऊँची-से-ऊँची जीवन्मुक्त अवस्था मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक है॥ ५१३॥

× × ×

शरीरका सदुपयोग केवल संसारकी सेवामें ही है॥ ५१४॥

× × ×

भगवान्‌को याद रखना और सेवा करना—इन दो बातोंसे ही मनुष्यता सिद्ध होती है॥ ५१५॥

× × ×

मनुष्यशरीर मिल गया, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई तो यह बड़े शोककी, दुःखकी बात है!॥ ५१६॥

× × ×

मनुष्यशरीर केवल सुनने-सीखनेके लिये नहीं है, प्रत्युत तत्त्वका अनुभव करनेके लिये है। सुनना-सीखना तो पशु-पक्षियोंमें भी होता है, जिससे वे सर्कसमें काम करते हैं॥ ५१७॥

× × ×

जो दूसरोंकी सेवा नहीं करता और भगवान्‌को याद नहीं करता, वह मनुष्य कहलानेका अधिकारी ही नहीं है॥ ५१८॥

× × ×

किसी भी सुखभोगके आरम्भकालको देखना पशुता है और उसके परिणामको देखना मनुष्यता है॥ ५१९॥

× × ×

सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि मनुष्योंका जीवन दूसरोंके लिये है, अपने लिये नहीं॥ ५२०॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर किसी कामका नहीं है॥ ५२१॥

× × ×

जिनकी भगवान्‌की तरफ रुचि हो गयी है, वे ही भाग्यशाली हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं और वे ही मनुष्य कहलानेयोग्य हैं॥ ५२२॥

× × ×

मनुष्यजन्मकी सफलताके लिये हरदम सावधान रहनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है॥ ५२३॥

× × ×

मनुष्यशरीरकी महिमा विवेकको लेकर है, क्रियाको लेकर नहीं॥ ५२४॥

× × ×

वास्तवमें मनुष्य कर्मयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि है। जो

साधक नहीं है, वह देवता या असुर तो हो सकता है, पर मनुष्य नहीं हो सकता॥ ५२५॥

× × ×

'मनुष्य' नाम उसीका है, जो परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकारी हो॥ ५२६॥

ममता

जबतक मनुष्यकी स्त्री, पुत्र आदिमें ममता रहेगी, तबतक उसके द्वारा स्त्री, पुत्र आदिका सुधार होना असम्भव है; क्योंकि ममता ही मूल अशुद्धि है॥ ५२७॥

× × ×

मनुष्य अपने पास ममतापूर्वक जितनी सामग्री रखता है, उतना ही असत्‌का संग है। जितना असत्‌का संग होता है, उतना ही मनुष्यका पतन होता है॥ ५२८॥

× × ×

जिन-जिन वस्तुओंको हम अपनी मानते हैं, उन-उन वस्तुओंके हम पराधीन हो जाते हैं। पराधीन व्यक्तिको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—'**पराधीन सपनेहु सुखु नाहीं।**'॥ ५२९॥

× × ×

संसारमात्र परमात्माका है, पर जीव भूलसे परमात्माकी वस्तुको अपनी मान लेता है और इसीलिये बन्धनमें पड़ जाता है॥ ५३०॥

× × ×

शरीर, इन्द्रियाँ आदि कभी नहीं कहते कि हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो। हम ही उनको अपना मान लेते हैं। उनको अपना मानना ही अशुद्धि है—'**ममता मल जरि जाइ।**'॥ ५३१॥

× × ×

हम घरमें रहनेसे नहीं फँसते, प्रत्युत घरको अपना माननेसे फँसते हैं॥ ५३२॥

× × ×

मनुष्य संसारमें जितनी चीजोंको अपनी और अपने लिये मानता है, उतना ही वह फँसता है॥ ५३३॥

× × ×

मनुष्य संसारमें जितनी वस्तुओंको अपनी मानता है, उतना ही वह उनके पराधीन हो जाता है। परन्तु परमात्माको अपना माननेसे वह स्वाधीन हो जाता है॥ ५३४॥

× × ×

शरीरादिको 'अपना' और 'अपने लिये' मानना बहुत बड़ी भूल है। इस भूलको मिटा दें तो कल्याण होनेमें कोई सन्देह नहीं है॥ ५३५॥

× × ×

जिसके साथ हम सदा न रह सकें और जो हमारे साथ सदा न रह सके, उसको अपना माननेसे परिणाममें रोनेके सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। अतः उसको अपना न मानकर उसकी सेवा करें॥ ५३६॥

× × ×

मिली हुई वस्तुको अपनी माननेवाला न संसारके कामका है, न अपने कामका है और न भगवान्‌के कामका है॥ ५३७॥

× × ×

ममतारहित पुरुष दुनियाका जितना भला कर सकता है, उतना ममतावाला कर ही नहीं सकता॥ ५३८॥

× × ×

न तो किसी वस्तुको अपनी और अपने लिये मानना चाहिये तथा न किसी वस्तुकी कामना करनी चाहिये; क्योंकि वस्तुको अपनी माननेसे अशुद्धि आती है और कामना करनेसे अशान्ति आती है।॥ ५३९॥

× × ×

संसार प्रतिक्षण जा रहा है। जानेवालेके साथ ममता करोगे तो रोना ही पड़ेगा, पर रहनेवाले भगवान्‌से आत्मीयता करोगे तो सदाके लिये निहाल हो जाओगे॥ ५४०॥

× × ×

मेरी कहलानेवाली कोई भी वस्तु सदा हमारे साथ नहीं रह सकती, फिर उसकी ममताके त्यागमें क्या कठिनता?॥ ५४१॥

× × ×

शरीरको अपना मानना केवल दुःख पानेके लिये है और संसारका मानना मुक्ति पानेके लिये है॥ ५४२॥

× × ×

जो वस्तु अपनेसे अलग होती है, वह अपनी नहीं होती। अलग वही वस्तु होती है, जो वास्तवमें अपनेसे अलग है॥ ५४३॥

× × ×

शरीरको अपना मानना असत्‌का संग है और शरीरको अपना न मानना सत्‌का संग है॥ ५४४॥

× × ×

हम शरीरको अपना मानेंगे तो शरीरमें होनेवाली चीज अपनेमें दीखेगी और शरीरतक पहुँचनेवाली चीज अपनेतक पहुँचती दीखेगी॥ ५४५॥

~~~~
~~~~

मृत्यु और अमरता

शरीर-संसारके सम्बन्धसे मृत्युका और भगवान्‌के सम्बन्धसे अमरताका अनुभव होता है॥ ५४६॥

× × ×

अपने लिये कर्म करनेसे पहले कर्मके साथ और फिर फलके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म और फल—दोनों ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर अन्तःकरणमें जो आसक्ति रह जाती है, वह बार-बार जन्म-मरण देती है॥ ५४७॥

× × ×

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना प्रमाद है; प्रमाद ही मृत्यु है॥ ५४८॥

× × ×

किसी भी कामका होना या न होना अनिश्चित है, पर मरना बिलकुल निश्चित है॥ ५४९॥

× × ×

जैसे शरीरके लिये मृत्यु सुलभ है, ऐसे ही अपने लिये अमरता सुलभ है॥ ५५०॥

~~~~
~~~~

योग और भोग

सुखदायी परिस्थिति आनेपर सुखी तथा दु:खदायी परिस्थिति आनेपर दु:खी होनेवाला मनुष्य भोगी है, योगी नहीं। योगी तो सुख और दु:ख दोनोंमें समान रहता है॥ ५५१॥

× × ×

भोगी व्यक्ति रोगी होता है, दु:खी होता है और दुर्गतिमें जाता है॥ ५५२॥

× × ×

अपने सुखसे सुखी होनेवाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं होता।॥ ५५३॥

× × ×

भोगी योगी नहीं होता, प्रत्युत रोगी होता है—'भोगे रोगभयम्'॥ ५५४॥

× × ×

भोग दो वस्तुओं आदिके संयोगसे होता है और योग (परमात्मासे नित्य-सम्बन्ध) अकेला, स्वत:सिद्ध होता है। जबतक भोग है, तबतक योगका अनुभव नहीं होता। भोगका सर्वथा त्याग होनेपर ही योगका अनुभव होता है और योगका अनुभव होनेपर भोगकी इच्छा सर्वथा मिट जाती है॥ ५५५॥

× × ×

परमात्माके संगसे योग और संसारके संगसे भोग होता है॥ ५५६॥

एकान्तका सुख लेना, मन लगनेका सुख लेना भोग है, योग नहीं॥ ५५७॥

× × ×

संसारसे सम्बन्ध जोड़नेका नाम 'भोग' है और सम्बन्ध तोड़नेका नाम 'योग' है॥ ५५८॥

× × ×

किसी भी अवस्थामें राजी होना भोग है। भोगसे व्यक्तित्व नहीं मिटता। अत: साधकको किसी भी अवस्थामें राजी नहीं होना चाहिये॥ ५५९॥

× × ×

संसारका वियोग भी स्वत:सिद्ध है और परमात्माका योग भी स्वत:सिद्ध है॥ ५६०॥

× × ×

जिसका स्वत: वियोग हो रहा है, उसके संयोगकी इच्छाका त्याग कर दें—इसका नाम 'योग' है॥ ५६१॥

× × ×

जो कभी योगी और कभी भोगी होता है, वह वास्तवमें भोगी ही होता है॥ ५६२॥

× × ×

योगीके द्वारा सबको सुख मिलता है और भोगीके द्वारा सबको दु:ख मिलता है॥ ५६३॥

× × ×

मेरेको मिल जाय—यह भोग है, और दूसरोंको मिल जाय—यह योग है॥ ५६४॥

× × ×

अपनी सुख-सुविधाको देखनेवाला भोगी होता है, योगी नहीं होता॥ ५६५॥

× × ×

जो सदाके लिये और सबके लिये है, उसकी प्राप्ति 'योग' है। जो सदाके लिये और सबके लिये नहीं है, उसकी प्राप्ति 'भोग' है॥ ५६६॥

× × ×

भगवान्‌को अपना मानना योग है और भगवान्‌से कुछ चाहना भोग है॥ ५६७॥

× × ×

'योग' वियोगसे होता है और 'भोग' संयोगसे होता है॥ ५६८॥

× × ×

भोगी व्यक्ति तो कइयोंका ऋणी होता है, पर योगी किसीका भी ऋणी नहीं होता॥ ५६९॥

~~~~
~~~~

राग और द्वेष

राग-द्वेष अन्तःकरणके आगन्तुक विकार हैं, धर्म नहीं। धर्म स्थायी रहता है और विकार अस्थायी अर्थात् आने-जानेवाले होते हैं। राग-द्वेष अन्तःकरणमें आने-जानेवाले हैं। अतः इनको मिटाया जा सकता है॥ ५७०॥

× × ×

साधककी प्रवृत्ति और निवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत शास्त्रके अनुसार होनी चाहिये॥ ५७१॥

× × ×

राग-द्वेषपूर्वक किये गये कामका परिणाम अच्छा नहीं होता॥ ५७२॥

× × ×

दूसरे साधकके प्रति द्वेषवृत्ति अपने साधनकी सिद्धिमें महान् बाधक होती है॥ ५७३॥

× × ×

विवेक अनादि है, राग अपना बनाया हुआ है। संसारमें राग होनेसे विवेक दब जाता है और विवेक जाग्रत् होनेसे राग मिट जाता है॥ ५७४॥

× × ×

निरन्तर परिवर्तनशील संसारको स्थिर माननेसे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं॥ ५७५॥

× × ×

जिसमें राग हो जाता है, उसमें दोष नहीं दीखते और जिसमें द्वेष हो जाता है, उसमें गुण नहीं दीखते। राग-द्वेषसे रहित होनेपर ही वस्तु अपने वास्तविक रूपसे दीखती है॥ ५७६॥

× × ×

वास्तवमें सब कुछ चिन्मय ही है, पर राग-द्वेषके कारण वह जड़ दीखता है। राग-द्वेष न हों तो एक चिन्मय तत्त्व (परमात्मा) के सिवाय और कुछ है ही नहीं॥ ५७७॥

लेना और देना

सुख लेनेसे अन्तःकरण अशुद्ध होता है और सुख देनेसे अन्तः-करण शुद्ध होता है॥ ५७८॥

× × ×

इस संसार-समुद्रसे जो लेना चाहता है, वह डूब जाता है और जो देना चाहता है, वह तर जाता है॥ ५७९॥

× × ×

'देने' के भावसे समाजमें एकता, प्रेम उत्पन्न होता है और 'लेने' के भावसे संघर्ष उत्पन्न होता है॥ ५८०॥

× × ×

'देने' का भाव उद्धार करनेवाला और 'लेने' का भाव पतन करनेवाला होता है॥ ५८१॥

× × ×

शरीरको 'मैं', 'मेरा' अथवा 'मेरे लिये' माननेसे ही 'लेने' का भाव उत्पन्न होता है॥ ५८२॥

× × ×

केवल सेवा करनेके लिये ही दूसरोंसे सम्बन्ध रखो। लेनेके लिये सम्बन्ध रखोगे तो दुःख पाना पड़ेगा॥ ५८३॥

× × ×

लेकर दान देनेकी अपेक्षा न लेना ही बढ़िया है॥ ५८४॥

× × ×

लेकर देनेकी अपेक्षा न लेनेका बड़ा भारी पुण्य है। पर इस बातको समझनेवाले बहुत कम हैं!॥ ५८५॥

× × ×

संसारसे कुछ भी लेना पाप है और देना पुण्य है॥ ५८६॥

× × ×

सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है और सुख देने (सेवा करने)के लिये पूरा संसार अपना है॥ ५८७॥

× × ×

लेनेकी इच्छासे मनुष्य दास हो जाता है और केवल देनेकी इच्छासे मालिक हो जाता है॥ ५८८॥

× × ×

लेनेके भावसे भोग होता है और देनेके भावसे योग होता है॥ ५८९॥

× × ×

शरीरको आवश्यकतानुसार अन्न-जल-वस्त्र तो देना है, पर शरीरसे सम्बन्ध जोड़कर अन्न-जल-वस्त्र लेनेवाला नहीं बनना है। लेना बन्धन है और देना मुक्ति है॥ ५९०॥

शरणागति

संसारका आश्रय लेनेसे पराधीनता और भगवान्‌का आश्रय लेनेसे स्वाधीनता प्राप्त होती है॥ ५९१॥

× × ×

भगवान्‌का आश्रय लिये बिना भगवान्‌को जानना असम्भव है॥ ५९२॥

× × ×

एक भगवान्‌के सिवाय और किसीका आश्रय न लेना ही 'अनन्यता' है॥ ५९३॥

× × ×

संसारका आश्रय ही भगवान्‌की शरणागतिमें बाधक है॥ ५९४॥

× × ×

भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। भगवान् अपने हैं, इसलिये उनके शरण होनेपर मनुष्य सदाके लिये निर्भय हो जाता है॥ ५९५॥

× × ×

भगवान्‌की शरणागति स्वीकार कर लेनेपर फिर भक्तको किसी प्रकार सन्देह, परीक्षा, विपरीत भावना और कसौटी नहीं लगानी चाहिये॥ ५९६॥

× × ×

भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचानना ही भगवान्‌की शरण होना है। शरण होनेपर भक्त निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशंक हो जाता है॥ ५९७॥

× × ×

भगवान्‌के लिये अपनी मनचाही छोड़ देना ही शरणागति है॥ ५९८॥

× × ×

शरणागति मन-बुद्धिसे नहीं होती, प्रत्युत स्वयंसे होती है॥ ५९९॥

× × ×

परमात्माके आश्रयसे बढ़कर दूसरा कोई आश्रय नहीं है॥ ६००॥

× × ×

शरणागति और प्रारब्ध—इन दोनोंका तात्पर्य चिन्ताको छोड़नेमें है, पुरुषार्थ (शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्म) को छोड़नेमें नहीं॥ ६०१॥

× × ×

जीवमात्र साक्षात् परमात्माका अंश है। अतः जबतक यह जीव अपने अंशी परमात्माका आश्रय नहीं लेगा, तबतक यह दूसरोंका आश्रय लेकर पराधीन होता ही रहेगा, दुःख पाता ही रहेगा॥ ६०२॥

× × ×

जबतक मनुष्य भगवान्‌का सहारा नहीं लेगा, तबतक कोई भी सहारा टिकेगा नहीं और वह दुःख पाता ही रहेगा॥ ६०३॥

× × ×

जिसमें अपने साधनका अभिमान नहीं है और जिसे अपने कल्याणका और कोई उपाय नहीं दीखता, वही भगवान्‌की शरणागतिका अधिकारी है॥ ६०४॥

× × ×

आश्रय उसीका लेना चाहिये, जो हमारेसे अलग, दूर, विमुख और भिन्न न हो सके तथा हम उससे अलग, दूर, विमुख और भिन्न न हो सकें॥ ६०५॥

× × ×

अपनेमें कुछ भी विशेषता दीखती है तो यह शरणागतिमें बाधक है॥ ६०६॥

× × ×

वेदोंका सार उपनिषद् हैं, उपनिषदोंका सार गीता है और गीताका सार भगवान्‌की शरणागति है॥ ६०७॥

× × ×

जबतक अपने बलका अभिमान रहता है, तबतक शरणागति नहीं होती॥ ६०८॥

× × ×

शरणागति बहुत सुगम है, पर अभिमानी व्यक्तिके लिये बहुत कठिन है। मैं कुछ कर सकता हूँ—यह अभिमान जबतक रहेगा, तबतक शरण होना कठिन है॥ ६०९॥

× × ×

भगवान्‌के शरण होनेसे जो तत्त्व मिलता है, वह अपने उद्योगसे नहीं मिलता॥ ६१०॥

× × ×

सब प्रकारसे एक भगवान्‌के शरण होनेसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है॥ ६११॥

सन्त-महात्मा

सन्त-महापुरुषोंके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची सेवा है॥ ६१२॥

× × ×

जैसे सूर्यके द्वारा सबको समानरूपसे प्रकाश मिलता है, ऐसे ही सन्त-महात्माओंके द्वारा सबका समानरूपसे हित होता है॥ ६१३॥

× × ×

बाहरका प्रकाश तो सूर्य करता है और भीतरका प्रकाश संत-महात्मा करते हैं॥ ६१४॥

× × ×

सन्त-महापुरुषकी सबसे बड़ी सेवा है—उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना। कारण कि उन्हें सिद्धान्त जितने प्रिय होते हैं, उतने अपने प्राण भी प्रिय नहीं होते॥ ६१५॥

× × ×

भगवान्, सन्त-महात्मा, धर्म और शास्त्र—ये कभी किसीसे विमुख नहीं होते। केवल जीव ही इनसे विमुख होता है॥ ६१६॥

× × ×

समुद्रमेंसे कोई राई नहीं निकाल सकता। परन्तु सन्तोंने संसारभरके ग्रन्थोंमेंसे 'गीता' निकालकर हमें दे दी, यह उनकी कितनी विलक्षण कृपा है!॥ ६१७॥

× × ×

भगवान्‌से लाभ उठानेकी पाँच बातें हैं—नामजप, ध्यान, सेवा, आज्ञापालन और संग। परन्तु संतोंसे लाभ उठानेमें तीन ही बातें उपयुक्त हैं—सेवा, आज्ञापालन और संग॥ ६१८॥

× × ×

धनीलोग तो दूसरेको नौकर बनाते हैं, पर सन्तलोग दूसरेको भी सन्त ही बनाते हैं॥ ६१९॥

× × ×

भगवान्, सन्त, सच्छास्त्र और सद्विचार—ये चारों साधकको कभी निराश नहीं करते, प्रत्युत उसकी उन्नति करते हैं॥ ६२०॥

× × ×

समाजका सबसे अधिक सुधार वीतराग सन्तके द्वारा ही होता है॥ ६२१॥

× × ×

सन्त-महात्मा संसारमें लोगोंको अपनी तरफ लगानेके लिये नहीं आते, प्रत्युत भगवान्‌की तरफ लगानेके लिये आते हैं। जो लोगोंको अपनी तरफ (अपने ध्यान, पूजन आदिमें) लगाता है, वह भगवद्द्रोही और नरकोंमें ले जानेवाला होता है॥ ६२२॥

संसार

संसारका मात्र संयोग निरन्तर वियोगरूपी अग्निमें जल रहा है। जिससे संयोग होता है, उससे वियोग होना निश्चित है। भूल यह होती है कि उस संयोगको हम नित्य मान लेते हैं॥ ६२३॥

× × ×

संसारके संयोगका वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है। अत: संसारका वियोग ही सत्य है॥ ६२४॥

× × ×

नाशवान् भौतिक पदार्थोंके सम्बन्धसे किसीका शोक कभी दूर हो ही नहीं सकता॥ ६२५॥

× × ×

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके वशमें न होना अर्थात् उनका आश्रय न लेना ही मनुष्यकी वास्तविक विजय है॥ ६२६॥

× × ×

जबतक संसार-शरीरका आश्रय सर्वथा नहीं मिट जाता, तबतक जीनेकी आशा, मरनेका भय, करनेका राग और पानेका लालच—ये

चारों नहीं मिट सकते॥ ६२७॥

× × ×

मनुष्य ही आसक्तिपूर्वक संसारसे सम्बन्ध जोड़ता है, संसार कभी सम्बन्ध नहीं जोड़ता॥ ६२८॥

× × ×

संसारके साथ मिलनेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और परमात्मासे अलग रहनेपर परमात्माका ज्ञान नहीं होता—यह नियम है॥ ६२९॥

× × ×

संसारके साथ एकता और परमात्मासे भिन्नता भूलसे मानी हुई है॥ ६३०॥

× × ×

विनाशीसे अपना सम्बन्ध माननेसे अन्त:करण, कर्म और पदार्थ—तीनों ही मलिन हो जाते हैं और विनाशीसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जानेसे ये तीनों ही स्वत: पवित्र हो जाते हैं॥ ६३१॥

× × ×

जबतक संसारसे संयोग बना रहता है, तबतक भोग होता है, योग नहीं। संसारके संयोगका मनसे सर्वथा वियोग होनेपर योग सिद्ध हो जाता है अर्थात् परमात्मासे अपने स्वत:सिद्ध नित्ययोगका अनुभव हो जाता है॥ ६३२॥

× × ×

संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये या तो मिले हुए (शरीरादि) पदार्थोंको संसारका ही समझकर उनको संसारकी सेवामें लगा दे या जड़ता (शरीरादि) से सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय या फिर इन (शरीरादि)के सहित भगवान्‌के शरण हो जाय॥ ६३३॥

× × ×

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय लेकर, उनसे सम्बन्ध जोड़कर सुख चाहनेवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता—यह नियम है॥ ६३४॥

× × ×

नाशवान्‌की दासता ही अविनाशीके सम्मुख नहीं होने देती ॥ ६३५ ॥

× × ×

संसारकी सामग्री संसारके कामकी है, अपने कामकी नहीं ॥ ६३६ ॥

× × ×

संसार विश्वास करनेयोग्य नहीं है, प्रत्युत सेवा करनेयोग्य है ॥ ६३७ ॥

× × ×

नाशवान्‌में अपनापन अशान्ति और बन्धन देनेवाला है ॥ ६३८ ॥

× × ×

असत्‌को असत् जाननेपर भी जबतक असत्‌का आकर्षण नहीं मिट जाता, तबतक सत्‌की प्राप्ति नहीं होती (जैसे, सिनेमाको असत्य जाननेपर भी उसका आकर्षण रहता है) ॥ ६३९ ॥

× × ×

जैसे भगवान्‌का आश्रय कल्याण करनेवाला है, ऐसे ही रुपये आदि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय पतन करनेवाला है ॥ ६४० ॥

× × ×

प्राकृत पदार्थमात्रको महत्त्व देना अनर्थका मूल है ॥ ६४१ ॥

× × ×

विश्वास भगवान्‌पर ही करना चाहिये। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंपर विश्वास करनेसे धोखा ही होगा, दुःख ही पाना पड़ेगा ॥ ६४२ ॥

× × ×

भगवान्‌के साथ हमारा वियोग और संसारके साथ हमारा संयोग कभी हो ही नहीं सकता ॥ ६४३ ॥

× × ×

हम संसारके साथ कभी रह ही नहीं सकते और परमात्मासे अलग कभी हो ही नहीं सकते ॥ ६४४ ॥

× × ×

असत्‌के संगसे ही सम्पूर्ण दोषों और विषमताओंकी उत्पत्ति होती है ॥ ६४५ ॥

× × ×

****

शरीर-संसारका निरन्तर परिवर्तन हमें यह क्रियात्मक उपदेश दे रहा है कि तुम्हारा सम्बन्ध अपरिवर्तनशील तत्त्व (परमात्मा) के साथ है, हमारे साथ नहीं; हम तुम्हारे साथ और तुम हमारे साथ नहीं रह सकते॥ ६४६॥

× × ×

अभी जो वस्तुएँ, व्यक्ति आदि हमारे पास हैं, उनका साथ कबतक रहेगा—इसपर हरेकको विचार करनेकी जरूरत है॥ ६४७॥

× × ×

हम शरीरको रखना चाहते हैं, सुख-आराम चाहते हैं, अपने मनकी बात पूरी करना चाहते हैं—यह सब असत्‌का आश्रय है॥ ६४८॥

× × ×

जो किसी समय है और किसी समय नहीं है, कहीं है और कहीं नहीं है, किसीमें है और किसीमें नहीं है, किसीका है और किसीका नहीं है, वह वास्तवमें है ही नहीं॥ ६४९॥

× × ×

वस्तु और व्यक्ति तो नहीं रहते, पर उनसे माना हुआ सम्बन्ध बना रहता है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण होता है॥ ६५०॥

× × ×

सब संसार अपनी धुनमें जा रहा है। हम ही उसको (जाते हुएको) पकड़ते हैं और फिर उसके छूटनेपर रोते हैं॥ ६५१॥

× × ×

जो संसारकी गरज नहीं करता, उसकी गरज संसार करता है। परन्तु जो संसारकी गरज करता है, उसको संसार चूसकर फेंक देता है!॥ ६५२॥

× × ×

मनुष्य जबतक सांसारिक पदार्थोंका सम्बन्ध रखेगा और उनकी आवश्यकता समझेगा, तबतक वह कभी सुखी नहीं होगा॥ ६५३॥

× × ×

संसारको सत्ता देनेसे संयोग-वियोग होते हैं और महत्ता देनेसे सुख-दुःख होते हैं॥ ६५४॥

× × ×

संसारकी सत्ता बाधक नहीं है, प्रत्युत उसकी महत्ताका असर बाधक है। महत्ताका असर होनेसे गुलामी आ जाती है॥ ६५५॥

× × ×

संसारका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करना मनुष्यका कर्तव्य है॥ ६५६॥

× × ×

संसारकी जिन वस्तुओंको हम बड़ा महत्त्व देते हैं, उनका काम यही है कि वे हमें परमात्मप्राप्ति नहीं होने देंगी और खुद भी नहीं रहेंगी!॥ ६५७॥

× × ×

संसार असत्य हो अथवा सत्य हो, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध असत्य है—यह निःसन्देह बात है॥ ६५८॥

× × ×

यह संसार मेंहदीके पत्तेकी तरह ऊपरसे हरा दीखता है, पर इसके भीतर परमात्मरूप लाली परिपूर्ण है॥ ६५९॥

× × ×

हम स्वयं चेतन तथा अविनाशी हैं और सांसारिक वस्तुएँ जड़ तथा विनाशी हैं। दोनोंकी जाति अलग-अलग है। फिर दूसरी जातिकी वस्तु हमें कैसे मिल सकती है?॥ ६६०॥

× × ×

जैसे उदय होनेके बाद सूर्य निरन्तर अस्तकी ओर ही जाता है, ऐसे ही उत्पन्न होनेके बाद मात्र संसार निरन्तर अभावकी ओर ही जा रहा है॥ ६६१॥

× × ×

संसार विजातीय है और विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होता ही नहीं, केवल सम्बन्धकी मान्यता होती है। सम्बन्धकी माँन्यता ही अनर्थका हेतु है, जिसके मिटते ही मुक्ति स्वतःसिद्ध है॥ ६६२॥

× × ×

सांसारिक पदार्थ, मान, बड़ाई, प्रशंसा, आराम, सत्कार आदिका प्रिय लगना पतनका कारण है॥ ६६३॥

× × ×

जो नहीं है, उसकी सत्ता मानकर उसको पानेकी अथवा मिटानेकी इच्छा करना असत्‌का संग है॥ ६६४॥

× × ×

वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका सम्बन्ध मनुष्यको पराधीन बनानेवाला है। इनसे असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है॥ ६६५॥

× × ×

जबतक अपनेपर जड़ (संसार) का असर पड़े, तबतक अपनी स्थिति जड़में ही समझनी चाहिये, चिन्मय तत्त्वमें नहीं॥ ६६६॥

× × ×

शरीर-संसारको भूल जानेसे (निद्रामें) विश्राम मिलता है, पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो परम विश्राम मिलता है॥ ६६७॥

× × ×

शरीर-संसारसे असंग होनेके लिये विचारकी आवश्यकता है, अभ्यासकी नहीं॥ ६६८॥

× × ×

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु हमारी और हमारे लिये नहीं है॥ ६६९॥

× × ×

जिसका किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें अभाव है, उसका कहीं भी भाव नहीं है अर्थात् उसका सदा ही अभाव है और वह असत् है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)॥ ६७०॥

सद्गुण और दुर्गुण

जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब मनुष्यके बनाये हुए हैं, भगवान्‌के बनाये हुए नहीं। भगवान् 'सत्' हैं और दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं। सत्‌से असत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?॥ ६७१ ॥

× × ×

संसारसे विमुख होनेपर बिना प्रयत्न किये स्वतः सद्गुण आते हैं॥ ६७२ ॥

× × ×

जब जीव परमात्माके सम्मुख होता है, तब सब सद्गुण आ जाते हैं और जब संसारके सम्मुख होता है, तब सब अवगुण आ जाते हैं॥ ६७३ ॥

× × ×

अपनी निर्बलताका दुःख हो और भगवान्‌की कृपापर विश्वास हो तो जिस दुर्गुणको हटाना चाहते हैं, वह हट जायगा और जिस सद्गुणको लाना चाहते हैं, वह आ जायगा॥ ६७४ ॥

× × ×

सद्गुण-सदाचारको अपनेमें माननेसे अभिमान आता है और दुर्गुण-दुराचारको अपनेमें माननेसे वे स्थायी हो जाते हैं॥ ६७५ ॥

सत्संग और कुसंग

सत्संगसे जितना लाभ होता है, उतना एकान्तमें रहकर साधन करनेसे नहीं होता॥ ६७६ ॥

× × ×

सत्संगमें बिना कुछ किये उन्नति होती है और कुसंगमें बिना कुछ किये पतन होता है॥ ६७७ ॥

× × ×

असत्‌का संग छोड़े बिना सत्संगका प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता॥ ६७८ ॥

× × ×

केवल सुननेसे सत्संग नहीं होता। सत्संग होता है—सत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे, सत्‌को महत्त्व देनेसे॥ ६७९ ॥

× × ×

सबमें परिपूर्ण एक परमात्मतत्त्वको देखना सत्संग (सत्‌का संग) है॥ ६८० ॥

× × ×

भगवान्‌में प्रेम होना भी सत्संग है और नाशवान्‌का प्रेम (मोह) छूटना भी सत्संग है॥ ६८१ ॥

× × ×

जैसे शरीरके लिये भोजन आवश्यक है, ऐसे ही पारमार्थिक जीवनके लिये सत्संग आवश्यक है॥ ६८२ ॥

× × ×

जैसे मनुष्यशरीर बार-बार नहीं मिलता, ऐसे ही मनुष्यशरीर मिलनेपर भी सत्संग बार-बार नहीं मिलता॥ ६८३ ॥

× × ×

सत्संग हमारे पुरुषार्थसे नहीं मिलता, प्रत्युत केवल भगवत्कृपासे मिलता है॥ ६८४ ॥

× × ×

जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है॥ ६८५ ॥

× × ×

हर हालमें खुश रहनेकी विद्या सत्संगसे ही मिलती है॥ ६८६ ॥

× × ×

सच्ची बातको मान लें—यह सत्संग है॥ ६८७ ॥

× × ×

जैसे भीतर अग्नि कमजोर हो तो भोजन पचता नहीं, ऐसे ही भीतर लगन न हो तो सत्संगकी बातें पचती नहीं॥ ६८८ ॥

× × ×

भगवान्‌की विशेष कृपाकी पहचान है—सत्संग प्राप्त होना॥ ६८९ ॥

× × ×

व्यापारमें तो लाभ और नुकसान दोनों होते हैं, पर सत्संगमें लाभ-ही-लाभ होता है, नुकसान होता ही नहीं॥ ६९०॥

× × ×

सत्संगकी बातोंको महत्त्व देनेसे वृत्तियोंमें बहुत फर्क पड़ता है और विकार अपने-आप नष्ट होते हैं॥ ६९१॥

× × ×

भोगोंमें जितनी आसक्ति होती है, उतनी ही बुद्धिमें जड़ता आती है, जिससे सत्संगकी तात्त्विक बातें पढ़-सुनकर भी समझमें नहीं आतीं॥ ६९२॥

× × ×

संसारसे कुछ लेनेकी इच्छा होते ही कुसंग शुरू हो जाता है॥ ६९३॥

× × ×

शरीर-संसारसे अपना सम्बन्ध मानना कुसंग है॥ ६९४॥

× × ×

कुसंगसे हानि नहीं होती, प्रत्युत कुसंगको स्वीकार करनेसे हानि होती है॥ ६९५॥

× × ×

ईश्वर, परलोक और धर्मको न माननेवाले नास्तिकका संग सबसे अधिक पतन करनेवाला है॥ ६९६॥

× × ×

अपने भीतर कमी (दोष) होती है, तभी बाहरी कुसंगका असर पड़ता है। कारण कि आकर्षण सजातीयतामें होता है, विजातीयतामें नहीं॥ ६९७॥

× × ×

सत्संग, सद्विचार, सच्छास्त्र और दुःख—ये चारों विवेकीके लिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाले हैं॥ ६९८॥

× × ×

कई वर्षोंसे साधन करनेपर जो तत्त्व नहीं मिलता, वह सत्संगसे तत्काल मिल सकता है॥ ६९९॥

× × ×

साधन करना खुद धनको कमाना है और सत्संग करना धनी आदमीके गोद जाना है। जैसे गोद जानेवालेको कमाया हुआ धन मिलता है, ऐसे ही सत्संगमें जानेसे बिना साधन किये साधन होता है॥ ७००॥

समय

गया हुआ धन पुनः प्राप्त हो सकता है, पर गया हुआ समय पुनः प्राप्त नहीं होता। धनकी तरह समयको तिजोरीमें बन्द करके भी नहीं रख सकते। अतः हर समय सावधान रहकर समयका सदुपयोग करना चाहिये॥ ७०१ ॥

× × ×

पैसोंको तो तिजोरीमें बन्द करके रखा जा सकता है, पर समयको बन्द करके नहीं रखा जा सकता। अतः अपने अमूल्य समयको व्यर्थके कामोंमें खर्च नहीं करना चाहिये॥ ७०२ ॥

× × ×

समयका सदुपयोग न करनेवाला व्यक्ति किसी भी क्षेत्रमें सफल नहीं हो सकता॥ ७०३ ॥

× × ×

देखनेमें तो ऐसा दिखता है कि समय जा रहा है, पर वास्तवमें शरीर जा रहा है!॥ ७०४ ॥

× × ×

विचार करें कि जो समय चला गया, उस समयके सदुपयोगसे हम परमात्मप्राप्तिके मार्गपर कितना आगे बढ़े हैं?॥ ७०५ ॥

साधक

निषिद्ध कर्मोंको करते हुए कोई व्यक्ति साधक नहीं बन सकता ॥ ७०६ ॥

× × ×

साधक चाहे तो असत्‌से विमुख हो जाय, चाहे सत्‌के सम्मुख हो जाय। दोनोंमें कोई एक काम तो करना ही पड़ेगा, तभी आफत मिटेगी ॥ ७०७ ॥

× × ×

साधकके लिये 'मेरेको केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—इस निश्चयकी तथा इसपर दृढ़ अटल रहनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है ॥ ७०८ ॥

× × ×

साधकको चाहिये कि वह अपनेको कभी भोगी या संसारी व्यक्ति न समझे। उसमें सदा यह जागृति रहनी चाहिये कि 'मैं साधक हूँ' ॥ ७०९ ॥

× × ×

जड़तासे जितना सम्बन्ध-विच्छेद होता जाता है, उतनी ही साधकमें विलक्षणता आती जाती है ॥ ७१० ॥

× × ×

साधक उसीको कहते हैं, जो निरन्तर सावधान रहता है ॥ ७११ ॥

× × ×

साधकको अपनी स्थिति स्वाभाविक रूपसे परमात्मामें ही माननी चाहिये, जो वास्तवमें है। संसारमें अपनी स्थिति माननेवाला साधक साधनासे गिर जाता है ॥ ७१२ ॥

× × ×

साधकको विचार करना चाहिये कि अगर मेरे द्वारा किसीको लाभ नहीं हुआ, किसीका हित नहीं हुआ, किसीकी सेवा नहीं हुई तो मैं साधक क्या हुआ? ॥ ७१३ ॥

× × ×

साधकमें साधन और सिद्धिके विषयमें चिन्ता तो नहीं होनी

चाहिये, पर भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता अवश्य होनी चाहिये। कारण कि चिन्ता भगवान्‌से दूर करनेवाली है और व्याकुलता भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है॥ ७१४॥

× × ×

जबतक अपने व्यक्तित्वका भान हो, तबतक साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये॥ ७१५॥

× × ×

आपसमें मतभेद होना और अपने मतके अनुसार साधन करके जीवन बनाना दोष नहीं है, प्रत्युत दूसरोंका मत बुरा लगना, उनके मतका खण्डन करना, उनके मतसे घृणा करना ही दोष है॥ ७१६॥

× × ×

जबतक साधकको अपनी स्थितिपर असन्तोष नहीं होता, तबतक उसकी उन्नति नहीं होती॥ ७१७॥

× × ×

साधकको केवल इतनी सावधानी रखनी है कि उसको जो चीज नाशवान् दीखे, उसके मोहमें न फँसे, उसको महत्त्व न दे। नाशवान् चीजको काममें ले, पर उसकी दासता स्वीकार न करे॥ ७१८॥

× × ×

साधकको मतवादी न बनकर तत्त्ववादी बनना चाहिये॥ ७१९॥

× × ×

भोगी व्यक्तिको तो नींद मित्रके समान प्रिय लगती है, पर साधन-भजन करनेवालेको नींद वैरीके समान बुरी लगती है॥ ७२०॥

× × ×

भजन न करनेवालोंके लिये तो यह कलियुगका समय है; पर भजन करनेवालोंके लिये यह बहुत उत्तम समय है॥ ७२१॥

× × ×

साधकको हर समय सावधान रहना चाहिये। सावधान रहनेका तात्पर्य है—किसीसे कभी कुछ न चाहना॥ ७२२॥

× × ×

साधक वह होता है, जो चौबीसों घण्टे साधन करता है॥ ७२३॥

× × ×

छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा जो भी कर्म किया जाय, उसमें साधकको सावधान रहना चाहिये कि कहीं किसी स्वार्थकी भावनासे तो कर्म नहीं हो रहा है!॥ ७२४॥

× × ×

मेरी किसी भी क्रियासे दूसरेको दु:ख न पहुँचे—ऐसी सावधानी साधकको हर समय रखनी चाहिये। दूसरेको दु:ख देनेसे वर्षोंतक साधन करनेपर भी शान्ति नहीं मिलती॥ ७२५॥

× × ×

साधक जितना जानता है, उतना मानकर उसका पालन करना आरम्भ कर दे तो आगेकी आवश्यक जानकारी उसको स्वत: प्राप्त हो जाती है॥ ७२६॥

× × ×

शरीर संसारमें स्थित है और स्वयं परमात्मामें स्थित है। अत: साधक अपनेको संसारमें स्थित न मानकर परमात्मामें ही अपनी स्थितिका अनुभव करे॥ ७२७॥

× × ×

साधकको चाहिये कि वह 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इसको शास्त्रपर रखे तथा 'क्या होना चाहिये और क्या नहीं होना चाहिये'—इसको भगवान्‌पर छोड़ दे॥ ७२८॥

× × ×

अपनेको कभी सिद्ध नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत सदा साधक ही मानना चाहिये। सिद्ध माननेसे धोखा ही होता है॥ ७२९॥

× × ×

साधकका काम शासन करना नहीं है, प्रत्युत तत्त्वज्ञ और हितैषीके शासनमें रहना है॥ ७३०॥

× × ×

साधकको यह विचार करना चाहिये कि मुझे वह सुख नहीं लेना है, जो सदा न रहे और जिसके साथ दु:ख भी हो॥ ७३१॥

× × ×

साधनजन्य सुखका भोग साधकके लिये विशेष बाधक है॥ ७३२॥

× × ×

साधकका उद्देश्य बातें सीखनेका नहीं होना चाहिये, प्रत्युत अनुभव करनेका होना चाहिये। सीखे हुए ज्ञानसे वह विद्वान्, वक्ता, लेखक तो हो सकता है, पर तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी नहीं हो सकता॥ ७३३॥

× × ×

जो आरम्भको देखता है, वह असाधक होता है और जो परिणामको देखता है, वह साधक होता है॥ ७३४॥

× × ×

'मैं साधक हूँ'—यह यदि अभिमानको लेकर है तो बाधक है और यदि स्वाभिमान (कर्तव्य) को लेकर है तो सहायक है। मैं साधक हूँ, दूसरा असाधक है—यह अभिमान है, और मैं साधन-विरुद्ध कार्य कैसे कर सकता हूँ—यह स्वाभिमान है॥ ७३५॥

× × ×

साधकको सत्य-तत्त्वका अनुयायी होना चाहिये, किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय आदिका अनुयायी नहीं॥ ७३६॥

साधन

केवल नाम-जप करना ही भजन नहीं है, प्रत्युत भगवदनुकूल जिस किसी भी क्रिया, भावसे भगवान्‌की ओर आकर्षण बढ़े, वह सब भजन ही है॥ ७३७॥

× × ×

एकमात्र भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर सब क्रियाएँ साधन बन जाती हैं॥ ७३८॥

× × ×

संसारका कार्य तो निर्लिप्त होकर, कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये, पर भगवान्‌का कार्य (जप, ध्यान आदि) तल्लीन होकर, अपनी

खास वस्तु समझकर करना चाहिये॥ ७३९॥

× × ×

साधक हृदयसे यह मान ले कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं' फिर उससे स्वत:-स्वाभाविक साधन होगा॥ ७४०॥

× × ×

रात-दिन भगवान्‌के भजन-ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले व्यक्तिसे संसारका जो हित होता है, वह रात-दिन कर्म करनेवालोंसे नहीं होता॥ ७४१॥

× × ×

मुझे केवल परमात्माकी ओर ही चलना है—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि सम्पूर्ण साधनोंका मूल है। परन्तु संसारको स्थिर माननेसे ऐसी बुद्धि पैदा नहीं होती॥ ७४२॥

× × ×

अपने साधनके बलका अभिमान होनेसे ही अपनेमें कमीकी चिन्ता होती है॥ ७४३॥

× × ×

किसी भी साधनकी पूर्णता होनेपर जीनेकी इच्छा, मरनेका भय, पानेका लालच और करनेका राग—ये चारों सर्वथा मिट जाते हैं॥ ७४४॥

× × ×

जड़ पदार्थोंके साथ जीवका जो रागयुक्त सम्बन्ध है, उसको मिटानेमें ही सम्पूर्ण साधनोंकी सार्थकता है॥ ७४५॥

× × ×

अभ्यासका नाम भजन नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की स्मृति और प्रियताका नाम भजन है। भगवान्‌को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जाग्रत् नहीं होती॥ ७४६॥

× × ×

साधन स्वयंसे होता है, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे नहीं॥ ७४७॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर आदर देना चाहिये॥ ७४८॥

× × ×

साधनमें विशेष आदरबुद्धि होनेसे साधन तेज होता है। साधनको जितना आदर देना चाहिये, उतना आदर न देनेसे ही साधनमें शिथिलता आती है और सफलता भी प्राप्त नहीं होती॥ ७४९॥

× × ×

भगवान्‌की ओर ले जानेवाले सब साधन 'स्वधर्म' हैं और संसारकी ओर ले जानेवाले सब कर्म 'परधर्म' हैं॥ ७५०॥

× × ×

जो दूसरेको दुःख देता है, उसका भजनमें मन नहीं लगता॥ ७५१॥

× × ×

जैसी परिस्थिति आये, उसीमें साधन करना है। अनुकूलता देखोगे तो साधन नहीं होगा॥ ७५२॥

× × ×

सम्पूर्ण साधनोंकी सार बात है—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना और भगवान्‌से अपना सम्बन्ध पहचानना॥ ७५३॥

× × ×

संसारसे उपरति और भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही सब साधन हैं॥ ७५४॥

× × ×

कितनी ही ऊँची अवस्था हो जाय, पर अपने साधनमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये॥ ७५५॥

× × ×

जो परिस्थिति सामने आ जाय, उसीमें प्रसन्न रहना 'भजन' है॥ ७५६॥

× × ×

भगवान्‌का भजन करते समय संसारको याद नहीं करना चाहिये और संसारका काम करते समय भगवान्‌को भूलना नहीं चाहिये॥ ७५७॥

× × ×

अपने लिये जप, तप, ध्यान आदि करना असुरपना है और दूसरोंके हितके लिये जप, तप, ध्यान आदि करना मनुष्यपना है॥ ७५८॥

× × ×

जैसे व्यापार वह बढ़िया होता है, जिसमें ज्यादा पैसे मिलें, ऐसे ही साधन वह बढ़िया होता है, जिसमें मन ज्यादा भगवान्‌में लगे॥ ७५९ ॥

× × ×

जो साधन सुगम दीखे, उसको करना शुरू कर दें तो जो कठिन दीखता है, वह सुगम हो जायगा और जो समझमें नहीं आता, वह समझमें आने लग जायगा॥ ७६० ॥

× × ×

करणकी सहायता भले ही हो, पर करणकी अपेक्षा न हो—यह करणनिरपेक्ष साधन है॥ ७६१ ॥

× × ×

जो बचपन और जवानीमें भजन-साधन नहीं करते, वे प्रायः बुढ़ापेमें भी भजन-साधन नहीं कर सकते॥ ७६२॥

× × ×

साधन नित्यकर्मकी तरह किसी एक निश्चित समयमें नहीं होता, प्रत्युत निरन्तर होता है॥ ७६३ ॥

× × ×

मैं शरीर नहीं हूँ, प्रत्युत शरीरी (शरीरवाला) हूँ—ऐसा ठीक समझमें आ जाय तो सभी साधन सुगम हो जायँगे॥ ७६४॥

× × ×

असली साधन वह होता है जो निरन्तर (प्रत्येक घण्टे, प्रत्येक मिनट) होता है। निरन्तर साधन हुए बिना इस जन्ममें सिद्धि नहीं हो सकती॥ ७६५ ॥

× × ×

यदि भगवान्‌की याद स्वतः नहीं आती, उनको याद करना पड़ता है तो समझें कि अभी साधन शुरू हुआ ही नहीं!॥ ७६६ ॥

× × ×

संसारसे सम्बन्ध रखते हुए कितना ही साधन करें, वर्तमानमें सिद्धि नहीं होगी॥ ७६७॥

× × ×

लगन होनेपर साधन स्वतः होता है और लगन न होनेपर साधन करना पड़ता है। जो स्वतः होता है, वह असली होता है और जो करना पड़ता है, वह नकली होता है॥ ७६८ ॥

× × ×

काम-धन्धा करते समय भगवान्‌का विस्मरण तभी होता है, जब साधक काम-धन्धेको अपना तथा अपने लिये मान लेता है॥ ७६९ ॥

× × ×

वास्तवमें साधन क्रिया नहीं है। क्रिया और पदार्थ तो असाधनमें मुख्य होते हैं। साधनमें भाव और विवेक मुख्य हैं॥ ७७० ॥

× × ×

सभी साधन कल्याण करनेवाले हैं, पर जिस साधनमें हमारी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता हो, वही साधन हमारे लिये श्रेष्ठ है॥ ७७१ ॥

****

सुखभोग और संग्रह

लोगोंकी सांसारिक भोग और संग्रहमें ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों समाजमें अधर्म बढ़ता है और ज्यों-ज्यों अधर्म बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों समाजमें पापाचरण, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं॥ ७७२॥

× × ×

किसी भी भोगको भोगें, अन्तमें उस भोगसे अरुचि अवश्य होती है—यह नियम है। परन्तु मनुष्य भूल यह करता है कि वह उस अरुचिको महत्त्व देकर उसको स्थायी नहीं बनाता॥ ७७३॥

× × ×

भोगी व्यक्ति दु:खोंसे नहीं बच सकता; क्योंकि भोग जड़ताके सम्बन्धसे होता है और जड़ताका सम्बन्ध ही जन्म-मरणरूप महान् दु:खका कारण है॥ ७७४॥

× × ×

****

साधारण मनुष्यको जिन भोगोंमें सुख प्रतीत होता है, उन भोगोंको विवेकशील पुरुष दु:खरूप ही समझता है। इसलिये वह उन भोगोंमें रमण नहीं करता, उनके अधीन नहीं होता॥ ७७५॥

× × ×

जबतक सांसारिक सुख लेनेकी वृत्ति नहीं मिटेगी, तबतक कितना ही पढ़-लिख लें, कितने ही चतुर और समझदार बन जायँ, कितनी ही योग्यताका सम्पादन कर लें, कितने ही व्याख्यानदाता बन जायँ, कितनी ही पुस्तकें लिख लें, पर परमशान्ति नहीं मिलेगी॥ ७७६॥

× × ×

सांसारिक पदार्थोंके संयोगसे होनेवाला सुख हमारा नहीं है तथा हमारे लिये भी नहीं है; क्योंकि हम तो सदा रहनेवाले हैं और सुख मिटनेवाला है॥ ७७७॥

× × ×

लोगोंमें भोग और संग्रहकी वृत्ति अधिक होनेसे ही अकाल पड़ता है॥ ७७८॥

× × ×

हमारे पास जो भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि है, वह सब समाजकी ही है, अपनी नहीं। हमसे भूल यह होती है कि उस वस्तु आदिको अपनी मानकर उससे सुख भोगने लगते हैं। इससे हमें विवश होकर दु:ख भोगना पड़ता है॥ ७७९॥

× × ×

जहाँ लौकिक सुख मिलता हुआ दीखे, वहाँ समझ लो कि कोई खतरा है!॥ ७८०॥

× × ×

वस्तु, व्यक्तिसे सुख लेना महान् जड़ता है॥ ७८१॥

× × ×

सांसारिक भोगोंका सुख आरम्भमें तो मीठा लगता है, पर परिणाममें वह विषके समान सर्वथा अनर्थकारी होता है॥ ७८२॥

× × ×

मनुष्य मिली हुई वस्तुओंका भोग भी कर सकता है और उनसे दूसरोंकी सेवा भी कर सकता है। भोग करनेसे पतन होता है और सेवा करनेसे उत्थान होता है॥ ७८३॥

× × ×

अपनी इच्छासे सुख भोगनेवालेको अपनी इच्छाके विरुद्ध दुःख भोगना ही पड़ेगा॥ ७८४॥

× × ×

वस्तुको दूसरेके हितमें लगाना उसका सदुपयोग है और अपने भोगमें लगाना उसका दुरुपयोग है॥ ७८५॥

× × ×

जो सुखबुद्धिसे किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदिका भोग करता है, उसमें भगवत्प्राप्तिकी व्याकुलता जाग्रत् नहीं होती॥ ७८६॥

× × ×

जबतक मनुष्य संसारसे सुख लेता रहता है, तबतक वह दुःखसे नहीं छूट सकता, चाहे वह साधु, गृहस्थ आदि कोई क्यों न हो!॥ ७८७॥

× × ×

सांसारिक सुख मिले अथवा न मिले, जिसकी सांसारिक सुखमें रुचि है, वह पतनकी तरफ जायगा ही॥ ७८८॥

× × ×

मनुष्य जितना सुख भोगेगा, उतना ही वह सुखका दास बनेगा और जितना सुखका दास बनेगा, उतना ही वह दुःख भोगेगा। इसलिये सुख-भोगका त्याग अत्यन्त आवश्यक है॥ ७८९॥

× × ×

जिसकी बुद्धिमें जड़ता (सांसारिक भोग और संग्रह)का ही महत्त्व है, ऐसा मनुष्य कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। परन्तु जिसकी बुद्धिमें जड़ताका महत्त्व नहीं है और भगवत्प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है, ऐसा मनुष्य विद्वान् न भी हो तो भी उसका उत्थान अवश्यम्भावी है॥ ७९०॥

× × ×

हम जिससे सुख लेगें, उसका दास होना ही पड़ेगा। सुखका भोगी कभी स्वाधीन नहीं हो सकता॥ ७९१॥

× × ×

हमें सुखका भोगी नहीं बनना है, प्रत्युत सुखका दाता बनना है॥ ७९२॥

× × ×

चाहे योग हो, चाहे भोग हो, जिससे भी मनुष्य सुख लेना चाहता है, वहीं फँस जाता है॥ ७९३॥

सुख और दुःख

सांसारिक वस्तुओंके लिये होनेवाले दुःखकी परवाह भगवान् नहीं करते और भगवान्के लिये होनेवाले (सच्चे) दुःखको भगवान् सह नहीं सकते॥ ७९४॥

× × ×

भगवान्के मंगलमय विधानसे जो अनुकूल (सुखदायी) या प्रतिकूल (दुःखदायी) परिस्थिति आती है, वह हमारे हितके लिये ही होती है॥ ७९५॥

× × ×

सुखी-दुःखी होना प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत मूर्खताका फल है। वह मूर्खता सत्संगसे मिटती है॥ ७९६॥

× × ×

साधकको सदा लोभी व्यक्तिकी तरह दूसरेके सुखके लिये लालायित रहना चाहिये। ऐसा होनेसे वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जायगा॥ ७९७॥

× × ×

अपने सुखके लिये उद्योग करना दुःखको निमन्त्रण देना है और दूसरोंके सुखके लिये उद्योग करना आनन्दको निमन्त्रण देना है॥ ७९८॥

× × ×

सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति आना तो कर्मोंका फल है,

पर उससे सुखी-दु:खी होना अपनी अज्ञता, मूर्खताका फल है। कर्मोंका फल मिटाना तो हाथकी बात नहीं है, पर मूर्खता मिटाना बिलकुल हाथकी बात है॥ ७९९॥

× × ×

जो सुखदायी परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करता है तथा दु:खदायी परिस्थितिमें दु:खी नहीं होता अर्थात् सुखकी इच्छा नहीं करता, वह संसार-बन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है॥ ८००॥

× × ×

प्रकृतिजन्य सुखकी आसक्ति होनेपर सुख-दु:खकी परम्पराका कोई अन्त नहीं आता॥ ८०१॥

× × ×

वास्तवमें अनुकूलतासे सुखी होना ही प्रतिकूलतामें दु:खी होनेका कारण है; क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगनेवाला कभी दु:खसे बच ही नहीं सकता॥ ८०२॥

× × ×

सुखकी इच्छाका त्याग करानेके लिये ही दु:ख आता है॥ ८०३॥

× × ×

जो दूसरोंसे (अपने लिये) सुख चाहता है, उसको भयंकर दु:ख भोगना ही पड़ेगा॥ ८०४॥

× × ×

दु:खका कारण हम खुद ही होते हैं, दूसरा कोई नहीं। जबतक हम दूसरेको दु:खका कारण मानेंगे, तबतक हमारा दु:ख मिटेगा नहीं॥ ८०५॥

× × ×

अपने सुखसे सुखी होनेवालेको दु:खी होना ही पड़ेगा और दूसरेके सुखसे सुखी होनेवालेका दु:ख सदाके लिये मिट जायगा॥ ८०६॥

× × ×

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना ही सम्पूर्ण दु:खोंका कारण है॥ ८०७॥

× × ×

जबतक संसारका सुख लेते रहेंगे, तबतक प्रकृतिका सम्बन्ध छूटेगा नहीं॥ ८०८॥

वस्तुके अभावसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत वस्तु मिल जाय—इस इच्छासे दुःख होता है॥ ८०९॥

× × ×

वस्तुओंसे दुःख नहीं मिटता; क्योंकि दुःख विचारके अभावसे पैदा होता है, वस्तुके अभावसे नहीं। इसलिये विचारसे दुःख मिट जाता है॥ ८१०॥

× × ×

सुख निर्विकल्पतामें है, भोगोंमें नहीं॥ ८११॥

× × ×

जहाँ भी संसारका सुख दीखे, वहाँ विवेक-विचारपूर्वक देखें तो वहीं दुःख दीखने लग जायगा; क्योंकि संसार दुःखरूप ही है—'**दुःखालयम्**' (गीता ८। १५)॥ ८१२॥

× × ×

सुनना चाहते हैं, इसीलिये न सुननेका दुःख होता है। देखना चाहते हैं, इसीलिये न दीखनेका दुःख होता है। बल चाहते हैं; इसीलिये निर्बलताका दुःख होता है। जवानी चाहते हैं, इसीलिये वृद्धावस्थाका दुःख होता है। तात्पर्य है कि वस्तुके अभावसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत उसकी चाहनासे, उसके अभावका अनुभव करनेसे दुःख होता है॥ ८१३॥

× × ×

संसारसे सम्बन्ध जोड़ें तो दुःखोंका अन्त नहीं है और भगवान्से सम्बन्ध जोड़ें तो सुखोंका (आनन्दका) अन्त नहीं है॥ ८१४॥

× × ×

सुख पाना चाहते हो तो दूसरोंको सुख दो। जैसा बीज बोओगे, वैसी ही खेती होगी॥ ८१५॥

× × ×

जहाँ लौकिक सुख मिलता हुआ दीखे, वहाँ समझ लें कि कोई खतरा है!॥ ८१६॥

× × ×

सब कुछ परमात्मा ही हैं—'वासुदेवः सर्वम्', पर वे भोग्य नहीं

हैं। जो उन्हें भोग्य मानकर सुख लेना चाहता है, वह दुःख पाता रहता है॥ ८१७॥

× × ×

गृहस्थमें अगर सबका यह भाव रहे कि मेरेको सुख कैसे मिले तो सब दुःखी हो जायँगे और यह भाव रहे कि दूसरेको सुख कैसे मिले तो सब सुखी हो जायँगे॥ ८१८॥

× × ×

अगर दुःख नहीं चाहते हो तो सांसारिक सुख मत चाहो॥ ८१९॥

× × ×

दूसरे सुखी हो जायँ—यह भाव रहेगा तो सभी सुखी हो जायँगे और खुद भी सुखी हो जायगा। मैं सुखी हो जाऊँ—यह भाव रहेगा तो सभी दुःखी हो जायँगे और खुद भी दुःखी हो जायगा॥ ८२०॥

× × ×

सांसारिक सुख क्यों नहीं टिकता? क्योंकि वह हमारा और हमारे लिये है ही नहीं॥ ८२१॥

× × ×

सुख अच्छा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। दुःख बुरा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा होता है॥ ८२२॥

× × ×

दुःखदायी परिस्थिति भगवान्‌के विधानसे हमारे कल्याणके लिये आती है। अतः उसको मिटानेकी चेष्टा न करके शान्तिपूर्वक सह लेना चाहिये॥ ८२३॥

× × ×

जो दूसरोंका अनिष्ट करता है, वह वास्तवमें अपना ही महान् अनिष्ट करता है और जो दूसरोंको सुख पहुँचाता है, वह वास्तवमें अपनेको ही सुखी बनाता है॥ ८२४॥

× × ×

दुःख आनेपर प्रसन्न होना बहुत ऊँचा साधन है॥ ८२५॥

× × ×

परिस्थितिसे रहित होनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, पर उसका भोग न करनेमें अर्थात् सुखी-दुःखी न होनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र, समर्थ और सबल है॥ ८२६ ॥

× × ×

जबतक अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर पड़ता है, तबतक कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कोई भी योग सिद्ध नहीं हुआ॥ ८२७ ॥

× × ×

संसार कभी किसीको दुःख नहीं देता, प्रत्युत उससे माना हुआ सम्बन्ध ही दुःख देता है॥ ८२८ ॥

× × ×

सांसारिक सुखसे कभी सांसारिक दुःख नहीं मिट सकता—यह नियम है॥ ८२९ ॥

× × ×

संसारकी प्राप्ति होनेपर तृष्णा बढ़ती है और दुःख होता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर प्रेम बढ़ता है और आनन्द होता है॥ ८३० ॥

× × ×

दुःख भोगनेवाला तो आगे सुखी हो सकता है, पर दुःख देनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता॥ ८३१ ॥

× × ×

जो सुख लेनेकी इच्छासे किसीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वह जीता है तो आनन्दसे जीता है और मरता है तो आनन्दसे मरता है। परन्तु लेनेकी इच्छासे सम्बन्ध जोड़नेवाला जीते हुए भी दुःख पाता है और मरते हुए भी दुःख पाता है॥ ८३२ ॥

× × ×

जैसे मनुष्यको जलकी प्यास दुःख देती है, जल दुःख नहीं देता, ऐसे ही संसारकी सुखासक्ति ही दुःख देती है, संसार दुःख नहीं देता॥ ८३३ ॥

सेवा (परहित)

दूसरोंका अहित करनेसे अपना अहित और दूसरोंका हित करनेसे अपना हित होता है-१०९ नियम है॥ ८३४॥

× × ×

संसारका सम्बन्ध 'ऋणानुबन्ध' है। इस ऋणानुबन्धसे मुक्त होनेका उपाय है—सबकी सेवा करना और किसीसे कुछ न चाहना॥ ८३५॥

× × ×

साधक परमात्माके सगुण या निर्गुण किसी भी रूपकी प्राप्ति चाहता हो, उसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होना अत्यन्त आवश्यक है॥ ८३६॥

× × ×

साधकको संसारकी सेवाके लिये ही संसारमें रहना है, अपने सुखके लिये नहीं॥ ८३७॥

× × ×

सच्चे हृदयसे भगवान्‌की सेवामें लगे हुए साधकके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा होती है; क्योंकि सबके मूल भगवान् ही हैं॥ ८३८॥

× × ×

साधकको अपने ऊपर आये बड़े-से-बड़े दुःखको भी सह लेना चाहिये और दूसरेपर आये छोटे-से-छोटे दुःखको भी सहन नहीं करना चाहिये॥ ८३९॥

× × ×

दूसरोंको सुख पहुँचानेकी इच्छासे अपनी सुखेच्छा मिटती है॥ ८४०॥

× × ×

किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो—यह भाव महान् भजन है॥ ८४१॥

× × ×

जैसे मनुष्य आफिस जाता है तो वहाँ केवल आफिसका ही काम करता है, ऐसे ही इस संसारमें आकर केवल संसारके लिये ही काम करना है, अपने लिये नहीं। फिर सुगमतापूर्वक संसारसे सम्बन्ध-

विच्छेद और नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जायगा॥ ८४२॥

× × ×

समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य—इन चारोंको अपने लिये मानना इनका दुरुपयोग है और दूसरोंके हितमें लगाना इनका सदुपयोग है॥ ८४३॥

× × ×

संयोगजन्य सुखके मिलनेसे जो प्रसन्नता होती है, वही प्रसन्नता अगर दूसरोंको सुख पहुँचानेमें होने लग जाय तो फिर कल्याणमें सन्देह नहीं है॥ ८४४॥

× × ×

हमें जो सुख-सुविधा मिली है, वह संसारकी सेवा करनेके लिये ही मिली है॥ ८४५॥

× × ×

मनुष्यशरीर अपने सुख-भोगके लिये नहीं मिला है, प्रत्युत सेवा करनेके लिये, दूसरोंको सुख देनेके लिये मिला है॥ ८४६॥

× × ×

मनुष्यको भगवान्‌ने इतना बड़ा अधिकार दिया है कि वह जीव-जन्तुओंकी, मनुष्योंकी, ऋषि-मुनियोंकी, सन्त-महात्माओंकी, देवताओंकी, पितरोंकी, भूत-प्रेतोंकी, सबकी सेवा कर सकता है। और तो क्या, वह साक्षात् भगवान्‌की भी सेवा कर सकता है!॥ ८४७॥

× × ×

संसारकी सेवा किये बिना कर्म करनेका राग निवृत्त नहीं होता॥ ८४८॥

× × ×

जैसे किसी कम्पनीका काम अच्छा करनेसे उसका मालिक प्रसन्न हो जाता है, ऐसे ही संसारकी सेवा करनेसे उसके मालिक भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं॥ ८४९॥

× × ×

जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही है,

ऐसे ही मनुष्यके पास जो भी सामग्री है, वह उसके अपने लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है॥ ८५०॥

× × ×

जैसे भोगी पुरुषकी भोगोंमें, मोही पुरुषकी कुटुम्बमें और लोभी पुरुषकी धनमें रति होती है, ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुषकी प्राणिमात्रके हितमें रति होती है॥ ८५१॥

× × ×

व्यक्तियोंकी सेवा करनी है और वस्तुओंका सदुपयोग करना है॥ ८५२॥

× × ×

केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी ओर हो जाता है और साधक कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ८५३॥

× × ×

जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव करना चाहते हैं, उनके लिये प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी आवश्यक है॥ ८५४॥

× × ×

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे किये जानेवाले तीर्थ, व्रत, दान, तप, चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि समस्त शुभ कर्म सकामभावसे अर्थात् अपने लिये करनेपर 'परधर्म' हो जाते हैं और निष्कामभावसे अर्थात् दूसरोंके लिये करनेपर 'स्वधर्म' हो जाते हैं॥ ८५५॥

× × ×

वस्तुका सबसे बढ़िया उपयोग है—उसको दूसरेके हितमें लगाना॥ ८५६॥

× × ×

श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो दूसरोंके हितमें लगा हुआ है॥ ८५७॥

× × ×

अपना जीवन अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके हितके लिये है॥ ८५८॥

दूसरेके दुःखसे दुःखी होना सेवाका मूल है॥ ८५९॥

× × ×

भलाई करनेसे समाजकी सेवा होती है। बुराई-रहित होनेसे विश्वमात्रकी सेवा होती है। कामना-रहित होनेसे अपनी सेवा होती है। भगवान्‌से प्रेम (अपनापन) करनेसे भगवान्‌की सेवा होती है॥ ८६०॥

× × ×

जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌की तरफ चलता है, उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक दूसरोंका हित होता है॥ ८६१॥

× × ×

संसारसे मिली हुई वस्तु केवल संसारकी सेवा करनेके लिये है और किसी कामकी नहीं॥ ८६२॥

× × ×

कोई वस्तु हमें अच्छी लगती है तो वह भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सेवा करनेके लिये है॥ ८६३॥

× × ×

मनुष्यको वह काम करना चाहिये, जिससे उसका भी हित हो और दुनियाका भी हित हो, अभी भी हित हो और परिणाममें भी हित हो॥ ८६४॥

× × ×

शरीरकी सेवा करोगे तो संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा और (भगवान्‌के लिये) संसारकी सेवा करोगे तो भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा॥ ८६५॥

× × ×

जिसके हृदयमें सबके हितका भाव रहता है, वह भगवान्‌के हृदयमें स्थान पाता है॥ ८६६॥

× × ×

परमार्थ नहीं बिगड़ा है, प्रत्युत व्यवहार बिगड़ा है; अतः व्यवहारको ठीक करना है। व्यवहार ठीक होगा—स्वार्थ और अभिमानका

त्याग करके दूसरोंकी सेवा करनेसे॥ ८६७॥

× × ×

दूसरोंके हितका भाव रखनेवाला जहाँ भी रहेगा, वहीं भगवान्‌को प्राप्त कर लेगा॥ ८६८॥

× × ×

भगवान्‌के सम्मुख होनेके लिये संसारसे विमुख होना है और संसारसे विमुख होनेके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी है॥ ८६९॥

× × ×

सेवाके लिये वस्तुकी कामना करना गलती है। जो वस्तु मिली हुई है, उसीसे सेवा करनेका अधिकार है॥ ८७०॥

× × ×

संसारमें दूसरोंके लिये जैसा करोगे, परिणाममें वैसा ही अपने लिये हो जायगा। इसलिये दूसरोंके लिये सदा अच्छा ही करो॥ ८७१॥

× × ×

जो अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितमें लगा है, उसका जीना ही वास्तवमें जीना है॥ ८७२॥

× × ×

जो सेवा लेना चाहते हैं, उनके लिये तो वर्तमान समय बहुत खराब है, पर जो सेवा करना चाहते हैं, उनके लिये वर्तमान समय बहुत बढ़िया है॥ ८७३॥

× × ×

हमारी किसी भी क्रियासे किसीको किञ्चिन्मात्र भी दु:ख न हो—यह भाव 'सेवा' है॥ ८७४॥

× × ×

नि:स्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवा करनेसे व्यवहार भी बढ़िया होता है और ममता भी टूट जाती है॥ ८७५॥

× × ×

घरवालोंकी सेवा करनेसे मोह होता ही नहीं। मोह होता है कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छासे॥ ८७६॥

× × ×

भगवान्‌को प्राप्त करके मनुष्य संसारका जितना उपकार कर सकता है, उतना किसी दान-पुण्यसे नहीं कर सकता॥ ८७७॥

× × ×

जो हमसे द्वेष रखता है, उसकी सेवा करनेसे अधिक लाभ होता है; क्योंकि वहाँ सेवाका सुखभोग नहीं होता॥ ८७८॥

× × ×

कभी सेवाका मौका मिल जाय तो आनन्द मनाना चाहिये कि भाग्य खुल गया!॥ ८७९॥

× × ×

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसे अलग अपना हित माननेसे अहम् बना रहता है, जो साधकके लिये आगे चलकर बाधक होता है। अत: साधकको प्रत्येक क्रिया संसारके हितके लिये ही करनी चाहिये॥ ८८०॥

स्वभाव

स्वार्थ और अभिमान—इन दो चीजोंसे स्वभाव बिगड़ता है। अतः साधकको स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये॥ ८८१ ॥

× × ×

भजन, ध्यान आदि साधन करनेपर भी वर्तमानमें प्रत्यक्ष लाभ न दीखनेका कारण है—स्वभावका शुद्ध न होना। इसलिये प्रत्येक साधकको अपने स्वभावका सुधार करनेपर विशेष ध्यान देना चाहिये॥ ८८२ ॥

× × ×

अपने स्वभावको शुद्ध बनानेके समान कोई उन्नति नहीं है॥ ८८३ ॥

× × ×

जिसका स्वभाव सुधर जायगा, उसके लिये दुनिया सुधर जायगी॥ ८८४ ॥

× × ×

जिसका स्वभाव दूसरोंको दुःख देनेका है, वह दूसरोंको भी दुःख देगा और स्वयं भी दुःख पायेगा। परन्तु जिसका स्वभाव दूसरोंको सुख देनेका है, वह दूसरोंको भी सुख देगा और स्वयं भी सुख पायेगा॥ ८८५ ॥

× × ×

अपने स्वभावका सुधार मनुष्य खुद ही कर सकता है। दूसरा केवल उसको उपाय बता सकता है, उसकी सहायता कर सकता है॥ ८८६ ॥

× × ×

हमारा स्वभाव तब सुधरेगा, जब हम अपने प्रति न्याय करेंगे अर्थात् अपनेपर शासन करेंगे और दूसरेको क्षमा करेंगे॥ ८८७ ॥

× × ×

सत्संग, सच्छास्त्र और सद्विचार—इन तीनोंसे स्वभावमें सुधार होता है॥ ८८८ ॥

× × ×

जिसका स्वभाव शुद्ध बन जाता है, वह अधोगतिमें नहीं जा सकता॥ ८८९ ॥

× × ×

'फिर करेंगे'—यह महान् पतन करनेवाली बात है। ऐसे स्वभाववाले व्यक्तिका कल्याण होना कठिन है॥ ८९० ॥

स्वरूप

साधकको चाहिये कि वह बदलनेवाली अवस्थाओंको न देखे, प्रत्युत कभी न बदलनेवाले स्वरूप (स्वयं)को देखे॥ ८९१॥

× × ×

स्वरूप निष्काम है। सकामभाव प्रकृतिके सम्बन्धसे आता है॥ ८९२॥

× × ×

शरीरादि सब पदार्थ बदल रहे हैं—ऐसा जिसको अनुभव है, वह स्वयं कभी नहीं बदलता। इसलिये स्वयंके बदलनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता॥ ८९३॥

× × ×

जीव स्वरूपसे अकर्ता तथा सुख-दु:खसे रहित है। केवल अपने प्रमादके कारण वह कर्ता बन जाता है और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दु:खी होता है॥ ८९४॥

× × ×

क्रियाओं और पदार्थोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही अपने स्वरूपका साक्षात् अनुभव नहीं होता॥ ८९५॥

× × ×

हमारा शरीर तो संसारमें है, पर हम स्वयं परमात्मामें ही हैं॥ ८९६॥

× × ×

हमारा स्वरूप सत्ता है, अहम् नहीं। अत: अहम्‌को छोड़कर सत्तामें अपनी स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव करो॥ ८९७॥

× × ×

हमारा स्वरूप खुदका है, पराया नहीं है; अगर उसे जानना कठिन है तो फिर सुगम क्या होगा?॥ ८९८॥

× × ×

हमारा अस्तित्व (होनापन) वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है॥ ८९९॥

× × ×

हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें कुछ भी मिलाना अज्ञान है, बन्धन है॥ ९००॥

× × ×

हमारी सत्ता (स्वरूप) शरीरके अधीन नहीं है, प्रत्युत शरीरकी सत्ता हमारे अधीन है अर्थात् हम शरीरके बिना रह सकते हैं, पर शरीर हमारे बिना नहीं रह सकता॥ ९०१॥

प्रकीर्ण

साधकके भीतर हर समय यह भाव रहना चाहिये कि मैं यहाँका निवासी नहीं हूँ, प्रत्युत (भगवान्का ही अंश होनेसे) भगवद्धामका निवासी हूँ॥ १०२॥

× × ×

अपनी कमाईमें किसीके हकका एक कण भी न आ जाय—इस बातकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये॥ १०३॥

× × ×

जब चेतन जड़से 'तादात्म्य' कर लेता है, तब परिच्छिन्नता अर्थात् अहंता उत्पन्न होती है। अहंतासे 'ममता' उत्पन्न होती है, जिससे विकार पैदा होते हैं। ममतासे 'कामना' उत्पन्न होती है, जिससे अशान्ति पैदा होती है॥ १०४॥

× × ×

साधक ऐसा माने कि मैं जो कुछ करता हूँ, वह भगवान्की पूजा है और जो कुछ हो रहा है, वह भगवान्की लीला है॥ १०५॥

× × ×

वर्तमानमें मनुष्य पशुसे भी नीचे गिरता चला जा रहा है; क्योंकि पशु तो अपने निर्वाहकी वस्तु ही लेता है, दूसरोंका हक नहीं मारता, पर मनुष्य दूसरोंका भी हक मारकर संग्रह करता है॥ १०६॥

× × ×

शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध तो परमात्माकी तरफसे है, पर तृष्णाकी पूर्तिके लिये कोई प्रबन्ध नहीं॥ १०७॥

× × ×

साधक जब अपने दोषोंको दोषरूपसे देखकर उनके दुःखसे दुःखी हो जाता है, उनका रहना उसे असह्य हो जाता है, तो फिर उसके दोष ठहर नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा उन दोषोंका शीघ्र ही नाश कर देती है॥ १०८॥

× × ×

नेत्रोंसे ज्यादा याद मनको रहती है, मनसे ज्यादा याद बुद्धिको रहती है और बुद्धिसे ज्यादा याद स्वयंको रहती है। स्वयं जिस बातको पकड़ लेता है, वह बात हरदम याद रहती है॥ १०९॥

× × ×

अपने-अपने स्थान या क्षेत्रमें जो पुरुष मुख्य कहलाते हैं, उन अध्यापक, व्याख्यानदाता, आचार्य, गुरु, नेता, शासक, महन्त, कथावाचक, पुजारी आदि सभीको अपने आचरणोंमें विशेष सावधानी रखनेकी अत्यधिक आवश्यकता है, जिससे दूसरे लोगोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े॥ ११०॥

× × ×

करना चाहते हो तो सेवा करो, जानना चाहते हो तो अपने-आपको जानो और मानना चाहते हो तो प्रभुको मानो। तीनोंका परिणाम एक ही होगा॥ १११॥

× × ×

जैसे कलम बढ़िया होनेसे लिखाई तो बढ़िया हो सकती है, पर उससे लेखक बढ़िया नहीं हो जाता, ऐसे ही करण (अन्तःकरण) शुद्ध होनेसे क्रिया तो शुद्ध हो सकती है, पर उससे कर्ता शुद्ध नहीं हो जाता॥ ११२॥

× × ×

लोग हमें जितना अच्छा समझते हैं, उतने अच्छे हम नहीं होते और लोग हमें जितना बुरा समझते हैं, उससे हम अधिक बुरे होते हैं—इस वास्तविकताको समझकर 'लोग हमें अच्छा समझें'—इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये और अपनी दृष्टिमें अच्छे-से-अच्छा बननेकी चेष्टा करनी चाहिये॥ ११३॥

× × ×

संयोगजन्य सुखकी लालसा जितनी घातक है, उतना सुख घातक नहीं है। शरीर बना रहे—यह भाव जितना घातक है, उतना शरीर घातक नहीं है। कुटुम्बका मोह जितना घातक है, उतना कुटुम्ब घातक नहीं है। रुपयोंका लोभ जितना घातक है, उतने रुपये घातक नहीं हैं॥ ११४॥

× × ×

जो दीखता है, उस संसारको अपना नहीं मानना है, प्रत्युत उसकी सेवा करनी है और जो नहीं दीखता, उस भगवान्‌को अपना मानना है तथा उसको याद करना है॥ ११५॥

× × ×

मिले हुए संसारका दुरुपयोग मत करो, जाने हुए तत्त्वका अनादर मत करो और माने हुए परमात्मामें सन्देह मत करो॥ ११६॥

× × ×

हमारे हृदयमें जड़ता (शरीर-संसार)का जितना आदर हुआ है, उतना ही परमात्माका अनादर हुआ है और वह अनादर ही हमारा पतन करेगा, हमारी अधोगति करेगा॥ ११७॥

× × ×

नाशवान् पदार्थोंकी महत्त्वबुद्धि मनुष्यको पददलित करती है और परमात्माकी महत्त्वबुद्धि उसको ऊँचा उठाती है॥ ११८॥

× × ×

जो जिस वस्तु, व्यक्ति आदिका दुरुपयोग करता है, उसको उससे वंचित होनेका दुःख भोगना ही पड़ता है॥ ११९॥

× × ×

जो अपना है, वह सदा ही अपना है और जो किसी भी समय अपना नहीं है, वह कभी भी अपना नहीं हो सकता॥ १२०॥

× × ×

जो सभीका होता है, वही हमारा होता है। जो किसी भी समय किसीका नहीं होता, वह हमारा हो ही नहीं सकता॥ १२१॥

× × ×

साधकका जिस-किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें खिंचाव हो, उसमें

वह भगवान्‌का ही चिन्तन करे॥ १२२॥

× × ×

सब जगह समरूप परमात्माको देखना समदृष्टि है और प्रकृति तथा उसके कार्य (शरीर-संसार)को देखना विषमदृष्टि है॥ १२३॥

× × ×

मनुष्यको अपना संकल्प नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌के संकल्पमें अपना संकल्प मिला देना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के विधानमें परम प्रसन्न रहना चाहिये॥ १२४॥

× × ×

हर समय यह सावधानी रहनी चाहिये कि मेरे द्वारा किसीको कोई कष्ट तो नहीं पहुँच रहा है, किसीको कोई हानि तो नहीं हो रही है?॥ १२५॥

× × ×

यह नियम ले लें कि कोई हमारे मनकी बात पूरी न करे तो हम नाराज नहीं होंगे॥ १२६॥

× × ×

संसारका मालिक परमात्मा है और शरीरका मालिक मैं हूँ— ऐसा मानना गलती है। जो संसारका मालिक है, वही शरीरका भी मालिक है॥ १२७॥

× × ×

जैसे बालक हर अवस्थामें माँको ही पुकारता है, ऐसे ही हर अवस्थामें भगवान्‌को ही पुकारो॥ १२८॥

× × ×

न्यायपूर्वक काम करनेवालेके चित्तमें शान्ति और अन्यायपूर्वक काम करनेवालेके चित्तमें अशान्ति रहती है॥ १२९॥

× × ×

जिससे अपना और दूसरोंका, वर्तमानमें और परिणाममें अहित होता हो, वह सब असत्-कर्म है॥ १३०॥

× × ×

संसारमें जो वस्तु आपके हक (अधिकार) की और प्राप्त है, वह

भी सदा आपके साथ नहीं रहेगी, फिर जो वस्तु बिना हककी और अप्राप्त है, उसकी आशा करनेसे क्या लाभ?॥ ९३१॥

× × ×

यदि जानना ही हो तो अविनाशीको जानो, विनाशीको जाननेसे क्या लाभ?॥ ९३२॥

× × ×

विचार करें कि जिसमें हमारा हित है और जिसको हम कर सकते हैं; उसको हम करते हैं क्या?॥ ९३३॥

× × ×

जानेवालेको जानेवाला समझना और रहनेवालेको रहनेवाला समझना—यही यथार्थ समझ है॥ ९३४॥

× × ×

जिसको पीछे सुलटा न कर सकें, ऐसा उलटा काम कभी नहीं करना चाहिये॥ ९३५॥

× × ×

प्रत्येक परिस्थिति भगवान्‌की लीला (खेल) है, उसे देख-देखकर मस्त होते रहो!॥ ९३६॥

× × ×

द्वैत और अद्वैत केवल मान्यता है। तत्त्वमें न द्वैत है, न अद्वैत॥ ९३७॥

× × ×

यदि हमने कोई अपराध नहीं किया है, हमारा कृत्य ठीक है तो फिर भय नहीं होना चाहिये। अगर भय होता है तो कुछ-न-कुछ, कहीं-न-कहीं हमारी गलती है अथवा अपनी निर्दोषतापर हमारा दृढ़ विश्वास नहीं है॥ ९३८॥

× × ×

प्रत्येक कार्यके आरम्भमें यह विचार करना चाहिये कि हम यह कार्य क्यों कर रहे हैं?॥ ९३९॥

× × ×

ठीक-बेठीक हमारी दृष्टिमें होता है। भगवान्‌की दृष्टिमें सब ठीक-ही-ठीक होता है, बेठीक होता ही नहीं॥ ९४०॥

× × ×

दूसरे हमारेमें गुण देखते हैं तो यह उनकी सज्जनता और उदारता है, पर उन गुणोंको अपना मान लेना उनकी सज्जनता और उदारताका दुरुपयोग है॥ ९४१॥

× × ×

विद्या प्राप्त करनेका सबसे बढ़िया उपाय है—गुरुकी आज्ञाका पालन करना, उनकी प्रसन्नता लेना। उनकी प्रसन्नतासे जो विद्या आती है, वह अपने उद्योगसे नहीं आती॥ ९४२॥

× × ×

भगवान्‌को पुकारनेसे जो काम होता है, वह विवेक-विचारसे नहीं होता॥ ९४३॥

× × ×

भगवान्‌के न मिलनेका दुःख हजारों सांसारिक सुखोंसे बढ़कर है॥ ९४४॥

× × ×

जैसे वैद्य जो दवा दे, उसीमें हमारा हित है, ऐसे ही भगवान् जो विधान करें, उसीमें हमारा परम हित है॥ ९४५॥

× × ×

जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी काम नहीं आता, ऐसे ही सीखा हुआ ज्ञान काम नहीं आता॥ ९४६॥

× × ×

'मैं ज्ञानी हूँ' और 'मैं अज्ञानी हूँ'—ये दोनों ही मान्यताएँ अज्ञानियोंकी हैं॥ ९४७॥

× × ×

चरित्रकी सुन्दरता ही असली सुन्दरता है॥ ९४८॥

× × ×

याद करो तो भगवान्‌को याद करो, काम करो तो सेवा करो॥ ९४९॥

× × ×

सच्ची बातको स्वीकार करना मनुष्यका धर्म है॥ ९५०॥

× × ×

एक-एक व्यक्ति खुद सुधर जाय तो समाज सुधर जायगा॥ ९५१॥

× × ×

अगर अपनी सन्तानसे सुख चाहते हो तो अपने माता-पिताको सुख पहुँचाओ, उनकी सेवा करो॥ ९५२॥

× × ×

किसीके अहितकी भावना करना अपने अहितको निमन्त्रण देना है॥ ९५३॥

× × ×

याद रखो, भगवान्‌का प्रत्येक विधान आपके परम हितके लिये है॥ ९५४॥

× × ×

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी अपनी विशेषता दीखती है, यह वास्तवमें पराधीनता है॥ ९५५॥

× × ×

अन्तमें अकेला ही जाना पड़ेगा, इसलिये पहलेसे ही अकेला हो जाय अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे असंग हो जाय, इनका आश्रय न ले॥ ९५६॥

× × ×

ग्रहण करनेयोग्य सर्वोपरि एक नियम है—भगवान्‌को याद रखना और त्याग करनेयोग्य सर्वोपरि एक नियम है—कामनाका त्याग करना॥ ९५७॥

× × ×

'सन्तोष' समाज-सुधारका मूल मन्त्र है॥ ९५८॥

× × ×

एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दूधर्मकी विशेषता है॥ ९५९॥

× × ×

असत्यका आश्रय लेनेवाला व्यक्ति हमारा नुकसान नहीं कर सकता॥ ९६०॥

× × ×

संसारमें भगवद्भक्तिके समान मूल्यवान् कोई चीज नहीं है॥ ९६१॥

× × ×

परिस्थितिको बदलनेका उद्योग निष्फल होता है और उसके सदुपयोगका उद्योग सफल होता है॥ ९६२॥

× × ×

मनुष्य जितनी अधिक आवश्यकता पैदा करता है, उतना ही वह पराधीन हो जाता है॥ ९६३॥

× × ×

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि परमात्माकी दी हुई चीज तो अच्छी लगती है, पर परमात्मा अच्छे नहीं लगते!॥ ९६४॥

× × ×

लोग हमें अच्छा मानें या न मानें, अच्छा जानें या न जानें, अच्छा कहें या न कहें, पर हमारे भाव अगर अच्छे हैं तो हमारे चित्तमें हर समय प्रसन्नता रहेगी और मरनेपर सद्गति होगी॥ ९६५॥

× × ×

अगर कोई खराब चिन्तन आ जाय तो सावधान हो जायँ कि यदि इस समय मृत्यु हो जाय तो क्या गति होगी? अगर सब समय प्रभुका स्मरण होता रहे तो मृत्यु कभी भी आ जाय, कोई चिन्ता नहीं है॥ ९६६॥

× × ×

व्यक्तिगत जीवन बिगड़नेसे पूरा समाज बिगड़ जाता है और व्यक्तिगत जीवन सुधरनेसे पूरा समाज सुधर जाता है; क्योंकि व्यक्तियोंसे ही समाज बनता है॥ ९६७॥

× × ×

भगवान्‌के वियोगसे होनेवाला दुःख (विरह) सांसारिक सुखसे भी बहुत अधिक आनन्द देनेवाला होता है॥ ९६८॥

× × ×

जिसको भगवान्, शास्त्र, गुरुजन और जगत्‌से भय लगता है, वह

वास्तवमें निर्भय हो जाता है॥ ९६९॥

× × ×

हमसे अलग वही होगा, जो सदासे ही अलग है और मिलेगा वही, जो सदासे ही मिला हुआ है॥ ९७०॥

× × ×

दूसरेकी प्रसन्नतासे मिली हुई वस्तु दूधके समान है, माँगकर ली हुई वस्तु पानीके समान है और दूसरेका दिल दुखाकर ली हुई वस्तु रक्तके समान है॥ ९७१॥

× × ×

भूलकी चिन्ता, पश्चात्ताप न करके आगेके लिये सावधान हो जाओ, जिससे फिर वैसी भूल न हो॥ ९७२॥

× × ×

मिटनेवाली चीज एक क्षण भी टिकनेवाली नहीं होती॥ ९७३॥

× × ×

अपनेमें विशेषता केवल व्यक्तित्वके अभिमानसे दीखती है॥ ९७४॥

× × ×

वस्तुओंके बिना भी हम रह सकते हैं। जिनके बिना हम रह सकते हैं, उनके हम गुलाम क्यों बनें?॥ ९७५॥

× × ×

शरीर नजदीक दीखता है और परमात्मा दूर दीखते हैं—यही अज्ञान है। कारण कि शरीर नित्य अप्राप्त है और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। शरीरके साथ हमारा एक क्षण भी संयोग नहीं होता और परमात्माके साथ हमारा एक क्षण भी बियोग नहीं होता॥ ९७६॥

× × ×

शरीरको संसारसे और स्वयंको परमात्मासे अलग मानना गलती है॥ ९७७॥

× × ×

सच्चे धर्मात्मा मनुष्यको किसीकी भी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज (आवश्यकता) रहती है॥ ९७८॥

× × ×

अगर मनुष्य अपने विवेकका अनादर करता है तो उसका विवेक लुप्त हो जाता है और वह अपने विवेकका आदर करता है तो उसका विवेक इतना बढ़ता है कि शास्त्र तथा गुरुके बिना भी उसको परमात्मातक पहुँचा देता है॥ ९७९॥

× × ×

जब हम सबकी बात नहीं मानते, तो फिर दूसरा कोई हमारी बात न माने तो हमें नाराज नहीं होना चाहिये॥ ९८०॥

× × ×

भीतरमें लोभ न हो तो आवश्यक वस्तु अपने-आप प्राप्त होती है; क्योंकि वस्तुका लोभ ही वस्तुकी प्राप्तिमें बाधक है॥ ९८१॥

× × ×

किसी भी व्यक्तिका निरादर नहीं करना चाहिये। निरादर करनेसे वास्तवमें अपना ही निरादर होता है; क्योंकि सब जगत् ईश्वररूप है॥ ९८२॥

× × ×

भारतवर्षमें जन्म लेकर भी मनुष्य भगवान्‌में न लगे—यह बड़े आश्चर्य और दुःखकी बात है! क्योंकि भारतवर्षमें जन्म मुक्त होनेके लिये ही होता है। इसलिये देवता भी भारतवर्षमें जन्म चाहते हैं॥ ९८३॥

× × ×

धर्मका मूल है—स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित॥ ९८४॥

× × ×

धर्मके अनुसार खुद चले—इसके समान धर्मका प्रचार कोई नहीं है॥ ९८५॥

× × ×

'आशीर्वाद दीजिये'—ऐसा न कहकर आशीर्वाद पानेका पात्र बनना चाहिये॥ ९८६॥

× × ×

वर्तमानका ही सुधार करना है। वर्तमान सुधरनेसे भूत और भविष्य दोनों सुधर जाते हैं॥ ९८७॥

× × ×

दु:खी व्यक्ति ही दूसरेको दु:ख देता है। पराधीन व्यक्ति ही दूसरेको अपने अधीन करता है॥ ९८८॥

× × ×

अज्ञानी तो बीते हुएको स्वप्नकी तरह मानता है, पर ज्ञानी (विवेकी) वर्तमानको स्वप्नकी तरह मानता है॥ ९८९॥

× × ×

वस्तुका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत उसके सदुपयोगका महत्त्व है॥ ९९०॥

× × ×

भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव करना ही प्रार्थना है॥ ९९१॥

× × ×

असत् वस्तुका लोभ तो असत् वस्तुकी प्राप्तिमें बाधक है, पर सत्‌का लोभ सत्‌की प्राप्तिमें साधक है॥ ९९२॥

× × ×

शरीर निर्वाह-सम्बन्धी हरेक कार्यमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि समय और वस्तु कम-से-कम खर्च हों॥ ९९३॥

× × ×

'पर' (प्रकृति) की अधीनता पराधीनता है और 'परकीय' (भोगों)की अधीनता परम पराधीनता है। 'स्व' (स्वरूप) की अधीनता स्वाधीनता और 'स्वकीय' की अधीनता परम स्वाधीनता है॥ ९९४॥

× × ×

सिनेमा या टी० वी० देखनेसे चार हानियाँ होती हैं—१.चरित्रकी हानि २.समयकी हानि ३.नेत्र-ज्योतिकी हानि और ४. धनकी हानि॥ ९९५॥

× × ×

कुछ करनेसे प्रकृतिमें स्थिति होती है और कुछ न करनेसे परमात्मामें स्थिति होती है॥ ९९६॥

× × ×

जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही वाणी-मन-बुद्धिसे चुप (शान्त, क्रियारहित) होनेपर सब विकार अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जाता है॥ ९९७॥

× × ×

जो खुद भले नहीं हैं, जिनका स्वभाव भलाई करनेका नहीं है, उन्हींको ऐसा दीखता है कि आज भलाईका जमाना नहीं है!॥ ९९८॥

× × ×

जबतक मनुष्यको दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखती है, तबतक वह साधक तो हो सकता है, पर सिद्ध नहीं हो सकता॥ ९९९॥

× × ×

परमात्मा 'प्राप्त' हैं और संसार 'प्रतीति' है। जो मिलता है, पर दीखता नहीं, उसको 'प्राप्त' कहते हैं और जो दीखता है, पर मिलता नहीं, उसको 'प्रतीति' कहते हैं॥ १०००॥

॥ श्रीहरिः ॥ 861▲

सत्संग-मुक्ताहार

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

सत्सङ्ग-प्रेमी सज्जनोंकी सेवामें यह 'सत्संग-मुक्ताहार' पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है। इस पुस्तकमें श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके नौ लेखोंका संग्रह है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस मुक्ताहार-(मोतियोंकी माला) को हृदयमें धारण करें, हृदयङ्गम करें और वास्तविक तत्त्वका अनुभव करके अपने मानव-जीवनको सफल बनायें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरि: ॥

१. वास्तविक तत्त्वका अनुभव

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

कितनी विचित्र बात है कि परमात्मा हैं, पर वे दीखते नहीं और संसार नहीं है, पर वह दीखता है! इसका कारण यह है कि हमारे पास देखनेकी जो शक्ति है, वह सब संसारकी है। जिस धातुका संसार है, उसी धातुकी हमारी इन्द्रियाँ और अन्त:करण (मन-बुद्धि) हैं। इसलिये उनसे संसार ही दीखेगा, परमात्मा कैसे दीखेंगे? इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं। प्रकृतिके अंशद्वारा प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको कैसे देखा जा सकता है? प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको तो अपने-आपसे अर्थात् स्वयंसे ही देखा जा सकता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका ही अंश है। तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तथा संसार तत्त्वसे एक (नाशवान्, जड़) हैं और स्वयं तथा परमात्मा तत्त्वसे एक (अविनाशी, चेतन) हैं। विचार करें कि क्या शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि और परमात्माकी तात्त्विक एकता है? कदापि नहीं। फिर उनके द्वारा परमात्माको कैसे देखा अथवा प्राप्त किया जा सकता है? असम्भव बात है। अत: हम स्वयंसे देखेंगे तो परमात्मा दीखेंगे और शरीरसे देखेंगे तो संसार दीखेगा। रहनेवालेसे रहनेवाला ही दीखेगा और बदलनेवालेसे बदलनेवाला ही दीखेगा।

स्वयंसे परमात्मा कैसे दीखते हैं—इसपर विचार करें। प्रत्येक मनुष्यको 'मैं हूँ'—इस रूपमें अपनी सत्ता-(होनेपन) का अनुभव होता है। 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। अत: 'मैं' की 'नहीं' के साथ और 'हूँ' की 'है' के साथ एकता है। 'हूँ' और 'है' का भेद 'मैं'-पनके कारण ही है। अगर 'मैं'-पन न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंमें जो सत्ता अर्थात् अपना होनापन है, वह वास्तवमें परमात्माका ही है। वह होनापन सब जगह समान रीतिसे स्वत:-स्वाभाविक परिपूर्ण है।

हमसे यह भूल होती है कि हम परमात्मामें संसारको देखते हैं, जबकि देखना चाहिये संसारमें परमात्माको। 'नहीं' में 'है' को देखना तो सही है, पर 'है' में 'नहीं' को देखना गलती है; क्योंकि परमात्मा हैं और संसार नहीं है। इसलिये गीतामें आया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें संसार न बदलता हो। बदलना-ही-बदलना इसका स्वरूप है। परन्तु परमात्मा नहीं बदलनेवाले हैं। संसार रहे अथवा नष्ट हो जाय, वे नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं, उनमें कोई फर्क नहीं पड़ता। संसार कभी एक क्षण भी टिकता नहीं और परमात्मतत्त्व कभी एक क्षण भी मिटता नहीं। इसलिये जो बदलनेवाले नाशवान् संसारको न देखकर निरन्तर रहनेवाले अविनाशी परमात्माको देखता है, वही सही देखता

है—'**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति**'। परन्तु जो परमात्माको न देखकर संसारको देखता है, वह सही नहीं देखता—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महा० उद्योग० ४२। ३७)

'जो अन्य प्रकारका (अविनाशी) होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका (विनाशी शरीर) मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया अर्थात् सभी पाप कर लिये।'

जैसे, शरीरके बदलनेपर हम अपना बदलना नहीं देखते। बालकपनसे लेकर आजतक शरीर कितना बदल गया, पर हम कहते हैं कि मैं वही हूँ, जो बालकपनमें था। शरीर बदल गया, स्थान बदल गया, समय बदल गया, वस्तुएँ बदल गयीं, साथी बदल गये, परिस्थिति बदल गयी, अवस्था बदल गयी, क्रियाएँ बदल गयीं, पर सब कुछ बदलनेपर भी स्वयं नहीं बदला। देश, काल आदिमें फर्क पड़ा, पर अपनेमें फर्क नहीं पड़ा। ऐसे ही संसार कितना ही बदल जाय, परमात्मा वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। वस्तुभेद, व्यक्तिभेद और क्रियाभेद होनेपर भी तत्त्वभेद नहीं होता। हमारी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वकी तरफ ही रहनी चाहिये। जैसे, कोई व्यापारी कोयला खरीदता और बेचता है, पर उसकी दृष्टि पैसोंपर ही रहती है कि इतने पैसे आ गये! व्यापारकी चीजें तो बदल जाती हैं, पर पैसा वही रहता है। ऐसे ही सब व्यवहार करते हुए भी हमारी दृष्टि परमात्मापर ही रहनी चाहिये।

यह सिद्धान्त है कि जो आदि-अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता और जो आदि-अन्तमें भी होता है, वह वर्तमानमें भी होता है। संसार पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा,

इसलिये संसार नहीं है। परमात्मा पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे, इसलिये परमात्मा ही हैं। संसारको सत्यरूपसे देखनेवाले कहते हैं कि परमात्मा हैं ही नहीं और परमात्माको सत्यरूपसे देखनेवाले कहते हैं कि संसार है ही नहीं! संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह उस परमात्माकी ही झलक है। जैसे रस्सीमें साँप दीखता है तो वास्तवमें 'है'-पना रस्सीमें है, साँपमें नहीं, पर रस्सीका 'है'-पना साँपमें दीखता है। ऐसे ही 'है'-पना परमात्मामें है, संसारमें नहीं है, पर परमात्माका 'है'-पना संसारमें संसाररूपसे दीखता है। जैसे चनेका आटा फीका होता है, पर जब उसमें चीनी पड़ जाती है, तब उससे बनी बूँदी मीठी लगती है। वह मिठास वास्तवमें चीनीकी ही है, बेसनकी नहीं। ऐसे ही संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह संसारका न होकर परमात्माका ही है।

अगर भक्तियोगकी दृष्टिसे देखें तो सब संसार परमात्मस्वरूप ही है! भगवान् कहते हैं—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'

(गीता ७। ७)

'मेरे सिवाय इस जगत्‌का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है।'

'वासुदेवः सर्वम्'

(गीता ७। १९)

'सब कुछ परमात्मा ही हैं।'

'सदसच्चाहम्'

(गीता ९। १९)

'सत् और असत् भी मैं ही हूँ।'

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अत: मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें और स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

परमात्माके विषयमें द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक मतभेद हैं, पर 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह सर्वोपरि सिद्धान्त है। सम्पूर्ण मत इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। साधकोंके मनमें प्राय: यह भाव रहता है कि कोई परमात्माकी सार बात, तात्त्विक बात, बढ़िया बात बता दे तो हम जल्दी परमात्मप्राप्ति कर लें। वह सार बात, तात्त्विक बात, बढ़िया बात, सबका खास निचोड़, निष्कर्ष यही है कि केवल परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। 'मैं' भी परमात्मा हैं, 'तू' भी परमात्मा हैं, 'यह' भी परमात्मा हैं और 'वह' भी परमात्मा हैं अर्थात् परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि सब कुछ परमात्मा कैसे हुए? एक अपरा प्रकृति है, एक परा प्रकृति है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—यह आठ प्रकारकी अपरा (परिवर्तनशील) प्रकृति है। जीव परा (अपरिवर्तनशील) प्रकृति है। अपरा और परा—ये दोनों प्रकृतियाँ परमात्माका स्वभाव होनेसे परमात्मासे अभिन्न हैं अर्थात् इन दोनोंकी परमात्मासे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। शरीरकी अपरा प्रकृतिके साथ और शरीरीकी परा प्रकृतिके साथ एकता है। इस प्रकार परमात्मासे अलग किंचिन्मात्र भी कोई सत्ता न होनेसे स्थूल-

से-स्थूल पृथ्वीसे लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अहम्‌तक सब कुछ केवल परमात्मा ही हुए। इसलिये गीतामें अपरा, परा और वासुदेव अथवा क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इन तीनोंके वर्णनका तात्पर्य इनको एक बतानेमें ही है, तीन बतानेमें नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव कैसे हो? जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता न होते हुए भी जीवने जगत्‌को स्वतन्त्र सत्ता दी है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जगत्‌को सत्ता देनेमें मुख्य कारण है—सुखभोगबुद्धि। जीवकी सुखभोगबुद्धिके कारण ही परमात्मा जीवको जड़ जगत्-रूपसे दीखने लग गये और जीव स्वयं भी जगत्-रूप हो गया*। अत: परमात्मतत्त्वके अनुभवमें सुखभोगबुद्धि ही खास बाधक है।

अब प्रश्न होता है कि सुखभोगबुद्धि कैसे नष्ट हो? इसको मिटानेके तीन मुख्य साधन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगके द्वारा सुखभोगबुद्धि सुगमतासे मिट सकती है। सम्पूर्ण सृष्टि पाञ्चभौतिक होनेसे एक ही है। जैसे एक ही शरीरके अनेक अंग होते हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीर एक ही सृष्टिके अनेक अंग हैं। अत: जैसे मनुष्य अपने शरीरके सभी अंगोंसे अलग-अलग यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी सभी अंगोंका समान रूपसे सुख और हित चाहता है, किसी भी अंगका दु:ख और अहित नहीं चाहता, ऐसे ही साधकको सभी प्राणियोंसे यथायोग्य व्यवहार करते

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता।'

हुए भी समान रूपसे सबके सुख और हितका भाव रखना चाहिये और किसीका भी दु:ख और अहित नहीं चाहना चाहिये'।* जैसे माँके हृदयमें अपना दु:ख दूर करनेकी अपेक्षा भी बालकका दु:ख दूर करनेका विशेष भाव रहता है, ऐसे ही साधकका भी दूसरेका दु:ख दूर करनेका विशेष भाव होना चाहिये। दूसरोंको सुख देनेका भाव होनेसे अपनी सुखभोगबुद्धि स्वत: मिटती है।

ज्ञानयोगमें विवेकपूर्वक विचार करनेसे सुखभोगबुद्धिका नाश हो जाता है। जैसे, प्यासकी जलसे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अर्थात् प्यास जलरूप ही है, ऐसे ही सुखासक्तिकी भी संसारसे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अर्थात् संसारकी सुखासक्ति या सुखभोगबुद्धि संसाररूप ही है। जैसे मनुष्यको जलकी प्यास दु:ख देती है, जल दु:ख नहीं देता, ऐसे ही संसारकी सुखासक्ति ही दु:ख देनेवाली है, संसार दु:ख नहीं देता। अत: सुखासक्ति ही सम्पूर्ण दु:खोंका, अनर्थोंका, अवगुणोंका, पापोंका मुख्य कारण है—ऐसा विचार करनेसे संसारमें सुखभोगबुद्धि मिट जाती है।

भक्तियोगमें साधक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसको दृढ़तासे मान ले कि वास्तवमें बात यही है। माननेके बाद अनुभव स्वत: हो जायगा। अनुभव न होनेका दु:ख जितना तेज होगा, उतनी ही जल्दी अनुभव होगा। जब सब रूपोंमें भगवान् ही हैं तो फिर वे मेरेको क्यों नहीं दीखते? अगर माँ मौजूद है तो फिर वह मेरेको गोदीमें क्यों नहीं लेती?—इस प्रकार छटपटाहट लगे तो बहुत जल्दी

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत:॥ (गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो अपने शरीरकी उपमासे सब जगह अपनेको समान देखता है और सुख अथवा दु:खको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।'

सुखभोगबुद्धिका नाश होकर परमात्माका अनुभव हो जायगा। परन्तु संसारके सम्बन्धसे जितना सुख लिया है, उससे अधिकमात्रामें सुखभोगबुद्धिके न मिटनेका दुःख होना चाहिये।

अगर साधकमें सुखभोगबुद्धिको मिटानेकी उत्कट अभिलाषा हो, पर उसको मिटानेमें अपनेमें निर्बलताका अनुभव हो और साथ-साथ यह विश्वास हो कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपाशक्तिसे ही मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है तो ऐसी स्थितिमें वह भक्त होकर भगवान्‌के परायण हो जाता है। भगवान्‌के परायण होनेपर फिर स्वतः भीतरसे प्रार्थना, पुकार निकलती है, जिससे सुगमतापूर्वक सुखभोगबुद्धि मिट जाती है और एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—इसका अनुभव हो जाता है।

२. स्वतःप्राप्त परमात्मतत्त्व

परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। नित्य-निरन्तर विद्यमान कहना भी वास्तवमें कालकी सत्ताको लेकर है। वास्तवमें कालकी सत्ता नहीं है। सत्ता केवल परमात्मतत्त्वकी ही है। उसकी सत्तासे ही जो असत् ('नहीं') है, उस शरीर-संसारकी सत्ता दीख रही है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७। ४)

बिना विचार किये ऐसा दीखता है कि हम जी रहे हैं अर्थात् शरीर बढ़ रहा है, पर थोड़ा विचार करनेपर बिलकुल प्रत्यक्ष दीखता है कि शरीर निरन्तर मर रहा है। वास्तवमें मर रहा नहीं है, प्रत्युत केवल मरना ही है! गीतामें आया है—'**नासतो विद्यते भावः**' (२। १६) 'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है।' जैसे, वृक्ष उत्पन्न हुआ दीखता है तो वास्तवमें उत्पन्न नहीं हुआ है। बीज मर गया, उसीको उत्पन्न होना कह दिया। तात्पर्य है कि पहली अवस्थाको छोड़ना मृत्यु है और दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना जन्म है। कोई भी अवस्था नित्य नहीं रहती। अतः जन्म-मरणके प्रवाहमें केवल मरना-ही-मरना मुख्य है। वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, सामर्थ्य, योग्यता आदिके रूपमें जो संसार दीख रहा है, उसका नित्य-निरन्तर वियोग (अभाव) हो रहा है। यह वियोग

एक क्षण भी बन्द नहीं होता। जैसे गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर समुद्रमें जा रहा है, ऐसे ही संसारका प्रवाह निरन्तर अभावमें, प्रलयमें जा रहा है। सब शरीर निरन्तर मौतमें जा रहे हैं। हमारे कहनेमें तो देरी लगती है, पर मरनेमें देरी नहीं लगती! इसलिये संसारको मौतका सागर कहा है—'**मृत्युसंसारसागरात्**' (गीता १२। ७)। इस मरने-ही-मरनेके भीतर 'है' रूपसे एक अमर तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक विद्यमान है, जिसका कभी किसी अवस्थामें अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। उसी अमर तत्त्वको हमें प्राप्त करना है और मरनेसे अलग होना है। वास्तवमें जिसको प्राप्त करना है, वह हमें प्राप्त ही है और जिससे अलग होना है, वह अलग ही है।

जो 'नहीं' है, उससे अलग हो जानेका नाम भी योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३) और जो 'है', उसमें तल्लीन हो जानेका नाम भी योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। भगवान् कहते हैं कि तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा—'**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८। ५८) और मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जायगा—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**' (गीता १८। ५६)। अतः तर जाना भी योग है और प्राप्त हो जाना भी योग है। इसमें केवल नाशवान् सुखका आकर्षण ही बाधक है। सुख तो रहेगा नहीं, पर उसकी लोलुपता हमारा पतन कर देगी। इस सुख-लोलुपताका हमें त्याग करना है। फिर तत्त्वमें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है।

परमात्मा सबमें स्वतः-स्वाभाविक परिपूर्ण हैं। वे नित्य प्राप्त हैं, स्वतः प्राप्त हैं, स्वाभाविक प्राप्त हैं। उनको प्राप्त करनेमें उद्योग,

परिश्रम, पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। उद्योग संसारकी वस्तु प्राप्त करनेमें करना पड़ता है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये उद्योग करना पड़ेगा, परिश्रम करना पड़ेगा, कठिन तपस्या करनी पड़ेगी, समय लगाना पड़ेगा, सिद्धि करनी पड़ेगी, किसीसे पूछना पड़ेगा, पढ़ना पड़ेगा—इस तरहकी बहुत-सी बाधाएँ हमारी बनायी हुई हैं, जिनके कारण हम परमात्मप्राप्तिसे वंचित रहते हैं। सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिमें तो भविष्य होता है, पर जो नित्यप्राप्त है, स्वत:-स्वाभाविक है, उसकी प्राप्तिमें भविष्य कैसे? जो प्राप्त नहीं है, उसको प्राप्त मान लिया—यही नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें बाधा है! यही नित्यप्राप्तके न दीखनेमें आवरण (परदा) है!

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

वास्तवमें 'है' नहीं ढकता, हमारी दृष्टि ही ढकी जाती है। 'नहीं' की सत्ताको लेकर 'है' को नहीं मानना ही आवरण है। 'नहीं' को नहीं माननेसे 'है' का अनुभव स्वत: होता है।

जो निरन्तर जा रहा है, उस 'नहीं' को देखनेसे 'है' में हमारी स्थिति स्वत:सिद्ध होती है, करनी नहीं पड़ती। नाशवान्‌को देखनेसे अविनाशीमें हमारी स्थिति स्वत:-स्वाभाविक है। नाशवान्‌को हम नाशवान् जानते तो हैं, पर इस जानकारीको हम महत्त्व नहीं देते। अब केवल इस जानकारीको महत्त्व देना है। जैसे, एक आदमी खड़ा है और उसके सामनेसे कई आदमी चले गये। किसीने पूछा कि कितने आदमी चले गये तो उसने कहा कि एक-एक करके दस आदमी चले गये। इससे सिद्ध हुआ कि 'दस आदमी चले गये'—ऐसा कहनेवाला नहीं गया, वहीं खड़ा रहा। अगर वह भी चला जाता तो 'दस आदमी चले गये—ऐसा

कौन कहता? ऐसे ही संसार प्रतिक्षण जा रहा है—ऐसा जाननेवाला कहीं गया नहीं। 'नहीं' का ज्ञान 'है' से ही होता है। 'नहीं' से 'नहीं' का ज्ञान नहीं होता। अतः शरीर-संसार निरन्तर जा रहे हैं—इस तरफ दृष्टि रहनेपर बिना विचार किये स्वरूपमें स्थिति स्वतः है। इसमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदिकी क्या जरूरत है? देश नहीं है, काल नहीं है, वस्तु नहीं है, व्यक्ति नहीं है, परिस्थिति नहीं है, अवस्था नहीं है, घटना नहीं है, क्रिया नहीं है—इधर दृष्टि होनेपर स्वतः समाधि है। तात्पर्य है कि अगर 'है' को देखना हो तो 'नहीं' को देखो। 'नहीं' को देखते-देखते 'है' में स्थिति स्वतः होती है।

एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखेगा, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर शुद्ध 'है' दीखेगा! कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ 'नहीं' (वृत्ति) भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा; जैसे—कूड़ा-करकट दूर करनेपर उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि 'परमात्मा सबमें परिपूर्ण हैं'—इसका मनसे चिन्तन करनेपर, बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है'—इस प्रकार संसारको अभावरूपसे देखनेपर संसार और वृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और भावरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व स्वतः शेष रह जायगा। इसलिये परमात्माकी प्राप्तिमें निषेधात्मक साधन मुख्य है; क्योंकि मूलमें अभावरूप संसारका

निषेध ही करना है। संसारका निषेध कर दें तो नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव स्वतः-स्वाभाविक हो जायगा।

वास्तवमें ज्ञान 'नहीं' का ही होता है। 'है' का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वह तो स्वतः रहता है। 'नहीं' को 'है' मान लिया—यह अज्ञान है और 'नहीं' को 'नहीं' जान लिया—यह ज्ञान है। ज्ञान होते ही 'नहीं' मिट जाता है और 'है' रह जाता है। इसलिये साधकमें हर समय स्वाभाविक ही यह जागृति रहनी चाहिये, चेत रहना चाहिये कि संसार नहीं है। जैसे, गृहस्थोंके घरमें लड़के भी पैदा होते हैं और लड़कियाँ भी। लड़केके पैदा होनेपर यह ज्ञान स्वतः रहता है कि यह इस घरमें रहनेवाला है और लड़कीके पैदा होनेपर यह ज्ञान स्वतः रहता है कि यह इस घरमें रहनेवाली नहीं है। इस ज्ञानके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। इसी तरह शरीर और संसार प्रतिक्षण जा रहे हैं—यह ज्ञान स्वतः रहना चाहिये।

जैसे भीतरमें यह बात बैठी हुई है कि लड़की अपने घर जायगी, यहाँ नहीं रहेगी, ऐसे ही भीतरमें यह बात बैठनी चाहिये कि संसार तो जायगा, यहाँ नहीं रहेगा। जानेवालेसे क्या मोह करें? अतः इस संसाररूपी लड़कीको भगवान्‌के अर्पित कर दें; क्योंकि भगवान्‌के समान दूसरा कोई योग्य वर मिलेगा नहीं। फिर हमारा कल्याण स्वतःसिद्ध है। वास्तवमें संसारका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ ही है; क्योंकि यह भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति है*। हमने ही इसको

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७।४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है।'

भगवान्से अलग मानकर अपना सम्बन्ध इसके साथ जोड़ लिया है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)।

'नहीं' को 'है' रूपसे माने बिना कोई मनुष्य भोग और संग्रह कर ही नहीं सकता। अभावको भावरूपसे माने बिना कोई अनर्थ, पाप कर ही नहीं सकता। सभी अनर्थ अभावको सत्ता देनेसे ही होते हैं। अतः 'नहीं' को 'है' मान लेना ही सम्पूर्ण अवगुणोंका, सम्पूर्ण दुःखोंका, सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका मूल कारण है। असत्को सत्ता देना ही मूल अवगुण है, जिससे सम्पूर्ण अवगुण पैदा होते हैं। असत्को सत्ता हमने ही दी है, इसलिये इसको हमें ही मिटाना है। असत्की स्वतन्त्र सत्ता मिटनेपर सत्-तत्त्वको लाना नहीं पड़ेगा, प्रत्युत उसका अनुभव स्वतः-स्वाभाविक हो जायगा; क्योंकि वह तो पहलेसे ही विद्यमान है।

३. साधकोपयोगी अमूल्य बातें

जिस साधकको कर्मयोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह मान लेना चाहिये कि 'मैं योगी हूँ'। जिसको ज्ञानयोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह धारणा कर लेनी चाहिये कि 'मैं जिज्ञासु हूँ'। जिसको भक्तियोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह मान लेना चाहिये कि 'मैं भक्त हूँ'। तात्पर्य है कि साधकको योगी होकर या जिज्ञासु होकर अथवा भक्त होकर साधन करना चाहिये।

जो योगी होकर साधन करता है, उसको जबतक योग-(समता) की प्राप्ति न हो, तबतक सन्तोष नहीं करना चाहिये। 'योग' नाम समताका है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व योगी बननेमें बाधक हैं। अतः साधकका उद्देश्य राग-द्वेष मिटानेका होना चाहिये। कर्म दो उद्देश्यसे किये जाते हैं—फलप्राप्तिके लिये और फलत्यागके लिये। जो फल-प्राप्तिके उद्देश्यसे कर्म करता है, वह 'कर्मी' होता है और जो फल-त्यागके उद्देश्यसे कर्म करता है, वह 'कर्मयोगी' होता है। इसलिये कर्मयोगके साधकको पहले ही यह धारणा कर लेनी चाहिये कि मैं योगी हूँ; अतः फल-प्राप्तिके लिये कर्म करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस प्रकार फलासक्तिका त्याग करके उसको अपना कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये*। उसके सामने अनुकूल या प्रतिकूल जो

---

* तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (गीता ३। १९)

भी परिस्थिति आये, उसका सदुपयोग करना चाहिये, भोग नहीं करना चाहिये। सुखी-दुःखी, राजी-नाराज होना परिस्थितिका भोग है। अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थितिमें सुखेच्छाका त्याग करना उसका सदुपयोग है। सदुपयोग करनेसे अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियाँ राग-द्वेष मिटानेमें हेतु हो जाती हैं।

कर्ममात्रका सम्बन्ध 'पर' के साथ है, 'स्व' के साथ नहीं है। कारण कि 'स्व' अर्थात् स्वयंमें कभी अभाव नहीं होता। अभाव न होनेके कारण स्वयंको कुछ नहीं चाहिये। जब कुछ नहीं चाहिये तो फिर अपने लिये कोई कर्म करना बनता ही नहीं। दूसरी बात, जिन करणोंसे कर्म किये जाते हैं, वे प्रकृतिके हैं। प्रकृतिके साथ स्वयंका कोई सम्बन्ध न होनेसे स्वयंपर अपने लिये कुछ भी करना लागू होता ही नहीं। इसलिये जो मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, वह कर्मोंसे बँध जाता है—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽयन्त्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३। ९)। परन्तु जो अपने लिये कुछ न करके दूसरोंके लिये ही सब कर्म करता है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (गीता ४। २३)। निष्कामभावपूर्वक दूसरेके लिये कर्म करनेका नाम 'यज्ञार्थ कर्म' है। यज्ञार्थ कर्म करनेवालेको परिणाममें यज्ञशेषके रूपमें 'योग' की प्राप्ति हो जाती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

(गीता ३। १३)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

(गीता ४। ३१)

मैं योगी हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ, मैं साधक हूँ—यह साधकका स्थूलशरीर नहीं है, प्रत्युत भावशरीर है। स्थूलशरीर

योगी, जिज्ञासु अथवा भक्त नहीं होता। अगर साधकमें पहले ही यह भाव हो जाय कि 'मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो साधक हूँ' तो उसका साधन बड़ा तेज चलेगा। जैसे, विवाहके समय जब लड़का 'दूल्हा' बन जाता है, तब उसकी चाल बदल जाती है। कारण कि उसकी अहंतामें यह बात आ जाती है कि 'मैं तो दूल्हा हूँ'। इसी तरह साधककी अहंतामें भी 'मैं साधक हूँ'—यह बात आनी चाहिये। अगर अहंतामें 'मैं संसारी हूँ'—यह बात बैठी रहेगी तो संसारका काम बढ़िया होगा*, साधन बढ़िया नहीं होगा। जो बात अहंतामें आ जाती है, उसको करना बड़ा सुगम हो जाता है। इसलिये साधकके लिये अपनी अहंताको बदलना बहुत आवश्यक है। जो सेवक, जिज्ञासु या भक्त बनकर साधन नहीं करता, उसका किया हुआ साधन निरर्थक तो नहीं जाता, पर उसकी सिद्धि वर्तमानमें नहीं होती। अतः मैं साधक हूँ, मैं कर्मयोगी हूँ, मैं ज्ञानयोगी हूँ अथवा मैं भक्तियोगी हूँ—ऐसा मानकर साधन करना चाहिये।

कर्मयोगका एक नाम 'सेवा' है। इसलिये कर्मयोगके साधकको 'मैं सेवक हूँ' यह बात अहंतामें लानी चाहिये। 'मैं सेवक हूँ'—इस अहंतासे यह बात पैदा होगी कि मेरा काम सेवा करना है, कुछ चाहना मेरा काम नहीं है। साधकमात्रके लिये यह खास बात है कि मेरेको संसारसे कुछ लेना नहीं है, मेरेको स्वार्थी, भोगी नहीं बनना है। संसारका सुख लेनेके लिये मैं नहीं हूँ। जो सुख चाहता है, वह सेवक नहीं होता†। कोई-सा भी साधक हो, उसको पहलेसे

* संसारका बढ़िया काम भी परिणाममें घटिया ही होता है।

† सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी॥
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥
(मानस, अरण्य० १७। ८)

ही सुखको तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। साधकका काम साधन करना है, सुख भोगना नहीं। जो भोगी होता है, वह साधक नहीं होता। भोगी रोगी होता है, योगी नहीं होता। भोगीको दु:ख पाना ही पड़ता है। वह दु:खसे कभी बच सकता ही नहीं।

सेवक वह होता है, जो हर समय सेवा करता है। वह भोजन करे तो भी सेवा, शौच-स्नान करे तो भी सेवा, कपड़े धोये तो भी सेवा, व्यापार करे तो भी सेवा; जो भी काम करे सब सेवा-भावसे करे। परन्तु ऐसा तब होगा, जब उसके भीतर यह भाव रहे कि 'मैं सेवक ही हूँ'। अगर उसमें 'मैं मनुष्य हूँ' अथवा 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं वैश्य हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ', 'मैं साधु हूँ' आदि भाव पहले हैं और 'मैं सेवक हूँ' यह भाव पीछे है तो उससे कर्मयोग बढ़िया नहीं होगा। कर्मयोगीमें 'मैं सेवक हूँ यह भाव पहले और 'मैं मनुष्य हूँ' आदि भाव पीछे रहने चाहिये। ऐसे ही 'मैं भक्त हूँ', 'मैं जिज्ञासु हूँ' अथवा 'मैं साधक हूँ'—यह भाव पहले रहना चाहिये। जैसे ब्राह्मणमें 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह भाव (ब्राह्मणपना) हरदम जाग्रत् रहता है, ऐसे ही साधकमें 'मैं साधक हूँ' यह भाव हरदम जाग्रत् रहना चाहिये। ऐसा होनेसे मनुष्यभाव, शरीरभाव मिट जाता है। 'मैं मनुष्य हूँ'—यह पाञ्चभौतिक मनुष्यशरीर है और 'मैं साधक (सेवक, जिज्ञासु अथवा भक्त) हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीरकी मुख्यता होनेसे साधन निरन्तर होता है।

कर्मयोगी स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंकी सेवा करता है। शरीरको भोगी, आलसी, अकर्मण्य नहीं बनने देना 'स्थूलशरीर' की सेवा है। विषयोंका चिन्तन न करना, सबके सुख और हितका चिन्तन करना 'सूक्ष्मशरीर' की सेवा है। समाधि लगाना, अपने सिद्धान्तपर अचलरूपसे दृढ़ रहना, अपने कल्याणके निश्चयसे विचलित न होना 'कारणशरीर' की सेवा है। स्थूलशरीरसे होनेवाली

क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता—तीनोंको ही 'अपना' और 'अपने लिये' न मानना उनकी सेवा है। कारण कि स्थूलशरीरकी स्थूल जगत्‌के साथ, सूक्ष्मशरीरकी सूक्ष्म जगत्‌के साथ और कारणशरीरकी कारण जगत्‌के साथ एकता है। इसलिये शरीरको संसारसे अलग मानना बहुत बड़ी गलती है। शरीर और संसारको 'अपना' तथा 'अपने लिये' मानना बहुत घातक है। ऐसा माननेवाला साधक नहीं बन सकता, भले ही उम्र बीत जाय! इसलिये कर्मयोगीको ऐसा मानना चाहिये कि मैं संसारका हूँ और संसारकी सेवाके लिये हूँ। इस विषयमें एक दृष्टान्त है। लोगोंमें यह बात प्रचलित है कि रुपयोंके पास रुपया आता है; क्योंकि जिनके पास रुपये होते हैं, वे उन रुपयोंसे कई नये काम-धन्धे शुरू करके और रुपये कमा लेते हैं। एक आदमीने जब सुना कि रुपयेके पास रुपया आता है तो वह अपने हाथमें एक रुपयेका सिक्का बजाते हुए बाजारमें घूमने लगा। एक दूकानमें रुपयोंकी ढेरी पड़ी थी तो बजाते समय रुपया जाकर उस ढेरीपर गिर गया! वह बोला कि बात क्या है? रुपयेके पास रुपया आना चाहिये? तो दूकानदार बोला कि हाँ, रुपयेके पास ही रुपया आया है। तुम्हारा रुपया छोटा है, ढेरीके रुपये बड़े हैं तो बड़ेके पास छोटा जायगा कि छोटेके पास बड़ा जायगा? छोटा ही बड़ेके पास जायगा। इसी तरह संसार शरीरके लिये नहीं है, प्रत्युत शरीर संसारके लिये है। संसार हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत हम संसारके लिये हैं। इसलिये साधकके भीतर यह भाव रहता है कि मैं संसारके काम आऊँ।

साधकको चाहिये कि वह चाहे तो मैंपनको शुद्ध कर ले, चाहे मैंपनको मिटा दे, चाहे मैंपनको बदल दे। कर्मयोगी मैंपनको शुद्ध करता है, ज्ञानयोगी मैंपनको मिटाता है और भक्तियोगी मैंपनको बदलता है। इसलिये कर्तृत्वाभिमान रहते हुए भी मनुष्य कर्मयोग

और भक्तियोगका अनुष्ठान कर सकता है। परन्तु कर्तृत्त्वाभिमान रहते हुए ज्ञानयोगका अनुष्ठान नहीं कर सकता। वह ज्ञानकी बातें भले ही सीख ले, पर सिद्धि नहीं होगी। कर्मयोग और भक्तियोगमें पहले कामना मिटती है, पीछे अहंकार मिटता है। ज्ञानयोगमें पहले अहंकार मिटता है, पीछे कामना स्वतः मिटती है। तात्पर्य है कि कर्मयोग और भक्तियोग अहंता रहते हुए भी चल सकते हैं, पर ज्ञानयोग अहंता रहते हुए नहीं चल सकता। इसलिये अहंकारके रहते हुए ज्ञानयोग कष्टपूर्वक चलता है—'**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते**' (गीता १२। ५) और अहंकार मिटनेपर सुखपूर्वक चलता है—'**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**' (गीता ६। २८)। परन्तु जो भोग भी भोगता रहे, सुख भी भोगता रहे, लोभ भी करता रहे, रुपये भी इकट्ठा करता रहे, ऐश-आराम भी करता रहे, उसको कोई भी योग सिद्ध नहीं होता। वह साधक भी नहीं हो सकता, सिद्ध होना तो दूर रहा!

भक्त मैंपन (अहंकार) को मिटाता नहीं है, प्रत्युत बदलता है। मैंपनको बदलना बहुत सुगम होता है। जैसे, लड़कीका विवाह होता है तो 'मैं कुँआरी हूँ' यह मैंपन सुगमतासे बदल जाता है। ऐसे ही भक्त मैंपनको बदल देता है कि 'मैं संसारका नहीं हूँ, मैं तो भगवान्‌का हूँ।' मैंपनको बदलना सुगम भी है और श्रेष्ठ भी। मैंपनको बदलनेसे साधनमें तल्लीनता होकर अपने-आप स्वाभाविक ही सिद्धि हो जाती है।

साधकमें यह बात सबसे पहले होनी चाहिये कि ऐश-आराम करना, शरीरका पालन-पोषण करना मेरा काम नहीं है। शरीर-निर्वाहका प्रबन्ध तो भगवान्‌ने पहले ही कर रखा है। भगवान्‌के यहाँसे निर्वाहका प्रबन्ध तो है, पर भोग भोगनेका, संग्रह करनेका, लखपति-करोड़पति बननेका प्रबन्ध नहीं है। माँके स्तनोंमें दूध

पहले आता है, पीछे हमारा जन्म होता है। जब जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध भगवान्‌की तरफसे है, तो फिर भजन क्यों नहीं करें? यद्यपि भजनकी जिम्मेवारी मनुष्यमात्रपर है, तथापि बूढ़े, विधवा और साधुपर विशेष जिम्मेवारी है। इन तीनोंको भगवद्भजनके सिवाय और काम ही क्या है? सुख भोगना, आराम करना, अनुकूलता चाहना—इसके लिये मनुष्यशरीर है ही नहीं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तन पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

(मानस, उत्तर० ४४। १)

इसलिये जो सुख-आराम, मान-बड़ाई चाहता है, वह साधक नहीं हो सकता। वह तो भोगी है। मान-बड़ाई चाहना भी भोग है, क्योंकि मान शरीरका और बड़ाई नामकी होती है, अपनी (स्वयंकी) नहीं। मनुष्य मरनेके बाद भी बड़ाई चाहता है कि दो-चार पुस्तकें बना दें अथवा कोई ऐसा मकान बना दें, जिससे लोग मेरेको याद करें। इसको मारवाड़ी भाषामें 'गीतड़ा और भीतड़ा' कहते हैं। पर साधकको मान-बड़ाई, यश-कीर्तिसे दूर रहना चाहिये—'**बिच्छू-सी बड़ाई जाके नागिनी-सी नारी है**'। उसको तो परमात्माकी प्राप्ति करना है। स्वर्ग आदि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति करना भी साधकका काम नहीं है—'**स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई**'। भगवान् कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।'

अनेक लोगोंका यह स्वभाव होता है कि वे सेवा वहीं करते हैं, जहाँ मान-बड़ाई मिले। मान-बड़ाई, वाहवाहीके बिना वे काम कर ही नहीं सकते। कोई अच्छा काम हो जाय तो वे कहते हैं कि इसको हमने किया, पर काम बिगड़ जाय तो दूसरोंपर दोष लगाते हैं। ऐसी वृत्तिवालोंका कल्याण कैसे होगा? सब अच्छा काम मैंने किया—यह 'कैकेयीवृत्ति' है और सब अच्छा काम दूसरोंने किया—यह 'रामवृत्ति' है। कैकेयी कहती है—

तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥

(मानस, अयोध्या० १६०। १)

और रामजी कहते हैं—

गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(मानस, उत्तर० ८। ३-४)

अतः मान-बड़ाई, सुख-आराम पानेके उद्देश्यसे काम करना साधकके लिये अनुचित है।

साधक जिस मार्गको अपना ले, उसीमें दृढ़तासे लगा रहे। फिर सुख आये या दुःख आये, प्रशंसा हो या निन्दा हो, उसकी परवाह मत करे। जितना कष्ट आता है, विपरीत परिस्थिति आती है, वह केवल हमारी उन्नतिके लिये ही आती है। इसमें एक रहस्यकी बात है कि जब हमारा साधन ठीक चलता है और ठीक चलते-चलते हम कुछ सुख भोगने लगते हैं और अभिमान करने लगते हैं कि मैं अच्छा साधक बन गया हूँ, तब भगवान् विपरीत परिस्थिति भेजते हैं। परन्तु जब हम ज्यादा घबरा जाते हैं तो फिर भगवान् अनुकूलता भेज देते हैं। समय-समयपर अनुकूलता-प्रतिकूलता भेजकर

भगवान् हमें चेताते रहते हैं, हमारी रक्षा करते रहते हैं।

मेरेको कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत देना-ही-देना है—ऐसा विचार करनेसे मनुष्य साधक बन जाता है। अगर साधक सेवक होगा तो सेवा करते-करते उसका सेवकपनेका अभिमान मिट जायगा अर्थात् सेवक न रहकर केवल सेवा रह जायगी और वह सेवारूप होकर सेव्यके साथ एक हो जायगा अर्थात् उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। ऐसे ही अगर साधक जिज्ञासु होगा तो उसमें जिज्ञासुपनेका अभिमान मिटकर केवल जिज्ञासा रह जायगी। केवल जिज्ञासा रहते ही जिज्ञासा-पूर्ति हो जायगी अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जायगा। इसी तरह अगर साधक भक्त होगा तो उसमें भक्तपनेका अभिमान नहीं रहेगा और वह भक्तिरूप हो जायगा अर्थात् उसके द्वारा प्रत्येक क्रिया भक्ति (भगवान्‌के लिये) ही होगी। भक्तिरूप होकर वह भगवान्‌के साथ अभिन्न हो जायगा।

४. कामना और आवश्यकता

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५।७)। 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।' शरीरमें तो माता और पिता दोनोंका अंश है, पर स्वयंमें परमात्मा और प्रकृति दोनोंका अंश नहीं है, प्रत्युत यह केवल परमात्माका ही शुद्ध अंश है—'**ममैवांशः**'। तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा हैं, ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—'**ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥**' (मानस, उत्तर० ११७। १)। अतः जैसे परमात्मा चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि है। परन्तु परमात्माका ऐसा अंश होते हुए भी जीव मायाके वशमें हो जाता है—'**सो मायाबस भयउ गोसाईं**' और प्रकृतिमें स्थित मन-इन्द्रियोंको अपनी तरफ खींचने लगता है अर्थात् उनको अपना और अपने लिये मानने लगता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५।७)। हम परमात्माके अंश हैं तथा परमात्मामें स्थित हैं और शरीर प्रकृतिका अंश है तथा प्रकृतिमें स्थित है। परमात्मामें स्थित होते हुए भी हम अपनेको शरीरमें स्थित मान लेते हैं—यह कितनी बड़ी भूल है! प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर हम परमात्माके अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहते, प्रत्युत स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरमें स्थित हो जाते हैं, जो कि प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकार प्रकृतिको पकड़नेसे ही जीव

परमात्माका अंश कहलाता है। अगर प्रकृतिको न पकड़े तो यह अंश नहीं है, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा (ब्रह्म) ही है—

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३। २२)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।

(गीता १३। ३१)

प्रकृतिको पकड़नेसे जीवमें संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी। प्रकृतिके जड़-अंशकी प्रधानतासे संसारकी इच्छा होती है और परमात्माके चेतन-अंशकी प्रधानतासे परमात्माकी इच्छा होती है। संसारकी इच्छा 'कामना' है और परमात्माकी इच्छा 'आवश्यकता' है, जिसको मुमुक्षा, तत्त्व-जिज्ञासा और प्रेम-पिपासा भी कह सकते हैं। आवश्यकताकी तो पूर्ति होती है, पर कामनाकी पूर्ति कभी किसीकी हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इतिहास पढ़ लें, भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ लें, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गयी हों। कामनाका तो त्याग ही होता है, पूर्ति नहीं होती। संसार क्षणभंगुर है, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला है, फिर उसकी कामना पूरी कैसे होगी?* शरीर-संसारसे सम्बन्ध माननेके कारण हमें अपनेमें जो कमी प्रतीत होती है, उसकी पूर्ति परमात्माकी प्राप्तिसे ही होगी। हमें त्रिलोकीका आधिपत्य मिल जाय, संसारमात्र मिल जाय, अनेक ब्रह्माण्ड मिल जायँ तो भी हमारी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होगी। न कामनाकी पूर्ति होगी, न आवश्यकताकी। क्योंकि जो कुछ

* कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं, कुछ पूरी नहीं होतीं—यह सबका अनुभव है। इससे सिद्ध होता है कि कामनाकी पूर्ति-अपूर्ति कामनाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधान (पूर्वकृत कर्मफल) के अधीन है।

मिलेगा, शरीरको ही मिलेगा, हमें (स्वयंको) नहीं मिलेगा। जड़ वस्तु चेतनतक कैसे पहुँच सकती है? परमात्माके अंशको परमात्माकी ही आवश्यकता है। मेरी मुक्ति हो जाय, मेरा कल्याण हो जाय, मेरेको तत्त्वज्ञान हो जाय, मैं सम्पूर्ण दु:खोंसे छूट जाऊँ, मेरेको महान् आनन्द मिल जाय, मेरेको भगवत्प्रेम मिल जाय—यह सब स्वयंकी आवश्यकता है। कामनाका तो त्याग ही होता है, पर आवश्यकताका त्याग कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। आवश्यकताकी तो पूर्ति ही होती है। जितने भी सन्त-महात्मा हो चुके हैं, उनकी कामनाओंका त्याग हुआ है और आवश्यकताकी पूर्ति हुई है। इसलिये गीतामें कामनाके त्यागपर बहुत जोर दिया गया है।

जहाँ जीवने प्रकृतिके अंशको पकड़ा है, वहींसे कामना और आवश्यकताका भेद उत्पन्न हुआ है। अगर जीव प्रकृतिके अंशको छोड़ दे तो कामनाका त्याग हो जायगा और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही कामनाओंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति स्वत: हो जाती है, क्योंकि परमात्मा सब जगह नित्य-निरन्तर विद्यमान हैं। परमात्माकी प्राप्तिमें संसारकी कामना ही बाधक है। जड़ताको साथमें रखनेसे ही आवश्यकताकी पूर्ति (परमात्मप्राप्ति) नहीं होती। साधन करनेवाले बहुत-से लोग सांसारिक कामनाकी पूर्तिकी तरह ही पारमार्थिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये भी उद्योग करते हैं। अर्थात् जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति चाहते हैं, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति होती नहीं, होनी सम्भव नहीं। किन्तु चेतनकी प्राप्ति जड़के त्यागसे ही होती है।

कामनाओंके त्यागसे आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है—यह नियम है। कामनाका त्याग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं। कामना किसीमें भी निरन्तर नहीं रहती, प्रत्युत उत्पन्न-नष्ट होती रहती है। परन्तु आवश्यकता निरन्तर रहती है। हमें सत्ता चाहिये तो नित्य सत्ता चाहिये, ज्ञान चाहिये तो अनन्त ज्ञान चाहिये, सुख चाहिये तो अनन्त सुख चाहिये—यह सत्-चित्-आनन्दकी आवश्यकता हमारेमें निरन्तर रहती है। निरन्तर न रहनेवाली कामनाको तो हम पकड़ लेते हैं, पर निरन्तर रहनेवाली आवश्यकताकी तरफ हम ध्यान ही नहीं देते—यह हमारी भूल है।

अगर हम कामनाओंका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी अथवा परमात्माकी प्राप्ति कर लें तो कामनाओंका त्याग हो जायगा। इन दोनोंको ही गीताने 'योग' कहा है—

'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।'

(६। २३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको योग नामसे जानना चाहिये।'

'समत्वं योग उच्यते'

(२। ४८)

'समत्व ही योग कहा जाता है।'

तात्पर्य है कि जड़ताका त्याग करना भी योग है और चिन्मयतामें स्थित होना भी योग है। दुःखरूप संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'दुःखसंयोग' है। दुःखोंका घर होनेसे संसार 'दुःखालय' है—**'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८। १५)। जैसे पुस्तकालयमें पुस्तकें मिलती हैं, वस्त्रालयमें वस्त्र मिलता है, भोजनालयमें भोजन मिलता है, ऐसे ही दुःखालयमें दुःख-ही-दुःख मिलता है।

दु:खालयमें सुख ही नहीं मिलता, फिर आनन्द तो दूर रहा! परन्तु परमात्मामें आनन्द-ही-आनन्द है—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**' (गीता ६। २२)। ऐसे महान् आनन्दकी ही हमें आवश्यकता है, जिसकी पूर्तिके लिये ही हमें यह मनुष्यजन्म मिला है।

मनुष्य अनन्तकालतक जन्मता-मरता रहे तो भी उसकी आवश्यकता मिटेगी नहीं और कामना टिकेगी नहीं। बाल्यावस्थामें खिलौनोंकी कामना होती है, फिर बड़े होनेपर रुपयोंकी कामना हो जाती है, फिर स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदिकी कामना हो जाती है। इस प्रकार कोई भी कामना टिकती नहीं, बदलती रहती है, पर आवश्यकता कभी मिटती नहीं, बदलती नहीं। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ही कर्मयोग, ज्ञानयोग,भक्तियोग ध्यानयोग आदि साधन हैं।

हम गृहस्थका त्याग कर दें, रुपयोंका त्याग कर दें, शरीरका त्याग कर दें तो आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। आवश्यकताकी पूर्ति इनकी इच्छाका त्याग करनेसे होगी। गृहस्थ बना रहे, रुपये बने रहें, शरीर बना रहे, मान-बड़ाई बनी रहे—यह असम्भव है। असम्भवकी इच्छा कभी पूरी होगी ही नहीं, प्रत्युत इच्छा करते हुए मर जायँगे और जन्म-मरणके चक्करमें वैसे ही पड़े रहेंगे। इच्छाकी कभी पूर्ति नहीं होगी और आवश्यकताका कभी त्याग नहीं होगा। कारण कि इच्छा शरीर (जड़) को लेकर है और उसका विषय नाशवान् है तथा आवश्यकता स्वयं (चेतन) को लेकर है और उसका विषय अविनाशी है। अतः चाहे इच्छाका त्याग कर दें तो योग सिद्ध हो जायगा—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' और चाहे आवश्यकताकी पूर्ति कर लें तो योग

सिद्ध हो जायगा—'**समत्वं योग उच्यते**'। जड़ताका त्याग भी योग है और समताकी प्राप्ति भी योग है। जड़ताके त्यागसे चिन्मयताकी प्राप्ति हो जायगी और चिन्मयताकी प्राप्तिसे जड़ताका त्याग हो जायगा। दोनों एक साथ कभी रहेंगे नहीं।

जैसे पानीसे भरा हुआ घड़ा हो तो उसको खाली करना है और उसमें आकाश भरना है—ये दो काम दीखते हैं। पर वास्तवमें दो काम नहीं हैं, प्रत्युत एक ही काम है—घड़ेको खाली करना। घड़ेमेंसे पानी निकाल दें तो आकाश अपने-आप भर जायगा। ऐसे ही संसारकी कामनाका त्याग करना और परमात्माकी आवश्यकता पूरी करना—ये दो काम नहीं हैं। संसारकी कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी आवश्यकता अपने-आप पूरी हो जायगी। केवल संसारकी इच्छासे ही परमात्मा अप्राप्त हो रहे हैं।

जीव, जगत् और परमात्मा—ये तीन ही वस्तुएँ हैं। जीव क्या है? मैं जीव हूँ। जगत् क्या है? यह जो दीख रहा है, यह जगत् है। परमात्मा क्या है? जो जीव और जगत् दोनोंका मालिक है, वह परमात्मा है। जीव और जगत्का तो विचार होता है, पर परमात्माका विचार नहीं होता, प्रत्युत विश्वास होता है। कारण कि विचारका विषय वह होता है, जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते। जिसके विषयमें कुछ नहीं जानते, उसपर विचार नहीं चलता। उसपर तो विश्वास ही किया जाता है। अतः विचार करके जगत्का त्याग करना है और श्रद्धा-विश्वास करके परमात्माको स्वीकार करना है। जड़ताका त्याग करनेमें कोई भी परतन्त्र नहीं है; क्योंकि जड़ता विजातीय है। साधक अधिक-से-अधिक अपने मनको परमात्मामें लगाता है। मन तो प्रकृतिका अंश होनेसे जड़ है और परमात्मा चेतन हैं। अतः मन परमात्मामें कैसे

लगेगा? जड़ तो जड़में ही लगेगा, चेतनमें कैसे लगेगा? वास्तवमें स्वयं (चेतन) ही परमात्मामें लगता है, मन नहीं लगता। जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसका मन लगता है। संसारमें मन लगानेसे वह संसारमें लग गया। जब वह परमात्मामें मन लगाता है, तब मन तो परमात्मामें नहीं लगता, पर स्वयं परमात्मामें लग जाता है। मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेसे मन विलीन हो जाता है, खत्म हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११। १४। २७)

'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता नहीं रहती।'

कामनाकी पूर्तिमें तो भविष्य है, पर आवश्यकताकी पूर्तिमें भविष्य नहीं है। कारण कि सांसारिक पदार्थ सदा सब जगह विद्यमान नहीं हैं, पर परमात्मा सदा सब जगह विद्यमान हैं। अनुभवमें न आये तो भी आँखें मीचकर, अन्धे होकर यह मान लें कि परमात्मा सब जगह मौजूद हैं—'**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**' (गीता १३। १५) 'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं।' इस प्रकार सब जगह, सब समय, सब वस्तुओंमें, सब व्यक्तियोंमें, सब क्रियाओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें परमात्माको देखते रहनेसे इच्छा नष्ट हो जायगी और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी।

शरीर और संसार एक ही जातिके हैं—'**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥**' (मानस, कि० ११। २)। शरीर हमारे साथ एक क्षण भी नहीं रहता। यह निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। परन्तु भगवान् निरन्तर हमारे हृदयमें विराजमान रहते हैं—'**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (गीता १३। १७), '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८। ६१)। तात्पर्य है कि हमें जिसका त्याग करना है, उसका निरन्तर त्याग हो रहा है और जिसको प्राप्त करना है, वह निरन्तर प्राप्त हो रहा है। केवल भोग भोगना और संग्रह करना—इन दो इच्छाओंका हमें त्याग करना है। ये दो इच्छाएँ ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधक हैं। भोग और संग्रहका, शरीरका त्याग तो अपने-आप हो रहा है। जैसे बालकपना चला गया, ऐसे ही जवानी भी चली जायगी, वृद्धावस्था भी चली जायगी, व्यक्ति भी चले जायँगे, पदार्थ भी चले जायँगे। केवल उनकी इच्छाका त्याग करना है, उनको अस्वीकार करना है। परन्तु परमात्मा निरन्तर हमारे साथ रहते हैं। वे हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं हैं। परमात्माको मानें तो भी वे हैं, न मानें तो भी वे हैं, स्वीकार करें तो भी वे हैं, अस्वीकार करें तो भी वे हैं। परन्तु संसार हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर करता है। संसारको स्वीकार करें तो वह है, अस्वीकार करें तो वह नहीं है। अगर संसार मनुष्यकी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं होता तो फिर कोई भी मनुष्य संसारसे असंग नहीं हो सकता, साधु नहीं बन सकता। संसार निरन्तर अलग हो रहा है और परमात्मा कभी अलग नहीं होते। केवल संसारकी इच्छाका त्याग करना है और परमात्माकी आवश्यकताका अनुभव करना है। फिर संसारका त्याग

और परमात्माकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है।

किसीकी भी ताकत नहीं है कि वह शरीर-संसारको अपने साथ रख सके अथवा खुद उनके साथ रह सके। न हम उनके साथ रह सकते हैं, न वे हमारे साथ रह सकते हैं, क्योंकि वे हमारे नहीं हैं। संसारका कोई भी सुख सदा नहीं रहता; क्योंकि वह सुख हमारा नहीं है। उसकी इच्छाका त्याग करना ही पड़ेगा। संसारको सत्ता भी हमने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। वास्तवमें संसारकी सत्ता है नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। संसार एक क्षण भी टिकता नहीं है। हमें वहम होता है कि हम जी रहे हैं, पर वास्तवमें हम मर रहे हैं। मान लें, हमारी कुल आयु अस्सी वर्षकी है और उसमेंसे बीस वर्ष बीत गये तो अब हमारी आयु अस्सी वर्षकी नहीं रही, प्रत्युत साठ वर्षकी रह गयी। हम सोचते हैं कि हम इतने वर्ष बड़े हो गये हैं, पर वास्तवमें छोटे हो गये हैं। जितनी उम्र बीत रही है, उतनी ही मौत नजदीक आ रही है। जितने वर्ष बीत गये, उतने तो हम मर ही गये। अतः जो निरन्तर छूट रहा है, उसको ही छोड़ना है और जो निरन्तर विद्यमान है उसको ही प्राप्त करना है।

हमने जिद कर ली है कि हम संसारको पकड़ेंगे, छोड़ेंगे नहीं तो भगवान्‌ने भी जिद कर ली है कि मैं छुड़ा दूँगा, रहने दूँगा नहीं। हम बालकपना पकड़ते हैं तो भगवान् उसको नहीं रहने देते, हम जवानी पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम वृद्धावस्था पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम धनवत्ता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम नीरोगता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते। हम नया-नया पकड़ते रहते हैं और भगवान् छुड़ाते रहते हैं! यह भगवान्‌की अत्यन्त कृपालुता है! वे हमारा क्रियात्मक

आवाहन करते हैं कि तुम संसारमें न फँसकर मेरी तरफ चले आओ। अगर हम संसारको पकड़ना छोड़ दें तो महान् आनन्द मिल जायगा। जब कभी हमें शान्ति मिलेगी तो वह कामनाओंके त्यागसे ही मिलेगी—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

दूसरोंकी सेवा करनेसे बड़ी सुगमतासे इच्छाका त्याग होता है। गरीब, अपाहिज, बीमार, बालक, विधवा, गाय आदिकी सेवा करनेसे इच्छाएँ मिटती हैं। एक साधु कहते थे कि जब मेरा विवाह हुआ था, एक दिन मेरेको एक आम मिला। पर मैंने वह आम अपनी स्त्रीको दे दिया। इससे मेरे भीतर यह विचार उठा कि वह आम मैं खुद भी खा सकता था, पर मैंने खुद न खाकर स्त्रीको क्यों दिया? इससे मेरेको यह शिक्षा मिली कि दूसरेको सुख पहुँचानेसे अपने सुखकी इच्छा मिटती है। इसका नाम 'कर्मयोग' है।

संसारकी इच्छा शरीरकी प्रधानतासे होती है। अतः विवेक-विचारपूर्वक शरीरके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेसे, दूसरोंको सुख पहुँचानेसे इच्छा सुगमतापूर्वक मिट जाती है। सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि एक-दूसरेको सुख पहुँचानेसे, सेवा करनेसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है—'**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**' (गीता ३। ११)। शरीर संसारसे ही पैदा हुआ है, संसारसे ही पला है, संसारसे ही शिक्षित हुआ है, संसारमें ही रहता है और संसारमें ही लीन हो जाता है अर्थात् संसारके सिवाय शरीरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः संसारसे मिले हुएको ईमानदारीके साथ संसारकी सेवामें अर्पित कर दें। जो कुछ करें, संसारके हितके लिये ही करें। केवल संसारके हितका ही चिन्तन करें, हितका ही भाव रखें, साथमें अपने आराम, मान-बड़ाई, सुख-सुविधा आदिकी इच्छा न रखें तो परमात्माकी प्राप्ति हो

जायगी—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२। ४)।

दूसरोंको सुख पहुँचानेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न पहुँचाना बहुत ऊँची सेवा है। सुख पहुँचानेसे सीमित सेवा होती है, पर दुःख न पहुँचानेसे असीम सेवा होती है। भलाई करनेसे ऊपरसे भलाई होती है, पर बुराई न करनेसे भीतरसे भलाई अंकुरित होती है। बुराईका त्याग करनेके लिये तीन बातोंका पालन आवश्यक है—(१) किसीको बुरा नहीं समझें (२) किसीका बुरा नहीं चाहें और (३) किसीका बुरा नहीं करें। इस प्रकार बुराईका सर्वथा त्याग करनेसे हमारी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।

विचारके द्वारा यह अनुभव करें कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। बचपनमें हमारा शरीर जैसा था, वैसा आज नहीं है और जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा, पर हम स्वयं वही हैं, जो बचपनमें थे। तात्पर्य है कि शरीर तो बदल गया, पर हम नहीं बदले। अतः शरीर हमारा साथी नहीं है। हम निरन्तर रहते हैं, पर शरीर निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत निरन्तर मिटता रहता है। इस विवेकको महत्त्व देनेसे तत्त्वज्ञान हो जायगा अर्थात् हमारी आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। इसका नाम 'ज्ञानयोग' है।

जब इच्छाओंको मिटानेमें अथवा आवश्यकताकी पूर्ति करनेमें अपनी शक्ति काम नहीं करती और साधकका यह विश्वास होता है कि केवल भगवान् ही अपने हैं और उनकी शक्तिसे ही मेरी आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, तब वह व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारता है, प्रार्थना करता है। भगवान्‌को पुकारनेसे

उसकी इच्छाएँ मिट जाती हैं। इसका नाम 'भक्तियोग' है।

संसारकी सत्ता मानकर उसको महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जो अप्राप्त है, वह संसार प्राप्त दीखने लग गया और जो प्राप्त है, वह परमात्मतत्त्व अप्राप्त दीखने लग गया। इसी कारण संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा (आवश्यकता) उत्पन्न हो गयी। अत: साधकको कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी साधनसे संसारकी इच्छाको सर्वथा मिटाना है। संसारकी इच्छा सर्वथा मिटते ही संसारकी सत्ता, महत्ता तथा सम्बन्ध नहीं रहेगा और जिनके हम अंश हैं, उन नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जायगा। फिर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहेगा अर्थात् मनुष्यजन्मकी पूर्णता हो जायगी।

५. देनेके भावसे कल्याण

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

परमात्मासे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और चेष्टा करते हैं। वे परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४)। 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' अतः साधक जो भी कर्म करे, उसमें वह ऐसा भाव रखे कि मैं उस परमात्माकी ही पूजा कर रहा हूँ। किसीके साथ बर्ताव करे तो वह परमात्माकी ही पूजा है। किसीसे बातचीत करे तो वह परमात्माका ही पूजन है। इस प्रकार पूजन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है—यह कितना सुगम, सरल साधन है!

एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। वे एक ही अनेक रूपोंमें हैं और अनेक रूपोंमें वे एक ही हैं। उन्हीं परमात्माका पूजन करना है और कुछ नहीं करना है। भाईलोग अपने कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करें, बहनें अपने कर्मोंसे। भाईलोग व्यापार करें, नौकरी करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें। बहनें रसोई

बनायें, बालकोंका पालन करें, घरका काम-धंधा करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें। भगवान् ही अनेक रूपोंमें हमारे सामने प्रकट हुए हैं। उस साक्षात् भगवान्‌की सेवासे बढ़कर और क्या अहोभाग्य होगा!

कुछ लेनेकी इच्छा रखकर सेवा करना भगवान्‌का पूजन नहीं है। जिस वस्तुको लेनेकी इच्छा होती है, उसकी सत्ता और महत्ता अपनेमें आ जाती है। अतः लेनेकी इच्छासे अपनेमें जड़ता आती है और देनेकी इच्छासे जड़ता मिटकर चेतनता आती है। जब मनुष्य साधक बनता है, तब वह लेनेके लिये नहीं बनता, प्रत्युत केवल देनेके लिये ही बनता है। जो कभी स्वप्नमें भी किसीसे कुछ लेना नहीं चाहता, केवल देना-ही-देना चाहता है, वही साधक होता है। लेना और देना—ये दोनों जिसमें हों, वह '**चिज्जड़ग्रन्थि**' है, जो जन्म-मरणका कारण है। जो अपना उद्धार चाहता है, चिज्जड़ग्रन्थिसे छूटना चाहता है, उसको लेना बन्द करके देना शुरू कर देना चाहिये। कहीं लेना भी पड़े तो वह भी देनेके लिये, दूसरेकी प्रसन्नताके लिये लेना है, अपने लिये नहीं। जो सुख लेता है, वह साधक नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। भोगीका पतन होता है। भोगी रोगी होता है। भोगीमें जड़ता आती है। भोगी पराधीन होता है। अतः जो लेता है, वह भोगी है और जो देता है, वह योगी है।

भगवान्‌से बढ़कर और कोई नहीं है; क्योंकि वे देते-ही-देते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने-आपको सबको सर्वथा सर्वदा समानरूपसे दे रखा है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५)। उनमें कोई कमी है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं, पर भक्तकी प्रसन्नताके लिये वे लेते हैं। गोपियोंकी प्रसन्नताके लिये ही वे उनका मक्खन लेते हैं। अतः

साधकको केवल देने-ही-देनेका भाव रखना चाहिये कि सबको सुख कैसे हो? सबको आराम कैसे हो? सबका भला कैसे हो? सबका कल्याण कैसे हो? सब सुखी कैसे हों? सबको प्रसन्नता कैसे हो? ऐसे भावोंसे दुनियामात्रकी सेवा होती है। यद्यपि भाव साधारण दीखता है और क्रिया बड़ी दीखती है, तथापि वास्तवमें भाव बहुत श्रेष्ठ है और क्रिया बहुत छोटी है। लाखों-करोड़ों रुपये लगा दें तो भी वह सीमित ही होगा, पर सेवाका भाव असीम होगा। असीमसे असीम (परमात्मा) की प्राप्ति होती है। सीमितसे असीमकी प्राप्ति नहीं होती।

कर्मयोगमें सेवा मुख्य है। कर्मयोगसे केवल मलदोष ही नहीं मिटता, प्रत्युत मल, विक्षेप और आवरण—सभी दोष सर्वथा मिट जाते हैं और तत्त्वज्ञान हो जाता है। वही सेवा अगर भगवान्‌की पूजा समझकर की जाय तो भक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि ज्ञान और भक्तिमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, तथापि भक्तिमें प्रेमका एक विशेष रस, विशेष आनन्द है। हाँ, ज्ञानमें भी विशेषताका अभाव नहीं है, पर उसमें प्रेम छिपा हुआ है, जबकि भक्तिमें प्रेम प्रकट है।

लेनेसे वस्तुका नाश और अपना पतन होता है। भोगी मनुष्य भोजन लेता है तो भोजनका नाश और अपना पतन करता है। अपनेको भोजनके अधीन स्वीकार किया, भोजनको अधिक महत्त्व देकर अपनी महत्ता कम कर ली—यही अपना पतन है। भोजनसे अपनी भूखका, खानेकी शक्तिका नाश होता है। भोजन कर नहीं सकते—इस असामर्थ्यको ही तृप्ति कह देते हैं! इसी तरह कपड़ा लेनेवाला कपड़ेका नाश करता है, मान-बड़ाई लेनेवाला मान-बड़ाईका नाश करता है, आदर लेनेवाला आदरका नाश करता है और अपना पतन करता है। परन्तु देनेवाला दूसरेकी सेवा करता है, वस्तुको सार्थक करता है और अपना उत्थान करता है। देनेवाला

मनुष्य ऊँचा उठ ही जाता है, नीचा नहीं रहता। लेनेवाला नीचा रहता है। देनेवालेका हाथ ऊँचा रहता है और लेनेवालेका हाथ नीचा रहता है।

सेवक, सेवा और सेव्य—ये तीन होते हैं। सेवा करते-करते जब सेवकपनेका अभिमान मिट जाता है, तब सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है। अभिमान मिटनेपर केवल सेवा-ही-सेवा रह जाती है। जैसे, गोस्वामीजी महाराजने रामायणकी रचना की तो अब रामायणके द्वारा समाजकी कितनी सेवा हो रही है! तात्पर्य है कि गोस्वामीजी महाराज ही सेवारूपसे हमारे सामने आये हैं। रामायण गोस्वामीजी महाराजका ही रूप है और रामायणरूपसे सबकी सेवा कर रहे हैं। उनकी सेव्य (परमात्मा) से अलग स्वतन्त्र स्थिति नहीं रही।

ज्ञानमार्गमें जब जिज्ञासुपनेका अभिमान मिट जाता है, तब केवल जिज्ञासा रहकर तत्त्वज्ञान हो जाता है। जबतक 'मैं जिज्ञासु हूँ' ऐसे जिज्ञासु रहता है, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता। जिज्ञासुपना मिटते ही तत्काल तत्त्वज्ञान हो जाता है। इसमें किसी गुरुकी जरूरत नहीं है। कारण कि वास्तवमें तत्त्वज्ञान होता नहीं है, प्रत्युत वह पहलेसे ही है। उत्पन्न होनेवाली चीज मिटनेवाली होती है। जो पैदा होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। ज्ञान नित्य है। यह उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं है। अज्ञानके मिटनेको ही ज्ञानका होना कह देते हैं। जैसे सूर्य उदय होता है, पैदा नहीं होता, ऐसे ही ज्ञान उदय (प्रकट) होता है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(गीता १३। १७)

'वह परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंका भी ज्योति और अज्ञानसे अत्यन्त परे कहा गया है। वह ज्ञानस्वरूप, जाननेयोग्य, ज्ञान (साधनसमुदाय) से प्राप्त करनेयोग्य और सबके हृदयमें विराजमान है।'

केवल हमारे अज्ञानके कारण वे प्रकट नहीं हो रहे हैं—**'अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'** (मानस, बाल० २३।४)। अज्ञान मिटते ही तत्त्वज्ञान ज्यों-का-त्यों है।

गृहस्थमें रहते हुए अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन बहुत सुगमतासे किया जा सकता है। एकान्तमें रहकर साधन करनेकी अपेक्षा समुदायमें रहकर साधन करना श्रेष्ठ है। समुदायमें रहकर साधन करनेवाला एकान्तमें भी साधन कर सकता है, पर एकान्तमें साधन करनेवाला समुदायमें रहकर साधन नहीं कर सकता—यह उसमें एक कमजोरी रहती है। गृहस्थ छोड़कर साधु बननेवाला कायर होता है। कायर भागता है, शूरवीर नहीं भागता। शूरवीरका साधन तेज होता है। इसलिये गृहस्थमें बड़े अच्छे सन्त हुए हैं।

त्यागी सोभा जगत में, करता है सब कोय।
हरिया गृहस्थी सन्तका, भेदी विरला होय॥

त्यागी सन्तकी महिमा तो सब जानते हैं और करते हैं, पर गृहस्थी गुप्त सन्तकी महिमा जाननेवाले विरले ही होते हैं। अतः गृहस्थमें रहते हुए दूसरोंकी सेवा करें, उनको सुख पहुँचायें, आराम पहुँचायें। अपना भाव सबके हितका रखें कि सब सुखी हो जायँ, सब नीरोग हो जायँ, सबका कल्याण हो, किसीको थोड़ा भी दुःख न हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

जिसका स्वभाव दूसरोंका हित करनेका होता है, उसके लिये

ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३१। ५)

सेवामें भावका ही महत्त्व है, वस्तुका नहीं। सेवाका भाव (असीम होनेसे) कल्याण करता है, वस्तु (सीमित होनेसे) कल्याण नहीं करती। एक सज्जन भगवान्‌से यह कहा करते थे कि 'महाराज! आप सबका पालन-पोषण करते ही हैं, थोड़ा मेरेको भी निमित्त बना दो, थोड़ी मैं भी सेवा कर लूँ! इससे मेरा मुफ्तमें ही कल्याण हो जायगा!' वास्तवमें कल्याणका मूल्य कोई चुका नहीं सकता। उसका मूल्य किसीके पास नहीं है। अपने-आपको दे दे—यही उसका मूल्य है!

अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। पशु-पक्षी सेवा नहीं कर सकते। उनसे सेवा ले सकते हैं; जैसे—वृक्षोंसे फल, फूल, पत्ते, लकड़ी आदि ले सकते हैं, पशुओंसे दूध आदि ले सकते हैं, पर वे हमें दे नहीं सकते। देनेवाला केवल मनुष्य ही है। मनुष्य इतना विलक्षण है कि वह अपनेको भी देता है, संसारको भी देता है और भगवान्‌को भी देता है अर्थात् अपना कल्याण करता है, संसारकी सेवा करता है और भगवान्‌को राजी करता है! सेवा करनेवालेको दुनियाकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है। भगवान् भी भावके भूखे हैं; अतः उनको भी प्रेमकी गरज रहती है! ऐसा उत्तम मनुष्यशरीर हमें मिला है! यह कोई मामूली चीज नहीं है। यह भगवान्‌की बहुत बड़ी देन है। बिना हेतु स्नेह करनेवाले प्रभुने कृपा करके यह मानवशरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४। ३)

ऐसा मानवशरीर पाकर अब देना-ही-देना शुरू कर दें। लेना पशुता है और देना मनुष्यता है। देना शुरू करते ही मनुष्य साधक हो जाता है और जब देना-ही-देना रह जाता है, तब वह सिद्ध हो जाता है, भगवान्‌के बराबर हो जाता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

देवर्षि नारदजी कहते हैं—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।

(भक्तिसूत्र ४१)

'भगवान् और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।'

यतस्तदीयाः।

(भक्तिसूत्र ७३)

'कारण कि भक्त भगवान्‌के ही हैं।'

६. भक्तिकी अलौकिक विलक्षणता

जिस साधनमें अपना उद्योग मुख्य होता है, वह लौकिक होता है और जिस साधनमें भगवान्‌का आश्रय मुख्य होता है, वह अलौकिक होता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक साधन हैं; क्योंकि इनमें अपना उद्योग मुख्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६। ५) 'अपने द्वारा अपना उद्धार करें'। परन्तु भक्तियोग अलौकि साधन है; क्योंकि इसमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं—'**तेषामहं समुद्धर्ता**' (गीता १२। ७) 'उनका उद्धार मैं करता हूँ'। तात्पर्य है कि भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है अन्यथा सब लौकिक ही है।

लौकिक साधनमें जगत् और जीवकी मुख्यता होती है; क्योंकि 'यह संसार है और मैं हूँ'—इस प्रकार जगत् और जीव दोनों हमारे प्रत्यक्ष होनेसे लौकिक हैं। परन्तु अलौकिक साधनमें भगवान्‌की मुख्यता होती है; क्योंकि भगवान् हमारे प्रत्यक्ष न होनेसे अलौकिक हैं। यद्यपि लौकिक और अलौकिक—दोनों ही साधनोंमें विवेक-विचार और श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता है, तथापि लौकिक साधनमें विवेक-विचारकी मुख्यता है और अलौकिक साधनमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है। तात्पर्य है कि जगत्‌के लिये और अपने लिये 'विचार' की आवश्यकता है एवं भगवान्‌के लिये 'विश्वास' की आवश्यकता है।

विचारकी आवश्यकता उस विषयमें होती है, जिस विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते अर्थात् अधूरा जानते हैं। जगत् और स्वयंके विषयमें हम यह तो जानते हैं कि 'संसार है और मैं हूँ', पर 'संसार क्या है? मैं क्या हूँ? इनका स्वरूप क्या है?'—इस प्रकार हम इनको तत्त्वसे (यथार्थ रूपसे) नहीं जानते। इसलिये जगत् और जीव—दोनों विचारके विषय हैं।

विश्वासकी आवश्यकता उस विषयमें होती है, जिस विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते, जो हमारे लिये सर्वथा अज्ञात है। भगवान्‌के विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते, इसलिये भगवान् विश्वासके विषय हैं। तात्पर्य है कि 'भगवान् हैं'—इस प्रकार उनपर विश्वास ही हो सकता है, 'वे कैसे हैं'—इस प्रकार उनपर विचार नहीं हो सकता, तर्क नहीं चल सकता। भगवान्‌को मानने अथवा न माननेमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

जिसको हम देखते हैं अथवा जानते हैं, उसपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि वह तो हमारे सामने ही है। विश्वास उसीपर होता है, जिसको देखा अथवा जाना नहीं है, प्रत्युत सुना और माना है। जैसे माता-पिताको हमने देखा अथवा जाना नहीं है, प्रत्युत सुना और माना है। तात्पर्य है कि माता-पिताको हम केवल विश्वासके आधारपर ही अपना मानते हैं, इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌को भी हम शास्त्रोंसे अथवा सन्तोंसे सुनकर मानते हैं। शास्त्र और सन्त भगवान्‌के विषयमें कहते हैं कि भगवान् हमारे हैं, हमारेमें हैं, अभी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वसुहृद् हैं, सर्वसमर्थ हैं और अद्वितीय हैं। इसपर विश्वास करना हमारा काम है और विश्वास करने अथवा न करनेमें हम स्वतन्त्र हैं।

भगवान्‌को प्राप्त तो कर सकते हैं, पर उनका वर्णन, चिन्तन, ध्यान नहीं कर सकते। प्राप्त इसलिये कर सकते हैं कि हम उनके ही अंश हैं। भगवान्‌की पूरी महिमाको बतानेवाला कोई शब्द,

विशेषण, युक्ति या दृष्टान्त संसारकी किसी भाषामें है ही नहीं। भगवान् तो सर्वथा ही अलौकिक हैं। इसलिये शास्त्रोंसे अथवा सन्तोंसे सुनकर हम भगवान्‌को मान तो सकते हैं, पर जान नहीं सकते। भगवान्‌को केवल विश्वाससे और उनकी कृपासे ही जान सकते हैं*। इसके सिवाय और कोई उपाय है ही नहीं।

वास्तवमें किसी-न-किसीपर विश्वास किये बिना मनुष्य रह सकता ही नहीं। अगर वह भगवान्‌पर विश्वास नहीं करेगा तो फिर अपने-आपपर अथवा संसारपर विश्वास करेगा। अपने-आपपर विश्वास करनेसे अगर वह शरीरको अपना स्वरूप मान लेगा तो उससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होगी—'**देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति**'†। शरीर-संसारपर विश्वास करना महान् घातक है। शरीर-संसारपर विश्वास करके ही जीव जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा है, अन्य कोई कारण नहीं है। इसी तरह भगवान्‌पर विवेक-विचार करना भी महान् घातक है; क्योंकि ऐसा करनेसे मनुष्य भगवान्‌को बुद्धिका विषय बना लेगा और कोरी बातें सीख जायगा, हाथ कुछ लगेगा नहीं! सीखा हुआ ज्ञान अभिमान पैदा करता है और भगवान्‌से विमुख करता है, जो मनुष्यके पतनका हेतु है।

संसारपर विश्वास करनेसे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। जैसे, वस्तुपर विश्वास करनेसे लोभ उत्पन्न होता है। व्यक्ति (शरीर) पर

---

* सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
(मानस, अयोध्या० १२७। २)

† अगर मनुष्य अपने-आपको शरीर मानकर उसपर विश्वास करेगा तो उसका वही परिणाम होगा, जो संसारपर विश्वास करनेका होता है; क्योंकि शरीर और संसार एक हैं। अगर वह अपने-आपको सत्तामात्र मानकर विश्वास करेगा तो उसका वही परिणाम होगा, जो परमात्मापर विश्वास करनेका होता है; क्योंकि अपनी सत्ता और परमात्माकी सत्ता एक है।

विश्वास करनेसे मोह उत्पन्न होता है। परिस्थितिपर विश्वास करनेसे अभिमान उत्पन्न होता है कि 'मैं बड़ा धनी हूँ, ऊँचे पदवाला हूँ' आदि, अथवा दीनता उत्पन्न होती है कि 'मेरे पास कुछ नहीं है, मैं बड़ा अभागा हूँ' आदि। अवस्थापर विश्वास करनेसे परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है कि 'मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ' आदि। यद्यपि कोई भी मनुष्य दोषी नहीं बनना चाहता, तथापि नाशवान्‌पर विश्वास करके वह न चाहते हुए भी दोषी बन ही जाता है। कारण कि नाशवान्‌पर विश्वास ही एक ऐसा दोष है, जिससे अनन्त दोष पैदा होते हैं।

मनुष्य देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, घटना, परिस्थिति और अवस्थाके परिवर्तनका भी अनुभव करता है और अभावका भी। फिर भी वह उसपर विश्वास करता है तो यह अन्धविश्वास है। वास्तवमें विश्वास अन्धा ही होता है। विश्वासकी आँख नहीं होती और जहाँ आँख होती है, वहाँ विश्वास नहीं होता। कारण कि जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसपर विश्वास क्या करें? परन्तु जैसा दीखता है, वैसा न मानकर और तरहसे मानना 'अन्धविश्वास' कहलाता है; जैसे—संसार प्रत्यक्ष बदलते हुए और नष्ट होते हुए दीखता है, फिर भी उसपर विश्वास करना 'अन्धविश्वास' है। विवेक-विरुद्ध विश्वास ही अन्धविश्वास होता है। इस अन्धविश्वासका परिणाम यह होता है कि वह अधर्मको धर्म और उलटेको सुलटा मान लेता है*! वह पराधीनताको स्वाधीनता, तुच्छताको श्रेष्ठता, पतनको उत्थान मान लेता है। मनुष्य भगवान्‌का अंश होनेके नाते स्वयं बड़ा है, पर संसारपर विश्वास करके वह उसके अधीन हो जाता है, छोटा हो जाता है और इसको अपना बड़प्पन मान लेता है। संसारमें जितना

* अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ (गीता १८। ३२)

दुःख हो रहा है, सन्ताप हो रहा है, अनर्थ हो रहा है, जन्म-मरण हो रहा है, वह सब संसारपर विश्वास करनेसे ही हो रहा है।

मनुष्य सोचता है कि हमारे पास धन हो जायगा तो हम बड़े आदमी हो जायँगे। जिसके पास थोड़ा धन हो, उसको छोटी पार्टी कहते हैं और जिसके पास ज्यादा धन हो, उसको बड़ी पार्टी कहते हैं तो बड़ा धन ही हुआ, पार्टीकी तो फजीती हुई! तात्पर्य है कि अगर धनके कारण मनुष्य अपनेको बड़ा मानता है तो धन बड़ा हुआ, मनुष्य छोटा (निकृष्ट) हुआ। पदके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो पद बड़ा हुआ, वह छोटा हुआ। चेलोंके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो चेले बड़े हुए, वह छोटा हुआ। लोग हमें बहुत मानते हैं, इसलिये हम बड़े हो गये तो वास्तवमें लोग बड़े हुए, खुद तो छोटा ही हुआ। हम ब्राह्मण हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें जाति बड़ी हुई, खुद तो छोटा ही हुआ। हम साधु हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें आश्रम बड़ा हुआ, खुद तो छोटा ही हुआ। हम मिनिस्टर हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें मिनिस्टरी बड़ी हुई, खुद तो छोटा ही हुआ। इस प्रकार बल, विद्या, मान, आदर, प्रशंसा आदि जिस चीजसे मनुष्य अपनेको बड़ा मानता है, वह चीज तो बड़ी हो जाती है और मनुष्य छोटा हो जाता है। परन्तु छोटा होनेपर भी वह अपनेको बड़ा मान लेता है! नाशवान्‌के सम्बन्धसे उसको यह होश ही नहीं रहता कि दूसरी वस्तुके कारण मैं बड़ा कैसे हुआ? स्वयं अविनाशी और अपरिवर्तनशील होते हुए भी वह विनाशी और परिवर्तनशीलसे अपनी उन्नति, बड़प्पन मानता है—यह कितने आश्चर्यकी बात है! सांसारिक वस्तुओंसे अपनेको बड़ा मानना वास्तवमें हमारी फजीती है, पतन है, परतन्त्रता है, निन्दा है, तुच्छता है।

मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीके पराधीन हो जाता

है। इच्छा करनेवाला तो छोटा हो जाता है, पर इच्छित वस्तु बड़ी हो जाती है। परन्तु वह भगवान्‌की इच्छा करता है तो वह बड़ा हो जाता है अर्थात् उसका वास्तविक बड़प्पन प्रकट हो जाता है। कारण कि भगवान् बड़े हैं, इसलिये वे दूसरेको भी बड़ा ही बनाते हैं। परन्तु संसार तुच्छ है, इसलिये वह दूसरेको भी तुच्छ ही बनाता है।

प्रकृति और उसका कार्य शरीर तथा संसार 'पर' अर्थात् दूसरा है। जो 'पर' को लेकर अपनेको बड़ा मानता है, वह वास्तवमें पराधीन ही हो जाता है। परन्तु भगवान् 'स्वकीय' अर्थात् अपने हैं। जो अपना होता है, उसकी अधीनता पराधीनता नहीं होती। जैसे माँ अपनी होती है तो उसके अधीन होना गुण है, अवगुण नहीं है। लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं कि यह मातृभक्त अथवा पितृभक्त है। उसकी कोई निन्दा नहीं करता कि यह तो माँका गुलाम है! कारण कि शरीरकी दृष्टिसे माता-पिता हमसे बड़े हैं। भगवान् स्वरूपकी दृष्टिसे अपने हैं, इसलिये भगवान्‌की अधीनता पराधीनता नहीं है, प्रत्युत स्वाधीनताका मूल है, स्वाधीन होनेका खास उपाय है। परन्तु जो सुख लेनेकी इच्छासे संसार या भगवान्‌को अपना मानता है, वह पराधीन हो जाता है। सुख चाहनेवाला कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। कारण कि 'पर' (शरीर) के अधीन हुए बिना सुखका भोग हो सकता ही नहीं।

'पर' को अपना मानना पराधीनताका मूल है। जबतक हम शरीरको अपना मानते रहेंगे, तबतक पराधीनता कभी छूटेगी नहीं, छूट सकती ही नहीं। शरीरके छूटनेपर भी पराधीनता नहीं छूटेगी। शरीर ('पर') तो बदलता रहेगा, पर पराधीनता निरन्तर रहेगी। शरीर टिकेगा नहीं और पराधीनता मिटेगी नहीं। अगर कोई कहे कि मुक्ति (स्वाधीनता) पानेके लिये तो शरीरकी सहायता लेनी

आवश्यक है, तो यह मान्यता भी ठीक नहीं है। स्वाधीनताका साधन पराधीन कैसे हो सकता है? पराधीनताके द्वारा स्वाधीनता कैसे प्राप्त हो सकती है? अतः मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, प्रेमको प्राप्त करनेमें शरीर सहायक नहीं है, प्रत्युत शरीरका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) सहायक है। त्यागका अर्थ है—शरीरमें अहंता-ममताका त्याग। बन्धन अहंता-ममतासे होता है, शरीरसे नहीं। शरीरको सत्ता और महत्ता देकर उसको अपना मानते हुए कभी मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये शरीरको आवश्यकतानुसार अन्न-जल-वस्त्र तो देना है, पर शरीरसे सम्बन्ध जोड़कर अन्न-जल-वस्त्र लेनेवाला नहीं बनना है। देनेवाला मालिक होता है और लेनेवाला गुलाम होता है। शरीरकी सेवा करनेवाला परतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत उससे कुछ चाहनेवाला परतन्त्र होता है। सेवा करनेवाला तो ऊँचा उठ जाता है, पर लेनेकी इच्छावालेका पतन ही होता है।

संसार तो दूसरेको पराधीन बनाता है, पर भगवान् किसीको कभी अपने पराधीन नहीं बनाते, प्रत्युत उसको अपने समान, अपना सखा बनाते हैं, जैसे, सुग्रीव भोगी था, विभीषण साधक था और निषादराज सिद्ध था, पर भगवान्ने उन तीनोंको ही अपना सखा बनाया। किसीको भी अपना चेला (अधीन) नहीं बनाया। भगवान् जीवको अपना सखा ही मानते हैं। उपनिषद्में आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३।१।१, श्वेताश्वतर० ४।६)

भगवान् जिस रीतिसे दूसरेको अपने समान बनाते हैं, उस रीतिसे दूसरा कोई अपने समान बना सकता ही नहीं। दूसरे तो अपनी वस्तुएँ देकर अपने बराबर बनाते हैं, पर भगवान् अपने-आपको देकर अपने बराबर बनाते हैं। जैसे, कोई राजा किसीको अपने समान बनाता है तो उसको अपना आधा राज्य दे देता है,

ऐसा नहीं कि उसको पूरा राज्य देकर खुद उसका दास बन जाय। परन्तु भगवान् अपने-आपको दे देते हैं और खुद भक्तके दास हो जाते हैं—

'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ।'

जैसे माँ प्रेमके कारण बालकके वशमें हो जाती है, ऐसे ही भगवान् प्रेमके कारण भक्तके वशमें हो जाते हैं। भगवान्‌का स्वभाव है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।' इसलिये जो भगवान्‌के अधीन होता है, भगवान् उसके अधीन हो जाते हैं, उसको सबसे बड़ा बना देते हैं।

'कोयला होय नहिं ऊजला सौ मन साबुन लगाय'— कोयलेपर सौ मन साबुन लगा दें तो भी वह साफ नहीं होगा; परन्तु उसको अग्निमें रख दें तो वह चमकने लगेगा; क्योंकि वह अग्निसे अलग होनेपर ही काला हुआ है। अगर चमकते कोयले (अंगार) से लकीर खींची जाय तो वह भी काली ही निकलेगी; क्योंकि वह अग्निसे अलग हो गयी। ऐसे ही जीव भगवान्‌से अलग होनेपर ही काला, तुच्छ हुआ है। अगर वह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ ले तो वह चमकने लगेगा। तात्पर्य है कि जीव भगवान्‌से अलग होकर अपनेको कितना ही बड़ा मान ले, त्रिलोकीका अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डोंका अधिपति हो जाय तो भी वास्तवमें वह छोटा-का-छोटा, त्रिलोकीका गुलाम ही रहेगा। परन्तु वह भगवान्‌का दास हो जाय तो बड़े-से-बड़ा (नरसे नारायण) हो जायगा। नाशवान्‌के साथ मिलनेसे अविनाशी (जीव) की फजीती ही है। उसकी इज्जत

तो अविनाशीके साथ मिलनेसे ही है।

संसारमें भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही दूसरेको बड़ा बनानेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं । सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

ये दोनों खुद बड़े हैं, इसलिये दूसरोंको भी बडा ही बनाते हैं, किसीको भी छोटा नहीं बनाते। कारण कि जो खुद छोटा होता है, वही दूसरेको छोटा बनाता है। जो खुद पराधीन होता है, वही दूसरेको पराधीन बनाता है। संसार कभी किसीको बड़ा बनाता ही नहीं, बना सकता ही नहीं। इसलिये जो संसारका आश्रय लेता है, वह छोटा हो जाता है। परन्तु जो भगवान्‌का आश्रय लेता है, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ता है, वह बड़ा हो जाता है—

बड़ सेयाँ बड़ होत है, ज्यों बामन भुज दंड।
तुलसी बड़े प्रताप ते, दंड गयउ ब्रह्मंड॥

जो सच्चे सन्त होते हैं, वे अपनी ओरसे किसीको अपना चेला नहीं बनाते। पारस तो लोहेको सोना बनाता है, अपने समान (पारस) नहीं बनाता; परन्तु सन्त दूसरेको भी अपने समान (सन्त) ही बनाते हैं—

पारस में अरु संत में, बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करे, यह कर आपु समान॥

ऐसे सच्चे सन्तका चेला बनना गुलामी नहीं है, प्रत्युत गुरुभक्ति है। ऐसा गुरुभक्त दुनियाका गुरु हो जाता है। परन्तु जिस सन्तके मनमें यह बात आती है कि मेरे इतने चेले हैं, इसलिये मैं बड़ा हूँ अथवा उसमें दूसरेको अपना चेला बनानेकी इच्छा होती है तो वह वास्तवमें चेलादास है, गुरु नहीं है। सच्चा गुरु चेलेके अधीन

नहीं होता, चेलेके कारण अपनेको बड़ा नहीं मानता और चेलेको अपने अधीन नहीं बनाता। उसका यह स्वभाव भी भगवान्‌से ही आया है।

भगवान्‌पर विश्वास करनेसे ही मनुष्य बड़ा होता है। भगवान्‌के सिवाय वह कहीं भी विश्वास करेगा तो उसकी फजीती-ही-फजीती होगी। इसलिये संसार विश्वास करनेयोग्य नहीं है। उसकी तो सेवा करना अथवा विचारपूर्वक त्याग करना ही उचित है। कर्मयोगी संसारको सच्चा मानकर निष्कामभावसे संसारकी ही वस्तुको संसारकी सेवामें लगा देता है और ज्ञानयोगी आत्माको ही सच्चा मानकर विचारपूर्वक शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करके असंगताका अनुभव करता है तो उन दोनोंकी मुक्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि जो ईश्वरको न मानकर कर्मयोग अथवा ज्ञानयोगका साधन करते हैं, उनकी भी मुक्ति हो जाती है, पराधीनता मिट जाती है। परन्तु भक्ति (प्रेम) की प्राप्ति तो ईश्वरको सच्चा माननेसे ही होती है। मुक्तिमें संसारका सम्बन्ध छूटता है और भक्तिमें भगवान्‌से सम्बन्ध जुड़ता है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है (गीता ५। ४-५) अर्थात् दोनोंके परिणाममें मनुष्य जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है, सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है, पराधीनतासे छूट जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परन्तु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं रसका अनुभव करनेवाला होता है, पर भक्ति-(प्रेम) में वह रसका दाता हो जाता है, भगवान्‌को भी रस देनेवाला हो जाता है! कारण कि ज्ञानस्वरूप भगवान् ज्ञानके भूखे (जिज्ञासु) नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे (प्रेम-पिपासु) हैं—'**एकाकी**

न रमते' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)। अतः प्रेमकी प्राप्ति होनेपर प्रेमी भक्त भगवान्‌को भी तृप्त करनेवाला हो जाता है। परन्तु उसमें यह विशेषता भी भगवान्‌से ही आती है, उसकी अपनी नहीं होती। तात्पर्य है कि जैसे कोई मनुष्य गङ्गाजलसे गङ्गाकी पूजा करे तो इसमें गङ्गाकी ही विशेषता हुई, खुद मनुष्यकी क्या विशेषता हुई? ऐसे ही भक्त भगवान्‌के दिये हुए प्रेमसे ही भगवान्‌की भूख मिटाता है।

भगवान्‌ने मनुष्यको तीन शक्तियाँ प्रदान की हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। प्राप्त करनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं है, इसलिये संसारकी कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती, हो सकती ही नहीं। संसार एक क्षण भी नहीं टिकता, निरन्तर बदलता रहता है, फिर वह प्राप्त कैसे हो सकता है? अगर संसार वास्तवमें प्राप्त होता तो कभी बिछुड़ता नहीं और हमारी भी सदाके लिये तृप्ति हो जाती। परन्तु संसारसे कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत तृष्णा बढ़ती है—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**'। भोगोंसे होनेवाली थकावटको ही मनुष्य भूलसे तृप्ति मान लेता है; जैसे—भोजन करते-करते जब और खानेकी सामर्थ्य नहीं रहती अर्थात् थकावट (असमर्थता) हो जाती है, तब उसको तृप्ति कह देते हैं। परन्तु वास्तवमें यह तृप्ति नहीं होती, इसलिये पुनः भूख लग जाती है। प्राप्ति वास्तवमें परमात्माकी ही होती है, जो एक बार होती है और सदाके लिये होती है। कारण कि वास्तवमें परमात्मा सबको नित्य प्राप्त हैं, केवल अप्राप्तिका वहम मिटता है।

'करने' और 'जानने' की शक्तिका सदुपयोग करके मनुष्य शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूपका बोध कर सकता है। परन्तु 'मानने' की शक्तिका सदुपयोग करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूप-बोधके साथ-साथ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भी हो

जाती है। तात्पर्य है कि यद्यपि लौकिक साधन (कर्मयोग और ज्ञानयोग) मनुष्यके करनेका है, तथापि भगवान्‌पर विश्वास करनेसे जो काम साधकको करना चाहिये, वह काम (मुक्ति) भी भगवान् कर देते हैं और जो काम भगवान्‌के करनेका है, वह काम (दर्शन और प्रेम) भी भगवान् कर देते हैं* (गीता १०। १०-११)। जैसे किसी नगरमें एक व्यक्ति अपने घरमें बन्द है। उस नगरके सब घर नगरकी चहारदीवारी (परकोटे) में बन्द हैं। अगर वह व्यक्ति अपने घरसे निकलना चाहे तो यह उसके हाथकी बात है, पर नगरकी चहारदीवारीसे निकलना उसके हाथकी बात नहीं है, प्रत्युत वहाँके राजाके हाथकी बात है। अगर राजा चाहे तो वह चहारदीवारीका दरवाजा भी खोल सकता है और उस व्यक्तिके घरका दरवाजा भी खोल सकता है, न खुले तो तोड़ भी सकता है। ऐसे ही भगवान् भक्तका सब काम कर देते हैं, उसके करनेयोग्य काम भी कर देते हैं और अपने करनेयोग्य काम भी कर देते हैं! तात्पर्य है कि विवेक-विचारसे तो केवल लौकिक साधन सिद्ध होता है, पर विश्वाससे लौकिक और अलौकिक दोनों साधन सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये माननेकी शक्ति (विश्वास) क्रियाशक्ति और विवेकशक्तिसे भी श्रेष्ठ और विलक्षण है।

शरीर भी हमारा नहीं है, मन-बुद्धि-प्राण भी हमारे नहीं हैं और उनके द्वारा होनेवाले चिन्तन-ध्यान-समाधि भी हमारे नहीं हैं—इस प्रकार 'पर' को अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको अपना न माननेसे मनुष्य स्वाधीन (मुक्त) हो जाता है, उसकी पराधीनता सर्वथा मिट जाती है। स्वाधीन होनेपर मनुष्य भगवत्प्रेम-

---

* मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥
(मानस, अरण्य० ३६। ५)

'जीव पाव निज सहज सरूपा'—यह कर्मयोग और ज्ञानयोगका फल है।

का अधिकारी हो जाता है; क्योंकि जो पराधीन है, वह प्रेम नहीं करता, प्रत्युत मोह करता है। प्रेमकी प्राप्ति 'पर' के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत 'पर' के त्यागसे और 'स्वकीय' के द्वारा होती है। परन्तु भगवान्‌की कृपासे स्वाधीन अर्थात् मुक्त होनेसे पहले भी प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। जब भक्त विश्वासपूर्वक केवल भगवान्‌को अपना मान लेता है, तब उसका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। कारण कि प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, तप, योग्यता आदिसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे होती है। बल, तप, योग्यता आदिके द्वारा जो वस्तु मिलेगी, वह बल, तप आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनसे साध्य मिलेगा तो वह साधनसे छोटा ही होगा। इसलिये भगवान्‌को अपना माने बिना और कोई प्रेम-प्राप्तिका उपाय हो ही नहीं सकता। भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, यह नहीं देखते कि वह बद्ध है या मुक्त*। जैसे बालक माँको पुकारता है तो माँ बच्चेकी योग्यता, बल, विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमें ले लेती है, ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असन्तुष्ट होकर, पराधीनतासे व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं। तात्पर्य है कि शरीर-संसारको अपना न माननेसे लौकिक साधन सिद्ध हो जाता है और भगवान्‌को अपना माननेसे अलौकिक साधन सिद्ध हो जाता है।

जिनमें मुक्तिकी इच्छा है और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानते हैं, ऐसे साधक प्रेम (भक्ति) की प्राप्ति तो दूर रही, प्रेमकी बातको भी समझ नहीं सकते! जैसे स्वार्थी आदमीकी दृष्टि दूसरेके हितकी तरफ जाती ही नहीं, ऐसे ही लौकिक साधनावाले मनुष्यकी दृष्टि

---

* रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
(मानस, बाल० २९। ३)

अलौकिक प्रेमकी तरफ जाती ही नहीं। उसमें प्रेम-तत्त्वको समझनेकी सामर्थ्य ही नहीं होती। प्रेमकी बातको वही समझ सकता है, जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास है, भगवान्‌की कृपाका आश्रय है और जो भक्ति, भक्त और भगवान्‌का तिरस्कार नहीं करता, ऐसा साधक अगर मुक्त हो जाय तो उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अतः भगवान् कृपापूर्वक उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका करके प्रेमका अनन्तरस प्रदान कर देते हैं। अगर वह पहलेसे ही भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके अपनापन कर ले तो भगवान् कृपापूर्वक उसको मुक्ति और भक्ति (प्रेम)-दोनों प्रदान कर देते हैं।

७. भगवल्लीलाका तत्त्व

कर्म, क्रिया और लीला—तीनों एक दीखते हुए भी वास्तवमें सर्वथा भिन्न हैं। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक किया जाय तथा अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेवाला हो, वह 'कर्म' होता है। जो कर्तृत्वाभिमान-पूर्वक न की जाय तथा जो फल देनेवाली भी न हो, वह 'क्रिया' होती है; जैसे—श्वासोंका चलना, आँखोंका खुलना और बन्द होना आदि। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छासे रहित तो होती ही है, साथ-साथ दिव्य तथा दुनियामात्रका हित करनेवाली भी होती है, वह 'लीला' होती है। सांसारिक लोगोंके द्वारा 'कर्म' होता है, मुक्त पुरुषोंके द्वारा 'क्रिया' होती है और भगवान्‌के द्वारा 'लीला' होती है—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'

(ब्रह्मसूत्र २। १। ३३)

'ईश्वरका सृष्टि रचना आदि कार्य लोकमें तत्त्वज्ञ महापुरुषोंकी तरह केवल लीलामात्र है।'

भगवान्‌की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया 'लीला' होती है। लीलामें भगवान् सामान्य मनुष्यों-जैसी क्रिया करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं*। भगवान्‌की लीला दिव्य होती

---

* तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (गीता ४। १३)

'उस (सृष्टि-रचना आदि) का कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।'

है—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**' (गीता ४। ९)। यह दिव्यता देवताओंकी दिव्यतासे भी विलक्षण होती है। देवताओंकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे होनेके कारण सापेक्ष और सीमित होती है, पर भगवान्‌की दिव्यता निरपेक्ष और असीम होती है। यद्यपि जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी क्रियाएँ भी दिव्य होती हैं, तथापि वे भी भगवल्लीलाके समान नहीं होतीं। भगवान्‌की साधारण लौकिक लीला भी अत्यन्त अलौकिक होती है। जैसे, भगवान्‌की रासलीला लौकिक दीखती है, पर उसको पढ़ने-सुननेसे साधककी कामवृत्तिका नाश हो जाता है*।

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु जीवने भोगासक्तिके कारण जगत्‌को भगवद्‌रूपसे स्वीकार न करके नाशवान् जगत्-रूपसे ही धारण कर रखा है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इस धारणाको मिटानेके लिये साधकको दृढ़तासे ऐसा मानना चाहिये कि जो दीख रहा है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और जो हो रहा है, वह भगवान्‌की लीला है। ऐसा मानने (स्वीकार करने) पर जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहेगा और

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। (गीता ४। १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते।'

* विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ४०)

'परीक्षित्! जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रास-विलासका श्रद्धाके साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान्‌के चरणोंमें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदयके रोग—कामविकारसे छुटकारा पा जाता है। उसका कामभाव सदाके लिये नष्ट हो जाता है।'

'भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—इसका अनुभव हो जायगा। दूसरे शब्दोंमें, संसार लुप्त हो जायगा और केवल भगवान् रह जायँगे। कारण कि प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्तिको भगवान्‌का स्वरूप और प्रत्येक क्रियाको भगवल्लीला माननेसे भोगासक्ति, राग-द्वेष नहीं रहेंगे। भोगासक्तिका नाश होनेपर जो क्रियाएँ पहले लौकिक दीखती थीं, वही क्रियाएँ अलौकिक भगवल्लीला-रूपसे दीखने लगेंगी और जहाँ पहले भोगासक्ति थी, वहाँ भगवत्प्रेम हो जायगा।

साधकको ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं, उसीके अनुरूप लीला करते हैं*। जब वे अर्चावतार अर्थात् मूर्तिका रूप धारण करते हैं, तब वे मूर्तिकी तरह ही अचल

---

* भगवान् श्रीकृष्ण उत्तङ्क ऋषिसे कहते हैं—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥

(महा० आश्व० ५४। १७—१९)

'भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है।'

'जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

'जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर मैं उन्हींके आचार-विचारका यथावत्-रूपसे पालन करता हूँ।'

रहनेकी लीला करते हैं। अगर वे अचल नहीं रहेंगे तो वह अर्चावतार कैसे रहेगा? भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। उन्होंने जैसा रूप धारण किया, वैसी ही लीला की। जैसे, वराहावतारमें भगवान्‌ने सूअर बनकर लीला की और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण बनकर लीला की।

भगवल्लीलाको पढ़ने-सुननेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, संसारकी आसक्ति मिटती है और भगवान्‌में प्रेम होता है। ज्ञानस्वरूप भगवान् शंकर, ब्रह्माजी, सनकादिक ऋषि, देवर्षि नारद आदि भी भगवान्‌की लीलाओंको गाकर और सुनकर प्रेममग्न हो जाते हैं। भगवान् अवतार लेकर जिन स्थानोंमें लीलाएँ करते हैं, वे स्थान भी इतने पवित्र हो जाते हैं कि उनमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निवास करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। इसका कारण यह है कि भगवान् मात्र जीवोंका कल्याण करनेके उद्देश्यसे ही अवतार लेकर लीलाएँ करते हैं—'**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।**' (श्रीमद्भा० १०। २९। १४)।

८. आकस्मिक और अकाल मृत्यु

एक 'आकस्मिक मृत्यु' होती है और एक 'अकाल मृत्यु' होती है। दोनोंका भेद न जाननेके कारण लोग आकस्मिक मृत्युको भी अकाल मृत्यु कह देते हैं, जबकि वह अकाल मृत्यु होती नहीं। इसलिये दोनोंका भेद जानना आवश्यक है।

कोई आदमी मरना चाहता नहीं, पर अचानक उसकी मृत्यु हो जाय अर्थात् वह किसी दुर्घटना-(एक्सीडेंट) में मर जाय, मकानसे गिरकर मर जाय, साँप काटनेसे मर जाय, नदीमें डूबकर मर जाय, बिजलीसे मर जाय, भूकम्प आदिसे मर जाय तो यह उसकी **'आकस्मिक मृत्यु'** है।

कोई आदमी आत्महत्या कर ले अर्थात् मरनेकी इच्छासे फाँसी लगा ले, जहर खा ले, रेलके नीचे आ जाय, छतसे कूद जाय, नदीमें कूद जाय अथवा अन्य किसी उपायसे जान-बूझकर मर जाय तो यह उसकी **'अकाल मृत्यु'** है।

आकस्मिक मृत्यु तो प्रारब्धके अनुसार आयु पूरी होनेपर ही होती है, पर अकाल मृत्यु आयुके रहते हुए ही हो सकती है। अकाल मृत्यु अर्थात् आत्महत्या एक नया घोर पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। जो आत्महत्या करता है, उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है, जिसका परलोकमें भयंकर दण्ड भोगना पड़ता है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये, अपना उद्धार करनेके लिये ही

कृपापूर्वक मनुष्यशरीर दिया है*। ऐसे दुर्लभ मनुष्य शरीरको आत्महत्या करके नष्ट कर देना महापाप है, बड़ा भारी पाप है!

आत्महत्या करनेपर भी कभी-कभी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसमें यह कारण रहता है कि उसके जीवनका सम्बन्ध किसी दूसरे प्राणीके साथ है। जैसे, भविष्यमें किसीका बेटा होनेवाला हो तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी मरेगा नहीं; क्योंकि आगे होनेवाले बेटेका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। ऐसे ही दूसरेका प्रारब्ध साथमें जुड़ा हुआ रहता है तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरता नहीं। अगर भविष्यमें उसके द्वारा कोई विशेष कार्य होनेवाला हो अथवा प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दुःख) आनेवाला हो तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरेगा नहीं। परन्तु उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप तो लगेगा ही और उसका फल दुःख भी बड़ा भारी होगा! जैसे, किसीने जजके सामने बन्दूक करके गोली चला दी, पर गोली जजको लगी नहीं तो भी उसको सजा होती है; क्योंकि उसकी नीयत तो जजको मारनेकी थी। ऐसे ही आत्महत्याकी नीयत होनेमात्रसे पाप लगता है।

आत्महत्या करनेवालेको मरते समय बड़ा भयंकर कष्ट होता है और वह मरनेसे बचना चाहता है कि मैं अब किसी तरह बच जाऊँ, पर बचनेकी सम्भावना रहती नहीं! उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि मैंने बहुत बड़ी गलती की, पर अब क्या हो! इसलिये

---

* बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
(मानस, उत्तर० ४३। ४)
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस, उत्तर० ४४। २-३)

आत्महत्याकी इच्छा करना भी घोर पाप है।

कितनी ही आफत आ जाय, कितना ही दुःख हो जाय, कितना ही अपमान हो जाय, आत्महत्याकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। पहले किये कर्मोंके फलस्वरूप जो दुःखदायी परिस्थिति आनेवाली है, वह तो आयेगी ही*। आत्महत्या करके भी उससे कोई बच नहीं सकता। उलटे आत्महत्याका एक नया पाप-कर्म और हो जायगा! परन्तु दुःखदायी परिस्थितिको सहन कर लेंगे तो पुराने पाप नष्ट होंगे और हम शुद्ध हो जायँगे।

कोई भी परिस्थिति सदा रहनेवाली नहीं होती। न सदा सुख रहता है, न सदा दुःख रहता है। सूर्यका उदय होनेके बाद अस्त होना और अस्त होनेके बाद उदय होना प्रकृतिका नियम है। अतः दुःखदायी परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये—

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥

(महाभारत, शान्ति० २५। ३१)

'सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं। इसलिये धीर पुरुष इनके लिये न हर्ष करे, न शोक करे।'

यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(नारदपुराण, पूर्व० ३७। ४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं

---

* अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

'अपने किये हुए शुभ या अशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। कर्मोंका फल भोगे बिना उनका सैकड़ों-करोड़ों (अनन्त) जन्मोंमें भी नाश नहीं होता।'

होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा जिनकी बुद्धिमें निश्चय होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

जब भगवान्‌का चरणामृत लेते हैं, तब बोलते हैं—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

'भगवान् विष्णुका चरणामृत अकालमृत्यु (कुबुद्धि) का हरण करनेवाला तथा सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाला है। उसको ग्रहण करनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता।'

इसलिये सभीको भगवान्‌का चरणामृत लेते रहना चाहिये, जिससे ऐसी (आत्महत्याकी) कुबुद्धि, खोटी बुद्धि पैदा न हो। गङ्गाजल भगवान् विष्णुके ही चरणोंका जल है। अतः सभीको अपने घरोंमें गङ्गाजल रखना चाहिये और छोटे-बड़े सबको सुबह-शाम उसका चरणामृत लेना चाहिये।

अगर एक आदमी दूसरे आदमीकी हत्या कर दे तो यह मरनेवालेकी तो आकस्मिक मृत्यु है, पर मारनेवालेका नया पाप है, जिसका भयंकर दण्ड उसको भोगना पड़ेगा। कारण कि किसीके भी प्रारब्धमें ऐसा विधान नहीं होता कि वह अमुक आदमीके हाथसे मरेगा। मरनेवाला आयु पूरी होनेपर किसी भी कारणसे मर सकता है, पर उसको मारनेवाला मुफ्तमें ही निमित्त बनकर पापका भागी हो जाता है। जैसे, न्यायालयने एक आदमीको दस बजे फाँसी देनेका हुक्म दिया। परन्तु एक दूसरे आदमीने उसको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसकी हत्या कर दी। कारण कि उसके मनमें वैर था; अतः उसने सोचा कि इसको मारकर मैं अपने वैरका बदला भी ले लूँ और सरकारका काम भी कर दूँ। परन्तु ऐसी स्थितिमें उस हत्यारेको भी फाँसीकी सजा होगी। कारण कि न्यायालयने उसको

मारने (फाँसी देने) का हुक्म जल्लादोंको दिया था, न कि दूसरे आदमीको।

मनुष्य चाहे तो अपनी आयु दूसरेको भी दे सकता है। परन्तु यह अधिकार उसी मनुष्यको है, जिसने परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ली है। जैसे अपनी सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिगको ही होता है, नाबालिगको नहीं होता, ऐसे ही अपनी आयु देनेका अधिकार तत्त्वज्ञान होनेपर ही होता है। जबतक तत्त्वज्ञान, परमात्मप्राप्ति, जीवन्मुक्ति न हो, तबतक मनुष्य नाबालिग है और वह अपनी आयु दूसरेको नहीं दे सकता। कारण कि भगवान्ने अपना कल्याण करनेके लिये ही आयु दी है, इसलिये उसको अपने तथा दूसरोंके कल्याणमें ही लगाना चाहिये। उसको नष्ट नहीं करना चाहिये।

राजस्थानमें एक सन्त थे। वे और उनकी माँ—दोनों ही तत्त्वज्ञानी थे। जब उनका अन्तसमय नजदीक आया, तब उनकी माँने अपनी आधी उम्र उनको दे दी, जिससे वे पुनः जी उठे। बादमें जब वे मरे तो माँ और बेटा दोनों एक साथ ही मरे! इसलिये जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है, ऐसा समर्थ व्यक्ति ही अपनी आयु दूसरेको दे सकता है। परन्तु ऐसा तभी होता है, जब आयु देनेवालेकी, लेनेवालेकी और भगवान्की—तीनोंकी मरजी हो। एककी मरजीसे कुछ नहीं होता।

दधीचि ऋषिने देवताओंके हितके लिये अपने प्राण छोड़ दिये, पर उनको पाप नहीं लगा; क्योंकि वे समर्थ थे। रामायणमें आया है—

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥'

(मानस, बाल० ६९। ४)

पृथ्वीपर जो मल-मूत्र आदि अशुद्ध वस्तुएँ रहती हैं, उनको भी अपनी किरणोंसे खींचकर सूर्य उनको शुद्ध बना देता है, इसलिये

सूर्य समर्थ है। चन्दन हो या मुर्दा हो, अग्नि सबको जलाकर शुद्ध कर देती है, इसलिये अग्नि समर्थ है। गङ्गामें नालीका अशुद्ध जल मिल जाय तो वह उसको भी शुद्ध बना देती है, इसलिये गङ्गा समर्थ है। अतः 'समर्थ' नाम उसका है, जो असमर्थको समर्थ कर दे, अशुद्धको शुद्ध कर दे, अपवित्रको पवित्र कर दे और स्वयं ज्यों-का-त्यों शुद्ध, पवित्र रहे। जो दूसरेको असमर्थ बनाता है, वह तो राक्षस, असुर होता है। जिसके पास धन ज्यादा है, वह भी समर्थ नहीं है। वह बेचारा तो धनका गुलाम है, दयाका पात्र है। ऐसे ही जिसके पास ज्यादा बल है अथवा ऊँचा पद है, वह भी समर्थ नहीं है; क्योंकि वह बल, पद, अधिकार आदिका गुलाम है। उसमें जो समर्थता दीखती है, वह उसकी खुदकी नहीं है, प्रत्युत उसको मिले हुए धन, पद, अधिकार, बल, राज्य आदिकी है, जो कि बिछुड़नेवाले हैं। आगन्तुक वस्तुओंसे अपनेको समर्थ मान लेना बेईमानी है।

कोई स्त्री सती होती है तो उसको आत्महत्याका पाप नहीं लगता; क्योंकि यह आत्महत्या है ही नहीं। सती होनेवाली स्त्री जान-बूझकर नहीं जलती। वह अपनी आयुका नाश नहीं करती, प्रत्युत त्याग करती है। सती होना कोई साधारण बात नहीं है। जिसके भीतर 'सत्' आ जाता है, वह आगके बिना भी जल जाती है और जलते समय उसको कोई कष्ट भी नहीं होता। वर्तमान समयकी एक सत्य घटना है। हरदोई जिलेमें इकनोरा गाँव है। वहाँ एक लड़की अपने मामाके घरपर थी। उसका पति मर गया। उस लड़कीको जब पतिकी मृत्युका समाचार मिला तो उसने मामासे कहा कि मेरेको जल्दी पतिके पास पहुँचा दो। मामाने कहा कि कैसे पहुँचाऊँ? शरीर तो अब जल गया होगा। उसने कहा कि मैं सती होऊँगी। मामाने मना किया तो उसने

अपनी अँगुली दीयेपर रखी। वह अँगुली मोमबत्तीकी तरह जलने लगी। वह बोली कि अगर आप मेरेको सती होनेसे रोकेंगे तो आपका सब घर जल जायगा। मामा डर गया। उस लड़कीने दीवारपर अपनी जलती हुई अँगुलीको बुझाया और घरसे बाहर निकलकर पीपलके नीचे खड़ी हो गयी। उसने लकड़ी माँगी तो किसीने दी नहीं। उसने सूर्यसे प्रार्थना की कि ये मेरेको लकड़ी नहीं देते हैं, आप ही कृपा करके मेरेको अग्नि दो। ऐसा कहते ही उसके शरीरमें अपने-आप आग लग गयी और वह वहीं जल गयी। गाँवके लोगोंने यह सब अपनी आँखोंसे देखा। करपात्रीजी महाराज भी वहाँ गये थे और उन्होंने दीवारपर पड़ी वे काली लकीरें देखीं, जो जलती हुई अँगुली बुझानेसे खिंच गयी थीं, और पीपलके जले हुए पत्ते भी देखे। गीताप्रेसके 'कल्याण'—विभागसे भी एक आदमी वहाँ गया था और उसने इस घटनाको सत्य पाया। उसने वहाँके मुसलमानोंसे पूछा तो उन्होंने भी कहा कि यह सब घटना हमारे सामने घटी है।

राजस्थानके दूधोर गाँवकी एक ठकुरानी थी। जब उसके पतिका शरीर शान्त हुआ तो उसको सत् चढ़ गया। उस समय अंग्रेजोंका शासन था। अतः अंग्रजोंके भयसे वहाँके लोगोंने कह दिया कि हम सती नहीं होने देंगे। पर उसने स्नान करके शृङ्गार करना शुरू कर दिया। लोगोंने दरवाजा बन्द कर दिया। राजपूतोंके घरोंके दरवाजे भीतरसे बन्द हुआ करते थे, बाहरसे नहीं। इसलिये दोनों किवाड़ोंकी जो कड़ियाँ थीं, उसमें साँकल डाल दी गयी और उस साँकलको पकड़कर तथा दरवाजेपर पैर देकर दो आदमी खड़े हो गये। उधर वह अच्छी तरहसे शृङ्गार करके आयी और भीतरसे दरवाजेको झटका दिया तो आदमीसहित वह दरवाजा नीचे आ पड़ा! वह बाहर निकल गयी। रास्तेमें जितने मन्दिर थे, उनको

नमस्कार करती हुई वह श्मशान-भूमि पहुँची। वहाँ उसके पतिका शव जल रहा था। वहाँ खड़े आदमियोंने उसको आते देखा तो जैसे कबूतरको पकड़ते हैं, ऐसे ऊपरसे बड़ा कपड़ा डालकर पकड़कर उठा लिया और घर ले आये। घरके भीतर मन्दिरमें वह दस दिनतक रही। बादमें उसने मेरेसे भागवत-सप्ताह-कथा सुनी। उस समय मेरेको उसने बताया कि दस दिनतक मेरे पास एक प्रकाश रहा। फिर धीरे-धीरे वह प्रकाश ऊपरकी ओर चला गया।

तात्पर्य है कि सती जान-बूझकर नहीं होती। जब उसको सत् चढ़ता है, तब वह सती होती है। उस समय वह जो बात कह देती है, शाप या वरदान दे देती है, वह सत्य होता है। अब समय बहुत गिर गया है, इसलिये आजकलके लोग इन बातोंको समझते नहीं। अगर किसानसे कोई कह दे कि तुम हवाई जहाज बनाओ तो वह कैसे बना देगा? जिस विषयको वह जानता ही नहीं, उसको क्या वह बता देगा? इसी तरह जो संसारमें रचे-पचे हैं, वे बेचारे धार्मिक और पारमार्थिक बातोंको क्या समझें? **'मायाको मजूर बंदो कहा जाने बंदगी'!**

९. शास्त्रीय विवादसे हानि

शास्त्रोंमें कहीं-कहीं आयी कुछ बातोंको लेकर प्राय: लोग अनेक शंकाएँ किया करते हैं। कुछ लोग उन बातोंको लेकर बड़ा विवाद खड़ा कर देते हैं। शास्त्रोंमें अनेक प्रकारकी बातें मिलती हैं, पर सब बातें हमारे मनके, हमारे सिद्धान्तके अनुकूल हों—ऐसा सम्भव नहीं है। उनमेंसे कुछ बातें प्रक्षिप्त भी हो सकती हैं, पर कौन-सी बात प्रक्षिप्त है और कौन-सी नहीं है—इसका निर्णय कौन करे? निर्णय करना असम्भव है। शास्त्रोंका निर्णय करना मनुष्यकी बुद्धिके बाहरकी बात है। वास्तवमें शास्त्रोंकी सब बातें सबकी समझमें आ भी नहीं सकतीं। अत: कोई बात हमारी समझमें न आये तो इसमें अपनी समझकी कमी न मानकर उस बातको ही सहसा गलत सिद्ध कर देना उचित नहीं है।

अपनेको समझदार मानकर अभिमान करनेवाले व्यक्ति ही विवाद खड़ा करते हैं। परन्तु जिनमें अपनी समझदारीका अभिमान नहीं है, जो शास्त्रकी कमी न मानकर अपनी समझकी कमी मानते हैं, वे कभी विवाद खड़ा नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भविष्यमें शास्त्रकी बातको समझ भी सकते हैं। इसलिये शास्त्रकी बातोंको लेकर विवाद खड़ा करनेमें न हमारा हित है, न दूसरोंका हित है; न वर्तमानमें हित है, न परिणाममें हित है। उलटे लोगोंमें शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा पैदा हो जायगी, जिससे वे शास्त्रोंकी अमूल्य तथा हितकारक बातोंसे वंचित रह जायँगे!

इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। कारण

कि उस समय समाजकी क्या परिस्थिति थी और किसने किस परिस्थितिमें क्या किया और क्यों किया, किस परिस्थितिमें क्या कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता नहीं चल सकता। इसलिये इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्गदर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय विधि-निषेधसे ही हो सकता है। अत: हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इस विषयमें इतिहासको प्रमाण न मानकर शास्त्रके विधि-निषेधको ही प्रमाण मानना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है, अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये।'

इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है।

शास्त्रीय विवादमें पड़ना साधकका काम नहीं है। वह इस विवादमें पड़ जायगा तो फिर साधन कब करेगा? वास्तवमें जो अपना कल्याण चाहते हैं, जिनमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, वे शास्त्रीय विवादमें नहीं पड़ते। शास्त्रोंका निर्णय करना कठिन है, पर अपना कल्याण करना सुगम है! जैसे मनुष्य किसी सरोवरके जलसे अपनी प्यास तो बुझा सकता है, पर पूरे सरोवरका जल ग्रहण करना उसके वशकी बात नहीं है, ऐसे ही मनुष्य शास्त्रोंकी बातोंसे अपना कल्याण तो कर सकता है, पर शास्त्रोंकी सब बातोंको समझना, उसका निर्णय करना उसके वशकी बात नहीं है। आजतक बड़े-बड़े विद्वान्, आचार्य भी इसका निर्णय

नहीं कर सके। इसलिये साधकके लिये इस विवादमें न पड़ना ही बढ़िया है। अगर वह उनका निर्णय करनेमें लगेगा तो इससे लाभ तो कुछ होगा नहीं, पर समय अवश्य बरबाद हो जायगा। आजकल कहाँ इतना समय है? कहाँ इतना ज्ञान है? कहाँ इतनी बुद्धि है? कहाँ इतनी सामर्थ्य है? कहाँ इतनी योग्यता है? इसलिये सन्तोंने ठीक ही कहा है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

(मानस, बाल० ६)

तेरे भावैं जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायन' तू बैठि के, अपनौ भुवन बुहार॥

भगवान्‌ने भी गीतामें शास्त्र-जालको 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' कहा है*। इसलिये शास्त्रोंमें कोई बात प्रक्षिप्त दीखे अथवा अपनी समझमें न आये, उस बातको निकाल देना अनधिकार चेष्टा है और बड़ी हानिकी बात है। साधकके लिये यही उचित है कि वह शास्त्रीय विवादमें न पड़े और जो बात उसको निर्विवाद दीखे, उसके अनुसार आचरण करे† और जो बात विवादास्पद दीखे, उसको छोड़ दे। जैसे, परीक्षामें चतुर विद्यार्थी निर्विवाद प्रश्नोंका उत्तर

---

* श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ५३)

'जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा।'

† वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सदाचार और (अपनेमें निष्कामभाव तथा मात्र जीवोंके हितकी दृष्टिसे) जो अपनेको ठीक जँचे—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं।'

पहले लिखता है, पीछे विवादास्पद प्रश्नोंपर विचार करता है। अगर वह पहले ही विवादास्पद प्रश्नोंको लेकर बैठ जायगा तो समय निकल जायगा और वह फेल हो जायगा।

अगर कोई अनुभवी सन्त-महापुरुष दीखे तो उसकी आज्ञाके अनुसार अपना जीवन बनाना सबसे बढ़िया है। सन्त-महापुरुषोंके वचनोंमें भी परस्पर मतभेद होता है; क्योंकि वे वही बात कहते हैं, जो उस समयके अनुसार आवश्यक हो। इसलिये उनकी बातोंमें भी जो बात निर्विवाद हो, उसको अपनाना चाहिये; जैसे—नामजप, भगवत्स्मरण, सेवा, बुराईका त्याग, किसीका अहित न करना आदि निर्विवाद बातें हैं, जो सब समय पालन करनेयोग्य हैं।

शास्त्रोंमें अनेक देवताओं तथा उनकी उपासनाओंका वर्णन है; क्योंकि सभी मनुष्योंकी समान रुचि, श्रद्धा-विश्वास एवं योग्यता नहीं होती। सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणकी तारतम्यतासे मनुष्योंकी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता अलग-अलग होते हैं। इसलिये उनकी उपासनाएँ भी अलग-अलग होती हैं। जैसे भूख सबकी एक होती है और तृप्ति भी सबकी एक होती है, पर भोजनकी रुचि अलग-अलग होनेसे भोजनके पदार्थ भी अलग-अलग होते हैं, ऐसे ही उपास्य-तत्त्वकी अप्राप्तिका दु:ख और प्राप्तिका आनन्द सबमें एक होनेपर भी उपासनाकी रुचि अलग-अलग होती है। वास्तवमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दू-संस्कृतिकी विशेषता है। जैसे शरीरके अवयव अनेक होनेपर भी शरीर एक ही होता है, ऐसे ही उपास्यदेव अनेक होनेपर भी उपास्य-तत्त्व एक ही होता है।

अनेक उपास्यदेव होनेपर भी साधककी निष्ठा एकमें ही होनी चाहिये। अगर वह अनेक उपासना करेगा तो उसकी एक निष्ठा नहीं होगी और एक निष्ठा हुए बिना सिद्धि नहीं होगी। इसी कारण

शास्त्रोंमें जहाँ जिस देवता, तीर्थ आदिका वर्णन हुआ है, वहाँ उसीको सर्वोपरि बताया गया है, जिससे मनुष्यकी निष्ठा एकमें ही हो। अगर वह अपने साध्यको सर्वोपरि नहीं मानेगा तो उसका साधन सिद्ध नहीं होगा।

जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके सम्बन्धसे सबका आदर-सत्कार करती है, पर उसकी निष्ठा पतिमें ही होती है, ऐसे ही गृहस्थका धर्म है कि वह समय-समयपर (तिथि-त्यौहारपर) सब देवताओंका पूजन करे, आदर करे, पर निष्ठा एककी ही रखे। कुछ लोग अनेक देवी-देवताओंकी उपासना आरम्भ कर देते हैं, पर जब उनके मनमें एक ही देवताकी उपासनाका विचार आता है, तब अन्य देवताओंकी उपासना छोड़नेमें उनको भय लगता है कि कहीं देवता नाराज न हो जायँ, हमारी हानि न कर दें। वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। यदि उद्देश्य कल्याणका हो और निष्कामभाव हो तो एककी उपासना करनेसे दूसरे नाराज नहीं होंगे; क्योंकि मूलमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। अनेककी उपासना करनेसे सकामभावकी भी पूर्ति होनी कठिन है। अतः साधकका इष्ट एक ही होना चाहिये।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(हनुमन्नाटक १। ३)

'शैव शिवरूपसे, वेदान्ती ब्रह्मरूपसे, बौद्ध बुद्धरूपसे, प्रमाणकुशल नैयायिक कर्तारूपसे, जैन अर्हन्‌रूपसे और मीमांसक कर्मरूपसे जिसकी उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें।'

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्न० ७)

'हे प्रभो! वैदिकमत (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद), सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, शैवमत, वैष्णवमत आदि विभिन्न मत-मतान्तर हैं; इनमें 'हमारा मत उत्तम, लाभप्रद है'—इस प्रकार रुचियोंकी विचित्रता (रुचिभेद) के कारण अनेक सीधे-टेढ़े मार्गोंसे चलनेवाले मनुष्योंके लिये एकमात्र प्रापणीय स्थान आप ही हैं। जैसे सीधे-टेढ़े मार्गोंसे बहती हुई सभी नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार सभी मतावलम्बी अन्तमें आपके पास ही पहुँचते हैं।'

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥

(लौगाक्षिस्मृति)

'जैसे आकाशसे गिरा हुआ जल समुद्रमें ही जाता है, ऐसे ही सम्पूर्ण देवताओंको किया गया नमस्कार परमात्माके पास ही जाता है।'

॥श्रीहरि:॥

860

मुक्तिमें सबका अधिकार

स्वामी रामसुखदास

॥श्रीहरिः॥

मुक्तिमें सबका अधिकार

(१)

मुक्ति अथवा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें खास बाधक है—अहंकार। जड़ प्रकृतिके कार्य शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेसे अहंकार अर्थात् देहाभिमान उत्पन्न होता है, अहंकारसे एकदेशीयता उत्पन्न होती है तथा एकदेशीयतासे फिर वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिको लेकर सैकड़ों-हजारों भेद उत्पन्न होते हैं; जैसे—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, आदि-आदि। तात्पर्य है कि सब भेद अहंकारसे ही पैदा होते हैं। जबतक अहंकार रहता है, तबतक भेदका नाश नहीं होता। जहाँ भेद है, वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ ज्ञान है, वहाँ भेद नहीं है। अतः मुक्ति अथवा

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति अहंकार मिटनेसे ही होती है। इसलिये गीतामें जहाँ ज्ञानप्राप्तिके साधनोंका वर्णन आया है, वहाँ (साधनमें भी) अहंकारसे रहित होनेकी बात कही गयी है—'**अनहंकार एव च**' (१३। ८)। कारण कि ज्ञानप्राप्तिमें देहाभिमान मुख्य बाधा है—

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

'देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्त-विषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है।'

संसृत मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७। ७४। ३)

अतः जो कहता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं संन्यासी हूँ' और जो कहता है कि 'मैं अन्त्यज हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ' उन दोनोंके

देहाभिमानमें क्या फर्क हुआ? देहाभिमानकी दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। देहका अध्यास ही ब्राह्मण, संन्यासी आदि है और देहका अध्यास ही अन्त्यज, गृहस्थ आदि है। वास्तवमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न ब्राह्मणको होती है, न क्षत्रियको होती है, न वैश्यको होती है, न शूद्रको होती है, न ब्रह्मचारीको होती है, न गृहस्थको होती है, न वानप्रस्थको होती है, न संन्यासीको होती है, प्रत्युत जिज्ञासुको होती है। तात्पर्य है कि जो तीव्र जिज्ञासु होता है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नहीं होता—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

(हस्तामलकस्तोत्र)

संतो, अब हम आपा चीन्हा।
निज स्वरूप प्राप्त है नित ही, अचरज सहित स कीन्हा॥
ना हम मानुष देवता नाहीं, ना गिरही वनखण्डी।
ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यहु नाहीं, ना हम शूद्र न दण्डी॥
ना हम ज्ञानी चतुर न मूरख, ना हम पण्डित पोथी।
ना हम सागर न मरजीवा, ना हम सीप न मोती॥
ना हम स्वर्गलोक को जाते, ना हम नरक सिधारे।
हम सब रूप सबन ते न्यारा, ना जीता ना हारे॥
ना हम अमर मरे ना कबहूँ, कबीर ज्यों-का-त्यों ही।
व्यास कपिल मुनि वामदेव ऋषि, सबका अनुभव यों ही॥

अत: जिज्ञासुमें न तो वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका अभिमान होना चाहिये, न इनका आग्रह होना चाहिये और न दूसरे वर्ण, आश्रम आदिके प्रति ऊँच-नीचका भाव ही होना चाहिये। वर्ण, आश्रम आदिका भेद मनुष्योंकी मर्यादाके लिये है, और मर्यादा संसारके संचालनके

लिये है। परंतु मुक्तिके लिये वर्ण, आश्रम आदिका भेद आवश्यक नहीं है। कारण कि मुक्ति शरीरकी नहीं होती, प्रत्युत स्वयंकी होती है, जो कि मुक्तस्वरूप ही है। वर्ण-आश्रमका भेद शरीरको लेकर है। जब शरीर अपना स्वरूप है ही नहीं तो फिर वर्ण-आश्रमका भेद अपना स्वरूप कैसे?

तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद।
आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना॥

(नारदपरिव्राजक० ६। १४)

'नारद! सभी वर्ण और आश्रम अन्यगत (शरीरगत) होनेपर भी भ्रान्तिवश आत्मामें आरोपित कर लिये जाते हैं; परंतु आत्मवेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करते।'

इसलिये मुक्ति होनेपर स्वयंका शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, शरीरका संसारसे

सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता अर्थात् स्वयं शरीरसे असंग (अलग) होता है, शरीर संसारसे असंग नहीं होता। कारण कि प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरका सम्बन्ध संसारसे है, स्वयंसे नहीं।

वर्ण-आश्रमकी मान्यता केवल स्वाँगके लिये है। हमारा स्वरूप ब्राह्मण आदि नहीं है। जैसे नाटकमें लक्ष्मण बना हुआ व्यक्ति बाहरसे अपने स्वाँगका ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरसे अपनेको लक्ष्मण नहीं मानता। उसके भीतर निरन्तर यह भाव रहता है कि यह तो स्वाँग है, वास्तवमें मैं लक्ष्मण हूँ ही नहीं। ऐसे ही बाहरसे अपने वर्ण-आश्रमका शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुसार ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरमें यह भाव रहना

चाहिये कि मैं तो भगवान्‌का अंश हूँ!

जो जिस वर्ण-आश्रमका हो, उस वर्ण-आश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका ठीक तरहसे पालन करे और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करे तो उसकी अहंता सुगमतापूर्वक छूट जायगी। अगर वह विहितके साथ-साथ निषिद्ध काम भी करता रहेगा तो उसकी अहंता छूटेगी नहीं। निषिद्धके त्यागपर इतना जोर रहना चाहिये कि भूलसे भी मन उस तरफ न जाय। जैसे, राजा दुष्यन्तका मन शकुन्तलाकी तरफ चला गया तो उनको दृढ़ विश्वास हो गया कि यह ब्राह्मण-कन्या नहीं है, प्रत्युत क्षत्रिय-कन्या ही है। कारण कि अगर यह ब्राह्मण-कन्या होती तो मेरा मन उसकी तरफ जाता ही नहीं!

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

(अभिज्ञान० १। २१)

'इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षत्रियद्वारा ग्रहण करनेयोग्य है, जिससे मेरा विशुद्ध मन भी इसको चाहता है; क्योंकि जहाँ सन्देह हो, वहाँ सत्पुरुषोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है'

यही बात भगवान् रामके विषयमें भी आती है। उनका मन सीताजीकी तरफ गया तो वे समझ गये कि यह परनारी नहीं है; क्योंकि मेरा सम्बन्ध इसीके साथ होना है—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

(मानस १। २३१। ३)

जो अपनेको किसी एक वर्ण और आश्रमका मानते हैं, वे शास्त्रीय विधि-निषेधके अधिकारी होते हैं। यदि वे निषिद्धका त्याग करके विहित (अपने कर्तव्य) का पालन करें तो उनकी उन्नति अवश्य होगी। यदि वे निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करें और अपनी अहंताको बदल दें कि मैं किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ, प्रत्युत केवल योगी, जिज्ञासु अथवा भक्त हूँ तो वे मुक्तिके अधिकारी हो जायँगे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंकी रचना प्रकृतिजन्य गुणोंके अनुसार होती है; जैसे—सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मणकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रियकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा तमोगुणकी गौणतासे वैश्यकी और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी रचना की गयी है। जिसमें ब्राह्मणत्वका अभिमान और

आग्रह है, उसकी स्थिति गुणोंमें होनेसे गुणोंके अनुसार ही उसकी ऊँच-नीच गति होगी, पर मुक्ति नहीं होगी—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंके अभिमानवाला गुणातीत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। गुणातीत होनेपर वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह नहीं रह सकता। अत: अपने वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह छोड़कर बाहरसे वर्ण-आश्रमकी मर्यादाका पालन करना और भीतरसे 'मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ, किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ'—ऐसा भाव रखना बहुत आवश्यक है।

जब साधकका उद्देश्य एकमात्र परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब वह अपनेको केवल योगी, केवल जिज्ञासु अथवा केवल भक्त मानता है। ऐसा माननेसे ही वह सच्चा

साधक होता है और उसके द्वारा निरन्तर साधन होता है। अगर वह अपनेको साधक माननेके साथ-साथ 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ' आदि भी मानेगा तो उसके साधनमें अदृढ़ता (कमी) रहेगी, जो कि उसके कल्याणमें बाधक होगी। उसको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तल्लीन हो जाय कि साधक न रहे, साधनमात्र रह जाय अर्थात् योगी न रहे, योगमात्र रह जाय; जिज्ञासु न रहे, जिज्ञासामात्र रह जाय; भक्त न रहे, भक्तिमात्र रह जाय। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यसे एक हो जाता है अर्थात् साध्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

शास्त्रमें ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वर्ण और

आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है; जैसे—

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं
सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो
यस्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र॥

(महा० शान्ति० ३१८। ९२)

'नरेन्द्र! सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अत: ब्राह्मण हो अथवा दूसरे किसी वर्णका हो, जो मनुष्य ज्ञानमें स्थित है, उसके लिये मोक्ष नित्य प्राप्त है।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।

(गीता १८। ४५)

'अपने-अपने कर्ममें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त कर लेता है।'

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य है कि जिस पदको ब्राह्मण अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त करता है, उसी पदको शूद्र भी अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, तीव्र जिज्ञासा होनेपर पापी-से-पापी मनुष्यको भी तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

भगवद्भक्तिके तो मात्र मनुष्य अधिकारी हैं—

आनिन्द्योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।

(शाण्डिल्य० ७८)

'जैसे दया, क्षमा आदि सामान्य धर्मोंके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तिके नीची-से-नीची योनिसे लेकर ऊँची-से-ऊँची योनितक सब प्राणी अधिकारी हैं।'

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः।

(नारद० ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

(गीता ९। ३२-३३)

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों, तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय भगवान्‌के भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!'

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २। ४। १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक,

यवन, खस आदि अधम जातिके लोग और इनके सिवाय अन्य पापीलोग भी शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस ३। ३५। ३)

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नामरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम

था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी! कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है। वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः।

(श्रीमद्भा० ७।७।५१-५२, ५४)

'दैत्यबालको! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये केवल ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा

दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बनामात्र है! भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, गोपालक, अहीर, पक्षी, मृग और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो गये हैं।'

इतना ही नहीं, पापी-से-पापी मनुष्य भी भक्तिका अधिकारी हो सकता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य-

भावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत श्रेष्ठ और अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रमें भगवान्‌की तरफ चलनेका, भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार, स्वतन्त्रता और सामर्थ्य स्वतः है। प्रत्येक जीव स्वरूपसे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है—**'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि'**। अतः जीवमात्र स्वरूप-बोधमें अधिकारी, स्वतन्त्र और समर्थ है।

वर्ण, आश्रम आदिको लेकर ऐसा मानना कि अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी है और अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं है—यह शास्त्र और युक्ति-संगत नहीं दीखता। उत्थान और पतन प्रत्येक वर्ण-आश्रममें हो सकता है। प्रत्येक वर्ण-आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, वह तत्त्वज्ञान देनेका अधिकारी भी हो सकता है—

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥

(महा० शान्ति० ३१८। ८८)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए मनुष्यसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके मनुष्यको सदा उसपर

श्रद्धा रखनी चाहिये। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता।'

उदाहरणार्थ, वेदव्यासजीके पुत्र शुकदेवजी ज्ञान-प्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये एक साथ छः ऋषि महाराज अश्वपतिके पास गये थे। इस प्रसंगमें शंकराचार्यजी महाराजके ये वचन ध्यान देनेयोग्य हैं—

'यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्भारहस्ता जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनो विनयेनोपजग्मुः' (छान्दोग्य० ५। ११। ७ का भाष्य)।

'इस प्रकार महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होनेपर भी वे महागृहस्थत्व आदिके अभिमानको छोड़कर, हाथोंमें समिधाएँ लेकर

तथा विद्यार्थी बनकर अपनेसे हीन जातिवाले राजाके पास विनयपूर्वक गये थे। इसलिये ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेकी इच्छावाले अन्य पुरुषोंको भी ऐसा ही होना चाहिये।'

नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी विदुर, कबीर, रैदास, सदन, कसाई, धर्मव्याध आदि अनेक महापुरुष जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी माने जाते हैं और ऊँच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी रावण आदि अनेक पापी हो गये हैं। गार्गी, देवहूति, शबरी, कुन्ती, व्रजगोपियाँ, मीराबाई आदि स्त्री-जातिकी थीं। समाधि, तुलाधार, आदि वैश्य थे। विदुर, सञ्जय, निषादराज गुह आदि शूद्र थे। प्रह्लाद, विभीषण आदि असुर तथा वृत्रासुर आदि राक्षस थे। गजेन्द्र, जटायु, कपोत-कपोती आदि पशु-पक्षी थे। इन सबमें जो भी विलक्षणता, विशेषता थी, वह किसी

वर्ण, आश्रम आदिको लेकर नहीं थी, प्रत्युत भगवान्‌के सम्बन्धको लेकर थी*। भगवान्‌का सम्बन्ध स्वरूपके साथ है, शरीरके साथ

---

* सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥
(श्रीमद्भा० ११। १२। ३—७)

भगवान् बोले—'हे निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्संग (मेरे सम्बन्ध) के द्वारा दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-

नहीं। ऊँचे वर्ण-आश्रमवाला मनुष्य भी अगर भगवान्‌से विमुख है, उसके भाव और आचरण शुद्ध नहीं हैं, तो उसका महान् पतन हो सकता है; जैसे—

यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम्।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

(वायुपुराण)

तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संगके प्रभावसे मुझे प्राप्त हुए हैं। उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत तथा कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग, अर्थात् मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

'जो संन्यास-आश्रममें जानेके बाद पुनः स्त्रीसंग करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।'

एक नीतिशास्त्र होता है, एक धर्म-शास्त्र होता है और एक मोक्षशास्त्र होता है। नीतिशास्त्रमें स्वार्थसिद्धि है, धर्मशास्त्रमें विधि-निषेध है और मोक्षशास्त्रमें सत्-असत्‌का विवेक है। नीतिसे धर्म और धर्मसे मोक्षशास्त्र बलवान् होता है। वर्ण-आश्रमकी व्यवस्था धर्मशास्त्रमें है, मोक्षशास्त्रमें नहीं। वर्ण, आश्रम आदि सब भेद असत्‌के हैं। सत्‌का कोई भेद नहीं है—'**नेह नानास्ति किञ्चन**' (कठ० २। १। ११, बृहदा० ४। ४। १९), '**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १)। जहाँ सत्-असत्‌का विवेक होगा, वहाँ तो असत्‌का त्याग ही मुख्य

रहेगा*। अतः चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे शूद्रका शरीर हो, लोक-व्यवहारमें तो उनमें फर्क रहेगा, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कोई फर्क रहेगा ही नहीं। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर होती है। जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, वह चाहे बढ़िया हो या घटिया, उससे क्या मतलब?

कर्मोंके अनुसार जीव नीच योनिसे क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण भी बन सकता है और क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा नीच योनिमें भी जा सकता है। ऊँच-नीचका

---

* सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥
(मानस ७। ४१)

'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥'
(श्रीमद्भा० ११। १९। ४५)

यह क्रम (गति) कर्मानुसार फलभोगके लिये ही है। मुक्तिमें ऐसा कोई क्रम नहीं है। अतः शास्त्रमें कहीं किसी एक वर्ण-आश्रमको प्राप्त होकर मुक्तिका अधिकारी होनेकी बात आयी है तो वह कोई सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत वह व्यक्ति-विशेषके लिये ही कही गयी बात है। इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि किसने किस परिस्थितिमें किया और क्यों किया तथा किस परिस्थितिमें कुछ कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता चलता नहीं! अतः इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्ग-दर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय विधि-निषेधसे ही होता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है। अतः यों करें अथवा यों करें—इस विषयमें इतिहासको प्रमाण न मानकर शास्त्रके विधि-

निषेधको ही प्रमाण मानना चाहिये।

कलियुगमें ठीक विधि-विधानसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ-आश्रमका पालन करके संन्यास-आश्रममें जाना तथा संन्यास-आश्रमके नियमोंका पालन करना बहुत कठिन है। इसलिये शास्त्रमें संन्यासको कलिवर्ज्य (कलियुगमें वर्जित) माना गया है*। अगर ऐसा मानें कि संन्यासी हुए बिना मनुष्य कल्याण-(मोक्ष) का अधिकारी नहीं हो सकता तो फिर कलियुगमें किसीका कल्याण होगा ही नहीं, जब कि कलियुगमें अन्य युगोंकी अपेक्षा कल्याण होना बहुत सुगम बताया गया है!†

* अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण ११५। ११२-११३)

† यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
(विष्णुपुराण ६। २। १५)

विष्णुपुराणमें एक कथा आती है। एक बार अनेक ऋषि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये वेदव्यासजी महाराजके पास गये। वेदव्यासजीने आदर-सत्कारपूर्वक उन सबको बैठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये। स्नान करते हुए उन्होंने कहा कि 'कलियुग, तुम धन्य हो! शूद्रो, तुम धन्य हो! स्त्रियो, तुम धन्य हो!'* जब वे स्नान करके वापिस आये, तब ऋषियोंने

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(मानस ७। १०३ क)

*मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रस्साधुः कलिस्साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
तेषां मुनीनां भूयश्च ममज्ज स नदीजले।
साधु साध्विति चोत्थाय शूद्र धन्योऽसि चाब्रवीत्॥

उनसे कहा कि महाराज! आपने कलियुगको, शूद्रोंको और स्त्रियोंको धन्यवाद क्यों दिया?—यह हमारी समझमें नहीं आया! वेदव्यासजीने कहा कि कलियुगमें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे शूद्रों और स्त्रियोंका कल्याण जल्दी और सुगमतासे हो जाता है, इसलिये ये तीनों धन्यवादके पात्र हैं।

जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये धर्म-पालन भी उतना ही कठिन होता है और नीचे गिरनेपर चोट भी उतनी ही अधिक लगती है! ऊँचा कहलानेके कारण देहाभिमान भी अधिक होता है; अत: कल्याण भी कठिनतासे होता है—

निमग्नश्च समुत्थाय पुन: प्राह महामुनि:।
योषित: साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति क:॥
(विष्णुपुराण ६। २। ६—८)

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जातिके अभिमान से, डूबे सभी कुलीन॥
जात नहीं जगदीश के, जन के कैसे होय।
जात पाँत कुल कीच में, बंध मरो मत कोय॥

तात्पर्य यह हुआ कि लौकिक व्यवहार-(भोजन, विवाह आदि) में तो जातिकी, वर्ण-आश्रमकी ही प्रधानता है, पर भगवत्प्राप्तिमें भाव और विवेककी प्रधानता है। अतः ऊँचे वर्ण, आश्रम आदिसे संसारमें अधिकार मिल सकता है, पर भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार केवल भगवान्‌के सम्बन्धसे ही मिलता है। जैसे सब-के-सब बालक माँकी गोदीमें जानेके समान अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे सब-के-सब जीव भगवान्‌को प्राप्त होनेके समान अधिकारी हैं। जीवमात्रका भगवान्‌पर पूरा अधिकार है। अतः भगवत्प्राप्तिके लिये

किसी भी मनुष्यको कभी निराश नहीं होना चाहिये। सब-के-सब मनुष्य परमात्मतत्त्वको, मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, कैवल्यको, भगवत्प्रेमको, भगवद्दर्शनको* प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ 'वज्रसूची' नामक उपनिषद् दी जा रही है। मुक्तिक-उपनिषद्में जहाँ एक सौ आठ उपनिषदोंके नाम दिये गये हैं, वहाँ इस उपनिषद्का भी नाम आया है।†

वज्रसूचिकोपनिषद्

शान्तिपाठ

'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः

---

* भगवान्को अपना माननेका सबको अधिकार है। अनन्यभावसे भगवान्को अपना माननेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है।

† ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः।
गर्भो नारायणो हंसो बिन्दुर्नादशिरः शिखा॥

मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम्।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम्॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम्।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम्॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम्।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम्॥
त्रिपुरातपनं देवी त्रिपुरा कठभावना।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षागणदर्शनम्॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम्।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका॥
एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम्।
ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम्॥

(मुक्तिकोपनिषद्)

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हे परब्रह्म परमात्मन्! मेरे सम्पूर्ण अंग,

---

१. 'ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डूक्य, ७. तैत्तिरीय ८.ऐतरेय, ९. छान्दोग्य, १०. बृहदारण्यक, ११. ब्रह्म, १२. कैवल्य, १३. जाबाल, १४. श्वेताश्वतर, १५. हंस, १६. आरुणिक, १७. गर्भ, १८. नारायण, १९. परमहंस, २०. अमृतबिन्दु, २१. अमृतनाद, २२. अथर्वशिरस, २३. अथर्वशिखा, २४. मैत्रायणी, २५. कौषीतकिब्राह्मण, २६. बृहज्जाबाल, २७. नृसिंहतापनीय, २८. कालाग्निरुद्र, २९. मैत्रेयी, ३०. सुबाल, ३१. क्षुरिका, ३२. मन्त्रिका, ३३. सर्वसार, ३४. निरालम्ब, ३५. शुकरहस्य, ३६. वज्रसूचिका, ३७. तेजोबिन्दु, ३८. नादबिन्दु, ३९. ध्यानबिन्दु, ४०. ब्रह्मविद्या, ४१. योगतत्त्व, ४२. आत्मप्रबोध, ४३. नारदपरिव्राजक, ४४. त्रिशिखिब्राह्मण, ४५. सीता, ४६. योगचूडामणि, ४७. निर्वाण, ४८. मण्डलब्राह्मण, ४९. दक्षिणामूर्ति, ५०. शरभ, ५१. स्कन्द,

५२. त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, ५३. अद्वयतारक, ५४. रामरहस्य, ५५. रामतापनीय, ५६. वासुदेव, ५७. मुद्गल, ५८. शाण्डिल्य, ५९. पैंगल, ६०. भिक्षुक, ६१. महत्, ६२. शारीरक, ६३. योगशिखा, ६४. तुरीयातीत, ६५. संन्यास, ६६. परमहंसपरिव्राजक, ६७. अक्षमाला, ६८. अव्यक्त, ६९. एकाक्षर, ७०. अन्नपूर्णा, ७१. सूर्य, ७२. अक्षि, ७३. अध्यात्म, ७४. कुण्डिका, ७५. सावित्री, ७६. आत्मा, ७७. पाशुपत, ७८. परब्रह्म, ७९. अवधूत, ८०. त्रिपुरातापनीय, ८१. देवी, ८२. त्रिपुरा, ८३. कठरुद्र, ८४. भावना, ८५. रुद्रहृदय, ८६. योगकुण्डली, ८७. भस्मजाबाल, ८८. रुद्राक्षजाबाल, ८९. गणपति, ९०. जाबालदर्शन, ९१. तारसार, ९२. महावाक्य, ९३. पञ्चब्रह्म, ९४. प्राणाग्निहोत्र, ९५. गोपालतापनीय, ९६. कृष्ण, ९७. याज्ञवल्क्य, ९८. वराह, ९९. शाट्यायनीय, १००. हयग्रीव, १०१. दत्तात्रेय, १०२. गरुड़, १०३. कलिसंतरण, १०४. जाबालि, १०५. सौभाग्यलक्ष्मी, १०६. सरस्वतीरहस्य, १०७. बह्वृच, १०८. मुक्तिकोपनिषद्—ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्यके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश करती हैं। इनके पाठ और स्वाध्यायसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है तथा लोकवासना, शास्त्रवासना एवं देहवासनारूप त्रिविध वासनाओंका नाश होता है।

शक्ति परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्-प्रतिपादित ब्रह्म है, उसको मैं अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म मेरा परित्याग न करे। उसके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध हो और मेरे साथ उसका अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदोंमें प्रतिपादित जो धर्मसमूह हैं, वे सब उस परमात्मामें लगे हुए मुझमें हों, वे सब मुझमें हों। हे परमात्मन्! त्रिविध तापोंकी शान्ति हो।'

चित्सदानन्दरूपाय सर्वधीवृत्तिसाक्षिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय ब्रह्मणेऽनन्तरूपिणे॥

'सच्चिदानन्दस्वरूप, सबकी बुद्धिका साक्षी, वेदान्तके द्वारा जाननेयोग्य और अनन्त रूपोंवाले ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ।'

ॐ वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम्॥

'अब मैं अज्ञानका नाश करनेवाला 'वज्रसूची'

नामक शास्त्र कहता हूँ, जो अज्ञानियोंके लिये दूषणरूप और ज्ञानचक्षुवालोंके लिये भूषणरूप है।'

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। उन वर्णोंमें ब्राह्मण मुख्य है, ऐसा वेदोंमें तथा स्मृतियोंमें भी कहा गया है। उस विषयमें यह शंका उत्पन्न होती है कि ब्राह्मण नाम किसका है? क्या जीव ब्राह्मण है? क्या देह ब्राह्मण है? क्या जाति ब्राह्मण है? क्या ज्ञान ब्राह्मण है? क्या कर्म ब्राह्मण है? अथवा क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है?'

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न।

अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वादेकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति॥

'जीव ब्राह्मण है—ऐसा नहीं हो सकता। कारण कि पहले हुए और आगे होनेवाले अनेक शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है। जीव एक होनेपर भी कर्मोंके कारण अनेक शरीरोंको धारण करता है, परन्तु सब शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है (इसलिये यदि जीवको ब्राह्मण मानें तो फिर सभी शरीरोंको ब्राह्मण मानना पड़ेगा)।'

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद्ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः

शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसम्भवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति।

'तो क्या देह ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। चाण्डालसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सबके शरीर पाञ्चभौतिक होनेसे एकरूप ही हैं। जरा-मृत्यु, धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) आदि भी सबके समान ही देखे जाते हैं। ब्राह्मणका श्वेतवर्ण, क्षत्रियका लाल वर्ण, वैश्यका पीला वर्ण और शूद्रका काला वर्ण होता है—ऐसा नियम भी नहीं है। यदि देहको ब्राह्मण मानें तो पिता आदिके मृत शरीरको जलानेसे पुत्र आदिको ब्रह्महत्या आदि पाप लगनेकी सम्भावना रहती है। अत: देह ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तर-

जन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्, शशपृष्ठाद् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति॥

'तो क्या जाति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। विभिन्न जातिवाले प्राणियोंसे अनेक जातिवाले बहुत-से महर्षि उत्पन्न हुए हैं; जैसे—मृगीसे ऋष्यशृंग, कुशसे कौशिक, जम्बूक (सियार) से जाम्बूक, वल्मीकसे वाल्मीकि, मल्लाहकी कन्यासे व्यास, शशपृष्ठ-(खरगोशकी पीठ) से गौतम, उर्वशीसे वसिष्ठ, कलश-(घट) से अगस्त्य उत्पन्न हुए—ऐसा सुना जाता है। इनमें जातिके बिना भी पहले बहुत-से पूर्ण ज्ञानवान्

ऋषि हुए हैं। अतः जाति ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति॥

'तो क्या ज्ञान ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बहुत-से (जनक, अश्वपति आदि) क्षत्रिय आदि भी परमार्थको जाननेवाले तत्त्वज्ञ हुए हैं। अतः ज्ञान ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसञ्चितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति॥

'तो क्या कर्म ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण प्राणियोंमें प्रारब्ध, संचित तथा क्रियमाण कर्मोंमें सधर्मता देखी जाती है और कर्मोंसे प्रेरित होकर वे मनुष्य

क्रिया करते हैं। अतः कर्म ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति॥

'तो क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बहुत-से क्षत्रिय आदि भी स्वर्णका दान करनेवाले हुए हैं। अतः धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मान-मद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादि-सर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्द-स्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नभाव-

मात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एवं ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव।

'तो फिर ब्राह्मण नाम किसका है? जो कोई अद्वितीय आत्मा जाति, गुण तथा क्रियासे रहित है, छः ऊर्मियों तथा छः विकारों* आदि समस्त दोषोंसे रहित है, सत्-चित्-आनन्द तथा अनन्तस्वरूप है, स्वयं निर्विकल्प है, अनन्त कल्पोंका आधार है, अनन्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहनेवाला है, सदा वर्तमान (नित्य रहनेवाला) है, आकाशकी तरह सबके भीतर-बाहर परिपूर्ण है, अखण्ड आनन्द

---

* भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म तथा मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं। उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना—ये छः विकार हैं।

स्वभाववाला है, अप्रमेय है अर्थात् इन्द्रियों और अन्त:करणका विषय नहीं है, केवल अनुभवसे जाननेयोग्य है तथा अपरोक्षरूपसे प्रकाशित होनेवाला है, उस परमात्मतत्त्वका हस्तामलककी तरह साक्षात्कार करके जो कृतकृत्य (ज्ञातज्ञातव्य, प्राप्तप्राप्तव्य) हो गया है और जो काम, राग आदि दोषोंसे रहित है; शम, दम आदिसे सम्पन्न भाववाला है; मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदिसे रहित है; और जिसका चित्त दम्भ, अहंकार आदि दोषोंसे निर्लिप्त है, वही वास्तविक ब्राह्मण है—ऐसा श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहासका अभिप्राय है। इसके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारसे ब्राह्मणत्वकी सिद्धि नहीं होती।

सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्॥

'आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है (उसका साक्षात्कार करनेवाले ब्राह्मण हैं)—ऐसा मानना चाहिये। आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म मानना चाहिये। यह उपनिषद् है।'

॥ वज्रसूचिकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

(२)

मनुष्यमात्र परमात्मप्राप्तिका समानरूपसे अधिकारी है; क्योंकि मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि कोई क्यों न हो, मात्र मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता केवल परमात्मप्राप्तिकी उत्कट लालसाकी है। परन्तु जबतक सत्संग नहीं मिलता अथवा कोई आफत नहीं आती, तबतक मनुष्य मानो बेहोशीमें रहता है! उसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी लालसा जाग्रत् नहीं होती! ऐसे भी कई लोग हैं, जो यह मानते हैं कि शास्त्रोंका अध्ययन करना, पारमार्थिक पुस्तकें पढ़ना, पूजा-पाठ करना, साधन भजन करना तो ब्राह्मणोंका अथवा

साधुओंका काम है, हमारा काम नहीं है! ऐसे लोग परमात्मप्राप्तिके अधिकारी होते हुए भी परमात्माकी प्राप्तिको, उसकी आवश्यकताको नहीं समझ पाते।

परमात्माका सम्बन्ध जीवमात्रके साथ समान है। सभी जीव परमात्माके अंश हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी परमात्माके अंश हैं, पर उनमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता, अधिकार, सामर्थ्य और स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु मनुष्यशरीरमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता भी है, अधिकार भी है, सामर्थ्य भी है और स्वतन्त्रता भी है; क्योंकि मनुष्य बननेका उद्देश्य भी यही है। इसलिये जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी लालसा है, वह चाहे पापी-से-पापी हो या पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा, निम्न-से-निम्न हो या ऊँच-से-ऊँच, वह परमात्मप्राप्तिका अधिकारी हो जायगा!

अत: परमात्मप्राप्तिके विषयमें कभी किसीको निराश नहीं होना चाहिये। परन्तु कोई परमात्माकी प्राप्ति चाहे ही नहीं, उसको परमात्मा कैसे मिलेंगे? जो चाहता है, उसीको परमात्मा मिलते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। १०) जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'

एक मार्मिक बात है कि परमात्माकी प्राप्ति ब्राह्मणको नहीं होती, क्षत्रियको नहीं होती, वैश्यको नहीं होती, शूद्रको नहीं होती, ब्रह्मचारीको नहीं होती, गृहस्थको नहीं होती, साधुको नहीं होती, वानप्रस्थको नहीं होती, भाइयोंको नहीं होती, बहनोंको नहीं होती, पापीको नहीं होती, पुण्यात्माको नहीं होती! तो फिर किसको होती है? 'साधक' को होती है। तात्पर्य है कि जो

केवल परमात्मप्राप्तिकी इच्छा रखते हैं, उनको ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। वर्ण, आश्रम, योग्यता, पद, अधिकार आदिका सम्बन्ध असत्‌का सम्बन्ध है। असत्‌का सम्बन्ध रखते हुए सत्‌की प्राप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। इसलिये ब्राह्मण होनेके नाते अथवा साधु होनेके नाते कोई परमात्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाय—यह बात है ही नहीं। जिसके भीतर ब्राह्मणपनेका, साधुपनेका अभिमान नहीं है और जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी जोरदार लालसा है, वही परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी अनन्य अभिलाषा नहीं है, वह ब्राह्मण अथवा साधु ही क्यों न हो, उसको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। अपने वर्णका अभिमान होनेके कारण ही अपनेमें बड़प्पन अथवा छोटापन दीखता है कि मैं तो ब्राह्मण हूँ

अथवा मैं तो शूद्र हूँ! इसलिये परमात्मप्राप्तिके विषयमें अपनेको बड़ा मानना भी बाधक है और छोटा मानना भी बाधक है। साधकमें छोटे-बड़ेका अभिमान नहीं होना चाहिये, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिकी भूख होनी चाहिये। भोजन वही करता है, जो भूखा हो, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र। ऐसे ही भगवत्प्राप्ति उसीको होती है, जिसमें जोरदार लालसा है।

शरीरसे संसारका काम अथवा सेवा तो हो सकती है, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्माकी प्राप्ति तो अपने-आपसे ही होती है और अपने-आपको ही होती है। शरीरकी प्रधानता व्यवहारमें है, परमार्थमें नहीं। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण सांसारिक व्यवहारके विषयमें हैं, परमात्मप्राप्तिके विषयमें नहीं। ब्राह्मण ब्राह्मणके

साथ, क्षत्रिय क्षत्रियके साथ, वैश्य वैश्यके साथ और शूद्र शूद्रके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार करे तथा अपने वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्मका आचरण करे—इस विषयमें चारों वर्ण हैं। परन्तु परमात्मप्राप्तिमें ये वर्ण काम नहीं आते। परमात्मप्राप्तिके लिये तो 'मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ'-इस अहंताको ही मिटाना होगा और अनन्यभावसे 'मैं साधक (योगी, मुमुक्षु या भक्त) हूँ'—इसको स्वीकार करना होगा। अहंताको मिटाना क्या है? मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न साधु हूँ, न वानप्रस्थ हूँ, प्रत्युत मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ।*

---

* नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

तात्पर्य है कि हमारी अहंताका सम्बन्ध भगवानके साथ होना चाहिये, वर्ण-आश्रम आदिके साथ नहीं, जिसके भीतर वर्ण-आश्रम आदिकी मुख्यता है और भगवत्सम्बन्धकी गौणता है, उसको परमात्मप्राप्ति नहीं होती। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति तब होगी, जब हमारी अहंताका सम्बन्ध परमात्माके साथ होगा कि 'मैं तो भगवान्‌का ही हूँ'*। जैसे, पहले स्त्रीमें यह अहंता होती है कि 'मैं कुँआरी हूँ', पर विवाह होनेपर यह अहंता बदल जाती है और 'मैं सुहागन हूँ'—यह अहंता दृढ़ हो जाती है। इतनी दृढ़ हो जाती है कि अगर उसका

---

* अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
(मानस, अरण्य० ११। ११)

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
(मानस, किष्किंधा० ३)

पति मर भी जाय तो भी उसमें 'मैं कुँआरी हूँ'—यह अहंता पुनः नहीं होती! वह विधवा तो हो जाती है, पर कुँआरी नहीं होती। ऐसे ही साधकमें 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ' आदि कोई भी अहंता नहीं रहती, और 'मैं परमात्माका हूँ'—यह अहंता दृढ़ हो जाती है। मैं परमात्माका हूँ—यह भाव दृढ़ होनेपर परमात्मप्राप्तिकी तत्परता, लगन, उत्कट लालसा स्वतः जाग्रत् हो जाती है। इसलिये जो परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं, वे अपनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष आदिका अभिमान न करें, प्रत्युत 'मैं तो भगवान्‌का हूँ'—ऐसा मानें। परमात्मप्राप्ति स्वयंको होती है, स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरको नहीं। शरीर चाहे ब्राह्मणका हो, चाहे अन्त्यजका हो, उससे तो सम्बन्ध-विच्छेद करना है।

मनुष्यमात्रका परमात्माके साथ अकाट्य सम्बन्ध है। मनुष्य चाहे स्वर्गमें जाय, चाहे नरकोंमें जाय, किसी भी योनिमें जाय, उसका परमात्मासे सम्बन्ध कभी टूटा नहीं, टूटेगा नहीं, टूट सकता नहीं। भगवान्‌का अंश भगवान्‌से अलग हो ही कैसे सकता है? परन्तु असत्‌के साथ सम्बन्ध मान लेनेसे वह भगवान्‌का सम्बन्ध भूल गया। अगर वह अपना सम्बन्ध केवल भगवान्‌से मान ले और अनन्यभावसे उनको पानेकी इच्छा करे तो उसको भगवत्प्राप्ति हो जायगी। जो भगवान्‌को नहीं चाहता, उसको ऊँचा पद मिल जायगा, तत्त्वज्ञान मिल जायगा, सिद्धियाँ मिल जायँगी, पर भगवान् और उनका प्रेम नहीं मिलेगा। परन्तु जो केवल भगवान्‌को ही चाहता है, वह अगर बिलकुल अनपढ़ और गँवार हो,

भेड़-बकरी चरानेवाला हो, निम्न वर्णका हो, निम्न जातिका हो तो भी उसको भगवान् मिल जायँगे। कारण कि भगवान्‌के ही अंश होनेके नाते सब-के-सब मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं।

'मनुष्य' नाम उसीका है, जो परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकारी हो! इसलिये सब-के-सब मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति शरीरके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। इसलिये भीतरमें परमात्माकी चाहना होनी चाहिये, बाहरसे शरीर कैसा ही हो, चाहे स्त्रीका शरीर हो, चाहे पुरुषका शरीर हो, चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे चमारका शरीर हो। कारण कि ऊपरका चोला तो बदलनेवाला है, पर भीतरका

स्वरूप बदलनेवाला नहीं है। बदलनेवालेका सम्बन्ध बदलनेवाले-(संसार) के साथ है और न बदलनेवालेका सम्बन्ध न बदलनेवाले-(परमात्मा) के साथ है। न बदलनेवालेके साथ बदलनेवालेका सम्बन्ध नहीं है और बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये 'मेरेमें योग्यता कम है, मेरे पुण्य कम हैं, मैं स्वस्थ नहीं हूँ, मैं विद्वान् नहीं हूँ, मेरे आचरण अच्छे नहीं हैं' आदि बातोंको लेकर किसीको परमात्माकी प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। अच्छे-बुरे आचरण तो पीछे हैं, पर परमात्माका अंश पहले है। शरीर पीछे है, परमात्माका अंश पहले है।

मनुष्यमात्रका भगवान्‌के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। उसमें किसी माध्यमकी जरूरत

नहीं है। भगवान्‌ने किसी एक वर्ण, आश्रम आदिके मनुष्यको अपना अंश नहीं बताया है, प्रत्युत जीवमात्रको अपना अंश बताया है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये सब-के-सब मनुष्य परमात्मप्राप्तिके पूरे-के-पूरे अधिकारी हैं। जैसे, किसी माँके दस बालक हों तो बालकोंके लिये माँके दस हिस्से नहीं होते। दसों बालकोंके लिये माँ पूरी-की-पूरी है। एक-एक बालक पूरी माँको अपनी मान सकता है। कोई बालक ऐसा नहीं कहता कि माँका दसवाँ हिस्सा मेरा है अथवा इतनी माँ तो मेरी है, इतनी माँ तेरी है। ऐसे ही भगवान्‌के भी हिस्से नहीं होते। भगवान्‌के सब-के-सब अंश पूरे भगवान्‌की प्राप्तिके अधिकारी हैं। एक-एक मनुष्यके लिये भगवान् पूरे-के-पूरे हैं!

माँ किसी कारणको लेकर बालककी नहीं होती। क्या अनपढ़ और मूर्खकी माँ नहीं होती? क्या बीमारकी माँ नहीं होती? क्या माँ केवल पढ़े-लिखे और स्वस्थकी ही होती है? माँपर सब बालकोंका समान हक होता है, पर वह किसी योग्यता, पद, अधिकार, विद्या आदिके नाते नहीं होता, प्रत्युत माँके नाते होता है कि 'मेरी माँ है'! इसी तरह भगवान् हमारे हैं। छोटा हो या बड़ा हो, अच्छा हो या मन्दा हो, दुराचारी हो या सदाचारी हो, ऊँचा हो या नीचा हो, समझदार हो या बेसमझ हो, भगवान् सबके हैं। माँमें तो पक्षपात हो सकता है, पर भगवान्‌में पक्षपात होना सम्भव ही नहीं है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता

९। २९), *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० २६। २)। इसलिये हम कैसे ही हों, भगवत्प्राप्तिसे हमें कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है।

॥ श्रीहरिः ॥ 1019▲

सत्यकी खोज

अमीर

स्वामी रामसुखदास

॥श्रीहरिः॥

नम्र निवेदन

एक उत्पत्ति होती है और एक खोज होती है। उत्पत्ति उस वस्तुकी होती है, जो पहले नहीं थी तथा बादमें भी नहीं रहेगी, और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान है और आगे भी सदा विद्यमान रहेगी। इस दृष्टिसे असत्य वस्तुकी उत्पत्ति होती है और सत्य वस्तुकी खोज होती है। साधक वह होता है, जो सत्य वस्तुकी खोजमें लगा है। इसलिये प्रस्तुत पुस्तक साधकोंके लिये बड़े कामकी है और सत्यकी खोजमें बड़ी सहायक है। आशा है, सत्यान्वेषी पाठकगण इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन करके लाभ उठायेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

१. सत्यकी खोज

शास्त्रोंमें लिखा है कि मनुष्यशरीर कर्मप्रधान है। जब मनुष्यके भीतर कुछ पानेकी इच्छा होती है, तब उसकी कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है। कर्मके दो प्रकार हैं—कर्तव्य और अकर्तव्य। निष्कामभावसे कर्म करना 'कर्तव्य' है और सकामभावसे कर्म करना 'अकर्तव्य' है। अकर्तव्यका मूल कारण है—संयोगजन्य सुखकी कामना। अपने सुखकी कामना मिटनेपर अकर्तव्य नहीं होता। अकर्तव्य न होनेपर कर्तव्यका पालन अपने-आप होता है। जो साधन अपने-आप होता है, वह असली होता है और जो साधन किया जाता है, वह नकली होता है।

मनुष्यमें यदि कोई कामना पैदा हो जाय तो वह पूरी होगी ही—ऐसा कोई नियम नहीं है। कामना पूरी होती भी है और नहीं भी होती। सब कामनाएँ आजतक किसी एक भी व्यक्तिकी पूरी नहीं हुई और पूरी हो सकती भी नहीं। अगर कामना पैदा तो हो जाय, पर पूरी न हो तो बड़ा दुःख होता है! परन्तु मनुष्यकी दशा यह है कि वह कामनाकी अपूर्तिसे दुःखी भी होता रहता है और कामना भी करता रहता है! परिणाम यह होता है कि न तो सब कामनाएँ पूरी होती हैं और न दुःख ही मिटता है। इसलिये अगर किसीको दुःखसे बचना हो तो इसका उपाय है—कामनाका त्याग। यहाँ शंका हो सकती है कि अगर हम कोई भी कामना न करें तो फिर कर्म करें ही क्यों? इसका समाधान है कि कर्म फलप्राप्तिके लिये भी किया जाता है और फलकी कामनाका त्याग करनेके लिये भी किया जाता है। जो कर्मबन्धनसे मुक्त होना चाहता है, वह फलेच्छाका त्याग करनेके

लिये कर्म करता है। यह भी शंका हो सकती है कि अगर हम कोई भी कामना न करें तो हमारा जीवन कैसे चलेगा? जीवन-निर्वाहके लिये तो अन्न-जल आदि चाहिये? इसका समाधान है कि अन्न-जल लेते-लेते इतने वर्ष बीत गये, फिर भी हमारी भूख-प्यास मिटी है क्या? भूख-प्यास तो नहीं मिटी! अन्न-जलके बिना हम मर जायँगे तो क्या अन्न-जल लेते-लेते नहीं मरेंगे? मरना तो पड़ेगा ही। वास्तवमें हमारा जीवन कामना-पूर्तिके अधीन नहीं है। क्या जन्म लेनेके बाद माँका दूध कामना करनेसे मिला था? जीवन-निर्वाह कामना करनेसे नहीं होता, प्रत्युत किसी विधानसे होता है।

सब कामनाएँ कभी किसीकी पूरी नहीं होतीं। कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं और कुछ पूरी नहीं होतीं—यह सबका अनुभव है। इसमें विचार करना चाहिये कि कामना पूरी होने अथवा न होनेके स्थितिमें क्या हमारेमें कोई फर्क पड़ता है? क्या कामना पूरी न होनेपर हम नहीं रहते? विचार करनेसे अनुभव होगा कि कामना पूरी हो अथवा न हो, हमारी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। कामना उत्पन्न होनेसे पहले हम जैसे थे, कामनाकी 'पूर्ति' होनेपर भी हम वैसे ही रहते हैं, कामनाकी 'अपूर्ति' होनेपर भी हम वैसे ही रहते हैं और कामनाकी 'निवृत्ति' होनेपर भी हम वैसे ही रहते हैं। इस बातसे एक बल मिलता है कि यदि कामनाकी अपूर्तिसे हमारेमें कोई फर्क नहीं पड़ता तो फिर हम कामना करके क्यों दुःख पायें!

मनुष्यके सामने दो ही बातें हैं—या तो वह अपनी सभी कामनाएँ पूरी कर ले अथवा उनका त्याग कर दे। वह कामनाओंको पूरी तो कर सकता ही नहीं, फिर उनको छोड़नेमें किस बातका भय! जो हम कर सकते हैं, उसको तो करते

नहीं और जो हम नहीं कर सकते, उसको करना चाहते हैं—इसी प्रमादसे हम दु:ख पा रहे हैं।

जो कामनाओंको छोड़ना चाहता है, उसके लिये सबसे पहले यह मानना जरूरी है कि 'संसारमें मेरा कुछ नहीं है'। जबतक हम शरीरको अथवा किसी भी वस्तुको अपना मानेंगे, तबतक कामनाका सर्वथा त्याग कठिन है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जो मेरी और मेरे लिये हो—इस वास्तविकताको स्वीकार करनेसे कामना स्वत: मिट जाती है; क्योंकि जब मेरा और मेरे लिये कुछ है ही नहीं, तो फिर हम किसकी कामना करें और क्यों करें? कामनाओंका सर्वथा त्याग तब होता है, जब मनुष्यका शरीरसे सम्बन्ध (मैं-मेरापन) नहीं रहता। अत: कामनाओंके सर्वथा त्यागका तात्पर्य हुआ— जीते-जी मर जाना। जैसे, मनुष्य मर जाता है तो वह किसी भी वस्तुको अपना नहीं कहता और कुछ भी नहीं चाहता। उसपर अनुकूलता-प्रतिकूलता, मान-सम्मान, निन्दा-स्तुति आदिका प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे ही कामनाओंका सर्वथा त्याग होनेपर मनुष्यपर अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिका प्रभाव तो पड़ता नहीं और जीता रहता है! इसलिये महाराज जनक देहके रहते हुए भी 'विदेह' कहलाते थे। जो जीते-जी मर जाता है, वह अमर हो जाता है। इसलिये मनुष्य अगर सर्वथा कामना-रहित हो जाय तो वह जीते-जी अमर हो जायगा—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता:।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४; बृहदा० ४। ४। ७)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं

(मनुष्यशरीरमें ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

जब साधकके भीतर कामना-पूर्तिका महत्त्व नहीं रहता, तब उसके द्वारा सभी कर्म स्वतः निष्कामभावसे होने लगते हैं और वह कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। सुखकी कामना न रहनेसे उसके सभी दोष नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि सम्पूर्ण दोष सुखकी कामनासे ही पैदा होते हैं। साधकका जीवन निर्दोष होना चाहिये। सदोष जीवनवाला साधक नहीं हो सकता।

अब यह विचार करें कि दोष किसमें रहते हैं? संसारमें दो ही वस्तुएँ हैं—सत् और असत्। दोष न तो सत् (अविनाशी) में रहते हैं और न असत्-(विनाशी-) में ही रहते हैं। सत्में दोष नहीं रहते; क्योंकि सत्का कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। कामना अभावसे पैदा होती है। जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसमें कोई कामना हो ही नहीं सकती और जिसमें कामना नहीं होती, उसमें कोई दोष आ ही नहीं सकता। असत्में भी दोष नहीं रहता; क्योंकि असत्की सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसमें (बिना आधारके) दोष कहाँ रहेगा? असत्की सत्ता न होना ही सबसे बड़ा दोष है, जिसमें दूसरा दोष आनेकी सम्भावना ही नहीं है। सत् और असत्के सम्बन्धमें भी दोष नहीं मान सकते; क्योंकि जैसे प्रकाश और अन्धकारका सम्बन्ध असम्भव है, ऐसे ही सत् और असत्का सम्बन्ध भी असम्भव है। तो फिर दोष किसमें हैं? दोष उसमें हैं, जिसमें कामना है। कारण कि सम्पूर्ण दोष कामनासे ही पैदा होते हैं—'**काम एष**.........' (गीता ३। ३७)। जब मनुष्य वस्तुके द्वारा सुख पानेकी कामना करता है, तब लोभ पैदा होता है। जब वह व्यक्तिके द्वारा सुख पानेकी कामना करता है, तब मोह पैदा होता

है। जब वह अवस्थाके द्वारा सुख पानेकी कामना करता है, तब परिच्छिन्नता पैदा होती है। जैसे एक बीजमें मीलोंतकका जंगल विद्यमान है, ऐसे ही एक दोषमें सम्पूर्ण दोष विद्यमान हैं। ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसमें सब दोष न हों। इसलिये जबतक एक भी दोष है, तबतक साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये। आंशिक दोष और आंशिक निर्दोषता (गुण) तो प्रत्येक मनुष्यमें रहते हैं। कोई भी मनुष्य सब प्रकारसे, सब समय और सबके लिये दोषी हो सकता ही नहीं; क्योंकि मूलमें वह परमात्माका ही अंश है*। अगर साधक सर्वथा निर्दोष होना चाहता है तो उसको संयोगजन्य सुखकी कामनाका सर्वथा त्याग करना होगा।

अब यह विचार करें कि कामना किसमें है? कई लोग ऐसा मानते हैं कि कामना मनमें रहती है। परन्तु वास्तवमें कामना मनमें रहती नहीं है, प्रत्युत मनमें आती है—'**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्**' (गीता २। ५५)। मन एक करण (अन्तःकरण) है। करणमें कोई कामना नहीं होती। क्या कलममें लिखनेकी कामना होती है? मोटरमें चलनेकी कामना होती है? नहीं होती। अगर ऐसा मानें कि कामना मनमें होती है तो फिर कामना-अपूर्तिका दुःख भी मनको ही होना चाहिये। परन्तु कामना-अपूर्तिका दुःख कर्ता-(स्वयं-) को होता है। अतः वास्तवमें कामना करण-(मन-बुद्धि-) में नहीं होती, प्रत्युत कर्तामें होती है। करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कामनाकी पूर्ति और अपूर्तिसे होनेवाले सुख-दुःखरूप द्वन्द्वमें उलझे रहनेके कारण मनुष्यका विवेक काम नहीं करता और वह परवश होकर कामनाको मनमें होनेवाली मान लेता है।

---

* ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

अब यह विचार करें कि कर्ता कौन है? अगर मन कर्ता होता तो वह बुद्धिके अधीन होकर कार्य नहीं करता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि बुद्धि जिस कामको न करनेका निश्चय करती है, मन उसको करनेकी कामना छोड़ देता है और बुद्धि जिसको करनेका निश्चय करती है, मन उसको करनेकी कामना करने लगता है। परन्तु बुद्धि भी स्वतन्त्र कर्ता नहीं है; क्योंकि बुद्धि भी एक करण (अन्तःकरण) है। जब मनुष्य किसी कामनाकी पूर्तिका सुख लेता है, तभी बुद्धि उस कामको करनेका निर्णय लेती है। परन्तु सुखभोगका परिणाम दुःख होता है—ऐसा समझनेवाला मनुष्य कामना-पूर्तिके सुखका त्याग कर देता है तो बुद्धि सुखभोगमें प्रवृत्तिका निर्णय नहीं लेती, प्रत्युत उसका त्याग कर देती है। करण कर्ताके अधीन होता है और क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त उपकारक होता है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १। ४। ४२)। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रः कर्त्ता**' (पाणि० अ० १। ४। ५४)। स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि अगर स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं। इसलिये गीतामें भगवान्ने स्वरूपमें कर्तापनका निषेध किया है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दुःखी) होता है, वही कर्ता होता है।

अब यह विचार करें कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न तो सत् हो सकता है, न असत् हो सकता है; क्योंकि सत्में भोक्तापनका अभाव है और असत्में भोक्तापन सम्भव ही नहीं है। जब साधक विवेकपूर्वक शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, जो कि वास्तवमें है, तब न कर्ता रहता है, न भोक्ता रहता है, प्रत्युत एक चिन्मय सत्ता रहती है। इससे

सिद्ध होता है कि वास्तवमें कोई कर्ता-भोक्ता नहीं है, केवल माना हुआ है। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि ज्ञान होनेपर जब साधकका 'शरीर' से सम्बन्ध नहीं रहता, तब उसका 'शरीरी' से भी सम्बन्ध नहीं रहता। कारण कि शरीरके सम्बन्धसे ही चिन्मय सत्ता 'शरीरी' कहलाती है। शरीरका सम्बन्ध छूटनेपर चिन्मय सत्ता तो रहती है, पर उसकी 'शरीरी' संज्ञा नहीं रहती। चिन्मय सत्तामें सम्पूर्ण शरीरी एक हो जाते हैं। उस चिन्मय सत्ताको ही 'ब्रह्म' कहते हैं और उसमें स्वतः-सिद्ध स्थितिको ही मुक्ति कहते हैं। मुक्तिमें जीवका ब्रह्मसे साधर्म्य हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, ऐसे ही जीव भी सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है—'**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। साधर्म्य होनेपर जीव जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है—'**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' और वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजर, अमर तथा स्वाधीन हो जाता है। इसको योगकी प्राप्ति भी कहते हैं—'**तदा योगमवाप्स्यसि**' (गीता २। ५३)।

जहाँ योग है, वहाँ भोग नहीं होता और जहाँ भोग है, वहाँ योग नहीं होता—यह नियम है। परन्तु एक अवस्था ऐसी भी होती है, जिसमें साधकको योगका, ज्ञानका अथवा प्रेमका अभिमान हो जाता है और वह मान लेता है कि मैं योगी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ अथवा मैं प्रेमी हूँ। कारण कि अनादिकालसे जीवमें यह आदत पड़ी हुई है कि वह जिसके साथ सम्बन्ध करता है, उसका अभिमान कर लेता है; जैसे—धन मिलनेसे 'मैं धनी हूँ' आदि। मैं योगी हूँ—यह वास्तवमें योगका भोग है; क्योंकि इसमें योगका संग है, योगके साथ अहम् मिला हुआ है। मैं ज्ञानी हूँ—यह वास्तवमें ज्ञानका भोग है; क्योंकि इसमें ज्ञानका संग है, ज्ञानके साथ अहम् मिला हुआ

है। मैं प्रेमी हूँ—यह वास्तवमें प्रेमका भोग है; क्योंकि इसमें प्रेमका संग है, प्रेमके साथ अहम् मिला हुआ है। भोग न रहनेपर योगी, ज्ञानी और प्रेमी नहीं रहता अर्थात् व्यक्तित्व सर्वथा मिट जाता है। कारण कि योग, ज्ञान या प्रेम मिलनेसे मनुष्य उनके साथ एक हो जाता है अर्थात् वह योगस्वरूप, ज्ञानस्वरूप या प्रेमस्वरूप हो जाता है, इसलिये उनका अभिमान नहीं होता। जबतक व्यक्तित्व रहता है, तबतक पतनकी सम्भावना रहती है। इसलिये जो योगका अभिमानी है, वह कभी भोगमें भी फँस सकता है; जो ज्ञानका अभिमानी है, वह कभी अज्ञानमें भी फँस सकता है; जो मुक्तिका अभिमानी है, वह कभी बन्धनमें भी फँस सकता है*; जो प्रेमका अभिमानी है, वह कभी रागमें भी फँस सकता है।

जब योग, ज्ञान और प्रेमका अभिमान (भोग) नहीं रहता, तब साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर भी साधकने जिस मत (प्रणाली) को मुख्यता दी है, उसका एक सूक्ष्म संस्कार रह जाता है, जिसको अभिमानशून्य अहम् कहते हैं। जैसे भुने हुए चने खेतीके काम तो नहीं आते, पर खानेके काम आते हैं, ऐसे ही वह अभिमानशून्य अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर (अपने मतका संस्कार रहनेसे) अन्य दार्शनिकोंसे मतभेद करनेवाला होता है। तात्पर्य है कि उस सूक्ष्म अहम्के कारण मुक्त पुरुषको अपने मतमें सन्तोष हो जाता है। जबतक

---

* येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३२)

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

अपने मतमें सन्तोष है, अपनी मान्यताका आदर है, तबतक दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होती। साधन तो अलग-अलग होते हैं, पर साधन-तत्त्व एक होता है अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि सभी साधन मिलकर साधन-तत्त्व होता है। मुक्त पुरुषका मत साधन-तत्त्व होता है। परन्तु वह साधन-तत्त्वको ही साध्य मानकर उसमें सन्तोष कर लेता है।

जीव ईश्वरका अंश है, इसलिये वह जिस मतको पकड़ लेता है, वही उसको सत्य दीखने लग जाता है। अत: साधकको चाहिये कि वह अपने मतका अनुसरण तो करे, पर उसको पकड़े नहीं अर्थात् उसका आग्रह न रखे। न ज्ञानका आग्रह रखे, न प्रेमका। वह अपने मतको श्रेष्ठ और दूसरे मतको निकृष्ट न समझे, प्रत्युत सबका समानरूपसे आदर करे। गीताके अनुसार जैसे 'मोहकलिल' का त्याग करना आवश्यक है, ऐसे ही 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' का भी त्याग करना आवश्यक है (गीता—दूसरे अध्यायका बावनवाँ-तिरपनवाँ श्लोक); क्योंकि ये दोनों ही साधकको अटकानेवाले हैं। इसलिये साधकको जबतक अपनेमें दार्शनिक मतभेद दीखे, सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव न दीखे, तबतक उसको सन्तोष नहीं करना चाहिये। अपनेमें मतभेद दीखनेपर वह साधन-तत्त्वतक तो पहुँच सकता है, पर साध्यतक नहीं पहुँच सकता। साध्यतक पहुँचनेपर अपने मतका आग्रह नहीं रहता और सभी मत समान दीखते हैं—

पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
'संतदास' घड़ी अरठकी, ढुरे एक ही ठौर॥
नारायण अरु नगरके, 'रज्जब' राह अनेक।
कोई आवौ कहीं दिसि, आगे अस्थल एक॥

मतभेदको लेकर आचार्योंमें लड़ाई नहीं होती, प्रत्युत उनके

अनुयायियोंमें लड़ाई होती है। कारण कि अनुयायियोंको मुक्तावस्थाका अनुभव तो हुआ नहीं, पर मतका आग्रह (पक्षपात) रह गया, जबकि आचार्योंको अनुभव हो चुका है! आचार्योंके मतभेदसे अनुयायियोंमें अपने मतके प्रति राग और दूसरे मतके प्रति द्वेष पैदा हो जाता है। राग-द्वेष होनेसे सत्यकी खोजमें बड़ी भारी बाधा लग जाती है। परन्तु राग-द्वेष न होनेपर साधक सत्यकी खोज करता है कि जब वास्तविक तत्त्व एक ही है, तो फिर मतभेद क्यों है? इसलिये वह मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं करता। सत्यकी खोज करते-करते वह खुद खो जाता है और '**वासुदेवः सर्वम्**' शेष रह जाता है!

जिस साधकमें पहले भक्तिके संस्कार रहे हैं, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। इसलिये जब उसको मुक्तिका रस भी फीका लगने लगता है, तब उसको प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। भक्ति साधन भी है और साध्य भी—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)। साधन-भक्तिमें साधन और साध्य दोनों भगवान् होनेसे अपने मतका आग्रह सुगमतासे छूट जाता है और साध्य-भक्ति अर्थात् प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसे भगवान्‌के समग्र स्वरूपका साक्षात् अनुभव हो जाता है और साध्यमें अगाध प्रियता जाग्रत् हो जाती है। प्रियता जाग्रत् होनेपर किसी एक मतमें आग्रह नहीं रहता, सभी मतभेद गलकर एक हो जाते हैं। मुक्तिमें तो अखण्डरस, एकरस मिलता है, पर भक्तिमें अनन्तरस, प्रतिक्षण वर्धमान रस मिलता है। प्रेम सम्पूर्ण साधनोंका अन्तिम फल अर्थात् साध्य है। प्रत्येक साधकको अपने-अपने साधनके द्वारा इसी साध्यकी प्राप्ति करनी है। इसलिये मनुष्ययोनि वास्तवमें

साधनयोनि अथवा प्रेमयोनि है; क्योंकि मनुष्यजन्म परमात्मप्राप्तिके लिये ही हुआ है और परमात्मप्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्यजन्मकी सफलता है।

मनुष्य और साधक पर्याय हैं। जो साधक नहीं है, वह वास्तवमें मनुष्य भी नहीं है। जो साधक है, वही वास्तवमें मनुष्य है। मनुष्यका खास कर्तव्य है—सत्यको स्वीकार करना। परमात्मा हैं—यह सत्य है और संसार नहीं है—यह भी सत्य है। सत्यको सत्य मानना भी सत्यको स्वीकार करना है और असत्यको असत्य मानना भी सत्यको स्वीकार करना है। जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है, उसके साथ सम्बन्ध मानना भी सत्यको स्वीकार करना है और जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, उसके साथ सम्बन्ध न मानना भी सत्यको स्वीकार करना है। मूलमें एक ही सत्य है। वह यह है कि एक समग्र भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**।'

२. मुक्ति और प्रेम

परमात्माके अन्तर्गत जीव है और जीवके अन्तर्गत संसार है। कारण कि संसारकी सत्ता जीवके अधीन है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५) और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः'** (गीता १५।७)। जब जीव संसारको अपनेसे अधिक महत्त्व देता है, तब वह बँध जाता है और जब अपनेको संसारसे अधिक महत्त्व देता है, तब वह मुक्त (स्वरूपमें स्थित) हो जाता है। परन्तु जब वह अपनेसे भी अधिक परमात्माको महत्त्व देता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है।

जबतक जीव शरीर-संसारको अपनेसे भी अधिक महत्त्व देता है, तबतक उसका अभाव (दारिद्र्य) नहीं मिटता। उसको अनन्त ब्रह्माण्डोंका आधिपत्य मिल जाय तो भी उसका अभाव बना रहता है। अभाव होनेसे उसके जीवनमें दो बातें रहती हैं—मिली हुई वस्तुमें ममता और जो नहीं मिली है, उसकी कामना। ममता और कामनाके रहते हुए मुक्ति नहीं होती और मुक्ति हुए बिना अभाव नहीं मिटता। जब जीव अपनेको संसारसे अधिक महत्त्व देता है अर्थात् उसने जितनी सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे शरीरकी सत्ता-महत्ता मानी है, उतनी ही सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे स्वयं-(स्वरूप-) की सत्ता-महत्ता मान लेता है और अनुभव कर लेता है, तब उसके जीवनमें अभावका सर्वथा अभाव हो जाता है। अभावका अभाव होनेपर प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिमें ममता नहीं रहती। अप्राप्तकी कामना मिट जाती है। भोग और संग्रहकी रुचिका नाश हो जाता है। प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग नहीं होता। मृत्युका भय मिट जाता है। फिर जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ उसको समयसे पहले ही प्राप्त होने

लगती हैं; जैसे—जन्मसे पहले माँका दूध प्राप्त होता है। लोभ न रहनेसे वस्तुएँ उसके पास आनेके लिये लालायित रहती हैं।

एक ही दोष अथवा गुण स्थानभेदसे अनेक रूपसे प्रकट होता है। शरीर-(अनित्य, नाशवान्-) को अपनेसे अधिक महत्त्व देना अर्थात् शरीरको अपना स्वरूप मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति उत्पन्न होती है। अपने चेतनस्वरूप-(नित्य, अविनाशी)-को शरीरसे अधिक महत्त्व देना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण दैवी-सम्पत्ति प्रकट होती है। अपनेको शरीरसे अधिक महत्त्व देनेका तात्पर्य है कि हमारी सत्ता शरीरके अधीन नहीं है अर्थात् शरीरके बिना भी हम रह सकते हैं और रहते हैं, जी सकते हैं और जीते हैं। शरीरके सम्बन्धसे हम बँधते हैं और सम्बन्ध-विच्छेदसे मुक्त होते हैं। शरीर संसारसे अभिन्न है; अतः एक शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है।

जब जीव परमात्माको अपनेसे भी अधिक महत्त्व देता है अर्थात् वह जिस सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे शरीरको अपना और अपने लिये मानता है, उसी सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे परमात्माको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है। परमात्माको अपनेसे भी अधिक महत्त्व देनेसे मुक्तिका रस भी फीका हो जाता है!

परमात्मा सम्पूर्ण संसारके परम प्रकाशक, परम आधार, परम आश्रय और परम अधिष्ठान हैं। जीव उस परमात्माका ही अंश है। जो अपनेसे अभिन्न है, उस परमात्माको अपनेसे अलग मानना और जो अपनेसे भिन्न है, उस शरीर-संसारको अपना और अपने लिये मानना सम्पूर्ण दोषोंका मूल है। परमात्माको अपना मानना सत्का संग है और शरीर-संसारको अपना मानना असत्का संग है। जो मिला है और बिछुड़ जायगा, उस शरीर-संसारको अपना

माननेसे ही जो वास्तवमें अपना है, वह अपना नहीं दीखता। इसीका परिणाम है कि मनुष्यको अपने जीवनमें अशान्ति, दु:ख, अभाव, नीरसता, पराधीनता, बन्धन आदि अनेक दोषोंका अनुभव होता है। जबतक मनुष्यको शरीर अपना और अपने लिये प्रतीत होता रहेगा, तबतक वह कितना ही साधन कर ले, तपस्या कर ले, अभ्यास कर ले, श्रवण-मनन-निदिध्यासन कर ले, उसको परमशान्ति नहीं मिलेगी, उलटे उसमें अभिमान पैदा हो जायगा कि मैं इतना जानकार हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं ऊँचा साधक हूँ आदि। अभिमानसे सब दोष उत्पन्न होते हैं और पुष्ट होते हैं। तात्पर्य है कि शरीरको अपना मानकर वह कुछ भी करेगा, उससे उसके अभावकी पूर्ति नहीं होगी। इसलिये यह सिद्धान्त है कि जो मिला है और बिछुड़ जायगा, वह हमारे कुछ काम नहीं आ सकता। हाँ, उसके द्वारा दूसरोंकी सेवा कर सकते हैं; क्योंकि वह दूसरोंका तथा दूसरोंके लिये ही है। सेवा अथवा त्यागके सिवाय उसका और कोई उपयोग नहीं है।

अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करनेसे, बहुत व्याख्यान सुननेसे, बहुत-सी बातें जान लेनेसे ही जीवनमें दु:ख, अशान्ति, अभाव, पराधीनता आदिका नाश नहीं हो सकता। उससे मनुष्यकी बुद्धि बलवती बन सकती है, पर सम (स्थिर) नहीं हो सकती। बुद्धि बलवती होनेसे मनुष्य अच्छा व्याख्यान दे सकता है, पुस्तकें लिख सकता है, अनेक विद्याएँ सीख सकता है, शास्त्रार्थमें दूसरेको हरा सकता है, बड़े-बड़े प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है, पर पराधीनतासे नहीं छूट सकता। अगर मनुष्य चाहे तो वह शास्त्रोंके अध्ययनके बिना भी यह अनुभव कर सकता है कि जो वस्तु मिली है और बिछुड़ जायगी, वह अपनी और अपने लिये नहीं है। उसको अपनी और अपने लिये न माननेपर ममता और कामना नहीं रहती। ममता

और कामना न रहनेपर बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि सम होनेसे असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् शरीर-संसारकी सत्ता, महत्ता और अपनापन सर्वथा नहीं रहता।

जब मनुष्य अपनेको अधिक महत्त्व देता है, तब वह मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा एक सूक्ष्म अहम् (अभिमानशून्य अहम्) रह जाता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु जब वह अपनेसे भी परमात्माको अधिक महत्त्व देता है, तब उसका वह सूक्ष्म अहम् प्रेममें परिणत हो जाता है, आत्मरति भगवद्रतिमें परिणत हो जाती है*। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर सभी भेद मिट जाते हैं। मुक्ति तो साधन है, पर प्रेम साध्य है। प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी वास्तविक पूर्णता है, सफलता है।

मुक्ति होनेपर जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है और दुःखोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है; परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर न तो प्रेमकी पूर्ति होती है, न क्षति होती है और न निवृत्ति ही होती है, प्रत्युत उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारद० ५४)। इस प्रेमकी प्राप्ति भगवान्‌में अपनापन करनेसे होती है—*'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'* कारण कि भगवान्‌ने भोग और मोक्ष तो मनुष्यके लिये बनाये हैं, पर मनुष्यको अपने लिये बनाया है कि वह मेरेसे प्रेम करे, मैं उससे प्रेम करूँ। भगवान्‌ने भोगके लिये क्रिया-शक्ति दी है, मोक्षके लिये विवेक दिया है और अपने लिये प्रेम दिया है। प्रेमकी भूख भगवान्‌में भी है—'**एकाकी न रमते**।' प्रेम भगवान्‌को भी तृप्त करनेवाला है। इसलिये प्रेम सबसे ऊँची चीज है। प्रेमसे आगे कुछ नहीं है।

---

* ज्ञानमार्गी अपनेको अधिक महत्त्व देता है और भक्तिमार्गी भगवान्‌को अधिक महत्त्व देता है।

३. विज्ञानसहित ज्ञान

जितने भी शास्त्र (दर्शन) हैं, उनके दो विभाग हैं—ईश्वरको माननेवाले और ईश्वरको न माननेवाले। ईश्वरको माननेवाले शास्त्रोंमें गीता मुख्य है। गीताका खास सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं। जिन दार्शनिकोंने अपने दर्शन-(अनुभव-) में, अपने मतमें पूर्ण सन्तोष कर लिया, वे तो वहीं रुक गये, पर जिन्होंने अपने दर्शनमें सन्तोष नहीं किया, उन्होंने '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव कर लिया। '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव होनेपर सम्पूर्ण दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद सर्वथा मिट जाता है और वे सब एक हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंका ही विवेचन आता है; क्योंकि इन तीनोंके सिवाय चौथी कोई वस्तु है ही नहीं। इन तीनोंको गीताने अनेक नामोंसे कहा है; जैसे—'जगत्' को अपरा, क्षेत्र, क्षर आदि, 'जीव' को परा, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि और 'परमात्मा' को ब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा है। भगवान्‌ने गीतामें अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनोंको ही अपनी प्रकृति (स्वभाव या शक्ति) बताया है*। जैसे शक्तिमान्‌के

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७।४-५)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है; और हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, ऐसे ही परमात्माके बिना जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परमात्माके ही एक अंशमें जीव है और जीवके ही एक अंशमें जगत् है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इसलिये गीतामें जगत्, जीव और परमात्माके वर्णनका तात्पर्य उनको अलग-अलग बतानेमें नहीं है, प्रत्युत सबको एक और अभिन्न बतानेमें ही है*।

परा और अपरा—दोनों प्रकृतियोंके साथ परमात्माका समान सम्बन्ध है। परन्तु परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ नहीं है। कारण कि परा और अपरा—दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। परा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी है और अपरा (शरीर-संसार) निरन्तर परिवर्तनशील तथा विनाशी है। परा प्रकृति परमात्माका अंश होनेसे परमात्माके ही स्वभाववाली है अर्थात् जैसे परमात्मा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी स्वभाववाले हैं, ऐसे ही उनका अंश परा प्रकृति भी है। तात्पर्य यह हुआ कि जीव परमात्माका अविभाज्य अंश है और शरीर संसारका अविभाज्य अंश है।

जीव तथा परमात्मा 'प्राप्त' हैं और स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर तथा संसार 'प्रतीति' हैं। 'प्राप्त' सत्-रूप है और 'प्रतीति' असत्-रूप है। असत्‌की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव

---

* एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥
(श्वेताश्वतर० १। १२)

'अपने ही भीतर स्थित इस ब्रह्मको ही सर्वदा जानना चाहिये; क्योंकि इससे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जगत्) और उनके प्रेरक परमेश्वरको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन भेदोंमें बताया हुआ ब्रह्म ही है अर्थात् जीव, जगत् और परमात्मा—तीनों समग्र ब्रह्मके ही रूप हैं।'

विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि 'प्राप्त' दीखता नहीं है, पर उसकी सत्ता मौजूद है और 'प्रतीति' दीखती तो है, पर उसकी सत्ता मौजूद है ही नहीं। मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ—यह 'प्रतीति' को लेकर है और मैं साधक (योगी, मुमुक्षु, भक्त आदि) हूँ—यह 'प्राप्त' को लेकर है। जब मनुष्यमें 'प्रतीति' की मुख्यता होती है, तब वह संसारी होता है और जब उसमें 'प्राप्त' की मुख्यता होती है, तब वह साधक होता है। इसलिये साधकमें 'प्राप्त' की मुख्यता होनी चाहिये। प्रतीतिकी मुख्यता होनेसे साधनकी सिद्धिमें बहुत कठिनता होती है। मुक्ति अथवा भक्तिकी प्राप्ति प्रतीतिको नहीं होती, प्रत्युत 'प्राप्त'-(स्वयं-) को ही होती है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अपने भक्तोंके चार प्रकार (अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी) बताकर नवें अध्यायके तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक कहा कि दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय—ये सभी व्यक्ति चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें कहें तो भगवान्‌की प्राप्ति दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रियको नहीं होती, प्रत्युत 'भक्त'-(स्वयं-) को होती है*! (गीता ९। ३३)। इसलिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी मुख्यता

---

*नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

'मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ; न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ और न संन्यासी ही हूँ; किन्तु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्यामसुन्दरके चरणकमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ।'

रखनेवाला कोई भी मनुष्य भोगी तो बन सकता है, पर योगी नहीं बन सकता।

जो 'प्राप्त' है, वह 'परा प्रकृति' है और जो 'प्रतीति' है, वह 'अपरा प्रकृति' है। परा और अपरा—दोनों ही प्रकृतियाँ भगवान्‌की होनेसे भगवत्स्वरूप हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परन्तु जीव-(परा-) ने जगत्-(अपरा-) को धारण कर लिया अर्थात् उसको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर अपना मान लिया—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। यही जीवकी मूल भूल है, जिसके कारण वह जगत् बन गया* अर्थात् जगत्‌की तरह परिवर्तनशील, जन्मने-मरनेवाला बन गया। इस भूलको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह 'परा' को अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर दे और 'अपरा' को अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारके अर्पित कर दे, संसारकी सेवामें लगा दे। 'मैं भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही हूँ'—ऐसा स्वीकार कर लेना अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित करना है और 'शरीर संसारका और संसारके लिये ही है'—ऐसा अनुभव कर लेना शरीरको संसारके अर्पित करना है। इस प्रकार भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी—यह 'भक्तियोग' हो गया, संसारकी चीज संसारको दे दी—यह 'कर्मयोग' हो गया और न तो भगवान्‌से तथा न संसारसे ही कुछ चाहनेसे स्वयं असंग हो गया—यह 'ज्ञानयोग' हो गया। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता।'

—इस श्लोकमें जीवात्माके लिये 'जगत्' शब्द आया है।

और भक्तियोग—तीनों सिद्ध होनेसे परा और अपराकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता मिट जाती है और '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जाता है।

जो अपना कल्याण चाहता है, वह अगर अपरा-(जगत्-) को सच्चा मानता है तो उसके लिये 'कर्मयोग' (भौतिक साधना) है, अगर परा-(जीव अर्थात् चेतन-) को सच्चा मानता है तो उसके लिये 'ज्ञानयोग' (आध्यात्मिक साधना) है और अगर परमात्माको सच्चा मानता है तो उसके लिये 'भक्तियोग' (आस्तिक साधना) है। अगर वह किसीको भी सच्चा नहीं मानता तो भी उसका कल्याण हो जायगा! कारण कि किसीको भी न माननेसे उसपर संसार आदिका प्रभाव नहीं पड़ेगा और वह स्वतः निर्विकल्प हो जायगा। मनुष्यपर उसी वस्तुका असर पड़ता है, जिसको वह सच्चा मानता है।

हमने संसारकी चीज संसारको दे दी तो अब हम संसारसे कुछ चाहनेके अधिकारी ही नहीं रहे। इसी तरह भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी तो हमें स्वतः प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी। प्रेमसे बढ़कर कोई चीज है ही नहीं, जिसकी चाहना हम भगवान्‌से करें। संसारकी चीज संसारको देना 'योग' है और संसारसे कुछ चाहना 'भोग' है। भगवान्‌की चीज भगवान्‌को देना 'योग' है और भगवान्‌से कुछ माँगना 'भोग' है।

वास्तवमें मनुष्यशरीर कर्मयोनि अथवा भोगयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि अथवा प्रेमयोनि है; क्योंकि भगवान्‌ने मनुष्यको प्रेमके लिये ही बनाया है—'**एकाकी न रमते।**' इसलिये प्रेमकी प्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्‌को अपना मान सकता है, भगवान्‌से कह सकता है कि मैं तेरा हूँ, तू मेरा है अथवा केवल तू-ही-तू है।

कारण कि भगवान्‌ने संसारको जीवोंके लिये बनाया है और मनुष्यको अपने लिये बनाया है। मनुष्यमें संसारको अपना न माननेकी और भगवान्‌को अपना माननेकी जो योग्यता और सामर्थ्य है, वह भी वास्तवमें भगवान्‌की ही दी हुई है। भगवान्‌की दी हुई योग्यता और सामर्थ्यसे ही मनुष्य भगवान्‌से प्रेम करता है।

संसार निरन्तर बदलनेवाला (अप्राप्त) है तथा अपना नहीं है, फिर भी वह हमारेको प्रिय लगता है और परमात्मा सब देश, काल आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान (नित्यप्राप्त) हैं तथा अपने हैं, फिर भी वे हमारेको प्रिय नहीं लगते! इसका कारण यह है कि हम संसारकी निन्दा तो करते हैं, पर उसकी सत्ता और महत्ता नहीं है तथा वह अपना नहीं है—यह अनुभव नहीं करते। इसी तरह हम परमात्माकी महिमा तो गाते हैं, पर उनको सत्ता और महत्ता देकर अपना स्वीकार नहीं करते। इसलिये साधकका खास काम है—विवेकपूर्वक संसारको अपना न मानना और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌को अपना मानना, जो कि वास्तविकता है।

जब मनुष्य संसारको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब उसको अपनी और संसारकी (परा और अपराकी) स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि जीव जगत्‌के अधीन (पराधीन) हो जाता है और जन्म-मरणमें पड़कर दुःख पाता है। इस पराधीनतासे छूटनेके लिये साधकके लिये तीन खास बातें हैं—

(१) मेरा कुछ नहीं है।

(२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

(३) मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है।

(१) हमारा स्वरूप (स्वयं) सत्तामात्र है। इस स्वरूपके

साथ कुछ भी नहीं है। संसारकी कोई भी वस्तु और क्रिया स्वरूपतक नहीं पहुँचती। तात्पर्य यह हुआ कि अपने पास अपने सिवाय कुछ भी नहीं है। 'मैं' कहलानेवाला स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर भी अपने साथ नहीं है और हम उसके साथ नहीं हैं। अगर शरीर हमारे साथ रहता तो हमारे अनेक जन्म कैसे होते? हम अनेक शरीर कैसे धारण करते? अगर हम शरीरके साथ रहते तो मुक्ति कभी होती ही नहीं। प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति, अवस्था आदिमें निरन्तर परिवर्तन होता है, उत्पत्ति-विनाश होता है, पर अपनेमें (स्वरूपमें) कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन, उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। इन देश, काल आदि सबके अभावका अनुभव हमें होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। परिवर्तनशील एवं नाशवान् वस्तु (शरीर-संसार) अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी तत्त्वके साथ कैसे रह सकती है और उसके क्या काम आ सकती है? अमावस्याकी रात सूर्यके साथ कैसे रह सकती है और सूर्यके क्या काम आ सकती है? सांसारिक शरीर, बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, सुन्दरता आदि संसारके ही काम आते हैं, हमारे काम किञ्चिन्मात्र भी नहीं आते। तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति और उसके कार्य शरीर-संसारके द्वारा हमें कुछ भी नहीं मिलता, हमारी किञ्चिन्मात्र भी पुष्टि नहीं होती, हित नहीं होता, हो सकता भी नहीं। अनन्त ब्रह्माण्ड मिलकर भी हमारी पूर्ति, सन्तुष्टि नहीं कर सकते। इसलिये अनन्त सृष्टियों, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो हमारी हो और हमारे लिये हो!

जीव और परमात्मा—दोनों ही अकिञ्चन हैं। जीव इसलिये अकिञ्चन है कि उसके लिये संसारमें 'मेरा कुछ नहीं है' अर्थात्

उसका भगवान्‌के सिवाय और किसीसे सम्बन्ध नहीं है, और परमात्मा इसलिये अकिञ्चन हैं कि उनके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (गीता ७। ७), '**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तबतक उसके पास कुछ नहीं है और जब उसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—'**वासुदेवः सर्वम्**।' उसकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता हो जाती है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८), '**मयि ते तेषु चाप्यहम्**' (गीता ९। २९)। इसलिये भगवान्‌ने रुक्मिणीजीसे कहा है कि 'हम सदाके अकिञ्चन हैं और अकिञ्चन भक्तोंसे ही हम प्रेम करते हैं और वे हमारेसे प्रेम करते हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रिया:।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। १४)

भगवान् दर्शन भी अकिञ्चन भक्तोंको ही देते हैं—'**त्वामकिञ्चनगोचरम्**' (श्रीमद्भा० १। ८। २६)। इसलिये कोई भी वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है—ऐसा स्वीकार करके अनुभव करते ही हम अकिञ्चन हो जाते हैं, भगवान्‌के प्रेमी हो जाते हैं—'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**' (गीता ७। १७)।

(२) इच्छा अभावसे पैदा होती है। सत्तामात्र अपने स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। इसलिये अपनेमें कोई इच्छा नहीं होती। जब अनन्त सृष्टिमें कोई वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं और कोई वस्तु स्वयंतक पहुँच सकती ही नहीं, हमें प्राप्त हो सकती ही नहीं तो फिर किसकी इच्छा करें और क्यों करें? जिस शरीरको हम 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानते हैं, वह शरीर भी हमें आजतक प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं, प्राप्त होना सम्भव ही नहीं।

कारण कि वह निरन्तर बदलता है और हम निरन्तर रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरका स्वयंसे कभी संयोग हुआ ही नहीं; क्योंकि ये दोनों ही परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। इसलिये न तो हमें संसारसे कुछ चाहिये और न भगवान्‌से ही कुछ चाहिये। संसारसे इसलिये कुछ नहीं चाहिये कि उसके पास ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो वह हमें दे सके। भगवान्‌से भी शान्ति, मुक्ति, सद्गति, दर्शन आदि कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि इनको देना भगवान्‌का कर्तव्य है, जो उनके अधीन है। हमारा काम भगवान्‌को उनका कर्तव्य बताना नहीं है, प्रत्युत अपने कर्तव्यका पालन करना है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न मानकर अपनेको सर्वथा अर्पण कर दें और भगवान्‌से कुछ भी न माँगें; क्योंकि वास्तवमें भगवान्‌के सिवाय अपना कोई है ही नहीं।

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌के सिवाय दूसरी वस्तुको अपना माननेसे भगवान्‌से सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् विमुखता होती है। इसी तरह भगवान्‌से कोई वस्तु माँगनेसे उस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है और देनेवाले-(भगवान्-) से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुओंको तो अपना मानता है, पर उनको देनेवालेको अपना नहीं मानता! मिली हुई वस्तुएँ तो बिछुड़ जायँगी, पर भगवान् नहीं बिछुड़ेंगे।

(३) सत्तामात्र हमारे स्वरूपमें कोई क्रिया नहीं है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है। स्वयं किञ्चिन्मात्र भी कुछ नहीं करता—**'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५। ८), **'नैव किञ्चित्करोति सः'** (गीता ४। २०)। मनुष्य जो कुछ करता है, कुछ-न-कुछ पानेके लिये ही करता है। जब सृष्टिमात्रमें कोई भी वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं तो फिर

किसको पानेके लिये कर्म किया जाय? इसलिये हमें अपने लिये कुछ करना है ही नहीं।

अगर हम शरीर आदि किसी भी वस्तुको अपना मानें तो कभी सर्वथा निष्काम हो सकते ही नहीं; क्योंकि शरीरको रोटी-कपड़ा आदि सब कुछ चाहिये। सर्वथा निष्काम हुए बिना क्रियाका त्याग भी नहीं हो सकता; क्योंकि कामना-पूर्तिके लिये क्रिया करनी ही पड़ेगी। इसलिये 'मेरा कुछ नहीं है'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है, और 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं करना है'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है।

'मेरा कुछ नहीं है'—ऐसा माननेसे मनुष्य ममतारहित हो जाता है, 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा माननेसे कामनारहित हो जाता है और 'मेरेको (अपने लिये) कुछ नहीं करना है'—ऐसा माननेसे कर्तृत्व-रहित हो जाता है। ममतारहित, कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेसे मनुष्य 'स्व' में स्थित अर्थात् 'मुक्त' हो जाता है*। अगर साधक अपनी सत्ताको परमात्माकी सत्ताके अर्पित कर देता है अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसी आत्मीयता (अभिन्नता) स्वीकार कर लेता है तो वह 'स्वकीय' में स्थित अर्थात् 'भक्त' हो जाता है।

अगर कोई साधक ज्ञानमार्ग-(निर्गुणोपासना-)का आग्रह रखकर भक्तिमार्ग-(सगुणोपासना-) की उपेक्षा, अनादर, खण्डन, निन्दा अथवा तिरस्कार करता है तो उसको मुक्त होनेके बाद

---

* विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः.................................। (गीता २। ७१-७२)

भी भक्तिकी प्राप्ति नहीं होगी। अगर साधक अपने साधनका आग्रह न रखे, भक्तिकी उपेक्षा, तिरस्कार न करे, प्रत्युत उसका आदर करे तो उसको मुक्त होनेके बाद भक्तिकी प्राप्ति स्वतः-स्वाभाविक हो जायगी। इसलिये गीतामें भगवान्ने **'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि'** (४। ३५) पदोंसे कहा है कि 'तत्त्वज्ञान होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें देखेगा' (**द्रक्ष्यसि आत्मनि**)—यह मुक्तिकी प्राप्ति है, और 'उसके बाद मेरेमें देखेगा' (**अथो मयि**)—यह भक्तिकी प्राप्ति है। वास्तवमें हम शरीरके साथ कभी मिल सकते ही नहीं और परमात्मासे कभी अलग हो सकते ही नहीं। अतः मुक्त होना और भक्त होना वास्तविकता है।

मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहम्की गंध रह जाती है, जिससे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतभेद पैदा होते हैं, पर प्रेमकी प्राप्तिमें अहम्का सर्वथा अभाव हो जाता है*, जिससे सम्पूर्ण मतभेद मिटकर **'वासुदेवः सर्वम्'** का अर्थात् परा-अपराके सहित भगवान्के समग्ररूपका अनुभव हो जाता है। यही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है, जिसको जाननेके बाद फिर कुछ जाननेयोग्य शेष रहता ही नहीं—**'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते'** (गीता ७। २) और जिसको जानकर साधक जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है—**'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (गीता ९। १)। इसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन भगवान्ने सातवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें किया है। फिर बारहवें अध्यायमें इसका निर्णय किया है कि केवल ज्ञानकी अपेक्षा विज्ञानसहित ज्ञान श्रेष्ठ है। कारण कि 'ज्ञान' में निर्गुणकी उपासना

* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

है और 'विज्ञान' में सगुण-(समग्र-) की उपासना है। सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। परन्तु निर्गुणकी उपासना समग्रके एक अंगकी उपासना है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध होनेसे उसके अन्तर्गत सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, जबकि सगुण-(समग्र-) में किसीका भी निषेध न होनेसे निर्गुण भी उसके अन्तर्गत आ जाता है। इसलिये सगुणका उपासक विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है*।

'ज्ञान' से मुक्ति प्राप्त होती है और 'विज्ञान' से भक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिमें परमात्मासे सधर्मता होती है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २) और भक्तिमें परमात्मासे आत्मीयता (अभिन्नता) होती है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)। अन्तिम प्रापणीय तत्त्व भक्ति ही है; अतः इसीकी प्राप्तिमें मानवजीवनकी पूर्णता है।

---

* जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ (गीता ७। २९-३०)

'वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं।'

'जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

४. योग

(कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग)

श्रीभगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर और शरीरीका विवेचन किया है। शरीर और शरीरी (शरीरवाला)—दोनोंका विभाग अलग-अलग है। शरीर-विभाग जड़, असत् तथा नाशवान् है और शरीरी-विभाग चेतन, सत् तथा अविनाशी है। गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने इन दोनोंको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति और पुरुष नामसे भी कहा है। शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ और शरीरीका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। गीताके आरम्भमें इन दोनों विभागोंका विवेचन करनेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि इनको अलग-अलग जानना ही मनुष्यके कल्याणमें खास हेतु है*।

गीतामें जहाँ भगवान्‌ने ज्ञानयोगका वर्णन किया है, वहाँ शरीर और शरीरी, सत् और असत्, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष आदि दो विभागोंका वर्णन किया है, पर भक्तिके वर्णनमें इसको तीन विभागोंमें कहा है—परा, अपरा और अहम् (सातवें अध्यायके चौथेसे छठे श्लोकतक), अक्षर, क्षर और पुरुषोत्तम (पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक)। परन्तु इसमें भगवान्‌ने एक रहस्यकी बात यह बतायी कि परा (चेतन) और अपरा (जड़)—दोनों ही मेरी प्रकृतियाँ अर्थात् स्वभाव हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌का स्वभाव होनेसे परा और अपरा—दोनों भगवान्‌से अभिन्न हैं। अतः भक्तिकी दृष्टिसे एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९), **'सदसच्चाहम्'** (९। १९)।

---

* क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ (गीता १३। ३४)

'इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर (विभाग) को तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

ज्ञान अथवा भक्ति, किसी भी दृष्टिसे देखें, सत्ता एक ही है। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है।

जो साधक अपना कल्याण चाहता है, उसको पहले यह विचार करना चाहिये कि वह स्वतः-स्वाभाविक किसकी सत्ता और महत्ताको स्वीकार करता है अर्थात् उसपर किसका प्रभाव अधिक पड़ता है, संसारका, अपने-आपका अथवा परमात्माका। अगर वह संसारको मानता है तो 'कर्मयोग' के द्वारा उसका कल्याण हो जायगा, केवल अपने-आपको ही मानता है तो 'ज्ञानयोग' के द्वारा उसका कल्याण हो जायगा और भगवान्‌को मानता है तो 'भक्तियोग' के द्वारा उसका कल्याण हो जायगा। अगर वह किसीको भी नहीं मानता तो भी उसका कल्याण हो जायगा; क्योंकि किसीको भी न माननेसे तथा कल्याणकी इच्छा होनेसे उसपर किसीका भी प्रभाव नहीं पड़ेगा और किसीका भी प्रभाव न पड़नेसे राग-द्वेष नहीं होंगे, जिससे उसकी मुक्ति स्वतः हो जायगी।

शरीरको संसारकी सेवामें लगा दे तो सेवा करते-करते शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध स्वतः छूट जायगा और स्वरूपमें स्थिति हो जायगी—यह कर्मयोग है। शरीर और संसारसे अपनेको अलग कर ले—यह ज्ञानयोग है। शरीरसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दे—यह भक्तियोग है। संसारकी किसी भी वस्तुको अपनी न माने और किसीका अहित न करे तो कर्मयोग सिद्ध हो जायगा। अपने-आपको सर्वथा असंग अनुभव कर ले तो ज्ञानयोग सिद्ध हो जायगा। केवल भगवान्‌को ही अपना मान ले तो भक्तियोग सिद्ध हो जायगा। कर्मयोगी अपरा प्रकृतिके कार्य शरीरको अपरा (संसार) की ही सेवामें लगा देता है तो आप (स्वयं) स्वतः अलग हो जाता है और ज्ञानयोगी अपने-

आपको अपरासे अलग कर लेता है; अतः दोनोंको एक ही तत्त्व (स्वरूप-बोध अथवा मुक्ति) की प्राप्ति होती है—'**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते**' (गीता ५। ५)। परन्तु भक्तको मुक्तिके साथ-साथ पराभक्ति-(प्रेम)-की भी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८। ५४)। इसलिये भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोगको लौकिक निष्ठा कहा है*। परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है; क्योंकि लौकिक (परा और अपरा) प्रकृति परमात्माकी है। इसलिये लौकिक दृष्टिसे देखें तो लौकिक अलग है और अलौकिक अलग है। परन्तु अलौकिक दृष्टिसे देखें तो सब कुछ अलौकिक है, लौकिक है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्।**' अलौकिकमें लौकिकका जन्म ही नहीं हुआ! वहाँ शरीर-संसार भी अलौकिक हैं—'**सदसच्चाहम्।**'

कर्मयोगमें 'अकर्म' मुख्य है—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**' (गीता ४। १८), ज्ञानयोगमें 'आत्मा' मुख्य है—'**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि**' (गीता ६। २९), और भक्तियोगमें 'भगवान्' मुख्य हैं—'**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**' (गीता ६। ३०)। कर्मयोगमें अकर्म शेष रहता है। अकर्म शेष रहनेपर क्रिया-पदार्थरूप संसारका अभाव हो जाता है और शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानयोगमें आत्मा शेष रहती है। आत्मा शेष रहनेपर स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। भक्तियोगमें भगवान् शेष रहते हैं। भगवान् शेष रहनेपर प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम (अनन्त आनन्द) की प्राप्ति हो जाती है।

---

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

प्रत्येक मनुष्यके अनुभवमें दो वस्तुएँ आती हैं—एक शरीर और एक वह स्वयं (शरीरी)। शरीर संसारका अंश है और स्वयं परमात्माका अंश है। शरीरकी संसारसे और स्वयंकी परमात्मासे सजातीयता अर्थात् सधर्मता है। इसलिये शरीर संसारका तथा संसारके लिये है और स्वयं परमात्माका तथा परमात्माके लिये है। शरीरपर हमारा कोई आधिपत्य (वश) नहीं चलता। इसको हम अपने इच्छानुसार बदल नहीं सकते, इच्छानुसार रख नहीं सकते, इच्छानुसार बना नहीं सकते। इसलिये यह हमारा और हमारे लिये हो ही नहीं सकता। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, बल, विद्या, योग्यता आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब संसारका और संसारके लिये ही है। जब शरीर हमारा और हमारे लिये है ही नहीं, तो फिर उसमें हमारी आसक्ति कैसे हो सकती है? मोह कैसे हो सकता है? ममता कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। अपने साथ शरीरकी एकता माननेसे आसक्तिका त्याग हो ही नहीं सकता, और संसारके साथ शरीरकी एकता माननेसे आसक्ति हो ही नहीं सकती। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे अपना सम्बन्ध (शरीरमें अपनापन) छूट जाता है। अतः साधकका खास काम केवल इतना ही है कि वह संसारकी वस्तु संसारको दे दे और भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को दे दे। फिर कामना, ममता, आसक्ति कौन करेगा, किसमें करेगा, कैसे करेगा और क्यों करेगा? संसारकी वस्तु संसारको दे दें तो मुक्ति प्राप्त हो जायगी और भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को दे दें तो भक्ति प्राप्त हो जायगी।

मनुष्यसे यह बहुत बड़ी गलती होती है कि वह शरीरको, जो कि संसारकी वस्तु है, अपना मान लेता है। संसारकी वस्तुको अपना मान लेना बेईमानी है और इसी बेईमानीका दण्ड

है—जन्म-मृत्युरूप महान् दुःख। वास्तवमें संसारकी वस्तु शरीरको अपना और अपने लिये मानना मूल भूल है और इस मूल भूलको मिटानेके लिये साधकको तीन काम करने होंगे—

(१) सीधे-सरलभावसे अपनी भूल स्वीकार करना कि संसारकी वस्तुको अपना मानकर वास्तवमें मैंने बहुत बड़ी भूल की।

(२) अपनी भूलका दुःख (पश्चात्ताप) करना कि मनुष्य होकर, समझदार होकर, ईमानदार होकर ऐसी भूल मेरेको नहीं करनी चाहिये थी।

(३) ऐसा निश्चय करना कि अब आगे मैं ऐसी भूल पुनः नहीं करूँगा अर्थात् शरीरको अपना और अपने लिये कभी नहीं मानूँगा।

इसके बाद साधकका खास कर्तव्य है कि वह ईमानदारीके साथ संसारकी वस्तुको संसारकी ही मानकर उसकी सेवामें लगा दे और भगवान्‌की वस्तुको अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का ही मानकर भगवान्‌के समर्पित कर दे।

भगवान्‌की अपरा प्रकृति होनेसे संसार भगवान्‌का है। अतः जैसे कोई हमारे प्यारे सम्बन्धीकी सेवा करे तो वह हमें प्यारा लगता है, ऐसे ही हम निःस्वार्थभावसे संसारकी सेवा करेंगे तो हम भगवान्‌को प्यारे लगेंगे और हम भगवान्‌को अपना मान लेंगे तो भगवान् हमें प्यारे लगेंगे। जब हम भगवान्‌को और भगवान् हमारेको प्यारे लगेंगे, तब हमारी भगवान्‌से आत्मीयता हो जायगी* और हमारा मानव-जन्म पूर्णतः सार्थक हो जायगा।

हम संसारकी सेवा करेंगे तो संसार भी राजी हो जायगा और उसके मालिक भगवान् भी राजी हो जायँगे। हम भगवान्‌को अपना

---

* 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गीता ७। १७)।
'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७। १८)।

मानेंगे तो इससे भी भगवान् राजी हो जायँगे। इस प्रकार भगवान् दुगुने राजी हो जायँगे और हमें भी दुगुना लाभ हो जायगा—संसारसे मुक्ति भी मिल जायगी और भगवान्‌में भक्ति (प्रियता) भी मिल जायगी। संसारकी चीज संसारको दे दी और भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी तो हमारे घरका क्या खर्च हुआ? अपना कुछ भी खर्च नहीं होगा और मुफ्तमें मुक्ति और भक्ति प्राप्त हो जायगी। संसार अपना स्वार्थ चाहता है, उसका स्वार्थ सिद्ध हो जायगा। भगवान् प्रेम चाहते हैं, उनमें प्रेम हो जायगा। हम अपना कल्याण चाहते हैं, हमारा कल्याण हो जायगा।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोगके साधनमें 'निषेध' मुख्य है और भक्तियोगके साधनमें 'विधि' मुख्य है। कारण कि हमें संसारके सम्बन्धका त्याग करना है, जो भूलसे माना हुआ है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना है, जिसको हम भूल गये हैं। कर्मयोगमें सेवाके द्वारा संसारका निषेध होता है और ज्ञानयोगमें विवेक-विचारके द्वारा संसारका निषेध होता है। निषेध होनेपर स्वरूपमें स्थिति स्वतः होती है और विधि होनेपर संसारका त्याग स्वतः होता है। त्याग करनेकी अपेक्षा स्वतः होनेवाला त्याग श्रेष्ठ होता है। कारण कि त्याग करनेपर त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता रहती है, पर स्वतः त्याग होनेपर त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता सर्वथा नहीं रहती अर्थात् अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है।

यह सिद्धान्त है कि कर्तव्यमात्र समझकर (अपनी कामना-ममता न रखकर) जो कर्म किया जाता है, उस कर्मसे लिप्तता नहीं होती, प्रत्युत उससे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेको 'त्याग' नामसे कहा है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

(गीता १८। ९)

'हे अर्जुन! केवल कर्तव्यमात्र करना है—ऐसा समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।'

इसलिये कर्मयोगमें जो भी साधन किया जाता है, वह कर्तव्यमात्र समझकर किया जाता है। मनुष्यशरीर साधन करनेके लिये मिला है; अतः साधन करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार कर्तव्य समझकर साधन करनेसे कर्तापन, कर्म और करण—तीनोंसे अर्थात् संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वरूपमें स्थिति स्वतः हो जाती है, जो कि वास्तवमें है। परन्तु भक्तियोगमें नामजप, कीर्तन आदि जो भी साधन किया जाता है, वह कर्तव्यमात्र समझकर नहीं किया जाता, प्रत्युत अपने प्रेमास्पद भगवान्‌की सेवा (पूजन) समझकर किया जाता है। कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करना दवा लेनेके समान है और भगवान्‌का पूजन समझकर कर्म करना भोजन करनेके समान है। बीमार होनेपर दवा लेना कर्तव्य है, पर भूख लगनेपर भोजन करना कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत प्राणोंका आधार है। भक्तिमें भगवान्‌में अपनापन मुख्य होता है। जैसे बालक माँको पुकारता है तो कर्तव्य समझकर नहीं पुकारता, प्रत्युत अपनी माँ समझकर अपनेपनसे पुकारता है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌को अपना समझकर पुकारता है, कर्तव्य समझकर नहीं*। कर्तव्य तो दूसरोंके लिये होता है, पर पुकार अपने लिये होती है।

भक्तियोगमें भक्तकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के लिये होती

* बच्चा तो सर्वथा अज्ञ होता है, पर भक्त सर्वथा विज्ञ होता है।

है; क्योंकि वह खुद भी भगवान्‌का है और शरीर भी। परा और अपरा—दोनों ही प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं। इसलिये भक्त न तो शरीरको अलग करता है और न आप अलग होता है, प्रत्युत शरीरसहित अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है। जैसे बच्चेकी प्रत्येक क्रिया माँको प्रसन्न करनेवाली होती है; क्योंकि बच्चा माँके सिवाय अन्य किसीको मानता या जानता ही नहीं। ऐसे ही भक्तकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाली होती है; क्योंकि वह भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीको मानता या जानता ही नहीं। उसका भगवान्‌में अनन्यभाव होता है।

भक्त जब एकान्तमें बैठता है, तब उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं होता। अतः वह भगवत्प्रेमकी मादकतामें डूबा रहता है। परन्तु जब वह व्यवहार करता है, तब भगवान् संसाररूपसे सेव्य बनकर उसके सामने आते हैं। अतः व्यवहारमें भक्त अपनी प्रत्येक क्रियासे भगवान्‌का पूजन करता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८। ४६)। पहले पूजक मुख्य होता है, फिर वह पूजा होकर पूज्यमें लीन हो जाता है।

परमात्मा सगुण हैं कि निर्गुण हैं, साकार हैं कि निराकार हैं, दयालु हैं कि न्यायकारी अथवा उदासीन हैं, द्विभुज हैं कि चतुर्भुज हैं आदि विचार करना भक्तका काम नहीं है। ऐसा विचार उसी वस्तुके विषयमें किया जाता है, जिसका त्याग अथवा ग्रहण करनेकी आवश्यकता हो; क्योंकि ***'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'*** (मानस, बाल० ६। १)। जैसे, हम कोई वस्तु खरीदने जाते हैं तो परीक्षा करते हैं कि वस्तु कैसी है, मेरे लिये कौन-सी वस्तु उपयोगी है, आदि। परन्तु

परमात्माका त्याग कोई कर सकता ही नहीं। जीवमात्र परमात्माका सनातन अंश है। अंश अंशीका त्याग कैसे कर सकता है? इतना ही नहीं, सर्वसमर्थ परमात्मा भी अगर चाहें तो जीवका त्याग करनेमें असमर्थ हैं। अतः जिस परमात्माका त्याग कर सकते ही नहीं, उसके लिये यह विचार करना अथवा परीक्षा करना निरर्थक है कि वे कैसे हैं। वे तो वास्तवमें सदासे ही अपने हैं। केवल अपनी भूल मिटाकर उनको स्वीकारमात्र करना है। जैसे विवाह होनेपर पतिव्रताकी दृष्टिमें पति कैसा ही हो, वह हमारा है, ऐसे ही परमात्मा कैसे ही हों, वे हमारे हैं*—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण कुरूप हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों, वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतं करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

(शिक्षाष्टक ८)

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसा चाहें, वैसा करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

---

* पति तो परतः है, पर भगवान् स्वतः हैं। भगवान् स्वतः सबके परमपति हैं—'पतिं पतीनां परमम्' (श्वेताश्वतर० ६। ७)।

जैसे बालक माँको पुकारता है तो यह नहीं देखता कि माँ कैसी है, उसका रूप, स्वभाव, आचरण, कपड़े, गहने आदि कैसे हैं, प्रत्युत केवल अपनेपनको देखता है कि 'मेरी माँ है।' ऐसे ही भक्त यह नहीं देखता कि भगवान् कैसे हैं। वह तो केवल यही देखता है कि 'भगवान् मेरे हैं।' जो भगवान्‌के प्रभावको देखकर उनकी भक्ति करता है, वह वास्तवमें प्रभावका भक्त होता है, भगवान्‌का नहीं। जैसे माँ अपने बालकके रूप, स्वभाव, आचरण आदिको न देखकर केवल अपनेपनको देखती है कि 'मेरा बेटा है', ऐसे ही भगवान् भी भक्तके स्वभाव, आचरण आदिको न देखकर अपनेपनको देखते हैं कि यह मेरा ही अंश है और मेरेको ही चाहता है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने अंश 'स्व' को देखते हैं, वह जिसके पराधीन हुआ है, उस 'पर' को नहीं देखते; उसकी पुकारको देखते हैं, उसकी पात्रताको नहीं देखते—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारनेपर वे अपना प्रेम प्रदान करते हैं। त्याग, तपस्या, विवेक आदिसे उनके प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती। केवल भगवान्‌को ही अपना मानकर पुकारनेके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं है। भगवान्‌के सिवाय दूसरेको अपना माननेसे ही प्रेम प्रकट नहीं हो रहा है; क्योंकि अनन्यता नहीं हुई।

मुक्ति और भक्ति (प्रेम)—दोनोंकी प्राप्ति सहज है, स्वतः-स्वाभाविक है। शरीर संसारसे अलग नहीं हो सकता और हम स्वयं परमात्मासे अलग नहीं हो सकते। शरीरके साथ हमारा

मिलन कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। परमात्माके साथ हमारा अलगाव कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। मनुष्यने दो खास भूलें की हैं कि शरीरको अपने साथ मान लिया और परमात्माको अपनेसे दूर मान लिया। अगर वह शरीरको संसारके साथ मान ले तो मुक्ति हो जायगी और स्वयंको परमात्माके साथ मान ले तो भक्ति हो जायगी। मुक्ति प्राप्त होनेपर मनुष्यका जीवन निरपेक्ष हो जाता है, वह स्वाधीन हो जाता है और भक्ति प्राप्त होनेपर मनुष्यकी परमात्मासे आत्मीयता हो जाती है, उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं रहता।

५. भगवत्प्राप्तिका सुगम तथा शीघ्र सिद्धिदायक साधन

मनुष्यको भगवत्प्राप्ति बहुत सुगमतासे तथा जल्दी हो सकती है। परन्तु संसारकी आसक्तिके कारण वह बहुत कठिन तथा देरीसे होनेवाली प्रतीत होती है। वास्तवमें भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत संसारकी आसक्तिको छोड़ना कठिन है। इसमें भी गहराईसे विचार करें तो आसक्तिको छोड़ना भी कठिन नहीं है। कारण कि कोई भी आसक्ति निरन्तर नहीं रहती। आसक्ति मुख्यरूपसे दो ही चीजोंकी होती है—भोगकी और संग्रहकी। परन्तु इनकी आसक्ति एक दिन भी टिकती नहीं। उसमें निरन्तर रहनेकी ताकत ही नहीं हैं।

आसक्ति उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुओंमें होती है। यह नियम है कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे मनुष्यकी तृप्ति कभी हो ही नहीं सकती। नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी तृप्ति कैसे होगी? नाशवान्‌की आसक्ति अविनाशी कैसे होगी? हो ही नहीं सकती। आसक्ति आगन्तुक दोष है। इसको मिटानेका उपाय है—'मेरा भगवान्‌में ही प्रेम हो जाय' इस एक इच्छाको बढ़ायें। रात-दिन एक ही लगन लग जाय कि मेरा प्रभुमें प्रेम कैसे हो? एक प्रेमके सिवाय और कोई इच्छा न रहे, दर्शनकी इच्छा भी नहीं! इस भगवत्प्रेमकी इच्छामें बड़ी विलक्षण शक्ति है। इस इच्छाको बढ़ायें तो बहुत जल्दी सिद्धि हो जायगी। इस इच्छाको इतना बढ़ायें कि अन्य सब इच्छाएँ गल जायँ। केवल एक ही लालसा रह जाय कि 'मेरा भगवान्‌में प्रेम हो जाय' तो इसकी सिद्धि होनेमें आठ पहर भी नहीं लगेंगे!

मेरेको भगवान् मीठे लगें, मेरा उनके चरणोंमें प्रेम हो जाय—

यह वास्तवमें हमारी आवश्यकता है। एक आवश्यकता होती है और एक इच्छा (कामना) होती है। संसारकी इच्छाको कामना, वासना, तृष्णा, आशा आदि नामोंसे कहते हैं। परमात्माकी इच्छाको आवश्यकता, जरूरत, माँग, भूख आदि नामोंसे कहते हैं। तात्पर्य है कि नाशवान्‌की तरफ खिंचाव होना इच्छा है और अविनाशीकी तरफ खिंचाव होना आवश्यकता है। इच्छा मनुष्यको भोग तथा संग्रहमें लगाती है और आवश्यकता सत्संग, भजन-ध्यान आदिमें लगाती है। इच्छाएँ कभी पूरी होती ही नहीं और आवश्यकता पूरी होती ही है—यह नियम है। हमने जड़ताके साथ जितना सम्बन्ध मान रखा है, उतनी ही कमी है। उस कमीकी पूर्तिके लिये ही आवश्यकता है। जड़ता-(नाशवान्-) का सम्बन्ध सर्वथा छूटते ही इच्छाएँ नष्ट हो जायँगी और आवश्यकता पूरी हो जायगी।

सम्पूर्ण इच्छाएँ आजतक किसीकी भी पूरी नहीं हुईं। कितना ही धन मिल जाय, कितनी ही सम्पत्ति मिल जाय, कितना ही वैभव मिल जाय, कितने ही भोग मिल जायँ, यहाँतक कि अनन्त ब्रह्माण्ड मिल जायँ तो भी इच्छा कभी पूरी नहीं होगी, बाकी रहेगी ही। परन्तु आवश्यकता पूरी ही होती है, कभी मिटती नहीं। किसी भी वस्तुकी कोई इच्छा या आसक्ति नहीं रहेगी तो आवश्यकता निःसन्देह पूरी हो जायगी।

हमारी आवश्यकता परमात्मतत्त्वकी है। इस आवश्यकताको हम कभी भूलें नहीं, इसको हरदम जाग्रत् रखें। नींद आ जाय तो आने दें, पर अपनी तरफसे आवश्यकताकी भूली मत होने दें। भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, उनमें प्रेम हो जाय—इस प्रकार आठ पहर इसको जाग्रत् रखें तो काम पूरा हो जायगा! बीचमें दूसरी इच्छाएँ होती रहेंगी तो ज्यादा समय लग जायगा। दूसरी

इच्छा पैदा हो तो जबान हिला दें, सिर हिला दें कि नहीं-नहीं, मेरी कोई इच्छा नहीं! अगर दूसरी इच्छा न रहे तो आठ पहर भी नहीं लगेंगे।

परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है; क्योंकि परमात्मा कहाँ नहीं हैं? कब नहीं हैं? किसमें नहीं हैं? ऐसी कोई वस्तु नहीं बता सकते, कोई काल नहीं बता सकते, कोई देश नहीं बता सकते, कोई स्थान नहीं बता सकते, कोई व्यक्ति नहीं बता सकते, कोई अवस्था नहीं बता सकते, कोई परिस्थिति नहीं बता सकते, जिसमें परमात्मा न हों। केवल उनकी इच्छाकी कमी है, और कुछ कमी नहीं है। केवल एक इच्छा हो जाय कि परमात्मा कैसे मिलें? वे कैसे हैं—यह देखनेकी जरूरत नहीं है। केवल उनकी आवश्यकताकी कभी विस्मृति न हो। उनकी एक इच्छा, एक लालसा करनेमें तो समय लगेगा, पर परमात्माकी प्राप्ति होनेमें समय नहीं लगेगा। लोग पागल कहें, कुछ भी कहें, परवाह न करें। केवल एक ही लालसा हो जायगी तो अन्य सभी इच्छाएँ मिट जायँगी। अन्य इच्छाएँ मिटते ही वह एक लालसा पूरी हो जायगी।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

'**अनन्यचेताः**' का तात्पर्य है कि एक परमात्माके सिवाय कोई इच्छा न हो। न जीनेकी इच्छा हो, न मरनेकी। न सुखकी

इच्छा हो, न दु:खकी। '**सततम्**' का तात्पर्य है कि प्रात: नींद खुलनेसे लेकर रात्रि नींद आनेतक स्मरण करे और '**नित्यशः**' का तात्पर्य है कि आजसे लेकर मृत्यु आनेतक स्मरण करे। इस प्रकार '**अनन्यचेताः**', '**सततम्**' तथा '**नित्यशः**'—ये तीन बातें होनेसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं। तात्पर्य है कि निरन्तर एक ही आवश्यकता रहे, एक ही भूख रहे, एक ही जागृति रहे कि भगवान् कैसे मिलें? जहाँ एक वृत्ति हुई कि प्राप्ति हुई। दूसरी वृत्ति रहेगी तो बाधा लगेगी। एक वृत्ति होनेमें कोई कठिनता भी नहीं है। कारण कि एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु टिकनेवाली है ही नहीं, फिर उसमें आसक्ति कैसे टिकेगी? वृत्ति कहाँ जायगी? किसी भी वस्तुमें ताकत नहीं है कि वह हर जगह रहे, हर समय रहे, हर वस्तुमें रहे, हर व्यक्तिमें रहे, हर अवस्थामें रहे, हर परिस्थितिमें रहे। परन्तु परमात्माका किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिमें अभाव नहीं है। परमात्माके बिना कोई चीज है ही नहीं।

जो सब जगह विद्यमान है, जिसका कहीं भी अभाव नहीं है, उसकी प्राप्तिमें देरीका कारण यही है कि उसको हम चाहते नहीं। उसकी प्राप्ति न होनेमें पाप कारण नहीं है। अगर पाप कारण हो तो पाप प्रबल हुआ, परमात्मा कमजोर हुए! परन्तु यह सम्भव है ही नहीं। मनुष्यकी जो नीच वृत्ति या कृत्य है, उसका नाम पाप है। पाप टिकनेवाला है ही नहीं। सत्संगसे, नामजपसे, गङ्गास्नानसे पाप टिकते ही नहीं। बड़े-से-बड़ा पाप क्यों न हो, उसमें टिकनेकी ताकत ही नहीं है। पापकी सत्ता है ही नहीं। सत्ता एक परमात्माकी ही है। परमात्मा पापमें भी हैं, पुण्यमें भी हैं; अच्छेमें भी हैं, मन्देमें भी हैं; शुद्धिमें भी

हैं, गन्दगीमें भी हैं। किसीने मेरेसे कहा कि तुम्हारे भगवान् तो नरकोंमें हैं। मैंने कहा कि हमारे भगवान् तो सब जगह हैं; स्वर्गमें भी हैं, नरकमें भी हैं। तुम्हारे पूर्वज नरकोंमें गये तो उन्होंने वहाँका समाचार दे दिया! भगवान्‌से खाली जगह कोई हो सकती ही नहीं। वे सब जगह परिपूर्ण हैं। केवल उनकी प्राप्तिकी इच्छा हो, साथमें दूसरी कोई इच्छा न हो तो एक-दो दिन भले ही लग जायँ, उनकी प्राप्ति जरूर होगी। भगवान्‌के सिवाय हमारेको न धन चाहिये, न सम्पत्ति चाहिये, न वाह-वाह चाहिये, न आदर चाहिये, न सत्कार चाहिये, न महिमा चाहिये, न और कुछ चाहिये तो भगवत्प्राप्ति जरूर हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं है। परमात्मा कैसे मिलें?—इस बातकी जागृति हरदम रहेगी तो परमात्मा कैसे छिपे रहेंगे?

भूख लगे तो खा लें, प्यास लगे तो जल पी लें, नींद आये तो सो जायँ। हठ नहीं करना है। भोजनमें स्वाद, सुख नहीं लेना है। जल पीनेमें सुख नहीं लेना है। सोनेमें सुख नहीं लेना है। जैसे रोग होनेपर दवा लेते हैं, ऐसे भूख लगनेपर रोटी खा लें। दवा लेनेमें सुख थोड़े ही लेते हैं? दवामें रुचि थोड़े ही होती है? इच्छा केवल परमात्माकी ही रहे। इससे सुगम साधन और क्या होगा! दूसरी इच्छाएँ साथमें रखते हैं—यही बाधा है। मनुष्य कैसा ही हो, पापी हो या मूर्ख हो, वह परमात्मप्राप्तिका पात्र है। परमात्मप्राप्तिके लिये कोई भी कुपात्र नहीं है। केवल एक ही लालसा होनी चाहिये। दूसरी लालसा ही बाधक है। अगर भूख, प्यास और नींद तंग न करे तो खानेकी, पीनेकी और सोनेकी भी जरूरत नहीं। रोटी खाकर, पानी पीकर, नींद लेकर क्या कोई जी सकता है? रोटी खाते, पानी पीते, नींद लेते हुए भी मनुष्य मर जाता है। जीनेकी

ताकत अन्नमें, जलमें, नींदमें नहीं है। किसी भी वस्तुमें जीनेकी ताकत नहीं है। अगर भूखे रहनेसे मनुष्य मर जाता है तो खाते-पीते हुए भी मनुष्य मर जाता है। एक दिन मरना तो पड़ेगा ही, फिर नया नुकसान क्या हुआ? जो होनेवाला है, वही हुआ। परन्तु मैं भूखे-प्यासे रहकर मरनेके लिये नहीं कहता। कारण कि भूखे-प्यासे रहनेपर मन वैसा नहीं रहता। अत: भूख-प्यास लगे तो अन्न-जल ले लें, नींद आये तो सो जायें, पर अपनी आवश्यकताको न भूलें। उसको हरदम जाग्रत् रखें। परमात्मप्राप्तिमें समय लगाना हमारे अधीन है, चाहे एक घड़ीमें प्राप्ति कर लें, चाहे अनेक दिनों-महीनों-वर्षोंमें। फर्क हमारी चाहनामें है। परमात्माके मिलनेमें फर्क नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो करोड़ों जन्मोंके पाप उसी क्षण नष्ट हो जायँगे। पापोंमें, दुराचारोंमें, अवगुणोंमें ताकत नहीं है कि वे भगवान्‌को रोक दें। भगवान्‌को रोकनेकी ताकत किसीमें हो ही नहीं सकती। अगर कोई भगवान्‌को रोक दे तो वे भगवान् हमें मिलकर क्या निहाल करेंगे। वे भगवान् हमारे किस कामके, जो किसीके द्वारा अटक जायँ! केवल हमारी एक चाहनाकी आवश्यकता है। साधकको यही सावधानी रखनी है कि इस चाहनाकी कभी विस्मृति न हो। फिर भगवत्प्राप्तिमें कठिनता और देरी नहीं रहेगी।

६. मुक्तिका सुगम उपाय

प्रभु-कृपासे जो यह मनुष्यजन्म मिला है, इसको हमें सफल करना है। अगर पशुओंकी तरह खाने-पीने, सोने-जागने आदिमें ही समय बरबाद कर दिया तो मनुष्यजन्म सफल नहीं हुआ। मनुष्यजन्म तभी सफल होगा, जब भगवान्का भजन किया जाय। भजनके बिना मनुष्य मुर्देकी तरह है—*'रामदास कहे जीव जगतमें मुर्दा-सा फिरता!'* केवल प्राणोंके चलनेसे ही जीना नहीं होता। लुहारकी धौंकनी भी फू-फा, फू-फा करती है, पर वह जीना नहीं कहलाता। अतः केवल श्वास लेने-छोड़नेसे हमारा जीना सिद्ध नहीं होगा। जीना तभी सिद्ध होगा, जब हम मनुष्यके योग्य काम करें। चाहे मनुष्य कहो, चाहे भगवत्प्राप्तिका अधिकारी कहो, एक ही बात है। भगवत्प्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है और बड़ी सुगमतासे हो सकती है।

हम सब साक्षात् भगवान्के अंश हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० ८६। २)। हम सब भगवान्के ही उत्पन्न किये हुए उनके प्यारे अंश हैं। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जो भगवान्का प्यारा न हो। हमें यहाँ भगवान्ने ही जन्म दिया है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि मैंने अपनी मरजीसे यहाँ जन्म लिया है। पालन-पोषण भी भगवान् ही करते हैं। रक्षा भी भगवान् ही करते हैं। किसीमें यह कहनेकी हिम्मत नहीं है कि मैं इतने वर्ष ही जीऊँगा, इतने वर्ष ही यहाँ रहूँगा। तात्पर्य है कि हम भगवान्की मरजीसे यहाँ आये हैं, भगवान्की मरजीसे जी रहे हैं और भगवान्की मरजीसे जायँगे। इसलिये हम भगवान्के ही हैं। एक सन्तसे किसीने

पूछा कि किधर जाओगे? तो वे बोले कि फुटबालको क्या पता कि वह किधर जायगा? खिलाड़ी जिधर ठोकर लगायेगा, वहीं जायगा। इसी तरह भगवान् जहाँ भेजेंगे, वहीं जायँगे; जैसा रखेंगे, वैसे रहेंगे—ऐसा विचार करके निश्चिन्त हो जायँ। अपनी कोई इच्छा न रखें; न जीनेकी, न मरनेकी। भगवान् चाहे नरकोंमें भेजें, चाहे स्वर्गमें भेजें, चाहे वैकुण्ठमें भेजें, चाहे मनुष्यलोकमें भेजें, जैसी उनकी मरजी; हम उनके भरोसे निश्चिन्त हो जायँ। अपनी अलग कोई इच्छा न रखकर भगवान्की इच्छामें अपनी इच्छा मिला दें। केवल इतनेसे ही हमारा जीवन सफल हो जायगा, लम्बी-चौड़ी बात ही नहीं है। बैठे हैं तो भगवान्की मरजीसे, जाते हैं तो भगवान्की मरजीसे। हमें कोई दु:ख नहीं, कोई सन्ताप नहीं। अगर अभी मर जायँ तो क्या हर्ज है? हमारेको संसारसे कुछ लेना ही नहीं है। जीयें तो भी आनन्द है, मर जायँ तो भी आनन्द है। कोई खिलाना चाहे तो खा लें, सुनना चाहे तो सुना दें और मिलना चाहे तो मिल लें। अपना काम कोई है ही नहीं। खानेमें इतना ध्यान रखना है कि वह वस्तु शास्त्रविरुद्ध और शरीरविरुद्ध (कुपथ्य) न हो। कोई न खिलाये अथवा कम खिलाये या ज्यादा खिलाये तो उसकी मरजी। अपनी कोई चिन्ता नहीं। कोई कहे कि हम सुनना नहीं चाहते, चुप हो जाओ तो चुप हो जायँ। कोई मिलना नहीं चाहे तो हमारेको मिलना है ही नहीं।

एक सन्त थे। उनको एक आदमीने निमन्त्रण दिया कि महाराज, कल आप हमारे यहाँ भिक्षा लें। सन्तने कहा—अच्छी बात है। दूसरे दिन सन्त उसके घर पहुँचे। वहाँ खड़े एक दूसरे आदमीने देखा तो बोला कि कैसे आये यहाँपर? निकल जाओ, नहीं तो मारेंगे! सन्त चले गये। दूसरे दिन वह आदमी

पुनः उनके पास गया और बोला कि महाराज, कल आप आये नहीं? सन्त बोले कि भाई, आया तो था, पर वहाँ खड़े एक आदमीने कह दिया कि चले जाओ तो वापिस आ गया। वह बोला कि महाराज, कल आप जरूर पधारो। दूसरे दिन फिर वे सन्त गये। उनको देखकर वहाँ खड़ा आदमी फिर बोला कि तेरेको शर्म नहीं आती? कल कहा था न कि मत आना, फिर आ गया! शर्म है ही नहीं। जाओ, निकलो यहाँसे! सन्त वापिस चले आये। दूसरे दिन फिर उसने जाकर कहा कि महाराज, कल पधारे नहीं? वे बोले कि भाई, आया तो था। वहाँ ना मिल गयी तो चला गया। वह बोला कि महाराज, मैं वहाँ था नहीं, मेरेसे बड़ी भूल हुई, कृपा करके कल आप जरूर पधारो। वे सन्त फिर गये। उस आदमीने बड़ा सम्मान किया और बोला कि महाराज, आपने आकर बड़ी कृपा की! भोजन कीजिये। भोजन करानेके बाद वह बोला कि महाराज, आप बहुत बड़े सन्त हो! आपका कितना तिरस्कार हुआ, फिर भी आप आ गये! वे सन्त बोले—इसमें बड़प्पन क्या है? कुत्तेको भी तु-तु करो, पुचकारो तो वह आ जाता है और दुत्कारो तो वह चला जाता है। यह बात तो कुत्तेकी है, मनुष्यकी थोड़े ही है! ऐसा भाव हमारेमें भी होना चाहिये।

कोई सुनना चाहे तो सुना दें। वह बोले कि क्यों बकता है, चुप रह तो चुप रह जायँ। वह बोले कि रामायण सुनाओ, गीता सुनाओ तो जो जानते हैं, वह सुना दें। वह बोले कि बाइबिल सुनाओ, कुरान शरीफ सुनाओ तो कह दें कि भाई, यह हमें आता नहीं, कैसे सुनायें? ऐसे ही कोई मिलना चाहे तो मिल लें। कोई मिलना नहीं चाहे तो बड़ी अच्छी बात है, आनन्दसे बैठे रहें। ऐसा करनेमें क्या कठिनता है? इसमें

कोई तपस्या नहीं करनी पड़ती, कहीं जाना नहीं पड़ता, कोई पढ़ाई नहीं करनी पड़ती, कोई शास्त्र नहीं पढ़ना पड़ता, कोई गुरु नहीं बनाना पड़ता, कोई दीक्षा नहीं लेनी पड़ती। दूसरा जैसे राजी हो, वैसे कर दिया। हमारी न खानेकी मरजी है, न सुनानेकी मरजी है, न मिलनेकी मरजी है। कोई खिलाना चाहे तो खा लिया, सुनना चाहे तो सुना दिया और मिलना चाहे तो मिल लिया। कितनी सुगम बात है! इसमें हमारा क्या खर्च हुआ?

एक सन्तने लिखा है कि हमारेसे दुनिया राजी नहीं हुई तो हमने विचार किया कि वह राजी क्यों नहीं हुई? विचार आया कि हम दुनियाके काम नहीं आये। अगर हम दुनियाके काम आते तो दुनिया राजी हो जाती। दुनियाके काम वही आता है, जो कुछ नहीं चाहता। कुछ भी चाहनेवाला सबके काम नहीं आ सकता। ऐसा विचार करके हमने इच्छा छोड़ दी। इच्छा छोड़ते ही मनमें आया कि अगर हम दुनियाके काम नहीं आये तो दुनिया भी हमारे काम नहीं आयी। दोनोंमें समता हो गयी। न दुनियाका दोष, न हमारा दोष। अब जिस तरहसे भगवान् रखेंगे, उसी तरहसे हम रहेंगे। हमें खाना ही नहीं है, बात सुनानी ही नहीं है, किसीसे मिलना ही नहीं है। कोई कहे खाओ तो खा लिया। कोई कहे सुनाओ तो सुना दिया। कोई कहे मिलो तो मिल लिया। कोई न खिलाये तो मौज, न सुनना चाहे तो मौज, न मिलना चाहे तो मौज! इतनी-सी बातसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी! परमात्माकी प्राप्ति जितनी सरल है, उतना सरल कोई काम है ही नहीं।

जो हमारे बिना रह सकता है, उसके बिना हम बड़े आनन्दसे रह सकते हैं। एक सन्तने कहा कि हमारी आँखें चली गयीं

तो दु:ख हुआ। फिर विचार आया कि हमारे बिना आँखें रह सकती हैं तो हम भी आँखोंके बिना रह सकते हैं। जब आँखोंको हमारी जरूरत नहीं तो फिर हमारेको भी आँखोंकी जरूरत नहीं। अब मनमें ही नहीं आती कि आँखोंसे देखें। ऐसे ही हमारे बिना आप रह सकते हैं तो आपके बिना हम भी मौजसे रह सकते हैं। कितनी ऊँची बात है और कितनी सीधी-सरल है! अपनी कोई इच्छा हो ही नहीं। न खानेकी इच्छा हो, न सुनानेकी इच्छा हो, न मिलनेकी इच्छा हो। इससे सुगम बात और क्या होगी? इसमें न जप है, न ध्यान है, न स्वाध्याय है! संसारके साथ यह सम्बन्ध रहे कि कोई जैसा खिलाये, वैसा खा ले। जैसा पिलाये, वैसा पी ले। मिलना चाहे तो मिल ले। इस तरह संसारमें हम बड़े आनन्दसे रह सकते हैं! गीतामें आया है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

(४।२२)

'जो फलकी इच्छाके बिना अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है और ईर्ष्यासे रहित, द्वन्द्वोंसे रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम है, वह कर्म करते हुए भी उससे नहीं बँधता।'

सन्तोंने कहा है—

जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिये,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥

(मानस, उत्तर० ४६। १)

बीमारी आ गयी तो बहुत ठीक है, बीमारी चली गयी तो बहुत ठीक है। किसीने अपमान कर दिया तो बहुत ठीक

है, किसीने सम्मान कर दिया तो बहुत ठीक है। कोई मान करे, कोई अपमान करे। कोई भोजन दे, कोई भोजन न दे। कोई सुनना चाहे, कोई सुनना न चाहे। कोई मिलना चाहे, कोई मिलना न चाहे। अपना उससे क्या मतलब? अपनी कोई जरूरत नहीं। कोई परवाह नहीं। हमारा न जीनेसे मतलब है, न मरनेसे मतलब है। न किसीके आनेसे मतलब है, न किसीके जानेसे मतलब है। न मिलनेसे मतलब है, न नहीं मिलनेसे मतलब है। न करनेसे मतलब है, न नहीं करनेसे मतलब है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३।१८)

'उस महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसी भी प्राणीके साथ इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

सब काम भगवान्‌के लिये ही करना है। अपने लिये कुछ करना है ही नहीं। न कहीं जाना है, न आना है, न रहना है। फिर सब झंझट मिट जायगी। निरन्तर आनन्द रहेगा, मौज रहेगी। हमारी कोई जरूरत नहीं, न भोजनकी जरूरत, न व्याख्यानकी जरूरत, न मिलनेकी जरूरत। कोई खिलाना चाहे तो खायेंगे, सुनना चाहे तो सुनायेंगे, मिलना चाहे तो मिलेंगे। इतनेसे ही जन्म सफल हो जायगा! कोई शास्त्रीय अनुष्ठान करनेकी जरूरत नहीं। कहीं जाना नहीं, कहीं आना नहीं। कहीं देना नहीं, कहीं लेना नहीं। अमुक जगह जाना है, उनसे मिलना है—यह है ही नहीं। हमारी कोई मरजी है ही नहीं। इससे मुक्ति नहीं होगी तो और क्या होगा?

भगवान्‌ने कृपा करके मानव-जन्म दिया है। उस मानवजन्मको सफल कर लेना मनुष्यका कर्तव्य है। वह मानवजन्म इस बातसे सफल हो जायगा कि मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये और मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। कोई ठीक करे या बेठीक करे, मरजी आये सो करे, हमें किसीसे कुछ नहीं कहना है। कभी मनमें आ जाय तो कह दे कि भाई, ऐसा मत करो। वह कहे कि 'जा-जा, तेरी बात नहीं मानता' तो बहुत ठीक है, मौज हो गयी। इसमें क्या कठिनता है?

सदा दीवाली सन्तके आठों पहर आनन्द।

आठों पहर आनन्द-ही-आनन्द, मौज-ही-मौज है। कोई पूछे कि आपको कहीं जाना है तो कहे कि ना, हमारेको न जाना है, न आना है। कोई कहे 'बैठ जाओ' तो बैठ जाय, 'सो जाओ' तो सो जाय, 'चलो' तो चलो, 'नहीं चलो' तो नहीं चलो। कितनी सुगम बात है! ***'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये।'*** यह सबको सुख देनेवाली, आनन्द देनेवाली बात है। कोई भोजन कराना चाहे तो अच्छी बात, नहीं कराना चाहे तो अच्छी बात। कोई सुनना चाहे तो अच्छी बात, नहीं सुनना चाहे तो अच्छी बात। कोई मिलना चाहे तो अच्छी बात, नहीं मिलना चाहे तो अच्छी बात। अपने मस्तीसे भजन करो, कीर्तन करो, नामजप करो। इसीसे मनुष्यजन्म सफल हो जायगा।

७. त्यागसे कल्याण

भगवान् बिना हेतु स्नेह करनेवाले अर्थात् स्वाभाविक ही कृपा करनेवाले हैं। वे भगवान् विशेष कृपा करके जीवको अपना उद्धार करनेके लिये मानवशरीर देते हैं—*'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* (मानस, उत्तर० ४४। ३)। जीव अपना उद्धार कैसे करे? जैसे जलाशयमें पड़ा हुआ कोई व्यक्ति अपना उद्धार करना चाहे तो वह जलको अपने हाथोंसे और लातोंसे मारता चला जाय। ऐसा करनेसे वह तर जायगा। परन्तु वह ऐसा न करके जलको हाथोंसे लेने लगे तो वह निश्चित ही डूब जायगा। ठीक यही बात संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवपर भी लागू होती है। अगर वह संसारका त्याग करने लगे तो वह तर जायगा, उसका उद्धार हो जायगा। परन्तु वह संसारसे लेना शुरू कर दे तो वह डूब जायगा।

जो संसारसे अपना उद्धार चाहता है, उसको यह अवश्य ही मान लेना चाहिये कि हमारेको जो कुछ मिला है, जो वस्तु, योग्यता और बल मिला है, वह सब-का-सब केवल सेवा करनेके लिये मिला है। कारण कि जो मिला है, वह अपना नहीं है। अगर कारणकी दृष्टिसे देखें तो वह प्रकृतिका है, कार्यकी दृष्टिसे देखें तो वह संसारका है और मालिककी दृष्टिसे देखें तो वह भगवान्का है। वह अपना नहीं है—यह सच्ची बात है। जो मिला है, वह अपना उद्धार करनेके लिये मिला है। उद्धार तब होगा, जब हम मिले हुएको अपना न मानें, उससे सुख न लें। तात्पर्य है कि जो मिला है, वह केवल त्याग करनेके लिये अर्थात् दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिला है और ऐसा करनेसे ही हमारा कल्याण होगा।

बाहरसे वस्तुका त्याग करनेसे कल्याण नहीं होता। कल्याण

भीतरके भावसे होता है अर्थात् भीतरसे वस्तुओंका त्याग करनेसे, उनके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे कल्याण होता है। जड़ वस्तुओंका सम्बन्ध ही पतन करता है और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद ही उद्धार करता है। स्वयं चेतन होते हुए भी जीवने जड़को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया—यही बन्धन है। इसने जड़ शरीरको सत्ता दे दी कि 'शरीर है', उसको महत्ता दे दी कि 'शरीरके बिना सुख नहीं मिल सकता' और उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया कि 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और मेरे लिये है'।

हमारेको जो कुछ मिला है, वह सब बिछुड़नेवाला ही मिला है। शरीर मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, कुटुम्ब मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, धन मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, योग्यता मिली है तो बिछुड़नेवाली मिली है, बल मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है। बिछुड़नेवाली वस्तुका त्याग कर दें तो स्वतः कल्याण होता है—यह भगवान्‌की बड़ी विलक्षण कृपा है! भगवान् मिले हुए और बिछुड़नेवाले नहीं हैं, प्रत्युत सदासे ही मिले हुए हैं, सदा मिले हुए ही रहते हैं, कभी बिछुड़ते नहीं। भगवान्‌के सिवाय जो कुछ है, वह सब-का-सब बिछुड़नेवाला है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जानेपर पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

मनुष्यशरीर केवल त्याग करनेके लिये ही मिला है। त्याग करनेसे अपने घरका कुछ भी खर्च नहीं होगा और कल्याण मुफ्तमें हो जायगा! अतः मिली हुई वस्तुका हृदयसे त्याग कर

दें कि यह हमारी नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है तो कल्याण हो जायगा—यह पक्का सिद्धान्त है। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२); क्योंकि शरीर, योग्यता, बल, बुद्धि आदि जो कुछ मिला है, त्याग करनेके लिये ही मिला है। त्याग नहीं करेंगे तो भी वे बिछुड़ेंगे ही। साथमें रहनेवाली कोई भी चीज नहीं है।

दान-पुण्य करते हैं तो लोग समझते हैं कि रुपयोंसे कल्याण होता है। वास्तवमें रुपयोंसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंमें जो मोह है, उसके त्यागसे कल्याण होता है। अगर बाहरसे रुपयोंका त्याग करनेसे ही कल्याण होता तो धनी आदमी कल्याण कर लेते और गरीबोंका कल्याण होता ही नहीं।

एक मार्मिक बात है। संसार सत् है या असत्, नित्य है या अनित्य—इस विषयमें बड़ा मतभेद है। परन्तु संसारका सम्बन्ध असत् है, अनित्य है—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। जड़-चेतनका सम्बन्ध असत् है; क्योंकि जड़-चेतनका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। अतः संसारसे माने हुए सम्बन्धका ही त्याग करना है। असत् अपना नहीं है—यही असत्का त्याग है। असत्के त्यागसे सत्-तत्त्व परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी। शरीर बिछुड़ जायगा तो मौत हो जायगी, पर उसके सम्बन्धका त्याग कर दें तो मौज हो जायगी! छूटनेवालेको हम अपनी मरजीसे छोड़ दें तो आनन्द हो जायगा, पर वह जबर्दस्ती छूटेगा तो रोना पड़ेगा।

असत्के त्यागका उपाय है—हमारे पास जो वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य है, उसका प्रवाह हमारी तरफ न होकर संसारकी तरफ हो जाय अर्थात् वह संसारकी ही सेवामें लग जाय। यह कर्मयोग है। विवेक-विचारके द्वारा असत्से ऊँचे उठ जायँ, उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लें तो यह ज्ञानयोग है। सब कुछ भगवान्‌का

मान लें और भगवान्‌को अपना मान लें तो यह भक्तियोग है। ये तीनों योग जीवका उद्धार करनेवाले हैं। तीनों योगोंमें खास बात है—त्याग। त्याग करनेके लिये ही हमारेको यह मनुष्यशरीर मिला है। त्याग यही करना है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध चाहे सेवा करके छोड़ दें, चाहे विचारपूर्वक छोड़ दें, चाहे भगवान्‌के शरण होकर छोड़ दें। गुणोंका संग ही जन्म-मरणमें कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंका संग छूट जाय तो फिर जन्म-मरण कैसे होगा?

माना हुआ सम्बन्ध न माननेसे छूट जाता है—यह नियम है। संसारका सम्बन्ध माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। जैसे अमावस्याकी रात्रि और सूर्यका परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, ऐसे ही जड़ और चेतनका परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। अत: जड़-चेतनका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और न माननेसे छूट जायगा, जो कि वास्तवमें पहलेसे ही छूटा हुआ है। इस असत्य सम्बन्धकी मान्यता छोड़नेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है। इसको छोड़नेकी योग्यता भी पापी-पुण्यात्मा, दुष्ट-सज्जन सबमें है। इसमें सब-के-सब पात्र हैं, कोई कुपात्र नहीं है। केवल त्यागका भाव चाहिये और कुछ नहीं। जब हम अपने मनसे ही सब कुछ छोड़ देंगे तो फिर बन्धन कैसे रहेगा? असत्यको सत्य मानने और उसको महत्त्व देनेके कारण ही उसको छोड़ना कठिन प्रतीत होता है। मिट्टीके लौंदेको जहाँ फेंको, वहीं चिपक जाता है। दीवारपर फेंको तो दीवारको पकड़ लेता है। परन्तु रबरकी गेंदको फेंको तो वह कहीं चिपकती नहीं। हमें रबरकी गेंद बनना है, मिट्टीका लौंदा नहीं। चिपकना ही बन्धन है और न चिपकना, निर्लेप रहना ही मुक्ति है।

जो पकड़ा है, अपना मान रखा है, उसको छोड़ दें अर्थात्

अपनापन हटा लें तो मुक्ति हो जायगी। वास्तवमें संसार छूटा हुआ ही है। केवल थोड़े-से रुपये, थोड़ी-सी जमीन-जायदाद, थोड़े-से व्यक्ति पकड़े हुए हैं, बाकी सब तो छूटा हुआ है, सबसे मुक्ति है। अरबों रुपयोंसे मुक्ति है, अरबों वस्तुओंसे मुक्ति है, अरबों आदमियोंसे मुक्ति है। केवल थोड़े-से रुपये, वस्तु, व्यक्ति आदि पकड़े हुए हैं, उतना ही बन्धन है। उतना छोड़ दें तो फिर बन्धन कहाँ रहा? तात्पर्य है कि मुक्ति कठिन नहीं है, बहुत सुगम है। वस्तु-व्यक्तिके सम्बन्धसे हम सुख लेना चाहते हैं—इस सुख-लोलुपताके कारण मुक्ति कठिन मालूम देती है। वास्तवमें सुख बहुत थोड़ा है और दुःख बहुत अधिक है—

'अनाराम' कहे सुख एक रती, दुख मेरु प्रमाण ही पावता है॥

गीताने तो संसारको दुःखालय कहा है—**'दुःखालयम्'** (८।१५)। संसार दुःखोंका ही घर है, यहाँ सुखको ढूँढ़ना व्यर्थ है। रामायणमें भी आया है—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस, उत्तर० ४४। १)। यह मनुष्यशरीर सुख लेनेके लिये है ही नहीं। जहाँ सुख लिया, वहीं फँसे! मानमें, बड़ाईमें, आराममें, नीरोगतामें, आलस्यमें, प्रमादमें, खानेमें, सोनेमें, जिसमें सुख लेंगे, उसीमें फँस जायँगे। परन्तु ये सब चीजें छूटनेवाली हैं, रहनेवाली नहीं हैं। जो चीज बिछुड़नेवाली है, उससे अपनापन हटा लें—यही मुक्ति है। यह अपनापन अपनेसे न छूट सके तो भगवान्‌को पुकारो। वे छुड़ा देंगे। व्याकुल होकर, दुःखी होकर भगवान्‌से कहो कि हे नाथ! शरीर-संसारसे मेरापन छूटता नहीं, क्या करूँ! तो भगवान्‌की कृपासे छूट जायगा।

संसारका कोई भी सुख रहता नहीं—यह सबका अनुभव है। इसका कारण यह है कि वह सुख हमारा है ही नहीं। अगर हमारा सुख होता तो वह सदा रहता। हमारा सुख तो निजानन्द है। 'पर'

से होनेवाला सुख परानन्द है और 'स्व' से होनेवाला सुख निजानन्द है। परानन्द ठहरेगा नहीं और निजानन्द जायगा नहीं। निजानन्द हमारा खुदका है, इसलिये एक बार अनुभवमें आनेपर फिर कभी हमारेसे अलग नहीं होता। परानन्दकी आसक्तिके कारण ही निजानन्दका अनुभव नहीं होता।

सांसारिक सुखकी आसक्ति न छूटे तो निराश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारना चाहिये कि 'हे नाथ! हे प्रभो! यह मेरेसे छूटती नहीं, क्या करूँ? आप बचाओ तो बच सकता हूँ'—

हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनय० ८९)

आप सबके प्रेरक हैं। आपकी प्रेरणासे छूट जायगी। आपके लिये तो मामूली बात है—'*काम हमारे जमत है, रमत तिहारी राम।*' 'आपका तो खेल है, पर हमारी आफत मिट जायगी।'

एक मार्मिक बात है कि सांसारिक सम्बन्धको छोड़नेकी इच्छा करनेसे वह छूटता नहीं, प्रत्युत और दृढ़ होता है। कारण कि हम छोड़ना चाहते हैं तो वास्तवमें उसको सत्ता देते हैं अर्थात् उसकी सत्ता मानते हैं, तभी छोड़नेकी इच्छा करते हैं। इसलिये उससे तटस्थ हो जायँ, चुप हो जायँ अर्थात् एक परमात्मा ही हैं—ऐसा निश्चय करके कुछ भी चिन्तन न करें तो वह स्वतः छूट जायगा; क्योंकि दूसरी सत्ता है ही नहीं, सत्ता एक ही है। हम तटस्थ नहीं होते, यही बाधा है। हम संसारका विरोध करते हैं, तभी वह छूटता नहीं। वास्तवमें तो वह निरन्तर ही छूट रहा है। केवल हमारे तटस्थ, उदासीन होनेकी आवश्यकता है। अगर हम केवल दुःखी, व्याकुल हो जायँ तो

भी वह छूट जायगा, चाहे परमात्माको मानें या न मानें। जो योगमार्गमें अथवा ज्ञानमार्गमें चल रहे हैं, उनके लिये तटस्थ होना बढ़िया है। जो भक्तिमार्गमें चल रहे हैं, उनको भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता असह्य हो जाय।

सांसारिक सम्बन्ध स्वतः छूट रहा है, पर हम नया-नया पकड़ते रहते हैं। बालकपना छूट गया तो जवानी पकड़ ली, जवानी छूट गयी तो बुढ़ापा पकड़ लिया, रोगीपना छूटा तो नीरोगता पकड़ ली, दरिद्रता छूटी तो धनवत्ता पकड़ ली। अगर यह पकड़ना छोड़ दें तो वह स्वतः छूट ही जायगा। हमें केवल त्यागका भाव बनाना है, त्यागी नहीं बनना है। त्यागी बननेसे त्याज्य वस्तुके साथ सम्बन्ध हो जायगा। जो मिला है, वह तो छूटेगा ही। वह बना रहे अथवा न बना रहे—यही बन्धन है, और कोई बन्धन नहीं है। आजतक सृष्टिमें किसीका भी सम्बन्ध नहीं रहा तो हमारा सम्बन्ध कैसे रहेगा? यह तो छूटेगा ही और प्रतिक्षण ही छूट रहा है। इसलिये हम ही अलग हो जायँ!

पारमार्थिक मार्गमें साधकको हिम्मत नहीं हारनी चाहिये; क्योंकि इसमें विजय निश्चित है। परमात्मासे तो कभी निराश नहीं होना चाहिये और संसारकी आशा नहीं रखनी चाहिये—'**आशा हि परमं दुःखम्**' (श्रीमद्भा० ११। ८। ४४)। परमात्मा परम दयालु हैं, सर्वसमर्थ हैं और सर्वज्ञ हैं। वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारे दुःखको जानते हैं। वे परम दयालु हैं, इसलिये हमारे दुःखको सह नहीं सकते। वे सर्वसमर्थ हैं, इसलिये हमारे दुःखको दूर कर सकते हैं। परन्तु जो सांसारिक पदार्थोंके लिये दुःखी होता है, वह कितना ही रोये, रोते-रोते मर जाय, पर भगवान् उसकी बात सुनते ही नहीं। कारण कि वह वास्तवमें दुःखके लिये ही रो रहा है! परन्तु जो संसारका त्याग करनेके लिये रोता है, भगवान्‌को पानेके

लिये रोता है, उसका दु:ख भगवान् सह नहीं सकते।

मनुष्य सांसारिक सुखमें फँसा है तो यह वास्तवमें केवल सुखलोलुपता है, सुखका लोभ है। सुख मिलता नहीं है। सुखकी मामूली झलक मिलती है, उसीमें वह फँसा रहता है। जैसे, गधेको सुबह थोड़ा-सा मोठ-नमक मिलाकर देते हैं। उसको खानेसे दाँत कड़कड़-कड़कड़ बोलते हैं तो वह राजी हो जाता है। फिर उससे दिनभर पत्थर ढोनेका काम लेते हैं। रात होनेपर उसको छोड़ देते हैं। रातमें वह गलियोंमें घूमता रहता है और सुबह होनेपर मोठ-चना खानेके लिये स्वत: चला आता है! इस प्रकार थोड़े-से सुखके लिये गधा पूरे दिन पत्थर ढोता है। अगर वह सुख छोड़ दे तो फिर पत्थर क्यों ढोना पड़े! इसलिये जबतक हम थोड़े-से सुखके लिये नया-नया सम्बन्ध जोड़ते रहेंगे, तबतक दु:ख छूटेगा नहीं। जहरके लड्डू हम नहीं छोड़ेंगे तो जहर हमें नहीं छोड़ेगा। यह सुखासक्ति अगर हमारेसे न छूटे तो निर्बलताका अनुभव करके भगवान्‌को पुकारना चाहिये—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥
द्रुपद सुता निरबल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम।
दुस्सासन की भुजा थकित भई, बसन रूप भये स्याम॥
सुने री मैंने निरबलके बल राम॥

जबतक भगवान् सुखासक्ति न छुड़ायें, तबतक पीछे पड़े रहो। जैसे बच्चा माँका पल्ला पकड़कर पीछे पड़ जाता है कि मेरेको लड्डू दे दे तो माँ हारकर कह देती है कि जा, ले ले! ऐसे ही दु:खी होकर भगवान्‌के पीछे पड़ जाओ तो वे सुखासक्ति छुड़ा देंगे।

८. हम भगवान्‌के हैं

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(१५।७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है। परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है अर्थात् उनको अपना मान लेता है।'

जैसे किसी पिताका कोई पुत्र होता है, उससे भी विलक्षण हम भगवान्‌के पुत्र हैं। परन्तु हमने भगवान्‌को अपना न मानकर प्रकृतिमें स्थित शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लिया—यही बन्धन है। इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है। जैसे शरीरमें माता-पिता दोनोंका अंश है, ऐसे हमारेमें भगवान् और प्रकृति—दोनोंका अंश नहीं है। हम केवल भगवान्‌के अंश हैं—'**मम एव अंशः।**' भगवान्‌का अंश होनेसे हम भगवान्‌में ही स्थित हैं, पर हमने प्रकृतिमें स्थित शरीरको अपना मान लिया—यही हमारी गलती है। प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिमें ही स्थित रहा, हम ही अपने अंशी भगवान्‌से विमुख हो गये! जड़ तो सपूत ही रहा, हम ही कपूत हो गये!

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त वस्तुएँ हैं, पर कोई भी वस्तु हमारी नहीं है, हमें निहाल करनेवाली नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्डोंका राज्य भी मिल जाय, तो भी उससे हमें कोई लाभ होनेवाला नहीं है। जो वस्तु हमारी है ही नहीं, वह हमें निहाल कैसे कर सकती है? कर ही नहीं सकती। हम जिसके अंश हैं, जो वास्तवमें हमारा है, वही हमें निहाल कर सकता है।

हम परमात्माके अंश हैं और चेतन, मलरहित (निर्मल) तथा सहज सुखराशि हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

हम किसी भी योनिमें चले जायँ तो भी वैसे-के-वैसे ही '***चेतन अमल सहज सुखरासी***' रहेंगे। ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण गुणोंका संग है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। सत्त्वगुणके संगसे ऊर्ध्वगति होती है, रजोगुणके संगसे मध्यगति होती है और तमोगुणके संगसे अधोगति होती है*। तात्पर्य हुआ कि गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ सम्बन्ध माननेसे ही जन्म-मरण होता है। इसलिये साधकको आज ही, इसी समय यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि हमारा सम्बन्ध तो केवल परमात्माके साथ ही है। हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं और परमात्मामें ही रहते हैं। फिर मुक्त होनेमें कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि हमने असली बात पकड़ ली। हमारे पास जो वस्तु है, जो योग्यता है, जो बल है, वह सब संसारका है और संसारके लिये ही है। हम परमात्माके हैं और परमात्माके लिये हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—ये सब 'अपरा प्रकृति' हैं और जीवरूपसे बने हुए हम 'परा प्रकृति' हैं। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है, शरीरके साथ नहीं। शरीर अपरा प्रकृति है। मैं (अहम्) और मेरा—दोनोंका सम्बन्ध संसारके साथ है। इस प्रकार निर्मम और निरहंकार होते ही

---

* ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ (गीता १४। १८)

तत्काल शान्ति मिल जायगी—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २। ७१)। हमारा कुछ नहीं है। ममता भी हमारी नहीं है और अहंकार भी हमारा नहीं है। कामना भी हमारी नहीं है और स्पृहा भी हमारी नहीं है। इसको गीताने ब्राह्मी स्थिति कहा है—'**एषा ब्राह्मी स्थितिः**' (गीता २। ७२)। इसलिये केवल यह स्वीकार कर लें कि हम परमात्माके हैं, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है तो अभी-अभी मुक्त हो जायँगे! इसमें पाप-पुण्यका कायदा नहीं है। यह भावना ही उठा दें कि हम पापी हैं। हमारेमें पाप-ताप कुछ नहीं हैं। हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं। पाप आगन्तुक हैं और किये हुए हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। परन्तु हम स्वाभाविक '***चेतन अमल सहज सुखरासी***' हैं—इतना ही हमें जानना है। पाप पैदा और नष्ट होनेवाली वस्तु है। हम पैदा और नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं हैं।

हम सदा परमात्माके साथ हैं और परमात्मा सदा हमारे साथ हैं। हम पापी हैं तो परमात्माके साथ हैं, पुण्यात्मा हैं तो परमात्माके साथ हैं। हम अच्छे हैं तो परमात्माके साथ हैं, मन्दे हैं तो परमात्माके साथ हैं। हमारेमें न पाप है, न पुण्य। न अच्छा है, न मन्दा। अभी हमें अनुभव न हो तो भी हम परमात्माके साथ ही हैं। कितना ही बड़ा पापी हो, रोजाना जानवरोंको काटनेवाला कसाई हो, तो भी है वह परमात्माका अंश ही! हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं, पाप-पुण्य हमें छूते ही नहीं, हमतक पहुँचते ही नहीं। इस बातको हम ठीक समझ लें तो इतनेसे मुक्ति हो जायगी।

शरीर तो संसारका है और जन्मता-मरता रहता है, पर हम वही रहते हैं—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)। संसारके साथ शरीरकी एकता है, हमारी बिलकुल नहीं। समस्त पाप-ताप शरीरके साथ हैं, हमारे साथ

नहीं। हम सम्पूर्ण पाप-पुण्योंसे, शुभ-अशुभ कर्मोंसे अलहदा हैं। बस, इतनी बात मान लें। हम केवल परमात्माके हैं—यह एकदम सच्ची बात है। इसको माननेमात्रसे मुक्ति हो जायगी; क्योंकि मान्यतासे ही बन्धन होता है और मान्यतासे ही मुक्ति होती है।

हम भगवान्‌के हैं—इस बातको अगर हम भूल जायँ तो भी यह बात वैसी-की-वैसी ही रहेगी। कारण कि भूलना अथवा न भूलना हमारी बुद्धिमें है, हमारेमें नहीं। हमारा सम्बन्ध न भूलके साथ है, न यादके साथ है। हम तो वैसे-के-वैसे ही ***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** हैं। हमारेमें क्या भूलना और क्या याद करना? हम चेतन हैं और सत्त्व-रज-तम तीनों गुण जड़ हैं। हम इन गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, तभी ये गुण हमें बाँधते हैं। अगर हम गुणोंको न पकड़ें तो ये कुछ नहीं करेंगे। हम स्वयं चेतन तथा असंग होते हुए भी जड़को पकड़ लेते हैं, तभी फँसते हैं। हम न पकड़ें तो गुण प्रकृतिमें ही रहेंगे—**'प्रकृतिस्थानि'**, हमारे पास नहीं आयेंगे। इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अगर हम गुणोंका साथ न दें तो ये हमारा बाल बाँका नहीं कर सकते। इनमें ताकत ही नहीं है। हमारे लाखों जन्मोंके कैसे ही कर्म हों, सब प्रभुको अपना मानते ही नष्ट हो जाते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

पुराने पाप नष्ट हो जायँगे और नया पाप होगा ही नहीं। कारण कि पाप-कर्म तभी होता है, जब हम संसारको अपना मानकर उससे कुछ चाहते हैं। अगर संसारको अपना न मानकर, उससे कुछ न चाहकर भगवान्‌को अपना मान लें तो इसी क्षण अनन्त जन्मोंके पाप छूट जायँगे। भगवान् अपने हैं—यह बार-

बार कहनेकी जरूरत नहीं है। जैसे, माँको हम अपना मान लेते हैं तो इसको बार-बार नहीं कहना पड़ता। माँ तो अपनी बनी हुई है, पर भगवान् अपने बने हुए नहीं हैं। माँके पेटमें आये हैं, उसका दूध पिया है, तब माँ बनी है। परन्तु भगवान् पहलेसे (सदासे) ही अपने हैं और सदा अपने रहेंगे। संसारका कोई भी सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। अभी मर जायँ तो सभी सम्बन्ध मिट जायँगे। मिटता वही है, जो नहीं होता और टिकता वही है, जो होता है। टिकनेवाली बातको हम पकड़ लें, उधर दृष्टि कर लें—इतना ही हमारा काम है।

हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं। शरीर संसारका है, संसार शरीरका है। हमारी और परमात्माकी एकता है। शरीर और संसारकी एकता है। इसको सन्तोंने 'सत्संग' कहा है। सत्‌का संग करना, सत्‌को स्वीकार करना 'सत्संग' है। सत्संग करें तो कोई बन्धन है ही नहीं। हमारा सम्बन्ध शरीर-संसारके साथ है ही नहीं—यह बात मान लें तो इससे बड़ा कोई काम है ही नहीं। हजारों-लाखों आदमियोंको भोजन करायें तो वह भी इसके बराबर नहीं हो सकता। हम सदासे ही शरीरसे अलग हैं। इसमें सन्देहकी कोई बात ही नहीं है। हमने अपनेको शरीर-संसारके साथ मान रखा है—इस गलत धारणाको छोड़ना है। इसको छोड़ दें तो अभी इसी क्षण मुक्ति है।

हमारेसे भूल यह होती है कि संसारके जो सम्बन्ध रहनेवाले नहीं हैं, उनको तो हम मान लेते हैं और जो सम्बन्ध सदा रहनेवाला है, उसको मानते ही नहीं! जिससे बन्धन होता है, उसको तो मान लेते हैं और जिससे मुक्ति होती है, उसको मानते ही नहीं! संसारका कोई भी सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। कितना ही जोर लगा लें, संसारका सम्बन्ध रख सकते ही नहीं। इसी

तरह कितना ही जोर लगा लें, भगवान्‌का सम्बन्ध तोड़ सकते ही नहीं। भगवान्‌में भी ताकत नहीं कि वे हमारा सम्बन्ध तोड़ दें। वे सर्वसमर्थ होते हुए भी हमें छोड़नेमें असमर्थ हैं।

मैं भगवान्‌का हूँ—इसका चिन्तन करनेकी जरूरत नहीं है। यह बात चिन्तनके अधीन नहीं है, प्रत्युत माननेके अधीन है। जैसे, यह खम्बा है तो अब इसमें चिन्तन क्या करें? दो और दो चार ही होते हैं, इसमें चिन्तन क्या करें? हम भगवान्‌के हैं—यह सच्ची बात है। सच्ची बातको मान लें तो निहाल हो जायँगे। अगर शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध होता तो शरीरके बदलनेपर हम भी बदल जाते। पर शरीर बदलता है, हम वही रहते हैं। शरीर बालक, जवान और बूढ़ा होता है, हम बालक, जवान और बूढ़े नहीं होते। हम शरीर भी नहीं हैं और शरीरी (शरीरवाले) भी नहीं हैं। हम शरीरसे अलग हैं और शरीर हमारेसे अलग है। शरीरसे अलग होनेसे ही हम एक शरीरको छोड़ते हैं और दूसरे शरीरको धारण करते हैं। हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं—यह एकदम सच्ची, पक्की और सिद्धान्तकी बात है। इसलिये हमें आज ही सुनना, पढ़ना, सीखना आदि बन्द करके जानना और मानना आरम्भ कर देना चाहिये। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु अपनी नहीं है, यहाँतक कि ये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि भी अपने नहीं हैं—यह जानना है, और केवल भगवान् ही अपने हैं—यह मानना है। सुनने, पढ़ने, सीखने आदिसे हम विद्वान् बन सकते हैं, वक्ता बन सकते हैं, लेखक बन सकते हैं, पर हमारा बन्धन ज्यों-का-त्यों रहेगा। परन्तु 'हमारा कोई नहीं है'—ऐसा जान लें तो हम मुक्त हो जायँगे और 'केवल प्रभु ही हमारे हैं'—ऐसा मान लें तो हम भक्त हो जायँगे।

९. हमारा असली घर

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है।'

भगवान्‌के ही अंश होनेसे हम सब-के-सब भगवान्‌के ही घरके हैं। हमारा घर संसारमें नहीं है, इसीलिये हम चौरासी लाख योनियोंमें जाते हैं, स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें जाते हैं, कहीं ठहरते नहीं। अगर यहाँ हमारा घर होता तो हम यहीं रहते, कहीं जाते नहीं। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर फिर जन्म-मरण नहीं होता; क्योंकि हम परमात्माके ही घरके हैं। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति तो हमारे घरकी बात है, पर संसारकी प्राप्ति हमारे घरकी बात नहीं है। जबतक असली घरकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक अनेक घरोंमें भटकना पड़ेगा। लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जायँ तो भी भटकना बन्द नहीं होगा। परन्तु परमात्माके घर पहुँचते ही हमारा भटकना सदाके लिये बन्द हो जायगा।

हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं। हम संसारके नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसीलिये हम संसारमें कभी एक योनिमें नहीं रहते। इतना ही नहीं, एक योनिमें भी हम पहले बालक होते हैं, फिर जवान होते हैं, फिर बूढ़े होते हैं। एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते। प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, अवस्था आदिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कारण कि संसारमें कुछ भी स्थायी नहीं है। स्थायी रहनेवाली वस्तु

भगवान्‌के घरकी ही है।

संसार पराया घर है। हमें परायी जगह छोड़नी है और अपनी जगह पहुँचना है। साधकोंके हृदयमें प्रायः यह बात जँची रहती है कि हम संसारके हैं और परमात्माको प्राप्त करना है। वास्तवमें हम परमात्माके ही हैं और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः है। अगर पहलेसे ही यह धारणा हो जाय कि हम संसारके नहीं हैं, हम तो परमात्माके हैं (जो वास्तवमें है) तो परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम हो जायगी।

संसारका सम्बन्ध अनित्य है, पर भगवान्‌का सम्बन्ध नित्य है। लाखों-करोड़ों वर्ष अथवा अनन्त वर्ष बीत जायँ तो भी भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों रहेगा। परन्तु संसारका सम्बन्ध छूटता ही रहेगा। यह क्षणमात्र भी स्थिर नहीं है। जीव संसारको अपना मानकर कभी वृक्ष बनता है, कभी पशु बनता है, कभी पक्षी बनता है, कभी भूत-प्रेत बनता है, कभी पिशाच बनता है, कभी देवता बनता है, कभी पितर बनता है; क्योंकि जो अपने घरका नहीं होगा, वह भटकनेके सिवाय और क्या करेगा?

हम परमात्माके हैं, इसलिये उनकी प्राप्तिमें उत्साह होना चाहिये। हम उनके हैं, वे हमारे हैं। संसारमें शरीर बदलता है तो माँ-बाप भी बदलते हैं, भाई भी बदलते हैं, स्त्री भी बदलती है, पुत्र भी बदलता है। परन्तु भगवान् कभी नहीं बदलते, उनका सम्बन्ध कभी नहीं बदलता। इसलिये उनकी प्राप्ति करना अपने घरपर पहुँचना है। अतः साधकको यह बात निश्चित कर लेनी चाहिये कि यह संसार पराया घर है, अपना घर नहीं है। संसारमें जो मोह हुआ है, आसक्ति हुई है, कामना हुई है वे सब मिटनेवाली चीजें हैं, पर भगवान्‌का सम्बन्ध मिटनेवाला

है ही नहीं। इसको हम भूल जायँ तो भी यह मिटेगा नहीं।

इतने बड़े संसारमें हमारे लायक कोई वस्तु है ही नहीं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु हमारी नहीं है और हम किसीके नहीं हैं—यह बात साधकको दृढ़तासे धारण कर लेनी चाहिये; क्योंकि यह वास्तवमें है। हम परमात्माके हैं, अत: परमात्माकी प्राप्ति करना नया काम नहीं है। नया काम तो संसारकी प्राप्ति करना है। संसारमें नये-नये शरीर मिलते ही रहते हैं। कभी हम मनुष्य बनते हैं, कभी पशु बनते हैं, कभी पक्षी बनते हैं, कभी जलचर होते हैं, कभी थलचर होते हैं, कभी नभचर होते हैं; कभी जरायुज होते हैं, कभी स्वेदज होते हैं, कभी अण्डज होते हैं, कभी उद्भिज्ज होते हैं। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक इस प्रकार परिवर्तन होता ही रहेगा। हम संसारके नहीं हैं, हम परमात्माके हैं—यह ज्ञान मनुष्यको ही होता है। अन्य योनियोंमें यह ज्ञान नहीं है कि हम किसके हैं! इसलिये 'मैं तो परमात्माका हूँ'—यह बात साधकमें स्वत:-स्वाभाविक होनी चाहिये।

परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है। कठिन तो संसारकी प्राप्ति है। कारण कि जो वस्तु परायी होती है, उसीकी प्राप्ति कठिन होती है। अपनी वस्तुकी प्राप्तिमें क्या कठिनता? बालकके लिये माँकी गोदीमें जाना क्या कठिन है? भगवान् हमारे वास्तविक माता-पिता हैं—**'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'**, **'माता च कमला देवी पिता देवो जनार्दनः।'** संसारमें तो प्रत्येक योनिमें नये-नये माँ-बाप, भाई-बन्धु, कुटुम्बी बनाने पड़ते हैं, पर भगवान् नये नहीं बनाने पड़ते। भगवान् तो वे-के-वे ही रहते हैं। वे सदा ही हमारे हैं और हम सदा ही उनके हैं। यही हमारी असली पहचान है।

संसारकी कोई भी वस्तु हमारी नहीं है। जो हमारे नजदीक-

से-नजदीक है, वह शरीर भी हमारा नहीं है। शरीरमें रहनेवाले मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण आदि भी हमारे नहीं हैं। नजदीक-से-नजदीक शरीरसे लेकर दूर-से-दूर ब्रह्मलोकतक कोई भी वस्तु हमारी नहीं है। हम ब्रह्मलोकतक चले जायँ तो भी वहाँसे लौटकर आना पड़ता है—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। वहाँसे लौटकर आनेका कारण यही है कि हम वहाँके नहीं हैं और वे हमारे नहीं हैं। हम भगवान्के अंश हैं, संसारके नहीं, इसलिये संसार छूट जाता है। बड़ी मेहनतसे कमाया हुआ धन छूट जाता है। बनाया हुआ मकान छूट जाता है। कुटुम्ब-परिवार छूट जाता है। कारण कि यह हमारी वस्तु नहीं है। यह हमारा देश नहीं है। यह परदेश है। हम स्वयं अपरिवर्तनशील हैं; अतः जिसमें परिवर्तन नहीं होता, वही हमारा देश है। हमारा देश वह है, जिसको भगवान्ने अपना धाम बताया है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

'उस परमपदको न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है और जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा धाम है।'

जो भगवान्का धाम है, वही हमारा धाम है। हम उस धामके हैं, यहाँके नहीं हैं। यहाँ तो हम आये हैं। आया हुआ आदमी कबतक रहेगा? मुसाफिर कितने दिन ठहरेगा? जबतक हम अपने असली धाममें नहीं जायँगे, तबतक हमारी मुसाफिरी चलती ही रहेगी, मिटेगी नहीं।

भगवान् अपने हैं और सब कुछ पराया है। परायी वस्तुको

हम अपने पास कबतक रखेंगे? जो वस्तु हमारी है, वही हमारे पास रहेगी। जो वस्तु हमारी नहीं है, वह हमारे पास कैसे रहेगी? संसारकी वस्तुको अपने पासमें रखनेकी ताकत किसीमें नहीं है।

एक वैश्य था और एक राजपूत था। वैश्य बलवान् था और राजपूत कमजोर था। राजपूत उस वैश्यको लूटने लगा। वैश्यने राजपूतको नीचे पटक दिया और उसके ऊपर चढ़ गया। राजपूतने पूछा कि तू कौन है? वह बोला कि मैं वैश्य हूँ। यह सुनते ही राजपूतको जोश आ गया कि अरे! एक बनिया मेरेको दबा रहा है! उसने पट वैश्यको नीचे दबा दिया। इसी तरह यह संसार हमारेको दबा रहा है। हमारे मनमें उत्साह होना चाहिये कि हम तो भगवान्‌के अंश हैं, नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं और संसार प्रकृतिका है, क्षणभङ्गुर और परिवर्तनशील है, फिर संसार हमारेको कैसे दबा सकता है! वास्तवमें हम संसारसे दबे हुए नहीं हैं, प्रत्युत अपनेको दबा हुआ (कमजोर) मान लिया है। संसारकी कोई भी वस्तु ठहरती नहीं। न शरीर ठहरता है, न सुख ठहरता है, न कुटुम्ब ठहरता है, न धन ठहरता है, न विद्या ठहरती है, न योग्यता ठहरती है, न बल ठहरता है। कोई वस्तु ठहर सकती ही नहीं। जो वस्तु कभी ठहरती ही नहीं, उससे हम क्यों दबें? उसके गुलाम क्यों बनें?

संसारमें अपना कोई नहीं है। केवल भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही अपने हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

इन दोनोंकी बात हमें माननी चाहिये। भगवान् कहते हैं—‘**ममैवांशो जीवलोके**’ (गीता १५। ७) और भक्त कहते

हैं—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'* (मानस, उत्तर० ११७। १)। परन्तु अपनेको संसारका मानकर हम ठगाईमें आ गये! अनादिकालसे भगवान्‌के होते हुए भी हम ठगाईमें आकर संसारके बन गये और अपने असली घरको भूल गये! इसलिये गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि हम किस घरके हैं?

हमारी जाति और शरीर-संसारकी जाति परस्पर मिलती नहीं। हम अविनाशी हैं और शरीर-संसार नाशवान् हैं। हम अपरिवर्तनशील हैं और शरीर-संसार निरन्तर बदलनेवाले हैं। हमारी जाति तो भगवान्‌के साथ मिलती है। हम भगवान्‌की जातिके हैं और भगवान् हमारी जातिके हैं। हम भगवान्‌की बिरादरीके हैं। हम संसारके नहीं हैं।

१०. नामजपकी विलक्षणता

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि तो क्रियाएँ हैं, पर भगवन्नामका जप क्रिया नहीं है, प्रत्युत पुकार है। जैसे किसीको डाकू मिल जाय और वह लूटने लगे, मारपीट करने लगे तो अपनेमें छूटनेकी शक्ति न देखकर वह रक्षाके लिये पुकारता है तो यह पुकार क्रिया नहीं है। पुकारमें अपनी क्रियाका, अपने बलका भरोसा अथवा अभिमान नहीं होता। इसमें भरोसा उसका होता है, जिसको पुकारा जाता है। अतः पुकारमें अपनी क्रिया मुख्य नहीं है, प्रत्युत भगवान्से अपनेपनका सम्बन्ध मुख्य है।

सन्तोंने कहा है—

हरिया बंदीवान ज्यों, करियै कूक पुकार।

जैसे किसीको जबर्दस्ती बाँध दिया जाय तो वह पुकारता है, ऐसे ही भगवान्को पुकारा जाय, उनके नामका जप किया जाय तो भगवान्के साथ अपनापन प्रकट हो जाता है। इस अपनेपनमें अर्थात् भगवत्सम्बन्धमें जो शक्ति है, वह यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओंमें नहीं है। इसलिये नामजपका विलक्षण प्रभाव होता है।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस, बाल० २८। १)

किसी भी प्रकारसे नामजप करते-करते यह विलक्षणता प्रकट हो जाती है। परन्तु भावपूर्वक, समझपूर्वक नामजप किया जाय तो बहुत जल्दी उद्धार हो जाता है—

सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

(मानस, बाल० ११९। २)

तात्पर्य है कि भावपूर्वक, लगनपूर्वक नामजप करनेसे

संसारसमुद्र गोपदकी तरह बीचमें ही रह जाता है। उसको तैरकर पार नहीं करना पड़ता, प्रत्युत वह स्वत: पार हो जाता है और भगवान्‌के साथ जो नित्ययोग है, वह प्रकट हो जाता है।

जैसे प्यास लगनेपर जलकी याद आती है तो वह याद भी जलरूप ही है, ऐसे ही परमात्माकी याद भी परमात्माका स्वरूप ही है। जड़ होनेके कारण जल प्यासेको नहीं चाहता, पर भगवान् स्वाभाविक ही जीवको चाहते हैं; क्योंकि अंशीका अपने अंशमें स्वाभाविक प्रेम होता है। कुआँ प्यासेके पास नहीं जाता, प्रत्युत प्यासा कुएँके पास जाता है। परन्तु भगवान् स्वयं भक्तके पास आते हैं। वास्तवमें तो भक्त जहाँ परमात्माको याद करता है, वहाँ परमात्मा पहलेसे ही मौजूद हैं! अत: परमात्माको याद करना, उनके नामका जप करना क्रिया नहीं है। क्रिया प्रकृतिका कार्य है, पर नामजप प्रकृतिसे अतीत है। वास्तवमें उपासक (जापक) और उपास्य—दोनों ही प्रकृतिसे अतीत हैं। अत: नामजपसे स्वयं परमात्माके सम्मुख हो जाता है; क्योंकि पुकार स्वयंकी होती है, मन-बुद्धिकी नहीं। इसलिये नामजप गुणातीत है।

सांसारिक अथवा पारमार्थिक कोई भी क्रिया की जाय, वह जड़के द्वारा ही होती है। परन्तु लक्ष्य चेतन (परमात्मा) रहनेसे वह जड़ क्रिया भी चेतनकी ओर ले जानेवाली हो जाती है—

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

जहाँ हमारा लक्ष्य होगा, वहीं हम जायँगे। लक्ष्य परमात्मा है तो युद्धरूपी क्रिया भी परमात्मप्राप्तिका कारण हो जायगी। इतना ही नहीं, लक्ष्य चेतन होनेसे जड़ भी चिन्मय हो जायगा। जैसे, '*मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई*'—इस प्रकार भगवान्‌का होकर भगवान्‌का भजन करनेसे मीराबाईका जड़ शरीर भी चिन्मय होकर

भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया! अतः क्रिया भले ही जड़ हो, पर उद्देश्य जड़ (भोग और संग्रह) नहीं होना चाहिये।

शास्त्रोंमें यहाँतक लिखा है कि पापी-से-पापी मनुष्य भी उतने पाप नहीं कर सकता, जितने पापोंका नाश करनेकी शक्ति भगवन्नाममें है! वह शक्ति 'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभु!' इस पुकारमें है। इसमें शब्द तो बाहरकी वाणीसे, क्रियासे निकलते हैं, पर आह भीतरसे, स्वयंसे निकलती है। भीतरसे जो आवाज निकलती है, उसमें एक ताकत होती है। वह ताकत उसकी होती है, जिसको वह पुकारता है। जैसे, बच्चा रोता है और माँको पुकारता है तो उसका माँके साथ भीतरसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसलिये माँ ठहर नहीं सकती, दूसरा काम कर नहीं सकती। इसी तरह सच्चे हृदयसे भगवन्नामका उच्चारण करनेसे भगवान् ठहर नहीं सकते, उनके सब काम छूट जाते हैं! तात्पर्य है कि भगवन्नामके जपमें एक अलौकिक, विलक्षण ताकत है, जिससे जीवका बहुत जल्दी कल्याण हो जाता है। जब दुःशासन द्रौपदीका चीर खींचने लगा, तब द्रौपदीने '**गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय**' कहकर भगवान्‌को पुकारा। पुकार सुनते ही भगवान् आ गये। पर उनके आनेमें थोड़ी-सी देरी लगी; क्योंकि द्रौपदीने भगवान्‌को '**द्वारकावासिन्**' कहा तो भगवान्‌को द्वारका जाकर आना पड़ा। अगर वह '**द्वारकावासिन्**' नहीं कहती तो थोड़ी-सी देरी भी नहीं लगती, भगवान् तत्काल वहीं प्रकट हो जाते!

एक भगवान् कृष्णका भक्त था और एक भगवान् रामका भक्त था। दोनोंने अपने-अपने इष्टदेवको पुकारा तो भगवान् कृष्ण बहुत जल्दी आ गये, पर भगवान् रामको आनेमें देरी लगी। कारण यह था कि भगवान् राम राजाधिराज हैं। राजाओंकी सवारी आनेमें तो देरी लगती है, पर ग्वालेके आनेमें क्या देरी लगती है? उसको आनेके

लिये कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती। यह भक्तका भाव है। अयोध्यामें एक सज्जन मिले थे। वे अपने पास एक बालरूप रामका चित्र रखा करते थे। उन्होंने कहा कि मैं तो बालरूप रामजीकी उपासना किया करता हूँ। महाराजाधिराज राजा रामकी उपासना करते हुए मेरेको डर लगता है कि वे राजा ठहरे, कोई कसूर हो जाय तो चट कैदमें डाल देंगे! परन्तु बालरूप रामको मैं धमका भी सकता हूँ, थप्पड़ भी लगा सकता हूँ! यह भक्तोंकी भावनाएँ हैं।

अगर मनुष्य नामजपको क्रियारूपसे न लेकर पुकाररूपसे ले तो बहुत जल्दी काम हो जायगा और भगवत्प्रेमकी, भगवत्सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् हो जायगी। संसारकी आसक्तिके कारण भगवत्प्रेम ढक जाता है। भगवान्‌को पुकारनेसे वह प्रेम प्रकट हो जाता है।

११. विचार करें

विचार करें, परमात्मा अपने हैं कि संसार अपना है? हमें संसार प्यारा लगता है कि भगवान् प्यारे लगते हैं? सदा हमारे साथ भगवान् रहेंगे कि संसार रहेगा? हम परमात्माके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। फिर हमें परमात्मा प्यारे न लगें, संसार प्यारा लगे—यह क्या उचित बात है? संसार तो हरदम हमसे दूर होता है, क्षणभर भी हमारे साथ नहीं रहता और परमात्मा सदा हमारे साथ रहते हैं, क्षणभर भी दूर नहीं होते। परन्तु हमारी दृष्टि परमात्माकी तरफ नहीं है, प्रत्युत संसारकी तरफ है। हम भगवान्‌के अंश हैं तो हमें भगवान् प्यारे लगने चाहिये। परन्तु हमें परमपिता परमेश्वर इतने प्यारे नहीं लगते, जितना संसार प्यारा लगता है। संसार साथ रहता नहीं और साथ रहेगा नहीं, रह सकता नहीं। यह एक क्षण भी साथ नहीं रहता, हरदम हमसे दूर हो रहा है। रुपये-पैसे, मकान, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि कोई भी साथ रहनेवाला नहीं है और भगवान्‌का साथ छूटनेवाला नहीं है।

शरीर-संसारका सम्बन्ध हरदम छूट रहा है। हमारी उम्रमेंसे जितने वर्ष बीत गये, उतना तो संसार छूट ही गया—यह प्रत्यक्ष बात है, एकदम सच्ची तथा पक्की बात है। जिस क्षण जन्म हुआ, उसी क्षणसे शरीर-संसार हमसे दूर जा रहे हैं। संसारकी प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण बदल रही है। परन्तु अनन्त युग भले ही बीत जायँ, भगवान् नहीं बदलेंगे। वे कभी हमसे दूर नहीं होंगे, सदा साथ रहेंगे। हम सदा भगवान्‌के साथ हैं और भगवान् सदा हमारे साथ हैं। जो शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता, वह शरीर हमें प्यारा लगता है और लोगोंकी दृष्टिमें हम भगवान्‌की

कि हम सच बोलते हैं कि झूठ बोलते हैं? हमें न्याय अच्छा लगता है कि अन्याय अच्छा लगता है? ईमानदारी अच्छी लगती है कि बेईमानी अच्छी लगती है? हमें अन्याय अच्छा लगता है तो उसका फल क्या होगा? भोग अच्छे लगते हैं तो उसका फल क्या होगा? भोग भोगनेसे हमें लाभ हुआ है कि नुकसान हुआ है? अपने जीवनको सँभालें और सोचें कि हम क्या कर रहे हैं? किधर जा रहे हैं? हमें क्या अच्छा लगता है? भगवान्का भजन अच्छा लगता है कि संसार (भोग और संग्रह) अच्छा लगता है? संसार क्या फायदा करता है और भगवान् क्या नुकसान करते हैं? पाप क्या फायदा करता है और धर्म क्या नुकसान करता है? विचार करें, देखें, सोचें—

संसार साथी सब स्वार्थ के हैं, पक्के विरोधी परमार्थ के हैं।
देगा न कोई दु:ख में सहारा, सुन तू किसी की मत बात प्यारा॥

भजन-स्मरण करें तो घरवाले राजी नहीं होंगे। पर झूठ, कपट, बेईमानी करें तो घरवाले राजी हो जायँगे। विचार करो कि वे आपके फायदेमें राजी होते हैं कि आपके नुकसानमें राजी होते हैं? इस तरफ ध्यान दो कि आपका भला चाहनेवाले और भला करनेवाले कौन-कौन हैं? भगवान्ने हमें शरीर दिया है, पदार्थ दिये हैं, पर सब कुछ देकर भी वे हमारेपर एहसान नहीं करते। परन्तु संसार थोड़ा-सा काम करता है तो कितना एहसान करता है? वह तो अच्छा लगता है, पर भगवान् अच्छे नहीं लगते! भगवान्ने शरीर दिया, आँखें दीं, हाथ दिये, पाँव दिये, बुद्धि दी, विवेक दिया, सब कुछ दिया, उनसे सुख पाते हैं और भगवान्को याद ही नहीं करते! भगवान्से मिली हुई चीज तो अच्छी लगती है, पर भगवान् अच्छे नहीं लगते। क्या यह उचित है? स्वयं विचार करें। महाभारतमें आया

है—'**यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्। विमुच्यते** ....॥' 'जिनको याद करनेमात्रसे संसारका जन्म-मरणरूप बन्धन छूट जाता है।' भगवान्‌को याद करनेसे ही संसारके दुःख छूट जाते हैं! कुछ मत करो, कोई चीज मत दो, केवल याद करो तो भगवान् राजी हो जाते हैं—'**अच्युतः स्मृतिमात्रेण।**' संसारमें ऐसा कोई है, जो केवल याद करनेसे राजी हो जाय? आप दिनभर काम करके शामको घर जाओ और स्त्रीसे पूछो कि रसोई बनायी? वह कहे कि नहीं, मैं तो आपको याद कर रही थी तो क्या आप राजी हो जाओगे? रोटी तो बनायी ही नहीं, याद करनेसे क्या होगा? परन्तु भगवान्‌को याद करनेसे ही वे राजी हो जायँगे। क्या इतना सस्ता कोई है? इतना हितैषी कोई है? उसको तो भूल जाते हैं और संसारको याद रखते हैं! क्या यह उचित है? भगवान्‌का स्मरण करके कितने बड़े-बड़े सन्त-महात्मा हो गये! आज उनका सब आदर करते हैं। उनमें यह विशेषता इसलिये आयी कि उन्होंने संसारको याद न करके भगवान्‌को याद किया।

विचार करें, हम सन्त-महात्माओंका कहना मानते हैं कि संसारमें रचे-पचे लोगोंका कहना मानते हैं? जो सदा हमारा हित चाहते हैं और हित करते हैं, जिन्होंने हमारा कभी अहित नहीं किया, कभी धोखा नहीं दिया—वे तो हमें अच्छे नहीं लगते और धोखा देनेवाले, ठगाई करनेवाले आदमी अच्छे लगते हैं, फिर हमारा भला कैसे होगा? उद्धार कैसे होगा? हरदम भगवान्‌को याद करो और 'हे नाथ! हे नाथ!!' पुकारते रहो तो आपकी विलक्षण स्थिति हो जायगी। लोग आपको महात्मा कहेंगे। सच्चाईसे, ईमानदारीसे काम करो तो लोग अच्छा कहेंगे। पहले भले ही बुरा कह दें, पर अन्तमें सब अच्छा-ही-अच्छा कहेंगे।

भगवान् सदा हित करनेवाले हैं। उनके द्वारा कभी किसीका अहित नहीं होता, सदा हित-ही-हित होता है। हम उनकी परवाह नहीं करते, उनको याद नहीं करते, इतनेपर भी वे हमारा हित करना छोड़ते नहीं। वे भगवान् हमें मीठे लगने चाहिये। उनकी मीठी-मीठी याद आनी चाहिये। उनको याद करके हम पवित्र हो जायँगे, सन्त हो जायँगे! जिनको हम याद करते हैं, वे स्त्री, पुत्र, परिवार हमें क्या निहाल करेंगे? मीराबाईने भगवान्‌को अपना मान लिया तो अच्छे-अच्छे सन्त मीराबाईका आदर करते हैं, उनके पद गाते हैं। वास्तवमें भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही बिना स्वार्थ सबका हित करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

सब लोग अपने मतलबसे प्रेम करते हैं। बिना मतलब प्रेम करनेवाले भगवान् और उनके भक्त ही हैं। अगर वे हमें अच्छे लगने लग जायँ तो हम सन्त बन जायँगे, ऊँचे बन जायँगे। परन्तु झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी अच्छी लगेगी तो नीचे बन जायँगे। अपनी तरफ देखें कि क्या दशा है? सत्संग कितने वर्षोंसे कर रहे हैं और भगवान्‌के नजदीक कितने गये हैं? विचार करें। रुपये कितने प्यारे लगते हैं, पर चट हाथसे निकल जाते हैं। फिर भी हाय रुपया, हाय रुपया करते हो! रुपया आपको याद नहीं करता। पर भगवान् आपको याद करते हैं, आपकी रक्षा करते हैं, सहायता करते हैं। भगवान्‌के समान दूसरा कौन है?

उमा राम सम हित जग माहीं । गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

भगवान्‌ने हमारा कितना उपकार किया है, कितना उपकार करते हैं और कितना उपकार करेंगे! भगवान्‌के समान हित करनेवाला कोई है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। हम भगवान्‌के लिये क्या करते हैं? भगवान्‌को हमारेसे क्या स्वार्थ है? फिर भी वे हमसे प्रेम रखते हैं, हमारा हित करते हैं। अगर हम सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लग जायँ तो निहाल हो जायँगे।

नाम नाम बिनु ना रहे, सुनो सयाने लोय।
मीरा सुत जायो नहीं, शिष्य न मुंड्यो कोय॥

हम सोचते हैं कि हमारा बेटा हो जाय तो हम निहाल हो जायँगे, हमारा चेला बन जाय तो हम निहाल हो जायँगे। परन्तु मीराबाईका न कोई बेटा हुआ, न उन्होंने कोई चेला बनाया, पर आज कई पीढ़ी बीतनेपर भी लोग उनका नाम लेते हैं, उनको याद करते हैं। आपको तीन-चार पीढ़ीके नाम भी याद नहीं होंगे! मीराबाईमें एक ही विशेषता थी—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** एक भगवान्‌को याद करनेसे सब काम ठीक हो जाता है। लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। परन्तु भोगोंको याद करनेसे शरीर भी खराब होता है, मन भी खराब होता है, आदत भी खराब होती है, स्वास्थ्य भी खराब होता है। इसलिये हरदम भगवान्‌को याद रखो। यही सबका सार है।

१२. सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण

मनुष्यके देखनेमें दो चीजें आती हैं—एक अविनाशी और दूसरा, नाशवान्! स्वरूप अविनाशी है और शरीर-संसार नाशवान् हैं। स्वरूपके विषयमें गीता और रामायणमें आया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।'

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

तात्पर्य है कि हमारा सम्बन्ध शरीर-संसारके साथ नहीं है, प्रत्युत भगवान्का अंश होनेसे हमारा सम्बन्ध भगवान्के साथ ही है। हमारेसे खास भूल यह हुई है कि हमने अपनेको संसारका और संसारको अपना मान लिया अर्थात् शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया।

परमात्माके अंश होनेके कारण वास्तवमें हम परमात्मासे दूर हो सकते ही नहीं और संसारके साथ मिलकर एक हो सकते ही नहीं—यह एकदम पक्की, सिद्धान्तकी बात है। परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध कभी टूट सकता ही नहीं और जड़ शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध हो सकता ही नहीं। परन्तु जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है, उसको तो भुला दिया और जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, उसको अपना मान लिया—यह हमारेसे बड़ी भारी गलती हुई है। अगर हम यह मान लें कि हम भगवान्के हैं और भगवान् हमारे हैं तो 'संसार

हमारा नहीं है'—यह अपने-आप सिद्ध हो जायगा। अगर हम यह मान लें कि हम संसारके नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है तो 'भगवान् हमारे हैं'—यह अपने-आप सिद्ध हो जायगा। दोनोंमेंसे कोई एक बात सिद्ध कर लें।

विचार करें, क्या जड़ तथा परिवर्तनशील संसारके साथ हमारी एकता हो सकती है? अगर नहीं हो सकती तो इस बातको मानना शुरू कर दें कि संसारके साथ हमारी एकता नहीं है; इसके साथ एकता मानना गलती है। कम-से-कम यह गलती भीतरसे हमारी समझमें आ जाय तो समय पाकर सब काम ठीक हो जायगा। अगर संसारके साथ अपनी एकता मानें तो केवल नुकसान ही है, फायदा कोई नहीं है और एकता न मानें तो केवल फायदा ही है, नुकसान कोई नहीं है।

एकदम सच्ची बात है कि शरीर अपने साथ नहीं रहेगा। जो चीज अपनी नहीं है, वह अपने साथ कैसे रहेगी? भगवान् अपने हैं, वे अपनेसे दूर कैसे हो जायँगे? न तो हम भगवान्से दूर हो सकते हैं और न भगवान् ही हमसे दूर हो सकते हैं। शरीर, पदार्थ, रुपये, जमीन, मकान आदि सब-के-सब नाशवान् हैं। ये हमारे साथ नहीं रह सकते और हम इनके साथ नहीं रह सकते। परन्तु भगवान्को हम जानें, चाहे न जानें, उनसे हमारा कभी वियोग हो ही नहीं सकता—यह पक्की बात है। शरीर चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो, चाहे कारण हो, वह सर्वथा प्रकृतिका है और हम अच्छे-मन्दे कैसे ही हों, सर्वथा भगवान्के हैं। अगर यह बात समझमें आ जाय तो हम आज ही जीवन्मुक्त हैं! कारण कि नाशवान् चीजोंको अपना मानकर ही हम बँधे हैं। जिनको अपना माना है, उनसे ही बँधे हैं। जिनको अपना नहीं माना, उनसे नहीं बँधे हैं।

प्रश्न—बात समझमें तो आती है, पर भीतरमें स्वीकृति नहीं

होती, क्या करें?

उत्तर—विचार करें, आप इस बातकी स्वीकृति होना ठीक समझते हैं अथवा स्वीकृति न होना ठीक समझते हैं? अगर स्वीकृति होना ठीक समझते हैं तो फिर मना कौन करता है? अगर कोई लाभकी बात हो तो उसको जबर्दस्ती मान लेना चाहिये। मान लेनेपर फिर वह बात सुगम हो जाती है। वास्तवमें आप भीतरसे चाहते नहीं हैं। हमारी समझसे इसका मूल कारण है—सुखलोलुपता। सुखलोलुपताके कारण ही सच्ची बातकी स्वीकृति नहीं हो रही है।

आप आँखें मीचकर, दाँत भींचकर, छाती कड़ी करके यह मान लो कि हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। शरीर अपना नहीं है, नहीं है, नहीं है। जब शरीर भी अपना नहीं है, तो फिर संसारमें क्या चीज अपनी है?

प्रश्न—सामने कोई चीज देखते हैं तो उसका असर पड़ता है; ऐसी स्थितिमें क्या करें?

उत्तर—असरको इतना आदर मत दो। कोई वस्तु देखते हैं तो वह हमारेको अच्छी लगती है, प्यारी लगती है, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है तो ऐसा असर पड़नेपर भी भीतरसे यह भाव होना चाहिये कि यह वस्तु हमारी नहीं है। वस्तुके असरका आदर न करके सच्ची बातका आदर करो। असरको महत्त्व देकर आप असली चीज खो रहे हो! आजसे हृदयमें पक्का विचार कर लो कि अब हम असरको नहीं मानेंगे, प्रत्युत सच्ची बातको मानेंगे। असर कभी-कभी पड़ता है, हरदम नहीं पड़ता, पर आप इसको स्थायी मान लेते हो। यह भूल है। वास्तवमें आप शरीर नहीं हो। बालकपनमें जो आपका शरीर था, वह आज नहीं है, पर आप वे-के-वे ही हो। इसलिये कृपा करके आप असरको महत्त्व मत दो। सच्ची बातका असर पड़ना चाहिये। झूठी बातका

असर पड़ जाय तो उसको आदर मत दो। सच्ची बात यह है कि हम शरीर नहीं हैं, शरीर हमारा नहीं है।

मुक्ति प्राप्त करनेमें, भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्थूल, सूक्ष्म या कारण, कोई भी शरीर काम नहीं आता। शरीर कुटुम्बके लिये, समाजके लिये और संसारके लिये काम आता है, हमारे लिये काम आता ही नहीं। इसलिये शरीरको कुटुम्ब, समाज और संसारकी सेवामें लगा दो। यह बड़ी भारी दामी बात है। इसको मान लो तो आप सदाके लिये सुखी हो जाओगे। शरीरसे हमारेको लाभ हो जायगा—यह कोरा वहम है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—कोई भी शरीर हमारे काम नहीं आता—इस बातको समझ लेनेसे बहुत लाभ होता है। स्थूलशरीरसे क्रिया होती है, सूक्ष्मशरीरसे चिन्तन होता है और कारणशरीरसे स्थिरता तथा समाधि होती है। क्रिया, चिन्तन, स्थिरता और समाधि आपके लिये नहीं है। इनके भरोसे मत रहना। आपके काम आनेवाली चीज है—कुछ भी चिन्तन न करना। ग्रन्थोंमें समाधिकी बड़ी महिमा आती है, पर वह भी आपके काम नहीं आयेगी। आपके काम न क्रिया आयेगी, न चिन्तन आयेगा, न स्थिरता आयेगी, न समाधि आयेगी। इसी तरह प्राणायाम, कुण्डलिनी-जागरण, एकाग्रता आदि कोई कामके नहीं हैं। ये सब प्राकृत चीजें हैं, जबकि आप परमात्माके अंश हो। ये आपकी जातिकी चीजें नहीं हैं। आप इन सबसे अलग हो। आपकी एकता परमात्माके साथ है। आप चाहे अद्वैत मानो, चाहे द्वैत मानो; चाहे ज्ञान मानो, चाहे भक्ति मानो, कम-से-कम इतनी बात तो स्वीकार कर ही लो कि शरीर हमारे कामका नहीं है, इसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है।

अगर संसारका असर पड़ जाय तो उसकी परवाह मत करो, उसको स्वीकार मत करो, फिर वह मिट जायगा। असरको महत्त्व

देकर आप बड़े भारी लाभसे वंचित हो रहे हो। इसलिये असर पड़ता है तो पड़ने दो, पर मनमें समझो कि यह सच्ची बात नहीं है। झूठी चीजका असर भी झूठा ही होगा, सच्चा कैसे होगा? आपसे कोई पैसा ठगता है तो आपको उसकी बात ठीक दीखती है, आप उससे मोहित हो जाते हो, तभी तो ठगाईमें आते हो। ऐसे ही संसारका असर पड़ना बिलकुल ठगाई है, मूर्खता है।

एक मार्मिक बात है कि असर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिपर पड़ता है, आपपर नहीं। जिस जातिकी वस्तु है, उसी जातिपर उसका असर पड़ता है, आपपर नहीं पड़ता, क्योंकि आपकी जाति अलग है। शरीर-संसार जड़ हैं, आप चेतन हो। जड़का असर चेतनपर कैसे पड़ेगा? जड़का असर तो जड़ (शरीर) पर ही पड़ेगा। यह सच्ची बात है। इसको अभी मान लो तो अभी काम हो गया! आँखोंके कारण देखनेका असर पड़ता है। कानोंके कारण सुननेका असर पड़ता है। तात्पर्य है कि असर सजातीय वस्तुपर पड़ता है। अतः कितना ही असर पड़े, उसको आप सच्चा मत मानो। आपके स्वरूपपर असर नहीं पड़ता। स्वरूप बिलकुल निर्लेप है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदा० ४। ३। १५)। मन-बुद्धिपर असर पड़ता है तो पड़ता रहे। मन-बुद्धि हमारे नहीं हैं। ये उसी धातुके हैं, जिस धातुकी वस्तुका असर पड़ता है।

प्रश्न—फिर सुखी और दुःखी स्वयं क्यों होता है?

उत्तर—मन-बुद्धिको अपना माननेसे ही स्वयं सुखी-दुःखी होता है। मन-बुद्धि अपने नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिके अंश हैं। आप परमात्माके अंश हो। मन-बुद्धिपर असर पड़नेसे आप सुखी-दुःखी होते हो तो यह गलतीकी बात है। वास्तवमें आप सुखी-दुःखी नहीं होते, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हो। विचार करें, अगर आपके ऊपर सुख-दुःखका असर पड़ जाय तो आप अपरिवर्तनशील और एकरस नहीं रहेंगे। आपपर असर पड़ता

नहीं है, प्रत्युत आप अपनेपर असर मान लेते हैं। कारण कि आपने मन-बुद्धिको अपने मान रखा है, जो आपके कभी नहीं हैं, कभी नहीं हैं। मन-बुद्धि प्रकृतिके हैं और प्रकृतिका असर प्रकृतिपर ही पड़ेगा।

प्रश्न—असर पड़नेपर वैसा कर्म भी हो जाय तो?

उत्तर—कर्म भी हो जाय तो भी आपमें क्या फर्क पड़ा? आप विचार करके देखो तो आपपर असर नहीं पड़ा। परन्तु मुश्किल यह है कि आप उसके साथ मिल जाते हो। आप मन-बुद्धिको अपना स्वरूप मानकर ही कहते हो कि हमारेपर असर पड़ा। मन-बुद्धि आपके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिके हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७) और आप मन-बुद्धिके नहीं हो, प्रत्युत परमात्माके हो—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये असर मन-बुद्धिपर पड़ता है, आपपर नहीं। आप तो वैसे-के-वैसे ही रहते हो—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। मन-बुद्धिपर असर पड़ता है तो पड़ता रहे, अपनेको क्या मतलब है! असरको महत्त्व मत दो। इसको अपनेमें स्वीकार मत करो। आप 'स्व' में स्थित हैं—'**स्वस्थः**।' असर 'स्व'में पहुँचता ही नहीं। असत् वस्तु सत्‌में कैसे पहुँचेगी? और सत् वस्तु असत्‌में कैसे पहुँचेगी? सत् तो निर्लेप रहता है।

मन-बुद्धि चाहे आपके हों, चाहे एक कुत्तेके हों, उनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुत्तेके मन-बुद्धिपर असर पड़ता है तो क्या आप सुखी-दुःखी होते हो? जैसे कुत्तेके मन-बुद्धि आपके नहीं हैं, ऐसे ही आपके मन-बुद्धि भी वास्तवमें आपके नहीं हैं। मन-बुद्धिको अपना मानना ही मूल गलती है। इनको अपना मानकर आप मुफ्तमें ही दुःख पाते हो!

एक मार्मिक बात है कि हमारे और परमात्माके बीचमें जड़ता (शरीर-संसार) का परदा नहीं है, प्रत्युत जड़ताके सम्बन्धका परदा है। यह बात पढ़ाईकी पुस्तकोंमें, वेदान्तके ग्रन्थोंमें मेरेको नहीं मिली। केवल एक जगह सन्तोंसे मिली है। इसलिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे हमारा बिलकुल सम्बन्ध नहीं है—ऐसा स्वीकार कर लो तो आप निहाल हो जाओगे।

प्रश्न—जड़ताका सम्बन्ध छोड़नेके लिये क्या अभ्यास करना पड़ेगा?

उत्तर—जड़ताका सम्बन्ध अभ्याससे नहीं छूटता, प्रत्युत विवेक-विचारसे छूटता है। यह अभ्याससे होनेवाली बात है ही नहीं। विवेकका आदर करो तो आज ही यह सम्बन्ध छूट सकता है। आप दो बातोंको स्वीकार कर लें—जानना और मानना। जड़के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है—यह 'जानना' है और हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है—यह 'मानना' है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी चीज भी हमारी नहीं है—यह जाननेपर जड़ताका असर नहीं पड़ेगा। इसमें अभ्यास काम नहीं करता, पर विवेकसे तत्काल काम होता है। आपपर असर नहीं पड़ता, आप वैसे-के-वैसे ही रहते हो। वास्तवमें मुक्ति स्वतः-स्वाभाविक है। मुक्ति होती नहीं है, प्रत्युत मुक्ति है। जो होती है, वह मिट जाती है और जो है, वह कभी मिटती नहीं—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६)।

'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

आपने असरको सच्चा मान लिया, जो कि असत् है, झूठा है। मन-बुद्धिके साथ आपका सम्बन्ध है ही नहीं। श्रीशरणानन्दजी महाराजसे किसीने पूछा कि कुण्डलिनी क्या होती है? उन्होंने उत्तर दिया कि कुण्डलिनी क्या होती है—यह तो हम जानते

नहीं, पर इतना जरूर जानते हैं कि कुण्डलिनीके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। कुण्डलिनी सोती रहे अथवा जाग जाय, हमारा उससे क्या मतलब? ऐसे ही शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। अतः उसके असरका आदर मत करो। यह अभ्याससे नहीं होगा। अभ्यास एक नयी स्थिति पैदा करता है। जैसे, रस्सेपर चलना हो तो इसके लिये अभ्यास करना पड़ेगा। अभ्याससे कुछ लाभ नहीं होगा। अभ्याससे तत्त्वज्ञान कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं, कभी हो सकता नहीं। विवेकका आदर करो तो आज ही, अभी निहाल हो जाओगे।

आप केवल इतनी बात याद कर लें कि जड़ चीजोंके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वे प्रकृतिकी अंश हैं और हम परमात्माके अंश हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली चीजोंका असर हमारेपर कैसे पड़ सकता है? आपतक वह असर पहुँचता ही नहीं। आप असंग हैं। स्थिरता और समाधि भी आपकी नहीं है, प्रत्युत कारणशरीरकी है। आप कारणशरीरसे अलग हैं। समाधिमें दो अवस्थाएँ होती हैं—समाधि और व्युत्थान। आपमें दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। आपकी सहजावस्था है, जो स्वतः-स्वाभाविक है। आपका स्वरूप सत्तामात्र है।

सार बात है कि जड़ और चेतन कभी मिलते नहीं, मिल सकते नहीं। जड़-चेतनका सम्बन्ध झूठा है। जैसे अमावस्याकी रातका सूर्यके साथ विवाह नहीं हो सकता, ऐसे ही जड़का चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—जड़-चेतनका सम्बन्ध झूठा है तो उसको छोड़नेमें कठिनता क्यों है?

उत्तर—जड़-चेतनका सम्बन्ध झूठा होनेपर भी उसको छोड़नेमें कठिनता इसलिये होती है कि आपने जड़-चेतनके सम्बन्धको महत्त्व दे दिया। अतः आज ही अपने विवेकको

महत्त्व देकर सच्चे हृदयसे इस सत्यको स्वीकार कर लें कि जड़ (शरीर-संसार)के साथ हमारा बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है।

मनुष्यमें शरीरको लेकर भोगोंकी इच्छा (कामना) होती है, स्वरूपको लेकर तत्त्वकी इच्छा (जिज्ञासा) होती है और परमात्माको लेकर प्रेमकी इच्छा (अभिलाषा) होती है। शरीर अपना नहीं है, इसलिये भोगकी इच्छा भी अपनी नहीं है, प्रत्युत भूलसे उत्पन्न होनेवाली है। परन्तु तत्त्वकी और प्रेमकी इच्छा अपनी है, भूलसे होनेवाली नहीं है। इसलिये शरीरको निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवामें लगानेसे अथवा तत्त्वकी जिज्ञासा तेज होनेसे भूल मिट जाती है। भूल मिटनेसे भोगकी कामना मिट जाती है और तत्त्वकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है अर्थात् मनुष्यको तत्त्वज्ञान हो जाता है, जीवन्मुक्ति हो जाती है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माके प्रेमकी अभिलाषा जाग्रत् होती है। सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये प्रेमकी इच्छा सम्पूर्ण जीवोंकी अन्तिम तथा सार्वभौम इच्छा है। मुक्ति तो साधन है, पर प्रेम साध्य है। जैसे समुद्रसे सूर्य-किरणोंके द्वारा जल उठता है तो उसकी यात्रा तबतक पूरी नहीं होती, जबतक वह समुद्रमें मिल नहीं जाता, ऐसे ही परमात्माका अंश जीवात्मा जबतक परम प्रेमकी प्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक उसकी यात्रा पूरी नहीं होती। परम प्रेमका उदय होनेपर मनुष्यजीवन पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

॥ श्रीहरिः ॥

1072▲

क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः॥

नम्र निवेदन

सत्संग-कार्यक्रमके निमित्त मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ-वहाँ अधिकतर लोग मेरेसे गुरुके विषयमें तरह-तरहके प्रश्न किया करते हैं। उन प्रश्नोंका उत्तर पाकर उनको सन्तोष भी होता है। इसलिये अनेक सत्संगी भाई-बहनोंका विशेष आग्रह रहा कि एक ऐसी पुस्तक बन जाय, जिससे लोगोंकी गुरु-विषयक शंकाओंका समाधान हो जाय। इसी उद्देश्यसे प्रस्तुत पुस्तक लिखी गयी है।

गुरु-विषयक मेरे विचारोंको गहराईसे न समझनेके कारण कुछ लोग कह देते हैं कि मैं गुरुकी निन्दा या खण्डन करता हूँ। यह बिलकुल झूठी बात है। मैं गुरुकी निन्दा नहीं करता हूँ, प्रत्युत पाखण्डकी निन्दा करता हूँ। गुरुका खण्डन तो कोई कर सकता ही नहीं। गुरुजनोंकी मेरेपर बड़ी कृपा रही है और गुरुजनोंके प्रति मेरे मनमें बड़ा आदरभाव है। गुरुजनोंसे मेरेको लाभ भी हुआ है। परन्तु जो लोग गुरु बनकर लोगोंको ठगते हैं, उनकी प्रशंसा कैसे होगी? उनकी तो निन्दा ही होगी।

वर्तमान समयमें सच्चा गुरु मिलना बड़ा दुर्लभ होता जा रहा है। दम्भ-पाखण्ड दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा है। इसलिये शास्त्रोंने पहलेसे ही इस कलियुगमें दम्भी-पाखण्डी गुरुओंके होनेकी बात कह दी है, जिससे लोग सावधान हो जायँ। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंके सही मार्गदर्शनके लिये यह पुस्तक लिखी गयी है। इससे पहले भी 'सच्चा गुरु कौन?' नामक एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित हो चुकी है।

इस पुस्तकमें हमने 'गुरुगीता' के कुछ श्लोक भी प्रमाणस्वरूप लिये हैं। परन्तु बहुत खोज करनेपर भी हमें यह पता नहीं चल सका कि 'गुरुगीता' का आधार क्या है? इसकी रचना किसने की है? गुरुगीताके अन्तमें इसको स्कन्दपुराणसे लिया गया बताया गया है, पर स्कन्दपुराणकी किसी प्रतिमें हमें गुरुगीता मिली नहीं। अनेक स्थानोंसे प्रकाशित गुरुगीतामें भी परस्पर अन्तर पाया जाता है। अगर कोई विद्वान् इस विषयमें जानते हों तो हमें सूचित करनेकी कृपा करें।

पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें और सच्ची लगनके साथ भगवान्‌में लग जायँ। वे किसी व्यक्तिके अनुयायी न बनकर तत्त्वके अनुयायी बनें।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

गुरु कौन होता है?

किसी विषयमें हमें जिससे ज्ञानरूपी प्रकाश मिले, हमारा अज्ञानान्धकार दूर हो, उस विषयमें वह हमारा गुरु है। जैसे, हम किसीसे मार्ग पूछते हैं और वह हमें मार्ग बताता है तो मार्ग बतानेवाला हमारा गुरु हो गया, हम चाहे गुरु मानें या न मानें। उससे सम्बन्ध जोड़नेकी जरूरत नहीं है। विवाहके समय ब्राह्मण कन्याका सम्बन्ध वरके साथ करा देता है तो उनका उम्रभरके लिये पति-पत्नीका सम्बन्ध जुड़ जाता है। वही स्त्री पतिव्रता हो जाती है। फिर उनको कभी उस ब्राह्मणकी याद ही नहीं आती; और उसको याद करनेका विधान भी शास्त्रोंमें कहीं नहीं आता। ऐसे ही गुरु हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़ देता है तो गुरुका काम हो गया। तात्पर्य है कि गुरुका काम मनुष्यको भगवान्‌के सम्मुख करना है। मनुष्यको अपने सम्मुख करना, अपने साथ सम्बन्ध जोड़ना गुरुका काम नहीं है। इसी तरह हमारा काम भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना है, गुरुके साथ नहीं। जैसे संसारमें कोई माँ है, कोई बाप है, कोई भतीजा है, कोई भौजाई है, कोई स्त्री है, कोई पुत्र है, ऐसे ही अगर एक गुरुके साथ और सम्बन्ध जुड़ गया तो इससे क्या लाभ? पहले अनेक बन्धन थे ही, अब एक बन्धन और हो गया! भगवान्‌के साथ तो हमारा सम्बन्ध सदासे और स्वतः-स्वाभाविक है; क्योंकि हम भगवान्‌के सनातन अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७), ***'ईस्वर अंस जीव***

अबिनासी' (मानस, उत्तर० ११७। १)। गुरु उस भूले हुए सम्बन्धकी याद कराता है, कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता।

मैं प्राय: यह पूछा करता हूँ कि पहले बेटा होता है कि बाप? इसका उत्तर प्राय: यही मिलता है कि बाप पहले होता है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो पहले बेटा होता है, फिर बाप होता है। कारण कि बेटा पैदा हुए बिना उसका बाप नाम होगा ही नहीं। पहले वह मनुष्य (पति) है और जब बेटा जन्मता है, तब उसका नाम बाप होता है। इसी तरह शिष्यको जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब उसके मार्गदर्शकका नाम 'गुरु' होता है। शिष्यको ज्ञान होनेसे पहले वह गुरु होता ही नहीं। इसीलिये कहा है—

गुकारश्चान्धकारो हि रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशय:॥

(गुरुगीता)

अर्थात् 'गु' नाम अन्धकारका है और 'रु' नाम प्रकाशका है, इसलिये जो अज्ञानरूपी अन्धकारको मिटा दे, उसका नाम 'गुरु' है।

गुरुके विषयमें एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

गुरु गोविन्द दोउ खड़े, किनके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय॥

गोविन्दको बता दिया, सामने लाकर खड़ा कर दिया, तब गुरुकी बलिहारी होती है। गोविन्दको तो बताया नहीं और गुरु बन गये—यह कोरी ठगाई है! केवल गुरु बन जानेसे गुरुपना सिद्ध नहीं होता। इसलिये अकेले खड़े गुरुकी महिमा नहीं है। महिमा उस गुरुकी है, जिसके साथ गोविन्द भी खड़े हैं—'गुरु गोविन्द दोउ खड़े' अर्थात् जिसने भगवान्‌की प्राप्ति करा दी है।

असली गुरु वह होता है, जिसके मनमें चेलेके कल्याणकी इच्छा हो और चेला वह होता है, जिसमें गुरुकी भक्ति हो—

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव।

(प्रश्नोत्तरी ७)

अगर गुरु पहुँचा हुआ हो और शिष्य सच्चे हृदयसे आज्ञापालन करनेवाला हो तो शिष्यका उद्धार होनेमें सन्देह नहीं है।

पारस केरा गुण किसा, पलटा नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बीच रहा बिछोहा॥

अगर पारसके स्पर्शसे लोहा सोना नहीं बना तो वह पारस असली पारस नहीं है अथवा लोहा असली लोहा नहीं है अथवा बीचमें कोई आड़ है। इसी तरह अगर शिष्यको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ तो गुरु तत्त्वप्राप्त नहीं है अथवा शिष्य आज्ञापालन करनेवाला नहीं है अथवा बीचमें कोई आड़ (कपटभाव) है।

वास्तविक गुरु

वास्तविक गुरु वह होता है, जिसमें केवल चेलेके कल्याणकी चिन्ता होती है। जिसके हृदयमें हमारे कल्याणकी चिन्ता ही नहीं है, वह हमारा गुरु कैसे हुआ? जो हृदयसे हमारा कल्याण चाहता है, वही हमारा वास्तविक गुरु है, चाहे हम उसको गुरु मानें या न मानें और वह गुरु बने या न बने। उसमें यह इच्छा नहीं होती कि मैं गुरु बन जाऊँ, दूसरे मेरेको गुरु मान लें, मेरे चेले बन जायँ। जिसके मनमें धनकी इच्छा होती है, वह धनदास होता है।

ऐसे ही जिसके मनमें चेलेकी इच्छा होती है, वह चेलादास होता है। जिसके मनमें गुरु बननेकी इच्छा है, वह दूसरेका कल्याण नहीं कर सकता। जो चेलेसे रुपये चाहता है, वह गुरु नहीं होता, प्रत्युत पोता-चेला होता है। कारण कि चेलेके पास रुपये हैं तो उसका चेला हुआ रुपया और रुपयेका चेला हुआ गुरु तो वह गुरु वास्तवमें पोता-चेला ही हुआ! विचार करें, जो आपसे कुछ भी चाहता है, वह क्या आपका गुरु हो सकता है? नहीं हो सकता। जो आपसे कुछ भी धन चाहता है, मान-बड़ाई चाहता है, आदर चाहता है, वह आपका चेला होता है, गुरु नहीं होता। सच्चे महात्माको दुनियाकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है। जिसको किसीकी भी गरज नहीं होती, वही वास्तविक गुरु होता है।

कबीर जोगी जगत गुरु, तजै जगत की आस।
जो जग की आसा करै तो जगत गुरु वह दास॥

जो सच्चे सन्त-महात्मा होते हैं, उनको गुरु बननेका शौक नहीं होता, प्रत्युत दुनियाके उद्धारका शौक होता है। उनमें दुनियाके उद्धारकी स्वाभाविक सच्ची लगन होती है। मैं भी अच्छे सन्त-महात्माओंकी खोजमें रहा हूँ और मेरेको अच्छे सन्त-महात्मा मिले भी हैं। परन्तु उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि तुम चेला बन जाओ तो कल्याण हो जायगा। जिनको गुरु बननेका शौक है, वही ऐसा प्रचार करते हैं कि गुरु बनाना बहुत जरूरी है, बिना गुरुके मुक्ति नहीं होती, आदि-आदि।

कोई वर्तमान मनुष्य ही गुरु होना चाहिये—ऐसा कोई विधान नहीं है। श्रीशुकदेवजी महाराज हजारों वर्ष पहले हुए थे, पर उन्होंने चरणदासजी महाराजको दीक्षा दी! सच्चे शिष्यको गुरु अपने-आप

दीक्षा देता है। कारण कि चेला सच्चा होता है तो उसके लिये गुरुको ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत गुरु अपने-आप मिलता है। सच्ची लगनवालेको सच्चा महात्मा मिल जाता है—

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

(मानस, बाल० २५९। ३)

लोग तो गुरुको ढूँढ़ते हैं, पर जो असली गुरु होते हैं, वे शिष्यको ढूँढ़ते हैं। उनके भीतर विशेष दया होती है। जैसे, संसारमें माँका दर्जा सबसे ऊँचा है। माँ सबसे पहला गुरु है। बच्चा माँसे ही जन्म लेता है, माँका ही दूध पीता है, माँकी ही गोदीमें खेलता है, माँसे ही पलता है, माँके बिना बच्चा पैदा हो ही नहीं सकता, रह ही नहीं सकता, पल भी नहीं सकता। माँ तो वर्षोंतक बच्चेके बिना रही है। बच्चेके बिना माँको कोई बाधा नहीं लगी। इतना होते हुए भी माँका स्वभाव है कि वह आप तो भूखी रह जायगी, पर बच्चेको भूखा नहीं रहने देगी। वह खुद कष्ट उठाकर भी बच्चेका पालन करती है। ऐसे ही सच्चे गुरु होते हैं। वे जिसको शिष्यरूपसे स्वीकार कर लेते हैं, उसका उद्धार कर देते हैं। उनमें शिष्यका उद्धार करनेकी सामर्थ्य होती है। ऐसी बातें मेरी देखी हुई हैं।

एक सन्त थे। वे दूसरेको शिष्य न मानकर मित्र ही मानते थे। उनके एक मित्रको कोई भयंकर बीमारी हो गयी तो वह घबरा गया। दवाइयोंसे वह ठीक नहीं हुआ। उन सन्तने उससे कहा कि तू अपनी बीमारी मेरेको दे दे। वह बोला कि अपनी बीमारी आपको कैसे दे दूँ? सन्तने फिर कहा कि अब मैं कहूँ तो मना मत करना, आड़ मत लगाना; तू आधी बीमारी मेरेको दे दे। उनके मित्रने स्वीकार कर लिया तो उन सन्तने उसकी आधी बीमारी

अपनेपर ले ली। फिर बिना दवा किये उसकी पूरी बीमारी मिट गयी। इस प्रकार जो समर्थ होते हैं, वे गुरु बन सकते हैं। परन्तु इतने समर्थ होनेपर भी उन्होंने उम्रभर किसीको चेला नहीं बनाया।

गुरु बनानेपर उसकी महिमा बताते हैं कि गुरु गोविन्दसे बढ़कर है। इसका नतीजा यह होता है कि चेला भगवान्‌के भजनमें न लगकर गुरुके ही भजनमें लग जाता है! यह बड़े अनर्थकी, नरकोंमें ले जानेवाली बात है! यह अच्छे सन्तकी बात है। उनको चेलोंने भगवान्‌से बढ़कर मानना शुरू कर दिया तो उन्होंने चेला बनाना छोड़ दिया और फिर उम्रभरमें कभी चेला बनाया ही नहीं। कारण कि चेले भगवान्‌को तो पकड़ते नहीं, गुरुको ही पकड़ लेते हैं! गुरुकी बात सुनकर मनुष्य भगवान्‌में लग जाय तो ठीक है, पर वह गुरुमें ही लग जाय तो बड़ी हानिकी बात है! चेलेको अपनेमें लगानेवाले कालनेमि अथवा कपटमुनि होते हैं, गुरु नहीं होते। गुरु वे होते हैं, जो चेलेको भगवान्‌में लगाते हैं। भगवान्‌के समान हमारा हित चाहनेवाला गुरु, पिता, माता, बन्धु, समर्थ आदि कोई नहीं है—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा १२। १)

भगवान्‌की जगह अपनी पूजा करवाना पाखण्डियोंका काम है। जिसके भीतर शिष्य बनानेकी इच्छा है, रुपयोंकी इच्छा है, मकान (आश्रम आदि) बनानेकी इच्छा है, मान-बड़ाईकी इच्छा है, अपनी प्रसिद्धिकी इच्छा है, उसके द्वारा दूसरेका कल्याण होना तो दूर रहा, उसका अपना कल्याण भी नहीं हो सकता—

शिष शाखा सुत वितको तरसे, परम तत्त्वको कैसे परसे?

उसके द्वारा लोगोंकी वही दुर्दशा होती है, जो कपटी मुनिके द्वारा राजा प्रतापभानुकी हुई थी (देखें—मानस, बाल० १५३-१७५)। कल्याण तो उनके संगसे होता है, जिनके भीतर सबका कल्याण करनेकी भावना है। दूसरेके कल्याणके सिवाय जिनके भीतर कोई इच्छा नहीं है। जो स्वयं इच्छारहित होता है, वही दूसरेको इच्छारहित कर सकता है। इच्छावालेके द्वारा ठगाई होती है, कल्याण नहीं होता।

यह सिद्धान्त है कि जो दूसरेको कमजोर बनाता है, वह खुद कमजोर होता है। जो दूसरेको समर्थ बनाता है, वह खुद समर्थ होता है। जो दूसरेको चेला बनाता है, वह समर्थ नहीं होता। जो गुरु होता है, वह दूसरेको भी गुरु ही बनाता है। भगवान् सबसे बड़े हैं, इसलिये वे कभी किसीको छोटा नहीं बनाते। जो भगवान्‌के चरणोंकी शरण हो जाता है, वह संसारमें बड़ा हो जाता है। भगवान् सबको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं, किसीको अपना चेला नहीं बनाते। जैसे, निषादराज सिद्ध भक्त था, विभीषण साधक था और सुग्रीव भोगी था, पर भगवान् रामने तीनोंको ही अपना मित्र बनाया। अर्जुन तो अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानते हैं—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (गीता २। ७), पर भगवान् अपनेको गुरु न मानकर मित्र ही मानते हैं—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' (गीता ४। ३), '**इष्टोऽसि**' (गीता १८। ६४)। वेदोंमें भी भगवान्‌को जीवका सखा बताया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।*

(मुण्डक० ३। १। १, श्वेताश्वतर० ४। ६)

---

* सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
(श्रीमद्भा० ११। ११। ६)

'सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं।'

जो खुद बड़ा होता है, वह दूसरेको भी बड़ा ही बनाता है। जो दूसरेको छोटा बनाता है, वह खुद छोटा होता है। जो वास्तवमें बड़ा होता है, उसको छोटा बननेमें लज्जा भी नहीं आती। क्षत्रियोंके समुदायमें, अठारह अक्षौहिणी सेनामें भगवान् घोड़े हाँकनेवाले बने। अर्जुनने कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो तो भगवान् शिष्यकी तरह अर्जुनकी आज्ञाका पालन करते हैं। ऐसे ही पाण्डवोंने यज्ञ किया तो उसमें सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया गया। परन्तु उस यज्ञमें ब्राह्मणोंकी जूठी पत्तलें उठानेका काम भी भगवान्‌ने किया। छोटा काम करनेमें भगवान्‌को लज्जा नहीं आती। जो खुद छोटा होता है, उसीको लज्जा आती है और भय लगता है कि कोई मेरेको छोटा न समझ ले, कोई मेरा अपमान न कर दे।

गुरुकी महिमा

वास्तवमें गुरुकी महिमाका पूरा वर्णन कोई कर सकता ही नहीं। गुरुकी महिमा भगवान्‌से भी अधिक है। इसलिये शास्त्रोंमें गुरुकी बहुत महिमा आयी है। परन्तु वह महिमा सच्चाईकी है, दम्भ-पाखण्डकी नहीं। आजकल दम्भ-पाखण्ड बहुत हो गया है और बढ़ता ही जा रहा है। कौन अच्छा है और कौन बुरा—इसका जल्दी पता लगता नहीं। जो बुराई बुराईके रूपमें आती है, उसको मिटाना सुगम होता है। परन्तु जो बुराई अच्छाईके रूपमें आती

है, उसको मिटाना बड़ा कठिन होता है। सीताजीके सामने रावण, राजा प्रतापभानुके सामने कपट मुनि और हनुमान्‌जीके सामने कालनेमि आये तो वे उनको पहचान नहीं सके, उनके फेरेमें आ गये; क्योंकि उनका स्वाँग साधुओंका था। आजकल भी शिष्योंकी अपने गुरुके प्रति जैसी श्रद्धा देखनेमें आती है, वैसा गुरु स्वयं होता नहीं। इसलिये सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका कहते थे कि आजकलके गुरुओंमें हमारी श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत उनके चेलोंमें श्रद्धा होती है! कारण कि चेलोंमें अपने गुरुके प्रति जो श्रद्धा है, वह आदरणीय है।

शास्त्रोंमें आयी गुरु-महिमा ठीक होते हुए भी वर्तमानमें प्रचारके योग्य नहीं है। कारण कि आजकल दम्भी-पाखण्डी लोग गुरु-महिमाके सहारे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इसमें कलियुग भी सहायक है; क्योंकि कलियुग अधर्मका मित्र है—**'कलिनाधर्ममित्रेण'** (पद्मपुराण, उत्तर० १९३। ३१)। वास्तवमें गुरु-महिमा प्रचार करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत धारण करनेके लिये है। कोई गुरु खुद ही गुरु-महिमाकी बातें कहता है, गुरु-महिमाकी पुस्तकोंका प्रचार करता है तो इससे सिद्ध होता है कि उसके मनमें गुरु बननेकी इच्छा है। जिसके भीतर गुरु बननेकी इच्छा होती है, उससे दूसरोंका भला नहीं हो सकता। इसलिये मैं गुरुका निषेध नहीं करता हूँ, प्रत्युत पाखण्डका निषेध करता हूँ। गुरुका निषेध तो कोई कर सकता ही नहीं।

गुरुकी महिमा वास्तवमें शिष्यकी दृष्टिसे है, गुरुकी दृष्टिसे नहीं। एक गुरुकी दृष्टि होती है, एक शिष्यकी दृष्टि होती है और एक तीसरे आदमीकी दृष्टि होती है। गुरुकी दृष्टि यह होती है कि मैंने कुछ नहीं किया, प्रत्युत जो स्वतः-स्वाभाविक वास्तविक

तत्त्व है, उसकी तरफ शिष्यकी दृष्टि करा दी। तात्पर्य हुआ कि मैंने उसीके स्वरूपका उसीको बोध कराया है, अपने पाससे उसको कुछ दिया ही नहीं। चेलेकी दृष्टि यह होती है कि गुरुने मेरेको सब कुछ दे दिया। जो कुछ हुआ है, सब गुरुकी कृपासे ही हुआ है। तीसरे आदमीकी दृष्टि यह होती है कि शिष्यकी श्रद्धासे ही उसको तत्त्वबोध हुआ है।

असली महिमा उस गुरुकी है, जिसने गोविन्दसे मिला दिया है। जो गोविन्दसे तो मिलाता नहीं, कोरी बातें ही करता है, वह गुरु नहीं होता। ऐसे गुरुकी महिमा नकली और केवल दूसरोंको ठगनेके लिये होती है!

गुरुकी कृपा

गुरु-कृपा अथवा सन्त-कृपाका बहुत विशेष माहात्म्य है। भगवान्‌की कृपासे जीवको मानवशरीर मिलता है और गुरु-कृपासे भगवान् मिलते हैं। लोग समझते हैं कि हम गुरु बनायेंगे, तब वे कृपा करेंगे। परन्तु यह कोई महत्त्वकी बात नहीं है। अपने-अपने बालकोंका सब पालन करते हैं। कुतिया भी अपने बच्चोंका पालन करती है। परन्तु सन्त-कृपा बहुत विलक्षण होती है! दूसरा शिष्य बने या न बने, उनसे प्रेम करे या वैर करे—इसको सन्त नहीं देखते। दीन-दु:खीको देखकर सन्तका हृदय द्रवित हो जाता है तो इससे उसका काम हो जाता है।* जगाई-मधाई प्रसिद्ध पापी

---

* एक कृपा होती है और एक दया होती है। दयामें कोमलता होती है, पर कृपामें थोड़ा शासन होता है। दयामें शासन नहीं होता, केवल हृदय द्रवित हो जाता है। हृदय द्रवित होनेसे ही शिष्यका काम हो जाता है।

थे और साधुओंसे वैर रखते थे, पर चैतन्य महाप्रभुने उनपर भी दया करके उनका उद्धार कर दिया।

सन्त सबपर कृपा करते हैं, पर परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु ही उस कृपाको ग्रहण करता है; जैसे-प्यासा आदमी ही जलको ग्रहण करता है। वास्तवमें अपने उद्धारकी लगन जितनी तेज होती है, सत्य तत्त्वकी जिज्ञासा जितनी अधिक होती है, उतना ही वह उस कृपाको अधिक ग्रहण करता है। सच्चे जिज्ञासुपर सन्त-कृपा अथवा गुरु-कृपा अपने-आप होती है। गुरु-कृपा होनेपर फिर कुछ बाकी नहीं रहता। परन्तु ऐसे गुरु बहुत दुर्लभ होते हैं!

पारससे लोहा सोना बन जाता है, पर उस सोनेमें यह ताकत नहीं होती कि दूसरे लोहेको भी सोना बना दे। परन्तु असली गुरु मिल जाय तो उसकी कृपासे चेला भी गुरु बन जाता है, महात्मा बन जाता है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरौ जान।
वह लोहा कंचन करे, वह करै आपु समान॥

यह गुरुकृपाकी ही विलक्षणता है! यह गुरुकृपा चार प्रकारसे होती है—स्मरणसे, दृष्टिसे, शब्दसे और स्पर्शसे। जैसे कछवी रेतके भीतर अण्डा देती है, पर खुद पानीके भीतर रहती हुई उस अण्डेको याद करती रहती है तो उसके स्मरणसे अण्डा पक जाता है, ऐसे ही गुरुके याद करनेमात्रसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है—यह 'स्मरण-दीक्षा' है। जैसे मछली जलमें अपने अण्डेको थोड़ी-थोड़ी देरमें देखती रहती है तो देखनेमात्रसे अण्डा पक जाता है, ऐसे ही गुरुकी कृपादृष्टिसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है—यह 'दृष्टि-दीक्षा' है। जैसे कुररी पृथ्वीपर अण्डा देती है और आकाशमें शब्द करती हुई घूमती रहती है तो उसके शब्दसे अण्डा

पक जाता है, ऐसे ही गुरु अपने शब्दोंसे शिष्यको ज्ञान करा देता है—यह 'शब्द-दीक्षा' है। जैसे मयूरी अपने अण्डेपर बैठी रहती है तो उसके स्पर्शसे अण्डा पक जाता है, ऐसे ही गुरुके हाथके स्पर्शसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है—यह 'स्पर्श-दीक्षा' है।

ईश्वरकी कृपासे मानवशरीर मिलता है, जिसको पाकर जीव स्वर्ग अथवा नरकमें भी जा सकता है तथा मुक्त भी हो सकता है। परन्तु गुरुकृपा या सन्तकृपासे मनुष्यको स्वर्ग अथवा नरक नहीं मिलते, केवल मुक्ति ही मिलती है। गुरु बनानेसे ही गुरुकृपा होती है—ऐसा नहीं है। बनावटी गुरुसे कल्याण नहीं होता। जो अच्छे सन्त-महात्मा होते हैं, वे चेला बनानेसे ही कृपा करते हों—ऐसी बात नहीं है। वे स्वतः और स्वाभाविक कृपा करते हैं। सूर्यको कोई इष्ट मानेगा, तभी वह प्रकाश करेगा—यह बात नहीं है। सूर्य तो स्वतः और स्वाभाविक प्रकाश करता है, उस प्रकाशको चाहे कोई काममें ले ले। ऐसे ही गुरुकी, सन्त-महात्माकी कृपा स्वतः-स्वाभाविक होती है। जो उनके सम्मुख हो जाता है, वह लाभ ले लेता है। जो सम्मुख नहीं होता, वह लाभ नहीं लेता। जैसे, वर्षा बरसती है तो उसके सामने पात्र रखनेसे वह जलसे भर जाता है। परन्तु पात्र उलटा रख दें तो वह जलसे नहीं भरता और सूखा रह जाता है। सन्तकृपाको ग्रहण करनेवाला पात्र जैसा होता है, वैसा ही उसको लाभ होता है।

सतगुरु भूठा इन्द्र सम, कमी न राखी कोय।
वैसा ही फल नीपजै, जैसी भूमिका होय॥

वर्षा सबपर समान रूपसे होती है, पर बीज जैसा होता है, वैसा ही फल पैदा होता है। इसी तरह भगवान्‌की और सन्त-

महात्माओंकी कृपा सबपर सदा समान रूपसे रहती है। जो जैसा चाहे, लाभ उठा सकता है।

गुरुके वचनका महत्त्व

गुरु बनानेसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत गुरुकी बात माननेसे कल्याण होता है; क्योंकि गुरु शब्द होता है, शरीर नहीं—

जो तू चेला देह को, देह खेह की खान।
जो तू चेला सबद को, सबद ब्रह्म कर मान॥

गुरु शरीर नहीं होता और शरीर गुरु नहीं होता—'**न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत**' (श्रीमद्भा० ११। १७। २७)। इसलिये गुरु कभी मरता नहीं। अगर गुरु मर जाय तो चेलेका कल्याण कैसे होगा? शरीरको तो अधम कहा गया है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
(मानस, किष्किंधा० ११। २)

अगर किसीका हाड़-मांसमय शरीर गुरु होता है, तो वह अधम होता है, कालनेमि होता है। इसलिये गुरुमें शरीर-बुद्धि करना और शरीरमें गुरु-बुद्धि करना अपराध है। सन्त एकनाथजीके चरित्रमें यह बात बहुत विशेषतासे मिलती है। शास्त्रकी प्रक्रियाके अनुसार पहले तीर्थयात्रा की जाती है, फिर उपासना की जाती है और फिर ज्ञान होता है। परन्तु एकनाथजीके जीवनमें उलटा क्रम मिलता है। उनको पहले ज्ञान हुआ, फिर उन्होंने उपासना की और फिर गुरुजीने तीर्थयात्राकी आज्ञा दी। जब वे तीर्थयात्रामें थे, तब उनके गाँव पैठणका एक ब्राह्मण उनके गुरुजीके पास देवगढ़ पहुँचा और बोला कि 'महाराज! आपके यहाँ जो एकनाथ था, उनके दादा-दादी बहुत

बूढ़े हो गये हैं और एकनाथको याद कर-करके रोते रहते हैं। गुरुजीको सुनकर आश्चर्य हुआ कि एकनाथ मेरे पास इतने वर्ष रहा, पर उसने अपने दादा-दादीके विषयमें कभी कहा ही नहीं! उन्होंने एक पत्र लिखकर उस ब्राह्मणको दिया और कहा वह तीर्थयात्रा करते हुए जब पैठण आयेगा, तब उसको मेरा यह पत्र दे देना। मैंने कहा है, इसलिये वह पैठण जरूर आयेगा। ब्राह्मण पत्र लेकर चला गया। घूमते-घूमते जब एकनाथजी वहाँ पहुँचे तो वे दादा-दादीसे मिलने गाँवमें नहीं गये, प्रत्युत गाँवके बाहर ही ठहर गये। उस ब्राह्मणने जब एकनाथजीको देखा तो उनको पहचान लिया और उनके दादाजीका हाथ पकड़कर उनको एकनाथजीके पास ले चला। संयोगसे एकनाथजी रास्तेमें ही मिल गये। दादाजीने स्नेहपूर्वक एकनाथजीको गलसे लगाया और गुरुजीका पत्र निकालकर कहा कि 'यह तुम्हारे गुरुजीका पत्र है'। यह सुनते ही एकनाथजी गद्‌गद हो गये। उन्होंने कपड़ा बिछाकर उसके ऊपर पत्र रखा, उसकी परिक्रमा करके दण्डवत् प्रणाम किया, फिर उसको पढ़ा। उसमें लिखा था कि 'एकनाथ, तुम वहीं रहना'। एकनाथजी वहीं बैठ गये। फिर उम्रभर वहाँसे कहीं गये नहीं। वहीं मकान बन गया। सत्संग शुरू हो गया। दादा-दादी उनके पास आकर रहे। फिर कभी गुरुजीसे मिलने भी नहीं गये। विचार करें, गुरु शरीर हुआ कि वचन हुआ? जब गुरुजीका शरीर शान्त हो गया तो वे बोले कि 'गुरु मरे और चेला रोये तो दोनोंको क्या ज्ञान मिला?' तात्पर्य है कि गुरु मरता नहीं और चेला रोता नहीं।

एकनाथजीके चरित्रमें जैसी गुरुभक्ति देखनेमें आती है, वैसी और किसी सन्तके चरित्रमें देखनेमें नहीं आती। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धपर उन्होंने मराठीमें जो टीका लिखी है, उसके

प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें उन्होंने विस्तारसे गुरुकी स्तुति की है। ऐसे परम गुरुभक्त एकनाथजीने भी गुरुसे बढ़कर उनके वचन (आज्ञा) को महत्त्व दिया।

भगवान्‌से लाभ उठानेकी पाँच बातें हैं—नामजप, ध्यान, सेवा, आज्ञापालन और संग। परन्तु सन्त-महात्माओंसे लाभ उठानेमें तीन ही बातें उपयुक्त हैं—सेवा, आज्ञापालन और संग। इसलिये गुरुका नाम-जप और ध्यान न करके उनकी आज्ञाका, उनके सिद्धान्तका पालन करना चाहिये। गुरुके सिद्धान्तके अनुसार अपना जीवन बनाना ही वास्तविक गुरु-पूजन और गुरु-सेवा है। कारण कि सन्त-महात्माओंको शरीरसे भी बढ़कर सिद्धान्त प्यारा होता है। सिद्धान्तकी रक्षाके लिये वे प्राण भी दे देते हैं, पर सिद्धान्त नहीं छोड़ते।

गुरु शरीर नहीं होता, प्रत्युत तत्त्व होता है। अतः सच्चे गुरु अपना पूजन-ध्यान नहीं करवाते, प्रत्युत भगवान्‌का ही पूजन-ध्यान करवाते हैं। सच्चे सन्त अपनी आज्ञाका पालन भी नहीं करवाते, प्रत्युत यही कहते हैं कि गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंकी आज्ञाका पालन करो। जो गुरु अपनी फोटो देते हैं, उसको गलेमें धारण करवाते हैं, उसकी पूजा और ध्यान करवाते हैं, वे धोखा देनेवाले होते हैं। कहाँ तो भगवान्‌का चिन्मय पवित्र शरीर और कहाँ हाड़-मांसका जड़ अपवित्र शरीर! जहाँ भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये, वहाँ हाड़-मांसके पुतलेकी पूजा होना बड़ा भारी दोष है। जैसे राजासे वैर करनेवाला, उससे विरुद्ध चलनेवाला राजद्रोही होता है, ऐसे ही अपनी पूजा करवानेवाला भगवद्द्रोही होता है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक और संरक्षक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे एक सज्जनने कहा कि हम आपकी

गुरु बननेका अधिकार किसको?

गुरुकी महिमा गोविन्दसे भी अधिक बतायी गयी है, पर यह महिमा उस गुरुकी है, जो शिष्यका उद्धार कर सके। श्रीमद्भागवतमें आया है—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥

(श्रीमद्भा० ५।५।१८)

'जो समीप आयी हुई मृत्युसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।'

इसलिये सन्तोंकी वाणीमें आया है—

चौथे पद चीन्हे बिना शिष्य करो मत कोय।

तात्पर्य है कि जबतक अपनेमें शिष्यका उद्धार करनेकी ताकत न आये, तबतक कोई गुरु मत बनो। कारण कि गुरु बन जाय

और उद्धार न कर सके तो बड़ा दोष लगता है—

हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

(मानस, उत्तर० ९९। ४)

वह घोर नरकमें इसलिये पड़ता है कि मनुष्य दूसरी जगह जाकर अपना कल्याण कर लेता, पर उसको अपना शिष्य बनाकर एक जगह अटका दिया! उसको अपना कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर मिला था, उसमें बड़ी बाधा लगा दी! जैसे एक घरके भीतर कुत्ता आ गया तो घरके मालिकने दरवाजा बन्द कर दिया। घरमें खानेको कुछ था नहीं। अब उस कुत्तेको वहाँ तो कुछ खानेको मिलेगा नहीं और दूसरी जगह जा सकेगा नहीं। यही दशा आजकल चेलेकी होती है। गुरुजी खुद तो चेलेका कल्याण कर सकते नहीं और दूसरी जगह जाने देते नहीं। वह कहीं और चला जाय तो उसको धमकाते हैं कि मेरा चेला होकर दूसरेके पास जाता है! श्रीकरपात्रीजी महाराज कहते थे कि जो गुरु अपना शिष्य तो बना लेता है, पर उसका उद्धार नहीं करता, वह अगले जन्ममें कुत्ता बनता है और शिष्य चींचड़ बनकर उसका खून चूसते हैं!

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा।
तथा प्राप्नोत्यसन्देहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये॥

(कुलार्णवतन्त्र)

'जिस प्रकार मन्त्रीका दोष राजाको और स्त्रीका दोष पतिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार निश्चय ही शिष्यका पाप गुरुको प्राप्त होता है।'

दापयेत् स्वकृतं दोषं पत्नी पापं स्वभर्तरि।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुमाप्नोति निश्चितम्॥

(गन्धर्वतन्त्र)

'जैसे स्त्रीका दोष और पाप उसके स्वामीको प्राप्त होता है, वैसे ही शिष्यका अर्जित पाप गुरुको अवश्य ही प्राप्त होता है।'

एक सन्तके पूर्वजन्मकी सच्ची घटना है। पूर्वजन्ममें वे एक राजाके मन्त्री थे। उनको वैराग्य हो गया तो वे सब छोड़कर अच्छे विरक्त सन्त बन गये। उनके पास कई साधु आकर रहने लगे। राजाके मनमें भी विचार आया कि मैं इन मन्त्री महाराजको ही गुरु बना लूँ और भजन करूँ। वे जाकर उनके शिष्य बन गये। आगे चलकर जब गुरुजी (पूर्व मन्त्री) का शरीर शान्त हो गया तो उनकी जगह उस राजाको महन्त बना दिया गया। महन्त बननेके बाद राजा भोग भोगनेमें लग गया; क्योंकि भोग भोगनेकी पुरानी आदत थी ही। परिणामस्वरूप वह राजा मरनेके बाद नरकोंमें गया। गुरुजी (पूर्व मन्त्री) ऊँचे लोकोंमें गये थे। नरकोंको भोगनेके बाद जब उस राजाने पुनर्जन्म लिया, तब उसके साथ गुरुजीको भी जन्म लेना पड़ा। फिर गुरुजीने उनको पुनः भगवान्‌में लगाया, पर उनको शिष्य नहीं बनाया, प्रत्युत मित्र ही बनाया। उम्रभरमें उन्होंने किसीको भी शिष्य नहीं बनाया। इस घटनासे सिद्ध होता है कि अगर गुरु अपने शिष्यका उद्धार न कर सके तो उसको शिष्यके उद्धारके लिये पुनः संसारमें आना पड़ता है। इसलिये गुरु उन्हींको बनना चाहिये, जो शिष्यका उद्धार कर सकें।

आजकलके गुरु चेलेको भगवान्‌की तरफ न लगाकर अपनी तरफ लगाते हैं, उनको भगवान्‌का न बनाकर अपना बनाते हैं। यह बड़ा भारी अपराध है*। एक जीव परमात्माकी तरफ जाना

* पाप और अपराधमें फर्क होता है। पापका फल (नरक आदि) भोगनेसे पाप नष्ट हो जाता है, पर जिसका अपराध किया है, उसकी प्रसन्नताके बिना अपराध नष्ट नहीं होता। इसलिये अपराध पापसे भी ज्यादा भयंकर होता है।

चाहता है, उसको अपना चेला बना लिया तो अब वह गुरुमें अटक गया। अब वह भगवान्‌की तरफ कैसे जायगा? गुरु भगवान्‌की तरफ जानेमें रुकावट डालनेवाला हो गया! गुरु तो वह है, जो भगवान्‌के सम्मुख कर दे, भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास करा दे; जैसे—हनुमान्‌जीने विभीषणका विश्वास अपनेमें न कराकर भगवान्‌में कराया—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती । करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना । कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा । तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

(मानस, सुन्दर० ७)

श्रीशरणानन्दजी महाराजने लिखा है—

'जो उपदेष्टा भगवद्विश्वासकी जगहपर अपने व्यक्तित्वका विश्वास दिलाते हैं और भगवत्सम्बन्धके बदले अपने व्यक्तित्वसे सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।' (प्रबोधनी)

व्यक्तिमें श्रद्धा-विश्वास करनेकी अपेक्षा भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास करनेसे ज्यादा लाभ होगा, जल्दी लाभ होगा और विशेष लाभ होगा। इसलिये जो गुरु अपनेमें विश्वास कराता है, अपनी सेवा कराता है, अपने नामका जप करवाता है, अपने रूपका ध्यान करवाता है, अपनी पूजा करवाता है, अपनी जूठन देता है, अपने चरण धुलवाता है, वह पतनकी तरफ ले जानेवाला है। उससे सावधान रहना चाहिये।

भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण मनुष्यमात्रका सदासे ही भगवान्‌के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्वतः-स्वाभाविक

है, बनावटी नहीं है। परन्तु गुरुके साथ जोड़ा गया सम्बन्ध बनावटी होता है। बनावटी सम्बन्धसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत बन्धन होता है; क्योंकि संसारके बनावटी सम्बन्धसे ही हम बँधे हैं। आप विचार करें, जिन लोगोंने गुरु बनाया है, क्या उन सबका कल्याण हो गया? उनको तत्त्वज्ञान हो गया? भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी? जीवन्मुक्ति हो गयी? किसीको हो गयी हो तो बड़े आनन्दकी बात है, पर हमें विश्वास नहीं होता। एक तो वे लोग हैं, जिन्होंने गुरु बनाया है और दूसरे वे लोग हैं, जिन्होंने गुरु नहीं बनाया है, पर सत्संग करते हैं—उन दोनोंमें आपको क्या फर्क दीखता है? विचार करें कि गुरु बनानेसे ज्यादा लाभ होता है अथवा सत्संग करनेसे ज्यादा लाभ होता है? गुरुजी हमारा कल्याण कर देंगे—ऐसा भाव होनेसे अपने साधनमें ढिलाई आ जाती है। इसलिये गुरु बनानेवालोंमें जितने राग-द्वेष पाये जाते हैं, उतना सत्संग करनेवालोंमें नहीं पाये जाते। किसीको अच्छा संग भी मिल जाय तो वह किसीके साथ लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट नहीं करता, पर अपनेको किसी गुरुका चेला माननेवाले दूसरे गुरुके चेलोंके साथ मार-पीट भी कर देते हैं। गुरु बनानेवालोंमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं दीखता। केवल एक वहम पड़ जाता है कि हमने गुरु बना लिया, इसके सिवाय और कुछ नहीं होता। इसलिये गुरु बनानेसे मुक्ति हो जाती है—यह नियम है ही नहीं।

गुरु बनना और बनाना बड़े जोखिमकी बात है, कोई तमाशा नहीं है। कोई आदमी कपड़ेकी दूकानपर जाय और दूकानदारसे कहे कि मेरेको अमुक कपड़ा चाहिये। दूकानदार उससे कपड़ेका मूल्य तो ले ले, पर कपड़ा नहीं दे तो क्या यह उचित है? अगर कपड़ा नहीं दे सकते थे तो मूल्य क्यों लिया? और मूल्य लिया

तो कपड़ा क्यों नहीं दिया? ऐसे ही शिष्य तो बना ले, भेंट-पूजा ले ले और उद्धार करे नहीं तो क्या यह उचित है? पहले चेला बन जाओ, उद्धार पीछे करेंगे—यह ठगाई है। अपना पूजन करवा लिया, भेंट ले ली, चेला बना लिया और भगवत्प्राप्ति नहीं करायी तो फिर आप गुरु क्यों बने? गुरु बने हो तो भगवत्प्राप्ति कराओ और नहीं कराओ तो आपको गुरु बननेका कोई अधिकार नहीं है। अगर चेलेका कल्याण नहीं कर सकते तो उसको दूसरी जगह जाने दो। खुद कल्याण नहीं कर सकते तो फिर उसको रोकनेका क्या अधिकार है? खुद कल्याण करते नहीं और दूसरी जगह जाने देते नहीं तो बेचारे शिष्यका तो नाश कर दिया! उसका मनुष्यजन्म निरर्थक कर दिया! अब वह अपना कल्याण कैसे करेगा? इसलिये जहाँतक बने, गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध बिना जोड़े सन्तकी बात मानोगे तो लाभ होगा और नहीं मानोगे तो नुकसान नहीं होगा। तात्पर्य है कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध न जोड़नेमें लाभ-ही-लाभ है, नुकसान नहीं है। परन्तु गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ोगे तो बात नहीं माननेपर नुकसान होगा। कारण कि अगर गुरु असली हो और उसकी एक बात भी टाल दे, उनकी आज्ञा न माने तो वह गुरुका अपराध होता है, जिसको भगवान् भी माफ नहीं कर सकते!

शिवक्रोधाद् गुरुस्त्राता गुरुक्रोधाच्छिवो न हि।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरोराज्ञां न लङ्घयेत्॥

(गुरुगीता)

'भगवान् शंकरके क्रोधसे तो गुरु रक्षा कर सकता है, पर गुरुके क्रोधसे भगवान् शंकर भी रक्षा नहीं कर सकते। इसलिये सब प्रकारसे प्रयत्नपूर्वक गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन न करे।'

राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥

(मानस, बाल० १६६। ३)

सच्चे गुरुकी दुर्लभता

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम्॥

(गुरुगीता)

'शिष्यके धनका हरण करनेवाले गुरु तो बहुत हैं, पर शिष्यके हृदयका ताप हरण करनेवाले गुरु दुर्लभ हैं।'

गीताने प्राणिमात्रके हितमें प्रीतिकी बात कही है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (५। २५, १२। ४)। सच्चे सन्तोंकी दृष्टि प्राणियोंके हितकी तरफ रहती है, उनको अपनी तरफ खींचनेकी नहीं। वे न तो किसीको अपना चेला बनाते हैं, न अपनी टोली बनाते हैं और न किसीसे कुछ लेते हैं, प्रत्युत दूसरेका कल्याण कैसे हो—इस तरफ दृष्टि रखते हैं और केवल शिष्योंके लिये ही नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्रके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

कारण कि वे भुक्तभोगी होते हैं। अतः वे जानते हैं कि संसारमें कितना दुःख है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें कितना सुख है। इसलिये वे चाहते हैं कि दूसरे लोग भी संसारके दुःखोंसे छूट जायँ और सदाके लिये परम सुखका अनुभव कर लें।

इस जमानेमें सच्चे सन्त-महात्मा देखनेको नहीं मिलते। सच्चे महात्मा पहले जमानेमें भी बहुत कम थे, वर्तमानमें तो विशेष

कम हो गये हैं। वर्तमानमें तो गुरु बननेका एक पेशा (व्यवसाय) ही बन गया है। चेला इसलिये बनाते हैं कि अपनी जीविका चलती रहे, अपनी मनमानी होती रहे, अपनी मान-बड़ाई (शरीरका मान और नामकी बड़ाई) होती रहे, अपना स्वार्थ सिद्ध होता रहे। यही भाव चेलोंका भी रहता है!

गुरु लोभी सिष लालची, दोनों खेले दाँव।
दोनों डूबा 'परसराम', बैठ पथरकी नाँव॥

आजकल नकली चीजोंका जमाना है। ब्राह्मण भी नकली, क्षत्रिय भी नकली, वैश्य भी नकली, शूद्र भी नकली, ब्रह्मचारी भी नकली, गृहस्थ भी नकली, वानप्रस्थ भी नकली, साधु भी नकली, यहाँतक कि साग-सब्जी, फूल-पत्ती, मिर्च-मसाले, दूध आदि भी नकली मिलते हैं। हर चीज नकली है तो गुरु भी नकली हैं—

मिथ्यारंभ दंभ रत जोई । ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी । कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥

(मानस, उत्तर० ९८। २, ४)

साधु होनेमात्रसे कल्याण नहीं होता। मैंने खुद साधु होकर देखा है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवालोंको किसी मनुष्यके फेरमें नहीं आना चाहिये, किसीको गुरु नहीं बनाना चाहिये।

वास्तवमें कल्याण, मुक्ति, तत्त्वज्ञान, परमात्मप्राप्ति गुरुके अधीन नहीं है। अगर बिना गुरु बनाये तत्त्वज्ञान नहीं होता तो सृष्टिमें जो सबसे पहला गुरु रहा होगा, उसको तत्त्वज्ञान कैसे हुआ होगा? अगर बिना किसी मनुष्यको गुरु बनाये उसको तत्त्वज्ञान हो गया तो इससे सिद्ध हुआ कि बिना किसी मनुष्यको गुरु बनाये भी जगद्गुरु भगवान्‌की कृपासे तत्त्वज्ञान हो सकता है। परन्तु

आजकल तो ऐसी प्रथा चल रही है कि पहले चेला बनो, गुरुमन्त्र लो, पीछे उपदेश देंगे। ऐसी दशामें गुरु बनानेपर चेलेकी बड़ी दुर्दशा होती है। भाव बैठता नहीं, लाभ भी दीखता नहीं, भीतरका भ्रम भी मिटता नहीं और छोड़कर दूसरी जगह जा सकते नहीं। मेरेसे कोई सम्मति ले तो मैं कहूँगा कि सत्संग करो और जितना ले सको, उतना लाभ लो, पर किसीको गुरु मत बनाओ। जहाँ-जहाँसे अच्छी बातें मिलें, वहाँ-वहाँसे उनको लेते रहो और जहाँ अच्छी बात न मिले, वहाँसे चल दो। गुरु बनाकर बँधो मत।

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥

(गुरुगीता)

'मधुका लोभी भ्रमर जैसे एक पुष्पसे दूसरे पुष्पकी ओर जाता है, ऐसे ही ज्ञानका लोभी शिष्य एक गुरुसे दूसरे गुरुकी ओर जाय।'

गुरु बनानेके बाद आगे जाकर न जाने क्या दशा होगी! मेरेसे ऐसे कई आदमी मिले हैं, जिन्होंने अपनी दृष्टिसे अच्छे-अच्छे गुरु बनाये, पर पीछे उनपर अश्रद्धा हो गयी। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसको किसीसे भी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। संसारसे सम्बन्ध जोड़नेवाला अपना ही कल्याण नहीं कर सकता, फिर दूसरेका कल्याण कैसे करेगा?

आजकल असली गुरु मिलना बहुत कठिन है। जो ठीक तत्त्वको जाननेवाला हो, ऐसा देखनेमें नहीं आता। जो स्वयं तत्त्वको नहीं जानता, वह शिष्यको क्या बतायेगा? ठीक तत्त्वको जाननेवाले गुरु पहले भी बहुत कम हुए हैं। पहले हो चुके सन्तोंकी पुस्तकें पढ़ते हैं तो उनसे भी हमें पूरा सन्तोष नहीं होता।

सबसे बढ़कर सन्त वे होते हैं, जिनमें मतभेद नहीं होता अर्थात् द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि किसी एक मतका आग्रह नहीं होता। इसलिये साधकके लिये सबसे बढ़िया बात यही है कि वह सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लग जाय। किसी व्यक्तिको न पकड़कर परमात्माको पकड़े। व्यक्तिमें पूर्णता नहीं होती। पूर्णता परमात्मामें होती है। हम सच्चे हृदयसे परमात्माके सम्मुख हो जायँ तो वे योग, ज्ञान, भक्ति—सब कुछ दे देते हैं*।

---

* तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। १०-११)

'उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।'

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनके स्वरूप (होनेपन)में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

मनुष्यका जन्मजात गुरु—विवेक

एक मार्मिक बात है कि जगद्गुरु भगवान् अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर देते हैं तो साथमें विवेकरूपी गुरु भी देते हैं। भगवान् अधूरा काम नहीं करते। जैसे बड़े अफसरोंको मकान, नौकर, मोटर आदि सब सुविधाएँ मिलती हैं, ऐसे ही भगवान् मनुष्यशरीरके साथ-साथ कल्याणकी सब सामग्री भी देते हैं। वे मनुष्यको 'विवेक'-रूपी गुरु देते हैं, जिससे वह सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्य, ठीक और बेठीक आदिको जान सकता है। इस विवेकसे बढ़कर कोई गुरु नहीं है। जो अपने विवेकका

आदर करता है, उसको अपने कल्याणके लिये बाहरी गुरुकी जरूरत नहीं पड़ती। जो अपने विवेकका आदर नहीं करता, वह बाहरी गुरु बनाकर भी अपना कल्याण नहीं कर सकता। इसलिये बाहरी गुरु बनानेपर भी कल्याण नहीं होता।

मनुष्य जितना-जितना विवेकको महत्त्व देता है, उसको काममें लाता है, उतना-उतना उसका विवेक बढ़ता जाता है और बढ़ते-बढ़ते वही विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। विवेकका आदर गुरु बनानेसे नहीं होता, प्रत्युत सत्संगसे होता है—***'बिनु सतसंग बिबेक न होई'*** (मानस, बाल० ३।४)। अच्छे सन्त-महात्मा शिष्य नहीं बनाते तो भी उनका सत्संग करनेसे उद्धार हो जाता है। उनके आचरणोंसे शिक्षा मिलती है, उनकी वाणीसे शास्त्र बनते हैं। अतः जहाँ अच्छा सत्संग मिले, अपने उद्धारकी बात मिले, वहाँ सत्संग करना चाहिये, पर जहाँतक बने, गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये।

मेवाड़के राजाके चाचा थे—महाराज चतुरसिंहजी। वे सत्संग सुनते और उसमें कोई बढ़िया बात मिलती तो सुनते ही वहाँसे चल देते कि अब इस बातको काममें लाना है। वे ऐसा निर्णय कर लेते कि अब यह बात हमारी उम्रसे नहीं निकलेगी। ऐसा करनेसे वे अच्छे सन्त हो गये। उन्होंने अनेक अच्छे ग्रन्थोंकी रचना की और वे मेवाड़ी भाषाके वाल्मीकि कहलाये। इस तरह आपको जो भी अच्छी बात मिले, उसको ग्रहण करते जाओ तो आप भी सन्त हो जाओगे।

कल्याणमें शिष्यकी मुख्यता

गुरुजी किसी गद्दीके महन्त हों, उनके पास लाखों-करोड़ों रुपये हों तो उनसे रुपये प्राप्त करनेमें गुरुकी मुख्यता है। गुरु चेलेको स्वीकार करेगा, तभी चेलेको धन मिलेगा। गुरुकी मरजीके बिना चेला उनसे धन नहीं ले सकेगा। इस प्रकार धनकी प्राप्तिमें तो गुरुकी मुख्यता है, पर कल्याण और विद्याकी प्राप्तिमें चेलेकी ही मुख्यता है। अगर चेलेमें अपने कल्याणकी भूख न हो तो गुरु उसका कल्याण नहीं कर सकता। परन्तु चेलेमें अपने कल्याणकी भूख हो तो गुरुके द्वारा उसको स्वीकार न करनेपर भी वह अपना कल्याण कर लेगा।

स्वामी रामानन्दजी महाराजने कबीरको शिष्य बनानेसे मना कर दिया तो वे एक दिन पंचगंगा घाटकी सीढ़ियोंपर लेट गये। रामानन्दजी महाराज स्नानके लिये वहाँसे गुजरे तो अनजानमें उनका पैर कबीरपर पड़ गया और वे 'राम-राम' बोल उठे। कबीरने 'राम'-नामको ही गुरुमन्त्र मान लिया और साधनामें लग गये। परिणाममें कबीर सन्तोंमें चक्रवर्ती सन्त हुए! द्रोणाचार्यजीने एकलव्यको शिष्यरूपसे स्वीकार नहीं किया तो उसने द्रोणाचार्यकी प्रतिमा बनाकर और उनको गुरु मानकर धनुर्विद्याका अभ्यास शुरू कर दिया। परिणाममें वह अर्जुनसे भी तेज हो गया! अतः गुरु बनानेसे ही कल्याण होगा—यह बात है ही नहीं। अगर ऐसी बात होती तो जिन्होंने गुरु बना लिया, क्या उन सबका कल्याण हो गया? क्या उन सबको भगवान् मिल गये? जिसके उपदेशसे, मार्ग-दर्शनसे हमारा कल्याण हो जाय, वही वास्तवमें हमारा गुरु है, चाहे हम उसको गुरु मानें या न मानें, चाहे वह हमें चेला माने

या न माने और चाहे गुरुको हमारा पता हो या न हो। दत्तात्रेयजीने अपने चौबीस गुरुओंकी बात बतायी तो क्या किसीने आकर उनसे कहा कि तू मेरा चेला है और मैं तेरा गुरु हूँ? गुरु ऐसा बनाना चाहिये कि गुरुको पता ही न चले कि कोई मेरा चेला है!

भगवत्प्राप्ति गुरुके अधीन नहीं

जिसको हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह परमात्मतत्त्व एक जगह सीमित नहीं है, किसीके कब्जेमें नहीं है, अगर है तो वह हमें क्या निहाल करेगा? परमात्मतत्त्व तो प्राणिमात्रको नित्य प्राप्त है। जो उस परमात्मतत्त्वको जाननेवाले महात्मा हैं, वे न गुरु बनते हैं, न कोई फीस (भेंट) लेते हैं, प्रत्युत सबको चौड़े बताते हैं। जो गुरु नहीं बनते, वे जैसी तत्त्वकी बात बता सकते हैं, वैसी तत्त्वकी बात गुरु बननेवाले नहीं बता सकते।

सौदा करनेवाले व्यक्ति गुरु नहीं होते। जो कहते हैं कि पहले हमारा शिष्य बनो, फिर हम भगवत्प्राप्तिका रास्ता बतायेंगे, वे मानो भगवान्‌की बिक्री करते हैं। यह सिद्धान्त है कि कोई वस्तु जितने मूल्यमें मिलती है, वह वास्तवमें उससे कम मूल्यकी होती है। जैसे कोई घड़ी सौ रुपयोंमें मिलती है तो उसको लेनेमें दूकानदारके सौ रुपये नहीं लगे हैं। अगर गुरु बनानेसे ही कोई चीज मिलेगी तो वह गुरुसे कम दामवाली अर्थात् गुरुसे कमजोर ही होगी। फिर उससे हमें भगवान् कैसे मिल जायँगे? भगवान् अमूल्य हैं। अमूल्य वस्तु बिना मूल्यके मिलती है और जो वस्तु मूल्यसे मिलती है, वह मूल्यसे कमजोर होती है। इसलिये कोई कहे कि मेरा चेला बनो तो मैं बात बताऊँगा, वहाँ हाथ जोड़ देना

चाहिये! समझ लेना चाहिये कि कोई कालनेमि है! नकली गुरु बने हुए कालनेमि राक्षसने हनुमान्‌जीसे कहा था—

सर मज्जन करि आतुर आवहु। दिच्छा देउँ ग्यान जेहिं पावहु॥

(मानस, लंका० ५७। ४)

उसकी पोल खुलनेपर हनुमान्‌जीने कहा कि पहले गुरुदक्षिणा ले लो, पीछे मन्त्र देना और पूँछमें सिर लपेटकर उसको पछाड़ दिया!

कल्याणकी प्राप्तिमें अपनी लगन कारण

भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (६। ५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

तात्पर्य है कि अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य स्वयं ही कारण है, दूसरा कोई नहीं। भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया है तो अपने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। इसलिये अपने कल्याणके लिये दूसरेकी जरूरत नहीं है।

गुरु, सन्त और भगवान् भी तभी उद्धार करते हैं, जब मनुष्य स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनको स्वीकार करता है, उनके सम्मुख होता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। अगर मनुष्य उनको स्वीकार न करे तो वे कैसे उद्धार करेंगे? नहीं कर सकते। खुद शिष्य न बने तो गुरु क्या करेगा? जैसे, दूसरा व्यक्ति भोजन तो दे देगा, पर भूख खुदकी चाहिये। खुदकी भूख न हो

तो दूसरेके द्वारा दिया गया बढ़िया भोजन भी किस कामका? ऐसे ही खुदकी लगन न हो तो गुरुका, सन्त-महात्माओंका उपदेश किस कामका?

गुरु, सन्त और भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। अनेक बड़े-बड़े सन्त हो गये, आचार्य हो गये, गुरु हो गये, भगवान्‌के अवतार हो गये, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है! इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उनको स्वीकार नहीं किया। अतः अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हैं। जो अपने उद्धार और पतनमें दूसरेको हेतु मानता है, उसका उद्धार कभी हो ही नहीं सकता।

वास्तवमें मनुष्य आप ही अपना गुरु है—'**आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः**' (श्रीमद्भा० ११। ७। २०)। इसलिये उपदेश अपनेको ही दे। दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे। वह आप ही अपना गुरु बने, आप ही अपना नेता बने और आप ही अपना शासक बने। तात्पर्य हुआ कि वास्तवमें कल्याण न गुरुसे होता है और न ईश्वरसे ही होता है, प्रत्युत हमारी सच्ची लगनसे होता है। खुदकी लगनके बिना भगवान् भी कल्याण नहीं कर सकते। अगर कर देते तो हम आजतक कल्याणसे वंचित क्यों रहते? न तो गुरुका अभाव है, न सन्त-महात्माओंका अभाव है और न भगवान्‌का ही अभाव है। अभाव हमारी लगनका है। कल्याणकी प्राप्ति न गुरुके अधीन है, न सन्त-महात्माओंके अधीन है और न भगवान्‌के अधीन है। यह तो स्वयंके ही अधीन है। जब हमारी लगनके बिना सर्वशक्तिमान् भगवान् भी हमारा कल्याण नहीं कर सकते, तो फिर मनुष्यमें कितनी शक्ति है कि हमारा कल्याण कर दे? हमारी लगन नहीं होगी तो लाखों-करोड़ों गुरु बना लें तो भी कल्याण

नहीं होगा। अगर हमारे हृदयकी सच्ची लगन होगी तो गुरु भी मिल जायगा, सन्त भी मिल जायँगे, भगवान् भी मिल जायँगे, अच्छी पुस्तकें भी मिल जायँगी, ज्ञान भी मिल जायगा। कैसे मिलेगा, किस तरहसे मिलेगा—यह भगवान् जानें! फल पककर तैयार होता है तो तोता आकर स्वयं उसको चोंच मारता है। ऐसे ही हम सच्चे शिष्य बन जायँ तो सच्चा गुरु खुद हमारे पास आयेगा। शिष्यको गुरुकी जितनी आवश्यकता रहती है, उससे अधिक आवश्यकता गुरुको चेलेकी रहती है! हमारी लगन सच्ची होगी तो कोई कपटी गुरु भी मिल जायगा तो भगवान् छुड़ा देंगे। हमें कोई अटका सकेगा ही नहीं। जिसके भीतर अपने उद्धारकी लगन होती है, वह किसी जगह अटकता (फँसता) नहीं—यह नियम है। सच्चे जिज्ञासुको सच्चा सत्संग मिल जाय तो वह उसको चट पकड़ लेता है।

अगर आप अपना उद्धार चाहते हैं तो उसमें बाधा कौन दे सकता है? और अगर आप अपना उद्धार नहीं चाहते तो आपका उद्धार कौन कर सकता है? कितने ही अच्छे गुरु हों, सन्त हों, पर आपकी इच्छाके बिना कोई आपका उद्धार नहीं कर सकता। अगर आप अपने उद्धारके लिये तैयार हो जाओ तो सन्त-महात्मा ही नहीं, चोर-डाकू भी आपकी सहायता करेंगे, दुष्ट भी आपकी सेवा करेंगे, सिंह, सर्प आदि भी आपकी सेवा करेंगे! इतना ही नहीं, दुनियामात्र आपकी सेवा करनेवाली हो जायगी। मैंने ऐसा कई बार देखा है कि अगर सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लगे हुए व्यक्तिको कोई दुःख देता है तो वह दुःख भी उसकी उन्नतिमें सहायक हो जाता है! दूसरा तो उसको दुःख देनेकी नीयतसे काम करता है, पर उसका भला हो जाता है! इतना ही नहीं, जो

भगवान्‌को नहीं मानता, उसमें भी अगर अपने कल्याणकी लगन पैदा हो जाय तो उसका भी कल्याण हो जाता है।

धनी आदमी काम करनेके लिये नौकर रख लेते हैं, पूजन करनेके लिये ब्राह्मण रख लेते हैं, पर भोजन करने और दवा लेनेके लिये कोई नौकर या ब्राह्मण नहीं रखता। भूख लगनेपर भोजन खुदको ही करना पड़ता है। रोगी होनेपर दवा खुदको ही लेनी पड़ती है। जब रोटी भी खुद खानेसे भूख मिटती है, दवा भी खुद लेनेसे रोग मिटता है, तो फिर कल्याण अपनी लगनके बिना कैसे हो जायगा? आप तत्परतासे भगवान्‌में लग जाओ तो गुरु, सन्त, भगवान्—सब आपकी सहायता करनेके लिये तैयार हैं, पर कल्याण तो खुदको ही करना पड़ेगा। इसलिये गुरु हमारा कल्याण कर देगा—यह पूरी ठगाई है!

माँ कितनी ही दयालु क्यों न हो, पर आपकी भूख नहीं हो तो वह भोजन कैसे करायेगी? ऐसे ही आपमें अपने कल्याणकी उत्कण्ठा न हो तो भगवान् परम दयालु होते हुए भी क्या करेंगे? चीर-हरणके समय द्रौपदीने भगवान्‌को पुकारा तो वे वस्त्ररूपसे प्रकट हो गये, पर जुएमें हारते समय युधिष्ठिरने भगवान्‌को पुकारा ही नहीं तो वे कैसे आयें? युधिष्ठिरने तेरह वर्षोंतक वनमें दुःख पाया। कुन्ती माताने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि 'कन्हैया! क्या तेरेको पाण्डवोंपर दया नहीं आती?' भगवान्‌ने कहा कि 'मैं क्या करूँ, युधिष्ठिरने जुएमें राज्य, धन-सम्पत्ति आदि सब कुछ लगा दिया, पर मेरेको याद ही नहीं किया!'

भगवान् सबके गुरु हैं

भगवान् जगत्के गुरु हैं—

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'

'जगद्गुरुं च शाश्वतम्' (मानस, अरण्य० ४। ९)

वे केवल गुरु ही नहीं, प्रत्युत गुरुओंके भी परम गुरु हैं—

'स ईशः परमो गुरोर्गुरुः' (श्रीमद्भा० ८। २४। ४८)

'त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्' (गीता ११। ४३)

राजा सत्यव्रत भगवान्से कहते हैं—

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम्॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ५०)

'जैसे कोई अन्धा अन्धेको ही अपना पथ-प्रदर्शक बना ले, वैसे ही अज्ञानी जीव अज्ञानीको ही अपना गुरु बनाते हैं। आप सूर्यके समान स्वयं प्रकाश और समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। हम आत्मतत्त्वके जिज्ञासु आपको ही गुरुके रूपमें वरण करते हैं।'

भक्तराज प्रह्लादजी कहते हैं—

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥

(विष्णुपुराण १। १७। २०)

'हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्के उपदेशक हैं। हे तात! उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसको कुछ सिखा सकता है? नहीं सिखा सकता।'

भगवान् जगत्के गुरु हैं और हम भी जगत्के भीतर ही हैं। इसलिये वास्तवमें हम गुरुसे रहित नहीं हैं। हम असली महान् गुरुके शिष्य हैं। कलियुगी गुरुओंसे तो बड़ा खतरा है, पर जगद्गुरु भगवान्से कोई खतरा नहीं है! कोरा लाभ-ही-लाभ है, नुकसान कोई है ही नहीं। इसलिये भगवान्को गुरु मानें और उनकी गीताको पढ़ें, उसके अनुसार अपना जीवन बनायें तो हमारा निश्चितरूपसे कल्याण हो जायगा। कृष्ण, राम, शङ्कर, हनुमान्, गणेश, सूर्य आदि किसीको भी अपना गुरु मान सकते हैं। गजेन्द्रने कहा था—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

(श्रीमद्भा० ८। २। ३३)

'जो कोई ईश्वर प्रचण्ड वेगसे दौड़ते हुए अत्यन्त बलवान् कालरूपी साँपसे भयभीत होकर शरणमें आये हुएकी रक्षा करता है और जिससे भयभीत होकर मृत्यु भी दौड़ रही है, उसीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।'

गजेन्द्रके कथनका तात्पर्य है कि ईश्वर कैसा है, उसका क्या नाम है—यह सब मैं नहीं जानता, पर जो कोई ईश्वर है, उसकी मैं शरण लेता हूँ। इस प्रकार हम भी ईश्वरकी शरण हो जायँ तो वह गुरु भेज देगा अथवा स्वयं ही गुरु हो जायगा।

हम भगवान्के अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७); अतः हमारे गुरु, माता, पिता आदि सब वे ही हैं। वास्तवमें हमें गुरुसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना है, प्रत्युत भगवान्से ही सम्बन्ध

जोड़ना है। सच्चा गुरु वही होता है, जो भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ दे। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये किसीसे सलाह लेनेकी जरूरत नहीं है। भगवान्‌के साथ जीवमात्रका स्वतन्त्र सम्बन्ध है। उसमें किसी दलालकी जरूरत नहीं है। हम पहले गुरु बनायेंगे, फिर गुरु हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़े तो भगवान् हमारेसे एक पीढ़ी दूर हो गये! हम पहलेसे ही सीधे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लें तो बीचमें दलालकी जरूरत ही नहीं। मुक्ति हमारे न चाहनेपर भी जबर्दस्ती आयेगी—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९। २)

इसलिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

(गीता ९। ३४, १८। ६५)

'तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मुझे नमस्कार कर।'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा।'

भगवान् गुरु न बनकर अपनी शरणमें आनेके लिये कहते हैं।

भगवान्‌का विरोध करनेवाले राक्षसोंको भी भगवान्‌से ही बल मिलता है* तो क्या भगवान्‌का भजन करनेवालोंको भगवान्‌से बल नहीं मिलेगा? आप भगवान्‌के सम्मुख हो जाओ तो करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँगे†, पर आप सम्मुख ही नहीं होंगे तो पाप कैसे नष्ट होंगे? भगवान् अपने शत्रुओंको भी शक्ति देते हैं, प्रेमियोंको भी शक्ति देते हैं और उदासीनोंको भी शक्ति देते हैं। भगवान्‌की रची हुई पृथ्वी दुष्ट-सज्जन, आस्तिक-नास्तिक, पापी-पुण्यात्मा सबको रहनेका स्थान देती है। उनका बनाया हुआ अन्न सबकी भूख मिटाता है। उनका बनाया हुआ जल सबकी प्यास बुझाता है। उनका बनाया हुआ पवन सबको श्वास देता है। दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापीके लिये भी भगवान्‌की दयालुता समान है। हम घरमें बिजलीका एक लट्टू भी लगाते हैं तो उसका किराया देना पड़ता है, पर भगवान्‌के बनाये सूर्य और चन्द्रने कभी किराया माँगा है? पानीका एक नल लगा लें तो रुपया लगता है, पर भगवान्‌की बनायी नदियाँ रात-दिन बह रही हैं। क्या किसीने उसका रुपया माँगा है? रहनेके लिये थोड़ी-सी जमीन भी लें तो उसका रुपया देना पड़ता है, पर भगवान्‌ने रहनेके लिये इतनी बड़ी पृथ्वी दे दी। क्या उसका किराया माँगा है? अगर उसका किराया माँगें तो किसमें देनेकी ताकत है? जिसकी बनायी हुई सृष्टि भी इतनी उदार है, वह खुद कितना उदार होगा!

---

* हनुमान्‌जी रावणसे कहते हैं—

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

(मानस, सुन्दर० २१)

† सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

एक कथा आती है। एक सज्जनने एकादशीका व्रत किया। द्वादशीके दिन किसीको भोजन कराकर पारण करना था, पर कोई मिला नहीं। वर्षा हो रही थी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आखिर एक बूढ़े साधु मिल गये। उनको भोजनके लिये घर बुलाया। उनको बैठाकर उनके सामने भोजनकी पत्तल परोसी तो वे साधु चट खाने लग गये। उन सज्जनने कहा कि 'महाराज, आपने भगवान्को भोग तो लगाया ही नहीं!' वह साधु बोला कि 'भगवान् क्या होता है? तुम तो मूर्ख हो, समझते नहीं।' यह सुनते ही उन सज्जनने पत्तल खींच ली और बोले कि 'भगवान् कुछ नहीं होता तो तुम कौन होते हो? हम भगवान्के नाते ही तो आपको भोजन कराते हैं।' उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'अरे! मेरी निन्दा करते-करते यह साधु बूढ़ा हो गया, पर अभीतक मैं इसको भोजन दे रहा हूँ, तू एक समय भी भोजन नहीं दे सकता और मेरा भक्त कहलाता है! अगर मैं भोजन न दूँ तो यह कितने दिन जीये?' आकाशवाणी सुनकर उनको बड़ी शर्म आयी और फिर उस साधुसे माफी माँगकर उसको प्रेमपूर्वक भोजन कराया।

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥

(विनयपत्रिका १६२)

ऐसे परम उदार भगवान्के रहते हुए हम दुःख पा रहे हैं और गुरुजी हमें सुखी कर देंगे, हमारा उद्धार कर देंगे—यह कितनी ठगाई है! अपने उद्धारके लिये हम खुद तैयार हो जायँ, बस, इतनी ही जरूरत है।

भगवान् महान् दयालु हैं। वे सबके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करते हैं तो क्या कल्याणका प्रबन्ध नहीं करेंगे? इसलिये आप

सच्चे हृदयसे अपने कल्याणकी चाहना बढ़ाओ और भगवान्‌से प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! मेरा कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय। मैं नहीं जानता कि कल्याण क्या होता है, पर मैं किसी भी जगह फँसूँ नहीं, सदाके लिये सुखी हो जाऊँ। हे नाथ! मैं क्या करूँ?' भगवान् सच्ची प्रार्थना अवश्य सुनते हैं—

सच्चे हृदयसे प्रार्थना, जब भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्तवत्सल कान में, वह पहुँच झट ही जाय है॥

हमें अपने कल्याणकी जितनी चिन्ता है, उससे ज्यादा भगवान्‌को और सन्त-महात्माओंको चिन्ता है! बच्चेको अपनी जितनी चिन्ता होती है, उससे ज्यादा माँको चिन्ता होती है, पर बच्चा इस बातको समझता नहीं।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌की तरफ चलता है, उसकी सहायताके लिये सभी सन्त-महात्मा उत्कण्ठित रहते हैं। सन्तोंके हृदयमें सबके कल्याणके लिये अपार दया भरी हुई रहती है। बच्चा भूखा हो तो उसको अन्न देनेका भाव किसके मनमें नहीं आता?

अगर कोई सच्चे हृदयसे अपना कल्याण चाहता है तो भगवान् अवश्य उसका कल्याण करते हैं। भगवान्‌के समान हमारा हित करनेवाला गुरु भी नहीं है—

उमा राम सम हित जग माहीं । गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

जगद्गुरु भगवान्‌की उदारता

भगवान्‌में अनन्त गुण हैं, जिनका कोई पार नहीं पा सकता। आजतक भगवान्‌के गुणोंका जितना शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है,

जितना महात्माओंने वर्णन किया है, वह सब-का-सब मिलकर भी अधूरा है। भगवान्‌के परम भक्त गोस्वामीजी महाराज भी कहते हैं—*'रामु न सकहिं नाम गुन गाई'* (मानस, बाल० २६।४)। सन्तोंकी वाणीमें भी आया है कि अपनी शक्तिको खुद भगवान् भी नहीं जानते! ऐसे अनन्त गुणोंवाले भगवान्‌में कम-से-कम तीन मुख्य गुण हैं—सर्वज्ञता, सर्वसमर्थता और सर्वसुहृत्ता। तात्पर्य है कि भगवान्‌के समान कोई सर्वज्ञ नहीं है, कोई सर्वसमर्थ नहीं है और कोई सर्वसुहृद् (परम दयालु) नहीं है। ऐसे भगवान्‌के रहते हुए भी आप दुःख पा रहे हैं, आपकी मुक्ति नहीं हो रही है तो क्या गुरु आपको मुक्त कर देगा? क्या गुरु भगवान्‌से भी अधिक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दयालु है? कोरी ठगाईके सिवाय कुछ नहीं होगा! जबतक आपके भीतर अपने कल्याणकी लालसा जाग्रत् नहीं होगी, तबतक भगवान् भी आपका कल्याण नहीं कर सकते, फिर गुरु कैसे कर देगा?

आपको गुरुमें, सन्त-महात्मामें जो विशेषता दीखती है, वह भी उनकी अपनी विशेषता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से आयी हुई और आपकी मानी हुई है। जैसे कोई भी मिठाई बनायें, उसमें मिठास चीनीकी ही होती है, ऐसे ही जहाँ भी विशेषता दीखती है, वह सब भगवान्‌की ही होती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०।४१)

'जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त प्राणी तथा पदार्थ है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग अर्थात् सामर्थ्य) के अंशसे उत्पन्न हुई समझो।'

गुरु-विषयक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—गुरुके बिना उद्धार कैसे होगा; क्योंकि रामायणमें आया है—'*गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई*' (मानस, उत्तर० ९३। ३)?

उत्तर—उसी रामायणमें यह भी आया है—

गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

(मानस, उत्तर० ९९। ३-४)

तात्पर्य हुआ कि बनावटी गुरुसे उद्धार नहीं होगा। बनाया हुआ गुरु कुछ काम नहीं करेगा। किसी-न-किसी सन्तकी बात मानेंगे, तभी उद्धार होगा और जिसकी बात माननेसे उद्धार होगा, वही हमारा गुरु होगा। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें दत्तात्रेयजीने अपने चौबीस गुरुओंका वर्णन किया है। तात्पर्य है कि मनुष्य किसीसे भी शिक्षा लेकर अपना उद्धार कर सकता है। अतः गुरु बनानेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत शिक्षा लेनेकी जरूरत है। जिसकी शिक्षा लेनेसे, जिसकी बात माननेसे हमारा उद्धार हो जाय, वह बिना गुरु बनाये भी गुरु हो गया। अगर बात न मानें तो गुरु बनानेपर भी कल्याण नहीं होगा, उलटे पाप होगा, अपराध होगा।

आजकल एक साथ कई लोगोंको दीक्षा दे देते हैं और सामूहिक रूपसे सबको अपना चेला बना लेते हैं। न तो गुरुमें चेलोंके कल्याणकी चिन्ता होती है और न चेलोंमें ही अपने कल्याणकी लगन होती है। गुरु चेलोंका कल्याण कर सकता नहीं और चेले दूसरी जगह जा सकते नहीं। अतः चेले बनाकर उलटे उन लोगोंके कल्याणमें बाधा लगा दी!

प्रश्न—यह बात प्रचलित है कि निगुरेका कल्याण नहीं होता। अतः गुरु बनाना आवश्यक हुआ?

उत्तर—जिसको अच्छाई-बुराईका ज्ञान है, वह निगुरा कैसे हुआ? अच्छाई-बुराईका ज्ञान (विवेक) सबमें है। भगवान्‌का नाम लेना चाहिये, उनका स्मरण करना चाहिये, किसीको भी दुःख नहीं देना चाहिये आदि बातें सब जानते हैं। इन बातोंका ज्ञान उनको जिससे हुआ, वह गुरु हो गया, चाहे उसको जानें या न जानें, मानें या न मानें।

जिसने गुरु तो बना लिया, पर उनकी बात नहीं मानी, वही निगुरा होता है। उसको अपराध लगता है। जिसने गुरु बनाया ही नहीं, उसको अपराध कैसे लगेगा?

गुरु बनानेसे कल्याण हो ही जायगा—ऐसा कोई विधान नहीं है। कल्याण अपनी लगनसे होता है, गुरु बनानेसे नहीं।

भगवान् जगत्‌के गुरु हैं—'**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।**' आप जगत्‌से बाहर नहीं हैं, फिर आप निगुरे कैसे हुए? इसलिये अच्छे महात्माओंका सत्संग करो और उनकी बातोंको काममें लाओ। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ना ठीक नहीं है। वास्तवमें जो जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महात्मा होते हैं, वे कल्याणकी बात तो बताते हैं, पर चेला नहीं बनाते। उनको गुरु बनाये बिना उनकी जितनी बातें मानोगे, उतना लाभ तो अवश्य होगा ही, और किसी बातको नहीं मानोगे तो पाप नहीं लगेगा। परन्तु गुरु बनानेपर बात नहीं मानोगे तो पाप ही नहीं, अपराध लगेगा।

प्रश्न—कहते हैं कि गुरुसे मन्त्र लेनेसे उस मन्त्रमें शक्ति आती है?

उत्तर—मन्त्र देनेवालेमें शक्ति होगी, तभी तो उसके दिये मन्त्रमें शक्ति आयेगी। जिसमें खुदमें शक्ति नहीं हो, उसके दिये

मन्त्रमें शक्ति कैसे आयेगी? इसलिये कहा है—

वचन आगले सन्त का, हरिया हस्ती दन्त।
ताख न टूटे भरम का, सैंधे ही बिनु सन्त॥

अर्थात् अनुभवी सन्तका वचन हाथी-दाँतकी तरह होता है, जो अज्ञानरूपी द्वारको तोड़ देता है। हाथी अपने दाँतोंसे किलेका द्वार तोड़ देता है। परन्तु हाथीके बिना केवल उसके दाँतोंसे कोई द्वार तोड़ना चाहे तो नहीं तोड़ सकता। कारण कि वास्तवमें शक्ति हाथीमें है, केवल उसके दाँतोंमें नहीं। ऐसे ही शक्ति सन्तके अनुभवमें है, केवल उसके वचनोंमें नहीं।

आजकल गुरु बननेका, अपने सम्प्रदायकी टोली बनानेका शौक तो है, पर जीवका कल्याण हो जाय—इस तरफ खयाल कम है। अपने सम्प्रदायके अनुसार मन्त्र देनेसे अपनी टोली तो बन जाती है, पर तत्त्वप्राप्तिमें कठिनता होती है। तत्त्वप्राप्ति तब होती है, जब अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और योग्यताके अनुसार साधन किया जाय। सभी उपासनाएँ ठीक हैं, पर जो उपासना स्वाभाविक होती है, वह असली होती है और जो की जाती है, वह नकली होती है। आजकल साधन करनेवालोंके सामने बड़ी उलझन आ रही है। गुरुजीने कृष्ण-मन्त्र दे दिया, पर हमारा मन लगता है राम-मन्त्रमें, अब क्या करें? इस विषयमें मेरी प्रार्थना है कि अगर आपकी रुचि, श्रद्धा-विश्वास राम-मन्त्रमें है तो राम-मन्त्रका ही जप करना चाहिये। गुरुजीने दूसरा मन्त्र बताया है तो एक माला उसकी जप सकते हैं, पर अन्य समय अपनी रुचिवाला मन्त्र ही जपना चाहिये। उपासना वही सिद्ध होती है, जिसमें स्वतः-स्वाभाविक रुचि होती है। ऊपरसे भरी हुई उपासना जल्दी सिद्ध नहीं होती।

जिस मन्त्रमें आपका श्रद्धाभाव अधिक होगा, उस मन्त्रमें स्वतः शक्ति आ जायगी। कारण कि मूलमें शक्ति परमात्माकी है, किसी व्यक्तिकी नहीं। अगस्त्य, विश्वामित्र आदि बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंमें जो शक्ति थी, वह उनको गुरुसे प्राप्त नहीं हुई थी, प्रत्युत अपनी तपस्या आदिके कारण भगवान्‌से प्राप्त हुई थी। भगवान्‌की शक्ति सर्वत्र है, नित्य है और सबके लिये है। उसमें किसीका पक्षपात नहीं है, जो चाहे, उस शक्तिको प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—गुरुके बिना कुण्डलिनी कैसे जगेगी?

उत्तर—कुण्डलिनी जगनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, कल्याण नहीं होता, किसी सोयी हुई सर्पिणीको छेड़ दो तो क्या मुक्ति हो जायगी? श्रीशरणानन्दजी महाराजसे किसीने पूछा कि कुण्डलिनीके विषयमें आप क्या जानते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि हम यह जानते हैं कि कुण्डलिनीके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। कुण्डलिनी सोती रहे अथवा जाग जाय, उससे हमारा क्या मतलब? कुण्डलिनी शरीरमें है, स्वरूपमें नहीं। अतः कुण्डलिनीके जगनेसे साधक शरीरसे अतीत कैसे होगा? शरीरसे अतीत हुए बिना कल्याण कैसे होगा? कल्याण तो शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होता है।

प्रश्न—कई लोगोंको गुरुके द्वारा कुण्डलिनी-जागरण आदिकी अलौकिक अनुभूतियाँ होती हैं, वह क्या है?

उत्तर—वह चमत्कार तो होता है, पर उससे कल्याण नहीं होता। कल्याण तो जड़ता (शरीर-संसार) से ऊँचा उठनेपर ही होता है।

प्रश्न—हमने गुरुसे कण्ठी तो ले ली, पर अब उनमें श्रद्धा नहीं रही तो क्या कण्ठी उनको वापिस कर दें?

उत्तर—कण्ठी वापिस करनेके लिये मैं कभी नहीं कहता। मैं यही सम्मति देता हूँ कि रोजाना एक माला गुरु-मन्त्रकी फेर लो और बाकी समय जिसमें श्रद्धा हो, उस मन्त्रका जप करो और सत्संग-स्वाध्याय करो।

प्रश्न—पहले गुरु बना लिया, पर अब उनमें श्रद्धा नहीं रही तो उनका त्याग करनेसे पाप तो नहीं लगेगा?

उत्तर—जब आपके मनमें गुरुको छोड़नेकी इच्छा हो गयी, उनसे श्रद्धा हट गयी तो गुरुका त्याग हो ही गया। इसलिये उस गुरुकी निन्दा भी मत करो और उसके साथ सम्बन्ध भी मत रखो।

जिसमें रुपयोंका लोभ हो, स्त्रियोंमें मोह हो, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान न हो, खराब रास्तेपर चलता हो, ऐसे गुरुका त्याग करनेमें कोई पाप, दोष नहीं लगता। शास्त्रोंमें ऐसे गुरुका त्याग करनेकी बात आती है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥*

(महाभारत, उद्योग० १७८। ४८)

'यदि गुरु भी घमण्डमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसका भी त्याग कर देनेका विधान है।'

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विकल्पकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परशान्तिं करोति किम्॥

(सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, गुरुगीता)

'ज्ञानरहित, मिथ्यावादी और भ्रम पैदा करनेवाले गुरुका त्याग

---

* यह श्लोक किञ्चित् पाठभेदके साथ वाल्मीकिरामायण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण आदिमें भी आया है।

कर देना चाहिये; क्योंकि जो खुद शान्ति नहीं प्राप्त कर सका, वह दूसरोंको शान्ति कैसे देगा?'

पतिता गुरवस्त्याज्या माता च न कथञ्चन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

(स्कन्दपुराण, मा० कौ० ६। ७; मत्स्यपुराण २२७। १५०)

'पतित गुरु भी त्याज्य है, पर माता किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं है। गर्भकालमें धारण-पोषण करनेके कारण माताका गौरव गुरुजनोंसे भी अधिक है।'

***प्रश्न*—क्या स्त्री किसीको गुरु बना सकती है?**

उत्तर—स्त्रीको कोई गुरु नहीं बनाना चाहिये। अगर बनाया हो तो छोड़ देना चाहिये। स्त्रीका पति ही उसका गुरु है। शास्त्रमें आया है—

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः॥

(पद्मपुराण स्वर्ग० ५१। ५१, ब्रह्मपुराण ८०। ४७)

'अग्नि द्विजातियोंका गुरु है, ब्राह्मण चारों वर्णोंका गुरु है, एकमात्र पति ही स्त्रियोंका गुरु है और अतिथि सबका गुरु है।'

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनुस्मृति २। ६७)

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वैदिक-संस्कार (यज्ञोपवीत), पतिकी सेवा ही गुरुकुलवास और गृह-कार्य ही अग्निहोत्र कहा गया है।'

स्त्रीको पतिके सिवाय किसी भी पुरुषसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। स्त्रियोंसे प्रार्थना है कि वे कभी

किसी साधुके फेरमें न पड़ें। आजकल बहुत ठगी, दम्भ, पाखण्ड हो रहा है। मेरे पास ऐसे पत्र भी आते हैं और भुक्तभोगी स्त्रियाँ भी आकर अपनी बात सुनाती हैं, जिससे ऐसा लगता है कि वर्तमान समयमें स्त्रीके लिये गुरु बनाना अर्थात् किसी भी परपुरुषसे सम्बन्ध जोड़ना अनर्थका मूल है।

साधुको भी चाहिये कि वह किसी स्त्रीको चेली न बनाये। दीक्षा देते समय गुरुको शिष्यके हृदय आदिका स्पर्श करना पड़ता है, जबकि संन्यासीके लिये स्त्रीके स्पर्शका कड़ा निषेध है। श्रीमद्भागवतमें आया है कि हाड़-मांसमय शरीरवाली स्त्रीका तो कहना ही क्या है, लकड़ीकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करे और हाथसे स्पर्श करना तो दूर रहा, पैरसे भी स्पर्श न करे—

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।

(श्रीमद्भा० ११। ८। १३)

शास्त्रमें यहाँतक कहा गया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २। २१५)

'मनुष्यको चाहिये कि अपनी माता, बहन अथवा पुत्रीके साथ भी कभी एकान्तमें न रहे; क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं, वे विद्वान् मनुष्यको भी अपनी तरफ खींच लेती हैं।'

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥

(श्रीमद्भा० ३। ३१। ३९)

'जो पुरुष योगके परम पदपर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवाके प्रभावसे आत्मा-अनात्माका विवेक हो गया हो, वह स्त्रियोंका संग कभी न करे; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुषके लिये नरकका खुला द्वार बताया गया है।'

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरे॥

(भर्तृहरिशतक)

'जो वायु-भक्षण करके, जल पीकर और सूखे पत्ते खाकर रहते थे, वे विश्वामित्र, पराशर आदि भी स्त्रियोंके सुन्दर मुखको देखकर मोहको प्राप्त हो गये, फिर जो लोग शाली धान्य (सांठी चावल) को घी, दूध और दहीके साथ खाते हैं, वे यदि अपनी इन्द्रियका निग्रह कर सकें तो मानो विन्ध्याचल पर्वत समुद्रपर तैरने लगा!'

ऐसी स्थितिमें जो जवान स्त्रियोंको अपनी चेली बनाते हैं, उनको अपने आश्रममें रखते हैं, उनका स्वप्नमें भी कल्याण हो जायगा—यह बात मेरेको जँचती नहीं! फिर उनके द्वारा आपका भला कैसे हो जायगा? केवल धोखा ही होगा।

***प्रश्न*—**ऐसा कहते हैं कि जीवन्मुक्त महात्मा भोग भी भोगे तो उसको दोष नहीं लगता। क्या यह ठीक है?

उत्तर—ऐसा सम्भव ही नहीं है। जीवन्मुक्त भी हो जाय और भोग भी भोगता रहे—यह सर्वथा असम्भव बात है। भोग तो साधनकालमें ही छूट जाते हैं, फिर सिद्ध पुरुषको भोग भोगनेकी जरूरत भी क्यों पड़ेगी? ऐसी बातें दम्भी-पाखण्डी लोग ही

अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये फैलाते हैं। इसलिये रामायणमें आया है—

मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥

(मानस, उत्तर० ९८। २, ४)

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥

(मानस, उत्तर० १००। १)

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचि भक्षणे॥

'यदि अद्वैत तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी यथेच्छाचार बना रहा तो फिर अशुद्ध वस्तु (मांस-मदिरा आदि) खानेमें यथेच्छाचारी तत्त्वज्ञ और कुत्तेमें भेद ही क्या रह गया?'

यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम्।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

(स्कन्दपुराण, काशी० पू० ४०। १०७)

'जो संन्यास लेनेके बाद पुनः स्त्रीसंग करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।'

भोगोंका कारण कामना है और कामनाका सर्वथा नाश होनेपर ही जीवन्मुक्ति होती है। भोगोंकी कामना तो साधककी भी आरम्भमें ही मिट जाती है। अगर किसी ग्रन्थमें ऐसी बात आयी हो कि जीवन्मुक्त भोग भी भोगे तो उसको दोष नहीं लगता, तो यह बात उसकी महिमा बतानेके लिये है, विधि नहीं है। इसका तात्पर्य भोग भोगनेमें नहीं है। जैसे, गीतामें जीवन्मुक्तके लिये आया है कि 'जिसका अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि

लिप्त नहीं होती, वह इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है'* तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन्मुक्त महात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंको मार देता है!

प्रश्न—गुरु बनानेसे वे शक्तिपात करेंगे; अतः गुरु बनाना जरूरी हुआ?

उत्तर—शक्तिपात कोई तमाशा नहीं है। वर्तमानमें शक्तिपातकी बात देखनेको तो दूर रही, पढ़नेको भी प्रायः मिलती नहीं! एक सन्त थे। उनके पीछे एक आदमी पड़ा कि शक्तिपात कर दो। वे सन्त बोले कि शक्तिपात कोई मामूली चीज नहीं है; उसको तुम सह नहीं सकोगे, मर जाओगे। वह पीछे पड़ा रहा कि महाराज, किसी तरह कर दो। सन्तने शक्तिपातका थोड़ा-सा असर डाला तो वह आदमी घबरा गया और चिल्लाने लगा कि मेरे स्त्री-पुत्र, माँ-बाप सब मिट गये! संसार सब मिट गया! मैं कहाँ जाऊँगा? मेरेको बचाओ! तात्पर्य है कि शक्तिपात करनेवाला भी मामूली नहीं होता और उसको सहनेवाला भी मामूली नहीं होता।

प्रश्न—चेला इसलिये बनाते हैं कि कोई ईसाई या मुसलमान न बने; अतः चेला बनानेमें क्या दोष है?

उत्तर—यह बिलकुल झूठी बात है! जो ईसाई या मुसलमान बनना चाहते हैं वे गुरुके पास आयेंगे ही नहीं! अगर चेला न बनानेके कारण कोई ईसाई या मुसलमान बन जाय तो गुरुको दोष नहीं लगेगा। परन्तु उसने चेला बनाकर उसको दूसरी जगह जानेसे रोक दिया और खुद उसका कल्याण नहीं कर सका—यह दोष तो उसको लगेगा ही। चेला बननेसे वह भगवान्‌के शरण न

---

* यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८।१७)

होकर गुरुके शरण हो गया, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध न जोड़कर गुरुके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया—यह बड़ा भारी दोष है।

प्रश्न—*'गुरु कीजै जान के, पानी पीजै छान के'* तो गुरुको जाननेका उपाय क्या है? गुरुकी परीक्षा कैसे करें?

उत्तर—गुरुकी परीक्षा आप नहीं कर सकते। अगर आप गुरुकी परीक्षा कर सकें तो आप गुरुके भी गुरु हो गये! जो गुरुकी परीक्षा कर सके, वह क्या गुरुसे छोटा होगा? परीक्षा करनेवाला तो बड़ा होता है। ऐसी स्थितिमें आपको चाहिये कि किसीको गुरु न बनाकर सत्संग-स्वाध्याय करो और उसमें जो अच्छी बातें मिलें, उनको धारण करो। जिनका संग करनेसे परमात्मप्राप्तिकी लगन बढ़ती हो, दुर्गुण-दुराचार स्वतः दूर होते हों और सद्‌गुण-सदाचार स्वतः आते हों, भगवान्‌की विशेष याद आती हो, भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास बढ़ते हों, बिना पूछे ही शंकाओंका समाधान हो जाता हो और जो हमसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखते हों, उन सन्तोंका संग करो। उनसे गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़े बिना उनसे लाभ लो। अगर वहाँ कोई दोष दीखे, कोई गड़बड़ी मालूम दे तो वहाँसे चल दो।

वास्तवमें परीक्षा गुरुकी नहीं होती, प्रत्युत अपनी होती है। इस विषयमें एक कहानी है। एक युवावस्थाके राजा थे। उन्होंने अपने राज्यके बड़े-बूढ़े और समझदार आदमियोंको बुलाया और उनसे पूछा कि आप सच्ची बात बताओ कि मेरे दादाजीका राज्य ठीक हुआ या मेरे पिताजीका राज्य ठीक हुआ अथवा मेरा राज्य ठीक हुआ? आपने तीनोंके राज्य देखें हैं तो किसका राज्य श्रेष्ठ हुआ? यह सुनकर सब चुप हो गये। तब उनमेंसे एक बूढ़ा आदमी बोला कि महाराज! हम आपकी प्रजा हैं, आप हमारे

मालिक हो। आपकी बातका निर्णय हम कैसे करें? हम आपकी परीक्षा नहीं कर सकते, पर मेरी बात पूछें तो मैं अपनी बात बता सकता हूँ। राजाने कहा—अच्छा, तुम अपनी बात बताओ। वह बूढ़ा आदमी बोला कि जब आपके दादाजी राज्य करते थे, उस समय मैं बीस-पचीस वर्षका जवान था। हाथमें लाठी रखता था। कुश्ती करना, लाठी चलाना आदि सब मेरेको आता था। एक दिन मैं कहीं जा रहा था तो जंगलमें मैंने किसीके रोनेकी आवाज सुनी। आवाजसे पता चला कि कोई स्त्री रो रही है; क्योंकि स्त्रीका पंचम स्वर होता है, षड्ज स्वर नहीं होता। मैं उधर गया तो देखा कि अच्छे वस्त्रों एवं गहनोंसे सजी एक स्त्री बैठी रो रही है। मैंने पूछा कि तू रो क्यों रही है? तो वह मेरेको देखकर एकदम डर गयी। मैंने उसको आश्वासन दिया कि बेटी, तुम डरो मत, अपनी बात बताओ। उसने बताया कि मैं अपने सम्बन्धियोंके साथ पीहरसे ससुराल जा रही थी। बीचमें सहसा डाकू आ गये और उनके तथा हमारे साथियोंके बीच लड़ाई छिड़ गयी। मैं डरकर जंगलमें भाग गयी। अब मेरेको पता नहीं कि पीछे क्या हुआ? अब मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? मेरेको पता नहीं कि पीहर किधर है और ससुराल किधर है? मैंने उससे ससुरालका गाँव पूछा तो उसने गाँवका नाम बताया। मैंने कहा कि तेरे ससुरालका गाँव नजदीक ही है, मैं तेरेको पहुँचा दूँगा, डर मत। मैंने उसके ससुरका नाम पूछा तो उसने जमीनपर लिखकर बता दिया। मैंने कहा कि मैं तेरे ससुरको जानता हूँ। मैं पहुँचा दूँगा।

रात्रिका समय था। मैं उस स्त्रीको लेकर उसके ससुरके घर पहुँचा। वहाँ सब चिन्ता कर रहे थे कि हम तो डाकुओंके साथ लड़ाईमें लग गये, उन्होंने हमारी बहूको मार डाला होगा! उसका

हजारों रुपयोंका गहना था, उसको लूट लिया होगा! अब उसका पता कैसे मिले? आदि-आदि। अपनी बहूको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उस स्त्रीने भी घरकी स्त्रियोंसे कहा कि ये पिताकी तरह बड़े स्नेहपूर्वक, आदरपूर्वक मेरेको यहाँ लाये हैं। उन्होंने मेरेसे चार-पाँच सौ रुपये लेनेके लिये आग्रह किया तो मैंने कहा कि रुपयोंके लिये मैंने काम नहीं किया है, कोई मजदूरी नहीं की है, मैंने तो अपना कर्तव्य समझकर काम किया है। उनके बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने कुछ लिया नहीं और चला गया। मेरे चित्तमें बड़ी प्रसन्नता रही कि आज मेरेसे एक अबलाकी सेवा बन गयी! यह उस समयकी बात है, जब आपके दादाजी राज्य करते थे।

बहुत समय बीतनेपर मेरे व्यापारमें घाटा लग गया और पैसोंकी बड़ी तंगी हो गयी। तब मेरे मनमें विचार आया कि मैंने बड़ी गलती की कि उस स्त्रीको छोड़ दिया! अगर मैं उसको एक थप्पड़ लगाता तो दस-पन्द्रह हजारका गहना मिल जाता। फिर आज यह तंगी नहीं भोगनी पड़ती। उसके ससुरने रुपये दिये, पर वे भी मैंने नहीं लिये। पर अब क्या हो, बात हाथसे निकल गयी! यह उस समयकी बात है, जब आपके पिताजीका राज्य था। अब तो महाराज! आपके सामने कहनेसे मेरेको शर्म आती है; क्योंकि आप मेरे पोतेकी तरह हो। पर आप पूछते हो तो कहता हूँ। अब मेरे मनमें आती है कि उस स्त्रीको डरा-धमकाकर अथवा फुसलाकर अपनी स्त्री बना लेता तो स्त्री भी आ जाती और गहना भी आ जाता! आज इस अवस्थामें दोनों मेरे काम आते। मैंने अपनी बात कह दी। आपका राज्य कैसा है—यह मैं कैसे कहूँ? राजा समझ गया कि यह बूढ़ा बहुत बुद्धिमान है! अपनी दशा

कहकर बता दिया कि जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है—'*यथा राजा तथा प्रजा।*'

तात्पर्य है कि हम गुरुकी परीक्षा तो नहीं कर सकते, पर अपनी परीक्षा कर सकते हैं कि उनका संग करनेसे हमारे भावोंपर क्या असर पड़ा? हमारे आचरणोंपर क्या असर पड़ा? हमारे जीवनपर क्या असर पड़ा? हमारे राग-द्वेष, काम-क्रोध कितने कम हुए?

प्रश्न—इतिहासमें ऐसे उदाहरण भी आते हैं, जिनसे गुरु बनाना अनिवार्य सिद्ध होता है?

उत्तर—इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। इतिहासकी बात ठोस नहीं होती, पोली होती है। कारण कि किस व्यक्तिने पूर्वके किस सम्बन्धसे और किस परिस्थितिमें क्या किया और क्यों किया—इसका पूरा पता नहीं चल सकता। इसलिये इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्गदर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय शास्त्रके विधि-निषेधसे ही हो सकता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है।

गुरु-सम्बन्धी अधिकतर बातोंका प्रचार उन्हीं लोगोंने किया है, जिनको गुरु बननेका शौक है। अतः वर्तमान कलियुगमें विशेष सावधानीकी जरूरत है।

संन्यासी साधकों और कीर्तनकारोंसे नम्र निवेदन

[यह लेख बहुत पहले 'कल्याण' के ९ वें वर्षमें (संवत् १९९१, सन् १९३४ में) प्रकाशित हुआ था। वर्तमान समयमें इसकी विशेष उपयोगिता देखते हुए इसे यहाँ दिया जा रहा है।]

श्रीपरमात्मदेव तथा उनके भक्तोंकी कृपा और आज्ञासे आज मैं यहाँ संन्यासी साधकोंके आचरण और कीर्तनके सम्बन्धमें उन भावोंको लिखनेकी चेष्टा करता हूँ जो मुझे प्रिय लगते हैं। यद्यपि मैं अपनेको लिखने और इस तरह उपदेश-आदेश देनेका किसी तरह भी अधिकारी नहीं मानता, और न मुझसे ऐसे आचरण पूरी तौरसे बनते ही हैं, तथापि मुझको ऐसे शास्त्रीय तथा संतोंके आदरणीय आचार-विचार कुछ प्रिय मालूम होते हैं, इसीलिये ऐसी चर्चामें समय बिताना अपना अहोभाग्य समझकर कुछ प्रयास कर रहा हूँ। आशा करता हूँ, मेरे अन्यान्य साधक भाई भी ऐसे विचार यदा-कदा प्रकट करेंगे; क्योंकि ऐसा करनेसे मुझ-सरीखे लोगोंको उनके विचार पढ़नेको मिलेंगे और उन भाइयोंका भी कुछ समय सच्चर्चामें बीतेगा। संत-महात्मा तथा शास्त्रोंके वचनोंके अनुसार सत्संगमें सुने हुए और ग्रन्थोंमें पढ़े हुए जो कुछ विचार मैं यहाँ लिखता हूँ, उनमें यदि कोई बात अनुचित हो तो

विज्ञ महानुभाव अपना ही बालक समझकर मुझे क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

साधकको हर्ष, शोक, काम, क्रोध आदिसे अलग रहनेकी पूरी कोशिश करनी चाहिये। कम-से-कम इनके वशीभूत तो कभी नहीं होना चाहिये। उसमें भी मुझ-जैसोंको तो राग-द्वेषस्वरूप कामिनी और काञ्चनसे उसी तरह डरना चाहिये जैसे साधारण लोग भूत, प्रेत, सर्प, व्याघ्रादिसे डरते हैं और यह समझना चाहिये कि जिस क्षण कामिनी-काञ्चनमें संन्यासी साधककी आसक्ति हुई कि बस, उसी क्षण उसका पतन हो गया।

यह कभी नहीं समझना चाहिये कि राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि अन्तःकरणके धर्म हैं। ये धर्म नहीं हैं, विकार हैं। जो इनको अन्तःकरणके धर्म समझ लेता है वह शरीर-नाश होनेतक अन्तःकरण रहनेके कारण इनका भी रहना अनिवार्य मानता है; फलतः वह अपनेको ज्ञानी मानकर भी ऐसा समझ लेता है कि राग-द्वेष, काम-क्रोधादि तो जबतक अन्तःकरण है तबतक रहेंगे ही, मेरा इनसे क्या सम्बन्ध है? वास्तवमें ऐसा समझना भ्रम ही है। जो ऐसा समझता है और राग-द्वेष, काम-क्रोध आदिसे बचनेकी कोशिश नहीं करता, वह ज्ञानी तो दूर रहा, अच्छा साधक भी नहीं है।

यह निश्चय समझ रखना चाहिये कि सच्चे ज्ञानीमें वस्तुतः काम-क्रोध आदि दोष रहते ही नहीं। जिसे खूब अच्छा बोलना आता है, जो शास्त्रवाक्योंद्वारा ब्रह्मका सुन्दर निरूपण कर सकता है अथवा जो ज्ञानपर अच्छे-अच्छे तर्कप्रधान निबन्ध लिख सकता है, वह ज्ञानी ही है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। ये सब बातें तो ग्रन्थोंके पढ़नेसे हो सकती हैं। नाटकमें भी शुकदेवका पार्ट किया

जा सकता है। ज्ञानी तो वह है जो अज्ञानके समुद्रसे सर्वथा तर गया। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अज्ञानमें ही हैं। ज्ञानमें तो इनका लेश भी नहीं।

जो लोग वास्तविक ब्राह्मी स्थितितक पहुँचनेसे पहले ही केवल पुस्तकीय ज्ञानके आधारपर अपनेको ज्ञानी मान बैठते हैं और विधि-निषेधसे मुक्त समझकर साधन छोड़ बैठते हैं, वे प्राय: गिर ही जाते हैं। क्योंकि जबतक अज्ञान है तबतक इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति है ही, और पाप होनेमें प्रधान कारण भोगोंकी आसक्ति ही है। फिर, जहाँ काम-क्रोधादि ही अन्त:करणके अनिवार्य धर्म मान लिये जायँ, वहाँ तो कहना ही क्या? अतएव मुझ-जैसे साधकोंको तो बड़ी ही सावधानीके साथ दुर्गुणोंसे बचते रहनेका पूरा ध्यान रखना चाहिये। अपनेको राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभादि दोषोंसे हरदम बचाते रहना चाहिये। संन्यासाश्रममें तो साधकको कभी भूलकर भी स्त्री और धनके साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध न जोड़ना चाहिये। इनका संग ही न करना चाहिये। जो सिद्ध महापुरुष हैं, उनमें तो कोई ऐसा दोष रह ही नहीं सकता।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ढोंगी ज्ञानीकी अपेक्षा अज्ञानी रहना अच्छा है; उसको पापोंसे डर तो रहता है। ढोंगी तो जान-बूझकर ढोंगकी रक्षाके लिये भी पाप करता है। अतएव ढोंगको कभी कल्पनामें भी न आने देना चाहिये; सच्चा संन्यासी बनना चाहिये। और—

यावदायुस्त्वया वन्द्यो वेदान्तो गुरुरीश्वर:।
मनसा कर्मणा वाचा श्रुतेरेवैष निश्चय:॥

(तत्त्वोपदेश ८६)

—आचार्यचरणोंकी इस उक्तिके अनुसार शास्त्रकी विधिको सर्वदा मानते रहना चाहिये। संन्यासीके पालन करनेयोग्य कुछ धर्म ये हैं—गृहस्थोंका संग न करे। स्त्रीकी तो तस्वीर भी न देखे। धनका स्पर्श न करे। किसीके साथ कोई नाता न जोड़े। किसी भी विषयमें ममत्व न करे। मान-बड़ाई स्वीकार न करे। वैराग्यकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करे। इन्द्रियोंको संयममें रखे। वस्तुओंका संग्रह न करे। जमात न बनावे। घर न बाँधे। व्यर्थ न बोले। ब्रह्मचर्य धारण करे। काम-क्रोध-लोभादिसे सदा मुक्त रहे। किसीसे द्वेष न करे। किसीमें राग न करे। नित्य आत्मचिन्तन या भगवत्स्मरणमें ही लगा रहे।

जो संन्यासी अपने इस संन्यास-धर्मका पालन नहीं करता वह प्राय: गिर जाता है। अतएव अपने आश्रमधर्मका पूरा पालन करना चाहिये। विधि-निषेधसे परे पहुँचे हुए महापुरुषोंके द्वारा भी लोकसंग्रहार्थ आदर्श शुभ कर्म ही हुआ करते हैं।

अगर भक्त बननेकी चाह हो तो भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌का सतत भजन करते रहना चाहिये। धन, मान, बड़ाई आदिकी चाहको मनमें न आने देना चाहिये। लोग भक्त समझें या कहें, इस बातकी परवा छोड़ ही देनी चाहिये। भगवान्‌का नाम और गुणकीर्तन प्रेमसे करते रहना चाहिये। जहाँतक बने, अपनी भक्तिको प्रकट नहीं होने देना चाहिये। लोग हमारी पूजा करें, हमारा सम्मान करें, ऐसा अवसर ही नहीं आने देना चाहिये। मान-बड़ाईसे सदा सावधानीसे बचते रहना चाहिये। स्त्रीका और स्त्रीसंगियोंका संग तो कभी नहीं करना चाहिये। धनका लोभ मनमें न आने देना चाहिये। प्रतिष्ठाको तो शूकरीविष्ठा ही समझना चाहिये।

कीर्तन करना चाहिये, खूब कीर्तन करना चाहिये; परंतु करना चाहिये श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ, लोकरञ्जनके लिये नहीं। लोकरञ्जनका कीर्तन बाह्य हो जायगा। कीर्तन करनेवालेके मनमें यह दृढ़ भाव निश्चयरूपसे होना चाहिये कि मेरे भगवान् निश्चय ही यहाँ मौजूद हैं और मैं उन्हींके सामने उन्हींके प्रीत्यर्थ उनके नाम-गुण गा रहा हूँ। भगवान्‌के नाम-गुणोंके अर्थका चिन्तन करते हुए—भगवान्‌का ध्यान करते हुए कीर्तनमें मस्त होना चाहिये। यदि ऐसा भाव न हो तो इस प्रकारका अभ्यास ही करना चाहिये। परंतु ऐसा कभी न सोचना चाहिये कि मेरे इस कीर्तनसे लोगोंको—देखने-सुननेवालोंको प्रसन्नता हुई या नहीं, उनका मन मेरी ओर आकर्षित हुआ या नहीं। भगवान्‌के नाममें श्रद्धा कीजिये, प्रेम कीजिये और श्रद्धा तथा प्रेममें सानकर ही भगवान्‌के नामका उच्चारण कीजिये। फिर आपके मुखसे निकला हुआ एक ही नाम चमत्कार उत्पन्न कर देगा। श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके श्रीमुखसे निकला हुआ एक ही नाम सुननेवालेको पागल कर देता था; क्योंकि उस नामके साथ श्रीचैतन्यकी प्रेमशक्ति भरी रहती थी।

एक बात और याद रखनी चाहिये। भगवान्‌का कीर्तन करनेवालोंको सदाचारी होना ही चाहिये, दैवी सम्पत्तिवान् बनना ही चाहिये। जो भगवान्‌का नाम लेकर नाचता-गाता है, परंतु जिसके आचरण शुद्ध नहीं हैं, उससे जनतापर अच्छा असर नहीं पड़ता। लोग उसको आदर्श मानकर आचरणोंकी ओर ध्यान नहीं देते, जिससे दूसरे लोगोंको कीर्तन तथा कीर्तन करनेवालोंपर, यहाँतक कि उनके कीर्तनीय भगवान्‌पर भी आक्षेप करनेका अवसर मिल जाता है। अतएव हमें अपनी जिम्मेवारी समझनी

चाहिये। कहीं हमारे आचरणसे पवित्र संकीर्तन और हमारे भगवान्‌पर कोई कलंक न लगाने पाये। वास्तवमें पवित्र संकीर्तन और भगवान्‌पर तो कलंक लग ही नहीं सकता; तथापि कहनेके लिये भी हमारे दोषसे ऐसा क्यों होना चाहिये?

आचरण शुद्ध नहीं है तो भी कीर्तन करना चाहिये, परंतु एकान्तमें। आचरणोंकी शुद्धिके लिये भगवान्‌के सामने रोना चाहिये। भगवान्‌से भीख माँगनी चाहिये। परंतु सावधान! संकीर्तनके नामपर दुराचरणको कभी छिपाना नहीं चाहिये और दुराचारका समर्थन तो किसी भी हालतमें नहीं करना चाहिये।

संकीर्तनके नामपर वर्ण और आश्रमके कर्मोंकी अवहेलना या उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। स्वधर्मको पालते हुए ही कीर्तन करना चाहिये। ज्ञानकी, वैराग्यकी, सदाचारकी, वर्णाश्रमधर्मकी और संध्या-गायत्रीकी संकीर्तनके नामपर कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये; बल्कि इनको अवश्यपालनीय समझना चाहिये, इन सबका आदर करना चाहिये और यथायोग्य शास्त्रविधानके अनुसार पालन करना चाहिये।

संकीर्तनके नामपर पक्षपात या भगवान्‌के नामोंमें ऊँच-नीच-बुद्धि और दलबंदी नहीं करनी चाहिये। संकीर्तनका संगठन अवश्य करना चाहिये, परंतु दलबंदी नहीं। सरल पवित्र निष्कपट निष्काम अनन्य प्रेमभावसे भगवान्‌के पवित्र नामोंको स्वयं गाना चाहिये और दूसरोंको ऐसा करनेके लिये प्रेरणा करनी चाहिये। परंतु यथासाध्य उपदेशक, नेता अथवा आचार्य नहीं बनना चाहिये। पूजा, सत्कार, मान, बड़ाई आदिसे सदा अपनेको बचाते रहना चाहिये। धन और स्त्रीके लालचमें तो कभी पड़ना ही नहीं चाहिये।

संकीर्तनके समय मुक्तकण्ठसे भगवान्‌के नामोंका घोष करना चाहिये। ज्ञान, विद्वत्ता, पद, धन आदिके अभिमानमें चुप नहीं बैठ रहना चाहिये। खड़ा कीर्तन होता हो तो संकोच छोड़कर खड़े हो जाना चाहिये। कहीं हमारे किसी आचरणसे भगवन्नामसंकीर्तनका अपमान न हो जाय। परंतु नाचना चाहिये प्रेमावेश होनेपर ही, लोग-दिखाऊ नहीं। कलाका नृत्य दूसरी चीज है एवं प्रेममय भगवन्नामकीर्तनका दूसरी।

याद रखना चाहिये, भगवन्नामकीर्तन बहुत ही आदरणीय और ऊँचा साधन है। इसका ऊँची-से-ऊँची भावनासे साधन करना चाहिये; ऊँचे-से-ऊँचे आचरणोंसे युक्त होकर कीर्तन करना चाहिये। पवित्र पुरुषोंद्वारा किये हुए भगवन्नामकीर्तनकी ध्वनि जहाँतक पहुँचेगी वहाँतकके समस्त जीवोंका अनायास ही कल्याण हो सकता है।

—स्वामी रामसुखदास

॥ श्री राम ॥ 1175

प्रश्नोत्तरमणिमाला

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

प्राक्कथन

कृष्णो रक्षतु नो जगत्त्रयगुरुः कृष्णं नमस्याम्यहं
कृष्णेनामरशत्रवो विनिहताः कृष्णाय तस्मै नमः।
कृष्णादेव समुत्थितं जगदिदं कृष्णस्य दासोस्म्यहं
कृष्णे तिष्ठति सर्वमेतदखिलं हे कृष्ण संरक्ष माम्॥

(मुकुन्दमालास्तोत्र)

प्रश्नोत्तरकी परम्परा सृष्टिके आरम्भसे ही चली आ रही है। सृष्टिके आदिकालमें जब ब्रह्माजी उत्पन्न हुए तो उनके भीतर भी सर्वप्रथम यह प्रश्न प्रस्फुटित हुआ—'क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु' (श्रीमद्भा० ३।८।१८) 'इस कमलकी कर्णिकापर बैठा हुआ मैं कौन हूँ? यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके जलमें कहाँसे उत्पन्न हो गया?' ('मैं' कौन हूँ और 'यह' क्या है?) इसे सृष्टिका आदिप्रश्न कहें तो अत्युक्ति न होगी! प्रबुद्ध जिज्ञासुओंके प्रश्नोंके उत्तरमें अबतक न जाने कितने ग्रन्थोंकी रचना हो चुकी है! जगन्माता पार्वतीके प्रश्न और आशुतोष भगवान् शंकरके उत्तरके फलस्वरूप जगत्‌में विविध लौकिक एवं अलौकिक विद्याओंका प्राकट्य हुआ है, विविध शास्त्रोंकी रचना हुई है। शौनकादि ऋषियोंके प्रश्न और सूतजीके उत्तरसे अठारह पुराण बन गये! केनोपनिषद् और प्रश्नोपनिषद्—इन दो उपनिषदोंकी रचना प्रश्नोंको लेकर ही हुई है। श्रीमदाद्यशंकराचार्यजीके द्वारा रचित 'प्रश्नोत्तरी' प्रसिद्ध ही है।

सामान्यतः बाल्यावस्थासे ही बालकके जिज्ञासु हृदयमें प्रश्न प्रस्फुटित होने लगते हैं। परन्तु जब मनुष्य पारमार्थिक पथपर अपने पग रखता है, तब उसके भीतर प्रश्नोंका एक विशेष सिलसिला शुरू हो जाता है और वह ढूँढ़ने लगता है ऐसे सन्त या गुरुको, जो उसके प्रश्नोंका समुचित उत्तर देकर उसका सही मार्गदर्शन कर सके। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उस तत्त्वज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर समझ। उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुष तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

'ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' कहनेका तात्पर्य है कि साधकके प्रश्नोंका समुचित उत्तर वही महापुरुष दे सकता है, जिसे शास्त्रोंका ज्ञान भी हो और तत्त्वका अनुभव भी हो। कारण कि केवल शास्त्रज्ञान हो, तत्त्वका अनुभव न हो तो उसकी बातें वैसी ठोस नहीं होंगी, जिससे साधकको बोध हो जाय। अगर तत्त्वका अनुभव हो, पर शास्त्रज्ञान न हो तो वह साधककी विविध शंकाओंका सप्रमाण समाधान नहीं

कर पायेगा। परन्तु ऐसा महापुरुष बहुत दुर्लभ होता है। इसीलिये अखिल-सौन्दर्यमाधुर्यरसामृतसिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिरको यह कहकर भीष्मपितामहके पास ले गये कि ज्ञानका सूर्य अस्ताचलको जा रहा है अर्थात् पितामह अपना शरीर छोड़कर जानेकी तैयारीमें हैं, इसलिये तुम्हें कोई बात पूछनी हो तो शीघ्र पूछ लो—

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥

(महा० शान्ति० ४६।२३)

साधनमार्गमें प्रश्नोत्तरका बहुत महत्त्व है। बिना प्रश्न किये कोई बात साधकको मिलती है तो उसपर उसका विशेष ध्यान नहीं जाता। पर जब साधक स्वयं प्रश्न करता है, तब उसके उत्तररूपमें जो बात मिलती है, वह साधकके हृदयमें बैठ जाती है। कठिन-से-कठिन आध्यात्मिक विषय भी प्रश्नोत्तरके द्वारा सरल हो जाता है। कोई सच्चा जिज्ञासु हो तो उसके द्वारा प्रश्न करनेपर सन्तोंके हृदयमें नये-नये विलक्षण भाव प्रकट होने लगते हैं। वे भाव केवल प्रश्नकर्ताके लिये ही नहीं, प्रत्युत संसारमात्रके लिये हितकारक होते हैं।

जबतक साधककी दृष्टिमें अन्य (जगत्‌की) सत्ता रहती है, तबतक उसके भीतर प्रश्नोंकी शृंखला चलती रहती है। कारण कि अन्य सत्ता मानकर ही प्रश्नोत्तर अथवा शंका-समाधान होता है—'चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया'। जब उसकी दृष्टिमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कुछ नहीं रहता, तब उसके सम्पूर्ण प्रश्न शान्त हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २।२।८)

'उस परमात्मतत्त्वकी ओर दृष्टि जाते ही हृदयकी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, सब संशय मिट जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

वास्तविक तत्त्व वर्णनातीत है। वहाँ मन-बुद्धि-वाणीकी पहुँच नहीं है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय० २।९), '*मन समेत जेहि जान न बानी*' (मानस, बाल० ३४१।४)। इसलिये सब-का-सब वर्णन (प्रश्नोत्तर आदि) प्रकृतिमें ही होता है और शाखाचन्द्रन्यायसे परमात्मतत्त्वका संकेतमात्र होता है। वर्णनसे बोध नहीं होता, प्रत्युत पढ़ाई होती है। जहाँ वर्णन है, वहाँ तत्त्व नहीं है और जहाँ तत्त्व है, वहाँ वर्णन नहीं है। जो वर्णनमें ही उलझ जाते हैं, उन मनुष्योंको तत्त्व नहीं मिलता। ऐसे मनुष्य वाचक ज्ञानी होते हैं। परन्तु जो सच्चे जिज्ञासु वर्णनमें न उलझकर उसके लक्ष्य (तत्त्व) की ओर दृष्टि रखते हैं, उन्हें वर्णनातीत तत्त्व मिल जाता है।

प्रत्येक साधकमें अपने प्रश्नोंका उत्तर पानेकी विशेष भूख रहती है। साधन करे, पर कोई प्रश्न उत्पन्न न हो—यह असम्भव है। इसलिये जब साधकको कोई अच्छा, सन्तोषजनक उत्तर देनेवाला मिल जाता है, तब वह बहुत उत्साहित हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें आया है, जब उद्धवजीने देखा कि क्षराक्षरातीत भगवान्

श्रीकृष्ण मेरे प्रश्नोंका उत्तर बड़े विलक्षण ढंगसे देते हैं, तब उन्होंने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी और एक साथ ही पैंतीस प्रश्न कर डाले (श्रीमद्भा० ११।१९।२८—३२)! इसी तरहकी बात हमारे परमश्रद्धेयस्वद श्रीस्वामीजी महाराजके विषयमें भी देखनेमें आती है। आप अपने प्रवचनोंमें विविध प्रश्नोंके उत्तर इतनी विलक्षण रीतिसे देते हैं कि श्रोतागण उत्साहित होकर प्रश्नोंकी झड़ी लगा देते हैं। प्रवचनका समय समाप्त हो जाता है, पर श्रोताओंकी ओरसे प्रश्नोंका आना समाप्त नहीं होता। इसमें कारण यह है कि आप प्रश्नोंका उत्तर सिद्धान्तकी दृष्टिसे न देकर प्रश्नकर्ताके भावोंकी दृष्टिसे देते हैं। इसलिये आपकी बात पठित-अपठित प्रत्येक प्रश्नकर्ताको सहज ही हृदयंगम हो जाती है। आप प्रत्येक प्रश्नकर्ताको, चाहे वह किसी भी विषयमें कैसा ही प्रश्न क्यों न करे, अपने उत्तरसे सन्तुष्ट कर देते हैं! आपने लगभग उन्नीस वर्षकी अवस्थासे ही भगवद्भावोंका प्रचार करना तथा साधकोंकी शंकाओंका समाधान करना शुरू कर दिया था और अब छियानबे वर्षकी अवस्था पार करनेपर भी उसी उत्साहसे जगह-जगह जाकर अपने प्रवचनोंमें साधकोंके विविध प्रश्नोंका उत्तर देकर उनका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं!

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजसे मैं अनेक वर्षोंसे समय-समयपर विविध प्रश्न करता आया हूँ। लगभग बीस वर्षोंसे डायरीमें लिपिबद्ध किये हुए उन प्रश्नोत्तरोंमेंसे सर्वोपयोगी पाँच सौ प्रश्न चुनकर यह 'प्रश्नोत्तरमणिमाला' पुस्तक तैयार की गयी है। इनमें कुछ प्रश्न ऐसे भी हैं, जो अन्य व्यक्तियोंके हैं और उपयोगी समझकर इसमें दिये गये हैं। पाठकोंकी सुविधाके लिये प्रश्नोत्तरोंको विषयानुसार वर्णानुक्रमसे विभाजित किया गया है।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजकी अन्य ऐसी कई पुस्तकें गीताप्रेससे प्रकाशित हुई हैं, जो प्रश्नोत्तर-रूपसे लिखी गयी हैं; जैसे—गृहस्थमें कैसे रहें? हम ईश्वरको क्यों मानें? सच्चा गुरु कौन? नामजपकी महिमा, मूर्तिपूजा, दुर्गतिसे बचो, सन्तानका कर्तव्य, आहार-शुद्धि आदि। पाठकोंको इन पुस्तकोंका भी अवश्यमेव अध्ययन करना चाहिये।

पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकमें आयी श्रेष्ठ बातोंको परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजका कृपाप्रसाद मानकर अपने जीवनमें धारण करें और त्रुटियोंको मेरी व्यक्तिगत भूल समझकर कृपापूर्वक क्षमा करें।

संतोंकी उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।
जानूँ उसका भेद भला क्या, मैं अज्ञानी॥

श्रीरामनवमी,
विक्रम-संवत् २०५७

निवेदक—
राजेन्द्र कुमार धवन

॥ श्रीहरि: ॥

अर्पण

प्रश्न—अर्पण करनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—अपनापन छोड़ देना॥ १॥

प्रश्न—भगवान्‌को सर्वस्व अर्पण करनेके बाद क्या पूर्व संस्कारवश निषिद्ध कर्म हो सकता है?

उत्तर—नहीं हो सकता॥ २॥

प्रश्न—क्या भूलवश ऐसा अहंकार हो सकता है कि हमने प्रभुको सर्वस्व अर्पण कर दिया?

उत्तर—नहीं हो सकता। यदि अभिमान होता है तो वास्तवमें पूर्ण समर्पण हुआ ही नहीं। पदार्थोंको भूलसे अपना माना था, वह भूल मिट गयी तो अभिमान कैसा?॥ ३॥

प्रश्न—सर्वस्व अर्पण करनेसे गुणोंके साथ-साथ दोष भी समर्पित हो जायँगे, जैसे मकान बेचनेपर उसमें रहनेवाले साँप-बिच्छू भी उसके साथ चले जाते हैं?

उत्तर—अग्निमें जो भी डाला जाय, वह जलकर अग्निरूप ही हो जाता है। इसीलिये गीतामें आया है—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै:**' (९। २८) 'इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे और शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा।' '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (१८। ६६) 'मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा'॥ ४॥

अवतार

प्रश्न—अंशावतार क्या होता है?

उत्तर—भगवान्‌की शक्ति अनन्त है। उस अनन्त शक्तिका एक अंश आनेसे अंशावतार होता है॥ ५॥

प्रश्न—भिन्न-भिन्न कल्पोंमें भगवान्‌की अवतार-लीलामें वही प्राणी रहते हैं या बदल जाते हैं?

उत्तर—भगवान् आवश्यकता पड़नेपर ही पुन: अवतार लेते हैं, पर उनकी लीलाके प्राणी (पात्र) बदलते रहते हैं। जैसे, रामलीलामें सदा एक ही पात्र काम नहीं करते, बदलते रहते हैं॥ ६॥

प्रश्न—कृष्णावतार सब अवतारोंसे विलक्षण क्यों है?

उत्तर—कृष्णावतारमें प्रेमकी मुख्यता है। अन्य अवतारोंमें भी प्रेमका अभाव नहीं है, पर उनमें प्रेम प्रकट नहीं है॥ ७॥

प्रश्न—एक तो भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं और दूसरा, संसारमें जो हो रहा है, वह सब भगवान्‌की लीला है—दोनोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—अवतारकी लीला एकदेशीय होती है और उसमें भगवान्‌के भावकी मुख्यता है। होनेवाली लीला सर्वदेशीय होती है और उसमें भक्तके भावकी मुख्यता है॥ ८॥

प्रश्न—भगवान् तो युक्तयोगी हैं, फिर अवतारकालमें यह बात क्यों नहीं दीखती? अवतारकालमें वे युञ्जानयोगी क्यों दीखते हैं?*

उत्तर—इसका कारण यह है कि अवतारकालमें भगवान् मनुष्यों-जैसी लीला करते हैं। वे कभी माधुर्यकी लीला करते हैं, कभी ऐश्वर्यकी॥ ९॥

---

* जो साधना करके सिद्ध होते हैं, ऐसे महापुरुष 'युञ्जान योगी' कहलाते हैं। साधनामें अभ्यास करते-करते उनकी वृत्ति इतनी तेज हो जाती है कि वे जहाँ वृत्ति लगाते हैं, वहींका ज्ञान उनको हो जाता है। परन्तु भगवान् 'युक्त योगी' कहलाते हैं। वे साधना किये बिना स्वत:सिद्ध, नित्य योगी हैं। जाननेके लिये उन्हें वृत्ति नहीं लगानी पड़ती, प्रत्युत उनमें सबका ज्ञान स्वत:-स्वाभाविक सदा बना रहता है। वे बिना अभ्यासके सदा सब कुछ जाननेवाले हैं।

अहम्

प्रश्न—अहम्‌को करण भी कहा है और कर्ता भी कहा है। करण कर्ता कैसे हो सकता है?

उत्तर—वास्तवमें अहम् करण है, कर्ता तो हम मान लेते हैं—'**कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)॥ १०॥

प्रश्न—मैंपन भूलसे माना हुआ है तो यह भूल किसमें है?

उत्तर—माननेवालेमें है। जिसने एकदेशीयताको स्वीकार किया है, उसमें है। यह भूल अनादि है, पर इसका अन्त होता है॥ ११॥

प्रश्न—मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार कैसे दूर हों?

उत्तर—मन-बुद्धि-अहम्‌को छेड़ो मत। उनको मत देखो, एक 'है' को देखो। एकदेशीयपना मिट जाय—यह भी मत देखो। कुछ भी मत देखो, चुप हो जाओ, फिर सब स्वतः ठीक हो जायगा। समुद्रमें बर्फके ढेले तैरते हों तो उनको न गलाना है, न रखना है। इसीको सहजावस्था कहते हैं॥ १२॥

प्रश्न—अहम्‌रूपी अणु टूटना कठिन क्यों दीखता है?

उत्तर—संयोगजन्य सुखकी इच्छाके कारण ही अहंता मिटनी कठिन दीखती है। जीते रहें और सुख-सुविधासे रहें—इसपर अहंता टिकी हुई है॥ १३॥

प्रश्न—'मैं ज्ञानी हूँ' और 'मैं भक्त हूँ'—दोनोंमें अहंभाव समान है, फिर फर्क क्या हुआ?

उत्तर—फर्क यह है कि भक्तिमें तो भगवान्‌का सहारा है, पर ज्ञानमें किसका सहारा है? भगवान्‌का सहारा रहनेके कारण भक्तमें कुछ कमी

भी रह जाय, तो भी उसका पतन नहीं होता*॥ १४॥

प्रश्न—बिना अहंकारके निषिद्ध कर्म हो जाय और अहंकारपूर्वक शुभ कर्म हो जाय तो दोनोंमें क्या ठीक है?

उत्तर—अहंकाररहित होनेपर तो कोई भी कर्म लागू नहीं होता†, पर अहंकारके रहते हुए शुभकर्म भी बन्धनकारक हो जाता है॥ १५॥

---

* बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥ (श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय उसे बार-बार बाधा पहुँचाते रहते हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं, वह भी प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

† यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

आनन्द

प्रश्न—सात्त्विक सुख, शान्ति और आनन्दमें क्या फर्क है?

उत्तर—चिन्मयताके सम्बन्धसे (कीर्तन आदिमें) 'सात्त्विक सुख' मिलता है। सात्त्विक सुखका भोग न करनेसे 'शान्ति' मिलती है। शान्तिका भी उपभोग न करनेसे 'आनन्द' मिलता है।

सात्त्विक सुखमें गुण है, शान्ति और आनन्द गुणातीत हैं।

संसारके त्यागसे शान्ति और परमात्माकी प्राप्तिसे आनन्द मिलता है॥ १६॥

प्रश्न—सांसारिक सुख और पारमार्थिक आनन्दमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सांसारिक सुख दुःखकी अपेक्षासे है अर्थात् सांसारिक सुखके साथ दुःख भी है। परन्तु आनन्द निरपेक्ष है, उसके साथ दुःखका मिश्रण नहीं है। सांसारिक सुखमें विकार है, पर आनन्द

निर्विकार है। सांसारिक सुख विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य है, पर आनन्द संयोगजन्य नहीं है। अतः सांसारिक सुखमें तो भभका है, पर आनन्दमें भभका नहीं है, प्रत्युत वह सम, एकरस, शान्त, निर्विकार है। तात्पर्य है कि विकार, दुःख, परिवर्तन, कमी, हलचल, विक्षेप, विषमता, पक्षपात आदिका न होना ही 'आनन्द' है।

आनन्द दो प्रकारका होता है, अखण्ड आनन्द (निजानन्द) और अनन्त आनन्द (परमानन्द)। मुक्तिका आनन्द 'अखण्ड आनन्द' और प्रेमका आनन्द 'अनन्त आनन्द' है। अखण्ड आनन्द सम, शान्त, एकरस रहता है और अनन्त आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान होता है। अतः प्रेमका आनन्द मुक्तिके आनन्दसे बहुत विलक्षण है। मुक्तिमें तो केवल सांसारिक दुःख मिटता है और स्वयं वैसा-का-वैसा रहता है, पर प्रेममें स्वयंका अपने अंशी परमात्माकी ओर खिंचाव होता है।

यदि साधक अपना आग्रह न रखे तो शान्तरस अखण्डरसमें और अखण्डरस अनन्तरसमें स्वतः लीन होता है॥ १७॥

प्रश्न—'सत्' (अपनी सत्ता-) का अनुभव तो सबको होता है, पर 'चित्' और 'आनन्द' का अनुभव सबको नहीं होता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—सत्से चित् स्थूल है और चित्से आनन्द स्थूल है। सत् जितना व्यापक है, उतना चित् नहीं और चित् जितना व्यापक है, उतना आनन्द नहीं। इसलिये जैसा सत्का अनुभव होता है, वैसा चित्का नहीं होता और जैसा चित्का अनुभव होता है, वैसा आनन्दका नहीं होता। चित् और आनन्दमें लौकिक चित् और आनन्द भी आ जाता है, इसलिये साधारण लोग क्रियाशील वस्तुको चेतन तथा लौकिक सुखको आनन्द मान लेते हैं।

सत् सब जगह प्रकट है, चित् जीवोंमें प्रकट है और आनन्द तत्त्वज्ञानीमें प्रकट है॥ १८॥

कर्तव्य-कर्म

प्रश्न—कर्मका उपयोग कहाँ है?

उत्तर—संसारसे ऊँचा उठनेके लिये निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि सकामभावसे अपने लिये कर्म करनेसे ही मनुष्य संसारमें फँसा है। अत: करनेका वेग और वर्तमान रागकी निवृत्तिके लिये कर्म करनेका उपयोग है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** (गीता ६। ३)॥ १९॥

प्रश्न—कर्तव्यका पालन कठिन क्यों दीखता है?

उत्तर—कर्तव्य कहते ही उसे हैं, जिसे किया जा सके और जिसे करना चाहिये। जिसे नहीं कर सकते, वह कर्तव्य नहीं होता। अत: कर्तव्यका पालन सबसे सुगम है। अकर्तव्यकी आसक्तिके कारण ही कर्तव्य-पालन कठिन दीखता है॥ २०॥

प्रश्न—कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान न होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—पक्षपात, विषमता, ममता, आसक्ति, अभिमान—इनके रहनेसे ही कर्तव्य-अकर्तव्यका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता॥ २१॥

प्रश्न—निष्कामभावसे भोजन करें तो तृप्तिरूप फल होगा ही, फिर निष्कामभावसे किये कर्मका फल नहीं होता—यह बात कैसे?

उत्तर—निष्कामभावसे किये कर्म भुने हुए बीजके समान हो जाते हैं। भुने हुए बीज खेतीके काम तो नहीं आते, पर खानेके काम तो आते ही हैं। अत: निष्कामभावसे किये कर्मका फल तो होता है, पर वह बन्धनकारक नहीं होता। सकामभावसे किये कर्मका फल ही बन्धनकारक होता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)॥ २२॥

प्रश्न—भक्तिमार्गमें कर्म दिव्य कैसे होते हैं?

उत्तर—भगवान्‌में ज्यादा तल्लीन होनेसे भक्तके कर्म दिव्य हो जाते हैं। मीराबाईका तो शरीर भी दिव्य होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया था॥ २३॥

प्रश्न—गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि मेरा स्मरण कर और युद्ध अर्थात् कर्तव्य-कर्म भी कर—'मामनुस्मर युध्य च' (८। ७)। यदि भगवान्‌का स्मरण करेंगे तो कर्तव्य-कर्म ठीक नहीं होगा और कर्तव्य-कर्ममें मन लगायेंगे तो भगवान्‌का स्मरण नहीं होगा; अतः दोनों एक साथ कैसे करें?

उत्तर—प्रत्येक कार्य मन लगाकर करना चाहिये, पर उद्देश्य भगवान्‌का होना चाहिये। प्रत्येक कार्यको भगवान्‌का ही कार्य मानकर करना चाहिये। गहने बनाते समय सुनारके भीतर 'यह सोना है'—यह बात बैठी रहती है। इसी तरह सब कार्य करते समय साधकके भीतर 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह बात बैठी रहनी चाहिये॥ २४॥

प्रश्न—क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—इन चारोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—'क्रिया' फलजनक नहीं होती अर्थात् किसी परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' फलजनक होता है अर्थात् सुखदायी-दु:खदायी परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ता है। 'उपासना' भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। 'विवेक' जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

कर्म और उपासनामें जो क्रिया है, वह कल्याण नहीं करती। कर्ममें निष्कामभाव कल्याण करता है और उपासनामें भगवान्‌का सम्बन्ध कल्याण करता है॥ २५॥

कलियुग

प्रश्न—भगवान्‌ने कलियुग क्यों बनाया?

उत्तर—भगवान्‌ने कलियुग इस उद्देश्यसे बनाया कि जीवका जल्दी कल्याण हो जाय! उसके द्वारा किये गये थोड़े पुण्यकर्मका भी महान् फल हो जाय*! मनुष्यको भगवान्‌के इस उद्देश्यका सदुपयोग करना है, दुरुपयोग नहीं॥ २६॥

प्रश्न—कलियुग कहाँतक अपना प्रभाव डालता है?

उत्तर—कलियुगका प्रभाव इतना ही है कि सत्ययुग आदिमें धर्मका पालन सुगमतासे होता है और कलियुगमें कठिनतासे होता है। कलियुगमें धर्मका पालन कठिनतासे होनेपर भी थोड़े अनुष्ठानका अधिक पुण्य होता है॥ २७॥

प्रश्न—युगोंका ह्रास जिस क्रमसे होता है, उस क्रमसे उत्थान क्यों नहीं होता? कलियुगके बाद द्वापर न आकर सीधे सत्ययुग क्यों आता है?

उत्तर—प्रकृतिका कार्य स्वत: पतनकी ओर जाता है, पर उत्थान भगवत्कृपासे होता है; जैसे—किसी बातको स्वत: भूल जाते हैं, पर याद करना पड़ता है। अत: भगवान् ही कृपा करके कलियुगके बाद सत्ययुग लाते हैं॥ २८॥

प्रश्न—*'कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥'* (मानस, उत्तर० १०३। ४)—इसका तात्पर्य क्या है?

---

* कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥ (मानस, उत्तर० १०३ क)
यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥ (विष्णुपुराण ६। २। १५)
'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

उत्तर—यह भगवान्‌ने कलियुगमें छूट दी है। मनमें पुण्य-कर्म करनेकी इच्छा हुई, पर किसी कारणसे कर नहीं सके तो भी उसका पुण्य लगेगा। किसी कारणसे मनमें पाप-कर्म करनेकी इच्छा हुई, पर कर सके नहीं और उसका पश्चात्ताप हुआ तो उसका पाप नहीं लगेगा। तात्पर्य है कि मनमें आनेसे पाप नहीं होता, प्रत्युत करनेसे पाप होता है।

जिसकी इच्छा (नीयत) पाप करनेकी है, उसको तो पाप लगेगा ही; क्योंकि इच्छा पापका मूल है, जिससे पाप पैदा होता है*। हाँ, पाप करनेकी नीयत न होनेपर भी किसी कारणसे, पुराने संस्कारोंसे, कलियुगके प्रभावसे मनमें पापकी वासना आ जाय तो उसका दोष नहीं लगेगा॥ २९॥

प्रश्न—आजकल पाखण्डी साधुओंका अधिक प्रचार क्यों होता है?

उत्तर—इसमें कलियुग सहायता करता है। यदि पाखण्डी साधुओंका प्रचार नहीं होगा तो कलियुग कैसे कहलायेगा? वास्तवमें पाखण्डी साधुओंका प्रचार केवल भभका होता है, जो स्थायी नहीं होता। असली, त्यागी साधुका प्रचार स्थायी होता है। उसके द्वारा लोगोंका स्थायी और असली हित होता है। जिसके भीतर थोड़ी भी भोगवासना होती है, उसके द्वारा लोगोंका असली हित नहीं होता॥ ३०॥

प्रश्न—स्वर्णमें कलियुगका निवास बताया गया है; अत: स्त्रियोंको सोनेके गहने पहनने चाहिये या नहीं?

उत्तर—गहना पहननेमें दोष नहीं दीखता। स्वर्णको पवित्र माना गया है। स्वर्णके अभिमानमें कलियुगका निवास है॥ ३१॥

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)
'रजोगुणसे उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना ही पापका कारण है। यह काम ही क्रोधमें परिणत होता है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।'

कामना

प्रश्न—सुखभोगकी इच्छा क्यों होती है?

उत्तर—शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे अर्थात् शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेसे ही सुखभोगकी इच्छा होती है॥ ३२॥

प्रश्न—कामना और ममता मुझमें हैं या नहीं—इसका पता कैसे चले?

उत्तर—अगर हृदयमें कभी अशान्ति या हलचल होती है तो समझना चाहिये कि भीतरमें कामना है। अपने और परायेका भेद ममताके कारण होता है। जिसमें ममता होती है, उसीका अपनेपर असर पड़ता है॥ ३३॥

प्रश्न—सुखकी कामना और आशामें क्या अन्तर है ?

उत्तर—सुख मिलनेकी तथा दुःख न मिलनेकी 'कामना' होती है और सुख मिलनेकी सम्भावना होनेसे 'आशा' होती है॥ ३४॥

प्रश्न—हमारा दुःख मिट जाय—यह कामना करनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—कोई भी कामना नहीं करनी चाहिये। दुःख मिट जाय—यह कामना करेंगे तो सुखका भोग होगा। बन्धन मिट जाय—यह कामना करेंगे तो मुक्तिका भोग होगा। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद भी अपने लिये नहीं हो, नहीं तो सूक्ष्म अहम् रह जायगा। तात्पर्य है कि हमें कुछ लेना है ही नहीं।

साधक जितना ही भगवान्‌पर निर्भर होता है, उतना ही वह आगे बढ़ता चला जाता है। वह अपनी कोई इच्छा न रखे, सब भगवान्‌पर छोड़ दे तो बड़ी विलक्षणता आ जाती है और समग्रकी प्राप्ति हो जाती है। अतः अपनी मुक्तिकी भी इच्छा न रखे—यह बढ़िया है। जैसे, नरसीजीको भगवान् शंकरके दर्शन हुए तो उन्होंने कुछ भी माँगा नहीं,

प्रत्युत यही कहा कि जो आपको अच्छा लगे, वही दो। मनुष्य उतनी ही इच्छा करता है, जितना उसको अपनी दृष्टिसे दीखता है। परन्तु आगे तत्त्व अनन्त है। आगे बहुत विलक्षण ऐश्वर्य है। साधक अपना आग्रह न रखे, सन्तोष न करे तो वह स्वत: आगे बढ़ेगा॥ ३५॥

प्रश्न—भगवान् कल्पवृक्ष हैं और मनुष्यमात्र उसकी छायामें रहता है, फिर मनुष्यकी सब इच्छाएँ पूरी क्यों नहीं होतीं ?

उत्तर—कल्पवृक्षसे तो जो माँगो, वही देता है, भले ही उसमें हमारा हित न हो, पर भगवान् वही देते हैं, जिसमें हमारा हित हो। लोग तो वह इच्छा करते हैं, जिससे परिणाममें दु:ख पाना पड़े ! इसलिये भगवान् उनकी इच्छा पूरी नहीं करते कि बस, इतना ही दु:ख काफी है, और दु:ख क्यों चाहते हो! कल्पवृक्ष और देवता तो दुकानदारके समान हैं, पर भगवान् पिताके समान हैं॥ ३६॥

प्रश्न—परन्तु भगवान् सत्-विषयक इच्छा भी कहाँ पूरी करते हैं! साधक उनको चाहते हैं तो क्या वे सबको मिल जाते हैं ?

उत्तर—सत्-विषयक इच्छा इसलिये पूरी नहीं होती कि साथमें असत्‌की इच्छा भी मिली हुई रहती है॥ ३७॥

प्रश्न—एक पुस्तकमें आया है कि मनुष्य जो भी कामना करता है, उसकी पूर्ति होना आवश्यक है; क्या यह ठीक है?

उत्तर—ऐसा होना असम्भव है। कामनाएँ अनन्त हैं; अत: सभी कामनाएँ कभी पूरी नहीं होंगी और मुक्ति भी नहीं होगी! जिस कामनाको लेकर जप-तप आदि किया जाय, उसी कामनाकी पूर्ति होती है । जैसे, ध्रुवजीने राज्य-प्राप्तिकी कामनाको लेकर तपस्या की तो वह कामना पीछे न रहनेपर भी भगवान्‌ने पूरी की। इसी तरह भगवान्‌के पास जाते समय विभीषणके मनमें राज्यकी कामना रही, जिसको भगवान्‌ने पूरा किया। तात्पर्य है कि भगवान्‌के सामने जाते समय जो कामना रहती है, वही कामना बाधक होती है, जिसको

भगवान् पूरी करते हैं॥ ३८॥

प्रश्न—जो किसी कामनाको लेकर भगवान्‌का भजन करता है, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है क्या?

उत्तर—भगवत्प्राप्ति तो दूर रही, उसका कल्याण भी नहीं हो सकता!॥ ३९॥

प्रश्न—परन्तु भगवान्‌ने धनकी कामनावाले अर्थार्थी भक्तको भी उदार कहा है—'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७। १८)?

उत्तर—अर्थार्थी भक्तके हृदयमें भगवान् मुख्य हैं, धन गौण है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—**'चतुर्विधा भजन्ते माम्'** (गीता ७ । १६)। वह भगवान्‌के सिवाय और किसीसे धन नहीं चाहता। परन्तु जो भक्त नहीं है, वह केवल कामनाकी पूर्तिके लिये भगवान्‌का भजन करता है, उसका कल्याण नहीं हो सकता। कारण कि उसने भगवान्‌को भगवान् (साध्य) नहीं माना है, प्रत्युत कामनापूर्तिका एक साधन माना है। उसका साध्य तो रुपये हैं और भगवान् रुपये छापनेकी मशीनकी तरह साधन हैं। ऐसा व्यक्ति कामना पूरी न होनेपर भगवान्‌को छोड़ देता है। एक स्त्रीका पति बीमार हुआ। किसीने सलाह दी कि ठाकुरजीकी पूजा करो तो पति ठीक हो जायगा। उसने वैसा ही किया। पति ठीक हो गया। दुबारा फिर पति बीमार हुआ तो उस स्त्रीने फिर ठाकुरजीकी पूजा की। पति मर गया। उसने ठाकुरजीको उठाकर बाहर पटक दिया। इस प्रकार भगवान्‌की पूजा करनेवालेका कल्याण नहीं होता॥ ४०॥

प्रश्न—भगवान् हमारे हैं और हमारे लिये हैं, फिर उनसे कुछ माँगनेमें क्या दोष है?

उत्तर—प्रभु मेरे हैं और मेरे लिये हैं—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें प्रभुसे कुछ लेना है। वे मेरे लिये हैं, इसलिये अपनेको उन्हें देना है, उनके समर्पित होना है। कुछ चाहनेसे हम उनसे अलग

हो जायँगे और अपनेको देनेसे उनसे अभिन्न हो जायँगे। उनसे जिस वस्तुको माँगेंगे, उस वस्तुका महत्त्व हो जायगा। जो वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है, उसकी कामना करनेका हमें अधिकार ही नहीं है॥ ४१॥

गीता

प्रश्न—भगवान्‌ने गीता युद्धके समय ही क्यों सुनायी?

उत्तर—यह बतानेके लिये कि युद्ध-जैसा घोर कर्म करते हुए भी मनुष्य कल्याणको प्राप्त हो सकता है! तात्पर्य है कि साधन किसी परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा नहीं रखता। वह प्रत्येक परिस्थिति, अवस्थामें हो सकता है। कारण कि परमात्मा प्रत्येक परिस्थितिमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। अतः वह प्रत्येक परिस्थितिमें प्राप्त किया जा सकता है॥ ४२॥

प्रश्न—गीताका सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ क्यों माना गया है?

उत्तर—कारण कि वह सिद्धान्त स्वयं भगवान्‌का है, ऋषि-मुनियोंका नहीं! भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—'**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः**' (गीता १०। २)। वास्तवमें भगवान्‌का सिद्धान्त ही 'सिद्धान्त' कहनेलायक है। अन्य दार्शनिकोंका सिद्धान्त वास्तवमें 'सिद्धान्त' नहीं है, प्रत्युत 'मत' है॥ ४३॥

प्रश्न—भगवान्‌ने रामायणमें कहा है—'*मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥*' (अरण्य० ३६। ५) अर्जुनने तो भगवान्‌के विश्वरूप, चतुर्भुजरूप और द्विभुजरूप—तीनोंके दर्शन कर लिये थे, फिर उनका मोह दूर क्यों नहीं हुआ?

उत्तर—दर्शन देनेके बाद मोह दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌की होती है। अर्जुनका मोह आगे चलकर नष्ट हो ही गया था—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८। ७३)। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनके

बाद मोह नष्ट होता ही है। परन्तु अर्जुनने मोह नष्ट होनेमें न तो गीता-श्रवणको और न दर्शनको ही कारण माना है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपाको ही कारण माना है— '**त्वत्प्रसादान्मयाच्युत**'॥ ४४॥

प्रश्न—गीतामें श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणकी मुख्यता बतायी है— 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (३। २१) और भागवतमें वचनकी मुख्यता बतायी है—'ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्' (१०। ३३। ३२)। दोनोंमें कौन-सी बात मानें?

उत्तर—गीतामें तो संसारकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बतायी है कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं। परन्तु वास्तवमें कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें वचनको प्रमाण मानना श्रेष्ठ है। इसलिये इतिहासकी अपेक्षा विधिको और विधिकी अपेक्षा निषेधको प्रबल माना गया है।

श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणका स्वाभाविक ही दूसरेपर असर पड़ता है, चाहे हम देखें या न देखें। परन्तु जहाँ उनके आचरण और वचनोंमें विरोध दीखे, वहाँ उनके आचरण न देखकर उनके वचनोंका ही पालन करना चाहिये। कारण कि उन्होंने किस परिस्थितितें क्या किया—इसका पता लगता नहीं॥ ४५॥

प्रश्न—असत्‌की सत्ता ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६), फिर प्रकृतिको अनादि क्यों कहा है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (गीता १३। १९)? अनादि कहनेसे यह भाव निकलता है कि प्रकृतिकी सत्ता है?

उत्तर—अज्ञानीको समझानेके लिये अज्ञानीकी ही भाषा बोलनी पड़ती है। हम प्रकृतिकी सत्ता मानते हैं, इसलिये शास्त्र हमारी भाषामें ही कहते हैं। वास्तवमें प्रकृतिकी सत्ता है ही नहीं। परन्तु जिनकी दृष्टिमें प्रकृतिकी सत्ता है, उनके लिये प्रकृतिको अनादि कहा गया है। प्रकृति अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं है, प्रत्युत सान्त

(अन्तवाली) है।

दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं, तत्त्व एक है। जहाँ द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य नहीं है, वहाँ भेद नहीं है। द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक, दर्शन जबतक हैं, तबतक भेद है। इनसे आगे तत्त्वमें भेद नहीं है॥ ४६॥

प्रश्न—गीताने प्रकृतिको अनादि तो कहा है, पर अनन्त या सान्त नहीं कहा है, ऐसा क्यों?

उत्तर—अगर प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन होता है; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)। अगर प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन होता है; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्‌की शक्ति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। अत: भगवान्‌ने ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही प्रकृतिको न अनन्त कहा है और न सान्त कहा है, प्रत्युत अनादि कहा है॥ ४७॥

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अगर मैं कर्तव्यका पालन नहीं करूँगा तो लोग भी कर्तव्यसे विमुख हो जायँगे, इसलिये मैं भी कर्तव्यका पालन करता हूँ (३। २२—२४)। फिर आजकल लोग अपने कर्तव्यका पालन क्यों नहीं करते?

उत्तर—भगवान्‌की बात उन लोगोंके लिये है, जो भगवान्‌को माननेवाले (आस्तिक) हैं। कारण कि भगवान्‌के कर्तव्य-पालनका असर उन्हीं लोगोंपर पड़ेगा, जो भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास रखते हैं। जो भगवान्‌को नहीं मानते, उनपर भगवान्‌के कर्तव्य-पालनका असर नहीं पड़ेगा। जिनकी विपरीत बुद्धि हो रही है, वे भगवान्‌की कृपाको क्या समझें?॥ ४८॥

प्रश्न—गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च' (१०। ४)। 'अभय' दैवी सम्पत्ति है और 'भय' आसुरी सम्पत्ति, फिर दोनों भगवान्‌के स्वरूप कैसे हुए?

उत्तर—दैवी सम्पत्ति भी भगवान्‌का स्वरूप है और आसुरी सम्पत्ति भी भगवान्‌का स्वरूप है। अभय भी भगवान्‌का स्वरूप है और भय भी भगवान्‌का स्वरूप है। वास्तवमें तत्त्व एक ही है, पर हमारी कामना (भोगेच्छा)-के कारण दो विभाग हो जाते हैं।

भगवान्‌के विराट्‌रूपमें भयभीत भी दीखते हैं—**'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'** (गीता ११। ३६), **'केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति'** (गीता ११। २१)। भयभीत भी विराट्‌रूपका ही अंग हैं। तात्पर्य है कि भयभीत होनेवाले भी भगवान् हैं और जिनसे भयभीत हो रहे हैं, वे भी भगवान् हैं।

मनुष्य सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता, तभी दो विभाग हुए हैं और शास्त्रोंने भी दो विभागों (दैवी-आसुरी, शुभ-अशुभ, विहित-निषिद्ध आदि)-का वर्णन किया है। भेदके मूलमें भोगेच्छा ही है। सम्पूर्ण दुःख, सन्ताप, अनिष्ट आदि भोगेच्छाके कारण ही हैं। भोगेच्छा सर्वथा मिटनेपर मोक्ष ही है॥ ४९॥

प्रश्न—भगवान्‌में मन लगाना करणसापेक्ष साधन है, जिसमें योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। फिर गीतामें भक्तके द्वारा मन लगानेकी बात क्यों आयी है—'मन्मना भव' (९। ३४, १८। ६५)?

उत्तर—वास्तवमें भक्त स्वयं लगता है, मन नहीं लगाता। मन लगाकर स्वयं लगना करणसापेक्ष है, पर स्वयं लगकर मन स्वतः लग जाना करणनिरपेक्ष है। भक्त मन लगाकर स्वयं नहीं लगता। वह स्वयं लगता है (मद्भक्तः), फिर उसके मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ भी अपने-आप लग जाते हैं॥ ५०॥

प्रश्न—गीताने संसारको असत् तो कहा है, पर रज्जुमें सर्पकी तरह अध्यस्त नहीं कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—रस्सीमें सर्प तो बोध होनेके बाद नहीं दीखता, पर संसार बोध होनेके बाद भी दीखता है। आसक्ति (दोष) कर्तामें है, पर दीखती

है संसारमें। अपने रागके कारण ही रुपयोंमें आकर्षण (लोभ) होता है। राग न रहनेपर रुपये तो वैसे ही दीखते हैं, पर आकर्षण नहीं रहता। इसी तरह भोगोंकी आसक्ति न रहनेपर संसार तो दीखता है, पर उसमें आकर्षण नहीं होता।

वास्तवमें संसार अध्यस्त नहीं है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध अध्यस्त है। संसार आसक्तको भी दीखता है और विरक्तको भी, पर आसक्तको ठोस दीखता है, विरक्तको पोला। जो है नहीं, पर दीखता है, वह अध्यस्त होता है। परन्तु संसार जैसा है, वैसा ही दीखता है, पर उसका सम्बन्ध (राग) नहीं रहता। ज्ञानी महापुरुषको सोनेकी मुहर मुहररूपसे ही दीखती है, पत्थररूपसे नहीं दीखती, पर उसमें उसका राग नहीं होता। तात्पर्य है कि संसारकी सत्ता बाधक नहीं है, प्रत्युत रागपूर्वक जोड़ा गया सम्बन्ध बाधक है। वैराग्य वस्तुकी सत्ताका नाश नहीं करता, प्रत्युत रागका नाश करता है। रागपूर्वक सम्बन्ध बाँधनेवाला है। संसार दु:खदायी नहीं है, उसका सम्बन्ध दु:खदायी है॥ ५१॥

प्रश्न—रज्जुमें सर्प दीखना 'निरुपाधिक भ्रम' है और दर्पणमें मुख दीखना 'सोपाधिक भ्रम' है। क्या संसारके दीखनेको 'सोपाधिक भ्रम' मान सकते हैं; क्योंकि भ्रम मिटनेपर भी दर्पणमें मुख तो दीखता ही है?

उत्तर—सोपाधिक भ्रम भी नहीं मान सकते; क्योंकि दर्पणमें मुख दीखता तो है, पर वह काम नहीं आता अर्थात् उससे व्यवहार नहीं होता। परन्तु संसारमें राग मिटनेपर भी व्यवहार तो होता ही है॥ ५२॥

प्रश्न—गीतामें आया है कि योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है अथवा योगियोंके कुलमें जन्म लेता है (गीता ६। ४१-४२)। परन्तु जड़भरतने हरिणयोनिमें जन्म लिया। अतः वे कौन-से योगभ्रष्ट थे?

उत्तर—उनको योगभ्रष्ट नहीं कह सकते। कारण कि योगभ्रष्ट अपना

साधन पूरा करनेके लिये शुद्ध श्रीमान्‌के घरमें अथवा योगीके घरमें जन्म लेता है और वहाँ पहले किये हुए साधनमें पुनः लगता है। परन्तु जड़भरतने न तो श्रीमान्‌के घरमें जन्म लिया और न योगीके कुलमें ही जन्म लिया, प्रत्युत हरिणयोनिमें जन्म लिया। उन्होंने हरिणयोनिमें कोई साधन भी नहीं किया। अतः वे योगभ्रष्ट नहीं थे, पर अन्तसमयमें हरिणकी तरफ वृत्ति जानेसे उनको पुनः जन्म लेना पड़ा॥ ५३॥

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग (साधन)-को अव्यय कहा है—'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' (४। १)। अव्यय अर्थात् नित्य तो साध्य है, साधन नित्य कैसे?

उत्तर—साधक ही साधन होकर साध्यमें लीन होता है। अतः साधक, साधन और साध्य—तीनों ही तत्त्वसे नित्य हैं। साधक, साधन और साध्य—तीनों एक ही हैं, पर मोहके कारण अलग-अलग दीखते हैं। तीनों नित्य हैं, पर मोह अनित्य है—**'नष्टो मोहः'** (गीता १८। ७३)॥ ५४॥

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें स्वयं (आत्मा)-को 'शरीरी' (शरीरवाला) और 'देही' (देहवाला) कहा है, इससे सिद्ध हुआ कि स्वयंका शरीरके साथ सम्बन्ध है?

उत्तर—स्वयंका शरीरके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न कभी था, न है, न होगा और न होना सम्भव ही है। परन्तु भगवान्‌ने साधकोंको समझानेकी दृष्टिसे स्वयंको 'शरीरी' अथवा 'देही' नामसे कहा है। 'शरीरी' कहनेका तात्पर्य यही बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। स्वयं परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७) और शरीर प्रकृतिका अंश है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** (गीता १५। ७)। शरीर प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला और असत् है। ऐसे असत् शरीरको लेकर स्वयं शरीरी (शरीरवाला) कैसे हो सकता है? अतः साधक स्वयं शरीर भी नहीं है और शरीरी भी नहीं है॥ ५५॥

चुप-साधन

प्रश्न—चुप-साधन सुगमतापूर्वक कैसे होता है?

उत्तर—मेरेको बैठना है, चुप-साधन करना है—ऐसा संकल्प रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता; क्योंकि वृत्तिमें गर्भ रहता है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भी 'करना' ही है। चुप-साधन बढ़िया तब होता है, जब कुछ करनेकी रुचि न रहे। जो देखना था, देख लिया; सुनना था, सुन लिया; बोलना था, बोल लिया। इस प्रकार कुछ भी देखने, सुनने, बोलने आदिकी रुचि न रहे। रुचि रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता॥ ५६॥

प्रश्न—कुछ करनेकी रुचि न रहे तो सिद्धि हो गयी, फिर साधन कैसे होगा?

उत्तर—सिद्धि होनेपर रुचि नहीं रहती—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत असत्‌की सत्ता ही उठ जाती है! न करनेकी रुचि रहती है, न नहीं करनेकी रुचि रहती है—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)। अतः रुचि न रहनेसे ही सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत्त असत्‌की सत्ता न रहनेसे सिद्धि होती है। सर्वथा रुचि न मिटनेपर भी चुप-साधन हो सकता है॥ ५७॥

प्रश्न—चुप-साधनमें बाधक क्या है?

उत्तर—पदार्थ और क्रियाका आकर्षण अर्थात् पदार्थकी आसक्ति और करनेका वेग चुप-साधनमें बाधक है॥ ५८॥

प्रश्न—चुप-साधन और समाधिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—चुप-साधन समाधिसे श्रेष्ठ है; क्योंकि इससे समाधिकी अपेक्षा शीघ्र तत्त्वप्राप्ति होती है। चुप-साधन स्वतः है, कृतिसाध्य नहीं

है, पर समाधि कृतिसाध्य है। चुप होनेमें सब एक हो जाते हैं, पर समाधिमें सब एक नहीं होते। समाधिमें समय पाकर स्वतः व्युत्थान होता है, पर चुप-साधनमें व्युत्थान नहीं होता। चुप-साधनमें वृत्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद है, पर समाधिमें वृत्तिकी सहायता है॥ ५९॥

प्रश्न—चुप-साधनमें चिन्तनकी उपेक्षा कौन करता है?

उत्तर—उपेक्षा स्वयं करता है, जो कर्ता है अर्थात् जिसमें कर्तृत्व है। सिद्ध होनेपर वह स्वभाव बन जाता है, उसका कर्तृत्व नहीं रहता॥ ६०॥

प्रश्न—उपेक्षा अथवा साक्षीका भाव रहेगा तो बुद्धिमें ही?

उत्तर—भाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयं (स्वरूप)-में होगा; जैसे—युद्ध तो सेना करती है, पर विजय राजाकी होती है। उपेक्षासे, उदासीनतासे स्वयंका जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है॥ ६१॥

प्रश्न—जाग्रत्-सुषुप्तिके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—जब न तो स्थूलशरीरकी 'क्रिया' हो, न सूक्ष्म-शरीरका 'चिन्तन' हो और न कारणशरीरकी 'निद्रा' तथा 'बेहोशी' हो, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। जाग्रत्-सुषुप्ति और चुप-साधन एक ही हैं।

समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर जाग्रत्-सुषुप्तिमें ये दोष नहीं रहते। ध्येय परमात्माका होनेसे जब साधककी वृत्तियाँ परमात्मामें लग जाती हैं, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। इसमें सुषुप्तिकी तरह बाह्य ज्ञान नहीं रहता, पर भीतरमें ज्ञानका विशेष प्रकाश (स्वरूपकी जागृति) रहता है॥ ६२॥

जीवन्मुक्त(तत्त्वज्ञ)

प्रश्न—ज्ञानी महापुरुषके द्वारा जो क्रियाएँ होती हैं, उनका कर्ता कोई नहीं होता, फिर (अहम्‌के बिना) वे क्रियाएँ कैसी होती हैं?

उत्तर—जीवन्मुक्तकी क्रियाएँ अभिमानशून्य अहम्‌से होती हैं, जिसको 'अहंवृत्ति' (वृत्तिरूप समष्टि अहंकार) भी कहते हैं। जब उसका कहलानेवाला शरीर नहीं रहता, तब यह अभिमानशून्य अहम् परमात्मतत्त्वमें विलीन हो जाता है।

जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक जीवन्मुक्तके द्वारा अपने तथा दूसरेके प्रारब्धके अनुसार क्रिया होती है। परन्तु वह क्रिया बिना कर्ताके होती है; जैसे—रेलगाड़ी चल रही हो और ड्राईवर उसमेंसे बाहर कूद जाय तो बिना ड्राईवरके भी वह गाड़ी चलती रहती है अथवा आदमी ठेलेको धक्का देकर फिर स्वयं उसपर चढ़ जाता है तो बिना चालकके भी ठेला (जबतक वेग है, तबतक) चलता जाता है।

मुक्त पुरुषका पहले (साधनावस्थामें) जैसा स्वभाव, संग, शिक्षा, साधना आदि रहे हैं, उसके अनुसार उसके द्वारा सब क्रियाएँ होती हैं। अहंभाव न रहनेसे वे क्रियाएँ फलजनक नहीं होतीं।

दूसरे व्यक्तिके सद्‌भावके अनुसार जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा विशेष क्रिया हो सकती है, उसके उद्धारका भाव पैदा हो सकता है। अतः उनपर सद्‌भाव करके मनुष्य बहुत विशेष लाभ ले सकता है॥ ६३॥

प्रश्न—क्या ज्ञानी महापुरुषके द्वारा व्यवहारमें भूल हो सकती है?

उत्तर—हाँ, हो सकती है, तभी उपनिषद्‌के दीक्षान्त उपदेशमें आया है—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

(तैत्तिरीय० १। ११)

'हमारे जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

यदि व्यवहारमें भूल नहीं होती तो वे ऐसा क्यों कहते? दूसरी बात, उनके सब आचरणोंको हम समझ सकते ही नहीं कि किस समय उन्होंने क्या किया और क्यों किया। अपनी श्रद्धा हो तो उनकी भूलसे भी लाभ ही होता है, नुकसान नहीं। कारण कि श्रद्धालु आदमी अपनी समझकी कमी स्वीकार करता है कि ये तो ठीक करते हैं, पर मैं समझा नहीं। अपनी कमी न माननेसे, अपनी बुद्धिमानीका अभिमान होनेसे ही मनुष्य तत्त्वज्ञ महापुरुषमें दोषारोपण करता है— *'निज अग्यान राम पर धरहीं'* (मानस, उत्तर० ७३। ५)॥ ६४॥

प्रश्न—क्या ज्ञानी महापुरुषके द्वारा निषिद्ध क्रिया भी हो सकती है?

उत्तर—निषिद्ध क्रिया कामनासे होती है*। ज्ञान होनेपर कामनाका सर्वथा नाश हो जाता है—**'परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २। ५९), **'कामक्रोधवियुक्तानाम्'** (गीता ५। २६)। अत: ज्ञानीके द्वारा निषिद्ध क्रिया होना सम्भव ही नहीं है। परन्तु मनके अनुकूल न होनेसे दूसरेको ज्ञानीकी कोई क्रिया निषिद्ध दीख सकती है। कारण कि दूसरेकी कोई क्रिया हमारे मनके प्रतिकूल होगी तो वह हमें बुरी लगेगी ही, भले ही वह क्रिया अच्छी क्यों न हो!† दूसरेने कौन-सी क्रिया किस भावसे की, किस परिस्थितिमें की—इसका निर्णय करना कठिन होता है।

भगवान् और महात्माके द्वारा कभी किसीका अहित नहीं होता—

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

† द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह॥ (महाभारत, उद्योग० ३९। ४)

'जिससे द्वेष हो जाता है, वह न तो साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रियके सभी कर्म शुभ प्रतीत होते हैं और द्वेष्यके सभी कर्म पाप।'

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस, उत्तर० ४७। ३)

नारदजीने नलकूबर और मणिग्रीवको वृक्ष बननेका शाप दिया तो वह शाप भी भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला हो गया*!॥ ६५॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त महापुरुषपर लोकसंग्रहकी जिम्मेवारी रहती है?

उत्तर—जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषपर लोकसंग्रहकी अथवा प्राणिमात्रका हित करनेकी जिम्मेवारी नहीं रहती। उनका खुदका किंचिन्मात्र भी कोई प्रयोजन नहीं रहता—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)। उनपर किसीका भी ऋण नहीं रहता। उनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। परन्तु साधनावस्थामें प्राणिमात्रके हितका स्वभाव होनेसे सिद्धावस्थामें भी उनका वह स्वभाव बना रहता है—**'स्वभावस्तु प्रवर्तते'** (गीता ५। १४)। अत: वे लोकसंग्रह करते नहीं, प्रत्युत उनके द्वारा स्वत: लोकसंग्रह होता है॥ ६६॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुषको शारीरिक पीड़ाका अनुभव होता है या नहीं?

उत्तर—उसको पीड़ाका ज्ञान तो होता है, पर दु:ख नहीं होता॥ ६७॥

प्रश्न—जब उसका शरीरसे सम्बन्ध रहा ही नहीं तो फिर उसको शरीरकी पीड़ाका ज्ञान क्यों होता है?

उत्तर—जीवन्मुक्त होनपर चेतन सर्वव्यापी होता है, प्राण सर्वव्यापी नहीं होते। वह शरीरसे निरपेक्ष होता है, शरीरसे रहित नहीं होता।

* साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्ध: पुंसोऽक्ष्णो: सवितुर्यथा॥ (श्रीमद्भा० १०। १०। ४१)

'जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना।'

उसका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध होता है, अज्ञानपूर्वक नहीं। साधनावस्थासे ही उसका शरीरके साथ सम्बन्ध रहा है, इस कारण उसको शरीरकी पीड़ाका ज्ञान तो होता है, पर उसका असर नहीं पड़ता अर्थात् दु:खरूप विकार नहीं होता। जैसे बचपनमें काँचके टुकड़ोंका भी असर पड़ता था, वे बड़े अच्छे दीखते थे; परन्तु अब हमें काँचके टुकड़ोंका ज्ञान तो है, पर उनका असर नहीं पड़ता।

यदि पीड़ाका ज्ञान न हो तो जीवन्मुक्ति सिद्ध हो ही नहीं सकती। जीवन्मुक्त अर्थात् जीवन (शरीर)-के रहते हुए मुक्त हो गया—ऐसा कहनेका यही अर्थ है कि शरीरकी पीड़ा आदिका असर (सुख-दु:ख) नहीं होता। मुक्ति सुख-दु:खसे होती है। सुख-दु:ख विकार हैं, ज्ञान विकार नहीं है। ज्ञान तो हो, पर विकार न हो—यह महत्त्वकी बात है। ज्ञान न होना महत्त्वकी बात नहीं है। ज्ञान तो मूर्च्छित व्यक्तिको भी नहीं होता। जो साधारण (बद्ध) मनुष्य है, उसकी वृत्ति अगर दूसरी जगह लगी हो तो उसको भी पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। सती होनेवाली स्त्रीको भी पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। अत्यन्त वीर पुरुषको भी युद्धमें पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। अत: पीड़ाका ज्ञान न होना तत्त्वज्ञानका अथवा प्रेमका लक्षण नहीं है॥ ६८॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुष यदि व्यवहारमें उतरे तो क्या अहंकार अनिवार्य है?

उत्तर—नहीं। उसके द्वारा अहंकाररहित 'क्रिया' होती है, अहंकारयुक्त 'कर्म' नहीं होता—**'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'** (मुण्डक० २। २। ८)॥ ६९॥

प्रश्न—जीवन्मुक्तके द्वारा शौच-स्नान आदि व्यवहार कैसे होता है?

उत्तर—जैसे कुम्हार एक बार चक्केको चलाकर छोड़ देता है, फिर चक्का स्वत: चलता रहता है, ऐसे ही पूर्वसंस्कारोंके वेगसे जीवन्मुक्तका शरीर चलता रहता है, उसका व्यवहार होता रहता है।

तात्पर्य है कि उसके द्वारा वैसा ही व्यवहार होता है, जैसा पहले होता था। परन्तु ज्ञान होनेपर उसमें निर्लिप्तता आती है, और कोई फर्क नहीं पड़ता। सामान्य लोग जैसे संसारको नित्य मानते हुए व्यवहार करते हैं, ऐसे ही तत्त्वज्ञानीके द्वारा संसारको अनित्य मानते हुए व्यवहार होता है। उसके अनुभवमें अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसारका सर्वथा अभाव होता है।

जीवन्मुक्तका व्यवहार तीन कारणोंसे होता है—

१-प्रारब्धसे प्राप्त परिस्थितिके अनुसार।

२-स्वभावके अनुसार*।

३-सामने आये हुए व्यक्ति या समुदायकी भावनाके अनुसार।

यथायोग्य व्यवहार होनेपर भी जीवन्मुक्त महापुरुषकी असंगता ज्यों-की-त्यों रहती है। उनके द्वारा होनेवाली चेष्टाएँ राग-द्वेषरहित होती हैं॥ ७०॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुषमें हर्ष-शोक होना, राजी-नाराज होना भी देखा जाता है, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—वह केवल दूसरोंके हितके लिये किया गया नाटक है! जैसे, माता-पिता अपने बालकपर क्रोध करते हैं तो केवल उसका हित करनेके लिये करते हैं, अनिष्ट करनेके लिये नहीं। परन्तु जीवन्मुक्तको ऐसा नाटक भी करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उनके द्वारा स्वतः दूसरोंके हितकी चेष्टा होती है॥ ७१॥

प्रश्न—क्या मुक्त होनेपर महापुरुष अपने मतका मण्डन तथा दूसरे मतका खण्डन करते हैं?

---

* सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (गीता ३। ३३)

'सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा?'

उत्तर—हाँ, करते हैं; परन्तु उनकी नीयत शुद्ध रहती है। लोग उत्पथगामी (कुमार्गी) न हो जायँ, उनका उद्धार हो जाय, इसके लिये वे अपने अनुभव किये हुए मत (साधन-प्रणाली)-का, जिसमें वे नि:सन्देह हैं, प्रचार करते हैं। वे राग-द्वेषपूर्वक खण्डन-मण्डन नहीं करते। वे साधकोंकी दुविधा मिटानेके लिये खण्डन-मण्डन करते हैं; क्योंकि साधकमें दुविधा रहेगी तो वह एक साधनमें पूरी तरह लगेगा नहीं॥ ७२॥

प्रश्न—मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रहता है, उसका स्वरूप क्या है?

उत्तर—एक आग्रह (राग) होता है और एक प्रेम। अगर साधन, सत्संग आदिमें आग्रह होगा तो उसमें (साधन आदिमें) बाधा लगनेपर क्रोध आयेगा और प्रेम होगा तो उसमें बाधा लगनेपर रोना आयेगा—यह आग्रह और प्रेमकी पहचान है। बद्ध पुरुषमें तो अपने मतका आग्रह होता है, पर मुक्त पुरुषमें अपने मतका प्रेम होता है। जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है; उस साधनके प्रति जो प्रेम है, कृतज्ञताका भाव है, वही सूक्ष्म अहम् अथवा अहम्का संस्कार है। यह सूक्ष्म अहम् कोई विकार पैदा करनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद पैदा करनेवाला होता है। जैसे जले हुए कागजपर अक्षर दीखते हैं, ऐसे ही मुक्त पुरुषमें अभिमानशून्य अहम् दीखता है। इस सूक्ष्म अहम्के कारण ही मुक्त महापुरुषोंमें द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक मतभेद पैदा हुए हैं॥ ७३॥

प्रश्न—आचार्योंमें रहनेवाला मतभेद क्या उनकी मुक्तिमें बाधक नहीं होता?

उत्तर—आचार्योंमें रहनेवाला मतभेद मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर आपसमें मिलन नहीं होने देता।

आचार्योंमें अपने मतके पालनकी बात विशेष होती है, दूसरेके खण्डनकी बात विशेष नहीं होती, इसलिये उनकी मुक्तिमें वह मतभेद

बाधक नहीं होता। परन्तु उनके अनुयायियोंमें दूसरेके खण्डनकी बात विशेष होती है, अपने मतके पालनकी बात विशेष नहीं होती, इसलिये वह मतभेद उनकी मुक्तिमें बाधक होता है। आचार्योंमें दूसरेके हितका भाव विशेष होता है ॥ ७४ ॥

प्रश्न—मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रह जाता है, वह क्या पुनः पतन कर सकता है?

उत्तर—सूक्ष्म अहम् रहनेसे उनका पुनः जन्म तो हो सकता है, पर पुनः पतन (बन्धन) नहीं हो सकता। जैसे, जड़भरतको अन्तकालमें हरिणका चिन्तन होनेसे हरिणका शरीर मिला तो भी उनका पतन नहीं हुआ। हरिणके जन्ममें भी सूखे पत्ते खाकर संयमसे रहते थे। शरीरका मिलना (पुनर्जन्म होना) पतन नहीं है, प्रत्युत भीतरी स्थितिसे नीचे गिरना पतन है। अन्तकालमें किसी विशेष श्रद्धालुकी तरफ वृत्ति जानेसे मुक्त महापुरुषका भी पुनर्जन्म हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता ॥ ७५ ॥

प्रश्न—मुक्तिके बाद रहनेवाला यह सूक्ष्म अहम् कब मिटता है?

उत्तर—परमप्रेम (पराभक्ति)-की प्राप्ति होनेपर यह सूक्ष्म अहम् सर्वथा मिट जाता है। इसीलिये कहा गया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९।३) ॥ ७६ ॥

प्रश्न—चैतन्य महाप्रभु तो प्रेमी भक्त थे, फिर उनमें मतभेद (अचिन्त्यभेदाभेद) क्यों पाया जाता है?

उत्तर—चैतन्य महाप्रभुने केवल एक ही मत 'प्रेम'-को स्वीकार किया और उसमें भी केवल 'विप्रलम्भ' (वियोग)-को मुख्यता दी—यह उनमें मतभेद था। वियोगका आग्रह होनेसे उनमें मतभेद हो गया।

जिसमें मतभेद नहीं होता, वह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंकी बात कहता है। वह परमात्माके समग्ररूपको मानता है,

जिसके अन्तर्गत सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब रूप और सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि सब भाव आ जाते हैं॥ ७७॥

प्रश्न—भक्तोंमें अपने मतका आग्रह भी पाया जाता है; जैसे—घण्टाकर्ण भगवान् शंकरके सिवाय अन्य कोई नाम सुनना ही नहीं चाहता था। इसका क्या कारण है?

उत्तर—वास्तवमें भक्तका अपना कोई आग्रह नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌का ही आग्रह होता है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११। ११)

भगवान्‌का ही आश्रय होनेसे भगवान् भक्तके आग्रहको मिटा देते हैं॥ ७८॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त होनेके बाद भी अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति होती है?

उत्तर—नहीं। जबतक अहम् है, तभीतक अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति होती है। हाँ, मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रह जाता है, उससे अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार जन्म तो हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता। जैसे, जड़भरतको अन्तकालमें हरिणका चिन्तन होनेसे हरिणकी योनिमें जाना पड़ा। परन्तु हरिणका शरीर मिलनेपर भी उनका पतन नहीं हुआ। जैसे नदीका प्रवाह स्वतः समुद्रकी ओर जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की तरफ स्वतः प्रवाह होनेके कारण हरिणका शरीर मिलनेपर भी वह प्रवाह बना रहा। वास्तवमें पशु-पक्षी आदिका शरीर मिलना पतन नहीं है, प्रत्युत भीतरी स्थितिसे नीचे गिरना पतन है। अतः अन्तकालमें ज्यादा श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले किसी विशेष प्रियजनकी तरफ वृत्ति जानेसे महात्माका भी पुनर्जन्म हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता॥ ७९॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञानीको संसार स्वप्नकी तरह मिथ्या दीखता है?

उत्तर—विवेकी साधकको संसार स्वप्नकी तरह दीखता है। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें तो संसार है ही नहीं! उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७ । १९) ॥ ८० ॥

प्रश्न—क्या मुक्त पुरुषको 'मैं सर्वगत हूँ' ऐसा अनुभव होता है?

उत्तर—मैं सर्वगत (सर्वव्यापी) हूँ—ऐसा अनुभव ऊँचे साधकको होता है। मुक्त होनेपर तो मैं-पन मिट जाता है और एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं रहता। कारण कि जब 'सर्व' की सत्ता ही नहीं है तो फिर सर्वगतका अनुभव कैसे?॥ ८१ ॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञानी महापुरुष सर्वज्ञ होते हैं?

उत्तर—जो करणसापेक्ष शैलीसे (योगाभ्यास करके) सिद्ध हुए हैं, वे सर्वज्ञ हो सकते हैं; क्योंकि वे प्रकृतिको साथ लेकर चले हैं। परन्तु जिन्होंने करणनिरपेक्ष शैलीसे (सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक) साधना की है, वे सर्वज्ञ नहीं होते। वे सर्वज्ञ होनेको महत्त्व ही नहीं देते।

स्वयंमें 'सर्व' की अर्थात् प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है। सर्वज्ञता प्रकृतिमें है। महापुरुषकी दृष्टिमें 'सर्व' है ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं रहती। प्रकृतिमें स्थित होनेपर ही वह सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ होता है।

महापुरुष सर्वज्ञ तो नहीं होता, पर दूसरे व्यक्तिकी प्रबल जिज्ञासाके कारण उसके हृदयमें भविष्यकी कोई बात स्वतः पैदा हो सकती है ॥ ८२ ॥

प्रश्न—तत्त्वज्ञ महात्माकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं, फिर लोगोंको दुःखी देखकर उन्हें दुःख क्यों होता है?

उत्तर—दुःख नहीं होता, प्रत्युत व्यवहारमात्र होता है। लोगोंकी दृष्टिसे उनमें दुःख दीखता है, पर वास्तवमें उनके भीतर दुःख नहीं है। परन्तु व्यवहारमें उनके द्वारा दूसरोंका दुःख मिटानेकी चेष्टा वैसी ही होती है। तात्पर्य है कि वे दुःखी नहीं होते, पर दुःख दूर करनेकी

चेष्टा वैसे ही करते हैं, जैसे साधारण मनुष्य करता है।

दूसरेके सुख-दु:खसे सुखी-दु:खी होना भोग है, योग नहीं। महात्माओंमें भोग नहीं होता, प्रत्युत योग होता है। वे दर्पणकी तरह सुख-दु:खको पकड़ते नहीं। योगमें स्वयं सुखी-दु:खी नहीं होता, पर चेष्टा वैसी होती है। यह चेष्टा कर्मयोगी और भक्तियोगीमें विशेष होती है। ज्ञानयोगी तटस्थ रहता है, उसमें समता (निर्लिप्तता) रहती है॥ ८३॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त होनेके बाद भी क्या उसका धर्मी रहता है? क्या वह अपना अलग अस्तित्व बनाये रखता है?

उत्तर—हाँ, अलग अस्तित्व रखता है। उसमें 'मैं जीवन्मुक्त हो गया, दूसरे नहीं हुए'—यह भेद रहता है। अगर उसकी दृष्टिमें 'सब जीवन्मुक्त हैं' ऐसा मानें तो भी 'दूसरोंको बन्धनका वहम है, मेरा वहम नहीं है'—यह भेद रहता ही है। इसलिये गीताने जीवन्मुक्तके लिये भी **'स सर्वविद्भजति'** (१५।१९) पदोंसे भजन करनेकी बात कही है।

जीवन्मुक्तिके बाद बहुत दूरतक धर्मी रहता है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर फिर धर्मी नहीं रहता। धर्मी न रहनेपर भी स्वभाव-भेद रहता ही है—**'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि'** (गीता ३।३३)। तलवारको पारससे छुआ दिया जाय तो उसकी मार, धार और आकार नहीं बदलते, प्रत्युत धातु बदलती है। इसीलिये भगवान्ने सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको पाँच भागोंमें विभक्त किया है (गीता १२।१३-१४, १५, १६, १७ और १८-१९)। भगवान्ने **'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्'** (गीता १०।३०) 'दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ'—इन पदोंमें वर्तमानकालका प्रयोग किया है। इससे भक्तोंका अलग अस्तित्व सिद्ध होता है। **'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४।२) 'ज्ञानी महापुरुष महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते'—इन पदोंसे भी ज्ञानी महापुरुषोंका अलग अस्तित्व सिद्ध होता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर अपनी सत्ताका नाश नहीं होता, प्रत्युत अपनी परिच्छिन्नताका, जड़-चेतनकी ग्रन्थिका नाश होता है।

जिसकी पहले प्राणिमात्रके हितमें रति रही है, उस मुक्त महापुरुषको भगवान् कारक पुरुषके रूपमें भेजते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मुक्त होनेपर उसकी अलग सत्ता मिटी नहीं।

भगवान्में लीन होनेका यह अर्थ नहीं है कि भक्तकी सत्ता ही नहीं रही। एक मूर्ख आदमी विद्वान् बन जाता है तो क्या उसकी सत्ता मिट जाती है? भगवान्में लीन होनेका अर्थ है—भगवान्के रूपमें अवतार लेना। जैसे, भगवान् कच्छप, वराह आदि रूपोंमें अवतार लेते हैं तो उनकी सत्ता मिट नहीं जाती। भगवान्में लीन होनेपर जैसा होता है, वैसा अभी भी है। भगवान्में लीन होना अथवा उनके लोकमें निवास करना—दोनों नित्य हैं और भक्तके भावके अनुसार होते हैं। वास्तविक बातका पता अनुभव होनेपर ही लगता है॥ ८४॥

प्रश्न—कारक पुरुष कौन होते हैं?

उत्तर—जो मुक्त हो गये हैं, भगवान्को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं जीवोंमेंसे स्वभावके अनुसार भगवान् उनको कारक पुरुष, यमराज अथवा ब्रह्मा बनाते हैं। 'कारक' का अर्थ है—कल्याण करनेवाला। जिनका स्वभाव पहले प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है, उनको भगवान् कारक पुरुष बनाकर पृथ्वीपर भेजते हैं। कारक पुरुषका जन्म भगवान्के अवतारकी तरह कर्मोंके अधीन नहीं होता, प्रत्युत भगवान्की इच्छाके अधीन होता है। उनके शरीरमें कोई रोग भी नहीं होता। श्रीवेदव्यासजी महाराज ऐसे ही कारक पुरुष थे॥ ८५॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा मृत्युसे बचनेकी चेष्टा होती है?

उत्तर—जैसे दूसरे व्यक्तिको बचानेकी चेष्टा होती है, ऐसे ही उनके द्वारा अपनेको बचानेकी चेष्टा होती है, पर जी जाय या मर जाय—

इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। कारण कि उनमें न तो जीनेकी इच्छा होती है और न मृत्युका भय ही होता है। उनके द्वारा बिना इच्छा और भयके, स्वतः-स्वाभाविक चेष्टा होती है; जैसे—नींदमें मच्छर काटे तो हाथ स्वतः वहाँ जाता है, सर्दी लगे तो हाथ स्वतः कम्बलपर पड़ता है॥ ८६॥

प्रश्न—कोई व्यक्ति जीवन्मुक्त महापुरुषके दर्शन कर ले तो क्या उसका कल्याण हो जायगा?

उत्तर—भक्त, जीवन्मुक्त अथवा भगवान्‌के दर्शनसे ही कल्याण हो जाय—यह बात जँचती नहीं। दुर्योधन भगवान् कृष्णको एक चालाक आदमी समझता था तो उसको चालाक आदमीके दर्शन हुए, भगवान्‌के दर्शन कहाँ हुए! तात्पर्य है कि कल्याण होनेमें भावकी मुख्यता है। अपनी भावना (श्रद्धा-प्रेम) विशेष हो तो कल्याण हो सकता है॥ ८७॥

प्रश्न—भीष्म पितामह जीवन्मुक्त थे, फिर दुर्योधनका अन्न खानेसे उनकी बुद्धि अशुद्ध कैसे हो गयी?

उत्तर—मनुष्य जीवन्मुक्त होता है तो उसका शरीर संसारसे अलग नहीं होता, प्रत्युत वह स्वयं शरीरसे अलग हो जाता है। अतः अशुद्ध अन्न खानेसे जीवन्मुक्तकी वृत्तियाँ भी अशुद्ध हो सकती हैं, पर वह वृत्ति तात्कालिक होती है, स्थायी नहीं। भीष्म पितामहके जीवनसे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको खराब अन्न नहीं लेना चाहिये॥ ८८॥

तत्त्वज्ञान

प्रश्न—तत्त्वज्ञान होनेपर किसमें फर्क पड़ता है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेपर न तो स्वयं (आत्मा)-में फर्क पड़ता है और न अन्तःकरण (मन-बुद्धि)-में ही फर्क पड़ता है, प्रत्युत अपनी मान्यतामें फर्क पड़ता है, जो बुद्धिमें दीखती है।

बन्धन और मुक्ति दोनों कर्तामें ही हैं अर्थात् बन्धन और मुक्तिकी मान्यता स्वयंमें है। स्वयंमें इस मान्यताकी स्वीकृति है॥ ८९॥

प्रश्न—तत्त्वज्ञान और तत्त्वनिष्ठामें क्या भेद है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेके बाद तत्त्वनिष्ठा होनेमें समय लगता है, पर मुक्तिमें सन्देह नहीं रहता। तत्त्वज्ञमें कुछ कोमलता रहती है, पर तत्त्वनिष्ठमें स्वतः-स्वाभाविक दृढ़ता रहती है। जैसे नींद खुलनेपर कुछ देरतक आँखोंमें भारीपन रहता है, आँखोंको प्रकाश सहन नहीं होता, ऐसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर पहलेका कुछ संस्कार रहता है। पर तत्त्वनिष्ठा होनेपर यह संस्कार नहीं रहता।

तत्त्वज्ञका व्यवहार जलमें लकीरके समान और तत्त्वनिष्ठका व्यवहार आकाशमें लकीरके समान होता है। गीतामें **'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः'** (५। २०) पदोंमें आये **'ब्रह्मविद्'** पदसे तत्त्वज्ञान होनेकी और **'ब्रह्मणि स्थितः'** पदोंसे तत्त्वनिष्ठा होनेकी बात आयी है॥ ९०॥

प्रश्न—तत्त्वबोध होनेपर निष्ठा स्वतः होती है या उसके लिये कुछ करना पड़ता है?

उत्तर—निष्ठा स्वतः होती है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तत्त्वनिष्ठा होनेमें कम या अधिक समय लगता है। जैसे, शरीरकी प्रकृति अलग होनेसे किसीको जुकाम लगता है तो बहुत जल्दी ठीक

हो जाता है और किसीको जल्दी ठीक नहीं होता। साधक असत्‌को जितनी महत्ता देता है, उतनी ही देरी लगती है और जितनी बेपरवाह करता है, उतनी ही जल्दी निष्ठा होती है॥ ९१॥

प्रश्न—राजा जनकको घोड़ेकी रकाबपर पैर रखते ही तत्त्वज्ञान हो गया तो ऐसे तत्काल तत्त्वज्ञान होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—तीव्र जिज्ञासा हो, वर्तमान स्थितिमें सन्तोष न हो, अपनेमें कमीका अनुभव हो तथा वह कमी सह्य न हो तो बहुत जल्दी काम होता है। अत्यन्त श्रद्धा हो तो भी जल्दी काम होता है; जैसे—सन्त कह दें कि अमुक पदार्थ सोनेका है तो वह वैसा ही (सोनेका) दीखने लग जाय॥ ९२॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञान होनेपर स्वयंकी सम्पूर्ण शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं?

उत्तर—स्वयंमें अनन्त शक्तियाँ हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर वे सब शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं। तत्त्वज्ञानी महापुरुष 'युञ्जान योगी' होता है। अतः वह जहाँ वृत्ति लगाता है, वही शक्ति प्रकट होती है॥ ९३॥

प्रश्न—सात्त्विक ज्ञान और तत्त्वज्ञानमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सात्त्विक ज्ञानमें संग है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ**' (गीता १४। ६), पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा (देखनेवाला) रहता है, पर तत्त्वज्ञानमें द्रष्टा नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें 'मैं ज्ञानी हूँ'—इस प्रकार अपनेमें विशेषताका भान होता है, पर तत्त्वज्ञानमें (ज्ञानी अर्थात् अहंभाव न रहनेसे) अपनेमें विशेषता नहीं दीखती॥ ९४॥

प्रश्न—क्या तपस्यासे ब्रह्मज्ञान हो सकता है?

उत्तर—तपस्यासे ब्रह्मज्ञान परम्परासे हो सकता है, साक्षात् नहीं। वेदान्तमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अंतरंग साधन बताये हैं—विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और

तत्त्वपदार्थसंशोधन। तपस्या ज्ञानप्राप्तिका अंतरंग साधन नहीं है, प्रत्युत बहिरंग साधन है।

गीतामें ज्ञानको भी तप माना गया है—'**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः**' (४।१०)। शारीरिक तप साधनमें सहायक तो हो सकता है, पर उससे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। शारीरिक तपसे अभिमान भी पैदा हो सकता है॥ ९५॥

प्रश्न—ज्ञान तो अनन्त है, फिर 'तत्त्वज्ञान होनेपर जानना बाकी नहीं रहता'—यह कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—वास्तवमें ज्ञान अनन्त है। अतः 'तत्त्वज्ञान होनेपर जानना बाकी नहीं रहता'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि हमारी जिज्ञासा पूरी हो गयी। जैसे, हम कहते हैं कि मैंने पानी पी लिया तो इसका यह अर्थ नहीं है कि संसारमें पानी नहीं रहा, प्रत्युत यह अर्थ है कि हमारी प्यास बुझ गयी॥ ९६॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी ज्ञान बढ़ता रहता है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेपर बोधमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर जबतक तत्त्वज्ञ महापुरुषका शरीर रहता है, तबतक पहलेके अभ्यास अथवा स्वभावके कारण उसका विवेक (व्यवहारमें) बढ़ता रहता है। विवेक बढ़नेसे उसका विवेचन भी स्पष्ट तथा बढ़िया होता है और उसमें नये-नये दृष्टान्त, युक्तियाँ आती हैं। जैसे गैसबत्तीका मेण्टल जलनेके बाद विशेष प्रकाश देता है, ऐसे ही तत्त्वबोध होनेके बाद उस महापुरुषका विवेक विशेष प्रकाशित होता है। यह विशेषता चेतन (स्वरूप)-में नहीं आती, प्रत्युत जड़ (व्यवहार)-में आती है। कारण कि तत्त्वबोध होनेपर जड़-चेतनका सर्वथा विभाग हो जाता है अर्थात् जड़-चेतनकी ग्रन्थि टूट जाती है॥ ९७॥

दान

प्रश्न—क्या मृत्युके बाद नेत्रदान करना उचित है?

उत्तर—सर्वथा अनुचित है। जैसे सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिग (व्यस्क)-को होता है, नाबालिग (अव्यस्क)-को नहीं होता, ऐसे ही शरीरके किसी अंगका दान करनेका अधिकार जीवन्मुक्त महापुरुषको ही है। जिसने अपनी मुक्ति (कल्याण) कर लिया है, अपना मनुष्यजन्म सफल बना लिया है, वह बालिग है, शेष सब नाबालिग हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी शरीरके रहते हुए ही नेत्रदान कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद नहीं।

शवके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शवका कोई अंग काटनेसे अगले जन्ममें वह अंग नहीं मिलता। अंग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिह्न रहता है। कुछ व्यक्तियोंमें पूर्वजन्मका चिह्न इस जन्ममें भी देखा गया है। बालकके मरनेपर माताएँ उसके किसी अंगपर लहसुन लगा देती हैं तो वह चिह्न अगले जन्ममें भी रहता है॥ ९८॥

प्रश्न—दान अपनी वस्तुका ही होता है—'स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वक परसत्त्वोत्पादनम् दानम्', फिर कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी न मानकर दूसरोंकी सेवा करता है—यह बात कैसे?

उत्तर—वस्तु अपनी माननेसे कामना होती है। उसीकी वस्तु उसीको दे दी तो फिर कामना कैसे? कामना करना बेईमानी है। वास्तवमें अपना कुछ नहीं है। जो भी वस्तु हमारे पास है, वह मिली है और बिछुड़नेवाली है। अतः जो मिला है, वह दूसरोंकी सेवाके लिये ही है।

जो वस्तु वास्तवमें अपनी है, उसका त्याग कभी होता ही नहीं।

क्या स्वरूपका त्याग हो सकता है? क्या सूर्य अपनी किरणोंका त्याग कर सकता है? नहीं कर सकता। त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया है। अत: अपनी मानकर वस्तु देना राजस-तामस त्याग है, जिससे मुक्ति नहीं होती॥ ९९॥

प्रश्न—पति दान करनेसे मना करता हो तो क्या पत्नी छिपकर दान कर सकती है?

उत्तर—दान करना दोषी नहीं है, पर छिपकर दान करना दोषी है। स्त्रीको चाहिये कि वह पतिसे मासिक ले और उसमेंसे अर्थात् अपने हकके रुपयोंमेंसे दान करे। अपने हिस्सेकी वस्तुमें तो उसका अधिकार है ही।

पति आदिसे छिपाकर दान करना 'गुप्त दान' नहीं है, प्रत्युत चोरी है। गुप्त दान वह है, जिसमें लेनेवालेको पता ही न लगे कि किसने दिया॥ १००॥

प्रश्न—कुछ लोग अपने घरके बाल-बच्चोंको, पत्नीको वस्तु न देकर दूसरोंको देते हैं, उनकी सेवा करते हैं—यह उचित है क्या?

उत्तर—ऐसे लोग वास्तवमें अपना कल्याण नहीं चाहते, प्रत्युत मान-बड़ाई चाहते हैं। वस्तुओंपर अपने परिवारवालोंका पहला हक है। जो हमसे जितना नजदीक होता है, उतना ही उसका अधिक हक होता है, उतना ही वह सेवाका अधिकारी होता है। परिवारवालोंका हमपर ऋण है। ऋण पहले उतारना चाहिये, दान-पुण्य पीछे करना चाहिये॥ १०१॥

प्रश्न—अपनेपर कर्जा हो तो क्या दान-पुण्य कर सकते हैं?

उत्तर—कर्जदार व्यक्तिको दान-पुण्य करनेका अधिकार नहीं है। इसलिये पहले कर्जा चुकाना चाहिये। हाँ, यदि दान-पुण्य करना ही हो तो अपने रोटी-कपड़ेके खर्चेमेंसे निकालकर करना चाहिये॥ १०२॥

प्रश्न—मृतात्माके निमित्त ब्राह्मणको शय्या, वस्त्र आदिका दान करते हैं तो ब्राह्मण उन्हें बेच देते हैं और रुपये इकट्ठे कर लेते हैं, यह

दोष (काम-क्रोधादि)

प्रश्न—जैसे द्रवित मोममें जो रंग डाला जाय, वही उसमें बैठ जाता है, ऐसे ही द्रवित चित्तमें जो कामादि दोष बैठ गये हैं, उनको कैसे निकालें?

उत्तर—द्रवित चित्तमें काले श्यामसुन्दरको बैठा दें। काले रंगमें सब रंग समा जाते हैं॥ १०५॥

प्रश्न—दोष आने-जानेवाले हैं, पर दीखता ऐसा है कि दोष कहींसे आते नहीं, प्रत्युत अपने भीतर ही रहते हैं और समयपर जाग्रत् हो जाते हैं?

उत्तर—दोष अन्त:करणमें आदतरूपसे, संस्काररूपसे रहते हैं और अन्त:करणमें ही जाग्रत् होते हैं। परन्तु अन्त:करणके साथ तादात्म्य होनेसे उन दोषोंको हम अपनेमें मान लेते हैं। अत: साधकमें यह सावधानी रहनी चाहिये कि वह दोषोंको अपनेमें न माने। कारण कि वास्तवमें दोष अपनेमें होते नहीं। स्वरूप निर्दोष है॥ १०६॥

प्रश्न—एक बात यह कही जाती है कि स्वरूप निर्दोष है और एक बात कही जाती है कि *'मो सम कौन कुटिल खल कामी'*— दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—दोनों ही बातें ठीक हैं; क्योंकि दोनोंका परिणाम एक ही है और वह है—निर्दोष होना। पहली बात ज्ञानकी दृष्टिसे कही गयी है और दूसरी बात भक्तिकी दृष्टिसे। अपने स्वरूपको देखें तो वह निर्दोष है। भक्त भगवान्‌के सामने अपने दोषोंको कहता है तो उसका उद्देश्य दोषोंको रखनेका नहीं है, प्रत्युत मिटानेका है। भगवान्‌के सामने कोई दोष टिक सकता है क्या?

'मो सम कौन कुटिल खल कामी'—ऐसा कहना अपनेमें दोषोंकी स्थापना करना नहीं है, प्रत्युत अपने दोषोंको भगवान्‌के सामने रखना है, उनको आगमें डालकर भस्म करना है।

जो साधक होता है, उसको अपनेमें थोड़ा भी दोष बहुत बड़ा दीखता है। वह चक्षुगोलकके समान होता है—**'अक्षिपात्रकल्पं योगिनम्'** (योगदर्शन २। १६ का व्यासभाष्य)। जैसे, पीठपर तिनका पड़ा हो तो कोई पीड़ा नहीं होती, पर आँखमें पड़ा छोटे-से-छोटा तिनका भी पीड़ा देता है॥ १०७॥

प्रश्न—सर्वथा निर्दोष जीवन कैसे मिलेगा?

उत्तर—सर्वथा निर्दोष जीवन मिलेगा निर्मम-निरहंकार होनेसे! कारण कि अहंता-ममता ही सम्पूर्ण दोषोंका घर है॥ १०८॥

प्रश्न—जो वस्तुएँ विजातीय हैं, उनमें ममता, कामना, आसक्ति कैसे होती है?

उत्तर—विजातीय शरीरको अपना स्वरूप ('मैं') मानकर हम सजातीय हो गये, इसलिये ममता, कामना, आसक्ति होती है॥ १०९॥

प्रश्न—क्रोध आनेपर क्या करना चाहिये?

उत्तर—चुप हो जाना चाहिये। बोलनेसे क्रोध बढ़ता है, चुप होनेसे क्रोध शान्त होता है। यदि बोले बिना रहा न जाय तो मुखमें ठण्डा जल भर ले और उसको कुछ देरतक मुखमें ही रखकर फिर धीरे-धीरे पी जाय। जलसे क्रोधरूपी अग्नि शान्त होती है।

मूलमें क्रोध अहंकार और कामनासे पैदा होता है—**'कामात्क्रोधोऽभिजायते'** (गीता २। ६२)। जब अभिमानरूपी फोड़ेमें ठेस लगती है अथवा मनके विरुद्ध कोई बात होती है, तब क्रोध आता है। इसलिये अहंकार और कामनाका त्याग करना चाहिये।

शरीर संसारका है और मैं भगवान्‌का हूँ। मैं शरीरसे सर्वथा अलग हूँ। इस प्रकार विवेककी प्रधानता होनेसे क्रोध नहीं आता।

बड़ोंपर क्रोध आये तो उनके चरणोंमें गिर जाना चाहिये कि मुझे क्रोध आ गया!

सत्संग करनेसे स्वभाव सुधरता है और काम-क्रोधादि दोष कम होते हैं॥ ११०॥

प्रश्न—कामवृत्तिका नाश कैसे हो?

उत्तर—शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही काम-वृत्ति पैदा होती है। हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामात्रकी तरफ वृत्ति रहनेसे कामवृत्तिका नाश हो जाता है। कारण कि सत्तामें विकार नहीं है और विकारमें सत्ता नहीं है।

विचार करनेसे अथवा भगवान्‌से प्रार्थना करनेसे भी 'काम'से बचा जा सकता है। दृढ़ निश्चयसे भी 'काम' दूर हो जाता है; जैसे—पहले जमानेमें राजालोग ही नहीं, डाकू भी स्त्रियोंसे दुर्व्यवहार नहीं करते थे तो यह उनका दृढ़ निश्चय था।

'काम' नीरसतासे पैदा होता है। जैसे कुत्तेको मांस नहीं मिलता तो वह सूखी हड्डी ही चबाता है, जिससे उसके मुखसे खून निकलता है और वह उसीसे राजी हो जाता है! ऐसे ही नीरसतामें मनुष्य देखता है कि कोई भी भोग मिल जाय तो थोड़ा सुख ले लें! यदि भगवान्‌में प्रियता हो जाय तो नीरसता दूर हो जायगी और नीरसता दूर होनेसे 'काम' भी नहीं रहेगा॥ १११॥

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं; अतः 'काम' भी भगवान्‌का स्वरूप हुआ, फिर उसका निषेध क्यों?

उत्तर—मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है—'**मृत्युः सर्वहरश्चाहम्**' (गीता १०। ३४) तो क्या कोई जान-बूझकर मरना चाहेगा? नरक भी भगवान्‌का स्वरूप है तो क्या कोई नरकोंमें जाना चाहेगा? परन्तु मनुष्यका उद्देश्य सदा अपने कल्याणका, आनन्दका ही होता है, दुःखका नहीं। अत: निषिद्ध क्रिया कभी नहीं करनी चाहिये॥ ११२॥

प्रश्न—ममता मिटानेका उपाय क्या है?

उत्तर—ममता-कामना मिटानेके लिये किसी श्रमसाध्य साधनकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विचारकी आवश्यकता है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी नहीं होती—यह विचार करना चाहिये॥ ११३॥

प्रश्न—किसीमें बुराई दीखे तो क्या करना चाहिये? उसका सुधार करें, उपेक्षा करें या प्रभुकी लीला मानें?

उत्तर—उसके सुधारकी चेष्टा करें और यदि वह न माने तो प्रभुकी लीला समझकर उपेक्षा कर दें॥ ११४॥

प्रश्न—कोई भी व्यक्ति बुरा नहीं है, कैसे?

उत्तर—सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७) और परमात्माका अंश कभी बुरा नहीं होता। बुराई तो आगन्तुक है अर्थात् संसारके सम्बन्धसे बुराई आयी है, मूलमें है नहीं। बुराईकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत भलाईकी कमीका नाम ही बुराई है॥ ११५॥

प्रश्न—अगर किसीकी भी बुराई देखना दोष है तो फिर बुराई देखे बिना गुरु शिष्यका, पिता पुत्रका सुधार कैसे करेगा?

उत्तर—दूसरेको निर्दोष बनानेकी नीयतसे बुराई देखना दोष नहीं है। दोष है—बुराई देखकर राजी होना। गुरु शिष्यकी और पिता पुत्रकी बुराई देखकर राजी नहीं होता, प्रत्युत दुःखी होता है और उसको निर्दोष देखना चाहता है॥ ११६॥

धर्म

प्रश्न—धर्मका मूल क्या है?

उत्तर—स्वार्थका त्याग तथा दूसरोंका हित॥ ११७॥

प्रश्न—धर्मका प्रचार कैसे करें?

उत्तर— धर्मके अनुसार खुद चलें—इसके समान धर्मका प्रचार कोई नहीं है॥ ११८॥

प्रश्न—विजय धर्मकी ही होती है, पर आजकल कहीं-कहीं अधर्मकी विजय और धर्मकी हार होती हुई क्यों दीखती है?

उत्तर— जब मनुष्य सुखासक्तिके कारण असत्‌को महत्त्व देता है, तब हार होती है। वास्तवमें हार होती नहीं, पर दीखता ऐसा है कि हार हो गयी!॥ ११९॥

नामजप

प्रश्न—पाप तो बहुत पुराने हैं और नामजप अभी करते हैं। नये नामजपसे पुराने पाप कैसे कटते हैं?

उत्तर—इसमें यह बलाबल नहीं देखा जाता कि नया है या पुराना, कम है या ज्यादा। नया पुरानेके लिये ही होता है। गुफामें सैकड़ों वर्षोंका अँधेरा प्रकाश करते ही तत्काल दूर हो जाता है। मनोंभर रूई एक दियासलाईसे जल जाती है। जिस वस्तुका आजतक परिचय (ज्ञान) नहीं हुआ, उससे तुरन्त परिचय हो जाता है॥ १२०॥

प्रश्न—क्या चौबीस घण्टे लगातार नामजप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं?

उत्तर—नामजप करते-करते दर्शनकी लगन लग जाय तो दर्शन हो सकते हैं। वास्तवमें लगनसे दर्शन होते हैं, क्रियासे नहीं। लगन होती है संसारसे विमुख होनेसे॥ १२१॥

प्रश्न—कितना जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं?

उत्तर—कलिसन्तरणोपनिषद्‌में आया है कि 'हरे राम०' का साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यह नियम नहीं है। साढ़े तीन करोड़से भी अधिक जप करनेवाले व्यक्ति हमें मिले हैं, पर उनको भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए। कारण यह है कि भगवान्‌का दर्शन होनेमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भावकी, प्रेमकी, लगनकी प्रधानता है। अतः प्रेम कम हो तो साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे भी दर्शन नहीं होते और प्रेम अधिक हो तो इससे कम जप करनेसे भी दर्शन हो जाते हैं। संख्या इसलिये बतायी जाती है कि आलस्य-प्रमाद न हो।

यदि उद्देश्य तेज हो और अपने बलका सहारा न हो तो एक नामसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है— *'निरबल ह्वै बलराम पुकारयो आये आधे नाम'*। संख्या (क्रिया)-की तरफ वृत्ति रहनेसे निर्जीव-(निष्प्राण) जप

होता है और भगवान्‌की तरफ वृत्ति रहनेसे सजीव-(सप्राण) जप होता है। अतः नामीमें प्रेम होना चाहिये और 'हमारे प्यारेका नाम है'— इसको लेकर नाम-जप करना चाहिये॥ १२२॥

प्रश्न—भगवान्‌के नाम अनन्त हैं तो क्या अन्तसमयमें किसी भी नामसे कल्याण हो जायगा?

उत्तर—वृत्ति भगवान्‌में होगी तो कल्याण होगा। यह नाम भगवान्‌का है—ऐसी वृत्ति होनी चाहिये। नाममें भी कल्याण करनेकी शक्ति है, पर उसमें हमारी वृत्ति कारण है; जैसे-सरदी लगनेपर गरम कपड़ा ओढ़ते हैं तो हमारे शरीरकी गरमी ही कपड़ेमें आती है और हमारी ठण्डी दूर करती है। अन्तकालमें भगवन्नाम इसलिये सुनाते हैं कि उसमें भगवान्‌में वृत्ति करानेकी शक्ति है॥ १२३॥

प्रश्न—मरनेवाला तो संसारका चिन्तन कर रहा है, पर दूसरा व्यक्ति उसको भगवन्नाम सुना रहा है तो क्या उसका कल्याण हो जायगा?

उत्तर—भगवान्‌ने मनुष्यको अन्तकालमें विशेष छूट दी है। अतः अन्तकालमें भगवन्नाम सुनानेसे वहाँ यमदूत नहीं आयेंगे। दूसरी बात, नाम सुनानेवालेका उद्देश्य कल्याण करनेका है तो नाम सुनानेसे उसका कल्याण हो जायगा। तीसरी बात, नाम सुननेसे मरनेवाले व्यक्तिको अन्तकालमें भगवान्‌की याद आ जायगी तो उसका कल्याण हो जायगा॥ १२४॥

प्रश्न—कोई भगवन्नाम न सुनाकर कीर्तनकी टेप लगा दे तो?

उत्तर—उसमें भी टेप लगानेवालेका उद्देश्य काम करेगा॥ १२५॥

प्रश्न—कोई भगवन्नाम न सुनाकर मनसे नामजप करे तो?

उत्तर—उसका उद्देश्य काम करेगा॥ १२६॥

परहित

प्रश्न—परहितका भाव होनेमें बाधा क्या है?

उत्तर—व्यक्तिगत स्वार्थ ही बाधक है। वास्तवमें व्यक्तिगत स्वार्थका भाव रखनेसे स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, पर सबके हितका भाव रखनेसे (व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़नेसे) व्यक्तिगत स्वार्थ भी सिद्ध हो जाता है! सबके हितका भाव रखनेवालेकी सेवा पशु भी करते हैं॥ १२७॥

प्रश्न—भजन-ध्यान आदि साधन सबके हितके लिये करने चाहिये—यह बात यदि सत्य है तो यह मानना पड़ेगा कि अभीतक किसीका साधन सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि अभीतक सबका हित नहीं हुआ?

उत्तर—इसमें सबके हितका तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत अपने स्वार्थके त्यागका तात्पर्य है। सबके हितकी बात तो दूर रही, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका भी हित (कल्याण) नहीं कर सकता, पर अपने स्वार्थका त्याग कर सकता है। सबके हितका भाव साधन है, साध्य नहीं॥ १२८॥

प्रश्न—अपना हित न सोचकर दूसरेका हित क्यों सोचें?

उत्तर—हमारा हित हो—यह स्वार्थवृत्ति ही हमारे हितमें बाधक है। जितना दूसरेके हितके लिये करेंगे, उतना ही अपना स्वार्थ मिटेगा। जितना स्वार्थ मिटेगा, उतना हमारा हित होगा॥ १२९॥

प्रश्न—दुःखी व्यक्तिको देखकर दुःख होगा तो उससे सम्बन्ध जुड़ जायगा, फिर बन्धन कैसे छूटेगा?

उत्तर—यह सम्बन्ध बाँधनेवाला नहीं है। दुःखीको देखकर दुःख होता है तो इससे सिद्ध हुआ कि उसके अधिकारवाली कोई वस्तु हमारे पास है। वह वस्तु उसकी सेवामें लगा दो॥ १३०॥

पाप-पुण्य

प्रश्न—पाप-पुण्यरूप कर्मोंका संग्रह कहाँ होता है?

उत्तर—अन्त:करणमें होता है। जैसे, बिजली कितनी खर्च हुई—इसका पता मीटरसे लग जाता है। कोई व्यक्ति कभी भी, किसी भी समय बिजली खर्च करे और कितना ही छिपकर बिजली खर्च करे, पर मीटरमें सब अंकित हो जाता है। ऐसे ही पाप-पुण्यको अंकित करनेवाला विलक्षण मीटर अन्त:करणमें है॥ १३१॥

प्रश्न—क्या अपनी अथवा दूसरेकी रक्षाके लिये दुष्ट व्यक्तिको मारनेसे पाप लगता है?

उत्तर—यद्यपि यह कार्य क्षत्रियका है, तथापि जब देशमें अराजकता फैल जाय, राजा (शासक) हमारी पुकार न सुने, हम न्यायपूर्वक चलते हों तो भी हमपर अन्यायपूर्वक आक्रमण होते हों तो ऐसी स्थितिमें चारों वर्णोंका क्षात्रधर्म हो जाता है अर्थात् स्त्री, गाय, सम्पत्ति, प्राण आदिकी रक्षाके लिये चारों वर्ण शस्त्र धारण कर सकते हैं*। परन्तु उद्देश्य केवल अपनी तथा स्त्री आदिकी रक्षाका ही होना चाहिये, दूसरेको मारनेका नहीं। रक्षा करते हुए वह दुष्ट व्यक्ति मर भी जाय तो पाप नहीं लगता। उसके मरनेसे दुनियाका भी भला होगा और उसका भी भला होगा; क्योंकि वह और नये पाप करनेसे बच जायगा।

वास्तवमें हिंसा भावसे होती है, क्रियासे नहीं। डॉक्टर आपरेशन करते समय रोगीका अंग काट देता है, सैनिक सीमापर शत्रुको मार देता है तो यह हिंसा नहीं मानी जाती; क्योंकि डॉक्टर और सैनिकका

* गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वाऽपि सङ्करे।
गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया॥ (बोधायनस्मृति २।२।८०)

भाव लोगोंके हितका है॥ १३२॥

प्रश्न—क्या पुण्यकर्म करनेसे पाप कट जाते हैं?

उत्तर—पापकर्म 'फौजदारी' की तरह हैं और पुण्यकर्म 'दीवानी' की तरह हैं। दोनोंका विभाग अलग-अलग है। पापोंका और पुण्योंका अलग-अलग संग्रह होता है। इसलिये स्वाभाविक रूपसे ये दोनों एक-दूसरेसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। परन्तु मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे प्रायश्चित्त-कर्म करे तो उससे पाप कट सकते हैं; जैसे—जुर्माना देकर मनुष्य कैदसे छूट सकता है॥ १३३॥

प्रश्न—जब पाप-पुण्य एक-दूसरेसे नहीं कटते तो फिर ऋषियोंकी तपस्या कैसे भंग हुई?

उत्तर—तपस्या भंग नहीं होती, प्रत्युत उसमें बाधा लग जाती है। जितनी तपस्या हो गयी, वह नष्ट नहीं होती। खुद विचलित होनेसे ही तपस्यामें बाधा लगती है। खुद विचलित न हो तो उसको कोई विचलित नहीं कर सकता—*'कामी बचन सती मनु जैसें'* (मानस, बाल० २५१। १)॥ १३४॥

प्रश्न—वर्तमानमें उग्र पाप और उग्र पुण्यका फल तत्काल देखनेमें नहीं आता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—इसमें कलियुग कारण है; क्योंकि कलियुग अधर्मका मित्र है—**'कलिनाधर्ममित्रेण'** (पद्मपुराण, उत्तर० १९३। ३१)। हाँ, जमा होते-होते बादमें इसका भयंकर फल अवश्य मिलता है; जैसे—फोड़ा धीरे-धीरे बढ़ता है और पककर फूटता है!॥ १३५॥

प्रश्न—कुछ व्यक्तियोंके किये पापका फल पूरे समाजको क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर—सृष्टि एक इकाई है। अत: व्यक्तिके पाप या पुण्यका प्रभाव सृष्टिमात्रपर पड़ता है। परन्तु उसके फलभोगमें अन्तर रहेगा ही अर्थात्

पापात्मापर जैसी आफत आयेगी, वैसी आफत पुण्यात्मापर नहीं आयेगी। पुण्यात्मा पुरुष भी पहले किये अपने पापका ही फल भोगते हैं। कभी आफत आनेपर वे बच भी जाते हैं; जैसे—दुर्घटना होनेपर एक ही गाड़ीमें बैठे आदमियोंमेंसे कोई मर जाता है, कोई बच जाता है॥ १३६॥

प्रार्थना

प्रश्न—प्रार्थनामें खास बात क्या है?

उत्तर—अपनी निर्बलताका और भगवान्‌की सबलता (प्रभाव, सामर्थ्य)-का अनुभव करना॥ १३७॥

प्रश्न—क्या प्रार्थना किये बिना भगवान् रक्षा नहीं करते?

उत्तर—रक्षा और पालन करनेकी शक्तिका नाम ही परमात्मा है। इसलिये वे तो बिना प्रार्थना किये भी सबकी रक्षा करते रहते हैं। परन्तु जैसे भगवान्‌की कृपा सबपर होती है, पर जो उस कृपाको स्वीकार करता है, उसपर वह कृपा ज्यादा फलीभूत होती है, ऐसे ही जो (द्रौपदी, गजराज आदिकी तरह) आर्तभावसे रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, उसपर भगवत्कृपा ज्यादा फलीभूत होती है॥ १३८॥

प्रश्न—कभी-कभी प्रार्थना करनेपर भी भगवान् कष्टसे रक्षा नहीं करते, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—आर्तभावमें कमी रहनेसे प्रार्थना सफल नहीं होती। इसलिये प्रार्थना आर्तभावसे और निर्बल होकर करनी चाहिये—*'निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आये आधे नाम'*॥ १३९॥

प्रश्न—प्रार्थना करनेपर भी रक्षा न होनेपर कई मनुष्योंमें नास्तिकता आ जाती है, ऐसा क्यों?

उत्तर—**भीतरमें पहलेसे नास्तिकता होती है, तभी आती है! नास्तिक वही बनता है, जो पहलेसे नास्तिक होता है। जो आस्तिक होता है, वह प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी आस्तिक ही**

रहता है, कभी नास्तिक नहीं होता। भगवान् कितनी ही विरुद्ध परिस्थिति भेजें तो भी भक्तमें नास्तिकता नहीं आती; क्योंकि वह प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌की कृपाको ही देखता है॥ १४०॥

प्रश्न—क्या दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कर सकते हैं?

उत्तर—कर सकते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। केवल एक दोष आता है कि क्या हम ज्यादा दयालु हैं? भगवान्‌में दया नहीं है क्या?॥ १४१॥

प्राण

प्रश्न—प्राणशक्ति और चेतनाशक्ति क्या है?

उत्तर—प्राणशक्ति क्रियात्मक होनेसे 'राजसी' है और चेतनाशक्ति विवेकात्मक होनेसे 'सात्त्विकी' है। शरीरका हिलना-डुलना प्राणशक्तिसे होता है। छिपकलीकी पूँछ कटनेपर भी प्राणशक्तिके कारण हिलती रहती है और प्राणशक्ति धीरे-धीरे समष्टि प्राणमें लीन हो जाती है। चेतनाशक्ति अन्तःकरणकी वृत्ति है। एक आदमी सोया हुआ है और एक आदमी मरा हुआ है। प्राणशक्ति काम न करनेसे दोनोंके शरीर अचल हैं। परन्तु दोनोंका चेहरा देखें तो उसमें अन्तर दीखता है। यह अन्तर सोये हुए आदमीमें चेतनाशक्ति होनेके कारण दीखता है॥ १४२॥

प्रश्न—मरनेपर प्राण (सूक्ष्मशरीर) निकल जाता है, फिर छिपकलीकी कटी पूँछ क्यों हिलती रहती है?

उत्तर—उसमें प्राण रहता है, तभी वह हिलती है। प्राण धीरे-धीरे निकलते हैं। इसलिये किसीके मरनेके बाद भी उसका तुरन्त अग्नि-संस्कार न करके लगभग आधा घण्टातक भगवन्नाम-कीर्तन करते रहना चाहिये।

प्राण (वायु)-के बिना कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। शरीरकी

सभी क्रियाएँ प्राणोंसे ही होती हैं। प्राणोंसे ही गमनागमन होता है। बल भी वायुका ही होता है। वायुपुत्र होनेके कारण ही हनुमान्‌जी और भीम बड़े बलवान् हैं। कोई भारी वस्तु उठाते हैं तो श्वास (वायु) रोककर ही उठाते हैं। श्वास लेते हुए भारी वस्तु नहीं उठा सकते॥ १४३॥

प्रारब्ध

प्रश्न—मनुष्यकी जन्म-कुण्डलीमें जो लिखा रहता है, वही होता है तो फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे हुआ?

उत्तर—एक 'करने' का विभाग है और एक 'होने' का। जन्म-कुण्डलीमें 'होने' की बात लिखी रहती है, 'करने' की नहीं। पारमार्थिक उन्नतिकी बात जन्म-कुण्डलीमें न होनेपर भी मनुष्य पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। अगर जन्म-कुण्डलीके अनुसार ही सब कार्य हों तो गुरु, शास्त्र, सत्संग, शिक्षा आदि सब व्यर्थ हो जायँगे!॥ १४४॥

प्रश्न—जन्म-कुण्डलीमें यह निर्देश रहता है कि बालक दुराचारी होगा या सदाचारी; अतः मनुष्य कर्मोंके अधीन हुआ?

उत्तर—जन्मके समय प्रारब्धके अनुसार जैसे ग्रह-नक्षत्र होते हैं, वैसे लिख दिया जाता है। परन्तु भविष्यमें मनुष्य जैसा चाहे, वैसा बननेमें स्वतन्त्र है।

ग्रह-नक्षत्र आदिकी एक सीमा होती है। मनुष्यके अन्तःकरणमें ग्रहोंके अनुसार समय-समयपर अच्छी या बुरी वृत्तियाँ तो पैदा हो सकती हैं, पर उनके अनुसार क्रिया करनेमें वह परवश नहीं है। वह चाहे तो अपने विवेकका उपयोग करके निषिद्ध क्रियाका त्याग कर सकता है। जैसे, हमें प्रारब्धके अनुसार धन मिलनेवाला है तो समयपर धन मिल जायगा, पर उस धनको ग्रहण करनेमें अथवा उसका त्याग करनेमें तथा सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं॥ १४५॥

प्रश्न—भृगुसंहिता आदिसे मालूम हो जाता है कि यह मनुष्य अमुक-अमुक कार्य करेगा, फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—ज्योतिषमें करनेकी बात उतनी ही आती है, जितनेसे फलभोग हो सके। जैसे, व्यापारमें नफा या नुकसान होनेवाला हो तो मनुष्यसे ऐसी क्रिया हो जायगी, जिससे फलका भोग (नफा या नुकसान) हो सके। सब क्रियाएँ जन्म-कुण्डली (प्रारब्ध)-के अनुसार हो ही नहीं सकतीं। केवल एक दिनमें ही मनुष्य इतनी क्रियाएँ करता है कि उनको लिखनेसे पुस्तक बन जाय!॥ १४६॥

प्रश्न—फल भुगतानेके लिये प्रारब्ध जो कर्म करवाता है, उसका पता कैसे चले कि यह कर्म प्रारब्धसे है या क्रियमाणसे?

उत्तर—इसका निर्णय, विश्लेषण करना बड़ा कठिन है! हाँ, इस विषयमें यह बात समझनेकी है कि फलभोगके लिये प्रारब्ध जो कर्म करवाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध नहीं होता। शास्त्रनिषिद्ध कर्म प्रारब्धसे नहीं होता, प्रत्युत कामनासे होता है—**'काम एषः'** (गीता ३। ३७) अतः प्रारब्धके अनुसार कर्म करनेकी वृत्ति तो हो जायगी, पर निषिद्ध आचरण नहीं होगा; क्योंकि फलभोगके लिये निषिद्ध आचरणकी जरूरत है ही नहीं। निषिद्ध आचरण तो नया कर्म होता है॥ १४७॥

प्रश्न—वाल्मीकिजीने पहले ही रामायण लिख दी, फिर उसके अनुसार ही सब क्रियाएँ हुईं, फिर मनुष्य स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—भगवान्‌की बात न्यारी है; क्योंकि वे कर्मोंके अधीन नहीं हैं। उनकी लीलामें सहायक अन्य पात्र (मन्थरा, कैकेयी आदि) भी विलक्षण होते हैं, साधारण नहीं। रामायणमें भी खास-खास बातें ही लिखी गयी थीं। भगवान् राम तथा अन्य पात्रोंके द्वारा प्रतिदिन अनेक क्रियाएँ होती थीं, पर वे सब क्रियाएँ रामायणमें कहाँ लिखी हैं?॥ १४८॥

प्रश्न—मनुष्यको जितनी आवश्यकता है, उतनी ही वस्तु मिलती

है या अधिक भी मिल सकती है?

उत्तर—सदा आवश्यकतासे अधिक ही वस्तु मिला करती है। मानव-जीवनका समय इतना अधिक मिला है कि मनुष्य कई बार अपना कल्याण कर ले!* वीर्यमें लाखों शुक्राणु रहते हैं, पर जीव एक ही शुक्राणुसे बनता है। संसारमें भी देखते हैं कि मोटरमें चार-पाँच आदमियोंके बैठनेकी जगह बनायी जाती है, पर आठ-नौ आदमी भी बैठ जाते हैं। आवश्यकताके अनुसार वस्तु तो काममें आ जाती है, पर आवश्यकतासे अधिक वस्तुका संग्रह ही होता है॥ १४९॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि पिताके किये कर्मका फल पुत्र-पौत्रोंको भी भोगना पड़ता है। ऐसा देखा भी जाता है कि पिताको कोई रोग हो तो वह पुत्र-पौत्रोंको भी हो जाता है। ऐसा क्यों?

उत्तर—जैसे रेडियो-स्टेशनसे ध्वनिका प्रसारण किया जाता है और रेडियोकी सुई घुमानेसे वही नम्बर मिल जाता है अर्थात् उससे सजातीय-सम्बन्ध हो जाता है तो वह ध्वनि पकड़ी जाती है। ऐसे ही जीव उसीके यहाँ जन्म लेता है, जिसके साथ उसका कोई कर्म-सम्बन्ध (ऋणानुबन्ध) होता है। अत: पुत्र-पौत्र एक प्रकारसे अपने ही कर्मोंका भोग करते हैं अर्थात् उनको वंश-परम्परासे वही रोग मिलता है, जिसका भोग उनके प्रारब्धमें है॥ १५०॥

प्रश्न—जब धन प्रारब्धके अनुसार ही मिलेगा तो फिर उद्योग क्यों करें?

उत्तर—उद्योग करना हमारा कर्तव्य है—ऐसा मानकर करना चाहिये। मनुष्यको अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। भगवान्‌की आज्ञा भी है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २। ४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं।' अगर

* वास्तवमें कल्याण, मुक्ति, तत्त्वज्ञान, भगवत्प्राप्ति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है—'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (गीता ४। ३५)।

मनुष्य कर्तव्य-कर्म नहीं करेगा तो उसको दण्ड होगा। कर्तव्य-कर्म करनेसे तत्काल शान्ति मिलती है और न करनेसे तत्काल अशान्ति॥ १५१॥

प्रश्न—धन तो प्रारब्धके अनुसार मिलेगा, पर उसको खर्च करना नया कर्म है या प्रारब्ध?

उत्तर—धनको खर्च करना, कंजूस होना अथवा उदार होना नया कर्म है, प्रारब्ध नहीं॥ १५२॥

प्रश्न—जब प्रारब्धके अनुसार दुःख भोगना ही पड़ता है तो फिर औषध, दान, मन्त्र, अनुष्ठान आदिका क्या उपयोग हुआ?

उत्तर—जैसे किसी व्यक्तिको कैद होती है तो वह जुर्माना (रुपये) देकर कैदकी अवधि कम करा सकता है अथवा कैदसे छूट भी सकता है, ऐसे ही मनुष्य औषध, मन्त्र आदि उपाय करके प्रारब्धके भोगको क्षीण कर सकता है॥ १५३॥

प्रश्न—क्या भगवत्कृपासे प्रारब्धका नाश हो सकता है?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। इसलिये आर्तभावसे प्रार्थना करनेपर परिस्थिति बदल जाती है, कष्ट दूर हो जाता है॥ १५४॥

प्रश्न—भोजन किया तो भूख मिटना फल हुआ। फिर शौच गये तो यह 'कर्मका फल भी कर्म' हुआ। अतः मनुष्य जो कुछ करता है, प्रारब्धके अनुसार ही करता है। पुरुषार्थसे कुछ नहीं होता, सब प्रारब्धसे ही होता है। क्या यह ठीक है?

उत्तर—कर्मका फल कभी कर्म होता ही नहीं, प्रत्युत भोग होता है। शौच जाना कर्म नहीं है; क्योंकि इसमें कर्तृत्व नहीं है। क्रियमाण-कर्मके फल-अंशके दो भेद होते हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमें दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। भोजन करते समय तृप्ति होना 'तात्कालिक फल' है और परिणाममें शौच होना 'कालान्तरिक फल' है।

प्रारब्धका फल भोग है, कर्म नहीं। अगर कर्मका फल भी कर्म होगा तो कर्मोंका अन्त कभी आयेगा ही नहीं, कर्म-बन्धनसे मुक्ति होगी ही नहीं, जो 'अनवस्था दोष' है। पुरुषार्थसे प्रारब्ध बनता है, पर प्रारब्धसे पुरुषार्थ नहीं बनता। यदि सब कर्म प्रारब्धसे होंगे तो फिर प्रारब्ध कहाँसे होगा? प्रारब्ध क्रियमाण-कर्मका अंश है, फिर वह क्रियमाण कर्म कैसे करायेगा? जो प्रारब्धके अनुसार ही सब कर्म मानते हैं, उनके लिये एक ही प्रश्न पर्याप्त है कि 'त्याग' क्या काम आयेगा, कहाँ काम आयेगा?

पुरुषार्थ छोड़नेसे जो काम होता है, वह भगवान्‌की कृपासे होता है। उसको प्रारब्ध मानना भूल है। अपना पुरुषार्थ सर्वथा छोड़ना शरणागति है। शरणागतका काम भगवान्‌की कृपासे होता है॥ १५५॥

प्रश्न—त्याग करनेसे जो वस्तु प्रारब्धमें नहीं है, वह कैसे मिल जाती है?

उत्तर—रागका त्याग करनेसे किसी भी वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। किसी भी वस्तुके साथ सम्बन्ध न रहनेसे सब वस्तुओंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। सब वस्तुओंके साथ सम्बन्ध होनेसे आवश्यक वस्तुएँ स्वतः मिलती हैं। पुण्यकर्मसे जो प्रारब्ध बनता है, उससे भी बढ़िया प्रारब्ध त्यागसे बनता है॥ १५६॥

प्रश्न—एक साथ सैकड़ों मनुष्य मर जाते हैं तो सबका प्रारब्ध एक साथ कैसे?

उत्तर—जिन्होंने एक साथ पाप किया है, वे एक साथ ही मरते हैं। जैसे, लोकसभामें गौहत्या आदिका प्रस्ताव पास हुआ तो वे किसी जन्ममें मरेंगे तो एक साथ ही मरेंगे। जितनी अधिक सम्मति होगी, उतना अधिक कष्ट होगा। थोड़ी सम्मतिवाले घायल हो जायँगे॥ १५७॥

प्रश्न—भगवान्‌की मरजीके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—'होने' का विभाग अलग है और 'करने' का विभाग अलग है। भगवान्‌की मरजीके बिना पत्ता हिलता नहीं, पर हिला सकते हैं! हिलता नहीं—यह कहा है, हिलाता नहीं—यह नहीं कहा है। हम व्यापार, खेती आदि 'करते' हैं और नफा-नुकसान आदि 'होता' है। तात्पर्य है कि 'करना' हमारे हाथमें है और 'होना' भगवान्‌के अथवा प्रारब्धके हाथमें है॥ १५८॥

प्रेम

प्रश्न—जीवका तो भगवान्‌में आकर्षण (प्रेम) है, पर भगवान्‌का जीवमें आकर्षण कैसे है?

उत्तर—आकर्षण तो भगवान् और जीव—दोनोंमें है, पर भूल जीवमें है, भगवान्‌में नहीं। जैसे बच्चेको माँका प्रेम नहीं दीखता, ऐसे ही संसारमें आकर्षण होनेके कारण मनुष्यको भगवान्‌का प्रेम (आकर्षण) नहीं दीखता। यदि भगवान्‌का प्रेम दीखे (पहचानमें आये) तो उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं।

भगवान् कहते हैं— ***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। भगवान्‌का प्रेम ही जीवको खींचता है, जिससे कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती॥ १५९॥

प्रश्न—क्या परम प्रेमकी प्राप्तिसे पहले मुक्त होना आवश्यक है?

उत्तर—ज्ञानमार्गमें मुक्तिके बाद प्रेम प्राप्त होता है और भक्तिमार्गमें प्रेम-प्राप्तिके बाद मुक्ति होती है।

प्रेम तो जीवमात्रमें पहलेसे ही विद्यमान है, पर संसारमें राग होनेके कारण वह प्रेम प्रकट नहीं होता। सत्संगसे जितना राग मिटता है, उतना ही प्रेम प्रकट होता है और जितना प्रेम प्रकट होता है, उतना ही राग मिटता है।

वास्तवमें प्रेमके अधिकारी मुक्त महापुरुष ही होते हैं। मुक्तिसे पहले

भी प्रेम हो सकता है, पर वह असली नहीं होता। हाँ, साधकके लिये वह बहुत सहायक होता है। असली प्रेम मुक्तिके बाद ही होता है। मुक्तिसे पहले 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसी मान्यता रहती है, पर मुक्तिके बाद मान्यता नहीं रहती, प्रत्युत अनुभव होता है॥ १६०॥

प्रश्न—भगवान्‌ने प्रेमलीलाके लिये स्त्री-पुरुष (राधा-कृष्ण) का रूप क्यों धारण किया? दो मित्रोंमें भी तो प्रेम हो सकता है!

उत्तर—संसारमें सबसे अधिक आकर्षण स्त्री-पुरुषके बीच ही होता है। इसलिये आकर्षण तो स्त्री-पुरुषकी तरह हो, पर अपनी सुखबुद्धि किंचिन्मात्र भी न हो—यह बात संसारी लोगोंको समझानेके लिये ही भगवान्‌ने राधा-कृष्णका रूप धारण किया। जिसकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद हो, वह राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाको नहीं समझ सकता। इसको ठीक समझनेके लिये साधकको चाहिये कि वह स्त्री-पुरुषका भाव न रखे। अपनेमें सुखबुद्धि होनेके कारण इसको समझनेमें कठिनता पड़ती है। जिसके भीतर किंचिन्मात्र भी अपने सुखकी आसक्ति है, वह प्रेम-तत्त्वको नहीं समझ सकता। इसलिये जीवन्मुक्त ही इस भावको ठीक समझ सकता है॥ १६१॥

प्रश्न—क्या श्रीजीकी रागात्मिका भक्ति जीवको प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—हाँ, हो सकती है। कारण कि भगवान्‌ने श्रीजीको भी अपनेमेंसे प्रकट किया है और जीवोंको भी। अतः श्रीजी और जीवमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जीवने मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया, पर श्रीजीने दुरुपयोग नहीं किया। अतः श्रीजीकी रागात्मिका भक्ति (प्रेम) सब जीवोंको प्राप्त हो सकती है॥ १६२॥

प्रश्न—प्रेममें एकसे दो होनेपर दोनों समान रहते हैं, फिर दास्यभाव (एक स्वामी, एक सेवक) कैसे होता है?

उत्तर—दास्य आदि कोई भी भाव हो, प्रेममें अपनी अलग सत्ता

नहीं है; क्योंकि प्रेममें एक होकर दो हुए हैं। इसलिये कभी सेवक स्वामी हो जाता है, कभी स्वामी सेवक हो जाता है। कभी राधा कृष्ण बन जाती हैं, कभी कृष्ण राधा बन जाते हैं। शंकरजीके लिये कहा भी है— *'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'* (मानस, बाल० १५। २)! दक्षिणके एक मन्दिरमें शंकरजीने नन्दीको उठा रखा है! कभी नन्दी शंकरजीको उठाता है, कभी शंकरजी नन्दीको उठाते हैं! कभी भगवान् कृष्ण इष्ट हैं, कभी अर्जुन इष्ट हैं— **'इष्टोऽसि मे दृढमिति'** (गीता १८। ६४)। इसलिये प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा है॥ १६३॥

प्रश्न—जब साधक भगवान्में अपनापन करता है, तब उसको प्रेम प्राप्त होता है, पर सिद्ध (जीवन्मुक्त) को प्रेम कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर— साधकके लिये अपनापन है और मुक्तके लिये असन्तोष है। तात्पर्य है कि जब भगवान्की कृपा मुक्तिके रसको भी फीका कर देती है, तब उसको मुक्तिसे असन्तोष हो जाता है कि 'आप' (स्वयं) तो मिल गया, पर 'अपना' (स्वकीय) नहीं मिला! मुक्तिसे असन्तोष होनेपर उसको परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है॥ १६४॥

प्रश्न—भगवान् मीठे कैसे लगें?

उत्तर— भगवान् मीठे लगेंगे संसार खारा लगनेसे!॥ १६५॥

प्रश्न—मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहंकार रहता है, पर प्रेममें वह नहीं रहता, इसका क्या कारण है?

उत्तर— कारण यह है कि जीव परमात्माका अंश है। अतः यह परमात्मासे ज्यों-ज्यों दूर जाता है, त्यों-त्यों अहंकार दृढ़ होता जाता है और ज्यों-ज्यों परमात्माकी तरफ जाता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है। इसलिये स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहंकार रहता है और प्रेममें भगवान्के साथ अभिन्न होनेपर अहंकार सर्वथा मिट जाता है॥ १६६॥

प्रश्न—भगवान्में प्रेम कैसे बढ़े?

उत्तर—हम केवल भगवान्‌के ही अंश हैं; अतः वे ही अपने हैं। उनके सिवाय और कोई भी अपना नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन होनेसे प्रेम स्वतः बढ़ेगा। इसके सिवाय भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! आप मीठे लगो, प्यारे लगो!' भगवान्‌का गुणगान करनेसे, उनका चरित्र पढ़नेसे, उनके नामका कीर्तन करनेसे उनमें प्रेम हो जाता है। भगवान्‌के चरित्रसे भी भक्त-चरित्र पढ़नेका अधिक माहात्म्य है॥ १६७॥

प्रश्न—प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होता है?

उत्तर—प्रेममें योग और वियोग, मिलन और विरह दोनों होते हैं। जब भक्तकी वृत्ति भगवान्‌की तरफ जाती है, तब 'नित्ययोग' होता है और जब अपनी तरफ जाती है, तब 'नित्यवियोग' होता है। भगवान्‌की तरफ वृत्ति जानेपर एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं दीखता और अपनी तरफ वृत्ति जानेपर स्वयं अलग दीखता है। 'भगवान् ही हैं'—यह नित्ययोग है और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह नित्यवियोग है। नित्ययोगमें प्रेमका आस्वादन होता है और नित्यवियोगमें प्रेमकी वृद्धि होती है॥ १६८॥

प्रश्न—यदि हम निष्कामभावसे किसी व्यक्तिसे प्रेम करें तो उसका क्या परिणाम होगा?

उत्तर—कामनाके कारण ही संसार है। कामना न हो तो सब कुछ परमात्मा ही हैं, संसार है ही नहीं। निष्काम प्रेम होनेपर संसार नहीं रहेगा। कामना गयी तो संसार गया! इसलिये निष्कामभावसे किसीके साथ भी प्रेम करें तो वह भगवान्‌में ही हो जायगा॥ १६९॥

प्रश्न—भगवान्‌में प्रेमकी भूख क्यों है?

उत्तर—भगवान्‌में अपार प्रेम है, इसलिये उनमें प्रेमकी भूख है। जैसे, मनुष्यके पास जितना ज्यादा धन होता है, उतनी ही ज्यादा धनकी भख होती है। भगवानमें प्रेमकी कमी नहीं है, पर भूख है॥ १७०॥

प्रश्न—प्रेमसे रोना और मोह (शोक) से रोना—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रेमके आँसू ठण्डे और मोहके आँसू गरम होते हैं। मोहके आँसू तो नेत्रोंके बीचसे निकलते हैं, पर प्रेमके आँसू नेत्रके भीतरी (नासिकाकी तरफ) कोनेसे निकलते हैं। अधिक प्रेम होनेपर आँसू पिचकारीकी तरह तेजीसे निकलते हैं॥ १७१॥

भक्त

प्रश्न—मनुष्य भक्त कब होता है?

उत्तर— अपनी निर्बलताका अनुभव और भगवान्‌के महान् प्रभावपर विश्वास होते ही मनुष्य भक्त हो जाता है। कारण कि निर्बलका बलवान्‌के साथ, भूखेका अन्नके साथ, प्यासेका जलके साथ, रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध स्वत: हो जाता है।

भगवान् सर्वज्ञ, परम सुहृद् और सर्वसमर्थ हैं—यह भगवान्‌का प्रभाव है। अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता देखनेसे और अपनी निर्बलताका दु:ख न होनेसे अर्थात् उसको दूर करनेकी आवश्यकताका अनुभव न होनेसे भगवान्‌के प्रभावपर विश्वास नहीं होता॥ १७२॥

प्रश्न—क्या प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता रहती है?

उत्तर— प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता रहती ही नहीं; क्योंकि प्रेममें कोरा ज्ञान-ही-ज्ञान है! एक प्रेमास्पद (परमात्मा) के सिवाय और कुछ है ही नहीं—यही वास्तविक ज्ञान है॥ १७३॥

प्रश्न—एक ही भगवान् प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीलाके लिये कृष्ण और श्रीजी (राधा)—दो रूपोंमें होते हैं, फिर अन्य प्रेमी भक्तोंका क्या होता है?

उत्तर— अन्य प्रेमी भक्त श्रीजीमें लीन हो जाते हैं॥ १७४॥

प्रश्न—भगवान् अपने भक्तोंके ऋणको कैसे माफ करते हैं?

उत्तर—शरणागत भक्तका अपना कुछ है ही नहीं। जो कुछ है, वह भगवान्‌का है। अतः भक्तोंका ऋण भगवान्‌पर आ जाता है। जैसे, कोई व्यक्ति मर जाय तो उसकी सम्पत्ति सरकारके अधीन हो जाती है।

संसारमें कुछ भी अपना माननेसे ही ऋण होता है। जो कुछ भी अपना नहीं मानता और कुछ भी नहीं चाहता, उसपर ऋण कैसे?॥ १७५॥

प्रश्न—भक्त अपना सुख न चाहकर भगवान्‌को सुख देता है, कैसे?

उत्तर—भक्त भगवान्‌के '**एकाकी न रमते**'—इस अभावकी पूर्ति करता है। कारण कि भगवान्‌ने संसारको भक्तके लिये बनाया है और भक्तको अपने लिये बनाया है। इसलिये भक्तका अस्तित्व केवल भगवान्‌के सुखके लिये है। वास्तवमें सुखके भोक्ता भगवान् ही हैं, जीव नहीं। जैसे बच्चा माँके लिये होता है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के लिये है। भगवान्‌के सिवाय भक्तका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है॥ १७६॥

प्रश्न—क्या भक्त संसारमात्रका कल्याण कर सकता है? यदि कर सकता है तो फिर करता क्यों नहीं?

उत्तर—भक्त यदि चाहे तो संसारमात्रका कल्याण कर सकता है। परन्तु दूसरेके कल्याणकी सामर्थ्य होते हुए भी उसमें सामर्थ्यका अभिमान नहीं होता। उसको शर्म आती है कि भगवान्‌के रहते हुए मैं क्या कल्याण करूँ! उसके भीतर यह भाव ही नहीं होता कि मैं कल्याण कर सकता हूँ। उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**', फिर वह किसका कल्याण करे?॥ १७७॥

प्रश्न—श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कहा है कि मैं भक्तोंके पीछे यह सोचकर घूमता हूँ कि उनकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ* तो यह पवित्र होना क्या है?

---

* निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ (श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

उत्तर—पापी-पुण्यात्मा, पवित्र-अपवित्र सब कुछ भगवान्‌के अन्तर्गत ही है। सम्पूर्ण पापी भगवान्‌में ही हैं, इसलिये उनकी अपवित्रता भगवान्‌की ही अपवित्रता है और उनकी शुद्धि भगवान्‌की ही शुद्धि है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी चरण-रजसे (भगवान्‌के अन्तर्गत रहनेवाले) पापी भी पवित्र हो जाते हैं॥ १७८॥

प्रश्न—भक्तके साधन और साध्य—दोनों भगवान् होते हैं, तो साधन भगवान् कैसे?

उत्तर—उसके द्वारा जो साधन होता है, उसमें वह भगवान्‌की कृपाको ही हेतु मानता है। उसके साधनमें भी भगवान्‌का ही आश्रय रहता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है॥ १७९॥

प्रश्न—भक्त और भगवान्‌के चरित्रमें क्या फर्क है?

उत्तर—दोनोंका चरित्र एक ही है। फर्क इतना है कि भक्तमें पहले जड़ता थी, पर भगवान्‌में कभी जड़ता आयी ही नहीं। दोनोंका चरित्र सुननेसे कल्याण हो जाता है। भगवान्‌का चरित्र सुननेके भक्त अधिकारी हैं और भक्तका चरित्र सुननेके भगवान् अधिकारी हैं॥ १८०॥

प्रश्न—भक्त-चरित्रमें आयी कुछ घटनाओंकी सत्यतामें सन्देह हो जाय तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—सन्देह होनेपर यह विचार करे कि घटना भले ही झूठी हो, पर ऐसी घटना हो तो सकती है, सिद्धान्तसे यह ठीक तो है। हमें तो सिद्धान्तसे मतलब है, घटना चाहे हो या न हो। यदि कोई घटना असम्भव दीखे तो उसको छोड़ दे॥ १८१॥

प्रश्न—भक्त अपनेको भगवान्‌का मानता है तो शरीरसहित अपनेको मानता है या शरीररहित?

उत्तर—स्वयंको भगवान्‌का माननेसे शरीर भी साथमें हो जाता है। परन्तु शरीरको मुख्य माननेसे स्वयं साथमें नहीं होगा; क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता स्वयंकी है, शरीरकी नहीं। भक्तिमें सत्‌के साथ असत् भी हो

जाता है, पर सांसारिक भोग भोगनेमें असत्के साथ सत् भी हो जाता है अर्थात् भोक्ता, भोग और भोग्य—तीनों ही असत् हो जाते हैं॥ १८२॥

प्रश्न—भगवान्के प्रति भक्तका भाव कैसा होता है?

उत्तर—उसका भगवान्के प्रति अनन्यभाव होता है। उसका खिंचाव केवल भगवान्की तरफ ही होता है। भगवान्के सिवाय वह कुछ भी अपना नहीं मानता। उसका एकमात्र भगवान्में ही गाढ़ अपनापन होता है। उसका भाव भगवान्को सुख पहुँचानेका होता है—**'तत्सुखसुखित्वम्'**। भगवान्के सुखके लिये वह अपने सुखका त्याग कर देता है। भगवान् कैसे हैं, कैसे नहीं हैं—यह विवेक न लगाकर वह अपनी दृष्टिसे यही चेष्टा करता है कि किसी तरह भगवान्को सुख मिले॥ १८३॥

प्रश्न—भक्त क्या जानता है और क्या मानता है?

उत्तर—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है—यह भक्त 'जानता' है और केवल प्रभु ही हमारे हैं—यह भक्त 'मानता' है॥ १८४॥

भक्ति

प्रश्न—भक्ति कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—भगवान्के भक्तोंका संग करनेसे, उनके द्वारा भगवान्की महिमा सुननेसे, भक्तोंका चरित्र पढ़नेसे और भगवान्से प्रार्थना करनेसे भक्ति प्राप्त होती है। भगवान् और उनके भक्तोंकी विशेष कृपासे भी भक्ति प्राप्त होती है—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।

(नारदभक्ति० ३८)

'भक्ति मुख्यरूपसे भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

(मानस, अरण्य० १६। २) ॥ १८५ ॥

प्रश्न—भक्ति और भक्तियोगमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सकामभाव होनेपर 'भक्ति' होती है और निष्कामभाव होनेपर 'भक्तियोग' होता है। 'योग' निष्कामभाव होनेपर ही होता है। केवल 'कर्म' और केवल 'ज्ञान' से लाभ नहीं होता, पर केवल 'भक्ति' से लाभ होता है; क्योंकि भक्तिमें भगवान्का सम्बन्ध रहता है। इसलिये भगवान्ने सकामभाववाले (आर्त और अर्थार्थी) भक्तोंको भी उदार कहा है—'**उदाराः सर्व एवैते**' (गीता ७। १८) ॥ १८६ ॥

प्रश्न—भक्ति और शरणागतिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—भक्ति व्यापक है और शरणागति उसके अन्तर्गत है। जहाँ नवधा भक्तिका वर्णन आया है, वहाँ आत्मनिवेदन (शरणागति) को उसका एक अंग बताया है; जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३) ॥ १८७ ॥

प्रश्न—भक्ति सभी साधनोंके अन्तमें तो है, पर आरम्भमें कैसे है?

उत्तर—मनुष्यका जब सांसारिक आकर्षण छूटता है और परमात्मामें आकर्षण होता है, तभी वह साधनमें लगता है। परमात्मामें आकर्षण हुए बिना साधन होगा ही कैसे? यह आकर्षण ही भक्ति है। अतः भक्ति सभी साधनोंके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपसे रहती है ॥ १८८ ॥

प्रश्न—रामायणमें काकभुशुण्डिजी भक्तिको सर्वोपरि मानते हैं और योगवासिष्ठमें वे ज्ञानको सर्वोपरि मानते हैं, हम किसको ठीक मानें?

उत्तर—गहरा विचार करें तो तत्त्व एक ही है। संसारसे सम्बन्ध-

विच्छेद (मुक्ति) करनेमें ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है, केवल दृष्टिकोण (साधन-दृष्टि) का फर्क है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

(मानस, उत्तर० ११५। ७)

प्रेमके बिना ज्ञान शून्यतामें चला जाता है और ज्ञानके बिना प्रेम आसक्तिमें चला जाता है। ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति सुगम भी है और श्रेष्ठ भी। भगवान्‌की कृपाका आश्रय होनेसे यह सुगम है और प्रेम होनेसे श्रेष्ठ है॥ १८९॥

प्रश्न—मुक्ति होनेके बाद जो दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव होते हैं, वे किस आधारपर होते हैं?

उत्तर—पहलेके (साधनावस्थाके) संस्कारको लेकर होते हैं॥ १९०॥

प्रश्न—भगवान् विरह क्यों देते हैं?

उत्तर—भगवान् विरह इसलिये देते हैं कि भक्त अपनेमें प्रेमकी कमी अनुभव करे और कमी अनुभव करनेसे प्रेम बढ़े; क्योंकि विरहके बिना प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होता। भगवान् भक्तको उस आनन्दका अनुभव कराना चाहते हैं, जो उनके भीतर है॥ १९१॥

प्रश्न—शरीर चिन्मय कैसे होता है? जैसे—मीराबाईका शरीर चिन्मय होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया?

उत्तर—जब भगवान्‌के प्रति भक्तकी आत्मीयता अधिक प्रगाढ़ हो जाती है, तब उसका शरीर भी चिन्मय हो जाता है। उसके भीतरका भाव इतना दृढ़ हो जाता है कि वह मन-बुद्धि-शरीरमें उतर आता है। शरीर चिन्मय होनेपर वह भगवान्‌के अवतारी शरीरकी तरह हो जाता है। उसमें कोई रोग नहीं आता॥ १९२॥

प्रश्न—शरीरनिर्वाहके लिये तो संसारपर निर्भर होना ही पड़ता है, फिर भगवान्‌पर पूर्ण निर्भरता कैसे हो?

उत्तर—जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, पर उसकी निर्भरता

माँपर ही होती है, ऐसे ही व्यवहारमें अन्यकी निर्भरता होनेपर भी अपनी पूर्ण निर्भरता भगवान्‌पर ही होनी चाहिये। वास्तवमें शरीरका निर्वाह संसारपर निर्भर होनेसे नहीं होता, प्रत्युत प्रारब्धके अनुसार होता है॥ १९३॥

भगवान्

प्रश्न—भगवान्‌की आवश्यकता क्यों है?

उत्तर—अपनेमें कमी मानते हैं, इसलिये है। हमें कोई ऐसा साथी चाहिये, जो हमसे प्रेम करे, हमें आश्रय दे और कभी हमसे बिछुड़े नहीं, सदा साथ रहे। ऐसा साथी ईश्वर ही हो सकता है। तात्पर्य है कि हमें प्रेमके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताकी पूर्ति न स्वयंसे हो सकती है, न संसारसे। इसकी पूर्ति ईश्वरसे ही हो सकती है॥ १९४॥

प्रश्न—ईश्वरकी आवश्यकता कैसे जाग्रत् हो?

उत्तर—प्रेमका उद्देश्य होनेसे और संसारकी ममता-आसक्ति छूटनेसे ईश्वरकी आवश्यकता जाग्रत् होगी॥ १९५॥

प्रश्न—शास्त्र और सन्त परमात्माका अलग-अलग वर्णन करते हैं। कोई क्या कहता है, कोई क्या, फिर किसकी बात मानें?

उत्तर—परमात्मा क्या हैं—इसको कोई नहीं जानता। वे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं। उनके विषयमें जो कुछ कहा गया है, वह अपनी समझके लिये है और प्रक्रिया-भेदसे है।

अभीतक परमात्माका जितना वर्णन हुआ है, वह सब-का-सब मिलकर भी परमात्माका पूरा वर्णन नहीं है। यदि पूरा वर्णन हो जाय तो परमात्मा असीम नहीं रहेंगे, सीमित हो जायँगे! सभी लोग अपने-अपने मत एवं सम्प्रदायके अनुसार परमात्माका वर्णन करते हैं।

परमात्माका दया भरा कानून भी है कि उनके किसी भी अंग (नाम, रूप, गुण, लीला, धाम) को पकड़नेसे उनकी प्राप्ति हो जाती है।

साधकको केवल इतनी ही बात मान लेनी चाहिये कि 'परमात्मा हैं'। वे कैसे हैं? किस रूपवाले हैं? कहाँ रहते हैं? क्या करते हैं? आदि बातोंपर साधक बुद्धि लगायेगा तो झगड़ा पैदा होगा, एक नयी आफत पैदा होगी। परन्तु 'परमात्मा हैं' ऐसा मान लेनेसे सबके साथ समन्वय हो जायगा। प्रह्लादजीने नरसिंहरूपका चिन्तन-ध्यान नहीं किया था, उनको इष्ट नहीं माना था। उन्होंने दृढ़तासे यही मान लिया था कि 'भगवान् हैं और वही मेरे अपने हैं'। इसी तरह गजेन्द्रने भी भगवान्‌को यही मानकर पुकारा कि 'कोई एक ईश्वर है'॥ १९६॥

प्रश्न—जब परमात्माका वर्णन कोई कर सकता ही नहीं तो फिर शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें परमात्माका जो वर्णन आया है, उसकी सार्थकता क्या हुई?

उत्तर—जैसा वर्णन हुआ है, वैसा मानकर साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, इसलिये वह वर्णन उपयोगी है॥ १९७॥

प्रश्न—भगवान्‌पर विश्वास कैसे दृढ़ हो?

उत्तर—विवेकविरोधी विश्वासका त्याग करनेसे भगवान्‌का विश्वास दृढ़ हो जाता है। विश्वास, सम्बन्ध और कर्म—ये तीनों ही विवेक-विरोधी नहीं होने चाहिये। संसारपर विश्वास करना विवेकविरोधी 'विश्वास' है। संसारको अपना मानना विवेकविरोधी 'सम्बन्ध' है। शास्त्रनिषिद्ध तथा सकामभावसे कर्म करना विवेकविरोधी 'कर्म' है।

विश्वास विवेकसमर्थित नहीं होता। जहाँ विवेककी मुख्यता है, वहाँ विश्वास नहीं होता और जहाँ विश्वासकी मुख्यता है, वहाँ विवेक नहीं होता। भगवान्‌से भी विश्वास ही माँगना चाहिये। विश्वासके सिवाय और कुछ भी माँगनेकी जरूरत नहीं है। विश्वास प्रेमका साधन है। 'भगवान् हैं और वही मेरे अपने हैं'—इस विश्वाससे प्रेम

हो जाता है॥ १९८॥

प्रश्न—भगवान् दयालु हैं या न्यायकारी?

उत्तर—भगवान् संसारकी दृष्टिसे 'न्यायकारी' हैं, ज्ञानकी दृष्टिसे 'उदासीन' हैं और भक्तिकी दृष्टिसे 'दयालु' हैं। भगवान् तीनों हैं और तीनोंसे रहित भी हैं; फर्क हमारी दृष्टिमें है।

भगवान्में परस्परविरोधी सब भाव रहते हैं*। वे दयालु भी हैं, उदासीन भी हैं, पक्षपाती भी हैं, सब कुछ हैं। उनको हम अपनी बुद्धिसे समझ सकते ही नहीं! भक्तोंके भावसे भगवान्का भी भाव बदल जाता है। भगवान्के भावोंको कोई कह नहीं सकता। कहना दूर रहा, सोच भी नहीं सकता! वे सब तरहसे अनन्त, अपार, असीम हैं!

किसी वस्तुके विषयमें 'वह कैसी है, कैसी नहीं है'—यह विचार तब किया जाता है, जब हम उसका त्याग करनेमें समर्थ हों। परमात्माका त्याग कोई कर ही नहीं सकता; फिर वे कैसे हैं, कैसे नहीं हैं—ऐसा विचार करनेकी क्या जरूरत! वे कैसे भी हों, पर वे हमारे हैं॥† १९९॥

प्रश्न—एक मन्दिरमें चोर मूर्ति चुराने आये तो वहाँके पुजारीने कहा कि मैं जीते-जी मूर्ति नहीं ले जाने दूँगा। संघर्ष हुआ तो पुजारी मारा गया। भगवान्ने पुजारीकी रक्षा क्यों नहीं की?

---

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ (गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।'

† असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों, वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

उत्तर—यह पुजारीका हठ था, प्रेम नहीं। भगवान् हठसे प्रकट नहीं होते, प्रत्युत प्रेमसे प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस, बाल० १८५। ३)

पुजारी मारा गया तो भगवान्‌ने पापोंसे उसकी रक्षा की अर्थात् उसके पाप नष्ट हो गये। प्राय: घटना सुननेको और मिलती है तथा वास्तवमें और होती है। वास्तवमें क्या बात हुई—इसका क्या पता?

किसी घटनामें भगवान्‌का क्या हित भरा है—इसको हमारी बुद्धि नहीं पकड़ सकती। अगर हम अपनी बुद्धिसे भगवान्‌की परीक्षा करेंगे तो भगवान् फेल हो जायँगे! इसलिये अपनी बुद्धिसे पकड़नेकी चेष्टा न करे, प्रत्युत अपनी बुद्धिको उनके अर्पित कर दे कि भगवान् जो कुछ करते हैं, उसमें उनकी कृपा और सबका हित भरा होता है॥ २००॥

प्रश्न—ऐसी घटनाएँ पढ़ने-सुननेमें आती हैं कि कभी तो भगवान् संकटसे रक्षा कर देते हैं, कभी रक्षा नहीं करते, इसका क्या कारण है?

उत्तर—भगवान् प्रारब्धका भोग करवाते हैं। प्रारब्ध होता है तो भगवान् रक्षा कर देते हैं और प्रारब्ध नहीं होता तो रक्षा नहीं करते। प्रारब्धभोगका विधान भगवान् करते हैं।

भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो जैसे माँ कभी प्यार करती है, कभी थप्पड़ लगाती है तो दोनोंमें माँकी समान कृपा है, ऐसे ही भगवान् रक्षा करें अथवा रक्षा न करें, दोनोंमें उनकी समान कृपा है॥ २०१॥

प्रश्न—जब भगवान् सबकी रक्षा करनेवाले हैं तो फिर संसारमें हिंसा क्यों होती है?

उत्तर—भगवान् तो हिंसा करनेवालोंके हृदयमें दूसरेकी रक्षाकी प्रेरणा करते हैं, पर कामना तेज होनेके कारण वे भगवान्‌की आवाज नहीं सुन पाते॥ २०२॥

प्रश्न—जब भगवान् सबका पालन-पोषण करते हैं तो फिर मनुष्य भूखे क्यों मरते हैं?

उत्तर—यह उनका प्रारब्ध है। भगवान् उनके लिये अन्नकी आवश्यकता नहीं समझते। जैसे, वैद्य रोगीके लिये अन्न ग्रहण करना मना कर देता है तो उसका उद्देश्य रोगीको नीरोग बनाना है। तात्पर्य हुआ कि भूखसे वे ही मनुष्य मरते हैं, जिनका जीना भगवान् आवश्यक नहीं समझते। वास्तवमें आवश्यक वस्तु केवल परमात्मा ही हैं। भूखसे मरना भी एक साधन है, जिससे पुराने पापोंका प्रायश्चित्त होता है।

हम अपनी दृष्टिसे देखते हैं कि भगवान्‌को ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं, पर भगवान् हमसे ज्यादा जानते हैं, हमसे ज्यादा दयालु हैं और हमसे ज्यादा समर्थ हैं॥ २०३॥

प्रश्न—परम उदार भगवान्‌के रहते हुए लोग अभावग्रस्त क्यों हैं?

उत्तर—लोग नाशवान् पदार्थोंको नहीं छोड़ते तो भगवान्‌की उदारता क्या करे? कोई गंगाजीके पास जाय ही नहीं, जल पीये ही नहीं तो ठण्डक कैसे मिले? जबतक नाशवान्‌का खिंचाव नहीं मिटता, तबतक मनुष्य भगवान्‌की उदारताको नहीं पकड़ सकता॥ २०४॥

प्रश्न—भगवान् कहते हैं कि सब इन्द्रियोंसे मैं ही ग्रहण किया जाता हूँ*। इन्द्रियोंसे तो विषय (जड़) ही ग्रहण होगा, परमात्मा (चेतन) कैसे ग्रहण होगा?

उत्तर—ऐसा भगवान् साधकके भीतर जड़ताकी मान्यता हटानेके लिये कहते हैं। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि जड़ नहीं है, मैं ही

* मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ (श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

हूँ। साधक मेरे सिवाय अन्य किसीको सत्ता न दे॥ २०५॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि हमें प्यास लगती है तो जलरूपसे, भूख लगती है तो अन्नरूपसे भगवान् आते हैं, पर जल, अन्न आदि तो जड़ तथा परिवर्तनशील हैं?

उत्तर—हम अपनेको शरीर मानकर वस्तु चाहते हैं तो भगवान् भी वैसे ही बनकर आते हैं। हम असत्‌में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। हम जैसा देखना चाहते हैं, भगवान् वैसा ही दीखते हैं; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है— '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११) 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'॥ २०६॥

प्रश्न—भगवान् तो सुखके सागर हैं, फिर उनको सुख देनेका, उनकी सेवा करनेका भाव क्यों रखें?

उत्तर—माताएँ सन्तोंकी सेवा करती हैं, उनको भिक्षा देती हैं तो इस भावसे नहीं देतीं कि उनके पास खानेको कुछ नहीं है, प्रत्युत इस भावसे देती हैं कि हमारे द्वारा भी महाराजकी कुछ सेवा बन जाय! हमारी वस्तु भी महाराजकी सेवामें लग जाय! इसी तरह भक्तमें भी स्वाभाविक ही भगवान्‌की सेवा करनेका, उनको सुख देनेका भाव रहता है; क्योंकि वह स्वयं भी भगवान्‌का है और उसके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि भी भगवान्‌के हैं॥ २०७॥

प्रश्न—जिसने वस्तुतः कर्म नहीं किया, केवल भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया, उसको जब अल्पज्ञ न्यायाधीश भी दण्डादि फल नहीं देता तो फिर सर्वज्ञ ईश्वर क्यों देता है?

उत्तर—ईश्वर दण्ड नहीं देता। जो कर्ता बनता है, वही भोक्ता बनता है। वह अपनी भूलका ही फल भोगता है॥ २०८॥

प्रश्न—हम भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख हो जाते हैं तो भगवान् हमारी संसारकी सम्मुखता छुड़ा क्यों नहीं देते?

उत्तर—कारण कि भगवान्‌ने हमें स्वतन्त्रता दी हुई है। यदि वे स्वतन्त्रता न देते तो हम पशु-पक्षी आदिकी तरह ही होते। उस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके हमने संसारको अपना मान लिया॥ २०९॥

प्रश्न—हम मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करते हैं तो भगवान् वह स्वतन्त्रता वापिस क्यों नहीं ले लेते?

उत्तर—जबतक हम स्वतन्त्रता चाहते हैं, तबतक भगवान् उसको लेंगे नहीं। दी हुई वस्तुको वापिस लेनेका अधिकार नहीं है। यह कार्य सज्जनोंका नहीं है, प्रत्युत डाकुओंका है। हाँ, अगर हम अपनी स्वतन्त्रता उनको दे दें अर्थात् अपने-आपको उनके अर्पित कर दें, उनके शरणागत हो जायँ तो वे उसको ले लेंगे अर्थात् हमें मुक्त करके भक्त बना लेंगे॥ २१०॥

प्रश्न—भगवान् सब कुछ देते हैं, पर अपनेको छिपाकर देते हैं—ऐसा क्यों?

उत्तर—व्यवहारमें ऐसा देखा जाता है कि देनेवाला अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है और लेनेवाला छोटेपनका। भगवान् अपनेमें बड़प्पन और लेनेवालेमें छोटापन नहीं आने देते, इसीलिये अपनेको छिपाकर देते हैं। भगवान् जीवको तत्त्वज्ञान, मुक्ति देकर अपने समान बना लेते हैं, फिर भी अपनेको छिपाकर रखते हैं॥ २११॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि देनेवाले भी भगवान् हैं और लेनेवाले भी भगवान् हैं। लेनेवाले भगवान् कैसे?

उत्तर—भगवान्‌ने जीवमात्रको अपनेमेंसे ही प्रकट किया है, इसलिये लेनेवाले भी वे ही हैं। वास्तवमें एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)॥ २१२॥

प्रश्न—कण-कणमें भगवान् हैं और कण-कण भगवान् ही हैं—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—कण-कणमें भगवान् हैं—यह मान्यता है और कण-कण

भगवान् ही हैं—यह वास्तविकता है॥ २१३॥

प्रश्न—नारदभक्तिसूत्रमें आया है कि ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेष है—'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्' (२७)। ईश्वरमें द्वेषभाव कैसे?

उत्तर—भगवान्‌का अभिमानसे द्वेष है, अभिमानीसे नहीं। 'द्वेष' होनेका तात्पर्य है कि उनको अभिमान सुहाता नहीं; क्योंकि अभिमानसे भक्तका महान् अनिष्ट होता है। भगवान्‌में भक्तका हित करनेवाली दया है, राग-द्वेषवाला द्वेष नहीं है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'** (गीता ९। २९)॥ २१४॥

प्रश्न—संसार अपना नहीं है, पर भगवान् अपने हैं—ऐसा माननेसे भगवान्‌से कुछ आशा, अपेक्षा रह सकती है। यदि ऐसा मानें कि न संसार अपना है, न भगवान् अपने हैं तो?

उत्तर—भगवान् अपने हैं, पर लेनेके लिये अपने नहीं हैं। केवल भगवान् ही अपने हैं—ऐसा माननेसे दूसरी सत्ता नहीं रहेगी और दूसरी सत्ता न रहनेसे कोई भी चाह नहीं रहेगी। भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता रहनेसे ही इच्छा होती है। जब भगवान् ही मेरे हैं तो फिर इच्छा कैसे रहेगी?

कोई भी अपना नहीं है, न संसार, न परमात्मा—ऐसा माननेसे साधक ज्ञानमार्गमें चला जायगा। अतः उसकी मुक्ति तो हो जायगी, पर प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी॥ २१५॥

प्रश्न—भगवान् अपने लिये हैं—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भगवान् कुछ लेनेके लिये अपने नहीं हैं, प्रत्युत देनेके लिये अपने हैं। इसलिये भगवान्‌से कुछ नहीं चाहना है, प्रत्युत भगवान्‌को ही चाहना है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने लिये हैं—खुदको देनेके लिये और भगवान्‌को लेनेके लिये। अपनी कमीकी पूर्ति भगवान्‌के सिवाय और किसीसे नहीं हो सकती, इसलिये भगवान् अपने लिये हैं॥ २१६॥

प्रश्न—जो जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा व्यवहार करनेको

सन्तोंने निकृष्ट बताया है, फिर भगवान्‌के कहे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११)—इन वचनोंका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भगवान्‌के ये वचन (यथा-तथा) क्रियाके विषयमें हैं, भावके विषयमें नहीं। भावमें तो भगवान्‌का सबके प्रति समान प्रेमभाव है। मनुष्योंके यथा-तथामें तो स्वार्थभाव रहता है, पर भगवान्‌के यथा-तथामें स्वार्थभाव नहीं है, प्रत्युत यह भगवान्‌की महत्ता है कि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्, फिर भी वे जीवको अपने बराबर (मित्र) बनाते हैं! तात्पर्य है कि भगवान्‌में बड़प्पनका भाव (अभिमान) नहीं है॥ २१७॥

प्रश्न—जगन्नाथके रहते हुए भी अपनेमें अनाथपनेका अनुभव क्यों होता है?

उत्तर—कारण कि खुद नाथ (मालिक) बन गये! जैसे बालक माँके बिना नहीं रह सकता, पर विवाह होनेके बाद जब वह खुद मालिक बन जाता है, तब वह अपनी माँके बिना भी रहने लगता है। ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के सिवाय अन्य वस्तु या व्यक्तिको अपना मानकर खुद मालिक बन जाता है, तब वह अपने मालिक (भगवान्) को भूल जाता है और मुफ्तमें दु:ख पाता है। केवल भगवान् ही अपने हैं, और कोई भी अपना नहीं है—ऐसा माननेसे हमारा अनाथपना दूर हो जायगा और हम सनाथ हो जायँगे॥ २१८॥

प्रश्न—क्या भगवान् प्राणिमात्रका कल्याण चाहते हैं?

उत्तर—जैसे साधक भक्त प्राणिमात्रका कल्याण चाहता है, ऐसे भगवान् सबका कल्याण नहीं चाहते। भगवान्‌में प्राणिमात्रके कल्याणकी सामान्य इच्छा होती है, विशेष नहीं। अगर उनमें विशेष इच्छा हो जाय तो सबका कल्याण हो ही जाय! भगवान् स्वाभाविक ही किसीका अहित नहीं चाहते। किसीका अहित न चाहना ही उनका कल्याण चाहना है। तात्पर्य है कि भगवान्‌में शुभ इच्छा होती है, अशुभ इच्छा

होती ही नहीं। जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुषमें भी यही बात है। उनमें भी सबके कल्याणकी सामान्य इच्छा रहती है। परन्तु उनमें किसी विशेष परिस्थितिमें सामनेवाले व्यक्तिके कल्याणकी विशेष इच्छा हो सकती है। जैसे, चैतन्य महाप्रभुमें जगाई-मधाईके कल्याणकी विशेष इच्छा हो गयी तो उनका कल्याण हो गया॥ २१९॥

भगवत्कृपा

प्रश्न—जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें प्रारब्ध कारण है या भगवत्कृपा? कर्मका फल भगवान् देते हैं तो उनकी कृपा क्या काम आयी?

उत्तर—अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति कर्मोंका फल है, पर उसका विधान करनेवाले भगवान् हैं। जैसे कोई मनुष्य जंगलमें जाकर दिनभर परिश्रम करे तो उसको पैसे कौन देगा? पर वह किसी मालिकके आदेशपर परिश्रम करे तो उसको मालिक पैसे देगा। ऐसे ही कर्मोंके अनुसार फल मिलता है, पर उस फलको देनेवाले भगवान् हैं; क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म खुद फल देनेमें असमर्थ हैं।

भगवान् कृपाकी मूर्ति हैं। उनके प्रत्येक विधानमें कृपा भरी रहती है। परन्तु केवल प्रारब्धकी तरफ दृष्टि रहनेसे और कृपाकी तरफ दृष्टि न रहनेसे मनुष्य उस कृपासे लाभ नहीं उठा सकता। जैसे बछड़ा माँके दूधसे जैसा पुष्ट होता है, वैसा दूसरे दूधसे पुष्ट नहीं होता, ऐसे ही कृपाकी तरफ दृष्टि रहनेसे जैसा लाभ होता है, वैसा प्रारब्धकी तरफ दृष्टि रहनेसे लाभ नहीं होता।

प्रारब्ध (कर्मोंका फल) तो नाशवान् है, पर कृपा अविनाशी है। जैसे रेतमें चीनी मिली हुई हो तो चीनीको रेतसे अलग नहीं कर सकते। परन्तु जैसे चींटी रेतसे चीनीको अलग कर लेती है, ऐसे ही

भक्त प्रारब्धमें भी कृपाको पहचान लेता है।

परिस्थितिको कर्मोंका फल मानेंगे तो अनुकूलतामें सुख होगा और प्रतिकूलतामें दुःख होगा। परन्तु भगवान्‌की कृपा मानेंगे तो दोनों परिस्थितियोंमें आनन्द होगा! अतः कृपा माननेमें विशेष लाभ है।

मनुष्य प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके अपना कल्याण कर सकता है—यह भगवत्कृपा है। अगर मनुष्य रोकर, आर्तभावसे प्रार्थना करे तो भगवान् अशुभ कर्मका फल (प्रतिकूलता) माफ भी कर देते हैं और अचानक विवेक भी दे देते हैं—यह उनकी कृपा है॥ २२०॥

प्रश्न—भगवान् हमारी आवश्यकताकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार करते हैं या प्रारब्धके बिना अपनी कृपासे भी करते हैं?

उत्तर—भक्तोंकी आवश्यकता भगवान् अपनी कृपासे भी पूर्ण कर देते हैं। सन्त-महात्मा भी अपनी कृपासे दूसरेकी आवश्यकता पूरी कर सकते हैं; जैसे—पेड़की कलम भी फल-फूल दे देती है॥ २२१॥

प्रश्न—धनादि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे होती है या प्रारब्धसे?

उत्तर—नाशवान् वस्तुओंकी प्राप्तिमें कृपाको लगाना गलती है। कृपा तो चिन्मयताकी प्राप्तिमें ही है। जड़ताकी प्राप्तिमें तो पतन है। अनुकूलताकी प्राप्ति होना और प्रतिकूलताका नाश होना कृपा नहीं है, प्रत्युत कर्मफल (प्रारब्ध) है। भगवान्‌की कृपा है—जड़तासे वृत्ति हटकर चिन्मयतामें हो जाय, साधनमें लग जाय, सत्संगमें लग जाय॥ २२२॥

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा तो सबपर समानरूपसे है, फिर सबको उससे समान लाभ क्यों नहीं होता?

उत्तर—लाभ होता है भगवत्कृपाके सम्मुख होनेपर—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

जैसे गंगाके पास रहकर भी कोई उसमें स्नान करे ही नहीं, उसका

जल पीये ही नहीं तो उसको गंगासे लाभ कैसे होगा? ऐसे ही भगवान्‌की सबपर समान कृपा होते हुए भी कोई उसके सम्मुख न हो तो उसको लाभ कैसे होगा?॥ २२३॥

प्रश्न—भगवत्कृपाके सम्मुख होना क्या है?

उत्तर—कृपाके सम्मुख होना है—कृपाको स्वीकार करना, अपनेपर भगवान्‌की कृपा मानना, प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी कृपाको देखते रहना॥ २२४॥

प्रश्न—भगवत्कृपा और सन्तकृपामें क्या फर्क है?

उत्तर—भगवान्‌में तो यथा-तथा है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११), पर सन्तोंमें यथा-तथा नहीं है। इसलिये भगवान् तो सम्मुख होनेपर कृपा करते हैं, पर सन्त सबपर कृपा करते हैं। कोई प्रेम रखनेवाला हो, द्वेष रखनेवाला हो, उदासीन हो, विरुद्ध चलनेवाला हो, दु:ख देनेवाला हो, कैसा ही प्राणी क्यों न हो, सन्तोंकी सबपर समान कृपा रहती है।

भगवान् पिताकी तरह कृपा करते हैं और सन्त माताकी तरह। पिताकी कृपामें न्याय रहता है और माताकी कृपामें मोह रहता है। मोहके कारण माता न्याय नहीं देखती। सन्तोंमें मोह तो नहीं रहता, पर प्रेम रहता है। कारण कि सन्त भुक्तभोगी होते हैं अर्थात् उन्होंने सांसारिक दु:खोंका अनुभव कर लिया होता है। इसलिये वे देखते हैं कि पहले हम भी ऐसे ही दु:खी थे; अत: दूसरेका दु:ख मिटानेके लिये वे विशेष कृपा करते हैं॥ २२५॥

प्रश्न—साधकपर भगवान्‌की कृपा स्वत: होती है या प्रार्थना करनेपर?

उत्तर—अपने भीतरकी लालसा ही प्रार्थना है। साधक अपने भीतर आवश्यकताका अनुभव करता है और अपनी स्थितिमें सन्तोष नहीं करता तो स्वत: कृपासे काम होता है। भीतरमें भूख हो तो किसी-

न-किसी उपायसे भगवान् पूर्ति कर देते हैं॥ २२६॥

प्रश्न—भगवान्‌की सबपर समान कृपा है तो वे सबको सत्संगका मौका क्यों नहीं देते?

उत्तर—सबको देते हैं, पर लाभ उठाना तो हमारे हाथकी बात है। वे सत्संग न भी दें, पर सत्प्रेरणा सबके हृदयमें करते हैं, सबको चेत कराते हैं, पर मनुष्य ध्यान नहीं देता॥ २२७॥

प्रश्न—भगवान्‌की सबपर समान कृपा है, फिर कृपा दीखती क्यों नहीं?

उत्तर—भोजन सबको बराबर मिलनेपर भी व्यक्ति अपनी भूखके अनुसार ही भोजन करता है। भूख सबकी समान नहीं होती। इसी तरह भगवान्‌की कृपा सबपर समान होनेपर भी भगवान्‌पर जितनी ज्यादा निर्भरता होती है, उतनी ही ज्यादा कृपा पकड़में आती है॥ २२८॥

भगवद्दर्शन

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन कब होते हैं?

उत्तर—इसमें तीन बातें हैं— (१) कभी व्याकुलता हो और कभी निश्चिन्तता हो तो ऐसा होते-होते कभी दर्शन हो जाते हैं (२) कुछ भी इच्छा न हो, न संसारकी, न परमात्माकी, तब दर्शन हो जाते हैं और (३) केवल व्याकुलता हो जाय तो दर्शन हो जाते हैं।

भगवान्‌को हमसे कोई काम लेना हो तो वे अपनी इच्छासे भी दर्शन दे देते हैं। भगवान् दर्शन दें—यह हमारे हाथकी बात नहीं है, पर 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'—यह मानना हमारे हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको मान लें तो फिर किसीकी जरूरत नहीं!॥ २२९॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शनसे क्या होता है?

उत्तर—भक्त मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि जो चाहता है, वे सब दर्शन करनेसे मिल जाता है। यदि भक्त अपनी मान्यताका आग्रह न रखे तो दर्शन होनेपर उसको तत्त्वज्ञान हो जायगा*। भगवान्‌का स्वभाव है कि वे किसीकी मान्यताको नहीं तोड़ते।

दर्शन होनेपर तत्त्वज्ञान हो अथवा न हो, भक्तमें कोई कमी नहीं रहती। अगर भक्त भगवान्‌के परायण रहता है तो उसको तत्त्वज्ञान करानेकी, उसकी कमी दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर होती है। भक्तमें तो भगवान्‌को जाननेकी जिज्ञासा ही नहीं होती॥ २३०॥

प्रश्न—ऐसे कई सन्त हुए हैं, जिन्होंने भगवान्‌के दर्शनको महत्त्व नहीं दिया, इसका क्या कारण है?

उत्तर—अधिक प्रेम होनेपर दर्शनकी इच्छा ही नहीं होती। कारण कि प्रेममें एक रस, मादकता होती है, भक्त उसीमें मस्त रहता है।

प्रेमकी अपेक्षा दर्शन अनित्य होता है। प्रेम तो नित्य-निरन्तर रहता है, पर दर्शन नित्य नहीं होता। इसलिये चतुर भक्त प्रेम ही चाहते हैं। असली रस प्रेममें ही है, मिलने या न मिलनेमें नहीं। जबतक प्रेमास्पदसे मिलनेकी इच्छा है, तबतक असली प्रेम जाग्रत् नहीं हुआ। असली प्रेम जाग्रत् होनेपर प्रेमास्पद मिले या न मिले, कोई इच्छा नहीं रहती॥ २३१॥

प्रश्न—शूर्पणखा, दुर्योधन, शकुनि आदिने भगवान्‌के साकार रूप (श्रीराम और श्रीकृष्ण) के दर्शन किये थे, फिर उनमें काम-क्रोधादि दोष नष्ट क्यों नहीं हुए?

उत्तर—वास्तवमें उन्होंने भगवान्‌के दर्शन किये ही नहीं थे। वे भगवान् राम और कृष्णको ईश्वररूपसे न मानकर मनुष्यरूपसे ही देखते थे, फिर ईश्वर-दर्शन कैसा? उनके भीतर ईश्वरभाव अथवा भक्तिभाव

* मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

था ही नहीं। अत: उनको ईश्वररूपसे ईश्वर नहीं मिला। सम्पूर्ण जगत् भी ईश्वररूप ही है, पर मनुष्य मानते कहाँ हैं!॥ २३२॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्तिमें कोई कारक या कर्ता नहीं चलता; परन्तु सन्तोंके द्वारा दूसरेको भगवान्‌के दर्शन करवानेकी बात भी आती है, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—यह बात लोगोंकी दृष्टिसे कही गयी है, वास्तविक नहीं है। भगवान्‌के दर्शन करना और करवाना हाथकी बात नहीं है। भगवान् कृपापूर्वक अपनी मरजीसे ही दर्शन देते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस, अयोध्या० १२७। २)

कर्ता तो स्वतन्त्र होता है—**'स्वतन्त्रः कर्त्ता'** (पाणि० अ० १।४।५४), जबकि भगवद्दर्शन करवानेवाला स्वतन्त्र नहीं होता। भगवान्‌से प्रार्थना हो सकती है, पर उनके ऊपर शासन नहीं हो सकता। अगर खुदकी इच्छा हो तो सन्तोंकी कृपा भगवद्दर्शनमें सहायक हो सकती है॥ २३३॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन हों और वे कहें कि वर माँगो, पर कुछ माँगे नहीं तो क्या फल होगा?

उत्तर—माँगनेसे वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है और कुछ न माँगनेसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होता है। अत: जो कुछ नहीं माँगता, उसको भगवान् अपने-आपको दे देते हैं अर्थात् उसके अधीन हो जाते हैं!॥ २३४॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन होनेपर भक्त स्तुति करता है या स्तुति होती है?

उत्तर—स्तुति करता नहीं, प्रत्युत स्तुति होती है॥ २३५॥

भगवत्प्राप्ति

प्रश्न—जब भगवत्प्राप्तिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है तो फिर भगवत्प्राप्ति कठिन क्यों दीखती है?

उत्तर—भोगोंमें आसक्ति रहनेके कारण! भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं है, भोगोंकी आसक्तिका त्याग कठिन है॥ २३६॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति कठिन कहें अथवा भोगासक्तिका त्याग कठिन कहें, बात तो एक ही हुई?

उत्तर—नहीं, बहुत बड़ा अन्तर है। भगवत्प्राप्तिको कठिन माननेसे साधक श्रवण, मनन, जप, स्वाध्याय आदिमें ही तेजीसे लगेगा और भोगासक्तिके त्यागकी तरफ ध्यान नहीं देगा। वास्तवमें भगवान् तो प्राप्त ही हैं, केवल संसारके सम्बन्धका त्याग करना है॥ २३७॥

प्रश्न—संसारके सम्बन्धका त्याग कैसे होगा?

उत्तर—जोरदार जिज्ञासा हो अथवा आर्तभावसे रोकर प्रार्थना की जाय तो संसारका सम्बन्ध छूट जायगा। भगवान्‌की कृपासे कभी अचानक विवेक जाग्रत् हो जायगा और संसारकी आसक्ति छूट जायगी॥ २३८॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति सुगम कैसे है?

उत्तर—भगवान् नित्यप्राप्त हैं। वे प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति और घटनामें परिपूर्ण हैं। उनकी प्राप्ति जड़ता (शरीर-संसार)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है। परन्तु नाशवान् संसारकी तरफ दृष्टि रहनेसे, नाशवान् सुखकी आसक्ति रहनेसे नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव नहीं होता। यह जानते हैं कि शरीर-संसार नाशवान् है, फिर भी इस जानकारीको आदर नहीं देते! वास्तवमें 'शरीर-संसार नाशवान् हैं'—इसको सीख लिया है, जाना

नहीं है। इसलिये नाशवान् जानते हुए भी सुख-लोलुपताके कारण उसमें फँसे रहते हैं। वास्तवमें नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनी है और नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करनी है॥ २३९॥

प्रश्न—नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करना क्या है?

उत्तर—नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनेका तात्पर्य है—जो नित्यनिवृत्त है, उस शरीर-संसारको रखनेकी भावना छोड़ना अर्थात् वह बना रहे—इस इच्छाका त्याग करना। नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करनेका तात्पर्य है—जो नित्यप्राप्त है, उस परमात्मतत्त्वको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक स्वीकार करना।

जो कभी भी अलग होगा, वह अब भी अलग है और जो कभी भी मिलेगा, वह अब भी मिला हुआ है। शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य 'नित्यनिवृत्त' अर्थात् सदा ही हमसे अलग हैं और परमात्मा 'नित्यप्राप्त' अर्थात् सदा ही हमें प्राप्त हैं। जो तत्त्व सब जगह ठोस रूपसे विद्यमान है, वह हमसे दूर हो सकता ही नहीं। परमात्मा कभी हमसे अलग हुए नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं और हो सकते नहीं; क्योंकि उसीकी सत्तासे हम सत्तावान् हैं॥ २४०॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम है तो फिर उसमें बाधा क्या लग रही है?

उत्तर—अनेक बाधाएँ हैं; जैसे—

(१) भोग भोगने और संग्रह करनेमें आसक्ति है।

(२) परमात्मप्राप्तिकी जोरदार जिज्ञासा (भूख) नहीं है।

(३) अपनी वर्तमान स्थितिमें सन्तोष कर रखा है।

(४) परमात्मप्राप्तिको सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिकी तरह मान रखा है। इस मान्यताके कारण क्रिया करनेको अधिक महत्त्व देते हैं, विवेक और भावको महत्त्व नहीं देते।

(५) तत्त्वको ठीक तरहसे जाननेवाले महात्मा नहीं मिलते।

(६) थोड़ी-सी बातें जानकर, थोड़ा-सा साधन करके अभिमान कर लेते हैं।

(७) कुछ करनेसे प्राप्ति होगी, गुरु नहीं मिला, समय ऐसा ही है, प्रारब्ध ऐसा ही है, हम योग्य नहीं हैं, हम अधिकारी नहीं हैं—ऐसे जो संस्कार भीतर बैठे हैं, वे बाधा देते हैं॥ २४१॥

प्रश्न—कई साधक भगवान्‌के लिये रोते हैं, व्याकुल होते हैं, फिर भी उनको भगवान् क्यों नहीं मिलते?

उत्तर—उनके भीतर भगवान्‌के सिवाय अन्य (सुख-आराम, मान-बड़ाई आदि) की चाहना रहती है, अन्य वस्तु-व्यक्तिकी महत्ता और प्रियता रहती है। अतः भगवान्‌के लिये रोना तो तात्कालिक होता है, फिर वहीं-की-वहीं स्थिति हो जाती है।

चाहना एक भगवान्‌की ही होनी चाहिये—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

वे साधनमें लगे रहें तो अन्य चाहना मिटकर, एक चाहना प्रबल होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है॥ २४२॥

प्रश्न—विकार अन्तःकरणमें होते हैं; अतः परमात्मप्राप्तिमें कोई विकार बाधक नहीं है। परन्तु परमात्मप्राप्तिमें भोगासक्तिको बाधक भी बताया जाता है। दोनोंमें कौन-सी बात सही है?

उत्तर—अन्तःकरणके साथ मिलकर उन विकारोंको अपनेमें मान लेते हैं तो वे विकार बाधक होते हैं। यदि अन्तःकरणके साथ अपना सम्बन्ध न मानें तो उसमें होनेवाले विकार बाधक नहीं होते॥ २४३॥

प्रश्न—कोई भी कारक भगवान्‌तक नहीं पहुँच सकता तो क्या सम्प्रदान और अपादान कारक भी नहीं पहुँच सकते? भगवान्‌को अपने-आपको देना सम्प्रदान हुआ और संसारका त्याग करना अपादान हुआ!

प्रश्न—परमात्मप्राप्ति भावसे होती है, क्रियासे नहीं। परन्तु भाव भी तो मन-बुद्धिमें पैदा होता है?

उत्तर—भाव अनेक प्रकारके होते हैं। मन-बुद्धिमें राग-द्वेष आदि भाव पैदा होते हैं। परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—यह सम्बन्धात्मक भाव स्वयंमें रहता है॥ २४६॥

प्रश्न—संसारको और परमात्माको प्राप्त करनेकी प्रक्रिया एक नहीं है—इसका तात्पर्य?

उत्तर—संसारकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति है और परमात्माकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है। संसारकी प्राप्तिमें 'करना' मुख्य है और परमात्माकी प्राप्तिमें 'न करना' मुख्य है। सांसारिक वस्तुका निर्माण करना पड़ता है, कहींसे लाना पड़ता है, पर परमात्माको बनाना या कहींसे लाना नहीं पड़ता; क्योंकि परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति, घटना और अवस्थामें समानरूपसे सदा परिपूर्ण हैं। जो तत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण है, वह क्रियासे कैसे मिलेगा? क्रिया करनेसे तो उल्टे वह हमसे दूर होगा॥ २४७॥

प्रश्न—न दीखनेवाला तत्त्व कैसे दीखे?

उत्तर—दीखनेवालेको सत्ता और महत्ता न दें तो न दीखनेवाला दीखने लग जायगा॥ २४८॥

प्रश्न—जब भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दे दिया, सत्संग दे दिया तो फिर उनकी प्राप्तिमें देरी क्यों?

उत्तर—भगवान्‌से जो मिला है, उसका सदुपयोग न करनेसे ही देरी लग रही है। जितना समय, समझ, सामर्थ्य और सामग्री मिली है, उसका सदुपयोग करना है। भगवान्‌से मिली वस्तुको व्यक्तिगत माननेसे ही अपनेमें निर्बलता आती है, जिससे हम उसका सदुपयोग नहीं कर पाते। बलका अभाव बाधक नहीं है, प्रत्युत बलका दुरुपयोग बाधक है। 'कर नहीं सकते'—यह निर्बलता बाधक नहीं है, प्रत्युत 'कर

सकते हैं, पर करते नहीं'—यह निर्बलता बाधक है॥ २४९॥

प्रश्न—उपनिषद्में आया है कि बलहीन मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुण्डक० ३। २। ४)—इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—यहाँ 'बल' शब्द का अर्थ है—उत्साह, हिम्मत। जिसका उत्साह भंग हो गया है, जो हिम्मत हार चुका है, वह मनुष्य 'बलहीन' है।

निर्बलता दो तरहकी होती है—(१) करनेमें असमर्थ होना और (२) करनेमें समर्थ होते हुए भी न करना। जानते हैं और कर सकते हैं, फिर भी वैसा करते नहीं—यह निर्बलता होनेपर मनुष्य परमात्मप्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिये सन्तोंने कहा है—

हिम्मत मत छाँड़ो नराँ, मुख ते कहताँ राम।
'हरिया' हिम्मत से किया, ध्रुवका अटल धाम॥

प्रश्न—क्या तीव्र व्याकुलता हुए बिना भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—भगवत्प्राप्ति तीन कारणोंसे होती है—(१) निर्बलतासे (२) निर्भरतासे और (३) कभी निर्बलता तथा कभी निर्भरता होनेसे। तात्पर्य है कि अगर तेजीसे व्याकुलता हो जाय तो प्राप्ति हो जायगी अथवा भगवान्‌की कृपापर पूरी निर्भरता हो जाय कि जो होगा, उनकी कृपासे होगा तो प्राप्ति हो जायगी। कभी निर्बलता (व्याकुलता) और कभी निर्भरता हो तो दोनोंमेंसे कभी एक पूरी होनेसे भगवत्प्राप्ति हो जायगी॥ २५१॥

प्रश्न—कभी निर्बलता और कभी निर्भरता तो प्रायः सभी साधकोंमें रहती है, फिर वह पूरी क्यों नहीं होती?

उत्तर—साधनमें कुछ-न-कुछ अपना बल, अपनी योग्यता मिला लेनेसे न निर्बलता पूरी होती है, न निर्भरता। अतः यह आशा ही टूट जानी चाहिये कि हम अपने बलसे प्राप्त कर लेंगे। परन्तु प्राप्तिकी

उत्कण्ठा पूरी होनी चाहिये; क्योंकि जब भगवान्‌के बलसे, उनकी कृपासे प्राप्ति होगी तो फिर हम निराश हों ही क्यों?॥ २५२॥

प्रश्न—अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे परमात्मामें रुचि नहीं होगी और रुचि न होनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी; अतः परमात्मप्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि कारण हुई?

उत्तर—परमात्मप्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि कारण नहीं है; क्योंकि परमात्मप्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत करणके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे परमात्माकी तरफ रुचि नहीं होगी—यह नियम नहीं है। कोई बड़ी आफत आनेपर, किसी सन्तकी कृपा होनेपर अथवा अन्य किसी कारणसे अशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य भी परमात्मामें लग सकता है, क्योंकि मूलमें वह परमात्माका ही अंश है। इसीलिये गीतामें आया है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (४।३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (९।३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है'॥ २५३॥

प्रश्न—जो हमारा है, वह हमें मिलता क्यों नहीं?

उत्तर—जो हमारा नहीं है, उसको अपना न मानें तो वह मिला हुआ ही है। हमें केवल अपनी भूल मिटानी है। सुखकी कामना, आशा और भोगके कारण ही 'संसार हमारा नहीं है'—इसका अनुभव नहीं होता॥ २५४॥

मनुष्यजन्म

प्रश्न—मनुष्यजन्म प्रारब्धसे मिलता है या भगवत्कृपासे?

उत्तर—भगवत्कृपासे मिलता है। यदि प्रारब्धसे मनुष्यशरीर मिलता तो क्रमसे चौरासी लाख योनियोंसे होता हुआ मिलता। परन्तु भगवान् कर्मोंका फल पूरा भोगनेसे पहले, बीचमें ही अपनी कृपासे मनुष्यशरीर दे देते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्यशरीर मिलता तो कर्मोंसे ही है, पर भगवान् अपना कल्याण करनेके लिये बीचमें ही मनुष्यशरीर दे देते हैं—यह भगवान्‌की कृपा है*॥ २५५॥

प्रश्न—मनुष्यजन्म मिलनेमें यदि भगवत्कृपा कारण है तो फिर कई बालक जन्मके बाद ही मर जाते हैं अथवा उनका मस्तिष्क जन्मसे ही विकृत होता है, फिर उनका कल्याण कैसे होगा?

उत्तर—उनकी आकृति तो मनुष्यकी है, पर वास्तवमें वह भोगयोनि ही है। भोग भोगनेसे उनकी शुद्धि होगी ही। वास्तवमें आकृतिका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत विवेकशक्तिका नाम मनुष्य है। विवेकके बिना वह केवल मनुष्यका ढाँचा है, मनुष्य नहीं। सन्तकृपासे उनका कल्याण हो सकता है।

पशुमें भी जितने अंशमें विवेक है, उतने अंशमें वह मनुष्य है! मनुष्यमें भी यदि अविवेक है तो वह पशु ही है—**'मनुष्यरूपेण मृगांश्चरन्ति'**। विवेक विकसित होनेसे ही वह मनुष्य बनता है॥ २५६॥

प्रश्न—विवेक तो अनादि है और अन्य योनियोंको भी प्राप्त है, फिर मनुष्ययोनिकी क्या महिमा हुई?

उत्तर—मनुष्यदेहका मस्तिष्क विशेष प्रकारका बना हुआ है, जिसमें विवेक विशेषरूपसे जाग्रत् हो सकता है। अन्य योनियोंमें वैसा मस्तिष्क नहीं है; अतः उनका विवेक जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। कर्तव्य

* कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस०, उत्तर० ४४। ३)

और अकर्तव्य, सत् और असत्‌का विवेक मनुष्यशरीरमें ही जाग्रत् हो सकता है, जिसको महत्त्व देकर मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है॥ २५७॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि शरीर अपने काम आता ही नहीं, यह कैसे?

उत्तर—वास्तवमें शरीर अपने काम नहीं आता, प्रत्युत विवेक अपने काम आता है। यह विवेक अन्य योनियोंमें नहीं है। मनुष्यशरीरमें विवेकको महत्त्व देनेसे शरीरका त्याग ही अपने काम आता है। शरीर त्यागसे अपने लिये और सेवासे दूसरेके लिये उपयोगी होता है॥ २५८॥

प्रश्न—त्याग तो अपने लिये हुआ?

उत्तर—त्याग भी अपने लिये नहीं है, प्रत्युत त्यागका फल (शान्ति) अपने लिये है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। त्याज्य वस्तु दूसरोंके काम आती है और त्यागका फल हमारे काम आता है। त्यागके फल (शान्ति) का भी सुख लेंगे तो वह भी बन्धनकारक हो जायगा॥ २५९॥

प्रश्न—जन्म लेते ही बालकको वैष्णवी माया घेर लेती है—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—वैष्णवी माया वह है, जिससे सब संसारकी रचना होती है। बाहरी मायाका असर तब होता है, जब अपने भीतर माया होती है। हमारे भीतर कुसंस्कार (कुसंगका संस्कार) होता है, तभी बाहरी कुसंगका असर पड़ता है। भीतरका कुसंस्कार है—असत्‌की सत्ता और महत्ता मानकर उससे सम्बन्ध जोड़ना॥ २६०॥

प्रश्न—मनुष्यके पतनका कारण क्या है?

उत्तर—भोगोंकी इच्छा और संग्रहकी इच्छा—इन दो इच्छाओंसे मनुष्यका पतन होता है। तात्पर्य है कि संसारसे कुछ भी लेनेकी इच्छा ही पतन करनेवाली है॥ २६१॥

मृत्यु

प्रश्न—जैसे मृत्युका समय निश्चित है, ऐसे ही मृत्युके समय होनेवाला कष्ट भी क्या निश्चित है?

उत्तर—नहीं। सब अपने पाप-पुण्यका फल भोगते हैं। किसीको पापका फल भोगना हो तो उसको अधिक कष्ट होता है। परन्तु दुःख उसीको होता है, जिसके भीतर जीनेकी इच्छा है॥ २७३॥

प्रश्न—जीवनमें जो पुण्यात्मा रहे, साधन-भजन करनेवाले रहे, वे भी अन्तसमयमें कष्ट पायें तो क्या कारण है?

उत्तर—भगवान् उनके पूर्वजन्मोंके सब पापोंको नष्ट करके शुद्ध करना चाहते हैं, जिससे उनका कल्याण हो जाय॥ २७४॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि मृत्युके समय मनुष्यको हजारों बिच्छू काटनेके समान कष्ट होता है, पर सन्तोंकी वाणीमें आया है कि मृत्युसे कष्ट नहीं होता, प्रत्युत जीनेकी इच्छासे कष्ट होता है। वास्तवमें क्या बात है?

उत्तर—जैसे बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा होनेमें कोई कष्ट नहीं होता, ऐसे ही मृत्युके समय भी वास्तवमें कोई कष्ट नहीं होता*। कष्ट उसीको होता है, जिसमें यह इच्छा है कि मैं जीता रहूँ। तात्पर्य है कि जिसका शरीरमें मोह है, उसीको मृत्युके समय हजारों बिच्छू एक साथ काटनेके समान कष्ट होता है। शरीरमें जितना मोह,

---

* देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (गीता २। १३)

'देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।'

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥ (मानस, किष्किं० १०)

आसक्ति, ममता होगी तथा जीनेकी इच्छा जितनी अधिक होगी, उतना ही शरीर छूटनेपर अधिक दुःख होगा॥ २७५॥

प्रश्न—किसीकी मृत्युका शोक जितना यहाँ किया जाता है, उतना विदेशोंमें नहीं किया जाता तो क्या यहाँके लोगोंमें मोह ज्यादा है?

उत्तर—यह बात नहीं है। जहाँ व्यक्तिगत मोह ज्यादा होता है, वहाँ शोक कम होता है। व्यक्तिगत मोहमें अज्ञता, मूढ़ता ज्यादा होती है। व्यक्तिगत मोह पशुता है। बँदरीका अपने बच्चेमें इतना मोह होता है कि मरे हुए बच्चेको भी साथ लिये घूमती है, पर खाते समय यदि बच्चा पासमें आ जाय तो ऐसे घुड़की देती है कि वह चीं-चीं करते हुए भाग जाता है!

दूसरेकी मृत्युपर शोक न होनेका कारण है कि मोह बहुत संकुचित और पतन करनेवाला हो गया। व्यापक मोह तो मिट सकता है, पर संकुचित (व्यक्तिगत) मोह जल्दी नहीं मिटता। व्यक्तिगत मोह दृढ़ होता है—*'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि'* (मानस, अयोध्या० १४२। १)। ज्यों-ज्यों मोह छूटता है, त्यों-त्यों मनुष्यकी स्थिति व्यापक होती है*। तात्पर्य है कि मोह जितना व्यापक होता है, उतना ही वह घटता है। जैसे, पहले अपने शरीरमें मोह होता है, फिर कुटुम्बमें मोह होता है, फिर जातिमें मोह होता है, फिर मोहल्लेमें मोह होता है, फिर गाँवमें मोह होता है, फिर प्रान्तमें मोह होता है, फिर देशमें मोह होता है, फिर मनुष्यमात्रमें मोह होता है, फिर जीवमात्रमें मोह होता है। अन्तमें किसीमें भी मोह नहीं रहता। यह सिद्धान्त है कि किसीमें मोह नहीं होता तो सबमें मोह होता है और सबमें मोह होता है तो किसीमें मोह नहीं होता। व्यापक मोह वास्तवमें

* अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ (पंचतंत्र, अपरीक्षित. ३८)

'यह अपना है और यह पराया—इस प्रकारका विचार संकुचित भावनाके व्यक्ति करते हैं। उदार-भाववाले व्यक्तियोंके लिये तो सम्पूर्ण विश्व ही अपने कुटुम्बके समान है।'

मोह नहीं है, प्रत्युत आत्मीयता है॥ २७६ ॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि धर्मराजके पास जानेमें मृतात्माको एक वर्षका समय लगता है। क्या यह सबके लिये है?

उत्तर—यह सबके लिये नहीं है, प्रत्युत उनके लिये है, जो अत्यन्त पापी हैं। उनके लिये धर्मराजके पास जानेका मार्ग भी बड़ा कष्टदायक होता है। मृत्युके बाद अपने-अपने कर्मोंके अनुसार गति होती है। भगवान्‌के भक्त धर्मराजके पास नहीं जाते॥ २७७ ॥

प्रश्न—अन्तकालमें न भगवान्‌का चिन्तन हो, न संसारका तो क्या गति होगी?

उत्तर—ऐसा सम्भव नहीं है। कुछ-न-कुछ चिन्तन तो होगा ही—'**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**' (गीता ३। ५)॥ २७८ ॥

प्रश्न—अन्तसमयमें भगवान्‌की याद आये—इसके लिये क्या करें?

उत्तर—हर समय भगवान्‌का स्मरण करें; क्योंकि हर समय ही अन्तकाल है। मृत्यु कब आ जाय, इसका क्या पता! इसलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (८। ७) 'इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'॥ २७९ ॥

प्रश्न—मनुष्य जिस-जिसका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है—यह नियम क्या आत्महत्या करनेवालेपर भी लागू होता है?

उत्तर—हाँ, लागू होता है। परन्तु उसके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन (शुभ चिन्तन) होना बहुत कठिन है। कारण कि वह दुःखी होकर आत्महत्या करता है और उसका उद्देश्य सुखका रहता है। दूसरी बात, प्राण निकलते समय उसको अपने कियेपर बड़ा पश्चात्ताप होता है, पर वह कुछ कर सकता नहीं! तीसरी बात, प्राण निकलते समय उसको भयंकर कष्ट होता है। चौथी बात, अगर उसका भाव शुद्ध हो, भगवान्‌पर विश्वास हो, वह भगवान्‌का चिन्तन करना चाहता हो तो वह

आत्महत्या-रूप महापाप करेगा ही क्यों? बुद्धि अशुद्ध होनेपर ही मनुष्य आत्महत्या करता है। इसलिये आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गति होती है*॥ २८०॥

---

* अन्धं तमो विशेयुस्ते ये चैवात्महनो जनाः।
भुक्त्वा निरयसाहस्रं ते च स्युर्ग्रामसूकराः॥
आत्मघातो न कर्तव्यस्तस्मात् क्वापि विपश्चिता।
इहापि न परत्रापि न शुभान्यात्मघातिनाम्॥ (स्कन्दपुराण, काशी० १२। १३)

'आत्महत्यारे लोग घोर नरकोंमें जाते हैं और हजारों नरकयातनाएँ भोगकर फिर देहाती सूअरोंकी योनिमें जन्म लेते हैं। इसलिये समझदार मनुष्यको कभी भूलकर भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये। आत्मघातियोंका न इस लोकमें और न परलोकमें ही कल्याण होता है।'

वासुदेवःसर्वम्

प्रश्न—गोपिकाओंको सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण किस प्रकारसे दीखते थे? क्या यही गीताका 'वासुदेवः सर्वम्' है?

उत्तर—गीताके '**वासुदेवः सर्वम्**' में सब जगह भगवान्‌को तत्त्वसे देखना है और गोपिकाओंका सब जगह भगवान्‌को देखना दृष्टिसे देखना है। गोपिकाओंकी आँखकी कनीनिकामें भगवान् कृष्णका चित्र अंकित हो गया था, इसलिये उनको सब जगह कृष्ण ही दीखते थे। जैसे कोई लाल रंगका चश्मा लगा ले तो उसको सब जगह लाल-ही-लाल दीखता है, ऐसे ही गोपिकाओंको सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण दीखते थे॥ २८१॥

प्रश्न—जब सब कुछ परमात्मा ही हैं—'वासुदेवः सर्वम्' तो फिर जड़ता किसमें है?

उत्तर—जड़ता जीवकी दृष्टिमें है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। जड़ताका कारण है—अज्ञान॥ २८२॥

प्रश्न—राग छोड़नेसे 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव होगा या अनुभव होनेपर राग छूटेगा?

उत्तर—राग छोड़ना भी साधन है और सबमें परमात्माको देखना भी साधन है। कर्मयोगी रागका त्याग करता है और भक्तियोगी सबमें परमात्माको देखता है। एककी सिद्धि होनेसे दोनोंकी सिद्धि हो जाती है॥ २८३॥

प्रश्न—रागके कारण प्राणी-पदार्थ भगवत्स्वरूप नहीं दीखते तो फिर जिन प्राणी-पदार्थोंमें हमारी आसक्ति नहीं है, वे भगवत्स्वरूप क्यों नहीं दीखते?

उत्तर—जबतक भीतरमें आसक्ति है, राग-द्वेष हैं, तबतक संसार ही दीखेगा। जब भीतरमें समता आ जायगी, तब '**वासुदेवः सर्वम्**' दीखेगा।

राग मूलमें अपनेमें है, प्राणी-पदार्थोंमें नहीं। गीताने रागके रहनेके पाँच स्थान बताये हैं—पदार्थ (३।३४), इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि (३।४०) और अहम् (२।५९)। वास्तवमें राग खुद (अहम्) में ही है, पर वह पाँच स्थानोंमें दीखता है। खुदमें होनेसे ही राग प्राणी-पदार्थोंमें दीखता है। जब खुदमें राग नहीं रहेगा, तब सब जगह भगवान् ही दीखेंगे॥ २८४॥

प्रश्न—संसार विकृति है या भगवान्‌का स्वरूप है?

उत्तर—राग-द्वेषके कारण संसार विकृति है। यदि राग-द्वेष न हों तो यह भगवत्स्वरूप ही है। राग हटानेके लिये ही संसारको विकृति कहा गया है॥ २८५॥

प्रश्न—जड़ता बुद्धिमें है, अन्यथा सब संसार चिन्मय है—यदि ऐसी बात है तो फिर भगवान्‌के धाममें और संसारमें क्या फर्क रहा?

उत्तर—जैसे रामायणमें भगवान्‌ने कहा है—'***सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥***' (अरण्य० ३६।२)। ऐसे ही

संसार चिन्मय है, पर भगवान् उससे भी विलक्षण अर्थात् चिन्मयताके भी सार हैं। इसलिये उनको 'आनन्दकन्द' भी कहा जाता है॥२८६॥

प्रश्न—'वासुदेवः सर्वम्' के विषयमें दो प्रकारकी बातें सुनी जाती हैं—एक तो भगवान् हमारे सामने जिस रूपमें आयें, उसी रूपके अनुसार उनसे व्यवहार करना और दूसरी, भगवान् किसी भी रूपमें आयें, उनसे साक्षात् भगवान्‌की तरह ही व्यवहार करना; जैसे मीराबाईने सिंहकी आरती उतारी, नामदेवजी कुत्तेके पीछे घी लेकर भागे, आदि। हम किस बातको मानें?

उत्तर—मीरा, नामदेव आदिकी तरह व्यवहार करना सिद्धावस्थाकी बात है। साधकको तो मर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। साधकको चाहिये कि बाहरसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी हृदयसे किसीको बुरा न समझे, किसीका अपमान-तिरस्कार न करे॥ २८७॥

प्रश्न—संसारमें तो निरन्तर परिवर्तन होता है, फिर वह परमात्माका स्वरूप कैसे?

उत्तर—जैसे गिरगिट कई रंग बदलता है, पर रंग बदलनेपर भी गिरगिट वही रहता है और वे रंग गिरगिटके ही होते हैं। रंगोंको गिरगिटसे अलग नहीं कर सकते। ऐसे ही प्रकृति भगवान्‌की ही शक्ति है और शक्तिको शक्तिमान्‌से अलग नहीं कर सकते।

जैसे समुद्रके ऊपर लहरें चलती दीखती हैं, पर भीतरमें एक सम, शान्त समुद्र है। समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है। ऐसे ही संसार भी उस परमात्माकी ही लहरें हैं। अतः परिवर्तन भी परमात्माका स्वरूप है और अपरिवर्तन भी— **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)॥ २८८॥

प्रश्न—शक्ति (प्रकृति) तो शक्तिमान् (भगवान्)के अधीन होती है, फिर वह उसका स्वरूप कैसे हुई?

उत्तर—शक्ति शक्तिमान्‌से अलग नहीं होती; जैसे-नख, केश आदि

निष्प्राण चीजें भी हमारेसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत हमारा ही स्वरूप होती हैं। अतः परमात्मासे अलग प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है॥ २८९॥

प्रश्न—जब सब संसार भगवत्स्वरूप ही है तो फिर दूसरेको उपदेश क्यों दिया जाता है?

उत्तर—दूसरेको उपदेश भी अपना मानकर ही दिया जाता है कि जैसे अपनेमें भूल है, वैसे ही दूसरेमें भी है। जैसे अपनेमें कमी दीखनेपर उसका सुधार करते हैं, ऐसे ही दूसरेकी कमीको भी अपनी ही कमी मानकर उसका सुधार करते हैं। अतः वास्तवमें उपदेश अपनेको ही दिया जाता है—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६। ५)। दूसरेको उपदेश उसकी दृष्टिसे दिया जाता है; क्योंकि वह हमसे उपदेश चाहता है।

राग दो प्रकारसे मिटाया जाता है—विचारके द्वारा मिटाना अथवा करके मिटाना। अगर हमारी वासना उपदेश देनेकी, व्याख्यान देनेकी है तो उस वासनाको मिटानेके लिये भगवान् हमारे सामने अज्ञानी बनकर, श्रोता बनकर आते हैं। राजा बनकर शासन करनेकी वासना है तो भगवान् प्रजा बनकर आते हैं॥ २९०॥

प्रश्न—समता और 'वासुदेवः सर्वम्'—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—समतामें अपने मतका संस्कार (सूक्ष्म अहम्) रहता है, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' में कोई मतभेद नहीं रहता; क्योंकि इसमें सब मत-मतान्तर भी वासुदेव ही हैं। समतामें तो स्वरूपकी मुख्यता है, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' में भगवान्‌की मुख्यता है॥ २९१॥

प्रश्न—एक बात यह कही जाती है कि संसार (जड़) भी परमात्माका ही स्वरूप है और एक बात यह कही जाती है कि संसार तो हमारी दृष्टिमें है, वास्तवमें संसार है ही नहीं, प्रत्युत सत्तारूपसे एक परमात्मा ही हैं। दोनोंमें कौन-सी बात मानें?

उत्तर—जबतक हमारी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तबतक यह मानना

चाहिये कि संसार परमात्माका ही स्वरूप है। अगर हम संसारकी सत्ता न मानें तो एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

संसाररूपसे भी वही है और सत्तारूपसे भी वही है; क्योंकि वास्तवमें संसार है नहीं। सत्से ही असत्का भान होता है। सत्के बिना असत्का भान ही नहीं होता। ज्ञानी और परमात्माकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं। संसार तो जीवकी दृष्टिमें है। कारण कि संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं॥ २९२॥

प्रश्न—संसार (जड़) न दीखकर केवल परमात्मा कैसे दीखें?

उत्तर—संसार दीखता है तो दीखता रहे, हर्ज क्या है? देखना सीमित होता है, तत्त्व असीम है। सूर्य थालीकी तरह दीखता है तो क्या वह ऐसा ही है? दीखना व्यक्तिगत है। जो व्यक्तिगत होता है, वह सिद्धान्त नहीं होता। दीखनेवाला और देखनेवाला—सबका अभाव हो जायगा और परमात्मतत्त्व शेष रह जायगा। दीखना और देखना उसी तत्त्वके अन्तर्गत है। अतः दीखने-देखनेका आग्रह नहीं रखना चाहिये॥ २९३॥

प्रश्न—संसारको भगवान्का आदि अवतार कहा गया है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१), फिर संसार असत्य कैसे हुआ?

उत्तर—भगवान्का अवतार सत्य है, संसार सत्य नहीं है॥ २९४॥

प्रश्न—क्या सभी भक्तोंको अन्तमें 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं) का अनुभव हो जाता है?

उत्तर—सबको नहीं होता, प्रत्युत उसको होता है, जिसमें अपने मत (भक्ति) का आग्रह नहीं है, अपनी मान्यतामें सन्तोष नहीं है। अगर वह ज्ञानको हीन दृष्टिसे देखता है तो उसको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव नहीं होता॥ २९५॥

प्रश्न—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १) और

'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७। १९)—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में निर्गुणकी मुख्यता है तथा इसमें असत्‌का निषेध है। परन्तु 'वासुदेवः सर्वम्' में सगुणकी मुख्यता है तथा इसमें असत्‌का निषेध नहीं है।

सगुणमें तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणमें सगुण नहीं आ सकता। निर्गुणमें गुणोंका निषेध ही कर दिया, फिर गुण कैसे आयें? सगुण सब गुणोंका आश्रय है, पर वह किसी गुणके आश्रित, गुणसे आबद्ध नहीं है। भगवान्‌ने भी सगुणको 'समग्र' कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार और जड़-चेतन, सत्-असत् आदि सब कुछ आ जाता है॥ २९६॥

प्रश्न—एक बात है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं' और एक बात है कि 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'—दोनोंमें हम किस बातको मानें?

उत्तर—पहले यह मानो कि 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'। इस बातको माननेसे ही यह अनुभव हो जायगा कि 'मैं नहीं हूँ, भगवान् ही हैं'॥ २९७॥

प्रश्न—अनेकता 'है' में है या 'नहीं' में?

उत्तर—एकमें ही अनेकता है अर्थात् 'है' में ही अनेकता है। 'है' के सिवाय किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। 'है' में सब एक हैं। 'है' में अनेकताका निषेध नहीं है, प्रत्युत अन्य सत्ताका निषेध है॥ २९८॥

विवेक

प्रश्न—विवेक किस उपायसे बढ़ता है?

उत्तर—अगर मनुष्य विवेकका आदर करे अर्थात् विवेक-विरुद्ध कार्य न करे तो उसका विवेक गुरु आदिकी सहायताके बिना स्वतः बढ़ जाता है। अगर वह जान-बूझकर न करनेलायक काम करेगा तो विवेक नहीं बढ़ेगा। विवेक-विरुद्ध कार्य करनेसे विवेकका बढ़ना रुक जाता है॥ २९९॥

प्रश्न—विवेककी आवश्यकता कहाँतक है?

उत्तर—जड़ पदार्थोंके संयोगसे होनेवाले सुखके त्यागतक। तात्पर्य है कि विवेककी आवश्यकता जड़का आकर्षण (राग, आसक्ति) मिटानेमें है। इसलिये विवेकसे वैराग्य होता है। विवेकका आदर इतना होना चाहिये कि जड़ताका आकर्षण सर्वथा मिट जाय॥ ३००॥

प्रश्न—विचार और विवेकमें क्या अन्तर है?

उत्तर—विचारमें ऊहापोह होता है कि यह नित्य कैसे है, यह अनित्य कैसे है, आदि। परन्तु विवेकमें नित्य और अनित्य आदि दो वस्तुओंका विश्लेषण होता है। जबतक विवेक पुष्ट नहीं होता, तबतक उसके साथ विचार रहता है। विवेक पुष्ट होनेपर विचार नहीं रहता, प्रत्युत केवल विवेक रहता है॥ ३०१॥

संकल्प

प्रश्न—संकल्प किये बिना कोई भी कार्य कैसे किया जायगा?

उत्तर—वास्तवमें कर्म करनेकी स्फुरणा अथवा विचार होता है, संकल्प नहीं होता। संकल्प वह होता है, जिसमें अपनी आसक्ति, ममता और आग्रह रहता है। कार्य करनेकी स्फुरणा अथवा विचार बाँधनेवाला नहीं होता, पर संकल्प बाँधनेवाला होता है॥ ३०२॥

प्रश्न—भगवान् भी जब संकल्प करते हैं, तभी सृष्टि पैदा होती है तो क्या यह संकल्प बाँधनेवाला नहीं होता?

उत्तर—भगवान्‌के संकल्पमें न आसक्ति है, न आग्रह है, न अपने लिये कुछ पानेकी इच्छा है। अतः वास्तवमें यह संकल्प नहीं है, प्रत्युत स्फुरणा है। स्फुरणामात्रको ही संकल्प नामसे कहा गया है॥ ३०३॥

प्रश्न—क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है, पर कुछ क्रियाएँ हम संकल्पपूर्वक करते हैं; जैसे—भोजन स्वतः पचता है, पर हम भोजन करनेका संकल्प करते हैं, तब भोजन करते हैं। यह संकल्प अपनेमें हुआ?

उत्तर—वास्तवमें संकल्प भी प्रकृतिमें ही होता है, स्वयंमें नहीं। संकल्पका आधार है—अज्ञान, अविवेक। विवेक स्पष्ट न होनेसे मनुष्य अपनेमें संकल्प मानता है, अपनेको कर्ता मानता है। संकल्पसे फिर कामना पैदा होती है। मन-बुद्धिके साथ अपनी एकता माननेसे ही संकल्प-विकल्प अपनेमें दीखते हैं।

भूख प्राणोंका धर्म है, स्वयंका नहीं। प्राणोंके साथ तादात्म्य होनेसे ऐसा मालूम होता है कि भूख मेरेको लगी है और 'मैं भोजन करूँ'—ऐसा संकल्प होता है। भोजन प्राणोंके पोषणके लिये होता है, स्वयंके पोषणके लिये नहीं। यदि प्राणोंके साथ तादात्म्य न करें तो स्फुरणा होगी, संकल्प नहीं होगा॥ ३०४॥

प्रश्न—सन्तोंकी वाणीमें आता है कि भगवान् सत्य संकल्पको पूरा करते हैं, इसका तात्पर्य है?

उत्तर—सत्य-तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्तिका संकल्प ही सत्य संकल्प है, जिसको भगवान् पूरा करते हैं। असत् (संसार)-का संकल्प पूरा होने अथवा न होनेमें प्रारब्ध कारण है॥ ३०५॥

सन्त-महात्मा(दे० जीवन्मुक्त)

प्रश्न—साधु, सन्त और महात्मा—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जो साधनमें तत्पर है, वह 'साधु' है। जिसने साधन करके अनुभव कर लिया है और जिसकी वाणी, आचरण आदि सबमें सत्-तत्त्व उद्भासित होता है, वह 'सन्त' है। जिसकी दृष्टिमें मैं-मेरे, तू-तेरेका भेद नहीं रहा, जिसका सब प्राणियोंके प्रति समान भाव हो गया, वह 'महात्मा' है।

गृहस्थ, संन्यासी आदि सभी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिके व्यक्ति साधु, सन्त या महात्मा हो सकते हैं। गेरुआ वस्त्रधारियोंके वेशमें ज्यादा साधु, सन्त, महात्मा हो चुके हैं, इसलिये इस वेशको लेकर भी लोग साधु, सन्त, महात्मा कह देते हैं॥ ३०६॥

प्रश्न—महात्मा शरीर छूटनेपर सर्वव्यापी होता है या पहले?

उत्तर—वह सर्वव्यापी तो मुक्त होते ही हो जाता है। केवल लोगोंकी दृष्टिमें देहका आवरण दीखता है॥ ३०७॥

प्रश्न—फिर शरीर छूटनेके बाद उनका प्रचार अधिक क्यों होता है?

उत्तर—शरीरके रहते हुए उनका मत एक व्यक्तिका दीखता है। परन्तु शरीर छूटनेके बाद व्यक्तिका मत न दीखकर केवल सिद्धान्त दीखता है। मतकी अपेक्षा सिद्धान्तका लोगोंमें अधिक प्रचार होता है। व्यक्तिको लेकर मत होता है और तत्त्वको लेकर सिद्धान्त होता है॥ ३०८॥

प्रश्न—सन्त-महात्माको कोई आदेश देना हो तो स्वप्नमें क्यों देते हैं?

उत्तर—जाग्रत्‌में वे आज्ञा दें और वह उसको न माने तो पाप लगेगा, इसलिये वे स्वप्नमें आज्ञा देते हैं। स्वप्नमें दी गयी आज्ञा अगर न माने तो पाप नहीं लगेगा और माने तो लाभ होगा॥ ३०९॥

प्रश्न—भगवान्‌की लीलाको देखनेसे जो मोह होता है, वह तो

लीलाके श्रवणसे दूर हो जाता है। परन्तु सन्तोंकी लीला (आचरण) देखनेसे जो मोह होता है, वह किस उपायसे दूर होता है?

उत्तर—सन्तोंकी लीला देखनेसे जो मोह होता है, उसके नाशका उपाय है—उनकी तात्त्विक बातोंकी तरफ ध्यान दे, उनके आचरणोंकी तरफ नहीं। कारण कि उनके आचरण देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार तथा सामनेवाले व्यक्तिके भावके अनुसार होते हैं, जिनको हम पूरा नहीं समझ सकते॥ ३१०॥

प्रश्न—तेज बुखारमें भी सन्तोंको आनन्द क्यों होता है?

उत्तर—कारण कि उनकी दृष्टि लाभपर रहती है कि हमारे पाप कट रहे हैं! जैसे, काँटा निकालते समय पीड़ा होती है तो वह बुरी नहीं लगती। स्त्री प्रसवकी पीड़ाको भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेती है कि पुत्र हुआ है!॥ ३११॥

प्रश्न—सन्तोंको राजनीतिमें आना चाहिये या नहीं?

उत्तर—यदि शासकलोग अपने पदका दुरुपयोग करते हों तो सन्तोंको राजनीतिमें आना ही चाहिये। अगर स्वार्थभाव न हो और केवल परहितका भाव हो तो राजनीति बाधक नहीं है॥ ३१२॥

प्रश्न—सन्तोंमें परस्पर संगठन कैसे हो?

उत्तर—सन्तोंमें संगठन तभी होगा, जब सबका उद्देश्य एक ही हो। यदि उनमें बाहरसे एकता करना चाहें तो वह नहीं हो सकती; क्योंकि बाहरसे सब अलग-अलग विधियोंका पालन करते हैं। अत: सन्तोंको चाहिये कि वे अपने सिद्धान्तपर, अपने उद्देश्यपर दृढ़ रहें॥ ३१३॥

प्रश्न—सन्त-महात्मा उपदेश देते हैं तो उनकी क्या दृष्टि रहती है?

उत्तर—वे लोगोंकी दृष्टिमें उनको उपदेश देते हैं, उनको भगवान्‌में लगाते हैं। परन्तु उनकी अपनी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। जिस स्थितिमें सामान्य लोग हैं, उसी स्थितिमें उतरकर वे उपदेश देते हैं॥ ३१४॥

प्रश्न—एक बात आती है कि सन्त दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं और एक बात आती है कि सन्त वास्तवमें न अपने दुःखसे दुःखी होते हैं, न दूसरोंके दुःखसे—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—जैसे समुद्रके ऊपर लहरें उठती हैं, पर समुद्रके भीतर लहरें नहीं हैं, ऐसे ही सन्त व्यवहारमें सुखी-दुःखी होते दीखते हैं, पर भीतर (तत्त्व)-से वे न सुखी होते हैं, न दुःखी। वे दूसरोंके दुःखसे दुःखी नहीं होते, प्रत्युत उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करते हैं॥ ३१५॥

प्रश्न—किसी सन्तसे उनके अनुभवकी बात पूछनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—पारमार्थिक विषयमें अनुभवकी बात पूछना और अनुभवकी बात कहना—दोनों ही उचित नहीं हैं। लौकिक विषयमें भी यह पूछना कि 'तुम्हारे पास कुल कितने रुपये हैं' असभ्य माना जाता है। मेरे पास बैंकमें इतने रुपये हैं—यह भी कोई नहीं बताता। यह पूछने-कहनेकी बात ही नहीं है। क्या भगवान् रुपयेसे भी रद्दी हैं?

दूसरी बात, जो अनुभवकी बात पूछता है, उसमें उस सन्तके प्रति अश्रद्धा रहती है। अगर कुछ अश्रद्धा, अविश्वास, सन्देह न हो तो वह पूछता ही क्यों? सन्त उत्तर दे कि हाँ, मेरेको परमात्मतत्त्वका अनुभव हुआ है तो उससे पूछनेवालेके मनमें अश्रद्धा ही पैदा होगी कि ये आत्मश्लाघा करते हैं। अगर सन्त कहे कि अनुभव नहीं हुआ तो भी अश्रद्धा ही होगी।* अतः अनुभवकी बात पूछनेसे पूछनेवालेकी हानि

* उपनिषद्में शिष्य अपने गुरुके प्रति कहता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ (केन० २। २)

'मैं तत्त्वको भलीभाँति जान गया हूँ—ऐसा मैं नहीं मानता और न ऐसा ही मानता हूँ कि मैं तत्त्वको नहीं जानता; क्योंकि जानता भी हूँ। मैं तत्त्वको जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ—ऐसा सन्देह भी नहीं है। हममेंसे जो कोई भी उस तत्त्वको जानता है, वही मेरे उक्त वचनके तात्पर्यको जानता है।'

संसार (दे० सुखासक्ति)

प्रश्न—सूक्ष्म जगत् और कारण जगत् क्या है?

उत्तर—प्राणिमात्रके (समष्टि) सूक्ष्मशरीर मिलकर सूक्ष्म जगत् और कारणशरीर मिलकर कारण जगत् कहलाता है॥ ३१८॥

प्रश्न—संसारका असर न पड़े—इसके लिये क्या करें?

उत्तर—संसारका असर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंपर पड़ता है, अपनेपर नहीं—इस तरफ खयाल रखें। संसारका असर सदा रहेगा नहीं, मिट जायगा, इसलिये इसकी परवाह न करें। मैं उससे अलग हूँ—इस तरफ दृष्टि रखें तो उसकी जड़ कट जायगी।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है। संसारमें कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं, इसलिये उनका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, हमारे साथ नहीं॥ ३१९॥

प्रश्न—नाशवान्‌में आकर्षण होनेका कारण क्या है?

उत्तर—इसका कारण है—अज्ञान, मूर्खता। अज्ञान यह है कि संसारके सम्बन्धसे होनेवाले दु:खको संसारके सम्बन्धसे ही मिटाना चाहते हैं॥ ३२०॥

प्रश्न—संसारिक रुचिका नाश कैसे हो?

उत्तर—जितना सुख लिया है, उससे कुछ अधिक दु:ख हो जाय तो रुचि नष्ट हो जायगी। यह दु:ख होगा विचारसे अथवा सत्संगसे। इनसे भी न हो तो भगवान्‌से प्रार्थना करे। विचारसे यह रुचि उतनी जल्दी नहीं छूटती, जितनी जल्दी दूसरोंको सुख देनेसे अथवा भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारनेसे छूटती है। जिनकी भगवान्‌में रुचि है, भोगोंमें रुचि नहीं है, उनके पास बैठनेसे भी रुचि मिटती है॥ ३२१॥

प्रश्न—भगवान् सांसारिक रुचि क्यों नहीं छुड़ाते ?

उत्तर—भगवान् अपनी तरफसे किसीके सुखको नहीं छुड़ाते। यह

काम चोर-डाकुओंका है!॥ ३२२॥

प्रश्न—हम रुचि छोड़ना चाहते ही हैं, फिर भगवान् क्यों नहीं छुड़ाते ?

उत्तर—सांसारिक रुचि तो अधिक है, पर उसको छोड़नेकी चाहना कमजोर है, तभी भगवान् नहीं छुड़ाते॥ ३२३॥

प्रश्न—संसारका खिंचाव मिटानेका बढ़िया उपाय क्या है?

उत्तर—विषयोंका सेवन रागपूर्वक न करे, पर भजन रागपूर्वक(प्रेमपूर्वक) करे। विषयोंका सेवन करते समय, भोग भोगते समय हृदयको कठोर रखे अर्थात् भोगोंमें रस न ले, उनसे निर्लिप्त रहे। कारण कि जैसे पिघले हुए मोममें रंग डालनेसे रंग उसके भीतर बैठ जाता है, ऐसे ही हृदय द्रवित होनेपर वे विषय भीतर बैठ जाते हैं॥ ३२४॥

प्रश्न—जो प्रत्यक्ष दीख रहा है, उस संसारका सर्वथा अभाव कैसे मानें?

उत्तर—जो दीखता है, उसकी सत्ता होती है—यह आवश्यक नहीं है। मृगतृष्णाका जल दीखता है, दर्पणमें मुख दीखता है, रस्सीमें साँप दीखता है तो क्या उसकी सत्ता है?

विचारपूर्वक देखें तो संसारका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा और वर्तमानमें भी इसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। जो प्रतिक्षण बदल रहा है, उसकी सत्ता कैसे स्वीकार करें? उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह ही वर्तमानमें स्थिति रूपसे दीख रहा है। जैसे पहले कभी महाभारतकी घटनाएँ वर्तमानमें थीं और बड़ी ठोस दीखती थीं, पर आज वे हैं क्या? आज केवल उनकी कथा शेष रह गयी है। ऐसे ही अभी जो वर्तमानमें दीखता है, यह भी नहीं रहेगा।

बीजसे अंकुर बनता है, अंकुरसे पौधा बनता है, पौधेसे वृक्ष बनता है, फिर उसमें पुष्प और फल लगते हैं—इस प्रकार संसारमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। अंकुर बना तो बीज नहीं रहा, पौधा बना तो अंकुर नहीं रहा, वृक्ष बना तो पौधा नहीं रहा! तात्पर्य है कि संसारमें

स्थिति नामकी कोई चीज है ही नहीं।

संसारका तो अभाव ही है, वह दीखे तो क्या और न दीखे तो क्या! दर्पणमें मुख दीखे तो क्या और न दीखे तो क्या!॥ ३२५॥

प्रश्न—संसारकी सत्ताका अभाव करें अथवा उससे अपना सम्बन्ध न मानें?

उत्तर—एक ही बात है। सत्ताका अभाव करनेकी अपेक्षा अपना सम्बन्ध न मानना सुगम और श्रेष्ठ है। संसार सत् हो या असत्, उससे हमारा कोई मतलब नहीं। जैसे, स्वप्नकी सृष्टि है तो ठीक, नहीं है तो ठीक, उससे अपना क्या मतलब? एक-दो नहीं, चौरासी लाख योनियाँ बीत गयीं, पर हम वही एक रहे। जब चौरासी लाख योनियोंसे हमारा सम्बन्ध नहीं रहा तो फिर इस एक शरीरसे सम्बन्ध कैसे रहेगा? सम्बन्ध रहना सम्भव ही नहीं है॥ ३२६॥

प्रश्न—हमारा स्वरूप सत्तामात्र है, सत्तामात्रमें ही हमारी स्थिति है—ऐसा जानते हुए भी संसारमें आकर्षण हो जाय तो साधक क्या करे?

उत्तर—संसारमें आकर्षण हो गया—यह नुकसान नहीं हुआ, प्रत्युत उस आकर्षणको सच्चा मान लिया—यह नुकसान हुआ है! आकर्षण तो मिट जायगा, पर सत्ता रह जायगी। वास्तवमें आकर्षण होना भी मिटनेका नाम है और आकर्षण न होना भी मिटनेका नाम है। आकर्षणको महत्त्व दे दिया—यही बीमारी है!

प्रत्येक सांसारिक भोगमें रुचि भी होती है और अरुचि भी होती है। रुचिको स्थायी रखना और अरुचिको स्थायी न रखना भूल है। इस भूलका कारण है—मूर्खता॥ ३२७॥

प्रश्न—संसारसे माना हुआ सम्बन्ध किसपर टिका हुआ है?

उत्तर—सुख-लोलुपतापर॥ ३२८॥

प्रश्न—संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध झूठा होते हुए भी दृढ़ कैसे हो गया?

उत्तर—संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण झूठी मान्यता भी दृढ़ हो गयी। कारण कि सांसारिक सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है—'**विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्**' (गीता १८। ३८), इसलिये मनुष्य उसमें फँस जाता है, उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है, वह अन्धा हो जाता है!॥ ३२९॥

प्रश्न—इस सुखलोलुपताको छोड़नेका उपाय क्या है?

उत्तर—उपाय है—सत्संग॥ ३३०॥

प्रश्न—संसारका आश्रय छोड़नेमें निर्बलता क्यों मालूम देती है?

उत्तर—क्योंकि संसारसे सुख लेते हैं॥ ३३१॥

प्रश्न—सुख छोड़नेमें भी निर्बलता मालूम देती है, क्या करें?

उत्तर—यह निर्बलता दूसरोंको सुख देनेसे छूटेगी। मनुष्यशरीर सुख भोगनेके लिये है ही नहीं—'***एहि तन कर फल बिषय न भाई***' (मानस, उत्तर० ४४। १)॥ ३३२॥

प्रश्न—असत्‌की सत्ता ही नहीं है—ऐसा जानते हुए भी उसका त्याग कठिन क्यों हो रहा है?

उत्तर—हम विचारके समय तो संसारको असत् मानते हैं, पर अन्य समय असत्‌के संगका सुख भोगते हैं। इस सुखासक्तिके कारण ही असत्‌के त्यागमें कठिनता मालूम देती है। असत्‌में स्थायीपना है नहीं, पर सुखलोलुपता उसको स्थायी दिखाती है॥ ३३३॥

प्रश्न—संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अथवा संसारकी सत्ता ही नहीं है?

उत्तर—दूसरी सत्ताको मानें तो संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और दूसरी सत्ताको न मानें तो संसारकी सत्ता है ही नहीं। संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह साधकको बात है। संसारकी सत्ता ही नहीं है—यह सिद्धकी बात है॥ ३३४॥

प्रश्न—जो जाननेमें आता है, वह सब जड़ संसार है; क्योंकि

उसमें त्रिपुटी है। भगवान् या स्वयं (आत्मा) जाननेमें आते हैं तो वे भी जड़ हुए?

उत्तर—भगवान् जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत माननेमें आते हैं। माननेमें श्रद्धा-विश्वास मुख्य हैं, त्रिपुटी मुख्य नहीं है। स्वयं (अपना होनापन) भी जाननेमें नहीं आता, प्रत्युत अनुभवमें आता है। अनुभवमें त्रिपुटी नहीं होती॥ ३३५॥

प्रश्न—संसारसे माना हुआ सम्बन्ध कब छूटेगा?

उत्तर—जब हम अचाह और अप्रयत्न हो जायँगे, तब छूटेगा। कारण कि संसारका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। अचाह होनेसे पदार्थका सम्बन्ध छूट जायगा और अप्रयत्न होनेसे क्रियाका सम्बन्ध छूट जायगा। हम अचाह और अप्रयत्न तब होंगे, जब हम इस सत्यको स्वीकार कर लेंगे कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मेरा कुछ भी नहीं है॥ ३३६॥

प्रश्न—परिवर्तनकी आसक्ति कैसे मिटे?

उत्तर—उसको मिटाना नहीं है, प्रत्युत वह तो स्वतः मिट रही है। बढ़िया उपाय है—उसकी उपेक्षा कर दें, उसको पकड़ें नहीं। उसको सत्ता और महत्ता देकर मिटानेकी चेष्टा करना ही गलती है॥ ३३७॥

प्रश्न—संसार अच्छा नहीं लगता, फिर भी भोगोंमें फँस जाते हैं! क्या करें?

उत्तर—वास्तवमें संसार ही अच्छा लगता है। यदि संसार बुरा लगे तो भोगोंमें फँस सकते ही नहीं॥ ३३८॥

सत्संग

प्रश्न—सन्तोंका संग प्रारब्धसे मिलता है या भगवत्कृपासे?

उत्तर—सन्त प्रारब्धसे भी मिलते हैं—*'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता'* (मानस, उत्तर० ४५। ३), भगवत्कृपासे भी मिलते हैं—*'जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये'* (विनय० १३६। १०) और अपनी लगनसे भी मिलते हैं—*'जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'* (मानस, बाल० २५९। ३)। परन्तु उनसे लाभ उठानेमें हमारी सच्ची लगन (उत्कट अभिलाषा) ही मुख्य है अर्थात् उनसे लाभ उठाना हमारे हाथकी बात है॥ ३३९॥

प्रश्न—सत्संगका स्वरूप क्या है?

उत्तर—सत्-तत्त्व (परमात्मा)-में निष्काम प्रेम होना भी सत्संग है और जीवन्मुक्त सन्तके साथ निष्काम प्रेम भी सत्संग है। जीवन्मुक्त सन्तके पास बैठना भी सत्संग है। संसारसे विमुख होना भी सत्संग है। तात्पर्य है कि हम किसी भी प्रकारसे भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो यह सत्संग है॥ ३४०॥

प्रश्न—*'तुलसी संगत साधु की, कटै कोटि अपराध'*—साधुकी संगत क्या है?

उत्तर—साधुकी असली संगत है—साधुके साथ अभिन्न हो जाना। अभिन्न होनेका तात्पर्य है—उनकी बातको तत्परतासे सुनकर उसी क्षण उसमें स्थित हो जाय। उनकी बातको भविष्यके लिये, अभ्यासपर मत छोड़े। अगर उनकी बातमें कोई विकल्प, सन्देह हो तो उसी समय पूछ ले अथवा एकान्तमें विचार करके उसको दृढ़ कर ले॥ ३४१॥

प्रश्न—संसारी व्यक्ति भी सत्संगमें चले जाते हैं और साधक भी सत्संगमें नहीं जाते, प्रत्युत घरमें रहकर भजन करते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—संसारी व्यक्तिको भी सत्संग मिलता है तो यह भगवान्‌की कृपा है और साधक भी सत्संग नहीं करता तो यह उसकी लगनकी कमी है। परन्तु सत्संग मिलनेपर भी संसारी व्यक्ति सत्संगसे विशेष लाभ नहीं उठा सकता और साधक यदि सत्संग करे तो विशेष लाभ उठा सकता है। कारण कि साधन करना खुद कमाकर धनी बनना है और सत्संग करना धनीकी गोद जाना है। गोद जानेसे कमाया हुआ धन मिलता है!॥ ३४२॥

प्रश्न—सत्संग करनेसे किसीका तो जीवन बदल जाता है, किसीका नहीं बदलता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—एक सुदुराचारी होता है और एक दुर्दुराचारी होता है। सुदुराचारीपर तो सत्संगका असर पड़ता है, पर दुर्दुराचारीपर सत्संगका असर नहीं पड़ता—***'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥'*** (मानस, सुन्दर० ४४। २)।

ये चार लक्षण जिसमें हों, उसपर सत्संगका असर नहीं पड़ता—(१) अभिमान, (२) दूसरेकी बात न सह सकना, (३) अज्ञता और (४) कुतर्क। ऐसे व्यक्तिके सुधारका एक ही उपाय है—आफत! जब आफत आयेगी, तभी उसको चेत होगा—**'मूर्खाणां औषधं दण्डः'** ॥३४३॥

प्रश्न—सत्संगकी महिमा वैकुण्ठकी प्राप्तिसे भी अधिक क्यों कही गयी है?

उत्तर—सत्संग वैकुण्ठकी प्राप्ति करानेवाला है। प्राप्य वस्तुकी अपेक्षा प्रापककी विशेष महिमा होती है। सत्संगमें उनको भी लाभ मिलता है, जो वैकुण्ठमें नहीं गये। वैकुण्ठकी प्राप्ति होनेसे सत्संग (सन्त-समागम) मिल जाय—यह नियम नहीं है, पर सत्संग मिलनेसे वैकुण्ठकी प्राप्ति हो ही जाती है॥ ३४४॥

प्रश्न—कुछ व्यक्ति सत्संग करते-करते उसे छोड़ देते हैं तो इसमें क्या प्रारब्ध कारण है?

उत्तर—प्रारब्ध कारण नहीं है। इसमें दो कारण हैं—जिसका सत्संग करते हैं, उसमें अवगुण देखना और कुसंग करना। अपने भीतर कमी (कुसंस्कार) होती है, तभी कुसंगका असर पड़ता है। जैसे, जिसके भीतर स्त्रीकी आसक्ति है, उसीपर स्त्रीके संगका असर पड़ता है। जिसके भीतर धनकी आसक्ति है, उसीपर धन और धनीका असर पड़ता है।

जिसका सत्संग करते हैं, उसमें अवगुण देखनेपर भी लोक-लाजके भयसे सम्बन्ध बनाये रखना ठीक नहीं है। इससे लाभ नहीं होता। अत: ऐसी अवस्थामें उनकी निन्दा न करके चुपचाप अलग हो जाना चाहिये। फिर किसीसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये॥ ३४५॥

प्रश्न—मनुष्यपर प्रायः सत्संगका असर तो कम पड़ता है, पर कुसंगका असर ज्यादा पड़ता है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिसके भीतर कुसंगके संस्कार हैं, उसपर कुसंगका असर ज्यादा पड़ता है और जिसके भीतर सत्संगके संस्कार हैं, उसपर सत्संगका असर ज्यादा पड़ता है। कारण कि सजातीयता (समान जाति)-में ही खिंचाव होता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सत्संग, सत्-शास्त्र आदिके द्वारा अपने भीतर अच्छे संस्कारोंको भरे॥ ३४६॥

प्रश्न—सत्संग कैसे सुनें कि फिर उसे भूलें नहीं?

उत्तर—(१) वक्ता क्या सुनाता है और क्या सुनाना चाहता है—इसपर गहरा विचार करें (२) सुननेके साथ-साथ उसपर मनन करते जाना चाहिये, जिससे बादमें हम दूसरोंको भी सुना सकें (३) जो सुना है, उसको काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये (४) सत्संग सुननेवालोंको आपसमें बैठकर सुने हुए सत्संगकी चर्चा करनी चाहिये॥ ३४७॥

साधक

प्रश्न—साधकका कर्तव्य क्या है?

उत्तर—साधकका कर्तव्य है—साध्यसे प्रेम करना और असाधनका त्याग करना। चाह-रहित होना साधन है और किसीसे कुछ भी चाहना असाधन है॥ ३४८॥

प्रश्न—साधक अपनी लगन (भूख) कैसे बढ़ाये?

उत्तर—लगन विचारसे बढ़ती है। विचार करना चाहिये कि नाशवान् पदार्थोंके साथ हम कबतक रहेंगे? ये वस्तुएँ और व्यक्ति हमारे साथ कबतक रहेंगे? इसी चालसे साधन चलेगा तो सिद्धि कब होगी? अबतक जितने समयमें जितना लाभ हुआ है, उसी गतिसे साधन करनेपर और कितना समय लगेगा? आगे जीवनका क्या भरोसा है? आदि-आदि॥ ३४९॥

प्रश्न—साधकको विशेष ध्यान किसपर देना चाहिये, असाधनको हटानेपर अथवा जप, ध्यान आदि साधन करनेपर?

उत्तर—असाधनको हटानेपर विशेष ध्यान देना चाहिये। असाधन है—नाशवान्‌का सम्बन्ध। जप, ध्यान आदि साधन करनेसे साधक सन्तोष कर लेता है कि मैंने इतना जप कर लिया, इतना ध्यान कर लिया, आदि। यह सन्तोष साधकके लिये बाधक होता है॥ ३५०॥

प्रश्न—सज्जन और साधकमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जिसमें दैवी-सम्पत्तिके गुण हैं, जिसके आचरण और विचार अच्छे हैं, वह 'सज्जन' है। जिसमें कल्याणकी तीव्र उत्कण्ठा है, जिसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य है, वह 'साधक' है। साधक तो सज्जन होता ही है, पर सज्जन साधक नहीं होता।

सज्जन लौकिक अहंकारवाला होता है और साधक पारमार्थिक अहंकारवाला होता है। जो दूसरे मत, सम्प्रदाय आदिकी निन्दा या

खण्डन करता है, वह सज्जन तो हो सकता है, पर साधक नहीं हो सकता॥ ३५१॥

प्रश्न—ज्ञानमार्गी योगभ्रष्ट होता है कि नहीं?

उत्तर—जिस प्रणालीमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान आदि है, उस प्रणालीसे चलनेवाले ज्ञानयोगीके योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु विवेककी प्रधानतासे चलनेवाले ज्ञानयोगीके योगभ्रष्ट होनेकी कम सम्भावना रहती है॥ ३५२॥

प्रश्न—क्या साधक द्रष्टा-भावसे भी रहित हो सकता है?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। यदि न हो सके तो द्रष्टा-भाव स्वतः नष्ट हो जायगा। भागवतमें आया है—**'परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः'** (११। २९। १८) 'सब प्रकारसे संशयरहित होकर सर्वत्र परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय'। उपराम होनेसे द्रष्टा नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल परमात्मा रह जायँगे। परमात्मामें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—यह त्रिपुटी नहीं है। दृश्य होनेसे द्रष्टा होता है, दृश्य नहीं तो द्रष्टा कैसे?॥ ३५३॥

प्रश्न—पारमार्थिक मार्गपर चलनेवालेपर अधिक दुःख क्यों आता है?

उत्तर—ऐसा नियम नहीं है। वास्तवमें उनपर अधिक दुःख नहीं आता, पर सुखकी तरफ वृत्ति होनेसे लोगोंको ज्यादा दुःख दीखता है। साधकपर दुःखका असर नहीं पड़ता अर्थात् वह दुःखी नहीं होता। इसलिये दुःखदायी परिस्थिति आनेपर भी वह पारमार्थिक मार्गको छोड़ता नहीं।

एक सन्तसे किसीने कहा कि रामजीने सीताका त्याग करके उनको बहुत दुःख दिया, तो वे सन्त बोले कि यह बात सीताजीसे पूछो तो पता लगे! सीताजी दुःख मानती ही नहीं! उनकी रामजीपर दोषदृष्टि होती ही नहीं!॥ ३५४॥

साधन

प्रश्न—मनुष्यजीवनमें साधनका आरम्भ कबसे होता है?

उत्तर—जब मनुष्य संसारसे संतप्त हो जाता है और विचार करता है, तब साधन आरम्भ होता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्यको संसारसे सुख नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती, तब वह संसारसे निराश हो जाता है। उसके भीतर उथल-पुथल मचती है और यह विचार होता है कि मुझे वह सुख चाहिये, जिसमें दुःख न हो। वह जीवन चाहिये, जिसमें मृत्यु न हो। वह पद चाहिये, जिसमें पतन न हो। मैं नित्य सुखके बिना नहीं रह सकता। ऐसा विचार होनेपर वह साधनमें लग जाता है॥ ३५५॥

प्रश्न—हमारा साधन आगे बढ़ रहा है या नहीं, इसकी पहचान कैसे करें?

उत्तर—जितना संसारमें आकर्षण कम हुआ है और भगवान्‌में आकर्षण अधिक हुआ है, उतना ही हम साधनमें आगे बढ़े हैं। साधनमें आगे बढ़नेपर व्यवहारमें राग-द्वेष कम होते हैं। चित्तमें शान्ति, प्रसन्नता रहती है। सांसारिक लाभ-हानिमें हर्ष-शोक कम होते हैं॥ ३५६॥

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भजन, सत्संग आदि तो वे करें, जो पाप करते हैं। हम पाप करते ही नहीं, फिर भजन क्यों करें? मन साफ होना चाहिये—*'मन चंगा तो कठौती में गंगा'*, पाठ-पूजा करनेसे क्या लाभ?

उत्तर—उनको यह कहना चाहिये कि सम्पूर्ण पापोंका मूल 'कामना' तो आपके भीतर है ही—'**काम एष क्रोध एषः**' (गीता ३। ३७), फिर आप पापोंसे रहित कैसे हुए? भोग भोगना और संग्रह करना असली पाप है। इन दोनोंके सिवाय आप क्या करते हो? सिवाय कामनाके और मनमें क्या है?कामना मनमें है तो फिर मन चंगा कैसे? जो पाठ-पूजन, सन्ध्या-वन्दन आदि कुछ नहीं करता, उसमें और पशुओंमें फर्क क्या हुआ? पशु

मुँह भी नहीं धोते!

अशुद्धि रोज आती है। इसलिये रोज शौच-स्नान करना पड़ता है। रोज बर्तन माँजने पड़ते हैं। मनुष्य प्रतिदिन जो क्रियाएँ करता है, उनसे दोष आता ही है—'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' (गीता१८। ४८)। इस दोषकी शुद्धिके लिये प्रतिदिन पाठ-पूजा,भजन-ध्यान आदि करना आवश्यक है।

मन साफ होना चाहिये, पूजा-पाठ करनेसे क्या लाभ—ऐसी बातें तभी पैदा होती हैं, जब मन मैला होता है। अगर मन साफ हो तो शास्त्रविरुद्ध कार्य हो ही नहीं सकता। अगर मनमें शास्त्रविरुद्ध बात पैदा होती है तो यह मनकी मलिनताका प्रमाण है॥ ३५७॥

प्रश्न—जप, ध्यान आदि साधन स्वयंतक तो पहुँचते नहीं, फिर उनको करनेकी सार्थकता क्या है?

उत्तर— जप, ध्यान आदिसे विवेकका विकास होता है, भगवान्‌की सम्मुखता होती है, अन्तःकरणमें पारमार्थिक रुचि पैदा होती है और संसारका महत्त्व कम होता है। ऐसा होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और भगवान्‌में प्रेम हो जाता है॥ ३५८॥

प्रश्न—भजन करना क्या है?

उत्तर—भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे जो जप, चिन्तन, स्वाध्याय, विचार आदि किया जाय—यह 'भजन' है। भगवान्‌में प्रियता होना, भगवान्‌के सम्मुख होना भी भजन है और संसारसे विमुख होना भी भजन है। केवल क्रियासे भजन नहीं होता, प्रत्युत उसमें भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे भजन होता है॥ ३५९॥

प्रश्न—साधनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—साधनका स्वरुप है—परमात्माकी प्राप्तिमें तत्परता॥ ३६०॥

प्रश्न—असाधन क्या है?

उत्तर—जो मिला है और बिछुड़ जायगा, उसको अपना मानना और

जो मिलने-बिछुड़नेवाला नहीं है,उसको अपना न मानना असाधन है॥ ३६१ ॥

प्रश्न—साधनजन्य सात्त्विक सुखका भोग करना क्या है?

उत्तर—उसमें सन्तोष करना। पारमार्थिक उन्नति तो सहायक है, पर उस उन्नतिमें सन्तोष करना बाधक है। सन्तोष करनेसे साधन आगे नहीं बढ़ता, उसमें रुकावट आ जाती है॥ ३६२ ॥

प्रश्न—चेतनने भूलसे जड़के साथ तादात्म्य किया है तो इस भूलको मिटानेकी जो साधना होगी, वह भी चेतनको ही करनी पड़ेगी। जब चेतन साधन करेगा तो फिर वह अकर्ता कैसे माना जायगा?

उत्तर—भूल (अज्ञान)अनादि है, चेतनने भूल की नहीं है। साधनका कर्ता वही है, जो 'अहंकारमूढात्मा' है* अर्थात् जिसने शरीरसे तादात्म्य कर रखा है। वास्तवमें भूल किसी साधनसे नहीं मिटती। मानी हुई भूल न माननेसे मिट जाती है॥ ३६३ ॥

प्रश्न—कई जगह ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति पहले तो खूब भजन, नामजप आदि करता था, पर बादमें उसने सब छोड़ दिया—इसका क्या कारण है?

उत्तर—इसका कारण है—कामना। जैसा चाहते हैं, वैसा होता नहीं, तब भजन करना छोड़ देते हैं। कारण कि कामनावाले व्यक्तिके लिये भगवान् साध्य नहीं हैं, प्रत्युत केवल कामनापूर्तिका साधन हैं। इसलिये गीताने कामनाके त्यागपर विशेष जोर दिया है। ऐसे व्यक्तिको भक्तोंकी कथाएँ सुनानी चाहिये॥ ३६४ ॥

प्रश्न—कोई मनुष्य यह निर्णय न कर सके कि मैं किसको इष्ट मानूँ, कौन-सा साधन करूँ, तो वह क्या करे?

उत्तर—अपना आग्रह छोड़कर रात-दिन नामजप करना शुरू कर

* अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)

दे। इसमें कुछ देरी तो लगेगी, पर मार्ग मिल जायगा॥ ३६५॥

प्रश्न—लोगोंकी प्रायः यह दुविधा रहती है कि महिमा सुन-सुनकर वे अनेक देवी-देवताओंकी उपासना शुरू कर देते हैं, पर बादमें उसको छोड़ना चाहते हुए भी इस डरसे नहीं छोड़ पाते कि कोई देवता नाराज न हो जाय, कोई नुकसान न हो जाय! ऐसी स्थितिमें उन्हें क्या करना चाहिये?

उत्तर—उपासना छोड़नेसे देवी-देवता नाराज नहीं होते; क्योंकि उनमें हमारी तरह राग-द्वेष नहीं होते। इसका कारण यह है कि मूलमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। जैसे शरीरके अंग अनेक होनेपर भी शरीर एक है, ऐसे ही अनेक देवी-देवता होनेपर भी तत्त्व एक ही है।

साधकका उपास्य-देव एक ही होना चाहिये। अनेक उपास्य-देव होनेसे एक निष्ठा नहीं होगी और एक निष्ठा न होनेसे सिद्धि नहीं मिलेगी॥ ३६६॥

प्रश्न—सन्तोंसे दो प्रकारकी बात सुननेको मिलती है—पहली, अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर साधनमें लग जाय और दूसरी, सब साधन दूसरेके कल्याणके लिये ही करे। दोनों बातोंका सामञ्जस्य कैसे बैठेगा?

उत्तर—ये दो भेद साधकके स्वभावके अनुसार हैं। खास बात है—कल्याणके उद्देश्यसे खुद भी लगे और दूसरोंको भी लगाये—'**स्मरन्तः स्मारयन्तश्च**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)॥ ३६७॥

प्रश्न—विवाह आदि होनेपर जैसे सांसारिक सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे हो जाती है, ऐसे भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे क्यों नहीं होती?

उत्तर—इसका कारण है कि हमने अपनेको शरीर मान रखा है। यदि अपनेको शरीर नहीं मानते तो भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति भी सुगमतासे हो जाती॥ ३६८॥

प्रश्न—हम साधन करते हैं, फिर जल्दी सफलता क्यों नहीं मिल रही है?

उत्तर—जल्दी सफलता चाहना भी भोग है। हमें तो बस, साधन करते रहना है। जल्दी सफलता मिल जाय—इस तरफ ध्यान ही नहीं देना है। जल्दी सिद्धि प्राप्त करके पीछे करेंगे क्या? काम तो यही करेंगे॥ ३६९॥

सुख-दुःख

प्रश्न—सुख-दुःखका अनुभव स्वयं करता है। दुःखका कारण अज्ञान है। तो फिर यह अज्ञान स्वयंमें है या कारणशरीरमें?

उत्तर—स्वयं सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत सुखी-दुःखी हो जाता है। अज्ञान कारणशरीरमें है, पर स्वयं उससे तादात्म्य कर लेता है, घुलमिल जाता है और सुखी-दुःखी हो जाता है।

शरीरके साथ एकता मान ली—यही अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण ही शरीरमें होनेवाले परिवर्तनको अपनेमें मान लेते हैं अर्थात् अनुकूलतासे एक होकर सुखी और प्रतिकूलतासे एक होकर दुःखी हो जाते हैं। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी भी होता नहीं, प्रत्युत सुखी-दुःखी मान लेता है।

सुख-दुःख आते जाते हैं, पर स्वयं आता-जाता नहीं। सुख-दुःख नहीं रहते,पर स्वयं रहता है। अतः स्वयं सुख-दुःखसे अलग है। सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है॥ ३७०॥

प्रश्न—फिर हम सुख-दुःखसे मिल क्यों जाते हैं?

उत्तर—मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं— इसका हम आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते । हम सुख-दुःखके आनेको, उनके स्वरूपको और उनके जानेको जानते हैं—यह विवेक है। इस विवेकपर

हम कायम नहीं रहते—यह गलती है॥ ३७१॥

प्रश्न—विवेकपर कायम रहनेमें असमर्थता क्यों प्रतीत होती है?

उत्तर—हमने सुखके भोगको और दु:खके भयको पकड़ लिया, इसलिये असमर्थता दीखती है। परन्तु सुखका भोग और दु:खका भय रहनेवाला नहीं है, जबकि हम रहनेवाले हैं—इस अनुभवको महत्त्व देना चाहिये। सुखके लालच और दु:खके भयको महत्त्व नहीं देना चाहिये, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करनी चाहिये, उनसे तटस्थ रहना चाहिये, उनसे घुलना-मिलना नहीं चाहिये। फिर असमर्थता नहीं रहेगी॥ ३७२॥

प्रश्न—सुख-दु:खका रहना सिद्ध नहीं होता—यह तो ठीक है, पर आना कैसे सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वह आता हुआ दीखता है?

उत्तर—वह तो बहता है, आना हमने मान लिया! वह बहता है—यह कहना भी तभी है, जब हम उसकी सत्ता मानते हैं। सत्ता न मानें तो वह है ही नहीं! उसके आने-जानेकी मान्यता स्वयंने की है। इस मान्यताका कारण है—विवेककी कमी, अज्ञान, बेसमझी, मूर्खता॥ ३७३॥

प्रश्न—एक बात है कि सुखके भोगीको दु:ख भोगना ही पड़ता है और दूसरी बात है कि दु:खका कारण भोग नहीं है, प्रत्युत भोगकी इच्छा है—दोनों बातोंका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—सुखभोगके संस्कार सुखभोगकी इच्छा पैदा करते हैं। रागपूर्वक भोग भोगनेसे भोगोंका प्रबल संस्कार पड़ता है, जो अन्त:करणमें भोगोंका महत्त्व अंकित करता है और पुन: भोगोंमें प्रवृत्त करता है। भोगोंका महत्त्व अंकित होनेसे 'सुखका कारण भोग है'—ऐसा भाव पैदा होता है, जिससे हम सुखभोगके बिना नहीं रह पाते।

भोग दुर्गतिका कारण है और भोगोंकी इच्छा दु:खका कारण है॥ ३७४॥

प्रश्न—सुख मिलेगा, तभी दुःख मिटेगा। सुख मिले बिना दुःख कैसे मिटेगा?

उत्तर—दुःखसे बचनेका उपाय सुख नहीं है, प्रत्युत त्याग है। इसी तरह रुपयोंका अभाव भी कभी रुपयोंसे नहीं मिट सकता—यह नियम है। रुपयोंके अभावको हम रुपयोंसे मिटा लेंगे—इसकेसमान कोई मूर्खता नहीं है। ज्यों-ज्यों रुपये मिलते हैं, त्यों-त्यों अभाव बढ़ता है—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*॥ ३७५॥

प्रश्न—कई व्यक्ति तो दुःख आनेपर अधिक भजन करते हैं, पर कई दुःख आनेपर भजन छोड़ देते हैं, इसका कारण?

उत्तर—जो भजनके लिये भजन करता है, उसका भजन दुःख आनेपर भी नहीं छूटता। परन्तु जो सुखकी कामनासे (सकामभावसे) भजन करता है, उसका भजन दुःख आनेपर छूट जाता है। तात्पर्य है कि 'भजन करनेसे सुख मिलेगा'—यह प्रलोभन ज्यादा होनेसे दुःख आनेपर भजन छूट जाता है। इसीलिये कामना-त्यागकी बात कही जाती है॥ ३७६॥

प्रश्न—दुःखका असर न पड़े, इसके लिये क्या करें?

उत्तर—दुःखका असर अपनेमें पड़ता ही नहीं; क्योंकि दुःख तो आता-जाता है, पर हम ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हम जबर्दस्ती दुःखके असरको स्वीकार कर लेते हैं॥ ३७७॥

सुखासक्ति

प्रश्न—सुखासक्तिका त्याग कैसे करें?

उत्तर—मनुष्यशरीर सुख भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सुख पहुँचानेके लिये है। स्वार्थभावका त्याग करके दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपनी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अपने विवेकका आदर करनेसे भी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अगर रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करें, ***'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभो!'*** कहकर भगवान्‌को पुकारें तो भगवान्‌की कृपासे सुखासक्तिका नाश हो जाता है। परन्तु ये उपाय तब काम आयेंगे, जब हम सच्चे हृदयसे सुखलोलुपताको छोड़ना चाहेंगे॥ ३७८॥

प्रश्न—आसक्तिका नाश करनेके लिये 'नासतो विद्यते भावः' (असत्‌की सत्ता ही नहीं है) भाव बढ़िया है या 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं) भाव बढ़िया है?

उत्तर—जिसकी संसारमें अधिक आसक्ति है, उसके लिये '**नासतो विद्यते भावः**'—यह भाव ठीक बैठेगा, और जिसकी कम आसक्ति है, उसके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**'—यह भाव ठीक बैठेगा। वास्तवमें दोनों भाव एक ही हैं। दोनोंमें कोई एक होनेपर दोनों सिद्ध हो जायँगे।

जिसके भीतर साँपका भय अधिक है, उसके लिये कहना पड़ता है कि 'साँप नहीं है, रस्सी है'। परन्तु जिसमें भय नहीं है, उसके लिये 'रस्सी है'—यह कहना ही पर्याप्त है। तात्पर्य है कि ज्यादा आसक्तिवालेके लिये निषेध मुख्य है॥ ३७९॥

प्रश्न—महान् सुख मिले बिना अल्प सुखकी आसक्तिका त्याग कैसे होगा?

उत्तर—इसका उपाय है कि पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले तो उसका आदर करे, उसपर विश्वास करे। जैसे सत्संग, कथा-कीर्तन आदिमें एक सुख मिलता है, जबकि वहाँ कोई भोग-पदार्थ नहीं

होता, पर हम उसका आदर नहीं करते। अगर पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले और उसपर हम विश्वास करते रहें तथा सांसारिक सुखका विश्वास छोड़ते जायँ तो महान् सुखका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें हमें न अल्प सुख लेना है, न महान् सुख लेना है! लेना कुछ है ही नहीं!॥ ३८०॥

प्रश्न—यह नियम है कि सुखका भोगी दुःखसे नहीं बच सकता। किसीने मिठाई खायी और उसको स्वादका, सुखका अनुभव हुआ तो अब उसको दुःख क्या होगा?

उत्तर—स्वाद आना और सुख लेना—दोनों अलग-अलग चीजें हैं। स्वाद आना उतना दोषी नहीं; जितना सुख लेना दोषी है। सुख लेनेका तात्पर्य है कि उस वस्तुका महत्त्व हृदयमें अंकित हो जाय। महत्त्व अंकित होनेसे उस वस्तुमें राग, आसक्ति हो जाती है। फिर जब वह वस्तु नहीं मिलेगी या छिन जायगी, तब दुःख होगा। अतः स्वादका, सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत राग होना दोषी है॥ ३८१॥

प्रश्न—जब चेतन (स्वयं)-का संसारसे सम्बन्ध है ही नहीं तो फिर सम्बन्धजन्य सुख कैसे होता है?

उत्तर—सम्बन्धजन्य सुख वास्तवमें सुख नहीं है, प्रत्युत मान्यताका सुख है। जैसे रुपये बैंकमें पड़े हैं, पर उनसे सम्बन्ध जोड़नेसे एक सुख होता है कि मैं धनी हूँ तो यह सुख केवल माना हुआ है॥ ३८२॥

प्रश्न—भोजनमें किसी पदार्थकी रुचि होना अथवा अरुचि होना दोषी है या नहीं?

उत्तर—भोजनमें रुचि अथवा अरुचि शरीरकी स्वाभाविक आवश्यकताको लेकर भी होती है और सुखबुद्धिको लेकर भी होती है। परन्तु दोनोंका विश्लेषण करना बड़ा कठिन है। पदार्थमें रुचि है अथवा सुखबुद्धि है—इसका विश्लेषण वीतराग महापुरुष ही कर सकता है। कारण कि संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है। भोगबुद्धि न हो तो रुचि अथवा अरुचिका होना दोषी नहीं है॥ ३८३॥

प्रश्न—भोगोंके पुराने संस्कार पुनः भोगोंमें लगाते हैं, ऐसी स्थितिमें साधक क्या करे?

उत्तर—पुराने संस्कार इतने बाधक नहीं हैं, जितनी सुखलोलुपता बाधक है। सुखलोलुपता होनेसे ही संस्कार बाधक होते हैं। हम पुराने संस्कारोंसे सुख तो लेते हैं और चाहते हैं कि संस्कार न आयें, तभी संस्कार हमें बाध्य करते हैं। अगर उनसे सुख न लें तो संस्कार मिट जायँगे, बाध्य नहीं करेंगे। कारण कि वास्तवमें संस्कारकी सत्ता ही नहीं है। उसको हम ही सत्ता देते हैं। भोगके समय भी हम ही भोगको सत्ता देते हैं। भोगोंसे सुख लेते हैं—इसीपर भोग टिके हैं। सुख न लें तो भोग हो ही नहीं सकता। सुख न लें तो बिना मिटाये भोगका संस्कार स्वतः कमजोर पड़ जायगा। सुख लेनेसे पुराना संस्कार (नया भोग भोगनेके समान) नया होता रहता है।

पुराने संस्कार आयें तो साधक उनकी उपेक्षा कर दे, न विरोध करे, न अनुमोदन करे। असत्‌का संस्कार भी असत् ही होता है। असत्‌की सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)॥ ३८४॥

प्रश्न—निषिद्ध भोगकी आसक्तिसे कैसे छूटा जाय?

उत्तर—निषिद्ध भोगकी आसक्ति खराब स्वभावके कारण होती है। स्वभाव सुधरता है—सत्संग, सद्विचार, सच्छास्त्रके द्वारा विवेक जाग्रत् होनेपर अथवा भगवान्‌के शरणागत होनेपर।

याद करनेसे पुराना भोग नया होता रहता है। याद करनेसे नया भोग भोगनेकी तरह ही अनर्थ होता है कोई भोग भोगे साठ वर्ष हो गये, पर आज उसको याद किया तो आज नया भोग हो गया! मनुष्य पुराने भोगको याद करके उसको नया करता रहता है, इसीलिये उसकी आसक्ति मिटती नहीं। इसलिये अगर पुराना भोग याद आ जाय तो उसमें रस (सुख) न ले। रस लेनेसे वह नया हो जाता है, उसको सत्ता मिल जाती है॥ ३८५॥

सेवा

प्रश्न—सेवाका मूल क्या है?

उत्तर—किसीको भी दु:ख न पहुँचाना, किसीका भी अहित न करना॥ ३८६ ॥

प्रश्न—देशकी सेवा बड़ी है या माता-पिताकी सेवा?

उत्तर—माता-पिताकी सेवा एक नम्बरमें है और देशकी सेवा दो नम्बरमें। कारण कि हमें माता-पिताने शरीर दिया है, उसका पालन-पोषण किया है, पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाया है, इसलिये उनका हमारेपर ऋण है। पहले ऋण चुकाना चाहिये, फिर देशसेवा, दान आदि करना चाहिये। ऋण चुकाये बिना दान आदि करनेका अधिकार ही नहीं है॥ ३८७॥

प्रश्न—जैसे हमें जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अधीन होता है, ऐसे ही दूसरे व्यक्तिको भी जो कुछ मिलेगा, वह भी प्रारब्धके अधीन होगा, फिर हम दूसरेकी सेवा क्यों करें?

उत्तर—यह बात ठीक है कि दूसरे व्यक्तिको वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें होगा। परन्तु हमें उसकी तरफ न देखकर अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका विभाग अलग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे दोष लगता है। अत: हमें अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) कर देना है, चाहे उसको प्रारब्धके अनुसार मिले या न मिले। बालक बीमार होता है और माता उसकी बीमारी ठीक नहीं कर सकती तो क्या वह उसकी सेवा करना छोड़ देती है? ऐसे ही जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे माँकी तरह कृपापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। इससे कर्तव्यपरायणता, हितैषिता और दयालुता पैदा होती है, जो दैवी-सम्पत्तिका गुण है। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये होती है—**'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** (गीता १६। ५) ॥ ३८८॥

प्रश्न—दूसरेपर प्रतिकूल परिस्थिति आयी है तो वह भगवान्‌के विधानसे आयी है। अतः उसकी सहायता या सेवा करना क्या भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध कार्य करना नहीं है?

उत्तर—भगवान् पिताके समान हैं और भक्त माताके समान। अतः भगवान्‌में 'न्याय' मुख्य है और भक्तोंमें 'दया' मुख्य है, जबकि यह दया भी भगवान्‌से ही आयी है। अतः हमारा कर्तव्य उसकी सेवा करना है। जो दूसरेके दुःखसे दुःखी नहीं होता, वह स्वार्थी और अभिमानी होता है। उसका अन्तःकरण कठोर होता है। वह सात्त्विक न होकर राजसी-तामसी होता है।

एक बार चमारोंकी बस्तीमें आग लग गयी और उनके घर जलकर नष्ट हो गये। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-ने उनके नये घर बनवा दिये। दुबारा आग लग गयी और वे घर पुनः नष्ट हो गये। सेठजीने पुनः घर बनानेके लिये कहा। लोगोंने कहा कि दुबारा आग लगनेसे मालूम होता है कि भगवान्‌की मरजी नहीं है, वे घर जलाना चाहते हैं। सेठजीने उत्तर दिया कि भगवान्‌का काम जलानेका है और हमारा काम बनानेका है। सेठजीने पुनः उनके घर बनवाये॥ ३८९॥

प्रश्न—सेवाधर्मको कठोर क्यों कहा गया है—*'सब तें सेवक धरमु कठोरा'* (मानस, अयोध्या० २०३। ४)?

उत्तर—सुख-आराममें आसक्ति होनेसे ही सेवा कठिन दीखती है—***'सेवक सुख चह मान भिखारी'*** (मानस, अरण्य० १७। ८)। अपने सुख-आरामका त्याग करें तो सेवा कठिन नहीं है; क्योंकि सेवा करनेकी सब सामग्री संसारकी ही है, अपनी नहीं। उस सामग्रीको अपने सुखमें लगानेसे सेवा नहीं होती॥ ३९०॥

प्रश्न—दुःखीको देखकर करुणित होना उसकी सेवा है, कैसे?

उत्तर—करुणित होनेसे भगवान् उसपर कृपा करते हैं और अपना

अन्त:करण भी निर्मल होता है। सुखीको देखकर प्रसन्न होना भी सेवा है, जिससे अपना अन्त:करण शुद्ध होता है। दूसरेके सुख-दु:खका असर न पड़नेसे अन्त:करण अशुद्ध एवं कठोर होता है॥ ३९१॥

प्रश्न—जड़को जड़की सेवामें लगा देनेसे जड़का प्रवाह जड़की ओर हो जायगा और चेतन असंग होकर मुक्त हो जायगा—यह कर्मयोगकी बात समझमें नहीं आयी; क्योंकि वास्तवमें जड़की सेवा नहीं होती, प्रत्युत चेतनकी सेवा होती है। जैसे, सचेतन शरीरके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा होती है, पर अचेतन मुर्देके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा नहीं होती!

उत्तर—वास्तवमें सेवा जड़के द्वारा ही होती है और जड़तक ही पहुँचती है। कारण कि क्रिया और उसका फल (पदार्थ)—दोनों ही आदि-अन्तवाले होनेसे जड़में ही रहते हैं, चेतनतक पहुँचते ही नहीं। परन्तु चेतनने शरीर (जड़)-से तादात्म्य किया है, उससे अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये शरीरकी सेवा चेतन (शरीरके मालिक)-की मानी जाती है। ज्ञानयोगमें भी जड़ मन-बुद्धिके द्वारा ही जड़का त्याग किया जाता है—**'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८)॥ ३९२॥

प्रश्न—धनादि पदार्थोंसे लेकर बुद्धिपर्यन्त सब जड़ पदार्थ सेवाके करण (साधन) है। इन करणोंसे सेवा करनेवाला चेतन ही हो सकता है, जड़ कैसे होगा?

उत्तर—जिसने शरीरसे अपना सम्बन्ध माना है, वही कर्ता होता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। तात्पर्य है कि अहंकारविमूढात्मा ही कर्ता होता है, वही सेवा करता है॥ ३९३॥

प्रश्न—सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है—इसमें 'सेवा' होना क्या है?

उत्तर—सेवाका अभिमान अर्थात् सेवकपना न रहना ही 'सेवा' होना है॥ ३९४॥

प्रश्न—सेवा करनेपर अभिमान न आये, इसका क्या उपाय है?

उत्तर—किसीकी भी सेवा करें, चाहे कुत्ते और गधेकी ही क्यों न करें, उसको अपनेसे ऊँचा मानकर, भगवान् मानकर सेवा करें। फिर अभिमान नहीं आयेगा॥ ३९५॥

स्वरूप(स्वयं)

प्रश्न—स्वरूपका बोध तत्काल कैसे हो?

उत्तर—वास्तवमें स्वरूपका बोध सबको तत्काल ही हो रहा है! जैसे—सबको यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'। इसमें यदि 'मैं' को छोड़कर 'हूँ' में रहें तो स्वरूपका बोध हो जायगा; क्योंकि 'मैं' के हटते ही 'हूँ' 'है' हो जायगा। खास बाधा 'मैं' की ही है॥ ४०३॥

प्रश्न—कुछ भी करें, 'मैं' आ ही जाता है?

उत्तर—वास्तवमें 'मैं' है ही नहीं। 'मैं' आ जाता है—इस धारणासे ही 'मैं' आता है!॥ ४०४॥

प्रश्न—दूधमें घीकी तरह शरीरसे मिले हुए आत्माका अलग अनुभव कैसे हो?

उत्तर—दृष्टान्त केवल एक अंशमें घटता है, सर्वथा नहीं घटता।

वास्तवमें दूध, घीकी तरह शरीरसे आत्मा मिला हुआ नहीं है*; मिल सकता ही नहीं, केवल हमने मिला हुआ मान लिया है—'**कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। शरीर और आत्माका तादात्म्य हुआ नहीं है, प्रत्युत माना हुआ है। कुछ-न-कुछ क्रिया करनेसे ही शरीरके साथ सम्बन्ध दीखता है। कुछ भी न करें तो शरीरका क्या सम्बन्ध?

जैसे सूर्य और अंधकारका मिलन नहीं हो सकता, ऐसे ही आत्मा और शरीरका मिलन नहीं हो सकता। चेतन जड़से, सत् असत्से, अविनाशी नाशवान्से कैसे मिल सकता है? परन्तु अनादिकालके संस्कारके कारण झूठी मान्यता भी सत्यकी तरह दीखती है। यह मान्यता उद्योगसे, अभ्याससे नहीं मिटती, प्रत्युत विवेक-विचारसे मिटती है॥ ४०५॥

प्रश्न—सत्ता सर्वव्यापक है, फिर अपनेमें एकदेशीयताका अनुभव क्यों होता है?

उत्तर—एकदेशीयताका अनुभव वास्तवमें अहंकारका अनुभव है। परमात्माकी अनन्त सत्ता ही अहंकारके कारण एकदेशीय दीखती है। तात्पर्य है कि सर्वव्यापक सत्ताको मन-बुद्धिसे पकड़नेपर अथवा मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार होनेसे ही एकदेशीयता दीखती है। बुद्धिका भी जो प्रकाशक है, वह अहम्‌के अधीन नहीं है। वही हमारा स्वरूप है। हमारा होनापन और परमात्माका होनापन एक ही है। वही उत्पत्तिका आधार और प्रतीतिका प्रकाशक है। प्रतीतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। व्यवहारके समय तो मन, बुद्धि और अहम्‌की प्रतीति होती है, पर व्यवहाररहित अवस्थामें न मन है, न बुद्धि है, न अहम् है। चाहे व्यवहारकी अवस्था हो, चाहे व्यवहाररहित अवस्था हो, 'है' में क्या फर्क पड़ता है!॥ ४०६॥

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

प्रश्न—मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार कैसे दूर हों?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहम्‌को छेड़ो मत। उनको मत देखो, प्रत्युत एक 'है' को देखो। एकदेशीयपना मिट जाय—यह भी मत देखो। कुछ भी मत देखो, चुप हो जाओ, फिर सब स्वतः ठीक हो जायगा। समुद्रमें बर्फके ढेले तैरते हों तो उनको न गलाना है, न रखना है। इसीको सहजावस्था कहते हैं॥ ४०७॥

प्रश्न—अपनी सत्तामें जो एकदेशीयपना दीखता है, वह कैसे छूटे?

उत्तर—एकदेशीयपना छोड़नेके लिये 'है' को पकड़ना चाहिये। वस्तुएँ अलग-अलग और एकदेशीय होती हैं, पर उन सबमें 'है' एक ही होता है। कल्पित वस्तुएँ मिट जाती हैं और 'है' रह जाता है। उस 'है' के ऊपर सब वस्तुएँ दीखती हैं; जैसे—है मनुष्य, है वस्तु आदि। परन्तु वस्तुओंके ऊपर 'है' माननेसे 'है' समझमें नहीं आता; जैसे—मनुष्य है, वस्तु है आदि।

सत्ता एक ही है। वही एक सत्ता एकदेशीय होनेसे हमारा स्वरूप है और सर्वदेशीय होनेसे परमात्मा है। शरीरके सम्बन्धसे अपनी सत्ता दीखती है और संसारके सम्बन्धसे परमात्माकी सत्ता दीखती है। शरीर-संसारका सम्बन्ध न रहे तो एक ही चिन्मय सत्ता रह जाती है और शरीर-संसारकी सत्ता लुप्त हो जाती है। कारण कि शरीर-संसार असत् हैं।

स्वयं परमात्माका ही अंश है। अतः जैसे पानीका लोटा समुद्रमें मिला दें, ऐसे ही स्वयंको परमात्माके अर्पित करके चुप हो जायँ तो वह एकदेशीयता अपने-आप मिट जायगी॥ ४०८॥

प्रश्न—हमारा स्वरूप 'सहज सुखराशि' है—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'* (मानस, उत्तर० ११७। १)। यह सहज सुख लुप्त कैसे हुआ?

उत्तर—इसका मुख्य कारण है—अपनेको शरीर मानना। अपनेको शरीर मानना अपने विवेकका अनादर है। विवेकका आदर करनेके लिये ही भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर-शरीरीका विवेचन किया है॥ ४०९॥

प्रश्न—'मैं हूँ'—इस अपने होनेपन (स्वरूप) का अनुभव तो सबको होता है, फिर तत्त्वज्ञानीको अपने होनेपनका अनुभव कैसा होता है?

उत्तर—सबको अपने होनेपनका जो अनुभव होता है, उसमें जड़ (बुद्धि या अहम्) साथमें मिला हुआ रहता है। अत: वह वास्तवमें 'असत्‌का अनुभव' है। परन्तु तत्त्वज्ञानीको शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है, जिसके साथ जड़ मिला हुआ नहीं है॥ ४१०॥

प्रश्न—संसारपर विश्वास करना तो महान् घातक है, पर कोई अपने-आपपर विश्वास करे तो?

उत्तर—वह अपने-आपको क्या मानता है—यह देखना होगा। अगर वह अपनेको 'शरीर' मानता है तो उसका वही फल होगा, जो संसारपर विश्वास करनेका होता है। अगर वह अपनेको 'चिन्मय सत्ता' मानता है तो उसका वही फल होगा जो (ज्ञानमार्गमें) परमात्मतत्त्वपर विश्वास करनेका होता है। कारण कि शरीर तथा संसार एक हैं और स्वरूप तथा परमात्मा एक हैं॥ ४११॥

प्रश्न—हरेक व्यक्तिमें कोई-न-कोई विशेषता रहती ही है। फिर दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे बन्धन कैसे?

उत्तर—विशेषता व्यक्तियोंमें है, अपनेमें अर्थात् स्वरूपमें नहीं। व्यक्तिभेद तो रहेगा ही, पर स्वरूपभेद होता ही नहीं। व्यक्तित्व रहनेसे अर्थात् जड़, नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अपनेमें विशेषता दीखती है। अपनेमें विशेषता देखनेसे व्यक्तित्व पुष्ट होता है। अत: जबतक अपनेमें दूसरेकी अपेक्षा विशेषता दीखती है, तबतक बन्धन है॥ ४१२॥

प्रश्न—स्वरूपमें भी विशेषता तो है ही, फिर स्वरूपमें विशेषता नहीं—ऐसा कहनेका तात्पर्य?

विशेषता स्वरूपमें नहीं आ सकती। विशेषता देखते ही प्रकृतिकी सत्ता आती है; क्योंकि प्रकृतिके बिना विशेषता आ नहीं सकती। अत: वास्तवमें स्वरूपमें विशेषता नहीं है, प्रत्युत स्वरूप ही विशेष है! सूर्यमें प्रकाश नहीं है, प्रत्युत सूर्य प्रकाशस्वरूप ही है॥ ४१३॥

समाज-सुधार

प्रश्न—समाज-सुधारका उपाय क्या है?

उत्तर—अपने सुधारसे स्वतः समाज-सुधार होता है; क्योंकि व्यक्ति भी समाजका ही अंग है। व्यक्तिगत जीवन तो ठीक न हो, पर बातें बढ़िया कहें तो न अपना सुधार होगा, न समाजका। वेश्या यदि पातिव्रत्यका उपदेश दे तो वह कैसे लगेगा? अतः बातें बढ़िया नहीं, अपना जीवन बढ़िया होना चाहिये। समाज-सुधारकी चेष्टा न करके अपने सुधारकी चेष्टा करनी चाहिये। अपना सुधार होगा—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेका हित करनेसे॥ ४१४॥

प्रश्न—सरकारके द्वारा अपराधीको मृत्युदण्ड देना उचित है या अनुचित?

उत्तर—मृत्युदण्ड देना उचित है। यह सर्वथा पाप-रहित करनेका दण्ड है। मृत्युदण्डसे पापी व्यक्तिकी शुद्धि होती है और लोगोंमें पाप न करनेकी वृत्ति होती है॥ ४१५॥

प्रश्न—'दयाकी मृत्यु' उचित है या अनुचित?

उत्तर—यह दया नहीं है, प्रत्युत बेसमझी है। डॉक्टरका कर्तव्य यही है कि वह रोगीको यथाशक्ति जीवित रखनेका प्रयत्न करे; क्योंकि कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। जो रोगी वर्षोंसे बेहोश है, वह कभी होशमें भी आ सकता है। ऐसी घटना मेरी देखी हुई है॥ ४१६॥

प्रश्न—चारों वर्णों और आश्रमोंमें कौन-सा वर्ण और आश्रम श्रेष्ठ है?

उत्तर—वही वर्ण और आश्रम श्रेष्ठ है, जो अपने कर्तव्यका पालन करता है। जो अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह छोटा हो जाता है॥ ४१७॥

प्रश्न—समाजमें तरह-तरहके रीति-रिवाज प्रचलित हैं। उनमें कौन-सा ठीक है, कौन-सा बेठीक—इसका निर्णय कैसे करें?

उत्तर—जिसमें अपने स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित हो, वही ठीक है॥ ४१८॥

प्रकीर्ण

प्रश्न—एक तरफ कहा जाता है कि आशा मत रखो—'आशा हि परमं दुःखम्' और दूसरी तरफ कहा जाता है कि आशावादी बनो। क्या करना चाहिये?

उत्तर—दोनों बातें ठीक हैं। आशा न रखनेका तात्पर्य है—संसारकी आशा मत रखो और आशावादी बननेका तात्पर्य है—अपनी उन्नतिसे अथवा भगवत्प्राप्तिसे निराश मत होओ। सत्यकी आशा रखो, असत्‌की आशा मत रखो॥ ४१९॥

प्रश्न—अविद्या और विपर्ययमें क्या फर्क है?

उत्तर—अनित्य, अशुचि, अनात्मा और दुःखमें विपरीत (नित्य, शुचि, आत्मा और सुख) बुद्धि होनेका नाम 'अविद्या' (अज्ञान) है। रस्सीमें साँप दीखना, सज्जनको दुर्जन समझना आदि वृत्ति 'विपर्यय' है। अविद्या खुदमें रहती है और विपर्यय-वृत्ति अन्तःकरणमें रहती है। जीवन्मुक्त महापुरुषमें अविद्या-दोष तो नहीं रहता, पर विपर्यय-दोष रह सकता है। इसलिये उनमें व्यवहारकी भूल तो हो सकती है, पर स्वयंकी भूल नहीं होती॥ ४२०॥

प्रश्न—आत्मदृष्टि और परमात्मदृष्टिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—आत्मदृष्टिसे ब्रह्मज्ञान होता है और परमात्मदृष्टिसे प्रेम होता है। आत्मदृष्टिसे 'सत्' तथा 'चित्' का अनुभव होता है और परमात्मदृष्टिसे 'आनन्द' का अनुभव होता है। यद्यपि परमात्म-दृष्टिसे भी 'सत्' तथा 'चित्' का अनुभव होता है, पर मुख्यता आनन्दकी रहती है। ऐसे ही आत्मदृष्टिसे भी 'आनन्द' का अनुभव होता है, पर मुख्यता सत् तथा चित्‌की रहती है॥ ४२१॥

प्रश्न—आस्तिक और नास्तिक किसे कहते हैं?

उत्तर—जो बिना देखे-सुने भी परमात्माकी सत्ता मानते हैं, वे 'आस्तिक' हैं। जो परमात्माकी सत्ता न मानकर जगत् और जीव (आत्मा) की सत्ता मानते हैं, वे 'नास्तिक' हैं॥ ४२२॥

प्रश्न—चेतन और चिन्मयमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'चेतन' सापेक्ष है अर्थात् जड़की अपेक्षा चेतन है, पर 'चिन्मय' निरपेक्ष है। चिन्मयका अर्थ है—केवल (शुद्ध) चेतन॥ ४२३॥

प्रश्न—स्मार्त और वैष्णवमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जो वेदोंको, स्मृतियोंको, पुराणोंको, शास्त्रोंको मानते हैं कि जो वे कहेंगे, वही ठीक है, वे 'स्मार्त' कहलाते हैं। परन्तु जो केवल भगवान्‌को ही मानते हैं, वे 'वैष्णव' कहलाते हैं। स्मार्तमें कर्मकाण्डकी मुख्यता रहती है और वैष्णवमें भगवान्‌की मुख्यता रहती है। स्मार्त लौकिक हैं और वैष्णव अलौकिक हैं*॥ ४२४॥

प्रश्न—दरिद्र और धनीकी पहचान क्या है?

उत्तर—जिसको प्राप्त वस्तु आदिमें सन्तोष नहीं है और अप्राप्तकी इच्छा होती है, वह 'दरिद्र' है। उसके पास धन न हो तो भी दरिद्र है, धन हो तो भी दरिद्र है। जिसको प्राप्तमें सन्तोष है और अप्राप्तकी

* जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों लौकिक हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' और भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग भी लौकिक हैं—'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा' (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है, पर भक्तियोग अलौकिक है, जो भगवान्‌को लेकर चलता है।

इच्छा नहीं है, वह 'धनी' है। उसके पास धन न हो तो भी धनी है, धन हो तो भी धनी है॥ ४२५॥

प्रश्न—भगवान्‌ने कहा है—*'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'* (मानस, सुन्दर० ४४। ३) तो कपट और छलमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'कपट' तो अपने भीतर होता है, पर 'छल' में दूसरेको ठगता है। दूसरोंमें दोष देखना 'छिद्र' है॥ ४२६॥

प्रश्न—गुरु, शासक और नेता—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—गुरु ज्ञानरूपी प्रकाश देकर मनुष्यको सही मार्गपर लाता है। शासक दण्ड देकर सही मार्गपर लाता है। नेता समझाकर सही मार्गपर लाता है। गुरु सौम्य (दयालु) शासक है, राजा क्रूर शासक है और नेता सामान्य (न सौम्य, न क्रूर) शासक है॥ ४२७॥

प्रश्न—दुःख और करुणामें क्या अन्तर है?

उत्तर—अपने दुःखसे दुःखी होना 'दुःख' है और दूसरेके दुःखसे दुःखी होना 'करुणा' है। दुःखी होना भोग है और करुणित होना त्याग है। दुःखमें अपनी तरफ दृष्टि रहती है और करुणामें दूसरेकी तरफ॥ ४२८॥

प्रश्न—देहात्मा, गौणात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इनमें क्या भेद है?

उत्तर—शरीरको 'देहात्मा' कहते हैं। पुत्रको 'गौणात्मा' कहते हैं। जिसका देहके साथ सम्बन्ध है, उस अन्तर्यामीको 'अन्तरात्मा' कहते हैं—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गीता १५। १५), **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता १८। ६१)। जिसका देहके साथ सम्बन्ध नहीं है, उसको 'परमात्मा' कहते हैं॥ ४२९॥

प्रश्न—निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प बोधमें क्या अन्तर है?

उत्तर—निर्विकल्प स्थिति कारणशरीरमें होती है और निर्विकल्प बोध स्वयंमें होता है। निर्विकल्प स्थिति सविकल्पमें बदल जाती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें नहीं बदलता। स्थिति बदलती है, बोध नहीं बदलता—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)। निर्विकल्प बोध अखण्ड, नित्य, स्वतः-स्वाभाविक और निरपेक्ष

होता है॥ ४३०॥

प्रश्न—सफाई और शुद्धिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सफाई और शुद्धि (पवित्रता) में बहुत अन्तर है। हड्डीको साफ कर सकते हैं, पर शुद्ध नहीं कर सकते। कौन-सी वस्तु शुद्ध है—इसको शास्त्र-प्रमाणसे ही जान सकते हैं। जैसे, अन्य जलोंकी अपेक्षा गंगाजल पवित्र है। गायके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र हैं॥ ४३१॥

प्रश्न—कारणशरीरकी स्थिरता और स्वरूपकी स्थिरतामें क्या अन्तर है?

उत्तर—कारणशरीरकी स्थिरता सापेक्ष है अर्थात् चंचलताकी अपेक्षा स्थिरता है। परन्तु स्वयंकी स्थिरता निरपेक्ष है। स्वयं कारणशरीरकी स्थिरताका भी प्रकाशक, साक्षी है॥ ४३२॥

प्रश्न—रामायणमें आया है—*'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई'* (बाल० ३। ५) और *'मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम'* (लंका० १६ ख) तो 'शठ' और 'मूर्ख' में क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रत्येक कवि या लेखकके शब्दोंमें उनका अपना एक विशेष अर्थ होता है। यहाँ 'शठ' वह है, जो जानता नहीं और 'मूर्ख' वह है, जो जानता तो है, पर मानता नहीं॥ ४३३॥

प्रश्न—मुक्त और प्रेमी—दोनोंके व्यवहारमें क्या फर्क होता है?

उत्तर—मुक्तका व्यवहार समताका, उदासीनताका होता है, पर प्रेमीका व्यवहार प्रेमपूर्ण होता है; क्योंकि भगवान् प्यारे लगते हैं तो उनकी हर चीज प्यारी लगती है॥ ४३४॥

प्रश्न—सीखा हुआ और जाना हुआ—दोनोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—सीखा हुआ बुद्धिका विषय होता है और जाना हुआ बुद्धिका प्रकाशक होता है। बुद्धिके अन्तर्गत सीखा हुआ है और जाने हुएके अन्तर्गत बुद्धि है। सीखा हुआ तो दृढ़-अदृढ़ दोनों होता है, पर जाना हुआ अदृढ़ होता ही नहीं॥ ४३५॥

प्रश्न—सीखना, समझना और अनुभव करना—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—इसको इस उदाहरणसे समझना चाहिये—छोटी बच्ची 'सीख' लेती है कि यह मेरी माँ है। वह माँ क्यों है, कैसे है—यह वह नहीं जानती। जब वह कुछ बड़ी होती है, तब वह 'समझती' है कि उसने मेरेको जन्म दिया है, इसलिये वह मेरी माँ है। विवाहके बाद जब वह खुद माँ बनती है, बालकको जन्म देती है, तब उसको 'अनुभव' होता है कि इस तरह माँने मेरेको जन्म दिया था॥ ४३६॥

प्रश्न—सिद्धान्त और नियममें क्या अन्तर है?

उत्तर—सिद्धान्त माननेका और नियम पालन करनेका होता है॥ ४३७॥

प्रश्न—स्वाभिमान और अभिमानमें क्या अन्तर है?

उत्तर—स्वाभिमान सात्त्विक होता है और अभिमान तामसी। मैं साधक हूँ तो साधनसे विरुद्ध कार्य कैसे कर सकता हूँ? मैं चोरी कैसे कर सकता हूँ—यह 'स्वाभिमान' है। मैं साधक हूँ, दूसरे असाधक हैं—इस प्रकार दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखना 'अभिमान' है। अभिमान होनेसे मनुष्य साधन-विरुद्ध कार्य कर बैठेगा और स्वाभिमान होनेसे उसको साधन-विरुद्ध कार्य करनेमें लज्जा होगी॥ ४३८॥

प्रश्न—मुमुक्षा और जिज्ञासामें क्या अन्तर है?

उत्तर—मुमुक्षामें साधक अपनी मुक्ति चाहता है, इसलिये उसमें व्यक्तित्व रहता है। मुमुक्षासे भी तत्त्वकी जिज्ञासा अच्छी है और उससे भी प्रेमकी पिपासा अच्छी है॥ ४३९॥

प्रश्न—जिज्ञासा स्वयंमें होती है अथवा बुद्धि या अहम्‌में?

उत्तर—जिज्ञासा स्वयंमें होती है। भावरूप स्वयंमें ही अभावका अनुभव होता है, तभी जिज्ञासा होती है। यदि ऐसा मानें कि जिज्ञासा अहम्‌में होती है तो अहम्‌का मालिक कौन है? अहम्‌के साथ किसने सम्बन्ध जोड़ा है? मैं वही हूँ—यह प्रत्यभिज्ञा किसमें होती है? मानना पड़ेगा कि स्वयं (चेतन) ही अहम्‌का मालिक है, वही अहम्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और उसीमें प्रत्यभिज्ञा होती है। स्वयंने जितने अंशमें अहम्‌से सम्बन्ध माना है, अहम्‌को स्वीकार किया है, उतने अंशमें अज्ञान है। जगत्‌की सत्ता स्वयंने ही मानी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'**

(गीता ७। ५)। अत: स्वयंमें ही जिज्ञासा होती है और स्वयंको ही बोध होता है। बोध होनेपर स्वयंमें फर्क पड़ता है। स्वयंमें फर्क पड़नेपर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें भी फर्क पड़ता है॥ ४४०॥

प्रश्न—सावधान रहना बढ़िया है या उदासीन रहना?

उत्तर—कर्तव्यका पालन करनेमें सावधान रहे, पर भीतरसे उदासीन रहे। उदासीन रहनेका अर्थ है—राग-द्वेष न रखे, पक्षपात न करे, तटस्थ रहे॥ ४४१॥

प्रश्न—पहले लोग अन्यायको नहीं सहते थे, पर आजकल अन्यायको सहते हैं। क्या अन्यायको सहना उचित है?

उत्तर—अन्यायको सहना उचित नहीं है। अन्यायी आदमी ही अन्यायको सहता है—*'चोर चोर मौसेरे भाई'?*॥ ४४२॥

प्रश्न—जब आवश्यक वस्तु स्वत: प्राप्त होती है तो फिर अनेक लोग शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका अभाव क्यों भोगते हैं?

उत्तर—उन्होंने पूर्वजन्ममें अन्न, जल आदि शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका दुरुपयोग किया था, तभी उनकी तंगी भोगनी पड़ती है। इसलिये अब तंगी भोगना ही उनके लिये आवश्यक है। तात्पर्य है कि जैसे शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंकी आवश्यकता है, ऐसे ही पहले किये गये कर्मोंका फल भोगनेकी भी आवश्यकता है। अत: मनुष्यको शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, उनको निरर्थक नष्ट नहीं करना चाहिये॥ ४४३॥

प्रश्न—अखण्ड स्मृति क्या है?

उत्तर—'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने होनेपनका हम निरन्तर अनुभव करते हैं—यही अखण्ड स्मृति है। 'मैं हूँ'—यह ज्ञानकी अखण्ड स्मृति है और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह भक्तिकी अखण्ड स्मृति है। ज्ञान होनेपर 'मैं' नहीं रहता और 'हूँ' 'है' में बदल जाता है॥ ४४४॥

प्रश्न—दूसरोंको अपना मानें या उनकी उपेक्षा करें, दोनोंमें कौन-सा बढ़िया है?

उत्तर—अपने शरीरकी उपेक्षा होनी चाहिये और दूसरोंके शरीरमें

अपनापन होना चाहिये अर्थात् जैसे अपने शरीरका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होती है, ऐसे ही दूसरेके शरीरका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होनी चाहिये। तात्पर्य है कि जैसे अपने शरीरमें अपनापन है, ऐसे दूसरे शरीरोंमें अपनापन होना चाहिये और जैसे संसारकी उपेक्षा है, ऐसे अपने शरीरकी उपेक्षा होनी चाहिये। दूसरोंके हितकी दृष्टिसे व्यवहार चाहे जैसा (यथायोग्य) करें, पर अपनेपनमें फर्क नहीं आना चाहिये।

ज्ञानमार्गमें उदासीनता बढ़िया होती है और कर्मयोग तथा भक्तियोगमें दयालुता बढ़िया होती है॥ ४४५॥

प्रश्न—रामायण, महाभारत आदिकी कथाओंका रूपक बनाना, उन्हें ज्ञानमें घटाना (जैसे—रावण नाम अहंकारका है आदि) क्या उचित है?

उत्तर—इतिहासकी कथाओंका रूपक बनाना ठीक नहीं है। शास्त्रोंमें ज्ञानकी बातोंकी कमी तो है नहीं, फिर रूपक क्यों बनायें? रूपक बनानेसे इतिहासका नाश होता है, भगवान्‌के चरित्रपर आघात होता है॥ ४४६॥

प्रश्न—कीर्तनमें जो सुख मिलता है, वह कौन-सा है?

उत्तर—कीर्तनमें मिलनेवाला सुख सात्त्विक है, जो भगवान्‌की तरफ ले जानेवाला होता है॥ ४४७॥

प्रश्न—एक बात तो यह आती है कि प्रकृति कर्ता है और एक बात यह आती है कि न पुरुष कर्ता है, न प्रकृति कर्ता है, कर्ता कोई नहीं है, केवल मान्यता है—दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है, न पुरुष, न प्रकृति। पर यदि कोई कर्ता मानना ही चाहे तो यही कहेंगे कि कर्तापन प्रकृति (जड़) में है, पुरुष (चेतन) में नहीं। तात्पर्य हुआ कि अगर कर्ता माना जाय तो वह प्रकृतिमें हैं, अन्यथा कोई कर्ता नहीं है॥ ४४८॥

प्रश्न—क्रियाका वेग किसमें है?

उत्तर—क्रियाका वेग प्रकृतिमें है, पर माना है अपनेमें। शरीरमें मैं-पन करनेके कारण क्रियाका वेग अपनेमें दीखता है॥ ४४९॥

प्रश्न—गंगाजीका पूजन करनेसे क्या लाभ?

उत्तर—पूजन करनेसे अन्त:करण शुद्ध, निर्मल होता है। दूसरी बात, जिसका हृदयमें आदर होता है, उसका पूजन अपने-आप होता है॥ ४५०॥

प्रश्न—जीव अनन्त हैं, फिर चौरासी लाखकी ही गणना क्यों?

उत्तर—ऋषियोंने चौरासी लाख जीवोंकी जातियोंकी गणना कर ली थी, इसलिये उन्होंने चौरासी लाख जीव बता दिये। चौरासी लाख जातियोंमें एक-एक जातिमें लाखों-करोड़ों जीव हैं। भूत, प्रेत, पिशाच, देवता, पितर, गन्धर्व आदि जातियोंको गणनामें नहीं लिया; क्योंकि ये सब देवयोनियाँ हैं, जो सामान्य रूपसे सबको नहीं दीखतीं॥ ४५१॥

प्रश्न—सृष्टिके आरम्भसे ही देव और असुर—ये दो विभाग कैसे हो गये?

उत्तर—प्रकृति और पुरुष-दोनों अनादि हैं—'**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**' (गीता १३। १९)। प्रकृतिकी प्रधानतासे असुर हो गये और पुरुषकी प्रधानतासे देव हो गये।

वास्तवमें सत्ता एक ही है। परन्तु अपने राग-द्वेषके कारण दो सत्ता दीखती है। अपने राग-द्वेषके कारण ही असुर और देवताका विभाग दीखता है। अपना राग-द्वेष न हो तो असुर और देवतामें क्या फर्क है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। राग-द्वेष न हो तो केवल भगवान्‌की लीला है, खेल है!॥ ४५२॥

प्रश्न—पर भगवान्‌की यह परस्पर विरोधी बातोंवाली लीला समझमें नहीं आयी!

उत्तर—लीलाको समझ नहीं सकते, मान सकते हैं। अगर लीला हमारी समझमें आ जाय तो समझ बड़ी हो जायगी और भगवान् छोटे हो जायँगे!॥ ४५३॥

प्रश्न—आजकल प्राय: यह सुननेमें आता है कि अमुक स्त्री या पुरुषके भीतर अमुक देवी या देवता आता है और बातें बताता है, क्या यह सत्य है?

उत्तर—आजकल पाखण्ड बहुत है। यदि देवी-देवताका शरीरमें

प्रवेश हो जाय तो शरीर उनका तेज सह ही नहीं सकेगा। मनुष्यशरीरमें भूत-प्रेतका प्रवेश हो सकता है। भूत-प्रेतोंमें ऊँच-नीच अनेक जातियाँ होती हैं। भूत-प्रेत भी देवयोनिमें आते हैं। अमरकोषमें आया है—

विद्याधराऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्व किन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥ (१।१।११)

प्रश्न—धार्मिक सिनेमा देखना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं देखना चाहिये। धार्मिक सिनेमा देखनेमें भी हानि है; क्योंकि फिल्म-निर्माताकी दृष्टि पैसोंकी तरफ तथा साधारण लोगोंकी रुचिकी तरफ रहती है, सत्यकी तरफ नहीं। वे शास्त्रमें लिखी बातोंको तत्त्वसे नहीं समझते। शास्त्रमें जो आया है और सिनेमामें जो दिखाते हैं—दोनोंमें फर्क होनेके कारण धार्मिक सिनेमा देखनेसे नास्तिकता आती है॥ ४५५॥

प्रश्न—कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आती है, जब निर्णय लेना कठिन हो जाता है, हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, उस समय क्या करना चाहिये?

उत्तर—चुप, शान्त होकर भगवान्‌को याद करना चाहिये। समाधान मिल जायगा। अपने स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित हो—ऐसा काम करना चाहिये॥ ४५६॥

प्रश्न—पितृलोक क्या है?

उत्तर—स्वर्गकी तरह यह भी एक लोक है, जहाँ पितर रहते हैं। जो उस लोकके अधिकारी होते हैं, वे वहाँ जाते हैं—'**पितॄन्यान्ति पितृव्रताः**' (गीता ९। २५)।

हमारे पितर (पिता, दादा आदि) जिस लोकमें अथवा जिस योनिमें हैं, वह भी पितृलोक है। पितर यदि पशुयोनिमें हैं तो वही पितृलोक है। जिनकी घरमें, परिवारमें ज्यादा आसक्ति होती है, वे पितर बनकर घरमें रहते हैं। उनका कमाया धन हमने लिया है; अतः उनकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है॥ ४५७॥

प्रश्न—एकनाथ आदि सन्तोंने श्राद्ध-भोजनके लिये पितरोंका आवाहन किया तो पितर स्वयं कैसे आ गये?

उत्तर—पितर जिस योनिमें हैं, आवाहन करनेपर उनको वहाँ मूर्च्छा आ जाती है और (परकायाप्रवेशकी तरह) वे वहाँ आ जाते हैं। परन्तु यह कोई सामान्य बात नहीं है॥ ४५८॥

प्रश्न—प्रेत किसीको दुःख देता है तो उसको कोई दोष (पाप) लगता है कि नहीं?

उत्तर—उसको कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि वह भोगयोनि है और मनुष्यके प्रारब्धके अनुसार ही उसको दुःख देता है। जो सात्त्विक प्रेत होते हैं, वे दुःख नहीं देते। राजस-तामस प्रेत ही दुःख देते हैं। यह नियम है कि दुःखी व्यक्ति ही दूसरोंको दुःख देता है। अतः जो प्रेत खुद दुःखी होते हैं, वे ही दूसरोंको दुःख देते हैं॥ ४५९॥

प्रश्न—हमने कोई गलत कार्य नहीं किया, फिर भी दुष्ट व्यक्तिसे भय क्यों लगता है?

उत्तर—अपनी निर्दोषतापर दृढ़ विश्वास न होनेसे ही भय लगता है। भय तीन कारणोंसे लगता है—अपना आचरण ठीक न होनेसे, अपनी निर्दोषतापर विश्वास न करनेसे और किसी भी वस्तु (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि)को अपना माननेसे॥ ४६०॥

प्रश्न—मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मुझे कुछ नहीं करना है—इन तीनोंके मूलमें क्या है?

उत्तर—मूलमें है—मैं कुछ नहीं हूँ और परमात्मा है॥ ४६१॥

प्रश्न—वेद अनादि हैं और याज्ञवल्क्य आदि ऋषि बादमें हुए हैं, फिर वेदोंमें उन ऋषियोंका वर्णन कैसे आया?

उत्तर—वेद सर्वज्ञ हैं। भगवान्‌ने भी कहा है—'**वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन**' (गीता ७। २६)। अतः उन ऋषियोंकी महत्ता प्रकट करनेके लिये, ब्रह्मविद्याकी महिमा बतानेके लिये वेदोंने पहलेसे ही उनका वर्णन कर दिया। महर्षि वाल्मीकिजीने भी भगवान् रामका

अवतार होनेसे पहले ही रामायणकी रचना कर दी थी! वाल्मीकिजीने कहा है—

भविष्यज्ञानयोगाच्च कृतं रामायणं शुभम्॥

(पद्मपुराण, पाताल० ६६। १७)

'भविष्यज्ञानकी शक्ति होनेके कारण इस रामायणको मैंने पहलेसे बना रखा था।'॥ ४६२॥

प्रश्न—विद्याको केवल सीखे नहीं, प्रत्युत उसका अनुभव करे—इस कथनका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—विद्याको अपने और दूसरोंके काममें लाना चाहिये। जिसके पास उस विद्याका अभाव है, उसको वह विद्या देनी चाहिये। केवल जानकारीके लिये विद्याका संग्रह करनेसे अभिमान आता है॥ ४६३॥

प्रश्न—स्त्रीके लिये व्रतका निषेध आया है, पर वह पतिके लिये व्रत रख सकती है क्या?

उत्तर—वह पतिके लिये व्रत रख सकती है और पतिकी आज्ञासे भी व्रत रख सकती है। सती सावित्रीने भी पतिके जीवनके लिये व्रत रखा था॥ ४६४॥

प्रश्न—आजकल सैकड़ों वक्ता हो गये हैं और लाखों लोग उनकी बात सुनते हैं, फिर भी लोगोंके आचरणोंमें सुधार क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—कारण यह है कि वक्ता खुद वैसा आचरण नहीं करते। खुद वैसा आचरण करनेसे ही वचनोंका असर पड़ता है। श्रोतामें जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासासे लाभ होता है, केवल सुननेसे नहीं॥ ४६५॥

प्रश्न—शास्त्रमें भगवत्कथाके वक्ता और श्रोता—दोनोंको ही दुर्लभ बताया है, पर आजकल दोनों ही बड़े सुलभ दीख रहे हैं, इसका कारण?

उत्तर—कारण कि दोनों ही नकली हैं!॥ ४६६॥

प्रश्न—शुकदेवजी बारह वर्षतक गर्भमें कैसे रहे?

उत्तर—गर्भमें जितना आकार होता है, उतने ही आकारका उनका शरीर रहा, पर बुद्धि (अन्त:करण) विकसित हो गयी। जन्मके बाद फिर उनका शरीर धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक आकारमें आ गया॥ ४६७॥

प्रश्न—श्रद्धा अन्धी होती है, पर उसमें धोखा हो जाय तो?

उत्तर—सच्ची श्रद्धावालेके साथ धोखा नहीं हो सकता। उसको दु:ख हो सकता है, पर उसकी हानि नहीं हो सकती। सीताजीने साधुरूपधारी रावणपर और हनुमान्जीने कालनेमिपर श्रद्धा की तो उनकी क्या हानि हुई? हानि तो रावण और कालनेमिकी ही हुई॥ ४६८॥

प्रश्न—श्राद्धका अन्न ग्रहण करना चाहिये या नहीं?

उत्तर—घरके लोग श्राद्धका अन्न खायें तो कोई दोष नहीं है; क्योंकि मरनेवाला अपना ही स्वजन है। परन्तु दूसरोंको कभी नहीं खाना चाहिये। अन्न बच जाय तो ब्राह्मणोंसे पूछकर जैसा वे कहें, वैसा उसका उपयोग कर दे। मृत्युके बाद तीसरे और बारहवें दिनका अन्न बहुत अशुद्ध होता है; अत: बचे हुए अन्नको पृथ्वीमें गाड़ देना चाहिये। वार्षिक पितृपक्षमें होनेवाले श्राद्धका अन्न भी दूसरेको नहीं खाना चाहिये। श्राद्धका भोजन ब्राह्मणको ही खिलानेका विधान है, गरीबों आदिको नहीं॥ ४६९॥

प्रश्न—प्राप्त वस्तुका सदुपयोग क्या है?

उत्तर—वस्तुको अपनी न मानना और जहाँ आवश्यकता दीखे, वहाँ उस वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगाना॥ ४७०॥

प्रश्न—किसीमें बचपनसे खराब स्वभाव पड़ा हुआ हो तो वह कैसे मिट सकता है?

उत्तर—पहले ऐसा मान ले कि स्वभाव असत् है और मिटनेवाला है। फिर सद्विचार करे, सच्छास्त्र पढ़े और सत्संग करे। सद्विचार, सच्छास्त्र और सत्संगसे स्वभाव मिट सकता है, शुद्ध हो सकता है॥ ४७१॥

प्रश्न—माता सीताने मृगचर्मके लिये स्वर्णमृगको मारनेके लिये क्यों कहा?

उत्तर—मृगको मारनेके लिये माता सीताने नहीं कहा, प्रत्युत छाया

सीताने कहा! सीता भी छायाकी थी और मृग भी छायाका था। छाया सीताने स्वर्णका लोभ किया तो भगवान्‌ने उसको स्वर्णकी नगरी लंकामें ले जाकर बैठा दिया। माता सीतामें तो सतीत्वका इतना तेज था कि बुरी नीयतसे स्पर्श करनेमात्रसे रावण भस्म हो जाता! ॥ ४७२ ॥

प्रश्न—कोई बात तो बचपनकी भी याद रहती है और कोई बात दो दिन पहलेकी भी याद नहीं रहती, इसका क्या कारण है?

उत्तर—काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि भावोंसे चित्त पिघल जाता है*। उस पिघले हुए चित्तमें बैठी बात नहीं भूलती। जिस बातमें चित्त नहीं पिघलता, वह बात भूल जाती है॥ ४७३ ॥

प्रश्न—वर्तमानमें हिन्दूलोग मुसलमानों तथा ईसाईयोंकी अपेक्षा पिछड़े हुए क्यों दीख रहे हैं?

उत्तर—अपने घरकी पोल तो हम जानते हैं, पर मुसलमानों-ईसाईयोंके घरकी पोल नहीं जानते, इसलिये ऐसा दीखता है। वास्तवमें नैतिक पतन सब धर्मवालोंका हुआ है। उन धर्मवालोंके बड़े-बूढ़ोंसे पूछकर देखो कि उनकी नयी पीढ़ीके युवक कैसे हैं? दूसरी बात, हिन्दूधर्म कलियुगके विपरीत पड़ता है, जबकि उनका धर्म कलियुगके कुछ अनुकूल पड़ता है। अत: उनको कलियुगसे सहायता मिल रही है। इन बातोंके सिवाय सरकारी कानून भी हमारे धर्मकी उन्नतिमें बाधक है।

कलियुगमें धर्म सामूहिक न होकर व्यक्तिगत होता है। जैसे, सभी ब्राह्मण अपने धर्मका पालन करें— ऐसा नहीं होता। पर कोई भी ब्राह्मण अपने धर्मका पालन नहीं करे—ऐसा भी नहीं होता। इसलिये सन्तोंने कहा है—

तेरे भावै जो करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठ के, अपनो भवन बुहार॥

प्रश्न—विष्णुका ध्यान करते हुए यदि शंकर ध्यानमें आ जायँ तो क्या करना चाहिये?

---

* कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयाऽऽदय:।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत्॥ (भक्तिरसायन १।५)

उत्तर—विष्णु ही अपनी मरजीसे शंकररूपसे आये हैं—ऐसा मानकर प्रसन्न हो जाय। इतना ही नहीं, यदि कोई सांसारिक वस्तु या व्यक्ति भी ध्यानमें आ जाय तो ऐसा माने कि भगवान् ही इस रूपमें आये हैं। तात्पर्य है कि ध्यानमें चाहे जो भी आये, उसको अपने इष्टका ही रूप मानना चाहिये—'**वासुदेवः सर्वम्**'॥ ४७५॥

प्रश्न—भक्त भी भगवान्‌का ध्यान करता है और ध्यानयोगी भी, फिर ध्यानयोगी 'चलितमना' (योगभ्रष्ट) कैसे होता है?

उत्तर—ध्यानयोगीके साध्य तो भगवान् हैं, पर उसका साधन वृत्ति लगाना है, जबकि भक्तका साधन भी भगवान् हैं और साध्य भी भगवान् हैं॥ ४७६॥

प्रश्न—जब प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है, तो फिर शास्त्रोंमें प्रकृतिको अनादि क्यों कहा गया है?

उत्तर—हम प्रकृतिकी सत्ता मानते हैं, इसलिये शास्त्र हमारी भाषामें ही कहते हैं। दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं, तत्त्व एक है। जहाँ द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य नहीं है, वहाँ भेद नहीं है। द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक, दर्शन जबतक हैं, तबतक भेद है। इनसे आगे तत्त्वमें भेद नहीं है॥ ४७७॥

प्रश्न—परमात्मा भी अनन्त हैं और प्रकृति भी अनन्त है—ये दो बातें कैसे? प्रकृति तो परमात्माके एक अंशमें है!

उत्तर—दोनोंकी अनन्ततामें फर्क है। परमात्मा अपार-असीम हैं, इसलिये अनन्त हैं। प्रकृति नष्ट नहीं होती, इसलिये अनन्त है—'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्**' (योगदर्शन २। २२)॥ ४७८॥

प्रश्न—मनका निवास कहाँ है?

उत्तर—मनका निवास जाग्रत्-अवस्थामें नेत्रोंमें, स्वप्न-अवस्थामें 'हिता' नाड़ीमें और सुषुप्ति-अवस्थामें 'पुरीतती' नाड़ीमें होता है। जाग्रत्-अवस्थामें सब वस्तुओंका ज्ञान नेत्रोंसे ही होता है और नेत्रोंसे ही मनकी बात प्रकट होती है। अन्धे व्यक्तिकी नेत्र शक्ति कानोंमें चली जाती है॥ ४७९॥

प्रश्न—क्या मन ही मनुष्यके बन्धनका कारण है?

उत्तर—मनुष्यके बन्धन या मुक्तिका कारण मन नहीं है। खुदमें ही बन्धन है और खुदकी ही मुक्ति होती है। मनमें दोष कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। कारण कि मन तो एक करण है। करण कभी स्वतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत कर्ताके अधीन होता है। दोष कर्तामें होता है, करणका क्या दोष? लेखकमें दोष होता है, कलमका क्या दोष? कर्ताका दोष ही करणमें आता है। कर्तामें दोष न हो तो करणमें दोष आ सकता ही नहीं। अतः अपना दोष ही मनमें दीखता है। मन तो दर्पण है। असत्‌की मान्यता खुदमें ही है॥ ४८०॥

प्रश्न—धूम्रपान आदि व्यसनोंमें लगे हुए कई व्यक्तियोंको रोग तुरन्त पकड़ लेता है और कई व्यक्तियोंको रोग नहीं पकड़ता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—शरीरकी प्रकृति अलग-अलग होनेसे किसीको रोग जल्दी पकड़ता है, किसीको नहीं पकड़ता। परन्तु कैसा ही व्यसन हो, उसमें पराधीनता तो है ही! पराधीनतासे कोई बच नहीं सकता॥ ४८१॥

प्रश्न—चिकित्सासे केवल रोग नष्ट होता है या आयु भी बढ़ती है?

उत्तर—चिकित्सासे केवल रोग नष्ट होता है, आयु नहीं बढ़ती। मनुष्य आयु पूरी होनपर ही मरता है, पहले नहीं। बड़े-से-बड़ा रोग आनेपर भी यदि प्रारब्धमें आयु शेष होगी तो कोई-न-कोई उपाय मिल जायगा, जिससे रोग मिट जायगा अथवा रोग रहते हुए भी वह जीता रहेगा। चिकित्सासे कुपथ्यजन्य रोग मिटते हैं, प्रारब्धजन्य रोग नहीं मिटते॥ ४८२॥

प्रश्न—न चाहते हुए भी अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर पड़ जाय तो क्या करें?

उत्तर—उसकी परवाह मत करो। यह देखो कि वह असर सदा और एक समान रहता है क्या? वास्तवमें असर मन-बुद्धिपर पड़ता है, पर मन-बुद्धिको अपना माननेके कारण अविवेककी प्रधानतासे हम उस असरको अपनेमें मान लेते हैं ॥ ४८३॥

प्रश्न—हमारी संस्कृतिपर विदेशी प्रभाव अधिक क्यों पड़ता है?

उत्तर—हिन्दू संस्कृति सफेद कपड़ेकी तरह स्वच्छ है, इसलिये इसपर दूसरा रंग बहुत जल्दी चढ़ता है अर्थात् दूसरेकी बातोंको यह बहुत जल्दी ग्रहण कर लेती है॥ ४८४॥

प्रश्न—क्या पशु-पक्षीको अपनी जूठन दे सकते हैं?

उत्तर—हाँ, दे सकते हैं। पर गायको जूठन नहीं देनी चाहिये॥ ४८५॥

प्रश्न—पानीकी टोंटीमें सब जगह चमड़ेका वाशर लगाया जाता है; अतः पानी कैसे काममें लें?

उत्तर—जहाँ परवशता हो, बचनेका कोई उपाय न हो, वहाँ निर्वाहमात्रका दोष नहीं लगता—'**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**' (गीता ४। २१)॥ ४८६॥

प्रश्न—शिवनिर्माल्यको त्याज्य माना गया है। शिवनिर्माल्य क्या है?

उत्तर—शिवलिंगपर चढ़ा हुआ पदार्थ शिवनिर्माल्य है। जो पदार्थ शिवलिंगपर नहीं चढ़ा, वह शिवनिर्माल्य नहीं है। द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें शिवलिंगपर चढ़ा पदार्थ भी शिवनिर्माल्य नहीं माना जाता॥ ४८७॥

प्रश्न—अन्न कैसे शुद्ध होता है?

उत्तर—भोजनके पदार्थ सात्त्विक हों, शुद्ध कमाईके हों, पवित्रतापूर्वक बनाये जायँ और भगवान्‌के अर्पण करके पाया जाय॥ ४८८॥

प्रश्न—क्या भूत-प्रेतोंको निकालनेका काम करनेवालेकी दुर्गति होती है?

उत्तर—दुर्गति तब होती है, जब भूत-प्रेतोंको कष्ट दिया जाय; जैसे—उनको कीलित करना, बोतलमें बन्द करना आदि। अतः गयाश्राद्ध आदि करवाकर उनकी सद्‌गति करानी चाहिये, जिससे उनका भी हित हो और उस व्यक्तिका भी हित हो, जिसे प्रेतने पकड़ा है। इस प्रकार उनके हितकी दृष्टि होनेसे दुर्गति नहीं होती॥ ४८९॥

प्रश्न—सत्यनारायणकी कथा क्या है?

उत्तर—केवल कहानीको ही कथा नहीं कहते, प्रत्युत शास्त्रार्थ,

वाक्य-प्रबन्ध आदिको भी कथा कहते हैं। सत्यनारायण भगवान्‌का व्रत, पूजन एवं उसके विधि-विधानका वर्णन 'कथा' कहलाता है। आरम्भमें जिसने सत्यनारायणका व्रत-पूजन किया, उसके चरित्रको आगेके व्यक्ति भी कहने लग गये॥ ४९०॥

प्रश्न—क्या घरमें महाभारत और गरुड़पुराण रख सकते हैं?

उत्तर—जरूर रख सकते हैं। घरमें महाभारत और गरुड़पुराण रखनेमें तथा पढ़नेमें कोई दोष नहीं है॥ ४९१॥

प्रश्न—शाप-वरदानसे होनेवाला काम ही होता है अथवा नया काम भी होता है?

उत्तर—शाप-वरदानमें विशेष शक्ति (तपोबल) होती है। उससे वह भी हो सकता है, जो नहीं होनेवाला है। ऐसा शाप-वरदान ऋषि-मुनियोंका ही नहीं, साधारण मनुष्योंका भी लग सकता है; क्योंकि उनके शाप-वरदानके पीछे विशेष दुःख या विशेष प्रसन्नता होती है। परन्तु अमुक घटना शाप-वरदानसे घटी अथवा वैसा ही होनेवाला था—इसका पूरा पता लगता नहीं।

शाप-वरदान देनेसे स्वभाव बिगड़ता है और पारमार्थिक पुण्यकी हानि होती है। अतः दूसरेको शाप या वरदान नहीं देना चाहिये॥ ४९२॥

प्रश्न—शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—शान्ति कामनाके त्यागसे मिलती है। अतः जैसा मैं चाहूँ, वैसा हो जाय और जिसको चाहूँ, वह मिल जाय—इस कामनाका त्याग करना चाहिये॥ ४९३॥

प्रश्न—त्याग करनेसे शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२), क्या त्यागसे पहले भी शान्ति मिल सकती है?

उत्तर—हाँ, उद्देश्य बननेमात्रसे शान्ति मिलती है। हमें केवल भजन करना है, और कुछ करना है ही नहीं—ऐसा निश्चय होनेमात्रसे दुविधा मिट जाती है और शान्ति मिल जाती है॥ ४९४॥

प्रश्न—प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग कैसे करें?

उत्तर—अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थितिमें सुखकी इच्छाका त्याग करना परिस्थितिका सदुपयोग है। खास बात है कि प्राप्त परिस्थितिको भगवान्‌की मरजी माने। वह परिस्थिति अगर अपने कर्मोंका फल है तो भी भगवान्‌की मरजी है। अगर संसारसे मिली है तो भी भगवान्‌की मरजी है। अगर भगवान्‌का विधान है तो भी भगवान्‌की मरजी है॥ ४९५॥

प्रश्न—हम भजन-ध्यान कर रहे हैं और पासमें हल्ला होने लगे तो इस परिस्थितिका सदुपयोग कैसे करें?

उत्तर—इसको भगवान्‌की मरजी माननी चाहिये और उसे सुनकर राजी होना चाहिये। अगर ऐसी परिस्थितिमें भजन-ध्यान न कर सकें तो उसकी हमपर जिम्मेवारी ही नहीं। जिम्मेवारी उतनी ही होती है, जितना कर सकें॥ ४९६॥

प्रश्न—सर्वश्रेष्ठ मनुष्य कौन है?

उत्तर—जिसका अहम् सर्वथा मिट गया है अर्थात जिसको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव हो गया है॥ ४९७॥

प्रश्न—सर्वोत्कृष्ट अनुभव क्या है?

उत्तर—केवल भगवान् ही मेरे हैं; सिवाय भगवान्‌के मेरा कोई नहीं है—यह अनुभव॥ ४९८॥

प्रश्न—वास्तवमें अपनी वस्तु क्या है?

उत्तर—अपनी वस्तु वह है, जो सदा साथ रहे, कभी बिछुड़े नहीं। जो वस्तु मिली है और बिछुड़नेवाली है, वह कभी अपनी तथा अपने लिये नहीं हो सकती। शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य हमें मिले हैं तथा बिछुड़नेवाले हैं, इसलिये ये अपने और अपने लिये नहीं हैं। भगवान् सदा साथ रहते हैं तथा कभी बिछुड़ते नहीं, इसलिये वे अपने तथा अपने लिये हैं॥ ४९९॥

प्रश्न—अन्तिम बात क्या है?

उत्तर—एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है॥ ५००॥

॥ श्रीहरिः ॥

1176

शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

हिन्दूधर्मकी रक्षाके लिये शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता

हिन्दू-संस्कृति बहुत विलक्षण है। इसमें छोटी-से-छोटी अथवा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक बातका धर्मके साथ सम्बन्ध है और धर्मका सम्बन्ध कल्याणके साथ है। हिन्दूधर्ममें जो-जो नियम बताये गये हैं, वे सब-के-सब नियम मनुष्यके कल्याणके साथ सम्बन्ध रखते हैं। कोई परम्परासे सम्बन्ध रखते हैं, कोई साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। हिन्दूधर्ममें विद्याध्ययनका भी सम्बन्ध कल्याणके साथ है। संस्कृत व्याकरण भी एक दर्शनशास्त्र है, जिससे परिणाममें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है! इसलिये हिन्दूधर्मके किसी नियमका त्याग करना वास्तवमें अपने कल्याणका त्याग करना है!

जैसे, घड़ीमें छोटे-बड़े अनेक पुर्जे होते हैं।

उसमें बड़े पुर्जेका जो महत्त्व है, वही महत्त्व छोटे पुर्जेका भी है। बड़ा पुर्जा अपनी जगह पूरा है और छोटा पुर्जा अपनी जगह पूरा है। छोटे-से-छोटा पुर्जा भी यदि निकाल दिया जाय तो घड़ी बन्द हो जायगी। इसी तरह हिन्दूधर्मकी छोटी-से-छोटी बात भी अपनी जगह पूरी है और कल्याण करनेमें सहायक है। छोटी-सी शिखा अर्थात् चोटी भी अपनी जगह पूरी है और मनुष्यके कल्याणमें सहायक है। शिखाका त्याग करना मानो अपने कल्याणका त्याग करना है!

जैसे घड़ीके छोटे पुर्जेकी जगह बड़ा पुर्जा काम नहीं कर सकता, ऐसे ही हम कोई भी काम करें, उसमें अगर थोड़ी-सी भी कमी रह जायगी तो उसकी पूर्ति नहीं होगी। महाराज नलके चरित्रमें आता है कि कलियुग कई दिनोंतक उनके शरीरमें प्रवेश करनेकी चेष्टा करता रहा, पर प्रवेश कर नहीं सका। एक दिन महाराज नलने लघुशंका करके हाथ तो धो लिये, पर पैर नहीं धोये तो उसी दिन

कलियुग उनके भीतर प्रवेश कर गया। फलस्वरूप महाराज नल और उनकी पत्नी दमयन्ती—दोनोंको बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। अत: शिखा नहीं रखना बड़ी भारी कमी है, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

शिखा अर्थात् चोटी हिन्दुओंका प्रधान चिह्न है। हिन्दुओंमें चोटी रखनेकी परम्परा प्राचीनकालसे चली आ रही है। परन्तु अब आपने इसका त्याग कर दिया है—यह बड़े भारी नुकसानकी बात है। विचार करें, चोटी न रखनेके लिये अथवा चोटी काटनेके लिये किसीने प्रचार भी नहीं किया, किसीने आपसे कहा भी नहीं, आपको आज्ञा भी नहीं दी, फिर भी आपने चोटी काट ली तो आप मानो कलियुगके अनुयायी बन गये! यह कलियुगका प्रभाव है; क्योंकि उसे सबको नरकोंमें ले जाना है। चोटी कट जानेसे नरकोंमें जाना सुगम हो जायगा। इसलिये आपसे प्रार्थना है कि चोटीको साधारण समझकर इसकी उपेक्षा न करें। चोटी रखना मामूली दीखता है, पर यह मामूली काम नहीं है।

अग्निका एक नाम 'शिखी' है। शिखी उसको कहा जाता है, जिसकी शिखा हो—'**शिखा यस्यास्तीति स शिखी**'। वह धूमशिखावाला अग्नि हमारा इष्टदेव है—'**अग्निर्देवो द्विजातीनाम्**'। अतः शिखा हमारे इष्टदेव (अग्नि)-का प्रतीक है।

हरिवंशपुराणमें एक कथा आती है। हैहय और तालजंघ वंशके राजाओंने शक, यवन, काम्बोज, पारद आदि राजाओंको साथ लेकर राजा बाहुका राज्य छीन लिया। राजा बाहु अपनी पत्नीके साथ वनमें चला गया। वहाँ राजा बाहुकी मृत्यु हो गयी। तब महर्षि और्वने उसकी गर्भवती स्त्रीकी रक्षा की और उसको अपने आश्रममें ले आये। वहाँ उसने एक पुत्रको जन्म दिया, जो आगे चलकर राजा सगरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। राजा सगरने महर्षि और्वसे शस्त्र और शास्त्रकी विद्या सीखी। समय पाकर राजा सगरने हैहयोंको मार डाला और फिर शक, यवन, काम्बोज, पारद आदि राजाओंको भी मारनेका निश्चय किया। वे

शक, यवन आदि राजालोग महर्षि वसिष्ठकी शरणमें चले गये। वसिष्ठजीने कुछ शर्तोंपर उनको अभयदान दे दिया और राजा सगरको आज्ञा दी कि वे उनको न मारें। राजा सगर अपनी प्रतिज्ञा भी नहीं छोड़ सकते थे और वसिष्ठजीकी आज्ञा भी नहीं टाल सकते थे। अतः उन्होंने उन राजाओंका सिर शिखासहित मुँड़वाकर उनको छोड़ दिया। वे राजालोग क्षत्रिय थे, पर शिखा कटनेके कारण वे सब धर्मभ्रष्ट हो गये—

शकाः यवनकाम्बोजाः पारदाश्च विशाम्पते।
कोलिसर्पाः समहिषा दार्वाश्चोलाः सकेरलाः॥
सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः।
वसिष्ठवचनाद् राजन् सगरेण महात्मना॥

(हरिवंशपुराण, हरिवंश० १४। १८-१९)

'शक, यवन, काम्बोज, पारद, कोलिसर्प, महिष, दर्द, चोल और केरल—ये सब क्षत्रिय ही थे। वसिष्ठजीके वचनसे महात्मा सगरने इनके धर्मको ही नष्ट कर दिया।'

इस कथासे यह सिद्ध होता है कि शिखा काटनेसे मनुष्य मरे हुएके समान हो जाता है और अपने धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है। प्राचीनकालमें किसीकी शिखा काट देना मृत्युदण्डके समान माना जाता था। धर्मके साथ शिखाका अटूट सम्बन्ध है। इसलिये शिखा काटनेपर मनुष्य धर्मच्युत हो जाता है। बड़े दुःखकी बात है कि आज हिन्दूलोग मुसलमानों-ईसाईयोंके प्रभावमें आकर अपने हाथों अपनी शिखा काट रहे हैं! खुद अपने धर्मका नाश कर रहे हैं! यह हमारी गुलामीकी पहचान है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २३-२४)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि

(अन्तःकरणकी शुद्धि)-को, न सुख (शान्ति)-को और न परमगतिको ही प्राप्त होता है।'

'अतः तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।'

चोटी रखना शास्त्रका विधान है। चाहे सुख मिले या दुःख मिले, हमें तो शास्त्रके विधानके अनुसार चलना है। भगवान् जो कहते हैं, सन्त-महापुरुष जो कहते हैं, शास्त्र जो कहते हैं, उसके अनुसार चलनेमें ही हमारा वास्तविक हित है। भगवान् और उनके भक्त—ये दोनों ही निःस्वार्थभावसे सबका हित करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

इसलिये इनकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाला लोक और परलोक दोनोंमें सुख पाता है।

एक कहानी है। एक बनजारा था। वह बैलोंपर मेट (मुल्तानी मिट्टी) लादकर दिल्लीकी तरफ आ रहा था। रास्तेमें कई गाँवोंसे गुजरते समय उसकी बहुत-सी मेट बिक गयी। बैलोंकी पीठपर लदे बोरे आधे तो खाली हो गये और आधे भरे रह गये। अब वे बैलोंकी पीठपर टिकें कैसे? क्योंकि भार एक तरफ हो गया। नौकरोंने पूछा कि क्या करें? बनजारा बोला—'अरे! सोचते क्या हो, बोरोंके एक तरफ रेत (बालू) भर लो। यह राजस्थानकी जमीन है, यहाँ रेत बहुत है।' नौकरोंने वैसा ही किया। बैलोंकी पीठपर एक तरफ आधे बोरेमें मेट हो गयी और दूसरी तरफ आधे बोरेमें रेत हो गयी।

दिल्लीसे एक सज्जन उधर आ रहे थे। उन्होंने बैलोंपर लदे बोरोंमेंसे एक तरफ रेत झरते हुए देखी तो वे बोले कि बोरोंमें एक तरफ रेत क्यों भरी है? नौकरोंने कहा—सन्तुलन करनेके लिये। वे सज्जन बोले—'अरे! यह तुम क्या मूर्खता करते

हो? तुम्हारा मालिक और तुम एक-से ही हो। बैलोंपर मुफ्तमें ही भार ढोकर उनको मार रहे हो! मेटके आधे-आधे दो बोरोंको एक ही जगह बाँध दो तो कम-से-कम आधे बैल तो बिना भारके खुले चलेंगे।' नौकरोंने कहा कि आपकी बात तो ठीक जँचती है, पर हम वही करेंगे, जो हमारा मालिक कहेगा। तुम जाकर हमारे मालिकसे यह बात कहो और उनसे हमें हुक्म दिलवाओ। वह मालिक (बनजारे)-से मिला और उससे बात कही। बनजारेने पूछा कि आप कहाँके हैं? कहाँ जा रहे हैं? उसने कहा कि मैं भिवानीका रहनेवाला हूँ। रुपये कमानेके लिये दिल्ली गया था। कुछ दिन वहाँ रहा, फिर बीमार हो गया। जो थोड़े रुपये कमाये थे, वे खर्च हो गये। व्यापारमें घाटा लग गया। पासमें कुछ रहा नहीं तो विचार किया कि घर चलना चाहिये। उसकी बात सुनकर बनजारा नौकरोंसे बोला कि इनकी सम्मति मत लो। अपने जैसे चलते हैं, वैसे ही चलो।

इनकी बुद्धि तो अच्छी दीखती है, पर उसका नतीजा ठीक नहीं निकलता। अगर ठीक निकलता तो ये धनवान् हो जाते। हमारी बुद्धि भले ही ठीक न दीखे, पर उसका नतीजा ठीक होता है। मैंने कभी अपने काममें घाटा नहीं खाया।

बनजारा अपने बैलोंको लेकर दिल्ली पहुँचा। वहाँ उसने जमीन खरीदकर मेट और रेत दोनोंका अलग-अलग ढेर लगा दिया और नौकरोंसे कहा कि बैलोंको जंगलमें ले जाओ और जहाँ चारा-पानी हो, वहाँ उनको रखो। यहाँ उनको चारा खिलायेंगे तो नफा कैसे कमायेंगे? मेट बिकनी शुरू हो गयी। उधर दिल्लीका बादशाह बीमार हो गया। वैद्यने सलाह दी कि अगर बादशाह राजस्थानके धोरे (रेतके टीले)-पर रहें तो उनका शरीर ठीक हो सकता है। रेतमें मनुष्यको नीरोग करनेकी शक्ति होती है। अतः बादशाहको राजस्थान भेजो।

'राजस्थान क्यों भेजो? वहाँकी रेत यहीं मँगा लो।'

'ठीक है, मँगा लेते हैं। रेत लानेके लिये ऊँट भेजो।'

'ऊँट क्यों भेजें? यहीं बाजारमें रेत मिल जायगी।'

'बाजारमें कैसे मिल जायगी?'

'अरे! दिल्लीका बाजार है, यहाँ सब कुछ मिलता है। मैंने एक जगह रेतका ढेर लगा हुआ देखा है!'

'अच्छा! तो फिर जल्दी रेत मँगा लो।'

बादशाहके आदमियोंने जाकर बनजारेसे पूछा कि रेत क्या भाव है? वह बोला कि चाहे मेट खरीदो, चाहे रेत खरीदो, एक ही भाव है। दोनों बैलोंपर बराबर तुलकर आये हैं। बादशाहके आदमियोंने वह सारी रेत खरीद ली। अगर बनजारा दिल्लीसे आये उस सज्जनकी बात मानता तो ये मुफ्तके रुपये कैसे मिलते? इससे सिद्ध हुआ कि बनजारेकी बुद्धि ठीक काम करती थी।

इस कहानीसे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जिन्होंने अपनी उन्नति कर ली है, जिनका विवेक

विकसित हो चुका है, जिनको तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है, ऐसे सन्त-महात्माओंकी बात मान लेनी चाहिये; क्योंकि उनकी बुद्धिका नतीजा अच्छा हुआ है। उनकी बात माननेमें ही हमारा लाभ है। अपनी बुद्धिसे अबतक हमने कितनी उन्नति की है? क्या तत्त्वकी प्राप्ति कर ली है? इसलिये भगवान्, शास्त्र और सन्तोंकी बात मानकर शिखा धारण कर लेनी चाहिये। अगर उनकी बात समझमें न आये तो भी मान लेनी चाहिये। हमने आजतक अपनी समझसे काम किया तो कितना लाभ लिया? जैसे, किसीने व्यापारमें बहुत धन कमाया हो तो वह जैसा कहे, वैसा ही हम करेंगे तो हमें भी लाभ होगा। उनको लाभ हुआ है तो हमें लाभ क्यों नहीं होगा? ऐसे ही जिन सन्त-महात्माओंने परमात्मप्राप्ति कर ली है; अशान्ति, दुःख, सन्ताप आदिको मिटा दिया है, उनकी बात मानेंगे तो हमारेको भी अवश्य लाभ होगा।

मैं चोटी रखनेकी बात कहता हूँ तो आपके

अहितके लिये नहीं कहता हूँ। आपको दुःख हो जाय, नुकसान हो जाय, सन्ताप हो जाय—ऐसा मेरा बिलकुल उद्देश्य नहीं है। मैं आपके हितकी बात कहता हूँ। आपके लोक और परलोक दोनों सुधर जायँ, ऐसी बात कहता हूँ। वही बात कहता हूँ जो पीढ़ियोंसे आपकी वंश-परम्परामें चली आयी है। एक चोटी रखनेसे आपका क्या नुकसान होता है? आपको क्या दोष लगता है? क्या पाप लगता है? आपके जीवनमें क्या अड़चन आती है? चोटी रखनेकी जो परम्परा सदासे थी, उसका त्याग आपने किसके कहनेसे कर दिया? किस सन्तके कहनेसे, किस पुराणके कहनेसे, किस शास्त्रकी आज्ञासे, किस वेदकी आज्ञासे आपने चोटी रखना छोड़ दिया?

चोटी रखना बहुत सुगम काम है, पर आपके लिये कठिन हो रहा है; क्योंकि आपने उसको छोड़ दिया है। यह बात आपकी पीढ़ियोंसे है। आपके बाप, दादा, परदादा आदि सब परम्परासे

चोटी रखते आये हैं, पर अब आपने इसका त्याग कर दिया है, इसलिये अब आपको चोटी रखनेमें कठिनता हो रही है। विचार करें, चोटी रखना छोड़ देनेसे आपको क्या लाभ हुआ? और अब आप चोटी रख लें तो क्या नुकसान होगा? चोटी रखनेसे आपको पैसोंकी हानि होती हो, धर्मकी हानि होती हो, स्वास्थ्यकी हानि होती हो, आपको बड़ा भारी दुःख मिलता हो तो बतायें! चोटी न रखनेमें लाभ तो कोई-सा भी नहीं है, पर हानि बड़ी भारी है! चोटीके बिना आपका देवपूजन तथा श्राद्ध-तर्पण निष्फल हो जाता है, आपके दान-पुण्य आदि सब शुभकर्म निष्फल हो जाते हैं। इसलिये चोटीको मामूली समझकर इसकी उपेक्षा न करें।

पहले सब लोग चोटी रखते थे। चोटीके बिना कोई आदमी नहीं दीखता था। पर हमारे देखते-देखते थोड़े वर्षोंमें आदमी शिखारहित हो गये। अब प्रायः लोगोंकी शिखा नहीं दीखती। शिखा और सूत्र (जनेऊ)-का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आश्चर्यकी बात है कि आज ऐसे लोग भी हैं; जिनका सूत्र तो है, पर शिखा नहीं है! यह कितने पतनकी बात है! अगर यही दशा रही तो आगे आपको कौन कहेगा कि चोटी रखो? और क्यों कहेगा? कहनेसे उसको क्या लाभ?

शिखा हिन्दुत्वकी पहचान है। यह आपकी जातिकी रक्षा करनेवाली है। जनेऊ तो सबके लिये नहीं है, केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये है, पर शिखा हिन्दूमात्रके लिये है। चाहे द्विजाति हो, चाहे अन्त्यज हो, शिखा सबके लिये है। जैसे मुसलमानोंके लिये सुन्नत है, ऐसे ही हिन्दुओंके लिये शिखा है। सुन्नतके बिना कोई मुसलमान नहीं मिलेगा, पर शिखाके बिना आज हिन्दुओंका समुदाय-का-समुदाय मिल जायगा। मुसलमान और ईसाई बड़े जोरोंसे अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं और हिन्दुओंका धर्म-परिवर्तन करनेकी नयी-नयी योजनाएँ बना रहे हैं! आपने अपनी चोटी कटवाकर उनके प्रचार-कार्यको

सुगम बना दिया है! इसलिये समय रहते हिन्दुओंको सावधान हो जाना चाहिये। मुसलमान अपने धर्मका प्रचार मूर्खतासे करते हैं और ईसाई बुद्धिमत्तासे। मुसलमान तो तलवारके जोरसे जबर्दस्ती धर्मपरिवर्तन करते हैं, पर ईसाई बाहरसे सेवा करके भीतर-ही-भीतर (गुप्त रीतिसे) धर्म-परिवर्तन करते हैं। वे स्कूल खोलते हैं और उनमें बालकोंपर अपने धर्मके संस्कार डालते हैं। इसीका परिणाम है कि घर बैठे-बैठे हिन्दुओंने अपनी चोटीका त्याग कर दिया। इस काममें ईसाई सफल हो गये! मुसलमानों और ईसाईयोंका उद्देश्य मनुष्यमात्रका कल्याण करना नहीं है, प्रत्युत अपनी संख्या बढ़ाना है, जिससे उनका राज्य हो जाय। कलियुगका प्रभाव प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन जोरोंसे बढ़ रहा है। लोगोंकी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है। मनुष्यमात्रका कल्याण चाहनेवाली हिन्दू-संस्कृति नष्ट हो रही है। हिन्दू स्वयं ही अपनी संस्कृतिका नाश करेंगे तो रक्षा कौन करेगा?

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—चोटी रखनेसे क्या लाभ होगा?

उत्तर—जो लाभको देखता है, वह पारमार्थिक उन्नति कर सकता ही नहीं। लाभ देखकर ही कोई काम करोगे तो फिर शास्त्र-वचनका, सन्त-वचनका क्या आदर हुआ? उनकी क्या इज्जत हुई? अपने लाभके लिये, अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये तो पशु-पक्षी भी कार्य करते हैं। यह मनुष्यपना नहीं है। चोटी रखनेमें आपकी भलाई है—इसमें मेरेको रत्तीमात्र भी सन्देह नहीं है। वास्तवमें हमें लाभ-हानिको न देखकर धर्मको देखना है। धर्मशास्त्रमें आया है कि बिना शिखाके जो भी यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शुभकर्म किये जाते हैं, वे सब निष्फल हो जाते हैं—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(कात्यायनस्मृति १।४)

इतना ही नहीं, शिखाके बिना किये गये वे पुण्यकर्म राक्षस-कर्म हो जाते हैं—

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम्।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फला क्रियाः॥

(व्यास)

इसलिये धर्मशास्त्रने आज्ञा दी है—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

'स्नान, दान, जप, होम, सन्ध्या और देवपूजनके समय शिखामें ग्रन्थि (चोटीमें गाँठ) अवश्य लगानी चाहिये—ऐसा महाराज मनुने कहा है।'

हिन्दूधर्मके सोलह संस्कारोंमें 'चूड़ाकरण संस्कार' (मुण्डन संस्कार)-का भी विशेष महत्त्व है। इस संस्कारमें शिखा धारण करनेसे दीर्घ आयु, तेज, बल और ओजकी प्राप्ति होती है—

दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्।

शिखाके विशेष महत्त्वके कारण ही हिन्दुओंने यवन-शासनमें अपनी शिखाकी रक्षाके लिये सिर कटवा दिया, पर शिखा नहीं कटवायी। कितने दुःखकी बात है कि आज हिन्दू उसी शिखाको

अपने ही हाथों काट रहे हैं! धर्मशास्त्रमें शिखा न रखनेका प्रायश्चित्त बताया गया है—

शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

(लघुहारीत)

'तीनों वर्णोंके जो द्विजातिलोग मोहसे, द्वेषसे अथवा अज्ञानसे अपनी शिखा काट देते हैं, वे तप्तकृच्छ्र-व्रत करनेसे शुद्ध होते हैं।

अथ चेत् प्रमादात्त्रिशिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धादवतिष्ठेत्॥ (काठकगृह्यसूत्र)

'यदि कोई मनुष्य प्रमादवश शिखासहित क्षौर (हजामत) करा ले तो वह ब्रह्मग्रन्थियुक्त कुशाकी शिखा बनाकर दाहिने कानपर तबतक रखे, जबतक बाँधनेयोग्य शिखा न बढ़ जाय।'

यदि सत्तर वर्षकी अवस्थाके बाद (वृद्धावस्थामें) बाल झड़ जानेके कारण शिखा न रहे तो यथासम्भव चारों ओर बचे हुए बालोंसे शिखा

बनाकर नित्यकर्म करता रहे। यदि बाल बिलकुल न हों तो कुशा आदिकी शिखा रखकर नित्यकर्म करे, पर शिखाशून्य कभी न रहे—

सत्यूर्ध्वं तु चेत्तस्याः पूर्वतः पृष्ठतोऽपि वा।
पार्श्वतः परितो वापि समुद्भूतैश्च रोमभिः॥
शिखा कार्या प्रयत्नेन न चेन्नैवोपपद्यते।
तत्स्थाने सर्वशून्ये तु परितो वापि किं पुनः॥
ब्राह्मण्यसूचनायैवं तानि लोमानि धारयेत्।
अन्यथा न भवेदेव नथा तस्मात्समाचरेत्॥

(आंगिरसस्मृति ६१—६३)

'अखिल भारतीय पण्डित महापरिषद्' (वाराणसी) ने शिखा रखनेके निम्न लाभ बताये हैं—

१- शिखा रखने तथा उसके नियमोंका यथावत् पालन करनेसे मनुष्यको सद्बुद्धि, सद्विचार आदिकी प्राप्ति होती है।
२- शिखा रखनेसे आत्मशक्ति प्रबल बनी रहती है।
३- शिखा रखनेसे मनुष्य धार्मिक, सात्त्विक और संयमी बनता है।

४-शिखा रखनेसे मनुष्य लौकिक तथा पारलौकिक समस्त कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है।

५-शिखा रखनेसे मनुष्य प्राणायाम, अष्टांगयोग आदि यौगिक क्रियाओंको ठीक-ठीक कर सकता है।

६-शिखा रखनेसे सभी देवता मनुष्यकी रक्षा करते हैं।

७-शिखा रखनेसे मनुष्यकी नेत्रज्योति सुरक्षित रहती है।

८-शिखा रखनेसे मनुष्य स्वस्थ, बलिष्ठ, तेजस्वी और दीर्घायु होता है।

प्रश्न—चोटी रखनेसे शर्म आती है, वह कैसे छूटे?

उत्तर—आश्चर्यकी बात है कि व्यापार आदिमें बेईमानी, झूठ-कपट करनेमें शर्म नहीं आती, गर्भपात आदि पाप करनेमें शर्म नहीं आती, चोरी, विश्वासघात आदि करते समय शर्म नहीं आती, पर चोटी रखनेमें शर्म आती है! आपकी शर्म ठीक है

या भगवान् और सन्तोंकी बात मानना, उनको प्रसन्न करना ठीक है? आप चोटी रखो तो आरम्भमें शर्म आयेगी, पर पीछे सब ठीक हो जायगा।

प्रश्न—चोटी देखकर लोग हँसी उड़ाते हैं, कैसे बचें?

उत्तर—लोग हँसी उड़ायें, पागल कहें तो उसको सह लो, पर धर्मका त्याग मत करो। आपका धर्म आपके साथ चलेगा, हँसी-दिल्लगी आपके साथ नहीं चलेगी। लोगोंकी हँसीसे आप डरो मत। लोग पहले हँसी उड़ायेंगे, पर बादमें आदर करने लगेंगे कि यह अपने धर्मका पक्का आदमी है। एक शंकरानन्द नामके हमारे प्रेमी सज्जन थे। वे बहुत पढ़े-लिखे थे। उन्होंने मेरेको बताया कि मैं पढ़नेके लिये जर्मनी गया। वहाँ मैं धोती पहना करता था। मेरी वेशभूषा देखकर पहले तो वहाँके लोगोंने मेरी हँसी उड़ायी, पर बादमें सब मेरा विशेष आदर करने लग गये कि यह ईमानदार आदमी है, सच्चा धर्मात्मा आदमी

है। इसलिये अपने धर्मका पालन निधड़क होकर करो, इसमें डर किस बातका?

एक कहानी है। एक आदमीकी किसी कारणसे नाक कट गयी। उसके साथीने पूछा तो वह बोला कि दोनों आँखोंके बीचमें नाक आड़े आती है, इसलिये ब्रह्मके दर्शन नहीं होते। अगर बीचमें नाक न रहे तो दोनों आँखोंकी दृष्टि मिलनेसे साक्षात् ब्रह्मके दर्शन होते हैं! ऐसा सुनकर उसके साथीने भी अपनी नाक कटवा ली। जब उसको ब्रह्मके दर्शन नहीं हुए तो उसने साथीसे कहा कि नाक कटवानेसे मेरेको तो दर्शन नहीं हुए? वह साथी बोला—'चुप रह, हल्ला मत कर! तेरेसे कोई पूछे तो यही कहना कि मेरेको ब्रह्मके दर्शन होते हैं।' धीरे-धीरे यह बात फैलती गयी। दूसरोंके कहनेसे, एक-दूसरेको देखकर नाक तो सबने कटवा ली, पर ब्रह्मके दर्शन किसीको नहीं हुए। एक पूरा समुदाय कटी नाकका हो गया! अब कोई नाकवाला आदमी उनके बीच आता तो वे

सब मिलकर उसकी हँसी उड़ाते कि देखो, नक्कू आ गया! नक्कू आ गया!! इसी तरह चोटीकटिया लोग आज चोटीवालेकी हँसी उड़ाते हैं। अतः उनकी हँसीकी परवाह न करके अपने धर्मका पालन करना चाहिये।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(महाभारत, स्वर्गा० ५। ६३)

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु (राग) अनित्य है।'

युवकोंके प्रति

बड़े दुःखकी बात है कि आजका युवक-समाज प्रायः अनुशासनहीन होता चला जा रहा है! गीतामें आया है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ (१६।७)

'आसुरी स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति (कर्तव्य और अकर्तव्य)-को नहीं जानते और उनमें न बाह्य शुद्धि, न श्रेष्ठ आचरण तथा न सत्य-पालन ही होता है।'

गीताकी यह बात आजकलके नवयुवकोंमें प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है। आरम्भमें ही अच्छी शिक्षा न मिलनेसे वे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये; शरीरकी शुद्धि क्या होती है और अशुद्धि क्या होती है; खान-पान क्या शुद्ध होता है और क्या अशुद्ध होता है; बड़ों और छोटोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये और कैसा नहीं

करना चाहिये; वाणी आदिका सत्य क्या होता है और असत्य क्या होता है—इन सब बातोंको नहीं जानते। इस कारण वे सत्य-तत्त्व परमात्मासे विमुख हो जाते हैं। परमात्मासे विमुख होनेके कारण वे न धर्मको मानते हैं और न उसकी मर्यादाको मानते हैं। अविवेकके कारण उनमें आरम्भसे ही बड़प्पनका अभिमान भर जाता है कि मैं पढ़-लिख गया, समझदार हो गया, बड़ा हो गया। इस भावके कारण उनका विकास रुक जाता है। इसलिये युवकोंको कभी ऐसा नहीं मानना चाहिये कि अब मैं समझदार हो गया, पढ़-लिख गया, पूर्ण हो गया, प्रत्युत अपने शरीरको पुष्ट करनेकी तरह विद्याको भी आजीवन उत्तरोत्तर पुष्ट करते रहना चाहिये। मुझे तो जीवनभर विद्यार्थी बने रहना ही अच्छा लगता है।

मनुष्य-जीवन वास्तवमें विद्यार्थी-जीवन ही है। पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस, देवता आदि जितनी योनियाँ हैं, वे सब भोगयोनियाँ हैं। परन्तु मनुष्ययोनि

केवल ब्रह्मविद्या प्राप्त करके मुक्त होनेके लिये है, भोग भोगनेके लिये नहीं।

विद्यार्थी किसे कहते हैं ?

जो केवल विद्याध्ययन करना चाहता है, उसको विद्यार्थी कहते हैं। 'विद्यार्थी' शब्दका अर्थ है—विद्याका अर्थी अर्थात् केवल विद्या चाहनेवाला। कौन-सी विद्या ? विद्याओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या—'**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**' (गीता १०। ३२)

विद्याका वास्तविक स्वरूप क्या है ?

कुछ भी जानना विद्या है। अनेक शास्त्रोंका, कला-कौशलोंका, भाषाओं आदिका ज्ञान विद्या है। वास्तवमें विद्या वही है, जिससे जानना बाकी न रहे, जीवकी मुक्ति हो जाय—'**सा विद्या या विमुक्तये**' (विष्णुपुराण १। १९। ४१)। अगर जानना बाकी रह गया तो वह विद्या क्या हुई!

एक शब्दब्रह्म (वेद) है और एक परब्रह्म (परमात्मतत्त्व) है। अगर शब्दब्रह्मको जान लिया, पर परब्रह्मको नहीं जाना तो केवल परिश्रम ही हुआ—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। १८)

अतः परमात्मतत्त्वको जानना ही मुख्य विद्या है और इसीमें मनुष्य-जीवनकी सफलता है।

जिससे जीविकाका उपार्जन हो, नौकरी मिले, वह भी विद्या है, पर वह विद्या परमात्मप्राप्तिमें सहायक नहीं होती, प्रत्युत कहीं-कहीं उस विद्याका अभिमान होनेसे वह विद्या परमात्मप्राप्तिमें बाधक हो जाती है। विद्याके अभिमानीको कोई ब्रह्मनिष्ठ महात्मा मिल जाय तो वह तर्क करके उनकी बातको काट देगा, उनको चुप करा देगा, जिससे वह वास्तविक लाभसे वञ्चित रह जायगा। अतः कहा गया है—

षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या
कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥

'छहों अङ्गोंसहित वेद और शास्त्रोंको पढ़ा हो,

सुन्दर गद्य और पद्यमय काव्य-रचना करता हो, पर यशोदानन्दनमें मन नहीं लगा तो उन सभीसे क्या लाभ है?'

विद्या ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है?

विद्याके बिना मनुष्यजन्म सार्थक नहीं होगा, प्रत्युत मनुष्यजन्म और पशुजन्म एक समान ही होंगे। अतः विद्याकी अत्यन्त आवश्यकता है। वास्तवमें ब्रह्मविद्या ही विद्या है। कारण कि ब्रह्मविद्याके प्राप्त होनेपर कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य (लौकिक) विद्याएँ नहीं पढ़नी चाहिये। अन्य विद्याएँ भी पढ़नी चाहिये। अन्य भाषाओं, लिपियों आदिका ज्ञान-सम्पादन करना आवश्यक है, उचित है, पर उनमें ही लिप्त रहना उचित नहीं है; क्योंकि उनमें ही लिप्त रहनेसे मनुष्यजन्म निरर्थक चला जायगा। दूसरी बात, लौकिक विद्याओंको पढ़नेसे 'मैं पढ़ा-लिखा हूँ'—ऐसा एक अभिमान पैदा हो जायगा, जिससे बन्धन और दृढ़ हो जायगा।

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान्।

'शास्त्रोंको पढ़कर भी लोग मूर्ख बने रहते हैं। वास्तवमें विद्वान् वही है, जो शास्त्रके अनुकूल आचरण करता है।'

मनुष्यजन्मका उद्देश्य है—परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना, और उसका साधन है—संसारकी सेवा। अतः लौकिक विद्या, धन, पद आदिका उपयोग संसारकी सेवामें ही है। ये संसारकी सेवामें ही काम आ सकते हैं, परमात्मप्राप्तिमें नहीं; क्योंकि परमात्मप्राप्ति लौकिक विद्याके अधीन नहीं है। हाँ, निःस्वार्थभावसे संसारकी सेवा करनेपर लौकिक विद्या परमात्मप्राप्तिमें सहायक हो सकती है। जिसके पास लौकिक विद्या आदि है, उसीपर संसारकी सेवा करनेकी जिम्मेवारी है। मालपर ही जकात लगती है और इन्कमपर ही टैक्स लगता है। माल नहीं हो तो जकात किस बातकी ? इन्कम नहीं हो तो टैक्स किस बातका ?

लौकिक विद्या, धन, पद आदिको लेकर संसारमें

मनुष्यकी जो प्रशंसा होती है, वह एक तरहसे मनुष्यकी निन्दा ही है। तात्पर्य है कि महिमा तो लौकिक विद्या आदिकी ही हुई, खुदकी तो निन्दा ही हुई! अतः जो लौकिक विद्या आदिसे अपनेको बड़ा मानता है, वह वास्तवमें अपनेको छोटा ही बनाता है।

प्राचीन और आधुनिक विद्यामें क्या अन्तर है ?

प्राचीन (आध्यात्मिक) विद्या अपनेको और दूसरोंको शान्ति देनेवाली है। उससे अशान्ति, कलह, अभाव आदि मिट जाते हैं। परन्तु आजकलकी (लौकिक) विद्या केवल बाहर काम आनेवाली है, अपनेको और दूसरोंको शान्ति देनेवाली नहीं है। इससे अशान्ति, आपसका कलह बढ़ता है। जैसे धन आनेसे तृष्णा, धनका अभाव अधिक बढ़ता है, ऐसे ही आधुनिक विद्या सीखनेसे अभाव बढ़ता है।

आजकल तरह-तरहके आविष्कार होनेपर भी शान्ति नहीं मिल रही है; क्योंकि उनमें परवशता है, स्वतन्त्रता नहीं है अर्थात् मनुष्यको उनके परवश होना पड़ता है। परन्तु प्राचीन

विद्यासे मनुष्यको परवश नहीं होना पड़ता और उसको स्वयंका बोध हो जाता है।

प्राचीन विद्या मनुष्यको परमात्माके सम्मुख कराती है और आधुनिक विद्या मनुष्यको नाशवान्‌के सम्मुख कराती है, नाशवान्‌को महत्त्व देती है।

आधुनिक विद्या व्यवहारमें काम आती है; अतः इसको व्यवहारकी जगह ही महत्त्व देना चाहिये। इसको सर्वोपरि महत्त्व देना ही गलती है। वास्तवमें विद्या वही है, जो मनुष्यका कल्याण कर दे—'**सा विद्या या विमुक्तये**' (विष्णुपुराण १। १९। ४१)।

मनुष्यको उन्नत करनेवाली बातें

ये सात बातें मनुष्यको उन्नत करनेवाली हैं—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च सिद्धिः स्वयं याति निवासहेतोः॥

'उत्साही, अदीर्घसूत्री (आलस्यरहित), क्रियाकी विधिको जाननेवाले, व्यसनोंसे दूर रहनेवाले, शूर, कृतज्ञ तथा स्थिर मित्रतावाले मनुष्यको सिद्धि स्वयं अपने निवासके लिये ढूँढ़ लेती है।'

इन सात बातोंका विस्तार इस प्रकार है—

(१) विद्यार्थीमें यह उत्साह होना चाहिये कि मैं विद्याको पढ़ सकता हूँ; क्योंकि उत्साही आदमीके लिये कठिन काम भी सुगम हो जाता है और अनुत्साही आदमीके लिये सुगम काम भी कठिन हो जाता है।

(२) हरेक कामको बड़ी तत्परता और सावधानीके साथ करना चाहिये। थोड़े समयमें होनेवाले काममें अधिक समय नहीं लगाना चाहिये। जो थोड़े समयमें होनेवाले काममें अधिक समय लगाता है, उसका पतन हो जाता है—**'दीर्घसूत्री विनश्यति'**।

(३) कार्य करनेकी विधिको ठीक तरहसे जानना चाहिये। कौन-सा कार्य किस विधिसे करना चाहिये, इसको जानना चाहिये। शौच-स्नान, खाना-पीना, उठना-बैठना, पाठ-पूजा आदि कार्योंकी विधिको ठीक तरहसे जानना चाहिये और वैसा ही करना चाहिये।

(४) व्यसनोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये।

जूआ खेलना, मदिरापान, मांसभक्षण, वेश्यागमन, शिकार (हत्या) करना, चोरी करना और परस्त्रीगमन—ये सात व्यसन तो घोरातिघोर नरकोंमें ले जानेवाले हैं*। इसके सिवाय चाय, काफी, अफीम, पान-मसाला, बीड़ी-सिगरेट आदि पीना, और ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, सिनेमा-वीडियो देखना, वृथा बकवाद, वृथा चिन्तन आदि जो भी पारमार्थिक उन्नतिमें और न्याययुक्त धन आदि कमानेमें बाधक हैं, वे सब-के-सब व्यसन हैं। विद्यार्थीको किसी भी व्यसनके वशीभूत नहीं होना चाहिये।

(५) प्रत्येक काम करनेमें शूरवीरता होनी चाहिये। अपनेमें कभी वृथा भय, कायरता नहीं लानी चाहिये।

(६) जिससे उपकार पाया है, उसका मनमें सदा एहसान मानना चाहिये, उसका आदर-सत्कार करना चाहिये, कभी कृतघ्न नहीं बनना चाहिये।

---

* द्यूतं च मद्यं पिशितं च वेश्या
पापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके
घोरातिघोरं नरके नयन्ति॥

(७)धर्म तथा मर्यादाके अनुकूल जिस उत्तम व्यक्तिके साथ मित्रता करे, उसको हर हालतमें निभाना चाहिये।

जैसे मुसाफिर स्वयं धर्मशालाको ढूँढ़कर उसके पास आते हैं, ऐसे ही उपर्युक्त सात गुणोंवाले व्यक्तिको ढूँढ़कर सिद्धि स्वयं उसके पास आती है।

मातृशक्तिके प्रति

वर्तमानमें नारी-जातिका महान् तिरस्कार, घोर अपमान किया जा रहा है। नारीके महान् मातृरूपको नष्ट करके उसको मात्र भोग्या स्त्रीका रूप दिया जा रहा है। भोग्या स्त्री तो वेश्या होती है। जितना आदर माता (मातृशक्ति)-का है, उतना आदर स्त्री(भोग्या)-का नहीं है। परन्तु जो स्त्रीको केवल भोग्या मानते हैं, स्त्रीके गुलाम हैं, वे इस बातको क्या समझें ? समझ ही नहीं सकते। विवाह माता बननेके लिये किया जाता है, भोग्या बननेके लिये नहीं। सन्तान पैदा करनेके लिये

ही पिता कन्यादान करता है और सन्तान पैदा करने (वंशवृद्धि) के लिये ही वरपक्ष कन्यादान स्वीकार करता है। परन्तु आज नारीको माँ बननेसे रोका जा रहा है और उसको केवल भोग्या बनाया जा रहा है। यह नारी-जातिका कितना महान् तिरस्कार है!

नारी वास्तवमें मातृशक्ति है। वह स्त्री और पुरुष दोनोंकी जननी(माँ) बनती है, पर पत्नी केवल पुरुषकी ही बनती है। पुरुष अच्छा होता है तो उसकी केवल अपने ही कुलमें महिमा होती है, पर स्त्री अच्छी होती है तो उसकी पीहर और ससुराल—दोनों कुलोंमें महिमा होती है। राजा जनकजी सीताजीसे कहते हैं— '**पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ**' (मानस, अयोध्या० २८७। १)।

हमारे शास्त्रोंमें नारी-जातिको बहुत आदर दिया गया है। स्त्रीकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे शास्त्रने उसको पिता, पति अथवा पुत्रके आश्रित रहनेकी आज्ञा दी है, जिससे वह जगह-जगह ठोकरें न

खाती फिरे*। स्त्री नौकरी करे तो यह उसका तिरस्कार है। उसकी महिमा तो घरमें रहनेसे ही है। घरमें वह महारानी है, पर घरसे बाहर वह नौकरानी है। घरमें तो वह एक पुरुषके अधीन रहेगी, पर बाहर उसको अनेक स्त्री-पुरुषोंके अधीन रहना पड़ेगा, अपनेसे ऊँचे पदवाले अफसरोंकी अधीनता, फटकार, तिरस्कार सहन करना पड़ेगा, जो कि उसके कोमल हृदय, स्वभावके विरुद्ध है। वह आदरके योग्य है, तिरस्कारके योग्य नहीं। पिता, पति अथवा पुत्रकी अधीनता वास्तवमें स्त्रीको पराधीन बनानेके लिये नहीं है, प्रत्युत महान् स्वाधीन बनानेके लिये है। घरमें बूढ़ी 'माँ' का सबसे

---

* भ्रमन्सम्पूज्यते राजा भ्रमन्सम्पूज्यते द्विजः।
भ्रमन्सम्पूज्यते योगी भ्रमन्ती स्त्री विनश्यति॥

(चाणक्यनीति० ६।४)

'भ्रमण करनेसे राजा पूजित होता है, भ्रमण करनेसे ब्राह्मण पूजित होता है, भ्रमण करनेसे योगी पूजित होता है; परन्तु स्त्री भ्रमण करनेसे विनष्ट (पतित) हो जाती है।'

अधिक आदर होता है, बेटे-पोते आदि सब उसका आदर करते हैं, पर घरसे बाहर बूढ़ी 'स्त्री' का सब जगह तिरस्कार होता है।

आजकल स्त्रियोंको पुरुषके समान अधिकार देनेकी बात कही जाती है, पर शास्त्रोंने माताके रूपमें स्त्रीको पुरुषकी अपेक्षा भी विशेष अधिकार दिया है—

सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनु० २। १४५)

'माताका दर्जा पितासे हजार गुना अधिक माना गया है।'

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

(स्कन्द० काशी० ११। ५०)

'सबके द्वारा वन्दनीय संन्यासीको भी माताकी प्रयत्नपूर्वक वन्दना करनी चाहिये।'

वर्तमानमें गर्भ-परीक्षण किया जाता है और गर्भमें कन्या हो तो गर्भ गिरा दिया जाता है, क्या यह स्त्रीको समान अधिकार दिया जा रहा है ?

'माँ' शब्द कहनेसे जो भाव पैदा होता है, वैसा भाव 'स्त्री' कहनेसे नहीं पैदा होता। इसलिये श्रीशंकराचार्यजी महाराज भगवान् श्रीकृष्णको भी 'माँ' कहकर पुकारते हैं—**'मातः कृष्णाभिधाने'** (प्रबोध० २४४) उपनिषदोंमें **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'** कहकर सबसे पहले माँकी सेवा करनेकी आज्ञा दी गयी है। **'वन्दे मातरम्'** में भी माँकी ही वन्दना की गयी है। हिन्दूधर्ममें मातृशक्तिकी उपासनाका विशेष महत्त्व है। ईश्वरकोटिके पाँच देवताओंमें भी मातृशक्ति (भगवती)-का स्थान है। देवीभागवत, दुर्गासप्तशती आदि अनेक ग्रन्थ मातृशक्तिपर ही रचे गये हैं। जगत्‌की सम्पूर्ण स्त्रियोंको मातृशक्तिका ही रूप माना गया है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

(दुर्गासप्तशती ११। ६)

परन्तु भोगीलोग मातृशक्तिको क्या समझें? समझ ही नहीं सकते। वे तो उसको भोग्या ही समझते हैं।

पुरुष स्त्रीका तिरस्कार करे, उसको दुःख दे, उसको तलाक दे, उसको मारे-पीटे—ऐसा शास्त्रोंमें कहीं नहीं कहा गया है। इतना ही नहीं , स्त्रीसे कोई बड़ा अपराध भी हो जाय तो भी उसको मारने-पीटनेका विधान नहीं है, प्रत्युत वह क्षम्य है। भीष्मजी कौरव-सेनाकी रक्षा करनेवाले थे—'**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्**' (गीता १। १०); परन्तु दुर्योधन उनकी भी रक्षा करनेके लिये अपनी सेनाको आदेश देता है—'**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि**' (गीता १। ११)। कारण कि दुर्योधन जानता था कि शिखण्डीके सामने आनेपर भीष्मजी उसपर कभी शस्त्र नहीं चलायेंगे, भले ही अपने प्राण चले जायँ! शिखण्डी पहले स्त्री था, वर्तमानमें नहीं; परन्तु वर्तमानमें पुरुषरूपसे होनेपर भी भीष्मजी उसको स्त्री ही मानते हैं और उसपर शस्त्र नहीं चलाते, प्रत्युत उसीके द्वारा मारे जाते हैं—यह स्त्री-जातिका कितना सम्मान है!

शास्त्रोंके अनुसार पत्नी पतिके द्वारा किये गये पुण्य-कर्मोंकी भागीदार तो होती है, पर पाप-कर्मोंकी भागीदार नहीं होती। उसको मुफ्तमें आधा पुण्य मिलता है। समाजमें भी देखा जाता है कि अगर डॉक्टर, पण्डित आदिकी पत्नी अनपढ़ हो तो भी वह डॉक्टरनी, पण्डितानी आदि कहलाती है! वास्तवमें आज अभिमानको मुख्यता दी जा रही है, इसलिये नम्रता बढ़ानेकी बात न कहकर अभिमान बढ़ानेकी बात ही कही और सिखायी जा रही है, जो कि पतनका हेतु है। 'पुरुष ऐसा करते हैं तो हम क्यों न करें? हम पीछे क्यों रहें?'—यह केवल अभिमान बढ़ानेकी बात है। अभिमान जन्म-मरणका मूल और अनेक प्रकारके क्लेशों तथा समस्त शोकोंको देनेवाला है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस, उत्तर० ७४। ३)

अभिमानी व्यक्ति लौकिक मर्यादाको भी नहीं समझ सकता, फिर वह शास्त्रोंकी बातोंको क्या समझेगा ? समझ ही नहीं सकता।

संसारके हितके लिये मातृशक्तिने बहुत काम किया है। रक्तबीज आदि राक्षसोंका संहार भी मातृशक्तिने ही किया है। मातृशक्तिने ही हमारी हिन्दू-संस्कृतिकी रक्षा की है। आज भी प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि हमारे व्रत-त्योहार, रीति-रिवाज, माता-पिताके श्राद्ध आदिकी जानकारी जितनी स्त्रियोंको रहती है, उतनी पुरुषोंको नहीं रहती। पुरुष अपने कुलकी बात भी भूल जाते हैं, पर स्त्रियाँ दूसरे कुलकी होनेपर भी उनको बताती हैं कि अमुक दिन आपकी माता या पिताका श्राद्ध है आदि। मन्दिरोंमें, कथा-कीर्तनमें, सत्संगमें जितनी स्त्रियाँ जाती हैं, उतने पुरुष नहीं जाते। कार्तिक-स्नान, व्रत, दान, पूजन, रामायण आदिका पाठ जितना स्त्रियाँ करती हैं, उतना पुरुष नहीं करते। तात्पर्य है कि स्त्रियाँ हमारी संस्कृतिकी रक्षा करनेवाली हैं। अगर उनका चरित्र नष्ट हो जायगा तो संस्कृतिकी रक्षा कैसे होगी?

वर्तमानमें सन्तति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके प्रचार-प्रसारसे स्त्रियोंमें लज्जा, शील, सतीत्व, सच्चरित्रता,

नीरोगता, सदाचरण आदिका नाश हो रहा है। परिणामस्वरूप स्त्री-जाति केवल भोग्य वस्तु बनती जा रही है। यदि स्त्री-जातिका चरित्र भ्रष्ट हो जायगा तो देशकी क्या दशा होगी? आगे आनेवाली पीढ़ी अपने प्रथम गुरु माँसे क्या शिक्षा लेगी ? स्त्री बिगड़ेगी तो उससे पैदा होनेवाले बेटी-बेटा(स्त्री-पुरुष)दोनों बिगड़ेंगे। अगर स्त्री ठीक रहेगी तो पुरुषके बिगड़नेपर भी सन्तान नहीं बिगड़ेगी। अतः स्त्रियोंके चरित्र, शील, लज्जा आदिकी रक्षा करना और उनको अपमानित, तिरस्कृत न होने देना, प्रत्युत उनका आदर-सत्कार करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। मनुस्मृतिमें आया है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(३।५६)

'जहाँ स्त्रियोंका आदर किया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँ सब कार्य निष्फल हो जाते हैं।'

बुद्धिजीवियोंके प्रति

मनुष्यशरीर विवेक-प्रधान है। विवेकका अर्थ है—सार और असारको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक जानना। मनुष्य इस विवेकको काममें नहीं लेता, इसका विशेष आदर नहीं करता, इसीलिये वह दुःख पाता है। अगर वह अपने विवेकको ठीक-ठीक मानकर उसके अनुसार चले तो खुद भी निहाल हो जाय और दूसरोंको भी निहाल कर दे! इस विवेकको जाग्रत् करनेके लिये ही सत्-शास्त्र, सत्पुरुष, गुरु, माता-पिता आदि हैं। इनके ऊपर विवेकको जाग्रत् करनेकी जिम्मेवारी है। इस विवेकको काममें लेनेकी एक खास बात है, उसपर आप ध्यान दें।

साधारण दृष्टिसे रुपये बहुत बड़ी चीज दीखते हैं; क्योंकि रुपयोंसे सब चीजें आती हैं। हम बहुत-सी चीजें रुपयोंसे खरीद लेते हैं और उनसे हमारा काम चलता है। इसलिये जीवनके लिये

रुपये बड़ी चीज दीखते हैं। हम जो जी रहे हैं, यह जीना हमें बहुत अच्छा लगता है। दुःखी-से-दुःखी प्राणी भी जल्दी मरना नहीं चाहता। अतः जीनेके लिये अन्न, जल, वस्त्र आदि वस्तुएँ उपयोगी हैं। हमारा जीवन-निर्वाह हो जाय, हमारे प्राण बने रहें, हम नीरोग रहें, हम शिक्षित बनें—इसके लिये वस्तुओंकी आवश्यकता है। उन वस्तुओंके लिये ही रुपयोंकी आवश्यकता है। रुपयोंके लिये वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, वस्तुओंसे रुपये पैदा हो सकते हैं; परन्तु रुपयोंसे वस्तुएँ बहुत ऊँची हैं, जिनसे हमारा जीवन रहता है। रुपये अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंके लेन-देनमें काम आते हैं। तात्पर्य है कि रुपये हमारे जीवन-निर्वाहमें साक्षात् हेतु नहीं हैं अर्थात् जीवन-निर्वाहमें रुपये खुद काम नहीं आते, जबकि वस्तुएँ खुद काम आती हैं। अतः रुपयोंकी अपेक्षा वस्तुएँ अधिक मूल्यवान् हैं।

वस्तुओंसे भी बहुत मूल्यवान् हैं—प्राणी, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष—ये बहुत कामके हैं। इनके पालनसे

ही हमें जीवनोपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं। अतः जिनसे जीवन चले, वे जीनेवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं। उन प्राणियोंके लिये ही वस्तुएँ हैं। प्राणियोंमें भी गाय बहुत श्रेष्ठ है; क्योंकि गायका शरीर बहुत पवित्र और उपयोगी है, यहाँतक कि उसके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र हैं और उसके खुरोंसे उड़ी धूल (गोधूलि) भी पवित्र है! सम्पूर्ण धार्मिक कार्योंमें गायका दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र काममें आते हैं। गायके गोबर और गोमूत्रसे अनेक बड़े-बड़े रोग दूर होते हैं। गायका दूध जितना सात्त्विक होता है, उतना सात्त्विक दूध भैंस आदि किसीका भी नहीं होता। गाड़ी चलानेवाले जानते ही हैं कि गाड़ीका हार्न सुनते ही गायें सड़कके किनारे हो जाती हैं, जबकी भैंस सड़कमें ही खड़ी रहती है। इसलिये भैंसका दूध सात्त्विक नहीं होता और बुद्धिको स्थूल करता है। इतनी उपयोगी और पवित्र होनेपर भी गायमें परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है। यह योग्यता मनुष्यमें ही है। इसलिये

मनुष्य सभी प्राणियोंसे श्रेष्ठ है। दूसरे जितने प्राणी हैं, वे अपने पुराने कर्मोंके फल भोगते हैं और फल भोगकर शुद्ध होते हैं। परन्तु मनुष्यमें दो बातें हैं—एक तो पुराने पापों तथा पुण्योंके फल भोगना और एक आगे अपने उद्धारके लिये काम करना। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका उपभोग करना और उनसे सुखी-दुःखी होना पशुओंमें भी है। सुख पानेका और दुःख मिटानेका उद्योग पशु भी अपनी बुद्धिके अनुसार करते हैं। परन्तु भविष्यमें क्या होगा—इसका ठीक तरहसे विचार करनेमें पशु-पक्षी समर्थ नहीं हैं, पर मनुष्य समर्थ है।

मनुष्य विवेक-प्रधान है। इसलिये हमारा हित किस बातमें है और अहित किस बातमें है, हमारा उत्थान किस बातमें है और पतन किस बातमें है, सार क्या है और असार क्या है, नित्य क्या है और अनित्य क्या है, सत्य क्या है और असत्य क्या है—इन सब बातोंको जाननेकी योग्यता मनुष्यमें है, पशु-पक्षियोंमें नहीं। अतः मनुष्योंमें भी विवेक मूल्यवान्

है। जो विवेकके अनुसार चलते हैं, विवेकको महत्त्व देते हैं, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं। विवेक श्रेष्ठ है, इसलिये विवेकका आधार लेकर चलनेवाले भी श्रेष्ठ हैं। विवेक किसलिये है ? विवेक इसलिये है कि मनुष्य हितकारक काम करे और अहितकारक काम न करे, सारको ग्रहण करे और असारका त्याग करे; ऐसा काम करे, जिससे वर्तमानमें और भविष्यमें, अपनेको और दूसरोंको सुख हो, दुःख न हो। विवेक विशेषरूपसे वीतराग मनुष्यमें ही जाग्रत् होता है। रागी और भोगी मनुष्य विवेकी नहीं होते। रागी-भोगी मनुष्य वर्तमानको ही देखते हैं, जबकि वीतराग मनुष्य भविष्यको, परिणामको भी देखते हैं।

जब मनुष्य वस्तुओंका और रुपयोंका ज्यादा आदर करने लग जाते हैं, तब विवेक दब जाता है। भगवान्‌ने गीतामें तीन तरहकी बुद्धि बतायी है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको

ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विकी होती है*। जो बुद्धि धर्म और अधर्मको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक नहीं जानती, वह राजसी होती है†। जो बुद्धि अधर्मको धर्म एवं धर्मको अधर्म मान लेती है और इस प्रकार सब चीजोंको उलटा ही मान लेती है, वह तामसी होती है‡। सात्त्विकी बुद्धि थोड़े मनुष्योंमें ही होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे मनुष्योंमें सात्त्विकी बुद्धि होती ही नहीं। सात्त्विकी बुद्धिको ठीक-ठीक काममें लानेवाले मनुष्य थोड़े हैं। राजसी बुद्धिवाले मनुष्य

---

* प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८। ३०)

† यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
(गीता १८। ३१)

‡ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(गीता १८। ३२)

बहुत हैं। तामसी बुद्धिवाले मनुष्य तो इस कलियुगमें और भी अधिक हैं, जिन्हें उलटा ही दीखता है। उलटा दीखना क्या हुआ? वस्तुओं और प्राणियोंसे भी बढ़कर रुपयोंको मान लिया। वे रुपयोंका ही संग्रह करते हैं। रुपयोंके लिये झूठ, कपट, चोरी, डकैती, मारपीट, हत्या आदि करनी पड़े तो वह भी करनेके लिये तैयार हो जाते हैं! रुपयोंके लिये गायोंको भी मारने लगते हैं। यह बिलकुल तामसी बुद्धि है। रुपये कमाना और उनकी रक्षा करना तामसी बुद्धि नहीं है, प्रत्युत सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सदुपयोग-दुरुपयोग, हित-अहित आदिका विचार छोड़कर झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि करके किसी तरहसे रुपये इकट्ठा करना महान् तामसी बुद्धि है। इससे क्या होगा ? रुपयोंका महत्त्व ज्यादा होगा। फिर रुपये वस्तुओंके लिये नहीं रहेंगे, प्रत्युत संख्या बढ़ानेके लिये हो जायँगे। वस्तुएँ भी रुपयोंकी संख्या बढ़ानेके लिये हो जायँगी। हजार हो जाय तो लाख, लाख हो जाय

तो करोड़, करोड़ हो जाय तो अरब—इस तरह रुपयोंकी इच्छा बढ़ती ही जायगी। वे यह नहीं सोचते और न सोच ही सकते हैं कि इतने रुपये बढ़ाकर क्या करेंगे? न अच्छे आचरणोंकी तरफ विचार है, न व्यक्तियोंकी तरफ विचार है, न वस्तुओंकी तरफ विचार है; बस, केवल रुपये कमाने और इकट्ठे करनेकी तरफ ही विचार है। अधिक संग्रह करनेसे दूसरे निर्धन हो रहे हैं—इस तरफ उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। सात्त्विक मनुष्यके पास थोड़े रुपये होनेपर भी उसके द्वारा अपना और दूसरोंका हित होता है। परन्तु तामस मनुष्यके पास बहुत रुपये होनेपर भी उसके द्वारा अपना और दूसरोंका अहित होता है।

रुपयोंको खर्च करना और रुपयोंकी संख्या बढ़ाना—ये दो भाग हैं। इसमें खर्चका भाग ही अपने और दूसरोंके काम आता है। जो संग्रहका भाग है, वह अपनेमें अभिमान बढ़ाता है, जो कि अपने पतनका हेतु है और समाजमें दरिद्रता, संघर्ष,

ईर्ष्या, द्वेष, चोरी आदि बढ़ाता है, जो कि समाजके पतनका हेतु है। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब-के-सब रुपयोंकी संख्या बढ़ानेकी दृष्टिसे आते हैं। मनुष्य रुपयोंसे बड़ा माना जाता है, पर लोगोंके हृदयमें उसका आदर नहीं होता। हृदयमें सब उसका निरादर और तिरस्कार करते हैं। रुपयोंके कारण दबकर दूसरे मुँहसे कुछ न बोलें, यह बात अलग है, पर हृदयमें भाव अच्छा नहीं होता। परन्तु विवेकी, वीतराग मनुष्यका संसारमें हृदयसे आदर होता है।

विवेकसे भी ऊँचा है—धर्म और सत्य-तत्त्व। जो धर्मके पालन और सत्य (परमात्मतत्त्व)-की प्राप्तिमें लग जाते हैं, वे सबसे ऊँचे हो जाते हैं। सत्यकी तरफ चलनेवालेका सब आदर करते हैं। साधारण लोग भी आदर करते हैं, धनी लोग भी आदर करते हैं, राजा-महाराजा भी आदर करते हैं, सन्त-महात्मा भी आदर करते हैं। और तो क्या, सत्यकी तरफ चलनेवालेका भगवान् भी आदर करते

हैं! अतः सत्य सबसे बड़ा हुआ। उस सत्यकी प्राप्तिके लिये ही विवेक है, विवेकके लिये ही मनुष्य हैं, मनुष्योंके लिये ही वस्तुएँ हैं और वस्तुओंके लिये ही रुपये हैं।

मनुष्य विवेकप्रधान है। अतः उसके लिये यह विशेषरूपसे उचित है कि वह विवेकका आदर करे, विवेकको महत्त्व दे और विवेकसे श्रेष्ठ जो सत्य-तत्त्व है, उसकी प्राप्तिमें अपना समय लगाये तो फिर मरनेके बाद भी दुःख नहीं होगा। रुपये, वस्तु, व्यक्ति आदि सब यहीं रह जायँगे, साथ नहीं चलेंगे, पर धर्म और सत्य-तत्त्व पीछे नहीं रहेगा। धर्म सद्गति देता है और सत्य-तत्त्व मुक्ति देता है। सत्य-तत्त्वकी प्राप्तिसे सदाके लिये शान्ति हो जायगी। उस सत्य-तत्त्वको प्राप्त करना ही मनुष्यजन्मका खास ध्येय—लक्ष्य है। उसको प्राप्त कर लिया तो मनुष्यजन्म सफल हो गया। अगर उसको प्राप्त नहीं किया तो मनुष्यजन्म सफल नहीं हुआ।

खाना-पीना, आराम करना, भोग भोगना आदि

तो कुत्ते, सूअर और गधे भी करते हैं। इसकी कोई विशेष महिमा नहीं है। विशेष महिमा तो परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेमें ही है, जिसमें हमारा और दुनियाका, वर्तमानमें और परिणाममें बड़ा भारी हित है। गोस्वामी तुलसीदासजी-जैसे जो अच्छे-अच्छे महात्मा हो गये हैं, उन्होंने अपना भी कल्याण किया और दुनियाका भी कल्याण किया। उनकी वाणीसे आज भी दुनियाका कल्याण होता है, पतनसे बचाव होता है, शान्ति मिलती है, मार्गदर्शन मिलता है। ऐसा परोपकार कोई धनी-से-धनी व्यक्ति भी नहीं कर सकता। अतः सत्यकी प्राप्तिका ही उद्देश्य मुख्य रहना चाहिये। रुपये भी सत्यकी तरफ लगें, वस्तुएँ भी सत्यकी तरफ लगें, मनुष्य भी सत्यकी तरफ लगे और विवेक भी सत्यकी तरफ लगे, तब तो उन्नति है। परन्तु सत्यकी परवाह न करके नाशवान् पदार्थोंकी परवाह की जाय और पदार्थोंसे भी अधिक रुपयोंको पैदा करने और संग्रह करनेको महत्त्व दिया जाय, तब तो पतन-ही-पतन है।

समाजपर बुद्धिजीवियोंका अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः उनका कर्तव्य है कि वे अपने विवेकको महत्त्व देकर सत्य-तत्त्वकी प्राप्तिमें अपना जीवन लगायें।

इस लेखकी सार बात—

धनसे अधिक वस्तुओंका महत्त्व है, वस्तुओंसे अधिक मनुष्यका महत्त्व है, मनुष्यसे अधिक विवेकका महत्त्व है, विवेकसे अधिक परमात्मतत्त्वका महत्त्व है। उस परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें ही मनुष्यजन्मकी सफलता है।

सन्तोंके प्रति

जैसे परिवारमें जो मुख्य व्यक्ति होते हैं, उनपर परिवारकी विशेष जिम्मेवारी होती है, ऐसे ही समाजमें जो व्यक्ति मुख्य माने जाते हैं, जिनको समाज आदरकी दृष्टिसे देखता है, उनको अच्छा मानता है, उनपर समाजकी विशेष जिम्मेवारी होती है। अपने-अपने स्थान या क्षेत्रमें जो व्यक्ति मुख्य कहलाते हैं, उन साधु, ब्राह्मण, व्याख्यानदाता, नेता, शासक,

अध्यापक, आचार्य, महन्त, कथावाचक आदिको अपने आचरणोंमें विशेष सावधानी रखनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है, जिससे दूसरोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े। कारण कि मुख्य व्यक्तिकी ओर सबकी दृष्टि रहती है। रेलगाड़ीके चालकके समान मुख्य व्यक्तिपर विशेष जिम्मेवारी रहती है। रेलगाड़ीमें बैठे अन्य व्यक्ति सोये भी रह सकते हैं, पर चालकको सदा जाग्रत् रहना पड़ता है। उसकी थोड़ी भी असावधानीसे दुर्घटना हो जानेकी सम्भावना रहती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (३। २१)

'श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं और वह जो कुछ कहता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार करते हैं।'

उपर्युक्त श्लोकमें श्रेष्ठ मनुष्यके आचरणके विषयमें तो '**यत्-यत्**', '**तत्-तत्**' और '**एव**'—ये पाँच पद आये हैं, पर वचनके विषयमें '**यत्**' और

'तत्'—ये दो ही पद आये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यके आचरणोंका असर दूसरोंपर पाँच गुना (अधिक) पड़ता है और वचनोंका असर दो गुना (अपेक्षाकृत कम) पड़ता है। जो मनुष्य स्वयं अपने कर्तव्यका पालन न करके केवल अपने वचनोंसे दूसरोंको कर्तव्य-पालनकी शिक्षा देता है, उसकी शिक्षाका समाजपर विशेष असर नहीं पड़ता। समाजपर शिक्षाका विशेष असर तभी पड़ता है, जब शिक्षा देनेवाला स्वयं भी निःस्वार्थभावसे अपने कर्तव्यका पालन करे।

वास्तवमें बड़ा वह है, जिसमें बड़प्पनका अभिमान नहीं है। कोई बड़ा होता है तो वह नम्रताके कारण बड़ा होता है। बड़प्पन दूसरोंको देनेकी चीज है, लेनेकी नहीं है। सबकी सेवा करना, सुख पहुँचाना, परिश्रम करना—यह अपने लेनेकी चीज है और मान-बड़ाई, आदर-सत्कार दूसरोंको देनेकी चीज है। शास्त्रोंमें माता-बहनोंके लिये लिखा है कि तुम पतिको परमेश्वर मानो, पर

पुरुषोंके लिये नहीं लिखा है कि तुम अपनेको परमेश्वर मानो, नहीं तो सभी विवाहित पुरुष परमेश्वर हो जायँगे और कुँआरे बेचारे बाकी रह जायँगे! अतः अपनेसे जो छोटे हैं, उनका निरादर न करके प्यार करना चाहिये।

गीता आदि ग्रन्थोंको पढ़नेसे और सन्तोंकी बातें सुननेसे मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि संसारमें कोई कितना ही नीच प्राणी क्यों न हो, उसका भी उद्धार हो सकता है, उसको भी भगवान् मिल सकते हैं, वह भी जीवन्मुक्त हो सकता है, उसको भी तत्त्वज्ञान हो सकता है। जो अपनेको नीचा मानता है, उसको जितनी जल्दी और सुगमतासे परमात्मप्राप्ति हो सकती है, उतनी जल्दी और सुगमतासे अपनेको बड़ा माननेवालेको नहीं हो सकती। कारण कि बड़प्पनका अभिमान आसुरी सम्पत्ति है, जो पतन करनेवाली है।

छोटे छोटे तर गये, राम भजन लवलीन।
जातिके अभिमानसे, डूबे सभी कुलीन॥

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उच्च वर्णकी निन्दा करता हूँ। उच्च वर्णको मैं ऊँचा ही मानता हूँ। परन्तु वे ऊँचे तभी होंगे, जब ऊँचा कार्य करेंगे। अभिमानमें आकर नीचा कार्य करेंगे तो ऊँचापन कबतक टिकेगा? जो ऊँचा कार्य करता है, वह अपने-आपको भले ही नीचा माने, पर दुनिया उसको बड़ा मानने लग जायगी; क्योंकि वास्तवमें वह बड़ा है। जैसे, भगवान् विष्णुका निवास चरणोंमें है, इसीलिये बड़ोंके चरण छूकर प्रणाम करते हैं। चरणोंमें निवास होनेपर भी वे सबसे बड़े माने जाते हैं; क्योंकि वे प्राणिमात्रका पालन-पोषण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण क्षत्रियोंकी सेनाके बीचमें अर्जुनके रथके घोड़े हाँकते हैं। उनको घोड़ोंका कोचवान बनते लज्जा नहीं आयी। परन्तु जब कौरवसेनाके सेनापति भीष्मजी शङ्ख बजाते हैं, तब पाण्डवसेनामें सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख बजाते हैं। तात्पर्य है कि जो वास्तवमें बड़ा होता है, उसको यह वहम नहीं होता कि छोटी जगह बैठनेसे मैं छोटा हो

जाऊँगा। यह वहम उन्हींको होता है, जो वास्तवमें छोटे होते हैं, पर बड़ा बनना चाहते हैं। उन्हींको यह भय लगता है कि छोटी जगह बैठनेसे अथवा छोटा काम करनेसे कोई हमें छोटा न मान ले! अगर वे वास्तवमें बड़े हैं तो भय किस बातका?

अतः समाजमें बड़े कहलानेवाले व्यक्तियोंका कर्तव्य है कि वे स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करें। व्यक्तिके सुधारसे ही समाजका सुधार होगा—ऐसा मेरा विश्वास है। वास्तवमें व्यक्तिका सुधार राग-रहित होनेमें है। वीतराग पुरुषके द्वारा समाजका जितना सुधार होता है, उतना दूसरे किसी व्यक्तिके द्वारा हो ही नहीं सकता। अतः जिस समाजमें वीतराग पुरुष होते हैं, वह समाज सबसे श्रेष्ठ होता है।

शिखा रखनेके लाभ

'अखिल भारतीय पण्डित महापरिषद्' (वाराणसी) ने शिखा रखनेके निम्न लाभ बताये हैं—

१- शिखा रखने तथा उसके नियमोंका यथावत् पालन करनेसे मनुष्यको सद्बुद्धि, सद्विचार आदिकी प्राप्ति होती है।

२- शिखा रखनेसे आत्मशक्ति प्रबल बनी रहती है।

३- शिखा रखनेसे मनुष्य धार्मिक, सात्त्विक और संयमी बनता है।

४- शिखा रखनेसे मनुष्य लौकिक तथा पारलौकिक समस्त कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है।

५- शिखा रखनेसे मनुष्य प्राणायाम, अष्टांगयोग आदि यौगिक क्रियाओंको ठीक-ठीक कर सकता है।

६- शिखा रखनेसे सभी देवता मनुष्यकी रक्षा करते हैं।

७- शिखा रखनेसे मनुष्यकी नेत्रज्योति सुरक्षित रहती है।

८- शिखा रखनेसे मनुष्य स्वस्थ, बलिष्ठ, तेजस्वी और दीर्घायु होता है।

।। श्रीहरिः ।। 1182

परमविश्रामकी प्राप्ति

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

१.साधक, साध्य तथा साधन

एक सत्तामात्रके सिवाय और कुछ नहीं है। उस सत्तामें न 'मैं' है, न 'तू' है, न 'यह' है और न 'वह' है। संसारकी सत्ता हमारी मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। सत्तामात्र 'है' है और संसार 'नहीं' है। 'नहीं' नहीं ही है और 'है' है ही है— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। 'नहीं' का अभाव स्वतः-स्वाभाविक है और 'है' का भाव स्वतः-स्वाभाविक है। वह 'है' ही हमारा साध्य है। जो 'नहीं' है, वह हमारा साध्य कैसे हो सकता है? उस 'है' का अनुभव करना नहीं है, वह तो अनुभवरूप ही है।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो साधक वह है, जो साध्यके बिना नहीं रह सकता और साध्य वह है,

जो साधकके बिना नहीं रह सकता। साधक साध्यसे अलग नहीं हो सकता और साध्य साधकसे अलग नहीं हो सकता। कारण कि साधक और साध्यकी सत्ता एक ही है। 'है' से अलग कोई हो सकता ही नहीं। इसलिये अगर हम साधक हैं तो साध्यकी प्राप्ति तत्काल होनी चाहिये। साधक वही है, जो साध्यके बिना अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न करे। वह साध्यके सिवाय किसीका आश्रय न ले, न पदार्थका, न क्रियाका।

जो साध्यके बिना रहे, वह साधक कैसा और जो साधकके बिना रहे, वह साध्य कैसा? जो माँके बिना रह सके, वह बच्चा कैसा और जो बच्चेके बिना रह सके, वह माँ कैसी? हमारा साध्य हमारे बिना नहीं रह सकता, रहनेकी ताकत ही नहीं; क्योंकि मूलमें सत्ता एक ही है। जैसे समुद्र और लहरमें एक ही जल-तत्त्वकी सत्ता है, ऐसे ही साधक और साध्यमें एक ही सत्ता है।

लहररूपसे केवल मान्यता है। जबतक लहररूप शरीर (जड़ता)-से सम्बन्ध है, तबतक साधक है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक नहीं रहता, केवल साध्य रहता है।

अगर साधक साध्यके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि वह साध्यके सिवाय अन्य (भोग तथा संग्रह)-का भी साधक है। उसने अपने मनमें दूसरेको भी सत्ता दी है। अगर साध्य साधकके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि साध्यके सिवाय साधकका अन्य भी कोई साध्य है अर्थात् भोग तथा संग्रह भी साध्य है। हृदयमें नाशवान्‌का जितना महत्त्व है, उतनी ही साधकपनेमें कमी है। साधकपनेमें जितनी कमी रहती है, उतनी ही साध्यसे दूरी रहती है। पूर्ण साधक होनेपर साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये माननेसे ही साधकको साध्यकी अप्राप्ति दीखती है। साध्यके

सिवाय अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही उसकी प्राप्तिका बढ़िया उपाय है। इसलिये साधककी दृष्टि केवल इस तरफ रहनी चाहिये कि संसार नहीं है। संसारका पहले भी अभाव था, बादमें भी अभाव हो जायगा और बीचमें भी वह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। संसारकी स्थिति है ही नहीं। उत्पत्ति-प्रलयकी धारा ही स्थितिरूपसे दीखती है।

साधकके लिये साध्यमें विश्वास और प्रेम होना बहुत जरूरी है। विश्वास और प्रेम उसी साध्यमें होना चाहिये, जो विवेक-विरोधी न हो। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुमें विश्वास और प्रेम करना विवेक-विरोधी है। विश्वास और प्रेम—दोनोंमें कोई एक भी हो जाय तो दोनों स्वतः हो जायँगे। विश्वास दृढ़ हो जाय तो प्रेम अपने-आप हो जायगा। अगर प्रेम नहीं होता तो समझना चाहिये कि विश्वासमें कमी है अर्थात् साध्य (परमात्मा)-के विश्वासके साथ संसारका

विश्वास भी है। पूर्ण विश्वास होनेपर एक सत्ताके सिवाय अन्य (संसार)-की सत्ता ही नहीं रहेगी। साध्यमें विश्वासकी कमी होगी तो साधनमें भी विश्वासकी कमी होगी अर्थात् साध्यके सिवाय अन्य इच्छाएँ भी होंगी। जितनी दूसरी इच्छा है, उतनी ही साधनमें कमी है।

सम्पूर्ण इच्छाओंके मूलमें एक परमात्माकी ही इच्छा है। उसीपर सम्पूर्ण इच्छाएँ टिकी हुई हैं। हमसे भूल यह होती है कि अपनी इस स्वाभाविक (परमात्माकी) इच्छाको हम शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहते हैं। वास्तवमें परमात्माकी प्राप्तिमें शरीर अथवा संसारकी किञ्चिन्मात्र भी जरूरत नहीं है। परमात्मा अपनेमें हैं; अतः कुछ न करनेसे ही उनका अनुभव होगा। कुछ करनेके लिये तो शरीरकी आवश्यकता है, पर कुछ न करनेके लिये शरीरकी क्या आवश्यकता है? कुछ देखनेके लिये नेत्रोंकी आवश्यकता

है, पर कुछ न देखनेके लिये नेत्रोंकी क्या आवश्यकता है? हाँ, नामजप, कीर्तन आदि साधन अवश्य करने चाहिये; क्योंकि इनको करनेसे कुछ न करनेकी सामर्थ्य आती है।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। हमारा सम्बन्ध न तो शरीरके साथ है और न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंके साथ है। हम परमात्माके हैं—इस सत्यपर साधकको दृढ़ विश्वास करना चाहिये। अगर दृढ़ विश्वास न कर सके तो भगवान्‌से माँगे। हम शरीर-संसारके हैं—यह भूल है। भूलको भूल समझनेमें देरी लगती है, पर भूल समझनेपर फिर भूल मिटनेमें देरी नहीं लगती।

यह नियम है कि परमात्माकी प्राप्ति असत् (पदार्थ और क्रिया)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत असत्‌के सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये साधकको

तीन बातोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता है—

(१) मेरा कुछ भी नहीं है।

(२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

(३) मैं कुछ नहीं हूँ।

अब इन तीन बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। पहली बात है—मेरा कुछ भी नहीं है। इसको स्वीकार करनेके लिये साधकको इस बातका मनन करना चाहिये कि हम अपने साथ क्या लाये हैं और अपने साथ क्या ले जायँगे? मनन करनेसे साधकको पता लगेगा कि हम अपने साथ कुछ लाये नहीं और अपने साथ कुछ ले जा सकते नहीं। तात्पर्य यह निकला कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु आने और जानेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। कारण कि स्वयं मिलने-बिछुड़नेवाला, उत्पन्न-नष्ट

होनेवाला, आने-जानेवाला नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है।

दूसरी बात है—मेरेको कुछ नहीं चाहिये। साधकको विचार करना चाहिये कि जब संसारमें कोई वस्तु मेरी है ही नहीं, तो फिर मेरेको क्या चाहिये? शरीरको अपना माननेसे ही चाह पैदा होती है कि हमें रोटी चाहिये, जल चाहिये, कपड़ा चाहिये, मकान चाहिये आदि-आदि। साधक इस बातपर विचार करे कि शरीरसे अलग होकर मेरेको क्या चाहिये? तात्पर्य है कि जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरा कुछ भी नहीं है, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

तीसरी बात है—मैं कुछ नहीं हूँ। शरीर और संसारको तो सब देखते हैं, पर 'मैं' को किसीने नहीं देखा है। शरीरकी प्रतीति होती है और स्वयंका

अनुभव होता है, पर 'मैं' की न तो प्रतीति होती है और न अनुभव ही होता है। 'मैं' का भान होता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि 'मैं' कुछ नहीं है। जिसमें संसारकी ममता और परमात्माकी जिज्ञासा है, उसको 'मैं' कह देते हैं, पर वास्तवमें 'मैं' कुछ नहीं है। सुषुप्तिमें स्वयं तो रहता है, पर 'मैं' नहीं रहता। सुषुप्तिमें स्वयंके भावका और 'मैं' के अभावका अनुभव सबको होता है।

मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इन दो बातोंकी सिद्धि होते ही 'मैं' सत्तामात्रमें अर्थात् 'है' में विलीन हो जाता है। तात्पर्य है कि चेतन-अंश चेतन-तत्त्वमें और जड़-अंश जड़में विलीन हो जाता है। फिर एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं रहता।

प्रकृतिका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया।

पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। शरीरादि पदार्थोंका आश्रय 'पराश्रय' है और क्रियाका आश्रय 'परिश्रम' है। परमात्मप्राप्तिके लिये क्रिया और पदार्थकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। संसारमें तो 'करना' मुख्य है, पर परमात्मामें 'न करना' ही मुख्य है। शरीर और संसारकी सहायतासे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। जो तत्त्व सब जगह परिपूर्ण है, उसकी प्राप्ति 'करने' से कैसे होगी? करनेसे तो उलटे वह दूर होगा!

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, बल आदि सब प्रकृतिके हैं। इनका आश्रय लेना प्रकृतिका आश्रय है। प्रकृतिका आश्रय रखनेपर परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? शरीर प्रकृतिका होनेसे हमारा नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इसलिये शरीरके द्वारा जो कुछ भी किया जाय, वह केवल संसारके लिये ही किया जाना चाहिये।

शरीरसे जप, ध्यान, पूजन, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी किया जाय, वह इस भावसे किया जाय कि दूसरोंका हित हो। अपने लिये कुछ भी करना भोग है, योग नहीं। तात्पर्य हुआ कि शरीर संसारका अंश है, इसलिये शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया संसारके लिये ही है, हमारे लिये नहीं। हमारे लिये केवल परमात्मा हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं। अतः पराश्रय और परिश्रम भोग है। जो पराश्रयको छोड़कर भगवदाश्रयको अपनाता है और परिश्रमको छोड़कर विश्रामको अपनाता है, वह योगी होता है। परन्तु जो पराश्रय और परिश्रमको अपनाता है, वह भोगी होता है।

पराश्रय और परिश्रममें सभी पराधीन हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राममें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं। पराश्रय और परिश्रम तो संसारके लिये हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राम अपने लिये हैं। साधकको अपनेमें जितनी कमी दीखती है, उतना ही पराश्रय

और परिश्रम है। भगवदाश्रय और विश्रामके आते ही मानव-जीवन पूर्ण हो जाता है। कारण कि एक भगवान्‌के सिवाय और कोई ऐसा नहीं है, जो सदा हमारे साथ रहे, कभी हमसे बिछुड़े नहीं। संसारकी प्राप्तिके लिये क्रिया है और परमात्माकी प्राप्तिके लिये विश्राम है। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और अक्रियता अर्थात् विश्रामसे शक्तिका संचय होता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय-तत्त्वसे ही प्रकट होती हैं। मनुष्य दिनभर परिश्रम करके रातको सोता है तो निद्रासे उसकी थकावट मिट जाती है और पुनः कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु निद्राका सुख तामस होता है—'**निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्**' (गीता १८। ३९)। अपने लिये विश्राम करना अर्थात् कुछ न करना भोग है, पर परमात्माके लिये विश्राम करना साधन है; क्योंकि परमात्मा परम विश्राम-स्वरूप हैं। अतः विश्राम अपने लिये न

होकर परमात्माके लिये होना चाहिये। नित्य परमात्मसत्तामें निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माके लिये विश्राम करना है। परमात्माके लिये होनेवाला विश्राम तामस नहीं होता, प्रत्युत सात्त्विक होकर गुणातीत हो जाता है। इसलिये साधकके लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं—भगवदाश्रय और विश्राम। भगवदाश्रय और विश्रामसे पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है और सांसारिक इच्छाएँ मिट जाती हैं। अगर साधकका भगवान्पर विश्वास न हो, प्रत्युत अपनेपर विश्वास हो तो वह स्वाश्रयको अपना सकता है। अगर साधकका न तो भगवान्पर विश्वास हो, न अपनेपर विश्वास हो तो वह धर्मका अर्थात् कर्तव्यका आश्रय अपना सकता है। मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह भगवान्का आश्रय है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये—यह 'स्व' का आश्रय है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरोंके हितके लिये है—यह धर्मका

आश्रय है। भगवान्‌का आश्रय 'भक्तियोग' है। 'स्व' का आश्रय 'ज्ञानयोग' है। धर्मका आश्रय 'कर्मयोग' है। यद्यपि तीनों ही योगमार्गोंसे पदार्थ और क्रियारूप प्रकृतिका आश्रय छूट जाता है और सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है, तथापि इन तीनोंमें भगवान्‌का आश्रय सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि मूलमें हम भगवान्‌के ही अंश हैं। भगवदाश्रयसे मुक्तिके साथ-साथ भक्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

एक 'है' (सत्तामात्र)-के सिवाय और कुछ नहीं है—ऐसा जाननेसे मुक्ति हो जाती है और वह 'है' अपना है—ऐसा माननेसे भक्ति हो जाती है। वास्तवमें जो 'है', वही अपना हो सकता है। जो 'नहीं' है, वह अपना कैसे हो सकता है? अगर साधक असत्‌की सत्ता ही स्वीकार न करे और अपना कोई आग्रह न रखे तो भक्ति अपने-आप होती है।

२. साधक कौन?

भगवान् कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९।४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त (निराकार) स्वरूपसे व्याप्त है।' जिसकी आकृति होती है, उसको 'मूर्ति' कहते हैं और जिसकी कोई भी आकृति नहीं होती, उसको 'अव्यक्तमूर्ति' कहते हैं। जैसे भगवान् अव्यक्तमूर्ति हैं, ऐसे ही साधक भी अव्यक्तमूर्ति होता है—

'**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते**'

(गीता २।२५)

साधक शरीर नहीं होता—ऐसी बात ग्रन्थोंमें आती नहीं, पर वास्तवमें बात ऐसी ही है। साधक भावशरीर होता है। वह योगी होता है, भोगी नहीं होता। भोग और योगका आपसमें विरोध है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। साधक

कोई भी काम भोगबुद्धि अथवा सुखबुद्धिसे नहीं करता, प्रत्युत योगबुद्धिसे करता है। समताका नाम 'योग' है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। समता भाव है। अतः साधक भावशरीर होता है।

स्थूलशरीर प्रतिक्षण बदलता है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिस क्षणमें शरीरका परिवर्तन न होता हो। परमात्माकी दो प्रकृतियाँ हैं। शरीर अपरा प्रकृति है और जीव परा प्रकृति है। परा प्रकृति अव्यक्त है और अपरा प्रकृति व्यक्त है। सम्पूर्ण प्राणी पहले अव्यक्त हैं, बीचमें व्यक्त हैं और अन्तमें अव्यक्त हैं।* स्वप्न आता है तो पहले जाग्रत् है, बीचमें स्वप्न है और अन्तमें जाग्रत् है। जैसे मध्यमें स्वप्न है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मध्यमें व्यक्त हैं।

---

* **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।**
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २।२८)

यह सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता—'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**' (माण्डूक्यकारिका २। ६, ४। ३१)। प्राणी आदिमें और अन्तमें अव्यक्त हैं; अतः बीचमें व्यक्त दीखते हुए भी वे वास्तवमें अव्यक्त ही हैं। व्यक्तमें दो व्यक्ति भी एक (समान) नहीं होते, पर अव्यक्तमें सब-के-सब एक हो जाते हैं। अतः अव्यक्तमें सबको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जो सबको प्राप्त हो सकता है, वही परमात्मा होता है। जो किसीको प्राप्त होता है, किसीको प्राप्त नहीं होता, वह परमात्मा नहीं होता, प्रत्युत संसार होता है। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति अव्यक्तको होती है और अव्यक्तमें होती है।

अव्यक्त ही साधक होता है। व्यक्त साधक नहीं होता। व्यक्त तो एक क्षण भी नहीं ठहरता। '**प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः**' 'चितिशक्ति (चेतन शक्ति)-को छोड़कर सभी भाव

प्रतिक्षणपरिणामी हैं अर्थात् एक क्षण भी स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। विचार करें, जब हमने माँसे जन्म लिया था, उस समय हमारे शरीरका क्या रूप था और आज क्या रूप है? विचार करनेपर यह मानना ही पड़ेगा कि शरीर-संसार प्रतिक्षण बदलते हैं। बदलनेके पुंजका नाम ही संसार है। जो बदलता है, वह साधक कैसे हो सकता है? साधक वही होता है, जो बदलता नहीं। साधकको सिद्धि होती है तो शरीर सिद्ध नहीं होता। सिद्ध तो अशरीरी होता है। इसलिये साधकको सबसे पहले यह बात मान लेनी चाहिये कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, चाहे समझमें आये या न आये।

ज्ञानमार्गमें पहले साधक समझता है, फिर वह मान लेता है। भक्तिमार्गमें पहले मानता है, फिर समझ लेता है। तात्पर्य है कि ज्ञानमें विवेक मुख्य है और भक्तिमें श्रद्धा-विश्वास। ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गमें यही फर्क है। दोनों मार्गोंमें एक-

एक विलक्षणता है। ज्ञानमार्गवाला साधक तो आरम्भसे ही ब्रह्म हो जाता है, ब्रह्मसे नीचे उतरता ही नहीं, पर भक्त सिद्ध हो जानेपर, परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर भी ब्रह्म नहीं होता, प्रत्युत ब्रह्म ही उसके वशमें हो जाता है! गोस्वामीजी महाराजने सब ग्रन्थ लिखनेके बाद अन्तमें विनयपत्रिकाकी रचना की। उसमें वे छोटे बच्चेकी तरह सीता माँसे कहते हैं—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥ १॥
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥ २॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥ ३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ ४॥

तात्पर्य है कि सिद्ध, भगवत्प्राप्त होनेपर भी

भक्त अपनेको सदा छोटा ही समझते हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो ऐसे भक्त ही वास्तवमें ज्ञानी हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने गुणातीत महापुरुषको ज्ञानी नहीं कहा, प्रत्युत अपने भक्तको ही ज्ञानी कहा है (गीता ७। १६—१८)। भगवान्‌ने ज्ञानमार्गीको **'सर्ववित्'** (सर्वज्ञ) भी नहीं कहा, प्रत्युत भक्तको ही **'सर्ववित्'** कहा है—**'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** (गीता १५। १९)। गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

भक्तिके बिना भीतरका सूक्ष्म मल (अहम्) मिटता नहीं। वह मल मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर दार्शनिकों और उनके दर्शनोंमें मतभेद पैदा करता है। जब वह सूक्ष्म मल मिट जाता है, तब मतभेद नहीं रहता। इसलिये भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है।

शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। शरीर पृथ्वीपर ही (माँके पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—या तो इसकी भस्म हो जायगी, या मिट्टी हो जायगी, या विष्ठा हो जायगी। इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीरकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत अव्यक्त स्वरूपकी मुख्यता है—

भूमा अचल शाश्वत अमल सम ठोस है तू सर्वदा।
यह देह है पोला घड़ा बनता बिगड़ता है सदा॥

इसलिये वास्तवमें साधक अव्यक्त होकर ही भगवान्‌का भजन करते हैं। एक पाञ्चभौतिक शरीर होता है और एक अव्यक्त भावशरीर होता है। भजन-ध्यान वास्तवमें भावशरीरसे ही होता है। भजन नाम प्रेमका है—*‘पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन*

न दूसर आन' (मानस, अरण्य० १० में पाठभेद)। प्रेम भावशरीरसे ही होता है। अतः वास्तवमें अव्यक्तमूर्ति ही भगवान्‌में प्रेम करता है, भगवान्‌का भजन करता है, भगवान्‌में तल्लीन होता है। उसीको भगवान् मीठे लगते हैं, भगवान्‌की बात अच्छी लगती है, भगवान्‌की लीला अच्छी लगती है, भगवान्‌का नाम अच्छा लगता है।

भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव अनादिकालसे मेरा ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५। ७)। यहाँ '**मम एव अंशः**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे शरीरमें माता-पिता दोनोंका अंश है, ऐसे जीवमें प्रकृतिका अंश नहीं है, प्रत्युत केवल मेरा ही अंश है। प्रकृतिका अंश शरीर तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर जीव परमात्माका अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहता। वह अपने-आपको संसारमें स्थित मानता है, भगवान्‌में स्थित नहीं मानता। वह प्रकृतिमें

स्थित शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना स्वरूप मान लेता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**'। इसलिये 'मैं शरीरसे रहित हूँ'—यह बात उसकी समझमें नहीं आती। मनुष्यकी सबसे बड़ी कोई भूल है तो यही है कि वह प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरको अपना स्थायी रूप मान लेता है।

भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर और शरीरी (शरीरवाले)-का वर्णन किया है, जिसका तात्पर्य साधकमात्रको यह बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। वास्तवमें साधक न शरीर है और न शरीरी ही है। साधकका स्वरूप सत्तामात्र है, पर समझानेकी दृष्टिसे भगवान्‌ने स्वरूपको 'शरीरी' नामसे कहा है। कारण कि संसारमें जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य 'धनी' कहलाता है, ऐसे ही शरीरके सम्बन्धसे स्वरूप 'शरीरी' कहलाता है। जैसे धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनी (मनुष्य) तो रहता है, पर उसका नाम 'धनी' नहीं रहता, ऐसे ही

शरीरका सम्बन्ध न रहनेपर शरीरी (स्वरूप) तो रहता है, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहता। इसी तरह एक ही स्वरूप क्षेत्रके सम्बन्धसे 'क्षेत्रज्ञ', दृश्यके सम्बन्धसे 'द्रष्टा' और साक्ष्यके सम्बन्धसे 'साक्षी' कहलाता है। पर वास्तवमें स्वरूप न शरीर है, न शरीरी है; न क्षेत्र है, न क्षेत्रज्ञ है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है, प्रत्युत चिन्मय सत्तामात्र है।

यहाँ एक बात विशेष समझनेकी है कि जैसे धनके कारण धनी है, ऐसे शरीरके कारण शरीरी नहीं है। कारण कि जैसे धन और धनी—दोनों एक जातिके हैं, ऐसे शरीर और शरीरी—दोनों एक जातिके नहीं हैं। जैसे धनीका धनमें आकर्षण होता है, ऐसे शरीरीका शरीरमें कभी आकर्षण नहीं होता, प्रत्युत आकर्षणकी मान्यता होती है। धनीमें तो धनकी मुख्यता है, पर शरीरीमें शरीरकी मुख्यता है ही नहीं। धनके विकार तो धनीमें आते हैं, पर

शरीरके विकार शरीरीमें कभी नहीं आते। इसलिये धनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर धनी रोता है, पर शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शरीरी अखण्ड, अपार, असीम आनन्दका अनुभव करता है। धन और धनीके विवेकसे मुक्ति नहीं होती, पर शरीर और शरीरीके विवेकसे मुक्ति हो जाती है। इसलिये धनके सम्बन्ध-विच्छेदसे धनी मुक्त नहीं होता, प्रत्युत निर्धन अथवा विरक्त हो जाता है, पर शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे शरीरी सदाके लिये मुक्त हो जाता है। कारण कि शरीर संसारका बीज है। अतः जिसका शरीरके साथ सम्बन्ध है, उसका संसारमात्रके साथ सम्बन्ध है। शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

संसारमें हमें दो चीजें दीखती हैं—पदार्थ और क्रिया। ये दोनों ही प्रकृतिका कार्य हैं। साधारण दृष्टिसे हम लोगोंको संसारमें पदार्थ प्रधान दीखता है, पर वास्तवमें क्रिया प्रधान है, पदार्थ प्रधान

नहीं है। पदार्थमें हरदम परिवर्तन-ही-परिवर्तन होता है तो फिर क्रिया ही हुई, पदार्थ कहाँ हुआ? क्रियाका पुंज ही पदार्थरूपसे दीखता है। वह क्रिया भी बदलनेवाली है। ये क्रिया और पदार्थ प्रकृतिका स्वरूप हैं, हमारा स्वरूप नहीं हैं। हमारा स्वरूप क्रिया और पदार्थसे रहित 'अव्यक्त' है। जैसे हम मकानमें बैठे हुए हैं तो मकान अलग है, हम अलग हैं। इसलिये हम मकानको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही हम शरीरमें बैठे हुए हैं। शरीर यहीं पड़ा रहता है, हम चले जाते हैं। मकान पीछे रहता है, हम अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही उससे अलग हैं। ऐसे ही हम शरीरसे अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही शरीरसे अलग हैं। वास्तवमें हम शरीरमें रहते नहीं हैं, प्रत्युत रहना मान लेते हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २।१७) 'अविनाशी

तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।' तात्पर्य है कि स्वरूप सर्वव्यापी है, एक शरीरमें सीमित नहीं है—'**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २। २४)। जबतक वह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह साधक है। शरीरका सम्बन्ध सर्वथा छूटनेपर वह सिद्ध हो जाता है।

शास्त्रमें आता है कि देव होकर देवका भजन करना चाहिये—'**देवो भूत्वा यजेद्देवम्**'। इसलिये अव्यक्त होकर ही अव्यक्त परमात्माका भजन करना चाहिये। शरीर तो क्षण-प्रतिक्षण बदलता है, पर साधक क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला साधक थोड़े ही है! क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला मुक्त कैसे होगा? नित्य कैसे होगा? स्वरूपका विनाश कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २। १७), पर शरीर नष्ट हुए बिना रहता ही नहीं। जो अविनाशी होता है, वही मुक्त होता है। विनाशी मुक्त कैसे होगा?

बन्धनका वहम (मोह) मिट जाय—इसको मुक्ति कहते हैं। इसलिये एक बार मोह मिटनेपर पुनः मोह नहीं होता—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्**' (गीता ४। ३५)। कारण कि मूलमें मोह है नहीं। जो वास्तवमें है नहीं, वही मिटता है। जो है, वह मिटता ही नहीं। सत्का अभाव नहीं होता और जिसका अभाव होता है, वह सत् नहीं होता, प्रत्युत असत् होता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

शरीर तो भोगायतन है। जैसे रसोईघर भोजन करनेका स्थान है, ऐसे ही शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता। भोगनेका स्थान और होता है, भोगनेवाला और होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम लाल, काला, सफेद आदि कैसा ही कपड़ा पहनें, वह स्वरूप थोड़े ही होता है! ऐसे ही स्त्री-पुरुष

ऊपरका चोला है। स्वरूप न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। परमात्मा, प्रकृति और जीव—ये तीनों ही अलिंग हैं।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। जिसके अभावका अनुभव होता है, उससे हम अतीत हैं। हमारी भावरूप सत्ता हरदम रहती है। सुषुप्तिमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार कुछ भी नहीं रहता, सब लीन हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें मैं मर गया था, अब जी गया हूँ। सुषुप्तिमें भी हम रहते हैं, तभी तो हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। कारण कि हमारी सत्ता (होनापन) अहंकारके अधीन नहीं है, बुद्धिके अधीन नहीं है, मनके अधीन नहीं है, इन्द्रियोंके

अधीन नहीं है, शरीरके अधीन नहीं है। हमारी सत्ता स्वतन्त्र है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता। इसलिये हमारा स्वरूप निराकार है। साकार-रूप शरीर पीछे बनता है और मिट जाता है। हम निराकाररूपसे हैं, पर शरीररूपसे अपनेको साकार मानते हैं। यह मूल भूल है। इस भूलका हमें प्रायश्चित्त करना है। प्रायश्चित्त करनेमें तीन बातें हैं—(१) अपनी भूलको स्वीकार करें कि अपनेको शरीर मानकर-मैंने भूल की, (२) अपनी भूलका पश्चात्ताप करें कि मनुष्य (साधक) होकर मैंने ऐसी भूल की और (३) ऐसा निश्चय करें कि अब आगे मैं कभी भूल नहीं करूँगा अर्थात् अपनेको कभी शरीर नहीं मानूँगा। ये तीन बातें होनेसे प्रायश्चित्त हो जाता है और साधक अपने वास्तविक अव्यक्त स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

1247

मेरे तो गिरधर गोपाल

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

नम्र निवेदन

भगवत्प्रेमको मोक्षसे भी ऊँचा माना गया है। उसे प्राप्त करनेका मुख्य उपाय सन्तोंने बताया है—भगवान्‌को अपना मानना। मीराबाईने इसी उपायको अपनाया था। *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*—यही मीराबाईकी एकमात्र साधना थी।

प्रस्तुत पुस्तकमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके *'मेरे तो गिरधर गोपाल'* आदि बारह लेखोंका अनूठा संग्रह है। भगवत्प्रेमी साधकोंके लिये ये लेख बहुत उपयोगी एवं सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति करानेमें विशेष सहायक हैं। पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें, समझें और लाभ उठायें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरि: ॥

१. मेरे तो गिरधर गोपाल

मानवशरीर भगवान्‌की कृपासे मिला है और केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये मिला है। इसलिये सब काम छोड़कर भगवान्‌में लग जाना चाहिये। जिनकी उम्र ज्यादा हो गयी है, उनको तो भगवान्‌में लगना ही है, जिनकी उम्र छोटी है, उनको भी सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लगना है। संसारका सब काम कर देना है, पर अपना असली ध्येय, लक्ष्य, उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति ही रखना है।

वास्तवमें सत्ता एक परमात्माकी ही है। संसारकी तरफ आप ध्यान दें तो यह सब मिटनेवाला है और निरन्तर मिट रहा है। आप अपनी तरफ देखें कि जब आप अपनी माँके पेटसे पैदा हुए, उस समय शरीरकी कैसी अवस्था थी और आज कैसी अवस्था है। संसार निरन्तर बदलनेवाला है और परमात्मा निरन्तर रहनेवाले हैं। संसार रहनेवाला है ही नहीं और परमात्मा बदलनेवाले हैं ही नहीं। वे परमात्मा हमारे हैं और हम परमात्माके हैं—इसमें दृढ़ता होनी चाहिये। जैसे छोटा बालक कहता है कि माँ मेरी है। उससे कोई पूछे कि माँ तेरी क्यों है, तो इसका उत्तर उसके पास नहीं है। उसके मनमें यह शंका ही पैदा नहीं होती कि माँ मेरी क्यों है? माँ मेरी है, बस, इसमें उसको कोई सन्देह नहीं होता। इसी तरह आप भी सन्देह मत करो और यह बात दृढ़तासे मान लो कि भगवान् मेरे हैं। भगवान्‌के सिवाय और कोई मेरा नहीं है; क्योंकि वह सब छूटनेवाला है। जिनके प्रति आप बहुत सावधान

रहते हैं, वे रुपये, जमीन, मकान आदि सब छूट जायँगे। उनकी यादतक नहीं रहेगी। अगर याद रहनेकी रीति हो तो बतायें कि इस जन्मसे पहले आप कहाँ थे? आपके माँ-बाप, स्त्री-पुत्र कौन थे? आपका घर कौन-सा था? जैसे पहले जन्मकी याद नहीं है, ऐसे ही इस जन्मकी भी याद नहीं रहेगी। जिसकी यादतक नहीं रहेगी, उसके लिये आप अकारण परेशान हो रहे हो! यह सबके अनुभवकी बात है कि हमारा कोई नहीं है। सब मिले हैं और बिछुड़ जायँगे। इसलिये *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*— ऐसा मानकर मस्त हो जाओ। संसारका काम बिगड़ रहा है तो बिगड़ने दो। वह तो बिगड़नेवाला ही है। सुधर जाय तो भी बिगड़ेगा। उसकी चिन्ता मत करो। आरम्भमें थोड़ा-सा बिगड़ेगा, परन्तु पीछे बहुत बढ़िया हो जायगा। दुनिया सब-की-सब चली जाय तो परवाह नहीं है। मैं और भगवान्—इन दोके सिवाय और कोई नहीं है। मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् मेरे हैं—इसके सिवाय और किसी बातकी तरफ देखो ही मत, विचार ही मत करो।

एक परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण हैं। उनके सिवाय और कोई है नहीं, कोई हुआ नहीं, कोई होगा नहीं, कोई हो सकता नहीं। वे परमात्मा ही मेरे हैं—ऐसा मानकर मस्त हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। हम अच्छे हैं कि मन्दे हैं, इसकी फिक्र मत करो। जैसे भरतजी महाराज चित्रकूट जाते हुए माँ कैकेयीकी तरफ देखते हैं तो उनके पैर पीछे पड़ते हैं, और अपनी तरफ देखते हैं तो खड़े रहते हैं, पर जब रघुनाथजी महाराजकी तरफ देखते हैं तो दौड़ पड़ते हैं—

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(मानस, अयोध्या० २३४। ३)

ऐसे ही आप अपनी करनीकी तरफ मत देखो, अपने पापोंकी तरफ मत देखो, केवल भगवान्‌की तरफ देखो। जैसे विदुरानी भगवान्‌को छिलका देती हैं तो भगवान् छिलका ही खाते हैं। छिलका खानेमें भगवान्‌को जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द गिरी खानेमें नहीं आता। कारण कि विदुरानीके मनमें यह भाव है कि भगवान् मेरे हैं। जैसे बच्चेको भूखा देखकर माँ जिस भावसे उसको खिलाती है, उससे भी विशेष भाव विदुरानीमें है। ऐसे ही आप भगवान्‌को अपना मान लो। जीने-मरने आदि किसीकी भी परवाह मत करो। किसीसे डरो मत। किसीकी भी गर्ज करनेकी जरूरत नहीं। बस, एक ही विचार रखो कि *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*। अगर यह विचार कर लोगे तो निहाल हो जाओगे। परन्तु बहुत धन कमा लो, बहुत सैर-शौकीनी कर लो, बहुत मान-बड़ाई प्राप्त कर लो तो यह सब कुछ काम नहीं आयेगा—

सपना-सा हो जावसी, सुत कुटुम्ब धन धाम,
हो सचेत बलदेव नींदसे, जप ईश्वरका नाम।
मनुष्य तन फिर फिर नहिं होई,
किया शुभ कर्म नहीं कोई,
उम्र सब गफलतमें खोई।

अब आजसे भगवान्‌के होकर रहो। कोई क्या कर रहा है, भगवान् जानें। हमें मतलब नहीं है। सब संसार नाराज हो जाय तो परवाह नहीं, पर भगवान् मेरे हैं—इस बातको छोड़ो मत। मीराबाईको जँच गयी कि अब मैं भगवान्‌से दूर होकर नहीं रह सकती— *'मिल बिछुड़न मत कीजै'* तो उनका डेढ़-दो मनका थैला शरीर भी नहीं मिला, भगवान्‌में समा गया! एक ठाकुरजीके

सिवाय किसीसे कोई मतलब नहीं है।

अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते।

(विनय० १९८)

अन्तमें तुझे सब छोड़ देंगे, कोई तुम्हारा नहीं रहेगा तो फिर पहलेसे ही छोड़ दे।

साधु विचारकर भली समझ्या, दिवी जगत को पूठ।
पीछे देखी बिगड़ती, पहले बैठा रूठ॥

पीछे तो सब बिगड़ेगी ही, फिर अपना काम बिगाड़कर बात बिगड़े तो क्या लाभ? अपने तो अभी-अभी भगवान्‌के हो जाओ। तुम तुम्हारे, हम हमारे। हमारा कोई नहीं, हम किसीके नहीं, केवल भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं। भगवान्‌के चरणोंकी शरण होकर मस्त हो जाओ। कौन राजी है, कौन नाराज; कौन मेरा है, कौन पराया, इसकी परवाह मत करो। वे निन्दा करें या प्रशंसा करें; तिरस्कार करें या सत्कार करें, उनकी मरजी। हमें निन्दा-प्रशंसा, तिरस्कार-सत्कारसे कोई मतलब नहीं। सब राजी हो जायँ तो हमें क्या मतलब और सब नाराज हो जायँ तो हमें क्या मतलब?

केवल एक भगवान् मेरे हैं—इससे बढ़कर न यज्ञ है, न तप है, न दान है, न तीर्थ है, न विद्या है, न कोई बढ़िया बात है। इसलिये भगवान्‌को अपना मानते हुए हरदम प्रसन्न रहो। न जीनेकी इच्छा हो, न मरनेकी इच्छा हो। न जानेकी इच्छा हो, न रहनेकी इच्छा हो। एक भगवान्‌से मतलब हो। एक भगवान्‌के सिवाय मेरा और कोई है ही नहीं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश जितनी अथवा तिनके जितनी चीज भी अपनी नहीं है। हमारा कुछ है ही नहीं, हमारा कुछ था ही नहीं, हमारा कुछ होगा ही नहीं, हमारा कुछ

हो सकता ही नहीं। इसलिये एक भगवान्‌को अपना मान लो तो निहाल हो जाओगे। भगवान्‌के सिवाय किसीसे स्वप्नमें भी मतलब नहीं। किसीकी गुलामी करनेकी जरूरत नहीं। हमें किसीसे क्या लेना है और क्या देना है! हमारे जो सम्बन्धी हैं, उनका कितने दिनका साथ है! *'सपना-सा हो जावसी, सुत कुटुंब धन धाम'!* स्वप्न तो याद रहता है, पर उनकी याद भी नहीं रहेगी। जैसे स्वप्नको नापसन्द कर देते हो तो उसको भूल जाते हो, ऐसे ही संसारको नापसन्द कर दो तो उसको भूल जाओगे। संसारमें यह आदमी ठीक है, यह बेठीक है; ऐसा हो जाय, ऐसा नहीं हो— यह केवल मोह है। मोह सम्पूर्ण व्याधियोंका मूल है— *'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला'* (मानस, उत्तर० १२१। १५)। ठीक हो या बेठीक, हमें क्या मतलब? दूसरे ही हमारी गरज करेंगे, हमें किसीकी क्या गरज? संसारके आदमियोंसे हमें क्या मतलब? बस, एक ही बात याद रखो— *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*

प्यास लगे तो पानी पी लिया, भूख लगे तो रोटी खा ली, ठण्ड लगे तो कपड़ा ओढ़ लिया, नहीं मिले तो नहीं सही! शरीर जाय तो अच्छी बात, रहे तो अच्छी बात, अपना कोई मतलब नहीं। न शरीरके रहनेसे कोई मतलब, न शरीर जानेसे कोई मतलब। हमारा मतलब केवल भगवान्‌से है। केवल भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं—ऐसा सोचकर मस्त हो जाओ, आनन्दमें हो जाओ, नाच उठो कि आज हमें पता चल गया, आज तो मौज हो गयी! अब हम किसीकी गुलामी नहीं करेंगे।

ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब जगह एक परमात्मा ही हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

(गीता १३। १५)

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(महानारायणोपनिषद् ११। ६)

वह परमात्मा नजदीक-से-नजदीक है, दूर-से-दूर है, बाहर-से-बाहर है, भीतर-से-भीतर है। एक परमात्मा-ही-परमात्मा है और वह अपना है—ऐसा सोचकर मस्त हो जाओ। कोई आये तो परमात्मा है, कोई जाय तो परमात्मा है। कोई प्रेम करे तो परमात्मा है, कोई वैर करे तो परमात्मा है। कोई कुछ करे, परमात्मा-ही-परमात्मा है। उस परमात्माको पुकारो कि 'हे नाथ! हे मेरे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।' आपका जन्म सफल हो जायगा! यह कितनी बढ़िया बात है! कितनी ऊँची बात है! कितनी सच्ची बात है! कितनी निर्मल बात है! कोई क्या करता है, यह आप मत देखो। हमें उससे क्या मतलब है?

तेरे भावै कछु करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठि के, अपनौ भवन बुहार॥

हमारा मतलब केवल भगवान्‌से है। हम अच्छे हैं तो उनके हैं, बुरे हैं तो उनके हैं—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे॥

(सूरविनय० २३६)

संसारमें तो एक तिनका भी हमारा नहीं रहेगा, नहीं रहेगा, नहीं रहेगा। अपना है ही नहीं तो कैसे रहेगा? संसारका प्रतिक्षण आपसे वियोग हो रहा है। जन्म लेनेके बाद जितने वर्ष बीत गये,

उतने वर्ष तो आप मर ही गये और बाकी जो दिन बचे हैं, वे भी जानेवाले हैं। एक भगवान्‌के सिवाय अपना कुछ नहीं है। इसलिये भगवान्‌को पुकारो कि हे प्रभो! हे मेरे प्रभो! मेरा कोई नहीं है, केवल आप ही मेरे हो, और कोई मेरा नहीं है। फिर मौज हो जायगी, आनन्द हो जायगा! मेरे तो भगवान् हैं—इस बातको लेकर नाचने लग जाओ, कूदने लग जाओ कि आज हमारा काम हो गया! सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दो। स्वप्नमें भी किसीकी गुलामी मत करो। हृदयसे गुलामी निकाल दो। नाचने लग जाओ कि बस, आज तो हम निहाल हो गये! कोई पूछे कि अरे! क्या मिल गया? तो कहो कि जो मिलना चाहिये था, वह मिल गया! वह परमात्मा स्वतः सबको मिला हुआ है, सबके भीतर विराजमान है। वह हमारा अपना है। और किसीसे हमें कोई गरज नहीं, किसीकी आवश्यकता नहीं, किसीकी परवाह नहीं। कोई राजी रहे तो मौज, नाराज हो जाय तो मौज! हम किसीको दुःख नहीं देते, किसीके विरुद्ध कुछ करते नहीं, स्वप्नमें भी किसीका अहित नहीं चाहते, फिर कोई राजी रहे या नाराज, यह उसकी मरजी। हमारा किसीसे कोई मतलब नहीं।

भगवान् मेरे हैं—इसके समान कोई बात है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इस बातका हमें पता लग गया तो अब मौज हो गयी! इतने दिन दूसरोंकी गुलामी करके मुफ्तमें दुःख पाया। अब हम सबको प्रणाम करते हैं! सभी श्रेष्ठ हैं, पर हमें उनसे मतलब नहीं। हमें केवल भगवान्‌से ही मतलब है। परन्तु भगवान्‌से भी हमें कुछ लेना नहीं है, कोई गरज नहीं करनी है।

ढूँढ़ा सब जहां में, पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा, अब पता मेरा नहीं॥

वास्तवमें मैं है ही नहीं, केवल तू-ही-तू है। छोटा-बड़ा, अच्छा-मन्दा सब तू-ही-तू है। अब हमें असली चीज मिल गयी! आज पता लग गया कि तू ही है, मैं हूँ ही नहीं! न मैं है, न मेरा है। केवल तू है और तेरा है। अब आनन्द-ही-आनन्द है! पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, सम आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, बाहर आनन्द, भीतर आनन्द, केवल आनन्द-ही-आनन्द!

२. कामना, जिज्ञासा और लालसा

मनुष्यके भीतर जो इच्छा रहती है, उसके तीन भेद हैं— कामना, जिज्ञासा और लालसा। सांसारिक भोग और संग्रहकी 'कामना' होती है, स्वरूप (निर्गुण तत्त्व)-की 'जिज्ञासा' होती है और भगवान् (सगुण तत्त्व)-की 'लालसा' होती है।

संसारकी जो कामना है, वह भूलसे पैदा हुई है। कारण कि हमारेमें एक तो परमात्माका अंश है और एक प्रकृतिका अंश है। परमात्माका अंश जीवात्मा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' और प्रकृतिका अंश शरीर है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५।७)। मैं क्या हूँ?—इस प्रकार स्वरूप (जीवात्मा)-को जाननेकी इच्छा 'जिज्ञासा' है और भगवान् कैसे मिलें? उनमें प्रेम कैसे हो?—इस प्रकार भगवान्‌को पानेकी इच्छा 'लालसा' है। जिज्ञासा और लालसा—ये दोनों इच्छाएँ अपनी हैं, पर कामना अपनी नहीं है। कारण कि जिज्ञासा और लालसा सत्-तत्त्वकी होती है, पर कामना असत्‌की होती है।

कामनाएँ शरीरको लेकर होती हैं। बहुत-से भाई-बहन शरीरको मुख्य मानते हैं। पर वास्तवमें शरीर मुख्य नहीं है, प्रत्युत जो शरीरमें अपना रहना मानता है, वह शरीरी मुख्य है। शरीर तो कपड़ेकी तरह है। जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े पहन लेता है, ऐसे ही वह (शरीरी) पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीर धारण कर लेता है*। शरीर हरदम

---

* **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २। २२)

बदलता है। इसलिये शरीरको लेकर जो कामनाएँ होती हैं, वे अपनी नहीं हैं।

शरीर-संसारकी इच्छाके कई नाम हैं; जैसे—कामना, आशा, वासना, तृष्णा आदि। अमुक वस्तु मिल जाय, धन मिल जाय, भोग मिल जाय, कुटुम्ब मिल जाय, घर मिल जाय—ये सब इच्छाएँ सच्ची नहीं हैं। ये इच्छाएँ सभी योनियोंमें होती हैं। मनुष्यकी इच्छाएँ और होती हैं, कुत्तेकी इच्छाएँ और होती हैं, सिंहकी इच्छाएँ और होती हैं। ऐसे ही गाय-भैंस, भेड़-बकरी, गधा, ऊँट आदिकी अलग-अलग इच्छाएँ होती हैं। तात्पर्य है कि शरीर भी बदलते रहते हैं और इच्छाएँ भी बदलती रहती हैं। वृक्षोंको खाद तथा पानीकी इच्छा होती है। ये मिलें तो वृक्ष हरे हो जाते हैं। ये न मिलें तो वे सूख जाते हैं। परन्तु जिज्ञासा और लालसा—ये दो इच्छाएँ केवल मनुष्यशरीरमें ही होती हैं, अन्य शरीरोंमें नहीं होतीं। कारण कि अन्य शरीर भोगयोनियाँ हैं। उनमें केवल भोगनेकी इच्छा है।

जिज्ञासा और लालसा असुरों-राक्षसोंमें नहीं होती, भूत-प्रेत-पिशाचमें नहीं होती। यह देवताओंमें हो सकती है, पर उनमें भी भोग भोगनेकी इच्छा मुख्य रहती है। जैसे—मनुष्यलोकमें ज्यादा धनी लोगोंमें भोग भोगनेकी और धनका संग्रह करनेकी इच्छा मुख्य रहती है तो वे भगवान्‌में नहीं लगते। कलकत्तेके एक धनी आदमीसे मैंने पूछा कि तुम्हारे पास इतने रुपये हैं कि कई पीढ़ियोंतक जीवन-निर्वाह हो जाय, फिर और रुपये कमाकर क्या करोगे? उसने बड़ी सज्जनतासे उत्तर दिया कि 'स्वामीजी! इसका उत्तर हमारे पास नहीं है।' केवल एक ही धुन है—धन कमाओ, धन कमाओ। उस धनका करेंगे क्या—इस तरफ खयाल नहीं है। पूरा धन भोग तो सकते नहीं; अतः छोड़कर मरना पड़ेगा।

केवल भोगोंकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं हैं। मनुष्य कहलानेयोग्य वही हैं, जिनमें अपने स्वरूपकी जिज्ञासा और परमात्माकी लालसा है। अपने स्वरूपको जाननेकी और परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छा मनुष्यमें ही हो सकती है। यह सामर्थ्य मनुष्यमें ही है। परन्तु इसको छोड़कर जो भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, उनमें मनुष्यपना नहीं है, प्रत्युत पशुपना है। भागवतमें इसको पशुबुद्धि कहा गया है—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**' (१२। ५। २)। मैं कौन हूँ? मेरा मालिक कौन है?—यह जाननेकी इच्छा मनुष्यबुद्धि है।

इस दुनियामें एक अँधेरा, सबकी आँख में जो छाया।
जिसके कारण सूझ पड़े नहीं, कौन हूँ मैं कहाँ से आया॥
कौन दिशाको जाना मुझको, किसको देख मैं ललचाया।
कौन है मालिक इस दुनिया का, किसने रची है यह माया॥

—यह जिज्ञासा मनुष्यमें ही हो सकती है। पशुओंमें गाय बड़ी पवित्र है। मल और मूत्र किसीका भी पवित्र नहीं होता, पर गायका गोबर और गोमूत्र भी पवित्र होता है! पवित्रताके लिये गोमूत्र छिड़का जाता है, गोबरका चौका लगाया जाता है। ऐसी पवित्र होनेपर भी गायमें यह जाननेकी शक्ति नहीं है कि मेरा स्वरूप क्या है? परमात्मा क्या है? इसको मनुष्य ही जान सकता है। मनुष्यजन्मके सिवाय और कोई जाननेकी जगह नहीं है। यह मौका मनुष्यजन्ममें ही है। इस जन्ममें ही हम अपने-आपको जान सकते हैं, भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं, भगवान्‌में प्रेम कर सकते हैं। अगर मनुष्यशरीरमें आकर यह काम नहीं किया तो मनुष्यशरीर निरर्थक गया!

कामनाएँ सदा बदलती रहती हैं, पर जिज्ञासा और लालसा

सदा एक ही रहती है, कभी बदलती नहीं। कारण कि ये दोनों खुदकी हैं। खुद कभी बदलता नहीं, शरीर बदलता रहता है। ऐसे ही इच्छाएँ बदलती हैं, भाव बदलते हैं, रहन-सहन बदलता है। जो बदलता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌को कहा—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मरूँगा।'

अगर स्वयं मर जाय तो दूसरी योनिमें कौन जायगा? स्वर्ग-नरकमें कौन जायगा? चौरासी लाख योनियाँ कौन भोगेगा? परन्तु स्वयं कभी मरता नहीं; क्योंकि वह परमात्माका अंश है।

राम मरे तो मैं मरूँ, नहिं तो मरे बलाय।
अविनाशीका बालका, मरे न मारा जाय॥

जब रामजी नहीं मरते तो फिर हम अकेले क्यों मरें? हम रामजीके अंश हैं। हमारा विनाश कभी होता ही नहीं। हम कैसे हैं—यह तो हम नहीं जानते, पर हम अनेक योनियोंमें गये, कभी जलचर बने, कभी नभचर बने, कभी थलचर बने, कभी अण्डज, जरायुज, स्वेदज अथवा उद्भिज्ज बने तो शरीर बदल गये, पर हम नहीं बदले। वे शरीर तो नहीं रहे, पर हम रहे। अतः हमारा स्वरूप हरदम रहनेवाली सत्ता है, जिसका कभी विनाश नहीं होता। यह सत्ता परमात्माका अंश है।

समुद्रसे जल उठता है तो बादल बनता है। बादल बनकर वह बरसता है। जानकार लोग बता देते हैं कि अमुक जगहसे बादल उठा है तो वह अमुक जगह बरसेगा। वर्षाका जल नालेमें जाता है, नाला नदीमें जाता है। नदी समुद्रमें जाती है। तात्पर्य है कि

समुद्रसे उठनेके बाद जल कहीं भी ठहरता नहीं, चलता ही रहता है। अन्तमें जब वह समुद्रमें मिल जाता है, तब उसको शान्ति मिलती है। ऐसे ही परमात्माका अंश जबतक परमात्माको प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक इसकी मुसाफिरी चलती रहती है। परमात्मासे मिलनेपर ही इसको शान्ति मिलती है। जैसे, शरीर पृथ्वीका अंश है। जबतक यह पृथ्वीमें नहीं मिल जाता, तबतक यह चलता-फिरता रहता है। अन्तमें मरकर यह मिट्टीमें मिल जाता है। यह पृथ्वीमें ही पैदा होता है, पृथ्वीमें ही रहता है और पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। यह पृथ्वीको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। इसी तरह इस जीवको जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक इसकी यात्रा चलती ही रहेगी। यह जन्मता-मरता ही रहेगा, दुःख पाता ही रहेगा—'**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।**' इसको कहीं शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिये मनुष्यको अपनी जो असली जिज्ञासा और लालसा है, उसको जाग्रत् करना चाहिये।

मनुष्यशरीरमें आकर भोग और संग्रहमें लग गये तो लाभ कुछ भी नहीं हुआ, वहीं-के-वहीं रहे। कोल्हूका बैल उम्रभर चलता है, पर वहीं-का-वहीं रहता है। ऐसे ही बार-बार जन्म लेते रहे और मरते रहे तो वहीं-के-वहीं रहे, कुछ फायदा नहीं हुआ। फायदा तभी होगा, जब हमारा भटकना मिट जायगा। इसलिये विचार करना चाहिये कि हम किसके अंश हैं? हम जिसके अंश है, उसको प्राप्त करनेपर ही हमारा भटकना मिटेगा।

मनुष्यशरीर मिल गया तो परमात्मप्राप्तिका, अपना कल्याण करनेका अधिकार मिल गया। कल्याणकी प्राप्तिमें केवल जिज्ञासा या लालसा मुख्य है। अपनी जिज्ञासा अथवा लालसा होगी तो

कल्याणकी सब सामग्री मिल जायगी। सत्संग भी मिल जायगा, गुरु भी मिल जायगा, अच्छे सन्त-महात्मा भी मिल जायँगे, अच्छे ग्रन्थ भी मिल जायँगे। कहाँ मिलेंगे, कैसे मिलेंगे—इसका पता नहीं, पर सच्ची जिज्ञासा या लालसा होगी तो जरूर मिलेंगे। आप कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग, जिस योगमार्गपर चलना चाहते हैं, उस मार्गकी सामग्री देनेके लिये भगवान् तैयार हैं। परन्तु आप चलना ही नहीं चाहें तो भगवान् क्या करें? आपके ऊपर कोई टैक्स नहीं, कोई जिम्मेवारी नहीं, केवल आपकी लालसा होनी चाहिये।

कल्याणकी सच्ची लालसावाला साधक बिना कल्याण हुए कहीं टिक नहीं सकेगा। गुरु मिल गया, पर कल्याण नहीं हुआ तो वहाँ नहीं टिकेगा। साधु बनेगा तो वहाँ नहीं टिकेगा। गृहस्थ बनेगा तो वहाँ नहीं टिकेगा। किसी सम्प्रदायमें गया तो वहाँ नहीं टिकेगा। भूखे आदमीको जबतक अन्न नहीं मिलेगा, तबतक वह कैसे टिकेगा? जिसमें कल्याणकी अभिलाषा है, वह कहीं भी ठहरेगा नहीं। ठहरना उसके हाथकी बात नहीं है। जहाँ उसकी लालसा पूरी होगी, वहीं ठहरेगा।

सत्संग बड़े भाग्यसे मिलता है— *'बड़े भाग पाइब सतसंगा'* (मानस, उत्तर० ३३। ४)। परन्तु जिस ग्रन्थमें भाग्यकी बात लिखी है, उसी ग्रन्थमें यह भी लिखा है— *'जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'* (मानस, बाल० २५९। ३)। सच्ची लालसावालेको सच्चा सत्संग अवश्य मिलेगा। जिसके भीतर कल्याणकी सच्ची लालसा है, उसको कल्याणका मौका मिलेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसमें भाग्यका काम है ही नहीं।

सांसारिक धनकी प्राप्तिके लिये तीन बातोंका होना जरूरी

है—धनकी इच्छा हो, उसके लिये उद्योग किया जाय और भाग्य साथ दे। परन्तु परमात्मा इच्छामात्रसे मिलते हैं। कारण कि मनुष्यशरीर मिला ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये है। अगर परमात्मा नहीं मिले तो मनुष्यजन्म सार्थक ही क्या हुआ? इसलिये सांसारिक कामनाओंका त्याग करके केवल स्वरूपकी जिज्ञासा अथवा परमात्माकी लालसा जाग्रत् करो। इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

जबतक कामना (भोग और संग्रहकी इच्छा) रहती है, तबतक जीव संसारी रहता है। कामना मिटनेपर जब जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है, तब जीवकी अपने अव्यक्त स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। फिर वह स्वरूप जिसका अंश है, उसके प्रेमकी लालसा जाग्रत् होती है। स्वयं अव्यक्त होते हुए भी ज्ञानमें केवल अद्वैत रहता है और भक्तिमें कभी द्वैत होता है, कभी अद्वैत होता है। भक्तिमें भक्त अपनी तरफ देखता है तो द्वैत होता है और भगवान्‌की तरफ देखता है तो अद्वैत होता है अर्थात् अपनी तरफ देखनेसे 'मैं भगवान्‌का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं'—यह अनुभव होता है और भगवान्‌की तरफ देखनेसे 'सब कुछ केवल भगवान् ही हैं'—यह अनुभव होता है। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत—दोनों होनेसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

३. अभेद और अभिन्नता

मानवमात्रका कल्याण करनेके लिये तीन योग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। यद्यपि तीनों ही योग कल्याण करनेवाले हैं, तथापि इनमें एक सूक्ष्म भेद है कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। भक्तियोग सब योगोंका अन्तिम फल है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं, पर भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। शरीर और शरीरी—दोनों हमारे जाननेमें आते हैं, इसलिये ये दोनों ही लौकिक हैं। परन्तु परमात्मा हमारे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत केवल माननेमें आते हैं, इसलिये वे अलौकिक हैं। शरीरको लेकर कर्मयोग, शरीरीको लेकर ज्ञानयोग और परमात्माको लेकर भक्तियोग चलता है। कर्मयोग भौतिक साधना है, ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधना है और भक्तियोग आस्तिक साधना है।

गीताने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको समकक्ष बताया है—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'** (३। ३)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है—**'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्'** (गीता ५। ४), **'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'** (गीता ५। ५)। साधक चाहे कर्मयोगसे चले, चाहे ज्ञानयोगसे चले, दोनोंका एक ही फल होता है।

कर्मोंसे मनुष्य क्रिया और पदार्थमें फँसता है, पर कर्मयोग इन दोनोंसे ऊँचा उठाता है। इसलिये कल्याण करनेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत कर्मयोगमें है; क्योंकि कर्मोंमें योग ही कुशलता है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २। ५०)। साधारण मनुष्य कर्म करते ही रहते हैं और कर्मोंका फल भी भोगते ही रहते हैं

अर्थात् जन्मते-मरते रहते हैं। कर्म करनेसे उनका कल्याण नहीं होता। परन्तु कर्मयोगसे कल्याण हो जाता है। कर्मयोगमें निःस्वार्थभावसे सेवा करनेपर संसारका त्याग हो जाता है। सांख्ययोगमें साधक सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होता है। कर्मयोगमें करनेकी मुख्यता है और सांख्ययोगमें विवेक-विचारकी मुख्यता है। इस प्रकार कर्मयोग और सांख्ययोगमें बड़ा फर्क है। फर्क होते हुए भी दोनोंका फल एक ही है। दोनोंके द्वारा संसारसे ऊँचा उठनेपर मुक्ति हो जाती है। ये दोनों लौकिक साधन हैं; क्योंकि शरीर (जड़) और शरीरी (चेतन)—ये दोनों विभाग हमारे देखनेमें आते हैं, पर भगवान् देखनेमें नहीं आते। भगवान्को मानें या न मानें, यह हमारी मरजी है। इसमें विचार नहीं चलता। भगवान् हैं—ऐसा मानना ही पड़ता है। फिर वह माना हुआ नहीं रहता, उसका अनुभव हो जाता है।

'कर्म' में परिश्रम है और 'कर्मयोग' में विश्राम है। परिश्रम पशुओंके लिये है और विश्राम मनुष्यके लिये है। शरीरकी जरूरत परिश्रममें ही है। विश्राममें शरीरकी जरूरत है ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर हमारे लिये है ही नहीं। कर्मयोगमें शरीरके द्वारा होनेवाला परिश्रम दूसरोंकी सेवाके लिये है और विश्राम अपने लिये है।

कर्मयोग तथा सांख्ययोगसे 'अभेद' होता है और भक्तियोगसे 'अभिन्नता' होती है। जहाँ-जहाँ ज्ञानका वर्णन है, वहाँ-वहाँ सत् और असत्, प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, क्षर और अक्षर आदि दोका वर्णन है; जैसे—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। परन्तु भक्तियोगमें दोका वर्णन नहीं है, प्रत्युत एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है—'**वासुदेवः सर्वम्**'

(गीता ७। १९)। ज्ञानयोगमें सत् अलग है और असत् अलग है, पर भक्तियोगमें सत् भी भगवान् हैं और असत् भी भगवान् हैं— **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। अभेदकी अपेक्षा अभिन्नतामें एक विलक्षणता है। अभिन्नतामें कभी भेद होता है, कभी अभेद होता है। इसलिये अभिन्नतामें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। कर्मयोग और सांख्ययोगके द्वारा जो अभेद होता है, उसका आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान नहीं है। जैसे दूध उबलता है तो दूधमें उथल-पुथल होती है, ऐसे ही उथल-पुथलवाला जो आनन्द है, वह भक्तिका है और जो शान्त, एकरस आनन्द है, वह ज्ञानका है।

भक्तियोगकी अभिन्नतामें दो बातें होती हैं—जब भक्त अपनेको देखता है, तब वह भगवान्‌को अपना मालिक देखता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ और जब वह भगवान्‌को देखता है, तब वह अपनेको भूल जाता है कि केवल भगवान् ही हैं; भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इस प्रकार भेद और अभेद दोनों होते रहते हैं, जिससे प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। गोस्वामीजी महाराजने लिखा है—

माई री! मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥ १॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे, राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को, बिधि जो भयो बिपरीता॥ २॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान, सुनहु सखि! अरुझि परी यहि लेखे॥ ३॥

(गीतावली, अयोध्या० ५३)

कौशल्या माताको राम, लक्ष्मण और सीता—तीनों अपने सामने दीखते हैं तो वे सुमित्रासे पूछती हैं कि यह बताओ, अगर

रामजी वनको चले गये हैं तो वे मेरेको दीखते क्यों हैं? और अगर वे वनको नहीं गये हैं तो मेरे चित्तमें व्याकुलता क्यों है? कौशल्याजीकी ये दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनों अवस्थाओंमें प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

भक्तिकी अभिन्नतामें अपनी तरफ देखते हैं तो भेद होता है कि मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं। भगवान्की तरफ देखते हैं तो अभेद होता है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। यह अभेद भक्तिमें ही है, ज्ञानयोगमें नहीं। भक्तिकी अभिन्नतामें भक्त भगवान्से भिन्न कभी होता ही नहीं। वह न संयोग (मिलन)-में भिन्न होता है, न वियोग (विरह)-में भिन्न होता है। ज्ञानमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है, जो परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**'।

ज्ञानयोगमें साधकको एक तत्त्वसे अभेदका अनुभव हो जाता है। परन्तु जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसको ज्ञानके अभेदमें सन्तोष नहीं होता। अतः उसको भक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तिमें फिर भेद और अभेद होते रहते हैं, जिसको अभिन्नता कहते हैं। परन्तु ज्ञानयोगमें केवल अभेद होता है। ज्ञानयोगमें परमात्माका अंश अपने स्वरूपमें स्थित हो गया, अब उसमें भेद कैसे हो? उसमें अखण्ड आनन्द, अपार आनन्द, असीम आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द रहता है। परन्तु भक्तियोगमें अभिन्नता होती है। दोसे एक होते हैं तो अभेद होता है और एकसे दो होते हैं तो अभिन्नता होती है। अभेदमें जीवकी ब्रह्मके साथ एकता हो जाती है। एकरूपसे जो ब्रह्म है, वही अनेकरूपसे जीव है। अभिन्नतामें ईश्वरके साथ एकता होती है। अंश-अंशकी एकता अभेद है और अंश-अंशीकी एकता अभिन्नता है। अंश-अंशीकी

एकतामें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। प्रतिक्षण वर्धमान प्रेममें विरह होनेपर भक्त मिलनकी इच्छा करता है और मिलन होनेपर चुप, शान्त हो जाता है! इस अवस्थाका वर्णन भागवतमें इस प्रकार किया गया है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं-
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्‌गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

वेदान्तमें ऐसी मान्यता है कि अभेदके बाद कुछ भी बाकी नहीं रहता। अगर अभेदके बाद ईश्वरसे अभिन्नता मानें तो वेदान्तके अद्वैत सिद्धान्तमें कमी आती है। अपने सिद्धान्तमें कमी न आ जाय, इसलिये वेदान्तियोंने ईश्वरको कल्पित बता दिया; क्योंकि कल्पित बतानेके सिवाय और कोई उपाय नहीं। परन्तु ईश्वर किसकी कल्पना है—इसका उत्तर उनके पास नहीं है। वे द्वैतसे डरते हैं कि कहीं अपनेमें द्वैत न आ जाय। वास्तवमें सत्ता एक ही (अद्वैत) है; परन्तु अपने रागके कारण दूसरी सत्ता (द्वैत) दीखती है। दूसरी सत्ताका तात्पर्य संसारसे है, ईश्वरसे नहीं; क्योंकि संसार 'पर' है और ईश्वर 'स्व' (स्वकीय) है। दूसरी

सत्ताका निषेध करनेके लिये वेदान्तने ईश्वरको भी कल्पित मान लिया! राग तो अपना है, पर मान लिया ईश्वरको कल्पित! अपना राग मिटाये बिना दूसरी सत्ता कैसे मिटेगी? इसलिये ईश्वरको कल्पित न मानकर अपना राग मिटाना चाहिये। ईश्वर कल्पित नहीं है, प्रत्युत अलौकिक है*।

जीव सब एक हो जायँ तो (जीवभाव मिटनेपर) 'ब्रह्म' होता है। जो ऐश्वर्यसे युक्त है और सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, प्रलय आदिको जानता है, वह 'भगवान्' है। ये बातें जीवमें नहीं होतीं। इसलिये सब जीव एक होनेपर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय नहीं होता—**'जगद्व्यापारवर्जम्'** (ब्रह्मसूत्र ४। ४। १७)। कारण कि जीव ब्रह्मके साथ एक हो सकता है, भगवान्‌के साथ नहीं। भगवान्‌के साथ उसका अभेद नहीं हो सकता, पर अभिन्नता हो सकती है। श्रीएकनाथजी महाराजने भागवत, एकादश स्कन्धकी टीकामें इसी अभिन्नताको अभेदभक्ति कहा है।

---

* **द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(गीता १५। १६-१७)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है।'

'उत्तम पुरुष तो अन्य (विलक्षण) ही है, जो 'परमात्मा'— इस नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।'

४. मानवशरीरका सदुपयोग

मानवशरीरकी जो महिमा है, वह आकृतिको लेकर नहीं है, प्रत्युत विवेकको लेकर ही है। सत् और असत्, जड़ और चेतन, सार और असार, कर्तव्य और अकर्तव्य—ऐसी जो दो-दो चीजें हैं, उनको अलग-अलग समझनेका नाम 'विवेक' है। यह विवेक परमात्माका दिया हुआ और अनादि है। इसलिये यह पैदा नहीं होता, प्रत्युत जाग्रत् होता है। सत्संगसे यह विवेक जाग्रत् और पुष्ट होता है। सत्संगमें भी खूब ध्यान देनेसे, गहरा विचार करनेसे ही विवेक जाग्रत् होता है, साधारण ध्यान देनेसे नहीं होता। आजकल प्रायः यह देखनेमें आता है कि सत्संग करनेवाले, सत्संग करानेवाले, व्याख्यान देनेवाले भी गहरी पारमार्थिक बातोंको समझते नहीं। वे जड़-चेतनके विभागको ठीक तरहसे जानते ही नहीं। थोड़ी जानकारी होनेपर व्याख्यान देने लग जाते हैं। जिनका विवेक जाग्रत् हो जाता है, उनमें बहुत विलक्षणता, अलौकिकता आ जाती है।

साधकको सबसे पहले शरीर (जड़) और शरीरी (चेतन)-का विभाग समझना चाहिये। शरीर और अशरीरीसे आरम्भ करके संसार और परमात्मातक विवेक होना चाहिये। शरीर और शरीरीका विवेक मनुष्यके सिवाय और जगह नहीं है। देवताओंमें विवेक तो है, पर भोगोंमें लिप्त होनेके कारण वह विवेक काम नहीं करता।

शरीर और शरीरीके विभागको जाननेवाले मनुष्य बहुत कम हैं। इसलिये सत्संगके द्वारा इस विभागको जाननेकी खास जरूरत है। शरीर जड़ है और स्वयं (आत्मा) चेतन है। स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर प्रकृतिका अंश है। चेतन अलग है और जड़

अलग है। मुक्ति चेतनकी होगी, जड़की नहीं; क्योंकि बन्धन चेतनने स्वीकार किया है। जड़ तो हरदम बदल रहा है और नाशकी तरफ जा रहा है। हमारी जितनी उम्र बीत गयी है, उतने दिन तो हम मर ही गये हैं। 'मरना' शब्द भले ही खराब लगे, पर बात सच्ची है। जन्मके समय जीनेके जितने दिन बाकी थे, उतने दिन अब बाकी नहीं रहे। जितने दिन बीत गये, उतने दिन तो मर गये, अब कितने दिन बाकी हैं, इसका पता नहीं है। जीवनका जो समय चला गया, नष्ट हो गया, वह जड़-विभागमें हुआ है, चेतन-विभागमें नहीं। चेतन-विभागमें मृत्यु नहीं है। उसकी कोई उम्र नहीं है। वह अमर है। शरीर मरता है, आत्मा नहीं मरता। इस प्रकार आरम्भसे ही जड़-चेतनके विभागको समझ लेना चाहिये। जो चेतन-विभाग है, वह परमात्माका है और जो जड़-विभाग है, वह प्रकृतिका है। गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (१३। १९)

प्रकृति और पुरुष—दोनों अनादि तो हैं, पर दोनोंमें पुरुष (चेतन) अनादि तथा अनन्त है, और प्रकृति अनादि तथा सान्त है। कई विद्वान् प्रकृतिको भी अनन्त मानते हैं, पर यह दार्शनिक मतभेद है। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि जो अपनेको भी नहीं जानता और दूसरेको भी नहीं जानता, उसका नाम 'जड़' है। जो अपनेको भी जानता है और दूसरेको भी जानता है, उसका नाम 'चेतन' है। जाननेकी शक्ति चेतनता है। यह शक्ति जड़में नहीं है।

मन-बुद्धि चेतनमें दीखते हैं, पर हैं ये जड़ ही। ये चेतनके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। हम (स्वयं) शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको जाननेवाले हैं। इन्द्रियोंके दो विभाग हैं—कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ तो सर्वथा जड़ हैं और ज्ञानेन्द्रियोंमें चेतनका आभास है। उस आभासको लेकर ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना

और घ्राण— ये पाँचों इन्द्रियाँ 'ज्ञानेन्द्रियाँ' कहलाती हैं। ज्ञानेन्द्रियोंको लेकर जीवात्मा विषयोंका सेवन करता है—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

(गीता १५। ९)

ज्ञानेन्द्रियोंमें और अन्तःकरणमें जो ज्ञान दीखता है, वह उनका खुदका नहीं है, प्रत्युत चेतनके द्वारा आया हुआ है। खुद तो वे जड़ ही हैं। जैसे दर्पणको सूर्यके सामने कर दिया जाय तो सूर्यका प्रकाश दर्पणमें आ जाता है। उस प्रकाशको अँधेरी कोठरीमें डाला जाय तो वहाँ प्रकाश हो जाता है। वह प्रकाश मूलमें सूर्यका है, दर्पणका नहीं। ऐसे ही इन्द्रियोंमें और अन्तःकरणमें चेतनसे प्रकाश आता है। चेतनके प्रकाशसे प्रकाशित होनेपर भी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण जड़ हैं। हम स्वयं चेतन हैं और परमात्माके अंश हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं— '**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)। जैसे शरीर माँ और बाप दोनोंसे बना हुआ है, ऐसे स्वयं प्रकृति और परमात्मा दोनोंसे बना हुआ नहीं है। यह केवल परमात्माका ही अंश है। भगवान्‌ने कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४। ३)

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

अर्थात् प्रकृति माता है और मैं उसमें बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ, जिससे सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं। अतः प्राणियोंमें प्रकृतिका अंश भी है और परमात्माका भी। परन्तु जो जीवात्मा है, उसमें केवल परमात्माका ही अंश है— '**ममैवांशः**' (**मम एव अंशः**)। देवता, भूत-प्रेत, पिशाच आदि जितने भी शरीर हैं, उन

सबमें जड़ और चेतन—दोनों रहते हैं। देवताओंके शरीरमें तैजस-तत्त्वकी प्रधानता है, भूत-प्रेतोंके शरीरमें वायु-तत्त्वकी प्रधानता है, मनुष्योंके शरीरमें पृथ्वी-तत्त्वकी प्रधानता है, आदि। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वकी प्रधानता रहती है। यद्यपि सभी शरीरोंमें मुख्यता चेतनकी ही है, पर वह शरीरमें मैं-मेरापन करके उसीको मुख्य मान लेता है। जड़ शरीरकी मुख्यता मानना ही जन्म-मरणका कारण है— **'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। गुणोंका संग होनेसे ही जीवकी तीन गतियाँ होती हैं। जो सत्त्वगुणमें स्थित होते हैं, वे ऊर्ध्वगतिमें जाते हैं। जो रजोगुणमें स्थित होते हैं, वे मध्यलोकमें जाते हैं। जो तमोगुणमें स्थित होते हैं, वे अधोगतिमें जाते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

इस प्रकार जड़-चेतनके विभागको ठीक तरहसे समझना चाहिये। जड़-अंश (शरीर) छूट जाता है, हम रह जाते हैं। जबतक मुक्ति नहीं होती, तबतक जड़ता साथमें रहती है। इसलिये एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर सूक्ष्म और कारणशरीर साथमें रहते हैं। मुक्ति होनेपर केवल चेतनता रहती है, जड़ता साथमें नहीं रहती अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर साथमें नहीं रहते। परन्तु इसमें एक बहुत सूक्ष्म बात है कि मुक्ति होनेपर भी जड़ताका संस्कार रहता है। वह संस्कार जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद करनेवाला होता है। जैसे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और अचिन्त्यभेदाभेद—ये पाँच मुख्य मतभेद हैं, जो शैव और वैष्णव आचार्योंमें रहते हैं। जबतक मतभेद है, तबतक जड़ताका

संस्कार है। परन्तु मुक्तिके बाद जब भक्ति होती है, तब जड़ताका यह सूक्ष्म संस्कार भी मिट जाता है। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंमें जड़ता सर्वथा नहीं रहती, केवल चेतनता रहती है। जैसे, राधाजी सर्वथा चिन्मय हैं।

मनुष्योंके कल्याणके लिये तीन योग बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग*। कर्मयोग जड़को लेकर चलता है, ज्ञानयोग चेतनको लेकर चलता है और भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो लौकिक साधन हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'** (गीता ३। ३), पर भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों लौकिक हैं—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** (गीता १५। १६)। परन्तु भगवान् क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५। १७)। जिसकी संसारमें ही आसक्ति है, जो संसारको मुख्य मानते हैं, जिनका आत्माकी तरफ इतना विचार नहीं है, पर जो अपना कल्याण चाहते हैं, उनके लिये कर्मयोग मुख्य है। अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार निष्कामभावसे अर्थात् केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोग है। सकामभावमें जड़ता आती है, पर निष्कामभावमें चेतनता रहती है। निष्कामभाव होनेके कारण कर्मयोगी जड़-अंशसे ऊँचा उठ जाता है। अगर निष्कामभाव नहीं हो कर्म होंगे, कर्मयोग नहीं होगा। कर्मोंसे मनुष्य बँधता है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः'**।

निष्कामभाव होनेसे मनुष्यमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

द्वन्द्वोंका नाश हो जाता है और समता आ जाती है। समता आनेसे योग हो जाता है; क्योंकि योग नाम समताका ही है— **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८)। निष्कामभाव आनेसे चेतनताकी मुख्यता और जड़ताकी गौणता हो जाती है। मनुष्यमें जितना-जितना निष्कामभाव आता है, उतना-उतना वह संसारसे ऊँचा उठता है और जितना-जितना सकामभाव आता है, उतना-उतना वह संसारमें बँधता है।

गीतामें आया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १९)

जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया, उन लोगोंने संसारको जीत लिया अर्थात् वे जन्म-मरणसे ऊँचे उठ गये। ब्रह्म निर्दोष और सम है और उनका अन्तःकरण भी निर्दोष और सम हो गया, इसलिये वे ब्रह्ममें ही स्थित हो गये। वास्तवमें परमात्मामें स्थिति सबकी है; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक हैं। एक सुईकी नोक-जितनी जगह भी परमात्मासे खाली नहीं है। परमात्मा सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण हैं। परन्तु परमात्मामें स्थित होते हुए भी संसारमें राग-द्वेषके कारण मनुष्य परमात्मामें स्थित नहीं हैं, प्रत्युत संसारमें स्थित हैं। वे परमात्मामें स्थित तभी होंगे, जब उनके मनमें राग-द्वेष मिट जायँगे। जबतक मनमें राग-द्वेष रहेंगे, तबतक भले ही चारों वेद और छः शास्त्र पढ़ लो, पर मुक्ति नहीं होगी। राग-द्वेषको हटानेके लिये क्या करें? इसके लिये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें) मनुष्यके राग-द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले) शत्रु हैं।'

अनुकूलताको लेकर राग और प्रतिकूलताको लेकर द्वेष होता है। साधकको चाहिये कि वह इनके वशीभूत न हो। वशीभूत होनेसे राग-द्वेष बढ़ते हैं। जबतक राग-द्वेष हैं, तबतक जन्म-मरण है। राग-द्वेषसे ऊँचा उठनेपर मुक्ति होती है और परमात्मामें प्रेम होनेपर भक्ति होती है। पहले कर्मयोग और ज्ञानयोग करके भी भक्ति कर सकते हैं और आरम्भसे भी भक्ति कर सकते हैं।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। कई व्यक्ति ऐसा नहीं मानते, प्रत्युत कर्मयोग तथा भक्तियोगको साधन और ज्ञानयोगको साध्य मानते हैं। परन्तु गीता भक्तियोगको ही साध्य मानती है। गीताके अनुसार कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों निष्ठाएँ समकक्ष हैं, पर भक्ति दोनोंसे विलक्षण है।

कर्मयोगमें दो बातें हैं—कर्म और योग। ऐसे ही ज्ञानयोगमें भी दो बातें हैं—ज्ञान और योग। परन्तु भक्तियोगमें दो बातें नहीं होतीं। हाँ, भक्तियोगके प्रकार दो हैं—साधन-भक्ति और साध्य-भक्ति।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी साधन-भक्ति है और प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमाभक्ति साध्य-भक्ति है—'**मद्भक्तिं लभते**

पराम्' (गीता १८। ५४)। इसलिये श्रीमद्‌भागवतमें आया है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (११। ३। ३१) 'भक्तिसे भक्ति पैदा होती है' अर्थात् साधनभक्तिसे साध्यभक्तिकी प्राप्ति होती है। इस तरह साधक चाहे तो आरम्भसे ही भक्ति कर सकता है। भक्तिका आरम्भ कब होता है? जब भगवान् प्यारे लगते हैं, भगवान्‌में मन खिंच जाता है। संसारके भोग और रुपये प्यारे लगते हैं—यह सांसारिक (बन्धनमें पड़े हुए) आदमीकी पहचान है। भगवान् प्यारे लगते हैं—यह भक्तकी पहचान है। इसलिये जब रुपये और पदार्थ अच्छे नहीं लगेंगे, इनसे चित्त हट जायगा और भगवान्‌में लग जायगा, तब भक्ति आरम्भ हो जायगी। जबतक भोगोंमें और रुपयोंमें आकर्षण है, तबतक ज्ञानकी बड़ी ऊँची-ऊँची बातें कर लो, बन्धन ज्यों-का-त्यों रहेगा। जैसे गीध बहुत ऊँचा उड़ता है, पर उसकी दृष्टि मुर्देपर रहती है। मांस देखते ही उसकी ऊँची उड़ान खत्म हो जाती है और वह वहीं नीचे गिर पड़ता है। ऐसे ही बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करनेवाले, व्याख्यान देनेवाले रुपयोंको और भोगोंको देखते ही उनपर गिर पड़ते हैं! जैसे गीधको सड़े-गले एवं दुर्गन्धित मांसमें ही रस (आनन्द) आता है, ऐसे ही उनको रुपयोंमें और भोगोंमें ही रस आता है। इसलिये गीताने कहा है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(२। ४४)

'उस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।'

जो मान, आदर, बड़ाई, रुपये, भोग आदिमें ही रचे-पचे हैं,

वे मुक्त नहीं हो सकते। मुक्त अर्थात् बन्धनसे रहित तभी हो सकते हैं, जब इनसे ऊँचे उठेंगे। 'भोगैश्वर्य' का अर्थ है—भोग भोगना और भोग-सामग्री (रुपये, सोना-चाँदी, जमीन, मकान आदि)-का संग्रह करना। इन दोनोंमें लगे हुए मनुष्य परमात्मप्राप्ति करना तो दूर रहा, 'हमें परमात्माको प्राप्त करना है'—ऐसा निश्चय भी नहीं कर सकते। सत्संग करनेवालोंका अनुभव है कि भोग और संग्रहकी आसक्ति कम होती है और मिटती है। जैसे, हमारी वृत्तिमें क्रोध ज्यादा था। अतः थोड़ी-सी बातमें क्रोध आ जाता था, बड़े जोरसे आता था और काफी देरतक रहता था। परन्तु सत्संग करते-करते वह क्रोध कम होता है, थोड़ी-सी बातमें नहीं आता, जोरसे नहीं आता और कम देर ठहरता है। जब छोटी-छोटी कई बातें इकट्ठी हो जाती हैं, तब सहसा किसी बातपर जोरसे क्रोधका भभका आता है। परन्तु सत्संग करते-करते वह भी मिट जाता है। क्रोधका स्वरूप है कि जिसपर क्रोध आता है, उसका अनिष्ट चाहता है। सत्संग करते-करते किसीका अनिष्ट करनेकी चाहना मिट जाती है। सत्संग करनेवालेको कभी क्रोध आ जाय तो उसमें होश रहता है और वह नरक देनेवाला नहीं होता। काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों नरकोंके दरवाजे हैं*। इनमें फँसे हुए मनुष्य सीधे नरकोंमें जाते हैं। उनको नरकोंमें जानेसे कोई अटकानेवाला नहीं है। परन्तु सत्संग करनेवालोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष कम हो जाते हैं। वह काम-क्रोधादिके वशीभूत नहीं होता। वह अन्यायपूर्वक, झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानीसे धन इकट्ठा नहीं करता। वह उतना ही लेता

* त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

है, जितनेपर उसका हक लगता है। पराये हककी चीज नहीं लेता। काम-क्रोधादिके वशीभूत होनेसे अन्याय-मार्गमें प्रवेश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप नरकोंकी प्राप्ति होती है। परन्तु सत्संग करनेसे ये काम-क्रोधादि दोष क्रमशः पत्थर, बालू, जल और आकाशकी लकीरकी तरह कम होते-होते मिट जाते हैं। पत्थरपर जो लकीर पड़ जाती है, वह कभी मिटती नहीं। बालूकी लकीर जब हवा चलती है, तब बालूसे ढककर मिट जाती है। जलपर लकीर खिंचती हुई तो दीखती है, पर जलपर लकीर बनती नहीं। परन्तु आकाशमें लकीर खींचें तो केवल अँगुली ही दीखती है, लकीर बनती ही नहीं। इस प्रकार जब काम-क्रोधादि दोष किंचिन्मात्र भी नहीं रहते, तब बन्धन मिट जाता है और परमात्मामें स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार सत्संग करनेसे दोष कम होते हैं। अगर दोष कम नहीं होते तो असली सत्संग नहीं मिला है। भगवान्‌की कथा तो किसीसे भी सुनें, सुननेसे लाभ होता है। अगर कथा कहनेवाला प्रेमी भक्त हो तो बहुत विलक्षणता आती है। परन्तु तात्त्विक विवेचन जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषसे सुननेपर ही लाभ होता है। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ सन्त-महात्माओंके संगसे बहुत विलक्षण एवं ठोस लाभ होता है। प्रेमी भक्तके विषयमें आया है—

वाग् गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं-
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-

करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बार-बार रोता रहता है, कभी-कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं-
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५। ६१)

'चाहे मेरे निर्गुण स्वरूपका चित्तसे उपासना करनेवाला हो अथवा मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुण स्वरूपकी सेवा-अर्चना करनेवाला हो, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है। वह सूर्यकी भाँति विचरण करता हुआ अपनी चरण-रजके स्पर्शसे तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।'

तात्पर्य है कि चाहे भक्त हो या ज्ञानी, उसके चरणोंके स्पर्शसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। जैसे सूर्य जहाँ जाता है, वहाँ प्रकाश हो जाता है, ऐसे ही वह महात्मा जहाँ जाता है, वहाँ ज्ञानका प्रकाश हो जाता है, आनन्द हो जाता है। कारण कि उसके भीतर राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि बिलकुल नहीं होते। इसलिये हमारी यही चेष्टा होनी चाहिये कि राग-द्वेष, काम-क्रोध आदिसे पिण्ड छूट जाय। हमारे हृदयमें राग-द्वेषादि विकार न रहें। जबतक ये कम न हों, तबतक समझे कि असली सत्संग मिला नहीं है। जबतक मनुष्यमें गुण-अवगुण दोनों रहते हैं, तबतक वह साधक नहीं होता। साधक तभी होता है, जब अवगुण मिट जाते हैं।

दूसरा उसके साथ वैर करे तो भी उसके हृदयमें वैर नहीं होता, उलटे हँसी आती है, प्रसन्नता होती है। वह अनिष्ट-से-अनिष्ट चाहनेवालेका भी बुरा नहीं चाहता। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों मार्गोंमें राग-द्वेष मिट जाते हैं। अतः साधकको देखते रहना चाहिये कि मेरे राग-द्वेष कम हो रहे हैं या नहीं। अगर कम हो रहे हैं तो समझे कि साधन ठीक चल रहा है।

साधकमें तीन बातें रहनी चाहिये। वह किसीको बुरा मत समझे, किसीका बुरा मत चाहे और किसीका बुरा मत करे। इन तीन बातोंका वह नियम ले ले तो उसका साधन बहुत तेज और बढ़िया होगा। इन तीन बातोंको धारण करनेसे वह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंका अधिकारी बन जाता है। इसलिये मेरी साधकोंसे प्रार्थना है कि वे कम-से-कम इन तीन बातोंको धारण कर लें। वे सबकी सेवा करें, सबको सुख पहुँचायें। सुख भी न पहुँचा सकें तो कम-से-कम किसीको दुःख मत पहुँचायें। जो दूसरोंको दुःख पहुँचाता है, वह साधन नहीं कर सकता।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस, उत्तर० ४१। १)

मनुष्यशरीर साधन करनेके लिये मिला है। यह साधनयोनि है। इसलिये सच्चे साधक बनो। सच्चे सत्संगी बनो। योगारूढ़ हो जाओ। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ हो जाओ। भगवान्‌के प्रेमी हो जाओ। यह मौका मनुष्यजन्ममें ही है।

५. सच्ची आस्तिकता

गीता भगवान्‌के समग्ररूपको मानती है, उसीको महत्त्व देती है और उसकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता मानती है। सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि रूप तथा पदार्थ और क्रियारूप सम्पूर्ण जगत्, सम्पूर्ण जीव, सम्पूर्ण देवता—ये सब-के-सब भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये जो समग्रको जान लेता है, उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७। २)। समग्रको जाननेका मुख्य साधन है—शरणागति। इसलिये भगवान्‌ने गीतोपदेशका पर्यवसान शरणागतिमें ही किया है—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)। भगवान्‌ने गीताभरमें केवल शरणागतिको ही 'सर्वगुह्यतम' (सबसे अत्यन्त गोपनीय) कहा है—'**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु**' (गीता १८। ६४)।

वास्तवमें सत्ता एक ही है। उस एक परमात्माकी सत्ताके अधीन जीवकी सत्ता है और जीवके अधीन जगत्‌की सत्ता है। जीव और जगत्—दोनों परमात्मामें ही भासित होते हैं। गीताके सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने जीवको अपनी 'परा प्रकृति' और जगत्‌को अपनी 'अपरा प्रकृति' बताया है। परा और अपरा—दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं। अतः इनको अपनी प्रकृति बतानेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि ये दोनों मेरेसे अलग नहीं हैं। शक्तिमान्‌से अलग शक्तिकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।

शक्तिमान् शक्तिके बिना रह सकता है, पर शक्ति शक्तिमान्के बिना नहीं रह सकती।

अब शंका होती है कि जब जीव (परा) और जगत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्से अभिन्न हैं तो फिर जगत्की सत्ता अलग क्यों दीखती है? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५) अर्थात् जीवने ही जगत्को धारण किया है अर्थात् जगत्को सत्ता और महत्ता दी है। जीव केवल मेरा (भगवान्का) ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। परन्तु यह मिलने और बिछुड़नेवाले शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लेता है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (गीता १५। ७)। जगत्के साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही यह जन्म-मरणके चक्करमें पड़कर दुःख पा रहा है। जीवके द्वारा जगत्से माना हुआ यह सम्बन्ध ही सम्पूर्ण योनियोंका कारण है—**'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय'** (गीता ७। ६) अर्थात् इन दोनोंके माने हुए संयोगके कारण ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी पैदा होते हैं। तात्पर्य हुआ कि जीवके द्वारा अपरासे जोड़ा गया सम्बन्ध ही मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

'वासुदेवः सर्वम्' अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं—यह गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है। इसका अनुभव करनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। प्रत्येक देश, वेश, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य भगवान्का भक्त होकर **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कर सकता है। कारण कि भगवान्की प्राप्ति शरीरके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये तीन बातोंको जानना आवश्यक है—शरीर 'मैं' नहीं

हूँ, शरीर 'मेरा' नहीं है और शरीर 'मेरे लिये' नहीं है। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली होती है, वह अपनी और अपने लिये नहीं होती। एक भगवान् ही हमारे ऐसे साथी हैं, जो सदा हमारे साथ रहते हैं, कभी हमसे बिछुड़ते नहीं। परन्तु जो मनुष्य मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंमें ही उलझे रहते हैं, नाशवान् भोगोंमें और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, वे सदा साथ रहते हुए भी भगवान्‌को न प्राप्त होकर बार-बार संसारमें जन्मते-मरते रहते हैं—'**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि**' (गीता ९। ३)।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उसको जीवने ही अहंता-ममता-कामनाके कारण स्वतन्त्र सत्ता दी है। जबतक साधकमें अहंता-ममता-कामना रहती है, तबतक उसको यह मानना चाहिये कि परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा है। परन्तु जब उसकी अहंता-ममता-कामना मिट जायगी, तब उसकी दृष्टिमें न संसारमें परमात्मा रहेंगे, न परमात्मामें संसार रहेगा, प्रत्युत परमात्मा-ही-परमात्मा रहेंगे। परमात्मामें संसारको देखना अथवा संसारमें परमात्माको देखना अधूरी आस्तिकता है। परन्तु केवल परमात्माको ही देखना पूरी आस्तिकता है।

भगवान्‌ने कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ है, प्रकृतिके साथ बिलकुल नहीं है। इसलिये जड़-चेतनका ठीक-ठीक विवेक करना साधकके लिये बहुत आवश्यक है। साधकको यह जानना चाहिये कि हमारा विभाग ही अलग है। हम चेतन-विभागमें हैं। जड़-विभागसे हमारा किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएँ जड़-विभागमें हैं। चेतन-विभागमें न पदार्थ है, न क्रिया है। वास्तवमें पदार्थ और

क्रियाकी सत्ता ही नहीं है। इसलिये साधकको पदार्थ और क्रियासे रहित होना नहीं है, प्रत्युत वह स्वतः इनसे रहित है। साधक अव्यक्त (निराकार) और अक्रियरूप है। मात्र 'करना' प्रकृतिका और 'न करना' स्वयंका होता है। परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, उसके लिये कुछ न करनेकी जरूरत है। करनेका आश्रय प्रकृतिका आश्रय है। वह छोड़ दिया तो तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहा। तत्त्वमें न पदार्थ है, न क्रिया है, प्रत्युत केवल विश्राम है।

भगवान्‌ने जीवात्माके लिये कहा है—**'नित्यः सर्वगतः'** (गीता २। २४), **'येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २। १७) अर्थात् इस जीवात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, यह नित्य रहनेवाला और सबमें परिपूर्ण है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शरीर-अन्तःकरणको न देखकर अपनी सर्वव्यापी सामान्य सत्तामें स्थित हो जाय। जो सब जगह व्याप्त है, वही साधकका स्वरूप है। उसका स्वरूप शरीर-अन्तःकरणमें नहीं है। साधकमें 'मैं हूँ' की मुख्यता न होकर 'है' की मुख्यता रहे। जो 'है', वही वास्तवमें अपना है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (७। ७) और सन्त-महात्माओंका भी अनुभव है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही संसारका अकारण हित करनेवाले हैं*। इसलिये इन दोनोंकी बात मान लेनी चाहिये। उनकी बातके आगे हमारी बातका कोई मूल्य नहीं है। हमें भले ही वैसा न दीखे, पर बात उनकी ही सच्ची है। इसलिये हमें जगत्‌को जगत्-रूपसे न देखकर भगवत्-रूपसे ही देखना

* हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस, उत्तर० ४७। ३)

चाहिये। संसारमें जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव (गुण, पदार्थ और क्रिया) देखनेमें आते हैं, वे भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वरूप होते हुए भी वे गुण हमारे उपास्य नहीं हैं। हमारा उपास्य गुणातीत है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**न त्वहं तेषु ते मयि**' (गीता ७। १२) 'मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं'। गुण उपास्य इसलिये नहीं हैं कि हमें तीनों गुणोंसे ऊँचा उठना है। कारण कि जो मनुष्य तीनों गुणोंसे मोहित होता है, वह गुणातीत भगवान्‌को नहीं जानता*। जो गुणोंसे मोहित नहीं होते, उनको सब जगह भगवान् ही दीखते हैं, पर गुणोंसे मोहित मनुष्यको संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते।

यहाँ शंका हो सकती है कि भगवान्‌में राजस-तामस भाव कैसे होते हैं? इसका समाधान है कि जैसे घर एक ही होता है, पर उसमें रसोई भी होती है और शौचालय भी अथवा एक ही शरीरमें उत्तमांग भी होते हैं और अधमांग भी, ऐसे ही एक भगवान्‌में सात्त्विक भाव भी हैं और राजस-तामस भाव भी।

संसारको मिथ्या मानकर केवल भगवान्‌को सत्य मानना भी एक पद्धति (साधन-मार्ग) है। पर इस पद्धतिमें संसार बहुत दूरतक साथ रहता है। कारण कि त्याग करनेसे त्याज्य वस्तुकी सूक्ष्म सत्ता बनी रहती है। इसलिये इस पद्धतिमें भगवान्‌से अभेद तो होता है, पर अभिन्नता (आत्मीयता) नहीं होती। परन्तु जो संसाररूपसे भगवान्‌को देखते हैं, वे भगवान्‌के साथ अभिन्न हो जाते हैं।

---

* **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।**
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
(गीता ७। १३)

६. संसारका असर कैसे छूटे?

साधकोंकी प्रायः यह शिकायत रहती है कि यह जानते हुए भी कि संसारकी कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, जब कोई वस्तु सामने आती है तो उसका असर पड़ जाता है। इस विषयमें दो बातें ध्यान देनेयोग्य हैं। एक बात तो यह है कि असर पड़े तो परवाह मत करो अर्थात् उसकी उपेक्षा कर दो। न तो उसको अच्छा समझो, न बुरा समझो। न उसके बने रहनेकी इच्छा करो, न मिटनेकी इच्छा करो। उससे उदासीन हो जाओ। दूसरी बात यह है कि असर वास्तवमें मन-बुद्धिपर पड़ता है, आपपर नहीं पड़ता। अतः उसको अपनेमें मत मानो।

किसी वस्तुसे राग होनेपर भी सम्बन्ध जुड़ता है और द्वेष होनेपर भी सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् श्रीराम वनमें गये तो उनके साथ जिन ऋषि-मुनियोंने स्नेह किया, उनका उद्धार हो गया और जिन राक्षसोंने द्वेष किया, उनका भी उद्धार हो गया, पर जिन्होंने न राग किया, न द्वेष किया, उनका उद्धार नहीं हुआ; क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ नहीं जुड़ा। इसी तरह संसारका असर मनमें पड़े तो उसमें राग-द्वेष करके उसके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। आप भगवान्‌के भजन-साधनमें लगे रहो। संसारका असर हो जाय तो होता रहे, अपना उससे कोई मतलब नहीं—इस तरह उसकी उपेक्षा कर दो।

जैसे आप कुत्तेके मनके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते, ऐसे ही अपने मनके साथ भी अपना कोई सम्बन्ध मत मानो। कुत्तेका मन और आपका मन एक ही जातिके हैं। जब कुत्तेका

मन आपका नहीं है तो यह मन भी आपका नहीं है। मन जड़ प्रकृतिका कार्य है, आप चेतन परमात्माके अंश हो। जैसे कुत्तेके मनमें संसारका असर पड़नेसे आपमें कोई फर्क नहीं पड़ा, ऐसे ही इस मनका भी आपमें कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये।

मनका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। आपने मनके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया तो अब दु:ख पाना ही पड़ेगा। अब आप मनसे, शरीरसे जो काम करोगे, उसका पाप-पुण्य आपको लगेगा ही। कुत्तेके मनमें कुछ भी आये, उससे आपको क्या मतलब? ऐसे ही इस मनमें कुछ भी आये, उससे आपको क्या मतलब? आपका सम्बन्ध शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ नहीं है, प्रत्युत परमात्माके साथ है—इस बातको समझानेके लिये ही गीतामें भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५।७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है'। इस बातको समझ लो तो आपकी वृत्तियोंमें, आपके साधनमें फर्क पड़ जायगा।

आप अपनेको 'मैं हूँ'—इस तरह जानते हैं। इसमें 'मैं' तो जड़ है और 'हूँ' चेतन है। 'मैं' के कारणसे 'हूँ' है। अगर 'मैं' (अहम्) न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल 'है' (चिन्मय सत्तामात्र) रह जायगा। इसी बातको गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि जब साधक निर्मम-निरहंकार हो जाता है, तब उसकी स्थिति ब्रह्ममें हो जाती है—'**एषा ब्राह्मी स्थितिः**' (गीता २। ७२)।

अहंकार हमारा स्वरूप नहीं है। अहंकार अपरा प्रकृति है और हम परा प्रकृति हैं। हम अलग हैं, अहंकार अलग है। जैसे, जाग्रत् और स्वप्नमें अहंकार जाग्रत् रहता है, पर सुषुप्तिमें अहंकार

जाग्रत् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। सुषुप्तिमें अहंकार न रहनेपर भी हम रहते हैं। हमारा स्वरूप अशरीरी है। जैसे भगवान् अव्यक्त हैं* , ऐसे ही उनका अंश होनेसे हम भी स्वरूपसे अव्यक्त (निराकार) हैं। अव्यक्तमूर्तिका अंश भी अव्यक्तमूर्ति ही होगा। यह शरीर तो भोगायतन (भोगनेका स्थान) है। जैसे हम रसोईघरमें बैठकर भोजन करते हैं, ऐसे ही हम शरीरमें रहकर कर्मफल भोगते हैं। इसलिये साधकको यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि मैं अव्यक्त (निराकार)-रूप हूँ, मनुष्यरूप नहीं हूँ। साधन करनेवाला शरीर नहीं होता। इसीलिये हम कहते हैं कि मैं बचपनमें जो था, वही मैं आज हूँ। बचपनसे लेकर आजतक हमारे शरीरमें इतना फर्क पड़ गया कि पहचान भी नहीं सकते, फिर भी हम वही हैं। बचपनमें मैं खेला करता था, बादमें पढ़ता था, वही मैं आज हूँ। शरीर वही नहीं है। शरीर तो एक क्षण भी नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। जो नहीं बदलता, वही साधक है। बदलनेवाला साधक नहीं है।

साधक योगभ्रष्ट होता है तो वह दूसरे जन्ममें श्रीमानोंके घर जन्म लेता है अथवा योगियोंके घर जन्म लेता है। शरीर तो मर गया, जला दिया गया, फिर श्रीमानों अथवा योगियोंके घर कौन जन्म लेगा? वही जन्म लेगा, जो शरीरसे अलग है। इसलिये आप इस बातको दृढ़तासे स्वीकार कर लें कि हम शरीर नहीं हैं, प्रत्युत शरीरको जाननेवाले हैं। इस बातको स्वीकार किये बिना साधन बढ़िया नहीं होगा, सत्संगकी बातें ठीक

---

* **मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।** (गीता ९। ४)
'यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है।'

समझमें नहीं आयेंगी।

शरीर तो प्रतिक्षण बदलता है, पर आप महासर्ग और महाप्रलय होनेपर भी नहीं बदलते, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों एकरूप रहते हैं— **'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।'** (गीता १४। २)।

आपने अबतक कई शरीर धारण किये, पर सब शरीर छूट गये, आप वही रहे। शरीर तो यहीं छूट जायगा, पर स्वर्ग या नरकमें आप जाओगे, मुक्ति आपकी होगी, भगवान्के धाममें आप पहुँचोगे। तात्पर्य है कि आपकी सत्ता (स्वरूप) शरीरके अधीन नहीं है। अतः शरीरके रहने अथवा न रहनेसे आपकी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, अनन्त सृष्टियाँ हैं, पर उनका आपपर रत्तीभर भी फर्क नहीं पड़ता। केश-जितनी चीज भी आपतक नहीं पहुँचती। ये सब मन-बुद्धितक ही पहुँचती हैं। प्रकृतिका कार्य मन-बुद्धिसे आगे जा सकता ही नहीं। इसलिये अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी चीज भी आपकी नहीं है। आपके परमात्मा हैं और आप परमात्माके हो। साधन करके आप ही परमात्माको प्राप्त होंगे, शरीर प्राप्त नहीं होगा। इसलिये साधन करते हुए ऐसा मानना चाहिये कि हम निराकार हैं, साकार (शरीर) नहीं हैं। आप मकानमें बैठते हैं तो आप मकान नहीं हो जाते। मकान अलग है, आप अलग हैं। मकानको छोड़कर आप चल दोगे। फर्क आपमें पड़ेगा, मकानमें नहीं। ऐसे ही शरीर यहीं रहेगा, आप चल दोगे। पाप-पुण्यका फल आप भोगोगे, शरीर नहीं भोगेगा। मुक्ति आपकी होगी, शरीरकी नहीं होगी। शरीर तो मिट्टी हो जायगा, पर आप मिट्टी नहीं होंगे। आपका स्वरूप गीताने इस प्रकार बताया है—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(२। २४-२५)

'यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

'यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और यह निर्विकार कहा जाता है। अत: इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये।'

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं कभी मरूँ नहीं, मैं सब कुछ जान जाऊँ और मैं सदा सुखी रहूँ। ये तीनों इच्छाएँ मूलमें सत्, चित् और आनन्दकी इच्छा है। परन्तु वह इस वास्तविक इच्छाको शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका अंश होते हुए भी वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लेता है*। परन्तु वास्तवमें मनुष्य अपनी वास्तविक इच्छाको शरीर अथवा संसारकी सहायतासे पूरी कर ही नहीं सकता। कारण कि शरीर नाशवान् है, इसलिये उसके द्वारा कोई मरनेसे नहीं बच सकता। शरीर जड़ है, इसलिये उसके द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर प्रतिक्षण बदलनेवाला है, इसलिये उसके

---

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

द्वारा कोई सुखी नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्यमें जो सत्-चित्-आनन्दकी इच्छा है, उसकी पूर्ति शरीरसे असंग (सम्बन्ध-रहित) होनेपर ही हो सकती है। इस वास्तविक इच्छाकी पूर्तिमें शरीर लेशमात्र भी साधक अथवा बाधक नहीं है, प्रत्युत शरीरका सम्बन्ध ही इसमें बाधक है। इसलिये शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक क्रिया और पदार्थसे असंग हो जाता है। क्रिया और पदार्थ—दोनों प्रकृतिके कार्य हैं। क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर साधककी वास्तविक इच्छा पूरी हो जाती है। वास्तविक इच्छाकी पूर्ति होनेपर साधककी सत्-चित्-आनन्दरूप स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। स्वरूपमें स्थिति होनेपर लौकिक साधना (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग)-की सिद्धि हो जाती है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माको अपना माननेसे, उसके शरणागत होनेसे अलौकिक साधना (भक्तियोग)-की सिद्धि हो जाती है अर्थात् परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। परम प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्णता है*। इसलिये साधकको आरम्भसे ही इस सत्यको स्वीकार कर लेना चाहिये कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। कारण कि मैं परा प्रकृति (चेतन) हूँ, जो कि परमात्माका अंश है और शरीर-संसार अपरा प्रकृति (जड़) है। अपरा प्रकृति अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी हमारी वास्तविक इच्छाकी पूर्ति नहीं कर सकती अर्थात् हमें अमर नहीं बना सकती, हमारा अज्ञान नहीं मिटा सकती और हमें सदाके लिये सुखी नहीं कर सकती।

---

* लौकिक साधनाकी सिद्धिमें तो अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध रह सकती है, पर अलौकिक साधनाकी सिद्धिमें अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती।

प्रश्न—सत्संगमें ऐसी बातें सुनते हुए भी जब व्यवहार करते हैं, तब राजी-नाराज हो जाते हैं, क्या करें?

उत्तर—व्यवहारमें राजी-नाराज हो जाते हैं तो यह बालकपना है। बच्चे खेलते हैं तो वे मिट्टी इकट्ठी करके पहाड़, मकान आदि बना देते हैं और उसमें लाइन खींच देते हैं कि इतनी जमीन मेरी है, इतनी तुम्हारी है। दूसरा बच्चा जमीन ले लेता है तो लड़ने लग जाते हैं कि तुमने हमारी जमीन कैसे ले ली? यह तुम्हारी नहीं, हमारी है। कोई बड़ा आदमी आकर कहता है कि 'बच्चो! लड़ते क्यों हो?' वे कहते हैं कि हमने पहले लकीर खींची है, इसलिये यह हमारी है। वह आदमी कहता है कि अच्छा, तुम ऐसा-ऐसा कर दो तो दोनों राजी हो जाते हैं। इतनेमें माँ बुलाती है कि 'अरे बच्चो! आओ, भोजनका समय हो गया' तो बच्चे झट उठकर चल देते हैं। अब उनका जमीनसे कोई मतलब नहीं! इसी तरह हम कहते हैं कि धन-सम्पत्ति हमारी है, जमीन हमारी है आदि। वास्तवमें न हमारी है, न तुम्हारी है। यह तो खेल है, तमाशा है! एक दिन धन-सम्पत्ति, जमीन आदि सबको छोड़कर जाना पड़ेगा। इनकी यादतक नहीं रहेगी। पिछले जन्ममें हमारा कौन-सा घर था, कौन-सा कुटुम्ब था, अब याद है क्या? इस संसारकी कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जैसे धर्मशाला सबके लिये होती है, ऐसे ही यह संसार सबके लिये है। इसलिये मकान वही रहते हैं, जमीन वही रहती है, पर आदमी बदलते रहते हैं। इन बातोंकी तरफ आपका ध्यान जाना चाहिये। सत्संग करनेवालोंका इन बातोंकी तरफ ध्यान नहीं जायगा तो फिर किसका जायगा? सत्संग भी करते हो और राग-द्वेष भी करते हो तो वास्तवमें सत्संग किया ही नहीं, सत्संग सुना ही नहीं, सत्संग समझा ही

नहीं, सत्संगकी हवा ही नहीं लगी! सत्संगमें राग-द्वेष, काम-क्रोध कम नहीं होंगे तो फिर कैसे कम होंगे? यदि आपके भावोंमें, आचरणोंमें फर्क नहीं पड़ा तो सत्संग क्या किया! कोरा समय खराब किया! सत्संग करे और फर्क नहीं पड़े—यह हो ही नहीं सकता। सत्संग करेगा तो फर्क जरूर पड़ेगा। फर्क नहीं पड़ा तो असली सत्संग मिला नहीं है। असली सत्संग मिले तो फर्क पड़े बिना रह सकता ही नहीं।

७. अभिमान कैसे छूटे?

अभिमानके विषयमें रामायणमें आया है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७। ७४। ३)

जितनी भी आसुरी-सम्पत्ति है, दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब अभिमानकी छायामें रहते हैं। मैं हूँ—इस प्रकार जो अपना होनापन (अहंभाव) है, वह उतना दोषी नहीं है, जितना अभिमान दोषी है। भगवान्‌का अंश भी निर्दोष है। परन्तु मेरेमें गुण हैं, मेरेमें योग्यता है, मेरेमें विद्या है, मैं बड़ा चतुर हूँ, मैं वक्ता हूँ, मैं दूसरोंको समझा सकता हूँ—इस प्रकार दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें जो विशेषता दीखती है, यह बहुत दोषी है। अपनेमें विशेषता चाहे भजन-ध्यानसे दीखे, चाहे कीर्तनसे दीखे, चाहे जपसे दीखे, चाहे चतुराईसे दीखे, चाहे उपकार (परहित) करनेसे दीखे, किसी भी तरहसे दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दीखती है तो यह अभिमान है। यह अभिमान बहुत घातक है और इससे बचना भी बहुत कठिन है।

अभिमान जातिको लेकर भी होता है, वर्णको लेकर भी होता है, आश्रमको लेकर भी होता है, विद्याको लेकर भी होता है, बुद्धिको लेकर भी होता है। कई तरहका अभिमान होता है। मेरेको गीता याद है, मैं गीता पढ़ा सकता हूँ, मैं गीताके भाव विशेषतासे समझता हूँ—यह भी अभिमान है। अभिमान बड़ा पतन करनेवाला है। जो श्रेष्ठता है, उत्तमता है, विशेषता है, उसको अपना मान लेनेसे ही अभिमान आता है। यह अभिमान अपने उद्योगसे दूर नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही दूर होता है। अभिमानको दूर करनेका

ज्यों-ज्यों उद्योग करते हैं, त्यों-त्यों अभिमान दृढ़ होता है। अभिमानको मिटानेका कोई उपाय करें तो वह उपाय ही अभिमान बढ़ानेवाला हो जाता है। इसलिये अभिमानसे छूटना बड़ा कठिन है! साधकको इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिये।

साधकको इस बातका खयाल रखना चाहिये कि अपनेमें जो कुछ विशेषता आयी है, वह खुदकी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से आयी है। इसलिये उस विशेषताको भगवान्‌की ही समझे, अपनी बिलकुल न समझे। अपनेमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह प्रभुकी दी हुई है—ऐसा दृढ़तापूर्वक माननेसे ही अभिमान दूर हो सकता है।

मैं जैसा कीर्तन करता हूँ, वैसा दूसरा नहीं कर सकता; दूसरे इतने हैं, पर मेरे जैसा करनेवाला कोई नहीं है—इस प्रकार जहाँ दूसरेको अपने सामने रखा कि अभिमान आया! साधकको ऐसा मानना चाहिये कि मैं करनेवाला नहीं हूँ, प्रत्युत यह तो भगवान्‌की कृपासे हो रहा है। जो विशेषता आयी है, वह मेरी व्यक्तिगत नहीं है। अगर व्यक्तिगत होती तो सदा रहती, उसपर मेरा अधिकार चलता। ऐसा माननेसे ही अभिमानसे छुटकारा हो सकता है।

भगवान्‌की कृपा है कि वे किसीका अभिमान रहने नहीं देते। इसलिये अभिमान आते ही उसमें टक्कर लगती है। भगवान् विशेष कृपा करके चेताते हैं कि तू कुछ भी अपना मत मान, तेरा सब काम मैं करूँगा। भगवान् अभिमानको तोड़ देते हैं, उसको ठहरने नहीं देते—यह उनकी बड़ी अलौकिक, विचित्र कृपा है।

जिसमें अभिमान रह जाता है, वह राक्षस हो जाता है। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण, दन्तवक्त्र, शिशुपाल आदि सबमें अभिमान था। अभिमानके कारण वे किसीको नहीं गिनते।

भगवान्‌को भी नहीं गिनते! उनके अभिमानको दूर करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं और कृपा करके उनका नाश करते हैं। वास्तवमें भगवान् मनुष्यको नहीं मारते हैं, प्रत्युत उसके अभिमानको मारते हैं। जैसे फोड़ा हो जाता है तो वैद्यलोग पहले उसको पकाते हैं, फिर चीरा लगाते हैं। ऐसे ही भगवान् पहले अभिमानको बढ़ाते हैं, फिर उसका नाश करते हैं। इस विषयमें वे किसीका कायदा नहीं रखते।

भगवान्‌का स्वभाव बड़ा विचित्र है। दूसरे मनुष्य तो हमारा कुछ भी उपकार करते हैं तो एहसान जनाते हैं कि तेरेको मैंने ऊँचा बनाया! पर भगवान् सब कुछ देकर भी कहते हैं— *'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'!* भगवान् यह नहीं कहते कि मैंने तेरेको ऊँचा बनाया है, प्रत्युत खुद उसके दास बन जाते हैं। इतना ही नहीं, भगवान् उसको पता ही नहीं चलने देते कि मैंने तेरेको दिया है। मनुष्यके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का ही दिया हुआ है। वे इतना छिपकर देते हैं कि मनुष्य इन वस्तुओंको अपना ही मान लेता है कि मेरा ही मन है, मेरी ही बुद्धि है, मेरी ही योग्यता है, मेरी ही सामर्थ्य है, मेरी ही समझ है। यह तो देनेवालेकी विलक्षणता है कि मिली हुई चीज अपनी ही मालूम देती है। अगर आँखें अपनी हैं तो फिर चश्मा क्यों लगाते हो? आँखोंमें कमजोरी आ गयी तो उसको ठीक कर लो। शरीर अपना है तो उसको बीमार मत होने दो, मरने मत दो।

देनेवालेकी इतनी विचित्रता है कि वे यह जनाते ही नहीं कि मेरा दिया हुआ है। इसलिये मनुष्य मान लेता है कि मैं समझदार हूँ, मैं वक्ता हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं लेखक हूँ आदि। वह अभिमान

कर लेता है कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना भजन करता हूँ, इतना ध्यान करता हूँ, इतना पाठ करता हूँ आदि। विचार करना चाहिये कि यह किस शक्तिसे कर रहा हूँ? यह शक्ति कहाँसे आयी है? अर्जुन वही थे, गाण्डीव धनुष और बाण भी वही थे, पर डाकूलोग गोपियोंको ले गये, अर्जुन कुछ नहीं कर सके—*'काबाँ लूटी गोपिका, वे अर्जुन वे बाण'।* अर्जुनने महाभारत-युद्धमें विजय कर ली तो यह उनका बल नहीं था, प्रत्युत जो उनके सारथि बने थे, उन भगवान् श्रीकृष्णका बल था। गीतामें भगवान्ने कहा भी है—'**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' (गीता ११। ३३) 'ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।'

सन्तोंकी वाणीमें एक बड़ी विचित्र बात आयी है कि भगवान्ने संसारको मनुष्यके लिये बनाया और मनुष्यको अपने लिये बनाया। तात्पर्य है कि मनुष्य मेरी भक्ति करेगा तो संसारकी सब वस्तुएँ उसको दूँगा! उसको किसी बातकी कमी रहेगी ही नहीं! सदाके लिये कमी मिट जायगी! पर वह भक्ति न करके अभिमान करने लग गया। अभिमान भगवान्को सुहाता नहीं—

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।

(नारदभक्ति० २७)

'ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।'

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

(मानस, उत्तर० ७४। ३-४)

भगवान् अभिमानको दूर करते हैं, पर मनुष्य फिर अभिमान

कर लेता है! अभिमान करते-करते उम्र बीत जाती है! इसलिये हरदम 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' पुकारते रहो और भीतरसे इस बातका खयाल रखो कि जो कुछ विशेषता आयी है, भगवान्‌से आयी है। यह अपने घरकी नहीं है। ऐसा नहीं मानोगे तो बड़ी दुर्दशा होगी!

यह मानवजन्म भगवान्‌का ही दिया हुआ है। भगवान्‌ने मनुष्यको तीन शक्तियाँ दी हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। करनेकी शक्ति दूसरोंका हित करनेके लिये दी है, जाननेकी शक्ति अपने-आपको जाननेके लिये दी है और माननेकी शक्ति भगवान्‌को माननेके लिये दी है। परन्तु गलती तब होती है, जब मनुष्य इन तीनों शक्तियोंको अपने लिये लगा देता है। इसीलिये वह दुःख पा रहा है। बल, बुद्धि, योग्यता आदि अपने दीखते ही अभिमान आता है। मैं ब्राह्मण हूँ—ऐसा माननेपर ब्राह्मणपनेका अभिमान आ जाता है। मैं धनवान् हूँ—ऐसा माननेपर धनका अभिमान आ जाता है। मैं विद्वान् हूँ—ऐसा माननेपर विद्याका अभिमान आ जाता है। जहाँ मैंपनका आरोप किया, वहीं अभिमान आ जाता है। इसलिये भीतरसे हरदम भगवान्‌को पुकारते रहो। अपनेमें योग्यता प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये अभिमानसे बचना बहुत कठिन होता है। मनुष्यको प्रत्यक्ष दीखता है कि मैं अधिक पढ़ा-लिखा हूँ, मैं गीता जाननेवाला हूँ, मैं कीर्तन करनेवाला हूँ, इसलिये वह फँस जाता है। अगर यह दीखने लग जाय कि यह सब केवल भगवान्‌की कृपासे हो रहा है तो निहाल हो जाय! ऐसा चेत भी भगवान्‌की कृपासे ही होता है। जिनको चेत न हो, उनपर दया आनी चाहिये। वे भी चेतेंगे, पर देरीसे!

नारदजी महाराज भगवान्‌के भक्त थे, पर उनको भी अभिमान हो गया। इतना अभिमान हो गया कि भगवान्‌को ही शाप दे दिया—

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी॥

(मानस, बाल० १३७। ३-४)

नारदजीने कहा कि बन्दर आपकी सहायता करेंगे— ***'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी'*** तो यह शाप हुआ कि वरदान? यह तो वरदान हुआ! इसलिये कहा है— ***'साधु ते होइ न कारज हानी'*** (मानस, सुन्दर० ६। २)। शापके कारण भगवान्‌का अवतार हुआ और विविध लीलाएँ हुईं, जिनको गा-गाकर लोगोंका कल्याण हो रहा है। तात्पर्य है कि नारदजीका शाप लोगोंके कल्याणका उपाय हो गया! ऐसे ही भगवान्‌का भी क्रोध वरदानके समान कल्याणकारी होता है— **'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'**। भगवान् और उनके भक्त—दोनों ही बिना हेतु सबका हित करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

इन दोनोंके साथ किसी भी तरहसे सम्बन्ध हो जाय तो लाभ-ही-लाभ होता है। ये सबपर कृपा करते हैं। लोग कहते हैं कि भगवान्‌ने दुःख भेज दिया! पर भगवान्‌के खजानेमें दुःख है ही नहीं, फिर वे कहाँसे दुःख लाकर आपको देंगे? भगवान् और सन्त कृपा-ही-कृपा करते हैं, इसलिये इनका संग छोड़ना नहीं चाहिये।

मनुष्यजन्ममें किये गये पाप चौरासी लाख योनियाँ भोगनेपर

भी सर्वथा नष्ट नहीं होते, बाकी रह जाते हैं। फिर भी भगवान् कृपा करके मनुष्यशरीर दे देते हैं, अपने उद्धारका मौका दे देते हैं। परन्तु मनुष्य मिले हुएको अपना मान लेता है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना माननेसे वह वस्तु अशुद्ध हो जाती है। इसलिये शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, प्रत्युत अपना न माननेसे शुद्ध होता है। अतः सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दो। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको भगवान्‌का मान लो तो सब शुद्ध निर्मल हो जायँगे। जहाँ अपना माना, वहीं अशुद्ध हो जायँगे और अभिमान आ जायगा।

एक समय बाँकुड़े जिलेमें अकाल पड़ा। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने नियम रख दिया कि कोई भी आदमी आकर दो घण्टे कीर्तन करे और चावल ले जाय। कारण कि अगर उनको पैसा देंगे तो उससे वे अशुद्ध वस्तु खरीदेंगे। इसलिये पैसा न देकर चावल देते थे। इस तरह सौ-सवा सौ जगह ऐसे केन्द्र बना दिये, जहाँ लोग जाकर कीर्तन करते थे और चावल ले जाते थे। एक दिन सेठजी वहाँ गये। रात्रिके समय बंगाली लोग इकट्ठे हुए। उन्होंने सेठजीसे कहा कि महाराज! आपने हमारे जिलेको जिला दिया, नहीं तो बिना अन्नके लोग भूखों मर जाते! आपने बड़ी कृपा की। सेठजीने बदलेमें बहुत बढ़िया बात कही कि आपलोग झूठी प्रशंसा करते हो। हमने मारवाड़से यहाँ आकर जितने रुपये कमाये, वे सब-के-सब लग जायँ, तबतक तो आपकी ही चीज आपको दी है, हमारी चीज दी ही नहीं। हम मारवाड़से लाकर यहाँ दें, तब आप ऐसा कह सकते हो। हमने तो यहाँसे कमाया हुआ धन भी पूरा दिया नहीं है। सेठजीने केवल सभ्यताकी दृष्टिसे यह बात नहीं कही, प्रत्युत हृदयसे यह बात कही। सेठजीके छोटे

भाई हरिकृष्णदासजीसे पूछा गया कि आपने सबको चावल देनेका इतना काम शुरू किया है, इसमें कहाँतक पैसा लगानेका विचार किया है? उन्होंने बड़ी विचित्र बात कही कि जबतक माँगनेवालोंकी जो दशा है—वैसी दशा हमारी न हो जाय, तबतक! कोई धनी आदमी क्या ऐसा कह सकता है? उनके मनमें यह अभिमान ही नहीं है कि हम इतना उपकार करते हैं।

हमलोग विचार ही नहीं करते कि भगवान्‌की हमपर कितनी विलक्षण कृपा है! हम क्या थे, क्या हो गये! भगवान्‌ने कृपा करके क्या बना दिया—इस तरफ देखते ही नहीं, सोचते ही नहीं, समझते ही नहीं। अपने-अपने जीवनको देखें तो मालूम होता है कि हम कैसे थे और भगवान्‌ने कैसा बना दिया! गोस्वामीजीने कहा है—

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

(मानस, बाल० २६)

हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोइ नामु गयंद चढ़ायो॥

(कवितावली, उत्तर० ६०)

मैं कितना अयोग्य था, पर आपकी कृपाने कितना योग्य बना दिया! इसलिये भगवान्‌की कृपाकी ओर देखो। हम जो कुछ बने हैं, अपनी बुद्धि, बल, विद्या, योग्यता, सामर्थ्यसे नहीं बने हैं। जहाँ मनमें अपनी बुद्धि, बल आदिसे बननेकी बात आयी, वहीं अभिमान आता है कि हमने ऐसा किया, हमने वैसा किया। इस अभिमानसे बचनेके लिये भगवान्‌को पुकारो। अपने बलसे नहीं बच सकते, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही बच सकते हैं। भगवान्‌की स्मृति समस्त विपत्तियोंका नाश करनेवाली है—

'**हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्**' (श्रीमद्भा० ८। १०। ५५)। इसलिये भगवान्‌को याद करो, भगवान्‌का नाम लो, भगवान्‌के चरणोंकी शरण लो। उनके सिवाय और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। भगवान्‌के बिना संसारमात्र अनाथ है। भगवान्‌के कारणसे ही संसार सनाथ है। चलती चक्कीमें आकर सब दाने पिस जाते हैं, पर जिस कीलके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके पास जो दाने चले जाते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं— *'कोई हरिजन ऊबरे कील माकड़ी पास'*। इसलिये प्रभुके चरणोंकी शरण लो और प्रभुको पुकारो, इसके सिवाय अभिमानसे बचनेका कोई उपाय नहीं है।

८. साधक, साध्य तथा साधन

एक सत्तामात्रके सिवाय और कुछ नहीं है। उस सत्तामें न 'मैं' है, न 'तू' है, न 'यह' है और न 'वह' है। संसारकी सत्ता हमारी मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। सत्तामात्र 'है' है और संसार 'नहीं' है। 'नहीं' नहीं ही है और 'है' है ही है— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। 'नहीं' का अभाव स्वतः-स्वाभाविक है और 'है' का भाव स्वतः-स्वाभाविक है। वह 'है' ही हमारा साध्य है। जो 'नहीं' है, वह हमारा साध्य कैसे हो सकता है? उस 'है' का अनुभव करना नहीं है, वह तो अनुभवरूप ही है।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो साधक वह है, जो साध्यके बिना नहीं रह सकता और साध्य वह है, जो साधकके बिना नहीं रह सकता। साधक साध्यसे अलग नहीं हो सकता और साध्य साधकसे अलग नहीं हो सकता। कारण कि साधक और साध्यकी सत्ता एक ही है। 'है' से अलग कोई हो सकता ही नहीं। इसलिये अगर हम साधक हैं तो साध्यकी प्राप्ति तत्काल होनी चाहिये। साधक वही है, जो साध्यके बिना अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न करे। वह साध्यके सिवाय किसीका आश्रय न ले, न पदार्थका, न क्रियाका।

जो साध्यके बिना रहे, वह साधक कैसा और जो साधकके बिना रहे, वह साध्य कैसा? जो माँके बिना रह सके, वह बच्चा कैसा और जो बच्चेके बिना रह सके, वह माँ कैसी? हमारा साध्य हमारे बिना नहीं रह सकता, रहनेकी ताकत ही नहीं; क्योंकि

मूलमें सत्ता एक ही है। जैसे समुद्र और लहरमें एक ही जल-तत्त्वकी सत्ता है, ऐसे ही साधक और साध्यमें एक ही सत्ता है। लहररूपसे केवल मान्यता है। जबतक लहररूप शरीर (जड़ता)-से सम्बन्ध है, तबतक साधक है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक नहीं रहता, केवल साध्य रहता है।

अगर साधक साध्यके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि वह साध्यके सिवाय अन्य (भोग तथा संग्रह)-का भी साधक है। उसने अपने मनमें दूसरेको भी सत्ता दी है। अगर साध्य साधकके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि साध्यके सिवाय साधकका अन्य भी कोई साध्य है अर्थात् भोग तथा संग्रह भी साध्य है। हृदयमें नाशवान्का जितना महत्त्व है, उतनी ही साधकपनेमें कमी है। साधकपनेमें जितनी कमी रहती है, उतनी ही साध्यसे दूरी रहती है। पूर्ण साधक होनेपर साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये माननेसे ही साधकको साध्यकी अप्राप्ति दीखती है। साध्यके सिवाय अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही उसकी प्राप्तिका बढ़िया उपाय है। इसलिये साधककी दृष्टि केवल इस तरफ रहनी चाहिये कि संसार नहीं है। संसारका पहले भी अभाव था, बादमें भी अभाव हो जायगा और बीचमें भी वह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। संसारकी स्थिति है ही नहीं। उत्पत्ति-प्रलयकी धारा ही स्थितिरूपसे दीखती है।

साधकके लिये साध्यमें विश्वास और प्रेम होना बहुत जरूरी है। विश्वास और प्रेम उसी साध्यमें होना चाहिये, जो विवेक-विरोधी न हो। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुमें विश्वास और प्रेम करना विवेक-विरोधी है। विश्वास और प्रेम—दोनोंमें कोई एक

भी हो जाय तो दोनों स्वतः हो जायँगे। विश्वास दृढ़ हो जाय तो प्रेम अपने-आप हो जायगा। अगर प्रेम नहीं होता तो समझना चाहिये कि विश्वासमें कमी है अर्थात् साध्य (परमात्मा)-के विश्वासके साथ संसारका विश्वास भी है। पूर्ण विश्वास होनेपर एक सत्ताके सिवाय अन्य (संसार)-की सत्ता ही नहीं रहेगी। साध्यमें विश्वासकी कमी होगी तो साधनमें भी विश्वासकी कमी होगी अर्थात् साध्यके सिवाय अन्य इच्छाएँ भी होंगी। जितनी दूसरी इच्छा है, उतनी ही साधनमें कमी है।

सम्पूर्ण इच्छाओंके मूलमें एक परमात्माकी ही इच्छा है। उसीपर सम्पूर्ण इच्छाएँ टिकी हुई हैं। हमसे भूल यह होती है कि अपनी इस स्वाभाविक (परमात्माकी) इच्छाको हम शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहते हैं। वास्तवमें परमात्माकी प्राप्तिमें शरीर अथवा संसारकी किंचिन्मात्र भी जरूरत नहीं है। परमात्मा अपनेमें हैं; अतः कुछ न करनेसे ही उनका अनुभव होगा। कुछ करनेके लिये तो शरीरकी आवश्यकता है, पर कुछ न करनेके लिये शरीरकी क्या आवश्यकता है? कुछ देखनेके लिये नेत्रोंकी आवश्यकता है, पर कुछ न देखनेके लिये नेत्रोंकी क्या आवश्यकता है? हाँ, नामजप, कीर्तन आदि साधन अवश्य करने चाहिये; क्योंकि इनको करनेसे कुछ न करनेकी सामर्थ्य आती है।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। हमारा सम्बन्ध न तो शरीरके साथ है और न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंके साथ है। हम परमात्माके हैं—इस सत्यपर साधकको दृढ़ विश्वास करना चाहिये। अगर दृढ़ विश्वास न कर सके तो भगवान्‌से माँगे। हम शरीर-संसारके हैं—यह भूल है। भूलको भूल समझनेमें देरी

लगती है, पर भूल समझनेपर फिर भूल मिटनेमें देरी नहीं लगती।

यह नियम है कि परमात्माकी प्राप्ति असत् (पदार्थ और क्रिया)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत असत्‌के सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये साधकको तीन बातोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता है—

१. मेरा कुछ भी नहीं है।

२. मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

३. मैं कुछ नहीं हूँ।

अब इन तीन बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। पहली बात है—मेरा कुछ भी नहीं है। इसको स्वीकार करनेके लिये साधकको इस बातका मनन करना चाहिये कि हम अपने साथ क्या लाये हैं और अपने साथ क्या ले जायँगे? मनन करनेसे साधकको पता लगेगा कि हम अपने साथ कुछ लाये नहीं और अपने साथ कुछ ले जा सकते नहीं। तात्पर्य यह निकला कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु आने और जानेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। कारण कि स्वयं मिलने-बिछुड़नेवाला, उत्पन्न-नष्ट होनेवाला, आने-जानेवाला नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है।

दूसरी बात है—मेरेको कुछ नहीं चाहिये। साधकको विचार करना चाहिये कि जब संसारमें कोई वस्तु मेरी है ही नहीं, तो फिर मेरेको क्या चाहिये? शरीरको अपना माननेसे ही चाह पैदा होती है कि हमें रोटी चाहिये, जल चाहिये, कपड़ा चाहिये, मकान चाहिये आदि-आदि। साधक इस बातपर विचार करे कि

शरीरसे अलग होकर मेरेको क्या चाहिये? तात्पर्य है कि जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरा कुछ भी नहीं है, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

तीसरी बात है—मैं कुछ नहीं हूँ। शरीर और संसारको तो सब देखते हैं, पर 'मैं' को किसीने नहीं देखा है। शरीरकी प्रतीति होती है और स्वयंका अनुभव होता है, पर 'मैं' की न तो प्रतीति होती है और न अनुभव ही होता है। 'मैं' का भान होता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि 'मैं' कुछ नहीं है। जिसमें संसारकी ममता और परमात्माकी जिज्ञासा है, उसको 'मैं' कह देते हैं, पर वास्तवमें 'मैं' कुछ नहीं है। सुषुप्तिमें स्वयं तो रहता है, पर 'मैं' नहीं रहता। सुषुप्तिमें स्वयंके भावका और 'मैं' के अभावका अनुभव सबको होता है।

मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इन दो बातोंकी सिद्धि होते ही 'मैं' सत्तामात्रमें अर्थात् 'है' में विलीन हो जाता है। तात्पर्य है कि चेतन-अंश चेतन-तत्त्वमें और जड़-अंश जड़में विलीन हो जाता है। फिर एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं रहता।

प्रकृतिका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। शरीरादि पदार्थोंका आश्रय 'पराश्रय' है और क्रियाका आश्रय 'परिश्रम' है। परमात्मप्राप्तिके लिये क्रिया और पदार्थकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। संसारमें तो 'करना' मुख्य है, पर परमात्मामें 'न करना' ही मुख्य है। शरीर और संसारकी सहायतासे

परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। जो तत्त्व सब जगह परिपूर्ण है, उसकी प्राप्ति 'करने' से कैसे होगी? करनेसे तो उलटे वह दूर होगा!

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, बल आदि सब प्रकृतिके हैं। इनका आश्रय लेना प्रकृतिका आश्रय है। प्रकृतिका आश्रय रखनेपर परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? शरीर प्रकृतिका होनेसे हमारा नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इसलिये शरीरके द्वारा जो कुछ भी किया जाय, वह केवल संसारके लिये ही किया जाना चाहिये। शरीरसे जप, ध्यान, पूजन, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी किया जाय, वह इस भावसे किया जाय कि दूसरोंका हित हो। अपने लिये कुछ भी करना भोग है, योग नहीं। तात्पर्य हुआ कि शरीर संसारका अंश है, इसलिये शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया संसारके लिये ही है, हमारे लिये नहीं। हमारे लिये केवल परमात्मा हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं। अत: पराश्रय और परिश्रम भोग है। जो पराश्रयको छोड़कर भगवदाश्रयको अपनाता है और परिश्रमको छोड़कर विश्रामको अपनाता है, वह योगी होता है। परन्तु जो पराश्रय और परिश्रमको अपनाता है, वह भोगी होता है।

पराश्रय और परिश्रममें सभी पराधीन हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राममें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं। पराश्रय और परिश्रम तो संसारके लिये हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राम अपने लिये हैं। साधकको अपनेमें जितनी कमी दीखती है, उतना ही पराश्रय और परिश्रम है। भगवदाश्रय और विश्रामके आते ही मानव-जीवन पूर्ण हो जाता है। कारण कि एक भगवान्‌के सिवाय और कोई ऐसा नहीं है, जो सदा हमारे साथ रहे, कभी हमसे बिछुड़े नहीं। संसारकी प्राप्तिके लिये क्रिया है और परमात्माकी प्राप्तिके लिये

विश्राम है। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और अक्रियता अर्थात् विश्रामसे शक्तिका संचय होता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय-तत्त्वसे ही प्रकट होती हैं। मनुष्य दिनभर परिश्रम करके रातको सोता है तो निद्रासे उसकी थकावट मिट जाती है और पुनः कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु निद्राका सुख तामस होता है—'**निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्**' (गीता १८। ३९)। अपने लिये विश्राम करना अर्थात् कुछ न करना भोग है, पर परमात्माके लिये विश्राम करना साधन है; क्योंकि परमात्मा परम विश्राम-स्वरूप हैं। अतः विश्राम अपने लिये न होकर परमात्माके लिये होना चाहिये। नित्य परमात्मसत्तामें निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माके लिये विश्राम करना है। परमात्माके लिये होनेवाला विश्राम तामस नहीं होता, प्रत्युत सात्त्विक होकर गुणातीत हो जाता है। इसलिये साधकके लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं—भगवदाश्रय और विश्राम। भगवदाश्रय और विश्रामसे पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है और सांसारिक इच्छाएँ मिट जाती हैं। अगर साधकका भगवान्‌पर विश्वास न हो, प्रत्युत अपनेपर विश्वास हो तो वह स्वाश्रयको अपना सकता है। अगर साधकका न तो भगवान्‌पर विश्वास हो, न अपनेपर विश्वास हो तो वह धर्मका अर्थात् कर्तव्यका आश्रय अपना सकता है। मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह भगवान्‌का आश्रय है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये—यह 'स्व' का आश्रय है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरोंके हितके लिये है—यह धर्मका आश्रय है। भगवान्‌का आश्रय 'भक्तियोग' है। 'स्व' का आश्रय 'ज्ञानयोग' है। धर्मका आश्रय 'कर्मयोग' है। यद्यपि तीनों ही योगमार्गोंसे पदार्थ और क्रियारूप प्रकृतिका आश्रय छूट जाता है और

सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है, तथापि इन तीनोंमें भगवान्‌का आश्रय सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि मूलमें हम भगवान्‌के ही अंश हैं। भगवदाश्रयसे मुक्तिके साथ-साथ भक्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है, जो मानवजीवनका चरम लक्ष्य है।

एक 'है' (सत्तामात्र)-के सिवाय और कुछ नहीं है—ऐसा जाननेसे मुक्ति हो जाती है और वह 'है' अपना है—ऐसा माननेसे भक्ति हो जाती है। वास्तवमें जो 'है', वही अपना हो सकता है। जो 'नहीं' है, वह अपना कैसे हो सकता है? अगर साधक असत्‌की सत्ता ही स्वीकार न करे और अपना कोई आग्रह न रखे तो भक्ति अपने-आप होती है।

९. साधक कौन?

भगवान् कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त (निराकार)-स्वरूपसे व्याप्त है।' जिसकी आकृति होती है, उसको 'मूर्ति' कहते हैं और जिसकी कोई भी आकृति नहीं होती, उसको 'अव्यक्तमूर्ति' कहते हैं। जैसे भगवान् अव्यक्तमूर्ति हैं, ऐसे ही साधक भी अव्यक्तमूर्ति होता है—'**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते**' (गीता २। २५)।

साधक शरीर नहीं होता—ऐसी बात ग्रन्थोंमें आती नहीं, पर वास्तवमें बात ऐसी ही है। साधक भावशरीर होता है। वह योगी होता है, भोगी नहीं होता। भोग और योगका आपसमें विरोध है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। साधक कोई भी काम भोगबुद्धि अथवा सुखबुद्धिसे नहीं करता, प्रत्युत योगबुद्धिसे करता है। समताका नाम 'योग' है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। समता भाव है। अतः साधक भावशरीर होता है।

स्थूलशरीर प्रतिक्षण बदलता है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिस क्षणमें शरीरका परिवर्तन न होता हो। परमात्माकी दो प्रकृतियाँ हैं। शरीर अपरा प्रकृति है और जीव परा प्रकृति है। परा प्रकृति अव्यक्त है और अपरा प्रकृति व्यक्त है। सम्पूर्ण प्राणी पहले अव्यक्त हैं, बीचमें व्यक्त हैं और अन्तमें अव्यक्त हैं*। स्वप्न आता

---

* **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥**

(गीता २। २८)

है तो पहले जाग्रत् है, बीचमें स्वप्न है और अन्तमें जाग्रत् है। जैसे मध्यमें स्वप्न है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मध्यमें व्यक्त हैं।

यह सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता—'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**' (माण्डूक्यकारिका २। ६, ४। ३१)। प्राणी आदिमें और अन्तमें अव्यक्त हैं; अतः बीचमें व्यक्त दीखते हुए भी वे वास्तवमें अव्यक्त ही हैं। व्यक्तमें दो व्यक्ति भी एक (समान) नहीं होते, पर अव्यक्तमें सब-के-सब एक हो जाते हैं। अतः अव्यक्तमें सबको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जो सबको प्राप्त हो सकता है, वही परमात्मा होता है। जो किसीको प्राप्त होता है, किसीको प्राप्त नहीं होता, वह परमात्मा नहीं होता, प्रत्युत संसार होता है। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति अव्यक्तको होती है और अव्यक्तमें होती है।

अव्यक्त ही साधक होता है। व्यक्त साधक नहीं होता। व्यक्त तो एक क्षण भी नहीं ठहरता। '**प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः**' 'चितिशक्ति' (चेतन शक्ति)-को छोड़कर सभी भाव प्रतिक्षणपरिणामी हैं अर्थात् एक क्षण भी स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। विचार करें, जब हमने माँसे जन्म लिया था, उस समय हमारे शरीरका क्या रूप था और आज क्या रूप है? विचार करनेपर यह मानना ही पड़ेगा कि शरीर-संसार प्रतिक्षण बदलते हैं। बदलनेके पुंजका नाम ही संसार है। जो बदलता है, वह साधक कैसे हो सकता है? साधक वही होता है, जो बदलता नहीं। साधकको सिद्धि होती है तो शरीर सिद्ध नहीं होता। सिद्ध तो अशरीरी होता है। इसलिये साधकको सबसे पहले यह बात मान लेनी चाहिये कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, चाहे

समझमें आये या न आये।

ज्ञानमार्गमें पहले साधक समझता है, फिर वह मान लेता है। भक्तिमार्गमें पहले मानता है, फिर समझ लेता है। तात्पर्य है कि ज्ञानमें विवेक मुख्य है और भक्तिमें श्रद्धा-विश्वास। ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गमें यही फर्क है। दोनों मार्गोंमें एक-एक विलक्षणता है। ज्ञानमार्गवाला साधक तो आरम्भसे ही ब्रह्म हो जाता है, ब्रह्मसे नीचे उतरता ही नहीं, पर भक्त सिद्ध हो जानेपर, परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर भी ब्रह्म नहीं होता, प्रत्युत ब्रह्म ही उसके वशमें हो जाता है! गोस्वामीजी महाराजने सब ग्रन्थ लिखनेके बाद अन्तमें विनयपत्रिकाकी रचना की। उसमें वे छोटे बच्चेकी तरह सीता माँसे कहते हैं—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥ १॥
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥ २॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥ ३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ ४॥

तात्पर्य है कि सिद्ध, भगवत्प्राप्त होनेपर भी भक्त अपनेको सदा छोटा ही समझते हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो ऐसे भक्त ही वास्तवमें ज्ञानी हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने गुणातीत महापुरुषको ज्ञानी नहीं कहा, प्रत्युत अपने भक्तको ही ज्ञानी कहा है (गीता ७। १६—१८)। भगवान्‌ने ज्ञानमार्गीको 'सर्ववित्' (सर्वज्ञ) भी नहीं कहा, प्रत्युत भक्तको ही 'सर्ववित्' कहा है— '**स सर्वविद्भजति**

मां सर्वभावेन भारत' (गीता १५। १९)। गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

भक्तिके बिना भीतरका सूक्ष्म मल (अहम्) मिटता नहीं। वह मल मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर दार्शनिकों और उनके दर्शनोंमें मतभेद पैदा करता है। जब वह सूक्ष्म मल मिट जाता है, तब मतभेद नहीं रहता। इसलिये भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है।

शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। शरीर पृथ्वीपर ही (माँके पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—या तो इसकी भस्म हो जायगी, या मिट्टी हो जायगी, या विष्ठा हो जायगी। इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीरकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत अव्यक्त स्वरूपकी मुख्यता है—

भूमा अचल शाश्वत अमल सम ठोस है तू सर्वदा।
यह देह है पोला घड़ा बनता बिगड़ता है सदा॥

इसलिये वास्तवमें साधक अव्यक्त होकर ही भगवान्‌का भजन करते हैं। एक पाञ्चभौतिक शरीर होता है और एक अव्यक्त भावशरीर होता है। भजन-ध्यान वास्तवमें भावशरीरसे ही होता है। भजन नाम प्रेमका है—*'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन'* (मानस, अरण्य० १० में पाठभेद)। प्रेम भावशरीरसे ही होता है। अतः वास्तवमें अव्यक्तमूर्ति ही भगवान्‌में प्रेम करता है, भगवान्‌का भजन करता है, भगवान्‌में तल्लीन होता है। उसीको

भगवान् मीठे लगते हैं, भगवान्‌की बात अच्छी लगती है, भगवान्‌की लीला अच्छी लगती है, भगवान्‌का नाम अच्छा लगता है।

भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव अनादिकालसे मेरा ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५। ७)। यहाँ '**मम एव अंशः**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे शरीरमें माता-पिता दोनोंका अंश है, ऐसे जीवमें प्रकृतिका अंश नहीं है, प्रत्युत केवल मेरा ही अंश है। प्रकृतिका अंश शरीर तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर जीव परमात्माका अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहता। वह अपने-आपको संसारमें स्थित मानता है, भगवान्‌में स्थित नहीं मानता। वह प्रकृतिमें स्थित शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना स्वरूप मान लेता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**'। इसलिये 'मैं शरीरसे रहित हूँ'—यह बात उसकी समझमें नहीं आती। मनुष्यकी सबसे बड़ी कोई भूल है तो यही है कि वह प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरको अपना स्थायी रूप मान लेता है।

भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर और शरीरी (शरीरवाले)-का वर्णन किया है, जिसका तात्पर्य साधकमात्रको यह बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। वास्तवमें साधक न शरीर है और न शरीरी ही है। साधकका स्वरूप सत्तामात्र है, पर समझानेकी दृष्टिसे भगवान्‌ने स्वरूपको 'शरीरी' नामसे कहा है। कारण कि संसारमें जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य 'धनी' कहलाता है, ऐसे ही शरीरके सम्बन्धसे स्वरूप 'शरीरी' कहलाता है। जैसे धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनी (मनुष्य) तो रहता है, पर उसका नाम 'धनी' नहीं रहता, ऐसे ही शरीरका सम्बन्ध न रहनेपर शरीरी

(स्वरूप) तो रहता है, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहता। इसी तरह एक ही स्वरूप क्षेत्रके सम्बन्धसे 'क्षेत्रज्ञ', दृश्यके सम्बन्धसे 'द्रष्टा' और साक्ष्यके सम्बन्धसे 'साक्षी' कहलाता है। पर वास्तवमें स्वरूप न शरीर है, न शरीरी है; न क्षेत्र है, न क्षेत्रज्ञ है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है, प्रत्युत चिन्मय सत्तामात्र है।

यहाँ एक बात विशेष समझनेकी है कि जैसे धनके कारण धनी है, ऐसे शरीरके कारण शरीरी नहीं है। कारण कि जैसे धन और धनी—दोनों एक जातिके हैं, ऐसे शरीर और शरीरी—दोनों एक जातिके नहीं हैं। जैसे धनीका धनमें आकर्षण होता है, ऐसे शरीरीका शरीरमें कभी आकर्षण नहीं होता, प्रत्युत आकर्षणकी मान्यता होती है। धनीमें तो धनकी मुख्यता है, पर शरीरीमें शरीरकी मुख्यता है ही नहीं। धनके विकार तो धनीमें आते हैं, पर शरीरके विकार शरीरीमें कभी नहीं आते। इसलिये धनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर धनी रोता है; पर शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शरीरी अखण्ड, अपार, असीम आनन्दका अनुभव करता है। धन और धनीके विवेकसे मुक्ति नहीं होती, पर शरीर और शरीरीके विवेकसे मुक्ति हो जाती है। इसलिये धनके सम्बन्ध-विच्छेदसे धनी मुक्त नहीं होता, प्रत्युत निर्धन अथवा विरक्त हो जाता है, पर शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे शरीरी सदाके लिये मुक्त हो जाता है। कारण कि शरीर संसारका बीज है। अतः जिसका शरीरके साथ सम्बन्ध है, उसका संसारमात्रके साथ सम्बन्ध है। शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

संसारमें हमें दो चीजें दीखती हैं—पदार्थ और क्रिया। ये दोनों

ही प्रकृतिका कार्य हैं। साधारण दृष्टिसे हम लोगोंको संसारमें पदार्थ प्रधान दीखता है, पर वास्तवमें क्रिया प्रधान है, पदार्थ प्रधान नहीं है। पदार्थमें हरदम परिवर्तन-ही-परिवर्तन होता है तो फिर क्रिया ही हुई, पदार्थ कहाँ हुआ? क्रियाका पुंज ही पदार्थरूपसे दीखता है। वह क्रिया भी बदलनेवाली है। ये क्रिया और पदार्थ प्रकृतिका स्वरूप हैं, हमारा स्वरूप नहीं हैं। हमारा स्वरूप क्रिया और पदार्थसे रहित 'अव्यक्त' है। जैसे हम मकानमें बैठे हुए हैं तो मकान अलग है, हम अलग हैं। इसलिये हम मकानको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही हम शरीरमें बैठे हुए हैं। शरीर यहीं पड़ा रहता है, हम चले जाते हैं। मकान पीछे रहता है, हम अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही उससे अलग हैं। ऐसे ही हम शरीरसे अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही शरीरसे अलग हैं। वास्तवमें हम शरीरमें रहते नहीं हैं, प्रत्युत रहना मान लेते हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है— **'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २। १७) 'अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।' तात्पर्य है कि स्वरूप सर्वव्यापी है, एक शरीरमें सीमित नहीं है— **'नित्यः सर्वगतः'** (गीता २। २४)। जबतक वह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह साधक है। शरीरका सम्बन्ध सर्वथा छूटनेपर वह सिद्ध हो जाता है।

शास्त्रमें आता है कि देव होकर देवका भजन करना चाहिये— **'देवो भूत्वा यजेद्देवम्'**। इसलिये अव्यक्त होकर ही अव्यक्त परमात्माका भजन करना चाहिये। शरीर तो क्षण-प्रतिक्षण बदलता है, पर साधक क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला साधक थोड़े ही है! क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला मुक्त कैसे होगा? नित्य कैसे होगा?

स्वरूपका विनाश कोई कर सकता ही नहीं— **'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति'** (गीता २। १७), पर शरीर नष्ट हुए बिना रहता ही नहीं। जो अविनाशी होता है, वही मुक्त होता है। विनाशी मुक्त कैसे होगा? बन्धनका वहम (मोह) मिट जाय— इसको मुक्ति कहते हैं। इसलिये एक बार मोह मिटनेपर पुनः मोह नहीं होता— **'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (गीता ४। ३५)। कारण कि मूलमें मोह है नहीं। जो वास्तवमें है नहीं, वही मिटता है। जो है, वह मिटता ही नहीं। सत्का अभाव नहीं होता और जिसका अभाव होता है, वह सत् नहीं होता, प्रत्युत असत् होता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

शरीर तो भोगायतन है। जैसे रसोईघर भोजन करनेका स्थान है, ऐसे ही शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता। भोगनेका स्थान और होता है, भोगनेवाला और होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम लाल, काला, सफेद आदि कैसा ही कपड़ा पहनें, वह स्वरूप थोड़े ही होता है! ऐसे ही स्त्री-पुरुष ऊपरका चोला है। स्वरूप न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। परमात्मा, प्रकृति और जीव— ये तीनों ही अलिङ्ग हैं।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार— इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। जिसके अभावका अनुभव होता है, उससे हम अतीत हैं। हमारी भावरूप सत्ता हरदम रहती है। सुषुप्तिमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार कुछ भी नहीं रहता, सब लीन हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें

मैं मर गया था, अब जी गया हूँ। सुषुप्तिमें भी हम रहते हैं, तभी तो हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। कारण कि हमारी सत्ता (होनापन) अहंकारके अधीन नहीं है, बुद्धिके अधीन नहीं है, मनके अधीन नहीं है, इन्द्रियोंके अधीन नहीं है, शरीरके अधीन नहीं है। हमारी सत्ता स्वतन्त्र है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता। इसलिये हमारा स्वरूप निराकार है। साकाररूप शरीर पीछे बनता है और मिट जाता है। हम निराकाररूपसे हैं, पर शरीररूपसे अपनेको साकार मानते हैं। यह मूल भूल है। इस भूलका हमें प्रायश्चित्त करना है। प्रायश्चित्त करनेमें तीन बातें हैं— १-अपनी भूलको स्वीकार करें कि अपनेको शरीर मानकर मैंने भूल की। २-अपनी भूलका पश्चात्ताप करें कि मनुष्य (साधक) होकर मैंने ऐसी भूल की और ३-ऐसा निश्चय करें कि अब आगे मैं कभी भूल नहीं करूँगा अर्थात् अपनेको कभी शरीर नहीं मानूँगा। ये तीन बातें होनेसे प्रायश्चित्त हो जाता है और साधक अपने वास्तविक अव्यक्त स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

१०. मुक्ति स्वाभाविक है

परमात्मतत्त्व समान रूपसे सबमें परिपूर्ण है। सबमें परिपूर्ण होनेपर भी विलक्षणता यह है कि वह ज्यों-का-त्यों रहता है, जबकि संसारमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(१३। १९)

'प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तुम अनादि समझो और विकारोंको तथा गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न समझो।'

यद्यपि प्रकृति और पुरुष—दोनों ही अनादि हैं, तथापि परिवर्तनशील विकार और गुण प्रकृतिसे ही होते हैं। पुरुष (जीवात्मा) अपरिवर्तनशील है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

(गीता १३। २०)

'कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है।'

पुरुष भोक्तापनमें हेतु तो है, पर क्रियामें हेतु नहीं है। सभी भोग क्रियाजन्य होते हैं। जब पुरुष प्रकृतिमें स्थित होता है, तभी वह भोक्ता होता है— **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'** (गीता १३। २१)। प्रकृतिसे अलग होनेपर पुरुष भोक्ता नहीं होता। यह पुरुषकी विलक्षणता है कि देहमें स्थित होता हुआ भी वह

देहसे पर है अर्थात् देहसे असंग, अलिप्त, असम्बद्ध है— 'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः' (गीता १३। २२)। शरीरके साथ अपनी एकता माननेसे ही वह कर्ता-भोक्ता बनता है, अन्यथा वह कर्ता-भोक्ता है ही नहीं— 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता १३। ३१)। जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है, पर वह किसी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेद पढ़ता है तो सूर्य उस पुण्यका भागी नहीं होता और कोई शिकार करता है तो सूर्य उस पापका भागी नहीं होता। ऐसे ही पुरुष शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े तो वह पाप-पुण्यका भागी नहीं होता।

जीवात्माकी प्रकृतिके साथ मानी हुई एकता है और परमात्माके साथ स्वरूपसे एकता है; क्योंकि यह परमात्माका ही अंश है। शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे यह कर्ता-भोक्ता बनता है और जन्म-मरणमें चला जाता है। अगर यह शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े तो मुक्त हो जाता है। वास्तवमें यह मुक्त ही है। यह स्वतः-स्वाभाविक सबमें परिपूर्ण होते हुए भी अपनेको एक शरीरमें स्थित मान लेता है और जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है। अगर यह अपने निर्विकल्प स्वरूपमें स्थित रहे तो शरीरमें रहता हुआ भी कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। जीवात्मामें निर्लिप्तता स्वाभाविक है और लिप्तता कृत्रिम है। परन्तु निर्लिप्तताकी तरफ उसकी दृष्टि नहीं है। यह मुक्त होता नहीं है, प्रत्युत मुक्त है, पर उस तरफ इसकी दृष्टि नहीं है। जैसे परमात्मा सबमें परिपूर्ण रहते हुए भी कर्ता-भोक्ता नहीं बनते, ऐसे ही सबमें परिपूर्ण रहते हुए भी जीवात्मा कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। जीवात्माका परमात्मासे साधर्म्य है— 'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४।२)। यह साधर्म्य स्वतः-स्वाभाविक है।

उपर्युक्त बातोंसे यह सिद्ध हुआ कि हम अपनेको जो संसारी

आदमी मानते हैं कि हम संसारमें तो हैं और परमात्माको प्राप्त करेंगे, ऐसी बात नहीं है। हम परमात्माको प्राप्त हैं, पर उधर ध्यान न होनेसे हम परमात्माको अप्राप्त मानते हैं। मानी हुई बात मिट जाती है तो मुक्तपना स्वत: रह जाता है। तात्पर्य है कि गलत बात न मानें तो मुक्त होना स्वाभाविक है। बद्ध होना अस्वाभाविक है। परन्तु मनुष्योंने भूलसे मान लिया है कि बद्ध होना स्वाभाविक है और मुक्त होना अस्वाभाविक है, इसलिये मेहनत करेंगे, उद्योग करेंगे, तब मुक्त होंगे, अन्यथा बद्ध ही रहेंगे! मुक्ति स्वाभाविक है, तभी एक बार मुक्त होनेपर फिर पुन: मोह नहीं होता— **'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (गीता ४। ३५)। अगर मनुष्य वास्तवमें मोहित (बद्ध) होता तो फिर सदा मोहित ही रहता। इसलिये वास्तवमें मुक्त ही मुक्त होता है! अगर वह वास्तवमें बद्ध होता तो फिर कभी मुक्त होता ही नहीं। परन्तु मुक्त होता हुआ भी वह अपनेको बद्ध मान लेता है। यह माना हुआ बन्धन मिटनेपर जो मुक्ति स्वत:-स्वाभाविक है, उसका अनुभव हो जाता है।

बद्धावस्थामें भी जीव वास्तवमें लिप्त नहीं है— **'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। बद्धावस्थामें भी वह तटस्थ, अलग है, पर अलगावका अनुभव न करके लिप्तताका अनुभव करता है। इसलिये बद्धपना माना हुआ है और मुक्तपना इसका स्वत: वास्तविक स्वरूप है। जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, उसीको जानना है। उसको जाननेपर फिर मोह नहीं होगा।

बन्धन आगन्तुक है, मुक्ति स्वत:सिद्ध है। हमने अस्वाभाविकको स्वाभाविक और स्वाभाविकको अस्वाभाविक मान लिया है, इसलिये बँधे हुए रहते हैं। वास्तवमें जड़ और चेतनका सम्बन्ध होना असम्भव है। जैसे अन्धकार और प्रकाश आपसमें नहीं मिल

सकते, ऐसे ही जड़ और चेतन आपसमें नहीं मिल सकते। परन्तु चेतनमें यह शक्ति है कि वह जड़को अपने साथ मिला हुआ मान लेता है। चेतन सत्य है, इसलिये वह जो मान्यता कर लेता है, वह भी सत्यकी तरह हो जाती है। यह शक्ति जड़में नहीं है। जड़ने चेतनको अपना नहीं माना है, प्रत्युत चेतनने ही जड़को अपना माना है, तभी वह बद्ध होता है। अगर यह जड़को अपना न माने तो बनावटी बन्धन मिट जायगा और स्वाभाविक मुक्तिका अनुभव हो जायगा। इसलिये मुक्ति सहज है, स्वाभाविक है। बद्धपना बनावटी है, अस्वाभाविक है।

हमारा स्वरूप स्वाभाविक मुक्त है। प्रकृतिमें निरन्तर क्रिया होती है—सर्गावस्थामें भी और प्रलयावस्थामें भी। पर स्वरूपमें कभी क्रिया होती ही नहीं। वह है ज्यों ही रहता है। अनन्त-अनन्त-अनन्त काल बीत जायँ तो भी वह है ज्यों-का-त्यों रहेगा। वह अनेक शरीर धारण करनेपर भी उनसे अलग रहता है। एक दिनमें कई क्रियाएँ करता है, पर स्वयं अलग रहता है। अलग रहनेसे ही वह पहली क्रियाको छोड़कर दूसरी क्रिया पकड़ता है, दूसरीको छोड़कर तीसरी पकड़ता है, तीसरीको छोड़कर चौथी पकड़ता है। अगर स्वरूपमें भी क्रियाशीलता होती तो वह सदा एक ही क्रियामें और एक ही शरीरमें रहता। वह पहली क्रियाको छोड़कर दूसरीको कैसे पकड़ता? एक शरीरको छोड़कर चौरासी लाख योनियोंके दूसरे शरीरोंमें कैसे जाता? सबसे अलग होनेपर भी यह जड़ शरीर, वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़कर बँध जाता है। बँध जानेके बाद फिर छूटना कठिन हो जाता है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

वास्तवमें यह बँधा हुआ है ही नहीं। इसलिये मुक्ति स्वाभाविक है—यह बात हरेकको मान लेनी चाहिये। बन्धन अस्वाभाविक है, कृतिसाध्य है। मुक्ति कृतिसाध्य नहीं है।

गीतामें आया है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(३। ५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।'

—यह प्रकृतिस्थ पुरुषका वर्णन है। वास्तवमें पुरुष किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कोई कर्म नहीं करता, पर प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर वह किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता। प्रकृतिकी क्रिया कभी मिटती ही नहीं और पुरुष (जीवात्मा)-में क्रिया लागू होती ही नहीं। यह स्वतः-स्वाभाविक असंग, निर्लिप्त रहता है। परन्तु प्रकृतिसे सम्बन्ध मानकर इसने मुक्तिको कृतिसाध्य, उद्योगसाध्य मान लिया है।

हम कोई कर्म करें, तभी शरीर काम आता है। कोई भी कर्म न करें तो शरीरका क्या उपयोग है? शरीरसे परिवारकी, समाजकी अथवा संसारकी सेवा कर सकते हैं। अपने लिये शरीर है ही नहीं। स्थूलशरीरसे कोई काम न करें तो स्थूलशरीर निकम्मा है। कोई चिन्तन न करें तो सूक्ष्मशरीर निकम्मा है। स्थिरतामें अथवा समाधिमें न रहें तो कारणशरीर निकम्मा है*। तात्पर्य है कि ये सब क्रियाएँ स्वरूपमें नहीं होतीं, पर मनुष्य इनको अपनेमें

* जब साधक स्थिरतासे भी तटस्थ हो जाता है और स्थिरताका भी साक्षी हो जाता है, तब वह कारणशरीरसे भी अलग हो जाता है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है।

मान लेता है। यह मान्यता ही बन्धन है। अपनेको कर्ता माननेसे यह बँध जाता है— '**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७) और अपनेको कर्ता न माननेसे यह मुक्त हो जाता है— '**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। जैसे मनुष्य एक लड़कीके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो उसका पूरे ससुराल (सास-ससुर, साला-साली आदि)-के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। ऐसे ही एक शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंसे सम्बन्ध जुड़ जाता है अर्थात् शरीरसे होनेवाली क्रियाएँ अपनी क्रियाएँ हो जाती हैं। शरीरसे स्वाभाविक अलगावका अनुभव हो जाय तो फिर जन्म-मरण नहीं होता।

शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए मनुष्य कर्म करनेसे भी बँधता है और कर्म न करनेसे भी बँधता है। परन्तु शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता— '**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः**' (गीता ४। २०) जैसे, दहीके साथ घी भी रहता है, पर दहीमेंसे घी निकाल दिया जाय तो फिर वह उसमें (छाछमें) नहीं मिलता, अलग हो जाता है। ऐसे ही शरीरसे अलग होनेके बाद फिर स्वयं उससे नहीं मिलता। वास्तवमें वह मिला हुआ होनेपर भी अलग ही है, पर मिला हुआ मान लेता है। तात्पर्य है कि जड़ चेतनतक नहीं पहुँचता, पर चेतन जड़तक पहुँचता है और उसके साथ सम्बन्ध मान लेता है तथा जड़में होनेवाली क्रियाओंको, विकारोंको अपनेमें मान लेता है। अगर सम्बन्ध न माने तो बन्धन है ही नहीं और मुक्ति स्वाभाविक है।

११. हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं

एक बात साधकमात्रके हृदयमें बैठ जानी चाहिये कि हम सब भगवान्‌के पुत्र हैं—'**अमृतस्य पुत्राः**'। कारण कि हम सब भगवान्‌के ही अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**'। हमसे यही गलती होती है कि हम जिनके अंश हैं, उन भगवान्‌को अपना न मानकर जड़ वस्तुओं (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि)-को अपना मान लेते हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। जड़ वस्तुओंको अपना माननेसे ही बन्धन हुआ है। यदि अपना न मानें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। जड़ वस्तु अपनी नहीं है। यदि अपनी होती तो सदा अपने साथ रहती। न शरीर साथ रहेगा, न इन्द्रियाँ साथ रहेंगी, न मन साथ रहेगा, न बुद्धि साथ रहेगी, न प्राण साथ रहेंगे। कोई भी चीज साथमें नहीं रहेगी। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त चीजें हैं, पर उनमेंसे केश-जितनी चीज भी हमारी नहीं है। फिर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण अपने कैसे हुए?

एक वस्तु अपनी होती है और एक वस्तु अपनी मानी हुई होती है। शरीर आदि अपने नहीं हैं, प्रत्युत अपने माने हुए हैं। जैसे कोई खेल होता है तो उस खेलमें कोई राजा बनता है, कोई रानी बनती है, कोई सिपाही बनते हैं तो वे सब माने हुए होते हैं, असली नहीं होते। इसी तरह संसारमें व्यक्ति और पदार्थ केवल व्यवहारके लिये अपने माने हुए होते हैं। वे वास्तवमें अपने नहीं होते। अपना न स्थूलशरीर है, न सूक्ष्मशरीर है, न कारणशरीर है। जब अपना कुछ है ही नहीं तो फिर हमें क्या चाहिये? अपने तो केवल भगवान्

ही हैं। हम उन्हींके अंश हैं। भगवान्के सिवाय और कोई भी अपना नहीं है। भगवान्के सिवाय जो कुछ है, सब मिला हुआ है और छूटनेवाला है।

विचार करें, आप आये तो कोई वस्तु साथ लाये क्या? और जाते हुए कोई वस्तु साथ ले जाओगे क्या? सब कुछ यहीं पड़ा रहेगा। परन्तु उनको अपने काममें लेते रहनेसे आदत पड़ गयी, जिससे उसकी ममता छोड़ना कठिन हो रहा है। गाढ़ नींदमें आपको इन्द्रियाँ-अन्तःकरणसे कुछ भी अनुभव नहीं होता। इसलिये जगनेपर कहते हैं कि मैं ऐसा सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था अर्थात् सबके अभावका और सुखके भावका अनुभव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके बिना भी हमें सुखका अनुभव हुआ। कारण यह है कि जीव स्वाभाविक ही सुखरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

जीवमें स्वाभाविक ही सुख है, दुःख है ही नहीं। दुःख-सन्ताप जड़के सम्बन्धसे ही होते हैं। मनमें जो पुरानी बात याद आती है कि बालकपनमें मैं खेलता था, पढ़ता था, जवानीपनमें मैं अमुक कार्य करता था, वह याद आना भी मनमें ही है, हमारेमें नहीं है। जो काम शरीरसे होता है, वह हमारेसे नहीं होता। स्थूल और सूक्ष्म-शरीरसे भोगे गये भोग हमारेमें नहीं हैं। हम उनसे अलग हैं। यह विशेष ध्यान देनेकी बात है। हमारे साथ कोई भी चीज रहनेवाली नहीं है। हम शरीर नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्के साक्षात् अंश हैं। हमारेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं हैं। गीताने बहुत बढिया बात कही है—

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३। ३१)

'यह (आत्मा) शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

तात्पर्य है कि कर्तापन और भोक्तापन शरीरमें है, पर हम उसको अपनेमें मान लेते हैं। इसी बातका विवेचन भगवान्‌ने गीतामें आकाश और सूर्यका दृष्टान्त देकर किया है कि जैसे आकाश किसी भी वस्तुसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही आत्मा भी किसी देहसे लिप्त नहीं होती; और जैसे सूर्य तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है, ऐसे ही आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंको प्रकाशित करती है (गीता १३। ३२-३३)। तात्पर्य है कि सूर्यके प्रकाशमें ही वेदका पाठ होता है और सूर्यके प्रकाशमें ही व्याध शिकार करता है, पर सूर्यको उन क्रियाओंका न पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

जैसे आकाश भोक्ता नहीं है, ऐसे ही हम भी भोक्ता नहीं हैं और जैसे सूर्य कर्ता नहीं है, ऐसे ही हम भी कर्ता नहीं हैं। स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व है ही नहीं। यह कितनी विलक्षण, अलौकिक, सच्ची बात है! कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही संसार है।

कर्तापना और लिप्तपना न हो तो संसार है ही नहीं। स्वयं शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है। यह साधकमात्रके लिये बड़े कामकी बात है। यह भगवान्‌ने हमारी वस्तुस्थिति बतायी है। इसमें कई दिन, कई महीने, कई वर्ष, कई जन्म लगेंगे— यह बात नहीं है। ऐसा नहीं है कि शरीरके मरनेपर मुक्ति होगी। शरीरके रहते हुए भी मुक्ति स्वतः-सिद्ध है—'**शरीरस्थोऽपि**'।

अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला ही अपनेको कर्ता मानता है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। अहंकार अपरा प्रकृति है। परन्तु अहंकारसे मोहित होते हुए भी वास्तवमें वह कर्ता-भोक्ता नहीं है। न तो ब्रह्म कर्ता-भोक्ता है, न जीव कर्ता-भोक्ता है और न आत्मा ही कर्ता-भोक्ता है। कर्ता-भोक्तापन केवल माना हुआ है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा न माने—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। हम परमात्माके अंश हैं; अतः हम अहंकारसे मोहित नहीं हैं; क्योंकि हम परा प्रकृति हैं और अहंकार अपरा प्रकृति है। अहंकारसे हम मोहित नहीं होते, प्रत्युत अन्तःकरण मोहित होता है। अन्तःकरणसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण हम कर्ता-भोक्ता बन जाते हैं।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी चीज हमारी नहीं है तो शरीर हमारा कैसे हुआ? अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला हमारा कैसे हुआ? तभी भगवान्‌ने कहा है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'। गीताके तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ तथा तैंतीसवाँ श्लोक, अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक, तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक और पाँचवें अध्यायका आठवाँ

श्लोक*—इन श्लोकोंपर आप एकान्तमें बैठकर विचार करें तो बहुत लाभ होगा। जब स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर मैं हूँ ही नहीं तो फिर कर्ता-भोक्तापन अपनेमें कैसे हुआ? यह बात हमारी-आपकी नहीं है, प्रत्युत गीताकी है! ये गीतामें भगवान्‌के वचन हैं!

दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापी कोई क्यों न हो, सब-के-सब परमात्माके अंश हैं। आप दृढ़तासे इस बातको स्वीकार कर लें कि हम परमात्माके अंश हैं। परमात्मा हमारे हैं, संसार हमारा नहीं है प्रत्येक आदमी अपने पिताका होते हुए ही सब कार्य करता है। कोई चाहे रेलवेमें काम करे, चाहे बैंकमें काम करे, चाहे खेतमें काम करे, वह पिताका होते हुए ही सब काम करता है। ऐसे ही हम कोई भी काम करें, परमपिता परमात्माके होते हुए ही करते हैं। काम करते समय हम दूसरेके नहीं हो जाते।

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥
(गीता १३। ३१—३३)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८। १७)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(गीता ३। २७)

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
(गीता ५। ८)

जैसे हम मकानमें बैठे हुए भी मकानमें नहीं हैं, चट छोड़कर चल देते हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए भी हम शरीरमें नहीं हैं, हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। इस बातको केवल मानना है, स्वीकार करना है। इसके लिये पढ़ाईकी जरूरत नहीं है। इसको सभी भाई-बहन स्वीकार कर सकते हैं कि हम भगवान्के अंश हैं, हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। प्रकृतिका विभाग अलग है और चेतनका विभाग अलग है। कर्तापन-भोक्तापन प्रकृति-विभागमें है और **'न करोति न लिप्यते'** चेतन-विभागमें है। पहलेके अभ्यासके कारण भले ही अभी इसका अनुभव न हो, पर वास्तवमें बात ऐसी ही है। हम बिलकुल निर्लेप हैं। मुक्ति होती नहीं है, मुक्ति है। केवल अनुभव करना है। गीतामें आया है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

विवेक, वैराग्य, मुमुक्षा आदि होना तो दूर रहा, सब पापियोंसे भी अधिक पापी हो तो वह भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है! **'न करोति न लिप्यते'**का अनुभव कर सकता है! हम चाहे ज्ञानमार्गसे चलें, चाहे भक्तिमार्गसे चलें, सबसे पहले यह स्वीकार कर लें कि 'मैं भगवान्का अंश हूँ।' कर्तृत्व और लिप्तता स्वाभाविक ही हमारेमें नहीं हैं। ऐसा विचार करके चुप हो जायँ। इस बातको पक्की कर लें कि वास्तवमें बात ऐसी ही है। इसको हम भूल जायँ तो भी बात ऐसी ही है। भूल अन्तःकरणमें होती

है। हमारेमें भूल होती ही नहीं, हो सकती ही नहीं। हम भले ही सच्ची बातको भूल जायँ और कर्ता-भोक्ता बन जायँ तो भी वास्तवमें हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। आप केवल इतना विचार रखें कि **'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'**—यही बात सच्ची है। गलत मान्यता सही मान्यतासे कट जाती है। सही मान्यता करनेमें, सच्ची बातको माननेमें कोई उद्योग, परिश्रम नहीं है।

१२. अक्रियतासे परमात्मप्राप्ति

परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण संसारमें समान रीतिसे परिपूर्ण है—'मया ततमिदं सर्वम्' (गीता ९। ४), 'समोऽहं सर्वभूतेषु' (गीता ९। २९)। अगर कोई उसकी प्राप्ति करना चाहे तो वह कुछ भी चिन्तन न करे। जो सर्वव्यापक है, उसका चिन्तन हो ही नहीं सकता। कुछ भी चिन्तन न करनेसे हमारी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही होती है। इसलिये परमात्मप्राप्तिका खास साधन है—कुछ भी चिन्तन न करना; न परमात्माका, न संसारका, न और किसीका। साधक जहाँ है, वहीं स्थिर हो जाय; क्योंकि वहीं परमात्मा हैं। क्रिया तो उसके लिये होती है, जो देश, काल, वस्तु आदिकी दृष्टिसे दूर हो। परन्तु जो सब जगह है, सब समय है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओं आदिमें है, उसकी प्राप्तिके लिये क्रियाकी क्या जरूरत?

चुप होना, शान्त होना, कुछ न करना एक बहुत बड़ा साधन है, जिसका पता बहुतोंको नहीं है। कुछ करनेसे संसारकी प्राप्ति होती है और कुछ न करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। संसारका स्वरूप है—क्रिया (श्रम) और परमात्माका स्वरूप है—अक्रिय (विश्राम)। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पर अक्रिय-तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है। इतना ही नहीं, उस अक्रिय-तत्त्वसे ही सम्पूर्ण क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन होती

हैं। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और अक्रिय होनेसे शक्तिका संचय होता है। इसलिये साधक प्रत्येक क्रियासे पहले और क्रियाके अन्तमें शान्त (चिन्तनरहित) हो जाय। पहले शान्त होकर सुनेगा तो सुनी हुई बात विशेष समझमें आयेगी, पढ़ेगा तो पढ़ी हुई बात विशेष समझमें आयेगी। अन्तमें शान्त होनेसे सुनी हुई या पढ़ी हुई बातको धारण करनेकी शक्ति आयेगी। क्रिया करनेसे विषमता आती है और अक्रिय होनेसे समता आती है। इसलिये क्रिया करनेमें दो आदमी भी बराबर नहीं होते, पर कुछ न करनेमें लाखों-करोड़ों आदमी भी एक हो जाते हैं। कोई विद्वान् हो या मूर्ख हो, धनी हो या निर्धन हो, रोगी हो या नीरोग हो, निर्बल हो या बलवान् हो, योग्य हो या अयोग्य हो, कुछ न करनेमें सब एक हो जाते हैं, सबकी स्थिति परमात्मामें हो जाती है। तात्पर्य है कि अगर कुछ भी चिन्तन करेंगे तो संसारमें स्थिति होगी और कुछ भी चिन्तन नहीं करेंगे तो परमात्मामें स्थिति होगी। वास्तवमें हमारी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही है, पर चिन्तन करनेसे इसका भान नहीं होता। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २५)

'धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय और मन (बुद्धि)-को परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

तात्पर्य है कि सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृतिके द्वारा क्रिया और पदार्थरूप संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय। जल्दबाजी न करे; क्योंकि जल्दबाजी करनेसे साधन बढ़िया नहीं

होता। एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है— ऐसा निश्चय करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे। परमात्मा स्वत:-स्वाभाविक सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन हैं। 'घन' का अर्थ होता है—ठोस। जैसे, पत्थर या काँच ठोस होता है, इसलिये उसमें सुई नहीं चुभती। परन्तु परमात्मा पत्थर या काँचसे भी ज्यादा ठोस हैं। कारण कि पत्थर या काँचमें तो अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, पर परमात्मामें कोई भी वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती। ऐसे सर्वथा ठोस परमात्माका साधक चिन्तन करता है तो उलटे उनसे दूर होता है! इसलिये वह जहाँ है, वहीं (निद्रा-आलस्य छोड़कर) बाहर-भीतरसे चुप, शान्त रहनेका स्वभाव बना ले। यह बहुत सुगम और बहुत बढ़िया साधन है। इससे बहुत शान्ति मिलेगी और सब पाप-ताप नष्ट हो जायँगे।

उपराम होनेका तात्पर्य है कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्व न हों। जैसे रास्तेमें चल रहे हैं तो कहीं पत्थर पड़ा है, कहीं लकड़ी पड़ी है, कहीं कागज पड़ा है, पर अपना उससे कोई मतलब नहीं होता, ऐसे ही किसी भी क्रिया और पदार्थसे अपना कोई मतलब नहीं रहे—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३। १८)। उनसे तटस्थ रहे। तटस्थ रहना भी एक विद्या है। साधक तटस्थ रहते हुए सब काम करे तो वह संसारसे असंग हो जाता है। संसारमें लाभ हो, हानि हो, आदर हो, निरादर हो, सुख हो, दु:ख हो, प्रशंसा हो, निन्दा हो, उसमें तटस्थ रहे तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अगर वह उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दु:ख कर लेगा तो भोग होगा, योग नहीं। भोगीका कल्याण नहीं होता। इसलिये तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

गीतामें आया है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(गीता ६। ३)

'जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण कहा गया है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण कहा गया है।'

शम (शान्ति)-का अर्थ है—कुछ न करना। जबतक 'करने' के साथ सम्बन्ध है, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है और जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक अशान्ति है, दुःख है, जन्म-मरण है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध 'न करने' से मिटेगा। कारण कि क्रिया और पदार्थ दोनों प्रकृतिके हैं। चेतन-तत्त्वमें न क्रिया है, न पदार्थ। क्रिया अनित्य है, अक्रियपना नित्य है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पर अक्रियपना नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये 'शम' अर्थात् कुछ न करना ही कारण है। हाँ, अगर इस शान्तिका उपभोग किया जायगा तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। 'मैं शान्त हूँ'—इस प्रकार शान्तिमें अहंकार लगानेसे और 'बड़ी शान्ति है'—इस प्रकार शान्तिमें राजी होनेसे शान्तिका उपभोग हो जाता है। इसलिये शान्तिमें व्यक्तित्व न मिलाये, प्रत्युत ऐसा समझे कि शान्ति स्वतः है। शान्तिका उपभोग करनेसे शान्ति नहीं रहेगी,

प्रत्युत चञ्चलता आ जायगी अथवा नींद आ जायगी। उपभोग नहीं करनेसे शान्ति स्वतः रहेगी। बिना क्रिया और बिना अभिमानके जो स्वतः शान्ति होती है, वह 'योग' है। कारण कि उस शान्तिका कोई कर्ता या भोक्ता नहीं है। जहाँ कर्ता या भोक्ता होता है, वहाँ भोग होता है। भोग होनेपर संसारमें स्थिति होती है।

सम्पूर्ण क्रियाएँ और पदार्थ संसारके और संसारके लिये ही हैं। इसलिये कर्मयोगी इनको अपने और अपने लिये न मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देता है। सेवामें लगानेसे उसका क्रिया और पदार्थरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। प्रकृति श्रमरूप है और परमात्मतत्त्व विश्रामरूप है। इसलिये ज्ञानयोगी क्रिया और पदार्थसे असंग होकर विश्रामको स्वीकार करता है। विश्रामको स्वीकार करनेका तात्पर्य है—अपना जो चिन्मय सत्तामात्र स्वरूप है, उसमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना। परन्तु भक्तियोगी भगवदाश्रयको स्वीकार करता है अर्थात् अपना चिन्मय सत्तामात्र स्वरूप भी जिसका अंश है, उस भगवान्के आश्रयको स्वीकार करता है। सेवा और विश्रामसे मुक्ति होती है तथा भगवदाश्रयसे प्रेमकी प्राप्ति होती है।

यह एक सिद्धान्त है कि जो सर्वव्यापक तत्त्व होता है, उसकी प्राप्ति किसी क्रियासे नहीं होती। क्रिया करते ही हम उससे अलग होते हैं। अगर हम कुछ भी क्रिया नहीं करेंगे तो उस परमात्मतत्त्वमें ही स्थिति होगी। इसलिये साधक चलते-फिरते, उठते-बैठते हरदम शान्त रहनेका स्वभाव बना ले।

॥ श्रीहरिः ॥

1255

कल्याणके तीन सुगम मार्ग

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याणके तीन सुगम मार्ग

श्रीभगवान् कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

प्रत्येक मनुष्य वास्तवमें साधक है। कारण कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको यह मनुष्यशरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है। किसी आकृतिविशेषका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत मनुष्य वह है, जिसमें सत् और असत् तथा कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक हो। यह विवेक अनादि और भगवत्प्राप्त है। इस विवेकको महत्त्व देकर मनुष्य ज्ञानयोगी, कर्मयोगी अथवा भक्तियोगी बन सकता है और सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है। मिले हुए और बिछुड़नेवाले

शरीरका नाम मनुष्य नहीं है। शरीर तो केवल कर्म-सामग्री है, जिसका उपयोग केवल दूसरोंकी सेवा करनेमें ही है। परन्तु जब मनुष्य मिले हुए और बिछुड़नेवाले शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब वह कोई-सा भी योगी नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। भोगी व्यक्ति स्वयं भी दु:ख पाता है और दूसरोंको भी दु:ख देता है; क्योंकि दु:खी व्यक्ति ही दूसरोंको दु:ख देता है—यह सिद्धान्त है।

मनुष्यशरीर अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है, इसलिये किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणसे निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है। साधक होनेके नाते मनुष्यमात्र अपने साध्यको प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र एवं समर्थ है। सबसे पहले इस बातकी आवश्यकता है कि मनुष्य अपने उद्देश्यको पहचानकर यह स्वीकार करे कि मैं संसारी नहीं हूँ, प्रत्युत साधक हूँ। मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं अन्त्यज हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ,

मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ आदि मान्यताएँ सांसारिक व्यवहार (मर्यादा)-के लिये तो ठीक हैं, पर परमात्मप्राप्तिमें ये बाधक हैं। ये मान्यताएँ शरीरको लेकर हैं। परमात्मप्राप्ति शरीरको नहीं होती, प्रत्युत साधकको होती है। साधक अशरीरी होता है। जब मनुष्य अपनेको साधक स्वीकार कर लेता है, तब उसके द्वारा असाधनका त्याग स्वतः होने लगता है। मिले हुए और बिछुड़नेवाले शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना और अपने लिये मानना ही असाधन है। इस असाधनको मिटाना प्रत्येक साधकके लिये आवश्यक है।

जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके सिवाय अन्य कोई नहीं है। गीतामें इन तीनोंका विभिन्न नामोंसे वर्णन हुआ है; जैसे—परा, अपरा और भगवान्; क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम आदि। इन तीनोंमें जगत् और जीव—ये दोनों विचारके विषय होनेसे 'लौकिक' हैं*। परन्तु परमात्मा विचारका

* द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ (गीता १५।१६)

विषय न होनेसे 'अलौकिक' हैं*। इन तीनोंमें जीवको लेकर ज्ञानयोग, जगत्‌को लेकर कर्मयोग और परमात्माको लेकर भक्तियोग चलता है। इसलिये ज्ञानयोग तथा कर्मयोग—ये दोनों 'लौकिक साधन' हैं† और भक्तियोग 'अलौकिक साधन' है। लौकिक साधनसे मुक्ति होती है और अलौकिक साधनसे परमप्रेमकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यमात्रके भीतर बीजरूपसे एक तो मुक्ति (अखण्ड आनन्द)-की माँग रहती है, दूसरी दु:खनिवृत्तिकी माँग रहती है और तीसरी परमप्रेमकी माँग रहती है। मुक्तिकी माँग (स्वयंकी भूख) ज्ञानयोगसे, दु:खनिवृत्तिकी माँग कर्मयोगसे और परमप्रेमकी माँग भक्तियोगसे पूरी होती है। अगर साधकमें अपने साधनका आग्रह, पक्षपात न हो तो एक माँगकी पूर्तिसे तीनों माँगें पूर्ण हो जाती हैं।

---

* उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीता १५। १७)

† लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

ज्ञानयोगका मार्ग

मनुष्यमात्रको 'मैं हूँ'—इस रूपमें अपनी एक सत्ताका अनुभव होता है। इस सत्तामें अहम् ('मैं') मिला हुआ होनेसे ही 'हूँ'के रूपमें अपनी एकदेशीय सत्ता अनुभवमें आती है। यदि अहम् न रहे तो 'है' के रूपमें सर्वदेशीय सत्ता ही अनुभवमें आयेगी। वह सर्वदेशीय सत्ता ही मनुष्यका वास्तविक स्वरूप है। उस सत्तामें अहम् (जड़ता) नहीं है। जब मनुष्य अहम्‌को स्वीकार करता है, तब वह बँध जाता है और जब सत्ता ('है') को स्वीकार करता है, तब वह मुक्त हो जाता है।

संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। क्रिया और पदार्थ—दोनों ही आदि-अन्तवाले (अनित्य) हैं। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। मात्र जड़ वस्तु मिली है और प्रतिक्षण बिछुड़ रही है। जो मिली है और बिछुड़ जायगी, उसका उपयोग केवल संसारकी सेवामें ही हो सकता है। अपने लिये उसका कोई उपयोग नहीं है। कारण कि

मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी नहीं होती—यह सिद्धान्त है। जो वस्तु अपनी नहीं होती, वह अपने लिये भी नहीं होती। अपनी वस्तु वह होती है, जिसपर हमारा पूरा अधिकार हो और अपने लिये वस्तु वह होती है, जिसको पानेके बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहे। परन्तु यह हम सबका अनुभव है कि शरीरादि मिली हुई वस्तुओंपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं चलता। हम अपनी इच्छाके अनुसार उनको प्राप्त नहीं कर सकते, उनको रख नहीं सकते, उनको बना नहीं सकते, उनमें परिवर्तन नहीं कर सकते। उनकी प्राप्तिके बाद भी 'और मिले, और मिले' यह कामना बनी रहती है अर्थात् अभाव बना रहता है। इस अभावकी कभी पूर्ति नहीं होती। इसलिये साधकको चाहिये कि वह इस सत्यको स्वीकार करे कि मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तु मेरी और मेरे लिये नहीं है।

मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तुको अपनी और अपने लिये न माननेसे मनुष्य निर्मम हो जाता है। निर्मम होते ही उसके द्वारा मिली हुई वस्तुओंका

सदुपयोग सुगमतासे होने लगता है। कारण कि निर्मम हुए बिना प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग नहीं हो सकता। ममतावाले मनुष्यके द्वारा प्राप्त वस्तुओंका दुरुपयोग ही होता है। भोग और संग्रह करना ही प्राप्त वस्तुओंका दुरुपयोग है और उनको दूसरोंकी सेवामें लगाना ही उनका सदुपयोग है। प्राप्त वस्तुओंके दुरुपयोगसे समाजमें संघर्ष पैदा होता है और सदुपयोगसे समाजमें शान्तिकी स्थापना होती है।

मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तुओंको अपना और अपने लिये मानना मनुष्यकी भूल है। जब स्वयं चेतन तथा अविनाशी है तो फिर जड़ तथा नाशवान् वस्तु अपनी और अपने लिये कैसे हुई? यह भूल स्वतः-स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत मनुष्यके द्वारा उत्पन्न की हुई (कृत्रिम) है। अपने विवेकको महत्त्व न देनेसे यह भूल उत्पन्न होती है। इस एक भूलसे फिर अनेक तरहकी भूलें उत्पन्न होती हैं। इसलिये इस मूल भूलको मिटाना अत्यन्त आवश्यक है और इसको मिटानेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। इसको मिटानेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको विवेक

दिया है। जब मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व देकर इस भूलको मिटा देता है, तब वह निर्मम हो जाता है।

निर्मम होना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक है; क्योंकि ममताको मिटाये बिना साधककी उन्नति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, जिसमें ममता की जाती है, वह वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है और उसकी उन्नतिमें भी बाधा लग जाती है। ममतासे मनुष्यमें अनेक दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

कुछ लोगोंको यह शंका होती है कि ममताके बिना हमारा शरीर कैसे चलेगा? हम परिवार अथवा समाजकी सेवा कैसे करेंगे? परन्तु वास्तवमें ममताके कारण शरीर, समाज, परिवार आदिकी सेवामें बाधा ही लगती है। निर्मम मनुष्यका शरीर-निर्वाह बहुत बढ़िया रीतिसे होता है। निर्मम मनुष्यके द्वारा ही परिवार, समाज आदिकी वास्तविक सेवा होती है। जिसकी अपने शरीरमें ममता है, वह परिवारकी सेवा नहीं कर सकता। जिसकी अपने परिवारमें ममता है, वह समाजकी सेवा नहीं कर सकता। जिसकी अपने समाजमें ममता है, वह देशकी सेवा नहीं कर सकता।

जिसकी अपने देशमें ममता है, वह दुनियाकी सेवा नहीं कर सकता। तात्पर्य है कि ममताके कारण मनुष्यका भाव संकुचित, एकदेशीय हो जाता है। वह सेवासे विमुख होकर स्वार्थमें बँध जाता है। इसलिये साधकमात्रके लिये ममताका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। जब साधकमें ममताका त्याग करनेकी तीव्र अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है, तब ममताका त्याग करना बड़ा सुगम हो जाता है। कारण कि जब साधक सच्चे हृदयसे संसारसे विमुख होकर परमात्माकी ओर चलना चाहता है, तब सम्पूर्ण संसार तथा स्वयं परमात्मा भी उसकी सहायता करनेके लिये तत्पर हो जाते हैं। इसलिये साधकको कभी भी अपने उद्देश्यकी पूर्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। वह कम-से-कम आयुमें तथा कम-से-कम सामर्थ्यमें भी अपने उद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है। कारण कि अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी कृपासे उसको मानवशरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४। ३)

ममताके कारण ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। जैसे, शरीरमें ममता होगी तो शरीरकी आवश्यकता हमारी आवश्यकता हो जायगी अर्थात् अन्न, जल, वस्त्र, मकान आदिकी अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जायँगी। ममताका त्याग होते ही साधकमें कामना-त्यागकी सामर्थ्य आ जाती है। कारण कि शरीर और संसार एक ही धातुसे बने हुए हैं। शरीरको संसारसे अलग नहीं कर सकते। अतः शरीरकी ममताका नाश होते ही सांसारिक कामनाओंका भी नाश हो जाता है।

मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तुओंमें 'मैं'-पन और 'मेरा'-पन होनेसे ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति आजतक किसीकी नहीं हुई, न होगी और न हो ही सकती है। जिन कामनाओंकी पूर्ति होती है, वे भी परिणाममें दुःख ही देती हैं। कारण कि एक कामनाकी पूर्ति होनेपर दूसरी अनेक कामनाएँ पैदा हो जाती हैं, जिससे कामना-अपूर्तिका दुःख ज्यों-का-त्यों बना रहता है। मनुष्य समझता है कि कामनाकी पूर्ति होनेपर मैं

स्वतन्त्र हो गया, पर वास्तवमें वह काम्य पदार्थके पराधीन हो जाता है। परन्तु प्रमादके कारण वह पराधीनतामें भी सुखका अनुभव करता है। मनुष्यको इस पराधीनतासे छुड़ानेके लिये भगवान्‌के मंगलमय विधानसे दुःख आता है। परन्तु मनुष्य दुःखसे दुःखी होकर भगवान्‌के मंगलमय विधानकी भी अवहेलना कर देता है। अगर वह दुःखसे दुःखी न होकर दुःखके कारणकी खोज करे और सम्पूर्ण दुःखोंके कारण 'कामना'को मिटा दे तो वह सदाके लिये सुखी हो जायगा।

प्रत्येक साधकके लिये निष्काम होना बहुत आवश्यक है; क्योंकि निष्काम हुए बिना साधक अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, कामनाके कारण वह साध्यरूप भगवान्‌को भी कामनापूर्तिका साधन बना लेता है। तात्पर्य है कि वह कोई भी कामना रखकर भगवान्‌का भजन करता है तो उसका साध्य तो वह काम्य पदार्थ होता है और भगवान् उसकी प्राप्तिके साधन होते हैं। जबतक कामना रहती है, तबतक मनुष्य पराधीन

रहता है। पराधीन मनुष्य न तो त्याग कर सकता है, न सेवा कर सकता है और न प्रेम ही कर सकता है। वह न तो ज्ञानयोगी बन सकता है, न कर्मयोगी बन सकता है और न भक्तियोगी ही बन सकता है। अतः पराधीनताको मिटानेके लिये निष्काम होना बहुत आवश्यक है।

कामनाकी पूर्तिमें तो सब मनुष्य पराधीन हैं, पर कामनाका त्याग करनेमें सब-के-सब मनुष्य स्वाधीन और समर्थ हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता (मुक्ति)-की प्राप्ति कर सकता है। परन्तु जबतक मनुष्यके भीतर कामना रहती है, तबतक वह स्वाधीन नहीं हो सकता। पराधीनताका सर्वथा नाश निष्काम होनेपर ही सम्भव है। निष्काम होनेपर साधक संसारपर विजय प्राप्त कर लेता है। कारण कि कामनावाले मनुष्यको कइयोंके अधीन होना पड़ता है, पर जिसको कुछ नहीं चाहिये, उसको किसीके भी अधीन नहीं होना पड़ता। उसका मूल्य संसारसे अधिक हो जाता है। वह तीनों योगोंका अधिकारी बन जाता है। इतना ही नहीं, वह

भगवत्प्रेमका भी पात्र बन जाता है; क्योंकि कामनावाला मनुष्य किसीसे प्रेम नहीं कर सकता।

जब कर्ता निष्काम होता है, तब उसके द्वारा स्वतः कर्तव्य-कर्मका पालन होने लगता है। कर्ता निष्काम हुए बिना कर्तव्य-कर्मका पालन नहीं होता और कर्तव्य-कर्मका पालन हुए बिना प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग नहीं होता। सकाम मनुष्य प्राप्त परिस्थितिके अधीन हो जाता है तथा अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन करता रहता है। परन्तु निष्काम होते ही मनुष्य प्राप्त परिस्थितिकी पराधीनता तथा अप्राप्त परिस्थितिके चिन्तनसे छूटकर परिस्थितिसे अतीत तत्त्वको प्राप्त कर लेता है।

जप, तप, व्रत, तीर्थ, स्वाध्याय आदि क्रियासाध्य साधनोंसे कामनाका नाश नहीं होता। कारण कि कोई भी क्रिया (अभ्यास) करनेके लिये शरीरकी सहायता लेनी पड़ती है और शरीरके सम्बन्धसे ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। अतः कामनाका नाश किसी क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत सर्वथा क्रियारहित होनेसे तथा विवेकको महत्त्व देनेसे

होता है। क्रियारहित होते ही शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति स्वतः होती है। स्वरूपमें निर्ममता और निष्कामता स्वतःसिद्ध हैं। अतः शरीर-संसारके सम्बन्धसे होनेवाले ममता, कामना आदि दोषोंका नाश करनेके लिये क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है।

जब साधक निर्मम और निष्काम हो जाता है, तब उसकी अहंता मिट जाती है। अहंता मिटनेपर फिर उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २।७१)। जबतक साधक अपने लिये कुछ भी करता है, तबतक उसका सम्बन्ध क्रिया और पदार्थसे बना रहता है। जबतक क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध है, तबतक पराधीनता है। क्रिया और पदार्थ संसारकी सेवाके लिये तो उपयोगी हैं, पर अपने लिये इनका त्याग ही उपयोगी है। सेवा और त्याग कृत्रिम नहीं हैं, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक हैं। इसलिये मैं सेवा करता हूँ अथवा मैं त्याग करता हूँ—ऐसा अभिमान करना भूल है। जब संसारमें

मेरी कोई वस्तु है ही नहीं तो त्याग क्या हुआ? और जिसकी वस्तु थी, वह उसको दे दी तो सेवा क्या हुई? यह सिद्धान्त है कि जो कभी भी अलग होगा, वह अभी भी अलग है और जो कभी भी मिलेगा, वह अभी भी मिला हुआ है। इसलिये नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है—इस सत्यको स्वीकार करना साधकके लिये आवश्यक है।

जबतक साधकमें अपने लिये कुछ भी करनेका भाव रहता है, तबतक उसका सम्बन्ध कर्म-सामग्रीके साथ अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ बना रहता है। जबतक शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक मनुष्यमें न तो निःस्वार्थभाव आता है और न स्वाधीनता आती है अर्थात् वह न तो कर्मयोगका अधिकारी होता है, न ज्ञानयोगका। जो मनुष्य स्वार्थभाव और पराधीनतासे रहित नहीं हो सका, वह भगवान्‌का प्रेमी भी कैसे हो सकता है? इसलिये 'क्रिया'के आश्रयका त्याग करके विश्राम (कुछ न करने)-को अपनाना और 'पदार्थ'के आश्रयका

त्याग करके स्वाश्रय अथवा भगवदाश्रयको अपनाना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक है।

विवेककी जागृति किसी क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत क्रियारहित होनेसे होती है। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान किसी क्रिया या पदार्थके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत अपने ही द्वारा होता है। जिसकी प्राप्ति अपने द्वारा होती है, उसके लिये किसी अभ्यासकी आवश्यकता नहीं होती। अभ्याससे तो उलटे वह दूर होता है! मनुष्य जिन करणों (मन-बुद्धि-इन्द्रियों)-से संसारको देखता है, उनसे अपने-आपको (करणरहित सत्तामात्र स्वरूपको) नहीं देख सकता। अपने-आपको तो वह अपने-आपसे ही देख सकता है—**'यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति'** (गीता ६। २०)। तात्पर्य है कि अपने-आपको किसी करणके द्वारा नहीं देखा जा सकता, प्रत्युत करणोंके त्यागसे ही देखा जा सकता है।

कर्मयोगका मार्ग

जब साधक अपने जीवनमेंसे बुराईका त्याग कर देता है, तब कर्मयोगकी सिद्धि हो जाती है। बुराईका त्याग तीन बातोंसे होता है—(१) किसीका भी बुरा न करना (२) किसीको भी बुरा न समझना और (३) किसीका भी बुरा न चाहना। बुराईका त्याग किये बिना मनुष्य कर्तव्य-परायण नहीं हो सकता।

मनुष्य किसीका भी बुरा तब करता है, जब वह स्वार्थवश खुद बुरा बनता है। खुदको बुरा बनाये बिना मनुष्य किसीका भी बुरा नहीं कर सकता। कारण कि जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म होते हैं—यह सिद्धान्त है। कर्म कर्ताके अधीन होते हैं। इसलिये सबसे पहले मनुष्यको चाहिये कि वह अपनेको साधक स्वीकार करे। जब कर्ता साधक होगा तो फिर उसके द्वारा साधकके विपरीत कर्म कैसे होंगे? साधकके द्वारा किसीका बुरा नहीं होता। इतना ही नहीं, वह अपने प्रति बुराई करनेवालेका भी बुरा नहीं करता, प्रत्युत उसपर दया करता है। बुराईके बदले बुराई करनेसे तो बुराईकी वृद्धि ही होगी, बुराईकी निवृत्ति कैसे होगी? बुराईके बदले बुराई न करनेसे तथा भलाई करनेसे ही बुराईकी निवृत्ति हो सकती है।

कोई भी मनुष्य सर्वथा बुरा नहीं होता और सभीके लिये बुरा नहीं होता। मनुष्य सर्वथा भला तो हो सकता है, पर सर्वथा बुरा नहीं हो सकता। कारण कि बुराई कृत्रिम, आगन्तुक, अस्वाभाविक है। बुराईकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये बुराईको न दुहरानेसे बुराई सर्वथा मिट जाती है। बुराईको न दुहराना साधकका खास काम है। बुराईको न दुहरानेसे मनुष्य बुरा नहीं रहता, प्रत्युत भला हो जाता है।

मनुष्यको किसीको भी बुरा समझनेका अधिकार नहीं है। दूसरेमें जो बुराई दीखती है, वह उसके स्वरूपमें नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक है। मनुष्यके स्वभावमें यह दोष रहता है कि वह अपनी बुराईको तो क्षमा कर देता है, पर दूसरेकी बुराईको देखकर उसके प्रति न्याय करता है। साधकका कर्तव्य है कि वह अपने प्रति न्याय करे और दूसरेके प्रति क्षमा करे। भगवान्‌का अंश होनेके नाते मनुष्यमात्र स्वरूपसे निर्दोष है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

इसलिये किसी भी मनुष्यमें बुराईकी स्थापना नहीं करनी चाहिये। आगन्तुक बुराईके आधारपर किसीको बुरा समझना अनुचित है। दूसरा चाहे बुरा हो या न हो, पर उसको बुरा समझनेसे अपनेमें बुराई आ ही जायगी। दूसरेको बुरा समझेंगे तो अपने भीतर बुरे संकल्प पैदा होंगे, क्रोध पैदा होगा, वैरभाव पैदा होगा, विषमता पैदा होगी, पक्षपात पैदा होगा। इनके पैदा होनेसे कर्म भी अशुद्ध होने लगेंगे। अतः बुराईकी स्थापना न तो अपनेमें करनी चाहिये और न दूसरोंमें ही करनी चाहिये। बुराईकी स्थापना करनेसे न अपना हित होता है, न दूसरेका। किसीको बुरा समझना अथवा किसीका बुरा चाहना बुराई करनेसे भी बड़ा दोष है।

मनुष्य किसीका बुरा चाहता है तो उसका बुरा तो होता नहीं, पर अपना बुरा अवश्य हो जाता है। दूसरेका बुरा चाहनेवालेकी हानि ज्यादा होती है; क्योंकि बुरा चाहनेसे उसके भावमें बुराई आ जाती है। कर्मकी अपेक्षा भाव सूक्ष्म और व्यापक होता है। अतः दूसरेका बुरा चाहनेमें अपना ही बुरा

निहित है। यह नियम है कि हम दूसरेके प्रति जो करेंगे, वही परिणाममें अपने प्रति हो जायगा। इसलिये साधकको किसीका भी बुरा चाहनेका, बुरा समझनेका अथवा बुरा करनेका अधिकार नहीं है। उसको समानरूपसे सबके हितका भाव रखते हुए सबकी सेवा करनेका ही अधिकार है। सेवा करनेसे ही वह कर्मयोगका अधिकारी होता है। दूसरेका बुरा करनेवाला, बुरा समझनेवाला अथवा बुरा चाहनेवाला दूसरेपर शासन तो कर सकता है, पर सेवा नहीं कर सकता। शासक सेवक नहीं हो सकता और सेवक शासक नहीं हो सकता। समाजकी उन्नति सेवकके द्वारा होती है, शासकके द्वारा नहीं।

भलाई करना तो परिश्रम-साध्य है, पर बुराई न करनेमें कोई परिश्रम नहीं होता तथा कोई खर्चा भी नहीं होता। इसलिये बुराईका त्याग करनेमें सब स्वतन्त्र तथा समर्थ हैं। यहाँ एक शंका होती है कि जब दूसरा व्यक्ति हमारे साथ बुराई कर रहा है तो फिर हम कैसे उसको बुरा न समझें, उसका बुरा न चाहें? इसका समाधान यह है कि दूसरा हमारा बुरा

करता है तो यह बुराई उसमें आयी हुई है, स्वाभाविक नहीं है। स्वरूपसे तो वह सर्वथा बुराई-रहित है। दूसरी बात, हमारा बुरा होनेसे हमारे पुराने पाप कटते हैं और हम शुद्ध होते हैं। तीसरी बात, गहरा विचार करनेसे पता लगता है कि दूसरा हमारे साथ बुराई तभी करता है, जब हम निर्बल होते हैं। हम निर्बल तब होते हैं, जब प्राणोंमें मोह होनेके कारण हम मृत्युसे डरते हैं और इस कारण अपने प्रति होनेवाली बुराईको हम सहते हैं। अगर हमारेमें प्राणोंका मोह न रहे, जीनेकी इच्छा और मरनेका भय न रहे तो कोई बलवान् व्यक्ति हमारेपर अत्याचार नहीं कर सकेगा। यह सिद्धान्त है कि भौतिक बल कभी भी आध्यात्मिक बलपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। नाशवान् वस्तु अविनाशीपर विजय कैसे कर सकती है? अन्धकार प्रकाशपर विजय कैसे कर सकता है? जिसका मिलने और बिछुड़नेवाले शरीरमें 'मैं'-पन और 'मेरा'-पन नहीं है, उसको कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। उसपर कोई विजय नहीं कर सकता। विचार करना चाहिये कि

जब शरीरका नाश होनेपर भी हमारी सत्ताका नाश नहीं होता*, तो फिर शरीरको रखनेकी इच्छा और मृत्युका भय करनेसे क्या लाभ? इसलिये साधकको अपना कर्तव्य जितना प्रिय होता है, उतने अपने प्राण भी प्रिय नहीं होते। अपने कर्तव्यकी रक्षाके लिये वह प्राणोंका भी त्याग कर देता है। ऐसे साधकको कोई बलवान्-से-बलवान् व्यक्ति भी अपने अधीन करके कर्तव्यच्युत नहीं कर सकता।

कर्मयोगी अपने कर्तव्यका पालन करते हुए दूसरेके अधिकारकी रक्षा करता है। जो दूसरेका अधिकार होता है, वही हमारा कर्तव्य होता है। जैसे, माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। अपना अधिकार चाहनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। इसलिये कर्मयोगका साधक अपने अधिकारका त्याग करता है। अपने अधिकारका त्याग करनेसे

---

* न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गीता २। २०)

नया राग पैदा नहीं होता और दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और साधक सुगमतापूर्वक राग-रहित हो जाता है।

मनुष्य अपने अधिकारका त्याग तथा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेमें तो स्वतन्त्र है, पर अधिकार प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। अधिकार पानेकी लालसा मनुष्यको कर्तव्यच्युत करके उसको काम, क्रोध, लोभ आदि दोषोंसे युक्त कर देती है, जिससे उसका पतन हो जाता है। इसलिये कर्मयोगका साधक दूसरेके अधिकारकी रक्षा करता है।

जब अपने कहलानेवाले शरीरपर ही हमारा अधिकार नहीं चलता, तो फिर शरीर जिसका अंश है, उस संसारपर हमारा अधिकार कैसे चल सकता है? परन्तु हमारेपर शरीर और संसारका अधिकार अवश्य है। शरीरका अधिकार यह है कि हम उसको आलसी, अकर्मण्य, प्रमादी, असंयमी न बनने दें और संसारका अधिकार यह है कि हम शरीरके द्वारा संसारकी सेवा करें, किसीका भी अहित न करें, सबको सुख पहुँचायें।

समाजमें ज्यों-ज्यों अधिकार पानेकी लालसा बढ़ती जाती है, त्यों-ही-त्यों लोग अपने कर्तव्यसे हटते जाते हैं, जिससे समाजमें संघर्ष पैदा हो जाता है। अधिकार पानेकी इच्छासे गुलामी आ जाती है। अतः अपने अधिकारका त्याग करना प्रत्येक साधकके लिये आवश्यक है। अपने अधिकारका त्याग करनेसे उदारता और असंगता—दोनों आ जाती हैं। उदारता आनेसे कर्मयोगकी तथा असंगता आनेसे ज्ञानयोगकी सिद्धि हो जाती है।

वास्तवमें अधिकार देनेकी वस्तु है, लेनेकी वस्तु नहीं। कोई जबर्दस्ती अधिकार लेना भी चाहे तो नहीं ले सकता। बलवान्-से-बलवान् व्यक्ति भी दूसरोंका विनाश तो कर सकता है, पर दूसरोंका अपने प्रति आदर, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास उत्पन्न नहीं करा सकता। यद्यपि मनुष्यका मूल्य संसारसे अधिक है, तथापि अधिकार पानेकी लालसासे वह अपना मूल्य गिरा देता है। अधिकार पानेकी लालसाके मूलमें नाशवान् सुखकी लालसा है। जब साधक सुखकी आसक्तिको मिटा देता है, तब अधिकार पानेकी लालसा भी मिट जाती है और साधकका कर्मयोग सिद्ध हो जाता है।

भक्तियोगका मार्ग

यह नियम है कि प्रत्येक रचनाके मूलमें कोई-न-कोई रचयिता रहता है। प्रत्येक उत्पत्तिके मूलमें कोई-न-कोई अनुत्पन्न तत्त्व रहता है। अगर मनुष्य संसारको तो मानता है, पर संसारके रचयिताको नहीं मानता तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल है। जो परा (जीव) और अपरा (जगत्)—दोनोंका आश्रय तथा प्रकाशक है, उस परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसके साथ आत्मीयता करना अथवा उसके शरणागत हो जाना साधकके लिये बहुत आवश्यक है। वह परमात्मा कैसा है, कैसा नहीं है—यह जानना साधकके लिये आवश्यक नहीं है। साधकके लिये केवल इतना ही मानना आवश्यक है कि परमात्मा है और वह मेरा है। उसको इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना नहीं जा सकता, प्रत्युत केवल माना जा सकता है। रचना अपने रचयिताको कैसे जान सकती है? अंश अपने अंशीको कैसे जान सकता है?

परमात्मा विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। उसको मानने अथवा न माननेमें मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। विचारका विषय तो जीव और जगत् हैं। जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते, उसपर विचार किया जा सकता है। परन्तु जिसके विषयमें हम कुछ नहीं जानते, जिसको हमने देखा नहीं है, उसपर श्रद्धा-विश्वास ही किया जा सकता है। अपने द्वारा किये हुए श्रद्धा-विश्वासको दूसरा कोई मिटा नहीं सकता।

ईश्वरको हम जान सकते ही नहीं और माने बिना रह सकते ही नहीं। जैसे, माता-पिताको हम जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं; क्योंकि उस समय हमारी (शरीरकी) सत्ता ही नहीं थी। अगर हम अपने शरीरकी सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। हम हैं तो माता-पिता भी हैं। कार्य है तो उसका कारण भी है। ऐसे ही हम स्वयं हैं तो ईश्वर भी है। हमारी सत्ता ईश्वरके होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण है। हम नहीं हैं—इस तरह अपने होनेपनका निषेध कोई कर सकता ही

नहीं। जब अपने होनेपनका निषेध नहीं हो सकता, तो फिर ईश्वरका भी निषेध नहीं हो सकता।

माताकी अपेक्षा भी पिताको जानना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि मातासे जन्म लेते समय तो हमारा शरीर बन चुका था, पर पिताके समय तो हमारे शरीरकी सत्ता ही नहीं थी! भगवान् सम्पूर्ण संसारके पिता हैं—'**अहं बीजप्रदः पिता**' (गीता १४। ४), '**पिताहमस्य जगतः**' (गीता ९। १७), '**पितासि लोकस्य चराचरस्य**' (गीता ११। ४३)। इसलिये भगवान्‌को जानना तो सर्वथा असम्भव है। उनको तो माना ही जा सकता है। माने बिना दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। मानना जाननेसे कमजोर नहीं होता। भगवान्‌को दृढ़तापूर्वक माननेसे उनमें आत्मीयता हो जाती है और आत्मीयता होनेसे उनमें प्रेम हो जाता है।

जो पहले नहीं था, बादमें भी नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहा है, वह शरीर तथा संसार विश्वासके योग्य हैं ही नहीं। जो एक क्षण भी हमारे साथ न रहे, प्रतिक्षण बदलता

रहे, उसपर विश्वास कैसे किया जा सकता है? उसकी सेवा की जा सकती है, पर विश्वास नहीं किया जा सकता। विश्वास तो उसीपर किया जा सकता है, जो सदा हमारे साथ रहे, कभी हमसे बिछुड़े नहीं। भगवान् सदा हमारे साथ रहते हैं—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५।१५) हम पशु-पक्षी आदि किसी भी योनिमें चले जायँ, स्वर्ग-नरकादि किसी भी लोकमें चले जायँ तो भी भगवान् हमारा साथ कभी नहीं छोड़ते।

जब मनुष्य अपनी आवश्यकताकी पूर्ति न तो खुद कर सकता है और न उसकी पूर्ति संसार ही कर सकता है, तब वह स्वतः भगवान्‌की ओर खिंचता है, जिसको उसने देखा नहीं है, प्रत्युत सुना है। जब मनुष्यपर कोई संकट आता है और उससे बचनेका कोई उपाय नहीं दीखता तथा उससे बचनेके लिये किये गये सब प्रयत्न व्यर्थ चले जाते हैं, तब उसको भगवान्‌पर विश्वास करके उनको पुकारना ही पड़ता है।

जो मनुष्य भगवान्‌पर विश्वास न करके शरीर-

संसारपर विश्वास करता है, वह जन्म-मरणके चक्रमें फँसकर तरह-तरहके दुःख पाता है। शरीर आदिपर विश्वास करनेसे अहंता, ममता, कामना, आसक्ति, लोभ आदि अनेक विकारोंकी उत्पत्ति होती है। परिणाम यह होता है कि शरीर आदि तो रहते नहीं, पर उसका सम्बन्ध रह जाता है, जो अनेक योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है '**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)

जो न तो भगवान्पर विश्वास करता है और न शरीर-संसारपर ही विश्वास करता है, प्रत्युत अपने-आपपर विश्वास करता है, वह ज्ञानयोगका साधक हो जाता है। ऐसा साधक 'मैं कौन हूँ'—इसकी खोज करता है। 'मैं' की खोज करते-करते 'मैं' मिट जाता है और 'है' रह जाता है। साधक 'है' (परमात्मतत्त्व)-को स्वीकार करे अथवा न करे, पर अन्तमें प्राप्ति 'है' की ही होती है। जैसे, कोई कितना ही कूदे-फाँदे या नाचे, पर अन्तमें वह जमीनपर ही टिकेगा!

एक सत्तामात्र है—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक

परमात्मतत्त्वपर विश्वास होनेसे शरीर तथा संसारका विश्वास निर्जीव, फीका हो जाता है। कारण कि परस्परविरुद्ध दो विश्वास एक साथ नहीं रह सकते। जब साधक यह स्वीकार करता है कि परमात्मा अद्वितीय है, सदा है, सर्वसमर्थ है, सर्वज्ञ है, सर्वसुहृद् है, सभीका है और सब जगह है, तब उसकी परमात्मापर स्वतः श्रद्धा जाग्रत् हो जाती है। परमात्मामें श्रद्धा-विश्वास होनेपर साधक एक परमात्माके सिवाय दूसरे किसीकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता ही नहीं। ऐसी स्थितिमें जैसे नींदसे जागते ही स्वप्नकी विस्मृति तथा जाग्रत्‌की स्मृति हो जाती है, ऐसे ही साधकके भीतर स्वतः परमात्मा ('है')-के नित्य-सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है और संसार ('नहीं')-की सर्वथा विस्मृति हो जाती है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् होते ही साधककी परमात्मासे अभिन्नता अथवा आत्मीयता हो जाती है। परमात्मासे अभिन्नता होते ही साधकको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति

हो जाती है, जो मानवजीवनका चरम लक्ष्य है।

एक शंका होती है कि जब परमात्मा सब समयमें तथा सब जगह विद्यमान है, तो फिर साधकको उससे दूरी क्यों प्रतीत होती है? इसपर गहरा विचार करनेसे पता लगता है कि जब साधक मिले हुए तथा बिछुड़नेवाले शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, तब उसको परमात्मासे दूरी प्रतीत होती है। कारण कि परमात्माकी प्राप्ति क्रिया और पदार्थके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत क्रिया और पदार्थके त्यागसे अपने ही द्वारा होती है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारकी सेवामें समर्पित कर दे और अपने-आपको (सत्तामात्र स्वरूपको) भगवान्‌के समर्पित कर दे। जब साधक स्वयं सब ओरसे विमुख होकर एकमात्र भगवान्‌के ही शरणागत हो जाता है, तब भगवान् कृपापूर्वक उसको अपना लेते हैं, अपनेसे अभिन्न कर लेते हैं।

विचारपूर्वक देखें तो जो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, अवस्था, परिस्थिति आदिमें

परिपूर्ण है, उससे दूरी कैसे सम्भव है? यह सिद्धान्त है कि जिससे दूरी नहीं होती, उसकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत चाहनामात्रसे होती है। अगर साधक मिले हुए और बिछुड़नेवाले प्राणी-पदार्थोंको अपना और अपने लिये न माने और भगवान्‌के साथ आत्मीयता (अपनापन) कर ले तो फिर भगवान्‌से दूरी नहीं रहेगी; क्योंकि वास्तवमें वह भगवान्‌का ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिको तो अपना मान लेता है, पर जिसने उनको दिया है, उसको (भगवान्‌को) अपना नहीं मानता। वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत उसको देनेवाला अपना है। जिस क्षण साधक भगवान्‌को अपना मानकर उनके शरणागत हो जाता है, उसी क्षण भगवान् उसको अपना लेते हैं। कारण कि भगवान् साधकका भूतकाल न देखकर उसके वर्तमानको देखते हैं, उसके आचरणोंको न देखकर उसके भावोंको देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

वे अपने शरणागत भक्तको निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक कर देते हैं। परन्तु साथमें अन्यका आश्रय नहीं रहना चाहिये। अन्यका आश्रय, अन्यका विश्वास और अन्यका सम्बन्ध रहनेसे भगवान्‌का आश्रय दृढ़ नहीं होता। जिस मनुष्यको एक भगवान्‌के सिवाय और कोई अपना नहीं दीखता तथा जिसको अपनेमें कोई विशेषता नहीं दीखती, वह सुगमतापूर्वक भगवान्‌के आश्रित हो जाता है। भगवान्‌के आश्रित होनेपर उसको अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता। उसके द्वारा होनेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति भगवान्‌की पूजा होती है।

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध केवल प्रेमकी प्राप्तिके लिये ही होना चाहिये। प्रेम प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है—भगवान्‌में अपनापन। एकमात्र भगवान्‌को अपना माननेसे प्रेमकी जागृति होती है। प्रेमकी जागृति होनेपर अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है। अहम्‌का सर्वथा नाश होनेपर भगवान्‌से दूरी, भेद और भिन्नता—तीनों सर्वथा मिट जाते हैं।

प्रेमकी जागृतिके बिना अहम्‌का सर्वथा नाश

नहीं होता—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

मुक्त महापुरुषमें भी प्रेमकी एक माँग (भूख) रहती है। इसलिये जो मुक्तिमें भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसको भगवान् अपना प्रेम प्रदान करते हैं। इस दृष्टिसे मुक्ति भी साधन है और प्रेम साध्य है। प्रेमकी प्राप्तिके बिना साधनकी पूर्णता नहीं होती। भगवान् ज्ञानस्वरूप होते हुए भी प्रेमके भूखे हैं। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगके मार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होनेपर भी एक सूक्ष्म अहम् रहता है, जिसके कारण भगवान्‌से दूरी और भेद तो मिट जाते हैं, पर उनसे अभिन्नता नहीं होती। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर दार्शनिक मतभेद पैदा करनेवाला होता है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही मुक्त महापुरुषोंमें तथा उनकी मान्यताओं और सिद्धान्तोंमें परस्पर मतभेद रहता है। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर जब वह सूक्ष्म अहम् सर्वथा मिट जाता है, तब सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नता होनेपर एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीकी भी सत्ता नहीं रहती—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

उपसंहार

उपनिषद्में आता है कि अकेलेमें भगवान्का मन नहीं लगा—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १।४।३)। अतः खेल (प्रेम-लीला)-के लिये भगवान् एकसे अनेकरूप हो गये—'**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तैत्तिरीय० २।६)। उन अनेक रूपोंमें श्रीजी तो भगवान्के ही सम्मुख रहीं, पर जीव खेलके खिलौनों (शरीर-संसार)-में ही लग गये! श्रीजी खिलौनोंमें नहीं लगीं तो उनको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति हो गयी और जीव खिलौनोंमें लग गये तो उनको जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्ति हो गयी। ये खिलौने अपने और अपने लिये हैं ही नहीं। ये तो केवल दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये ही हैं। इनको अपना और अपने लिये मानना बहुत बड़ी भूल है, जिसका त्याग करना मनुष्यका कर्तव्य है। यह एक ही भूल स्थानभेदसे काम, क्रोध, लोभ,

मोह, ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ, पाखण्ड आदि अनेक विकारोंके रूपमें हो जाती है। फिर भूलें बढ़ती ही रहती हैं। उनका कोई अन्त नहीं आता।

अपने-आपको भूलनेसे देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है। कर्तव्यको भूलनेसे अकर्तव्य होने लगता है। भगवान्‌को भूलनेसे नाशवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस भूलको मिटानेके लिये तीन योग हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। विवेक-विचारपूर्वक संसारसे मिली हुई वस्तुओंसे अलग हो जाय—यह ज्ञानयोग है। उन वस्तुओंको संसारकी ही सेवामें लगा दे—यह कर्मयोग है। मनुष्य स्वयं जिसका अंश है, उस भगवान्‌में लग जाय—यह भक्तियोग है। परन्तु जो ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोगमें न लगकर संसारमें अर्थात् भोग और संग्रहमें लग जाता है, वह जन्म-मरणमें पड़ जाता है। वह जन्म गया तो मरना बाकी रहता है और मर गया तो जन्मना बाकी रहता है। इस प्रकार वह जन्म-मरणके चक्रमें घूमता रहता है—'**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्**'।

मनुष्यको तीन ही शक्तियाँ प्राप्त हैं—जाननेकी शक्ति, करनेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। जाननेकी शक्ति ज्ञानयोगके लिये, करनेकी शक्ति कर्मयोगके लिये और माननेकी शक्ति भक्तियोगके लिये है। जाननेकी शक्तिका सदुपयोग है—अपने-आपको जानना, करनेकी शक्तिका सदुपयोग है—सेवा करना और माननेकी शक्तिका सदुपयोग है—भगवान्‌को मानना।

वस्तु, शरीर, योग्यता और सामर्थ्य—ये चारों ही चीजें जड़-विभागमें हैं। चेतन-विभाग (स्वरूप)-तक ये चीजें पहुँचती ही नहीं। इसलिये वस्तु, शरीर, योग्यता और सामर्थ्य संसारके हैं और संसारके ही काम आते हैं, अपने काम किंचिन्मात्र भी नहीं आते। जड़-विभाग अर्थात् शरीर-संसारके द्वारा हमें कुछ भी नहीं मिलता, हमारी किंचिन्मात्र भी पुष्टि नहीं होती, हित नहीं होता। शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद ही हमारे काम आता है, हमारे लिये हितकारी होता है। इसलिये शरीर-संसारकी सहायतासे कोई भी मनुष्य बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। शरीरके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ शरीर-

संसारके ही काम आती हैं। उसका सम्बन्ध-विच्छेद ही स्वयंके काम आता है।

कुछ करनेसे हमारेको लाभ होगा—ऐसा सोचना भूल है। कारण कि मात्र क्रियाएँ जड़ तथा नाशवान् हैं और स्वयं चेतन तथा अविनाशी है। जड़ वस्तुके द्वारा चेतनको क्या मिलेगा? नाशवान् वस्तुसे अविनाशी-को क्या लाभ होगा? जड़ और नाशवान् क्रियासे हमारा भला होनेवाला नहीं है। इसलिये हमारा न तो कर्म करनेसे कोई मतलब होना चाहिये और न कर्म नहीं करनेसे ही कोई मतलब होना चाहिये—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३।१८)। 'करना' और 'न करना'— दोनों प्रकृति (जड़-विभाग)-में हैं और अभावरूप हैं। स्वयं (चेतन-विभाग)-में 'करना' और 'न करना' दोनों ही नहीं हैं, प्रत्युत वह इन दोनोंको प्रकाशित करनेवाला भावरूप निरपेक्ष तत्त्व है। जैसे 'करने' से शरीरको परिश्रम होता है, ऐसे ही 'न करने' से अर्थात् सुषुप्तिसे शरीरको ही विश्राम मिलता है, स्वयंको नहीं। स्वयंको विश्राम तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही मिलेगा।

साधकको गहरे उतरकर समझना चाहिये कि मैं स्थूलशरीर नहीं हूँ, सूक्ष्मशरीर भी नहीं हूँ और कारणशरीर भी नहीं हूँ। वस्तु, योग्यता, बल आदि कुछ भी मेरा नहीं है। ये सब परिवर्तनशील हैं। मेरा स्वरूप अपरिवर्तनशील सत्तामात्र है। उसमें आना-जाना नहीं होता। उसमें उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसा समझकर साधक अपने सत्तामात्र स्वरूप (होनेपन)-में स्थित होकर चुप हो जाय।

सत्तामें अर्थात् हमारे होनेपनमें मैंपन नहीं है। मैंपनका सम्बन्ध भूलसे माना हुआ है। 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' नहीं है, पर 'हूँ' है। हमारा अस्तित्व 'मैं' के बिना है। 'है'-रूपसे एक परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है। उस 'है' का अंश ही 'हूँ' है। मैं हूँ, तू है, यह है और वह है—इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। तात्पर्य है कि 'हूँ' भी वास्तवमें 'है' ही है। यह बात अगर साधककी समझमें आ जाय तो बहुत लाभकी बात है!

जगत्‌की सत्ता 'मैं' के कारण ही है। जगत् 'मैं' से ही पैदा होता है। जीवमें जो अहंभाव है, उसीसे यह जगत् प्रतीत होता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इसलिये जगत् न तो परमात्माकी दृष्टिमें है, न जीवन्मुक्त महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। हमारा जो होनापन है, उसमें मैंपन नहीं है। मैंपन जड़-विभागमें है। जबतक हमारा सम्बन्ध जड़ताके साथ है, तबतक जन्म-मरण है। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके सत्तामात्रमें रहना मुक्ति है।

यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है; यह जलचर है, यह थलचर है, यह नभचर है; यह ईंट है, यह चूना है, यह पत्थर है—सबमें 'है'-पन रहता है। परन्तु साथमें 'मैं'-पन होनेसे बन्धन हो जाता है। तत्त्वज्ञ पुरुषोंकी स्थिति 'है' में होती है। यद्यपि सबकी स्थिति 'है' में ही है, पर जड़ताके साथ सम्बन्ध माननेसे 'मैं हूँ' हो गया। जड़ताका सम्बन्ध न रहे तो 'मैं हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'मैं है' रहेगा। इस स्थितिका नाम जीवन्मुक्ति है।

पशु, पक्षी, देवता, राक्षस आदि सभीमें समान रीतिसे जो एक सत्ता परिपूर्ण है, वह सत्ता परमात्माका स्वरूप है। उस सत्ताको 'मैं' के साथ मिलानेसे जीव हो जाता है, 'मैं' से अलग करनेसे मुक्त हो जाता है और भगवान्‌के साथ मिला देनेसे भक्त हो जाता है।

मनुष्यका खास काम है—जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना; क्योंकि जड़ताको अपना और अपने लिये माननेसे ही सब अनर्थ हुए हैं। जड़ताको अपना और अपने लिये मानेंगे तो फिर जड़ता ही रहेगी, चिन्मयता नहीं आयेगी। इसलिये शरीरको संसारकी सेवामें लगाना है। केवल मनुष्ययोनि ही सेवा करनेके योग्य है। दूसरा कोई सेवा करनेके लिये है ही नहीं। दूसरी योनियोंसे सेवा ले सकते हैं, पर वे सेवा कर नहीं सकतीं। पेड़-पौधोंको हम अपने काममें ले सकते हैं, पर वे खुद हमारा काम नहीं कर सकते। जो सेवा नहीं करता, वह मनुष्यतासे गिर जाता है और पशुतामें चला जाता है। इसलिये

मनुष्यको चाहिये कि वह संसारसे मिली हुई वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा दे और बदलेमें कुछ चाहे नहीं। संसारकी चीज संसारको दे दी तो चाहना किस बातकी? संसारकी चीज संसारकी सेवामें लगा दे—यह कर्मयोग हो गया। स्वयं संसारसे अलग होकर चिन्मयतामें स्थित हो जाय—यह ज्ञानयोग हो गया। स्वयं भगवान्‌में लग जाय—यह भक्तियोग हो गया।

शरणागतिमें न तो सांसारिक दीनता है और न पराधीनता ही है। कारण कि भगवान् 'पर' नहीं हैं, प्रत्युत 'स्वकीय' हैं। प्रकृति तथा उसका कार्य 'पर' है। अतः प्रकृति तथा उसके कार्य (क्रिया और पदार्थ)-की अधीनतामें ही पराधीनता है। भगवान्‌की अधीनतामें तो परम स्वाधीनता है। जैसे, माता-पिताके भक्त पुत्रमें माता-पिताकी पराधीनता नहीं होती, प्रत्युत कर्तव्यका पालन होता है; क्योंकि माता-पिता 'पर' नहीं हैं, प्रत्युत 'निज' (अपने) हैं। सांसारिक दीनतामें तो कुछ लेनेका भाव रहता

है, पर शरणागतिमें कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत अपने-आपको देना है। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीव सदासे ही भगवान्‌का है। भगवान्‌के साथ इस नित्य सम्बन्धकी स्मृति ही शरणागति है।

भगवान्‌ने अपनेको भक्तोंके पराधीन कहा है— **'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज'** (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)। यह प्रेमकी विलक्षणता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं। वास्तवमें भगवान् पराधीन नहीं हैं, प्रत्युत पराधीनकी तरह (इव) हैं। पराधीनता वहाँ होती है, जहाँ भेद हो। भक्तिमें भेद मिटकर भगवान् तथा भक्तमें अभिन्नता हो जाती है, फिर पराधीनताका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जब 'पर' (क्रिया और पदार्थ)-का सम्बन्ध सर्वथा मिट जाता है, तब भगवान्‌में प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। प्रेममें न तो कोई दूसरा है, न कोई पराया है। अतः प्रेममें पराधीनताकी गन्ध भी नहीं है।

भक्तियोग साध्य है। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग साधन हैं। संसारके बन्धन (जन्म-मरण)-से छूटनेका

नाम मुक्ति है। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगसे मुक्ति होती है*। भक्तियोगमें मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति होती है। इसलिये भक्तियोग विशेष है।

* भगवान्‌ने ज्ञानयोग और कर्मयोगको समकक्ष कहा है—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ४-५)

'बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

'सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही ठीक देखता है।'

ज्ञानयोग	कर्मयोग	भक्तियोग
१. आध्यात्मिक साधना	भौतिक साधना	आस्तिक साधना
२. जाननेकी शक्ति	करनेकी शक्ति	माननेकी शक्ति
३. विवेककी मुख्यता	क्रियाकी मुख्यता	भाव (श्रद्धा-विश्वास)-की मुख्यता
४. स्वरूपको जानना	सेवा करना	भगवान्को मानना
५. स्वरूपपरायणता	कर्तव्यपरायणता	भगवत्-परायणता
६. स्वाश्रय	धर्म (कर्तव्य)-का आश्रय	भगवदाश्रय
७. अहंताका त्याग	कामनाका त्याग	ममताका त्याग
८. अहंताको मिटाना	अहंताको शुद्ध करना	अहंताको बदलना
९. अपने लिये उपयोगी	संसारके लिये उपयोगी	भगवान्के लिये उपयोगी

ज्ञानयोग	कर्मयोग	भक्तियोग
१०. 'अक्षर' की प्रधानता	'क्षर' की प्रधानता	'पुरुषोत्तम' की प्रधानता
११. ज्ञातज्ञातव्यता	कृतकृत्यता	प्राप्तप्राप्तव्यता
१२. अखण्डरस	शान्तरस	अनन्तरस
१३. तात्त्विक-सम्बन्ध	नित्य-सम्बन्ध	आत्मीय-सम्बन्ध
१४. परमात्मासे एकता	परमात्मासे समीपता	परमात्मासे अभिन्नता
१५. बोधकी प्राप्ति	योगकी प्राप्ति	प्रेमकी प्राप्ति
१६. स्वाधीनता	उदारता	आत्मीयता
१७. स्वरूपमें स्थिति होती है	जड़का आकर्षण मिटता है	भगवान्‌में आकर्षण होता है
१८. कर्तृत्वका त्याग	भोक्तृत्वका त्याग	ममत्वका त्याग
१९. आत्मसुखसे सुखी होना	संसारके सुखसे सुखी होना	भगवान्‌के सुखसे सुखी होना

ज्ञानयोग	कर्मयोग	भक्तियोग
२०. कुछ भी न करना	संसारके लिये करना	भगवान्‌के लिये करना
२१. प्रकृतिके अर्पण करना	संसारके अर्पण करना	भगवान्‌के अर्पण करना
२२. विरक्ति	अनासक्ति	अनुरक्ति
२३. देहाभिमान बाधक है	कामना बाधक है	भगवद्विमुखता बाधक है
२४. विचारकी मुख्यता	उद्योगकी मुख्यता	विश्वासकी मुख्यता
२५. कर्म भस्म हो जाते हैं	कर्म अकर्म हो जाते हैं	कर्म दिव्य हो जाते हैं
२६. कुछ भी न चाहना	दूसरोंकी चाह पूरी करना	भगवान्‌की चाहमें अपनी चाह मिलाना
२७. किसीको भी अपना न मानना	सभीको (सेवाके लिये) अपना मानना	एक (भगवान्)-को ही अपना मानना

साधक, साध्य तथा साधन

एक सत्तामात्रके सिवाय और कुछ नहीं है। उस सत्तामें न 'मैं' है, न 'तू' है, न 'यह' है और न 'वह' है। संसारकी सत्ता हमारी मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। सत्तामात्र 'है' है और संसार 'नहीं' है। 'नहीं' नहीं ही है और 'है' है ही है— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। 'नहीं' का अभाव स्वतः-स्वाभाविक है और 'है' का भाव स्वतः-स्वाभाविक है। वह 'है' ही हमारा साध्य है। जो 'नहीं' है, वह हमारा साध्य कैसे हो सकता है? उस 'है' का अनुभव करना नहीं है, वह तो अनुभवरूप ही है।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो साधक वह है, जो साध्यके बिना नहीं रह सकता और साध्य वह है, जो साधकके बिना नहीं रह सकता। साधक साध्यसे अलग नहीं हो सकता और साध्य साधकसे अलग नहीं हो सकता। कारण कि साधक और साध्यकी

सत्ता एक ही है। 'है' से अलग कोई हो सकता ही नहीं। इसलिये अगर हम साधक हैं तो साध्यकी प्राप्ति तत्काल होनी चाहिये। साधक वही है, जो साध्यके बिना अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न करे। वह साध्यके सिवाय किसीका आश्रय न ले, न पदार्थका, न क्रियाका।

जो साध्यके बिना रहे, वह साधक कैसा और जो साधकके बिना रहे, वह साध्य कैसा? जो माँके बिना रह सके, वह बच्चा कैसा और जो बच्चेके बिना रह सके, वह माँ कैसी? हमारा साध्य हमारे बिना नहीं रह सकता, रहनेकी ताकत ही नहीं; क्योंकि मूलमें सत्ता एक ही है। जैसे समुद्र और लहरमें एक ही जल-तत्त्वकी सत्ता है, ऐसे ही साधक और साध्यमें एक ही सत्ता है। लहररूपसे केवल मान्यता है। जबतक लहररूप शरीर (जड़ता)-से सम्बन्ध है, तबतक साधक है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक नहीं रहता, केवल साध्य रहता है।

अगर साधक साध्यके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि वह साध्यके सिवाय अन्य (भोग तथा संग्रह)-का भी साधक है। उसने अपने मनमें दूसरेको भी सत्ता दी है। अगर साध्य साधकके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि साध्यके सिवाय साधकका अन्य भी कोई साध्य है अर्थात् भोग तथा संग्रह भी साध्य है। हृदयमें नाशवान्‌का जितना महत्त्व है, उतनी ही साधकपनेमें कमी है। साधकपनेमें जितनी कमी रहती है, उतनी ही साध्यसे दूरी रहती है। पूर्ण साधक होनेपर साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये माननेसे ही साधकको साध्यकी अप्राप्ति दीखती है। साध्यके सिवाय अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही उसकी प्राप्तिका बढ़िया उपाय है। इसलिये साधककी दृष्टि केवल इस तरफ रहनी चाहिये कि संसार नहीं है। संसारका पहले भी अभाव था, बादमें भी अभाव हो जायगा और बीचमें भी वह प्रतिक्षण अभावमें

जा रहा है। संसारकी स्थिति है ही नहीं। उत्पत्ति-प्रलयकी धारा ही स्थितिरूपसे दीखती है।

साधकके लिये साध्यमें विश्वास और प्रेम होना बहुत जरूरी है। विश्वास और प्रेम उसी साध्यमें होना चाहिये, जो विवेक-विरोधी न हो। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुमें विश्वास और प्रेम करना विवेक-विरोधी है। विश्वास और प्रेम—दोनोंमें कोई एक भी हो जाय तो दोनों स्वत: हो जायँगे। विश्वास दृढ़ हो जाय तो प्रेम अपने-आप हो जायगा। अगर प्रेम नहीं होता तो समझना चाहिये कि विश्वासमें कमी है अर्थात् साध्य (परमात्मा)-के विश्वासके साथ संसारका विश्वास भी है। पूर्ण विश्वास होनेपर एक सत्ताके सिवाय अन्य (संसार)-की सत्ता ही नहीं रहेगी। साध्यमें विश्वासकी कमी होगी तो साधनमें भी विश्वासकी कमी होगी अर्थात् साध्यके सिवाय अन्य इच्छाएँ भी होंगी। जितनी दूसरी इच्छा है, उतनी ही साधनमें कमी है।

सम्पूर्ण इच्छाओंके मूलमें एक परमात्माकी ही

इच्छा है। उसीपर सम्पूर्ण इच्छाएँ टिकी हुई हैं। हमसे भूल यह होती है कि अपनी इस स्वाभाविक (परमात्माकी) इच्छाको हम शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहते हैं। वास्तवमें परमात्माकी प्राप्तिमें शरीर अथवा संसारकी किञ्चिन्मात्र भी जरूरत नहीं है। परमात्मा अपनेमें हैं; अतः कुछ न करनेसे ही उनका अनुभव होगा। कुछ करनेके लिये तो शरीरकी आवश्यकता है, पर कुछ न करनेके लिये शरीरकी क्या आवश्यकता है? कुछ देखनेके लिये नेत्रोंकी आवश्यकता है, पर कुछ न देखनेके लिये नेत्रोंकी क्या आवश्यकता है? हाँ, नामजप, कीर्तन आदि साधन अवश्य करने चाहिये; क्योंकि इनको करनेसे कुछ न करनेकी सामर्थ्य आती है।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। हमारा सम्बन्ध न तो शरीरके साथ है और न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंके साथ है। हम परमात्माके हैं—इस सत्यपर साधकको दृढ़ विश्वास करना चाहिये।

अगर दृढ़ विश्वास न कर सके तो भगवान्से माँगे। हम शरीर-संसारके हैं—यह भूल है। भूलको भूल समझनेमें देरी लगती है, पर भूल समझनेपर फिर भूल मिटनेमें देरी नहीं लगती।

यह नियम है कि परमात्माकी प्राप्ति असत् (पदार्थ और क्रिया)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत असत्के सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये साधकको तीन बातोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता है—

(१) मेरा कुछ भी नहीं है।

(२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

(३) मैं कुछ नहीं हूँ।

अब इन तीन बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। पहली बात है—मेरा कुछ भी नहीं है। इसको स्वीकार करनेके लिये साधकको इस बातका मनन करना चाहिये कि हम अपने साथ क्या लाये हैं और अपने साथ क्या ले जायँगे? मनन करनेसे साधकको पता लगेगा कि हम अपने साथ कुछ लाये नहीं और

अपने साथ कुछ ले जा सकते नहीं। तात्पर्य यह निकला कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु आने और जानेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। कारण कि स्वयं मिलने-बिछुड़नेवाला, उत्पन्न-नष्ट होनेवाला, आने-जानेवाला नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है।

दूसरी बात है—मेरेको कुछ नहीं चाहिये। साधकको विचार करना चाहिये कि जब संसारमें कोई वस्तु मेरी है ही नहीं, तो फिर मेरेको क्या चाहिये? शरीरको अपना माननेसे ही चाह पैदा होती है कि हमें रोटी चाहिये, जल चाहिये, कपड़ा चाहिये, मकान चाहिये आदि-आदि। साधक इस बातपर विचार करे कि शरीरसे अलग होकर मेरेको क्या चाहिये? तात्पर्य है कि जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरा कुछ भी नहीं

है, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

तीसरी बात है—मैं कुछ नहीं हूँ। शरीर और संसारको तो सब देखते हैं, पर 'मैं' को किसीने नहीं देखा है। शरीरकी प्रतीति होती है और स्वयंका अनुभव होता है, पर 'मैं' की न तो प्रतीति होती है और न अनुभव ही होता है। 'मैं' का भान होता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि 'मैं' कुछ नहीं है। जिसमें संसारकी ममता और परमात्माकी जिज्ञासा है, उसको 'मैं' कह देते हैं, पर वास्तवमें 'मैं' कुछ नहीं है। सुषुप्तिमें स्वयं तो रहता है, पर 'मैं' नहीं रहता। सुषुप्तिमें स्वयंके भावका और 'मैं' के अभावका अनुभव सबको होता है।

मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इन दो बातोंकी सिद्धि होते ही 'मैं' सत्तामात्रमें अर्थात् 'है' में विलीन हो जाता है।

तात्पर्य है कि चेतन–अंश चेतन–तत्त्वमें और जड़–अंश जड़में विलीन हो जाता है। फिर एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं रहता।

प्रकृतिका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। शरीरादि पदार्थोंका आश्रय 'पराश्रय' है और क्रियाका आश्रय 'परिश्रम' है। परमात्मप्राप्तिके लिये क्रिया और पदार्थकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। संसारमें तो 'करना' मुख्य है, पर परमात्मामें 'न करना' ही मुख्य है। शरीर और संसारकी सहायतासे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। जो तत्त्व सब जगह परिपूर्ण है, उसकी प्राप्ति 'करने' से कैसे होगी? करनेसे तो उलटे वह दूर होगा!

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, बल आदि सब प्रकृतिके हैं। इनका आश्रय लेना प्रकृतिका आश्रय है। प्रकृतिका आश्रय रखनेपर परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? शरीर प्रकृतिका होनेसे हमारा नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इसलिये

शरीरके द्वारा जो कुछ भी किया जाय, वह केवल संसारके लिये ही किया जाना चाहिये। शरीरसे जप, ध्यान, पूजन, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी किया जाय, वह इस भावसे किया जाय कि दूसरोंका हित हो। अपने लिये कुछ भी करना भोग है, योग नहीं। तात्पर्य हुआ कि शरीर संसारका अंश है, इसलिये शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया संसारके लिये ही है, हमारे लिये नहीं। हमारे लिये केवल परमात्मा हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं। अतः पराश्रय और परिश्रम भोग है। जो पराश्रयको छोड़कर भगवदाश्रयको अपनाता है और परिश्रमको छोड़कर विश्रामको अपनाता है, वह योगी होता है। परन्तु जो पराश्रय और परिश्रमको अपनाता है, वह भोगी होता है।

पराश्रय और परिश्रममें सभी पराधीन हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राममें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं। पराश्रय और परिश्रम तो संसारके लिये हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राम अपने लिये हैं। साधकको

अपनेमें जितनी कमी दीखती है, उतना ही पराश्रय और परिश्रम है। भगवदाश्रय और विश्रामके आते ही मानव-जीवन पूर्ण हो जाता है। कारण कि एक भगवान्‌के सिवाय और कोई ऐसा नहीं है, जो सदा हमारे साथ रहे, कभी हमसे बिछुड़े नहीं। संसारकी प्राप्तिके लिये क्रिया है और परमात्माकी प्राप्तिके लिये विश्राम है। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और अक्रियता अर्थात् विश्रामसे शक्तिका संचय होता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय-तत्त्वसे ही प्रकट होती हैं। मनुष्य दिनभर परिश्रम करके रातको सोता है तो निद्रासे उसकी थकावट मिट जाती है और पुनः कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु निद्राका सुख तामस होता है—'**निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्**' (गीता १८। ३९)। अपने लिये विश्राम करना अर्थात् कुछ न करना भोग है, पर परमात्माके लिये विश्राम करना साधन है; क्योंकि परमात्मा परम विश्राम-स्वरूप हैं। अतः विश्राम अपने लिये न

होकर परमात्माके लिये होना चाहिये। नित्य परमात्म-सत्तामें निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माके लिये विश्राम करना है। परमात्माके लिये होनेवाला विश्राम तामस नहीं होता, प्रत्युत सात्त्विक होकर गुणातीत हो जाता है। इसलिये साधकके लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं—भगवदाश्रय और विश्राम। भगवदाश्रय और विश्रामसे पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है और सांसारिक इच्छाएँ मिट जाती हैं। अगर साधकका भगवान्‌पर विश्वास न हो, प्रत्युत अपनेपर विश्वास हो तो वह स्वाश्रयको अपना सकता है। अगर साधकका न तो भगवान्‌पर विश्वास हो, न अपनेपर विश्वास हो तो वह धर्मका अर्थात् कर्तव्यका आश्रय अपना सकता है। मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह भगवान्‌का आश्रय है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये—यह 'स्व' का आश्रय है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरोंके हितके लिये है—यह धर्मका आश्रय है। भगवान्‌का आश्रय 'भक्तियोग' है। 'स्व' का आश्रय 'ज्ञानयोग' है।

धर्मका आश्रय 'कर्मयोग' है। यद्यपि तीनों ही योगमार्गोंसे पदार्थ और क्रियारूप प्रकृतिका आश्रय छूट जाता है और सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है, तथापि इन तीनोंमें भगवान्‌का आश्रय सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि मूलमें हम भगवान्‌के ही अंश हैं। भगवदाश्रयसे मुक्तिके साथ-साथ भक्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

एक 'है' (सत्तामात्र)-के सिवाय और कुछ नहीं है—ऐसा जाननेसे मुक्ति हो जाती है और वह 'है' अपना है—ऐसा माननेसे भक्ति हो जाती है। वास्तवमें जो 'है', वही अपना हो सकता है। जो 'नहीं' है, वह अपना कैसे हो सकता है? अगर साधक असत्‌की सत्ता ही स्वीकार न करे और अपना कोई आग्रह न रखे तो भक्ति अपने-आप होती है।

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।   1360▲

तू-ही-तू

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

तू-ही-तू

(१)

उपनिषद्‌में आता है कि आरम्भमें एकमात्र अद्वितीय सत् ही विद्यमान था— **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य० ६। २। १)। वह एक ही सत्स्वरूप परमात्मतत्त्व एकसे अनेकरूप हो गया—

(१) **सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।**

(छान्दोग्य० ६। २। ३)

(२) **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।**

(तैत्तिरीय० २। ६)

(३) **एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।** (कठ० २। २। १२)

एकसे अनेक होनेपर भी वह एक ही रहा, उसमें नानात्व नहीं आया—

(१) 'नेह नानास्ति किञ्चन'

(बृहदारण्यक० ४।४।१९, कठ० २।१।११)

(२) 'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति'

(गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्)

(३) 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'

(बृहदारण्यक० ३।४।१)

(४) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

(छान्दोग्य० ३।१४।१)

(५) 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदम्'

(मुण्डक० २।२।११)

इसलिये श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने ब्रह्माजीसे कहा है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(२।९।३२)

'सृष्टिके पहले भी मैं ही था, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था। सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ।

जो सत्, असत् और उससे परे है, वह सब मैं ही हूँ। सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ और इन सबका नाश हो जानेपर जो कुछ बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

(१) **अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥**

(१०।२०)

'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

(२) **सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।**

(१०।३२)

'सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

(३) '**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**'

(७।७)

'मेरे सिवाय इस जगत्‌का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

(४) '**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९)

'सब कुछ परमात्मा ही हैं।'

(५) **'सदसच्चाहमर्जुन'** (९। १९)

'सत् और असत् भी मैं ही हूँ।'

(६) **न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥** (१०। ३९)

'वह चर-अचर कोई प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

सन्तोंने भी अपना अनुभव बताते हुए कहा है—

(१) तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

(२) सब जग ईश्वर-रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

(३) सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किंधा० ३)

(४) निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

(५) जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।

(मानस, बाल० ७ ग)

(२)

गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि मेरी दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा और परा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली भगवान्‌की 'अपरा प्रकृति' है और जीवरूप बनी हुई आत्मा 'परा प्रकृति' है*। अपरा और परा—ये दोनों भगवान्‌की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं। शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इसलिये भगवान्‌की शक्ति होनेसे ये दोनों (अपरा और परा) भगवान्‌से अभिन्न हैं। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (ताकत)-को अपनेसे

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(गीता ७। ४-५)

अलग करके नहीं दिखा सकता, ऐसे ही अपरा और पराको भगवान्‌से अलग करके नहीं देखा जा सकता। तात्पर्य यह निकला कि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌से अभिन्न होनेके कारण भगवान्‌का स्वरूप ही हैं।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तीन लोक, चौदह भुवन, जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, पढ़ने, चिन्तन करने तथा कल्पना करनेमें आता है, उसमें 'अपरा' और 'परा'—इन दो प्रकृतियोंके सिवाय कुछ भी नहीं है। जो देखने, सुनने, पढ़ने, चिन्तन करने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, चिन्तन किया तथा कल्पना किया जाता

है, वह सब-का-सब 'अपरा' है। परन्तु जो देखता, सुनता, पढ़ता, चिन्तन करता तथा कल्पना करता है, वह 'परा' है। जितने भी शरीर हैं, वे सब-के-सब 'अपरा' के अन्तर्गत हैं और जितने भी जीव हैं, वे सब-के-सब 'परा' के अन्तर्गत हैं। अतः अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तथा बाहर और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें आठ अपरा, एक परा और एक भगवान्—इन दसके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात् एक भगवान्के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है।

अपरा प्रकृतिको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेसे ही जीवको अपरा (जगत्), परा (जीव) और परमात्मा—तीनों अलग-अलग दिखायी देते हैं। वास्तवमें परमात्मा ही हैं, प्रकृति है ही नहीं। प्रकृतिकी तरफ दृष्टि होनेसे ही प्रकृति है। दृष्टि न हो तो प्रकृति है ही नहीं। द्रष्टा भी दृश्यके सम्बन्धसे है। साक्षी भी

साक्ष्यके सम्बन्धसे है। जब हम अपनेको शरीर मानते हैं, तब भगवान् हमारे लिये संसार बन जाते हैं अर्थात् हमें संसार-रूपसे दीखने लगते हैं। जब अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं तो फिर उसमें मैं-तूका भेद कैसे हो सकता है?

अगर हम अपनेको देखें तो अपरा और पराके सिवाय हम कुछ नहीं हैं। हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्—ये सब अपरा हैं और हम स्वयं जीवरूपसे परा हैं। परा-अपरा दोनों भगवान्‌की प्रकृतियाँ हैं; अत: केवल भगवान् ही रहे! हमारी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही! 'मैं' नामसे कुछ नहीं रहा!

प्रकृति और प्रकृतिवाला (शक्ति और शक्तिमान्) एक होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक हैं। एक ही अनेकरूपसे दीखता है और अनेकरूपसे दीखते हुए भी वह एक है। भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० ११। २८। ६)

'जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हैं। वे परमात्मा ही विश्व बनाते हैं और वे ही विश्व बनते हैं। वे ही विश्वके रक्षक हैं और वे ही रक्षित हैं। वे ही सर्वात्मा भगवान् विश्वका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह विश्व भी वे ही हैं।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आया है—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।

(३। १०। ६)

'अन्न भी मैं ही हूँ और अन्नको खानेवाला भी मैं ही हूँ।'

संसारको सत्ता देकर उसको अपना मानने और उसकी आवश्यकताका अनुभव करनेसे मनुष्यको परमात्मासे दूरी, भेद और भिन्नता दीखती है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌को अपना माने और उनकी आवश्यकताका अनुभव करे। इन दो बातोंका पालन करनेसे ही साधकका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और परमात्मासे समीपता, अभेद तथा अभिन्नताका अनुभव हो जायगा। तात्पर्य यह हुआ कि साधक जबतक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ भी सत्ता मानता है, तबतक उसकी परमात्मासे दूरी, भेद तथा भिन्नता बनी रहती है। एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—इस

वास्तविकताका अनुभव होनेपर दूरी, भेद तथा भिन्नता मिट जाती है और साधक साध्यमें लीन हो जाता है।

(३)

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह गीताका सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है और इसका अनुभव करनेवालेको भगवान्‌ने अत्यन्त दुर्लभ महात्मा कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कहा है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १९)

'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें, मन, वाणी तथा शरीरके बर्तावमें मेरी ही भावना की जाय।'

उपनिषदोंमें इस बातको समझनेके लिये तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—सोनेका, लोहेका और मिट्टीका। जैसे सोनेके अनेक गहने होते हैं। उन गहनोंकी आकृति, नाम, रूप, तौल, उपयोग, मूल्य आदि अलग-अलग होनेपर भी उनमें सोना एक ही होता है। लोहेके अनेक अस्त्र-शस्त्र होते हैं, पर उनमें लोहा एक ही होता है। मिट्टीके अनेक बर्तन होते हैं, पर उनमें मिट्टी एक ही होती है। ऐसे ही भगवान्‌से उत्पन्न हुई सृष्टिमें अनेक प्राणी, पदार्थ आदि होनेपर भी उनमें भगवान् एक ही हैं।

सोनेसे बने हुए गहनोंमें सोना प्रत्यक्ष दीखता है, लोहेसे बने हुए अस्त्र-शस्त्रोंमें लोहा प्रत्यक्ष दीखता है और मिट्टीसे बने हुए बर्तनोंमें मिट्टी प्रत्यक्ष दीखती है; परन्तु परमात्मासे बने हुए संसारमें परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं दीखते। इसलिये सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस बातको समझनेके लिये गेहूँके खेतका

दृष्टान्त दिया जाता है।

किसानलोग गेहूँकी हरी-भरी खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। खेतीको गाय खा जाती है तो वे कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि गायने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया! खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी दिखायी न दे, पर यह गेहूँ है—इसमें किसानको किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं होता। कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो तो वह उसको गेहूँ नहीं मानेगा, प्रत्युत कहेगा कि यह तो घास है, गेहूँ कैसे हुआ? मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, मैं जानता हूँ कि गेहूँ कैसा होता है। परन्तु किसान यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जिसको पशु खाया करते हैं। यह तो गेहूँ है। कारण कि आरम्भमें बीजके रूपमें गेहूँ ही था और अन्तमें भी इसमेंसे गेहूँ ही निकलेगा। अत: बीचमें खेतीरूपसे यह गेहूँ ही है। जो आरम्भ और अन्तमें होता

है, वह बीचमें भी होता है—यह सिद्धान्त है—
'यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।'
(श्रीमद्भा० ११। २४। १७)

भगवान् सम्पूर्ण सृष्टिके आदि बीज हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज (मूल कारण) है, वह बीज मैं ही हूँ; क्योंकि वह चर-अचर कोई प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

सांसारिक बीज तो वृक्षसे पैदा होता है और फिर वृक्षको पैदा करके स्वयं नष्ट हो जाता है, पर भगवान् पैदा नहीं होते और अनन्त सृष्टियोंको पैदा करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों रहते हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको 'सनातन' और 'अव्यय' बीज कहा है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

(गीता ७। १०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९। १८)

आमके बगीचेमें आमका एक फल भी न हो तो भी वह बगीचा आमका ही कहलाता है। कारण कि पहले भी आमके बीज थे, फिर उनसे वृक्ष उत्पन्न हुए और अन्तमें उनमें आम ही निकलेंगे, इसलिये बीचमें भी वह आमका ही बगीचा कहलाता है। लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती होती है; जैसे—गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है, बाजरेसे बाजरा ही पैदा होता है, ज्वारसे ज्वार ही पैदा होता है, मक्केसे मक्का ही पैदा होता है, आमसे आम ही पैदा होता है, आदि-आदि। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्‌रूपी बीज इतना विलक्षण है कि उस एक ही बीजसे अनन्त भेदोंवाली सृष्टि पैदा हो जाती है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

'हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १) और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५), फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? सोनेके गहनोंमें सोना दीखता है और गेहूँकी खेतीमें गेहूँ नहीं दीखता—इसका तात्पर्य दीखने या न दीखनेमें नहीं है, प्रत्युत तत्त्वको एक बतानेमें है। सभी दृष्टान्तोंका तात्पर्य है कि तत्त्व एक ही है, चाहे दीखे या न दीखे। भगवान् कहते हैं—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

(गीता ९। १९)

अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है, मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् भी भगवान्‌का स्वरूप है, असत् भी भगवान्‌का स्वरूप है। सुन्दर पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान् ही! वे चाहे किसी भी रूपमें आयें, उनकी मरजी है। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला करते हैं। वराह (सूअर)-का रूप धारण करके वे वराहकी तरह लीला करते हैं, मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह लीला करते हैं। नरसिंहरूपसे वे प्रह्लादजीको चाटते हैं!

भगवान् उत्तङ्क ऋषिसे कहते हैं—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

भगवान् सत्ययुगमें सत्ययुगकी लीला करते हैं, कलियुगमें कलियुगकी लीला करते हैं। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझना चाहिये कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही लीला करें, हमारी दृष्टि उनको छोड़कर कहीं जानी ही नहीं चाहिये। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी! ऐसे ही जब सब रूपोंमें भगवान् ही हों तो भगवान् कैसे छिपेंगे? कहाँ छिपेंगे? किसके पीछे छिपेंगे? तात्पर्य है कि एक परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं। उस परमात्मामें न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है। न भूत है, न भविष्य है, न वर्तमान है। न सर्ग-महासर्ग है, न प्रलय-महाप्रलय है। न देवता है, न मनुष्य है, न राक्षस है। न पशु है, न पक्षी है। न प्रेत है, न पिशाच है। न जड़ है, न चेतन है। न स्थावर है, न जंगम है। एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। वे एक ही अनेक रूपोंमें बने हुए हैं। वे एक ही अनन्त रूपोंमें भासित हो रहे हैं।

(४)

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात हमें दीखे चाहे न दीखे, हमारे जाननेमें आये चाहे न आये, हमारे अनुभवमें आये चाहे न आये, पर हम दृढ़तासे इस बातको स्वीकार कर लें कि वास्तवमें बात यही सच्ची है। कमी है तो हमारे माननेमें कमी है, वास्तविकतामें कमी नहीं है। सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करनेके लिये क्रिया और पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत केवल भावकी आवश्यकता है। हमें केवल अपनी भावना बदलनी है। जब साधककी अन्तर्वृत्ति हो, तब एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है और जब साधककी बाह्यवृत्ति हो, तब जो कुछ दीखे, वह भगवान्‌की ही लीला है!

भगवान्‌की अपरा प्रकृतिके सम्मुख होनेसे ही हमारी भगवान्‌से विमुखता हो गयी है। अगर हम अपरासे विमुख हो जायँ और

जिसकी अपरा प्रकृति है, उसके (भगवान्‌के) सम्मुख हो जायँ तो वास्तविकताका अनुभव हो जायगा—'**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**' (गीता ७। १४)।

भगवान् कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझमें ही रहते हैं—ऐसा समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।'

'**न त्वहं तेषु ते मयि**' कहनेका तात्पर्य है कि तुम गुणोंमें उलझो मत। भगवान् तो सबमें ही हैं। वे गुणोंमें भी हैं। पर गुणोंमें उलझनेसे हम उनसे दूर हो जाते हैं। यदि हम भगवान्‌को सत्ता और महत्ता न देकर गुणोंको सत्ता और महत्ता देंगे तो हम जन्म-मरणमें चले

जायँगे— '**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। जैसे, गेहूँके खेतमें गेहूँ ही मुख्य होता है, पत्ती-डंठल नहीं। गेहूँके पौधेमें जड़ तामस है, डंठल राजस है, सिट्टा सात्त्विक है और गेहूँ (दाना) गुणातीत है। किसानका उद्देश्य केवल गेहूँको प्राप्त करनेका ही होता है। गेहूँको प्राप्त करनेके लिये ही वह सारी मेहनत करता है, खेतीमें जल-खाद आदि डालता है। गेहूँ प्राप्त होनेके बाद उसका पत्ती-डंठलसे कोई मतलब नहीं रहता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें पत्ती-डंठलका कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह साधकका उद्देश्य भी केवल भगवान्‌का ही होता है, सात्त्विक-राजस-तामस तीनों गुणोंका नहीं। जैसे गेहूँसे पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलसे किसानका कोई प्रयोजन नहीं होता, ऐसे ही भगवान्‌से उत्पन्न होनेपर भी सात्त्विक-राजस-तामस भावोंसे साधकका कोई प्रयोजन नहीं होता।

जैसे बालक मिट्टीका खिलौना चाहता है

तो पिताजी रुपये खर्च करके भी उसके लिये मिट्टीका खिलौना लाकर देते हैं। ऐसे ही हम संसारको चाहते हैं तो भगवान् संसाररूपमें हमारे सामने आ जाते हैं। हम शरीर बनते हैं तो भगवान् विश्व बन जाते हैं। शरीर बननेके बाद फिर विश्वसे भिन्न कुछ भी जाननेमें नहीं आता—यह नियम है।

सब कुछ भगवान् हैं—इसका चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत इसको स्वयंसे स्वीकार करना है। स्वीकार करते ही हमारी दृष्टि बदल जायगी। दृष्टिमें ही सृष्टि है। हमारी दृष्टि बदलेगी तो सारी सृष्टि बदल जायगी! इसलिये अपनी दृष्टि ऐसी बनाओ कि सब रूपोंमें भगवान् ही दीखने लग जायँ। यही सच्ची आस्तिकता है।

भक्तराज ध्रुव कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
भूतादिरादिप्रकृतिर्यस्य रूपं नतोऽस्मि तम्॥

(विष्णुपुराण १। १२। ५१)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और मूल प्रकृति—ये सब जिनके रूप हैं, उन भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ।'

अगर हमारे भीतर राग-द्वेष होते हैं तो हमने 'सब कुछ भगवान् हैं'—यह बुद्धिसे सीखा है, स्वयंसे स्वीकार नहीं किया है। बुद्धिसे सीखनेपर कल्याण नहीं होता, प्रत्युत स्वयंसे स्वीकार करनेपर कल्याण होता है। जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर राग-द्वेष कौन करे और किससे करे?

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

(५)

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं। मनकी स्फुरणामात्र भगवान् ही हैं। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन,

पापात्मा-पुण्यात्मा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब-का-सब केवल भगवान् ही हैं। शरीर-शरीरी, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, अपरा-परा, क्षर-अक्षर आदि सब केवल भगवान् ही हैं। जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर उसमें 'मैं' कहाँसे आये? 'मैं' है ही नहीं, केवल तू-ही-तू है—

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

अब भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी किस बातकी है? भगवत्प्राप्ति तत्काल होनेवाली वस्तु है। मान लो कि हम एक नदीको देख रहे हैं। किसी जानकार व्यक्तिने हमारेसे कहा कि यह नदी गङ्गाजी हैं। यह सुनते ही हमारी भावना बदल गयी, दृष्टि बदल गयी। इसमें देरी क्या लगी? परिश्रम (अभ्यास) क्या करना पड़ा? किस क्रिया और पदार्थकी आवश्यकता पड़ी? सब

कुछ भगवान् ही हैं—इस वास्तविक बातको स्वीकार करनेके लिये न कोई ग्रन्थ पढ़ना है, न कोई ध्यान करना है, न कोई चिन्तन करना है, न श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना है, न आँख मीचनी है, न कान मूँदने हैं, न नाक दबानी है, न जंगलमें जाना है, न गुफामें जाना है, न हिमालयमें जाना है! अपनी सत्ताको भी अलग न रखकर भगवान्‌में मिला देना है। 'मैं' और 'मेरा' को छोड़कर 'तू' और 'तेरा' को स्वीकार करना है। फिर 'तेरा' भी न रहे, प्रत्युत तू-ही-तू रह जाय। 'मैं' की जगह भी केवल भगवान् ही रह जायँ!

यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु सब समयमें मौजूद होती है, उसकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी अपेक्षा नहीं होती और जो वस्तु सब जगह मौजूद होती है, उसकी प्राप्ति किसी क्रिया तथा पदार्थसे नहीं होती। कहीं जानेसे जो परमात्मा मिलेंगे, वे ही परमात्मा जहाँ हम हैं, वहाँ पूरे-

के-पूरे हैं। कहीं जानेकी, कुछ बदलनेकी जरूरत नहीं है। केवल मन बदलनेकी जरूरत है। उनकी प्राप्तिकी सच्ची चाहना होनी चाहिये। उनकी प्राप्ति केवल इच्छामात्रसे होती है। जो केवल परमात्माकी प्राप्ति चाहता है, उसको तत्काल प्राप्ति होती है। देरी उसको लगती है, जिसको इच्छाकी कमीके कारण देरी सह्य है।

जो वस्तु दूर हो, उसकी प्राप्तिके लिये मार्ग होता है। जो वस्तु सर्वव्यापक हो, सब जगह परिपूर्ण हो, उसकी प्राप्तिके लिये मार्ग नहीं होता। उसकी प्राप्ति केवल चाहनासे होती है। चाहनामात्रसे केवल परमात्मा ही मिलते हैं, और कोई वस्तु नहीं मिलती। परमात्मा अद्वितीय हैं तो उनकी चाहना भी अद्वितीय होनी चाहिये। संसारकी प्राप्ति चाहनामात्रसे नहीं होती। संसारकी प्राप्ति 'करने' से होती है, परमात्माकी प्राप्ति 'न करने' से होती है।

मूलमें साधकके भीतर परमात्माकी लालसा

होनी चाहिये। अगर भीतरसे संसार अच्छा लगता है, संसारकी लालसा है तो परमात्मप्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे जिसके भीतर प्यास होती है, उसीको जल दीखता है, ऐसे ही जिसके भीतर संसारकी प्यास (लालसा) है, उसको संसार दीखता है और जिसके भीतर परमात्माकी प्यास है, उसको परमात्मा दीखते हैं। प्यास न हो तो वस्तु सामने रहते हुए भी नहीं दीखती। परमात्माकी प्यास हो तो जगत् लुप्त हो जाता है और जगत्की प्यास हो तो परमात्मा लुप्त हो जाते हैं। जिसके भीतर जगत्की प्यास है, वह जगत्का निर्माण कर लेता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५) और जिसके भीतर परमात्माकी प्यास है, वह परमात्माकी खोज कर लेता है—'**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्**' (गीता १५। ४)। जगत्की प्यास होनेसे जगत् न होते हुए भी मृगमरीचिकाकी तरह दीखने लग जाता है और परमात्माकी

प्यास होनेसे परमात्मा न दीखनेपर भी दीखने लग जाता है। परमात्माकी प्यास जाग्रत् होनेपर साधकको भूतकालका चिन्तन नहीं होता, भविष्यकी आशा नहीं रहती और वर्तमानमें उसको प्राप्त किये बिना चैन नहीं पड़ता।

(६)

अपरा, परा और परमात्मा—इन तीनोंमें अपरा और परा तो जाननेका विषय है, पर परमात्मा जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत माननेका विषय हैं। उनको माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता। रचना अपने रचयिताको कैसे जान सकती है? कार्य अपने कारणको कैसे जान सकता है? इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २६)

'हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकालमें हो चुके

हैं तथा जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे, उन सब प्राणियोंको तो मैं जानता हूँ, पर मुझे कोई भी नहीं जानता।'

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(१०।२)

'मेरे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षि; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ।'

जैसे अपने माता-पिताको हम जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं; क्योंकि जन्म लेते समय हमने उनको देखा ही नहीं, देखना सम्भव ही नहीं। ऐसे ही परमात्माको भी हम जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं। माताकी अपेक्षा भी पिताको जानना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि मातासे जन्म लेते समय तो हमारा शरीर बन चुका था, पर पितासे जन्म लेते समय हमारी (शरीरकी) सत्ता ही नहीं थी!

भगवान् सम्पूर्ण संसारके पिता हैं—'**अहं बीजप्रदः पिता**' (गीता १४। ४), '**पिताहमस्य जगतः**' (गीता ९। १७), '**पितासि लोकस्य चराचरस्य**' (गीता ११। ४३), '**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये परमात्माको माना ही जा सकता है। उनको जानना सर्वथा असम्भव है। जैसे, माता-पिताको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी (शरीरकी) सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। ऐसे ही परमात्माको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी सत्ता (होनापन) मानते हैं तो परमात्माकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। कारणके बिना कार्य कहाँसे आया? परमात्माके बिना हम स्वयं कहाँसे आये? जैसे 'हम नहीं हैं'—इस तरह अपने होनेपनका कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता, ऐसे ही 'परमात्मा नहीं हैं'—इस तरह परमात्माके होनेपनका भी कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता।

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह मान ही सकते हैं, जान नहीं सकते; क्योंकि यह समझके अन्तर्गत नहीं आता, प्रत्युत समझ (बुद्धि) इसके अन्तर्गत आती है।

(७)

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसका अनुभव करनेके तीन चरण हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. सब कुछ भगवान्‌का ही है।

२. सब कुछ भगवान् ही हैं।

३. भगवान्‌के सिवाय कभी कुछ हुआ ही नहीं।

देखने-सुननेमें जो कुछ आता है, वह सब मिलने और बिछुड़नेवाला है। जो मिला है, वह बिछुड़ जायगा—इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल-जितनी कोई वस्तु भी हमारी नहीं है। जो कुछ देखने-सुननेमें आता है, वह सब अपरा प्रकृति है, जो भगवान्‌की है। भगवान्‌ने अपरा प्रकृतिको

भी 'मेरी प्रकृति' कहा है—'**अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**' (गीता ७।४) और परा प्रकृतिको भी 'मेरी प्रकृति' कहा है—'**प्रकृतिं विद्धि मे पराम्**' (गीता ७।५)। फिर हमारी क्या वस्तु हुई? सब कुछ भगवान्‌का ही हुआ! अतः जो कुछ दीखता है, वह हमारा नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का है—यह दृढ़तासे स्वीकार कर लें तो हमारा साधन शुरू हो जायगा। जबतक हम मिले हुएको अपना मानते रहेंगे, तबतक साधन शुरू नहीं होगा। मिले हुएको अपना मानते रहनेसे न तो विवेक दृढ़ होता है और न विश्वास ही दृढ़ होता है। इसलिये सन्तोंने, भक्तोंने कभी संसारको अपना नहीं माना, प्रत्युत केवल भगवान्‌को ही अपना माना—*'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*। 'मैं' भी हमारा नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का ही है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि सब भगवान्‌के ही हैं।

मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ भगवान्‌का ही है—इस सत्यकी स्वीकृति होते ही 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह सत्य प्रकट हो जायगा। कारण कि यह जगत् केवल जीवकी कल्पना है। जगत् न तो महात्माकी दृष्टिमें है और न परमात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवात्माकी दृष्टिमें है। महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९)। भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९।१९)। परन्तु जीवने अपने राग-द्वेषके कारण जगत्‌को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। वास्तवमें जगत्‌का नामोनिशान भी नहीं है। सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिमें केवल भगवान्-ही-भगवान् परिपूर्ण हैं। अगर यह बात हमारी समझमें नहीं आती तो हमारी समझमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं

है। भले ही हमारी समझमें न आये, पर सच्ची बात सच्ची ही रहेगी, झूठी कैसे हो जायगी? साधक कुछ भी करे, अन्तमें उसे सच्ची बातको स्वीकार करना ही पड़ेगा।

'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव होनेके बाद फिर **'सर्वम्'** भी नहीं रहता, प्रत्युत केवल **'वासुदेवः'** रह जाता है। इसीको श्रीमद्भागवतमें 'आत्यन्तिक प्रलय' कहा गया है (१२। ४। २३—३४) और इसीको गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने 'परम विश्राम' कहा है— ***'पायो परम बिश्रामु'*** (मानस, उत्तर० १३०। ३)। जैसे, जबतक गेहूँकी खेती रहती है, तबतक पत्ती-डंठल दीखते हैं। अन्तमें पत्ती-डंठल नहीं रहते, केवल गेहूँ रह जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि केवल वासुदेव-ही-वासुदेव विद्यमान है। अन्य कुछ है ही नहीं, कभी हुआ ही नहीं, कभी होगा ही नहीं, कभी हो सकता ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि एक परमात्माके सिवाय

कोई चीज कभी पैदा हुई ही नहीं! इस स्थितिका वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि वर्णन करनेवाला कोई (व्यक्ति) रहता ही नहीं!

भगवान् कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'जब सबमें परमात्मबुद्धि की जाती है, तब सब कुछ परमात्मा ही हैं—ऐसा दीखने लगता है। फिर इस परमात्मदृष्टिसे भी उपराम होनेपर सम्पूर्ण संशय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।'

'**उपरमेत्**' पदका तात्पर्य है कि साधक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस वृत्तिसे भी उपराम हो जाता है, इस वृत्तिको भी छोड़ देता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें 'सब कुछ' रहता ही नहीं। इसलिये वृत्ति छूटनेपर एक भगवान् ही रह जाते हैं। तात्पर्य है कि भक्त सर्वत्र परिपूर्ण भगवान्‌के शरणागत होकर अपने-आपको भी

भगवान्‌में ही लीन कर देता है। फिर शरणागत नहीं रहता, केवल शरण्य रह जाते हैं। 'मैं' नहीं रहता, केवल भगवान् रह जाते हैं। यही असली शरणागति है। ऐसी शरणागतिके बाद फिर परमप्रेमकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८। ५४)। भगवान् अपनी इच्छासे प्रेमलीलाके लिये एकसे दो हो जाते हैं—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'तत्त्वबोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भगवान्‌की इच्छासे होनेवाला यह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। इसलिये कभी भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं और कभी दो हो जाते हैं। प्रेममें यह मिलना और अलग

होना (मिलन और विरह) भगवान्‌की इच्छासे ही होता है, भक्तकी इच्छासे नहीं। इस प्रेमकी माँग मुक्त महापुरुषोंमें भी देखी जाती है। कारण कि योग और बोधकी प्राप्ति होनेपर तो सूक्ष्म अहम् रहता है*, पर प्रेमकी प्राप्ति होनेपर इस सूक्ष्म अहम्‌का भी सर्वथा अभाव हो जाता है। तभी कहा है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

उपसंहार

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—**'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'** (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। एक परमात्मा ही अनेकरूप बन जाते हैं और फिर अनेकरूपका त्याग करके एकरूप हो जाते हैं। अनेकरूपसे होनेपर भी वे एक ही रहते हैं।

* यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद पैदा करनेवाला होता है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही आचार्योंमें तथा उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है।

वे एक रहें या अनेक हो जायँ, यह उनकी मरजी है, उनकी लीला है। एक सोनेके सैकड़ों गहने बन जायँ और फिर गहने पुनः सोना हो जायँ अथवा एक खाँड़के सैकड़ों खिलौने बन जायँ और फिर खिलौने पुनः खाँड़ हो जायँ, फर्क क्या पड़ा? ऐसे ही भगवान् कुछ भी बन जायँ, फर्क क्या पड़ा? तत्त्व एक ही है और एक ही रहेगा। उस एक तत्त्वके सिवाय कभी कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। एकमात्र भगवान् ही थे, भगवान् ही हैं और भगवान् ही रहेंगे। वे एक ही भगवान् प्रेमी और प्रेमास्पदका रूप धारण करके प्रेमकी लीला करते हैं। उस प्रतिक्षण वर्धमान परमप्रेमकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

भगवान् आज ही मिल सकते हैं

परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम है। इतना सुगम दूसरा कोई काम नहीं है। परन्तु केवल परमात्माकी ही चाहना रहे, साथमें दूसरी कोई भी चाहना न रहे। कारण कि परमात्माके समान दूसरा कोई है ही नहीं*। जैसे परमात्मा अनन्य हैं, ऐसे ही उनकी चाहना भी अनन्य होनी चाहिये। सांसारिक भोगोंके प्राप्त होनेमें तीन बातें होनी जरूरी हैं—इच्छा, उद्योग और प्रारब्ध। पहले तो सांसारिक वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा होनी चाहिये, फिर उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करना चाहिये। कर्म करनेपर भी उसकी प्राप्ति तब होगी, जब उसके मिलनेका प्रारब्ध होगा। अगर प्रारब्ध नहीं होगा तो इच्छा रखते हुए और उद्योग करते हुए

---

* न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ (गीता ११। ४३)

'हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है!'

भी वस्तु नहीं मिलेगी। इसलिये उद्योग तो करते हैं नफेके लिये, पर लग जाता है घाटा! परन्तु परमात्माकी प्राप्ति इच्छामात्रसे होती है। उसमें उद्योग और प्रारब्धकी जरूरत नहीं है। परमात्माके मार्गमें घाटा कभी होता ही नहीं, नफा-ही-नफा होता है।

एक परमात्माके सिवाय कोई भी चीज इच्छामात्रसे नहीं मिलती। कारण यह है कि मनुष्यशरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। अपनी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर ही भगवान्‌ने हमारेको मनुष्यशरीर दिया है। दूसरी बात, परमात्मा सब जगह हैं। सुईकी तीखी नोक टिक जाय, इतनी जगह भी भगवान्‌से खाली नहीं है। अतः उनकी प्राप्तिमें उद्योग और प्रारब्धका काम ही नहीं है। कर्मोंसे वह चीज मिलती है, जो नाशवान् होती है। अविनाशी परमात्मा कर्मोंसे नहीं मिलते। उनकी प्राप्ति उत्कट इच्छामात्रसे होती है।

पुरुष हो या स्त्री हो, साधु हो या गृहस्थ हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, बालक हो या जवान हो, कैसा ही क्यों न हो, वह इच्छामात्रसे परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माके सिवाय न जीनेकी चाहना हो, न मरनेकी चाहना हो, न भोगोंकी चाहना हो, न संग्रहकी चाहना हो। वस्तुओंकी चाहना न होनेसे वस्तुओंका अभाव नहीं हो जायगा। जो हमारे प्रारब्धमें लिखा है, वह हमारेको मिलेगा ही। जो चीज हमारे भाग्यमें लिखी है, उसको दूसरा नहीं ले सकता— '**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**'। हमारेको आनेवाला बुखार दूसरेको कैसे आयेगा? ऐसे ही हमारे प्रारब्धमें धन लिखा है तो जरूर आयेगा। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें प्रारब्ध नहीं है।

परमात्मा किसी मूल्यके बदले नहीं मिलते। मूल्यसे वही वस्तु मिलती है, जो मूल्यसे छोटी होती है। बाजारमें किसी वस्तुके जितने रुपये लगते हैं, वह वस्तु उतने रुपयोंकी नहीं होती।

हमारे पास ऐसी कोई वस्तु (क्रिया और पदार्थ) है ही नहीं, जिससे परमात्माको प्राप्त किया जा सके। वह परमात्मा अद्वितीय है, सदैव है, समर्थ है, सब समयमें है और सब जगह है। वह हमारा है और हमारेमें है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८। ६१)। वह हमारेसे दूर नहीं है। हम चौरासी लाख योनियोंमें चले जायँ तो भी भगवान् हमारे हृदयमें रहेंगे। स्वर्ग या नरकमें चले जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। पशु-पक्षी या वृक्ष आदि बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। देवता बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापी, अन्यायी-से-अन्यायी बन जायँ तो भी वे भगवान् हमारे हृदयमें रहेंगे। ऐसे सबके हृदयमें रहनेवाले भगवान्की प्राप्ति क्या कठिन होगी? पर जीनेकी इच्छा, मानकी इच्छा, बड़ाईकी

इच्छा, सुखकी इच्छा, भोगकी इच्छा आदि दूसरी इच्छाएँ साथमें रहते हुए भगवान् नहीं मिलते। कारण कि भगवान्‌के समान तो भगवान् ही हैं। उनके समान दूसरा कोई था ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं, फिर वे कैसे मिलेंगे? केवल भगवान्‌की चाहना होनेसे ही वे मिलेंगे। अविनाशी भगवान्‌के सामने नाशवान्‌की क्या कीमत है? क्या नाशवान् क्रिया और पदार्थके द्वारा वे मिल सकते हैं? नहीं मिल सकते। जब साधक भगवान्‌से मिले बिना नहीं रह सकते, तब भगवान् भी उससे मिले बिना नहीं रहते; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है— '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११) 'जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'

मान लें कि कोई मच्छर गरुड़जीसे मिलना चाहे और गरुड़जी भी उससे मिलना चाहें तो पहले मच्छर गरुड़जीके पास पहुँचेगा या गरुड़जी

मच्छरके पास पहुँचेंगे? गरुड़जीसे मिलनेमें मच्छरकी ताकत काम नहीं करेगी। इसमें तो गरुड़जीकी ताकत ही काम करेगी। इसी तरह परमात्मप्राप्तिकी इच्छा हो तो परमात्माकी ताकत ही काम करेगी। इसमें हमारी ताकत, हमारे कर्म, हमारा प्रारब्ध काम नहीं करेगा, प्रत्युत हमारी चाहना ही काम करेगी। हमारी चाहनाके बिना और किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है।

हम तो भगवान्‌के पास नहीं पहुँच सकते तो क्या भगवान् भी हमारे पास नहीं पहुँच सकते? हम कितना ही जोर लगायें, पर भगवान्‌के पास नहीं पहुँच सकते। परन्तु भगवान् तो हमारे हृदयमें ही विराजमान हैं! हम भगवान्‌को दूर मानते हैं, इसलिये भगवान् हमसे दूर होते हैं। द्रौपदीने भगवान्‌को 'गोविन्द द्वारकावासिन्' कहकर पुकारा तो भगवान्‌को द्वारका जाकर आना पड़ा। वह यहाँ कहती तो वे चट यहीं प्रकट हो जाते! अगर हम ऐसा

मानते हैं कि भगवान् अभी नहीं मिलेंगे तो वे नहीं मिलेंगे; क्योंकि हमने आड़ लगा दी।

गोरखपुरकी एक घटना है। संवत् २००० से पहलेकी बात है। मैं गोरखपुरमें व्याख्यान देता था। वहाँ सेवारामजी नामके एक सज्जन थे, जो बैंकमें काम करते थे। एक दिन मैंने व्याख्यानमें कह दिया कि अगर आपका दृढ़ विचार हो जाय कि भगवान् आज मिलेंगे तो वे आज ही मिल जायँगे! उन सज्जनको यह बात लग गयी। उन्होंने विचार कर लिया कि हमें तो आज ही भगवान्‌से मिलना है। वे पुष्पमाला, चन्दन आदि ले आये कि भगवान् आयेंगे तो उनको माला पहनाऊँगा, चन्दन चढ़ाऊँगा! वे कमरा बन्द करके भगवान्‌के आनेकी प्रतीक्षामें बैठ गये। समयपर भगवान्‌के आनेकी सम्भावना भी हो गयी और सुगन्ध भी आने लगी, पर भगवान् प्रकट नहीं हुए। दूसरे दिन उन्होंने मेरेसे कहा कि आज आप मेरे घरसे भिक्षा लें। मैं कई

घरोंसे भिक्षा लेकर पाता था। उस दिन उनके घर गया तो उन्होंने मेरेसे पूछा कि भगवान् मिलनेवाले थे, सुगन्ध भी आ गयी थी, फिर बाधा क्या लगी कि वे मिले नहीं? मैंने कहा कि भाई! मेरेको इसका क्या पता? परन्तु मैं तुम्हारेसे पूछता हूँ कि क्या तुम्हारे मनमें यह बात आती थी कि इतनी जल्दी भगवान् कैसे मिलेंगे? वे बोले कि यह बात तो आती थी! मैंने कहा कि इसी बातने अटकाया! अगर मनमें यह बात होती कि भगवान् मेरेको अवश्य मिलेंगे, उनको मिलना ही पड़ेगा तो वे जरूर मिलते। भगवान् ऐसे कैसे जल्दी मिलेंगे—ऐसा भाव करके तुमने ही बाधा लगायी है।

अगर आप विचार कर लें कि भगवान् आज मिलेंगे तो वे आज ही मिल जायँगे! परन्तु मनमें यह छाया नहीं आनी चाहिये कि इतनी जल्दी कैसे मिलेंगे? भगवान् आपके कर्मोंसे अटकते नहीं। अगर आपके दुष्कर्मसे,

पापकर्मसे भगवान् अटक जायँ तो वे मिलकर भी क्या निहाल करेंगे? परन्तु भगवान् किसी कर्मसे अटकते नहीं। ऐसी कोई शक्ति है ही नहीं, जो भगवान्‌को मिलनेसे रोक दे। वे न तो पापकर्मोंसे अटकते हैं, न पुण्यकर्मोंसे अटकते हैं। वे सबके लिये सुलभ हैं। अगर भगवान् हमारे पापोंसे अटक जायँ तो हमारे पाप भगवान्‌से भी प्रबल हुए! अगर पाप प्रबल (बलवान्) हैं तो भगवान् मिलकर भी क्या निहाल करेंगे? जो पापोंसे ही अटक जाय, उसके मिलनेसे क्या लाभ? परन्तु भगवान् इतने निर्बल नहीं हैं, जो पापोंसे अटक जायँ। उनके समान बलवान् कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। आपकी जोरदार इच्छा हो जाय तो आप कैसे ही हों, भगवान् तो मिलेंगे, मिलेंगे, मिलेंगे! उनको मिलना पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही तो मानवजन्म मिला है, नहीं

तो पशुमें और मनुष्यमें क्या फर्क हुआ?

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी॥

सूकर कूकर ऊँट खर, बड़ पशुअन में चार।
तुलसी हरि की भगति बिनु, ऐसे ही नर नार॥

देवता भोगयोनि है। वे भी चाहते हैं कि भगवान् हमारेको मिलें—'**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः**' (गीता ११। ५२)। वे भगवान्‌को चाहते तो हैं, पर भोगोंकी इच्छाको नहीं छोड़ते। यही दशा मनुष्योंकी है। अगर आप हृदयसे भगवान्‌को चाहो तो उनको मिलना ही पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं है। पर आप ही बाधा लगा दो कि भगवान् नहीं मिलेंगे, तो फिर वे नहीं मिलेंगे! गीतामें साफ लिखा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

'वह तत्काल (उसी क्षण) धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! मेरे भक्तका पतन नहीं होता—ऐसी तुम प्रतिज्ञा करो।'

तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी यदि '**अनन्यभाक्**' हो जाय अर्थात् भगवान्‌के सिवाय कोई चाहना न रखे तो उसको भी साधु मान लेना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय पक्का कर लिया है कि भगवान् जरूर मिलेंगे।

आप केवल भगवान्‌की ही इच्छा करो, और कोई इच्छा मत करो। न जीनेकी इच्छा करो, न मरनेकी इच्छा करो। न मानकी इच्छा करो, न बड़ाईकी इच्छा करो। न भोगोंकी इच्छा करो, न रुपयोंकी इच्छा करो। केवल

एक भगवान्‌की इच्छा करो तो वे मिल जायँगे। कम-से-कम मेरी बातकी परीक्षा तो करके देखो! भगवान् आपको मिलते नहीं; क्योंकि आप उनको चाहते नहीं। आपके भीतर रुपयोंकी चाहना हो तो भगवान् बीचमें कूदकर क्यों पड़ेंगे? संसारमें सबसे रद्दी वस्तु रुपया है। रुपयोंसे रद्दी चीज दूसरी कोई है ही नहीं। ऐसी रद्दी चीजमें आपका मन अटका हुआ हो तो भगवान् कैसे मिलेंगे? रुपये देकर आप भोजन, वस्त्र, सवारी आदि खरीद सकते हो, पर रुपया खुद न तो खानेके काम आता है, न पहननेके काम आता है, न सवारीके काम आता है। तात्पर्य है कि रुपये काम नहीं आते, प्रत्युत उनका खर्च काम आता है।

परमात्मा इच्छामात्रसे मिलते हैं। उनको रोकनेकी ताकत किसीमें भी नहीं है। छोटा बालक रोता है तो माँ आ ही जाती है। बालक घरका कुछ भी काम नहीं करता, उल्टे काम

करनेमें आपको बाधा लगाता है, पर जब वह रोने लगता है, तब सब घरवाले उसके पक्षमें हो जाते हैं। सास-ससुर, देवर-जेठ सभी कहते हैं कि बहू! बालक रो रहा है, उसको उठा ले। माँको सब काम छोड़कर बालकको उठाना पड़ता है। बालकका एकमात्र बल रोना ही है—'**बालानां रोदनं बलम्**'। रोनेमें बड़ी ताकत है। आप सच्चे हृदयसे व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये रोने लग जाओ तो जितने भगवान्‌के भक्त हुए हैं, सन्त-महात्मा हुए हैं, वे सब-के-सब आपके पक्षमें हो जायँगे और भगवान्‌को उलाहना देंगे कि आप मिलते क्यों नहीं? वे ही भगवान्‌के सास-ससुर आदि हैं!

वास्तवमें भगवान् मिले हुए ही हैं। आपकी सांसारिक इच्छा ही उनको रोक रही है। आप रुपयोंकी इच्छा करते हो, भोगोंकी इच्छा करते हो तो भगवान् उनको जबर्दस्ती नहीं छुड़ाते। अगर आप सांसारिक इच्छाएँ छोड़कर केवल

भगवान्को ही चाहो तो आपको कौन रोक सकता है? आपको बाधा देनेकी किसीकी ताकत नहीं है। अगर आप भगवान्के लिये व्याकुल हो जाओ तो भगवान् भी व्याकुल हो जायँगे। आप संसारके लिये व्याकुल हो जाओ तो संसार व्याकुल नहीं होगा। आप संसारके लिये रोओ तो संसार राजी नहीं होगा। पर भगवान्के लिये रोओ तो वे भी रो पड़ेंगे।

बालक सच्चा रोता है या झूठा, यह माँ ही समझती है। बालकके आँसू तो आये नहीं, केवल ऊँ-ऊँ करता है तो माँ समझ लेती है कि यह ठगाई करता है! अगर बालक सच्चाईसे रो पड़े, उसके साँस ऊँचे चढ़ जायँ तो माँ सब काम भूल जायगी और चट उसको उठा लेगी। अगर माँ उस बालकके पास न जाय तो उस माँको मर जाना चाहिये! उसके जीनेका क्या लाभ! ऐसे ही सच्चे हृदयसे चाहनेवालेको भगवान् न मिलें तो भगवान्को मर जाना चाहिये!

एक साधु थे। उनके पास एक आदमी आया और उसने पूछा कि भगवान् जल्दी कैसे मिलें? साधुने कहा कि भगवान् उत्कट चाहना होनेसे मिलेंगे। उसने पूछा कि उत्कट चाहना कैसी होती है? साधुने कहा कि भगवान्‌के बिना रहा न जाय। वह आदमी ठीक समझा नहीं और बार-बार पूछता रहा कि उत्कट चाहना कैसी होती है? एक दिन साधुने उस आदमीसे कहा कि आज तुम मेरे साथ नदीमें स्नान करने चलो। दोनों नदीमें गये और स्नान करने लगे। उस आदमीने जैसे ही नदीमें डुबकी लगायी, साधुने उसका गला पकड़कर नीचे दबा दिया। वह आदमी थोड़ी देर नदीके भीतर छटपटाया, फिर साधुने उसको छोड़ दिया। पानीसे ऊपर आनेपर वह बोला कि तुम साधु होकर ऐसा काम करते हो! मैं तो आज मर जाता! साधुने पूछा कि बता, तेरेको क्या याद आया? माँ याद आयी, बाप याद आया, धन याद आया या स्त्री-पुत्र याद आये? वह बोला कि महाराज, मेरे तो प्राण निकले जा रहे थे, याद किसकी

आती? साधु बोले कि तुम पूछते थे कि उत्कट अभिलाषा कैसी होती है, उसीका नमूना मैंने तेरेको बताया है। जब एक भगवान्‌के सिवाय कोई भी याद नहीं आयेगा और उनकी प्राप्तिके बिना रह नहीं सकोगे, तब भगवान् मिल जायँगे। भगवान्‌की ताकत नहीं है कि मिले बिना रह जायँ।

भगवान् कर्मोंसे नहीं मिलते। कर्मोंसे मिलनेवाली चीज नाशवान् होती है। कर्मोंसे धन, मान, आदर, सत्कार मिलता है। परमात्मा अविनाशी हैं। वे कर्मोंका फल नहीं हैं, प्रत्युत आपकी चाहनाका फल है। परन्तु आपको परमात्माके मिलनेकी परवाह ही नहीं है, फिर वे कैसे मिलेंगे? भगवान् मानो कहते हैं कि मेरे बिना तेरा काम चलता है तो मेरा भी तेरे बिना काम चलता है। मेरे बिना तेरा काम अटकता है तो मेरा काम भी तेरे बिना अटकता है। तू मेरे बिना नहीं रह सकता तो मैं भी तेरे बिना नहीं रह सकता।

आपमें परमात्मप्राप्तिकी जोरदार इच्छा है ही नहीं। आप सत्संग करते हो तो लाभ जरूर होगा। जितना सत्संग करोगे, विचार करोगे, उतना लाभ होगा—इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति जल्दी नहीं होगी। कई जन्म लग जायँगे, तब उनकी प्राप्ति होगी। अगर उनकी प्राप्तिकी जोरदार इच्छा हो जाय तो भगवान्‌को आना ही पड़ेगा। वे तो हरदम मिलनेके लिये तैयार हैं! जो उनको चाहता है, उसको वे नहीं मिलेंगे तो फिर किसको मिलेंगे? इसलिये 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहते हुए सच्चे हृदयसे उनको पुकारो।

सच्चे हृदयसे प्रार्थना, जब भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्तवत्सल कान में, वह पहुँच झट ही जाय है॥

भक्त सच्चे हृदयसे प्रार्थना करता है तो भगवान्‌को आना ही पड़ता है। किसीकी ताकत नहीं जो भगवान्‌को रोक दे। जिसके भीतर एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई इच्छा

नहीं है, न जीनेकी इच्छा है, न मरनेकी इच्छा है, न मानकी इच्छा है, न सत्कारकी इच्छा है, न आदरकी इच्छा है, न रुपयोंकी इच्छा है, न कुटुम्बकी इच्छा है, उसको भगवान् नहीं मिलेंगे तो क्या मिलेगा? आप पापी हैं या पुण्यात्मा हैं, पढ़े-लिखे हैं या अपढ़ हैं, इस बातको भगवान् नहीं देखते। वे तो केवल आपके हृदयका भाव देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

वे हृदयकी बातको याद रखते हैं, पहले किये पापोंको याद रखते ही नहीं! भगवान्का अन्तःकरण ऐसा है, जिसमें आपके पाप छपते ही नहीं! केवल आपकी अनन्य लालसा छपती है। भगवान् कैसे मिलें? कैसे मिलें? ऐसी अनन्य लालसा हो जायगी तो भगवान् जरूर मिलेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। आप और

कोई इच्छा न करके, केवल भगवान्‌की इच्छा करके देखो कि वे मिलते हैं कि नहीं मिलते हैं! आप करके देखो तो मेरी भी परीक्षा हो जायगी कि मैं ठीक कहता हूँ कि नहीं! मैं तो गीताके बलपर कहता हूँ। गीतामें भगवान्‌ने कहा है— '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (४। ११) 'जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।' हमें भगवान्‌के बिना चैन नहीं पड़ेगा तो भगवान्‌को भी हमारे बिना चैन नहीं पड़ेगा। हम भगवान्‌के बिना रोते हैं तो भगवान् भी हमारे बिना रोने लग जायँगे! भगवान्‌के समान सुलभ कोई है ही नहीं! भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है,

उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्‌ने अपनेको तो सुलभ कहा है, पर महात्माको दुर्लभ कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

भगवान्‌के भक्त तो सब जगह नहीं मिलते, पर भगवान् सब जगह मिलते हैं। भक्त जहाँ भी निश्चय कर लेता है, भगवान् वहीं प्रकट हो जाते हैं—

आदि अन्त जन अनँत के, सारे कारज सोय।
जेहि जिव उर नहचो धरै, तेहि ढिग परगट होय॥

प्रह्लादजीके लिये भगवान् खम्भेमेंसे प्रकट हो गये—

प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े॥

(कवितावली ७। १२७)

भगवान् सबके परम सुहृद् हैं। वे पापी, दुराचारीको जल्दी मिलते हैं। माँ कमजोर बालकको जल्दी मिलती है। एक माँके दो बेटे हैं। एक बेटा तो समयपर भोजन कर लेता है, फिर कुछ नहीं लेता और दूसरा बेटा दिनभर खाता रहता है। दोनों बेटे भोजनके लिये बैठ जायँ तो माँ पहले उसको रोटी देगी जो समयपर भोजन करता है; क्योंकि वह भूखा उठ जायगा तो शामतक खायेगा नहीं। दूसरे बेटेको माँ कहती है कि तू ठहर जा; क्योंकि वह तो बकरीकी तरह दिनभर चरता रहता है। दोनों एक ही माँके बेटे हैं, फिर भी माँ पक्षपात करती है। इसी

तरह जो एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं चाहता, उसको भगवान् सबसे पहले मिलते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌को अधिक प्रिय है। वह एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीको अपना नहीं मानता। वह भगवान्‌के लिये दु:खी होता है तो भगवान्‌से उसका दु:ख सहा नहीं जाता।

कोई चार-पाँच वर्षका बालक हो और उसका माँसे झगड़ा हो जाय तो माँ उसके सामने ढीली पड़ जाती है। संसारकी लड़ाईमें तो जिसमें अधिक बल होता है, वह जीत जाता है, पर प्रेमकी लड़ाईमें जिसमें प्रेम अधिक होता है, वह हार जाता है। बेटा माँसे कहता है कि मैं तेरी गोदीमें नहीं आऊँगा, पर माँ उसकी गरज करती है कि आ जा, आ जा बेटा! माँमें यह स्नेह भगवान्‌से ही तो आया है। भगवान् भी भक्तकी गरज करते हैं। भगवान्‌को जितनी गरज है, उतनी गरज दुनियाको नहीं है। माँको जितनी गरज होती है, उतनी बालकको नहीं होती।

बालक तो माँका दूध पीते समय दाँतोंसे काट लेता है, पर माँ क्रोध नहीं करती। अगर वह क्रोध करे तो बालक जी सकता है क्या? माँ तो बालकपर कृपा ही करती है। ऐसे ही भगवान् हमारी अनन्त जन्मोंकी माता है। वे भक्तकी उपेक्षा नहीं कर सकते। भक्तको वे अपना मुकुटमणि मानते हैं— *'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'।* भक्तोंका काम करनेके लिये भगवान् हरदम तैयार रहते हैं। जैसे बच्चा माँके बिना नहीं रह सकता और माँ बच्चेके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के बिना नहीं रह सकता और भगवान् भक्तके बिना नहीं रह सकते।

नोट—श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके नित्य प्रातः पाँच बजेके प्रवचन सुननेके लिये इस वेबसाइटपर सम्पर्क करें—www.swamiramsukhdasji.org

॥ श्रीहरिः ॥ 1408

सब साधनोंका सार

स्वामी रामसुखदास

नम्र निवेदन

शीघ्र एवं सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहनेवाले साधकोंका मार्गदर्शन करनेके लिये परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजकी पुस्तकोंका पारमार्थिक जगत्‌में विशेष स्थान है। इन पुस्तकोंसे पारमार्थिक जगत्‌में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। कारण कि इनमें गुह्यतम आध्यात्मिक विषयोंको सीधे-सरल ढंगसे प्रस्तुत किया गया है, जिससे साधक इधर-उधर न भटककर सीधी राह पकड़ सके। प्रस्तुत पुस्तक 'सब साधनोंका सार' भी इसी तरहकी पुस्तक है, जो प्रत्येक मार्गके साधकके लिये अत्यन्त उपयोगी है। सार बात हाथ लग जाय तो फिर सब साधन सुगम हो जाते हैं। परन्तु साधकका उद्देश्य अनुभव करनेका होना चाहिये, कोरी बातें सीखने और दूसरोंको सुनानेका नहीं। सीखा हुआ ज्ञान अभिमान बढ़ानेके सिवाय और कुछ काम नहीं आता। अतः पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे अनुभवके उद्देश्यसे इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें और लाभ उठायें।

—प्रकाशक

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

१. सब साधनोंका सार

जीवमात्रका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। वह सत्ता सत्-रूप, चित्-रूप और आनन्द-रूप है। वह सत्ता नित्य-निरन्तर ज्यों-की-त्यों निर्विकार, असंग रहती है। इस स्वरूपको अर्थात् अपने-आपको जब मनुष्य भूल जाता है, तब उसमें देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वह अपनेको शरीर मान लेता है। शरीरसे माना हुआ यह सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—१. मैं शरीर हूँ, २. शरीर मेरा है और ३. शरीर मेरे लिये है।

हमारे देखनेमें दो ही चीजें आती हैं—नाशवान् (जड़) और अविनाशी (चेतन)। इन दोनोंका विभाग अलग-अलग है। इसीको गीताने शरीर और शरीरी, क्षर और अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहा है। इसीको सन्तोंने 'नहीं' और 'है' नामसे कहा है। हमारा स्वरूप शरीरी है, चेतन है, अविनाशी है, अक्षर है, क्षेत्रज्ञ है और 'है'-रूप है। जो हमारा स्वरूप नहीं है, वह शरीर है, जड़ है, नाशवान् है, क्षर है, क्षेत्र है और 'नहीं'-रूप है। जो 'है'-रूप है, वह नित्यप्राप्त है और जो 'नहीं'-रूप है, वह मिलता है और बिछुड़ जाता है।

एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं'को 'नहीं'-रूपसे देखनेसे शुद्ध 'है' दीख जाता है। कारण यह है कि मैं शुद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्मा हूँ—इस प्रकार 'है' पर विचार करनेमें हम मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो

'है' के साथ 'नहीं' (मन-बुद्धि, वृत्ति, मैं-पन) भी मिला रहेगा। परन्तु मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है—इस प्रकार 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे विचार करनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा। उदाहरणार्थ—झाड़ूके द्वारा कूड़ा-करकट दूर करनेसे उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और साफ मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ'—इसका मनसे चिन्तन तथा बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'मैं शरीर नहीं हूँ'—इस प्रकार विचार करनेपर शरीर और वृत्ति दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और चिन्मय सत्तारूप शुद्ध स्वरूप स्वतः शेष रह जायगा। इसलिये तत्त्वप्राप्तिमें निषेधात्मक साधन मुख्य है। निषेधात्मक साधनमें साधकके लिये तीन बातोंको स्वीकार कर लेना आवश्यक है—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। जबतक साधकमें यह भाव रहेगा कि मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये है, तबतक वह कितना ही उपदेश पढ़ता-सुनता रहे और दूसरोंको सुनाता रहे, उसको शान्ति नहीं मिलेगी और कल्याण भी नहीं होगा। इसलिये गीताके आरम्भमें ही भगवान्‌ने साधकके लिये इस बातपर विशेष जोर दिया है कि जो बदलता है, जिसका जन्म और मृत्यु होती है, वह शरीर तुम नहीं हो।

मैं शरीर नहीं हूँ

सर्वप्रथम साधकको यह बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि मैं चिन्मय सत्तारूप हूँ, शरीररूप नहीं हूँ। हम कहते हैं कि बचपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। शरीरको देखें तो

बचपनसे लेकर आजतक हमारा शरीर इतना बदल गया कि उसको पहचान भी नहीं सकते, फिर भी हम वही हैं—यह हमारा अनुभव कहता है। बचपनमें मैं खेलता-कूदता था, बादमें मैं पढ़ता था, आज मैं नौकरी-धंधा करता हूँ। सब कुछ बदल गया, पर मैं वही हूँ। कारण कि शरीर एक क्षण भी ज्यों-का-त्यों नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदलता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। जो नहीं बदलता, वही हमारा स्वरूप है।

हमने अबतक असंख्य शरीर धारण किये, पर सब शरीर छूट गये, हम वही रहे। मृत्युकालमें भी शरीर तो यहीं छूट जायगा, पर अन्य योनियोंमें हम जायँगे, स्वर्ग-नरक आदि लोकोंमें हम जायँगे, मुक्ति हमारी होगी, भगवान्‌के धाममें हम जायँगे। तात्पर्य है कि हमारी सत्ता (होनापन) शरीरके अधीन नहीं है। शरीरके बढ़ने-घटनेपर, कमजोर-बलवान् होनपर, बालक-बूढ़ा होनेपर अथवा रहने-न-रहनेपर हमारी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। जैसे हम किसी मकानमें रहते हैं तो हम मकान नहीं हो जाते। मकान अलग है, हम अलग हैं। मकान वहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही शरीर यहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। शरीर तो मिट्टी हो जाता है, पर हम मिट्टी नहीं होते। हमारा स्वरूप गीताने इस प्रकार बताया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

(गीता २। २३-२४)

'शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती। यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

तात्पर्य है कि शरीरका विभाग ही अलग है और न बदलनेवाले शरीरी (स्वरूप)-का विभाग ही अलग है। हमारा स्वरूप किसी शरीरसे लिप्त नहीं है, इसलिये उसको गीतामें भगवान्‌ने सर्वव्यापी कहा है—'**येन सर्वमिदं ततम्**' (२। १७), '**सर्वगतः**' (२। २४)। तात्पर्य है कि स्वरूप एक शरीरमें सीमित नहीं है, प्रत्युत सर्वव्यापी है।

शरीर पृथ्वीपर ही (माँके पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीर मुख्य नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप मुख्य है।

यद्यपि होनापन (सत्ता) आत्माका ही है, शरीरका नहीं, तथापि साधकसे भूल यह होती है कि वह पहले शरीरको देखकर फिर उसमें आत्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि आत्मा पहले थी या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है और शरीर पीछे है। भाव पहले है और आकृति पीछे है। इसलिये

हमारी दृष्टि पहले भावरूप आत्मा (स्वरूप)-की तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं।

जैसे भोजनालय भोजन करनेका स्थान होता है, ऐसे ही यह शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान (भोगायतन) है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता, प्रत्युत शरीरसे सम्बन्ध जोड़नेवाले हम स्वयं होते हैं। भोगनेका स्थान अलग होता है और भोगनेवाला अलग होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम कैसा ही कपड़ा पहनें, कपड़ा अलग होता है, हम अलग होते हैं। जैसे हम अनेक कपड़े बदलनेपर भी एक ही रहते हैं, अनेक नहीं हो जाते, ऐसे ही अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी हम स्वयं एक ही (वही-के-वही) रहते हैं। जैसे पुराने कपड़े उतारनेपर हम मर नहीं जाते और नये कपड़े पहननेपर हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीर छोड़नेपर हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेपर हम पैदा नहीं हो जाते*। तात्पर्य है कि शरीर जन्मता-मरता है, हम नहीं जन्मते-मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पाप-पुण्यका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें और स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्त कौन होगा? हमारा जीवन इस शरीरके अधीन नहीं है। हमारी आयु बहुत लम्बी—अनादि और अनन्त है। महासर्ग और महाप्रलय हो जाय तो भी हम जन्मते-मरते नहीं, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हैं—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४।२)।

---

* वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता २।२२)

हमारा और शरीरका स्वभाव बिलकुल अलग-अलग है। हम शरीरके साथ चिपके हुए, शरीरके साथ मिले हुए नहीं हैं। शरीर भी हमारे साथ चिपका हुआ, हमारे साथ मिला हुआ नहीं है। जैसे शरीर संसारमें रहता है, ऐसे हम शरीरमें नहीं रहते। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। वास्तवमें हमें शरीरकी जरूरत ही नहीं है। शरीरके बिना भी हम स्वयं मौजसे रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ता। अबतक हम असंख्य शरीर धारण कर-करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उदाहरणार्थ, सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-के समय हमें शरीरादिके अभावका अनुभव होता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें मैं नहीं था, मर गया था। कारण कि शरीरादिके अभावका अनुभव होनेपर भी हमें अपने अभावका अनुभव नहीं होता। तभी जगनेपर हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। इससे सिद्ध हुआ कि हमारा होनापन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारके अधीन नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता।

हमारा स्वरूप स्वतः-स्वाभाविक असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदारण्यक० ४। ३। १५), '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३। २२)। इसलिये शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानते हुए भी वास्तवमें हम शरीरसे लिप्त नहीं होते। शरीरका संग करते हुए भी वास्तवमें हम असंग रहते हैं। तभी भगवान् कहते हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। तात्पर्य है कि बद्धावस्थामें भी स्वरूप वास्तवमें मुक्त ही है। बद्धपना माना हुआ है और मुक्तपना हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। जैसे अन्धकार और प्रकाश आपसमें नहीं मिल सकते, ऐसे ही शरीर (जड़, नाशवान्) और स्वरूप (चेतन, अविनाशी) आपसमें नहीं मिल सकते। कारण कि शरीर संसारका अंश है और हम स्वयं परमात्माके अंश हैं।

एक ही दोष अथवा गुण स्थानभेदसे अनेक रूपोंसे प्रकट होता है। शरीरको अपनेसे अधिक महत्त्व देना अर्थात् शरीरको अपना स्वरूप मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र)-को शरीरसे अधिक महत्त्व देना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण सद्गुणोंकी उत्पत्ति होती है।

अर्जुनने गीताके आरम्भमें भगवान्से अपने कल्याणका उपाय पूछा—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (२। ७)। इसके उत्तरमें भगवान्ने सर्वप्रथम शरीर और शरीरी (स्वरूप)-का ही वर्णन किया। इससे सिद्ध होता है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसके लिये सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ'। जबतक उसमें 'मैं शरीर हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक वह कितना ही उपदेश सुनता रहे अथवा सुनाता रहे और

साधन भी करता रहे, उसका कल्याण नहीं होगा।

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अत: 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको 'मैं' मानना मनुष्यता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इसलिये श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्‌से कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

शरीर कभी एकरूप रहता ही नहीं और हमारा स्वरूप कभी अनेकरूप होता ही नहीं। शरीर जन्मसे पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी यह प्रतिक्षण मर रहा है। वास्तवमें गर्भमें आते ही शरीरके मरनेका क्रम शुरू हो जाता है। बाल्यावस्था मर जाय तो युवावस्था आ जाती है। युवावस्था मर जाय तो वृद्धावस्था आ जाती है। वृद्धावस्था मर जाय तो देहान्तर-अवस्था अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति हो जाती है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

बाल, युवा और वृद्ध—ये तीन अवस्थाएँ स्थूलशरीरकी हैं और देहान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्म तथा कारणशरीरकी है। देहान्तरकी

प्राप्ति (मृत्यु) होनेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर सूक्ष्म तथा कारणशरीर नहीं छूटते। जबतक मुक्ति न हो, तबतक सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे सम्बन्ध बना रहता है। तात्पर्य है कि हमारा वास्तविक स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—इन तीनों शरीरोंसे तथा इनकी अवस्थाओंसे अतीत है। शरीर और उसकी अवस्थाएँ बदलती हैं, पर स्वरूप वही-का-वही रहता है। जन्मना और मरना हमारा धर्म नहीं है, प्रत्युत शरीरका धर्म है। हमारी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अन्तर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। हमारी स्वतन्त्रता और असंगता स्वत:सिद्ध है। असंग (निर्लिप्त) होनेके कारण ही हम अनेक शरीरोंमें जानेपर भी वही रहते हैं, पर शरीरके साथ संग मान लेनेके कारण हम अनेक शरीरोंको धारण करते रहते हैं। माना हुआ संग तो टिकता नहीं, पर हम नया-नया संग पकड़ते रहते हैं। अगर नया संग न पकड़ें तो मुक्ति स्वत:सिद्ध है।

बालिके मरनेपर भगवान् श्रीराम तारासे कहते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तुएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, पर हम नहीं बदलते। हम निरन्तर वही रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बदलती हैं, पर

तीनों अवस्थाओंमें हम एक ही रहते हैं, तभी हमें तीनों अवस्थाओंका और उनके परिवर्तन (आरम्भ और अन्त)-का ज्ञान होता है। स्थूल दृष्टिसे विचार करें तो जैसे हम हरिद्वारसे रायवाला आये और फिर रायवालासे ऋषिकेश आये। अगर हरिद्वारमें या रायवालामें अथवा ऋषिकेशमें ही रहनेवाले होते तो हरिद्वारसे ऋषिकेश कैसे आते? अत: हम न तो हरिद्वारमें रहनेवाले हुए, न रायवालामें रहनेवाले हुए और न ऋषिकेशमें ही रहनेवाले हुए, प्रत्युत तीनोंसे अलग हुए। हरिद्वार, रायवाला और ऋषिकेश तो अलग-अलग हुए, पर हम उन तीनोंको जाननेवाले एक ही रहे। ऐसे ही हम सभी अवस्थाओंमें एक ही रहते हैं। इसलिये हमें बदलनेवालेको न देखकर रहनेवाले (स्वरूप)-को ही देखना चाहिये—

रहता रूप सही कर राखो बहता संग न बहीजे।

जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों शरीर अपने नहीं हैं, ऐसे ही स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता तथा समाधि भी अपनी नहीं है। कारण कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। प्रत्येक चिन्तन आता और जाता है। स्थिरताके बाद चञ्चलता तथा समाधिके बाद व्युत्थान होता ही है। क्रिया, चिन्तन, स्थिरता और समाधि—कोई भी अवस्था निरन्तर नहीं रहती। इन सबके आने-जानेका अनुभव तो हम सबको होता है, पर अपने आने-जानेका, परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हमारा होनापन निरन्तर रहता है।

विचार करें, जब चौरासी लाख योनियोंमें कोई भी शरीर

हमारे साथ नहीं रहा तो फिर यह शरीर हमारे साथ कैसे रहेगा? जब चौरासी लाख शरीर मैं-मेरे नहीं रहे तो फिर यह शरीर मैं-मेरा कैसे रहेगा?

शरीर मेरा नहीं है

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त वस्तुएँ हैं, पर उनमेंसे तिनके-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है, फिर शरीर हमारा कैसे हुआ? यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ जाती है, वह अपनी नहीं होती। शरीर मिला है और बिछुड़ जायगा, इसलिये वह अपना नहीं है। अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। यदि शरीर अपना होता तो यह सदा हमारे साथ रहता और हम सदा इसके साथ रहते। परन्तु शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता और हम इसके साथ नहीं रहते।

एक वस्तु अपनी होती है और एक वस्तु अपनी मानी हुई होती है। भगवान् अपने हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। वे हमसे कभी बिछुड़ते ही नहीं। परन्तु शरीर अपना नहीं है, प्रत्युत अपना माना हुआ है। जैसे नाटकमें कोई राजा बनता है, कोई रानी बनती है, कोई सिपाही बनते हैं तो वे सब नाटक करनेके लिये माने हुए होते हैं, असली नहीं होते। ऐसे ही शरीर संसारके व्यवहार (कर्तव्य-पालन)-के लिये अपना माना हुआ है। यह वास्तवमें अपना नहीं है। जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको तो भुला दिया और जो अपना नहीं है, उस शरीरको अपना मान लिया—यह हमारी बहुत बड़ी भूल है। शरीर चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो, चाहे

कारण हो, वह सर्वथा प्रकृतिका है। उसको अपना मानकर ही हम संसारमें बँधे हैं।

परमात्माका अंश होनेके नाते हम परमात्मासे अभिन्न हैं। प्रकृतिका अंश होनेके नाते शरीर प्रकृतिसे अभिन्न है। जो अपनेसे अभिन्न है, उसको अपनेसे अलग मानना और जो अपनेसे भिन्न है, उसको अपना मानना सम्पूर्ण दोषोंका मूल है। जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेके कारण ही जो वास्तवमें अपना है, वह अपना नहीं दीखता।

यह हम सबका अनुभव है कि शरीरपर हमारा कोई वश (अधिकार) नहीं चलता। हम अपनी इच्छाके अनुसार शरीरको बदल नहीं सकते, बूढ़ेसे जवान नहीं बना सकते, रोगीसे नीरोग नहीं बना सकते, कमजोरसे बलवान् नहीं बना सकते, कालेसे गोरा नहीं बना सकते, कुरूपसे सुन्दर नहीं बना सकते, मृत्युसे बचाकर अमर नहीं बना सकते। हमारे न चाहते हुए भी, लाख प्रयत्न करनेपर भी शरीर बीमार हो जाता है, कमजोर हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है और मर भी जाता है। जिसपर अपना वश न चले, उसको अपना मान लेना मूर्खता ही है।

शरीर मेरे लिये नहीं है

शरीर नाशवान् है और हमारा स्वरूप अविनाशी है। अविनाशी तत्त्वके लिये अविनाशी वस्तु ही हो सकती है। नाशवान् वस्तु अविनाशीके लिये कैसे हो सकती है? अविनाशीके क्या काम आ सकती है? अमावस्याकी रात्रि सूर्यके क्या काम आ सकती है? सांसारिक शरीर आदि वस्तुएँ संसारके ही काम आती हैं, हमारे काम किञ्चिन्मात्र भी नहीं आतीं। इसलिये

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो हमारी और हमारे लिये हो। अतः शरीर मेरे लिये है, शरीरसे मेरेको कोई लाभ हो जायगा—यह कोरा वहम है।

शरीर केवल कर्म करनेका साधन है और कर्म केवल संसारके लिये ही होता है। जैसे कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब वह लेखनीको ग्रहण करता है और लिखना बन्द करनेपर लेखनीको छोड़ देता है, ऐसे ही हमें कर्म करते समय शरीरको स्वीकार करना चाहिये और कर्म समाप्त होते ही शरीरसे असंग हो जाना चाहिये। अगर हम कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत है? अगर हम कोई कर्म न करें तो शरीरका कोई उपयोग नहीं है। शरीर परिवारकी, समाजकी अथवा संसारकी सेवाके लिये है, अपने लिये है ही नहीं। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता तथा समाधि भी हमारे लिये नहीं है। हमारे काम न क्रिया आती है, न चिन्तन आता है, न स्थिरता आती है, न समाधि आती है। ये सब प्राकृत वस्तुएँ हैं और संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप इनसे अलग है।

अगर शरीर हमारे लिये होता तो उसके मिलनेपर हमें सन्तोष हो जाता, हमारे भीतर और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती और शरीरसे कभी वियोग भी नहीं होता, वह सदा ही हमारे साथ रहता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर मिलनेपर भी हमें सन्तोष नहीं होता, हमारी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं, हमें पूर्णताका अनुभव नहीं होता और शरीर भी सदा हमारे साथ नहीं रहता, प्रत्युत हमारेसे बिछुड़ जाता है। इसलिये शरीर हमारे लिये नहीं है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब शरीर हमारे लिये है ही नहीं, तो फिर शास्त्रोंमें मनुष्यशरीरकी महिमा क्यों गायी गयी है? इसका समाधान है कि वास्तवमें वह महिमा शरीर (आकृति)-की नहीं है, प्रत्युत विवेककी है। आकृतिका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत विवेकशक्तिका नाम मनुष्य है। मनुष्य-शरीरका मस्तिष्क विशेष प्रकारसे बना हुआ है, जिसमें सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक विशेषरूपसे प्रकट हो सकता है। वैसा मस्तिष्क अन्य शरीरोंमें नहीं है। अन्य (पशु आदि) शरीरोंका विवेक उनके जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। इसलिये मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है—इस विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग मनुष्य ही कर सकता है।

उपसंहार

शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये मानना विवेकविरोधी सम्बन्ध है। विवेकविरोधी सम्बन्धको रखते हुए कोई भी साधक सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता। शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई कितनी ही तपस्या कर ले, समाधि लगा ले, लोक-लोकान्तरोंमें घूम आये अथवा यज्ञ, दान आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्म कर ले, तो भी उसका बन्धन सर्वथा नहीं मिट सकता। परन्तु शरीरके सम्बन्धका त्याग होते ही बन्धन मिट जाता है और सत्य तत्त्वकी अनुभूति हो जाती है। इसलिये विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग किये बिना साधकको चैनसे नहीं बैठना चाहिये। अगर हम शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग न करें तो भी शरीर हमारा त्याग कर ही देगा। जो हमारा त्याग अवश्य करेगा, उसका त्याग

करनेमें क्या कठिनाई है? किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे इस सत्यको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। कारण कि शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन अथवा दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

शरीर संसारकी वस्तु है। संसारकी वस्तुको मैं, मेरा और मेरे लिये मान लेना बेईमानी है और इसी बेईमानीका दण्ड है—जन्म-मरणरूप महान् दुःख। इसलिये साधकका कर्तव्य है कि वह ईमानदारीके साथ संसारकी वस्तुको संसारकी ही मानते हुए उसे संसारकी सेवामें अर्पित कर दे और भगवान्‌की वस्तुको अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का ही मानते हुए भगवान्‌के समर्पित कर दे। ऐसा करनेमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्ण सार्थकता है।

२. अपना किसे मानें?

सच्चे हृदयसे स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। भगवान्‌ने जीवको खास अपना अंश बताया है— '**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। अंश होनेके नाते हम खास भगवान्‌के हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरी चीजको अपनी मानना बहुत बड़ी गलती है। भगवान्‌के सिवाय दूसरा सब क्षणभंगुर है, नाशवान् है। यद्यपि वह क्षणभंगुर, नाशवान् भी भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति है, पर हम उसको भगवान्‌की वस्तु न मानकर भोग और संग्रहकी दृष्टिसे देखते हैं।

संसार भगवान्‌का है। उसको अपने भोग और संग्रहके लिये मानना बहुत बड़ी गलती है। संसार तो खिलौना है, खेलकी सामग्री है। खिलौना कोई तत्त्व नहीं होता। वह तो खेलके लिये होता है। उसमें कभी हार होती है, कभी जीत होती है। हार और जीत कोई तत्त्व नहीं रखते। तत्त्वकी चीज तो एक परमात्मा ही हैं। उस परमात्माकी विलक्षणताका पूरा वर्णन कोई कर सकता ही नहीं। वह अनन्त है, अपार है, असीम है। आज दिनतक वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह सब-का-सब इकट्ठा कर लिया जाय तो उससे परमात्माके किसी छोटे अंशका भी वर्णन नहीं होगा! ऐसे अनन्त, अपार परमात्माका वर्णन तो नहीं कर सकते, पर उनको अपना मान सकते हैं। इसलिये मीराबाईने कहा—'**मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई**'। यह असली तत्त्वकी, समझकी बात है। भगवान् हमारे हैं और सदा हमारे ही रहेंगे। हम कहीं भी चले जायँ, वे सदा हमारे साथमें ही रहते हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई हमारे साथ रहता ही नहीं, रह सकता ही नहीं, फिर भगवान्‌के सिवाय और

किसको अपना मानें? अन्तमें भगवान्‌को ही अपना मानना पड़ेगा। ऐसा साथी और कोई मिलेगा नहीं। विचार करें, क्या शरीर हरदम साथमें रहेगा? क्या घर-कुटुम्ब सदा साथमें रहेगा? क्या जमीन-जायदाद सदा साथमें रहेगी? क्या आदर-सत्कार,मान-बड़ाई सदा साथमें रहेगी? जब हमारे साथ रहनेवाली कोई चीज है ही नहीं, तो फिर किससे अपनापन करें? किससे प्रेम करें? किसको अपना समझें? अब चाहे परवश, पराधीन, मजबूर, लाचार होकर ही क्यों न मानना पड़े, हमें परमात्माको ही अपना मानना पड़ेगा! कोई साथमें रहनेवाला है ही नहीं तो क्या करें? साथमें रहनेवाला एक ही है, और वह है—परमात्मा। हम चौरासी लाख योनियोंमें जायँ, स्वर्गमें जायँ, नरकोंमें जायँ, किसी भी लोकमें जायँ, तो भी वह हमारा साथ कभी छोड़ता नहीं। हमारा साथ छोड़ना उसको आता ही नहीं! परमात्मामें अनन्त सामर्थ्य है, पर हमारा साथ छोड़नेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं है! इस विषयमें वह लाचार है! सन्त-महात्माओंने इस बातको ठीक तरहसे जानकर ही भगवान्‌को अपना माना है, उनसे प्रेम किया है!

भगवान्‌के समान साथी कोई नहीं मिलेगा, कभी नहीं मिलेगा, कहीं नहीं मिलेगा। आपको जँचे या न जँचे, यह बात अलग है, पर बात यही सच्ची है। भगवान्‌ने भी साफ कह दिया—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा स्वयं मेरा ही सनातन अंश है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

ईश्वरका अंश होनेसे जीव अविनाशी है, चेतन है, मलरहित है और सहज सुखराशि है। परन्तु मिलने और बिछुड़नेवाले पदार्थोंको अपना मानकर यह दुःख पा रहा है। यह कभी माताका वियोग होनेसे रोता है, कभी पिताका वियोग होनेसे रोता है, कभी स्त्रीका वियोग होनेसे रोता है, कभी पुत्रका वियोग होनेसे रोता है, कभी मित्रका वियोग होनेसे रोता है! यह सोचता ही नहीं कि जिनसे रोना पड़े, ऐसोंको अपना साथी क्यों बनाऊँ? संसारके सभी सम्बन्ध सेवा करनेके लिये हैं, अपना माननेके लिये नहीं। उनको अपना मानोगे तो एक दिन रोना ही पड़ेगा। जिनको हम अपना प्रिय मानते हैं, वे एक दिन हमें रुलायेंगे—'**प्रियं रोत्स्यति**' (बृहदारण्यक० १। ४। ८)। इसलिये हमें ऐसा साथी बनाना चाहिये, जिसके लिये कभी रोना पड़े ही नहीं। पीछे रोना पड़े, ऐसी भूल करें ही क्यों? कोई बालक या जवान मर जाता है तो बूढ़ी माताएँ कहती हैं कि हमने ऐसा नहीं जाना था कि यह हमारेको छोड़ जायगा! नहीं जाना था तो अब जान जाओ कि ये सभी जानेवाले हैं। अब ऐसा साथी बनाओ कि कभी छोड़कर जाय ही नहीं। ऐसा साथी केवल भगवान् ही हैं। भगवान् कभी बदलते ही नहीं, कभी बूढ़े होते ही नहीं, कभी उनके सफेद बाल होते ही नहीं, कभी मरते ही नहीं। उनका बनाया हुआ संसार तो सेवा करनेके लिये है। सेवा करनेकी सामग्रीको भोग-सामग्री समझ लेना गलती है। जिस वस्तुका संयोग और वियोग होता है, वह वस्तु अपनी और अपने लिये होती ही नहीं। उसको केवल सेवाके लिये ही मानो। आज मानो तो आज निहाल हो जाओगे। जैसे मनुष्य दान-पुण्यके लिये पैसे निकालता है तो उसके भीतर यह भाव रहता है कि यह पैसा अपने लिये नहीं है, देनेके लिये है। ऐसे ही संसारकी सब वस्तुओंके लिये मान लो कि ये अपने लिये नहीं हैं, सेवाके लिये

हैं। उनसे अपना शरीर-निर्वाह करनेमें कोई हर्ज नहीं है। उनसे अपना निर्वाह तो करो, पर उनको अपना साथी मत मानो।

आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसीका भी शरीर सदा नहीं रहता। आपके सामने वस्तु नष्ट हो जाती है और आप रोते हैं। इसलिये इतना विचार तो होना चाहिये कि जिसके बिछुड़नेपर रोना पड़े, उसको अपना न मानें। आपके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ है, वह सब-का-सब दूसरोंकी सेवाके लिये ही है, अपने लिये है ही नहीं। ऐसी स्पष्ट बात सुगमतासे पढ़ने-सुननेको नहीं मिलती। मेरेको तो व्याख्यान देते हुए भी वर्षोंतक नहीं मिली। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि दूसरोंके लिये ही है, अपने लिये है ही नहीं। इनके द्वारा कभी अपनी तृप्ति नहीं होती, चाहे लाखों-करोड़ों, अरबों-खरबों वर्ष क्यों न बीत जायँ! ये सब नाशवान् हैं और आप सब साक्षात् परमात्माके अंश हैं। चौरासी लाख योनियाँ भुगतते हुए सब शरीर छूट गये तो क्या यह शरीर नहीं छूटेगा? जिस माटीके वे शरीर थे, उसी माटीका यह शरीर है। यह भी मिला है और बिछुड़ेगा।

इस एक ही बातको ठीक तरहसे मान लो, समझ लो, पक्का कर लो कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ जाती है, वह अपनी नहीं होती। जैसे बालकपना आपके साथ था, पर वह बिछुड़ गया, ऐसे ही जवानी भी बिछुड़ जायगी, वृद्धावस्था भी बिछुड़ जायगी, रोगावस्था भी बिछुड़ जायगी, नीरोगावस्था भी बिछुड़ जायगी, निर्धनता भी बिछुड़ जायगी, धनवत्ता भी बिछुड़ जायगी। ये सब बिछुड़नेवाली चीजें हैं।

विचार करें, क्या यह शरीर बिछुड़नेवाला नहीं है? क्या धन-सम्पत्ति बिछुड़नेवाली नहीं है? क्या घर, जमीन, रुपये,

कुटुम्ब आदि बिछुड़नेवाले नहीं हैं? क्या ये आपसे अलग नहीं होंगे? क्या आप इनसे अलग नहीं होंगे? अभी आपके जितने साथी हैं, क्या ये सदा आपके साथ रहेंगे? जो आपसे अलग होनेवाले हैं, उनकी सेवा करो, उनको सुख-आराम पहुँचाओ, उनसे अच्छा बर्ताव करो। सदा साथ रहनेवाले एक भगवान् ही हैं। उनको आप चाहे सगुण मानो, चाहे निर्गुण मानो, चाहे द्विभुज मानो, चाहे चतुर्भुज मानो, आपकी जैसी मरजी हो, वैसा मानो। वे ही सदा साथ रहनेवाले हैं। उनके सिवाय और कोई साथ रहनेवाला नहीं है। उनके सिवाय सब बिछुड़नेवाले हैं। अच्छे-अच्छे सन्त-महात्माओंका भी शरीर नहीं रहा, फिर आपका शरीर कैसे रह जायगा? आज दिनतक ऐसी रीत चली आ रही है, अब क्या कोई नयी रीत हो जायगी? जानेवालेमें मोह मत करो। मोह करोगे तो रोना पड़ेगा।

हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं। हम और किसीके नहीं हैं, और कोई हमारा नहीं है। इस बातको आज मान लो तो आज ही सुखी हो जाओगे। सेवा करनेके लिये सब अपने हैं। सब भगवान्‌के प्यारे हैं, इसलिये सबकी सेवा करो। भगवान्‌ने कहा है—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। सबकी सेवा करो, पर किसीको अपना मत मानो। आपका रोना, दुःख छूट जायगा। अगर आपसे मोह न छूटे तो सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारो कि हे नाथ! हे मेरे नाथ! मैं आफतमें फँस गया! मेरी यह आफत छुड़ाओ! भगवान् अवश्य छुड़ा देंगे।

३. सब कुछ परमात्माका है

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है। हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

सृष्टिमात्रमें इन आठ चीजोंके सिवाय कुछ नहीं है। ये आठों परमात्माकी प्रकृति (स्वभाव) होनेसे परमात्माका ही स्वरूप हैं। पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ शरीर और मन, बुद्धि तथा अहंकार भी भगवान्‌के ही हुए। इनको हम अपना मान लेते हैं—यही गलती है। जीव भी परमात्माकी प्रकृति होनेसे परमात्माका ही स्वरूप हुआ। आप विचार करें, आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति, जीव और परमात्मा—इन दसके सिवाय और क्या है? सब कुछ परमात्मा ही हुए—'सब जग ईश्वररूप है' '**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब-के-सब परमात्माके हैं। इनको अपना मानकर ही हम बन्धनमें पड़े हैं। इनको अपना मत मानो तो आपको बन्धन बिलकुल नहीं होगा। आप मनको सर्वथा भगवान्‌का ही मान लो तो मनके विकार आपको नहीं लगेंगे। मनके

सुख-दुःख आपको नहीं लगेंगे। जब सब कुछ भगवान्का ही है, आपका कुछ है ही नहीं, फिर आपका किसीसे क्या लेना-देना? आपका काम यही है कि भगवान्की प्रकृतिको अपना मत मानो। मनको अपना मत मानो, बुद्धिको अपना मत मानो, अहंकारको अपना मत मानो। यह काम आप चाहे अभी करो, चाहे वर्षोंके बाद अथवा जन्मोंके बाद करो! इन वस्तुओंको अपना मानते ही आपपर आफत आयेगी! नहीं तो कुत्तेके मनका विकार आपको लगता है क्या? मनको अपना मानते ही विकार लगता है। इतनी ही बात आपको समझनी है! मैं आपको यही बात कहना चाहता हूँ कि सम्पूर्ण जगत् परमात्माका स्वरूप है। इसलिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारको आप अपना मत मानो। इनको भगवान्के अर्पित करनेमें क्या बाधा है? किञ्चिन्मात्र भी बाधा नहीं है; क्योंकि सब वस्तुएँ हैं ही भगवान्की। उनको अपना मानना ही गलती है, जिसके फलस्वरूप पाप-पुण्य तथा जन्म-मरण होते हैं। उनको अपना मत मानो तो कोई बन्धन नहीं रहेगा, कल्याण हो जायगा।

किसीको अपना मानने या न माननेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है, परतन्त्र है ही नहीं। आप धर्मशालामें रहते हैं, सब काम करते हैं, पर भीतरसे मानते हैं कि यह मेरा नहीं है। राजकीय वस्तुको कोई अपनी मान लेता है तो उसको दण्ड मिलता है। उसको अपनी न मानकर उचित व्यवहार करे तो दण्ड क्यों मिलेगा? अगर आपको अपना कल्याण करना है, जन्म-मरणमें नहीं जाना है तो इतनी-सी बात मान लो कि सब वस्तुएँ भगवान्की हैं, मेरी नहीं हैं। भगवान् भी कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७। ७)

'हे धनञ्जय! मेरे सिवाय इस जगत्का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है।'

अगर अपना उद्धार करना हो तो सच्ची बातको स्वीकार कर लो कि सब कुछ भगवान्का है। स्वीकार करना या न करना आपकी मरजीके अधीन है। शरीरको आपने अपना मान लिया, पर यह आपका है नहीं। एक दिन शरीर छूट जायगा, मर जायगा और लोग इसको जला देंगे। जैसे मरनेके समय यह आपके साथ नहीं रहेगा, ऐसे अब भी यह आपके साथ नहीं है। इतनी-सी बात आप स्वीकार कर लो तो सब काम ठीक हो जायगा। आप कह सकते हैं कि हमारेसे स्वीकार नहीं होता। परन्तु यह बात आपके भीतर खटकनी चाहिये कि स्वीकार क्यों नहीं होता! इसपर आपका वश चलता है क्या? इसका रात-दिन विचार होना चाहिये। फिर स्वीकार हो जायगा। कारण कि सच्ची बात मिट नहीं सकती। दो और दो चार ही होंगे, तीन या पाँच नहीं हो सकते। आप मकानको अपना मानते हो, पर जब उसको बेच देते हो, तब उसको अपना मानते हो क्या? आप खुद विचार करो कि कौन-सी बात सच्ची है! सच्ची बातको स्वीकार करनेमें बाधा क्या है? आपके मनमें उत्कण्ठा होनी चाहिये कि अब तो मैं सच्ची बात मानूँगा। चाहे आज मानो, चाहे वर्षोंके बाद मानो, चाहे जन्मोंके बाद मानो, कभी-न-कभी सच्ची बातको मानना ही पड़ेगा। जबतक सच्ची बातको नहीं मानोगे, तबतक सुखी नहीं हो सकते। दुःख पाना ही पड़ेगा। सच्ची बातको माने बिना पिण्ड नहीं छूटेगा। जब सच्ची बात माने बिना कभी शान्ति मिलेगी नहीं, तो फिर झूठी बात क्यों मानें? जब कभी कल्याण होगा तो सच्ची बातको माननेसे ही होगा।

रामानंद आनंद से सिंवरया सरसी काज।
भावे सिंवरो काल ही, भावे सिंवरो आज॥

यह आपके कल्याणकी बात है, इसलिये आपके हितके लिये ही कहता हूँ। आप मान लोगे तो मेरेको क्या मिल जायगा? आप नहीं मानोगे तो मेरेको क्या घाटा पड़ जायगा? मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप सच्ची बात मान लो। सच्ची बातको पहले स्वीकार कर लो, फिर वह वैसी ही दीखने लग जायगी। मन-बुद्धि आदि सबको भगवान्‌का मान लो तो आपका सांसारिक व्यवहार भी बढ़िया होगा। किसी प्रकारका कोई नुकसान नहीं होगा। अगर आपको विश्वास न होता हो तो मेरेसे सौदा कर लो, जो नफा होगा, वह आपका और जो नुकसान होगा, वह मेरा! आप यह तो कह सकते हैं कि बात हमारे माननेमें नहीं आती, पर बात यह सच्ची है, यह तो आप स्वीकार कर ही सकते हैं। स्वीकार करनेमें क्या नुकसान है?

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। दुर्लभ होनेके कारण यह बात हमारे माननेमें नहीं आती तो कोई हर्ज नहीं। आपके भीतर यह इच्छा जाग्रत् रहनी चाहिये कि यह बात हमारे माननेमें कैसे आये! एकान्तमें, अकेले बैठकर विचार करो। सच्ची बातको स्वीकार कर लो तो जिसको भगवान्‌ने दुर्लभ महात्मा कहा है, वह महात्मा आप बन जाओगे। सच्ची बातको काटनेकी चेष्टा न करके जाननेकी चेष्टा करो। आपका व्यवहार भी ठीक हो जायगा, परमार्थ भी ठीक हो जायगा। सच्ची बातको स्वीकार कर लो तो वह माननेमें आ ही जायगी, चाहे आज आ जाय या दिनोंके बाद, महीनोंके बाद अथवा वर्षोंके बाद! सच्ची बात अनुभवमें आयेगी

ही—यह नियम है। इसलिये सच्ची बातको आज ही और अभी स्वीकार कर लो।

सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस बातको स्वीकार करना है। सच्ची बातको स्वीकार करनेमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। आप मानो चाहे नहीं मानो, सच्ची बात अन्तमें सच्ची ही रहेगी। अगर आप मान लो तो बड़ा भारी लाभ है। अगर आज मान लो और आज ही मृत्यु हो जाय तो भी मानी हुई बात नष्ट नहीं होगी। सच्ची बातकी जितनी स्वीकृति हो गयी, उतनी स्वीकृति किसी भी जन्ममें मिटेगी नहीं। किसी भी जन्ममें जाओ, वहीं तैयार मिल जायगी—'**पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः**' (गीता ६। ४४)। सच्ची बात आपने जितनी स्वीकार कर ली, उतनी आपके पास पूँजी हो गयी। अब वह कभी मिटेगी नहीं। सत्संगके संस्कार कभी मिटते नहीं। आप चाहें तो इसी जन्ममें सच्ची बातकी स्वीकृति हो जायगी। सच्ची बात कभी मिटती नहीं और झूठी बात टिकती नहीं। हरदम इस बातका मनन करो कि सच्ची बात यही है तो चट काम हो जायगा। जैसे दूर कोई मन्दिर हो और वहाँ जानेका सीधा रास्ता हो तो हम वहाँ पहुँच ही जायँगे। ऐसे ही हमें '**वासुदेवः सर्वम्**' (सब कुछ परमात्मा ही है)—यहाँतक पहुँचना है। कारण कि अन्तिम, सर्वश्रेष्ठ और सच्ची बात यही है। यह भगवान्‌के वचन हैं। भगवान्‌के समान हमारा सुहृद् कोई है नहीं, हो सकता नहीं। इसलिये इस बातको आप सरलतासे, सच्चे हृदयसे अभी स्वीकार कर लो।

४. सच्ची बात

एक साधकका प्रश्न आया है कि सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात बुद्धिसे तो समझमें आती है, पर इसका स्वयंसे अनुभव कैसे हो? स्वयंसे अभी अनुभव न हो तो कोई बात नहीं, चिन्ता मत करो। बुद्धिसे भी समझमें आये या न आये, आप इतना मान लो कि बात यही सच्ची है। हमारे अनुभवमें नहीं आयी, समझमें नहीं आयी तो भी बात तो यही है। हमारी समझमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसलिये सच्ची बात अवश्य बैठेगी, हटेगी नहीं। और किसीके कहनेसे माननेमें न आये तो मेरे कहनेसे मान लो। इसमें अभ्यास नहीं है। अभ्याससे अनुभव नहीं होता; क्योंकि अभ्यास जड़से होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके बिना अभ्यास नहीं होता। जड़से चेतनकी प्राप्ति नहीं होती। चेतनकी प्राप्ति चेतनसे ही होती है। जड़से सांसारिक काम होता है। परमात्माको तो केवल मानना है, स्वीकार करना है; क्योंकि वह तो है ही ऐसा! यह गङ्गाजी है—इसमें अभ्यास क्या है? पहले हम इसको एक नदी मानते थे। अब किसीने बता दिया कि यह गङ्गाजी है तो माननेमें क्या जोर आया? ऐसे ही मान लो कि यह सब परमात्मा है। हमें अनुभव हो या न हो, बुद्धिमें आये या न आये, पर सच्ची बात तो सच्ची ही रहेगी। उसको कोई झूठी कर सकता ही नहीं। कम-से-कम सत्संग करनेवाले भाई-बहन तो इस बातको मान ही सकते हैं।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको स्वीकार कर लो, बस, और कुछ नहीं करना है। स्वीकार करनेमात्रसे काम हो जायगा;

क्योंकि बात है ही ऐसी। यह किसीकी बनायी हुई नहीं है। यह सब परमात्मा है—यह कच्ची बात नहीं है, पक्की बात है। इसलिये इसमें सन्देह, संशय करनेकी जरूरत नहीं है। इसको एक बार मान लिया तो बस, मान ही लिया! मनुष्य अग्निकी साक्षीमें विवाह करता है। ब्राह्मण कन्यासे कह देता है कि बेटी! तेरे पति ये हैं तो बस, वह उसको सदाके लिये अपना पति मान लेती है। अपना पति मानते ही उसका गोत्र बदल जाता है। फिर वह माँ बन जाती है, दादी बन जाती है, परदादी बन जाती है। पोते-परपोतेकी बहू आती है तो दादीजी कहती हैं—**'घर खोयो पराई जायी'** इस परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) छोकरीने मेरा घर खो दिया, घर बिगाड़ दिया! अब उस दादीजीसे पूछो कि माँजी! आप तो घरजायी हो? दादीजीको याद ही नहीं है कि मैं भी परायी जायी हूँ! वह तो यही देखती है कि मैं दादी-परदादी हूँ और यह मेरा पोता-परपोता है, यह मेरा कुटुम्ब है! इसी तरह आप सच्ची बातको स्वीकार कर लो, फिर सब कुछ हो जायगा। भीतरसे स्वीकार कर लो कि यह सब कुछ भगवान् ही हैं। स्वीकृति करनेमें शरीरकी कोई जरूरत नहीं है। शरीर बीमार हो या स्वस्थ, स्वीकृति करनेमें कोई बाधा नहीं लगती। सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह स्वीकार कर लो तो 'संसार है'—यह भावना मिट जायगी और परमात्मा ही रह जायँगे, जो कि वास्तवमें हैं।

एक कहानी है। एक लड़का मुंबईमें रहता था। उसके पिताजी दूर गाँवमें रहते थे। एक बार वह लड़का बीमार हो गया। पिताको बीमारीका समाचार मिला तो विचार किया कि चलो, जाकर मिल आयें। दैवयोगसे वे जिस धर्मशालामें ठहरे थे, उनका

लड़का भी उसी धर्मशालामें पासवाले कमरेमें ठहर गया। लड़केको बड़ी खाँसी आ रही थी। पिताने व्यवस्थापकको बुलाया और उससे कहा कि पासवाले कमरेमें कोई व्यक्ति खाँस रहा है, जिससे मेरेको नींद नहीं आती, इसको यहाँसे निकालो। व्यवस्थापकने उस लड़केको निकाल दिया। दूसरा कोई कमरा खाली था नहीं। अत: वह लड़का बेचारा बाहर जाकर बैठ गया। सुबह होनेपर पिता बाहर निकला। बाहर लड़केको बैठा हुआ देखा तो बोला! अरे! यह तो मेरा बेटा है! वह उसको अपने कमरेमें ले गया। जो लड़का पड़ोसमें नहीं सुहाता था, उसको अब वह अपने कमरेमें ले गया! पहले पता नहीं था कि यह मेरा ही बेटा है, अब पता लग गया तो इसमें क्या देरी लगी? क्या अभ्यास करना पड़ा? ऐसे ही आप मेरे कहनेसे मान लो कि यह सब परमात्मा ही है।

गेहूँके खेतमें अनजान आदमीको घास दीखती है, पर जानकार आदमीको गेहूँ दीखता है। कारण कि मूलमें वह गेहूँ ही था और अन्तमें उसमेंसे गेहूँ ही आयेगा। ऐसे ही इस सृष्टिके आरम्भमें भी परमात्मा ही थे और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे, फिर बीचमें दूसरी चीज कहाँसे आयी? एक परमात्मा ही अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। इसलिये मन भी वही है, बुद्धि भी वही है, प्राण भी वही है, इन्द्रियाँ भी वही है, शरीर भी वही है। स्थूलशरीर भी वही है, सूक्ष्मशरीर भी वही है और कारणशरीर भी वही है। सब कुछ वह परमात्मा ही है। दूसरा कोई है ही नहीं। आपको दीखे या न दीखे, केवल यह मान लें कि परमात्मा ही हैं। फिर दीखने लग जायगा; क्योंकि वास्तवमें है ही वही।

इसमें कोई असत्य नहीं है, ठगाई नहीं है, धोखा नहीं है। बिलकुल सच्ची बात है। साक्षात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। भगवान्‌ने सृष्टि बनायी तो कहींसे बिल्टी नहीं मँगाई, कहींसे वस्तुएँ नहीं मँगायीं। आप ही आपमेंसे बन गये। एक ही अनेकरूपसे प्रकट हो गये—'**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (तैत्तिरीय० २। ६)। वे एक भगवान् इतने रूपोंमें हो गये कि उनकी गणना नहीं कर सकते—

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

(मानस, बाल० २०१)

हरि की लीला बड़ी अपार।
बन गये आप अकेले सब कुछ, नाम धरा संसार॥
मात पिता गुरु स्वामी बनकर, करे डाँट फटकार।
सुत दारा अरु सेवक बनकर, खूब करे सतकार॥ १॥
कभी रोगका रूप बनाकर, बनते आप बुखार।
कभी वैद्य बन दवा खिलाते, आप करे उपचार॥ २॥
कभी भोग सुख मान बड़ाई, हाजिर में नर नार।
कभी दुखोंका पहाड़ पटकते, मचती हाहाकार॥ ३॥
कभी संत बनकर जीवों पर, कृपा दृष्टि विस्तार।
अगनित जनमों का दुख संकट, छन महँ देवे टार॥ ४॥
कभी धरनि पर संतन के हित, धर मानुष अवतार।
अजब अनोखी लीला करते, सुमिरत हो भव पार॥ ५॥
अगनित स्वाँग रचाते हरदम, धन्य बड़े सरकार।
ऐसे परम कृपालू प्रभूको, बिनवउँ बारम्बार॥ ६॥

भगवान् ही अनेक रूपोंमें लीला कर रहे हैं। न मैं है, न

तू है, न यह है, न वह है। एक भगवान् ही हैं। मैं भी वही है, तू भी वही है, यह भी वही है, वह भी वही है। उनके सिवाय दूसरा कहाँसे आये? कैसे आये? दूसरा कोई है ही नहीं।

एक साधु थे। वे कहीं जा रहे थे। रास्तेमें लघुशंका करनेके लिये वे एक खेतमें बैठ गये। खेतके मालिकने देखा कि जो हमारे खेतसे मतीरा चुराता है, वह यही है। उसने आकर पीछेसे लाठी मार दी। जब देखा कि ये तो बाबाजी हैं तो माफी माँगने लगा। बाबाजी बोले कि तुमने मेरेको मारा ही नहीं, तुमने तो चोरको मारा है। वह बोला—अब क्या करूँ महाराज! बाबाजी बोले—अब तेरी जैसी मरजी! वह बाबाजीको गाड़ीमें बिठाकर शहरमें ले गया। उनकी मलहम-पट्टी करायी। बादमें एक दूसरा आदमी दूध लेकर आया और बोला कि महाराज! दूध पी लो। बाबाजी बोले—तू बड़ा अजीब है! कभी लाठी मारता है, कभी दूध लाता है! तेरी लीला विचित्र है! वह आदमी बोला कि नहीं महाराज! मैंने लाठी नहीं मारी! बाबाजी बोले कि तू बता, दूसरा आया कहाँसे? तू ही था, मैं जानता हूँ! वह आदमी घबड़ा गया कि बाबाजी मेरेको पकड़ा देंगे, फँसा देंगे! वह बार-बार कहे कि महाराज! मैंने नहीं मारा, पर बाबाजी उसकी बात माननेको राजी नहीं थे। बाबाजी यही कहते कि मैं जानता हूँ, तू ही था! यह सब तेरा ही काम है। बाबाजीकी दृष्टि भगवान्‌पर थी। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई कहाँसे आये?

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह 'अपरा प्रकृति' है और जीव 'परा प्रकति' है। ये दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वभाव होनेसे भगवत्स्वरूप ही हैं। इसलिये

सब रूपोंमें भगवान्‌को देखकर मस्त हो जाओ! हरदम मौजमें रहो, आनन्दमें रहो! वाह, प्रभु वाह! आनन्द हो गया, कृपा हो गयी कि सब जगह, सब समय आपके ही दर्शन हो रहे हैं! पहले हम इस बातको जानते नहीं थे, अब आपकी कृपासे यह बात मिल गयी! अब पता लग गया कि प्रभो! आप ही हो, आप ही हो, आप ही हो! जड़ भी आप ही हो, चेतन भी आप ही हो। स्त्री भी आप ही हो, पुरुष भी आप ही हो। माँ भी आप ही हो, बाप भी आप ही हो। दादी भी आप ही हो, दादा भी आप ही हो। हमारे सब कुटुम्बी आप ही हो। पशु भी आप ही हो, पक्षी भी आप ही हो। जलचर-नभचर-थलचर भी आप ही हो। उद्भिज्ज-स्वेदज-अण्डज-जरायुज भी आप ही हो। आप ही नदी हो, आप ही पहाड़ हो, आप ही समुद्र हो। आप ही सूर्य हो, आप ही चन्द्रमा हो, आप ही तारा हो। आप ही मनुष्य हो,आप ही असुर हो। आप ही भूत-प्रेत हो, आप ही राक्षस हो, आप ही देवता हो। मैं भी आप ही हूँ, तू भी आप ही हो, यह भी आप ही हो, वह भी आप ही हो। ऊपर भी आप ही हो, नीचे भी आप ही हो। पूर्वमें भी आप ही हो, पश्चिममें भी आप ही हो, उत्तरमें भी आप ही हो, दक्षिणमें भी आप ही हो। ईशानमें भी आप ही हो, नैर्ऋत्यमें भी आप ही हो, आग्नेयमें भी आप ही हो, वायव्यमें भी आप ही हो। भूतकाल भी आप ही हो, वर्तमानकाल भी आप ही हो, भविष्यकाल भी आप ही हो। कालसे अतीत भी आप ही हो। जंगल भी आप ही हो, मैदान भी आप ही हो। इस मण्डप (पण्डाल)-के रूपमें भी आप ही हो। बत्ती भी आप ही हो, पंखा भी आप ही हो। खम्भा भी आप

ही हो, वृक्ष भी आप ही हो। मकानरूपमें भी आप ही हो। जो दीखता है, वह भी आप ही हो और जो नहीं दीखता है, वह भी आप ही हो। सिंहरूपमें भी आप ही हो, रीछरूपमें भी आप ही हो, बन्दररूपमें भी आप ही हो। साधुरूपमें भी आप ही हो, गृहस्थरूपमें भी आप ही हो। अन्नरूपमें भी आप ही हो। तरह-तरहके फलोंके रूपमें भी आप ही हो। भूखमें भी आप ही हो, प्यासमें भी आप ही हो। सोते हुए भी आप ही हो, बैठे हुए भी आप ही हो।

तरह-तरहके रूपोंमें आप ही हो। आपके सिवाय कोई है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। सब रूपोंमें केवल आप-ही-आप हो। राग-रागिनी भी आप ही हो। ताल-स्वर भी आप ही हो। बाजा भी आप ही हो। गानेवाले भी आप ही हो, सुननेवाले भी आप ही हो। वक्ता भी आप ही हो, श्रोता भी आप ही हो। गाँव भी आप ही हो, घर भी आप ही हो। मिट्टी भी आप ही हो, बर्तन भी आप ही हो। अस्त्र-शस्त्र भी आप ही हो। खेल भी आप ही हो, खेलनेवाले भी आप ही हो, खिलौने भी आप ही हो। हे प्रभो! आपने कैसे-कैसे रूप धारण किये हैं। कितने-कितने रूप धारण किये हैं! अनन्त-अनन्त रूपोंमें केवल आप ही हो! आप ही हो!

५. परमात्मप्राप्तिमें देरी क्यों ?

परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य लेकर चलनेवाले जितने भी मनुष्य हैं, उन सबको परमात्मप्राप्ति होगी, पर कब होगी? कितने जन्मोंके बाद होगी? इसका पता नहीं है। शरीरको अपना और अपने लिये मानते हुए कोई साधन करेगा तो उसको कितने जन्म लेने पड़ेंगे, कितनी योनियाँ भोगनी पड़ेंगी, इसका कुछ पता नहीं है। इसलिये मेरी शुरूसे यही लगन रही है कि मनुष्यको जल्दी परमात्मप्राप्ति कैसे हो? यद्यपि किया हुआ साधन निरर्थक नहीं जाता, तथापि परमात्माकी प्राप्ति जल्दी कैसे हो, यह लगन होनी चाहिये। लगन नहीं होगी तो कई जन्म लग जायँगे। जो वस्तु कल मिलेगी, वह आज मिलनी चाहिये, आज भी अभी मिलनी चाहिये। परमात्मा भी मौजूद हैं, आप भी मौजूद हैं, फिर देरी किस बातकी? परमात्मप्राप्तिमें देरीकी बात मेरेको सुहाती नहीं। जो काम जल्दी हो सके, उसके लिये देरी क्यों? जो काम अभी हो सके, उसके लिये कल क्यों?

श्रीशरणानन्दजी महाराजने लिखा है कि जीव-ब्रह्मकी एकता कभी हुई नहीं, कभी हो सकती नहीं। इसका तात्पर्य है कि जीवपना छूटनेपर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह सूक्ष्म विवेचन है। इसी तरह कहा जाता है कि साधुको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, गृहस्थको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, ब्राह्मणको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती तो इसका तात्पर्य है कि साधुपनेका अभिमान रहते हुए परमात्मप्राप्ति नहीं होती। ब्राह्मणपनेका अभिमान रखते हुए परमात्मप्राप्ति नहीं होती। अभिमान छूटेगा, तब प्राप्ति होगी।

इन सब बातोंको कहनेका तात्पर्य यही है कि परमात्मप्राप्तिमें देरी मत करो। आपके कैसे ही पाप-ताप हों, आप कितने ही दुर्गुणी-दुराचारी हों, पर आपकी लगन लग जाय तो आज परमात्मप्राप्ति हो सकती है।

साध्यकी प्राप्ति साधकको ही हो सकती है, ब्राह्मण, साधु आदिको कैसे होगी? ब्राह्मणको ब्राह्मण-कन्या विवाहके लिये मिल सकती है, पर परमात्मा कैसे मिलेंगे? साधुको भिक्षा मिल सकती है, पर परमात्मा कैसे मिलेंगे? शरीरधारीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। साधक शरीरधारी नहीं होता और शरीरधारी साधक नहीं होता। अपनेको पुरुष या स्त्री मानेंगे तो परमात्मप्राप्ति कैसे होगी? मैं स्त्री या पुरुष हूँ ही नहीं, मैं तो भगवान्‌का हूँ— ऐसा भाव होगा तो बहुत जल्दी कल्याण हो जायगा। अपनेको स्त्री या पुरुष मानना तो सांसारिक व्यवहार (मर्यादा)-के लिये है। परन्तु पारमार्थिक मार्गमें अपनेको स्त्री या पुरुष मानेंगे तो बहुत देरी लगेगी। चिन्मयकी प्राप्ति चिन्मयको ही होगी, जड़को कैसे हो जायगी?

समताकी प्राप्तिको बहुत ऊँचा बताया गया है। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने लिखा है कि गीताके अनुसार अगर समता आ गयी तो दूसरे लक्षण भले ही न आयें, परमात्मप्राप्ति हो जायगी और समता नहीं आयी तो भले ही दूसरे बड़े-बड़े लक्षण आ जायँ, परमात्मप्राप्ति नहीं होगी। वह समता ममताका त्याग करते ही आ जाती है!

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।

(दोहावली ९४)

श्रीशरणानन्दजी महाराजने साफ लिखा है कि ममताको छोड़ते ही समता आ जायगी। दूसरी बात उन्होंने लिखी है कि अपने लिये तप करना भी भोग है और परमात्माके लिये झाड़ू लगाना भी पूजा है! हिरण्यकशिपुने कितनी कठोर तपस्या की! ब्रह्माजीने भी कह दिया कि ऐसी तपस्या आजतक किसीने नहीं की। परन्तु उसको तपस्यासे क्या परमात्मप्राप्ति हो गयी? उसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य ही नहीं था। इन बातोंका तात्पर्य परमात्मप्राप्ति जल्दी करनेमें है।

अगर परमात्माकी प्राप्ति करना चाहते हो तो अपनेको स्त्री या पुरुष न मानकर अपना सम्बन्ध परमात्माके साथ जोड़ो। शरीर तो मिला है और बिछुड़ जायगा। इस शरीरमें ही आप अटक जाओगे तो फिर परमात्मप्राप्ति कैसे होगी? परमात्माकी प्राप्ति तब होगी, जब परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़ोगे। कोई कपूत हो या सपूत हो, पूत तो वह है ही। कपूत भी बेटा है, सपूत भी बेटा है। अतः हम कैसे ही हों, अच्छे हों या मन्दे हों, परमात्माके ही हैं। परमात्माकी प्राप्ति न स्त्रीको होती है, न पुरुषको होती है। विवाह करना हो तो अपनेको स्त्री-पुरुष मानो। स्त्रीको पुरुष मिलेगा, परमात्मा कैसे मिलेंगे? पुरुषको स्त्री मिलेगी, परमात्मा कैसे मिलेंगे? परमात्मा तो साधकको मिलेंगे। साधक स्वयं होता है, शरीर नहीं होता। मुक्ति भी स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं होती। अतः हम न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, प्रत्युत हम परमात्माके हैं। परमात्मा हमारे हैं। हम और किसीके नहीं हैं। और कोई हमारा नहीं है। जिसको प्राप्त करना हो, उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। इसलिये परमात्माके साथ अपना घनिष्ठ

सम्बन्ध जोड़ो। परमात्माकी प्राप्तिमें स्त्रीपना और पुरुषपना—दोनों ही बाधक हैं। अपनेको स्त्री या पुरुष माननेवाला तो शरीरमें ही बैठा है, फिर उसको परमात्मा कैसे मिलेंगे? मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह मान लो तो बड़ा भारी काम हो गया! यह मामूली साधन नहीं हुआ है। भगवान्‌की और आपकी जाति एक हो गयी, जो कि वास्तवमें है।

जाति, कुल, विद्या, सम्प्रदाय आदिका अभिमान परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत बाधक है। भगवान् जिस जातिके हैं, उसी जातिके हम हैं। भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है, बाकी सब सम्बन्ध नकली हैं। हम भगवान्‌के अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। हम संसारके अंश नहीं हैं। हम साक्षात् भगवान्‌के बेटा-बेटी हैं। सांसारिक स्त्री-पुरुष तो हम बादमें बने हैं—'*सो मायाबस भयउ गोसाईं*' (मानस, उत्तर० ११७। २)।

यहाँ शंका हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌की बेटी हूँ'—ऐसा माननेसे अपनेमें स्त्रीभाव रह जायगा! वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अगर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध माननेसे स्त्रीभाव रह भी जाय तो वह मिट जायगा। भगवान्‌का सम्बन्ध ऐसा विलक्षण है कि सभी सम्बन्धोंको काट देता है। कारण कि सब सम्बन्ध झूठे हैं, पर भगवान्‌का सम्बन्ध सच्चा है। भगवान्‌ने कहा है कि जीव केवल मेरा ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**'। सच्ची बातके आगे झूठी बात कैसे टिकेगी? परन्तु आप 'मैं स्त्री हूँ या मैं पुरुष हूँ'—इस बातको ही महत्त्व देते रहोगे तो यह कैसे मिटेगा? '*जदपि मृषा छूटत कठिनई*'। इसलिये एक भगवान्‌के सिवाय दूसरेका सर्वथा निषेध कर दो—'**मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई**'। भगवान्

मिलें चाहे उम्रभर न मिलें, दर्शन दें चाहे न दें, पर हम तो भगवान्‌के ही हैं। भरतजी कहते हैं—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

(मानस, अयोध्या० २०५। १)

हम जैसे हैं, भगवान्‌के हैं। अच्छे हैं तो भगवान्‌के हैं, बुरे हैं तो भगवान्‌के हैं। जैसे विवाहित स्त्री भीतरसे अपनेको कुँआरी नहीं मान सकती, इसी तरह भक्त भगवान्‌के सिवाय दूसरेको अपना मान सकता ही नहीं। झूठी बात कैसे माने? भगवान्‌को हरेक आदमी अपना मान सकता है। पापी-से-पापी, दुष्ट-से-दुष्ट आदमी भी भगवान्‌को अपना मान सकता है। कारण कि यह मान्यता सच्ची है, दूसरी सब मान्यताएँ झूठी हैं। आपको हजारों आदमी कह दें कि तुम भगवान्‌के नहीं हो तो उनसे यही कहें कि आपको पता नहीं है। भगवान् भी कह दें कि तुम हमारे नहीं हो तो उनसे कहें कि आपको भूल हो सकती है, पर मेरेको भूल नहीं हो सकती! इतना पक्का विचार होना चाहिये!

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११। ११)

इस तरह दृढ़तासे भगवान्‌में अपनापन हो जाय तो फिर परमात्मप्राप्तिमें देरी नहीं लगेगी।

६. कल्याणका निश्चित उपाय

भगवान्‌ने जीवपर कृपा करके उसको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है। अपना कल्याण करनेके सिवाय मनुष्यजन्मका दूसरा कोई प्रयोजन है ही नहीं। शरीर, धन-सम्पत्ति, जमीन-मकान, स्त्री-पुत्र आदि जितनी भी सांसारिक वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब मिलने और बिछुड़नेवाली हैं। अत: कोई कितना ही बड़ा धनवान् बन जाय, बलवान् बन जाय, विद्वान् बन जाय, ऊँचे पदवाला बन जाय, बड़े कुटुम्बवाला बन जाय, पर अपने कल्याणके बिना ये सब-की-सब वस्तुएँ अपने कुछ काम न आयेंगी। बिना दूल्हेकी बरातकी तरह सम्पूर्ण सांसारिक भोग व्यर्थ हैं। इसलिये मनुष्यका खास कर्तव्य है—अपना कल्याण करना।

एक मार्मिक बात है कि अपना कल्याण करनेमें मनुष्यमात्र सर्वथा स्वतन्त्र है, समर्थ है, योग्य है, अधिकारी है। कारण कि भगवान् जीवको मनुष्यशरीर देते हैं तो उसके साथ ही अपना कल्याण करनेकी स्वतन्त्रता, सामर्थ्य, योग्यता और अधिकार भी प्रदान करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य अपना कल्याण करनेके लिये क्या करे? इसका उत्तर है कि यदि मनुष्य इन चार बातोंको दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसका कल्याण हो जायगा—

१- मेरा कुछ भी नहीं है।

२- मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये।

३- मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

४- केवल भगवान् ही मेरे हैं।

मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंको अपना मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। वास्तवमें अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी अपनी नहीं है। इसलिये 'मेरा

कुछ भी नहीं है'— ऐसा स्वीकार करनेसे जीवनमें निर्दोषता आ जाती है। निर्दोषता आते ही मनुष्य धर्मात्मा हो जाता है।

जब मेरा कुछ है ही नहीं, तो फिर हम किस वस्तुकी चाहना करें? अतः 'मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये'—ऐसा स्वीकार करते ही जीवनमें निष्कामता आ जाती है। निष्कामता आते ही मनुष्य योगी हो जाता है अर्थात् उसको समत्वरूप योगकी प्राप्ति हो जाती है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। कोई भी कामना न होनेसे उसको चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगकी भी प्राप्ति हो जाती है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (योगदर्शन १। २)।

मनुष्यमात्रका स्वरूप स्वतः असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। अतः मिलने और बिछुड़नेवाले किसी भी वस्तु-व्यक्तिके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे मनुष्यको अपनी असंगताका अनुभव हो जाता है। असंगताका अनुभव होनेपर वह ज्ञानी हो जाता है।

जीवमात्र परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। भगवान्का अंश होनेके नाते केवल भगवान् ही हमारे हैं। भगवान्के सिवाय दूसरा कोई हमारा नहीं है। इस प्रकार भगवान्में अपनापन स्वीकार करते ही मनुष्य भक्त हो जाता है।

धर्मात्मा, योगी, ज्ञानी और भक्त होनेमें ही मनुष्यका कल्याण निहित है। ऐसा होनेमें कठिनाई भी नहीं है; क्योंकि वास्तवमें मनुष्यमात्रका स्वरूप स्वतः निर्दोष, निष्काम, असंग और भगवान्का अंश है। तात्पर्य है कि हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें निर्दोषता, निष्कामता और असंगता स्वतःसिद्ध है और वह सत्ता भगवान्का अंश है। इसलिये साधकका कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त चारों बातोंको दृढ़तासे स्वीकार कर ले। फिर उसका कल्याण निश्चित है।

७. अभ्याससे बोध नहीं होता

हमलोगोंके भीतर एक बात जँची हुई है कि हरेक काम अभ्याससे होता है; अतः तत्त्वज्ञान भी अभ्याससे होगा। वास्तवमें तत्त्वज्ञान अभ्याससे नहीं होता। यह बड़ी मार्मिक और बड़ी उत्तम बात है। अभ्याससे एक नयी स्थिति बनती है, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। यह बहुत मनन करनेकी बात है। यह बात आपको जँचा देना मेरे हाथकी बात नहीं है। परन्तु यह मेरी अनुभव की हुई बात है। अभ्याससे एक स्थिति बनती है, बोध नहीं होता। अभ्यासमें समय लगता है, जबकि परमात्मप्राप्ति तत्काल होनेवाली वस्तु है। जैसे, रस्सेके ऊपर चलना हो तो तत्काल नहीं चल सकते। उसके लिये अभ्यास करना ही पड़ेगा। अभ्यास किये बिना आप रस्सेपर नहीं चल सकते। परन्तु दो और दो चार होते हैं—इसमें अभ्यास होता ही नहीं। तत्त्वज्ञानमें समयकी अपेक्षा है ही नहीं। परन्तु जिसके भीतर अभ्यासके संस्कार हैं, वह इस बातको जल्दी नहीं समझ सकता।

अभ्यास और अनुभवमें बड़ा अन्तर है। अभ्याससे अनुभव नहीं होता, प्रत्युत एक नयी स्थिति बनती है। परमात्मतत्त्व स्थितिसे अतीत है। वह स्थितिसे नहीं मिलता—यह बहुत मार्मिक बात है। परन्तु जिसने ज्यादा लोगोंका सत्संग किया है, ज्यादा पुस्तकें पढ़ी हैं, उनको यह बात समझनेमें कठिनाई होती है। इस बातका मैं भुक्तभोगी हूँ! मैंने काफी पढ़ाई की है और वर्षोंतक अभ्यास किया है, इसलिये मेरेको इस बातका पता है। मैंने योगका अभ्यास किया है, वेदान्तका किया है, व्याकरणका किया है,

काव्यका किया है, साहित्यका किया है, न्यायका किया है! वेदान्तमें आचार्यतकको परीक्षाएँ दी हैं। यद्यपि मैं अपनेको विशेष विद्वान् नहीं मानता, तथापि विद्याका अभ्यास मेरा किया हुआ है। इसलिये मेरे-जैसे व्यक्तिका जल्दी कल्याण नहीं हुआ! जिसके भीतर यह बात जँची हुई है कि अभ्याससे कल्याण होता है, उसका जल्दी कल्याण नहीं होगा।

कल्याणके लिये तीन बातें मुख्य हैं—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। इसमें अभ्यास क्या करेंगे? अभ्यास करेंगे तो वर्ष बीत जायँगे, बोध नहीं होगा। अभ्यास न करें तो अभी इसी क्षण बोध हो सकता है, चाहे अन्तःकरण कैसा ही क्यों न हो! आप मानें अथवा न मानें, मेरा कोई आग्रह नहीं है। परन्तु यह मेरी देखी हुई, समझी हुई बात है कि अभ्याससे तत्त्वज्ञान नहीं होता। अभ्याससे आप विद्वान् बन जाओगे, पर तत्त्वज्ञान नहीं होगा। कितना ही अभ्यास करो, पर 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है'—ये तीन बातें भीतरसे निकलती नहीं हैं। स्वरूपका बोध अभ्याससे सिद्ध होनेवाली चीज है ही नहीं। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, जबकि तत्त्व स्थितिसे अतीत है। स्थितिमें तत्त्व नहीं होता और तत्त्वमें स्थिति नहीं होती। उसको सहजावस्था कहते हैं, पर वास्तवमें वह अवस्था नहीं है। तत्त्व अवस्थासे अतीत है। अवस्थासे अतीत तत्त्व अभ्याससे नहीं मिलता, प्रत्युत तत्काल मिलता है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही जाननेमें अभ्यास नहीं है। अभ्यासमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका सहारा लेना पड़ेगा। तत्त्वबोधमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी जरूरत है ही नहीं। तत्त्वबोध वृक्षके फलकी तरह नहीं

है, जिसमें समय लगता है। समय स्थिति बननेमें लगता है। जब अन्त:करण शुद्ध होगा, मल-विक्षेप-आवरण दोष दूर होंगे, तब बोध होगा—यह प्रक्रिया मेरी की हुई है। वास्तवमें तत्त्वबोधके लिये अन्त:करण-शुद्धिकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत अन्त:करणसे सम्बन्ध-विच्छेदकी जरूरत है। केवल तत्त्वप्राप्तिकी चाहना जोरदार बढ़ जायगी तो चट प्राप्ति हो जायगी।

अपने भीतर अभ्यासके संस्कार पड़े हुए हैं, इसलिये प्रत्येक व्यक्तिके भीतरसे यह प्रश्न उठता है कि अब क्या करें? आपने कहा, हमने सुन लिया, अब क्या करें? 'क्या करें?'—यह बाकी रहेगा। अगर तत्काल प्राप्ति चाहते हो तो 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह बात मान लो। एक आदमीने दूसरेसे कहा कि दो और दो कितने होते हैं—इसका सही उत्तर दोगे तो मैं तुम्हें सौ रुपये दूँगा। दूसरेने कहा—चार होते हैं। पहला आदमी बोला कि नहीं होते! वह बार-बार कहे कि दो और दो चार होते हैं, पर पहला आदमी बार-बार यही कहे कि नहीं होते! अब उसको कोई कैसे समझाये? वह समझना ही नहीं चाहता।

आपको इतनी ही बात समझनी है कि मैं शरीर नहीं हूँ। आप 'घड़ी मेरी है'—यह तो कहते हैं, पर 'मैं घड़ी हूँ'—यह नहीं कहते। परन्तु शरीरके विषयमें आप 'शरीर मेरा है'—यह भी कहते हैं और 'मैं शरीर हूँ'—यह भी कहते हैं। 'मैं शरीर हूँ'—यह शरीरके साथ अभेदभावका सम्बन्ध है और 'शरीर मेरा है'—यह शरीरके साथ भेदभावका सम्बन्ध है। आपको कोई एक बात कहनी चाहिये, चाहे अभेदभावका सम्बन्ध कहो, चाहे भेदभावका सम्बन्ध कहो। एक ही शरीरको 'मैं' भी कहना और

'मेरा' भी कहना गलती है।

प्राणी चौरासी लाख योनियोंमें जाता है तो एक शरीरको छोड़ता है, तभी दूसरे शरीरमें जाता है। जब चौरासी लाख योनियोंके शरीर हमारे साथ नहीं रहे तो फिर यह शरीर हमारे साथ कैसे रहेगा? वे शरीर हमारे नहीं हुए तो यह शरीर हमारा कैसे हो जायगा? शरीर तो छूटेगा ही। अत: सीधी-सरल बात है कि शरीर मैं नहीं हूँ। इसमें अभ्यासका काम नहीं है।

जबतक अहंभाव (मैंपन) रहेगा, तबतक बोध नहीं होगा। अहम् मिटनेपर ही ब्राह्मी स्थिति होती है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

(गीता २। ७१-७२)

अहंकार अपरा प्रकृति है और स्वयं परा प्रकृति है। परा प्रकृतिका सम्बन्ध परमात्माके साथ है, अपराके साथ नहीं। अहंकारको पकड़नेसे बोध कैसे होगा? बहुत वर्ष पहलेकी बात है। एक बार मैंने कहा कि '**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म हूँ) कहना ठीक नहीं है; '**अहं ब्रह्मास्ति**' (मैं ब्रह्म है)—ऐसा कहना चाहिये! व्याकरणकी दृष्टिसे ऐसा कहना अशुद्ध है; क्योंकि '**अहम्**'के साथ '**अस्मि**' ही लगेगा, '**अस्ति**' नहीं। परन्तु मेरे कहनेका तात्पर्य था कि '**अहम्**' साथमें रहेगा तो बोध नहीं होगा। '**अहं नास्मि, ब्रह्म अस्ति**' (मैं नहीं हूँ, ब्रह्म है)—ऐसा विभाग कर लो तो समझमें आ जायगा। '**अस्मि**' रहेगा तो अहंकार साथमें रहेगा ही। यह अहंकार अभ्याससे कभी छूटेगा नहीं, चाहे बीसों वर्ष अभ्यास कर लो। यह मार्मिक बात है।

यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ती है,

वह अपनी नहीं होती। शरीर मिला है और बिछुड़ जायगा, फिर वह अपना कैसे हुआ? परमात्मा मिलने तथा बिछुड़नेवाले नहीं हैं। वे सदासे ही मिले हुए हैं और कभी बिछुड़ते ही नहीं। उनका अनुभव नहीं होनेका दुःख नहीं है, इसीलिये देरी लग रही है। उनकी असली चाहना नहीं है। असली चाहना होगी तो तत्काल प्राप्ति हो जायगी। परमात्मप्राप्ति शरीरादि जड़ पदार्थोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत इनके त्यागसे होती है। मन-बुद्धिकी सहायतासे बोध नहीं होता, प्रत्युत इनके त्यागसे बोध होता है।

योगदर्शनमें अभ्यासका लक्षण बताया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (१।१३)

'किसी एक विषयमें स्थिति प्राप्त करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम अभ्यास है।'

तत्त्वबोध किसी स्थितिका नाम नहीं है। जहाँ स्थिति होगी, वहाँ गति भी होगी—यह नियम है। तत्त्व स्थिति और गति—दोनोंसे अतीत है। तत्त्वमें न स्थिति है, न गति है; न स्थिरता है, न चञ्चलता है। जैसे भूख और प्यासके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता, ऐसे ही तत्त्वकी जिज्ञासाके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। हमारी आदत अभ्यास करनेकी पड़ी हुई है, इसलिये अभ्यासकी बात ही हमें जँचती है।

अभ्यासका मैं खण्डन नहीं करता हूँ। अभ्यास करते-करते और नयी स्थिति होते-होते तत्त्वकी जिज्ञासा होकर उसकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह बहुत लम्बा रास्ता है। कितने जन्म लगेंगे, इसका पता नहीं। अन्तमें भी जब अभ्यास छूटेगा अर्थात् जड़ता (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-से हमारा सम्बन्ध छूटेगा, तब

तत्त्वप्राप्ति होगी। तत्त्वप्राप्ति जड़ताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है—यह सिद्धान्त है। जड़ताकी सहायताके बिना अभ्यास हो ही नहीं सकता। अत: अभ्यासके द्वारा जड़ताका त्याग नहीं हो सकता। जिसकी सहायतासे अभ्यास करेंगे, उसका त्याग अभ्याससे कैसे होगा? परन्तु अभ्यासकी बात हरेक आदमीके भीतर जड़से बैठी हुई है, इसलिये बोध होनेमें कठिनता हो रही है। बोध होनेमें अभ्यासको हेतु माननेके कारण जल्दी बोध नहीं हो रहा है।

यद्यपि भगवन्नामका जप, कीर्तन, प्रार्थना भी अभ्यासके अन्तर्गत आते हैं, तथापि ये अभ्याससे तेज हैं। कारण कि अभ्यासमें अपना सहारा रहता है, पर जप, प्रार्थना आदिमें भगवान्‌का सहारा रहता है। 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' यह पुकार अभ्याससे तेज है। अभ्यासमें अपने उद्योगसे काम होता है, पर पुकारमें भगवान्‌की कृपासे काम होता है। आप अभी अभ्यासके राज्यमें ही बैठे हुए हैं, आपके संस्कार अभ्यासके हैं, इसलिये आप नामजप, कीर्तन, प्रार्थनामें लग जाओ तो आपको बहुत लाभ होगा।

८. कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्

मनुष्यमात्रके लिये मुख्य बात है—अपने जीवनका एक उद्देश्य बनाना। वास्तवमें मनुष्यजीवनका उद्देश्य पहलेसे ही बना हुआ है। भगवान्‌ने जीवको सदाके लिये जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त होकर अपनी प्राप्ति करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये जीवने मनुष्यशरीर लिया है। इसलिये भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेमें ही मनुष्यजन्मकी सार्थकता है। इस कार्यके लिये मनुष्यशरीरके सिवाय दूसरा कोई शरीर है ही नहीं। यद्यपि भगवान्‌की ओरसे किसीके लिये भी कोई मनाही नहीं है, तथापि मनुष्यशरीर खास भगवत्प्राप्तिके लिये ही है। इस मनुष्यशरीरको पाकर यदि अपना उद्देश्य ठीक नहीं बनाया तो क्या किया! इसलिये सब भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि आप स्वयं अपना उद्देश्य बनायें कि हमें भगवान्‌को प्राप्त करना ही है। आप चाहे मेरा कहना मान लो, चाहे गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंकी बात मान लो, चाहे अन्य किसीकी बात मान लो, सबकी खास बात यही है कि मनुष्यजन्म भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। भगवत्प्राप्तिके सिवाय मनुष्यजन्मका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। भगवत्प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर भी चौरासी लाख योनियोंकी तरह ही है। इसलिये मनुष्यजन्मके मूल्यको समझें। विचार करें कि मनुष्यजन्म क्यों मिला है? भगवान्‌ने क्यों दिया है? हमने क्यों लिया है? परमात्मप्राप्तिके बिना मनुष्यजन्मका क्या प्रयोजन है?

मनुष्यजन्म ही एक ऐसा है, जिससे मनुष्य सदाके लिये दुःखोंसे मुक्त हो सकता है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।

कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(मानस, उत्तर० ४३)

ऐसे शरीरको प्राप्त करके भी अगर आध्यात्मिक उन्नति नहीं की तो क्या किया? आध्यात्मिक तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यजन्म मिला है, इसके सिवाय मनुष्यजन्मका और क्या मतलब है? अगर यह भी आपने नहीं किया तो मनुष्य होनेका क्या मतलब हुआ? मनुष्य हो, चाहे कीड़ा-मकोड़ा हो, फर्क क्या हुआ? मनुष्यजन्मकी सार्थकता क्या हुई? परमात्मप्राप्तिके विषयमें आप जोरसे नहीं लगे तो फिर आपने क्या किया? क्या मतलब सिद्ध किया? चाहे भाई हो, चाहे बहन हो, अगर उसने परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य नहीं रखा तो मनुष्यजन्मका क्या मतलब हुआ? नीतिमें एक श्लोक आता है—

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत्।

लक्षं विहाय दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्॥

'सौ काम छोड़कर भोजन करो, हजार काम छोड़कर स्नान करो, लाख काम छोड़कर दान दो और करोड़ काम छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो।'

तात्पर्य है कि करोड़ काम भी बिगड़ते हों तो बिगड़ जायँ, उनको छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो। भगवान्‌का स्मरण करना सबसे मुख्य रहा। भोजनसे, स्नानसे, दानसे भी बढ़कर भगवान्‌का स्मरण हुआ! भगवान्‌का स्मरण किये बिना जन्म-मरण नहीं छूट सकता। जन्म-मरण छूटे बिना मनुष्यजन्म किस कामका? लोग

सत्संग छोड़कर जाते हैं तो कारण पूछनेपर कहते हैं कि हमें अमुक-अमुक काम करने हैं, जाना ही पड़ेगा। आनेमें देरी हो जाय तो कहते हैं कि अमुक-अमुक काम आ गया, नहीं तो हम पहले ही आ जाते। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपने सत्संगकी अपेक्षा दूसरे कामोंको ज्यादा आदर दिया है। शास्त्र कहता है—**'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्'** 'करोड़ों काम छोड़कर भी भगवान्‌का स्मरण करो'। क्या आपने करोड़ों काम छोड़कर कभी भगवान्‌का स्मरण किया है? विचार करें कि पारमार्थिक उन्नतिके लिये हमने कितने काम छोड़े हैं? कितने कामोंकी उपेक्षा की है? अपने हृदयपर हाथ रखकर स्वयं सोचो कि क्या हमने पारमार्थिक बातोंका इतना आदर किया है? आप कहते तो हैं कि हम सत्संग करते हैं, हमें आध्यात्मिक उन्नति चाहिये, पर अपने लक्ष्यको ठीक पूरा करनेके लिये क्या आपने ऐसा किया है? क्या ऐसा करनेका विचार है? विचार करनेसे पता लगेगा कि आप कितने पानीमें हैं? हमें परमात्मप्राप्ति नहीं हो रही है, ऐसा कहते तो हैं, पर उसके लिये आपने कितने काम छोड़े हैं?

पारमार्थिक उन्नति इस मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। कारण कि इसीके लिये यह मनुष्यजन्म मिला है। पर इस कामके लिये आपकी कितनी तत्परता है—इधर ध्यान दो। अपने भीतर विचार करो। शास्त्र कहता है कि करोड़ों काम बिगड़ते हों तो बिगड़ जायँ, पर भगवान्‌का स्मरण मत छोड़ो। इस भगवत्स्मरणको आपने कितना महत्त्व दिया है? इसपर कितना विचार किया है? फिर आपको पता लगेगा कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति कितनी हुई है? हरेक साधकको इस तरह विचार करना चाहिये। यदि

सब काम छोड़कर भगवत्स्मरणको महत्त्व देते तो फिर ऐसा नहीं कहते कि हम इतने वर्षोंसे लगे हुए हैं, परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई! हम भगवत्स्मरणका जितना आदर करते हैं, उसकी अपेक्षा भी भगवान् हमपर विशेष कृपा करते हैं।

प्रश्न—क्या शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म छोड़कर भगवान्का भजन करें?

उत्तर—शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करना, कुटुम्बका पालन करना, न्यायानुकूल काम करना बहुत अच्छा है, पर भगवत्स्मरणके सामने सब काम गौण हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्तव्य-कर्म करना छोड़ दें। कर्तव्य-कर्म करें, पर भगवान्का स्मरण सबसे मुख्य होना चाहिये। संसारके जितने भी काम हैं, वे सब-के-सब एक दिन बिगड़नेवाले हैं। परन्तु भगवान्का स्मरण कभी बिगड़ेगा नहीं। संसारका कितना ही सुधार कर लो, वह तो बिगड़ेगा। वह सुधर जाय तो बिगड़ गया, बिगड़ जाय तो बिगड़ गया। वास्तवमें तो संसारका काम बिगड़ा हुआ ही है। मनुष्यजन्मकी सफलता भगवान्को प्राप्त करनेमें ही है। भोजन करनेसे, स्नान करनेसे, दान देनेसे मनुष्यजन्म सफल नहीं होगा। मनुष्यजन्म सफल होगा—भगवान्का स्मरण करनेसे। आप स्वयं सोचो कि भगवान्के स्मरणसे बढ़कर क्या काम है?

समस्त कर्तव्योंका मूल कर्तव्य है—भगवान्का स्मरण करना। अन्य सब कर्तव्य इससे नीचे हैं। कहनेमें तो आप कर्तव्य-कर्मकी बात कहते हो, पर वास्तवमें अपनी आयुका नाश कर रहे हो! पर यह बात पढ़ने-सुननेसे समझमें नहीं आती। आप स्वयं सोचोगे, तब समझमें आयेगी। '**कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्**'—

यह बात यों ही अँधेरेमें नहीं कही गयी है।

असली कर्तव्य वही है, जिससे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाय। कर्मयोगके पालनसे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाता है। अगर आप संसारसे ऊँचा उठ गये, तब तो आपने कर्तव्यका पालन किया, नहीं तो कर्तव्यको समझा ही नहीं है, केवल समय बरबाद किया है। अगर आपने कर्तव्य-कर्मका ठीक पालन किया होता तो स्त्री-पुत्र, रुपये-पैसेमें मन नहीं जाता। रुपयोंके लिये झूठ, कपट, चालाकी, ठगी नहीं करते। यह नियम है कि कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाता है और उसे शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंतारहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

प्रश्न—अगर कोई बीमार हो तो क्या उसकी सेवा छोड़कर भगवान्‌का भजन करें?

उत्तर—अगर भगवान्‌की सेवा मानकर बीमारकी सेवा करें तो क्या हर्ज है? क्या बाधा लगती है? बीमार व्यक्तिको साक्षात् भगवान् मानकर उसकी सेवा करो। घरके कामको भगवान्‌का काम मानकर करो। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

भगवान्‌का काम समझकर सब कार्य करो तो वह सब भजन हो जायगा। शौच-स्नान करना भी भगवान्‌की सेवा है। बालक भोजन कर लेता है तो माँ राजी हो जाती है! भगवान् क्या माँसे भी कम दयालु हैं? एकनाथजी महाराजने भागवतके एकादश स्कन्धकी टीकामें लिखा है कि घरमें झाड़ू देकर कचरा भगवान्‌के अर्पणकी भावनासे बाहर फेंकें तो वह भी भजन हो जायगा! निरर्थक कर्म भी भगवान्‌के अर्पण करनेसे भजन हो जाता है। अगर भगवत्प्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य हो जाय तो फिर आपके सभी कार्य भजन हो जायँगे। फिर आपके द्वारा संसारका काम नहीं होगा, प्रत्युत प्रत्येक काम भगवान्‌का ही हो जायगा। इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

९. नित्यप्राप्तकी प्राप्ति

भगवान्‌ने जीवको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्य-शरीर दिया है। इस दृष्टिसे मनुष्ययोनि वास्तवमें साधनयोनि है। साधनयोनि होनेके नाते मनुष्य मात्र अपना कल्याण कर सकता है, जन्म-मरणसे मुक्त हो सकता है। क्यों हो सकता है? क्योंकि वास्तवमें वह मुक्त है। इसलिये साधकको सर्वप्रथम इस सत्यको दृढ़तासे स्वीकार करना चाहिये कि मैं मुक्त हो सकता हूँ। क्यों हो सकता हूँ? क्योंकि मैं मुक्त हूँ। मैं परमात्माको प्राप्त कर सकता हूँ। क्यों कर सकता हूँ? क्योंकि परमात्मा प्राप्त हैं। जो सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सब समय हैं, सब व्यक्तियोंमें हैं, सब वस्तुओंमें हैं, सब अवस्थाओंमें हैं, सब घटनाओंमें हैं, सब परिस्थितियोंमें हैं, वे परमात्मा क्या हमसे कभी अलग हो सकते हैं? जैसे परमात्मा हमसे कभी अलग नहीं होते, ऐसे ही शरीरके साथ हमारा कभी मिलन नहीं होता। आजतक हम अनेक योनियोंमें गये, अनेक शरीर धारण किये, पर कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा, जबकि हम स्वयं वे-के-वे ही रहे। अतः साधकको यह सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये कि परमात्माके साथ हमारा अविभाज्य सम्बन्ध है और संसारके साथ शरीरका अविभाज्य सम्बन्ध है। इसलिये हम शरीरके द्वारा अपने लिये कुछ नहीं कर सकते। शरीरसे कोई भी क्रिया करेंगे तो वह संसारके लिये ही होगी, अपने लिये नहीं। क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है। हमारा स्वरूप अक्रिय है। अगर हम कोई भी क्रिया न करना चाहें तो शरीरकी क्या जरूरत है?

अब साधकको विचार करना है कि जब शरीरके द्वारा हम अपने लिये कुछ कर ही नहीं सकते, केवल संसारके लिये ही कर सकते हैं, तो फिर अपने लिये क्या कर सकते हैं? कैसे कर सकते हैं? विचार करनेपर पता लगता है कि हम अपने लिये अपने द्वारा निष्काम हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निष्काम हैं। हम अपने लिये निर्मम (ममतारहित) हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निर्मम हैं। हम अपने लिये निरहङ्कार हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निरहङ्कार हैं। गीतामें भगवान् भी हमें निष्काम, निर्मम और निरहङ्कार होनेके लिये कहते हैं*। क्यों कहते हैं? क्योंकि हम निष्काम, निर्मम और निरहङ्कार हैं।

हम अपने द्वारा भगवान्‌को अपना मान सकते हैं। क्यों मान सकते हैं? क्योंकि भगवान् अपने हैं। दूसरा कोई अपना है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। हम अपने द्वारा संसारसे अलग हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम संसारसे अलग हैं— **'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। तात्पर्य यह निकला कि हम अपने लिये निष्काम, निर्मम, निरहङ्कार हो सकते हैं और अभी हो सकते हैं। ऐसा होनेके लिये शरीरकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत अपने ही द्वारा हो सकते हैं। परिश्रम और पराश्रयका त्याग करके हम अपने ही द्वारा विश्राम और भगवदाश्रय पा सकते हैं। इसमें हम पराधीन नहीं हैं, प्रत्युत सर्वथा स्वाधीन हैं।

---

* विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता २। ७१)

शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। अतः शरीरके द्वारा हम भोजन तो कर सकते हैं, पर भजन नहीं कर सकते। सेवा भी हम शरीरके द्वारा नहीं कर सकते, प्रत्युत शरीरसे अलग होकर कर सकते हैं। कैसे कर सकते हैं? अपने द्वारा बुराई-रहित होकर कर सकते हैं। क्यों कर सकते हैं? क्योंकि हम बुराई-रहित हैं—*'चेतन अमल सहज सुख रासी॥'* (मानस, उत्तर० ११७। २)। भजन भी हम अपने ही द्वारा कर सकते हैं। कैसे कर सकते हैं? भगवान्‌में प्रेम करके कर सकते हैं। क्यों कर सकते हैं? क्योंकि हम भगवान्‌के प्रेमी हैं। शरीरके द्वारा हम सेवा और प्रेमकी चर्चा तो कर सकते हैं, पर सेवा और प्रेम नहीं कर सकते।

संसारसे मिले हुए शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा हम संसारको ही प्राप्त कर सकते हैं, परमात्माको नहीं। परमात्माको न शरीरके द्वारा पकड़ा जा सकता है, न मनके द्वारा पकड़ा जा सकता है, न इन्द्रियोंके द्वारा पकड़ा जा सकता है और न बुद्धिके द्वारा पकड़ा जा सकता है। यदि इनके द्वारा परमात्मा पकड़ा जा सकता तो फिर मशीनके द्वारा भी परमात्मा पकड़ा जा सकता! इसलिये यदि साधक परमात्माको प्राप्त करना चाहता है तो उसको शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके आश्रयका त्याग करना पड़ेगा, क्रियाके आश्रयका त्याग करना पड़ेगा। परमात्मा इन शरीरादि जड़ वस्तुओंके द्वारा नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत इनके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से प्राप्त होता है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका दूसरोंके हित (सेवा)-में उपयोग करके मनुष्य एक भला आदमी तो बन सकता है, पर भगवान्‌का प्रेमी नहीं बन सकता। भगवान्‌का प्रेमी तो अपने ही

द्वारा बन सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माको पानेके लिये, उनका प्रेमी बननेके लिये हमें न तो शरीरकी आवश्यकता है, न इन्द्रियोंकी आवश्यकता है, न मनकी आवश्यकता है और न बुद्धिकी ही आवश्यकता है। शरीरके द्वारा मिलनेवाली वस्तु सबको नहीं मिल सकती, पर अपने द्वारा मिलनेवाली वस्तु (परमात्मा) सभीको मिल सकती है। जो किसीको मिले, किसीको न मिले, उसका नाम परमात्मा नहीं है। परमात्मा तो वह है, जो सभीको मिल सकता है। क्यों मिल सकता है? क्योंकि वह मिला हुआ ही है। जब परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं तो फिर परमात्मा अप्राप्त कैसे?

हे जग के करतार तेरी कहा अस्तुति कीजै।
तू ही एक अनेक भयो है, अपनी इच्छा धार॥
तू ही सिरजै तू ही पालै, तू ही करै सँहार।
जित देखूँ तित तू-ही-तू है, तेरा रूप अपार॥
तू ही राम, नारायण तू ही, तू ही कृष्ण मुरार।
साधौं की रक्षाके कारण, युग युग ले औतार॥
तू ही आदि अरु मध्य तुही है, अन्त तेरा उजियार।
दानव देव तुही सूँ प्रकटे, तीन लोक विस्तार॥
जल थलमें व्यापक है तू ही, घट-घट बोलनहार।
तो बिन और कौन है ऐसो, जासों करों पुकार॥
तू ही चतुर शिरोमणि है प्रभु, तू ही पतित उधार।
चरणदास शुकदेव तुही है, जीवन प्राण अधार॥

१०. अनेकतामें एकता

एक अपरा प्रकृति (जगत्) है, एक परा प्रकृति (जीव) है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। सम्पूर्ण शरीर तथा संसार 'अपरा' के अन्तर्गत हैं और सम्पूर्ण जीव 'परा' के अन्तर्गत हैं। सम्पूर्ण शरीर भी एक हैं। सम्पूर्ण जीव भी एक हैं और परा तथा अपरा जिसकी शक्तियाँ हैं, वे परमात्मा भी एक हैं—**'एकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य० ६। २। १)। अतः शरीरोंकी दृष्टिसे, जीवों (आत्मा)-की दृष्टिसे और परमात्माकी दृष्टिसे—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं, अनेक नहीं हैं। परन्तु जब मनुष्य सबको एक न मानकर अपने और परायेका भेद पैदा कर लेता है, तब उसके जीवनमें बुराई आ जाती है। जैसे, कौरव और पाण्डव एक थे। परन्तु जब धृतराष्ट्रके मनमें **'मामकाः'** (मेरे पुत्र) और **'पाण्डवाः'** (पाण्डुके पुत्र)—यह भेद पैदा हो गया, तब उसके जीवनमें बुराई आ गयी, जिसके परिणाममें महाभारतका युद्ध हुआ। अतः बुराई-रहित होनेके लिये साधकको दृढ़तापूर्वक इस सत्यको स्वीकार कर लेना चाहिये कि ऊपरसे अनेक भेद दीखते हुए भी वास्तवमें हम एक हैं—शरीरोंकी दृष्टिसे भी एक हैं, आत्माकी दृष्टिसे भी एक हैं और परमात्माकी दृष्टिसे भी एक हैं। सम्पूर्ण शरीर पञ्चमहाभूतोंसे बने हुए हैं, इसलिये एक हैं। सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये एक हैं और सम्पूर्ण मनुष्य अलग-अलग नाम-रूपोंसे जिनकी उपासना करते हैं, वे परमात्मा भी एक हैं।

असली भक्त वही हो सकता है, जो किसीको भी पराया

नहीं मानता, प्रत्युत सबको अपना मानता है और सबकी सेवा करता है*। सेवा करनेके लिये सभी अपने हैं, पर अपने लिये केवल परमात्मा ही हैं। हमारे पास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जो भी वस्तुएँ हैं, वे संसारकी हैं और संसारसे ही मिली हैं। परन्तु अपने लिये वही वस्तु हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे। ऐसी वस्तु केवल परमात्मा ही हैं।

असली सेवा है—किसीका भी बुरा न करना। जो कभी किसीका बुरा नहीं करता, उसके द्वारा विश्वमात्रकी सेवा होती है। कारण कि किसीका भी बुरा न करनेसे उसका व्यक्तित्व मिट जाता है और उसका सम्बन्ध सर्वव्यापी, असीम-अनन्त तत्त्वके साथ हो जाता है। जिसके द्वारा कभी किसीका बुरा नहीं होता, वह खुद बुरा नहीं रह सकता, प्रत्युत भला हो जाता है। मनुष्य भलाई करनेसे भला नहीं होता, प्रत्युत बुराईका सर्वथा त्याग करनेसे भला होता है। कारण कि भलाई करना सीमित होता है, पर किसीका बुरा न करना असीम होता है। असीमसे असीम तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये सबसे बड़ी सेवा है—बुराईका त्याग। जिसने बुराईका त्याग कर दिया है, वह सबसे बड़ा आदमी है।

बुराईका त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य किसीसे कुछ न चाहे, न संसारसे, न परमात्मासे। क्यों न चाहे?

---

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो भक्त अपने शरीरकी उपमासे सब जगह मुझे समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।'

क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी अपनी नहीं है। जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि करनेसे कामनाका नाश नहीं होता। कामनाका नाश तब होता है, जब मनुष्य इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि संसारकी कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। जो वस्तु मेरी नहीं होती, वह मेरे लिये भी नहीं होती। जिसपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं चलता, जो सदा हमारे साथ नहीं रह सकती, जिसकी प्राप्ति होनेसे हमारे अभावकी पूर्ति नहीं होती, वह वस्तु मेरी और मेरे लिये कैसे हो सकती है?

सम्पूर्ण संसार एक है। उसमें जो अलग-अलग देशों और प्रान्तोंका बँटवारा दीखता है, वह मनुष्योंके द्वारा किया गया है। मनुष्य अपने स्वार्थके वशीभूत होकर एक ही संसारमें अनेक भेद पैदा कर लेता है। वास्तवमें सारी सृष्टि एक है और उसका रचयिता परमात्मा भी एक है। जो संसारको जानता है और परमात्माको मानता है, वह मनुष्य भी एक है। वास्तवमें सृष्टि (अपरा) और जीव (परा)-की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। स्वतन्त्र सत्ता एक परमात्माकी ही है। जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५) अर्थात् जगत्‌को सत्ता जीवने ही दी है, इसलिये जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), इसलिये खुद जीवकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि जगत्‌की सत्ता जीवके अधीन है और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है। इसलिये एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। जगत् और जीव—दोनों परमात्मामें ही भासित हो रहे हैं।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध माना हुआ (बनावटी) है और

परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है। जिसके साथ हमारा माना हुआ सम्बन्ध है, उसकी सेवा करनी है और जिसके साथ हमारा वास्तविक सम्बन्ध है, उससे प्रेम करना है। न तो संसारसे कुछ चाहना है और न परमात्मासे ही कुछ चाहना है। सेवा और प्रेम साधकका स्वरूप है। जब साधक परमात्माको संसाररूपमें देखता है, तब वह सेवा करता है और जब परमात्माको परमात्मरूपमें देखता है, तब वह प्रेम करता है। परन्तु साधक सेवक तभी हो सकता है, जब वह इस सत्यको स्वीकार कर ले कि मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये। वह प्रेमी तभी हो सकता है, जब वह इस सत्यको स्वीकार कर ले कि केवल भगवान् अपने हैं।

यदि साधक विवेकपूर्वक विचार करे तो वह अपनेमें ही संसारको देखेगा और परमात्मामें ही अपनेको देखेगा। संसार तो प्रतिक्षण बदलता है, उत्पन्न और नष्ट होता है, पर परमात्मा कभी नहीं बदलते। जो बदलता है, उसकी सत्ता नहीं होती और जो नहीं बदलता, उसीकी सत्ता होती है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। जब साधक सर्वथा बुराई-रहित हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं रहता। फिर उसकी परमात्मासे न तो दूरी रहती है, न भेद रहता है और न भिन्नता ही रहती है। इसीको गीताने '**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९) पदोंसे कहा है।

११. रुपयोंके सहारेसे हानि

हमें सबसे पहले अपने जीवनका एक उद्देश्य बनाना चाहिये कि इस जीवनमें हमें परमात्माकी प्राप्ति करनी है। चाहे सारी दुनिया हमारा विरोध करे, पर हमें अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनी है— ऐसा पक्का विचार किये बिना संसार-बन्धन छूटेगा नहीं। अपना उद्देश्य, ध्येय एक बना लो, फिर सब ठीक हो जायगा। जो विधवा हो गयीं अथवा जो साधु हो गये, उनको तो सर्वथा परमात्माकी तरफ लग जाना चाहिये। इसके सिवाय उनका संसारमें क्या काम है? उनका शरीर-निर्वाह हो जायगा। कैसे होगा? यह तो भगवान् जानें!

प्राय: आपने समझ रखा है कि पहले अपने निर्वाहका प्रबन्ध कर लें, रुपये जमा कर लें, पीछे भजन-स्मरण करेंगे। ऐसा भाव आपकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने देगा। जिन्होंने अपने पास रुपये जमा किये हुए हैं, उनकी जल्दी आध्यात्मिक उन्नति नहीं होगी। रुपयोंका सम्बन्ध आपकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा डालेगा। जिसके पास कुछ नहीं है, रोटी कहाँ मिलेगी—इसका भी पता न हो, उसकी जितनी जल्दी उन्नति होगी, उतनी जल्दी रुपये रखकर साधन करनेवालेकी नहीं होगी। कारण कि उसके भीतर रुपयोंका सहारा रहेगा। रुपयोंके सहारेसे कल्याण नहीं होगा, यह निश्चित बात है। जिसके पास रुपयों आदिका कोई सहारा न हो, रोटीका भी ठिकाना न हो कि क्या खायेंगे? कल क्या मिलेगा? उसकी उन्नति बहुत जल्दी होगी। यह बात आपको

रहेगा कि रुपये जमा रखकर उसके ब्याजसे काम चलायेंगे, उसकी जल्दी उन्नति नहीं होगी। रुपयोंका आश्रय रहनेसे भगवान्‌का अनन्य आश्रय नहीं होगा। कुछ भी सहारा रहेगा तो वह परमात्माकी प्राप्ति नहीं होने देगा। दीखता ऐसा है कि रुपयोंका प्रबन्ध हो जाय तो फिर निश्चिन्त होकर भजन करेंगे, पर वास्तवमें निश्चिन्त नहीं हो सकोगे।

भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

यहाँ भगवान्‌ने तीन बातें कही हैं—'**अनन्यचेताः**', '**सततम्**' और '**नित्यशः**'। इन तीनों बातोंका तात्पर्य है—१. '**अनन्यचेताः**' अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका सहारा न हो, २. '**सततम्**' अर्थात् जिस दिन परमात्मामें लगे, उस दिनसे लेकर मृत्युतक और ३. '**नित्यशः**' अर्थात् सुबहसे लेकर शामतक—नींद खुलनेसे लेकर नींद आनेतक परमात्मासे जुड़े रहें। इन तीन बातोंसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं। जिसका एक भगवान्‌के सिवाय और कोई सहारा नहीं है, ऐसे अनन्यचेता मनुष्यके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है। जिसको रोटी, कपड़ा, मकान आदि किसीका कोई सहारा नहीं है, वह अगर भगवान्‌में लगे तो बहुत जल्दी उन्नति करेगा। कई आदमी कहते हैं कि हमारे

पास पैसा नहीं है, पैसा होता तो भजन करते! यह बिलकुल झूठी बात है। रुपयोंका सहारा दीखता अच्छा है, पर अच्छा है नहीं। जिसके पास कुछ नहीं है, किसीका भी सहारा नहीं है, उसके ऊपर भगवान्‌की बहुत कृपा समझनी चाहिये। वह बड़ा भाग्यशाली है! उसकी बहुत जल्दी उन्नति होगी।

असत् पदार्थोंके सहारेसे ही सबका नुकसान हो रहा है। असत्‌के सहारेसे ही आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो रही है! जो असत्, अनित्य वस्तुका सहारा नहीं लेता, उसकी उन्नति जरूर होगी। सहारा लेना हो तो नित्यका लो। अनित्यका सहारा दीखता तो ठीक है, पर उससे लाभ नहीं होता। रुपये जमा हो जायँगे तो उनका ब्याज आ जायगा, उस ब्याजसे काम चलेगा और निश्चिन्त होकर भजन-स्मरण करेंगे—यह असत्‌का सहारा है। अगर आप आध्यात्मिक उन्नति चाहते हो तो असत्‌का सहारा छोड़ना ही पड़ेगा। असत्‌का सहारा छोड़नेपर उन्नति जरूर होगी, इसमें सन्देह नहीं है। इसलिये किसीका भी सहारा मत लो, न वस्तुका, न व्यक्तिका। सत्संगसे भी लाभ लो, पर उसका सहारा मत लो। गुरुका भी सहारा मत लो। श्रीदयालुदासजी महाराजने कहा है—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

तात्पर्य है कि जिसका कोई नहीं होता, उसके भगवान् होते हैं। परन्तु जिनको दीखता है कि हमारे पास रुपये हों तो हम भी भजन करें, वह भजन नहीं कर सकता। संसारमें देखो कि जिनके पास रुपये हैं, वे कितना भजन करते हैं? ज्यादा रुपयोंवाले

सत्संग नहीं कर सकते, सत्संगमें ज्यादा ठहर नहीं सकते। मैंने ऐसे आदमियोंको देखा है, जो सत्संग करते थे। परन्तु जब उनके पास रुपये ज्यादा हो गये, तब उनका सत्संगमें आना छूट गया। संसारका सहारा बिलकुल कामका नहीं है। जिसके पास कुछ नहीं है, कोई सहारा नहीं है, वह व्यक्ति भगवान्‌को बहुत प्रिय होता है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। १४)

'हम सदासे अकिञ्चन हैं और अकिञ्चन लोगोंसे ही हम प्रेम करते हैं तथा अकिञ्चन लोग ही हमारेसे प्रेम करते हैं।'

कुन्तीदेवी भगवान्‌से कहती हैं कि आप उन लोगोंको दर्शन देते हैं, जो अकिञ्चन हैं—'**त्वामकिञ्चनगोचरम्**' (श्रीमद्भा० १।८।२६)। इसलिये जिसके पास अपना करके कुछ नहीं है, वह बड़ा भाग्यशाली है। उसपर भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा है। संसारको अपना माननेसे धोखा ही होगा। संसारका सहारा टिकनेवाला नहीं है, एक दिन छूट जायगा—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अगर मनमें रुपयोंका सहारा पकड़ा हुआ रहेगा कि ब्याज आता रहेगा, हम मौजसे भजन-साधन करेंगे तो रुपयोंका भजन होगा, भगवान्‌का नहीं। असली चिन्तन रुपयोंका ही होगा। अगर संसारका सहारा छोड़ दोगे तो फिर भगवान्‌का ही सहारा रहेगा। कारण कि असत्‌का त्याग करनेपर सत् ही शेष रहेगा।

जिनके पास कुछ नहीं है और भीतरमें कोई इच्छा भी नहीं है, वे बड़े बड़भागी हैं। मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—ऐसा भाव रखनेवालेके जीवन-निर्वाहमें कमी नहीं

आयेगी। कुत्तों आदिको देखो। वे बिना झोलीके फकीर हैं! उनके पास न रुपया है, न जमीन-जायदाद है, न कोई जीविका है, फिर भी उनका वंश लाखों वर्षोंसे चलता आया है। भगवान् श्रीरामके राज्यमें भी कुत्तेकी कथा आती है! जिनके पास ज्यादा रुपये हैं, वे खर्च नहीं कर सकते। साधुओंको रोटी भी गरीबोंके घरसे मिलती है, धनियोंके घरसे नहीं। इसका मैं भुक्तभोगी हूँ। गरीबोंके घरमें रसोईतक जा सकते हैं, पर धनियोंके घरमें प्रवेश नहीं कर सकते; क्योंकि वहाँ लाठी लिये हुए आदमी खड़ा रहता है! जिनके पास खानेको रोटी नहीं, पहननेको पूरा कपड़ा नहीं, रहनेको मकान नहीं, अण्टीमें दाम नहीं, पैरोंमें जूती नहीं, सिरपर छाता नहीं, पर एक भगवान्‌का ही सहारा है, वे सन्त-महात्मा बन जाते हैं! पैसा होनेपर भजन करेंगे—यह कोरा वहम है। मैंने धनी आदमियोंसे बात करके देखा है। उनके पास इतना रुपया है कि कई पीढ़ियाँ बिना कुछ किये उन रुपयोंसे अपना जीवन-निर्वाह कर सकती हैं, फिर भी वे रात-दिन रुपये कमानेमें ही लगे हुए हैं। अब वे भजन कैसे कर सकते हैं? रुपयोंका सहारा भजनमें बड़ा भारी विघ्न है।

मेरी सभी भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि आप अपना एक उद्देश्य बना लें कि हमें तो आध्यात्मिक उन्नति करनी है और 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहते हुए भगवान्‌को पुकारें। यह बहुत ही उत्तम एवं लाभकी बात है।

१२. मामेकं शरणं व्रज

वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषदें गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा हैं, गीतारूप महान् अमृत ही दूध है और श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुष ही उसका पान करनेवाले हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीताका सार है—शरणागति। शरणागतिको भगवान्ने '**सर्वगुह्यतम**' अर्थात् सबसे अत्यन्त गोपनीय कहा है—'**सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु**' (गीता १८। ६४)। यह 'सर्वगुह्यतम' शब्द गीतामें एक ही बार आया है। ऐसी सर्वगुह्यतम शरणागतिकी बात भगवान्ने इस प्रकार कही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

भगवान्ने सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं बताया। अगर स्वरूपसे त्याग बताते तो कम-से-कम अर्जुन तो युद्ध न करते; क्योंकि युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है—'**युद्धे चाप्यपलायनम्**' (गीता १८। ४३)। परन्तु अर्जुनने युद्ध किया है। अतः भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि धर्मकी भी शरण नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत केवल मेरी शरण होनी चाहिये।

जब मनुष्यको अपनी कमजोरीका और भगवान्की सर्वसमर्थताका अनुभव हो जाता है, तब वह शरणागत हो जाता है। शरण होनेमात्रसे शरणागत भक्तमें बड़ी विलक्षणता आ जाती है। उसके

भीतर बहुत विलक्षण भाव पैदा होने लगते हैं। मनुष्य संसारमें फँस सकता है, पाप-अन्याय कर सकता है, दुःखी हो सकता है, पर सद्गुण, ज्ञान, मुक्ति आदिको प्राप्त करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। ये सब सद्गुण आदि भगवान्‌की शरण होनेपर उनकी कृपासे ही प्राप्त होते हैं। भगवान्‌में अनन्त, अपार, असीम शक्ति है, जिसका कोई पारावार नहीं है। अतः मनुष्यको भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधि भूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(७। २९-३०)

'वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं।'

'जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

तात्पर्य है कि जो प्रभुके चरणोंका आश्रय लेकर साधन करते हैं, वे ब्रह्म, जीव, जगत् आदि सबको जान जाते हैं अर्थात् पूर्ण जानकार हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यको तत्परतासे, उत्साहपूर्वक सब कार्य करना चाहिये; परन्तु भरोसा भगवान्‌का ही रखना चाहिये कि भगवान्‌की कृपासे ही मेरा कल्याण होगा। साधनका भी भरोसा नहीं रखना चाहिये। साधनका भरोसा रखनेसे अभिमान पैदा होगा और अभिमानसे पतन होगा।

गीतामें भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हैं—'**निमित्तमात्रं भव**

सव्यसाचिन्' (११। ३३) 'हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन! तुम (शत्रुओंको मारनेमें) निमित्तमात्र बन जाओ।' गीताके अन्तमें अर्जुनने भगवान्से कहा कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, अब आप जैसा कहोगे, वैसा करूँगा—'**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८। ७३)। फिर भगवान्ने जैसा कहा, वैसा ही अर्जुनने किया। जब कर्णके रथका चक्का जमीनमें धँस गया और वह रथसे नीचे उतरकर उसको बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगा, तब भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि बाण चलाओ। अर्जुनकी समझमें बात नहीं आयी, पर समझमें न आनेपर भी उसने बाण चलाना शुरू कर दिया; क्योंकि भगवान्ने आज्ञा दे दी तो अब समझनेकी जरूरत नहीं। कर्णने कहा कि तू शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंको जानता है, फिर तू अन्याय कैसे कर रहा है? मैं नीचे खड़ा हूँ तथा अन्य काममें लगा हूँ और तू बाण चलाता है! इसका उत्तर भगवान्ने दिया कि आततायीको मारनेके लिये विचार नहीं करना चाहिये। आततायीको मारनेवालेको कोई दोष नहीं लगता—यह शास्त्रकी आज्ञा है*। यह सुनकर

---

* अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(वसिष्ठस्मृति ३। १९-२०)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, निःशस्त्र व्यक्तिपर शस्त्रसे प्रहार करनेवाला, धन हरनेवाला, खेत-मकान आदि छीननेवाला एवं स्त्रीको हरनेवाला—ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना ही विचारे मार देना चाहिये। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कोई भी दोष नहीं लगता।'

अग्निदत्त विषदत्त नर, क्षेत्र दार धन हार।
बहुरि बकारत शस्त्र गहि, अवध वध्य षटकार॥

(पाण्डवयशेन्दुचन्द्रिका १०। १७)

अर्जुन भी समझ गये कि भगवान्‌ने बाण चलानेकी आज्ञा क्यों दी। इसी तरह भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लो और उनकी आज्ञा समझकर कर्तव्य-कर्म करो। अपना अभिमान छोड़कर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलो, फिर मौज-ही-मौज है! सच्चे हृदयसे भगवान्‌का आश्रय लेकर निश्चिन्त रहो, निर्भय रहो, निःशंक रहो, निःशोक रहो। हरदम भगवान्‌का स्मरण करो, जप करो, कीर्तन करो और दूसरोंकी सेवा करो, उनको सुख पहुँचाओ। फिर यह चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं कि क्या होगा, कैसे होगा, उद्धार होगा कि नहीं होगा! हाँ, एक बातका ख्याल रखो कि कहीं हम भगवान्‌की आज्ञासे विरुद्ध तो नहीं चल रहे?

हम भगवान्‌के शरण कैसे हों—इसको समझनेके लिये एक दृष्टान्त है। आपके घरकी एक कन्या है, पर आप उसका विवाह (कन्यादान) कर देते हैं तो वह आपके घरकी नहीं रहती। जिस घरमें उसको दे देते हैं, वह उसी घरकी हो जाती है। उसका गोत्र भी बदल जाता है। जब पीहरमें कोई सूतक होता है तो वह उसको नहीं लगता, पर ससुरालका सूतक उसको लग जाता है! वह पीहरमें ही पैदा हुई, वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, वहीं वह पढ़-लिखकर योग्य बनी, पर कन्यादान करनेपर वह ससुरालकी हो गयी, पीहरकी नहीं रही। इसी तरहसे आप भगवान्‌के हो जायँ! आप दृढ़तासे यह मान लें कि अब मैं संसारका नहीं रहा, मैं तो भगवान्‌का हो गया। यह गीताकी गोपनीय-से-गोपनीय सार बात है! लड़की तो विवाहके बाद ही ससुरालकी होती है, पर जीव सदासे ही भगवान्‌का है; क्योंकि यह भगवान्‌का ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५। ७)। परन्तु भगवान्‌को भूलकर यह दूसरोंका हो जाता है और भटकते-फिरते दुःख पाता है। अतः शरण होनेका तात्पर्य केवल अपनी

भूल मिटाना है, कोई नया काम नहीं करना है।

आप सच्चे हृदयसे यह विचार कर लें कि मैं भगवान्‌का हूँ तो आपका जीवन बदल जायगा। आपका जीवन महान् शुद्ध, पवित्र हो जायगा। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌का भजन, ध्यान, नामजप, कीर्तन आदि करें तो अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई बात आज ही नहीं, अभी इसी क्षण सुधर जाय! आज तो बड़ा होता है। रात्रिके बारह बजेतक आज कहलाता है। परन्तु भगवान्‌की शरण लेनेपर तो अभी, इसी क्षण उद्धार हो जाय! इसलिये भगवान् कहते हैं— '**मा शुचः**', सब चिन्ताएँ छोड़ दो। हम भगवान्‌के शरण हो गये तो अब भगवान् जाने, भगवान्‌का काम जाने!

'**होहि राम को नाम जपु**'—भगवान्‌का होकर नामजप किया जाय तो वह नामजप श्रेष्ठ होता है। जैसे बालक माँ-माँ करके रोता है तो वह जिस माँके लिये रोता है, वही माँ उसके पास आती है। जिनके बालक हैं, उन सब स्त्रियोंका नाम माँ है, पर बालकके पुकारनेपर सब माताएँ नहीं दौड़तीं, प्रत्युत एक वही माता दौड़ती है। कारण कि बालक केवल उसीको 'माँ' कहता है, सबको 'माँ' नहीं कहता। उस स्त्रीके कपड़े भी बढ़िया नहीं हैं, गहने भी नहीं हैं, सुन्दर शरीर भी नहीं है, पर बालक तो उसीको 'माँ' कहकर पुकारता है और उसीकी गोदमें जाना चाहता है। इसी तरह भक्त जिनका होकर नामजप करता है, वही (राम, कृष्ण, शङ्कर, दुर्गा आदि) आ जाते हैं। माँ तो अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं, पर भगवान् अनेक नहीं हैं। भगवान् तत्त्वसे एक ही हैं।

जैसे बालकको स्नान कराकर शुद्ध करना माँकी जिम्मेवारी है, बालककी नहीं, ऐसे ही शरणागत भक्तको शुद्ध करना भगवान्‌की जिम्मेवारी है, भक्तकी नहीं। शरण होनेके बाद भक्तको कोई चिन्ता करनेकी जरूरत ही नहीं है। मीराबाईने सार बात पकड़ ली थी—**'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'**। इसलिये मीराबाई निश्चिन्त, निर्भय, नि:शोक और नि:शंक हो गयी थीं अर्थात् उनके मनमें न चिन्ता थी, न भय था, न शोक था, न शंका थी, प्रत्युत केवल प्रभु-चरणोंका आश्रय था। मीराबाई परदेमें रहनेवाली थीं। वे परदेमें जन्मीं, परदेमें ब्याही गयीं और परदेमें ही रहीं। एक तो स्त्री-जाति और दूसरे परदेमें रहनेवाली होते हुए भी वे अकेली वृन्दावन चली गयीं, द्वारका चली गयीं! उनके भीतर कोई भय था ही नहीं! प्रत्यक्षमें कोई सहायता करनेवाला न होनेपर भी उनके भीतर कितनी दृढ़ता थी! इसलिये **'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'**—इसके सिवाय और किसी बातको माननेकी आवश्यकता नहीं है। हम चाहे घरमें रहें, चाहे बाहर रहें, कैसी ही अवस्थामें रहें, एक भगवान्‌का ही आश्रय हो तो फिर किसी बातका भय नहीं।

भगवान् कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'** 'एक मेरी शरणमें आ जा।' ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि अनन्यभावसे शरण लेनी चाहिये अर्थात् मैं केवल भगवान्‌का हूँ, और किसीका नहीं हूँ। अब जो भी कमी होगी, वह स्वत: पूरी हो जायगी। शरण होनेमें कोई कमी होगी तो वह भी पूरी हो जायगी। लड़कीका पहले पीहरमें मोह रहता है, पर वह स्वत: मिट जाता है। ससुरालमें वह माँ बन जाती है, फिर दादी-परदादी बन जाती है। फिर उसको याद ही नहीं रहता कि मैं दूसरे घरकी हूँ। पोते-परपोतेकी बहू आती है तो वह कहती है कि 'परायी जायी' (पराये घरमें जन्मी)

छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया! अब उस दादीसे कोई पूछे कि आप तो 'घर जायी' (इस घरमें जन्मी) हो न? पर वह अपनेको 'परायी जायी' मानती ही नहीं! मेरा बेटा है, मेरा पोता है, मेरा परिवार है, मैं परायी जायी कैसे हूँ? मैं तो इस घरकी मालकिन हूँ! वह उसमें इतनी तल्लीन हो जाती है कि उसी घरकी हो जाती है। ऐसे ही आप भगवान्‌के शरण हो जायँ। फिर उसकी पूर्णता स्वतः हो जायगी। आप सर्वथा निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक हो जायँगे। जैसे वह बूढ़ी दादी घरकी मालकिन बन जाती है, ऐसे ही आप भी भगवान्‌की सम्पत्तिके मालिक बन जायँगे! ब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

'जो पुरुष क्षण-क्षणपर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धानुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है,एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्‌गद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परमपदका अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!'

भगवान् कहते हैं—*'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'।* शरणागत भक्त अपने-आपको भगवान्‌को दे देता है तो भगवान् भी अपने-आपको भक्तको दे देते हैं; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)।

राजा अम्बरीष भगवान्‌के बड़े भक्त थे। उनको तंग करनेके

लिये दुर्वासा ऋषि आये। अम्बरीषने द्वादशीप्रधान एकादशी-व्रत करनेका नियम ले रखा था। जब उन्होंने व्रतका पारण करनेकी तैयारी की, तभी दुर्वासा ऋषि आ गये। अम्बरीषने उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की तो वे बोले कि हम स्नान-सन्ध्या करके आते हैं, फिर भोजन करेंगे। वहाँ दुर्वासाने जान-बूझकर देरी लगा दी। इधर द्वादशी घड़ीभर शेष रह गयी तो अम्बरीषने ब्राह्मणोंसे पूछा कि 'अब मैं क्या करूँ? द्वादशी समाप्त होनेवाली है। द्वादशीके रहते-रहते पारण होना चाहिये। परन्तु ऋषिके आनेसे पहले भोजन कैसे करूँ?' ब्राह्मणोंने आज्ञा दी कि 'निर्जला उपवास रखनेवाला यदि तुलसीदल और चरणामृत ले लेता है तो उसका भोजन करना भी हो गया और न करना भी हो गया।' अम्बरीषने चरणामृत ले लिया। जब दुर्वासाको पता लगा कि इसने मेरे भोजन करनेसे पहले पारण कर लिया तो उनको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ी और अम्बरीषको मारनेके लिये एक कृत्या पैदा की। अम्बरीष हाथ जोड़कर खड़े रहे। भगवान्‌के सुदर्शन चक्रने उस कृत्याको नष्ट कर दिया और दुर्वासाके पीछे लग गया! दुर्वासा भागते-भागते अनेक लोकोंमें गये, ब्रह्माजी और शङ्करजीके पास गये, पर कोई भी उनकी चक्रसे रक्षा नहीं कर सका। फिर वे विष्णुभगवान्‌के पास गये और उनसे रक्षा करनेके लिये प्रार्थना की तो भगवान् बोले कि यह मेरे हाथकी बात नहीं है! मैंने तो अपना चक्र अम्बरीषको उनकी रक्षाके लिये दिया हुआ है, अब वह चक्र मेरा नहीं है!

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं

हूँ। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

दुर्वासाजी वापिस अम्बरीषके पास आकर उनके चरणोंमें पड़े और उनसे प्रार्थना की कि मेरेको बचाओ! तब उनको चक्रसे छुटकारा मिला। तात्पर्य है कि भगवान्‌की शरण होनेसे भक्त भगवान्‌से भी बढ़कर हो गया। इस कारण भगवान् भी सुदर्शन चक्रसे दुर्वासाकी रक्षा नहीं कर सके! सुदर्शन चक्र भी भगवान्‌का नहीं रहा! भगवान्‌ने साफ कह दिया कि भाई! मेरे हाथकी बात नहीं है। इसलिये आप सच्चे हृदयसे भगवान्‌के हो जायँ कि 'हे मेरे नाथ! मैं तो आपका हूँ' और निर्भय, नि:शोक, निश्चिन्त और नि:शंक हो जायँ।

सुग्रीव भगवान्‌से कहता है कि जिस तरहसे जानकीजी मिल जायँ, वैसा मैं उद्योग करूँगा*, तो भगवान् भी कहते हैं कि तुम लोक-परलोकका सब काम मेरे भरोसे छोड़ दो—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(मानस, किष्किन्धा० ७। ५)

वही सुग्रीव जब भगवान्‌का काम करना भूल गया, तब भगवान्‌ने कहा कि जिस बाणसे मैंने बालिको मारा, उसी बाणसे सुग्रीवको मारूँगा! लक्ष्मणजीने कहा कि 'महाराज! आपको तकलीफ करनेकी जरूरत नहीं है, यह काम तो मैं ही कर दूँगा'। तब भगवान् बोले कि 'नहीं-नहीं, सुग्रीवको मारना मत, वह तो मेरा मित्र है। उसको केवल डरा-धमकाकर ले आओ—*'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥'* (किष्किन्धा० १८)। ऐसे दयालु भगवान्‌के रहते हमें चिन्ता करनेकी क्या जरूरत? उनके

* सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

(मानस, किष्किन्धा० ५। ४)

भरोसे निश्चिन्त हो जाओ। दयालुदासजी महाराजने कहा है—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

यह मैं सदा जानता हूँ कि जिसका कोई नहीं होता, उसके भगवान् होते हैं। संसारका बल, आश्रय ही बाधक है। लोक-परलोक सबके लिये एक भगवच्चरणोंका आश्रय ले लो और निधड़क रहो—

जब जानकीनाथ सहाय करे तब कौन बिगाड़ करे नर तेरो।

जब भगवान् हमारे सहायक हैं तो फिर हमारा बिगाड़ करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता। भाई हो या बहन हो, छोटा हो या बड़ा हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, धनी हो या निर्धन हो, कैसा ही क्यों न हो, जो भगवान्‌का भरोसा रखे, उसकी सहायताके लिये भगवान् सब समयमें तैयार हैं, सब तरहसे तैयार हैं!

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किन्धा० १२। १)

भगवान्‌के समान हमारा हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। इसलिये हृदय खोलकर भगवान्‌को पुकारो। मीराबाईने हमें रास्ता दिखा दिया है—**'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'**। भगवान् यह नहीं देखते कि आप कैसे हो। वर्षा जब बरसती है, तब यह नहीं देखती कि जगह कैसी है, अच्छी है या मन्दी? काँटेवाले वृक्ष हैं या फलवाले? समुद्रमें जलकी कोई कमी नहीं है, पर वहाँ भी वर्षा बरस जाती है! ऐसे ही भगवान्‌की कृपा सबपर बरस रही है। सभी उनकी कृपाके पात्र हैं। इसलिये किसीको भी निराश होनेकी जरूरत नहीं है।

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

चातक केवल वर्षाजलके आश्रित रहता है। एक बार चातक ऊपर उड़ रहा था। एक बहेलियेने उसको मार दिया तो वह नीचे गिर गया। नीचे गङ्गाजी बह रही थी। चातकने अपनी चोंच ऊपर उठा ली कि कहीं गङ्गाजीका जल मुखमें न चला जाय!

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

(दोहावली ३०२)

जैसे चातकको केवल वर्षाकी बूँदका ही सहारा है, ऐसे ही केवल भगवान्‌का सहारा होना चाहिये। जगह-जगह भटकनेसे, दूसरोंकी गरज करनेसे क्या लाभ? एक भगवान्‌का आश्रय ले लें तो फिर दूसरेके आश्रयकी जरूरत ही नहीं।

बालक माँकी गोदमें बैठा होता है तो राजाको भी धमका देता है, जबकि माँ सर्वशक्तिमान् नहीं होती। फिर भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं। उनमें किसी भी चीजकी, किसी भी तरहकी कोई कमी नहीं है। वे सुन्दर-से-सुन्दर, बलवान्-से-बलवान्, धनवान्-से-धनवान्, विद्वान्-से-विद्वान् हैं। वे सब तरहसे पूर्ण हैं। अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—'**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः**' (गीता ११।४३) 'आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है?' ऐसे सर्वसमर्थ और अद्वितीय भगवान् हमारे हैं, फिर किस बातकी चिन्ता? हमें किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता, भय, शोक करनेकी जरूरत नहीं है।

शरणागति बहुत सस्ता, सुगम और श्रेष्ठ साधन है! भगवान्‌ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकि० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी याचना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है।'

एक बार कह दिया कि 'मैं आपका हूँ' तो फिर दूसरी बार क्या कहें? एक बार अपने-आपको दे दिया तो फिर दूसरी बार क्या दें? एक बार शरण होनेमात्रसे सब काम ठीक हो जाता है! कितने ही जन्मोंके पाप क्यों न हों, सब मिट जाते हैं। इस विषयमें दूसरे किसीकी सम्मति लेनेकी जरूरत ही नहीं है। कइयोंका आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं, कइयोंकी गरज करनेकी जरूरत नहीं, कइयोंका भरोसा रखनेकी जरूरत नहीं, केवल एक भगवान्के हो जायँ। फिर किसीसे डरनेकी जरूरत नहीं। भगवान् पूर्ण अभय कर देंगे। हमें कोई नया काम नहीं करना है। भगवान्के तो हम सदासे हैं ही। केवल अपनी भूल मिटानी है।

तीन महत्वपूर्ण लेख

गीताप्रेस गोरखपुर

स्वामी रामसुखदास

|| श्रीहरिः ||

साधकों के प्रति

श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज

श्री भगवान कहते हैं :–

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।।

''अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्यों के लिये मैंने तीन योग बतायें हैं– ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनों के सिवाय दूसरा कोई कल्याण का मार्ग नहीं है।''

परमात्मप्राप्ति तत्काल होने वाली वस्तु है। इसमें न तो भविष्य की अपेक्षा है और न क्रिया एवं पदार्थ की ही अपेक्षा है। परमात्मप्राप्ति के तीन मुख्य मार्ग हैं :–

विवेक मार्ग

अपने जाने हुए असत् का त्याग करना विवेक–मार्ग है। इसके तीन उपाय हैं :–
1– अकिंचन होना अर्थात अनन्त बह्मामण्डों में लेशमात्र भी कोई वस्तु मेरी नहीं है।
2– अचाह होना अर्थात् मेरे को कुछ भी नहीं चाहिये।
3– अप्रयत्न होना अर्थात् अपने लिये कुछ न करना। अपने लिये कुछ ना करने से अहम् नहीं रहेगा।

योग मार्ग

बुराई का सर्वांश में त्याग करना योग–मार्ग है। इसके तीन उपाय है :–
1– किसी को बुरा न समझना, किसी का बुरा न चाहना और किसी के साथ बुराई न करना।
2– दु:खी व्यक्तियों को देखकर करूणित होना और सुखी व्यक्तियों को देखकर प्रसन्न होना
3– संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार की ही सेवा में लगा देना और बदले में कुछ न चाहना।

विश्वास मार्ग

संर्वाश में भगवान के शरणागत हो जाना विश्वास–मार्ग है। इसके दो उपाय है :–

1– मैं केवल भगवान का अंश हूॅ – 'ममैवांशो जीवलोके' (गीता 15/7) 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी' (मानस 7/117/1)। भगवान मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूॅ। भगवान का अंश होने के नाते मैं केवल भगवान् का हूॅ और केवल भगवान ही मेरे हैं। भगवान के सिवाय और कोई मेरा नहीं है।

2– (क) सब कुछ उनका है अर्थात् संसार में जो कुछ भी देखने, सुनने और मनन करने में आता है, वह सब भगवान् का ही है।
(ख) सब कुछ वे ही हैं अर्थात भगवान् के सिवाय कुछ भी नहीं है। मैं–सहित सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है।
(ग) उनके सिवायं अन्य कुछ हुआ ही नहीं, कभी होगा नहीं, कभी होना सम्भव ही नहीं। एक मात्र भगवान् ही थे, भगवान् ही हैं और भगवान् ही रहेंगे – 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता –7/19)। इसी के अनुभव में मानव जीवन की पूर्णता है।

७-भगवान् आज ही मिल सकते हैं

परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम है। इतना सुगम दूसरा कोई काम नहीं है। परन्तु केवल परमात्माकी ही चाहना रहे, साथमें दूसरी कोई भी चाहना न रहे। कारण कि परमात्माके समान दूसरा कोई है ही नहीं*। जैसे परमात्मा अनन्य हैं, ऐसे ही उनकी चाहना भी अनन्य होनी चाहिये। सांसारिक भोगोंके प्राप्त होनेमें तीन बातें होनी जरूरी हैं—इच्छा, उद्योग और प्रारब्ध। पहले तो सांसारिक वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा होनी चाहिये, फिर उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करना चाहिये। कर्म करनेपर भी उसकी प्राप्ति तब होगी, जब उसके मिलनेका प्रारब्ध होगा। अगर प्रारब्ध नहीं होगा तो इच्छा रखते हुए और उद्योग करते हुए भी वस्तु नहीं मिलेगी। इसलिये उद्योग तो करते हैं नफेके लिये, पर लग जाता है घाटा! परन्तु परमात्माकी प्राप्ति इच्छामात्रसे होती है। उसमें उद्योग और प्रारब्धकी जरूरत नहीं है। परमात्माके मार्गमें घाटा कभी होता ही नहीं, नफा-ही-नफा होता है।

एक परमात्माके सिवाय कोई भी चीज इच्छामात्रसे नहीं मिलती। कारण यह है कि मनुष्यशरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। अपनी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर ही भगवान्‌ने हमारेको मनुष्यशरीर दिया है। दूसरी बात, परमात्मा सब जगह हैं। सुईकी तीखी नोक टिक जाय, इतनी जगह भी भगवान्‌से खाली नहीं है।

---

* न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

(गीता ११। ४३)

'हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है!'

अतः उनकी प्राप्तिमें उद्योग और प्रारब्धका काम ही नहीं है। कर्मोंसे वह चीज मिलती है, जो नाशवान् होती है। अविनाशी परमात्मा कर्मोंसे नहीं मिलते। उनकी प्राप्ति उत्कट इच्छामात्रसे होती है।

पुरुष हो या स्त्री हो, साधु हो या गृहस्थ हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, बालक हो या जवान हो, कैसा ही क्यों न हो, वह इच्छामात्रसे परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माके सिवाय न जीनेकी चाहना हो, न मरनेकी चाहना हो, न भोगोंकी चाहना हो, न संग्रहकी चाहना हो। वस्तुओंकी चाहना न होनेसे वस्तुओंका अभाव नहीं हो जायगा। जो हमारे प्रारब्धमें लिखा है, वह हमारेको मिलेगा ही। जो चीज हमारे भाग्यमें लिखी है, उसको दूसरा नहीं ले सकता—'**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**'। हमारेको आनेवाला बुखार दूसरेको कैसे आयेगा? ऐसे ही हमारे प्रारब्धमें धन लिखा है तो जरूर आयेगा। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें प्रारब्ध नहीं है।

परमात्मा किसी मूल्यके बदले नहीं मिलते। मूल्यसे वही वस्तु मिलती है, जो मूल्यसे छोटी होती है। बाजारमें किसी वस्तुके जितने रुपये लगते हैं, वह वस्तु उतने रुपयोंकी नहीं होती। हमारे पास ऐसी कोई वस्तु (क्रिया और पदार्थ) है ही नहीं, जिससे परमात्माको प्राप्त किया जा सके। वह परमात्मा अद्वितीय है, सदैव है, समर्थ है, सब समयमें है और सब जगह है। वह हमारा है और हमारेमें है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८।६१)। वह हमारेसे दूर नहीं है। हम चौरासी लाख योनियोंमें चले जायँ तो

भी भगवान् हमारे हृदयमें रहेंगे। स्वर्ग या नरकमें चले जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। पशु-पक्षी या वृक्ष आदि बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। देवता बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापी, अन्यायी-से-अन्यायी बन जायँ तो भी वे भगवान् हमारे हृदयमें रहेंगे। ऐसे सबके हृदयमें रहनेवाले भगवान्की प्राप्ति क्या कठिन होगी? पर जीनेकी इच्छा, मानकी इच्छा, बड़ाईकी इच्छा, सुखकी इच्छा, भोगकी इच्छा आदि दूसरी इच्छाएँ साथमें रहते हुए भगवान् नहीं मिलते। कारण कि भगवान्के समान तो भगवान् ही हैं। उनके समान दूसरा कोई था ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं, फिर वे कैसे मिलेंगे? केवल भगवान्की चाहना होनेसे ही वे मिलेंगे। अविनाशी भगवान्के सामने नाशवान्की क्या कीमत है? क्या नाशवान् क्रिया और पदार्थके द्वारा वे मिल सकते हैं? नहीं मिल सकते। जब साधक भगवान्से मिले बिना नहीं रह सकता, तब भगवान् भी उससे मिले बिना नहीं रहते; क्योंकि भगवान्का स्वभाव है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११) 'जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'

मान लें कि कोई मच्छर गरुड़जीसे मिलना चाहे और गरुड़जी भी उससे मिलना चाहें तो पहले मच्छर गरुड़जीके पास पहुँचेगा या गरुड़जी मच्छरके पास पहुँचेंगे? गरुड़जीसे मिलनेमें मच्छरकी ताकत काम नहीं करेगी। इसमें तो गरुड़जीकी ताकत ही काम करेगी। इसी तरह परमात्मप्राप्तिकी इच्छा हो तो परमात्माकी ताकत

ही काम करेगी। इसमें हमारी ताकत, हमारे कर्म, हमारा प्रारब्ध काम नहीं करेगा, प्रत्युत हमारी चाहना ही काम करेगी। हमारी चाहनाके सिवाय और किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है।

हम तो भगवान्‌के पास नहीं पहुँच सकते तो क्या भगवान् भी हमारे पास नहीं पहुँच सकते? हम कितना ही जोर लगायें, पर भगवान्‌के पास नहीं पहुँच सकते। परन्तु भगवान् तो हमारे हृदयमें ही विराजमान हैं! हम भगवान्‌को दूर मानते हैं, इसलिये भगवान् हमसे दूर होते हैं। द्रौपदीने भगवान्‌को **'गोविन्द द्वारकावासिन्'** कहकर पुकारा तो भगवान्‌को द्वारका जाकर आना पड़ा। वह यहाँ कहती तो वे चट यहीं प्रकट हो जाते! अगर हम ऐसा मानते हैं कि भगवान् अभी नहीं मिलेंगे तो वे नहीं मिलेंगे; क्योंकि हमने आड़ लगा दी।

गोरखपुरकी एक घटना है। संवत् २००० से पहलेकी बात है। मैं गोरखपुरमें व्याख्यान देता था। वहाँ सेवारामजी नामके एक सज्जन थे, जो बैंकमें काम करते थे। एक दिन मैंने व्याख्यानमें कह दिया कि अगर आपका दृढ़ विचार हो जाय कि भगवान् आज मिलेंगे तो वे आज ही मिल जायँगे! उन सज्जनको यह बात लग गयी। उन्होंने विचार कर लिया कि हमें तो आज ही भगवान्‌से मिलना है। वे पुष्पमाला, चन्दन आदि ले आये कि भगवान् आयेंगे तो उनको माला पहनाऊँगा, चन्दन चढ़ाऊँगा! वे कमरा बन्द करके भगवान्‌के आनेकी प्रतीक्षामें बैठ गये। समयपर भगवान्‌के आनेकी सम्भावना भी हो गयी और सुगन्ध भी आने लगी, पर भगवान् प्रकट नहीं हुए। दूसरे दिन उन्होंने मेरेसे कहा कि आज आप मेरे घरसे भिक्षा लें। मैं कई घरोंसे भिक्षा लेकर

पाता था। उस दिन उनके घर गया तो उन्होंने मेरेसे पूछा कि भगवान् मिलनेवाले थे, सुगन्ध भी आ गयी थी, फिर बाधा क्या लगी कि वे मिले नहीं? मैंने कहा कि भाई! मेरेको इसका क्या पता? परन्तु मैं तुम्हारेसे पूछता हूँ कि क्या तुम्हारे मनमें यह बात आती थी कि इतनी जल्दी भगवान् कैसे मिलेंगे? वे बोले कि यह बात तो आती थी! मैंने कहा कि इसी बातने अटकाया! अगर मनमें यह बात होती कि भगवान् मेरेको अवश्य मिलेंगे, उनको मिलना ही पड़ेगा तो वे जरूर मिलते। भगवान् ऐसे कैसे जल्दी मिलेंगे—ऐसा भाव करके तुमने ही बाधा लगायी है।

अगर आप विचार कर लें कि भगवान् आज मिलेंगे तो वे आज ही मिल जायँगे! परन्तु मनमें यह छाया नहीं आनी चाहिये कि इतनी जल्दी कैसे मिलेंगे? भगवान् आपके कर्मोंसे अटकते नहीं। अगर आपके दुष्कर्मसे, पापकर्मसे भगवान् अटक जायँ तो वे मिलकर भी क्या निहाल करेंगे? परन्तु भगवान् किसी कर्मसे अटकते नहीं। ऐसी कोई शक्ति है ही नहीं, जो भगवान्‌को मिलनेसे रोक दे। वे न तो पापकर्मोंसे अटकते हैं, न पुण्यकर्मोंसे अटकते हैं। वे सबके लिये सुलभ हैं। अगर भगवान् हमारे पापोंसे अटक जायँ तो हमारे पाप भगवान्‌से भी प्रबल हुए! अगर पाप प्रबल (बलवान्) हैं तो भगवान् मिलकर भी क्या निहाल करेंगे? जो पापोंसे ही अटक जाय, उसके मिलनेसे क्या लाभ? परन्तु भगवान् इतने निर्बल नहीं हैं, जो पापोंसे अटक जायँ। उनके समान बलवान् कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। आपकी जोरदार इच्छा हो जाय तो आप कैसे ही हों, भगवान् तो मिलेंगे, मिलेंगे, मिलेंगे! उनको मिलना पड़ेगा, इसमें

सन्देह नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही तो मानवजन्म मिला है, नहीं तो पशुमें और मनुष्यमें क्या फर्क हुआ?

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी॥
सूकर कूकर ऊँट खर, बड़ पशुअन में चार।
तुलसी हरि की भगति बिनु, ऐसे ही नर नार॥

देवता भोगयोनि है। वे भी चाहते हैं कि भगवान् हमारेको मिलें—'**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः**' (गीता ११। ५२)। वे भगवान्‌को चाहते तो हैं, पर भोगोंकी इच्छाको नहीं छोड़ते। यही दशा मनुष्योंकी है। अगर आप हृदयसे भगवान्‌को चाहो तो उनको मिलना ही पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं है। पर आप ही बाधा लगा दो कि भगवान् नहीं मिलेंगे, तो फिर वे नहीं मिलेंगे! गीतामें साफ लिखा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

'वह तत्काल (उसी क्षण) धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! मेरे भक्तका पतन नहीं होता—ऐसी तुम प्रतिज्ञा करो।'

तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी यदि '**अनन्यभाक्**' हो जाय अर्थात् भगवान्के सिवाय कोई चाहना न रखे तो उसको भी साधु मान लेना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय पक्का कर लिया है कि भगवान् जरूर मिलेंगे।

आप केवल भगवान्की ही इच्छा करो, और कोई इच्छा मत करो। न जीनेकी इच्छा करो, न मरनेकी इच्छा करो। न मानकी इच्छा करो, न बड़ाईकी इच्छा करो। न भोगोंकी इच्छा करो, न रुपयोंकी इच्छा करो। केवल एक भगवान्की इच्छा करो तो वे मिल जायँगे। कम-से-कम मेरी बातकी परीक्षा तो करके देखो! भगवान् आपको मिलते नहीं; क्योंकि आप उनको चाहते नहीं। आपके भीतर रुपयोंकी चाहना हो तो भगवान् बीचमें कूदकर क्यों पड़ेंगे? संसारमें सबसे रद्दी वस्तु रुपया है। रुपयोंसे रद्दी चीज दूसरी कोई है ही नहीं। ऐसी रद्दी चीजमें आपका मन अटका हुआ हो तो भगवान् कैसे मिलेंगे? रुपये देकर आप भोजन, वस्त्र, सवारी आदि खरीद सकते हो, पर रुपया खुद न तो खानेके काम आता है, न पहननेके काम आता है, न सवारीके काम आता है। तात्पर्य है कि रुपये काम नहीं आते, प्रत्युत उनका खर्च काम आता है।

परमात्मा इच्छामात्रसे मिलते हैं। उनको रोकनेकी ताकत किसीमें भी नहीं है। छोटा बालक रोता है तो माँ आ ही जाती है। बालक घरका कुछ भी काम नहीं करता, उल्टे काम करनेमें आपको बाधा लगाता है, पर जब वह रोने लगता है, तब सब घरवाले उसके पक्षमें हो जाते हैं। सास-ससुर, देवर-जेठ सभी कहते हैं कि बहू! बालक रो रहा है, उसको उठा ले। माँको सब

काम छोड़कर बालकको उठाना पड़ता है। बालकका एकमात्र बल रोना ही है—'**बालानां रोदनं बलम्**'। रोनेमें बड़ी ताकत है। आप सच्चे हृदयसे व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये रोने लग जाओ तो जितने भगवान्‌के भक्त हुए हैं, सन्त-महात्मा हुए हैं, वे सब-के-सब आपके पक्षमें हो जायँगे और भगवान्‌को उलाहना देंगे कि आप मिलते क्यों नहीं? वे ही भगवान्‌के सास-ससुर आदि हैं!

वास्तवमें भगवान् मिले हुए ही हैं। आपकी सांसारिक इच्छा ही उनको रोक रही है। आप रुपयोंकी इच्छा करते हो, भोगोंकी इच्छा करते हो तो भगवान् उनको जबर्दस्ती नहीं छुड़ाते। अगर आप सांसारिक इच्छाएँ छोड़कर केवल भगवान्‌को ही चाहो तो आपको कौन रोक सकता है? आपको बाधा देनेकी किसीकी ताकत नहीं है। अगर आप भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जाओ तो भगवान् भी व्याकुल हो जायँगे। आप संसारके लिये व्याकुल हो जाओ तो संसार व्याकुल नहीं होगा। आप संसारके लिये रोओ तो संसार राजी नहीं होगा। पर भगवान्‌के लिये रोओ तो वे भी रो पड़ेंगे।

बालक सच्चा रोता है या झूठा, यह माँ ही समझती है। बालकके आँसू तो आये नहीं, केवल ऊँ-ऊँ करता है तो माँ समझ लेती है कि यह ठगाई करता है! अगर बालक सच्चाईसे रो पड़े, उसके साँस ऊँचे चढ़ जायँ तो माँ सब काम भूल जायगी और चट उसको उठा लेगी। अगर माँ उस बालकके पास न जाय तो उस माँको मर जाना चाहिये! उसके जीनेका क्या लाभ! ऐसे ही सच्चे हृदयसे चाहनेवालेको भगवान् न मिलें तो भगवान्‌को मर जाना चाहिये!

एक साधु थे। उनके पास एक आदमी आया और उसने पूछा

कि भगवान् जल्दी कैसे मिलें? साधुने कहा कि भगवान् उत्कट चाहना होनेसे मिलेंगे। उसने पूछा कि उत्कट चाहना कैसी होती है? साधुने कहा कि भगवान्‌के बिना रहा न जाय। वह आदमी ठीक समझा नहीं और बार-बार पूछता रहा कि उत्कट चाहना कैसी होती है? एक दिन साधुने उस आदमीसे कहा कि आज तुम मेरे साथ नदीमें स्नान करने चलो। दोनों नदीमें गये और स्नान करने लगे। उस आदमीने जैसे ही नदीमें डुबकी लगायी, साधुने उसका गला पकड़कर नीचे दबा दिया। वह आदमी थोड़ी देर नदीके भीतर छटपटाया, फिर साधुने उसको छोड़ दिया। पानीसे ऊपर आनेपर वह बोला कि तुम साधु होकर ऐसा काम करते हो! मैं तो आज मर जाता! साधुने पूछा कि बता, तेरेको क्या याद आया? माँ याद आयी, बाप याद आया, धन याद आया या स्त्री-पुत्र याद आये? वह बोला कि महाराज, मेरे तो प्राण निकले जा रहे थे, याद किसकी आती? साधु बोले कि तुम पूछते थे कि उत्कट अभिलाषा कैसी होती है, उसीका नमूना मैंने तेरेको बताया है। जब एक भगवान्‌के सिवाय कोई भी याद नहीं आयेगा और उनकी प्राप्तिके बिना रह नहीं सकोगे, तब भगवान् मिल जायँगे। भगवान्‌की ताकत नहीं है कि मिले बिना रह जायँ।

भगवान् कर्मोंसे नहीं मिलते। कर्मोंसे मिलनेवाली चीज नाशवान् होती है। कर्मोंसे धन, मान, आदर, सत्कार मिलता है। परमात्मा अविनाशी हैं। वे कर्मोंका फल नहीं हैं, प्रत्युत आपकी चाहनाका फल है। परन्तु आपको परमात्माके मिलनेकी परवाह ही नहीं है, फिर वे कैसे मिलेंगे? भगवान् मानो कहते हैं कि मेरे बिना तेरा काम चलता है तो मेरा भी तेरे बिना काम चलता है। मेरे बिना तेरा काम अटकता है तो मेरा काम भी तेरे बिना

अटकता है। तू मेरे बिना नहीं रह सकता तो मैं भी तेरे बिना नहीं रह सकता।

आपमें परमात्मप्राप्तिकी जोरदार इच्छा है ही नहीं। आप सत्संग करते हो तो लाभ जरूर होगा। जितना सत्संग करोगे, विचार करोगे, उतना लाभ होगा—इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति जल्दी नहीं होगी। कई जन्म लग जायँगे, तब उनकी प्राप्ति होगी। अगर उनकी प्राप्तिकी जोरदार इच्छा हो जाय तो भगवान्‌को आना ही पड़ेगा। वे तो हरदम मिलनेके लिये तैयार हैं! जो उनको चाहता है, उसको वे नहीं मिलेंगे तो फिर किसको मिलेंगे? इसलिये 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहते हुए सच्चे हृदयसे उनको पुकारो।

सच्चे हृदयसे प्रार्थना, जब भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्तवत्सल कान में, वह पहुँच झट ही जाय है॥

भक्त सच्चे हृदयसे प्रार्थना करता है तो भगवान्‌को आना ही पड़ता है। किसीकी ताकत नहीं जो भगवान्‌को रोक दे। जिसके भीतर एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई इच्छा नहीं है, न जीनेकी इच्छा है, न मरनेकी इच्छा है, न मानकी इच्छा है, न सत्कारकी इच्छा है, न आदरकी इच्छा है, न रुपयोंकी इच्छा है, न कुटुम्बकी इच्छा है, उसको भगवान् नहीं मिलेंगे तो क्या मिलेगा? आप पापी हैं या पुण्यात्मा हैं, पढ़े-लिखे हैं या अपढ़ हैं, इस बातको भगवान् नहीं देखते। वे तो केवल आपके हृदयका भाव देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

वे हृदयकी बातको याद रखते हैं, पहले किये पापोंको याद रखते ही नहीं! भगवान्‌का अन्त:करण ऐसा है, जिसमें आपके

पाप छपते ही नहीं! केवल आपकी अनन्य लालसा छपती है। भगवान् कैसे मिलें? कैसे मिलें? ऐसी अनन्य लालसा हो जायगी तो भगवान् जरूर मिलेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। आप और कोई इच्छा न करके, केवल भगवान्‌की इच्छा करके देखो कि वे मिलते हैं कि नहीं मिलते हैं! आप करके देखो तो मेरी भी परीक्षा हो जायगी कि मैं ठीक कहता हूँ कि नहीं! मैं तो गीताके बलपर कहता हूँ। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (४। ११) 'जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।' हमें भगवान्‌के बिना चैन नहीं पड़ेगा तो भगवान्‌को भी हमारे बिना चैन नहीं पड़ेगा। हम भगवान्‌के बिना रोते हैं तो भगवान् भी हमारे बिना रोने लग जायँगे! भगवान्‌के समान सुलभ कोई है ही नहीं! भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्‌ने अपनेको तो सुलभ कहा है, पर महात्माको दुर्लभ कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

भगवान्‌के भक्त तो सब जगह नहीं मिलते, पर भगवान् सब जगह मिलते हैं। भक्त जहाँ भी निश्चय कर लेता है, भगवान् वहीं प्रकट हो जाते हैं—

आदि अन्त जन अनँत के, सारे कारज सोय।
जेहि जिव उर नहचो धरै, तेहि ढिग परगट होय॥

प्रह्लादजीके लिये भगवान् खम्भेमेंसे प्रकट हो गये—

प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े॥

(कवितावली ७। १२७)

भगवान् सबके परम सुहृद् हैं। वे पापी, दुराचारीको जल्दी मिलते हैं। माँ कमजोर बालकको जल्दी मिलती है। एक माँके दो बेटे हैं। एक बेटा तो समयपर भोजन कर लेता है, फिर कुछ नहीं लेता और दूसरा बेटा दिनभर खाता रहता है। दोनों बेटे भोजनके लिये बैठ जायँ तो माँ पहले उसको रोटी देगी जो समयपर भोजन करता है; क्योंकि वह भूखा उठ जायगा तो शामतक खायेगा नहीं। दूसरे बेटेको माँ कहती है कि तू ठहर जा; क्योंकि वह तो बकरीकी तरह दिनभर चरता रहता है। दोनों एक ही माँके बेटे हैं, फिर भी माँ पक्षपात करती है। इसी तरह जो एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं चाहता, उसको भगवान् सबसे पहले मिलते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌को अधिक प्रिय है। वह एक

८-एक नयी बात

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं। कारकोंमें कर्ता मुख्य होता है; क्योंकि सब क्रियाएँ कर्ताके ही अधीन होती हैं। अन्य कारक तो क्रियाकी सिद्धिमें सहायकमात्र होते हैं, पर कर्ता स्वतन्त्र होता है। कर्तामें चेतनका आभास होता है; परन्तु वास्तवमें चेतन कर्ता नहीं होता। इसलिये गीतामें जहाँ भगवान्‌ने कर्ममात्रकी सिद्धिमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव—ये पाँच हेतु बताये हैं, वहाँ शुद्ध आत्मा (चेतन)-को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८।१६)

'ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंके विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धिवाला ठीक नहीं देखता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।'

गीतामें भगवान्‌ने कहीं प्रकृतिको, कहीं गुणोंको और कहीं इन्द्रियोंको कर्ता बताया है। प्रकृतिका कार्य गुण हैं और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। अतः वास्तवमें कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है। हमारे चेतन स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

(१३।२९)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(३।२७)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(३।२८)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४।१९)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५।९)

भगवान्‌ने अपनेमें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध किया है; जैसे—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(गीता ४।१३-१४)

'मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है। उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता जान। कारण कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

(गीता ९। ९)

'हे धनंजय! उन (सृष्टि-रचना आदि) कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बाँधते।'

तात्पर्य है कि सृष्टिकी रचना, पालन, संहार आदि सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते अर्थात् उनमें कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता। भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। जड़-विभाग नाशवान् है और चेतन-विभाग अविनाशी है। गीतामें भगवान्‌ने जड़-विभागको प्रकृति, क्षेत्र, क्षर आदि नामोंसे कहा है और चेतन-विभागको पुरुष, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि नामोंसे कहा है। ये दोनों विभाग अन्धकार और प्रकाशकी तरह परस्पर सर्वथा असम्बद्ध हैं। जड़-विभाग असत् है, जिसकी सत्ता ही विद्यमान नहीं है और चेतन-विभाग सत् है, जिसकी सत्ता विद्यमान है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई

क्रिया नहीं होती। स्थूलशरीर तथा उससे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीर तथा उससे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीर तथा उससे होनेवाली स्थिरता और समाधि—ये सभी जड़-विभागमें ही हैं। कामना, ममता, अहंता आदि सम्पूर्ण विकार जड़-विभागमें ही हैं। सम्पूर्ण पाप-ताप भी जड़-विभागमें ही हैं। पराश्रय तथा परिश्रम—ये दोनों जड़-विभागमें हैं और भगवदाश्रय तथा विश्राम (अपने लिये कुछ न करना)—ये दोनों चेतन-विभागमें हैं। जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है—'**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा**' (गीता १३। ३४)। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४। ३६-३७)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण (संचित, प्रारब्ध* तथा क्रियमाण) कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।'

तात्पर्य है कि चेतन-विभागमें अपनी स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करते ही साधक सम्पूर्ण विकारों तथा पापोंसे छूट जाता

* ज्ञान होनेपर प्रारब्ध अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति तो पैदा कर सकता है, पर सुखी-दुःखी नहीं कर सकता।

है और जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। कारण कि जड़-विभागके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही जन्म-मरणका मूल कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि चेतनके बिना केवल जड़में पाप-पुण्य आदि होना कैसे सम्भव है? इसका समाधान है कि जैसे एक गाड़ीकी टक्करसे कोई मनुष्य मर जाय तो उसका दण्ड गाड़ीको न होकर उसके चालकको होता है। दुर्घटनारूप क्रिया तो गाड़ीके द्वारा ही हुई, पर उसका दण्ड उसको भोगना पड़ता है, जिसने उस गाड़ीसे अपना सम्बन्ध जोड़ा अर्थात् जो उस गाड़ीका चालक (कर्ता) बना। जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है। ऐसे ही पाप-पुण्यरूप क्रिया तो जड़ (शरीर)-के द्वारा ही होती है, पर उसका फल जड़के साथ अपना सम्बन्ध माननेवाले कर्ता (चेतन)-को ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य है कि सभी विकार जड़-विभागमें ही होते हैं, पर जड़से तादात्म्य माननेके कारण उसका परिणाम चेतनपर होता है। जैसे ज्वर शरीरमें आता है, पर शरीरसे तादात्म्य करनेके कारण मनुष्य मान लेता है कि मेरेमें ज्वर आ गया। स्वयं (चेतन)-में ज्वर नहीं आता, यदि आता तो कभी मिटता नहीं। जड़-विभागके साथ अर्थात् अपरा प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेके कारण ही अज्ञानी मनुष्य अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७), '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। तात्पर्य है कि स्वयं (चेतन स्वरूप)-में कर्तापन तथा भोक्तापन बनता नहीं है, प्रत्युत वह अविवेकपूर्वक अपनेको

कर्ता-भोक्ता मान लेता है। सुखलोलुपता अथवा फलेच्छाके कारण वह अपनेको कर्ता मानता है और अपनेको कर्ता माननेके कारण उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है। कारण कि अपनेको कर्ता मान लेनेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियाके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है।

स्वयंमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—**'नैव किञ्चित्करोति सः'** (गीता ४। २०), **'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५। ८)। आजतक चौरासी लाख योनियोंमें जो भी क्रियाएँ की गयी हैं, उनमेंसे कोई भी क्रिया स्वयंतक नहीं पहुँची; क्योंकि स्वयंका विभाग ही अलग है और क्रियाका विभाग ही अलग है। जबतक अपने लिये 'करना' है, तबतक कर्तापन (अहंकार) है; क्योंकि कर्तापनके बिना अपने लिये 'करना' सिद्ध नहीं होता। इसलिये अपने उद्धारके लिये जो साधन किया जाता है, उससे अहंकार ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहता है। अहंकारपूर्वक किया गया कोई भी कर्म कल्याणकारक नहीं होता; क्योंकि अहंकार ही जन्म-मरणका मूल है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर स्वयंको महत्त्व दे।

शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है और स्वयंका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। शरीर प्रकृतिका अंश है और स्वयं परमात्माका अंश है। अतः स्वयं कभी शरीरस्थ (शरीरमें स्थित) हो सकता ही नहीं। परन्तु अज्ञानके कारण मनुष्य अपनेको शरीरस्थ मान लेता है। इसमें एक मार्मिक बात है कि अपनेको शरीरस्थ मान लेनेपर भी वास्तवमें स्वयं कर्ता-भोक्ता नहीं

बनता—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। इससे सिद्ध होता है कि स्वयंका कर्ता-भोक्ता न होना साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वत:-स्वाभाविक है। अत: साधकको कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं। गीतामें भगवान्ने आत्मामें भोक्तृत्वके अभावको आकाशका दृष्टान्त देकर और कर्तृत्वके अभावको सूर्यका दृष्टान्त देकर समझाया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(गीता १३। ३२)

'जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।'

चिन्मय सत्ता शरीरस्थ अथवा प्रकृतिस्थ हो ही नहीं सकती। वह आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित (सर्वगत) है—'**नित्य: सर्वगत:**' (गीता २। २४)। वह सम्पूर्ण शरीरोंके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है।

यथा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि:।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

(गीता १३। ३३)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।'

सूर्यके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं। सूर्यके

प्रकाशमें कोई वेदका पाठ करता है, कोई शिकार करता है। परन्तु सूर्यको उन क्रियाओंका न तो पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है, न भोक्ता ही बनता है। इसी तरह आत्मा (सर्वव्यापी सत्ता) सम्पूर्ण शरीरोंको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें वह न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

जैसे गङ्गाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो गङ्गाजीको पाप नहीं लगता और कोई स्नान आदि करता है तो गङ्गाजीको पुण्य नहीं लगता। कारण कि गङ्गाजीमें अहंकृतभाव (कर्तृत्व) और बुद्धिकी लिप्तता (भोक्तृत्व) नहीं है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। खाने-पीने, सोने-जागने, नौकरी-धंधा करने आदि सम्पूर्ण लौकिक क्रियाएँ और श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सम्पूर्ण पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। स्वरूपमें कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शास्त्रविहित लौकिक तथा पारमार्थिक क्रियाओंका

बाहरसे त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली और अपने लिये न माने। क्रियाका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकके अन्त:करणमें क्रियाका अर्थात् जड़-विभागका महत्त्व न होकर चेतन-विभागका ही महत्त्व होना चाहिये। साधक शरीर नहीं होता, जबकि क्रिया शरीरके द्वारा ही होती है। साधकका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई क्रिया नहीं होती। क्रिया और पदार्थ संसारका स्वरूप है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व अपनेमें नहीं हैं, प्रत्युत अज्ञानके कारण अपनेमें माने हुए हैं। अपनेमें माननेपर भी वास्तवमें हम कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित ही हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'। तात्पर्य है कि शरीरमें अपनी स्थिति माननेपर भी वास्तवमें हम शरीरसे असंग हैं। अपनेमें बन्धनकी मान्यता करनेपर भी वास्तवमें हम मुक्त ही हैं। इस सत्यको स्वीकार करना साधकके लिये बहुत ही आवश्यक है।

॥ श्रीहरि: ॥

1633▲

एक संतकी वसीयत

गीताप्रेस, गोरखपुर

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

1633

॥ श्रीहरिः ॥

एक संतकी वसीयत

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

एक संतकी वसीयत*

श्रीभगवान्की असीम, अहैतुकी कृपासे ही जीवको मानवशरीर मिलता है। इसका एकमात्र उद्देश्य केवल भगवत्प्राप्ति ही है। परंतु मनुष्य इस शरीरको प्राप्त करनेके बाद अपने मूल उद्देश्यको भूलकर शरीरके साथ दृढ़तासे तादात्म्य कर लेता है और इसके सुखको ही परम सुख मानने लगता है। शरीरको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण उसका शरीरसे इतना मोह हो जाता है कि इसका नामतक उसको प्रिय लगने लगता है। शरीरके सुखोंमें मान-बड़ाईका सुख सबसे सूक्ष्म होता है। इसकी प्राप्तिके लिये वह झूठ, कपट, बेईमानी आदि दुर्गुण-दुराचार भी करने लग जाता है। शरीरके नाममें प्रियता होनेसे उसमें दूसरोंसे अपनी प्रशंसा, स्तुतिकी चाहना रहती है। वह यह चाहता है कि जीवनपर्यन्त मेरेको मान-बड़ाई मिले और मरनेके बाद मेरे नामकी कीर्ति हो। वह यह भूल जाता है कि केवल लौकिक व्यवहारके लिये शरीरका रखा हुआ नाम शरीरके नष्ट होनेके बाद कोई अस्तित्व नहीं रखता। इस दृष्टिसे शरीरकी पूजा, मान-आदर एवं नामको बनाये रखनेका भाव किसी महत्त्वका नहीं है। परंतु

---

* ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज गीताभवन, स्वर्गाश्रममें ग्रीष्म-ऋतुमें प्रतिवर्ष पधारकर लोगोंको सत्संगका लाभ देते रहे। अपनी जीवन-लीलाके अन्तिम लगभग सवा चार वर्षतक वे लगातार गीताभवनमें ही रहे और १०० वर्षसे अधिकको आयुमें भी निरन्तर सत्संग करवाते रहे। त्याग एवं वैराग्यकी मूर्ति श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत साधकोंके लिये आदर्श एवं अनुकरणीय है।

शरीरका मान-आदर एवं नामकी स्तुति-प्रशंसाका भाव इतना व्यापक है कि मनुष्य अपने तथा अपने प्रियजनोंके साथ तो ऐसा व्यवहार करते ही हैं, प्रत्युत जो भगवदाज्ञा, महापुरुषवचन तथा शास्त्रमर्यादाके अनुसार सच्चे हृदयसे अपने लक्ष्य (भगवत्प्राप्ति)-में लगे रहकर इन दोषोंसे दूर रहना चाहते हैं, उन साधकोंके साथ भी ऐसा ही व्यवहार करने लग जाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, उन साधकोंका शरीर निष्प्राण होनेपर भी उसकी स्मृति बनाये रखनेके लिये वे उस शरीरको चित्रमें आबद्ध करते हैं एवं उसको बहुत ही साज-सज्जाके साथ अन्तिम संस्कार-स्थलतक ले जाते हैं। विनाशी नामको अविनाशी बनानेके प्रयासमें वे उस संस्कार-स्थलपर छतरी, चबूतरा या मकान (स्मारक) आदि बना देते हैं। इसके सिवाय उनके शरीरसे सम्बन्धित एकपक्षीय घटनाओंको बढ़ा-चढ़ाकर उनको जीवनी, संस्मरण आदिके रूपमें लिखते और प्रकाशित करवाते हैं। कहनेको तो वे अपने-आपको उन साधकोंका श्रद्धालु कहते हैं, पर काम वही करते हैं, जिसका वे साधक निषेध करते हैं।

श्रद्धातत्त्व अविनाशी है। अतः उन साधकोंके अविनाशी सिद्धान्तों तथा वचनोंपर ही श्रद्धा होनी चाहिये न कि विनाशी देह या नाममें। नाशवान् शरीर तथा नाममें तो मोह होता है, श्रद्धा नहीं। परंतु जब मोह ही श्रद्धाका रूप धारण कर लेता है तभी ये अनर्थ होते हैं। अतः भगवान्‌के शाश्वत, दिव्य, अलौकिक श्रीविग्रहकी पूजा तथा उनके अविनाशी नामकी स्मृतिको छोड़कर इन नाशवान् शरीरों तथा नामोंको महत्त्व देनेसे न केवल अपना जीवन ही निरर्थक होता है, प्रत्युत अपने साथ महान् धोखा भी होता है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर मल-मूत्र बनानेकी एक मशीन ही है। इसको उत्तम-से-उत्तम भोजन या भगवान्‌का प्रसाद खिला दो तो वह मल बनकर निकल जायगा तथा उत्तम-से-उत्तम पेय या गङ्गाजल पिला दो तो वह मूत्र बनकर निकल जायगा। जबतक प्राण हैं, तबतक तो यह शरीर मल-मूत्र बनानेकी मशीन है और प्राण निकल जानेपर यह मुर्दा है, जिसको छू लेनेपर स्नान करना पड़ता है। वास्तवमें यह शरीर प्रतिक्षण ही मर रहा है, मुर्दा बन रहा है। इसमें जो वास्तविक तत्त्व (चेतन) है, उसका चित्र तो लिया ही नहीं जा सकता। चित्र लिया जाता है उस शरीरका, जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। इसलिये चित्र लेनेके बाद शरीर भी वैसा नहीं रहता, जैसा चित्र लेते समय था। इसलिये चित्रकी पूजा तो असत् ('नहीं')-की ही पूजा हुई। चित्रमें चित्रित शरीर निष्प्राण रहता है, अतः हाड़-मांसमय अपवित्र शरीरका चित्र तो मुर्देका भी मुर्दा हुआ।

हम अपनी मान्यतासे जिस पुरुषको महात्मा कहते हैं, वह अपने शरीरसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद हो जानेसे ही महात्मा है, न कि शरीरसे सम्बन्ध रहनेके कारण। शरीरको तो वे मलके समान समझते हैं। अतः महात्माके कहे जानेवाले शरीरका आदर करना मलका आदर करना हुआ। क्या यह उचित है? यदि कोई कहे कि जैसे भगवान्‌के चित्रकी पूजा आदि होती है, वैसे ही महात्माके चित्रकी भी पूजा आदि की जाय तो क्या आपत्ति है? तो यह कहना भी उचित नहीं है। कारण कि भगवान्‌का शरीर चिन्मय एवं अविनाशी होता है, जबकि महात्माका कहा जानेवाला शरीर पाञ्चभौतिक होनेके कारण जड़ एवं विनाशी होता है।

भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतः वे चित्रमें भी हैं, परंतु

महात्माकी सर्वव्यापकता (शरीरसे अलग) भगवान्‌की सर्वव्यापकताके ही अन्तर्गत होती है। एक भगवान्‌के अन्तर्गत समस्त महात्मा हैं, अतः भगवान्‌की पूजाके अन्तर्गत सभी महात्माओंकी पूजा स्वतः हो जाती है। यदि महात्माओंके हाड़-मांसमय शरीरोंकी तथा उनके चित्रोंकी पूजा होने लगे तो इससे पुरुषोत्तमभगवान्‌की ही पूजामें बाधा पहुँचेगी, जो महात्माओंके सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत है। महात्मा तो संसारमें लोगोंको भगवान्‌की ओर लगानेके लिये आते हैं, न कि अपनी ओर लगानेके लिये। जो लोगोंको अपनी ओर (अपने ध्यान, पूजा आदिमें) लगाता है, वह तो भगवद्विरोधी होता है। वास्तवमें महात्मा कभी शरीरमें सीमित होता ही नहीं।

वास्तविक जीवनी या चरित्र वही होता है जो साङ्गोपाङ्ग हो अर्थात् जीवनकी अच्छी-बुरी (सद्‌गुण, दुर्गुण, सदाचार, दुराचार आदि) सब बातोंका यथार्थरूपसे वर्णन हो। अपने जीवनकी समस्त घटनाओंको यथार्थरूपसे मनुष्य स्वयं ही जान सकता है। दूसरे मनुष्य तो उसकी बाहरी क्रियाओंको देखकर अपनी बुद्धिके अनुसार उसके बारेमें अनुमानमात्र कर सकते हैं, जो प्रायः यथार्थ नहीं होता। आजकल जो जीवनी लिखी जाती है, उसमें दोषोंको छिपाकर गुणोंका ही मिथ्यारूपसे अधिक वर्णन करनेके कारण वह साङ्गोपाङ्ग तथा पूर्णरूपसे सत्य होती ही नहीं। वास्तवमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरित्रसे बढ़कर और किसीका चरित्र क्या हो सकता है। अतः उन्हींके चरित्रको पढ़ना-सुनना चाहिये और उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये। जिसको हम महात्मा मानते हैं, उसका सिद्धान्त और उपदेश ही श्रेष्ठ होता है, अतः उसीके अनुसार अपना जीवन बनानेका यत्न करना चाहिये।

उपर्युक्त सभी बातोंपर विचार करके मैं सभी परिचित संतों तथा सद्गृहस्थोंसे एक विनम्र निवेदन प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें सभी बातें मैंने व्यक्तिगत आधारपर प्रकट की हैं अर्थात् मैंने अपने व्यक्तिगत चित्र, स्मारक, जीवनी आदिका ही निषेध किया है। मेरी शारीरिक असमर्थताके समय तथा शरीर शान्त होनेके बाद इस शरीरके प्रति आपका क्या दायित्व रहेगा—इसका स्पष्ट निर्देश करना ही इस लेखका प्रयोजन है।

(१)

यदि यह शरीर चलने-फिरने, उठने-बैठने आदिमें असमर्थ हो जाय एवं वैद्यों-डॉक्टरोंकी रायसे शरीरके रहनेकी कोई आशा प्रतीत न हो तो इसको गङ्गाजीके तटवर्ती स्थानपर ले जाया जाना चाहिये। उस समय किसी भी प्रकारकी ओषधि आदिका प्रयोग न करके केवल गङ्गाजल तथा तुलसीदलका ही प्रयोग किया जाना चाहिये। उस समय अनवरतरूपसे भगवन्नामका जप तथा कीर्तन और श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीरामचरितमानस आदि पूज्य ग्रन्थोंका श्रवण कराया जाना चाहिये।

(२)

इस शरीरके निष्प्राण होनेके बाद इसपर गोपीचन्दन एवं तुलसीमालाके सिवाय पुष्प, इत्र, गुलाल आदिका प्रयोग बिलकुल नहीं करना चाहिये। निष्प्राण शरीरको साधु-परम्पराके अनुसार कपड़ेकी झोलीमें ले जाया जाना चाहिये न कि लकड़ी आदिसे निर्मित वैकुण्ठी (विमान) आदिमें।

जिस प्रकार इस शरीरकी जीवित-अवस्थामें मैं चरण-स्पर्श, दण्डवत् प्रणाम, परिक्रमा, माल्यार्पण, अपने नामकी जयकार आदिका निषेध करता आया हूँ, उसी प्रकार इस शरीरके निष्प्राण

होनेके बाद भी चरण-स्पर्श, दण्डवत् प्रणाम, परिक्रमा, माल्यार्पण, अपने नामकी जयकार आदिका निषेध समझना चाहिये।

इस शरीरकी जीवित-अवस्थाके, मृत्यु-अवस्थाके तथा अन्तिम संस्कार आदिके चित्र (फोटो) लेनेका मैं सर्वथा निषेध करता हूँ।

(३)

मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि अन्य नगर या गाँवमें इस शरीरके शान्त होनेपर इसको वाहनमें रखकर गङ्गाजीके तटपर ले जाना चाहिये और वहीं इसका अन्तिम संस्कार कर देना चाहिये। यदि किसी अपरिहार्य कारणसे ऐसा होना कदापि सम्भव न हो सके तो जिस नगर या गाँवमें शरीर शान्त हो जाय, वहीं गायोंके गाँवसे जंगलकी ओर जाने-आनेके मार्ग (गोवा)-में अथवा नगर या गाँवसे बाहर जहाँ गायें विश्राम आदि किया करती हैं, वहाँ इस शरीरका सूर्यकी साक्षीमें अन्तिम संस्कार कर देना चाहिये।

इस शरीरके शान्त होनेपर किसीकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये।

अन्तिम संस्कारपर्यन्त केवल भजन-कीर्तन, भगवन्नाम-जप आदि ही होने चाहिये और अत्यन्त सादगीके साथ अन्तिम संस्कार करना चाहिये।

(४)

अन्तिम संस्कारके समय इस शरीरकी दैनिकोपयोगी सामग्री (कपड़े, खड़ाऊँ, जूते आदि)-को भी इस शरीरके साथ ही जला देना चाहिये तथा अवशिष्ट सामग्री (पुस्तकें, कमण्डलु आदि)-को पूजामें अथवा स्मृतिके रूपमें बिलकुल नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत उनका भी सामान्यतया उपयोग करते रहना चाहिये।

(५)

जिस स्थानपर इस शरीरका अन्तिम संस्कार किया जाय,

वहाँ मेरी स्मृतिके रूपमें कुछ भी नहीं बनाना चाहिये, यहाँतक कि उस स्थानपर केवल पत्थर आदिको रखनेका भी मैं निषेध करता हूँ। अन्तिम संस्कारसे पूर्व वह स्थल जैसे उपेक्षित रहा है, इस शरीरके अन्तिम संस्कारके बाद भी वह स्थल वैसे ही उपेक्षित रहना चाहिये। अन्तिम संस्कारके बाद अस्थि आदि सम्पूर्ण अवशिष्ट सामग्रीको गङ्गाजीमें प्रवाहित कर देना चाहिये।

मेरी स्मृतिके रूपमें कहीं भी गौशाला, पाठशाला, चिकित्सालय आदि सेवार्थ संस्थाएँ नहीं बनानी चाहिये। अपने जीवनकालमें भी मैंने अपने लिये कभी कहीं किसी मकान आदिका निर्माण नहीं कराया है और इसके लिये किसीको प्रेरणा भी नहीं की है। यदि कोई व्यक्ति कहीं भी किसी मकान आदिको मेरे द्वारा अथवा मेरी प्रेरणासे निर्मित बताये तो उसको सर्वथा मिथ्या समझना चाहिये।

(६)

इस शरीरके शान्त होनेके बाद सत्रहवीं, मेला या महोत्सव आदि बिलकुल नहीं करना चाहिये और उन दिनोंमें किसी प्रकारकी कोई मिठाई आदि भी नहीं करनी चाहिये। साधु-संत जिस प्रकार अबतक मेरे सामने भिक्षा लाते रहे हैं, उसी प्रकार लाते रहना चाहिये। अगर संतोंके लिये सद्‌गृहस्थ अपने-आप भिक्षा लाते हैं तो उसी भिक्षाको स्वीकार करना चाहिये जिसमें कोई मीठी चीज न हो। अगर कोई साधु या सद्‌गृहस्थ बाहरसे आ जायँ तो उनकी भोजन-व्यवस्थामें मिठाई बिलकुल नहीं बनानी चाहिये, प्रत्युत उनके लिये भी साधारण भोजन ही बनाना चाहिये।

(७)

इस शरीरके शान्त होनेपर शोक अथवा शोक-सभा आदि नहीं करने चाहिये, प्रत्युत सत्रह दिनतक सत्सङ्ग, भजन-कीर्तन, भगवन्नाम-

जप, गीतापाठ, श्रीरामचरितमानसपाठ, संतवाणी-पाठ, भागवत-पाठ आदि आध्यात्मिक कृत्य ही होते रहने चाहिये। सनातन-हिन्दू-संस्कृतिमें इन दिनोंके ये ही मुख्य कृत्य माने गये हैं।

(८)

इस शरीरके शान्त होनेके बाद सत्रहवीं आदि किसी भी अवसरपर यदि कोई सज्जन रुपया-पैसा, कपड़ा आदि कोई वस्तु भेंट करना चाहें तो नहीं लेना चाहिये अर्थात् किसीसे भी किसी प्रकारकी कोई भेंट बिलकुल नहीं लेनी चाहिये। यदि कोई कहे कि हम तो मन्दिरमें भेंट चढ़ाते हैं तो इसको फालतू बात मानकर इसका विरोध करना चाहिये। बाहरसे कोई व्यक्ति किसी भी प्रकारकी कोई भेंट किसी भी माध्यमसे भेजे तो उसको सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिये। किसीसे भी भेंट न लेनेके साथ-साथ यह सावधानी भी रखनी चाहिये कि किसीको कोई भेंट, चद्दर, किराया आदि नहीं दिया जाय। जब सत्रहवींका भी निषेध है तो फिर बरसी (वार्षिक तिथि) आदिका भी निषेध समझना चाहिये।

(९)

इस शरीरके शान्त होनेके बाद इस (शरीर)-से सम्बन्धित घटनाओंको जीवनी, स्मारिका, संस्मरण आदि किसी भी रूपमें प्रकाशित नहीं किया जाना चाहिये।

अन्तमें मैं अपने परिचित सभी संतों एवं सद्गृहस्थोंसे विनम्र निवेदन करता हूँ कि जिन बातोंका मैंने निषेध किया है, उनको किसी भी स्थितिमें नहीं किया जाना चाहिये। इस शरीरके शान्त होनेपर इन निर्देशोंके विपरीत आचरण करके तथा किसी प्रकारका विवाद, विरोध, मतभेद, झगड़ा, वितण्डावाद आदि

अवाञ्छनीय स्थिति उत्पन्न करके अपनेको अपराध एवं पापका भागी नहीं बनाना चाहिये, प्रत्युत अत्यन्त धैर्य, प्रेम, सरलता एवं पारस्परिक विश्वास, निश्छल व्यवहारके साथ पूर्वोक्त निर्देशोंका पालन करते हुए भगवन्नाम-कीर्तनपूर्वक अन्तिम संस्कार कर देना चाहिये। जब और जहाँ भी ऐसा संयोग हो, इस शरीरके सम्बन्धमें दिये गये निर्देशोंका पालन वहाँ उपस्थित प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्तिको करना चाहिये।

मेरे जीवनकालमें मेरे द्वारा शरीरसे, वाणीसे, मनसे, जानमें, अनजानमें किसीको भी किसी प्रकारका कष्ट पहुँचा हो तो मैं उन सभीसे विनम्र हृदयसे करबद्ध क्षमा माँगता हूँ। आशा है, सभी उदारतापूर्वक मेरेको क्षमा प्रदान करेंगे।

एक बार सरल हृदयसे
दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लें कि—
मैं केवल भगवान्‌का ही अंश हूँ
और
केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं
क्योंकि
शरीर-संसार कभी किसीके साथ रहते ही नहीं
और
परमात्मा कभी किसीका साथ छोड़ते ही नहीं।

ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे

मेरे विचार

वर्तमान समयकी आवश्यकताओंको देखते हुए मैं अपने कुछ विचार प्रकट कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि अगर कोई व्यक्ति मेरे नामसे इन विचारों, सिद्धान्तोंके विरुद्ध आचरण करता हुआ दिखे तो उसको ऐसा करनेसे यथाशक्ति रोकनेकी चेष्टा की जाय।

मेरे दीक्षागुरुका शरीर शान्त होनेके बाद जब वि० सं० १९८७ में मैंने उनकी बरसी कर ली, तब ऐसा पक्का विचार कर लिया कि अब एक तत्त्वप्राप्तिके सिवाय कुछ नहीं करना है। किसीसे कुछ माँगना नहीं है। रुपयोंको अपने पास न रखना है, न छूना है। अपनी ओरसे कहीं जाना नहीं है, जिसको गरज होगी, वह ले जायगा। इसके बाद मैं गीताप्रेसके संस्थापक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सम्पर्कमें आया। वे मेरी दृष्टिमें भगवत्प्राप्त महापुरुष थे। मेरे जीवनपर उनका विशेष प्रभाव पड़ा।

मैंने किसी भी व्यक्ति, संस्था, आश्रम आदिसे व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। यदि किसी हेतुसे सम्बन्ध जोड़ा भी हो, तो वह तात्कालिक था, सदाके लिये नहीं। मैं सदा तत्त्वका अनुयायी रहा हूँ, व्यक्तिका नहीं।

मेरा सदासे यह विचार रहा है कि लोग मुझमें अथवा किसी व्यक्तिविशेषमें न लगकर भगवान्‌में ही लगें। व्यक्तिपूजाका मैं कड़ा निषेध करता हूँ।

मेरा कोई स्थान, मठ अथवा आश्रम नहीं है। मेरी कोई गद्दी नहीं है और न ही मैंने किसीको अपना शिष्य, प्रचारक अथवा उत्तराधिकारी बनाया है। मेरे बाद मेरी पुस्तकें ही साधकोंका मार्ग-दर्शन करेंगी। गीताप्रेसकी पुस्तकोंका प्रचार, गोरक्षा तथा सत्संगका मैं सदैव समर्थक रहा हूँ।

मैं अपना चित्र खींचने, चरण-स्पर्श करने, जय-जयकार करने, माला पहनाने आदिका कड़ा निषेध करता हूँ।

मैं प्रसाद या भेंटरूपसे किसीको माला, दुपट्टा, वस्त्र,

कम्बल आदि प्रदान नहीं करता। मैं खुद भिक्षासे ही शरीर-निर्वाह करता हूँ।

सत्संग-कार्यक्रमके लिये रुपये (चन्दा) इकट्ठा करनेका मैं विरोध करता हूँ।

मैं किसीको भी आशीर्वाद/शाप या वरदान नहीं देता और न ही अपनेको इसके योग्य समझता हूँ।

मैं अपने दर्शनकी अपेक्षा गंगाजी, सूर्य अथवा भगवद्विग्रहके दर्शनको ही अधिक महत्त्व देता हूँ।

रुपये और स्त्री—इन दोके स्पर्शको मैंने सर्वथा त्याग किया है।

जिस पत्र-पत्रिका अथवा स्मारिकामें विज्ञापन छपते हों, उनमें मैं अपना लेख प्रकाशित करनेका निषेध करता हूँ। इसी तरह अपनी दुकान, व्यापार आदिके प्रचारके लिये प्रकाशित की जानेवाली सामग्री (कैलेण्डर आदि)-में भी मेरा नाम छापनेका मैं निषेध करता हूँ। गीताप्रेसकी पुस्तकोंके प्रचारके सन्दर्भमें यह नियम लागू नहीं है।

मैंने सत्संग (प्रवचन)-में ऐसी मर्यादा रखी है कि पुरुष और स्त्रियाँ अलग-अलग बैठें। मेरे आगे थोड़ी दूरतक केवल पुरुष बैठें। पुरुषोंकी व्यवस्था पुरुष और स्त्रियोंकी व्यवस्था स्त्रियाँ ही करें। किसी बातका समर्थन करने अथवा भगवान्‌की जय बोलनेके समय केवल पुरुष ही अपने हाथ ऊँचे करें, स्त्रियाँ नहीं।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंमें मैं भक्तियोगको सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ और परमप्रेमकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता मानता हूँ।

जो वक्ता अपनेको मेरा अनुयायी अथवा कृपापात्र बताकर लोगोंसे मान-बड़ाई करवाता है, रुपये लेता है, स्त्रियोंसे सम्पर्क रखता है, भेंट लेता है अथवा वस्तुएँ माँगता है, उसको ठग समझना चाहिये। जो मेरे नामसे रुपये इकट्ठा करता है, वह बड़ा पाप करता है। उसका पाप क्षमाके योग्य नहीं है।

अन्तिम प्रवचन *

एक बहुत श्रेष्ठ, बड़ी सुगम, बड़ी सरल बात है। वह यह है कि किसी तरहकी कोई इच्छा मत रखो। न परमात्माकी, न आत्माकी, न संसारकी, न मुक्तिकी, न कल्याणकी, कुछ भी इच्छा मत करो और चुप हो जाओ। शान्त हो जाओ। कारण कि परमात्मा सब जगह शान्तरूपसे परिपूर्ण है। स्वतः-स्वाभाविक सब जगह परिपूर्ण है। कोई इच्छा न रहे, किसी तरहकी कोई कामना न रहे तो एकदम परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, तत्त्वज्ञान हो जाय, पूर्णता हो जाय!

यह सबका अनुभव है कि कोई इच्छा पूरी होती है, कोई नहीं होती। सब इच्छाएँ पूरी हो जायँ यह नियम नहीं है। इच्छाओंको पूरा करना हमारे वशकी बात नहीं है, पर इच्छाओंका त्याग कर देना हमारे वशकी बात है। कोई भी इच्छा, चाहना नहीं रहेगी तो आपकी स्थिति स्वतः परमात्मामें होगी। आपको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जायगा। कुछ चाहना नहीं, कुछ करना नहीं, कहीं जाना नहीं, कहीं आना नहीं, कोई अभ्यास नहीं। बस, इतनी ही बात है। इतनेमें ही पूरी बात हो गयी! इच्छा करनेसे ही हम संसारमें बँधे हैं। इच्छा सर्वथा छोड़ते ही सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मामें स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है।

प्रत्येक कार्यमें तटस्थ रहो। न राग करो, न द्वेष करो।

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

एक क्रिया है और एक पदार्थ है। क्रिया और पदार्थ यह प्रकृति है। क्रिया और पदार्थ दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके एक

---

* ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके परमधाम पधारनेके पूर्व दिनाङ्क २९-३० जून २००५ को गीताभवन स्वर्गाश्रममें दिया गया अन्तिम प्रवचन।

भगवान्‌के आश्रित हो जायँ। भगवान्‌के शरण हो जायँ, बस। उसमें आपकी स्थिति स्वतः है। 'भूमा अचल शाश्वत अमल सम ठोस है तू सर्वदा'—ऐसे परमात्मामें आपकी स्वाभाविक स्थिति है। स्वप्नमें एक स्त्रीका बालक खो गया। वह बड़ी व्याकुल हो गयी। पर जब नींद खुली तो देखा कि बालक तो साथमें ही सोया है—तात्पर्य है कि जहाँ आप हैं, वहाँ परमात्मा पूरे-के-पूरे विद्यमान है। आप जहाँ हैं, वहीं चुप हो जाओ!!

श्रोता—कल आपने बताया कि कोई चाहना न रखे। इच्छा छोड़ना और चुप होना दोनोंमें कौन ज्यादा फायदा करता है?

स्वामीजी—मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं, मैं और किसीका नहीं हूँ, और कोई मेरा नहीं है। ऐसा स्वीकार कर लो। इच्छारहित होना और चुप होना—दोनों बातें एक ही हैं। इच्छा कोई करनी ही नहीं है, भोगोंकी, न मोक्षकी, न प्रेमकी, न भक्तिकी, न अन्य किसीकी।

श्रोता—इच्छा नहीं करनी है, पर कोई काम करना हो तो?

स्वामीजी—काम उत्साहसे करो, आठों पहर करो, पर कोई इच्छा मत करो। इस बातको ठीक तरहसे समझो। दूसरोंकी सेवा करो, उनका दुःख दूर करो, पर बदलेमें कुछ चाहो मत। सेवा कर दो और अन्तमें चुप हो जाओ। कहीं नौकरी करो तो वेतन भले ही ले लो, पर इच्छा मत रखो।

सार बात है कि जहाँ आप हैं, वहीं परमात्मा हैं। कोई इच्छा नहीं करोगे तो आपकी स्थिति परमात्मामें ही होगी। जब सब परमात्मा ही हैं तो फिर इच्छा किसकी करें? संसारकी इच्छा है, इसलिये हम संसारमें हैं। कोई भी इच्छा नहीं है तो हम परमात्मामें हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सच्ची और पक्की बात

यदि आपको दुःख, अशान्ति,
आफत चाहिये तो

शरीर-संसारसे सम्बन्ध जोड़
लो, उनको अपना मान लो

और

यदि सुख, शान्ति, आनन्द, मस्ती
चाहिये तो परमात्मासे सम्बन्ध
जोड़ लो, उनको अपना मान लो।

चुनाव आपके हाथमें है!

ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे

जो जानेवाला है, उसको छोड़ दो तो स्वभाव सुधर जायगा। 'मम' से बन्धन है, 'न मम' से मुक्ति है।

सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दें—यह 'विश्वजित् याग' है।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌के बिना रहा न जाय—यह खास बात है। 'विषयभोग, निद्रा, हँसी, जगत्-प्रीति, बहु बात'—ये पाँचों सुहायें नहीं।

मनुष्यमें तीन इच्छाएँ रहती हैं—करनेकी इच्छा, जाननेकी इच्छा और पानेकी इच्छा। हम जीते रहें—यह जीवन पानेकी इच्छा है। हमें कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य होना है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे ये तीनों पूरे हो जाते हैं। अपने लिये कुछ न करनेसे 'करना' पूरा हो जायगा। स्वरूपको जाननेसे 'जानना' पूरा हो जायगा। प्रभुको पानेसे 'पाना' पूरा हो जायगा। हम संसार, स्वरूप और परमात्मा—तीनोंके लिये उपयोगी हो जायँ।

यह सिद्धान्त है कि जो किसी समय नहीं मिलता, वह कभी नहीं मिलता।

कामनाके कारण ही कमी है। कामना न हो तो कुछ बाकी नहीं रहेगा। सुखकी इच्छा ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। सुखकी इच्छामें ही सम्पूर्ण दुःख हैं। सुखकी इच्छा छोड़ दें तो दुःख पासमें नहीं आयेगा। **संसारकी इच्छा करोगे तो नयी-नयी विपत्ति आयेगी।** इच्छा छोड़ दो तो संसारकी चीजें स्वतः आयेंगी। **चाहना छोड़ दें तो आवश्यक वस्तु स्वतः आ जायगी।** या तो केवल एक परमात्माकी इच्छा करो, या

कोई भी इच्छा मत करो, न संसारकी, न परमात्माकी। कामना न छूटे तो व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारो, छूट जायगी। सन्तान सबको प्रिय होती है तो क्या हम भगवान्‌को प्रिय नहीं हैं? भगवान् कहते हैं— ***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६।२)।

सत्संग अध्यात्मविद्याका विद्यालय है।

××× ××× ××× ×××

साधन स्वाभाविक होना चाहिये। करनेसे साधन बढ़िया नहीं होता। मैं साधक हूँ—ऐसे अहंता बदल लें तो साधन स्वाभाविक होगा। दूसरे साधक नहीं हैं—ऐसे देखेंगे तो अभिमान आ जायगा। हमें दूसरोंको न देखकर अपना साधन करना है। साधन वह होता है, जो निरन्तर हो।

जो व्यापारके नामसे चाहे कोई काम कर ले और औषधिके नामसे चाहे कुछ ले ले, वह साधक नहीं हो सकता।

××× ××× ××× ×××

संसारकी प्राप्ति है ही नहीं, उसकी प्राप्ति भूलसे मान लेते हैं। परमात्माकी अप्राप्ति कभी हुई नहीं, उसकी अप्राप्ति भूलसे मान लेते हैं। संसार कभी प्राप्त होता ही नहीं। संसारमात्र निरन्तर बहता हुआ मौतकी तरफ जा रहा है। संसार बहता है, परमात्मतत्त्व रहता है। बालकपना आपने कब छोड़ा था?

संसारको स्थायी माननेसे ही भोग और संग्रहकी इच्छा होती है। गाय, गधा, चाण्डाल आदि तो नहीं हैं, पर उन सबमें 'है'-रूपसे एक ही परमात्मा हैं। भगवान् खम्भेमें थे, तभी तो खम्भेसे प्रकट हुए। प्राणिमात्रमें भगवद्भाव करो, फिर

वे अन्तःकरणसे दीखने लग जायँगे। आँखोंसे भले ही न दीखें, पर अन्तःकरण (मन-बुद्धि)-से दीखेंगे।

××× ××× ××× ×××

'संसार है'—इसमें 'संसार' अलग है, 'है' अलग है। इनको अलग करना है—इतनी ही बात है। संसारको नाशवान् समझते हुए भी उसका आदर करते हैं, उसको महत्त्व देते हैं—यह गलती है, अपने ही सिद्धान्तका खण्डन है! हमारे बालकपनका संसार अलग था, वह अब कहाँ रहा?

काम करते-करते बीचमें थोड़ी देर ठहर जाओ कि 'एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है'।

××× ××× ××× ×××

जीवमात्रमें किसीका सहारा लेनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है; क्योंकि अंशीकी तरफ अंशका आकर्षण स्वाभाविक होता है। परन्तु यह उलटे संसारमें फँस गया। वास्तविक चाहना तो परमात्माकी ही है, पर संसारमें लगा दी। जैसे अग्निसे अलग होनेपर कोयला काला हो जाता है, ऐसे ही परमात्मासे अलग होते ही यह दुःखी हो जाता है। सर्वसमर्थ भगवान्‌में भी शरणागत भक्तका त्याग करनेकी सामर्थ्य नहीं है। जीव भगवान्‌के सिवाय जिस-जिसको पकड़ता है, सहारा लेता है, उसको भगवान् टिकने नहीं देते।

आत्मज्ञान करना हो तो 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' को छोड़ दो। 'मैं' नहीं रहेगा तो 'हूँ' मिट जायगा, 'है' रह जायगा—

ढूँढ़ा सब जहां में, पाया पता तेरा नहीं,
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं।

आत्मा एक ही है। आप अपनेको अलग मानते हो, यही अलगपना है।

श्रोता—यदि सबके भीतर एक आत्मा है तो एकको पीड़ा होनेसे सबको पीड़ा क्यों नहीं होती?

स्वामीजी—शरीरमें आप एक हो, फिर एक अंगुलीमें पीड़ा होनेपर और जगह पीड़ा क्यों नहीं होती?

××× ××× ××× ×××

यह सारा संसार 'अहम्' पर टिका हुआ है। 'अहम्' अपरा प्रकृति है। **'वासुदेवः सर्वम्'**—यह तत्त्व है, और संसार जीवकी कल्पना है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। कर्मयोग अहम्को शुद्ध करता है, ज्ञानयोग अहम्को मिटाता है और भक्तियोग अहम्को बदलता है। अहम्को बदलना सुगम है और सबको आता है। अतः भक्तियोग सुगम है। निर्गुणका 'रूप' सुगम है, भक्तिका 'मार्ग' सुगम है। निर्गुणका मार्ग कठिन है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

(मानस, उत्तर० ७३ ख)

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।

(मानस, उत्तर० ४६।१)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।

(मानस, उत्तर० ११९।१)

भक्तिमें भगवान् अपने भक्तका अहम् मिटा देते हैं (गीता १०।१०-११)।

संसारमें ममता होती है, भगवान्में आत्मीयता होती है।

××× ××× ××× ×××

अगर अहंता बदल दी जाय तो सब काम ठीक हो जाय! **पूरा संसार एक 'मैंपन' (अहंता) पर ही टिका हुआ है।** भक्तके लिये 'सब जग ईश्वररूप है'।

भगवान्‌का काम समझकर अपने कर्तव्यका पालन करो। परन्तु अपने कामकी बिक्री मत करो। अपने कर्तव्यका पालन समझकर मैं व्याख्यान देता हूँ और माताएँ अपना कर्तव्य समझकर रोटी देती हैं। यदि बिक्री करें तो मेरा व्याख्यान बिक्री हो जाय, माताओंकी रोटी बिक्री हो जाय! बिक्री करनेसे क्या पुण्य होगा?

मनुष्य तकलीफ पाकर ऊँचा होता है, आराम पाकर नहीं। **जिस जीवनमें बाधाएँ नहीं आयीं, वह जीवन ही नहीं है!** जितना आराम दुर्योधनने भोगा, उतना युधिष्ठिरने भोगा क्या? परन्तु युधिष्ठिरका नाम लेनेसे धर्म बढ़ता है—'**धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन**'।

छुआछूत मिटाना हो तो हृदयकी छुआछूत मिटाओ।

क्रोध दो कारणोंसे होता है—कामना और अभिमान। यदि क्रोध आ जाय तो हृदयसे 'हे नाथ! हे नाथ!!' पुकारो।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की विशेष कृपासे मनुष्यशरीर मिलता है। उसमें भी बहुत विशेष कृपा होनेसे भगवद्विषयक जिज्ञासा होती है। फिर और भी विशेष कृपा होनेपर सत्संग मिलता है। नाशवान्‌का आदर करनेसे मनुष्य नाशकी तरफ जाता है, पर स्वयं (आत्मा)-का नाश होता नहीं—यह आफत है!

निष्क्रियतासे ताकत आती है, पर क्रियासे ताकत नष्ट होती है। निष्क्रियतासे थकावट होती ही नहीं। यही सहजावस्था है। इसमें ऐसा विलक्षण पारमार्थिक आनन्द है, जिसमें कोई विकार नहीं है।

परमात्मप्राप्तिमें कठिनता नहीं है, प्रत्युत संसारका राग छोड़नेमें कठिनता है। व्यसनीको व्यसन छोड़ना कठिन होता है, पर आपको क्या कठिन है?

लोग समझते हैं कि पैसा होनेसे हम स्वतन्त्र हो जायँगे। **वास्तवमें पैसा होनेसे स्वतन्त्रता नहीं होती, प्रत्युत पैसोंकी गुलामी होती है।**

××× ××× ××× ×××

समाधिसे भी बड़ी एक चीज है। वह है—अपने-आपमें स्थित होना। चित्तवृत्तिनिरोधसे भी स्वरूपमें स्थिति होती है। 'मैं हूँ'—यह स्वतः-स्वाभाविक है। सबके भाव तथा अभावका अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

जबतक जीव प्रकृतिमें स्थित होता है, तबतक अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव नहीं होता। गुणातीत होना नहीं है, स्वतः है। 'मैं हूँ'—ऐसा करके कुछ भी चिन्तन न करे। चिन्तनरहित होनेसे स्वस्थ है, गुणातीत है। होनापन हमारा स्वरूप है। प्रकृतिमें स्थित होनेपर भी स्वरूपमें स्थिति स्वतः है। यह जीवन्मुक्तकी स्थिति है। **जीवन्मुक्त स्वतः है।** 'मैं'-पनसे अलग होकर स्वयंमें स्थित होना है। जो स्वयंमें स्थित है, वही तत्त्वदर्शी है।

'मैं हूँ' में 'मैं' को छोड़ दे और 'हूँ' में स्थित हो जाय—यह हुआ अंश। इससे आगे अंशी है। उस अंशीकी शरण हो जाय।

××× ××× ××× ×××

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके द्वारा पुण्य-पापोंका

अपने-आप नाश हो रहा है। अनुकूलता-प्रतिकूलताकी सत्ता हो तो वह ठहरे, पर उसकी सत्ता है ही नहीं। गंगाजीकी तरह सब संसार निरन्तर बह रहा है। कोई भी चीज रहनेवाली नहीं है।

भक्तके लिये प्रतिकूलतामें विशेष भगवत्कृपा होती है। **यदि हम प्रतिकूलतामें दु:खी हो जाते हैं तो हमने कृपाको कहाँ माना?** प्रतिकूलतामें विशेष हित और अपनापन भरा हुआ है। **जो शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राजी-नाराज होता है, वह हाड़-मांसका भक्त है, भगवान्‌का नहीं।** बाजारसे कोई वस्तु खरीदते हैं तो चखकर लेते हैं, पर वैद्यकी दवा चखकर नहीं लेते। वैद्य जो दवा दे, वही लेनी पड़ती है।

अपनी मनचाही तो किसीकी भी नहीं हुई। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-ने एक बार कहा कि मेरी सदा मनचाही ही होती है! पूछनेपर उन्होंने कहा कि मैंने भगवान्‌के मनमें अपना मन मिला लिया!

कर्मयोग-ज्ञानयोगमें समता है, भक्तिमें विशेषता है। भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान रस है।

हरदम, हर रूपोंमें हमें भगवान् ही मिलते हैं!

××× ××× ××× ×××

बालकका माँकी तरफ स्वत: आकर्षण होता है। पत्थरका पृथ्वीकी तरफ स्वत: आकर्षण होता है। इसी तरह जीवका भी परमात्माकी तरफ स्वत: आकर्षण होता है। परन्तु संसारको महत्त्व देनेके कारण इसका आकर्षण जड़ताकी तरफ होने लगता है, पर यह स्वाभाविक आकर्षण नहीं है। अत: इसके परिणाममें जीव दु:ख ही पाता है। उसे सन्तोष नहीं होता। परन्तु परमात्माकी

तरफ चलनेसे सन्तोष हो जाता है। शान्ति परमात्माकी तरफ चलनेसे अथवा संसारका त्याग करनेसे ही मिलेगी, तो फिर देरी क्यों?

परमात्माकी तरफ चलनेवाला मनुष्य प्रत्येकका मित्र बन जाता है, सबका आदरणीय हो जाता है। चोर-डाकू भी उसका आदर करते हैं!

×××   ×××   ×××   ×××

ज्ञानमार्गमें द्वैत है और भक्तिमार्गमें अद्वैत है। कारण कि ज्ञानमार्गमें विवेक है, सत् और असत् दो हैं, पर भक्तिमें एक परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। शक्ति शक्तिमान्‌के अधीन है, पर शक्तिमान् शक्तिके अधीन नहीं है।

गीताका अन्तिम सिद्धान्त 'भक्ति' है। ब्रह्म समग्र भगवान्‌का ही एक अंग है। प्रेम-तत्त्व ज्ञानसे विलक्षण है। ज्ञान केवल अज्ञान मिटाता है, प्रेममें आकर्षण होता है। ज्ञानका रस अखण्ड है, प्रेमका रस प्रतिक्षण वर्धमान है।

×××   ×××   ×××   ×××

एक बदलनेवाला है, एक न बदलनेवाला है। यह सबके अनुभवकी बात है। बदलनेवालेको न बदलनेवाला ही जानता है। अवस्थाओंको जाननेवाला अवस्थाओंसे अलग होता है। मैं रहता हूँ, अवस्थाएँ बदलती हैं—यह विवेक है। विवेकको महत्त्व दें तो यह स्पष्ट हो जायगा।

अनुकूलता-प्रतिकूलता आती-जाती है, आप रहते हो। उनको लेकर सुखी-दु:खी होना मूर्खता है। संसारका वियोग नित्य है। वियोगको आदर दो तो निहाल हो जाओगे।

सत्संग अर्थात् सत्‌का संग तब होगा, जब अनुभव करेंगे। सीखी हुई बातें किस कामकी? श्रवण शास्त्रकी बातोंका करेंगे, मनन विषयोंका करेंगे, निदिध्यासन रुपयोंका करेंगे तो साक्षात्कार दुःखोंका होगा! **सीखनेके लिये सत्संग नहीं है।**

××× ××× ××× ×××

कर्मयोगसे शान्ति मिलती है; क्योंकि अशान्ति नाशवान् पदार्थोंके संगसे होती है। ज्ञानयोगसे स्वरूपमें स्थिति होती है। **भक्तियोगमें शान्ति और स्वरूपमें स्थिति—दोनों रहते हैं, पर साथ ही भगवान्‌की ओर विशेष आकर्षण रहता है।** भक्ति, विरक्ति तथा भगवत्प्रबोध—तीनों एक साथ चलते हैं। भक्तिमें ये तीनों बातें हो जाती हैं।

शरीरमें ममता रहेगी तो समता कैसी होगी? नहीं हो सकती—*'तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार'* (दोहावली ९४)।

प्रेम ऐसी अग्नि है, जिसमें पड़नेवाला तो आनन्दमें रहता है, पर देखनेवाला जलता है!

जो सत्संगमें नहीं लगा है, वह सत्संगकी महिमा नहीं जानता।

प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके लिये 'करना' नहीं है, प्रत्युत 'रोना' है। तात्पर्य है कि प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति उत्कट अभिलाषासे होती है। बालकके पास रोनेके सिवाय और क्या बल है? रोना है—निर्बलताकी आखिरी हद। *'निर्बल के बल राम'।* रोना कब आयेगा? रोना आयेगा संसारका रोना (कामना) छोड़नेसे।

भक्तोंके, सन्तोंके संगसे भक्ति मिलती है।

××× ××× ××× ×××

'चुप साधन' तो बहुत बढ़िया है, पर समझनेमें बड़ा कठिन है। तत्त्वकी प्राप्ति क्रियाके द्वारा नहीं होती। अप्राप्त वस्तुके लिये क्रिया होती है। **प्राप्त तत्त्वके लिये क्रिया करोगे तो तत्त्वसे दूर हो जाओगे।** संसार तो प्राप्त है, परमात्मा अप्राप्त है—यह हमसे भूल हो गयी है। परमात्मा कभी अप्राप्त हो सकते ही नहीं। परमात्मासे रहित कोई हो सकता ही नहीं। बर्फमेंसे पानी निकालनेपर बर्फ कैसे रह जायगी? परमात्मा सबको समान रूपसे प्राप्त हैं, चाहे पापी हो या पुण्यात्मा। सुईकी नोक-जितनी जगह भी परमात्मासे खाली नहीं है अर्थात् जगह तो खाली है, पर परमात्मासे खाली नहीं है। जो मिट रहा है, उसे मिटानेकी चेष्टा करना भी गलती है और टिकानेकी चेष्टा करना भी गलती है।

कामना होती है संसारकी सत्ता माननेसे। संसार निरन्तर मिट रहा है, फिर कामना कैसे होगी? चुप साधनसे कामना मिट जाती है। कुछ दिन चुप साधन करनेसे एक बल आ जायगा, जिससे राग-द्वेष, अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर कम पड़ेगा।

कामना करनेसे वस्तु मिलती है ही नहीं। मिलनेवाली वस्तु बिना कामनाके भी मिलेगी। हमें मिलनेवाली वस्तु कोई दूसरा नहीं ले सकता—'**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**'। कामना मन-बुद्धिमें होती है, आपमें नहीं। आप उसे पकड़ लेते हो। स्वरूपमें कोई विकार नहीं है। जितने विकार हैं, सब अन्तःकरणमें आते हैं। आप सुख-दुःखके भोक्ता (भोगी) बनते हो, तभी ये विकार आते हैं।

चुप साधनमें शान्ति मिले तो उसकी भी उपेक्षा करो।

उपेक्षा नहीं करोगे तो भोग होगा। चुप साधन करते हुए नींद आती हो तो आप चुप साधनके अधिकारी नहीं हो। उस समय नामजप आदि करो।

सत्संगमें तात्त्विक बातोंको समझनेसे जो लाभ होगा, वह क्रियासे नहीं होगा, बद्रीनाथ आदि तीर्थोंमें जानेसे नहीं होगा।

जो हमारा कहना नहीं मानता, उसमें ममता, अपनापन छोड़ दो तो वह शुद्ध हो जायगा। अशुद्धि ममतासे आती है। **ममता छोड़नेसे आपको शान्ति मिलेगी और उसका सुधार होगा।**

त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है। प्राप्ति उसीकी होती है, जो अपना है।

××× ××× ××× ×××

सारा संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है—'**वासुदेवः सर्वम्**'। **संसारको भगवान्‌का स्वरूप देखनेमें किसी प्रयासकी अथवा विवेककी जरूरत नहीं है।** सीधे-सरलभावसे देखें। एक भगवान् ही सब रूपोंमें हुए हैं। परमात्मा ही आदिमें थे, वही अन्तमें रहेंगे, वही बीचमें भी रहते हैं। बादलोंमें आकाशकी तरह सबमें परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं।

××× ××× ××× ×××

एक तत्त्वप्राप्तिका पक्का ध्येय बननेपर कामनाका त्याग बहुत सुगम हो जाता है। धन आदि पदार्थ कामनासे नहीं मिलते, प्रत्युत विधानसे मिलते हैं। पदार्थोंका सम्बन्ध कामनाके साथ नहीं है। कामना करनेसे वस्तु मिल ही जायगी—ऐसी बात नहीं है। यह नियम नहीं है। परमात्माकी प्राप्ति इच्छाके साथ सम्बन्ध रखती है, पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं।

पारमार्थिक उन्नति भाव और विवेकसे होती है। सगुणकी प्राप्ति भावसे और निर्गुणकी प्राप्ति विवेकसे होती है।

श्रीशरणानन्दजी महाराज नये दार्शनिक थे। उनका दर्शन छहों दर्शनोंसे निराला है। उनकी बातको कोई काट नहीं सकता, जबकि अन्य दर्शनोंकी बातें एक-दूसरेको काटती हैं। परन्तु लोगोंने श्रीशरणानन्दजी महाराजकी बातोंको कितना आदर दिया? सच्ची जिज्ञासा नहीं है।

आप संसारकी स्थितिको बनाये रखना चाहते हैं—यह सर्वथा असम्भव बात है। यही बाधा है।

××× ××× ××× ×××

यह विचार करें कि हमारा खास काम क्या है? ऊँची-से-ऊँची स्थितिको प्राप्त करनेके लिये उद्योग करना चाहिये। केवल उसके लिये उत्कण्ठा जाग्रत् करनी है। मनुष्यको अपना उद्योग करनेकी जिम्मेवारी है, फल-प्राप्तिमें नहीं। असली तत्त्वकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे लग जाना चाहिये। अपना समय, सामर्थ्य, सामग्री, समझ बचाकर न रखें। फिर पश्चात्ताप नहीं करना पड़ेगा। जो काम बढ़िया-से-बढ़िया दीखता हो, उसीमें तत्परतासे लग जाना चाहिये। अपना उद्योग पूरा करनेपर फिर पश्चात्ताप नहीं होगा।

××× ××× ××× ×××

चुप साधनमें तो अहम् भी नहीं रहता, फिर मन और प्राणोंकी गतिका खयाल कैसे रहेगा? कुछ भी मत करो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। 'करने' से ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होता है। कुछ भी करोगे तो अहम्के साथ सम्बन्ध रहेगा।

चुप साधनमें ध्यान बाधक है। किसी भी वस्तुका ध्यान न हो। इंग्लैण्ड जितना दूर है, उतने ही दूर मन-बुद्धि भी हैं। स्वरूपसे अलग कोई हो सकता ही नहीं, बोध भले ही न हो। चुप साधनमें नामजप छूट जाय तो कोई दोष नहीं है, छोड़ना दोष है। चुप साधनमें तो सब कुछ छूट जायगा।

मैं-पन चेतनके बिना नहीं रह सकता, पर चेतन मैं-पनके बिना रह सकता है।

जड़-चेतनके तादात्म्यमें कामना जड़-अंशमें है। ऐसे ही **सृष्टि-रचनाकी इच्छा प्रकृति-अंशमें ही होती है, शुद्ध तत्त्वमें नहीं।**

चौदह भुवन, मात्र संसार 'अहम्' पर टिका हुआ है। **जबतक संसारकी किंचिन्मात्र भी इच्छा है, तबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है।**

××× ××× ××× ×××

असत्यके समान कोई पाप नहीं है। मनुष्य केवल अपने कर्तव्यका पालन करे तो अन्य कोई साधन किये बिना कल्याण हो जायगा। निषेधात्मक साधन श्रेष्ठ है। असुरों, राक्षसोंमें भी विध्यात्मक साधन था, पर निषेधात्मक साधन नहीं था। निषेधका त्याग करनेपर विध्यात्मक साधन अपने-आप होता है। सत्यभाषणकी अपेक्षा असत्यका त्याग श्रेष्ठ है। संसारका निषेध करें तो परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों है। संसारसे अलग होनेपर संसारके दोष दीखने लगेंगे। परमात्मासे अभिन्न होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

××× ××× ××× ×××

गीताकी आज्ञा है—**'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (६।२५)

'कुछ भी चिन्तन न करे'। अतः संकल्प-विकल्पके साथ सम्बन्ध मत रखो, उनकी उपेक्षा करो।

मेरी ऐसी धुन है, ऐसी खोजकी प्रवृत्ति है कि जल्दी-से-जल्दी, सुगमतापूर्वक सबको कैसे भगवत्प्राप्ति हो जाय! पारमार्थिक मार्गमें भगवान्, सन्त-महात्मा, शास्त्र आदि सबकी सहायता प्राप्त होती है। इस मार्गमें घाटा या नुकसान होता ही नहीं। भगवान्ने समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य बहुत ज्यादा दी है, जिसके थोड़े-से उपयोगसे तत्त्वप्राप्ति हो सकती है।

××× ××× ××× ×××

एक देखनेवाला है, एक दीखनेवाला है। दीखनेवाला तो दीखता है, पर देखनेवाला नहीं दीखता। **देखनेवाला 'अहम्' है, शेष सब दीखनेवाला है।** अहम्ने ही संसारको धारण कर रखा है। हमारा वास्तविक स्वरूप अहम् नहीं है। अहम्का भी भान होता है। तत्त्व ज्यों-का-त्यों है, उसमें द्रष्टापना नहीं है। वही हमारा स्वरूप है।

'नासतो विद्यते भावः'—यह दीखनेवाला है और **'नाभावो विद्यते सतः'**—यह देखनेवाला है।

××× ××× ××× ×××

सांसारिक किसी कार्यमें स्वतन्त्रता नहीं है और परमात्माकी प्राप्तिमें परतन्त्रता नहीं है। किसीके सहारेकी जरूरत नहीं है, केवल परमात्माके सहारेकी जरूरत है। सन्त, धर्म, शास्त्र आदि सभी हमसे सहमत हैं, हमारी मददके लिये तैयार हैं। परमात्माकी प्राप्ति हम अकेले कर सकते हैं। परन्तु सांसारिक (व्यापार आदि) कार्य हम अकेले नहीं कर सकते। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इसमें किसकी जरूरत है?

हमें न जीनेसे मतलब है, न मरनेसे मतलब है। भगवान्‌को गरज होगी तो जीता रखेंगे—

गिरह गाँठ नहिं बाँधते, जब देवे तब खाहिं।
गोबिंद तिनके पाछे फिरें, मत भूखे रह जाहिं॥

हम भगवान्‌का चिन्तन करते हैं तो भगवान् हमारा चिन्तन करते हैं, इसमें बीचमें बाधा देनेवाला कौन है? भगवान्‌ने कहा है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४। ११)। **भगवान्‌को भक्तोंकी रक्षा, सहायता, पालन करनेमें बहुत आनन्द आता है।** वे स्मरण करनेमात्रसे प्रसन्न हो जाते हैं—**'अच्युतः स्मृतिमात्रेण'**। इसमें खर्चा क्या है?

ईश्वर 'स्व' है, 'पर' नहीं। अतः उसकी परतन्त्रता नहीं होती। भक्ति स्वतन्त्र साधन है—***'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥'***(मानस, उत्तर० ४५। ३)। सत्संग भी भगवान् देते हैं—***'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।'*** (विनय० १३६। १०)।

××× ××× ××× ×××

सत्संगसे शान्ति मिलती है, तभी इतने लोग इकट्ठे होते हैं। सत्संगमें बहुत गहरी बातें मिलती हैं। यह नाटक, सिनेमाकी तरह नहीं है।

'वासुदेवः सर्वम्' सीखनेकी चीज नहीं है, प्रत्युत अनुभवकी चीज है।

'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' असत्य है और 'हूँ' सत्य है। 'मैं'-पनका तो सुषुप्तिमें अभाव होता है, पर अपनी सत्ताका अभाव नहीं होता—यह सबके अनुभवकी बात है। जो हरदम रहती है,

वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके भाव और अभावका अनुभव करनेवाला तो एक ही है।

××× ××× ××× ×××

परमात्मामें कोई विषमता है ही नहीं—***'सब पर मोहि बराबरि दाया'*** (मानस, उत्तर० ८७।४)। वे समान रूपसे सर्वत्र व्यापक हैं। माँकी तरह वे सबके लिये पूरे-के-पूरे हैं। भगवान् मेरे हैं—इस बातसे बड़ा आनन्द आना चाहिये। संसारको अपना मान लिया तो यह अपनापन टिकेगा नहीं। प्रभुको अपना मानकर पुकारो। भगवान् तो सदासे ही हमारे हैं, पर इधर खयाल नहीं है।

जैसे भगवान्के लिये भक्त लालायित रहते हैं, ऐसे ही भक्तके लिये भगवान् लालायित रहते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)।

मीराबाईने कहा है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** वास्तवमें दूसरा कोई है ही नहीं!

××× ××× ××× ×××

जिसे भगवान्के होनेका विश्वास हो जाय, वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। **भगवान् हैं, वे मिलते हैं और मेरेको भी मिल सकते हैं।** ऐसे ही तत्त्वज्ञान भी हमारेको हो सकता है। कारण कि भगवान् और बोध स्वतःसिद्ध हैं।

नित्यप्राप्तको प्राप्त करना है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनी है—यह बात साधकके लिये बड़े कामकी है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्य किसी-न-किसीका सहारा लेता है, यह उसका स्वभाव है, आदत है। इससे सिद्ध होता है कि सहारा लेना

आवश्यक है और सहारा लेनेयोग्य कोई है। परन्तु यह नाशवान्‌का सहारा लेता है, तभी दुःख पा रहा है। उसको इसका पता नहीं है कि किसका सहारा लेना है।

संसारका सम्बन्ध केवल कामनासे है। कामना न हो तो संसारका सम्बन्ध है ही नहीं।

मन लगानेवाला योगभ्रष्ट होता है—'**योगाच्चलितमानसः**' (गीता ६। ३७)। स्वयं योगभ्रष्ट होता ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

परमात्मतत्त्वमें क्रिया और पदार्थ—दोनों ही नहीं हैं। 'करना' भी क्रिया है और 'न करना' भी क्रिया है। करना और न करना, पदार्थ और पदार्थका अभाव—दोनोंसे हमारा कोई मतलब न हो। परमात्माका भी चिन्तन न हो—'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' (गीता ६। २५)। गंगाजी हैं—इसका चिन्तन क्या करना? चिन्तन-रहित होनेका सुख भी नहीं लेना है। न करना है, न पाना है। **कुछ कर लें, कुछ मिल जाय—दोनोंसे उपराम होना है।**

××× ××× ××× ×××

यह सभी सन्तोंका अनुभव है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। सब कुछ तू-ही-तू है। इसका ज्ञान कैसे हो? किसीको बुरा न समझें, किसीकी बुराई न करें और किसीका भी बुरा न चाहें।

कहीं बुराई दीखे तो समझें कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। जैसा स्वरूप, वैसी लीला। बर्ताव सावधानीसे करें; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' (गीता २। ४७)। परन्तु भीतरसे किसीको बुरा न समझें। जैसे

स्नानके समय साबुन लगाये चेहरेको दर्पणमें देखते हैं तो भद्दा रूप दिखायी पड़ता है, पर मनमें अपना रूप वैसा नहीं समझते। ऐसे ही सबके भीतर साक्षात् परमात्मा हैं, पर ऊपरसे अनेक तरहके वेष हैं। तात्पर्य है कि **बाहरसे सावधानी रखो, पर भीतरसे बुरा न समझो।**

किसीकी बुराई न करें। **व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी भीतरसे सबको भगवान् ही समझें।** भीष्मजी कृष्णको भगवान्-रूपसे जानते थे, पर युद्धके समय वे उनकी पूजा अपने बाणोंसे करते हैं! जैसा रूप, वैसी पूजा।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यके भीतर किसीका सहारा (आश्रय) लेनेकी प्रवृत्ति भी होती है और स्वतन्त्र रहनेकी प्रवृत्ति भी होती है। सहारा लेनेकी प्रवृत्तिवालोंके लिये शरणागति सर्वश्रेष्ठ है। कारण कि जीव जिसका अंश है, उसीका आश्रय लेनेसे काम बनेगा। शरणागतिमें परतन्त्रता नहीं है, प्रत्युत महान् स्वतन्त्रता है।

ऊपरसे भरे हुए साधनसे लाभ नहीं होता। वास्तवमें हम क्या चाहते हैं—यह जानना चाहिये। इसको जाननेवाले बहुत कम हैं।

मैं, तू, यह तथा वह—सबमें एक परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। **एक परमात्माके सिवाय कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।**

××× ××× ××× ×××

शरीरको संसारसे अलग मानना गलती है। अपनेको सांसारिक वस्तुओंका मालिक मानते हैं, पर हो जाते हैं गुलाम। वस्तुओंको संसारकी सेवामें लगाना ईमानदारी है। अपने लिये

जप, तप आदि करनेवालेका नाम हिरण्याक्षकी सूचीमें लिखा जायगा! कर्म संसारके लिये होगा और योग परमात्माके साथ होगा। कर्मयोग भी करणनिरपेक्ष साधन है।

संसारकी सब वस्तुएँ मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। उनको अपना और अपने लिये मानना बेईमानी है। बेईमानीको छोड़नेका नाम 'मुक्ति' है।

संसारके लिये उपयोगी होना 'कर्मयोग', अपने लिये उपयोगी होना 'ज्ञानयोग' और भगवान्‌के लिये उपयोगी होना 'भक्तियोग' है।

××× ××× ××× ×××

गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** को अधिक महत्त्व दिया है। मनुष्यजन्म ही बहुत जन्मोंका अन्तिम जन्म है— **'बहूनां जन्मनामन्ते'** (गीता ७। १९)। अब मनुष्य यहाँसे जहाँ जाना चाहे, वहाँ जा सकता है— ***'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी'*** (मानस, उत्तर० १२१। ५)। मनुष्यजन्मके बादके जन्मका निर्णय भगवान् नहीं करते। मनुष्य यहाँसे मुक्त भी हो सकता है, भक्त भी हो सकता है और चौरासी लाख योनियोंमें भी जा सकता है।

भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दिया है तो साधन-सामग्री भी साथमें दी है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है। परंतु मनुष्य इस साधन-सामग्रीको भोग-सामग्री बना लेता है। **प्रतिकूल परिस्थिति एक नंबरकी साधन-सामग्री है; क्योंकि इसमें पापोंका नाश होता है और सावधानी आती है।**

सुखकी इच्छाका नाम दुःख है। संसारमें सुख भी दुःख है और दुःख भी दुःख है— **'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** (योगदर्शन २। १५)। आज केवल सुखकी तरफ ही दृष्टि है।

यह दृष्टि महान् दुःख देनेवाली है। **जहाँ सुख मिले, वहाँ समझे कि खतरा है!**

अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सुखी-दुःखी होना पाप है, तभी भगवान्‌ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार (युद्ध करनेसे) तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

××× ××× ××× ×××

आमके वृक्षमें हर जगह रस रहता है, पर उसके फलमें जो रस है, वह कहीं नहीं है। ऐसे ही परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, पर उनके रूपमें (साकारमें) जो मिठास है, वह कहीं नहीं है। तभी कहा है—'**पिबत भागवतं रसमालयम्**' (श्रीमद्भा० १।१।३)। फलका ज्ञान जितना तोतेको है, उतना अन्यको नहीं। तोता उसी फलमें चोंच लगाता है, जो मीठा होता है। भागवत शुकके मुखसे निकली है। इसमें न छिलका है, न गुठली है।

मुक्तिमें मनुष्य सांसारिक दुःखोंसे छूटता है। परंतु भक्तिमें विलक्षण रस है, जिससे कभी अरुचि होती ही नहीं। सांसारिक सुखसे अरुचि होती ही है—यह नियम है।

भगवान् आत्मारामगणाकर्षी हैं, वे मुक्त पुरुषोंको भी खींच लेते हैं। निर्गुण-निराकारके उपासक श्रीमधुसूदनाचार्यजी कहते हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैत-मार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमें गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक अपने चरणोंका गुलाम बना लिया!'

प्रेमीकी बात प्रेमी ही समझता है, ज्ञानी नहीं। पागलकी भाषाको कौन समझे? गूँगेकी भाषाको कौन समझे?

××× ××× ××× ×××

'करना' उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुके लिये होता है। अनुत्पन्न परमात्मतत्त्वके लिये 'भाव' और 'विवेक' होता है। जैसे हम मकानसे अलग हैं, तभी हम मकानसे बाहर जाते हैं, ऐसे ही हम शरीरमें रहते हुए भी शरीरसे अलग हैं। शरीर भी हमारा नहीं है। यदि हमारा है तो फिर इसे बीमार क्यों होने देते हो? मरने क्यों देते हो? हम परमात्माके हैं, परमात्मा हमारे हैं। शरीर और संसार एक हैं। हम शरीरसे अलग हैं तो संसारमात्रसे अलग हैं।

हम संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि हम संसारसे अलग हैं। परमात्मासे एक होकर ही परमात्माको जान सकते हैं; क्योंकि परमात्मासे एक हैं।

आजकल बुद्धिसे ही संसारको समझते हैं और बुद्धिसे ही ब्रह्मको समझते हैं। बुद्धि तो अपने कारण प्रकृतिको भी नहीं जान सकती। नमककी डली मुखमें रखकर कोई मिश्रीके स्वादको नहीं जान सकता। सबका प्रकाशक हमारा स्वरूप है। प्रकाश्य हमारा स्वरूप नहीं है। हमारा स्वरूप सूर्यकी तरह प्रकाशक भी है और प्रकाशस्वरूप भी है।

××× ××× ××× ×××

शास्त्रको जाननेवाले तो कई मिलेंगे, पर तत्त्वका अनुभव करनेवाले नहीं मिलेंगे। लगनवाले आदमी बहुत कम मिलते हैं। तभी भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धि (कल्याण)-के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धों (मुक्त पुरुषों)-में कोई एक ही मुझे यथार्थ रूपसे जानता है।'

स्वयंकी लगन होनेसे तो परमात्माके यथार्थ रूपको जान सकते हैं— '**यततामपि**', पर लगनके बिना केवल सुननेसे नहीं जान सकते— '**श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्**' (गीता २। २९)। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) श्रद्धाकी कमी मानते थे, मैं लगनकी कमी मानता हूँ। अभी जो वेदान्तका प्रचार हो रहा है, इसे मैं बाधक मानता हूँ। वेदान्तके ग्रन्थ पढ़ोगे तो उलझन हो जायगी, पर सन्तोंकी वाणी पढ़ोगे तो कल्याण हो जायगा।

सच्ची जिज्ञासा हो तो सन्त-महात्मा अपने-आप खिंचे चले आते हैं। माँको बच्चेकी जितनी आवश्यकता है, उतनी बच्चेको माँकी नहीं है। बछड़ा एक मुँहसे दूध पीता है, पर गायके चार थन होते हैं!

××× ××× ××× ×××

परमात्माका अंश होनेसे जीवमात्रका स्वभाव आश्रय लेनेका है। परंतु शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण वह शरीरकी ही जातिका आश्रय चाहता है। शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे

लिये नहीं—यह हो जाय तो फिर वह नाशवान्‌का आश्रय नहीं चाहेगा। नाशवान्‌का आश्रय लोगे तो तरह-तरहकी आफतें आयेंगी।

××× ××× ××× ×××

जैसे अंकुर निकले बिना बीजका पता नहीं लगता, ऐसे ही वासना बीजरूपसे रहती है, उसका पता नहीं लगता। वासनासे कामना, आशा, तृष्णा आदि उत्पन्न होते हैं। **शुद्ध वासना भी तत्त्वबोधमें बाधक होती है।**

'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनकी ग्रन्थि है। इसलिये संसारके भोग व संग्रहकी इच्छा भी होती है और परमात्मप्राप्तिकी इच्छा भी होती है। वासना अहम्‌के भीतर जड़-अंशमें रहती है। अहम् मिटनेपर वासनाका नाश हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

संसारमें स्थायी रहनेकी प्रवृत्ति बहुत बाधक है। सत्संगसे बहुत लाभ, सुधार होता है, पर पूर्णता प्राप्त किये बिना उसमें सन्तोष नहीं करना चाहिये।

अभी जो परिस्थिति मिली है, उसीके सदुपयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

भगवान्‌के समान अपना कोई नहीं है—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं।

(मानस, किष्किंधा० १२।१)

'अच्युतः स्मृतिमात्रेण'—भगवान्‌को याद करना ही उनकी सेवा करना है। **केवल याद करना है, पत्र-पुष्प-फलकी भी जरूरत नहीं!** द्रौपदीने केवल याद किया था।

इधर दशरथजी प्रेमी थे, कौसल्याजी ज्ञानी थीं। उधर जनकजी ज्ञानी थे, सुनयनाजी प्रेमी थीं।

विदुरानीजीको यह पता नहीं कि मैं गिरी खिला रही हूँ या छिलका, ऐसे ही ठाकुरजीको पता नहीं कि मैं गिरी खा रहा हूँ या छिलका—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४।११)।

××× ××× ××× ×××

हमें राग-द्वेषसे रहित होना है। अनुकूलतासे सुख हो तो इसका भी दुःख होना चाहिये, प्रतिकूलतासे दुःख हो तो इसका भी दुःख होना चाहिये। यह साधकमें सावधानी होनी चाहिये। न प्रवृत्तिकी इच्छा हो, न निवृत्तिकी इच्छा हो।

जबतक असर पड़ता है, तबतक साधक 'स्वस्थ' नहीं है, रोगी है।

××× ××× ××× ×××

सबमें परमात्मा परिपूर्ण है—इस बातको याद रखो और प्राणिमात्रमें भगवान्‌को देखो। कम-से-कम मनुष्योंमें तो भगवान्‌को देखो। जैसे मन्दिरमें भगवान्‌का पूजन मूर्त्तिमें करते हैं, ऐसे ही मनसे सबमें भगवान्‌को देखकर उनका पूजन करो। **मन-ही-मन सबको दण्डवत् प्रणाम करो कि उनको पता ही न लगे।** गुप्त दान, गुप्त साधन बड़ा तेज होता है। सबको किया गया प्रणाम भगवान्‌को प्राप्त होता है। यह बहुत ही उत्तम साधन है जो हरेक कर सकता है।

पशु, पक्षी आदिसे कभी खटपट, लड़ाई नहीं होती। मनुष्योंसे ही लड़ाई होती है। इसलिये मनुष्योंमें भगवद्भाव करनेके लिये कहा है। कम-से-कम प्रत्येक मनुष्यको नमस्कार करो। **नमस्कार किये बिना कोई मनुष्य खाली न जाय।**

सबको किया गया नमस्कार भगवान्‌को प्राप्त होता है। यह बहुत ही उत्तम साधन है जो हरेक कर सकता है।

×××   ×××   ×××   ×××

मुक्ति 'कर्म' से नहीं होती, प्रत्युत 'योग' (कर्मयोग)-से होती है। अपने लिये कुछ भी न करना 'कर्मयोग' है। समाधि भी अपने लिये न हो।

जो साधन कर सकते हैं, उसे करते नहीं और जो नहीं कर सकते, उसके लिये हिचकते हैं—यह बाधक है। **जो सुगमतासे कर सकते हैं, उसे करें तो आखिरतक पहुँच जायँगे।**

भक्तिमें अहंकारको बदला जाता है। अहंकार बदलना बहुत सुगम है। मैं साधक हूँ; अतः मुझे साधनसे विरुद्ध कार्य नहीं करना है—इतनी सावधानी रखो।

लड़का कहना न माने तो उसे अपना मत मानो। **उससे अपनापन छोड़ दोगे तो उसका सुधार हो जायगा—यह मार्मिक बात है।** मन मेरा है, तो फिर मन कभी शुद्ध नहीं होगा। अपनापन हटाते नहीं और शुद्ध कर सकते नहीं—यह गुत्थी है। मनको मेरा मत मानो तो वह शुद्ध हो जायगा। वास्तवमें वह भगवान्‌का है, आप अपना मानते हैं—यह गलती है। **मन एकाग्र हो या न हो, उसे छोड़ दो तो यह गीताका 'योग' है।**

जो साधन नहीं कर सकते, उसका लोभ मत करो। जो कर सकते हैं, वह करो। भगवान्‌की कृपासे जो काम होगा, वह आपके उद्योगसे नहीं होगा। इसलिये भगवान्‌को पुकारो। **पुकारसे जो काम होता है, वह विवेकसे नहीं होता।** पुकारसे बहुत जल्दी सिद्धि होती है।

विवाह होनेपर आपकी लड़की अपना अहंकार बदल लेती है, फिर आप नहीं बदल सकते? आप मीराबाई बन जाओ—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*।

जिस साधनमें आपकी योग्यता, विश्वास और तत्परता हो, वही साधन करो। **साधन अनेक हैं, उनमें समन्वय मत करो। समन्वय करना साधकका काम नहीं है।**

किसी ग्रन्थके खण्डन-अंशको मत मानो, मण्डन-अंशको मानो। गीता, रामायण और भागवतमें मेरी श्रद्धा है, अन्य ग्रन्थोंमें वैसी श्रद्धा नहीं है। पण्डिताईके ग्रन्थोंसे पण्डिताई आ जायगी, पर सिद्धि नहीं होगी।

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्ति सुगम है—यही मानना साधकके कामका है। लाभकी बातको ग्रहण करना है। वास्तवमें परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत संसारका त्याग कठिन है। लगनकी कमी होनेसे परमात्मप्राप्ति कठिन दीखती है। कठिन वह वस्तु होती है, जिसका निर्माण होता है। परमात्माका निर्माण नहीं होता, वे नित्यप्राप्त हैं। पारसके स्पर्शसे लोहेका सोना बनता है, पर परमात्मा बनते नहीं हैं। केवल उत्कण्ठाकी कमी है। **परमात्मप्राप्तिमें देरी असह्य हो तो फिर देरी नहीं होती।**

देहाभिमान और राग—ये दो बड़ी भयंकर बीमारी हैं। पढ़ाई करनेवाले ब्रह्म, प्रकृति और जीव सबको बुद्धिका विषय बनाते हैं। साधनको न देखकर साध्यको देखते हैं।

आप रुपयोंको चाहते हैं, रुपये आपको नहीं चाहते, फिर भी आप रुपये कमा लेते हैं। परन्तु परमात्मा तो आपको चाहते हैं, फिर उनकी प्राप्तिमें क्या कठिनता? रुपयोंकी प्राप्तिमें तो

प्रारब्ध है, पर परमात्माकी प्राप्तिमें प्रारब्ध है ही नहीं। परमात्माकी प्राप्तिमें केवल भाव और बोधकी मुख्यता है। उत्कट अभिलाषा हो तो पापी-से-पापीको भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है और अभिलाषा न हो तो बड़े-बड़े पुण्यात्माको भी प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्मप्राप्ति पाप-पुण्य दोनोंसे ऊँचा उठनेपर होती है।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌के मिलनका रस बड़ा रसीला होता है। वैसा रस और कहीं नहीं है। वह अनिर्वचनीय है। मिलनमें जो रस है, विरहमें उससे कम रस नहीं है। योगमें वियोग है और वियोगमें योग है। 'योग' में तृप्ति नहीं होती और 'वियोग' में विस्मृति नहीं होती! यह अनिर्वचनीय स्थिति प्रेममें ही होती है, ज्ञानमें नहीं। ज्ञानमें अखण्ड आनन्द रहता है, पर प्रेममें अखण्ड आनन्द रहते हुए भी प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द है— **'दिने दिने नवं नवम्'**। प्यास जल-तत्त्वसे अलग नहीं है, पर प्यासमें जो आनन्द है, वह जलमें नहीं है। लौकिक (जलकी) प्यासमें तो दुःख होता है, पर भगवान्‌की प्यासमें विलक्षण आनन्द है। इसे प्रेमी भक्त ही जानते हैं, ज्ञानी नहीं जान सकते। सांसारिक वस्तु मिलनेपर अभिमान आता है, पर भगवान्‌से मिलन होनेपर अभिमान आता ही नहीं। हनुमान्‌जी कहते हैं— ***'जानउँ नहिं कछु भजन उपाई'*** (मानस, किष्किंधा० ३।२)।

परमात्मासे वियोगका दुःख सैकड़ों-हजारों सांसारिक सुखोंसे बढ़कर है। वह नित्यवियोग है। प्रेममें मुक्तिका रस भी फीका हो जाता है। मुक्तिमें तो संसार छूटता है, दुःख मिटता है, आफत छूटती है।

××× ××× ××× ×××

सहजावस्था स्वाभाविक है। जन्म-मरण, राग-द्वेष, दुःख-संताप आदि सब अस्वाभाविक हैं। जन्म-मरणका कारण गुणोंका संग है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। परन्तु वास्तवमें स्वयं असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४।३।१५)।

अभ्यास या क्रिया जड़के द्वारा होती है। तत्त्वकी प्राप्ति जड़के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है।

××× ××× ××× ×××

शरणागति करणनिरपेक्ष है। यह स्वयंकी स्वीकृति है, बुद्धिका निश्चय नहीं है। 'मैं हूँ'—यह क्या बुद्धिका निश्चय है? गीतामें '**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः**' (१२।१४) पदोंमें मन-बुद्धि जिसके हैं, वह स्वयं अर्पित है। मुख्यता स्वयंकी है, मन-बुद्धिकी नहीं। मन-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये मैं 'करणरहित' नहीं कहता हूँ, प्रत्युत 'करणनिरपेक्ष' कहता हूँ। स्वयंमें बैठी बातकी विस्मृति नहीं होती। स्वीकृति-अस्वीकृति शब्द मुझे बहुत विलक्षण दीखते हैं।

'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा माननेके बाद यदि अपनेमें कोई विकार दीखे तो भगवान्‌को पुकारो! ***'जायगी लाज तिहारी नाथ मेरो का बिगड़ैगो'!***

××× ××× ××× ×××

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति और नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करना है। परमात्मप्राप्ति सहज है, स्वाभाविक है। संसार निरन्तर बदलता है, पर उसमें रहनेवाला नहीं बदलता। तत्त्व कृतिसाध्य नहीं है। मान्यता तो संसारकी है, तत्त्वकी मान्यता नहीं है। तत्त्व

स्वत:सिद्ध और सहज है—इतनी बात पहले स्वीकार कर लो, फिर उसकी प्राप्ति सुगम हो जायगी।

××× ××× ××× ×××

शराब पीना महापाप है। **अपने-आप मरी हुई गायके माँससे भी शराब अधिक खराब है।** शराबके बननेमें लाखों-करोड़ों जीवोंकी हत्या होती है। शराब पीनेसे लगनेवाला पाप और तरहका है! यह आस्तिकता, पुण्य, धर्मके बीजको ही नष्ट कर देता है। इसको पीनेसे आस्तिकताके अंकुर, धार्मिक भाव भूने जाते हैं।

बन्धन क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत कामनासे होता है। अत: भगवान् कहते हैं—'**योगस्थ: कुरु कर्माणि**' (गीता २।४८)। योग नाम समताका है। समताके बिना योग नहीं होता, केवल कर्म होते हैं। **कोई भी साधन करो, अन्तमें योग आना चाहिये;** जैसे—कोई सवाल करो तो अन्तमें टोटल सही आना चाहिये, नहीं तो सब गलत! अन्त:करणमें समता आ गयी तो आपकी स्थिति ब्रह्ममें हो गयी—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता:**' (गीता ५।१९)।

परमात्मा 'है'। परन्तु देखनेमें 'नहीं' आता है; क्योंकि जिससे देखते हैं, वह 'नहीं' की जातिका है। 'नहीं' को 'है' माननेसे 'है' छिप जाता है।

××× ××× ××× ×××

अपना आचरण, भाव ठीक रखो, लोग चाहे जो कहें। कपड़ा लोक-सुहावता (लोक-मर्यादाके अनुसार) पहनो और रोटी शरीर-सुहावती खाओ। अपने आचरण, भावकी तरफ देखकर सन्तोष करो, लोगोंकी तरफ मत देखो। अपना आचरण

बेठीक हो तो सुधार कर लो। मेरे दादागुरु कहा करते थे कि स्त्रियोंको सब कपड़े नये नहीं पहनने चाहिये, एक-दो पुराने कपड़े भी रखने चाहिये।

अपने भजनमें लगे रहो। संसारमें क्या हो रहा है और क्या होगा—इसकी चिन्ता मत करो—*'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'* (मानस, बाल० ५२।४)। भजनमें लग जाओ, निर्वाहकी चिन्ता मत करो। आज भजनमें लग जाओ और कल मृत्यु हो जाय तो आपका उम्रभर भजन हो गया।

पुरानी बात कही जाय तो समझे कि कुछ-न-कुछ घाटा पड़ गया है!

जैसे वैद्य जो दवा दे, वही बढ़िया है, ऐसे ही भगवान् जो विधान करें, वही बढ़िया है।

××× ××× ××× ×××

वस्तु, व्यक्ति, काल आदि सब उस परमात्माके अन्तर्गत हैं। परमात्मा इन सबसे अतीत भी है और इन सबमें परिपूर्ण भी है। जड़तासे ऊँचा उठाना विवेकशक्तिका खास काम है। विवेकको महत्व देना हमारा काम है। **जो अपने विवेकका आदर नहीं करेगा वह गुरु, शास्त्र, वेद आदिका भी आदर नहीं करेगा।** वह सीख तो लेगा, पर तत्त्वकी प्राप्ति नहीं कर सकेगा।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यजन्मका अवसर मिलना बड़ा दुर्लभ है। जो इसका दुरुपयोग करता है, उसे फिर यह मौका नहीं मिलेगा। शास्त्रमें आया है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

'ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो मन्त्र न हो। ऐसी कोई वनस्पति नहीं है जो औषधि न हो। ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो योग्य न हो। परन्तु इनका संयोजक दुर्लभ है।'

परमात्मप्राप्तिमें देरीका कारण लगनकी कमी है। जैसे फल तैयार होता है तो उसके पास तोता स्वयं आता है, ऐसे ही आप तैयार हो जायँगे तो सन्त-महात्मा स्वतः आयेंगे।

××× ××× ××× ×××

हमने शरीरको प्रधानता देकर 'मैं हूँ' माना है, चेतनको प्रधानता देकर नहीं। हमें चेतन ('है')-को प्रधानता देनी है। ज्ञान उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि ज्ञानका कभी अभाव नहीं होता। **'है' का अनुभव है, करना नहीं पड़ता।**

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की जगह संसारको मान लिया—इस गलतीको मिटाना है। यह असली बात है! संसार नहीं है और परमात्मा है। जो प्रत्येक क्षणमें बदलता है, वह सच्चा कहाँ है? **वृत्ति लगाने या हटानेसे तत्त्व कैसे मिलेगा? तत्त्व तो वृत्तियोंसे अतीत है।** कोई भी वृत्ति कभी स्थिर नहीं रहती। सबके अभावका अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

सनकादिकोंने कहा कि मन संसारमें बस गया और संसार मनमें बस गया तो भगवान्‌ने कहा—**'मद्रूप उभयं त्यजेत्'** (श्रीमद्भा० ११। १३। २६) 'मेरे स्वरूपमें स्थित होकर दोनोंको छोड़ दो।' मनको अपना मानना ही दोष है। मन सबका एक है, फिर कुत्तेके मनकी चिन्ता क्यों नहीं होती? अतः 'स्व' में स्थित होकर चुप हो जाओ—**'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (गीता ६। २५)।

कैसी परिस्थिति आये, 'स्व'में क्या फर्क पड़ता है? गंगाजीका जल कैसा ही आये, शिलामें क्या फर्क पड़ता है? **जबतक जड़का असर पड़ता है, तबतक हमारी स्थिति जड़में है।** जड़को हटानेकी चेष्टा करोगे तो उसकी सत्ता दृढ़ होगी। अतः उसकी उपेक्षा करो— '**शनैः शनैरुपरमेत्**' (गीता ६। २५)।

××× ××× ××× ×××

पिता ही पुत्ररूपसे पैदा होता है। इसी तरह भगवान् ही संसाररूपसे प्रकट हुए हैं। जैसे ब्राह्मणका लड़का ब्राह्मण ही होता है, ऐसे ही भगवान्‌से उत्पन्न होनेवाले सब भगवान्‌के ही रूप हुए। **भगवान्‌का सबसे बढ़िया रूप कौन-सा है? सबसे बढ़िया रूप है—संसार।** सब कुछ भगवान्‌का स्वरूप है। इतनी बात मान लो तो आपकी यहाँकी यात्रा सफल हो गयी! इसके लिये श्रवण, मनन आदि कुछ नहीं करना है। भगवान् सुलभ हैं, पर महात्मा दुर्लभ हैं! सबमें भगवान्‌को देखो, फिर भगवान् छिप नहीं सकते। यह बात भी भगवान्‌की कृपासे मिलती है! क्योंकि न तो आपके मनमें थी, न मेरे मनमें थी। भगवान्‌के मनमें देनेकी है! यह खास भगवान्‌के हृदयकी बात है।

गीता भगवान्‌के द्वारा खुशीमें, राजी होकर गाया हुआ गीत है। उपनिषद् साथमें होनेसे 'भगवद्‌गीता' हो गया, अन्यथा यह 'भगवद्‌गीतम्' है।

××× ××× ××× ×××

वास्तवमें संसार नहीं है, परमात्मा है। केवल इधर खयाल करना है। संसार तो प्रतिक्षण बदल रहा है, वह है कहाँ! जो विद्यमान होता है, वह कभी बदलता नहीं। संसार अभीतक

किसीको प्राप्त नहीं हुआ। प्राप्त हो सकता ही नहीं। हमने गलती यह की कि जो अप्राप्त है, उसको प्राप्त मान लिया और जो प्राप्त है, उसको अप्राप्त मान लिया। **परमात्माको अप्राप्त मान लिया, इसलिये उसे प्राप्त करना पड़ता है और संसारको प्राप्त मान लिया, इसलिये उसे हटाना पड़ता है।**

××× ××× ××× ×××

उधर दृष्टि न होनेसे भगवान् अप्राप्त मालूम देते हैं। वास्तवमें जहाँ दृष्टि जाय, वहीं भगवान् हैं। अर्जुन कहता है—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(गीता ११।४०)

'हे सर्वस्वरूप! आपको आगेसे भी नमस्कार हो और पीछेसे भी नमस्कार हो! आपको सब ओरसे (दसों दिशाओंसे) ही नमस्कार हो। हे अनन्तवीर्य! असीम पराक्रमवाले आपने सबको एक देशमें समेट रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।'

जैसे कोई समुद्रमें डूब जाय तो चारों तरफ जल-ही-जल है। आकाशमें चला जाय तो चारों तरफ आकाश-ही-आकाश है। ऐसे ही चारों तरफ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। उनके सिवाय और कुछ है ही नहीं। वे दूर नहीं हैं। हमने ही उनको दूर मान लिया, उनको अपने पास नहीं माना।

अपने इष्टकी हर चीज (नाम, रूप, लीला आदि) अच्छी लगती है। सब जगह हमारा इष्टदेव ही है, फिर कितना आनन्द है! जीते भी आनन्द, मरनेमें भी आनन्द! संसारमें अपनापन छोड़ दो, फिर आनन्द-ही-आनन्द है।

××× ××× ××× ×××

एक ध्येय बनाना है। ध्येय बनानेकी अपेक्षा पहचानना बढ़िया है। ध्येय बनाये बिना कल्याण कैसे होगा? भोग भोगना ध्येय होगा तो उन्नति कैसे होगी? चाहे सुख आये या दुःख, एक ध्येय पक्का रखें कि हमें कल्याण करना है।

कामसे अधिक समय नहीं होना चाहिये और खर्चेसे अधिक धन नहीं होना चाहिये। न संग्रह होना चाहिये, न कर्जा होना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

जो हरदम मौजूद है, उसे हम नहीं मानते और जो हरदम बदल रहा है, जा रहा है, उसे हम मानते हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है!

आकाश सब जगह है। पत्थर ठोस होता है, पर उसमें भी आकाश है, तभी उसमें सर्दी-गर्मी प्रवेश करती है। सर्दीमें वह ठण्डा हो जाता है, गर्मीमें गर्म हो जाता है। उस आकाशसे भी सूक्ष्म परमात्मा हैं।

जैसे हम भगवान्‌से वर माँगते हैं, ऐसे ही खम्भे, दीवार, वृक्ष आदिसे भी वरदान माँग सकते हैं; क्योंकि भगवान् सब जगह हैं—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३।१३)

'वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।'

××× ××× ××× ×××

श्रोता—सत्संगसे क्या होता है?

स्वामीजी—सब कुछ होता है। सत्संगमें कमाया हुआ धन मिलता है। सत्संग करना गोद जाना है। नामजप और सत्संगकी बहुत महिमा गायी गयी है। **सत्-तत्त्वमें प्रेम होनेका नाम 'सत्संग' है।** सत्की तरफ आकर्षण होना चाहिये। श्रीस्वयंज्योतिजी महाराज कहते थे कि सन्त-महात्माओंमें प्रेम होनेका नाम सत्संग है। सत्संगसे मनुष्यको होश होता है। सत्संगसे विलक्षणता आ जाती है। सत्संगके प्रवाहमें पड़े-पड़े मनुष्य गंगाजीके पत्थरकी तरह गोल तथा सुन्दर हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

संसार दीखता है, है नहीं। संसार कभी 'है' नहीं होगा और भगवान् कभी 'नहीं' नहीं होंगे। परमात्माका ही 'है'-पना संसारमें दीख रहा है।

भगवान्‌के द्वारा सम्पूर्ण संसार धारण किया हुआ है। अतः भगवान्‌ने हम सबको अपनी शरणमें ले रखा है। शरणमें लेकर हमें स्वतन्त्रता दी है। वह स्वतन्त्रता दी हुई है, अपनी नहीं है। **शरीरपर हमारा वश नहीं चलता, अपनी इच्छासे हम कुछ नहीं कर सकते, इससे सिद्ध होता है कि हम किसीके वशमें हैं।**

शरण होना नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌ने शरण ले रखा है—ऐसा मानें। केवल उधर दृष्टि करनी है।

'मैं'-पन भी भगवान्‌के अर्पित कर दें और 'मेरा'-पन भी।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी पूरी सामग्री भी दी है। भगवान्‌ने हमें कर्म करनेकी सामर्थ्य दी

है, अकर्तव्यका त्याग करनेके लिये विवेक दिया है और विश्वास-शक्ति दी है।

मनुष्य प्रारब्धके अनुसार पाप-पुण्य नहीं करता; क्योंकि कर्मका फल कर्म नहीं होता, भोग होता है।

गीताका अर्थ करनेका तात्पर्य है—अपनी बुद्धिका परिचय देना।

जो साधन सुगम दीखे, उसे करना शुरू कर दो तो जो कठिन है, वह सुगम हो जायगा और जो समझमें नहीं आता, वह समझमें आने लग जायगा।

आजकलका विज्ञान पत्तेसे चलकर मूलकी तरफ जाता है, पर हमारी संस्कृति मूलसे विचार करती है।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌को एक जगह भी देखे तो निहाल हो जाय, फिर सब जगह भगवान्‌को देखे तो कहना ही क्या है? संसार ज्यों-का-त्यों परमात्मा ही है। संसार भ्रान्ति नहीं है। संसाररूपसे भगवान् ही हैं। यही गीताको मान्य है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९), '**मया ततमिदं सर्वम्**' (९।४), '**सदसच्चाहम्**' (९।१९)।

संसारका सुख दुःखका बीज (योनि) है, जिससे दुःख-ही-दुःख पैदा होगा। बिना दुःखके सुख होता नहीं और सुखके बाद दुःख होता ही है। लक्ष्मी माता है, उसको जो भोग्या मानते हैं, वे पाप करते हैं।

××× ××× ××× ×××

शिष्य दो तरहके होते हैं—पहला गुरुके परायण और दूसरा, शिक्षा लेकर स्वयं उद्योग करनेवाला। जो गुरुके परायण है, उसे अपने कल्याणके लिये कुछ करना नहीं पड़ता; जैसा कि अर्जुनने

कहा है— '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (गीता २।७) 'मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मुझे शिक्षा दीजिये।'

'**वासुदेवः सर्वम्**' का साधन बड़ा सुगम है। केवल अपना भाव बदलना है। **परमात्माकी जगह ही यह संसार दीख रहा है।** संसारमें 'नहीं' मुख्य है— '**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २।१६)। **परमात्मा ही हैं—ऐसा सरलतासे मान लेना है, जोर नहीं लगाना है। जोर लगानेसे संसारकी सत्ता दृढ़ होगी।** संसारको हटाना नहीं है। वह तो हटा हुआ (निवृत्त) ही है। मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं है, केवल वासुदेव ही हैं।

××× ××× ××× ×××

प्रतिकूलतामें पुराने पाप नष्ट होते हैं और नयी शक्ति मिलती है। भगवान् कृपा करके प्रतिकूलता भेजते हैं।

करणकी सहायता भले ही हो, पर करणकी अपेक्षा न हो—यह 'करणनिरपेक्ष साधन' कहलाता है। स्वयंकी स्वीकृति करणनिरपेक्ष है। स्वयंकी स्वीकृति दृढ़ ही होती है, अदृढ़ नहीं। स्वयंसे भगवान्‌को सब जगह स्वीकार कर लें। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***—यह स्वयंकी स्वीकृति है। विवाहिता स्त्री स्वप्नमें भी अपनेको सुहागिन ही देखती है; क्योंकि यह स्वयंकी स्वीकृति है।

भक्ति इतनी विलक्षण है कि इससे मनुष्य गुणातीत भी हो जाता है और प्रेम भी प्राप्त कर लेता है।

निर्वाहयोग्य भोग तो पहलेसे ही निश्चित है— '**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः**' (योगदर्शन २।१३), अधिक भोग, मान-आदर आदि चाहते हैं—यह गलती है।

××× ××× ××× ×××

सांख्ययोगीको तो कर्मयोगकी जरूरत है, पर कर्मयोगीके लिये सांख्ययोगकी जरूरत नहीं है—**'कर्मयोगो विशिष्यते'** (गीता ५।२)।

गीताकी भक्ति 'अद्वैतभक्ति' है। अधिभूत आदि भी भगवान् हैं तो हमारे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि अलग कैसे रहें? वे भी **'वासुदेवः सर्वम्'** के अन्तर्गत ही हैं। **'वासुदेवः सर्वम्'** में मैं-तू-यह-वह नहीं है। इसमें सब कुछ चिन्मय हो जाता है, जड़ चीज रहती ही नहीं। **छिपनेयोग्य कोई चीज है ही नहीं, फिर भगवान् कैसे छिपें? किसके पीछे छिपें?**

भगवान्‌का आश्रय लेकर साधन करना चाहिये—**'मामाश्रित्य यतन्ति ये'** (गीता ७।२९), **'मद्व्यपाश्रयः'** (गीता १८।५६)। **यदि भगवान्‌का आश्रय न लिया जाय तो अभिमान पिण्ड नहीं छोड़ेगा। भगवत्प्राप्ति कृपासे होती है, उद्योगसे नहीं।** भगवत्कृपासे भक्त विघ्नोंको भी तर जाता है और तत्त्वप्राप्ति भी कर लेता है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। (गीता १८।५८)

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (गीता १८।५६)

××× ××× ××× ×××

संसारमें अभाव मुख्य है। जो कभी है, कभी नहीं है, वह कभी नहीं है। जो किसी जगह है, किसी जगह नहीं है, वह किसी भी जगह नहीं है। तात्पर्य है कि उसमें 'नहीं' ही मुख्य है। परमात्मामें 'है' ही मुख्य है।

जो किसी अवस्थामें नहीं है, वह किसी भी अवस्थामें नहीं है। भगवान् सब अवस्थाओंमें हैं। जो चीज हमें मिलनेवाली नहीं है, वह किसीको भी मिलनेवाली नहीं है। भगवान् सबके

लिये समान हैं और सबको मिल सकते हैं। अतः **संसारकी आशा न रखें और भगवान्‌से निराश न हों।**

××× ××× ××× ×××

स्वार्थ और अभिमान—ये दो चीजें बड़ी घातक हैं। इनका त्याग करके दूसरेका हित करो। दूसरेका हित कैसे हो—यह मनुष्यके ऊपर ही निर्भर है। पशु-पक्षी मनुष्यके लिये नहीं हैं, प्रत्युत मनुष्य उनके लिये है।

कर्मयोगकी प्रणाली है—दूसरेका हित करना। **अपना जीवन अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरेके हितके लिये है।** 'बुरा न करना' सबके हाथकी बात है, पर दूसरेका भला करना अरबपतिके भी हाथकी बात नहीं है। **किसीका बुरा होनेसे आप राजी होते हैं तो आपके मनमें बुरा करनेका भाव है—यह कसौटी है।** किसीका भी बुरा न करना कर्मयोगकी नींव है। बुराई छोड़नेसे दो अवस्थाएँ होंगी—सबका भला ही करेंगे अथवा कुछ भी नहीं करेंगे। कुछ नहीं करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

दूसरेका हित करनेका तात्पर्य है—ऋण चुकाना। पापीकी मुक्ति (फल भोगकर) हो सकती है, पर ऋणीकी मुक्ति नहीं होती। ऋणीकी मुक्ति उसके अधीन है, जिसका ऋण है।

कर्तव्य वह होता है, जिसे कर सकते हैं और जिसे करना चाहिये। कर्तव्य है—दूसरेके अधिकारकी पूर्ति कर देना और अपना अधिकार छोड़ देना। अपने कर्तव्यका पालन करना और दूसरेके अधिकारकी रक्षा करना।

मशीन खराब हो तो हठ करनेसे अर्थात् धक्का देनेसे

काम नहीं चलेगा—'**निग्रहः किं करिष्यति**' (गीता ३। ३३)। मशीनकी खराबी ठीक करो। खराबी है—राग-द्वेष। इसलिये आगे राग-द्वेषके वशमें न होनेकी बात कही है—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (३। ३४)।

××× ××× ××× ×××

करनेकी शक्ति केवल सेवाके लिये है, और यह भगवान्‌से मिली है। भगवान्‌की चीज भगवान्‌के समर्पित कर देनी चाहिये। जो मिला है, वह साधन-सामग्री है। बीमारी भी साधन-समाग्री है और नीरोगता भी। इसी तरह निर्धनता-धनवत्ता, निर्बलता-सबलता आदि सब साधन-सामग्री है। बीमारी भगवान्‌की दी हुई तपस्या है। प्रतिकूलतामें विकास होता है, और अनुकूलतामें विनाश। मनुष्यशरीर साधनशरीर है। जो परिस्थिति आती है, वह केवल साधन-सामग्री है।

××× ××× ××× ×××

व्याख्यान सुनते समय यह भाव रहे कि यह मेरे लिये है। कर्मयोगीको कर्मयोगकी बात अपने लिये समझनी चाहिये। ऐसे ही ज्ञानयोगकी अथवा भक्तियोगकी बात भी साधकको अपने लिये समझनी चाहिये।

गीताके अनुसार 'धर्म' का अर्थ है—कर्तव्यका पालन। तभी गीतामें पहले स्वभावज कर्मोंका वर्णन करके फिर कहा—'**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**' (गीता १८। ४७)। **आज्ञा-पालन करना 'परमधर्म' है—**

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥

(मानस, बाल० ७७। १, अयो० २१३। २)

उपर्युक्त बात एक बार शंकरजीने कही और एक बार

भरतजीने कही। तात्पर्य यह हुआ कि विरक्त हो या राजा (गृहस्थ), भगवान् और भक्तकी आज्ञा सबको समानरूपसे पालन करनी चाहिये। परमधर्मके लिये धर्मके आश्रयका त्याग किया जा सकता है—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य०**' (गीता १८। ६६)। '**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१) 'तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मका आश्रय लिये हुए भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते हैं।' '**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)—भगवान्की यह आज्ञा परमधर्म है। इसका पालन करनेवाला आवागमनको प्राप्त नहीं होता।

वचनमात्रसे भगवान्के शरण होनेपर भगवान् पीछे पड़ जाते हैं और सर्वथा शरण कराकर ही छोड़ते हैं। अर्जुनने '**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८। ७३)—ऐसा कहा, तब भगवान्ने छोड़ा!

××× ××× ××× ×××

'द्विषो जहि' (शत्रुओंको नाश करो)—यह कहना ठीक नहीं है। सन्तोंने कहा है कि हमारे शत्रु सदा जीते रहें; क्योंकि वे हमें सचेत करते हैं।

सबसे बढ़िया है—त्याग। सेवा तो करे, पर चाहे कुछ नहीं। दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही मानवजन्म है।

संसारकी थोड़ी भी वासना मुक्त नहीं होने देगी।

××× ××× ××× ×××

टीकाओंको देखनेके कारण गीताका असली अर्थ समझमें नहीं आता। गीताकी खास बात है—समता। किसी भी योग-मार्गसे चलो, अन्तमें समता आनी चाहिये।

भोग और संग्रहका त्याग किये बिना व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होगी। **गीतामें वेदोंकी निन्दा नहीं है, प्रत्युत सकामभाववाले व्यक्तियोंकी निन्दा है।**

प्रत्येक कार्य भगवान्‌के लिये करें। हमारी क्रियासे किसीको कष्ट न हो, दुःख न हो। अपना-अपना काम ठीक तरहसे करें। हरदम सावधानी रखें। सावधानी ही साधना है। **हरदम सावधान रहनेवाला ही साधक होता है।**

××× ××× ××× ×××

अन्तःकरणकी शुद्धि क्रियाकी सिद्धिमें काम आती है। परमात्मतत्त्व अन्तःकरणसे अतीत है। अतः परमात्मप्राप्ति अन्तःकरणके द्वारा नहीं होती, फिर उसमें अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धि क्या काम आयेगी? तत्त्वज्ञान जिज्ञासुको होता है। **अन्तःकरणकी शुद्धिसे तत्त्वज्ञान नहीं होता।** मनोनाशसे, मन एकाग्र करनेसे समाधि होगी, सिद्धियाँ आयेंगी। सिद्धियाँ परमात्मप्राप्तिमें विघ्न हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

किसी भी अप्राप्त वस्तुकी कामना न रहे। स्पृहा अर्थात् किसी वस्तुकी परवाह, आवश्यकता भी न रहे। पासमें जो वस्तु है, उसमें ममता भी न रहे। अहंकार अर्थात् मैंपन भी न रहे। **निरहंकार होनेपर 'मैं निरहंकार हो गया'—यह अहम् भी नहीं रहता।** इसलिये इसे 'ब्राह्मी स्थिति' कहा गया है—**'एषा ब्राह्मी स्थितिः'** (गीता २।७२)। वास्तवमें उसकी कोई स्थिति नहीं होती। वह स्थितिसे अतीत होता है।

गंगा-स्नान पाप धोनेके लिये है, मैल धोनेके लिये नहीं।

××× ××× ××× ×××

इन्द्रियसे जिस विषयके भावका ज्ञान होता है, उस विषयके अभावका ज्ञान भी उसी विषयसे होता है। यह मीठा है और यह मीठा नहीं है—दोनोंका ज्ञान रसनेन्द्रियसे होता है। ऐसे ही अहम्‌के भाव और अभावका ज्ञान स्वयंको होता है। कारणशरीर 'अज्ञान' है—'**अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणम्**' (अध्यात्म० उत्तर० ५।९)। अपने स्वभावका खास ज्ञान स्वयंको होता है। स्वयं अहंकारको जानता है—'**एतद्यो वेत्ति**' (गीता १३।१), अतः अहंकारके अभावको भी वह जानता है।

××× ××× ××× ×××

विवेक अनादि है। यह उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य अहम्‌को अपना स्वरूप मानता है। वास्तवमें अहम् भी मिट्टीके ढेलेकी तरह 'इदम्' अथवा 'पर' है। मन करण है। मनको न लगाकर आप स्वयं लग जाओ। स्वयं लगनेसे भूल नहीं होगी; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं विवाहित हूँ' आदिमें भूल नहीं होती।

चाहे स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरकी सेवा करो अथवा स्थूल-सूक्ष्म-कारण सृष्टिकी सेवा करो—यह सब 'पर'की सेवा है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करना भी 'पर'के लिये करना है। चिन्तन करना, समाधि लगाना भी 'पर'के लिये करना है।

सिद्ध महापुरुषकी समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। प्रकृतिका विभाग अलग है, स्वरूपका विभाग अलग है। स्वरूप प्रकृतिका अंश नहीं है। 'अहम्' हमारा स्वरूप नहीं है। अहम्‌तक सब विषय है। स्वरूप विषयी है। स्वरूप

और अहम् अलग-अलग हैं—इसका ज्ञान सुषुप्तिमें सबको होता है। प्रकृतिका कार्य ही प्रकृतिमें लीन होता है, स्वयं नहीं। सुषुप्तिमें अहम् लीन होता है, स्वयं नहीं। स्वयं किसी भी अवस्थामें लीन नहीं होता। विवाह स्वयंकी स्वीकृति है। स्वयंकी स्वीकृतिमें भूल नहीं होती और मन भी लगाना नहीं पड़ता।

अहंकार कभी घटता है, कभी बढ़ता है; अतः वह आपका स्वरूप कैसे हुआ? अहंकारके बिना आप रहते हैं, पर आपके बिना अहंकार नहीं रहता।

साधकका सम्बन्ध साधनोंसे नहीं है, प्रत्युत साध्यसे है। योगकी सब सिद्धियाँ ऐश्वर्य हैं। ऐश्वर्यमें फँसे व्यक्तिकी मुक्ति नहीं होती—'**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां..........समाधौ न विधीयते॥**' (गीता २।४४)।

××× ××× ××× ×××

साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये। हरेक उम्रके व्यक्तिको भगवान्‌में लगना है। **जो बचपन और जवानीमें भजन नहीं करते, वे बुढ़ापेमें भजन नहीं कर सकते।**

साधक वह है, जो चौबीस घण्टे साधन करे। **चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी साधन न करे तो वह साधक नहीं है।** ऐसे अखण्ड साधनके लिये मैं-पन बदलनेकी जरूरत है। जैसे, सुहागिन एक मिनटके लिये भी दुहागिन नहीं होती। मैं-पन स्वीकृतिसे बदलता है। मैं भगवान्‌का हूँ—ऐसा स्वयंसे स्वीकार कर लें। स्वयंकी स्वीकृतिमें भूल नहीं होती। विवाहिता स्त्री एक बिंदी भी लगाती है तो पतिके सम्बन्धसे।

ज्ञानमार्गमें जो भी देखने, सुनने आदिमें आता है, वह सब माया है। भक्तिमार्गमें दसों दिशाओंमें जो कुछ भी दीखता

है, वह भगवान् ही हैं। देखने, सुनने, सोचने आदिमें जो आता है, वह भगवान् ही हैं। **सब कुछ भगवान् हैं—यह 'अभेद भक्ति' है।** यह गीताकी सर्वोपरि बात है। हमारी समझमें न आये तो हमारी समझ कच्ची है, पर बात सच्ची है।

जबतक हमारी दृष्टिमें दूसरी सत्ता है, तबतक मन एकाग्र नहीं हो सकता। 'वासुदेवः सर्वम्' में दूसरी सत्ता ही नहीं है।

××× ××× ××× ×××

सुख भी व्यथा है, दुःख भी व्यथा है। न सुख रहनेवाला है, न दुःख रहनेवाला है, फिर राजी-नाराज क्यों होते हो? आप तो निरन्तर रहनेवाले हो। रबरकी गेंद बनो, मिट्टीका लौंदा नहीं! न राग करना है, न द्वेष, प्रत्युत उपराम होना है। संसारके साथ सम्बन्ध माननेसे ही द्वन्द्व होता है। अतः ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***—ऐसा माननेसे स्वतः निर्द्वन्द्व हो जायगा।

जैसे चिन्तन करना दोष है, ऐसे ही चिन्तन न करना भी दोष है। अतः चिन्तन करने और न करनेको छोड़कर 'चुप' होना है। **'न योत्स्ये'** (युद्ध नहीं करूँगा) भी दोष है और **'योत्स्ये'** (युद्ध करूँगा) भी दोष है, इसलिये अर्जुनने कहा— **'करिष्ये वचनं तव'** (गीता १८।७३) 'आपकी आज्ञाका पालन करूँगा'।

××× ××× ××× ×××

नेत्रोंका (इन्द्रियोंका) ज्ञान बुद्धिके ज्ञानके आगे अज्ञान है। जैसे, हवाई जहाज नेत्रोंसे छोटा दीखता है, पर बुद्धिसे बड़ा दीखता है। परन्तु स्वयंके ज्ञानके आगे बुद्धिका ज्ञान भी रद्दी (महत्त्वहीन) हो जाता है।

जो भगवान्‌का भजन नहीं करते, उन्हें मनुष्य नहीं कहकर 'मल-मूत्र बनानेकी मशीन' कहना चाहिये।

नरकोंका दरवाजा लोभ है, पैसा नहीं। साधनमें भी लोभ नहीं करना चाहिये। जो साधन कर सकते हो, वह साधन करो। जो साधन नहीं कर सकते, वह साधन (चुप साधन आदि) मत करो, उसका लोभ मत करो।

समुद्र लहरोंका है या लहरें समुद्रकी हैं—इसकी तरफ न देखकर जल-तत्त्वको देखो। जल-तत्त्व एक है।

××× ××× ××× ×××

असत्‌की सत्ता ही नहीं है; अतः असत्‌का संग होता ही नहीं। जीव सकामभाव करता है, वह सकामभाव ही असत्‌का संग करता है, जीवको बाँधता है। जीव स्वयं असंग है।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोग निर्गुणकी तरफ जाते हैं। उत्तरी भारतमें ज्ञानकी बात विशेष चलती है, दक्षिण भारतमें भक्तिकी।

प्रत्येक सम्प्रदायमें निन्दा-अंश त्याज्य है और विधि-अंश ग्राह्य है। साधकके लिये गीतोक्त समग्र ब्रह्मकी बात बढ़िया है।

भगवान्‌ने अपने कानूनमें ही दया भरी हुई है।

भगवान्‌में लगे मनुष्यके द्वारा दुनियाका जितना उपकार होता है, उतना लाखों-अरबों रुपये लगाकर भी उपकार नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजीने स्वान्तःसुखाय रामायण लिखी, उससे कितने लोगोंको शान्ति मिलती है, कितने लोगोंकी जीविका चलती है, कितने लोग भगवान्‌में लगते हैं!

××× ××× ××× ×××

अभ्याससे एक नयी अवस्था बनती है, तत्त्वकी प्राप्ति नहीं

होती। तत्त्वकी प्राप्ति उपराम होनेसे होती है। किसीसे भी न राग करे, न द्वेष करे। राग-द्वेष करनेसे उसको हमारा आधा बल मिल जाता है, सत्ता मिल जाती है। जैसे, बालिके सामने जो जाता था, उसका आधा बल बालिको मिल जाता था—ऐसा उसे वरदान प्राप्त था। इसलिये रामजीने उसको छिपकर मारा।

संसारका सुख लेनेके लिये पहले दुःख चाहिये। सुखके बाद भी दुःख होता है। सुख भी आदि-अन्तवाला होता है।

××× ××× ××× ×××

परमात्मतत्त्व सबको प्राप्त है। **'वासुदेवः सर्वम्'** स्वतःसिद्ध है, केवल दृष्टि बदलनी है। तत्त्वमें परिश्रम नहीं है। परिश्रममें थकावट होती है। तत्त्वप्राप्तिमें थकावट नहीं होती। तत्त्व स्वतन्त्र है। उसके लिये कुछ भी चिन्तन आदि करेंगे तो परतन्त्रता होगी।

भगवान्‌का नाम, रूप आदि प्यारा, मीठा लगने लगे—यह भक्तिका अंकुर है। भगवान्‌में प्रेम होना भक्ति है।

××× ××× ××× ×××

हम शरीरको लेकर 'मैं हूँ' कहते हैं। परन्तु 'मैं वही हूँ जो बालकपनमें था'—इसमें स्वरूपकी तरफ लक्ष्य है। 'मैं नहीं हूँ'—ऐसे अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। स्वरूपके सिवाय सबके अभावका अनुभव होता है। **परमात्मतत्त्वके साथ हमारा एक कण और क्षण-जितना भी वियोग नहीं है।**

शरीर ब्रह्माण्डका नमूना है। जैसे ब्रह्माण्डमें परमात्मा हैं, ऐसे शरीरमें आत्मा है—*'सिंह नहिं दीखे, देख बिलाई। यम नहिं दीखे, देख जवाई॥'*

समाधि-अवस्थामें मस्तक सीधा रहता है, नींदमें आगे झुकता है, जड़तामें पीछे जाता है और विक्षेप या स्वप्नमें दायें-बायें झुकता है।

मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है, भोग व संग्रहके लिये नहीं। भोग व संग्रहमें लगनेसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। **जो करनेलायक काम न करे, उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है।**

एक उद्देश्य होनेपर अनुकूल-प्रतिकूल सब सहायक हो जाते हैं। त्यागीकी सेवा दुनिया करती है।

भगवान्‌की तरफ चलनेवालेसे पवित्रता-ही-पवित्रता आती है। उसके द्वारा संसारमात्रका भला होता है; जैसे—सूर्य जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ दिन हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

सम्पूर्ण सृष्टिका कारण 'अहम्' है। अहम्‌में ही सम्पूर्ण सृष्टि भरी हुई है। जबतक अहम् है तबतक साधक-साधन-साध्यका भेद रहता है। अहम् न रहनेपर साधक साधन होकर साध्यमें लीन हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

न बाहरसे कुछ करें, न भीतरसे। इससे बड़ी शान्ति, विश्राम मिलता है। यह साधन हाथ लग जाय तो क्रिया भारी लगने लगेगी। सहजावस्था सबको प्राप्त है, पर क्रियाशीलतामें आसक्तिके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

साथी और सामानके बिना विश्राम होता है। चिन्तन करनेसे प्रकृतिका संग होता है। जैसे घर पहुँचनेपर फिर चलना नहीं

होता, ऐसे यह (तत्त्व) असली घर है, यहाँ चिन्तन आदि कुछ भी करना नहीं होता।

××× ××× ××× ×××

भगवान् विश्वासका विषय हैं, विचारका नहीं। भक्तिका मार्ग विश्वास-मार्ग है। चार बातें हैं—ग्रहण करनेका विषय, त्याग करनेका विषय, जाननेका विषय और माननेका विषय। भगवान् सत्-असत् सब कुछ हैं—यह माननेका विषय है। जानना ज्ञान (विवेक)-मार्गमें होता है। ग्रहण और त्याग शास्त्रके अनुसार होना चाहिये।

विष भी भगवान् हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि विष खा लें।

पूर्व युगोंके विधि-विधान कल्याणके लिये होते थे। परन्तु कलियुगमें वही विधि-विधान होते हैं; जिनसे नरकोंकी प्राप्ति हो जाय!

××× ××× ××× ×××

विचार करें, आपकी दृष्टिमें कोई चीज स्थिर रहनेवाली दीखती है क्या? जिसपर आप भरोसा करो, आश्रय लो, ऐसी कोई चीज स्थिर दीखती है क्या? किसके भरोसे निश्चिन्त बैठे हो? आप सदा रहना चाहते हो या मरना चाहते हो? रहना चाहते हो तो क्या शरीरसे रह जाओगे? मिटनेवालेका सहारा कबतक टिकेगा? कम-से-कम जो चीजें नाशवान् या बिछुड़नेवाली दीखती हैं, उनका भरोसा, विश्वास छोड़ दो। क्या हम सदा बोलते ही रहेंगे? क्या हमारी सुनने-सुनाने, चलने आदिकी सामर्थ्य सदा रहेगी? यह तो सब बन्द होगा! **जब यह विश्वास हो जायगा कि कोई सहारा रहनेवाला**

नहीं है, तब भगवान्‌का सहारा अपने-आप होगा! नाम-जप अपने-आप होगा।

किसी तरहसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लो। नाम-जप करो तो जबानसे, पुस्तक पढ़ो तो नेत्रोंसे, चिन्तन करो तो मनसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया।

××× ××× ××× ×××

मेरे विचारसे गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९)। इसका अनुभव करनेवाले महात्माको भगवान्‌ने अत्यन्त दुर्लभ बताया है—'**स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७।१९) और अपनेको सुलभ बताया है—'**तस्याहं सुलभः**' (गीता ८।१४)। भगवान् प्रसन्न होते हैं तो मानवशरीर देते हैं, जिससे जीव नरकोंमें भी जा सकता है! पर महात्मा तो भगवान्‌की ही प्राप्ति कराते हैं। उस महात्माका स्वरूप बताया है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

पेड़ोंमें चाहे आम न लगे हों तो भी उसे आमका बगीचा कहते हैं। खेतमें बाजरी न होनेपर भी उसे बाजरीकी खेती कहते हैं। इसी तरह भगवान्‌ने अपने-आपको सबका बीज बताया है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

(गीता ७।१०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९।१८)

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।

(गीता १०।३९)

भगवान्‌ने सृष्टि-रचना की तो कहींसे मसाला मँगवाया?

वे खुद ही संसार बन गये—'**एकोऽहम् बहुः स्याम्**'। आदि और अन्तमें बीज रहता है। ऐसे ही सृष्टिके आदि और अन्तमें भगवान् ही है, तो फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? एक ही जल भाप, कोहरा, वर्षा, ओले, बर्फ आदि अनेक रूपोंसे हो जाता है, ऐसे ही एक परमात्मा अनेक रूपोंसे हो रहे हैं। सोनेसे बने अनेक गहनोंमें सोनेके सिवाय क्या है? परमात्मासे बने संसारमें सब कुछ परमात्मा ही हैं। सोनेसे बनी विष्णुकी मूर्ति हो या कुत्तेकी, सोनेमें क्या फर्क है? ऐसे ही संसारमें कोई महात्मा है, कोई दुष्ट, पर परमात्मतत्त्व सबमें एक ही है।

श्रोता—'वासुदेवः सर्वम्' होते हुए भी अविनाशी-विनाशीका भेद कहाँसे आया?

स्वामीजी—आपके यहाँसे आया! यह भेद मनुष्यने पैदा किया है और वही इसे मिटा सकता है।

××× ××× ××× ×××

करना हो तो सेवा करो। विचार करो कि सबका भला, सुख, हित कैसे हो? अपने सुख, स्वार्थके लिये तो पशु-पक्षी भी लगे हुए हैं, पर यह मनुष्यका काम नहीं है। सबसे दुर्लभ चीज—मनुष्यशरीर तो हमें मिल गया, अब और क्या चाहिये? अब केवल सेवा और भजन करो।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की विशेष कृपासे मनुष्यशरीर मिलता है। मनुष्य-शरीर, मुमुक्षा और सत्संग—ये तीनों दुर्लभ हैं। सत्संग मिल जाय, भगवान्‌की याद आ जाय तो इसे भगवान्‌की विशेष कृपा समझनी चाहिये।

एक-दूसरेको भगवान्‌की याद कराते रहें, भगवान्‌की चर्चा करते रहें। दीपक तले अँधेरा रहता है, पर दो दीपक आमने-सामने रख दें तो अँधेरा नहीं रहता।

जो बीत गया है, उसे होनहार ही समझना चाहिये और जो नहीं आया है, उसपर विचार करना चाहिये—'हेयं दुःखमनागतम्' (योगदर्शन २।१६)।

××× ××× ××× ×××

शास्त्र और सन्तोंकी वाणीमें नामजप तथा सत्संगकी बड़ी महिमा आयी है। सत्संगका फल तत्काल दीखता है— ***'मज्जन फल पेखिअ ततकाला'*** (मानस, बाल० ३।१)। **शास्त्रोंको पढ़नेसे उतना ज्ञान नहीं होता, जितना सत्संगसे होता है। शास्त्र पढ़नेवालेसे भूल हो सकती है, सत्संग करनेवालेसे नहीं।** सत्संग करनेसे शास्त्र और तरहके दीखने लगते हैं। सत्संग करनेके बाद रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ विलक्षण दीखने लगते हैं। सत्संगसे गहरी बातोंका ज्ञान होता है और मुफ्तमें (बिना उद्योग किये) होता है। सत्संगमें कमाया हुआ धन मिलता है। सत्संगसे जल्दी और विशेष लाभ होता है। कारण कि **ज्यादा संसार कानोंके द्वारा (सुननेसे) भीतर प्रविष्ट हुआ है; अतः सत्संग सुननेसे ही संसार बाहर निकलेगा।**

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीर तो प्राप्त हो गया, अब केवल 'मेरा कल्याण हो जाय'—यह इच्छा हो जाय। मुझे तो साधन ही करना है—यह भाव हर समय अटल रहना चाहिये। कोई भी काम साधन-विरुद्ध नहीं होना चाहिये। निषेधात्मक साधन तेज होता है। **साधककी खास बात है—बुराईका त्याग करना।** न बुरा चाहें, न बुरा

चिन्तन करें, न बुरा कहें, न बुरा करें। हमारे द्वारा किसीका भी बुरा न हो। इस विषयमें सावधान रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। भगवान्‌से भी प्रार्थना करो कि हे नाथ! मेरे द्वारा किसीका अहित न हो जाय। किसीका अहित न करनेसे हित करना शुरू हो गया! किसीका भी अहित न करना साधकमात्रका काम है।

निषेधात्मक साधनसे जल्दी कल्याण होता है। किसीमें बुराई दीखे तो विचार करें कि ये भगवान्‌के लाड़ले बेटे हैं, ज्यादा लाड़-प्यारसे बिगड़ गये हैं। अथवा यह विचार करें कि भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं वैसा ही काम करते हैं। जैसे भगवान् नरसिंह प्रह्लादजीको चाटते हैं; क्योंकि पशु चाटते हैं। भगवान् कलियुगमें कलिकी लीला करते हैं। हम बुद्धको भगवान् मानते हैं, पर उनके सिद्धान्त थोड़े ही मानते हैं!

दूसरोंमें जो दोष दीखते हैं, वे आगन्तुक हैं। जैसे, चेहरेपर साबुन लगा हो तो उसे देखकर हमें दुःख नहीं होता— ***'सब जग ईस्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय'।***

××× ××× ××× ×××

उत्कट अभिलाषा न होनेसे ही परमात्माकी प्राप्ति कठिन हो रही है। उत्कट अभिलाषा हो तो परमात्मप्राप्तिमें देरीका कोई कारण नहीं है। हमारे सम्मुख होनेमें ही कमी है। इस कमीका कारण है—भोग और संग्रहकी इच्छा। परमात्मप्राप्तिमें देरी नहीं है, पर हमारी लगनकी कमीसे देरी हो रही है।

संसारकी प्राप्ति इच्छाके अधीन नहीं है, परमात्मप्राप्ति इच्छाके अधीन है। **उत्कट इच्छासे भी परमात्मा मिलते हैं और कोई भी इच्छा न रहनेसे भी परमात्मा मिलते हैं।**

××× ××× ××× ×××

शिष्यके धनका हरण करनेवाले गुरु तो बहुत हैं, पर उसके हृदयके तापका हरण करनेवाले गुरु दुर्लभ हैं—

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम्॥

जो परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका ठीक मार्ग बता दें, वे गुरु हैं। **खास गुरु वह है, जिसके वचनोंसे हम संसार, जीव और परमात्मा—तीनोंको जान जायँ। इन तीनोंको न जानना ही अंधकार है। इस अंधकारको जो मिटा दे, वह गुरु है।** जगत् और जीवको तो जान सकते हैं, पर परमात्माको जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं।

सूर्य तो बाहरका अंधकार दूर करता है, पर गुरु वह होता है, जो हृदयका अंधकार दूर कर दे।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌के शरण हो जायँ। अपना सब कुछ प्रभुमें मिला दें, उसीमें तल्लीन हो जायँ। जैसे, गुरुभक्त गुरुमें ही तल्लीन हो जाता है। हम सदासे ही भगवान्‌के हैं। हम सदासे ही भगवान्‌के शरण हैं। इसकी पहचान है कि क्या हमने अपनी इच्छासे यह जन्म लिया है? शरणागतिमें परिश्रम नहीं करना पड़ता, यह नींद लेनेके समान सुगम है। पर इसमें अभिमान बाधक है।

××× ××× ××× ×××

एक दिन यह सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। संसारमें हरेक चीजकी आयु है। यहाँ कोई भी चीज रहनेवाली नहीं है। एक दिन सबका वियोग होगा। मिलना अनित्य है, पर बिछुड़ना नित्य है।

और निःसन्देह बात है। संसारका सम्बन्ध सदासे नहीं है और सदा साथ नहीं रहेगा। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो जन्मा है, पर मरेगा नहीं। दूसरोंकी सेवा करो, पर दूसरे हमारी सेवा करें—यह आशा मत रखो।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌में अपने-आपको लगाना करणनिरपेक्ष है और मन-बुद्धिको लगाना करणसापेक्ष है। दूसरी सामग्रीसे काम न लेकर अपने-आप करना करणनिरपेक्ष होता है। स्वयंको बदलना करणनिरपेक्ष है। जहाँ स्वयं होता है, वहाँ करणकी जरूरत नहीं होती। करणसापेक्षमें अभ्यास होता है। अभ्याससे कल्याण नहीं होता। अभ्यास कभी करणरहित हो सकता ही नहीं। **अभ्यास करनेवाला ही योगभ्रष्ट होता है।**

××× ××× ××× ×××

यदि अपने कर्तव्यका दृढ़तासे पालन करें तो कल्याण हो जायगा, अलग साधन करनेकी जरूरत नहीं है। कर्तव्यपालनमें जितनी अधिक तत्परता होगी, उतनी जल्दी सिद्धि होगी। विधिकी अपेक्षा भी निषेधका ज्यादा आदर करना चाहिये। **विधिकी कमी तो माफ हो जायगी, पर निषेध माफ नहीं होगा।** इसलिये निषेधात्मक साधन तेज होता है।

××× ××× ××× ×××

मिली हुई वस्तु अपनी नहीं है और बिछुड़नेवाली है। **न जीनेकी इच्छा करे, न मरनेकी। इच्छा कोई न करे।** अनुकूलताकी इच्छा करनेसे अनुकूल परिस्थिति बनी रहेगी—यह कोई नियम नहीं है। **जितना सुख भोगेंगे, उतना ही स्वभाव बिगड़ेगा।**

सेवा और प्रेमकी भूख भगवान्‌को भी है।

××× ××× ××× ×××

वस्तुओंको भगवान्‌के अर्पण करनेका अर्थ है—मेरापन छोड़ देना अर्थात् उसे अपना न मानना। अर्पण करनेसे आपकी एक तोलाभर वस्तु घटेगी नहीं, पर निहाल हो जाओगे!

भक्तमें भाव (श्रद्धा-विश्वास)-की और ज्ञानीमें विचार (विवेक)-की प्रधानता होती है। एक राजाने महल बनाया। उसमें कारीगरीके लिये दो आदमी बुलाये गये। राजाने पूछा तो एकने कहा कि मैं चित्रकार हूँ, और दूसरेने कहा कि मैं विचित्रकार हूँ। राजाने दोनोंको दीवारपर चित्र बनानेके लिये कह दिया। दोनोंने कमरेके बीचमें परदा लगवा दिया। एक दीवारपर चित्रकारने रंग-बिरंगे चित्र बनाने शुरू कर दिये। उसके सामनेकी (परदेके पीछेकी) दीवारपर विचित्रकारने दीवारको साफ करना शुरू कर दिया। चित्रकारने तो दीवारको रंग-बिरंगे चित्रोंसे सजा दिया और विचित्रकारने दीवारको दर्पणकी तरह साफ कर दिया। जब बीचका परदा हटाया गया तो चित्रकारके बनाये चित्र सामनेकी दीवारपर प्रतिबिम्बित हो उठे! भक्त चित्रकार है, जो जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखता है और ज्ञानी विचित्रकार है, जो जगत्‌का निषेध करके ब्रह्मको देखता है। जो संसारसे सुख चाहता है, वह न चित्रकार है, न विचित्रकार है। सुख चाहनेवालेके लिये यह संसार दुःखालय है और सेवा करनेवालेके लिये परमात्माका स्वरूप है।

××× ××× ××× ×××

सब संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। परन्तु जो लोग

मायासे मोहित हैं, उन्हें इसमें गुण-दोष दीखते हैं। गुण-दोष न देखकर भगवान्‌को देखें तो भगवान् प्रकट हो जायँगे।

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस ७।४१)

न गुण देखे, न दोष देखे, प्रत्युत परमात्माको देखे। कोई पाप-अन्याय करता दीखे तो समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं अथवा भगवान्‌के लाड़ले हैं, ज्यादा लाड़से बिगड़े हुए हैं!

विवेकज्ञान आरम्भ है, स्वरूपज्ञान अन्त है। विवेकका फल वैराग्य बताया गया है। सत्-असत्‌को अलग-अलग जानना विवेक है। संसारका ज्ञान होनेसे संसारसे वैराग्य हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

संसारका काम तो कोई भी कर लेगा, पर अपना कल्याण कौन करेगा? यह काम सबसे पहले करनेका है। इसीके लिये मानवशरीर मिला है। कुछ करना, जानना और पाना बाकी न रहे—इस पूर्णताके लिये शरीर मिला है। यह काम कठिन नहीं है, सुगम है। इसके सब अधिकारी हैं। इसमें सावधान रहें। सावधानी ही साधना है।

××× ××× ××× ×××

अत्यन्त विरक्त ज्ञानयोगका, संसारमें फँसा कर्मयोगका और न विरक्त, न आसक्त भक्तियोगका अधिकारी है—ऐसा भागवतमें आया है। भक्तियोगमें भगवान्‌के शरण हो जाना मुख्य है। हृदयसे भगवान्‌का हो जाय। सब कर्म भगवान्‌के लिये ही करे। हम संसारके नहीं हैं; अतः मान-आदर, प्रशंसा-निन्दाका असर नहीं पड़ना चाहिये।

जैसे फैक्टरीमें काम करनेवाला व्यक्ति माँ-बापका होते हुए ही कर्मचारी है, ऐसे ही हम भगवान्‌के होते हुए ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि हैं। जैसे—भगवान् अजन्मा होते हुए ही अवतार लेते हैं— **'अजोऽपि सन्'** (गीता ४। ६)। सब कार्य करते हुए भी उनका ईश्वरपना ज्यों-का-त्यों रहता है। पिताकी आज्ञा मानते हुए भी भगवान् श्रीरामका पितापर शासन ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी तरह सब कार्य करते हुए भी हमारा भगवान्‌से अपनापना नहीं छूटता। सबसे पहले हम भगवान्‌के हैं। माता-पिताके होनेसे पहले भी हम भगवान्‌के हैं। **संसारके तो हम बने हैं, पर भगवान्‌के स्वतः हैं।**

××× ××× ××× ×××

जो जीवके कल्याणमें बाधा देता है, भगवान्‌की भक्तिमें बाधा देता है, उसे भगवान् क्षमा नहीं करते। जो भगवान्‌की तरफ जानेमें बाधा दे, वह भगवान्‌का वैरी होता है। भक्तके प्रति किया अपराध भगवान् माफ नहीं करते—

जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

(मानस, अयोध्या० २१८। ३)

जो दूसरेको भगवान्‌के नाम, कीर्तन, सत्संग आदिमें लगाता है, उससे भगवान् बहुत राजी होते हैं।

भगवान्‌को अपने बलका अभिमान अच्छा नहीं लगता, तभी कहा है— ***'निरबल के बल राम'।***

जीवमात्रका स्वभाव है—किसी-न-किसीका आश्रय लेना। सबसे बढ़िया आश्रय भगवान्‌का है। अन्य कोई आश्रय टिकनेवाला नहीं है।

××× ××× ××× ×××

ज्ञानयोग विवेक-मार्ग है। ज्ञानयोग उनके लिये है जो

अत्यन्त विरक्त हों, जो ब्रह्मलोकतकके सुखोंको न चाहें। भक्तियोग विश्वास-मार्ग है। सब कुछ भगवान् ही है—ऐसा विश्वास कर ले। भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है और सुगम भी है। ज्ञानी कहता है कि जो दीखता है, वह नाशवान् है। भक्त कहता है कि भगवान् ही अनेक रूपोंमें दीखते हैं। ज्ञानमार्गमें गुरु ज्ञान देता है, भक्तिमार्गमें भगवान् ज्ञान देते हैं।

××× ××× ××× ×××

प्रारब्ध भोगमें हेतु है, कर्ममें नहीं। सुखासक्तिका त्याग साधकके लिये बहुत आवश्यक है। सुखासक्ति बहुत बाधक है। भोग तथा संग्रहसे भी सूक्ष्म मान-बड़ाईका सुख है।

द्वैत-अद्वैत साधन हैं। तत्त्व न द्वैत है, न अद्वैत है।

सन्त-महापुरुषोंके संग (सत्संग)-से रसबुद्धि दूर हो जाती है।

शरीरमें मैं-मेरापन रहते हुए भक्ति शुरू हो सकती है, ज्ञान शुरू नहीं हो सकता।

××× ××× ××× ×××

अपने अनुभवकी तरफ ध्यान दें तो भगवान्‌में प्रेम और संसारसे वैराग्य स्वतः हो जायगा। हमारा अनुभव है कि शरीर-संसार प्रतिक्षण बदल रहे हैं, कभी एक समान नहीं रहते। इनके साथ हम कबतक रहेंगे? शरीर जी नहीं रहा है, हरदम मर रहा है। शरीर बना रहे—यह हमारे अनुभवसे विरुद्ध है। हमें उस चीजको लेना है जो सदा हमारे साथ रहे। जो रहनेवाला है उससे प्रेम करो, उसको अपना मानो। जो जानेवाला है उसकी सेवा करो, उसको सुख पहुँचाओ, उससे अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो। सब संसार जानेवाला है। जानेवालेकी

सेवा करो और रहनेवालेको याद करो। जानेवालेसे आशा मत रखो, नहीं तो रोना-पछताना पड़ेगा।

जो माता-पिताकी सेवा नहीं करता, वह भगवान्‌की सेवा क्या करेगा! सबकी सेवा करो, अपनी इज्जत मत खोओ। सबसे अच्छा बर्ताव करना अमृतका विस्तार करना है और बुरा बर्ताव करना विषका विस्तार करना है। बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करके उनकी प्रसन्नता लो। कुछ साथ नहीं जायगा, पर स्वभाव साथ जायगा। इसलिये स्वभावको शुद्ध बनाओ। **सन्त आता है तो सब लोग प्रसन्न हो जाते हैं, डाकू आता है तो सब दुःखी हो जाते हैं। केवल स्वभावका फर्क है!**

××× ××× ××× ×××

नामजप सभी प्रकारके योगियोंके लिये आवश्यक है। कलियुगमें नामजपका विशेष प्रभाव है; क्योंकि कलियुगमें दूसरे साधन ठीक तरहसे नहीं होते।

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

(मानस, बाल० २७।४)

भगवान्‌ने सारी शक्ति नाममें रख दी है। चैतन्य महाप्रभुने भी कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

(शिक्षाष्टक २)

'भगवान्‌ने अपने बहुत प्रकारके नामोंका प्रचार किया है। उन नामोंमें भगवान्‌ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी अर्पित (स्थापित)

कर दी है। उन नामोंके स्मरणके विषयमें समय-सम्बन्धी कोई नियम भी नहीं है। हे भगवन्! आपकी तो ऐसी कृपा है, पर मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि आपके ऐसे नाममें भी मेरा अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ!'

नामजपके सभी अधिकारी हैं। अतः हर समय नामजप करते रहें और मनसे प्रार्थना भी करते रहें कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।' नामजप बीमा है। नामजप करते रहें तो फिर कभी मरें, कल्याण हो जायगा।

कलियुगमें दानकी भी महिमा है। अपनी शक्तिके अनुसार सभी दान कर सकते हैं।

××× ××× ××× ×××

एक परमात्मा हैं और एक उनकी शक्ति है। जैसे स्वयं परमात्माका अंश है और मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर उसकी शक्ति है। सांसारिक कार्यमें शक्ति काम आती है। भगवान् कहते हैं—'**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**' (गीता ९।१०) 'प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्की रचना करती है।' उस शक्तिको परमात्मासे अलग भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। जैसे, हमारी शक्ति कम-ज्यादा होती है, पर हम ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हम शक्तिके बिना रह सकते हैं, पर शक्ति हमारे बिना नहीं रह सकती। इसलिये अपनी शक्तिको हम अपनेसे अलग करके नहीं दिखा सकते। शक्तिका स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव नहीं है।

सुषुप्तिमें 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—यह अनुभव सबको होता है। कारण कि सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें डूब जाता है। अज्ञानी और ज्ञानीकी सुषुप्तिमें भेद होता है। अज्ञानी तो गुणोंका

संग रहनेसे स्वयं अविद्यामें लीन होता है, पर ज्ञानी गुणातीत होनेसे स्वयं लीन नहीं होता।

'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ' सत्ता है और 'मैं' एकदेशीय है, व्यक्तित्व है। अहम् इतना सूक्ष्म है कि जिसके साथ लगा दो, वैसा ही बन जाता है। ब्रह्मके साथ लगा दो तो **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ) हो जाता है। अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें मतभेद होता है। सब भेद अहम्‌के कारण हैं। अहम्‌के बाद स्वयं (चेतन तत्त्व) है। अहम् प्रकृतिका अंश है, स्वयं परमात्माका। सुषुप्तिमें अहम्‌के बिना आप रहते हैं, पर आपके बिना अहम् नहीं रहता। स्वयं आटा है और शरीर (जड़ता) रेती है। आटेमें रेती मिलाओगे तो वह रोटीके काम नहीं आयेगा।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की बड़ी कृपा होती है, तब सत्संग मिलता है। अभी भयंकर कलियुग आ रहा है; अतः शीघ्र लाभ उठा लेना चाहिये। भोगेच्छाका ताण्डव नृत्य शुरू हो रहा है। गर्भपात-जैसे महापाप हो रहे हैं। ऐसे समयमें जो भगवान्‌की तरफ रुचि रखते हैं, वे बड़भागी हैं, दर्शन करनेयोग्य हैं। ऐसी रुचिवालोंका अब अकाल पड़ रहा है।

भगवान् अन्धे होकर कृपा करते हैं। देखकर कृपा करें तो मुश्किल हो जाय!

××× ××× ××× ×××

सत्संगमें आये हैं, फिर चले जायँगे—यही भाव घरमें रहते हुए भी रखें। यहाँसे जानेका समय तो निश्चित है, पर घरसे कब जाना पड़े, इसका कोई पता नहीं। यह मृत्युलोक

है। यहाँ हर समय मरना खुला है। हम यहाँ रहनेवाले नहीं हैं—इसकी हर समय जागृति रहे तो भोग और संग्रहकी रुचि मिट जायगी।

××× ××× ××× ×××

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (गीता २। ४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं'—यह कर्मयोगकी खास बात है। सामने जो कर्तव्य आ जाय, उसे तत्परतापूर्वक करें। फलेच्छाका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करें। शास्त्रविहित कर्म करना है। न अनुकूलताके आनेकी इच्छा करें, न प्रतिकूलताके जानेकी। संक्षेपमें कहें तो 'करनेमें सावधान, होनेमें प्रसन्न'! जिससे किसीका अहित हो, वह कर्म कभी न करें।

सबका स्वरूप शुद्ध है। अन्तःकरण ही अशुद्ध होता है, स्वरूप कभी अशुद्ध होता ही नहीं। यदि स्वरूपमें अशुद्धि होती तो उसका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'**। स्वयं (स्वरूप) तीनों शरीरोंसे अलग है। स्वयंको सभी अवस्थाओंके भाव और अभाव दोनोंका अनुभव होता है। अतः स्वयं तीनों शरीरोंसे तथा उनकी अवस्थाओंसे सर्वथा अलग है। स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अपना अभाव हो जाय—ऐसी मुक्ति कौन चाहेगा?

××× ××× ××× ×××

मनुष्यजीवन इसलिये मिला है कि दुःख सदाके लिये मिट जाय और महान् आनन्दकी प्राप्ति हो जाय। अतः हरदम सावधान रहें। सावधानी ही साधना है। असावधानी अर्थात् प्रमाद ही मृत्यु है— **'प्रमादं वै मृत्युः'** (महा० उद्योग० ४२। ४)।

करनेलायक कामको न करना अक्रिय प्रमाद है। न करनेलायक कामको करना सक्रिय प्रमाद है। साधकका काम है—हरदम सावधान रहना। **विवेकी पुरुष जागता है। साधक सोता है। शेष सब मुर्दा हैं।** स्वरूपके प्रमादसे ही मृत्यु होती है। स्वरूपकी जागृति रहे तो कैसे मरेगा?

हृदयमें प्रेम रहे, बुद्धिमें विवेक रहे और शरीर उपकारमें लगा रहे।

××× ××× ××× ×××

न चेतनमें फर्क पड़ता है, न पदार्थोंमें, केवल स्वभावमें फर्क पड़ता है।

मूलमें भगवत्कृपासे सत्संग मिलता है। भगवान्‌की कृपामें विषमता नहीं है। जो उसके सम्मुख होता है, उसे विशेष लाभ होता है। ज्ञानीपर भी कृपा होती है, पर वह उधर कम देखता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—***'मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी'*** (मानस, अरण्य० ४३। ४)।

शरणागति सुगम भी है और सर्वोत्तम भी। **आजकल भक्तिके अधिकारी अधिक हैं। ज्ञानकी बातें करनेवाले तो बहुत हैं, पर अधिकारी कम हैं।** भोगासक्ति बढ़ रही है।

××× ××× ××× ×××

परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—ऐसा मान लें। जैसे हम सत्संगके लिये ही यहाँ आये हैं, ऐसे ही मान लें कि हम भगवान्‌के लिये ही संसारमें आये हैं। **परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उनकी प्राप्तिके लिये ही हम यहाँ आये हैं, उनकी प्राप्तिके लिये ही बैठे हैं और उनके होकर ही रहना है—ये चार बातें मान लें।**

हम जहाँ भी रहें, भगवान्‌के होकर ही रहेंगे; जैसे—पत्नी सदा पतिकी होकर ही रहती है, चाहे पीहरमें क्यों न रहे। हमारा गोत्र 'अच्युतगोत्र' है।

××× ××× ××× ×××

वर्तमान समय बहुत भयंकर आया है। **मनुष्योंको पैदा न होने देना और पशुओंको मार देना—यह देशको नष्ट करनेका तरीका है।** अपने कल्याणमें तेजीसे लग जाना चाहिये। नामजप, कीर्तन, सत्संगमें लगे रहें। इससे धर्मका कुछ बचाव होगा।

××× ××× ××× ×××

भागवतमें आया है कि निर्वाहसे अधिक वस्तुको जो अपनी मानता है, वह चोर है*। निर्वाहसे अधिक चीज अपनी है ही नहीं। जितने-से निर्वाह हो जाय, उतनी ही चीज अपनी है। अधिक चीज दूसरोंकी है; अतः उसकी चोरीकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। दूसरी बात, हमारा धन जो ले गया, वह उसीका था, हमारा नहीं था। परन्तु वह दण्डका भागी होगा ही। यहाँसे बच जायगा तो परलोकमें दण्ड मिलेगा। कारण कि चीज तो उसीकी थी, पर उसने अन्यायपूर्वक (चोरी करके) ली। बेईमानीसे लिया गया धन रहेगा नहीं, जायगा ही। संग्रह करना पाप नहीं है। संग्रहकी इच्छा, लोभ

---

* यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

'मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

बाधक है। चोरीका धन मोरीमें जाता है। धन तो यहीं रह जायगा, पर पाप साथ चलेगा।

जो चीज वास्तवमें अपनी है, उसे कोई ले जा सकता ही नहीं— '**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**'। ईमानदार आदमीकी चीज कोई खा सकता ही नहीं। अगर चोरी गये धनकी चिन्ता हो तो उस धनको हृदयसे भगवान्‌के अर्पण कर दो। दान की हुई चीजका दुःख नहीं होता। हमारा दुःख मिट जाय, इसीके लिये सत्संग करते हैं। प्रारब्ध तो मिटेगा नहीं, पर दुःख मिट जायगा। यह शरीर भी एक दिन चला जायगा, फिर धन जानेकी चिन्ता क्या करें!

मिली हुई वस्तुको अपना मानना बेईमानी है। दुःख बेईमानीका होता है। बेईमानी छोड़ दो, वस्तुको अपना मत मानो तो दुःख मिट जायगा।

बाहरकी परिस्थिति देखना सुख-दुःखकी कसौटी नहीं है। त्यागी सन्तके पास बाहरकी वस्तुएँ नहीं होतीं तो क्या वह दुःखी होता है? धनी व्यक्तिके पास लाखों-करोड़ों रुपये होते हैं, पर वह दुःखसे जलता रहता है। **आजकल धन पासमें होनेपर भी लोग सुखी नहीं हैं; क्योंकि बेईमानी आ गयी**। पहले लोग दूसरेके हककी कोई चीज नहीं लेते थे तो वे सुखी थे।

मनसे किसी भी वस्तुको अपना मत मानो। एक दिन वस्तु, साथी, सामान आदि सब छोड़ना पड़ेगा। अतः जो काम जरूरी हो, उसे पहले कर दो। जो जरूरी नहीं है, उसे छोड़ दो। सबसे सम्बन्ध छोड़कर जितनी देर बैठ सको, बैठ जाओ। **अन्तमें सबसे रहित होना है तो अभी सबसे रहित होकर चुप होकर बैठ जाओ**। फिर देखो विलक्षणता! अपने शरीरसे भी

सम्बन्ध मत मानो। वस्तु, व्यक्ति और काम-धंधा—तीनोंसे रहित होकर चुप हो जाओ।

××× ××× ××× ×××

संसारमें रचे-पचे लोग परमात्माको नहीं जान सकते, संसारको भी नहीं जान सकते। संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं। परमात्मासे अभिन्न होकर ही परमात्माको जान सकते हैं।

संसारसे अलग होनेसे वैराग्य होता है। वास्तवमें हम संसारसे अलग हैं और परमात्मासे अभिन्न हैं। शरीरके साथ सम्बन्ध मानते रहनेसे भक्ति तो हो सकती है, पर ज्ञान नहीं हो सकता। **ज्ञानमार्गमें विवेक और वैराग्य आवश्यक है, अन्यथा साधक बातें सीख जायगा।**

××× ××× ××× ×××

भगवान् और उनके भक्त बिना स्वार्थके सबका हित करनेवाले हैं। भगवान् इस रीतिसे देते हैं कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है। भगवान्के दिये शरीरको मनुष्य 'मेरा' कहना दूर रहा, 'मैं' मान लेता है। सम्पूर्ण दोष, आसुरी-सम्पत्ति इस देहाभिमानसे ही आती है।

जबतक राग रहता है, तबतक शान्ति नहीं मिलती। जिसमें हमारा राग होता है, उसके हम पराधीन हो जाते हैं। **लेनेकी इच्छावाला दूसरोंका हित नहीं करता, प्रत्युत व्यापार करता है।** दूसरोंका हित चाहनेवालेमें भोग व संग्रहकी इच्छा नहीं होती। उसकी सब सम्पत्ति दूसरोंके हितके लिये होती है।

भगवत्प्राप्तिमें मनुष्यमात्र अधिकारी है। अनधिकारी वही है, जो भगवान्‌को नहीं चाहता।

बच्चा माँको किसी नामसे पुकारे, माँ तो उसको अपना बेटा ही मानती है और बच्चा उसको माँ ही मानता है। बच्चा माँको 'बाई' कहे तो माँ उसे भाई नहीं मानती! ऐसे ही भगवान्‌को किसी भी नामसे पुकार सकते हैं।

××× ××× ××× ×××

चित्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक न होना समता है। मनचाही होनेमें प्रसन्नता न हो और मनचाही न होनेमें दुःख न हो। इस सुख-दुःखको समान करना है। **विषमता ही संसार है।** समता परमात्माका स्वरूप है। बाहरकी विषमता हमारेतक न पहुँचे। कोई गाली दे तो उसे ले नहीं—यह समता है। प्रकृतिकी सम-अवस्थामें प्रलय होता है और विषम-अवस्थामें सृष्टि होती है।

सुखी-दुःखी होनेवाला भोगी है और सम रहनेवाला योगी है। परिस्थिति आदिका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत सुखी-दुःखी होना दोषी है। भोगी सदा सुखी नहीं रहता, पर समतावाला योगी सदा सुखी रहता है। **संसारको ठीक करना हाथकी बात नहीं है, पर अपनेको ठीक कर लो—यह हाथकी बात है।**

××× ××× ××× ×××

भगवान् दूर नहीं हैं। वे 'मैं हूँ' से भी नजदीक हैं! 'मैं' प्रकृतिका अंश है। 'मैं'को पकड़नेसे हम थोड़े-से दूर हैं। 'मैं'को छोड़ दें तो भगवान्‌के नजदीक हो जायँगे।

संसारके सम्बन्धसे कोई सुखी नहीं हो सकता। निर्मम-निरहंकार होनेसे ही शान्ति मिलेगी। **चाहे किसी मार्गसे चलो, कोई भी साधन करो, अहंता-ममता छोड़नी ही पड़ेगी।**

खेतीमें जैसा बीज बोयेंगे, वैसी ही खेती होगी। ऐसे ही

जैसी चीज दानमें देंगे, वैसा ही मिलेगा। इसलिये दान करना हो तो बढ़िया चीज दें। कर्मयोगमें दूसरेकी सेवाके लिये बढ़िया चीजका त्याग होगा। **कल्याण करना हो तो त्याग करना पड़ेगा।** त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है। संसारमें उसी व्यक्तिका ज्यादा आदर होता है, जिसमें त्याग होता है। **स्वार्थ और अभिमानका त्याग किये बिना मनुष्य ऊँचा नहीं बन सकता।**

परमार्थतत्त्व नहीं बिगड़ा है, स्वभाव बिगड़ा है। अपना स्वभाव शुद्ध बनाओ। बिगड़े स्वभाववाला किसीको भी नहीं सुहाता, माँको भी नहीं!

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्तिको गीताने बहुत सुगम बताया है। खास बाधा यह है कि हम चाहते नहीं। हमें केवल परमात्मप्राप्ति अभीष्ट नहीं है। भविष्य संसारके लिये होता है, भगवान्‌के लिये नहीं। कहीं जानेसे, कुछ करनेसे परमात्मप्राप्ति नहीं होती। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। परन्तु हम परमात्माकी आवश्यकता नहीं मानते। '**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' संसारमें लगाना है, पर लगा दिया परमात्मामें! परमात्मप्राप्तिमें असिद्धि है ही नहीं। उसके लिये लगन चाहिये। **परमात्मप्राप्तिपर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।**

××× ××× ××× ×××

अभी बड़ा भयंकर कलियुग आ रहा है। **भगवन्नामका जप और कीर्तन कलियुगसे रक्षा करनेवाले हैं।** जप और कीर्तनकी बड़ी महिमा है। दिनभर नामजप करते रहें। भगवच्चर्चा करते रहें। भगवच्चरणोंके शरण हो जायँ। बार-बार प्रार्थना करते रहें कि हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं। **कोई आफत आ जाय तो**

दस-पन्द्रह मिनट बैठकर नामजप करो और प्रार्थना करो तो रक्षा हो जायगी। सच्चे हृदयसे की गयी प्रार्थनासे तत्काल लाभ होता है। जो भी चाहिये, भगवान्‌को पुकारो।

××× ××× ××× ×××

अपने अनुभवका आदर करें तो कल्याण हो जायगा। शरीर बदल रहा है—यह अपना अनुभव है। शरीर जी नहीं रहा है, प्रत्युत मर रहा है। जितने दिन जी गये, उतने दिन वास्तवमें मर गये, उतने दिन उम्र कम हो गयी। जब जन्मे थे, तब तो मौत दूर थी। अब मौत प्रतिक्षण नजदीक आ रही है। जिसको कोई भी नहीं चाहता, उस मौतकी तरफ हम निरन्तर जा रहे हैं। पर इच्छा यह करते हैं कि हम जीते रहें! जैसे पशुओंके विनाशको 'मांस-उत्पादन' कहते हैं, ऐसे ही हम मर रहे हैं—इसको जीना कहते हैं! **हम जी रहे हैं—यह असत्‌का संग है।** जो सच्ची बात है, उसको मानना सत्संग है।

बुरे स्वभाववाला मनुष्य जिस योनिमें जायगा, वहीं दुःख पायेगा। मरनेपर स्वभाव साथमें जाता है।

××× ××× ××× ×××

मानवशरीर बहुत दुर्लभ है; परन्तु जो चीज मिल जाती है, उसका महत्त्व समझमें नहीं आता। **मिली हुई चीजका आदर नहीं करते, पीछे रोते हैं!** अगर पहलेसे ही चेत कर लें तो कितना लाभ हो जाय। रुपये तो पैदा हो सकते हैं, पर समय पैदा नहीं होता, यह तो खर्च ही होता है।

भयंकर कलियुगसे बचनेका उपाय है—नामजप। ***'राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल'*** (मानस, बाल० २७)।

कलियुगसे अपनी रक्षा करें। रात-दिन नामजपमें लग जाओ। भगवन्नामके सिवाय कलियुगसे कोई रक्षा करनेवाला नहीं है।

बिगाड़ करना ही हो तो कम-से-कम उतना बिगाड़ करो, जिसका पीछे सुधार कर सको।

××× ××× ××× ×××

हरेकको अपनी निन्दा बुरी लगती है, प्रशंसा अच्छी। विचार करें, निन्दा करनेवाला दूसरा है, उसपर हमारा वश चलता नहीं, उसे रोक सकते नहीं। उससे द्वेष करनेमें, उसे बुरा समझनेमें हमारा लाभ नहीं है। निन्दा करनेवाला हमारे पापोंका नाश करता है।

जो किसीको दुःख नहीं देता, उसके द्वारा दूसरोंकी सेवा शुरू हो गयी। जो किसीको दुःख नहीं देता, उसको देखनेसे पुण्य होता है—

तन कर मन कर वचन कर, देत न काहू दुक्ख।
तुलसी पातक हरत है, देखत उनको मुक्ख॥

अन्न, जल और वस्त्र देनेमें सुपात्र-कुपात्रका विचार करोगे तो खुद कुपात्र बन जाओगे। पापीको उतना अन्न दो, जिससे वह जी जाय। धन, कन्या आदि देनेमें सुपात्र देखना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सम्पूर्ण संसार भगवत्स्वरूप है— **'वासुदेवः सर्वम्'। मैं वही बात कहता हूँ जो श्रुति, युक्ति और अनुभवसे सिद्ध हो।** युक्ति देकर बात कहना मेरे स्वभावमें है।

परमात्माको सुनते हैं, संसारको देखते हैं। किसी-किसीको परमात्माके दर्शन, अनुभव भी हो जाता है! परमात्मामें कभी

परिवर्तन हुआ हो—ऐसा हमने नहीं सुना। संसारको देखते हैं, पर वह निरन्तर बदलता ही रहता है। संसार इतनी तेजीसे बदलता है कि उसे दो बार नहीं देख सकते।

जीव 'अमल' है, मल इसने स्वीकार किया है। जीव 'सहज सुखराशि' है, दुःख इसने स्वीकार किया है। जो बदलता है, उसे अस्वीकार करना हमारा काम है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ संसारके पाँच गवाह हैं। पाँचों अलग-अलग बात बताते हैं। आपसमें इनकी बात नहीं मिलती, फिर इनका क्या भरोसा? 'है'-पना परमात्मामें है, संसारमें नहीं। हम रहनेवालेसे मोह न करके जानेवालेसे मोह करते हैं—यही बन्धन है। सच्चाईको पकड़ो, झूठको मत पकड़ो। सच्ची चीज कभी बदलती नहीं।

रोटी, कपड़ा और मकान बाकी रहते हैं, हम पहले मरते हैं, और चिन्ता करते हैं निर्वाहकी! आश्चर्यकी बात है।

××× ××× ××× ×××

साधकको हरदम सावधान रहना चाहिये। सावधानी ही साधना है। सावधानी ही जागृति है, असावधानी ही निद्रा है। स्वरूप सत्तामात्र है। अहम् संसारका मूल है। अहम् न हो तो 'है' रहेगा। 'मैं' और 'हूँ' मिलनेका नाम बन्धन है। 'मैं' प्रकृति है और 'हूँ' सत्ता है। जैसे ब्राह्मण निरन्तर ब्राह्मणपनेमें स्थित रहता है, ऐसे ही निरन्तर 'है'में स्थित रहें। परमात्मा 'है'। उस 'है'के अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, पर वह 'है' ज्यों-का-त्यों है।

××× ××× ××× ×××

अनेक योनियाँ हैं। उन सबमें मनुष्ययोनि विलक्षण है।

मनुष्यजीवन ब्रह्मचर्याश्रम है, जहाँ ब्रह्मविद्या सीखी जाती है। ब्रह्मविद्याको जाननेके बाद फिर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता। **करने, जानने और माननेकी शक्ति परमात्माकी तरफ लग जाय तो इनका नाम 'योग' हो जाता है; जैसे—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।** परमात्माको मानना होता है और स्वरूपको जानना होता है। संसारको माननेवालेके लिये कर्मयोग है। करनेकी शक्तिका उपयोग सेवा है। 'करना' दूसरोंके लिये और 'जानना' अपने लिये है। अपने लिये करना राक्षसोंका काम है।

मनुष्यशरीरमें आकर अपना स्वभाव शुद्ध बनाना है—यह खास बात है। स्वभाव शुद्ध होते ही तत्त्वज्ञान हो जायगा। **अन्तःकरणकी शुद्धिकी पहचान है—नाशवान्‌में आकर्षण नहीं रहे।** जबतक संसारसे अलग नहीं होंगे, तबतक संसारका ज्ञान नहीं होगा, संसारके दोष नहीं दीखेंगे।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने केवल कल्याणके लिये मनुष्यशरीर दिया है। इसकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे लग जाना चाहिये। संसारका काम तो चलता रहेगा, रुकेगा नहीं। विशेष चेत करना चाहिये। **परमात्मप्राप्ति वर्तमानका विषय है। इसमें समयका व्यवधान नहीं है।** जैसे अन्न, जल, औषध खुदको ही लेना पड़ता है, ऐसे ही कल्याण भी खुदको करना है। भगवत्प्राप्तिकी लगन लग जाय—

'नारायन' हरि लगनमें, यह पाँचों न सुहात।
बिषय-भोग, निद्रा, हँसी, जगत-प्रीति बहुबात॥

भगवान् संसारके दुःखकी परवाह नहीं करते, पर अपने कल्याणका दुःख नहीं सह सकते।

साधनमें लगनेसे दोष स्वतः कम होते हैं। दोष कम नहीं हुए तो अभी साधनमें लगा ही नहीं!

××× ××× ××× ×××

हम यहाँ सत्संग कहने-सुननेके लिये इकट्ठे हुए हैं, स्थायी रहनेके लिये नहीं। ऐसे ही हम सब आये हुए हैं और जानेवाले हैं। कोई जन्मकर आया है, कोई विवाह करके। हम तत्त्वप्राप्तिके लिये आये हैं। सदाके लिये दुःखोंसे छूटनेके लिये आये हैं। यह स्थिति हम जीवित रहते-रहते प्राप्त कर सकते हैं। इस जन्ममें तत्त्वको प्राप्त नहीं करेंगे तो किस जन्ममें करेंगे? तत्त्वप्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये।

जैसे साइकिल आगे ही चलती है, उलटी नहीं चलती, ऐसे सुदुराचारी भी भगवान्‌में लग जाय तो उसका उद्धार ही होता है, पतन नहीं होता।

संसारकी प्राप्ति संसारकी आशाके अधीन नहीं है। आशा मत करो। आशा ही दुःख देनेवाली है। सबको छुट्टी दे दो तो आपको छुट्टी मिल जायगी। सेवा कर दो, पर आशा मत रखो। बाहरसे मत कहो कि 'मैं सेवा नहीं चाहता', पर भीतरसे आशा मत रखो। **लेना दोष नहीं है, आशा रखना दोष है।** दूसरा मेरा कहना माने—यह अपने हाथकी बात नहीं। जो अपने हाथकी बात नहीं, उसकी आशा क्यों रखें?

××× ××× ××× ×××

सदा सत्यभाषण करें। सत्य बोलनेसे शान्ति मिलती है।

सत्यभाषणसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। असत्की सत्ता नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**'। असत् प्राप्त हो तो भी अप्राप्त ही है। आपने बालकपना छोड़ा नहीं, पर वह छूट गया। शरीर नित्य-निरन्तर छूटता चला जा रहा है। मौत निरन्तर नजदीक आ रही है। जिसका नाश होता है, वह असत् होता है। जैसे एक-एक कदममें रास्ता कटता है, ऐसे ही एक-एक श्वासमें उम्र कट रही है। श्वास पूरे होनेपर उसी क्षण जाना पड़ेगा। उस समय यह बुद्धिमानी, चतुराई, बल कुछ काम नहीं आयेगा।

जानेवाला विभाग (शरीर-संसार) अलग है, रहनेवाला विभाग अलग है। **जो जा रहा है, उसका नाम असत्य है और जो रह रहा है, उसका नाम सत्य है।** सत्यभाषणसे सत्यकी प्राप्ति होती है।

धन मेरा है—यह भेदभावका सम्बन्ध है। मैं धनी हूँ—यह अभेदभावका सम्बन्ध है। जिससे सम्बन्ध नहीं है वही छूटता है। जो अलग नहीं होता वह नहीं छूटता। 'मैं हूँ' से हमने अभेदभावका सम्बन्ध माना है। 'मैं' 'हूँ' से अलग है—यह मार्मिक बात है। 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। 'मैं'-पन छूटनेके बाद 'है'-पना ही रहेगा। **'मैं' से अपनेको अलग अनुभव करना तत्त्वज्ञान है। 'मैं' से अपनेको एक अनुभव करना अज्ञान है।**

सत्यकी प्राप्तिके लिये सत्यभाषणकी बड़ी आवश्यकता है।

××× ××× ××× ×××

विषमता स्वरूपमें नहीं आयी है, मनमें ही आयी है।

इसलिये गीतामें आया है— '**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**' (५।१९) 'जिनका अन्तःकरण समतामें स्थित है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है।' संसारकी निवृत्ति स्वतःसिद्ध है, परमात्माकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। हम सबके भाव और अभावको जानते हैं, पर अभावको नहीं जानते। जिसके भाव-अभावका अनुभव होता है, उसीसे असंग होना है और जिसके अभावका कभी अनुभव नहीं होता, उसीमें स्थित रहना है। जिसका अभाव होता है, वह विषम है। संसार विषम है। विषमताका त्याग करके समतामें स्थित होना तत्त्वज्ञान है।

संसार अबतक किसीको भी प्राप्त नहीं हुआ, न होगा। संसार किसीके साथ कभी रहा नहीं, रह सकता नहीं। परमात्मा हमारेसे कभी दूर हो सकते ही नहीं।

स्त्री ईश्वरकृत सृष्टि है, माँ, बहन, भौजाई आदि जीवकृत सृष्टि है। जीवकृत सृष्टिमें ही पक्षपात, राग-द्वेष, बन्धमोक्ष आदि होते हैं। 'मेरा' और 'तेरा' जीवका बनाया हुआ है। ईश्वरकी बनायी चीज तो प्रत्यक्ष दीखती है कि यह स्त्री-पुरुष, स्थावर-जंगम, जड़-चेतन आदि हैं। **सबसे सम्बन्ध न तोड़े, न जोड़े, प्रत्युत हाथ जोड़े—यह साधन है।** अपनी बनाई हुई सृष्टिका त्याग कर दोगे तो मुक्त हो जाओगे।

××× ××× ××× ×××

'मैं हूँ' का अनुभव सबको है, पशु-पक्षियोंको भी। ये दो विभाग हैं—'मैं' प्रकृतिका और 'हूँ' परमात्माका अंश है। 'मैं हूँ' में 'मैं' (शरीर) की प्रधानता है। मैंपन संसारका

बीज है। इसीसे सब संसार पैदा हुआ है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिके साथ ही रहता है, पर परमात्माका अंश परमात्माके साथ न रहकर प्रकृतिके अंशको पकड़ता है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (गीता १५।७)।

अहम्‌को पकड़नेसे परमात्माके साथ भेद हुआ है। अतः शरीरको मैं-मेरा न मानकर भगवान्‌को मेरा मान ले, संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाय तो निहाल हो जाय! **जिसने अहम्‌को पकड़ा है, उसीका जन्म-मरण होता है।**

××× ××× ××× ×××

अभ्याससे साध्यकी प्राप्ति होगी, उसमें समय लगेगा—यह मान्यता बाधा देनेवाली है। मूलमें कर्तृत्व नहीं है। यह हमारी मान्यता है—**'कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३।२७)। अपनेमें कर्तृत्व नहीं है, यदि होता तो कभी मिटता नहीं। सब कार्य प्रकृतिके द्वारा हो रहा है। जो अपनेको कर्ता मान लेता है, वह बँध जाता है। अतः कर्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत अपनेमें स्वीकार नहीं करना है। जो है नहीं, उसे मिटाना ही गलती है।

तत्त्वप्राप्तिके लिये मैं बहुत सुगम-से-सुगम बात बता दूँगा। परन्तु तोता-रटन मुझे पसन्द नहीं। इसलिये लोग कहते हैं कि स्वामीजी पढ़े-लिखे नहीं हैं। मेरी शैली दूसरी है। तोते-जैसे ग्रन्थोंकी बात कहना मुझे पसन्द नहीं।

मिटानेसे अहम् दृढ़ होता है। मैं कर्ता नहीं हूँ—इसमें 'मैं' भी गया और 'कर्ता' भी गया। कूड़ेके साथ झाड़ू भी फेंक दो।

खास बात है—तत्त्व नित्यप्राप्त है, केवल उधर लक्ष्य करना है। उसके लिये उद्योग नहीं करना है। हम सब कल्पवृक्षके नीचे हैं। कोई कहे कि राम-राम करनेसे कुछ नहीं होगा तो कुछ नहीं होगा! सब कुछ होगा तो सब कुछ हो जायगा!

'है'-पना भगवान्‌में ही है। सब वस्तुएँ, प्राणी अलग-अलग हैं, पर 'है' सबमें एक है। वह 'है' परमात्मा है। सबका अभाव होता है, पर 'है' ज्यों-का-त्यों रहता है। वह 'है' ही हमारा है। हम उसे इन्द्रियोंसे नहीं पकड़ सकते, पर वह हमारी इन्द्रियोंमें आ सकता है। परमात्मा शुद्ध-अशुद्ध, सुगन्ध-दुर्गन्ध, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् सबमें है।

××× ××× ××× ×××

करनेमें सावधान रहो, होनेमें प्रसन्न रहो। प्रत्येक कार्य करनेमें सावधानी रखो, फलकी चिन्ता मत करो। छोटे-छोटे कार्यमें भी सावधानी रखो—'**सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्**' (हितोपदेश, मित्र० २२) 'खूब सोचकर कही हुई बात और भलीभाँति विचारकर किया हुआ काम बहुत दिनोंतक नहीं बिगड़ता।' आदत सुधर जायगी तो सब काम सुधर जायगा। आदत बिगड़ जायगी तो फिर उसको सुधारना बड़ा कठिन है। व्यसन जल्दी छूटता नहीं। अतः आदतका सुधार करो। आज लोग अपना अधिकार तो मानते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते। अधिकार तो कर्तव्यका दास है। अच्छे स्वभाववाला सबको सुहाता है। बुरे स्वभाववाला घरवालोंको भी नहीं सुहाता।

साधु तो मनुष्य अपने मनसे बनता है, पर विधवा भगवान्‌की

इच्छासे बनती है। विधवा अपने धर्मका ठीक पालन करे तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी गतिको प्राप्त होती है, भले ही पहले उसकी पाँच-सात सन्तानें हो गयी हों!

सत्संगसे जितना ज्ञान-प्रकाश मिलता है, उतना शास्त्रोंसे नहीं मिलता।

××× ××× ××× ×××

अपनेमें कर्तापन नहीं है—यह ऊँची बात नहीं है, प्रत्युत अपनी बात है। अपनी बात क्या ऊँची और क्या नीची! वास्तवमें स्वरूप अहम्‌से रहित है। अहम् माना हुआ है। इसका अनुभव कैसे हो? सुषुप्तिमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ तथा अहम् भी नहीं रहता। जागनेपर हम कहते हैं कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था—यह सुषुप्तिकी स्मृति है। हमें अहम्‌के अभावका ज्ञान था। अतः स्वरूप अहम्‌से रहित है। स्वयंको अहम्‌के भाव और अभाव दोनोंका ज्ञान है। सत्ता अहंरहित है—इस बातको आदर दें। अहम् अपरा (जड़) प्रकृति है।

मैं साथी और सामानसे रहित हूँ—ऐसा अनुभव करें। इससे अहंरहित स्वरूपका अनुभव हो जायगा। न चिन्तन करे, न निश्चय करे। कारण कि चिन्तन करनेसे मन आ जायगा, निश्चय करनेसे बुद्धि आ जायगी। मैं साथी और सामानसे रहित हूँ—यह अभ्यास नहीं है। बार-बार वृत्ति लगानेका नाम अभ्यास है। अतः विचार, चिन्तन नहीं करना है, अनुभव करना है। सुषुप्तिकी तरह जाग्रत्‌में भी अहंरहित अनुभव करें। 'है' ही अपना स्वरूप है।

××× ××× ××× ×××

नित्य वस्तुकी प्राप्तिमें समय नहीं लगता। उसमें हम स्वयं ही आड़ लगाते हैं। कल्पवृक्षके नीचे जैसी कल्पना करें, वैसा ही हो जाता है। **परमात्मप्राप्ति वर्तमानकी वस्तु है, भविष्यकी नहीं।** जो मौजूद है, जिसे बनाना नहीं, कहींसे लाना नहीं, उसकी प्राप्तिमें भविष्य कैसा?

आप अपनेको सबसे नजदीक मानते हैं कि नजदीक-से-नजदीक मैं हूँ। पर आपसे भी नजदीक परमात्मा हैं। परमात्मा जीवको भी प्रकाशित करनेवाला परम प्रकाशक है। वे सम्पूर्ण विषयोंको, इन्द्रियोंको, जीवोंको प्रकाशित करनेवाले हैं—

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

(मानस, बाल० ११७।३)

भगवान् सब जगह पूरे-के-पूरे हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३।१३)

'वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।'

सोनेके पासेमें कौन-सा गहना नहीं है? स्याहीमें कौन-सी लिपि नहीं है?

वाल्मीकिजीने रामायण अर्थात् भगवान् श्रीरामका स्थान (अयन) बताया, इसीलिये भगवान्‌ने उनसे अपने रहनेका स्थान

पूछा। स्थान बतानेवालेसे ही स्थान पूछा जाता है। वाल्मीकिजीने भगवान्‌को बताया कि आप सब जगह रहते हैं, विशेषरूपसे भक्तोंके हृदयमें रहते हैं, अभी आप चित्रकूटमें रहें।

भगवान्‌से रहित कोई खाली जगह है ही नहीं। उनकी प्राप्तिमें देरी आपके कारण हो रही है। **ऐसा करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह देरी है।** संसार कभी किसीको मिला नहीं। बदलनेवाली चीजसे न बदलनेवालेकी आड़ कैसे लग जायगी? **जबतक अनन्यता नहीं होगी, तबतक सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।** नाशवान्‌की इच्छा ही बाधक है।

समझने, सीखनेमें वह चीज आती है, जो बुद्धिका विषय हो। जो बुद्धिका विषय नहीं है, उसमें बुद्धि लगाना व्याघात दोष है।

××× ××× ××× ×××

अगर अहम्‌पर विजय पा लें तो आप जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, प्रेमी, योगी सब हो जायँगे। अहम्‌से रहित होनेके लिये पहले दो बातें खास समझनेकी हैं—(१) भगवान् गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंमें निर्मम-निरहंकार होनेकी बात कहते हैं। संसारमात्रको जीवने धारण कर रखा है। अतः हम अहम्‌से रहित हैं—ऐसा अनुभव हो जाय, और (२) भगवान् निर्मम-निरहंकार होनेके लिये कहते हैं; अतः हम निर्मम-निरहंकार हो सकते हैं। जो हम नहीं हो सकते, वह भगवान् नहीं कहेंगे।

अनुभव करें कि हम अहंकार-रहित हैं। इसके लिये

सुषुप्तिका उदाहरण अच्छा है। सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें लीन होता है, आप स्वयं अविद्यामें लीन नहीं होते। कारण कि प्रकृतिका अधिकार अहम्पर है। जो चीज कभी होती है, कभी नहीं होती, वह कभी नहीं होती—यह नियम है। जो किंचित् समय भी नहीं है, वह सदाके लिये नहीं है।

××× ××× ××× ×××

वेदव्यासजी महाराजने जो बात नहीं लिखी हो, वह कोई कह दे या लिख दे—ऐसा मेरा विश्वास नहीं है। उनकी वाणीमें कहीं-न-कहीं वह बात मिल जायगी।

परमात्मा ही सबके प्रत्यक्ष हैं। संसार प्रत्यक्ष हो सकता ही नहीं। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हमारी दृष्टिमें है। वास्तवमें भगवान् ही उत्पन्न करते और उत्पन्न होते हैं, रक्षा करते और रक्षित होते हैं, संहार करते और संहार होते हैं*। **भगवान्में छिपनेकी ताकत नहीं है। वे कहाँ छिपें? किससे छिपें? किसके लिये छिपें?** उनकी प्राप्तिमें कोई आड़ है ही नहीं। उनकी प्राप्तिसे निराश होना बड़ी भारी गलती है। आप आँखें बन्द करके कहते हैं कि हमें कुछ नहीं दीखता!

योग सदाके लिये हो सकता है, पर भोग सदाके लिये मनुष्य नहीं भोग सकता।

भगवान्की माया मनुष्यको नहीं फँसाती। **भगवान्की मायाको अपना मान लिया, तभी फँसता है। यदि भगवान्की मानता तो नहीं फँसता।**

××× ××× ××× ×××

* आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
(श्रीमद्भा० ११। २८। ६)

मोह नष्ट होनेमें सन्तकृपा या भगवत्कृपा काम करती है, अपनी पण्डिताई नहीं—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' (गीता १८।७३)। कृपासे जो काम होता है, वह अपने पुरुषार्थ (साधन)-से नहीं होता। कृपासे जो शक्ति मिलती है, वह अपनी बुद्धिमानीसे नहीं। जैसे धोबी ज्यादा मैले कपड़ेको साफ करनेमें प्रसन्न होता है, ऐसे ही गुरुजन ज्यादा मैले व्यक्तिको शुद्ध बनाकर बड़े प्रसन्न होते हैं। ***'आछी करे सो रामजी कै सद्गुरु कै सन्त'।*** अतः कृपाका आश्रय लो।

अनुकूल-प्रतिकूल सब भगवान्‌का प्रसाद है। प्रसादमें रसगुल्ला भी होता है और करेला भी। भजन-ध्यान आदि सब कुछ करो, पर आश्रय कृपाका रखो।

××× ××× ××× ×××

कर्मयोग भौतिक साधना है। भौतिक वस्तुओंसे सबकी सेवा करना है और बदलेमें कुछ भी नहीं चाहना है। सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होना आध्यात्मिक साधना (ज्ञानयोग) है। अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना आस्तिक साधना (भक्तियोग) है। लेनेकी इच्छा करना बन्धन है। तीनोंमें सबसे सुगम साधन भक्ति है। वस्तुओंको भी भगवान्‌के समर्पित कर दे और स्वयंको भी। वास्तवमें सब कुछ है ही भगवान्। भक्ति ज्ञानके अधीन नहीं है। ज्ञान और वैराग्य भक्तिके बेटे हैं। भक्ति उनकी माँ है। ***'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी'*** (मानस, उत्तर० ४५।३)। इसका तात्पर्य ज्ञानको छोटा बतानेमें नहीं है, प्रत्युत यह बतानेमें है कि

भक्ति करनेसे ज्ञान भी आ जायगा (गीता १०।१०-११), *'अनइच्छित आवइ बरिआईं'* (मानस, उत्तर० ११९।२)।

कुछ-न-कुछ चाहनेसे ही अशान्ति आती है। कुछ भी चाहना न हो तो अशान्ति आ ही नहीं सकती।

जिसके न होनेका दुःख हो, वह होने लग जायगा—यह सिद्धान्त है। भक्ति न होनेका दुःख हो जाय तो भक्ति हो जायगी। ऐसे ही जिसके होनेका दुःख हो जाय, वह मिट जायगा।

××× ××× ××× ×××

जो करना चाहिये, वह धर्म होता है। जो नहीं करना चाहिये, वह अधर्म होता है। आज अधर्मकी उन्नति हो रही है।

एक नंबरका काम भगवान्‌को याद करना है, दो नंबरका काम पुण्यकर्म करना है। जो भोगोंमें लगे हुए हैं, वे श्वास लेते हुए भी मुर्दा हैं! शुद्ध-अशुद्ध सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌का नाम लेना चाहिये।

मनकी स्थिरता होगी तो सिद्धियोंकी प्राप्ति होगी, परमात्मा की नहीं। अतः बुद्धिकी स्थिरता होनी चाहिये।

श्रोता—घरका काम करते समय भगवान्‌को भूल जाते हैं, क्या करें?

स्वामीजी—यह निश्चय कर लो कि आजसे अपने घरका काम करना ही नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌के घरका काम करना है।

××× ××× ××× ×××

यह बात हर समय जाग्रत् रहनी चाहिये कि शरीर स्वतः जा रहा है। शरीर जी रहा है या मर रहा है—इसमें आपको कौन-सी बात सच्ची दीखती है? शरीर निरन्तर जा रहा है—यह बात मनुष्यमात्रकी है, किसी एक सम्प्रदाय, जातिकी नहीं है। यह बात स्वाभाविक रहनी चाहिये। जो बात निःसन्देह है, उसे मान लेना हमारा खास काम है। सच्ची बातको जाननेका नाम ज्ञान है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्य बालकपनसे ही भगवान्‌के मार्गमें लग जाय तो महात्मा बन सकता है। गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है, जिसका कोई पार नहीं पा सकता। रामायण और गीता बड़े विलक्षण ग्रन्थ हैं। दूसरोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये—यह रामायणमें बताया गया है।

सुखकी आसक्तिके कारण जड़ और चेतन—ये दो विभाग दीखते हैं, अन्यथा सब साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। **विवेकसे उतनी उन्नति नहीं होती, जितनी विश्वाससे होती है।** जबतक एक चेतन-तत्त्वके सिवाय कल्पनासे भी अन्य (जड़)-की सत्ता रहती है, तबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती।

साधकके लिये भोग और संग्रहकी आसक्ति बहुत ही घातक है। **जड़ता बुद्धिमें रहती है। बोध होनेपर जड़ता नहीं रहती।**

××× ××× ××× ×××

शरीर भी अपना नहीं है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना मानना खास भूल है। भगवान् आपको कभी नहीं छोड़ते।

वे ही अपने हैं। **भगवान्‌को अपना कहनेवाला केवल मनुष्य ही है, और कोई नहीं।** मनुष्य ही भगवान्‌को अपना कह सकता है। मनुष्यकी आफत, दुःख मिटानेके लिये भगवान्‌के मनमें एक भूख है, लालसा है कि यह मुझे अपना कहे! सच्चे हृदयसे कह दे कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो भगवान् खुश हो जाते हैं!

××× ××× ××× ×××

संसार निरन्तर जा रहा है, इसमें जो 'है' दीखता है, वह परमात्माका है। संसार विद्यमान नहीं है। परमात्मा विद्यमान हैं। शरीर निरन्तर 'नहीं' में जा रहा है। परमात्मा निरन्तर रहते हैं। हमारी स्थिति केवल उस रहनेवालेमें ही है। 'है' नाम परमात्माका ही है। **जैसे मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करते हैं, ऐसे ही संसारमें परमात्माका पूजन करना है।** कुत्ता रोटी खा रहा है तो भगवान्‌को ही भोग लग रहा है! भगवान् ही सबके भोक्ता हैं।

विश्वासमें विवेककी जरूरत नहीं है। यदि विवेक लगायेंगे तो शालग्राम पत्थर दीखेगा! विश्वासमें विवेककी सहायता नहीं है, प्रत्युत विवेकका विरोध नहीं है।

सेवा करनेवालेके लिये संसार भगवत्स्वरूप है, पर सुख लेनेवालेके लिये संसार दुःखरूप है।

शरीर गायका शुद्ध है, मनुष्यका नहीं। जिसके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र है, वह स्वयं कितनी पवित्र होगी! परन्तु गायमें विवेक नहीं है। मनुष्यमें विवेक है। जैसे अक्षरको सीखनेके लिये आँखें हैं, ऐसे ही परमात्माको जाननेके लिये

मनुष्यशरीर (विवेक) है। मनुष्यशरीर नहीं रहेगा तो नहीं जान सकेंगे; क्योंकि जाननेकी सामग्री (विवेक) नहीं रहेगी। परमात्माको जान लिया तो फिर शरीरकी जरूरत नहीं है। असत्के द्वारा परमात्मप्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्के सदुपयोगसे परमात्मप्राप्ति होती है। बुद्धिसे तत्त्वको जानोगे तो प्राप्ति स्वयंको होगी, बुद्धिको नहीं। अक्षरको आँखसे समझ लो तो अक्षर साथ रहेगा, आँख साथ नहीं रहेगी। इसी तरह परमात्मा साथ रहेंगे, शरीर साथ नहीं रहेगा।

××× ××× ××× ×××

बड़े-से-बड़े परमात्मा हैं। उनमें अपार-अनन्त शक्ति है। सम्पूर्ण शक्तियाँ वहींसे आती हैं। जीवमात्रमें सहारा लेनेकी एक इच्छा है। किसीमें ज्यादा, किसीमें कम हो सकती है। मूलमें सहारा देनेवाले, सबकी रक्षा करनेवाले भगवान् ही हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं है। ऐसा होनेपर भी वे बड़े कृपालु हैं।

किसी भी आदमीको सर्वथा खराब नहीं मानना चाहिये। मनुष्य सर्वथा सद्गुणी तो हो सकता है, पर सर्वथा दुर्गुणी कोई नहीं हो सकता।

××× ××× ××× ×××

भगवान् सदाकी माँ हैं और उनमें अनन्त माताओंका स्नेह है। वे हरदम मात्र जीवोंपर कृपा कर रहे हैं। संसारमें कृपालु न्याय नहीं कर सकता और न्यायकारी कृपा नहीं कर सकता। परन्तु **भगवान्‌में न्याय और कृपा—दोनों पूरे-के-पूरे हैं।** वे कृपा करते ही रहते हैं। कृपा करना उनका स्वभाव है। वे

कृपाको जनाते ही नहीं। वे जिसको जो चीज देते हैं, वह चीज उसे अपनी ही मालूम देती है। भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया, पर यह हमें अपना ही मालूम देता है। **भगवान्‌की कृपासे ही मुझे विलक्षण-विलक्षण बातें प्राप्त होती हैं, वे मेरी अपनी नहीं हैं।** अगर शरीर आपका है तो उसे बीमार क्यों होने देते हो? यदि देखनेकी शक्ति आपकी है तो चश्मा क्यों लगाते हो? ऐसा सत्संग-समारोह भी भगवान्‌की कृपाशक्तिसे ही होता है, व्यक्तियों, प्रबंधकों आदिकी शक्तिसे नहीं।

संतोंका संग प्रारब्धसे नहीं होता। प्रारब्धसे तो भोग मिलता है। सत्संग भगवान् और सन्तोंकी कृपासे ही मिलता है। खास कारण है—भगवान्‌की कृपा। शरीर, बल, योग्यता आदि सब भगवान्‌के दिये हुए हैं। भगवान्‌की दी हुई चीजको भगवान्‌के ही अर्पण कर दें तो भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

××× ××× ××× ×××

पांचभौतिक दृष्टिसे सब एक हैं। जीवकी दृष्टिसे सभी परमात्माके अंश हैं। परमात्माकी दृष्टिसे सभी परमात्मस्वरूप हैं। भेद अपने राग-द्वेषसे पैदा किया हुआ है। **व्यवहारका भेद कर्तव्यपालन करनेके लिये, सेवा करनेके लिये है।** अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा चारों वर्ण दूसरोंकी सेवा करें। सेवा करते समय सबमें एक परमात्माको देखें, जैसे मूर्तिमें भगवान्‌को देखते हैं।

जबतक संस्कार न हो, तबतक सभीको अपनेको शूद्र ही मानना चाहिये। सभी वर्णोंका आदर करना चाहिये। **वर्ण**

आदिको लेकर अपनेमें अभिमान नहीं करना चाहिये—यह खास बात है। जो अपनेको छोटा मानता है, वही वास्तवमें बड़ा होता है।

××× ××× ××× ×××

कलियुगमें नामकी महिमा अधिक है। कारण कि जब किसी तरहकी कोई योग्यता नहीं होती, तब पुकार होती है। नामजप एक पुकार है। सब तरहसे अयोग्य बालक पुकारता है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह पुकार है। 'हरे' कहनेमें यह भाव रखें कि संसार हरा गया है, जा रहा है और 'राम' व 'कृष्ण' कहनेमें यह भाव रखें कि भगवान् रह रहे हैं। संसार बह रहा है, भगवान् रह रहे हैं। संसार नहीं है, भगवान् हैं।

रुपयोंको लेकर करोड़पति अपनेको बड़ा मानता है। अगर करोड़ रुपये चले जायँ तो क्या रहा? खुदकी फजीती ही हुई! संसारकी वस्तुको अपना मानना बेईमानी है। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***—यह ईमानदारी है।

××× ××× ××× ×××

निर्गुणमें विवेक-विचार मुख्य है। सगुणमें श्रद्धा-विश्वास मुख्य है। **ज्ञानका पंथ कठिन है, पर भक्तिका पंथ सुगम है। निर्गुणका रूप सुलभ है, पर सगुणका रूप कठिन है।** इसलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

(मानस, उत्तर० ७३ ख)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।

(मानस, उत्तर० ११९। १)

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।

(मानस, उत्तर० ४६। १)

तर्क निर्गुणमें चलता है, सगुणमें नहीं। **विश्वासमें कमी होनेसे ही भक्तिमें कठिनता आती है।** निर्गुणका स्वरूप है— सत्तामात्र, होनापन।

मेरे विचारमें कोई भी मार्ग कठिन नहीं है। अपनी रुचि, विश्वास और योग्यता होनी चाहिये। मैं न रूपको कठिन मानता हूँ, न मार्गको कठिन मानता हूँ। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है, अकर्ता है—ये कोरी बातें हैं। ये शास्त्रकी बातें हैं, साधनकी नहीं। बातोंसे कुछ होनेवाला नहीं है, कोरा अभिमान होगा।

विहित भोग भी बाधक है, फिर निषिद्ध भोग तो बहुत ही बाधक है। अत: ज्ञान या भक्ति जो भी चाहते हो, पाप करना छोड़ दो। उसमें भी सुगम बात यह है कि जिसको पाप जानते हो, वह छोड़ दो। सबसे पहले निषिद्ध कर्मोंका त्याग करो।

मदिरापानका पाप ब्रह्महत्यासे भी तेज है! मदिरापानमें हत्या नहीं दीखती, पर वह धर्म, आस्तिक भावके अंकुरोंको जला देता है।

××× ××× ××× ×××

मुख्य पाँच देवता ईश्वरकोटिके हैं—विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और देवी। इनको माननेवाले भी पाँच सम्प्रदाय हैं—

वैष्णव, शैव, गाणपत्य, सौर और शाक्त। मुख्य देवताका मन्दिर मध्यमें होगा तो शेष चारों दिशाओंमें चार देवताओंके मन्दिर होंगे; जैसे—

ईशान	शिव		गणेश	आग्नेय
		विष्णु		
वायव्य	देवी		सूर्य	नैर्ऋत्य

विष्णु		सूर्य
	शिव	
देवी		गणेश

विष्णु		शिव
	गणेश	
देवी		सूर्य

शिव		गणेश
	सूर्य	
देवी		विष्णु

विष्णु		शिव
	देवी	
सूर्य		गणेश

गणेशजी बालरूप हैं। इसलिये वे मोदकप्रिय हैं। वे बुद्धिके अधिष्ठाता हैं। विद्यार्थी विद्यारंभके समय गणेशजी और सरस्वतीका स्मरण करते हैं।

××× ××× ××× ×××

मूल्यवान् वस्तु सुगम होती है। संसारकी कोई भी चीज सबके लिये नहीं है, सब जगह नहीं है, सब समयमें नहीं

है। परन्तु परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें हैं और सबके लिये हैं। जो किसीके लिये हो और किसीके लिये न हो, वह परमात्मा नहीं हो सकता। उसको प्राप्त करनेके अधिकार अलग-अलग हैं—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८।४५)। वर्ण, आश्रम, श्रद्धा, विश्वास, योग्यताको लेकर सबका कर्तव्य अलग-अलग होता है। दो व्यक्तियोंमें भी समान रुचि नहीं होती—**'रुचीनां वैचित्र्यात्'**।

भगवान्‌की ओरसे सबको सुख पहुँचानेका अधिकार दिया हुआ है, पर मारनेका अधिकार किसीको नहीं दिया है।

छोटा प्यारका पात्र होता है, तिरस्कारका नहीं। जैसे घड़ीका प्रत्येक पुर्जा अपनी-अपनी जगह ही ठीक रहता है, ऐसे ही प्रत्येक वर्ण, जातिका मनुष्य अपनी जगह ही श्रेष्ठ है।

अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंकी सेवा करो—यह खास मंत्र है। भगवान् भी मनुष्यकी सेवाके भूखे हैं!

××× ××× ××× ×××

मनुष्ययोनि साधनयोनि है, भोगयोनि नहीं। **साधन तब होगा, जब अहंतामें यह बात बैठ जायगी कि मैं साधक हूँ, भोगी नहीं हूँ।** जैसा कर्ता होता है, वैसा ही कर्म होता है। कर्ता मुख्य है। कर्म निष्काम या सकाम नहीं होते, प्रत्युत कर्ता निष्काम या सकाम होता है।

सुख-दुःख साधन-सामग्री है, भोग-सामग्री नहीं। सुख-सामग्री है दूसरोंकी सेवा करनेके लिये और दुःख-सामग्री है सुखकी इच्छाका त्याग करनेके लिये।

भोजन, वस्त्र और मकान निर्वाहमात्रके होने चाहिये।

××× ××× ××× ×××

सांसारिक कामकी तरह भगवत्प्राप्ति धीरे-धीरे समय पाकर होती है—यह धारणा ठीक नहीं है। भगवत्प्राप्तिमें देश, काल, वस्तु आदिका व्यवधान नहीं है। केवल उत्कट अभिलाषाकी कमी है। भगवान् सब देश, काल, वस्तु आदिमें पूरे-के-पूरे मौजूद हैं। **ध्रुवजीको जिस दिन भगवान् मिले, वे ही पहले दिनमें भी मिल सकते हैं।** दिनमें क्या फर्क है? भगवान्में क्या फर्क है? प्रह्लादने कहा कि भगवान् खम्भेमें हैं तो भक्तकी वाणी सच्ची करनेके लिये भगवान् वहींसे प्रकट हो गये। ***'जँहि जिव उर नहचो धरै, तँहि ढिग परगट होय'।*** जीव जहाँ निश्चय करता है, वहीं भगवान् प्रगट हो जाते हैं।

शरीर बना रहे—यह इच्छा भगवत्प्राप्तिकी इच्छामें बाधक है।

जो दीखता है, वह आप नहीं हो। आप देखनेवाले हो।

××× ××× ××× ×××

जैसे जालेका उपादान और निमित्त कारण मकड़ी ही है, ऐसे ही सृष्टि बननेवाले भी परमात्मा हैं और बनानेवाले भी परमात्मा हैं। तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं।

जो सुगमतासे परमात्मप्राप्ति चाहता है, उसे परमात्मा कठिनतासे मिलते हैं। कारण कि सुगमताके बहाने वह शरीरका आराम चाहता है। परन्तु जो कठिनताके लिये तैयार रहता है, उसे परमात्मा सुगमतासे मिल जाते हैं।

मन में लागी चटपटी, कब निरखूँ घनस्याम।
'नारायन' भूल्यौ सभी, खान पान विश्राम॥

संसारका सुख लेना चाहते हैं—यही परमात्मप्राप्तिमें बाधा है। 'आराम'की जगह 'आ राम' कर दो।

××× ××× ××× ×××

साधक हर समय भगवान्‌की कृपाकी तरफ देखता रहे—**'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः'** (श्रीमद्भा० १०।१४।८)। प्रत्येक भाई-बहन अपनेपर भगवान्‌की विशेष कृपा मानें। भगवान्‌की कृपा कृपा करनेसे कभी तृप्त नहीं होती—***'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'*** (मानस, बाल० २८।२)। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिपर विशेष ध्यान न दें। परिस्थिति तो संसारका स्वरूप है। उनमें राजी-नाराज होना ही फँसावट है।

जैसे दर्जी कपड़े सिलकर पहना दे तो हम दर्जीके नहीं हो जाते, ऐसे ही माता-पिताने हमें शरीर पहना दिया। हम तो वास्तवमें भगवान्‌के ही हैं। शरीरसे माता-पिताकी सेवा करो।

××× ××× ××× ×××

परमात्मा निरपेक्ष तत्त्व है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब सापेक्ष है। तत्त्व सापेक्ष नहीं है। वह 'है'-रूपसे है। **वास्तवमें वह 'है' और 'नहीं' दोनोंसे विलक्षण है।**

जो दीखता है, वह चेतनकी एक चमक है। असत् है ही नहीं, केवल सत्-ही-सत् है—**'वासुदेवः सर्वम्'।**

××× ××× ××× ×××

भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। उन प्राणियोंमें न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।'

भगवान् सबमें समान हैं, पर भक्त उनमें पक्षपात पैदा कर देते हैं। कोई भगवान्से विरुद्ध-से-विरुद्ध चले तो भी भगवान्का उनसे द्वेष नहीं है। जैसे, माँका बच्चेसे द्वेष नहीं होता। उसकी मारमें भी कृपा होती है।

नशा डाकूकी तरह है, जो पकड़नेपर छोड़ता नहीं। साधुको भिक्षा न दें तो वह चला जाता है, पर डाकू नहीं जाता! नशा मनुष्यको परवश कर देता है। **सन्त और भगवान् कभी परवश नहीं करते।**

××× ××× ××× ×××

नित्यकर्म और साधनमें भेद होता है। नित्यकर्म (पूजा-पाठ) तो हरेक मनुष्यको करना चाहिये। अपने कल्याणके उद्देश्यवाला साधक होता है। साधन करनेवाले बहुत कम होते हैं। साधन तभी बढ़िया होता है, जब मनुष्य भीतरसे 'मैं साधक हूँ'—ऐसा मान लेता है। साधन करना सब मनुष्योंका खास काम है।

यदि साधु बनना हो तो फिर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही साधु बने। साधु बननेपर फिर मकान, धन आदिकी जरूरत नहीं है। संन्यास तो वैराग्यसे ही होता है। परमात्मप्राप्तिमें भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग पहली चीज है। **संन्यासीके लिये तो स्वरूपसे भोग और संग्रहका त्याग है। सच्चे साधुकी चिन्ता गृहस्थोंको स्वतः रहती है!**

निषिद्ध रीतिसे भोग और संग्रह करनेवालेको वैराग्य कभी नहीं होगा।

××× ××× ××× ×××

सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारो। सिवाय भगवान्‌के कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। भगवान्‌की गोद सबके लिये तैयार है। वे सर्वसमर्थ हैं, परम दयालु हैं और सर्वज्ञ हैं। वे आपकी भीतरकी पीड़ाको, लगनको जानते हैं कि यह सच्ची है या नकली? जो भगवान्‌को नहीं मानता, उनका खण्डन करता है, उसकी भी भगवान् रक्षा करते हैं, पालन करते हैं।

याद करनेयोग्य केवल प्रभु ही हैं।

गीता, रामायण-जैसे ग्रन्थ रहते हुए, भगवान्‌का नाम रहते हुए हम दुःख पायें—यह आश्चर्यकी बात है!

××× ××× ××× ×××

वक्ता स्वतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत श्रोताके अधीन होता है। श्रोताओंके कारणसे ही वक्ताके भीतर बातें पैदा होती हैं। **वक्ताको श्रोतासे अधिक लाभ होता है।**

संसार बहुत पतनकी तरफ जा रहा है। ऐसे समयमें सत्संग मिल जाय तो बड़ी भगवत्कृपा है! संसारका पद तो योग्यतासे मिलता है, पर भगवान्‌का आश्रय योग्यतासे नहीं मिलता। वे सबके लिये सुलभ हैं।

गीताकी सार बात है—शरणागति। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***—यह सार चीज है। भगवान् पूरे-के-पूरे आपके हैं। उनकी शरण हो जायँ।

××× ××× ××× ×××

खास बात है—भगवान्पर भरोसा रखें, उनपर निर्भर हो जायँ। समयके सदुपयोगका विशेष ध्यान रखें। हरदम सावधान रहें। साधक वही होता है, जो हरदम सावधान रहता है। संसारके काममें कितनी ही सावधानी रखें, उसमें कमी रहेगी ही। अतः हरदम भगवान्में लगे रहो, उनको पुकारते रहो कि 'हे नाथ! आपको भूलूँ नहीं' और उनके नामका जप करते रहो। आशा भगवान्की ही रखो। संसारकी आशा रखनेसे दुःख पाना ही पड़ेगा—'**आशा हि परमं दुःखम्**'। परमात्मा भविष्यकी चीज नहीं हैं। उनकी प्राप्ति वर्तमानकी वस्तु है। भविष्यकी आशा रखनेसे धोखा होगा। परमात्माकी प्राप्ति आपको (स्वयंको) होती है, अन्तःकरणको नहीं। करणके भरोसे मत रहो। आप भी वर्तमान हैं और परमात्मा भी वर्तमान हैं, फिर देरी क्यों? उसकी प्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती। उसकी प्राप्ति करण (मन-बुद्धि-इन्द्रियों)-के त्यागसे होती है। प्राणायाम शरीरकी शुद्धिके लिये है। अभ्याससे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

जिससे जितना लोगे, उसके मरनेपर उतना ही दुःख होगा। अतः संसारसे लो मत, उसकी सेवा करो। किसीकी आशा मत रखो।

××× ××× ××× ×××

जहाँ वस्तुएँ अधिक होती हैं तथा अधिक वस्तुओंकी जरूरत होती है, वहीं दरिद्रता होती है।

बाहर संसारकी तरफ इतनी दृष्टि चली गयी कि भीतरका ज्ञान नष्ट हो गया! वास्तवमें आपका स्वरूप सुखरूप है—

'चेतन अमल सहज सुख रासी'। परन्तु दृष्टि बाहर चली जानेसे दुःख पा रहे हैं।

जो दूसरोंका नाश करता है, उसका नाश ब्याजसहित होगा!

××× ××× ××× ×××

व्यक्तियाँ अलग-अलग हैं, पर प्रकाश एक है। ऐसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड जिस प्रकाशमें दीखते हैं, वह प्रकाश एक है। उसमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है। ज्ञान अथवा सत्ता एक है। नफा-नुकसान, जन्म-मरणमें बड़ा अन्तर है, पर इनके ज्ञानमें क्या अन्तर है? उस ज्ञानमें स्थित रहना है। सब अवस्थाएँ बनने-बिगड़नेवाली हैं, पर अपने होनेपनका ज्ञान बनने-बिगड़नेवाला नहीं है। उस ज्ञानमें मैं-पन नहीं है।

××× ××× ××× ×××

कमानेकी धुनसे भी देनेकी धुन ज्यादा होनी चाहिये। देनेसे ही धनकी रक्षा होती है—स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध होते हैं। दूसरोंको सुख देनेसे अपनेको प्रत्यक्षमें शान्ति मिलती है। एक-दूसरेका हित, सेवा करना हमारी वैदिक संस्कृति है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३।११)

'एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

××× ××× ××× ×××

वास्तवमें सन्तों और भगवान्‌की वाणीमें विरोध नहीं आता। विरोध हमारी बेसमझीसे दीखता है।

विवेकशक्तिका नाम मानवशरीर है। विवेकशक्ति मनुष्यमें विशेष है। मनुष्य तो विवेकका अनादर कर देता है, पर पशु-पक्षी ऐसा नहीं करते। मनुष्य विवेकशक्तिका सदुपयोग-दुरुपयोग दोनों कर सकता है। मनुष्यको परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकार है। अपने उद्धारकी योग्यता और अधिकार—दोनों भगवान्‌ने मनुष्यको दिये हैं। मानवशरीर दुरुपयोगके लिये नहीं है, प्रत्युत सबकी सेवा करनेके लिये और भगवान्‌को याद रखनेके लिये है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीर मिलना बहुत दुर्लभ है। जो वस्तु मिल जाती है, उसकी दुर्लभताका ज्ञान नहीं होता। जो विवेकशक्ति है, वही मनुष्यपना है। शरीरको तो अधम बताया गया है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २)

देवता आदिमें भी विवेक है, पर वह भोगके लिये है। पशु-पक्षियोंका विवेक जीवन-निर्वाहके लिये है। मनुष्यका विवेक परमात्मप्राप्तिके लिये है। मनुष्यशरीर प्राप्त होनेपर परमात्मप्राप्तिके लिये निराश नहीं होना चाहिये। परमात्मा सभी मनुष्योंके लिये पूरे-के-पूरे हैं। उनपर सभीका पूरा हक लगता है।

जहाँ 'भोजनालय' का बोर्ड लगा हो, वहाँ वस्त्र कैसे मिलेगा? ऐसे ही संसारमें भगवान्‌ने बोर्ड लगा रखा है—'**दुःखालयम्**' (गीता ८। १५), फिर यहाँ सुख कैसे मिलेगा?

सहारा लेना जीवका स्वभाव है। अगर सहारा लेना ही हो तो बड़ेका लो, छोटेका क्यों लो? आप अपना सर्वस्व

भगवान्‌को दे दो और भगवान्‌का सर्वस्व ले लो! **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। न रोकर जियो, न रोकर मरो। मौजसे जियो और मौजसे मरो। **आप परमात्माके अंश हो, मिट्टीके लौंदे (शरीर) नहीं हो।**

×××　　×××　　×××　　×××

भगवान् अनन्त हैं और उनकी रची सृष्टि भी अनन्त है। चौरासी लाख योनियोंसे भी अतिरिक्त अनन्त योनियाँ हैं, जिनका हमें पता नहीं! पर इसको जाननेसे लाभ भी क्या? संसारकी, शास्त्रोंकी बातोंका अन्त नहीं है। उन्हें जाननेसे क्या लाभ? न जाननेसे क्या हानि? हाँ, एक जानकारीका अभिमान और हो जायगा! अभिमानको निकालना बड़ा कठिन है!

×××　　×××　　×××　　×××

परमात्मप्राप्ति चाहनेवालेके लिये खास बात है—अपनी अहंताको बदलना कि 'मैं साधक हूँ'। अहंता बदल जायगी तो मन-बुद्धि आदि सब बदल जायँगे। व्यवहार बदल जायगा। साधन हरदम होगा। **पूरा संसार अहंता (मैं-पन)-में भरा हुआ है। अहंता बदलनेसे संसार बदल जाता है।**

×××　　×××　　×××　　×××

जो वस्तु थोड़ी होती है, उसका मूल्य अधिक होता है। आज कलियुगमें भगवान्‌की भक्ति बहुत थोड़ी हो गयी है। अतः भगवान् सस्ते हो गये हैं, भक्त मँहगे! जो भगवान्‌के भजनमें लगे हैं, उनके लिये जमाना बड़ा अच्छा आया है। साधन करनेसे आज जैसा फर्क पड़ता है, वैसा पहले नहीं पड़ता था। साधन करनेवालोंका यह अनुभव है कि काम-

क्रोधादि पहलेसे कम आते हैं, ज्यादा वेगसे नहीं आते और ज्यादा देर नहीं ठहरते।

××× ××× ××× ×××

कर्कोटक, दमयन्ती, नल और ऋतुपर्णका नाम लेनेसे कलियुग असर नहीं करता*। इसी तरह भगवन्नामका जप-कीर्तन करनेसे कलियुग असर नहीं करता। **भगवन्नाम अशुद्ध अवस्थामें भी लेना चाहिये, नहीं तो मनुष्य बीमारीकी अवस्थामें अशुद्ध रहनेसे भगवन्नाम नहीं लेगा तो सद्गति कैसे होगी? अन्तकालमें भगवान्‌का चिन्तन कैसे होगा?**

भगवन्नाम लेनेसे कलियुग, पाप, प्रेत-पिशाच आदि सब भाग जाते हैं। नाममें अनन्त शक्ति है। नाम लेनेसे बड़े-बड़े रोग मिट जाते हैं।

भगवान् हमारे पासमें हैं—ऐसा विश्वास न होनेसे ही भय लगता है।

बड़ोंको यदि छोटोंको शिक्षा देनी हो तो वाणीसे न देकर आचरणसे दे।

××× ××× ××× ×××

सबसे सुगम साधन है—शरणागति। वास्तवमें शरणागत होना नहीं है, हम सदासे भगवान्‌के शरण हैं। परन्तु हमने संसारका आश्रय ले लिया—यह गलती की। मेंहदीके पत्तेमें लालीकी तरह परमात्मा सबमें रहते हुए भी देखनेमें नहीं

---

* कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥
(महा० वन० ७९। १०)

आते। शरीर-संसार अनित्य हैं, जीव-परमात्मा नित्य हैं। शरीर-संसार एक हैं, पर गलतीसे दोनोंको अलग मान लिया। ऐसे ही जीव-परमात्मा एक हैं, पर गलतीसे दोनोंको अलग मान लिया। शरीरको संसारकी सेवामें अर्पित कर दें। **शरीर संसारके अर्पित होगा, संसार शरीरके अर्पित नहीं होगा। छोटा ही बड़ेके पास जाता है।**

× × × × × × × × × × × ×

मनुष्यमें करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और पानेकी इच्छा है। सेवा करनी है, स्वयंको जानना है और परमात्माको प्राप्त करना है। प्राप्त करनेके लिये परमात्माको मानना है। संसारसे मिली वस्तुको संसारके ही भेंट कर देना चाहिये।

सबमें परमात्माको देखना बड़ी भारी पूजा है। जैसे मूर्त्तिमें परमात्माका पूजन करते हैं, ऐसे ही सबमें भगवान्‌का पूजन करें।

पहले संसारसे जो लिया है, उसे चुकाये बिना और लोगे तो कर्जदार हो जाओगे। **कर्जदारकी मुक्ति नहीं होती।**

नित्यप्राप्तकी प्राप्तिके बिना कोई प्राप्तप्राप्तव्य नहीं हो सकता।

मनुष्ययोनि उन लोगोंके लिये 'कर्मयोनि' है, जिनको भटकना है। जिनको भटकना नहीं है, उनके लिये यह 'साधनयोनि' है। अनुकूल-प्रतिकूल दोनों परिस्थितियाँ साधन-सामग्री हैं।

वृक्ष लगाना धर्मशाला बनवानेसे भी उत्तम है। वृक्षसे पक्षियोंको रहनेकी जगह भी मिलती है और खानेकी सामग्री भी। धर्मशालासे तो बहुत जगह रुकती है, पर वृक्षसे ज्यादा जगह भी नहीं रुकती।

× × × × × × × × × × × ×

हमारे पास सबसे मूल्यवान् वस्तु है—समय। एक-एक क्षण समझ-समझकर खर्च करें। निरर्थक समय नष्ट न करें। समय देकर आप भगवान्‌की प्राप्ति कर सकते हैं, जीवन्मुक्त हो सकते हैं। मनुष्यजन्म दुर्लभ है, पर मिला हुआ होनेसे उसकी दुर्लभताका पता नहीं लगता। साठ वर्षोंमें कमाये हुए धनसे साठ मिनट भी नहीं मिल सकते। पिछले जन्मोंकी तरह इस जन्मके कुटुम्बी, मकान आदि यादतक नहीं रहेंगे। समयको व्यर्थ नष्ट करना बड़ी भारी हानि है। घड़ी तभीतक चलती है, जबतक चाबी भरी हुई है। धनप्राप्तिमें सब स्वतन्त्र नहीं हैं, पर भगवत्प्राप्तिमें सब स्वतन्त्र हैं।

भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहनेवालेके भगवान् वशमें हो जाते हैं।

भगवान्‌की स्मृति समस्त विपत्तियोंका नाश करनेवाली है—**'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'** (श्रीमद्भा० ८।१०।५५)। अतः प्रत्येक कार्यके समय भगवान्‌का स्मरण करो।

××× ××× ××× ×××

जिन परमात्माको प्राप्त करना है, वह सबको नित्यप्राप्त है। जिस संसारसे हटना है, वह स्वतः ही हट रहा है। शरीर-संसारके साथ न आप रह सकते हैं, न वे आपके साथ रह सकते हैं। या तो संसारसे उपराम हो जायँ, या परमात्माके सम्मुख हो जायँ।

सभी अवस्थाएँ (जाग्रत् आदि) संसारकी हैं। जिन अंगोंसे हम संसारको देखते हैं, वे भी संसारके ही हैं।

घरमें स्वयं सुख न लेकर दूसरोंको सुख, आदर देना शुरू कर दें। आने-जानेवाली चीजोंसे अपनेको बड़ा मानना

गलती है। **आप छोटोंकी रक्षा नहीं करते, तो फिर अपनेसे बड़ोंसे रक्षा चाहना गलती है।** लेनेकी इच्छा छोड़कर सबकी सेवा करें। देनेसे वस्तु बढ़ती है। दूसरोंको सुख देनेसे अपना सुख बढ़ता है।

××× ××× ××× ×××

गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंका वर्णन आया है। अपनी मान्यता और बुद्धिकी प्रधानता रहनेके कारण टीकाकारोंमें मतभेद रहता है। तत्त्वप्राप्तिमें सब एक हो जाते हैं। अतः साधनमार्गोंकी भिन्नता दोषी नहीं है। दूसरेका खण्डन करना दोषी है। दूसरेका खण्डन करनेवाला वास्तवमें अपना ही खण्डन करता है। सभीका प्रापणीय तत्त्व एक ही है। भूख और तृप्ति सबकी एक होती है, पर रुचि दोकी भी समान नहीं होती।

हम अपनी बुद्धिसे गीताको नहीं समझ सकते। अतः गीताकी शरण हो जाना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने समग्ररूपका वर्णन विशेषतासे किया है। भगवान्‌के सभी रूप (निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार) समग्रके अन्तर्गत आ जाते हैं। आपने भगवान्‌का जैसा स्वरूप पढ़ा, सुना या समझा हो उसी रूपका ध्यान और नामजप करें। **भगवान् कैसे हैं—यह भगवान् भी नहीं जानते कि मैं कैसा हूँ! वहाँ कैसा-वैसा नहीं चलता। जैसा आप मानें, भगवान् वैसे ही हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। बुद्धि प्रकृतिको भी नहीं पकड़ सकती, फिर भगवान्‌को कैसे पकड़ सकती है? पर भगवान् चाहें तो हमारी बुद्धिमें आ सकते हैं। हम भगवान्‌को

जान तो नहीं सकते, पर उन्हें अपना मान सकते हैं। जैसे माँको अपना मानें तो माँ पूरी-की-पूरी अपनी है, ऐसे ही भगवान्‌को अपना मानें तो भगवान् पूरे-के-पूरे अपने हैं। **अपनेको भगवान्‌से अलग मान लेना और शरीरको संसारसे अलग मान लेना गलती है।**

भगवान्‌को अपना माननेकी जिम्मेवारी हमारी ही है। भगवान्‌ने तो हमें अपना मान ही रखा है।

××× ××× ××× ×××

राग-द्वेष स्थूल हैं, रसबुद्धि सूक्ष्म है। रसबुद्धिसे संसारकी चीज अच्छी लगती है। रागपूर्वक ग्रहण करना और द्वेषपूर्वक त्याग करना—दोनों ही बाँधनेवाले हैं। '**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्**' (गीता २। ६४)-का तात्पर्य है—शास्त्रको सामने रखे, राग-द्वेषको सामने न रखे। **ग्रहण और त्यागका इतना दोष नहीं है, जितना रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्यागका दोष है।**

वस्तुएँ दोषी नहीं हैं, उनमें महत्त्वबुद्धि दोषी है। मल-मूत्रका त्याग 'मैं' का त्याग है और धनका त्याग 'मेरा' का त्याग है। परन्तु मलके त्यागका अभिमान नहीं आता, धनके त्यागका अभिमान आता है। कारण कि धनमें महत्त्वबुद्धि है, मल-मूत्रमें निकृष्टबुद्धि है।

साधक या तो सुखसे भी सुखी हो जाय और दुःखसे भी सुखी हो जाय अथवा सुखसे भी दुःखी हो जाय और दुःखसे भी दुःखी हो जाय।

अगर आप जल्दी उद्धार चाहते हैं तो किसीके गुण-

दोषोंको न देखकर, उसे वासुदेव समझकर मनसे दण्डवत् प्रणाम करो। स्वरूपसे सब निर्दोष हैं। गुण-दोष तो साबुनकी तरह ऊपरसे चिपकाये हुए हैं।

××× ××× ××× ×××

सबसे पहले ओंकारका उच्चारण हुआ है। उससे फिर त्रिपदा गायत्री हुई। जीव भी त्रिपाद है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। तुरीयावस्था अमात्र है—मात्रासे अतीत है। अहम्‌से रहित स्वरूप अमात्र है। जिसके आधारपर सृष्टि रची जाती है, वह तुरीय (चौथी) अवस्था है। ध्यान-धारणा सूक्ष्मशरीरकी और समाधि कारणशरीरकी होती है। तुरीय सबका आधार और प्रकाशक है। उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही हम यहाँ इकट्ठे हुए हैं। उसकी प्राप्तिमें अहंता (मैं-पन) और ममता (मेरा-पन) बाधक हैं। अहंता-ममताके त्यागसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। वह परमात्मतत्त्व अवस्थातीत, निरपेक्ष, गुणातीत तत्त्व है।

रावण और हिरण्यकशिपुके राज्यमें भी गर्भपात-जैसा महापाप नहीं हुआ था! आज यह महापाप घर-घर हो रहा है। माँ ही अपनी सन्तानका नाश कर दे तो फिर किससे रक्षाकी आशा करें? बड़े दुःखकी बात है कि ऋषियोंकी सन्तान होकर आज लोग राक्षसोंसे भी नीचे चले गये! अगर संयम रखें तो नसबंदी, गर्भपात आदि पाप क्यों करने पड़ें!

मेरा जनसंख्या बढ़ाने या घटानेका उद्देश्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तिका उद्देश्य है।

××× ××× ××× ×××

राग ही जन्म-मरणका कारण है। राग मिटेगा जीवनका एक

उद्देश्य बननेसे। आजकल पढ़ाईका उद्देश्य क्या है—इसका भी मुझे अभीतक ठीक उत्तर मिला नहीं! **उद्देश्य बने बिना भटकना मिटेगा नहीं।** बचपनमें खेल-कूद अच्छा लगता था। बड़े होनेपर रुपयोंका उद्देश्य हो गया तो सब खेल-कूद छूट गये। ऐसे भगवान्‌का उद्देश्य हो जाय तो कितना लाभ है!

भगवान्‌को अपना मान लो तो सब काम ठीक हो जायगा। भगवान्‌के सिवाय अपना कोई था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। **अन्य भावोंकी अपेक्षा मित्रभावमें विलक्षणता है कि अपनेसे छोटे, समान तथा बड़े सबसे मित्रता हो सकती है।** भगवान्‌ने सिद्ध (निषादराज), साधक (विभीषण) और संसारी (सुग्रीव)—तीनोंको अपना मित्र बनाया। निषादराजने पहले भगवान्‌से कहा कि हमारे घर पधारो, विभीषणने बादमें कहा और सुग्रीवने कहा ही नहीं! अतः **आप कैसे ही हों, भगवान्‌के मित्र बन सकते हैं।** परन्तु साधक बनकर मित्रता करो, संसारी (भोगी) बनकर नहीं। भगवान्‌में तो मित्र, माता, पिता, गुरु, बेटा आदि सबकी भूख है! भरतजीमें दास्यभाव भी था, मित्रभाव भी था। खास बात है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** सबकी सेवा करो, पर किसीसे कुछ चाहो मत। **भगवान्‌से भी आशा मत रखो।**

××× ××× ××× ×××

परमात्माका ज्ञान परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही होता है और संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है—यह बात आप याद कर लें।

संसारको सत्ता-महत्ता देते हुए राग-द्वेष मिटेंगे नहीं और

राग-द्वेष मिटे बिना **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होगा नहीं। **जिसके भीतर राग नहीं है, वैराग्य है, वही 'वासुदेवः सर्वम्' को जान सकता है। वैराग्यकी आवश्यकता प्रत्येक साधकको है।**

'हमने रुपयोंका त्याग कर दिया है'—यह भाव भी रुपयोंका महत्त्व है। **त्याज्य वस्तुका महत्त्व होनेसे ही त्यागका अभिमान आता है।** अगर संसारके त्यागका अभिमान हो तो वास्तवमें संसारका तत्त्व जाना नहीं।

श्रोता—वैराग्य कैसे हो?

स्वामीजी—वैराग्य होता है—वैराग्यवान् सन्तका संग करनेसे अथवा उनकी बातें सुननेसे, उनकी पुस्तकें पढ़नेसे। भगवान्‌में प्रेम हो जाय तो संसारसे वैराग्य हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

संसारकी कोई भी वस्तु सुखबुद्धिसे न लें। भोजन करें तो औषधरूपसे करें। किसीसे बात भी करें तो उसमें सुख न लें। **सुख लेनेसे परमात्मप्राप्तिकी लगन नहीं होती, संसारमें खर्च हो जाती है।** लगनवालेको भगवान्‌की ओरसे सब चीज मिलती है। अतः लगन बढ़ायें। नामजप और प्रार्थना करें। कोई काम सुखबुद्धिसे न करें।

××× ××× ××× ×××

जैसे आपके मनमें स्वतः-स्वाभाविक यह भाव है कि हम यहाँ स्थायी रहनेवाले नहीं हैं, सत्संगके लिये आये हैं और चले जायँगे। ऐसे ही घरमें रहते हुए यह मान लें कि हम यहाँ आये हैं और चले जायँगे। यहाँ कोई रहनेवाला

नहीं है, सब जानेवाले हैं। जितना स्थायीभाव होता है, उतना ही अन्याय होता है।

नहीं सोचो तो शामकी भी मत सोचो, और सोचो तो जन्मके बादकी भी सोचो।

शरीरका पता नहीं, जो करना हो जल्दी कर लेना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

जैसे शरीरमें हृदय-देश मुख्य है, ऐसे भारत भूमण्डलका हृदय-देश है। इसमें मनुष्य अपनी बहुत जल्दी उन्नति कर सकते हैं। कलियुगमें तो बहुत जल्दी अपना कल्याण कर सकते हैं। भारतमें भी गंगा-यमुनाके बीचका देश विशेष पुण्यकारक है। इसमें पुण्यका फल भी बढ़िया होता है और पापका फल भी!

××× ××× ××× ×××

मेरे मनकी हो जाय—इसका नाम कामना है। **हम सभीसे अपनी मनचाही चाहते हैं—यह बाधक है।** हमारा भाव यह होना चाहिये कि दूसरोंकी मनचाही हो जाय। यदि भगवान् और सन्तकी हाँ-में-हाँ मिला दें तो जीवन्मुक्त हो जायँ।

संसारका सम्बन्ध तो मनमें पड़ा है, पर समझते हैं बाहर!

भगवत्सम्बन्धी बातसे लाभ होता ही है, और संसार-सम्बन्धी बातसे नुकसान होता ही है।

किसीको बुरा समझना अपने लिये और उसके लिये—दोनोंके लिये हानिकारक है।

××× ××× ××× ×××

कल्याण गंगाजीमें नहीं पड़ा है, आपके भावमें पड़ा है—

'जेहि जिव उर नहचो धरै, तेहि ढिग परगट होय' (जीव जहाँ निश्चय करता है, भगवान् वहीं प्रकट हो जाते हैं)। गंगास्नान, नामजप आदि करके निश्चिन्तता आ जानी चाहिये कि अब हमारा कल्याण होगा ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। निश्चिन्तता असली होनी चाहिये, नकली नहीं। ***'सबै भूमि गोपाल की, तिसमें अटक कहा। जिसके मनमें अटक है, सोई अटक रहा॥'*** वास्तवमें कल्याण स्वतःसिद्ध है, पर जीवने अपनी मान्यतासे बन्धन कर रखा है। बन्धन, दुःख, दरिद्रता आपकी बनायी हुई है।

हे नाथ! मैं आपका हूँ, अब कुछ करना-जानना-पाना नहीं, कोई भय-चिन्ता नहीं—यह इसी क्षण स्वीकार कर लें।

भगवान् किसी जीवसे अलग हो जायँ—यह भगवान्‌की सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्‌के बिना नरककी भी सत्ता नहीं है। **भगवान् जैसे वैकुण्ठमें हैं, वैसे-के-वैसे ही नरकोंमें भी हैं। जो कहीं हो, कहीं न हो, वह भगवान् नहीं हो सकता। जो किसीका हो, किसीका न हो, वह भी भगवान् नहीं हो सकता।** भगवान्‌का कहीं भी अभाव कैसे हो सकता है? आप पाप करते हो तो भगवान् नरकमें उसकी सजा देते हैं। उस सजामें भी मजा है! उससे जीवके पाप कटते हैं और वह शुद्ध होता है। भगवान्‌के प्रसादमें करेला भी होता है, रसगुल्ला भी। शुद्ध-से-शुद्ध जगहमें और गन्दी-से-गन्दी जगहमें भी भगवान् वैसे-के-वैसे ही हैं। गन्दापना अनित्य है, भगवान् नित्य हैं। अच्छी-गन्दी आपकी भावना है। यह हमारी बनायी हुई है, भगवान् बनाये हुए नहीं हैं।

'जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं' (मानस, किष्किन्धा० १०।२)— **यह आपकी धारणाके कारण है। वास्तवमें भगवान् 'जतन' के अधीन नहीं हैं।** आप उन्हें स्वीकार कर लें तो वे आ जायँगे। भगवान् सब जगह हैं, पर आप उनको स्वीकार नहीं करते—यही बाधा है। यदि आपसे स्वीकार नहीं होता तो रोकर भगवान्‌से कहो। आपमें बेचैनी आनी चाहिये। व्याकुल हो जाओ तो समाधान हो जायगा। अगर व्याकुलता कम होती है तो देरी होगी, पर लाभ अवश्य होगा। आप देरी सहते हो, इसलिये देरी होती है। या तो मस्त, निर्भय, निश्चिन्त हो जाओ, या व्याकुल हो जाओ। कोई एक पूरी बात हो। अधूरापन नहीं रहना चाहिये। जैसा आपका स्वभाव हो, वैसा हो जाओ।

××× ××× ××× ×××

'मैं गृहस्थ हूँ'—यह अहंता रहेगी तो गृहस्थका काम तत्परतासे होगा, साधनका काम बारी निकालना होगा। अतः 'मैं साधक हूँ'—यह अहंता होनी बहुत आवश्यक है। ऐसी अहंता रहनेपर साधनविरुद्ध काम नहीं होगा। अहंता (मैं-पन) बदलनेपर जीवन बदल जाता है।

अच्छा साधक भूलमें भी साधन-विरुद्ध काम नहीं करता। वह शरीरकी भी परवाह नहीं करता। **शरीरका विशेष ख्याल रखेगा तो साधन ठीक नहीं होगा**—*'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि'* (मानस, अयोध्या० १४२।१), *'राम भजनमें देह गले तो गालिये'*।

××× ××× ××× ×××

बेईमानीसे बन्धन है, ईमानदारीसे मुक्ति है। संसार-शरीरको

अपना मानना बेईमानी है। विचार करें, शरीरपर अपना वश चलता है क्या? या तो इसपर अपना अधिकार जमा लो, या इसको अपना मानना छोड़ दो। शरीर किसी भी दृष्टिसे अपना नहीं है। शरीर संसारसे अलग नहीं हो सकता। शरीरको संसारकी सेवामें लगाना कर्मयोग है, प्रकृतिका मानना ज्ञानयोग है और भगवान्‌का मानना भक्तियोग है। शरीरको अपना मानना जन्ममरणयोग है!

जिसकी चीज है, उसीको दे दी तो मुक्ति हो गयी। अपना माननेमें जोर आता है, छोड़नेमें क्या जोर? प्रबन्ध करो, पर अपना मत मानो। जो चीज मिली है और बिछुड़नेवाली है, वह वस्तु अपनी नहीं होती। अपनी वस्तु 'शोकशंकु' (शोकरूपी काँटा) है—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

(विष्णुपुराण १।१७।६६)

'जीव अपने मनको प्रिय लगनेवाले जितने ही सम्बन्धोंको बढ़ाता जाता है, उतने ही उसके हृदयमें शोकरूपी काँटे गड़ते जाते हैं।'

श्रोता—निर्विकल्प बोध और उसकी प्राप्तिकी विधि क्या है?

स्वामीजी—बोध है—'है', और विधि है—'नहीं' का त्याग।

××× ××× ××× ×××

जैसे विवाह होनेके बाद व्यक्ति आजीवन विवाहित ही रहता है, कुआँरा नहीं होता, ऐसे ही आप एक बार भगवान्‌के

शरण होनेके बाद सदा शरणमें ही रहें। सन्तुष्ट हो जायँ कि अब अपने घर आ गये! अब भजन-स्मरण ही करना है। संसारकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे हमें कोई मतलब नहीं। अब हम भगवान्‌के हो गये। जैसे, अब हम विद्यालयमें भरती हो गये, अब हमें पढ़ाई करना है। यह सावधानी रखें कि समय व्यर्थ न जाय। किसी समय भगवान्‌का चिन्तन न हो तो यह घाटा है, नुकसान है। **भगवत्प्राप्तिमें देरी आपके कारण हो रही है। आप देरीको सहन कर रहे हो।** भगवत्प्राप्ति, तत्त्वज्ञान अथवा संसारका त्याग तत्काल होता है, धीरे-धीरे नहीं। क्या विवाह होनेमें, दान देनेमें कई दिन लगते हैं?

किसी गुरुमें श्रद्धा न रहे तो उनके दिये नामकी एक माला रोज जप ले और उनकी निन्दा न करे।

××× ××× ××× ×××

व्यवहारमें तो संसार है—ऐसा दीखता है, पर विचार करें तो संसार निरन्तर अभावमें जा रहा है। संसारका अभाव ही सच्चा है, संसार सच्चा नहीं है। 'है' का विभाग परमात्मा हैं और 'नहीं' का विभाग संसार है। संसार बनावटी है। बनावटी चीज नकली होती है। जैसे मिट्टीके बरतन बनावटी हैं, मिट्टी ही सत्य है, ऐसे ही संसार बनावटी है, परमात्मा ही सत्य हैं। संसारसे परमात्माको, मिट्टीके बर्तनोंसे मिट्टीको निकाल दो तो क्या शेष रहेगा? संसाररूपसे परमात्मा ही बने हुए हैं। अतः भाव, क्रिया, पदार्थसे सबको सुख पहुँचायें, किसीको कष्ट न पहुँचायें तो यह '**वासुदेवः सर्वम्**' हो जायगा।

जो संसारसे कुछ चाहता है, वह घाटे-ही-घाटेमें रहता है।

×××   ×××   ×××   ×××

जिसके भीतर भगवत्प्राप्तिकी भूख हो, उसके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**' बहुत बढ़िया बात है। '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाला दुर्लभ महात्मा बन जाता है। **सब जगह भगवान्‌को देखनेवालेसे भगवान् कभी छिप नहीं सकते—यह रहस्यकी बात है।** तू ही है—यह परमात्माकी उपासनाका एक तरीका है।

'वे' उसको कहते हैं, जो खास अपने हैं। 'वही', 'सोई' का भी यही तात्पर्य है—यह गुप्त बात है। रामायणमें कई जगह 'सोई' पद आया है।

सब जगह भगवान्‌को ही देखना उनको पकड़नेका उत्तम साधन है।

×××   ×××   ×××   ×××

संसारका परिवर्तन कभी बन्द नहीं होता, निरन्तर चलता रहता है। **संग्रह और सुखभोगके समय यह परिवर्तनशील नहीं दीखता, आँखें मिच जाती हैं!** यदि साधककी दृष्टि संसारकी परिवर्तनशीलताकी तरफ निरन्तर बनी रहे तो भोग तथा संग्रहकी इच्छा नहीं रहेगी। भोग तथा संग्रहकी इच्छा मिटनेसे ही साधन बनता है, अन्यथा बेहोशी रहती है। शरीर-संसार जा रहे हैं—यह जागृति रहनी चाहिये। परिवर्तनशीलका ज्ञान होनेसे अपरिवर्तनशीलका ज्ञान स्वतः हो जाता है। संसारके परिवर्तनमें कभी विश्राम होता ही नहीं। संसारमें निरन्तर श्रम-ही-श्रम है। विश्राम केवल परमात्मामें ही है।

परिवर्तनको देखनेसे परिवर्तन मिट जायगा। अपरिवर्तनको देखनेसे अपरिवर्तनकी प्राप्ति हो जायगी। इन दोनोंका नाम योग है। संसारका सम्बन्ध विवेक-विरोधी है और परमात्माका सम्बन्ध विवेक-सम्मत है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारका अभाव हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

दूसरोंके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध न रखकर केवल सेवाका सम्बन्ध रखे। सेवाके लिये ही सम्बन्ध रखनेसे वह सम्बन्ध बन्धनकारक नहीं होगा। समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्यको केवल सेवामें ही खर्च करना है।

अपने लिये कर्म करनेसे शरीरमें अहंता-ममता दृढ़ होते हैं और दूसरोंके लिये कर्म करनेसे अहंता-ममता शिथिल होते हैं। **दूसरोंके साथ केवल सेवाका सम्बन्ध रखनेका परिणाम है—सम्बन्ध-विच्छेद। चाहे मैं-मेराका सम्बन्ध न रखे, चाहे सेवाका सम्बन्ध रखे, दोनोंका परिणाम एक ही है—सम्बन्ध-विच्छेद।** दोनों ही साधन हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता २।४७)

'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं।'

तात्पर्य है कि हमारा दूसरोंकी सेवा करनेका अधिकार है, सेवा लेनेका नहीं। कर्तव्य अपना है, अधिकार दूसरेका। जैसे, माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है।

××× ××× ××× ×××

जो कुछ करता है, केवल अपने लिये करता है, वह साधक नहीं होता, प्रत्युत संसारी होता है। चाहे संसारके लिये करो, चाहे प्रकृतिके लिये करो, चाहे भगवान्‌के लिये करो, पर अपने लिये मत करो। संसारके लिये करना भौतिक साधना (कर्मयोग) है, प्रकृतिके लिये करना आध्यात्मिक साधना (ज्ञानयोग) है और भगवान्‌के लिये करना आस्तिक साधना (भक्तियोग) है।

आपका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति हो तो आप संसारको सत्य मानो, असत्य मानो, अनिर्वचनीय मानो, साधन हो सकता है। **संसारकी सत्ता नहीं बाँधती, इसकी महत्ता, स्वार्थबुद्धि, लेनेकी इच्छा ही बाँधनेवाली है।** यदि संसारको सत्य मानो तो उसकी वस्तुओंसे संसारकी सेवा करें। कर्मसे सेवा तेज है, सेवासे पूजा तेज है। दूसरेकी सुख-सुविधाके लिये कर्म करनेसे कल्याण हो जाता है—यह भौतिक साधना है। सड़कपर काँटा पड़ा हो तो उसको एक तरफ कर देना भौतिक साधना है। सबको भगवत्स्वरूप मानकर पूजनबुद्धिसे उनकी सेवा करें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा। बन्धन लेनेसे होता है। त्यागनेसे बन्धन खुल जाता है।

सरोवरमें डुबकी लगाओ तो मनों जल ऊपर रहनेपर भी अपने ऊपर भार नहीं आयेगा। परन्तु अपना मानकर घड़ा कंधेपर लोगे तो भार हो जायगा। भार अपना माननेमें है।

कल्याण त्यागसे होता है, वेदान्त पढ़नेसे नहीं।

××× ××× ××× ×××

विचार करना चाहिये कि अबतक कितने वर्ष बीत गये, उसमें हमने क्या किया? यदि यही गति रही तो आगे कब

काम पूरा होगा? यदि नहीं कर सकते तो गति बदलो। हम प्रतिक्षण मर रहे हैं। एक-एक श्वासको कीमती समझो।

××× ××× ××× ×××

परिवार-नियोजन भारतवर्षके लिये बड़ी घातक चीज है। भारतमें जितने तरहका अन्न, फल, जड़ी-बूटी आदि पैदा होती हैं, उतनी किसी देशमें नहीं। यहाँ सूर्यकी कई तरहकी किरणें पड़ती हैं। यहाँ छः ऋतुएँ होती हैं, जो अन्य जगह नहीं होतीं। शूरवीर, सती, ब्रह्मचारी, राजा, सन्त-महात्मा आदि जैसे इस देशमें हुए, उतने अन्य देशमें नहीं।

××× ××× ××× ×××

करनेसे ही बन्धन हुआ है। करना सर्वथा छोड़ दो तो तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। करनेसे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होता है। भगवान् भी अवतारकालमें प्रकृतिकी सहायतासे ही क्रिया (लीला) करते हैं। जो सब देश-कालादिमें परिपूर्ण है, उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना? करनेसे तो हम उनसे दूर होते हैं! परमात्मा अप्राप्त नहीं हैं। करनेमें लगे रहनेसे उनका अनुभव नहीं होता। गीतामें भी **'एवं विदित्वा'** (२। २५) कहा है, **'एवं कृत्त्वा'** नहीं कहा।

श्रोता—परन्तु मनुष्य कर्म किये बिना रह सकता ही नहीं—**'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३। ५)।

स्वामीजी—प्रकृतिके परवश होनेसे ही करना पड़ता है। कोई रेलपर चढ़ जायगा तो उसे जाना ही पड़ेगा। परन्तु प्रकाशमें क्या क्रिया होती है? अतः **शान्त, चुप हो जाओ तो तत्त्वका अनुभव स्वतः हो जायगा।**

××× ××× ××× ×××

सभी ग्रन्थोंमें गीताकी वाणी विलक्षण है; क्योंकि यह भगवान्‌की वाणी है! भगवान् अनादि हैं। उनका सिद्धान्त बहुत विलक्षण है। वह सिद्धान्त है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है'। **मनका लगना और न लगना—ये दो अवस्थाएँ तभीतक हैं, जबतक एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता है। 'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेके लिये मन-वाणी-शरीरसे सबका आदर करें, सबका सुख चाहें। किसीका भी बुरा न चाहें।

यदि त्रिलोकीकी सेवा करना चाहते हो तो बुराई न करो, न सोचो, न सुनो, न कहो। बुराई छोड़नेसे भलाई स्वतः होगी। स्वतः होनेवाली चीज ही सदा रहती है। सद्‌गुण-सदाचार नित्य हैं। आसुरी सम्पत्तिको हटानेसे दैवी सम्पत्ति स्वतः प्रकट होगी। भलाईमें जो कमी है, उसीका नाम बुराई है।

हमें संसार स्वतः-स्वाभाविक दीखता है। वास्तवमें परमात्मा स्वतः-स्वाभाविक हैं, संसार नहीं। संसार परतः है। परमात्मा प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत प्रमाण उससे सिद्ध होते हैं। परमात्मासे प्रकाशित होनेवाली वस्तु परमात्माको कैसे प्रकाशित करेगी?

जबतक त्यागी है, तबतक त्याग नहीं हुआ। त्याग होनेपर त्यागी नहीं रहता।

××× ××× ××× ×××

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'—इसमें खास बात है ***'दूसरो न कोई'*** अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्‌को अपना मानें। एक भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न मानें।

केवल भगवान्‌को ही अपना माननेकी सामर्थ्य मनुष्यमें ही है, देवता आदिमें नहीं। गीतामें आया है कि देवता भी भगवान्‌के चतुर्भुज रूपको देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं (११।५२), फिर भी वे देवता बने बैठे हैं! भगवान्‌की प्राप्तिमें अन्यका आश्रय ही बाधा है। देवताओंमें अनन्यता नहीं है। आपकी इच्छा भी देवताओंकी इच्छा-जैसी है। अनन्यता भी भगवान्‌से माँगो। भूख न लगे तो भूखकी भूख तो लगनी चाहिये कि भूख कैसे लगे? तभी वैद्यके पास जाते हैं। ऐसे ही अनन्यताकी भूख लगनी चाहिये कि अनन्यता कैसे हो?

सन्त-महात्मा वही बात कहते हैं, जो हम कर सकते हैं। शास्त्र, धर्म, सन्त-महात्मा और भगवान्—ये कभी किसीके विमुख नहीं होते।

खोज करो तो गलती अपनी ही निकलेगी, भगवान्‌की नहीं। **जबतक दूसरेकी गलती दीखती है, तबतक हमारी बड़ी भारी गलती है।** दूसरोंकी तरफ देखे ही नहीं। भागवत, एकादश स्कन्धमें कदर्य ब्राह्मणकी कथा आती है। लोग उसपर पेशाब भी कर देते तो उसको लोगोंकी गलती न दीखकर अपनी ही गलती दीखती थी। जबतक दूसरेकी कमी दीखती है, तबतक अपनी बड़ी भारी कमी है।

××× ××× ××× ×××

ज्ञानकी पहली भूमिका 'शुभेच्छा' तो आपमें है। कमी दूसरी भूमिका 'विचारणा' की है। प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करो, सुचारुरूपसे करो। किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न हो। किसीके मनके विरुद्ध काम न हो। **हृदयमें किसीका**

बुरा सोचना छोड़ दो। इससे आध्यात्मिक मार्गमें बड़ी उन्नति होगी।

मीठा बोलण, निंब चलण, पर अवगुन ढक लैण।
पाँचों चंगा नानका, हरि भज, हाथां दैण॥

सत्संग सुननेवालोंसे लोग अच्छे बर्तावकी आशा रखते हैं। अमृतका प्रसार करो, विषका नहीं। **भला होनेके लिये बुराईका त्याग आवश्यक है।**

सबकी सेवा करें, आशा किसीसे न रखें। आशा पूरी होनेपर मोहमें फँस जायँगे और आशा पूरी न होनेपर क्रोधमें फँस जायँगे।

××× ××× ××× ×××

अनुकूल परिस्थिति मिले, प्रतिकूल न मिले—यह इच्छा कीट-पतंगसे लेकर ब्रह्माजीतक रहती है। परिस्थिति आने-जानेवाली है। वास्तविक तत्त्व सम है।

रुपयोंसे स्वाधीनता नहीं आती, प्रत्युत पराधीनता आती है। स्वाधीनता तब आती है, जब कोई इच्छा न रहे। मनचाही बात होनेपर राजी हो गये तो यह मनकी परतन्त्रता है। **सर्वथा इच्छारहित होना ही असली स्वतन्त्रता है।** राज्य, सम्पत्ति, योग्यता आदि सब 'पर' है। अपने जीनेकी इच्छा भी नहीं रहनी चाहिये। भगवान्‌की चाहमें अपनी चाह मिला दे। **मरनेकी इच्छा कोई नहीं करता, पर जीता कोई नहीं रहता!**

दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता। दूसरेके सुखसे सुखी होनेपर 'भोग'की इच्छा नहीं रहती, और दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर 'संग्रह'की इच्छा नहीं रहती।

कामना मिटनेसे ममता और अहंता—दोनों मिट जाती हैं।

चाहरहित मनुष्यका हृदय कोमल होता है। चाहवालेका हृदय कठोर होता है।

××× ××× ××× ×××

राजनीति नरकोंमें जानेके लिये है—तपेश्वरी, फिर राजेश्वरी, फिर नरकेश्वरी। नीतिशास्त्रसे धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रसे मोक्षशास्त्र श्रेष्ठ है। मोक्षशास्त्र कल्याणके लिये है।

अपने लिये कुछ नहीं करना है। सब कुछ दूसरोंके लिये ही करना है। पंचकोश कहनेका तात्पर्य यही है कि यह प्रकृतिका है, हमारा नहीं है। जप, तप, ध्यान, समाधि आदि भी अपने लिये नहीं हैं। तीनों शरीर मेरे लिये नहीं है, फिर उनसे किये गये जप, तप आदि मेरे लिये कैसे हुए?

श्रोता—भजन क्या है?

स्वामीजी—जैसे बच्चा माँके बिना, प्यासा पानीके बिना रह नहीं सकता, ऐसे ही भगवान्‌के बिना रह न सके—इसका नाम भजन है।

जैसे करोड़पतिका लड़का पितासे दस-पंद्रह हजार रुपये माँगता है तो वह अलग होना चाहता है, ऐसे ही **भगवान्‌से कुछ माँगना उनसे अलग होना है।**

भगवान् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिको, साधु-संन्यासीको नहीं मिलते, प्रत्युत 'भक्त'को मिलते हैं। बालक माँपर अधिकार अपनेपनसे करता है, तपस्या, सामर्थ्य, योग्यतासे नहीं। **तपस्यासे प्रेम नहीं मिलता, शक्ति मिलती है।**

वर्ण और आश्रम मर्यादा रखनेके लिये हैं, अभिमान करनेके लिये नहीं।

××× ××× ××× ×××

निष्काम होनेसे मनुष्य मुक्त, भक्त सब हो जाता है। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध मानें तो कामना नहीं रहेगी। भगवान्‌से भी बढ़कर संसार हमें कुछ दे सकता है क्या?

जबतक संसारमें आसक्ति है, तबतक भगवान्‌में असली प्रेम नहीं है।

आप भगवान्‌के किसी मनचाहे रूपको मान लो और भगवान्‌के मनचाहे आप बन जाओ।

××× ××× ××× ×××

तत्त्वज्ञान होनेके बाद दास्य, सख्य आदि भाव होते हैं। ये भाव चिन्मयके साथ होते हैं, जड़के साथ नहीं। जड़में दास्य, सख्य आदि भाव होनेसे कल्याण नहीं होता।

संसारका ज्ञान होनेसे ही वैराग्य होगा। जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी काम नहीं देता, ऐसे ही सीखा हुआ ज्ञान काम नहीं देता।

पहले विवेकका आदर करो, फिर ज्ञान, भक्ति सब हो जायँगे। अविवेकको दूर करनेका नाम विवेक है। अज्ञानको दूर करनेका नाम ज्ञान है। शरीर 'मैं' और 'मेरा' है—यह अविवेक है। शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। सम्बन्ध जोड़ना अथवा तोड़ना वर्तमानकी वस्तु है और इसमें कोई असमर्थ और पराधीन नहीं है।

××× ××× ××× ×××

आप कैसे ही हों, अभी इसी क्षण मान लें कि मैं भगवान्‌का हूँ। यह भक्ति है। इसमें जड़ता नहीं है। जबतक सुख-आराम, मान-बड़ाई आदिकी चाहना रहेगी, तबतक जड़ता

रहेगी। अतः *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*—ऐसा मान लें तो जो भक्ति अंतमें है, वह अभी हो जायगी। सख्य, दास्य आदि भाव भी अभी हो सकते हैं।

गीतासे मेरा सर्वप्रथम परिचय सं० १९७२ में (बारह वर्षकी अवस्थामें) हुआ था। गीताके विषयमें कोई मुझे सिखा दे, ऐसा न कोई व्यक्ति मिला, न कोई गीताकी टीका मिली! गीताके विषयमें मैं अपनेको अनजान भी नहीं मानता और पूर्ण जानकार भी नहीं मानता; क्योंकि पूर्ण जानकार मान लेनेसे आगे उन्नति रुक जायगी। इसलिये मुझे अब भी गीतामें नयी-नयी बातें मिलती हैं।

जो थोड़ेमें ही सन्तोष कर लेते हैं और अपनेको पूर्ण मान लेते हैं, वे वास्तविक तत्त्वतक कैसे पहुँच सकते हैं? सन्तोष प्रारब्धमें करना चाहिये, नये कर्म अथवा साधनमें कभी नहीं। **अल्पमें सन्तोष मत करो। जीवन्मुक्त मत बनो।**

××× ××× ××× ×××

जिस विषयमें कुछ जानते हैं, वहाँ 'विवेक' लगता है। जिस विषयमें कुछ भी नहीं जानते, वहाँ 'श्रद्धा' लगती है। शरीर बदल गया, पर मैं वही हूँ—इसमें विवेक काम करेगा। शरीरके साथ सम्बन्ध मानना अविवेक है। अविवेकपूर्वक जोड़ा गया सम्बन्ध तत्काल मिटता है। **अविवेकको मिटाये बिना साधन शुरू ही नहीं होगा।** अविवेकको मिटानेसे तत्काल सिद्धि होती है। विवेकका आदर न करनेका नाम 'अविवेक' है। **विवेकका आदर करनेसे सभी साधन सुगम हो जायँगे।**

भगवान् मेरे हैं—यह श्रद्धा है। भक्ति श्रद्धाप्रधान है। तात्पर्य है कि भक्तिमें विवेक होते हुए भी श्रद्धाकी प्रधानता है। कोई भी साधन विवेकके बिना नहीं है। विवेक तत्काल होता है, इसका टुकड़ा नहीं होता।

भगवान्‌में श्रद्धा करो और संसारका त्याग करनेमें विवेक लगाओ।

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्तिकी अभिलाषा कम है, इसलिये यह कठिन दीख रही है। विचार करनेसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग— तीनों सुगम दीखते हैं। गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगको ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगम बताया है। रामायणमें ज्ञानको समझना सुगम और भक्तिका मार्ग सुगम बताया है*, तथा ज्ञानका मार्ग कठिन और भक्ति को समझना कठिन बताया है†।

शालिग्राम भगवान् हैं—यह समझना बड़ा कठिन है, पर श्रद्धा-विश्वास कर सकते हैं। अतः भक्तिमें समझना कठिन है, पर श्रद्धा-विश्वास करना सुगम है।

ज्ञानयोगमें पहले देहाभिमानका त्याग करना है। जीव, जगत् और ब्रह्मको बुद्धिका विषय बनायेंगे तो ज्ञानयोग कभी सिद्ध नहीं होगा।

प्रत्येक साधकके लिये खास बाधा है—सुख-लोलुपता। सुखासक्तिका त्याग किये बिना प्रत्येक साधन कठिन पड़ेगा।

---

* 'निर्गुन रूप सुलभ अति' (मानस, उत्तर० ७३ ख)
'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा' (मानस, उत्तर० ४६।१)

† 'ग्यान पंथ कृपान कै धारा' (मानस, उत्तर० ११९।१)
'सगुन जान नहिं कोइ' (मानस, उत्तर० ७३ ख)

कल्याण सुगमतासे, शीघ्र और हरेकका हो जाय—इसका मैं पक्षपाती हूँ, साधन चाहे कोई भी हो!

गीतामें सांख्ययोगसे कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया है—'**तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५ । २), और कर्मयोगसे भक्तियोगको श्रेष्ठ बताया है—'**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः**' (गीता ६ । ४७)। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग लौकिक हैं, भक्तियोग अलौकिक है। ज्ञान कठोर है, भक्ति बहुत कोमल है!

भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९ । ३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

'**अनन्यभाक्**' का अर्थ है—अनन्य आश्रय। पतिव्रताकी तरह एकका ही आश्रय हो—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** '**साधुरेव स मन्तव्यः**'—यह प्रभुसम्मत वाक्य है। अब एक परमात्माको ही प्राप्त करना है—यह '**सम्यग्व्यवसितो हि सः**' है।

××× ××× ××× ×××

श्रवण, मनन आदि 'पिपीलिका मार्ग' है और सत्संग 'विहंगम मार्ग' है। सत्संगसे तत्काल सिद्धि होती है। **जो एकान्तमें बैठकर भजन करनेकी बात कहते हैं, वे न सत्संगके**

तत्त्वको जानते हैं, न भजनके तत्त्वको। वे ऐसा कहकर दूसरेका बड़ा भारी अहित करते हैं।

दूसरेको सुख देनेसे अपनी सुखलोलुपता मिटती है। अपने सुखके लिये कुछ भी करना आसुरी वृत्ति है। यह सुखलोलुपता बड़ी भारी बाधा है। जबतक यह है, तबतक कल्याण नहीं होगा। **सुखलोलुपताकी डोरी बँधी रहेगी तो रातभर नाव खेते रहो, भजन-ध्यान करते रहो, पर वहीं-के-वहीं रहोगे।** सुखलोलुपतासे नुकसान किसी तरहका बाकी नहीं, लाभ कोई नहीं।

××× ××× ××× ×××

जैसे दाहिका और प्रकाशिका—दोनों शक्तियाँ अग्निसे अलग नहीं रह सकतीं, ऐसे ही क्षर (अपरा) और अक्षर (परा)—दोनों शक्तियाँ परमात्मासे अलग नहीं रह सकतीं। शक्ति शक्तिमान्के बिना नहीं रह सकती, पर शक्तिके बिना शक्तिमान् रह सकता है। शक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकती। शक्तिमान्की स्वतन्त्र सत्ता है। शक्तियों (क्षर और अक्षर)-के बिना परमात्मा रह सकते हैं, इसलिये भगवान्ने अपनेको क्षर-अक्षर दोनोंसे अन्य बताया है—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (गीता १५।१७)।

परमात्माके टुकड़े नहीं होते। प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे जीव अंश हुआ है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। जैसे धनी भी आदमी है, गरीब भी आदमी है। धनको स्वीकार करनेसे वह धनी कहलाता है, धनको स्वीकार न करे तो वह आदमी तो है ही। ऐसे ही **प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे जीव है, न पकड़े तो साक्षात् ब्रह्म है।**

चेला बनानेवाले बड़ा अपराध करते हैं कि चेलेकी पूर्ति (कल्याण) तो कर सकते नहीं और चेलेको अटका देते हैं— कहीं जाने देते नहीं।

××× ××× ××× ×××

सबके अनुभवकी बात है कि संसारमें सन्तोष नहीं होता, तृप्ति नहीं होती। बड़े-से-बड़े धनी आदिको देख लो, कोई भी सन्तुष्ट नहीं है। **संसारमें जो मिला है, वह नमूना है। उसमें सन्तोष नहीं हुआ तो त्रिलोकीकी वस्तुएँ मिलनेपर भी सन्तोष होगा नहीं।** सब-के-सब व्यक्ति-पदार्थ मिलकर एक व्यक्तिको भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। कारण कि **सब वस्तुएँ शरीरतक पहुँचती हैं, आपतक नहीं पहुँचतीं।** इसलिये इनसे ऊँचा उठना है। शान्ति प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें है।

हम भोगोंका त्याग तो कर सकते हैं, पर परमात्माका त्याग कर सकते ही नहीं। भर्तृहरिजीने भोगोंका त्याग कर दिया और फिर भगवान्‌में ही लग गये, उनको नहीं छोड़ा।

××× ××× ××× ×××

अनेक जगह सत्ता माननेसे मन एक जगह नहीं लग सकता। यदि मनमें अनेक सत्ताका भाव न होकर एक परमात्मसत्ता ही रह जाय तो फिर मन कहाँ जायगा? क्यों जायगा?

जैसे शरीर बदलता है, हम वही हैं, ऐसे ही संसार बदलता है, परमात्मा वही हैं। जो बदलता है, उसकी सत्ता विद्यमान नहीं है। बदलनेवालेसे ममता करनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता। **परिवर्तन यह कहता है कि मेरेपर विश्वास**

मत करो। संसारमें परिवर्तन जरूरी है। परिवर्तन न हो तो संसार तस्वीर हो जायगा। जो हरदम नहीं रहता, वह आपका नहीं है। चाहे उसे कायम रख लो, चाहे अपना मत मानो।

××× ××× ××× ×××

मुक्तिमें भेद है, पर प्रेममें कोई मतभेद नहीं है। दार्शनिक एकता नहीं होती, प्रत्युत प्रेमकी एकता होती है। संसारमें ममता होती है, भगवान्‌में आत्मीयता होती है। प्रेममें सब एक हो जाते हैं, कोई मतभेद नहीं रहता।

वास्तवमें मतभेद दोषी नहीं है, राग-द्वेष दोषी हैं।

ज्ञानमें आप हमारा निरादर कर सकते हैं, पर प्रेममें निरादर नहीं कर सकते। प्रेममें खटपट नहीं होती।

××× ××× ××× ×××

संसारका आकर्षण भगवत्प्राप्तिमें बहुत बाधक है। भोग और संग्रह—ये दो खास बाधाएँ हैं। आरम्भसे ही प्रभु-कृपाका आश्रय लेकर साधन करो। परमात्माकी प्राप्ति परिश्रम, उद्योग करनेसे नहीं होती। परमात्मप्राप्तिमें क्रिया और पदार्थ हेतु नहीं हैं, प्रत्युत भाव, प्रेम और शरणागति हेतु है। परमात्माकी प्राप्ति किसी मूल्यसे नहीं होती, प्रत्युत समर्पणसे, विश्वाससे होती है। **भगवच्चरणोंकी शरण लें और पुकार करें तो प्राप्ति हो जायगी, अन्य किसी साधनकी जरूरत नहीं।** बच्चा केवल रोकर सबपर अधिकार कर लेता है। भीतरकी पुकार, लगन, उत्कण्ठा, आतुरता भगवान्‌को पकड़ लेती है। इसे पहले ही पैदा कर लो, अन्यथा प्राप्तिमें देरी लगेगी। पुकारसे भगवान् पिघल जाते

हैं। आश्रय और लालसा—इन दो चीजोंकी जरूरत है। संयोगजन्य सुखकी आसक्ति खास बाधा है। इस रस्सीको खोले बिना नौका आगे बढ़ेगी नहीं।

भगवान् कल्पवृक्ष हैं। **जो शरीरको चाहता है, उसे भगवान् नया-नया शरीर देते रहते हैं।** परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो भोगासक्तिको मिटाओ। न मिटा सको तो भगवान्‌को पुकारो।

×××　　×××　　×××　　×××

अपनी सामर्थ्य, समय, समझ और सामग्री पूरी लगा दो। **पूरा बल लगानेपर भी काम न बने, तब भगवान् सहायता करेंगे।** वस्तु अभावग्रस्तको दी जाती है। जिसके पास वस्तु है, उसे कौन देना चाहेगा? अपने बलसे कामादि दोष दूर न हों, तब भगवान्‌को पुकारो, उनके आगे रोओ। भगवान् निर्बलकी सहायता करते हैं—**'सुने री मैंने निरबलके बल राम'। अपनी शक्ति लगाये बिना भगवान् कैसे दया करेंगे?** आपका उद्देश्य काम-क्रोधादिको दूर करनेका होना चाहिये। काम-क्रोधादि दोष सुहाये नहीं। उनसे सुख लेते रहोगे तो वे दूर नहीं होंगे। आपसे दूर न हों, तब प्रार्थना करो और प्रार्थना करके चिन्ता छोड़ दो। फिर जब ये दोष आयें, तब भगवान्‌से कह दो कि 'यह देखो नाथ, काम आ गया!' शरणागतिकी कसौटी है—सब चिन्ताएँ मिट जायँ।

जो अपने लिये सब कर्म करता है, वह राक्षस होता है। उसकी भगवान् मदद कैसे करेंगे?

धन कमानेमें तो घाटा भी लग सकता है, पर भगवद्भजनमें घाटा लगता ही नहीं।

मन लगे चाहे न लगे, नामजपको मत छोड़ो। नाममें इतनी शक्ति है कि मन भी लगा देगा। कोई पूछे तो कह दो, आपको पूछना हो तो कह दो और बिना पूछे कुछ कहनेकी मनमें आये तो कह दो—इन तीनोंके सिवाय कुछ मत बोलो और नामजप करते रहो। यह **आप करो तो मैं यह मान लूँगा कि आपने मेरा आदर कर दिया, मेरी पूजा कर दी, मुझे भेंट दे दी!**

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने कल्याणके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो कल्याणके लिये योग्यता भी दी है। अतः **यहाँ कल्याणके लिये योग्यता सम्पादन करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत प्राप्त योग्यताका सदुपयोग करनेकी जरूरत है।** नया सीखनेकी इतनी जरूरत नहीं है। जो मिला है, उसका सदुपयोग करना है।

महिमा मनुष्यशरीरकी नहीं, प्रत्युत विवेककी है। रामायणमें आया है—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

(मानस, उत्तर० १२१।५)

विवेकका सदुपयोग करनेसे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति—तीनों प्राप्त होते हैं। विवेकका दुरुपयोग करनेसे नरक प्राप्त होते हैं।

जो आप अपने लिये नहीं चाहते, वह दूसरोंके प्रति मत करो। यह बुद्धि भगवान्‌ने सबको दी है। **हम तो झूठ बोलें, पर दूसरा हमसे झूठ न बोले—यह विवेकका दुरुपयोग है।**

××× ××× ××× ×××

साधकोंके लिये सबसे पहले विवेककी आवश्यकता। शरीर और शरीरीको अलग-अलग जानना विवेक है। यह विवेक हमें है, पर हम इसका आदर नहीं करते। विवेक होता नहीं है, विवेक तो है। केवल उसकी तरफ लक्ष्य करना है, उसको महत्त्व देना है। गीताका आरम्भ भी शरीर-शरीरीके विवेकसे हुआ है। इसीको महत्त्व देना है, स्वीकार करना है, इसपर दृढ़ रहना है।

शरीरका सम्बन्ध अविवेकजन्य है। शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है—ऐसा अनुभव करना है। इसका ठीक अनुभव होनेको तत्त्वज्ञान कहते हैं। शरीरके साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धको मिटाना ही सत्संग है। विवेकमें अभ्यास नहीं होता, प्रत्युत विचार होता है।

××× ××× ××× ×××

मेरी मान्यतामें गोस्वामी तुलसीदासजी एक स्मृतिकार 'ऋषि' थे। उनकी रचनाओंका प्रमाण माना जाता है। उनकी कवितामें बड़ी विलक्षणता है। **भगवान्‌का चरित्र और भक्तकी वाणी होनेसे रामायण बहुत विलक्षण ग्रन्थ है।** यह भगवान्‌की कृपासे निकली हुई वाणी है। भविष्यमें संस्कृत जाननेवाले बहुत कम रह जायँगे, इसलिये भगवान् शंकरने हिन्दीमें रामायणकी रचना करनेकी आज्ञा दी।

गीता और रामायण दोनों ग्रन्थ मुझे बहुत प्रिय लगते हैं। दो ही मुख्य भाषाएँ हैं—संस्कृत और हिन्दी। दोकी ही वाणी मुख्य है—भगवान्‌की वाणी और भक्तकी वाणी। रामचरितमानसकी रचना मुझे बड़ी विलक्षण लगती है। इसे सुननेमें मेरी रुचि रहती है।

गोस्वामीजीने अयोध्याकाण्ड पहले लिखा है। अयोध्याकाण्डकी रचनामें वे नियमसे चले हैं; क्योंकि भरतजी भी नियम (मर्यादा)-से चलते हैं। वे सभी काण्ड दोहेसे शुरू करते हैं, पर सुन्दरकाण्ड चौपाईसे शुरू करते हैं; क्योंकि दोहा विश्राम होता है। हनुमान्‌जी विश्राम नहीं करते— ***'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'*** (मानस, सुन्दर० १), इसलिये गोस्वामीजीने सोचा कि जब हनुमान्‌जी विश्राम नहीं करते तो मैं विश्राम क्यों करूँ?

रामायण गृहस्थोंके लिये विशेष कामकी है। किसको कैसा आचरण करना चाहिये—यह शिक्षा रामायणसे मिलती है। रामायणमें बहुत शिक्षाएँ भरी हुई हैं। रामायण सब रीतियोंसे विलक्षण है!

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

(मानस, बाल० १७। २)

भरतजीका मनरूपी भ्रमर रामजीके चरणकमलोंपर मँडराता है, इसलिये भरतजीके चरणोंको कमलकी उपमा नहीं दी। यदि भरतजीके चरणोंको कमलकी उपमा दें तो मनरूपी भ्रमर वहीं रहे, रामजीके चरणोंमें क्यों जाय? ऐसे ही ब्रह्माजीके चरणोंको भी कमलकी उपमा नहीं दी; क्योंकि वे कमलसे उत्पन्न हुए!

××× ××× ××× ×××

संसारसे मैं-मेरेका सम्बन्ध माना हुआ है। हमारा वास्तविक सम्बन्ध परमात्माके साथ है। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो***

न कोई'—इस प्रकार भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध होनेपर ही असली भक्ति होती है। **दूसरा मेरा है—यही भक्तिमें बाधक है; क्योंकि यह अनन्यता नहीं होने देता।** भगवान् अनन्यभक्तके लिये सुलभ हैं—**'तस्याहं सुलभः पार्थ'** (गीता ८।१४)।

संसार मेरा है—यह भाव बाधक है। इसे कैसे छोड़ें? ये सब सेवा करनेके लिये मेरे हैं, लेनेके लिये कोई मेरा नहीं है—यह दृढ़तासे मान लें। सेवा लेनेसे ही आप बँधे हैं। सेवा करनेसे कर्जा उतर जायगा।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीर बहुत दुर्लभ है, पर मिल गया, इसलिये दुर्लभताका पता नहीं चलता। मनुष्यशरीर किसलिये मिला है? हमें क्या करना है? इस तरफ ध्यान देनेकी बड़ी आवश्यकता है। यह अन्य योनियोंकी तरह नहीं है। यह इसलिये मिला है कि हम सदाके लिये दुःखोंसे छूट जायँ। परम आनन्द प्राप्त करनेके लिये मानवशरीर मिला है। कुछ करना, जानना और पाना बाकी न रहे—इसके लिये मानवशरीर मिला है। **भारत एक विलक्षण देश है। भारतमें जन्म कल्याणके लिये ही होता है।**

××× ××× ××× ×××

हम यहाँ आये हैं और जानेवाले हैं—यह मान लें। यह बहुत दामी बात है। कोई जन्म करके आ गया, कोई ब्याह करके आ गयी! इस बातका जप नहीं करना है, इसे बार-बार याद नहीं करना है। यह स्वीकृति है। इस बातकी हर समय जागृति रहनी चाहिये।

किसीके मरनेका दुःख होता है तो वास्तवमें ऋणका ही दुःख होता है। **जिससे जितना सुख लिया है, उतना सुख दिया नहीं और जिससे सुखकी आशा है, उसके मरनेसे ही दुःख होता है।** सभी दुःख स्वार्थमें ही भरे हैं।

××× ××× ××× ×××

ईश्वर कर्म नहीं करवाता, प्रत्युत फल भुगवाता है। मनुष्य कर्म स्वतन्त्रतासे करता है, फल परतन्त्रतासे भोगता है। काम करते हैं अपनी मरजीसे, फल भोगते हैं दूसरेकी मरजीसे। शुभकर्मका फल सब चाहते हैं, अशुभकर्मका फल कोई नहीं चाहता। इसलिये ईश्वर सबके हृदयमें रहकर फल भुगताते हैं—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥**' (गीता १८।६१)। अगर ऐसा मानें कि भगवान् ही कर्म करवाते हैं तो फिर शास्त्र, गुरु और शिक्षा सब निरर्थक हो जायँगे। मनुष्यमें मनुष्यपना नहीं रहेगा, वह पशु-पक्षियोंकी तरह परतन्त्र हो जायगा। जैसे कानून अपनेसे विरुद्ध कर्म करनेकी आज्ञा नहीं देता, ऐसे भगवान् अपनेसे विरुद्ध कर्म कैसे करवायेंगे? क्या सरकार बैंकमें चोरी करनेवालेकी सहायता करती है? सरकार तो रुपया जमा करवानेवालेकी ही सहायता करती है।

××× ××× ××× ×××

परमात्मा भी वर्तमान हैं, आप भी वर्तमान हैं, केवल इच्छाकी कमी है! परमात्माकी तरफ चलनेवालेके पास बैठनेसे शान्ति मिलती है—यह परमात्माके होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जैसे भगवान् नित्य हैं, ऐसे उनकी कृपा, सुहृत्ता आदि

गुण भी नित्य हैं। **भगवान्‌के बनाये हुए नियमों (न्याय)-में भी कृपा भरी हुई है।** गीतामें आया है—'**मामनुस्मर युध्य च**' (८।७) 'मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर'। यहाँ शंका होती है कि मन भगवान्‌में लगायेंगे तो युद्ध कैसे होगा? युद्धमें तो बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, नहीं तो गला कट जाय! युद्ध सब समय नहीं होता, पर स्मरण सब समय कर सकते हैं। अतः यहाँ स्मरण करनेका तात्पर्य है कि कामको अपना न मानकर भगवान्‌का मानकर करे। **भगवान्‌के लिये करनेसे प्रत्येक क्रिया 'पूजा' हो जायगी।** भगवान्‌का काम माननेसे काम करते समय विशेष सावधानी रहेगी।

भगवान्‌का प्रत्येक विधान कृपापूर्ण ही होता है। परम सुहृद् भगवान्‌के द्वारा हमारा अहित कैसे होगा? **भगवान्‌की कृपामें हित और प्यार दोनों होते हैं।**

××× ××× ××× ×××

मृत्यु सब जगह और सब समय खुली है। अतः जो काम आवश्यक हो, उसे जल्दी कर लो। परमात्माकी प्राप्ति आवश्यक काम है, जो खुद ही कर सकते हैं। यह काम भोजन करने और दवा लेनेकी तरह खुद ही कर सकते हैं, दूसरा नहीं। यह काम केवल बूढ़ोंके लिये ही नहीं है। यह बालकपनेसे ही करनेका काम है। **भजन, सत्संग करनेकी कोई अवस्था नहीं होती।**

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्ति, तत्त्वज्ञान, कल्याण जितना सुगम है, उतना संसारका काम भी सुगम नहीं है! परमात्मासे अलग किसीकी

भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (गीता ७।७), '**मत्त एवेति तान्विद्धि**' (गीता ७।१२)। सब कुछ परमात्माका ही स्वरूप है। भगवान् ही चौरासी लाख रूपोंसे प्रकट हुए हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा आये कहाँसे? **संसार नींदमें, बेहोशीमें दीखता है। आँख खुलते ही भगवान् दीखने लग जायँगे।** गहने बननेपर क्या सोना नहीं रहता? बर्तन बननेपर क्या मिट्टी नहीं रहती? भगवान् ही संसारमें अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। जब 'सब भगवान्‌के ही रूप हैं'—ऐसा देखेंगे तो कौन क्रोध करेगा? किसपर करेगा? कैसे करेगा? सब दोष मिट जायँगे।

××× ××× ××× ×××

गुरु बनानेसे उद्धार नहीं होता। अन्य सम्बन्धोंकी तरह यह भी एक सम्बन्ध है। श्रीशरणानन्दजी महाराजने कहा था कि जो मेरेसे अधिक जानता है, वह मेरा गुरु है और जो मेरेसे कम जानता है, वह मेरा चेला है! एकलव्यने गुरु बनाया नहीं, पर धनुर्विद्यामें अर्जुनसे भी तेज हो गया! **विद्या लेनेमें चेलेकी मुख्यता है, जायदाद लेनेमें गुरुकी मुख्यता है।**

वास्तवमें गुरु बनाया नहीं जाता, प्रत्युत गुरु बन जाता है। जिससे ज्ञान-प्रकाश मिले, वही गुरु है। दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरु बनाये, पर उन गुरुओंको मालूम ही नहीं कि हमारा कोई शिष्य है! पिंगलाके गुरु दत्तात्रेय बन गये और दत्तात्रेयकी गुरु पिंगला बन गयी, पर दोनोंको एक-दूसरेका पता ही नहीं! गुरु पराधीन होता है, चेला स्वाधीन!

भगवच्चरणोंके शरण होनेपर सब कुछ मिल जाता है।

'वासुदेवः सर्वम्' माननेवालेके लिये क्या गुरुकी आवश्यकता रहेगी?

××× ××× ××× ×××

ज्ञानमार्गमें विवेक मुख्य है। विवेक हरेक साधनमें आवश्यक है। इसलिये भगवान्‌ने गीताका आरम्भ विवेकसे ही किया है। भगवान्‌ने विवेकी पुरुषको 'पण्डित' कहा है—**'नानुशोचन्ति पण्डिताः'** (गीता २।११)। **जहाँ ममता होती है, वहाँ बुद्धि काम नहीं करती।** इसलिये डॉक्टरके घर कोई बीमार हो जाय तो दूसरे डॉक्टरको बुलाते हैं। काम-क्रोधादिसे भी बुद्धि नष्ट होती है। चिन्तासे भी बुद्धि नष्ट होती है—**'बुद्धिः शोकेन नश्यति'। सच्छास्त्र, सत्संग, सद्विचारसे विवेक बढ़ता है और शोक-चिन्ता मिटते हैं।**

माँको बालककी जितनी चिन्ता रहती है, उतनी बालकको नहीं। ऐसे ही असली गुरुको शिष्यकी जितनी चिन्ता रहती है, उतनी शिष्यको नहीं। अतः **गुरुकी चिन्ता मत करो, गुरु अपने-आप आयेगा।**

मनके अनुकूल परिस्थिति न होनेसे बाहरसे उच्चाटन होता है! काम-क्रोधादिसे भीतरसे उच्चाटन होता है।

पैसोंसे सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है।

××× ××× ××× ×××

जो जितने बड़े धनी हैं, वे उतने ही बड़े दरिद्र, मँगते हैं। धनियोंको लाखों-करोड़ों रुपयोंका घाटा होता है, पर गरीबको कभी घाटा होता ही नहीं।

रुपये काम नहीं आते, वस्तुएँ काम आती हैं। रुपयोंका

खर्च बढ़िया है, रुपये नहीं। यदि खर्चा न करो तो रुपयोंमें और कंकड़-पत्थरोंमें क्या फर्क है? कम-से-कम एक जगह तो खुली रखो, जहाँ कृपणता न रखकर खुला खर्च करो।

लोभ दो काम करता है—अन्यायपूर्वक कमाना और खर्चमें कंजूसी करना, आवश्यक खर्च न करना। **लोभ नहीं हो तो रुपया सुख नहीं दे सकता।**

××× ××× ××× ×××

भगवान् हैं—इस बातको दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लें। भगवान्‌का प्रह्लादजीके साथ जैसा सम्बन्ध था, वैसा ही हमारे साथ भी है। भगवान्‌को सदा अपने साथ मानें, फिर कोई भय नहीं—**'*बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय*'।** ऐसा भाव रखें कि भगवान् सब जगह होते हुए भी भगवान् विशेषतासे मेरे साथ हैं; क्योंकि मैं नाम जपता हूँ!

××× ××× ××× ×××

अपनी जगह स्त्री और पुरुष दोनों श्रेष्ठ हैं। जैसे, घड़ीका प्रत्येक पुर्जा अपनी जगह श्रेष्ठ है। दो जगह समान पहिये होनेसे रथ चलता है, पर पहिये अपनी जगह होने चाहिये। यदि दोनों पहिये एक जगह कर दें तो क्या रथ चलेगा? सेवा करनेकी ताकत जितनी स्त्रीमें होती है, उतनी पुरुषमें नहीं। स्त्रीमें पालन-पोषणकी विशेष शक्ति है। **जो भी अपने कर्तव्यका पालन करेगा, वह श्रेष्ठ हो जायगा।**

जो अपने कहनेमें न चले, उसे बेटा मत मानो। शरीरसे जूँ भी पैदा होती है, ऐसे ही वह भी पैदा हो गया! जूँको क्या बेटा मानते हो?

स्वभाव बिगड़ेगा तो कोई अपना नहीं होगा। स्वभाव सुधरेगा तो दुनिया अपनी हो जायगी।

खुद अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते और दूसरोंको कर्तव्य सिखाते हैं, फिर सीखेगा कौन? कर्तव्य अपना होता है, अधिकार दूसरेका।

××× ××× ××× ×××

रामायण-पाठका आनन्द भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। सांसारिक सुख पारमार्थिक सुखकी बराबरी नहीं कर सकता। जिस जगह रामायण-पाठ होता है, वह जगह तीर्थ बन जाती है। आप अपने-अपने घरोंमें भी रामायणका नवाह अथवा मासिक पाठ करें। कम-से-कम नौ दोहोंका पाठ अवश्य प्रतिदिन करें। नवरात्रके समय नवाह पाठ करें।

भगवान्‌की कृपा सबपर समान है, पर जो उनके सम्मुख हो जाता है, उसपर विशेष कृपा होती है। सामूहिक रामायण-पाठ जैसे उत्सव भगवान्‌की सम्मुखताके लिये ही होते हैं। यह 'अन्नप्राशन'-संस्कार है! इसमें भगवान् पारमार्थिक सुखका स्वाद चखाते हैं। यह सदाके लिये अमर बनानेवाला अमृत है।

××× ××× ××× ×××

हृदयसे ऐसा मान लें कि हम भगवान्‌के हैं। इस बातको आप दृढ़तासे पकड़ लें। ऐसा मानें कि अब हम अपने घरपर आ गये! अब भटकना समाप्त हो गया! हम शरीर, संसार, वर्ण, आश्रम, कुटुम्ब आदिके बने हुए हैं, उनके हैं नहीं। उनकी सेवा कर दो। हम तो भगवान्‌के ही हैं और भगवान् ही हमारे हैं। अब हम भगवानके हो गये, अपने घरमें आ गये। अब चिन्ता किस बातकी?

'अमरापुर म्हारो सासरो, पीहर सन्ता पास'! हमारा घर भगवान् हैं। हम यहाँ रहनेवाले नहीं हैं। हमें तो अपने घर जाना है। यह सच्ची बात है। नयी बात नहीं है।

हर समय यह भाव रहे कि हम तो भगवान्‌के घरमें हैं। सब संसार भगवान्‌का है। हम भगवान्‌के हैं। वास्तवमें भगवान् ही संसाररूपसे प्रकट हुए हैं। **'सब जग ईस्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय'—ऐसा भाव हो जाय तो यह शिकायत मिट जायगी कि मन भगवान्‌में लगता नहीं!**

××× ××× ××× ×××

जो अपने सुखके लिये अनेक वस्तुओंकी इच्छा करता है, उसको वस्तुओंके अभावका दुःख भोगना ही पड़ेगा। उसका अभाव कभी मिटेगा नहीं।

जैसे भूखके बिना भोजनसे सुख नहीं मिलता, ऐसे ही दुःखी हुए बिना संसारका सुख भोग सकते ही नहीं। दुःखी व्यक्तिको ही सुख मिलता है और सुखभोगका परिणाम भी दुःख ही है। अतः संयोगजन्य भोगोंके आदिमें भी दुःख है और अन्तमें भी दुःख है। गीतामें आया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५।२२)

'हे कुन्तीनन्दन! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग (सुख) हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।'

××× ××× ××× ×××

अभी भगवान्‌के मनमें देनेकी आयी है! भगवान् विशेष कृपा कर रहे हैं! यदि इस समय हम उनके सम्मुख हो जायँ तो बहुत लाभ होगा। अतः तत्परतासे भगवान्‌में लग जायँ।

भगवान्‌का आश्रय लेनेसे समग्रका ज्ञान होता है। मुक्ति होनेपर भी दार्शनिकोंमें अलगाव रहता है। यह अलगावपना भी मिट जाय—ऐसी बात गीता कहती है।

अन्तिम लक्ष्य प्रेम है, ज्ञान नहीं। प्रेम अन्तिम तत्त्व है। ज्ञानमें अलगाव रहता है। एकता प्रेममें होती है। प्रेममें सब एक हो जाते हैं। जैसे शरीरके सभी अंग मिलकर शरीर है, ऐसे ही सब मिलकर परमात्मा हैं। अपने शरीरके सभी अंगोंमें प्रियता होती है। **ठीक-बेठीकका भेद ज्ञानमें रहता है।** प्रेममें ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'?***

××× ××× ××× ×××

अभी भगवान् विशेष कृपा करके देना चाहते हैं। कारण कि अपने-आप नयी-नयी बातें भीतरमें पैदा होती हैं। इसमें अपना कोई बल, उद्योग नहीं है। कमजोर बालकका माँ विशेष ध्यान रखती है। इसी तरह हम भी कलियुगमें बहुत कमजोर हो गये हैं; अतः भगवान् हमारा विशेष ध्यान रखते हैं— ***'निरबल के बल राम'।*** ऐसे सत्संग-आयोजनोंमें भी निमित्त तो कई बन जाते हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌की विशेष कृपा है। दुकानदार जब मालकी बिक्री करना चाहता है, तब माल सस्ता और सुगमतासे मिल जाता है। इसी तरह भगवान् अभी माल लुटाना चाहते हैं!

यह शिकायत रहती है कि मन नहीं लगता। इस विषयमें तीन बातें याद रखें। पहली बात, संकल्पका सुख न लें। पुराना चिन्तन आये तो सुख लेनेसे पुराना विषय-चिन्तन नया हो जाता है। दूसरी बात, उसको मिटानेकी चेष्टा न करें। मिटानेकी चेष्टा करना भी उसको पुष्ट करना है। कारण कि पहले उसे कायम करते हैं, तभी तो मिटानेकी चेष्टा करते हैं। तीसरी बात, मूलमें संकल्प अपनेमें है ही नहीं। परन्तु ऐसा सीखनेसे वह मिटता नहीं। संकल्पको अपनेमें मिलाये नहीं। संकल्प तो आते-जाते हैं, पर मैं रहता हूँ, फिर ये मेरेमें कैसे?

विध्यात्मक साधनके साथ अहंकार रहता है। वृत्तियोंके साथ विरोध करनेसे उनमें बल आता है। अतः उनसे उपराम हो जायँ—'**शनैः शनैरुपरमेद्०**' (गीता ६। २५)। ऐसा मान लें कि उनसे हमारा मतलब नहीं है। हम ईश्वरके अंश, अविनाशी, चेतन, अमल, सहज सुखराशि हैं—यह बात हर समय याद रखें। पारमार्थिक मार्गमें कभी हार स्वीकार न करे; क्योंकि इस मार्गमें नफा ही होता है, नुकसान होता ही नहीं।

जो अपनी बात न माने, वह अपना कैसे?

××× ××× ××× ×××

साधकके लिये खास बात है—निर्दोषताका अनुभव करना। संसारमें जितने भी प्राणी हैं, सबका वर्तमान निर्दोष है। दोषोंकी उत्पत्ति और विनाश होता है। सभी विकार आदि-अन्तवाले हैं, पर हम आदि-अन्तवाले नहीं हैं। हम स्वयं सर्वथा निर्दोष हैं। **मेरेमें दोष नहीं हैं—इसका अभिमान करना भी भूल है और अपनेमें दोष मानना भी भूल है।**

जो निवृत्त है, उसीकी निवृत्ति होती है। जो प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति होती है। अतः हमारी सत्ता सर्वथा निर्दोष है। दोष दीखनेपर भी अपनेको दोषी न मानें। '**तांस्तितिक्षस्व भारत**' (गीता २।१४)—इनको सहनेका तात्पर्य है कि इनको अपनेमें मत मानो।

दोष कर्तामें होता है, करणमें नहीं। कर्ताने ही दोषको पकड़ा है, उसे अपनेमें माना है। वास्तवमें दोष है नहीं। कुत्ता घरमें आ जाय तो वह घरका मालिक नहीं हो जाता। दोष आते-जाते हैं, हम रहते हैं। अतः भूतकालके दोषोंको लेकर अपनेको दोषी मानना बहुत बड़ी भूल है।

××× ××× ××× ×××

विकार हमारे साथी नहीं हैं, हम विकारोंके साथी नहीं हैं। इसका अनुभव करना चाहिये। परिवर्तनशीलकी सत्ता विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २।१६)। हम स्वयं अपरिवर्तनशील हैं। हम सबके भाव-अभाव दोनोंको जानते हैं, पर अपने अभावको नहीं जानते।

सत्संगसे इतना लाभ होता है, जिसका कोई ठिकाना नहीं है! सत्संगसे अपने-आप बेहोशी मिटती है और होश आता है।

सुखमें तो हमारी मरजी भी होती है, पर दुःखमें शुद्ध भगवान्‌की मरजी (कृपा) होती है। हमारी दृष्टि कड़वी या मीठी दवाकी तरफ न होकर वैद्यकी तरफ होनी चाहिये।

बच्चेकी दृष्टि तीन अंगुल (जीभ)-की होती है। जीभको अच्छी न लगे तो वह दवा थूक देता है। बड़े आदमीकी दृष्टि तीन हाथ (शरीर)-की होती है। साधककी दृष्टि तीन जन्मोंकी

होती है। वह यह देखता है कि पिछले जन्ममें किये हुए कर्मोंका फल मैं इस जन्ममें भोग रहा हूँ और इस जन्ममें जो कर्म करूँगा, उनका फल अगले जन्ममें भोगना पड़ेगा। परन्तु सिद्ध महापुरुषकी दृष्टि असीम, व्यापक होती है— **'वासुदेवः सर्वम्'**।

××× ××× ××× ×××

अपना उद्धार करना नया काम नहीं है। मुक्ति स्वतःसिद्ध तत्त्व है। जीव परमात्माका है—यह स्वतःसिद्ध है। हमें स्वाभाविकतातक पहुँचना है। **मुक्ति होनेपर फिर बन्धन नहीं होता; क्योंकि मुक्ति स्वतःसिद्ध है। परन्तु बन्धन होनेपर मुक्ति होती है।** जन्म-मरण अपना बनाया हुआ है; जैसे—बीड़ी-सिगरेट पीनेकी आदत अपनी बनायी हुई है!

सदुपयोग करनेकी अपेक्षा भी दुरुपयोग न करनेकी बहुत महिमा है। अच्छा काम करनेवाले कई आदमी मिलेंगे, पर बुरा काम न करनेवाले कम मिलेंगे। वास्तवमें विहित करनेकी अपेक्षा निषिद्धका त्याग श्रेष्ठ है। त्यागकी बहुत महिमा है— **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२), **'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'** (कैवल्य० १। ३)।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यमात्र मुक्तिका, परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। हरेक अवस्था, परिस्थितिमें रहनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌की कृपा इतनी विलक्षण है कि उसकी महिमा कोई कह नहीं सकता। भगवान् जीवन्मुक्तपर भी कृपा करके उसे मुक्तिके आनन्दमें अटकने नहीं देते। उसे अपना प्रेम प्रदान करते हैं।

एक ही परमात्मा इतने रूपोंमें प्रकट हुए हैं कि उनकी गणना नहीं कर सकते। नौ लाख शक्तियाँ पैदा हुईं। प्रेमका रमण ही वास्तवमें रमण है—'**एकाकी न रमते**'। जैसे श्रीजी भगवान्‌से प्रकट हुईं, ऐसे ही आप-हम सब भगवान्‌से प्रकट हुए हैं। **खेलमें जो फुटबालको लेता है, वह हार जाता है और जो ठोकर मारता है, वह जीत जाता है। हमने सांसारिक वस्तुओंको ले लिया, इसलिये हार गये।**

आप रुपयोंको हाथका मैल भी कहते हो और ज्यादा रुपये (मैल) होनेपर मानते हो कि मैं बड़ा आदमी हो गया!

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—यह सुननेके लिये भगवान् लालायित हैं! वे आपसे हृदयसे स्वीकृति चाहते हैं। भगवान्‌को 'मेरा' कहनेवाला मनुष्य ही हो सकता है। पशु, पक्षी, प्रेत, भूत-पिशाच, देवता आदि कौन भगवान्‌को अपना कहता है? मनुष्य भगवान्‌को अपना न कहे तो भगवान्‌को विचार आता है—'**मामप्राप्यैव**' (गीता १६। २०)। मनुष्य विश्वमात्रकी सेवा कर सकता है। वह भगवान्‌का भी आदरणीय हो सकता है!

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनकी '**शाधि माम्**' (२। ७)—इस बातको तो पकड़ लिया, पर '**न योत्स्ये**' (२। ९)—इस बातको पकड़ा ही नहीं! भगवान् भक्तके बड़े लोभी हैं!

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस

(अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

मनुष्यको अन्तकालमें कुत्तेका स्मरण होता है तो वह कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है, और भगवान्‌का स्मरण होता है तो वह भगवान्‌को प्राप्त होता है। जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिले, उतने ही मूल्यमें भगवान् मिल जायँ! कितने सस्ते हैं भगवान्!!

भगवान् प्रतीक्षा करते हैं कि कोई कहे 'मैं आपका हूँ'। अतः सच्चे हृदयसे कह दें कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो भगवान् राजी हो जायँ!

××× ××× ××× ×××

एक भगवान्‌के शरण हो जाना है और अन्तमें '**वासुदेवः सर्वम्**' में पहुँचना है। ऐसे शरण होनेवाले महात्माको भगवान्‌ने अत्यन्त दुर्लभ बताया है— '**स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७। १९)।

हमारे हृदयमें परमात्माके सिवाय दूसरी वस्तुओंकी महत्ता है, इसी कारण परमात्मप्राप्ति दुर्लभ हो रही है। परमात्मा सब जगह हैं, पर प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी प्रियता हमें उनसे विमुख करती है।

××× ××× ××× ×××

पारमार्थिक तत्त्वकी तरफ चलनेके लिये पारमार्थिक चर्चा करते हैं, पर इससे भी आवश्यक है—व्यवहार शुद्ध करना। कारण कि वास्तवमें परमार्थ नहीं बिगड़ा है, व्यवहार बिगड़ा है। परमात्मतत्त्वको बनाना नहीं है। स्वभावको शुद्ध बनाना है। सूर्यको नहीं बनाना है, प्रत्युत अपने नेत्रोंको शुद्ध, ठीक करना है।

परमात्मासे दूर रहकर परमात्माका असली स्वरूप नहीं जान सकते। कारण कि हम परमात्माके साक्षात् अंश हैं। संसारको महत्त्व देनेसे न परमात्माका ज्ञान होगा, न संसारका। हम परमात्मासे अलग नहीं हुए हैं, प्रत्युत विमुख हुए हैं। विमुख होनेका तात्पर्य विपरीत दिशामें मुख करना नहीं है।

××× ××× ××× ×××

इन्द्रियों और मनसे होनेवाले सुखको छोड़े बिना आप जी नहीं सकते। नींद न आये तो मनुष्य पागल हो जाय! **मन और इन्द्रियोंके सुखके बिना हम जी सकते हैं। सुख मन-इन्द्रियोंसे ही होता है—यह धारणा गलत है।** गाढ़ नींद (सुषुप्ति)-में मन-इन्द्रियोंके बिना भी सुख होता है—इसका अनुभव पशु, पक्षी, वृक्षको भी होता है। वास्तवमें मन-इन्द्रियोंके बिना जो सुख होता है, वह मन-इन्द्रियोंसे होता ही नहीं। कारण कि मन-इन्द्रियोंके सुखसे थकावट आती है। निद्रासे शरीर-मन-इन्द्रियोंमें ताजगी आ जाती है।

श्रोता—सुषुप्ति और समाधिमें क्या फर्क है?

स्वामीजी—सुषुप्तिमें मूर्च्छा होती है, समाधिमें जागृति होती है। सुषुप्तिमें सिर नीचे हो जायगा, समाधिमें नहीं। सुषुप्तिमें इतनी ताकत नहीं कि सिरका भार उठा सके। सुषुप्तिसे जगनेपर 'मैं सुखसे सोया' यह भाव रहता है, पर मूर्च्छासे जगनेपर 'कुछ पता नहीं था' यह भाव रहता है।

उपर्युक्त बातोंसे सिद्ध हुआ कि संसारके सुखकी अपेक्षा त्यागका सुख विशेष है। त्यागके सुखके बिना आप जी नहीं सकते। संसारको तो भगवान्‌ने दुःखालय कहा है— **'दुःखालयम्'**

(गीता ८। १५)। मन-इन्द्रियोंका सुख ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। मन-इन्द्रियोंसे सुख लेनेवालेको दुःख भोगना ही पड़ेगा। संसारका सुख भोगते हुए दुःखसे बच सकते ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

हरेक प्राणी सुख चाहता है। कई बातें ऐसी हैं, जिन्हें न जाननेसे दुःख भोगना पड़ता है। सुख-दुःखका भोक्ता मन नहीं है, प्रत्युत स्वयं है। मन तो करण है। **कर्ता-भोक्ता स्वयं है, मन नहीं।**

एक ही परिस्थिति सबके लिये सुखदायी या दुःखदायी नहीं होती। जैसे—वर्षा कुम्हारके लिये दुःखदायी है और किसानके लिये सुखदायी।

भीतरका सुख-दुःख परिस्थितिसे नहीं होता, प्रत्युत अज्ञानसे, मूर्खतासे, अविवेकसे होता है। विरक्त संतके पास स्त्री, पुत्र, मकान, रुपये, वस्त्र आदि नहीं होते, फिर भी वह सुखी रहता है। इतना ही नहीं, उसका संग करनेसे बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं।

जो मिल जाय, उसीसे काम चलाना है, नहीं मिले तो उसकी इच्छा ही नहीं करना है। किसी चीजकी इच्छा ही नहीं हो तो दुःख कैसे होगा? *'जाही विधि राखे राम, ताही विधि रहिये'*—यह बहुत बढ़िया बात है! यदि इसे नहीं मानोगे तो रोनेके सिवाय क्या करोगे?

रुपयोंके द्वारा यदि आप बड़े हो गये तो यह आपकी बड़ाई नहीं है, प्रत्युत रुपयोंकी बड़ाई है। आप तो छोटे ही हुए।

वास्तवमें हम ही मोटरपर चढ़ते हैं। आप मोटरपर नहीं चढ़ते, प्रत्युत मोटर आपपर चढ़ती है। तात्पर्य है कि यदि आपको मोटरकी चिन्ता होती है, तो मोटर आपपर चढ़ गयी और मोटरकी चिन्ता नहीं होती तो आप मोटरपर चढ़ गये।

××× ××× ××× ×××

जैसे मनुष्य बढ़िया चीजकी बड़ी निगरानी रखता है, ऐसे ही मनुष्यशरीरकी भी निगरानी रखनी चाहिये। शरीर भगवान्‌का है; अतः उसकी भी सेवा करनी है। शरीरको भोगोंमें लगाना शरीरपर अत्याचार करना है। जीभ भोजनकी परीक्षा करनेके लिये है, इसलिये नहीं है कि जो चाहे, वही खा ले। जीभ दरबानकी तरह है। दरबान रक्षाके लिये होता है कि हर कोई भीतर न जाय।

××× ××× ××× ×××

आजकल जो आत्महत्या आदि दुर्घटनाएँ हो रही हैं, इनका खास कारण है—अपनी संस्कृतिका त्याग। **भोग भोगनेकी वृत्ति अधिक होनेसे ही आत्महत्या होती है।** भोग और संग्रहकी वृत्ति बढ़नेका परिणाम यही होगा।

आजकलकी संस्कृतिको माननेवाले लोग मेरी बात सुननेके लिये तैयार नहीं हैं, जबकि मैं उनकी बात सुननेको तैयार हूँ। अपने विरोधीकी बात सुननेसे बड़ा लाभ होता है। विरोधीकी बात चाहे मानें या न मानें, पर कम-से-कम उसे सुनना तो अवश्य चाहिये। जो मेरा विचार है, वही ठीक है—ऐसा मानते हुए दूसरेकी बात न सुनें तो यह अपनी मूर्खताको सुरक्षित रखनेका उपाय है।

पुरुषोंमें तो धन-संग्रहकी अधिकता हो रही है और स्त्रियों तथा बच्चोंमें भोगोंकी अधिकता हो रही है। भोग न मिलें तो वे आत्महत्या कर लेंगे। भोगोंको शरीरसे भी अधिक कीमती मान लिया। परीक्षामें पास या फेल होना कामकी चीज है, शरीर कामकी चीज नहीं है—यह बुद्धि हो रही है! फेल होनेपर आत्महत्या कर लेंगे। ऐसे लोग धर्मको क्या जानें? विदेशोंमें आत्महत्या ज्यादा होती थी। अब वही संस्कृति यहाँ आनेसे वही घटनाएँ यहाँ होंगी।

परमार्थमें लगे मनुष्य तो दूसरेकी बात सुन लेते हैं, पर भोगोंमें लगे मनुष्य दूसरेकी बात सुन नहीं सकते।

मनके माध्यमसे ही भोग होता है—यह बात है ही नहीं। सुषुप्तिके सुखमें क्या मन रहता है? नहीं रहता।

यदि आप अपनेसे निर्बलकी रक्षा नहीं करते तो फिर भगवान्से अपनी रक्षा माँगना क्या न्याय है?

××× ××× ××× ×××

अपने साधनमें प्रेम, ममता अथवा पक्षपात होना बाधक नहीं है, प्रत्युत दूसरेकी निन्दा या खण्डन करना बाधक है—*'भगति पच्छ हठ नहिं सठताई'* (मानस, उत्तर० ४६।४)। **साधक तो स्वार्थके लिये अपने मतका मण्डन और दूसरेके मतका खण्डन करते हैं, पर आचार्य ऐसा करते हैं—अपने मतका प्रचार करनेके लिये।** साधकके लिये तो अपने मतका पालन करना ही ठीक है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यमात्र सबसे श्रेष्ठ, ऊँचा बनना चाहता है। श्रेष्ठ बननेके

लिये नाशवान् शरीर-संसारसे ऊँचा उठना चाहिये। ऊँचे-से-ऊँचे परमात्मा हैं। उन परमात्माका आश्रय लेनेसे ही मनुष्य ऊँचा हो सकता है।

भगवान्ने उपदेश भी युद्धके समय, युद्धभूमिमें दिया है, जबकि उपदेश एकान्तमें, शान्तिके समय, पवित्र स्थानपर दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि युद्ध-जैसे मौकेपर भी उपदेश दिया जा सकता है और युद्ध-जैसी क्रिया करते हुए भी कल्याण किया जा सकता है।

××× ××× ××× ×××

संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर होता है—यह नियम है; क्योंकि वास्तवमें संसार अलग है। संसारके साथ रहते हुए संसारका ज्ञान नहीं कर सकते। संसारसे कुछ भी चाहना संसारके साथ रहना है।

भोग भोगनेसे श्वास अधिक खर्च होते हैं। आज आयु कम होनेका कारण है कि भोग बढ़ गये। परिवार-नियोजन कार्यक्रमसे आयु और कम होगी तथा रोग बढ़ेंगे। भोगोंके सिवाय भी सुख है—यह कोई समझ सकेगा ही नहीं। परिवार-नियोजनके कारण मनुष्य अब पशुओंसे भी नीचा हो गया है। कुत्ते, गधे आदि भी मर्यादामें रहते हैं, वर्षमें एक महीना ही बिगड़ते हैं, पर मनुष्य बारहों महीने बिगड़ता है! मूलमें भोगके सिवाय कुछ नहीं है। सारा जीवन भोगपर ही आधारित हो गया है।

××× ××× ××× ×××

गीता अलौकिक ग्रन्थ है। इसके समान भी कोई ग्रन्थ

नहीं है। वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार गीता है। इस प्रकार गीता परम्परासे तो श्रेष्ठ है ही, इसकी अपनी भी एक विशेष विलक्षणता है। गीता बहुत अगाध ग्रन्थ है। इसकी विलक्षणताका कोई पारावार नहीं है। यदि मनुष्य गीताके अनुसार कार्य करे तो उसके सब कार्य साधन हो जायँगे। गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए परमार्थकी सिद्धि हो जाती है।

मेरेपर भगवान्‌की विशेष कृपा है कि पढ़ाईके आरम्भमें (वि०सं० १९७२ में) मुझे गीताका **'न तद्भासयते सूर्यः०'** (१५।६)—यह श्लोक ही सिखाया गया! वि०सं० १९८४ मुझे गीता कण्ठस्थ मिली। मैंने कण्ठस्थ की नहीं। 'कल्याण' में सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-के लेख पढ़नेसे ऐसा असर पड़ा कि ये शास्त्रके पण्डित तो नहीं हैं, पर शास्त्रके मर्मको जाननेवाले हैं, अनुभवी, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुष हैं। **ये विद्याके जोरसे नहीं लिखते, प्रत्युत अनुभवके जोरसे लिखते हैं।**

अभी जो गीता समझमें आ रही है, वह तो सूर्यकी उस किरणके समान है, जो कमरेके भीतर आयी है, कमरेके बाहर सूर्यका कितना प्रकाश होगा!

'गीता-जयन्ती' के दिन गीताका अवतार हुआ था, जन्म नहीं—**'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः'** (गीता ४।३)। दर्शनोंमें उतना गहरापन नहीं दीखता, जितना गीतामें दीखता है। मुक्त होनेके बाद भी दार्शनिकोंमें जो मतभेद रहता है, वह मतभेद गीता दूर करती है।

भगवान्‌से प्रार्थना करके हम जो प्राप्त कर सकते हैं, वही कपड़ेके एक टुकड़ेसे प्रार्थना करके भी प्राप्त कर सकते हैं—यही 'वासुदेवः सर्वम्' का तात्पर्य है। अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत्) भी भगवान्‌का ही स्वरूप है (गीता ७।३०)।

××× ××× ××× ×××

जैसे भगवान्‌से अधिक विलक्षणता भक्तोंमें दीखती है, ऐसे ही भक्तोंसे भी 'भक्तोंके भक्त' में अधिक विलक्षणता आती है— ***'कारन तें कारजु कठिन'*** (मानस, अयो० १७९)।

अन्यायपूर्वक भोग भोगना और परायी चीजोंपर दृष्टि रखना—ये पारमार्थिक मार्गमें बहुत बड़ी बाधाएँ हैं। सुख-भोग, ऐश-आरामकी तरफ दृष्टि बहुत घातक है। सुखासक्ति मिटेगी दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर। **दूसरेके दुःखसे दुःखी होना सबसे ऊँची सेवा है और गोपनीय सेवा है, सेवाका मूल है।** दूसरेके दुःखसे दुःखी हो जायँ तो आपके पास जो वस्तु है, वह दूसरेकी सेवामें लग जायगी। जैसे आपको प्यास लगे और पासमें जल हो तो आप उस जलको पी लेते हो, ऐसे ही दूसरा प्यासा हो तो क्या आपके पास जल पड़ा रह सकेगा? एक **मार्मिक बात है कि आपके पास कुछ नहीं हो और आप दूसरेके दुःखसे सच्चे हृदयसे दुःखी हो जायँ तो वह दुःख भगवान्‌को हो जायगा! उसके दुःख-नाशका उपाय भगवान् करेंगे।**

भगवान्‌को 'सर्वभाषाविद्' (सब भाषाओंको जाननेवाले) कहा गया है। इसमें एक मार्मिक बात है कि पहले मनमें भाव

उठता है, पीछे मनुष्य उसे अपनी भाषामें व्यक्त करता है। **भगवान् तो मनमें उठनेवाले भावको ही जान लेते हैं, भाषा तो पीछे रही!** जहाँ भाव उठता है, वहीं भगवान् मौजूद हैं।

सच्चा दुःख भगवान् सह नहीं सकते। भगवान्की प्राप्तिके लिये, अपने कल्याणके लिये जो दुःख होता है, वह असली दुःख है, जिसे भगवान् सह नहीं सकते। संसारके लिये दुःखी होना तो दुःखके लिये दुःखी होना है, जिसे भगवान् सह लेते हैं। दयालु होते हुए भी भगवान्को उसपर दया नहीं आती, जो दुःखके लिये दुःखी होता है।

देशका असली नेता वही होता है, जो देशके दुःखसे दुःखी होता है। सन्तोंके हृदयमें दुःख होता है कि दूसरेका दुःख कैसे मिटे और वे अपनेमें असमर्थताका अनुभव करते हैं तो यह दुःख भगवान् सह नहीं सकते। इसलिये ऐसे सन्तोंके दर्शन, स्पर्श, भाषणसे दूसरोंका दुःख मिटता है।

××× ××× ××× ×××

हम संसारके साथ मिलते हैं, पर परमात्माके साथ तो मिले हुए ही हैं। भगवान् हैं—यह विश्वास है, ज्ञान नहीं। विचारके विषय जीव और जगत् हैं।

पहले भक्त होता है, फिर भक्ति होती है, फिर भगवान् रह जाते हैं। ज्ञानमार्गमें पहले जिज्ञासु होता है, फिर जिज्ञासा होती है, फिर ज्ञानमात्र रह जाता है। ऐसा सब साधनोंमें होता है।

भगवान्का विश्वास मुख्य है। बुद्धिकी तीक्ष्णता मुख्य नहीं है। बुद्धि शुद्ध नहीं होगी तो भगवान्के तरफ नहीं चल

सकते। **बुद्धिकी शुद्धि काम आती है, तीक्ष्णता नहीं।** बुद्धिकी तीक्ष्णता जज-बैरिस्टर आदि बननेमें काम आ सकती है। बुद्धिकी शुद्धिमें भी विश्वास विशेष है। विश्वास तेज हो तो भगवत्प्राप्ति तत्काल हो जाती है। भगवान्‌पर विश्वास न होनेसे जगत् ईश्वररूप नहीं दीखता। पक्षपात, मतभेद करना बुद्धिकी अशुद्धि है। राग-द्वेषके कारण जगत् ईश्वररूप नहीं दीखता। जितनी भेदबुद्धि होगी, उतनी भगवत्प्राप्तिमें देरी होगी।

भक्त जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखते हैं, और सन्तोंको भगवान्‌से भी अधिक देखते हैं— ***'मोतें संत अधिक करि लेखा'*** (मानस, अरण्य० ३६।२)।

श्रोता—भगवान्‌पर विश्वास कैसे हो?

स्वामीजी—विश्वासकी कमी दूर होगी भगवान्‌की कृपासे। **प्रेम और विश्वास भगवान्‌से माँगनेकी चीज है।** विश्वास कैसे हो—यह लगन हो गयी तो यह भगवान्‌से माँगना हो गया, प्रार्थना हो गयी! **आपकी आवश्यकता ही भगवान्‌की प्रार्थना है।**

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की स्मृति और सेवाकी बड़ी भारी आवश्यकता है। सेवाकी भावना बन जाय। ऐसी भावना सत्संगी ही बना सकते हैं। बड़े-बूढ़ोंकी सेवा की जाय। गायोंकी सेवा की जाय। समय बहुत भयंकर आया है। आगे और अधिक भयंकर समय आनेकी सम्भावना है। इसलिये आपको अधिक सावधान हो जाना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

वास्तवमें रुपये अच्छे नहीं हैं, पर लोभके कारण रुपये अच्छे (प्रिय) लगते हैं। ऐसे ही मोहके कारण संसार, कुटुम्बी अच्छे लगते हैं। प्रेमके कारण भगवान् अच्छे, मीठे लगते हैं। गोपियोंको, मीराबाईको भगवान् मीठे लगते थे। प्रेमके कारण ही मित्रसे मिलनेमें आनन्द आता है। गायके प्रेमके कारण बछड़ेको गायके दूधसे जो पुष्टि होती है, वह केवल दूधसे नहीं।

नाशवान्में 'मोह' होता है, अविनाशीमें 'प्रेम' होता है। मूलमें चीज (आकर्षण) एक है। मोहसे पतन होता है।

लेना-ही-लेना जड़ता है, देना-ही-देना चेतनता है। लेना और देना—दोनों चिज्जड़ग्रन्थि हैं।

××× ××× ××× ×××

लेनेकी इच्छावाला साधक नहीं होता। साधकके स्वभावमें देना-ही-देना होता है। त्याग और संग्रह सभीमें होता है, पर साधकमें त्याग-ही-त्याग होता है।

लेना-ही-लेना पशुमें होता है। लेना-देना साधारण मनुष्यमें होता है। देना-ही-देना साधक और सिद्धमें होता है। साधक अपने लिये कुछ नहीं करता।

स्वार्थ और अभिमानके त्यागसे ही साधक होता है, और साधकको ही सिद्धि होती है। सुख-सुविधा, आराम चाहनेवाला साधक नहीं हो सकता। साधककी दृष्टि सुख-सुविधामें नहीं रहती।

जबतक असत्का संग है, तबतक सत्संगी नहीं हैं। यदि भोग और संग्रहकी रुचि है तो वह साधकोंमें भरती नहीं

हुआ। उसकी गिनती संसारीमें ही होगी। **साधक साधनके लिये जीता है, सुख-सुविधाके लिये नहीं।**

××× ××× ××× ×××

देखनेमें स्वार्थ अच्छा दीखता है, पर परिणाममें पतन ही होता है। **लड़ाईमें दोनों ही पक्षोंकी हार (अहित) है, और प्रेममें दोनों ही पक्षोंका उद्धार है।**

सबकी मुक्ति चाहनेसे अपनी मुक्ति जल्दी होती है। केवल अपनी मुक्ति चाहनेसे देरी लगती है।

दूसरेके हितके लिये अपने सुखका त्याग कर दे। अपने सुखको रेतीमें मिला दे तो खेती हो जायगी।

संसारका सुख हम छोड़ते नहीं, और उसे छोड़े बिना पारमार्थिक (अक्षय) सुख मिलता नहीं।

दुःख, अशान्तिकी अवस्थामें 'काम' पैदा होता है।

ममता रखनेसे वस्तुओंका सदुपयोग नहीं होता। अपना न माननेसे ही वस्तुओंका सदुपयोग होता है। वस्तुओंको अपना न माननेसे और सबको अपना माननेसे उदारता आती है। **वस्तु अपनी माननेसे और सबको अपना न माननेसे उदारता नहीं आती।** वस्तुको चाहे संसारकी मानो, चाहे प्रकृतिकी मानो, चाहे भगवान्‌की मानो। उसे अपनी मानना बेईमानी है। **केवल 'तू' और 'तेरा' है, 'मैं' और 'मेरा' है ही नहीं।**

××× ××× ××× ×××

विचारसे विवेक होता है और चिन्तनसे स्थिति होती है। चिन्तन अभ्यास है। अभ्याससे विवेक तेज है। चिन्तन मनसे होता है। मन अपरा प्रकृति है। शरीरको संसारसे अलग मानना अविवेक है।

सत्संग सुनकर विचार नहीं करते। **'विचार करना' वैराग्यमें हेतु होता है और 'विचार उदय होना' तत्त्वप्राप्तिमें हेतु होता है।**

अपने लिये कोई अपना नहीं है, पर सेवाके लिये सभी अपने हैं। चाहे किसीको अपना मत मानो, चाहे संसारको अपना मानो—दोनोंका परिणाम एक होगा। अधूरी चीज ही बाधक होती है। अधूरा वैद्य रोगीको मार देता है! अतः या तो बिल्कुल न जाने, या पूरा जाने। **सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है और सेवा करनेके लिये पूरा संसार अपना है।**

××× ××× ××× ×××

अपनी गौणता और शरीरकी मुख्यता मान लेना गलती है। इस तादात्म्यसे साधन क्रियाप्रधान होता है और भाव व विवेकप्रधान साधनमें कठिनता पड़ती है। **शरीरको ही अपना स्वरूप माननेके कारण शास्त्रोंमें क्रियाप्रधान साधनकी मुख्यता बतायी गयी है।** ज्ञानके साधनमें भी श्रवण, मनन आदि साधन बताये गये हैं, जिनमें शरीरकी प्रधानता रहती है। यदि पहले ही तादात्म्य तोड़ दें तो बहुत जल्दी काम होता है। जबतक जड़के साथ सम्बन्ध माना हुआ है, तबतक चिन्मयताकी प्राप्ति कठिन है। अतः पहले तादात्म्य तोड़नेकी बड़ी जरूरत है।

विचार करें कि शरीर और मैं (स्वरूप) एक नहीं हैं। 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' भाग शरीरका और 'हूँ' भाग चेतनका है। सुषुप्तिमें 'मैं' लीन होता है, 'हूँ' लीन नहीं होता।

××× ××× ××× ×××

शरीर 'मैं' नहीं और 'मेरा' नहीं—यही असली त्याग है। यह होनेसे सभी साधन बहुत सुगम हो जायँगे। **शरीरके साथ एकता माननेसे ही साधन कठिन मालूम देता है।** शरीरको मैं-मेरा न मानना वर्तमानकी चीज है। आज चाहो तो आज कर लो! शरीरको मैं-मेरा मानना ही अविद्या है, अज्ञान है।

××× ××× ××× ×××

जो आदि और अन्तमें नहीं है, वह वास्तवमें बीचमें भी है नहीं, पर दीखता है। वस्तु-व्यक्ति पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे, फिर उनके जानेपर शोक कैसा? शोक-चिन्ता करना बेसमझी है, और बेसमझी मिटानेके लिये सत्संग है। संसारकी वस्तु कितनी ही मिल जाय तो भी अभाव रहेगा ही।

आप अपनेको अयोग्य मानकर भगवत्प्राप्तिका अनधिकारी मत मानें। सभी परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। योग्य-अयोग्य सभी भगवान्‌को अपना मान सकते हैं।

××× ××× ××× ×××

श्रोता—हमारेमें योग्यता आ जाय, विद्या आ जाय—ऐसी इच्छा क्यों होती है?

स्वामीजी—ऐसी इच्छा होती है मान-बड़ाईकी इच्छासे। **परमात्माकी प्राप्तिमें योग्यताकी जरूरत नहीं है।** परमात्मप्राप्तिमें मोह भी बाधक है और विद्या भी—'**यदा ते मोहकलिलम्०**' '**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते०**' (गीता २। ५२-५३)। अभिमान होनेसे विद्या आदिका दुरुपयोग होता है। यह अभिमान बाधक होता है। धन, विद्या आदि हों, पर उनका अभिमान न हो—यह कठिन है।

भगवत्प्राप्तिमें अभिलाषा मुख्य है, योग्यता नहीं। धनकी प्राप्तिमें एक नंबरमें प्रारब्ध, दो नंबरमें पुरुषार्थ और तीन नंबरमें इच्छा है। परन्तु भगवत्प्राप्तिमें इच्छा (अभिलाषा) एक नंबरमें है।

यद्यपि योग्यता परमात्मप्राप्तिमें साधक नहीं है, पर अभिमान होनेसे वह बाधक हो जाती है। अभिमान अविवेकीको होता है, विवेकीको नहीं।

××× ××× ××× ×××

वस्तुएँ काममें लेनेके लिये हैं, ममता करनेके लिये नहीं। ममताके रहते कभी शान्ति नहीं मिल सकती। **वस्तु हमें छोड़ दे तो मौत है और हम उसे छोड़ दें तो त्याग है।** वस्तुओंके साथ हमारा सम्बन्ध कितने दिन रहनेवाला है—इसका अनुभव करें।

मनुष्ययोनि साधनयोनि है। सुख-दुःखका भोग करेंगे तो हमें भोगयोनि मिलेगी, साधनयोनि नहीं।

××× ××× ××× ×××

हमारा अनुभव, विचार आदि बदलनेवाले हैं। बचपनमें और अनुभव था, अभी और। अतः **शास्त्रों और संतोंके अनुभव, विचार आदिको महत्त्व देना चाहिये।**

कर्मयोग है—संसारमें रहनेकी बढ़िया रीति। कर्मयोगका स्वरूप है—निष्कामभावसे सेवा करना। सुख दें, पर लें नहीं। इससे हम संसारमें सुखपूर्वक, आदरपूर्वक रहेंगे। जो हमसे कुछ चाहे नहीं और सेवा करे, वह व्यक्ति सबको अच्छा लगता है।

××× ××× ××× ×××

विवेकमार्गमें द्वैत रहता है। अतः मुक्त होनेपर द्वैतका एक संस्कार रह जाता है, जिससे दार्शनिक मतभेद होते हैं। जले हुए मेण्टलकी तरह ज्ञानीका अहं जला हुआ रहता है, जिससे व्यवहार होता है। **आचार्योंमें जो सूक्ष्म अहं रहता है, वह दुनियाके कल्याणके लिये होता है।** आचार्यकोटिके सन्त लोकसंग्रहके लिये होते हैं। लड़ाई आचार्योंमें नहीं है, उनके अनुयायियोंमें है। साधकको मतभेदमें न पड़कर तत्परतासे अपने साधनका पालन करना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यकी उन्नतिकी कोई सीमा नहीं है। कमी यह है कि आगे बढ़नेका उत्साह नहीं है। आध्यात्मिक विषयमें कभी सन्तोष करना ही नहीं चाहिये। प्रारब्धके अनुसार मिली परिस्थितिमें सन्तोष करना चाहिये।

साधन नित्यकर्मकी तरह नहीं होता, प्रत्युत निरन्तर होता है। साधक निरन्तर सावधान रहता है।

××× ××× ××× ×××

एक समग्र परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। सब कुछ वही है, फिर मनको कहाँसे हटायें और कहाँ लगायें? समुद्र और लहरें अलग-अलग हैं, पर जल-तत्त्वमें क्या फर्क है? समुद्रकी लहरें, उसकी सीमा ऊपरसे दीखती है, पर भीतरमें शान्त समुद्र है। इसी तरह ऊपरसे सृष्टि दीखती है, पर भीतर एक परमात्मतत्त्व है—**'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'** (गीता १३। २७)।

××× ××× ××× ×××

शास्त्रोंको इदंबुद्धिसे न पढ़कर अनुभव करनेके लिये पढ़े। उन्हें बुद्धिका विषय न बनाये।

जैसे संसार भगवत्स्वरूप है, वैसे शरीर भी भगवत्स्वरूप है। **शरीरको संसारसे अलग रखते हुए अनुभव नहीं होता।** अहम्‌तक सब परमात्मा ही हैं। शरीर संसारका अंश है, संसार शरीरका अंश नहीं। पर हम संसारसे सुख लेना चाहते हैं। सुख लेनेकी चाहना ही अनुभवमें खास बाधा है। **संसार मेरे नहीं, अपितु मैं संसारके काम आ जाऊँ—यह भाव रहना चाहिये।**

माँका ऋण उतार नहीं सकते। माँके चरणोंमें प्रातः-सायं प्रणाम करें और उसके हाथका बना भोजन करें तो वह प्रसन्न हो जायगी। प्रसन्न होनेसे ऋण माफ हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

बिना भूखके भोजन मिल गया, तभी लाभ नहीं होता! भूख जाग्रत् करनेका उपाय है—विचार। विचार करें कि सत्संग सुनते इतने वर्ष हो गये, अभीतक लाभ नहीं हुआ! शरीरका कोई भरोसा नहीं। यह परिस्थिति, यह भाव भी सदा रहेगा क्या? यह संयोग क्या सदा रहेगा? एक दिनमें एक बात भी पकड़ लो तो कितना काम हो जाय! श्रीशंकराचार्यजीने कहा है—'**किमौषधं तस्य विचार एव**' (प्रश्नोत्तरी ७) अर्थात् विचार ही भवरोगकी दवा है।

सत्संगके द्वारा जो विद्वत्ता आती है, वह पुस्तकें पढ़नेसे नहीं आती।

××× ××× ××× ×××

मैं ज्ञानी हूँ और मैं अज्ञानी हूँ—ये दोनों धारणाएँ अज्ञानियोंकी हैं। ज्ञान होनेपर ज्ञानी नहीं रहता। जबतक ज्ञानी रहता है, तबतक भोग है। जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भी भोगी हो सकता है। तत्त्वज्ञान होनेपर 'मैं ज्ञानी हूँ, दूसरे सब अज्ञानी हैं'—यह नहीं होता। सबका स्वरूप शरीरसे अलग है, केवल बुद्धिमें फर्क पड़ता है। मैं जानता हूँ—ऐसे वह (तत्त्वज्ञानी) ज्ञानका मालिक नहीं बनता। उसे ज्ञानका अभिमान नहीं होता।

××× ××× ××× ×××

हम शरीर, वस्तुओं, अवस्थाओंके बिना रह सकते हैं और वे हमारे बिना रह सकती हैं। **जो वस्तु हमारे बिना रह सकती है, उसके बिना हम क्यों नहीं रह सकते? हम उसके गुलाम क्यों बनें?** हम परमात्माके अंश हैं। परमात्मा हमारे बिना नहीं रह सकते; क्योंकि वे सबमें परिपूर्ण हैं। अतः हम भी परमात्माके बिना नहीं रह सकते।

शरीरको आपकी आवश्यकता है, आपके बिना शरीर सड़ जायगा, पर आपको शरीरकी आवश्यकता नहीं है। आप शरीरके बिना रह सकते हैं। ऐसा जाननेसे आपमें स्वतन्त्रता आ जायगी। परतन्त्रता मानी हुई है, स्वतन्त्रता स्वतःसिद्ध है।

यदि आप काममें न लें तो सोने और पत्थरमें क्या फर्क हुआ? पहाड़में पड़ा पत्थर और खानमें पड़ा सोना—दोनों समान हैं। आप सोनेको काममें लेते हो, उसे बढ़िया मानते हो तो उसका महत्त्व हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

विश्वासमार्गमें देह-देहीका विचार न करके भगवान्‌में लग जाओ, पर ऐसे लगो कि देह याद ही न रहे! अपनेको भगवान्‌का मानो। बार-बार प्रार्थना करो कि हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं। **ऐसा मानो कि भगवान् निरन्तर मुझे देख रहे हैं।**

××× ××× ××× ×××

आरम्भकालको देखना पशुता है। विवेकी मनुष्य परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें रमण नहीं करता—**'न तेषु रमते बुधः'** (गीता ५।२२)। **अर्थका परिणाम अनर्थ है!** संयोगकालमें ही वियोगको देखना चाहिये। संसारका संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। जो अपने विवेकका आदर नहीं करता, वह शास्त्र और सन्तका आदर नहीं कर सकता।

जैसे चाहे दान करो, चाहे आवश्यक काममें खर्च करो, नहीं तो धनका नाश हो जायगा, ऐसे ही समयको चाहे अपने कल्याणमें लगाओ, चाहे दूसरोंकी सेवामें लगाओ, नहीं तो समय नष्ट हो जायगा। भगवान्‌के भजनके बिना समय जाना असह्य होना चाहिये।

भगवान्‌में प्रेम होनेसे भक्त निष्काम स्वतः हो जाता है। भगवान्‌को पुकारो। पुकारनेसे माँ गोदीमें ले लेती है।

××× ××× ××× ×××

पारमार्थिक उन्नति स्वयंकी और सांसारिक उन्नति 'पर' की है। सांसारिक पूँजी साथ नहीं रहती, पर साधन-पूँजी योगभ्रष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती। पारमार्थिक सम्पत्तिको कोई छीन नहीं सकता। ब्रह्माजी हंसको तो हटा सकते हैं, पर उसके नीर-क्षीर-विवेकको नहीं छीन सकते! सत्संग और

साधनसे होनेवाली उन्नति मरनेपर भी मिटती नहीं, प्रत्युत ढकती है और समयपर प्रकट हो जाती है।

जिज्ञासा और कामना—दोनोंका स्थान एक है। शरीरकी प्रधानतासे सांसारिक इच्छा और स्वरूपकी प्रधानतासे पारमार्थिक इच्छा होती है। जड़ताके साथ तादात्म्य होनेसे ही दोनों इच्छाएँ पैदा हुई हैं।

सत्संगसे बिना परिश्रम एक गति होती है अर्थात् अनुभव बढ़ता है।

××× ××× ××× ×××

जैसे सूर्य और उसका प्रकाश एक है, ऐसे ही श्यामसुन्दर और उनका प्रकाश यह जगत् भी एक है। यह जगत् श्यामसुन्दरका स्वरूप है। परन्तु जैसे जगत्‌की अपेक्षा श्यामसुन्दरका रूप विशेष है, ऐसे ही सन्तका रूप भी विशेष है—

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

(मानस, अरण्य० ३६।२)

××× ××× ××× ×××

सत्‌में असत् नहीं है, पर असत्‌में भी सत् है। सत् नित्य है, असत् अनित्य है। मुक्ति नित्य है, बन्धन अनित्य है। बन्धनके समय भी मुक्ति विद्यमान है। सत्‌की तरफ केवल दृष्टि डालनी है।

सत्‌का भाव और असत्‌का अभाव स्वीकार करके मन-बुद्धिसे चुप हो जायँ। चुप होनेसे असत्‌की स्वतः निवृत्ति हो जायगी। असत्‌को मिटानेका उद्योग करना उसको सत्ता देना है।

××× ××× ××× ×××

सेवा सबकी करे, पर किसीसे कुछ न चाहे। **सेवा करना**

'कर्म' है और किसीसे कुछ न चाहना 'योग' है। योग होनेसे साधक निरपेक्ष हो जाता है। **'सर्वे भवन्तु सुखिनः०'** (सब सुखी हो जायँ........)—यह भाव रखें तो यह सेवा हो गयी। सबको भला समझें—यह भी सेवा है। सब सुखी हो जायँ—यह समता है, समदृष्टि है। सेवा करना और भगवान्‌को याद करना—यह मनुष्यता है।

'परस्परं भावयन्तः' (गीता ३।११)—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप हमारी सेवा करें, इसलिये हम आपकी सेवा करें। यह तो व्यापार है! अतः अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेकी सेवा करें। लेनेकी आशा न रखें। सकामभाव रखेंगे तो कर्म होगा, कर्मयोग नहीं। सभी वर्ण अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा दूसरे वर्णवालोंकी सेवा करें।

××× ××× ××× ×××

संसारकी तरफसे खिंचाव हटकर भगवान्‌में खिंचाव हो जाय—यह काम मनुष्य ही कर सकता है। संसार (जड़)-में आकर्षण होनेसे पतन-ही-पतन होता है। भगवान्‌में आकर्षण उत्थानका मार्ग है। भगवान्‌को याद करना और सबकी सेवा करना मनुष्यका काम है। मनुष्यके लिये ही पाँच महायज्ञोंका विधान है*। मनुष्य सबका पालन कर सकता है। नीचेसे लेकर ठेठ भगवान्‌तककी सेवा कर सकता है!

××× ××× ××× ×××

---

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनुस्मृति ३।७०)

'वेदोंका अध्ययन-अध्यापन करना 'ब्रह्मयज्ञ' है, तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, हवन करना 'देवयज्ञ' है, बलिवैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ' है और अतिथि-सत्कार करना 'मनुष्ययज्ञ' है।'

सभी वस्तुओं और व्यक्तियोंका वियोग होगा—इस बातका अपनेपर प्रभाव हो जाय तो हम निहाल हो जायँ! संयोगका भोग करेंगे तो वियोगका दुःख भोगना ही पड़ेगा।

संसारमें लगे हुएका साथी कोई भी नहीं होता, पर भगवान्‌में लगे हुएके सब साथी हो जाते हैं! डाकू भी सन्तकी सेवा करते हैं! साधु होनेमात्रसे कितनी आफतें मिट जाती हैं! साधु, वृद्ध और विधवाके लिये भगवद्‌भजनके सिवाय क्या काम बाकी रहा? ये भजन न करें तो भगवान् नाराज होते हैं। जो भगवद्‌भजनमें लग जाता है, उसके लोक-परलोक दोनों ठीक हो जाते हैं।

××× ××× ××× ×××

किसीके दोष या कमी देखनेका क्या हमें अधिकार मिला हुआ है? दोष दिखायी देता है तो यह अपना दोष है। अपने दोषसे ही दूसरेमें दोष दीखता है। **अपना अन्तःकरण जितना दोषी होगा, उतना ही दूसरोंमें दोष अधिक दीखेगा।** रेडियोकी तरह दोषी अन्तःकरण ही दूसरोंके दोषको पकड़ता है। झाड़ू देनेवाला बाजारमें जाकर कूड़ा-करकट ही एकत्र करके अपनी टोकरी भरता है। क्या बाजारमें कूड़े-करकटके सिवाय दूसरी वस्तुएँ नहीं थीं? आप किसीका दोष न देखें तो आपके द्वारा दुनियाकी सेवा हो जायगी। दोष देखेंगे तो **'वासुदेवः सर्वम्'** कैसे दीखेगा?

गुण सदा रह सकते हैं, पर दोष सदा नहीं रह सकते।

××× ××× ××× ×××

हमारे ऋषियों-मुनियोंने विचित्र खोज करके शास्त्रोंकी

रचना की है। उनकी सबपर बहुत कृपा रही है। उन्होंने अपने स्वार्थके लिये शास्त्रोंकी रचना नहीं की है।

पहलेकी अपेक्षा आज धर्मकी महिमा ज्यादा है। आज भगवान् बहुत सस्ते हो गये हैं! इसलिये भगवान्‌को याद करो और दूसरोंकी सेवा करो। किसीकी बुराई न करें तो संसारकी सेवा हो गयी—

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥

(मानस, अयो० २५१। २)

भलाई करनेमें बहादुरी नहीं है, प्रत्युत बुराई छोड़नेमें बहादुरी है। दैवी सम्पत्ति स्वतः है, उद्योगसाध्य नहीं। बुराई मत करो तो भलाई अपने-आप आयेगी।

क्या मृत्युके बाद नेत्रदान उचित है?

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मेरी दृष्टिमें मृत्युके बाद नेत्रदान करना सर्वथा अनुचित है। जैसे अपनी सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिग (वयस्क)-को होता है, नाबालिग (अवयस्क)-को नहीं, ऐसे शरीरके किसी अङ्गका दान करनेका अधिकार जीवन्मुक्त महापुरुषको ही है। जिसने अपना कल्याण कर लिया है, अपना मानव-जीवन सफल कर लिया है, वह बालिग है, शेष सब नाबालिग हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी शरीरके रहते हुए ही नेत्रदान कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद नहीं। दधीचि ऋषिने जीवितावस्थामें ही इन्द्रको वज्रनिर्माणके लिये अपना शरीर दिया था। राजा अलर्कने भी जीवितावस्थामें ही एक अन्धे ब्राह्मणको नेत्रदान दिया था।

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ । अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम्॥

(वाल्मीकि० अयो० १२।४३)

'राजा शैब्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये) बाज पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था। इसी तरह राजा अलर्कने (एक अन्धे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी।'

शवके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शवका कोई अङ्ग काटनेसे अगले जन्ममें वह अङ्ग नहीं मिलता। अङ्ग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिह्न रहता है। कुछ

व्यक्तियोंमें पूर्वजन्मका चिह्न इस जन्ममें भी देखा गया है। बालकके मरनेपर माताएँ उसके किसी अङ्गपर लहसुन लगा देती हैं तो वह चिह्न अगले जन्ममें भी रहता है।

मृत्यूपरान्त नेत्रदानके औचित्यके विषयमें हमने वाराणसीकी 'श्रीगीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा' से पूछा तो उन्होंने अपना यह निर्णय लिखकर भेजा—

'**पुरुषाहुतिर्ह्यस्य प्रियतमा**' इत्यादि वचनोंके अनुसार अग्निमें शवकी आहुति दी जाती है। '**सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु**' आदि भी वाक्य हैं। हवनीय द्रव्य शवमें अग्निका अधिकार होनेसे उसे बुद्धिपूर्वक व्यङ्ग करनेका कोई औचित्य नहीं है। मूल शरीरके अभावमें पुत्तल बनाते समय कौड़ियोंसे नेत्रोंकी कल्पना बतायी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि मूल शरीरमें नेत्रोंका अस्तित्व आवश्यक है। एवञ्च नेत्रदानके लिये शवके अङ्ग-भङ्गका निषेध आर्थिक (अर्थप्राप्त) है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

1590

गीता-प्रबोधनी

[विशिष्ट संस्करण]

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विश्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् विष्णु

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

गीता-प्रबोधनी

अथ प्रथमोऽध्यायः

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने भी क्या किया?

व्याख्या— **यह हिन्दू संस्कृतिकी विलक्षणता है कि इसमें प्रत्येक कार्य अपने कल्याणका उद्देश्य सामने रखकर ही करनेकी प्रेरणा की गयी है। इसलिये युद्ध-जैसा घोर कर्म भी 'धर्मक्षेत्र' (धर्मभूमि) एवं 'कुरुक्षेत्र' (तीर्थभूमि) में किया गया है, जिससे युद्धमें मरनेवालोंका भी कल्याण हो जाय।**

भगवान्‌की ओरसे सृष्टिमें कोई भी (मेरे और तेरेका) विभाग नहीं किया गया है। सम्पूर्ण सृष्टि पाञ्चभौतिक है। सभी मनुष्य समान हैं और उन्हें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी भी समानरूपसे मिले हुए हैं। परन्तु मनुष्य मोहके वशीभूत होकर उनमें विभाग कर लेता है कि ये मनुष्य, घर, गाँव, प्रान्त, देश, आकाश, जल आदि मेरे हैं और ये तेरे हैं। इस 'मेरे' और 'तेरे' के भेदसे ही सम्पूर्ण संघर्ष उत्पन्न होते हैं। महाभारतका युद्ध भी 'मामकाः' (मेरे पुत्र) और 'पाण्डवाः' (पाण्डुके पुत्र)—इस भेदके कारण आरम्भ हुआ है।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

संजय बोले—उस समय वज्रव्यूहसे खड़ी हुई पाण्डव-सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर राजा दुर्योधन यह वचन बोला।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहरचनासे खड़ी की हुई पाण्डवोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

यहाँ (पाण्डवोंकी सेनामें) बड़े-बड़े शूरवीर हैं, जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो युद्धमें भीम और अर्जुनके समान हैं। उनमें युयुधान (सात्यकि), राजा विराट और महारथी द्रुपद भी हैं। धृष्टकेतु और चेकितान तथा पराक्रमी काशिराज भी हैं। पुरुजित् और कुन्तिभोज— ये (दोनों भाई) तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य भी हैं। पराक्रमी युधामन्यु और पराक्रमी उत्तमौजा भी हैं। सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी हैं। ये सब-के-सब महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

हे द्विजोत्तम! हमारे पक्षमें भी जो मुख्य हैं, उनपर भी आप ध्यान दीजिये। आपको याद दिलानेके लिये मेरी सेनाके जो नायक हैं, उनको मैं कहता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८ ॥

आप (द्रोणाचार्य) और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९ ॥

इनके अतिरिक्त बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये अपने जीनेकी इच्छाका भी त्याग कर दिया है, और जो अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेवाले हैं तथा जो सब-के-सब युद्धकलामें अत्यन्त चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

(द्रोणाचार्यको चुप देखकर दुर्योधनके मनमें विचार हुआ कि वास्तवमें) हमारी वह सेना (पाण्डवोंपर विजय करनेमें) अपर्याप्त है, असमर्थ है; क्योंकि उसके संरक्षक (उभय-पक्षपाती) भीष्म हैं। परन्तु इन पाण्डवोंकी यह सेना (हमपर विजय करनेमें) पर्याप्त है, समर्थ है; क्योंकि इसके संरक्षक (निजसेना-पक्षपाती) भीमसेन हैं।

व्याख्या— इस श्लोकसे ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्योधन पाण्डवोंसे सन्धि करना चाहता है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। दुर्योधनने कहा है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(गर्गसंहिता, अश्वमेध० ५०। ३६)

'मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदयमें स्थित कोई देव है, जो मुझसे जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ।'

दुर्योधन हृदयमें स्थित जिस देवकी बात कहता है, वह वास्तवमें 'कामना' ही है। जब वह कामनाके वशीभूत होकर उसके अनुसार चलता है तो फिर वह पाण्डवोंसे सन्धि कैसे कर सकता है? पाण्डव मनके अनुसार नहीं चलते थे, प्रत्युत धर्मके तथा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलते थे। इसलिये जब गन्धर्वोंने दुर्योधनको बन्दी बना लिया था, तब युधिष्ठिरने ही उसे छुड़वाया। वहाँ युधिष्ठिरके वचन हैं—

परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम्।
परस्परविरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते॥

(महाभारत, वन० २४३)

'दूसरोंके द्वारा पराभव प्राप्त होनेपर उसका सामना करनेके लिये हमलोग एक सौ पाँच भाई हैं। आपसमें विरोध होनेपर ही हम पाँच भाई अलग हैं और वे सौ भाई अलग हैं।'

कामना मनुष्योंको पापोंमें लगाती है (गीता ३। ३६-३७); परन्तु धर्म मनुष्योंको पुण्यकर्मोंमें लगाता है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

दुर्योधन बाह्यदृष्टिसे अपनी सेनाके महारथियोंसे बोला— आप सब-के-सब लोग सभी मोर्चोंपर अपनी-अपनी ज़गह दृढ़तासे स्थित रहते हुए निश्चितरूपसे पितामह भीष्मकी ही चारों ओरसे रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

उस (दुर्योधन)-के हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए कौरवोंमें वृद्ध प्रभावशाली पितामह भीष्मने सिंहके समान गरजकर जोरसे शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

उसके बाद शङ्ख और भेरी (नगाड़े) तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

उसके बाद सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुए लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनने भी दिव्य शङ्खोंको बड़े जोरसे बजाया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक तथा धनञ्जय अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और भयानक कर्म करनेवाले वृकोदर भीमने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शङ्ख बजाया तथा नकुल और सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

हे राजन्! श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न एवं राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा लम्बी-लम्बी भुजाओंवाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने सब ओरसे अलग-अलग (अपने-अपने) शङ्ख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

और (पाण्डवसेनाके शंखोंके) उस भयंकर शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले दुर्योधन आदिके हृदय विदीर्ण कर दिये।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

हे महीपते धृतराष्ट्र! अब शस्त्र चलनेकी तैयारी हो ही रही थी कि उस समय अन्यायपूर्वक राज्यको धारण करनेवाले राजाओं और उनके साथियोंको व्यवस्थितरूपसे सामने खड़े हुए देखकर कपिध्वज पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे यह वचन बोले।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको (आप तबतक) खड़ा कीजिये, जबतक मैं (युद्धक्षेत्रमें) खड़े हुए इन युद्धकी इच्छावालोंको देख न लूँ कि इस युद्धरूप उद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

दुष्टबुद्धि दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छा-वाले जो ये राजालोग इस सेनामें आये हुए हैं, युद्ध करनेको उतावले हुए (इन सबको) मैं देख लूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥

संजय बोले—हे भरतवंशी राजन्! निद्रा-विजयी अर्जुनके द्वारा इस तरह कहनेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने श्रेष्ठ रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि 'हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कुरुवंशियोंको देख'।

व्याख्या—'युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुवंशियोंको देख'—ऐसा कहनेमें भगवान्की यह गूढ़ाभिसन्धि थी कि इन कुरुवंशियोंको देखकर अर्जुनके भीतर छिपा कौटुम्बिक ममतायुक्त मोह जाग्रत् हो जाय और मोह जाग्रत् होनेसे अर्जुन जिज्ञासु बन जाय, जिससे अर्जुनका तथा उनके निमित्तसे भावी मनुष्योंका भी मोहनाश करनेके लिये गीताका महान् उपदेश दिया जा सके।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

उसके बाद पृथानन्दन अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित पिताओंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अपनी-अपनी जगहपर स्थित उन सम्पूर्ण बान्धवों-को देखकर वे कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त होकर विषाद करते हुए ऐसा बोले।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! युद्धकी इच्छावाले इस कुटुम्ब-समुदायको अपने सामने उपस्थित देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीरमें कँपकँपी आ रही है एवं रोंगटे खड़े हो रहे हैं। हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है और मैं खड़े रहनेमें भी असमर्थ हो रहा हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

हे केशव! मैं लक्षणों (शकुनों)-को भी विपरीत देख रहा हूँ और युद्धमें स्वजनोंको मारकर श्रेय (लाभ) भी नहीं देख रहा हूँ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुखोंको ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हमलोगोंको राज्यसे क्या लाभ? भोगोंसे क्या लाभ? अथवा जीनेसे भी क्या लाभ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

जिनके लिये हमारी राज्य, भोग और सुखकी इच्छा है, वे ही ये सब अपने प्राणोंकी और धनकी आशाका त्याग करके युद्धमें खड़े हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

आचार्य, पिता, पुत्र और उसी प्रकार पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य जितने भी सम्बन्धी हैं, मुझपर प्रहार करनेपर भी मैं इनको मारना नहीं चाहता और हे मधुसूदन! मुझे त्रिलोकीका राज्य मिलता हो तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वीके लिये तो मैं इनको मारूँ ही क्या?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारकर हमलोगोंको क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

इसलिये अपने बान्धव इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि हे माधव! अपने कुटुम्बियोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

यद्यपि लोभके कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे ये (दुर्योधन आदि) कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको और मित्रोंके साथ द्वेष करनेसे होनेवाले पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन! कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको ठीक-ठीक जाननेवाले हम लोग इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न करें?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥

कुलका क्षय होनेपर सदासे चलते आये कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मका नाश होनेपर बचे हुए सम्पूर्ण कुलको अधर्म दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१॥

हे कृष्ण! अधर्मके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, और हे वार्ष्णेय! स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर पैदा हो जाते हैं।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेवाला ही होता है। श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे इन कुलघातियोंके पितर भी (अपने स्थानसे) गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियोंके सदासे चलते आये कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्योंका बहुत कालतक नरकोंमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि हमलोग बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय कर बैठे हैं, जो कि राज्य और सुखके लोभसे अपने स्वजनोंको मारनेके लिये तैयार हो गये हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

अगर ये हाथोंमें शस्त्र-अस्त्र लिये हुए धृतराष्ट्रके पक्षपाती लोग युद्धभूमिमें सामना न करनेवाले तथा शस्त्ररहित मुझे मार भी दें तो वह मेरे लिये बड़ा ही हितकारक होगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजय बोले—ऐसा कहकर शोकाकुल मनवाले अर्जुन बाणसहित धनुषका त्याग करके युद्धभूमिमें रथके मध्यभागमें बैठ गये।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

संजय बोले—वैसी कायरतासे व्याप्त हुए उन अर्जुनके प्रति, जो कि विषाद कर रहे हैं और आँसुओंके कारण जिनके नेत्रोंकी देखनेकी शक्ति अवरुद्ध हो रही है, भगवान् मधुसूदन यह (आगे कहे जानेवाले) वचन बोले।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! इस विषम अवसरपर तुम्हें यह कायरता कहाँसे प्राप्त हुई, जिसका कि श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते, जो स्वर्गको देनेवाली नहीं है और कीर्ति करनेवाली भी नहीं है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

हे पृथानन्दन अर्जुन! इस नपुंसकताको मत प्राप्त हो; क्योंकि तुम्हारेमें यह उचित नहीं है। हे परन्तप! हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका त्याग करके (युद्धके लिये) खड़े हो जाओ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें भीष्म और द्रोणके साथ बाणोंसे कैसे युद्ध करूँ? क्योंकि हे अरिसूदन! ये दोनों ही पूजाके योग्य हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें मैं भिक्षाका अन्न खाना भी श्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर यहाँ रक्तसे सने हुए तथा धनकी कामनाकी मुख्यतावाले भोगोंको ही तो भोगूँगा!

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमलोगोंके लिये (युद्ध करना और न करना—इन) दोनोंमेंसे कौन-सा अत्यन्त श्रेष्ठ है अथवा हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

कायरतारूप दोषसे तिरस्कृत स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहित अन्तःकरणवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित कल्याण करनेवाली हो, वह बात मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मुझे शिक्षा दीजिये।

व्याख्या— प्रत्येक मनुष्य वास्तवमें साधक है। कारण कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको भगवान् यह मनुष्यशरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही प्रदान करते हैं। इसलिये किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणसे निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है। साधक होनेके नाते मनुष्यमात्र अपने साध्यको प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र, समर्थ, योग्य और अधिकारी है। सबसे पहले इस बातकी आवश्यकता है कि मनुष्य अपने उद्देश्यको पहचानकर दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार कर ले कि मैं संसारी नहीं हूँ, प्रत्युत साधक हूँ।

मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ आदि मान्यताएँ केवल सांसारिक व्यवहार (मर्यादा)-के लिये तो ठीक हैं, पर परमात्मप्राप्तिमें ये बाधक हैं। ये मान्यताएँ शरीरको लेकर हैं। परमात्मप्राप्ति शरीरको नहीं होती, प्रत्युत स्वयं साधकको होती है। साधक स्वयं अशरीरी ही होता है।

अर्जुनने अपने वास्तविक उद्देश्यको पहचान लिया है कि मुझे अपना कल्याण करना है। इसलिये वे युद्ध करने अथवा न करनेकी बात न पूछकर अपने कल्याणका निश्चित उपाय पूछते हैं।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं-
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

कारण कि पृथ्वीपर धन-धान्यसमृद्ध और शत्रुरहित राज्य तथा (स्वर्गमें) देवताओंका आधिपत्य मिल जाय तो भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा जो शोक है, वह दूर हो जाय—ऐसा मैं नहीं देखता हूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९ ॥

संजय बोले—हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र! ऐसा कहकर निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् गोविन्दसे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा साफ-साफ कहकर चुप हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओंके मध्य भागमें विषाद करते हुए उस अर्जुनके प्रति हँसते हुएसे भगवान् हृषीकेश यह (आगे कहे जानेवाले) वचन बोले।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

श्रीभगवान् बोले—तुमने शोक न करनेयोग्यका शोक किया है और विद्वत्ता (पण्डिताई)-की बातें कह रहे हो; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये पण्डितलोग शोक नहीं करते।

व्याख्या— इस श्लोकसे भगवान् शरीर और शरीरी (स्वयं)-के विवेकका उपदेश आरम्भ करते हैं, जो प्रत्येक मार्गके साधकके लिये अत्यन्त आवश्यक है। शरीर सदा मृत्युमें रहता है और शरीरी सदा अमरतामें रहता है, इसलिये दोनोंके लिये ही शोक करनेका कोई औचित्य नहीं है— यह इस सम्पूर्ण उपदेशका सार है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि भगवान्‌ने इस प्रकरणमें चिन्मय सत्तारूप अपने अंश (आत्मा)-को ही सामान्य लोगोंको समझानेकी दृष्टिसे 'शरीरी' तथा 'देही' नामोंसे कहा है। वास्तवमें शरीरीका शरीरसे सम्बन्ध है ही नहीं, हो सकता ही नहीं, असम्भव है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

किसी कालमें मैं नहीं था और तू नहीं था तथा ये राजालोग नहीं थे, यह बात भी नहीं है; और इसके बाद (भविष्यमें मैं, तू और राजालोग—) हम सभी नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है।

व्याख्या— मनुष्यमात्रको 'मैं हूँ'—इस रूपमें अपनी एक सत्ताका अनुभव होता है। इस सत्तामें अहम् ('मैं') मिला हुआ होनेसे ही 'हूँ' के रूपमें अपनी अलग एकदेशीय सत्ता अनुभवमें आती है। यदि अहम् न रहे तो 'है' के रूपमें एक सर्वदेशीय सत्ता ही अनुभवमें आयेगी। वह सर्वदेशीय सत्ता ही प्राणिमात्रका वास्तविक स्वरूप है। उस सत्तामें जड़ताका मिश्रण नहीं है अर्थात् उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चारों ही नहीं हैं। सार बात यह है कि एक चिन्मय सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।

व्याख्या— **जीव स्वयं तो निरन्तर अमरत्वमें ही रहता है, पर शरीर निरन्तर मृत्युमें जा रहा है। जीवके गर्भमें आते ही मृत्युका यह क्रम आरम्भ हो जाता है। गर्भावस्था मरती है तो बाल्यावस्था आती है। बाल्यावस्था मरती है तो युवावस्था आती है। युवावस्था मरती है तो वृद्धावस्था आती है। वृद्धावस्था मरती है तो देहान्तर-अवस्था आती है अर्थात् दूसरे जन्मकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार शरीरकी अवस्थाएँ बदलती हैं, पर उसमें रहनेवाला शरीरी ज्यों-का-त्यों रहता है। कारण यह है कि शरीर और शरीरी—दोनोंके विभाग ही अलग-अलग हैं। अतः साधक अपनेको कभी शरीर न माने। बन्धन-मुक्ति स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं।**

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके विषय (जड़ पदार्थ) तो शीत (अनुकूलता) और उष्ण (प्रतिकूलता)-के द्वारा सुख और दु:ख देनेवाले हैं तथा आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।

व्याख्या— **संसारकी समस्त परिस्थितियाँ आने-जानेवाली, मिलने-बिछुड़नेवाली हैं। मनुष्य यह चाहता है कि सुखदायी परिस्थिति बनी रहे और दुःखदायी परिस्थिति न आये। परन्तु सुखदायी परिस्थिति जाती ही है और दुःखदायी परिस्थिति आती ही है—यह प्राकृतिक नियम है अथवा प्रभुका मंगलमय विधान है। अतः साधकको प्रत्येक परिस्थिति प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करनी चाहिये।**

निरन्तर परिवर्तनशील वस्तुओंमें स्थिरता देखना भूल है। इस भूलसे ही ममता और कामनाकी उत्पत्ति होती है। देखनेमें वस्तु मुख्य दीखती है, क्रिया गौण। पर वास्तवमें क्रिया-ही-क्रिया है, वस्तु है ही नहीं!

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

कारण कि हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान् मनुष्यको ये मात्रास्पर्श (पदार्थ) विचलित (सुखी-दुःखी) नहीं करते, वह अमर होनेमें समर्थ हो जाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है।

व्याख्या— मिले हुए और बिछुड़नेवाले शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये मानना मनुष्यकी मूल भूल है। यह भूल स्वतः-स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत मनुष्यके द्वारा रची हुई (कृत्रिम) है। अपने विवेकको महत्त्व न देनेसे ही यह भूल उत्पन्न होती है। इस एक भूलसे फिर अनेक तरहकी भूलें उत्पन्न होती हैं। इसलिये इस भूलको मिटाना बहुत आवश्यक है और इसको मिटानेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। इसको मिटानेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको विवेक प्रदान किया है। जब साधक अपने विवेकको महत्त्व देकर इस भूलको मिटा देता है, तब वह निर्मम-निरहंकार हो जाता है। निर्मम-निरहंकार होते ही साधकमें समता आ जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही तत्त्व देखा अर्थात् अनुभव किया है।

व्याख्या— **दो विभाग हैं—चेतन-विभाग ('है') और जड़-विभाग ('नहीं')। परमात्मा तथा सम्पूर्ण जीव चेतन-विभागमें हैं और संसार-शरीर जड़-विभागमें हैं। जड़ और चेतन—दोनोंका स्वभाव परस्परविरुद्ध है। यह नियम है कि परस्परविरुद्ध विश्वास एक साथ नहीं रह सकते। इसलिये 'है' पर विश्वास होते ही 'नहीं' का विश्वास निर्जीव हो जाता है और 'नहीं' से विश्वास उठते ही 'है' का विश्वास सजीव हो जाता है। सच्चा साधक एक 'है' (सत्-तत्त्व)-के सिवाय अन्य (असत्)-की सत्ता स्वीकार ही नहीं करता। अन्यकी सत्ता स्वीकार न करनेपर साधकमें स्वतः 'है' की स्मृति जाग्रत् हो जाती है। 'है' की स्मृतिसे साधककी साध्यके साथ अभिन्नता हो जाती है।**

कोई मनुष्य 'नहीं' को कितनी ही दृढ़तासे स्वीकार करे, उसकी निवृत्ति होती ही है, प्राप्ति होती ही नहीं। परन्तु 'है' को कितना ही अस्वीकार करे, उसकी प्राप्ति ही होती है। उसकी विस्मृति तो हो सकती है, पर निवृत्ति होती ही नहीं। अतः एक सत्तामात्र 'है' के सिवाय कुछ नहीं है—यह सार बात है, जिसका महापुरुषोंने अनुभव किया है।

संसारमें अभाव ही मुख्य है। इसके भावमें भी अभाव है, अभावमें भी अभाव है। परन्तु परमात्मामें भाव ही मुख्य है। उनके अभावमें भी भाव है, भावमें भी भाव है। संसार दीखे या न दीखे, मिले या न मिले, उसका 'वियोग' ही मुख्य है। परमात्मा दीखें या न दीखें, मिलें या न मिलें, उनका 'योग' ही मुख्य है। संसारका नित्यवियोग है। परमात्माका नित्ययोग है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश कोई भी नहीं कर सकता।

व्याख्या—**जिस सत्-तत्त्वका अभाव विद्यमान नहीं है, वही अविनाशी तत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। अविनाशी होनेके कारण तथा सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होनेके कारण उसका कभी कोई नाश कर सकता ही नहीं। नाश उसीका होता है, जो नाशवान् तथा एक देशमें स्थित हो।**

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

अविनाशी, जाननेमें न आनेवाले और नित्य रहनेवाले इस शरीरीके ये देह अन्तवाले कहे गये हैं। इसलिये हे अर्जुन! तुम युद्ध करो।

व्याख्या—**पूर्वश्लोकमें शरीरीको अविनाशी बताकर अब भगवान् यह कहते हैं कि मात्र शरीर नाशवान् हैं, मरनेवाले हैं। तात्पर्य है कि मिला हुआ तथा बिछुड़नेवाला शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। शरीर तो केवल कर्म-सामग्री है, जिसका उपयोग केवल दूसरोंकी सेवा करनेमें ही है। अपने लिये उसका किंचिन्मात्र भी उपयोग नहीं है। अतः शरीरके नाशसे अपनी कोई हानि नहीं होती।**

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

जो मनुष्य इस अविनाशी शरीरीको मारनेवाला मानता है और जो मनुष्य इसको मरा मानता है, वे दोनों ही इसको नहीं जानते; क्योंकि यह न मारता है और न मारा जाता है।

व्याख्या—**शरीरीमें कर्तापन नहीं है और मृत्युरूप विकार भी नहीं है। कर्तापन आदि सभी विकार प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्ध (मैं-पन)-में ही हैं।**

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

यह शरीरी न कभी जन्मता है और न मरता है तथा यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और अनादि है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।

व्याख्या— उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना—ये छः विकार शरीरमें ही होते हैं। शरीरीमें ये विकार कभी हुए नहीं, कभी होंगे नहीं, कभी हो सकते ही नहीं।

शरीरी कभी उत्पन्न नहीं होता—'न जायते', 'अजः'; उत्पन्न होकर विकारी सत्तावाला नहीं होता—'अयं भूत्वा भविता वा न भूयः'; यह बदलता नहीं—'शाश्वतः'; यह बढ़ता नहीं—'पुराणः', यह क्षीण नहीं होता—'नित्यः'; और यह मरता नहीं—'न म्रियते', 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'।

मुख्य विकार दो ही हैं—उत्पन्न होना और नष्ट होना। अतः प्रस्तुत श्लोकमें इन दोनों विकारोंका शरीरीमें दो-दो बार निषेध किया गया है; जैसे—'न जायते म्रियते' और 'अजः', 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

हे पृथानन्दन! जो मनुष्य इस शरीरीको अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये?

व्याख्या— शरीरकी किसी भी क्रियासे शरीरीमें किंचिन्मात्र भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। अतः शरीरी किसी भी क्रियाका न तो कर्ता (तथा भोक्ता) बनता है, न कारयिता ही बनता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।

व्याख्या— जैसे कपड़े बदलनेसे मनुष्य बदल नहीं जाता, ऐसे ही अनेक शरीरोंको धारण करने और छोड़नेपर भी शरीरी वही-का-वही रहता है, बदलता नहीं। तात्पर्य है कि शरीरके परिवर्तन तथा नाशसे स्वयंका परिवर्तन तथा नाश नहीं होता। यह सबका अनुभव है कि हम रहते हैं, बचपन आता और चला जाता है। हम रहते हैं, जवानी आती और चली जाती है। हम रहते हैं, बुढ़ापा आता और चला जाता है। वास्तवमें न बचपन है, न जवानी है, न बुढ़ापा है, न मृत्यु है, प्रत्युत केवल हमारी सत्ता ही है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती।

व्याख्या—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह अपरा प्रकृति (जड़-विभाग) है और स्वरूप परा प्रकृति (चेतन-विभाग) है (गीता ७। ४-५)। अपरा प्रकृति परा प्रकृतितक पहुँच ही नहीं सकती। जड़ पदार्थ चेतन-तत्त्वतक कैसे पहुँच सकता है? अन्धकार सूर्यतक कैसे पहुँच सकता है? इसलिये जड़ वस्तु चेतन शरीरीमें किंचिन्मात्र कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकती।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।

व्याख्या— जड़ वस्तु शरीरीमें कोई भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती; क्योंकि शरीरी स्वतः-स्वाभाविक निर्विकार है। निर्विकारता इसका स्वरूप है।

शरीरी सर्वगत है, शरीरगत नहीं। जो चौरासी लाख योनियोंसे होकर आया, वह शरीरगत कैसे हो सकता है? जो सर्वगत है, वह शरीरगत (एकदेशीय) नहीं हो सकता और जो शरीरगत है, वह सर्वगत नहीं हो सकता।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और यह निर्विकार कहा जाता है। अत: इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— साधकका स्वरूप अव्यक्त है; परन्तु शरीररूपसे वह अपनेको व्यक्त मानता है—यह साधककी मूल भूल है। इस भूलका प्रायश्चित्त करनेके लिये तीन बातें हैं—(१) साधक अपनी भूलको स्वीकार करे कि अपनेको शरीर मानकर मैंने भूल की, (२) साधक अपनी भूलका पश्चात्ताप करे कि साधक होकर मैंने ऐसी भूल की और (३) साधक यह निश्चय करे कि अब आगे मैं कभी ऐसी भूल नहीं करूँगा।

शरीरी (सत्-तत्त्व)-का अनुभव तो किया जा सकता है, पर वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका जो भी वर्णन या चिन्तन किया जाता है, वह वास्तवमें प्रकृतिका ही होता है। एक बार शरीरीका अनुभव होनेपर फिर मनुष्य सदाके लिये शोकरहित हो जाता है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

हे महाबाहो! अगर तुम इस देहीको नित्य पैदा होनेवाला अथवा नित्य मरनेवाला भी मानो, तो भी तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये।

**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥**

कारण कि पैदा हुएकी जरूर मृत्यु होगी और मरे हुएका जरूर जन्म होगा। अत: (इस जन्म-मरणरूप परिवर्तनके प्रवाहका) निवारण नहीं हो सकता। अत: इस विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— **जो मिला है और बिछुड़नेवाला है, उसपर किसीका स्वतन्त्र अधिकार नहीं चलता। कारण कि मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं होती, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही होती है। उसका उपयोग केवल संसारकी सेवाके लिये ही हो सकता है, अपने लिये नहीं।**

**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥**

हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं। अत: इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है?

व्याख्या—**शरीरी स्वयं अविनाशी है, शरीर विनाशी है। स्थूलदृष्टिसे केवल शरीरोंको ही देखें तो वे जन्मसे पहले भी हमारे साथ नहीं थे और मरनेके बाद भी वे हमारे साथ नहीं रहेंगे। वर्तमानमें वे हमारे साथ मिले हुए-से दीखते हैं, पर वास्तवमें हमारा उनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। इस तरह मिले हुए और बिछुड़नेवाले प्राणियोंके लिये शोक करनेसे क्या लाभ?**

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

कोई इस शरीरीको आश्चर्यकी तरह देखता (अनुभव करता) है और वैसे ही दूसरा कोई इसका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्यकी तरह सुनता है और इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता अर्थात् यह दुर्विज्ञेय है।

व्याख्या—**यह शरीरी इतना विलक्षण है कि इसका अनुभव भी आश्चर्यजनक होता है, वर्णन भी आश्चर्यजनक होता है और इसका वर्णन सुनना भी आश्चर्यजनक होता है। परन्तु शरीरीका अनुभव सुननेमात्रसे अर्थात् अभ्याससे नहीं होता, प्रत्युत स्वीकार करनेसे होता है। इसका उपाय है—चुप होना, शान्त होना, कुछ न करना।**

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सबके देहमें यह देही नित्य ही अवध्य है। इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अर्थात् किसी भी प्राणीके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— **प्राणिमात्र परमात्माका अंश है**—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५।७) *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'* (मानस, उत्तर० ११७।१)। **परमात्माका अंश होनेके नाते इसका कभी नाश हुआ ही नहीं, कभी नाश होगा ही नहीं, कभी नाश हो सकता ही नहीं। अविनाशित्व, ज्ञान और आनन्द शरीरीके गुण नहीं हैं, प्रत्युत स्वरूप हैं।**

शरीर केवल कर्म करनेका तथा उसका फल भोगनेका उपकरण है। अतः शरीरका सम्बन्ध नाशवान् संसारके साथ है; क्योंकि यह संसारका ही अंश है।

व्याकरणकी दृष्टिसे देखें तो मतुप्, इनि आदि प्रत्यय छः अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

'अस्तिविवक्षामें जो मतुप् आदि प्रत्यय होते हैं, वे सब बहुत्व, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशय और संसर्ग—इन छः विषयोंमें ही होते हैं।'

यहाँ जीवात्माके लिये 'निन्दा' अर्थमें 'इनि' प्रत्यय किया गया है, जिससे 'देही', 'शरीरी' आदि शब्द बनते हैं। कारण कि जिस चिन्मय एवं अविनाशी सत्ता (आत्मा)-का जड़ एवं नाशवान् शरीर या देहसे किंचिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध है ही नहीं, उसे शरीरी या देही कहना वास्तवमें उसकी निन्दा ही है। उदाहरणार्थ, जिस मनुष्यको कोढ़ है, उसे कोढ़ी कहना वास्तवमें उसकी निन्दा है; क्योंकि कोढ़ उसका स्वरूप नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक दोष है। इसी तरह शरीर उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है—'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २।१८), पर आत्मा उत्पन्न और नष्ट होनेवाला नहीं है—'देही नित्यमवध्योऽयम्' (गीता २।३०), 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गीता २।२०)। जब शरीर ही नहीं **रहेगा तो फिर शरीरी कैसे रहेगा? कोढ़ीको तो कोढ़ खराब दीखता है, पर जीवको अज्ञानवश शरीर खराब न दीखकर उल्टे बढ़िया दीखता है! तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्ने कृपापूर्वक अज्ञानी मनुष्योंको समझानेके लिये ही जीवात्मा (चेतन-तत्त्व)-को शरीरी और देही कहा है। वास्तवमें जीवात्मा शरीरी अथवा देही नहीं है।**

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

और अपने क्षात्रधर्मको देखकर भी तुम्हें विकम्पित अर्थात् कर्तव्य-कर्मसे विचलित नहीं होना चाहिये; क्योंकि धर्ममय युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है।

व्याख्या— **यदि साधककी रुचि, विश्वास और योग्यता ज्ञानयोगकी नहीं है तो उसे कर्मयोगका पालन करना चाहिये। कारण कि ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंका फल एक ही है (गीता ५। ४-५)। तात्पर्य है कि शरीर-शरीरीके विवेकको महत्त्व देनेसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व शरीरद्वारा स्वधर्म (कर्तव्य-कर्म)-का पालन करनेसे भी मिल सकता है। अतः भगवान् कर्तव्य-कर्म (क्षात्र-धर्म)-के पालनका प्रकरण आरम्भ करते हैं।**

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

अपने-आप प्राप्त हुआ युद्ध खुला हुआ स्वर्गका दरवाजा भी है। हे पृथानन्दन! वे क्षत्रिय बड़े सुखी (भाग्यशाली) हैं, जिनको ऐसा युद्ध प्राप्त होता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अब अगर तू यह धर्ममय युद्ध नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्तिका त्याग करके पापको प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४॥

और सब प्राणी भी तेरी सदा रहनेवाली अपकीर्तिका कथन अर्थात् निन्दा करेंगे। वह अपकीर्ति सम्मानित मनुष्यके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायी होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

तथा महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे। जिनकी धारणामें तू बहुमान्य हो चुका है, (उनकी दृष्टिमें) तू लघुताको प्राप्त हो जायगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

तेरे शत्रुलोग तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत-से न कहनेयोग्य वचन भी कहेंगे। उससे बढ़कर और दुःखकी बात क्या होगी?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

अगर (युद्धमें) तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी और अगर (युद्धमें) तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। अतः हे कुन्तीनन्दन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार (युद्ध करनेसे) तू पापको प्राप्त नहीं होगा।

व्याख्या— **भगवान् व्यवहारमें परमार्थकी कला बताते हैं—सिद्धि-असिद्धिमें सम (तटस्थ) रहकर निष्कामभावसे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करना। ऐसा करनेसे मनुष्य युद्ध-जैसा घोर कर्म करते हुए भी अपना कल्याण कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें अपना कल्याण करनेमें समर्थ तथा स्वतन्त्र है।**

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

हे पार्थ! यह समबुद्धि तेरे लिये (पहले) सांख्य-योगमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन; जिस समबुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्म-बन्धनका त्याग कर देगा।

व्याख्या— **भगवान्‌ने इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक कर्तव्यविज्ञान (धर्मशास्त्र) अर्थात् 'कर्म' का वर्णन किया, अब इस उन्तालीसवें श्लोकसे तिरपनवें श्लोकतक योग-विज्ञान (मोक्षशास्त्र) अर्थात् 'कर्मयोग' का वर्णन करते हैं।**

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

मनुष्यलोकमें इस समबुद्धिरूप धर्मके आरम्भका नाश नहीं होता तथा (इसके अनुष्ठानका) उल्टा फल भी नहीं होता और इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरणरूप) महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

व्याख्या— भगवान्ने चार प्रकारसे समताकी महिमा कही है—(१) समतासे मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है (२) समताके आरम्भ अर्थात् उद्देश्यका भी कभी नाश नहीं होता (३) समताके अनुष्ठानमें यदि कोई भूल हो जाय तो उसका उल्टा फल नहीं होता, और (४) समताका थोड़ा-सा भी भाव हो जाय तो वह कल्याण कर देता है। जीवनमें थोड़ी भी समता आ जाय तो उसका नाश नहीं होता। भय कितना ही महान् हो, उसका नाश हो जाता है।

असत्को सत्ता तथा महत्ता देनेसे महान् समता भी स्वल्प हो जाती है और स्वल्प भय भी महान् हो जाता है। यदि हम असत्को सत्ता तथा महत्ता न दें तो समता महान् और भय स्वल्प (नष्ट) हो जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

हे कुरुनन्दन! इस (समबुद्धिकी प्राप्ति)-के विषयमें निश्चयवाली बुद्धि एक ही होती है। जिनका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुत शाखाओंवाली ही होती हैं।

व्याख्या—**समताकी प्राप्ति उसीको होती है, जिसका उद्देश्य एक होता है। अनेक उद्देश्य कामनाके कारण होते हैं।**

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

हे पृथानन्दन! जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं, स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं, (भोगोंके सिवाय) और कुछ है ही नहीं—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी मनुष्य इस प्रकारकी जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीको कहा करते हैं, जो कि जन्मरूपी कर्मफलको देनेवाली है तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

उस पुष्पित वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है, और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।

व्याख्या—**भोग और ऐश्वर्य (संग्रह)-की आसक्ति कल्याणमें मुख्य बाधक है। सांसारिक भोगोंको भोगने तथा रुपयों आदिका संग्रह करनेवाला मनुष्य अपने कल्याणका निश्चय भी नहीं कर सकता, फिर कल्याण करना तो दूर रहा! इसलिये भगवान् निष्कामभाव (योग)-का अन्वय-व्यतिरेकसे वर्णन करते हैं।**

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

वेद तीनों गुणोंके कार्यका ही वर्णन करनेवाले हैं; हे अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जा, निरन्तर नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित हो जा, योगक्षेमकी चाहना भी मत रख और परमात्मपरायण हो जा।

व्याख्या—भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हैं कि वेदोंके जिस अंशमें सकामभावका वर्णन है, उसका त्याग करके तू निष्कामभावको ग्रहण कर। निष्कामभावसे तू तीनों गुणोंसे अतीत (जन्म-मरणसे रहित) हो जायगा। मिलने और बिछुड़नेवाले संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके तू नित्य रहनेवाली चिन्मय सत्तामें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव कर। योग (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तुकी रक्षा)-की कामनाका भी त्याग कर दे; क्योंकि कामनामात्र बन्धनकारक है।

पहले बयालीसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि जो मनुष्य 'वेदवादरताः' (वेदोक्त सकाम कर्मोंमें रुचि रखनेवाले) होते हैं, उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती, कारण कि व्यवसायात्मिका बुद्धिके लिये निष्काम होना आवश्यक है। वेद तीनों गुणोंके कार्यका वर्णन करनेवाले हैं, इसलिये भगवान् अर्जुनको तीनों गुणोंसे रहित होनेकी आज्ञा देते हैं—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'।

वेदोक्त सकाम अनुष्ठानोंको करनेवाले मनुष्योंको योगक्षेमकी प्राप्ति नहीं होती और वे संसार-चक्रमें पड़े रहते हैं—'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' (गीता ९। २१)। संसार-चक्रमें पड़नेका कारण वेद नहीं हैं, प्रत्युत कामना है।

भगवत्परायण साधकको भोग व संग्रहकी कामना तो दूर रही, योगक्षेमकी भी कामना नहीं करनी चाहिये। इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू मेरे परायण होकर योगक्षेमकी भी कामनाका त्याग कर दे अर्थात् सांसारिक अथवा पारमार्थिक कोई भी कामना न रखकर सर्वथा निष्काम हो जा।

भगवान्के समान दयालु कोई नहीं है। वे कहते हैं कि भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ—'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (गीता ९। २२) मैं उनके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देता हूँ—'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि' (१८। ५८) और उनका उद्धार भी कर देता हूँ—'तेषामहं समुद्धर्ता०' (१२। ७) अतः भगवान्के भजनमें लगे हुए साधकको अपने साधन तथा उद्धारके विषयमें कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

सब तरफसे परिपूर्ण महान् जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे गड्ढोंमें भरे जलमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, (वेदों और शास्त्रोंको) तत्त्वसे जाननेवाले ब्रह्मज्ञानीका सम्पूर्ण वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

व्याख्या— **इस श्लोकमें ऐसे महापुरुषका वर्णन हुआ है, जिसे परमविश्रामकी प्राप्ति हो गयी है। परम-विश्रामकी प्राप्ति होनेपर फिर किसी क्रिया तथा पदार्थकी आवश्यकता नहीं रहती। वह पूर्णताको प्राप्त हो जाता है। ऐसे महापुरुषको 'ब्राह्मण' कहनेका तात्पर्य है कि जिसने पूर्णताको प्राप्त कर लिया है, वही वास्तविक 'ब्राह्मण' है।**

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अत: तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।

व्याख्या— **एक कर्म-विभाग (करना) है और एक फल-विभाग (होना) है। 'करना' मनुष्यके अधीन है और 'होना' प्रारब्ध अथवा परमात्माके अधीन है। प्रारब्धसे अथवा परमात्माके विधानसे मनुष्यको जो कुछ मिला है, उसे अपने भोगमें न लगाकर दूसरोंकी सेवामें लगाना मनुष्यका कर्तव्य है।**

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है।

व्याख्या— एक वस्तु या व्यक्तिमें राग होगा तो दूसरी वस्तु या व्यक्तिमें द्वेष होना स्वाभाविक है। राग-द्वेषके रहते हुए कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें समताका आना असम्भव है। राग-द्वेषके न रहनेपर जो समता आती है, उस समतामें स्थित रहकर कर्तव्य-कर्मोंको करना चाहिये। समताको ही 'योग' कहा जाता है। कर्म तो करणसापेक्ष होते हैं, पर योग करणनिरपेक्ष है। इस समतारूपी योगमें स्थित साधक कभी विचलित (योगभ्रष्ट) नहीं होता।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

बुद्धियोग (समता)-की अपेक्षा सकामकर्म दूरसे (अत्यन्त) ही निकृष्ट हैं। अतः हे धनञ्जय! तू बुद्धि (समता)-का आश्रय ले; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं।

व्याख्या— योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट हैं, उनकी परस्पर तुलना नहीं हो सकती। योग नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहनेवाला (अविनाशी) है और कर्म आदि-अन्तवाला (नाशवान्) है, फिर उनकी तुलना हो ही कैसे सकती है? इसलिये कर्मोंका आश्रय न लेकर योगका ही आश्रय लेना चाहिये। योगकी प्राप्ति कर्मोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत कर्म तथा कर्मफलके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है। कर्मोंका आश्रय जन्म-मरण देनेवाला और योगका आश्रय मुक्त करनेवाला है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धि (समता)-से युक्त मनुष्य यहाँ (जीवित अवस्थामें ही) पुण्य और पाप—दोनोंका त्याग कर देता है। अतः तू योग (समता)-में लग जा; क्योंकि कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

व्याख्या— समतामें स्थित मनुष्य जलमें कमलकी भाँति संसारमें रहते हुए भी पाप-पुण्य दोनोंसे नहीं बँधता अर्थात् मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति है।

पूर्वश्लोकमें आया है कि योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट हैं, इसलिये मनुष्यको समतामें स्थित होकर कर्म करने चाहिये अर्थात् कर्मयोगका आचरण करना चाहिये। महत्त्व योग (समता)-का है, कर्मोंका नहीं। कल्याण करनेकी शक्ति योग (कर्मयोग)-में है, कर्मोंमें नहीं।

[बुद्धि, योग और बुद्धियोग—ये तीनों ही शब्द गीतामें 'कर्मयोग' के लिये आये हैं।]

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

कारण कि समतायुक्त बुद्धिमान् साधक कर्मजन्य फलका अर्थात् संसारमात्रका त्याग करके जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— **समतामें स्थित होकर कर्म करनेवाले अर्थात् कर्मयोगी साधक जन्म-मरणसे रहित होकर परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। अतः कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन है।**

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको भलीभाँति तर जायगी, उसी समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— **मिलने और बिछुड़नेवाले पदार्थों और व्यक्तियोंको अपना तथा अपने लिये मानना मोह है। इस मोहरूपी दलदलसे निकलनेपर साधकको संसारसे वैराग्य हो जाता है। संसारसे वैराग्य होनेपर अर्थात् रागका नाश होनेपर योगकी प्राप्ति हो जाती है।**

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— **पूर्वश्लोकमें सांसारिक मोहके त्यागकी बात कहकर भगवान् प्रस्तुत श्लोकमें शास्त्रीय मोह अर्थात् सीखे हुए (अनुभवहीन) ज्ञानके त्यागकी बात कहते हैं। ये दोनों ही प्रकारके मोह साधकके लिये बाधक हैं। शास्त्रीय मोहके कारण साधक द्वैत, अद्वैत आदि मतभेदोंमें उलझकर खण्डन-मण्डनमें लग जाता है। केवल अपने कल्याणका ही दृढ़ उद्देश्य होनेपर साधक सुगमतापूर्वक इस (दोनों प्रकारके) मोहसे तर जाता है।**

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुन बोले—हे केशव! परमात्मामें स्थित स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं? वह स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है अर्थात् व्यवहार करता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! जिस कालमें साधक मनमें आयी सम्पूर्ण कामनाओंका भलीभाँति त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

व्याख्या— **मनकी स्थिरताकी अपेक्षा बुद्धिकी स्थिरता श्रेष्ठ है; क्योंकि मनकी स्थिरतासे तो लौकिक सिद्धियाँ प्रकट होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे कल्याण हो जाता है। मनकी स्थिरता है—वृत्तियोंका निरोध और बुद्धिकी स्थिरता है—उद्देश्यकी दृढ़ता।**

त्याग उसीका होता है जो वास्तवमें सदासे ही त्यक्त है। कामना स्वयंगत न होकर मनोगत है। परन्तु मनके साथ तादात्म्य होनेके कारण कामना स्वयंमें दीखने लगती है। जब साधकको स्वयंमें सम्पूर्ण कामनाओंके अभावका अनुभव हो जाता है, तब उसकी बुद्धि स्वतः स्थिर हो जाती है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह मननशील मनुष्य स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

सब जगह आसक्ति-रहित हुआ जो मनुष्य उस-उस शुभ-अशुभको प्राप्त करके न तो प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

जिस तरह कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, ऐसे ही जिस कालमें यह (कर्मयोगी) इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

व्याख्या— **स्वयं नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है और शरीर नित्य-निरन्तर बदलता रहता है; अतः दोनोंके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु जब स्वयं शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध मान लेता है, तब बुद्धिमें (शरीर-संसारका असर पड़नेसे) अन्तर पड़ने लगता है। मैं-मेरापन मिटनेसे बुद्धिमें जो अन्तर पड़ता था, वह मिट जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है। बुद्धि स्थिर होनेसे स्वयं अपने-आपमें ही स्थित हो जाता है।**

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्य-के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता। परन्तु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका रस भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।

व्याख्या— **भोगोंके प्रति सूक्ष्म आसक्तिका नाम 'रस' है। यह रस साधककी अहंतामें रहता है। जबतक यह रस रहता है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस (प्रेम) प्रकट नहीं होता। इस रसबुद्धिके कारण ही भोगोंकी पराधीनता रहती है। साधकके द्वारा भोगोंका त्याग करनेपर भी रसबुद्धि बनी रहती है, जिसके कारण भोगोंके त्यागका बड़ा महत्त्व दीखता है और अभिमान भी होता है कि मैंने भोगोंका त्याग कर दिया है।**

यद्यपि यह रस तत्त्वप्राप्तिके पहले भी नष्ट हो सकता है, तथापि तत्त्वप्राप्तिके बाद यह सर्वथा नष्ट हो ही जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

कारण कि हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहनेसे) यत्न करते हुए विद्वान् मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं।

व्याख्या— **बुद्धिमान् साधकको अपनी इन्द्रियोंपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। कारण कि जबतक अहंतामें रसबुद्धि पड़ी है, तबतक साधकका पतन होनेकी सम्भावना रहती है।**

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

कर्मयोगी साधक उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण होकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

व्याख्या— **साधनकी पूर्णताके लिये भगवान्‌की परायणता आवश्यक है। भगवान्‌के परायण होनेसे इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक वशमें हो जाती हैं। अपने पुरुषार्थसे इन्द्रियोंको सर्वथा वशमें करना कठिन है। इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें होनेसे ही बुद्धि स्थिर होती है।**

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्तिसे कामना पैदा होती है। कामनासे (बाधा लगनेपर) क्रोध पैदा होता है। क्रोध होनेपर सम्मोह (मूढ़भाव) हो जाता है। सम्मोहसे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धि (विवेक)-का नाश हो जाता है। बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है।

व्याख्या— **विषयभोगोंको भोगना तो दूर रहा, उनका रागपूर्वक चिन्तन करनेमात्रसे साधक पतनकी ओर चला जाता है; कारण कि भोगोंका चिन्तन भी भोग भोगनेसे कम नहीं है।**

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

परन्तु वशीभूत अन्तःकरणवाला (कर्मयोगी साधक) राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ (अन्तःकरणकी) निर्मलताको प्राप्त हो जाता है। (अन्तःकरणकी) निर्मलता प्राप्त होनेपर साधकके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और ऐसे शुद्ध चित्तवाले साधककी बुद्धि निःसन्देह बहुत जल्दी (परमात्मामें) स्थिर हो जाती है।

व्याख्या— **यदि विषयोंमें रागबुद्धि न हो तो शास्त्रविहित भोगोंका सेवन करते हुए भी पतन नहीं होता, प्रत्युत उत्थान ही होता है।**

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती और (व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे) उस अयुक्त मनुष्यमें निष्कामभाव अथवा कर्तव्यपरायणताका भाव नहीं होता। निष्कामभाव न होनेसे उसको शान्ति नहीं मिलती। फिर शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है?

व्याख्या—**कर्मयोगमें निष्कामभावकी मुख्यता है। निष्कामभावके लिये मन और इन्द्रियोंका संयम तथा एक निश्चयवाली बुद्धिका होना आवश्यक है।**

अशान्तिका मूल कारण कामना है। जबतक मनुष्यके भीतर किसी प्रकारकी कामना है, तबतक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। कामनायुक्त चित्त सदा अशान्त ही रहता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

कारण कि (अपने-अपने विषयोंमें) विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे (एक ही इन्द्रिय) जिस मनको अपना अनुगामी बना लेती है, वह (अकेला मन) जलमें नौकाको वायुकी तरह इसकी बुद्धिको हर लेता है।

व्याख्या—**जबतक साधककी बुद्धि एक उद्देश्यमें दृढ़ नहीं होती, तबतक सम्पूर्ण इन्द्रियोंका तो कहना ही क्या है, एक ही इन्द्रिय मनको हर लेती है और मन बुद्धिको हरकर उसे भोगोंमें लगा देता है।**

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

इसलिये हे महाबाहो! जिस मनुष्यकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सर्वथा वशमें की हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो रात (परमात्मासे विमुखता) है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं (भोग और संग्रहमें लगे रहते हैं), वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है।

व्याख्या—**अब भगवान् सांख्ययोगकी दृष्टिसे कहते हैं; क्योंकि परिणाममें कर्मयोग तथा सांख्ययोग एक ही हैं (गीता ५। ४-५)। लोग जिस परमात्माकी तरफसे सोये हुए हैं, वह तत्त्वज्ञ महापुरुष और सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें दिनके प्रकाशके समान है। सांसारिक लोगोंका तो पारमार्थिक साधकके साथ विरोध होता है, पर पारमार्थिक साधकका सांसारिक लोगोंके साथ विरोध नहीं होता—**'*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥*' **(मानस, उत्तर० ११२ ख)। सांसारिक लोगोंने तो केवल संसारको ही देखा है, पर पारमार्थिक साधक संसारको भी जानता है और परमात्माको भी। संसारमें रचे-पचे लोग सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानते हैं; परन्तु तत्त्वज्ञ महापुरुष और सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह रातके अन्धकारकी तरह है, उसका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है।**

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

जैसे (सम्पूर्ण नदियोंका) जल चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण समुद्रमें आकर मिलता है, पर (समुद्र अपनी मर्यादामें) अचल स्थित रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण भोग-पदार्थ जिस संयमी मनुष्यको (विकार उत्पन्न किये बिना ही) प्राप्त होते हैं, वही मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं।

व्याख्या— **जब मनुष्य सर्वथा निष्काम हो जाता है, तब आवश्यक वस्तुएँ उसके पास स्वाभाविक आती हैं, वे उसके हृदयमें हर्ष आदि कोई विकार उत्पन्न नहीं करतीं। प्रारब्धके अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल जो भी परिस्थिति प्राप्त होती है, उससे उस तत्त्वज्ञ महापुरुषके अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार उत्पन्न नहीं होते, वह सर्वथा सम रहता है। परन्तु जिसके भीतर सांसारिक कामनाएँ हैं, उसे वस्तुएँ प्राप्त हों या न हों, वह सदा अशान्त ही रहता है।**

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंतारहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।

व्याख्या— जब मनुष्य कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे छूट जाता है, तब उसे अपने भीतर नित्य-निरन्तर स्थित रहनेवाली शान्तिका अनुभव हो जाता है। मूलमें अहंता ही मुख्य है। सबका त्याग करनेपर भी अहंता शेष रह जाती है, पर अहंताका त्याग होनेपर सबका त्याग हो जाता है। अहंतासे राग, रागसे आसक्ति, आसक्तिसे ममता और ममतासे कामना तथा कामनासे फिर अनेक प्रकारके विकारोंकी उत्पत्ति होती है। साधकके लिये पहले ममताका त्याग करना सुगम पड़ता है। ममताका त्याग होनेपर कामना, स्पृहा और अहंताका त्याग करनेकी सामर्थ्य आ जाती है। वास्तवमें हम कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे रहित हैं। यदि हम इनसे रहित न होते तो कभी इनका त्याग न कर पाते और भगवान् भी इनके त्यागकी बात नहीं कहते। सुषुप्तिमें अहंता आदिके अभावका अनुभव सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

मूलमें कामना, स्पृहा, ममता और अहंताकी सत्ता है ही नहीं—'नासतो विद्यते भावः'(गीता २। १६)। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। चिन्मय सत्तामात्रमें कामना, स्पृहा, ममता और अहंता होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ये कामना आदि जड़में ही रहते हैं, चेतनतक पहुँचते ही नहीं। चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। कामना, स्पृहा आदि निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत बदलते रहते हैं—यह सबका अनुभव है। प्रत्येक जन्ममें कामना, स्पृहा आदि अलग-अलग थे। इस जन्ममें भी बचपनमें कामना, स्पृहा आदि अलग थे, अब अलग हैं। हम इन्हें छोड़ते और पकड़ते रहते हैं। पहले खिलौनोंकी कामना थी, फिर रुपयोंकी कामना हो गयी। पहले माँमें ममता थी, फिर पत्नीमें ममता हो गयी। इस प्रकार कामना, स्पृहा, ममता आदिका आना-जाना, उत्पत्ति-विनाश, संयोग-वियोग, आरम्भ-अन्त आदि होता रहता है, पर सत्तामात्र स्वरूपका आना-जाना आदि होता ही नहीं। जो वस्तु है ही नहीं, उसे हमने पकड़ लिया अर्थात् उसे सत्ता और महत्ता दे दी—यही हमारी सबसे बड़ी भूल है। इस भूलको मिटानेकी जिम्मेवारी हमपर ही है, तभी भगवान् इनका त्याग करनेकी बात कहते हैं, अन्यथा जो है ही नहीं, उसका त्याग स्वतःसिद्ध है। जो स्वतःसिद्ध है, उसे ही प्राप्त करना है। नया निर्माण कुछ नहीं करना है। नया निर्माण ही हमारे बन्धनका, दुःखोंका कारण बनता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या— अहंतारहित होनेपर मनुष्य ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हो जाता है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती। इस ब्राह्मी स्थितिकी प्राप्ति एक बार और सदाके लिये होती है। कारण कि ब्रह्ममें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है, पर अहंकारके कारण इसका अनुभव नहीं होता। 'मैं हूँ' मिट जाय और 'है' रह जाय—यही ब्राह्मी स्थिति है।

यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली तथा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होती है, वह हमारी तथा हमारे लिये नहीं हो सकती। शरीर तो मिलने-बिछुड़नेवाला तथा उत्पन्न-नष्ट होनेवाला है, पर स्वयं मिलने-बिछुड़नेवाला तथा उत्पन्न-नष्ट होनेवाला नहीं है। अतः साधक दृढ़तापूर्वक इस सत्यको स्वीकार कर ले कि मैं (स्वयं) त्रिकालमें भी शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है तथा मेरे लिये भी नहीं है।

'निर्वाण' शब्दके दो अर्थ होते हैं—लुप्त (खोया हुआ) और विश्राम (शान्त)। अतः खोये हुए ब्रह्मको पा लेना अथवा परम विश्रामको प्राप्त कर लेना ही निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति है। 'निर्वाण' शब्दका एक अर्थ शून्य भी होता है। शून्य अभावका वाचक नहीं है। शून्यका तात्पर्य है—जो न सत् हो, न असत् हो, न सदसत् हो और न सदसत्से भिन्न हो अर्थात् जो अनिर्वचनीय तत्त्व हो—'अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मक चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं शून्यमेव' (सर्वदर्शनसंग्रह)।

क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है। हमारा स्वरूप अक्रिय है। इसलिये शरीरके द्वारा हम अपने (स्वरूपके) लिये कुछ नहीं कर सकते। शरीरके द्वारा हम कोई भी क्रिया करेंगे तो वह संसारके लिये ही होगी, अपने लिये नहीं।

पूर्वपक्ष—तो फिर हम अपने लिये क्या कर सकते हैं?

उत्तरपक्ष—हम अपने लिये अपने द्वारा निष्काम, निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम वास्तवमें स्वरूपसे निष्काम, निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! अगर आप कर्मसे बुद्धि (ज्ञान)-को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? आप अपने मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अतः आप निश्चय करके उस एक बातको कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्यलोकमें दो प्रकारसे होनेवाली निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें ज्ञानियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।

व्याख्या—**कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ होनेसे समकक्ष हैं और दोनोंका एक ही फल है (गीता ५।४-५)। यद्यपि कर्मयोगमें क्रियाकी और सांख्ययोगमें विवेककी मुख्यता है, तथापि फलमें दोनों एक हैं।**

पूर्वपक्ष—**यहाँ भक्तियोग-निष्ठाकी बात नहीं कही गयी है, इससे सिद्ध हुआ कि कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो ही साधन मान्य हैं?**

उत्तरपक्ष—**ऐसा नहीं है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों साधकोंकी अपनी निष्ठाएँ हैं, पर भक्तियोग साधककी अपनी निष्ठा न होकर भगवन्निष्ठा है। भक्तियोगमें साधक भगवान्पर निर्भर रहता है।**

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। कर्मयोगमें जगत्की और ज्ञानयोगमें जीवकी मुख्यता है। जगत् और जीव दोनों लौकिक हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' **(गीता १५।१६); क्योंकि जगत् (जड़) और जीव (चेतन)—ये दोनों विभाग हमारे जाननेमें आते हैं, पर भगवान् जाननेमें नहीं आते। भगवान् माननेके विषय हैं, जाननेके नहीं। परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है; क्योंकि इसमें भगवान्की मुख्यता है, जो जगत् और जीव दोनोंसे उत्तम हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' **(गीता १५।१७)।**

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताका अनुभव करता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।

व्याख्या—**जबतक साधकमें क्रियाका वेग रहता है, तबतक साधकके लिये निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके लिये कर्म करने आवश्यक हैं। दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त हो जाता है और सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बाँधनेवाले नहीं रहते। केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर क्रियाका वेग शान्त नहीं होता। क्रियाका वेग शान्त हुए बिना प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हुए बिना सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती।**

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।

व्याख्या—**प्रकृतिका विभाग अलग है और स्वरूपका विभाग अलग है। क्रियामात्र प्रकृति-विभागमें है। स्वरूप अक्रिय है। प्रकृतिमें श्रम है और स्वरूपमें विश्राम है। अतः जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।**

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

जो कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों)-को हठपूर्वक रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते हुए बैठता है, वह मूढ़ बुद्धिवाला मनुष्य मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करनेवाला) कहा जाता है।

व्याख्या— **दूसरे अध्यायमें भगवान् कह चुके हैं कि विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यका पतन हो जाता है (गीता २।६२-६३)। यहाँ लोगोंको दिखानेके लिये बाहरसे स्थिर होकर बैठनेवाले तथा मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यको मिथ्याचारी कहा गया है।**

वास्तवमें (भोगबुद्धिसे) बाहरसे भोग भोगने और मनसे उनका चिन्तन करनेमें कोई अन्तर नहीं है। दोनोंका अन्तःकरणपर समान प्रभाव पड़ता है। एक दृष्टिसे मनसे भोगोंका चिन्तन करनेसे साधकका विशेष पतन होता है; क्योंकि जिन भोगोंकी प्राप्ति नहीं होती या जिन भोगोंको वह लोक-मर्यादासे भोग नहीं पाता अथवा जिन भोगोंको भोगनेमें वह असमर्थ होता है, उनको भी वह मनसे भोग सकता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य मनसे इन्द्रियोंपर नियन्त्रण करके आसक्तिरहित होकर (निष्कामभावसे) कर्मेन्द्रियों (समस्त इन्द्रियों)-के द्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।

व्याख्या—फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करके दूसरोंके लिये कर्म करनेवाला कर्मयोगी ज्ञानयोगीसे भी श्रेष्ठ है। आगे पाँचवें अध्यायमें भी भगवान् कर्मयोगको ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ बतायेंगे (गीता ५। २)।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्य-कर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञ (कर्तव्य-पालन)-के लिये किये जानेवाले कर्मोंसे अन्यत्र (अपने लिये किये जानेवाले) कर्मोंमें लगा हुआ यह मनुष्य-समुदाय कर्मोंसे बँधता है; इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तू आसक्तिरहित होकर उस यज्ञके लिये ही कर्तव्य-कर्म कर।

व्याख्या— **जो कर्म दूसरोंके लिये नहीं किये जाते, प्रत्युत अपने लिये किये जाते हैं, उन कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है। अतः साधकको ये तीन बातें स्वीकार कर लेनी चाहिये—(१) शरीरसहित कुछ भी मेरा नहीं है, (२) मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, और (३) मुझे अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। पहली बात स्वीकार करनेसे दूसरी बात सुगम हो जायगी और दूसरी बात स्वीकार करनेसे तीसरी बात सुगम हो जायगी।**

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्य-कर्मोंके विधानसहित प्रजा (मनुष्य आदि)-की रचना करके (उनसे, प्रधानतया मनुष्योंसे) कहा कि तुमलोग इस कर्तव्यके द्वारा सबकी वृद्धि करो और यह (कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ) तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो। इस (अपने कर्तव्य-कर्म)-के द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग (अपने कर्तव्यके द्वारा) तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।

व्याख्या— **अपने कर्तव्यका पालन करनेसे अर्थात् दूसरोंके लिये निष्कामभावसे कर्म करनेसे अपना तथा प्राणिमात्रका हित होता है। परन्तु अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे अपना तथा प्राणिमात्रका अहित होता है। कारण कि शरीरोंकी दृष्टिसे तथा आत्माकी दृष्टिसे भी मात्र प्राणी एक हैं, अलग-अलग नहीं।**

मनुष्यशरीर केवल कल्याण-प्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः अपना कल्याण करनेके लिये कोई नया काम करना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत जो काम करते हैं, उसे ही फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये करनेसे हमारा कल्याण हो जायगा।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञसे पुष्ट हुए देवता भी तुमलोगोंको (बिना माँगे ही) कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंकी दी हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य (स्वयं ही उसका) उपभोग करता है, वह चोर ही है।

व्याख्या— **शरीर पाञ्चभौतिक सृष्टिमात्रका एक क्षुद्रतम अंश है। अतः स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—तीनों शरीर संसारके तथा संसारके लिये ही हैं। शरीर स्वयं (स्वरूप)-के किंचिन्मात्र भी काम नहीं आता, प्रत्युत शरीरका सदुपयोग ही स्वयंके काम आता है। शरीरका सदुपयोग है—उसे दूसरोंकी सेवामें लगाना—संसारकी सेवामें समर्पित कर देना। जो मनुष्य मिली हुई सामग्रीका भाग दूसरों (अभावग्रस्तों)-को दिये बिना अकेले ही उसका उपभोग करता है, वह चोर ही है। उसे वही दण्ड मिलना चाहिये, जो चोरको मिलता है।**

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥

यज्ञशेष (योग)-का अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं, वे पापीलोग तो पापका ही भक्षण करते हैं।

व्याख्या—सम्पूर्ण पापोंका कारण है—कामना। **अतः कामनापूर्वक अपने लिये कोई भी कर्म करना पाप (बन्धन) है और निष्कामभावसे दूसरेके लिये कर्म करना पुण्य है। पापका फल दुःख और पुण्यका फल सुख है। इसलिये स्वार्थभावसे अपने लिये कर्म करनेवाले दुःख पाते हैं और निःस्वार्थभावसे दूसरोंके लिये कर्म करनेवाले सुख पाते हैं।**

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं। अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है। वर्षा यज्ञसे होती है। यज्ञ कर्मोंसे सम्पन्न होता है। कर्मोंको तू वेदसे उत्पन्न जान और वेदको अक्षर ब्रह्मसे प्रकट हुआ जान। इसलिये वह सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)-में नित्य स्थित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

हे पार्थ! जो मनुष्य इस लोकमें इस प्रकार (परम्परासे) प्रचलित सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला अघायु (पापमय जीवन बितानेवाला) मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है।

व्याख्या— जो मनुष्य लोक-मर्यादा तथा शास्त्र-मर्यादाके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसे संसारमें जीनेका अधिकार नहीं है। कारण कि मनुष्योंके द्वारा अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे संसारमात्रको हानि पहुँचती है। वर्तमानमें जो अन्न, जल, वायु आदि प्रदूषित हो रहे हैं, अकाल, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाएँ आ रही हैं, उसमें मनुष्यका कर्तव्य-च्युत होना ही प्रधान कारण है।

अपने लिये कर्म करना अनधिकृत चेष्टा है। कारण कि जो कुछ मिला है, वह सब संसारकी सामग्री है। शरीरादि सब पदार्थ संसारके ही हैं, अपने नहीं। अतः हमपर संसारका ऋण है; जिसे उतारनेके लिये हमें सब कर्म संसारके हितके लिये ही करने हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

परन्तु जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें ही तृप्त तथा अपने-आपमें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

व्याख्या— **जबतक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, तभीतक मनुष्यपर कर्तव्य-पालनकी जिम्मेवारी रहती है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। उसके संसारमें रहनेमात्रसे संसारका हित होता है।**

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुष)-का इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ) इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।

व्याख्या— जैसे 'करना' प्रकृतिके सम्बन्धसे है, ऐसे ही 'न करना' भी प्रकृतिके सम्बन्धसे है। करना और न करना—दोनों सापेक्ष हैं; परन्तु तत्त्व निरपेक्ष है। इसलिये स्वयं (चिन्मय सत्तामात्र)-का न तो करनेके साथ सम्बन्ध है, न नहीं करनेके साथ सम्बन्ध है। करना, न करना तथा पदार्थ—ये सब उसी सत्तामात्रसे प्रकाशित होते हैं (गीता १३। ३३)।

कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें करनेका राग तथा पानेकी इच्छा सर्वथा नहीं रहती, इसलिये उसका न तो कुछ करनेसे मतलब रहता है, न कुछ नहीं करनेसे मतलब रहता है और न उसका किसी भी प्राणी-पदार्थसे कुछ पानेसे ही मतलब रहता है। तात्पर्य है कि उसका प्रकृति-विभागसे सर्वथा सम्बन्ध नहीं रहता।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर; क्योंकि आसक्ति-रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, प्रत्युत आसक्तिसे बँधता है। आसक्ति ही मनुष्यका पतन करती है, कर्म नहीं। आसक्ति-रहित होकर दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। कर्ममें परिश्रम और कर्मयोगमें विश्राम है। शरीरकी आवश्यकता परिश्रममें है, विश्राममें नहीं। कर्मयोगमें शरीरसे होनेवाला परिश्रम (कर्म) दूसरोंकी सेवाके लिये और विश्राम (योग) अपने लिये है।**

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष भी कर्म (कर्मयोग)-के द्वारा ही परम-सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू (निष्काम-भावसे) कर्म करनेके ही योग्य है अर्थात् अवश्य करना चाहिये।

व्याख्या—**जनकादि** राजाओंने **भी कर्मयोगके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त की थी। इससे** सिद्ध होता **है कि कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र** साधन **है।**

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करते हैं।

व्याख्या—**समाजमें जिस मनुष्यको लोग श्रेष्ठ मानते हैं, उसपर विशेष जिम्मेवारी रहती है कि वह ऐसा कोई आचरण न करे तथा ऐसी कोई बात न कहे, जो लोक-मर्यादा तथा शास्त्र-मर्यादाके विरुद्ध हो।**

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्तव्यकर्ममें ही लगा रहता हूँ।

व्याख्या— **भगवान् भी अवतारकालमें सदा कर्तव्य-कर्ममें लगे रहते हैं, इसलिये जो साधक फलेच्छा व आसक्ति-रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्ममें लगा रहता है, वह सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।**

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

क्योंकि हे पार्थ! अगर मैं किसी समय सावधान होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ (तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि) मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकरताको करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।

[1546] गी० प्र० ४

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित तत्त्वज्ञ महापुरुष भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे। सावधान, तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करे, प्रत्युत स्वयं समस्त कर्मोंको अच्छी तरहसे करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाये।

व्याख्या—**यद्यपि ज्ञानी महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता**—'तस्य कार्यं न विद्यते' **(गीता ३।१७), तथापि भगवान् उसे आज्ञा देते हैं कि वह लोकसंग्रहके लिये स्वयं भी सावधानीपूर्वक कर्तव्य-कर्म करे और कर्मोंमें आसक्त दूसरे मनुष्योंसे भी वैसे ही कर्तव्य-कर्म करवाये।**

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य मैं कर्ता हूँ—ऐसा मान लेता है।

व्याख्या—जड़-विभाग अलग है और चेतन-विभाग अलग है। क्रियामात्र जड़ प्रकृतिमें ही होती है। चेतनमें कभी कोई क्रिया होती ही नहीं—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता १३। ३१)। क्रियाका आरम्भ और समाप्ति तथा पदार्थका आदि और अन्त होता है; परन्तु चेतनका न आरम्भ तथा समाप्ति होती है, न आदि तथा अन्त होता है।

भगवान्ने गीतामें कर्मोंके होनेमें पाँच कारण बताये हैं—

(१) प्रकृति—'प्रकृतेः क्रियमाणानि॰' (३। २७), 'प्रकृत्यैव च कर्माणि॰' (१३। २९)।

(२) गुण—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३। २८), 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं॰' (१४। १९)।

(३) इन्द्रियाँ—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५। ९)।

(४) स्वभाव—(क्रियाका वेग)—'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (५। १४), 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि॰' (३। ३३)।

(५) पाँच हेतु—'अधिष्ठानं तथा कर्ता॰' (१८। १४)।

उपर्युक्त पाँचोंका मूल कारण एक 'अपरा प्रकृति' (जड़-विभाग) ही है। आजतक अनेक योनियोंमें जीवने जो भी कर्म किये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म तथा कोई भी शरीर स्वरूपतक नहीं पहुँचा। सूर्यतक अंधकार कैसे पहुँच सकता है? कारण कि कर्म और शरीरादि पदार्थोंका विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

परन्तु हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।

व्याख्या— **यह सिद्धान्त है कि संसार (पदार्थ और क्रिया)-से अलग होनेपर ही संसारका ज्ञान होता है और परमात्मासे एक होनेपर ही परमात्माका ज्ञान होता है। कारण यह है कि वास्तवमें हम संसारसे अलग और परमात्मासे एक हैं। तत्त्वज्ञ महापुरुष गुण-विभाग (पदार्थ) और कर्म-विभाग (क्रिया)-से सर्वथा अलग होनेपर यह जान लेता है कि सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ संसारमें ही हो रही हैं। स्वरूपमें कभी कोई क्रिया नहीं होती।**

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

प्रकृतिजन्य गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य गुणों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य विचलित न करे।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण करके कामना-रहित, ममता-रहित और सन्ताप-रहित होकर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर।

व्याख्या—**यदि साधक भगवन्निष्ठ है तो उसे सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌के अर्पित करके करने चाहिये। अर्पण करनेका तात्पर्य है—अपने लिये कोई कर्म न करके केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सब कर्म करना।**

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

जो मनुष्य दोष-दृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस (पूर्वश्लोकमें वर्णित) मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।

व्याख्या—भगवान्‌का मत है—मिलने तथा बिछुड़नेवाली कोई भी वस्तु (पदार्थ और क्रिया) अपनी तथा अपने लिये नहीं है। भगवान्‌का मत ही वास्तविक सिद्धान्त है, जिसका अनुसरण करके मात्र मनुष्य मुक्त हो सकते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

परन्तु जो मनुष्य मेरे इस मतमें दोष-दृष्टि करते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उन सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और अविवेकी मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझो अर्थात् उनका पतन ही होता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। (फिर इसमें किसीका) हठ क्या करेगा?

व्याख्या—**चेतन-तत्त्व सम रहता है और प्रकृति विषम रहती है। इसलिये तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके स्वरूपमें तो कोई भिन्नता नहीं होती, पर उनकी प्रकृति (स्वभाव)-में भिन्नता होती है। उनका स्वभाव राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण महान् शुद्ध होता है। स्वभाव शुद्ध होनेपर भी तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके स्वभावमें (जिस साधन-मार्गसे सिद्धि प्राप्त की है, उस मार्गके सूक्ष्म संस्कार रहनेके कारण) भिन्नता रहती है और उस स्वभावके अनुसार ही उनके द्वारा भिन्न-भिन्न व्यवहार होता है।**

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें) मनुष्यके राग और द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें) विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।

व्याख्या— **भूलसे अपने सुख-दुःखका कारण दूसरे-को माननेसे ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यदि अन्तःकरणमें राग-द्वेष उत्पन्न हो जायँ तो उनके वशीभूत होकर कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये; क्योंकि क्रिया करनेसे राग-द्वेष दृढ़ हो जाते हैं।**

साधक राग-द्वेषके वशीभूत भी न हो और उनको अपनेमें भी न माने। राग-द्वेष आगन्तुक दोष हैं। हमें इनके आने-जानेका ज्ञान होता है; अतः हम इनसे अलग हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणोंकी कमीवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

व्याख्या— **वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार निष्कामभावसे अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना मनुष्यका 'स्वधर्म' है और जो उसके लिये निषिद्ध है, वह 'परधर्म' है। जिनमें दूसरेके अहितका भाव होता है, वे चोरी, हिंसा आदि किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं।**

प्रत्येक धर्ममें कुधर्म, अधर्म और परधर्म—ये तीनों रहते हैं; जैसे—दूसरेके अनिष्टका भाव, कूटनीति आदि 'धर्ममें कुधर्म' है। यज्ञमें पशुबलि देना आदि 'धर्ममें अधर्म' है। जो अपने लिये निषिद्ध है, ऐसा दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म 'धर्ममें परधर्म' है। कुधर्म, अधर्म और परधर्मसे कल्याण नहीं होता। कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग और दूसरेका वर्तमानमें और भविष्यमें हित होता हो।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—हे वार्ष्णेय! फिर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी जबर्दस्ती लगाये हुएकी तरह किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना (ही पापका कारण है)। यह काम ही क्रोध (-में परिणत होता) है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।

व्याख्या—**जैसा मैं चाहूँ, वैसा हो जाय—यह 'काम' अर्थात् कामना है। किसी भी क्रिया, वस्तु और व्यक्तिका अच्छा लगना अथवा उससे कुछ भी सुख चाहना 'काम' है। इस कामरूप एक दोषमें अनन्त दोष, अनन्त पाप भरे हुए हैं! अतः जबतक मनुष्यके भीतर काम है, तबतक वह सर्वथा निर्दोष, निष्पाप नहीं हो सकता। कामनाके सिवाय पापोंका अन्य कोई कारण नहीं है। तात्पर्य है कि मनुष्यसे न तो ईश्वर पाप कराता है, न भाग्य पाप कराता है, न समय पाप कराता है, न परिस्थिति पाप कराती है, न कलियुग पाप कराता है, प्रत्युत मनुष्य स्वयं ही कामनाके वशीभूत होकर पाप करता है।**

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

जैसे धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है, ऐसे ही उस कामनाके द्वारा यह (ज्ञान अर्थात् विवेक) ढका हुआ है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

हे कुन्तीनन्दन! इस अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले और विवेकियोंके कामनारूप नित्य वैरीके द्वारा मनुष्यका विवेक ढका हुआ है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामनाके वास-स्थान कहे गये हैं। यह कामना इन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि)-के द्वारा ज्ञानको ढककर देहाभिमानी मनुष्यको मोहित करती है।

व्याख्या— काम पाँच स्थानोंमें दीखता है— (१) विषयोंमें (गीता ३। ३४), (२) इन्द्रियोंमें, (३) मनमें, (४) बुद्धिमें और (५) अहम् (जड़-चेतनके तादात्म्य)-में (गीता २। ५९)। इन पाँच स्थानोंमें दीखनेके कारण ये पाँचों कामके वासस्थान कहे गये हैं। मूलमें काम 'अहम्' में ही रहता है (गीता ३। ४२-४३)।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

इसलिये हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तू सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।

व्याख्या— **संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह ज्ञान है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विज्ञान है। काम साधकको न तो 'ज्ञान' प्राप्त करने देता है, न 'विज्ञान'।**

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

इन्द्रियोंको (स्थूलशरीरसे) पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म) कहते हैं। इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी पर है, वह (काम) है। इस तरह बुद्धिसे पर (काम)-को जानकर अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल।

व्याख्या— **पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहम्—ये आठ प्रकारके भेदोंवाली अपरा प्रकृति है (गीता ७।४)। बुद्धिसे भी पर जो अहम् है, उस अहम्के जड़-अंशमें 'काम' रहता है। तात्पर्य है कि कामरूप विकार अपरा प्रकृति (जड़)-में रहता है, परा प्रकृति (चेतन)-में नहीं। परन्तु अहम्के साथ तादात्म्य करनेके कारण उस कामरूप विकारको चेतन (जीवात्मा) अपनेमें मान लेता है। जबतक अहम्रूप जड़-चेतनका तादात्म्य रहता है, तबतक जड़ और चेतनके विभागका ज्ञान नहीं होता। जबतक तादात्म्य है, तभीतक 'काम' है। तादात्म्य टूटनेपर उस कामका स्थान 'प्रेम' ले लेता है। काममें संसारकी ओर आकर्षण होता है और प्रेममें भगवान्की ओर।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

चौथा अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योग (कर्मयोग)-को सूर्यसे कहा था। फिर सूर्यने (अपने पुत्र) वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने (अपने पुत्र) राजा इक्ष्वाकुसे कहा।

व्याख्या—पूर्वपक्ष—अव्यय (नित्य) तो साध्य होता है, साधन कैसे अव्यय होगा?

उत्तरपक्ष—साधक ही साधन होकर साध्यमें लीन होता है। अतः साधक, साधन और साध्य—तीनों ही एक होनेसे अव्यय हैं; परन्तु मोहके कारण तीनों अलग-अलग दीखते हैं।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

हे परन्तप! इस तरह परम्परासे प्राप्त इस कर्मयोगको राजर्षियोंने जाना। परन्तु बहुत समय बीत जानेके कारण वह योग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझसे कहा है; क्योंकि यह बड़ा उत्तम रहस्य है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अभीका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है; अतः आपने ही सृष्टिके आरम्भमें (सूर्यसे) यह योग कहा था—यह बात मैं कैसे समझूँ?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, पर तू नहीं जानता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

मैं अजन्मा और अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

हे भरतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने-आपको (साकाररूपसे) प्रकट करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधुओं (भक्तों)-की रक्षा करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।

व्याख्या— **परमात्मा अक्रिय हैं; अतः अवतार लेकर क्रिया (लीला) करनेके लिये वे अपनी प्रकृतिकी सहायता लेते हैं। अवतारमें सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माके द्वारा की जाती हुई दीखनेपर भी वास्तवमें वे क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हैं। इसलिये सीताजीने कहा है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ मैंने ही की हैं, भगवान् रामने नहीं—**

एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥

(अध्यात्म० बाल० १।४२)

'(भगवान् श्रीरामके अवतार लेनेसे लेकर राज्य-पदपर अभिषिक्त होनेतकके) सम्पूर्ण कार्य यद्यपि मेरे ही किये हुए हैं, तो भी लोग उन्हें इन निर्विकार सर्वात्मा भगवान्‌में आरोपित करते हैं।'

आगे इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भी भगवान् कहेंगे—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९ ॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार (मेरे जन्म और कर्मको) जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक मान लेता है, वह शरीरका त्याग करके पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत मुझे प्राप्त होता है।

व्याख्या—अवतारकालमें भगवान् मनुष्योंके कल्याणके लिये ही सब क्रियाएँ करते हैं। जन्म और कर्मसे सर्वथा रहित होनेपर भी भगवान् अपनी प्रकृतिकी सहायतासे जन्म और कर्मकी लीला करते हुए दीखते हैं—यह भगवान्‌के जन्म और कर्मकी अलौकिकता है। साधक भी यदि अपरा प्रकृतिके अहम्‌के साथ अपने तादात्म्यका त्याग कर दे तो कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित होनेपर उसके कर्म भी दिव्य हो जायँगे। कर्मोंका अकर्म होना ही कर्मोंका दिव्य होना है। यह दिव्यता कर्मयोगसे आती है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित, मुझमें तल्लीन, मेरे ही आश्रित तथा ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए बहुत-से भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

हे पृथानन्दन! जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं।

व्याख्या— **यद्यपि सब कुछ परमात्मा ही हैं—** 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७।१९), **तथापि मनुष्य जिस भावसे देखता है, भगवान् भी उसके सामने उसी रूपसे प्रकट हो जाते हैं—**

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

(मानस, बाल० २४१।२)

जीव जगत्‌को धारण करता है—'ययेदं धार्यते जगत्' **(गीता ७।५) तो भगवान् जगद्‌रूपसे प्रकट हो जाते हैं। नास्तिक भगवान्‌को नहीं मानता तो भगवान् उसके सामने 'नहीं'-रूपसे प्रकट हो जाते हैं। चोर भगवान्‌की मूर्तिमें भगवान्‌को न देखकर पत्थर, स्वर्ण आदिको देखता है तो भगवान् उसके लिये पत्थर, स्वर्ण आदिके रूपमें प्रकट हो जाते हैं।**

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

कर्मोंकी सिद्धि (फल) चाहनेवाले मनुष्य देवताओंकी उपासना किया करते हैं; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि जल्दी मिल जाती है।

व्याख्या— **मनुष्यलोकमें सकाम कर्मोंसे होनेवाली सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है; परन्तु परिणाममें वह बन्धनकारक होती है। जैसे, एलोपैथिक दवा जल्दी असर करती है, पर परिणाममें वह शरीरके लिये हानिकारक होती है। परन्तु आयुर्वेदिक दवा देरसे असर करती है, पर परिणाममें वह लाभदायक होती है। जनकादि महापुरुषोंने निष्काम कर्म (कर्मयोग) से संसिद्धि (सम्यक् सिद्धि अर्थात् मुक्ति) प्राप्त की थी**—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' **(गीता ३। २०)। सकाम कर्मोंसे होनेवाली सिद्धि नाशवान् होती है, और निष्काम कर्मोंसे होनेवाली सिद्धि अविनाशी होती है।**

निष्काम कर्म अर्थात् कर्मयोगसे कर्मजन्य सिद्धिकी इच्छा मिटती है। जन्य वस्तुसे मुक्ति नहीं होती।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है। उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता जान! कारण कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

व्याख्या—**चारों वर्णोंकी रचना मेरे द्वारा की गयी है—इस भगवद्वचनसे सिद्ध होता है कि वर्ण जन्मसे होता है, कर्मसे नहीं। कर्मसे तो वर्णकी रक्षा होती है।**

जैसे सृष्टि-रचनारूप कर्म करनेपर भी भगवान् अकर्ता ही रहते हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश जीव भी कर्म करते हुए अकर्ता ही रहता है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' **(गीता १३। ३१)। परन्तु जीव अहम्‌से सम्बन्ध जोड़कर अज्ञानवश अपनेको कर्ता मान लेता है**—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' **(गीता ३। २७)।**

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर कर्म किये हैं, इसलिये तू भी पूर्वजोंके द्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही (उन्हींकी तरह) कर।

व्याख्या—भगवान्‌का मत है कि मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर भी कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत कर्तृत्वाभिमान तथा फलासक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये। कर्म करनेसे बन्धन होता है, पर कर्मयोगसे मोक्ष (विश्राम) प्राप्त होता है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस प्रकार इस विषयमें विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। अतः वह कर्म-तत्त्व मैं तुझे भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ (संसार-बन्धन)-से मुक्त हो जायगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये और अकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये तथा विकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मोंकी गति गहन है अर्थात् समझनेमें बड़ी कठिन है।

व्याख्या—**कामनाके कारण क्रिया ही फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कामना बढ़नेपर 'विकर्म' (पाप) होते हैं। कामनाका सर्वथा नाश होनेपर सभी कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं अर्थात् फल देनेवाले नहीं होते।**

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वह योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला (कृतकृत्य) है।

व्याख्या—कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना अर्थात् कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा न रखना 'कर्ममें अकर्म' देखना है। निर्लिप्त रहते हुए अर्थात् कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छाका त्याग करके कर्म करना 'अकर्ममें कर्म' देखना है। इन दोनोंसे ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोगी कर्म करते हुए अथवा न करते हुए, प्रत्येक अवस्थामें निर्लिप्त रहता है—'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' (गीता ३। १८)।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिसके सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भ संकल्प और कामनासे रहित हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।

व्याख्या— **जो कर्मयोगी कर्म करते हुए निर्लिप्त (संकल्प और कामनासे रहित) रहता है और निर्लिप्त रहते हुए सब कर्म करता है, वह सम्पूर्ण ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है।**

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

जो कर्म और फलकी आसक्तिका त्याग करके (संसारके) आश्रयसे रहित और सदा तृप्त है, वह कर्मोंमें अच्छी तरह लगा हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।

व्याख्या— **जिसके भीतर कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति है, वह कर्म न करनेपर भी बँधा हुआ है। परन्तु जिसके भीतर कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति नहीं है, वह कर्म करते हुए भी मुक्त है।**

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

जिसका शरीर और अन्त:करण अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ है, जिसने सब प्रकारके संग्रहका परित्याग कर दिया है, ऐसा इच्छारहित (कर्मयोगी) केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—केवल शरीर-निर्वाहके लिये जो कर्म किये जायँ, उनसे यदि कोई पाप बन भी जाय तो वह लगता नहीं। परन्तु जो मनुष्य भोग और संग्रहके लिये कर्म करता है, वह पापसे बच नहीं सकता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

(जो कर्मयोगी फलकी इच्छाके बिना) अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है और जो ईर्ष्यासे रहित, द्वन्द्वोंसे रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम है, वह कर्म करते हुए भी उससे नहीं बँधता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जो मुक्त हो गया है, जिसकी बुद्धि स्वरूपके ज्ञानमें स्थित है, ऐसे केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या— **निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञार्थ कर्म' है। यज्ञार्थ कर्म करनेवाले कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं और उसे अपने स्वतःस्वाभाविक असंग स्वरूपका अनुभव हो जाता है।**

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् जिससे अर्पण किया जाय, वे स्रुक् आदि पात्र भी ब्रह्म है, हव्य पदार्थ (तिल, जौ, घी आदि) भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है, (ऐसे यज्ञको करनेवाले) जिस मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य (फल भी) ब्रह्म ही है।

व्याख्या— **अब भगवान् अपनी प्राप्तिके लिये भिन्न-भिन्न साधनोंका 'यज्ञ' रूपसे वर्णन आरम्भ करते हैं। संसारकी सत्ता विद्यमान है ही नहीं (गीता २। १६)। एक ब्रह्मके सिवाय कुछ नहीं है।** संसारमें जो कर्ता, करण, कर्म और पदार्थ दिखायी देते हैं, वे सब ब्रह्मरूप ही हैं—ऐसा अनुभव करना 'ब्रह्मयज्ञ' है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अन्य योगीलोग दैव (भगवदर्पणरूप) यज्ञका ही अनुष्ठान करते हैं और दूसरे योगीलोग ब्रह्मरूप अग्निमें (विचाररूप) यज्ञके द्वारा ही (जीवात्मारूप) यज्ञका हवन करते हैं।

व्याख्या—**सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना 'भगवदर्पणरूप यज्ञ' है। परमात्माकी सत्तामें अपनी सत्ता मिला देना अर्थात् 'मैं'-पनको मिटा देना 'अभिन्नतारूप यज्ञ' है।**

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्य योगीलोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।

व्याख्या—**एकान्तकालमें अपनी इन्द्रियोंको भोगोंमें न लगने देना 'संयमरूप यज्ञ' है। व्यवहारकालमें इन्द्रियोंके अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेपर उनमें राग-द्वेष न करना 'विषयहवनरूप यज्ञ' है।**

हवन तभी होगा, जब विषय नहीं रहेंगे। कारण कि हवन तभी होता है, जब हव्य पदार्थ नहीं रहता। जबतक हव्य पदार्थकी सत्ता रहती है, तबतक हवन नहीं होता।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

अन्य योगीलोग सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी क्रियाओंको और प्राणोंकी क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयम-योग (समाधियोग)-रूप अग्निमें हवन किया करते हैं।

व्याख्या—**मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर समाधिमें स्थित हो जाना 'समाधिरूप यज्ञ' है।**

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

दूसरे कितने ही तीक्ष्ण व्रत करनेवाले प्रयत्नशील साधक द्रव्यमय यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही तपोयज्ञ करनेवाले हैं और दूसरे कितने ही योगयज्ञ करनेवाले हैं तथा कितने ही स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।

व्याख्या—मिली हुई वस्तुओंको निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवामें लगाना 'द्रव्ययज्ञ' है। स्वधर्मपालनमें आनेवाली कठिनाइयोंको प्रसन्नतासे सह लेना 'तपोयज्ञ' है। कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें तथा अनुकूल या प्रतिकूल फलकी प्राप्तिमें सम रहना 'योगयज्ञ' है। सत्-शास्त्रोंका अध्ययन-मनन, नामजप आदि करना 'स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ' है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

दूसरे कितने ही प्राणायामके परायण हुए योगीलोग अपानमें प्राणका (पूरक करके) प्राण और अपानकी गति रोककर (कुम्भक करके), फिर प्राणमें अपानका हवन (रेचक) करते हैं; तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणोंका प्राणोंमें हवन किया करते हैं। ये सभी (साधक) यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश करनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

व्याख्या— **पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक प्राणायाम करना 'प्राणायामरूप यज्ञ' है। प्राण-अपानको अपने-अपने स्थानपर रोक देना 'स्तम्भवृत्ति (चतुर्थ) प्राणायामरूप यज्ञ' है।**

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करनेवाले मनुष्यके लिये यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

इस प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सब यज्ञोंको तू कर्मजन्य जान। इस प्रकार जानकर (यज्ञ करनेसे) तू कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा।

व्याख्या— **जिसने कर्म करते हुए भी उससे निर्लिप्त (कर्तृत्व-फलेच्छारहित) रहनेकी विद्याको जान लिया है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।**

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

हे परन्तप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण कर्म और पदार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान)-में समाप्त (लीन) हो जाते हैं।

व्याख्या— **पहले कहे गये बारह यज्ञ 'द्रव्यमय यज्ञ' हैं। उन सबकी अपेक्षा आगे कहा जानेवाला 'ज्ञानयज्ञ' श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। द्रव्यमय यज्ञमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है और ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता है।**

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

उस तत्त्वज्ञानको (तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर) समझ। उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे तत्त्वदर्शी (अनुभवी) ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे।

व्याख्या—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीका वर्णन करते हुए भगवान् मानो यह कहना चाहते हैं कि केवल गुरु बनानेसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती और केवल शिष्य बनानेसे गुरुका कर्तव्य पूरा नहीं होता। यदि कोई अनुभवी महापुरुषके पास जाकर उन्हें प्रणाम करे अर्थात् अपने-आपको उनके समर्पित कर दे, उनकी आज्ञाके अनुसार काम करे और उनके सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करे तो वे गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़े बिना तत्त्वज्ञानका उपदेश दे देंगे।

जिससे तत्त्वज्ञानका उपदेश लिया जाय, उस महापुरुषका अनुभवी और शास्त्रज्ञ होना आवश्यक है। यदि वह अनुभवी तो हो पर शास्त्रज्ञ नहीं हो तो जिज्ञासुकी अनेक शंकाओंका समुचित समाधान नहीं कर पायेगा। यदि वह शास्त्रज्ञ तो हो, पर अनुभवी नहीं हो तो उसके वचन वैसे ठोस एवं प्रभावशाली नहीं होंगे, जिनसे जिज्ञासुको बोध हो जाय।

अनुभवी और शास्त्रज्ञ—इन दोनोंमें भी महापुरुषका अनुभवी होना मुख्य है। अनुभवी महापुरुषके हृदयमें शास्त्र स्वतः प्रकट होते हैं। अनुभवी सन्तोंकी वाणीसे ही शास्त्र बनते हैं। उनकी वाणी स्वतः शास्त्रके अनुकूल होती है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

जिस (तत्त्वज्ञान)-का अनुभव करनेके बाद तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा और हे अर्जुन! जिस (तत्त्वज्ञान)-से तू सम्पूर्ण प्राणियोंको नि:शेष भावसे पहले अपनेमें और उसके बाद मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।

व्याख्या—**तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें मोहकी सत्ता है ही नहीं**—'नासतो विद्यते भाव:' **(गीता २। १६)। इसलिये तत्त्वज्ञान एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। जैसे, पृथ्वीपर दिनके बाद रात होती है, रातके बाद दिन होता है; परन्तु सूर्यमें रात आती ही नहीं। वहाँ नित्य-निरन्तर दिनसे भी विलक्षण प्रकाश रहता है। ऐसे ही तत्त्वज्ञानरूप सूर्यमें मोहरूप अन्धकारका प्रवेश कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। मोहकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें है।**

परमात्माके अन्तर्गत जीव है—'ममैवांशो जीवलोके' **(गीता १५। ७) और जीवके अन्तर्गत जगत् है**—'ययेदं धार्यते जगत्' **(गीता ७। ५)। इसलिये साधक पहले जगत्‌को अपनेमें देखता है**—'द्रक्ष्यस्यात्मनि', **फिर अपनेको परमात्मामें देखता है**—'अथो मयि'। **जगत्‌को अपनेमें देखनेसे अहम्‌की सूक्ष्म सत्ता रहती है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर दार्शनिक मतभेद करानेवाला होता है। अपनेको परमात्मामें देखनेसे अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है और एक चिन्मय सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं रहता।**

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥

अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।

व्याख्या—संसारमात्रमें जितने पापी हैं, उन सब पापियोंमें भी जो सबसे अधिक पापी है, ऐसे महापापीको भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है! इसलिये किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणके विषयमें निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यमात्र ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी है। ज्ञानको प्राप्तिमें पाप बाधक नहीं हैं, प्रत्युत नाशवान्‌की कामना बाधक है (गीता ३। ३७—४१)।

दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। ये दोनों विभाग अन्धकार और प्रकाशकी तरह परस्पर सर्वथा असम्बद्ध हैं। सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। सम्पूर्ण पाप जड़-विभागमें ही हैं, चेतन-विभागमें नहीं। जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला नि:सन्देह दूसरा कोई साधन नहीं है। जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, (वह कर्मयोगी) उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है।

व्याख्या—**जिस तत्त्वज्ञानको पानेके लिये कर्मोंका त्याग करके अनुभवी और शास्त्रज्ञ महापुरुषकी शरणमें जाना पड़ता है (गीता ४। ३४), वही तत्त्वज्ञान कर्मयोगीको सब कर्म करते हुए अपने-आपमें ही प्राप्त हो जाता है। तत्त्वज्ञानके लिये उसे कहीं जाना नहीं पड़ता, कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता।**

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

जो जितेन्द्रिय तथा साधन-परायण है, ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है और ज्ञानको प्राप्त होकर वह तत्काल परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **जिसकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, वही साधन-परायण होता है। जो साधन-परायण होता है, वही पूर्ण श्रद्धावान् होता है। ऐसे पूर्ण श्रद्धावान् साधकको ज्ञानकी प्राप्ति तत्काल हो जाती है। अतः ज्ञानकी प्राप्तिमें वक्तापर तथा सिद्धान्तपर श्रद्धा-विश्वास मुख्य कारण है।**

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशयात्मा मनुष्यका पतन हो जाता है। ऐसे संशयात्मा मनुष्यके लिये न तो यह लोक (हितकारक) है, न परलोक (हितकारक) है और न सुख ही है।

व्याख्या— **विवेक और श्रद्धाकी आवश्यकता सभी साधनोंमें है। संशयात्मा मनुष्यमें विवेक और श्रद्धा नहीं होते अर्थात् न तो वह खुद जानता है और न दूसरेकी बात मानता है। ऐसे मनुष्यका पारमार्थिक मार्गसे पतन हो जाता है। उसका यह लोक भी बिगड़ जाता है और परलोक भी।**

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥

हे धनंजय! योग (समता)-के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और विवेकज्ञानके द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो गया है, ऐसे स्वरूप-परायण मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! हृदयमें स्थित इस अज्ञानसे उत्पन्न अपने संशयका ज्ञानरूप तलवारसे छेदन करके योग (समता)-में स्थित हो जा और (युद्धके लिये) खड़ा हो जा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। अतः इन दोनों साधनोंमें जो एक निश्चितरूपसे कल्याणकारक हो, उसको मेरे लिये कहिये।

व्याख्या—चौथे अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको युद्धके लिये खड़ा होनेकी आज्ञा दी थी। परन्तु यहाँ अर्जुनके प्रश्नसे पता लगता है कि उनके भीतर युद्ध करने अथवा न करनेकी और विजय प्राप्त करने अथवा न करनेकी अपेक्षा भी 'मेरा कल्याण कैसे हो'—इसकी विशेष चिन्ता है। उनके अन्तःकरणमें युद्धकी तथा विजय प्राप्त करनेकी अपेक्षा भी कल्याणका अधिक महत्त्व है। अतः प्रस्तुत श्लोकसे पहले भी अर्जुन दो बार अपने कल्याणकी बात पूछ चुके हैं (गीता २।७, ३।२)।

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—संन्यास (सांख्ययोग) और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं। परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यास (सांख्ययोग)-से कर्मयोग श्रेष्ठ है।

व्याख्या— भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है, तथापि कर्मयोगके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करना ही श्रेष्ठ है। कर्मयोग सांख्ययोगकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ तथा सुगम है।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

हे महाबाहो! जो मनुष्य न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह (कर्मयोगी) सदा संन्यासी समझनेयोग्य है; क्योंकि द्वन्द्वोंसे रहित मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

व्याख्या— **जिसने बाहरसे संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लिया है, वह वास्तवमें संन्यासी नहीं है। संन्यासी वास्तवमें वह है, जिसने भीतरसे राग-द्वेषका त्याग कर दिया है। राग-द्वेषके रहते हुए मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु जिसने राग-द्वेषका त्याग कर दिया है, वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।**

जिसके भीतर राग-द्वेष नहीं है, वह कर्मयोगी शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी सदा संन्यासी ही है। उसे अपने कल्याणके लिये बाहरसे संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ज्ञानयोगमें अपने स्वरूपको जाननेकी मुख्यता रहनेसे ज्ञानयोगीमें उदासीनता रहती है। परन्तु कर्मयोगीमें दूसरेके हितकी मुख्यता रहती है। इसलिये अहंवृत्तिका त्याग कर्मयोगमें सुगम है, ज्ञानयोगमें नहीं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग (फलवाले) कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फल (परमात्माको) प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—**भगवान्‌के मतमें ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों ही लौकिक साधन हैं (गीता ३। ३) और दोनोंका परिणाम भी एक ही है। दोनों ही साधनोंकी पूर्णता होनेपर साधक संसार-बन्धनसे मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। अत: दोनों ही मोक्षप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।**

यत्साङ्ख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति॥ ५॥

सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अत: जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।

व्याख्या—**फल एक होनेसे ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों साधन समकक्ष हैं।**

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

परन्तु हे महाबाहो! कर्मयोगके बिना सांख्ययोग सिद्ध होना कठिन है। मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— कर्मयोगमें साधक सभी कर्म निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है, इसलिये उसका राग सुगमतापूर्वक मिट जाता है। कर्मयोगके द्वारा अपना राग मिटाकर सांख्ययोगका साधन करनेसे शीघ्र सिद्धि होती है। भगवान्‌ने भी इसी कारण कर्मयोगीके 'सर्वभूतहिते रताः' भावको ज्ञानयोगके अन्तर्गत लिया है अर्थात् इस भावको ज्ञानयोगीके लिये भी आवश्यक बताया है (गीता ५। २५, १२। ४)। यदि ज्ञानयोगीमें यह भाव नहीं होगा तो उसमें ज्ञानका अभिमान अधिक होगा।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, जिसका अन्तःकरण निर्मल है, जिसका शरीर अपने वशमें है और सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता।

व्याख्या— शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर कर्मयोगीको प्राणिमात्रके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है। एकदेशीयता मिटनेपर जब कर्मयोगीमें कर्तापन नहीं रहता, तब उसके द्वारा होनेवाले सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, (मल-मूत्रका) त्याग करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ तथा आँख खोलता हुआ और मूँदता हुआ भी 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं'—ऐसा समझकर 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा माने।

व्याख्या— **अपरा प्रकृतिके अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण अविवेकी मनुष्य अपनेको कर्ता मान** लेता है—'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' **(गीता ३। २७)। परन्तु जब वह विवेकपूर्वक अहम्‌से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब उसे 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है।**

हमारा वास्तविक स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। उस स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व न कभी था, न है, न होगा और न हो ही सकता है। अतः शरीरके द्वारा शास्त्रविहित क्रियाएँ होते हुए भी साधककी दृष्टि अपने स्वरूपकी ओर रहनी चाहिये, जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' **(गीता १३। ३१)।**

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

जो (भक्तियोगी) सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिका त्याग करके कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता।

व्याख्या— **कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको संसारके अर्पण करता है, ज्ञानयोगी प्रकृतिके अर्पण करता है और भक्तियोगी भगवान्‌के अर्पण करता है। तीनोंका परिणाम एक ही होता है। तीनों योगोंमें 'अपने लिये कुछ न करना' आवश्यक है।**

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

कर्मयोगी आसक्तिका त्याग करके केवल (ममतारहित) इन्द्रियाँ, शरीर, मन और बुद्धिके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करते हैं।

व्याख्या— **ममताका सर्वथा नाश होना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। कर्मयोगी साधक शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना तथा अपने लिये न मानते हुए, प्रत्युत संसारका तथा संसारके लिये मानते हुए ही कर्म करते हैं। इस प्रकार कर्म करते-करते जब ममताका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। पवित्र होनेपर अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति हो जाती है।**

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

कर्मयोगी कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है। परन्तु सकाम मनुष्य कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँध जाता है।

व्याख्या— **कर्म बाँधनेवाले नहीं होते, प्रत्युत कर्मफलकी इच्छा बाँधनेवाली होती है। कर्म न तो बाँधते हैं, न मुक्त ही करते हैं। कर्मोंमें सकामभाव ही बाँधनेवाला और निष्कामभाव मुक्त करनेवाला होता है।**

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, ऐसा देहधारी पुरुष नौ द्वारोंवाले (शरीररूपी) पुरमें सम्पूर्ण कर्मोंका (विवेकपूर्वक) मनसे त्याग करके नि:सन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक (अपने स्वरूपमें) स्थित रहता है।

व्याख्या—प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेसे जीव प्रकृतिजन्य गुणोंके अधीन हो जाता है—'अवश:' (गीता ३।५) और प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंका कर्ता बन जाता है। परन्तु जब जीव प्रकृतिके साथ माने हुए सम्बन्धको मिटा देता है, तब वह स्वाधीन हो जाता है—'वशी'। स्वाधीन होनेपर वह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। प्रकृतिमें क्रियता और स्वरूपमें अक्रियता स्वत:सिद्ध है। चेतन तत्त्व (स्वरूप) न तो कर्म करता है और न कर्म करनेकी प्रेरणा ही करता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

परमेश्वर मनुष्योंके न कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके साथ संयोगकी रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है।

व्याख्या— **स्वरूपकी तरह परमात्मा भी किसीको कर्म करनेकी प्रेरणा नहीं करते। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। कर्तापन, कर्म और कर्मफलके साथ संयोग जीवका काम है, परमात्माका नहीं। अतः इनका त्याग करनेका दायित्व भी जीवपर ही है। जीव ही अज्ञानवश प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़कर कर्मोंका कर्ता बनता है और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता है।**

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न शुभ-कर्मको ही ग्रहण करता है; किन्तु अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

व्याख्या— सर्वव्यापी चेतन-तत्त्व किसीके भी पाप-कर्म अथवा पुण्य-कर्मका कर्ता और भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत अज्ञानवश जीव ही कर्ता-भोक्ता बन जाता है।

ज्ञानका कभी अभाव नहीं होता। अतः 'अज्ञान' शब्द ज्ञानके अभावका वाचक नहीं है, प्रत्युत अधूरे ज्ञानका वाचक है। बौद्धिक ज्ञान अधूरा ज्ञान है। अधूरे ज्ञानसे ही ज्ञानका अभिमान उत्पन्न होता है। पूर्ण ज्ञान होनेसे अभिमान मिट जाता है। अतः बौद्धिक ज्ञानको महत्त्व देना बहुत बड़ा अज्ञान है। बौद्धिक ज्ञानको महत्त्व देनेसे वास्तविक ज्ञानकी ओर दृष्टि नहीं जाती—यही अज्ञानके द्वारा ज्ञानको ढकना है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

परन्तु जिन्होंने अपने जिस ज्ञानके द्वारा उस अज्ञानका नाश कर दिया है, उनका वह ज्ञान सूर्यकी तरह परमतत्त्व परमात्माको प्रकाशित कर देता है।

व्याख्या— **अपने विवेकको महत्त्व देनेसे अज्ञानका नाश हो जाता है। अज्ञानका नाश होनेपर वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है।**

अज्ञानका नाश विवेकको महत्त्व देनेसे होता है, अभ्याससे नहीं। अभ्यास करनेसे जड़ताके साथ सम्बन्ध बना रहता है; क्योंकि जड़ता (शरीरादि)-की सहायता लिये बिना अभ्यास होता ही नहीं। तत्त्वज्ञानका अनुभव जड़ताके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

जिनका मन तदाकार हो रहा है, जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है, जिनकी स्थिति परमात्मतत्त्वमें है, ऐसे परमात्मपरायण साधक ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति (परमगति)-को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— **जहाँ मन-बुद्धि लगते हैं, वहाँ स्वयं भी लग जाता है—यह जीवका स्वभाव है। अतः मन-बुद्धि परमात्मामें लगनेपर स्वयं भी परमात्मामें लग जाता है (गीता १२।८)। स्वयं परमात्मामें लगनेपर अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) मिट जाता है। अहम् मिटनेपर सभी विकार मिट जाते हैं; क्योंकि सभी विकार, पाप, ताप अहम्पर ही टिके हुए हैं। अहम् मिटनेपर साधक साधनमें और साधन साध्यमें विलीन हो जाता है। फिर एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई सत्ता नहीं रहती। यही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है। कारण कि जो परमात्मतत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण है, उसे प्राप्त होनेपर पुनरावृत्तिका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।**

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।

व्याख्या—**बेसमझ लोगोंके द्वारा यह श्लोक प्रायः सम-व्यवहारके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इस श्लोकमें 'समवर्तिनः' न कहकर 'समदर्शिनः' कहा गया है, जिसका अर्थ है—समदृष्टि, न कि सम-व्यवहार। यदि स्थूलदृष्टिसे भी देखें तो ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्तेके प्रति सम-व्यवहार असम्भव है। इनमें विषमता अनिवार्य है। जैसे, पूजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणका ही हो सकता है, न कि चाण्डालका; दूध गायका ही पीया जाता है, न कि कुतियाका; सवारी हाथीपर ही की जा सकती है, न कि कुत्तेपर। जैसे शरीरके प्रत्येक अंगके व्यवहारमें विषमता अनिवार्य है, पर सुख-दुःखमें समता होती है अर्थात् शरीरके किसी भी अंगका सुख हमारा सुख होता है और दुःख हमारा दुःख। हमें किसी भी अंगकी पीड़ा सह्य नहीं होती। ऐसे ही प्राणियोंसे विषम (यथायोग्य) व्यवहार करते हुए भी उनके सुख-दुःखमें समभाव होना चाहिये।**

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

जिनका अन्तःकरण समतामें स्थित है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये हैं; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

व्याख्या— **परमात्मतत्त्वमें स्थित हुए महापुरुषकी पहचान है—बुद्धिमें समता आना अर्थात् बुद्धिमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार न होना। जिसकी बुद्धि समतामें स्थित हो गयी है, उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिये।**

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

जो प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर बुद्धिवाला मूढ़तारहित (ज्ञानी) तथा ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य ब्रह्ममें स्थित है।

व्याख्या—**जीवन्मुक्त महापुरुषको प्रियता और अप्रियताका ज्ञान तो होता है, पर उसके कहलानेवाले अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत विकार होना दोषी है।**

ब्रह्मको जाननेसे अहम् (व्यक्तित्व) मिट जाता है। अहम् मिटनेसे ब्रह्मको जाननेवाला नहीं रहता, प्रत्युत एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म रह जाता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्यस्पर्श (प्राकृत वस्तुमात्रके सम्बन्ध)-में आसक्तिरहित अन्त:करणवाला साधक अन्त:करणमें जो (सात्त्विक) सुख है, उसको प्राप्त होता है। फिर वह ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य अक्षय सुखका अनुभव करता है।

व्याख्या—**जब सांसारिक प्राणी-पदार्थोंकी आसक्ति मिट जाती है, तब साधकको सात्त्विक सुख प्राप्त होता है। जब साधक सात्त्विक सुखका भी उपभोग नहीं करता और उसमें सन्तोष नहीं करता, तब उसे अखण्ड सुखका अनुभव होता है। सात्त्विक सुख तो प्राकृत होनेसे खण्डित होता रहता है, पर अखण्ड सुख कभी खण्डित नहीं होता, प्रत्युत निरन्तर एकरस रहता है। यह अखण्ड सुख मोक्षका सुख है।**

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

क्योंकि हे कुन्तीनन्दन! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग (सुख) हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।

व्याख्या—संसारके सभी सुख दुःखकी अपेक्षासे हैं। कोई भी सुख निरन्तर नहीं रहता। यदि सांसारिक सुख निरन्तर रहता तो वह दुःखरूप ही हो जाता। कारण कि सांसारिक भोगोंमें निरन्तर सुख देनेकी शक्ति ही नहीं है। निरन्तर सुख देनेकी शक्ति केवल मोक्षके अखण्डरसमें ही है। संसारके प्रत्येक सुखभोगका परिणाम दुःख होता है—यह नियम है।

सांसारिक सुख मिलने और बिछुड़नेवाला है, जबकि स्वयं निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। सांसारिक सुख स्वयंका साथी नहीं है। इसलिये विवेकी साधक सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें सुखी और अप्राप्तिमें दुःखी नहीं होता।

सांसारिक सुखभोगसे थकावट आती है और पारमार्थिक सुखसे विश्राम मिलता है। सांसारिक सुख सापेक्ष और पारमार्थिक सुख निरपेक्ष है। जब मनुष्यको नींद आती है, तब वह बड़े-से-बड़े सांसारिक सुखका भी त्याग करके सो जाता है। सोनेसे उसकी थकावट मिटती है, विश्राम मिलता है और ताजगी आती है। यदि वह सोये नहीं तो पागल हो जाय! तात्पर्य है कि सांसारिक सुखका त्याग किये बिना मनुष्य रह सकता ही नहीं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

इस मनुष्यशरीरमें जो कोई मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है, वह नर योगी है और वही सुखी है।

व्याख्या— **विवेकी साधकको चाहिये कि वह काम-क्रोधादि विकारोंको आरम्भमें ही सहन कर ले, उनके अनुसार क्रिया न करे (गीता ३। ३४)। काम-क्रोधादिकी वृत्ति उत्पन्न होते ही उसका त्याग कर दे, अन्यथा एक बार काम-क्रोधादिका वेग उत्पन्न होनेपर साधक तदनुसार क्रिया करनेमें बाध्य हो जाता है (गीता ३। ३६)। काम-क्रोधादिके वशमें न होनेवाला साधक ही वास्तवमें योगी है। जो योगी होता है, वही वास्तवमें सुखी होता है।**

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

जो मनुष्य केवल परमात्मामें सुखवाला और केवल परमात्मामें रमण करनेवाला है तथा जो केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है, वह ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करनेवाला (ब्रह्मरूप बना हुआ) सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं, वे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

काम-क्रोधसे सर्वथा रहित, जीते हुए मनवाले और स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए सांख्ययोगियोंके लिये सब ओरसे (शरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद) निर्वाण ब्रह्म परिपूर्ण है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़कर और नेत्रोंकी दृष्टिको भौंहोंके बीचमें (स्थित करके) तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपान वायुको सम करके जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं, जो केवल मोक्ष-परायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है।

व्याख्या— **बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़नेका तात्पर्य है कि साधककी वृत्तिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य कोई भी सत्ता न रहे। मुक्ति स्वतःसिद्ध है, पर मिलने और बिछुड़नेवाले प्राणी-पदार्थोंकी सत्ता, महत्ता और अपनापन होनेके कारण उसका अनुभव नहीं होता।**

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी) जानकर भक्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **भगवान् केवल यज्ञों और तपोंके भोक्ता ही नहीं, प्रत्युत भक्तोंके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंके भोक्ता भी हैं (गीता ९। २७)। प्रेमके भोक्ता भी भगवान् ही हैं। कोई किसीको नमस्कार करता है तो उसके भोक्ता भी वही हैं । कोई किसी देवताका पूजन करता है तो उसके भोक्ता भी वही हैं (गीता ९। २३)।**

भगवान् सम्पूर्ण शुभ कर्मोंके भोक्ता हैं, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं और हमारे परम सुहृद् हैं—ऐसा दृढ़तापूर्वक स्वीकार करनेसे साधककी संसारसे ममता हटकर भगवान्‌में आत्मीयता हो जाती है, जिसके होते ही परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्याय:॥ ५॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

छठा अध्याय

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मफलका आश्रय न लेकर जो कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं होता तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं होता।

व्याख्या— **संन्यासी अथवा योगी मनुष्य न तो अग्निसे बँधता है, न क्रियाओंसे ही बँधता है, प्रत्युत कर्मफलकी इच्छासे बँधता है**—'फले सक्तो निबध्यते' **(गीता ५। १२)। अतः जिसने कर्मफलकी इच्छाका त्याग कर दिया है, वही सच्चा संन्यासी अथवा योगी है। कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करनेसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है**— 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' **(गीता १२। १२)। अतः सच्चा त्यागी भी वही है, जिसने कर्मफलकी आसक्तिका त्याग कर दिया है**—'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' **(गीता १८। ११)।**

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन! लोग जिसको संन्यास—ऐसा कहते हैं, उसीको तुम योग समझो; क्योंकि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता।

व्याख्या— **सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधन अलग-अलग होनेपर भी संकल्पोंके त्यागमें एक हैं। जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता, महत्ता और अपनापन है, तबतक वह संकल्पोंका त्याग नहीं कर सकता। संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य ज्ञानयोगी, हठयोगी, ध्यानयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी आदि कोई-सा भी योगी नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है।**

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण कहा गया है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण कहा गया है।

व्याख्या— निष्कामभावसे केवल दूसरेके लिये कर्म करनेसे करनेका वेग मिट जाता है। कर्म करनेका वेग मिटनेसे साधक योगारूढ़ अर्थात् समतामें स्थित हो जाता है। योगारूढ़ होनेपर एक शान्ति प्राप्त होती है। उस शान्तिका उपभोग न करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

शम (शान्ति)-का अर्थ है—शान्त होना, चुप होना, कुछ न करना। जबतक हमारा सम्बन्ध 'करने' (क्रिया)-के साथ है, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक अशान्ति है, दुःख है, जन्म-मरणरूप बन्धन है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध 'न करने' से मिटेगा। कारण कि क्रिया और पदार्थ—दोनों प्रकृतिमें हैं। चेतन-तत्त्वमें न क्रिया है, न पदार्थ। इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये 'शम' अर्थात् कुछ न करना ही कारण है। हाँ, अगर हम इस शान्तिका उपभोग करेंगे तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। 'मैं शान्त हूँ'—इस प्रकार शान्तिमें अहंकार लगानेसे और 'बड़ी शान्ति है'—इस प्रकार शान्तिमें सन्तुष्ट होनेसे शान्तिका उपभोग हो जाता है। इसलिये शान्तिमें व्यक्तित्व न मिलाये, प्रत्युत ऐसा समझे कि शान्ति स्वतः है। शान्तिका उपभोग करनेसे शान्ति नहीं रहेगी, प्रत्युत चंचलता अथवा निद्रा आ जायगी। उपभोग न करनेसे शान्ति स्वतः रहेगी। क्रिया और अभिमानके बिना जो स्वतः शान्ति होती है, वह 'योग' है। कारण कि उस शान्तिका कोई कर्ता अथवा भोक्ता नहीं है। जहाँ कर्ता अथवा भोक्ता होता है, वहाँ भोग होता है। भोग होनेपर संसारमें स्थिति होती है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

कारण कि जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।

व्याख्या— **संसारका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। मनुष्य योगारूढ़ (योगमें स्थित) तभी होता है, जब उसकी पदार्थ और क्रियामें आसक्ति नहीं रहती। जबतक पदार्थ और क्रियाकी आसक्ति है, तबतक वह संसार (विषमता)-में ही स्थित है।**

प्रत्येक पदार्थका संयोग और वियोग होता है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। प्रत्येक संकल्प उत्पन्न और नष्ट होता है। परन्तु स्वयं नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये जब साधक पदार्थ और क्रियाकी आसक्ति मिटा देता है तथा सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग कर देता है, तब वह योगारूढ़ हो जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

व्याख्या— गुरु बनना या बनाना गीताका सिद्धान्त नहीं है। वास्तवमें मनुष्य आप ही अपना गुरु है। इसलिये अपनेको ही उपदेश दे अर्थात् दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसे मिटानेकी चेष्टा करे। भगवान् भी विद्यमान हैं, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और हम भी विद्यमान हैं, फिर उद्धारमें देरी क्यों? नाशवान् व्यक्ति, पदार्थ और क्रियामें आसक्तिके कारण ही उद्धारमें देरी हो रही है। इसे मिटानेकी जिम्मेवारी हमपर ही है; क्योंकि हमने ही आसक्ति की है।

पूर्वपक्ष—गुरु, सन्त और भगवान् भी तो मनुष्यका उद्धार करते हैं, ऐसा लोकमें देखा जाता है?

उत्तरपक्ष—गुरु, सन्त और भगवान् भी मनुष्यका तभी उद्धार करते हैं, जब वह स्वयं उन्हें स्वीकार करता है अर्थात् उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनके सम्मुख होता है, उनकी शरण लेता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। गुरु, सन्त और भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ तो इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उन्हें स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने उन्हें स्वीकार किया, उन्हींका उद्धार हुआ। अतः अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हुए।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

जिसने अपने-आपसे अपने-आपको जीत लिया है, उसके लिये आप ही अपना बन्धु है और जिसने अपने-आपको नहीं जीता है, ऐसे अनात्माका आत्मा ही शत्रुतामें शत्रुकी तरह बर्ताव करता है।

व्याख्या—**शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये न मानना अपने साथ मित्रता करना है। शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये मानना अपने साथ शत्रुता करना है। आप ही अपना मित्र बनकर मनुष्य अपना जितना भला कर सकता है, उतना दूसरा कोई मित्र नहीं कर सकता। इसी प्रकार आप ही अपना शत्रु बनकर मनुष्य अपना जितना नुकसान कर सकता है, उतना दूसरा कोई शत्रु नहीं कर सकता।**

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जिसने अपनेपर विजय कर ली है, उस शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता), सुख-दुःख तथा मान-अपमानमें निर्विकार मनुष्यको परमात्मा नित्यप्राप्त हैं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जो कूटकी तरह निर्विकार है, जितेन्द्रिय है और मिट्टी, ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धिवाला है—ऐसा योगी युक्त (योगारूढ़) कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९ ॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें तथा साधु-आचरण करनेवालोंमें और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी समबुद्धिवाला मनुष्य श्रेष्ठ है।

व्याख्या—जिनसे व्यवहारमें एकता नहीं करनी चाहिये और एकता कर भी नहीं सकते, उन मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णमें और सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु तथा पापी व्यक्तियोंमें भी कर्मयोगी महापुरुषकी समबुद्धि रहती है। तात्पर्य है कि उसकी दृष्टि सब प्राणी-पदार्थोंमें समरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वपर ही रहती है। जैसे सोनेसे बने गहनोंको देखें तो उनमें बहुत अन्तर दीखता है, पर सोनेको देखें तो कोई अन्तर नहीं, एक सोना-ही-सोना है। इसी प्रकार सांसारिक प्राणी-पदार्थोंको देखें तो उनमें बहुत बड़ा अन्तर है, पर तत्त्वसे देखें तो एक परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला, इच्छारहित और अन्त:करण तथा शरीरको वशमें रखनेवाला योगी अकेला एकान्तमें स्थित होकर मनको निरन्तर (परमात्मामें) लगाये।

व्याख्या—**ध्यानयोगका अधिकारी वह है, जो अपने सुखभोगके लिये विभिन्न वस्तुओंका संग्रह नहीं करता, जिसके मनमें भोगोंकी कामना नहीं है और जिसका अन्तःकरण तथा शरीर उसके वशमें है। तात्पर्य है कि ध्यानयोगके साधकका उद्देश्य केवल परमात्माको प्राप्त करनेका हो, लौकिक सिद्धियोंको प्राप्त करनेका नहीं।**

पूर्वपक्ष—**युद्धके समयमें अर्जुनको ध्यानयोगका उपदेश देनेका क्या औचित्य है?**

उत्तरपक्ष—**अर्जुन पापसे डरते थे, युद्धसे नहीं। उन्हें युद्धसे अधिक अपने कल्याण (श्रेय)-की चिन्ता थी (गीता २। ७, ३। २, ५। १)। इसलिये कल्याणके जितने मुख्य साधन हैं, उन सबका भगवान् गीतामें वर्णन करते हैं। इसी कारण गीता मानवमात्रके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करती है।**

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

शुद्ध भूमिपर, जिसपर (क्रमशः) कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न अत्यन्त ऊँचा है और न अत्यन्त नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

काया, सिर और गलेको सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओंको न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखते हुए स्थिर होकर बैठे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भयरहित है और जो ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित है, ऐसा सावधान ध्यानयोगी मनका संयम करके मुझमें चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।

व्याख्या— जिसका अन्तःकरण राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित है, जो शरीरमें मैं-मेरापन न होनेसे भयरहित है और जो ब्रह्मचारीके नियमोंका पालन करता है, वही ध्यानयोगका अधिकारी है। ध्यानयोगी सावधानीपूर्वक मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगाये। वह भगवान्‌के ही परायण हो अर्थात् भगवत्प्राप्तिके सिवाय उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं हो।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी मनको इस तरहसे सदा (परमात्मामें) लगाता हुआ मुझमें सम्यक् स्थितिवाली जो निर्वाणपरमा शान्ति है, उसको प्राप्त हो जाता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक खानेवालेका और न बिलकुल न खानेवालेका तथा न अधिक सोनेवालेका और न बिलकुल न सोनेवालेका ही सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागने-वालेका ही सिद्ध होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है, उस कालमें वह योगी है—ऐसा कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, योगका अभ्यास करते हुए वशमें किये हुए चित्तवाले योगीके चित्तकी वैसी ही उपमा कही गयी है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

योगका सेवन करनेसे जिस अवस्थामें निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्थामें स्वयं अपने-आपसे अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें ही सन्तुष्ट हो जाता है।

व्याख्या— **दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें जिस तत्त्वकी प्राप्ति कर्मयोगसे बतायी थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति यहाँ ध्यानयोगसे बतायी गयी है। दोनों साधनोंका प्रापणीय तत्त्व एक होनेपर भी ध्यानयोगमें तत्त्वकी प्राप्ति कठिनतासे तथा विलम्बसे होती है और इसमें योगभ्रष्ट होनेकी भी सम्भावना रहती है (गीता ६। ४१—४४)। कारण कि ध्यानयोग करणसापेक्ष साधन है।**

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य है, उस सुखका जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस सुखमें स्थित हुआ यह ध्यानयोगी तत्त्वसे फिर कभी विचलित नहीं होता।

व्याख्या—**ध्यानयोगीको जिस अविनाशी सुखका अनुभव होता है, वह प्रकृतिजन्य गुणोंसे अतीत है। इसलिये उस सुखको 'आत्यन्तिक' अर्थात् सात्त्विक सुखसे विलक्षण, 'अतीन्द्रिय' अर्थात् राजस सुखसे विलक्षण और 'बुद्धिग्राह्य' अर्थात् तामस सुखसे विलक्षण बताया गया है। जड़ताके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही मनुष्य विचलित होता है। ध्यानयोगीका जड़तासे सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है; अतः वह तत्त्वसे कभी विचलित नहीं होता। जैसे समाधिसे व्युत्थान होता है, ऐसे उसका अविनाशी सुखसे कभी व्युत्थान नहीं होता।**

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।

व्याख्या— **जिस सुखके लाभका तो अन्त नहीं है और हानिकी सम्भावना ही नहीं है, तथा जिसमें दुःखका लेश भी नहीं है—ऐसे अखण्डसुखके प्राप्त होनेमें ही सभी साधनोंकी पूर्णता है।**

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये। (वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है), उस ध्यानयोगका अभ्यास न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना चाहिये।

व्याख्या— **'संयोग' तथा 'वियोग' का विभाग अलग और 'योग' का विभाग अलग है। शरीर-संसारके संयोगका वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर परमात्माके 'योग' का कभी वियोग होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं। कारण कि शरीर-संसार कभी हमारे साथ रहते ही नहीं और परमात्मा कभी हमारा साथ छोड़ते ही नहीं। परमात्माका यह योग सभी साधकोंका साध्य है।**

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे ही इन्द्रिय-समूहको सभी ओरसे हटाकर।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा (संसारसे) धीरे-धीरे उपराम हो जाय और मन (बुद्धि)-को परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।

व्याख्या— **सर्वप्रथम साधक बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदिमें एक परमात्मतत्त्व चिन्मय सत्तामात्ररूपसे परिपूर्ण है। उस परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ भी नहीं है। तत्पश्चात् इस निश्चयका भी त्याग करके साधक बाहर-भीतरसे चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे, न संसारका, न आत्माका, न परमात्माका। कारण कि साधक कुछ भी चिन्तन करेगा तो चित्त (जड़) साथमें रहेगा, चित्तसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा। वह किसीका भी चिन्तन करेगा तो किसीका ही चिन्तन होगा और किसीका भी चिन्तन नहीं करेगा तो परमात्माका चिन्तन होगा अर्थात् परमात्मामें स्थिति होगी। अन्य कोई भी चिन्तन यदि अपने-आप आ जाय तो साधक उसकी उपेक्षा कर दे अर्थात् उसमें न तो यह भाव आये कि 'यह बना रहे' और न ही यह भाव आये कि 'यह चला जाय'। उसमें न राग करे, न द्वेष करे और न उसे अपनेमें ही माने। मुझे कुछ भी चिन्तन नहीं करना है—ऐसा आग्रह भी साधक न रखे। साधकका स्वभाव ही स्वतः चुप, शान्त होनेका तथा अपने लिये कुछ न करनेका बन जाय।**

पूर्वपक्ष— **कुछ भी चिन्तन न करनेसे जो साक्षीभाव रहेगा, वह तो बुद्धिमें ही रहेगा?**

उत्तरपक्ष— **साक्षीभाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयंमें होगा; जैसे—युद्ध तो सेना करती है, पर परिणाममें विजय राजाकी ही होती है। साधकका यह साक्षीभाव भी बिना उद्योग किये स्वतः मिट जायगा।**

पूर्वपक्ष— **व्यर्थ चिन्तनको मिटानेके लिये परमात्माका चिन्तन करें तो क्या आपत्ति है?**

उत्तरपक्ष— **एक चिन्तन किया जाता है, एक स्वतः होता है। जैसे भूख लगनेपर अन्नका चिन्तन स्वतः होता है, ऐसे ही साधकको परमात्माका चिन्तन स्वतः होना चाहिये, जो परमात्माकी आवश्यकता समझनेपर ही होगा। परन्तु साधककी प्रायः यह दशा होती है कि उसे परमात्माका चिन्तन तो करना पड़ता है, पर संसारका चिन्तन स्वतः होता है। संसारके चिन्तनको मिटानेके लिये वह बलपूर्वक परमात्माका चिन्तन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि बलपूर्वक किये गये चिन्तनका प्रभाव भी अन्तःकरणमें अंकित हो जाता है और संसारका चिन्तन भी होता रहता है। इससे साधकके भीतर यह अभिमान उत्पन्न हो जाता है कि मैंने इतने वर्षोंतक साधन किया अथवा वह निराश हो जाता है कि इतने वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं हुआ! अतः साधक निद्रा-आलस्य छोड़कर चुप, शान्त रहनेका स्वभाव बना ले। कुछ भी चिन्तन न करनेसे साधककी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही होगी।**

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यह अस्थिर और चंचल मन जहाँ-जहाँ विचरण करता है, वहाँ-वहाँसे हटाकर इसको एक परमात्मामें ही भलीभाँति लगाये।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है तथा जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, ऐसे इस ब्रह्मरूप बने हुए योगीको निश्चित ही उत्तम (सात्त्विक) सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

इस प्रकार अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाता हुआ पापरहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त सुखका अनुभव कर लेता है।

व्याख्या—अपने-आपको परमात्मामें लगानेका तात्पर्य है—कुछ भी चिन्तन न करना अर्थात् बाहर-भीतरसे चुप, शान्त हो जाना। न संसार (बाहर)-का चिन्तन हो, न परमात्मा (भीतर)-का। कुछ भी चिन्तन न करनेसे स्वतः साधककी स्थिति परमात्मतत्त्वमें होती है।

मनको परमात्मामें लगाना करणसापेक्ष साधन है (गीता ६। २६), और अपने-आपको परमात्मामें लगाना करणनिरपेक्ष साधन है। करणनिरपेक्ष साधनमें जड़ताका सम्बन्ध सर्वथा न रहनेसे साधक सुखपूर्वक परमात्माको प्राप्त कर लेता है। परन्तु करणसापेक्ष साधनमें परमात्माको कठिनतापूर्वक प्राप्त किया जाता है (गीता १२। ५)।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

सब जगह अपने स्वरूपको देखनेवाला और ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला (सांख्ययोगी) अपने स्वरूपको सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपमें देखता है।

व्याख्या— **ध्यानयोगके जिस साधकमें ज्ञानके संस्कार रहते हैं, जो ज्ञानको ही मुख्य मानता है, वह जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वयंको सब प्राणियोंमें तथा सब प्राणियोंको स्वयंमें अनुभव करता है।**

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

जो (भक्त) सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

व्याख्या— **ध्यानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार रहते हैं, जो भक्तिको ही मुख्य मानता है, वह जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सबमें भगवान्‌को और भगवान्‌में सबको देखता है। अतः उसके लिये भगवान् अदृश्य नहीं होते और वह भगवान्‌के लिये अदृश्य नहीं होता। जब एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं, फिर भगवान् कैसे छिपें, कहाँ छिपें, किसके पीछे छिपें?**

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ जो भक्तियोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरा भजन करता है, वह सब कुछ बर्ताव करता हुआ भी मुझमें ही बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित है।

व्याख्या— **भगवान्‌का भक्त अपने शरीरके सहित सम्पूर्ण संसारको भगवान्‌का ही स्वरूप समझता है। इसलिये वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही रहता है और भगवान्‌में ही सब बर्ताव करता है। उसके भावमें ये पाँच बातें रहती हैं—(१) मैं भगवान्‌का ही हूँ, (२) मैं जहाँ भी रहता हूँ, भगवान्‌के दरबारमें ही रहता हूँ, (३) मैं जो भी शुभ कार्य करता हूँ, भगवान्‌का ही कार्य करता हूँ, (४) मैं शुद्ध-सात्त्विक जो भी पाता हूँ, भगवान्‌का ही प्रसाद पाता हूँ, और (५) भगवान्‌के दिये प्रसादसे भगवान्‌के ही जनोंकी सेवा करता हूँ। जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन किया जाय, ऐसे ही उस भक्तका बर्ताव भगवान्‌में ही होता है। जैसे शरीरसे सम्बन्ध माननेवाला मनुष्य सब क्रियाएँ करते हुए भी निरन्तर शरीरमें ही रहता है, ऐसे ही भक्त सब क्रियाएँ करते हुए भी निरन्तर भगवान्‌में ही रहता है।**

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

हे अर्जुन! जो (भक्त) अपने शरीरकी उपमासे सब जगह मुझे समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।

व्याख्या—**जैसे सामान्य मनुष्य अपनेको शरीरमें देखता है और शरीरके सभी अंगोंको सुख पहुँचानेका तथा उनका दुःख (पीड़ा) दूर करनेका स्वाभाविक प्रयत्न करता है, वैसे ही सबमें भगवान्‌को देखनेवाला भक्त सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेकी तथा उनका दुःख दूर करनेकी स्वाभाविक चेष्टा करता है। ऐसा करनेमें उसके भीतर किंचिन्मात्र भी अभिमान नहीं होता।**

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने समतापूर्वक जो यह योग कहा है, मनकी चंचलताके कारण मैं इस योगकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

कारण कि हे कृष्ण! मन (बड़ा ही) चंचल, प्रमथनशील, दृढ़ (जिद्दी) और बलवान् है। उसको रोकना मैं (आकाशमें स्थित) वायुकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! यह मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है—यह तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इसका निग्रह किया जाता है।

व्याख्या—**अर्जुनने दो श्लोकोंमें प्रश्न किया और भगवान्ने आधे श्लोकमें ही उसका उत्तर दिया—इससे सिद्ध होता है कि भगवान्ने मनकी एकाग्रताको अधिक महत्त्व नहीं दिया।**

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है। परन्तु उपायपूर्वक यत्न करनेवाले तथा वशमें किये हुए मनवाले साधकको योग प्राप्त हो सकता है, ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या—अर्जुनने ध्यानयोगके सिद्ध होनेमें मनकी चंचलताको बाधक मान लिया। वास्तवमें मनकी चंचलता उतनी बाधक नहीं है, जितना मनका वशमें न होना बाधक है। पतिव्रता स्त्री मनको एकाग्र नहीं करती, प्रत्युत मनको वशमें रखती है।

मन एकाग्र होनेसे (अन्तःकरणमें स्थित रागके कारण) सिद्धियाँ आती हैं, जिससे जड़ताके साथ सम्बन्ध बना रहता है। दूसरी बात, मनको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास आवश्यक है, जो जड़ताकी सहायताके बिना सम्भव नहीं है, तीसरी बात, एकाग्र होनेपर मन कुछ समयके लिये निरुद्ध हो जाता है, जिससे फिर व्युत्थान हो जाता है। यह व्युत्थान जड़तासे सम्बन्ध होनेके कारण ही होता है। तात्पर्य है कि मन एकाग्र होनेसे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। परन्तु रागका नाश होनेपर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये भगवान्‌के मतमें मनकी एकाग्रताका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत रागरहित होनेका महत्त्व है।

मनको वशमें अर्थात् शुद्ध करनेके दो उपाय हैं—कहीं भी राग-द्वेष न होना और सबमें भगवान्‌को देखना। जबतक साधकके भीतर राग-द्वेष रहते हैं, तबतक वह सबमें भगवान्‌को नहीं देख पाता। जबतक साधक सबमें भगवान्‌को नहीं देखता, तबतक मन सर्वथा वशमें नहीं होता। कारण कि जबतक साधककी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं हो सकता।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जिसकी साधनमें श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, वह (अन्तसमयमें) अगर योगसे विचलित हो जाय तो वह योगसिद्धिको प्राप्त न करके किस गतिको चला जाता है?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

हे महाबाहो! संसारके आश्रयसे रहित और परमात्मप्राप्तिके मार्गमें मोहित अर्थात् विचलित—इस तरह दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक क्या छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

हे कृष्ण! मेरे इस सन्देहका सर्वथा छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं; क्योंकि इस संशयका छेदन करनेवाला आपके सिवाय दूसरा कोई हो नहीं सकता।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही विनाश होता है; क्योंकि हे प्यारे! कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको नहीं जाता।

व्याख्या—**जैसे कोई बद्रीनाथकी यात्रापर निकले तो वह रात होते-होते जहाँतक पहुँच चुका है, प्रातः उठनेके बाद वह वहींसे यात्रा आरम्भ करता है। रातको सोनेपर वह वापिस अपने घर नहीं पहुँच जाता! ऐसे ही ध्यानयोगी जिस स्थितितक पहुँच चुका है, मरनेपर वह उस स्थितिसे नीचे नहीं गिरता। उसका किया हुआ साधन नष्ट नहीं होता। कारण यह है कि उसका उद्देश्य अपने कल्याणका बन चुका है। अब वह दुर्गतिमें नहीं जा सकता। इसलिये परमात्मप्राप्तिके मार्गमें निराश होनेका कोई स्थान नहीं है।**

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

वह योगभ्रष्ट पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होकर और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर फिर यहाँ शुद्ध (ममतारहित) श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा (वैराग्यवान् योगभ्रष्ट) ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें ही जन्म लेता है। इस प्रकारका जो यह जन्म है, यह संसारमें निःसन्देह बहुत ही दुर्लभ है।

व्याख्या—**जिस साधकके भीतर भोगोंकी वासना नहीं मिटी है, ऐसा साधक योगभ्रष्ट होनेपर स्वर्गादि उच्च लोकोंमें जाता है, फिर श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। परन्तु जिस साधकके भीतर भोगोंकी वासना मिट गयी है, ऐसा साधक (सूक्ष्म वासनाके कारण अन्त समयमें विषय-चिन्तन होनेसे) स्वर्गादि लोकोंमें न जाकर सीधे योगियोंके घरमें जन्म लेता है।**

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

हे कुरुनन्दन! वहाँपर उसको पिछले मनुष्यजन्मकी साधन-सम्पत्ति (अनायास ही) प्राप्त हो जाती है। फिर उससे (वह) साधनकी सिद्धिके विषयमें पुनः (विशेषतासे) यत्न करता है।

व्याख्या—**योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले साधककी बुद्धिमें पूर्वजन्मके बैठे हुए संस्कार स्वतः जाग्रत् हो जाते हैं। पहले किया हुआ साधन उसे बिना परिश्रम प्राप्त हो जाता है। सांसारिक सम्पत्ति तो मरनेपर सर्वथा छूट जाती है, पर पारमार्थिक सम्पत्ति मरनेपर भी साथ जाती है। कारण कि सांसारिक सम्पत्ति बाह्य है और पारमार्थिक सम्पत्ति आन्तरिक। स्वयंमें बैठी बात नष्ट नहीं होती।**

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य) भोगोंके परवश होता हुआ भी उस पहले मनुष्यजन्ममें किये हुए अभ्यास (साधन)-के कारण ही (परमात्माकी तरफ) खिंच जाता है; क्योंकि योग (समता)-का जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है।

व्याख्या— स्वर्गादि लोकोंसे लौटकर श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला साधक पहले किये हुए साधनके कारण जबर्दस्ती परमात्माकी तरफ खिंच जाता है।

जो योगमें प्रवृत्त नहीं हुआ है, पर अन्तःकरणमें योगका महत्त्व होनेके कारण जो योगको प्राप्त करना चाहता है, ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोक्त सकामकर्मोंसे तथा उनके फलसे ऊँचा उठ जाता है, फिर जो योगमें लगा हुआ है और योगभ्रष्ट हो गया है, उसका कल्याण हो जाय—इसमें कहना ही क्या है !

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

परन्तु जो योगी प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है और जिसके पाप नष्ट हो गये हैं तथा जो अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ है, वह योगी फिर परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**'अनेकजन्म' का अर्थ है—एकसे अधिक जन्म। श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला सर्वप्रथम मनुष्यजन्ममें साधन करके शुद्ध हुआ, फिर स्वर्गादि लोकोंमें जाकर वहाँके भोगोंसे अरुचि होनेसे शुद्ध हुआ, और फिर श्रीमानोंके घर जन्म लेकर तत्परतापूर्वक साधनमें लगकर शुद्ध हुआ—इस प्रकार तीन जन्मोंमें शुद्ध होना ही उसका 'अनेकजन्मसंसिद्ध' होना है।**

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

(सकामभाववाले) तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।

व्याख्या—**जो लौकिक सिद्धियोंको पानेके लिये तपस्या करते हैं, जो शास्त्रोंके ज्ञाता हैं और जो सकामभावसे यज्ञ, दान आदि कर्म करते हैं, उन सबसे योगी श्रेष्ठ है। कारण कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंका उद्देश्य संसार है और भाव सकाम है; परन्तु योगीका उद्देश्य परमात्मा है और भाव निष्काम है।**

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।

व्याख्या— **तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे तो योगी श्रेष्ठ है, पर योगियोंसे भी भगवान्‌का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। योगी तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त कभी योगभ्रष्ट हो सकता ही नहीं; क्योंकि वह भगवान्‌के आश्रित रहता है। भगवान्‌के ही आश्रित रहनेके कारण भगवान् उसकी विशेष रक्षा करते हैं। योगीमें तो मुक्त होनेपर भी अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध रह सकती है, पर भक्तमें अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती। भक्तको उस प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होती है, जिसकी भूख महायोगेश्वर भगवान्‌में भी है!**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! मुझमें आसक्त मनवाला, मेरे आश्रित होकर योगका अभ्यास करता हुआ तू मेरे जिस समग्ररूपको निःसन्देह जिस प्रकारसे जानेगा, उसको (उसी प्रकारसे) सुन।

व्याख्या— **आत्मीयताके कारण जिसका मन भगवान्‌की ओर आकर्षित हो गया है, जो सब प्रकारसे भगवान्‌के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचान लिया है, ऐसा भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब कुछ एक भगवान् ही हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। भगवान् कहते हैं कि पार्थ! अपने समग्ररूपका वर्णन मैं इस ढंगसे करूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको सुगमतापूर्वक यथार्थरूपसे जान लेगा और तेरे सब संशय मिट जायँगे।**

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

तेरे लिये मैं यह विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्णतासे कहूँगा, जिसको जाननेके बाद फिर इस विषयमें जाननेयोग्य अन्य (कुछ भी) शेष नहीं रहेगा।

व्याख्या— **पर तथा अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह 'ज्ञान' है और परा-अपरा सब कुछ एक भगवान् ही हैं—यह 'विज्ञान' है। अहम्सहित सब कुछ भगवान् हैं—यह भगवान्का समग्ररूप ही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है। इस विज्ञानसहित ज्ञानको जाननेके बाद और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसे जाननेके बाद यदि कुछ शेष रहेगा तो वह भी भगवान् ही होंगे!**

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धि (कल्याण)-के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धों (मुक्त पुरुषों)-में कोई एक ही मुझे यथार्थरूपसे जानता है।

व्याख्या— वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन या दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके मार्गपर चलनेवाले बहुत कम हैं। अधिकतर मनुष्य सांसारिक भोग और संग्रहमें ही रचे-पचे रहते हैं। इसलिये हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही मनुष्य लगनपूर्वक परमात्माकी तरफ चलता है। परन्तु लगनके साथ भोगेच्छा, मान-बड़ाई और आरामकी इच्छा भी रहनेके कारण उनमें भी कोई एक परमात्मतत्त्वको प्राप्त करता है। परमात्माको प्राप्त उन जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी कोई एक ही भगवान्‌को जाननेकी इच्छावाला तथा भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाला महापुरुष 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के समग्ररूपको जानता है और भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है। तात्पर्य है कि भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेवाला प्रेमी भक्त अत्यन्त दुर्लभ है (गीता ७। १९)। [1546] गी० प्र० ७

भगवान्‌के समग्ररूपको जानना ही भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानना है। भगवान्‌के यथार्थरूपको भक्तिसे ही जाना जा सकता है (गीता १८। ५५)।

जिस साधकके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, जो भक्तिका खण्डन नहीं करता, वह जब मुक्त होता है तब उसके भीतर नाशवान् रसकी कामना तो सर्वथा मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। तब भगवान् कृपा करके उसकी मुक्तिके अखण्डरसको फीका कर देते हैं और प्रेमका अनन्तरस प्रदान करते हैं।

किसी वस्तुके आकर्षणसे जो सुख मिलता है, वह सुख उस वस्तुके ज्ञानसे नहीं मिलता—यह सिद्धान्त है। जैसे, रुपयोंके आकर्षण (लोभ)-से जो सुख मिलता है, वह रुपयोंके ज्ञानसे नहीं मिलता।

कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्त आनन्द (शान्ति) मिलता है। ज्ञानयोगमें स्वरूपका बोध होनेपर अखण्ड आनन्द मिलता है। भक्तियोगमें भगवान्‌की ओर आकर्षण होनेसे अनन्त आनन्द (प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम) मिलता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (—ये पंचमहाभूत) और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है; और हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।

व्याख्या— जब चेतन-तत्त्व अपरा प्रकृतिके अहंकारके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह 'परा प्रकृति' कहलाता है। अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनों ही भगवान्‌की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं, स्वभाव हैं। शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे नख और केश निष्प्राण होते हुए भी प्राणयुक्त शरीरसे भिन्न नहीं होते, ऐसे ही अपरा प्रकृति जड़ होते हुए भी चेतन परमात्मासे भिन्न नहीं होती। अतः अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वरूप होनेसे भगवान्‌के सिवाय कुछ भी शेष नहीं रहा!

इस जगत्‌को जीवने ही धारण कर रखा है। तात्पर्य है कि जगत् न तो परमात्माकी दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। जीवने ही जगत्‌को सत्ता और महत्ता देकर उसमें अपनापन कर लिया और जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ गया।

पृथ्वीसे लेकर अहंकारतक सब जड़ अपरा प्रकृति है। अतः जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि जाननेमें आनेवाले हैं, ऐसे ही अहंकार भी जाननेमें आनेवाला है। उस अहंकारसे तादात्म्य करके जीव अपनेको 'मैं हूँ'—ऐसा मान लेता है। इसमें 'मैं' तो अपरा प्रकृति है और 'हूँ' परा प्रकृति है। अहंकारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'मैं' का तो अभाव हो जाता है और 'हूँ' चिन्मय सत्तामात्र 'है' में परिणत हो जाता है—यही मोक्ष है।

अहम्‌को धारण करनेसे जीवने सम्पूर्ण अपरा प्रकृतिको धारण कर लिया। 'मैं हूँ'—इस अभिमानको रखना ही अपरा प्रकृतिको धारण करना है। यदि अहम् अभिमानशून्य हो जाय अर्थात् अभिमान न रहकर अपरा प्रकृतिका शुद्ध अहम् रह जाय तो वह बन्धनकारक नहीं होता; जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि कभी बन्धनकारक नहीं होते।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पन्न होनेमें अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियोंका संयोग ही कारण है—ऐसा तुम समझो। मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ।

व्याख्या—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, मनुष्य, देवता, गन्धर्व, पितर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जितने भी प्राणी देखने-सुनने-पढ़नेमें आते हैं, वे सब अपरा और परा—इन दोनोंके माने हुए संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। अपरा और पराका संयोग ही सम्पूर्ण संसारका बीज है।

मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ—इससे भगवान्‌का तात्पर्य है कि मैं ही सम्पूर्ण संसारको उत्पन्न करनेवाला हूँ और मैं ही उत्पन्न होनेवाला हूँ, मैं ही नाश करनेवाला हूँ और मैं ही नष्ट होनेवाला हूँ; क्योंकि मेरे सिवाय संसारका अन्य कोई भी कारण तथा कार्य नहीं है। मैं ही इसका निमित्त और उपादान कारण हूँ।

भगवान् ही जगद्रूपसे प्रकट हुए हैं। यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २।६।४१)। आदि अवतार होनेसे जगत् नहीं है, केवल भगवान् ही हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

इसलिये हे धनंजय! मेरे सिवाय (इस जगत्‌का) दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओतप्रोत है।

व्याख्या—जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय अन्य कुछ नहीं है, ऐसे ही मणिरूप अपरा प्रकृति और धागारूप परा प्रकृति—दोनोंमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो न धागा है, न मणियाँ हैं, प्रत्युत एक सूत (रुई) ही है। इसी तरह न परा है, न अपरा है, प्रत्युत एक परमात्मा ही हैं।

इस श्लोकमें आये 'मत्तः परतरं नान्यत्' **पदोंसे आरम्भ करके बारहवें श्लोकके** 'मत्त एवेति तान्विद्धि' **पदोंतक भगवान्‌ने यही सिद्ध किया है कि मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है, सब कुछ मैं ही हूँ।**

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

हे कुन्तीनन्दन! जलोंमें रस मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा (प्रकाश) मैं हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव (ओंकार), आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषत्व मैं हूँ।

व्याख्या— **सृष्टिकी रचनामें भगवान् ही कर्ता होते हैं, भगवान् ही कारण होते हैं और भगवान् ही कार्य होते हैं। इस दृष्टिसे रस-तन्मात्रा और जल, प्रभा और चन्द्र-सूर्य, ओंकार और वेद, शब्द-तन्मात्रा और आकाश, पुरुषत्व और मनुष्य—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं।**

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

पृथ्वीमें पवित्र गन्ध मैं हूँ और अग्निमें तेज मैं हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवनीशक्ति मैं हूँ और तपस्वियोंमें तपस्या मैं हूँ।

व्याख्या— **गन्ध और पृथ्वी, तेज और अग्नि, जीवनीशक्ति और प्राणी, तप और तपस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं।**

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

हे पृथानन्दन! सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि बीज मुझे जान। बुद्धिमानोंमें बुद्धि और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ।

व्याख्या—बीज और प्राणी, बुद्धि और बुद्धिमान्, तेज और तेजस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं।

अनन्त अलग-अलग ब्रह्माण्ड हैं और उनमें अनन्त अलग-अलग जीव हैं, पर उन सम्पूर्ण जीवोंका बीज एक ही परमात्मा हैं। एक ही परमात्मासे अनेक प्रकारके प्राणी उत्पन्न होते हैं। लौकिक बीज तो वृक्ष उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है, पर अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होनेपर भी परमात्मरूपी बीज ज्यों-का-त्यों रहता है (गीता ९। १८)।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! बलवानोंमें काम और रागसे रहित बल मैं हूँ और प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध (धर्मयुक्त) काम मैं हूँ।

व्याख्या— **सात्त्विक बल और बलवान्, धर्मयुक्त काम और प्राणी—ये सब-के-सब एक भगवान् ही हैं।**

पूर्वपक्ष— **तामसी बल और धर्मविरुद्ध काम क्या भगवान् नहीं हैं?**

उत्तरपक्ष— **भगवान् होते हुए भी ये त्याज्य हैं, ग्राह्य नहीं। कारण कि तामसी बल और धर्मविरुद्ध कामके परिणामस्वरूप दुःख, पीड़ा, सन्ताप, नरक आदिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, जो किसीके भी अभीष्ट नहीं हैं।**

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

(और तो क्या हूँ—) जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।

व्याख्या—शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं। 'मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि साधककी दृष्टि सात्त्विक, राजस तथा तामस भावोंकी ओर न जाकर भगवान्‌की ओर ही जानी चाहिये। यदि उसकी दृष्टि भावों (गुणों)-की ओर जायगी तो वह उनमें उलझकर जन्म-मरणमें चला जायगा (गीता १३। २१)।

सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव भगवत्स्वरूप हैं—यह सिद्ध पुरुषोंकी दृष्टि है, और भगवान् उनमें और वे भगवान्‌में नहीं हैं—यह साधकोंकी दृष्टि है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

किन्तु इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत और अविनाशी मुझे नहीं जानता।

व्याख्या—**जो मनुष्य भगवान्‌को न देखकर गुणोंको देखते हैं अर्थात् गुणोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, वे गुणोंसे मोहित हो जाते हैं। गुणोंसे मोहित मनुष्य गुणातीत परमात्माको नहीं जान सकते।**

यद्यपि परमात्माका अंश होनेसे जीवात्मा भी गुणातीत है, तथापि गुणोंको सत्ता और महत्ता देनेसे वह भी गुणमय जगत् बन जाता है। इसी कारण इस श्लोकमें जीवात्माको 'जगत्' कहा गया है। जगत् बना हुआ जीवात्मा शरीर-संसारको ही मैं, मेरा और मेरे लिये मान लेता है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

क्योंकि मेरी यह गुणमयी दैवी माया दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है। जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं।

व्याख्या—**जो मनुष्य भगवान्‌की गुणमयी माया (तीनों गुणों)-की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता मानते हैं, उनके लिये इस मायासे पार पाना बहुत ही कठिन है। यह गुणमयी माया है तो भगवान्‌की—'मम माया', पर जीव इसे अपनी और अपने लिये मानकर बँध जाता है। इस मायासे पार पानेका सुगम उपाय है—शरणागति अर्थात् किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानकर भगवान्‌की और भगवान्‌के लिये ही मान लेना।**

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

परन्तु मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा गया है, वे आसुर भावका आश्रय लेनेवाले और मनुष्योंमें महान् नीच तथा पाप-कर्म करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरे शरण नहीं होते।

व्याख्या—**यद्यपि भगवान्‌ने सभीको अपनी शरणमें ले रखा है; परन्तु भोग तथा संग्रहकी आसक्तिमें रचे-पचे मनुष्य भगवान्‌की शरण न लेकर संसारकी शरण लेते हैं और परिणाममें दुःख पाते हैं।**

पूर्वपक्ष—**भगवान्‌की मायाने सबको बाँध रखा है, फिर मनुष्य बेचारा क्या करे?**

उत्तरपक्ष— **भगवान्‌की माया किसीको भी नहीं बाँधती। मनुष्य ही भगवान्‌की मायाको अपनी और अपने लिये मानकर बँधता है।**

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! पवित्र कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् प्रेमी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरा भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं।

व्याख्या— पूर्वश्लोकमें भगवान्से विमुख हुए मनुष्योंकी बात कहकर अब भगवान्के सम्मुख हुए भक्तोंकी बात कहते हैं। ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और प्रेमी। जबतक संसारका किंचित् सम्बन्ध रहता है, तबतक अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—ये तीन भेद रहते हैं। परन्तु संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त होता है।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—तीनोंमें भगवान्की मुख्यता तथा सम्मुखता रहती है। अतः अर्थार्थी भगवान्से ही अपनी धनकी इच्छा पूरी कराना चाहता है। आर्त भगवान्से ही अपना दुःख मिटाना चाहता है। जिज्ञासु भगवान्से ही अपनी जिज्ञासा शान्त कराना चाहता है। जब भक्त एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं चाहता, तब वह ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त होता है।

पूर्वपक्ष— ज्ञानीको प्रेमी भक्त कैसे मान लिया गया? यदि उसे तत्त्वज्ञानी मान लें तो क्या आपत्ति है?

उत्तरपक्ष— कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे 'ज्ञानी' को प्रेमी भक्त मानना ही अधिक उपयुक्त दीखता है; जैसे—

(१) भगवान्ने 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' कहकर 'ज्ञानी' को चार प्रकारके भक्तोंके अन्तर्गत लिया है।

(२) भगवान्ने अगले श्लोकमें ज्ञानीको अनन्य-भक्तिवाला कहा है—'एकभक्तिर्विशिष्यते' और अपनेको उसका अत्यन्त प्रिय बताया है—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्'।

(३) भगवान्ने 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव करने-वाले भक्तको ही वास्तविक ज्ञानी बताया है (७। १९)।

पूर्वपक्ष—परन्तु भगवान्ने 'भक्त' शब्द न देकर 'ज्ञानी' शब्द दिया ही क्यों?

उत्तरपक्ष—कोई यह न समझ ले कि भक्तमें ज्ञानकी कमी या अभाव रहता है, इसलिये 'ज्ञानी' शब्द देकर भगवान्ने यह बताया है कि मेरे भक्तमें किसी प्रकारकी कोई कमी नहीं रहती। तत्त्वज्ञानीको तो ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तको विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् समग्रका ज्ञान हो जाता है (गीता ७। २९-३०)।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

उन चार भक्तोंमें मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्तिवाला ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

व्याख्या—**अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु सर्वथा भगवान्‌के सम्मुख नहीं होते; परन्तु प्रेमी भक्त (निष्काम होनेसे) सर्वथा भगवान्‌के सम्मुख होता है। इसलिये भक्त और भगवान्—दोनोंमें परस्पर प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीला चलती रहती है।**

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

पहले कहे हुए सब-के-सब (चारों) ही भक्त बड़े उदार (श्रेष्ठ भाववाले) हैं। परन्तु ज्ञानी (प्रेमी) तो मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है। कारण कि वह मुझसे अभिन्न है और जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसे मुझमें ही दृढ़ स्थित है।

व्याख्या—**अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्तको उदार कहना वास्तवमें भगवान्‌की अपनी उदारता है! उनको उदार कहनेका तात्पर्य है कि वे संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो गये।**

तत्त्वज्ञानीकी भगवान्‌के साथ सधर्मता होती है—'मम साधर्म्यमागताः' **(गीता १४। २), पर भक्तकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता होती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। **साधर्म्यमें जीव और ब्रह्ममें अभेद होता है। आत्मीयतामें भक्त और भगवान्‌में अभिन्नता होती है। अभेदमें जीव और ब्रह्म दोसे एक हो जाते हैं। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् प्रेम-लीलाके लिये एकसे दो हो जाते हैं। तत्त्वज्ञानीमें तो सूक्ष्म अहम् रहता है, पर भक्तमें अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है, इसलिये भगवान् कहते हैं—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा* अत्यन्त दुर्लभ है।

व्याख्या— साधक पहले परमात्माको दूर देखता है, फिर समीप देखता है, फिर अपनेमें देखता है, और फिर केवल परमात्माको ही देखता है। कर्मयोगी परमात्माको समीप देखता है, ज्ञानयोगी परमात्माको अपनेमें देखता है और भक्तियोगी सब जगह परमात्माको ही देखता है। 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव करना ही असली शरणागति है अर्थात् केवल शरण्य ही रह जाय, शरणागत कोई रहे ही नहीं!

'वासुदेवः सर्वम्'—यह गीताका सर्वोच्च सिद्धान्त है। हमारी दृष्टिमें 'सर्वम्' (संसार)-की सत्ता है, इसलिये भगवान्‌ने हमें समझानेके लिये 'वासुदेवः सर्वम्' कहा है। वास्तवमें केवल वासुदेव-ही-वासुदेव है, 'सर्वम्' है ही नहीं! कारण कि असत् होनेसे 'सर्वम्' की सत्ता विद्यमान ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)।

जैसे, खेतमें पहले भी गेहूँ बोया गया था और अन्तमें भी गेहूँ ही निकलेगा, पर बीचमें हरी-हरी घास दीखनेपर भी वह 'गेहूँकी खेती' कहलाती है। उसे गाय खा जाय तो किसान कहता है कि गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि गायने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया। इसी प्रकार सृष्टिके पहले भी परमात्मा थे और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे, पर बीचमें परमात्मा न दीखनेपर भी सब कुछ परमात्मा ही हैं। जैसे गेहूँसे उत्पन्न खेती भी गेहूँ ही है, ऐसे ही परमात्मासे उत्पन्न सृष्टि भी परमात्मा ही है। परमात्माने कहींसे सामान मँगवाकर सृष्टि नहीं बनायी, प्रत्युत वे खुद ही सृष्टिरूप बन गये। अतः सृष्टि भगवान्‌का प्रथम अवतार है—'आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते' (श्रीमद्भा० ३। ६। ८)।

जैसे जिसके भीतर प्यास होती है, उसे ही जल दीखता है। प्यास न हो तो जल सामने रहते हुए भी दीखता नहीं। ऐसे ही जिसके भीतर परमात्माकी प्यास (लालसा) है, उसे परमात्मा दीखते हैं और जिसके भीतर संसारकी प्यास है, उसे संसार दीखता है। परमात्माकी प्यास हो तो संसार लुप्त हो जाता है और संसारकी प्यास हो तो परमात्मा लुप्त हो जाते हैं। तात्पर्य है कि संसारकी प्यास होनेसे संसार न होते हुए भी मृगमरीचिकाकी तरह दीखने लग जाता है और परमात्माकी प्यास होनेसे परमात्मा न दीखनेपर भी दीखने लग जाते हैं। परमात्माकी प्यास जाग्रत् होनेपर भक्तको भूतकालका चिन्तन नहीं होता, भविष्यकी आशा नहीं रहती और वर्तमानमें उसे प्राप्त किये बिना चैन नहीं पड़ता।

सब कुछ (समग्ररूपमें) एक भगवान् ही हैं—'वासुदेवः सर्वम्', 'सदसच्चाहम्' (गीता ९। १९)। एक भगवान्‌के सिवाय कुछ भी न होनेसे भगवान् अकेले हैं, उनके पास (उनसे भिन्न) कुछ भी नहीं है। भगवान्‌का अंश होनेसे जीवके पास भी भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है; अतः वह भी वास्तवमें अकेला है। जीव भगवान्‌के सिवाय भूलसे जिसको भी अपना मानता है, वह सब असत् है, त्याज्य है, मिलने और बिछुड़नेवाला है। तात्पर्य है कि भगवान् भी अकिंचन हैं और उनका अंश जीव भी! इसलिये भगवान्‌ने रुक्मिणीजीसे कहा है—'निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः' (श्रीमद्भा० १०। ६०। १४) 'हम सदाके अकिंचन हैं और अकिंचन भक्तोंसे ही हम प्रेम करते हैं तथा वे हमारेसे प्रेम करते हैं।' जब साधक संसारमें शरीरादि किसी भी वस्तु-व्यक्तिको अपना तथा अपने लिये नहीं मानता, प्रत्युत एकमात्र भगवान्‌को ही अपना तथा अपने लिये मानता है, तब वह अकिंचन होकर भगवान्‌का प्रेमी हो जाता है—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (७। १७), 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (७। १८), 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' (९। २९)।

---

* गीतामें 'महात्मा' शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। इसी तरह 'उदार', 'युक्ततम', 'सर्ववित्' आदि शब्द भी भक्तके लिये ही आये हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

परन्तु उन-उन कामनाओंसे जिनका ज्ञान हरा गया है, ऐसे मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभावसे नियन्त्रित होकर उस-उस अर्थात् देवताओंके उन-उन नियमोंको धारण करते हुए अन्य देवताओंके शरण हो जाते हैं।

व्याख्या—**जो मनुष्य भगवान्‌से विमुख हैं और संसारके सम्मुख हैं, वे अपनी सांसारिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये विभिन्न देवताओंकी शरण लेते हैं। सांसारिक भोग और संग्रहकी कामनाके कारण 'सब कुछ भगवान् ही हैं; देवताओंके रूपमें भी एक भगवान् ही हैं'—यह ज्ञान ढक जाता है।**

पूर्वपक्ष—**सोलहवें श्लोकमें वर्णित अर्थार्थी और आर्त भक्तमें भी क्रमशः धन पानेकी और दुःख दूर करनेकी कामना है, फिर इस श्लोकमें वर्णित कामनावाले मनुष्योंकी निन्दा क्यों की गयी है?**

उत्तरपक्ष—**दोनों प्रकारके मनुष्योंमें परस्पर बड़ी भिन्नता है। सोलहवें श्लोकमें वर्णित मनुष्य भक्त हैं और इस श्लोकमें वर्णित मनुष्य सांसारिक हैं। भक्तोंमें भगवान्‌की मुख्यता है और सांसारिक मनुष्योंमें कामनापूर्तिकी मुख्यता है। भक्त एक भगवान्‌का ही आश्रय लेते हैं, पर सांसारिक मनुष्य अनेक देवी-देवताओंका आश्रय लेते हैं; क्योंकि उन्हें कामनापूर्तिसे मतलब है, देवताओंसे नहीं।**

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

जो-जो भक्त जिस-जिस देवताका श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस देवतामें ही मैं उसी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ।

व्याख्या—संसारमें प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य दूसरे मनुष्योंको अपनी तरफ लगाना चाहते हैं कि वे मुझपर श्रद्धा रखें, मेरे शिष्य बनें, मेरा सम्मान करें, मेरे सम्प्रदायको मानें, मेरी आज्ञा मानें आदि। परन्तु सर्वोपरि होते हुए भी भगवान्‌के स्वभावमें यह बात नहीं है। जो मनुष्य जहाँ लगना चाहता है, भगवान् उसे वहीं लगा देते हैं—यह भगवान्‌का पक्षपातरहित स्वभाव है।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

उस (मेरे द्वारा दृढ़ की हुई) श्रद्धासे युक्त होकर वह मनुष्य उस देवताकी (सकामभावपूर्वक) उपासना करता है और उसकी वह कामना पूरी भी होती है; परन्तु वह कामनापूर्ति मेरे द्वारा ही विहित की हुई होती है।

व्याख्या—भगवान् ही मनुष्यकी श्रद्धाको उसकी इच्छाके अनुसार अन्य देवताओंमें दृढ़ करते हैं और वे ही अन्य देवताओंके द्वारा मनुष्यकी कामनाओंकी पूर्ति करवाते हैं—यह भगवान्‌की उदारता है, परन्तु मनुष्य यही समझता है कि अन्य देवताओंकी उपासनासे मेरी कामनापूर्ति हुई है। वास्तवमें सभी देवता भगवान्‌के अधीन हैं। उन्हें कामनापूर्तिका अधिकार और सामर्थ्य भगवान्‌का ही दिया हुआ है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

परन्तु उन तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्योंको उन देवताओंकी आराधनाका फल अन्तवाला (नाशवान्) ही मिलता है। देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—जो मनुष्य सकामभाव रखनेवाले तथा देवताओंको भगवान्‌से भिन्न समझनेवाले हैं, उन्हें नाशवान् फलकी प्राप्ति होती है। जीते-जी तथा मृत्युके बाद उन्हें जो पदार्थ, लोक आदि मिलते हैं, वे सभी नाशवान् अर्थात् मिलने-बिछुड़नेवाले होते हैं। ऐसे मनुष्य अपनेको कितना ही बुद्धिमान् समझें, पर वास्तवमें वे अल्प बुद्धिवाले ही हैं।

पूर्वपक्ष—अर्थार्थी भक्तको भी नाशवान् धनकी प्राप्ति होती है, फिर उसमें और देवताओंका पूजन करनेवालेमें अन्तर क्या हुआ?

उत्तरपक्ष—नाशवान् धन आदि मिलनेपर भी अर्थार्थी और आर्त भक्तमें मुख्यता (महत्ता) भगवान्‌की ही रहती है, धन आदिकी नहीं। उनमें अर्थार्थीभाव तथा आर्तभाव तो गौण होता है, पर भगवद्भाव मुख्य होता है। इसलिये समय पाकर उनका अर्थार्थीभाव तथा आर्तभाव भी मिट जाता है, टिकता नहीं। परन्तु देवताओंकी उपासना करनेवाले सांसारिक मनुष्योंके हृदयमें धन आदिकी मुख्यता और देवताओंकी गौणता रहती है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

बुद्धिहीन मनुष्य मेरे परम, अविनाशी और सर्वश्रेष्ठ भावको न जानते हुए अव्यक्त (मन-इन्द्रियोंसे पर) मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी तरह शरीर धारण करनेवाला मानते हैं।

व्याख्या— **सकामभावसे देवताओंकी उपासना करनेवाले मनुष्य भगवान्‌को साधारण मनुष्यकी तरह जन्मने-मरनेवाला मानते हैं, इसलिये वे भगवान्‌की उपासना नहीं करते। वास्तवमें भगवान् अव्यक्त भी हैं, व्यक्त भी हैं और अव्यक्त तथा व्यक्त—दोनोंसे परे (निरपेक्ष प्रकाशक) भी हैं—** 'सदसत्तत्परं यत्' **(गीता ११। ३७)।**

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

यह जो मूढ़ मनुष्य-समुदाय मुझे अज और अविनाशी ठीक तरहसे नहीं जानता (मानता), उन सबके सामने योगमायासे अच्छी तरह ढका हुआ मैं प्रकट नहीं होता।

व्याख्या—**भगवान् अवतारकालमें सबके सामने प्रकट होते हुए भी मूढ़ मनुष्योंको भगवद्रूपसे न दीखकर मनुष्यरूपसे ही दीखते हैं। मनुष्य अपने भावोंके अनुसार ही योगमायासे ढके हुए भगवान्‌को देखते हैं। भगवान् अलौकिक होते हुए भी योगमायासे ढके रहनेके कारण लौकिक प्रतीत होते हैं।**

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं तथा जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे, उन सब प्राणियोंको तो मैं जानता हूँ; परन्तु मुझे (भक्तके सिवाय) कोई भी प्राणी नहीं जानता।

व्याख्या—**भगवान्‌की दृष्टिमें भूत-भविष्य-वर्तमान-कालका भेद नहीं है। कालकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें है। इसलिये हमें समझानेके लिये भगवान् तीनों कालोंकी बात कहते हैं। तात्पर्य है कि भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी जीव निरन्तर भगवान्‌की दृष्टिमें रहते हैं।**

पूर्वपक्ष—**'जब भगवान् सब जीवोंको जानते हैं' तो फिर जिसे बद्ध जानते हैं, वह सदा बद्ध ही रहेगा, मुक्त कैसे होगा?**

उत्तरपक्ष—**यह शंका संसारकी सत्ताको लेकर हमारी दृष्टिमें है। वास्तवमें भगवान् तथा उनके भक्त—दोनोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। बन्धन और मोक्ष जीवकी दृष्टिमें हैं। तत्त्वसे न बन्धन है, न मोक्ष, प्रत्युत केवल परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। अपना उद्धार करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है (गीता ६।५)।**

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

कारण कि हे भरतवंशमें उत्पन्न शत्रुतापन अर्जुन! इच्छा (राग) और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्व-मोहसे मोहित सम्पूर्ण प्राणी संसारमें (अनादिकालसे) मूढ़ताको अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त हो रहे हैं।

व्याख्या—**राग-द्वेषरूप द्वन्द्वसे ही संसारका सम्बन्ध दृढ़ होता है और मनुष्य परमात्मासे विमुख हो जाता है। अतः मनुष्यकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होनी चाहिये।**

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

परन्तु जिन पुण्यकर्मा मनुष्योंके पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वमोहसे रहित हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं।

व्याख्या—राग-द्वेषसे रहित होनेपर मनुष्य परमात्माके सम्मुख हो जाता है। परमात्माके सम्मुख होनेपर सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जबतक मनुष्यके भीतर राग-द्वेष रहते हैं, तबतक वह सर्वथा परमात्माके सम्मुख नहीं हो सकता। उसका जितने अंशमें संसारसे राग (सम्मुखता) रहता है, उतने अंशमें परमात्मासे द्वेष (विमुखता) रहता है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—यद्यपि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, तथापि शरणागत भक्त जन्म-मरणसे मुक्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के समग्ररूपको भी जान लेते हैं। ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। इसके भगवान्‌ने दो विभाग किये हैं। ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), कृत्स्न अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव) तथा अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह 'ज्ञान' का विभाग है, जिसमें निर्गुणकी मुख्यता है। अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह 'विज्ञान' का विभाग है, जिसमें सगुणकी मुख्यता है।

जिनमें भक्तिके संस्कार हैं; परन्तु जो जरा-मरणरूप सांसारिक दुःखोंसे छूटना चाहते हैं, ऐसे साधक भगवान्‌का आश्रय लेकर ज्ञानयोगका साधन करते हैं। उन्हें 'तत्' अर्थात् ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म और अखिल कर्मका ज्ञान हो जाता है। परिणामस्वरूप वे जरा-मरणसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु भगवान्‌को चाहनेवाले भक्त भक्तियोगका साधन करते हैं। वे अधियज्ञसहित ब्रह्मको, अधिदैवसहित सम्पूर्ण अध्यात्मको और अधिभूतसहित अखिल कर्मको जान लेते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें जरा-मरणसे मुक्तिके साथ-साथ 'माम्' अर्थात् समग्ररूप भगवान्‌का भी ज्ञान हो जाता है (गीता १८। ५५)। इस प्रकार विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपका अनुभव होनेपर उनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। अतः अन्तकाल आनेपर वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कारण कि अन्तकालमें उन्हें जो भी चिन्तन होगा, वह भगवान्‌का ही चिन्तन होगा—'युक्तचेतसः'। इस तीसवें श्लोकमें आये 'युक्तचेतसः' को ही आगे आठवें अध्यायमें 'अनन्यचेताः' कहा गया है।

इस अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने 'माम्' पदसे अपने समग्ररूपको जाननेकी बात सुनानेकी प्रतिज्ञा की थी, उसी बातका उपसंहार यहाँ 'मां विदुः' पदसे करते हैं।

'तत्' को जाननेवाले संसारसे मुक्त हो जाते हैं और 'माम्' को जाननेवाले समग्ररूप भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं। इसी बातको चौथे अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' पदोंसे और अठारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें 'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' पदोंसे कहा गया है। भक्तिके द्वारा समग्ररूप भगवान्‌को प्राप्त होनेकी बात आगे आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भी आयी है।

विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपका वर्णन करनेका तात्पर्य यही है कि जड़-चेतन, सत्-असत्, परा-अपरा, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, क्षर-अक्षर आदि जो कुछ भी है, वह सब-का-सब एक भगवान्‌का ही स्वरूप है।*

* खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

पहले जिन्हें परमात्मा, परा और अपरा प्रकृति कहा गया था, उन्हींके यहाँ दो-दो भेद किये गये हैं; जैसे—(१) परमात्मा—ब्रह्म और अधियज्ञ, (२) परा प्रकृति—अध्यात्म और अधिदैव, (३) अपरा प्रकृति—कर्म और अधिभूत। तात्पर्य है कि परमात्मा, परा और अपरा—तीनों ही मिलकर भगवान्‌का समग्ररूप है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टमोऽध्यायः

आठवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसको कहा गया है? और अधिदैव किसको कहा जाता है? यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस देहमें कैसे है? हे मधुसूदन! वशीभूत अन्तःकरणवाले मनुष्योंके द्वारा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

[1546] गी० प्र० ८

श्रीभगवान् बोले—परम अक्षर ब्रह्म है और परा प्रकृति (जीव)-को अध्यात्म कहते हैं। प्राणियोंकी सत्ताको प्रकट करनेवाला त्याग कर्म कहा जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! क्षर भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ अधिभूत हैं, पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अधिदैव हैं और इस देहमें (अन्तर्यामी-रूपसे) मैं ही अधियज्ञ हूँ।

व्याख्या— **जैसे एक ही जल-तत्त्व परमाणु, भाप, बादल, वर्षाकी क्रिया, बूँदें और ओले (बर्फ)-के रूपसे भिन्न-भिन्न दीखते हुए भी वास्तवमें एक ही है, इसी तरह एक ही परमात्मतत्त्व ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके रूपसे भिन्न-भिन्न दीखते हुए भी वास्तवमें एक ही है। परमाणुरूपसे जल 'ब्रह्म' है, भापरूपसे जल 'अधियज्ञ' है, बादलरूपसे जल 'अधिदैव' है, बूँदेंरूपसे जल 'अध्यात्म' है, वर्षाकी क्रिया 'कर्म' है और बर्फरूपसे जल 'अधिभूत' है। परमात्माके इसी समग्ररूपके लिये गीतामें आया है—** 'वासुदेवः सर्वम्' (७। १९), 'सदसच्चाहम्' (९। १९), 'सदसत्तत्परं यत्' (११। ३७)।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे स्वरूपको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

व्याख्या— भगवान्‌ने मनुष्यपर विशेष कृपा करके उसे यह छूट दी है कि उसका जीवन कैसा ही रहा हो, यदि अन्तसमयमें भी वह मुझे याद कर ले तो मैं उसका कल्याण कर दूँगा। कारण कि भगवान्‌ने अहैतुकी कृपासे जीवको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है।

वास्तवमें सब समय अन्तसमय ही है; क्योंकि अन्तसमय किसी भी समय आ सकता है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिस क्षणमें अन्तसमय न आता हो। इसलिये मनुष्यको हर समय भगवान्‌को याद रखना चाहिये।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पित करनेवाला तू निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

व्याख्या— ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें अन्तकाल (मृत्यु) न आ सके। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। फिर किसी भी समय अन्तकाल आयेगा तो वह भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही शरीर छोड़ेगा, जिससे वह भगवान्‌को ही प्राप्त होगा।

पूर्वपक्ष— यहाँ युद्धका प्रसंग है। निरन्तर भगवत्स्मरण करते हुए युद्ध कैसे होगा और युद्ध करते हुए निरन्तर भगवत्स्मरण कैसे होगा?

उत्तरपक्ष— एक याद करते हैं, एक याद रहती है। जो बात अहंतामें बैठ जाती है, वह भूलती नहीं। अतः साधक सच्चे हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ; भगवान् ही मेरे हैं' तो फिर सब कार्य करते हुए भी भगवान्‌की याद स्वतः निरन्तर बनी रहेगी। जैसे, ब्राह्मणको अपने ब्राह्मणपनेका स्मरण बिना याद किये नित्य-निरन्तर बना रहता है। नींदमें भी जगाकर उससे पूछो तो वह यही कहेगा कि मैं ब्राह्मण हूँ। इसमें अभ्यास नहीं है, प्रत्युत स्वीकृति है। विवाह होनेपर पतिव्रता स्त्री बिना याद किये पतिको याद रखती है, स्वप्नमें भी नहीं भूलती। यह स्वीकृति है, जिसकी कभी विस्मृति नहीं होती। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्वीकार करनेपर साधकके मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

हे पृथानन्दन! अभ्यासयोगसे युक्त और अन्यका चिन्तन न करनेवाले चित्तसे परम दिव्य पुरुषका चिन्तन करता हुआ (शरीर छोड़नेवाला मनुष्य) उसीको प्राप्त हो जाता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९॥

जो सर्वज्ञ, अनादि, सबपर शासन करनेवाला, सूक्ष्मसे अत्यन्त सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करने-वाला, अज्ञानसे अत्यन्त परे, सूर्यकी तरह प्रकाश-स्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप—ऐसे अचिन्त्य स्वरूपका चिन्तन करता है।

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तसमयमें अचल मनसे और योगबलके द्वारा भृकुटीके मध्यमें प्राणोंको अच्छी तरहसे प्रविष्ट करके (शरीर छोड़नेपर) उस परम दिव्य पुरुषको ही प्राप्त होता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

वेदवेत्ता लोग जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसको प्राप्त करते हैं और साधक जिसकी प्राप्तिकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वह पद मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।

व्याख्या—**इस श्लोकमें संकेतरूपसे चारों आश्रमोंका वर्णन ले सकते हैं; जैसे—**'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' **पदोंसे गृहस्थाश्रम,** 'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः' **पदोंसे संन्यास और वानप्रस्थ-आश्रम तथा** 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' **पदोंसे ब्रह्मचर्याश्रम ले सकते हैं। तात्पर्य है कि चारों आश्रमोंका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है।**

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

(इन्द्रियोंके) सम्पूर्ण द्वारोंको रोककर मनका हृदयमें निरोध करके और अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करके योगधारणामें सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ जो साधक 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्मका (मानसिक) उच्चारण और मेरा स्मरण करता हुआ शरीरको छोड़कर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।

व्याख्या— **भक्त केवल भगवान्‌को ही अपना मानता है और सदा उन्हें अपने पास देखता है, इसलिये वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही लगा रहता है। उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता न होनेसे उसका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जाय? कैसे जाय? क्यों जाय? इसलिये वह अनन्य चित्तवाला हो जाता है। उसे भगवान्‌का स्मरण करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः भगवान्‌का स्मरण होता है। ऐसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे हुए भक्तके लिये भगवान् सुलभ हैं।**

'सततम्' **का अर्थ है—जिस दिनसे साधकने इस बातको पकड़ा, उस दिनसे लेकर मृत्युतक भगवान्‌का स्मरण करे; और**'नित्यशः' **का अर्थ है—जबसे नींद खुले, तबसे लेकर गाढ़ नींद आनेतक भगवान्‌का स्मरण करे।**

भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, अवस्था, परिस्थिति आदिमें परिपूर्ण होनेसे प्राणिमात्रको नित्यप्राप्त हैं। अतः उनके विषयमें सुलभता अथवा दुर्लभता कहना बनता ही नहीं! परन्तु लोगोंने उन्हें दुर्लभ मान रखा है, इस मान्यताको मिटानेके लिये भगवान् यहाँ अपनेको सुलभ बताते हैं।

पूर्वपक्ष— **तो फिर सबको भगवत्प्राप्तिका अनुभव क्यों नहीं हो रहा है?**

उत्तरपक्ष— **जैसे गायके शरीरमें व्याप्त घी किसीके काम नहीं आता, ऐसे ही सबमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् लगनके बिना अनुभवमें नहीं आते। लगन न होनेका कारण है—शरीर-संसारको सत्ता और महत्ता देकर उन्हें अपना मानना। इसलिये भगवान्‌ने नित्य-निरन्तर अपनेमें लगे हुए भक्तके लिये ही अपनेको सुलभ बताया है।**

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

महात्मालोग मुझे प्राप्त करके दुःखालय अर्थात् दुःखोंके घर और अशाश्वत अर्थात् निरन्तर बदलनेवाले पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते; क्योंकि वे परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है।

व्याख्या— **भोग और संग्रहमें लगे हुए सकाम मनुष्यके लिये तो यह संसार दुःखालय है, पर सेवा और भगवद्भजनमें लगे हुए निष्काम मनुष्यके लिये यह संसार भगवत्स्वरूप है।**

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति एक बार होती है और सदाके लिये होती है, इसलिये परमात्माको प्राप्त हुए मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता, वह सदा-सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है। यदि उसमें भक्तिके संस्कार हों तो वह जन्म-मरणसे मुक्तिके साथ-साथ प्रतिक्षण वर्धमान परम प्रेमको भी प्राप्त कर लेता है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जानेपर पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।

व्याख्या— **भोग और संग्रहकी आसक्तिसे ही पुनर्जन्म होता है। इसलिये जिस मनुष्यमें भोग और संग्रहकी आसक्ति है, वह यदि पुण्यकर्मोंके प्रभावसे ब्रह्मलोकतक चला जाय तो भी उसे लौटकर जन्म-मरणमें अर्थात् दुःखालय संसारमें आना ही पड़ता है।**

ब्रह्मलोकतक सभी लोकोंकी प्राप्ति कर्मोंका फल है। जब प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे होगा? परन्तु परमात्माकी प्राप्ति कर्मोंका फल नहीं है। अतः परमात्माकी प्राप्ति होनेपर फिर वहाँसे लौटकर दुःखालय संसारमें नहीं आना पड़ता।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

जो मनुष्य ब्रह्माके एक हजार चतुर्युगीवाले एक दिनको और एक हजार चतुर्युगीवाली एक रात्रिको जानते हैं, वे मनुष्य ब्रह्माके दिन और रातको जाननेवाले हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥

ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें अव्यक्त (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर)-से सम्पूर्ण शरीर पैदा होते हैं और ब्रह्माकी रातके आरम्भकालमें उस अव्यक्त नामवाले (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर)-में ही सम्पूर्ण शरीर लीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

हे पार्थ! वही यह प्राणि-समुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके परवश हुआ ब्रह्माके दिनके समय उत्पन्न होता है और ब्रह्माकी रात्रिके समय लीन होता है।

व्याख्या— बदलनेवाले शरीर-संसारका विभाग अलग है और न बदलनेवाले आत्मा-परमात्माका विभाग अलग है। शरीर-संसार तो बार-बार उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं, पर आत्मा-परमात्मा वे-के-वे ही रहते हैं। कितने ही प्रलय-महाप्रलय और सर्ग-महासर्ग क्यों न हो जायँ, जीवात्मा स्वयं वही-का-वही रहता है। इसलिये देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति आदिके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। परन्तु शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये मान लेनेके कारण शरीरके परिवर्तनको जीवात्मा अपना परिवर्तन मान लेता है और बार-बार जन्मता-मरता रहता है।

जैसे रेलगाड़ीपर चढ़नेसे मनुष्य रेलगाड़ीके परवश हो जाता है, जहाँ रेलगाड़ी जायगी, वहाँ उसे जाना ही पड़ता है, ऐसे ही शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मनुष्य प्रकृतिके परवश हो जाता है और उसे जन्म-मरणके चक्रमें जाना ही पड़ता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

परन्तु उस अव्यक्त (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर)-से अन्य (विलक्षण) अनादि अत्यन्त श्रेष्ठ भावरूप जो अव्यक्त (ईश्वर) है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

व्याख्या— **ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे भी श्रेष्ठ कारणशरीर (मूल प्रकृति) है और उससे भी श्रेष्ठ परमात्मा हैं। परमात्माके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ कोई हो ही कैसे सकता है (गीता ११।४३)। असंख्य ब्रह्माजी उत्पन्न हो-होकर लीन हो गये, पर परमात्मा वैसे-के-वैसे ही हैं।**

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

उसीको अव्यक्त और अक्षर—ऐसा कहा गया है तथा उसीको परम गति कहा गया है और जिसको प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।

व्याख्या— **वास्तवमें परमात्मतत्त्व वर्णनातीत है। अव्यक्त, अक्षर, परमगति आदि नाम उस तत्त्वका संकेतमात्र करते हैं; क्योंकि वह अव्यक्त-व्यक्त, अक्षर-क्षर, गति-स्थिति आदिसे रहित निरपेक्ष तत्त्व है। उसे प्राप्त होनेपर जीव लौटकर संसारमें नहीं आता। कारण कि जीव उस परमात्मतत्त्वका सनातन अंश होनेसे उससे अलग नहीं है। संसारमें तो वह भूलसे अपनेको स्थित मानता है। वास्तवमें शरीर ही संसारमें स्थित है, स्वयं नहीं।**

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

हे पृथानन्दन अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जिसके अन्तर्गत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा तो अनन्यभक्तिसे प्राप्त होनेयोग्य है।

व्याख्या— **ज्ञानमार्गमें तो ज्ञानी पुरुष संसारसे छूट जाता है, मुक्त हो जाता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। परन्तु भक्तिमार्गमें संसारसे मुक्त होनेके साथ-साथ भक्तको भगवान्‌की तथा उनके प्रेमकी भी प्राप्ति हो जाती है। अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं और भक्तियोग साध्य है।**

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

परन्तु हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! जिस काल अर्थात् मार्गमें शरीर छोड़कर गये हुए योगी अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते और जिस मार्गमें गये हुए आवृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको मैं कहूँगा।

व्याख्या— **जैसे किसी स्थानपर हमारी कोई वस्तु (कपड़ा, थैला, रुपये आदि) छूट जाती है तो उसे लेनेके लिये हम वापिस उस स्थानपर जाते हैं, ऐसे ही संसारमें किसी वस्तु-व्यक्तिमें मनुष्यकी आसक्ति रहती है तो उसे पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है। तात्पर्य है कि परिवर्तनशील शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे पीछे लौटकर आना पड़ता है और शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध न रखनेसे पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।**

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

जिस मार्गमें प्रकाशस्वरूप अग्निका अधिपति देवता, दिनका अधिपति देवता, शुक्लपक्षका अधिपति देवता और छः महीनोंवाले उत्तरायणका अधिपति देवता है, उस मार्गसे शरीर छोड़कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष (पहले ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पीछे ब्रह्माके साथ) ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— **पहले साधनावस्थामें जिनके भीतर ब्रह्मलोककी वासना अथवा अपने मतका आग्रह रहा है, वे क्रममुक्तिसे पहले ब्रह्मलोकमें जाते हैं और फिर महाप्रलय आनेपर ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं।**

क्रममुक्तिमें ब्रह्मलोक मार्गमें आनेवाले एक स्टेशनकी तरह है, जहाँ भोगोंकी वासनावाले मनुष्य उतरते हैं। परन्तु जिनमें भोगोंकी वासना नहीं है, वे वहाँ नहीं उतरते। हमारा कोई प्रयोजन न हो तो मार्गमें स्टेशन आये या जंगल, क्या फर्क पड़ता है!

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

जिस मार्गमें धूमका अधिपति देवता, रात्रिका अधिपति देवता, कृष्णपक्षका अधिपति देवता और छः महीनोंवाले दक्षिणायनका अधिपति देवता है, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गया हुआ योगी (सकाम मनुष्य) चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर लौट आता है अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

क्योंकि शुक्ल और कृष्ण—ये दोनों गतियाँ अनादिकालसे जगत् (प्राणिमात्र)-के साथ सम्बन्ध रखनेवाली मानी गयी हैं। इनमेंसे एक गतिमें जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गतिमें जानेवालेको पुनः लौटना पड़ता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

हे पृथानन्दन! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता। अत: हे अर्जुन! तू सब समयमें योगयुक्त (समतामें स्थित) हो जा।

व्याख्या— **सकाम (भोग तथा संग्रहकी कामनावाला) मनुष्य ही मोहित होता अर्थात् जन्म-मरणमें जाता है। शुक्ल और कृष्णमार्गको जाननेवाला मनुष्य निष्काम (योगी) हो जाता है, इसलिये वह जन्म-मरणमें नहीं जाता अर्थात् कृष्णमार्गको प्राप्त नहीं होता।**

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

योगी (भक्त) इसको (इस अध्यायमें वर्णित विषयको) जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदि-स्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**पूर्वश्लोकमें शुक्ल और कृष्ण—दोनों गतियोंका उपसंहार करके अब भगवान् यहाँ पूरे अध्यायका उपसंहार करते हैं। वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान आदि जितने भी पुण्यकर्म हैं, उनका अधिक-से-अधिक फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति होना है, जहाँसे पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है, परन्तु भगवान्‌का आश्रय लेनेवाला भक्त उस ब्रह्मलोकका भी अतिक्रमण करके परमधामको प्राप्त हो जाता है, जहाँसे पुनः लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ नवमोऽध्यायः

नवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—यह अत्यन्त गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान दोषदृष्टि-रहित तेरे लिये तो मैं फिर अच्छी तरहसे कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभसे अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।

व्याख्या—**कर्मयोग (निष्काम भाव) 'गुह्य' है, ज्ञानयोग (आत्मज्ञान) 'गुह्यतर' है और भक्तियोग (परमात्मज्ञान) 'गुह्यतम' है।**

अपने स्वरूपको जानना 'ज्ञान' है और समग्र भगवान्‌को जानना 'विज्ञान' है। समग्र सगुण ही हो सकता है; क्योंकि निर्गुणके अन्तर्गत तो सगुण नहीं आ सकता, पर सगुणके अन्तर्गत निर्गुण भी आ जाता है।

सातवें अध्यायसे भगवान् विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन कर रहे थे, पर बीचमें अर्जुनके द्वारा सात प्रश्न कर दिये जानेसे भगवान्‌ने आठवें अध्यायमें उनका विस्तारसे उत्तर दिया। अब भगवान् अपनी ओरसे पुनः उस विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन आरम्भ करते हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

यह (विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् समग्ररूप) सम्पूर्ण विद्याओंका राजा और सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा है। यह अति पवित्र तथा अति श्रेष्ठ है और इसका फल भी प्रत्यक्ष है। यह धर्ममय है, अविनाशी है और करनेमें बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है।

व्याख्या—**यह विज्ञानसहित ज्ञान करनेमें बहुत सुगम है; क्योंकि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसे स्वीकारमात्र करना है। इसमें कोई परिश्रम अथवा अभ्यास नहीं है।**

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

हे परन्तप! इस धर्मकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझे प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसारके मार्गमें लौटते रहते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं।

व्याख्या—पूर्वश्लोकमें कथित विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाते, प्रत्युत नाशवान् शरीर-संसारको महत्त्व देकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। ऐसे अश्रद्धालु मनुष्य स्वतःप्राप्त अमरताका मार्ग छोड़कर मृत्युके मार्गपर चलते रहते हैं, जिसमें केवल मृत्यु-ही-मृत्यु है। मनुष्यशरीरमें भगवत्प्राप्तिका बहुत श्रेष्ठ अवसर था, पर वे उस मार्गको पकड़ लेते हैं, जिस मार्गसे कभी भगवत्प्राप्ति न हो सके। उनकी ऐसी दशाको देखकर भगवान् मानो दुःखके साथ कहते हैं—'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं; परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग (सामर्थ्य)-को देख। सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला और प्राणियोंका धारण, भरण-पोषण करनेवाला मेरा स्वरूप उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है।

व्याख्या— बर्फमें जलकी तरह संसारमें सत्ता ('है')-रूपसे एक सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। उस अविभक्त सत्तामें मैं, तू, यह तथा वह—ये चार विभाग नहीं हैं।

जबतक साधकमें यह भाव है कि परमात्मा और संसार दो हैं, तबतक उसको यह समझना चाहिये कि परमात्मामें संसार है, संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु जब दोका भाव न हो, तब न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं। संसारको स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है। जबतक अहंता, ममता और कामना है, तबतक (साधककी दृष्टिमें) परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु अहंता, ममता और कामना मिटनेपर (सिद्धकी दृष्टिमें) न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं— 'वासुदेवः सर्वम्'।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

जैसे सब जगह विचरनेवाली महान् वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मुझमें ही स्थित रहते हैं—ऐसा तुम मान लो।

व्याख्या—जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है तथा आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् आकाशको छोड़कर वायुकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी भगवान्से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान्में ही स्थित रहते हैं तथा भगवान्में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् भगवान्को छोड़कर प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

हे कुन्तीनन्दन! कल्पोंका क्षय होनेपर (महाप्रलयके समय) सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पोंके आदिमें (महासर्गके समय)मैं फिर उनकी रचना करता हूँ।

व्याख्या—**पूर्वोक्त श्लोकमें वर्णित स्थिति न होनेपर मनुष्यकी क्या दशा होती है—इसे भगवान् इस श्लोकमें बताते हैं। महाप्रलयके समय प्रकृतिके परवश हुए सम्पूर्ण प्राणी अपने-अपने कर्मोंको लेकर भगवान्‌की प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। प्रकृतिमें लीन हुए उन प्राणियोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब भगवान्‌में** 'बहु स्यां प्रजायेय' **'मैं अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाऊँ'(छान्दोग्य० ६। २। ३)—ऐसा संकल्प हो जाता है और महासर्गका आरम्भ हो जाता है। महासर्गके आदिमें भगवान् उन प्राणियोंके परिपक्व कर्मोंका फल देकर उन्हें शुद्ध करनेके लिये उनके शरीरोंकी रचना करते हैं।**

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

प्रकृतिके वशमें होनेसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायको (कल्पोंके आदिमें) मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके बार-बार रचना करता हूँ।

व्याख्या— **प्रकृति परमात्माकी एक अनिर्वचनीय अलौकिक विलक्षण शक्ति है। ऐसी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके ही भगवान् सृष्टिकी रचना करते हैं। कारण कि सृष्टिमें जो परिवर्तन, उत्पत्ति-विनाश, आदि-अन्त होता है, वह सब प्रकृतिमें ही होता है, भगवान्में नहीं। इसलिये भगवान् क्रियाशील प्रकृतिको लेकर ही सृष्टिकी रचना करते हैं। इसमें भगवान्की कोई असमर्थता, पराधीनता, कमजोरी आदि नहीं है। भगवान्का प्रकृतिपर आधिपत्य होनेपर भी उनमें लिप्तता, कर्तृत्व आदि नहीं होते।**

भगवान् उन्हीं प्राणियोंकी रचना करते हैं, जो प्रकृतिके परवश हैं अर्थात् जिन्होंने प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

हे धनंजय! उन (सृष्टि-रचना आदि) कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बाँधते।

व्याख्या—**कर्मासक्ति, फलासक्ति और कर्तृत्वाभिमानके कारण मनुष्य कर्मोंसे बँध जाता है। परन्तु भगवान्‌में न तो कर्मासक्ति है, न फलासक्ति है और न कर्तृत्वाभिमान ही है, इसलिये वे सृष्टि-रचना आदि कर्मोंसे नहीं बँधते।**

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है। हे कुन्तीनन्दन! इसी हेतुसे जगत्‌का (विविध प्रकारसे) परिवर्तन होता है।

व्याख्या—**भगवान्‌से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है। तात्पर्य है कि सब क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, भगवान्‌में नहीं। प्रकृतिमें कितना ही परिवर्तन हो जाय, परमात्मा वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। इसी प्रकार भगवान्‌का अंश जीव भी सदा निर्लिप्त, असंग रहता है। प्रकृति तो परमात्माके अधीन रहकर सृष्टिकी रचना करती है, पर जीव प्रकृतिके अधीन होकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमता है। तात्पर्य है कि परमात्मा तो स्वतन्त्र हैं, पर उनका अंश जीवात्मा सुखकी इच्छासे परतन्त्र हो जाता है।**

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मूर्खलोग मेरे सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप श्रेष्ठभावको न जानते हुए मुझे मनुष्यशरीरके आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं।

व्याख्या— **भगवान्‌से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है। वे सर्वोपरि हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य उन्हें स्वरूपसे नहीं जानते। वे अलौकिक भगवान्‌को भी अपनी तरह लौकिक मानकर उनकी अवहेलना करते हैं और नाशवान् शरीर-संसारकी ही सत्ता मानकर भोग तथा संग्रहमें लगे रहते हैं।**

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

जो आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका ही आश्रय लेते हैं, ऐसे अविवेकी मनुष्योंकी सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं, सब शुभकर्म व्यर्थ होते हैं और सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् उनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान (समझ) सत्-फल देनेवाले नहीं होते।

व्याख्या—जो मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें लगे रहते हैं, दूसरोंके दुःखकी परवाह नहीं करते, वे 'आसुरी' स्वभाववाले होते हैं। जो स्वार्थसिद्धिमें बाधा लगनेपर क्रोधवश दूसरोंका नाश कर देते हैं, वे 'राक्षसी' स्वभाववाले होते हैं। जो बिना किसी कारणके दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हैं, वे 'मोहिनी' स्वभाववाले होते हैं। आसुरी, राक्षसी और मोहिनी—तीनों ही स्वभाववाले मनुष्य आसुरी सम्पत्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं, जो चौरासी लाख योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति करानेवाली है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

परन्तु हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्यमनवाले महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।

व्याख्या— जो जिसके महत्त्वको जितना अधिक जानता है, वह उतना ही उसमें लग जाता है। जिन्होंने भगवान्‌को ही सर्वोपरि मान लिया है, वे दैवी स्वभाववाले महात्मा पुरुष भगवान्‌में ही लग जाते हैं। भोग तथा संग्रहकी तरफ उनकी वृत्ति कभी जाती ही नहीं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर लगनपूर्वक साधनमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए निरन्तर मेरी उपासना करते हैं।

व्याख्या— **भक्त जो कुछ कहता है, वह सब भगवान्‌का ही कीर्तन होता है। वह जो कुछ क्रिया करता है, वह सब भगवान्‌की ही सेवा होती है। उसकी सम्पूर्ण लौकिक और पारमार्थिक क्रियाएँ केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं।**

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

दूसरे साधक ज्ञानयज्ञके द्वारा एकीभावसे (अभेदभावसे) मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे भी कई साधक (अपनेको) पृथक् मानकर चारों तरफ मुखवाले मेरे विराट्-रूपकी अर्थात् संसारको मेरा विराट्रूप मानकर सेव्य-सेवक भावसे मेरी अनेक प्रकारसे उपासना करते हैं।

व्याख्या— **साधकोंकी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वास अलग-अलग होनेके कारण उनके साधन भी अलग-अलग होते हैं। अलग-अलग साधनोंसे वे जिसकी भी उपासना करते हैं, वह भगवान्‌के समग्ररूपकी ही उपासना होती है। आगे सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक इसी समग्ररूपका वर्णन हुआ है।**

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं हूँ। जाननेयोग्य पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्का पिता, धाता, माता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान (भण्डार) तथा अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— **उपर्युक्त श्लोकोंको देखते हुए साधक यह बात दृढ़तासे स्वीकार कर ले कि कार्य-कारणरूपसे स्थूल-सूक्ष्मरूप जो कुछ देखने, सुनने, समझने और माननेमें**

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

हे अर्जुन! (संसारके हितके लिये) मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, मैं ही जलको ग्रहण करता हूँ और (फिर उस जलको मैं ही) वर्षारूपसे बरसा देता हूँ। (और तो क्या कहूँ) अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— जो देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, सोचा जाता है, वह सब-का-सब असत् (अपरा प्रकृति) है। परन्तु जो देखता, सुनता, पढ़ता, सोचता, जानता, मानता है, वह सत् (परा प्रकृति) है। भगवान् कहते हैं कि सत् भी मैं हूँ और असत् भी मैं हूँ।

जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेले आदिका साग भी होता है अर्थात् मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी। ऐसे ही अमृत भी भगवान् हैं और मृत्यु भी। सूर्यरूपसे जलको ग्रहण करना और फिर उसे बरसा देना— ये दोनों विपरीत कार्य (ग्रहण और त्याग) भी भगवान् ही करते हैं।

'सदसच्चाहम्' (सत् और असत् भी मैं ही हूँ)— इसमें विवेक नहीं है, प्रत्युत विश्वास है। विश्वास विवेकसे भी तेज होता है कारण कि विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत्—दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? विवेकमें तो सत्-असत्‌का विभाग है, पर विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्-ही-सत् अर्थात् भगवान्-ही-भगवान् हैं।

ज्ञानमार्गमें सत्-असत्‌का विवेक मुख्य होनेसे इसमें 'द्वैत' है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही विश्वास मुख्य होनेसे इसमें 'अद्वैत' है। तात्पर्य है कि दो सत्ता न होनेसे वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्‌का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्‌की सत्ताका भाव बहुत समयतक बना रह सकता है। साधक असत्‌के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतना ही असत्‌की सत्ताका भाव दृढ़ होता है। अतः असत्‌का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा भी 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह भाव और भी बढ़िया है। अतः भक्त न असत्‌को हटाता है, न असत्‌की उपेक्षा करता है, प्रत्युत सत्-असत् सबमें भगवान्‌को ही देखता है।

अपनेसहित इस संसारमें जो कुछ दीखता है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और इसमें जो क्रिया दीख रही है, वह भगवान्‌की लीला है। भगवान् और उनकी लीलाके सिवाय कुछ नहीं है। कोई जन्म गया, कोई मर गया, किसीका विवाह हो गया, किसीकी सन्तान हो गयी, कोई बीमार हो गया, कोई नीरोग हो गया, किसीका आदर हो गया, किसीका निरादर हो गया, किसीको नफा हो गया, किसीको घाटा लग गया, कोई धनवान् हो गया, कोई निर्धन हो गया—यह सब-की-सब भगवान्‌की लीला है। सर्ग-प्रलय भी उनकी लीला है और महासर्ग-महाप्रलय भी उनकी लीला है। वे कभी सत्ययुगकी लीला करते हैं, कभी त्रेतायुगकी लीला करते हैं, कभी द्वापरयुगकी लीला करते हैं और कभी कलियुगकी लीला करते हैं। इस प्रकार भगवान् और उनकी लीलाको देख-देखकर साधकको सदा आनन्दित रहना चाहिये।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानको करनेवाले और सोमरसको पीनेवाले जो पापरहित मनुष्य यज्ञोंके द्वारा (इन्द्ररूपसे) मेरा पूजन करके स्वर्गप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं, वे (पुण्योंके फलस्वरूप) पवित्र इन्द्रलोकको प्राप्त करके वहाँ स्वर्गके देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं।

व्याख्या— **यहाँ ऐसे मनुष्योंका वर्णन है, जिनके भीतर संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई है और जो भगवान्‌की अविधिपूर्वक उपासना करते हैं (गीता ९। २३)। ऐसे मनुष्योंकी उपासनाका फल नाशवान् ही होता है (गीता ७। २३)।**

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मका आश्रय लिये हुए भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—**सकाम अनुष्ठान करनेवाले मनुष्यके जब स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं, तब वे स्वर्गमें चले जाते हैं। स्वर्गका सुख भोगते-भोगते जब उनके स्वर्गके प्रापक पुण्य नष्ट हो जाते हैं, तब वे पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार कामनाके कारण मनुष्य आवागमनको प्राप्त होता रहता है, संसार-चक्रमें घूमता रहता है।**

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भलीभाँति उपासना करते हैं, मुझमें निरन्तर लगे हुए उन भक्तोंका योगक्षेम (अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा) मैं वहन करता हूँ।

व्याख्या—भगवान्‌के अनन्यभक्त न तो पूर्वश्लोकमें वर्णित इन्द्रको मानते हैं और न अगले श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंको मानते हैं। इन्द्रादिकी उपासना करनेवालोंको तो नाशवान् फल मिलता है, पर भगवान्‌की उपासना करनेवालोंको अविनाशी फल मिलता है। देवताओंका उपासक तो नौकरकी तरह है और भगवान्‌का उपासक घरके सदस्यकी तरह है। नौकर काम करता है तो उसे कामके अनुसार सीमित पैसे मिलते हैं, पर घरका सदस्य काम करे अथवा न करे, सब कुछ उसीका होता है। बालक क्या काम करता है?

भगवान् भक्तको उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्री प्राप्त कराते हैं और प्राप्त सामग्रीकी रक्षा करते हैं—यही भगवान्‌का योगक्षेम वहन करना है। यद्यपि भगवान् सभी साधकोंका योगक्षेम वहन करते हैं, तथापि अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम वे विशेषरूपसे वहन करते हैं; जैसे—प्यारे बच्चेका पालन माँ स्वयं करती है, नौकरोंसे नहीं करवाती।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

हे कुन्तीनन्दन! जो भी भक्त (मनुष्य) श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, पर करते हैं अविधिपूर्वक अर्थात् देवताओंको मुझसे अलग मानते हैं।

व्याख्या—'त्रैविद्या माम्' (९।२०), 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९। २२) और 'तेऽपि मामेव' (९। २३)—तीनों जगह भगवान्‌के द्वारा 'माम्' पद देनेका तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ, सब मेरा ही स्वरूप हैं। यदि साधकमें कामना न हो और सबमें भगवद्‌बुद्धि हो तो वह किसीकी भी उपासना करे, वह वास्तवमें भगवान्‌की ही उपासना होगी। तात्पर्य है कि यदि निष्कामभाव और भगवद्‌बुद्धि हो जाय तो उसका पूजन अविधिपूर्वक नहीं रहेगा, प्रत्युत वह भगवान्‌का ही पूजन हो जायगा।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे उनका पतन होता है।

व्याख्या—**जब मनुष्य अपनेको भोगोंका भोक्ता और संग्रहका स्वामी मानकर उनका दास बन जाता है और भगवान्‌से सर्वथा विमुख हो जाता है, तब उसे यह बात याद ही नहीं रहती कि सबके भोक्ता और स्वामी भगवान् हैं। इस कारण उसका पतन हो जाता है। परन्तु जब उसे चेत हो जाता है कि वास्तवमें सम्पूर्ण भोगों और संग्रहोंके स्वामी भगवान् ही हैं, तब वह भगवान्‌के शरणागत हो जाता है। फिर उसका पतन नहीं होता।**

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

(सकामभावसे) देवताओंका पूजन करनेवाले (शरीर छोड़नेपर) देवताओंको प्राप्त होते हैं। पितरोंका पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं। भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं। परन्तु मेरा पूजन करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—**वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही रूप है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता। वह ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय तो भी उसे लौटकर संसारमें आना ही पड़ता है।**

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथासाध्य एवं अनायास प्राप्त वस्तु)-को प्रेमपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मुझमें तल्लीन हुए अन्तःकरणवाले भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहार (भेंट)-को मैं खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ।

व्याख्या—देवताओंकी उपासनामें तो अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है; परन्तु भगवान्‌की उपासनामें कोई नियम नहीं है। भगवान्‌की उपासनामें प्रेमकी, अपनेपनकी प्रधानता है, विधिकी नहीं। भगवान् भावग्राही हैं, क्रियाग्राही नहीं।

जैसे भोला बालक जो कुछ हाथमें आये, उसको मुँहमें डाल लेता है, ऐसे ही भोले भक्त भगवान्‌को जो भी अर्पण करते हैं, उसे भगवान् भी भोले बनकर खा लेते हैं। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११); जैसे—विदुरानीने केलेका छिलका दिया तो भगवान्‌ने उसे ही खा लिया!

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

व्याख्या—**ज्ञानयोगी तो संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है, पर भक्त एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता मानता ही नहीं। इसलिये ज्ञानयोगी पदार्थ तथा क्रियाका त्याग करता है, और भक्त पदार्थ तथा क्रियाको भगवान्‌के अर्पण करता है अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है। वास्तवमें भक्त अपने-आपको ही भगवान्‌के समर्पित कर देता है। स्वयं समर्पित होनेसे उसके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ भी स्वाभाविक भगवान्‌के समर्पित हो जाती हैं।**

पूर्वपक्ष—**यदि कोई निषिद्ध क्रिया करके उसे भगवान्‌के अर्पित कर दे तो?**

उत्तरपक्ष—**वही वस्तु या क्रिया भगवान्‌के अर्पित की जाती है, जो भगवान्‌के अनुकूल, उनके आज्ञानुसार होती है। जिस भक्तका भगवान्‌के प्रति अर्पण करनेका भाव है, उसके द्वारा न तो निषिद्ध क्रिया होगी और न निषिद्ध क्रिया अर्पित ही होगी। भगवान्‌को दिया हुआ अनन्त गुणा होकर मिलता है। यदि कोई निषिद्ध क्रिया भगवान्‌के अर्पित करेगा तो उसका फल भी दण्डरूपसे अनन्त गुणा होकर मिलेगा!**

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

इस प्रकार (मेरे अर्पण करनेसे) कर्मबन्धनसे और शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा। ऐसे अपने-सहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला और सबसे सर्वथा मुक्त हुआ तू मुझे प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— **'कर्म' भी शुभ-अशुभ होते हैं और 'फल' भी। दूसरोंके हितके लिये करना 'शुभ-कर्म' है और अपने लिये करना 'अशुभ-कर्म' है। अनुकूल परिस्थिति 'शुभ फल' है और प्रतिकूल परिस्थिति 'अशुभ फल' है। भगवान्‌का भक्त शुभकर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करता है, अशुभकर्म करता नहीं और शुभ-अशुभ फलसे अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी नहीं होता। उसके अनन्त जन्मोंके संचित शुभाशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं; जैसे—घासके ढेरमें जलता हुआ घासका टुकड़ा फेंकनेसे सब घास जल जाता है। भगवान्‌के अर्पण करनेसे संसारका सम्बन्ध (गुणसंग) नहीं रहता, प्रत्युत केवल भगवान्‌का सम्बन्ध रह जाता है, जो कि स्वतः पहलेसे ही है।**

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। (उन प्राणियोंमें) न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।

व्याख्या— मनुष्य भगवान्‌को अपनी वस्तुएँ तथा क्रियाएँ अर्पण करे अथवा न करे, भगवान्‌में कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे तो सदा समान ही रहते हैं। किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष, जातिविशेष, कर्मविशेष, सम्प्रदायविशेष, योग्यताविशेष आदिका भी भगवान्‌पर कोई असर नहीं पड़ता। अतः प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य उन्हें प्राप्त कर सकता है। भगवान् केवल आन्तरिक भावको ही ग्रहण करते हैं।

भगवान्‌की दृष्टिमें उनके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, फिर वे किससे द्वेष करें और किसमें राग करें? जीव ही राग-द्वेष करके संसारमें बँध जाता है और राग-द्वेषका त्याग करके मुक्त हो जाता है। इसलिये बन्धन और मुक्ति जीवकी ही होती है, भगवान्‌की नहीं। विषमता जीव करता है, भगवान् नहीं।

जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं, वे भगवान्‌में हैं और भगवान् उनमें हैं अर्थात् भगवान् उनमें विशेषरूपसे प्रकट हैं। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें जल सब जगह रहता है, पर कुएँमें विशेष प्रकट (आवरणरहित) होता है, ऐसे ही भगवान् संसारमात्रमें परिपूर्ण होते हुए भी भक्तोंमें विशेष प्रकट होते हैं। भक्त भगवान्‌से प्रेम करते हैं और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं (गीता ७। १७)। इसलिये भक्त भगवान्‌में हैं और भगवान् भक्तोंमें हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।

व्याख्या— **ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है, इसलिये उनमें पहले बुद्धिमें समता आती है—** 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' **(गीता २ । ३९)। बुद्धि स्थिर होनेसे मनुष्य 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है (गीता २ । ५४—६८)। ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धि व्यवसित (एक निश्चयवाली) होती है—**'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' **(गीता १८ । ५१),** 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह' **(२ । ४१),** 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः' **(२ । ४४)। बुद्धि व्यवसित होनेसे अहम्‌का सर्वथा नाश नहीं होता; क्योंकि अहम् बुद्धिसे परे है—**' भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं······ **(गीता ७ । ४)। अतः मुक्त होनेपर भी अहम्‌की सूक्ष्म गंध रह जाती है, जो बन्धनकारक तो नहीं होती, पर दार्शनिक मतभेद पैदा करनेवाली होती है। परन्तु भक्तियोगमें स्वयं (भगवान्‌के अंश)-की प्रधानता रहती है, इसलिये भक्त स्वयं व्यवसित होता है—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'**। स्वयं व्यवसित होनेसे अहम् सर्वथा नहीं रहता; क्योंकि स्वयं अहम्‌से परे है। मन-बुद्धिमें बैठी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, पर स्वयंमें बैठी हुई बातकी विस्मृति कभी नहीं हो सकती। स्वयंमें जो बात होती है, वह अखण्ड रहती है। इसलिये 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे अपने हैं'—यह स्वीकृति स्वयंमें होती है, मन-बुद्धिमें नहीं। कारण यह है कि मूलमें भगवान्‌का ही अंश होनेसे स्वयं भगवान्‌से अभिन्न है। भगवान्‌के सिवाय दूसरेके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही भूल है, मोह है, बन्धन है।**

जबतक मनुष्यको अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता दीखती है, तबतक वह 'अनन्यभाक्' नहीं होता। अनन्यभाक् तभी होता है, जब एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका आश्रय नहीं रहता।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

वह तत्काल (उसी क्षण) धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! मेरे भक्तका पतन नहीं होता—ऐसी तुम प्रतिज्ञा करो।

व्याख्या—**जब मनुष्य सांसारिक दुःखोंसे घबरा जाता है और उन्हें मिटानेमें अपनी निर्बलताका अनुभव करता है, पर साथ-ही-साथ उसमें यह विश्वास रहता है कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपासे मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है और मैं सांसारिक दुःखोंसे छूट सकता हूँ, तब वह तत्काल भक्त हो जाता है।**

भक्तका पतन नहीं होता; क्योंकि उसमें अपने बलका आश्रय नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌के ही बलका आश्रय होता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। इसलिये एक बार भक्त होनेके बाद फिर उसका पतन नहीं होता अर्थात् वह पुनः दुराचारी नहीं बनता।
क्योंकि भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् भी टाल नहीं सकते। भक्ति भगवान्‌की कमजोरी है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

हे पृथानन्दन! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—**पूर्वजन्मके पापीकी अपेक्षा भी वर्तमान जन्मका पापी विशेष दोषी होता है। इसलिये पहले वर्तमान जन्मके पापी (सुदुराचारी)-की बात कहकर अब इस श्लोकमें** 'पापयोनयः' **पदसे पूर्वजन्मके पापीकी बात कहते हैं।**

जिसमें दूसरेका आश्रय नहीं हो, ऐसे अनन्य आश्रयको यहाँ 'व्यपाश्रय' **अर्थात् विशेष आश्रय कहा गया है।**

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

जो पवित्र आचरण करनेवाले ब्राह्मण और ऋषि-स्वरूप क्षत्रिय भगवान्‌के भक्त हों, (वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ) इसमें तो कहना ही क्या है! इसलिये इस अनित्य और सुखरहित शरीरको प्राप्त करके तू मेरा भजन कर।

व्याख्या— **तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिके तथा भगवत्प्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी प्राणी नहीं है। तात्पर्य है कि मनुष्यका कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके तथा इस जन्मके कितने ही पाप हों, पर वे सब-के-सब भगवान् और उनकी भक्तिके अधिकारी हैं। कारण कि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्वतन्त्र है। भगवान्‌की ओरसे किसीके लिये भी मनाही नहीं है।**

अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। कारण कि संसारमें सुख है ही नहीं, केवल सुखका भ्रम है। ऐसे ही जीनेका भी भ्रम है। हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत प्रतिक्षण मर रहे हैं!

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार अपने-आपको मेरे साथ लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा।

व्याख्या—**इस श्लोकमें अहंता-परिवर्तनकी बात मुख्य है। भक्त 'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंताको बदलता है और स्वयंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ता है। इसलिये उसे संसारके सम्बन्धका त्याग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वतः छूट जाता है। कारण कि वर्ण, आश्रम, जाति, योग्यता, अधिकार, कर्म, गुण आदि सब आगन्तुक हैं, पर स्वयंके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है, प्रत्युत अनादि, नित्य और स्वतःसिद्ध है।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ दशमोऽध्यायः

दसवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो अर्जुन! मेरे परम वचनको तुम फिर भी सुनो, जिसे मैं मुझमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी कामनासे कहूँगा।

व्याख्या— **अर्जुन भगवान्‌में अत्यन्त प्रेम रखनेवाले (भक्त) हैं; अतः भगवान् उनके लिये भक्ति-सम्बन्धी परम वचन पुनः कहते हैं।**

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षि; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका आदि हूँ।

व्याख्या— **परमात्मा जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत मानने और अनुभव करनेका विषय हैं। उन्हें माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता। जैसे, अपने माता-पिताको हम मान ही सकते हैं, जान नहीं सकते; क्योंकि जन्म लेते समय हमने उन्हें देखा ही नहीं, देखना सम्भव ही नहीं, माताकी अपेक्षा भी पिताको जानना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि मातासे जन्म लेते समय तो हमारा शरीर बन चुका था, पर पितासे जन्म लेते समय हमारे शरीरकी सत्ता ही नहीं थी। भगवान् सम्पूर्ण संसारके पिता हैं—**'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः' **(गीता ९। १७),** 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' **(गीता ११। ४३),** 'अहं बीजप्रदः पिता' **(गीता १४। ४) इसलिये परमात्माको जानना सर्वथा असम्भव है। उन्हें माना ही जा सकता है।**

परमात्माको हम जान सकते ही नहीं और माने बिना रह सकते ही नहीं। जैसे, माता-पिताको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी (शरीरकी) सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। कार्य है तो उसका कारण भी है। ऐसे ही परमात्माको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी सत्ता (होनापन) मानते हैं तो परमात्माकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। कारणके बिना कार्य कहाँसे आया? परमात्माके बिना हम स्वयं कहाँसे आये? हमारी सत्ता परमात्माके होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे 'हम नहीं हैं'—इस तरह अपने होनेपनका कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता, ऐसे ही 'परमात्मा नहीं हैं'—इस तरह परमात्माके होनेपनका भी कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़तासे (सन्देह-रहित) स्वीकार कर लेता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् है और वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

व्याख्या—महर्षिगण भगवान्‌के आदिको तो नहीं जान सकते, पर वे भगवान्‌को अज-अनादि तो जानते ही हैं। भगवान्‌का अंश होनेसे जीव स्वयं भी अज-अनादि है। अतः वह जैसे भगवान्‌को अज-अनादि जानता है, वैसे ही अपनेको भी अज-अनादि जानता है। कारण कि जैसे संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें हम संसारसे अलग ही हैं, ऐसे ही भगवान्‌से अभिन्न होकर ही भगवान्‌को जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें हम भगवान्‌से अभिन्न ही हैं। अपनेको अज-अनादि जाननेपर जीव मूढ़तारहित हो जाता है, फिर उसमें पाप कैसे रहेंगे? क्योंकि पाप तो पीछे पैदा हुए हैं, अज-अनादि पहलेसे हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम तथा सुख, दु:ख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय और अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके अलग-अलग (बीस) भाव मुझसे ही होते हैं।

व्याख्या—ज्ञानकी दृष्टिसे तो सभी भाव प्रकृतिसे होते हैं, पर भक्तिकी दृष्टिसे सभी भाव भगवान्‌से तथा भगवत्स्वरूप होते हैं। अगर इन भावोंको जीवका मानें तो जीव भी भगवान्‌की ही परा प्रकृति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है। अतः ये भाव भगवान्‌के ही हुए। भगवान्‌में तो ये भाव निरन्तर रहते हैं पर जीवमें अपरा प्रकृतिके संगसे आते-जाते रहते हैं। भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सभी भाव भगवत्स्वरूप ही हैं।

जैसे हाथ एक ही होता है, पर उसमें अँगुलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, ऐसे ही भगवान् एक ही हैं, पर उनसे प्रकट होनेवाले भाव भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

सात महर्षि और उनसे भी पहले होनेवाले चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब-के-सब मेरे मनसे पैदा हुए हैं और मुझमें भाव (श्रद्धा-भक्ति) रखनेवाले हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है।

व्याख्या—**सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब भगवान्‌के मनसे प्रकट होनेके कारण भगवान्‌से अभिन्न अर्थात् भगवत्स्वरूप हैं।**

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

जो मनुष्य मेरी इस विभूतिको और योग (सामर्थ्य)-को तत्त्वसे जानता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक (सन्देहरहित) स्वीकार कर लेता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है; इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

व्याख्या—**संसारमें जो कुछ विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌का** 'योग' **(विलक्षण प्रभाव, सामर्थ्य) है। उस योगसे प्रकट होनेवाली विशेषता** 'विभूति' **है—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जान लेता है कि जो कुछ प्रभाव, महत्त्व दीखता है, वह सब भगवान्‌का ही है, तब उसकी भगवान्‌में ही दृढ़ भक्ति हो जाती है।**

एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं—ऐसा सन्देहरहित दृढ़तापूर्वक मान लेना ही वास्तवमें भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना है।

**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥**

मैं संसारमात्रका प्रभव (मूल कारण) हूँ और मुझसे सारा संसार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है—ऐसा मानकर मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं—सब प्रकारसे मेरे ही शरण होते हैं।

व्याख्या—**पदार्थ और व्यक्ति भी भगवान्‌से होते हैं** (अहं सर्वस्य प्रभवः) **और क्रियाएँ भी भगवान्‌से ही होती हैं** (मत्तः सर्वं प्रवर्तते)। **परन्तु जीव पदार्थों, व्यक्तियों और क्रियाओंसे सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उनका भोक्ता और कर्त्ता बनकर बन्धनमें पड़ जाता है। जो मनुष्य पदार्थों, व्यक्तियों और क्रियाओंसे सम्बन्ध न जोड़कर भगवान्‌के महत्त्व (प्रभाव)-को मान लेते हैं, वे संसारमें न फँसकर भगवान्‌के ही भजनमें लग जाते हैं।**

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मुझमें चित्तवाले तथा मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन) आपसमें (मेरे गुण, प्रभाव आदिको) जनाते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मुझमें ही प्रेम करते हैं।

व्याख्या—भक्तोंका चित्त भगवान्‌को छोड़कर कहीं जाता ही नहीं। उनकी दृष्टिमें जब एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं तो फिर उनका चित्त कहाँ जाय, कैसे जाय और क्यों जाय? वे भगवान्‌के लिये ही जीते हैं। उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होती हैं। कोई सुननेवाला आ जाय तो वे भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिकी विलक्षण बातोंका ज्ञान कराते हैं, भगवान्‌की लीला-कथाका वर्णन करते हैं, और कोई सुनानेवाला आ जाय तो प्रेमपूर्वक सुनते हैं। न तो कहनेवाला तृप्त होता है, न सुननेवाला। तृप्ति नहीं होती—यह वियोग है और नित्य नया रस मिलता है—यह योग है। इस वियोग और योगके कारण प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या— **भगवन्निष्ठ भक्त भगवान्‌को छोड़कर न तो समता चाहते हैं, न तत्त्वज्ञान चाहते हैं, न मोक्ष चाहते हैं तथा न और ही कुछ चाहते हैं। उनका तो एक ही काम है—नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे रहना। इसलिये उन भक्तोंकी सारी जिम्मेदारी भगवान्‌पर आ जाती है। उन भक्तोंमें कोई कमी न रह जाय, इस दृष्टिसे भगवान् अपनी तरफसे उनको समता (कर्मयोग) और तत्त्वज्ञान (ज्ञानयोग)—दोनों दे देते हैं (गीता १०। ११)।**

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

व्याख्या—**यद्यपि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है, तथापि भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग भी दे देते हैं—**'ददामि बुद्धियोगं तम्' **और ज्ञानयोग भी दे देते हैं—**'ज्ञानदीपेन भास्वता'**। अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं। इसलिये भगवान् कृपा करके अपने भक्तको अपराकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मयोग और पराकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञानयोग—दोनों प्रदान करते हैं। अतः भक्तको कर्मयोगका प्रापणीय तत्त्व 'निष्काम भाव' और ज्ञानयोगका प्रापणीय तत्त्व 'स्वरूपबोध'—दोनों ही सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग प्राप्त होनेपर भक्तके द्वारा संसारका उपकार होता है और ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर भक्तका देहाभिमान दूर हो जाता है।**

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—परम ब्रह्म, परम धाम और महान् पवित्र आप ही हैं। आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापक हैं—ऐसा आपको सब-के-सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।

व्याख्या— **निर्गुण-निराकारके लिये** 'परं ब्रह्म', **सगुण-निराकारके लिये** 'परं धाम' **और सगुण-साकारके लिये** 'पवित्रं परमं भवान्' **पदोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि समग्र परमात्मा आप ही हैं।**

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४॥

हे केशव! मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।

व्याख्या— भगवान्‌को अपनी शक्तिसे कोई नहीं जान सकता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही जान सकता है। भगवान्‌के यहाँ बुद्धिके चमत्कार अथवा विविध प्रकारकी सिद्धियाँ नहीं चल सकतीं। बड़े-से-बड़े भौतिक आविष्कारसे कोई भगवान्‌को नहीं जान सकता। देवताओंकी दिव्यशक्ति तथा दानवोंकी मायाशक्ति कितनी ही विलक्षण होनेपर भी भगवान्‌के सामने कुण्ठित हो जाती है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

[1546] गी० प्र० १०

हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।

व्याख्या—**आप स्वयं ही स्वयंके ज्ञाता हैं—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि जाननेवाले भी आप ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी आप ही हैं और जानना भी आप ही हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। जब आपके सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर कौन किसको जाने? और क्या जाने?**

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

इसलिये जिन विभूतियोंसे आप इन सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोंका सम्पूर्णतासे वर्णन करनेमें आप ही समर्थ हैं।

व्याख्या—**अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं, इसलिये अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका वर्णन आप ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। अतः आप अपनी विलक्षण विभूतियोंको विस्तारपूर्वक सम्पूर्णतासे कहिये, जिससे मेरी आपमें अविचल भक्ति हो जाय।**

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

हे योगिन्! निरन्तर सांगोपांग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ? और हे भगवन्! किन-किन भावोंमें आप मेरे द्वारा चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ?

व्याख्या— **अर्जुनने यह प्रश्न सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया है कि मैं आपके समग्ररूपको कैसे जानूँ? किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इससे सिद्ध होता है कि विभूतियाँ गौण नहीं हैं, प्रत्युत भगवत्प्राप्तिका माध्यम होनेसे मुख्य हैं। विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। जबतक मनुष्य भगवान्‌को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्‌को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, सिद्धकी दृष्टिमें नहीं।**

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे जनार्दन! आप अपने योग (सामर्थ्य)-को और विभूतियोंको विस्तारसे फिर कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है।

व्याख्या— जैसे भूखेको अन्न और प्यासेको जल प्रिय लगता है, ऐसे ही भक्त अर्जुनको भगवान्‌के वचन बहुत प्रिय और विलक्षण लग रहे हैं। वे ज्यों-ज्यों भगवान्‌के वचन सुनते हैं, त्यों-ही-त्यों उनका भगवान्‌के प्रति विशेष भाव प्रकट होता जाता है। कानोंके द्वारा उन अमृतमय वचनोंको सुनते हुए न तो उन वचनोंका अन्त आता है और न उनको सुनते हुए तृप्ति ही होती है!

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान् बोले—हाँ, ठीक है। मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको तेरे लिये प्रधानतासे (संक्षेपसे) कहूँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है।

व्याख्या—भगवान् अनन्त हैं; अतः उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस कारण भगवान्‌की सम्पूर्ण विभूतियोंको न तो कोई कह सकता है और न सुन ही सकता है। अगर कोई कह-सुन ले तो फिर वे अनन्त कैसे रहेंगी? इसलिये भगवान् यहाँ और अध्यायके अन्तमें भी कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है (गीता १०। ४०)।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ और सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्त:करण (हृदय)-में स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— **सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भगवान् ही हैं—इसका तात्पर्य यह है कि एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और आत्मा उनकी विभूति है। आत्मा भगवान्‌की परा प्रकृति है और अन्त:करण अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४-५)। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं।**

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

मैं अदितिके पुत्रोंमें विष्णु (वामन) और प्रकाशमान वस्तुओंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ। मैं मरुतोंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और प्राणियोंकी चेतना हूँ।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

रुद्रोंमें शंकर और यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ। वसुओंमें पवित्र करनेवाली अग्नि और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु मैं हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझो। सेनापतियोंमें कार्तिकेय और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

महर्षियोंमें भृगु और वाणियों (शब्दों)-में एक अक्षर अर्थात् प्रणव मैं हूँ। सम्पूर्ण यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

घोड़ोंमें अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथीको और मनुष्योंमें राजाको मेरी विभूति मानो।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः। २८।

आयुधोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ। सन्तान-उत्पत्तिका हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

नागोंमें अनन्त (शेषनाग) और जल-जन्तुओंका अधिपति वरुण मैं हूँ। पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालों (ज्योतिषियों)-में काल मैं हूँ तथा पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ। जल-जन्तुओंमें मगर मैं हूँ और नदियोंमें गंगाजी मैं हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका (तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला) वाद मैं हूँ।

व्याख्या—**इसी अध्यायके बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने** 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' **कहकर व्यष्टिरूपसे अपनी विभूति बतायी थी, अब यहाँ** 'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन' **कहकर समष्टिरूपसे अपनी विभूति बताते हैं। तात्पर्य है कि व्यष्टि अथवा समष्टिरूपसे जो कुछ दीखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें आता है, वह सब एक भगवान् ही हैं।**

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास मैं हूँ। अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला धाता (सबका पालन-पोषण करनेवाला भी) मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

सबका हरण करनेवाली मृत्यु और भविष्यमें उत्पन्न होनेवाला मैं हूँ तथा स्त्री-जातिमें कीर्ति, श्री, वाक् (वाणी), स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

गायी जानेवाली श्रुतियोंमें बृहत्साम और सब छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ। बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छः ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

छल करनेवालोंमें जूआ और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ। (जीतनेवालोंकी) विजय मैं हूँ। (निश्चय करनेवालोंका) निश्चय और सात्त्विक मनुष्योंका सात्त्विक भाव मैं हूँ।

व्याख्या— पूर्वपक्ष— **भगवान्‌ने जूएको अपनी विभूति बताया है, फिर जूआ खेलनेमें क्या दोष है? यदि दोष नहीं है तो शास्त्रोंने इसका निषेध क्यों किया है?**

उत्तरपक्ष— **यदि किसी ग्रंथके किसी अंशपर शंका उत्पन्न हो तो उस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक अध्ययन करके उसमें वक्ताके उद्देश्य, लक्ष्य और आशयको समझनेसे उस शंकाकी निवृत्ति हो जाती है। यहाँ शास्त्रोंके विधि-निषेधका प्रसंग नहीं चल रहा है, प्रत्युत भगवान्‌की विभूतियोंका प्रसंग चल रहा है। 'मैं आपका चिन्तन कहाँ-कहाँ करूँ'—अर्जुनके इस प्रश्नके अनुसार भगवान् अपनी विभूतियोंके रूपमें अपने चिन्तनकी बात ही बता रहे हैं। भगवान्‌ने तो सिंहको तथा मृत्युको भी अपनी विभूति बताया है (१०। ३०,३४)। इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि मनुष्य इनका सेवन करे!**

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णिवंशियोंमें वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण और पाण्डवोंमें अर्जुन मैं हूँ। मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें कवि शुक्राचार्य भी मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दमन करनेवालोंमें दण्डनीति और विजय चाहनेवालोंमें नीति मैं हूँ। गोपनीय भावोंमें मौन मैं हूँ और ज्ञानवानोंमें ज्ञान मैं ही हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

और हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज (मूल कारण) है, वह बीज भी मैं ही हूँ; क्योंकि वह चर-अचर कोई प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।

व्याख्या— संसारमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, उसको संसारकी माननेसे मनुष्य उसमें फँस जाता है, जिससे उसका पतन हो जाता है। इसलिये भगवान् यहाँ बहुत ही सरल साधन बताते हैं कि तुम्हारा मन जहाँ-कहीं और जिस-किसी विशेषताको देखकर आकृष्ट होता हो, वहाँ उस विशेषताको तुम मेरी ही समझो कि यह विशेषता भगवान्‌की है और भगवान्‌से ही आयी है। यह विशेषता इस परिवर्तनशील, जड़, नाशवान् संसारकी नहीं है। ऐसा समझनेसे तुम्हारा आकर्षण उस वस्तु-व्यक्तिमें न होकर मेरेमें ही होगा, जिससे तुम्हारा मुझमें प्रेम हो जायगा।

चौरासी लाख योनियाँ तथा उनके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, पूतना, बालग्रह आदि जितनी भी योनियाँ हैं, उन सबके मूल कारण भगवान् हैं। तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर उन सबका बीज एक ही है। लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती पैदा होती है; जैसे— गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है, अन्य अनाज नहीं। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्-रूपी बीज इतना विलक्षण है कि उस एक ही बीजसे अनन्त ब्रह्माण्डके अनन्त जीव पैदा हो जाते हैं। सब प्रकारके जीव पैदा होनेपर भी उसमें कभी कोई विकृति नहीं आती, वह ज्यों-का-त्यों रहता है; क्योंकि वह बीज अव्यय और सनातन है (गीता ७। १०, ९। १८)।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

हे परन्तप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। मैंने (तुम्हारे सामने अपनी) विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, यह तो केवल संक्षेपसे नाममात्र कहा है।

व्याख्या—**सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्‌का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्‌की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है। तात्पर्य है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। परिवर्तनशील असत् और अपरिवर्तनशील सत्—दोनों ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन' **(गीता ९। १९)। अतः जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्‌का ही आकर्षण है। परन्तु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्ति, मोहमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है।**

पूर्वपक्ष—**जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर विभूति-वर्णनका क्या प्रयोजन है?**

उत्तरपक्ष—**अर्जुनका प्रश्न ही यही था कि मैं कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करूँ? यद्यपि सब कुछ भगवान् ही हैं, तथापि मनुष्यको जिस वस्तु-व्यक्तिमें विशेषता दीखती है, उस वस्तु-व्यक्तिमें भगवान्‌को देखना, उनका चिन्तन करना सुगम पड़ता है। कारण कि मनमें उसकी विशेषता अंकित हो जानेसे मन स्वतः वहाँ जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन किया है। इस कारण साधकका कहीं भी राग-द्वेष न होकर भगवान्‌की तरफ ही दृष्टि रहनी चाहिये।**

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त प्राणी तथा पदार्थ है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग अर्थात् सामर्थ्य)-के अंशसे उत्पन्न हुआ समझो।

व्याख्या— संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध ही मनुष्यको बाँधनेवाला है। इसलिये पहले कही गयी विभूतियोंके सिवाय भी साधकको स्वतः जिस-जिसमें व्यक्तिगत आकर्षण दीखता हो, वहाँ-वहाँ वह भगवान्‌की ही विशेषता देखे। इससे वहाँ उसकी भोगबुद्धि न होकर भगवद्बुद्धि हो जायगी तो उसके अन्तःकरणमें भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और उनसे सम्बन्ध हो जायगा।

मनुष्यमें जो भी विशेषता आती है, वह सब भगवान्‌से ही आती है। अगर भगवान्‌में विशेषता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो वस्तु अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? जो विशेषता बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उन्हीं भगवान्‌की कवित्व-शक्ति कविमें आती है, उन्हींकी वक्तृत्व-शक्ति वक्तामें आती है; उन्हींकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उन्हींकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है। जिनसे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उनकी तरफ दृष्टि न जानेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले भगवान्‌की विशेषता है कि सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते, जिससे लेनेवालेको वह वस्तु अपनी ही मालूम देती है। मनुष्यसे यह बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उसको अपना नहीं मानता!

परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों, कलाओं, विद्याओं आदिके विलक्षण भण्डार हैं। शक्ति जड़ प्रकृतिमें नहीं रह सकती, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती है। जिस ज्ञानसे क्रिया हो रही है, वह ज्ञान जड़में कैसे रह सकता है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंके प्राकट्य और उपयोग (सृष्टि-रचना) आदि करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड़ होते हुए भी अनेक चमत्कारिक कार्य करता है, परन्तु चेतन (मनुष्य)-के द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वतःसिद्ध नहीं है, प्रत्युत कृत्रिम (बनाया हुआ) है; परन्तु परमात्मा स्वतःसिद्ध हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत-सी बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है, जबकि मैं अपने किसी एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंशमें हैं।

व्याख्या—**भगवान् अपनी तरफ दृष्टि कराते हैं कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें सब कुछ मैं ही तो हूँ! मेरी तरफ देखनेसे फिर कोई भी विभूति बाकी नहीं रहेगी। जब सम्पूर्ण विभूतियोंका आधार, आश्रय, प्रकाशक, बीज (मूल कारण) मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो फिर विभूतियोंका चिन्तन करनेकी क्या जरूरत?**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्याय: ॥ १० ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथैकादशोऽध्यायः

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—केवल मुझपर कृपा करनेके लिये आपने जो परमगोपनीय अध्यात्म-विषयक वचन कहे, उससे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनयन! सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति तथा विनाश मैंने विस्तारपूर्वक आपसे ही सुने हैं और आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

हे पुरुषोत्तम! आप अपने-आपको जैसा कहते हैं, यह (वास्तवमें) ऐसा ही है। हे परमेश्वर! आपके ईश्वर-सम्बन्धी रूपको मैं देखना चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

हे प्रभो! मेरे द्वारा आपका वह ऐश्वररूप देखा जा सकता है—ऐसा अगर आप मानते हैं तो हे योगेश्वर! आप अपने उस अविनाशी स्वरूपको मुझे दिखा दीजिये।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! अब मेरे अनेक तरहके और अनेक वर्णों (रंगों) तथा आकृतियोंवाले सैकड़ों-हजारों अलौकिक रूपोंको तू देख।

व्याख्या—**उपदेश दो प्रकारसे दिया जाता है—कहकर और दिखाकर। पहले दसवें अध्यायमें भगवान्ने अपने समग्ररूपका वर्णन किया कि मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ। अब इस अध्यायमें भगवान् अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर उसी रूपको प्रत्यक्ष दिखाते हैं।**

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! बारह आदित्योंको, आठ वसुओंको, ग्यारह रुद्रोंको और दो अश्विनी-कुमारोंको तथा उन्चास मरुद्गणोंको देख। जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं, ऐसे बहुत-से आश्चर्यजनक रूपोंको भी तू देख।

व्याख्या—**बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस कोटि (तैंतीस प्रकारके) देवता सम्पूर्ण देवताओंमें मुख्य हैं। ये सब देवता भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत हैं।**

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अभी देख ले। इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले।

व्याख्या—भगवान् अपने शरीरके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् देखनेकी आज्ञा देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनके एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् (अनन्त ब्रह्माण्ड) है। जब सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌के किसी एक अंशमें है, तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या शेष रहा? सब कुछ भगवान् ही हुए!

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

परन्तु तू इस अपनी आँख (चर्मचक्षु)-से मुझे देख ही नहीं सकता, इसलिये मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरी ईश्वरीय सामर्थ्यको देख।

व्याख्या—'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। पहले (गीता ९।५में) 'पश्य मे योगमैश्वरम्' पदोंसे भगवान्‌को जाननेकी बात आयी है और यहाँ इन पदोंसे देखनेकी बात आयी है। तात्पर्य यह हुआ कि जो जाननेमें आता है, वह भी भगवान् हैं और जो देखनेमें आता है, वह भी भगवान् हैं। इतना ही नहीं, जानने और देखनेके सिवाय भी जो कुछ है, वह भगवान् ही हैं—'सदसत्तत्परं यत्' (गीता ११।३७)।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

संजय बोले—हे राजन्! ऐसा कहकर फिर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको परम ऐश्वर विराट्‌रूप दिखाया।

व्याख्या—भगवान्‌को 'महायोगेश्वर' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर हैं। ऐसा कोई भी योग नहीं है, जिसके ईश्वर (स्वामी) भगवान् न हों। सब योग भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

'जिनके अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक तरहके अद्‌भुत दर्शन हैं, अनेक अलौकिक आभूषण हैं, हाथोंमें उठाये हुए अनेक दिव्य आयुध हैं तथा जिनके गलेमें दिव्य मालाएँ हैं, जो अलौकिक वस्त्र पहने हुए हैं, जिनके ललाट तथा शरीरपर दिव्य चन्दन, कुंकुम आदि लगा हुआ है, ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय, अनन्त रूपोंवाले तथा सब तरफ मुखोंवाले देव (अपने दिव्य स्वरूप)-को भगवान्‌ने दिखाया।'

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

अगर आकाशमें एक साथ हजारों सूर्योंका उदय हो जाय, तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस महात्मा (विराट्‌रूप परमात्मा)-के प्रकाशके समान शायद ही हो अर्थात् नहीं हो सकता।

व्याख्या— **यदि हजारों सूर्योंका प्रकाश हो जाय तो भी वह है तो भौतिक ही! परन्तु भगवान्‌का प्रकाश दिव्य है, भौतिक नहीं। सूर्यमें जो तेज है, वह भी भगवान्‌से ही आया है (गीता १५। १२)।**

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

उस समय अर्जुनने देवोंके देव भगवान्‌के उस शरीरमें एक जगह स्थित अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त सम्पूर्ण जगत्‌को देखा।

व्याख्या— **अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें एक जगह स्थित जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज; स्थावर-जंगम; नभचर-जलचर-थलचर; चौरासी लाख योनियाँ; चौदह भुवन आदि अनेक विभागोंमें विभक्त जगत्‌को देखा। जगत् भले ही अनन्त हो, पर है वह भगवान्‌के एक अंशमें ही (गीता १०।४२)। अर्जुन भगवान्‌के शरीरमें जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, वहीं उन्हें अनन्त जगत् दीखता है।**

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर वे अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्यके कारण उनका शरीर रोमांचित हो गया। वे हाथ जोड़कर विश्वरूप देवको मस्तकसे प्रणाम करके बोले।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अर्जुन बोले—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको तथा प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको और कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, शंकरजीको, सम्पूर्ण ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं-
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर! आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ। मैं आपके न आदिको, न मध्यको और न अन्तको ही देख रहा हूँ।

व्याख्या— **भगवान्‌के एक अंशमें भी अनन्तता है। भगवान् साकार हों या निराकार, सगुण हों या निर्गुण, बड़े-से-बड़े हों या छोटे-से-छोटे, उनका अनन्तपना ज्यों-का-त्यों रहता है।**

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७॥

मैं आपको किरीट (मुकुट), गदा, चक्र (तथा शङ्ख और पद्म) धारण किये हुए देख रहा हूँ। आपको तेजकी राशि, सब ओर प्रकाशवाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब तरफसे अप्रमेय-स्वरूप देख रहा हूँ।

व्याख्या— भगवान्के द्वारा प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे भी अर्जुन भगवान्के विराट्रूपको देखनेमें पूरे समर्थ नहीं हो रहे हैं—'दुर्निरीक्ष्यम्'। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्की दी हुई शक्तिसे भी भगवान्को पूरा नहीं जान सकते। इतना ही नहीं, भगवान् भी अपनेको पूरा नहीं जानते, यदि पूरा जान जायँ तो वे अनन्त कैसे रहेंगे?

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (अक्षर ब्रह्म) हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं मानता हूँ।

व्याख्या— यहाँ 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्' **पदोंसे निर्गुण-निराकारका,** 'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्' **पदोंसे सगुण-निराकारका और** 'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता' **पदोंसे सगुण-साकारका वर्णन हुआ है। ये सब मिलकर भगवान्‌का समग्ररूप है, जिसे जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता (गीता ७। २)।**

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं-
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

आपको मैं आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखोंवाले और अपने तेजसे इस संसारको तपाते हुए देख रहा हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं-
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अन्तराल और सम्पूर्ण दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

वे ही देवताओंके समुदाय आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए (आपके नामों और गुणोंका) कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो! मंगल हो!' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या— **देवता, महर्षि, सिद्ध आदि सभी भगवान्के ही विराट्रूपके अंग हैं। अतः प्रविष्ट होनेवाले, भयभीत होनेवाले, भगवान्के नामों और गुणोंका कीर्तन करनेवाले और स्तुति करनेवाले भी भगवान् हैं और जिनमें प्रविष्ट हो रहे हैं, जिनसे भयभीत हो रहे हैं, जिनके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं तथा जिनकी स्तुति कर रहे हैं, वे भी भगवान् हैं।**

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या-
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा-
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव और दो अश्विनीकुमार तथा उन्चास मरुद्‌गण और गरम-गरम भोजन करनेवाले (सात पितृगण) तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, (वे) सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

हे महाबाहो! आपके बहुत मुखों और नेत्रोंवाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं और चरणोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूपको देखकर सब प्राणी व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

क्योंकि हे विष्णो! आपके देदीप्यमान अनेक वर्ण हैं, आप आकाशको स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् सब तरफसे बहुत बड़े हैं, आपका मुख फैला हुआ है, आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं। ऐसे आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धैर्य और शान्तिको प्राप्त नहीं हो रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

आपके प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके कारण विकराल (भयानक) मुखोंको देखकर मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

हमारे पक्षके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और वह कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। राजाओंके समुदायोंके सहित धृतराष्ट्रके वे ही सब-के-सब पुत्र आपके विकराल दाढ़ोंके कारण भयंकर मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई-एक तो चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा-
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके सम्मुख दौड़ते हैं, ऐसे ही वे संसारके महान् शूरवीर आपके सब तरफसे देदीप्यमान मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा-
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

जैसे पतंगे (मोहवश) अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये सब लोग भी (मोहवश) अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

आप अपने प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंका ग्रसन करते हुए उन्हें सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं; और हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को परिपूर्ण करके सबको तपा रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो-
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

मुझे यह बताइये कि उग्र रूपवाले आप कौन हैं? हे देवताओंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको भलीभाँति नहीं जानता।

व्याख्या—भगवान्‌के ऐश्वर्ययुक्त उग्ररूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा जाते हैं कि अपने ही सखा श्रीकृष्णसे पूछ बैठते हैं कि आप कौन हैं!

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

श्रीभगवान् बोले—मैं सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय मैं इन सब लोगोंका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्षमें जो योद्धालोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे (युद्ध किये) बिना भी नहीं रहेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

इसलिये तुम (युद्धके लिये) खड़े हो जाओ और यशको प्राप्त करो तथा शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो। ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन! (तुम इनको मारनेमें) निमित्तमात्र बन जाओ।

व्याख्या—**निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य यह नहीं है कि नाममात्रके लिये कर्म करो, प्रत्युत इसका तात्पर्य है कि अपनी पूरी-की-पूरी शक्ति लगाओ, पर अपनेको कारण मत मानो अर्थात् अपने उद्योगमें कमी भी मत रखो और अपनेमें अभिमान भी मत करो। भगवान्ने अपनी ओरसे हमपर कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। हमें तो निमित्तमात्र बनना है। अर्जुनके सामने तो युद्ध था, इसलिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी। इसी तरह हमारे सामने संसार है, इसलिये हम भी निमित्तमात्र बनकर साधन करें तो संसारपर हमारी विजय हो जायगी।**

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

द्रोण और भीष्म तथा जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य सभी मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको तुम मारो। तुम व्यथा मत करो और युद्ध करो। युद्धमें (तुम नि:सन्देह) वैरियोंको जीतोगे।

व्याख्या—**भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर शत्रु मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इससे साधकको यह समझना चाहिये कि राग-द्वेष,काम-क्रोध आदि शत्रु भी पहलेसे ही मारे हुए हैं अर्थात् सत्तारहित हैं। इनको साधकने ही सत्ता और महत्ता देकर अपनेमें स्वीकार किया है।**

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं-
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

संजय बोले—भगवान् केशवका यह वचन सुनकर (भयसे) काँपते हुए किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और भयभीत होते हुए भी फिर प्रणाम करके गद्गद वाणीसे भगवान् कृष्णसे बोले।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामी भगवन्! आपके (नाम, गुण, लीलाका) कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग (प्रेम)-को प्राप्त हो रहा है। (आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे) भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह सब होना उचित ही है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

हे महात्मन्! गुरुओंके भी गुरु और ब्रह्माके भी आदिकर्ता आपके लिये (वे सिद्धगण) नमस्कार क्यों नहीं करें? क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप अक्षर-स्वरूप हैं; आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और उनसे (सत्-असत्से) पर भी जो कुछ है, वह भी आप ही हैं।

व्याख्या—**सत् और असत्—दोनों सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं और जो इनसे परे है, वह निरपेक्ष होनेसे अलौकिक है। लौकिक और अलौकिक—दोनों ही परमात्माके समग्ररूप हैं। परमात्माकी परा और अपरा प्रकृति सत्-असत्से परे नहीं है, पर परमात्मा सत्-असत्से परे भी हैं।**

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

आप ही आदिदेव और पुराण पुरुष हैं तथा आप ही इस संसारके परम आश्रय हैं। आप ही सबको जाननेवाले, जाननेयोग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे ही सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे सर्वस्वरूप! आपको आगेसे भी नमस्कार हो और पीछेसे भी नमस्कार हो! आपको सब ओरसे (दसों दिशाओंसे) ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! असीम पराक्रमवाले आपने सबको (एक देशमें) समेट रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।

व्याख्या—ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्‌गण, पितृगण, सर्प, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, असुर, ऋषि-महर्षि, सिद्धगण, वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य आदि और इनके सिवाय भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि समस्त राजालोग—ये सब-के-सब दिव्य विराट्‌रूपके ही अंग हैं। इतना ही नहीं, अर्जुन, संजय, धृतराष्ट्र तथा कौरव और पाण्डवसेना भी उसी विराट्‌रूपके ही अंग हैं—'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'। तात्पर्य है कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ भी देखने, सुनने तथा सोचनेमें आ रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं-
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

आपकी इस महिमाको न जानते हुए '**मेरे सखा हैं**' ऐसा मानकर मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे भी हठपूर्वक (बिना सोचे-समझे) 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ कहा है; और हे अच्युत! हँसी-दिल्लगीमें, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समय अकेले अथवा उन (सखाओं, कुटुम्बियों आदि)-के सामने (मेरे द्वारा आपका) जो कुछ तिरस्कार (अपमान) किया गया है; हे अप्रमेयस्वरूप! वह सब आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ अर्थात् आपसे क्षमा माँगता हूँ।

व्याख्या—**अर्जुनका भगवान्‌के प्रति सखाभाव था; परन्तु भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखनेसे वे अपना सखाभाव भूल जाते हैं और भगवान्‌को देखकर आश्चर्य करते हैं, भयभीत होते हैं! उनके मनमें यह सम्भावना ही नहीं थी कि जिनको मैं अपना सखा मानता हूँ, वे भगवान् ऐसे हैं।**

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप ही इस चराचर संसारके पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं। हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है!

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं-
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

इसलिये स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको मैं शरीरसे लम्बा पड़कर, प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। पिता जैसे पुत्रका, मित्र जैसे मित्रका और पति जैसे पत्नीका (अपमान सह लेता है), ऐसे ही (आप मेरे द्वारा किया गया अपमान) सहनेमें अर्थात् क्षमा करनेमें समर्थ हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं-
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

जिसको पहले कभी नहीं देखा, उस रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और साथ-ही-साथ भयसे मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है। अतः आप मुझे अपने उसी देवरूप (शान्त विष्णुरूप)-को दिखाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

मैं आपको वैसे ही किरीट (मुकुट)-धारी, गदाधारी और हाथमें चक्र लिये हुए अर्थात् चतुर्भुजरूपसे देखना चाहता हूँ। इसलिये हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप उसी चतुर्भुजरूपसे (शंख-चक्र-गदा-पद्मसहित) हो जाइये।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं-
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं-
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्यसे मेरा यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेजस्वरूप, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप तुझे दिखाया है, जिसको तुम्हारे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

हे कुरुश्रेष्ठ! मनुष्यलोकमें इस प्रकारके विश्वरूप-वाला मैं न वेदोंके पाठसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न शास्त्रोंके अध्ययनसे, न दानसे, न उग्र तपोंसे और न मात्र क्रियाओंसे तेरे (कृपापात्रके) सिवाय और किसीके द्वारा देखा जा सकता हूँ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो-
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं-
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

यह मेरा इस प्रकारका उग्र रूप देखकर तुझे व्यथा नहीं होनी चाहिये और विमूढभाव भी नहीं होना चाहिये। अब निर्भय और प्रसन्न मनवाला होकर तू फिर उसी मेरे इस (चतुर्भुज) रूपको अच्छी तरह देख ले।

व्याख्या—अर्जुनको भयभीत देखकर भगवान् कहते हैं कि मैं चाहे शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें दिखायी दूँ, हूँ तो मैं तुम्हारा सखा ही! तुम डर गये तो यह तुम्हारी मूढ़ता है! जो कुछ दीख रहा है, वह सब मेरी ही लीला है। इसमें डरनेकी क्या बात है?

हमें जो संसार दीखता है, वह भगवान्का विराट्रूप नहीं है। कारण कि विराट्रूप तो दिव्य और अविनाशी है, पर दीखनेवाला संसार भौतिक और नाशवान् है। जैसे हमें भौतिक वृन्दावन तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य वृन्दावन नहीं दीखता, ऐसे ही हमें भौतिक विश्व तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य विश्व (विराट्रूप) नहीं दीखता। ऐसा दीखनेमें कारण है—सुखभोगकी इच्छा। भोगेच्छाके कारण ही जड़ता, भौतिकता, मलिनता दीखती है। यदि भोगेच्छाको लेकर संसारमें आकर्षण न हो तो सब कुछ चिन्मय विराट्रूप ही है।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

संजय बोले—वासुदेवभगवान्‌ने अर्जुनसे ऐसा कहकर फिर उसी प्रकारसे अपना रूप (देवरूप) दिखाया और महात्मा श्रीकृष्णने पुनः सौम्यरूप (द्विभुज मानुषरूप) होकर इस भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्यरूपको देखकर मैं इस समय स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ।

व्याख्या— **द्विभुज मनुष्यरूप (कृष्ण), चतुर्भुजरूप (विष्णु) और सहस्रभुज (विराट्‌रूप)—तीनों एक ही समग्र भगवान्‌के रूप हैं।**

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा यह जो (चतुर्भुज) रूप तुमने देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं। देवता भी इस रूपको देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं।

व्याख्या— **यद्यपि देवताओंका शरीर दिव्य होता है, तथापि भगवान्‌का शरीर उससे भी अधिक विलक्षण है। देवताओंका शरीर भौतिक तेजोमय और भगवान्‌का शरीर चिन्मय, सत्-चित्-आनन्दमय तथा अलौकिक होता है। अतः देवता भी भगवान्‌को देखनेके लिये लालायित रहते हैं। जैसे साधारण लोगोंमें नये-नये स्थान देखनेकी रुचि रहती है, ऐसे ही देवताओंमें भगवान्‌को देखनेकी रुचि तो है, पर प्रेम नहीं है। भगवान्‌को अनन्यप्रेमसे ही देखा जा सकता है।**

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकारका (चतुर्भुजरूपवाला) मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ५४॥

परन्तु हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार (चतुर्भुज-रूपवाला) मैं केवल अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाननेमें और (साकाररूपसे) देखनेमें तथा प्रवेश (प्राप्त)करनेमें शक्य हूँ।

व्याख्या—वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदि कितनी ही महान् क्रिया क्यों न हो, उससे भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उन्हें तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है। अनन्यभक्ति है—केवल भगवान्‌का ही आश्रय, सहारा हो और अपने बलका किंचिन्मात्र भी आश्रय न हो।

ज्ञानमार्गमें तो केवल जानना और प्रवेश करना—ये दो होते हैं (गीता १८। ५५), पर भक्तिमार्गमें जानना, देखना और प्रवेश करना—ये तीनों होते हैं। भक्तिसे भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है। भक्तिसे समग्रकी प्राप्ति होती है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

हे पाण्डव! जो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला, मेरे ही परायण और मेरा ही प्रेमी भक्त है तथा सर्वथा आसक्ति-रहित और प्राणिमात्रके साथ वैरभावसे रहित है, वह भक्त मुझे प्राप्त होता है।

व्याख्या—**अनन्यभक्तिके पाँच साधन हैं—(१) भगवान्‌के लिये कर्म करना अर्थात् स्थूलशरीरसे भगवान्‌के परायण होना, (२) भगवान्‌के परायण होना अर्थात् सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे भगवान्‌के परायण होना, (३) भगवान्‌का प्रेमी भक्त होना अर्थात् स्वयंसे भगवान्‌के परायण होना, (४) सर्वथा आसक्तिरहित होना और (५) प्राणिमात्रके साथ वैरभावसे रहित होना। इन पाँचोंमें प्रथम तीन बातें भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेके लिये हैं और अन्तिम दो बातें संसारसे सम्बन्ध तोड़नेके लिये हैं।**

संसारकी सत्ता सिद्धकी दृष्टिमें नहीं है, प्रत्युत साधककी दृष्टिमें है। अतः साधकको सावधान रहना चाहिये कि वह संसारके साथ किसी भी तरहका सम्बन्ध न माने; क्योंकि सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—जो भक्त इस प्रकार (ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकके अनुसार) निरन्तर आपमें लगे रहकर आप (सगुण-साकार)-की उपासना करते हैं और जो अविनाशी निर्गुण-निराकारकी ही उपासना करते हैं, उन दोनोंमेंसे उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।

व्याख्या— यद्यपि ज्ञान और भक्ति—दोनों ही मनुष्यका दुःख दूर करनेमें समान हैं, तथापि ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी अधिक महिमा है। ज्ञानसे तो अखण्डरसकी प्राप्ति होती है, पर भक्तिसे अनन्तरस (प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम)-की प्राप्ति होती है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि 'ये रुपये हैं' आदि, तो इस ज्ञानसे केवल अज्ञान (अनजानपना) मिट जाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञानसे केवल अज्ञान मिटता है। अज्ञान मिटनेसे दुःख, भय, जन्म-मरण—ये सब मिट जाते हैं। परन्तु भक्ति ज्ञानसे भी विलक्षण है। जैसे 'ये रुपये हैं' यह ज्ञान हो जानेपर अनजानपना मिट जाता है, पर उनको पानेका लोभ हो जाय कि 'और मिले, और मिले' तो उसमें एक विशेष रस आता है। वस्तुके आकर्षणमें जो रस है वह रस वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस है। ज्ञानका रस तो स्वयं लेता है, पर प्रेमका रस भगवान् लेते हैं। भगवान् ज्ञानके भूखे नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे हैं। अतः 'प्रेम' मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी वस्तु है!

ज्ञानमार्गमें सत् और असत् दोनोंकी मान्यता (विवेक) साथ-साथ रहनेसे असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् मुक्त होनेपर भी रहता है। इस सूक्ष्म अहम्के रहनेसे पुनर्जन्म तो नहीं होता, पर भगवान्‌से अभिन्नता नहीं होती और दार्शनिकोंमें तथा उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। परन्तु प्रेमका उदय होनेपर भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है तथा सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद मिट जाते हैं॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

और जो अपने इन्द्रिय-समूहको भलीभाँति वशमें करके चिन्तनमें न आनेवाले, सब जगह परिपूर्ण, देखनेमें न आनेवाले, निर्विकार, अचल, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्तकी तत्परतासे उपासना करते हैं, वे प्राणिमात्रके हितमें प्रीति रखनेवाले और सब जगह समबुद्धिवाले मनुष्य मुझे ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— भगवान्‌ने यहाँ ब्रह्मके जो लक्षण (अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर, अव्यक्त आदि) बताये हैं, वही लक्षण जीवात्माके भी बताये हैं *। दोनोंके समान लक्षण बतानेका तात्पर्य है कि जीव और ब्रह्म—दोनों स्वरूपसे एक ही हैं। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे (अनेकरूपसे) जो जीव है, वह देहके साथ सम्बन्ध न होनेसे (एकरूपसे) ब्रह्म है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे, देहाभिमानके कारण ही अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये ज्ञानमार्गमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर साधककी साध्यसे सधर्मता हो जाती है— 'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २)।

सगुण और निर्गुण—ये दो परमात्माके विशेषण हैं। विशेष्य परमात्मतत्त्व एक ही है। इसलिये भगवान्‌ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है— 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, वह मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है।

ज्ञानयोगका साधक प्रायः समाजसे असंग रहता है। वास्तवमें असंगता शरीरसे होनी चाहिये, समाजसे नहीं। समाजसे असंगता होनेपर अहंभाव नहीं मिटता। जबतक साधक स्वयंको शरीरसे सर्वथा असंग अनुभव नहीं कर लेता, तबतक संसारसे अलग (एकान्तमें) रहनेमात्रसे उसका साधन सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि शरीर भी संसारका ही अंग है। इसलिये शरीरसे सम्बन्ध माननेपर संसारमात्रसे सम्बन्ध हो जाता है। शरीरसे असंग होनेके लिये साधकमें प्राणिमात्रके हितका भाव रहना अत्यन्त आवश्यक है।

---

* द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' ग्रन्थका उन्सठवाँ लेख—'गीतामें परमात्मा और जीवात्माका स्वरूप'।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले उन साधकोंको (अपने साधनमें) कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है।

व्याख्या— निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह उपासक (जीव) है और जो देहरहित है, वह उपास्य (ब्रह्म) है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें मुख्य बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे और देरीसे होती है। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्‌की विमुखता ही बाधक है, देहाभिमान नहीं। इसलिये सगुणोपासक संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है और साधनके आश्रित न होकर भगवान्‌के आश्रित हो जाता है। अतः भगवान् कृपा करके उसका शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं (गीता ८। १४, १२। ७)। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण करके और मेरे परायण होकर अनन्ययोग (सम्बन्ध)-से मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

व्याख्या—जैसे ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा होनेवाली समझकर तथा अपनेको उनसे सर्वथा असंग अनुभव करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, ऐसे ही भक्तियोगी अपनी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ, और किसीका नहीं हूँ तथा केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं, और कोई भी मेरा अपना नहीं है'—ऐसा मानना ही अनन्ययोगसे भगवान्‌की उपासना करना है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।

व्याख्या—छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने सामान्य साधकोंके लिये अपने द्वारा अपना उद्धार करनेकी बात कही थी—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' और यहाँ कहते हैं कि भक्तोंका उद्धार मैं करता हूँ। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक साधक आरम्भमें स्वयं ही साधनमें लगता है। परन्तु जो साधक भगवान्‌के आश्रित होता है, उसका उद्धार भगवान् करते हैं। वह तो अपने उद्धारकी चिन्ता न करके केवल भगवान्‌के भजनमें ही लगा रहता है। उसका साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें चलनेवाला साधक अपना उद्धार स्वयं करता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

तू मुझमें मनको स्थापन कर और मुझमें ही बुद्धिको प्रविष्ट कर; इसके बाद तू मुझमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या— मन-बुद्धि भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४-५)। भगवान्‌की शक्ति होते हुए भी अपरा प्रकृति भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली (जड़ और परिवर्तनशील) है। परन्तु परा प्रकृति (जीवात्मा) भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली नहीं है। इसलिये वास्तवमें मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लग सकते, प्रत्युत स्वयं ही भगवान्‌में लग सकता है। गीतामें जहाँ-जहाँ मन-बुद्धि भगवान्‌में लगानेकी बात आयी है, वहाँ वास्तवमें स्वयंको ही भगवान्‌में लगानेकी बात कही गयी है।

भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेसे मन-बुद्धि तो नहीं लगते, पर स्वयं लग जाता है—निवसिष्यसि मय्येव'। कारण कि जीवका स्वभाव है कि वह स्वयं वहीं लगता है, जहाँ उसके मन-बुद्धि लगते हैं। जैसे सुई जहाँ जाती है, धागा वहीं जाता है, ऐसे ही मन-बुद्धि जहाँ जाते हैं, स्वयं वहीं जाता है। संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मन-बुद्धि संसारमें लग गये। संसारमें मन-बुद्धि लगनेसे जीव भी स्वयं संसारमें लग गया। इसलिये जीवको संसारसे हटानेके लिये भगवान् मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेकी आज्ञा देते हैं।

भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लगते, प्रत्युत लीन हो जाते हैं; क्योंकि मूलमें अपरा प्रकृति भगवान्‌का ही स्वभाव है। भगवान्‌में लीन होनेपर मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रह जाते हैं।

पूर्वपक्ष— मन-बुद्धि तो करण हैं, पर जीव कर्ता है। करण कर्ताके अधीन रहते हैं। जहाँ कर्ता लगेगा, वहीं करण भी लगेंगे। अतः जहाँ करण लगेंगे, वहाँ कर्ता भी लगेगा—ऐसा कहनेका क्या औचित्य है?

उत्तरपक्ष— क्रियाकी सिद्धिमें करण अत्यन्त उपकारक होता है—'साधकतमं करणम्' (पाणि० अ० १। ४। ४२)। जैसे, 'रामके बाणसे बालि मारा गया'—इस वाक्यमें 'बाण' करण है; क्योंकि बालिके मरनेमें बाण हेतु हुआ, धनुष, प्रत्यंचा, हाथ आदि नहीं। साधकके पास सबसे श्रेष्ठ करण 'बुद्धि' है, जिसे वह परमात्मामें लगाता है। उपनिषद्‌में शरीरको रथ, जीवात्माको रथी, इन्द्रियोंको घोड़े, मनको लगाम और बुद्धिको सारथि कहा गया है—'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' (कठोपनिषद् १। ३। ३)। रथ, घोड़े और लगाम तो राजभवनके बाहर ही छूट जाते हैं। राजभवनके भीतर रनिवासतक सारथि जाता है। फिर रथी अकेले रनिवासके भीतर जाता है, सारथि लौट आता है। अतः साधककी बुद्धि परमात्मातक पहुँचती है, पर वह परमात्माको पकड़ नहीं पाती। परमात्मातक स्वयं ही पहुँच पाता है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

अगर तू मनको मुझमें अचलभावसे स्थिर (अर्पण) करनेमें अपनेको समर्थ नहीं मानता, तो हे धनञ्जय! अभ्यासयोगके द्वारा तू मेरी प्राप्तिकी इच्छा कर।

व्याख्या—**एकमात्र भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया भजन, नाम-जप आदि 'अभ्यासयोग' है। यदि केवल अभ्यास हो, योग न हो तो एक नयी स्थिति बनेगी, कल्याण नहीं होगा। मनका निरोध करना अथवा मनको बार-बार भगवान्‌में लगाना अभ्यास है (गीता ६। २६)। परन्तु अभ्यासयोगमें मनका निरोध नहीं है, प्रत्युत मनसे सम्बन्ध-विच्छेद है।**

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अगर तू अभ्यासयोगमें भी अपनेको असमर्थ पाता है तो मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जा। मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— **अभ्यासकी अपेक्षा भी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करना सुगम है। कारण कि अभ्यास तो नया काम है, जो करना पड़ता है, पर कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ होनेसे कर्म स्वतः होते हैं। उन लौकिक-पारमार्थिक सभी कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है (गीता ९। २७-२८)।**

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अगर मेरे योग (समता)-के आश्रित हुआ तू इस (पूर्वश्लोकमें कहे गये साधन)-को भी करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर।

व्याख्या— **यदि साधक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण न कर सके अर्थात् भगवान्के लिये सभी कर्म न कर सके तो उसे फलेच्छाका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करने चाहिये; क्योंकि फलेच्छा ही बाँधनेवाली है—** 'फले सक्तो निबध्यते' **(गीता ५। १२)। फलकी इच्छाका त्याग करके कर्तव्यकर्म करनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।**

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

अभ्याससे शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलकी इच्छा-का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—अभ्यास, शास्त्रज्ञान और ध्यान—ये तीनों तो करणसापेक्ष हैं,पर कर्मफलत्याग करणनिरपेक्ष है। वास्तवमें ये चारों ही साधन श्रेष्ठ हैं और उन साधकोंके लिये हैं, जिनका उद्देश्य त्यागका है। परन्तु कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ बतानेका कारण यह है कि लोगोंमें इस साधनके प्रति हेयबुद्धि है,जबकि त्यागमें कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है। (गीता १८। ११)

इस श्लोकमें आये चार साधनोंके अन्तर्गत दसवें श्लोकमें आये 'मदर्थमपि कर्माणि' (भगवान्‌के लिये कर्म करना) अर्थात् भक्तिको नहीं लिया है। इसका कारण यह है कि भक्तिमें ही साधनकी पूर्णता हो जाती है। अतः भक्ति और त्याग—दोनों ही श्रेष्ठ हैं।

कर्मफलत्यागका अर्थ है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। इच्छा भीतर होती है और फलत्याग बाहर होता है। फलत्याग करनेपर भी भीतरमें उसकी इच्छा रह सकती है। अतः साधकका उद्देश्य कर्मफलकी इच्छाके त्यागका रहना चाहिये। इच्छाका त्याग होनेसे जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहता। मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है। इसलिये गीतामें फलेच्छाके त्यागपर अधिक जोर दिया गया है।

किसी साधनकी सुगमता अथवा कठिनता साधककी रुचि और उद्देश्यपर निर्भर करती है। रुचि और उद्देश्य एक भगवान्‌का होनेसे साधन सुगम हो जाता है। परन्तु रुचि संसारकी और उद्देश्य भगवान्‌का होनेसे साधन कठिन हो जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

सब प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित और मित्रभाववाला तथा दयालु भी और ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील, निरन्तर सन्तुष्ट, योगी, शरीरको वशमें किये हुए, दृढ़ निश्चयवाला मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या—**गीतामें मित्रता और करुणा न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आयी है, न ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आयी है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीमें समता तो होती है, पर मित्रता और करुणा नहीं होती। परन्तु भक्तमें आरम्भसे ही मित्रता और करुणा होती है।**

भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, फिर कौन वैर करे, किससे करे और क्यों करे? *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'* **(मानस, उत्तर० ११२ ख)। यद्यपि ज्ञानयोगीका भी किसीसे किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें स्वाभाविक उदासीनता, तटस्थता रहती है। ज्ञानमार्गमें वैराग्यकी मुख्यता रहती है और वैराग्य रूखा होता है इसलिये ज्ञानयोगीके भीतर कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।**

प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग (२। ७१), ज्ञानयोग (१८। ५३) और भक्तियोग (१२। १३)—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है। कारण कि वास्तवमें हमारा स्वरूप निर्मम-निरहंकार है।

भगवान्‌में ज्ञानकी भूख तो नहीं है, पर प्रेमकी भूख अवश्य है। कारण कि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है, ज्ञान नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

जिससे कोई भी प्राणी उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता और जो स्वयं भी किसी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय और उद्वेग (हलचल)-से रहित है, वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या—भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता माननेसे ही उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि होते हैं। भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई सत्ता है ही नहीं, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे?

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

जो अपेक्षा (आवश्यकता)-से रहित, (बाहर-भीतरसे) पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथासे रहित और सभी आरम्भोंका अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका सर्वथा त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

व्याख्या—भक्तका दर्शन, स्पर्श, भाषण दूसरोंको शुद्ध करनेवाला होता है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी शुद्ध करनेवाली होती है। यद्यपि ऐसी शुद्धि ज्ञानयोगी महापुरुषमें भी होती है, तथापि भक्तमें आरम्भसे ही सबके हितका भाव विशेषरूपसे रहनेके कारण उसमें विशेष शुद्धि होती है।

भक्तने करनेयोग्य काम कर लिया अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप उद्देश्य पूरा कर लिया इसलिये वह दक्ष है।

भक्त भोग तथा संग्रहके लिये किये जानेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्यागी होता है। उसके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होते हैं। संसारमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेसे भक्तका एकमात्र भगवान्‌में स्वतः-स्वाभाविक प्रेम होता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है और जो शुभ-अशुभ कर्मोंसे ऊँचा उठा हुआ (राग-द्वेषरहित) है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है।

व्याख्या—**हर्ष और शोक, राग और द्वेष—ये द्वन्द्व हैं। भक्तमें कोई भी द्वन्द्व नहीं रहता, वह निर्द्वन्द्व हो जाता है। उसके सम्पूर्ण कर्म राग-द्वेषसे रहित होते हैं।**

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

जो शत्रु और मित्रमें तथा मान-अपमानमें सम है और शीत-उष्ण (शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख (मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता)-में सम है एवं आसक्तिरहित है, और जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील, जिस किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होने-न-होनेमें) सन्तुष्ट, रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममता-आसक्तिसे रहित और स्थिरबुद्धिवाला है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है।

व्याख्या—इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने वे ही स्थल दिये हैं, जहाँ समता होनेमें कठिनता आती है। यदि इनमें समता हो जाय तो अन्य जगह समता होनेमें कठिनता नहीं प्रतीत होगी। अपनेपर कोई असर न पड़ना ही समता है।

यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता होती ही नहीं, तथापि दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें वह शत्रु और मित्रमें समभाववाला दीखता है। शत्रुता-मित्रताका ज्ञान होनेपर भी वह सम रहता है।

भक्त सब प्रकारकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहता है। उसका न तो अनुकूलतामें राग होता है, न प्रतिकूलतामें द्वेष होता है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

परन्तु जो मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मेरे परायण हुए भक्त इस धर्ममय अमृतका जैसा कहा है, वैसा ही भलीभाँति सेवन करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

व्याख्या—भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके उनतालीस लक्षणोंके पाँच प्रकरण कहे हैं—तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंका पहला प्रकरण, पन्द्रहवें श्लोकका दूसरा प्रकरण, सोलहवें श्लोकका तीसरा प्रकरण, सत्रहवें श्लोकका चौथा प्रकरण और अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंका पाँचवाँ प्रकरण। प्रत्येक प्रकरणके लक्षण धर्म्यामृत हैं। साधक भक्त जिस प्रकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करता है,उसके लिये वही धर्म्यामृत है। ऐसे साधक भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होते हैं।

श्रद्धा साधकमें होती है—'श्रद्दधानाः'। सिद्धमें श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत अनुभव होता है; क्योंकि उसके अनुभवमें एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, सब कुछ परमात्मा ही हैं, फिर वह श्रद्धा क्या करे? साधककी दृष्टिमें दूसरी सत्ता रहती है, इसलिये वह श्रद्धापूर्वक उपासना करता है। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए भी साधक भगवान्‌के परायण रहता है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसका प्रेमास्पद नहीं होता, इसलिये वह भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

तेरहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! 'यह'-रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र'—इस नामसे कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानीलोग 'क्षेत्रज्ञ'—इस नामसे कहते हैं।

व्याख्या— अर्जुनके द्वारा बारहवें अध्यायके आरम्भमें किये गये प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने सगुण-साकारकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन किया। अब भगवान् यहाँसे निर्गुण-निराकारकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन करना आरम्भ करते हैं।

जैसे खेतमें तरह-तरहके बीज डालकर खेती की जाती है, ऐसे ही इस मनुष्यशरीरमें अहंता-ममता करके जीव तरह-तरहके कर्म करता है और फिर उन कर्मोंके फलरूपमें उसे दूसरा शरीर मिलता है। भगवान् शरीरके साथ माने हुए अहंता-ममतारूप सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये शरीरको इदंता (पृथक्ता)-से देखनेके लिये कह रहे हैं, जो प्रत्येक मार्गके साधकके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जितने भी शरीर हैं, उनमें जीव स्वयं 'क्षेत्रज्ञ' है और अनन्त ब्रह्माण्ड 'क्षेत्र' हैं। क्षेत्रज्ञके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं—'येन सर्वमिदं ततम्' (गीता २। १७)। साधकको जानना चाहिये कि मैं क्षेत्र नहीं हूँ, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाला 'क्षेत्रज्ञ' हूँ।

एक ही चिन्मय तत्त्व (सत्ता) क्षेत्रके सम्बन्धसे 'क्षेत्रज्ञ', क्षरके सम्बन्धसे 'अक्षर', शरीरके सम्बन्धसे 'शरीरी', दृश्यके सम्बन्धसे 'द्रष्टा', साक्ष्यके सम्बन्धसे 'साक्षी' और करणके सम्बन्धसे 'कर्त्ता' कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतमें ज्ञान है।

व्याख्या—क्षेत्र (शरीर)-की तो अनन्त ब्रह्माण्डोंके साथ एकता है और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा)-की अनन्त-अपार-असीम ब्रह्मके साथ एकता है। तात्पर्य है कि क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म एक ही हैं। एक क्षेत्रके सम्बन्धसे वही 'क्षेत्रज्ञ' है और सम्पूर्ण क्षेत्रोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर वही 'ब्रह्म' है।

ब्रह्मके लिये 'माम्' कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं (गीता ९। ४)। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो निर्लिप्तरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण चिन्मय सत्ता है, वह ब्रह्म है और जो अनन्त ब्रह्माण्डोंका स्वामी है, वह ईश्वर है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिससे जो पैदा हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंके द्वारा बहुत विस्तारसे कहा गया है तथा वेदोंकी ऋचाओंद्वारा बहुत प्रकारसे विभागपूर्वक कहा गया है और युक्तियुक्त एवं निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

मूल प्रकृति और समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत और दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय—यही (चौबीस तत्त्वोंवाला) क्षेत्र है।

व्याख्या— **पाँच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धि—ये सात 'प्रकृति-विकृति' हैं, मूल प्रकृति केवल 'प्रकृति' है और दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय—ये सोलह केवल 'विकृति' हैं। इस तरह इन चौबीस तत्त्वोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है। इसीका एक तुच्छ अंश यह मनुष्यशरीर है।**

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६ ॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (प्राणशक्ति) और धृति—इन विकारोंसहित यह क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया है।

व्याख्या— पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने समष्टि संसारका वर्णन किया और यहाँ व्यष्टि शरीरके विकारोंका वर्णन करते हैं। क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही इच्छा,द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार क्षेत्रज्ञमें होते हैं (गीता १३। २०)। ये सभी विकार तादात्म्य (चिज्जड़ग्रन्थि)-के जड़-अंशमें रहते हैं।

यहाँ भगवान्‌ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको 'एतत्' (यह) कहा है। तात्पर्य है कि स्वयं क्षेत्रसे मिला हुआ नहीं है, प्रत्युत उससे सर्वथा अलग है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर 'एतत्' पदके अन्तर्गत होनेसे हमारा स्वरूप नहीं हैं। यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण 'महत्तत्त्व' और 'मूल प्रकृति' को भी 'एतत्' शब्दसे कह दिया, तो फिर अहंकारके 'एतत्' होनेमें कहना ही क्या है! अहम्‌से समीप महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे समीप प्रकृति है, वह प्रकृति भी 'एतत् क्षेत्रम्' में है। तात्पर्य है कि अहम् हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो साधक स्वयंको और अहम् (क्षेत्र)-को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १३। २३)।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना, दिखावटीपन न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, स्थिरता और मनका वशमें होना।

व्याख्या— **अब भगवान् क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्ध (तादात्म्य)-को तोड़नेके लिये ज्ञानके साधन बताते हैं।**

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्यका होना, अहंकारका भी न होना और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियोंमें दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखना।

व्याख्या— **एक 'दुःखका भोग' होता है और एक 'दुःखका प्रभाव' होता है। दुःखसे दुःखी होना और सुखकी इच्छा करना 'दुःखका भोग' है। दुःखके कारणकी खोज करके उसको मिटाना 'दुःखका प्रभाव' है। यहाँ दुःखके प्रभावको** 'दुःखदोषानुदर्शनम्' **पदसे कहा गया है।**

दुःखका भोग करनेसे अर्थात् दुःखी होनेसे विवेक लुप्त हो जाता है। परन्तु दुःखका प्रभाव होनेसे विवेक लुप्त नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य विवेक-दृष्टिसे दुःखके कारणकी खोज करता है और खोज करके उसे मिटाता है। सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। कारणके मिटनेपर कार्य अपने-आप मिट जाता है। अतः सुखकी इच्छा मिटनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः　पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

आसक्तिरहित होना, पुत्र, स्त्री, घर आदिमें एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना और अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें चित्तका नित्य सम रहना।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि　॥ १०॥

मुझमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना, एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना और जन-समुदायमें प्रीतिका न होना।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना, तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखना—यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है—ऐसा कहा गया है।

व्याख्या— **क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान करानेवाले होनेसे इन बीस साधनोंको भी 'ज्ञान' नामसे कहा गया है। इससे जो विपरीत है, वह 'अज्ञान' है। साधन न करनेसे मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख लेता है, पर अनुभव नहीं कर सकता। अतः साधन न करनेसे अज्ञान (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञमें एकताका भाव) रहता है और अज्ञानके रहते हुए अगर कोई सीखकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका विवेचन करता है तो वह वास्तवमें अपने देहाभिमानको ही पुष्ट करता है। परन्तु जो ये साधन करता है, उसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका अनुभव हो जाता है।**

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

जो ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञानसे जाननेयोग्य) है, उस परमात्मतत्त्वको मैं अच्छी तरहसे कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। वह ज्ञेय-तत्त्व अनादिवाला और परम ब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

व्याख्या—गीतामें एक ही समग्र परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन हुआ है—

(१) परमात्मा सत् भी हैं और असत् भी हैं—'सदसच्चाहम्' (९।१९)।

(२) परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से पर भी हैं—'सदसत्तत्परं यत्' (११।३७)।

(३) परमात्मा न सत् हैं और न असत् ही हैं—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३।१२)।

—इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक अनिर्वचनीय परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ नहीं है। वह मन, बुद्धि, वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर उसे प्राप्त किया जा सकता है।

परमात्मतत्त्वको असत्की अपेक्षासे सत्, जड़की अपेक्षासे चेतन, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय, 'नहीं' की अपेक्षासे 'है', गुणोंकी अपेक्षासे सगुण-निर्गुण, आकारकी अपेक्षासे साकार-निराकार, अनेककी अपेक्षासे एक, प्रकाश्यकी अपेक्षासे प्रकाशक, नाशवान्की अपेक्षासे अविनाशी आदि कह देते हैं, पर वास्तवमें उस तत्त्वमें कोई शब्द लागू होता ही नहीं! कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, पर तत्त्व निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, गुण आदिको लेकर ही संज्ञा बनती है। परमात्मामें देश, काल आदि हैं ही नहीं, फिर उनकी संज्ञा कैसी? इसलिये यहाँ आया है कि उस तत्त्वको सत् अथवा असत् कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

परमात्मतत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। आदि-अनादि, पर-अपर आदिका भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर, सत्-असत् आदिसे विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेयतत्त्वका वर्णन करनेकी जो बात कही है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक अर्थात् लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाली है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं। इसलिये साधकको भी लक्षककी दृष्टिसे ही विचार करना चाहिये, केवल सीखनेकी दृष्टिसे नहीं।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।

व्याख्या— **भगवान् सभी अवयवोंसे सभी क्रियाएँ कर सकते हैं; क्योंकि उनके सभी अवयवोंमें सभी अवयव विद्यमान हैं। उनके छोटे-से-छोटे अंशमें भी सब-की-सब इन्द्रियाँ विद्यमान हैं। उनमें सब जगह सब कुछ है—'सर्वं सर्वात्मकम्' (योगदर्शन व्यासभाष्य, विभूति० १४)। जैसे, कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? जानकार व्यक्ति उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा औजार अथवा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही भगवान्‌में किस जगह क्या नहीं है?**

**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥**

वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं,आसक्ति-रहित हैं और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं तथा गुणोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।

व्याख्या—**एक परमात्माके सिवाय और किसीकी भी सत्ता नहीं है। हम जो कुछ भी कहते, सुनते, पढ़ते, सोचते हैं, वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। सबसे रहित भी वही है और सबके सहित भी वही है।**

इस प्रकरणमें ब्रह्मकी मुख्यता होनेपर भी प्रस्तुत श्लोकमें समग्र परमात्माका ज्ञेय-तत्त्वके रूपमें वर्णन हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि समग्रकी मुख्यता ज्ञान और भक्ति दोनोंमें है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।

व्याख्या—परमात्माको बारहवें श्लोकमें तो 'ज्ञेय' कहा गया है, पर प्रस्तुत श्लोकमें उन्हें 'अविज्ञेय' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा ज्ञेय होनेपर भी संसारकी तरह ज्ञेय नहीं हैं। जैसे संसार इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना जाता है, ऐसे परमात्मा इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं जाने जाते। इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिका कार्य प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकता, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्माको जान ही कैसे सकता है? परमात्माको तो मानकर स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि स्वीकृति स्वयंमें होती है। स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है, इसलिये परमात्माकी प्राप्ति भी स्वीकृतिसे होती है, चिन्तन-मनन-श्रवण-वर्णन करनेसे नहीं।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

वे परमात्मा स्वयं विभागरहित होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें विभक्तकी तरह स्थित हैं और वे जाननेयोग्य परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले तथा उनका भरण-पोषण करनेवाले और संहार करनेवाले हैं।

व्याख्या—**जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक है,ऐसे ही परमात्मा भी एक (अविभक्त) हैं। जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों आदिके रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं, क्योंकि दो होनेसे असत् आ जायगा।**

उत्पन्न करनेवाले भी परमात्मा हैं और उत्पन्न होनेवाले भी परमात्मा हैं। भरण-पोषण करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका भरण-पोषण होता है, वे भी परमात्मा हैं। संहार करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका संहार होता है, वे भी परमात्मा हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

वे परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंकी भी ज्योति और अज्ञानसे अत्यन्त परे कहे गये हैं। वे ज्ञानस्वरूप, जाननेयोग्य, ज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य और सबके हृदयमें विराजमान हैं।

व्याख्या—**बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन हुआ है, वह भगवान्‌का समग्ररूप ही है।** कारण कि इसमें निर्गुण-निराकार (बारहवाँ श्लोक), सगुण-निराकार (तेरहवाँ श्लोक) और सगुण-साकार (सोलहवाँ श्लोक)—तीनों ही रूपोंका वर्णन हुआ है।

'ज्योति' नाम प्रकाश (ज्ञान)-का है। शब्दका प्रकाशक कान है। स्पर्शका प्रकाशक त्वचा है। रूपका प्रकाशक नेत्र है। रसका प्रकाशक जिह्वा है। गन्धका प्रकाशक नासिका है। इन पाँचों इन्द्रियोंका प्रकाशक मन है। मनका प्रकाशक बुद्धि है। बुद्धिका प्रकाशक स्वयं है। स्वयंका प्रकाशक परमात्मा है। स्वयंप्रकाश परमात्माका कोई भी प्रकाशक नहीं है। जैसे सूर्यमें अन्धकार कभी आता ही नहीं, ऐसे ही परम-प्रकाशक परमात्मामें अज्ञान कभी आता ही नहीं, आ सकता ही नहीं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेयको संक्षेपसे कहा गया है। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— समग्र परमात्माका ज्ञान वास्तवमें भक्तिसे ही हो सकता है। इसलिये साधकको भक्त होना चाहिये। क्षेत्रको तत्त्वसे जाननेपर क्षेत्रसे संबंध-विच्छेद हो जाता है। ज्ञान (साधन-समुदाय)-को तत्त्वसे जाननेपर देहाभिमान मिट जाता है। ज्ञेयको तत्त्वसे जाननेपर उसकी प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ आये 'मद्भावायोपपद्यते' पदको गीतामें कई प्रकारसे कहा गया है; जैसे—'मद्भावमागताः' (४। १०), 'मम साधर्म्यमागताः' (१४। २), 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' (१४। १९) 'मद्भाव' का अर्थ है—मुझ परमात्माकी सत्ता। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं। भगवान्‌ने ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें ही अपने भावकी प्राप्ति बतायी है। 'ज्ञान' में इसका तात्पर्य है—ब्रह्मसे साधर्म्य होना अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दरूप है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषका भी सत्-चित्-आनन्दरूप होना। 'भक्ति' में इसका तात्पर्य है—भक्तकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता अर्थात् अभिन्नता होना।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही तुम अनादि समझो और विकारोंको तथा गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न समझो। कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है।

व्याख्या—भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ही प्रकृति और पुरुषके नामसे पुनः वर्णन करते हैं। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इनके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है। अतः विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं।

विकृतिमात्र जड़में ही होती है, चेतनमें नहीं। अतः वास्तवमें सुखी-दुःखी होना चेतनका धर्म नहीं है, प्रत्युत जड़के संगसे अपनेको सुखी-दुःखी मानना चेतनका स्वभाव है। तात्पर्य है कि चेतन सुखी-दुःखी नहीं होता, प्रत्युत (सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिसे मिलकर) अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। चेतनमें एक-दूसरेसे विरुद्ध सुख-दुःखरूप दो भाव हो ही कैसे सकते हैं? दो भाव परिवर्तनशील प्रकृतिमें ही हो सकते हैं। जो अपरिवर्तनशील है, उसके दो भाव अथवा रूप नहीं हो सकते। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण विकार परिवर्तनशीलमें ही हो सकते हैं। चेतन स्वयं ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी परिवर्तनशील प्रकृतिके संगसे उन विकारोंको अपनेमें आरोपित करता रहता है।

भगवान् शक्तिमान् हैं और प्रकृति उनकी शक्ति है। ज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अलग-अलग हैं; क्योंकि शक्तिमें तो परिवर्तन (घटना-बढ़ना) होता है, पर शक्तिमान् ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो शक्ति और शक्तिमान् दोनों अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिको शक्तिमान्‌से अलग नहीं कर सकते अर्थात् शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही भगवान्‌ने प्रकृतिको न अनन्त कहा है, न सान्त, प्रत्युत 'अनादि' कहा है। कारण कि यदि प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन हो जायगा; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)। यदि प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन हो जायगा; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्‌की शक्ति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है—'सदसच्चाहम्' (गीता ९। १९)।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप 'समग्र' है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा सम्भव ही नहीं है। यदि परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय (सीमित) ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा परमात्माके सिवाय शक्ति (प्रकृति)-के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये यहाँ प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहा गया है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिमें स्थित पुरुष (जीव) ही प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है और गुणोंका संग ही इसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है।

व्याख्या— 'मैं' जड़ (प्रकृति) है और 'हूँ' चेतन (पुरुष) है। 'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनका तादात्म्य है। इस 'मैं हूँ' में ही कर्तापन तथा भोक्तापन रहता है। यदि साधक 'मैं' को मिटा दे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही 'मैं' (अहम्) तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है' का स्वरूप होनेसे) 'है' में ही विलीन हो जाता है। मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिये—इन दो बातोंकी सिद्धि होते ही 'हूँ' सत्तामात्रमें अर्थात् 'है' में विलीन हो जाता है। तात्पर्य है कि 'मैं' (जड़-अंश) जड़में और 'हूँ' (चेतन-अंश) चेतन तत्त्वमें विलीन हो जाता है। इस प्रकार जड़-चेतनकी ग्रन्थि छूट जाती है और फिर एक 'है' (सत्तामात्र)-के सिवाय कुछ नहीं रहता। 'है' में कर्तापन और भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः साधक 'हूँ' को न मानकर 'है' को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण कोई बाधा नहीं देते; परन्तु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है। गुणोंका संग जीव स्वयं करता है। असंगता जीवका स्वरूप है—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृहदा० ४। ३। १५)। यदि जीव गुणोंका संग न करे तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

यह पुरुष (शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे) 'उपद्रष्टा', (उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देनेसे) 'अनुमन्ता', (अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे) 'भर्ता', (उसके संगसे सुख-दुःख भोगनेसे) 'भोक्ता' और (अपनेको उसका स्वामी माननेसे) 'महेश्वर' बन जाता है। परन्तु (स्वरूपसे) यह पुरुष 'परमात्मा'— इस नामसे कहा जाता है। यह इस देहमें रहता हुआ भी देहसे पर (सर्वथा सम्बन्ध-रहित) ही है।

व्याख्या— **वास्तवमें पुरुष (चेतन) 'पर' ही है, पर अन्यके सम्बन्धसे वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि बन जाता है। जैसे, मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता,' पिताके सम्बन्धसे 'पुत्र', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है। ये सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, ममता करनेके लिये नहीं। वास्तविक स्वरूप तो 'पर' अर्थात् सर्वथा सम्बन्ध-रहित ही है।**

यहाँ उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि अनेक उपाधियोंका तात्पर्य एकतामें है कि चेतन-तत्त्व वास्तवमें एक ही है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य (अलग-अलग) जानता है, वह सब तरहका बर्ताव करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

व्याख्या—जो साधक पूर्वश्लोकमें आये 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' के अनुसार अपनेको देहसे सर्वथा असंग अनुभव कर लेता है, वह अपने वर्ण-आश्रम आदिके अनुसार समस्त कर्तव्य-कर्म करते हुए भी पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि पुनर्जन्म होनेमें गुणोंका संग ही कारण है (गीता १३। २१)। जैसे छाछसे निकला हुआ मक्खन पुनः छाछमें मिलकर दही नहीं बनता, ऐसे ही प्रकृतिजन्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य पुनः गुणोंसे नहीं बँधता (गीता ४। ३५)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

कई मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा अपने-आपसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

व्याख्या— **जैसे पूर्वश्लोकमें विवेकके महत्त्वको मुक्तिका उपाय बताया, ऐसे ही यहाँ ध्यानयोग आदि अन्य मुक्तिके उपाय बताते हैं। गीतामें ध्यानयोगसे (६।२८), सांख्ययोगसे (२।१५) और कर्मयोगसे (२।७१)—तीनोंसे परमात्मप्राप्तिकी बात कही गयी है। ये तीनों परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।**

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

दूसरे मनुष्य इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनोंको) नहीं जानते, पर दूसरोंसे (जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे) सुनकर ही उपासना करते हैं, ऐसे वे सुननेके अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य भी मृत्युको तर जाते हैं।

व्याख्या— **जिन मनुष्योंमें शास्त्रोंको तथा उनमें वर्णित साधनोंको समझनेकी योग्यता नहीं है, जिनका विवेक कमजोर है, पर जिनके भीतर मृत्युसे तरने (मुक्ति)-की उत्कट अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं।**

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उनको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुए समझो।

व्याख्या— **चर-अचर, स्थावर-जंगम आदि जितने भी प्राणी हैं, वे सब-के-सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे ही पैदा होते हैं। क्षेत्रज्ञ (प्रकृतिस्थ पुरुष) शरीरको मैं, मेरा, तथा मेरे लिये मान लेता है—यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है।**

पूर्वपक्ष— **संयोग सजातीयतामें ही होता है, फिर विजातीय क्षेत्र (जड़)-के साथ क्षेत्रज्ञ (चेतन)-का संयोग कैसे सम्भव है?**

उत्तरपक्ष—**ठीक है, जैसे अंधकार और सूर्यका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भी संयोग नहीं हो सकता, तथापि परमात्माका अंश होनेके कारण क्षेत्रज्ञ (जीव)-में यह शक्ति है कि वह विजातीय वस्तुको भी पकड़ सकता है,उसके साथ अपना सम्बन्ध मान सकता है। उसे यह स्वतन्त्रता परमात्माके द्वारा प्रदत्त है। इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके ही क्षेत्रज्ञने संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया** (गीता १३। २१)।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।

व्याख्या—जैसे—आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी रातका अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी गर्जना होती है; परन्तु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। इसी प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मसत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूकम्प आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परन्तु सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। बद्ध हो या मुक्त, पापी हो या धर्मात्मा, यह निर्विकार सत्ता दोनोंमें समानरूपमें स्थित रहती है।

प्रतिक्षण विनाशकी तरफ जानेवाले प्राणियोंमें विनाशरहित, सदा एकरूप रहनेवाले परमात्माको जो निर्लिप्त-निर्विकार देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है। तात्पर्य है कि जो परिवर्तनशील, नाशवान् शरीरके साथ स्वयंको देखता है, उसका देखना सही नहीं है। परन्तु जो सदा ज्यों-के-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहनेवाले परमात्मतत्त्वके साथ स्वयंको अभिन्नरूपसे देखता है, उसका देखना ही सही है।

**समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥**

क्योंकि सब जगह समरूपसे स्थित ईश्वरको समरूपसे देखनेवाला मनुष्य अपने-आपसे अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिये वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—जो मनुष्य स्थावर-जंगम, चर-अचर आदि सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता। शरीरके जन्म, मृत्यु, रोग आदि विकारोंको अपने विकार मानना ही अपने द्वारा अपनी हत्या करना अर्थात् अपनेको जन्म-मृत्युके चक्करमें डालना है।

वास्तवमें सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें आत्माका ही वर्णन है, परन्तु 'परमेश्वर' तथा 'ईश्वर' नाम आनेसे इन श्लोकोंकी व्याख्यामें परमात्माका वर्णन किया गया है; क्योंकि आत्माका परमात्मासे साधर्म्य है (गीता १३। २२)।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

जो सम्पूर्ण क्रियाओंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हुई देखता है और अपने-आपको अकर्ता देखता (अनुभव करता) है, वही यथार्थ देखता है।

व्याख्या— **जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही गीतामें कहीं गुणोंसे होनेवाली और कहीं इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं**—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (३। २७); **गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं**—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३। २८); **गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं**—'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' (१४। १९); **इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयमें बरत रही हैं**—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५। ९) आदि।

तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिजन्य ही है। अतः प्रकृति कभी किंचिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किंचिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करता है—'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५। ८) **स्वयं न करता है, न करवाता है**—'नैव कुर्वन्न कारयन्' (५। १३); **यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है**—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (१३। ३१); **जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है**—'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं……' (१८। १६) आदि।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

जिस कालमें साधक प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको एक प्रकृतिमें ही स्थित देखता है और उस प्रकृतिसे ही उन सबका विस्तार देखता है, उस कालमें वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **सृष्टिके सम्पूर्ण प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म तथा कारणशरीर एक प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृतिमें ही स्थित रहते हैं और प्रकृतिमें ही लीन होते हैं—इस प्रकार देखनेवाला ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अर्थात् प्रकृतिसे अतीत स्वतःसिद्ध अपने स्वरूप परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है।**

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१ ॥

हे कुन्तीनन्दन! यह (पुरुष स्वयं) अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्म-स्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।

व्याख्या— जैसे मकानमें रहते हुए भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए माननेपर भी हम स्वयं शरीरसे अलग हैं। स्वयं अनादि है, पर शरीर आदिवाला है। स्वयं निर्गुण है, पर शरीर गुणमय है। स्वयं परमात्मा है, पर शरीर अनात्मा है। स्वयं अव्यय है, पर शरीर नाशवान् है। इसलिये अज्ञानी मनुष्यके द्वारा स्वयंको शरीरमें स्थित माननेपर भी वास्तवमें वह शरीरमें स्थित नहीं है अर्थात् शरीरसे सर्वथा असम्बद्ध है—'न करोति न लिप्यते'। कारण कि शरीरका सम्बन्ध तो संसारके साथ है, पर स्वयंका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। अतः वास्तवमें स्वयं कभी शरीरस्थ हो सकता ही नहीं; परन्तु इस वास्तविकताकी तरफ ध्यान न देनेके कारण मनुष्य स्वयंको शरीरस्थ मान लेता है।

'न करोति न लिप्यते'—यह साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः स्वाभाविक है। तात्पर्य है कि स्वयंमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है। अतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—**चिन्मय सत्ता एक ही है, पर अहंताके कारण वह अलग-अलग दीखती है।** अपरा प्रकृतिके अंश 'अहम्' को पकड़नेके कारण यह जीव 'अंश' कहलाता है (गीता १५।७)। अगर यह अहम्को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ताके सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार, अधिष्ठान, प्रकाशक और आश्रय है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत है। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता न शरीरस्थ है और न प्रकृतिस्थ है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित (सर्वगत) है—'नित्यः सर्वगतः' (गीता २।२४)। वह सम्पूर्ण शरीरोंके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है।

सत्तामें एकदेशीयता अहम्के कारण दीखती है। वह अहम् सुखलोलुपतापर टिका हुआ है। साधन करते हुए भी साधक जहाँ है, वहीं सुख भोगने लग जाता है—'सुखसङ्गेन बध्नाति' (गीता १४।६)। यह सुखलोलुपता गुणातीत होनेतक रहती है। अतः इसमें साधकको बहुत सावधान रहना चाहिये और सावधानीपूर्वक सुखलोलुपतासे बचना चाहिये।

**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥**

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।

व्याख्या— जैसे, सूर्यके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेदका पाठ करता है, कोई शिकार करता है। परन्तु सूर्यको उन क्रियाओंका न पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है, न भोक्ता ही बनता है। इसी प्रकार आत्मा (सर्वव्यापी सत्ता) सम्पूर्ण शरीरोंको सत्ता-स्फूर्ति तो देता है, पर वास्तवमें वह न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है (गीता १८। १७), तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि)-के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष (चेतन) प्रकृति (जड़ शरीरादि) की सहायताके बिना कुछ नहीं कर सकता। इसलिये कुछ-न-कुछ करनेमें ही शरीरका उपयोग है। यदि हम कुछ भी न करना चाहें तो शरीरका क्या उपयोग है? कुछ भी उपयोग नहीं है। यदि हम कुछ भी देखना न चाहें तो आँख हमारे क्या काम आयी? कुछ भी सुनना न चाहें तो कान हमारे क्या काम आया? स्थूल क्रिया करनेमें स्थूलशरीर काम आता है। चिन्तन, मनन, ध्यान आदि करनेमें सूक्ष्मशरीर काम आता है। स्थिरता, समाधिमें कारणशरीर काम आता है। शरीर और उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसके लिये तीनों शरीर और उसकी क्रियाएँ कुछ काम नहीं आतीं। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती; क्योंकि सत्ता एक ही हो सकती है, दो हो सकती ही नहीं। अतः हमें किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार न तो क्रियाके साथ सम्बन्ध (कर्तृत्व) हो, न अप्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (कामना) हो और न प्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (ममता) हो तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहती है, पर कोई कर्ता और भोक्ता नहीं रहता।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रोंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— **क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान 'विवेक' कहलाता है। जो साधक इस विवेकको महत्त्व देकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको ठीक-ठीक जान लेते हैं तथा प्रकृति और उसके कार्य (शरीर)-को स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेते हैं, वे चिन्मय परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें एक चिन्मय तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता।**

सम्पूर्ण क्रियाएँ क्षेत्र अर्थात् जड़-विभागमें ही होती हैं। क्षेत्रज्ञ अर्थात् चेतन-विभागमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। स्थूलशरीर तथा उससे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीर तथा उससे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीर तथा उससे होनेवाली स्थिरता व समाधि—ये सभी जड़-विभागमें ही हैं। कामना, ममता, अहंता आदि सम्पूर्ण विकार जड़-विभागमें ही हैं। सम्पूर्ण पाप, ताप भी जड़-विभागमें ही हैं। <u>पराश्रय तथा परिश्रम—ये दोनों जड़-विभागमें हैं। भगवदाश्रय और विश्राम—ये दोनों चेतन-विभागमें हैं।</u> जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही 'ज्ञान' है। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं (गीता ४। ३६-३७)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—सम्पूर्ण ज्ञानोंमें उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब-के-सब मुनिलोग इस संसारसे (मुक्त होकर) परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं।

व्याख्या—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक ज्ञानोंसे उत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका निश्चित उपाय है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होनेपर क्रिया (परिश्रम) तथा पदार्थ (पराश्रय)-का अत्यन्त अभाव हो जाता है और एक चिन्मय सत्ता (विश्राम)-के सिवाय कोई जड़ वस्तु रहती ही नहीं, जो वास्तवमें है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो गये हैं, वे महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते।

व्याख्या— **कारणशरीरके सम्बन्धसे 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (स्वयंमें)'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प स्थिति तो सविकल्पमें बदल सकती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें कभी नहीं बदलता। तात्पर्य है कि निर्विकल्प स्थितिमें तो परिवर्तन होता है, पर निर्विकल्प बोधमें कभी परिवर्तन नहीं होता, वह महासर्ग अथवा महाप्रलय होनेपर भी सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।**

महासर्ग और महाप्रलय प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्ति होनेपर महासर्ग और महाप्रलयका कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि ज्ञानी महापुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध ही नहीं रहता। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेको 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहा गया है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके कार्य शरीरको पकड़नेसे मनुष्य परतन्त्र हो जाता है, जन्म-मरणमें पड़ जाता है; परन्तु शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह स्वतन्त्र हो जाता है, निरपेक्ष-जीवन हो जाता है, सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है। वह परमात्माकी सधर्मताको प्राप्त हो जाता है अर्थात् जैसे परमात्मा सत्-चित्-आनन्दरूप हैं, ऐसे ही वह ज्ञानी महापुरुष भी सत्-चित्-आनन्दरूप हो जाता है, जो कि वास्तवमें वह पहलेसे ही था !

**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३॥**

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भका स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है।

व्याख्या— जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक प्रकृतिके अंश कारणशरीरसे उसका सम्बन्ध बना रहता है और वह महाप्रलयमें कारणशरीरसहित ही प्रकृतिमें लीन होता है। जब उस जीवके कर्म परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख होते हैं, तब महासर्गके आदिमें भगवान् उसका प्रकृतिके साथ पुनः विशेष सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें (प्राणियोंके) जितने शरीर पैदा होते हैं, मूल प्रकृति तो उन सबकी माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

व्याख्या— चौरासी लाख योनियाँ, देवता, पितर, गन्धर्व, भूत-प्रेत, पिशाच, स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज आदि सम्पूर्ण योनियोंके जितने भी मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त शरीर हैं, उन सबमें भगवान् अपने चेतन-अंशरूप बीजको स्थापित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणीमें स्थित परमात्माका अंश शरीरोंकी भिन्नतासे ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व विद्यमान है (गीता १३। २)।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देही (जीवात्मा)-को देहमें बाँध देते हैं।

व्याख्या— **प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति-विभागमें ही हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण ये गुण अविनाशी चेतनको नाशवान्, जड़ शरीरमें बाँध देते हैं अर्थात् 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है'—ऐसा देहाभिमान उत्पन्न कर देते हैं। तात्पर्य है कि सभी विकार प्रकृतिके सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। चिन्मय सत्तामात्र स्वरूपमें कोई भी विकार नहीं है— 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृहदारण्यक० ४। ३। १५), 'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः' (गीता १३। २२)। विकारोंके कारण ही जन्म-मरण होता है।**

वास्तवमें गुण जीवको नहीं बाँधते, प्रत्युत जीव ही उनका संग करके बँध जाता है। अगर गुण बाँधनेवाले होते तो गुणोंके रहते हुए कोई उनसे छूट सकता ही नहीं, गुणातीत (जीवन्मुक्त) हो सकता ही नहीं!

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

हे पापरहित अर्जुन! उन गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल (स्वच्छ) होनेके कारण प्रकाशक और निर्विकार है। वह सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे (देहीको) बाँधता है।

व्याख्या— **गुणातीत होनेके बहुत समीप होनेके कारण सत्त्वगुणको अनामय (निर्विकार) कहा गया है। परन्तु सुख और ज्ञानके संगके कारण वह विकारी हो जाता है; क्योंकि संग रजोगुणका स्वरूप है। सुख और ज्ञान बाधक नहीं हैं, प्रत्युत उनका संग बाधक है। संग है— उनको अपना मान लेना। वास्तवमें सत्त्वगुण अपना है ही नहीं, वह तो प्रकृतिका है। अतः जबतक संग रहता है, तबतक मुक्ति नहीं होती; क्योंकि स्वरूप असंग है।**

सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी स्वयंके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिजन्य होनेसे 'पर' के अर्थात् पराधीन हैं। इनमें पराधीनताका सुख है, स्वरूपका सुख नहीं।

सात्त्विक ज्ञानमें तो 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह संग रहता है, पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह संग नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा रहता है और अपनेमें विशेषताका भान होता है, परन्तु तत्त्वज्ञानमें कोई द्रष्टा नहीं रहता और अपनेमें कोई कमी भी नहीं रहती तथा (व्यक्तित्व न रहनेसे) विशेषताका भान भी नहीं होता।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

हे कुन्तीनन्दन! तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले रजोगुणको तुम रागस्वरूप समझो। वह कर्मोंकी आसक्तिसे देही (जीवात्मा)-को बाँधता है।

व्याख्या— **रजोगुण रागस्वरूप है अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो प्रियता उत्पन्न होती है, वह प्रियता रजोगुण है। रजोगुण कर्मोंके संग (आसक्ति)-से मनुष्यको बाँधता है। अतः सात्त्विक कर्म भी संग होनेसे बाँधनेवाले हो जाते हैं। यदि संग न हो तो कर्म बन्धनकारक नहीं होते। इसलिये कर्मयोगसे मुक्ति हो जाती है; क्योंकि कर्मोंका और उनके फलोंका संग न होनेसे ही कर्मयोग होता है (गीता ६। ४)।**

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

और हे भरतवंशी अर्जुन! सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तुम अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला समझो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा (देहके साथ अपना सम्बन्ध माननेवालोंको) बाँधता है।

व्याख्या— **सत्त्वगुण और रजोगुण तो संग (सुखासक्ति)-से बाँधते हैं, पर तमोगुण स्वरूपसे ही बाँधनेवाला है। ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं और जीव स्वयं प्रकृति और उसके कार्य गुणोंसे सर्वथा रहित है। परन्तु गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण स्वयं गुणातीत होते हुए भी गुणोंसे बँध जाता है।**

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें और रजोगुण कर्ममें लगाकर मनुष्यपर विजय करता है। परन्तु तमोगुण ज्ञानको ढककर एवं प्रमादमें लगाकर मनुष्यपर विजय करता है।

व्याख्या—**सत्त्वगुण केवल सुख होनेपर विजय नहीं करता, प्रत्युत सुखका संग होनेपर विजय करता है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति' (गीता १४। ६)। **इसी तरह रजोगुण भी कर्मका संग होनेपर विजय करता है—**'तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्' (गीता १४। ७)। **परन्तु तमोगुण स्वरूपसे ही विजय करता है। इसलिये तमोगुणमें 'संग' शब्द नहीं आया है।**

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है।

व्याख्या— **दो गुणोंको दबाकर एक गुण बढ़ता है, बढ़ा हुआ गुण मनुष्यपर विजय करता है और विजय करके मनुष्यको बाँध देता है। जो गुण बढ़ता है, उसकी मुख्यता हो जाती है और दूसरे गुणोंकी गौणता हो जाती है। यह गुणोंका स्वभाव है।**

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

जब इस मनुष्यशरीरमें सब द्वारों (इन्द्रियों और अन्तःकरण)-में प्रकाश (स्वच्छता) और विवेक प्रकट हो जाता है, तब यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है।

व्याख्या— '**प्रकाश**' और '**ज्ञान**'—**दोनोंमें भेद है। 'प्रकाश' का अर्थ है—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जागृति अर्थात् रजोगुणसे होनेवाला मनोराज्य तथा तमोगुणसे होनेवाले निद्रा, आलस्य और प्रमाद न होकर स्वच्छता होना। 'ज्ञान' का अर्थ है—विवेक अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका ज्ञान होना। प्रकाश और ज्ञान आनेपर साधक उनको अपना गुण मानकर अभिमान न करे, प्रत्युत उनको सत्त्वगुणका ही कार्य माने और विशेषरूपसे भजन-ध्यान आदिमें लग जाय। कारण कि ऐसे समयमें किये गये साधनसे अधिक लाभ हो सकता है।**

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा—ये वृत्तियाँ पैदा होती हैं।

व्याख्या— जब रजोगुण बढ़ता है तब लोभ, प्रवृत्ति आदि वृत्तियाँ बढ़ती हैं। अतः ऐसे समय साधकको यह विचार करना चाहिये कि जब अनन्त ब्रह्माण्डोंमें लेशमात्र भी कोई वस्तु अपनी नहीं है, सब वस्तुएँ मिलने-बिछुड़नेवाली हैं, फिर अपने लिये क्या चाहिये? ऐसा विचार करके रजोगुणकी वृत्तियोंको मिटा दे, उनसे उदासीन हो जाय।

रजोगुण असंगताका विरोधी है—'रजो रागात्मकं विद्धि' (गीता १४।७)। मनुष्य क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर ही योगारूढ़ होता है (गीता ६।४)। परन्तु क्रिया और पदार्थका संग करनेके कारण रजोगुण मनुष्यको योगारूढ़ नहीं होने देता।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

हे कुरुनन्दन! तमोगुणके बढ़नेपर अप्रकाश, अप्रवृत्ति तथा प्रमाद और मोह—ये वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं।

व्याख्या—भगवान् पूर्वोक्त तीन श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके साधकको सावधान करते हैं कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ उसे अपनेमें प्रतीत होती हैं। वास्तवमें साधकका इन वृत्तियोंके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। गुण तथा गुणोंकी वृत्तियाँ प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील हैं और स्वयं परमात्माका अंश होनेसे अपरिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलके साथ अपरिवर्तनशीलका सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥

जिस समय सत्त्वगुण बढ़ा हो, उस समय यदि देहधारी मनुष्य मर जाता है तो वह उत्तमवेत्ताओंके निर्मल लोकोंमें जाता है।

व्याख्या— **गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ कर्मोंकी अपेक्षा कमजोर नहीं हैं। सात्त्विक वृत्ति भी पुण्यकर्मोंके समान ही श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें भी भावका ही महत्त्व है, पुण्यकर्मका नहीं। पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य—ये चारों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।**

यदि उत्तमवेत्ता (विवेकवान्) मनुष्य सत्त्वगुणको अपना मानते हुए उसमें रमण न करे और भगवान्के सम्मुख रहे तो वह सत्त्वगुणसे भी असंग (गुणातीत) होकर भगवान्के परमधामको चला जायगा, अन्यथा सत्त्वगुणका सम्बन्ध रहनेपर वह ब्रह्मलोकतकके ऊँचे लोकोंतक ही जायगा।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

रजोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला प्राणी कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है।

व्याख्या—**जिसने जीवनभर अच्छे कर्म किये हैं, जिसके अच्छे भाव रहे हैं, वह यदि अन्तकालमें रजोगुणके बढ़नेपर मर जाता है तो मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी उसके आचरण, भाव अच्छे रहेंगे। इसी प्रकार अच्छे कर्म करनेवाला यदि अन्तकालमें तमोगुणके बढ़नेपर मर जाता है तो पशु, पक्षी आदि मूढ़योनिमें जन्म लेनेपर भी उसके आचरण, भाव अच्छे ही रहेंगे।**

रजोगुणमें 'राग'-अंश ही जन्म-मरण देनेवाला है, 'क्रिया'- अंश नहीं। पदार्थ, क्रिया अथवा व्यक्ति, किसीमें भी राग हो जायगा तो वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेगा। मनुष्य स्वाभाविक कर्मसंगी है; क्योंकि नये कर्म करनेका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

विवेकी पुरुषोंने शुभ कर्मका तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है, राजस कर्मका फल दुःख कहा है और तामस कर्मका फल अज्ञान (मूढ़ता) कहा है।

व्याख्या—वास्तवमें कर्म सात्त्विक-राजस-तामस नहीं होते, प्रत्युत कर्ता ही सात्त्विक-राजस-तामस होता है। जैसा कर्ता होता है, उसके द्वारा वैसे ही कर्म होते हैं। जैसे कर्म होते हैं, वैसा ही भाव दृढ़ होता है। जैसा भाव होता है, उसके अनुसार ही अन्तकालीन चिन्तन होता है। अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार ही गति होती है (गीता ८।६)।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान और रजोगुणसे लोभ (आदि) ही उत्पन्न होते हैं। तमोगुणसे प्रमाद, मोह एवं अज्ञान भी उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—**ज्ञान (विवेक) सत्त्वगुणसे प्रकट होता है और संग न करनेपर बढ़ते-बढ़ते तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। परन्तु रजोगुण-तमोगुणसे होनेवाले लोभ, प्रमाद, मोह, अज्ञान बढ़ते हैं तो कोई नुकसान बाकी नहीं रहता, कोई दुःख बाकी नहीं रहता, कोई मूढ़योनि बाकी नहीं रहती, कोई नरक बाकी नहीं रहता !**

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं और निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित तामस मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं।

व्याख्या— **सात्त्विक, राजस अथवा तामस मनुष्यकी गति तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार होगी, पर सुख-दुःखका भोग उनके कर्मोंके अनुसार ही होगा। उदाहरणार्थ, किसीके कर्म तो अच्छे हैं, पर अन्तिम चिन्तन पशुका हो गया तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह पशु बन जायगा, परन्तु उस पशुयोनिमें भी उसे कर्मोंके अनुसार बहुत सुख-आराम मिलेगा। इसी प्रकार किसीके कर्म तो बुरे हैं, पर अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह मनुष्य बन गया तो उस मनुष्ययोनिमें भी उसे कर्मोंके अनुसार दुःख, शोक, रोग आदि मिलेंगे।**

आधुनिक वेदान्तमें आया है कि सत्त्वगुणसे पुण्य तथा रजोगुणसे पाप उत्पन्न होता है; किन्तु तमोगुणसे आयु वृथा होती है—

सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः।
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत्॥
(पंचदशी २। १५)

परन्तु यह बात गीतासे विरुद्ध पड़ती है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि तमोगुणसे मनुष्यको अधोगतिकी प्राप्ति होती है—'अधो गच्छन्ति तामसाः'**। पहले भी भगवान्‌ने कहा है—**'तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते' **(१४। १५)।**

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

जब विवेकी (विचार-कुशल) मनुष्य तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे पर अनुभव करता है, तब वह मेरे सत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **सम्पूर्ण क्रियाओंके होनेमें गुण ही कारण हैं, अन्य कोई कारण नहीं है। विवेकशील साधक जिससे गुण प्रकाशित होते हैं, उस प्रकाशकमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करता है अर्थात् अपनेको गुणों (क्रियाओं और पदार्थों)-से असंग अनुभव करता है। गुणोंसे असंग अनुभव करनेपर वह योगारूढ़ हो जाता है (गीता ६। ४)। योगारूढ़ होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है और उस शान्तिमें न अटकनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।**

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देहधारी (विवेकी मनुष्य) देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःखोंसे रहित हुआ अमरताका अनुभव करता है।

व्याख्या— **मनुष्यमात्रके भीतर यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। यदि वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। उदाहरणार्थ, हमें भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे भूख और प्यास मिट जाती है। यदि अन्न-जल न होते तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है (गीता ८। १९)। परन्तु जब मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व न देकर शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है, तब उसमें मृत्युका भय और अमरताकी इच्छा पैदा हो जाती है। जब वह अपने विवेकको महत्त्व देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं स्वयं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ' तब उसे अपनी स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है। अतः साधकको चाहिये कि वह जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था आदि शरीरके विकारोंको मुख्यता न देकर अपनी चिन्मय सत्ता (होनेपन)-को ही मुख्यता दे।**

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

अर्जुन बोले—हे प्रभो! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ मनुष्य किन लक्षणोंसे युक्त होता है? उसके आचरण कैसे होते हैं? और इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

श्रीभगवान् बोले—हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।

व्याख्या—वृत्तियाँ एक समान किसीकी भी नहीं रहतीं। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ तो गुणातीत महापुरुषके अन्तःकरणमें भी होती हैं,पर उसका उन वृत्तियोंसे राग-द्वेष नहीं होता। वृत्तियाँ अपने-आप आती और चली जाती हैं। गुणातीत महापुरुषकी दृष्टि उधर जाती ही नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय और कुछ रहता ही नहीं।

गुणातीत महापुरुषमें 'अनुकूलता बनी रहे, प्रतिकूलता मिट जाय'—ऐसी इच्छा नहीं होती। निर्विकारताका अनुभव होनेपर उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, पर स्वयंपर उनका असर नहीं पड़ता। अन्तःकरणमें वृत्तियाँ बदलती हैं, पर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहता है। साधकपर भी वृत्तियोंका असर नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि गुणातीत मनुष्य साधकका आदर्श होता है, साधक उसका अनुयायी होता है।

साधकमात्रके लिये यह आवश्यक है कि वह शरीरका धर्म अपनेमें न माने। वृत्तियाँ अन्तःकरणमें हैं, अपनेमें नहीं। अतः साधक वृत्तियोंको न तो अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें ही माने। कारण कि वृत्तियाँ तो आने-जानेवाली हैं, पर स्वयं निरन्तर रहनेवाला है। वृत्तियाँ हममें नहीं होतीं, प्रत्युत अन्तःकरणमें ही होती हैं। यदि वृत्तियाँ हममें होतीं तो जबतक हम रहते, तबतक वृत्तियाँ भी रहतीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। वृत्तियोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और हमारा (स्वयंका) सम्बन्ध परमात्माके साथ है। इसलिये वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव करनेवाला स्वयं एक ही रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

जो उदासीनकी तरह स्थित है और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—इस भावसे जो (अपने स्वरूपमें ही) स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।

व्याख्या— **तीन विभाग हैं—'करना', 'होना' और 'है'। 'करना' होनेमें और 'होना' 'है' में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिसके अन्तःकरणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा संसारी मनुष्य मानता है कि मैं क्रिया कर रहा हूँ—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' **(गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसे भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक तो अनुभव करता है कि क्रिया हो रही है—** गुणा गुणेषु वर्तन्ते' **(गीता ३। २८) अर्थात् मैं कुछ भी नहीं करता हूँ—**'नैव किञ्चित्करोमीति' **(गीता ५। ८)। परन्तु जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा गुणातीत महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है') का ही अनुभव करता है—**'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'**। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वतः एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है')-पर ही रहती है।**

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

जो धीर मनुष्य दुःख-सुखमें सम तथा अपने स्वरूपमें स्थित रहता है; जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें सम रहता है; जो प्रिय-अप्रियमें सम रहता है; जो अपनी निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है; जो मान-अपमानमें सम रहता है; जो मित्र-शत्रुके पक्षमें सम रहता है और जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह मनुष्य गुणातीत कहा जाता है।

व्याख्या—यहाँ भगवान्‌ने सुखः-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान—ये आठ परस्परविरुद्ध नाम लिये हैं, जिनमें साधारण मनुष्योंकी तो विषमता हो ही जाती है, साधकोंकी भी कभी-कभी विषमता हो जाती है। इन आठ कठिन स्थलोंमें जिसकी समता हो जाती है, उसके लिये अन्य सभी अवस्थाओंमें समता रखना सुगम हो जाता है। गुणातीत महापुरुषकी इन आठों स्थलोंमें स्वतः-स्वाभाविक समता रहती है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

और जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।

व्याख्या— **भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसे भक्तिसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं (गीता १४। २७)। ब्रह्म समग्र भगवान्का ही एक अंग (स्वरूप) है (गीता ७। २९-३०)। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भक्तिको ज्ञानप्राप्तिका साधन बताया गया है।**

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें सगुणकी उपासनाको निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे अतीत) बताया गया है; जैसे— 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' (११। २५। २५) 'मत्सेवायां तु निर्गुणा' (११। २५। २७) आदि। **इसलिये सगुणोपासक भक्त तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है।**

सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम 'सगुण' नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस अथवा तामस क्रियाएँ तो हो सकती हैं, पर वे उन गुणोंके वशमें नहीं होते।

भगवान्की तरफ चलनेसे भक्त स्वतः और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसे भगवान्के समग्र रूपका भी ज्ञान हो जाता है और प्रेम भी प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

क्योंकि ब्रह्मका और अविनाशी अमृतका तथा शाश्वत धर्मका और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ।

व्याख्या— **'ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतका आश्रय मैं हूँ'—यह निर्गुण-निराकारकी तथा 'ज्ञानयोग' की बात है। 'शाश्वत धर्मका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-साकारकी तथा 'कर्मयोग' की बात है। 'ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-निराकारकी तथा 'ध्यानयोग' की बात है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे भक्तको ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग—तीनोंकी सिद्धि हो जाती है। कारण कि समग्र भगवान्‌के एक अंशमें सब कुछ विद्यमान है (गीता १०।४२)। भगवान् ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि सबकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हैं।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षको (प्रवाहरूपसे) अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसार-वृक्षको जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है।

व्याख्या—परिवर्तनशील होनेपर भी संसारको 'अव्यय' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें निरन्तर परिवर्तन होनेपर भी कुछ व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् अन्त नहीं होता। जैसे समुद्रके ऊपर कितनी लहरें उठती दीखती हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर उसका जल उतना ही रहता है, घटता-बढ़ता नहीं। ऐसे ही निरन्तर परिवर्तन दीखनेपर भी संसार अव्यय ही रहता है।

परिवर्तनशील संसार भी परमात्माकी शक्ति 'अपरा प्रकृति' का कार्य होनेसे परमात्माका ही स्वरूप है—'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)। परिवर्तनरूप अपरा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है। यह संसार उस परमात्माकी ही लहरें हैं। जैसे ऊपरसे लहरें दीखनेपर भी समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है, भीतरसे समुद्र सम-शान्त है, ऐसे ही ऊपरसे संसार परिवर्तनशील दीखते हुए भी भीतरसे एक सम, शान्त परमात्मतत्त्व है (गीता १३। २७)। तात्पर्य यह हुआ कि संसार संसाररूपसे अव्यय नहीं है, प्रत्युत भगवद्रूपसे अव्यय है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा-
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसार-वृक्षकी गुणों (सत्त्व, रज और तम)-के द्वारा बढ़ी हुई तथा विषयरूप कोंपलोंवाली शाखाएँ नीचे, (मध्यमें) और ऊपर (सब जगह) फैली हुई हैं। मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले मूल भी नीचे और ऊपर (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।

व्याख्या— **प्रथम श्लोकमें आये** 'ऊर्ध्वमूलम्' **पदका तात्पर्य है— परमात्मा, जो संसारके रचयिता तथा उसके मूल आधार हैं; और यहाँ** 'मूलानि' **पदका तात्पर्य है— तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल, जो संसारमें मनुष्यको बाँधते हैं। साधकको इन मूलोंका तो छेदन करना है और ऊर्ध्वमूल परमात्माका आश्रय लेना है।**

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

इस संसार-वृक्षका जैसा रूप देखनेमें आता है, वैसा यहाँ (विचार करनेपर) मिलता नहीं; क्योंकि इसका न तो आदि है, न अन्त है और न स्थिति ही है। इसलिये इस दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप अश्‍वत्थ-वृक्षको दृढ़ असंगतारूप शस्त्रके द्वारा काटकर—

व्याख्या— भगवान् आदिमें भी हैं, अन्तमें भी हैं और मध्यमें भी हैं (गीता १० । २०,३२); परन्तु संसार न आदिमें है, न अन्तमें है और न मध्यमें ही है अर्थात् संसारकी सत्ता ही नहीं है—'नासतो विद्यते भाव:'** (गीता २ । १६)। अत: एक भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है।**

इस श्लोकमें आये 'छित्त्वा'** पदका तात्पर्य काटना अथवा नाश (अभाव) करना नहीं है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कारण कि यह संसार-वृक्ष भगवान्‌की अपरा प्रकृति होनेसे अव्यय है।**

संसार रागके कारण ही दीखता है। जिस वस्तुमें राग होता है, उसी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता दीखती है। यदि राग न रहे तो नेत्रोंसे संसारकी सत्ता दीखते हुए भी महत्ता नहीं रहती। अत: 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'** पदोंका तात्पर्य है—संसारके रागको सर्वथा मिटा देना अर्थात् अपने अन्त:करणमें एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध न मानना, सृष्टिमात्रकी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानना। वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, महत्ता बाधक है। हम जिस वस्तुको महत्ता देते हैं, वही बाँधनेवाली हो जाती है। महत्ता हमारी दी हुई है, उसमें है नहीं। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर संसारका संसाररूपसे अभाव हो जाता है और वह भगवद्‌रूपसे दीखने लगता है—'**वासुदेव: सर्वम्'**।**

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा-
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

जो (अपनी दृष्टिसे) मान और मोहसे रहित हो गये हैं, जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको जीत लिया है, जो नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगे हुए हैं, जो सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गये हैं, जो सुख-दुःख नामवाले द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गये हैं, (ऐसे ऊँची स्थितिवाले) मोहरहित साधक भक्त उस अविनाशी परमपद (परमात्मा)-को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— **जिस परमात्माको इसी अध्यायके प्रथम श्लोकमें 'ऊर्ध्वमूलम्' पदसे कहा गया तथा जिस परमपदरूपी परमात्माकी खोज करनेके लिये चौथे श्लोकमें प्रेरणा की गयी और आगे छठे श्लोकमें जिसकी महिमाका वर्णन किया गया है, उसी परमात्मस्वरूप परमपदको यहाँ 'अव्ययम् पदम्' कहा गया है। जो ऊँची स्थितिके साधक भक्त मान, मोह, ममता आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हो जाते हैं, वे उस अविनाशी परमपदको अवश्य प्राप्त होते हैं, जिसे प्राप्त होनेपर जीव लौटकर नाशवान् संसारमें नहीं आता।**

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

उस परमपदको न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है और जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परम धाम है।

व्याख्या— यह छठा श्लोक पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेवाला है। इन श्लोकोंमें भगवान् यह बताते हैं कि वह अविनाशी पद मेरा ही धाम है, जो मुझसे अभिन्न है और जीव भी मेरा सनातन अंश होनेके कारण मुझसे अभिन्न है। अतः भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है। इसी कारण उस धामकी प्राप्ति होनेपर फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। जबतक हम अपने उस धाममें नहीं जायँगे, तबतक हम मुसाफिरकी तरह अनेक योनियोंमें तथा अनेक लोकोंमें घूमते ही रहेंगे, कहीं भी ठहर नहीं सकेंगे। यदि हम ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोकमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी लौटकर आना पड़ेगा (गीता ८। १६)। कारण कि यह सम्पूर्ण संसार (मात्र ब्रह्माण्ड) परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियों और लोकोंमें हमारा भटकना तभी बन्द होगा, जब हम अपने असली घरमें पहुँच जायँगे।

परमपदको न तो आधिभौतिक प्रकाश (सूर्य, चन्द्र आदि) प्रकाशित कर सकता है, न आधिदैविक प्रकाश (नेत्र, मन, बुद्धि, वाणी आदि) ही प्रकाशित कर सकता है। कारण कि यह स्वयंप्रकाश है। इसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है; परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोकमें 'ममैवांशः' पदमें 'एव' कहनेका तात्पर्य है कि जीव केवल भगवान्‌का ही अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण होता है, ऐसे जीवमें भगवान् और प्रकृतिके अंशका मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल भगवान्‌का ही अंश है। अतः इसका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ है, प्रकृतिके साथ नहीं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तो यह खुद जोड़ता है।

प्रकृतिके कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अनर्थका कारण है। जीव शरीरको अपनी तरफ खींचता है (कर्षति) अर्थात् उसे अपना मानता है, पर जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको अपना मानता ही नहीं! यही जीवकी मूल भूल है।

हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है—'ममैवांशो जीवलोके', इसलिये हम परमात्मामें ही स्थित हैं। परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ है, इसलिये वे प्रकृतिमें ही स्थित हैं—'प्रकृतिस्थानि'। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं और परमात्मासे अलग हम कभी हुए ही नहीं, होंगे ही नहीं, हो सकते ही नहीं। हमसे दूर-से-दूर कोई वस्तु है तो वह शरीर है और समीप-से-समीप कोई वस्तु है तो वह परमात्मा है। परन्तु शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेके कारण मनुष्यको उलटा दीखता है अर्थात् शरीर तो समीप दीखता है, परमात्मा दूर! शरीर तो प्राप्त दीखता है, परमात्मा अप्राप्त!

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको (ग्रहण करके ले जाती है), ऐसे ही शरीरादिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीरको छोड़ता है, वहाँसे इन (मनसहित इन्द्रियों)-को ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें चला जाता है।

व्याख्या— **वास्तवमें शुद्ध चेतन (आत्मा)-का किसी शरीरको प्राप्त करना और उसका त्याग करके दूसरे शरीरमें जाना हो नहीं सकता; क्योंकि आत्मा अचल और समानरूपसे सर्वत्र व्याप्त है (गीता २। १७,२४)। शरीरोंका ग्रहण और त्याग परिच्छिन्न (एकदेशीय) तत्त्वके द्वारा ही होना सम्भव है, जबकि आत्मा कभी किसी भी देश-कालादिमें परिच्छिन्न नहीं हो सकती। परन्तु जब यह आत्मा प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य कर लेती है अर्थात् शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान लेती है, तब सूक्ष्मशरीरके आने-जानेको उसका आना-जाना कहा जाता है।**

वायुका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जीव वायुकी तरह निर्लिप्त रहता है। शरीरसे लिप्त होनेपर भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता ज्यों-की-त्यों रहती है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' **(गीता १३। ३१)।**

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

यह जीवात्मा मनका आश्रय लेकर ही श्रोत्र और नेत्र तथा त्वचा, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है।

व्याख्या— **जैसे कोई व्यापारी किसी कारणवश एक जगहसे दूकान उठाकर दूसरी जगह लगाता है, ऐसे ही जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है और जैसे पहले शरीरमें विषयोंका रागपूर्वक सेवन करता था, ऐसे ही दूसरे शरीरमें जानेपर (वही स्वभाव होनेसे) विषयोंका सेवन करने लगता है। इस प्रकार जीवात्मा बार-बार विषयोंमें आसक्तिके कारण ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है। कारण कि विषयोंका सेवन करनेसे स्वयंकी गौणता और शरीर-संसारकी मुख्यता हो जाती है। इसलिये स्वयं भी जगद्रूप हो जाता है (गीता ७। १३)।**

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

शरीरको छोड़कर जाते हुए या दूसरे शरीरमें स्थित हुए अथवा विषयोंको भोगते हुए भी गुणोंसे युक्त जीवात्माके स्वरूपको मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही) जानते हैं।

व्याख्या— शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना और विषयोंको भोगना—तीनों क्रियाएँ अलग-अलग हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा एक ही है—यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी अविवेकी मनुष्य इसको नहीं जानता अर्थात् अपने अनुभवको महत्त्व नहीं देता। कारण कि तीनों गुणोंसे मोहित होनेके कारण वह बेहोश-सा रहता है (गीता ७। १३)।

भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें पाँच क्रियाएँ बतायी थीं—सुनना, देखना, स्पर्श करना, स्वाद लेना तथा सूँघना, और इस श्लोकमें तीन क्रियाएँ बतायी हैं—शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना तथा विषयोंको भोगना। इन आठोंमें कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती, पर स्वयं निरन्तर रहता है। क्रियाएँ तो आठ हैं, पर इन सबमें स्वयं एक ही रहता है। इसलिये इनके भाव और अभावका, आरम्भ और अन्तका ज्ञान सबको होता है। जिसे आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है, वह स्वयं नित्य होता है—यह नियम है।

अनेक अवस्थाओंमें स्वयं एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओंमें जाता है। यदि स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओंका अलग-अलग अनुभव कौन करता? परन्तु ऐसी बात प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरफ नहीं देखते, प्रत्युत ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले योगी मनुष्य ही देखते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यत्न करनेवाले योगीलोग अपने-आपमें स्थित इस परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं। परन्तु जिन्होंने अपना अन्त:करण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अविवेकी मनुष्य यत्न करनेपर भी इस तत्त्वका अनुभव नहीं करते।

व्याख्या—**सदा न भोग साथ रहता है, न संग्रह साथ रहता है— यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। परन्तु जो मनुष्य शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, साधन करते हुए भी अपने विवेककी तरफ ध्यान नहीं देते, भोग और संग्रहसे अलगावका अनुभव नहीं करते, वे मनुष्य 'अकृतात्मा' हैं। ऐसे मनुष्योंको अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'अकृतबुद्धि' और 'दुर्मति' कहा है। यद्यपि परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतरमें राग, आसक्ति, सुखबुद्धि पड़ी रहनेसे वे साधन करते हुए भी परमात्माको नहीं जानते। कारण कि भोग तथा संग्रहमें रुचि रखनेवाले मनुष्यका विवेक स्थिर नहीं रहता।**

पूर्वश्लोकमें जिन्हें 'विमूढा:' कहा गया है, उन्हींको यहाँ 'अचेतस: कहा गया है। गुणोंसे मोहित होनेके कारण वे न तो विषयोंके विभागको जानते हैं और न स्वयंके विभागको ही जानते हैं अर्थात् भोगोंका संयोग-वियोग अलग है और स्वयं अलग है—यह नहीं जानते।

सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें भगवान् यह बताना चाहते हैं कि मेरा अंश जीवात्मा सर्वथा अलग है और जिस सामग्री (शरीरादि पदार्थ और क्रिया)-को वह भूलसे अपनी मानता है, वह सर्वथा अलग है। सूर्य और अमावस्याकी रात्रिकी तरह दोनोंका विभाग ही अलग-अलग है। उनका परस्पर संयोग होना सम्भव ही नहीं है। जो उपर्युक्त जड़ और चेतन—दोनोंके विभागको सर्वथा अलग-अलग देखता है, वही ज्ञानी और योगी है। परन्तु जो दोनोंको मिला हुआ देखता है, वह अज्ञानी और भोगी है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

सूर्यको प्राप्त हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमामें है तथा जो तेज अग्निमें है,उस तेजको मेरा ही जान।

व्याख्या— **प्रभाव और महत्त्वकी तरफ आकर्षित होना जीवका स्वभाव है। प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धसे जीव प्राकृत पदार्थोंके प्रभाव और महत्त्वसे प्रभावित हो जाता है। अतः जीवपर पड़े प्राकृत पदार्थोंके प्रभाव और महत्त्वको हटानेके लिये भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि उन पदार्थोंमें जो प्रभाव और महत्त्व देखनेमें आता है, वह वस्तुतः (मूलमें) मेरा ही है, उनका नहीं। सर्वोपरि प्रभावशाली तथा महत्त्वशाली मैं ही हूँ। मेरे ही प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं।**

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ और (मैं ही) रसस्वरूप चन्द्रमा होकर समस्त ओषधियों (वनस्पतियों)-को पुष्ट करता हूँ।

व्याख्या— **पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सब भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७।४)। अतः इसके उत्पादक, धारक, पालक, संरक्षक, प्रकाशक आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे अपरा प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न है।**

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः* पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला मैं प्राण-अपानसे युक्त वैश्वानर (जठराग्नि) होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।

व्याख्या—**पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करना, चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंका पोषण करना, फिर उनको खानेवाले प्राणियोंके भीतर जठराग्नि होकर खाये हुए अन्नको पचाना आदि सम्पूर्ण कार्य भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं। परन्तु मनुष्य उन कार्योंको अपने द्वारा किया जानेवाला मानकर व्यर्थमें ही अभिमान कर लेता है; जैसे बैलगाड़ीके नीचे छायामें चलनेवाला कुत्ता समझता है कि बैलगाड़ी मैं ही चलाता हूँ!**

---

* गीतामें सब जगह प्राण और अपान—इन दोका ही वर्णन हुआ है; जैसे—

(१) अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
(४। २९)

(२) प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
(५। २७)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ। वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— **पिछले तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने प्रभाव और क्रियारूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया, अब प्रस्तुत श्लोकमें स्वयं अपना वर्णन करते हैं। तात्पर्य है कि इस श्लोकमें स्वयं भगवान्‌का वर्णन है, आदित्यगत, चन्द्रगत, अग्निगत अथवा वैश्वानरगत भगवान्‌का वर्णन नहीं। मूलमें एक ही तत्त्व है,केवल वर्णनमें भिन्नता है।**

पहले 'ममैवांशो जीवलोके'(१५।७) **पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् अपने हैं और यहाँ** 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' **पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् अपनेमें हैं। भगवान्‌को अपना स्वीकार करनेसे उनमें स्वाभाविक प्रेम होगा और अपनेमें स्वीकार करनेसे उन्हें पानेके लिये दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं रहेगी। सबके हृदयमें रहनेके कारण भगवान् प्राणिमात्रको नित्यप्राप्त हैं; अतः किसी भी साधकको भगवान्‌की प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये।**

भगवान् कहते हैं कि वेद अनेक हैं, पर उन सबमें जाननेयोग्य एक मैं ही हूँ और उन सबको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ— 'वासुदेवः सर्वम्'।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है।

व्याख्या— **पहले छठे श्लोकमें और फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्ने अलौकिक तत्त्वका वर्णन किया कि स्वतन्त्र सत्ता अलौकिककी ही है , लौकिककी नहीं। लौकिककी सत्ता अलौकिकसे ही है। अलौकिकसे ही लौकिक प्रकाशित होता है। लौकिकमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब अलौकिकका ही है। अब सोलहवें श्लोकमें भगवान्** 'लोके' **पदसे 'लौकिक तत्त्व' का वर्णन करते हैं।**

क्षर (जगत्) तथा अक्षर (जीव)—दोनों लौकिक हैं, और भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' **(गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो योगमार्ग भी लौकिक हैं—** 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा……' **(गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; परन्तु भक्तियोग अलौकिक है, जो भगवान्को लेकर चलता है। सातवें अध्यायमें वर्णित अपरा प्रकृतिको यहाँ 'क्षर' नामसे और परा प्रकृतिको यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।**

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तम पुरुष तो अन्य (विलक्षण) ही है, जो 'परमात्मा'—इस नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।

व्याख्या— **पुरुषोत्तमको 'अन्य' कहनेका तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर तो लौकिक हैं, पर पुरुषोत्तम दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं। अतः परमात्मा विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं। परमात्माके होनेमें भक्त, सन्त-महात्मा, वेद और शास्त्र ही प्रमाण हैं। 'अन्य' का स्पष्टीकरण भगवान्‌ने अगले श्लोकमें किया है।**

भगवान् मात्र प्राणियोंका पालन-पोषण करते हैं। पालन-पोषण करनेमें भगवान् किसीके साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते। वे भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा, आस्तिक-नास्तिक आदि सबका समानरूपसे पालन-पोषण करते हैं। प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है कि भगवान्‌द्वारा रचित सृष्टिमें सूर्य सबको समानरूपसे प्रकाश देता है, पृथ्वी सबको समानरूपसे धारण करती है, वायु श्वास लेनेके लिये सबको समानरूपसे प्राप्त होती है, अन्न-जल सबको समानरूपसे तृप्त करते हैं, इत्यादि। जब भगवान्‌के द्वारा रचित सृष्टि भी इतनी निष्पक्ष, उदार है तो फिर भगवान् स्वयं कितने निष्पक्ष, उदार होंगे!

आधुनिक वेदान्तियोंने ईश्वरको कल्पित बताकर साधक-जगत्‌की बहुत बड़ी हानि की है! उन्हें इस बातका भय है कि ईश्वरको माननेसे अपने अद्वैत सिद्धान्तमें कमी आ जायगी! परन्तु ईश्वर किसकी कल्पना है—इसका उत्तर उनके पास नहीं है। वास्तवमें सत्ता एक ही (अद्वैत) है, पर अपने रागके कारण दूसरी सत्ता (द्वैत) दीखती है। दूसरी सत्ताका तात्पर्य संसारसे है, ईश्वरसे नहीं; क्योंकि संसार 'पर' है और ईश्वर 'स्व' (स्वकीय) है। अपना राग मिटाये बिना दूसरी सत्ता नहीं मिटेगी। राग तो अपना है, पर मान लिया ईश्वरको कल्पित! अतः ईश्वरको कल्पित न मानकर अपना राग मिटाना चाहिये। ईश्वर कल्पित नहीं है, प्रत्युत अलौकिक है। वह मायारूपी धेनुका बछड़ा नहीं है, प्रत्युत साँड़ है! उपनिषद्‌में भी आया है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' **(श्वेताश्वतर० ४। १०) 'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये। आजतक जिस ईश्वरके असंख्य भक्त हो चुके हैं, वह कल्पित कैसे हो सकता है?'**

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

कारण कि मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या— **क्षर और अक्षरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता है। क्षर और अक्षर दोनों परमात्मामें ही रहते हैं। परन्तु अक्षर अर्थात् जीव क्षरके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसके अधीन हो जाता है—**'ययेदं धार्यते जगत्' **(गीता ७।५)। परमात्मा क्षरके अधीन नहीं होते, प्रत्युत क्षरसे अतीत रहते हैं। इसलिये परमात्मा अक्षर (जीव)-से भी उत्तम हैं। यदि जीव जगत्‌के साथ सम्बन्ध न जोड़कर उसके स्वामी परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़े तो वह परमात्मासे अभिन्न (आत्मीय) हो जायगा—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' **(गीता ७।१८)**

मुक्तिमें तो अक्षर (स्वरूप)-में स्थिति होती है, पर भक्तिमें अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है। स्वरूप अंश है, पुरुषोत्तम अंशी हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।

व्याख्या— **किसी विशेष महत्त्वपूर्ण बातपर मन रागपूर्वक लगता है और बुद्धि श्रद्धापूर्वक। जब मनुष्य भगवान्‌को क्षरसे अतीत जान लेता है, तब उसका मन क्षरसे हटकर भगवान्‌में लग जाता है। जब वह भगवान्‌को अक्षरसे उत्तम जान लेता है, तब उसकी बुद्धि भगवान्‌में लग जाती है फिर उसकी प्रत्येक वृत्ति और क्रियासे स्वतः भगवान्‌का भजन होता है। कारण कि उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।**

गीतामें 'सर्ववित्' शब्द केवल भक्तके लिये ही यहाँ आया है। भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक— दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। कारण कि लौकिकके अन्तर्गत अलौकिक नहीं आ सकता, पर अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है। अतः निर्गुण तत्त्व (अक्षर)-को जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी सर्ववित् नहीं होता, प्रत्युत समग्र भगवान्‌को जाननेवाला भक्त सर्ववित् होता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। हे भरतवंशी अर्जुन! इसको जानकर मनुष्य ज्ञानवान् (ज्ञात-ज्ञातव्य) तथा कृतकृत्य हो जाता है।

व्याख्या—भगवान्ने इस अध्यायमें अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे अर्थात् अलौकिक समग्ररूपसे प्रकट किया है, इसलिये इसे 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है।

पूर्वश्लोकमें सर्वभावसे भगवान्का भजन करने अर्थात् अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात विशेषरूपसे आयी है। भक्तिमें मनुष्य प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है। अतः पूर्व-श्लोकमें प्राप्तप्राप्तव्य होनेकी बात माननी चाहिये। इस श्लोकमें ('बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च' पदमें) ज्ञातज्ञातव्य तथा कृतकृत्य होनेकी बात आयी है।

लौकिक क्षर और अक्षर तो प्राप्त हैं; अतः अलौकिक परमात्मा ही प्राप्तव्य हैं। इस श्लोकसे यह भाव निकलता है कि भक्तको ज्ञानयोग तथा कर्मयोग—दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ज्ञातज्ञातव्य और कृतकृत्य भी हो जाता है (गीता ७। २९-३०, १०। १०-११)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षोडशोऽध्यायः

सोलहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी अत्यन्त शुद्धि, ज्ञानके लिये योगमें दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहना और शरीर-मन-वाणीकी सरलता।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोध न करना, संसारकी कामनाका त्याग, अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना, चुगली न करना, प्राणियोंपर दया करना, सांसारिक विषयोंमें न ललचाना, अन्तःकरणकी कोमलता, अकर्तव्य करनेमें लज्जा, चपलताका अभाव।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शरीरकी शुद्धि, वैर-भावका न होना और मानको न चाहना; हे भरतवंशी अर्जुन! ये सभी दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

हे पृथानन्दन! दम्भ करना, घमण्ड करना और अभिमान करना, क्रोध करना तथा कठोरता रखना और अविवेकका होना भी—ये सभी आसुरी सम्पदाको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं-
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

उसके बाद उस परमपद (परमात्मा)-की खोज करनी चाहिये। जिसको प्राप्त हुए मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिससे अनादिकालसे चली आनेवाली यह सृष्टि विस्तारको प्राप्त हुई है, उस आदि पुरुष परमात्माके ही मैं शरण हूँ।

व्याख्या—संसार नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है—'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, इसलिये उनकी खोज होती है—'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है,जिसका पहलेसे अभाव है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान है। परमात्मा नित्यप्राप्त और स्वतःसिद्ध हैं, इसलिये उनकी खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोज करनेके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जाय तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो पर न दीखनेसे यह वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम उसकी खोज करते हैं। परमात्मा गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान हैं। तात्पर्य है कि वास्तवमें परमात्मा खोये नहीं हैं, पर संसारकी ओर दृष्टि (सम्मुखता) रहनेसे हमारी दृष्टि परमात्माकी ओर नहीं जाती। उधर दृष्टि न जाना ही उसका खोना है।

परमात्मा कभी अप्राप्त हुए ही नहीं, अप्राप्त हैं ही नहीं, अप्राप्त हो सकते ही नहीं। उनकी अप्राप्ति नहीं हुई है, प्रत्युत विस्मृति हुई है, उनसे विमुखता हुई है, उनकी अप्राप्तिका वहम हुआ है। परमात्माकी खोज करनेका उपाय है—अप्राप्त संसारका त्याग करना अर्थात् उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना, उसे अस्वीकार करना। अतः संसारके त्यागमें ही परमात्माकी खोज निहित है—'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः' (श्रीमद्भा० १०। १४। २८)।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। ब्रह्मसूत्रमें आया है—'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' (१। ३। २) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है'। तात्पर्य है कि स्वरूप जिसका अंश है, उस अंशी (परमात्मा)-के प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। अंश (स्वरूप)-में निजानन्द (अखण्ड आनन्द) है और अंशीमें परमानन्द (अनन्त आनन्द) है। जो मुक्तिमें नहीं अटकता, उसमें सन्तोष नहीं करता, उसे प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम (अनन्त आनन्द)-की प्राप्ति होती है—'मद्भक्तिं लभते पराम्' (गीता १८। ५४)। इसीलिये प्रस्तुत श्लोकमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करने अर्थात् मुक्त होनेके बाद परमात्माकी खोज करके उनकी शरण ग्रहण करनेकी बात कही गयी है।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी सम्पत्ति मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पत्ति बन्धनके लिये मानी गयी है। हे पाण्डव! तुम दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुए हो, इसलिये तुम शोक (चिन्ता) मत करो।

व्याख्या— जीवके एक ओर भगवान् हैं और एक ओर संसार है। जब वह भगवान्‌के सम्मुख होता है तब उसमें दैवी-सम्पत्ति आती है और जब वह संसारके सम्मुख होता है तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आती है।

दूसरोंके सुखके लिये कर्म करना अथवा दूसरोंका सुख चाहना 'चेतनता' है, और अपने सुखके लिये कर्म करना अथवा अपना सुख चाहना 'जड़ता' है। भजन-ध्यान भी अपने सुखके लिये, अपने मान-आदरके लिये करना जड़ता है। चेतनताकी मुख्यतासे दैवी-सम्पत्ति आती है और जड़ताकी मुख्यतासे आसुरी-सम्पत्ति आती है ।

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति उत्पन्न होती है, और मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दैवी-सम्पत्ति प्रकट होती है। मूल दोष है—शरीर-संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्‌की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध-जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है।

जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तभीतक गुणोंकी महत्ता दीखती है और उनका अभिमान होता है। कोई भी अवगुण न रहे तो अभिमान नहीं होता। अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। अभिमानके कारण मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखने लगती है—यह आसुरी-सम्पत्ति है। अभिमान होनेके कारण दैवी-सम्पत्ति भी आसुरी-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली बन जाती है। जब गुणोंके साथ अवगुण नहीं रहते, तब गुणोंकी महत्ता नहीं दीखती और उनका अभिमान भी नहीं होता। अभिमान न होनेके कारण अर्जुनको अपनेमें गुण (श्रेष्ठता) नहीं दीखते। इसलिये उनकी चिन्ता दूर करनेके लिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति है, भले ही वह तुम्हें न दीखे।

गीतामें 'मा शुचः' पद दो बार आये हैं—एक यहाँ और दूसरा अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें। यहाँ ये पद 'साधन' के विषयमें और अठारहवें अध्यायमें 'सिद्धि' के विषयमें चिन्ता न करनेके लिये आये हैं। अतः भक्तको इन दोनों ही विषयोंमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

इस लोकमें दो तरहके ही प्राणियोंकी सृष्टि है— दैवी और आसुरी। दैवीको तो मैंने विस्तारसे कह दिया, अब हे पार्थ! तुम मुझसे आसुरीको (विस्तारसे) सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये—इसको नहीं जानते और उनमें न तो बाह्य शुद्धि, न श्रेष्ठ आचरण तथा न सत्य-पालन ही होता है।

व्याख्या—आसुर मनुष्य केवल अपना सुख-आराम, अपना स्वार्थ देखते हैं। जिससे अपनेको सुख मिलता दीखे, उसीमें उनकी प्रवृत्ति होती है और जिससे दुःख मिलता दीखे, स्वार्थ सिद्ध होता न दीखे, उसीसे उनकी निवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमें शास्त्र ही प्रमाण है (गीता १६। २४); परन्तु अपने शरीर और प्राणोंमें मोह रहनेके कारण आसुर मनुष्योंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्रको लेकर नहीं होती। आसुर स्वभावके कारण वे शास्त्रकी बात सुनते ही नहीं और अगर सुन भी लें तो उसे समझ सकते ही नहीं। कभी सन्त-महात्माओंसे शास्त्रकी बात सुननेपर भी वे उन्हें स्वीकार नहीं करते।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

वे कहा करते हैं कि संसार असत्य, बिना मर्यादाके और बिना ईश्वरके अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है। इसलिये काम ही इसका कारण है, इसके सिवाय और क्या कारण है? (और कारण हो ही नहीं सकता।)

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

इस (पूर्वोक्त नास्तिक) दृष्टिका आश्रय लेनेवाले जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूपको नहीं मानते, जिनकी बुद्धि तुच्छ है, जो उग्र कर्म करनेवाले और संसारके शत्रु हैं, उन मनुष्योंकी सामर्थ्यका उपयोग जगत्का नाश करनेके लिये ही होता है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले तथा अपवित्र व्रत धारण करनेवाले मनुष्य मोहके कारण दुराग्रहोंको धारण करके (संसारमें) विचरते रहते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली अपार चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले और 'जो कुछ है, वह इतना ही है'—ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर पदार्थोंका भोग करनेके लिये अन्यायपूर्वक धन-संचय करनेकी चेष्टा करते रहते हैं।

व्याख्या— **जबतक मनुष्यका सम्बन्ध शरीर-संसारके साथ रहता है, तबतक उसकी कामनाओंका अन्त नहीं आता। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें भी आया है कि अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली होती हैं। कारण कि उन्होंने अविनाशी तत्त्वसे विमुख होकर नाशवान्‌को सत्ता और महत्ता दे दी तथा उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया।**

आसुर स्वभाववाले मनुष्य काम और क्रोधको स्वाभाविक मानते हैं। काम और क्रोधके सिवाय उन्हें और कुछ दीखता ही नहीं, इनसे आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। मनुष्य समझता है कि क्रोध करनेसे दूसरा हमारे वशमें रहेगा। परन्तु जो मजबूर, लाचार होकर हमारे वशमें हुआ है वह कबतक वशमें रहेगा? मौका पड़ते ही वह घात करेगा। अतः क्रोधका परिणाम बुरा ही होता है।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

(वे इस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं कि—) इतनी वस्तुएँ तो हमने आज प्राप्त कर लीं और अब इस मनोरथको प्राप्त (पूरा) कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास है ही, इतना धन फिर भी हो जायगा।

व्याख्या— पूर्वपक्ष— दैवी-सम्पत्तिवाले साधकोंके मनमें भी कभी-कभी व्यापार आदिको लेकर ऐसी स्फुरणाएँ होती हैं कि इतना काम तो हो गया, इतना काम करना बाकी है और इतना काम आगे हो जायगा, इतना पैसा (व्यापार आदिमें) आ गया है और इतना पैसा वहाँ देना है, आदि-आदि। फिर उनमें और आसुरी-सम्पत्तिवाले मनुष्योंमें क्या अन्तर हुआ?

उत्तरपक्ष— दोनोंकी वृत्तियाँ एक-सी दीखनेपर भी दोनोंके उद्देश्यमें बहुत अन्तर है। साधकका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका होता है; अतः वह उन वृत्तियोंमें तल्लीन नहीं होता। परन्तु आसुरी सम्पत्तिवालोंका उद्देश्य धनका संग्रह करने तथा भोग भोगनेका रहता है; अतः वे उन वृत्तियोंमें ही तल्लीन रहते हैं।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

वह शत्रु तो हमारे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी हम मार डालेंगे। हम ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं। हम भोग भोगनेवाले हैं। हम सिद्ध हैं। हम बड़े बलवान् और सुखी हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

हम धनवान् हैं, बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं, हमारे समान दूसरा कौन है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज करेंगे—इस तरह वे अज्ञानसे मोहित रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

(कामनाओंके कारण) तरह-तरहसे भ्रमित चित्तवाले, मोह-जालमें अच्छी तरहसे फँसे हुए तथा पदार्थों और भोगोंमें अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य भयंकर नरकोंमें गिरते हैं।

व्याख्या—**ऊँचे लोकोंकी अथवा नरकोंकी प्राप्ति होनेमें क्रिया और पदार्थ कारण नहीं हैं, प्रत्युत भीतरका भाव कारण है। जैसा भाव होता है, वैसी ही क्रिया अपने-आप होती है। इसलिये भगवान्‌ने आसुर मनुष्योंके भावों (मनोरथ आदि)-का वर्णन किया है।**

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

अपनेको सबसे अधिक पूज्य माननेवाले, अकड़ रखनेवाले तथा धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले वे मनुष्य दम्भसे अविधिपूर्वक नाममात्रके यज्ञोंसे यजन करते हैं।

व्याख्या—आसुर स्वभाववाले मनुष्य दूसरोंसे प्रतिस्पर्धा रखते हैं और इसलिये यज्ञ करते हैं कि दूसरोंकी अपेक्षा हममें कोई कमी न रह जाय अर्थात् कोई हमें यज्ञ करनेवालोंकी अपेक्षा नीचा न मान ले। वे लोगोंमें केवल अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये यज्ञ करते हैं, फलपर विश्वास नहीं रखते। दूसरा व्यक्ति यज्ञ करता है तो वे ऐसा समझते हैं कि वह भी अपनी प्रसिद्धिके लिये ही यज्ञ करता है। ईश्वर और परलोकपर विश्वास न होनेके कारण उनकी दृष्टि विधिपर नहीं रहती। विधिका विचार वही करते हैं, जो ईश्वर और परलोकको मानते हैं कि अमुक कर्म करेंगे तो उसका अमुक फल मिलेगा।

आसुर मनुष्योंकी चेष्टाएँ प्रायः दिखावटी होती हैं; परन्तु उनके भीतर यह अभिमान होता है कि हम दूसरोंसे भी बढ़िया यज्ञ करेंगे। उनमें अपनी जानकारी-का भी अभिमान होता है कि हम समझदार हैं, दूसरे सब मूर्ख हैं, समझते नहीं। वास्तवमें उनमें कोरी मूर्खता भरी होती है।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

वे अहंकार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोधका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरमें (रहनेवाले) मुझ अन्तर्यामीके साथ द्वेष करते हैं तथा (मेरे और दूसरोंके गुणोंमें) दोषदृष्टि रखते हैं।

व्याख्या— **आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपनी जिदपर अड़े रहते हैं और अपनी बातको ही सच्ची मानते हैं। यह सिद्धान्त है कि जो खुद दुःखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। आसुर मनुष्य खुद दुःखी रहते हैं, इसलिये वे दूसरोंको भी दुःख देते हैं। उन्हें कहीं भी गुण नहीं दीखता, प्रत्युत दोष-ही-दोष दीखते हैं। उनकी ऐसी मान्यता होती है कि सब अच्छाई हममें ही है। उन्हें संसारमें कोई अच्छा आदमी दीखता ही नहीं।**

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

उन द्वेष करनेवाले, क्रूर-स्वभाववाले और संसारमें महान् नीच, अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता रहता हूँ।

व्याख्या— **भगवान्‌का क्रूर, निर्दय आसुर मनुष्योंमें भी अपनापन है! भगवान् उनको पराया नहीं समझते, अपना द्वेषी-वैरी नहीं समझते, प्रत्युत अपना ही समझते हैं। जैसे हितैषी अध्यापक विद्यार्थियोंपर शासन करके, उनकी ताड़ना करके पढ़ाते हैं जिससे वे विद्वान् बन जायँ, उन्नत बन जायँ, ऐसे ही जो मनुष्य भगवान्‌को नहीं मानते, उनका खण्डन करते हैं, उनको भगवान् आसुरी योनियोंमें गिराते हैं, जिससे उनके किये हुए पाप दूर हो जायँ और वे शुद्ध-निर्मल बनकर अपना कल्याण कर लें।**

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

हे कुन्तीनन्दन! वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके ही जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं।

व्याख्या— **यहाँ 'मामप्राप्यैव' (मुझे प्राप्त न करके) पदसे भगवान् मानो पश्चात्तापके साथ कहते हैं कि मैंने अत्यन्त कृपा करके जीवोंको मनुष्यशरीर देकर इन्हें अपने उद्धारका अवसर दिया था और यह विश्वास किया कि ये अपना उद्धार अवश्य कर लेंगे, परन्तु ये नराधम इतने मूढ़ और विश्वासघाती निकले कि जिस मनुष्यजन्मसे मेरी प्राप्ति करनी थी, उससे मेरी प्राप्ति न करके उलटे अधम गतिमें चले गये!**

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे जीवात्माका पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।

व्याख्या— **भोगकी इच्छाको लेकर 'काम' तथा संग्रहकी इच्छाको लेकर 'लोभ' आता है और इन दोनोंमें बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है। ये तीनों ही आसुरी सम्पत्तिके मूल हैं। सब पाप इन तीनोंसे ही होते हैं।**

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

हे कुन्तीनन्दन! इन नरकके तीनों दरवाजोंसे रहित हुआ जो मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है, वह उससे परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **काम-क्रोध-लोभसे रहित होनेका तात्पर्य है—इनके त्यागका उद्देश्य रखना, इनके वशमें न होना। कामसे, क्रोधसे अथवा लोभसे किया गया शुभ-कर्म भी कल्याणकारक नहीं होता। इसलिये इनके त्यागकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। काम-क्रोध-लोभको पकड़े रहनेसे कल्याणका आचरण (जप, ध्यान आदि) करनेपर भी कल्याण नहीं होता; क्योंकि ये सम्पूर्ण पापोंके कारण (गीता ३। ३७) तथा सम्पूर्ण अच्छे गुणोंका भक्षण करनेवाले हैं।**

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि (अन्त:करणकी शुद्धि)-को, न सुख (शान्ति)-को और न परम गतिको ही प्राप्त होता है।

व्याख्या— **जैसे रोगी अपनी दृष्टिसे तो कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करता है, पर वह आसक्तिवश कुपथ्य ले लेता है, जिससे उसका रोग और अधिक बढ़ जाता है। ऐसे ही आसुर मनुष्य अपनी दृष्टिसे तो अच्छा काम करते हैं, पर भीतरमें काम, क्रोध और लोभ रहनेके कारण वे शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे काम करने लग जाते हैं, जिससे वे अधोगतिमें चले जाते हैं। वे अभिमानके कारण अपनेको सिद्ध और सुखी मानते हैं—**'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी' **(गीता १६।१४), पर वास्तवमें वे न सिद्ध होते हैं, न सुखी। उनके भीतर अभिमान और द्वेषकी अग्नि जलती रहती है।**

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

अतः तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।

व्याख्या— **सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि आसुर स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यको नहीं जानते। यहाँ भगवान् बताते हैं कि वह आसुर-स्वभाव शास्त्रके अनुसार आचरण करनेसे ही मिटेगा।**

पूर्वपक्ष— **जो शास्त्र पढ़े हुए नहीं हैं उन्हें कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा?**

उत्तरपक्ष— **यदि उनका अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो अपने कर्तव्यका ज्ञान स्वतः होगा; क्योंकि आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। यदि अपने कल्याणका उद्देश्य नहीं होगा तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उलटे अज्ञान बढ़ेगा कि हम अधिक जानते हैं!**

जिनके आचरण शास्त्रके अनुसार होते हैं, ऐसे सन्त-महापुरुषोंके आचरणों और वचनोंके अनुसार चलना भी शास्त्रोंके अनुसार ही चलना है। वास्तवमें देखा जाय तो जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए हैं, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों आदिसे ही शास्त्र बनते हैं।

इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। कारण कि उस समय समाजकी क्या परिस्थिति थी, और किसने किस परिस्थितिमें क्या किया और क्यों किया, किस परिस्थितिमें क्या कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता नहीं लग सकता। इसलिये इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्गदर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय शास्त्रके विधि-निषेधसे ही हो सकता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक (देवता आदिका) पूजन करते हैं, उनकी निष्ठा फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी-तामसी?

व्याख्या—**दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके भाव, आचरण और विचार 'सात्त्विक' होते हैं और आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके भाव, आचरण और विचार 'राजस-तामस' होते हैं। भाव, आचरण और विचारके अनुसार ही मनुष्यकी निष्ठा (स्थिति) होती है।**

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी—ऐसे तीन तरहकी ही होती है, उसको (तुम मुझसे) सुनो।

व्याख्या— यद्यपि अर्जुनने निष्ठाको जाननेके लिये प्रश्न किया था, तथापि भगवान् उसका उत्तर श्रद्धाको लेकर देते हैं; क्योंकि श्रद्धाके अनुसार ही निष्ठा होती है।

शास्त्रविधिको न जाननेपर भी प्रत्येक मनुष्यमें स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली स्वतःसिद्ध श्रद्धा तो रहती है। इसलिये भगवान् उस श्रद्धाके भेद बताते हैं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। इसलिये जो जैसी श्रद्धावाला है, वही उसका स्वरूप है अर्थात् वही उसकी निष्ठा (स्थिति) है।

व्याख्या— **अर्जुनने पूछा था कि जो मनुष्य शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, उनकी निष्ठा क्या होती है? तो भगवान् यहाँ उसका उत्तर देते हैं—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' **अर्थात् जो मनुष्य जैसी श्रद्धावाला है, वैसी ही उसकी निष्ठा होगी।**

स्वरूप (परमात्माका अंश) तो सबका शुद्ध ही है, पर संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिको लेकर अन्तःकरणमें किसी एक गुणकी प्रधानता हो जाती है अर्थात् जैसा संग, शास्त्र आदि मिलता है, वैसा ही मनुष्यका अन्तःकरण बन जाता है और उस अन्तःकरणके अनुसार ही उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा बन जाती है। इसलिये मनुष्यको सदा-सर्वदा सात्त्विक संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिका ही सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसका अन्तःकरण तथा उसके अनुसार उसकी श्रद्धा भी सात्त्विकी बन जायगी, जो उसका उद्धार करनेवाली होगी। इसके विपरीत मनुष्यको राजस-तामस संग, शास्त्र आदिका सेवन कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे उसकी श्रद्धा भी राजसी-तामसी बन जायगी, जो उसका पतन करनेवाली होगी।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्षों तथा राक्षसोंका और दूसरे जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेतों और भूतगणोंका पूजन करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित घोर तप करते हैं; जो दम्भ और अहंकारसे अच्छी तरह युक्त हैं; जो भोग-पदार्थ, आसक्ति और हठसे युक्त हैं; जो शरीरमें स्थित पाँच भूतोंको अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरको तथा अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको तू आसुर निष्ठावाले (आसुरी सम्पत्तिवाले) समझ।

व्याख्या—भगवान्‌ने अबतक उन मनुष्योंकी बात बतायी, जो शास्त्रविधिको न जाननेके कारण उसका 'अज्ञतापूर्वक' त्याग करते हैं; परन्तु अपने इष्ट तथा उसके पूजनमें श्रद्धा रखते हैं। अब इन दो श्लोकोंमें भगवान् उन श्रद्धाविहीन मनुष्योंका वर्णन करते हैं, जो शास्त्रविधिका 'विरोधपूर्वक' त्याग करते हैं। यहाँ श्रद्धा, शास्त्रविधि, प्राणिसमुदाय और भगवान्—इन चारोंके साथ विरोध है। ऐसा विरोध दूसरी जगह आये राजस-तामस वर्णनमें नहीं है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहार भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मोंमें भी गुणोंको लेकर तीन प्रकारकी रुचि होती है। तू उनके इस भेदको सुन।

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या-
आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले, स्थिर रहनेवाले, हृदयको शक्ति देनेवाले, रसयुक्त तथा चिकने—ऐसे आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखे, अति रूखे और अति दाहकारक आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

जो भोजन सड़ा हुआ, रसरहित, दुर्गन्धित, बासी और जूठा है तथा जो महान् अपवित्र (मांस आदि) भी है, वह तामस मनुष्यको प्रिय होता है।

व्याख्या— चार श्लोकोंके उपर्युक्त प्रकरणमें सात्त्विक, राजस और तामस आहारका वर्णन दीखता है; परन्तु वास्तवमें यहाँ आहारका नहीं, प्रत्युत आहारीकी रुचिका ही वर्णन हुआ है। इसलिये यहाँ 'प्रियः', 'सात्त्विकप्रियाः', 'राजसस्येष्टाः' और 'तामसप्रियम्' पदोंमें 'प्रिय' और 'इष्ट' शब्द आये हैं, जो रुचिके वाचक हैं।

सात्त्विक आहारीके लिये पहले भोजनका फल बताकर फिर भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया गया है; क्योंकि सात्त्विक मनुष्य किसी भी कार्यमें प्रवृत्त होता है तो सबसे पहले उसके परिणामपर विचार करता है। राजस आहारीके लिये पहले भोजनके पदार्थोंका वर्णन करके फिर उसका फल बताया गया है; क्योंकि राजस मनुष्य रागके कारण सर्वप्रथम भोजनको ही देखता है, उसके परिणामपर प्रायः विचार करता ही नहीं। तामस आहारीके वर्णनमें भोजनका परिणाम बताया ही नहीं गया; क्योंकि तामस मनुष्य मूढ़ताके कारण भोजन और उसके परिणामपर विचार करता ही नहीं। सात्त्विकका पहले विचार है, राजसका पीछे विचार है, तामसका विचार है ही नहीं!

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस तरह मनको समाधान (सन्तुष्ट) करके फलेच्छारहित मनुष्योंद्वारा जो शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

परन्तु हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! जो फलकी इच्छाको लेकर ही किया जाता है अथवा दम्भ (दिखावटीपन)-के लिये भी किया जाता है, उस यज्ञको तुम राजस समझो।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्न-दानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस कहते हैं।

व्याख्या— **इन यज्ञोंमें कर्ता, ज्ञान, क्रिया, धृति, बुद्धि, संग, शास्त्र, खान-पान आदि यदि सात्त्विक होंगे तो वह यज्ञ सात्त्विक हो जायगा, यदि राजस होंगे तो वह यज्ञ राजस हो जायगा, और यदि तामस होंगे तो वह तामस हो जायगा।**

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं　शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका यथायोग्य पूजन करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्यका पालन करना और हिंसा न करना—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

व्याख्या— **शारीरिक तपमें 'त्याग' मुख्य है; जैसे— पूजनमें अपनेमें बड़प्पनके भावका त्याग है, शुद्धि रखनेमें आलस्य-प्रमादका त्याग है, सरलता रखनेमें अभिमानका त्याग है, ब्रह्मचर्यमें विषय-सुखका त्याग है, अहिंसामें अपने सुखके भावका त्याग है। इस प्रकार त्याग मुख्य होनेसे शारीरिक तप होता है।**

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

जो किसीको भी उद्विग्न न करनेवाला, सत्य और प्रिय तथा हितकारक भाषण है, वह तथा स्वाध्याय और अभ्यास (नामजप आदि) भी वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

मनकी प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मनका निग्रह और भावोंकी भलीभाँति शुद्धि—इस तरह यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

परम श्रद्धासे युक्त फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा (जो) तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन)-का तप किया जाता है, उसको सात्त्विक कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा दिखानेके भावसे भी किया जाता है, वह इस लोकमें अनिश्चित और नाशवान् फल देनेवाला तप राजस कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे अपनेको पीड़ा देकर अथवा दूसरोंको कष्ट देनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

दान देना कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अनुपकारीको अर्थात् निष्कामभावसे दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

व्याख्या—**यह सात्त्विक दान वास्तवमें 'त्याग' है। यह वह दान नहीं है, जिसके लिये कहा गया है—'एक गुना दान, सहस्रगुना पुण्य'। कारण कि उस दानसे (सहस्रके साथ) सम्बन्ध जुड़ता है, जबकि त्यागसे सम्बन्ध टूटता है।**

गीतामें वर्णित सात्त्विक गुण त्यागकी तरफ जाता है। इसलिये भगवान्‌ने इसे 'अनामय' कहा है (गीता १४।६)। सत्त्वगुण सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) करता है, रजोगुण सम्बन्ध जोड़ता है और तमोगुण मूढ़ता लाता है।

गीताके अनुसार दूसरेके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञ' है, सदा प्रसन्न रहना 'तप' है और उसीकी वस्तु मानकर उसीको दे देना 'दान' है। स्वार्थबुद्धिपूर्वक अपने लिये यज्ञ-तप-दान करना आसुरी अथवा राक्षसी स्वभाव है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक और प्रत्युपकारके लिये अथवा फलप्राप्तिका उद्देश्य बनाकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

जो दान बिना सत्कारके तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और कालमें कुपात्रको दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।

व्याख्या— **शास्त्रमें आया है कि कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है—**'दानमेकं कलौ युगे' **(मनुस्मृति १।८६, महा०शान्ति० २३१।२८, स्कंद० नागर० ५१।६७, पद्म० सृष्टि० १८।४४१ आदि)। अतः जिस-किसी प्रकारसे भी दान दिया जाय, वह कल्याण ही करता है—***प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान। जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥* **(मानस, ७।१०३ ख)। इसका तात्पर्य है कि कलियुगमें यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभकर्मोंको विधिपूर्वक करना कठिन है; अतः किसी तरह देनेकी, त्याग करनेकी आदत पड़ जाय।**

गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विक, राजस और तामस भेद किया गया है, वहाँ जो सात्त्विक विभाग है, वह ग्राह्य है; क्योंकि वह मुक्ति देनेवाला है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' **और जो राजस-तामस विभाग है, वह त्याज्य है; क्योंकि वह बाँधनेवाला है—**'निबन्धायासुरी मता' (गीता १६।५)।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

ॐ, तत्, सत्—इन तीन प्रकारके नामोंसे जिस परमात्माका निर्देश (संकेत) किया गया है, उसी परमात्मासे सृष्टिके आदिमें वेदों तथा ब्राह्मणों और यज्ञोंकी रचना हुई है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

इसलिये वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है—ऐसा मानकर मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा फलकी इच्छासे रहित होकर अनेक प्रकारकी यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

हे पार्थ! 'सत्'—ऐसा यह परमात्माका नाम सत्तामात्रमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा प्रशंसनीय कर्मके साथ 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है।

व्याख्या— परमात्माके अस्तित्व या होनेपनको 'सद्भाव' कहते हैं, जिसका कभी अभाव नहीं होता—'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६)। सभी आस्तिकजन यह तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता कोई विलक्षण शक्ति है, जो अपरिवर्तनशील है। संसार प्रतिक्षण बदलनेवाला है। संसार पहले भी नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहा है। समस्त प्राणी-पदार्थ मिले हैं और बिछुड़ जायँगे—यह सभीका अनुभव है। फिर भी संसारमें जो होनापन दीख रहा है, वह वास्तवमें परमात्माका है, संसारका नहीं। परमात्माकी सत्तासे ही प्रतिक्षण बदलनेवाला संसार सत्तावान्‌की तरह दीख रहा है।

अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावोंको 'साधुभाव' कहते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे श्रेष्ठ भावोंके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ भाव अर्थात् सद्गुण-सदाचार दैवी-सम्पत्ति है। दैवी-सम्पत्ति 'सत्' है। मुक्ति देनेवाले, परमात्मप्राप्ति करानेवाले सब साधन 'सत्' हैं।

यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत, पूजा-पाठ, विवाह आदि जितने भी शास्त्रविहित शुभ-कर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं। यदि इन प्रशंसनीय कर्मोंका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ न हो तो ये 'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्रविहित कर्ममात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव भी यज्ञ, तप आदि प्रशंसनीय कर्म करते हैं, तथापि असद्भाव अर्थात् अपने स्वार्थ और दूसरेके अहितका भाव होनेसे वे बाँधनेवाले असत्कर्म हो जाते हैं (गीता १७। १९)। उनसे यदि ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो वहाँसे लौटकर आना पड़ता है (गीता ८। १६)। परन्तु भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाले मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते (गीता ६। ४०); क्योंकि उसका फल 'सत्' होता है। जो कर्म स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके प्राणिमात्रके हितके भावसे किये जाते हैं, वही वास्तवमें प्रशंसनीय कर्म होते हैं।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यज्ञ तथा तप और दानरूप क्रियामें जो स्थिति (निष्ठा) है, वह भी 'सत्'—ऐसे कही जाती है और उस परमात्माके निमित्त किया जानेवाला कर्म भी 'सत्'—ऐसा कहा जाता है।

व्याख्या— **मुक्ति चाहनेवाले निष्कामभावसे कर्म करते हैं—**'मोक्षकाङ्क्षिभिः' **(गीता १७।२५), और भक्ति चाहनेवाले भगवान्‌के लिये कर्म करते हैं (गीता ९।२६—२८)।**

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

हे पार्थ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा और भी जो कुछ किया जाय, वह सब 'असत्'—ऐसा कहा जाता है। उसका फल न तो यहाँ होता है और न मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।

व्याख्या— **छोटे-से-छोटा और साधारण-से-साधारण कर्म भी यदि परमात्माके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक किया जाय तो वह कर्म 'सत्' हो जाता है अर्थात् परमात्मप्राप्ति करानेवाला हो जाता है। परन्तु बड़े-से-बड़ा यज्ञादि कर्म भी यदि श्रद्धापूर्वक और शास्त्रीय विधि-विधानसे सकामभावपूर्वक किया जाय तो वह कर्म नाशवान् फल देकर नष्ट हो जाता है। यदि वे यज्ञादि कर्म वेदोंपर, शास्त्रोंपर तथा भगवान्पर अश्रद्धा करके, केवल अपनी मान-बड़ाई, आदर-सत्कार पानेके उद्देश्यसे किये जायँ तो वे सब असत् हो जाते हैं। उनका न इस लोकमें फल मिलता है, न परलोकमें अर्थात् उसका कहीं भी सत् (श्रेष्ठ, कल्याणकारक) फल नहीं होता।**

पूर्वपक्ष—**यदि भगवन्नाम-जप, कीर्तन आदि अश्रद्धापूर्वक किये जायँ तो वे भी असत् हो जायँगे! फिर शास्त्रोंमें आयी नाम-जप, कीर्तन आदिकी अतुलनीय महिमाकी सार्थकता क्या हुई?**

उत्तरपक्ष—**नाम-जप, कीर्तन आदि यदि अश्रद्धापूर्वक भी किये जाते हैं तो वे असत् नहीं होते; क्योंकि उनमें भगवान्का सम्बन्ध होनेसे वे 'कर्म' नहीं हैं, प्रत्युत 'उपासना' हैं।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

व्याख्या— **विवेकद्वारा प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेका नाम 'संन्यास' (सांख्ययोग) है, और कर्म तथा फलकी आसक्ति छोड़नेका नाम 'त्याग' (कर्मयोग) है।**

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—कई विद्वान् काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं और कई विद्वान् सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं। कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये और कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तू संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें मेरा निश्चय सुन; क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको तो करना ही चाहिये; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

व्याख्या— **मनीषीका अर्थ है—विचारशील। जो कर्म अपनी कोई कामना न रखकर दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, वे कर्म पवित्र करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् दुर्गुण-दुराचार, पाप आदि मलको दूर करके महान् आनन्द देनेवाले हो जाते हैं। परन्तु वे ही कर्म यदि अपनी कामना रखकर और दूसरोंका अहित करनेके लिये किये जायँ तो वे अपवित्र करनेवाले अर्थात् लोक-परलोकमें महान् दुःख देनेवाले हो जाते हैं।**

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

हे पार्थ! इन (यज्ञ, दान और तपरूप) कर्मोंको तथा दूसरे भी कर्मोंको आसक्ति और फलोंकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये—यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।

व्याख्या— **कर्मासक्ति और फलासक्ति ही खास बन्धन है, जिससे छूटनेपर ही मनुष्य योगारूढ़ होता है (गीता ६। ४)। इसलिये इस श्लोकमें कर्मासक्ति और फलासक्ति—दोनोंके त्यागकी बात आयी है।**

शुभ-कर्म भी निष्कामभाव होनेसे ही कल्याण करनेवाले होते हैं। यदि निष्कामभाव न हो तो शुभ-कर्म भी बन्धनकारक हो जाते हैं—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' **(गीता ८। १६)।**

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

नियत कर्मका तो त्याग करना उचित नहीं है। उसका मोहपूर्वक त्याग करना तामस कहा गया है।

व्याख्या— **शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी 'विहित' कर्म कहलाते हैं। उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो कर्तव्य आवश्यक है, उसके लिये वह 'नियत' कर्म कहलाता है। विहितकी अपेक्षा भी नियत कर्ममें मनुष्य-की विशेष जिम्मेवारी होती है। जैसे, किसीको पहरेपर खड़ा कर दिया अथवा जल पिलानेके लिये प्याऊपर बैठा दिया तो यह उसके लिये नियत कर्म हो गया। नियत कर्मके त्यागका अधिक दोष लगता है। नियतका त्याग करनेसे ही विप्लव होता है। नियत कर्मका त्याग करनेके कारण ही आजकल समाजमें अव्यवस्था हो रही है। अतः रुपये कम मिलें या अधिक, सुख-आराम कम मिले या अधिक, अपने नियत कर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियतका मोहपूर्वक त्याग करना तामस है, जिसका फल अधोगतिकी प्राप्ति है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः' (गीता १४। १८)।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

जो कुछ कर्म है, वह दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर कोई शारीरिक परिश्रमके भयसे उसका त्याग कर दे तो वह राजस त्याग करके भी त्यागके फलको नहीं पाता।

व्याख्या— **त्यागका फल शान्ति है**—'त्यागाच्छान्ति-रनन्तरम्' **(गीता १२। १२) और रागका फल दुःख है**— 'रजसस्तु फलं दुःखम्' **(गीता १४। १६)। राजस मनुष्यको त्यागका फल 'शान्ति' तो नहीं मिलती, पर रागका फल 'दुःख' तो मिलता ही है!**

राजस मनुष्य त्याग करके भी उसके फल (शान्ति)-को नहीं पाता; क्योंकि उसने जो त्याग किया है, वह अपने सुख-आरामके लिये ही किया है। ऐसा त्याग तो पशु-पक्षी आदि भी करते हैं। अपने सुख-आरामके लिये शुभ-कर्मोंका त्याग करनेसे राजस मनुष्यको उसका फल दण्डरूपसे अवश्य भोगना पड़ता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

हे अर्जुन! 'केवल कर्तव्यमात्र करना है'— ऐसा समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।

व्याख्या— राजस त्यागमें शारीरिक परिश्रमके भयसे और तामस त्यागमें मोहपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाता है। परन्तु सात्त्विक त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जाता, प्रत्युत कर्मोंको कर्तव्यमात्र समझकर निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक किया जाता है। राजस तथा तामस त्यागमें बाहरसे तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद दीखता है, पर भीतरसे सम्बन्ध जुड़ा रहता है। परन्तु सात्त्विक त्यागमें बाहरसे कर्म करनेपर भी भीतरसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

एक मार्मिक बात है कि कर्तव्यमात्र समझकर जो भी कर्म किया जाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। लौकिक साधन (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग)-में शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद मुख्य है, इसलिये साधकको प्रत्येक कर्म कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये। स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे तो बन्धन होता है, पर सम्बन्ध न जोड़कर कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे मुक्ति होती है।

अलौकिक साधन (भक्तियोग)-में भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना मुख्य है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान, कथा, कीर्तन आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपने प्रेमास्पदका कार्य (सेवा-पूजन) समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये प्रेमपूर्वक करने चाहिये। जैसे, दवा कर्तव्य समझकर ली जाती है, पर भोजन कर्तव्य समझकर नहीं किया जाता, प्रत्युत अपनी भूख मिटानेके लिये किया जाता है। ऐसे ही भक्तको भी जप, ध्यान आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपनी स्वयंकी भूख (आवश्यकता) मिटाकर भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध जाग्रत् करनेके लिये करने चाहिये। यदि वह जप, ध्यान आदि कर्तव्य समझकर करेगा तो भगवत्सम्बन्ध (प्रेम) जाग्रत् नहीं होगा।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है।

व्याख्या— **मनुष्यका स्वभाव है कि वह रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्याग करता है। राग और द्वेष— दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् कहते हैं कि वास्तवमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो शुभ कर्मका ग्रहण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं और अशुभ कर्मका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं।**

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

कारण कि देहधारी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करना सम्भव नहीं है। इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—ऐसा कहा जाता है।

व्याख्या—'कर्मफलत्याग' का तात्पर्य है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। कारण कि कर्मफलका त्याग हो ही नहीं सकता; जैसे—शरीर भी कर्मफल है, फिर उसका त्याग कैसे होगा? भोजन करनेपर तृप्तिका त्याग कैसे होगा? खेती करनेपर अन्नका त्याग कैसे होगा? अतः साधकको कर्मफलकी इच्छाका त्याग करना है। फलेच्छाका त्याग करनेसे साधक सुखी-दुःखी नहीं होगा। इसलिये गीतामें फलेच्छाके त्यागको ही फलका त्याग कहा गया है। कर्मयोगमें कर्मफलकी इच्छाका त्याग होता है और ज्ञानयोगमें कर्तृत्वाभिमानका।

बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, प्रत्युत भीतरका त्याग ही त्याग है। यदि कोई बाहरसे त्याग करके एकान्तमें, वनमें या हिमालयमें चला जाय तो भी संसारका बीज शरीर तो उसके साथ है ही। मरनेवालेका अपने शरीर-सहित सब व्यक्तियों और पदार्थोंका त्याग हो जाता है, पर इससे उसका मोक्ष नहीं हो जाता। अतः हमारे भीतरकी कामना-ममता-आसक्ति ही बाँधनेवाली हैं, संसार बाँधनेवाला नहीं है। इसलिये अपने लिये कुछ न करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (गीता ४। २३)। यदि कोई समाधि लगा ले तो उस समय बाहरकी क्रियाओंका सम्बन्ध छूट जाता है। परन्तु समाधि भी एक क्रिया है, इसलिये समाधिसे भी व्युत्थान हो जाता है; क्योंकि समाधिमें प्रकृतिजन्य कारण-शरीरका सम्बन्ध बना रहता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको कर्मोंका इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके बाद भी होता है; परन्तु कर्मफलका त्याग करनेवालोंको कहीं भी नहीं होता।

व्याख्या— **जिस परिस्थितिको मनुष्य चाहता है, वह 'इष्ट' (अनुकूल) कर्मफल है, जिस परिस्थितिको मनुष्य नहीं चाहता, वह 'अनिष्ट' (प्रतिकूल) कर्मफल है, और जिसमें कुछ भाग इष्टका तथा कुछ भाग अनिष्टका होता है, वह 'मिश्रित' कर्मफल है। वास्तवमें देखा जाय तो संसारमें प्रायः मिश्रित ही फल होता है अर्थात् इष्टमें भी आंशिक अनिष्ट और अनिष्टमें भी आंशिक इष्ट रहता ही है। जो मनुष्य फलकी इच्छा रखकर कर्म करते हैं, उन्हें उपर्युक्त तीनों कर्मफल अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति-के रूपमें प्राप्त होते हैं, जिनसे वे सुखी-दुःखी होते रहते हैं। अनुकूल परिस्थितिसे सुखी होना और प्रतिकूल परिस्थितिसे दुःखी होना ही बन्धन है। परन्तु फलेच्छाका त्याग करके कार्य करनेवाले मनुष्योंको इस जन्ममें या मरनेके बाद भी कर्मफल भोगना नहीं पड़ता। पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार इस जन्ममें उसके सामने अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति तो आती है, पर वे उनसे सुखी-दुःखी नहीं होते।**

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

हे महाबाहो! कर्मोंका अन्त करनेवाले सांख्य-सिद्धान्तमें सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये ये पाँच कारण बताये गये हैं, इनको तू मुझसे समझ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

इसमें (कर्मोंकी सिद्धिमें) अधिष्ठान तथा कर्ता और अनेक प्रकारके करण एवं विविध प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ कारण दैव (संस्कार) है।

व्याख्या— यहाँ आत्माको अकर्ता बतानेके लिये पाँच कारणोंका वर्णन किया गया है। इन पाँचोंमें कर्तृत्वका त्याग होनेपर कर्मोंका अन्त (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है। कर्मोंकी सिद्धिमें वे पाँच कारण इस प्रकार हैं—

१-अधिष्ठान—शरीर।

२-कर्ता—अपरा प्रकृतिके अहंकारके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला अविवेकी मनुष्य।

३-करण—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये तेरह करण।

४-करणोंकी अलग-अलग चेष्टाएँ।

५-स्वभाव अथवा अन्तःकरणके अच्छे-बुरे संस्कार। क्रियाका वेग और स्वभाव—दोनों एक ही हैं ('स्वभावस्तु प्रवर्तते' गीता ५। १४)।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (पूर्वोक्त) पाँचों हेतु होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

परन्तु ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो उस (कर्मोंके) विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धिवाला ठीक नहीं देखता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।

व्याख्या— **सब कारकोंमें कर्ता मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है, प्रत्युत चेतनद्वारा जड़से माने हुए सम्बन्धका है**—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गीता ३। २७)। इसलिये भगवान्‌ने प्रस्तुत श्लोकमें अपने वास्तविक स्वरूप (चेतन)-को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है। स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों ही नहीं हैं (गीता १३। ३१)। मूलमें ये नहीं हैं, तभी इनका त्याग होता है।

वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है। न चेतन कर्ता है, न जड़। यदि किसीको कर्ता मानना ही पड़े तो साधकके लिये यही उचित है कि वह जड़को कर्ता माने। गीतामें भगवान्‌ने कर्मोंके होनेमें पाँच कारण बताये हैं—१-प्रकृति (३। २७, १३। २९), २-गुण (३। २८, १४। १९), ३-इन्द्रियाँ (५। ९), ४-स्वभाव (५। १४, ३। ३३), ५-पाँच हेतु (१८। १४)। वास्तवमें कर्मोंके होनेमें मूल कारण एक 'प्रकृति' ही है। अतः कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं।

साधक खाने-पीने, सोने-जागने आदि लौकिक क्रियाओंको तो विचारद्वारा प्रकृतिमें होनेवाली सुगमतासे मान सकता है, पर वह जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है तो यह वास्तवमें साधकके लिये बाधक है। कारण कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया चाहे ऊँची-से-ऊँची हो अथवा नीची-से-नीची, वह एक जातिकी (प्राकृत) ही है। लाठी घुमाना और माला फेरना—दोनों क्रियाएँ अलग-अलग होनेपर भी प्रकृतिमें ही हैं। तात्पर्य है कि खाने-पीने, सोने-जागने आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना कोई क्रिया सम्भव ही नहीं है। अतः साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उन्हें अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्तःकरणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जड़ताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है। भगवान्‌के लिये की गयी उपासनामें भगवत्कृपाकी प्रधानता होती है, इसलिये इसमें भी साधकका कर्तृत्व नहीं है। पारमार्थिक क्रियाओंका उद्देश्य परमात्मा होनेसे वे कल्याणकारक हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों क्रियाकी गौणता और भगवत्सम्बन्धकी मुख्यता होती है, त्यों-त्यों अधिक लाभ होता है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं होता। अतः क्रियाका महत्त्व न होकर भगवान्‌में प्रियता होनी चाहिये। प्रियता ही भजन है, क्रिया नहीं।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।

व्याख्या—अहंकृतभाव नहीं होनेका तात्पर्य है—अहंतारहित होना अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव न होना। बुद्धि लिप्त नहीं होनेका तात्पर्य है—कामना, ममता और स्वार्थभावसे रहित होना अर्थात् 'मैं भोक्ता हूँ'—ऐसा भाव न होना। स्वरूपमें न कर्तापन है, न भोक्तापन। केवल जड़ शरीरके साथ सम्बन्ध मानकर जीव जिस अहंभावको स्वीकार करता है, उसी अहंभावसे उसमें कर्तापन और भोक्तापन आ जाता है।

अर्जुनने कहा था कि इन आततायियोंको और गुरुजनोंको मारनेसे हमें पाप लगेगा (गीता १। ३६, २। ५)। इसलिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि यदि अहंता और बुद्धिकी लिप्तता न हो तो इनके मारनेसे पाप लगनेकी बात ही क्या है, सम्पूर्ण प्राणियोंको मारनेसे भी पाप नहीं लगेगा! बुद्धि कामना, ममता और स्वार्थभावसे लिप्त होती है। गंगाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो उससे गंगाजीको पाप नहीं लगता और कोई उसका जल पीता है, स्नान करता है, खेती करता है तो उससे गंगाजीको पुण्य नहीं लगता। कारण कि गंगाजीमें अहंकृतभाव और बुद्धिकी लिप्तता नहीं है। डॉक्टरमें कामना, ममता और स्वार्थबुद्धि नहीं होती तो आपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसे पाप नहीं लगता।

ज्ञानयोगसे अहंकृतभावका नाश होता है और कर्मयोगसे बुद्धिकी लिप्तताका नाश होता है। दोनोंमेंसे किसी एकका नाश होनेपर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। अहंकृतभावके कारण ही जीवमें भोग और मोक्षकी इच्छा पैदा होती है। अहंकृतभाव मिटनेसे भोगेच्छा भी मिट जाती है। भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षकी इच्छा स्वतः पूरी हो जाती है; क्योंकि मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—इन तीनोंसे कर्मप्रेरणा होती है तथा करण, कर्म और कर्ता—इन तीनोंसे कर्मसंग्रह होता है।

व्याख्या— **जब मनुष्यके भीतर अहंकार और लिप्तता रहती है, तब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इस त्रिपुटीसे 'कर्मप्रेरणा' अर्थात् कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है कि मैं अमुक कार्य करूँगा तो मुझे अमुक फल मिलेगा। कर्मप्रेरणा होनेसे कर्ता, करण और कर्म—इनसे 'कर्मसंग्रह' अर्थात् पाप-कर्म अथवा पुण्य-कर्मका संग्रह होता है। यदि कर्मसंग्रह न हो तो कर्म बाँधनेवाला नहीं होता, केवल क्रियामात्र होती है।**

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

गुणोंका विवेचन करनेवाले शास्त्रमें गुणोंके भेदसे ज्ञान और कर्म तथा कर्ता तीन-तीन प्रकारसे ही कहे जाते हैं, उनको भी तुम यथार्थरूपसे सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

जिस ज्ञानके द्वारा साधक सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक अविनाशी भाव (सत्ता)-को देखता है, उस ज्ञानको तुम सात्त्विक समझो।

व्याख्या—अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो 'है'-पन दीखता है, वह उस वस्तु, व्यक्ति आदिका नहीं है, प्रत्युत उन सबमें परिपूर्ण एक परमात्माका है। उन वस्तु, व्यक्ति आदिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। परन्तु अपनी अज्ञतासे उनकी सत्ता दीखती है। जब अज्ञता मिट जाती है, तब अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति आदिका अलग-अलग ज्ञान और यथायोग्य अलग-अलग व्यवहार होते हुए भी वह उनमें परिपूर्ण एक निर्विकार तत्त्वको देखता है।

साधककी दृष्टिमें प्राणियोंकी भी सत्ता रहनेके कारण यह 'सात्त्विक ज्ञान' (विवेक) कहा गया है। यदि उसकी दृष्टिमें प्राणियोंकी सत्ता न रहे, केवल एक अविनाशी सत्ता ही रहे तो यह गुणातीत 'तत्त्वज्ञान' (ब्रह्मकी प्राप्ति) ही है। वह अविनाशी सत्ता सब जगह समानरूपसे विद्यमान है। उस सत्ताके साथ हमारी स्वाभाविक एकता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

परन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंमें अलग-अलग रूपसे अनेक भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तुम राजस समझो।

व्याख्या— राजस ज्ञानमें रागकी मुख्यता होती है, क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिको सत्ता देकर उनके साथ रागपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेके कारण सब अलग-अलग दीखते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णकी तरह आसक्त रहता है तथा जो युक्तिरहित, वास्तविक ज्ञानसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है।

व्याख्या— **तामस मनुष्यमें मूढ़ताकी प्रधानता होती है। वह उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पाञ्चभौतिक शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है।**

इस श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि वास्तवमें यह ज्ञान नहीं है, प्रत्युत अज्ञान ही है। भागवतमें इसे 'पशुबुद्धि' कहा गया है—'पशुबुद्धिमिमां जहि' (१२। ५। २)।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तृत्वाभिमानसे रहित हो तथा फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा बिना राग-द्वेषके किया हुआ हो, वह सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या— **जबतक अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक वह 'सात्त्विक कर्म' है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर यह 'अकर्म' हो जाता है।**

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

परन्तु जो कर्म भोगोंकी इच्छासे अथवा अहंकारसे और परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह राजस कहा गया है।

व्याख्या— **कर्म करते समय प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें परिश्रम होता ही है; परन्तु शरीरमें राग रहनेके कारण राजस मनुष्य शरीरका आराम चाहता है, जिससे उसे थोड़े काममें भी अधिक परिश्रम प्रतीत होता है।**

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न देखकर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है।

व्याख्या— तामस मनुष्य अपनी शक्ति, परिणाम आदिका विचार न करके मूढ़तासे काम करता है। वह स्वाभाविक ही ऐसे काम करता है, जिनसे दूसरोंको बाधा पहुँचे; जैसे—रास्तेमें खड़े होकर बात करने लग जाना, रास्तेमें स्कूटर, साइकिल आदि खड़ी कर देना, दरवाजेके बीचमें खड़े हो जाना, आदि-आदि। दूसरोंको लगनेवाली बाधाकी तरफ उसका ध्यान जाता ही नहीं!

सात्त्विक स्वभाव स्वतः उत्थानकी ओर जाता है, राजस स्वभावमें उत्थान रुक जाता है और तामस स्वभाव स्वतः पतनकी ओर जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

जो कर्ता रागरहित, कर्तृत्वाभिमानसे रहित, धैर्य और उत्साहयुक्त तथा सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार है, वह सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या—**सात्त्विक मनुष्य संग और अहंवदनशीलता—इन दो बातोंसे रहित होता है, धृति और उत्साह—इन दो बातोंसे युक्त होता है, तथा सिद्धि और असिद्धि—इन दो बातोंमें निर्विकार (सम) रहता है।**

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छावाला, लोभी, हिंसाके स्वभाववाला, अशुद्ध और हर्ष-शोकसे युक्त है, वह राजस कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

जो कर्ता असावधान, अशिक्षित, ऐंठ-अकड़वाला, जिद्दी, उपकारीका अपकार करनेवाला, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री है, वह तामस कहा जाता है।

व्याख्या—छब्बीसवाँ, सत्ताईसवाँ और अट्ठाईसवाँ श्लोक 'कर्ता' को लेकर कहे गये हैं। कर्ता जैसा होता है, वैसे ही कर्म होते हैं। कर्ता जिन गुणोंवाला होता है, उन्हीं गुणोंके अनुसार कर्मोंका रूप होता है। करण भी कर्ताके अनुरूप ही होते हैं। कर्ता सात्त्विक, राजस अथवा तामस होगा तो उसके द्वारा होनेवाले कर्म भी सात्त्विक, राजस अथवा तामस हो जाते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

हे धनञ्जय! अब तू गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन प्रकारके भेद अलग-अलग रूपसे सुन, जो कि मेरे द्वारा पूर्णरूपसे कहे जा रहे हैं।

व्याख्या— **मनुष्य कोई भी कार्य करता है, बुद्धिपूर्वक ही करता है। उस कार्यकी सिद्धिके लिये धृतिकी अत्यन्त आवश्यकता है। धृति (धारणशक्ति)-के बिना बुद्धि अपने निश्चयपर दृढ़ नहीं रह सकती। यदि मनुष्यकी बुद्धिमें विचार-शक्ति तेज है और उसे धारण करनेकी शक्ति श्रेष्ठ है तो उसकी बुद्धि अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यसे विचलित नहीं होती, जिससे उसका कार्य सिद्ध हो जाता है।**

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

हे पृथानन्दन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।

व्याख्या— **प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको—दोनोंको जाननेका तात्पर्य संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही है। अगर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद न हो तो वह जानना वास्तवमें जानना नहीं है, प्रत्युत सीखना है।**

गीताका 'सात्त्विक' गुण गुणातीत करनेवाला, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है। इसलिये इसमें बन्धन और मोक्षतकका विचार होता है—'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'। **सात्त्विकी बुद्धिमें वह विवेक होता है, जो तत्त्वज्ञानमें परिणत होता है। विवेकवती बुद्धि ही यह जानती है कि ब्रह्मलोककी प्राप्तितक सब बन्धन है।**

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

हे पार्थ! मनुष्य जिसके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।

व्याख्या—जैसे जलमें मिट्टी घुल जानेसे जलमें स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, ऐसे ही बुद्धिमें रजोगुण (राग) आ जानेसे बुद्धिमें उतनी स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती। इसलिये धर्म-अधर्म आदिको समझनेमें कठिनता पड़ती है। जो मनुष्य धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बन्धन और मोक्षको कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। बुद्धि रागात्मिका होनेसे वह इनको ठीक तरहसे नहीं जानता; क्योंकि रागकी मुख्यता होनेसे वह विवेकको महत्त्व नहीं दे पाता। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका रंग चढ़नेसे उसका विवेक लुप्त हो जाता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

हे पृथानन्दन! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म—ऐसा मान लेती है और सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मान लेती है, वह तामसी है।

व्याख्या—**जिनकी बुद्धि तामसी होती है, उन्हें व्यवहार और परमार्थमें सब जगह उलटा ही दीखता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमानमें देखनेमें आ रहा है। जैसे, पशुओंके विनाशको 'मांसका उत्पादन' कहा जाता है! गर्भपातरूपी महापापको और मनुष्यकी उत्पादक शक्तिके विनाशको 'परिवार-कल्याण' कहा जाता है! स्त्रियोंकी उच्छृंखलताको, मर्यादाके नाशको 'नारीमुक्ति' कहा जाता है! पहले स्त्री घरकी स्वामिनी (गृहलक्ष्मी) होती थी, अब घरसे बाहर अनेक पुरुषोंकी दासता (नौकरी) करनेको 'नारीकी स्वाधीनता' कहा जाता है! बालकोंको स्कूलमें भरती करनेके लिये दी गयी रिश्वत, घूसको 'दान' (डोनेशन) कहा जाता है! धार्मिकताको 'साम्प्रदायिकता' और धर्म-विरुद्धको 'धर्म-निरपेक्ष' कहा जाता है! जब विनाशकाल समीप आता है, तभी ऐसी विपरीत, तामसी बुद्धि उत्पन्न होती है।**

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे पार्थ! समतासे युक्त जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है अर्थात् संयम रखता है, वह धृति सात्त्विकी है।

व्याख्या—**जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है, और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। केवल परमात्माकी तरफ चलनेवाली धृति 'अव्यभिचारिणी धृति' है। इस धृतिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंपर आधिपत्य हो जाता है।**

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

हे पृथानन्दन अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा धर्म, काम (भोग) और धनको अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है।

व्याख्या—**राजसी धारणशक्तिसे मनुष्य अपनी विविध कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही धर्मका अनुष्ठान करता है, भोग-पदार्थोंको भोगता है और धनका संग्रह करता है। संसारमें अत्यन्त राग (आसक्ति) होनेके कारण राजस मनुष्य जो कुछ भी शुभ-कर्म करता है, उसमें उसकी यही कामना रहती है कि इस कर्मसे मुझे इस लोकमें भी सुख-आराम, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि मिले और परलोकमें भी सुखभोग मिले।**

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और घमण्डको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है, वह धृति तामसी है।

व्याख्या—निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख, घमण्ड आदि दोष तो रहेंगे ही, ये दूर हो ही नहीं सकते—ऐसा निश्चय करनेवाले तामस मनुष्य 'दुर्मेधा' हैं। ऐसे मनुष्योंका दोषोंको छोड़नेकी तरफ ध्यान ही नहीं जाता, छोड़नेकी हिम्मत ही नहीं होती, प्रत्युत वे इनको स्वाभाविक ही धारण किये रहते हैं। इन दोषोंको छोड़नेसे भला होगा—यह बात उनकी समझमें आती ही नहीं!

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तीन प्रकारके सुखको भी तुम मुझसे सुनो। जिसमें अभ्याससे रमण होता है और जिससे दु:खोंका अन्त हो जाता है, ऐसा वह परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला जो सुख (सांसारिक आसक्तिके कारण) आरम्भमें विषकी तरह और परिणाममें अमृतकी तरह होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है।'

व्याख्या—सत्संग, स्वाध्याय, ध्यान, जप, कीर्तन आदिसे जो सुख होता है, वह परमात्माके सम्बन्धसे होनेके कारण 'सात्त्विक' कहा गया है। कारण कि वह सुख मान-बड़ाई, सुख-आराम, रुपये, भोग आदि विषयेन्द्रिय-सम्बन्धका (राजस) भी नहीं है और प्रमाद, आलस्य, निद्राका (तामस) भी नहीं है।

पूर्वपक्ष—चौदहवें अध्यायमें तो सात्त्विक सुखको बाँधनेवाला बताया था—'सुखसङ्गेन बध्नाति' (१४। ६)। पर यहाँ उसे दु:खोंका नाश करनेवाला बताते हैं— 'दु:खान्तं च निगच्छति'। इसका सामंजस्य कैसे करेंगे?

उत्तरपक्ष—इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक सुखमें रमण (भोग) करनेसे वह बाँधनेवाला हो जाता है अर्थात् गुणातीत नहीं होने देता। यदि रमण न करे तो वह सात्त्विक सुख दु:खोंका नाश करनेवाला हो जाता है। सुख भोगनेसे दु:खोंका नाश नहीं होता। भोगका त्याग करनेसे ही योग होता है। इसलिये सात्त्विक सुखसे भी असंगता होनी चाहिये। संग होनेसे बन्धनकारक रजोगुण आ जाता है। सत्त्वगुणमें रजोगुण आनेसे पतन होता है।

विवेकको महत्त्व न देनेके कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह दीखता है। राजस मनुष्य विवेकको महत्त्व नहीं देता। अत: सात्त्विक सुखका आरम्भमें विषकी तरह दीखना राजसपना है। तात्पर्य है कि सात्त्विक सुख दु:खदायी नहीं होता, प्रत्युत मनुष्यकी बुद्धिमें राजसपना होनेसे सात्त्विक सुख भी उसको विषकी तरह दु:खदायी दीखता है। उसका उद्देश्य तो सात्त्विक सुखका है, पर भीतर राजस सुखमें राग है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८ ॥

जो सुख इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होता है, वह आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह प्रतीत होता है; अतः वह सुख राजस कहा गया है।

व्याख्या— जैसे भोजन आरम्भमें बहुत प्रिय लगता है, पर भोजन करते-करते जब पेट भर जाता है, भोजन करनेकी शक्ति क्षीण हो जाती है, तब उससे अरुचि हो जाती है। फिर जो भोजन आरम्भमें सुख देनेवाला प्रतीत होता था, वही दुःख देनेवाला हो जाता है। उस समय कोई व्यक्ति जबर्दस्ती खिलाये तो वह शत्रुकी तरह प्रतीत होता है! यही बात सभी सांसारिक भोगोंमें लागू होती है। कोई भी सांसारिक सुख अखण्ड नहीं रहता। आरम्भमें सांसारिक सुख अमृतकी तरह बहुत प्रिय लगता है; परन्तु उसे भोगते-भोगते जब परिणाममें वह सुख नीरसतामें परिणत हो जाता है, उस सुखसे बिलकुल अरुचि हो जाती है, तब वही सुख विषकी तरह दुःखदायी हो जाता है। अविवेकी मनुष्य आरम्भको ही महत्त्व देता है। आरम्भ तो सदा रहता नहीं, पर उसकी कामना सदा रहती है, जो सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। परिणामको देखनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। परिणामको न देखना पशुता है। इसलिये विवेकी मनुष्य आरम्भको न देखकर परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें आसक्त नहीं होता—'न तेषु रमते बुधः' (गीता ५। २२)।

वास्तवमें आरम्भ (संयोग) मुख्य नहीं है, प्रत्युत अन्त (वियोग) ही मुख्य है। मनुष्य आरम्भकालको चाहता है, पर वह रहता नहीं; क्योंकि यह नियम है कि प्रत्येक आरम्भका अन्त होता ही है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, उसकी इच्छासे ही दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। परन्तु राजसी वृत्तिके कारण आरम्भ (संयोग) अच्छा प्रतीत होता है। यदि मनुष्य आरम्भकालके सुखको महत्त्व न दे तो दुःख कभी आयेगा ही नहीं। आरम्भको देखनेसे भोग होता है और परिणामको देखनेसे योग।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला जो सुख आरम्भमें और परिणाममें भी अपनेको मोहित करनेवाला है, वह सुख तामस कहा गया है।

व्याख्या— जब तमोगुणी प्रमाद-वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुणके विवेक-ज्ञानको ढक देती है और जब तमोगुणी निद्रा-आलस्य-वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुणके प्रकाशको ढक देती है। तात्पर्य है कि विवेक-ज्ञानके ढकनेपर प्रमाद होता है और प्रकाशके ढकनेपर आलस्य तथा निद्रा आती है। तामस मनुष्यको निद्रा, आलस्य और प्रमाद—तीनोंसे सुख मिलता है।

तामस मनुष्यमें मोह रहता है (गीता १४। ८)। मोह विवेकमें बाधक होता है। तामसी वृत्ति विवेक जाग्रत् नहीं होने देती। इसलिये तामस मनुष्यका विवेक मोहके कारण लुप्त हो जाता है, जिससे वह आरम्भ या अन्तको देखता ही नहीं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी वह (ऐसी कोई) वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।

व्याख्या—**दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने भक्ति (विश्वास)-की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको अपनेसे उत्पन्न होनेवाली बताया था (१०। ३९)। यहाँ भगवान् ज्ञान (विवेक)-की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रकृति-जन्य गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली बताते हैं। कारण कि विवेकीकी दृष्टिमें सत् और असत् दोनों रहते हैं, पर भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहते हैं—'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)। विवेकमार्गमें असत्‌का, गुणोंका त्याग मुख्य है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है।**

संसारकी कोई भी वस्तु तीनों गुणोंसे रहित नहीं है—यह बात अज्ञानीकी दृष्टिसे कही गयी है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि सत्तामात्र स्वरूपकी तरफ रहती है, जो स्वतःस्वाभाविक गुणातीत है (गीता १३। ३१)।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं।

व्याख्या— कर्मयोगके प्रकरणमें भगवान्‌ने नियत कर्मोंके त्यागको अनुचित बताते हुए फल एवं आसक्तिका त्याग करके नियत कर्मोंको करनेकी बात कही (गीता १८। ७—९), और सांख्ययोगके प्रकरणमें नियत कर्मको कर्तृत्वाभिमान, फलेच्छा तथा राग-द्वेषसे रहित होकर करनेकी बात कही (गीता १८। २३)। अब भगवान् यह बताते हैं कि किस वर्णके लिये कौन-से कर्म नियतकर्म हैं और उन नियत कर्मोंको कैसे किया जाय?

मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अन्तःकरणमें उस कर्मके संस्कार पड़ते हैं और उन संस्कारोंके अनुसार उसका स्वभाव बनता है। इस प्रकार पूर्वके अनेक जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, उसीके अनुसार उसमें सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन गुणवृत्तियोंके तारतम्यके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंका विभाग किया गया है (गीता ४। १३)। कारण कि मनुष्यमें जैसी गुणवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही वह कर्म करता है।

पूर्वपक्ष— **चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा था कि चारों वर्णोंकी रचना मैंने गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक की है—**'गुणकर्मविभागशः' **(४। १३)। पर यहाँ भगवान् कहते हैं कि चारों वर्णोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं—**'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'**। इसका सामञ्जस्य कैसे करेंगे?**

उत्तरपक्ष— **चौथे अध्यायमें तो चारों वर्णोंके उत्पन्न होनेकी बात कही गयी है और यहाँ चारों वर्णोंके कर्मोंकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह हुआ कि चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने बताया कि चारों वर्णोंका जन्म पूर्वजन्मके गुणोंके अनुसार हुआ है, और यहाँ बताते हैं कि जन्मके बाद चारों वर्णोंके अमुक-अमुक कर्म होने चाहिये, जिनके अनुसार उनकी आगे गति होगी।**

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

मनका निग्रह करना; इन्द्रियोंको वशमें करना; धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना; बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना; दूसरोंके अपराधको क्षमा करना; शरीर, मन आदिमें सरलता रखना; वेद, शास्त्र आदिका ज्ञान होना; यज्ञविधिको अनुभवमें लाना और परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिकभाव रखना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

व्याख्या—**वर्ण-परम्परा शुद्ध हो तो ये गुण ब्राह्मणमें स्वाभाविक होते हैं। परन्तु वर्ण-परम्परामें अशुद्धि (वर्णसंकरता) आनेपर ये गुण स्वाभाविक नहीं होते, इनमें कमी आ जाती है।**

पूर्वश्लोकमें 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' **कहा, इसलिये यहाँ स्वभावज कर्म बताते हैं।** स्वभाव बननेमें जन्म मुख्य है, फिर जन्मके बाद संग मुख्य है। संग, स्वाध्याय, अभ्यास आदिके कारण स्वभाव बदल जाता है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता तथा युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, दान करना और शासन करनेका भाव—ये सब-के-सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

खेती करना, गायोंकी रक्षा करना और व्यापार करना—ये सब-के-सब वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा चारों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।

व्याख्या—गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है, इसलिये मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है। भोजन, विवाह आदि लौकिक व्यवहारमें तो जातिकी प्रधानता है, पर परमात्मप्राप्तिमें भाव और विवेककी प्रधानता है, जाति या वर्णकी नहीं। जैसे सब-के-सब बालक माँकी गोदमें जानेके समान अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे सब-के-सब जीव भगवत्प्राप्तिके समान अधिकारी हैं। सब-के-सब मनुष्य परमात्मतत्त्वको, मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, भगवत्प्रेमको, भगवद्दर्शनको प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र, समर्थ, योग्य और अधिकारी हैं। विदुर, निषादराज गुह, कबीर, रैदास, सदन कसाई आदि अनेक निम्न जातिके मनुष्य भगवान्‌की भक्तिके कारण ही श्रेष्ठ बने, जाति या वर्णके कारण नहीं। अतः चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे शूद्रका शरीर हो, लोक-व्यवहारमें तो उनमें भेद रहेगा, पर भगवत्प्राप्तिमें कोई भेद नहीं रहेगा। कारण कि भगवत्प्राप्ति शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर होती है। जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना हो, वह चाहे बढ़िया हो या घटिया, उससे क्या मतलब?

गुणोंके तारतम्यसे जिस वर्णमें जन्म होता है, उन गुणोंके अनुसार ही उस वर्णके कर्म सहज-स्वाभाविक होते हैं; जैसे—ब्राह्मणके लिये शम, दम आदि; क्षत्रियके लिये शौर्य, तेज आदि; वैश्यके लिये खेती, गोरक्षा आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये कर्म स्वतः-स्वाभाविक होते हैं। इन कर्मोंको करनेमें उन्हें परिश्रम नहीं होता। इन कर्मोंमें उनकी स्वाभाविक रुचि होती है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

अपने-अपने कर्ममें प्रीतिपूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मा)-को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धिको प्राप्त होता है, उस प्रकारको तू मुझसे सुन।

व्याख्या— **अपने वर्णके सिवाय जिसने जो-जो कर्म स्वीकार किये हैं, वे सब भी 'स्वे स्वे कर्मणि' के अन्तर्गत लेने चाहिये। जैसे, मनुष्य अपनेको वकील, अध्यापक, चिकित्सक, नौकर आदि मानता है तो उसके कर्तव्यका प्रेमपूर्वक, आदरपूर्वक निःस्वार्थभावसे भलीभाँति पालन करना भी उसके लिये 'स्वकर्म' है।**

मनुष्य स्वार्थबुद्धि, पक्षपात, कामना आदिको लेकर कर्म करता है तो वह 'आसक्ति' होती है। वह प्रेमपूर्वक, निष्कामभावसे और दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है तो वह 'अभिरति' होती है। भगवान्ने कर्मोंमें आसक्तिका निषेध किया है—'न कर्मस्वनुषज्जते' (गीता ६। ४)। मनुष्य जाति आदिको लेकर न अपनेको ऊँचा समझे, न नीचा समझे, प्रत्युत घड़ीके पुर्जेकी तरह अपनी जगह ठीक कर्तव्यका पालन करे और दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करे तथा अपना अभिमान भी न करे, तब 'अभिरति' होगी।

वास्तवमें 'कर्म' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'भाव' की प्रधानता है। कर्ताका भाव शुद्ध होगा तो वह कल्याण करनेवाला हो जायगा, चाहे कर्ता किसी वर्णका हो। 'कर्म' में वर्णकी मुख्यता है और भावमें दैवी अथवा आसुरी सम्पत्तिकी मुख्यता है। अतः दैवी अथवा आसुरी सम्पत्ति किसी वर्णको लेकर नहीं होती, प्रत्युत सबमें हो सकती है। दैवी-सम्पत्ति मोक्ष देनेवाली और आसुरी-सम्पत्ति बाँधनेवाली है। इसलिये यदि ब्राह्मणमें भी अपनी जाति आदिको लेकर अभिमान हो जाय तो वह आसुरी-सम्पत्तिवाला हो जायगा अर्थात् उसका पतन हो जायगा।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्यमात्र सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— यह संसार भगवान्‌का प्रथम अवतार है— 'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। अतः यह संसार भगवान्‌की ही मूर्त्ति है। जैसे मूर्त्तिमें हम भगवान्‌का पूजन करते हैं, पुष्प चढ़ाते हैं, चन्दन लगाते हैं तो हमारा भाव मूर्त्तिमें न होकर भगवान्‌में होता है अर्थात् हम मूर्त्तिकी पूजा न करके भगवान्‌की पूजा करते हैं, ऐसे ही हमें अपनी प्रत्येक क्रियासे संसाररूपमें भगवान्‌का पूजन करना है। श्रोता सुनकर वक्ताका पूजन करे, वक्ता सुनाकर श्रोताका पूजन करे—इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेका पूजन करें। दृष्टि भगवान्‌की तरफ ही हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णकी तरफ नहीं। जैसे—ऋषि-मुनि भगवान् श्रीरामको प्रणाम करते हैं तो भगवान्‌के भावसे प्रणाम करते हैं, क्षत्रियके भावसे नहीं।

पूजनमें मुख्य भाव यह रहना चाहिये कि सब कुछ भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही है। जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन और दीपकसे सूर्यका पूजन करते हैं, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुओंसे भगवान्‌का पूजन करना है। इस प्रकार भगवान्‌का पूजन करनेसे संसार लुप्त हो जायगा और एकमात्र भगवान् रह जायँगे अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जायगा।

दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा था कि सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर स्थित आत्मा मैं ही हूँ—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' (गीता,१०। २०)। अतः भगवद्भावसे हम किसी भी प्राणीकी सेवा, आदर-सत्कार करेंगे तो वह भगवान्‌की ही सेवा होगी। यदि किसी प्राणीका अनादर-तिरस्कार करेंगे तो वह भगवान्‌का ही अनादर-तिरस्कार होगा।

साधक यदि जगत्‌को जगत्-रूपसे देखे तो उसकी 'सेवा' करे और भगवद्‌रूपसे देखे तो उसका 'पूजन' करे। अपने लिये कुछ न करे। मात्र कर्म अपने लिये करना बन्धन है, संसारके लिये करना सेवा है और भगवान्‌के लिये करना पूजन है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

अच्छी तरह अनुष्ठान किये हुए परधर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। कारण कि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—**स्वधर्मरूप कर्मको करनेसे पाप बन तो सकता है, पर लग नहीं सकता; क्योंकि पाप लगनेमें मुख्य कारण भाव है, क्रिया नहीं। पाप क्रियासे नहीं लगता, प्रत्युत भावसे अर्थात् स्वार्थ और अभिमान आनेसे लगता है।**

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हे कुन्तीनन्दन! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मका त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म धुएँसे अग्निकी तरह (किसी-न-किसी) दोषसे युक्त हैं।

व्याख्या—**निषिद्ध कर्ममें आसक्ति होनेसे अथवा निषिद्ध रीतिसे भोग भोगनेके कारण ही विहित कर्म कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें विहित कर्म सहज-स्वाभाविक है। इसमें परिश्रम नहीं है।**

इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक 'स्वकर्म', 'स्वधर्म' और 'सहज कर्म' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् स्वकर्म और सहज कर्मको ही 'स्वधर्म' मानते हैं (गीता २। ३१)।

विहित कर्म करनेमें कुछ-न-कुछ दोष होता तो है, पर कामना, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि न रहनेसे दोष लगता नहीं। तात्पर्य है कि दोष लगना या न लगना कर्ताकी नीयतपर निर्भर है; जैसे—डॉक्टरकी नीयत ठीक हो, पैसोंका उद्देश्य न होकर सेवाका उद्देश्य हो तो आपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसे दोष नहीं लगता, प्रत्युत निःस्वार्थभाव और रोगीके हितका भाव होनेसे पुण्य होता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्ति-रहित है, जिसने शरीरको वशमें कर रखा है, जो स्पृहा-रहित है, वह मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा सर्वश्रेष्ठ नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—असक्तबुद्धि, जितात्मा और विगतस्पृह होनेपर कर्मयोग सिद्ध हो जाता है (गीता २। ७१)। कर्मयोग सिद्ध होनेपर साधक सांख्ययोगका अधिकारी हो जाता है । सांख्ययोगसे वह नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। नैष्कर्म्यसिद्धिका अर्थ है—कर्म सर्वथा अकर्म हो जायँ, कर्म होते हुए भी लिप्तता न हो। कर्मोंको न करना नैष्कर्म्य नहीं है (गीता ३। ४), प्रत्युत कर्म करना तो साधकके लिये आवश्यक है (गीता ६। ३)।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोगसे तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है, पर भक्तियोगसे 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

हे कौन्तेय! सिद्धि (अन्त:करणकी शुद्धि)-को प्राप्त हुआ साधक ब्रह्मको, जो कि ज्ञानकी परा निष्ठा है, जिस प्रकारसे प्राप्त होता है, उस प्रकारको तुम मुझसे संक्षेपमें ही समझो।

व्याख्या—**यहाँ 'सिद्धिम' पदका अर्थ है—साधनरूप कर्मयोगसे होनेवाली अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धि, जिसकी प्राप्तिके बाद कर्मयोगी ज्ञानयोगमें अथवा भक्तियोगमें जा सकता है। कर्मयोगीके भीतर यदि ज्ञानके संस्कार हैं तो वह ज्ञानमें चला जायगा, और यदि भक्तिके संस्कार हैं तो वह भक्तिमें चला जायगा।**

यदि किसी एक साधनका आग्रह न हो तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों साधनरूपसे भी हैं और साध्यरूपसे भी। साधनरूपसे तो तीनों अलग-अलग हैं, पर साध्यरूपसे तीनों एक ही हैं। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कहीं तो साधन-भक्तिसे साध्य-ज्ञानकी प्राप्ति बतायी है (गीता १३। १०, १४। २६) और कहीं साधन-ज्ञानसे साध्य-भक्तिकी प्राप्ति बतायी है (गीता १२। ४, १८। ५४)।

भगवान्‌ने पहले 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:' (गीता १८। ४६)—**इन पदोंसे कर्मयोगके द्वारा भक्तिकी सिद्धि बतायी और यहाँ** 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' **पदोंसे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानयोगकी सिद्धि बताते हैं।**

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

जो विशुद्ध (सात्त्विकी) बुद्धिसे युक्त, वैराग्यके आश्रित, एकान्तका सेवन करनेवाला और नियमित भोजन करनेवाला साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका नियमन करके, शरीर-वाणी-मनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग-द्वेषको छोड़कर निरन्तर ध्यानयोगके परायण हो जाता है, वह अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहसे रहित होकर एवं ममतारहित तथा शान्त होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।

व्याख्या— **ज्ञानयोगका साधक जबतक असत् पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य नहीं आती। जब असत् पदार्थोंके सम्बन्धकी मान्यता मिट जाती है, तब उसमें परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य आ जाती है अर्थात् उसे नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।**

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

वह ब्रह्मरूप बना हुआ प्रसन्न मनवाला साधक न तो (किसीके लिये) शोक करता है और न (किसीकी) इच्छा ही करता है। ऐसा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाववाला साधक मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो अपने मतका आग्रह नहीं रखता, मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता और भक्तिका खण्डन नहीं करता, उसे मुक्त होनेपर भी सन्तोष नहीं होता। इसलिये मुक्ति प्राप्त होनेके बाद उसे पराभक्ति (परमप्रेम)-की प्राप्ति हो जाती है।**

जो अपनी दृष्टि (मान्यता)-से ब्रह्मरूप बना हुआ है, ब्रह्म हुआ नहीं है, उसे यहाँ '*ब्रह्मभूत*' **कहा गया है। ब्रह्मभूत होनेके बाद जीवका ब्रह्मके साथ तात्त्विक सम्बन्ध (साधर्म्य) हो जाता है**—'*मम साधर्म्यमागताः*' **(गीता १४। २)। तात्त्विक सम्बन्ध होना ही मुक्ति है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मामें अपने-आपको विलीन (समर्पित) कर देनेसे परमात्माके साथ आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है**—'*ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्*' **(गीता ७। १८);** '*द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि*' **(गीता ४। ३५)। आत्मीय सम्बन्ध होना ही पराभक्तिकी प्राप्ति है।**

ज्ञानमार्गमें जड़ताका त्याग मुख्य है। जड़ताका त्याग विवेक-साध्य है। विवेकपूर्वक जड़ताका त्याग करनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार शेष रह सकता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु परमप्रेमकी प्राप्ति होनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार नहीं रहता; क्योंकि भक्त जड़ताका त्याग नहीं करता, प्रत्युत उसे भी भगवान्‌का स्वरूप ही मानता है—'*सदसच्चाहम्*' **(गीता ९। १९)। परम प्रेमकी प्राप्ति विवेक-साध्य नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वास-साध्य है। श्रद्धा-विश्वासमें केवल भगवत्कृपापर ही भरोसा है। इसलिये जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसे भगवत्कृपा मुक्तिमें सन्तुष्ट नहीं होने देती, प्रत्युत मुक्तिके रस (अखण्डरस)-को फीका करके परम प्रेमका रस (अनन्तरस) प्रदान कर देती है।**

संसारके सम्बन्धसे अशान्ति होती है, इसलिये कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध छूटनेपर 'शान्त आनन्द' मिलता है। ज्ञानयोगमें निजस्वरूपमें स्थिति होनेसे 'अखण्ड आनन्द' मिलता है। भक्तियोगमें भगवान्‌से अभिन्नता होनेपर 'अनन्त आनन्द' मिलता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

उस पराभक्तिसे मुझे, मैं जितना हूँ और जो हूँ—इसको तत्त्वसे जान लेता है, फिर मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

व्याख्या— **मैं जितना हूँ और जो हूँ—यह बात सगुण ईश्वरकी ही है; क्योंकि** 'यावान्-तावान्' **सगुणमें ही हो सकता है, निर्गुणमें कदापि नहीं।** 'यावान्यश्चास्मि' **का वर्णन सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें** 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः' **पदोंसे कर चुके हैं। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है।**

यहाँ 'भक्त्या मामभिजानाति' **पदोंमें भगवान्‌को दृढ़तापूर्वक मानना (सन्देहरहित विश्वास) ही उन्हें जानना है।**

ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको जब (ज्ञानोत्तरकालमें) भक्ति प्राप्त होती है, तब उसमें तत्त्वसे जानना (ज्ञात्वा) **और प्रविष्ट होना** (विशते) **—ये दो ही होते हैं, दर्शन नहीं होते। उनमें कोई कमी तो नहीं रहती, पर दर्शनकी इच्छा उनमें नहीं होती। परन्तु आरम्भसे ही भक्तिमार्गसे चलनेवालेको तत्त्वसे जानने और प्रविष्ट होनेके सिवाय भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं (गीता ११। ५४)। इसलिये ज्ञानमार्गी सन्तोंमें भगवत्प्रेम (भक्ति)-की बात तो आती है, पर दर्शनकी बात नहीं आती।**

जैसे विभिन्न मार्गोंसे आनेवाले व्यक्ति द्वारमें प्रविष्ट होनेपर एक साथ मिल जाते हैं, ऐसे ही विभिन्न योग-मार्गोंपर चलनेवाले साधक भगवान्‌में प्रविष्ट होनेपर (विशते) **एक हो जाते हैं अर्थात् अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी न रहनेसे उनमें कोई मतभेद नहीं रहता।**

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने बताया कि वह सब विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक निरन्तर ध्यानके परायण रहे, तब वह अहंता, ममता, काम, क्रोध आदिका त्याग करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है (गीता १८। ५१—५३)। परन्तु भक्तके लिये भगवान् यहाँ बताते हैं कि वह सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है। तात्पर्य है कि भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता। कारण कि वह अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल भगवान्‌का ही आश्रय रखता है। फिर भगवत्कृपा ही उसका कल्याण कर देती है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

चित्तसे सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मेरे परायण होकर तथा समताका आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा।

व्याख्या— **पूर्वश्लोकमें शाश्वत पदकी प्राप्ति बताकर अब उसकी विधि बताते हैं कि वह कैसे प्राप्त होगा? साधकके लिये दो ही मुख्य कार्य हैं—संसारके सम्बन्धका त्याग करना और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना। पूर्वश्लोकमें आये** 'मद्व्यपाश्रयः' **पदमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेकी मुख्यता है और प्रस्तुत श्लोकमें आये** 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य' **पदमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी मुख्यता है। एकमात्र भगवान्‌का चिन्तन करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वतः समता आ जाती है। भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन तभी होगा, जब 'मैं भगवान्‌का ही हूँ'— इस प्रकार अहंता भगवान्‌में हो जायगी। अहंता भगवान्‌में लग जानेपर चित्त स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌में लग जाता है।**

भगवान्‌के साथ जीवमात्रका स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। केवल संसारके साथ सम्बन्ध माननेसे ही इस नित्य सम्बन्धकी विस्मृति हुई है। इस विस्मृतिको मिटानेके लिये भगवान् कहते हैं कि निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा और यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा।

व्याख्या— **साधकका काम केवल संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख होना है। सम्मुख हो जानेपर जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे दूर हो जायगी। तात्पर्य है कि उस कमीको दूर करनेकी साधकपर कोई जिम्मेवारी नहीं रहती, प्रत्युत उसे दूर करनेकी पूरी जिम्मेवारी भगवान्‌की हो जाती है। भगवान् विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं।**

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या (झूठा) है; क्योंकि तेरी क्षात्र-प्रकृति तुझे युद्धमें लगा देगी।

व्याख्या— भगवान्‌ने कहा कि मेरी कृपासे तू मेरी प्राप्ति भी कर लेगा और सभी विघ्नोंसे भी छूट जायगा। मैं तुझे अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा और तेरे विघ्नोंको भी दूर कर दूँगा (गीता १८। ५६, ५८)। परन्तु इतना कहनेपर भी अर्जुन कुछ बोले नहीं तो भगवान् कहते हैं कि यदि तू भूलसे मेरी बात न सुने तो कोई दोष नहीं, पर तू अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। भगवान्‌का भाव है कि जैसे भक्तका सब काम (साधन और सिद्धि) मैं कर देता हूँ, ऐसे ही भक्तको भी चाहिये कि वह सब प्रकारसे मेरा ही आश्रय ले। यदि मेरा आश्रय न लेकर वह अहंकारका आश्रय लेगा तो उसका पतन हो जायगा। कर्तव्य-कर्म (युद्ध)-में एक तो मैं लगाता हूँ और एक प्रकृति लगाती है। यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरी क्षात्र-प्रकृति तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगी, तू युद्ध किये बिना रह नहीं सकेगा। फिर सब जिम्मेवारी तेरी होगी, मेरी नहीं।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बँधा हुआ तू मोहके कारण जिस युद्धको नहीं करना चाहता, उसको भी तू (क्षात्र-प्रकृतिके) परवश होकर करेगा।

व्याख्या—**भगवान् कहते हैं कि चाहे कर्तव्यमात्र समझकर युद्ध कर, चाहे मेरी आज्ञा मानकर युद्ध कर, युद्ध तो तुझे करना ही पड़ेगा। मेरी आज्ञा न माननेसे तेरा अहंकार रहेगा, जिससे विहित कर्म भी बाँधनेवाला हो जायगा। परन्तु मेरी आज्ञा मानकर विहित कर्म करनेसे वह कर्म तेरे लिये कल्याणकारी हो जायगा।**

जो प्रकृतिके परवश नहीं होता, जिसकी प्रकृति (स्वभाव) महान् शुद्ध होती है, ऐसा ज्ञानी महापुरुष भी जब अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है (गीता ३। ३३), फिर प्रकृतिके परवश हुआ तथा अशुद्ध प्रकृतिवाला मनुष्य प्रकृतिके विरुद्ध कर्म कैसे कर सकता है?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको (उनके स्वभावके अनुसार) भ्रमण कराता रहता है।

व्याख्या— जो ईश्वर सबका शासक, नियामक, पालक एवं संचालक है, वह अपनी शक्तिसे उन प्राणियोंको घुमाता है, जिन्होंने शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान रखा है। जैसे कोई रेलगाड़ीपर चढ़ जाता है तो उसे परवशतासे रेलगाड़ीके अनुसार ही जाना पड़ता है, ऐसे ही मनुष्य जबतक शरीररूपी यन्त्रके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनका सम्बन्ध मानता है, तबतक ईश्वर उसे उसके स्वभावके अनुसार जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें घुमाता रहता है। शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध न रहनेपर ईश्वरकी माया उसे संचालित नहीं करती।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें चला जा। उसकी कृपासे तू परम शान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति)-को और अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— **जीव ईश्वरका ही अंश है—**'*ईस्वर अंस जीव अबिनासी*' **(मानस, उत्तर० ११७। १),**'ममैवांशो जीवलोके' **(गीता १५। ७)। इसलिये भगवान् ईश्वरकी ही शरणमें जानेकी आज्ञा देते हैं। ईश्वरकी शरण लेनेसे अहंकार नहीं रहता। जबतक जीव ईश्वरके वश (शरण)-में नहीं होता, तबतक वह प्रकृतिके वशमें रहता है।**

सबके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित ईश्वर ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं, और भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित ईश्वर हैं (गीता ४। ६; ५। २९; ८। ४; ९। २४; १५। १५)।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

यह गुह्यसे भी गुह्यतर (शरणागतिरूप) ज्ञान मैंने तुझे कह दिया। अब तू इसपर अच्छी तरहसे विचार करके जैसा चाहता है, वैसा कर।

व्याख्या—**तू जैसा चाहता है, वैसा कर**—इस कथनमें भगवान्‌की विशेष आत्मीयता, कृपालुता और हितैषिता भरी हुई है। ये वचन भगवान् अर्जुनका त्याग करनेके लिये नहीं कहते हैं, प्रत्युत अपनी तरफ विशेषतासे खींचनेके लिये कहते हैं; जैसे—गेंद फेंकते हैं विशेषतासे पीछे लेनेके लिये, न कि त्याग करनेके लिये। तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें अन्तर्यामी निराकार ईश्वरकी शरणागतिकी बात कहकर अब भगवान् अर्जुनको अपनी तरफ अर्थात् सगुण-साकारकी तरफ खींचना चाहते हैं, जिससे अर्जुन समग्रकी प्राप्तिसे वंचित न रह जाय। निराकारमें साकार नहीं आता, पर साकारमें निराकार भी आ जाता है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

सबसे अत्यन्त गोपनीय सर्वोत्कृष्ट वचन तू फिर मुझसे सुन। तू मेरा अत्यन्त प्रिय मित्र है, इसलिये यह (विशेष) हितकी बात मैं तुझे कहूँगा।

व्याख्या— **कर्मयोग 'गुह्य' है (गीता ४। ३), अन्तर्यामी निराकार परमात्माकी शरणागति 'गुह्यतर' है (गीता १८। ६३), परमात्माके प्रभावकी बात 'गुह्यतम' है (गीता ९। १, १५। २०) और साकार परमात्माकी शरणागति 'सर्वगुह्यतम' है। यह** 'सर्वगुह्यतमम्' **पद गीतामें एक ही बार यहाँ आया है।**

निराकारकी शरणमें जानेसे मुक्ति हो जाती है, पर साकारकी शरणमें जानेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने भक्तिके प्रसंगमें ही 'परम वचन' कहे हैं (गीता १०। १)।

अर्जुनने भगवान्से कहा था कि मैं आपका शिष्य हूँ—'शिष्यस्तेऽहम्' **(२। ७), पर भगवान् यहाँ कहते हैं कि तू मेरा प्रिय मित्र है—**'इष्टोऽसि'। **तात्पर्य है कि भगवान् अपनेको गुरु न मानकर मित्र ही मानते हैं। भगवान् सबको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं, किसीको अपना शिष्य नहीं बनाते। यह सिद्धान्त है कि जो खुद छोटा होता है, वही दूसरेको छोटा बनाता है। भगवान् सबसे बड़े हैं, इसलिये वे कभी किसीको छोटा नहीं बनाते।**

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मुझे नमस्कार कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त हो जायगा—यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

व्याख्या— **भगवान्‌का भक्त होना, उनमें मन लगाना, उनका पूजन करना और उन्हें नमस्कार करना—इन चारोंमें एक भी साधन ठीक तरहसे होनेपर शेष तीनों साधन स्वतः उसमें आ जाते हैं। भगवान्‌का भक्त होनेका तात्पर्य है—'मैं भगवान्‌का ही हूँ' इस प्रकार अपनी अहंताको बदल देना। भगवान्‌में मन लगानेका तात्पर्य है—भगवान्‌को अपना मानना। भगवान्‌का पूजन करनेका तात्पर्य है—सब कार्य पूजाभावसे करना। भगवान्‌को नमस्कार करनेका तात्पर्य है—अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित करना।**

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।

व्याख्या—यहाँ 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' पदका अर्थ 'सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग' नहीं है, प्रत्युत 'सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग' है। जैसे, पहले अध्यायमें आया है—'त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च' (१।३३) तो इसका अर्थ यह नहीं ले सकते कि 'वे प्राणोंका त्याग करके युद्धमें खड़े हैं'। इसका अर्थ होगा—वे प्राणोंकी आशाका त्याग करके युद्धमें खड़े हैं; क्योंकि प्राणोंका त्याग करके कोई युद्धमें कैसे खड़ा होगा? इसी प्रकार 'अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता' (१।९)—इसका अर्थ यह नहीं ले सकते कि बहुत-से शूरवीर अपने जीवनका त्याग करके खड़े हैं। इसका अर्थ होगा—वे शूरवीर अपने जीवनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् उनको अपने जीवनका मोह नहीं है। अतः प्रस्तुत श्लोकमें भी 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' पदका अर्थ 'सब धर्मोंके आश्रयका त्याग' लेना चाहिये। तात्पर्य है कि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्की शरणागतिका जितना महत्त्व है, उतना धर्मों (कर्तव्य-कर्मों)-का नहीं है। धर्म अपने वर्ण-आश्रम आदिको लेकर होता है; अतः उसमें शरीरकी मुख्यता रहती है। परन्तु शरणागति स्वयंको लेकर होती है; अतः उसमें भगवान्की मुख्यता रहती है।

'मामेकं शरणं व्रज' का तात्पर्य है कि बाहरसे सबके साथ प्रेम, आदर-सत्कारका व्यवहार करते हुए भी भीतरसे केवल भगवान्का ही आश्रय रहे।

अर्जुन पापोंसे छूटना चाहते थे, इसलिये भगवान्ने भी पापोंसे मुक्त करनेकी बात कही है। वास्तवमें केवल पापोंसे मुक्ति ही शरणागतिका फल नहीं है। पापोंसे मुक्ति मोक्षका फल है। शरणागतिसे मनुष्य मोक्षके साथ-साथ भगवान्के परमप्रेम (अनन्तरस)-को भी प्राप्त कर लेता है! इसलिये भक्तको पापोंसे अथवा दुःखोंसे मुक्ति पानेकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्की शरणमें चले जाना चाहिये। कुछ भी चाहनेसे कुछ (सीमित) ही मिलता है, पर कुछ भी न चाहनेसे सब कुछ (असीम) मिलता है! इतना ही नहीं, भगवान् भी शरणागत भक्तके वशमें हो जाते हैं, उसके ऋणी हो जाते हैं।

भगवान्का आश्रय लेना और अपने लिये कुछ न करना ही गीताका तात्पर्य है। इसलिये साधकके लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं—भगवदाश्रय और विश्राम। शरीरादि पदार्थोंका आश्रय 'पराश्रय' है और क्रियाका आश्रय 'परिश्रम' है। परमात्मप्राप्ति पदार्थ और क्रियाके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत पदार्थ और क्रियाके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। जब साधक पराश्रयका त्याग करके 'भगवदाश्रय'को अपनाता है और परिश्रमका त्याग करके 'विश्राम' को अपनाता है, तब उसका मानव-जीवन सफल हो जाता है।

शरीरके लिये विश्राम (कुछ न करना) भोग है। इसलिये निद्राके सुखको तामस कहा गया है (गीता १८।३९)। परन्तु परमात्माके लिये विश्राम करना साधन है; क्योंकि परमात्मा परम विश्रामस्वरूप हैं। नित्य परमात्मसत्तामें सदा-सर्वदा निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माके लिये विश्राम करना है। परमात्माके लिये होनेवाला विश्राम तामस नहीं होता, प्रत्युत सात्त्विक होकर गुणातीत हो जाता है।

पराश्रय और परिश्रम तो संसारके लिये हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राम अपने लिये हैं। यदि किसी साधकका भगवान्पर विश्वास न हो, प्रत्युत अपनेपर विश्वास हो तो वह 'स्वाश्रय' को अपना सकता है। यदि साधकका न तो भगवान्पर विश्वास हो, न अपनेपर तो वह 'धर्म (कर्तव्य-कर्म)-का आश्रय' अपना सकता है।

मैं भगवान्का ही हूँ, भगवान् ही मेरे हैं—इसको स्वीकार कर लेना 'भगवान्' का आश्रय है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये—इसको स्वीकार कर लेना 'स्व' का आश्रय है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरोंकी सेवाके लिये है—इसको स्वीकार कर लेना 'धर्म' का आश्रय है। भगवान्का आश्रय 'भक्तियोग' है। स्वका आश्रय 'ज्ञानयोग' है। धर्मका आश्रय 'कर्मयोग' है। यद्यपि तीनों ही योगमार्गोंसे पदार्थ और क्रियारूप प्रकृतिका आश्रय (बन्धन) और सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थिति (मोक्ष)-का अनुभव हो जाता है, तथापि इन तीनोंमें भक्तियोग (भगवान्का आश्रय) सर्वश्रेष्ठ है। कारण कि मूलमें हम भगवान्के ही अंश हैं। भगवदाश्रयसे मुक्तिके साथ-साथ भक्ति (परम प्रेम)-की भी प्राप्ति हो जाती है, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

यह भगवदाश्रय (शरणागति) गीताका सार है, जिसे भगवान्ने विशेष कृपा करके कहा है। भगवदाश्रयमें ही गीताके उपदेशकी पूर्णता होती है। इसके बिना गीता अधूरी रहती है। इसलिये अर्जुनके द्वारा 'करिष्ये वचनं तव' कहकर भगवान्का पूर्ण आश्रय स्वीकार करनेपर फिर भगवान् नहीं बोले (१८।७३)।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

यह सर्वगुह्यतम वचन तुझे अतपस्वीको नहीं कहना चाहिये; अभक्तको नहीं कहना चाहिये तथा जो सुनना नहीं चाहता, उसको नहीं कहना चाहिये और जो मुझमें दोषदृष्टि करता है, उसको भी नहीं कहना चाहिये।

व्याख्या— **जो सहिष्णु (सहनशील) नहीं है, वह** 'अतपस्वी' **है। जो भक्तिका विरोध अथवा खण्डन करनेवाला है, वह** 'अभक्त' **है। जो अहंकारके कारण सुनना नहीं चाहता, वह** 'अशुश्रूषवे' **है। जो भगवान्‌में दोषदृष्टि रखता है, वह** 'अभ्यसूयति' **है।**

जिसकी भगवान्‌पर तथा उनके वचनोंपर श्रद्धा नहीं है, जो भगवान्‌को मनुष्योंकी तरह स्वार्थी तथा अभिमानी समझता है, वह भगवान्‌पर दोषारोपण करके पतनकी तरफ न चला जाय, इसलिये उसे पूर्वश्लोकमें कहे गये गोपनीय वचनको कहनेका निषेध किया गया है।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

मुझमें पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवाद (गीताग्रन्थ)-को मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

व्याख्या—जो केवल भगवान्‌की भक्तिका उद्देश्य रखकर निःस्वार्थभावसे इस परम गोपनीय गीताको भक्तोंमें सुनाता है, वह भगवान्‌को प्राप्त होता है। जो भोजन-शयन, शौच-स्नान आदि शारीरिक क्रियाओंको भी भगवान्‌के अर्पित कर देता है, वह भी भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। (गीता ९। २७-२८); फिर जो केवल भगवद्भक्तिका उद्देश्य रखकर भगवद्वाणी (गीता)-का प्रचार करता है, वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय, इसमें कहना ही क्या है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं।

व्याख्या— जिसका एकमात्र भगवत्प्राप्तिका, भगवत्प्रेमका ही उद्देश्य है, जो गीताके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहता है, ऐसा साधक ही गीताके प्रचारका अधिकारी होता है। ऐसा साधक ही भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय कार्य (गीता-प्रचार) करनेवाला है। जो लोगोंको गीतामें लगाता है, उसके समान पृथ्वी-मण्डलपर भगवान्‌का दूसरा कोई प्रियतर नहीं होगा। कारण कि गीताकी शिक्षासे मनुष्यमात्र प्रत्येक परिस्थितिमें सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है। गीताने युद्ध-जैसी परिस्थितिमें भी कल्याण होनेकी बात कही है (गीता २। ३८, ९। २७, १८। ४६ आदि)। जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है, फिर अन्य परिस्थितिमें कैसे नहीं होगा? इसलिये भगवान् गीताके प्रचारकी विशेष महिमा गाते हैं।

जो मनुष्य भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है, उसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—तीनों योग प्राप्त हो जाते हैं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

जो मनुष्य हम दोनोंके इस धर्ममय संवादका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या— भगवान् ज्ञानयज्ञको द्रव्ययज्ञसे भी श्रेष्ठ मानते हैं (गीता ४। ३३)। जो गीताका अध्ययन करता है, उसके द्वारा भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं। जब गीताके अध्ययनमात्रका इतना माहात्म्य है, फिर उसके अनुसार आचरण करनेका कितना माहात्म्य होगा।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित जो मनुष्य (इस गीताग्रन्थको) सुन भी लेगा, वह भी शरीर छूटनेपर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— गीताकी बातोंको जैसा सुन ले, उसे प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावसहित वैसा-का-वैसा माननेवालेका नाम 'श्रद्धावान्' है, और उन बातोंमें कहीं भी, किसी भी विषयमें किंचिन्मात्र भी कमी न देखनेवालेका नाम 'अनसूयः' है। ऐसा श्रद्धावान् तथा दोषदृष्टिसे रहित मनुष्य गीताको केवल सुन भी ले तो वह भी शरीर छूटनेपर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धा-भक्तिके तारतम्यसे गीताके सुननेमें तारतम्य रहता है, और सुननेके तारतम्यसे श्रोताका स्वर्गादि लोकोंसे लेकर भगवल्लोकतक अधिकार हो जाता है। तात्पर्य है कि श्रोतामें अधिक श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो जायगा, और कम श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह ब्रह्मलोकतकके लोकोंको प्राप्त हो जायगा।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ ७२॥

हे पृथानन्दन! क्या तुमने एकाग्रचित्तसे इसको सुना? और हे धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हुआ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

व्याख्या— लौकिक स्मृति तो विस्मृतिकी अपेक्षासे कही जाती है, पर अलौकिक तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। इस तत्त्वकी निरपेक्ष स्मृति अर्थात् अनुभवको ही यहाँ 'स्मृतिर्लब्धा' कहा गया है।

वास्तवमें तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी—इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती। यदि ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद पुनः विस्मृति हो जायगी। इसलिये गीतामें आया है—'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (४। ३५) अर्थात् उसे जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्‌को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको 'विस्मृति' कह देते हैं। वृत्तिका हटना अथवा लगना भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी दृष्टिसे वृत्ति हटे अथवा लगे, तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही रहता है। अभावरूप असत्‌को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

जीव अनादिकालसे स्वतः परमात्माका है। उसे केवल संसारके आश्रयका त्याग करना है। अर्जुनको मुख्यरूपसे भक्तियोगकी स्मृति हुई है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। इसलिये भक्तियोगकी स्मृति ही वास्तविक है। भक्तियोगकी स्मृति है—'वासुदेवः' (गीता ७। १९)। अतः एक वासुदेवके सिवाय कुछ भी नहीं है—इसका अनुभव होना ही 'स्मृतिर्लब्धा' है। यह अनुभव केवल भगवत्कृपासे ही होता है—'त्वत्प्रसादात्'। वचन सीमित होते हैं, पर कृपा असीम होती है।

चिन्तनमें तो कर्तृत्व होता है, पर स्मृतिमें कर्तृत्व नहीं है। कारण कि चिन्तन मनमें होता है। मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे अहम् है और अहम्से परे स्वरूप है। उस स्वरूपमें स्मृति होती है। स्वरूप कर्तृत्वरहित चिन्तन तो हम करते हैं, पर स्मृतिमें केवल दृष्टि उधर जाती है। तत्त्वमें विस्मृति नहीं है, इसलिये दृष्टि उधर जाते ही स्मृति हो जाती है।

'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः'—अर्जुनको पहले क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना ठीक दीखता था। फिर गुरुजनोंके सामने आनेसे युद्ध करना पाप दीखने लगा। परन्तु स्मृति प्राप्त होते ही सब उलझनें मिट गयीं। मैं क्या करूँ? युद्ध करूँ या नहीं करूँ? मेरा कल्याण किसमें है?—यह सन्देह बिलकुल नहीं रहा। अब अर्जुनके लिये कुछ करना शेष नहीं रहा, प्रत्युत केवल भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना ही शेष रहा—'करिष्ये वचनं तव'। यही शरणागति है।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुनका यह रोमाञ्चित करनेवाला अद्भुत संवाद सुना।

व्याख्या—भगवान्‌का स्वयं अवतार लेकर मनुष्य-जैसा काम करते हुए अपने-आपको प्रकट कर देना और 'मेरी शरणमें आ जा'—यह अत्यन्त रहस्यकी बात कह देना—यही संवादमें रोमहर्षण करनेवाली, प्रसन्न करनेवाली, आनन्द देनेवाली बात है।

गीतामें 'महात्मा' शब्द केवल भक्तोंके लिये आया है। यहाँ संजयने अर्जुनको भी 'महात्मा' कहा है; क्योंकि वे अर्जुनको भक्त ही मानते हैं। भगवान्‌ने भी कहा—'भक्तोऽसि मे' (गीता ४। ३)।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

व्यासजीकी कृपासे मैंने स्वयं इस परमगोपनीय योग (गीताग्रन्थ)-को कहते हुए साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे सुना है।

व्याख्या— **भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुनका पूरा संवाद सुननेपर संजयके आनन्दकी कोई सीमा नहीं रही। इसलिये वे हर्षोल्लासमें भरकर कह रहे हैं कि मैंने यह संवाद परम्परासे अथवा किसीके द्वारा नहीं सुना है, प्रत्युत इसे मैंने साक्षात् भगवान्के मुखसे सुना है।**

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पवित्र और अद्भुत संवादको याद कर-करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

व्याख्या— **भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस संवादमें जो तत्त्व भरा हुआ है, वह किसी ग्रन्थ, महात्मा आदिसे सुननेको नहीं मिला। यह भगवान् और उनके भक्तका बड़ा विलक्षण संवाद है। इतनी स्पष्ट बातें दूसरी जगह पढ़ने-सुननेको मिलती नहीं। इस संवादमें युद्ध-जैसे घोर कर्मसे भी कल्याण होनेकी बात कही गयी है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें अपना कल्याण कर सकता है—यह बात इस संवादसे मिलती है। इसलिये यह संवाद बड़ा अद्भुत है। केवल संवादमें ही इतनी विलक्षणता है, फिर इसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या है। ज्ञान-कर्म-भक्तिकी ऐसी विलक्षण बातें और जगह सुननेको मिली ही नहीं, इसलिये इनको सुनकर संजय बार-बार हर्षित हो रहे हैं।**

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विराट्‌रूपको भी याद कर-करके मुझे बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

व्याख्या— **भगवान्‌के विषयमें पहले तो संजयने शास्त्रमें पढ़ा, फिर अद्भुत संवाद सुना और फिर अति अद्भुत विराट्‌रूप देखा। तात्पर्य है कि शास्त्रकी अपेक्षा श्रीकृष्णार्जुन-संवाद अद्भुत था और संवादकी अपेक्षा भी विराट्‌रूप अत्यन्त अद्भुत था।**

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या— **संजय कहते हैं कि राजन्! जहाँ अर्जुनका संरक्षण करनेवाले, उन्हें सम्मति देनेवाले, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर, महान् बलशाली, महान् ऐश्वर्यवान्, महान् विद्यावान्, महान् चतुर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ भगवान्की आज्ञाका पालन करनेवाले, भगवान्के प्रिय सखा तथा शरणागत भक्त गाण्डीव-धनुर्धारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय, विभूति और अचल नीति—ये सभी हैं और मेरी सम्मति भी उसी पक्षमें ही है।**

युद्धमें कौन जीतेगा और कौन हारेगा—इसका निर्णय वास्तवमें उसी समय हो गया था, जब अर्जुन और दुर्योधन—दोनों युद्धका निमन्त्रण देने भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचे थे! अर्जुनने अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान् श्रीकृष्णको स्वीकार किया, और दुर्योधनने भगवान्को छोड़कर उनकी नारायणी सेनाको स्वीकार किया। गीताके अन्तमें संजय भी मानो उसी निर्णयकी ओर संकेत करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं, वहीं विजय है—'यतः कृष्णस्ततो जयः' **(महाभारत भीष्म० ४३।६०, शल्य० ६२।३२)।**

ब्रह्मषट्शून्यनेत्राब्दे हेमलम्बाख्यवत्सरे।
नवम्यां चैत्रशुक्लायां रामजन्ममहोत्सवे॥*
गीताप्रबोधनीटीकालेखनं पूर्णतामगात्।
यत्कृपातो नमामस्तं गीतागायकमच्युतम्॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

* श्रीरामनवमी, वि० सं० २०६१

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते॥ जय०
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा॥ जय०
निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी॥ जय०
राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा॥ जय०
आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्‌गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी॥ जय०
समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी॥ जय०
दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय०

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम:॥

गीतामें साधर्म्य

लक्षण	कर्मयोगी	ज्ञानयोगी	भक्तियोगी	श्रीभगवान्
ज्ञानी		सदृशं चेष्टते० (३।३३) तद्विद्धि प्रणिपातेन०(४।३४)	चतुर्विधा भजन्ते०(७।१६) तेषां ज्ञानी० (७।१७) उदारा: सर्व० (७।१८) बहूनां जन्मनामन्ते०(७।१९)	
सर्ववित्			यो मामेवमसंमूढो० (१५।१९)	
वेदवित्		ऊर्ध्वमूलमध:० (१५।१)		सर्वस्य चाहं० (१५।१५)
महात्मा			बहूनां जन्मनामन्ते०(७।१९) मामुपेत्य पुनर्जन्म०(८।१५) महात्मानस्तु० (९।१३)	दिवि सूर्य० (११।१२) द्यावापृथिव्यो० (११।२०) कस्माच्च ते० (११।३७) इत्यर्जुनं० (११।५०)
सर्वारम्भपरित्यागी		मानापमानयो० (१४।२५)	अनपेक्ष:० (१२।१६)	
मनीषी	कर्मजं बुद्धियुक्ता० (२।५१)			
	यज्ञदानतप:कर्म० (१८।५)			
मैत्र:			अद्वेष्टा सर्वभूतानां० (१२।१३)	
करुण:			,, ,, (१२।१३)	
उदार			उदारा: सर्व० (७।१८)	
उदासीन			अनपेक्ष:० (१२।१६)	
उदासीनवत्		उदासीनवदासीनो०(१४।२३)		न च मां तानि०(९।९)
अद्वेष्टा			अद्वेष्टा० (१२।१३)	
सुहृद्				भोक्तारं यज्ञ० (५।२९) गतिर्भर्ता० (९।१८)
स्वस्थ		समदु:खसुख:० (१४।२४)		
अन्तराराम		योऽन्त:सुख:० (५।२४)		
अनाश्रित	अनाश्रित:० (६।१) त्यक्त्वा० (४।२०)			
मुनि	दु:खेष्वनु० (२।५६)	या निशा० (२।६९)		

लक्षण	कर्मयोगी	ज्ञानयोगी	भक्तियोगी	श्रीभगवान्
	संन्यासस्तु० (५।६) आरुरुक्षो० (६।३)	परं भूयः० (१४।१)		
सन्तुष्ट	यस्त्वात्मरतिरेव०(३।१७) यदृच्छालाभ० (४।२२)		सन्तुष्टः सततं० (१२।१४) तुल्यनिन्दा० (१२।१९)	
सुकृती			चतुर्विधा भजन्ते०(७।१६)	
युक्ततम			योगिनामपि० (६।४७) मय्यावेश्य मनः० (१२।२)	
पुरुष	यततो ह्यपि० (२।६०) न कर्मणा० (३।४) तस्मादसक्तः०(३।१९)	यं हि न० (२।१५) वेदाविनाशिनं० (२।२१)		अभ्यासयोगयुक्तेन० (८।८) प्रयाणकाले० (८।१०) पुरुषः स परः (८।२२) परं ब्रह्म परं० (१०।१२) त्वमक्षरं परमं० (११।१८) त्वमादिदेवः० (११।३८) ततः पदं० (१५।४) उत्तमः पुरुषः० (१५।१७)
संन्यासी	ज्ञेयः स० (५।३) अनाश्रितः० (६।१)			
अनपेक्ष			अनपेक्षः० (१२।१६)	
दक्ष			अनपेक्षः० (१२।१६)	
ऋषि		लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण०(५।२५) ऋषिभिर्बहुधा० (१३।४)		
सर्वभूतहिते रताः		लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण०(५।२५) संनियम्येन्द्रियग्रामं० (१२।४)		

॥ श्रीहरिः ॥

1675 ▲

सागरके मोती

स्वामी रामसुखदास

GITA PRESS, GORAKHPUR

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम: ॥

प्राक्कथन

जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ तथा भगवत्प्रेमी महापुरुष परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज गत आषाढ़ कृष्ण १२, वि०सं० २०६२ (दिनांक ३ जुलाई, २००५) को वैकुण्ठलोक सिधार गये। उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य था कि कम-से-कम समयमें तथा सुगम-से-सुगम उपायसे मनुष्यमात्रका कल्याण हो जाय, और इसीमें वे एक सौ एकसे अधिक वर्षकी अवस्थातक तन-मनसे जुटे रहे। वे व्यक्तिगत प्रचारसे दूर रहकर भगवान् और उनकी वाणी श्रीमद्भगवद्गीताके प्रचारमें आजीवन लगे रहे। इसलिये अपनी फोटो खिंचवाने, आश्रम बनाने, शिष्य बनाने, चरण-स्पर्श करवाने, पूजा करवाने, भेंट स्वीकार करने, रुपये आदि वस्तुओंका संग्रह करने आदि बातोंसे वे सर्वथा दूर रहे। इस प्रकार उन्होंने लोगोंको अपनी तरफ न लगाकर भगवान्‌की तरफ ही लगाया। स्थान-स्थानपर भ्रमण करते हुए उन्होंने अपने प्रवचनोंके माध्यमसे आध्यात्मिक मार्गके गूढ़, जटिल तथा ऊँचे-से-ऊँचे विषयोंका जनसाधारणके सामने बड़ी सरल रीतिसे विवेचन किया, जिससे साधारण पढ़ा-लिखा अथवा अनपढ़ मनुष्य भी उसे सुगमतासे समझ सके और अपने जीवनमें उतार सके। उनकी पुस्तकें विद्वत्ताके आधारपर लिखी हुई नहीं हैं, प्रत्युत अनुभवके आधारपर लिखी हुई हैं, इसलिये वे पाठकोंके हृदयपर अमिट प्रभाव डालती हैं।

उनके प्रवचनोंसे यथाश्रुत तथा यथागृहीत बातें मैं समय-समयपर अपनी डायरीमें लिखता रहा। उनमेंसे कुछ बातें **'ज्ञानके दीप जले'** और **'सत्संगके फूल'** नामसे प्रकाशित की जा चुकी हैं। अब कुछ बातें **'सागरके मोती'** नामसे पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत की जा रही हैं। इसमें साधकोपयोगी अत्यन्त मार्मिक बातें विवेकशील साधकको मिल जायँगी।

पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकके अध्ययनसे लाभ प्राप्त करें।

विनीत

संकलनकर्ता

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

सागरके मोती

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति । सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् । देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

हरिः ॐ नमोऽस्तु परमात्मने नमः।
श्रीगोविन्दाय नमो नमः।
श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।
महात्मेभ्यो नमः।
सर्वेभ्यो नमो नमः।

××× ××× ××× ×××

किसीको भी बुरा समझे नहीं, बुरा चाहे नहीं और बुरा करे नहीं। किसीको बुरा समझनेसे वह भी बुरा बन जायगा और हमारेमें भी बुराई आ जायगी। किसीको बुरा समझना अपनेमें बुराईको निमन्त्रण देना है।

स्वरूपमें बुराई नहीं है। बुराई आगन्तुक है। बुराई स्थायी नहीं है, असत् है। बन्धन कृत्रिम है, मुक्ति स्वतःसिद्ध है। मनुष्य केवल (सर्वथा) भला तो हो सकता है, पर केवल बुरा कोई हो सकता ही नहीं।

बुराई देखनेसे बुराईके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। किसीको भी बुरा नहीं मानें तो संसारकी सेवा हो जायगी। बुरा देखोगे तो '**वासुदेवः सर्वम्**' कैसे मानोगे?

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, उसकी इच्छा होनी कठिन है। हम परमात्माकी आवश्यकता नहीं मानते, तभी उनकी प्राप्ति कठिन दीखती है। सुखभोग तथा संग्रहकी इच्छाके कारण ही परमात्मप्राप्ति कठिन हो रही है। शरीरके आरामकी जितनी इच्छा है, उतनी परमात्माकी नहीं है। परमात्मप्राप्तिमें विश्वास और विवेककी जरूरत है, शरीरकी जरूरत नहीं है।

'कर्मयोग' कामना-त्यागसे आरम्भ होता है और कामना-त्यागमें ही समाप्त होता है। 'भक्तियोग' भगवत्प्रेमसे आरम्भ होता है और भगवत्प्रेममें ही समाप्त होता है। 'ज्ञानयोग' विवेकसे आरम्भ होता है और तत्त्वज्ञानमें समाप्त होता है।

××× ××× ××× ×××

निषिद्ध कर्मोंका त्याग बहुत जरूरी है। संसारको भी चाहते हो और भगवान्‌को भी चाहते हो तो किया हुआ साधन व्यर्थ नहीं जायगा, पर वर्तमानमें विशेष लाभ नहीं होगा।

कोई भी कर्तव्य-कर्म दूसरोंके हितके लिये किया जाय तो वह भजन है, और अपने लिये किया जाय तो पाप है। समाधि भी अपने लिये नहीं करनी है। भजन भी संसार या भगवान्‌के लिये करना है। अपने सुखके लिये कर्म करनेवाला राक्षसकी श्रेणीमें आता है। कर्म शरीरसे करना और फल स्वयं चाहना क्या उचित है? शरीर तो संसारका और संसारके लिये है। शरीरके द्वारा संसारकी सेवा होनी चाहिये।

जो अपने शरीरका पोषण नहीं करता, उसके शरीरका पोषण

संसार करता है; जैसे माँ बालकका पोषण करती है। आप शरीरको अपना मत मानो तो शरीरको भोजन देनेका माहात्म्य हो जायगा! शरीरको संसारका मानो तो संसारकी सेवा हो जायगी, और भगवान्‌का मानो तो भगवान्‌की सेवा हो जायगी।

जिसकी सेवा करते हो, उससे अपनापन हटा लो अथवा जिसको अपना नहीं मानते, उसकी सेवा करो—दोनोंका फल बराबर है।

××× ××× ××× ×××

सत्संग मिलनेके समान कोई लाभ नहीं है। परन्तु असली सत्संग मिलना कठिन है। एकान्तमें भजन करनेकी अपेक्षा सत्संगसे, वास्तविक तत्त्वका विवेचन करनेवाली पुस्तकोंसे बहुत लाभ होता है। असली सत्संग है—भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका संग अथवा एक भगवान्‌में प्रियता। सत्संगसे तत्काल लाभ होता है। सत्संगकी महिमा मैं कह नहीं सकता। जैसे बालक कब बड़ा हो गया—इसका पता नहीं लगता, ऐसे ही सत्संगमें बैठे-बैठे कितना लाभ होता है—इसका पता नहीं लगता।

संसार प्रतीतिमात्र है, है नहीं। इसको 'है' मानना अनर्थकारक है, जिससे भोग तथा संग्रहकी रुचि पैदा होती है। 'नहीं' को स्थायी माननेसे 'है' दीखता नहीं। 'है' ही परमात्मा है। संसार है ही नहीं, केवल मृगतृष्णाकी तरह प्रतीति है।

××× ××× ××× ×××

संसार बाधक नहीं है, प्रत्युत उससे सुख लेनेकी इच्छा बाधक है। सुख चाहनेवाला दु:खसे कभी बच सकता ही नहीं। शरीर, रुपये, घर, कुटुम्बी आदि कुछ भी बाधक नहीं हैं। बाधक है 'मैं सुख ले लूँ'—यह भाव। यह राक्षसपना है। संसारकी इच्छामात्र बाधक है, चाहे वह अच्छी हो या बुरी।

सब कुछ परमात्मा ही हैं, पर वे भोग्य नहीं हैं। आप उन्हें भोग्य बनाकर सुख भोगना चाहोगे तो दु:ख पाते रहोगे।

परमात्मामें (सगुण-निर्गुण आदिका) भेद करना गलती है, और संसारमें एकता करना गलती है।

आरम्भसे ही भक्ति करना सर्वश्रेष्ठ है। गीता ज्ञानयोगसे कर्मयोगको और कर्मयोगसे भक्तियोगको श्रेष्ठ मानती है। भगवान्‌में प्रेम होनेका नाम 'भक्ति' है। प्रेमके समान कोई चीज है ही नहीं। प्रेमके बिना ज्ञान सूखा है। यदि प्रेम शरीरमें है तो भले ही ब्रह्मकी बातें कर लो, कुछ लाभ नहीं। जैसे लोभीकी दृष्टिमें रुपये कीमती हैं; अत: धन बड़ा नहीं, लोभ बड़ा है। ऐसे ही भगवान्‌का प्रेम बड़ा है, भगवान् नहीं।

××× ××× ××× ×××

बालकको माँके समान प्रिय कोई चीज नहीं लगती। हम सब भगवान्‌के बेटे हैं। जबतक हम भगवान्‌से विमुख रहते हैं, तबतक शान्ति नहीं मिलती। संसारसे विमुख होनेपर एक शान्ति मिलती है। परन्तु भगवान्‌के सम्मुख होनेपर प्रेमकी जो मस्ती आती है, वह ज्ञानसे नहीं आती। भगवत्प्रेममें जो विलक्षण रस है, वह ज्ञानमें नहीं है। यह मेरेपर बीती बात है! गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९।३)

ज्ञानमें मतभेद रहता है, भक्तिमें नहीं। भक्तिमें जो अद्वैत है, वह ज्ञानमें नहीं है। ज्ञानमें जड़ताका त्याग करते हैं तो जड़ताका सूक्ष्म संस्कार रह सकता है। भक्तिमें '**वासुदेवः सर्वम्**' होनेसे त्याज्य वस्तु कोई होती ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

जो आदि-अन्तमें होता है, वही मध्यमें होता है। स्वप्नसे

पहले और बादमें हम रहते हैं तो स्वप्नके समय भी हम रहते हैं। हम जाननेवाले हैं। जाननेवाला जाननेमें आनेवाली वस्तुसे अलग होता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—इन पाँचों अवस्थाओंको हम जानते हैं; अतः हमारा स्वरूप इन पाँचों अवस्थाओंसे रहित है। अवस्थाओंका भाव और अभाव होता है, पर हमारा भाव और अभाव नहीं होता। अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हम अवस्थाओंके अधीन नहीं हैं। अवस्थाएँ छूटती हैं, पर हम रहते हैं। विकार आते-जाते हैं, पर हम भोक्ता बनते हैं। जबतक आने-जानेवाली चीजोंका हमपर असर पड़ता है, तबतक हम स्वरूपमें स्थित नहीं हैं।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६) 'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।' असत्‌की निरन्तर निवृत्ति हो रही है। सत्‌की निरन्तर प्राप्ति हो रही है। 'रहते' में रहो, 'बहते' के साथ मत बहो। बहनेवालेमें भी दो विभाग हैं—दीखनेवाला और देखनेवाला (इन्द्रियाँ, अन्तःकरण)। 'नहीं' से 'है' कैसे दीखेगा? 'है' से 'नहीं' कैसे दीखेगा? 'नहीं' से 'नहीं' ही दीखेगा।

××× ××× ××× ×××

मनुष्य अपनेमें कमीका अनुभव करता है तो दूसरोंका सहारा लेता है। जबतक यह परमात्माका आश्रय नहीं लेगा, तबतक उसकी कमी दूर नहीं होगी और वह दुःख पाता ही रहेगा। जीव परमात्माका ही अंश है, इसलिये परमात्माका सहारा लेनेसे ही उसकी कमी दूर होगी। द्वैत, अद्वैत आदि सभी उसका सहारा लेनेके लिये ही हैं। अद्वैत केवल द्वैतका निषेध करनेके लिये है। सभी मार्गोंमें त्याग मुख्य है; क्योंकि संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है।

साधन दो हैं—संसारसे सम्बन्ध तोड़ना और परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ना। भगवान्‌के शरण होनेपर भगवान् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करा देते हैं और जल्दी करा देते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

'हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

गुरु तो अपने पास आनेवालेको छोटा (चेला) बनाता है, पर भगवान् ऊँचा बनाते हैं। ऊँचे गुरु ऊँचा ही बनाते हैं। इसलिये दास्यरति सख्यरतिमें बदल जाती है। शरणमें जानेसे भगवान् अपने-आपको दे देते हैं। बालक माँका आश्रय लेता है तो माँ उसके वशमें हो जाती है। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ, और किसीका नहीं'—इसके आगे भगवान् निर्बल हो जाते हैं*! परन्तु जीवकी निर्बलता है—अन्यका सहारा लेना। अनन्यभक्तके लिये भगवान् सुलभ हैं—**'तस्याहं सुलभः पार्थ'** (गीता ८।१४)। भजनका भी आश्रय न मानकर केवल भगवान्‌के आश्रित हो जाय। यह शरणागतिका मार्ग सबसे श्रेष्ठ और सुगम है। भगवान् भी शरणागत भक्तके शरण हो जाते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)।

दास्य, सख्य आदि भाव तत्त्वज्ञान होनेके बाद केवल चिन्मय तत्त्वमें ही होते हैं।

××× ××× ××× ×××

जीव स्वयं अविनाशी होकर नाशवान्‌को अपना मानता है—

---

* **एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥**

(मानस, अरण्य० १०।४)

यह कितनी बड़ी भूल है! जाने हुए असत्का त्याग करना है। आप स्वयं बालक, जवान, रोगी, निर्धन आदि नहीं होते। आप तो इनको जाननेवाले हैं। जैसे मृत्युके समय एक आघात लगता है, जिससे आप पूर्वजन्मको भूल जाते हैं। ऐसा आघात बालकपन जानेपर नहीं लगा, इसीलिये आप उसे भूले नहीं।

नया उद्योग कुछ नहीं करना है। जो निवृत्त है, उसीकी निवृत्ति करनी है और जो प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है। भगवान्‌को अपना माननेमें अभ्यास नहीं है। विवाहके बाद नये घरको अपना माननेमें लड़कीको अभ्यास नहीं करना पड़ता। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, बोध नहीं होता।

हम भगवान्‌के हैं—इतनी बात मान लो तो बेड़ा पार है! अभी ऐसा मान लो कि हम भगवान्‌के हैं, फिर अपने-आप दीखने लग जायगा; क्योंकि यह सही बात है।

××× ××× ××× ×××

शरणागति सम्पूर्ण साधनोंमें श्रेष्ठ है। गीताके अन्तमें भी भगवान्‌ने शरणागतिकी बात कही है और इसे 'सर्वगुह्यतम' बताया है। भक्तका उद्धार करके भगवान्‌को बड़ी प्रसन्नता होती है। शरणमें जाना भक्तका काम है, उद्धार करना भगवान्‌का काम है, और प्रेम करना भक्त व भगवान्—दोनोंका काम है।

शरण लेनेका काम भगवान्‌का नहीं है। भगवान्‌ने अपने कल्याणके लिये जीवको स्वतन्त्रता दी है। शरण होकर जीव निश्चिन्त, निःशोक, निर्भय और निःशंक हो जाता है। शरण होना गीताका अन्तिम सिद्धान्त है। शरणागति गीताभरकी सार बात है।

जबतक अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन आदिका आश्रय रहता है, तबतक असली शरणागति नहीं होती।

××× ××× ××× ×××

गुरुकी प्रसन्नतासे विद्या सफल होती है, और प्रसन्नता न होनेसे विद्या विफल होती है—ऐसे कई उदाहरण मैंने देखे-सुने हैं। अतः विद्यार्थीको चाहिये कि वह गुरुकी सेवा करे, उनकी आज्ञा माने और उनकी प्रसन्नता ले। गुरुकी आज्ञाका पालन करना एक नंबरकी सेवा है। आज्ञापालनसे गुरुकी विशेष कृपा प्राप्त होती है।

विद्यार्थियोंकी बुद्धि कमजोर हो—यह मैं नहीं मानता। वास्तविक बात यह है कि वे परिश्रम नहीं करते। वे परिश्रम करें तो गुरु भी प्रसन्न होंगे और माता-पिता भी।

विद्यार्थीको केवल बुद्धिबल ही नहीं, प्रत्युत मनोबल, शरीरबल आदि सभी बल बढ़ाने चाहिये। उसे व्रत-उपवाससे शरीरको कृश नहीं करना चाहिये।

विद्यार्थीको अपनी विद्याका अभिमान नहीं करना चाहिये। मैं जानकार हूँ—ऐसा अभिमान होनेसे जानना बन्द हो जायगा और आगे नहीं बढ़ेगा।

××× ××× ××× ×××

हमारे पास सबसे मूल्यवान् वस्तु है—मनुष्यजीवनका समय। महिमा वस्तुकी नहीं है, प्रत्युत वस्तुके उपयोगकी है। मनुष्यशरीरके सदुपयोगकी महिमा है। इसके सदुपयोगसे सर्वश्रेष्ठ परमप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है और दुरुपयोगसे नरकोंकी भी प्राप्ति हो सकती है! सदुपयोगसे भी ज्यादा महिमा है—दुरुपयोग न करे। विहित कर्म करनेकी अपेक्षा भी निषिद्ध कर्मोंका त्याग विशेष है। निषिद्ध आचरण रहते हुए विहित कर्म करनेपर भी विशेष लाभ नहीं होता, जैसा कि होना चाहिये। निषिद्ध कर्मोंके होनेमें कारण है—कामना! कामनाके कारण मनुष्य न चाहते हुए भी पाप कर

बैठता है (गीता ३।३६-३७)। निषिद्ध आचरण करनेवाला 'साधक' नहीं कहलाता, प्रत्युत 'संसारी' कहलाता है।

प्रत्येक कार्य करते समय यह ध्यान रखें कि हमारा उद्देश्य क्या है? हम मुक्तिके लिये करते हैं या बन्धनके लिये? हम क्या चाहते हैं? अपनी चाहना मत रखो—

मेरी चाही मत करो मैं मूरख अग्यान।
तेरी चाही में प्रभो है मेरा कल्यान॥

कामनापूर्तिमें समय लगाना समयका दुरुपयोग है। अनुकूलताकी इच्छा पतन करनेवाली है। मिलनेवाली अनुकूलता तो मिलेगी ही। अनुकूलता आपकी इच्छाके अधीन नहीं है। आपकी अनुकूलताकी इच्छाके अधीन तो पतन है!

××× ××× ××× ×××

मनुष्य वर्तमानको देखता है और भूत-भविष्यकी चिन्ता करता है। चिन्ता उसकी करता है, जो अभी है नहीं। वर्तमानको ठीक बनाओ। वर्तमान ठीक होगा तो भूत भी ठीक हो जायगा, भविष्य भी; क्योंकि भविष्य भी वर्तमानका फल ही है।

करनेयोग्य कर्म न करनेसे और न करनेयोग्य कर्म करनेसे दुःख होता है। अतः ऐसा कर्म करें, जिससे अभी भी हित हो और परिणाममें भी, हमारा भी हित हो और दूसरोंका भी। दूसरोंको दिया गया दुःख कई गुना होकर मिलेगा; क्योंकि यह मनुष्यशरीर खेत है। किसीके अहितकी भावना करना अपने अहितको निमन्त्रण देना है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीर अपने उद्धारके लिये मिला है। अतः जो देश, काल, परिस्थिति आदि मिली है, उसीमें परमात्मप्राप्ति हो सकती है। हरेक मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, केवल अपनी

इच्छा होनी चाहिये। सच्ची लगन हो तो भगवान् सहायता करते हैं। जैसे—कोई साधक किसी जगह अटका है, छोड़ना नहीं चाहता, उससे भगवान् वह जगह छुड़ा देते हैं। जहाँसे लाभ भी न हो और छोड़ना भी न चाहे, उसके सामने ऐसी परिस्थिति रखते हैं कि उसे छोड़ना ही पड़ता है।

भगवान्‌का मनुष्यशरीरसे पक्षपात है!

××× ××× ××× ×××

भगवद्भजनमें परतन्त्रता नहीं होती—यह सिद्धान्त है। सांसारिक प्रतिकूलता भजनमें बाधक नहीं होती। प्रतिकूलतामें मनुष्य संसारसे ऊँचा उठता है। भगवान्‌ने भागवतमें कहा है कि मैं कृपा करता हूँ तो धन हरण कर लेता हूँ अर्थात् प्रतिकूलता भेजता हूँ। भगवान् धन नहीं हटाते, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिकी बाधा हटाते हैं। जो भगवत्प्राप्ति चाहता है, उसकी बाधा हटाते हैं।

अपने सुख-दुःखका कारण दूसरेको मानना ही बाधा है। सुख या दुःखको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है—**'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता'** (अध्यात्म० २। ६। ६)। मनुष्य वर्तमानके कर्मोंसे बँधता है, पूर्वके कर्मोंसे नहीं। पूर्वकर्मोंके अनुसार तो परिस्थिति आती है। परिस्थिति दुःख नहीं देती, प्रत्युत अनुकूलताकी इच्छा दुःख देती है।

सांसारिक प्रतिकूलता पारमार्थिक मार्गमें बाधक नहीं है, प्रत्युत साधक है। वास्तवमें न बाधक है, न साधक, प्रत्युत भजनमें सभी स्वतन्त्र हैं। परन्तु मनुष्य अनुकूलतामें न तो भजन करता है, न पुण्य करता है। अनुकूलताकी इच्छा मिटा दो और प्रतिकूलताका भय मिटा दो। इनकी परवाह मत करो। अनुकूलताका भोग करोगे तो प्रतिकूलता आयेगी ही। प्रतिकूलतासे बाधा अपने सुखमें आती है, भजनमें नहीं। प्रतिकूलता

आनेपर विवेक काम न करे तो द्रौपदी, गजेन्द्रकी तरह भगवान्‌को पुकारो।

कोई हमारे प्रतिकूल हो या अनुकूल, हमारा काम है— स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेका हित करना। दूसरा हमें सुख दे या दुःख, जिस तरहसे उसका हित हो, वैसा काम करो। क्रोध करनेसे उसका हित होता हो तो वैसा करो। दण्ड देना राजाका काम है। हमारा ध्येय हितका हो। आततायीसे रक्षा करना हमारा काम है, रक्षा करते हुए वह मर जाय तो पाप नहीं लगेगा। यद्यपि आततायीको मारनेका पाप नहीं लगता, तथापि हमारा उद्देश्य मारनेका नहीं होना चाहिये। अराजकताके समय सबका क्षात्रधर्म होता है।

सभी प्रश्नोंका उत्तर शास्त्रमें है, हम जानें चाहे न जानें।

××× ××× ××× ×××

व्यवहार बिगड़ा है, परमार्थ नहीं। इसलिये व्यवहार-सुधारकी बड़ी भारी आवश्यकता है। कोई भी कर्म करते समय हम किस भाव, उद्देश्यसे कर्म कर रहे हैं—इसे जाननेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। प्रायः साधककी दृष्टि क्रियापर जाती है, भावपर बहुत कम। भावपर, उद्देश्यपर दृष्टि रखे तो बहुत जल्दी उन्नति हो सकती है। दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कमी देखना अच्छा है, पर अपनेमें कमी मानना ठीक नहीं।

मनकी चंचलता मिटानेकी अपेक्षा बुद्धिकी चंचलता मिटाना आवश्यक है। लोग मनकी तरफ ध्यान देते हैं, बुद्धिकी तरफ नहीं। बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने गीतामें मनकी स्थिरताकी अपेक्षा बुद्धिकी स्थिरताको महत्त्व दिया है। बुद्धि ठीक होनेसे मन भी ठीक हो जायगा। बुद्धिमें एक परमात्मप्राप्तिका ही निश्चय हो।

संसार मनुष्यशरीरसे ही आरम्भ हुआ है और मनुष्यशरीरमें ही समाप्त हो सकता है। अभी समाप्तिका मौका है!

'गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास'—यह बुद्धिकी चंचलता है। परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय होना बुद्धिकी स्थिरता है। जबतक भोग और संग्रहकी आसक्ति है, तबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं हो सकती।

××× ××× ××× ×××

सर्वभावसे भगवान्‌का भजन करनेका तात्पर्य है कि मैं-पन बिलकुल न रहे। जैसे कन्या सर्वभावसे पतिकी हो जाती है, उसका गोत्र भी नहीं रहता, ऐसे ही सर्वभावसे भगवान्‌के हो जायँ। अपना कोई भी भाव अलग न रहे।

धनके द्वारा दूसरोंका उपकार कभी हुआ नहीं, हो सकता नहीं। जिसके भीतर धनकी आसक्ति है, वह उपकार नहीं कर सकता। वह परमात्माकी तरफ भी नहीं लग सकता। उपकार उदारतासे होता है, धनसे नहीं। कल्याण उदारतासे होता है। रुपयोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत रुपयोंके खर्च (त्याग)-का महत्त्व है। रुपयोंका खर्च उदार ही कर सकता है।

महिमा और निन्दा परिस्थिति, वस्तु आदिकी नहीं है। सदुपयोगकी महिमा है और दुरुपयोगकी निन्दा है—यह सार बात है।

जबतक हृदयमें भोग और संग्रहका महत्त्व बैठा है, तबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके भीतर नाशवान्‌का महत्त्व हो, वह अविनाशीको कैसे प्राप्त करेगा?

मूर्तिपूजा वास्तवमें भगवान्‌की पूजा है, मूर्तिकी पूजा नहीं। बढ़िया मकान बनाना, उसे सजाना पत्थरकी पूजा है। शरीरको सजाना हड्डीकी पूजा है!

कलियुग अच्छाईके चोलेमें बुराईका प्रचार करता है। अच्छाईके चोलेमें बुराई बहुत भयंकर होती है। उससे बचना बड़ा कठिन होता है।

मनुष्यके दो खास काम हैं—देखे हुए संसारकी सेवा करना और सुने हुए भगवान्‌को याद करना। आपने आजतक जो निश्चय किया है कि ईश्वर ऐसा है—उसे याद करते रहो, नामजप करते रहो तो असली भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। दूसरेके द्वारा निश्चय किये गये रूपका, उसकी मान्यताका खण्डन मत करो। किसीकी निन्दा करोगे तो वह भगवान्‌की निन्दा होगी।

जीव और ईश्वर परस्पर सखा हैं—'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**'। प्रत्येक मनुष्य भगवान्‌का सखा है। भगवान् कहते हैं—'***सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥***' (मानस, किष्किन्धा० ७।५)। अतः आप चिन्ता छोड़ दें। चिन्ता हो जाय तो हे नाथ! हे नाथ! पुकारें।

××× ××× ××× ×××

जहाँ ममता नहीं है, चाहे उनकी सेवा कर दो; चाहे जिनकी सेवा करते हो, वहाँसे अपनी ममता हटा लो। ममता पुण्यको खा जाती है।

चाहे भगवान्‌के भजन, कीर्तन, ध्यान, जप, स्वाध्याय आदिमें लग जाओ, चाहे संसारका जो भी काम करो, भगवान्‌के लिये करो, स्वार्थका त्याग करके करो। किसी तरहसे भगवान्‌में लग जाओ।

स्वीकृति स्वयंमें होती है, चिन्तन मन-बुद्धिमें होता है। आप मानें या न मानें, स्वीकार करें या न करें, सब कुछ परमात्मा ही हैं।

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—काम तो इतना ही है।

××× ××× ××× ×××

विचार करें तो यह बात समझमें आती है कि संसारमें अपना कोई नहीं है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तथा मैं-पन भी अपना तथा अपने लिये नहीं है। इन्हें अपना और अपने लिये मानना ही बन्धन है। 'मैं' और 'मेरा' ही माया है। 'मैं' और 'मेरा' दोनों ही जगह भगवान् हैं। जीव स्वतः निर्मम और निरहंकार है। मैं-मेरापन बदलता है। जो बदलता है, वह सच्चा नहीं होता। सुषुप्तिमें मैं-मेरेपनका भान नहीं होता, पर अपनी सत्ताका अनुभव होता है। आपकी सत्ता मैं-मेरेपनके अधीन नहीं है। मैं-मेरापन आपके अधीन है। वास्तवमें मैं और मेरा नहीं है, प्रत्युत तू और तेरा है!

भगवान्का होकर भगवान्को पुकारोगे तो माँकी तरह भगवान्को आना पड़ेगा। जैसे बालकको माँकी याद आती है, ऐसे भगवान्की याद आये। अपनेको शरीरसहित भगवान्का मान लो। वास्तवमें हम सदासे ही भगवान्के हैं। अतः भगवान्का होना नहीं है, केवल अपनी भूलका सुधार करना है कि मैं संसारका नहीं हूँ। आज ही विचार कर लो कि हम भगवान्के सिवाय किसीके नहीं हैं।

अपनेको भगवान्का मान लेनेके बाद परिवारसे आदरका, सेवाका, पूजाका बर्ताव होगा। परिवारमें ममता होनेसे बढ़िया बर्ताव नहीं होता।

कन्या पहले पतिकी न होते हुए भी विवाहके बाद पतिकी हो जाती है, आप भगवान्के होते हुए भगवान्के हो जाओ।

××× ××× ××× ×××

परमात्माकी प्राप्ति कठिन है ही नहीं। संसार तो निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। कामनाका त्याग कठिन है तो क्या कामनाकी पूर्ति सुगम है? कामनाकी पूर्ति तो असम्भव है।

सभी कामनाएँ आजतक किसीकी भी पूरी नहीं हुईं, पर कामनाओंका त्याग करके कई सन्त हो गये!

कामनाका त्याग करना है—यह विचार ही कामना छोड़नेमें बाधक है! वास्तवमें नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति करनी है। संसारका त्याग करना नहीं पड़ता। संसार पहलेसे ही निवृत्त है, केवल इस वास्तविकताको स्वीकार करना है।

यदि कामनाकी पूर्ति कामनाके अधीन है तो फिर सभी कामनाओंकी पूर्ति होनी चाहिये! अतः पूर्ति कामनाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधानके अधीन है। विधानकी पूर्ति बिना कामनाके भी होगी। इसलिये कामना करना केवल दुःख पाना हुआ। जिसको आप पकड़ना चाहते हो, वह छूट जाय तो आपकी फजीती ही होगी!

××× ××× ××× ×××

भयसे जिसका त्याग होता है, वह वास्तवमें छूटता नहीं है। वह छूटता है—विचार करनेसे। भयसे होनेवाला सुधार वास्तवमें सुधार नहीं है। विचार करनेसे सुधार होता है। भीतरकी दुर्भावना भयसे नहीं मिटती, प्रत्युत विचारसे, सत्संगसे मिटती है। विवेकका आदर करनेसे मनुष्य अपना सुधार कर सकता है। सत्संगके द्वारा बहुत जल्दी सुधार होता है—मेरा तो यही अनुभव है। सत्संगसे जीवन बदल जाता है, कायाकल्प हो जाता है।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

(मानस, बाल० ३। २-३)

भयसे तो मूर्खोंको ही थोड़ा लाभ होता है। मूर्खोंके सुधारके लिये दण्ड है, नरक हैं!

जो धन सदा साथ रहता है, वह कमाते नहीं और जो धन कमाते हैं, वह सदा साथ रहता नहीं। मैं प्रतिदिन इतने रुपये कमाऊँगा ही—यह नियम कोई नहीं ले सकता; क्योंकि यह प्रारब्धके अधीन है। परन्तु मैं प्रतिदिन इतना नामजप करूँगा—यह नियम सभी ले सकते हैं; क्योंकि यह हमारे अधीन है।

××× ××× ××× ×××

गीतामें खास शरणागतिकी बात है। जबतक अर्जुनने शरणागत होकर अपने कल्याणकी बात नहीं पूछी, तबतक गीतोपदेश आरम्भ नहीं हुआ। अतः शरण होनेसे ही गीता समझमें आती है। सर्वथा शरण हो जायँ तो बिना पढ़े गीता समझमें आ जायगी। जैसे पतिव्रता पतिकी हो जाती है, ऐसे ही भगवान्‌के हो जायँ। हम भगवान्‌के हो जायँ—यही 'स्वधर्म' है।

गीता व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धि बताती है। अपने लिये कुछ नहीं करना है—यह गीताकी शैली है। लौकिक-पारमार्थिक सभी कर्म दूसरोंके लिये करने हैं। समाधि भी अपने लिये न हो। अपने लिये कर्म करना ही बन्धनका कारण है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार मैंने अभीतक यह समझा है कि कल्याण भी अपने लिये नहीं करना है। करनेसे नाशवान् वस्तु मिलती है। नाशवान् वस्तुमें आसक्ति होनेके कारण 'सहज सुखराशि' की अनुभूति नहीं होती। क्रियाके द्वारा संसारकी सेवा होगी, परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्मा शेष रह जायँगे।

समाधिसे व्युत्थान तभीतक होता है, जबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर सहज समाधि होती है।

जैसे कंजूस आदमी सोच-सोचकर पैसे खर्च करता है, ऐसे ही समय खर्च करनेमें कंजूस बन जाना चाहिये।

उन्नति धनसे नहीं होती, प्रत्युत स्वभाव शुद्ध बननेसे होती है।

××× ××× ××× ×××

एक सुगम उपाय है कि प्रतिदिन प्रातः सब गंगाजल लें। मृत्यु न जाने कब आ जाय! गंगाजल लेनेवाला नरकोंमें नहीं जा सकता। नामजपसे भी बहुत रक्षा होती है। गोरखपुरमें प्रति बारह वर्ष प्लेग आया करता था। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-ने एक वर्षतक नामजप कराया तो फिर प्लेग नहीं आया। यात्राके लिये जाते समय 'नारायण' नामका चार बार उच्चारण करना चाहिये। प्रतिदिन माताके चरणोंमें मस्तक टेककर प्रणाम करे। बड़ोंको नित्य नमस्कार करनेसे आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं*। प्रतिदिन कीर्तन करो, गीता-रामायणका पाठ करो।

××× ××× ××× ×××

जीवात्माके एक तरफ संसार है, एक तरफ परमात्मा हैं। संसार दीखता है, पर रहता नहीं। परमात्मा दीखते नहीं, पर रहते हैं। संसार हरदम बदलता है। इसमें बदलनेके सिवाय कुछ तथ्य नहीं है। संसारको देखनेवाले संसारी होते हैं, परमात्माको देखनेवाले महात्मा होते हैं। बदलनेवाले संसारसे मिलकर मुफ्तमें दुःख पाते हैं! यह मूर्खता सत्संगसे मिटती है।

आपके पास लाखों रुपये हैं, पर आप उन्हें खर्च नहीं करते और मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है तो आपमें-मुझमें क्या फर्क हुआ? फर्क तो खर्च करनेमें है। सत्संगमें हम धनसे भी ऊँची चीज कमाते हैं, जिससे धन हमारा दास हो जाता है, हम मालिक!

××× ××× ××× ×××

* अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (मनु० २।१२१)

किसीका नाश करनेके दो उपाय हैं—जीते हुएको मार देना और नये पैदा नहीं होने देना। वर्तमानमें गायोंका नाश कर रहे हैं और गौरक्षक हिन्दुओंके पैदा होनेमें (परिवार-नियोजनद्वारा) रोक लगा रहे हैं!

गायोंके रक्तादिसे बननेवाली दवाएँ खा-खाकर लोगोंके अन्तःकरण अशुद्ध हो गये हैं, इसलिये उन्हें गायोंपर दया नहीं आती। ब्राह्मण तो कुपात्र हो सकता है, पर गाय नहीं। इस समय ब्राह्मणत्व और गायकी रक्षाकी बड़ी आवश्यकता है।

××× ××× ××× ×××

परमशान्ति बहुत सुगमतासे प्राप्त हो सकती है। जैसे गोद जानेपर, साधु होनेपर, विवाह होनेपर पहला सम्बन्ध छोड़कर नया सम्बन्ध मान लेते हैं, ऐसे ही आप मान लें कि हम संसारके नहीं हैं, परमात्माके हैं। सब काम करें, पर न्याययुक्त करें और भगवान्‌का समझकर करें। इस 'पंचामृत' का पालन करें—

१-हम भगवान्‌के ही हैं।

२-हम जहाँ भी रहते हैं, भगवान्‌के ही दरबारमें रहते हैं।

३-हम जो भी शुभ काम करते हैं, भगवान्‌का ही काम करते हैं।

४-शुद्ध-सात्त्विक जो भी पाते हैं, भगवान्‌का ही प्रसाद पाते हैं।

५-भगवान्‌के दिये प्रसादसे भगवान्‌के ही जनोंकी सेवा करते हैं।

बच्चोंको भगवान्‌का ही मान लो तो उनका स्वभाव शुद्ध हो जायगा। मेरा मानते ही वस्तु अशुद्ध हो जाती है। ग्रहण करनेपर शुद्ध वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है, और त्याग करनेपर

अशुद्ध वस्तु भी शुद्ध हो जाती है। मिलने-बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना मानना बेईमानी है। बेईमानी ही बन्धन है, ईमानदारी ही मुक्ति है।

××× ××× ××× ×××

शरीर माँ-बापसे मिला है। माँका हमपर जितना उपकार है, उतना अन्य किसीका नहीं है। माँ-बापका ऋण कोई उतार नहीं सकता। जो बहू पतिको सिखाकर माँके विरुद्ध कर देती है, वह बड़ा पाप करती है। जो माँके चित्तकी प्रसन्नता लेता है, उसका लोक-परलोकमें कहीं अहित नहीं होता। माँ-बाप सबसे बड़े तीर्थ हैं! माँके उपकारका बदला नहीं उतार सकते, पर उसे प्रसन्न करके कर्जा माफ करा सकते हैं।

बड़े-बूढ़ेके आनेपर उत्थान देना (खड़े हो जाना) चाहिये। कारण कि ऊँचे व्यक्ति आनेसे प्राण ऊँचे उठते हैं। यदि उनके आनेसे उठ जायँ तो प्राण ठीक जगह रहते हैं, न उठें तो प्राणशक्ति क्षीण होती है। परन्तु मैं अपने लिये उत्थान देनेको मना करता हूँ इसलिये मेरे आनेपर उत्थान न देनेसे आपकी प्राणशक्ति नष्ट नहीं होगी। वचनके आदरका अधिक महत्त्व है।

गरीब बच्चोंको मिठाई बाँटनेसे बड़ा लाभ होता है और शोक-चिन्ता मिटते हैं। इसमें इतनी शक्ति है कि आपका भाग्य बदल सकता है। कन्याओंको भोजन करानेसे शक्ति बहुत प्रसन्न होती है। शक्ति (देवी)-की उपासना करते समय पुरुषको स्त्रीपर कभी क्रोध नहीं करना चाहिये, नहीं तो स्त्रीका अनिष्ट हो जायगा!

बहनों-माताओंमें सेवाकी जो शक्ति है, वह पुरुषोंमें नहीं है।

भगवान्‌के मन्दिरमें भगवान्‌के सिवाय किसीको भी प्रणाम करना अपराध माना गया है।

××× ××× ××× ×××

अपना सब कुछ भगवान्‌पर सौंप दे। अभिमानके कारण मनुष्य भारको अपने ऊपर ले लेता है। यदि भगवान्‌के समर्पित हो जाय, अन्यका सहारा न ले तो भगवान् योगक्षेम वहन करते हैं। मुझे कुछ नहीं चाहिये—ऐसा भाव होनेपर भगवान् अपने-आप आवश्यकताकी पूर्ति करते हैं। भगवान्‌के भरोसे जितना बढ़िया काम होगा, उतना अपनी बुद्धिके सहारे नहीं कर सकते। सन्त भगवान्‌के भरोसे चिन्ता नहीं करते, और जो चिन्ता करते हैं, वे सन्त नहीं होते। प्रारब्धका, भगवत्कृपाका तात्पर्य चिन्ता छुड़ानेमें है, काम छुड़ानेमें नहीं।

भगवान्‌की तरफ चलते ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

श्रोता—घरका काम करते समय हम भगवान्‌को भूल जाते हैं!

स्वामीजी—आप घरका काम कभी करें ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌का काम करें! तात्पर्य है कि घरके कामको भगवान्‌का ही काम समझकर करें।

××× ××× ××× ×××

प्रकृतिमें स्थित न रहकर 'स्व' में स्थित रहे। प्रकृतिमें स्थित होनेसे सुख-दुःखका भोक्ता हो जायगा। यदि 'स्व' में स्थित हो जाय तो सुख-दुःखमें सम हो जायगा। जब मनुष्य अपनेको कभी शरीरके साथ, कभी नामके साथ, कभी वर्ण-आश्रमके साथ मिला लेता है, तभी वह सुखी-दुःखी होता है। अब 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इतना मानते ही काम ठीक हो जायगा! यह मान लें शरीर-कुटुम्ब आदि मैं नहीं, और मेरे नहीं।

आप जन्मनेवाले (शरीर) बनेंगे तो मरनेवाले भी बनना पड़ेगा। आप जन्मने-मरनेवाले नहीं हो—'**न जायते म्रियते वा**

कदाचित्' (गीता २। २०)। आप तो जन्मने-मरनेवालेको जाननेवाले हो। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, आप निरन्तर रहनेवाले हो। आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। आप नाशवान्‌के सम्मुख हो गये—यही परमात्मासे विमुख होना है। आज ही स्वीकार कर लो कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, मैं संसारका नहीं हूँ।' नाशवान् और अविनाशीका विभाग ही अलग है। 'मैं शरीर हूँ'—यह डोरी नहीं खोलोगे तो भले ही भजन-ध्यान करते रहो, रातभर नाव चलाते रहो, वहीं-के-वहीं रहोगे। हम शरीर नहीं हैं। हम भावशरीर हैं। भाव कभी बदलता नहीं।

××× ××× ××× ×××

जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म होते हैं। कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं। मनुष्य कर्मोंका सुधार करना चाहता है, पर कर्ता सुधरेगा तो कर्म स्वतः सुधर जायँगे। मैं भोगी हूँ, मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ—यह कर्ताकी अशुद्धि है। यदि कर्तामें यह बात रहे कि मैं सत्संगी हूँ, मैं भक्त हूँ आदि, तो उसके द्वारा वैसे ही कर्म होने लगेंगे। यदि अहंता बदल जाय तो क्रियाएँ स्वतः बदल जायँगी। आपकी अहंतामें जो भाव है, वह भावशरीर है।

स्त्रीमें लज्जा स्वतः है। निर्लज्जता सिखायी जाती है। लज्जा स्त्रीका भूषण है। लज्जाहीना स्त्री नष्ट हो जाती है—'**सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः**'।

अगर किसी वस्तुकी हमें जरूरत अनुभव होती है तो हम साधु क्या हुए!

जैसा हमारा भाव, स्वभाव, स्वरूप है, वैसी ही हमारी निष्ठा है। मनुष्यकी जैसी अहंता होगी, वह वैसा ही हो जायगा। अगर साधन करना चाहते हो तो भीतरका भाव बदल दो।

मैं-पनको बदलनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, पर क्रियाको त्यागनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

मैं कपटी हूँ, मैं दोषी हूँ तो भी 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह भाव मुख्य रहना चाहिये। आगन्तुक स्वभावको असली मत मानें।

पक्का विचार होनेपर मनुष्य विचलित नहीं होता। विचलित तभी होता है, जब विचार पक्का न हो।

××× ××× ××× ×××

भोगी व्यक्ति दूसरेको पारमार्थिक शिक्षा नहीं दे सकता। त्यागी व्यक्ति ही त्याग सिखा सकता है। आप दूसरेको पतनसे तब बचायेंगे, जब खुदका पतन न हो। जो अपना उत्थान नहीं चाहता, उसका उत्थान दूसरा कैसे करेगा? पहले अपना उद्धार करो—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५)। धनियोंको खराब माननेवाले खुद धनी बनना चाहते हैं या निर्धन? अपने कर्तव्यका पालन करो। हमारा कर्तव्य दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये है।

××× ××× ××× ×××

कर्मयोगकी दृष्टिसे संसार ही इष्टदेव है। भक्तिमें इष्टदेव भगवान् हैं। भक्ति बहुत सुगम एवं शीघ्र सिद्धिदायक है। ज्ञानमें इष्टदेव ब्रह्म है। भक्तिमें **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ भगवान् ही हैं) की सिद्धिमें खास बाधा है—किसीको भी बुरा मानना। किसी भी प्राणीको बुरा मानना और उसकी बुराई करना, देखना, सुनना एवं बोलना—यह खास बाधा है। यह नियम ले लो कि 'किसीको भी बुरा नहीं समझेंगे' तो आप बुराईसे रहित हो जाओगे। कारण कि जो बुराई दीखती है, वह आगन्तुक है। स्वरूपसे कोई बुरा नहीं है। मुँहपर साबुन लगानेसे चेहरा खराब दीखता है, पर वास्तवमें चेहरा वैसा है क्या? अतः

वास्तवमें भीतरसे कोई बुरा नहीं है। दूसरी बात, कोई बुराई दीखे तो ऐसा समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा अवतार लेते हैं, वैसी ही लीला करते हैं।

आपको परमात्माकी प्राप्ति करनी हो तो दूसरेमें बुराई मत देखो। किसीको बुरा समझना उसका भी बुरा (पतन) करना है और अपना भी। 'सब जग ईस्वररूप है', दोष आपकी भावनामें है। अपना कल्याण चाहते हो तो किसीको भी दोषी मत मानो। न अपने (स्वरूप)-को दोषी मानो, न दूसरेको। साधक निर्दोषताका आदर करता है, दोषोंका नहीं।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, स्त्री, पुरुष आदि सब शरीर हैं। शरीरसे आगे हिन्दू, मुसलमान आदि कुछ नहीं है, प्रत्युत ईश्वरका अंश है। स्वयं ईश्वरका अंश है। स्वभाव कारणशरीरमें रहता है, स्वयंमें नहीं। बर्ताव शरीरके अनुसार करो, पर अपनेको शरीर न मानकर भगवान्का मानो। सत्संगी शरीर नहीं होता। शरीरको मत देखो, सत्संगीको देखो। मैं सत्संगी हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीर मुख्य है, स्थूलशरीर गौण है। टिकनेवालेको देखो, मिटनेवालेको मत देखो। मिटनेवाले (दोषों)-को देखोगे तो कल्याण कैसे होगा?

संसार परमात्माका स्वरूप है और मैं सेवक हूँ—यह भाव दृढ़ कर लो— ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*** (मानस, किष्किंधा० ३)। सेवाके सिवाय किसीसे कुछ मतलब नहीं। सेवा वही करनी है, जो शास्त्रविरुद्ध नहीं हो

बुरा न चाहना बड़ी भारी सेवा है। पहली सेवा है—किसीका बुरा न चाहना, और दूसरी सेवा है—दूसरेको सुख पहुँचाना। दूसरेके दुःखमें करुणित हो जाओ तो उसकी सेवा हो गयी!

सन्त किसीका भी बुरा नहीं चाहते। भगवान् रामने रावणको मार दिया, पर उसका बुरा नहीं किया— ***'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'*** (मानस, अयो० १८३।३)।

आप ईश्वरके अंश हो; अतः दूसरेके प्रति जैसी भावना करोगे, वैसा ही दूसरा हो जायगा। भावनाका असर पड़ता है; जैसे—भोजनका भाव होनेसे मुखमें पानी आ जाता है!

××× ××× ××× ×××

भलाई स्वतःसिद्ध है, बुराई पकड़ी हुई है। साधकके भावका दूसरेपर असर पड़ता है। जितना सदाचारी, सद्गुणी साधक होगा, उतना ही उसका संकल्प सत्य होगा। असर उसपर पड़ेगा, जो अपनेको शरीर मानता है। कारण कि दोष शरीरमें आते हैं। आप शरीरसे असंग हो जाओ तो दूसरेकी बुरी भावना आपपर असर नहीं करेगी। आकर्षण सजातीयतामें होता है। आपमें दोष होगा तो दोषको पकड़ेगा। रामजीपर खर-दूषणादि कइयोंने बुरी भावना की, पर उनपर कोई असर पड़ा ही नहीं। अन्तःकरण अशुद्ध होगा तो अवगुणोंको जल्दी पकड़ेगा।

स्वतः काममें न आनेवाली होनेसे रुपया सबसे रद्दी चीज है। जो रुपयोंको बड़ा मानता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

××× ××× ××× ×××

सदुपयोग किया जाय तो सभी वस्तुएँ श्रेष्ठ हो जाती हैं, दुरुपयोग किया जाय तो सभी वस्तुएँ निकृष्ट हो जाती हैं। रुपयोंसे स्वतन्त्रता नहीं होती, प्रत्युत महान् परतन्त्रता होती है। कारण कि रुपये आपके अधीन हैं, आपके कमाये हुए हैं। रुपयोंसे

आपकी प्रतिष्ठा नहीं है, प्रत्युत फजीती है। आपकी इज्जत जड़के अधीन नहीं है। आप लखपति-करोड़पति होनेमें अपनी इज्जत मानते हो तो यह इज्जत आपको निर्धनोंने दी है, धनवानोंने नहीं। किसी गाँवमें सभी लखपति हों, कोई निर्धन न हो तो क्या वहाँ लखपतिकी इज्जत होगी? इसी तरह मूर्खोंके कारण ही विद्वान्‌की इज्जत है। हाँ, फर्क यह है कि धनवान् तो दूसरोंको निर्धन बनाता है, पर विद्वान् दूसरोंको मूर्ख नहीं बनाता!

आजकल न भगवान्‌का, न प्रारब्धका और न पुरुषार्थका भरोसा है, प्रत्युत झूठ-कपटका भरोसा है कि झूठ-कपटके बिना व्यापार नहीं चलता। झूठ-कपट इष्ट हो गये!

किसी व्यक्तिमें दोष मत देखो। दोष स्वभावमें होता है, व्यक्तिमें नहीं।

××× ××× ××× ×××

यदि आपका मन भजन करनेका है तो एकान्तमें भजन बढ़ेगा। यदि आरामका मन है तो नींद बढ़िया आयेगी और सांसारिक चिन्तन भी बढ़िया होगा!

आप खुद बड़े मत बनो। बड़े बनोगे तो अपनेसे बड़ा (परमात्मा) दीखेगा नहीं। बड़े बननेसे ही माँका आदर नहीं करते। छोटे थे तो माँका आदर करते थे।

××× ××× ××× ×××

शरीरका होकर फिर अपनेको भगवान्‌का मानते हैं—यह गलती है। हम पहले भगवान्‌के हैं, शरीरके पीछे। शरीरसे पहले हम भगवान्‌के हैं। हम तो पहलेसे ही भगवान्‌के थे, हैं और रहेंगे। हम किसी भी योनिमें जायँ, भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध अखण्ड है। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, साधु आदि स्वाँग तो पीछे धारण किये हैं। हम स्वाँगके नहीं हैं। हम भगवान्‌के

हैं—यह नया सम्बन्ध नहीं जुड़ा है, प्रत्युत भूल मिटी है। दुर्गुण-दुराचार हमारे साथी नहीं हैं। कपूत भी पूत तो है ही!

भगवान्‌की सामर्थ्य नहीं कि आपको अपनेसे अलग कर सकें! अपने-आपको अपने-आपसे दूर कैसे करेंगे? हम भगवान्‌से कभी अलग थे नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं, हो सकते नहीं।

××× ××× ××× ×××

सभी शास्त्र अज्ञानियोंके लिये हैं। तत्त्वज्ञानीके लिये कोई शास्त्र नहीं है। तत्त्वज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव नहीं होता कि मैं पहले अज्ञानी था, अब ज्ञानी हो गया। यदि ऐसा अनुभव होगा तो पुनः अज्ञान हो जायगा! गुरु नया ज्ञान नहीं देता, केवल भूल मिटाता है, मानो गायका घी ही गायको देता है।

असली गुरु चेला नहीं बनाते, गुरु ही बनाते हैं। अपने साधनका आग्रह होनेपर बाधा लगती है, प्रेम होनेपर बाधा नहीं लगती। अपना आग्रह न हो तो भक्तिकी बात सुननेसे ज्ञानमार्गी गद्‌गद हो जायगा और ज्ञानकी बात भक्तिमार्गी सुगमतासे समझ लेगा। सत्संगका आग्रह होगा तो सत्संगमें बाधा देनेवालेके प्रति क्रोध, द्वेष होगा और सत्संगमें प्रेम होगा तो बाधा लगनेपर रोना आयेगा। अपने साधनमें प्रेमपूर्वक दृढ़ता होनी चाहिये, आग्रहपूर्वक दृढ़ता नहीं।

××× ××× ××× ×××

भगवत्प्राप्ति मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है।

'वासुदेवः सर्वम्'—सब कुछ भगवान् ही हैं तो उपदेश किसको दें? चेला किसको बनायें? इसलिये उपदेश अपने लिये ही है, दूसरोंके लिये नहीं—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५)। हमें **'वासुदेवः सर्वम्'**का अनुभव करना है, कोरा सीखना नहीं है।

××× ××× ××× ×××

अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये— '**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६। ५)। गुरु हमारा उद्धार नहीं करेगा। गुरुको हम मानेंगे तभी तो उसकी बात मानेंगे। क्या गुरुमें यह ताकत है कि किसीको अपना चेला बना ले? चेला खुद ही बनेगा। '**आत्मैव रिपुरात्मनः**' (गीता ६। ५) 'आप ही अपना शत्रु है'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि कभी किसीको अपना शत्रु न माने। शत्रु-मित्र अपने ही बनाये हुए हैं। भगवान्‌के राज्यमें, भगवान्‌के रहते हुए दूसरा हमें दुःख दे दे, ऐसा हो ही नहीं सकता। कोई आपका कितना ही अनिष्ट करे, वह आपका शत्रु नहीं है। वह तो आपके पापोंका नाश करता है और आगे आपकी उन्नति करता है। वास्तवमें हमारा अहित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

श्रोता—भगवान् सबका कल्याण क्यों नहीं कर देते?

स्वामीजी—जगत् भगवान्‌की दृष्टिमें भी नहीं है और महात्माकी दृष्टिमें भी नहीं है। फिर भगवान् किसका उद्धार करें, किसका पतन? भगवान्‌की दृष्टिमें उनके सिवाय कुछ नहीं है— '**मया ततमिदं सर्वम्**' (गीता ९। ४)। अतः 'भगवान् सबका कल्याण क्यों नहीं करते?' यह प्रश्न बनता ही नहीं!

भगवान् कैसे हैं? उनका क्या स्वभाव है? यह हम जान नहीं सकते, केवल अपनी बुद्धिसे अटकल लगाते हैं। भगवान् हमारे-जैसे नहीं हैं। जीव खुद दुःख चाहता है, दुःख मोल लेता है, फिर भगवान् उसका उद्धार कैसे करें?

अपने सुखको रेतमें मिला दें तो आनन्दकी खेती होगी! सुखकी इच्छा छोड़ दें तो आनन्द मिलेगा। सुखकी इच्छा ही पतनका कारण है।

××× ××× ××× ×××

गीताका मूल देखनेसे जो अर्थ समझमें आता है, वह टीका

देखनेपर नहीं आता। टीका अपने भावके अनुसार लिखी जाती है। गीता दर्पणकी तरह है। आप मूल गीतापर विचार करें, टीकापर नहीं। *'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ'* (मानस, उत्तर० ७३ख)। सतीजी, नारद, गरुड़ आदिको भी भ्रम हो गया! सगुणपर विश्वास कठिन है; क्योंकि विश्वास नाशवान् वस्तुओंपर खर्च कर दिया! **'वासुदेवः सर्वम्'** कठिन नहीं है, विश्वास कठिन है। गोपियाँ, ग्वाल-बाल, खग, मृग, राक्षस आदि भी भक्त हो गये, पर ज्ञानी कितने हो गये? ज्ञानमार्गको गीतामें जितना कठिन बताया है, उतना कठिन भी मैं नहीं मानता।

क्या नाशवान् विश्वासके योग्य है? जो रहनेवाला नहीं है, वह क्या विश्वासके योग्य है? फिर भी उसपर विश्वास करते हैं—यही कठिनता है। नाशवान्‌पर विश्वास कर लिया, अब भगवान्‌पर विश्वास करे कौन? जैसे अंग्रेजी सीखनी हो तो शिक्षक जो कहे, उसकी हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ेगी, ऐसे ही सगुणको जाननेके लिये हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ेगी—विश्वास करना पड़ेगा। भक्ति तर्कसे सिद्ध नहीं होती। भक्ति होगी तो ज्ञान और वैराग्य—दोनों स्वतः आ जायँगे। भक्तिमें त्याग-वैराग्यकी उतनी जरूरत नहीं है जितनी ज्ञानके साधनमें, केवल मान लें कि भगवान् मेरे हैं तो प्राप्ति हो जायगी— *'बिनु बिस्वास भगति नहिं'* (मानस, उत्तर० ९० क)। विश्वासका उपाय है—विश्वासी सन्तोंका संग करो, उनकी वाणी पढ़ो।

××× ××× ××× ×××

कल्याण तो स्वाभाविक है, पर लोगोंने इसे हौआ बना दिया है! मुक्तिमें मनुष्यमात्रका जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्यमात्र विवेकवान् है। मनुष्यमात्रमें जानने, करने और माननेकी शक्ति है।

स्वरूपका बोध होनेपर ब्रह्मका ज्ञान हो जायगा, पर ईश्वरका

ज्ञान नहीं होगा। जो ईश्वरको नहीं जान सके, उन्होंने ईश्वरको कल्पित मान लिया! तत्त्वज्ञान होनेपर भी प्रेम शेष रह जायगा। वह प्रेम ईश्वरकी कृपासे होगा। बढ़ने-घटनेवाली चीज तो जड़ होती है, पर प्रेम तो बढ़ता-ही-बढ़ता रहता है!

संसार है ही नहीं—यही संसारको जानना है। बहनेका प्रवाह ही संसार है। जैसे गंगाजी कलकी जगह ही बह रही है, ऐसे ही शरीर अपनी जगह बह रहा है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधिसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति जड़के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है। श्रवण, मनन आदि (अभ्यास)-में जड़की सहायता लेनी ही पड़ती है।

भगवान्‌की बात तत्त्वज्ञानसे विलक्षण है— ***'तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥'*** (मानस, अयोध्या० १२७।२)। भगवान् मिलें तो भेड़-बकरी चरानेवालेको मिल जायँ, अन्यथा षट्शास्त्रोंके पण्डितको भी नहीं मिलें! विश्वास हो तो उनकी प्राप्ति बहुत सुगम है। नाशवान्‌में विश्वास होनेसे ही कठिनता है।

××× ××× ××× ×××

जो संसारसे डरे हुए हैं, उन्हें 'अजातवाद' कहना पड़ता है कि संसार है ही नहीं। परन्तु जो संसारसे डरे हुए नहीं हैं, उन्हें कहते हैं— '**वासुदेवः सर्वम्**'। भयभीतको कहना पड़ता है कि साँप नहीं है, रस्सी है, अन्यथा यही कहते हैं कि रस्सी है।

वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं होता, यदि हो जाय तो वह पागल हो जायगा! इसीलिये 'शक्तिपात' पात्रमें किया जाता है।

××× ××× ××× ×××

मान्यता भक्तिमार्गमें चलती है। ज्ञानमार्गमें मान्यता नहीं चलती। ज्ञानमार्गमें जानना होता है। माननेसे ज्ञानमार्गमें भ्रम हो जाता है और साधक अधूरे ज्ञानको ज्ञान मान लेता है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यका सुधार होता है अपने प्रति न्याय करनेसे, न कि अपनेको क्षमा करनेसे। सुधार अपना करना है। हमपर अपने सुधारका दायित्व है, दूसरेके सुधारका नहीं— **'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५)।

अच्छा काम जल्दी कर लेना चाहिये, नहीं तो उसे काल खा जायगा। अवगुणका पता लगते ही उसे दूर करना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की कृपासे अपने उद्धारका यह बड़ा सुन्दर अवसर आया है। अतः हिम्मत रखें कि हम सभीका कल्याण हो सकता है। कार्यके आरम्भमें, अन्तमें, सोते समय और जागते समय—इन चारों समय यह विचार करें कि मैंने ठीक किया या बेठीक किया? गलती की तो क्यों की? साधन करनेवालेसे कोई गलती होती है तो वह अधिक सावधान होता है। पक्का विचार कर लो कि अब यह गलती नहीं होगी। परमात्माका अंश भी सत्य-संकल्प है।

भगवान्‌के दरबारमें अनन्त बातें हैं। आपकी लगन होगी तो कहीं-न-कहींसे आपको बात मिल जायगी; पुस्तकसे मिल जायगी अथवा बालक आदिसे भी मिल जायगी। आप जिस मार्गके अधिकारी हैं, उसी मार्गका सिद्ध पुरुष आपको मिल जायगा।

××× ××× ××× ×××

तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान होनेके बाद प्रेम (परमात्मज्ञान)-का अधिकारी होता है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१।७।१०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जड़ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

ब्रह्म भगवान्‌की ही आभा है। सबका पालन करनेकी शक्ति ईश्वरमें है, ब्रह्ममें नहीं। ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर पूर्णता हो जायगी, पर परमप्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) पहले ब्रह्मवादी थे। भगवान्‌ने उन्हें अपनी मरजीसे दर्शन दिये। सेठजी चूरूमें थे और ज्वर होनेके कारण चादर ओढ़े लेटे हुए थे। उस समय उन्हें चतुर्भुजभगवान्‌के दर्शन हुए। भगवान् प्रकट होते हैं तो उन्हें कोई आवरण, दीवार आदि ढक नहीं सकते। सेठजीको रोमांच, अश्रुपात हुआ। उनके भीतर यह भाव पैदा हुआ कि भगवान् यह कहना चाहते हैं कि निष्कामभावका प्रचार करो। तब वे ब्रह्मवादीसे ईश्वरवादी बन गये। परन्तु वे युगल उपासनाका उपदेश नहीं करते थे। सत्यभाषणमें सेठजी बहुत प्रसिद्ध थे।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-को भी भगवान्‌के दर्शन हुए थे। उन्हें जो बातें भगवान्‌ने कहीं, वे 'दिव्य सन्देश' नामसे छपीं। उन्हें नामजपके प्रचारका आदेश हुआ था। सेठजी और भाईजी परस्पर मौसेरे भाई थे (दोनोंकी माँ परस्पर बहनें थीं)।

भगवान्‌से भी कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत देना है। रसके भोगी न बनकर रसके दाता होना है।

××× ××× ××× ×××

कर्मयोगमें मन नहीं लगाना पड़ता, प्रत्युत कामनाओंका त्याग होनेपर मनका भी त्याग हो जाता है। कर्मयोगीका इष्ट संसार होता है। यह भौतिक साधना है। कर्मयोगीका सब कुछ संसारकी सेवामें लग जाता है।

मन स्थिर होनेपर कामनाएँ नहीं मिटतीं।

कर्मयोगी और भक्त योगभ्रष्ट नहीं होते। योगभ्रष्ट होता है ध्यानयोगी। कारण कि श्रवण-मनन, ध्यान आदिमें मन साथमें रहता है। मन साथमें रहनेसे ही साधक योगभ्रष्ट होता है। कर्मयोगमें 'करण' कर्मके साथ है, योगके साथ नहीं। कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन है। संसारके हितमें लगनेसे कर्मयोगीको मन सम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत मन अपने-आप सम (राग-द्वेषरहित) हो जाता है।

जो किसी वस्तु-व्यक्तिसे सुख चाहता है, उसको चाहे भोगी कह दो, चाहे पापी कह दो। जो केवल लेता है, वह जड़ है। जो देता है, वह चेतन है। जो लेता-देता है, वह चिज्जड़ग्रन्थि है।

××× ××× ××× ×××

जो भी होता है, वह भगवान्‌का विधान है। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई विधान कर सकता ही नहीं। भगवान्‌के विधानमें प्रसन्न रहें और भगवान्, शास्त्र तथा सन्तकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य न करें। करनेमें सावधान तथा होनेमें प्रसन्न रहें। इससे मुक्ति, तत्त्वज्ञान सब कुछ हो जायगा। यह सार बात है।

जिस कामको ठीक नहीं जानते, वह काम मत करो। जाने हुए असत्‌का त्याग करना है। जाने हुए असत्‌का त्याग करनेसे पूरा त्याग हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

दूसरोंसे सुख पानेकी जितनी इच्छा है, उतनी ही जड़ता है।

वस्तु-व्यक्तिसे सुख लेना महान् जड़ता है, फिर चिन्मयता कैसे समझमें आयेगी? यह वृत्ति स्वतः रहे कि दूसरोंको सुख कैसे मिले, तो चिन्मयताका अनुभव हो जायगा। हमें किसीसे सुख नहीं लेना है—यह बात जल्दी समझमें नहीं आती, पर दूसरोंको सुख कैसे हो—यह समझना सुगम है। इसमें भी ऊँची बात है कि मेरे द्वारा किसीको भी दुःख न हो। किसीको दुःख न पहुँचे—ऐसा भाव करनेमें न कोई खर्चा है, न परिश्रम। किसीका भी अनिष्ट नहीं चाहे—इसकी बड़ी भारी महिमा है! भीतरमें यह भाव हो कि यह व्यक्ति पापसे बच जाय, बुरा आचरण न करे तो यह उसकी बड़ी भारी गुप्त सेवा हो गयी! कारण कि इससे आप उसके हितैषी हो गये— '**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५। २५; १२। ४)। इससे आपका भी हित होगा, उसका भी।

त्याग करनेसे आपकी उन्नति होती है और वस्तु शुद्ध हो जाती है। ग्रहण करनेसे आपका पतन होता है और वस्तु अशुद्ध हो जाती है।

जड़ वस्तुओंसे सुख चाहना, उनसे सुख लेना पाप है।

× × × × × × × × × × × ×

जैसे यहाँसे हम कहीं जायँ तो इस स्थानका त्याग हो जायगा, ऐसे ही भगवान्‌की तरफ चलनेपर यहाँके रागका त्याग हो जायगा। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंमें संसारकी आसक्ति छूट जायगी। भोग और संग्रहका त्याग करना ही पड़ेगा।

जबतक असत्‌की सत्ता मानी है और सत्ता देकर महत्ता मानी है, तबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी।

त्यागका अभिमान वास्तवमें त्याज्य वस्तुकी ही महत्ता है।

× × × × × × × × × × × ×

संसारमें जन्म-मरण कर्मफलकी इच्छाके कारण ही है। कर्मोंका फल है—जन्म, आयु और भोग। कर्मफलसे रहित होनेपर जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहेगा। यदि कर्मफलकी इच्छाका ही त्याग कर दें तो शान्तिके सिवाय और क्या मिलेगा? '**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्**' (गीता ५।१२)।

जन्म-मरणसे रहित स्थिति (मुक्ति) क्रियासाध्य नहीं है—यह मूल बात है। मुक्ति पैदा नहीं होती, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है। धन-सम्पत्तिकी तरह मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

वास्तवमें अशान्ति है नहीं। संसारके सम्बन्धसे ही अशान्ति है।

पदार्थ और क्रिया प्रकृतिसे पैदा होते हैं। प्रकृतिसे अतीत न पदार्थ है, न क्रिया।

××× ××× ××× ×××

हम हृदयसे गंगा-स्नान करना चाहते हैं, पर प्रारब्धके अनुसार बुखार आनेसे हम स्नान नहीं कर सके तो बिना स्नान किये भी स्नानका माहात्म्य हो जायगा!

प्रारब्ध नया कर्म (पाप या पुण्य) नहीं कराता। प्रारब्ध और क्रियमाणमें परस्पर विरोध नहीं है। दुःखी करना प्रारब्धका फल नहीं है, तभी जीवन्मुक्ति होनेपर प्रारब्ध तो रहता है, पर दुःख नहीं रहता।

जबतक ब्रह्मज्ञान न हो, तबतक ब्राह्मणको अपनेको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

जो कुछ भी काम करें, भगवान्‌का पूजन मानकर करें और हरेक भाई-बहन अपनेको भगवान्‌का पुजारी समझे—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८।४६)। जगत्‌को ईश्वररूप समझें तो किसीमें दोष-दर्शन न करें। अपने इष्टको बुरा न

समझें। ऐसा भाव रखें कि भगवान् अभी कलियुगकी लीला करते हैं। वे जिस रूपमें आते हैं, उसी रूपके अनुसार लीला करते हैं; जैसे—नृसिंह रूपमें आकर वे प्रह्लादजीको चाटते हैं! दूसरी बात, सभी जीव भगवान्‌के अंश होनेसे निर्दोष हैं। मूलमें कोई बुरा है ही नहीं। बुराई ऊपरसे आयी हुई है। अत: किसीका बुरा न करना है, न चाहना है, न समझना है। किसीका बुरा न करना, न चाहना, न समझना भगवान्‌की पूजा है।

आप भलाईको पसन्द करोगे, बुराईको पसन्द नहीं करोगे तो आपकी बुराई मिट जायगी। बुराईका आरम्भ और अन्त होता है, पर भलाईका अन्त नहीं होता। बुराई आगन्तुक है, पर भलाई आगन्तुक नहीं है।

कोई गलती करता हुआ दीखे तो उसे भगवत्स्वरूप मानते हुए मन-ही-मन भगवान्‌से कहो कि 'हे नाथ! आप ऐसा न करते तो अच्छा था'। यह उसकी गुप्त सेवा हो गयी। इसका उसपर स्वत: असर पड़ेगा।

दोषदृष्टि करना खराब है, दोष दीखना खराब नहीं। हमें दोषदृष्टि न करके अपना कल्याण करना है। हमें तो भगवान्‌को देखना है। ऊपरका चोला देखकर राग-द्वेष नहीं करना है। ऊपरी चोला देखना मनुष्यबुद्धि नहीं है, प्रत्युत पशुबुद्धि है—**'पशुबुद्धिमिमां जहि'** (श्रीमद्भा० १२।५।२)। बबूल (काँटेवाले वृक्ष)-की छायामें काँटे नहीं होते! जैसे व्यापारीकी दृष्टि सदा पैसोंकी तरफ ही रहती है, ऐसे ही हमारी दृष्टि भी सदा भगवान्‌की तरफ रहनी चाहिये।

××× ××× ××× ×××

स्वभाव बिगड़ा है, तत्त्व नहीं। स्वरूप सभीका शुद्ध है। परा-अपरा दोनों भगवान्‌की प्रकृतियाँ हैं। जगत् केवल परा

प्रकृतिने धारण कर रखा है। महात्मा और परमात्माकी दृष्टिमें जगत् नहीं है।

परिवर्तन 'मैं' में होता है, 'हूँ' (सत्ता)-में नहीं। जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह क्या रहेगा? 'मैं शरीर हूँ' तो क्या शरीर रहेगा? 'मैं' असत् है। उसकी सत्ता नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २।१६)। शरीर आपसे निरन्तर असंग हो रहा है, केवल आप इससे असंग हो जायँ। इसका साधन है—अनुकूलतामें राजी न हों और प्रतिकूलतामें नाराज न हों।

संसारके साथ जितना सम्बन्ध है, वह सब माना हुआ है। माना हुआ सम्बन्ध न माननेसे मिटेगा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधिसे नहीं मिटेगा। शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे सब कुछ चाहिये, पर सम्बन्ध न जोड़ो तो क्या चाहिये?

माता-पिता आदिकी सेवा करनेसे सम्बन्ध जुड़ता नहीं, प्रत्युत टूटता है। सम्बन्ध जुड़ता है—आशासे, उनसे कुछ चाहनेसे। सारी आफत लेनेकी इच्छासे आती है। इच्छा रखनेसे वस्तु कठिनतासे मिलती है और इच्छा न रखनेसे वस्तु सुगमतासे मिलती है। जो लेना नहीं चाहता, उसे सब देना चाहते हैं।

××× ××× ××× ×××

कोई भी कारक तत्त्वज्ञानतक नहीं पहुँचता। कारक 'प्रकृति' है। जो प्रकृतिसे अतीत है, उसके बोधमें करण क्या करेगा? परमात्मतत्त्वके बोधमें करण, कर्ताका प्रयोग नहीं है।

प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे प्राप्त है। त्याग उसीका होता है, जो सदासे अलग है।

आजकल वेदान्ती आवरणदोष दूर करनेकी जितनी चेष्टा करते हैं, उतनी मलदोष दूर करनेकी नहीं। वास्तवमें आपकी जिम्मेवारी मलदोष दूर करनेकी ही है। साधकको मलदोष ही दूर करना है।

जिसको आप खराब, बेठीक, अन्याय, पाप समझते हो, उसे करते हो—यही सबसे बड़ी बाधा है। जाने हुए असत्‌का त्याग कर दो तो तत्त्वज्ञान हो जायगा। त्यागका अर्थ है—उस वस्तुका महत्त्व न हो। जो आपको प्राप्त है, उसीसे निर्वाह करो तो बढ़िया निर्वाह हो जायगा और आपका जीवन पवित्र हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने गीतामें कामनाके त्यागपर जोर दिया है। भगवान् तथा सन्त-महापुरुष वही बात कहते हैं, जो हम कर सकते हैं। हमारी कोई कामना पूरी होती है, कोई पूरी नहीं होती। अत: कामना-पूर्तिका सम्बन्ध कामनाके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके साथ है। जिस वस्तुकी कामना हो, उसकी पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। कामनाके होते हुए हम सिद्धि-असिद्धिमें सम नहीं रह सकते।

यदि शरीरको अपना न मानें तो कोई कामना नहीं होती। स्वरूपमें कामना नहीं है, क्योंकि वह 'सहज सुखराशि' है। कामना होती है शरीरको अपना माननेसे। शरीरपर हमारा आधिपत्य नहीं चलता, फिर वह हमारा कैसे हुआ? शरीर वही (पहले-जैसा) नहीं रहा, पर आप स्वयं वही हो। शरीर निरन्तर आपसे अलग हो रहा है। शरीरका संग उससे सम्बन्ध अस्वीकार करनेसे छूटेगा, अभ्याससे नहीं।

कामना-ममताको रखना असम्भव है, छोड़ना कठिन है—ऐसा मानें तो भी असम्भवकी अपेक्षा कठिन सुगम ही हुआ! यदि कामना-ममता करनेमें अथवा छोड़नेमें आप समर्थ, स्वतन्त्र न हों तो फिर कोई त्यागी, विरक्त, साधु हो सकता ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

शरीर छोटा है, पर आप छोटे नहीं हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड

आपके अन्तर्गत हैं। परन्तु शरीरमें मैं-मेरा करनेके कारण आप अपनेको शरीरके भीतर मान लेते हैं। त्रिलोकीके सभी शरीर नाशवान् हैं—'**अन्तवन्त इमे देहाः**' (गीता २।१८), पर स्वरूप अविनाशी है—'**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २।१७)। इस अविनाशी स्वरूपसे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। परन्तु इस स्वरूपको आप एक शरीरके अन्तर्गत मानते हैं! पांचभौतिक सृष्टिमात्र छोटी है। आपकी उस परमात्माके साथ एकता है, जिसके रोम-रोममें ब्रह्माण्ड हैं! आप शरीरसे अपना सम्बन्ध मानते हो, इसलिये भगवान् उसी भाषासे बोलते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५।७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है'। प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे आप अंश हो गये। सुषुप्तिमें क्या आप अपनेको एक अंशमें देखते हो? ब्रह्माण्ड भी एकदेशीय है, पर आप एकदेशीय नहीं हो, प्रत्युत अनन्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त हो—'**येन सर्वमिदं ततम्**'।

यदि चिन्ता-शोक होते हैं तो आपने बातें सीखी हैं, जानी नहीं हैं। शरीरमें होनेवाली हलचल, चिन्ता, शोकको आपने अपनेमें मान लिया। चिन्ता-शोक आते-जाते हैं, आप आते-जाते नहीं हैं। अतः चिन्ता-शोक आपमें नहीं हैं।

शरीर तो प्रतिक्षण आपका त्याग कर रहा है। आप ही उससे लिप्त होते हो।

××× ××× ××× ×××

कामनाका जन्म खुदसे होता है। वह कामना मनमें आती है—'**मनोगतान्**' (गीता २।५५)। कामना मनका धर्म नहीं है। काम स्वयं ('मैं हूँ')-में रहता है, वही मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें आता है।

जबतक बोध नहीं होगा, तबतक दर्द भी होगा, दुःख भी होगा। परन्तु बोध होनेपर दर्दका ज्ञान तो होगा, पर दुःख नहीं होगा।

दूसरेके दुःखसे दुःखी होना ज्ञानीके लक्षणोंमें नहीं है, प्रत्युत भक्तके लक्षणोंमें है—'**मैत्रः करुण एव च**' (गीता १२।१३)।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीरको दुर्लभ बतानेका तात्पर्य यह नहीं है कि इसे अपना मानो, प्रत्युत इसमें है कि इससे लाभ उठा लो। शरीर मेरा है तो सेवा करनेके लिये मेरा है, लेनेके लिये मेरा नहीं है। लेनेसे ऋण चढ़ेगा। ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं होती।

××× ××× ××× ×××

आप क्षेत्र नहीं हो, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाले 'क्षेत्रज्ञ' हो। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'इदम्' के अन्तर्गत हैं और उसे जाननेवाला 'क्षेत्रज्ञ' है। जाननेवाला व्यापक होता है। 'अहम्' भी इदंताके अन्तर्गत है। 'अहम्' ('मैं') भी जाननेमें आता है, आपका स्वरूप नहीं है। 'अहम्' से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही तत्त्वज्ञान है।

××× ××× ××× ×××

सीखी हुई बातसे अनुभव नहीं होता। क्या ब्रह्ममें '**अहं ब्रह्मास्मि**' है? मैं ब्रह्म हूँ—यह उपासना है, पर इससे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी—ऐसा मैं नहीं मानता।

गीताको मैं अपार-असीम-अनन्त मानता हूँ। गीतापर मैं जो बोलता हूँ, वह अपनी बुद्धिका परिचय देता हूँ। ***'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥'*** (मानस, बाल० १३।१), इसलिये मैं भी कह देता हूँ!

विहितकर्मके अनुष्ठानमें कमी होनेसे बाधा नहीं लगेगी, पर निषिद्ध कर्म जबतक होंगे, तबतक साधन सिद्ध नहीं होगा, तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी।

साधन और असाधन—ये दोनों मनुष्यमात्रमें हैं। जबतक आपमें असाधन है, तबतक आप साधक कैसे हुए? साधकके द्वारा भूलसे भी असाधन नहीं होता।

साधनमें सन्तोष करना परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत बड़ी बाधा है।

××× ××× ××× ×××

भगवान् जीवको दास नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत दोस्त बनाना चाहते हैं! अपना पूजनीय बनाना चाहते हैं! भगवान् बड़े-से-बड़ेकी भी आखिरी हद हैं और छोटे-से-छोटेकी भी आखिरी हद हैं!

××× ××× ××× ×××

पारमार्थिक सिद्धि लौकिक सिद्धि-जैसी नहीं है; क्योंकि परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों मौजूद है। उसका निर्माण नहीं करना है। केवल उधर दृष्टि करनी है। इसमें कोई उद्योग या परिश्रम नहीं है। बलका प्रयोग निर्बलपर होता है, जबकि परमात्मतत्त्व सबसे प्रबल है। योग्यतासे अयोग्यपर अधिकार होता है। जिसे प्राप्त करना है, वह परमात्मतत्त्व एक क्षण भी अप्राप्त नहीं होता।

लोकालोक पर्वत जितना दूर है, उतना ही शरीर आपसे दूर है। परमात्मा नजदीक-से-नजदीक हैं। शरीर नजदीक दीखता है, परमात्मा दूर है—यही अज्ञान है। संसारमात्र आपके किसी अंशमें है। आपका स्वरूप सत्तामात्र ('है') है। अन्य शरीरोंमें सत्ता नहीं जाती, आपकी मान्यता जाती है।

मायाके किसी अंशमें सृष्टि है और वह माया परमात्माके किसी अंशमें है।

××× ××× ××× ×××

शरीर मैं हूँ, मेरा है, मेरे लिये है—यह जबतक रहेगा,

तबतक साधन शुरू नहीं होगा। यह नियम है कि एक भी विकार होगा तो सभी विकार आ जायँगे। जायँगे तो सभी विकार जायँगे। जबतक देहाभिमान रहता है, तबतक आसुरी सम्पत्ति रहती है। अतः देहाभिमानको मिटायें। देहके साथ सम्बन्ध अविवेकसे है। देहाभिमान विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। जो वास्तवमें गुणातीत है, वही गुणातीत होता है।

आप शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिके साथ न रहें, प्रत्युत 'अकेले' रहें। आपका स्वरूप सत्तामात्र है। इसका अनुभव करें, सीखे नहीं। अनुभव करनेसे शरीरके मान-अपमान, आदर-निरादर आदिका आपपर असर नहीं पड़ेगा। अपनेमें ***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***का भी आरोप मत करो। निषेधमुखसे अनुभव करो कि शरीर मैं नहीं हूँ। स्वयंके द्वारा ही स्वयंका अनुभव होगा। अनुभव होनेसे शुभ कर्ममें तो आसक्ति नहीं होगी और अशुभ कर्म होगा ही नहीं। न मानका असर होगा, न आदरका। अनुभव हुए बिना चैन नहीं पड़ना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्न-जल छोड़ दो। इसका तात्पर्य बेचैन होनेमें है, लगन होनेमें है। खास बात लगनकी है। लगनके बिना भूखे मर जाओ तो भी कुछ नहीं होगा।

××× ××× ××× ×××

मिलनेवाली वस्तु कामना न करनेसे भी मिलती है। ममता करनेसे वस्तु भी बँधती है, हम भी बँधते हैं। जो अवश्य छूटेगा, उसे मनसे छोड़ दें। वस्तुका संयोग होते ही वियोग शुरू हो जाता है। वस्तुको अपनी माननेसे हम फँसते हैं, पर भगवान्‌की माननेसे नहीं फँसते। भगवान्‌की माननेसे वह वस्तु प्रसाद हो जाती है! यदि सब वस्तुओंको भगवान्‌की मान लें तो पाप टिक नहीं सकता। वस्तुको भगवान्‌की माननेसे प्रसन्नता

होगी, भगवान्‌को याद रखनेमें सहायता मिलेगी। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भगवान्‌की नहीं है?

'सभी भगवान् हैं'—इसकी अपेक्षा 'सभी भगवान्‌के हैं'—यह मानना सुगम है।

××× ××× ××× ×××

भगवत्प्राप्तिके ऐसे अनेक मार्ग हैं, जिनका अभीतक आविष्कार नहीं हुआ है। प्रत्येक भाई-बहनके भीतर यह बात जँची हुई है कि जो होगा, अभ्याससे होगा। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, जबकि परमात्मतत्त्व स्थितिगतिसे रहित है। समाधिमें भी कारणशरीरमें स्थिति होती है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। परमात्मतत्त्वमें दो अवस्थाएँ नहीं होतीं।

स्थूलशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर क्रिया और पदार्थमें आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्मशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर चिन्तन तथा ध्यानमें और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्थिरता तथा एकाग्रतामें आसक्ति नहीं होती। आप शरीरसे अतीत हैं। शरीर प्रकृतिका कार्य है, आप परमात्माके अंश हैं।

परमात्माकी शक्तिके साथ सम्बन्ध होनेसे साधन करणसापेक्ष होता है।

भगवान्‌को मानें या न मानें, उनकी कृपा सबपर समान है। उसमें भी न माननेवालेपर ज्यादा कृपा होती है; क्योंकि ***'नहिं जाके हरि होय'!*** जिसका कोई न हो उसके भगवान् होते हैं।

जिसका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उसका त्याग कठिन नहीं है, प्रत्युत उसका राग कठिन है। त्यागमें परिश्रम नहीं है। परन्तु संयोगजन्य सुखकी लोलुपता त्याग नहीं करने देती।

अभ्याससे न राग मिटता है, न प्रेम होता है। अभ्यास केवल मनोनिग्रहके लिये है।

जो आपको छोड़ता है, उसे आप छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे। त्यागके समान कोई सुगम साधन है ही नहीं!

××× ××× ××× ×××

करणनिरपेक्ष साधनकी सिद्धि तत्काल होती है, जबकि करणसापेक्ष साधनकी सिद्धि समय पाकर होती है। शरीर मैं नहीं हूँ—इसके अनुभवमें बाधा यह है कि आप इसे बुद्धिसे पकड़ना चाहते हैं, बुद्धिसे जोर लगाते हैं, बुद्धिसे अनुभव करना चाहते हैं। स्वयंसे होनेवाले अनुभवका आदर करें। स्वीकृति-अस्वीकृति स्वयंकी होती है। स्वयंकी स्वीकृतिकी विस्मृति नहीं होती। 'मैं हूँ'—इसमें जो बात 'हूँ' के साथ लग जाती है, उसकी विस्मृति नहीं होती; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं विवाहित हूँ' आदि।

अपने विवेकका अनादर करनेके समान कोई पाप नहीं है। जो अपने विवेकका आदर नहीं करता, वह शास्त्र, गुरु, सन्तकी वाणीका भी आदर नहीं कर सकता। शरीर जानेवाला है—इस विवेकका अनादर ही जन्म-मरण देनेवाला है। विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करें तो अभी मुक्ति है।

विवेकका आदर अभी करें तो अभी मुक्ति हो जाय। 'अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, अच्छे महात्मा नहीं मिले, हमारे कर्म ऐसे नहीं हैं, भगवान्ने कृपा नहीं की'—यह सब बहानाबाजी है। खास बीमारी यह है कि हम संयोगजन्य सुख लेना चाहते हैं। यदि आप अपने विवेकका आदर न करें तो वर्षोंतक समाधि लगा लें, कल्याण नहीं होगा। मैं शरीर नहीं हूँ—यह स्वीकृति है, अभ्यास नहीं। यह विवेक आप सभीको है, पर आप इसका आदर नहीं करते।

मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-अहम् भी कर्ता नहीं हैं और स्वयं भी कर्ता नहीं है। तो फिर कर्ता कौन है? कर्ता वह है, जो भोक्ता होता है। भोक्ता आप प्रकृति यानी शरीरसे सम्बन्ध जोडकर

बनते हैं। पर प्रकृतिस्थ पुरुष ही भोक्ता बनता है, स्वस्थ पुरुष नहीं। आपका स्वरूप सत्ता है। स्वरूप न कर्ता है, न भोक्ता— '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। आप भोगके ज्ञाता हो, ज्ञानस्वरूप हो। सत्तामें भोक्तापन नहीं है। वह सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माके साथ एक है।

यदि आप अपनेको शरीरमें स्थित मानते हो तो आप ही कर्ता और भोक्ता हो, अन्यथा न 'नहीं' कर्ता है, न 'है' कर्ता है। अतः आप अपनेको 'नहीं' से भी हटा लो और 'है' से भी हटा लो। न जड़के साथ एकता रखो, न चेतनके साथ एकता रखो। यदि शून्यता दीखे तो आप शून्यताके ज्ञाता हो, शून्यता ज्ञेय है। शून्यताको जाननेवाला शून्य नहीं होता। आप शून्यताके साक्षी, प्रकाशक, आधार, अधिष्ठान हो।

××× ××× ××× ×××

अपनेको 'यह' से भी हटा लो और 'है' से भी हटा लो। फिर योग रहेगा, समता रहेगी। 'है' में व्यक्तित्व नहीं है। अतः योगी, ज्ञानी और प्रेमी नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल योग, ज्ञान और प्रेम रहेगा। अहम् साथमें रहनेसे योगी, ज्ञानी और प्रेमी होता है। जबतक अहम् है, तबतक एकदेशीयपना रहेगा। वास्तवमें शरीरका कोई मालिक (अहम्) नहीं है।

मुक्ति होनेपर भी अपना एक मत रहता है, जिससे दार्शनिकोंमें परस्पर प्रेम नहीं होता। अतः अपने किसी मतका आग्रह न रहे, पर वह होगा '**वासुदेवः सर्वम्**' होनेपर। 'गति' स्वरूपकी तरफ होती है और उसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। मतका आग्रह होनेसे वह गति रुक जाती है।

मुसलमानों, ईसाईयों आदिपर हम विश्वास भले ही न करें, पर हमारे प्रेममें कोई फर्क नहीं है।

किसी भी साधनका अभिमान हो, वह खटकता है, उसमें टक्कर लगती है, पर प्रेममें कोई टक्कर नहीं लगती।

××× ××× ××× ×××

कर्मयोगकी खास बात है—अपने अधिकारका त्याग तथा दूसरेके अधिकारकी रक्षा। अपने कर्तव्यका पालन तथा फलकी इच्छाका त्याग। इससे तत्त्वज्ञान, मोक्ष आदि जो चाहो, सो हो जायगा।

'नफा वस्तुमें नहीं, भावमें है'; अतः अपने भावको नीचे नहीं गिरने देना चाहिये। सब वस्तुएँ सब जगह हैं, केवल भावकी कमी है। भावसे ही वस्तु बनी है, संसार बना है। भावके कारण ही प्रह्लादजीको अग्नि जला नहीं सकी। सृष्टि भावसे ही पैदा होती है।

भगवान् किसी भी रूपमें आयें, उनको पहचान लो तो फिर वे प्रकट हो जायँगे।

××× ××× ××× ×××

चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी असाधन नहीं होना चाहिये, तभी हम साधक कहलानेयोग्य हैं। ऐसा तभी सम्भव है, जब अपनी सत्ताके साथ साधन होगा। अपनी सत्ताका अनुभव निरन्तर होता है। 'मैं हूँ'—इसमें कभी व्यवधान पड़ता है क्या? विवाहित स्त्री भले ही खराब आचरणवाली हो, पर 'मैं विवाहित हूँ'—इसे वह कभी भूलती नहीं। ऐसे ही स्वीकार कर लें कि मैं लोभी, क्रोधी, कामी, संसारी आदि नहीं हूँ, प्रत्युत 'मैं भगवान्का हूँ'।

भगवान् साधककी बहुत रक्षा करते हैं, पर अपनेको छिपाकर करते हैं। यह भगवान्के देनेकी रीति है!

क्रोधका स्वभाव अहित करनेका होता है। सामान्य व्यक्तियोंमें क्रोध आता है—बुरा करनेके लिये। बुरा किये बिना उन्हें सन्तोष

नहीं होता। परन्तु सन्तोंमें क्रोध आता है—भला (हित) करनेके लिये।

××× ××× ××× ×××

संसाररूपसे भगवान्‌का सबसे पहला अवतार हुआ। हम सोचते हैं कि भगवान् रामके अवतारके समय हम भी होते और उनको देखते। परन्तु संसाररूपसे भगवान्‌का अवतार हमारे सामने है! उसके दर्शन करो। उसे नमस्कार करो। मूर्तिपूजासे भगवान् कई भक्तोंके सामने प्रकट हो गये। यह संसार भी भगवान्‌की मूर्ति है। यह सब भगवान्‌का विराट् रूप है, स्वयम्भू विग्रह है! अब इससे सुगम और क्या परमात्मप्राप्ति होगी!! जो कुछ कर्म करो, सब भगवान्‌का पूजन मानकर करो। यह निरन्तर साधन है।

आँखोंसे महात्मा नहीं दीखता, प्रत्युत मनुष्य दीखता है।

राग-द्वेष मिटाओगे तो देरी लगेगी। अतः राग आये तो परमात्माको देखो, द्वेष आये तो परमात्माको देखो। फिर राग-द्वेष रहेंगे नहीं। परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता मानते हैं, तभी राग-द्वेष होते हैं।

××× ××× ××× ×××

संसारका वियोग नित्य है और संयोग अनित्य है। यदि सुख-शान्ति चाहते हो तो नित्यको पकड़ो। जो संयोगकालमें ही वियोगका अनुभव कर लेता है, वह दुःखी नहीं होता। अनित्यकी इच्छा करके व्यर्थमें ही दुःख पा रहे हो। यदि संयोग हो भी जाय तो भी अन्तमें वियोग ही नित्य रहेगा। अनित्य संयोगकी लालसा ही बाधक है। इच्छा न करनेपर भी होनेवाला होगा, न होनेवाला नहीं होगा।

संयोग ही अध्यस्त है। नित्ययोग अधिष्ठान है।

आप अपनेको कभी पापी न मानें। सब-के-सब निर्दोष हैं। निर्दोषता आपका स्वरूप है। आप परमात्माके अंश हैं—इस सच्ची बातको स्वीकार कर लें।

दुःखके सभी ऋणी हैं! दुःख आकर सुखकी इच्छा छुड़ा देता है। सुखकी लालसा छूटते ही दुःख चला जाता है। अब उसका ऋण कैसे चुकायें?

अनित्य वस्तुका सम्बन्ध कभी नित्य हो सकता ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

यदि '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जाय तो सभी जड़ वस्तुएँ चिन्मय प्रतीत होंगी।

वस्तुओंका दुरुपयोग न करें, संग्रह न करें, उनमें ममता न करें तो वस्तुएँ आनेको लालायित रहती हैं। ममता करनेसे वस्तुएँ भयभीत होती हैं।

मनुष्यजन्मकी सफलता है—दुनियाके लिये, अपने लिये और भगवान्‌के लिये उपयोगी होना।

कुछ मिल जाय—यह निर्बलता है। मनुष्य चाहके कारण ही निर्बल हो रहा है।

केवल इतनी लालसा लग जाय कि कब सम्पूर्ण जगत् ईश्वररूप दीखेगा! ऐसा दिन कब आयेगा! तो काम हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

विवेक जाग्रत् होनेका तात्पर्य है—'मैं शरीर नहीं हूँ' इसका अनुभव हो जाना। शरीर मैं हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—इसका खाता ही उठ जाना चाहिये।

निष्कामभावसे सामर्थ्य आती है। कामनासे पराधीनता आती है। 'योग' में सामर्थ्य, समाधि और नित्यसम्बन्ध—तीनों आ जाते हैं।

गीता और रामायण प्रासादिक ग्रन्थ हैं। जैसे सन्त किसीपर कृपा करते हैं, ऐसे ही ये ग्रन्थ भी कृपा करते हैं। इनका आश्रय लेनेसे नये-नये अर्थ प्रकट होते हैं। गीताका अर्थ अब मुझे कुछ-कुछ समझमें आने लगा है।

गीतासे अपनी प्यास बुझा सकते हैं, पर उसको पूरा ग्रहण नहीं कर सकते; क्योंकि गीता अनन्त है। गीता अर्जुनको भी दुबारा सुननेको नहीं मिली, पर हमें प्रतिदिन सुनने-पढ़नेको मिल रही है! यह भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है!

××× ××× ××× ×××

मृत्युका दुःख नहीं होता, प्रत्युत 'मैं जीता रहूँ और मरना पड़ता है'—इसका दुःख होता है। बालकसे जवान होनेका दुःख होता है क्या?

यदि अपने ज्ञानका आप स्वयं आदर करें तो आप जीवन्मुक्त हो जायँगे। जो जीते ही मर जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जीते ही मरनेका अर्थ है—कामना छोड़ देना। मरा हुआ आदमी कोई कामना करता है क्या? जो मरनेसे डरता नहीं और जीनेकी आशा नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

जीनेकी आशा न रखें तो मृत्युका दुःख नहीं होगा। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यही अशान्तिका कारण है।

××× ××× ××× ×××

सेवा संसारकी करें, विश्वास भगवान्‌पर करें। संसारपर विश्वास विवेकविरोधी है, जो पतन करनेवाला है। विवेक कहता है कि सब संसार जानेवाला है। साधकको विवेकविरोधी सम्बन्ध, विश्वास और कर्म—तीनोंका त्याग करना है।

भगवान्‌पर विश्वास ही करना पड़ता है। विश्वासके बिना

भगवत्ता सिद्ध नहीं होती। विश्वासके पात्र भगवान् ही हैं। विश्वासके बिना भगवान्‌को भगवान् सिद्ध कैसे करें? भगवान्‌में समझ (बुद्धि) नहीं लगती। जो चीज देखनेमें आती है, उसमें बुद्धि, विवेक, विचार लगाना चाहिये। विश्वास विवेकसमर्थित भले ही न हो, पर विवेकविरोधी नहीं होना चाहिये।

भगवान् यदि सब कुछ जानते थे तो उन्होंने सीताजीकी खोजके लिये वानरोंको चारों तरफ क्यों भेजा? और यदि नहीं जानते थे तो मुद्रिका हनुमान्‌जीको ही क्यों दी? भगवान्‌ने वानरोंको सीताजीकी खोजके लिये भेजा—अपनेको उनका ऋणी बनानेके लिये, उन्हें भरतसे भी अधिक प्यारे बनानेके लिये! ***'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे'*** (मानस, उत्तर० ८।४)।

सतीजी और गरुड़जीने भगवान्‌को जाननेमें बुद्धि लगायी तो क्या दशा हुई! भगवान् जाननेके विषय हैं ही नहीं। भगवान्‌की लीलाको देखकर इन्द्र भ्रमित हो गया! ब्रह्माजी मोहित हो गये! भगवल्लीलाके दर्शनसे मोह होता है और लीला-कथा-श्रवणसे मोह-नाश होता है। हमें लीला देखनेको नहीं मिली, पर कथा सुननेको मिल गयी, कितनी कृपा है! हमें बढ़िया चीज मिली है। भगवान् रामसे राम-नाम बड़ा है, रामके भक्त बड़े हैं, उनकी कथा बड़ी है। ये सब हमें मिले हैं।

ज्ञानसे तो अज्ञान मिटता है, पर मिलता कुछ नहीं, परन्तु विश्वास भगवान्‌से मिलाता है। अतः विश्वास ज्ञानसे बड़ा है।

××× ××× ××× ×××

माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धन है। शरीरके साथ सम्बन्ध तोड़ लें तो आज ही मुक्ति है। सम्बन्ध स्वीकार करनेके कारण मरे हुए सम्बन्धी भी याद आते हैं और सम्बन्ध स्वीकार न करनेके कारण जीते हुए भगवान् भी याद नहीं आते!

माँ-बापके साथ शरीरका सम्बन्ध है। भगवान्‌के साथ स्वयंका सम्बन्ध है। अतः यह अनुभव कर लें कि मेरा सम्बन्ध शरीरके साथ नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के साथ है। संसार अध्यस्त नहीं है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध अध्यस्त है।

परमात्माको सगुण, निर्गुण आदि जो कुछ मानो, उसके बिना व्याकुल हो जाओ तो वह प्रकट हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

जो परमात्माको चाहते हैं, उनकी दृष्टि परमात्मामें ही रहनी चाहिये। जैसे व्यापारी पैसोंकी तरफ ही देखता है, ऐसे ही परमात्माकी तरफ ही देखते रहना चाहिये। इस व्यापारमें नफा-ही-नफा है, घाटा है ही नहीं।

आप संसारको पसन्द न करके भगवान्‌को पसन्द कर लो। अपनी तरफसे किसीको नाराज मत करो। सबकी प्रसन्नता लो। प्रत्येक काम इस भावसे करो कि भगवान्‌की सेवा कर रहा हूँ।

'**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**' (गीता ६। ३०)— इस प्रकार 'सबमें भगवान् हैं' और 'सब भगवान्‌में हैं' इस भाँगको पीकर चुप हो जाओ!

सबमें परमात्माको देखनेसे संसार लुप्त हो जाता है; पता ही नहीं लगता कि संसार कहाँ गया! संसारका राग ही बाधक है। रागके कारण ही जड़ता है। आपकी दृष्टिमें मिट्टीका ढेला है, पर वास्तवमें वह साक्षात् परमात्मा है।

××× ××× ××× ×××

हमें जो मिलता है, भगवान् ही मिलते हैं। जब भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर मिले कैसे? अन्न, जल, वस्त्र आदि सभी रूपोंसे भगवान् ही मिलते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं— '**वासुदेवः सर्वम्**'। परन्तु इन्द्रिय-दृष्टिके प्रभावके कारण

हमें भगवान् नहीं दीखते। बुद्धि-दृष्टिका प्रभाव पड़ेगा तो इन्द्रिय-दृष्टिका प्रभाव नहीं रहेगा। संसारको इन्द्रिय-दृष्टिसे देखनेपर आकर्षण होता है। इन्द्रियोंका ज्ञान वास्तवमें सावधानीके लिये है कि 'क्या अच्छा है, क्या बुरा'—यह जानकर मनुष्य निषिद्धका त्याग कर दे।

××× ××× ××× ×××

सत्संग प्रारब्धका फल नहीं है। यह भगवत्कृपासे मिलता है— ***'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये'***(विनयपत्रिका १३६।१०)। प्रारब्धका फल है—भोग और संग्रह।

घरमें परस्पर प्रेम रखो तो यह प्रेम आपको भगवान्‌तक पहुँचा देगा। कारण कि प्रेमके भोक्ता भगवान् हैं। ज्ञान भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्‌तक पहुँचता है।

××× ××× ××× ×××

मैं योगी हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीर बननेसे साधन बड़ा सुगम हो जाता है। भावशरीरमें इष्टकी मुख्यता तथा अपनी गौणता रहती है। गौणता होते-होते अहम् इष्टमें लीन हो जाता है। आप जिस मार्गपर चलते हो, उस मार्गका भावशरीर बनाओ और साध्यकी तरफ चलते-चलते साध्यमें लीन हो जाओ।

श्रीजी, सीताजी, पार्वतीजी—ये सब 'प्रेम' का स्वरूप हैं। श्रीजी और कृष्ण, सीता और राम, पार्वती और शंकर—दोनोंमें कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद—इसका पता ही नहीं लगता!

प्रेम भगवान्‌का स्वभाव है और भक्तका जीवन है। गीताके अनुसार ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है। ज्ञानीमें सूक्ष्म अहंकार रह सकता है, प्रेमीमें नहीं रहता। प्रेमीकी दृष्टिमें एक प्रेमास्पदके सिवाय कुछ नहीं रहता।

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंमें साधककी जिसमें रुचि, विश्वास और योग्यता हो, वही उसके लिये सुगम है। वास्तवमें भक्तियोग सबसे सुगम है; क्योंकि ज्ञानयोगमें अहंताको मिटाने और कर्मयोगमें अहंताको शुद्ध करनेकी अपेक्षा भक्तियोगमें अहंताको बदलना सुगम है।

साधन भीतरसे पैदा होना चाहिये, ऊपरसे नहीं भरना चाहिये।

'करना' निरन्तर नहीं होता; क्योंकि क्रियामें थकावट होती है। परन्तु 'होना' निरन्तर होता है।

××× ××× ××× ×××

अपनी गलतीको दोहराना नहीं चाहिये। अपनेको क्षमा नहीं करना चाहिये। क्षमा दूसरोंको करना चाहिये। दूसरेके द्वारा क्षमा माँगे बिना ही क्षमा कर देना चाहिये। क्षमा करना निर्बलका नहीं, बलवान्‌का काम है। क्षमाका अर्थ है कि दूसरेको कभी कहीं भी दण्ड न हो।

भगवान् ज्ञानीको मुक्त करके उऋण हो जाते हैं, पर भक्तके सदा ऋणी रहते हैं। ज्ञानी भगवान्‌को कुछ दे नहीं सकता। पर भक्त भगवान्‌को प्रेम देता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं, ज्ञानके नहीं। प्रेम ऐसी चीज है, जिससे कभी तृप्ति नहीं होती।

प्रेमके बिना ज्ञान कुछ नहीं है। ज्ञान बहुत बड़ी पूँजी है, पर प्रेम (आकर्षण)-के बिना वह पूँजी किस कामकी? कंकड़-पत्थर है! रुपयोंके आकर्षण (लोभ)-में जो रस है, वह रुपयोंके ज्ञानमें नहीं है।

जो सबके प्रेमी होते हैं, वही भगवान्‌के प्रेमी होते हैं। भक्त सबसे प्रेम करता है—***'मंद करत जो करइ भलाई'*** (मानस, सुन्दर० ४१।४)। भक्त सबको भगवत्स्वरूप समझते हैं। प्रेमी भक्त किसीको बुरा नहीं मानता, किसीका बुरा नहीं चाहता

और किसीका बुरा नहीं करता। अतः हम भी किसीको बुरा न मानें, बुरा न चाहें और बुरा न करें तो हम प्रेमी हो जायँगे।

बुराई जीवकृत सृष्टिमें है, ईश्वरकृत सृष्टिमें नहीं। भागवतमें आया है कि आसुरी सम्पत्ति (जीवकृत सृष्टि) भगवान्‌की पीठसे पैदा हुई है*। इसका तात्पर्य है कि यह भगवान्‌की विमुखतासे पैदा हुई है, सम्मुखतासे नहीं।

जबतक दूसरी सत्ता मानेंगे, तबतक न मनोनाश होगा, न वासनाक्षय होगा, न तत्त्वज्ञान होगा।

साकार-निराकार एक ही हैं। सोनेका पतरा बना दो तो वह निराकार है और मूर्ति बना दो तो वह साकार है। दोनोंमें सोना एक ही है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भी साकार-निराकार दोनों होते हैं तो क्या भगवान् इनसे भी कमजोर हैं कि वे साकार नहीं हो सकते?

तत्त्वज्ञान, मुक्ति, प्रेम आदि सब भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। जो भगवान्‌को मानता ही नहीं, उसको भी भगवान् मिलते हैं।

××× ××× ××× ×××

जो आध्यात्मिक ग्रन्थोंका, शास्त्रोंका, पुस्तकोंका आदर करता है, उसका भी आदर होता है। इनका निरादर करनेवालेका भी निरादर होता है।

मैं देह नहीं हूँ, देही हूँ—ऐसा ठीक समझमें आ जाय तो सभी साधन सुगम हो जायँगे। शरीरको जाननेवाला शरीरसे अलग है। शरीरकी एकता सृष्टिमात्रके साथ है और शरीरीकी एकता परमात्मतत्त्वके साथ है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' (गीता १३।२)। शरीरको संसारसे और अपनेको परमात्मासे अलग मानना गलती है।

शरीरकी तरफ दृष्टि होनेसे हम 'शरीरी' (शरीरको

* पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः। (श्रीमद्भा० २।६।९)

जाननेवाले) हैं। शरीरकी तरफ दृष्टि न रहे तो केवल 'है' (सत्तामात्र) हैं। आप 'मैं' को छोड़ दें और 'हूँ' की 'है' के साथ अभिन्नता कर लें। शरीरकी तरफ दृष्टि होनेसे ही 'हूँ' है। प्रकाश्यकी सत्तासे प्रकाशक है, अन्यथा प्रकाशस्वरूप है। आप प्रकाशक नहीं हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। 'मैं' संसारकी तरफ है और 'हूँ' परमात्माकी तरफ है—इतनी ही बात है।

मोटर चलती है तो आपको पसीना आता है क्या? ऐसे ही शरीरको ज्वर आनेसे आपको ज्वर नहीं आता। परन्तु मुझे ज्वर आ गया—ऐसा आप मान लेते हैं। शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—इसका अनुभव अभी करना है। इसमें अभ्यासकी नहीं, विवेककी जरूरत है। ज्ञान विवेकसे होता है, अभ्याससे नहीं।

जैसे मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ आदि भाव निरन्तर रहता है, ऐसे ही यह भाव निरन्तर रहे कि मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। ऐसा भाव करके चुप हो जायँ। यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत विवेकका आदर है।

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह विचारमें आस्थाको मिलाना है। यह मेरी माँ क्यों है?—यह आस्थामें विचारको मिलाना है। ये दोनों नहीं होने चाहिये।

××× ××× ××× ×××

निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित रहो। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ आती हैं और मिट जाती हैं, स्वरूपमें क्या फर्क पड़ा? न अच्छा ठहरता है, न बुरा ठहरता है। वास्तवमें शरीरके साथ सम्बन्ध माननेसे ही कामना पैदा होती है और निषिद्ध कर्म होते हैं।

शास्त्रोंमें गुरुकी जो महिमा कही गयी है, वह चेलेकी दृष्टिसे है, गुरुकी दृष्टिसे नहीं।

××× ××× ××× ×××

श्रोता—कल्याणकी उत्कण्ठा कैसे हो?

स्वामीजी—उत्कण्ठाकी उत्कण्ठा हो जाय! अर्थात् 'उत्कण्ठा कैसे हो?'—इसकी उत्कण्ठा हो जाय। दूसरी बात, सांसारिक प्राणि-पदार्थोंमें आसक्ति न रहे। 'मेरा उद्धार कैसे हो'—यह उत्कट अभिलाषा हो जाय तो पापी-से-पापीका भी उद्धार हो सकता है।

जैसे भूख भले ही न लगे, पर भूखकी भूख तो लगनी चाहिये, ऐसे ही उत्कण्ठाकी उत्कण्ठा तो होनी चाहिये। इसमें कोई असमर्थ नहीं है।

आज हमें जो सत्संगका मौका मिला है, यह कर्मोंका (प्रारब्धका) फल नहीं है। यह केवल भगवत्कृपाका फल है।

संसार आजतक कभी किसीको नहीं मिला। मिला है तो परमात्मा ही मिला है। यदि संसार मिला होता तो संसारकी इच्छा नहीं रहती। जो मिलता है, वह परमात्मा ही मिलता है।

चाहे मैं-ही-मैं हूँ, चाहे तू-ही-तू है, चाहे यह-ही-यह है, चाहे वह-ही-वह है—इनमेंसे कोई एक हो जाय तो काम हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

जब कभी कल्याण होगा, भगवान्‌की कृपासे ही होगा। हम अपने सब कर्मोंका फल भोगकर कल्याण कर लेंगे—यह सम्भव नहीं है। भगवान् माफ करते हैं, तभी कल्याण होता है।

असाधनका त्याग किये बिना साधनकी सिद्धि नहीं होती। चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी असाधन न हो, तब साधन होता है। आंशिक साधनसे सिद्धि नहीं होती।

तत्त्वज्ञानका अन्तःकरणके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तत्त्वज्ञान प्रकृतिसे अतीत है, जबकि अन्तःकरण प्रकृतिका कार्य है। फिर अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धिका तत्त्वज्ञानसे क्या सम्बन्ध?

करणनिरपेक्षमें साक्षात् साधन होता है, पर करणसापेक्षमें परम्परासे साधन होता है।

×××	×××	×××	×××

जैसे तत्त्वसे सोना होते हुए भी गहनोंका उपयोग यथास्थान ही होगा, ऐसे ही **'वासुदेवः सर्वम्'** होते हुए भी व्यवहार यथायोग्य (मर्यादाके अनुसार) होगा और बहुत बढ़िया होगा।

कर्मयोगमें सेवावृत्ति रहती है। ज्ञानयोगमें उदासीन वृत्ति तथा कुछ कठोरता रहती है। भक्तियोगमें करुणा, दयालुता तथा कोमलता रहती है।

दूसरेके सुखसे सुखी होनेसे कामवृत्ति, आसक्ति, लोभ, भोगेच्छा मिट जायगी। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेसे संग्रहकी आसक्ति मिट जायगी। मनुष्य अपने सुखसे अशुद्ध सुखी होता है और दूसरेके सुखसे शुद्ध सुखी होता है। शुद्ध सुखकी आसक्तिसे मलिन सुखकी आसक्ति छूट जायगी।

भक्तिमें विरहके समान कोई चीज नहीं। दूसरेके दुःखसे द्रवित होनेपर उस द्रवित हृदयमें जिज्ञासा, विरह आदि स्वतः पैदा हो जायँगे।

×××	×××	×××	×××

जैसे औषधालयकी सब दवाएँ हमारे कामकी नहीं होतीं, ऐसे ही शास्त्रोंकी सब बातें सबके लिये नहीं होतीं। जो बात अपने कामकी है, उसे ले लो। आपको अपनी प्यास मिटानी है।

समुद्रमेंसे कोई राई कैसे निकाल सकता है? नहीं निकाल सकता। पर संसारभरके ग्रन्थोंमेंसे भगवान्‌ने 'गीता' निकालकर हमें दे दी—यह उनकी कितनी कृपा है! फिर भी हम चेत न करें तो भगवान्‌का क्या दोष है?

आजकल विवेकमार्गी बहुत थोड़े हैं, ज्यादा विश्वासमार्गी

ही हैं। जबतक जान नहीं जायँगे, तबतक नहीं मानेंगे—यह विवेकमार्ग है। विश्वासमार्गमें पहले मानकर फिर जानते हैं।

××× ××× ××× ×××

'वासुदेवः सर्वम्' में वाग्विवाद, मतभेद नहीं है। ज्ञानमें मतभेद होता है, प्रेममें मतभेद नहीं होता। प्रेम मतभेदको खा जाता है। मतमें भेद होता है, प्रेममें भेद नहीं होता। प्रेमाद्वैत बहुत विलक्षण चीज है।

जबतक संसारकी सत्ता रहेगी, तबतक भेद नहीं मिटेगा। जबतक संसार और परमात्मा, त्याज्य और ग्राह्य—ये दो रहेंगे, तबतक प्रेम नहीं हो सकता। जबतक यह वृत्ति रहेगी कि मनको संसारसे हटायें और परमात्मामें लगायें, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होगा। जबतक दोका विभाग रहेगा, तबतक मनका निरोध बड़ा कठिन है। पर जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब मन कहाँ जायगा? जब एक प्रभुके सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर मनको कहाँसे हटायेंगे और कहाँ लगायेंगे? दो चीजें नहीं रहेंगी तो निरन्तर भजन ही होगा, भजनके सिवाय क्या होगा? विवेकमार्गमें नित्य-अनित्य, सत्-असत्, जड़-चेतन दो चीजें रहेंगी।

वस्तु पासमें रखना दोष नहीं है, पर उसका सहारा नहीं होना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

आप सब जीवन्मुक्त हैं तथा भगवान्‌को प्यारे हैं— ***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६।२)। संसारका बन्धन आपका माना हुआ है, है नहीं, तभी वह कटता है। हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। भीतरसे स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के हैं। यह सच्ची बात है। सच्ची बातको स्वीकार करना ही ज्ञान है, मुक्ति है, भक्ति है।

सत्यको स्वीकार करना हो तो दूसरेको सामने मत रखो, अपनेको सामने रखो। दूसरेको सामने रखोगे तो सत्य नहीं मिलेगा।

शरीरको आपने ही अपना मान रखा है और 'शरीर अपना नहीं है'—यह भी आपको ही मानना है। अबतक शरीरको अपना मानकर आपने क्या फायदा उठाया?

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की ऐसी कृपा है कि वे पात्रको तो मिलते ही हैं, अपात्रको भी मिलते हैं, कुपात्रको भी मिलते हैं! आप अपनेको देखें कि भगवान्‌की कृपासे हमने कहाँ जन्म लिया, कहाँ चले गये! क्या चाहते थे, क्या हो गये! कैसे थे, पर कैसा सत्संग मिल गया!

भगवान् हमसे प्रेम करते हैं—इसकी पहचान यह है कि हमें सत्संग मिल गया! सत्संग हमारे पुरुषार्थसे नहीं मिलता, केवल भगवत्कृपासे मिलता है। एक मार्मिक बात है कि अचानक कभी भगवान्‌की याद आ जाय तो समझें कि भगवान् मुझे याद करते हैं। उस समय विशेषरूपसे, सब काम छोड़कर भगवान्‌में लग जाना चाहिये— **'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्'**। नामजप, कीर्तन, सत्संग, पाठ आदि किसी भी तरहसे भगवान्‌में मन लगना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

हमारा स्वभाव तब सुधरेगा, जब हम अपने प्रति न्याय करेंगे, अपनेको दण्ड देंगे और दूसरेको क्षमा करेंगे। पुत्र, शिष्य आदिपर भी पहले शासन न करके उन्हें प्रेमसे समझायें। प्रेमसे न समझें, तब उनपर शासन करें।

हमारे दुःखका कारण कोई दूसरा नहीं है। दुःख होता है तो वह हमारी भूलका फल है।

××× ××× ××× ×××

जो अपना कल्याण चाहता है, वह किसीके भी प्रति बुरी भावना न करे। किसी भी प्राणीको बुरा न समझे। यह व्रत ले ले कि मैं किसीको भी बुरा नहीं समझूँगा, किसीका भी बुरा (नुकसान) नहीं करूँगा, और किसीका भी बुरा नहीं चाहूँगा। यह नियम ले लें; पक्का विचार कर लें।

आपको कोई आदमी बुरा करता हुआ दीखता है तो क्या वह अपनी पत्नी, पुत्र आदिका भी बुरा करता है? तात्पर्य है कि सर्वथा बुरा कोई हो ही नहीं सकता। पर सर्वथा भला हो सकता है। बुरा तो उसे ही कह सकते हैं, जो सर्वथा बुरा-ही-बुरा करता हो।

स्वरूपमें बुराई नहीं है— ***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***। सबका स्वरूप निर्दोष है। दूसरी बात, दूसरेको बुरा माननेका आपको क्या अधिकार है? क्या आपको दूसरोंकी बुराई देखनेका अधिकार मिला हुआ है? दूसरा आपके साथ बुराई कर रहा है तो क्या आपके द्वारा कभी किसीका बुरा नहीं होता? अपनी बुराईको आप क्षमा कर देते हैं। वास्तवमें क्षमा दूसरोंकी होती है।

किसीमें भी बुराईकी स्थापना मत करो, न दूसरोंमें, न अपनेमें। अपनेको बुरा मानोगे तो आप बुरे हो जाओगे; क्योंकि ईश्वरका अंश होनेसे आप सत्यसंकल्प हो। रावण बुरा था तो क्या सबके लिये बुरा था? बुरे-से-बुरे व्यक्तिमें भी भलाई होती है। रावणने वेदोंपर भाष्य लिखा था; 'रावण-संहिता' की रचना की थी।

दूसरेको बुरा माननेसे हमारा, दूसरेका और संसारका नुकसान है। दूसरेको बुरा मानना अपराध है। अपराध पापसे भी भयंकर होता है। अपराध दण्ड भोगनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रत्युत जिसका अपराध किया है, उसके क्षमा करनेपर ही नष्ट होता है।

किसीका बुरा करोगे तो उसका तो बुरा होनेवाला ही होगा, पर आपकी नयी बुराई हो जायगी।

××× ××× ××× ×××

अपना कर्तव्य ही अपना 'धर्म' है। जिसे कर सकते हैं और जिसे करना चाहिये, वह 'कर्तव्य' होता है। जिसे कर न सकें और जिसे करना नहीं चाहिये, वह कर्तव्य नहीं होता। कर्तव्य कभी कठिन नहीं होता। वास्तविक धर्मात्माको किसीकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है।

निषिद्ध कर्मका त्याग कर दें तो विहित कर्मका अनुष्ठान स्वतः होगा। हमें जो बर्ताव बुरा लगता हो, उसे दूसरोंके साथ भी मत करो। जो नहीं करना चाहिये, उसे करते हैं—यही बन्धन है।

जब आप किसीसे भी बुरा बर्ताव नहीं चाहते तो फिर दूसरेसे बुरा बर्ताव करनेका आपको क्या अधिकार है? जब आप चाहते हैं कि कोई मुझे बुरा न माने तो फिर आपको दूसरेको बुरा माननेका क्या अधिकार है? आप ऐसा करके अपने ही ज्ञानकी हत्या करते हैं।

शुद्धि स्वतः है, अशुद्धि बनावटी है। मुक्ति स्वतः है, बन्धन बनावटी है। भलाई स्वतः है, बुराई बनावटी है।

××× ××× ××× ×××

'मैं' बदल जाय तो क्रिया स्वतः बदल जायगी। विवाहित होनेपर मैं-पन बदल जाता है कि अब मैं कुँआरी नहीं हूँ, अब पतिका घर मेरा घर है। गोत्र, जाति, भाव आदि सब बदल जाते हैं। मैं-पन बदलनेसे सब क्रियाएँ बदल जाती हैं। ऐसे ही आपका मैं-पन बदल जाय कि मैं भगवान्‌का हूँ, संसारका नहीं हूँ। अहंता बदलनेसे साधन बहुत सुगम हो जायगा। फिर

यह शिकायत नहीं रहेगी कि क्या करें, निरन्तर साधन नहीं होता, मन नहीं लगता, भगवान्‌को भूल जाते हैं! फिर चौबीसों घण्टे साधन होगा। निरन्तर साधन हुए बिना इस जीवनके रहते सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती।

जैसे जल सब जगह रहता है, पर उसकी प्राप्ति कुएँसे होती है। ऐसे ही परमात्मा अच्छे-बुरे, विहित-निषिद्ध आदि सबमें समानरूपसे रहते हैं, पर उनकी प्राप्ति विहितसे ही होती है।

सूर्यकी किरणें सर्वत्र बराबर पड़ती हैं, पर लकड़ी छाया करती है, काँच छाया नहीं करता और आतशी शीशा (सूर्यमुखी काँच) जला देता है। ऐसे ही परमात्मा सर्वत्र समान हैं, पर मनुष्य अपने भावके अनुसार लाभ उठाते हैं। भक्त आतशी शीशेकी तरह होता है, जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको खींच लेता है। सब वस्तुएँ आतशी शीशा नहीं बन सकतीं, पर सब मनुष्य भक्त बन सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने जो लिखा, वह कविकी रचना (कविता) नहीं है, प्रत्युत सन्तकी वाणी है।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की रची हुई वस्तुएँ सबको सुख देनेवाली हैं। पृथ्वी सबको स्थान देती है। जल सबकी समानरूपसे प्यास शान्त करता है। सूर्य सबको बराबर प्रकाश देता है। वायु सबको समानरूपसे श्वास देती है। तात्पर्य है कि भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टि सबको सुख-आराम देनेवाली है, बन्धन करनेवाली नहीं है। भगवान्‌की माया (सृष्टि)-को अपना मान लिया—यह बेईमानी है। इस बेईमानीसे बन्धन होता है।

××× ××× ××× ×××

साधक दो तरहके होते हैं। एकमें स्वाभाविक ही त्याग-वैराग्य रहता है और दूसरे सत्संग सुनकर, पुस्तकें पढ़कर भगवान्‌में

लगते हैं। ऐसे (दूसरी तरहके) साधकोंकी सत्संगके समय जैसी वृत्ति रहती है, वैसी दूसरे समयमें नहीं रहती। सत्संगका असर धीरे-धीरे उतर जाता है और वे पुनः भोगोंमें लग जाते हैं। उनकी यह शिकायत रहती है कि सत्संगसे कोई लाभ नहीं हुआ। पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। उनमें एक परिवर्तन जरूर होता है। काम-क्रोधादिका वेग पहले जितनी जोरसे आता था, उतनी जोरसे अब नहीं आता। पहले वे जितनी देर ठहरते थे, उतनी देर अब नहीं ठहरते। पहले वे जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते। सत्संग करनेसे इन तीनों बातोंमें फर्क पड़ता है। जैसे वर्षा होनेपर खेतीमें एक नयापन आ जाता है, हरियाली आ जाती है, ऐसे ही सत्संग मिलनेपर साधकके हृदयमें एक नयापन आ जाता है।

सत्संग करानेवाला (वक्ता) जितना अनुभवी होता है, उतना दूसरोंको अधिक लाभ होता है। अनुभवी पुरुषकी वाणी गोलीभरी बन्दूककी तरह है, जो चोट करती है। उसकी वाणीसे दूसरोंका जीवन बदल जाता है।

जादू-टोना, मलिन मन्त्र उसपर असर करते हैं, जो अपवित्र रहता है। कलियुगने अपवित्र अवस्थामें ही राजा नलमें प्रवेश किया था। भक्तोंकी कथा, पुराण आदिके श्रवण-पठनसे पवित्रता आती है। पवित्रता आनेसे जादू-टोना, भूत-प्रेतादिका असर नहीं पड़ता।

××× ××× ××× ×××

बन्द कमरेमें सूर्यकी जो किरण आती है, उससे अँधेरेमें प्रकाश हो जाता है। परन्तु कमरेसे बाहर देखें तो कितना प्रकाश है!! ऐसे ही गीताका जो अर्थ अभी समझमें आया है, वह तो एक किरण है। वास्तवमें गीता कितनी विलक्षण है!!

××× ××× ××× ×××

मनुष्य अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें तो कल्याण स्वत:सिद्ध है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो प्राप्तिकी सामग्री भी दी है, स्वतन्त्रता भी दी है। मात्र मनुष्य अपना कल्याण कर सकते हैं और सुगमतासे कर सकते हैं, प्रत्येक परिस्थितिमें कर सकते हैं। परिस्थितिको मिटाना या बदलना अपने हाथकी बात नहीं है, उसका सदुपयोग करना हमारे हाथकी बात है। अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियोंके सदुपयोगसे अपना कल्याण कर सकते हैं। परिस्थिति बदलनेकी जरूरत नहीं है। कल्याणके लिये नयी परिस्थितिकी जरूरत नहीं है।

केवल दूसरेके हितके लिये सब कर्म करें तो कल्याण हो जायगा। स्त्री-पुरुष एक-दूसरेको परवश न करें और अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यका एक निश्चय (व्यवसायात्मिका बुद्धि) होना चाहिये। वह एक निश्चय परमात्मप्राप्तिका ही हो सकता है; क्योंकि परमात्मा एक है। संसारका एक निश्चय नहीं हो सकता।

'भोग' और 'संग्रह' में प्रारब्धकी प्रधानता है, पुरुषार्थकी गौणता है। 'धर्म' और 'कल्याण' में पुरुषार्थकी प्रधानता है, प्रारब्धकी गौणता है। धनके लिये कोई नियम नहीं लेता कि इतने रुपये तो हम रोज पैदा करेंगे ही। कारण कि यह प्रारब्धके अधीन है।

आजकल तीन आफतें हो गयीं—आवश्यकताएँ बढ़ गयीं, वस्तुएँ महँगी हो गयीं, रुपये कम हो गये!

××× ××× ××× ×××

कामनाके रहते हुए मनकी चंचलता मिटनी कठिन नहीं

है, पर बुद्धिकी स्थिरता होनी कठिन है। कामनाके रहते हुए भी मन निश्चल हो सकता है, तभी योगदर्शनमें 'विभूतिपाद' आया है। मनमें कामना रहते हुए चंचलता मिटती है तो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

स्वयंका विचार कल्याण करनेका होना चाहिये। स्वयंका ध्येय हो तो कामना रहते हुए मनकी चंचलता मिट सकती है। स्वयंमें रहनेवाली सूक्ष्म कामना परमात्मप्राप्ति होनेपर मिटती है—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २।५९)।

××× ××× ××× ×××

करने और होनेका विभाग अलग-अलग है। अतः इन दोनों (प्रारब्ध और पुरुषार्थ)-में बलाबलका विचार नहीं होता। बलाबलका विचार एकमें होता है। पाप और पुण्य—दोनोंका संग्रह अलग-अलग होता है। ये एक-दूसरेसे कटते नहीं। पाप कटते हैं प्रायश्चित्त कर्मसे, पर इसमें बलाबलका विचार होता है।

धनकी प्राप्तिमें क्रियाकी मुख्यता है। परमात्माकी प्राप्तिमें लालसाकी मुख्यता है।

××× ××× ××× ×××

कामना करनेसे वस्तु मिल जाती है क्या? क्या जीवनमें हमारी सभी कामनाएँ पूरी हुई हैं? सर्वथा मनचाहा किसीका भी नहीं होता। अगर सभी कामनाएँ पूरी होने लगें तो बड़ी मुश्किल हो जाय! कारण कि हम ढंगसे चाहना नहीं करते। कभी अच्छा चाहते हैं, कभी बुरा चाहते हैं। अतः भगवान् जो चाहें, वही होना ठीक है।

××× ××× ××× ×××

संसारके सभी साथी बिछुड़नेवाले हैं। इसमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो पहले आया है, वह पहले जायगा।

सत्संगमें आनेवाले जितने हमारे हैं, उतने घरमें रहनेवाले हमारे नहीं हैं। कारण कि सत्संगमें हमारा सम्बन्ध किसी व्यक्तिके साथ नहीं है। हमारा सम्बन्ध केवल परमात्माके साथ है, और सत्संगमें आनेवाले परमात्माकी तरफ चलनेवाले हैं। वास्तवमें परमात्माके नाते प्राणिमात्र हमारे साथ एक है, पर बाहरसे कोई अपना नहीं है।

लेनेसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कारण कि लेनेवालेको देना पड़ता है, कर्जा उतारना पड़ता है।

दूसरेको दुःख दोगे तो भजनमें मन नहीं लगेगा, और सुख दोगे तो भजनमें मन लगेगा। दूसरेको दुःख देनेसे हृदय कठोर होता है, और सुख देनेसे हृदय पिघलता है। पिघले हुए हृदयमें पारमार्थिक बातें जम जाती हैं।

××× ××× ××× ×××

परमात्मासे विमुख होनेसे ही हम दुःखी हुए हैं। वह दुःख मिटेगा भगवान्‌की शरण होनेसे। अग्निसे वियुक्त होनेसे ही कोयला काला हुआ है। भोग और संग्रहसे सुख पानेकी चेष्टा करना मानो साबुन लगाकर कोयलेको साफ करना है! कोयला साफ होगा अग्निसे सम्बन्ध होनेपर। भोग और संग्रहसे आजतक एक भी व्यक्ति सुखी नहीं हुआ। भोगी व्यक्ति नींदके बिना नहीं रह सकता, पर भजन करनेवालेको नींद बुरी लगती है। नींदमें संसारको भूलनेसे सुख मिलता है, नीरोगता आती है, ताजगी आती है। अगर संसारको भीतरसे त्याग दें तो महान् आनन्द है!

संसारकी रुचि तो अरुचिमें बदलती ही है, पर भगवान्‌की रुचि अरुचिमें नहीं बदलती। भगवान्‌की रुचि तो बढ़ती ही रहती है। भगवान्‌के भजनमें नींद भी बाधक दीखती है। भोगियोंके

लिये नींद मित्र है, और भजन करनेवालोंके लिये नींद वैरी है। यह दोनोंमें प्रत्यक्ष अन्तर है।

××× ××× ××× ×××

अपने लिये, संसारके लिये और भगवान्‌के लिये भी उपयोगी हो जाय—यह अधिकार केवल मनुष्यको ही मिला है। यह भगवान्‌का मनुष्यशरीरसे पक्षपात है! भगवान्‌ने इतनी समझ, सामग्री, समय तथा सामर्थ्य दी है कि मनुष्य एक जन्ममें कई बार अपना कल्याण कर ले!

××× ××× ××× ×××

आप घरमें रहें तो कोई बाधा नहीं आती। बाधा तब आती है, जब घर आपमें बसे। नाव पानीमें रहनी चाहिये। पानी नावमें रहे तो नाव डूब जायगी। पानीमें नाव खुद भी तरती है और दूसरोंको भी तारती है। संसारमें लेनेके लिये न रहें, देनेके लिये रहें। संसारमें ममता करनेवाला फँसता है, सेवा करनेवाला नहीं। ममता छूटना कठिन है, पर ममता रखना असम्भव है।

भोजन वह बढ़िया होता है, जिसमें खानेवालेकी अपेक्षा खिलानेवालेको ज्यादा आनन्द आता है। ज्यादा आनन्द उसको वस्तु देनेमें आता है, जो लेना नहीं चाहता। चोर-डाकूको वस्तु देनेमें आनन्द आता है क्या?

गृहस्थमें अगर यह भाव रहे कि मुझे सुख कैसे मिले तो सब दु:खी हो जायँगे और यह भाव रहे कि दूसरेको सुख कैसे मिले तो सब सुखी हो जायँगे।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌में प्रेम होनेका मुख्य उपाय है—अपनापन। 'भगवान् मेरे हैं'—इसको पुष्ट करनेके लिये है—'दूसरा कोई मेरा नहीं

है'। *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।* दूसरे मेरे हैं केवल सेवा करनेके लिये। भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करो तो भगवान्‌के प्रेममें बड़ी सहायता मिलेगी।

मैं और मेरा सब भगवान्‌का है। मेरेपर और मेरी वस्तुओंपर भगवान्‌का अधिकार है।

त्यागके बिना पारमार्थिक सिद्धि नहीं होती; न प्रेम होता है, न ज्ञान होता है।

वीररसका स्थायी भाव (आधार) क्रोध नहीं है, प्रत्युत उत्साह है। उत्साहके कारण वीरको अपने सिरका भी कोई मूल्य नहीं दीखता! सिर कटनेपर भी वह (कबन्ध) लड़ता रहता है।

××× ××× ××× ×××

साधन निरन्तर होना चाहिये। जबतक दो विभाग रहेंगे, तबतक सिद्धि नहीं होगी। साधन चौबीसों घण्टे होता है। संसारी लोगोंका जैसा खान-पान आदि व्यवहार होता है, वैसा साधकका नहीं होता। साधकके व्यवहारमें भी साधन होता है। भजनका विभाग अलग हो और व्यवहारका विभाग अलग—ऐसा नहीं होता। यदि परमात्मतत्त्वको, तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं तो दो विभाग न करें।

××× ××× ××× ×××

जो कुछ दीखता है, वह सब-का-सब निरन्तर मर रहा है। जैसे मृत्यु सबके लिये खुली (सुलभ) है, ऐसे ही मुक्ति भी सबके लिये खुली है। भजन न करनेवालोंके लिये तो यह कलियुग है, पर भजन करनेवालोंके लिये यह बड़ा सुन्दर समय है।

भगवन्नामके पीछे भगवान्‌को आना पड़ता है—यह नियम है।

परन्तु भगवान्के पीछे नाम आ जाय—यह नियम नहीं है। भगवन्नाम सबके लिये खुला है और जीभ अपने मुखमें है—फिर बाधा किस बातकी!

××× ××× ××× ×××

भक्तिमें भगवत्कृपाका आश्रय मुख्य है। भक्तोंमें अपने साधनका अभिमान नहीं होता; क्योंकि वे अपना सम्बन्ध साधनसे नहीं, प्रत्युत भगवान्से रखते हैं। मेरे भजनसे, भगवदाज्ञा-पालनसे मेरा कल्याण होगा—यह उनमें नहीं होता। भजनके बिना उनसे रहा नहीं जाता। उनको भगवान्की याद स्वतः आती है, याद करनी नहीं पड़ती। यदि भगवान्को याद करना पड़ता है तो समझें कि अभी भगवान्में अपनापन नहीं हुआ।

भगवान्में प्रेम किसी क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत भगवान्में अपनापन होनेसे होता है। भगवान् स्वतः अपने हैं। संसारको अपना मान लिया—यही गलती है।

××× ××× ××× ×××

अपनेमें कभी भी परमात्मप्राप्तिकी अयोग्यता नहीं माननी चाहिये। परमात्मप्राप्ति कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत कृपाका फल है।

करें व्यवहार और सिद्ध हो जाय परमार्थ—यह गीता सिखाती है। मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक पालन करे तो उसका कल्याण हो जाय। कर्मयोगीका इष्टदेव, पूज्य यह संसार है। कर्मयोग संसारकी, ज्ञानयोग स्वयंकी और भक्तियोग भगवान्की आवश्यकताकी पूर्ति करता है।

××× ××× ××× ×××

अपने लिये करनेवाला राक्षस होता है और दूसरोंके लिये करनेवाला मनुष्य होता है।

××× ××× ××× ×××

विचार करें, 'मैं' नाम किसका है? शरीर 'मैं' नहीं हूँ; क्योंकि शरीर बदलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भी मेरा स्वरूप नहीं है, प्रत्युत यह तो केवल मान्यता है। अवस्था बदलती है। स्वरूप नहीं बदलता। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह सीखी हुई बात है, अनुभव नहीं। मैं जीव हूँ, मैं आत्मा हूँ—यह सीखी हुई बातें हैं, ज्ञान नहीं। जिसको 'यह' कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हूँ। 'यह मैं हूँ'—ऐसे इदंतासे कोई जान नहीं सकता। परन्तु 'मैं यह नहीं हूँ'—ऐसे जान सकते हैं। तात्पर्य है कि हम अपनेको निषेधरूपसे ही जान सकते हैं।

××× ××× ××× ×××

हमारी मनचाही हो जाय—यह कामना है। कामना आपमें पैदा होती है, फिर मनमें आती है। यदि आपमें खुदमें कामना न होती तो फिर उसकी पूर्ति-अपूर्तिसे आपको सुख-दुःख न होता। आप सुखी-दुःखी होते हैं अर्थात् स्वयं भोक्ता बनते हैं।

विचार करें, मनचाही होनेपर भी आप जीते हैं और मनचाही न होनेपर भी। मनचाही पूरी न होनेपर आप मर नहीं जाते। आपकी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। परमात्माकी इच्छा 'स्व' की है और संसारकी इच्छा 'पर' की है। अतः संसारकी इच्छा ही पतन करनेवाली है, परमात्माकी इच्छा नहीं। संसारकी इच्छा करनेसे आप गुलाम हो जायँगे।

आप ज्यों-ज्यों शरीरकी चिन्ता छोड़ेंगे, त्यों-त्यों शरीरकी चिन्ता संसारको लग जायगी।

××× ××× ××× ×××

आगेके जन्मका कारण अन्तिम चिन्तन है। 'शरीर' अन्तिम चिन्तनके अनुसार होता है और 'फलभोग' कर्मोंके अनुसार होता है। सब समय अन्तसमय ही है। अन्तसमय हरदम रहता है; क्योंकि

ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें मौत न आती हो। यदि अन्तसमयमें भगवान्‌को याद करना चाहते हो तो हर समय याद करो। जितना समय बीत गया, उसका अन्त (अन्तसमय) अभी ही है।

ब्रह्म, जीव, जड़, चेतन आदि कोई भी साधक नहीं होता। मनुष्य ही साधक होता है।

हम कुछ भी त्याग न करें—यह आपके वशकी बात है ही नहीं। शरीर, धन आदिका त्याग होगा ही। इनका अपने-आप त्याग होगा तो कल्याण नहीं होगा, पर आप त्याग कर दोगे तो कल्याण हो जायगा।

मेरी बातें आपको अच्छी लगती हैं, पर आपकी कल्याणकी चाहना न हो तो क्या लाभ? भोजन बढ़िया मिले, पर भूख न हो तो क्या लाभ?

××× ××× ××× ×××

लेना-ही-लेना जड़ता है और देना-ही-देना चेतनता है। देनेमें जड़ताका त्याग है। लेना-ही-लेना पशु, वृक्ष आदिमें है। इनसे कोई भले ही ले ले, पर ये देते नहीं। संसारसे भोग और संग्रह चाहना जड़ता है। देना-ही-देना प्रभुका स्वभाव है। लेना और देना—दोनों जिसमें है, वह जीव है, चिज्जड़ग्रन्थि है।

दो विभाग हैं—'यह' और 'वह'। कामना न 'यह' में है, न 'वह' में है, होनी सम्भव ही नहीं। कामना न मनमें होती है, न बुद्धिमें, प्रत्युत स्वयंमें (सुखके भोगीमें) होती है। भोगी न 'यह' है, न 'वह'; न शरीर है, न आत्मा। जो अनुकूलता चाहता है, प्रतिकूलता नहीं चाहता, वह 'भोगी' है। अतः अपनेको 'यह' से भी हटा ले और 'वह' ('है')-से भी हटा ले। ऐसा करते ही 'भोगी' का नाश हो जायगा। भोगीका नाश होनेपर 'योग' रह जायगा।

आकृति पहले दीखती है तो यह जड़ता है। भाव पहले दीखता है तो यह चिन्मयता है। आकृतिमें लेनेकी इच्छा होती है।

××× ××× ××× ×××

आपको जो ज्ञान (विवेक) मिला हुआ है, उसका अनादर करोगे तो वह लुप्त हो जायगा। परन्तु उसका आदर करोगे तो वह इतना बढ़ेगा कि शास्त्र और गुरुके बिना भी परमात्मातक पहुँचा देगा। सत्संगसे वह ज्ञान जाग्रत् होता है। गुरु वही ज्ञान जाग्रत् करता है, जो हमारेमें पहलेसे विद्यमान है। जो हमारेमें विद्यमान नहीं है, ऐसा ज्ञान गुरु दे सकता ही नहीं। मैं आपका ही ज्ञान आपको दे रहा हूँ।

××× ××× ××× ×××

जिसमें लेनेकी इच्छा नहीं है, उसके द्वारा स्वाभाविक ही देना होता है। भगवान् और उनके भक्त लेते हैं तो देते हैं, देते हैं तो देते हैं। पर सांसारिक लोग देते हैं तो लेते हैं, लेते हैं तो लेते हैं। एक गुना दान करनेसे सौ गुना पुण्य मिलेगा—यह लेना ही है। जो निर्मम-निरहंकार होता है, वह देता-ही-देता है, लेता नहीं।

बन्धन न सत्‌में है, न असत्‌में, तभी मुक्ति होती है। मेरी बात रह जाय—यह लेना है। जबतक 'मेरा' कुछ है, तबतक लेना पड़ेगा। जब शरीर भी मेरा नहीं है तो फिर क्या चाहिये? विचार करें, शरीरसे अलग होकर हमें क्या चाहिये?

त्याग 'मैं' और 'मेरा'—दोनोंका ही होता है। मैं और मेरा—ये दोनों ही माने हुए हैं, वास्तवमें हैं नहीं। दोष न सत्‌में है, न असत्‌में। दोष 'मैं' और 'मेरा' में है। मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि सबमें मैं-मेरापन है।

जबतक शरीरमें मैं-मेरापन है, तबतक जो प्रेम होता है, वह प्रेमका भोग होता है।

××× ××× ××× ×××

अपना उद्धार करना है, दूसरेका ठेका नहीं लेना है। कोई हमारे अनुकूल चलता है, हमारी बात मानता है—यह हमारे लिये बन्धन है। कारण कि मनुष्य अनुकूलतामें ही फँसता है। बन्धन अनुकूलतामें होता है, प्रतिकूलतामें नहीं। मनुष्यका हित प्रतिकूलतामें है।

जो संतोंके, सज्जनोंके परवश नहीं होता, उसे दुष्टोंके परवश होना ही पड़ेगा। स्वतन्त्रतामें परतन्त्रता और परतन्त्रतामें स्वतन्त्रता भरी हुई है। अच्छे लोग सत्पुरुषोंकी परतन्त्रता चाहते हैं।

××× ××× ××× ×××

जबतक वस्तु और व्यक्तिसे सुख चाहते हैं, तबतक हम निरपेक्ष नहीं हो सकते। भोग व संग्रहकी कामना रखनेसे फायदा किसी भी तरहका नहीं और नुकसान किसी भी तरहका बाकी नहीं—ये दो बातें याद कर लो।

आप गरीबको एक रुपया देते हैं, वह आपको सौ रुपये देता है (एक गुना दान, सहस्र गुना पुण्य) तो फिर बड़े दाता आप हुए या वह?

××× ××× ××× ×××

आजकल सबको गुरु बननेका शौक है! अनेक गुरु बन गये, अनेक भगवान् बन गये! इससे बड़ी भारी हानि हुई है। साधकके लिये यह पता लगाना कठिन हो गया है कि किसकी बात मानूँ? किसका अनुसरण करूँ? क्या करूँ, क्या न करूँ?

कल्याणप्राप्तिके अनेक उपाय हैं, केवल साधकका उद्देश्य एक होना चाहिये। भोजन तरह-तरहके होते हैं, पर भूख और तृप्ति एक ही होती है। भोजनकी रुचि सबकी अलग-अलग होती है।

वोट-प्रणालीमें मूर्खताकी प्रधानता होती है। जहाँ मूर्ख अधिक होते हैं, वहीं वोट-प्रणाली होती है। वोट-प्रणालीमें भेड़ चरानेवालेका भी एक वोट है और गाँधीजीका भी एक वोट है! ***'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा'!*** आजकल यही दशा है।

××× ××× ××× ×××

घरवालोंकी सेवा करनेसे मोह हो ही नहीं सकता। मोह होता है कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छासे। घरवालोंसे सेवा ली है, इसलिये उनकी सेवा करके कर्जा उतारना है।

भारत पृथ्वीका हृदय है। जैसे कोई भी भाव हृदयमें ही पैदा होता है, हाथ-पैर आदिमें नहीं, ऐसे ही भगवान् भारतमें ही अवतार लेते हैं।

भले ही शरीरसे कुछ न कर सकें, पर हृदयसे किसीका बुरा न चाहें तो सेवा शुरू हो गयी।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसा मान लो तो इसी क्षण मुक्ति है।

××× ××× ××× ×××

साधन करनेवालोंकी भगवान्‌की ओर 'गति' होती है। संसारमें प्रवृत्ति (क्रिया) होती है।

जबतक संसारको महत्त्व देते रहोगे, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी। ज्यों-ज्यों राग मिटेगा और संसारसे सम्बन्ध छूटेगा, त्यों-त्यों शान्ति मिलेगी। जबतक भोग व संग्रहकी रुचि प्रबल रहती है, तबतक शान्ति नहीं मिलती।

भक्ति कभी पूरी अथवा समाप्त नहीं होती। वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। भगवान्‌की तरफ खिंचावका नाम 'भक्ति' है।

××× ××× ××× ×××

संसारके साथ निषेधात्मक सम्बन्ध ही रखना चाहिये; क्योंकि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। अत: निषेधात्मक साधन बहुत ऊँचा है। भगवान्‌का चिन्तन करेंगे तो संसारका चिन्तन जबर्दस्ती होगा। पर संसारका चिन्तन नहीं करेंगे तो भगवान्‌का चिन्तन स्वत: होगा। चिन्तन करनेसे मनके साथ, देखनेसे आँखके साथ, निश्चयसे बुद्धिके साथ सम्बन्ध जुड़ेगा। कुछ भी चिन्तन न करें तो स्वरूपमें स्थिति स्वत: होगी। चिन्तन स्वरूपके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत मन-बुद्धिके द्वारा होता है।

ज्ञान संसारका ही होता है, परमात्माका नहीं। परमात्माका ज्ञान तो है।

मुक्ति स्वाभाविक है, तभी मुक्ति होती है। बन्धन कृत्रिम है, तभी बन्धन मिटता है।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने अपनेमेंसे सृष्टिको प्रकट किया। उन्होंने अपने लिये मनुष्यकी रचना की और मनुष्यके लिये संसारकी। श्रीजी भी भगवान्‌से प्रकट हुईं। श्रीजी तो भगवान्‌के सम्मुख रहीं, पर जीव भगवान्‌से विमुख होकर खेल-सामग्री (संसार) के सम्मुख हो गया। उनमेंसे जिनकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ चली गयी, वे भक्त हो गये, साधक हो गये।

हम भगवान्‌से अलग नहीं हुए हैं, प्रत्युत विमुख हुए हैं। हम भगवान्‌से विमुख हो गये—यह पहला बड़ा पाप हुआ। सांसारिक भोगोंमें सुख लेने लगे—यह दूसरा पाप हुआ।

भगवान्‌ने मनुष्यको अपने लिये उत्पन्न किया है। अत: हम भगवान्‌से कहें कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो वे राजी हो जाते हैं!

××× ××× ××× ×××

साधकोंके लिये बहुत सावधानीकी जरूरत है कि वह रागपूर्वक प्रवृत्ति न करे और द्वेषपूर्वक निवृत्ति न करे। पैसा कमानेवाला यह नहीं देखता कि यहाँ कोई आदर करता है या नहीं, सुविधा मिलती है या नहीं। वह तो अनादर सहकर, कष्ट सहकर भी पैसा कमाता है। इसी तरह साधक सब कुछ सहकर भी साधन, सत्संग करता रहे। अपनी दृष्टि सत्संग-लाभपर रखे।

जो वस्तुओं और व्यक्तियोंसे सुख भोगना चाहते हैं, वे भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकते! सुखभोगकी इच्छा ही पाप है!

बुद्धिमें विवेककी प्रधानता (दृढ़ता) होनी चाहिये, जिससे वह मनको अपने वशमें रख सके।

संग्रहकी रुचिसे भी भोगकी रुचि प्रबल होती है।

ईमानदारीसे कमाये रुपयोंके दानसे ही शुद्धि आती है। अन्यायसे कमाये पूरे-के-पूरे रुपयोंका भी दान कर दो तो भी पाप नष्ट नहीं होंगे।

××× ××× ××× ×××

भगवत्प्रेमके लिये अपनेपनकी जरूरत है। दर्शनोंके लिये उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है।

अपना कल्याण चाहनेवालेके लिये सबसे पहली बात है— संसारसे ऊँचा उठ जाय अर्थात् भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग कर दे। इससे भी पहली बात है कि संसारके सुख अच्छे ही न लगें।

सारा संसार 'मैं-पन' में भरा है! संसार माया नहीं है, प्रत्युत मैं-मेरा ही माया है— ***'मैं अरु मोर तोर तैं माया'*** (मानस, अरण्य० १५।१)। यह माया भगवान्‌की नहीं है, जीवकी है। जीवकृत सृष्टि ही बाँधती है। भगवान्‌की चीजपर कब्जा करनेसे

भगवान् नाराज होते हैं। भगवान्की चीजको अच्छी तरहसे रखना है, उसका दुरुपयोग नहीं करना है।

कई स्त्रियाँ खड़ी हों तो आप बता नहीं सकते कि किस बालककी कौन-सी माँ है; क्योंकि मेरापन हमारा माना हुआ है।

××× ××× ××× ×××

जीवन्मुक्ति हुई कि नहीं हुई—यह पता लगाना नहीं पड़ता। सूर्य निकला कि नहीं निकला—इसके लिये टार्च लानेकी जरूरत नहीं पड़ती। भोजन करनेपर तृप्ति हुई कि नहीं हुई—इसकी कोई कसौटी नहीं लानी पड़ती।

××× ××× ××× ×××

जिसे तत्त्वज्ञान हो गया, उसे हम भगवान् नहीं मान सकते*। भगवान् समुद्र हैं, सन्त-महात्मा बादल हैं— ***'राम सिंधु घन सज्जन धीरा'*** (मानस, उत्तर० १२०।९)। समुद्र समुद्र ही है। सन्त-महात्माको भगवान् अथवा अवतार कहनेमें उनकी अधिक महिमा नहीं है, प्रत्युत सन्त-महात्मा कहनेमें ही महिमा है। मनुष्य होकर सन्त-महात्मा बन गये—इसमें महिमा है।

हनुमान्जी द्रोणाचल पर्वतको उठा लाये, पर उनको कोई गिरधारी नहीं कहता। परन्तु उसी द्रोणाचल पर्वतके एक टुकड़े गोवर्धनको उठानेसे भगवान् गिरधारी कहलाने लगे। भगवान् कोई छोटा काम भी करें तो उनकी बड़ी महिमा होती है। कारण कि बड़ा आदमी छोटा काम करे तो उसकी बड़ी महिमा होती है।

त्यागसे अपनेमें बड़प्पन दीखता है तो यह त्याज्य वस्तुका बड़प्पन है, अपना नहीं! मलका त्याग करनेपर क्या त्यागका अभिमान आता है?

* 'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४।४।१७)

तेज वैराग्य होनेसे भी रसबुद्धि निवृत्त हो सकती है। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर रसबुद्धि निवृत्त हो ही जाती है—'**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २।५९)। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है—यह नियम है। परन्तु जहाँ अग्नि होती है, वहाँ धुआँ होता है—यह नियम नहीं है।

तत्त्वज्ञान होनेपर भी जल्दी सन्तोष नहीं होता। जैसे, तत्त्वज्ञान होनेपर भी शुकदेवजीको सन्तोष नहीं हुआ तो व्यासजीने उनको जनकजीके पास भेजा। वहाँ जानेपर उनका वहम मिट गया।

श्रोता—तत्त्व क्या है?

स्वामीजी—तत्त्व है—'है'। 'है' के सिवाय कुछ तत्त्व नहीं। मैं-तू-यह-वह नहीं रहता, पर 'है' रहता है। 'है' का ध्यान सबसे सुगम है और सबसे श्रेष्ठ है। 'है' के ध्यानकी बहुत महिमा है। हरदम इस 'है' को याद रखो। संसार नहीं है, 'है' ही है।

प्रेममें भगवान्‌को खींचनेकी ताकत है—'***प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन पाहन तें परमेस्वरु काढ़े'।*** भगवान्‌के वशमें प्रेम नहीं है, पर प्रेमके वशमें भगवान् हैं। प्रेम भगवान्‌से भी विलक्षण है।

××× ××× ××× ×××

जो होता है, वह असली भजन होता है। जो करते हैं, वह नकली भजन होता है। आप भगवान्‌के हो जायँ तो भगवान्‌का असली भजन होगा। अभी तो साधककी यह दशा है कि भगवान्‌को याद करते हैं, संसारका चिन्तन होता है।

शरणागति सबसे श्रेष्ठ है। गीताका सार शरणागति है। आज ही यह स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के हैं। अपवित्रता इसीलिये है कि हमने अपनेको भगवान्‌का नहीं माना।

××× ××× ××× ×××

एक तरफ संसार है और एक तरफ परमात्मा। जीव जिसे पसन्द करता है, भगवान् उसे वह वस्तु दे देते हैं। यदि वह भगवान्‌को पसन्द कर ले तो उसका कल्याण हो जाय। परन्तु वह संसारको पसन्द करता है और बँध जाता है— ***'सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥'*** (मानस, उत्तर० ११७।२)। पढ़े-लिखे लोग तोतेकी तरह बँधते हैं और अपढ़ लोग बन्दरकी तरह! पाँच विषय, मान, बड़ाई और आराम— इन आठोंको पसन्द करके ही मनुष्य बँधता है। यदि मनुष्य इनको पसन्द न करे तो बन्धन नहीं होगा।

भगवान् परम दयालु हैं। उनकी माया कभी किसीको नहीं फँसाती। उनकी मायाको अपनी मानकर हम ही फँस जाते हैं। जिन वस्तुओंको हम अपनी मान लेते हैं, उन्हींसे बन्धन होता है। बन्धन जीवकृत सृष्टिसे होता है, ईश्वरकृत सृष्टिसे नहीं। जीवकृत सृष्टि है—'मैं' और 'मेरा'।

संसारमें रबड़की गेंदकी तरह रहो, मिट्टीका लौंदा मत बनो। जो चिपकता है, वही फँसता है। गेंद किसीसे नहीं चिपकती। सेवा सबकी करो, पर कहीं चिपको मत।

××× ××× ××× ×××

किसीकी भी निन्दा न करके अपनी उपासना ठीक तरहसे करो। साधनका भेद भले ही हो, पर प्रीतिका भेद न हो। सबके साथ प्रेमका बर्ताव हो। सबके कल्याणका समान भाव हो।

जब हम सबकी बात नहीं मानते, फिर दूसरा हमारी बात न माने तो हम नाराज क्यों हों?

जैसे भिक्षा लेते समय किसी मुसलमानका घर आ जाय तो उसे हम छोड़ देते हैं, ऐसे ही जो बात समझमें न आये, उसे छोड़ दो और जो समझमें आये, उसे करना शुरू कर

दो। परीक्षा देते समय भी विद्यार्थी यही करता है कि जो उत्तर उसे आता है, उसे पहले लिखना शुरू कर देता है। जो उत्तर नहीं आये, उसे लेकर बैठा रहेगा तो फेल हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

सन्तोंकी पहचान कोई कर नहीं सकता। जिनके संगसे हमें लाभ हो, दैवी सम्पत्ति आये, भगवान्‌की याद आये, जीवन निर्मल हो जाय, बिना पूछे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाय, शंकाओंका समाधान हो जाय, मनमें शान्ति हो जाय तो हमारे लिये वही सन्त हैं। हम सन्तोंकी परीक्षा नहीं कर सकते, पर अपनी परीक्षा कर सकते हैं कि हमारेपर क्या असर पड़ा? जो हमसे कुछ भी चाहता है, वह हमारा गुरु कैसे हो सकता है?

××× ××× ××× ×××

जिन्होंने अपना काम ठीक नहीं किया है, वही मरनेसे डरते हैं। जैसे, जिन्होंने अपनी पढ़ाई ठीकसे नहीं की, वही विद्यार्थी परीक्षामें मुँह छिपाते हैं!

किसीका भी बुरा सोचना, समझना और करना मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है। मनुष्य भलाई करके भला नहीं बनता, प्रत्युत बुराई छोड़नेसे स्वतः भला बन जाता है। भलाई करना कठिन है, पर बुराई न करनेमें क्या कठिनता है? इसमें किस बल, योग्यता आदिकी आवश्यकता है? किसीका बुरा न सोचें, न समझें, न करें तो क्या बाधा लगती है? इसमें क्या जोर आता है?

सबको दण्डवत् प्रणाम करनेकी अपेक्षा भी बढ़िया है—किसीका बुरा न सोचें, न समझें, न करें। कोई बुरा करता दीखे तो समझो कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। ऊपरसे बुराई दीखती है, भीतरसे वही परमात्मा हैं। बुराई आगन्तुक दोष है। कुत्ता घरमें आ जाय तो क्या वह घरका मालिक बन गया?

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीर अन्तिम जन्म है। अब जैसा चाहोगे, वैसी गति हो जायगी। यह स्वतन्त्रता मनुष्यशरीरमें ही है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

'हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

××× ××× ××× ×××

कामना स्वाभाविक नहीं है। जैसे व्यसनका त्याग कठिन हो जाता है, ऐसे ही कामनाका त्याग कठिन हो रहा है। हमें व्यसनोंकी तरह कामना, ममता, तादात्म्यकी आदत पड़ी हुई है।

शरीरकी जरूरतका नाम 'कामना' है और शरीरीकी जरूरतका नाम 'आवश्यकता' है। कामना पूरी होनेवाली नहीं होती, प्रत्युत मिटनेवाली होती है। कामना मिटते ही आवश्यकता पूरी हो जाती है।

जड़ता कामनापर टिकी हुई है। कामनाका त्याग होते ही जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

हमारे यहाँ 'शुद्धि' देखी जाती है, अँग्रेजोंके यहाँ 'सफाई' देखी जाती है!

यदि हम किसीकी बुराई कहना, सुनना, समझना त्याग दें तो हम अपने-आप भले हो जायँगे।

संसारकी प्राप्ति और परमात्माकी अप्राप्ति—ये दोनों आपकी दृष्टिमें हैं।

बुराई न करना—यह निषेधात्मक साधन है। दवा लेनेकी अपेक्षा कुपथ्यका त्याग करना सुगम पड़ता है।

××× ××× ××× ×××

माँकी कृपा सबकी कृपासे विलक्षण होती है। भोजन हम करें और माँ प्रसन्न हो जाय! ऐसे ही सन्तोंकी कृपा भी विलक्षण होती है। उद्धार हमारा हो और सन्त प्रसन्न हो जायँ! उन्नति हमारी होती है, राजी वे होते हैं! माल हमें मिलता है, राजी माँ होती है!

पासमें धनके रहते हुए मनुष्य सन्त बन सकता है, पर जिसके भीतर धनकी लालसा है, वह सन्त नहीं बन सकता। अम्बरीष आदि राजा भी भक्त हुए हैं।

जो सब जगह व्याप्त हैं, वे परमात्मा ही हमारे हैं। जो दीखता है, वह (संसार) हमारा नहीं है। उत्पन्न और नष्ट होनेवालेकी तरफ हमारा मन खिंच गया—यह बड़ा दोष है, बड़ी हानि है!

××× ××× ××× ×××

सुखी-दु:खी होना कर्मोंका फल नहीं है। कर्मोंका फल परिस्थिति है, जो जीवन्मुक्तके सामने भी आती है। यदि सुख-दु:ख कर्मोंके फल होते तो जीवन्मुक्तको भी सुख-दु:ख होते।

जो सुख चाहता है, उसीको दु:ख मिलता है। सुखकी आशा, कामना और भोग करनेवालेको दु:ख भोगना ही पड़ेगा। दु:ख क्या है? सुख चाहना ही दु:ख है।

पहले प्रक्रिया-ग्रन्थ पढ़कर फिर गीताको पढ़ोगे तो गीता समझनेमें बाधा लग जायगी। आपकी जैसी धारणा होगी, वही गीतामें दीखने लग जायगी।

कैदीका लक्षण क्या है? काम करे अपनी मर्जीसे और

उसका फल (दु:ख) भोगे दूसरेकी मर्जीसे। जबतक तत्त्वज्ञान न हो, तबतक सब मनुष्य कैदी हैं।

वास्तवमें जाति-धर्म ही धर्मकी जड़ है। कलियुगका सर्वप्रथम लक्षण बताया है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥

(मानस, उत्तर० ९८।१)

शास्त्रोंकी बातें जल्दी समझमें नहीं आतीं। जो जाति-व्यवस्था नहीं मानते, उनमें शास्त्रोंको समझनेकी अक्ल नहीं है।

××× ××× ××× ×××

संसारका उद्देश्य रहेगा तो कभी शान्ति नहीं मिलेगी। सुख-सुविधाका ख्याल रहेगा तो शान्ति नहीं मिलेगी। परमात्मासे विमुख होनेपर इतने दोष पैदा होंगे, जिसका कोई ठिकाना नहीं! इतने अनर्थ होंगे, इतनी आफतें आयेंगी, जिसको सोच भी नहीं सकते!

भीतरमें लोभ नहीं होगा तो आवश्यक वस्तु अपने-आप आयेगी। यदि लोभ होगा तो आवश्यक वस्तु भी नहीं मिलेगी। जिसके भीतर 'खाऊँ-खाऊँ' लगी रहती है, उसके पास आनेसे वस्तु भी डरती है!

भोगेच्छा अधिक होगी तो पहले जो राक्षस सुने गये हैं, उनसे भी तेज राक्षस हो जायगा! पहलेके राक्षस ब्रह्माजी, शिवजी आदिपर, मन्त्र-जप, तपस्या आदिपर श्रद्धा रखते थे, पर आजकल उतनी भी श्रद्धा नहीं रखते।

××× ××× ××× ×××

मनुष्य घरमें रहते हुए, घरका काम करते हुए सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं कर सकता—यह वहम गीताने मिटा दिया है। गीता व्यवहारमें परमार्थकी कला बताती है।

मुझे सुख-आराम मिले—यह जड़ता है। दूसरेको सुख-आराम मिले—यह चिन्मयता है।

बड़ा वह है, जो दूसरोंको बड़ा बनाता है। जो दूसरोंको छोटा बनाता है, वह गुलाम है।

गायको सूई लगाकर दूध लेना उसका रक्त लेनेकी तरह है। आजकल गर्भपात-जैसे भयंकर महापाप हो रहे हैं। ये बातें सुननेकी अपेक्षा तो मर जाना अच्छा है!

××× ××× ××× ×××

सत्संग करनेसे संसारका काम बढ़िया होता है। बाहरसे साधु बननेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् भावग्राही हैं। स्वार्थका, लेनेका भाव ही पतन करनेवाली चीज है। चाहे साधु हो या गृहस्थ, लेनेकी इच्छा ही पतन करनेवाली है। भोग तथा संग्रहकी इच्छा ही बाधक है। यदि बाहरसे वस्तु-व्यक्तियोंके त्यागसे कल्याण होता हो तो मरनेवाले सबका कल्याण होना चाहिये।

लेना-ही-लेना पशुओंका, देना-ही-देना भगवान्‌का और लेना-देना मनुष्योंका होता है। भगवान् और उनके भक्त देते-ही-देते हैं। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर दे, वह साधक होता है।

समर्थ वह है, जो दूसरोंकी असमर्थता दूर करके उन्हें समर्थ बनाये। दूसरोंको असमर्थ बनानेवाला समर्थ नहीं होता।

सन्तोष काम, क्रोध और लोभ—तीनोंको नष्ट करता है।

××× ××× ××× ×××

क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-रहित होना ही मुक्ति है। संसार 'मैं' से पैदा होता है। 'मैं' प्रकृतिका है और 'हूँ' परमात्माका है। मैं-मेरा ही माया है, जो जीवकृत है। इस जीवकृत सृष्टिसे ही बन्धन होता है। 'मैं' न रहे तो 'है'-तत्त्व रहेगा, 'हूँ' नहीं

रहेगा। संसारमें 'है' नहीं है, प्रत्युत 'है' में संसार है। इस 'है' में स्थित हो जायँ। 'है' में स्थिति ही मुक्ति है।

वस्तुके बाद 'है' नहीं है, प्रत्युत 'है' के बाद वस्तु है।

श्रोता—सुषुप्ति और समाधिमें क्या फर्क है?

स्वामीजी—सुषुप्तिमें वृत्तियाँ लीन होती हैं, पर समाधिमें वृत्तियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है।

××× ××× ××× ×××

संसारमात्रमें जड़ और चेतन—ये दो विभाग हैं। जड़के साथ चेतन है, पर चेतनके साथ जड़ नहीं है; क्योंकि जड़की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

सम्पूर्ण सृष्टि स्वाभाविक एक-दूसरेके लिये है। इसे केवल अपने लिये मान लेना खास गलती है। सभीका जीवन दूसरेके लिये है, अपने लिये नहीं। साधु गृहस्थके लिये है, गृहस्थ साधुके लिये है। ऐसे ही वर्णोंमें भी सब वर्ण एक-दूसरेकी पूर्तिके लिये हैं, अपने सुखभोगके लिये नहीं। मनुष्यजीवन दूसरोंको सुख देनेके लिये है। दूसरोंको सुख देनेसे आपको आनन्द मिलेगा। दूसरेके जीवनको अपने लिये न मानें, प्रत्युत अपना जीवन दूसरेके लिये मानें। माता-पिता बालकके लिये हैं। बालक माता-पिताके लिये है। इस भावसे व्यवहार भी बढ़िया होगा और कल्याण भी हो जायगा। हम असंग हो जायँगे।

साधक वह होता है, जो लेनेकी इच्छाका त्याग करता है। केवल व्याख्यान देनेसे कल्याण नहीं होता, हमारा जीवन वैसा होना चाहिये।

अभी जो समय मिला है, वह भजन करनेके लिये है। फिर न जाने क्या हो जाय! अभीसे भगवान्‌में लग जाना चाहिये। एक अँगुली कट जाय तो पुनः नहीं मिलती तो क्या मानवशरीर पुनः मिल जायगा? उसमें भी सत्संगका मौका मिलना बहुत दुर्लभ है।

भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११); परन्तु रुपये ऐसा नहीं कहते। ऐसा होनेपर भी आप रुपये कमा लेते हो तो क्या भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकते?

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्ति प्रारब्धके अधीन नहीं है। परमात्मप्राप्तिकी चाहना तब पूरी होगी, जब संसारकी कोई कामना नहीं रहेगी।

जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते, ऐसा विलक्षण आनन्द इसी जन्ममें प्राप्त हो सकता है। परमात्मप्राप्ति ही मनुष्यजन्मका वास्तविक फल है। इसके सिवाय धन आदि कुछ काम नहीं आयेंगे। वे दुर्गति करने, विपत्ति देने, दुःख देनेमें ही काम आयेंगे, कल्याणके काम नहीं आयेंगे।

××× ××× ××× ×××

जैसे हम शरीरके किसी भी अंगकी पीड़ा नहीं चाहते, सभी अंगोंमें आराम चाहते हैं, ऐसे ही संसारके प्रति भी भाव हो। अथवा जैसे संसारके सुख-दुःखकी परवाह नहीं होती, ऐसे ही अपने शरीरकी भी परवाह न हो। कारण यह है कि संसार और शरीर एक तत्त्व हैं। शरीर और संसारको अलग-अलग मानना अज्ञान है, भूल है।

अपने शरीरकी अपेक्षा भी संसारकी ज्यादा परवाह करें, तब समता आ जायगी। यदि शरीर तथा संसारकी समान परवाह करोगे तो शरीरका पक्षपात आ जायगा; क्योंकि पहलेसे ही ऐसी आदत पड़ी हुई है।

वैद्य सबको एक ही दवा नहीं देता, प्रत्युत यथायोग्य दवा

देता है तो यह उसकी विषमता नहीं मानी जाती। सबके प्रति हितबुद्धि होनी चाहिये।

×××　　×××　　×××　　×××

गीताने भगवान्‌का समग्र-रूप बताया है। अपना वर्णन करनेमें स्वयं भगवान् भी असमर्थ हैं; क्योंकि वे अनन्त, अपार, असीम हैं। वे लौकिक-अलौकिक सब कुछ हैं। भगवान् गोपाल छोटे-से होनेपर भी कितने बड़े हैं—इसका पता नहीं लगा सकते। उनके छोटे-से मुखमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं।

हम भगवान्‌को जैसा सगुण या निर्गुण मानते हैं, वे वैसे सगुण या निर्गुण नहीं हैं। यदि वे वैसे ही होते तो यह मानना पड़ता कि हमें उनका ज्ञान हो गया! जो कि सर्वथा असम्भव है।

भगवान्‌को कोई 'नराकार' कहता है, कोई 'निराकार' कहता है और कोई 'नीराकार' (गंगा-रूप) कहता है! भगवान् सब कुछ हैं।

जब अग्नि, जल आदि भी साकार और निराकार दोनों हो सकते हैं तो क्या भगवान् उनसे भी कमजोर हैं कि साकार नहीं हो सकते?

मिश्री मीठी है, पर कैसी मीठी है—यह वर्णन नहीं कर सकते, फिर परमात्माका वर्णन कैसे कर सकते हैं? परमात्माको जान नहीं सकते, पर मान करके प्राप्त कर सकते हैं। अपने मानवजीवनको पूर्ण कर सकते हैं। जीवन्मुक्त हो सकते हैं।

×××　　×××　　×××　　×××

अपने लिये करना राक्षसी स्वभाव है। मनुष्यशरीर केवल दूसरोंके लिये है। सृष्टिकी रचना इसी ढंगसे हुई है। भगवान् भी नर-नारायणरूपसे सबके हितके लिये तप करते हैं। सब वर्ण, आश्रम आदि केवल दूसरोंके हितके लिये हैं। मुक्ति भी

अपने लिये नहीं है, दूसरोंके लिये है। खाना-पीना भी अपने लिये नहीं है। शरीरकी क्रियाएँ भी शरीरके हितके लिये हैं, अपने लिये नहीं।

अपना जीवन इस तरह बनाओ कि प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये हो। इससे प्रेमकी वृद्धि होगी। यह भारतीय संस्कृति है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

(गीता ३।११)

'तुमलोग एक-दूसरेको उन्नत करते हुए परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

भगवान् श्रीरामने अंगदको रावणके पास भेजते समय कहा—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

(मानस, लंका० १७।४)

अपना-अपना सुख चाहेंगे तो सभी दु:खी हो जायँगे। छोटी-से-छोटी क्रियामें भी दूसरेके हितका भाव हो। सबके हितके लिये कर्म करनेवालेका अहित हो ही नहीं सकता। सबके हितका भाव होनेसे स्वत: त्याग होगा।

घरमें 'मैं करूँ, मैं करूँ'—यह भाव हो जाय तो काम कम और व्यक्ति ज्यादा हो जायँ! यदि 'तू कर, तू कर'—यह भाव हो जाय तो काम ज्यादा और व्यक्ति कम हो जायँ, फिर नौकर रखना पड़े!

××× ××× ××× ×××

अपने लिये कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ करे, दूसरोंके लिये करे। यह मनुष्यलोक दूसरोंकी सेवाके लिये ही है। यह मनुष्यलोक मध्यमें है, जिससे यह स्वर्ग-पातालके सब जीवोंकी सेवा कर सके। अपना सुख चाहनेसे सुख नहीं होता। अपना हित

चाहनेसे हित नहीं होता। यह सृष्टि-रचनाकी एक विलक्षणता है, इसे भारतवर्ष ही जानता है। औरोंको इसका पता नहीं है।

अपने पास जो कुछ है, वह अपने लिये नहीं है—'**इदं ब्रह्मणे न मम**'। अपने लिये सुख चाहना राक्षसी प्रवृत्ति है—'**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**' (गीता ३। १३)। बिना कारण सिर काटनेवाले इन्द्रको भी दधीचिने अपनी हड्डियाँ दे दीं। यह भारतीय संस्कृति है!

धनी व्यक्ति धर्मका ज्यादा पालन नहीं कर सकता। गरीब जितना दान कर सकता है, उतना धनी नहीं कर सकता। चींटीमें जितना बल होता है, उतना हाथीमें नहीं होता।

साधुको धनीके पास जानेकी क्या जरूरत है? कोई जरूरत नहीं है। धनके मदसे अन्धे क्या दान-पुण्य करेंगे?

××× ××× ××× ×××

'संसार है'—यह 'नहीं' में 'है' बुद्धि है। वस्तुतः 'है' में संसार है। सजातीय इन्द्रियाँ-अन्तःकरणसे ही संसार दीखता है। स्वयंसे 'है' दीखेगा।

निर्जीव वस्तुका भी निरादर, अपमान, तिरस्कार मत करो। निरादर करनेसे निर्जीव वस्तु भी नष्ट, खराब हो जाती है। किसीका भी अपमान करोगे तो भगवान् राजी नहीं होंगे; क्योंकि सब भगवान्का ही विराट्रूप है।

निर्दोषता नित्य है। निर्दोषताके बिना दोष दीखता ही नहीं। जिससे दोष दीखता है, वह निर्दोष है। जो हमसे दूर है, वही दीखता है। सत्से ही असत् दीखता है।

××× ××× ××× ×××

भारतवर्षमें पैदा होकर भी मनुष्य भगवान्में नहीं लगते—इसका मुझे बड़ा आश्चर्य होता है! ऋषि-मुनियोंकी सन्तान होनेसे

यहाँके मनुष्योंकी बुद्धि बहुत विचित्र है, पर आज वे रुपयोंमें लग गये। भारतमें इतनी जड़ी-बूटियाँ मिलती हैं, जिससे वह संसारमात्रको नीरोग कर सकता है।

××× ××× ××× ×××

सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण पापोंका आधार है। सुखकी इच्छा होनेसे होश नहीं रहता और मनुष्य पाप कर बैठता है। सुखकी इच्छासे व्यवहार और परमार्थ—दोनों बिगड़ते हैं। ऐसा कोई दोष, अवगुण नहीं है, जो इससे पैदा न होता हो।

यदि वस्तु अपनी है तो क्या सदा साथ रहेगी? वह अपने लिये है तो क्या उसके मिलनेसे हमारी तृप्ति हो गयी? यदि अपनी असली वस्तु मिल जायगी तो फिर अन्य किसीकी इच्छा नहीं रहेगी। यदि इच्छा रहती है तो हमारी वस्तु हमें मिली नहीं। हमारी असली भूख परमात्मतत्त्वकी है। उसीकी प्राप्तिके लिये यह सत्संग है।

भोगी खुद बनना चाहते हैं और त्यागी दूसरोंको देखना चाहते हैं—यह गलती है। आप उसे वस्तु देना चाहते हैं, जो त्यागी हो, तो फिर आप त्यागी क्यों नहीं हो जाते?

××× ××× ××× ×××

ज्ञान किसीके अधीन नहीं है। यदि ज्ञान किसी व्यक्ति, ग्रन्थ आदिके अधीन होता तो 'मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है'—यह बात कैसे सिद्ध होती? जो चाहे, उसीको ज्ञान हो सकता है। पापी-से-पापीको भी ज्ञान हो सकता है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू

ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा नि:सन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

जो शरीर, वर्ण-आश्रमको लेकर अपनेको ऊँचा मानता है, उसे तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है? तत्त्वज्ञान जड़ताके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होता है। साधु-संन्यासी, गृहस्थ, ब्रह्मचारी आदिको ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत जिज्ञासुको ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञानमें बाधक है—अभिमान और कामना।

जिसे धनकी चाहना है, वह धनसे नीचा है। जो धन, विद्या, बल, बुद्धि, योग्यता आदिको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, वह नीचा होता है। जिसकी हमें गरज होती है, उससे हम नीचे होते हैं। जो भगवान्‌की गरज या चाहना करता है, वह भगवान्‌से नीचा होता है और जो भगवान्‌से नीचा होता है, वह संसारसे ऊँचा होता है।

भगवान् किसीको भी अपनेसे नीचा नहीं बनाते— ***'यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई।'*** (विनय० १६५।५)। जो भगवान्‌की गरज करता है, उसे भगवान् अपनेसे ऊँचा बनाते हैं।

संसारकी इच्छा रहनेसे ही परमात्माकी इच्छा करनी पड़ती है। संसारकी इच्छासे न संसार मिलता है, न परमात्मा। संसारकी इच्छा मिटनेपर परमात्माकी प्राप्ति स्वतः है। संसार और परमात्मा—दोनोंकी इच्छाएँ जड़ताकी इच्छापर अवलम्बित हैं। हृदयसे नाशवान्‌का महत्त्व निकला कि परमात्माकी प्राप्ति हुई।

जो निरन्तर आपसे अलग हो रहा है, उसीसे अलग होना है। जो सदा प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है।

संसारकी जिस चीजको आप बड़ी मानते हैं, उसका बड़प्पन यही है कि आपको परमात्मप्राप्ति नहीं होने देगी और खुद रहेगी नहीं।

परमात्मा जितने सस्ते हैं, मौत भी उतनी सस्ती नहीं है।

जो रहेगा नहीं, उसके रहनेकी इच्छा छोड़ दो। नाशवान्‌की इच्छासे जितना नुकसान होता है, उसका कोई पार नहीं पा सकता। फायदा कुछ भी नहीं, नुकसान कुछ भी बाकी नहीं।

अपनी धारणासे ही हम परमात्मप्राप्तिसे वंचित हैं। यहाँसे मिली चीज यहाँ ही वितीर्ण करनेके लिये है।

विचार करें। रुपये मिल जायँ—इस इच्छासे क्या रुपये मिल जायँगे? रुपये बने रहें—इस इच्छासे क्या रुपये बने रहेंगे?

उद्देश्य बननेसे साधन स्वतः होता है। जैसे, इनकम-टैक्ससे बचनेका उद्देश्य होता है तो तरह-तरहकी चोरी करना स्वतः सीख जाते हैं।

××× ××× ××× ×××

अपने इष्टको सर्वोपरि समझना चाहिये और तत्त्वसे सबको एक समझना चाहिये। भगवान्‌को किसी नाम-रूपसे मानें, भगवान् एक ही हैं। संसारमात्रका उपास्य-तत्त्व एक परमात्मा ही हैं।

भगवान् साक्षात् प्रकट हों या स्वप्नमें अथवा ध्यानमें प्रकट हों, वे एक ही हैं। अवस्था हमारेमें है, भगवान्‌में नहीं। भगवान् सभी अवस्थाओंमें हैं। अवस्थाएँ हमारी दृष्टिमें हैं।

यदि 'है' रूपसे परमात्माको ही मानें तो कौन-सा रूप बाकी रहा? संसारमें भी 'है' रूपसे परमात्मा ही हैं। सत्तारूपसे केवल परमात्मा ही हैं। वही परमात्मा अनेक रूपसे हैं। अनेक रूपोंमें भगवान् तथा उनका लोक (साकेत, गोलोक आदि) एक ही है। भक्तकी निष्ठा, रुचिसे भेद होता है।

साधक यही खयाल रखे कि नाशवान्‌का चिन्तन न हो। मनमें जो भी ध्यान आये, उसे भगवान्‌का ही रूप माने। ऐसा मान ले कि मनमें जो भी रूप आयेगा, वह भगवान्‌का ही रूप होगा और मन जहाँ भी जायगा, भगवान्‌में ही जायगा।

सबमें एक परमात्माको देखनेवाला 'समदर्शी' है। वह समरूपसे परमात्माको देखता है। वह सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है, पर निरादर किसीका भी नहीं करता। उसे पूरे शरीरका आराम सह्य है, पर पीड़ा किसी भी अंगकी सह्य नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामको बड़ा कहा, पर छोटा किसीको नहीं कहा। बड़ा कहनेमें दोष नहीं है, दूसरेको छोटा कहनेमें दोष है।

××× ××× ××× ×××

अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य खुद ही कारण है, इसीलिये भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६।५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

यदि अपने उद्धार और पतनमें दूसरा कारण होगा तो उद्धार कभी हो सकेगा नहीं। वास्तवमें दूसरा सुख-दुःख दे सकता ही नहीं। अपने ही किये हुए कर्मोंके फलसे परिस्थिति आती है। दूसरेको सुखदायी-दुःखदायी मान लेना गलती है।

आपके माने बिना गुरु उद्धार कैसे करेगा? आप गुरुको स्वीकार करोगे, तभी उद्धार होगा। अनादिकालसे सन्त होते आये हैं, भगवान्के अवतार भी अनेक हुए हैं, फिर आपका उद्धार क्यों नहीं हुआ? क्योंकि आप उनके सम्मुख नहीं हुए, आपने उन्हें स्वीकार नहीं किया।

सत्संग कर्मका फल नहीं है। यह कृपासे अथवा अपने उद्योगसे मिला है। आपका अपना विचार न हो तो सुबह उठकर कौन सत्संगमें आये?

मनचाही किसीकी नहीं होती। यदि चोर-डाकूकी मनचाही हो जाय तो क्या वे किसीके पास धन रहने देंगे? जो वस्तु हमारी है, उसे कोई दूसरा नहीं ले सकता।

जन्म-मरणका कारण गुणोंका संग है, वह आप ही करते हो। पाप-पुण्य भी आप करते हो। विधाता पाप-पुण्यका फल देता है तो कृपापूर्वक ही देता है।

संग्रह करनेकी इच्छासे संग्रह नहीं होता, फिर संग्रहकी इच्छा करें ही क्यों? इच्छा न करनेपर भी आनेवाली वस्तु आयेगी ही।

××× ××× ××× ×××

सुननेवालोंकी श्रद्धा-भक्तिसे कहनेवालेको शक्ति मिलती है।

हिन्दूधर्म एक वैज्ञानिक संस्कृति है। भगवान्‌ने भी इसको उत्पन्न नहीं किया है। वे इसके रक्षक हैं। ऋषि भी मन्त्रोंके द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। वर्णाश्रमकी व्यवस्था वैज्ञानिक है। हिन्दू-संस्कृतिके मूलमें कोई व्यक्ति नहीं है। यह स्वाभाविक धर्म है, सनातन धर्म है, अनादि धर्म है।

जो स्वतःसिद्ध वास्तविक ज्ञान है, उसका नाम 'वेद' है। वह ज्ञान पैदा नहीं होता। हम गणित, व्याकरण, संगीत आदि सीखते हैं तो उस विषयमें हमारा ज्ञान जाग्रत् होता है, पैदा नहीं होता। गुरु शिष्यको ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत शिष्यके भीतर विद्यमान ज्ञानको ही जाग्रत् करता है।

जो विचारके द्वारा न मिटा सकें, उसे करके मिटा दें, इसलिये गृहस्थमें जाते हैं।

नेता, गुरु और शासक—तीनों अलग-अलग होते हैं। नेता शासक नहीं बन सकता।

जो बूढ़े होकर, साधु होकर भजन नहीं करते, उनपर

भगवान्‌को बड़ा क्रोध आता है। बेटा-बेटीका विवाह हो जाय तो भजनमें लग जाना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

कुछ 'करने' से उद्धार होगा—यह बात सच्ची नहीं है। उद्धार स्वतः है, जन्म-मरण (बन्धन) आगन्तुक है। मुक्ति स्वाभाविक है। अस्वाभाविकताको मिटाना है। काम-क्रोधादि हमारेमें हैं—यह मत मानो, इतनी ही बात है! यदि ये हमारेमें होते तो हरदम रहते। जबतक हम रहते, तबतक मिटते नहीं। दोष हमारेमें नहीं हैं। ये हमारेमें नहीं हैं, तभी मिटते हैं।

हमारेमें दोष नहीं हैं—इतना माननेसे उनकी जड़ कट गयी। कोई भी दुर्गुण-दुराचार सबमें सदा नहीं रहता और सबके लिये नहीं रहता। हमारेमें दोष नहीं है—यह सच्ची बात है। सच्ची बातको स्वीकार कर लो—यह सत्संग हो गया। गीतामें आया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२।५९)

'निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता। परन्तु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका रस भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।'

विषय निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता—यह तत्त्व नहीं है, प्रत्युत साधककी अवस्था है। जो स्वयंमें होता है, वह कभी निवृत्त नहीं होता। मिटता वही है, जो नहीं है। यदि रस हमारेमें होता तो कभी निवृत्त नहीं होता। परन्तु स्वयं तो रहता है, पर रस निवृत्त हो जाता है—**'परं दृष्ट्वा निवर्तते'**।

सबका अनुभव है कि काम-क्रोध कम होते हैं, पर आप

कम होते हैं क्या? जो कम होता है, वही मिटता है। त्याग आगन्तुकका ही होता है। मेरेमें दोष नहीं हैं—यह स्वीकार करनेकी आपमें पूरी सामर्थ्य है।

श्रोता—अपनेमें असमर्थता दीखती है!

स्वामीजी—जो चीज दीखती है, वह आपसे दूर होती है। वह न आपमें है, न आपके नजदीक है। जो चीज अपनेमें होती है, वह दीखती नहीं—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदा० २। ४। १४) 'सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?'

हनुमान्‌जीकी तरह आप अपने सामर्थ्यको भूले हुए हैं! आपकी अपने सामर्थ्यकी तरफ दृष्टि नहीं है। हनुमान्‌जीको एक ही बात याद थी कि मैं रामजीका सेवक हूँ, इसलिये ***'राम काज लगि तव अवतारा'*** सुनते ही जागृति हो गयी।

राग-द्वेष अवस्था है। आप किसी अवस्थामें नहीं रहते, कोई अवस्था आपमें नहीं रहती। आप मायाके, काम-क्रोधके बेटे नहीं हो, प्रत्युत परमात्माके बेटे हो। परमात्माके बेटेको क्या काम-क्रोध दबा सकते हैं?

××× ××× ××× ×××

चेला बनानेका अधिकार उस गुरुको है, जो उसका कल्याण कर सके, अन्यथा उसे दण्ड होगा। सन्तकी चरण-रजका असर नहीं पड़ता, भावका असर पड़ता है।

साधकका काम है—असत्‌को सत्ता देकर महत्ता न दे। महत्ता बाँधनेवाली है। महत्ता मिटनेपर बन्धन नहीं रहेगा, चिन्मयता रह जायगी।

असत् सिनेमाकी तरह है। उसमें संसार तो चित्रकी तरह है और परमात्मतत्त्व परदेकी तरह। सब व्यवहार दीखता है और मिट जाता है, पर परदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

संसारकी महत्ता दोषजनित है। अपनेमें दोषके कारण ही महत्ता दीखती है। अपनेमें काम-रूप दोष होता है तो स्त्री अच्छी दीखती है, लोभ-रूप दोष होता है तो रुपये अच्छे दीखते हैं। भूखके कारण ही भोजन अच्छा लगता है। संसारको महत्ता देनेसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं।

××× ××× ××× ×××

गीता भगवान्‌के द्वारा योगमें स्थित होकर कही गयी है। युक्तयोगी होनेपर भी भगवान्‌ने गीता विशेषतासे कही है। गीताकी पुष्पिकामें 'उपनिषत्सु' बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि सभी उपनिषदोंमें गीता एक है। गीता अनादि है—**'इमं विवस्वते योगम्'**, यह अव्यय है—**'प्रोक्तवानहमव्ययम्'** (गीता ४।१)। कोई सच्ची, तत्त्वकी बात जानना चाहे तो वह उसे गीतामें मिलेगी। गीता-माताकी गोद सबके लिये खुली है। गीताके अनुसार मनुष्यमात्र भगवान्‌की प्राप्ति कर सकता है।

हमारी संस्कृति सब कार्य धर्मके अनुसार करनेकी है। इसीलिये हम हरेक काममें ब्राह्मणसे पूछते हैं। आप जो-जो काम करते हैं, उसमें यह भाव बना लें कि मैं भगवान्‌की पूजा करता हूँ। आज यह नियम ले लें। शौच-स्नान आदि भी भगवान्‌का पूजन समझकर करें। यह शरीर भगवान्‌का है, इसलिये इसको साफ करना भी भगवान्‌का ही पूजन है।

गीता और रामायणमें शरणागतिकी बात विशेष आयी है। शरणागतकी रक्षा करना क्षत्रियोंका मुख्य कर्तव्य है। भगवान्‌के शरण होना और सबकी सेवा करना—ये दो खास बातें मान लें। अपने लिये कुछ नहीं करना है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेके लिये भी कुछ नहीं करना है।

××× ××× ××× ×××

गीतामें भक्तिकी विशेषता है। भक्तिमें भगवान् भक्तके विशेष संरक्षक होते हैं, उसका विशेष खयाल रखते हैं।

यदि साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इनमें किसीका पक्षपात न रखे तो एक साधनकी सिद्धिसे तीनोंकी सिद्धि हो जाती है। भक्तिके साथ ज्ञान और वैराग्य भी आ जाते हैं। अपने सुखसे सुखी कोई भी योगी नहीं होता।

××× ××× ××× ×××

ज्ञात अथवा अज्ञात सभी पापोंका सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है—नामजप। इससे भी श्रेष्ठ उपाय है—सत्संग।

मनुष्यशरीर अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है। उस मनुष्यजन्मको पापोंमें नष्ट करना बड़ी भारी हानि है। उस हानिका मुझे बड़ा दुःख होता है, इसीलिये मैं परिवार-नियोजनका विरोध करता हूँ। कल्याणका सुगम उपाय जितना हिन्दूधर्ममें बताया गया है, उतना अन्य किसी भी धर्ममें नहीं। उस हिन्दूधर्मका ह्रास होनेसे मानवजातिकी कितनी बड़ी हानि होगी! मेरे मनमें बड़ी पीड़ा होती है, उस पीड़ाको दूर करनेके लिये मैं कहता हूँ। परिवार-नियोजन केवल अर्थशास्त्रका एक अंश है, जो धर्मसे विरुद्ध है। यह मोक्षशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्रकी भी बात नहीं है। इससे जनताका हित तो होगा नहीं, सरकारका भी हित नहीं होगा। धर्मसे विरुद्ध अर्थशास्त्र हमारे कामका नहीं है।

संग्रहकी इच्छासे भी भोगकी इच्छा ज्यादा खराब है। पशु बिना किसी शिक्षाके अपने धर्म, मर्यादाके अनुसार चलते हैं। मनुष्यको स्वतन्त्रता दी गयी है अपने कल्याणके लिये, पर उसने लगा दिया पापोंमें।

भले ही रूखी-सूखी रोटी खाकर निर्वाह कर लो, पर कर्जा कभी मत लो।

××× ××× ××× ×××

जो चीज स्वत: होती है, वह स्वाभाविक होती है। आगन्तुक चीज अस्वाभाविक होती है। स्वाभाविक रहनेवाली चीज आपकी स्थिति है। आपका स्वरूप स्वाभाविक है। गलती है—स्वाभाविकताका निरादर और अस्वाभाविकताका आदर। अस्वाभाविक चीजकी उपेक्षा करें।

निर्विकारता हरदम रहती है। निर्विकार तत्त्वसे ही विकार दीखते हैं। विकारोंको महत्त्व देना गलती है। विकार आने-जानेवाले हैं। विकारके समय भी आप निर्विकार रहते हैं। निर्विकारता कभी नष्ट नहीं होती। अपने स्वरूपमें रहो, बहनेवालेके साथ मत बहो— ***'रहता रूप सही कर राखो, बहता संग न बहीजे।'*** जैसे लहरें समुद्रके ऊपर हैं, भीतर नहीं, ऐसे ही काम-क्रोधादि विकार आपके भीतर नहीं हैं। स्वाभाविकताकी ओर दृष्टि सत्संगके समय जाती है।

विकार आये तो उसकी उपेक्षा करो। विरोध करनेसे उसकी सत्ता दृढ़ होगी।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीरमें आकर परमात्माकी प्राप्ति कर लेना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्यशरीर उन्हें मिला है, जो अपना कल्याण कर सकते हैं। अत: परमात्मप्राप्तिसे निराश होना और संसारकी आशा करना गलती है। हमारी रचना भगवान्‌ने उद्धारके लिये की है। भगवान्‌ने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। अविनाशी परमात्मा भाग्यसे नहीं मिलते, प्रत्युत हमारी लगनसे मिलते हैं।

हमारे मनकी बात पूरी होने अथवा न होनेको ही सुख-दु:ख कहते हैं।

गीताभरमें ज्ञानी, भक्त आदिके जितने लक्षण बताये गये हैं, उनमें सार चीज है—समता।

लगनका अभाव है, परमात्माका अभाव नहीं है। कच्ची चीजकी लगन भी कच्ची होती है। सच्ची वस्तुके लिये लगन भी सच्ची होनी चाहिये।

××× ××× ××× ×××

संसारमें जितने भी श्रेष्ठ भाव हैं, आचरण हैं, उनके मूलमें कोई-न-कोई सन्त ही है। भगवान्‌के अवतारके भी मूलमें सन्त ही हैं। सन्त-रूपसे साधु भी होते हैं, गृहस्थ भी। सन्त वेश नहीं होता, भाव होता है। ऋषि-मुनि प्रायः गृहस्थ ही थे। उनमें त्याग, तप, भगवद्विश्वास और तात्त्विक अनुभव था। सब जातियोंमें, वर्णोंमें, आश्रमोंमें सन्त-महात्मा हुए हैं। सभी सम्प्रदायोंमें सन्त-महात्मा हुए हैं। उनमें पक्षपात नहीं था। सन्त अवधूत-कोटिके भी होते हैं और आचार्य-कोटिके भी।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) पर सन्त श्रीमंगलनाथजी महाराजका असर पड़ा था। वे उनको भावसे गुरु मानते थे। सेठजी अपना भजन गुप्त रखते थे। वे कहते थे कि प्रह्लादजीने अपना भजन प्रकट कर दिया, तभी उनपर इतने विघ्न आये।

××× ××× ××× ×××

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति स्वतः है। नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति स्वतः है। अतः चुप हो जायँ। किसीका भी चिन्तन न करें। चिन्तन हो जाय तो उसको न अच्छा समझें, न बुरा समझें, न अपनेमें समझें। चुप होनेसे सीधे अपने-आपमें स्थिति होती है।

भगवान्‌को अपने द्वारा स्वीकार करना है, मन-बुद्धिके द्वारा नहीं। अपने द्वारा स्वीकार करनेसे विस्मृति नहीं होती। जैसे, विवाह करनेपर फिर उसे याद नहीं करना पड़ता और विस्मृति भी नहीं होती।

संसार 'मैं' से शुरू होता है। 'मैं' से विमुख होते ही तत्त्व प्राप्त हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

मृत्यु होनेपर गीताको उसके सिरहाने रखें। पीछे उसे गंगाजीमें बहा दें, जलायें नहीं।

विवेक और वैराग्यकी आवश्यकता सभी साधनोंमें है। ऐसे ही विश्वासकी आवश्यकता भी सब जगह है। माता-पिता आदिको विश्वाससे ही मानते हैं। ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वासकी प्रधानता है।

धनके बलसे धनके गुलामको बुला सकते हैं, महात्माको नहीं। धनसे जो चीज मिलती है, वह धनसे कम कीमती होती है। यदि किसी मूल्यके बदले सत्संग खरीदा जा सके तो सत्संग उस मूल्यसे छोटा सिद्ध होगा।

नामजपसे प्रारब्ध बदल जाता है, अच्छे सन्त-महापुरुष मिल जाते हैं, भगवान् मिल जाते हैं! ***'राम-नामकी लूट है, लूट सके तो लूट!'*** राम-नामकी लूट अपने ही धनकी लूट है, पराये धनकी नहीं। उसपर हमारा पूरा अधिकार है। लूटका अर्थ है—मुफ्तमें चाहे जितना ले लो। यह किसी गुरुके अधीन नहीं है।

××× ××× ××× ×××

पारमार्थिक कार्य तत्परतासे सिद्ध होता है। सांसारिक कार्य भी पारमार्थिक सिद्धिके लिये करने चाहिये। एककी मुख्यता, परायणता होनेसे ही काम सिद्ध होगा। सांसारिक कार्य तो अपने-आप होगा, पर पारमार्थिक कार्य अपने-आप नहीं होगा।

पाप कर लें, पीछे प्रायश्चित्त कर लेंगे—इस तरह जान-बूझकर किये पापका प्रायश्चित्त नहीं होता।

मनुष्य अच्छा काम करे तो देवताओंसे भी ऊँचा उठ जाता है और बुरा काम करे तो पशुओंसे भी नीचा गिर जाता है।

××× ××× ××× ×××

माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। साधकको अपने कर्तव्यका पालन और अपने अधिकारका त्याग करना है। दूसरे मेरे अनुकूल हो जायँ, मेरी मनचाही हो जाय—इसका त्याग करना 'अधिकारका त्याग' है। करनेका अधिकार है, पानेका अधिकार नहीं। आजकल अधिकार तो चाहते हैं, पर कर्तव्य करते नहीं। वास्तवमें कर्तव्यके पीछे अधिकार दौड़ता है, पर आज अधिकारके पीछे दौड़ते हैं। अधिकार कर्तव्यका दास है, पर आज अधिकारके दास हो रहे हैं! पास होना चाहते हैं, पर पढ़ना नहीं चाहते! समाजमें हरेक व्यक्ति अधिकार चाहेगा तो लड़ाई होगी।

दूसरेका कर्तव्य देखते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे गिर जाता है। अपनेको ऊँचा दिखाना, जिससे दूसरे हमें अच्छा समझें—यह अधिकारकी इच्छा है। दूसरा कुछ कहे, अपना काम ठीक तरहसे करो तो संसार सुधर जायगा।

दूसरेको निर्दोष देखनेकी इच्छा दोषदृष्टि नहीं है। माँ-बाप बच्चेमें दोष देखते हैं, अध्यापक विद्यार्थियोंमें दोष देखता है, गुरु अपने शिष्योंमें दोष देखता है तो यह दोषदृष्टि नहीं है, प्रत्युत उनको निर्दोष देखनेकी इच्छा है। दोषोंको न तो अपनेमें कायम करना चाहिये, न दूसरोंमें—यह मार्मिक बात है। सबका वर्तमान निर्दोष है।

भगवान्‌के वियोगमें तपस्या अपने-आप हो जाती है, पर तपस्याके बलसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की सृष्टि और गीताका उपदेश—दोनों ही बहुत विलक्षण हैं तथा कल्याण करनेवाले हैं। सभी कर्म दूसरोंके उपकारके लिये हैं। सभी मन्त्र दूसरोंके उपकारके लिये हैं। गायत्री-मन्त्रमें स्तुति, ध्यान और प्रार्थना—तीनों हैं। उनमें बहुवचन आया है, जिसका तात्पर्य है कि जप तो मैं करता हूँ, पर कल्याण सबका हो—'**धियो यो नः प्रचोदयात्**'। यज्ञ, तप और दानमें भी अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग है।

××× ××× ××× ×××

नामका जप उपांशु तथा मानस भी होता है। साधारण (वाचिक) जपसे उपांशु जप श्रेष्ठ है। उपांशु जपसे मानस जप श्रेष्ठ है। मानस जपको 'नाम-स्मरण' (सुमिरन) भी कहते हैं। स्मरणका अर्थ है—याद रखना। एक मन्त्र-जप होता है, एक नाम-जप। जप है—पुकार, सम्बोधन। 'राम' कहनेका अर्थ है—'हे राम!'। पुकार सबसे श्रेष्ठ है।

श्रोता—चैतन्य महाप्रभु आदि सन्तोंने *'हरे राम०'* मन्त्रको उलटा क्यों कर दिया? वे मन्त्रका आरम्भ *'हरे कृष्ण०'* से क्यों करते हैं?

स्वामीजी—*'हरे राम०'* मन्त्र वैदिक होनेसे इसे केवल यज्ञोपवीतधारी जप सकते हैं। इसे हरेक मनुष्य जप सके, इसलिये इसका मन्त्रपना निकालनेके लिये उन सन्तोंने इसे उलटा कर दिया।

'हे मेरे नाथ!'—ऐसे हृदयकी पुकार भगवान्‌को द्रवित कर देती है। पुकार भगवान्‌तक जल्दी पहुँचती है।

प्रेम और आदरपूर्वक दिया गया दान ही दूसरोंके काम आता है।

××× ××× ××× ×××

अपने स्वभावका सुधार करें। बिगड़ा स्वभाव किसीको नहीं सुहाता। स्वभाव-सुधार तब होगा, जब अपना ध्येय परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। दूसरे मुझे क्या समझें—यह कसौटी ठीक नहीं है। जो भोग और संग्रहमें लगे हैं, उनका स्वभाव ठीक नहीं रहता। सब दोष देहाभिमान (मैं-मेरे) से आते हैं; अतः मैं-मेरेका त्याग कर दें। छोटा बच्चा सबको अच्छा लगता है; क्योंकि उसमें राग-द्वेष नहीं होते।

हम जितने भले होते हैं, लोग हमें उससे अधिक भला मानते हैं। हम जितने बुरे होते हैं, लोग हमें उससे कम बुरा मानते हैं। लोग बड़े उदार हैं! अतः अपने भीतरके बुरे भावोंको मिटा दो।

करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहें। करनेमें सावधान नहीं रहते और होनेमें चिन्ता करते हैं—यह गलती है। जो हरदम सावधान रहता है, वही साधक होता है।

अन्तमें अकेला ही जाना पड़ेगा, अतः पहलेसे ही अकेला हो जाय!

××× ××× ××× ×××

दो ही सबका हित करनेवाले हैं—भगवान् और उनके भक्त। इन्हें किसीसे कुछ लेना नहीं है, किसीसे कुछ चाहना नहीं है। श्रीरामचरितमानस भगवान्‌का चरित्र है और भक्तकी वाणी है; अतः इसके पाठका मौका बड़े भाग्यसे मिलता है। यह भगवत्कृपासे मिलता है, अपने बलसे नहीं।

सत्संग कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌की कृपा है। इस कृपाका आदर करो।

भक्ति बहुत कोमल है। किसीका निरादर करनेसे भक्तिका रस नहीं मिलता।

××× ××× ××× ×××

एक 'करना' होता है, एक 'होना' होता है। करनेमें हमारा अधिकार है और होना भगवान्‌के अधीन है। व्यापार करते हैं और नफा-नुकसान होता है। दवा लेना हमारे हाथमें है और रोग ठीक होना या न होना भगवान्‌के अथवा प्रारब्धके हाथमें है।

मनुष्य कर्मयोनि है; अतः मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है— **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (गीता २।४७)। यदि सब कुछ भगवान् ही करते या कराते हैं तो फिर मनुष्यता क्या रही? सब भगवान् ही कराते हैं—यह अपना ही अज्ञान भगवान्‌पर आरोपित करना है— ***'निज अग्यान राम पर धरहीं'*** (मानस, उत्तर० ७३।५)। मनुष्य स्वयं कर्म करता है, तभी स्वयं दण्ड भोगता है। दुर्घटना होनेपर दण्ड उसे मिलता है, जो मोटर चलाता है।

ईश्वरकी इच्छाके बिना पत्ता नहीं हिलता—ऐसा कहा जाता है, पत्ता हिलाता नहीं—ऐसा नहीं कहा है। कर्म करनेका अधिकार होनेसे ही मनुष्यपना है। करनेका अधिकार न हो तो मनुष्यपना है ही नहीं। मनुष्य ही कर्मयोनि है। 'करना' मनुष्यकी इच्छापर है और 'होना' भगवान्‌की इच्छापर है—

'होइहि सोइ जो राम रचि राखा' (मानस, बाल० ५२।४)

'जो जस करइ सो तस फलु चाखा'

(मानस, अयोध्या० २१९।२)

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'

(गीता ५।१४)

'परमात्मा मनुष्योंके कर्तापन तथा कर्मोंकी रचना नहीं करते।'

सूर्यके प्रकाशमें सब अच्छी-बुरी क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उनका कर्ता नहीं होता।

जन्मकुण्डलीमें आता है कि यह ऐसा-ऐसा काम करेगा

तो वह पूर्वजन्मके संस्कारका फल है—**'दैवं चैवात्र पञ्चमम्'** (गीता १८।१४)। परन्तु मनुष्य उस स्वभावको बदल सकता है। मनुष्यपर अपने स्वभावका सुधार करनेका दायित्व है। स्वभाव सुधरनेसे ही मुक्ति होती है। स्वभाव बदलनेसे ही मनुष्य साधु होता है।

यद्यपि करनेकी सामर्थ्य भगवान्‌से मिली हुई है, तथापि उसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

सत्संग, सच्छास्त्र और सद्विचार—इन तीनोंसे स्वभावमें सुधार होता है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीरकी महिमा बहुत है, पर वह शरीरको लेकर नहीं, उसके सदुपयोगको लेकर है। मनुष्यकी उन्नतिकी आखिरी हद यह है कि वह भगवान्‌का भी इष्ट बन जाय!

भगवान्‌की अत्यधिक कृपासे मानवशरीर सफल करनेका यह मौका हमें मिला है!

××× ××× ××× ×××

खास बात है—वर्तमानको शुद्ध बनाना। वर्तमानकालको शुद्ध बना लें तो भूत भी शुद्ध हो जायगा और भविष्य भी। भूत और भविष्यका चिन्तन ही 'व्यर्थ चिन्तन' है, जिससे कुछ लाभ नहीं। सबका वर्तमान शुद्ध है—यह एक मार्मिक बात है। वर्तमान दोषी नहीं है। ***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***—यह वर्तमान है। यह तीनों कालोंमें वर्तमान है। वर्तमान-तत्त्व सदा शुद्ध ही रहता है, कभी मैला नहीं होता।

भविष्यकी चिन्ता न करके विचार करे, पर भूतको बिलकुल छोड़ दे।

तत्त्व सदा वर्तमान रहता है। हम सिनेमामें भूत-भविष्य-

वर्तमानको अपनी दृष्टिसे देखते हैं, पर फिल्ममें क्या ये तीन काल हैं? उसमें तो सब कुछ वर्तमान है। जैसे सिनेमा अँधेरेमें दीखता है, प्रकाशमें नहीं, ऐसे ही संसार अज्ञानरूपी अन्धकारमें दीखता है, ज्ञानरूपी प्रकाशमें नहीं। ज्ञानमें भूत-भविष्य-वर्तमान हैं ही नहीं। जैसे सिनेमामें परदा ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें कोई फर्क पड़ता ही नहीं, ऐसे ही तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

××× ××× ××× ×××

श्रोता—कभी-कभी भगवान्‌में भाव पैदा होता है, गला गद्‌गद होता है, अश्रुपात होता है, पर वैसा भाव सदा क्यों नहीं रहता?

स्वामीजी—उसमें सुख लेनेसे, उसमें दिखावटीपन आनेसे, उसे लोगोंमें कहनेसे, उसमें सन्तोष करनेसे वह सदा नहीं रहता। उसे अपने उद्योगसे न मानकर कृपासे मानें। मान-बड़ाईकी इच्छा रहनेसे साधन तेजीसे नहीं बढ़ता। परमात्माकी प्राप्तिमें कठिनता नहीं है, सांसारिक सुख छोड़नेमें कठिनता है।

व्यवहारमें 'कनक' बाधक है और भावमें 'कामिनी' बाधक है। कामिनीकी आसक्ति भीतर बहुत गहरी बैठी हुई होती है।

संसारसे शरीरको अलग मानना गलती है। उससे भी बड़ी गलती है—शरीरसे सुख लेना। शरीरको सुख-आराम देना उसके साथ शत्रुता है।

जो होता है, वह ठीक ही होता है, बेठीक होता ही नहीं।

संसार आपसे नहीं चिपकता। संसार तो भागता है, आप ही उससे चिपकते हो, उसमें ममता-आसक्ति करते हो।

जो निरन्तर रहता है, उसीके साथ हमें रहना है। मैं-मेरेका

त्याग कर दें। अपनी स्थिति मैं-मेरेमें न रखें, प्रत्युत 'है' में रखें। सब कुछ बदल गया, पर आप वही हैं। आप वहीं हैं—इसीमें रहें। जो रहनेवाला नहीं है, उसमें मैं-मेरा करके ही आप दुःख पा रहे हैं। शरीर और संसार एक हैं, पर मैं-मेरा करके आप शरीरको संसारसे अलग कर लेते हैं।

'नहीं' की प्रीति छोड़नेसे 'है' में प्रीति हो जायगी। 'नहीं' की प्रीति छूटेगी—सेवा करनेसे, त्याग करनेसे अथवा भगवान्‌का माननेसे।

ज्ञान असत्‌का ही होता है। सत्‌का ज्ञान होता ही नहीं। मैं हूँ—यह ज्ञान तो कुत्तेको भी है। गलती है—अपनेको असत्‌के साथ मिलाना।

××× ××× ××× ×××

संसार स्वतः ही हमसे हट रहा है। हमें उससे हटना नहीं पड़ेगा। परमात्मतत्त्व स्वाभाविक ही प्राप्त है। वह कभी अप्राप्त हो सकता ही नहीं। अतः कुछ भी चिन्तन न करके चुप हो जायँ। चिन्तन आ जाय तो चला जायगा। उसको न अच्छा मानें, न बुरा मानें, न अपनेमें मानें। परमात्माका भी चिन्तन करोगे तो जड़का आश्रय लेना पड़ेगा। चुप होनेमें नींद, आलस्य, प्रमाद, असावधानी नहीं है। यदि नींद आती हो तो चुप-साधन न करके नामजप या कीर्तन करो।

परमात्मा निरन्तर प्राप्त हैं—यह स्वीकृति करनी है। यह स्वीकृति नामजप आदिसे भी तेज है।

'है' में चुप हो जाओ। चुप होना समाधिका फल है।

नाम-जप करते-करते चुप हो जाओ; जैसे—पक्षी पहले पर हिलाते हुए आकाशमें ऊँचा उड़ता है, फिर पर फैला देता है।

××× ××× ××× ×××

अपना उद्धार न करनेवाला आत्मघाती है। मनुष्यशरीर मिल गया, कलियुगका समय मिल गया, गीता-रामायणसे परिचय हो गया, सत्संग मिल गया, अब अपना उद्धार नहीं करोगे तो फिर कब करोगे?

'ग्रहण' करनेका सर्वोपरि एक ही नियम है—भगवान्‌को याद रखना। 'त्याग' करनेका सर्वोपरि एक ही नियम है—कामनाका त्याग करना।

××× ××× ××× ×××

'करने' से उसकी प्राप्ति होती है, जो उत्पत्ति-विनाशशील तथा दूर है। 'है' स्वतःप्राप्त है। उसकी प्राप्ति स्वीकृतिसे होती है, 'करने' से नहीं। संसार 'नहीं' है। संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह 'है'-पना परमात्माका है। 'है' नाम परमात्माका ही है; क्योंकि 'है' एक ही हो सकता है। वह परमात्मा हमारा है। जैसे पुत्र माता-पिताको, पत्नी पतिको स्वीकार कर लेते हैं, ऐसे ही परमात्माको स्वीकार कर लें।

परमात्माको 'है' माननेपर संसारका 'नहीं'-पना सिद्ध हो जाता है। आत्माको 'है' माननेपर शरीरका 'नहीं'-पना सिद्ध हो जाता है। मनमें संसारकी सत्ता मान रखी है—यही बाधा है! इसमें कारण है—सुखकी आशा, कामना और भोग।

'नहीं' को 'है' माननेसे जो वास्तवमें 'है', वह लुप्त हो गया। केवल स्वीकार करनेसे उस परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु 'नहीं' को नहीं माने बिना 'है' को मान सकोगे नहीं। सूर्य और अमावस्या एक साथ नहीं रह सकते।

××× ××× ××× ×××

जब मनुष्य परमात्माके सम्मुख होता है, तब उसमें सब सद्गुण आ जाते हैं और संसारके सम्मुख होता है, तब सब

दुर्गुण आ जाते हैं। परमात्माके सम्मुख होते ही जन्म-मरण सब मिट जाते हैं।

संसारमें रहते हुए मनुष्य संसारकी बातें भी सीख सकता है और परमात्माकी बातें भी, पर संसारको भी नहीं जान सकता और परमात्माको भी। संसारको जाननेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और परमात्माको जाननेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारका दु:ख और सुख—दोनों ही दु:ख हैं—**'दु:खमेव सर्वं विवेकिन:'** (योगदर्शन २। १५)। दोनों ही दादकी बीमारीकी तरह हैं। दादमें खुजली करनेसे जो सुख मिलता है, वह भी रोग ही है।

जबतक मनुष्य संसारसे सुख लेता रहता है, तबतक वह संसारमें ही है, चाहे वह साधु, गृहस्थ आदि कोई क्यों न हो! जबतक संसार प्रिय, अच्छा लगता है, तबतक वह संसारमें ही फँसा हुआ है, चाहे साधु क्यों न हो! यदि संसारमें मन ललचाता है, मान-बड़ाई अच्छी लगती है तो संसार जीत गया, आप हार गये! संसारमें फँसा हुआ मनुष्य परमात्माके सुखको नहीं जान सकता।

यदि परमात्मामें लगन लग जाय तो वह सुख मिल जायगा, जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी नहीं मिलता।

यदि आप दु:ख नहीं चाहते हो तो संसारका सुख मत भोगो।

न संसारके मोहमें फँसो, न शास्त्रोंके मोहमें फँसो, फिर सुगमतासे तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

अपने लिये कुछ भी करना फँसना है! जप, तप, ध्यान आदि भी अपने लिये नहीं करने हैं।

बालक मैला हो तो भी माँकी गोदमें चला जाता है। तब माँ गोदमें लेनेके लिये उसे स्नान कराती है, पर बालक स्नान करते समय मूर्खतासे रोता है। ऐसे ही संसारकी आसक्ति मैल है, जिसे उतारकर भगवान् अपनी गोदमें लेते हैं।

××× ××× ××× ×××

हर समय यह जागृति रहनी चाहिये कि हम यहाँके रहनेवाले नहीं हैं। इसे याद नहीं करना है, प्रत्युत इसकी जागृति रखनी है, इसे स्वीकार करना है। जैसे यह जागृति रहती है कि हम यहाँ पण्डालमें सत्संगके लिये आये हैं और फिर यहाँसे जाना है, ऐसे ही यह जागृति रहे कि हम संसारमें आये हैं और फिर यहाँसे जाना है। यह आवश्यक नियम है। यह यहाँकी रिवाज है। भगवान् भी अवतार लेते हैं तो इस रिवाजको मिटाते नहीं, आते हैं और चले जाते हैं।

मनुष्य संसारमें जितना स्थायी निवास मानता है, उतना ही उससे अन्याय होता है। यह मृत्युलोक है। इसमें मरने-ही-मरनेवाले बैठे हैं। हमें यहाँसे जाना है—यह जागृति रहेगी तो फिर अन्याय नहीं होगा।

परमात्मतत्त्वको प्राप्त करके आप दुनियाका जो उपकार कर सकते हैं, उतना लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके भी नहीं कर सकते। भगवद्भजन करनेवालेके द्वारा दुनियाका स्वतः उपकार होता है। भगवान् कहते हैं—

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५।६१)

'चाहे मेरे मायिक गुणोंसे अतीत निर्गुण-स्वरूपका चित्तसे उपासना करनेवाला हो अथवा मेरे सगुण-स्वरूपकी सेवा-अर्चना करनेवाला हो, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है। वह सूर्यकी तरह विचरण करता हुआ अपनी चरण-रजके स्पर्शसे तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।'

××× ××× ××× ×××

जैसा है, वैसा जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। उलटे ज्ञानका नाम 'अज्ञान' है। ज्ञानके अभावका नाम 'अज्ञान' नहीं है। यदि ऐसा होता तो भगवान् यह नहीं कहते—'**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**' (गीता ५। १५) 'अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है।' अतः उलटे ज्ञानका नाम ही 'अज्ञान' है, जो सुलटा होनेपर मिट जाता है। शरीर 'मैं' और 'मेरा' है—यह उलटा ज्ञान है।

शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन)-का त्याग होनेपर शान्ति मिल जाती है; क्योंकि यथार्थ बात हो गयी। जबतक अहंता-ममताका त्याग नहीं हुआ, तबतक वास्तविक त्याग नहीं हुआ। ऐसा मान लें कि 'मैं' भी भगवान्का हूँ और 'मेरा' सब कुछ भी भगवान्का है।

जो नहीं है, उसे ही मिटाना है। जो है, उसे ही प्राप्त करना है। मिले हुएको अपना मत मानो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। वस्तुको मैं-मेरा माननेसे ही मलिनता आती है। भगवान्के अर्पित करते ही वस्तु पवित्र हो जाती है।

त्याग उसीका करना है, जो आपका नहीं है। वस्तु 'अपने लिये' भी नहीं है, अन्यथा और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती। हमारी वस्तु हमें मिल जाय तो फिर कुछ पाना बाकी नहीं रहेगा, सदाके लिये भूख मिट जायगी, सन्तोष मिल जायगा। भगवान्को अपना नहीं मानते, इसीलिये दुःख पा रहे हैं।

छोड़नेमें मौज है, छूटनेमें मौत! शरीरमें मैं-मेराका त्याग करना ही उसे छोड़ना है। मौत आनेपर शरीर छोड़ते नहीं, प्रत्युत छूट जाता है। छोड़नेसे मुक्ति होती है, छूटनेसे नहीं।

××× ××× ××× ×××

अब झूठ, कपट, पापका समय आ रहा है। इससे बचना चाहिये। जैसे शीतकाल आनेपर उससे बचनेका प्रयत्न करते हैं, ऐसे ही वर्तमान समयसे बचो। समयके अनुसार मत चलो, प्रत्युत समयसे अपना बचाव करो।

भगवान्ने कहा है—'**परित्राणाय साधूनां०**' (गीता ४।८) अर्थात् मैं साधुओंकी रक्षा करनेके लिये अवतार लेता हूँ। साधुओंके भजनमें जो बाधा आती है, उस बाधाको दूर करना ही उनकी रक्षा है; क्योंकि साधु भजन चाहते हैं, धन-सम्पत्ति आदि नहीं चाहते।

सत्संग करनेसे उन निषिद्ध बातोंसे भी अरुचि हो जाती है, जिनका निषेध सत्संगमें नहीं किया गया। सभी व्यसनोंसे स्वतः अरुचि हो जाती है।

संसारकी बुराई छोड़नेसे ही वह बुराई-रूपसे दीखती है।

××× ××× ××× ×××

वस्तुकी महिमा नहीं है, भावकी महिमा है। भाव हो तो पुस्तकें पड़ी-पड़ी भी लाभ करती हैं।

भगवान्में अपनापन करना असली भक्ति प्राप्त करनेका उपाय है। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इसे मनुष्यके सिवाय और कौन कह सकता है? अपनेको भगवान्का मान लो तो आप ठीक ठिकाने आ गये। भगवान्को अपना नहीं मानोगे तो कइयोंका दास बनना पड़ेगा और परिणाममें नरकोंमें जाना पड़ेगा!

××× ××× ××× ×××

संसारमें हम सब आये हैं, रहनेवाले नहीं हैं। यहाँकी कोई

चीज 'मैं', 'मेरी' और 'मेरे लिये' नहीं है। अन्न, जल, कपड़ा, मकान, कार्य करना, सोना—इनको भी केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये स्वीकार करना है, अपने सुखके लिये नहीं। अकेले, बिना संगठनके आप कोई भी काम नहीं कर सकते। यह शरीर आपका नहीं है, दूसरोंका है। शरीरको अपना मान लिया तो यह मूलमें भूल हो गयी, अब आगेका सब हिसाब (गणित) रद्दी हो जायगा। जोड़के आरम्भमें एक अंककी भी भूल कर दी तो आगेका जोड़ कितना ही सही लगा लो, सब-का-सब रद्दी हो जायगा।

हमें किसीसे कुछ लेना है ही नहीं। जीवन-निर्वाह भी केवल दूसरोंकी सेवाके लिये होना चाहिये। मनुष्य सबके लिये है। सब मनुष्यके लिये हैं—यह मूल भूल है।

जाति जन्मसे मानी जाती है, कर्मसे नहीं। यदि कर्मसे जाति मानें तो क्या कोई मेहतर बनना चाहेगा? सभी मनुष्य ब्राह्मण बनना चाहेंगे। जो ऊँचा बनना चाहता है, वह वास्तवमें नीचा है—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जातिके अभिमानसे, डूबे सभी कुलीन॥

जो ऊँचा बनना चाहते हैं, वे केवल अपना अहंकार बढ़ाना चाहते हैं।

××× ××× ××× ×××

गुरु वह है, जो दूसरोंको भी गुरु बना दे। समर्थ वह है, जो असमर्थको भी समर्थ बना दे।

श्रोता—हनुमान्‌जीको इष्ट मानें तो उनके साथ क्या सम्बन्ध मानें?

स्वामीजी—उनको अपना गुरु मानो। हनुमान्‌जीने विभीषणको भगवान्‌पर विश्वास करा दिया। जो भगवान्‌पर विश्वास करा दे, वह गुरु होता है।

श्रोता—अनजानमें गर्भपात करा लिया हो तो क्या प्रायश्चित्त करें?

स्वामीजी—प्रतिदिन सवा लाख नाम-जप करें। भगवन्नाममें सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेकी शक्ति है।

××× ××× ××× ×××

सच्चे सन्त धनवानोंके पीछे नहीं फिरते, प्रत्युत धनवान् उनके पीछे फिरते हैं।

मनुष्यको सदा अच्छे-से-अच्छे काममें लगे रहना चाहिये, चाहे वह सिद्ध हो या न हो—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (गीता २।४८)। भगवान् सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरवोंके पास गये, पर उनका कार्य सिद्ध नहीं हुआ। कार्य सिद्ध न होनेपर भी उन्हें अठारह अक्षौहिणी सेनाकी रक्षा करनेका पुण्य प्राप्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥

(महा० उद्योग० ९३।६)

'मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें मुझे सन्देह नहीं है।'

××× ××× ××× ×××

दहेज माँगनेवाले कन्याके गर्भपातरूपी महान् पापके भागी होंगे; क्योंकि दहेज-प्रथाके कारण लोग कन्याका गर्भपात करा देते हैं—कन्या-भ्रूणकी हत्या कर देते हैं।

निर्वाहकी चीजें महँगी हो गयीं, पैदा (आमदनी) कम

हो गयी और शौकीनी बढ़ गयी—ये तीन आफतें वर्तमानमें आयी हैं। स्वाद-शौकीनी महान् पतन करनेवाली चीज है।

प्रत्येक समाजमें देनेवाले (त्यागी) की महिमा होती है, लेनेवालेकी नहीं।

समाज-सुधारका मूल मन्त्र है—सन्तोष।

××× ××× ××× ×××

एक बात सन्त-महात्मा कहते हैं और एक बात संसारमें उलझे आदमी कहते हैं—दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है। जो नियम, कानून बनाते हैं, वे किस दृष्टिसे कहते हैं—यह विचार करना चाहिये। जीवका कल्याण कैसे होगा? वह सदाके लिये सुखी कैसे होगा? यह बात सामने रखनी चाहिये। सांसारिक सुख भोगना मानव-जीवनका उद्देश्य नहीं है। अपने सुखकी बुद्धि पशुबुद्धिसे भी नीची राक्षस-बुद्धि है। हिरण्यकशिपुका ध्येय था कि मैं मरूँ नहीं, सुख भोगता रहूँ। यह ध्येय राक्षसोंका है, मनुष्योंका नहीं।

धर्मका पालन करनेवाले मनुष्य वास्तवमें दुःखी नहीं होते और भोगी मनुष्य सुखी नहीं होते। भोग और संग्रहकी इच्छावाले मनुष्य पतनमें जा रहे हैं। आजकल हरेक बात सुखभोगको दृष्टिमें रखकर कही जाती है—यह दृष्टि राक्षसोंकी है। सुखभोगकी दृष्टिसे ही परिवार-नियोजन, विधवा-विवाह आदिकी बात कही जाती है।

गीध बहुत ऊँचा उड़ता है, उसकी दृष्टि बड़ी तेज होती है, पर जमीनपर सड़ा-गला मांस देखते ही उसकी उड़ान बन्द हो जाती है और वह वहीं गिर जाता है! ऐसे ही लोग शास्त्रोंकी बातें जानते हैं, व्याख्यानमें बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, पर कनक-कामिनी (रुपये और स्त्री) देखते ही वहीं गिर जाते हैं!

××× ××× ××× ×××

आकाशका सम्बन्ध सबके साथ है। चाहे जहाँ जाओ, आकाशसे कभी वियोग नहीं होता। वह आकाश भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। परन्तु आकाशकी तरह सर्वव्यापी परमात्मा नित्य रहनेवाले हैं। हमारा उनके साथ नित्य-सम्बन्ध है। गीताके तेरहवें अध्यायका खास श्लोक है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३।१५)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।'

सीखी हुई बात याद नहीं रहती और जानी हुई बात मिटती नहीं। 'मैं हूँ'—यह जानी हुई बात है। हम सबको भूल सकते हैं, पर अपनेको कभी भूल नहीं सकते। अपने होनेपनमें शंका भी नहीं होती कि मैं हूँ या नहीं हूँ। इस अपने होनेपनकी परमात्माके साथ एकता है।

××× ××× ××× ×××

मुझमें और आपमें कोई फर्क नहीं है। आप सुनते हैं, इसलिये नीचे बैठ गये। मैं बोलता हूँ, इसलिये ऊँचे बैठ गया। यह मर्यादा है। आप और हम सबका शरीर-संसारसे निरन्तर वियोग है और परमात्मासे निरन्तर योग है।

जो एक दिन आपसे बिछुड़ जायँगे, उनकी सेवा, आदर-सत्कार करो—

समय पधारे कूबजी, साध पावणा मेह।
अनआदर कीजै नहीं, कीजै घणो सनेह॥

गुरु शिष्यके लिये होता है, शिष्य गुरुके लिये नहीं। राजा प्रजाके लिये होता है, प्रजा राजाके लिये नहीं। धनवान् गरीबोंके लिये है; क्योंकि गरीब ही दूसरेको धनवान् बनाते हैं। धनवान् तो दूसरोंको गरीब बनाते हैं।

जो कुछ चाहता है, वह छोटा हो जाता है और देनेवाला बड़ा हो जाता है। लेनेके लिये छोटा बनना ही पड़ेगा। भगवान् भी लेनेके कारण 'वामन' बन गये!

श्रोताके बिना कोई वक्ता नहीं बन सकता। रोगीके बिना कोई डॉक्टर नहीं बन सकता। निर्धनके बिना कोई धनवान् नहीं बन सकता।

एकने व्रत किया और एकको अन्न नहीं मिला—दोनोंमें फर्क है। व्रत रखनेवाला प्रसन्न रहता है और जिसे अन्न नहीं मिला, वह हाय-हाय करता है! त्यागसे शान्ति मिलती है, वियोगसे रोना पड़ता है!

पचपन-साठ वर्ष पहलेकी बात है। एकने मेरेसे कम्बल माँगा, पर मैंने दिया नहीं तो वह भूल अबतक मेरेको खटकती है। आप ऐसी भूल न कर बैठें। सावधान रहें, मिले अवसरका सदुपयोग करें।

जैसे यात्रा करते समय हम ट्रेनको 'हमारी ट्रेन' कहते हैं, पर यात्राके बाद क्या यह सोचते हैं कि हमारी ट्रेन कैसी है? कहाँ है? आदि। ऐसे ही ये सब वस्तुएँ काममें लेनेके लिये हमारी हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं।

××× ××× ××× ×××

संसारकी महत्ता ही हमारा पतन कर रही है। जो एक क्षण भी ठहरता नहीं, उसकी महत्ता कैसे? संसार सदा अप्राप्त है। वह आजतक किसीको मिला नहीं, मिल सकता नहीं। जो एक क्षण भी

टिकता नहीं, वह मिलेगा कैसे? संसारका अभाव ही नित्य है। मनुष्य रोता है कि धन चला गया, स्त्री चली गयी, बेटा चला गया, पर वह खुद भी चला जायगा, टिकेगा कोई नहीं।

××× ××× ××× ×××

आज्ञा-पालनके समान और कोई सेवा नहीं है—***'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'*** (मानस, अयोध्या० ३०१।२)। 'यह सिद्धान्त है'—ऐसा कहना संतकी एक नम्बरकी आज्ञा है। ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये—ऐसा कहना दो नम्बरकी आज्ञा है। ऐसा करो, ऐसा मत करो—ऐसा कहना तीन नम्बरकी आज्ञा है। सन्तके सिद्धान्तके अनुसार अपना जीवन बना लेना चाहिये।

बोलना श्रोताओंकी दृष्टिसे ही होता है। श्रोता जिस श्रेणीका हो, उसी श्रेणीमें सन्त-महात्मा बोलते हैं।

वेदोंमें भूल हो सकती है, पर श्रेष्ठ पुरुषोंमें भूल नहीं हो सकती। सन्तके वचनोंसे भी लाभ होता है, पर वचनोंके पीछे उनकी कृपा हो तो विशेष लाभ होता है।

नम्र होनेसे ही वस्तु मिलती है। लेनेवालेको छोटा होना ही पड़ता है।

आज्ञा-पालनसे सब प्रकारका लाभ होता है। आज्ञा देनेवाले (बड़े)-पर भार रहता है। सर्वथा दूधके आश्रित दूधमुँहे बच्चेको दवा नहीं लेनी पड़ती, माँको लेनी पड़ती है। ऐसे ही शिष्य गुरुके सर्वथा शरण हो जाय तो उद्धार गुरुको करना पड़ता है।

शरणागतके मनमें स्वतः तत्त्वकी बात पैदा हो जाती है। एकलव्यने शरणागत होकर मूर्तिसे शिक्षा ली, पर वह अर्जुनसे भी तेज हो गया। तात्पर्य है कि हमारी निष्ठा ऊँची होगी

तो उसका फल भगवान् देंगे। पतिव्रतामें भगवान्की कृपासे शक्ति आती है।

××× ××× ××× ×××

अपरा प्रकृति हमारा स्वरूप नहीं है। हम शरीरसे अपनेको घुला-मिला मानते हैं—यह अज्ञान है। जीवकी परमात्माके साथ एकता है, पर वह परमात्मासे अपनेको अलग मानता है, और शरीरकी संसारके साथ एकता है, पर वह शरीरसे अपनी एकता मानता है—यह अज्ञान है।

डेढ़ पुण्य हैं और डेढ़ पाप हैं। भगवान्के सम्मुख होना पूरा पुण्य है और सद्‌गुण-सदाचारोंमें लगना आधा पुण्य है। भगवान्के विमुख होना पूरा पाप है और दुर्गुण-दुराचारोंमें लगना आधा पाप है।

मिली हुई वस्तुसे दूसरेका हित करें, किसीका भी अहित न करें तो शरीरसे अलगावका अनुभव हो जायगा। किसीका बुरा करेंगे नहीं, किसीको बुरा मानेंगे नहीं और किसीका बुरा चाहेंगे नहीं—यह नियम ले लें तो अज्ञान मिट जायगा, और आप अजातशत्रु हो जायँगे।

किसीकी बुराई न करें तो सेवा अपने-आप होगी, करनी नहीं पड़ेगी। अपने-आप होनेवाली सेवाका अभिमान भी नहीं होगा और फलकी इच्छा भी नहीं होगी। संसारकी चीज संसारको दे दें तो स्वतः स्वरूपका बोध हो जायगा।

दूसरेका सुधार नहीं, सेवा करनी है! बुराई उपदेशसे नहीं मिटती, आचरण (सेवा)-से मिटती है।

बादल सूर्यसे ही पैदा होता है, सूर्यके ही आश्रित रहता है, सूर्यको ही ढकता है और सूर्यसे ही मिट जाता है। ऐसे

ही अज्ञान ज्ञानसे ही पैदा होता है, ज्ञानके ही आश्रित रहता है, ज्ञानको ही ढकता है और ज्ञानसे ही मिट जाता है।

श्रोता—अज्ञान ज्ञानके आश्रित कैसे रहता है?

स्वामीजी—यह अज्ञान है—ऐसा हम जानते हैं तो अज्ञान ज्ञानके आश्रित ही हुआ।

हमारा अवगुण ही संसारमें दीखता है—

सब जग ईस्वर-रूप है भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना तैसो ही फल होय॥

दूसरेमें बुराई दीखती है तो वह आगन्तुक है। वह स्वयं बुरा नहीं है। दूसरेको बुरा समझकर उसे रोकोगे तो उसकी बुराई नहीं छूटेगी, उलटे वह लड़ाई करेगा। कोई आदमी बैलोंको मार रहा है तो दया बैलोंपर न आकर उस आदमीपर आनी चाहिये; क्योंकि वह नया पाप कर रहा है। बैल तो अपने पुराने कर्मोंका फल भोगकर शुद्ध हो रहे हैं।

××× ××× ××× ×××

अनुकूलता-प्रतिकूलता ही संसार है। इसमें सुख-दुःख अपना बनाया हुआ है। संसारकी रचना भगवान्‌ने प्राणिमात्रके हितके लिये की है। वे अकारण कृपा करनेवाले हैं। उनका विधान हमारे हितके लिये होता है। अतः अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों ही हमारे हितके लिये हैं।

साधकका खास काम है—सावधान रहना। सावधान रहनेका तात्पर्य है—किसीसे कुछ न चाहना। किसीसे कुछ चाहनेके समान कोई पीड़ा नहीं। एक सन्तकी बात सुनी कि मैं चोटकी पीड़ा तो सह लूँगा, पर मरहम-पट्टीके लिये किसीसे कहूँ—यह पीड़ा नहीं सह सकता!

श्रोता—क्या साधुको भिक्षा नहीं माँगनी चाहिये?

स्वामीजी—साधु भिक्षा माँगते नहीं हैं। जो कहते हैं कि साधु भिक्षा (रोटी) माँगते हैं, वे साधुको जानते ही नहीं। साधु भिक्षाके लिये जाते हैं तो कहते हैं कि 'बस्ती जगाने जाते हैं'। श्रीशरणानन्दजी महाराज कहते थे कि हम तुम्हें देना सिखानेके लिये आये हैं।

युधिष्ठिरका कीर्तन करनेसे धर्म बढ़ता है—'**धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन**' (पाण्डवगीता २)। परन्तु उनमें जूआ खेलनेका व्यसन था। जैसे बच्चेके मुखपर एक काली बिंदी लगाते हैं कि नजर न लग जाय, ऐसे ही सन्तोंमें भी एक-न-एक काला टीका होता है!

××× ××× ××× ×××

ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है। अज्ञान नाम है विपरीत ज्ञान अथवा अधूरे ज्ञानका। 'मैं हूँ'—यह ज्ञान अभ्रान्त है, पर 'मैं शरीर हूँ'—यह विपरीत ज्ञान है। ज्यों-ज्यों सत्संग करोगे, त्यों-त्यों विपरीत ज्ञान हटता जायगा। शरीर मेरे एक देशमें है—यह ज्ञान है। शरीरको अपना मानना केवल दुःख भोगनेके लिये है।

शरीर हम नहीं, हमारा नहीं, हमारे लिये नहीं। यदि शरीर हमारे लिये होता तो फिर और पानेकी इच्छा मिट जाती। यदि यह हमारा होता तो इसपर हमारा आधिपत्य चलता। शरीर हमारा ही नहीं तो हम कैसे हुआ? इसे चाहे संसारको सौंप दो, चाहे प्रकृतिको सौंप दो, चाहे भगवान्‌को सौंप दो। भगवान् मालिक हैं, प्रकृति कारण है, संसार कार्य है। संसारको सौंपना 'कर्मयोग' है, प्रकृतिको सौंपना 'ज्ञानयोग' है और भगवान्‌को सौंपना 'भक्तियोग' है।

××× ××× ××× ×××

अपना स्वरूप सत्ता है। यह सत्ता सर्वव्यापी है. शरीरमें

सीमित नहीं है। सत्ता नित्य है, शरीर अनित्य है। सत्ता पहले है, शरीर पीछे है। अत: 'शरीर है'—ऐसा न मानकर 'है शरीर'—ऐसा मानना चाहिये। सत्ता ज्ञानस्वरूप है।

'अहम्' भी ज्ञानके अन्तर्गत है; क्योंकि वह जाननेमें आता है। ज्ञान करणनिरपेक्ष है। एक ही ज्ञानमें सब दीखते हैं। नफा-नुकसानमें फर्क है, पर उन दोनोंके ज्ञानमें कोई फर्क नहीं है। जैसे दृश्यमें फर्क होनेसे आँखमें फर्क नहीं पड़ता, ऐसे ही संसारमें फर्क होनेसे उसके ज्ञानमें फर्क नहीं पड़ता।

आप बुद्धिसे अलग और बुद्धिसे बड़े हैं; क्योंकि आप बुद्धि नहीं हैं और बुद्धिके भी नहीं हैं। बुद्धि आपकी है।

मनुष्यकी महिमा मनुष्यतासे है। मनुष्यता है—सबको सुख पहुँचाना और भगवान्‌को याद करना। ये दोनों काम मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं। मैं ले लूँ—यह राक्षसपना है, मनुष्यपना नहीं। सबको सुखी करना हाथकी बात नहीं है, पर नीयत सुख देनेकी होनी चाहिये।

अपने शरीरको सुख देनेसे राक्षसपना आ जायगा। अपने शरीरकी भी सेवा करनी है। उसको उतना देना है, जिससे वह सेवा करनेयोग्य बना रहे। स्वाद-शौकीनी नहीं करनी है। शरीरका निर्वाहमात्र करना है। उसे भोगोंमें नहीं लगाना है। सेवा करते-करते सेवकपनेका भाव भी न रहे।

अपना स्वभाव 'देने' का बनाना है, 'लेने' का नहीं। शरीरका निर्वाहमात्र करना भी उसे 'देना' है। दाता दानमें और दान देयमें बदल जाय।

स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेपर ही मनुष्य साधक होता है।

××× ××× ××× ×××

संसार अध्यस्त (असत्य) हो चाहे न हो, पर संसारके साथ हमारा सम्बन्ध अवश्य अध्यस्त है। यह सम्बन्ध टूटेगा स्वयंकी स्वीकृतिसे, सीखनेसे नहीं। संसारके साथ सम्बन्ध झूठा है—यह बहुत मार्मिक बात है।

जैसे उबला या भूना हुआ बीज खानेके काम तो आता है, पर अंकुर नहीं देता, ऐसे ही ज्ञान होनेपर अन्तःकरण विशेष प्रकाश तो देता है, पर पुनः जन्म-मरण नहीं देता। ज्ञान होनेपर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तो रहते हैं, पर सम्बन्ध नहीं रहता। असली बात है—सम्बन्ध-विच्छेद, मैं-मेरापन मिटना। मैं-मेरापन मिटनेका नाम ही 'मुक्ति' है।

आजकल अनुभव करनेकी प्रवृत्ति कम हो रही है, सीखनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

अहम्‌के साथ जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, उतना ही मान-अपमानका असर पड़ेगा।

सांसारिक सुखका भी दुःख हो और दुःखका भी दुःख हो तो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है। केवल उधर दृष्टि डालनेकी जरूरत है। कारण कि वह सब देश-कालादिमें परिपूर्ण है। उसकी प्राप्तिमें भाव और विश्वास मुख्य हैं। जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि भगवान् कहाँ हैं? तो प्रह्लादजी बोले कि भगवान् कहाँ नहीं हैं? केवल विश्वास कर लो कि भगवान् सब जगह परिपूर्ण हैं। भक्तिमें विश्वास मुख्य है और ज्ञानमें विवेक।

भगवान् कण-कणमें ठोस परिपूर्ण हैं। कोई जगह उनके बिना खाली नहीं है। जैसे नट पृथ्वीसे अलग होकर नाच नहीं

सकता, ऐसे भगवान्‌से अलग आप कुछ नहीं कर सकते। भगवान्‌को छोड़कर जाओगे कहाँ?

××× ××× ××× ×××

सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है और भगवान्‌की प्राप्तिमें भाव तथा विवेककी मुख्यता है। परन्तु क्रिया तथा पदार्थसे हम तभी ऊँचे उठेंगे, जब उन्हें भगवान्‌में लगायेंगे, उनका सदुपयोग करेंगे। सदुपयोग-दुरुपयोग खास चीज है। भगवान्‌ने खेलनेके लिये जीवोंकी रचना की; क्योंकि **'एकाकी न रमते'**, पर खेलका दुरुपयोग करके जीव संसारमें बँध गया। अब सदुपयोगसे ही मुक्ति होगी। सदुपयोगसे कल्याण है, दुरुपयोगसे बन्धन है।

सृष्टिमें अनेकता है, पर परमात्मामें अनेकता नहीं है। मान्यताएँ अलग-अलग होनेपर भी विकाररहित होना सबमें एक है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दूधर्मकी विशेषता है।

××× ××× ××× ×××

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुकी सत्ता और महत्ता ही बाधक है। 'नहीं' को महत्ता देनेसे 'है' कैसे दीखेगा? विचार करें, जब पहलेवाली अवस्था नहीं रही तो फिर अभीकी अवस्था कैसे रहेगी? इस ज्ञानका आदर करें। जानते हैं कि नहीं रहेगा, फिर उसको चाहना मूर्खता है। जब यह अवस्था नहीं रहेगी, फिर इसमें बँधे क्यों रहें? इससे ऊँचा उठना चाहिये। जो रहेगा नहीं, उसके भरोसे कैसे बैठे हो? यह शरीर, अवस्था, मान-आदर, धन, कुटुम्ब आदि नहीं रहेंगे—यह पक्की बात है, सबके अनुभवकी बात है, केवल शास्त्रोंमें लिखी बात नहीं।

'नहीं' रहनेवालेका ज्ञान 'है' को ही होता है। 'नहीं' से ऊँचे उठनेपर ही 'है' में प्रियता होगी।

बिना आधारके 'मैं'-पन टिक नहीं सकता। अत: विचार करें कि यह किसपर टिका हुआ है? 'मैं जीता रहूँ'—इसपर मैं-पन टिका हुआ है।

जब असत्‌में महत्त्वबुद्धि है, तो फिर सत्‌में आकर्षण कैसे हो?

शरीर छूटनेका भय क्यों होता है? 'है' तो कभी मिटेगा नहीं, फिर डर किस बातका है? 'है' आपका स्वरूप है।

विचार करें, जीनेकी आशा रखनेसे क्या लाभ है और छोड़नेसे क्या हानि है?

विचार करें, अभी प्राण चले जायँ तो हमारा कौन साथी है? कौन सहारा है?

××× ××× ××× ×××

संसारपर विश्वास करना जड़ता है। परमात्मापर विश्वास करना चेतनता है। लेनेकी इच्छा जड़ता है। देनेकी इच्छा चेतनता है। देनेकी इच्छा होनेसे जड़ता दूर हो जायगी, चिन्मयता रह जायगी। लेनेकी मुख्यता न होकर देनेकी मुख्यता होनेपर मनुष्य साधक हो जाता है।

शरीरको भोगोंमें न लगाकर सेवामें लगाना स्थूलशरीरकी सेवा है। सबके हितका चिन्तन करना, भगवान्‌का चिन्तन करना सूक्ष्मशरीरकी सेवा है। दूसरोंके हितके लिये स्थिरता, समाधि होना कारणशरीरकी सेवा है। सब कुछ दूसरोंकी सेवामें लगानेसे चिन्मयता शेष रह जायगी।

ज्यादा पुण्य करनेके लिये ज्यादा धन चाहना गलती है। कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा कीचड़ न लगाना ही बढ़िया है। दान-पुण्य करना एक टैक्स है, जो धनी लोगोंपर ही लागू होता है। टैक्स देनेके लिये धन कौन चाहता है?

सबके सुखकी इच्छा बहुत बड़ा दान है। निर्धनता धन आनेसे नहीं मिटती, प्रत्युत धनकी इच्छा छोड़नेसे मिटती है।

सेवासे जड़ता मिटती है और चिन्मयता आती है।

××× ××× ××× ×××

सृष्टिकी दृष्टिसे देखें तो सब मनुकी सन्तान होनेसे 'मानव' हैं। पंचमहाभूतोंकी, शरीरकी, आत्माकी, परमात्माकी दृष्टिसे देखें तो सब एक हैं। इस एकतामें भी अनेकता है। सब एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। एकता माननेसे राग-द्वेष नहीं होंगे; क्योंकि अपनेसे कोई द्वेष नहीं करता, कोई अपना बुरा नहीं चाहता। जैसे शरीर एक है तो हम किसी भी अंगकी पीड़ा नहीं चाहते। सब अंगोंका आराम चाहते हैं। ऐसे ही संसारमें सबको सुख पहुँचाना है, किसीको भी दुःख नहीं पहुँचाना है। यह भारतीय संस्कृतिकी एकता है।

यदि दूसरेके हितका भाव नहीं होगा तो परस्पर एकता कभी नहीं होगी। सब संसार अपना है, पराया नहीं। कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है—इस भावसे सभी सुखी हो जायँगे। इसको अपने घरसे ही शुरू करो। आपके आचरणका दूसरोंपर बड़ा असर पड़ेगा। आचरण न करके केवल उपदेश देना पटाखेवाली बन्दूकके समान है, जो आवाज तो करती है, पर मार नहीं सकती।

एकमें अनेक और अनेकमें एक है। अन्तमें तत्त्व एक ही है। एक ही परमात्मा अनेक रूपसे हैं। अनेक होते हुए भी एकता नहीं मिटती। समुद्रमें बर्फके अनेक टुकड़े डाल दें तो तत्त्वसे एक जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसा भाव हो जायगा तो फिर मन कहीं भी जाय, परमात्मामें ही जायगा। मनके द्वारा परमात्माका ही चिन्तन होगा।

प्रकृतिकी साम्यावस्था (एकता)-में प्रलय होता है। परमात्माकी साम्यावस्थामें मुक्ति होती है। प्रकृतिकी एकतामें महान् दुःख है, परमात्माकी एकतामें महान् आनन्द है। एकता भावसे होनी चाहिये, बाहर (व्यवहार)-से नहीं।

××× ××× ××× ×××

संसारकी जितनी जानकारी (साक्षरता) बढ़ेगी, उतने राग-द्वेष, अशान्ति, संघर्ष बढ़ेंगे। संसारकी जानकारी कामकी नहीं है। उससे ज्यादा आफत होगी। भगवान्की जानकारी बढ़ेगी तो शान्ति होगी।

हरदम सावधान रहो; क्योंकि मानवशरीरका लाभ सावधान रहकर ही ले सकते हैं। मरना अवश्यम्भावी है और अन्तकालीन संसारका चिन्तन पुनर्जन्ममें कारण है। अतः हरदम सावधान रहें, भजन व भगवच्चिन्तन होता रहे तो फिर जोखिम नहीं है। मनुष्यशरीर अभी हाथमें है। अपना कल्याण करनेमें हम स्वतन्त्र हैं। मनुष्यमें मनुष्यता है—सबका हित कैसे हो और अपना कल्याण कैसे हो? अपना कल्याण करनेसे सबका हित हो जाता है और सबका हित होनेसे अपना हित हो जाता है। जो योग्यता, पद, अधिकार आदि मिला है, उससे दूसरोंकी सेवा करें। मनुष्यशरीर साधनयोनि है। अपने उद्धारका मौका मनुष्यजीवनमें ही है।

सेवा करना मनुष्यका खास काम है। अन्य योनियाँ सेवा नहीं कर सकतीं, उनसे सेवा होती है। देवतालोग केवल ड्यूटी बजाते हैं।

भोग और संग्रहकी कामनासे ही सब पाप होते हैं। मनुष्य-जन्ममें किये हुए पाप ही चौरासी लाख योनियोंमें भोगे जाते हैं।

××× ××× ××× ×××

साधकके लिये सुखेच्छा बहुत बाधक है। बड़े-बड़े भयंकर पाप सुखेच्छासे ही होते हैं। सुखकी इच्छा ही माया है, बन्धन है। सांसारिक सुख पारमार्थिक मार्गमें खास बाधा है।

भाग्यमें जितना लिखा है, उतना ही आयेगा। लोटेको चाहे समुद्रमें एक मील नीचे डुबो दो, पर बाहर निकलेगा तो पानी उतना ही रहेगा।

इच्छासे दुःख-ही-दुःख होगा। एकादशीव्रतमें एकने अन्न नहीं लिया और एकको अन्न नहीं मिला। जिसने अन्न नहीं लिया, उसे तो सुख मिलता है, पर जिसे अन्न नहीं मिला, उसे अन्नकी इच्छासे दुःख मिलता है।

इच्छामात्रसे सांसारिक वस्तु नहीं मिलती, पर परमात्मा मिलते हैं।

××× ××× ××× ×××

हमारी सृष्टि अहम्‌से ही रची हुई है। अहम् (मैं) मिट जायगा तो हमारे लिये संसार मिट जायगा। जबतक अहंकार है, तबतक संसार है। अहंकारके कारण ही मनुष्य अपनेको एकदेशीय देखता है, अन्यथा वह सर्वव्यापी है— **'नित्यः सर्वगतः'** (गीता २।२४)।

आँख इतनी बड़ी है कि उससे कितना ही देख लें, वह कभी भरती नहीं। आँखसे भी मन बड़ा है, मनसे बुद्धि बड़ी है, बुद्धिसे अहम् बड़ा है और अहम्‌से भी आप स्वयं बड़े हैं। आपके एक अंशमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं। आप अहम्‌के आश्रय, आधार, प्रकाशक और अधिष्ठान हैं। आप अहम्‌के आश्रित नहीं हैं। आपके एक देशमें अहम् है। आपकी एकता परमात्मासे है। आप अहम्‌से रहित हैं। गाढ़ नींदमें अहम् नहीं रहता, पर आप रहते हैं। आपके भीतर अनन्त ब्रह्माण्ड हैं।

मुक्ति होती नहीं। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। आप स्वतःमुक्त हैं। संसार स्वतः आपसे अलग है। ज्ञान और प्रेम स्वतः आपमें हैं। जैसे पहेलीका पता चलता है, ऐसे स्मृति जाग्रत् होती है।

××× ××× ××× ×××

शरीर-संसारसे हमारा निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। हमारा काम इतना ही है कि जिससे सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद स्वीकार कर लें। परमात्माके साथ स्वाभाविक सम्बन्धको स्वीकार कर लें। संसारसे हमने सम्बन्ध माना है, इसलिये कहते हैं कि सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध है ही नहीं। हम परमात्मामें हैं, परमात्मा हमारेमें हैं। संसार तो अलग बह रहा है।

शरीरके साथ सम्बन्ध स्वतः नहीं है। केवल हमने व्यसनकी तरह शरीरके सम्बन्धको पकड़ा हुआ है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यके एक तरफ संसार है, एक तरफ परमात्मा हैं। सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा जड़ता है, परमात्माकी इच्छा चिन्मयता है। दोनोंकी इच्छा होनेसे जीव होता है। संसारकी इच्छा मुख्य होनेसे वह संसारी हो जाता है, परमात्माकी इच्छा मुख्य होनेसे वह साधक हो जाता है। साधन करना मनुष्यका काम है, संसार या परमात्माका काम नहीं। साधनका अधिकारी मनुष्य है।

भगवान्‌का चिन्तन, भजन संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये है। संसारके सम्बन्धसे अनेक पाप होते हैं। परमात्माके सम्मुख होनेसे उन्नति-ही-उन्नति होगी, संसारके सम्मुख होनेसे पतन-ही-पतन होगा। शरीर संसारका है, उसे संसारकी सेवामें लगा दें। हम परमात्माके हैं, हम परमात्मामें लग जायँ। संसारसे सम्बन्ध हमने जोड़ा है; अतः इसे तोड़नेकी जिम्मेवारी भी हमारेपर है।

जीव भगवान्‌को भूला है। भगवान् जीवको नहीं भूले हैं। जैसे माँका बालकपर स्वतः स्नेह, अपनापन होता है, ऐसे ही भगवान्‌का जीवपर स्वतः स्नेह, प्यार, अपनापन है।

परमात्माकी तरफ चलनेवालेका सभी साथ देते हैं। जैसे, गंगोत्रीसे गंगाकी छोटी-सी धारा समुद्रकी तरफ चलती है तो सभी नदी, नद, झरने आदि उसमें मिलते जाते हैं। परन्तु पानीकी बड़ी धारा भी खेतोंमें जाती है तो उसका कोई सहायक नहीं होता और वह खेतोंमें ही विलीन हो जाती है। ऐसे ही संसारकी तरफ चलनेवाला संसारमें ही रह जाता है अर्थात् जन्मता-मरता रहता है।

संसारकी चाहना पतनका कारण है, भगवान्‌की चाहना उद्धारका कारण है।

××× ××× ××× ×××

सबका वर्तमान निर्दोष है। दोष आगन्तुक हैं। आगन्तुक दोषोंको अपनेमें न मानें। आप स्वरूपसे निर्दोष हैं। दोषोंको अपनेमें स्थापन न करें। दोषोंका ज्ञान दोषोंको होता है या निर्दोषको? काला टीका सफेदमें दीखता है, न कि कालेमें। दोष अनित्य हैं। निर्दोषता नित्य है। जबतक आप दोषोंको सत्ता और महत्ता देंगे, तबतक वे आयेंगे। दोष विद्यमान नहीं हैं— **'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)। निर्दोषता आपका स्वरूप है— ***'चेतन अमल सहज सुख रासी'।***

मेरेमें दोष हैं—इस भावनासे अपनेमें दोष आते हैं। मैं निर्दोष हूँ—यह अनुभव है, भावना नहीं।

अपनी निर्दोषताका ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है।

××× ××× ××× ×××

तत्त्वको जाननेवालेका अनुभव ही वास्तविक होता है।

तत्त्वको जाननेवाले दो हैं—भगवान् और उनके भक्त। दोनोंकी ही दृष्टिमें संसार नहीं है, केवल परमात्मा ही हैं। संसार जीवकी दृष्टिमें है।

संसारकी सत्ता मानकर साधन करनेसे संसारकी सत्ता दूरतक साथ रहती है। अतः पहलेसे ही सन्तोंकी बात मान लें कि सब कुछ परमात्मा ही हैं। हमें अनुभव हो चाहे न हो, हैं तो सब परमात्मा ही।

संसारको सत्य मानकर उससे सम्बन्ध रखते हुए कितना ही साधन करो, वर्तमानमें सिद्धि नहीं मिलेगी।

गुण हर समय रहता है, पर दोष आता-जाता है। दोषके समयमें भी गुण है। गुण ही दोषको सत्ता देता है।

××× ××× ××× ×××

निषेधात्मक साधनमें न परिश्रम होता है, न खर्च। अतः किसीका भी अहित न करना सुगम है। परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध है। केवल आवरणका निषेध करना है। निषिद्धका त्याग करनेपर विहित स्वतःस्वाभाविक होता है। पारमार्थिक मार्गमें न करनेयोग्य कार्य न करनेसे सिद्धि होती है। अन्तमें ज्ञान स्वरूपका नहीं होता, प्रत्युत असत्का ज्ञान होता है।

त्यागसे तत्काल शान्ति होती है। जाने हुए असत्का त्याग कर दें, फिर न जाने हुए असत्का त्याग सुगम हो जायगा। विहित ग्रहण करनेकी अपेक्षा निषिद्धके त्यागकी महिमा ज्यादा है।

××× ××× ××× ×××

एक 'यह' है, एक 'मैं' है और एक 'है' है। 'यह' भौतिक दर्शन है, 'मैं' आध्यात्मिक दर्शन है और 'है' आस्तिक दर्शन है। 'मैं' के दो भाग हैं—'मैं' और 'हूँ'। 'मैं' अपरा है और 'हूँ' परा। 'हूँ' में प्रकृति और परमात्मा दोनोंका अंश है।

उपार्जित वस्तु बड़ी नहीं होती, प्रत्युत उपार्जन करनेवाला बड़ा होता है। धन उपार्जित वस्तु है।

हम 'पर' का जितना संग करते हैं, उतना ही पतनमें जाते हैं, उतने ही पराधीन हो जाते हैं।

धन और भोगकी आसक्ति महान् पतन करनेवाली है। भगवान्‌की तरफ चलनेवाला जीते-जी संसारसे मुक्त हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

देवताओंका शरीर बहुत दिव्य है। उन्हें मनुष्यशरीरसे दुर्गन्ध आती है। ऐसा होनेपर भी वे मनुष्य-जन्म चाहते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्यशरीर 'मनुष्यता' का नाम है। शरीर मुख्य नहीं है, मनुष्यता मुख्य है। मनुष्य उस महान् आनन्दको प्राप्त कर सकता है, जिसमें दुःखका लेश भी नहीं है।

मनुष्यशरीरमें विवेकशक्तिकी महिमा है। उसमें भी विवेकशक्तिके सदुपयोगकी महिमा है। परमात्माकी प्राप्ति कर लेना ही सच्ची मनुष्यता है।

क्रोधका कारण है—कामना और अभिमान। क्रोधसे बचना चाहते हो तो कामना और अभिमानका त्याग कर दो। क्रोधका सुख लेनेसे क्रोध भीतर बैठा हुआ है। उसका सुख मत लो।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने किसी भी जीवका त्याग नहीं किया है, जीव ही भगवान्‌से विमुख हुआ है।

किसी भी वस्तुको आप सदा अपने साथ नहीं रख सकते, पर उसे 'मेरी' माननेसे आप बँध जाते हैं और वह वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है। उसे 'मेरी' न मानकर भगवान्‌की माननेसे वह वस्तु शुद्ध हो जाती है, प्रसाद बन जाती है। यदि आप

सच्चे हृदयसे पुत्रसे ममता हटा लो और उसे भगवान्‌को सौंप दो तो उसका स्वभाव सुधर जायगा।

भगवान्‌का हो जानेके बाद कोई दुःख भी आता है तो उसमें बड़ा आनन्द आता है।

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—यह सर्वश्रेष्ठ बात है, जो मुझे इन वर्षोंमें मिली।

शरीर मुख्य नहीं है, आप स्वयं मुख्य हो।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यजन्ममें हम पूर्ण उन्नति कर सकते हैं। दुःख तो रहे नहीं और महान् शान्ति, आनन्द मिल जाय—यह स्थिति हम इस शरीरमें प्राप्त कर सकते हैं। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है।

विवेककी महिमा सदुपयोग करनेमें है। उस विवेकके सदुपयोगके कारण ही मनुष्यशरीरकी महिमा है।

जो वस्तु अपनेसे अलग होती है, वह अपनी नहीं होती।

घड़ी बन्द होनेपर फिर चाबी भर सकते हैं, पर श्वास बन्द होनेपर फिर चाबी (श्वास) नहीं भर सकते।

साधन करते रहनेपर भी सुख-लोलुपताके कारण साधनकी सिद्धि नहीं होती। सुखेच्छाके रहते हुए शुद्ध साधन नहीं होता। सुखकी कामना ही दुःखोंकी, पापोंकी जड़ है। सुखकी इच्छा उन्नति नहीं होने देगी। आरामकी इच्छा मुख्य रहेगी तो भजन गौण रहेगा।

बिना सत्संग किये केवल पुस्तकोंसे प्रकाश नहीं मिलता। सत्संग करके फिर पुस्तकें पढें, तब बात खुलती है।

पैसा कमानेके लिये तो अनुकूलताका त्याग कर देते हैं, पर भजनके लिये अनुकूलताका त्याग नहीं करते—यह बाधा है। रुपयोंकी, जीते रहनेकी जितनी इच्छा है, उतनी भगवान्‌की इच्छा है क्या?

विचार करें, लोग हमें अच्छा कहेंगे तो क्या हम अच्छे हो जायँगे? क्या भगवान् हमें अच्छा मान लेंगे?

सुखकी इच्छासे सुख नहीं मिलता—यह नियम है। सुखकी आशा पारमार्थिक मार्गमें महान् बाधक है। यदि पारमार्थिक उन्नति चाहते हो तो संसारका सुख छोड़ना पड़ेगा।

बेटा सपूत होगा तो धन कमा लेगा और कपूत होगा तो धन उड़ा देगा, फिर क्यों मेहनत करते हो? ज्यादा धन होगा तो बेटोंका पतन होगा, वे आलसी-प्रमादी बनेंगे।

असली 'बनिया' वह है, जो बन जाय। बिगड़ जाय तो बनिया क्या?

जबतक एक भी प्राणी बन्धनमें है, तबतक हम सन्तोष कैसे करें?

××× ××× ××× ×××

जबतक आपके भीतर दूसरेके अहितकी बात रहेगी, तबतक उन्नति नहीं हो सकती। दूसरेके लिये कभी बाधक मत बनो। दूसरेको तकलीफ न हो—इस बातकी तरफ विशेष खयाल रखो। आज ही यह शिक्षा ले लो कि हमारे द्वारा किसीको भी तकलीफ न पहुँचे। यह परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। कम-से-कम इस बातका ध्यान रखो कि हमारे द्वारा किसीको भी तकलीफ न हो।

परमात्मामें प्रेम होनेका नाम 'सत्संग' है। सत्संग होनेपर सद्भाव, सत्कर्म और सच्चर्चा स्वत: होंगे। किसीको भी तकलीफ न हो—यह विचार हो गया तो सत्संग हो गया। किसीको तकलीफ दी तो दु:खका बीज बोया गया।

किसीको बुरा न समझना भी सत्संग है। प्रत्येक मनुष्य भीतरसे परमात्माका अंश है। हमें परमात्माकी तरफ देखना है,

बुराईकी तरफ नहीं। दूसरी बात, कोई भी मनुष्य सर्वांशमें बुरा नहीं होता, सबके लिये बुरा नहीं होता और सब समय बुरा नहीं होता।

किसीका बुरा न चाहना, किसीको बुरा न मानना और किसीका बुरा न करना—इन तीन बातोंको जो मान लेगा, वह सन्त हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

हर समय भगवान्‌का स्मरण करो, न जाने कब अन्तकाल आ जाय। जो चिन्तन 'करते' हैं, वह नकली है और जो चिन्तन 'होता' हैं, वह असली है। चिन्तन करते हुए कार्य करना—इसमें 'चिन्तन' मुख्य है। कार्य करते हुए चिन्तन करना—इसमें 'चिन्तन' गौण है। उत्तम साधक वह है, जो चिन्तन करते हुए कार्य करता है। सांसारिक कार्य तो बिगड़ेगा ही, सुधर जायगा तो भी अन्तमें बिगड़ेगा।

जिससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिसमें आकर्षण होता है, उसका चिन्तन स्वतः होता है। 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह चिन्तन हर समय नहीं होता, पर इसमें भूल नहीं होती। मैं-पनको बदलनेसे भूल नहीं होती। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार मैं-पनको बदल दें। मैं भगवान्‌का हूँ—यह सच्ची बात है, जो कभी मिटती नहीं।

मरणासन्न रोगी व्यक्तिको भगवान्‌का स्मरण कराना सबसे बड़ी और सच्ची सेवा है।

सत्संगके द्वारा अपने मैं-पनको बदल लें कि आजसे मैं भगवान्‌का हूँ। विवाहमें एक ब्राह्मणके कहनेसे आप अपनेको पतिका मान लेती हैं, अब एक साधुके कहनेसे मान लो कि हम भगवान्‌के हैं। वास्तवमें आप सदासे स्वतः भगवान्‌के हैं। स्त्री-

पुरुषका शरीर तो बाहरका चोला है। मैं केवल आपको याद दिलाता हूँ कि आप भगवान्‌के हैं। अर्जुनने भी गीताके अन्तमें कहा था—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८।७३) 'मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है।'

××× ××× ××× ×××

संसार सुख लेनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सुख देनेके लिये है।

भगवान्‌की तरफ चलनेसे निर्मलता स्वतः आती है।

सन्त-महात्माओंकी बातें सुननेके बाद ये बातें पुस्तकोंमें, शास्त्रोंमें भी मिल जाती हैं और समझमें आ जाती हैं, जबकि पहले पुस्तकें पढ़नेपर भी वे ठीक समझमें नहीं आतीं।

जैसे काँटा निकालते समय दर्द तो होता है, पर दुःख नहीं होता, प्रत्युत काँटा निकल रहा है—इसका सुख होता है। ऐसे ही ज्ञान होनेपर पीड़ाका अनुभव तो होगा, पर दुःख नहीं होगा। व्रत-उपवास करनेपर अन्न न मिलनेका दुःख नहीं होता, परन्तु बिना व्रतके अन्न न मिले तो दुःख होता है कि आज न जाने प्रातः किसका मुख देखा जो अन्न नहीं मिला। दवाई कड़वी लगती है, पर उससे रोग कटता है। प्रतिकूलतामें हमारा कर्जा उतरता है, पाप फल भुगताकर नष्ट होता है।

××× ××× ××× ×××

विवेकके कारण ही मनुष्यशरीरकी महिमा है। भगवान्‌ने संसारमात्रके कल्याणके लिये विवेक दिया है। यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। विवेकका आदर करना, उसको महत्त्व देना साधकका काम है।

शरीरको मैं-मेरा मानना असत्‌का संग है। शरीरको मैं-मेरा न मानना सत्‌का संग है। शरीरका सदुपयोग है—संसारकी

सेवा करना और भगवान्‌को याद करना। व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी भीतरसे शरीरको मैं-मेरा न मानें।

जो चीज सबकी है, वही हमारी हो सकती है। जो सबकी नहीं है, वह हमारी नहीं हो सकती। परमात्मा सबके हैं। परमात्माके सिवाय कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जो सबकी हो। अतः एकमात्र परमात्मा ही हमारे हैं।

संसारका अंश संसारको दे दो और परमात्माका अंश परमात्माको दे दो—इसका नाम 'मुक्ति' है।

××× ××× ××× ×××

धर्मके लिये भी धन लेना तो दूर रहा, धन कमाना भी ठीक नहीं है। शास्त्रमें आया है—

यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी॥
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।

(पद्मपुराण, सृष्टि० १९। २५१-२५२)

'जिस धर्मके लिये धन-संग्रहकी इच्छा होती है, उसके लिये उस इच्छाका त्याग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि कीचड़को लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है।'

कपड़ेमें कीचड़ लग जाय तो पानीसे धोनेपर भी वह पूरा नहीं छूटता। धर्म धनके अधीन नहीं है। धर्मके लिये भी धन लेनेपर धनका महत्त्व ही बढ़ता है। बम्बईमें मेरे सामने गायोंके लिये धन इकट्ठा करनेके उद्देश्यसे सत्संग-स्थलपर दानपात्र रखनेकी बात कही गयी तो मैंने कहा कि मैं यहाँ धर्मका महत्त्व बढ़ाने आया हूँ, धनका महत्त्व बढ़ाने नहीं आया हूँ।

भगवान्‌के यहाँ रुपयोंकी संख्या नहीं देखी जाती, प्रत्युत शक्ति देखी जाती है। जिसके पास सौ रुपये हैं, वह एक रुपया दान कर देता है। ऐसे ही करोड़पतिने एक लाख रुपया दान किया तो

वास्तवमें उसने एक रुपया ही दिया, पर देखनेमें वह बड़ा दानी दीखता है। जिसके हृदयमें रुपयोंका महत्त्व है, वह दान नहीं कर सकता। शुभ कार्यमें पैसा लगाना बड़ा कठिन है। रुपये कमानेमें तो सब साथ देंगे, पर दान करनेमें सब साथ नहीं देंगे।

संसारकी एक वस्तुको लेनेसे उसके साथ अनेक आफतें पैदा हो जाती हैं। एक मोटर लेते हैं तो आफतोंकी लाइन लग जाती है कि ड्राईवर चाहिये, पेट्रोल चाहिये, लाइसेंस चाहिये आदि। कोई सम्बन्धी या पड़ोसी मोटर माँग लेता है तो आफत! मोटर दे तो मोटर खराब और मोटर न दे तो मन खराब। आप समझते हैं कि हम मोटरपर चढ़ते हैं, पर वास्तवमें मोटर आपपर (हृदयपर) चढ़ती है। मैं पैसा पासमें नहीं रखता तो वास्तवमें मोटरपर मैं ही चढ़ता हूँ। पेट्रोल समाप्त हो जाय तो चिन्ता नहीं, मोटर खराब हो जाय तो चिन्ता नहीं।

पुण्य रुपयोंसे नहीं होता, प्रत्युत त्यागसे होता है। त्यागका जो असर पड़ता है, वह रुपयोंका नहीं पड़ता।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) किसी अभावग्रस्तको रुपया देते थे तो कहते थे कि न तो मैंने दान दिया है और न कर्जा ही दिया है। मैंने तो रुपया अपने घरखर्चेमें लिख दिया। अब तुम्हें ग्लानि हो तो दे देना, नहीं तो मत देना। वे दूसरेको पैसा देकर उसपर अहसानका भार नहीं डालते थे।

कल्याण रुपयोंसे नहीं होता, उदारभावसे होता है। उदारता साथमें चलेगी।

अच्छे काममें देरी मत करो; क्योंकि काल सबको खा जाता है। अच्छे कामकी मनमें आये तो तुरन्त कर दो और बुरेकी मनमें आये तो देरी कर दो।

××× ××× ××× ×××

परमात्मा कण-कणमें परिपूर्ण हैं। वे कभी किसीको अप्राप्त नहीं हो सकते और कभी किसीसे दूर नहीं हो सकते। ऐसा कोई कण नहीं, जिसमें परमात्मा परिपूर्ण न हों और ऐसा कोई कण नहीं, जिसका वियोग न हो रहा हो। संसार स्वतः ही अलग हो रहा है। संसार अभीतक किसीको नहीं मिला।

परमात्माको प्राप्त करना है और संसारका त्याग करना है—इन दोनों धारणाओंका हमें त्याग करना है।

संसार जा रहा है, यह कहना कि 'संसार रह रहा है'—यह पागलपन है। जो नहीं है, उसे 'है' मानना और जो है, उसे 'नहीं' मानना—यह उलटी बुद्धि है। इस विपरीत धारणाको मिटाना ही मुक्ति है।

'नहीं' में 'है'-बुद्धि ही परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा है।

××× ××× ××× ×××

रामायणमें उर्मिलाका सतीत्व बहुत विलक्षण है। लक्ष्मणजी सेवाके लिये रामजीके साथ वनमें गये थे। अतः लक्ष्मणजीकी सेवामें बाधा न पड़े, इस विचारसे उर्मिला लक्ष्मणजीके साथ नहीं गयीं। रामजीने सीताको साथमें इसलिये नहीं लिया कि आराम देगी, प्रत्युत इसलिये लिया कि मेरे वियोगमें यह मर जायगी। कारण कि सीताजीने कह दिया था कि यदि आपको विश्वास है कि मैं आपके बिना जी जाऊँगी तो साथमें मत ले जाओ। दूसरी बात, सीताजी इसलिये साथ गयीं कि उनके बिना लीला पूरी नहीं होती।

श्रोता—अशुद्ध अवस्थामें भगवान्‌का नाम लेना चाहिये या नहीं?

स्वामीजी—जरूर लेना चाहिये। अशुद्ध अवस्थामें भगवान्‌का नाम नहीं लेना—यह भाव रहेगा तो बड़ी हानि हो जायगी।

कारण यह है कि अन्तकालमें रोग आदिके कारण प्रायः अशुद्धि रहती है, फिर नाम लिये बिना मर गये तो क्या दशा होगी? नामजप तो श्वाससे भी अधिक मूल्यवान् है। क्या अशुद्ध अवस्थामें श्वास नहीं लेते?

अधिक बीमार व्यक्तिको सांसारिक लाभ-हानिकी बातें मत सुनाओ। छोटे बच्चोंको उसके पास मत ले जाओ; क्योंकि बच्चोंमें स्नेह अधिक होता है; अतः वृत्ति उधर चली जायगी।

अशुद्ध अवस्थामें (मासिकधर्मके समय) माताएँ तुलसीकी मालामें जप न करके काठकी मालामें जप करें। गंगाजीकी धारामें स्नान न करके गंगाजल मँगाकर घरमें स्नान करें। तुलसीकी कण्ठी पहन सकती हैं; क्योंकि कण्ठी हर समय रहनी चाहिये।

स्त्रीको गायत्री-मन्त्रका जप नहीं करना चाहिये। आजकल गायत्री-मंत्रका जप वे स्त्रियाँ करती हैं, जिनके भीतर अभिमान है कि हम छोटे क्यों रहें? अपना कल्याण चाहनेवाली स्त्री गायत्री-जप नहीं करेगी। जिसके भीतर अभिमान है, वह पण्डित भी हो तो नरकोंमें जायगा। भगवन्नामका जप गायत्री-जपसे कम नहीं है। भगवन्नाम-जपमें सभीका समान अधिकार है। पर जिसने यज्ञोपवीत धारण न किया हो, ऐसे ब्राह्मणको भी गायत्री-जपका अधिकार नहीं है*।

××× ××× ××× ×××

---

* सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति,.........सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात्स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति॥

(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् १।३)

'गायत्री, प्रणव तथा यजुःस्वरूप महालक्ष्मी मन्त्रका उपदेश ज्ञानिजन स्त्रियों और शूद्रोंको नहीं देना चाहते।..............गायत्री, प्रणव और यजुर्वेदमय महालक्ष्मी मन्त्रको यदि स्त्री और शूद्र जान लें तो वे मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् नरकों और नीची योनियोंमें गिरते हैं। इसलिये सदा ही सावधान रहकर उनको इन मन्त्रोंका उपदेश न दे। यदि कोई उन्हें उपदेश देता है तो वह आचार्य भी उन्हींके साथ मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होता है।'

जैसे पुत्रका पितापर हक लगता है, ऐसे ही भगवान्‌पर हमारा हक लगता है। पर संसारपर अपना हक जमानेसे हम उस हकको भूल गये। जो चीज अपनी नहीं है, उसे अपना मान लिया—इस बेईमानीसे ही सब दुःख हुए हैं।

धन-सम्पत्ति, परिवार आदिको कितना ही पकड़ लो, पर वह तो छूटेगा ही। छूटेगा तो रोओगे, छोड़ दो तो आनन्द हो जायगा!

संसारके सब काम तो दूसरे ही कर देंगे, पर रोना आपके ही हिस्सेमें आयेगा!

××× ××× ××× ×××

व्याकरणमें 'नाश' का अर्थ अभाव नहीं है, प्रत्युत अदर्शन (लोप) है। शरीर नाशवान् है अथवा परिवर्तनशील है—इसमें अनेक मतभेद हैं। हमारा निर्णय यह है कि शरीर-संसार हमारे कामके नहीं हैं। हमारे कामके भगवान् हैं।

मुझे कोरी दार्शनिक बातें अच्छी नहीं लगतीं। दार्शनिक विचारसे कोई लाभ नहीं। मुझे वह बात अच्छी लगती है, जो अनुभवमें आ जाय।

जैसे आकाशका अन्त नहीं आता, ऐसे ही ज्ञानका भी अन्त नहीं आता। मुझे अभी भी नयी-नयी बातें मिलती हैं। मेरे मनमें यही बात आती है कि जीवका कल्याण कैसे हो?

संसारका कोई भी विषय निरन्तर प्यारा लग सकता ही नहीं। उससे अरुचि होती ही है।

सभी दर्शन 'इदंता' से शुरू हुए हैं, पर गीताकी विलक्षणता है कि यह 'अहंता' से शुरू हुई है। गीताकी जैसी शुरुआत है, वैसी किसी दर्शनकी नहीं है। दर्शन बातें सिखाते हैं, पर गीता अनुभव कराती है। गीता आपके खुदके अनुभवसे शुरू होती है। गीता भगवान्‌का वचन है, आचार्योंका वचन नहीं। भगवान् सिखाते नहीं हैं, प्रत्युत आपके शोक-चिन्ता मिटाते हैं।

बचपनमें रंगीन काँचके टुकड़े बड़े मूल्यवान् दीखते थे, पर आज उनका कोई मूल्य नहीं है। ऐसे ही वैराग्य होनेपर रुपये, सोने-चाँदी आदिका कोई मूल्य नहीं रहता।

अनजानमें कोई पाप बन गया हो तो आर्तभावसे रोकर भगवान्‌को पुकारो। उनसे प्रार्थना करो। भगवान्‌के समान कोई दयालु नहीं है। आगेसे पाप मत करो।

कामना मिटाना चाहते हैं, पर मिटती नहीं तो भगवान्‌को पुकारो।

××× ××× ××× ×××

उत्पन्न-नष्ट होनेकी परम्परा हमारे देखनेमें आती है। वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशमें विनाश ही मुख्य है। संयोग-वियोगमें वियोग ही मुख्य है। स्थिति-प्रलयमें प्रलय ही मुख्य है। परमात्माके साथ नित्ययोग है। उससे विमुखता हमारी की हुई है। जबतक संसारकी प्राप्तिकी लालसा है, तबतक परमात्माकी नित्यप्राप्तिका अनुभव नहीं होता। संसारको चाहे कैसा ही मानें, उसका वियोग नित्य है।

परमात्मासे विमुख होनेपर संसार पक्का दीखता है। परमात्माके सम्मुख होनेपर संसार कच्चा हो जाता है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर संसार मिट जाता है। मार्मिक बात यह है कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध असत्य है।

××× ××× ××× ×××

प्रतीक्षामें भगवान्‌का चिन्तन विशेषतासे होता है। शबरी प्रतीक्षामें थी। भगवान् ऋषियोंके आश्रम छोड़कर उसकी कुटियामें पधारे। अधिक प्रेममें जैसे भक्त अपने-आपको भूल जाता है, ऐसे भगवान् भी प्रेममें अपने-आपको भूल जाते हैं। विदुरानी केलेके छिलके खिलाती है तो भगवान् वही प्रेमसे खाते हैं। विदुरानीको पता नहीं है कि मैं छिलका दे रही हूँ और भगवान्‌को भी पता नहीं है कि मैं छिलका खा रहा हूँ। बढ़िया भोजन वही होता है, जिसमें खिलानेवालेको ज्यादा आनन्द आता है।

जिसके हृदयमें जड़ चीजोंका आदर होता है, उसका हृदय अशुद्ध होता है। वह भगवान्‌को नहीं जान सकता। धृतराष्ट्रके हृदयमें पक्षपात (**'मामकाः'** व **'पाण्डवाः'**) था, इसलिये वे भगवान्‌को नहीं जानते थे। कुन्ती, विदुर, संजय और भीष्म—ये भगवान्‌को विशेषतासे जानते थे।

'मानउँ एक भगति कर नाता' (मानस, अरण्य० ३५। २)—भगवान् भक्तिका नाता मानते हैं, ब्राह्मण-शूद्रादिका जातिकी अपेक्षा नहीं। भगवान्‌की भक्तिमें वर्ण-आश्रम आदिका विचार नहीं होता। विधि, व्यवहारमें ब्राह्मणादिका विचार होता है। वर्ण-आश्रम शरीरके धर्म हैं। भक्त स्वयं होता है, शरीर नहीं। स्वयं भगवान्‌का अंश है, शरीर चाहे जैसा हो। सेवामें नीचा-से-नीचा काम भी ऊँचा होता है। भक्ति और तत्त्वज्ञान स्वयंके हैं, शरीरके नहीं। जहाँ जातिका अभिमान होता है, वहाँ भक्ति होनी बड़ी कठिन है। अभिमानी व्यक्ति भक्त नहीं हो सकता।

जातिका विचार विधि-विधानमें, रोटी-बेटीके व्यवहारमें होता है। भक्तिमें जातिका विचार नहीं होता।

××× ××× ××× ×××

जो संसार दीखता है, वह स्थिर रहता है क्या? संसार

निरन्तर अभावमें जा रहा है। उसमें जो 'है'-पना दीखता है, वह परमात्माका है। जैसे बादल, वर्षा, ओले, बिजली आदि सब आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही लीन होते हैं, पर आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थ परमात्मामें ही उत्पन्न होते हैं और परमात्मामें ही लीन होते हैं, पर परमात्मा 'है'-रूपसे ज्यों-के-त्यों रहते हैं। परमात्मामें कुछ फर्क पड़ता ही नहीं।

परमात्माको हृदयसे माननेपर उनकी प्राप्तिकी इच्छा होती है।

सत्संग-कीर्तन अन्नप्राशन संस्कार है। अन्नप्राशन संस्कारमें बालकको खीर खिलाते हैं तो उसे कुछ-कुछ मिठास आने लगती है, जिससे वह अन्न खाना सीख जाता है। ऐसे ही सत्संग-कीर्तनसे साधकको कुछ-कुछ रस आने लगता है, जिससे वह परमात्मामें लग जाता है।

××× ××× ××× ×××

मोह खास बाधक है— ***'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'*** (मानस, उत्तर० १२१।१५)। अर्जुनने गीताके अन्तमें कहा— **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** (१८।७३)। भगवान्ने गीताके आरम्भमें कहा था— **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं०'**; परन्तु अन्तमें भगवान्ने यह नहीं पूछा कि तेरा शोक नष्ट हुआ कि नहीं, प्रत्युत यह पूछा कि तेरा मोह नष्ट हुआ कि नहीं— **'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय'** (१८।७२)। अर्जुनने कहा कि आपकी कृपासे मोह नष्ट हुआ। कृपासे जो लाभ होता है, वह श्रवण-शास्त्राध्ययन आदिसे नहीं होता। कारण कि कृपासे जो वचन निकलते हैं, वे बड़ा असर करते हैं। गीता कृपासे ही समझमें आती है, विद्वत्तासे नहीं।

भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५।२९)। अतः कोई भी प्राणी कैसा ही हो, भगवान्‌के सम्मुख हो सकता है। सभी उनकी शरण हो सकते हैं। जो अपना कुछ भी बल मानता है, वह शरण नहीं हो सकता। किसी भी चीजका अभिमान न हो। कंगला भी करोड़पतिकी गोदमें बैठकर बिना कुछ किये करोड़पति हो सकता है।

अभिमान सबसे भयंकर दोष है। इससे सावधान रहो। अभिमान काम-क्रोध-लोभका मूल है। भगवान्‌की कृपाको न माननेसे अभिमान आता है। मोह नष्ट होनेपर फिर अभिमान नहीं रहता।

साधन बहुत हैं, पर सबसे श्रेष्ठ साधन है—शरणागति। इसे भगवान्‌ने 'सर्वगुह्यतम' कहा है। केवल एक ही बात है कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ।'

शरणागत होनेके बाद अपनेमें कोई कमी दीखे तो समझो कि कमी आयी नहीं, जा रही है। उसे आया हुआ मत मानो। शरणागतिको मत छोड़ो, नहीं तो ये चोर-डाकू (काम-क्रोधादि) तंग करेंगे। कमी दीखे तो 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारो। रक्षा करना भगवान्‌का काम है। गोस्वामीजी महाराज भगवान्‌से कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥

(विनय० १२५।२-३)

××× ××× ××× ×××

अभिमान छोड़कर भगवान्‌की शरण हो जायँ। अपना कुछ अलग न रखें। अन्य किसीका आश्रय न रखें। शरणागति नींद लेनेकी तरह बहुत सुगम है, पर अभिमानीके लिये कठिन है। जीव स्वतः परमात्माका है, अतः आश्रय लेना इसका स्वभाव है।

भक्तोंपर भगवान्‌का विशेष प्रेम है। भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है और भगवान्‌को भक्तकी सेवामें आनन्द आता है।

भगवान् हमारेसे दूर नहीं रह सकते। वे सदा हमारे साथ हैं और सदा हमारे साथ रहेंगे—यह बात आप आज ही स्वीकार कर लें। भगवान् हमारे भीतर हैं—यह हमारे पास सबसे बड़ा गुप्त खजाना है। हमारे कण-कणमें भगवान् विराजमान हैं। यदि इस बातको आप भूल जाते हैं तो इसे भगवान्‌के कोषमें जमा कर दो कि 'हे नाथ! मैं इस बातको भूल जाऊँ तो आप याद करा देना।'

कोई काम करना हो तो मनसे भगवान्‌को देखो। भगवान् प्रसन्न दीखें तो वह काम करो और प्रसन्न न दीखें तो वह काम मत करो। यह एक गुप्त साधन है। एक-दो दिन करोगे तो पता चलने लगेगा।

××× ××× ××× ×××

परमात्माकी प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर किसी कामका नहीं है।

मनुष्यशरीरकी उम्र श्वासोंपर निर्भर है, वर्षोंपर नहीं। जैसे, घड़ी चाबीपर निर्भर होती है। श्वासोंकी गिनती पूरी होते ही मरना पड़ेगा। भोग भोगते समय श्वास तेजीसे चलते हैं, जिससे आयु जल्दी समाप्त हो जाती है। भोग भोगनेसे शरीर जल्दी मरता है। एक दिनमें २१,६०० श्वास नष्ट हो रहे हैं, रोज कितना घाटा लग रहा है, पर इस घाटेकी पूर्ति नहीं हो सकती। वास्तवमें हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत मर रहे हैं। जिस मौतसे सभी डरते हैं, वह मौत प्रतिक्षण समीप आ रही है। कहते हैं कि रुपयोंसे सब कुछ मिलता है, पर उम्र भी मिलती है क्या?

कल्याण करनेवाली तात्त्विक बातें मुझे पुस्तकोंसे नहीं मिली

हैं, सन्तोंसे मिली हैं। सन्तोंसे मिलनेके बाद फिर पुस्तकोंसे मिली हैं।

इस समय पापोंकी लहर चली है। पतनका मौका आया है, अतः सावधान रहकर इससे बचो।

××× ××× ××× ×××

कोई भी परिस्थिति रहनेवाली नहीं है। अभी जो है, वह क्या ठहरेगी? इसपर स्वयं विचार करो। जबतक परमात्मा नहीं मिले, तबतक क्या हो गया? गुरु बना लिया, चेला बन गये तो क्या हो गया? क्या आप कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य, प्राप्तप्राप्तव्य हो गये?

बाहरसे यथायोग्य सब काम करते हुए भी भीतरमें आनन्द रहे, चिन्ता न रहे। बाहर चाहे जैसी परिस्थिति आये, भीतरका आनन्द कम नहीं होना चाहिये।

अन्न-जल सब जगह नहीं मिलते। उनको लेनेके लिये कहीं जाना पड़ता है। परन्तु श्वास लेनेके लिये कहीं जाना पड़ता है? कोई उद्योग करना पड़ता है? परमात्मा इन श्वासोंसे भी सस्ते हैं।

पारमार्थिक मार्गमें याद करना नहीं पड़ता, पर भूल होती नहीं। तृप्ति होती नहीं, पर भूख रहती नहीं।

××× ××× ××× ×××

ज्ञानरूपी प्रकाशमें अनन्त संसार दीखता है अर्थात् हमारे जाननेमें आता है; परन्तु प्रकाशमें कोई बाधा नहीं लगती। प्रकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। आधिभौतिक प्रकाश तो बाहर प्रकाश करता है, पर आधिदैविक प्रकाश बाहर-भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है। आध्यात्मिक प्रकाश उससे भी ऊँचा है।

परमात्मप्राप्तिकी विद्या है—परमात्मासे मित्रता कर लो और संसारसे मित्रता तोड़ दो।

स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदि सबके चोले (शरीर) अलग-अलग हैं, पर उनमें भगवान्‌का अंश एक ही है। सृष्टिकी दृष्टिसे भी हम सब एक (पांचभौतिक) हैं, आत्माकी दृष्टिसे भी एक हैं और परमात्माकी दृष्टिसे भी एक हैं। व्यवहारमें अनेकता लाभदायक है। तत्त्वमें एक होना आवश्यक है और संसार (व्यवहार)-में अनेक होना आवश्यक है।

एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता सृष्टिकी विलक्षणता है। हाथकी अँगुलियाँ एक होनेपर भी अनेक और अनेक होनेपर भी एक हैं।

दूसरोंकी सेवा करनेसे आपकी भक्ति, आपका भजन बढ़ेगा।

××× ××× ××× ×××

गीतामें कामना-त्यागकी बात विशेषरूपसे आयी है। कामना ही सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है। कामनासे लाभ किंचित् भी नहीं है और नुकसान कोई बाकी नहीं है।

गरीब घरकी कन्या लेनेके समान कोई पुण्य नहीं है। यह पुण्य आपका कल्याण करेगा।

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्तिमें बोध और लगनकी जरूरत है। संसारकी प्राप्तिमें क्रिया और पदार्थकी मुख्यता है। परमात्माकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है और संसारकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति है।

लगनसे बहुत जल्दी परमात्मप्राप्ति होती है। लगन न होनेसे साधन करना पड़ता है, जिसमें क्रियाकी मुख्यता रहती है। परन्तु लगन होनेपर साधन स्वतः होता है, करना नहीं पड़ता। परमात्मप्राप्ति वास्तवमें सुगम है, पर लगन न होनेसे कठिन

है। परमात्मा सदा मौजूद हैं। केवल लगनकी ही कमी है और कोई कमी नहीं है। वर्तमानमें पापोंकी लगन होनेसे भगवान्‌से बहुत ज्यादा विमुखता हो गयी है।

परमात्माको चाहनेसे वस्तुएँ आपकी गरज करेंगी। परमात्माकी तरफ चलनेवालेके लिये सब सहायक हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों आप परमात्माको चाहोगे, त्यों-त्यों वस्तुएँ आपके पास आयेंगी।

वास्तविक तत्त्व त्यागसे मिलता है।

××× ××× ××× ×××

अगर रुपया ही बढ़िया है तो फिर रुपयोंसे वस्तु क्यों खरीदते हो? रुपयोंको बढ़िया माननेसे ही बुद्धि भ्रष्ट हुई है। जैसे मूलमें परमात्मा हैं, ऐसे ही आपने मूलमें रुपयेको मान लिया है। काम वस्तुओंसे चलता है, रुपयोंसे नहीं। भोग और रुपये महान् पतन करनेवाली चीज है।

कुटुम्बसे सुख चाहते हो, इसलिये उसका मोह छूटता नहीं। मोहके रहते हुए बढ़िया सेवा नहीं होती। बालक माँकी अपेक्षा पिताके पास, पिताकी अपेक्षा गुरुके पास और गुरुकी अपेक्षा सन्तके पास रहकर ज्यादा सुधरता है, श्रेष्ठ बनता है। कारण कि माँका बालकमें अधिक मोह होता है। माँकी अपेक्षा पितामें और पिताकी अपेक्षा गुरुमें मोह कम होता है। सन्तमें मोह होता ही नहीं। जितना-जितना मोह कम होता है, उतनी-उतनी बालककी उन्नति होती है।

जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है।

लेनेकी इच्छासे ताले लग जाते हैं, लेनेकी इच्छा छोड़नेसे ताले खुल जाते हैं।

कोई भगवान्‌को पुकारता है तो भगवान् नहीं देखते कि यह कैसा है?

ऐसा कोई काम नहीं, जो भगवान् भक्तके लिये न कर सकें! मनुष्य भक्त बनता है तो भगवान् भी उसके भक्त बन जाते हैं— '**भगवान् भक्तभक्तिमान्**' (श्रीमद्भा० १०।८६।५९)।

××× ××× ××× ×××

दूसरोंका कल्याण करनेमें जिसकी प्रवृत्ति होती है, वह भगवान्‌को विशेष प्रिय होता है। गीताका प्रचार करनेवाला भगवान्‌को विशेष प्रिय है। इसी तरह झूठ, कपट, दुर्गुण-दुराचारका प्रचार करनेवालेका महान् पतन होता है। जो स्वयं जैसा आचरण करता है, उसका वैसा प्रचार अधिक होता है।

दुर्गुण-दुराचारसे उतना नुकसान नहीं होता, जितना नुकसान दुर्गुणी-दुराचारी व्यक्तिके कुसंगसे होता है। पापकी अपेक्षा पापीका, पैसोंकी अपेक्षा लोभीका, स्त्रीकी अपेक्षा कामीका असर ज्यादा पड़ता है।

सत्संगके द्वारा कुसंगके भाव नष्ट हो जाते हैं और कुसंगके द्वारा सत्संगके भाव दब जाते हैं।

असत्यका आश्रय लेनेवाला हमारा नुकसान नहीं कर सकता।

प्रतिकूलता आनेपर भगवान्‌के अपनेपनको देखो। उनके अपनेपनमें जितना लाभ है, उतना प्रतिकूलतामें नुकसान नहीं है।

जिनके भीतर राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भरे हैं, उन वक्ताओंके द्वारा अच्छा प्रचार नहीं होता, प्रत्युत उनके द्वारा समाजमें गन्दगी फैलती है। जैसे, विष्ठासे भरा झाड़ू कूड़ा तो साफ कर देता है, पर और गन्दगी भी फैला देता है!

××× ××× ××× ×××

संसारकी इच्छा 'कामना' है और परमात्माकी इच्छा 'आवश्यकता' है। संसारका सुख भोगूँ और परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—ये दोनों इच्छाएँ (कामना और आवश्यकता) मनुष्यके भीतर रहती हैं। प्रकृतिका अंश प्रकृतिको और परमात्माका अंश परमात्माको चाहता है। कामना कभी पूरी होती ही नहीं, पर आवश्यकता जरूर पूरी होती है।

असत्-जड़-दुःखरूप होते हुए भी संसार सत्-चित्-आनन्दरूप दीखता है; क्योंकि उसके पीछे परमात्मा हैं—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

आप भीतरसे संसारसे अलग हो जायँ।

××× ××× ××× ×××

व्यवहारमें ही परमार्थकी सिद्धि हमारी संस्कृतिकी विलक्षणता है। भारतके लोगोंकी बुद्धि बड़ी विलक्षण है।

संसारका सम्बन्ध केवल सेवाके लिये है। सदा हमारे साथ न वस्तुएँ रहेंगी, न व्यक्ति रहेंगे।

संसारमें भगवान्‌की भक्तिके समान मूल्यवान् कोई चीज नहीं है।

जैसे भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं रहता, ऐसे ही उत्तम पतिव्रताकी दृष्टिमें एक पतिके सिवाय कोई पुरुष नहीं रहता—***'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'*** (मानस, अरण्य० ५।६)।

भोग भोगनेवाला रोगी होगा ही—यह नियम है।

पाप करनेवालेकी अपेक्षा ज्यादा पाप उसको लगता है, जो पापका प्रचार करता है, पापकी प्रेरणा करता है।

××× ××× ××× ×××

अलग वही होता है, जो पहलेसे ही अलग है। मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये नहीं है—यह अनुभव हो जाय तो हम अभी विदेह हो जायँगे। विदेह वही होता है, जो पहलेसे ही विदेह है।

अपनेको शरीरके साथ न मानकर परमात्माके साथ मानें। शरीरके साथ अपनेको मानना गलती है। शरीर संसारके साथ है, हम परमात्माके साथ हैं। ऐसा मान लें तो फिर मरनेका दुःख नहीं होगा। जो पीछे मुर्दा होगा, वही शरीर आज है।

××× ××× ××× ×××

अगर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहते हो तो सुखभोगका त्याग करो। संसारके सुखको मिट्टीमें मिला दिया जाय तो दूसरी जातिका सुख—महान् आनन्द मिलता है!

यदि सांसारिक सुख आपका और आपके लिये होता तो फिर सदा रहता, जाता नहीं।

कन्या एक अपरिचित व्यक्तिको अपना पति बना लेती है। पति तो दुःख भी दे सकता है, त्याग भी सकता है, साधु भी बन सकता है और मर भी सकता है, पर भगवान्में ये चारों ही बातें नहीं हैं। इस प्रकार जब एक मनुष्यके भरोसे आप निश्चिन्त हो सकते हैं तो क्या भगवान्के भरोसे निश्चिन्त नहीं हो सकते?

'मन मेरा है' तो फिर वह कभी शुद्ध नहीं होगा; क्योंकि मनमें 'मेरा'-रूप मल लगा लिया।

रामजीकी सेवाके लिये ही सीताजी रामजीके साथ वनमें गयीं और रामजीकी सेवाके लिये ही उर्मिला घरपर रही। लक्ष्मणजी सेवाके लिये गये थे। यदि उर्मिला भी जाती तो सेवामें बाधा

लगती। यदि सीताजी न जातीं तो रावण-वध आदि लीलाएँ न होतीं।

वह उलटा काम कभी मत करो, जिसे सुलटा न कर सको। परशुरामजीने माता आदिको मार दिया तो उन्हें पुनः जिला भी दिया।

××× ××× ××× ×××

संसार नाशवान् है—यह ज्ञान होना चाहिये। सीखनेसे काम नहीं चलेगा। कोई परिस्थिति सदा नहीं रहती—यह सबका अनुभव है, फिर उसकी इच्छा क्यों करें? इच्छा पूरी होगी नहीं, पूरी होगी तो टिकेगी नहीं। आजतक कोई स्थिति नहीं रही, फिर अभी जो स्थिति है, वह सदा रहेगी क्या? इसका आप स्वयं अनुभव करो। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करो, दूसरोंकी सेवा करो।

जो होता है, वह आपकी इच्छासे नहीं होता, प्रत्युत होनहारसे होता है। होनेमें प्रसन्न रहो। करनेमें सावधान रहो। होनेमें सुख आये या दुःख आये, प्रसन्न रहो। प्रसन्न नहीं रहोगे तो क्या दुःख मिट जायगा? चिन्ता मत करो, उसका उपाय करो। करनेमें यह सावधानी रखो कि मेरे द्वारा किसीको दुःख न पहुँचे।

हम जी रहे हैं—यह बात झूठी है। हम मर रहे हैं—यह बात सच्ची है। जितनी उम्र बीत गयी, उतने तो हम मर ही गये! मकान यहाँ बना रहे हो, सजावट यहाँ कर रहे हो, पर खुद भागे जा रहे हो मृत्युकी तरफ। मरनेपर जहाँ जाना है, उसको ठीक करो। जो कर सकते हो, वह करते नहीं और जो नहीं कर सकते, उसके लिये चेष्टा कर रहे हो।

किसीको सुख दें तो इसके लिये परिश्रम करना पड़ेगा, पर किसीको दुःख न दें तो इसमें क्या परिश्रम है? किसीकी

बुराई न चाहनेसे, न करनेसे और न सोचनेसे सबकी सेवा हो जायगी।

अच्छाई करनेसे सीमित अच्छाई होगी, पर बुराई छोड़नेसे असीम अच्छाई होगी।

भगवान्‌के जीते-जी किसीकी ताकत है कि हमारा बुरा कर दे? हमारा बुरा होनेवाला होगा, तभी होगा।

सत्संगसे हर हालमें खुश रहनेकी विद्या आ जाती है।

जो अपने हाथकी बात नहीं है, उस विषयमें चिन्ता क्यों करें? जैसे सिनेमामें जो बीत गया, वह भी मशीनमें है; जो चल रहा है, वह भी मशीनमें है; जो नहीं आया, वह भी मशीनमें है। ऐसे ही तीनों काल भगवान्‌रूपी मशीनमें हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें?

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(मानस, बाल० ५२।४)

भगवान् बिना माँगे सहायता करते हैं, उपाय देते हैं, संग देते हैं। जो थोड़ा भी भगवान्‌पर भरोसा रखता है, उसकी भगवान् इतनी रक्षा करते हैं, इतना ध्यान करते हैं कि कह नहीं सकते।

××× ××× ××× ×××

शरणागति सबसे सुगम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है; परन्तु अभिमानी व्यक्ति शरण नहीं हो पाता। 'मैं गृहस्थ हूँ'—ऐसा माननेसे सब क्रियाएँ वैसी होंगी, जैसी गृहस्थको करनी चाहिये। 'मैं साधक हूँ'—ऐसा माननेसे सब क्रियाएँ वैसी होंगी, जैसी साधकको करनी चाहिये। इसलिये सबसे पहले अहंताको बदलनेकी बहुत आवश्यकता है। अहंता ही संसारकी जड़ है। 'मैं साधक हूँ'—ऐसा माननेसे साधनकी मुख्यता रहेगी। राग-

द्वेषरहित क्रियाएँ होनेसे गृहस्थ भी सुधर जायगा। 'मैं साधक हूँ'—यह अहंता होगी तो सत्संगकी बातोंको चट पकड़ लेगा। यदि 'मैं गृहस्थ हूँ'—यह अहंता होगी तो सत्संगकी बातें कैसे पकड़ेगा?

जिस साधनमें आपका मन लग जायगा, वह साधन तेज हो जायगा। जिससे भगवान्‌में ज्यादा तल्लीनता हो, भगवान्‌से ज्यादा सम्बन्ध जुड़े, वह साधन तेज हो जाता है।

साधन वही सिद्ध होता है, जो निरन्तर होता है। रसोई वही तैयार होती है, जो निरन्तर बनती है। जैसे श्वास हरदम लेनेके हैं, ऐसे ही साधन हरदम करनेका है।

जैसे रोजाना रोटी खाते हैं तो उसमें नित्य नया रस मिलता है, ऐसे ही रोजाना सत्संग करनेसे नित्य नया रस मिलता है। आप सत्संग करते हैं; अतः दुनिया आपसे अच्छे बर्तावकी आशा रखती है। आप अच्छा बर्ताव नहीं करेंगे तो लोगोंको धक्का लगेगा!

धनसे भी अधिक मूल्य धर्म तथा ईश्वरका समझना चाहिये। धर्म पालन करनेयोग्य और ईश्वर प्राप्त करनेयोग्य है।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके मुख्य सिद्धान्त—

१-मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है।

२-मनुष्य जिस वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, वेश-भूषा, देश आदिमें है, वहीं रहते हुए वह अपना कल्याण कर सकता है।

३-मनुष्यमात्र प्रत्येक परिस्थितिमें परमात्माको प्राप्त कर सकता है। इसके लिये उसे परिस्थिति बदलनेकी जरूरत नहीं है।

४-सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो कर्म करनेसे होती है, पर परमात्माकी प्राप्ति कुछ भी न करनेसे होती है।

५-परमात्माकी प्राप्ति जड़ता (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है।

॥ श्रीहरिः ॥

1733▲

संत-समागम

GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

नम्र निवेदन

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके सशरीर उपस्थित रहते समय ऐसे कई लेख लिखे गये थे, जो उनके सामने प्रकाशित नहीं हो सके। कुछ लेख 'कल्याण' मासिक-पत्रमें प्रकाशित हुए थे। कुछ प्रश्नोत्तर लिखे हुए थे। उनमेंसे कुछ सामग्री प्रस्तुत पुस्तकमें प्रकाशित की जा रही है।

स्वामीजी महाराजके सामने जो भी पुस्तकें लिखी जाती थीं, उन्हें प्रकाशित होनेसे पूर्व वे एक-दो बार अवश्य सुन लेते थे और उनमें यथावश्यक संशोधन भी करवा देते थे। कहीं किसी बातकी कमी ध्यानमें आती तो उसकी पूर्ति करवा देते थे और कहीं कोई विषय स्पष्ट नहीं हुआ हो तो उसका स्पष्टीकरण लिखवा देते थे। परन्तु अब ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिये प्रस्तुत पुस्तकमें कुछ कमियाँ रह सकती हैं। आशा है, इसके लिये पाठक क्षमा करेंगे और स्वामीजी महाराजके भावोंको और भी समझनेके लिये उनकी अन्य पुस्तकोंका अध्ययन करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तकमें साधकोंके लिये उपयोगी अनेक गूढ़ विषयोंका उद्‌घाटन हुआ है। पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करके लाभ उठायें।

विनीत—

प्रकाशक

❑ ❑ ❑

१

तात्त्विक प्रश्नोत्तर

(एक महात्माके प्रश्न और उनके उत्तर)

प्रश्न—भीतर यह बात बैठी हुई है कि पुरुषार्थसे कुछ नहीं होता। जो होता है, प्रारब्धसे ही होता है। क्या यह ठीक है?

स्वामीजी—अपने पुरुषार्थसे कुछ नहीं होता। पुरुषार्थ छोड़ते ही प्रभु-कृपासे काम होता है। उसको प्रभु-कृपा न मानकर पुरुषार्थ मानना भूल है! अपना पुरुषार्थ सर्वथा छोड़ना 'शरणागति' है।

ज्ञानकी दृष्टिसे 'कुछ न करना' ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। 'करने' से प्रकृतिमें स्थिति होती है और 'न करने' से परमात्मतत्त्वमें स्थिति होती है। 'करने' से परमात्मतत्त्व मिलेगा—यह भाव देहाभिमान पुष्ट करनेवाला है। आदि-अन्तवाले कर्मोंका फल अनन्त कैसे हो सकता है?

प्रारब्धका फल भोग है, कर्म नहीं। यदि कर्मका फल भी कर्म होगा तो कर्मोंका अन्त कभी आयेगा ही नहीं, कर्म-बन्धनसे मुक्ति होगी ही नहीं—यह 'अनवस्था दोष' आयेगा। पुरुषार्थसे प्रारब्ध बनता है, पर प्रारब्धसे पुरुषार्थ नहीं बनता। हमारा प्रश्न है कि यदि सब कर्म प्रारब्धसे होते हैं तो प्रारब्ध कहाँसे होता है? प्रारब्ध तो क्रियमाण-कर्मका अंश है, फिर वह क्रियमाण-कर्म कैसे करेगा?

प्रश्न—भोजन किया तो भूख मिटना फल हुआ। फिर शौच गये तो यह 'कर्मका फल भी कर्म' हुआ?

स्वामीजी—शौच जाना कर्म नहीं है; क्योंकि इसमें कर्तृत्व नहीं है। भोजनके पचनेकी तरह शौच जाना एक चेष्टा है, कर्म नहीं। कर्मका फल कभी कर्म होता ही नहीं, प्रत्युत भोग होता है।

क्रियमाण-कर्मके फल-अंशके दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमेंसे दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। भोजन करते समय तृप्ति होना 'तात्कालिक' फल है और परिणाममें शौच होना, बल बढ़ना आदि 'कालान्तरिक' फल हैं।

प्रश्न—प्रतिबन्धक* के रहते हुए कोई जीवन्मुक्त हो सकता है क्या?

स्वामीजी—तीव्र जिज्ञासा होनेपर प्रतिबन्धक मिट जाते हैं।

प्रश्न—क्या पुण्यकर्मों (प्रारब्ध)-के बिना भी सन्त मिल सकते हैं?

स्वामीजी—मिल सकते हैं। सन्त प्रारब्धसे भी मिलते हैं—*'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता',* भगवत्कृपासे भी मिलते हैं—***'जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये'*** और उत्कट अभिलाषासे भी मिलते हैं—***'जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'*** इनमें उत्कट अभिलाषा मुख्य है।

प्रश्न—चुप साधनमें उपेक्षा कौन करेगा?

स्वामीजी—उपेक्षा स्वयं करेगा, जो कर्ता है अर्थात् जिसमें कर्तृत्व है। सिद्ध होनेपर वह स्वभाव बन जायगा, उसका आग्रह नहीं रहेगा।

प्रश्न—उपेक्षा अथवा साक्षीका भाव रहेगा तो बुद्धिमें ही?

---

* वेदान्तमें ज्ञानके चार प्रतिबन्धक बताये गये हैं—(१) संशय (प्रमाणगत और प्रमेयगत), (२) विपरीत भावना, (३) असम्भावना और (४) विषयासक्ति।

स्वामीजी—भाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयं (स्वरूप)-में होगा; जैसे—युद्ध सेना करती है, पर विजय राजाकी होती है। उपेक्षा एवं उदासीनतासे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है।

प्रश्न—उपयुक्त वस्त्र रहते हुए भी ठण्ड सहनेका अभ्यास करनेसे अहंकार आयेगा कि नहीं?

स्वामीजी—'मैं ठण्ड सह सकता हूँ'—इस तरह अपनी सामर्थ्यका अभिमान आ सकता है। तपस्यासे अभिमान आता है, कल्याण नहीं होता। तपस्या शक्ति पैदा करती है, कल्याण नहीं करती। अभ्यास भी अवस्था पैदा करता है, कल्याण नहीं करता।

प्रश्न—कभी सर्वात्मभाव, कभी साक्षीभाव, कभी सृष्टिके मिथ्या होनेका भाव स्वतः आता है, प्रयास नहीं करते। गलती कहाँ है?

स्वामीजी—पहलेके अभ्याससे ये संस्कार आते हैं। जब इनसे राग या द्वेष करते हैं, तब इनसे सम्बन्ध जुड़ जाता है—यही गलती होती है।

प्रश्न—आश्रम होनेसे विचार करना पड़ता है, पर चिन्ता या वासना नहीं व्यापती। गलती कहाँ है?

स्वामीजी—आश्रमकी व्यवस्थाका विचार करना तो स्वाँग है। अपना स्वाँग ठीक रीतिसे करना चाहिये।

प्रश्न—पूर्णरूपेण प्रभुको सर्वस्व अर्पण करनेके बाद संस्कारवश निषिद्ध कर्म हो सकता है क्या?

स्वामीजी—नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या भूलवश ऐसा अहंकार हो सकता है कि हमने प्रभुको सर्वस्व अर्पण कर दिया है?

स्वामीजी—नहीं हो सकता। यदि अहंकार होता है तो वास्तवमें पूर्ण समर्पण हुआ ही नहीं। वस्तुओंको भूलसे अपना माना था, वह भूल मिट गयी (अर्पण कर दिया) तो अभिमान कैसा?

प्रश्न—शास्त्रमें विधि-निषेधरूप धर्म बताया है। पूर्ण समर्पण करनेवालेको धर्म त्यागना पड़ेगा और धर्म त्यागते हैं तो शास्त्र छूट जायगा?

स्वामीजी—छूटेगा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण समर्पण करनेके बाद उससे नया शास्त्र बनेगा। शास्त्र छोड़नेमें दोष है, छूटनेमें कोई दोष नहीं। शास्त्र (शासन) साधकके लिये है, महापुरुषके लिये नहीं—'**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते**' (गीता ३। १७)। ऐसे महापुरुषके लिये शास्त्र निवृत्त हो जाते हैं।

प्रश्न—जैसे किसीको मकान बेचनेपर उस घरमें रहनेवाले साँप, बिच्छू, छिपकली आदि भी उसके पास जायँगे, ऐसे ही सर्वस्व अर्पण करनेवालेके गुण-दोष भी अर्पित हो जायँगे?

स्वामीजी—अग्निमें जो भी डाला जाय, सब अग्निरूप हो जाता है। तभी गीतामें आया है—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' (९। २८)। भगवान्‌ने भी कहा है—'**सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (गीता १८। ६६)। पापोंसे मुक्त कर दूँगा, न कि पुण्योंसे?

प्रश्न—बिना अहंकारके निषिद्ध कर्म हो जाय और अहंकारसे शुभ कर्म हो जाय तो दोनोंमें क्या ठीक है?

स्वामीजी—अहंकाररहित होनेपर कोई कर्म लागू नहीं होता—'**यस्य नाहङ्कृतो भावो॰**' (गीता १८। १७)। अहंकारके रहते हुए शुभ कर्म भी बन्धनकारक होता है।

प्रश्न—करनेमें पूरी सावधानी रखनेसे अहंकार नहीं आयेगा क्या?

स्वामीजी—अहंकार गया ही कहाँ, जो आ जायगा? करनेमें सावधान रहनेसे अहंकार मिटेगा। कर्मयोगमें अहंकार शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहंकार मिटता है और भक्तियोगमें अहंकार बदलता है—तीनोंका परिणाम एक ही होगा कि अहंकार नहीं रहेगा।

अहंकार आये तो 'मैं सावधानी रखता हूँ'—इसका भी आ जायगा! 'मैं त्यागी हूँ'—इसका भी अहंकार आ जायगा!

प्रश्न—गीतामें आया है—'**सदसच्चाहम्**' (९। १९), '**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३। १२) आदि। पूर्ण सत्य क्या है?

स्वामीजी—भक्तिकी दृष्टिसे कहा है—'**सदसच्चाहम्**' (सत् भी मैं हूँ और असत् भी मैं हूँ)। ज्ञानकी दृष्टिसे कहा है—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (उसे न सत् कहा जा सकता है, न असत्)। सभी बातें ठीक हैं। सबका तात्पर्य यही है कि एक परमात्मा ही हैं, असत् है ही नहीं।

प्रश्न—नामकी शक्ति तो सभी युगोंमें है, फिर चैतन्य महाप्रभुके इस कथनका क्या तात्पर्य है कि भगवान्‌ने कलियुगमें अपने नाममें सब शक्ति भर दी?

स्वामीजी—उनके कथनका तात्पर्य है कि कलियुगमें केवल नाम-जपसे ही सब हो जायगा।

प्रश्न—रामायणके काकभुशुण्डिजी भक्तिको सर्वोपरि कहते हैं और योगवासिष्ठके काकभुशुण्डिजी ज्ञानको सर्वोपरि कहते हैं, हम किसको मानें?

स्वामीजी—गहरा विचार करें तो तत्त्व एक ही है। दोनोंमें कोई फर्क नहीं है, केवल दृष्टिकोण (साधन-दृष्टि)-का भेद है—'***भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥***' (मानस, उत्तर० ११५। ७)

'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई०'—प्रेमके बिना ज्ञान रूखा, कठोर होता है। प्रेमके बिना ज्ञान शून्यतामें चला जाता है और ज्ञानके बिना प्रेम आसक्तिमें चला जाता है।

प्रश्न—जीवन्मुक्त यदि व्यवहारमें उतरे तो क्या अहंकार अनिवार्य है?

स्वामीजी—नहीं। उसके द्वारा अहंकाररहित 'क्रिया' होती है, अहंकारयुक्त 'कर्म' नहीं होता—'**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे**' (मुण्डक० २। २। ८)।

प्रश्न—भगवान्‌के अवतारी शरीरको 'मायाकृत' कहा गया है; अतः अवतारी शरीर प्राकृत हुआ?

स्वामीजी—वह माया है—भगवान्‌की इच्छा—*'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार'* (मानस, बाल० १९२), '**अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः**' (श्रीमद्भा० ११। ११। २८)।

अवतारी शरीर प्राकृत (पांचभौतिक) नहीं है—'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**' (गीता ४। ६), '**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**' (गीता ४। ९), *'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* (मानस, अयोध्या० १२७। ३)

प्रश्न—सगुण तो गुणोंमें है। त्रिगुणातीत केवल निर्गुण-निराकार है?

स्वामीजी—ऐसा नहीं है। श्रीमद्भागवतमें सगुणको भी 'निर्गुण' कहा गया है (११। २५। २५, २७)। सगुण उसे नहीं कहते, जिसमें सत्त्व-रज-तम गुण हैं, प्रत्युत उसे कहते हैं, जिसमें ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण हैं। गुणोंके अनुसार क्रिया होती है, पर भगवान् गुणोंसे निर्लिप्त रहते हैं। इसलिये गीतामें गुणातीत महापुरुषके लिये भी यही बात कही है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

'हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।'

सगुणमें अपरा नहीं है; किन्तु क्रिया अपराकी होती है।

प्रश्न—सगुण-साकार और सगुण-निराकार मायासे पार जानेमें ही सहायक हैं?

स्वामीजी—ठीक है, पर हम सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार—तीनोंमें भेद नहीं मानते। एक ही तत्त्व इन तीन रूपोंमें है।

प्रश्न—शाण्डिल्यका भक्तिसूत्र वेदोंसे विशेष है या विरुद्ध?

स्वामीजी—भक्तिसूत्र वेदोंसे विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत वेदोंसे विशेषता प्रकट करनेवाला है।

प्रश्न—लोकसंग्रह करें कि नहीं?

स्वामीजी—यदि आपको ज्यादा लोग जानते हैं, श्रेष्ठ मानते हैं तो लोकसंग्रह आपके लिये आवश्यक हो जाता है—'**लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि**' (गीता ३। २०)। हाँ, यदि ज्यादा लोग आपको न जानते हों तो अवधूत होकर रह सकते हैं।

वास्तवमें बोधवान्‌के लिये कोई विधि है ही नहीं। विधि साधकोंके लिये है। कई महात्मा लोगोंमें प्रसिद्ध होनेपर भी अवधूत होकर रहते हैं तो यह स्वभाव-भेदसे है।

प्रश्न—क्या 'वासुदेव' निर्गुण ब्रह्म है?

स्वामीजी—'वासुदेव' का अर्थ है—वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण, जो

सगुण-साकार हैं और जो गीतामें कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वम्**' (९। ४) आदि।

प्रश्न—तैत्तिरीयमें तपसे ब्रह्मको जाननेकी बात आयी है, फिर तपसे शक्ति पैदा होती है, कल्याण नहीं होता—इसका तात्पर्य?

स्वामीजी—तपसे तत्त्वज्ञान परम्परासे हो सकता है, साक्षात् नहीं। वेदान्तमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अंतरंग साधन बताये हैं—विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वपदार्थसंशोधन। तप अंतरंग साधन नहीं है, प्रत्युत बहिरंग साधन है।

'ज्ञान' को भी तप माना गया है, जिससे तत्त्वप्राप्ति होती है—'**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः**' (गीता ४। १०)। शरीरकी तपस्यासे तत्त्वप्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न—वेदोंमें, शास्त्रोंमें जगह-जगह विविधता, विपरीतता दीखती है, जिससे गलत धारणा बन सकती है?

स्वामीजी—गहराईसे विचार करना चाहिये कि कहाँ क्या कहा गया है और क्यों कहा गया है। शास्त्रोंका सिद्धान्त समझना मामूली बात नहीं है। गहराईसे विचार करें तो अनेकतामें एकता और एकतामें अनेकता दीखती है। गीतामें इस शास्त्रीय जालको साधकके लिये बाधक बताया गया है—'**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला**' (२। ५३)।

प्रश्न—आपने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगको स्वतन्त्र साधन भी कहा है और यह भी कहा है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है—यह भेद किस दृष्टिसे है?

स्वामीजी—दोनों ही बातें ठीक हैं। यह साधककी इच्छापर है कि वह किसको माने। गहरा विचार करनेपर कर्मयोग और ज्ञानयोग (लौकिक निष्ठा) साधन सिद्ध होते हैं। गीता और भागवतमें भी ऐसा ही आया है।

प्रश्न—ज्ञानीको शाप-वरदान लगते हैं क्या?

स्वामीजी—शाप-वरदान अज्ञान होनेपर लगते हैं। बोध होनेपर जीवन्मुक्तको शाप-वरदान नहीं लगते। जैसे, नारदजीने भगवान्‌को शाप दिया तो भगवान्‌ने कहा—*'मम इच्छा कह दीनदयाला'* (मानस, बाल० १३८। २)। भगवान् श्रीकृष्णने उत्तंक ऋषिसे कहा कि तुम मुझे शाप दोगे तो मुझे तो शाप लगेगा नहीं, पर तुम्हारी तपस्या क्षीण हो जायगी (महा०, आश्व० ५३। २४—२६)।

प्रश्न—तत्-त्वम्‌का शोध करते हुए आचार्योंने ईश्वरकी उपाधि मानी है। जीवकी अविद्या उपाधि है। दोनों उपाधियाँ मिथ्या हैं। उपाधि मिटते ही न ईश्वर रहता है, न जीव, केवल ब्रह्म रह जाता है। फिर ब्रह्म समग्रके अन्तर्गत कैसे?

स्वामीजी—यह एक मतकी बात है। गीता इसे नहीं मानती। गीता जीवको ईश्वरका अंश मानती है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (१५। ७)। अपने अद्वैत सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये ही दूसरे सिद्धान्तको, ईश्वरको कल्पित कहा गया है। वास्तवमें ईश्वर कल्पित नहीं है।

प्रश्न—समग्र क्या है? समग्र तो मिथ्या है, फिर उसके अन्तर्गत ब्रह्म कैसे?

स्वामीजी—अपनी बात लोगोंको समझानेके लिये शब्दोंका सहारा लेना ही पड़ता है! हमें गीतासे 'समग्र' शब्द मिला।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**' (७। १) अर्थात् तू मेरे समग्ररूपको निःसन्देह जिस प्रकारसे जानेगा, उसको सुन। ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ (गीता ७। २९-३०)। इसी समग्ररूपके अन्तर्गत ब्रह्म है।

सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारमें भेद नहीं है—यही समग्ररूप है। '**ब्रह्म**' केवल निर्गुण-निराकार होता है, इसलिये उसके अन्तर्गत सगुण-साकार नहीं आ सकता। परन्तु समग्रके अन्तर्गत तीनों आ जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१। २। ११)

समग्र मिथ्या है—यह बात साधकके लिये है; क्योंकि जगत्‌को जीव ही धारण करता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जगत् जीव अथवा साधककी दृष्टिमें है, महात्मा या भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं। मिथ्या इसलिये कहा है कि साधककी दृष्टि उधर न जाय। वास्तवमें एक चिन्मय तत्त्व ही है।

लोगोंको उसी भाषामें समझाया जाता है, जहाँ वे स्थित हैं। लोगोंकी दृष्टिमें '**सर्वम्**' की सत्ता है, तभी कहना पड़ता है—'**वासुदेवः सर्वम्**', अन्यथा केवल '**वासुदेव**' ही है, '**सर्वम्**' है ही नहीं। '**वासुदेव**' सच्चा है, '**सर्वम्**' मिथ्या है। इसी तरह लोगोंकी बुद्धिमें 'समग्र' बैठा हुआ है, तभी हम कहते हैं कि

परमात्मा समग्र हैं। असली तत्त्वमें शब्द नहीं है, प्रश्न और उत्तर भी नहीं है, प्रत्युत मौन है!

समग्र मिथ्या है—यह भी साधन है और समग्र परमात्मा है—यह भी साधन है। परन्तु समग्र (सब कुछ) परमात्मा है—यह साधन सब साधनोंसे तेज है।

द्वैतवाद, अद्वैतवाद, अजातवाद आदि सब साधन हैं, सिद्धान्त नहीं हैं। सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**।' सिद्धान्तको न माननेसे ही आपसमें मतभेद होते हैं, खटपट होती है।

एक साधन-तत्त्व होता है, एक साध्य होता है। सब साधन मिलकर साधन-तत्त्व होता है। साध्य 'समग्र' है, जिसमें मतभेद नहीं है।

वेदान्तके ग्रन्थ ज्ञानयोगको मुख्य मानते हैं और कर्मयोग एवं भक्तियोगको सहायक साधन (मल-विक्षेप दोष दूर करनेवाले) मानते हैं। परन्तु गीता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंको स्वतन्त्र साधन मानती है।

प्रश्न—जीव (अध्यात्म) मिथ्या है?

स्वामीजी—अद्वैत वेदान्त भी जीवको मिथ्या नहीं मानता, प्रत्युत जीवकी उपाधि (जीवपना)-को मिथ्या मानता है। यदि जीव मिथ्या है तो ब्रह्मानन्दका सुख कौन भोगेगा? मुक्ति किसकी होगी? मुक्ति होनेपर यदि जीव मिट जाय तो मुक्ति अर्थात् अपना विनाश कौन चाहेगा? अतः जीवपना मिथ्या है, जीव नहीं। जीव तो भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)।

प्रश्न—आपने पुस्तकमें लिखा है कि परमात्माके सिवाय सृष्टिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है?

स्वामीजी—ठीक बात है। इसमें शंका क्या है? पुनः उसे पढ़कर समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये। बात मूलमें एक ही है, पर समझानेके अलग-अलग ढंग हैं।

उदाहरणके लिये—रस्सीमें साँप दीखनेसे जो लोग भयभीत हो जाते हैं, उनके लिये कहते हैं कि 'साँप नहीं है, रस्सी है।' परन्तु जो लोग भयभीत नहीं होते, उनके लिये केवल इतना ही कहते हैं कि 'रस्सी है'। दोनों बातोंमें कोई फर्क नहीं है। इसी तरह जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, उन रागयुक्त साधकोंके लिये कहते हैं कि 'संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, परमात्माकी ही सत्ता है'। परन्तु जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता नहीं है, उन वीतराग साधकोंके लिये 'केवल परमात्मा हैं' इतना ही कहना पड़ता है।

पहले भी कहा था, पुनः कहते हैं कि संसार मिथ्या है—यह साधककी धारणासे है; क्योंकि जड़ता (मिथ्यापना) हमारी ही बुद्धिमें है, वास्तवमें है नहीं। जगत् जीवकी दृष्टिमें है। साधककी दृष्टिमें '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' है, पर सिद्धकी दृष्टिमें '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' है।

प्रश्न—अध्यारोप-अपवादको नहीं मानें, शुद्ध अजातवाद मानें?

स्वामीजी—संसार पहलेसे ही अध्यारोपित है, केवल अपवाद ही करना है। अतः अध्यारोप करना ही गलत है। अजातवादको मैं साधन मानता हूँ। यह केवल संसारकी आसक्ति मिटानेके काम आता है, यह सिद्धान्त नहीं है।

❑ ❑ ❑

२

साधकोपयोगी प्रश्नोत्तर

(अहंता-ममताका त्याग)

प्रश्न—क्या अहंता-ममता सर्वथा मिट सकती हैं?

स्वामीजी—हाँ मिट सकती हैं। अगर अहंता-ममता नहीं मिटतीं अथवा मिटनेवाली नहीं होतीं तो भगवान् गीतामें अहंता-ममतासे रहित होनेकी बात क्यों कहते? भगवान् कहते हैं—**'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता २।७१), **'निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी'** (गीता १२। १३), **'अहङ्कारं.........विमुच्य निर्ममः'** (गीता १८। ५३)। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य अहंता-ममतासे रहित हो सकता है।

वास्तवमें देखा जाय तो त्याग उसी वस्तुका होता है, जो पहलेसे ही अपनी नहीं होती, प्रत्युत केवल अपनी मानी हुई होती है। अतः झूठी मान्यताका ही त्याग होता है। जो वस्तु वास्तवमें अपनी होती है, उसका त्याग नहीं होता।

स्वरूपमें अहंता-ममता नहीं हैं। प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही अहंता-ममता पैदा होती हैं।

प्रश्न—अहंता-ममता तो अन्तःकरणके धर्म हैं; अतः इनको कैसे मिटाया जा सकता है?

स्वामीजी—अहंता-ममता अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं, प्रत्युत अन्तःकरणके (अज्ञानजनित) विकार हैं। जो धर्म होता है, वह धर्मीके रहते हुए कभी मिटाया नहीं जा सकता। वह धर्मीमें एकरूप रहता है। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि किसीमें

कम अभिमान होता है और किसीमें अधिक अभिमान होता है अर्थात् अहंता-ममता कम-ज्यादा होते हैं; परन्तु अन्तःकरण कम-ज्यादा नहीं होता। अतः अहंता-ममता अन्तःकरणके धर्म कैसे? अहंता-ममता आगन्तुक हैं; अतः ये कभी बढ़ जाते हैं, कभी घट जाते हैं। आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके अभिमान आदि बहुत बढ़ जाते हैं और दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके अभिमान आदि बहुत कम हो जाते हैं। तात्पर्य है कि अहंता-ममता अन्तःकरणके विकार हैं और इनको मिटाया जा सकता है।

प्रश्न—अहंता-ममताके बिना व्यवहार कैसे होगा?

स्वामीजी—व्यवहारमें अहंता-ममता कारण नहीं हैं, प्रत्युत नीति, धर्म, मर्यादा आदि कारण हैं। अहंता-ममता ज्यादा होनेसे व्यवहार बिगड़ जाता है। अहंता-ममताके बिना व्यवहार शुद्ध होता है। अहंता-ममतारहित व्यक्तिके द्वारा आदर्श व्यवहार होता है। जो अहंता-ममताके वशीभूत होते हैं, उनके आचरण मर्यादायुक्त, धर्मयुक्त नहीं होते।

प्रश्न—यदि माता-पिता बालकोंमें ममता नहीं रखेंगे तो फिर उनका सुधार कैसे कर पायेंगे?

स्वामीजी—यह बात बिलकुल गलत है। बालकमें ममता होनेसे उसमें मोह हो जाता है और मोहपूर्वक पालन करनेसे न बालकका हित (सुधार) होता है, न अपना, प्रत्युत मोह ही बढ़ता है। मोहसे आसुरी सम्पत्ति बढ़ती है।

एक बालक माँके पास रहता है, एक बालक पिताके पास रहता है, एक बालक अध्यापकके पास रहता है और एक बालक महात्माके पास रहता है। विचारपूर्वक देखें तो महात्माके पास रहनेवाला बालक जितना सुधरेगा, उतना अध्यापकके पास रहनेवाला

नहीं। अध्यापकके पास रहनेवाला बालक जितना सुधरेगा, उतना पिताके पास रहनेवाला नहीं। पिताके पास रहनेवाला बालक जितना सुधरेगा, उतना माँके पास रहनेवाला नहीं। कारण यह है कि माँमें मोह ज्यादा होता है, माँकी अपेक्षा पितामें मोह कम होता है, पिताकी अपेक्षा अध्यापकमें मोह कम होता है और महात्मामें मोह होता ही नहीं। अतः ममता रखकर पालन करनेसे बालकका सुधार होता है—यह बात बिलकुल झूठी है।

जो वैद्य या डॉक्टर सब लोगोंका इलाज करते हैं, वे अपने स्त्री-बच्चोंका इलाज करनेके लिये दूसरे वैद्य या डॉक्टरको बुलाते हैं। कारण कि अपने स्त्री-बच्चोंमें मोह-ममता ज्यादा होनेसे वे खुद उनका इलाज नहीं कर सकते। जहाँ मोह-ममता ज्यादा होती है, वहाँ बुद्धिका विकास कम होता है। अतः दूसरे वैद्य औषधि, पथ्य आदिका जितना विचार कर सकते हैं, उतना विचार ममतावाले नहीं कर सकते। तात्पर्य है कि ममतारहित वैद्य-डॉक्टर ही अपने स्त्री-बच्चोंका इलाज कर सकते हैं।

धृतराष्ट्रकी दुर्योधनमें बहुत ममता थी। महात्मा विदुरजीने धृतराष्ट्रको बहुत समझाया, पर ममताके कारण वे दुर्योधनका सुधार नहीं कर सके, जिससे कुलका ही विनाश हो गया। तात्पर्य है कि ममतासे पतन ही होता है, सुधार नहीं।

प्रश्न—गृहस्थमें रहते हुए अहंता-ममताका त्याग कैसे होगा?

स्वामीजी—अहंता-ममता न छूटनेमें गृहस्थ या साधु अथवा घर या सन्न्यास कारण नहीं है। बन्धन भीतरके भावसे, नीयतसे होता है। कुटुम्बके साथ सम्बन्ध होनेसे गृहस्थका व्यवहार ज्यादा होता है और निवृत्तिपूर्वक साधु बननेसे व्यवहार कम होता है—इस प्रकार व्यवहारमें तो फर्क पड़ता है, पर मुक्तिमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

अपने सुखकी इच्छा छोड़नेसे ममता छूट जाती है। जैसे, माँ बालकका पालन करनेके लिये ही बालकको अपना माने, परिवारमें एक-दूसरेकी सेवा करनेके लिये ही परिवारको अपना माने तो ममता छूट जायगी। अगर माँ बालकसे सुखकी आशा रखे कि यह बड़ा होगा तो इसका विवाह करूँगी, बहू आयेगी, फिर दोनों मेरी सेवा करेंगे आदि, तो उसकी ममता नहीं छूटेगी। ऐसे ही परिवारसे अपनी सुख-सुविधाकी इच्छा रखें तो ममता नहीं छूटेगी।

सत्कार्य (शुभ कार्य) वही है, जिसमें अपनी सुख-सुविधाकी, लोक-परलोक सुधरनेकी कुछ भी इच्छा न हो। जिसमें अपनी सुख-सुविधा, आराम आदिकी इच्छा होती है, वह कर्म असत्, अशुभ हो जाता है और बन्धनका कारण बन जाता है। जैसे, सेवा-समितिवाले मेलेमें केवल दूसरोंकी सुख-सुविधाके लिये ही जाते हैं तो वे किसीसे बँधते नहीं। परन्तु उनमें भी अगर मान-बड़ाई आदिकी इच्छा होगी तो वे बँध जायँगे।

जैसे, कोई सज्जन पथिक रात्रिमें किसीके घरपर ठहरता है तो वह घरवालोंको बिना कोई बाधा दिये ही भोजन, शयन इत्यादि करके अपना निर्वाह करता है। परन्तु रात्रिमें चोर-डाकू आ जायँ, घरमें आग लग जाय तो रक्षा करनेके लिये वह सबसे पहले तैयार होता है, दौड़-धूप करता है। कारण कि वह समझता है कि मैंने इनके घरका अन्न-जल लिया है; अतः किसी भी प्रकारसे इनकी सेवा बन जाय तो मैं इनके ऋणसे मुक्त हो जाऊँ। ऐसे ही परिवारमें रहते हुए प्रत्येक सदस्य यही सोचे कि इस परिवारमें मेरा जन्म हुआ है, पालन-पोषण हुआ है, मैं शिक्षित हुआ हूँ; अतः मेरे तन-मन-धनसे इनकी सेवा बन जाय, जिससे मैं इनका ऋणी न रहूँ। ऐसे भावसे घर-परिवारमें रहे तो

पथिककी तरह घरमें ममता नहीं रहेगी। जैसे पथिक सुबह होते ही वहाँसे चल देता है, फिर उसको वह घर याद नहीं आता; क्योंकि उसकी उस घरमें ममता नहीं होती। ऐसे ही घरमें पथिककी तरह ईमानदारीसे रहते हुए तत्परता एवं उत्साहपूर्वक सबकी सेवा करनेसे ममता टूट जाती है—'**यः सर्वत्रानभिस्नेहः**' (गीता २।५७), '**असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु**' (गीता १३।९)। तात्पर्य है कि परिवारमें रहते हुए सबकी सेवा करें, पर बदलेमें सेवाकी इच्छा न रखें। शरीरसे परिश्रम करके सेवा करनेसे 'अहंता' नहीं रहेगी और उदारतापूर्वक वस्तुएँ सेवामें खर्च करनेसे 'ममता' नहीं रहेगी।

घरमें रहते हुए सेवा न लें—इसमें कठिनता जरूर है; क्योंकि सेवा लेनेकी आदत पड़ी हुई है। अतः कभी सेवा लेनी भी पड़े तो केवल दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही सेवा लें। दूसरेकी प्रसन्नताके लिये सेवा लेना भी वास्तवमें देना ही है! जैसे, पत्नी भोजन बनाये तो उसकी प्रसन्नताके लिये भोजन करे, अपने आराम, बलवृद्धि आदिके लिये नहीं। वास्तवमें देखा जाय तो संसार केवल ममता रखनेसे राजी नहीं होता, प्रत्युत सेवा करनेसे अथवा वस्तु देनेसे राजी होता है।

अपने स्त्री-पुत्र, परिवारमें ममता रखकर सेवा करेंगे तो उस सेवाकी मिट्टी हो जायगी; क्योंकि ममता व स्वार्थबुद्धि होनेसे वह सेवा खत्म हो जाती है। अपने बच्चोंका ममतापूर्वक पालन तो कुतिया भी करती है, पर उसका महत्त्व थोड़े ही है! अतः चाहे ममतारहित होकर घरवालोंकी सेवा करें, चाहे जिनमें ममता नहीं है, उनकी सेवा करें, दोनोंका नतीजा एक ही होगा। तात्पर्य है कि

बन्धनका कारण ममता ही है। घरमें रहना बन्धनका कारण नहीं है।

जैसे, सद्वैद्य केवल सेवा करनेके लिये ही रोगीको अपना मानता है तो यह अपनापन (ममता) केवल उसको नीरोग करनेके लिये ही है। इसकी परीक्षा तब होती है, जब रोगी नीरोग होकर वैद्यकी विरोधी पार्टीमें शामिल हो जाय और वैद्यके विरुद्ध कार्य करे, फिर भी वैद्य ऐसा समझे कि मेरा उद्योग तो केवल उसको ठीक करनेका ही था, अब उसका उद्योग मेरेको दु:ख देनेका है तो अच्छी बात है। मैंने तो अपने कर्तव्यका पालन कर दिया। मैंने उसकी जो सेवा की है, वह उसको अपने अधीन बनानेके लिये थोड़े ही की है। वह सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है।

प्रश्न—अहंता-ममताके बिना तो मनुष्य जड़ हो जायगा?

स्वामीजी—यह बात नहीं है। अहंता-ममताके बिना मनुष्य पत्थरकी तरह जड़ नहीं हो जायगा, प्रत्युत सावधान, सजग हो जायगा कि ये वस्तु-व्यक्ति पहले भी मेरे नहीं थे, बादमें भी मेरे नहीं रहेंगे और वर्तमानमें भी मेरे नहीं हैं; क्योंकि ये प्रतिक्षण मेरेसे अलग हो रहे हैं। हाँ, इनकी सेवा, सदुपयोग करके मैं अपना कल्याण कर सकता हूँ। वास्तवमें अपना कल्याण होनेमें धनादि पदार्थ कारण नहीं हैं, प्रत्युत उन पदार्थोंमें अपनी ममताका त्याग ही कारण है।

प्रश्न—अहम्‌का अर्थात् अपनी सत्ताका नाश हो जाय—ऐसी मुक्ति कौन चाहेगा?

स्वामीजी—अहंता-ममता मिटनेसे अपनी सत्ताका नाश नहीं होता, प्रत्युत तुच्छताका नाश होता है और अपनी महत्ता प्रकट हो जाती है, जो वास्तवमें है—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २। २४)।

प्रश्न—'मैं साधक हूँ'—ऐसी अहंताके बिना साधन कैसे होगा?

स्वामीजी—'मैं साधक हूँ'—इसमें दो भाव होते हैं—१. मैं साधक हूँ, दूसरे साधक नहीं हैं और २. मैं साधक हूँ; अतः मुझे साधनसे विरुद्ध काम नहीं करना है।

मैं साधक हूँ, दूसरे साधक नहीं हैं—ऐसा भाव होनेसे अभिमान आता है। यह अभिमान आसुरी सम्पत्ति है (गीता १६। १४-१५), जो बन्धनका कारण है—'**निबन्धायासुरी मता**' (गीता १६। ५)। परन्तु मैं साधक हूँ; अतः मैं साधनसे विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ?—ऐसा भाव होनेसे अभिमान नहीं आता, प्रत्युत साधनमें तत्परता आती है, जिससे साधनकी सिद्धि होती है।

प्रश्न—अपनापन (ममता)-के बिना दान कैसे दिया जायगा? कारण कि अपनी वस्तुका ही दान होता है।

स्वामीजी—वस्तुमें अपनापन वास्तवमें नहीं है, प्रत्युत माना हुआ है। वह माना हुआ अपनापन भी केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही है। अतः मनुष्य दान-पुण्य कर सकता है, धन आदिसे निर्लिप्त रह सकता है। परन्तु ममता करनेवाला दान-पुण्य कर ही नहीं सकता; क्योंकि वह कृपण हो जाता है। वह अन्यायपूर्वक कमाता है, पर न्यायपूर्वक जहाँ खर्च करना चाहिये, वहाँ खर्च नहीं करता। वह दूसरोंका धन हड़पनेके लिये उद्योग करता है और मौका लगनेपर हड़प भी लेता है। अतः ऐसा व्यक्ति क्या दान-पुण्य करेगा? वह दान-पुण्य कर ही नहीं सकता। एक कहावत है कि 'दाताका धन अपना नहीं और शूरवीरका सिर अपना नहीं'। अपना माननेवाला न तो दाता हो सकता है और न शूरवीर ही हो सकता है।

प्रश्न—'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा माननेसे 'मैं'-पना रह जायगा न? और श्रुति भी कहती है—'**द्वितीयाद्वै भयं भवति**'

(बृहदारण्यक० १ । ४ । २) अर्थात् दूसरेसे भय होता है। अतः इससे साधन कैसे होगा? इससे तो द्वैतपना ही दृढ़ होगा।

स्वामीजी—ऐसी बात नहीं है। भगवान् द्वितीय (दूसरे) नहीं हैं, प्रत्युत आत्मीय हैं। आत्मीयसे भय नहीं होता, प्रत्युत निर्भयता होती है। भय तो दूसरेसे होता है; जैसे—बालकको कुत्ते, कौए आदिसे भय होता है, पर माँसे भय नहीं होता। बालक माँकी गोदमें निर्भय रहता है। माँ तो एक जन्मकी होती है, पर भगवान् सदाकी माँ हैं। भगवान् सदासे अपने हैं, दूसरे हैं ही नहीं। उनमें दूसरेपनकी सम्भावना ही नहीं है। फिर अपने प्रभुसे भय कैसे होगा? वास्तवमें भगवान्से अलग होनेपर, अपनेको भगवान्से अलग माननेपर ही भय होता है अर्थात् भगवान्से अलग होकर संसारको अपना माननेसे ही भय होता है।

भक्तिमें ऐसा आया है—***'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'*** (मानस, अरण्य० ११ । ११) अर्थात् वास्तवमें यह अभिमान निरभिमानता है; क्योंकि 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इसमें अहंता-ममता नहीं है। यह तो वास्तविकता है। भगवान्ने भी कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५ । ७) 'यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।'

वस्तुओंको अपना माननेसे जड़ता और भगवान्को अपना माननेसे चिन्मयता आती है। ममतासे वस्तुओंकी गुलामी आती है।

प्रश्न—अभिमान और स्वाभिमानमें क्या अन्तर है?

स्वामीजी—अपनेमें बड़प्पनका भाव होनेसे 'अभिमान' होता है और अपने कर्तव्यका 'स्वाभिमान' होता है कि मैं ऐसा काम कैसे कर सकता हूँ? जैसे, यक्षने युधिष्ठिरसे कहा कि मैं तुम्हारे एक भाईको जीवित कर सकता हूँ, तुम बताओ, किसको

जीवित करूँ? युधिष्ठिरने कहा कि हे यक्ष! नकुल जी उठे। इसपर यक्षने कहा कि यदि भीम या अर्जुन जी जाते तो तेरा गया हुआ राज्य दिला देते, नकुल जीकर क्या करेगा? युधिष्ठिर बोले—माता कुन्तीका पुत्र तो मैं हूँ ही, पर मेरी छोटी माता माद्रीका भी एक पुत्र रहना चाहिये। मैं अपने सहोदर भाईको कैसे जिला सकता हूँ; क्योंकि लोग मुझे धर्मात्मा कहते हैं—

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥

(महा०, वन० ३१३। १३०)

'यक्ष! लोग मेरे विषयमें ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं; अतः मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं होऊँगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय।'—यह युधिष्ठिरका स्वाभिमान है।

तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यपर डटे रहना, अपनी भलाईका कभी त्याग न करना स्वाभिमान कहलाता है।

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुषमें अहंता-ममता नहीं रहती तो फिर उसके द्वारा व्यवहार कैसे होता है?

स्वामीजी—अहंता-ममता मिटनेसे शरीर नहीं मिटता, प्रत्युत शरीरके साथ तादात्म्य मिटता है। अतः जीवन्मुक्त महापुरुषका व्यवहार पूर्वके प्रवाहसे ज्यों-का-त्यों चलता रहता है, पर उसके व्यवहारमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं रहते। उसका व्यवहार निर्लिप्ततासे होता है अर्थात् शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे जो विकार होते थे, वे विकार नहीं होते। उसमें चिज्जड़ग्रन्थि-रूप अहंकार नहीं रहता, प्रत्युत वृत्तिरूप (कारणरूप) अहंकार रहता है, जिससे व्यवहार होता है। जैसे मूँजकी रस्सी जलनेपर भी उसकी ऐंठन (बट) दीखती है, पर हाथ लगाते ही वह

बिखर जाती है, बीजोंको भूनने अथवा उबालनेपर वे बीज खानेके काम तो आते हैं, पर उनसे अंकुर पैदा नहीं होता, ऐसे ही अहंता-ममता न रहनेपर व्यवहार तो ज्यों-का-त्यों चलता रहता है, पर उससे जन्म-मरणरूप अंकुर पैदा नहीं होता।

जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा सुचारुरूपसे व्यवहार होता रहता है। वह व्यवहार दूसरोंके लिये आदर्श होता है। उसके व्यवहारसे शास्त्र बनते हैं। उस महापुरुषके व्यवहारका, आचरणोंका, अवस्थाका वर्णन करनेमें लेखन-प्रमादके कारण शास्त्रोंमें भूल हो सकती है, पर उसके आचरणोंमें भूल नहीं हो सकती।

भूलके दो रूप हैं—तादात्म्यरूप भूल और विस्मृतिरूप भूल। जीवन्मुक्त महापुरुषमें तादात्म्यरूप भूल तो रहती ही नहीं, पर व्यवहारमें विस्मृतिरूप भूल हो सकती है। जैसे, उसे रस्सीमें साँप दीख सकता है, पर मोह नहीं हो सकता। जिस धातुकी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि हैं, उसी धातुका संसार है। अतः उसे इन्द्रियोंसे संसार दीख सकता है, पर मोह नहीं हो सकता।

प्रश्न—लोमशजी अहंता-ममतारहित महात्मा थे, फिर उनको क्रोध कैसे आ गया?

स्वामीजी—महात्माके द्वारा चार प्रकारसे व्यवहार होता है—१. खुदके प्रारब्धसे २. सामनेवाले व्यक्तिके प्रारब्धसे ३. अपनी साधनाके अनुसार और ४. सामनेवाले व्यक्तिके भावके अनुसार।

१. जिस प्रारब्धसे महात्माका शरीर बना है, उसके अनुसार महात्माके द्वारा व्यवहार होता रहता है।

२. सामनेवाले व्यक्तिके प्रारब्धसे कभी-कभी महापुरुषोंमें शाप अथवा अनुग्रहकी वृत्ति हो जाती है। शापकी वृत्ति होनेपर

भी उससे बन्धन नहीं होता। अनुग्रहमें सामनेवाले व्यक्तिका अधिक पूज्यभाव, श्रद्धाभाव, आदरभाव, सेवाभाव कारण होता है। शापमें सामनेवाले व्यक्तिका पाप और महात्माका अपमान, तिरस्कार, खण्डन आदि कारण होते हैं। परन्तु महापुरुषोंके शापसे किसीका अहित नहीं होता—*'साधु ते होइ न कारज हानी'* (मानस, सुन्दर० ६।२)। इसलिये अहल्याने ऋषि-शापको भी परम अनुग्रह माना—*'मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना'* (मानस, बाल० २११।३)। नारदजीने नल-कूबरको वृक्ष होनेका शाप दिया, पर अन्तमें नलकूबरको भगवान्‌के दर्शन हो गये, जो कि अनन्यभक्तिसे होते हैं*। लोमशजीने काकभुशुण्डिजीको शाप दिया तो उससे उनमें विशेषता ही आयी। स्वयं काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥

(मानस, उत्तर० ११४ ख)

३. महापुरुष जिस साधनासे तत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं, उसके अनुसार (सिद्धावस्थामें भी) उनका व्यवहार होता है। जो महापुरुष ज्ञानयोगसे सिद्धिको प्राप्त हुआ है, उसमें उदासीनता, तटस्थता, निरपेक्षता मुख्य रहती है। कर्मयोगसे सिद्धिको प्राप्त

---

* भगवान् कहते हैं—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।४१)

'जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना।'

हुए महापुरुषमें कर्मप्रवणता (कर्म करनेका प्रवाह) मुख्य रहती है। भक्तियोगसे भगवान्को प्राप्त हुए महापुरुषमें करुणा, दया, भगवच्चर्चा आदि मुख्य रहते हैं। तात्पर्य है कि साधनावस्थामें उनका जैसा स्वभाव रहा है, वही स्वभाव सिद्धावस्थामें भी रहता है।

४. सामनेवाले व्यक्तिका महात्मामें पूज्य, आदरका भाव होता है तो महात्माके द्वारा स्वतः ही ज्ञानकी चर्चा विशेषतासे होती है। परन्तु सामनेवाले व्यक्तिका विशेष आदरभाव न होनेसे महात्माके द्वारा उसके साथ सामान्य बर्ताव होता है। कोई तर्कबुद्धिसे सामने आता है तो उसके साथ उसीके भावके अनुसार उत्तर-प्रत्युत्तर होता है। परन्तु खुद महापुरुषमें कोई विकार नहीं होता।

प्रश्न—दुर्वासा तत्त्वज्ञ महापुरुष थे, फिर वे इतना क्रोध क्यों करते थे?

स्वामीजी—दुर्वासा तपस्वी माने जाते हैं। शाप देना, अनुग्रह करना आदि बातें ऊँचे तपस्वियोंमें ज्यादा होती हैं। उनमें तपोबलका एक अभिमान होता है, जबकि बोधका अभिमान नहीं होता।

तपस्या एक बल है, पूँजी है। उस बलसे शाप और अनुग्रह—दोनों हो सकते हैं। उसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी, परन्तु अहंता-ममतारहित, गुणातीत महापुरुषोंके द्वारा प्रायः ऐसा व्यवहार नहीं होता। कभी साधनावस्थाकी वृत्तिका उदय होनेसे अथवा सामनेवालेके प्रारब्धसे उनके द्वारा शाप अथवा अनुग्रहका व्यवहार हो सकता है। परन्तु यह व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक हुआ है अथवा निर्विकारतापूर्वक—इस भेदको स्वयं ही जाना जा सकता है। दूसरे व्यक्ति इसे नहीं समझ सकते; क्योंकि उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।

❑❑❑

३

कल्याणकारी प्रश्नोत्तर

प्रश्न—त्याग करनेका उपाय क्या है?

स्वामीजी—त्याग करनेका उपाय है—दूसरोंकी सेवा करें, उनको सुख पहुँचायें, पर बदलेमें उनसे कुछ भी न चाहें। सुख आ जाय तो भगवान्‌को पुकारें कि हे नाथ, बचाओ!

अगर हम माँ-बापसे भी सुख चाहते हैं, बहन-भाईसे भी सुख चाहते हैं, स्त्री-पुत्रसे भी सुख चाहते हैं तो बन्धन कभी मिटेगा नहीं। हम कितना ही पढ़ लें, कितने ही बड़े पण्डित बन जायँ, कितने ही बड़े व्याख्यानदाता बन जायँ, कितने ही बड़े लेखक बन जायँ, पर जबतक हम दूसरोंसे सुख चाहते रहेंगे, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होगा। हम साधु हो गये, पर दूसरोंसे सुख चाहते हैं, आराम चाहते हैं, मान-बड़ाई-आदर चाहते हैं, रोटी-कपड़ा चाहते हैं, मकान चाहते हैं, पुस्तक चाहते हैं, गाड़ीका किराया चाहते हैं तो मुक्तिसे हाथ धोनेके सिवाय कुछ मिलेगा नहीं। कोई कहे कि रोटी नहीं मिलेगी तो मर जायँगे। क्या रोटी खाते-खाते नहीं मरेंगे? मरना तो है ही, नयी बात क्या हो गयी? दृढ़ता इतनी होनी चाहिये कि मर भले ही जायँ, पर संसारकी गुलामी स्वीकार नहीं करेंगे। मरनेमें लाभ ही होगा, पर अहंकारके रहते जीनेमें लाभ नहीं होगा। जबतक अहंकार है, तबतक जीना-मरना चलता रहेगा। संसारकी गुलामी करते हुए जीयेंगे तो चिज्जड़ग्रन्थि ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। सच्ची बात तो यह है कि जिस

दिन हमारा मरना लिखा है, उसी दिन मरेंगे। उससे एक क्षण भी पहले नहीं मर सकते और न कोई मार ही सकता है!

प्रश्न—संसारकी कामना होनेमें क्या कारण है?

स्वामीजी—इसमें कारण है—असत् (नाशवान् पदार्थों)-की सत्ता और महत्ता। हम ही असत्‌को सत्ता देते हैं और सत्ता देकर उसमें महत्त्वबुद्धि कर लेते हैं। यह महत्त्वबुद्धि ही हमारे लिये खास बाधक है। हमने शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको महत्ता दे दी, भोगोंको महत्ता दे दी, मान-आदरको महत्ता दे दी, आरामको महत्ता दे दी, रुपयोंको महत्ता दे दी और इस प्रकार खुद ही उसमें फँस गये।

प्रश्न—असत्‌की सत्ता और महत्ता मिटानेका उपाय क्या है?

स्वामीजी—तीन उपाय हैं—योगमार्ग, विवेकमार्ग और विश्वासमार्ग। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवा करना, उनको सुख पहुँचाना 'योगमार्ग' (कर्मयोग) है। अपने विवेकको महत्त्व देना 'विवेकमार्ग' (ज्ञानयोग) है और भगवान्, शास्त्र, गुरु और सन्तोंपर तथा उनके वचनोंपर विश्वास करना 'विश्वासमार्ग' (भक्तियोग) है। सबसे सरल उपाय है—असत्‌की सत्ता और महत्ता सही न जाय। उत्कट अभिलाषामें जो ताकत है, वह किसी साधनमें नहीं है। असली भूख होनेपर जो भोजन मिलता है, उससे ताकत मिलती है, परन्तु बिना भूखके बढ़िया-से-बढ़िया माल खा लें तो उलटे हानि करेगा, पेट खराब हो जायगा।

समझाना तो गुरु, सन्त, शास्त्र आदिकी जिम्मेवारी है, पर समझी हुई बातको धारण करना, स्वीकार करना हमारी जिम्मेवारी है। जितने भी समझवाले व्यक्ति हैं, वे सब नासमझ व्यक्तियोंके ऋणी हैं। अन्नवाले भूखोंके ऋणी हैं। ज्ञानी अज्ञानियोंके ऋणी हैं।

उनको 'ज्ञानी' की पदवी अज्ञानियोंसे ही मिली है। अगर अज्ञानी न हों तो उनको ज्ञानी कौन कहेगा? ऐसे ही धनी निर्धनोंके ऋणी हैं। उनको धनीकी पदवी निर्धनोंके कारण ही मिली है। अगर सब-के-सब धनी हों तो उनको धनी कौन कहेगा? अतः उनको निर्धनोंकी सेवा करके उऋण हो जाना चाहिये। अगर वे अपना ऋण नहीं उतारेंगे तो उनको दुःख पाना पड़ेगा।

दो आदमी सदा ऋणी रहते हैं—एक बेईमान और दूसरा अभावग्रस्त। बेईमान आदमी देना चाहता ही नहीं और अभावग्रस्त आदमीके पास देनेके लिये है ही नहीं। परन्तु भगवान् और सन्त-महात्मा कभी किंचिन्मात्र भी किसीके ऋणी नहीं रहते। हाँ, अगर उनकी बातोंको कोई सुने ही नहीं, स्वीकार करे ही नहीं तो वे क्या करें?

प्रश्न—परमात्माकी असली भूख कैसे लगे?

स्वामीजी—हमें भोग और संग्रह मिल जाय, मान-बड़ाई मिल जाय, आदर मिल जाय, वाहवाही मिल जाय—यह भूख जबतक है, तबतक परमात्माकी भूख कैसे लग सकती है? नहीं लग सकती। हम भले ही आज मर जायँ, भले ही हमारी निन्दा हो जाय, तिरस्कार हो जाय, कोई हमें सभाके बीचमें जूते मारकर निकाल दे तो यह हमें स्वीकार है, पर हमें परमात्माको प्राप्त करना ही है—ऐसी लगन हो जायगी तो परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी। परन्तु भोगोंकी इच्छा रहेगी तो न इच्छा पूरी होगी, न परमात्मतत्त्व मिलेगा, प्रत्युत जन्म-जन्मान्तरतक दुःख पाते रहेंगे।

संसारमें कितने ही भोग, रुपये, मान-आदर आदि मिल जायँ, पर उनमें राजी न हों और परमात्मप्राप्तिके लिये व्याकुल हो जायँ तो बिना गुरुके, बिना उपदेशके अपने-आप परमात्मतत्त्व

मिल जायगा। अपनी वर्तमान स्थितिमें सन्तोष करना महान् बाधक है।

पाँच सात साखी कही, पद गायो दस दोय।
दरिया कारज ना सरै, पेट भराई होय॥

थोड़ा-बहुत सीख लिया, दूसरोंको सुना दिया तो इससे पेट-भराई हो जायगी, भिक्षा मिल जायगी, लोग समझेंगे कि महाराज बड़े अच्छे हैं, पर इससे परमात्मतत्त्व नहीं मिलेगा।

नचिकेताने यमराजसे आत्मविषयक प्रश्न किया तो यमराजने उसको कई भोगोंका लालच दिया कि तुम सैंकड़ों वर्षोंकी आयुवाले पुत्र-पौत्रोंको माँग लो, भूमण्डलका राज्य माँग लो, इच्छित मृत्युको माँग लो, मनुष्यलोक तथा स्वर्गलोकके सम्पूर्ण भोगोंको माँग लो, जो चाहे सो माँग लो, पर आत्मविषयक प्रश्न मत करो। परन्तु नचिकेताने दृढ़तासे कहा कि ये सब वस्तुएँ आपके पास ही रहें, मुझे तो आपसे आत्मविषयक प्रश्नका उत्तर ही चाहिये। इसके सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु मुझे नहीं चाहिये—'**नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते**' (कठोपनिषद् १। १। २९)। इस प्रकार उत्कट अभिलाषा होनेसे ही परमात्मतत्त्व मिलता है।

परमात्मतत्त्व इतना सस्ता है कि उत्कट इच्छामात्रसे मिल जाता है, पर संसारकी वस्तु इच्छामात्रसे नहीं मिलती। कारण कि सांसारिक वस्तुएँ जन्य (पैदा होनेवाली) हैं; जब निर्मित होंगी, तब मिलेंगी, पर परमात्मा जन्य नहीं हैं। इच्छा भी करें, उद्योग भी करें और प्रारब्ध भी साथ हो, तब सांसारिक वस्तु मिलती है। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें न उद्योगकी जरूरत है, न प्रारब्धकी जरूरत है, केवल उत्कट इच्छामात्रकी जरूरत है। कारण कि परमात्मतत्त्व प्रकृतिसे अतीत है, फिर वह प्राकृत

क्रिया और पदार्थसे कैसे मिल जायगा? उत्कट अभिलाषा स्वयंमें होती है अर्थात् यह स्वयंकी भूख है और यह भूख जाग्रत् होती है असत्को महत्त्व न देनेसे।

संसारकी इच्छा न करनेपर वस्तुओंकी कमी नहीं होगी, जीनेकी कमी नहीं होगी, धनकी कमी नहीं होगी, प्रत्युत जो हमें मिलनेवाला है, वह अवश्य मिलेगा—'**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**' (गरुडपुराण, आचार० ११३। ३२) 'जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।' हमारे भाग्यकी चीज दूसरेको कैसे मिल जायगी? हमें आनेवाला बुखार दूसरेको कैसे आ जायगा? संसारकी वस्तु यदि मिलनेवाली है तो बिना इच्छाके भी मिलेगी और नहीं मिलनेवाली है तो कितनी ही इच्छा करें, नहीं मिलेगी। परन्तु परमात्मतत्त्वकी उत्कट अभिलाषा होगी तो वह अवश्यमेव मिलेगा।

प्रश्न—अगर परमात्मतत्त्वका बोध हो जाय तो फिर क्या करना चाहिये?

स्वामीजी—परमात्मतत्त्वका बोध होनेपर कुछ करना, जानना और पाना बाकी रहता ही नहीं! अतः बोध होनेपर क्या करे—यह प्रश्न ही पैदा नहीं होता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि बोध होनेपर चुप रहना चाहिये। इस विषयमें एक कहानी है। एक राजाको तत्त्वबोध हो गया। राज्यमें दूसरा कोई जाननेवाला है कि नहीं—यह पता लगानेके लिये उसने अपने आदमियोंको आज्ञा दी कि तुमलोग अच्छे-अच्छे सन्त-महात्मा, विद्वान् आदिसे पूछकर इस प्रश्नका उत्तर लिखकर लाओ कि किसीको बहुत बढ़िया चीज मिल जाय तो वह क्या करे? राजाके आदमियोंने कइयोंके पास जाकर इस प्रश्नका उत्तर पूछा।

किसीने कहा कि उस चीजको तिजोरीमें सँभालकर रख दो, किसीने कहा कि किसीपर भी विश्वास करके वह चीज उसे न दे, आदि-आदि। उस राज्यमें एक धान बेचनेवाला बनिया था। उससे पूछा तो उसने कहा कि बढ़िया चीज मिल जाय तो हल्ला क्यों करे? यह बात राजाके पास पहुँची तो उसने समझ लिया कि यह बनिया ठीक जाननेवाला है। राजा उससे मिलनेके लिये उसके घर गया। बनियेने राजाको आदरपूर्वक बैठाया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। राजाने कहा कि तुम जो चाहो सो माँग लो। राजाका विचार था कि यह अधिक-से-अधिक राज्य माँग सकता है तो ऐसे आदमीको देनेमें राज्यका भला ही है। बनियेने कहा कि पहले वचन दो कि जो माँगूँगा, वह आप देंगे। राजाने वचन दे दिया कि हाँ, जो माँगोगे, वह मैं जरूर दूँगा। बनियेने कहा कि आगेसे आप तो यहाँ आना मत और मुझे बुलाना मत। आप आओगे या मुझे बुलाओगे तो लोग मेरे पीछे पड़ जायँगे कि तुम राजासे कहकर मेरा यह काम करवा दो, वह काम करवा दो। राजाने आश्चर्य किया कि इसने यह क्या माँगा। बनियेने कहा कि जो मेरे मनमें आया, वह माँग लिया। मैंने आपके आनेके लिये और मेरेको बुलानेके लिये ही मना किया है, मेरे आनेके लिये तो मना किया नहीं है। जब मुझे जरूरत होगी, तब मैं आपके पास आकर आपसे मिल लूँगा। अतः तत्त्वबोध होनेपर चुप रहना चाहिये, हल्ला नहीं करना चाहिये।

❑ ❑ ❑

४

साधनकी चरम सीमा

किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे अन्तमें '**वासुदेवः सर्वम्**' तक पहुँचना है। सब कुछ परमात्मा ही हैं, मैं-तू-यह-वह नहीं है—यहाँतक पहुँचना है। इस विषयमें साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये, बड़े उत्साहसे चलना चाहिये। कारण यह है कि यह सच्ची बात है।

नाशवान् पदार्थोंकी तरफ चलते हुए जीवको कभी सुख-शान्ति नहीं मिल सकते। इसलिये धन, सम्पत्ति, वैभव, जमीन-जायदाद आदि कितने ही मिल जायँ, तृष्णा छूटती नहीं। कारण यह है कि जीव साक्षात् परमात्माका अंश है। परमात्माका अंश प्राकृत पदार्थोंसे कैसे तृप्त हो सकता है? भगवान्‌ने कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है।'

भगवान्‌ने यहाँ '**ममांशः**' (**मम अंशः**) नहीं कहा, प्रत्युत '**ममैवांशः**' (**मम एव अंशः**) कहा। इसका तात्पर्य है कि जीव केवल भगवान्‌का ही अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। यद्यपि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं, तथापि भगवान्‌ने कभी भी तथा कहीं भी अपरा प्रकृतिको अपना अंश नहीं बताया। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये आठ प्रकारकी 'अपरा प्रकृति' हैं और

जीवात्मा 'परा प्रकृति' है।* '**ममैवांशः**' कहनेका तात्पर्य है कि जीव अपरा प्रकृतिसे सर्वथा रहित है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण है, ऐसे जीवमें भगवान् और प्रकृति—दोनोंके अंशका मिश्रण नहीं है। जीव केवल भगवान्‌का अंश है; अतः जैसे भगवान् हैं, वैसे ही यह भी है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

शुद्ध परमात्माका अंश होनेसे जीवात्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित है। इसलिये गीतामें आया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह (पुरुष स्वयं) अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

कर्तृत्व-भोक्तृत्व वास्तवमें प्रकृतिमें ही हैं। इसलिये साधकको कर्तृत्व-भोक्तृत्वका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार ही नहीं करना है। वास्तवमें शरीरमें रहता हुआ भी स्वयं कभी कर्ता-भोक्ता बना ही नहीं, कभी बनेगा ही नहीं, कभी बन सकता ही नहीं। गीतामें आया है—

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७। ४-५)

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

यह अहंकृतभाव (अहंकार) अपरा प्रकृतिका अंश है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये उत्तरोत्तर पूर्वकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। इनमें अहंकार सबसे अधिक सूक्ष्म है। सबसे सूक्ष्म होनेपर भी यह है प्रकृतिका अंश। यह अपरा प्रकृति ही बन्धन करनेवाली है। अपरा प्रकृतिके सिवाय स्वयंमें कोई दोष नहीं है। स्वयं सर्वथा निर्दोष और भगवान्‌का अंश है। प्रकृतिका अंश प्रकृतिमें स्थित रहता है और भगवान्‌का अंश भगवान्‌में स्थित रहता है। परंतु जीव प्रकृतिके अंश (मन-बुद्धि-इन्द्रियों)-को अपनी तरफ खींचता है अर्थात् अपना मान लेता है—

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

प्रकृति ईमानदार है कि अपनेमें ही स्थित रहती है, पर हम भूलसे प्रकृतिमें स्थित स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरको अपना मान लेते हैं और बँध जाते हैं। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि—ये सब प्रकृतिमें ही हैं। हम स्वयं प्रकृतिसे अतीत हैं—**'गुणातीतः स उच्यते'** (गीता १४। २५)। हम स्वयं साक्षात् भगवान्‌के हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह एक बार,

सरल हृदयसे, दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं। केवल इतना ही साधकका काम है और कोई काम नहीं है।

स्वीकृति दो बार नहीं होती, प्रत्युत एक ही बार होती है। स्वीकृतिमें अभ्यास नहीं है। विवाह होनेपर कन्या अपनेको पत्नीरूपसे स्वीकार कर लेती है तो इसके लिये उसको माला नहीं फेरनी पड़ती। स्वीकृतिमात्रसे वह पतिकी हो जाती है। ऐसे ही स्वीकृतिमात्रसे साधकका बेड़ा पार हो जायगा। परंतु प्राय: एक बार स्वीकृति होती नहीं है। इसमें दो कारण मुख्य मालूम देते हैं— १-अभ्यासका महत्त्व और २-भोग तथा संग्रहकी आसक्ति।

आजतक जितने काम किये हैं, सब अभ्याससे किये हैं। इसलिये अन्त:करणमें यह बात बैठी हुई है कि परमात्माकी प्राप्ति भी अभ्याससे होगी। वास्तवमें अभ्याससे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। अभ्याससे नया सीखना होता है। अभ्यासमें जड़की सहायता लेनी ही पड़ती है; परंतु परमात्माकी प्राप्ति जड़की सहायतासे नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है। जड़की सहायतासे संसारका कार्य होता है। परमात्माकी प्राप्तिमें कुछ भी करना है ही नहीं। बिना जड़की सहायतासे कुछ भी करना होता ही नहीं। परंतु अभ्यास करनेका बहुत ज्यादा आग्रह होनेसे, अभ्यासका स्वभाव पड़ा हुआ होनेसे साधक पूछता है कि बोलो, फिर क्या करें? यह विषय तो जान लिया, अब क्या करें?

जैसे अभ्यास प्रिय लगता है, ऐसे भोग और संग्रह भी प्रिय लगते हैं। भोग और संग्रहकी आसक्ति जल्दी छूटती नहीं। इस आसक्तिके कारण साधनमें दृढ़ता नहीं आती—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २। ४४)

'उस पुष्पित वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।'

उपर्युक्त दो कारणोंके रहते हुए कहनेपर भी, सुननेपर भी, पढ़नेपर भी परमात्माकी स्वीकृति नहीं होती। परमात्माके अंश तो हम पहलेसे ही हैं, अंश बनना थोड़े ही है! परंतु ऐसा होते हुए भी हम स्वीकार नहीं करते। जो परमात्माको स्वीकार कर लेता है, उसका गोत्र बदल जाता है। वह संसारका नहीं रहता। वह 'अच्युतगोत्र' हो जाता है। गोस्वामीजी महाराजने भी लिखा है—***'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको'*** (कविता०, उत्तर० १०७)।

वेदान्तके ग्रन्थोंमें भी अभ्यासकी बात आती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासनके बाद विविध समाधियोंकी बात आती है। समाधि वास्तवमें कारणशरीरसे अभ्यास है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—दो अवस्थाएँ होती हैं। परमात्माको प्राप्त होनेके बाद फिर व्युत्थान नहीं होता—'**सदा भवति तन्मयः।**' पातञ्जलयोगदर्शनमें अभ्यासका लक्षण बताया है—'**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥**' (१। १३) अर्थात् चित्तकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करना (बार-बार चेष्टा करना) अभ्यास है।

भगवान्‌को एक बार स्वीकार करनेका तात्पर्य है कि इसमें अभ्यास नहीं है। एक बार भी इसलिये कहना है कि हमने अपने-आपको संसारी मान रखा है। इसलिये एक बार कह दें

कि मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि कोई भी जीव क्यों न हो, वह खास परमात्माका अंश है—'**अमृतस्य पुत्राः**'। जो जिसका अंश होगा, वह उसीमें लीन होगा। जैसे जलका अंश जलमें ही लीन होगा। पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें ही लीन होगा। ऐसे ही परमात्माका अंश परमात्मामें ही लीन होगा। परमात्मामें लीन होनेपर फिर एक परमात्मा ही रहेंगे—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

यहाँ '**वासुदेवः**' शब्द पुँल्लिगमें होनेसे '**वासुदेवः सर्वः**' कहना चाहिये था। परंतु यहाँ '**सर्वः**' की जगह '**सर्वम्**' कहा गया है, जो नपुंसकलिंगमें है। अगर तीनों लिंगों (**सर्वः, सर्वा, सर्वम्**)-का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिंग '**सर्वम्**' ही एकशेष रहता है[१]। नपुंसकलिंगके अन्तर्गत तीनों लिंग आ जाते हैं। अतः '**सर्वम्**' शब्दमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये पुँल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग—इन तीनों ही लिंगोंका प्रयोग किया गया है[२]। इससे यह सिद्ध होता है कि जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों ही '**सर्वम्**' शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिंगोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ तथा व्यक्ति आदि एक परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**।'

---

१. उदाहरणार्थ, गीतामें आया है—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८। ५)। इसमें 'यज्ञः' शब्दका प्रयोग पुँल्लिगमें और 'दानम्' तथा 'तपः' शब्दोंका प्रयोग नपुंसकलिंगमें किया गया है। अतः एकशेषमें नपुंसकलिंग और बहुवचन 'पावनानि' शब्दका प्रयोग हुआ है।

२. द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' पुस्तककी लेख-संख्या ९९—'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिंगता।'

वास्तवमें यहाँ '**सर्वम्**' कहनेकी भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि वास्तवमें '**सर्वम्**' की सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं। अतः वास्तवमें वासुदेव-ही-वासुदेव है, '**सर्वम्**' है ही नहीं। परंतु हमारी दृष्टिमें '**सर्वम्**' (संसार)-की सत्ता है, इसलिये हमें समझानेके लिये भगवान्ने '**वासुदेवः सर्वम्**' पदोंका प्रयोग किया है, अन्यथा '**सर्वम्**' कहनेकी जरूरत ही नहीं थी। एक भगवान्के सिवाय जो कुछ हम मानते हैं, वह सब-का-सब बनावटी है, कल्पित है, असली चीज एक भगवान् ही हैं। यहीं हम सबको पहुँचना है।

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान्में प्रेमकी भूख है—'**एकाकी न रमते**' (बृहदा० १। ४। ३)। इसलिये भगवान् प्रेम-लीलाके लिये एकसे अनेक हो जाते हैं—

'**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (छान्दोग्य० ६। २। ३)
'**सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (तैत्तिरीय० २। ६)
'**एकं रूपं बहुधा यः करोति।**' (कठ० २। २। १२)

प्रेम-लीलाके लिये भगवान्ने अपने लिये तथा अपनेमेंसे जीवोंकी रचना की। इसके साथ ही खेल-सामग्रीके रूपमें संसारकी भी रचना की। परंतु जीवने खेल-सामग्रीके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और भगवान्से विमुख हो गया। तभीसे वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया।

जबतक संसारकी कोई भी वस्तु अच्छी, प्रिय, सुन्दर लगती है, तभीतक भोगासक्ति है। इस भोगासक्तिको ही 'काम' कहते हैं। इस कामके रहते हुए 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव नहीं होता।

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(महाभारत, शान्ति० २५१। ७)

'जगत्‌में काम ही एकमात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं। जो कामके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४; बृहदा० ४। ४। ७)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण काम जब समूल नष्ट हो जाते हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं (मनुष्यशरीरमें ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

जबतक काम-नाशपूर्वक '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव न हो जाय, तबतक साधककी साधना अपूर्ण रहती है। साधनकी पूर्णताके लिये एक बार सरल हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि 'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ तथा केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं।' कारण कि शरीर-संसार कभी किसीके साथ रहते ही नहीं और भगवान् कभी किसीका साथ छोड़ते ही नहीं।

❑ ❑ ❑

५

भगवान् हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं

हमारे और भगवान्‌के बीचमें जो परदा दीखता है, दूरी दीखती है, अलगाव दीखता है, वह वास्तवमें हमारा ही बनाया हुआ है, भगवान्‌का नहीं। कारण कि भगवान् सब जगह और सब समय विद्यमान हैं। वे हमारे भीतर भी विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, वे हमारे माने हुए मैं-पनसे भी नजदीक विद्यमान हैं। पतित-से-पतित प्राणीके भीतर भी वे ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपने ही भीतर अपने प्रेमास्पदको स्वीकार करके निश्चिन्त हो जाय। जब एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसी भी सत्ताकी मान्यता नहीं रहेगी, तब साधक अपनेमें ही अपने प्रेमास्पदको पा लेगा। परन्तु जबतक उसके भीतर 'मैं शरीर हूँ'—ऐसी मान्यता रहेगी, तबतक वह संसारके सिवाय कुछ नहीं पायेगा।

जो अपने प्रेमास्पदको अन्य व्यक्तियों, सन्त-महात्माओं, ग्रन्थों आदिमें देखते हैं, उनको अपने प्रेमास्पदसे वियोगका अनुभव करना ही पड़ता है। परन्तु जो अपनेमें ही अपने प्रेमास्पदको देखते हैं, उनको अपने प्रेमास्पदसे वियोगका दुःख नहीं पाना पड़ता। अपनेसे अलग प्रेमास्पदको कितना ही अपने नजदीक दीखें, उससे वियोग अवश्य ही होगा। परन्तु अपनेसे अभिन्न (अपनेमें ही) अपने प्रेमास्पदको देखनेसे प्रेमास्पदसे नित्य-सम्बन्ध हो जाता है। जबतक साधकके अन्तःकरणमें अन्यकी सत्ता रहती है, तबतक वह अपने प्रेमास्पदसे नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत अपने प्रेमास्पदको पानेके लिये संसारमें भटकता रहता है।

साधकको कभी वास्तविक तत्त्वसे निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि साधकमें तत्त्वप्राप्तिकी पूर्ण योग्यता, अधिकार एवं सामर्थ्य है। यह नियम है कि जो सांसारिक सुख भोग सकता है, वह संसारसे विमुख होकर आनन्दका भी अनुभव कर सकता है। जो संसारमें राग-द्वेष कर सकता है, वह राग-द्वेषका त्याग करके प्रेम भी कर सकता है। जो भोगोंमें लग सकता है, वह भोगोंका त्याग करके योग भी कर सकता है। जिसको ग्रहण करना आता है, वह त्याग भी कर सकता है।

कामनायुक्त प्राणी किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। इसलिये कामनावाला व्यक्ति सच्चा आस्तिक नहीं बन सकता। मनुष्य सच्चा आस्तिक तभी बनता है, जब उसकी दृष्टिमें एक प्रेमास्पद (भगवान्)-के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं रहता। ऐसे सच्चे आस्तिकको भगवान्की कृपासे प्रेमकी प्राप्ति होती है। यद्यपि भगवान्की कृपा सभी प्राणियोंपर समानरूपसे है, तथापि उस कृपाका अनुभव तभी होता है, जब मनुष्य सर्वथा भगवान्का ही हो जाता है। भगवान्के सिवाय किसी अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही भगवान्का हो जाना है।

एक भगवान्के सिवाय अन्य कोई भी हमारा प्रेमास्पद नहीं है। जब हम परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे प्यार करते हैं, तब वह प्यार अपना तथा दूसरेका भी संहार करने लगता है। यह प्रेम नहीं, प्रेमोन्माद (मोह) है। अपने देशका प्रेमोन्माद ही अन्य देशका संहार कराता है। अपने सम्प्रदायका प्रेमोन्माद ही अन्य सम्प्रदायका संहार कराता है। अपनी जातिका प्रेमोन्माद ही अन्य जातिका संहार कराता है।

अगर एक भगवान्के सिवाय अन्य सभी इच्छाएँ मिट जायँ

तो भगवान् बिना बुलाये आ जायँगे और संसार बिना मिटाये मिट जायगा। उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा रखना भूल है। अगर साधककी दृष्टिमें संसार सत्य प्रतीत होता है तो उसको दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। अगर उसका भगवान्में पूर्ण अपनापन नहीं है तो उसको भगवान्का भजन (नाम-जप, स्मरण, कीर्तन) करना चाहिये। अपने शरीर तथा संसारसे लेशमात्र भी सम्बन्ध न रहे—यही 'त्याग' है और भगवान्के सिवाय लेशमात्र भी किसी सत्ताको स्वीकार न करे—यही 'प्रेम' है।

जिसके भीतर कामनाएँ हैं, वह प्राणी प्रेम नहीं कर सकता। कारण कि कामनाएँ संसारकी और प्रेम परमात्माका होता है। कामनायुक्त व्यक्ति सांसारिक विषयोंका उपासक होता है और प्रेमयुक्त व्यक्ति भगवान्का उपासक होता है। संसारका उपासक परतन्त्र हो जाता है और भगवान्का उपासक स्वतन्त्र हो जाता है।

सत्-तत्त्वकी प्राप्ति किसी क्रियासे नहीं होती। कारण कि प्रत्येक क्रिया असत्में ही होती है, जबकि सत्-तत्त्वकी प्राप्ति असत्के त्यागसे होती है। कामनाओंका अन्त होनेपर असत्का भी त्याग हो जाता है और सत्-तत्त्वकी अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है। सत्-तत्त्वकी अभिलाषा जाग्रत् होनेपर भूतकालकी स्मृति नहीं होती, वर्तमानमें सत्-तत्त्वको पानेकी व्याकुलता जाग्रत् होती है और भविष्यकी आशा मिट जाती है। सत्-तत्त्वकी अभिलाषा सम्पूर्ण कामनाओंको मिटाकर सत्-तत्त्वकी अनुभूति करा देती है।

जिनको हम सांसारिक सुख कहते हैं, वे सब वास्तवमें मनकी थकावट हैं। मनकी थकावटसे होनेवाला सुख तो मिट जाता है, पर पारमार्थिक आनन्द मिटता नहीं। वह आनन्द ही हमारा स्वरूप है। मनकी थकावट हमारा स्वरूप नहीं है।

जब संसारके सभी सुख (सुखासक्ति) मिट जाते हैं, तब उस परमसुखका अनुभव होता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता— **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (गीता ६। २२)। उस परमसुखका अनुभव होनेपर सभी कामनाओंका नाश हो जाता है तथा किसी प्रकारकी कोई कमी शेष नहीं रहती— **'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २। ५९)।

यदि मनुष्य दुःखसे बचना चाहे तो वह सुखकी इच्छाको मिटा दे। यदि रोगसे बचना चाहे तो भोगकी इच्छाको मिटा दे। यदि अपमानसे बचना चाहे तो सम्मानकी इच्छाको मिटा दे। यदि शोकसे बचना चाहे तो हर्षकी इच्छाको मिटा दे। तात्पर्य है कि दुःखका निर्माण स्वयं हमने किया है। हमारी इच्छाके बिना कोई हमें दुःखी, पराधीन नहीं कर सकता।

एक मार्मिक बात है कि मनुष्यको जिस वस्तुकी आवश्यकता है, उसको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य उसमें विद्यमान है। तात्पर्य है कि मनुष्य जो कुछ कर सकता है, उसीसे उसकी आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है। संसार भी मनुष्यसे वही आशा करता है, जो वह कर सकता है। भगवान् भी वही आज्ञा देते हैं, जो वह कर सकता है। मनुष्य जो कर सकता है, उसको न करना ही अकर्तव्य है। जबतक मनुष्यकी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होती, तबतक उसका करना समाप्त नहीं होगा, वह कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा। कारण कि करना साधन है, साध्य नहीं। साध्यकी प्राप्ति होनेपर साधन शेष नहीं रहता अर्थात् आवश्यकता शेष न रहनेपर करना भी शेष नहीं रहता, मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

परमात्माकी अनन्त शक्ति प्राणिमात्रको निरन्तर अपनी ओर

खींचती रहती है। इसीलिये कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती। मनुष्यकी ममता कहीं भी स्थायी नहीं रहती। उसका प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्तिसे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद होता रहता है। परमात्माकी वह अनन्त शक्ति न तो मनुष्योंपर शासन करती है, न उनकी स्वतन्त्रता छीनकर उनको पराधीन बनाती है। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्तमें उसीमें विलीन होती है, तभी पूर्णता होती है। जीव परमात्मासे अलग हुआ है; अतः जबतक वह परमात्मामें विलीन नहीं होगा, तबतक पूर्णता नहीं होगी, वह भटकता ही रहेगा। इसलिये परमात्माको छोड़कर अन्य वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति आदिकी ममता-कामनामें फँसना व्यर्थ है। उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ चेष्टा है। जीवकी स्वाभाविक गति परमात्मामें विलीन होनेकी ही है। जब हम अपनी स्वाभाविक गतिसे विमुख होकर अन्य वस्तु, व्यक्ति आदिके सम्मुख हो जाते हैं, तब भगवान्की कृपा उस वस्तु, व्यक्ति आदिसे वियोग करा देती है। जबतक हमारा परमात्मासे योग नहीं होगा, तबतक प्रत्येक संयोगका वियोग होता रहेगा—यह नियम है। संसारमें होनेवाला परिवर्तन निरन्तर यह शिक्षा दे रहा है कि तुम मेरेमें मत फँसो। मैं तुम्हारा लक्ष्य नहीं हूँ। तुम्हारा लक्ष्य परमात्मा है, जो निरन्तर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

❑ ❑ ❑

६

वास्तविक बड़प्पन

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको लेकर आप अपनेमें बड़प्पन अथवा नीचपनका अनुभव करते हैं—यह बहुत बड़ी भूल है। जैसे कोई धनको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई मकानको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई बढ़िया कपड़े पहनकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई ऊँचा पद प्राप्त करके अपनेको बड़ा मानता है और कोई इन चीजोंके न मिलनेसे अपनेको छोटा मानता है। यह बहुत बड़ी भूल है। आप स्वयं परमात्माके अंश, चेतन हैं और जड़ चीजोंको लेकर आप अपनेको बड़ा-छोटा मानते हैं—यह आपकी तुच्छता है। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना भी तुच्छता है और छोटा मानना भी तुच्छता है। आप तो इन चीजोंका उपार्जन करनेवाले हैं, इनका उपयोग करनेवाले हैं, इनके आदि और अन्तको जाननेवाले हैं, फिर आप इनके गुलाम क्यों हो जाते हैं? धन मिलता है और बिछुड़ जाता है—इस प्रकार जिसके आदि और अन्तको आप जानते हैं, उसके मिलनेसे अपनेको बड़ा या छोटा मानना कितनी गलती है। थोड़ा विचार करें तो यह बात अक्लमें आ जाती है कि अगर पद मिलनेसे हम बड़े हुए तो वास्तवमें हम छोटे ही रहे, पद बड़ा हुआ। रुपये मिलनेसे हम बड़े हुए तो बड़े रुपये ही हुए, हम बड़े नहीं हुए। अत: इस बातको आप आज ही और अभी मान लें कि अब हम आने-जानेवाली वस्तुओंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं मानेंगे।

स्वयं आप बहुत बड़े हैं। साधारण रीतिसे तो आप भगवान्‌के अंश हैं और भगवान्‌की भक्तिमें लग जायँ तो भगवान्‌के मुकुटमणि हैं। भगवान् कहते हैं—

'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि।'

जिसे भगवान् अपना मुकुटमणि कहते हैं, वही आप हैं। भक्त कब बनता है? जड़ताकी दासता छूटी और भक्त बना। इसलिये आप अभी यह बात धारण कर लें कि अब हम उत्पत्ति-विनाशवाली तुच्छ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं मानेंगे। आप इन चीजोंका उपार्जन करें, इनका उपयोग करें, इन्हें काममें लायें; पर इनके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मत मानें। इन चीजोंको लेकर अपनेमें फूँक भर जाती है, यह गलती होती है। अब बताइये, इसे माननेमें कोई कठिनता है क्या? कठिनता नहीं है तो अभी-अभी, इसी क्षण मान लें। इसमें देरीका काम नहीं है। कोई तैयारी करनी पड़े, कोई विद्वत्ता लानी पड़े, कोई बल लाना पड़े, कोई योग्यता लानी पड़े—इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। अभी इसी क्षण स्वीकार कर लें कि जड़ चीजोंसे हम अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना महान् पराधीनता है। पराधीन व्यक्तिको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस, बाल० १०२।५)। हम तो भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं—ऐसा मान लेंगे तो आप वास्तवमें बड़े हो जायँगे।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।२)

सहज सुखराशि होते हुए भी स्वयं दुःखी कब होता है? जब यह नाशवान्‌की पराधीनता स्वीकार कर लेता है, तब यह दुःखी

हो जाता है, नहीं तो यह दुःखी हो नहीं सकता। आप दुःखको तो चाहते नहीं, पर दुःखकी सामग्री बटोरते हैं। दुःखी होना चाहते नहीं, पर नाशवान् चीजोंकी पराधीनता स्वीकार करते हैं। पराधीनतामें सुख है ही नहीं, स्वप्नमें भी नहीं है।

श्रोता—जिसमें गुण होते हैं, उसके पास आदमी ज्यादा जाते हैं।

स्वामीजी—गुण होनेसे उसके पास ज्यादा आदमी जाते हैं, तो गुण कौन-सा उसका स्वरूप है? गुण भी उसने लिया है। गुण नहीं रहेगा तो लोग उसके पास नहीं जायँगे। आप विचार करें कि दूसरोंके जानेसे वह बड़ा कैसे हो गया? अगर लोगोंके जानेसे वह बड़ा हुआ, तो उसका बड़प्पन पराधीन ही तो हुआ। लोग जायँ तो बड़ा हो गया और लोग न जायँ तो छोटा हो गया—यह तो पराधीनता हुई, बड़प्पन कैसे हुआ?

हम किसी गुणके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, विद्याके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, पदके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, लोगोंके द्वारा आदर-सत्कार होनेपर अपनेको बड़ा मानते हैं तो यह सब-की-सब पराधीनता है। कोई आये चाहे न आये, गुण हो चाहे न हो, लोग अच्छा मानें चाहे बुरा मानें, उनसे हमें क्या मतलब है? हम तो जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे। आप हमें बड़ा मान लें तो क्या हम बड़े हो जायँगे? आप छोटा मान लें तो क्या हम छोटे हो जायँगे? जो दूसरोंके द्वारा अपनेको बड़ा या छोटा मानता है, वह कभी बड़ा हो सकता है क्या? स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। जो दूसरी वस्तुओंके अधीन अपना बड़प्पन मानता है, वह सुखी कैसे हो सकता है? उसने तो महान् गुलामी पकड़ ली। रुपये इकट्ठे कर लिये, कागज इकट्ठे कर लिये, हीरे-

पन्ने इकट्ठे कर लिये, पत्थरोंके टुकड़े इकट्ठे कर लिये और मान लिया कि हम बड़े हो गये। तुम बड़े कैसे हो गये? आपके पास धन आ गया है तो उसका सदुपयोग करें, उसे अच्छे-से-अच्छे काममें लगायें। उसके आनेसे आप बड़े हो गये तो आपकी तो बेइज्जती ही हुई।

भगवान् आने-जानेवाले नहीं हैं, वे रहनेवाले हैं। उन्हें आप अपना मानेंगे तो आप असली बड़े हो जायँगे, आपमें बड़प्पनका अभिमान नहीं आयेगा और छोटेपनका भय नहीं रहेगा कि कोई हमें छोटा न मान ले। आपको कोई छोटा मान ले तो क्या हानि हो जायगी? आप जिसके हैं और जो आपका है, उस परमात्माके साथ आप अपना सम्बन्ध ठीक स्वीकार कर लें तो आप वास्तवमें बड़े हो जायँगे। फिर आपमें बड़े-छोटे होनेका अभिमान और दीनता नहीं रहेगी, परंतु दूसरी वस्तुओंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानेंगे तो अभिमान और दीनता कभी जायगी नहीं।

आने-जानेवाली चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानना ही तो बन्धन है। बन्धन कोई जानकर थोड़े ही होता है। यह बन्धन छूटा और मुक्त हुए। दूसरोंके द्वारा हम अपनेको बड़ा-छोटा स्वीकार न करें तो हम मुक्त हो गये कि नहीं? स्वाधीन हो गये कि नहीं? बताइये।

श्रोता—ठीक बात है महाराजजी!

स्वामीजी—ठीक बात है तो फिर पराधीन क्यों रहे? आप कृपा करें, अभीसे यह मान लें कि हम पदके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे, धनके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा आदर करें तो अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा निरादर

कर दें तो अपनेको छोटा नहीं मानेंगे। हमें परवाह नहीं कि लोग हमें अच्छा मानें। यह बात आप मान सकते हैं कि नहीं?

श्रोता—हाँ, मान सकते हैं।

स्वामीजी—तो फिर देरी क्यों करते हैं? किसकी प्रतीक्षा करते हैं आप? किसी परिस्थितिकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी बलकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी समयकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी सहारेकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी उपदेशकी प्रतीक्षा करते हैं, किसकी प्रतीक्षा करते हैं, बताइये? मेरी तो प्रार्थना है कि आप अभी-अभी मान लें कि अब हम इन आने-जानेवाली तुच्छ चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा नहीं मानेंगे। भगवान्‌ने कहा है—

'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥'

(गीता २।१४)

अर्थात् जो आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं, उन्हें सह लें। सहनेका अर्थ है उनके आने-जानेका असर अपनेपर न पड़े। उनका असर अपनेपर न पड़े तो इतनी शान्ति, इतना आनन्द होगा, जिसका कोई पारावार नहीं है। आप करके देखें। सच्ची बात है, मैं धोखा नहीं देता हूँ। ऐसी मस्ती आयेगी, जैसे कोई कीचड़मेंसे बाहर निकल आया हो।

❑❑❑

७

गीताकी विलक्षणता

धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं। दोनों सेनाओंके मध्यमें एक विशाल रथ खड़ा है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण सारथि-रूपसे और अर्जुन रथी-रूपसे विराजमान हैं। कौरवसेनामें अपने स्वजनोंको देखकर अर्जुन भयभीत हो जाते हैं। वे युद्धसे नहीं, प्रत्युत अधर्मसे भयभीत होते हैं। कारण कि अर्जुन कल्याणके इच्छुक थे (२।७, ३।२, ५।१) और यह कदापि नहीं चाहते थे कि उनके कल्याणमें कोई बाधा लगे। कल्याण युद्ध करनेमें है अथवा न करनेमें—इस विषयमें अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्णको अपना प्रिय सखा मानते थे, पर आज पहली बार शरणागत होकर, अपनेको शिष्य मानकर भगवान्से अपने कल्याणका उपाय पूछते हैं—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (२।७)। युद्ध करने अथवा न करनेका कल्याणसे कोई सम्बन्ध नहीं है—यह बतानेके लिये भगवान् बड़े विलक्षण ढंगसे अपने उपदेशका आरम्भ करते हैं।

कल्याणके सभी साधनोंमें विवेककी अत्यधिक आवश्यकता है। मनुष्यशरीरकी जो महिमा गायी गयी है, वह महिमा विवेककी है, मनुष्यशरीरकी नहीं। इसलिये भगवान् सर्वप्रथम सत्-असत्के विवेकका विवेचन करते हैं। इस विवेचनकी खास बात है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२।१६) अर्थात् असत् (नाशवान्)-की सत्ता विद्यमान है ही नहीं और

सत् (अविनाशी)-की सत्ता सदा ही विद्यमान है, उसका अभाव कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इस विषयको समझानेके लिये गीताने 'असत्' को शरीर, देह, क्षेत्र आदि नामोंसे और 'सत्' को शरीरी, देही, क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहा है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखें तो एक चिन्मय सत्तामात्रमें न असत् है, न सत्; न शरीर है, न शरीरी; न देह है, न देही। ये शब्द केवल अज्ञानी मनुष्योंको समझानेके लिये ही कहे जाते हैं। उस परमतत्त्वको अनिर्वचनीय बतानेके उद्देश्यसे गीताने इसे अनेक प्रकारसे कहा है; जैसे—

(१) परमात्मतत्त्व सत् भी है और असत् भी—'**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

(२) परमात्मतत्त्व सत् भी है, असत् भी है और सत्-असत्से पर भी है—'**सदसत्तत्परं यत्**' (११। ३७)।

(३) परमात्मतत्त्व न सत् है और न असत् है—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३। १२)।

तात्पर्य है कि सत्-तत्त्वका अनुभव तो किया जा सकता है, पर वर्णन नहीं किया जा सकता। एक चिन्मय सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं है। इस सत्ताका कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन अथवा अभाव नहीं होता। परन्तु शरीर और संसारका प्रतिक्षण परिवर्तन और अभाव हो रहा है। शरीर मिला है और बिछुड़नेवाला है। उस शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये मानना जीवकी मूल भूल है, जिससे वह बन्धनमें पड़ा है। इस भूलको मिटानेके लिये ही भगवत्कृपासे जीवको विवेकप्रधान मनुष्यशरीर मिला है। उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, घटना और नष्ट होना—ये छहों विकार शरीरमें ही होते हैं। शरीरी (आत्मा अर्थात् चिन्मय

सत्ता)-तक ये विकार पहुँचते ही नहीं, पहुँच सकते ही नहीं। अंधकार सूर्यतक पहुँच ही कैसे सकता है!

जिस कल्याणकी प्राप्ति विवेकप्रधान ज्ञानयोगसे होती है, उसी कल्याणकी प्राप्ति कर्मयोगसे भी हो सकती है। यह अन्य शास्त्रोंकी अपेक्षा गीताकी विलक्षणता है। कल्याणकी प्राप्तिमें ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंको भगवान् समकक्ष बताते हैं—

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। (५।२)
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ (५।४)
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। (५।५)

इन दोनों ही साधनोंको भगवान् लौकिक बताते हैं (३।३)। इन साधनोंसे साधककी बुद्धि समतामें स्थिर हो जाती है। ज्ञानयोगमें अपने विवेकको महत्त्व देनेसे समता आती है और कर्मयोगमें निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करनेसे समता आती है।

अन्य शास्त्रोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये; जैसे—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डक० १।२।१२)

'कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त हो जाय, यह समझ ले कि किये जानेवाले कर्मोंसे परमात्मतत्त्व नहीं मिल सकता। वह उस ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाय।'

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

(श्रीमद्भा० ११।२०।९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक वैराग्य न हो जाय।'

परन्तु गीताके अनुसार कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना असम्भव है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(३।५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।'

इसलिये भगवान् कर्मोंके त्यागका उपदेश न देकर फलेच्छाके त्यागका उपदेश देते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२।४७)

'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८।६)

'हे पार्थ! इन (यज्ञ, दान और तपरूप) कर्मोंको तथा दूसरे भी कर्मोंको आसक्ति और फलोंकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये—यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।'

कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'। परन्तु भगवान्‌ने कर्मोंकी बन्धनकारक शक्तिको नष्ट करके उन्हें भी कल्याणके योग्य बना दिया है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (२।५०) 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'। तात्पर्य है कि जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही योग (समता अथवा निष्कामभाव)-पूर्वक करनेसे मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं। इसलिये भगवान् स्पष्टरूपसे आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(३।१९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

केवल साधकके लिये ही नहीं, सिद्ध महापुरुषके लिये भी भगवान् आज्ञा देते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्॥

(३।२५)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित तत्त्वज्ञ महापुरुष भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

इतना ही नहीं, सबसे बढ़कर प्रमाण भगवान् अपना देते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(३।२२)

'हे पार्थ! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न

कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्तव्य-कर्ममें ही लगा रहता हूँ।'

गीताके अनुसार मनुष्य युद्ध-जैसे घोर कर्म करते हुए भी अपना कल्याण कर सकता है, इससे बढ़कर और क्या बात होगी—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८।१७)

'जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंमें निश्चयात्मिका बुद्धिका होना अनिवार्य है—

'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' (२।४१)
'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते' (२।४४)
'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' (२।६६)

इसलिये साधन सिद्ध होनेपर मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है अर्थात् उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है—

'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि' (२।५३)
'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते' (२।५५)

'स्थितधीर्मुनिरुच्यते' (२।५६)

'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' (२।५७-५८।६१, ६८)

'बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' (२।६५)

बुद्धि स्थिर होनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी उसमें सूक्ष्म अहम् रह जाता है। कारण कि अहम् बुद्धिसे परे है—

'मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः' (३।४२)*

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(७।४)

इस अहम्‌का सर्वथा नाश भक्तियोगमें ही होता है। कारण कि भक्तियोगमें भक्तकी बुद्धि व्यवसित नहीं होती, प्रत्युत भक्त स्वयं (जो कि भगवान्‌का अंश है) व्यवसित होता है—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'** (९।३०)। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—यह अपरा प्रकृति है और स्वयं परा प्रकृति है (७।४-५)। इसलिये गीता भक्तियोग (पराभक्ति)-की प्राप्तिमें ही साधनकी पूर्णता मानती है। यही विशेषता गीताको अन्य दर्शनशास्त्रोंसे भिन्न करती है।

सभी दर्शनशास्त्र दुःखोंके नाशको अर्थात् मोक्षको ही मानवजीवनका चरम लक्ष्य मानते हैं, इसलिये उनमें ईश्वरका स्थान गौण है। परन्तु गीतामें ईश्वरकी मुख्यता है। गीता मोक्षके बाद पराभक्ति-(परम प्रेम) प्राप्त होनेकी बात कहती है—**'समः**

---

* बुद्धिसे परे अहम् है। अहम् अर्थात् चिज्जड़ग्रन्थिमें एक जड़-अंश है, एक चेतन-अंश। उस जड़-अंशमें काम रहता है। (विस्तारसे जाननेके लिये साधक-संजीवनी टीका पढ़नी चाहिये)

सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' (१८।५४)। * तात्पर्य है कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। इसलिये क्षरकी प्रधानतावाला कर्मयोग तथा अक्षरकी प्रधानतावाला ज्ञानयोग तो लौकिक एवं करणसापेक्ष है—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (१५।१६); परन्तु परमात्माकी प्रधानतावाला भक्तियोग अलौकिक एवं करणनिरपेक्ष है—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (१५।१७)।

गीताका कर्मयोग और ज्ञानयोग भी ईश्वर-भक्तिसे रहित नहीं है; जैसे, कर्मयोगमें—

'**युक्त आसीत मत्परः**' (२।६१)

'कर्मयोगी साधक मेरे परायण होकर बैठे।'

और ज्ञानयोगमें—

'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' (१३।१०)

'मुझमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना (ज्ञानप्राप्तिका उपाय है)।'

'**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**' (१४।२६)

'जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है (वह गुणातीत हो जाता है)।'

ध्यानयोगमें भी गीता कहती है—

'**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः**' (६।१४)

'सावधान ध्यानयोगी मनका संयम करके मुझमें चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।'

---

* दर्शनशास्त्रोंमें दुःखोंकी निवृत्तिका सुख है, पर गीतामें परमात्माकी प्राप्तिका सुख है। दुःखोंका सर्वथा नाश होनेपर 'अखण्ड सुख' मिलता है, पर ईश्वरमें प्रेम होनेपर 'अनन्त सुख' मिलता है।

इस प्रकार अन्य दर्शनशास्त्रोंमें ईश्वरवादका जो अभाव दीखता है, वह अभाव गीताने मिटा दिया है। साधक कितनी ही ऊँची अवस्थाको प्राप्त हो जाय, जबतक वह ईश्वरको प्राप्त नहीं होता, तबतक उसका आवागमन नहीं मिटता, इस बातको गीताने स्पष्ट कर दिया है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(८।१६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् वहाँ जानेपर पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

'**यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**' (८।२१)

'जिसे प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।'

'**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**' (१५।६)

'जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परम धाम है।'

फलासक्ति तथा कर्तृत्वाभिमानके त्यागका उपदेश तो अन्य शास्त्रोंमें भी मिलता है, पर सम्पूर्ण कर्मोंको भगवदर्पण करनेका उपदेश विशेषरूपसे गीतामें ही मिलता है—

'**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा**' (३।३०)

'तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण कर।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि' (१२। १०)

'मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा।'

गीतामें भगवान् सम्पूर्ण योगियोंमें भी अपने (सगुणोपासक) भक्तको सर्वश्रेष्ठ योगी मानते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।'

कारण कि भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है—

'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु' (७। १)

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' (१८। ५५)[१]

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव), कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ), अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांचभौतिक शरीर), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) और अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह भगवान्‌का समग्र रूप है[२]। तात्पर्य है कि भक्तको

---

१. 'यावान्-तावान्' (मैं जितना हूँ और जो हूँ)—यह बात निर्गुणमें नहीं हो सकती, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकती है।

२. जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ (७। २९-३०)

'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस तत्त्वका अनुभव हो जाता है, जो अत्यन्त दुर्लभ है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (७।१९)। गीतामें 'महात्मा', 'युक्ततम', 'सर्ववित्' आदि विशेषण भी भक्तके लिये ही आये हैं।* इससे सिद्ध होता है कि गीतामें भगवद्भक्तका सर्वाधिक आदर किया गया है। भगवान्‌ने भी स्पष्टरूपसे अपने भक्तका ही पक्ष लिया है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। उन प्राणियोंमें न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।'

सम्पूर्ण वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार गीता है। जैसे आमके वृक्षमें जड़से लेकर पत्तोंतक रस विद्यमान रहता

---

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९)
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (८।१५)
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ (९।१३)
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२।२)
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (१५।१९)

है, पर जो रस उसके फलमें है, वह जड़, टहनी, पत्तों आदिमें नहीं है। ऐसे ही सम्पूर्ण वेदों, उपनिषदों, शास्त्रोंका सार होनेपर भी जो विलक्षणता गीतामें है, वह वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों आदिमें नहीं है। वेद भगवान्‌के निःश्वास हैं—'**यस्य निःश्वसितं वेदाः**' और गीता भगवान्‌की वाणी है। निःश्वास तो स्वाभाविक होते हैं, पर गीता भगवान्‌ने विशेषरूपसे कही है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंकी वाणीसे भी भगवान्‌की वाणी विलक्षण है; क्योंकि भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—'**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः**' (१०।२)। इसलिये सभी दर्शनशास्त्र गीताके अन्तर्गत आ जाते हैं, पर गीता किसी दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत नहीं आती। गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यदि गीताके भावोंको समझना हो उसमें केवल कल्याणकी इच्छा काम आयेगी। कोई गीताको समझना चाहे तो उसे किसी शास्त्र, सम्प्रदाय, योग्यता, बुद्धिमत्ता आदिका आग्रह छोड़कर और केवल भगवान्‌का आश्रय लेकर गीताका अध्ययन करना चाहिये।

भगवान्‌के द्वारा गीता अर्जुनको निमित्त बनाकर मानवमात्रके कल्याणके लिये कही गयी है। अतः गीताके अनुसार मानवमात्र अपना कल्याण करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र, योग्य, समर्थ और अधिकारी है। इसलिये गीता सम्पूर्ण शास्त्रोंसे विलक्षण है—इसमें सन्देहका अवकाश नहीं है।

❑ ❑ ❑

८

वेद और श्रीमद्भगवद्गीता

वेद नाम शुद्ध ज्ञानका है, जो परमात्मासे प्रकट हुआ है—'**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**' (गीता ३। १५), '**ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा**' (गीता १७। २३)। वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजुः आदि वेदोंके रूपसे संसारमें प्रकट हुआ है। वेद भगवद्रूप हैं और भगवान् वेदरूप हैं। उन वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है। वेद तो भगवान्के निःश्वास हैं—'**यस्य निःश्वसितं वेदाः**', पर गीता भगवान्की वाणी है। वेद और उपनिषद् तो अधिकारी मनुष्योंके लिये हैं, पर गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। कौरव-पाण्डवोंके इतिहास-ग्रन्थ महाभारतके अन्तर्गत होनेसे इसके अधिकारी सभी हो सकते हैं। श्रीवेदव्यासजी महाराजने महाभारतरूप पंचम वेदकी रचना भी इसीलिये की थी कि मनुष्यमात्रको वेदोंका ज्ञान प्राप्त हो सके।

गीतामें भगवान्ने वेदोंका बहुत आदर किया है और उनको अपना स्वरूप बताया है—'**पिताहमस्य जगतो**.........**ऋक्साम यजुरेव च**' (९। १७)। जिसमें नियताक्षरवाले मन्त्रोंकी ऋचाएँ हैं, वह 'ऋग्वेद' कहलाता है। जिसमें स्वरोंसहित गानेमें आनेवाले मन्त्र हैं, वह 'सामवेद' कहलाता है। जिसमें अनियताक्षरवाले मन्त्र हैं, वह 'यजुर्वेद' कहलाता है। जिसमें अस्त्र-शस्त्र, भवन-निर्माण आदि लौकिक विद्याओंका वर्णन करनेवाले मन्त्र हैं, वह 'अथर्ववेद' कहलाता है। लौकिक विद्याओंका वर्णन होनेसे भगवान्ने गीतामें अथर्ववेदका नाम न लेकर केवल ऋग्वेद,

सामवेद और यजुर्वेद—इन तीन वेदोंका ही नाम लिया है; जैसे—'**ऋक्साम यजुरेव च**' (९। १७), '**त्रैविद्याः**' (९। २०), '**त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः**' (९। २१)।

भगवान्‌ने वेदोंमें सामवेदको अपनी विभूति बताया है—'**वेदानां सामवेदोऽस्मि**' (१०। २२)। सामवेदमें 'बृहत्साम' नामक एक गीति है, जिसमें इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है। अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है। सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण इस बृहत्सामको भी भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है—'**बृहत्साम तथा साम्नाम्**' (१०। ३५)।

सृष्टिमें सबसे पहले प्रणव (ॐ) प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं—'अ', 'उ' और 'म'। इन तीनों मात्राओंसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है। त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजुः—ये तीन वेद प्रकट हुए हैं। वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् प्रकट हुआ है। इस दृष्टिसे 'प्रणव' सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री तथा सम्पूर्ण वेद हैं। अतः जितनी भी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण करके ही की जाती हैं—'**तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥**' (गीता १७। २४)। जैसे गायें साँड़के बिना फलवती नहीं होतीं, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ, श्रुतियाँ हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण किये बिना अभीष्ट फल देनेवाली नहीं होतीं। गीतामें भगवान्‌ने प्रणवको भी अपना स्वरूप बताया है—'**गिरामस्म्येकमक्षरम्**' (१०। २५), '**प्रणवः सर्ववेदेषु**' (७। ८), गायत्रीको भी अपना स्वरूप बताया है—'**गायत्री छन्दसामहम्**' (१०। ३५), और वेदोंको भी अपना स्वरूप बताया है।

सृष्टिचक्रको चलानेमें वेदोंकी मुख्य भूमिका है। वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बताते हैं—**'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'** (गीता ३। १५), **'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे'** (गीता ४। ३२)*। मनुष्य उन कर्तव्य-कर्मोंका विधिपूर्वक पालन करते हैं। निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ होता है। यज्ञसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं और उन प्राणियोंमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ करते हैं। इस तरह यह सृष्टिचक्र चल रहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

भगवान् गीतामें कहते हैं कि ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षको अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसारवृक्षको जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(१५। १)

संसारसे विमुख होकर उसके मूल परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेना ही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य जानना है। वेदोंका अध्ययन करनेमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ तत्त्ववेत्ता नहीं। परन्तु वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी

* यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है।

जिसको संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया है, वही वास्तवमें वेदोंके तात्पर्यको जाननेवाला अर्थात् अनुभवमें लानेवाला 'वेदवेत्ता' है—'**यस्तं वेद स वेदवित्**।' भगवान्‌ने भी अपनेको वेदान्तका कर्ता अर्थात् वेदोंके निष्कर्षका वक्ता और वेदवेत्ता कहा है—'**वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्**' (१५। १५)। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जिसने परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, ऐसे वेदवेत्ताकी भगवान्‌के साथ एकता (सधर्मता) हो जाती है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)।

भगवान्‌ने गीतामें अपनेको ही संसारवृक्षका मूल 'पुरुषोत्तम' बताया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(१५। १८)

'मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

वेदमें आये 'पुरुषसूक्त' में पुरुषोत्तमका वर्णन हुआ है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि वेदोंमें इन्द्ररूपसे जिस परमेश्वरका वर्णन हुआ है, वह भी मैं ही हूँ, इसलिये स्वर्गप्राप्ति चाहनेवाले मनुष्य यज्ञोंके द्वारा मेरा ही पूजन करते हैं—'**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते**।' (गीता ९। २०)

वेदोंमें सकामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले अर्थात् निष्कामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके और सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं। इसलिये गीतामें कुछ श्लोक ऐसे भी आते हैं, जिनमें वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है;

जैसे—'**यामिमां पुष्पितां वाचम्**', '**वेदवादरताः**' (२।४२)। **कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥** (२।४३) '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**' (२।४५), '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**' (६। ४४), '**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**' (९। २१), '**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न.........द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर**' (११।४८), **नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥** (११।५३)

'**छन्दांसि यस्य पर्णानि**' (१५।१) आदि। वास्तवमें यह वेदोंकी निन्दा नहीं है, प्रत्युत वेदोंमें आये सकामभावकी निन्दा है।

संसारके मनुष्य प्रायः मृत्युलोकके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। परन्तु उसमें भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं, उनके हृदयमें भी नाशवान् वस्तुओंका महत्त्व रहनेके कारण जब वे वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका तथा उनके फलका वर्णन सुनते हैं, तब वे वेदोंमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण यहाँके भोगोंकी इतनी परवाह न करके स्वर्गप्राप्तिके लिये वेदोंमें वर्णित यज्ञोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं। उन सकाम अनुष्ठानोंके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गमें जाकर देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं, जो मनुष्यलोकके भोगोंकी अपेक्षा बहुत विलक्षण हैं। वे लोग स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गमें जाते हैं, उन पुण्योंके समाप्त होनेपर वे पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं— '**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' (गीता ९। २१)। सकामभावके कारण ही मनुष्य बार-बार जन्मता-मरता है—'**गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९।२१)। इसलिये भगवान्ने सकामभावकी निन्दा की है।

वेदोंमें सकामभावका वर्णन होनेका कारण यह है कि वेद श्रुतिमाता है और माता सब बालकोंके लिये समान होती है। संसारमें सकामभाववाले मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है। अतः वेदमाताने अपने बालकोंकी अलग-अलग रुचियोंके अनुसार लौकिक और पारमार्थिक सब तरहकी सिद्धियोंके उपाय बताये हैं।

भगवान्ने वेदोंको संसारवृक्षके पत्ते बताया है—'**छन्दांसि यस्य पर्णानि**' और वेदोंकी वाणीको 'पुष्पित' कहा है—'**यामिमां पुष्पितां वाचम्**'। यद्यपि निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा वेदविहित सकाम अनुष्ठानको करना श्रेष्ठ है, तथापि उससे मुक्ति नहीं हो सकती। अतः साधकको वैदिक सकाम अनुष्ठानरूप पत्तों और पुष्पोंमें तथा नाशवान् फलमें न फँसकर संसारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। वेदोंका वास्तविक तत्त्व संसार या स्वर्ग नहीं है, प्रत्युत परमात्मा ही हैं—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' (गीता १५। १५)। महाभारतमें आया है—

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥

(शान्ति० ३१८। ५०)

'सांगोपांग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।'

❑ ❑ ❑

९

स्त्रीके दो रूप—कामिनी और माता

प्राय: कई लोगोंकी यह शिकायत रहती है कि शास्त्रकारोंने स्त्रियोंकी बड़ी निन्दा की है। इस विषयमें गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो पता लगता है कि स्त्रीके दो रूप हैं—कामिनीरूप और मातृरूप। विभिन्न धर्मोंमें जहाँ भी स्त्रियोंकी निन्दा की गयी है, वह कामिनी अर्थात् भोग्यारूपकी ही निन्दा है, मातृरूपकी नहीं। मातृरूपसे तो स्त्रीको पुरुषसे भी सहस्रगुना श्रेष्ठ माना गया है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनु० २। १४५)

'दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माताका गौरव अधिक है।'

संन्यासीके लिये कहा गया है कि वह हाड़-मांसमय शरीरवाली स्त्रीका तो कहना ही क्या है, लकड़ीसे बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करे और हाथसे स्पर्श करना तो दूर रहा, पैरसे भी स्पर्श न करे—

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।

(श्रीमद्भा० ११। ८। १३)

परन्तु उसी संन्यासीके लिये कहा गया है कि यदि उसकी माता सामने आ जाय तो उसे आदरपूर्वक प्रणाम करे—

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

(स्कन्दपु०, काशी० ११। ५०)

सभी गुरुजनोंमें माताको परम गुरु माना गया है—

गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः।

(महा०, आदि० १९५। १६)

'नास्ति मातुः परो गुरुः'

(अत्रिसंहिता १५०)

'नास्ति मातृसमो गुरुः'

(महा०, शान्ति० १०८। १८)

शास्त्रमें यहाँतक आया है—

पतिता गुरवस्त्याज्या माता च न कथञ्चन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

(स्कन्दपु०, मा० कौ० ६। १०७; मत्स्यपु० २२७। १५०)

'पतित गुरु भी त्याज्य है, पर माता किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं है। गर्भकालमें धारण-पोषण करनेके कारण माताका गौरव गुरुजनोंसे भी अधिक है।'

प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता॥

(महा०, शान्ति० १०८। २५)

'मनुष्य जिस क्रियासे माताको प्रसन्न कर लेता है, उस क्रियासे सम्पूर्ण पृथ्वीका पूजन हो जाता है।'

हिन्दू-संस्कृतिमें परमात्माको पुरुष (भगवान्) और स्त्री (भगवती)—दोनों रूपोंमें स्वीकार करके उनकी उपासनाका विधान किया गया है। इसलिये ईश्वरकोटिके पंचदेवोंमें विष्णु, शंकर, गणेश और सूर्यके साथ भगवतीको भी समान स्थान दिया गया है।

ईसाइयोंकी पवित्र 'बाइबिल' और मुसलमानोंकी 'कुरान शरीफ' को देखें तो उनमें भी मातृरूपसे ही स्त्रियोंको महत्त्व

दिया गया है, भोग्यारूपसे नहीं। पवित्र 'बाइबिल' के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं*—

(१) तू अपने पिता और अपनी माताका आदर करना (पुराना नियम, निर्गमन २०। १२, व्यवस्था० ५। १६)।

(२) तुम अपनी-अपनी माता और अपने-अपने पिताका भय मानना (पुराना नियम, लैव्य० १९। ३)।

(३) शापित हो वह जो अपने पिता वा माताको तुच्छ जाने (पुराना नियम, व्यवस्था० २७। १६)।

(४) मूढ़ अपने पिताकी शिक्षाका तिरस्कार करता है; परन्तु जो डाँटको मानता है, वह चतुर हो जाता है (पुराना नियम, नीति० १५। ५)।

(५) अपने जन्मानेवालेकी सुनना, और जब तेरी माता बुढ़िया हो जाय, तब भी उसे तुच्छ न जानना (पुराना नियम, नीति० २३। २२)।

(६) जिस आँखसे कोई अपने पितापर अनादरकी दृष्टि करे और अपमानके साथ अपनी माताकी आज्ञा न माने, उस आँखको तराईके कौवे खोद-खोदकर निकालेंगे और उकाबके बच्चे खा डालेंगे (पुराना नियम, नीति० ३०। १७)।

(७) अपने पिता और अपनी माताका आदर करना, जो कोई पिता या माताको बुरा कहे, वह मार डाला जाय (नया नियम, मत्ती १५। ४)।

(८) हे बालको, प्रभुमें अपने माता-पिताके आज्ञाकारी बनो (नया नियम, इफिसियो ६। १)।

---

* सन्दर्भ—बाइबिल सोसाइटी ऑफ इण्डिया, २०६ महात्मा गाँधी रोड, बेंगलोर—५६०००१

(९) हे बालको, सब बातोंमें अपने-अपने माता-पिताकी आज्ञाका पालन करो; क्योंकि प्रभु इससे प्रसन्न होता है (नया नियम, कुलुस्सियो ३। १८)।

(१०) मैं कहता हूँ कि स्त्री न उपदेश करे और न पुरुषपर आज्ञा चलाये; परन्तु चुपचाप रहे; क्योंकि आदम पहले, उसके बाद हव्वा बनायी गयी। आदम बहकाया न गया, पर स्त्री बहकावेमें आकर अपराधिनी हुई। तो भी बच्चे जननेके द्वारा उद्धार पायेगी, यदि वे संयमसहित विश्वास, प्रेम और पवित्रतामें स्थिर रहें (नया नियम, १-तीमुथियुस २। १२—१५)।

'कुरान शरीफ' के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं*—

(१) तुम्हारे परवरदिगारका हुक्म है कि उसके सिवाय किसीकी इबादत न करो और माता-पिताके साथ अच्छा सलूक करो। अगर (माता-पितामेंसे) एक या दोनों तुम्हारे सामने बुढ़ापेको पहुँच जायँ तो उनके आगे (जवाबदेहीमें) 'हूँ' भी मत करना और न उनको झिड़कना और (उनके साथ) अदबके साथ बोलना और प्यारसे आजिजी (विनम्रता)-के साथ उनके सामने बाजू झुकाये रखना और दुआ करते रहना कि ऐ मेरे परवरदिगार! जिस तरह उन्होंने मुझे छोटे-से पाला है, उसी तरह तू भी इनपर (अपनी) कृपा कर (१५। १७। २३-२४)।

(२) हमने आदमीको माता-पिताके साथ भलाई करनेकी ताकीद की है कि उसकी माताने उसको पेटमें रखा तकलीफ उठाकर और उसको जना तकलीफ उठाकर (२६। ४६। १५)।

बड़े खेदकी बात है कि वर्तमानमें स्त्रीके भोग्यारूपको ही महत्त्व दिया जा रहा है और सन्तति-निरोध, गर्भपात आदि

* सन्दर्भ—लखनऊ किताबघर, शेरवानी संस्करण।

उपायोंसे तथा विज्ञापनोंसे स्त्रीके मातृरूपका तिरस्कार किया जा रहा है। वृद्धावस्था आनेपर स्त्रीका भोग्यारूप तो नष्ट हो जाता है, पर मातृरूप सदा आदरणीय रहता है। आश्चर्यकी बात है कि वर्तमानमें स्त्रियाँ भी भोग्या बनना चाहती हैं, माता नहीं! आजकल स्त्री-पुरुषके समान अधिकारकी बात की जाती है; परन्तु भोग्या स्त्री कभी पुरुषके समान अधिकार नहीं पा सकती। हाँ, मातृरूपसे वह पुरुषसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकती है। इसलिये भोग्या स्त्रीके लिये कहा गया है—

'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी' (प्रश्नोत्तरी ३)

'नरकका प्रधान द्वार क्या है? नारी।'

और मातृरूपके लिये कहा गया है—

'मातृदेवो भव' (तैत्तिरीय० १। ११)

'माताको देवरूप समझो।'

❑ ❑ ❑

१०

दिनचर्या और आयुश्चर्या

दिनचर्या

ध्यानयोग, हठयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टांगयोग, लययोग आदि सभी योगोंकी सिद्धिके लिये दिनचर्याकी बात भगवान्‌ने गीतामें बहुत बढ़िया कही है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १६-१७)

'हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक खानेवालेका और न बिलकुल न खानेवालेका तथा न अधिक सोनेवालेका और न बिलकुल न सोनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

भोजन इतनी मात्रामें करे, जिससे पेट याद न आये। पेट दो कारणोंसे याद आता है—ज्यादा खानेसे और भूखा रहनेसे। अतः जितनी भूख हो, उससे आधा पेट भोजन करे। पेटका पाव हिस्सा जल पीनेके लिये और पाव हिस्सा श्वास ठीक तरहसे आनेके लिये खाली रखे। अगर मनुष्य भूखसे ज्यादा खा लेगा तो योग-साधन होना दूर रहा, घरका काम-धंधा भी नहीं होगा। पेट भारी होनेसे वह आलस्यमें, नींदमें पड़ा रहेगा। अतः नियमित भोजन करना बहुत आवश्यक है। घूमना-फिरना, आसन-व्यायाम आदि

भी यथायोग्य हो, जिससे स्वास्थ्य-निर्माण ठीक तरहसे हो। मनुष्य जीविका-संबंधी जो काम-धंधा करता है, वह भी यथायोग्य हो तथा नींद लेना और जगना भी नियमित हो।

हमारे पास चौबीस घण्टे हैं और हमारे सामने चार काम हैं। चौबीस घण्टोंको चारका भाग देनेसे प्रत्येक कामके लिये छः-छः घण्टे मिल जाते हैं; जैसे—(१) आहार-विहार अर्थात् भोजन करना और घूमना-फिरना—इन शारीरिक आवश्यक कार्योंके लिये छः घण्टे, (२) कर्म अर्थात् खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी कार्योंके लिये छः घण्टे, (३) सोनेके लिये छः घण्टे और (४) जागने अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये जप, ध्यान, साधन-भजन, कथा-कीर्तन आदिके लिये छः घण्टे।

इन चार बातोंके भी दो-दो बातोंके दो विभाग हैं—एक विभाग 'उपार्जन' अर्थात् कमानेका है और दूसरा विभाग 'व्यय' अर्थात् खर्चेका है। यथायोग्य कर्म और यथायोग्य जगना—ये दो बातें उपार्जनकी हैं। यथायोग्य आहार-विहार और यथायोग्य सोना—ये दो बातें व्ययकी हैं। उपार्जन और व्यय—इन दो विभागोंके लिये हमारे पास दो प्रकारकी पूँजी है—(१) सांसारिक धन-धान्य और (२) आयु।

पहली पूँजी 'धन-धान्य' पर विचार किया जाय तो उपार्जन अधिक करना तो चल जायगा, पर उपार्जनकी अपेक्षा अधिक खर्चा करनेसे काम नहीं चलेगा। इसलिये आहार-विहारमें छः घण्टे न लगाकर चार घण्टेसे ही काम चला ले और खेती, व्यापार आदिमें आठ घण्टे लगा दे। तात्पर्य है कि आहार-विहारका समय कम करके जीविका-सम्बन्धी कार्योंमें अधिक समय लगा दे।

दूसरी पूँजी 'आयु' पर विचार किया जाय तो सोनेमें आयु व्यर्थ खर्च होती है। अतः सोनेमें छः घण्टे न लगाकर चार घण्टेसे ही काम चला ले और भजन-ध्यान आदिमें आठ घण्टे लगा दे। तात्पर्य है कि

जितना कम सोनेसे काम चल जाय, उतना चला ले और नींदका बचा हुआ समय भगवान्‌के भजन-ध्यान आदिमें लगा दे। इस उपार्जन (साधन-भजन)-की मात्रा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहनी चाहिये; क्योंकि हम यहाँ सांसारिक धन-वैभव आदि कमानेके लिये नहीं आये हैं, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये ही आये हैं। इसलिये दूसरे समयमेंसे जितना समय निकाल सकें, उतना समय निकालकर अधिक-से-अधिक भजन-ध्यान करना चाहिये।

दूसरी बात, जीविका-सम्बन्धी कर्म करते समय भी भगवान्‌को याद रखे और सोते समय भी भगवान्‌को याद रखे। सोते समय यह समझे कि अबतक चलते-फिरते, बैठकर भजन किया है, अब लेटकर भजन करना है। लेटकर भजन करते-करते नींद आ जाय तो आ जाय, पर नींदके लिये नींद नहीं लेनी है। इस प्रकार लेटकर भगवत्स्मरण करनेका समय पूरा हो जाय तो फिर उठकर भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय करे और भगवत्स्मरण करते हुए ही काम-धंधेमें लग जाय, तो सब-का-सब काम-धंधा भजन हो जायगा।

यह मनुष्यजन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इसमें जो कुछ है, वह सब साधन-सामग्री है। अतः मनुष्य जो कुछ करे, वह सब उपार्जन-ही-उपार्जन होना चाहिये। परमात्मप्राप्तिका लक्ष्य रखकर कार्य करनेसे, परमात्माकी प्रसन्नताके लिये ही लौकिक-पारलौकिक कार्य करनेसे हमारा उद्धार तो होता ही है, भगवान्‌की कमीकी भी पूर्ति होती है! जैसे, कैकेयी जबतक जीती रही, तबतक भरतजीने उसको 'माँ' नहीं कहा। कारण कि भरतजीके मनमें यह बात रही कि जिसने अपने प्यारे पुत्रको वनवासमें भेज दिया, वह माँ कैसे? कैकेयीके मनमें यह बात रही कि भरतलाल मुझे माँ कह दे। यह कमी (घाटा) कैकेयीकी ही रही। ऐसे ही किसी वक्ताके श्रोता दूसरी जगह सुनने चले जायँ तो यह कमी उस

वक्ताकी ही रही। इसी तरह हम किसी वस्तु-व्यक्तिपर श्रद्धा-विश्वास करते हैं तो उतने श्रद्धा-विश्वास भगवान्‌के प्रति ही कम हुए। यदि हम संसारपर श्रद्धा-विश्वास नहीं करते तो वह श्रद्धा-विश्वास भगवान्‌पर ही होता। इसलिये भगवान्‌की कमीकी पूर्तिके लिये ही हमें भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास करने चाहिये।

आयुश्चर्या

भगवान्‌ने, शास्त्रोंने, महर्षियोंने, महापुरुषोंने मनुष्योंको मिली हुई आयुका सदुपयोग करनेके लिये उसके चार विभाग कर दिये हैं अर्थात् मनुष्योंकी आयुश्चर्याको चार आश्रमोंमें विभक्त कर दिया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

पहला विभाग है—ब्रह्मचर्य-आश्रम। एकसे पचीस वर्षतक मनुष्यको ब्रह्मचारीके नियमोंका एवं गुरु-आज्ञाका पालन करते हुए विद्याध्ययन करना चाहिये। उसे ब्रह्मचर्य-आश्रममें शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, दैशिक, आध्यात्मिक आदि उन्नतिके लिये सब तरहकी योग्यताका सम्पादन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य-आश्रममें जो ब्रह्मचारी सांसारिक भोगोंको बिना ही भोगे विचारद्वारा उनका त्याग कर सकता है, उसको अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सीधे ही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। परन्तु जो ब्रह्मचारी विचारपूर्वक भोगोंका त्याग नहीं कर सकता, अपनी वृत्तियोंको भोगोंसे उपरत नहीं कर सकता, जिसके मनमें बार-बार भोगोंकी वृत्तियाँ आती हैं, उसको गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। उसको चाहिये कि वह विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य-आश्रमका समापन करके भोगोंका ज्ञान करनेके उद्देश्यसे ही गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करे और शास्त्र तथा कुल-मर्यादाके अनुसार विवाह करे।

गृहस्थ-आश्रम पचीस वर्षका है। इन पचीस वर्षोंमें मनुष्य शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार न्याययुक्त भोग भोगे, द्रव्यका उपार्जन

करे तथा द्रव्यका यथोचित व्यय करे। अतिथि-सत्कार करे। पिताके धनका आश्रय न ले, प्रत्युत स्वयंके उपार्जित धनसे ही माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदिका पालन-पोषण करे। यद्यपि पिताका धन लेना कोई पाप नहीं है, तथापि मनुष्यको गृहस्थ-आश्रममें प्रवेशसे पहले ही ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिये, जिससे वह खुदका निर्वाह स्वयं (अपने पुरुषार्थसे) कर सके, किसीपर निर्भर न रहे। पिताके धनको श्राद्ध-तर्पण, यज्ञ, दान आदिमें तथा कुआँ, बगीचा, धर्मशाला आदि बनवानेमें खर्च करे।

गृहस्थ-आश्रमका उपभोग करके तपस्या करनेके लिये वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। वानप्रस्थ-आश्रम पचीस वर्षका है और यह सरदी-गरमी, वात-वर्षा, भूख-प्यास आदि सब प्रकारकी प्रतिकूलताओंको सहनेकी शक्ति सम्पादन करनेके लिये है। जैसे—सरदीके दिनोंमें एक घड़ेके तलेमें छेद करके उसको जलसे भरकर एक तख्तेपर रख दे और मध्यरात्रिमें दो-तीन घण्टेतक उस घड़ेकी जलधाराका सेवन करे अथवा आकण्ठ जलमें खड़ा रहे। वर्षाकालमें पर्वतकी चोटीपर बैठे। गरमीके दिनोंमें पंचाग्नि तपे अर्थात् ऊपर सूर्य तपता हो और नीचे चारों तरफ कण्डोंकी अग्नि जलती रहे। ऐसी तपश्चर्या न कर सके तो कम-से-कम भूख-प्यासको सह सके और संन्यास-आश्रमका ठीक पालन हो सके—ऐसा सहिष्णु तो बनना ही चाहिये।

वानप्रस्थ-आश्रमके बाद संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे। इसमें परिग्रह एवं कंचन-कामिनीका सर्वथा त्याग कर दे। भिक्षासे ही जीवन-निर्वाह करे। समयपर अपने-आप जो कुछ भिक्षा मिल जाय, उसीमें सन्तोष कर ले और रात-दिन परमात्माके चिन्तनमें, भजन-स्मरणमें, सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें लगा रहे।

इन चारों आश्रमोंमें एक-एक बातकी मुख्यता है। ब्रह्मचर्य-

आश्रममें 'गुरु-आज्ञापालन', गृहस्थ-आश्रममें 'अतिथि-सत्कार', वानप्रस्थ-आश्रममें 'तपस्या' और संन्यास-आश्रममें 'ब्रह्म-चिन्तन' मुख्य है। इन चारों आश्रमोंमें मुख्य दो ही आश्रम हैं—गृहस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य-आश्रम 'गृहस्थ' की तैयारीके लिये है और वानप्रस्थ-आश्रम 'संन्यास' की तैयारीके लिये है।

प्रश्न—आजकल मनुष्य प्रायः सौ वर्षतक जीवित नहीं रहता; अतः चारों आश्रमोंका पालन कैसे किया जाय?

उत्तर—वर्तमानमें मनुष्य अठारह वर्षकी आयुतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए विद्याध्ययन करे। उसके बाद शास्त्र-मर्यादाके अनुसार, अपनी जाति, गोत्र आदिको देखकर विवाह करे अर्थात् गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। पैंतीस-चालीस वर्षकी अवस्थामें किसीकी स्त्री मर जाय तो वह दूसरा विवाह न करे; क्योंकि दूसरी स्त्री पहली स्त्रीके बच्चोंका पालन करेगी या नहीं, इसका क्या पता? पैंतीस-चालीस वर्षकी उम्रमें वानप्रस्थ-आश्रममें चला जाय। वानप्रस्थमें स्त्री-पुरुष दोनों संयमसे रहें। फिर अलिंग-संन्यास ग्रहण करे अर्थात् काम-धंधा छोड़कर संयमपूर्वक संन्यासीकी तरह ही जीवन बिताये।

प्रश्न—इन चारों आश्रमोंकी मर्यादामें चलनेसे क्या लाभ है और न चलनेसे क्या हानि है?

उत्तर—चारों आश्रमोंकी मर्यादामें चलनेसे स्वाभाविक संयम होता है। संयमसे तेज बढ़ता है, शक्ति बढ़ती है, लोक-परलोकका सुधार होता है। परन्तु मर्यादामें न चलनेसे संयम नहीं रहता, जिससे उच्छृंखलता बढ़ती है और मनुष्य-जीवन पशु-पक्षियोंकी तरह ही हो जाता है। अतः चारों आश्रमोंका पालन जरूर करना चाहिये; क्योंकि चारों आश्रमोंका उद्देश्य कल्याणमें है।

❑❑❑

११

वास्तविक आरोग्य

वास्तविक आरोग्य परमात्मप्राप्तिमें ही है। इसलिये गीतामें परमात्माको 'अनामय' कहा गया है—'**जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्**' (२।५१)। 'आमय' नाम रोगका है। जिसमें किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका रोग अथवा विकार न हो, उसको '**अनामय**' अर्थात् निर्विकार कहते हैं। जन्म-मरण ही सबसे बड़ा रोग है—'**को दीर्घरोगो भव एव साधो**' (प्रश्नोत्तरी ७)। अनामय-पदकी प्राप्ति होनेपर इन जन्म-मरणरूप रोगका सदाके लिये नाश हो जाता है। इसलिये जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, वही असली नीरोग हैं। उपनिषद्में आया है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

(बृहदारण्यक० ४।४।१२)

'यदि पुरुष आत्माको 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके तापसे अनुतप्त हो?'

तात्पर्य है कि आत्मा और परमात्मा—दोनों नीरोग (अनामय) हैं। रोग केवल शरीरमें ही आता है। इसलिये कहा गया है—'**शरीरं व्याधिमन्दिरम्**'। शरीरमें रोग दो प्रकारसे आते हैं—प्रारब्धसे और कुपथ्यसे। पुराने पापोंका फल भुगतानेके

लिये शरीरमें जो रोग पैदा होते हैं, वे 'प्रारब्धजन्य' कहलाते हैं। जो रोग निषिद्ध खान-पान, आहार-विहार आदिसे पैदा होते हैं, वे 'कुपथ्यजन्य' कहलाते हैं। अतः पथ्यका सेवन करनेसे, संयमपूर्वक रहनेसे और दवाई लेनेसे भी जो रोग नहीं मिटता, उसको 'प्रारब्धजन्य' जानना चाहिये। दवाई और पथ्यका सेवन करनेसे जो रोग मिट जाता है, उसको 'कुपथ्यजन्य' जानना चाहिये।

कुपथ्यजन्य रोग चार प्रकारके होते हैं—१. **साध्य**—जो रोग दवाई लेनेसे मिट जाते हैं। २. **कृच्छ्रसाध्य**—जो रोग कई दिनतक दवाई और पथ्यका विशेषतासे सेवन करनेपर मिटते हैं। ३. **याप्य**—जो पथ्य आदिका सेवन करनेसे दबे रहते हैं, जड़से नहीं मिटते। ४. **असाध्य**—जो रोग दवाई आदिका सेवन करनेपर भी नहीं मिटते। प्रारब्धसे होनेवाला रोग तो असाध्य होता ही है, कुपथ्यसे होनेवाला रोग भी ज्यादा दिन रहनेसे कभी-कभी असाध्य हो जाता है। ऐसे असाध्य रोग प्रायः दवाइयोंसे दूर नहीं होते। किसी संतके आशीर्वादसे, मन्त्रोंके प्रबल अनुष्ठानसे अथवा विशेष पुण्यकर्म करनेसे ऐसे रोग दूर हो सकते हैं।

कुपथ्यजन्य रोगीके असाध्य होनेमें कई कारण हो सकते हैं; जैसे—१. रोग बहुत पुराना हो जाय, २. रोगी कुपथ्यका सेवन कर ले, ३. जिन जड़ी-बूटियोंसे दवाइयाँ बनी हों, वे पुरानी हों, ४. रोगीका वैद्यपर और औषधपर विश्वास न हो, ५. रोगीका खान-पान, आहार-विहार आदिमें संयम न हो, आदि-आदि।

जो रोगी बार-बार तरह-तरहकी दवाइयाँ लेता रहता है, दवाइयोंका अधिक मात्रामें सेवन करता है, उसको दवाइयोंसे विशेष लाभ नहीं होता; क्योंकि दवाइयाँ उसके लिये आहाररूप हो जाती हैं। गाँवोंमें रहनेवाले प्रायः दवाई नहीं लेते, पर कभी वे दवाई लें तो उनपर दवाई बहुत जल्दी असर करती है। जो लोग मदिरा, चाय आदि नशीली वस्तुओंका सेवन करते हैं, उनकी आँतें खराब हो जाती हैं, जिससे उनके शरीरपर दवाइयाँ असर नहीं करतीं। जो व्यक्ति धर्मशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्रके विरुद्ध खान-पान, आहार-विहार करता है, उसका कुपथ्यजन्य रोग दवाइयोंका सेवन करनेपर भी दूर नहीं होता।

अधिकतर रोग कुपथ्यसे पैदा होते हैं। कुपथ्यजन्य रोगसे शरीरकी ज्यादा क्षति होती है। कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन दवाइयोंसे भी बढ़कर रोग दूर करनेवाला है। इसलिये कहा गया है—

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥

(वैद्यजीवनम् १०)

'पथ्यसे रहनेपर रोगी व्यक्तिको औषधके सेवनसे क्या प्रयोजन? और पथ्यसे न रहनेपर रोगी व्यक्तिको औषधके सेवनसे क्या प्रयोजन?' तात्पर्य है कि पथ्यसे रहनेपर रोगी व्यक्तिका रोग बिना औषध लिये मिट जाता है और पथ्यसे न रहनेपर उसका रोग औषध लेनेपर भी नहीं मिटता।

रोगीके साथ खाने-पीनेसे, रोगीके पात्रमें भोजन करनेसे,

रोगीके आसनपर बैठनेसे, रोगीके वस्त्र आदिको काममें लेनेसे तथा व्यभिचार आदिसे ऐसे संकर (मिश्रित) रोग हो जाते हैं, जिनकी पहचान करना बड़ा कठिन हो जाता है। जब रोगकी पहचान ही नहीं होगी तो फिर वैद्यकी दवाई क्या काम करेगी?

युगके प्रभावसे जड़ी-बूटियोंकी शक्ति क्षीण हो गयी है। कई दिव्य जड़ी-बूटियाँ लुप्त हो गयी हैं। दवाइयाँ बनानेवाले ठीक ढंगसे दवाइयाँ नहीं बनाते और पैसोंके लोभमें आकर जिस दवाईमें जो चीज मिलानी चाहिये, उसको न मिलाकर दूसरी सस्ती चीज मिला देते हैं। अतः वह दवाई वैसी गुणकारी नहीं होती।

जो रोगोंके कारण दुःखी रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर करते हैं। परंतु जो भजन-स्मरण करता है, संयमसे रहता है, प्रसन्न रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर नहीं करते। चित्तकी प्रसन्नतासे उसके रोग नष्ट हो जाते हैं।

प्रारब्धजन्य रोगके मिटनेमें दवाई तो केवल निमित्तमात्र बनती है। मूलमें तो प्रारब्धकर्म समाप्त होनेसे ही रोग मिटता है। जिन कर्मोंके कारण रोग हुआ है, उन कर्मोंसे बढ़कर कोई पुण्यकर्म, प्रायश्चित्त, मन्त्र आदिका अनुष्ठान किया जाय तो प्रारब्धजन्य रोग मिट जाता है। परंतु इसमें प्रारब्धके बलाबलका प्रभाव पड़ता है अर्थात् प्रारब्धकी अपेक्षा अनुष्ठान प्रबल हो तो रोग मिट जाता है और अनुष्ठानकी अपेक्षा प्रारब्ध प्रबल हो तो रोग नहीं मिटता अथवा थोड़ा ही लाभ होता है।

लोगोंकी ऐसी धारणा बन गयी है कि दवाईके रूपमें मांस,

अण्डा, मदिरा आदिका सेवन करना बुरा नहीं है। वास्तवमें यह महान् पतन करनेवाली बात है। ऐसा माननेवाले वे ही लोग होते हैं, जिनका केवल शरीरको ठीक रखनेका, सुख-आरामका ही उद्देश्य है, जिनको धर्मकी अथवा अपना कल्याण करनेकी परवाह नहीं है। अशुद्ध चीज लेनेसे शरीर ठीक हो जायगा—यह नियम नहीं है, उलटे नये रोग पैदा हो जायँगे। पशुओंके रोग उनका मांस खानेवालोंमें भी आ जाते हैं। अशुद्ध चीज लेनेसे जो पाप होगा, उसका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा। अतः दवाईके रूपमें भी अशुद्ध चीज नहीं खानी चाहिये। जिसका शरीरमें राग नहीं है, जिसका उद्देश्य अपना कल्याण करना है, वह नाशवान् शरीरके लिये अशुद्ध चीजोंका सेवन करके पाप क्यों करेगा?

अन्न और जल—इन दोनोंके सिवाय मनुष्यमें अन्य किसी चीजका व्यसन नहीं होना चाहिये। जीवित रहनेके लिये अन्न और जल लेना ही पड़ता है, पर चाय, काफी, बीड़ी, सिगरेट, जर्दा, पान-मसाला, तम्बाकू, अफीम, चिलम आदि न ले तो मनुष्य मर नहीं जाता। इन चीजोंको लेनेसे आदत खराब होती है, समय खराब होता है, पैसा खराब होता है, शरीर खराब होता है। दुर्व्यसनोंकी आदत पड़ जाय तो फिर उनको छोड़ना बड़ा कठिन होता है और मनुष्य उनके अधीन हो जाता है। पराधीनको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—'***पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं***' (मानस, बाल० १०२।३)।

गीतामें भगवान्ने '**आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः**' पदोंसे सात्त्विक भोजनका फल पहले बताया और बादमें भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया। इससे सिद्ध होता है कि सात्त्विक मनुष्य भोजन करनेसे पहले उसके परिणामपर विचार

करता है।[१] परंतु राजस मनुष्यकी दृष्टि सबसे पहले भोजनकी तरफ जाती है, उसके परिणामकी तरफ नहीं, इसलिये भगवान्‌ने पहले राजस भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया और बादमें '**दुःखशोकामयप्रदाः**' पदसे उसका फल बताया।[२] अगर मनुष्य आरम्भमें ही भोजनके परिणामपर विचार करे तो फिर उसको राजस भोजन करनेमें हिचकिचाहट होगी; क्योंकि कोई भी मनुष्य परिणाममें दुःख, शोक और रोगको नहीं चाहता। परंतु भोजनमें आसक्ति होनेके कारण राजस मनुष्यकी बुद्धि परिणामकी तरफ जाती ही नहीं। तामस मनुष्यमें मूढ़ता रहती है; अतः मोहपूर्वक भोजन करनेके कारण वह परिणामको देखता ही नहीं। इसलिये भगवान्‌ने तामस भोजनका फल बताया ही नहीं।[३] भोजन न्याययुक्त है या नहीं, उसपर मेरा हक लगता है या नहीं, वह शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार है या नहीं, उसका परिणाम अच्छा है या नहीं—इन बातोंपर कुछ भी विचार न करके तामस मनुष्य पशुकी तरह खानेमें प्रवृत्त हो जाता है।

सात्त्विक मनुष्य तो श्रेष्ठ है ही, उससे भी श्रेष्ठ वह भगवद्भक्त है, जो भोजनके पदार्थोंको पहले भगवान्‌के अर्पण करके फिर उनको प्रसादरूपसे ग्रहण करता है। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

१- आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (गीता १७।८)

२- कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ (गीता १७।९)

३- यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ (गीता १७।१०)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९।२७-२८)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।' 'इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे और शुभ (विहित) तथा अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे मुक्त हो जायगा। ऐसे अपनेसहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला और सबसे सर्वथा मुक्त हुआ तू मुझे प्राप्त हो जायगा।'

सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करनेका परिणाम यह होगा कि मनुष्यका जन्म-मरणरूप महान् रोग मिट जायगा। जन्म-मरणरूप रोग मिटनेसे ही मनुष्यको वास्तविक आरोग्यकी प्राप्ति होगी। इस आरोग्यको प्राप्त करना ही मानव-जीवनका लक्ष्य है।

❑❑❑

१२

परोपकारका सुगम उपाय

भगवान्‌का भजन-स्मरण स्वयं करनेसे और दूसरोंसे करवानेसे बड़ा लाभ होता है। भागवतमें आया है—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।

(११। ३। ३१)

'भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण पापराशिको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं। सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करावें।'

दूसरोंको भगवान्‌में लगानेका बड़ा भारी पुण्य होता है। शास्त्रमें आया है—'**अन्नदानं महादानं विद्यादानं ततोऽधिकम्**' अर्थात् अन्नदान महादान है, पर विद्यादान उससे भी बड़ा दान है। विद्याओंमें सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्याका दान तो कोई तत्त्वज्ञ महापुरुष ही कर सकता है, पर एक ऐसा विद्यादान है, जिसको सभी भाई-बहन कर सकते हैं। वह विद्यादान है— भगवान्‌के नामका, गुणोंका, लीलाओंका, महिमाका, तत्त्वका प्रचार। यह प्रचार साधारण-से-साधारण आदमी भी कर सकता है। इसका अभी बड़ा सुन्दर अवसर आया हुआ है।

गीताप्रेसके द्वारा बड़े अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बहुत सरल भाषामें और थोड़े मूल्यमें प्रकाशित किये जाते हैं। मैंने श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुना है कि गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ घरमें पड़े-पड़े कल्याण करते हैं। एक मेरे मित्र थे। वे खूब नाम-जप करते थे। वे कहते थे कि मैं गीता, रामायण, तत्त्व-चिन्तामणि आदि ग्रन्थ

अपने सामने रख देता हूँ और उनकी तरफ देखते हुए नाम-जप करता हूँ तो उनमें लिखी बातें याद आनेसे जप बड़ी तेजीसे होता है। इस तरह इन ग्रन्थोंसे बहुत लाभ होता है।

अगर दूसरोंके हितके लिये इन पुस्तकोंका प्रचार किया जाय तो लोगोंको बड़ी शान्ति मिलती है। ऐसे कई सज्जन मेरेसे मिले हैं, जिनका गीताप्रेसकी पुस्तकोंके द्वारा जीवन बदल गया। पुस्तकोंसे आश्चर्यजनक लाभ होता है। जब मैं संस्कृतका विद्यार्थी था, तब साधारण भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता था। पैसोंके अभावके कारण मनचाही पुस्तक नहीं मँगा सकता था। तब मैंने और एक दूसरे विद्यार्थीने मिलकर गीताप्रेसको पत्र दिया कि हम 'कल्याण' के ग्राहक बनना चाहते हैं; अतः कुछ रियायत हो जाय। उस समय 'कल्याण' चार रुपयेमें मिलता था, पर उन्होंने हमें तीन रुपयेमें भेज दिया तो बड़ी प्रसन्नता हुई कि हमारेपर बड़ी कृपा हो गयी! 'कल्याण' पढ़नेको मिल गया!

पुस्तकोंसे बड़ा लाभ होता है—इसका मेरेको अनुभव है। सत्संगसे और पुस्तकोंसे मेरेको जितना लाभ हुआ है, उतना दूसरे किसी साधनसे नहीं हुआ है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकोंका मेरेपर बड़ा असर पड़ा था। उनकी पुस्तकोंको पढ़नेसे ऐसा लगा कि ये अनुभवके जोरसे लिखी गयी हैं, विद्वत्ताके जोरसे नहीं। उनकी पुस्तकोंको पढ़कर ही मैं उनके पास गीताप्रेस गया।

गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकें बड़ा असर करनेवाली हैं। उनको पढ़नेसे बड़ा संतोष होता है, शान्ति मिलती है। उन पुस्तकोंकी कई प्रतियाँ अपने पास रखो और दूसरोंको पढ़नेके लिये दो। उनसे कहो कि यह पुस्तक पढ़कर हमारेको दे देना।

फिर उनसे पूछते रहो कि आपने वह पुस्तक पढ़ ली कि नहीं? वे पूरी पढ़कर पुस्तक दे दें तो फिर दूसरी पुस्तक दे दो। इससे पुस्तकोंका बहुत बढ़िया प्रचार होता है। मुफ्तमें पुस्तकें देना भी विद्यादान है, पर मुफ्तमें देनेसे लोग प्रायः पुस्तकका आदर नहीं करते, उसको पढ़ते नहीं। उपर्युक्त प्रकारसे पुस्तकें पढ़नेके लिये दी जायँ तो लोग उनको पढ़ते हैं। किसीको कोई पुस्तक बहुत अच्छी लगे और वह लेना चाहे तो उसको वह पुस्तक दे दो। इस तरह पुस्तकोंका प्रचार करना चाहिये।

दुकानदार भाई अपनी दुकानमें गीताप्रेसकी पुस्तकें रखें और उनकी बिक्री करें। एक बार प्रयागराजमें कुम्भ-मेलेके अवसरपर सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने कहा था कि कोई व्यक्ति थैलेमें गीताप्रेसकी पुस्तकें भरकर घूमे और उनकी बिक्री करे तो उसका कल्याण हो जायगा। कारण कि पुस्तकोंको पढ़नेसे लोगोंको बड़ी शान्ति मिलती है, उनके लोक तथा परलोक दोनोंका सुधार होता है। रामायणमें आया है—*'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई'* (मानस ७। ४१। १)। इसलिये भाई-बहनोंके मनमें यह उत्साह होना चाहिये कि किस तरह गीताप्रेसकी पुस्तकें घर-घरमें पहुँचें।

बीकानेरमें एक भाई अपनी माँको सत्संगमें पहुँचाकर चला जाता था और सत्संग उठनेके समय उनको लेने आ जाता था। एक दिन माँने कह दिया कि 'बेटा! आज तुम भी थोड़ा बैठ जाओ'। वह सत्संगमें बैठ गया। उसपर ऐसा असर पड़ा कि वह स्वयं सत्संग करने लग गया। जैसे बिना चखे फलका, मिठाईका स्वाद नहीं जान सकते, ऐसे ही बिना सत्संग किये उसके आनन्दको नहीं जान सकते। सत्संग करनेसे एक रस आता है,

शान्ति मिलती है, लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं, कई उलझनें मिट जाती हैं, घरोंमें लड़ाई मिट जाती है। पुस्तकोंके द्वारा हरेकको घर बैठे ऐसा सत्संग मिल सकता है। पुस्तकोंको पढ़ने-सुननेसे शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, हलचल मिटते हैं—ऐसा मेरेसे कई सज्जनोंने कहा है। इसलिये पुस्तकोंका विशेषरूपसे प्रचार करना चाहिये। पुस्तकोंको मुफ्तमें देनेकी अपेक्षा उनकी बिक्री करनेको मैं ठीक मानता हूँ। कारण कि आजकल लोगोंमें पैसोंका जितना आदर है, उतना सच्छास्त्र और सत्संगका आदर नहीं है। इसलिये जब पैसे लगते हैं, तब उनके मनमें पुस्तक पढ़नेकी आती है। ऐसा देखनेमें भी आता है कि जिसकी फीस ज्यादा होती है, उसको लोग बड़ा डॉक्टर मानते हैं। जिस दवामें ज्यादा पैसे लगते हैं, उसको बढ़िया दवा मानते हैं। यद्यपि पैसा सबसे रद्दी चीज है, तथापि उसका आज बड़ा मूल्य हो रहा है।

पुस्तकोंसे कितना लाभ होता है, इसको मैं कह नहीं सकता। जैसे प्यासेको जल प्रिय लगता है, भूखेको भोजन प्रिय लगता है, ऐसे ही जिज्ञासुको पुस्तक प्रिय लगती है। इतना ही नहीं, जितनी बार पुस्तक पढ़े, उतनी ही बार वह नयी-नयी दीखती है। हर बार उसमें विलक्षणता दीखती है और ऐसा दीखता है कि यह बात तो हमने पहले पढ़ी ही नहीं। मेरे एक गुरुभाई हरेक चौमासेमें तुलसीकृत रामायणकी कथा किया करते थे। एक दिन मैंने कहा कि भगवान् शंकर इतने सरल और निरभिमान हैं कि अपने हाथोंसे आसन बिछाकर बैठते हैं—*'निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला॥'* (बाल० १०६। ३) यह सुनकर उन्होंने बड़ा आश्चर्य किया कि इस बातकी तरफ मेरा खयाल गया ही नहीं, जबकि इतने वर्षोंसे मैं कथा करता

हूँ। इसी तरह पुस्तकोंको पढ़ते-पढ़ते कई नयी बातोंकी तरफ खयाल जाता है और विलक्षण-विलक्षण भाव पैदा होते हैं। गीताको पढ़ते हैं तो नये-नये विलक्षण भाव आते ही चले जाते हैं। उनका कोई अन्त नहीं आता। जब भगवान्‌का भी अन्त नहीं आता, तो फिर उनकी वाणीका अन्त कैसे आयेगा? एक साधारण मनुष्यके भी भावोंका अन्त नहीं आता, फिर भगवान्‌के भावोंका अन्त कैसे आयेगा? *'हरि अनंत हरि कथा अनंता'* (मानस, बाल० १४०। ३)।

शास्त्रोंमें गीताकी बहुत महिमा बतायी गयी है। प्राय: ग्रन्थ बड़ा होता है और उसका माहात्म्य छोटा होता है। परंतु पद्मपुराणमें गीताका जो माहात्म्य आया है, उसमें अठारह अध्याय हैं और लगभग एक हजार एक सौ श्लोक हैं, जबकि गीताके अठारह अध्यायोंमें सात सौ ही श्लोक हैं! गीतापर तरह-तरहकी प्रान्तीय भाषाओंमें तरह-तरहकी टीकाएँ हुई हैं और अब भी होती चली जा रही हैं। उन टीकाओंमें विचित्र-विचित्र भाव आये हैं। गीता और रामायणमें कितने-कितने भाव भरे पड़े हैं, इसका कोई अन्त नहीं है। इन दोनों ग्रन्थोंका प्रचार इनके अपने जोरसे हुआ है, राजसत्ता और पैसोंके जोरसे नहीं। ये दोनों प्रासादिक ग्रन्थ हैं और जो इनका आश्रय लेते हैं, उनपर ये कृपा करते हैं। इनका आश्रय लेनेसे मनमें विलक्षणता, विचित्रता आती है और ये ग्रन्थ समझमें आने लगते हैं। विद्याके जोरसे गीताका अर्थ नहीं समझ सकते। रामायणकी बड़ी सीधी-सरल चौपाइयाँ हैं, पर विद्याके जोरसे उनका गहरा अर्थ नहीं समझ सकते। परंतु भगवान्‌के शरण होनेपर साधारण आदमी भी इनका अर्थ जान सकता है।

कलकत्तेकी एक बात है। हम आठ-दस व्यक्ति प्रतिदिन गीताकी चर्चा किया करते थे और परस्पर पूछा करते थे कि बताओ, यह कौन-से अध्यायका कौन-सा श्लोक है? और चटाचट बताया करते थे। वहाँ एक व्यापारी सज्जन आये। उनको भी पूरी गीता याद थी, पर संख्यासहित याद नहीं थी। उनको बड़ा आश्चर्य होता था कि ये संख्यासहित श्लोक कैसे बता देते हैं! उन्होंने मेरेसे पूछा कि गीताके श्लोकोंकी संख्या कैसे याद करूँ? मैंने बताया कि आप बिना पुस्तक देखे '**यत्र योगेश्वरः कृष्णो....**', '**तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य....**', '**राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य...**'—इस प्रकार गीताका उलटा पाठ करो और '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे...**' तक आ जाओ। एकान्तमें बैठकर इस प्रकार उलटा पाठ किया जाय तो बड़ा विचित्र आनन्द आता है, समाधि-सी लग जाती है। उलटा पाठ करनेसे संख्याका खयाल रहता है, जिससे संख्या याद हो जाती है। उन्होंने ऐसा करना शुरू कर दिया। एक दिन आकर उन्होंने एकान्तमें मेरेसे कहा कि आज रात बहुत विलक्षण बात हुई। मेरे पूछनेपर उन्होंने गद्‌गद होकर बताया कि 'मैं रातको लेटे-लेटे गीताका उलटा पाठ कर रहा था। तीसरे-चौथे अध्यायतक पहुँचा तो नींद आ गयी। नींदमें देखता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण छोटे बालकके रूपमें खेलते-खेलते आते हैं। उनके पीछे बड़ी अवस्थावाली तीन-चार गोपियाँ हैं। मैंने पूछा कि महाराज! आपकी कितनी अवस्था है? तो उन्होंने मुँहके पास आकर कहा कि सात वर्षकी। छोटे बालकसे कोई बात पूछो तो वह मुँहके पास आकर कहता है; क्योंकि वह समझता है कि आदमी मुँहसे बोलता है तो वह मुँहसे ही सुनता है। अतः

बालरूप भगवान् श्रीकृष्णने मुँहके पास आकर ही कहा तो छातीपर उनका स्पर्श हुआ। वैसा स्पर्श मैंने संसारमें किसीका देखा नहीं। उस स्पर्शसे इतना आनन्द आया कि कह नहीं सकता। नींद खुल गयी और आँसू नेत्रोंसे निकलकर कानमें भर गये। यह गीता-पाठका ही प्रभाव था। गीता-पाठसे बड़ी विलक्षणता आती है, भगवान्की बड़ी कृपा प्राप्त होती है।

गीताके प्रचारकी भी बड़ी महिमा है। गीताका प्रचार करनेवालेके लिये भगवान् कहते हैं—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६८-६९)

'मेरेमें पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवाद (गीता-ग्रन्थ)-को मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं।'

इन दो श्लोकोंसे प्रेरणा पाकर ही सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने गीताका प्रचार करनेके लिये 'गीताप्रेस' खोला। एक दिन मैंने उनसे कहा कि 'आपने गीताका बहुत प्रचार किया है' तो उन्होंने कहा कि 'बालक जन्मते ही गीता बोले, तब समझें कि गीताका कुछ प्रचार हुआ है, नहीं तो क्या प्रचार हुआ!' जैसे गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने जन्मते ही 'राम' बोला था, जिस कारण उनका नाम 'रामबोला' रखा गया। इसी तरह

पूर्वजन्ममें गीताका अभ्यास तेज होगा तो बालक जन्मते ही 'गीता' बोल देगा अथवा गीताका कोई पद ही बोल देगा।

गीताप्रेससे प्रकाशित गीताकी 'तत्त्व-विवेचनी' और 'साधक-संजीवनी' हिन्दी टीकाओंका लोगोंपर बड़ा असर पड़ा है। इसी तरह 'गीता-दर्पण', 'गीता-माधुर्य', 'गीता-ज्ञान-प्रवेशिका' आदि पुस्तकोंका भी लोगोंपर बड़ा विचित्र असर पड़ा है। जो आदमी खोज करते हैं, गहरा उतरकर विचार करते हैं, उनके सामने ऐसी पुस्तकें आती हैं, तब इनकी वास्तविकताका पता चलता है। 'ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप' और 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश'—इन दोनों पुस्तकोंको पढ़नेसे पाठकके भीतर विचित्रता आती है। 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' के अनुसार चिन्तन किया जाय तो सुगमतासे ध्यान लगने लगता है। ऐसी विचित्र-विचित्र पुस्तकें गीताप्रेससे प्रकाशित होती हैं, जिनको पढ़नेसे बड़ा लाभ होता है। उन पुस्तकोंको स्वयं भी पढ़ें और दूसरोंको भी पढ़ायें। इससे बिना कौड़ी खर्च किये स्वाभाविक ही बड़ा उपकार होगा।

गीताप्रेससे प्राय: ऐसी ही पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, जिनके द्वारा दुनियाका हित हो। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका और भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुस्तकोंको पढ़नेसे बड़ा लाभ होता है, शान्ति मिलती है। गीताप्रेससे पद्मपुराण, स्कन्दपुराण आदि कई पुराण भी बड़ी मेहनतसे संक्षिप्त करके हिन्दीमें छापे गये हैं। सम्पूर्ण महाभारत भी छपा है। महाभारतका संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद भी छपा है। हर महीने 'कल्याण' भी निकलता है। 'कल्याण' के अंक कभी पुराने नहीं होते। इसलिये आपके पास पुराने अंक पड़े हों तो उनको भी पढ़ो और पढ़ाओ।

आपके घरमें जो पढ़नेवाले, स्कूल-कॉलेजमें जानेवाले

लड़के-लड़कियाँ हों, उनसे गीताप्रेसकी पुस्तकें सुनो। आजकलके बालक प्रायः खुद ऐसी पुस्तकें नहीं पढ़ते। अतः आप उनसे कहो कि बेटा! मेरेको अमुक पुस्तक या ग्रन्थ सुनाओ। आप उनसे सुनोगे तो उनके भीतर अच्छे संस्कार बैठ जायँगे, जिससे उनके स्वभावका सुधार होगा। बालकोंको भक्तोंके चरित्र पढ़नेको दो; क्योंकि कहानी पढ़नेसे बालक बहुत राजी होते हैं। बालकोंके लिये गीताप्रेससे 'वीर बालक', 'वीर बालिकाएँ', 'गुरु और माता-पिताके भक्त बालक', 'सच्चे और ईमानदार बालक' आदि कई पुस्तकें छपी हैं। 'कल्याण' का 'बालक-अंक' भी छपा है। उन्हें बालकोंको पढ़नेके लिये दो।

भक्तोंके चरित्र पढ़नेसे बड़ा विलक्षण लाभ होता है। गीताप्रेससे ऐसी बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं; जैसे—'भक्त बालक', 'भक्त नारी', 'भक्त महिलारत्न', 'भक्त सप्तरत्न', 'भक्त पंचरत्न' आदि। इन पुस्तकोंको पढ़नेसे हृदय गद्गद हो जाता है, आँसू आने लगते हैं, एक मस्ती आ जाती है!

इस प्रकार गीताप्रेससे मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाली अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उनको स्वयं पढ़ना चाहिये तथा उत्साहपूर्वक उनका प्रचार करना चाहिये। इससे संसारका बड़ा भारी उपकार होगा, संसारमें शान्तिका विस्तार होगा।

❑❑❑

१३

धर्मकी महत्ता और आवश्यकता

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। यद्यपि विवेक प्राणिमात्रमें विद्यमान है, तथापि सत्-असत् और कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक मनुष्यशरीरमें ही है। यह विवेक व्यवहार और परमार्थमें, लोक और परलोकमें सब जगह काम आता है। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशमें भगवान्ने सबसे पहले सत्-असत्, शरीरी-शरीरके विवेकका विवेचन किया (गीता २।११—३०)। परन्तु जिन मनुष्योंकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है और वैराग्य भी कम है, उनके लिये सत्-असत्के विवेकको समझना कठिन पड़ता है। इसलिये ऐसे मनुष्योंके लिये भगवान्ने कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन किया (गीता २।३१—३८) और अकर्तव्यका त्याग करके कर्तव्यका अर्थात् धर्मका पालन करनेकी प्रेरणा की। कारण कि सत्-असत्के विवेकको महत्त्व देनेसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व अपने कर्तव्यका अर्थात् स्वधर्मका पालन करनेसे भी मिल जाता है।*

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका निःस्वार्थभावसे पालन करनेका नाम 'स्वधर्म' है। कर्तव्य और धर्म—दोनों एक ही हैं। मनुष्यको परिस्थिति-रूपसे जो कर्तव्य

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५।४-५)

प्राप्त हो जाय, उसका पालन करना भी मनुष्यका धर्म है। जैसे, कोई विद्यार्थी है तो तत्परतासे विद्या पढ़ना उसका धर्म है। कोई शिक्षक है तो विद्यार्थियोंको तत्परतासे पढ़ाना उसका धर्म है। कोई साधक है तो तत्परतासे साधन करना उसका धर्म है। जिसमें दूसरेके अहितका, अनिष्टका भाव होता है, वह चोरी, हिंसा आदि कर्म किसीके भी धर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं।

मनुष्यमात्रका खास धर्म है—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना और किसीको कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न देना। दूसरेका कर्तव्य देखना अथवा दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार करना भी किसीका कर्तव्य अर्थात् धर्म नहीं है। वास्तवमें धर्म वही है, जिससे अपना भी हित हो और दूसरेका भी हित हो, अभी (वर्तमानमें) भी हित हो और परिणाम (भविष्य)-में भी हित हो, लोकमें भी हित हो और परलोकमें भी हित हो—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिक० १।२)

अर्जुन क्षत्रिय थे; अतः क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

(गीता २।३७)

'अगर युद्धमें तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी और अगर युद्धमें तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। अतः हे कुन्तीनन्दन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा।'

तात्पर्य है कि अपने धर्मका पालन करनेसे लोक और परलोक दोनों सुधर जाते हैं अर्थात् लोकमें सुख-शान्ति हो जाती है, समाज सुखी हो जाता है और परलोकमें स्वर्गादि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति होती है। यदि सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर अपने धर्मका पालन किया जाय तो मनुष्य पाप और पुण्य दोनोंसे ऊँचा उठकर जन्म-मरणसे मुक्ति पा लेता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे (अपने धर्मका पालन करनेसे) तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है।'

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार सभी मनुष्योंका अपना-अपना धर्म (कर्तव्य) कल्याणकारक है। परन्तु दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म देखनेसे उसकी अपेक्षा अपना धर्म कम गुणोंवाला दीख सकता है। जैसे, ब्राह्मणके धर्म (शम, दम, तप, क्षमा आदि)-की अपेक्षा क्षत्रियके धर्म (युद्ध आदि)-में अहिंसा आदि गुणोंकी कमी दीख सकती है। ऐसा दीखनेपर भी

वास्तवमें अपना धर्म ही कल्याण करनेवाला है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणोंकी कमीवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

जो धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है—'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' (मनु० ८। १५)। अतः जो धर्मका पालन करता है, उसकी रक्षा अर्थात् कल्याणका भार धर्मपर और धर्मके उपदेष्टा भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियों आदिपर होता है तथा उन्हींकी शक्तिसे उसका कल्याण होता है। जैसे, शास्त्रोंमें आया है कि पातिव्रतधर्मका पालन करनेसे स्त्रीका कल्याण हो जाता है तो वहाँ पातिव्रतधर्मकी आज्ञा देनेवाले भगवान्, वेद, शास्त्र आदिकी शक्तिसे ही कल्याण होता है, पतिकी शक्तिसे नहीं। पति चाहे कैसा ही हो, सदाचारी हो अथवा दुराचारी हो, तो भी पातिव्रतधर्मके कारण स्त्रीका कल्याण हो जाता है।

प्रायः लोग कर्मोंका आश्रय लिया करते हैं कि अमुक कर्म करके हम अमुक फलको प्राप्त कर लेंगे।* परन्तु कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला फल नाशवान् होता है। कारण कि जब कर्मोंका भी आदि और अन्त होता है, तो फिर उसका फल अविनाशी

---

* काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ (गीता ४। १२)

कैसे होगा? अतः भगवान् कहते हैं कि कर्तव्य-कर्मका आश्रय न लेकर मेरा (भगवान्का) ही आश्रय लेना चाहिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

तात्पर्य है कि अपने धर्मका पालन तो अवश्य करना चाहिये, पर आश्रय धर्मका न लेकर भगवान्का ही लेना चाहिये। धर्मका पालन तो शरीरको लेकर होता है, पर भगवान्का आश्रय स्वयंको लेकर होता है। धर्मका निष्कामभावपूर्वक पालन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, पर भगवान्का आश्रय लेनेसे मोक्षके साथ-साथ परमप्रेमकी भी प्राप्ति होती है। मोक्षमें तो अखण्ड (एकरस) आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) आनन्द है।

भगवान्ने मनुष्यको दूसरोंकी सेवाके लिये 'कर्म-सामग्री' दी है, असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करके सत्-तत्त्वको जाननेके लिये 'विवेक' दिया है और अपने (भगवान्के) साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये 'प्रेम' दिया है। परन्तु मनुष्य भगवान्की दी हुई सामग्रीका दुरुपयोग करके कर्म-सामग्रीको अपने सुखभोगमें लगा देता है, विवेकको दूसरोंका नाश करनेके उपायोंमें लगा देता है और प्रेमको संसारमें (आसक्ति-रूपसे) लगा देता है। इस प्रकार भगवान्‌से मिली हुई वस्तुका दुरुपयोग करनेसे अपना और दूसरोंका, सबका पतन होता है। इस पतनसे धर्म ही रक्षा कर सकता है। कारण कि धर्म ही मनुष्योंको अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंका हित करना सिखाता है। धर्म

ही मनुष्योंको मर्यादामें रखता है, उनको उच्छृंखल नहीं होने देता। धर्म ही समाजमें संघर्षको मिटाकर शान्तिकी स्थापना करता है। धर्म ही मनुष्यमें मनुष्यता लाता है। धर्म (कर्तव्य)-का पालन करनेसे ही मनुष्य ऊँचा उठता है। यदि मनुष्य धर्मका त्याग कर दे तो वह पशुओंसे भी नीचा हो जायगा। इसलिये मनुष्यको किसी भी अवस्थामें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतके अन्तमें भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गा० ५।६३)

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी अपने धर्मका त्याग न करे; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु (राग) अनित्य है।'

❑ ❑ ❑

१४

तीन महाव्रत

शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अर्थात् उनको मैं, मेरा और मेरे लिये न मानना मनुष्यमात्रका महाव्रत है। इस महाव्रतका पालन करते हुए परमात्मप्राप्ति करनेके लिये ही यह मनुष्यशरीर मिला है। इस महाव्रतकी सिद्धिके लिये भगवान्ने तीन योग बताये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। कर्मयोगीका महाव्रत है—किसीको बुरा नहीं समझना, किसीका बुरा नहीं चाहना तथा किसीका बुरा न करना। ज्ञानयोगीका महाव्रत है—किसी भी वस्तु-व्यक्तिका संग न करना। भक्तियोगीका महाव्रत है—एक भगवान्के सिवाय अन्य किसीको भी अपना न मानना। इन तीनोंमेंसे किसी एक भी महाव्रतका पालन करनेसे मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

कर्मयोगीका महाव्रत—परमात्माका अंश होनेसे प्राणिमात्र स्वरूपसे निर्दोष (बुराईरहित) है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।२)

इसलिये कोई भी मनुष्य सर्वथा, सर्वदा और सबके लिये बुरा नहीं होता। उसमें जो बुराई दीखती है, वह आगन्तुक है, स्वाभाविक नहीं है। आगन्तुक बुराईको देखकर किसीको बुरा समझना, किसीका बुरा चाहना तथा किसीका बुरा करना

सर्वथा अनुचित है। बुरा समझनेवाला, बुरा चाहनेवाला और बुरा करनेवाला कभी सेवा नहीं कर सकता, जबकि कर्मयोगमें निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करना मुख्य है।

दूसरेको बुरा समझनेसे हमारे भीतर क्रोध, वैर, विषमता, पक्षपात आदि बुराइयाँ आ ही जायँगी, भले ही दूसरा बुरा हो या न हो। दूसरेका बुरा चाहनेसे हमारे भावोंमें बुराई आ ही जायगी। अतः बुरा चाहनेसे दूसरेका बुरा तो होगा नहीं, पर हमारा बुरा हो ही जायगा। इसलिये कर्मयोगी इस महाव्रतका पालन करता है कि मैं किसीको बुरा नहीं समझूँगा, किसीका बुरा नहीं चाहूँगा तथा किसीका बुरा नहीं करूँगा।

ज्ञानयोगीका महाव्रत—प्राणिमात्रका स्वरूप असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४।३।१५)। परन्तु मिलने तथा बिछुड़नेवाली वस्तुओंका संग करनेसे अर्थात् उनको अपनी और अपने लिये माननेसे मनुष्यको अपनी स्वतःसिद्ध असंगताका अनुभव नहीं होता। स्वरूपका विभाग अलग है और मिलने-बिछुड़नेवाली वस्तुओंका विभाग अलग है। ये दोनों विभाग सूर्य और अमावस्याकी रातके समान एक-दूसरेसे सर्वथा अलग-अलग हैं। मिलने-बिछुड़नेवाली वस्तुओंके विभागसे अपना सम्बन्ध मानना ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। इसलिये ज्ञानयोगी इस महाव्रतका पालन करता है कि मैं किसी भी कालमें शरीर नहीं हूँ; मेरा किसी भी वस्तु-व्यक्तिसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

भक्तियोगीका महाव्रत—भगवान्‌को जान तो नहीं सकते,

पर अपना अवश्य मान सकते हैं। जैसे, हम अपने माता-पिताको जान नहीं सकते, केवल अपना मान सकते हैं। माता-पिताको माने बिना रह सकते भी नहीं; क्योंकि शरीरकी सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। माता-पिताके बिना शरीर कहाँसे आया? ऐसे ही हम अपनी (स्वयंकी) सत्ता मानते हैं तो भगवान्‌की सत्ता माननी ही पड़ेगी। भगवान्‌को अपना माननेसे उनमें आत्मीयता होकर प्रेम हो जाता है। परमप्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनोंके महाव्रत लौकिक हैं। परन्तु भक्तियोगीका महाव्रत अलौकिक है। लौकिक महाव्रतका पालन करनेसे मोक्षकी तथा अलौकिक महाव्रतका पालन करनेसे मोक्षके साथ-साथ परमप्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

❑ ❑ ❑

१५

भगवान् गणेश

एक ही समग्र भगवान् उपासकोंकी प्रकृति, श्रद्धा-विश्वास, रुचि आदिको लेकर विष्णु, सूर्य, शिव, गणेश और शक्ति—इन पाँच रूपोंको धारण करते हैं। भगवान्के इन पाँचों रूपोंको लेकर वैष्णव, सौर, शैव, गाणपत और शाक्त—ये पाँच सम्प्रदाय चले हैं। भगवान् विष्णुके भक्त 'वैष्णव' कहलाते हैं। विष्णुके अवतार राम, कृष्ण, नृसिंह आदिके भक्त भी वैष्णव कहलाते हैं। भगवान् सूर्यके भक्त 'सौर' कहलाते हैं। भगवान् शंकरके भक्त 'शैव' कहलाते हैं। उत्तर भारतमें वैष्णव अधिक हैं और दक्षिण भारतमें शैव अधिक हैं। भगवान् शंकरके दो पुत्र हुए—कार्तिकेय और गणेश। इन दोनोंका पूजन दक्षिणमें बहुत होता है। गणेशके भक्त 'गाणपत' कहलाते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा आती है कि पार्वतीजीके द्वारा पुण्यकव्रतका अनुष्ठान करनेसे भगवान् श्रीकृष्ण ही उनके पुत्र गणेशरूपसे प्रकट हुए थे। शक्तिके उपासक 'शाक्त' कहलाते हैं। लक्ष्मी, सीता, राधा, पार्वती, दुर्गा आदि जितनी भी देवियाँ हैं, वे सब शक्तिका ही स्वरूप हैं। इस प्रकार पाँचों सम्प्रदायोंके अनुयायी अपने-अपने इष्टको साक्षात् ईश्वर मानते हैं और शेष चारोंको देवता मानते हैं। जब भगवान्के इन पाँचों रूपोंमेंसे किसी एक रूपका मन्दिर बनता है, तब वह एक रूप मुख्य (ईश्वररूपसे) होता है और शेष चारों रूप गौण (देवतारूपसे) होते हैं। इन पाँचोंमें भी गणेशजीका स्थान विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि प्रत्येक शुभ कार्यमें सर्वप्रथम गणेशजीका ही पूजन होता है। इतना महत्त्व अन्य किसीका नहीं है।